ओ३म्

श्री शुक्लयजुर्वेदीय

शतपथब्राह्मण

प्रथम भाग

माध्यन्दिनी शाखा

मूल संस्करण

डॉ० अल्बेर्त वेबेर

हिन्दी अनुवाद

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

(रत्नदीपिका भाष्य)

सम्पादक

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

भूमिका

वैदिक ऋचाओं के आविर्भाव के सहस्रों वर्षों के अनन्तर, ईश्वर, ईश्वरीय सृष्टि, ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय व्यवस्था को समझने के लिए आर्यावर्त्त देश के आर्यमनीषियों ने वैदिक वाङ्मय का सृजन आरम्भ किया। यह वाङ्मय आज भी हमारी परम्परा की अमूल्य धरोहर है। सम्भवतया वैदिक वाङ्मय की ऐतिहासिक परम्परा में वेदांगों की रचना सबसे प्राचीन हो। मनुष्य ने परम्परा से ऋचाओं का उच्चारण सीखा हो, और बाद में उसे इस बात का पता चला हो कि वाक् और श्रोत्र के माध्यम से जिस ज्ञान का आदान-प्रदान हो रहा है, वह कुछ मूल ध्वनियों की संहति है जो हमारे वाकयन्त्र से स्थान-स्थान से, और विशेष प्रयत्नों से प्रसूत होती हैं। यह पहला **वेदांग** रहा होगा, जिसका अत्यन्त प्राञ्जल रूप हमें पाणिनि की वेदांग "शिक्षा" में उपलब्ध है। महर्षि पाणिनि की यह रचना अपने विषय की न तो प्रथम रचना है, और न अन्तिम। संसार में आज अनेक वर्णमालाएँ हैं, जिनमें स्वरों और व्यञ्जनों के अनेकानेक भेदोपभेद हैं; आज के "शिक्षा-शास्त्री" इनकी ध्वनियों का भी बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन कर रहे हैं। 'शिक्षा' के बाद दूसरे वेदांग का नाम **व्याकरण** होना चाहिए, और फिर **छन्द**, क्योंकि ऋचाएँ छन्दोबद्ध थीं। पाणिनि की जो व्याकरण मिलती है वह लौकिक संस्कृत के भी काम की है, और वैदिक के भी काम की, और यही स्थिति पिंगल के छन्दशास्त्र की भी है। संसार के विभिन्न वाङ्मयों में व्याकरण और छन्द की विविधता प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित और विकसित होती रहेगी। ज्योतिष और कल्प वेदांग भी इसी प्रकार विकासशील हैं। केवल एक वेदांग ऐसा है, जो केवल वेद (चार संहिताओं) के लिए है—वह है यास्क का निघण्टु, और उस ग्रन्थ पर उनकी लिखी टीका निरुक्त। शब्दार्थ समझने में नैरुक्तिक पद्धति के उपयोग का एकमात्र अधिकार हमें ऋग्वेद, और अनुवर्ती वैदिक संहिताओं के क्षेत्र में है, जिनके शब्द आख्यातज, यौगिक और योगरूढ़ि हैं। प्रत्येक तत्त्वज्ञान, दर्शन या विज्ञान की शब्दावली अपने-अपने अर्थों और अभिप्रायों में रूढ़ि हो जाती है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार आर्यावर्त्त में ब्रह्मा से जैमिनि-पर्यन्त जितना भी साहित्य रचा गया, उसका केन्द्रबिन्दु **वेद** था। इस वेद को समझने-समझाने के लिए उपांग बने (छह दर्शन-शास्त्र)। चार कोटि के उपवेदों का विकास हुआ, जिनकी कथावस्तु आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद कहलाई, और वेद के अभिप्राय से ही प्रातिशाख्यों की रचना हुई। हमारे ब्राह्मण-ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, आरण्यक और उपनिषदें भी इसी वेद के विस्तार से सम्बन्ध रखती हैं। मनुष्य अपने भीतर एक विशेष मानसतन्त्र लेकर अवतरित हुआ था (अन्य पशुओं के मानस-तन्त्र से, जिसमें उभयेन्द्रियों का तन्त्र भी सम्मिलित है, मनुष्य का मानस-तन्त्र सर्वथा भिन्न रहा है)। जन्मजात कौतूहल, फिर कौतूहल से प्रेरित प्रश्न, और अन्त में प्रश्नों के समाधान का प्रयास, ये तीन क्षमताएँ उसमें सदा रहीं। कौतूहल, प्रश्न (जिज्ञासा) और समाधान—इन तीनों प्रक्रियाओं में उसने तीन विद्याओं को अपनाया—(क) स्वगत, (ख) समष्टिगत, और (ग) परम्परागत। (१) अकेले में विचार, (२) वादों-प्रवचनों और गोष्ठियों में मिलजुलकर विचार, और (३) अन्त

में, यह आगे की पीढ़ियों को सौंपकर। कौतूहल, जिज्ञासा और समाधान की यह प्रक्रिया अतीत-काल में आरम्भ हुई थी, और जबतक पृथिवी पर मनुष्य जीवित है, यह बनी रहेगी।

इस त्रिविध पद्धति के फलस्वरूप मनुष्यों को प्रारम्भ में जो पुरुषार्थ-प्रेरक प्रेरणायें मिलीं उनसे मानव-समाज का विकास हुआ और शनैः-शनैः उस समाज में उदात्तगुणों का प्रस्फुटन हुआ। बाद में इसी त्रिविधता ने समाज में वैभव के साथ-साथ विलास, दुर्गुण, प्रमाद, आलस्य, द्वेष, सत्तारूढ़िता, वैमनस्य आदि उत्पन्न किये। कर्म के स्थान पर कर्मकाण्ड आसीन हो गया, और समाज शिथिल हो गया। हमारे समस्त ब्राह्मणग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ हैं। वेद कर्म का प्रेरक रहा, ब्राह्मण-ग्रन्थ कर्मकाण्ड के प्रेरक हो गए। किन्तु इस ब्राह्मण-वाङ्मय में समाज का वह समस्त इतिहास भी छिपा हुआ है, जो कर्मकाण्ड से पूर्व समाज को प्राप्त हो गया था। दोनों युगों के इस अन्तर को नहीं भूलना चाहिए—(१) वैदिक युग—कर्म और पुरुषार्थ का प्रेरक (उदात्तयुग) (२) ब्राह्मण-युग—कर्मकाण्ड का प्रेरक—समाज के शैथिल्य का युग।

ऐसा लगता है कि चारों वेदों ने (कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदों को अलग मानें, तो पाँचों वेदों ने) हमारे समाज को पाँच भागों में बाँट दिया। ऋग्वेद के अभिप्राय से, अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं को लेकर जो कर्मकाण्ड किया जाने लगा, उसकी झाँकी ऐतरेय ब्राह्मण में मिलेगी। यजुर्वेद परम्परावालों का ब्राह्मणग्रन्थ शतपथब्राह्मण कहलाया, कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) वालों का तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेदवालों का साम ब्राह्मण (ताण्ड्य ब्राह्मण) और अथर्ववेद से सम्बन्ध रखनेवाला गोपथ ब्राह्मण।

सायणाचार्य वैदिक वाङ्मय का सबसे बड़ा सम्पादक और भाष्यकार हुआ है। इसने शुक्लयजुर्वेद पर तो भाष्य नहीं किया, किन्तु शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिनीय) पर इसका भाष्य उपलब्ध है। डॉ० अल्बेर्त वेबेर (Albert Weber) ने जो शतपथब्राह्मण बड़े परिश्रम से सम्पादित करके बर्लिन (जर्मनी) से मार्च १८४९ ई० में छापा था, उसमें उसने सायणाचार्य के अतिरिक्त हरिस्वामी और द्विवेद गङ्ग के भाष्यों से भी कुछ अंश दिये थे। वाराणसी के प्रसिद्ध संस्कृत-साहित्य-प्रकाशक और विक्रेता "चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस" ने १९६४ में वेबेर के शतपथ ब्राह्मण का पुनर्मुद्रण किया।

माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के सम्पादन के लिए वेबेर को चेम्बर्स संग्रह (Chambers Collection) से माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण की हस्तलिखित प्रति मिली जो बर्लिन की रॉयल लाइब्रेरी में सुरक्षित थी। प्रशिया के राजा ने यह प्रति इस पुस्तकालय को भेंट की थी। वेबेर ने अपने शतपथ ब्राह्मण का संस्करण हिज़ एक्सेलेन्सी शेवेलिए डॉ० सी० सी०-जे० बुन्सन (The Chevalier Dr. C. C. J. Bunsen) को समर्पित किया है, जो स्वयं अपने पाण्डित्य और नीति-कुशलता के लिए विख्यात था। डॉ० बुन्सन की कृपा से ही वेबेर को यह पाण्डुलिपि सम्पादन के लिए मिल पायी थी। कई अन्य खण्डित प्रतिलिपियाँ भी चेम्बर्स संग्रह में विद्यमान हैं, जिनसे डॉ० वेबेर ने सहायता ली। इन प्रतियों के अतिरिक्त एक और प्रति वेबेर को सहायक हुई—रेवरेण्ड डॉ० मिल (Rev. Dr. Mill) की, जो ऑक्सफोर्ड की बॉडलिअन (Bodleian) पुस्तकालय में है। इस पाण्डुलिपि के काण्ड १-५, और काण्ड ७-१३ सम्वत् १७०५-७ में श्री वृद्ध नगर के लिखे हुए हैं (पुरुषोत्तम के पुत्र दामोदर द्वारा)। इसपर ४० वर्ष के बाद किसी व्यक्ति विद्याधर ने स्वरचिह्न लगाए थे।

माध्यन्दिन शाखा के शतपथब्राह्मण में १४ काण्ड हैं, जिनका विवरण हम तालिका में देते हैं—

माध्यन्दिन शतपथ

काण्ड	काण्ड का नाम	प्रारम्भ के शब्द	अध्याय	प्रपाठक	ब्राह्मण	कण्डिका
१	हविर्यज्ञम्	व्रतमुपैष्य०	९	७	३७	८३७
२	एकपादिका	स यद्वा ऽ इत०	६	५	२४	५४९
३	अध्वरम्	देवयजनं०	९	७	३७	८५९
४	ग्रहनाम	प्राणो ह वा०	६	५	३९	६४८
५	सवम्	देवाश्च वा०	५	४	२५	४७१
६	उषासम्भरणम्	असद् वा ऽ इदम०	८	५	२७	५३०
७	हस्तिघट्	गार्हपत्यं चेष्यन्	५	४	१२	३९८
८	चितिः	प्राणभृत उपदधाति	७	४	२७	४३७
९	संचितिः	अथातः शतरुद्रियम्	५	४	१५	४०२
१०	अग्निरहस्यम्	अग्निरेष०	६	४	३१	३६९
११	अष्टाध्यायी	संवत्सरो वै यज्ञः	८	४	४२	४३७
१२	मध्यमम् (सौत्रामणी)	अयं वै यज्ञो०	९	४	२९	४५९
१३	अश्वमेधम्	ब्रह्मौदनं पचति	८	४	४३	४३२
१४	बृहदारण्यकम्	देवा ह वै०	९	७	५०	७९६
		योग	१००	६८	४३८	७६२४

इसी ब्राह्मण की एक काण्वशाखा का भी उल्लेख हैं, जिसमें १७ काण्ड हैं। इनके विवरण की तालिका इस प्रकार है—

काण्व शाखा

काण्ड	काण्ड का नाम	प्रारम्भ के शब्द	अध्याय	ब्राह्मण	कण्डिका
१	एकपात् काण्डम्	स वै सम्भारा०	६	२२	३७६
२	हविर्यज्ञ काण्डम्	सं वै व्रतमुपै०	८	३२	५३२
३	उद्धारि काण्डम्	—	२	२२	१२४
४	अध्वरम्	तद् वै देवयजन०	९	३६	६४९
५	ग्रहनाम	प्राणो ह वा०	८	३८	९७४
६	वाजपेय काण्डम्	देवाश्च ह	२	७	७००
७	राजसूय काण्डम्	स वै पूर्णाहुतिं	५	१९	२८९
८	उषासम्भरणम्	असद् वा ऽ इद०	८	२७	५११
९	हस्तिघट काण्डम्	अथातो नैर्ऋती०	५	१६	२५७
१०	चिति	प्राणभृत उप०	५	२०	२४३
११	साग्निचिति	नाकसद् उप०	७	२०	४३७
१२	अग्निरहस्यम्	अग्निरेष०	६	२८	२८६
१३	अष्टाध्यायी	—	८	३१	२४१
१४	मध्यमम्	अयं वै यज्ञो	९	२८	३६२
१५	अश्वमेध काण्डम्	ब्रह्मौदनं०	८	४४	३०८
१६	प्रवर्ग्य काण्डम्	अथास्मै श्मशा०	२	८	१९२
१७	बृहदारण्यकम्	उषा वा ऽ अश्व०	६	४७	२९५
		योग	१०४	४४५	६७७६

शतपथ ब्राह्मण और स्वरचिह्न

वेद-संहिताओं में स्वरचिह्न लगाने की परिपाटी अतीत काल से चली आ रही है। वैदिक स्वर साधारणतया उदात्त, अनुदात्त और स्वरित कहलाते हैं, जिनका विवरण महर्षि दयानन्द ने सौवर प्रकरण में दिया है।

हमारी समस्त वर्णमाला दो वर्गों में विभक्त हैं—स्वर और व्यञ्जन। इस प्रकरण से **स्वयं राजन्त इति स्वराः**—अर्थात् जिनके प्रकाशमान होने में किसी की सहायता की अपेक्षा न हो वह स्वर है। ये स्वर स्वयं प्रकाशमान हैं, अर्थात् बोले जा सकते हैं, सुने जा सकते हैं। अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ और औ (और इनमें से प्रथम पाँच के दीर्घ आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ)—ये स्वर हैं। अष्टाध्यायी के प्रारम्भ के माहेश्वर सूत्रों में वैदिक वाङ्मय की समस्त वर्णमाला (स्वर और व्यंजन) परिगणित की गई है।

वर्णमाला के स्वरों से अलग दो वर्गों के १४ स्वरों का और उल्लेख किया जाता है—

प्रथम वर्ग—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित-भेद से सात स्वर—(१) उदात्त, (२) उदात्ततर, (३) अनुदात्त, (४) अनुदात्ततर, (५) स्वरित, (६) स्वरिते यः उदात्तः (स्वरित में जो उदात्त हो) और (७) एकश्रुति।

द्वितीय वर्ग—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद (सरेगमपधनि)

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीय सः गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थ षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठ निषादो विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः॥

अर्थात् वीणा के स्वरों में, और सामगान में निम्न सम्बन्ध है—

सामगान	वीणा
प्रथम	मध्यम (म)
द्वितीय	गान्धार (ग)
तृतीय	ऋषभ (रे)
चतुर्थ	षड्ज (स)
पञ्चम	धैवत (ध)
षष्ठ	निषाद (नि)
सप्तम	पञ्चम (प)

एक और भेद से स्वर तीन भागों में विभाजित हैं—मन्द (bass), मध्य (medium), और तार (high)। इसी प्रकार त्रिधा गानविद्या में द्रुत (fast), मध्यम (medium) और विलम्बित (slow) पाठ या उच्चारण होता है। ऋषि दयानन्द का कहना है कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण मध्यमवृत्ति में और सामवेद के स्वरों का उच्चारण विलम्बित में। तीनों का उच्चारण-काल १:२:३ अनुपात में है (ऋग् की द्रुतगति से दुगुना समय यजुर्वेद के पाठ में, और तिगुना समय सामवेद के पाठ में)।

शतपथ ब्राह्मण के वाक्य गद्य श्रेणी के हैं। इनमें स्वरों का लगाना कोई आवश्यक बात नहीं है। डॉ० वेबेर को बॉडलिअन लाइब्रेरी से जो पाण्डुलिपि मिली, उसका मूल लिपिकार

दामोदर था (१७०५ वि०)। इसी लिपि पर ४० वर्ष बाद विद्याधर नामक दूसरे व्यक्ति ने स्वर-चिह्न लगाये थे (१७४८ वि० के लगभग)।

शतपथ ब्राह्मण के स्वरचिह्नों के सम्बन्ध में डॉ० वेबेर का कथन है—शतपथ ब्राह्मण की पुरानी पाण्डुलिपियों में एक ही स्वरचिह्न मिलता है—पंक्ति के नीचे 'पड़ी' (horizontal) रेखा (—)। शतपथ में इस रेखा द्वारा उदात्त और स्वरित दोनों स्वरों को व्यक्त किया जाता है (ऋग्वेद और यजुर्वेद में पंक्ति के नीचे की यह 'पड़ी' रेखा **अनुदात्त** का सूचक होती है)। उदात्त का सूचक जब यह रेखा (—) होती है, तो इसे तत्सम्बन्धी वर्णस्वर के नीचे ही लगाया जाता है, पर जब यह स्वरित होती है, तो इसे पहले के (बगलवाले) वर्णस्वर के नीचे लगाते हैं।

उदात्त का उदाहरण—**नृषदम्** (ष उदात्त है)

स्वरित का उदाहरण—**वीर्यम्** (य स्वरित है)

उदात्त और स्वरित चिह्नों में अन्तर व्यक्त करने के लिए डॉ० वेबर ने स्वरितसूचक 'पड़ी' रेखा को एक जगह दो पड़ी रेखाओं (=) से व्यक्त किया है। यह युग्म स्वरित स्वर के वाम पार्श्व के वर्ण-स्वर में लगाया जाता है—**वीर्यम्**।

उदात्त के सम्बन्ध में निम्न नियम स्मरण रखने चाहिएँ—

१. अकारादि स्वरों से युक्त वर्ण ही उदात्त, अनुदात्त या स्वरित होते हैं—हलन्त व्यंजन न उदात्त होंगे, न अनुदात्त, न स्वरित।

२. किसी भी एक **पद** में एक से अधिक उदात्त नहीं हो सकता। यह तो हो सकता है कि किसी पद में कोई भी उदात्त न हो।

३ एक पद में अनुदात्त कई हो सकते हैं—हो सकता है कि सभी स्वरान्त-वर्ण अनुदात्त हों। इसी प्रकार एक पद में एक से अधिक स्वरित भी हो सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में अनुदात्त व्यक्त करने के लिए कोई चिह्न नहीं है। हमने अपने शतपथब्राह्मण में समस्त पाठ वेबेर का लिया है, और इसलिए इस ग्रन्थ के स्वरचिह्न उदात्त (—), और स्वरित (=) वे ही हैं जिनका उपयोग डॉ० वेबेर ने किया है।

स्वर-संकेत का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

१. अनेनेव जुहुयात्। सजूर्देवेन सवित्रेति।
तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्र्येन्द्र वत्येति तद्रात्र्या मिथुनं करोति।

—(शत० २।३।१।३७)

इसमें जिन-जिन स्वर-वर्णों के नीचे 'पड़ी' लकीरें '(—)' खिंची हैं वे सब उदात्त-स्वर-सूचक हैं।

२. य तै यग्निहोत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तत्र नाग्नये स्वाहा।

—(शत० २।३।१।३६)

इस उदाहरण में तै और त्र के नीचे रेखा-युग्म (=) है। इसका अर्थ यह है कि इनके अगले अक्षर "या" से लेकर 'ता' तक स्वरित या एकश्रुति (या प्रचय) हैं, अर्थात् बराबर एक ही स्वर चल रहा है।

डॉ० वेबेर ने अपनी भूमिका में स्पष्ट इंगित कर दिया है कि यदि अगले वर्ण पर स्वर-चिह्न लगा हो तो उससे पूर्व के उदात्त पर स्वर-चिह्न लगाना अनावश्यक हो जाता है। [Before a following accented syllable, the preceding udatta loses its denotation.]

(क) केतपूःकेतम्, इसमें के के नीचे स्वर-चिह्न है, अतः पूः के नीचे लगा उदात्त-चिह्न बेकार है, अतः इसे केतपूःकेतम् ही लिखेंगे (पूः के नीचे का स्वर-चिह्न निकाल देंगे।)

(ख) 'महो ये धनम्' को ऐसा न लिखकर 'महो ये धनम्' लिखेंगे (ये के नीचे का चिह्न बेकार है।)

(ग) 'पर्णं न वेरनु' को ऐसा न लिखकर 'पर्णं न वेरनु' लिखेंगे—र के पहले के सभी उदात्त बेकार हो गए—र्णं, न, वे,—इनके नीचे लगे उदात्त-चिह्न बेकार हो गए।

जिन पाठकों को स्वर-विषयक गम्भीरता से विचार करना हो, वे डॉ० वेबेर के अंग्रेजी Preface को पढ़ें।

उपाध्यायजी का हिन्दी अनुवाद

प्रयाग के श्री पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय ने अपनी वृद्धावस्था में ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी-अनुवाद किये। ऐतरेय ब्राह्मण के हिन्दी-अनुवाद का प्रकाशन (बिना मूल संस्कृत के) 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग' ने प्रकाशित किया था। प्रयाग के ही अथर्ववेद-भाष्य-कार पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने गोपथ ब्राह्मण का मूल और हिन्दी अनुवाद बड़े परिश्रम से सम्पादित और प्रकाशित किया। दिल्ली के स्व० पं० रामस्वरूप शर्मा के प्रयास से उपाध्यायजी का शतपथ ब्राह्मण तीन खण्डों में १९६७, १९६९ और १९७० ई० में प्रकाशित हुआ था। बहुत दिनों से यह अनुवाद अनुपलब्ध था। मूल शतपथ ब्राह्मण का पाठ वैदिक यन्त्रालय, अजमेर के एक संस्करण से लिया गया था, किन्तु मुद्रण की कठिनाई होने के कारण उसमें स्वर-चिह्न न दिये जा सके। शतपथ ब्राह्मण का एक पाठ काशी से अच्युत ग्रन्थमाला ने भी प्रकाशित किया था (१९९४ वि०) दो जिल्दों में—श्री चन्द्रधर शर्मा द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसायटी ऑव् बंगाल, कलकत्ता से शतपथ ब्राह्मण और उस पर सायणाचार्य की टीका या भाष्य प्रकाशित हुए। खेमराज कृष्णदास यन्त्रालय, बम्बई से भी सायणानुवाद छपा। अंग्रेजी में जूलियस ऐगलिंग (Julius Eggeling) का शतपथ ब्राह्मण का पूर्ण अनुवाद विस्तृत टिप्पणियों और भूमिकाओं सहित १८८२-८५ में सेक्रेड बुक्स ऑव् द ईस्ट सीरीज़ (Sacred Books of the East Series—Max Muller) में प्रकाशित हुआ था, जिसका पुनर्मुद्रण मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली-वाराणसी) नामक विख्यात प्रकाशक ने कर दिया है।

शतपथ ब्राह्मण मुख्यतया कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। ऋषि दयानन्द ने इस ग्रन्थ का प्रमाणत्व उतना ही स्वीकार किया है, जितना वेदार्थ में सहायक है। शतपथ ब्राह्मण की ही तरह कात्यायन श्रौतसूत्र का भी यजुर्वेदी कर्मकाण्ड से गहरा सम्बन्ध है। उवट और महीधर दोनों आचार्यों ने यजुर्वेद के भाष्य में इन दोनों को आधार माना है। ये आचार्य जब शतपथ के सन्दर्भों का उल्लेख करते हैं, तो उसे "इति श्रुतेः" कहते हैं, और साधारणतया कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रामाण्य सभी प्रकार स्वीकार करते हैं। शतपथ का आधार धीरे-धीरे उनके भाष्यों में कम होता जाता है। (यजुर्वेद के १३-१४ अध्यायों के बाद शतपथ का प्रयोग बहुत कम है। कात्यायन श्रौतसूत्र और पाणिनि की अष्टाध्यायी का आधार महीधर ने अपने भाष्य में यजुर्वेद के अन्तिम अध्यायों तक लिया है।) साधारणतया शतपथ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य की रचना समझी जाती है, पर ऐसा लगता है कि शाण्डिल्य भी उसका मुख्य सहयोगी था : काण्ड ७, ९ और १० तो शायद उसी की रचना हैं—इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम तक नहीं आया।

श्री उपाध्यायजी ने शतपथ ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र किया है, न कि उसका भाष्य। शतपथ-ब्राह्मण के समय से पूर्व **कर्म** (कर्मप्रेरक यज्ञ) का युग समाप्त हो गया था, और उसका स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था—स्वामी दयानन्द "कर्मकाण्ड के पोषक नहीं" वे "कर्म" के पोषक थे। कात्यायन श्रौतसूत्र तो निम्नतम कर्मकाण्ड का पोषक बना, अतः महीधर के समान विद्वान् आचार्यों ने इससे प्रेरणा ली। ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद-भाष्य में शतपथ के कर्मकाण्ड को कोई महत्त्व नहीं दिया। स्पष्ट है कि ये ब्राह्मणग्रन्थ हमारी दार्शनिक आस्थाओं और मान्यताओं के ग्रन्थ नहीं हैं। सभी विद्वान् पाठक अपनी रुचियों और मान्यताओं के आधार पर उपाध्यायजी के इस अनुवाद से लाभ उठा पायेंगे। यह अनुवाद किसी आस्था के परिप्रेक्ष्य में नहीं किया गया है, यही इसकी विशेषता है। निश्चय है कि यह ग्रन्थ हमारे उस युग का ग्रन्थ है, जब समाज का विकास शिथिल हो गया था, और उस अधोगति के समय कर्मकाण्ड को प्रश्रय प्रचुरता से मिलने लगा था।

हमें प्रसन्नता है कि उपाध्यायजी का यह शतपथ-अनुवाद डॉ० वेबेर के स्वरांकित शतपथ-संस्करण के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इस हिन्दी-टीका का नाम "रत्नकुमारी-दीपिका" रहा है। डॉ० रत्नकुमारीजी उपाध्यायजी की ज्येष्ठ पुत्रवधू थीं। "डॉ० रत्नकुमारी प्रकाशन योजना" के अन्तर्गत शतपथ ब्राह्मण के इस अनुवाद का प्रथम संस्करण १९६७-७० में दिल्ली से निकला था। यह दूसरा संस्करण दिल्ली के यशस्वी प्रकाशक **गोविन्दराम हासानन्द** के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। आयोजन के लिए हम इस प्रकाशन-संस्थान के वर्तमान अध्यक्ष श्री विजयकुमार जी और उनके परिवार के अनुगृहीत हैं।

शतपथ ब्राह्मण और उसके अनुवाद के सम्बन्ध में कतिपय भ्रान्तियाँ हैं। बहुत-से स्थल ब्राह्मणग्रन्थ में ऐसे हैं, जिनमें पशुबलि की गन्ध मिलती है, अथवा जिनमें मांस खाने का भ्रम होता है। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में यथार्थता का निश्चय करना सरल नहीं है। जिस प्रकार हत्या या बलि के दृश्य नाटक की स्टेज पर नहीं दिखाये जाते, केवल संकेत मात्र से काम निकाल लिया जाता है, ऐसा ही इन यज्ञों में भी सम्भवतया होता था। पशु-यज्ञ बहुधा सृष्टि-रचना की नाटिका थे। सूर्य और बादल के युद्ध थे। इस नाटिका में प्रतीक से काम चला लिया जाता था; यह चित्रण भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलेगा। बहुत-से स्थल प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। भारत के इतिहास में एक समय ऐसा भी रहा जब वेदों के नाम पर पशु-बलि निःसन्देह होने लगी थी। महात्मा बुद्ध को इसीलिए वैदिक साहित्य से ग्लानि हुई। ऐसे पतनकाल के समय में हमारा समस्त आर्ष साहित्य प्रक्षेपों से विकृत कर दिया गया।

प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण प्राचीन ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र है। पाठकों से आग्रह है कि किस बात को सिद्धान्त के अनुकूल मानें, और किसको प्रतिकूल, इसका स्वयं निर्णय करें। हिन्दी अनुवादक का कर्त्तव्य केवल इतना है कि मूलग्रन्थ का सच्चा-सच्चा अनुवाद प्रस्तुत कर दे। अनुवादक अपना अनुवाद अपनी आस्था के आधार पर नहीं करता। निस्सन्देह वेद, दयानन्द और आर्य-समाज में एवं आर्ष साहित्य में निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति न तो पशु-बलि को मानता है, न मांस-भोजन को और न किसी अनैतिकता को। श्री उपाध्यायजी के इस अनुवाद को इसी भावना से देखना चाहिए।

नई दिल्ली
९ अप्रैल १९८८

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

This edition of the Brâhmanas of the white Yajurveda is destined only to comprehend the text. An introductory essay, a glossary, a partial translation and deeper researches into all the materials, treasured up here and in the sûtras of *Kâtyâyana*, shall follow in a separate work on the Yajur-Vedic ceremonies. Therefore I shall here content myself with enumerating the critical apparatus, exstant in Europe, and giving a short explanation of the accents. —

A. I Manuscripts of the text of the *Çatapatha Brahmaṇa*: *a.* in the *Mâdhyandina-Çâkhâ*: —

There is exstant a very great number of old as well as recent copies of it: Those, which chiefly (with the exception only of the first book and part of the thirteenth) furnished the text for this edition, exist in the *Chambers-Collection* and I take this opportunity to congratulate the Royal Library of *Berlin* upon this splendid donation made to it by the present *King of Prussia* through the care of the Chevalier *Bunsen.* Next to these manuscripts in value stands the copy (= M) of the Rev. Dr. *Mill*, now added to the *Bodleian* library, the greater part of which, viz. the books I-V and VII-XIII is written Samvat 1705-7 in *çrîvṛid-dhanagara* by *Dâmodara* son of *Purushottama* and accented forty years after by *Vidyâdhara.* I shall now proceed to notice the single books with their respective manuscripts. (*) —

I. *Haviryajna*: begins व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयम् (7 prapâṭhaka, 9 adhyâya, 37 brâhmana, 837 kaṇḍikâ). M foll 117. — Bodlei. Wils. 363 (= B.). Samvat 1709. foll. 152 (ten leaves are wanting from 8, 2, 10 - 9, 1, 12 incl.). nr. 368 (= C.) S. 1654. foll. 123. nr. 67. nr. 71. — E. I. H. 2143 (= I.). — Paris Bibl. Nationale D 161. —

(*) All the copies are accented with the exception of Bodlei. Wils. 67 (1-3). 63 (4-8). 62 (9-14). 71 (1-3. 7. 13 twice). 70 (6. 14. 4. 11. 9. 12. 8. 5). E. I. H. 2143 (1-7). 309 (8-14). 1277 (2. 3). and partly of Chamb. No. 39 (10 twice. 2-5. 7-9. written in Benares S. 1851. Çâke 1716 krodhananâmasamvatsare). *These* copies are recently written and very incorrect.

II. *Ekapâdikâ* begins स यद्वाऽइतश्चेतश्च (5 prap. 6 adhy. 24 brâhm. 549 kaṇd.) Chamb. 3 written S. 1681 in Kâçî by Gangârâmamiçra. foll. 116. nr. 39. — M. foll. 84. — Bodl. Wils. 366 foll. 62. nr. 67. nr. 71. — E. I. H. 2143. nr. 1277 nr. 583. foll. 27. — Paris D 147. —

III. *Adhvara* begins देवयजनं जोषयन्ते (7 prap. 9 adhy. 37 brâhm. 859 kaṇd.) Chamb 1. foll. 181 written by the same scribe as nr. 3. - nr. 39. — M. foll. 125. — Bodl. Wils. 359 S. 1585 foll. 116. nr. 383. S. 1688. foll. 333. nr. 67. nr. 71. — E. I. H. 1277. 2143. —

IV. *Graha* begins प्राणो ह वाऽअस्योपांशुः (5 prap. 6 adhy. 39 br. 649 k.) Chamb. 5. foll. 240. S. 1689. Çâke 1554. angirânâmasamvatsare written in Benares âbhîrajnâtîyarâṇâranganâthasutanâmâjikena. nr. 39. — M. foll. 90 accented S. 1745 by Someçvara. — Bodl. W. 365. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 2143. — Paris D 162. —

V. *Sava* begins देवाश्च वाऽअसुराश्च (4 pr. 5 adhy. 25 br. 471 k.) Chamb. 6. foll. 109. S. 1683. written by the same scribe as nr. 1 and 3. nr. 16. foll. 89. S. 1648. nr. 21. foll. 59. S. 1572. nr. 39 (till to ३. १. ४.). — M foll. 68. accented S. 1713 by Laghunâtha. — Bodl. W. 462. foll. 113. S. 1610. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 2143. — Paris D. 144. —

VI. *Ûshasambharaṇa* begins असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् (5 pr. 8 adhy. 27 br 540 k.) Chamb. 7. foll. 170. nr. 17. foll. 108. S. 1545. Câke 1461 written çrîmat hansapurapattane revâçrînarmadâyâ daxine tate on the order of Modhajnâtîya Bhattakeçava. nr. 19. foll. 60. — M foll. 139 written S. 1628 and accented by Mahâdeva. — Bodl. W. 454. foll. 165. S. 1610. nr. 457. S. 1688. foll. 211. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 2143. — Paris D. 148. 173. —

VII. *Hastishaṭ nâma kâṇḍam* (*) begins गार्हपत्यं चेष्यन् (4 pr. 5 adhy. 12 br. 398 k.) Chamb. 9. foll. 115. nr. 39. — M. foll. 60. — Bodl. W. 462. foll. 114. S. 1571. nr. 63. nr. 71. — E. I. H. 268. 2143. — Paris D. 196. —

VIII. *Citi* begins प्राणभृत उपदधाति (4 pr. 7 adhy. 27 br. 437 k.) Chamb. nr. 20. foll. 86. S. 1739. nr. 39. — M. foll. 72. — Bodl. W. 363. foll. 96. nr. 63. nr. 70. — E. I. H. 268. 309. — Paris D. 195. —

IX. *Samciti* begins अथातः शतरुद्रियम् (4 pr. 5 adhy. 15 br. 401 k.) Chamb

(*) The name of this kâṇda is rather questionable: the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mâdhyandina as well as the Kânva Câkhâ call it Hastighata. Is hastin = one? hastishat = seven? See A. W. v. Schlegel Réflexions sur l'étude des langues asiatiques p. 197-199.

14. foll. 103. S. 1586. nr. 18. foll. 61. S. 1671. nr. 39. — M. foll. 66. — Bodl. W. 363, 3. foll. 75. S. 1692. nr. 389. nr. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. —

X. *Agnirahasya* begins अग्निर्वाऽएष पुरस्ताच्चीयते (4 pr. 6 adhy. 31 br. 369 k.) Chamb. 11. foll. 60. S. 1485 (A. D. 1428). nr. 39. twice. — M. foll. 58. accented S. 1715. by Krishnaputra Prabhûjika (?). — Bodl. W. 461. foll. 99. S. 1655. nr. 62. — E. I. H. 309. —

XI. *Ashṭâdhyâyî* begins संवत्सरो वै यज्ञः (4 pr. 8 adhy. 42 br. 437 k.) Chamb. 12. foll. 116. — M. foll. 59. — Bodl. W. 369, 1. S. 1645. foll. 86. nr. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. — Paris D. 146. —

XII. *Madhyama* begins अयं वै यज्ञो योऽयं पवते (4 pr. 9 adhy. 29 br. 459 k.) Chamb. 13. foll. 69. — M. foll. 62. — Bodl. W. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. — Paris D. 159. —

XIII. *Açvamedha* begins ब्रह्मौदनं पचति (4 pr. 8 adhy. 43 br. 430 k.) Chamb. 22. foll. 7. a fragment beginning from 8, 1, 1. — M. foll. 60. — Bodl. W. 365 (= B.). foll. 78. S. 1691. nr. 453 (= C.). foll. 81. S. 1808. nr. 62. nr. 71. — E. I. H. 268. 309. — Paris D. 160. —

XIV. *Âraṇyakam* begins देवा ह वै सत्रं निषेदुः (7 pr. 9 adhy. 50 br. 796 k.) Chamb. 15. foll. 173. S. 1583. — M. foll. 167. written by Pîtâmbara in Benares. — E. I. H. 309. —

Detached from this kâṇḍa is the *Vṛihad-Âraṇyakam*, beginning with the thirth prapâṭhaka: द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च. Bodl. W. 365. foll. 75. unaccented. nr. 62. nr. 70. — E. I. H. 309. 1471. — Paris D. 163. 59g. —

b. in the *Kâṇva-Çâkhâ.* — Not having yet discovered a complete and correct copy of this Çâkhâ — three books are still wanting and some of the manuscripts of the other 14 books are rather incorrect — I could not venture to give in my edition also the text of this Çâkhâ, especially as its differences from the Mâdhyandina-Çâkhâ are so very numerous and important, you may look at »the readings of almost every passage«, as well at the single words and their orthography or even accentuation as at the whole kaṇḍikâs and their number or distribution. The best copy extant in Europe is in the collection of the Rev. Dr. Mill, now deposited in the Bodleian library: it contains eleven kâṇḍas written and accented by three different scribes (I. without any date by the one: IV. V. XIV. foll. 1-23a. Samvat 1651 by an other: II. VI. VII. X. XII. XIV. from foll 23,b-48. XV. XVII. Samvat 1875 by the thirth). Other copies are extant only (with the exception of the kâṇḍas I. and XVII.) in Paris. Bibl. Nat. D. 167.

172. 180-187 (= P.), which I am sorry to say I could not for want of time sufficiently examine. From a list written on the reverse of the first leaf of the fourth book and of the 48th leaf of the fourteenth in M. I take the names and the number of verses of the different kâṇḍas. —

I. *Ekapâdikâ* begins स वै सम्भारान्त्सम्भरति (6 adhy. 22 brâhm. 367 kaṇḍikâs). M. foll. 100. — E. I. H. 1560. see Colebrooke miscell. ess. I, 60 not. — P. 180. —

II. *Haviryajna* begins सं वै व्रतमुपेष्यन् (8 adhy. 32 br. 572 k.) M. foll. 59. — P. 181. —

III. *Uddhâri* (124 k.) is wanting. —

IV. *Adhvara* begins तद्धि देवयजनमीज्ञन्ते (628 k.) M. foll. 49. contains only the prathana *ança* in 4 adhy. 16 br. 272 k. — P. 184 b. —

V. *Graha* begins प्राणो ह वाऽअस्योपांशुः (8 adhy. 38 br. 475 k.) M. foll. 82. — P. 183. —

VI. *Vâjapeya* begins देवाश्च ह वाऽअसुराश्चोभये (2 adhy. 6 br. 100 k.) M. foll. 12. — P. 185 a. —

VII. *Râjasûya* begins स वै पूर्णाहुतिं जुहोति (5 adhy. 19 br. 288 k.) M. foll. 28. — P. 185 b. —

VIII. *Ûshasambharaṇa* begins असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् (8 adhy. 27 br. 525 k. [509 in the list]) P. 167. the first 82 leaves are written by the same scribe as P. 168 and 169., foll. 83-85 are dated S. 1806. —

IX. *Hastighaṭa* (see Wilson Sanskrit dictionary: घट *an elephants frontal sinus*) begins अथातो नैऋतीर्हरन्ति (5 adhy. 16 br. 261 k. [257 the list]) P. 168. S. 1649. foll. 51 (= A.). nr. 172 (= B.) most likely a copy of the preceding, written S. 1852. Çâke 1717. foll. 46. —

X. *Citi* begins प्राणभृत उपदधाति (5 adhy. 20 br. 241 k) M. foll. 25. — P. 186 a. —

XI. *Samciti* begins नाकसद उपदधाति (7 adhy. 20 br. 441 k.) P. 169. S. 1651. nr. 171 a copy thereof. —

XII. *Agnirahasya* begins अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते (6 adhy. 28 br. 286 k.) M. foll. 39. — P. 186 b. —

XIII. *Ashṭâdhyâyi* (252 k.) is wanting. —

XIV. *Madhyama* begins अयं वै यज्ञो योऽयं पवते (8 adhy. 29 br. 382 k.) M. foll. 48. — P. 187 a. —

XV. *Açvamedha* begins ब्रह्मौदनं पचति (7 adhy. 40 br. 308 k.) M. foll. 29. — P. 187 b. —

XVI. *Pravargya* begins (?) ब्रथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति (180 k.) is wanting. —

XVII. *Upanishad* begins उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य (6 adhy. 47 br. 446 k.) M. foll. 53. — Bodl. W. 369. foll. 73. a recent copy. nr. 485 a. a fragment. — P. 182. — Chamb. 122 twice. 1., foll. 99. S. 1840. 2., foll. 85. nr. 395 fragments. — Edited by *Poley* 1844 Bonn. —

II. Manuscripts of the commentaries on the *Çatapatha-Brâhmaṇa*. —

1. *Sâyaṇâcârya's Mâdhavîya Vedârthaprakâça*: when quoted in the commentaries on the Kâtyâyanasûtra — and this happens very rarely —, this commentary is quoted by इति माधवः. The copies thereof, extant in the E. I. H. and in the Wilson-Collection of the Bodleian library, are very modern, incorrect and defective: and as all of them, with the only exception of E. I. H. 613, partake of the same blunders and interruptions, they have most likely been copied from the *same* manuscript: they contain the explanation of only eight books, viz: *kâṇḍa I* as far as the end of the third brâhmana in the seventh adhyâya. E. I. H. 657 (A.) foll. 67. nr. 1509 (B.) foll. 123. Bodl. Wils. 2 (C.) foll. 87. — *kâṇḍa II* E. I. H. 657. foll. 64. — *kâṇḍa III* ibid. (A.) foll. 69. Bodl. W. 3 (B.) foll. 129. — *kâṇḍa V* E. I. H. 657 (A.) foll. 66. Bodl. W. 3 (B.) foll. 64. — *kâṇḍa VII* E. I. H. 149 (A.) foll. 66. Bodl. W. 4 (B.) foll. 65. — *kâṇḍa IX* in the same numbers A. foll. 44. B. foll. 58. — *kâṇḍa X* E. I. H. 149 (A.). most defective fragments. foll. 39. nr. 613 (B.). S. 1610. foll. 185. — *kâṇḍa XI* E. I. H. 1071 (A.) foll. 67. Bodl. W. 4 (B.). foll. 104. —

2. Âcârya-*Harisvâminah* kritau Catapathabhâshyam: quoted throughout the commentaries on Kâtyâyana by: इति हरिस्वामिनः. The copies of this commentary are even more defective and incorrect then those of the Mâdhavîyabhâshya: they are bound together with these and written by the same scribes (*): they contain the explanation of only three *kâṇḍas*, viz: of *kâṇḍa II*. Bodl. W.

(*) There are four scribes of the three copies 149. 657. 1071 of the E. I. H. *kâṇḍa* I and *k.* II as far as fol. 16 have been written by the one, *kâṇḍa* II from fol. 17 and the *kâṇḍas* III. VII. IX. XI by another, the *kâṇḍas* V. VIII. X. XIII as far as fol. 19 by a third, and *kâṇḍa* XIII foll. 20-24. by a fourth. — Three scribes are to be discerned in the three copies 2-4 of the Bodl. Wils. Coll. The *kâṇḍas* I. VII. IX have been copied by the one, the *kâṇḍas* II. V by another, the *kâṇḍas* III. XI by a third. —

2. foll. 54. — *kâṇḍa VIII* E. I. H. 657. foll. 36. — *kâṇḍa XIII* E. I. H. 149. foll. 24; and partly of a fourth, viz: of *the first kâṇḍa* from the *fourth brâhmaṇa* of the *seventh* adhyâya (where the common copy of the *Mâdhavîyabhâshya* failed) as far as the end (in B. only as far as VIII,3,14), occupying 12 leaves in A. nine in B. and sixteen in C. —

3. Dvivedaçrînârâyanasûnu *Dviveda Ganga's* commentary of the *Mâdhyandina Âraṇyaka*: a very excellent copy (= M.) in the collection of the Rev. Dr. Mill, since added to the Bodleian library: foll. 322. —

There are extant in Europe several copies of commentaries on the *Vrihad-Aranyaka* in the *Kâṇvaçâkhâ*, but as they have been already published by Dr. Roer in the Bibliotheca Indica nro. 6. Calcutta 1848, I do not think it necessary to notice them here.

III. *Rishitarpaṇam.* Cham 606 b. 735. foll. 11. a sort of *anukramaṇî* of the *Mâdhyandina Çatapatha Brâhmaṇa,* enumerating *a.* the *beginning* words (*pratîkâni*) 1) of each *adhyâya.* 2) of each *hundred* of (the 7624) *kaṇḍikâs* (2800-5400 are enumerated twice differently). 3) of each *prapâṭhaka.* 4) of the *last* kaṇḍikâ of each kâṇḍa: *b.* the closing words of each kâṇḍa. —

B. The accentuation in the manuscripts of the Çatapatha Brâhmaṇa is rather strange, as there only *one* sign is made use of, an horizontal stroke beneath the line, for denoting the *udâtta* as well as the *svarita.* The udâtta has the stroke beneath itself: नृषद्म्, the svarita beneath the preceding syllable: वीर्यम्. To avoid this ambiguity I have denoted the svarita in this edition by *two* horizontal strokes beneath the preceding syllable: वीर्यम्. — Before a following *accented* syllable the preceding *udâtta* loses its denotation: 1) before an *udâtta*: केतपूः केतम् instead of °पूः केतम्, मह्यो ये धनम् i. of मह्यो ये धनम्, पर्णा न वेरनु i. of पर्णा न वेरनु, अग्निर्हि वै धूर्थ i. of अग्निर्हि वै धूर्थ (१.१.२.१.), but रथवाह्यो सा हि न स्त्री न पुमान् i. of °ह्यो सा हि न स्त्री न पुमान् (५.५.४.३५.), as there would be wanting too many signs. A *seeming* exception only is यं-यमसुराणाम् १.६.३.२८, as the second यम् is not accented: see पाणिनिसू° ८.१.३. 2) before a *svarita*: नेद्यृद्धम् १.७.२.१., मानुषं नेद्यृद्धम्, यज्ञो वै स्वः, देवा वै स्वः. — The preceding *svarita* on the contrary retains its denotation be-

fore a following accented syllable: 1) before an *udâtta*: यज्ञो वै स्वर्ग्हः, देवा वै स्वर्गन्म, एवैतत्. 2) before a *svarita*: वोदानीतान् ॥५॥ सोऽभ्युद्गति (*) ५.१.४.६., इति सैषैतम् १.४.१.२६., देवाः सैषैतम् — The *udâtta* changes into the *svarita* (and the original *svarita* remains unaltered: अनुवाक्येयम् १.७.२.११.) in *all* cases of crasis with a following *unaccented* vowel, see my *Vâjasaneyasanhitae specimen* II p. 7 follow. (Berlin 1847 Asher) and *Roth* in his edition of *Yâska's Nirukta* I p. LX. (Göttingen 1848 Dieterich). The only continual exception is made by the praepositions आ and प्र, which remain *udâtta*: एहि ५.२.१.१०. प्राह्न, प्राधन्वन् १.५.१.२०., प्रारोचत १.६.२.८.: besides the *udâtta* is occasionally retained (against पाणि° ८.२.४.) in the declension, but alternating *even in the same words* with the *svarita*: दशम्या and दशम्या Instr. of दशमी. – The *udâtta* is regular in all cases of crasis with a following *accented* vowel: एवाङ्गतिम्, एवेति instead of एव आ इति १.४.१.५., आग्नेऽध्यूह्लति i. of आग्ने अध्यूह्लति १.५.३.२०., सुब्रेति i. of सुब्रा इति १.७.१.१६., याज्याथ i. of याज्या अथ १.७.२.७. —

(*) The denotation and the reciprocal influence of the accents does in general not undergo any alteration from the divisions of the *pratîkas*, the *kandikâs* or the *brâhmaṇas*, with the only exception that the underlineal stroke is changed into three dots in the manuscripts: तत् ॥१॥ स, and in this edition respectively also into six of them, if the following svarita is denoted: तत् ॥१॥ सोऽभि°

Berlin March 1849.

Albrecht Weber

शतपथब्राह्मण

विषय-सूची

पृष्ठ

शतपथब्राह्मण

प्रथम भाग

ओम् । व्रतमुपैष्यन् । अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्रा-
ङ्तिष्ठन्नप उपस्पृशति तद्यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूति-
रन्तरतो मेध्या वा आपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति पवित्रं वा आपः पवित्रपू-
तो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति ॥१॥ सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रत-
मुपैति । अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां
व्रतपतिस्तस्मा एवैतत्प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र ति-
रोहितमिवास्ति ॥२॥ अथ सꣳस्थिते विसृजते । अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं
तदशकं तन्मेऽराधीत्यशकद्ध्येतद्यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य
सꣳस्थामगन्नेतेन न्वेव भूयिष्ठा-इव व्रतमुपयन्त्यनेन त्वेवोपेयात् ॥३॥ द्वयं वा इदं
न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्स-
त्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥४॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा
व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वांत्सत्यं वदति ॥५॥
अथ सꣳस्थिते विसृजते । इदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष-इव वा एतद्भ-
वति यद्व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमहꣳ सत्यादनृतमुपैमीति तदु
खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत
॥६॥ अथातोऽशनानशनस्यैव । तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने
मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति त एनमेतद्व्रतमुपयन्तं विदुः प्रातर्नो यक्ष्यत

अध्याय १–ब्राह्मण १

(दर्शपूर्णमास इष्टि करने का) व्रत करनेवाला मनुष्य आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। जल क्यों छूता है? इसलिये कि मनुष्य अपवित्र है, वह झूठ बोलता है। जल के स्पर्श से उसकी शुद्धि हो जाती है। जल वस्तुतः पवित्र है। प्रयोजन यह है कि 'पवित्र होकर व्रत करूँ'। जल वस्तुतः पवित्र है। 'पवित्र के द्वारा पवित्र होकर मैं व्रत करूँ' ऐसा सोचता है। इसीलिये जल का स्पर्श करता है ॥१॥

आहवनीय अग्नि की ओर देखकर वह व्रत करता है इस मंत्र से (यजु० १।५)— "हे व्रत के पालक अग्नि, मैं व्रत करना चाहता हूँ। मैं व्रत का पालन कर सकूँ। मैं इस योग्य हो जाऊँ।" अग्नि देवों का व्रतपति है। इसीलिये अग्नि को सम्बोधन करके कहता है कि "मैं व्रत करना चाहता हूँ। मैं व्रत का पालन कर सकूँ। मैं इस योग्य हो जाऊँ"। शेष स्पष्ट है ॥२॥

इष्टि के समाप्त होने पर व्रत को समाप्त करता है (यजु० २।२८ से)—"हे व्रतपते अग्नि! मैंने व्रत किया। मैं उसको कर सका। मैं इस योग्य हो सका।" वस्तुतः जिसने यज्ञ को समाप्त किया वह व्रत को पाल सका। वह व्रत-पालन के योग्य हो सका। प्रायः यज्ञ करनेवाले इसी प्रकार व्रत करते हैं। इस प्रकार भी व्रत करे ॥३॥

दो ही बातें होती हैं, तीसरी नहीं—एक सत्य और दूसरी अनृत—देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत। यह जो मंत्र में कहा कि 'झूठ से सत्य को प्राप्त होऊँ' उसका तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यों में से एक था, देवों में से एक हो जाऊँ' (मनुष्यत्व छूटकर देवत्व आ जावे) ॥४॥

उसे सत्य ही बोलना चाहिये। देव सत्यरूपी व्रत का पालन करते हैं। इसी से उनको यश मिलता है। जो इस रहस्य को समझकर सत्य बोलता है उसको यश मिलता है ॥५॥

यज्ञ की समाप्ति पर वह व्रत को समाप्त करता है इस मंत्र से (यजु० २।२८) 'मैं जो था वही हो गया'। जब उसने व्रत किया था तो वह अमानुष अर्थात् देव हो गया था। ऐसा कहना तो उसको उचित नहीं था कि 'मैं सत्य से अनृत को प्राप्त हो जाऊँ'। इसलिये यज्ञ करते हुए देव की कोटि में होकर यज्ञ की समाप्ति पर जब वह मनुष्य की कोटि में आता है तो केवल इतना कहता है, "मैं जो पहले था नहीं, अब हूँ" इस प्रकार व्रत को समाप्त करता है ॥६॥

अब प्रश्न है कि व्रत के मध्य में खावे या न खावे? **आषाढ सावयस** मुनि का मत था कि व्रत में खाना नहीं चाहिये। देव मनुष्य के मन को जानते हैं। वे जानते हैं कि जब उसने आज व्रत किया है तो कल वह यज्ञ करेगा। वे सब देव उसके घर आते हैं। वे उसके घर में उपवास

ऽइति तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः ॥७॥ तन्न्वेवानवक्लृप्तम् । यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु नैवाश्नीयात् ॥८॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति यद्युऽअश्नाति देवानत्यश्नातीति स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयादिति यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितꣳ स यदश्नाति तेनापितृदेवत्यो भवति यद्यु तदश्नाति यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान्नात्यश्नाति ॥९॥ स वाऽआरण्यमेवाश्नीयात् । या वारण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यं तदु ह स्माहापि बर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत न वाऽएतेषाꣳ हविर्गृह्णन्तीति तदु तथा न कुर्याद्व्रीहियवयोर्वाऽएतदुपजं यच्छमीधान्यं तद्व्रीहियवावेवैतेन भूयाꣳसौ करोति तस्मादारण्यमेवाश्नीयात् ॥१०॥ स आहवनीयागारे वैताꣳ रात्रिꣳ शयीत । गार्हपत्यागारे वा देवान्वाऽएष उपावर्तते यो व्रतमुपैति स यानेवोपावर्त्तते तेषामेवैतन्मध्ये शेतेऽधः शयीताधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः ॥११॥ स वै प्रातरप एव । प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वाऽआपो यज्ञमेवैतत्प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमे वैतद्वितनोति ॥१२॥ स प्रणयति । कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीत्येताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं युनक्ति ॥१३॥ यद्वेवापः प्रणयति । अद्भिर्वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ॥१४॥ यद्वेवास्यात्र । होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वाग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति ॥१५॥ यद्वेवापः प्रणयति । देवान्ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध इति तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षाꣳसि ॥१६॥ ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः । यदपो वज्रो वाऽआपो वज्रो हि वाऽआपस्तस्माद्येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत एतं वज्रमुदयच्छंस्तस्याभये

करते हैं (उप+वास, किसी के घर में आकर बैठना)। इसीलिये इस दिन का नाम है 'उपवसथ' (उपवास का दिन) ॥७॥

यह तो सर्वथा अनुचित है कि आगन्तुक मनुष्यों को खिलाने से पहले घरवाला स्वयं खा ले। और यह तो और भी अनुचित है कि देवों को खिलाने से पहले खा लेवे। इसलिए नहीं खाना चाहिए ॥८॥

इस विषय में याज्ञवल्क्य का कहना है कि—यदि नहीं खाता है तो पितृदेवत्य होता है; और यदि खाता है तो देवों से पहले खाने का दोषी होता है। इसलिये इतना खावे कि न खाने में उसकी गणना हो सके ॥९॥

जो हवि में नहीं डाला जाता उसका खाना न खाने के बराबर है। यदि उसको खा लेगा तो उसे पितृदेवत्य का दोष न लगेगा। जिस चीज की हवि नहीं दी जाती उसके खा लेने से देवों से पहले खा लेने का दोष भी नहीं लगता।

उसे वन में उपजी हुई चीज खानी चाहिये—ओषधि या वनस्पति। बर्कु वार्ष्ण ने कहा—'मुझे माष (उड़द) पकाकर दे दो क्योंकि माष की हवि नहीं दी जाती।' परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। जौ या चावल के साथ उड़द खाये जाते हैं। उड़द जौ या चावल की वृद्धि करते हैं। इसलिये वन की उपजी हुई चीज ही खावे ॥१०॥

उस रात को वह आहवनीय अग्नि के घर में सोवे या गार्हपत्य अग्नि के। जो व्रत करता करता है वह देवों के निकट होता है। अतः वह वहीं सोता है जिनके निकट होना चाहता है। नीचे (धरती पर) सोना चाहिये, क्योंकि जो सेवा करता है वह नीचे से ही करता है ॥११॥

दूसरे दिन प्रातःकाल अध्वर्यु पहला काम यह करता है कि वह जल के पास जाता है। जल को लाता है। जल यज्ञ है। अतः इस प्रकार वह यज्ञ के पास जाता है। जल को आगे लाने का अर्थ यह है कि वह यज्ञ को आगे लाता है ॥१२॥

वह यह मंत्र पढ़कर जल का प्रणयन करता है—(यजु० १।६) "कौन[1] तुझको जोड़ता है ? या प्रजापति तुझको जोड़ता है। वह तुझको जोड़ता है। किसके लिए तुझको जोड़ता है ? या प्रजापति के लिए तुझको जोड़ता है। उसके लिए तुझको जोड़ता है। इन अनिरुक्त (रहस्यमय) वचनों को बोलता है। प्रजापति रहस्यमय है। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार प्रजापति अर्थात् यज्ञ की योजना करता है ॥१३॥

जलों के प्रणयन का हेतु यह है कि जल से ही यह सब सृष्टि व्याप्त है। इस प्रकार इस पहले कर्म से ही वह जगत् की प्राप्ति करता है ॥१४॥

इसका यह भी तात्पर्य है कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, अग्नीध्र या स्वयं यजमान भी जिसकी प्राप्ति नहीं कर सकता उसकी इस प्रकार प्राप्ति हो जाती है ॥१५॥

जल के प्रणयन का एक हेतु यह भी है। जब देव यज्ञ करने लगे तो असुरों, राक्षसों ने उनको रोका—'यज्ञ मत करो।' उन्होंने रोका (ररक्षुः) इसलिये उनका नाम 'राक्षस'[2] हुआ ॥१६॥

तब देवों ने इस वज्र को खोज निकाला, जो जल है। जल वज्र है। निस्सन्देह जल वज्र है। जल जहाँ जाता है गड्ढा कर देता है। जिस चीज पर आक्रमण करता है उसका नाश

१. 'क' व्यंजनों में पहला अक्षर है। प्रजापति भी पहला व्यक्त करनेवाला है।
२. 'रक्ष' धातु का अर्थ है 'रोकना'। उन्होंने देवों को शुभ काम से रोका, इसलिये उनका नाम राक्षस हुआ।

ऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत तथो एवैष एतं वज्रमुद्यच्छति तस्याभये ऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञं तनुते तस्मादपः प्रणयति ॥१७॥ ता उत्तरेणोत्तरेण गार्हपत्यꣳ सादयति । योषा वाऽआपो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद्गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते वज्रं वाऽएष उद्यच्छति यो ऽपः प्रणयति यो वाऽअप्रतिष्ठितो वज्रमुद्यच्छति नैनꣳ शक्नोत्युद्यन्तुꣳ सꣳ हैनꣳ शृणाति ॥१८॥ स यद्गार्हपत्ये सादयति । गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तथो हैनमेष वज्रो न हिनस्ति तस्माद्गार्हपत्ये सादयति ॥१९॥ ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति । योषा वाऽआपो वृषाग्निर्मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियतऽएवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेते ॥२०॥ ता नान्तरेण संचरेयुः । नेन्मिथुनं चर्यमाणमन्तरेण संचरानिति ता नातिहृत्य सादयेन्नोऽअनाप्ताः सादयेत्स यदतिहृत्य सादयेदस्ति वाऽअग्नेश्चापां च विभ्रातृव्यमिव स यथैव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप उपस्पृशन्त्यग्नौ हाधि भ्रातृव्यं वर्धयेद्यदतिहृत्य सादयेद्यद्यऽअनाप्ताः सादयेन्नो हाभिस्तं काममभ्यापयेद्यस्मै कामाय प्रणीयन्ते तस्मादु सम्प्रत्येवोत्तरेणाहवनीयं प्रणयति ॥२१॥ अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनं चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड् यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद्द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्यं यदा वै द्वौ सꣳरभेतेऽअथ तद्वीर्यं भवति द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

अथ शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं चादत्ते । कर्मणे वां वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति वेषाय वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम् ॥१॥ अथ वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइत्यथ प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा ॥२॥ देवा ह वै

कर देता है। उन्होंने इस वज्र को लिया और उसीकी छत्र-छाया में यज्ञ को ताना। वह भी जल का प्रणयन करके इसी वज्र को लाता है और इसी की छत्र-छाया में यज्ञ को तानता है ॥१७॥

पात्र में थोड़ा-सा जल लेकर गार्हपत्य के उत्तर की ओर रख देता है। आपः (जल) स्त्रीलिङ्ग है और अग्नि पुंल्लिङ्ग। गार्हपत्य घर है। स्त्री-पुरुष मिलकर घर में ही सन्तानोत्पत्ति करते हैं। जो जल का प्रणयन करता है वह वज्र को लाता है। जो भूमि में सुदृढ़ता से खड़ा नहीं होता वह वज्र को नहीं ले सकता, क्योंकि वज्र उसी को हानि पहुँचा देगा ॥१८॥

गार्हपत्य में रखने का यही प्रयोजन है। गार्हपत्य घर है। घर ही प्रतिष्ठा है (खड़े होने की जगह—, प्रति + स्था)। घर में इसकी प्रतिष्ठा करता है। इस प्रकार वज्र उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसीलिये वह जल की गार्हपत्य में स्थापना करता है ॥१९॥

आहवनीय के उत्तर में क्यों ले जाता है? आपः (जल) स्त्रीलिङ्ग हैं। अग्नि पुंल्लिङ्ग है। स्त्री-पुरुष के मिलने से ही सन्तान होती है। स्त्री, पुरुष के बाईं ओर सोती है ('उत्तर' का अर्थ 'बायाँ' भी है) ॥२०॥

जल और अग्नि के बीच में होकर न निकले, क्योंकि स्त्री-पुरुष के जोड़े के बीच में नहीं पड़ना चाहिये (उनके सहवास में विघ्न नहीं डालना चाहिये (जल को ठीक उत्तर की ओर रखना चाहिये) न तो सीमा से आगे बढ़ाकर और न सीमा को प्राप्त करने के पहले (न पूर्व की ओर, न पश्चिम की ओर)। यदि सीमा से आगे बढ़ाकर रक्खेगा तो जल और अग्नि में जो परस्पर-विरोध है उसको बढ़ा देगा और जब जल का स्पर्श होगा तो अग्नि का विरोध बढ़ जायगा। यदि सीमा को प्राप्त किये बिना ही रख देगा तो कामना की पूर्ति नहीं होगी। इसलिये जल का प्रणयन ठीक उत्तर को ही करना चाहिये ॥२१॥

अब तृणों को बिछाता है (अग्नियों को) चारों ओर। पात्रों को दो-दो करके ले जाता है, अर्थात् सूप और अग्निहोत्र-हवणी, स्फ्या और कपाल, शमी और कृष्णमृगचर्म, ऊखल और मुसली, और छोटे-बड़े पत्थर; ये दस हो गये। विराट् छन्द दस अक्षर का होता है। यज्ञ भी विराट् है। इस प्रकार यज्ञ को विराट् रूप दे देता है। दो-दो करके क्यों ले जाते हैं? इसलिये कि दो में शक्ति होती है। जब दो मिलकर काम करते हैं तो वह काम सुदृढ़ होता है। दो से सन्तान होती है। इस प्रकार यज्ञ को प्रजनन-शील कर देता है ॥२२॥

अध्याय १—ब्राह्मण २

अब सूप और अग्निहोत्र-हवणी को लेता है इस मंत्र से (यजु० १।६)—"कर्म के लिए तुम दोनों को, व्यापकत्व के लिए तुम दोनों को।" यज्ञ कर्म है। कर्म के लिए अर्थात् यज्ञ के लिए। 'व्यापकत्व के लिए तुम दोनों को' क्योंकि यजमान यज्ञ में व्यापक होता है ॥१॥

अब वाणी रोकता है। वाणी यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ को निर्विघ्न पूरा करूँ, यह तात्पर्य है। अब इन दोनों (सूप और हवणी) को आग पर तपाता है यह मंत्र बोलकर (यजु० १।७)—"झुलस गया राक्षस, झुलस गये शत्रु। जल गया राक्षस, जल गये शत्रु" ॥२॥

यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसंगाद्बिभयांचक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षा-
ंस्यतोऽपहन्ति ॥३॥ अथ प्रैति । उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वाऽअनु रक्षश्चर-
त्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुच-
रति तद्ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते ॥४॥ स वाऽअनस एव गृह्णीयात् ।
अनो ह वाऽअग्रे पश्चेव वाऽइदं यच्छालꣳ स यदेवाग्रे तत्करवाणीति तस्मा-
दनस एव गृह्णीयात् ॥५॥ भूमा वाऽअनः । भूमा हि वाऽअनस्तस्माद्यदा बहु
भवत्यनोवाह्यमभूदित्याहुस्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात् ॥६॥
यज्ञो वाऽअनः । यज्ञो हि वाऽअनस्तस्मादनस एव यजूꣳषि सन्ति न कोष्ठस्य
न कुम्भ्यै भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तदृषीन्प्रति भस्त्रायै यजूꣳष्यासुस्तान्येतर्हि
प्राकृतानि यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽइति तस्मादनस एवगृह्णीयात् ॥७॥ उतो पात्र्यै
गृह्णन्ति । अनन्तरायमु तर्हि यजूꣳषि जपेत्स्यमु तर्ह्यवस्तदुपोह्य गृह्णीयाद्यतो यु-
नजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥८॥ तस्य वा
ऽएतस्यानसः । अग्निरेव धूरग्निर्हि वै धूरथ य एनद्वहत्यग्निदग्धमिवैषां वहं भव-
त्यथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्रऽउगं वेदिरेवास्य सा नीड एव हविर्धानम् ॥९॥
स धुरमभिमृशति । धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं
धूर्वाम इत्यग्निर्वाऽएष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन्भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्माऽएवैतन्नि-
ह्नुते तथो हैनमेषोऽतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ॥१०॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह ।
अर्धमासशो वाऽअहꣳ सपत्नान्धूर्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह ॥११॥ अथ जघ-
नेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति । देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जु-
ष्टतमं देवहूतमम् । अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वारित्यन एवैतदुपस्तौ-
त्युपस्तुतादरातमनसो हविर्गृह्णानीति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञ-
पतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ॥१२॥ अथाक्रमते । विष्णुस्त्वा क्रमतामिति

क्योंकि जब देव यज्ञ करने लगे तो डरे कि कहीं असुर-राक्षस यज्ञ में विघ्न न डालें। अतः पहले से ही वह दुष्ट राक्षसों को यज्ञ से दूर कर देता है ।।३।।

अब वह (धान की गाड़ी की ओर) चलता है यह मंत्रांश बोलकर (यजु० १।७)—"अन्तरिक्ष में चलता हूँ।" राक्षस अन्तरिक्ष में खुले-बन्द दोनों ओर चलता है। इसी प्रकार यह पुरुष (अध्वर्यु) भी खुले-बन्द, दोनों ओर चलता है। इस प्रकार वह यह मंत्रांश पढ़कर अन्तरिक्ष को दुष्ट राक्षसों से मुक्त कर देता है ।।४।।

(हवि के धान को) गाड़ी से ही लेना चाहिये। गाड़ी पहले है और यज्ञ-शाला पीछे। जो पहले है उसको मैं पहले करूँ। इसलिये गाड़ी से ही लेना चाहिये ।।५।।

अनस् (गाड़ी) का अर्थ है भूमा (बहुतायत)। वस्तुतः गाड़ी बहुतायत का चिह्न है। जो चीज बहुत होती है उसको कहते हैं 'गाड़ी भरकर है'। इस प्रकार बहुतायत का सम्पादन करता है। इसलिये गाड़ी से ही लेना चाहिये ।।६।।

यज्ञ गाड़ी है। यज्ञ वस्तुतः गाड़ी है। इसलिये यजुः-मंत्रों का संकेत गाड़ी की ओर है; कोष्ठ (कोठार) या घड़े की ओर नहीं। यह ठीक है कि ऋषियों ने चावलों को चमड़े के थैले से निकाला था। इसलिये यजुः-मंत्र ऋषियों के सम्बन्ध में चमड़े के थैले की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यहाँ तो प्रकृत अर्थ ही है—'यज्ञ से यज्ञ को करूँ।' इसलिये गाड़ी से ही लेना चाहिये ।।७।।

कुछ पात्र से भी लेते हैं। फिर भी यजुः-मंत्रों को पूरा-पूरा पढ़ना चाहिये। इस दशा में स्पया को पात्र में डालना चाहिये, यह सोचकर कि जहाँ जोड़ूँ वहीं खोलूँ। जहाँ जोड़ते हैं वहीं खोलते हैं (गाड़ी का जुआ जहाँ जोड़ा जाता है वहीं खोला जाता है) ।।८।।

इस गाड़ी का जुआ अग्नि हो। जुआ अग्नि है, क्योंकि जुआ जब बैलों के कन्धों पर रक्खा जाता है तो कन्धे जल जाते हैं। डण्डे का जो बीच का भाग है वह मानो वेदी है और गाड़ी में जहाँ चावल रहता है वह मानो हविर्धान है। इस प्रकार गाड़ी की यज्ञ से उपमा दी गई है ।।९।।

अब वह जुए को छूता है, यजु० १।८ के इस अंश को पढ़कर—"तू जुआ है। उसको सता जो सतानेवाला है। उसको सता जो हमको सताता है या जिसको हम सताते हैं।" जुए में अग्नि होता है। जब वह हवि लेने जायगा तो जुए के पास से गुजरेगा। इस प्रकार जुए को प्रसन्न करता है जिससे जुआ उसको कष्ट न दे ।।१०।।

आरुणी ने जो कहा था कि मैं हर आधे मास में शत्रुओं का नाश करता हूँ वह इसी सम्बन्ध में कहा था ।।११।।

डण्डे को छूते हुए, यजु० १।८ और १।९ के इन अंशों का जाप करता है—"तू देवों में सबसे अच्छा ले-जानेवाला, सबसे अच्छा जुड़ा हुआ, सबसे अच्छा भरा हुआ, सबसे अच्छा, प्यारा, सबसे अच्छा निमंत्रण देनेवाला है।" "तू सबसे दृढ़ हविर्धान है। कड़ा रह, ढीला न पड़।" इस प्रकार वह गाड़ी की स्तुति करता है कि इस प्रकार स्तुत और प्रसन्न गाड़ी से वह हवि ले सके। "यज्ञपति स्खलित न हो" (यजु० १।९)। यजमान ही यज्ञपति है। यजमान की दृढ़ता के लिए ही यह प्रार्थना करता है ।।१२।।

(दाहिने पहिये पर से) गाड़ी पर चढ़ता है इस मंत्र से (यजु० १।९)—"विष्णु तुझ पर

यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथ-
मेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो
विक्रान्तिं विक्रमते ॥१३॥ अथ प्रेक्षते । उरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद्ब्रह्मणै-
वैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते ॥१४॥ अथापास्यति । अपहतꣳ रक्ष इति य-
द्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्यु नाभ्येव मृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति
॥१५॥ अथाभिपद्यते । यद्धस्तां पञ्चति पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्त-
द्यज्ञमेवैतदत्र दधाति ॥१६॥ अथ गृह्णाति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बा-
हुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्स-
वितृप्रसूत एवैतद्गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा
भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवैतद्गृह्णा-
ति ॥१७॥ अथ देवताया आदिशति । सर्वा ह वै देवता अध्वर्युꣳ हविर्ग्रहीष्यन्त-
मुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत्सह सती-
भ्योऽसमदं करोति ॥१८॥ यद्वेव देवताया आदिशति । यावतीभ्यो ह वै देव-
ताभ्यो हवीꣳषि गृह्यन्त ऋणमु हैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं कामꣳ समर्ध-
येयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्वै देवताया आदिशत्येवमेव यथापूर्वꣳ हवीꣳषि गृ-
हीत्वा ॥१९॥ अथाभिमृशति । भूताय त्वा नारातय इति तद्यत एव गृह्णाति
तदेवैतत्पुनराप्याययति ॥२०॥ अथ प्राङ्प्रेक्षते । स्वरभिविख्येषमिति परिवृतमिव
वा एतदनो भवति तदस्यैतच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः
सूर्यस्तत्स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति ॥२१॥ अथावरोहति । दृꣳहन्तां दुर्याः पृथि-
व्यामिति गृहा वै दुर्यास्ते हेत ईश्वरो गृहा यजमानस्य योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन
चरति तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोस्तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳ
हति तथा नानुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्या-

चढ़े।" यज्ञ का नाम विष्णु है। यज्ञ ने ही अपने पराक्रम से देवों को पराक्रमयुक्त किया जो पराक्रम कि देवों में है। पहले पैर से पृथिवी को, दूसरे से अन्तरिक्ष को, तीसरे से द्यौलोक को। इस यजमान के लिए भी यह विष्णु नामक यज्ञ इस सब पराक्रम को प्राप्त कराता है।।१३।।

अब वह (चावलों को देखता है और) गाड़ी को सम्बोधन करके इस मन्त्रांश (यजु० १।९)का जाप करता है—"वायु के लिए खुल।" वायु प्राण है। इस मन्त्र के जाप से वह यजमान के प्राण को खुली वायु प्रदान करता है।।१४।।

(अगर चावलों पर कोई तिनका या घास आ जावे तो) इस मन्त्रांश (यजु० १।९) को पढ़कर उड़ाता है—"राक्षस भाग गया।" यदि न हो, तो भी छू ले और इस मन्त्र को पढ़ ले। इससे राक्षस दूर भाग जाय।।१५।।

अब वह चावलों को इस मन्त्रांश (यजु० १।९) को जपकर छूता है—"पाँचों इसको ले लेवें।" 'पाँचों' का अर्थ है पाँच अँगुलियाँ; यज्ञ को भी पांक्त (पाँच वाला) कहते हैं। इस प्रकार यज्ञ को धारण करता है।।१६।।

यजु० १।१० के इस अंश को पढ़कर (चावल) लेता है—"देव सविता की प्रेरणा से, पूषा के दोनों हाथों से अग्नि के लिए तुझको लेता हूँ।" सविता देवों का प्रेरक है। सविता की इसी प्रेरणा से इसको लेता है, अश्विन की दोनों भुजाओं से। दोनों अध्वर्यु अश्विन हैं। "पूषा के दोनों हाथों से", पूषा बाँटनेवाला है, जो हाथों से भागों को बाँटता है। देव सत्य हैं। मनुष्य अनृत है। इस प्रकार सत्य के द्वारा ही चावलों को ग्रहण करता है।।१७।।

अब देवताओं का नाम निर्देश करता है। जब अध्वर्यु हवि देने को होता है तो सभी देव घिर आते हैं, 'वह मुझको देगा, वह मुझको देगा' इस प्रकार सोचकर। इस प्रकार वह आये हुए देवों में सामञ्जस्य उत्पन्न करता है।।१८।।

देवों के नामों के निर्देश का एक प्रयोजन यह भी है कि जिन देवताओं के लिए हवि ग्रहण की जाती है उन देवताओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे यजमान की इच्छाओं की पूर्ति करें, इसलिए भी देवताओं का निर्देश करता है। पूर्ववत् देवताओं के लिए निर्देश करके—।।१९।।

वह (बचे हुए चावलों को) यजु० १।११ के इस अंश को जपकर छूता है—"विभूति के लिए तुझको, न कि शत्रु के लिए।" जितना वह लेता है उतनी ही उसकी पूर्ति कर देता है।।२०।।

अब (गाड़ी पर बैठकर) पूर्व की ओर देखता है इस मन्त्रांश (यजु० १।११) को जपकर, "मैं प्रकाश का अवलोकन करूँ।" गाड़ी ढकी होती है, मानो उसकी आँख पापयुक्त है। यज्ञ प्रकाश है, यज्ञ दिन है, यज्ञ देव है, यज्ञ सूर्य है। इस प्रकार वह प्रकाशरूपी यज्ञ का अवलोकन करता है।।२१।।

इस मन्त्रांश (यजु० १।११) को पढ़कर गाड़ी से उतरता है—"दरवाजोंवाले पृथिवी पर सुदृढ़ रहें।" दरवाजोंवाले घर हैं। जब अध्वर्यु यज्ञ के साथ चलता है तो सम्भव है कि उसके पीछे यजमान के घर टूट जायँ और उसका परिवार नष्ट हो जाय। अतः इस प्रकार यजमान के घर को भूमि पर सुदृढ़ करता है कि वे टूटें न और परिवार नष्ट न हो। इसलिए वह कहता है,

मित्यथ प्रैत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीति सोऽसाविव बन्धुः ॥२२॥ स यस्य गार्हपत्ये ह-
वीꣳषि श्रपयन्ति । गार्हपत्ये तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघनेनो तर्हि गार्हपत्यꣳ
सादयेद्यस्याहवनीये हवीꣳषि श्रपयन्त्याहवनीये तस्य पात्राणि सꣳसादयन्ति जघ-
नेनो तर्ह्याहवनीयꣳ सादयेत्पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति मध्यं वै नाभिर्मध्य-
मभयं तस्मादाह पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीत्यदित्याऽउपस्थऽइत्युपस्थऽइवे-
नद्भार्षुरिति वाऽआहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति तस्मादाहादित्याऽउपस्थऽइत्यग्ने हव्यꣳ
रक्षेति तदग्नये चैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्याऽअस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यꣳ
रक्षेति ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

पवित्रे करोति । पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ इत्येवै-
तदाह ॥१॥ ते वै द्वे भवतः । अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक-इवैव
पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् प्रत्यङ् ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानु
मात्रां तस्माद्द्वे भवतः ॥२॥ अथोऽअपि त्रीणि स्युः । व्यानो हि तृतीयो द्वे त्वेव
भवतस्ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षति तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति ॥३॥ वृ-
त्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं
वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥४॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवा-
पोऽभिप्र सुस्राव सर्वतइव ह्ययꣳ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता
उपर्युपर्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइत-
रासु सꣳसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहत्यथ
मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वाऽएताभ्यामुत्पुनाति ॥५॥ स उत्पुनाति । स-
वितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सविता वै देवा-
नां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनात्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वाऽअयं प-
वतऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वाऽउत्पवितारो

"दरवाजोंवाले पृथिवी पर सुदृढ़ होवें।" अब वह (गार्हपत्य के उत्तर की ओर) चलता है यह मंत्रांश (यजु० १।१०) पढ़कर—"मैं अन्तरिक्ष में चलता हूँ।" इसका वही अर्थ है ॥२२॥

जिस यजमान की गार्हपत्य अग्नि में अध्वर्यु आदि हवि पकाते हैं, उसी गार्हपत्य में पात्र भी रखते हैं। वे पात्र गार्हपत्य के पिछले भाग में रखने चाहिएं। परन्तु जिसकी आहवनीय में हवि पकाते हैं उस आहवनीय में पात्र रखते हैं। इन पात्रों को आहवनीय के पीछे रखना चाहिए। यजु० १।११ के इस अंश को जपकर ऐसा कहे, "मैं तुझको पृथिवी की नाभि में रखता हूँ।" नाभि का अर्थ है—मध्य में भय नहीं होता। इसलिए कहता है कि "मैं तुझे पृथ्वी की नाभि में रखता हूँ।"—"अदिति की गोद में।" जब किसी चीज को सुरक्षित रखते हैं तो कहावत है कि 'गोद में रख ली है'। इसलिए कहा "अदिति की गोद में।" 'अग्नि! हवि की रक्षा कर', इस प्रकार वह हवि को पृथिवी और अग्नि के संरक्षण में देता है। इसलिए कहता है, "हे अग्नि, तू इस हवि की रक्षा कर" ॥२३॥

अध्याय १—ब्राह्मण ३

अब दो पवित्रे बनाता है यजु० १।१२ का यह अंश पढ़कर—"तुम पवित्रे हो विष्णु के।" यज्ञ का नाम विष्णु है। इसलिए कहता है कि तुम यज्ञ के हो ॥१॥

वे दो होते हैं। यह जो वायु बहता है वह पवित्रा है। वह एक ही होता है। परन्तु जब वह पुरुष के भीतर जाता है तो उसके दो भाग हो जाते हैं—एक अगला और दूसरा पिछला। ये हैं प्राण और उदान। यह पवित्रीकरण भी उसी भाँति का है। इसलिए पवित्रे दो होते हैं ॥२॥

पवित्रे तीन भी हो सकते हैं, क्योंकि व्यान भी तो है। परन्तु दो ही होने चाहिएँ। इन दोनों पवित्रों से प्रोक्षणी जल को छिड़कता है। इसका कारण यह है—॥३॥

वृत्र इस सब पृथिवी को घेरकर सो रहा। द्यौ और पृथिवी के बीच में जो कुछ है उस सब को ढककर सो रहा। इसलिए उसका नाम वृत्र पड़ा ॥४॥

उस वृत्र को इन्द्र ने मारा। वह मरकर बदबू करता हुआ चारों ओर जलों की ओर बह निकला। समुद्र तो चारों ओर ही हैं। इससे कुछ जल भयभीत हुए और ऊपर-ऊपर बहे। वहीं से ये दर्भ उत्पन्न हुए (जिनके पवित्रे बनते हैं)। ये उस जल के भाग हैं जो सड़ा नहीं था। परन्तु दूसरे जलों में वह बदबूदार भाग मिल गया, क्योंकि वृत्र उनमें बहकर जा मिला। इन पवित्रों से वह उस भाग को शुद्ध करता है। इसलिए पवित्र जल से छिड़कता है। इसलिए उससे शुद्ध करता है ॥५॥

वह इस मन्त्रांश (यजु० १।१२) को पढ़कर पवित्र करता है—"सविता की प्रेरणा से, छिद्ररहित पवित्रे से, सूर्य की किरणों से।" सविता देवों का प्रेरक है। 'छिद्ररहित पवित्रे से'

यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥६॥ ताः सव्ये पाणौ कृत्वा ।
दक्षिणेनोदिङ्गयत्युपस्तौत्येवैना एतन्महयत्येव देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुव इति
देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीराप इत्यग्रेगुव इति ता यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवो
ऽग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं
नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवमिति साधु यज्ञꣳ साधु यजमानमित्येवैत-
दाह ॥७॥ युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्यऽइति । एता उ हीन्द्रोऽवृणीत वृ-
त्रेण स्पर्धमान एताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्यऽइति
॥८॥ यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्यऽइति । एता उ हीन्द्रमवृणत वृत्रेण स्पर्धमान-
मेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्यऽइति ॥९॥ प्रोक्षिता स्थेति ।
तद्देताभ्यो निह्नुते ऽथ हविः प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥१०॥
स प्रोक्षति अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तद्यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं क-
रोत्येवमेव यथापूर्वꣳ हवीꣳषि प्रोक्ष्य ॥११॥ अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति । दैव्याय
कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायाऽइति दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै यद्वो
ऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति तद्यदेवैषामत्राशुद्धस्तक्षा वान्यो वामेध्यः क-
श्चित्पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं
वस्तच्छुन्धामीति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

अथ कृष्णाजिनमादत्ते । यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो
भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः ॥१॥ तस्य यानि शुक्लानि
च कृष्णानि च लोमानि । तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि शुक्लानि तानि साम्नाꣳ
रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नाꣳ रूपं
यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषाꣳ रूपम् ॥२॥
सैषा त्रयी विद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णस्तद्यत्कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव

वायु जो बहता है छिद्ररहित पवित्रा है। "सूर्य की किरणों से" क्योंकि सूर्य की किरणें पवित्र करने वाली हैं ॥६॥

बायें हाथ में जल लेकर दाहिने हाथ से उछालता है, स्तुति करते हुए और महत्ता दर्शाते हुए (यजु० १।१२)—"देवी जलो! आगे चलनेवाले, आगे पवित्र करनेवाले।" जल दिव्य हैं। इसलिए कहा 'देवी रायः'। आगे चलकर समुद्र में जाते हैं इसलिए कहा 'अग्रे गुवः'। 'अग्रे पुवः', क्योंकि पहले वे सोम का पान करते हैं। अब 'इस यज्ञ को आगे बढ़ाओ, यज्ञपति को, जो सुधातु और देवों का प्रिय है।' इसके कहने का तात्पर्य है कि यज्ञ और पति ठीक हों ॥७॥

अब जपता है (यजु० १।३)—"हे जलो! तुमको इन्द्र ने वृत्र की लड़ाई में साथी चुना।" जब इन्द्र ने वृत्र को मारना चाहा तो जलों को चुना कि इन्हीं की सहायता से मैं वृत्र को मारूँगा। इसलिए कहता है कि "हे जलो, वृत्र की लड़ाई में तुम इन्द्र के साथी हो" ॥८॥

"तुमने भी इन्द्र को वृत्र की लड़ाई में चुना"—(यजु० १।१३)। जब इन्द्र वृत्र से लड़ाई कर रहा था तो जलों ने भी इन्द्र को चुना और उनकी सहायता से इन्द्र ने वृत्र को मारा। इसलिए कहता है कि 'तुमने भी इन्द्र को वृत्र की लड़ाई में चुना' ॥९॥

यजु० १।१३ का यह अंश पढ़ता है—"तुम पवित्र हो गये।" हवि के ऊपर जल छिड़ककर उसको पवित्र करता है। इस पवित्रीकरण का भी वही तात्पर्य है। इसीलिए ऐसा करता है ॥१०॥

वह पवित्र करते समय इस मन्त्रांश को पढ़ता है—"अग्नि के लिए तुझको पवित्र करता हूँ।" जिस देवता के लिए हवि होती है उसी के लिए पवित्र की जाती है। यथापूर्व सब हवियों को पवित्र करके ॥११॥

यज्ञ-पात्रों को पवित्र करता है इस मन्त्रांश (यजु० १।१३) को पढ़कर—"दिव्य कर्म के लिए, देव-यज्ञ के लिए पवित्र होओ।" दिव्य कर्म के लिए शुद्ध करता है। देव-यज्ञ के लिए तुम्हारा जो भाग छूने से अपवित्र हो गया, उसको मैं इस मन्त्र के द्वारा शुद्ध करता हूँ। बढ़ई ने या किसी और ने छूकर इनको अशुद्ध कर दिया हो। इस अशुद्धि को वह इस प्रकार दूर करता है। इसीलिए कहा कि 'अपवित्रों ने जो तुम्हारा अंश पवित्र किया हो उसको मैं पवित्र करता हूँ' ॥१२॥

अध्याय १—ब्राह्मण ४

अब यज्ञ की पूर्णता के लिए काले मृग का चमड़ा लेता है। एक बार यज्ञ देवताओं से भाग गया और काले मृग के रूप में विचरता रहा। देवताओं ने उसको खोज लिया और उसका चमड़ा ले आये ॥१॥

उसके जो सफेद और काले लोम हैं वे ऋक् और साम का रूप हैं—सफेद साम का और काले ऋक् का, या इससे उलटा अर्थात् काले साम का और सफेद ऋक् का। जो भूरे या खाकी हैं वे यजुः का रूप हैं ॥२॥

यह त्रयी विद्या यज्ञ है। उसका जो शिल्प है वह काले मृग-चर्म के रूप में है। वह इस

सर्वत्वाय तस्मात्कृष्णाजिनमधि दीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिपे-
षणं भवत्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात्तद्यज्ञे
यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति ॥३॥ अथ कृष्णाजिनमा-
दत्ते । शर्मासीति चर्म वाऽएतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह
शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳ-
स्यतोऽपहन्त्यतिनन्त्येव पात्राण्यवधूनोति यद्यस्यामेध्यमभूत्तद्ध्यस्यैतदवधूनोति
॥४॥ तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति । अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्त्विति इयं वै
पृथिव्यदितिस्तस्या अस्यै त्वग्यदिदमस्यामधि किंच तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रति
त्वादितिर्वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति
नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात इत्यभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥५॥ अथ
दक्षिणेनोलूखलमाहरति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो
हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥६॥ अथो-
लूखलं निदधाति । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न इति वा तद्यथैवादः
सोमꣳ राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ ह-
विर्यज्ञमभिषुणोत्यद्रय इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति वानस्पत्य इति
वानस्पत्यो ह्येष ग्रावासि पृथुबुध्न इति ग्रावा ह्येष पृथुबुध्नो ह्येष प्रति त्वादि-
त्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात
इति ॥७॥ अथ हविरावपति । अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनमिति यज्ञो हि
तेनाग्नेस्तनूर्वाचो विसर्जनमिति यां वाऽअमूꣳ हविर्ग्रहीष्यन्वाचं यच्छत्यत्र वै तां
विसृजते तद्यदेतामत्र वाचं विसृजतऽएष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रा-
सारि तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति ॥८॥ स यदिदं पुरा मानुषीं वाचं व्याह-
रेत्तु । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो

चमड़े को यज्ञ की पूर्णता के लिए लेता है, इसलिए काले मृग-चर्म पर ही दीक्षा ली जाती है। यज्ञ की पूर्णता के लिए चर्म को लेते हैं, इसलिए चावलों के कूटने-फटकने का काम भी इसी पर किया जाता है, जिससे हवि न फैले। यदि कुछ भाग गिरेगा भी, तो इसी पर गिरेगा और यज्ञ की पूर्णता नष्ट न होगी। इसीलिए कूटने-फटकने का काम चर्म पर किया जाता है ॥३॥

कृष्ण मृग-चर्म लेते समय यजु० १।१४ के इस अंश का जाप करता है—"तू शर्म या कल्याणकारक है।" इसका मानुषी नाम है चर्म और दैवी नाम है शर्म। इसीलिए कहा 'तू शर्म[1] है'। अब इसी मन्त्र के अगले टुकड़े को बोलकर उसे झाड़ता है—'राक्षस झाड़ दिये गये, शत्रु झाड़ दिये गये।' ऐसा करके वह राक्षस या शत्रुओं को दूर करता है। पात्रों से हटकर झाड़ता है, जो कुछ उसमें अपवित्र हो उसको झाड़ता है ॥४॥

अब उसकी गर्दन का भाग पश्चिम की ओर करके इस प्रकार बिछाता है कि बाल ऊपर को रहें, यजु० १।१४ का अगला भाग पढ़कर—"तू अदिति का चमड़ा है। अदिति तुझको स्वीकार करें।" पृथिवी अदिति है। उसके ऊपर जो कुछ हो वह उसका चमड़ा है। इसीलिए कहता है, 'तू अदिति का चर्म है, अदिति तुझे स्वीकार करे।' अपना अपने को स्वीकार करता है। कृष्ण मृग-चर्म को इसलिए ऐसा करता है कि चर्म और पृथिवी में सम्बन्ध स्थापित किया जाय और एक-दूसरे को न सतावें। जब वह बायें हाथ में पकड़ा होता है उसी समय—॥५॥

दाहिने हाथ से उखली पकड़ता है कि कहीं इस बीच में राक्षस वहाँ न आ जायें। ब्राह्मण राक्षसों का घातक होता है, अतः जबकि बायें हाथ में चमड़ा पकड़ा होता है, तभी—॥६॥

उखली को रख देता है, यह कहकर—"तू पत्थर है वनस्पति का—चौड़ा पत्थर" (यजु० १।१४)। जैसे सोमयज्ञ में सोमलता को पत्थरों पर पीसते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हवि को उखली और मूसल से कूटते हैं; इनका सामान्य नाम 'अद्रि' है। इसलिए कहा 'तू अद्रि (पत्थर) है'। 'वनस्पति का' इसलिए कहा कि वह सिल लकड़ी की होती है। 'चौड़ा पत्थर है' इसलिए 'चौड़ा पत्थर' कहा। 'अदिति का चमड़ा तुझे स्वीकार करे'—यह इसलिए कहा कि चमड़े और उखली में सम्बन्ध हो जाय और एक-दूसरे को हानि न पहुँचावें ॥७॥

अब यजु० १।१५ के एक टुकड़े को पढ़कर हवि डालता है—"तू अग्नि का शरीर है, वाणी को मुक्त करनेवाला।" चावल यज्ञ के लिए है, इसलिए उसको 'अग्नि का शरीर' कहा। 'वाणी को मुक्त करनेवाला' इसलिए कहा कि जब गाड़ी से चावल लेने गया था, उस समय मौन धारण किया था। अब उस मौन को तोड़ता है। मौन तोड़ने का हेतु यह है कि अब यज्ञ उखली में स्थापित हो गया उसका प्रसार हो गया। इसीलिए कहा कि 'तू वाणी को मुक्त करनेवाला है' ॥८॥

यदि इस बीच में (मौन के समय) कुछ लौकिक शब्द मुँह से निकल जायें तो ऋक् या यजुः से कोई विष्णु का मन्त्र बोलना चाहिए। यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ का आरम्भ हो जाता

---

१. शर्म का अर्थ है कल्याणकारक। चर्म और शर्म में थोड़ा ही भेद है। चर्म भी शरीर के लिए कल्याणकारक होता है।

ह्येषा प्रायश्चित्तिर्देववीतये त्वा गृह्णामीति देवानवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥९॥ अथ मुसलमादत्ते । बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति बृहद्ग्रावा ह्येष वानस्पत्यो ह्येष तदवदधाति स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधुसंस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह ॥१०॥ अथ हविष्कृतमुद्वादयति । हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद्वाचमेवैतद्विसृजते वागु वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते ॥११॥ तानि वाऽएतानि । चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तदाहैतद्धि यज्ञियतममेतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् ॥१२॥ तद्ध स्मैतत्पुरा । जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति तद्यदेतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति ॥१३॥ मनोर्ह वाऽऋषभ आस । तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिरे पापं वत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुली ऽइति हासुरब्रह्मावासतुः ॥१४॥ तौ होचतुः । श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति तस्यालब्धस्य सा वागपचक्राम ॥१५॥ सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश । तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति ते हासुराः समूदिर ऽइतो वै नः पापीयः सचते भूयो हि मानुषी वाग्वदतीति किलाताकुली हैवोचतुः श्रद्धादेवो वै मनुरावं न्वेव वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनयैव जाययेति तथेति तस्याऽआलब्धायै सा वागपचक्राम ॥१६॥ सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश । ततो हैनां न शेकतुर्निर्हन्तुं सैषासुरघ्नी वागुद्वदति स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीयांसो हैवास्य सपत्ना भव-

है, और यह मौन तोड़ने का प्रायश्चित्त भी है। अब जपता है—"देवों की प्रसन्नता के लिए मैं तुझको लेता हूँ।" वस्तुतः देवों की प्रसन्नता के लिए ही यज्ञ किया जाता है ॥६॥

अब यजु० १।१४ के इस अंश को पढ़कर मुसली पकड़ता है—"तू लकड़ी का बड़ा पत्थर है।" क्योंकि यह लकड़ी का भी है और बड़ा भी। अब इस मन्त्रांश (यजु० १।१४) को पढ़कर मुसली उखली में डालता है—"देवों के लिए हवि तैयार कर। अच्छी तरह तैयार कर।" तात्पर्य यह है कि इस हवि को देवों के लिए तैयार कर, जल्दी से तैयार कर ॥१०॥

अब वह हविष्कृत् (हवि तैयार करनेवाले) को बुलाता है—"हविष्कृत् आ, हविष्कृत् आ।" वाणी ही हविष्कृत् है, इस प्रकार वाणी को मुक्त करता है। वाणी यज्ञ है, इस प्रकार वह यज्ञ को फिर बुलाता है ॥११॥

बुलाने के चार प्रकार हैं—ब्राह्मण को बुलाना हो तो कहेंगे 'एहि', वैश्य के लिए 'आगहि', क्षत्रिय के लिए 'आद्रव', शूद्र के लिए 'आधाव'। इस स्थल पर ब्राह्मणवाला निमंत्रण देना चाहिए, क्योंकि यही यज्ञ के उपयुक्त है और शान्ततम है। अतः कहता है, 'एहि' (यहाँ आइये) ॥१२॥

पहली प्रथा यह थी कि इस निमन्त्रण पर यजमान की पत्नी ही उठकर हविष्कृत् बनती थी। इसलिए यहाँ भी वह (पत्नी) या कोई ऋत्विज उठता है। जब अध्वर्यु हविष्कृत् को बुलाता है तो एक ऋत्विज दोनों सिलों को पीटता है। ऐसा शोर क्यों करते हैं? इसलिए कि—॥१३॥

मनु के पास एक बैल था। उसमें असुर को मारनेवाली और शत्रु को मारनेवाली वाणी घुस गई। जब वह हुङ्कारता और चिल्लाता तो असुर राक्षस मर जाते थे। तब असुरों ने कहा—"यह बैल तो हमारा बड़ा अनर्थ करता है, इसको कैसे मारें?" 'असुरों के ऋत्विज थे 'किलात' और 'आकुली'" ॥१४॥

ये दोनों बोले—"कहते हैं कि मनु श्रद्धालु है, इसको जाँचें।" तब वे मनु के पास गये और कहा—"हे मनु, हम तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहते हैं।" मनु ने पूछा—"किससे?" उन्होंने कहा—"इस बैल से।" उसने कहा—"अच्छा।" बैल के मरने पर वाणी वहाँ से चली गई ॥१५॥

वह मनु की पत्नी मनावी में घुस गई। जब वह उसको बोलते हुए सुनते तो राक्षस और असुर मर जाते। तब असुरों ने कहा—"यह तो और भी बुरा हुआ, क्योंकि (बैल की अपेक्षा) मनुष्य अधिक बोलता है।" तब किलात और आकुली ने कहा—"मनु को श्रद्धालु कहते हैं, चलो इसकी जाँच करें।" वे उसके पास गये और कहा—"हम तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहते हैं।" मनु ने पूछा—"किससे?" उन्होंने कहा—"इस तेरी पत्नी से।" उसने कहा—"अस्तु!" उसके मर जाने पर वाणी उसमें से निकल गई ॥१६॥

अब यह यज्ञ और यज्ञ-पात्रों में घुस गई और वे दोनों (किलात और आकुली) उसको न निकाल सके। यही असुर और शत्रु को मारनेवाली वाणी इन पत्थरों से निकलती है। जो इस रहस्य को समझता है, उसके लिए जब यह शोर किया जाता है तो उसके शत्रुओं को बहुत

न्ति ॥१७॥ स समाहन्ति । कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इति मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद्विषजिह्वोऽसुरेभ्यः स यो देवेभ्य आसीः स न एधीत्येवैतदाहेषमूर्जमावद त्वया वयं संघातंसंघातं जेष्मेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१८॥ अथ शूर्पमादत्ते । वर्षवृद्धमसीति वर्षवृद्धं ह्येतद्यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षमु ह्येवैता वर्धयति ॥१९॥ अथ हविर्निर्वपति । प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्विति वर्षवृद्धा उ ह्येवैते यदि व्रीहयो यदि यवा वर्षमु ह्येवैतान्वर्धयति तत्संज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति नेदन्योऽन्यं हिनसात इति ॥२०॥ अथ निष्पुनाति । परापूतं रक्षः परापूता अरातय इत्यत्र तुषान्प्रहन्त्यपहतं रक्ष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥२१॥ अथापविनक्ति । वायुर्वो विविनक्त्वित्ययं वै वायुर्योऽयं पवतऽएष वाऽइदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किंच विविच्यते तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति स यदि तऽएतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यपविनक्ति ॥२२॥ अथानुमन्त्रयते । देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता असन्नित्यथ त्रिः फलीकरोति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥२३॥ तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वाऽएतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात् ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ अध्यायः ॥१॥

स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति । दृषदुपलेऽअन्यतरस्तद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते तस्मादेतदुभयं सह क्रियते ॥१॥ शिरो ह वाऽएतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्कऽएव पिष्टानि तद्वाऽएतदुपानङ्गमेकं सह करवाव समानं करवावेति तस्माद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते ॥२॥ स यः कपालान्युपदधाति । स उपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदेनेनाग्निं धृष्णुर्वापचरति तेन धृष्टिरथ यदेनेन यज्ञ उपालभत उपेव वाऽएनेनैतद्वेष्टि

हानि पहुंचती है ॥१७॥

वह यह मंत्रांश पढ़कर पत्थरों को पीटता है—"तू मीठी वाणी वाला कुक्कुट या मुर्गा है।" वस्तुतः (वह बैल) देवों के लिए मीठी वाणी वाला और असुरों के लिए विषयुक्त वाणी वाला था। इसलिये वह कहता है, 'जैसा तू देवों के लिए था वैसा ही हमारे लिए भी हो।' फिर वह कहता है, 'रस और शक्ति हमारे लिए ला। तेरी इस सहायता से हम हर एक युद्ध को जीतें।' आगे सब स्पष्ट है ॥१८॥

अब अध्वर्यु इस मन्त्रांश (यजु० १।१४) को पढ़कर सूप को लेता है—"तू वर्षा में बढ़ा हुआ है।" वस्तुतः यह वर्षा में बढ़ा हुआ होता है, चाहे वह नरकुल का हो, चाहे सिरकी का। ये सब वर्षा में बढ़ते हैं ॥१९॥

अब वह कुटे हुए चावलों को सूप में डालता है इस मन्त्रांश (यजु० १।१६) को पढ़कर—"वर्षा में बढ़ा हुआ तुझे स्वीकार करे।" क्योंकि यह हवि भी वर्षा में बढ़ी हुई होती है, चाहे यव या जौ हों, चाहे तण्डुल। ऐसा कहकर वह हवि और सूप के बीच में सम्बन्ध स्थापित कर देता है, जिससे एक-दूसरे को सताने न पावें ॥२०॥

अब वह फटकता है इस मंत्रांश (यजु० १।१६) को पढ़कर—"राक्षस दूर हो गये, शत्रु दूर हो गये।" 'राक्षस दूर हों।' ऐसा कहकर भूसी फेंक देता है। ऐसा करने से राक्षस शत्रु दूर हो जाते हैं ॥२१॥

अब वह कुटे चावलों को बेकुटे चावलों से अलग करता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"वायु तुमको अलग-अलग करे" (यजु० १।१६), क्योंकि सूप की वायु ही चावलों को अलग करती है। संसार में जिस चीज को अलग करना होता है वायु द्वारा ही अलग करते हैं। जब यह कृत्य जारी होता है और वह फटकते हैं, तभी—॥२२॥

वह पात्र में डाले हुए चावलों को सम्बोधन करके यह मन्त्रांश (यजु० १।१६) पढ़ता है—"सोने के हाथोंवाला सविता देव छिद्ररहित हाथ से तुमको ग्रहण करे" अर्थात् वे उस हवि को आदर के साथ लेवें। वह तीन बार फटकता है, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तिहरा) है ॥२३॥

कुछ लोग ऐसा पढ़कर फटकते हैं 'देवों के लिए शुद्ध हो।' परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि यह हवि तो एक विशेष देवता की होती है। 'देवों के लिए शुद्ध हो' ऐसा कहनेवाला उसको सब देवों की घोषित कर देता है। इसलिये चुपचाप ही फटकना चाहिए ॥२४॥

अध्याय २—ब्राह्मण १

(अग्नीध्र) कपालों को (गार्हपत्य अग्नि पर) रखता है और (अध्वर्यु) दोनों (दृषदुपलों) सिलों को (मृग-चर्म पर)। ये दोनों काम एकसाथ होते हैं। ये दोनों काम एकसाथ क्यों होते हैं? इसलिए कि—॥१॥

पुरोडाश यज्ञ का सिर है। ये जो कपाल हैं वे सिर की खोपड़ी की हड्डियाँ हैं। पिसी हुई चावल की पीठी मस्तिष्क का भेजा है। ये सब मिलकर एक अंग होते हैं। वे सोचते हैं कि इन सबको एक कर देवें। इसलिए इन दोनों कामों को एकसाथ करते हैं ॥२॥

वह जो कपालों को आग पर रखता है उपवेश (चिमटे) को हाथ में लेकर कहता है—"तू धृष्टि है" (यजु० १।१७)। इसको 'धृष्टि' इसलिए कहा कि इसी से अग्नि को ठीक करेगा

तस्मादुपवेषो नाम ॥३॥ तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति । अपाग्ने अग्निमामादं जहि
निष्क्रव्यादᳪ सेधेत्ययं वाऽआमाद्येनेदं मनुष्याः पचामहेऽथ येन पुरुषं दहन्ति स
क्रव्यात्तावेवैतदुभावतोऽपहन्ति ॥४॥ अथाङ्गारमास्कौति । आ देवयजं वहेति
यो देवयाट्तस्मिन्हवीᳪषि श्रपयाम तस्मिन्यज्ञं तनवामहाऽइति तस्माद्वाऽआस्कौ-
ति ॥५॥ तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुरर-
क्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयांचक्रुर्नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳪस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसाम-
पहन्ता तस्मादेवमुपदधाति तद्वेदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्त-
स्मान्मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति ॥६॥ स उपदधाति । ध्रुवमसि पृथिवीं दृᳪहेति
पृथिव्या एव रूपेणैतदेव दृᳪहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा
क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति ब्रह्म वै यजुः आशीस्तद्ब्रह्म च
क्षत्रं चाशास्तेऽउभे वीर्ये सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद्भूमानमाशास्तेऽउपदधा-
मि भ्रातृव्यस्य वधायेति यदि नाभिचरेद्यद्यु अभिचरेदमुष्य वधायेति ब्रूयादभिनि
हितमिव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥७॥ अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा
नाष्ट्रा रक्षाᳪस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमिव स
व्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥८॥ अथाङ्गारमध्यूहति । अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्वेति ने
दिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाᳪस्याविशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेनमध्यूहति
॥९॥ अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति । धरुणमस्यन्तरिक्षं दृᳪहेत्यन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव
दृᳪहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधा
मि भ्रातृव्यस्य वधायेति ॥१०॥ अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति । धर्त्रमसि दिवं दृᳪहे-
ति दिव एव रूपेणैतदेव दृᳪहत्येतेनैव -- वधायेति ॥११॥ अथ यद्दक्षिणात्तदुप-
दधाति । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न
वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा

(धृष्टि का अर्थ है साहस के साथ काम करनेवाला)। इसका नाम उपवेश इसलिए है कि इसी से आग के अंगारों का स्पर्श करेगा ।।३।।

इससे वह अंगारों को आगे को निकालता है यह मन्त्र पढ़कर (यजु० १।१७)—"हे अग्नि! कच्चा खानेवाली अग्नि को छोड़। शव खानेवाली अग्नि को दूर कर।" कच्चा खानेवाली (आमाद) अग्नि वह है जिस पर मनुष्य खाना पकाते हैं। क्रव्याद अग्नि वह है, जिस पर मरे हुए पुरुष के शव को जलाते हैं। इन दोनों अग्नियों को गार्हपत्य अग्नि से अलग करता है ।।४।।

अब एक अंगारे को अपनी ओर खींचता है यह मन्त्रांश (यजु० १।१७) पढ़कर—"उस अग्नि को लाओ जिसमें देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है (देवयाज)।" मैं देवयाज अग्नि में हवि पकाऊँ। उसी में यज्ञ करूँ। इसीलिये वह उस अंगारे को निकालता है ।।५।।

उस अंगारे पर बीच का कपाल रखता है। जब देव यज्ञ करने लगे तो उनको भय हुआ कि कहीं असुर राक्षस यज्ञ को विध्वंस न करें। उनको भय हुआ कि कहीं हमारे नीचे से असुर राक्षस न उठ खड़े होवें। अग्नि राक्षसों का घातक है, इसलिये कपाल को आग पर रखता है। इसी अंगारे पर क्यों रखता है, दूसरों पर क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि यह अंगारा यजुष्कृत है (यजु०-मन्त्रों के पाठ से पवित्र किया हुआ है)। इसलिये इसके ऊपर मध्य में कपाल को रखता है ।।६।।

इस समय वह यह मन्त्रांश पढ़ता है (यजु० १।१७)—"तू ध्रुव है, पृथिवी को दृढ़ कर।" पृथिवी के रूप में ही वह यज्ञ को दृढ़ करता है। इसी से वह शत्रु का नाश करता है। अब कहता है—"ब्राह्मण की रक्षा करनेवाले, क्षत्रिय की रक्षा करनेवाले, सजातीय की रक्षा करनेवाले! तुझको मैं शत्रु के नाश के लिए रखता हूँ।" आशीर्वाद के बहुत-से यजुष् मन्त्र हैं। इस मन्त्र से ब्राह्मण और क्षत्रिय को आशीर्वाद देता है जो दो वीर्यवान् शक्तियाँ हैं; सजातीय की रक्षा करनेवाले। ऐसा कहने से धन को आशीर्वाद देता है, क्योंकि सजातीय धन है। 'शत्रु के वध के लिए', ऐसा कहते हुए चाहे किसी को मारना चाहे या न चाहे, उसको कहना चाहिए 'अमुक-अमुक के बध के लिए'। अभी बायें हाथ की अँगुली से कपाल रक्खा ही था कि—।।७।।

दूसरे अंगारे को लेता है कि कहीं इस बीच में असुर राक्षस घुस न आवें। ब्राह्मण राक्षसों का दूर करनेवाला है। इसलिये ज्योंही बायें हाथ की अँगुली से कपाल रक्खा, त्यों ही झट—।।८।।

उसे अंगारे पर रख देता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"हे अग्नि, ब्रह्म, इसको ग्रहण कर।" वह ऐसा कहता है जिससे असुर राक्षस पहले से ही घुसने न पावें। वह इसीलिये कपाल को अंगारे पर रख देता है क्योंकि अग्नि राक्षसों का दूर करनेवाला है ।।९।।

अब बीचवाले कपाल के पश्चिम की ओर के कपाल को यह मन्त्रांश पढ़कर अंगारे पर रखता है (यजु० १।१८)—"तू सहारा है। अन्तरिक्ष को दृढ़ कर।" अन्तरिक्ष के रूप में वह यज्ञ को सुदृढ़ करता है। इससे वह दुष्ट शत्रु को दूर करता है। 'तुझे, ब्राह्मण की रक्षा करनेवाले, क्षत्रिय की रक्षा करनेवाले, सजातीय की रक्षा करनेवाले तुझको मैं शत्रु के वध के लिए रखता हूँ' ।।१०।।

अब पूर्व की ओर के कपाल को इस मन्त्रांश को (यजु० १।१८) पढ़कर रखता है—"तू धर्ता है। द्यौ लोक को सुदृढ़ कर।" द्यौ के रूप में वह इस यज्ञ को सुदृढ़ करता है। इससे वह शत्रु को दूर भगाता है। 'ब्राह्मण की रक्षा करनेवाले, क्षत्रिय की रक्षा करनेवाले, सजातीय की रक्षा करनेवाले तुझको मैं शत्रु के वध के लिए रखता हूँ' ।।११।।

अब दक्षिणवाले कपाल को रखता है यह मन्त्रांश (यजु० १।१८) पढ़कर—"सबके लिए मैं तुझको रखता हूँ।" इन तीनों लोकों के आगे कोई चौथा लोक है या नहीं, वहाँ से भी वह शत्रु को दूर करता है। चौथा लोक है या नहीं, यह अनिश्चित है; और 'सब दिशाओं' का भी निश्चय

न वानद्धा तद्यद्दिशा आशास्तस्मादाह विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति तूष्णीं वेतराणि कपालान्युपदधाति चित स्थोर्धचित इति वा ॥१२॥ अथाङ्गारैरभ्यूहति । भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्येतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद्भृग्वङ्गिरसाꣳ सुतप्तान्यसन्निति तस्मादेनमभ्यूहति ॥१३॥ अथ यो दृषदुपले उपदधाति । स कृष्णाजिनमादत्ते शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय इति सोऽसावेव बन्धुस्तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्त्विति सोऽसावेव बन्धुः ॥१४॥ अथ दृषदमुपदधाति । धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति धिषणा हि पर्वती हि प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत्कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसाव इतीयमेवैषा पृथिवी रूपेण ॥१५॥ अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति । दिव स्कम्भनीरसीत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे तस्मादाह दिव स्कम्भनीरसीति ॥१६॥ अथोपलामुपदधाति । धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति प्रति हि स्वः संजानीते तत्संज्ञामेवैतद्दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसातऽइति द्यौरेवैषा रूपेण हनूऽएव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति ॥१७॥ अथ हविरधिवपति । धान्यमसि धिनुहि देवानिति धान्यꣳ हि देवान्धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥१८॥ अथ पिनष्टि । प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धामिति प्रोहति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वेति ॥१९॥ ॥ शतम् १०० ॥ ॥ तद्यदेवं पिनष्टि । जीवं वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥२०॥ स यदाह । प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति व्यानाय त्वेति तद्व्यानं दधाति दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति देवो वः स-

नहीं। अतः कहता है—"सब दिशाओं के लिए।" शेष कपालों को वह चुपचाप रख देता है या इस मन्त्रांश को पढ़कर (यजु० १।१८)—"तुम चित हो, तुम ऊर्ध्वचित हो" (चिने हुए हो, ऊपर को चिने हुए हो) ॥१२॥

अब उनको अंगारों से ढक देता है इस मन्त्रांश (यजु० १।१८) को पढ़कर—"भृगु और अंगिरसों के तप से तपो।" भृगु और अंगिरसों का तेज बहुत बलिष्ठ है। इसीलिये वह इसको अंगारों से ढक देता है ॥१३॥

अब जिसने दो पत्थरों को चमड़े पर रखा था वह उस चमड़े को यजु० १।१९ के इस मन्त्रांश को पढ़कर उठाता है—"तू शर्म अर्थात् कल्याणप्रद है।" अब उसी मन्त्र के अगले टुकड़े को पढ़कर झाड़ता है—"राक्षस झड़ गये! शत्रु झड़ गये!" अर्थ वही है। अब उसको पश्चिम की ओर गर्दन हो इस प्रकार बिछा देता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"तू अदिति का चमड़ा है। अदिति तुझे स्वीकार करे।" इसका तात्पर्य वही है ॥१४॥

अब उस पर दृषद अर्थात् नीचे का पाट रखता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"तू पहाड़ी पत्थर है। अदिति का चमड़ा तुझे स्वीकार करे।" यह पत्थर भी है और पहाड़ी भी। यह जो कहा, 'अदिति का चमड़ा तुझे स्वीकार करे' इसका तात्पर्य है कि इसमें और चमड़े में सम्बन्ध स्थापित हो जाय जिससे वे एक-दूसरे को हानि न पहुँचावें। नीचे का पाट पृथिवी का रूप है ॥१५॥

अब उसके ऊपर शमी[1] को रखता है और इस प्रकार कि उसका सिरा उत्तर की ओर रहे, यह मन्त्रांश (यजु० १।१९) पढ़कर—"तू द्यौ लोक को थामनेवाला है।" यह अन्तरिक्ष का रूप है। द्यौ और पृथिवी अन्तरिक्ष के द्वारा ही थमे हुए हैं। इसलिये कहता है 'तू द्यौलोक को थामनेवाला है' ॥१६॥

अब ऊपर के पाट (उपल) को नीचे के पाट पर रखता है यह मन्त्रांश (यजु० १।१९) पढ़कर—"तू पर्वत से उत्पन्न हुआ पाट है। पहाड़ी तुझे स्वीकार करे।" यह पाट छोटा होता है, इसलिये यह नीचे के बड़े पाट की लड़की हुआ। इसलिये नीचे के पाट को पर्वती और ऊपर के पाट को पार्वतीय कहा—'पर्वती पार्वतीय को स्वीकार करे।' क्योंकि सजातीय सजातीय को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह इन दोनों पाटों में सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे वे एक-दूसरे को न सतावें। यह द्यौलोक का रूप है। या ये दोनों पाट दो हनु या जबड़े हैं और शमी जीभ (जिह्वा) है। इसीलिये शमी से पाटों को थपथपाता है। जीभ से ही तो बोला जाता है ॥१७॥

अब यजु० १।२० से नीचे के पाट पर हवि को छोड़ता है—"तू धान्य है। देवों की तृप्ति कर।" हवि इसलिये ली जाती है कि देवताओं की तृप्ति हो सके ॥१८॥

अब यजु० १।२० को पढ़कर पीसता है—"तुझको प्राण के लिए, उदान के लिए, व्यान के लिए, मैं यजमान के जीवन में वृद्धि करूँ।" अब पिसे हुए भाग को चमड़े पर छोड़ता है यह पढ़कर—"सविता देव सोने के हाथोंवाला, छिद्ररहित हाथों से तुझे स्वीकार करे" ॥१९॥

वह इसको इस प्रकार इसलिये पीसता है कि हवि देवताओं का जीवन है। अमरों के लिए अमृत है। अब उखली-मूसली (उलूखल-मुसल) और दो पाटों (दृषद-उपल) से हवि को पीसते हैं ॥२०॥

यह जो कहा कि 'प्राण के लिए तुझको, उदान के लिए तुझको' इससे प्राण और उदान धारण कराता है। 'व्यान के लिए तुझको' इससे व्यान को धारण कराता है। 'बड़ी आयु हो', इससे

---

१. शमी के द्वारा चक्की का नीचे का पाट ऊपर के पाट से संयुक्त रहता है।

वित्ता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वछिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति चक्षुषे वेति तच्चक्षुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमु हैतज्जीवमेव देवानाᳪ हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पिᳪषन्ति पिष्टान्यभीन्धते कपालानि ॥२१॥ अथैक आज्यं निर्वपति । यद्वाऽआदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते यावद्देवत्यं तद्भवति तदितरेण यजुषा गृह्णाति न वाऽएतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति महीनां पयोऽसीति मह्य इति ह वाऽएतासामेकं नाम यद्गवां तासां वाऽएतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीत्येवमु हास्यैतत्खलु यजुषैव गृहीतं भवति तस्माद्वेवाह महीनां पयोऽसीति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [२. १.] ॥

पवित्रवति संवपति । पात्र्यां पवित्रेऽअवधाय देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याᳪ संवपामीति सोऽसावेवैतस्य यजुषो बन्धुः ॥१॥ अथान्तर्वेद्युपविशति । अथैक उपसर्जनीभिरेति ता आनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप ओषधीभिरिति सᳪ ह्येतदाप ओषधिभिरेताभिः पिष्टाभिः संगच्छन्ते समोषधयो रसेनेति सᳪ ह्येतदोषधयो रसेनैताः पिष्टा अद्भिः संगच्छन्तऽआपो ह्येतासाᳪ रसः सᳪ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तामिति रेवत्य आपो जगत्य ओषधयस्ता उ ह्येतदुभय्यः संपृच्यन्ते सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति सᳪ रसवत्यो रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह ॥२॥ अथ संयौति । जनयत्यै त्वा संयौमीति यथा श्रियेऽन्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यच्छेदेवं वै तत्संयौत्यधिवर्द्धयन्नु वै संयौति यथा वाऽअधिवृक्णोऽग्नेरधि जायेतैवं वै तत्संयौति ॥३॥ अथ द्वेधा करोति । यदि द्वे हविषी भवतः पौर्णमास्यां वै द्वे हविषी भवतः स यत्र पुनर्न संᳪहरिष्यंत्स्यात्तदभिमृशतीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिति नाना वाऽएतदग्रे हविर्गृह्णन्ति तत्सहावघ्नन्ति तत्सह पिᳪषन्ति तत्पुनर्नाना करोति तस्मादेवमभिमृशत्यधिवृणक्त्येवैष पु-

आयु बढ़ाता है। यह जो कहा कि 'सविता देव, सोने के हाथोंवाला, छिद्र-रहित हाथों से तुझे स्वीकार करे' यह इसलिये कि उसको भलीभाँति स्वीकार किया जाय। 'आँख के लिए तुझको' इससे आँख को धारण कराता है। यही जीवन के चिह्न हैं। इनसे हवि जीवित होता है। अमरों के लिए अमृत हो जाता है। इसीलिये हवि पीसते हैं। हवि को पीसने और कपालों को गर्म करते समय—॥२१॥

एक पुरुष (अग्नीध्र) आज्यथाली में घी डालता है। जब किसी निर्दिष्ट देवता के लिए हवि ली जाती है तो उसी देवता की हो जाती है। उसको विशेष यजुष्-मन्त्र पढ़कर लेते हैं। यह घी किसी विशेष देवता के लिए नहीं है, अतः सामान्य यजुष्-मन्त्र पढ़कर (यजु० १।२०) लिया। 'तू बड़ों का दूध है', बड़ों का अर्थ है गाय; यह गाय का रस है, इसलिये कहा 'बड़ों का दूध'; यह भी इसी यजुष्-मन्त्र से लिया जाता है, इसलिये कहा 'बड़ों का दूध'।२२॥

अध्याय २–ब्राह्मण २

जिस पात्री में दो पवित्रे रखे थे उसमें पिसे हवि को डालता है यह मन्त्र पढ़कर (यजु० १।२१)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विन को दो भुजाओं से, पूषा के दो हाथों से तुझको उडेला हूँ।" इस यजु० का तात्पर्य तो वही है (जो १।१।२।१७ में कह दिया गया) ॥१॥

अब वेदी के भीतर बैठता है। अब एक (अग्नीध्र) उपसर्जनी जल (आटा सानने का जल) लेकर आता है और उसको उसके पास लाता है। वह इसको पवित्रों के द्वारा यह मंत्र पढ़-कर लेता है (यजु० १।२१)–"जल ओषधियों से मिले।" इस प्रकार जल पिसे हुए चावल रूपी ओषधियों में मिलता है। 'ओषधियाँ रस के साथ मिलें।' इस प्रकार जल पिसे हुए चावलों के रस के साथ मिलते हैं। 'रेवती जगती के साथ मिलें।' जल रेवती हैं और ओषधियाँ जगती हैं। ये दोनों परस्पर मिलते हैं। 'मधुवाले मधुवालों के साथ मिलें' अर्थात् रसवाले रसवालों के साथ मिलें ॥२॥

अब सानता है यजु० १।२२ को पढ़कर—"जनने के लिए तुझे मिलाता हूँ।" वह पिसे आटे को गूँधता है कि जिससे वह यजमान के लिए श्री, खाद्य और सन्तान को देवे। वह इसलिये भी गूँधता है कि वह अग्नि के ऊपर रखा जा सके और पक सके ॥३॥

अब उसके दो भाग करता है, यदि दो हवि देनी हों तो। पूर्णमासी की इष्टि में दो हवियाँ दी जाती हैं। अब वह छूकर देखता है कि यह फिर तो नहीं मिल गई और (यजु० १।२२) पढ़ता है–"यह अग्नि के लिए और यह अग्नि-सोम के लिए।" पहले ये दोनों हवियाँ अलग-अलग ली गई थीं (देखो १।१।२।१७), फिर इनको साथ फटका, साथ पीसा। अब फिर बाँटकर अलग-अलग कर दिया, इसीलिये छूता है। एक (अध्वर्यु) पीठी आग पर रखता है और दूसरा (अग्नीध्र)

रोडाशमधिश्रयत्यसावाज्यम् ॥४॥ तद्वाऽएतत् । उभयँ सह क्रियते तद्यदेतदुभयँ सह क्रियतेऽर्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यमर्धो यदिह हविर्भवति स यश्चासावर्धो य उ चायमर्धस्ता उभावग्निं गमयावेति तस्माद्वाऽएतदुभयँ सह क्रियतऽएवमु ह्येष आत्मा यज्ञस्य संधीयते ॥५॥ सोऽसावाज्यमधिश्रयति । इषे त्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेति तत्पुनरुद्वासयत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ॥६॥ अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति । घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति विश्वायुरिति तदायुर्दधाति ॥७॥ तं प्रथयति । उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनमेतदुरु ते यज्ञपतिः प्रथतामिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ॥८॥ तं न सत्रा पृथु कुर्यात् । मानुषँ ह कुर्याद्यत्पृथुं कुर्याद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात् ॥९॥ अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैकऽआहुः । कस्तद्वेद यावानश्वशफो यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येतैवं कुर्यात् ॥१०॥ तमद्भिरभिमृशति । सकृद्वा त्रिर्वा तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो वा पिँषन्तो वा क्षिण्वन्ति वा वि वा वृहन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादद्भिरभिमृशति ॥११॥ सोऽभिमृशति । अग्निष्टे त्वचं मा हिँसीदित्यग्निना वाऽएनमेतदभितप्स्यन्भवत्येष ते त्वचं मा हिँसीदित्येवैतदाह ॥१२॥ तं पर्यग्निं करोति । अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति नेदिदं नाष्ट्रा रक्षाँसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति ॥१३॥ तँ श्रपयति । देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति न वाऽएतस्य मनुष्यः श्रपयिता देवो ह्येष तदेनं देव एव सविता श्रपयति वर्षिष्ठेऽधि नाकऽइति देवत्रो एतदाह यदाह वर्षिष्ठेऽधि नाकऽइति तमभिमृशति शृतं वेदानीति तस्माद्वाऽअभिमृशति ॥१४॥ सोऽभिमृशति । मा भेर्मा संविक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संविक्था यद्वाहममानुषँ सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैत

घी को ।।४।।

ये दोनों काम साथ-साथ किये जाते हैं। ये दोनों काम साथ क्यों किये जाते हैं ? इसलिए कि यज्ञ के आत्मा का आधा भाग घी है और आधा हवि। वे दोनों सींचते हैं कि आधा भाग यह हुआ और आधा भाग यह हुआ। इन दोनों को साथ-साथ अग्नि में ले जावे। इसलिये इन दोनों कामों को साथ-साथ करते हैं जिससे यज्ञों का आत्मा पूरा-पूरा जुड़ जाय ।।५।।

अग्नीध्र घी को आग पर यह मन्त्रांश पढ़कर पकाता है (यजु० १।२२)—"रस के लिए तुझको।" रस से तात्पर्य है वृष्टि का। फिर उसको आग पर से हटा लेता है और कहता है—"ऊर्ज के लिए तुझको" (यजु० १।३०)। वर्षा से यह ऊर्ज (वृक्षों में) उत्पन्न होता है, उसी से तात्पर्य है ।।६।।

अब (अध्वर्यु) पुरोडाश को पकाता है यह पढ़कर—"तू धर्म है" (यजु० १।२२)। इस प्रकार उसको 'यज्ञ' बना देता है, यानी उसको कड़ाही में पकाया। अब कहता है—"विश्वायुः।" इससे वह यजमान के लिए जीवन की वृद्धि करता है ।।७।।

अब वह उसको (कपालों) में फैलाता है (यजु० १।२२) को पढ़कर—"तू फैला हुआ है। फैल जा। तेरा यज्ञपति भी ऐसा ही फैले।" यज्ञपति यजमान है। यह यजमान के लिए आशीर्वाद है ।।८।।

उसको बहुत नहीं फैलाना चाहिए। बहुत फैलाने से वह मानुषी हो जाती है (दैवी नहीं रहती)। मानुषी हवि अशुभ होती है। वह चाहता है कि कोई ऐसा काम न हो कि अशुभ हो जाय, इसलिये बहुत नहीं फैलाता ।।९।।

कुछ का कहना है कि घोड़े की टाप के बराबर होना चाहिए। परन्तु कौन जाने कि घोड़े की टाप कितनी चौड़ी होती है ? अतः इतना चौड़ा करना चाहिए कि बुद्धि कहे कि बहुत चौड़ी नहीं है ।।१०।।

अब जल से स्पर्श कराता है। एक बार या तीन बार ? क्योंकि फटकने या पीसने में जो कुछ उसको क्षति हो गई हो, जल से दूर हो जाती है। जल शान्ति है। जल से उसका शमन कर देता है। इसीलिए जल स्पर्श कराता है ।।११।।

वह जल का स्पर्श इस मन्त्रांश (यजु० १।२२) से कराता है—"अग्नि तेरी त्वचा को हानि न पहुँचावे।" अग्नि पर उसे तपाना है। इसीलिये कहता है कि 'अग्नि तेरी त्वचा को हानि न पहुँचावे' ।।१२।।

अब उसके चारों ओर अग्नि की परिक्रमा कराता है। मानो उसके चारों ओर एक छिद्र-रहित परिखा बनाता है जिससे राक्षस उसको ग्रहण न कर सकें। क्योंकि अग्नि राक्षसों का दूर करनेवाला है, इसीलिये अग्नि को परिखा बनाता है ।।१३।।

अब उसे पकाता है, यजु० १।२२ के इस मन्त्रांश को पढ़कर—"देव सविता तुझे पकावें।" इसका पकानेवाला मनुष्य नहीं है, देव हैं। इसलिये 'देव सविता पकावें' ऐसा कहता है। अब कहता है "स्वर्ग में", अर्थात् 'देवों के स्थान में'। अब यह कहकर छूता है—"देखूँ पका कि नहीं।" इसीलिये छूता है ।।१४।।

वह इस मन्त्रांश को पढ़कर छूता है—"मत डर ! मत संकोच कर !" यह कहने का तात्पर्य यह है कि 'डर मत, संकोच न कर, मैं मनुष्य हूँ और तू अमानुष अर्थात देव है। मैं तुझे

दाह ॥१५॥ यदा शृतोऽथाभिवासयति । नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवपश्यानिति नेद्वेव नग्न-इव मुषित-इव शयाताऽइत्यु चैव तस्माद्वाऽअभिवासयति ॥१६॥ सोऽभिवासयति । अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयादिति नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद्यदिदमभिवासयामीति तस्मादेवमभिवासयति ॥१७॥ अथ पात्रीनिर्णेजनम् । अङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥६[२.२.]॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥

चतुर्धाविहितो ह वाऽअग्रेऽग्निरास । स यमग्रेऽग्निꣳ होत्राय प्रावृणत स प्राधन्वद्यं द्वितीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्यं तृतीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वदथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये सोऽपः प्रविवेश तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ठ्यूता स्थ या अप्रपदनꣳ स्थ याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति तत आप्त्याः सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकतः ॥१॥ तऽइन्द्रेण सह चेरुः । यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य हैतेऽपि बध्यस्य विदाञ्चक्रुः शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत देवो हि सः ॥२॥ त उ हैतऽऊचुः । उपैवेमऽएनो गच्छतु येऽस्य बध्यस्याविदिषुरिति किमिति यज्ञ एवैषु मृष्टामिति तदेषेतद्यज्ञो मृष्टे यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनं निनयन्ति ॥३॥ तऽउ हाप्त्या ऊचुः । अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामेति कमभीति य एवादक्षिणेन हविषा यजाताऽइति तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेताप्त्येषु ह यज्ञो मृष्ट आप्त्या उ ह तस्मिन्मृजते योऽदक्षिणेन हविषा यजते ॥४॥ ततो देवाः । एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन्यदन्वाहार्यं नेददक्षिणꣳ हविरसदिति तन्नाना निनयति तथैभ्योऽसमदं करोति तदभितपति तथैषाꣳ शृतं भवति स निनयति त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वेति पशुर्ह वाऽएष आलभ्यते यत्पुरोडाशः ॥५॥ पुरुषꣳ ह वै देवाः । अग्रे पशुमालेभिरे तस्यालब्धस्य मेधो

छूता हूँ, डर मत' ॥१५॥

जब पक जाय तो ढक देता है कि 'कहीं राक्षस इसको देख न लें', अथवा 'कहीं यह नगा और खुला न रहे।' इसलिए वह उसको ढक देता है ॥१६॥

उसको यजु०१।२३ के इस अंश से ढकता है—"यज्ञ हीन न हो, यजमान की सन्तान हीन न हो जब मैं इसको ढक दूं।"—ऐसा सोचकर ॥१७॥

अब पात्री को धोकर और अँगुलियों को धोकर धोवन को आप्त्य देवों के लिए डालता है। आप्त्यों के लिए डालने का प्रयोजन (आगे कहा जायगा) ॥१८॥

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अग्नि पहले चार प्रकार का था। वह अग्नि जिसको उन्होंने पहले होता के लिए वरण किया वह भाग गया। दूसरी बार जिसको चुना वह भी भाग गया। तीसरी बार जिसको चुना वह भी भाग गया। इस पर आजकल जो अग्नि है वह डरकर छिप गया। वह जलों में प्रविष्ट हो गया। देवों ने उसे खोज लिया और बलात् वहाँ से निकाल लाये। अग्नि ने जलों पर थूक दिया और कहा कि तुम रक्षा के स्थान नहीं हो, मेरी इच्छा के बिना ये देव मुझको तुममें से खींच लाये। उनमें से आप्त्य देव निकले—त्रित, द्वित और एकत ॥१॥

वे इन्द्र के साथ फिरते रहे जैसे आजकल ब्राह्मण राजा के साथ फिरा करते हैं। और जब इन्द्र ने त्वष्टा के तीन सिरवाले पुत्र विश्वरूप को मारना चाहा तो वे इसके मारे जाने की बात जान गये और त्रित ने उसको मार डाला। इन्द्र हत्या के इस पाप से बचा रहा। इन्द्र तो देव है ॥२॥

लोगों ने कहा, 'यह पाप उन्हीं को लगना चाहिए जो यह जानते थे कि इसका वध होगा।' उन्होंने कहा 'कैसे?' उत्तर मिला, 'यज्ञ उन तक पाप लगा देगा।' इस प्रकार जब यह पात्री को धोते हैं और उसी जल में अध्वर्यु अपनी अँगुलियाँ धोता है तो वह पाप यज्ञ द्वारा आप्त्यों को लग जाता है ॥३॥

आप्त्यों ने कहा, 'इस पाप को हम आगे बढ़ा दें।' लोगों ने पूछा 'किस तक?' आप्त्यों ने उत्तर दिया, 'उस तक जो बिना दक्षिणा दिये यज्ञ करता है।' अतः बिना दक्षिणा दिये यज्ञ नहीं करना चाहिए, अन्यथा यज्ञ उस पाप को आप्त्यों तक पहुँचा देगा और आप्त्य उस मनुष्य तक जो बिना दक्षिणा के यज्ञ करता है ॥४॥

इस पर देवों ने दर्श और पूर्णमास इष्टियों में उस दक्षिणा की योजना की जिसको अन्वाहार्य कहते हैं, जिससे हवि बिना दक्षिणा के न रह जाय। इस जल को तीनों आप्त्यों में अलग-अलग बाँटता है, गरम करके, जिससे वह उनके लिए पक जाय—'हे त्रित, यह तुझको' 'हे द्वित, इतना तुझको' 'हे एकत, इतना तुझको' इस प्रकार झगड़ा न हो। यह जो पुरोडाश है वह मानो यज्ञ के पशु का आलभन है ॥५॥

देवों ने पहले-पहल पुरुषरूपी यज्ञ-पशु का आलभन किया। उस आलभन किये पुरुष से

ऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामा॰ सोऽविं प्रविवेश तेऽविमा॰--॰म सोऽजं प्रविवेश तेऽजमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम ॥६॥ स इमां पृथिवीं प्रविवेश । तं खनन्त-इवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त-इवैवानुविन्दन्ति स यावद्वीर्यवद्ध वाऽअस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युस्तावद्वीर्यवद्धास्य हविरेव भवति य एवमेतद्वेदात्रो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ॥७॥ यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयौत्यथ माꣳसं भवति संतत-इव हि स तर्हि भवति संततमिव हि माꣳसं यदा शृतोऽथास्थि भवति दारुण-इव हि स तर्हि भवति दारुणमित्यस्थ्यथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तं मज्जानं दधात्येषो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ॥८॥ स यं पुरुषमालभन्त । स किम्पुरुषोऽभवद्यावश्वं च गां च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत्तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधा ह्येते पशवः ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥१[२.३.]॥

इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शराऽभवत्तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत् ॥१॥ ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्याꣳ राजन्यबन्धवः संग्रामे यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणा रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः ॥२॥ स यत्स्फ्यमादत्ते । यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ॥३॥ तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्या-

मेध चला गया और घोड़े में जा घुसा। उन्होंने घोड़े का आलभन किया। तब मेध घोड़े से निकलकर गाय में घुस गया। तब उन्होंने गाय का आलभन किया। तब मेध गाय से निकलकर भेड़ में घुस गया। तब उन्होंने भेड़ का आलभन किया। तब मेध भेड़ में से निकलकर बकरी में चला गया। तब उन्होंने बकरी का आलभन किया। तब मेध बकरी में से निकल भागा ॥६॥

वह पृथिवी में चला गया। वे पृथिवी को खोदकर खोजने लगे, और उसको पा लिया। यही चावल और जौ हैं। इनको आजकल भी पृथिवी को जोतकर निकालते हैं। उन सब पशुओं के आलभन से जो लाभ होता है वही चावल की हवि से होता है, उस मनुष्य को जो इस रहस्य को समझकर यज्ञ करता है। यह पांक्त यज्ञ है अर्थात् पाँच पशुओं का ॥७॥

यह जो पीठी है वह लोम है। जो जल है वह त्वचा है। जब गूँधते हैं तो यह मांस है। मांस गूँधा हुआ होता है। पकने से कड़ी हड्डी के समान हो जाता है। हड्डी तो कड़ी होती है। जब उस पर घी डालते हैं तो मज्जा हो जाता है। इस प्रकार यह हवि पांक्त पशु हो जाती है ॥८॥

जो पुरुष का आलभन किया था वह किं-पुरुष हो गया। जो घोड़े का आलभन किया और गाय का, वह गौर और गवय बन गये। भेड़ का आलभन किया तो ऊँट बन गया। बकरी का आलभन किया तो वह शरभ बन गया। इसलिए हमें पाँच पशुओं को न खाना चाहिए, क्योंकि इनमें मेध नहीं रहा ॥९॥

अध्याय २—ब्राह्मण ४

जब इन्द्र ने वृत्र के वज्र मारा तो उसके चार टुकड़े हो गये। इसके तीन भागों में तिहाई या उसके लगभग स्फ्या हो गई। तिहाई या लगभग यूप हो गया और तिहाई या लगभग रथ हो गया। जो भाग वृत्र के लगा वह टूटकर शर (वाण) हो गया। वाण को शर इसलिए कहते हैं कि वह टूट गया ('शृ' का अर्थ है टूटना')। वज्र के इस प्रकार चार टुकड़े हो गये ॥१॥

इनमें से दो टुकड़े ब्राह्मण यज्ञ के काम में लाता है अर्थात् स्फ्या और यूप, और शेष दो टुकड़े क्षत्रिय लड़ाई के काम में लाता है अर्थात् रथ और शर ॥२॥

वह स्फ्या को लेता है। जैसे इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिए वज्र लिया था, उसी प्रकार अध्वर्यु अपने वैरी को मारने के लिए स्फ्या[1] लेता है। स्फ्या को लेने का यही प्रयोजन है ॥३॥

वह स्फ्या को यजु० १।२४ के मन्त्रांश को पढ़कर पकड़ता है—"देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से, देव पूषा के दोनों हाथों से देवताओं के अध्वर के लिए तुझे उठाता हूँ।" सविता देवों का प्रेरक है, अतः वह देव सविता की प्रेरणा से ही स्फ्या लेता है। अग्नि दो अध्वर्यु

---

१. स्फ्या तलवार की आकृति की (खदिर की) लकड़ी की होती है जो यज्ञ में काम आती है।

मादत्ते न स्वाभ्यां वज्रो वाऽएष तस्य न मनुष्यो भर्त्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते
॥४॥ आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति । अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह
तꣳ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति सꣳश्यत्येवैनमेतद्यज्जपति ॥५॥
स जपति । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्येष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्द-
क्षिणस्तस्मादाहेन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति सहस्रभृष्टिः शततेजा इति सहस्रभृ-
ष्टिर्वै स वज्र आसीच्छततेजा यं तं वृत्राय प्राहरत्तमेवैतत्करोति ॥६॥ वायुरसि
तिग्मतेजा इति । एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवतऽएष हीमांल्लोकांस्तिर्यङ्-
ङनुपवते सꣳश्यत्येवैनमेतद्द्विषतो बध इति यदि नाभिचरेद्यद्यु ऽअभिचरेदमुष्य बध
इति ब्रूयात्तेन सꣳशितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेन वज्रेण सꣳशि-
तेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्
॥७॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते ह स्म यद्देवा असुरा-
ञ्जयन्ति ततो ह स्मैवैनान्पुनरुपोत्तिष्ठन्ति ॥८॥ ते ह देवा ऊचुः । जयामो वा
ऽअसुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति ॥९॥ स हा-
ग्निरुवाच । उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्तऽइत्युदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते
॥१०॥ स हाग्निरुवाच । अहमुत्तरतः पर्येष्याम्यथ यूयमित उपसꣳरोत्स्यथ ता-
न्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामो यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सꣳ-
हास्यन्तऽइति ॥११॥ सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत् । अथेमऽइत उपसमरुन्धंस्तान्त्सꣳरु-
ध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न समजिहत तदेत-
न्निदानेन यत्स्तम्बयजुः ॥१२॥ स योऽसावग्नीदुत्तरतः पर्येति । अग्निरेवैष निदा-
नेन तानध्वर्युरेवेत उपसꣳरुणाद्धि तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमां-
ल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न संजिहते तस्मादप्येतर्ह्यसुरा न संजिहते येन ह्ये-
वैनान्देवा अवाबाधन्त तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते ॥१३॥ य उऽएव

हैं। उन्हीं की भुजाओं से उठाता है, अपनी से नहीं। यह वज्र है। वज्र कोई मनुष्य उठा नहीं सकता। इसलिए वह देवों की सहायता से यह काम करता है ॥४॥

'मैं तुझे देवों के अध्वर के लिए लेता हूँ'; 'अध्वर' का अर्थ है यज्ञ। इसका तात्पर्य है कि वह देवों के लिए यज्ञ करता है। इसको बायें हाथ से उठाकर और दाहिने हाथ से छूकर जप करता है; जप का प्रयोजन है 'तेज करना' ॥५॥

वह जपता है (यजु० १।२४)—"तू इन्द्र की दाहिनी बाहु है।" इन्द्र की दाहिनी बाहु बहुत बलवान् होती है। इसीलिए कहा कि 'तू इन्द्र की दक्षिण बाहु है'—'हजार नोकों वाला, सैंकड़ों धारों वाला'। वज्र हजारों नोकों वाला था। इन्द्र ने जो वज्र फेंका, वह सैंकड़ों धारों वाला था। इस प्रकार वह स्फ्या में वैसी ही भावना करता है ॥६॥

'तू तेज धार वाला वायु है।' वायु जो बहता है तेज धार वाला होता है, क्योंकि वह संसार-भर को चीरकर बहता है, इस प्रकार वह उसको तेज करता है—'वैरी के वध के लिए'। चाहे किसी को मारना चाहे, या न, उसको कहना चाहिए 'अमुक को मारने के लिए'। जब वह तेज हो जाय तो इससे न अपने को छुए, और न पृथिवी को, यह सोचकर कि 'कहीं इससे मुझे वा जमीन को हानि न पहुँच जाय।' इसीलिए वह न स्वयं को छूता है न उससे पृथिवी को छूता है ॥७॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपनी बड़ाई के लिए झगड़ बैठे। देवों ने असुरों को हरा दिया। परन्तु असुर भी देवों को कष्ट देने लगे ॥८॥

देवों ने कहा, 'हमने असुरों को हरा दिया, फिर भी असुर हमको सताते रहे। क्या काम करें कि अब फिर हम असुरों को हरा दें और दुबारा लड़ना न पड़े' ॥९॥

अग्नि ने कहा—'हम उत्तर को भागें।' वहाँ वे बच गये। उत्तर में भागने से वस्तुतः बच गये ॥१०॥

अग्नि ने कहा—'मैं उत्तर की ओर से इनको घेरे लेता हूँ, तुम इधर से रोको। जब हम रोकेंगे तो तीनों लोकों से इनको दबा देंगे और तीनों लोकों के आगे जो चौथा लोक है, इससे वे फिर सिर न उठा सकेंगे' ॥११॥

इस पर अग्नि उत्तर को चला गया और दूसरे देवों ने उन असुरों को इधर से रोक दिया। रोककर उनको तीनों लोकों से दबा दिया, और जो चौथा लोक इन लोकों से परे है उससे वे फिर न उठ सके। यह जो घास फेंकता है यह वही असुरों को दबाने के कृत्य का रूप है ॥१२॥

अग्नीध्र उत्तर की ओर जाता है क्योंकि अग्नीध्र अग्नि है। अध्वर्यु उनको उधर से रोक देता है। इनको रोककर इन लोगों द्वारा उनको दबा देता है। इन तीन लोकों के अतिरिक्त जो चौथा लोक हो वहाँ से भी वे उठने न पावें। वे इस प्रकार नहीं उठ पाते क्योंकि जैसे देवों ने पहले उनको रोक दिया था, इसी प्रकार इन ब्राह्मणों ने भी उनको रोक दिया ॥१३॥

यज्ञमामायारातीयति । यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमां-
ल्लोकानति चतुर्थमस्या एव सर्वꣳ हरत्यस्याꣳ हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः
किꣳ हि हरम्यदन्तरिक्षꣳ हरामि दिवꣳ हरामीति हरेत्तस्मादस्या एव सर्वꣳ हर-
ति ॥१४॥ अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति । नेदनेन वज्रेण सꣳशितेन पृथिवीꣳ हि-
नसानीति तस्मात्तृणमन्तर्धाय प्रहरति ॥१५॥ स प्रहरति । पृथिवि देवयजन्यो-
षध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमित्युत्तरमूलामिव वाऽएनामेतत्करोत्याददानस्तामेत-
दाहौषधीनां ते मूलानि मा हिꣳसिषमिति व्रजं गच्छ गोष्ठानमित्यभिनिधास्यन्ने-
वैतदनपक्रमि कुरुते तद्ध्यनपक्रमि यद्व्रजेऽन्तस्तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति
वर्षतु ते द्यौरिति यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः
शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादाह वर्षतु ते द्यौरिति बधान देव सवि-
तः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत्सवितारमाहान्धे तमसि बधानेति यदाह
परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्यमुचे तदाह योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्वि-
ष्मस्तमतो मा मौगिति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदमुमतो मा मौगिति ब्रू-
यात् ॥१६॥ अथ द्वितीयं प्रहरति । अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासमित्यररुर्ह
वै नामासुररक्षसमास तं देवा अस्या अपाघ्नत तथोऽएवैनमेतदेषोऽस्या अपहते
व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पा-
शैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ॥१७॥ तमग्नीदभिनिदधा-
ति । अररो दिवं मा पप्त इति यत्र वै देवा अररुमसुररक्षसमपाघ्नत स दिवम-
पिपतिषत्तमग्निरभिन्यदधादररो दिवं मा पप्त इति स न दिवमपत्तथोऽएवैनमेत-
दध्वर्युरेवास्माल्लोकादन्तरेति दिवोऽध्यग्नीत्तस्मादेवं करोति ॥१८॥ अथ तृतीयं प्र-
हरति । द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्नित्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमꣳ रस प्रजा उप-
जीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह व्रजं गच्छ गो॰-- मौगिति ॥१९॥ स वै त्रिर्यजुषा
हरति । त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधात्यद्धा वै तद्यदिमे

जो यजमान से वैर करता है या उससे द्वेष करता है उसको वह इन तीनों लोकों द्वारा, या यदि कोई चौथा लोक हो उसके द्वारा भी दबा देता है। इन तीनों अथवा चौथे से भी इसको निकाल देता है क्योंकि इसी पृथिवी पर तो सब लोक स्थित हैं। यदि वह कहेगा कि मैं अन्तरिक्ष को फेंक दूँ या द्यौ को फेंक दूँ तो वह क्या फेंकेगा? अतः वह पृथिवी से ही सबको फेंक देता है ॥१४॥

अब तृण को बीच में रखकर स्फ्या से प्रहार करता है। बीच में तृण को इसलिए रखता है कि कहीं वज्र से पृथिवी को हानि न पहुँच जावे ॥१५॥

प्रहार करते समय इस मन्त्रांश (यजु० १।२५) को पढ़ता है—"हे देवयजनि पृथिवि! मैं तेरी ओषधियों के मूल को हानि न पहुँचाऊँ।" इस प्रकार वह उसको उत्तर-मूला कर देता है अर्थात् उसके मूल सुदृढ़ हो जाते हैं। जब वह स्फ्या से खुदी हुई मिट्टी उठाता है तो कहता है, 'मैं तेरी ओषधियों के मूल को हानि न पहुँचाऊँ। तू व्रज अर्थात् गोशाला को जा। दैव (द्यौ) तुझ पर वर्षा करें।' जब पृथिवी खोदी गई तो खुदाई में पृथिवी को क्षति पहुँची। जल शान्ति है। अतः जल को वहाँ डालकर उसका उपशमन कर देता है। इसीलिए कहा कि 'दैव तुझ पर वर्षा करें।' (खुदी हुई मिट्टी को फेंकते समय) कहता है, 'हे देव सविता, तू इससे पृथिवी के परले सिरे से बाँध दे।' इसका तात्पर्य यह है कि 'गहरे अँधेरे से बाँध', 'सौ फन्दों (पाशों) से', अर्थात् इस प्रकार कि वह छूटने न पावे। फिर कहता है, 'जो हमसे द्वेष करता है या जिसको हम द्वेष करते हैं उसको मत छोड़।' चाहे किसी निश्चित की ओर संकेत हो या न हो, उसे कहना चाहिए कि 'अमुक-अमुक को मत छोड़' ॥१६॥

अब स्फ्या को दुबारा फेंकता है इस मन्त्र (यजु० १।२६) को पढ़कर—'मैं अररु को इस यज्ञ की स्थली पृथिवी से दूर कर दूँ।' अररु एक राक्षस था। देवों ने उसे भगा दिया था। इसी प्रकार अध्वर्यु भी अररु को भगाता है। अब फिर (वह उन-उन कृत्यों को दुहराते हुए) कहता है, 'तू गायों के स्थान अर्थात् व्रज को जा। दैव तुझ पर वर्षें। सविता देव तुझे पृथिवी के परले सिरे से बाँधे। जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको यहाँ से मत छोड़' ॥१७॥

अग्नीध्र उसको यह मन्त्र (यजु० १।२६) पढ़कर कूड़े पर फेंकता है—"हे अररु! तू स्वर्ग को न जा।" जब देवों ने राक्षस अररु को निकाला तो उसने स्वर्ग को जाना चाहा। अग्नि ने उसे दबा दिया और कहा, 'अररु, तू स्वर्ग को मत जा।' वह स्वर्ग को नहीं गया। इसी प्रकार अध्वर्यु उसको पृथिवी से छुड़ा देता है और अग्नीध्र स्वर्ग से रोक देता है। यह इसीलिए किया जाता है ॥१८॥

अब (स्फ्या को) तीसरी बार फेंकता है इस मन्त्रांश (यजु० १।२६) को पढ़कर—"तेरी बूँदें द्यौलोक को न जावें।" यह बूँद वह रस है जिससे प्रजायें जीती हैं। इसलिए वह कहता है कि 'तेरी बूँदें द्यौलोक को न जावें।' अब कहता है, 'गोशाला या व्रज को जा। दैव तुझ पर वर्षें। हे सविता देव, तू इसको पृथिवी के परले सिरे से बाँध, सौ फन्दों से। जो हमसे द्वेष करे या हम जिससे द्वेष करें उसको मत छोड़' ॥१९॥

तीन बार यजुः-मन्त्रों से उसको फेंकता है। लोक तीन हैं। इन तीन लोकों से उस बुराई

लोका अड्वो तद्यद्युनुस्तस्मान्निर्युनुषा हरति ॥२०॥ तूष्णीं चतुर्थम् । स यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्यत्तूष्णीं तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम् ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥२[४]॥

देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ॥१॥ ते होचुः । हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ॥२॥ तद्वै देवाः शुश्रुवुः । विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवी प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ॥३॥ ते होचुः । अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजतास्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त-इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति ॥४॥ वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसंमितमदुरिति ॥५॥ ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य । छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ॥६॥ तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य । अग्निं पुरस्तात्समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त तद्यदेनेनेमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमां सर्वां समविन्दन्तैवं ह वाऽइमां सर्वां सपत्नानां संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद ॥७॥ सोऽयं विष्णुर्ग्लानः । छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच ॥८॥ ते ह देवा ऊचुः । क्व नु विष्णुरभूत्क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त-इवान्वीषुस्तं

को दबाता है। जो ये तीन लोक हैं वही वास्तव में ये यजुः हैं। इसलिए यह इस प्रकार यजुः-मन्त्र पढ़कर फेंकता है ॥२०॥

चौथी बार चुपचाप। इन लोकों से परे कोई चौथा लोक है नहीं। उस लोक से उस शत्रु को भगा देता है। यह नहीं निश्चित कि इन तीन लोकों से आगे कोई चौथा लोक है या नहीं। और जो मौन होकर किया जाय वह भी अनिश्चित ही है। इसलिए वह चौथी बार मौन होकर फेंकता है ॥२१॥

अध्याय २—ब्राह्मण ५

प्रजापति की दो सन्तान देव और असुर अपने महत्त्व के लिए लड़ पड़े। देव हार गये। असुरों ने सोचा, 'अब तो यह जगत् हमारा ही हो गया' ॥१॥

उस पर उन्होंने कहा—"अच्छा, इस पृथिवी को परस्पर बाँट लें और उस पर बस जायँ।" अब उन्होंने उसको बैल के चमड़े से पश्चिम से पूर्व तक बाँटा ॥२॥

देवों ने सुना और कहा—"अरे, असुर तो पृथिवी को वास्तव में बाँट रहे हैं। चलो, वहाँ चलें जहाँ बाँट हो रहा है। यदि हमको कोई भाग न मिला तो हम क्या करेंगे?" विष्णु अर्थात् इस यज्ञ को अपना नेता बनाकर वे वहाँ गये ॥३॥

उन्होंने कहा—"अपने साथ हमको भी कुछ बाँट दो। हमारा कुछ तो भाग हो!" असुरों ने संकोच करते हुए कहा—"अच्छा हम तुमको केवल इतना भाग देते हैं जितने में यह विष्णु लेट सके" ॥४॥

विष्णु तो वामन था। परन्तु देवों को भय नहीं हुआ। उन्होंने कहा—"इस यज्ञ-भर को यदि स्थान मिल गया तो बहुत मिल गया" ॥५॥

उन्होंने उस विष्णु या यज्ञ को पूर्व की ओर लिटाकर तीन ओर से छन्दों से घेर दिया (यजु०१।२७)—दक्षिण की ओर 'गायत्री छन्द से तुझे घेरता हूँ', पश्चिम की ओर 'त्रिष्टुभ छन्द से तुझे घेरता हूँ', उत्तर की ओर 'जगती छन्द से तुझे घेरता हूँ' ॥६॥

इस प्रकार तीन ओर छन्दों से घेरकर, पूर्व की ओर अग्नि को रखकर देव अर्चना और श्रम करते रहे। इस प्रकार होते-होते समस्त पृथिवी ले ली। सब पृथ्वी ले ली, इसलिए इसका नाम वेदी पड़ा। इसीलिए कहते हैं कि जितनी वेदी उतनी पृथिवी, क्योंकि इसी वेदी के द्वारा उन्होंने पृथिवी जीत ली। जो इस रहस्य को समझता है वह इसी प्रकार समस्त पृथिवी को अपने शत्रुओं से छीन लेता है और उनको उसमें भाग नहीं देता ॥७॥

अब विष्णु थक गया। तीनों ओर से छन्दों द्वारा ढका हुआ था और पूर्व की ओर अग्नि था। अतः वहाँ से भाग न सकता था। इसलिए वह ओषधियों की जड़ों में छिप गया ॥८॥

देव कहने लगे—"विष्णु कहाँ गया? यज्ञ कहाँ गया? वह तो छन्दों द्वारा तीनों ओर और पूर्व की ओर अग्नि द्वारा घिरा हुआ था। भाग तो सकता नहीं। उसको यहीं खोजना चाहिए।" कुछ खोदा ही था कि वह मिल गया। केवल तीन अंगुल नीचे। इसलिए वेदी को तीन

त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामिव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे ॥९॥ तदु तथा न कुर्यात् । ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्तस्मादोषधीनामिव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यज्ञं त्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम ॥१०॥ तमनुविद्योत्तरेण परिग्राहेण पर्यगृह्णन् । सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति दक्षिणत इमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य सुक्ष्माꣳ शिवामकुर्वत स्योना चासि सुषदा चासीति पश्चादिमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य स्योनाꣳ सुषदामकुर्वतोर्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरत इमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत ॥११॥ स वै त्रिः पूर्वं परिग्राहं परिगृह्णाति । त्रिरुत्तरं तत्षट् कृत्वः षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य सवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति ॥१२॥ षड्भिर्व्याहृतिभिः । पूर्वं परिग्राहं परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरं तद्द्वादश कृत्वो द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति ॥१३॥ व्याममात्री पश्चात्स्यादित्याहुः । एतावान्वै पुरुषः पुरुषसंमिता हि त्र्यरत्निः प्राची त्रिवृद्धि यज्ञो नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात् ॥१४॥ अभितोऽग्निमꣳसाऽउन्नयति । योषा वै वेदिर्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणꣳ शेते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमꣳसाऽउन्नयति ॥१५॥ सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् । मध्ये सꣳह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशꣳसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तराꣳसा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति ॥१६॥ सा वै प्राक्प्रवणा स्यात् । प्राची हि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक्पितृणाꣳ सा यद्दक्षिणाप्रवणा स्यात् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैना-

अंगुल नीचे होना चाहिए। तदनुसार ही 'पाञ्चि' ने सोमयाग की वेदी तीन अंगुल गहरी ही रखी थी ॥६॥

किन्तु ऐसा न करे। यतः उन्होंने ओषधियों के मूल में यज्ञ को पाया, अतः (अध्वर्यु अग्नीध्र से कहे कि) ओषधियों की जड़ें काट दो। यतः वहाँ यज्ञ को पाया, इसलिये (विद् लाभे धातु से बनकर) इसका नाम वेदि पड़ा ॥१०॥

अब उन्होंने उसको फिर घेर दिया। दक्षिण का घेरा बनाते हुए कहा (यजु० १।२७)—"तू सुक्ष्मा (अच्छी भूमि) और शिवा (कल्याणी) है।" इस प्रकार इस पृथिवी को सुक्ष्मा और शिवा बना दिया। पश्चिम की ओर घेरा बनाकर कहा—"तू स्योना (सुखदा) और सुषदा (अच्छा आसन) है।" (यजु० १।२७) इस प्रकार उसको स्योना, सुषदा बना दिया। उत्तर की ओर घेरा बनाकर कहा (यजु० १।२७)—"तू ऊर्जस्वती (अन्न वाली) और पयस्वती (दूध या रस वाली) है। इस प्रकार उस भूमि को रसवती और बसने योग्य बना दिया ॥११॥

पहले तीन रेखाओं का घेरा बनाता है, फिर तीन का। इस प्रकार छः हुए। ऋतुएँ छः हैं, संवत्सर यज्ञ प्रजापति है। जितना बड़ा यज्ञ, उतनी उसकी मात्रा, उतना ही उसको घेरता है ॥१२॥

पहला घेरा बनाने में छः व्याहृतियाँ पढ़ता है, और दूसरे में छः। इस प्रकार बारह हुईं। महीने बारह होते हैं। संवत्सर यज्ञ प्रजापति है, इसलिये जितना बड़ा यज्ञ, जितनी उसकी मात्रा, उतना ही बड़ा उसको बनाता है ॥१३॥

कुछ लोग कहते हैं कि पश्चिम की ओर उसकी लम्बाई 'व्याम मात्री' (मनुष्य की देह के बराबर) होनी चाहिए, क्योंकि पुरुष इतना ही लम्बा होता है। पूर्व की ओर तीन हाथ, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। परन्तु यहाँ कोई मात्रा निश्चित नहीं है। जितना मन आवे उतना रख लेवे ॥१४॥

वेदी की दो भुजाओं को आहवनीय अग्नि के दोनों ओर आगे तक ले जाते हैं। वेदी स्त्री है। अग्नि पुरुष है। स्त्री पुरुष को दोनों भुजाओं से लपेटकर सोया करती है। इस प्रकार वेदी की दोनों भुजाओं को अग्नि के दोनों ओर बढ़ाकर मानो वह उन स्त्री-पुरुषों का सन्तानोत्पत्ति के लिए सम्पर्क करा देता है ॥१५॥

वेदी पश्चिम में चौड़ी, बीच में तंग और पूर्व में फिर चौड़ी होनी चाहिये। इसी प्रकार की स्त्री अच्छी समझी जाती है—नीचे का भाग भारी, कन्धों के निकट कुछ कम चौड़ी और कमर पर पतली। इस प्रकार वह इसको देवों की दृष्टि में प्रिय बना देता है ॥१६॥

वह पूर्व की ओर ढालू होनी चाहिए, क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है। पश्चिम की ओर भी ढालू होनी चाहिए, क्योंकि पश्चिम मनुष्यों की दिशा है। कूड़े को दक्षिण की ओर हटा देता है, क्योंकि दक्षिण पितरों की दिशा है। यदि दक्षिण की ओर ढालू हो तो यजमान शीघ्र ही परलोक को सिधार जायगा। ऐसा करने से यजमान बहुत जीता है। इसलिए कूड़े को दक्षिण की ओर हटा देते हैं। पशु ही कूड़ा हैं। इस प्रकार वह वेदी को पशु-सम्पन्न कर देता है ॥१७॥

मेतत्कुरुते ॥१७॥ तां प्रतिमार्ष्टि । देवा ह वै संग्रामँ संनिधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि नऽइतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति स यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि ॥१८॥ स प्रतिमार्ष्टि । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति संग्रामो वै क्रूरँ संग्रामे हि क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुरा ह्येतत्संग्रामान्न्यदधत तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवदानुमित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति यां चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्तऽइत्येतेनो ह तामनुदिश्य यजन्तेऽपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥१९॥ अथाह प्रोक्षणीरासादयेति । वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेमं पुरा यज्ञमभ्यगूगुपतां वज्रो वाऽआपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्याऽआसादयति स वाऽउपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्गृह्णात्यथ यन्निहितऽएव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्वज्रौ ह समृच्छेयातां तथो ह वज्रौ न समृच्छेते तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्गृह्णाति ॥२०॥ अथैतां वाचं वदति । प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः संमृड्ढि पत्नीँ संनह्याज्येनोदेहीति संप्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत स्वयमु ह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्तव्यमिति ॥२१॥ अथोदञ्चँ स्फ्यं प्रहरति । अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेद्वज्रो वै स्फ्य स्तृणुते हैवैनेन ॥२२॥ अथ पाणीऽअवनेनिक्ते । यद्ध्यस्यै क्रूरमभूत्तद्ध्यस्याऽएतदहार्षीत्तस्मात्पाणीऽअवनेनिक्ते ॥२३॥ स ये हाग्रऽईजिरे । ते ह स्मावमर्शं यजन्ते ते पापीयाँस आसुरथ ये ने-

(वेदी को पूर्व से पश्चिम की ओर अग्नीध्र) लीप देता है। जब देव संग्राम की तैयारी कर रहे थे तो वे बोले—"इस पृथिवी का जो कुछ भाग यज्ञ के योग्य हो उसे चन्द्रलोक को ले चलें। यदि असुरों ने जीतकर हमको भगा दिया तो हम अर्चना और परिश्रम द्वारा फिर वैभव प्राप्त कर सकेंगे। इसने भी पृथिवी का जो पवित्र यज्ञ के योग्य भाग था उसको चन्द्रलोक के अर्पण कर दिया। चाँद के काले धब्बे यही हैं। इसीलिये कहावत है कि चन्द्रलोक में इस पृथिवी का यज्ञ-स्थान है। देवयज्ञ इसी पृथिवी पर उसी वेदी के स्थान में किया जाता है। अतः वह वेदी को लीपता है ॥१८॥

यजुर्वेद (१।२८) के इस अंश को पढ़कर लीपता है—"हे शक्तिमान्! इधर-उधर गति करते हुए क्रूर के पहले।" क्रूर नाम है संग्राम का। संग्राम में बहुत क्रूरता की जाती है। इसमें बहुत-से मनुष्य, अश्व आदि मरकर धराशायी हो जाते हैं। वे संग्राम से पहले ही पृथिवी के यज्ञ वाले भाग को चन्द्रलोक को ले गये थे, इसीलिये कहा, 'हे शक्तिशालिन्! इधर-उधर हिलते हुए क्रूर से पूर्व।' फिर कहता है—"जीवन देनेवाली भूमि को उठाकर।" इस पृथिवी पर जो जीवन था उसको उठाकर ही चन्द्रलोक को ले गये थे। इसीलिये कहा, 'जीवन देनेवाली भूमि को उठा-कर', 'जिसको स्वधाओं के साथ चन्द्रलोक को ले गये', अर्थात् प्रार्थनाओं (ब्रह्म) के साथ। 'बुद्धिमान् लोग अब भी इसी भूमि का अनुदेश करके यज्ञ करते हैं'; अपने यज्ञ को वे इसी भूमि पर करते हैं। जो इस रहस्य को समझता है उसका यज्ञ भी यहीं होता है ॥१९॥

अब वह (अध्वर्यु) (अग्नीध्र से) कहता है (यजु० १।२८)—"प्रोक्षणी पात्र को (वेदी में) रक्खो।" स्फ्यारूपी वज्र ने और ब्राह्मण ने अब तक यज्ञ की रक्षा की। जल भी तो वज्र है। अब इस वज्र को रक्षा के लिए रखता है। प्रोक्षणी को स्फ्या पर रखते समय पहले वह स्फ्या को उठा लेता है। यदि स्फ्या रक्खी रहे और उस पर प्रोक्षणी रक्खी जाय तो दो वज्र परस्पर टकरा जायँ। ये वज्र न टकराने पावें इसीलिये प्रोक्षणी को स्फ्या पर रखने से पूर्व स्फ्या को उठा लेता है ॥२०॥

अब इस (पूर्ण) वाणी को बोलता है—"प्रोक्षणी को वेदी में रक्खो। उसी के पास समिधा और बर्हि भी रक्खो। स्रुक् को माँजो, पत्नी की कमर को कसो और घी लेकर यहाँ आओ।" ये आदेश (अग्नीध्र के लिए) हैं। अध्वर्यु का जी चाहे तो इसको कहे, जी चाहे न कहे। क्योंकि अग्नीध्र तो जानता ही है कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए ॥२१॥

अब वह स्फ्या को उत्तर की ओर कूड़े पर फेंक देता है। यदि वह किसी शत्रु को मारने के अभिप्राय से फेंके तो उसको कहना चाहिए कि 'मैं अमुक-अमुक शत्रु के नाश के लिए वज्र फेंकता हूँ।' यह स्फ्या वज्र के समान ही शत्रु की घातिनी होगी ॥२२॥

अब वह हाथ धोता है। वेदी में जो कुछ क्रूर था उसको फेंक दिया। अतः हाथ धोता है ॥२३॥

जिन्होंने पहले यज्ञ किया था उन्होंने यज्ञ करते हुए वेदी छली। यह पापकर्म था। जिन्होंने

जिरे ते श्रेयाꣳस आसुस्ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्विवेद ये यजन्ते पापीयꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति तत इतो देवान्हविर्न जगामेतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ॥२४॥ ते ह देवा ऊचुः । बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः कथा न यजध्वऽइति ते होचुः किंकाम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयाꣳसस्ते भवन्ति यऽउ न यजन्ते श्रेयाꣳसस्ते भवन्तीति ॥२५॥ स होवाच । बृहस्पतिराङ्गिरसो यद्वै युष्मुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यद्धुतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट तस्मात्पापीयाꣳसोऽभूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेयाꣳसो भविष्यथेत्या कियत इत्या बर्हिष स्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति स यदि पुरा बर्हिष स्तरणात्किंचिदापद्येत बर्हिरेव तत्स्तृणान्नपास्येदथ यदा बर्हि स्तृणात्यपि पदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान्हैव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५.]॥ अध्यायः ॥२॥

स वै स्रुचः संमार्ष्टि । तद्यत्स्रुचः संमार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणां तस्माद्यदा मनुष्याणां परिवेषणमुपक्लृप्तं भवति ॥१॥ अथ पात्राणि निर्णेनिजति । तैर्निर्णिज्य परिवेविषत्येवं वाऽएष देवानां यज्ञो भवति यद्धुतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेषामेतान्येव पात्राणि यत्स्रुचः ॥२॥ स यत्संमार्ष्टि । निर्णेनिक्त्येवैना एतन्निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजत्येकेन मनुष्येभ्योऽद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यऽआपो हि कुशा ब्रह्म यजुरेकेनैव मनुष्येभ्योऽद्भिरेवैवम्वेतन्नाना भवति ॥३॥ अथ स्रुवमादत्ते । तं प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा ॥४॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसंगाद्बिभयांचक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥५॥ स वाऽइत्यग्रैरन्तरतः संमार्ष्टि । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिदिति य-

हाथ धो डाले, उन्होंने ठीक किया। अब अश्रद्धा उत्पन्न हो गई। लोग कहने लगे–'जो यज्ञ करते हैं वे पापी हो जाते हैं। जो यज्ञ नहीं करते वे पुण्यवान् होते हैं।' अब इस पृथिवी से देवताओं के पास कुछ भी हवि नहीं पहुँची। देवता तो उसी हवि के आश्रय रहते हैं जो इस पृथिवीलोक से दी जाती है ॥२४॥

तब देवों ने बृहस्पति आंगिरस से कहा—"मनुष्य में अश्रद्धा ने घर कर लिया है। उनके लिए यज्ञ का आदेश दीजिये।" तब बृहस्पति आंगिरस ने कहा—"आप लोग यज्ञ क्यों नहीं करते?" वे बोले—"यज्ञ क्या करें? जो यज्ञ करते हैं वे पापी हो जाते हैं, जो यज्ञ नहीं करते पुण्यात्मा रहते हैं" ॥२५॥

तब बृहस्पति आंगिरस ने कहा–"हमने ऐसा सुना है कि जो देवताओं के लिए तैयार किया जाता है अर्थात् पकी हुई हवि, वही यज्ञ है। तुमने वेदी को छूकर उसको किया, अतः पापी हो गये। वेदी को न छूकर करते तो पुण्यात्मा होते। बिना छुए ही यज्ञ करो। ठीक हो जायगा।" बर्हि से वेदी सन्तुष्ट रहती है। इसलिये यदि बर्हि बिछाने से पूर्व वेदी पर कोई चीज गिर जाय तो बर्हि बिछाते समय ही उठानी चाहिए। क्योंकि जब वे बर्हि को बिछाते हैं तो वेदी पर पैर रखते हैं। जो इस रहस्य को समझकर विना स्पर्श किये यज्ञ करता है पुण्यात्मा हो जाता है। इसलिये (वेदी और हवि को) बिना छुए ही यज्ञ करे ॥२६॥

अध्याय 3–ब्राह्मण १

अब (अग्नीध्र) चमचों को माँजता है। चमचों को इसलिये माँजता है कि जैसा मनुष्यों का चलन होता है वैसा ही देवों का। जब मनुष्यों का भोजन परोसा जाता है तो—॥१॥

बरतनों को माँजते हैं, और तब उनमें खाना परोसते हैं। इसी प्रकार देवों को हवि दी जाती है; अर्थात् हवि को पकाते हैं और वेदी को बनाते हैं और देवों के पात्रों अर्थात् चमचों आदि को ठीक करते हैं ॥२॥

जब वह माँजता है तो धोता भी है। तात्पर्य यह है कि मैं इस प्रकार करूँगा। देव-पात्रों को दो चीजों से शुद्ध करते हैं और मनुष्य के पात्रों को एक से। देव-पात्रों को जल और प्रार्थना से। कुश जल का प्रतिनिधि है और प्रार्थना तो है ही। मनुष्यों के पात्रों को केवल एक अर्थात् जल से। इस प्रकार दोनों में भेद हो जाता है ॥३॥

पहले स्रुवा को लेता है, और आग पर तपाता है, इस (यजु० १।२९) मन्त्र को जपते हुए—"झुलस गये राक्षस, झुलस गये शत्रु। जल गये राक्षस, जल गये शत्रु" ॥४॥

जब देवों ने यज्ञ किया था तो उनको भय था कि कहीं राक्षस असुर यज्ञ को विध्वंस न कर दें। अतः वह पहले से ही राक्षस और असुरों को भगा देता है ॥५॥

वह पात्र के आगे से लेकर भीतर की ओर इस प्रकार स्रुवा को माँजता है, यह पढ़कर (यजु० १।२९)—"तू तेज तो नहीं है; परन्तु शत्रुओं का घातक है।" यह इसलिए कहता है कि

थानुपरतो यजमानस्य सपत्नान्हिंस्यादेवमेतदाह वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मी-
ति यज्ञियं त्वा यज्ञाय संमार्ज्मीत्येवैतदाहैतेनैव सर्वाः स्रुचः संमार्ष्टि वाजिनीं
त्वेति स्रुचं तूष्णीं प्राशित्रहरणꣳ ॥६॥ स वाऽइत्यग्रैरन्तरतः संमार्ष्टीति । मूलै-
र्बाह्यतऽइतीव वाऽअयं प्राण इतीवोदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्मादिती-
वेमानि लोमानीतीवेमानि ॥७॥ स वै संमृज्य-संमृज्य प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । य-
थावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयेदेवं तत्तस्मात्प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति
॥८॥ स वै स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि । अथेतराः स्रुचो योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्मा-
द्यद्यपि बह्व्य-इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव तास्वपि कुमारक-इव पुमान्भवति
स एव तत्र प्रथम एत्यनूच्य इतरास्तस्मात्स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्ट्यथेतराः स्रुचः ॥९॥
स वै तथैव संमृज्यात् । यथाग्निं नाभिव्युक्षेद्यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्तं पा-
त्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेदेवं तत्तस्मादु तथैव संमृज्याद्यथाग्निं नाभिव्युक्षेत्प्राङिवैवो-
त्क्रम्य ॥१०॥ तद्धैके । स्रुक्संमार्जनान्यग्नावभ्यादधति वेदस्याहाभूवन्त्स्रुच एभिः
सममार्जिषुरिदं वै किंचिद्यज्ञस्य नेदिदं बहिर्धा यज्ञाद्भवदिति तदु तथा न कुर्या-
द्यथा यस्माऽअशनमाहरेत्तं पात्रनिर्णेजनं पाययेदेवं तत्तस्मादु परास्येदेवैतानि
॥११॥ अथ पत्नीꣳ संनह्यति । जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी प्राङ्मे यज्ञस्ता-
यमानो यादिति युनक्त्येवैनामेतद्युक्ता मे यज्ञमन्वासाताऽइति ॥१२॥ योक्त्रेण सं-
नह्यति । योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्त्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैत-
दाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मेध्येनैवोत्तरार्धेना-
ज्यमवेक्षते तस्मात्पत्नीꣳ संनह्यति ॥१३॥ स वाऽअभिवासः संनह्यति । ओष-
धयो वै वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेषा वरुण्या
रज्जुर्न हिनस्ति तस्मादभिवासः संनह्यति ॥१४॥ स संनह्यति । अदित्यै रास्ना-
सीतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्न्येषा वाऽएतस्य पत्नी भवति तदस्या

यजमान के शत्रुओं को मार दे। "मैं तुझ अन्नवाले को अन्न के लिए माँजता हूँ।" इसी प्रकार सबको माँजता है। स्रुवा पुंल्लिङ्ग है अतः उसको माँजते हुए पुंल्लिङ्ग 'वाजिन' का प्रयोग करता है। स्रुच् स्त्रीलिङ्ग है, अतः उसको माँजते समय 'वाजिनी' (स्त्रीलिङ्ग) का प्रयोग करता है। प्राशित्रहरण नामक खदिर के पात्र को मौन होकर माँजता है ।।६।।

आगे से लेकर भीतर की ओर इसलिए माँजता है कि प्राण और उदान की गति इसी प्रकार है। इस प्रकार वह प्राण और उदान को यजमान को प्राप्त कराता है। भुजा में कोहनी से ऊपर के लोम ऊपर की ओर होते हैं और नीचे के नीचे की ओर ।।७।।

ज्यों-ज्यों वह धोकर तपाता है (अध्वर्यु को) देता जाता है। जैसे बर्तनों को माँजते समय पहले तो हाथ लगाकर माँजते हैं, फिर बिना हाथ लगाये पानी डालकर धो देते हैं। इसी प्रकार वह माँज और तपाकर अध्वर्यु को दे देता हैं ।।८।।

स्रुवा को पहले माँजता है। सब स्रुच् तो स्त्री हैं और स्रुवा पुरुष। यों तो स्त्रियाँ एक-साथ चलती हैं, परन्तु उनमें जो पुरुष होता है वह आगे चलता है और स्त्रियाँ उसके पीछे। इसीलिए वह स्रुवा को पहले माँजता है और अन्य स्रुच् आदि को पीछे ।।९।।

इसको इस प्रकार माँजना चाहिए कि कोई भाग आग में न पड़ने पावे। ऐसा करने से तो वह खानेवाले के ऊपर बर्तनों का मैल डाल देगा। इसलिए इस प्रकार माँजना चाहिए कि आग में बर्तनों का मैल न पड़ने पावे, अर्थात् आहवनीय अग्नि से कुछ दूर पूर्व की ओर हटकर माँजे ।।१०।।

कुछ लोग स्रुच् को माँजकर घास के टुकड़े जिनसे स्रुच् माँजा था, आग में डाल देते हैं। वे कहते हैं कि यह तो कुश के ही भाग हैं; कुश यज्ञ का है, अतः यज्ञ का कोई भाग भी यज्ञ के बाहर नहीं जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। इससे तो जिसके लिए भोजन लाया उसी को मैल का भाग खिलाने के तुल्य होगा। इसलिए इन तृणों को बाहर ही फेंकना चाहिए ।।११।।

अब यजमान की पत्नी की (अग्नीध्र) कमर कसता है। पत्नी यज्ञ का पिछला भाग है। अब अग्नीध्र उसकी कमर कसता है तब वह यह सोचती जाती है कि यज्ञ मेरे सामने फूले-फले। अग्नीध्र सोचता है कि यह मेरे यज्ञ में कमर कसी हुई बैठी रहे ।।१२।।

पत्नी की कमर रस्सी से कसता है। रस्सी से ही तो पशुओं को बाँधते हैं। पत्नी का वह भाग जो नाभि से नीचे होता है अपवित्र होता है, उस अपवित्र भाग से ही वह आज्य के सामने आवेगी। अतः वह कमर में रस्सी बाँध देता है कि उसका ऊपर का भाग ही जो पवित्र है सामने आवे ।।१३।।

रस्सी को वस्त्रों के ऊपर बाँधते हैं। वस्त्र ओषधि का रूपान्तर हैं। रस्सी वरुण की पाश है। इस प्रकार ओषधि पत्नी के शरीर और वरुण की गाँठ के बीच में आ जाती है। इस प्रकार यह वरुण की रस्सी पत्नी को हानि नहीं पहुँचा सकती। इसलिये वह वस्त्रों के ऊपर कसता है ।।१४।।

वह कमर कसते समय पढ़ता है (यजु० १।३०)—"तू अदिति की रास्ना है।" यह पृथिवी ही अदिति है। वह देवों की पत्नी है और यह स्त्री यजमान की पत्नी है। इस प्रकार वह इस

एतद्रास्नामिव करोति न रज्जुं ह्विरो वै रास्ना तामेवास्या एतत्करोति ॥१५॥ स
वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिर्वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयाद्यद्ग्रन्थिं कुर्यात्तस्मान्न
ग्रन्थिं करोति ॥१६॥ ऊर्ध्वमिवोदूहति । विष्णोर्वेष्योऽसीति सा वै न पश्चात्प्राची
देवानां यज्ञमन्वासीतेयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्नी सा पश्चात्प्राची देवा-
नां यज्ञमन्वास्ते तद्धेमामभ्यारोहेत्सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्तथो ह पत्नी ज्यो-
ग्जीवति तदस्याऽएवैतन्निह्नुते तथो हैनामियं न हिनस्ति तस्मादु दक्षिणत-इवै-
वान्वासीत ॥१७॥ अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी रेत आज्यं मिथुनमेवैतत्प्रज-
ननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते ॥१८॥ सावेक्षते । ऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामी-
त्यनार्त्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाहाग्नेर्जिह्वासीति यदा वाऽएतदग्नौ जुह्व-
त्यथाग्नेर्जिह्वा-इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति सुहूर्देवेभ्य इति साधु देवेभ्य
इत्येवैतदाह धाम्ने-धाम्ने मे भव यजुषे-यजुषऽइति सर्वस्मै मे यज्ञायेधीत्येवैतदाह
॥१९॥ अथाज्यमादाय प्राङुदाहरति । तदाहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवीं-
षि श्रपयन्ति सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यथ यदमुत्राग्नेऽधिश्रयति पत्नीं
ह्यवकाशयिष्यन्भवति न हि तदवकल्पते यत्सामि प्रत्यग्घरेत्पत्नीमवकाशयिष्या-
मीत्यथ यत्पत्नीं नावकाशयेदन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीं तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति
तस्मादु सार्धमिव विलाप्य प्रागुदाहृत्यवकाश्य पत्नीं यस्यो पत्नी न भवत्यग्र
ऽएव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति तत्तत आदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति ॥२०॥ तदाहुः ।
नान्तर्वेद्यासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्त्यवसभा अह देवानां पत्नीः करो-
ति परःपुंसो हास्य पत्नी भवतीति तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या
अस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परःपुंसा वा पत्नी स्याद्यथा वा यज्ञो वेदिर्यज्ञ आज्यं य-
ज्ञाद्यज्ञं निर्मिमाऽइति तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥२१॥ प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः ।
ते तत आदत्ते ताभ्यामाज्यमुत्पुनात्येको वाऽउत्पवनस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति
॥२२॥ स उत्पुनाति । सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मि-

रस्सी को रस्सी न मानकर केवल यजमान की पत्नी की रास्ना बना देता है (रास्ना का अर्थ है सीमा)। रज्जू पत्नी की रास्ना होती है ।।१५।।

रस्सी में गाँठ नहीं बाँधनी चाहिए । गाँठ वरुण की होती है। गाँठ बाँधने से तो वरुण पत्नी को पकड़ लेगा । इसलिए गाँठ नहीं बाँधता ।।१६।।

(यजु० १।३०) के निम्न मन्त्रांश को पढ़कर वह उसे ऊपर की ओर मोड़ देता है—"तू विष्णु से व्याप्य है।" पत्नी को चाहिए कि वह वेदी के पश्चिम को पूर्वाभिमुख न बैठे। यह पृथिवी अदिति है, वह देवों की पत्नी है, देवों की पत्नी वेदी के पश्चिम को पूर्वाभिमुख बैठती है। यदि यह स्त्री भी ऐसा ही करेगी तो अदिति हो जायगी और शीघ्र ही परलोक सिधारेगी। अपने नियत स्थान पर बैठकर बहुत दिनों जीती है। अदिति को प्रसन्न रखती है और अदिति उसको हानि नहीं पहुँचाती । इसलिए उसको दक्षिण की ओर हटकर बैठना चाहिए ।।१७।।

अब वह (पत्नी) आज्य को देखती है। पत्नी स्त्री है और आज्य वीर्य है। इस प्रकार दोनों में सम्पर्क स्थापित करके सन्तति-प्रजनन कर देता है। इसीलिए पत्नी आज्य को देखती है ।।१८।।

वह यजु० १।३० को पढ़कर आज्य को देखती है—"मैं तुझको दोषरहित आँख से देखती हूँ।" अर्थात् शुभ दृष्टि से।—"तू अग्नि की जीभ है।" अग्नि में उसकी आहुति देते हैं तो अग्नि की जीभ उसे ले लेती है, अतः आज्य अग्नि की जीभ है।—"तू देवों के लिए 'सुहू' है।" अर्थात् भलीभाँति निमन्त्रित।—"मेरे कल्याण के लिए यह कृत्य हो।" इसका तात्पर्य यह है कि यह आज्य समस्त यज्ञ के लिए सुहू हो ।।१९।।

अग्नीध्र आज्य को लेकर कुछ पूर्व की ओर ले जाता है। जो अपनी हवियों को आहवनीय अग्नि पर पकाते हैं उनके यहाँ यह आज्य आहवनीय अग्नि पर पकाते हैं, यह मानकर कि हमारी समस्त हवियाँ आहवनीय पर पकें। गार्हपत्य पर वह आज्य को इसलिए रखता है कि पत्नी को देखने का अवकाश मिल सके। यह तो ठीक न होगा कि यज्ञ करते समय आहवनीय अग्नि पर से उठाकर आज्य को केवल इसलिए पश्चिम को लाया जाय कि पत्नी को देखने का अवकाश मिल सके। यदि पत्नी को आज्य न दिखाया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि पत्नी को यज्ञ में कोई अधिकार नहीं दिया गया। ऐसा करने से वह पत्नी को यज्ञ के अधिकार से बहिष्कृत नहीं समझता और (गार्हपत्य पर) पत्नी के निकट पकाकर और पत्नी को दिखाकर ही पूर्व की ओर ले जाता है। यदि पत्नी न हो (मर गई हो या अन्य कारण हो) तो पहले से ही आहवनीय पर रखा देता है। फिर वहाँ से उठाकर वेदी के भीतर रख देता है ।।२०।।

कुछ लोग कहते हैं कि वेदी के भीतर न रखना चाहिए। इससे देव-पत्नियों के लिए आहुति दी जाती है। देव-पत्नियों को सभा से बहिष्कृत कर देता है। और यजमान की पत्नी भी यजमान से रुष्ट हो जाती है। इस पर **याज्ञवल्क्य** का कहना है कि 'पत्नी के लिए जो नियत है वही होना चाहिए। किसको चिन्ता है कि उसकी पत्नी दूसरों से सम्बन्ध रखती है!' 'वेदी यज्ञ है, और आज्य भी यज्ञ है, मैं यज्ञ में से यज्ञ बनाऊँगा।' इसलिए आज्य को वेदी में ही रखना चाहिए।।२१।।

दोनों पवित्रे प्रोक्षणी पात्रों में होते हैं। वह उनको वहाँ से निकालकर आज्य को पवित्र करता है। उनमें से एक तो पवन का है। इस प्रकार वह आज्य को यज्ञ के योग्य बनाता है ।।२२।।

वह यह मन्त्र (यजु० १।३१) पढ़कर पवित्र करता है—"सविता की प्रेरणा से, छिद्ररहित

भिरिति सोऽसावेव बन्धुः ॥२३॥ ॥ शतम् २०० ॥ ॥ अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्याम् । प्रोक्षणीरुत्पुनाति सवितुर्वः प्रसवऽउत्पु' -- बन्धुः ॥२४॥ तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्याम् । प्रोक्षणीरुत्पुनाति तदप्सु पयो दधाति तदिदमप्सु पयो हितमिदꣳ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः संभवति तस्माद्व रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥२५॥ अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति तद्व होवाच याज्ञवल्क्यः कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति कथꣳ स्वयं नान्वाहुर्यत्र भूयस्य-इवाशिषः क्रियन्ते कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति यां वै कां च यज्ञऽऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥२६॥ सोऽवेक्षते । सत्यं वै चक्षुः सत्यꣳ हि वै चक्षुस्तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावियातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्माऽएव श्रद्दध्याम तत्सत्येनैवैतत्समर्धयति ॥२७॥ सोऽवेक्षते । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति स एष सत्य एव मन्त्रस्तेजो ह्येतच्छुक्रꣳ ह्येतदमृतꣳ ह्येतत्तत्सत्येनैवैतत्समर्धयति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥४. [३.१.]॥

पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुतऽएष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥१॥ तस्येयमेव जुहूः । इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा तद्वाऽआत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति तस्माद्व ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥२॥ प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसंचरति तस्मात्स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः संचरति ॥३॥ तस्यासावेव द्यौर्जुहूः । अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा तद्वाऽअस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति तस्माद्व ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥४॥ अयमेव स्रुवो योऽयं पवते । सोऽयमिमांल्लोकाननुपवते तस्माद्व स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः संचरति ॥५॥ स एष यज्ञस्तायमानो । देवेभ्यस्तायतऽऋतुभ्यश्छन्दोभ्यो यद्धविस्तद्देवानां यत्सोमो राजा यत्पुरोडाशस्तत्तदादिश्य गृह्णात्यमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामी-

पवित्रों से, सूर्य्य की रश्मियों से तुझे पवित्र करता हूँ।" शेष स्पष्ट है ।।२३।।

अब आज्य में लिपटे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी पात्रों को पवित्र करता है, उसी मन्त्र (यजु० १।३१) से—"सविता की प्रेरणा से, छिद्ररहित पवित्रों से, सूर्य्य की रश्मियों से, तुझे पवित्र करता हूँ" ।।२४।।

आज्य में लिपटे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी को पवित्र करने का अर्थ यह है कि जल में दूध रख दिया। जल में दूध हितकर होता है। जब बरसता है तो ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाकर और जल को पीकर ही रस बनता है। ऐसा करने से वह यजमान को रस-युक्त और पूर्ण कर देता है ।।२५।।

अब अध्वर्यु आज्य को देखता है। कुछ लोगों का मत है कि यजमान को देखना चाहिए। इस पर **याज्ञवल्क्य** कहते हैं कि यजमान स्वयं ही अध्वर्यु क्यों नहीं बन जाते ? स्वयं ही आशीर्वाद के मन्त्र क्यों नहीं पढ़ लेते ? इनमें इनको श्रद्धा कैसे हो जाती है ? यज्ञ में ऋत्विज लोग जो भी कृत्य करते हैं वह सब यजमान के लिए ही तो होता है। अतः अध्वर्यु को ही देखना चाहिए।।२६।।

वह इसका अवलोकन करता है। सत्य चक्षु है। सत्य चक्षु ही है, क्योंकि यदि किसी विषय में विवाद उपस्थित हो जाय और एक कहे 'मैंने देखा है', दूसरा कहे 'मैंने सुना है', तो देखे हुए की बात पर श्रद्धा की जाती है। इस प्रकार वह सत्य से इसकी वृद्धि करता है ।।२७।।

वह यजु० १।३१ से उसका अवलोकन करता है—"तू तेज है, तू शुक्र है, तू अमृत है।" यह मन्त्र ठीक तो है। क्योंकि आज्य तेज है, अमृत है। इस प्रकार वह इसकी सत्य से अभिवृद्धि करता है ।।२८।।

अध्याय ३—ब्राह्मण २

यज्ञ पुरुष है। यज्ञ पुरुष क्यों है ? इसलिए कि पुरुष ही यज्ञ को तानता है; और जब तन जाता है तो यज्ञ इतना बड़ा हो जाता है जितना पुरुष[1] ।।१।।

यज्ञ की यह भुजा (दाहिनी) जुहू है और यह भुजा (बाईं) उपभृत् है। ध्रुवा धड़ है। धड़ से ही सब अंग उपजते हैं। इसलिए ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है ।।२।।

स्रुवा प्राण है। प्राण सब अंगों में जाता है। इसलिए स्रुवा, सब स्रुचों (चमचियों) में जाता है ।।३।।

जुहू द्यौ लोक है, उपभृत् अन्तरिक्ष और ध्रुवा पृथिवी। पृथिवी से ही सब लोक उपजते हैं। इसी प्रकार ध्रुवा में ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है ।।४।।

स्रुवा बहनेवाला वायु है। वायु का संचार सब लोकों में होता है। इसीलिए स्रुवा सब स्रुचों तक जाता है ।।५।।

जब यज्ञ ताना जाता है तो देवों के लिए, ऋतुओं के लिए और छन्दों के लिए। हवि, सोमराजा और पुरोडाश देवों के लिए होती है। वह जब इनको लेता है तो उन-उन देवताओं का नाम लेकर कहता है 'मैं अमुक देवता के लिए तुझ प्रिय को लेता हूँ'। इस प्रकार वह उस देवता

१. यज्ञ पुरुष की कृति है। कृति कर्त्ता के अनुरूप होती है।

त्येवमु हैतेषाम् ॥६॥ अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते । ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च
गृह्यन्ते तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौ कृत्व उप-
भृति ॥७॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । ऋतुभ्यस्तद्गृह्णाति प्रयाजेभ्यो हि तद्गृह्णात्यृत-
वो हि प्रयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद्य-
द्वसन्ताय त्वा ग्रीष्माय त्वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥८॥
अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति । छन्दोभ्यस्तद्गृह्णात्यनुयाजेभ्यो हि तद्गृह्णाति
छन्दाꣳसि ह्यनुयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कु-
र्याद्यद्गायत्र्यै त्वा त्रिष्टुभे त्वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥९॥
अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति । सर्वस्मै तद्यज्ञाय गृह्णाति तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रू-
पेण गृह्णाति कस्माऽउ ह्यादिशेद्यतः सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति तस्मादना-
दिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥१०॥ यजमान एव जुह्वमनु । योऽस्माऽअरातीयति
स उपभृतमन्वत्तेव जुह्वमन्वाद्य उपभृतमन्वत्तेव जुह्वाद्य उपभृत्स वै चतुर्जुह्वां
गृह्णात्यष्टौ कृत्व उपभृति ॥११॥ स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । अत्तारमेवैतत्परिमिततरं
कनीयाꣳसं करोत्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाꣳसं
करोति तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयानाद्यो भूयान् ॥१२॥ स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् ।
भूय आज्यं गृह्णात्यष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्कनीय आज्यं गृह्णाति ॥१३॥ स यच्च-
तुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय आज्यं गृह्णात्यत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयाꣳसं कुर्वंस्तस्मि-
न्वीर्यं बलं दधात्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्कनीय आज्यं गृह्णात्याद्यमेवैतद-
परिमिततरं भूयाꣳसं कुर्वंस्तमवीर्यमबलीयाꣳसं करोति तस्मादुत राजापरां विशं
प्रावसायाप्येकवेश्मनेव जिनाति त्वद्यथा त्वत्कामयते तथा सचतऽएतेनो ह तद्वी-
र्येण यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति स यज्जुह्वां गृह्णाति जुह्वेव तज्जुहोति यदुपभृति
गृह्णाति जुह्वेव तज्जुहोति ॥१४॥ तदाहुः । कस्माऽउ तर्ह्युपभृति गृह्णीयाद्यदुप-

की हो जाती हैं ।।६।।

जो आज्य लिये जाते हैं वे ऋतुओं और छन्दों के लिए लिये जाते हैं। इनको बिना नाम लिये लेता है। जुहू में चार बार आज्य लिया जाता है, उपभृत् में आठ बार ।।७।।

जुहू में जो चार बार लेता है वह ऋतुओं के लिए लेता है, प्रयाजों के लिए लेता है। प्रयाज ही ऋतु हैं। वह आज्य को लेने में किसी का नाम नहीं लेता; अजामिता के लिए। यदि कहे कि 'वसन्त के लिए लेता हूँ या ग्रीष्म के लिए लेता हूँ' तो जामिता आ जाय, इसलिए बिना नाम लिये ही आज्य को लेता है ।।८।।

आठ बार उपभृत् से जो लेता है वह छन्दों के लिए, अनुयाजों के लिए। अनुयाज छन्द हैं। इनको बिना नाम लिये ही लेता है, अजामिता के लिए। यदि कहे कि 'गायत्री के लिए या त्रिष्टुभ के लिए' तो जामिता आ जाय, इसलिए इसको आज्य के रूप में ही बिना देवता का नाम लिये ही लेता है ।।९।।

ध्रुवा में जो चार बार लेता है वह समस्त यज्ञ के लिए। इसको भी वह आज्य के रूप में बिना देवता का नाम लिए ही लेता है। नाम किस देवता का लिया जाय ? वह तो सभी देवताओं के लिए निकालता है। इसलिए बिना नाम लिये ही आज्य के रूप में उसको लेता है ।।१०।।

यजमान जुहू के पीछे खड़ा होता है और जो उसका अशुभचिन्तक है वह उपभृत् के पीछे। खानेवाला जुहू के पीछे खड़ा होता है और खाई जानेवाली चीज उपभृत् के पीछे। जुहू खानेवाला है और उपभृत् खाद्य। जुहू में चार बार लेता है और उपभृत् में आठ बार ।।११।।

जुहू में चार बार लेता है, इसलिए कि खानेवाला परिमित और छोटा हो जाय। उपभृत् में आठ बार लेता है कि खाद्य पदार्थ अपरिमित और बहुत हो जाय। जहाँ खानेवाला छोटा हो और खाद्य पदार्थ बहुत हो, वहाँ यह समृद्धि का सूचक है ।।१२।।

जुहू में चार बार में बहुत आज्य ले लेता है और उपभृत् में आठ बार में कम आज्य लेता है ।।१३।।

जुहू में जो चार बार लेता है और अधिक लेता है, इससे वह खानेवाले को छोटा और परिमित बनाकर उसमें अधिक वीर्य (बल) दे देता है। उपभृत् में जो आठ बार में थोड़ा आज्य लेता है उससे खाद्य को अपरिमित और बहुत बना देता है, और उसको शक्तिहीन तथा निर्बल बना देता है। जैसे राजा एक एक ही स्थान से बैठा-बैठा बहुत-सी प्रजा को वश में करके उन पर मन-चाहा राज करता है, इसी प्रकार अध्वर्यु जुहू में बहुत-सा घृत ले लेता है। जो जुहू में लेता है उसकी भी जुहू से आहुति देता है, और जो उपभृत् में लेता है उसकी भी जुहू से ही आहुति देता है ।।१४।।

इस पर शंका करते हैं कि जब उपभृत् से आहुति नहीं देना तो उपभृत् में लेना क्यों ?

भृता न जुहोतीति स यद्धोपभृता जुहुयात्पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युर्नैवात्ता स्यान्नाद्यः स्यादथ यत्तज्जुह्वेव समानीय जुहोति तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिꣳ हरन्त्यथ यदुपभृति गृह्णाति तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्तेऽथ यत्तज्जुह्वेव समानीय जुहोति तस्माद्यदैव क्षत्रियः कामयतेऽथाह वैश्य मयि यत्ते परो निहितं तदाहरेति तं जिनाति यथा यत्कामयते तथा सचतऽएतेनो ह तद्वीर्येण ॥१५॥ तानि वाऽएतानि । छन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति गायत्र्यै तद्गृह्णात्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद्गृह्णात्यथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णात्यनुष्टुभे तद्गृह्णाति वाग्वाऽअनुष्टुब्वाचो वाऽइदꣳ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवतीयं वाऽअनुष्टुबस्यै वाऽइदꣳ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥१६॥ स गृह्णाति । धाम नामासि प्रियं देवानामित्येतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यं तस्मादाह धाम नामासि प्रियं देवानामित्यनाधृष्टं देवयजनमसीति वज्रो ह्याज्यं तस्मादाहानाधृष्टं देवयजनमसीति ॥१७॥ स एतेन यजुषा । सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्त कृत्वस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृद्ध्रुवायां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीं तदाहुस्त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्त्रिवृद्धि यज्ञ इति तदु नु सकृत्सकृदेवातो ह्येव त्रिर्गृहीतꣳ संपद्यते ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३.२]॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति ॥१॥ अथ वेदिं प्रोक्षति । वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि तन्मेध्यामेवैतद्बर्हिषे करोति ॥२॥ अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति । तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्षति बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि तन्मेध्यमेवैतत्स्रुग्भ्यः करोति ॥३॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ताभिरोषधीनां मूलान्युपनिनयत्यदित्यै व्युन्दनमसीतीयं वै पृथिव्यदितिस्तदस्या एवैतदोषधीनां

यदि उपभृत् से आहुति देवे तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रजा राजा से छूट जाय। न खानेवाला रहे, न खाद्य। यह जो साथ-साथ जुहू से आहुति देता है, यह ऐसा ही है जैसे वैश्य लोग राजा को कर देवें। उपभृत् में जो लेता है उसका अर्थ यह है कि राजा के अधीन प्रजा पशु आदि की प्राप्ति करती है, और जब उपभृत् के आज्य की भी जुहू द्वारा आहुति दी जाय तो इसका तात्पर्य यह है कि राजा जब चाहे वैश्य से कहे 'जो इकट्ठा किया है उसको मुझे दो'। इस प्रकार वह उसको वश में भी रखता है और जो चाहता है उसको इस शक्ति के द्वारा ले लेता है ॥१५॥

वे आज्य छन्दों के लिए लिये जाते हैं। जो जुहू में चार बार लिये जाते हैं वे गायत्री के लिए होते हैं। जो उपभृत् में आठ बार लिये जाते हैं वे त्रिष्टुभ् औरजगती के लिए। जो ध्रुवा में चार बार लिये जाते हैं वे अनुष्टुभ् के लिए। वाणी अनुष्टुभ् है। वाणी में ही यह सब प्रजा जन्म लेती है। ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है। अनुष्टुभ् पृथिवी है। पृथिवी से सब जगत् उत्पन्न होता है, अतः ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है ॥१६॥

स्रुवा में आज्य इस मन्त्रांश (यजु० १।३१) को पढ़कर लेते हैं—"तू देवों का धाम है।" आज्य देवों का प्रियतम धाम है। इसीलिए कहा कि 'तू देवों का प्रियतम धाम है', 'तू देवों के यज्ञ का अजेय स्थान है'। आज्य वज्र है, इसीलिए ऐसा कहता है ॥१७॥

जुहू में एक बार मन्त्र पढ़कर भरता है और तीन बार मौन। उपभृत् में एक बार मन्त्र बोलकर, सात बार मौन। ध्रुवा में एक बार मन्त्र बोलकर, तीन बार मौन। कुछ लोग कहते हैं कि तीन बार मन्त्र बोले क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। परन्तु यह उद्देश्य तो एक बार मन्त्र बोलकर भी पूरा हो जाता है (क्योंकि जुहू, उपभृत् और ध्रुवा में तीन बार मन्त्र हो जाते हैं) ॥१८॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

अध्वर्यु प्रोक्षणी को लेकर पहले समिधों पर जल छिड़कता है यह मन्त्र (यजु० २।१) बोलकर—"तू खर में रहनेवाला कृष्ण मृग है। तुझे अग्नि की तृप्ति के लिए पवित्र करता हूँ।" इस प्रकार वह उसको अग्नि के लिए पवित्र करता है ॥१॥

फिर वेदी पर जल छिड़कता है (यजु० २।१) से—"तू वेदी है, बर्हि के लिए तुझे पवित्र करता हूँ।" इस प्रकार उसको बर्हि के लिए पवित्र करता है ॥२॥

अब (अग्नीध्र) बर्हि को (अध्वर्यु को) देता है। वह उसको इस प्रकार वेदी पर रख देता है कि उनकी ग्रन्थियाँ पूर्व की ओर रहें। अब उन पर जल छिड़कता है (यजु० २।१) से—"तू बर्हि है। मैं तुझे स्रुचों के लिए पवित्र करता हूँ।" इस प्रकार वह उस बर्हि को स्रुचों के लिए पवित्र करता है ॥३॥

अब जो पानी बच रहता है उसको ओषधियों की जड़ में डालता है इस मन्त्र (यजु० २।२) से —"तू अदिति के लिए रस है।" यह पृथिवी ही अदिति है। वह पृथिवी पौधों के मूलों

मूलान्युपोनक्ति ता इमा आर्द्रमूला ओषधयस्तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्त्या-
र्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥४॥ अथ विस्रꣳस्य ग्रन्थिम् । पुरस्तात्प्रस्तरं गृह्णाति
विष्णो स्तुपोऽसीति यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुप एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति
पुरस्ताद्गृह्णाति पुरस्ताद्ध्ययꣳ स्तुपस्तस्मात्पुरस्ताद्गृह्णाति ॥५॥ अथ संनहनं विस्रꣳ
सयति । प्रक्लृप्तꣳ ह्येवास्य स्त्री विजायतऽइति तस्मात्संनहनं विस्रꣳसयति तद्द-
क्षिणायाꣳ श्रोणौ निदधाति नीविर्ह्येवास्यैषा दक्षिणत-इव ह्ययं नीविस्तस्माद्द-
क्षिणायाꣳ श्रोणौ निदधाति तत्पुनरभिच्छादयत्यभिच्छन्नेव ह्ययं नीविस्तस्मात्पुनर-
भिच्छादयति ॥६॥ अथ बर्हि स्तृणाति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथ यान्यवाञ्चि
लोमानि तान्येवास्य यदितरं बर्हिस्तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति तस्माद्बर्हि स्तृणाति
॥७॥ योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासते ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनू-
चानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोत्यनग्नतायाऽएव तस्माद्बर्हि स्तृणाति
॥८॥ यावती वै वेदिः । तावती पृथिव्योषधयो बर्हिस्तदस्यामेवैतत्पृथिव्यामोष-
धीर्दधाति ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥९॥
तद्वै बहुलꣳ स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वाऽअस्यै बहुलतमा ओषधयस्तदस्या उप-
जीवनीयतमं तस्माद्बहुलꣳ स्तृणीयादिति तद्वै तदाहर्तयैवाधि त्रिवृत्स्तृणाति त्रि-
वृद्धि यज्ञोऽथोऽअपि प्रवर्हꣳ स्तृणीयात्स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति ह्यृषिणाभ्यनूक्त-
मधरमूलꣳ स्तृणात्यधरमूला-इव ह्यीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्मा-
दधरमूलꣳ स्तृणाति ॥१०॥ स स्तृणाति । ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां दे-
वेभ्यऽइति साध्वीं देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थां देवेभ्य इति
स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥११॥ अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यज्ञस्याहव-
नीयः पूर्वोऽर्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयत्युपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्कल्प-
यत्ययं वै स्तुपः प्रस्तर एतमेवास्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारय-

को तर करता है। पौधों की जड़ें तर होती हैं। आगे के भाग शुष्क भी हों, तो भी जड़ें तर ही रहती हैं ॥४॥

अब ग्रन्थियों को खोलकर बर्हि के सिरों से प्रस्तरों को लेता है यह मन्त्र पढ़कर (यजु० २।२)— "तू विष्णु की चोटी है।" यज्ञ विष्णु है। यह उसका स्तुप या शिखा है। इस यज्ञ में वह इसको शिखा बनाता है। आगे के सिरे से लेता है क्योंकि शिखा आगे होती है। इसीलिए आगे से लेता है ॥५॥

वह बर्हि के पूले को खोलता है, यह सोचकर कि यजमान की पत्नी बिना कष्ट के बच्चा जने। उसको वेदी की दाहिनी श्रोणि में रखता है, क्योंकि यह यजमान की कमर का प्रतिनिधि है। इसलिए दाहिनी श्रोणि में रखता है। वह उसको बर्हि से छा देता है, क्योंकि कमर भी कपड़ों से ढकी रहती है। उसके छा देने का दूसरा हेतु यह है ॥६॥

अब वह बर्हि को वेदी पर बिछाता है। प्रस्तर आगे का सिरा है। यज्ञ के लिए दूसरी घास ऐसी ही है जैसे चोटी से इतर स्थान के लोम। यह उन लोमों का सम्पादन करता है। इस-लिए बर्हि को बिछाता है॥७॥

वेदी स्त्री है। उसके चारों ओर देवता और वेद के विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं। स्त्री को नग्न नहीं होना चाहिए, इसलिए भी बर्हि को बिछाता है ॥८॥

जितनी वेदी है उतनी ही पृथिवी है। बर्हि ओषधि का रूप हैं। मानो वह पृथिवी में ओषधियाँ रखता है। इस पृथिवी में ये ओषधियाँ स्थापित हो जाती हैं। इसलिए वह बर्हि को बिछाता है ॥९॥

कुछ लोग कहते हैं कि बहुत-से कुश बिछाना चाहिए। क्योंकि पृथिवी पर जहाँ पौधे बहुत होते हैं वहाँ जीविका भी बहुत होती है, इसलिए बहुत बिछाना चाहिए। तीन बार बिछाना चाहिए क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। ऐसा बिछावें कि सिरे ऊपर को रहें। ऋषि ने कहा था (यजु० ७।३२) 'जड़ को नीचे की ओर रखना चाहिए।' पृथिवी में पौधों की जड़ें भी नीचे को होती हैं। इसीलिए जड़ों को नीचे की ओर करके ही बिछाना चाहिए ॥१०॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर बिछाता है (यजु० २।२)—"ऊन के समान नरम तुझको देवों के लिए प्रिय बिछाता हूँ।" ऊन के समान नरम इसलिए कहा कि देव सुख से बैठ सकें ॥११॥

अब अग्नि को ठीक करता है। आहवनीय अग्नि यज्ञ का सिर है — पूर्वार्ध सिर। इसको यज्ञ का पूर्वार्ध करता है। जब आग को ठीक करता है तो ऊपर प्रस्तर को उठाये रखता है। प्रस्तर स्तुप या चोटी है। मानो वह उसको धारण कराता है। इसीलिए प्रस्तर को इसके ऊपर-ऊपर

न्कल्पयति ॥१२॥ अथ परिधीन्परिदधाति । तद्यत्परिधीन्परिदधाति यत्र वै देवा अग्रेऽग्निꣳ होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच न वाऽअहमिदमुत्सहे यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेयं त्रीन्पूर्वान्प्रावृढ्वं ते प्राधन्विषुस्तान्नु मेऽवकल्पयताथ वाऽअह-मेतदुत्साह्ये यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेयमिति तथेति तानस्माऽएतानवा-कल्पयंस्तऽएते परिधयः ॥१३॥ स होवाच । वज्रो वै तान्वषट्कारः प्रावृणग्व-ज्राद्वै वषट्काराद्बिभेमि यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यादेतैरेव मा परिधत्त तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रवर्क्ष्यतीति तथेति तमेतैः पर्यदधुस्तं न वज्रो वषट्कारः प्रा-वृणक्तद्वस्मैवैतदग्नये नह्यति यदेतैः परिदधाति ॥१४॥ तऽउ हैतऽऊचुः । इदमु चे-दस्मान्यज्ञे युङ्क्थास्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भागऽइति ॥१५॥ तथेति देवा अब्रुवन् । यद्बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमथ यद्व उपर्युपरि होष्यन्ति तद्वोऽविष्य-तीति स यदग्नौ जुहोति तदेनानवत्यथ यदेनानुपर्युपरि जुहोति तदेनानव-त्यथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु ह नाग-इव स्कन्नꣳ स्यादि-मां वै ते प्राविशन्यद्वाऽइदं किंच स्कन्दत्यस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ॥१६॥ स स्कन्नमभिमृशति । भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहेत्ये-तानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिस्तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतेष्वग्निषु भवति ॥१७॥ तद्धैके । इध्मस्यैवैतान्परिधीन्परिदधाति तदु तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति यानिध्मस्य परिदधात्यभ्याधानाय ह्ये-वेध्मः क्रियते तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति यस्यैतानन्यानाहरन्ति परिधयऽइति तस्मादन्यानेवाहरेयुः ॥१८॥ ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माग्नि-रग्नयो हि तस्मात्पालाशाः स्युः ॥१९॥ यदि पालाशान्न विन्देत् । अथोऽअपि वैकङ्कता स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथोऽअपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देदथोऽअपि बैल्वाः स्युरथो खादिरा अथोऽऔदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञिया-

उठाये रखकर अग्नि को ठीक करता है ॥१२।

अब आग के चारों ओर तीन परिधियाँ (लकड़ियाँ) रखता है। परिधियाँ इसीलिए रक्खी जाती हैं। जब देवों ने अग्नि को होता के रूप में वरण किया तो अग्नि बोला—"मुझे उत्साह नहीं कि होता बनूँ और हव्य को ले जाऊँ। तुमने पहले तीन होता बनाये थे, वे लुप्त हो गये। उनको मुझे दिला दो, तब मैं तुम्हारा होता बनूँगा और हव्य को ले जाऊँगा।" तब उन्होंने इन तीन परिधियों की कल्पना की ॥१३॥

उसने अब कहा—"वषट्कार रूपी वज्र ने उन तीनों (होताओं) को मार डाला था। मुझे डर है कि वषट्कार मुझे भी मार डाले। इसीलिए इन तीन परिधियों की स्थापना कर दो। तब वषट्कार मुझे मार नहीं सकेगा।" उन्होंने इसीलिए इन तीन परिधियों की स्थापना कर दी और वषट्कार उसको मार न सका। ये तीन परिधियाँ मानो उस अग्नि के लिए वर्म हैं ॥१४॥

तब (दूसरी अग्नियों ने) कहा—"यदि तुम हमारे साथ इस प्रकार यज्ञ में शामिल हो तो हमको भी यज्ञ में भाग दो" ॥१५॥

देवों ने उत्तर दिया—"अच्छा, जो परिधियों के बाहर गिर जाय वह तुम्हारा, और जो आहुति तुममें ही दी जाय वह तुम्हारी, जो आहुति अग्नि में दी जाय वह तुम्हारी।" इस प्रकार जो आहुति अग्नि में दी जाती है वह इन अग्नियों की तृप्ति के लिए होती है। जो आहुतियाँ उन्हीं परिधियों पर दी जाती हैं वे भी उनकी तृप्ति के लिए होती हैं, और जो परिधियों के बाहर गिर जाता है वह भी उन्हीं की आहुति है। इस प्रकार जो आज्य गिर पड़ता है उसका पाप नहीं लगता, क्योंकि जब अग्नियाँ जाने लगीं तो पृथिवी में प्रविष्ट हो गईं। जो गिरा वह पृथिवी में ही तो रहेगा ॥१६॥

जो गिर जाता है उसको वह इस मन्त्रांश (यजु० २।२) को पढ़कर स्पर्श करता है—'भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा।' भुवपति, भुवनपति और भूतपति अग्नियों के नाम हैं। वषट्कार कहकर जो आहुति दी जाती है वह उसी देवता की होती है जिसका नाम लिया जाता है। यहाँ ये आहुतियाँ इन्हीं अग्नियों की हैं जिनका नाम लिया जाता ह ॥१७॥

कुछ लोग समिधाओं में से ही लेकर परिधियाँ बना देते हैं। उनको ऐसा नहीं करना चाहिए। समिधाएँ अग्नि पर रखने के लिए बनाई जाती हैं, अतः वे परिधियों के योग्य नहीं होतीं। अतः अलग से ही परिधियाँ बनानी चाहिएँ ॥१८॥

ये पलाश वृक्ष की होनी चाहिएँ। पलाश ब्राह्मण है। अग्नि भी ब्राह्मण है। इसलिए अग्नियाँ पलाश की होनी चाहिएँ ॥१९॥

यदि पलाश न मिले तो विकंकत की हों। विकंकत की न हों तो कार्षमर्य की हों। कार्ष-मर्य की न हों तो बेल की हों, या खदिर की, या उदुम्बर की। यही वृक्ष यज्ञ के योग्य हैं। इन्हीं

स्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३. ३.]॥ ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १२२ ॥ ॥

ते वाऽआर्द्राः स्युः । एतद्ध्येषां जीवमेतेन सतेजस एतेन वीर्यवन्तस्तस्मादार्द्राः स्युः ॥१॥ स मध्यममेवाग्रे । परिधिं परिदधाति गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित इति ॥२॥ अथ दक्षिणं परिदधाति । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित इति ॥३॥ अथोत्तरं परिदधाति । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित इत्यग्नयो हि तस्मादाहाग्निरिड ईडित इति ॥४॥ अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैतानग्रे समिन्द्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनोऽअग्निं प्रत्यक्षꣳ समिन्द्धे ॥५॥ सोऽभ्यादधाति । वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरऽइत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्द्धे सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दाꣳसि समिन्द्धे छन्दाꣳसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ॥६॥ अथ यां द्वितीयाꣳ समिधमभ्यादधाति । वसन्तमेव तया समिन्द्धे स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्द्धऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति सोऽभ्यादधाति समिदसीति समिद्धि वसन्तः ॥७॥ अथाभ्याधाय जपति । सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्याऽइति गुप्ता वाऽअभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्यमेव पुरस्ताद्गोप्तारं करोति नेत्पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यभ्यवचरानिति सूर्यो हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥८॥ अथ यामिवामूं तृतीयाꣳ समिधमभ्यादधाति । अनुयाजेषु ब्राह्मणमेव तया समिन्द्धे स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥९॥ अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्तते । स द्वे तृणेऽआदाय तिरश्ची निदधाति सवितुर्बाहू स्थ इत्ययं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथास्यैते भुजाविव तिरश्ची निदधाति तस्मादिमे तिरश्ची भुजौ क्षत्रं वै प्रस्तरो विशऽइतरं बर्हिः क-

से परिधियाँ लेनी चाहिएँ ॥२०॥

अध्याय ३–ब्राह्मण ४

वे हरी होनी चाहिएँ। यही हरापन उनका जीवन है। इसी से उनमें शक्ति रहती है। इसीलिए हरी होनी चाहिएँ ॥१॥

बीच की परिधि के पहले (अग्नि के पश्चिम की ओर) यह मंत्र (यजु० २।३) पढ़कर रखता है—"गन्धर्व विश्वावसु तुझको विश्व के कल्याण के लिए रक्खे। तू यजमान की परिधि (रक्षक) है। तू पूज्य अग्नि है" ॥२॥

दक्षिण की परिधि को यह पढ़कर रखता है—"तू इन्द्र की दाहिनी भुजा है, विश्व की शान्ति के लिए। तू यजमान की परिधि (रक्षक) है। तू पूज्य अग्नि है" ॥३॥

अब उत्तर की ओर परिधि को यह पढ़कर रखता है—"मित्र और वरुण देवता तुझको उत्तर की ओर रक्खें, ध्रुव नियम से विश्व के कल्याण के लिए। तू यजमान की परिधि है। तू अग्नि है। ये परिधियाँ अग्नि ही हैं।" इसीलिये कहता है कि 'तुम पूज्य अग्नि हो' ॥४॥

अब एक समिधा रखता है। पहले वह समिधा से बीच की परिधि को छूता है। इस प्रकार वह तीन परिधियों को जलाता है। फिर वह उस समिधा को आग पर रख देता है। इससे वह प्रत्यक्ष अग्नि को जलाता है ॥५॥

वह इसको गायत्री छन्द से (यजु० २।४) रखता है–"हे कवि अग्नि, तुझ देवों को बुलाने वाले, प्रकाश-स्वरूप को हम जलाते हैं, यज्ञ में बलवान् तुझको।" इस प्रकार वह गायत्री को जलाता है। गायत्री जलकर दूसरे छन्दों को जला देती है और दूसरे छन्द जलकर यज्ञ को देवों तक ले जाते हैं ॥६॥

अब वह दूसरी समिधा रखता है। उससे वह वसन्त को प्रज्वलित करता है। वह प्रज्वलित वसन्त दूसरी ऋतुओं को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित ऋतुएँ सन्तान को उत्पन्न करती हैं, ओषधियों को पकाती हैं। वह इस मन्त्र (यजु० २।५) को पढ़कर रखता है–"तू समित्।" वस्तुत: वसन्त समित् है ॥७॥

अब उसको रखकर जपता है—"सूर्य तेरी पूर्व की ओर से रक्षा करे और अन्य बुराई से भी।" परिधियाँ चारों ओर से रक्षा के लिए होती हैं। इस प्रकार वह पूर्व में सूर्य को रक्षक बना देता है कि कहीं पूर्व से दुष्ट राक्षस विघ्न न करें। सूर्य दुष्ट राक्षसों को मारनेवाला है ॥८॥

यह जो तीसरी समिधा को अनुयाज के पीछे रखता है, उससे वह ब्राह्मण को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित होकर ब्राह्मण देवों तक हवि ले जाता है ॥९॥

अब वह कुशों से ढकी हुई वेदी तक लौटता है। दो तृणों को लेकर टेढ़ा रख देता है, इस मन्त्र (यजु० २।५) से—"तुम सविता की भुजाएँ हो।" प्रस्तर स्तुप या चोटी है। वह इन दोनों को भौहों के समान तिरछा रख देता है। इसीलिये भौहें टेढ़ी होती हैं। प्रस्तर क्षत्रिय है

अस्य चैव विशश्च विधृत्यै तस्मात्तिरश्ची निदधाति तस्माद्वेव विधृती नाम ॥१०॥
तत्प्रस्तरꣳ स्तृणाति । ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य इति साधुं देवेभ्य
इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थं देवेभ्य इति स्वासदं देवेभ्य इत्येवैत-
दाह ॥११॥ तमभिनिदधाति । आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्वित्येते वै
त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एते त्वासीदन्त्वित्येवैतदाहाभिनिहित एव स-
व्येन पाणिना भवति ॥१२॥ अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति । नेदिह पुरा ना-
ष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहित एव स-
व्येन पाणिना भवति ॥१३॥ अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति । घृताच्यसि जुहूर्नाम्नेति घृ-
ताची हि जुहूर्हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीदेति घृताच्यस्युपभृ-
न्नाम्नेत्युपभृतं घृताची ह्युपभृद्धि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीदेति
घृताच्यसि ध्रुवा नाम्नेति ध्रुवां घृताची हि ध्रुवा हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना
प्रियꣳ सद आसीदेति प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीदेति यदन्यद्धविः ॥१४॥ स
वाऽउपरि जुहूꣳ सादयति । अथ इतराः स्रुचः क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः क्ष-
त्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते त-
स्मादुपरि जुहूꣳ सादयत्यध इतराः स्रुचः ॥१५॥ सोऽभिमृशति । ध्रुवा असदन्निति
ध्रुवा ह्यसदन्नृतस्य योनाविति यज्ञो वाऽऋतस्य योनिर्यज्ञे ह्यसदंस्ता विष्णो पाहि
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति तद्यजमानमाह पाहि मां यज्ञन्यमिति तदप्यात्मानं
यज्ञान्नान्तरेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत्सर्वं परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह ता वि-
ष्णो पाहीति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४.]॥

इन्धे ह वा एतदध्वर्युः । इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समिन्धे सामिधेनीभि-
र्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम ॥१॥ स आह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये
ह्येतत्समिध्यमानायान्वाह ॥२॥ तदु हैकऽआहुः । अग्नये समिध्यमानाय होतर्-

और दूसरे बर्हि वैश्य। क्षत्रिय और वैश्य को अलग-अलग करने के लिए इनको रखता है। इनको 'विधृति' कहते हैं। 'विधृति' का अर्थ है अलग-अलग करनेवाला ॥१०॥

अब वह प्रस्तर को (यजु० २।५) पढ़कर बिछाता है—"तू ऊन के समान नरम और देवों के योग्य आसन है।" 'ऊन के समान नरम' कहने का तात्पर्य है कि बहुत अच्छा है। 'देवों के योग्य आसन' कहने का तात्पर्य है कि वह देवों को सुख पहुँचानेवाला है ॥११॥

वह (बायें हाथ से) उसको यह पढ़कर दबाता है (यजु० २।५)—"वसु, रुद्र और आदित्य तुझ पर बैठें।" वसु, रुद्र और आदित्य तीन देवता हैं। यही बैठते हैं। जब उसको बायें हाथ से दबाये होता है उस समय—॥१२॥

दाहिने हाथ से जुहू को पकड़ता है कि कहीं दुष्ट राक्षस न घुस आवें। ब्राह्मण राक्षसों को रोकनेवाला है। इसीलिए जब वह प्रस्तर को बायें हाथ से दबाये होता है उस समय–॥१३॥

वह दाहिने हाथ से जुहू को यह पढ़कर पकड़ता है (यजु० २।६)—"तू जुहू नाम वाली घृताची (घी को प्यार करनेवाली) है। यह घृताची भी है और जुहू भी—"प्रिय धाम वाली, इस पर सुख से बैठ!" अब उपभृत् को लेता है यह पढ़कर—"तू उपभृत् घृताची है, प्रिय धाम वाली, सुख से बैठ।" वह उपभृत् भी है और घृताची भी। अब ध्रुवा को लेता है यह पढ़कर—"ध्रुवा है घृताची, प्रिय धाम वाली, सुख से बैठ।" वह ध्रुवा भी है, घृताची भी। जो कुछ शेष रहे उसको यह कहकर आहुति देता है—"प्रिय धाम से, प्रिय स्थान में बैठ" ॥१४॥

वह जुहू को प्रस्तर पर रखता है और अन्य स्रुचों को नीचे। जुहू क्षत्रिय है और अन्य स्रुचे वैश्य। इस प्रकार क्षत्रिय को वैश्य से महान् करता है। इसीलिए वैश्य नीचे स्थान से काम करते हैं और क्षत्रिय ऊपर के स्थान से। इसीलिए जुहू को ऊपर रखता है और अन्य स्रुचों को नीचे ॥१५॥

वह अब हवियों का स्पर्श करता है इस मंत्रांश (यजु० २।६) को पढ़कर—"ठीक बैठ गये।" वे ठीक बैठ गये—"ऋत के घर में।" यज्ञ ऋत की योनि है। यज्ञ में ही वे बैठ गये—"हे विष्णु! इनकी रक्षा करो, यज्ञ की रक्षा करो, यज्ञपति की रक्षा करो!" यज्ञपति का अर्थ है 'यजमान'—"यज्ञ के मुझ नेता की रक्षा करो।" इस प्रकार यज्ञ में अपने को भी सम्मिलित करता है। यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ से ही यज्ञ की रक्षा चाहता है। इसलिये कहता है—"हे विष्णु, रक्षा कर" ॥१६॥

अध्याय ३–ब्राह्मण ५

अध्वर्यु अग्नि को इध्म (लकड़ी से) इन्धे अर्थात् जलाता है। इसलिये इसको इध्म (इंधन) कहते हैं। और होता सामिधेनियों को बोलकर अग्नि को अधिक प्रज्वलित करता है, अतः उन मंत्रों को सामिधेनी कहते हैं (लकड़ी इध्म है और मंत्र सामिधेनी) ॥१॥

अध्वर्यु होता से कहता है—"जलनेवाली अग्नि के लिए मंत्र बोलो।" होता जलनेवाली अग्नि के लिए ही मंत्र बोलता है ॥२॥

कुछ लोग कहते हैं 'हे होता, जलनेवाली अग्नि के लिए मंत्र बोलो', परन्तु ऐसा नहीं

नुब्रूहीति तदु तथा न ब्रूयाद्धोता वाऽएष पुरा भवति यदेवैनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादु ब्रूयादग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव ॥३॥ आग्नेयीरन्वाह । स्वयै-वैनमेतद्देवतया समिन्धे गायत्रीरन्वाह गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्येणैवैनमेतत्समिन्धे ॥४॥ एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब्ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुबेताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यां वीर्याभ्याᳬ समिन्धे तस्मादेकादशान्वाह ॥५॥ स वै त्रिः प्रथमामन्वाह । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्प्रा-यणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात्त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् ॥६॥ ताः पञ्च-दश सामिधेन्यः संपद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वीर्यमेवैतत्सामिधेनीर-भिसंपादयति तस्मादेतास्वनूच्यमानासु यं द्विष्यात्तमङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेतेदमहममुम-वबाधऽइति तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥७॥ पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः । अर्धमासशो वै संवत्सरो भवन्नेति तद्रात्रीराप्नोति ॥८॥ पञ्चदशानामु वै गायत्री-णाम् । त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सर-स्याहानि तदहान्याप्नोति तद्वेव संवत्सरमाप्नोति ॥९॥ सप्तदश सामिधेनीः । इ-ष्ट्याऽअनुब्रूयादुपाᳬशु तस्यै देवतायै यजति यस्याऽइष्टिं निर्वपति द्वादश वै मा-साः संवत्सरस्य पञ्चर्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्वं वै प्रजापतिस्तत्सर्वे-णैव तं काममनपराधᳬ राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्युपाᳬशु देवतां यजत्यनि-रुक्तं वाऽउपाᳬशु सर्वं वाऽअनिरुक्तं तत्सर्वेणैव तं काममनपराधᳬ राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्यष इष्टेरुपचारः ॥१०॥ एकविᳬशतिᳬ सामिधेनीः । अपि दर्श-पूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहुर्द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तवस्त्रयो लोकास्त-द्विᳬशतिरेषऽएवैकविᳬशो य एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमे-तां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मादेकविᳬशतिमनुब्रूयात् ॥११॥ ता हैता गतश्रेरेवानुब्रू-यात् । य इच्छेन्न श्रेयांस्स्यां न पापीयानिति यादृशाय हैव सतेऽन्वाहुस्तादृङ्

कहना चाहिए, क्योंकि अभी वह 'होता' तो बना नहीं। जब यजमान उसका वरण कर लेगा तभी तो वह होता बनेगा। इसलिये (बिना होता को सम्बोधन किये) केवल इतना ही कहना चाहिए 'जलती हुई अग्नि के लिए मंत्र बोलो' ॥३॥

अग्नि की ऋचाएँ बोली जाती हैं, अर्थात् अग्नि को उसीके देवता के द्वारा प्रज्वलित करता है। गायत्री छन्द के मंत्र बोलता है। गायत्री अग्नि का छन्द है, अतः अपने ही छन्द से अग्नि प्रज्वलित होती है। गायत्री वीर्य है। गायत्री ब्रह्म है। अतः वीर्य से ही इसको प्रज्वलित करता है ॥४॥

ग्यारह मंत्र बोलता है। त्रिष्टुभ् में ग्यारह ही अक्षर होते हैं। गायत्री ब्राह्मण है। त्रिष्टुभ् क्षत्रिय है। इन्हीं दो शक्तियों द्वारा आग को प्रज्वलित करता है। इसीलिये ग्यारह मंत्र बोलता है ॥५॥

पहले मंत्र को तीन बार बोलता है और अन्तिम मंत्र को तीन बार। यज्ञ आदि में त्रिवृत् है और अन्त में भी त्रिवृत्। इसलिये वह आदिम और अन्तिम मंत्रों को तीन-तीन बार बोलता है ॥६॥

सामिधेनियाँ १५[1] होती हैं। १५ का अंक वज्र है। वज्र वीर्य है। अतः वीर्यरूपी वज्र से वह यज्ञ को समन्वित करता है। यदि वह किसी से द्वेष करता हो तो जब सामिधेनियों का उच्चारण हो रहा हो, उस समय वह अपने पैर से शत्रु को कुचल सकता है। वह उसको उस वज्र से मार सकता है ॥७॥

अर्ध-मास या आधे महीने में पन्द्रह रातें होती हैं। वर्ष पाख-पाख करके ही समाप्त हो जाता है। इसलिये वह रातों की प्राप्ति करता है ॥८॥

पन्द्रह गायत्रियों में ३६० अक्षर हुए। एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार वह दिनों की प्राप्ति करता है और वर्ष की भी ॥९॥

यदि (किसी विशेष उद्देश्य से) इष्टि करना हो तो सत्रह सामधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ। जिस देवता की इष्टि देनी होती है उसके लिए चुपचाप धीरे से इष्टि दी जाती है। वर्ष में बारह मास होते हैं और पाँच ऋतुएँ। इस प्रकार प्रजापति में सत्रह हो गये। प्रजापति है सम्पूर्ण, इस-लिये जिस देवता के लिए इष्टि की जाती है वह सब सम्पूर्णता के लिए, अर्थात् यज्ञ करनेवाले को सम्पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इष्टि के लिए यही उपचार है ॥१०॥

कुछ लोगों का कहना है कि दर्श और पौर्णमास यज्ञों में इक्कीस सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ। बारह मास हुए, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और इक्कीसवाँ वह जो नित्य तपता है अर्थात् सूर्य। वही गति है, वही प्रतिष्ठा है। गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इसलिये इक्कीस सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ ॥११॥

इनको गतश्रि ही पढ़े, जो चाहे कि मुझे न इससे अधिक होना है न कम। क्योंकि जिस देवता के लिए पढ़ते हैं, पढ़नेवाला उसी देवता के समान होगा या कम। जो इस रहस्य को

---

१. ग्यारह मंत्रों में से पहले और पिछले को तीन-तीन बार पढ़ने से १५ हो जाते हैं।

हैव भवति पापीयान्वा यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः सोऽएषा मीमाᳬसैव न त्वेवैता अनूच्यन्ते ॥१२॥ त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वा ऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकान्त्संतनोतीमांल्लोकान्त्स्पृणुते त्रय इमे पुरुषे प्राणा एतमेवास्मिन्नेतत्संततमव्यवछिन्नं दधात्येतदनुवचनᳬ ॥१३॥ स यावदस्य वचः स्यात् । एवमेवानुविवक्षेत्तस्यैतस्य परिचक्षीत साम्यवान्यादनवानन्ननुविवक्षंस्त-त्कर्म विवृक्षीत सा परिचक्षा ॥१४॥ स यद्येतन्नोदाशᳬसेत । अप्येकैकामेवान-वानन्ननुब्रूयात्तदेकैकयैवेमांल्लोकान्त्संतनोत्येकैकयेमांल्लोकान्त्स्पृणुतेऽथ यत्प्राणं द-धाति गायत्री वै प्राणः स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह तत्कृत्स्नं प्राणं दधाति तस्मा-देकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात् ॥१५॥ ता वै संतत। अव्यवछिन्ना अन्वाह । संव-त्सरस्यैवैतदहोरात्राणि संतनोति तानीमानि संवत्सरस्याहोरात्राणि संततान्यव्य-वछिन्नानि परिप्लवन्ते द्विषतऽउ चैवैतद्भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोत्युपस्थानᳬ ह कुर्याद्यदसंतता अनुब्रूयात्तस्माद्धि संतता अव्यवछिन्ना अन्वाह ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥२[५.]॥ अध्यायः ॥३॥ ॥

हिंकृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वाऽआहुर्न वाऽअहिंकृत्य साम गी-यते स यद्धिंकरोति तद्धिंकारस्य रूपं क्रियते प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगछत्यो३म् ओ३मित्येतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥१॥ यद्वेव हिंकरोति । प्राणो वै हिंकारः प्राणो हि वै हिंकारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिंकर्तुᳬ श-क्नोति वाचा वाऽऋचमन्वाह वाक्च वै प्राणश्च मिथुनं तदेतत्पुरस्तान्मिथुनं प्रज-ननं क्रियते सामिधेनीनां तस्माद्धि हिंकृत्यान्वाह ॥२॥ स वाऽउपाᳬशु हिंकरो-ति । अथ यदुच्चैर्हिंकुर्यादन्यतरदेव कुर्याद्वाचमेव तस्मादुपाᳬशु हिंकरोति ॥३॥ स वाऽएति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति परा-च्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह

समझता है उसी के लिए वे (इक्कीस मंत्र) बोलते हैं। परन्तु यह तो मीमांसा मात्र है। इक्कीस मंत्र बोले नहीं जाते ॥१२॥

पहले मंत्र को तीन बार और पिछले को तीन बार एक साँस में पढ़ना चाहिए। तीन ही ये लोक हैं। अतः वह इन तीनों लोकों को तानता है। पुरुष में तीन प्राण होते हैं। ऐसा करने से उसका जीवन बढ़ जाता है। (मृत्यु) उसको बीच से काटता नहीं ॥१३॥

होता को चाहिए कि बिना बीच में तोड़े हुए जितनी-भर उसकी शक्ति हो उससे मंत्रों को पढ़ता रहे। बीच में साँस तोड़ देने का अर्थ यह है कि यज्ञ का अनादर किया गया। बिना साँस तोड़े लगातार पढ़ने से यह पाप नहीं लगता ॥१४॥

यदि वह ऐसा करना न चाहे तो एक-एक मंत्र को ही बिना साँस तोड़े बोले। इस प्रकार वह एक-एक करके लोकों की प्राप्ति करेगा। वह साँस इसलिए लेता है कि गायत्री प्राण है। पूरी गायत्री पढ़कर मानो वह यजमान के लिए पूरे प्राण का सम्पादन करता है। इसलिए उसको एक-एक मंत्र बिना साँस तोड़े पढ़ने चाहिएँ ॥१५॥

उनको बराबर बिना तोड़े हुए पढ़ना चाहिए, इस प्रकार वह सम्वत्सर के दिन और रातों को लगातार कर देता है। वर्ष के दिन और रात बिना अन्तर के ही गुजरते हैं। इस प्रकार वह द्वेषी शत्रु को अवसर नहीं देता। यदि बीच में तोड़कर पढ़ेगा तो अपने शत्रु को अवकाश दे देगा। इसलिए वह बिना तोड़े हुए लगातार पढ़ता है ॥१६॥

अध्याय ४—ब्राह्मण १

मंत्र बोलने से पहले 'हिङ्' बोलना चाहिए। ऐसा कहते हैं कि बिना सामगान के यज्ञ नहीं होता और साम बिना हिङ्कार के गाया नहीं जाता। हिङ्कार से हिङ् का रूप होता है और प्रणव या ओङ्कार से साम का रूप। 'ओ३म्' कहने से समस्त यज्ञ सामरूप हो जाता है ॥१॥

हिङ्कार क्यों कहता है ? इसलिए कि प्राण हिङ्कार है। प्राण हिङ्कार इसलिए है कि नाक के नथने बन्द करने पर हिङ्कार नहीं बोल सकते। ऋचाओं को वाणी से बोलता है। वाणी और प्राण का जोड़ा है। हिङ्कार बोलकर सामिधेनियाँ पढ़ने का तात्पर्य यह है कि सामिधेनियों में सन्तान का प्रजनन करा देता है (जोड़ा मिलाकर) ॥२॥

हिङ्कार मन्द स्वर में बोला जाता है। हिङ्कार उच्च स्वर से बोलेगा तो हिङ्कार और वाणी एक ही हो जाएगी। अतः हिङ्कार को मन्द स्वर से बोलना चाहिए ॥३॥

'आ' और 'प्र' कहकर बोलता है। इस प्रकार वह उधर जानेवाली गायत्री को इधर आनेवाली गायत्री से जोड़ देता है। उधर जानेवाली गायत्री देवों के लिए यज्ञ को ले जाती है। इधर आनेवाली गायत्री मनुष्यों की रक्षा करती है। इसलिए 'आ' और 'प्र' का प्रयोग करता है ॥४॥

॥४॥ यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै प्राण इत्युदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥५॥ यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेतः सिच्यतऽएति प्रजायते प्रेति पशवो वितिष्ठन्तऽएति समावर्तन्ते सर्वं वाऽइदमेति च प्रेति च तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥६॥ सोऽन्वाह । प्र वो वाजा अभिद्यव इति तन्नु प्रेति भवत्यग्नऽआयाहि वीतयऽइति तद्वेति भवति ॥७॥ तदु हैकऽआहुः । उभयं वाऽएतत्प्रेति संपद्यतऽइति तदु तदातिविज्ञान्यमिव प्र वो वाजा अभिद्यवऽइति तन्नु प्रेत्यग्नऽआयाहि वीतयऽइति तद्वेति ॥८॥ सोऽन्वाह । प्र वो वाजा अभिद्यव इति तन्नु प्रेति भवति वाजा इत्यन्नं वै वाजा अन्नमेवैतदभ्यनूक्तमभिद्यव इत्यर्धमासा वाऽअभिद्यवोऽर्धमासानेवैतदभ्यनूक्तꣳ हविष्मन्त इति पशवो वै हविष्मन्तः पशूनेवैतदभ्यनूक्तम् ॥९॥ घृताच्येति । विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति नेन्मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्याताऽइति ॥१०॥ तमृग्भिर्ह्वयितुं दध्रे । वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे विदेघेति ॥११॥ स न प्रतिशुश्राव । उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतीꣳष्यर्चयो विदेघा३इति ॥१२॥ स ह नैव प्रतिशुश्राव । तं त्वा घृतस्नवीमहऽइत्येवाभिव्याहरदथास्य घृतकीर्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल तं न शशाक धारयितुꣳ सोऽस्य मुखान्निष्पेदे स इमां पृथिवीं प्रापादः ॥१३॥ तर्हि विदेघो माथव आस । सरस्वत्याꣳ स तत एव प्राङ्दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः स इमाः सर्वा नदीरतिददाह सदानीरेत्युत्तराद्गिरेर्निर्धावति ताꣳ हैव नातिददाह ताꣳ ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति ॥१४॥ तत एतर्हि । प्राचीनं बहवो ब्राह्मणास्तद्धाक्षेत्रतरमिवास स्रावितरमिवास्वदितमग्नि-

'आ' और 'प्र' कहने का एक कारण और भी हो सकता है। 'प्र' प्राण है और 'आ' उदान। इस प्रकार प्राण और उदान को धारण कराता है। इसलिए 'आ' और 'प्र' का प्रयोग करता है ॥५॥

'आ' और 'प्र' कहने का एक कारण और भी हो सकता है। 'प्र' से वीर्य सींचा जाता है, 'आ' से सन्तान उत्पन्न होती है। 'प्र' से पशु चरने के लिए जाते हैं, 'आ' से घर लौटते हैं। वस्तुतः संसार में हर एक वस्तु आती और जाती है। इसलिए 'आ' और 'प्र' का प्रयोग करता है ॥६॥

वह कहता है 'प्र वो वाजा अभिद्यवः'—"आपके अन्न द्यौलोक को जावें।" यह हुआ 'प्र' या जाना। अब कहता है 'अग्न आ याहि वीतये'—"हे अग्नि, वृद्धि के लिए आ!" इससे 'आ' या आना हुआ ॥७॥

कुछ का कहना है कि इन दोनों से 'प्र' अर्थात् जाने का ही अर्थ निकलता है। परन्तु यह तो साधारण बुद्धि में आता नहीं। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' से जाना ही अभीष्ट है और 'अग्न आ याहि वीतये' से आना ॥८॥

वह (पहली सामिधेनी को) पढ़ता है, 'प्र वो वाजा अभिद्यवः', इससे जाना अभिप्रेत है। वाज कहते हैं अन्न को। इसके पाठ से अन्न की प्राप्ति होती है। 'अभिद्यवः' से अर्द्धमास का अर्थ निकलता है, क्योंकि अर्द्धमास द्यौलोक को जाते हैं। अब कहता है, 'हे हवि वालो!' हवि वाले पशु होते हैं। इस प्रकार पशुओं की प्राप्ति कराता है ॥९॥

अब वह कहता है 'घृताची'। विदेघ का राजा माथव अपने मुख में वैश्वानर अग्नि रखता था। उसका राहूगण गोतम पुरोहित था। पुरोहित ने पुकारा तो वह न बोला कि कहीं मेरे मुख से अग्नि निकल न पड़े ॥१०॥

तब उस पुरोहित ने उसका (ऋग्वेद ५।२६।३) से आह्वान किया—'वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे'—'हे बुद्धिमान्, बड़े, प्रकाशवाले और हवन में प्रिय अग्नि! हम तुझको यज्ञ में बुलाते हैं' हे विदेघ! ॥११॥

राजा ने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब उसने आगे पढ़ा (ऋ० ८।४४।१७)—'उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः' विदेघ इति—'हे अग्नि, अपनी चमकीली, प्रकाशयुक्त ज्योतियों को ऊपर को फेंक।' ओ विदेघ! ॥१२॥

वह तब भी न बोला। तब पुरोहित ने आगे पढ़ा—'तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्र भानो स्वर्दृशं देवाँ आ वीतये वह।' यह मंत्र पूरा पढ़ने भी न पाया, 'घृत' शब्द तक ही आया था कि अग्नि वैश्वानर जल उठा। वह अपने मुख में न रख सका। अग्नि उसके मुँह से निकलकर पृथिवी पर आ पड़ा ॥१३॥

विदेघ माथव उस समय सरस्वती के किनारे पर था। उस समय अग्नि जलते-जलते पूर्व की ओर बढ़ा। गोतम राहूगण और विदेघ माथव उस जलते हुए अग्नि के पीछे-पीछे चले। अग्नि ने इन सब नदियों को सुखा दिया। एक नदी सदानीरा उत्तरी पहाड़ से निकलती है। उसे वह न सुखा सका। ब्राह्मण लोग पहले इस नदी को पार नहीं करते थे, यह सोचकर कि अग्नि वैश्वानर ने इसको नहीं जलाया ॥१४॥

परन्तु आजकल बहुत-से ब्राह्मण इस नदी के पूर्व की ओर रहते हैं। उस समय सदानीरा के पूर्व की भूमि ऊसर पड़ी थी। उसमें दलदल बहुत था, क्योंकि अग्नि वैश्वानर ने उसका

ना वैश्वानरेणेति ॥१५॥ तदु हैतर्हि । क्षेत्रतरमिव ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्य-ज्ञैरसिष्वदंस्तदपि जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावच्छीतानतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥१६॥ स होवाच । विदेघो माथवः क्वाहं भवानीत्यत एव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा ते हि माथवाः ॥१७॥ अथ होवाच । गोतमो राहूगणः कथं नु नऽआमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति स होवाचाग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्स नेन्मे मुखान्निष्पद्याता इति तस्मात्ते न प्रत्यश्रौषमिति ॥१८॥ तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं घृतस्नवीमहऽइत्यभिव्याहार्षीस्तदेव मे घृतकीर्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्तं नाशकं धारयितुं स मे मुखान्निरपादीति ॥१९॥ स यत्सामिधेनीषु घृतवत् । सामिधेनमेव तत्समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥२०॥ तदु घृताच्येति । देवान्जिगाति सुम्नयुरिति यजमानो वै सुम्नयुः स हि देवान्जिगीषति स हि देवान्जिगाँसति तस्मादाह देवान्जिगाति सुम्नयुरिति सैषाग्नेयी सत्यनिरुक्ता सर्वं वाऽअनिरुक्तं सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥२१॥ अग्नऽआयाहि वीतयऽइति । तद्धेति भवति वीतयऽइति सन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥२२॥ ते देवा अकामयन्त । कथं नु न इमे लोका वितरां स्युः कथं न इदं वरीय-इव स्यादिति तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्वीतयऽइति तऽइमे विदूरं लोकास्ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवद्वरीयो ह वाऽअस्य भवति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुर्वीतयऽइति ॥२३॥ गृणानो हव्यदातयऽइति । यजमानो वै हव्यदातिर्गृणानो यजमानायेत्येवैतदाह नि होता सत्सि बर्हिषीत्यग्निर्वै होतायं लोको बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः सैषेममेव लोकमभ्यनूक्तेममेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२४॥ तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर इत्यङ्गिरा उ ह्यग्निर्घृतेन वर्धयामसीति तत्सामि-

आस्वादन नहीं किया था ॥१५॥

अब तो यह बहुत उपजाऊ है क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञ करके उसको अग्नि को चखा दिया है। गर्मी के अगले दिनों में भी (वह नदी) खूब बहती है। अग्नि वैश्वानर ने इससे दग्ध नहीं किया था। अतः यहाँ ठण्डक बहुत होती है ॥१६॥

विदेघ माथव ने अग्नि से पूछा—"मैं कहाँ रहूँ?"—"इस नदी के पूर्व की ओर तेरा घर हो", ऐसा अग्नि ने उत्तर दिया। अब तक यह नदी कोसल और विदेह देशों के बीच की सीमा है। क्योंकि यह माथव की सन्तान हैं ॥१७॥

अब गोतम राहूगण ने राजा से पूछा—"मैंने तुमको बुलाया। तुम क्यों नहीं बोले?" उसने कहा—"मेरे मुँह में अग्नि वैश्वानर था। कहीं यह गिर न पड़े, इसलिए मैं नहीं बोला" ॥१८॥

गोतम ने पूछा—"फिर यह क्या हुआ?" राजा ने उत्तर दिया—"जब तुमने मंत्र पढ़े और घी का नाम ही लिया कि अग्नि वैश्वानर जल उठा और मैं उसको मुख में न रख सका। वह पृथिवी पर निकल पड़ा" ॥१९॥

इसलिए सामिधेनियों में जो घृत शब्द है वह अग्नि जलाने के लिए बड़ा उपयुक्त है। इन्हीं सामिधेनियों को पढ़कर वह अग्नि को जलाता है और यजमान को शक्ति देता है ॥२०॥

अब (वह शब्द) है 'घृताच्या', अर्थात् घी से भरे (चमचे) से। 'देवान् जिगाति सुम्नयुः'—'शान्ति का इच्छुक वह देवों के पास आता है'; यजमान सुम्नयुः (शान्ति का इच्छुक) है। वह देवों के पास आना चाहता है। इसीलिए कहा 'देवान् जिगाति सुम्नयुः'। यह आग्नेयी ऋचा अनिरुक्त (अनियत) है। 'सब' भी अनियत होता है। अतः अनिरुक्त ऋचा पढ़कर 'सब' का सम्पादन करता है ॥२१॥

अब कहता है कि, 'अग्न आ याहि वीतये'—'अग्नि, यज्ञ की वृद्धि के लिए आ' (यह दूसरी सामिधेनी है) वृद्धि या फैलाव के लिए। पहले लोक मिले हुए थे। हम आकाश को इस प्रकार (हाथ बढ़ाकर) छू सकते थे ॥२२॥

देवों ने चाहा—"ये लोक दूर-दूर कैसे हों? कैसे हमको अधिक आकाश मिले?" यह कहकर उन्होंने ये तीन अक्षरों का 'वीतये' शब्द उच्चारण किया। यह कहते ही लोक दूर-दूर हो गए। देवों को दूर-दूर जगह मिल गई। जो इस रहस्य को समझकर 'वीतये' कहता है, उसके लिए भी दूर-दूर अवकाश मिल जाता है ॥२३॥

जब वह कहता है 'गृणानो हव्य दातये'—'हव्य देनेवाले के लिए' तो हव्य देनेवाला यजमान है। यजमान के लिए ही यह कहा गया। 'निहोता सत्सि बर्हिषि'—'होता आसन पर बैठता है।' 'होता' अग्नि है। बर्हि से आच्छादित वेदी आसन है। यह जगत् बर्हि है। अग्नि को इस जगत् में स्थापित करता है। जगत् के कल्याण के लिए अग्नि यहाँ स्थापित की जाती है। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जाती है, उसकी इस लोक में विजय होती है ॥२४॥

(अब तीसरी सामिधेनी) 'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः'—'अङ्गिरस, तेरे लिए समिधाओं से'; आंगिरस अग्नि है, 'घृतेन वर्द्धयामसि'—घी से हम बढ़ाते हैं। 'घृत' अग्नि जलाने के लिए

धेनं यदꣳ समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥२५॥ ॥ शतम ३०० ॥ ॥ बृहच्छोचा यविष्ठ्येति । बृहद्ध्येष शोचति समिद्धो यविष्ठ्येति यविष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाह यविष्ठ्येति सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्तान्तरिक्षलोकमेव तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्तानिरुक्तो ह्येष लोक एतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२६॥ स नः पृथु श्रवाय्यमिति । अदो वै पृथु यस्मिन्देवा एतच्छ्रवाय्यं यस्मिन्देवा अच्छा देव विवाससीत्यच्छ देव विवासस्येतन्नो गमयेत्येवैतदाह ॥२७॥ बृहदग्ने सुवीर्यमिति । अदो वै बृहद्यस्मिन्देवा एतत्सुवीर्यं यस्मिन्देवाः सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्ता दिवमेवैतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२८॥ सोऽन्वाह । ईडेन्यो नमस्य इतीडेन्यो ह्येष नमस्यो ह्येष तिरस्तमाꣳसि दर्शत इति तिर इव ह्येष तमाꣳसि समिद्धो ददृशे समग्निरिध्यते वृषेति सꣳ ह्यीध्यते वृषा वृषोऽग्निः समिध्यतऽइति सꣳ ह्यीध्यते ॥२९॥ अश्वो न देववाहन इति । अश्वो ह वाऽएष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति यद्धै नेत्यृच्योमिति तत्तस्मादाहाश्वो न देववाहन इति ॥३०॥ तꣳ हविष्मन्त ईडतऽइति । हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते तस्मादाह तꣳ हविष्मन्त ईडतऽइति ॥३१॥ वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहीति । सꣳ ह्येनमिन्धतेऽग्ने दीद्यतं बृहदिति दीदयेव ह्येष बृहत्समिद्धः ॥३२॥ तं वाऽएतम् । वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाहाग्नेय्यो वाऽएताः सर्वाः सामिधेन्यो भवन्तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेन्द्रो वृषैतेनो हास्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति तस्माद्वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह ॥३३॥ सोऽन्वाह । अग्निं दूतं वृणीमहऽइति देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तांस्पर्धमानान्गायत्र्यन्तरा तस्थौ या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवीयꣳ हैव तदन्तरा तस्थौ तऽउभयऽएव विदां चक्रुर्यतरान्वै न इयमुपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति परेतरे भविष्यन्तीति तामुभयऽएवोपमन्त्रयां चक्रिरेऽग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाꣳ

बहुत उपयुक्त शब्द है। उसी अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, और यज्ञ को शक्ति देते हैं ।।२५।।

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'–'तू सबसे छोटी, बहुत चमकदार है।' समिधा बहुत चमकती है। वह ही सबसे कम आयु की अग्नि है। इसीलिए उसको 'यविष्ठ्य' कहा। यह ऋचा उस लोक अर्थात् अन्तरिक्ष के लिए कही गई। अतः आग्नेयी होते हुए अनिरुक्त है। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जाती है, उसको इस लोक में विजय प्राप्त होती है ।।२६।।

(अब चौथी सामिधेनी) 'स नः पृथुश्रवाय्यम्'—'वह तू हमारे लिए चौड़ा-चकला और प्रकाशयुक्त अवकाश प्राप्त कर।' वह लोक जिसमें देवता रहते हैं चौड़ा-चकला और चमकदार है। 'अच्छा देव विवाससि' अर्थात् 'मैं उस लोक को जाऊँ' ।।२७।।

'बृहदग्ने सुवीर्यम्'—'हे अग्नि, वह बड़ा और शक्तिशाली है।' वह बड़ा लोक है जिसमें देव रहते हैं। वह शक्तिशाली लोक है जिसमें देव निवास करते हैं। इसी लोक के अभिप्राय से यह कहा गया। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए सामिधेनी पढ़ी जाती है, उसको इस लोक में विजय प्राप्त होती है ।।२८।।

(पाँचवीं सामिधेनी) 'ईडेन्यो नमस्य'—'स्तुति और नमस्कार के योग्य'। यह स्तुत्य भी है और नमस्य भी। 'तिरस्तमांसि दर्शत'—अन्धकार में होकर चमकता है'। अग्नि जब जलता है तो अन्धकार में होकर चमकता है। 'समग्निरिध्यते वृषा'—'बलवान अग्नि प्रज्वलित होता है।' बलवान् अग्नि है यह, प्रज्वलित भी होता है (समग्नि—यहाँ से छठी सामिधेनी आरम्भ होती है) ।।२९।।

'अश्वो न देववाहन'—'वह अग्नि अश्व या घोड़ा होकर देवों को हवि ले जाता है।' यहाँ 'न' का अर्थ है 'ओ३म्'। इसका अर्थ है कि वस्तुतः वह अश्व बनकर हवि को ले जाता है ।।३०।।

'तं हविष्मन्त ईडत'—'उसको हवि वालो, पूजो!' मनुष्य हवि वाले हैं। वे अग्नि को पूजते हैं। इसलिए कहा 'तं हविष्मन्त ईडत' ।।३१।।

(सातवीं सामिधेनी) 'वृषणः त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि···अग्ने दीद्यतं बृहत्'–'हम शक्तिशाली तुझ शक्तिशाली को प्रज्वलित करते हैं···हे अग्ने, तू बहुत चमकनेवाला है!' क्योंकि जब वह प्रज्वलित किया गया, वह वस्तुतः बहुत चमका ।।३२।।

इस तृच् (तीन ऋचाओं के समूह) को पढ़ता है जिसमें 'वृषण्' (बलवान्) शब्द आया है। ये सब सामिधेनियाँ अग्नि देवता की होती हैं। परन्तु यज्ञ का देवता 'इन्द्र' है और वह 'वृषण्' (बलवान्) है। अतः वृषण् शब्द आने से यह तृच् इन्द्र देवता का हो जाता है। इसलिए 'वृषण्' वाली तीन ऋचाओं को पढ़ता है ।।३३।।

(अब आठवीं सामिधेनी को) 'अग्निं दूतं वृणीमहे'—'अग्नि दूत का वरण करते हैं।' प्रजापति की सन्तान देव और असुर प्रभुत्व के लिए लड़ पड़े। गायत्री बीच में पड़ गई। जो गायत्री थी वही यह पृथिवी है। यही पृथिवी उन देवों के बीच में थी। वे जानते थे कि जिधर को यह रहेगी, वही पक्ष जीत जायगा, और दूसरा पक्ष पराजित होगा। अतः उन दोनों दलों ने चुपके-चुपके उसको अपनी ओर मिल जाने के लिए निमंत्रण दिया। देवों का दूत बनी अग्नि, और असुर राक्षसों का एक राक्षस जिसका नाम था 'सहरक्ष', वह गायत्री (या पृथिवी) अग्नि के

साग्निमिवानुप्रेयाय तस्मादन्वाहाग्निं दूतं वणीमहऽइति स हि देवानां दूत आ-
सीद्धोतारं विश्ववेदसमिति ॥३४॥ तद्ध हैकेऽन्वाहुः । होता यो विश्ववेदस इति
नेदरमित्यात्मान ब्रवाणीति तद्द तथा न ब्रूयान्मानुषꣳ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं
वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धो-
तारं विश्ववेदसमित्येवास्य यज्ञस्य सुक्रतुमित्येष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निस्तस्मादा-
हास्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति सेयं देवानुपाववर्त ततो देवा अभवन्परासुरा भवति
ह वाऽआत्मना परास्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु ॥३५॥ तां
वाऽअष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वाऽएषा निदानेनाष्टाक्षरा वै गायत्री तस्मादष्ट-
मीमनुब्रूयात् ॥३६॥ तद्धैके । पुरस्ताद्धाय्ये दधत्यन्नं धाय्ये मुखतऽइदमन्नाद्यं दध्म
इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता तस्यैषा भवति यः पुरस्ताद्धाय्ये दधाति
दशमी वा हि तर्ह्येकादशी वा संपद्यते नस्यो हैवैषावकप्ता भवति यस्यैतामष्ट-
मीमन्वाहुस्तस्मादुपरिष्टादेव धाय्ये दध्यात् ॥३७॥ समिध्यमानोऽअध्वरऽइति । अ-
ध्वरो वै यज्ञः समिध्यमानो यज्ञऽइत्येवैतदाहाग्निः पावक ईड्य इति पावको ह्येष
ईड्यो ह्येष शोचिष्केशस्तमीमहऽइति शोचन्तीव ह्येतस्य केशाः समिद्धस्य समि
द्धोऽअग्नऽआहुतेत्यतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधोऽपवृक्तऽइव ह्ये
तद्धोता यद्वाऽअन्यत्समिध इध्मस्यातिरिच्यतेऽतिरिक्तं तद्यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं द्विष-
न्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते तस्मादतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्य-
त्समिधः ॥३८॥ देवान्यक्षि स्वध्वरेति । अध्वरो वै यज्ञो देवान्यक्षि सुयज्ञियेत्येवैत-
दाह त्वꣳ हि हव्यवाडसीत्येष हि हव्यवाड्यदग्निस्तस्मादाह त्वꣳ हि हव्यवाड-
सीत्या जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमिति संप्रेष्यत्येवै-
तयाजुहुत च यजत च यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं तत्कुरुतेत्येवैतदाहाग्निं प्रयत्यध्वर
ऽइत्यध्वरो वै यज्ञोऽग्निं प्रयति यज्ञऽइत्येवैतदाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमित्येष हि

साथ चली गई। इसलिए कहते हैं 'हम अग्नि दूत का वरण करते हैं'; अग्नि ही दूत था। इसलिए कहा, 'होतारं विश्ववेदसम्' अर्थात् 'अग्नि होता को जो सब-कुछ जाननेवाला है ॥३४॥

कुछ लोग मंत्र में थोड़ा-सा परिवर्तन करके ऐसा कहते हैं 'होता यो विश्ववेदसः', अर्थात् 'होता जो सब-कुछ जाननेवाला है। इसका कारण यह है कि वह 'होतारं' के दो टुकड़े कर देते हैं 'होता+अरम्', 'अरम्' का अर्थ 'अलम्' (बस इतना ही) भी होता है। (याज्ञवल्क्य का कहना है कि) ऐसा नहीं करना चाहिए। वेदमंत्र में परिवर्तन कर देने से भाषा मानुषी हो जाती है। यज्ञ में मानुषी भाषा को अशुभ समझा जाता है, अतः जैसा वेदमंत्र में आया है वैसा ही बोलना चाहिए, अर्थात् 'होतारं विश्ववेदसम्'।

अब आगे कहता है—'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुः'—'इस यज्ञ को अच्छी प्रकार करनेवाला', क्योंकि अग्नि यज्ञ का सुक्रतुः है।

गायत्री ने देवों का साथ दिया था। वे जीत गए। असुर हार गए। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह ऋचा पढ़ी जाती है वह जीत जाता है और शत्रु उसका पराजित हो जाता है ॥३५॥

इसीलिए वह इस (आठवीं सामिधेनी) को पढ़ता है। यह विशेष रीति से गायत्री है क्योंकि गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। इसीलिए वह इस आठवीं सामिधेनी का पाठ करता है ॥३६॥

कुछ लोग आठवीं सामिधेनी से पहले दो 'धाय्य' पढ़ देते हैं। वे कहते हैं कि धाय्य अन्न हैं, हम अन्न को मुख में रख देते हैं; परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से आठवीं सामिधेनी का स्थान हट जाता है और आठवीं और नवमी सामिधेनी दसवीं और ग्यारहवीं हो जाती है। यह आठवीं सामिधेनी का ही उचित स्थान है। इसलिए दो धाय्यों को नवमी सामिधेनी के पीछे रखना चाहिए ॥३७॥

(अब नवमी सामिधेनी पढ़ता है) 'समिध्यमानो अध्वरः'—'यज्ञ में जलती हुई'। अध्वर यज्ञ को कहते हैं। उसमें जो प्रज्वलित होता है वह अग्नि है। 'पावकः ईड्यः'—'यह पवित्र भी है और स्तुत्य भी।' 'शोचिष्केशस्तमीमहे'—'चमकदार केश वाले तुझको हम बुलाते हैं।' इसके केश चमकते हैं। दसवीं सामिधेनी अर्थात् 'समिद्धस्य समिद्धोऽग्ने' ऐसा कहने से पूर्व सब समिधाओं को अग्नि पर रख दे, सिवाय एक के। क्योंकि यहाँ होता अग्नि-प्रज्वालन काम समाप्त करता है। अब जो एक समिधा बच रही, इसका नियम यह है कि जो यज्ञ से बच रहे वह शत्रु का होता है। इसलिए इस सामिधेनी से पहले-पहले एक बचाकर अन्य सब समिधायें रख देनी चाहिएँ ॥३८॥

अब वह कहता है 'देवान्यक्षि स्वध्वर'—'हे अच्छे अध्यर्यु, देवों की पूजा कर।' 'अध्वर' का अर्थ है यज्ञ। तात्पर्य यह है कि 'अच्छे अध्वर, देवों की पूजा कर।' 'त्वं हि हव्यवाडसि'—'तू हव्य का ले जाने वाला है।' अब अन्तिम सामिधेनी पढ़ता है—'आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्'—'यज्ञ में अग्नि की पूजा करो। हव्य ले जानेवाले का वरण करो।' अग्नि वस्तुतः हव्यवाट् है। इसीलिए कहा 'अग्नि तू हव्यवाट् है'। वह अन्तिम सामिधेनी को पढ़ता है—'आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वꣳ हव्यवाहनम्'—'आहुति दो। अग्नि की पूजा करो, जब यज्ञ हो रहा हो। हव्य को ले जाने वाले का वरण करो।' इसका अर्थ यह है कि आहुति दो, पूजा करो अर्थात् जिस कामना के लिए यज्ञ रचा है उसकी पूर्ति करो।

हव्यवाहनो यदग्निस्तस्मादाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमिति ॥३९॥ तं वाऽएतम् । अध्वरवत्तं त्रिचमन्वाह देवान्ह वै यज्ञेन यजमानांत्सपत्ना असुरा दुधूर्षां चक्रुस्ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम दुधूर्षन्ह वाऽएनꣳ सपत्नः पराभवति यस्यैवं विदुषोऽध्वरवत्तं त्रिचमन्वाहुर्यावद्धैव सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति ॥४०॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.१.]॥

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठेऽयुञ्जन् । यद्धोतृवऽइदं नो हव्यं वहेति तमेतद्गरिष्ठे युक्तोपामदन्वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीति वीर्यं समादधतो यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति तमुपमदन्ति वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीति वीर्यं समादधतः स यदत ऊर्ध्वमन्वाहोपस्तौत्येवैनमेतद्वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥१॥ अग्ने महाँ२॥ऽअसि ब्राह्मण भारतेति । ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वाऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति ॥२॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥३॥ परस्तादर्वाक्प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतं निह्नुतऽइदꣳ हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ॥४॥ स आर्षेयमुक्त्वाह । देवेद्धो मन्विद्ध इति देवा ह्येतमग्रऽऐन्धत तस्मादाह देवेद्ध इति मन्विद्ध इति मनुर्ह्येतमग्रऽऐन्द्ध तस्मादाह मन्विद्ध इति ॥५॥ ऋषिष्टुत इति । ऋषयो ह्येतमग्रेऽस्तुवंस्तस्मादाहर्षिष्टुत इति ॥६॥ विप्रानुमदित इति । एते वै विप्रा यदृषय एते ह्येतमन्वमदंस्तस्मादाह विप्रानुमदित टति ॥७॥ कविशस्त इति । एते वै कवयो यदृषय एते ह्येतमशꣳसंस्तस्मादाह कविशस्त इति ॥८॥ ब्रह्मसꣳशित इति । ब्रह्मसꣳशितो ह्येष घृताहवन इति घृताहवनो ह्येषः ॥९॥ प्रणीर्यज्ञानाꣳ रथीरध्वराणामिति । एतेन

अग्नि हव्य का ले जाने वाला है। इसीलिए कहा 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' ।।३९।।

'अध्वर' शब्द वाले तृच् (तीन ऋचाओं के समूह) को पढ़ता है। जब देव यज्ञ कर रहे थे तो उनके शत्रु असुरों ने उस यज्ञ का विध्वंस करना चाहा 'दुधूर्षाञ्चक्रुः'। परन्तु विध्वंस की इच्छा करते हुए भी वे विध्वंस न कर सके। वे हार गए। इसलिए यज्ञ का नाम अध्वर हुआ (न शेकुर्धूर्वितम्)। जो इस रहस्य को समझता है और अध्वर शब्द वाले तृच् को पढ़ता है उसके शत्रु उसका विध्वंस चाहते हुए भी उसका विध्वंस नहीं कर सकते। वे परास्त हो जाते हैं। वह सौम्य-अध्वर को करके विजय प्राप्त कर लेता है, जीत जाता है। (सौम्येन अध्वरेण=सोम-याग=सम्बन्धी अध्वर) ।।४०।।

अध्याय ४–ब्राह्मण २

पहले देवों ने अग्नि को मुख्य होता के पद पर नियुक्त किया, और उसको इस मुख्य पद पर नियुक्त करके कहा, 'तू हमारी हवि को ले जा' और यह कहकर बड़ाई करने लगे, 'निश्चय करके तू वीर्यवान् है। निश्चय करके तू इस काम के योग्य है।' इस प्रकार उसको बल देते हुए जैसा कि आजकल की जातियों में जब किसी को मुख्य पद पर चुनते हैं तो यह कहकर बड़ाई करते हैं, 'आप वीर्यवान् हैं, आप इसी कार्य के लिए हैं' और उसको बल-सम्पन्न करते हैं। इसलिए जो कुछ पढ़कर वह उसकी बड़ाई करता है, मानो उसकी स्तुति करता है अर्थात् उसको बल से सम्पन्न करता है ।।१।।

वह स्तुति यह है—'अग्ने महाँऽअसि ब्राह्मण भारत'–'हे ब्राह्मण, भारत, अग्नि, तू बड़ा है।' अग्नि ब्रह्म है इसलिए कहा 'ब्राह्मण'। 'भारत' इसलिए कहा कि यही देवों के लिए हव्य रखता है (भरति)। इसलिए कहता है 'अग्नि भारत है'। इन प्रजाओं का प्राण बनकर पोषण करता है इसलिए भारत है ।।२।।

अब वह (अग्नि को) आर्ष होता चुनता है, अर्थात् ऋषियों की शैली के अनुसार। इस प्रकार वह ऋषियों और देवों से उसका परिचय कराता है (निवेदयति)—'यह महावीर्य है जो यज्ञ को कराता है।' यही कारण है कि यह (अग्नि को) आर्ष होता बनाता है ।।३।।

वह अति पुराने से नये तक का वरण करता है (अर्थात् ऋषियों में सबसे प्रथम से लेकर पीढ़ी-पर-पीढ़ी आज तक के ऋषि का वरण करता है) क्योंकि प्राचीन से ही तो नई पीढ़ी उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह सबसे बड़े को नियुक्त करता है, क्योंकि पहले पिता होता है, फिर पुत्र, फिर पौत्र। इसलिए पूर्वजों से लेकर नई पीढ़ी तक का वरण करता है ।।४।।

उसको आर्ष होता बनाकर कहता है–'देवेद्धो मन्विद्धः'–'तुझे देवों ने प्रज्वलित किया, तुझे मनु ने प्रज्वलित किया।' देवों ने पहले इसे जलाया। इसलिए कहा 'देवेद्धः'। मनु ने पहले इसे जलाया इसलिए कहा 'मन्विद्धः' ।।५।।

अब कहता है—'ऋषिष्टुत'—'ऋषियों से स्तुति किया गया'। पहले ऋषियों ने ही इसकी स्तुति की। इसलिए इसको कहा 'ऋषिष्टुत' ।।६।।

अब कहा—'विप्रानुमदित'—'विप्रों से प्रसन्न किया गया'। ये विप्र ऋषि ही थे जिन्होंने उसे प्रसन्न किया। इसलिए कहा 'विप्रानुमदित' ।।७।।

अब कहा—'कविशस्त'—'कवियों से प्रशंसित'। ये कवि ऋषि ही थे जिन्होंने इसकी प्रशंसा की। इसलिए कहा 'कविशस्त' ।।८।।

अब कहा—'ब्रह्मसँशित'—'वेद से प्रशंसित', क्योंकि वह ब्रह्म अर्थात् वेदमंत्रों से प्रशंसित होता है। 'घृताहवन' भी कहा क्योंकि वह घी को लेता है ।।९।।

अब कहा–'प्रणीर्यज्ञानाँ रथीरध्वराणाम्'—'यज्ञों का प्राणी और अध्वरों का रथी'।

वै सर्वान्यज्ञान्प्रणयन्ति ये च पाकयज्ञा ये चेतरे तस्मादाह प्रणीर्यज्ञानामिति ॥१०॥ रथीरध्वराणामिति । रथो ह वाऽएष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति तस्मादाह रथीरध्वराणामिति ॥११॥ अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाडिति । न ह्येतꣳ रक्षाꣳसि तरन्ति तस्मादाहातूर्तो होतेति तूर्णिर्हव्यवाडिति सर्वꣳ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥१२॥ आस्पात्रं जुहूर्देवानामिति । देवपात्रं वाऽएष यदग्निस्तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति देवपात्रꣳ ह्येष प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रं यस्य पात्रं प्रेप्स्यति य एवमेतद्वेद ॥१३॥ चमसो देवपान इति । चमसेन ह वाऽएतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह चमसो देवपान इति ॥१४॥ अ-राꣳ॥ऽइवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसीति । यथारान्नेमिः सर्वतः परिभूरेवं त्वं देवां-त्सर्वतः परिभूरसीत्येवैतदाह ॥१५॥ आवह देवान्यजमानायेति । तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवाऽआहाग्निमग्नऽआवहेति तदाग्नेयायाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह सोममावहेति तत्सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽआहाग्निमावहेति तस्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह ॥१६॥ अथ यथादेवतम् । देवांꣳ॥ऽआज्यपांꣳ॥ऽआवहेति तत्प्रयाजानुयाजानावोढवाऽआह प्र-याजानुयाजा वै देवा आज्यपा अग्निꣳ होत्रायावहेति तदग्निꣳ होत्रायावोढवाऽआह स्वं महिमानमावहेति तत्स्वं महिमानमावोढवाऽआह वाग्वाऽअस्य स्वो महिमा तद्वाचमावोढवाऽआहा च वह जातवेदः सुयजा च यजेति तद्या एवैतद्दे-वता आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा चैना वहानुष्ठ्या च यजेति यदाह सुयजा च यजेति ॥१७॥ स वै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह ह्येतदसौ ह्यनुवाक्या तदसावि-वैतद्भूत्वान्वाह तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥१८॥ आसीनो याज्यां यजति । इयꣳ हि या-ज्या तस्मान्न कश्चन तिष्ठन्याज्यां यजतीयꣳ हि याज्या तदियमेवैतद्भूत्वा यजति त-स्मादासीनो याज्यां यजति ॥१९॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४.२.]॥ ॥

इसी से सब यज्ञों को प्राण देते हैं अर्थात् पाक-यज्ञ (खाना पकाने के यज्ञ) को और दूसरे यज्ञों को। इसलिए कहा, 'प्रणीर्यज्ञानाम्' ॥१०॥

'रथीरध्वराणाम्'—'रथ बनकर देवों के यज्ञ को ले जाता है'। इसलिए कहा, 'रथीरध्वराणाम्' ॥११॥

अब कहा—'अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्'—'इसको राक्षस नहीं रोक सकते, इसलिए कहा 'अतूर्तः' अर्थात् न रुकनेवाला होता। सब पापियों को परास्त कर देता है इसलिये कहा 'तूर्णिर्हव्यवाट्', अर्थात् ऐसा हव्य ले-जानेवाला जो दूसरों को परास्त कर देता है ॥१२॥

अब कहा—'आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्'—'देवों के खाने की थाली या मुख-पात्र'। यह अग्नि जो है वह देवों का पात्र है। इसलिए अग्नि में सब देवों के लिए हवि देते हैं, क्योंकि वह देवपात्र है, निश्चय करके जो इस बात को जानता है वह उसके पात्र को ले लेता है जिसके पात्र को वह चाहता है ॥१३॥

अब कहा—'चमसो देवपानः'—'देवों के पीने का चमचा'। इसी चमचे अर्थात् अग्नि से देव भोजन करते हैं इसलिए इसको कहा 'देवपानः' ॥१४॥

अब कहा—'अराँऽइवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि'—'हे अग्नि, जिस प्रकार पहिये की परिधि अरों के चारों ओर लगी रहती है उसी प्रकार तू देवों के चारों ओर है' ॥१५॥

अब कहा—'आवह देवान् यजमानाय'—'देवों को यजमान के लिए बुला।' यह इसलिये कहा कि अग्नि देवों को यज्ञ के लिए बुलावे। अब कहा—'अग्निमग्नऽआवह'—'हे अग्नि! अग्नि को बुला।' यह इसलिए कहा कि अग्नि के लिए जो 'आयाज्य भाग' था उस तक अग्नि को लाया जाय। अब कहा—'सोममावह'—'सोम को ला', जिससे यह सोम के आयाज्य भाग को सोम तक लावे। अब कहा—'अग्निमावह'—'अग्नि को ला।' यह इसलिए कहा कि अग्नि के लिए जो दोनों समय (दर्श और पूर्णमास यज्ञों में) आवश्यक पुरोडाश है उस तक अग्नि को लावे ॥१६॥

इसी प्रकार और देवों के लिए भी। अब कहा—'देवांऽआज्यपाँऽआवह'—'आज्य के पीनेवाले देवों को ला।' यह इसलिए कहा कि प्रयाज और अनुयाज को ला सके (पहली आहुति को प्रयाज और पिछली को अनुयाज कहते हैं) क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य के पान करनेवाले देव हैं। अब कहा—'अग्निँ होत्रायावह'—'अग्नि को होत्र के लिए ला।' यह इसलिए कहा कि अग्नि को होता के लिए लावे। अब कहा—'स्वं महिमानमावह'—'अपनी महिमा को ला।' यह इसलिए कहा कि अपनी महिमा को ला सके। वाणी ही इसकी अपनी महिमा है। इसके कहने का तात्पर्य हुआ 'अपनी वाणी को ला'। अब कहा—'आ च वह जातवेदः सुयजा च यज'—'हे जातवेद अग्नि, (देवों को) ला और अच्छे प्रकार यज्ञ कर।' जिस-जिस देवता को लाने के लिए कहता है उस-उसको लाने के लिए आदेश करता है। 'सुयजा' कहने से तात्पर्य है यथाविधि यज्ञ करना ॥१७॥

वह खड़े-खड़े पढ़ता है। क्योंकि वह (द्यौलोक) है जिसके लिए पढ़ता है, इसलिए खड़े-खड़े पढ़ता है (अर्थात् दूर की चीज को खड़े होकर बुलाते हैं। द्यौ दूर है। उसके बुलाने के लिए खड़ा हो जाना चाहिए ॥१८॥

याज्य आहुति को बैठकर अर्पित करता है। यह (अर्थात् पृथिवी) ही याज्य है। इसलिए याज्य को खड़े-खड़े न पढ़े। चूंकि याज्य ही यह है इसलिए बैठकर ही याज्य को पढ़ता है। ('असौ' अर्थात् 'वह' का अर्थ है 'द्यौ'। 'इयं' अर्थात् 'यह' का अर्थ है पृथिवी) ॥१९॥

यो ह वाऽअग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः । अतितराꣳ ह वै स इतरस्मादग्ने-स्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः ॥१॥ स यथा हैवाग्निः । सामिधेनीभिः स-मिद्धस्तपत्येवꣳ हैव ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वाननुब्रुवंस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्य-नवमृश्यः ॥२॥ सोऽन्वाह । प्र व इति प्राणो वै प्रवान्प्राणमेवैतया समिन्द्धेऽग्न ऽआयाहि वीतयऽइत्यपानो वाऽएतवानपानमेवैत समिन्द्धे बृहच्छोचा यवि-ष्ठेत्युदानो वै बृहच्छोचा उदानमेवैतया समिन्द्धे ॥३॥ स नः पृथु श्रवाय्यमिति । श्रोत्रं वै पृथु श्रवाय्यꣳ श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति श्रोत्रमेवैतया समिन्द्धे ॥४॥ ईडेन्यो नमस्य इति । वाग्वाऽईडेन्या वाग्घीदꣳ सर्वमीट्टे वाचेदꣳ सर्वमीडितं वाचमेवैतया समिन्द्धे ॥५॥ अश्वो न देववाहन इति । मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया समिन्द्धे ॥६॥ अग्ने दीद्यतं बृ-हदिति । चक्षुर्वै दीदयेव चक्षुरेवैतया समिन्द्धे ॥७॥ अग्निं दूतं वृणीमहऽइति । य एवायं मध्यमः प्राण एतमेवैतया समिन्द्धे स हैषाऽन्तस्था प्राणानामतो ह्यन्य ऽऊर्ध्वाः प्राणा अतोऽन्येऽवाञ्चोऽन्तस्था ह भवत्यन्तस्थामेनं मन्यन्ते यऽएवमेताम-न्तस्थां प्राणानां वेद ॥८॥ शोचिष्केशस्तमीमहऽइति । शिश्नं वै शोचिष्केशꣳ शिश्नꣳ हीदꣳ शिश्निनं भूयिष्ठꣳ शोचयति शिश्नमेवैतया समिन्द्धे ॥९॥ समिद्धो ऽअग्नऽआहुतेति । य एवायमवाङ्प्राण एतमेवैतया समिन्द्धेऽग्ना जुहोता दुवस्य-तेति सर्वमात्मानꣳ समिन्द्धेऽग्ना नखेभ्योऽथो लोमभ्यः ॥१०॥ स यद्येनं प्रथमा-याꣳ सामिधेन्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयात्प्राणं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः प्रा-णेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥११॥ यदि द्वितीयस्यामनुव्याह-रेत् । तं प्रति ब्रूयादपानं वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा अपानेनात्मन आर्त्तिमारिष्य-सीति तथा हैव स्यात् ॥१२॥ यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादुदानं वाऽ - - उदानेना° - - स्यात् ॥१३॥ यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत् । तं प्रतिब्रूयाच्छ्रोत्रं

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

जो अग्नि सामिधेनियों द्वारा जलाई जाती है वह अन्य अग्नियों से अधिक चमकती है, क्योंकि वह 'अनवधृष्य' है अर्थात् उस पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता, और वह 'अनवमृश्य' है अर्थात् उसे कोई बुझा नहीं सकता ॥१॥

जैसे सामिधेनियों द्वारा जलाई गई अग्नि चमकती है, इसी प्रकार वह ब्राह्मण भी चमकता है जो सामिधेनियों को जानता और बोलता है, क्योंकि वह 'अनवधृष्य' और 'अनवमृश्य' हो जाता है, (अर्थात्) कोई उस पर आक्रमण नहीं कर सकता और न उसे पराजित कर सकता है ॥२॥

अब वह कहता है 'प्रव' (पहली सामिधेनी)। 'प्राण' शब्द में 'प्र' अक्षर आता है। इस सामिधेनी द्वारा वह 'प्राण' को ही प्रज्वलित करता है। अब कहा—'अग्नऽआयाहि वीतये' (दूसरी सामिधेनी)। 'अपान' ऐसा ही है। इससे वह 'अपान' को प्रज्वलित करता है। अब कहा—'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' (तीसरी सामिधेनी)। 'उदान' ही बृहच्छोचा है। इससे वह 'उदान' को प्रज्वलित करता है ॥३॥

अब कहा—'स नः पृथु श्रवाय्यम्' (चौथी सामिधेनी)। कान ही 'पृथु श्रवाय्य' है। क्योंकि कान से ही निकट और दूर का सुनते हैं। इससे कान को ही प्रज्वलित करता है ॥४॥

अब कहा—'ईडेन्यो नमस्य' (पाँचवीं सामिधेनी)। वाणी ही 'ईडेन्य' है। वाणी ही इस सबकी स्तुति करती है। वाणी ही से इस सबकी स्तुति की जाती है। इससे वाणी को ही प्रज्वलित करता है ॥५॥

अब कहा—'अश्वो न देववाहनः' (छठवीं सामिधेनी)। मन ही देववाहन है, क्योंकि मन ही देवों तक विद्वानों को ले जाता है। इससे मन को ही प्रज्वलित करता है ॥६॥

अब कहता है—'अग्ने दीद्यतं बृहत्' (सातवीं सामिधेनी)। आँख ही चमकनेवाली है। आँख को ही इससे प्रज्वलित करता है ॥७॥

अब कहा—'अग्निं दूतं वृणीमहे' (आठवीं सामिधेनी)। यह जो मध्यम प्राण है उसी को इससे प्रज्वलित करता है। यह प्राणों में अन्तस्थ (अर्थात् भीतर से प्रेरणा करनेवाली) है। इसी से और प्राण ऊपर को चलते हैं और इसी से अन्य प्राण नीचे को चलते हैं, क्योंकि यह अन्तस्थ है। जो प्राणों की इस अन्तस्थ शक्ति को समझता है उसे अन्तस्थ मानते हैं ॥८॥

अब कहा—'शोचिष्केशस्तमीमहे' (नवीं सामिधेनी)। 'शिश्न' (उपस्थेन्द्रिय) ही शोचिष्केश है। यह इन्द्रिय ही इस इन्द्रिय वाले को जलाती है। इससे शिश्न को ही प्रज्वलित करता है ॥९॥

अब कहा—'समिद्धोऽअग्न! आहुत' (दसवीं सामिधेनी)। यह जो नीचे का प्राण है उसी को इससे प्रज्वलित करता है। अब कहा—'आ जुहोता दुवस्यत' (ग्यारहवीं सामिधेनी)। इससे समस्त शरीर को नख से लेकर रोम-रोम तक प्रज्वलित करता है ॥१०॥

और यदि पहली सामिधेनी के पढ़ते समय कोई उसे बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए कि तूने अपना प्राण अग्नि में डाल दिया। इस अपने प्राण से तुझे दुःख होगा और ऐसा ही होगा भी ॥११॥

और अगर दूसरी सामिधेनी के समय बुरा कहे तो उससे कहे कि तूने अपने अपान को अग्नि में डाल दिया। तुझे अपने इस अपान से पीड़ा होगी और ऐसा ही होगा भी ॥१२॥

और अगर तीसरी सामिधेनी के समय बुरा कहे तो उसको कहना चाहिए कि तूने अपने उदान को अग्नि में डाल दिया। इस अपने उदान से तुझे पीड़ा होगी और ऐसा ही होगा भी ॥१३॥

और अगर चौथी सामिधेनी के समय कोई बुरा कहे तो उसको कहना चाहिए कि तूने

वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधाः श्रोत्रेणात्मन आर्त्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१४॥ यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयाद्वाचं वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधा वाचात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मूको भवि॰ - - स्यात् ॥१५॥ यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयान्मनो वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधा मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१६॥ यदि सप्तम्याम॰ - । - ॰याच्चक्षुर्वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधाश्चक्षुषात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यन्धो भवि॰ - - स्यात् ॥१७॥ यद्यष्टम्याम॰ - । - ॰यान्मध्यं वाऽएतत्प्राणमात्मनोऽग्रावाधा मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्युद्ध्माय मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१८॥ यदि नवम्याम॰ - । - ॰याच्छिश्नं वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधाः शिश्नेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि क्लीबो भवि॰ - - स्यात् ॥१९॥ यदि दशम्यामनु॰ - । - ॰यादपानं वाऽएतत्प्राणमात्मनोऽग्रावाधा अपाना प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२०॥ यद्येकादश्याम॰ - । - ॰यात्सर्वं वाऽएतदात्मानमग्रावाधाः सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२१॥ स यथा हैवाग्निꣳ । सामिधनीभिः समिद्धमापद्यार्त्तिं न्येत्येवꣳ हैव ब्राह्मणꣳ सामिधेनीर्विद्वाꣳसꣳ समनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्यार्त्तिं न्येति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४.३.]॥

तं वाऽएतमग्निꣳ समैन्धिषत । समिद्धे देवेभ्यो जुहवामेति तस्मिन्नेतेऽएव प्रथमेऽआहुती जुहोति मनसे चैव वाचे च मनश्च हैव वाक्च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः ॥१॥ स यदुपाꣳशु क्रियते । तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहत्यथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते तद्वाग्देवेभ्यो यज्ञं वहत्येतद्वाऽइदं द्वयं क्रियते तदेतेऽएवैतत्संतर्पयति तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहात इति ॥२॥ स्रुवेण तमाघारयति । यं मनसऽआघारयति वृषा हि मनो वृषा हि स्रुवः ॥३॥ स्रुचा तमाघारयति । यं वाचऽआघारयति योषा हि वाग्योषा हि स्रुक् ॥४॥ तूष्णीं तमाघारयति । यं मनसऽआघा-

अपने कान को आग में डाल दिया। तुझे अपने कान से पीड़ा होगी, तू बहरा हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१४॥

और अगर पाँचवीं सामिधेनी के पढ़ते समय कोई बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए कि तूने अपनी वाणी को आग में डाल दिया। तुझे अपनी वाणी से पीड़ा होगी, तू बहरा हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१५॥

और अगर छठी सामिधेनी के समय कोई बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए कि तूने अपने मन को अग्नि में डाल दिया। यह मन तुझे पीड़ा देगा। तू इस प्रकार फिरेगा मानो किसी ने तेरा मन चुरा लिया है या तेरा मन विक्षिप्त हो गया है, और ऐसा ही होगा भी ॥१६॥

अगर सातवीं सामिधेनी के समय कोई बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपनी आँख आग में डाल दी। तुझे इस आँख से पीड़ा होगी, तू अन्धा हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१७॥

अगर आठवीं सामिधेनी पढ़ते समय बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने मध्य प्राण को आग में डाल दिया। तुझे इस मध्य प्राण से पीड़ा होगी। तू इससे मर जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१८॥

अगर नवीं सामिधेनी को पढ़ते समय बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने शिश्न को आग में डाल दिया। तुझे इससे पीड़ा होगी, तू नपुंसक हो जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥१९॥

अगर दसवीं सामिधेनी को पढ़ते समय बुरा कहे तो उससे कहना चाहिए कि तूने अपने निचले प्राण को अग्नि में डाल दिया। इस अपने निचले प्राण से तुझे पीड़ा होगी, तू कब्ज से मर जायगा और ऐसा ही होगा भी ॥२०॥

अगर ग्यारहवीं सामिधेनी को पढ़ते समय बुरा कहे तो उसको कहना चाहिए कि तूने अपना शरीर आग में डाल दिया। तुझे इस अपने शरीर से पीड़ा होगी, इससे तू शीघ्र ही उस लोक को चला जाएगा और ऐसा ही होगा भी ॥११॥

जिस-जिस प्रकार सामिधेनियों से जलाई हुई अग्नि के पास जाकर जो कोई पीड़ा उठाता है, उसी प्रकार की पीड़ा उस-उस पुरुष को होती है जो सामिधेनियों को समझकर पढ़नेवाले ब्राह्मण को बुरा कहता है ॥२२॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

इस अग्नि को इन्होंने प्रज्वलित किया कि इस प्रज्वलित अग्नि में देवों के लिए आहुतियाँ दें। पहले इसमें दो आहुतियाँ देते हैं—एक मन के लिए और दूसरी वाणी के लिए, क्योंकि मन और वाणी दोनों मिलकर देवों के लिए यज्ञ को ले जाते हैं ॥१॥

यह जो चुपके-चुपके (धीमी आवाज से) किया जाता है, इस यज्ञ को मन देवों को ले जाता है, और जो वाणी से स्पष्ट करके किया जाता है उस यज्ञ को वाणी देवों तक ले जाती है। इस प्रकार दुहरी क्रियाएँ होती हैं। वह इन दोनों को तृप्त करता है जिससे ये दोनों (मन और वाणी) तृप्त और प्रसन्न होकर यज्ञ को देवों तक ले जायँ ॥२॥

जो आहुति मन के लिए देता है वह स्रुवा से देता है, क्योंकि मन पुरुष है और स्रुवा भी पुरुष है। (मन नपुंसक लिंग है। समझ में नहीं आता कि मन को पुरुष क्यों कहा) ॥३॥

जो आहुति वाणी के लिए देता है वह स्रुक् से देता है, क्योंकि वाणी स्त्री है और स्रुक् भी स्त्री है ॥४॥

जो आहुति मन के लिए देता है वह चुपके से देता है और 'स्वाहा' भी नहीं बोलता। मन

रयति न स्वाहेति चनानिरुक्तꣳ हि मनोऽनिरुक्तꣳ ह्येतद्यत्तूष्णीम् ॥५॥ मन्त्रेण तमाघारयति । यं वाचऽआघारयति निरुक्ता हि वाङ्निरुक्तो हि मन्त्रः ॥६॥ आसीनस्तमाघारयति । यं मनसऽआघारयति तिष्ठंस्तं यं वाचे मनश्च ह वै वाक्च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतो यतरो वै युजोर्ह्रसीयान्भवत्युपवर्हं वै तस्मै कुर्वन्ति वाग्वै मनसो ह्रसीयस्यपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्तद्वाच ऽएवैतदुपवर्हं करोति ते सयुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतस्तस्मात्तिष्ठन्वाचऽआघारयति ॥७॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तऽएतद्दक्षिणातः प्रत्युदश्रयन्नुच्छ्रितमिव हि वीर्यं तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति स यदुभयत आघारयति तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव शिरो ह वै यज्ञस्यैतयोरन्यतर आघारयोर्मूलमन्यतरः ॥८॥ स्रुवेण तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य स्रुचा तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य ॥९॥ तूष्णीं तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य तूष्णीमिव हीदं मूलं नो ह्यत्र वाग्वदति ॥१०॥ मन्त्रेण तमाघारयति । यः शिरो यज्ञस्य वाग्घि मन्त्रः शीर्ष्णो ह्ययमधि वाग्वदति ॥११॥ आसीनस्तमाघारयति । यो मूलं यज्ञस्य निषण्णमिव हीदं मूलं तिष्ठंस्तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य तिष्ठतीव हीदꣳ शिरः ॥१२॥ स स्रुवेण पूर्वमाघारमाघार्याह । अग्निमग्नीत्सम्मृड्ढीति यथा धुरमध्यूहेदेवं तद्यत्पूर्वमाघारमाघारयत्यध्युह्य हि धुरं युञ्जन्ति ॥१३॥ अथ सम्मार्ष्टि । युनक्त्येवैनमेतद्युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति तस्मात्सम्मार्ष्टि परिक्रामꣳ सम्मार्ष्टि परिक्रामꣳ हि योग्यं युञ्जन्ति त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१४॥ स सम्मार्ष्टि । अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मीति यज्ञं वा वक्ष्यन्तं यज्ञियꣳ सम्मार्ज्मीत्येवैतदाहाथोपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यथा युक्त्वा प्राजित्प्रेहि वहेत्येवमेवैतत्कशयोपक्षिपति प्रेहि देवेभ्यो यज्ञं वहेति तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यदेतदन्तरेण कर्म क्रियते तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्ना-

स्पष्ट नहीं है। और जो कृत्य चुपके से किया जाता है वह भी स्पष्ट नहीं होता ॥५॥

और जो आहुति वाणी के लिए देता है उसे मन्त्र पढ़कर देता है, क्योंकि वाणी स्पष्ट है और मन्त्र भी स्पष्ट है ॥६॥

जो आहुति मन के लिए देता है वह बैठकर देता है, और जो वाणी के लिए देता है वह खड़े-खड़े। मन और वाणी दोनों मिलकर ही देवों के लिए यज्ञ ले जाते हैं। बैलों के जोड़े में से अगर एक बैल छोटा होता है तो उसके कन्धे पर 'उपवह' अर्थात् गद्दी रख देते हैं (जिससे जुए के दोनों बैल बराबर हो जायँ)। वाणी तो मन से छोटी है ही। मन बड़ा अपरिमित है, वाणी बहुत परिमित है। वाणी के लिए खड़े होकर आहुति देने का तात्पर्य यह है कि वाणी को एक 'उपवह' अर्थात् गद्दी दे दी जिससे वे दोनों बराबर होकर यज्ञ को देवों तक ले जायँ ॥७॥

जब देवों ने यज्ञ रचा तो असुर राक्षसों के विघ्न से डरने लगे। इसलिए वे (वेदि के) दक्षिण की ओर सीधे खड़े हो गये। सीधे खड़े होने से बल आता है, इसलिए दक्षिण की ओर खड़े होकर आहुति देता है। और जो दोनों ओर आहुति देता है इससे वह जुड़े हुए मन और वाणी को अलग-अलग कर देता है। दोनों आहुतियों में से एक यज्ञ का सिर है, दूसरी यज्ञ का मूल है ॥८॥

उस आहुति को जो यज्ञ का मूल है स्रुवा से देता है। और जो यज्ञ का शिर है उसे स्रुक् से देता है ॥९॥

जो आहुति यज्ञ का मूल है उसे चुपके (बिना बोले) देता है, क्योंकि मूल (जड़) मौन-सी होती है क्योंकि इसको वाणी नहीं बोलती ॥१०॥

जो आहुति यज्ञ का शिर है उसको मन्त्र पढ़कर देता है, क्योंकि वाणी ही मन्त्र है और शिर से ही यह वाणी बोलती है ॥११॥

जो आहुति यज्ञ का मूल है उसे बैठकर ही देता है, क्योंकि मूल (जड़) बैठी-सी ही होती है। जो आहुति यज्ञ का शिर है उसे खड़े होकर ही देता है। शिर खड़ा-सा होता है ॥१२॥

स्रुवा से पहली आहुति को देकर कहता है—'अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि'—'हे अग्नीत्, आग को साफ कर दो।' जैसे धुरे को जुआ पर रखते हैं ऐसे ही वह पहली आहुति देता है, क्योंकि धुरा रखकर ही बैलों को जुए से बाँधते हैं ॥१३॥

(अग्नीध्र) आग को साफ करता है (ऊपर से राख को अलग कर देता है) मानो वह जुए को बाँधता है जिससे वह बँधकर यज्ञ को देवों के लिए ले जाय। इसीलिए साफ करता है। साफ करने में वह आग को घुमाता अर्थात् कुरेदता है, क्योंकि जब बैलों को जुए से बाँधते हैं तो घुमाकर ले जाते हैं। तीन बार कुरेदता है क्योंकि यज्ञ तिहरा है ॥१४॥

कुरेदने में वह यह मन्त्र पढ़ता है—"अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितँ सम्मार्ज्मि' (यजुर्वेद २।७)—"हे अन्न जीतनेवाली आग! तुझ अन्न को जीतनेवाली को, जो अन्न तक जा रही है मैं कुरेद रहा हूँ।" इसका तात्पर्य है कि मैं उस आग को कुरेद रहा हूँ जो यज्ञ को ले जा रही है और जो यज्ञ के योग्य है। चुपके-चुपके तीन बार कुरेदता है। जैसे बैलों को जोड़कर हाँकते हैं, 'चलो, ले चलो।' इसी प्रकार इसको भी (अर्थात् आग को भी) हाँकते हैं, 'चलो, देवों के लिए यज्ञ ले चलो।' इसलिए तीन बार चुपके-चुपके कुरेदता है। और जैसे दो आहुतियों को बीच में कुरेदने का काम करने से दोनों आहुतियाँ एक-दूसरे से अलग हो जाती हैं, इसी तरह से मन और वाणी मिले होकर भी एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं ॥१५॥

———————

नेव ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [४.४.] ॥ ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १२० ॥ ॥

स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् । पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इति तद्देवेभ्यश्चैवैतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन्निह्नुते सुयमे मे भूयास्तमिति स्रुचावादत्ते सुभरे मे भूयास्तं भर्तुं वाꣳ शकेयमित्येवैतदाहास्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳ सम्भ्रियासमित्यविक्षुब्धमद्य देवेभ्यो यज्ञं तनवा इत्येवैतदाह ॥१॥ अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमिति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्मा एवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषमिति वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषमिति साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह ॥२॥ विष्णो स्थानमसीति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैव ह्येतदन्तिके तिष्ठति तस्मादाह विष्णो स्थानमसीतीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यतो हीन्द्रस्तिष्ठन्दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपाहंस्तस्मादाहेत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यूर्ध्वोऽध्वर आस्थादित्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥ अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमिति । उभयं वा एतदग्निर्देवानाꣳ होता च दूतश्च तदुभयं विद्धि यद्देवानामसीत्येवैतदाहावतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी इति नात्र तिरोहितमिवास्ति स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत्स्वाहेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्र आज्येनेति वाचे वा एतमाघारमाघारयतीन्द्रो वागित्यु वा आहुस्तस्माद्वेवाहेन्द्र आज्येनेति ॥४॥ अथासꣳस्पर्शयन्स्रुचौ पर्येत्य । ध्रुवया समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवा तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः ॥५॥ यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु स यद्धोपभृता समञ्ज्याद्यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात्तद्यजमान एवैतच्छ्रियं दधाति तस्माद्ध्रुवया समनक्ति ॥६॥ स समनक्ति । सं ज्योतिषा

अध्याय ४—ब्राह्मण ५

वह (अध्वर्यु) स्रुच् से दूसरी आघार-आहुति देते समय पहले अपने हाथों (अञ्जलि) को दोनों स्रुचों (अर्थात् जुहू और उपभृत्) के सामने जोड़ता है, और यह मन्त्रांश (यजु० २।७) पढ़ता है—"नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः।"—"देवों के लिए नमस्कार, पितरों के लिए स्वधा।" इस प्रकार वह ऋत्विज का कर्म करने से पहले देव और पितरों को प्रसन्न करता है। "सुयमे मे भूयास्तम्।" (यजु० २।७)—"आप दोनों मेरे लिए सुयम अर्थात् नियम में रहनेवाले हों।" ऐसा कहकर दोनों स्रुचों को लेता है। इससे अभिप्राय यह है कि मेरे ये दोनों स्रुच् अच्छी तरह भर जायँ या मैं इनको अच्छी तरह भर सकूँ। अब वह कहता है— "अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳ सम्भ्रियासम्" (यजु० २।८)—"मैं आज देवों के लिए न फैलनेवाला घी अर्पण करूँ।" इसके कहने का तात्पर्य यह है कि मैं आज देवों के लिए क्षोभरहित अर्थात् पूर्ण यज्ञ करूँ। (अर्थात् यज्ञ में कोई विघ्न या त्रुटि न रहे) ॥१॥

अब वह कहता है—"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्।" (यजु० २।८)—"हे विष्णु, मैं पैर से आपके साथ अत्याचार न करूँ" अर्थात् आज्ञा भङ्ग न करूँ। यज्ञ ही विष्णु है। इसलिए तात्पर्य यह हुआ कि मैं पैर से यज्ञ के प्रति कोई अनाचार न करूँ। अब कहता है—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषम्" (यजु० २।८)—"हे अग्नि, मैं तेरी वसुमती छाया (शरण) में आ जाऊँ।" इससे तात्पर्य है कि 'हे अग्नि, मैं तेरी साधु अर्थात् अच्छी छाया में आ जाऊँ' ॥२॥

अब वह कहता है—"विष्णोः स्थानमसि" (यजु० २।८)—"तू विष्णु का स्थान है।" यज्ञ ही विष्णु है। वह उसी के निकट खड़ा होता है, इसीलिए कहता है कि 'तू विष्णु का स्थान है'। अब कहता है—"इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्" (यजु० २।८)—"यहाँ इन्द्र ने पराक्रम किया।" इन्द्र ने यहीं खड़े होकर दक्षिण से विघ्नकारी राक्षसों को दूर किया था। इसीलिए कहता है 'यहाँ इन्द्र ने पराक्रम किया'। अब कहता है—"ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्" (यजु० २।८)—"अध्वर ऊँचा उठा।" अध्वर नाम है यज्ञ का, इसलिए इसका तात्पर्य हुआ कि यज्ञ ऊँचा उठा, अर्थात् यज्ञ भली प्रकार किया गया ॥३॥

अब कहता है—"अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्" (यजु० २।९)—"हे अग्नि, होता का और दूत का काम जानो" (वेः का अर्थ है समझो)। अग्नि देवों का होता भी है और दूत भी। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि 'हे अग्नि, तुम होता का और दूत का दोनों काम समझ लो।' अब कहता है—"अवतां त्वां द्यावापृथिवी" "अव त्वं द्यावापृथिवी" (यजु० २।९)—"द्यौ लोक और पृथिवी लोक तेरी रक्षा करें।" तू द्यौ लोक और पृथिवी लोक की रक्षा कर, यह स्पष्ट है। अब पढ़ता है—"स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा" (यजु० २।९)—"हे इन्द्र, घी हवि से देवों के लिए स्विष्टकृत् आहुति हो, स्वाहा।" इन्द्र यज्ञ-देवता है, इसीलिए कहा 'इन्द्र आज्येन' इत्यादि। यह आहुति वाणी के लिए देता है। इन्द्र नाम है वाणी का। यह कुछ लोगों की सम्मति है। इसीलिए कहा 'इन्द्र आज्येन' इति ॥४॥

अब लौटकर दोनों स्रुचों को बिना छुआये हुए ध्रुवा (के घी) से जुहू (का घी) मिलाता है। दूसरी आघार-आहुति यज्ञ का शिर है, और ध्रुवा शरीर है। इस कृत्य से यह तात्पर्य हुआ कि शरीर के ऊपर शिर रख देता है। दूसरी आघार-आहुति यज्ञ का शिर है। शिर कहते हैं 'श्री' को। श्री ही शिर होती है। इसीलिए जो कोई अर्द्ध या परिवार का श्रेष्ठ होता है उसको कहते हैं कि यह अर्द्ध या परिवार का शिर है ॥५॥

यजमान ध्रुवा के पीछे खड़ा होता है, और जो उसके लिए शत्रुता करे वह उपभृत् के पीछे। इसलिए अगर जुहू के घी को उपभृत् के घी से मिला देता तो उसको श्री देता जो यजमान का शत्रु है। परन्तु उसे यजमान को श्री देनी है, इसलिए वह ध्रुवा के घी से मिलाता है ॥६॥

वह मिलाते समय यह मन्त्रांश (यजु० २।९) पढ़ता है—"सं ज्योतिषा ज्योतिः"—"ज्योति

ज्योतिरिति ज्योतिर्वाऽइतरस्यामाज्यं भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योति-
षी संगच्छेते तस्मादेवꣳ समनक्ति ॥७॥ अथातो मनसश्चैव वाचश्च । अहम्भद्र
ऽउदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्रऽऊदाते ॥८॥ तद्ध मन उवाच । अहमेव त्व-
च्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुव-
र्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥ अथ ह वागुवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै
त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहꣳ सञ्ज्ञपयामीति ॥१०॥ ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः ।
स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेयो मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मा-
सि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥ सा ह वाक्परोक्ता
विसिष्मिये । तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवाचाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं
भूयासं यां मा परावोच इति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपांश्वेव त-
त्क्रियतेऽहव्यवाड्ढि वाक्प्रजापतयऽआसीत् ॥१२॥ तद्धैतद्देवाः । रेतश्चर्मन्वा य-
स्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्त्यत्रेव त्या३दिति ततोऽत्रिः सम्बभूव तस्मादप्यात्रेय्या
योषितैनस्व्येतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः ॥१३॥ ब्राह्मणम्
॥१ [४.५.]॥ अध्यायः ॥४॥ ॥

स वै प्रवरायाश्रावयति । तद्यत्प्रवरायाश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञम-
भिव्याहृत्याथ होतारं प्रवृणाऽइति तस्मात्प्रवरायाश्रावयति ॥१॥ स इध्मसंनह-
नान्येवाभिपद्याश्रावयति । स यद्धानारभ्य यज्ञमध्वर्युराश्रावयेद्वेपनो वा ह स्यादन्यां
वार्त्तिमार्छेत् ॥२॥ तद्वेके । वेदे स्तीर्णायै बर्हिरभिपद्याश्रावयन्तीध्मस्य वा शक-
लमपछिद्याभिपद्याश्रावयन्तीदं वै किंचिद्यज्ञस्येदं यज्ञमभिपद्याश्रावयाम इति वद-
न्तस्तदु तथा न कुर्यादेतद्वै किंचिद्यज्ञस्य यैरिध्मः संनद्धो भवत्यग्निꣳ सम्मृजन्ति तद्वेव
खलु यज्ञमभिपद्याश्रावयति तस्मादिध्मसंनहनान्येवाभिपद्याश्रावयेत् ॥३॥ स आ-
श्राव्य । य एव देवानाꣳ होता तमेवाग्रे प्रवृणीतेऽग्निमेव तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च

से ज्योति (मिल गई)।" एक में जो आज्य है वह ज्योति है। दूसरी में जो आज्य है वह भी ज्योति है। इस प्रकार दोनों ज्योतियाँ मिल गईं। इसलिए इस प्रकार मिलाता है ॥७॥

एक बार मन और वाणी में झगड़ा हुआ बड़ाई के लिए। मन और वाणी दोनों कहने लगे कि 'मैं भद्र हूँ'-'मैं भद्र हूँ' ॥८॥

अब मन ने कहा, 'मैं तुझसे अच्छा हूँ। मेरे बिना बिचारे तू कुछ नहीं कहती। तू मेरे किये का ही अनुकरण करती है। तू मेरा अनुसरण करती है। इसलिए तुझसे मैं बड़ा हूँ' ॥६॥

अब वाणी बोली, 'मैं तुझसे अवश्य बड़ी हूँ, क्योंकि जो तू जानता है उसे मैं प्रकाशित करती हूँ। मैं उसे फैलाती हूँ' ॥१०॥

वे प्रजापति के पास निश्चय के लिए गये। उस प्रजापति ने मन-अनुकूल निश्चय किया कि मन ही तुझसे श्रेष्ठ है, क्योंकि तू मन का ही अनुकरण करती और उसी के मार्ग पर चलती है। निश्चय करके वह छोटा है जो बड़ों का अनुसरण करता और उनके मार्ग पर चलता है ॥११॥

वह वाणी अपने विरुद्ध निश्चय को सुनकर खिन्न हो गई और उसका गर्भपात हो गया। उस वाणी ने प्रजापति से कहा, 'मैं कभी तेरे लिए हवि न ले जाऊँगी क्योंकि तूने मेरा विरोध किया।' इसलिए यज्ञ में जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है वह मौन होकर पढ़ा जाता है, क्योंकि वाणी प्रजापति के लिए हवि का वाहक नहीं होती ॥१२॥

तब देव उस रेत (वीर्य) को चमड़े में या किसी अन्य चीज में ले आये। उन्होंने पूछा, 'अत्र ?' (अरे क्या यह यहाँ है ?) इस प्रकार अत्रि उत्पन्न हुआ (अत्र से अत्रि)। इसीलिए आत्रेयी स्त्री से समागम करने से दोष लगता है, क्योंकि देवी वाणी रूपी स्त्री से ये सब उत्पन्न हुए हैं। (आत्रेयी वह स्त्री है जिसका अभी गर्भपात हो चुका हो) ॥१३॥

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब वह (अध्वर्यु) प्रवर के लिए बुलाता है (होता के लिए जो वरण किया जाता है उसे प्रवर कहते हैं)। प्रवर के लिए बुलाने का कारण है कि बुलाना (आश्रावण) ही यज्ञ है। वह प्रवर के लिए इसलिए बुलाता है कि 'यज्ञ को कहकर अब मैं होता का वरण करूँ' ॥१॥

वह समिधाओं के बन्धन को (वह रस्सी जिससे लकड़ी बँधी रहती है) लेकर ही बुलाता है। क्योंकि यदि अध्वर्यु बिना यज्ञ को आरम्भ किये बुलाये तो या तो काँप जाय या उस पर और कोई विपत्ति आ पड़े ॥२॥

कुछ लोग वेदि में से बर्हि (कुश) लेकर बुलाते हैं या समिधा के टुकड़े को काटकर बुलाते हैं और समझते हैं कि 'यह यज्ञ की चीज है, इसलिए इस यज्ञ को लेकर बुलायेंगे।' परन्तु उसको ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिन चीजों से समिधायें बाँधी जाती हैं वे भी तो यज्ञ का अंश हैं, या वे चीजें जिनसे अग्नि की राख हटाई जाती है। इसलिए वह यज्ञ को लेकर ही बुलाता है। इसलिए समिधाओं के बन्धन को लेकर ही बुलावे ॥३॥

बुलाकर पहले उसका वरण करता है जो देवों का होता है अर्थात् अग्नि। इस प्रकार वह

निह्नुते यदह्याग्नेऽग्निं प्रवृणीते तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाꣳ होता तमग्ने प्र-
वृणीते तदु देवेभ्यो निह्नुते ॥४॥ स आह । अग्निर्देवो दैव्यो होतेत्यग्निर्हि
देवानाꣳ होता तस्मादाहाग्निर्देवो दैव्यो होतेति तदग्नये चैव देवेभ्यश्च निह्नुते
यदहाग्नेऽग्निमाह तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाꣳ होता तमग्नऽआह तदु देवे-
भ्यो निह्नुते ॥५॥ देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वानिति । एष वै देवाननुविद्वान्यदग्निः स
एनाननुविद्वाननुष्ठ्या यक्षदित्येवैतदाह ॥६॥ मनुष्वद्भरतवदिति । मनुर्ह वाऽअग्रे
यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते तस्मादाह मनुष्वदिति मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽआ-
हुस्तस्माद्वेवाह मनुष्वदिति ॥७॥ भरतवदिति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति त-
स्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वाऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह
भरतवदिति ॥८॥ अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं
महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥९॥ परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ।
परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतन्निह्नुतऽइदꣳ हि पितेवाग्रे
ऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक्प्रवृणीते ॥१०॥ स आर्षेयमुक्त्वाह । ब्रह्म-
ण्वदिति ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्रह्मण्वदित्या च वक्षदिति तस्या एवैतद्देवता
आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा च वक्षदिति ॥११॥ ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रा-
वितार इति । एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचाना एते ह्येनं तन्वत
ऽएतऽएनं जनयन्ति तदु तेभ्यो निह्नुते तस्मादाह ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार
इति ॥१२॥ असौ मानुष इति । तदिमं मानुषꣳ होतारं प्रवृणीतेऽहोता ह्येष
पुराथैतर्हि होता ॥१३॥ स प्रवृतो होता जपति । देवता उपधावति यथानुष्ठ्या
देवेभ्यो वषट्कुर्याद्यथानुष्ठ्या देवेभ्यो हव्यं वहेद्यथा न ह्वलेदेवं देवता उपधा-
वति ॥१४॥ तत्र जपति । एतत्त्वा देव सवितर्वृणतऽइति तत्सवितारं प्रसवायो-
पधावति स हि देवानां प्रसविताग्निꣳ होत्रायेति तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च निह्नुते

अग्नि और देव दोनों को प्रसन्न करता है। यह जो पहले अग्नि का वरण किया उससे अग्नि को प्रसन्न किया, और जो देवों के होता को पहले वरण किया इससे देवों को प्रसन्न किया ॥४॥

अब कहता है—'अग्नि देव, देवों का होता'। अग्नि ही देवों का होता है, इसलिए कहा 'अग्नि देव, देवों का होता'। इससे अग्नि और देव दोनों को प्रसन्न करता है। यह जो पहले अग्नि का वरण किया उससे अग्नि प्रसन्न हुई, और देवों के होता का पहले वरण किया उससे देव प्रसन्न हुए ॥५॥

अब कहता है—"देवान् यक्षद् विद्वांश्चिकित्वान्"—"वह बुद्धिमान्, देवों को जानता हुआ यज्ञ करे।" यह जो अग्नि है वह देवों को भली-भाँति जानता है। इसलिए ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि वह जो देवों को जानता है विधिवत् यज्ञ करे ॥६॥

अब वह कहता है—"मनुष्वद् भरतवद्"—"मनु के समान, भरत के समान।" मनु ने ही पहले यज्ञ किया था और यह प्रजा उसी का अनुकरण करके यज्ञ करती है। इसलिए कहा, 'मनु का यज्ञ', इसलिए कहा, 'मनु के समान' ॥७॥

'भरतवद्' क्यों कहा? यही देवों के लिए हवि ढोता है, इसलिए अग्नि भरत है। ऐसा भी कहते हैं कि वह इन प्रजाओं को प्राण हांकर पालता है। इसलिए भी कहा, 'भरत के समान' ॥८॥

अब वह अग्नि को आर्ष होता के रूप में वरण करता है। इस प्रकार वह इस (अग्नि) को ऋषि और देव दोनों के प्रति निवेदन करता है। इसको आर्ष होता के रूप में इसलिए वरण करता है कि जो यज्ञ करता है वह महा-वीर्यवान् होता है ॥९॥

पहले से पीछे-पीछे का वरण करता है (अर्थात् पहले पूर्वज, फिर अनुज), क्योंकि प्रजा पीछे-पीछे उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह बड़ों को प्रसन्न करता है। क्योंकि यहाँ पहले पिता होता है, फिर पुत्र, फिर पौत्र, इसीलिए वह सबसे पहले पूर्वज से आरम्भ करता है, फिर क्रमशः निचली श्रेणी को ॥१०॥

आर्ष होता का वरण करने के पश्चात् कहता है—"ब्रह्मण्वद्"—"ब्रह्म के समान"। ब्रह्म ही अग्नि है इसलिए कहा 'ब्रह्म के समान'। अब कहता है—"आ च वक्षत्"—"यहाँ लावे।" जिन-जिन देवताओं को बुलाना चाहता है उन-उनके लिए कहता है—'यहाँ लावे' (अर्थात् अग्नि अमुक-अमुक देवताओं को लावे) ॥११॥

ब्राह्मण इस यज्ञ के संरक्षक हैं। वही ब्राह्मण यज्ञ के संरक्षक हैं जो वेद के विद्वान् हैं, क्योंकि यही यज्ञ को फैलाते हैं, यही उसको उत्पन्न करते हैं। इसीलिए कहता है कि ब्राह्मण इस यज्ञ के संरक्षक हैं ॥१२॥

'यह मनुष्य है।' अब वह इस मनुष्य को होता के रूप में वरण करता है। पहले वह 'अहोता' था (अर्थात् होता नहीं था), अब 'होता' हो गया ॥१३॥

वह वरण किया हुआ होता जप करता है। देवताओं के समीप दौड़ता है। देवताओं के पास दौड़ने का प्रयोजन यह है कि विधिपूर्वक देवों के लिए वषट्कार करे, विधिपूर्वक उनके लिए हवि ले जावे, अवहेलना न करे। इस प्रकार वह देवताओं के पास दौड़ जाता है ॥१४॥

वह यह जप करता है—"एतत् त्वा देव सवितर्वृणते"—"हे देव सविता, तुझको वरण करते हैं।" इस प्रकार वह सविता देवता के पास प्रसव के लिए अर्थात् प्रेरणा के लिए दौड़ता है, क्योंकि सविता देवताओं का प्रेरक है। अब कहता है—'अग्नि होत्राय' (अग्नि को होत्र के

यद्ध्वाग्नेऽग्निमाह तदग्नये निह्नुतेऽथ यो देवानाᳬ होता तमग्रऽआह तद्दु देवेभ्यो निह्नुते ॥१५॥ सह पित्रा वैश्वानरेणेति । संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिस्तत्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निह्नुतेऽग्ने पूषन्बृहस्पते प्र च वद प्र च यजेत्यनुवक्ष्यन्वाऽएतद्यक्ष्यन्भवति तदेताभ्य एवैतद्देवताभ्यो निह्नुते यूयमनुब्रूत यूयं यजतेति ॥१६॥ ॥ शतम् ॥४००॥ ॥ वसूनाᳬ रातौ स्याम । रुद्राणामुर्व्यायाᳬ स्वादित्या अदितये स्यामानेहस इत्येते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेषामभिगुप्तौ स्यामित्येवैतदाह ॥१७॥ जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासमिति । जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह तद्धि समृद्धं यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत् ॥१८॥ जुष्टां ब्रह्मभ्य इति । जुष्टमद्य ब्राह्मणेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह तद्धि समृद्धं यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ॥१९॥ जुष्टां नराशᳬसायेति । प्रजा वै नरस्तत्सर्वाभ्यः प्रजाभ्य आह तद्धि समृद्धं यश्च वेद यश्च न साधन्ववोचत्साधन्ववोचदित्येव विसृज्यन्ते यदद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् अग्निष्टत्पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिरिति यथा यानग्रेऽग्नीन्होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वन्नेवं यन्मेऽत्र प्रवरेणामायि तन्मे पुनराप्याययेत्येवैतदाह तथो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥ अथाध्वर्युं चाग्नीधं च सम्मृशति । मनो वाऽअध्वर्युर्वाग्घोता तन्मनश्चैवैतद्वाचं च संदधाति ॥२१॥ तत्र जपति । षण्मोर्वीरᳬहसस्पान्त्वग्निश्च पृथिवी चापश्च वाजश्चाहश्च रात्रिश्चेत्येता मा देवता आर्त्तेर्गोपायन्त्वित्येवैतदाह तस्यो ह्वि न ह्वलास्ति यमेता देवता आर्त्तेर्गोपायेयुः ॥२२॥ अथ होतृषदनमुपावर्तते । स होतृषदनादेकं तृणं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति पुरावसुर्ह वै नामासुराणाᳬ होता स तमेवैतद्धोतृषदनान्निरस्यति ॥२३॥ अथ होतृषदनऽउपविशति । इदमहमर्वावसोः सदने सीदामीत्यर्वावसुर्वै नाम देवानाᳬ होता तस्यैवैतत्सदने सीदति ॥२४॥ तत्र जपति । विश्वकर्मंस्तनूपा असि मा मो दोषिष्टं मा मा हिᳬसिष्टमेष वां लोक इत्यु-

लिए)। इस प्रकार वह देवों को और अग्नि को दोनों को प्रसन्न करता है। जब पहले 'अग्नि' कहा तो अग्नि को प्रसन्न किया, और जब 'देवताओं का होता' कहा तो देवताओं को प्रसन्न किया ॥१५॥

अब कहता है-"सह पित्रा वैश्वानरेण"-"वैश्वानर पिता के साथ।" संवत्सर ही पिता वैश्वानर तथा प्रजापति है। इस प्रकार वह संवत्सर अर्थात् प्रजापति को प्रसन्न करता है। अब कहता है—"अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद प्र च यज"—"हे अग्नि! हे पूषा! हे बृहस्पति! बोल और यज्ञ कर।" इस प्रकार बोलने से ही यज्ञ होता है। इसलिए इन देवताओं को प्रसन्न करता है कि 'तुम बोलो, तुम यज्ञ करो' ॥१६॥ यहाँ ४०० पूरे हुए ॥

'वसुओं की कृपा के हम पात्र हों। रुद्रों का वैभव हम में आवे। अदिति अर्थात् पूर्णता के लिए और स्वतन्त्रता के लिए आदित्यों के प्रिय होवें।' ये तीन देवता हैं वसु, रुद्र और आदित्य। इस कथा का प्रयोजन यह है कि 'हम इन देवताओं के संरक्षण में रहें' ॥१७॥

अब कहता है—"जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्"-"मैं आज देवताओं की प्रिय वाणी बोलूँ।" इसका तात्पर्य यह है कि जो वाणी देवताओं को पसन्द हो वह बोलूँ। देवताओं के लिए प्रिय जो वाणी है उसका बोलना समृद्धि का हेतु है ॥१८॥

अब कहता है—"जुष्टां ब्रह्मभ्यः" अर्थात् "ऐसी वाणी बोलूँ जो ब्राह्मणों को प्रिय है।" इसका तात्पर्य यह है कि देवताओं के प्रिय जो वाणी हो उसको बोलूँ, क्योंकि ब्राह्मणों के प्रति जो वाणी प्रसन्न हो उसका बोलना समृद्धि का कारण होता है ॥१९॥

अब कहता है—"जुष्टां नराशँसाय" अर्थात् "ऐसी वाणी बोलूँ जो नराशंस के लिए प्रिय हो।" प्रजा ही नर है, इसलिए वह यह समस्त प्रजा के लिए कहता है। इससे समृद्धि होती है। चाहे समझे चाहे न समझे, यही कहा जाता है, 'खूब कहा! खूब कहा!' जो कुछ होता की टेढ़ी निगाह से छुट जाये उसको अग्नि वापस लावे, क्योंकि अग्नि जातवेद (प्राणियों को जाननेवाला) और विचर्षण (बुद्धिमान्) है। "ये जो तीन अग्नियाँ पहले होता के लिए चुनी गई थीं वे चली गईं। यह चौथी अग्नि जो चुनी गई है वह उस सब की पूर्ति करे जो छूट गया हो।" ऐसा कहता है और इससे त्रुटि की पूर्ति हो जाती है ॥२०॥

अब वह अध्वर्यु और अग्नीध्र को छूता है। अध्वर्यु मन है और होता वाणी है। इस प्रकार वह मन और वाणी में मेल कराता है ॥२१॥

अब जाप कराता है-'छः उर्वियाँ पाप से रक्षा करें'-अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, दिन और रात्रि। ऐसा कहने से तात्पर्य यह है कि ये देवता आर्त अर्थात् रोग से मेरी रक्षा करें। उस पुरुष की कभी अहवेलना नहीं होती जिसकी देवता रोग से रक्षा करते हैं ॥२२॥

अब होता के आसन तक जाता है और होता के आसन में से एक तृण निकालकर फेंकता है और कहता है-"निरस्तः परावसुः"-"परावसु भगा दिया गया।" परावसु (पराया माल खानेवाला) असुरों का होता था। वह उसको होता के आसन से निकालकर फेंक देता है ॥२३॥

अब वह 'होता' के आसन पर बैठता है यह कहकर-"'इदमहमर्वावसोः सदने सीदामि"-"मैं अर्वावसु के आसन पर बैठता हूँ।" अर्वावसु (धन न चाहनेवाला) देवताओं का होता इसलिए वह उसी के आसन पर बैठता है ॥२४॥

अब वह जपता है—"विश्वकर्म्मंस्तनूपा असि मा मो दोषिष्टं मा मा हिँसिष्टम्। एष वां लोकः"-"हे विश्वकर्मा, तू शरीर की रक्षा करनेवाला है। हे दोनों अग्नियो, मुझे न जलाओ! मुझे न सताओ! यह तुम दोनों का लोक है।" ऐसा कहकर वह कुछ उत्तर की ओर बढ़ जाता है।

दक्षिणात्यन्तरा वाऽएतदाहवनीयं च गार्हपत्यं चान्ते तद्व ताभ्यां निह्नुते मा मो दोषिष्टं मा मा हिꣳसिष्टमिति तथा हैनमेतौ न हिꣳस्तः ॥२५॥ अथाग्निमीक्षमाणो जपति । विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य । प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानीति यथा येभ्यः पन्थाꣳ स्यात्तान्ब्रूयाद्वनु मा शास्त यथा व आहरिष्यामि यथा वः परिवेक्ष्यामीत्येवमेवैतद्देवेषु प्रशासनमिच्छतेऽनु मा शास्त यथा वोऽनुष्ठ्या वषट्कुर्यामनुष्ठ्या हव्यं वहेयमिति तस्मादेवं जपति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥२[५.१.]॥ ॥

अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रमिति । अग्निरिदꣳ होता वेत्त्वित्येवैतदाहाग्नेर्होत्रमिति तस्यो हि होत्रं वेत्तु प्रावित्रमिति यज्ञो वै प्रावित्रं वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह साधु ते यजमान देवतेति साधु ते यजमान देवता यस्य तेऽग्निर्होतेत्येवैतदाह घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्वेति तदध्वर्यु प्रसौति स यदेकामिवाह ॥१॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद्द्वेऽइव-ब्रूयाद्यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात्त्वेव जुहूमन्वाद्य उपभृतमनु स यद्द्वेऽइव ब्रूयादत्तऽआद्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात्तस्मादेकामिवैवाह ॥२॥ देवयुवं विश्ववारामिति । उपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह देवयुवं विश्ववारामितीडामहै देवाꣳ॥ऽईडेन्यान्नमस्याम नमस्यान्यजाम यज्ञियानितीडामहै तान्देवान्यऽईडेन्या नमस्याम तान्ये नमस्या यजाम यज्ञियानिति मनुष्या वाऽईडेन्याः पितरो नमस्या देवा यज्ञियाः ॥३॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञऽआभजति मनुष्याननु पशवो देवाननु वयाꣳस्योषधयो वनस्पतयो यदिदं किञ्चेवमु तत्सर्वं यज्ञऽआभक्तम् ॥४॥ ता वाऽएताः । नव व्याहृतयो भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणा एतानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मान्नव व्याहृतयो भवन्ति ॥५॥ यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । तं देवा अन्वमन्त्रयन्ता नः शृणूप न

वह आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि के बीच में बैठता है। ऐसा करने से वह दोनों को प्रसन्न करता है, और जब वह कहता है कि 'मुझे न जलाओ, मुझे न सताओ', तो वे उसको नहीं सतातीं ॥२५॥

अब आहवनीय अग्नि की ओर देखकर जप करता है—"विश्वे देवाः शास्त न मा यथेह होता वृत्तो मन वै यन्निषद्य। प्र मे ब्रूते भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि"—"हे सब देवताओ, मुझे बताओ कि होता की हैसियत से मैं किस-किस चीज का ध्यान रक्खूं? मेरे भागधेय अर्थात् कर्तव्य को कहो कि मैं किस रास्ते से आप तक आपके हवि को ले जाऊँ?" जैसे कोई किसी के लिए भोजन पकावे और कहे, 'मुझे आज्ञा दो कि मैं कैसे इसको तुम तक लाऊँ, मैं किस प्रकार परोसूं?' बस इसी प्रकार वह देवताओं के प्रशासन (आज्ञा) को चाहता है, अर्थात् 'मुझे बताइये कि मैं किस प्रकार आप तक वषट्कार पहुँचाऊँ या कैसे आप तक हव्य ले जाऊँ।' इसीलिए ऐसा जपता है ॥२६॥

अध्याय ५—ब्राह्मण २

अब वह कहता है—"अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्"—"होता अग्नि, अग्नि के होत्र को जाने।" इसका तात्पर्य यह है कि 'होता अग्नि इसको जाने'। 'अग्नि का होत्र' इसलिये कहा कि वह मोक्ष के इस साधन (प्रावित्र) को जाने। यज्ञ ही मोक्ष का साधन है। 'यज्ञ को जाने' का तात्पर्य है कि 'हे यजमान, देवता तेरे अनुकूल हैं'। इसका तात्पर्य है कि 'हे यजमान, जो अग्नि देवता तेरा होता है वह तेरे अनुकूल है।' अब वह कहता है—"घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व।" अर्थात् "हे अध्वर्यु, तू घी से भरे चमसे को ले।" इस कथन से अध्वर्यु को प्रेरणा करता है। एक ही स्रुक् अर्थात् चमसा क्यों कहा? इसलिए कि—॥१॥

जुहू के पीछे यजमान ही होता है, और जो उसका अनिष्ट चाहता है वह उपभृत् के पीछे। अब यदि दो चमसों का कथन करता तो यजमान के विरुद्ध अनिष्ट शत्रु को उद्यत कर देता। जुहू के पीछे खानेवाला है, और जिसको खाते हैं वह उपभृत् के पीछे है। अब यदि दोनों का कथन करता तो खानेवाले के विरुद्ध खाद्य पदार्थ को उद्यत कर देता। इसलिए एक ही चमसे का वर्णन किया ॥२॥

अब कहता है—"देवयुवं विश्ववाराम्", अर्थात् (वह चमसा) कैसा है?—"देवताओं के लिए अर्पित और सम्पूर्ण समृद्धियों का रखनेवाला।" 'देवों के लिए अर्पण और समृद्धियों से पूरित' कहकर वह उसकी स्तुति करता है अर्थात् उसको बड़ा बनाता है। अब कहता है—"ईडामहै देवान्। ईडेन्यान्"—"हम स्तुति के योग्य देवों की स्तुति करें"—"नमस्याम नमस्यान्"—"हम नमस्कार के याज्यों को नमस्कार करें।" "यजाम यज्ञियान्"—"पूजा के योग्यों की पूजा करें।" इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्तुति के योग्य देवताओं की स्तुति करें। नमस्कार के योग्यों को नमस्कार करें। पूजा के योग्यों की पूजा करें। स्तुति के योग्य मनुष्य हैं, नमस्कार के योग्य पितर और पूजा के योग्य देवता ॥३॥

जो प्रजा यज्ञ में भाग नहीं लेती वह पराभूत अर्थात् दलित या पतित है। इसलिए जो पतित नहीं हैं उनको यज्ञ में शामिल करता है। मनुष्यों के पीछे पशु हैं, और देवों के पीछे पक्षी, ओषधि और वनस्पति है। इस प्रकार जो कुछ है उस सब को यज्ञ में शामिल किया जाता है ॥४॥

ये सब नौ व्याहृतियाँ होती हैं। पुरुष में नौ ही प्राण होते हैं। इनको उसमें धारण कराता है। इसलिए व्याहृतियाँ नौ हैं ॥५॥

यज्ञ देवताओं से भाग गया। देवता उसको बुलाने लगे, 'सुनो, लौटो!' यज्ञ ने कहा,

आवर्तस्वेति सोऽस्तु तथेत्येव देवानुपाववर्त तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त तेनेष्ट्वे-
तदभवन्यदिदं देवाः ॥६॥ स यदाश्रावयति । यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयतऽआ नः शृणूप
न आवर्तस्वेत्यथ यत्प्रत्याश्रावयति यज्ञ एवैतदुपावर्ततेऽस्तु तथेति तेनोपावृत्ते-
न रेतसा भूतेनऽर्त्विजः संप्रदायं चरन्ति यजमानेन परोऽक्षं यथा पूर्णपात्रेण संप्र-
दायं चरेयुरेवमनेनऽर्त्विजः संप्रदायं चरन्ति तद्वाचैवैतत्संप्रदायं चरन्ति वाग्घि यज्ञो
वागु हि रेतस्तदेतेनैवैतत्संप्रदायं चरन्ति ॥७॥ सोऽनुब्रूहीत्येवोक्त्वाध्वर्युः । नाप-
व्याहरेन्नोऽएव होतापव्याहरेदाश्रावयत्यध्वर्युस्तदग्नीधं यज्ञ उपावर्तते ॥८॥ सो
ऽग्नीन्नापव्याहरेत् । आ प्रत्याश्रावणात्प्रत्याश्रावयत्यग्नीत्तत्पुनरध्वर्युं यज्ञ उपावर्त-
ते ॥९॥ ॥ काण्डस्यार्द्धम् ॥४११॥ ॥ सोऽध्वर्युर्नापव्याहरेत् । आ यजेति वक्तोर्य-
जेत्येवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञꣳ संप्रयच्छति ॥१०॥ स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात्तं
वषट्कारेणाग्नाविव योनौ रेतो भूतꣳ सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायत
ऽइति नु हविर्यज्ञेऽथ सौम्येऽध्वरे ॥११॥ स वै ग्रहं गृहीत्वाध्वर्युः । नापव्याहरे-
दोपाकरणादुपावर्तध्वमित्येवाध्वर्युरुद्गातृभ्यो यज्ञꣳ संप्रयच्छति ॥१२॥ तऽउद्गातारो
नापव्याहरेयुः । आोत्तमाया एषोत्तमेत्येवोद्गातारो होत्रे यज्ञꣳ संप्रयच्छन्ति ॥१३॥
स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात्तं वषट्कारेणाग्नाविव योनौ रेतो भूतꣳ
सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते ॥१४॥ स यद्ध सोऽपव्याहरेत् । यं
यज्ञ उपावर्तते यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेदेवꣳ ह स यजमानं परासिञ्चेत्स यत्र हे-
वमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति सर्वमेव तत्र कल्पते न मुह्यति तस्मादित्थमेव
यज्ञो भर्तव्यः ॥१५॥ ता वाऽएताः । पञ्च व्याहृतयो भवन्त्यो श्रावयास्तु श्रौष-
ड्यज ये यजामहे वौषडिति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्यैषैका
यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥१६॥ तासाꣳ सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः
प्रजापतिर्यज्ञ एषैका यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥१७॥ ओ श्रावयेति वै देवाः । पु-

'अच्छा', और वह लौट आया। वह जो लौट आया उससे देवों ने यज्ञ किया। जिससे वह यज्ञ किया उसी के कारण वे देव हुए ॥६॥

जब वह (अध्वर्यु) (अग्नीध्र को) बुलाता है तो मानो यज्ञ को बुलाता है 'सुनो, लौटो', और जब (अग्नीध्र) उत्तर देता है तो मानो यज्ञ ही 'अच्छा' कहकर लौटता है। इस प्रकार उस लौटे हुए यज्ञ से बीज के समान ऋत्विज लोग परोक्ष रीति से यजमान तक सम्प्रदाय चलाते हैं। जैसे लोग एक भरे हुए पात्र को एक से दूसरे को देते हैं, इसी प्रकार ऋत्विज लोग सम्प्रदाय चलाते हैं (अर्थात् यज्ञ की प्रथा को एक-दूसरे तक पहुँचाते हैं)। वाणी के द्वारा सम्प्रदाय चलता है। वाणी ही यज्ञ है। वाणी ही बीज है। इसीलिए वाणी द्वारा सम्प्रदाय चलता है ॥७॥

जब (अध्वर्यु ने होता से कहा) कि 'अनुब्रूहि'—'बोलो', तो इसके पीछे न तो अध्वर्यु ही कुछ अपशब्द कहे और न होता ही अपशब्द कहे। अध्वर्यु कहता है इस प्रकार अग्नीध्र तक यज्ञ को ले जाता है ॥८॥

अग्नीध्र उत्तर देने के समय तक कुछ अपशब्द न कहे। अग्नीध्र उत्तर देता है। इस प्रकार यज्ञ अध्वर्यु तक पहुँचता है ॥९॥

अध्वर्यु उस समय तक कुछ अपशब्द न कहे जब तक (नीचे का शब्द) न बोले 'यज'—'यज्ञ करो'। 'यज' शब्द कहने से अध्वर्यु यज्ञ को होता तक ले जाता है ॥१०॥

होता उस समय तक अपशब्द न बोले जब तक वषट्कार न कहे। वषट्कार से वह यज्ञ को अग्नि में सींचता है जैसे योनि में वीर्य सींचा जाता है, क्योंकि अग्नि यज्ञ की योनि है। यज्ञ अग्नि से ही उत्पन्न होता है। अब हविर्यज्ञ और सोम-यज्ञ—में॥११॥

(सोम को) लेने के पश्चात् उपाकरण तक अध्वर्यु कोई अपशब्द न कहे। 'उपावर्त्तध्वम्'—'निकट आइये।' ऐसा कहकर अध्वर्यु उद्गाताओं के लिए यज्ञ को देता है ॥१२॥

उत्तम अर्थात् सबसे पिछली ऋचा बोलने तक उद्गाता लोगों को कोई अपशब्द नहीं बोलने चाहिएँ। 'एषोत्तमा'—'यह अन्तिम ऋचा है।' ऐसा कहकर उद्गाता लोग यज्ञ को होता को देते हैं ॥१३॥

होता वषट्कार तक कोई अपशब्द न बोले। वषट्कार से अग्नि में उसी प्रकार सिंचन किया जाता है जैसे योनि में वीर्य का। अग्नि यज्ञ की योनि है, क्योंकि वह वहीं से उत्पन्न होता है ॥१४॥

यदि जिसके पास यज्ञ लौटता है वह अपशब्द कह दे तो वह उसी प्रकार यज्ञ को बरबाद कर देता है जैसे (जल से) पूरे भरे हुए पात्र को (नीचे फेंक देने से जल बरबाद जाता है)। जहाँ ऋत्विज लोग परस्पर एक-दूसरे को समझते हुए यज्ञ करते हैं वहाँ सब काम ठीक होता है, कोई गलती नहीं होती। इसलिए यज्ञ का इसी प्रकार भरण करना चाहिए ॥१५॥

ये पाँच व्याहृतियाँ होती हैं—(१) ओ! श्रावय, 'सुनाओ या पुकारो।' (२) अस्तु श्रौषट्, 'वह सुने।' (३) यज, 'समिधा को प्रज्वलित करो।' (४) ये यजामहे, 'हम यज्ञ करते हैं।' (५) वौषट्, 'ले जावे।' पाँच प्रकार का यज्ञ होता है, पाँच प्रकार का पशु, वर्ष की पाँच ऋतुएँ भी होती हैं। यह यज्ञ की मात्रा है। यह उसकी सम्पत् या पूर्णता है ॥१६॥

इनमें सत्रह अक्षर होते हैं। प्रजापति सत्रह प्रकार का है। प्रजापति ही यज्ञ है। यह यज्ञ की मात्रा है। यह यज्ञ की पूर्णता है ॥१७॥

'ओ श्रावय' से देव पूर्व की वायु को चलाते हैं। 'अस्तु श्रौषट्' से बादलों को लाते हैं,

रोवातꣳ ससृजिरेऽस्तु श्रौषडित्यभ्राणि समप्लावयन्यजेति विद्युतं ये यजामहेऽइति स्तनयित्नुं वषट्कारेणैव प्रावर्षयन् ॥१८॥ स यदि वृष्टिकामः स्यात् । यदीष्ट्या वा यजेत दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद्वृष्टिकामो वाऽअस्मीति तत्रोऽअध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेत्यभ्राणि मनसा ध्यायेत्यग्नीधꣳ स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारꣳ सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति ॥१९॥ ओ श्रावयेति वै देवाः । विराजमभ्याजुहुवुरस्तु श्रौषडिति वत्समुपावासृजन्यजेत्युदजयन्ये यजामहेऽइत्युपासीदन्वषट्कारेणैव विराजमदुहन्तेयं वै विराडस्यै वाऽएष दोह एवꣳ ह वाऽअस्माऽइयं विराट्सर्वान्कामान्दुहे य एवमेतं विराजो दोहं वेद ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५.२.]॥ ॥

ऋतवो ह वै प्रयाजाः । तस्मात्पञ्च भवन्ति पञ्च ह्यृतवः ॥१॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति ॥२॥ ततो देवाः । अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतान्प्रयाजान्ददृशुस्तैरयजन्त तैर्ऋतून्संवत्सरं प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरायंस्तस्मात्प्रजयाः प्रजया ह वै नामैतद्यत्प्रयाजा इति तथोऽएवैष एतैर्ऋतून्संवत्सरं प्रजयत्यृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्प्रयाजैर्यजते ॥३॥ ते वाऽआज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वाऽआज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनऽर्तून्संवत्सरं प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरायंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येनऽर्तून्संवत्सरं प्रजयत्यृतुभ्यः संवत्सरात्सपत्नानन्तरेति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥४॥ एतद्वै संवत्सरस्य स्वं पयः । यदाज्यं तत्स्वेनैवैनमेतत्पयसा देवाः स्व्यकुर्वत तथोऽएवैनमेष एतत्स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥५॥ स यत्रैव तिष्ठन्प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् । तत एव नापक्रामेत्संग्रामो वाऽएष संनिधीयते यः प्रयाजैर्यजते यतरो वै संयत्तयोः पराजयतेऽप वै संक्रामत्यभितरामु वै जयन्क्रामति

'यज' से बिजली को, 'ये यजामहे' से गर्ज को और 'वषट्कार' से पानी को बरसाते हैं ॥१८॥

यदि उसकी वर्षा की इच्छा हो या विशेष यज्ञ करनेवाला हो या दर्शपूर्णमास यज्ञ, इन सब में ऐसा बोले, 'वृष्टिकामो वा अस्मि'—'मैं वर्षा का इच्छुक हूँ।' वह अध्वर्यु से कहे, 'वायु का और बिजली का मन से ध्यान करो।' अग्नीध्र से कहे, 'तू अपने मन में बादल का ध्यान कर।' होता से कहे कि 'गर्ज का और वर्षा का मन से ध्यान कर।' ब्रह्मा से कहे कि 'तुम सबका मत ध्यान करो।' जहाँ जिस प्रकार ऋत्विज लोग एक-दूसरे को समझकर यज्ञ करते हैं वहाँ अवश्य वर्षा होती है ॥१९॥

'ओ श्रावय' कहकर देवों ने विराट् अर्थात् गाय को बुलाया। 'अस्तु श्रौषट्' कहकर बछड़े को खोला। 'यज' कहकर (बछड़े के सिर को माँ के थनों तक) उठाया। 'ये यजामहे' कहकर गाय के पास बैठे। 'वषट्कार' से उन्होंने उसको दुहा। यह (पृथिवी) ही विराट् है। उसी का यह दुहना है। जो पुरुष इस विराट् के इस प्रकार दुहने को जानता है उसके लिए यह विराट् सब इच्छाओं को पूर्ण कर देती है ॥२०॥

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

ऋतुएँ ही प्रयाज हैं। इसलिए ये पाँच होते हैं क्योंकि पाँच ऋतुएँ होती हैं ॥१॥

देव और असुर, दोनों प्रजापति की सन्तान, इस यज्ञ में जो प्रजापति अर्थात् पिता वर्ष है, झगड़ने लगे, 'यह हमारा होगा'-'यह हमारा होगा' ॥२॥

तब देव पूजा करते हुए और पुरुषार्थ करते हुए विचरने लगे। उन्होंने इन प्रजाओं को देखा और उनके द्वारा पूजा की। उनके द्वारा उन्होंने ऋतुओं अर्थात् वर्ष को प्राप्त किया। उन्होंने ऋतु अर्थात् वर्ष से अपने शत्रुओं को वंचित कर दिया। इसलिए 'प्रजा' का 'प्रजय' नाम हुआ। इसलिए 'प्रयाज' नाम हुआ। इसी प्रकार यह (यजमान) ऋतुओं अर्थात् संवत्सर को जीत लेता है और अपने शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् संवत्सर से वंचित कर देता है। इसलिए वह 'प्रयाज' से यज्ञ करता है ॥३॥

उनकी हवि घी से दी जाती है। घी ही वज्र है। इसी वज्र से देवों ने ऋतुओं और संवत्सर को जीता और शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् संवत्सर से वंचित कर दिया। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इसी वज्ररूपी घी से ऋतुओं अर्थात् संवत्सर को जीतता है और अपने शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् सवत्सर से वंचित करता है। इसलिए आहुतियाँ घी की दी जाती हैं ॥४॥

यह जो घी है वह संवत्सर का अपना ही पय (पीने की वस्तु, शक्ति का साधन) है। इसलिए देवों ने इस (संवत्सर) को उसी के पय से अपना लिया, और यह (यजमान) भी उसी के पय से संवत्सर को अपनाता है। इसीलिए कहा कि ये आहुतियाँ (अर्थात् प्रयाज आहुतियाँ) घी की होती हैं ॥५॥

वह जहाँ खड़ा होकर प्रयाजों के लिए बुलावे वहाँ से हटे नहीं। संग्राम हो जाता है जब कोई 'प्रयाजों' से यज्ञ करता है। लड़नेवालों में जो परास्त हो जाता है वही पीछे हट जाता है, और जो विजयी होता है वह निकट-निकट चलता जाता है। इसलिए शायद (अध्वर्यु) भी निकट-

तस्मादभितरामभितरामिव क्रामेदभितरामभितरामाहुतीर्जुहुयात् ॥६॥ तदु तथा न कुर्यात् ॥ यत्रैव तिष्ठन्प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्तत एव नापक्रामेद्यत्रो ऽएव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्जुहुयात्समिद्धहोमेन ह्येव समृद्धा आहुतयः ॥७॥ स आश्राव्याह । समिधो यजेति तद्वसन्तं समिन्द्धे स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्द्ध ऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति तद्वैव खलु सर्वानृतून्निराहाथ यजयजेत्येवोत्तरानाहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यत्तनूनपातं यजेडो यजेति ब्रूयात्तस्माद्यजयजेत्येवोत्तरानाह ॥८॥ स वै समिधो यजति । वसन्तो वै समिद्वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत वसन्तात्सपत्नानन्तरायन्वसन्तमेवैष एतद्वृङ्क्ते वसन्तात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्समिधो यजति ॥९॥ अथ तनूनपातं यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपाद्ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूस्तपति ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत ग्रीष्मात्सपत्नानन्तरायन्ग्रीष्ममेवैष एतद्वृङ्क्ते ग्रीष्मात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्तनूनपातं यजति ॥१०॥ अथेडो यजति । वर्षा वाऽइड इति हि वर्षा इडो यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्तं भवति तद्वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमानं चरति तस्माद्वर्षा इडो वर्षा एव तद्देवा अवृञ्जत वर्षाभ्यः सपत्नानन्तरायन्वर्षा उऽएवैष एतद्वृङ्क्ते वर्षाभ्यः सपत्नानन्तरेति तस्मादिडो यजति ॥११॥ अथ बर्हिर्यजति । शरद्वै बर्हिरिति हि शरद्बर्हिर्या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति ता वर्षा वर्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे तस्माच्छरद्बर्हिः शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत शरदः सपत्नानन्तरायञ्छरदमेवैष एतद्वृङ्क्ते शरदः सपत्नानन्तरेति तस्माद्बर्हिर्यजति ॥१२॥ अथ स्वाहास्वाहेति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारोऽन्त ऋतूनां हेमन्तो वसन्ताद्धि पराग्घ्योऽन्तेनैव तदन्तं देवा अवृञ्जतान्तेनान्तात्सपत्नानन्तरायन्नन्तेनो ऽएवैष एतदन्तं वृङ्क्तेऽन्तेनान्तात्सपत्नानन्तरेति तस्मात्स्वाहास्वाहेति यजति ॥१३॥ तद्वाऽएतत् । वसन्त एव हेमन्तात्पुनरसुरेतस्माद्ध्येष पुनर्भवति पुनर्ह वाऽअस्मिं-

निकट जाकर आहुति देने को उद्यत हो ॥६॥

परन्तु उसको ऐसा न करना चाहिए। जहाँ खड़ा होकर प्रयाजों को बुलावे उस जगह से हटे नहीं। जहाँ अधिक से अधिक अग्नि जलती प्रतीत हो वहीं आहुति दे, क्योंकि आहुतियाँ उसी स्थान पर ठीक जलती हैं जहाँ अधिक आग जलती है ॥७॥

वह (अध्वर्यु) (अग्नीध्र को) बुलाकर (होता से) कहे—"समिधो यजा"—"समिधा को आग में डालो।" इस प्रकार वह वसन्त को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित हुआ वसन्त और ऋतुओं को प्रज्वलित करता है। प्रज्वलित ऋतुएँ प्रजा को उत्पन्न करती हैं, ओषधियों को पकाती हैं। इसी कथन से वह अन्य ऋतुओं को शामिल करता है। अन्य ऋतुओं के लिए वह केवल इतना कहता है—'यज' (अर्थात् आहुति दो)। यदि वह कहे कि 'तनूनपातं यज' या 'ईडो यज' तो व्यर्थ का दुहराना होगा। इसलिए अन्य आहुतियों के लिए केवल 'यज' कह देता है ॥८॥

अब वह समिधाओं से यजन करता है। वसन्त ही समिधा है। वसन्त को ही देवों ने अपना लिया और वसन्त से ही शत्रुओं को वंचित कर दिया। अब यहाँ यजमान भी वसन्त को अपनाता है और उससे अपने शत्रुओं को वंचित करता है। इसीलिए समिधा से यजन करता है ॥९॥

अब वह 'तनूनपातं' का यज्ञ करता है। ग्रीष्म ही तनूनपात है। ग्रीष्म ही इन प्रजाओं के शरीरों को तपाता है। देवों ने उस समय ग्रीष्म को अपनाया और ग्रीष्म से शत्रुओं को वंचित कर दिया। अब यह यजमान भी ग्रीष्म को अपनाता है और ग्रीष्म से शत्रुओं को वंचित करता है। इसलिए वह तनूनपात से यज्ञ करता है ॥१०॥

अब ईड का यज्ञ करता है। वर्षा ऋतु ईड है। ये जो छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े हैं और जो ग्रीष्म और हेमन्त में क्षीण हो जाते हैं, वे मानो वर्षा की प्रशंसा करते हुए भोजन की तलाश में फिरते हैं, इसलिए 'वर्षा' 'ईड' हुआ। उस समय देवों ने वर्षा को ही अपनाया और वर्षा से शत्रुओं को वंचित कर दिया, इसी प्रकार यह यजमान भी वर्षा को ही अपनाता है और वर्षा से ही शत्रुओं को वंचित करता है। इसलिए 'ईड' का यज्ञ करता है ॥११॥

अब बर्हि यज्ञ करता है। शरद् ऋतु ही बर्हि है। जो ओषधियाँ ग्रीष्म और हेमन्त में क्षीण हो जाती हैं वे वर्षा के द्वारा बढ़ती हैं, और शरद् ऋतु में बर्हि के रूप में फैल जाती हैं, इस-लिए शरद् ही बर्हि है। देवों ने शरद् को अपनाया और शत्रुओं को शरद् से वंचित कर दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी शरद् ऋतु को अपनाता है तो शत्रुओं को शरद् से वंचित करता है। इसलिए बर्हि यज्ञ करता है ॥१२॥

अब 'स्वाहा-स्वाहा' कहकर यज्ञ करता है। 'स्वाहा'-कार यज्ञ का अन्त है। ऋतुओं में अन्तिम हेमन्त है, क्योंकि वसन्त से हेमन्त सबसे दूर है (अर्थात् हेमन्त वर्ष के अन्त में पड़ता है और वसन्त आदि में, इसलिए अन्य ऋतुओं की अपेक्षा हेमन्त वसन्त से बहुत दूर हुआ)। देवों ने अन्त (स्वाहा) से ही अन्त (हेमन्त) को अपनाया और अन्त की सहायता से ही अन्त से शत्रुओं को वंचित किया। इसी प्रकार यह यजमान भी अन्त से ही अन्त को अपनाता है और इसी अन्त (स्वाहा-यज्ञ) की सहायता से अन्त अर्थात् हेमन्त से अपने शत्रुओं को वंचित करता है। इसलिए वह स्वाहा-यज्ञ करता है ॥१३॥

यह वसन्त ही हेमन्त के पश्चात् पुनर्जीवित होता है, क्योंकि एक के पश्चात् दूसरा पैदा

लोके भवति य एवमेतद्वेद ॥१४॥ स वै व्यन्तु वेत्विति यजति । अजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्व्यन्तुव्यन्त्विति वैव यजेद्वेतुवेत्विति वा व्यन्त्विति वै योषा वेत्विति वृषा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माद्व्यन्तु वेत्विति यजति ॥१५॥ अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्ही रेत आज्यं तत्प्रजास्वेवैतद्रेतः सिच्यते तेन रेतसा सिक्तेनेमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥१६॥ सङ्ग्रामो वाऽएष संनिधीयते । यः प्रयाजैर्यजते यतरं वै संयत्तयोर्मित्रमागच्छति स जयति तदेतदुपभृतोऽधि जुहूं मित्रमागच्छति तेन प्रजयति तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥१७॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु यजमानायैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिं हारयत्यत्तेव जुहूमन्वाद्य उपभृतमन्वत्त्रऽएवैतदाद्यं बलिं हारयति तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥१८॥ स वाऽअनवमृशन्त्समानयति । स यद्धावमृशेद्यजमानं द्विषता भ्रातृव्येणावमृशेदत्तारमाद्येनावमृशेत्तस्मादनवमृशन्त्समानयति ॥१९॥ अथोत्तरां जुहूमध्यूहति । यजमानमेवैतद्विपति भ्रातृव्येऽध्यूहत्यत्तारमाद्येऽध्यूहति तस्मादुत्तरां जुहूमध्यूहति ॥२०॥ देवा ह वाऽऊचुः । हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञं संस्थापयाम यदि नोऽसुररक्षसान्यासजेयुः संस्थित एव नो यज्ञः स्यादिति ॥२१॥ तऽउत्तमे प्रयाजे । स्वाहाकारेणैव सर्वं यज्ञं समस्थापयन्त्स्वाहाग्निमिति तदाग्नेयमाज्यभागं समस्थापयन्त्स्वाहा सोममिति तत्सौम्यमाज्यभागं समस्थापयन्त्स्वाहाग्निमिति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तं समस्थापयन् ॥२२॥ अथ यथादेवतं । स्वाहा देवा आज्यपा इति तत्प्रयाजानुयाजान्त्समस्थापयन्प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेत्विति तदग्निं स्विष्टकृतं समस्थापयन्नग्निर्हि स्विष्टकृत्स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः संतिष्ठते यथैवैनं देवाः समस्थापयंस्तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहास्वाहेति यजति यावन्ति हवींषि भवन्ति

होता है। इसलिए जो पुरुष इस रहस्य को समझता है वह इस लोक में पुनर्जीवित होता है ।।१४।।

अब वह क्रमशः कहता है—'व्यन्तु' (वे स्वीकार करें) और 'वेतु' (वह स्वीकार करे)। यदि वह केवल 'व्यन्तु व्यन्तु' कहे या 'वेतु वेतु' कहे तो पुनरुक्ति-दोष आ जाय (इसलिए एक बार 'व्यन्तु' कहता है और एक बार 'वेतु')। 'व्यन्तु' स्त्रीलिङ्ग है, 'वेतु' पुंल्लिङ्ग। इन दोनों के जोड़ से सन्तानोत्पत्ति होती है। इसलिए पहले कहता है 'व्यन्तु', फिर कहता है 'वेतु' ।।१४।।

अब चौथे प्रयाज अर्थात् बर्हि-याज में वह (जुहू में घी) डालता है। बर्हि प्रजा है और घी वीर्य हैं, इसलिए इस प्रकार वीर्य प्रजाओं से सिंचित होता है और उसी से प्रजायें बार-बार उत्पन्न होती हैं। इसलिए चौथे बर्हि-याज में वह (जुहू में घी) छोड़ता है ।।१६।।

जो प्रयाज से यज्ञ करता है उसके लिए मानो संग्राम-सा छिड़ जाता है, और जो मित्र जिस दल में मिल जाता है उसी की जय होती है। इसीलिए मित्र उपभृत् से चलकर जुहू में आता है, और उसी से जय को प्राप्त होता है। यही कारण है कि वह चतुर्थ प्रयाज में (घृत) छोड़ता है अर्थात् बर्हि-यज्ञ में ।।१७।।

यजमान जुहू के पीछे ही (खड़ा होता है) और जो उससे शत्रुता करता है वह उपभृत् के पीछे। इस प्रकार वह अहितकारी शत्रु से यजमान के लिए बलि (भेंट) दिलवाता है। जो खाने वाला है वह जुहू के ही पीछे (खड़ा होता है) और जिसको खाया जाता है वह उपभृत् के पीछे। इस प्रकार वह खाने वाले के प्रति बलि दिलवाता है। यही कारण है कि वह चतुर्थ प्रयाज में (घी) छोड़ता है अर्थात् बर्हि-यज्ञ में ।।१८।।

वह बिना छुए ही (घी) छोड़ता है। यदि वह उसको छू ले तो मानो यजमान अहित-कारी शत्रु से छू गया, या खाद्य-पदार्थ से खानेवाला छू गया। इसलिए बिना छुए ही (घी) डालता है ।।१९।।

अब वह जुहू को उपभृत् के ऊपर पकड़ता है। इससे मानो वह यजमान को अहितकारी शत्रु के ऊपर उठाता है, या खानेवाले को खाद्य के ऊपर उठाता है। इसलिए वह जुहू को (उपभृत् के) ऊपर उठाता है ।।२०।।

देवों ने कहा था कि 'अब जीत तो हो गई' इसलिए इसके पश्चात् सब यज्ञ की संस्थापना (दृढ़ता) कर दें जिससे यदि राक्षस लोग कष्ट भी दें तो भी यज्ञ दृढ़ रीति से संस्थापित हो जाय ।।२१।।

अन्तिम याज में वह 'देवता स्वाहाकार' से सम्पूर्ण यज्ञ की स्थापना करते हैं। 'स्वाहाग्नि' से जो आज्य भाग था वह अग्नि के लिए किया था, 'स्वाहा सोम' से जो आज्य-भाग था उसको सोम के लिए। फिर 'स्वाहाग्नि' से वह भाग जो दोनों (अर्थात् दर्श पौर्णमास यज्ञ) में प्रयुक्त होता है अग्नि का पुरोडाश होता है उसकी संस्थापना करता है ।।२२।।

इसी प्रकार अन्य देवों के लिए भी। 'स्वाहा देवा आज्यपा' इससे प्रयाज और अनुयाज की संस्थापना करते हैं। प्रयाज और अनुयाज ही 'आज्यपा देव' हैं। 'जुषाणो अग्नि राज्यस्य वेत्तु' इससे स्विष्टकृत् अग्नि की संस्थापना की, क्योंकि अग्नि ही स्विष्टकृत् है। वह अग्नि आज तक उसी प्रकार संस्थापित चली आती है जैसी उस समय थी, जब देवों ने पहले-पहल स्थापित की थी। इसलिए पिछले प्रयाज में 'स्वाहा स्वाहा' से जितनी आहुतियाँ होती हैं वे सब दी जाती

त्रिजितमेवैतदनु सर्वं यज्ञꣳ सꣳस्थापयति तस्माद्यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत न तदाद्रियेत सꣳस्थितो मे यज्ञ इति ह विद्यात्स ह्येष यज्ञो यातयामेवास यथा वषट्कृतꣳ हुतꣳ स्वाहाकृतम् ॥२३॥ ते देवा अकामयन्त । कथं न्विमं यज्ञं पुनराप्याययेमायातयामानं कुर्याम तेनायातयाम्ना प्रचरेमेति ॥२४॥ स यज्जुह्वामाज्यं परिशिष्टमासीत् । येन यज्ञꣳ समस्थापयंस्तेनैव यथापूर्वꣳ हवीꣳष्यभ्यघारयन्पुनरेवैनानि तदाप्याययन्नयातयामान्यकुर्वन्नयातयाम ह्याज्यं तस्मादुत्तमं प्रयाजमिष्ट्वा यथापूर्वꣳ हवीꣳष्यभिघारयति पुनरेवैनानि तदाप्याययत्ययातयामानि करोत्ययातयाम ह्याज्य तस्माद्यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति पुनरेव तदभिघारयति स्विष्टकृतऽएव तत्पुनराप्याययत्ययातयाम करोत्यथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति न ततः पुनरभिघारयति नो हि ततः कां चन हविषोऽग्नावाहुतिꣳ होष्यन्भवति ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५.३.]॥ ॥

स वै समिधो यजति । प्राणा वै समिधः प्राणानेवैतत्समिन्द्धे प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धस्तस्मादभिमृशेति ब्रूयाद्यद्युपतापी स्यात्स यद्युष्णः स्यादेव तावदाशꣳसेत समिद्धो हि स तावद्भवति यद्यु शीतः स्यान्नाशꣳसेत तत्प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मात्समिधो यजति ॥१॥ अथ तनूनपातं यजति । रेतो वै तनूनपाद्रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मात्तनूनपातं यजति ॥२॥ अथेडो यजति । प्रजा ह्याऽइडो यदा वै रेतः सिक्तं प्रजायतेऽथ तदीडितमिवान्नमिच्छमानं चरति तत्प्रैवैतज्जनयति तस्मादिडो यजति ॥३॥ अथ बर्हिर्यजति । भूमा वै बर्हिर्भूमानमेवैतत्प्रजनयति तस्माद्बर्हिर्यजति ॥४॥ अथ स्वाहास्वाहेति यजति । हेमन्तो वाऽऋतूनाꣳ स्वाहाकारो हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते तस्माद्धेमन्म्लायन्त्योषधयः प्र वनस्पतीनां पलाशानि मुच्यन्ते प्रतितरामिव वयाꣳसि भवन्त्यधस्तरामिव वयाꣳसि पतन्ति विपतितलोमेव पापः पुरुषो भवति हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते स्वी

हैं। जीत के पश्चात् वह यज्ञ की दृढ़ता से संस्थापना करता है, इसलिए यदि वह यज्ञ में 'विलोम' अर्थात् उलटा क्रम कर दे तो अवहेलना न हो। क्योंकि वह जानता है कि मेरा यज्ञ दृढ़ता से संस्थापित है। अब वषट्कार और स्वाहाकार से जो यज्ञ रह गया था वह हो जाता है ।।२३।।

अब देवों ने चाहा कि हम इस यज्ञ को कैसे प्राप्त करें और प्राप्त करके किस प्रकार करें, किस प्रकार उसका पालन करें ।।२४।।

अब जुहू में जो कुछ घी बच रहा था जिससे कि यज्ञ की संस्थापना की थी, उसी से पहले के समान हवियों को सींचता है। उसी से इनको प्राप्त करता है, उसी से उसको पूर्ण करता है क्योंकि 'आज्य' (घी) पूर्ण होता है। इसलिए पिछले प्रयाज को करके पहले के समान हवियों को सींचता है, फिर उनको पूर्ण करता है। आज्य (घी) ही पूर्णता है। इसलिए जिस किसी की हवि को काटता है उसी को फिर सींचता है और स्विष्टकृत् आहुति के लिए पूर्ण करता है। परन्तु जब स्विष्टकृति के लिए काटता है तो फिर नहीं सींचता, क्योंकि इसके पश्चात् कोई आहुति अग्नि में नहीं दी जायगी ।।२५।।

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

अब वह समिध-यजन करता है। प्राण ही समिधा है। इस प्रकार वह प्राणों को प्रज्वलित करता है। यह पुरुष प्राणों द्वारा ही प्रज्वलित किया जाता है। इसलिए यदि (यजमान को) ज्वर हो तो (अध्वर्यु) कहेगा 'अभिमृश' (छुओ)। यदि गरम हो तो सन्तुष्ट होगा क्योंकि वह प्रज्वलित हो जाता है। यदि ठण्डा हो तो चिन्ता होती है। वह इस प्रकार प्राणों को उसमें रखता है। इसीलिए समिध-यजन करता है ।।१।।

अब तनूनपात-यजन करता है। वीर्य (रेत) ही तनूनपात है। इस प्रकार रेत को सींचता है, इसलिए तनूनपात यज्ञ करता है ।।२।।

अब ईड-यजन करता है। प्रजा ही ईड है। जब सींचा हुआ वीर्य प्रजा के रूप में उत्पन्न होता है तब प्रशंसा करते हुए के समान अन्न की खोज में विचरता है। इस प्रकार वह यजमान से मानो सन्तानोत्पत्ति कराता है। इसलिए वह ईड-यजन करता है ।।३।।

अब बर्हि-यजन करता है। बर्हि का अर्थ है बहुतायत। इस प्रकार वह बहुतायत (आधिक्य) को उत्पन्न करता है। इसीलिए वह बर्हि-यजन करता है ।।४।।

अब स्वाहा-यजन करता है। ऋतुओं में हेमन्त स्वाहाकार (सबसे पिछली) है। हेमन्त ही इन प्रजाओं को अपने वश में करता है। इसीलिए हेमन्त में ओषधियाँ सूख जाती हैं, वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं। चिड़ियाँ छिप जाती हैं, या नीचे उतर-सी आती हैं। पापी पुरुष के बाल झड़ जाते हैं। हेमन्त इन सब प्रजाओं को वश में कर लेता है। जो इस रहस्य को समझता है वह उस

ह वै तमर्धं कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय यस्मिन्नर्धे भवति य एवमेतद्वेद ॥५॥ देवाश्च
वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त ते हाविज-
यमाना ऊचुर्हन्त वाच्येव ब्रह्मन्विजिगीषामहै स यो नो वाचं व्याहृतां मिथुनेन
नानुनिक्रामात्स सर्वं पराजयाताऽअथ सर्वमितरे जयानिति तथेति देवा अब्रु-
वंस्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्व्याहरेति ॥६॥ स इन्द्रोऽब्रवीत् । एको ममेत्यथास्माक-
मेकेतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ ह्येकश्चैका च ॥७॥ द्वौ ममेती-
न्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं द्वेऽइतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ हि
द्वौ च द्वे च ॥८॥ त्रयो ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । अथास्माकं तिस्र इतीतरेऽब्रुवंस्तदु
तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ हि त्रयश्च तिस्रश्च ॥९॥ चत्वारो ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् ।
अथास्माकं चतस्र इतीतरेऽब्रुवंस्तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्मिथुनꣳ हि चत्वारश्च च-
तस्रश्च ॥१०॥ पञ्च ममेतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुनं नाविन्दन्नो ह्यत ऊर्ध्वं
मिथुनमस्ति पञ्च पञ्चेति ह्येवैतदुभयं भवति ततोऽसुराः सर्वं पराजयन्त सर्वस्मा-
द्देवाऽअसुरानजयन्त्सर्वस्मात्सपत्नानसुरान्निरभजन् ॥११॥ तस्मात्प्रथमे प्रयाजऽइष्टे
ब्रूयात् । एको ममेत्येका तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ब्रूयात् ॥१२॥ द्वौ ममेति द्वितीये प्रयाजे । द्वे तस्य योऽस्मान्द्वे-
ष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१३॥ त्रयो ममेति तृतीये प्रयाजे । तिस्रस्तस्य यो
ऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१४॥ चत्वारो ममेति चतुर्थे प्रयाजे । चतस्र-
स्तस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥१५॥ पञ्च ममेति पञ्चमे प्रयाजे । न
तस्य किं चन योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति स पञ्च पञ्चेत्येव भवन्पराभ-
वति तथास्य सर्वꣳ संवृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति य एवमेतद्वेद ॥१६॥ ब्राह्म-
णम् ॥५[५.४.]॥ ॥ अध्यायः ॥५॥ ॥

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे । आ नो यज्ञे भजत मा नो यज्ञादन्तर्ग-

स्थान को जहाँ वह रहता है अपने वश में कर लेता है, और श्री तथा अन्न से अपने को युक्त कर लेता है ॥५॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान महत्त्व के लिए लड़ पड़े। वे डण्डों और धनुष से एक-दूसरे को नहीं जीत सके। वे (असुर) न जीतनेवाले होकर कहने लगे—"अब हम ब्रह्म-वाणी से जीतेंगे। जो हमारी कही हुई वाणी को जोड़े में (दो-दो मिलकर) अर्थात् पुंल्लिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग न समझ सकेगा, वह पराजित हो जायेगा और सब-कुछ खो बैठेगा, और विपक्षी सब-कुछ ले लेंगे।" देवों ने कहा 'अच्छा'। देवों ने इन्द्र से कहा, 'बोलो' ॥६॥

इन्द्र बोला, 'एको मम' (एक मेरा)। औरों ने कहा, 'अस्माकं एका' (एक हमारी)। इस प्रकार जोड़े को प्राप्त किया। एक पुंल्लिङ्ग और एक (स्त्रीलिङ्ग) मिलकर जोड़ा होता है ॥७॥

इन्द्र ने कहा, 'द्वौ मम' अर्थात् 'दो मेरे' (यहाँ 'द्वौ' पुंल्लिङ्ग है)। दूसरों ने कहा, 'अस्माकं द्वे' अर्थात् 'दो हमारी' (यहाँ "द्वे' स्त्रीलिङ्ग है)। इस प्रकार उन्होंने जोड़े को प्राप्त किया क्योंकि 'द्वौ' और 'द्वे' मिलकर जोड़ा होता है ॥८॥

इन्द्र ने कहा, 'त्रयो मम' अर्थात् 'मेरे तीन' (यहाँ 'त्रय' पुंल्लिङ्ग है)। औरों ने कहा, 'अस्माकं तिस्रः' अर्थात् 'हमारी तीन' (यहाँ 'तिस्रः' स्त्रीलिङ्ग है)। इस प्रकार उन्होंने जोड़े को पा लिया क्योंकि 'त्रयः' और 'तिस्रः' मिलकर जोड़ा हो जाता है ॥९॥

इन्द्र ने कहा, 'चत्वारो मम' (मेरे चार)। औरों ने कहा, 'अस्माकं चतस्रः' (हमारी चार)। इस प्रकार जोड़े को प्राप्त किया क्योंकि पुंल्लिङ्ग 'चत्वारः' और स्त्रीलिङ्ग 'चतस्रः' मिलकर जोड़ा हो जाता है ॥१०॥

इन्द्र ने कहा, 'पंच मम' (पाँच मेरा)। अब औरों को जोड़ा न मिला। इससे आगे जोड़ा होता ही नहीं। दोनों लिंगों में 'पंच' ही होता है। इस प्रकार सब असुर पराजित हो गये। देवों ने असुरों का सब-कुछ ले लिया। उन शत्रुओं से सब-कुछ छीन लिया ॥११॥

इसलिए पहले प्रयाज में कहे, 'एको मम। एका तस्य यमहं द्वेष्मि।' (मेरा एक। एक उसकी जिसको हम द्वेष करें), और यदि किसी को द्वेष न करे तो कहे, 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (जो हमारे साथ द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं) ॥१२॥

दूसरे प्रयाज में कहे, 'द्वौ मम। द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (दो मेरे। दो उसकी जो हमसे द्वेष करता है या जिसको हम द्वेष करते हैं) ॥१३॥

तीसरे प्रयाज में कहे, 'त्रयो मम। तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (तीन मेरे। तीन उसकी जो हमको द्वेष करे और हम जिसके साथ द्वेष करते हैं) ॥१४॥

चौथे प्रयाज में कहे, 'चत्वारो मम। चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।' (चार हमारे। चार उसकी जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं) ॥१५॥

पाँचवें प्रयाज में कहे, 'पंच मम' (पाँच मेरे)। उसके लिए कुछ नहीं जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। पाँच-पाँच करके शत्रु पराजित होता है। जो इस रहस्य को समझता है उसको सब मिल जाता है। वह सब शत्रुओं को परास्त कर देता है ॥१६॥

अध्याय ६—ब्राह्मण १

ऋतुओं ने देवों से यज्ञ में भाग माँगा, 'हमको यज्ञ में भाग दो। हमको यज्ञ से न

तास्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग इति ॥१॥ तद्ध देवा न जज्ञुः । तऽऋतवो देवेष्वज्ञा-
नत्स्वसुरानुपावर्तन्ताप्रियान्देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान् ॥२॥ ते हैतामेधतुमेधां च-
क्रिरे । यामेषामेतामनुशृण्वन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे
मृणन्तः शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे ॥३॥ तद्ध देवानामाग आस ।
कनीय इन्नूतो द्विषन्द्विषतेऽरातीयति किमेतावन्मात्रमुपजानीत यथेदमितोऽन्यथा-
सदिति ॥४॥ ते होचुः । ऋतूनेवानुमन्त्रयामहाऽइति केनेति प्रथमानेवैनान्यज्ञे
यजामेति ॥५॥ स हाग्निरुवाच । अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजथ क्वाहं भवानीति न
त्वामायतनाच्च्यावयाम इति ते यदृतूनभिह्वयमाना अथाग्निमायतनान्नाच्यावयंस्त-
स्मादग्निरच्युतो न ह वाऽआयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति य एवमेतमग्नि-
मच्युतं वेद ॥६॥ ते देवा अग्निमब्रुवन् । परेह्येनांस्त्वमेवानुमन्त्रयस्वेति स हेत्या-
ग्निरुवाचऽर्तवोऽविदं वै वो देवेषु यज्ञे भागमिति कथं नोऽविद इति प्रथमानेव
वो यज्ञे यक्ष्यन्तीति ॥७॥ तऽऋतवोऽग्निमब्रुवन् । आ वयं त्वामस्मासु भजामो
यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद इति स एषोऽग्निर्ऋतुष्वाभक्तः समिधोऽअग्ने तनून-
पादग्नऽइडोऽअग्ने बर्हिरग्ने स्वाहाग्निमित्याभक्तो ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति
यामस्य समानो ब्रुवाणः करोत्यग्निमन्ते ह वाऽअस्माऽअग्निमन्त ऋतव ओषधीः
पचन्तीदꣳ सर्वं य एवमेतमग्निमृतुष्वाभक्तं वेद ॥८॥ तदाहुः । यदुत्तमान्प्रयाजाना-
त्राह्वयन्त्यथ कस्मादेनान्प्रथमान्यजन्तीत्युत्तमान्होनान्यज्ञेऽवाकल्पयन्प्रथमान्वो य-
जामेत्यब्रुवंस्तस्मादुत्तमानावाह्वयन्ति प्रथमान्यजन्ति ॥९॥ चतुर्थेन वै प्रयाजेन दे-
वाः । यज्ञमाप्नुवंस्तं पञ्चमेन समस्थापयन्नथ यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमेव
तेन लोकꣳ समाश्नुवत ॥१०॥ ते स्वर्गं लोकं यन्तः । असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बि-
भयां चक्रुस्तेऽग्निं पुरस्तादकुर्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमग्निं मध्यतोऽकुर्वत
रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमग्निं पश्चादकुर्वत रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारꣳ ॥११॥

निकालो। हमारा भी यज्ञ में भाग हो' ॥१॥

देवों ने न माना। देवों के न मानने पर ऋतुएँ असुरों के पास चली गईं जो अप्रिय तथा देवों के शत्रु और अहितकारी थे ॥२॥

उन (असुरों) ने ऐसी उन्नति की कि देवों ने भी सुना। जो असुर आगे-आगे जोतते-बोते जाते थे, पीछे से उसी को दूसरे असुर काटते और इकट्ठा करते जाते थे। इनके लिए मानो बिना जोते ही ओषधियाँ झट से पक जाती थीं (अर्थात् असुर ज्यों ही बोते थे त्यों ही बिना समय बीते फसल पक जाती थी। आगे-आगे बोते थे, पीछे-पीछे काटते थे क्योंकि ऋतुएँ उनके साथ थीं) ॥३॥

इससे देवों को चिन्ता हुई कि इस प्रकार शत्रु, शत्रु को हानि पहुँचावें यह तो छोटी बात है। परन्तु इसकी हद बढ़ गई। अब कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे इस प्रकार की अवस्था न रहे ॥४॥

उन्होंने कहा, 'पहले ऋतुओं को बुलावें।' कैसे ? 'पहले इनको यज्ञ में भाग दें' ॥५॥

अग्नि ने कहा, 'तुम पहले मुझको आहुति देते हो, अब मैं कहाँ जाऊँ ?' उन्होंने कहा, 'हम तुमको तुम्हारे स्थान से नहीं हटायेंगे।' और क्योंकि ऋतुओं के बुलाने में अग्नि को उन्होंने उसकी जगह से नहीं हटाया, इसलिए अग्नि अच्युत है। जो पुरुष समझता है कि अग्नि अच्युत है वह अपने स्थान से च्युत नहीं होता ॥६॥

देवों ने अग्नि से कहा, 'जाओ और उन्हें यहाँ बुला लाओ।' अग्नि उनके पास गया और बोला, 'हे ऋतुओ, मैंने तुम्हारे लिए यज्ञ में भाग प्राप्त कर लिया।' उन्होंने पूछा, 'तुमने हमारा भाग हमारे लिए कैसे प्राप्त किया ?' अग्नि ने उत्तर दिया, 'वे पहले तुम्हारे लिए आहुति देंगे' ॥७॥

ऋतुओं ने अग्नि से कहा, 'हम तुमको अपने साथ यज्ञ में भाग देंगे, क्योंकि तुमने हमारे लिए यज्ञ में देवों के साथ भाग दिलाया है' और क्योंकि अग्नि को ऋतुओं के साथ-साथ आहुति मिली, इसलिए कहते हैं, 'समिधोऽग्ने', 'तनूनपादग्ने', 'इडोऽग्ने', 'बर्हिरग्ने', 'स्वाहाग्निम्'। जो इस रहस्य को समझता है उसका उस पुण्य कार्य में भाग होता है जो वह पुरुष करता है, जो अपने को उसके समान कहता है, क्योंकि वह अग्निमान् (अग्निवाला) है। अग्निमान् ऋतुएँ ही ओषधियों तथा अन्य पदार्थों को पकाती हैं ॥८॥

इस पर कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि जब ये पिछले प्रयाज हैं तो पहले ही आहुतियाँ क्यों दी जाती हैं ? इसका उत्तर यह है कि इन प्रयाजों की कल्पना ही सबसे पीछे की थी, इसलिए ये पिछले प्रयाज हैं, और क्योंकि कहा कि हम पहले आहुति देंगे इसलिए पहले प्रयाज-आहुतियाँ दी गईं ॥९॥

देवों ने चौथे प्रयाज से यज्ञ को प्राप्त किया और पाँचवें प्रयाज से उसकी स्थापना की। उसके बाद जो कुछ असंस्थित (बिना स्थापित हुआ) बच रहा, उसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त किया ॥१०॥

वे स्वर्गलोक को जाने लगे तो असुर और राक्षसों से डरे। उन्होंने अग्नि को अगुवा बनाया, क्योंकि वह राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। उन्होंने अग्नि को मध्य में रक्खा क्योंकि अग्नि राक्षसों का मारनेवाला और भगानेवाला है। उन्होंने अग्नि को पीछे रक्खा, क्योंकि वह अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है ॥११॥

स यद्येनान्पुरस्तात् । असुररक्षसान्यासिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाहन्रक्षोहा रक्षसाम-
पहन्ता यदि मध्यत आसिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाहन्रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि प-
श्चादासिसंक्षन्नग्निरेव तान्यपाहन्रक्षोहा रक्षसामपहन्तात एवꣳ सर्वतोऽग्निभिर्गु-
प्यमानाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत ॥१२॥ तयोऽएवैष एतत् । चतुर्थेनैव प्रया-
जेन यज्ञमाप्नोति तं पञ्चमेन सꣳस्थापयत्यथ यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमि-
व तेन लोकꣳ समश्नुते ॥१३॥ स यदाग्नेयमाज्यभागं यजति । अग्निमेवैतत्पुरस्ता-
त्कुरुते रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमथ यदाग्नेयः पुरोडाशो भवत्यग्निमेवैतन्मध्यतः
कुरुते रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारमथ यदग्निꣳ स्विष्टकृतं यजत्यग्निमेवैतत्पश्चात्कु-
रुते रक्षोहणꣳ रक्षसामपहन्तारꣳ ॥१४॥ स यद्येनं पुरस्तात् । असुररक्षसान्या-
सिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि मध्यत असुररक्षसा-
न्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता यदि पश्चादसुररक्षसा-
न्यासिसंक्षन्त्यग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता स एवꣳ सर्वतोऽग्निभि-
र्गुप्यमानः स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते ॥१५॥ स यद्येनं पुरस्तात् । यज्ञस्यानुव्याहरेत्तं
प्रति ब्रूयान्मुख्यामार्त्तिमारिष्यस्यन्धो वा बधिरो वा भविष्यसीत्येता वै मुख्या आ-
र्त्तयस्तथा हैव स्यात् ॥१६॥ यदि मध्यतो यज्ञस्यानुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादप्र-
जा अपशुर्भविष्यसीति प्रजा वै पशवो मध्यं तथा हैव स्यात् ॥१७॥ यद्यन्ततो
यज्ञस्यानुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादप्रतिष्ठितो दरिद्रः क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति त-
था हैव स्यात्तस्मादुह नानुव्याहारीव स्यादुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१८॥ संव-
त्सरꣳ ह वै प्रयाजैर्यञ्जयति । स ह न्वेवैनं जयति योऽस्य द्वाराणि वेद किꣳ
हि स तैर्गृहैः कुर्याद्यानन्तरतो न व्यवविध्याद्यथास्य ते भवन्ति तस्य वसन्त एव
द्वारꣳ हेमन्तो द्वारं तं वाऽएतꣳ संवत्सरꣳ स्वर्गं लोकं प्रपद्यते सर्वं वै संवत्स-
रः सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेन हास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्यक्षय्यो लोकः ॥१९॥ तदा-

यदि असुर और राक्षस सामने आक्रमण करते तो अग्नि उनको हटा देता, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने तथा भगानेवाला है। यदि बीच से आक्रमण करते तो अग्नि उनको हटा देता, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने तथा भगानेवाला है। यदि पीछे से आक्रमण करते तो अग्नि उनको हटा देता, क्योंकि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। इस प्रकार सब ओर से अग्नियों से रक्षित होकर वे स्वर्ग में पहुँच गये ॥१२॥

इसी प्रकार यह (यजमान) भी चौथे प्रयाज से यज्ञ को प्राप्त करता है, पाँचवें यज्ञ को स्थापित करता है और जो यज्ञ से बच रहता है उससे स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥१३॥

वह जब आग्नेय आज्यभाग से यज्ञ करता है तो अग्नि को सामने रखता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने और भगानेवाला है। वह जब आग्नेय पुरोडाश से यज्ञ करता है तो अग्नि को बीच में रखता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने और भगानेवाला है। जब वह स्विष्टकृत् अग्नि में यज्ञ करता है तो अग्नि को पीछे रखता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है ॥१४॥

असुर राक्षस जब आगे से आक्रमण करते हैं तो अग्नि उनको हटा देता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। जब असुर राक्षस बीच से आक्रमण करते हैं तो अग्नि उनको पीछे हटा देता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और भगानेवाला है। जब असुर राक्षस पीछे से आक्रमण करते हैं तो अग्नि उनको हटा देता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाला और हटानेवाला है। इस प्रकार सब ओर से अग्नि द्वारा सुरक्षित होकर स्वर्गलोक को प्राप्त होता है ॥१५॥

यदि कोई उसके साथ यज्ञ के पहले दुष्ट व्यवहार करे तो उसको उत्तर दें—'मुख के रोग तुझे लग जायें। तू अन्धा या बहरा हो जायगा।' यही मुख के रोग हैं। ऐसा ही हो जाय ॥१६॥

यदि कोई उसके साथ यज्ञ के बीच दुष्ट व्यवहार करे तो उसको उत्तर दें—'तू प्रजाहीन और पशुहीन हो जायगा।' क्योंकि प्रजा और पशु मध्य के हैं। ऐसा ही हो जायगा ॥१७॥

यदि कोई उससे यज्ञ के पीछे दुष्ट व्यवहार करे तो उससे कहना चाहिए—'तू-प्रतिष्ठाहीन और दरिद्र शीघ्र ही दूसरे लोक को चला जायगा।' ऐसा ही होवे। इसलिए किसी को दुष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो इस रहस्य को जानता है वही लाभ में रहता है ॥१८॥

प्रयाजों से संवत्सर को जीतता है। वही जीतता है जो उसके द्वारों को जानता है। वे लोग घरों से क्या लाभ उठा सकते हैं जो भीतर घुसने के द्वारों को नहीं जानते ? जिस प्रकार यज्ञ के द्वार प्रयाज हैं उसी प्रकार संवत्सर के द्वार वसन्त और हेमन्त हैं। इस संवत्सर में स्वर्गलोक करके प्रविष्ट होता है, क्योंकि वस्तुतः संवत्सर 'सब' है। 'सब' अक्षय है। इस प्रकार उसको अक्षय पुण्य और अक्षय लोक की प्राप्ति होती है ॥१९॥

हुः । किंदेवत्यान्याज्यानीति प्राजापत्यानीति ह ब्रूयादनिरुक्तो वै प्रजापतिरनि-रुक्तान्याज्यानि तानि हैतानि यजमानदेवत्यान्येव यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजा-पतिस्तेन ह्युक्ता अविजस्तन्वते तं जनयन्ति ॥२०॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विर्ह-विषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति सैषाज्येन मिश्राहुतिर्हूयते यजमानेन हैवैषैतन्मिश्रा हूयते यदि ह वाऽअपि दूरे सन्यजते यद्यन्तिके यथा हैवान्ते सत इष्टꣳ स्यादेवꣳ हैवैवं विदुष इष्टं भवति यद्यु ह्यपि बह्विव पापं करोति नो हैव बहिर्धा यज्ञाद्भवति य एवमेतद्वेद ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥६[६.१.]॥ ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥ ॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनु-ष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदु-ह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम तद्वाऽऋ-षीणामनुश्रुतमास ॥१॥ यज्ञेन ह वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्निति तमन्वेष्टुं दध्रिरे ॥२॥ तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । श्रमेण ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषां जय्यमासऽर्ष-यश्च तेभ्यो देवा नैव प्ररोचयां चक्रुः स्वयं नैव दध्रिरे प्रेत तद्देष्यामो यतो देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवतेति ते किं प्ररोचते किं प्ररोचतऽइति चेरुरेत्पुरोडाशमेव कूर्मं भूत्वा सर्पन्तं ते ह सर्वऽएव मेनिरेऽयं वै यज्ञ इति ॥३॥ ते होचुः । अश्वि-भ्यां तिष्ठ सरस्वत्यै तिष्ठेन्द्राय तिष्ठेति स सर्पन्नेवाग्नये तिष्ठेति ततस्तस्थावग्नये वाऽअस्थादिति तमग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजुहवुराहुतिर्हि देवानां तत एभ्यो यज्ञः प्रारोचत तमसृजन्त तमतन्वत सोऽयं परोऽवरं यज्ञोऽनूच्यते पितेव पुत्राय ब्रह्मचारिणे ॥४॥ स वाऽएभ्यस्तत्पुरोऽदाशयत् । य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मा-

यदि कोई पूछे कि आज्य आहुतियाँ किस देव के लिए हैं तो उत्तर देना चाहिए—'प्रजापति के लिए।' क्योंकि प्रजापति अनिरुक्त (अस्पष्ट) है और ये आहुतियाँ भी अनिरुक्त हैं। यजमान ही उनका देवता है। अपने यज्ञ में यजमान ही प्रजापति है, क्योंकि इसी के कहने से ऋत्विज लोग यज्ञ को फैलाते और उत्पन्न करते हैं ॥२०॥

हवि के ऊपर घी लगाकर उसमें से दो टुकड़े काटकर उन पर घी डालता है। इस प्रकार घी से मिश्रित आहुति दी जाती है, मानो यजमान से ही मिश्रित आहुति दी जाती है। चाहे वह दूर हो या निकट, यज्ञ इसी प्रकार किया जाता है मानो वह निकट ही है। यदि वह इस रहस्य को समझता है, यदि वह इसको जानता है तो वह यज्ञ से कभी बाहर नहीं होता है चाहे कितना ही पाप क्यों न करे ॥२१॥

अध्याय ६—ब्राह्मण २

यज्ञ से ही देवों ने यह (स्वर्गलोक) जीता। जब जीत चुके तो कहने लगे कि इसको मनुष्य के न प्राप्त करने योग्य कैसे बनाया जाय? उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे मधुमक्खी मधु को चूसती है। यज्ञ को दूह अर्थात् चूसकर, यूप से छिपाकर छिप गये। चूंकि उन्होंने इसे यूप से छिपाया (आयोपयन्), अतः इसका 'यूप' नाम पड़ा। अब ऋषियों ने सुना—॥१॥

'यज्ञ से ही देवों ने (स्वर्गलोक) को जीता और जीतने पर उन्होंने कहा किस प्रकार हम इसको मनुष्य से प्राप्त न करने योग्य बनावें? उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे मधुमक्खी मधु को, और यज्ञ को दुहकर उसे छिपा दिया और आप छिप गये।' (ऋषि लोग) उसको ढूँढने लगे ॥२॥

उन्होंने पूजा और श्रम करना आरम्भ किया। श्रम से ही देवों ने जो कुछ जीतना चाहा जीता, और ऋषियों ने भी। या तो इनको देवों ने आकर्षित किया या ये स्वयं ही चले। उन्होंने कहा, 'आओ' उस स्थान को चलें जहाँ देवों ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया था।' वे यह कहकर फिरने लगे, 'यह क्या चमकता है? यह क्या चमकता है?' पुरोडाश को कूर्म (कछुवा) के रूप में रेंगते देखकर उन्होंने समझा कि यही यज्ञ है ॥३॥

उन्होंने कहा, 'अश्विनों के लिए ठहर! सरस्वती के लिए ठहर! इन्द्र के लिए ठहर!' वह चलता ही गया। जब उन्होंने कहा, 'अग्नि के लिए ठहर' तो वह ठहर गया। यह समझकर कि यह अग्नि के लिए ठहर गया, उन्होंने उसे अग्नि में लपेटकर सबकी आहुति दे दी। क्योंकि देवों के लिए यह आहुति थी, उनको यज्ञ रोचक मालूम हुआ। उन्होंने यज्ञ को किया, उसको फैलाया। यह यज्ञ परम्परा से कहा जाता है। पिता ब्रह्मचारी पुत्र के लिए उपदेश करता है ॥४॥

उन्होंने उनके लिए इसे 'पुरो' अर्थात् आगे 'अदाशयत्' अर्थात् रक्खा, जिसने इनके लिए

त्पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाश इति स एष उभयत्राच्युत आग्नेयो
ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ॥५॥ स न पौर्णमासꣳ हविः । नामावास्यमग्नी-
षोमीय एव पौर्णमासꣳ हविः सांनाय्यमामावास्यं यन्न एवैष उभयत्रावकॢप्तो ने-
द्यज्ञादयानीति न्वेव पुरस्तात्पौर्णमासस्य क्रियतऽएवम्वामावास्यस्यैतन्नु तद्यस्मा-
दत्र क्रियते ॥६॥ यद्युऽएनमुपधावेत् । इष्ट्या मा याजयेत्येतयैव याजयेद्यत्कामा
वाऽएतामृषयोऽजुहवुः स एभ्यः कामः समर्ध्यत यत्कामो ह वाऽएतेन यज्ञेन य-
जते सोऽस्मै कामः समृध्यते यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यतेऽग्नौ वै तस्यै
जुह्वत्यग्नाऽउ चेद्धोष्यत्स्यात्किमन्यस्यै देवतायाऽआदिशेत्तस्मादग्नयऽएव ॥७॥ अ-
ग्निर्वै सर्वा देवताः । अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति तद्यथा सर्वा देवता
उपधाविदेवं तत्तस्मादग्नयऽएव ॥८॥ ॥ शतम् ५०० ॥ ॥ अग्निर्वै देवानामद्धा
तमाम् । यं वाऽअद्धातमां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥९॥ अग्निर्वै देवानां
मृदुहृदयतमः । यं वै मृदुहृदयतमं मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नयऽएव ॥१०॥ अ-
ग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम् । यं वै नेदिष्ठमुपसर्तव्यानां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्नय
ऽएव ॥११॥ स यदीष्टिं कुर्वीत । सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयादुपांꣳशु देवतां यज-
ति तद्धीष्टिरूपं मूर्धन्वत्यौ याज्यानुवाक्ये स्यातां वार्त्रघ्नावाज्यभागौ विराजौ सं-
याज्ये ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१ [६.२.]॥ ॥

त्वष्टुर्ह वै पुत्रः । त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेवꣳरूप
आस तस्माद्विश्वरूपो नाम ॥१॥ तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास । सुरापाणमेक-
मन्यस्माऽअशनायैकं तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद ॥२॥ स य-
त्सोमपानमास । ततः कपिञ्जलः समभवत्तस्मात्स बभ्रुक-इव बभ्रुरिव हि सो-
मो राजा ॥३॥ अथ यत्सुरापाणमास । ततः कलविङ्कः समभवत्तस्मात्सोऽभिमा-
द्यत्क-इव वदत्यभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति ॥४॥ अथ यदन्यस्माऽअश

यज्ञ को रोचक बनाया, इसलिए इसका नाम 'पुरोडाश' हुआ। पुरोदाश ही पुरोडाश है। अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश दोनों जगह (अर्थात् दर्श और पूर्णमास यज्ञ में) आवश्यक है ॥५॥

यह हवि न पूर्णमासी की है न अमावस्या की। पूर्णमासी की हवि अग्नि-षोमीय है और अमावस्या की सान्नाय्य। दोनों समय यह यज्ञ ही है। कहीं यह यज्ञ हवि-यज्ञ से अलग न रह जाय, इसलिए यह पूर्णमासी को भी दी जाती है और अमावस्या को भी। यही कारण है कि यह यहाँ दी जाती है ॥६॥

यदि कोई (गृहस्थी) (अध्वर्यु के पास) जावे और कहे कि मेरे लिए यज्ञ (इष्टि) करो, तो उसे यज्ञ करना चाहिए। ऋषियों ने जब यज्ञ किया तो जो कुछ कामनायें कीं, वे सब पूरी हुईं। इसी प्रकार यजमान इष्टि के करने में जो कुछ कामना करता है वह पूरी हो जाती है। जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है, उस-उसके लिए अग्नि में दी जाती है। यदि आहुति अग्नि में दी जाती है तो दूसरे देवता के लिए क्यों घोषित की जाय ? इसलिए यह अग्नि के लिए ही है ॥७॥

अग्नि ही सब देवता हैं। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इसलिए अग्नि के लिए घोषणा करे, इससे सब देवताओं तक जा सकता है ॥८॥ यहाँ ॥५००॥ समाप्त हुए ॥

अग्नि ही सब देवताओं में अधिक फल देनेवाला है। जिसको सबसे अधिक फल देनेवाला समझे उसी के पास जावे। इसलिए अग्नि के लिए (यह हवि है) ॥९॥

अग्नि देवताओं में सबसे मृदु हृदय अर्थात् नरम दिल वाला है। जिसको सबसे अधिक नरम दिल वाला समझे उसी के पास जावे। इसलिए अग्नि के लिए (यह हवि है) ॥१०॥

अग्नि देवों में निकटतम है। जहाँ जाना हो, उनमें जिसको निकटतम समझे वहीं जावे। इसलिए अग्नि के लिए (यह हवि है) ॥११॥

यदि वह कोई इष्टि करे तो १७ सामिधेनियों को बोले। वह इनको धीरे-धीरे बोले, यही इष्टि का रूप है। याज्य और अनुवाक्य में 'मूर्धा' शब्द हो। दो आज्य भाग वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए हों और विराज छन्द में ॥१२॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

त्वष्टा के एक पुत्र था। उसके तीन सिर और छः आँखें थीं, तथा तीन मुख थे। उसका ऐसा रूप था इसलिए उसका नाम विश्वरूप था ॥१॥

उसका एक मुँह सोम पीने के लिए था, एक सुरा पीने के लिए और एक अन्य प्रकार के भोजन करने के लिए। इन्द्र उससे द्वेष करता था, इसलिए उसने उन सिरों को काट डाला ॥२॥

जो सोम पीने का मुँह था उसमें से चातक पक्षी उत्पन्न हुआ। इसलिए वह भूरा होता है। सोम राजा भूरा है ॥३॥

और जो मद्य पीने का (मुँह) था उससे गौरय्या (कलविंक पक्षी) उत्पन्न हुई, इसलिए वह लड़खड़ाती आवाज में बोलती है। क्योंकि जो शराब पीता है उसकी आवाज लड़खड़ाने लगती है ॥४॥

और जो अन्य खाना खानेवाला मुख था उससे तित्तिरी उत्पन्न हुई, इसलिए उसके शरीर

नायास । ततस्तित्तिरिः समभवत्तस्मात्स विश्वरूपतम-इव सन्त्येव घृतस्तोका-इव त्वन्मधुस्तोका-इव त्वत्पर्णेष्वाश्चुतिता एवꣳरूपꣳ हि स तेनाशनमावयत् ॥५॥ स त्वष्टा चुक्रोध । कुविन्मे पुत्रमवधीदिति सोऽपेन्द्रमेव सोममाजह्रे स यथायꣳ सोमः प्रसुत एवमपेन्द्र एवास ॥६॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । इदं वै मा सोमादन्तर्यन्तीति स यथा बलीयानबलीयस एवमनुपहूत एव यो द्रोणकलशे शुक्र आस तं भक्षयां चकार स हैनं जिहिꣳस सोऽस्य विष्वङ्ङेव प्राणेभ्यो दुद्राव मुखाद्धैवास्य न दुद्रावाथ सर्वेभ्योऽन्येभ्यः प्राणेभ्योऽद्रवत्तदेष सौत्रामणीतीष्टिस्तस्यां तद्व्याख्यायते यथैनं देवा अभिषज्यन् ॥७॥ स त्वष्टा चुक्रोध । कुविन्मेऽनुपहूतः सोममभक्षदिति स स्वयमेव यज्ञवेशसं चक्रे स यो द्रोणकलशे शुक्रः परिशिष्ट आस तं प्रवर्तयां चकारेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति सोऽग्निमेव प्राप्य सम्बभूवान्तरेव सम्बभूवेत्यु हैकऽआहुः सोऽग्नीषोमावेवाभिसम्बभूव सर्वा विद्याः सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यꣳ सर्वाꣳ श्रीꣳ ॥८॥ स यद्वर्तमानः समभवत् । तस्माद्वृत्रोऽथ यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायूश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद्दानव इत्याहुः ॥९॥ अथ यदब्रवीदिन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति । तस्मादु हैनमिन्द्र एव जघानाथ यद्ध शश्वदवक्ष्यदिन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वदु ह स एवेन्द्रमहनिष्यत् ॥१०॥ अथ यदब्रवीद्वर्धस्वेति । तस्मादु ह स्मेषुमात्रमेव तिर्यङ्ङूर्ध्वतऽइषुमात्रं प्राङ्क्सोऽवेवावरꣳ समुद्रं दधावव पूर्वꣳ स यावत्स आस सद्धैव तावदन्नाद आस ॥११॥ तस्मै ह स्म पूर्वाह्णे देवाः । अशनमभिहरन्ति मध्यन्दिने मनुष्या अपराह्णे पितरः ॥१२॥ स वाऽइन्द्रस्तथैव नुत्तश्चरन् । अग्नीषोमाऽउपमन्त्रयां चक्रेऽग्नीषोमौ युवं वै मम स्थो युवयोरहमस्मि न युवयोरेष किं चन कं मऽइमं दस्युं वर्धयथ उप मावर्तेथामिति ॥१३॥ तौ होचतुः । किमावयोस्ततः स्यादिति ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पुरोडाशं निरवपत्तस्मादग्नीषोमीय एकादशकपालः पुरोडाशो भ-

पर चितकबरे दाग होते हैं। कहीं घी के-से दाग, कहीं शहद के, से दाग, क्योंकि भिन्न-भिन्न रंग की वस्तुयें थीं जो उसने खाईं ॥५॥

त्वष्टा को क्रोध हुआ। उसने कहा, 'क्या सचमुच मेरे पुत्र को मार डाला ?' वह उस उपेन्द्र सोम (वह सोम, जिसमें इन्द्र को भाग नहीं दिया गया) को ले आया। इस प्रकार यह सोम निचोड़ा गया, तब वह इन्द्र के भाग से शून्य था ॥६॥

इन्द्र ने सोचा, 'यह मुझे सोम से निकालते हैं !' बस उसने बिना बुलाये ही कलश में जो शुक्र अर्थात् शुद्ध सोम था पी लिया, जैसे बली पुरुष निर्बलों की चीज पी जाते हैं। उस (सोम) ने उसको पीड़ा पहुँचाई। वह उसके सब प्राणों से होकर बहने लगा। केवल मुख से न बहा; सब अन्य प्राणों से बहने लगा। इससे सौत्रामणि इष्टि हुई। उसी में यह बताया जाता है कि देवों ने उसको किस प्रकार चंगा किया ॥७॥

त्वष्टा को क्रोध आया—'क्या यह बिना बुलाये ही सोम पी गया ?' उसने स्वयं ही यज्ञ को बिगाड़ दिया। कलश में जो शुद्ध सोम बचा था उसको (अग्नि में) उँडेलकर कहा—'इन्द्र-शत्रुर्वर्द्धस्व''—''हे अग्नि तू 'इन्द्र है शत्रु जिसका' ऐसा होकर बढ़।'' वह अग्नि में पहुँचते पहुँचते (मनुष्य-रूप)हो गया। कुछ कहते हैं कि बीच में ही वह 'अग्निषोम' हो गया अर्थात् सब विद्या, सब यश, सब अन्न और सब श्री ॥८॥

चूँकि यह वर्तमान (वृत् धातु का अर्थ बहना है) अर्थात् बहकर उत्पन्न हुआ, इसलिए 'वृत्र' हो गया। चूँकि बिना पैरों के उत्पन्न हुआ, इसलिए अहि (सर्प) हुआ। दनु और दनायु ने माता-पिता के समान उसे लिया, इसलिए उसको 'दानव' कहते हैं ॥९॥

चूँकि उसने कहा, 'इन्द्र-शत्रु (बहुब्रीहि समास) बढ़ो' इसलिए इन्द्र ने उसको मार डाला। यदि कहता, 'इन्द्र के शत्रु बढ़ो' तो अवश्य ही वह इन्द्र को मार डालता ॥१०॥

चूँकि उसने कहा, 'बढ़ो', इसलिए वह तीर के बराबर टेढ़ा और तीर के बराबर सामने बढ़ा। उसने पश्चिमी और पूर्वी समुद्र को पीछे हटा दिया, और जितना वह बढ़ा उसी के अनुसार उसने भोजन खाया ॥११॥

सवेरे उसको देव खाना देते हैं, दोपहर को मनुष्य और तीसरे पहर को पितर ॥१२॥

जब इन्द्र उसका पीछा कर रहा था तो उसने 'अग्नीषोम' को बुलाया और कहा, 'हे अग्नि-सोम ! तुम दोनों मेरे हो, मैं तुम दोनों का हूँ। वह तो तुम्हारा कोई नहीं लगता। तुम उस दस्यु को क्यों बढ़ाते हो ? मेरे पास आओ' ॥१३॥

उन दोनों ने उत्तर दिया, 'हमको क्या मिलेगा ?' उसने कहा कि ग्यारह कपालों का पुरोडाश अग्नि-सोम को मिलेगा। इसलिए ग्यारह कपालों का पुरोडाश अग्नि-सोम का होता

वति ॥१४॥ तावेनमुपाववृततुः । तावनु सर्वे देवाः प्रेयुः सर्वा विद्याः सर्वं य-
शः सर्वमन्नाद्यꣳ सर्वा श्रीस्तेनेष्ट्वेन्द्र एतदभवद्यदिदमिन्द्र एष उ पौर्णमासस्य ब-
न्धुः स यो हैवं विद्वान्पौर्णमासेन यजतऽएताꣳ हैव श्रियं गच्छत्येवं यशो भव-
त्येवमन्नादो भवति ॥१५॥ तद्वैव खलु हतो वृत्रः । स यथा दृतिर्निष्पीत एवꣳ
संलीनः शिश्ये यथा निर्धूतसक्तुर्भस्त्रैवꣳ संलीनः शिश्ये तमिन्द्रोऽभ्यादुद्राव हनि-
ष्यन् ॥१६॥ स होवाच । मा नु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा
कुरु मामुया भूवमिति स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं
न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्तस्मा-
दाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नाद आसीद्वृत्र एतर्हीतीदꣳ हि यदसावापूर्यतेऽस्मादेवैतल्लो-
कादाप्यायतेऽथ यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्माऽएवैतद्वृत्रायोदराय बलिꣳ हरन्ति
स यो हैवमेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥१७॥ ता उ हैता देवता ऊचुः ।
या इमा अग्नीषोमावन्वाजग्मुरग्नीषोमौ युवं वै नो भूयिष्ठभाजौ स्थो ययोर्वामिदं
युवयोरस्मानन्वाभजतमिति ॥१८॥ तौ होचतुः । किमावयोस्ततः स्यादिति यस्यै
कस्यै च देवतायै हविर्निर्वपांस्तद्वां पुरस्तादाज्यस्य यजानिति तस्माद्यस्यै कस्यै च
देवतायै हविर्निर्वपन्ति तत्पुरस्तादाज्यभागावग्नीषोमाभ्यां यजन्ति तन्न सौम्येऽध्वरे
न पशौ यस्यै कस्यै च देवतायै निर्वपानिति ह्यब्रुवन् ॥१९॥ स हाग्निरुवाच ।
मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मय्याभजामीति तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो
जुह्वति तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति ॥२०॥ अथ ह सोम उवाच । मामेव
वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मय्याभजामीति तस्मात्सोमꣳ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति
तस्मादाहुः सोमः सर्वा देवता इति ॥२१॥ अथ यदिन्द्रे सर्वे देवास्तस्थानाः ।
तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इत्येतद्ध वै देवास्त्रेधैकदेवत्या अभ
वन्स यो हैवमेतद्वेदैकधा हैव स्वानाꣳ श्रेष्ठो भवति ॥२२॥ द्वयं वाऽइदं न तृ

है ॥१४॥

वे दोनों उसके पास चले गये, और उनके पीछे-पीछे सब देवता भी चले गये, सब विद्यायें, सब यक्ष, सब अन्न, सब श्री भी। इस इष्टि को करके ही इन्द्र वह हो गया जो अब है। यह पौर्णमास यज्ञ का महत्व है। जो कोई जानकर पौर्णमास यज्ञ करता है, उसके पास श्री जाती है, यश होता है और अन्न का भोग करनेवाला होता है ॥१५॥

पीटा हुआ वृत्र अब ऐसी क्षीण दशा में पड़ा था जैसे मशक से पानी निकल जाय, या सत्तू के थैले में से सत्तू निकल जायँ। इन्द्र उसका घात करने के लिए उसकी ओर झपटा ॥१६॥

वह बोला, 'मुझे मत मार! तू अब वही है जो मैं पहले था। मेरे दो भाग कर दे। ऐसा न कर जिससे मेरा अस्तित्व ही न रहे।' (इन्द्र ने) कहा, 'तू मेरा खाद्य-पदार्थ होगा।' उसने कहा, 'अच्छा।' उसके दो टुकड़े कर दिये। उसका जो सौम्य (सोमयुक्त) टुकड़ा था उसका चन्द्रमा बना दिया, और जो उसका असुर्य (असुर-युक्त) भाग था उसमें यह प्रजा पेट के रूप में प्रविष्ट हुई अर्थात् उससे लोगों का पेट बना। इसी से लोग कहा करते हैं कि पहले भी वृत्र अन्न का खाने वाला है और अब भी, क्योंकि जब यह चाँद पूर्ण होता है तो इसी लोक से भर जाता है। जब यह प्रजा खाने की इच्छा करती है तो इसी पेट अर्थात् वृत्र को बलि देती है। जो इस वृत्र को अन्न का खानेवाला जानता है, स्वयं भी अन्न का खानेवाला होता है ॥१७॥

उन देवताओं ने कहा, 'हे अग्नि और सोम, हम तुम्हारे पीछे आये और तुम सबसे अच्छा भाग ले लेते हो। जो कुछ तुम पाते हो उसमें से हमको भी भाग दो' ॥१८॥

उन देवों ने कहा, 'फिर हमको क्या मिलेगा?' उन्होंने उत्तर दिया 'जिस किसी देवता के लिए लोग हवि देंगे, उससे पहले तुमको घी की आहुति देंगे।' इसीलिए जिस किसी देवता के लिए हवि देते हैं तो पहले घी की दो आहुतियाँ अग्नि और सोम के लिए दिया करते हैं। यह सोम-यज्ञ में नहीं होता, न पशु-यज्ञ में। क्योंकि उन्होंने कहा, 'जिस किसी देवता के लिए आहुति दें' इत्यादि—॥१९॥

तब अग्नि ने कहा, 'मुझमें ही तुम सबके लिए आहुति देवेंगे, इसलिये मैं तुमको भाग दूंगा।' इसीलिए अग्नि में सब देवों के लिए यज्ञ करते हैं। इसीलिए कहा था कि 'अग्नि सब देवता हैं' ॥२०॥

अब सोम ने कहा, 'मुझे ये लोग आप सबके लिए आहुति में देंगे। इसलिए मैं तुमको अपने में भाग दूंगा।' इसलिए सोम की आहुति सब देवों के लिए दी जाती है। इसीलिए कहा, 'सोम सब देवता है' ॥२१॥

और चूंकि इन्द्र में सब स्थित हैं इसलिए कहते हैं कि इन्द्र सब देवता है। इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ (उच्च) है। इस प्रकार देव तीन प्रकार से एक देवता के रूप में आ गये। जो इस रहस्य को समझता है वह अपने आदमियों में श्रेष्ठ हो जाता है ॥२२॥

यह दो प्रकार से होता है, तीसरे से नहीं—एक आर्द्र (गीला), एक शुष्क (सूखा)। जो

तीयमस्ति । आर्द्रं चैव शुष्कं च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यमथ यदिदं द्वयमे-
वाप्य किमेतावत्क्रियतऽइत्यग्नीषोमयोरेवाज्यभागावग्नीषोमयोरुपाꣳशुयाजोऽग्नीषो-
मयोः पुरोडाशो यदत एकतमेनैवेदꣳ सर्वमाप्नोत्यथ किमेतावत्क्रियतऽइत्यग्नीषो-
मयोर्ह्येवैतावती विभूतिः प्रजातिः ॥२३॥ सूर्य एवाग्नेयः । चन्द्रमाः सौम्योऽहरे-
वाग्नेयꣳ रात्रिः सौम्या य एवापूर्यतेऽर्धमासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः
॥२४॥ आज्यभागाभ्यामेव । सूर्याचन्द्रमसावाप्नोत्युपाꣳशुयाजेनैवाहोरात्रेऽआप्नोति
पुरोडाशेनैवार्धमासावाप्नोतीत्यु हैकऽआहुः ॥२५॥ तदु होवाचासुरिः । आज्य-
भागाभ्यामेवातो यतमे वा यतमे वा द्वेऽआप्नोत्युपाꣳशुयाजेनैवातोऽहोरात्रेऽआ-
प्नोति पुरोडाशेनैवातोऽर्धमासावाप्नोति सर्वं मऽआप्तमसत्सर्वं जितꣳ सर्वेण वृत्रꣳ
हनानि सर्वेण द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनानीति तस्माद्वाऽएतावत्क्रियतऽइति ॥२६॥
तदाहुः । किमिदं जामि क्रियतेऽग्नीषोमयोरेवाज्यस्याग्नीषोमयोः पुरोडाशस्य यद-
न्तर्हितं तेन जामीत्यनेन ह त्वेवाजाम्याज्यस्येतरं पुरोडाशस्येतरं तदन्यदिवेत-
रमन्यदिवेतरं भवत्यृचमनूच्य जुषाणेन यजत्यृचमनूच्यर्चा यजति तदन्यदिवेतरम-
न्यदिवेतरं भवत्यनेन ह त्वेवाजाम्युपाꣳश्वाज्यस्य यजत्युच्चैः पुरोडाशस्य स यदु-
पाꣳशु तत्प्राजापत्यꣳ रूपं तस्मात्तस्यानुष्टुभमनुवाक्यामन्वाह वाग्घ्यनुष्टुब्वाग्घि
प्रजापतिः ॥२७॥ एतेन वै देवाः । उपाꣳशुयाजेन यंयमसुराणामकामयन्त तमुप-
त्सर्य वज्रेण वषट्कारेणाघ्नंस्तथोऽएवैष एतेनोपाꣳशुयाजेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृ-
व्यमुपत्सर्य वज्रेण वषट्कारेण हन्ति तस्मादुपाꣳशुयाजं यजति ॥२८॥ स वाऽऋच-
मनूच्य जुषाणेन यजति तदन्विमा अन्यतरतोदन्ताः प्रजाः प्रजायन्तेऽस्थि ह्यृगस्थि
हि दन्तोऽन्यतरतो ह्येतदस्थि करोति ॥२९॥ अथऽर्चमनूच्यर्चा यजति । तदन्विमा
उभयतोदन्ताः प्रजाः प्रजायन्तेऽस्थि ह्यृगस्थि हि दन्त उभयतो ह्येतदस्थि करोत्ये-
ता वाऽइमा द्वय्यः प्रजा अन्यतरतोदन्ताश्चैवोभयतोदन्ताश्च स यो हैवं विद्वानग्नी-

सूखा है वह अग्नि का; जो गीला है वह सोम का। (यहाँ एक प्रश्न उठता है कि) यदि दो ही प्रकार से है तो इतना खटराग क्यों किया जाता है कि अग्नि-सोम के लिए दो घी की आहुतियाँ, अग्नि-सोम के लिए दो मन्द स्वर के याज। अग्नि-सोम के लिए पुरोडाश ? जब इनमें से एक के द्वारा ही सब प्राप्ति हो सकती है तो इतना झमेला क्यों किया जाता है ? (इसका उत्तर यह है कि) अग्नि और सोम को उत्पन्न करनेवाली विभूति ऐसी ही है ॥२३॥

सूर्य अग्नि का है, चन्द्रमा सोम का। दिन अग्नि का है और रात सोम की। बढ़ता हुआ आधा मास अग्नि का है और घटता हुआ सोम का ॥२४॥

कुछ लोगों का कहना है कि दो घी की आहुतियों से सूर्य और चाँद की प्राप्ति होती है, मन्द स्वर प्रयाजों से दिन-रात की और पुरोडाश से अर्द्धमास की प्राप्ति होती है ॥२५॥

परन्तु आसुरि का कहना है कि घी की दो आहुतियों से किन्हीं दो को प्राप्त होता है, मन्द स्वर के प्रयाजों से दिन-रात को प्राप्त होता है और पुरोडाश से दोनों अर्द्धमासों (पक्षों) को प्राप्त होता है। 'सब मुझे प्राप्त हो गया। मैंने सब जीत लिया। सबसे वृत्र को मार डालूँ। सबसे अहितकारी शत्रु को मार डालूँ।' वह ऐसा विचारता है। इसलिए यह सब-कुछ किया जाता है ॥२६॥

इस पर कुछ लोगों का आक्षेप है कि एक ही बात का दुहराना क्यों ? अग्नि-सोम की आज्याहुति और अग्नि के पुरोडाश के बीच में जो कुछ किया जाता है वह 'जामि' अर्थात् एक ही बात का दुहराना मात्र है। परन्तु (इसका उत्तर यह है कि) इसी के द्वारा तो दुहराने के दोष से बचते हैं। एक आज्य है, दूसरी पुरोडाश। इस प्रकार एक दूसरे से भिन्न है। एक बार ऋचा को पढ़कर 'जुषाण' से यज्ञ करते हैं, दूसरी बार ऋचा को बोलकर ऋचा बोलते हैं। इस प्रकार एक का दूसरे से भेद हो जाता है। 'जामि' (दुहराने के) दोष से इस प्रकार भी बचते हैं—आज्य आहुति के लिए मन्द स्वर से पढ़ते हैं और पुरोडाश के लिए उच्च स्वर से। जो मन्द स्वर से बोला जाता है वह प्रजापति का रूप है। इसलिए इसको अनुष्टुभ् छन्द में पढ़ते हैं। वाणी ही अनुष्टुभ् है। वाणी प्रजापति है ॥२७॥

इसी मन्द उच्चारण से देवों ने वषट्काररूपी वज्र से जिस-जिस असुर को चाहा उसके पास चुपके से जाकर मार डाला। इसी प्रकार यह (यजमान) भी मन्द उच्चारण से वषट्कार-रूपी वज्र के द्वारा जिस पापी अहितकारी शत्रु को चाहता है उसके पास चुपके से जाकर उसको मार डालता है। इसीलिए मन्द स्वर से उच्चारण किया जाता है ॥२८॥

वह ऋचा को पढ़कर 'जुषाण' को पढ़ता है। इससे एक ओर के दाँतवाली प्रजा उत्पन्न होती है। ऋक् हड्डी है। दाँत भी हड्डी है। इस प्रकार एक ओर की हड्डी उत्पन्न करता है ॥२९॥

अब ऋचा को पढ़कर फिर एक और ऋचा को बोलता है। इससे दोनों ओर के दाँत-वाली प्रजा उत्पन्न होती है। ऋक् हड्डी है। दाँत भी हड्डी है। इस प्रकार वह दोनों ओर हड्डी उत्पन्न करता है। ये प्रजाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक वह जिनके दाँत एक ओर हों, एक वह जिनके दाँत दोनों ओर हों। जो अग्नि और सोम की उत्पन्न करनेवाली शक्ति को इस प्रकार

षोमयोः प्रजातिं यजति बह्वर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति ॥३०॥ स वै पौर्णमासेनो-
पवत्स्यन् । न सत्रा सुहित-इव स्यात्तेनेदमुदरमसुर्यं विज्ञानात्याहुतिभिः प्रातर्देवमेष
उ पौर्णमासस्योपचारः ॥३१॥ स वै संप्रत्येवोपवसेत् । संप्रति वृत्रꣳ हनानि सं-
प्रति द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनानीति ॥३२॥ स वाऽउत्तरामेवोपवसेत् । समिव वा
ऽएष क्रमते यः संप्रत्युपवसत्यनड्वा वै संक्रान्तयोर्यदीतरो वेतरमभिभवतीतरो
वेतरमथ य उत्तरामुपवसति यथा पराञ्चमावृत्तꣳ संपिꣳष्यादप्रत्यालभमानꣳ सो
ऽन्यतोघात्येव स्यादेवं तद्य उत्तरामुपवसति ॥३३॥ स वै संप्रत्येवोपवसेत् । य-
था वाऽअन्यस्य कृतꣳ संपिꣳष्यादेवं तद्य उत्तरामुपवसति सोऽन्यस्यैव कृतानुक-
रोऽन्यस्योपावसायी भवति तस्माद्य संप्रत्येवोपवसेत् ॥३४॥ प्रजापतेर्ह वै प्रजाः
ससृजानस्य । पर्वाणि विसस्रꣳसुः स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वा-
ण्यहोरात्रयोः संधी पौर्णमासी चामावास्या चर्तुमुखानि ॥३५॥ स विस्रस्तैः पर्व-
भिः । न शशाक सꣳहातुं तमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणैवाहोरात्रयोः
संधी तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुः पौर्णमासेन चैवामावास्येन च पौर्णमासीं चामा-
वास्यां च तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुश्चातुर्मास्यैरेवर्तुमुखानि तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्स-
मदधुः ॥३६॥ स सꣳहितैः पर्वभिः । इदमन्नाद्यमभ्युत्तस्थौ यदिदं प्रजापतेरन्नाद्यꣳ
स यो हैवं विद्वान्त्संप्रत्युपवसति संप्रति हैव प्रजापतेः पर्व भिषज्यत्यवति हैनं
प्रजापतिः स एवमेवान्नादो भवति य एवं विद्वान्त्संप्रत्युपवसति तस्माद्य संप्रत्ये-
वोपवसेत् ॥३७॥ चक्षुषी ह वाऽएते यज्ञस्य यदाज्यभागौ । तस्मात्पुरस्ताज्जुहो-
ति पुरस्ताद्धीमे चक्षुषी तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी दधाति तस्मादिमे पुरस्ताच्चक्षुषी
॥३८॥ उत्तरार्धपूर्वार्धे हैके । आग्नेयमाज्यभागं जुह्वति दक्षिणार्धपूर्वार्धे सौम्यमा-
ज्यभागमेतत्पुरस्ताच्चक्षुषी दध्म इति वदन्तस्तद्य तदाविज्ञान्यमिव हवीꣳषि ह वा
ऽआत्मा यज्ञस्य स यदेव पुरस्ताद्धविषां जुहोति तत्पुरस्ताच्चक्षुषी दधाति यत्रो

समझकर यज्ञ करता है वह बहुत प्रजा और पशु से युक्त होता है ॥३०॥

पौर्णमास उपवास में वह भरपेट न खाये। ऐसा करने से वह पेट को जो आसुरी है क्षीण कर देता है, और दूसरे दिन प्रातःकाल आहुतियों से देवों वाले भाग को (पुष्ट कर देता है)। अब पौर्णमास (यज्ञ) इस प्रकार होता है ॥३१॥

वह उसी समय (पौर्णमास को) उपवास कर सकता है, यह कहकर कि मैं अभी वृत्र को मारूँगा, मैं अभी अहितकारी शत्रु को मारूँगा ॥३२॥

दूसरे दिन भी उपवास कर सकता है। उसी समय उपवास करने से वह 'सम + क्रमते' अर्थात् किसी से मुठभेड़ करता है। दो मुठभेड़ करनेवालों में कौन जाने कौन जीत जाय! दूसरे दिन उपवास करने से मानो वह शत्रु को पीछे से मारता है, पूर्व इसके कि वह फिर-कर आक्रमण कर सके। इस प्रकार जो दूसरे दिन उपवास करता है वह 'अन्यतो घाति' अर्थात् एक ओर मारता है ॥३३॥

(ऊपर दो बातें दी हैं—एक तो उसी समय अर्थात् पूर्णमासी के दिन ही उपवास करना, दूसरा दूसरे दिन उपवास करना। इसमें पहली को ठीक बताया गया है)। उसको तभी उपवास करना चाहिए, क्योंकि जो दूसरे दिन उपवास करता है वह उसके समान है जो किसी दूसरे के द्वारा मारे हुए को मारता है, या किसी दूसरे के किये हुए का अनुकरण करता है, दूसरे के पीछे चलता है। इसलिए उसी दिन उपवास करे ॥३४॥

प्रजापात जब प्रजा बना चुका तो उसके जोड़ शिथिल हो गये। संवत्सर प्रजापति है और उसके जोड़ हैं रात-दिन की संधियाँ, पूर्णमासी, अमावस्या और ऋतुओं का आरम्भ ॥३५॥

वह थके हुए जोड़ों से उठ नहीं सकता था। देवों ने उसको इन हवियों और यज्ञों द्वारा चंगा किया। अग्निहोत्र द्वारा उन्होंने रात-दिन की संधिवाले जोड़ को चंगा किया, और पौर्ण-मास तथा अमावस्या यज्ञ से पूर्णमासी और अमावस्या के जोड़ को ठीक किया, एवं चातुर्मास्य यज्ञ से उन्होंने ऋतु के आरम्भवाले जोड़ों को चंगा किया ॥३६॥

इन ठीक हुए जोड़ों से उसने अपने अन्न को पाया, उसको जो प्रजापति के लिए है। जो इस रहस्य को जानकर उसी समय उपवास करता है वह प्रजापति के जोड़ों को चंगा करता है और प्रजापति उसकी रक्षा करता है। जो इस भेद को जानकर उसी समय उपवास करता है वह अन्न खानेवाला होता है। इसलिए उसी समय (पूर्णमासी को ही) उपवास करे ॥३७॥

ये जो दो आज्य भाग आहुतियाँ हैं वे यज्ञ की दो आँखें हैं। इसलिए उनको पहले देता है क्योंकि दो आँखें सामने होती हैं। इस प्रकार वह दोनों आँखों को सामने रखता है। इसीलिए आँखें सामने होती हैं ॥३८॥

कुछ लोग अग्नि की आहुति उत्तरार्द्ध पूर्व की ओर और सोम की आहुति दक्षिणार्द्ध पूर्व की ओर देते हैं, यह समझकर कि हम दोनों आँखों को सामने रखते हैं; परन्तु यह बात समझ में नहीं आती, क्योंकि हवि यज्ञ की आत्मा है; जब वह हवियों से पहले आहुति देता है तो आँखों को सामने रखता है। इसलिए आहुतियों को उस स्थान पर देवे जहाँ आग सबसे अधिक जलती हो,

ऽएव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्जुहुयात्समिद्धहोमेन ह्येव समृद्धा आहुतयः ॥३९॥ स वाऽऋचमनूच्य जुषाणेन यजति । तस्मादिमेऽअस्थन्वत्यनस्थिके चक्षुषीऽआश्लिष्टेऽअथ यदृचमनूच्यर्चा यजेदस्थि हैव कुर्यान्न चक्षुः ॥४०॥ ते वाऽएते । अग्नीषोमयोरेव रूपमन्वायत्ते यच्छुक्लं तदाग्नेयं यत्कृष्णं तत्सौम्यं यदि वेतरथा यदेव कृष्णं तदाग्नेयं यच्छुक्लं तत्सौम्यं यदेव वीक्षते तदाग्नेयꣳ रूपꣳ शुष्के-ऽइव हि वीक्षमाणस्याक्षिणी भवतः शुष्कमिव ह्याग्नेयं यदेव स्वपिति तत्सौम्यꣳ रूपमार्द्रे-ऽइव हि सुषुपुषोऽक्षिणी भवत आर्द्र-इव हि सोम आज्यरसꣳ ह वाऽअस्मिंल्लोके चक्षुष्मान्भवति सचक्षुरमुष्मिंल्लोके संभवति य एवमेतौ चक्षुषीऽआज्यभागौ वेद ॥४१॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥२[६.३.]॥ ॥

इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । सोऽबलीयान्मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयां चक्रे स पराः परावतो जगाम देवा ह वै विदां चक्रुर्हतो वै वृत्रो ऽथेन्द्रो न्यलेष्टेति ॥१॥ तमन्वेष्टुं दध्रिरे । अग्निर्देवतानाꣳ हिरण्यस्तूप ऋषीणां बृहती छन्दसां तमग्निरनुविवेद तेनैताꣳ रात्रिꣳ सहाजगाम स वै देवानां वसुर्वीरो ह्येषाम् ॥२॥ ते देवा अब्रुवन् । अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति यो नः प्रावात्सीदिति ताभ्यामेतद्यथा ज्ञातिभ्यां वा सखिभ्यां वा सहागताभ्याꣳ समानमोदनं पचेदन्नं वा तद्ध मानुषꣳ हविर्देवानामित्रमाभ्यामितत्समानꣳ हविर्निरवपन्नैन्द्राग्नं द्वादशकपालं पुरोडाशं तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥३॥ स इन्द्रोऽब्रवीत् । यत्र वै वृत्राय वज्रं प्राहरं तद्यस्मयेस कृश-इवास्मि न वै मेदं धिनोति यन्मा धिनवत्तन्मे कुरुतेति तथेति देवा अब्रुवन् ॥४॥ ते देवा अब्रुवन् । न वाऽइममन्यत्सोमाद्धिनुयात्सोममेवास्मै संभरामेति तस्मै सोमꣳ समभरन्नेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एताꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवानां

क्योंकि सबसे अधिक जलती हुई आग में ही आहुतियाँ ठीक होती हैं ॥३९॥

ऋचा को कहकर 'जुषाण' को कहता है। इस प्रकार हड्डी-शून्य आँखों को हड्डी-युक्त स्थान में रखता है। यदि वह ऋचा के पीछे ऋचा पढ़े तो मानो आँख न रक्खे, हड्डी रक्खे ॥४०॥

ये दो अग्नि और सोम के रूप हैं—जो शुक्ल है वह अग्नि का, जो कृष्ण है वह सोम का। यदि इसके विरुद्ध कहा जाय तो जो कृष्ण है वह अग्नि का और जो शुक्ल है वह सोम का। जो देखता है वह अग्नि का रूप है, क्योंकि देखनेवाले की आँखें सूखी होती हैं और सूखापन अग्नि का है। जो सोता है वह सोम का रूप है, क्योंकि सोनेवाले की आँखें गीली होती हैं। गीलापन सोम का गुण है। जो इस प्रकार आज्य भाग आहुतियों को दो आँखें जानता है वह बुढ़ापे तक इस लोक में आँखोंवाला होता है और परलोक में भी आँखोंवाला होता है ॥४१॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

जब इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र फेंका तो अपने को निर्बल समझकर और यह समझकर कि (वृत्र) अभी मरा नहीं, वह छिप गया, और बहुत दूर चला गया। अब देवों ने जान लिया कि वृत्र मारा गया और इन्द्र छिप गया ॥१॥

देवताओं में अग्नि, ऋषियों में हिरण्यस्तूप और छन्दों में बृहती छन्द उसको खोजने लगे। अग्नि ने उसे पा लिया, और उसके साथ एक रात रहा। वह देवों में वसु और उनमें वीर है ॥२॥

देवों ने कहा, 'अमा' अर्थात् 'हमारा' वसु जो हमसे अलग चला गया था आज अग्नि के साथ रहता है। जैसे दो सम्बन्धियों या मित्रों के लिए या मेहमानों के लिए ओदन (चावल) या अज (बकरा) पकावें वैसे ही मनुष्यों की हवि है। देवों में इन दो के लिए (इन्द्र और अग्नि के लिए) यह समान हवि है। इन्द्र और अग्नि के लिए १२ कपालों का पुरोडाश होता है, इसलिए इन्द्र-अग्नि के लिए १२ कपालोंवाला पुरोडाश होता है ॥३॥

इन्द्र ने कहा, 'जब मैंने वृत्र के वज्र मारा तो मैं डर गया और दुबला हो गया। यह हवि मुझे काफी नहीं है। ऐसी तैयार करो जो काफी हो जाय।' देवों ने कहा, 'अच्छा' ॥४॥

उन देवों ने कहा, 'इसको सोम के सिवाय और कुछ काफी न होगा। अतः इसके लिए सोम को ही भरें।' उसके लिए सोम को भरा। यह सोम राजा जो देवों का अन्न है चन्द्रमा ही है। जब वह इस (अमावस्या की) रात को न पूर्व में, न पश्चिम में दीखता है तो उस समय इस लोक में आ जाता है और जलों और ओषधियों में प्रविष्ट हो जाता है। वह देवों का वसु या

वस्वन्नꣳ ह्येषां तद्यदेष एताꣳ रात्रिमिहामा वसति तस्मादमावास्या नाम ॥५॥ तं गोभिरनुविद्याप्य समभरन् । यदोषधीराश्नंस्तदोषधिभ्यो यदपोऽपिबंस्तदद्भ्यस्त-मेवꣳ संभृत्यातच्य तीव्रीकृत्य तमस्मै प्रायच्छन् ॥६॥ सोऽब्रवीत् । धिनोत्येव मे-दं नेव तु मयि श्रयते यथेद मयि श्रयाते तथोपजानीतेति तꣳ शृतेनैवाश्रयन् ॥७॥ तद्वाऽएतत् । समानमेव सत्पय एव सदिन्द्रस्यैव सत्तत्पुनर्नानेवाचक्षते यदब्रवीद्धिनोति मेति तस्माद्दध्यथ यदेनꣳ शृतेनैवाश्रयंस्तस्माच्छृतꣳ ॥८॥ स य-थाꣳशुराप्यायेत । एवमाप्यायताप पाप्मानꣳ हरिमाणमहतैष उऽग्रामावास्यस्य बन्धुः स यो हैवं विद्वान्त्संनयत्येवꣳ हैव प्रजया पशुभिराप्यायतेऽप पाप्मानꣳ हते तस्माद्धि संनयेत् ॥९॥ तदाहुः । नासोमयाजी संनयेत्सोमाहुतिर्वाऽएषा सा-नवरुद्धासोमयाजिनस्तस्मान्नासोमयाजी संनयेदिति ॥१०॥ तद्व संनयेत् । न-न्वत्रान्तरेण शुश्रुम सोमेन नु मा याजयताथ मऽएतदाप्यायनꣳ संभरिष्यथेत्यब्र-वीदिति न वै मेदं धिनोति यन्मा धिनवत्तन्मे कुरुतेति तस्माऽएतदाप्यायनꣳ स-मभरंस्तस्मादप्यसोमयाजी संनेव नयेत् ॥११॥ वार्त्रघ्नं वै पौर्णमासम् । इन्द्रो ह्ये-तेन वृत्रमहन्नथैतदेव वृत्रहत्यं यदामावास्यं वृत्रꣳ ह्यस्माऽएतज्जघ्नुषऽआप्यायन-मकुर्वन् ॥१२॥ तद्वाऽएतदेव वार्त्रघ्नम् । यत्पौर्णमासमथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एताꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदेनमेतेन सर्वꣳ हन्ति नास्य किं चन परिशिनष्टि सर्वꣳ ह वै पाप्मानꣳ हन्ति न पाप्मनः किं चन परिशिनष्टि य एवमेतद्वेद ॥१३॥ तद्धैके । दृष्ट्वोपवसन्ति श्वो नोदेतेत्यदो ह्येव देवानामवि-क्षीणमन्नं भवत्यथैभ्यो वयमित उपप्रदास्याम इति तद्धि समृद्धं यदक्षीणऽएव पूर्व-स्मिन्नन्नेऽथापरमन्नमागच्छति स ह बह्वन्न एव भवत्यसोमयाजी तु क्षीयाद्यदो ह्येव सोमो राजा भवति ॥१४॥ अथ यथैव पुरा । केवलीरोषधीरश्नन्ति केवलीरपः पिबन्ति ताः केवलमेव पयो दुह्रऽएव तदेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्र-

अन्न है। और चूंकि इस रात को वह यहाँ साथ रहता है (अमा वसति) इसलिए इसका नाम अमावस्या है ।।५।।

उन्होंने इस (सोम) को गौओं द्वारा इकट्ठा करा-कराके तैयार किया। जो औषध खाई उस औषध से, और जो जल पिया उस जल से, उसी को बनाकर और तीव्र (तेज) करके उन्होंने (इन्द्र को) दिया ।।६।।

उस (इन्द्र) ने कहा, 'इससे मेरा पेट तो भर जाता है पर यह मुझे अच्छा नहीं लगता। ऐसा उपाय करो कि वह मुझे अच्छा लगने लगे। उन्होंने उसे औटे हुए (दूध) के द्वारा रुचिकर बना दिया ।।७।।

यद्यपि यह एक ही चीज है, दूध ही है और इन्द्र का ही है, फिर भी इसको नाना (अनेक) कहते हैं। चूंकि इन्द्र ने कहा 'धिनोति मे' (मेरा पेट भर जाता है) इसलिए इसका नाम हुआ 'दधि' और चूंकि इसमें 'शृत' अर्थात् औटा हुआ दूध मिलाया इसलिए उसको 'शृत' कहते हैं ।।८।।

जैसे सोम का डण्ठल मजबूत हो जाता है इसी प्रकार (इन्द्र भी) मजबूत हो गया और उसका रोगी हरापन जाता रहा। अमावस्या यज्ञ का यही महत्त्व है और जो कोई इस रहस्य को समझकर (अमावस्या के यज्ञ में दूध और दही) मिलाता है वह प्रजा और पशु से पूर्ण होता है। उसका दोष छूट जाता है। इसलिये उसको दूध और दधि मिलाना चाहिए ।।९।।

इस पर कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि जो सोमयाजी न हो उसे सान्नाय्य आहुति न देनी चाहिए, क्योंकि सान्नाय्य ही सोम आहुति हैं। और जो सोमयाजी न हो उसको सोम आहुति देने का अधिकार नहीं। इसलिए जो सोमयाजी नहीं उसको सान्नाय्य आहुति नहीं देनी चाहिए ।।१०।।

परन्तु उसे सान्नाय्य आहुति देनी चाहिए। हमने इसी सम्बन्ध में सुना है कि इन्द्र ने कहा कि, 'इस समय मुझे सोम आहुति दे दो, फिर तुम मेरे लिए उस शक्ति देनेवाली वस्तु (सान्नाय्य आहुति) को तैयार करना। इससे मेरा पेट नहीं भरता। वह बनाओ जिससे मेरी सन्तुष्टि हो।' उस शक्ति देनेवाली वस्तु को उन्होंने अवश्य ही तैयार किया और इसलिए जो सोमयाजी नहीं हैं वे भी सान्नाय्य आहुति दें ।।११।।

पौर्णमास यज्ञ वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है, क्योंकि इसी के द्वारा इन्द्र ने वृत्र को मारा। और अमावस्या यज्ञ भी वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है, क्योंकि वह शक्ति देनेवाली चीज भी उन्होंने उसी के लिए तैयार की जिसने वृत्र को मारा ।।१२।।

यज्ञ जो पूर्णमास यज्ञ है वह वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है। यह जो चन्द्रमा है वही वृत्र है। जब वह उस रात को न पूर्व में दीखता है, न पश्चिम में, तो इस यज्ञ के द्वारा (वह इन्द्र) इस सब (वृत्र) को मार डालता है, और उसका कुछ भी शेष नहीं रहने देता। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पाप का नाश कर देता है, कुछ भी नहीं छोड़ता ।।१३।।

कुछ लोग (चौदस को) देखकर ही उपवास करते हैं कि कल (अमावस्या को यह चाँद) उदय न होगा। यह देवों का निश्चय करके दीखता हुआ भोजन है। (कल से) उनके लिए हम इसमें से देंगे। वह पुरुष वस्तुतः समृद्ध है जिसके पास अभी पुराना अन्न होता है और नया आ जाता है, क्योंकि उसके पास बहुत अन्न होता है। परन्तु वह इस समय सोमयाजी नहीं है; क्षीरयाजी है। इसी दूध का सोम राजा होता है ।।१४।।

इसलिए यह (दूध सोम से युक्त नहीं किन्तु) पूर्ववत् ही है क्योंकि (गायें) केवल ओषधि ही खाती हैं, केवल जल ही पीती हैं। इसलिए यह केवल दूध ही होता है (सोम नहीं); सोम तब होता जब अमावस्या के दिन चन्द्रमा वनस्पति और जलों में मिल जाता (ऊपर कह चुके हैं कि

माः स यत्रैष एताꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहा-
पश्चौषधीश्च प्रविशति तदेनमह्न ओषधिभ्यः संभृत्याहुतिभ्योऽधि जनयति स एष
आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे ॥१५॥ तद्वाऽएतत् । अविक्षीणमिव देवानामन्नाद्यं
परिप्लवतेऽविक्षीणꣳ ह वाऽअस्यास्मिंल्लोकेऽन्नं भवत्यक्षय्यममुष्मिंल्लोके सुकृतं य
एवमेतद्वेद ॥१६॥ तद्वाऽएताꣳ रात्रिम् । देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रच्यवते तदिमं लोकमा-
गच्छति ते देवा अकामयन्त कथं नु न इदं पुनरागच्छेत्कथं नऽइदं परागेव न प्र-
णश्येदिति तद्यऽएव संनयन्ति तेष्वाशाꣳसन्तऽएतऽएव नः संभृत्य प्रदास्यन्तीत्या ह
वाऽअस्मिन्त्स्वाश्च निष्ठाश्च शाꣳसन्ते य एवमेतद्वेद यो वै परमतां गच्छति तस्मि-
न्नाशाꣳसन्ते ॥१७॥ तद्वाऽएष एवेन्द्रः । य एष तपत्यथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः
सोऽस्यैष भ्रातृव्यजन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितोऽथैनमेताꣳ रात्रिमुपैव
न्याप्लवते सोऽस्य व्यात्तमापद्यते ॥१८॥ तं ग्रसित्वोदेति । स न पुरस्तान्न पश्चा-
द्ददृशे ग्रसते ह वै द्विषन्तं भ्रातृव्यमयमेवास्ति नास्य सपत्नाः सन्तीत्याहुर्य एवमे-
तद्वेद ॥१९॥ तं निर्धीय निरस्यति । स एष धीतः पश्चाद्ददृशे स पुनराप्यायते स
एतस्यैवान्नाद्याय पुनराप्यायते यदि ह वाऽअस्य द्विषन्भ्रातृव्यो वणिज्यया वा
केनचिद्वा संभवत्येतस्य हैवान्नाद्याय पुनः संभवति य एवमेतद्वेद ॥२०॥ तद्धैके ।
महेन्द्रायेति कुर्वन्तीन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य बधादथ वृत्रꣳ हत्वा यथा महाराजो
विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्महेन्द्रायेति तदिन्द्रायेत्येव कुर्यादिन्द्रो वा
ऽएष पुरा वृत्रस्य बधादिन्द्रो वृत्रं जघ्निवांस्तस्मादिन्द्रायेत्येव कुर्यात् ॥२१॥ ब्रा-
ह्मणम् ॥३ [६.४.]॥ अध्यायः ॥६॥ ॥

स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति । तद्यत्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति यत्र
वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै
वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य

चन्द्रमा अमावस्या के दिन वनस्पति और जल में मिल जाता है)। यह जो सोम राजा देवों का भोजन है वह चन्द्रमा ही है। यह जो (अमावस्या की) रात को न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में, वह इस लोक में आ जाता है और जलों और ओषधियों में मिल जाता है। अब ओषधियों और जलों से इकट्ठा करके उसे आहुतियों से उत्पन्न करते हैं, और यह आहुतियों से उत्पन्न होकर पश्चिम में दीखता है। तात्पर्य यह है कि अमावस्या के दिन चाँद आकाश में नहीं रहता, किन्तु पृथिवीलोक में वनस्पति और जल में प्रविष्ट हो जाता है। यज्ञ करनेवाला वनस्पति और जल के बने हुए दूध से आहुति बनाता है और उस आहुति से चाँद को उत्पन्न करता है; वही चाँद दूसरे दिन पश्चिम में चमकता है ॥१५॥

यह इस प्रकार होता है। देवों का न क्षीण होनेवाला अन्न ही (मनुष्यों तक) आ सकता है। इसलिए पुरुष इस रहस्य को समझता है। वह इस लोक में अक्षय्य अन्न को प्राप्त होता और परलोक में पुण्य को पाता है ॥१६॥

इस प्रकार उस (अमावस्या की) रात को अन्न देवों से चलता है और इस लोक में आता है। अब देवों ने चाहा कि वह फिर उनके पास कैसे वापस जाय और किस प्रकार नष्ट न हो जाय, इसलिए (ये देव) उन पर विश्वास रखते हैं जो सान्नाय्य आहुति को (दूध और दही मिलाकर) तैयार करते हैं, क्योंकि जब यह तैयार करेंगे तो अवश्य ही देंगे। जो इस रहस्य को जानता है उस पर अपने और पराये सभी विश्वास करते हैं, क्योंकि जो बड़प्पन को प्राप्त हो जाता है उस पर सभी विश्वास करते हैं ॥१७॥

अब यह जो तपता है (अर्थात् सूर्य) वही इन्द्र है। और जो चन्द्रमा है वही वृत्र है, परन्तु वह इसका शत्रु-सा है। इसलिए यद्यपि इस रात को पहले बहुत दूर उदय होता है, फिर भी उसकी ओर को तैरता है और उसके (सूर्य के) मुँह में घुस जाता है ॥१८॥

(सूर्य) उस (चाँद) को ग्रस के उदय होता है। वह न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में। जो इस रहस्य को जानता है वह अपने अहितकारी शत्रु को ग्रस लेता है और उसके लिए लोग कहते हैं कि वही वह है, उसके शत्रु हैं ही नहीं ॥१९॥

(सूर्य) उस (चाँद) को चूसकर फेंक देता है, और वह चूसा हुआ पश्चिम में दीखता है। यह फिर बढ़ता है। वह (उसी सूर्य्य के) भोजन के लिए फिर बढ़ता है। जो इस रहस्य को समझता है उसका अहितकारी शत्रु यदि व्यापार या अन्य किसी उपाय से बढ़ता भी है तो फिर उसी का भोजन बनने के लिए बढ़ता है ॥२०॥

कुछ लोग महेन्द्र के नाम से (आहुति देते हैं), क्योंकि वृत्र के वध से पहले वह इन्द्र था। वृत्र को मारकर महेन्द्र हो गया, जैसे विजय के पश्चात् राजा महाराजा हो जाता है। इसलिए महेन्द्र के लिए (आहुति देते हैं); परन्तु इन्द्र के लिए ही दी जानी चाहिये। वह वृत्र के वध से पहले भी इन्द्र ही था, वृत्र के मारने के पीछे भी इन्द्र ही रहा। इसलिए इन्द्र के लिए ही आहुति देवें ॥२१॥

अध्याय ७—ब्राह्मण १

(अध्वर्यु) पलाश की शाखा द्वारा बछड़ों को (गायों से) अलग करता है। वह पलाश की शाखा से बछड़ों को अलग करता है। जब गायत्री सोम की ओर उड़ी तो (सोम को) लिये जाते हुए (उस गायत्री के) एक पैर-रहित निशानेबाज ने तीर चलाया और एक पर्ण (पंख) काट लिया, या तो गायत्री का या सोम का। वह गिरकर पलाश हो गया। इसलिए उसका नाम पर्ण हुआ। अब वह सोचता है कि जैसे यह सोम की प्रकृति वाला था उसी प्रकार यह यहाँ

न्यक्तं तदिद्दाप्यसदिति तस्मात्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ॥१॥ तमाच्छिनत्ति । इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्टै तदाह यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ॥२॥ अथ मातृभिर्वत्सान्त्समवार्जति । स वत्सꣳ शाखयोपस्पृशति वायव स्थेत्ययं वै वायुर्योऽयं पवतऽएष वाऽइदꣳ सर्वं प्रप्याययति यदिदं किं च वर्षत्येष वाऽएतासां प्रप्याययिता तस्मादाह वायव स्थेत्युपायव स्थेत्यु हैकऽआहुरुप हि द्वितीयोऽयतीति तदु तथा न ब्रूयात् ॥३॥ अथ मातृणामेकाꣳ शाखयोपस्पृशति । वत्सेन व्याकृत्य देवो वः सविता प्रार्पयत्विति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूता यज्ञꣳ संभरानिति तस्मादाह देवो वः सविता प्रार्पयत्विति ॥४॥ श्रेष्ठतमाय कर्मणऽइति । यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह श्रेष्ठतमाय कर्मणऽइति ॥५॥ आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागमिति । तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवतायाऽआदिशति यदाहाप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागमिति ॥६॥ प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा इति । नात्र तिरोहितमिवास्ति मा व स्तेन ईशत माघशꣳस इति मा वो नाष्ट्रा रक्षाꣳसीशतेत्येवैतदाह ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीरित्यनपक्रमिण्योऽस्मिन्यजमाने बह्व्यः स्यातेत्येवैतदाह ॥७॥ अथाहवनीयागारस्य वा पुरस्तात् । गार्हपत्यागारस्य वा शाखामुपगूहति यजमानस्य पशून्पाहीति तद्ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य पशून्परिददाति गुप्त्यै ॥८॥ तस्यां पवित्रं करोति । वसोः पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति ॥९॥ अथ यवाग्वैताꣳ रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति । आदिष्टं वाऽएतद्देवतायै हविर्भवति यत्पयः स यत्पयसा जुहुयाद्यथान्यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं तदन्यस्यै जुहुयादेवं तत्तस्माद्यवाग्वैताꣳ रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति जुह्वत्यग्निहोत्रमुपक्लृप्तोखा भवत्यथाहोपसृष्टां प्रब्रूतादिति यदा प्राहोपसृष्टेति ॥१०॥ अथोखामादत्ते । द्यौरसि पृथिव्यसीत्युपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह द्यौरसि पृथिव्यसी-

भी होवे। इसलिए पलाश की शाखा से बछड़ों को हाँकता है ।।१।।

उस शाखा को यह मंत्र पढ़कर काटता है—"इषे त्वोर्ज्जे त्वा" (यजु० १।१)—"रस के लिए तुझे, अन्न के लिए तुझे।" जब वह कहता है 'रस के लिए' तो उसका तात्पर्य होता है 'वृष्टि के लिए', और जब कहता है 'अन्न के लिए' तो उसका तात्पर्य होता है उस भोजन से जो वृष्टि से उत्पन्न होता है ।।२।।

अब वह बछड़ों को अपनी माओं से मिला देते हैं। अब वह शाखा से बछड़े को छूता अर्थात् हाँकता है यह पढ़कर "वायव स्थ" (यजु० १।१)—"तुम वायु हो।" यह जो चलता है (पवते) वही वायु है। यह वह है जो उस सबको लाता है, जो बरसता है। यह (शाखा) भी गायों को लाता है इसलिए कहा—'तुम वायु हो।' कुछ लोग कहते हैं—'उपायव स्थ'—'तुम निकटस्थ हो।' परन्तु ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इससे दूसरा (शत्रु) (यजमान के पास) आ जाता है ।।३।।

माओं में से एक को बछड़े से अलग करके उसको एक शाखा से यह मंत्र पढ़कर छूता है—"देवो वः सविता प्रार्पयतु" (यजु० १।१) "सविता देवता तुमको प्रेरणा करे।" सविता देवों का प्रसविता (प्रेरक) है। सविता की प्रेरणा से प्रेरित होकर वे यज्ञ करें। ऐसा सोचकर वह कहता है—'सविता देव तुमको प्रेरणा करे'—।।४।।

श्रेष्ठतम कर्म के लिए। यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। 'यज्ञ ही के लिए' कहने से तात्पर्य है 'श्रेष्ठतम कर्म के लिए' ।।५।।

"आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागम्" (यजु० १।१)—"हे अघ्न्याः (अर्थात् गौओ), इन्द्र के भाग के लिए फूलो-फलो।" जिस प्रकार आदि में देवता के लिए हवि लेकर आदेश देता है उसी प्रकार इस (दूध की आहुति) को देने में भी देवता का आदेश करता है जब कहता है कि—'हे गौओ, इन्द्र के भाग के लिए फूलो-फलो' ।।६।।

"प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा" (यजु० १।१)—"प्रजा वाली, रोगरहित और यक्ष्मा-रहित।" यह तो स्पष्ट ही है। "मा व स्तेन ईशत माघशꣳस" (यजु० १।१)—"तुम पर चोर या पाप की चर्चा करनेवाला शासन न करे।" इससे उसका तात्पर्य यह है कि 'तुम पर कोई दुरात्मा राक्षस शासन न करे।' "ध्रुवा अस्मिम् गोपतौ स्यात बह्वीः" (यजु० १।१)—"इस गौओं के स्वामी में अवश्य ही बहुत होओ (फूलो-फलो)।" यह कहने का तात्पर्य यह है कि 'बिना त्यागे हुए इस यजमान के लिए बहुत होओ' ।।७।।

अब वह आहवनीय अग्नि के सामने या गार्हपत्य अग्नि के सामने शाखा को छिपाता है यह कहकर—'यजमानस्य पशून् पाहि' (यजु० १।१)। इस प्रकार वह ब्रह्म के द्वारा यजमान के पशुओं को रक्षा के लिए इसके हवाले करता है ।।८।।

उसमें पवित्रा बाँधता है यह मंत्रांश पढ़कर "वसोः पवित्रमसि" (यजु० १।१)—"तू यज्ञ का पवित्रा है।" यज्ञ ही वसु है इसलिए कहा 'तू यज्ञ का पवित्रा है' ।।९।।

अब इस रात को यवागू (जौ और गुड़ से बनता है) से अग्निहोत्र करता है। इस रात को जो दूध दुहता है वह तो देवता के लिए निर्दिष्ट हो चुकता है। इसलिए यदि उस दूध से हवन करे तो जो एक देवता के लिए हवि है वह दूसरे देवता के लिए दे देवे। इसलिये वह इस रात को यवागू से अग्निहोत्र करता है। जब अग्निहोत्र कर चुकते हैं तब तक बर्तन तैयार हो जाता है। इस पर (अध्वर्यु) कहता है—'कहो कि वह (गाय) छोड़ दी गई।' जब कहता है तो (गाय) छूट जाती है ।।१०।।

अब वह बर्तन को (गार्हपत्य अग्नि पर) मन्त्रांश पढ़कर रखता है—"द्यौरसि पृथिव्यसि" (यजु० १।२)—"तू द्यौ है। तू पृथिवी है।" 'तू द्यौ है। तू पृथिवी है' ऐसा कहकर वह उसकी बड़ाई

ति मातरिश्वनो घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेवं प्रवृणक्ति वि-
श्वधा असि परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वारिति दृꣳहत्येवैनामेतदशिथिलां करो-
ति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामा-
शास्ते ॥११॥ अथ पवित्रं निदधाति । तद्वै प्राङ्निदध्यात्प्राची हि देवानां दिगथो
ऽउदगुदीची हि मनुष्याणां दिगयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमिमांल्लोकांस्ति-
र्यङ्ङनुपवते तस्मादुदङ्निदध्यात् ॥१२॥ तद्यथैवादः । सोमꣳ राजानं पवित्रेण संपा-
वयन्त्येवमेवैतत्संपावयत्युदीचीनदशं वै तत्पवित्रं भवति येन तत्सोमꣳ राजानꣳ
संपावयन्ति तस्मादुदङ्निदध्यात् ॥१३॥ तन्निदधाति । वसोः पवित्रमसीति यज्ञो वै
वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति शतधारꣳ सहस्रधारमित्युपस्तौत्येवैनदेतन्म-
हयत्येव यदाह शतधारꣳ सहस्रधारमिति ॥१४॥ अथ वाचंयमो भवति । आ
तिसृणां दोग्धोर्वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइति ॥१५॥ तदानीयमानमभि-
मन्त्रयते । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वेति तद्यथैवादः
सोमꣳ राजानं पवित्रेण संपावयन्त्येवमेवैतत्संपावयति ॥१६॥ अथाह कामधुक्ष
इति । अमूमिति सा विश्वायुरित्यथ द्वितीयां पृच्छति कामधुक्ष इत्यमूमिति सा वि-
श्वकर्मेत्यथ तृतीयां पृच्छति कामधुक्ष इत्यमूमिति सा विश्वधाया इति तद्यत्पृच्छति
वीर्याण्येवास्वेतद्दधाति तिस्रो दोग्धि त्रयो वाऽइमे लोका एभ्य एवैनदेतल्लोके-
भ्यः संभरत्यथ कामं वदति ॥१७॥ अथोत्तमां दोहयित्वा । येन दोहयति पात्रेण
तस्मिन्नुदस्तोकमानीय पल्यङ्ग्य प्रत्यानयति यदत्र पयसोऽहायि तदिहाप्यसदिति
रसस्यो चैव सर्वत्वायेदꣳ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा
तत एष रसः संभवति तस्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय तदुद्वास्यातनक्ति तीव्रीक-
रोत्येवैनदेतत्तस्मादुद्वास्यातनक्ति ॥१८॥ आतनक्ति । इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सो-
मेनातनच्मीति तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवतायाऽआदिश-

करता है—"मातरश्विनो धर्मोसि" (यजु० १।२)—"मातरिश्वा की धर्म (कड़ाही) है।" ऐसा कहकर वह इस यज्ञ अर्थात् यज्ञ का साधन बनाता है, और जैसे प्रवर्ज्य-पात्र रखता हैं, इसी प्रकार इसे भी रखता है। अब कहता है—"विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृँहस्व मा ह्वाः" (यजु० १।२) "तू विश्वधा अर्थात् सबको धारण करनेवाला है। परम धाम के सहारे दृढ़ हो। चलायमान न हो।" इस प्रकार निश्चल कर देता है। "मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्" (यजु० १।२)—"तेरा यज्ञपति चलायमान न हो।" यजमान ही यज्ञपति है। इसलिये वह इस प्रकार यजमान को ही निश्चल करता है ॥११॥

अब वह पवित्रा को रखता है। उसका पूर्व को मुख करके रखता है। पूर्व देवों की दिशा है। या उत्तर की ओर क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। वह वायु जो इन लोकों में आरपार बहता है वह पवित्र करनेवाला है। इसलिये (पवित्रे को) उत्तर की ओर रखता है ॥१२॥

जिस प्रकार पहले वह सोमराजा को पवित्रे से साफ करते थे उसी प्रकार वह (दूध को) साफ करता है। जिस पवित्रे से सोमराजा छाना जाता है उसका मुख उत्तर को होता है, इसलिये इस पवित्रे को भी उत्तर की ओर मुँह करके रखता है ॥१३॥

वह इसको यह मन्त्रांश पढ़कर रखता है—"वसोः पवित्रमसि" (यजु० १।३)। यज्ञ ही वसु है, इसलिये कहा—"वसु का पवित्रा है।" 'शतधारं' 'सहस्रधारं' (यजु० १।३)। उसकी प्रशंसा और बड़ाई करता है जब कहता है कि—"तू सौ धारावाला, हजार धारावाला है" ॥१४॥

अब वह मौन रखता है जब तक तीन गौओं को न दुहे। वाणी ही यज्ञ है। इसका आशय है कि वह यज्ञ को निर्विघ्न करना चाहता है ॥१५॥

उस (दूध) को लाकर (पवित्रे में से छानता है तो) यह मन्त्र पढ़ता है—"देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा" (यजु० १।३)—"देव सविता तुझको यज्ञ के सौ धारवाले और अच्छी तरह पवित्र करनेवाले पवित्रे के द्वारा शुद्ध करे।" जैसे पहले सोमराजा को पवित्रे से छानते हैं उसी प्रकार उसको भी छानते हैं ॥१६॥

अब पूछता है—"कामधुक्षः" (यजु० १।३)—"(काम्) किसको (अधुक्षः) तूने दुहा ?" वह उत्तर देता है—"अमूम्"—"इसको।" "सा विश्वायुः" (यजु० १।४)—"यह सब चीजों की आयु या जीवन है।" अब दूसरी (गाय) के विषय में पूछता है—"कामधुक्षः।"—"किसको दुहा ?" वह उत्तर देता है—"अमूम्"—"इसको।" "सा विश्वकर्मा" (यजु० १।४)—"वह विश्व को रचनेवाली है।" अब तीसरी (गाय) के विषय में पूछता है—"कामधुक्षः"—"किसको दुहा ?" वह उत्तर देता है—"अमूम्"—"इसको।" "सा विश्वधाया" (यजु० १।४) "वह संसार को धारण करनेवाली है।" यह जो पूछता है तो मानो उनमें वीर्य (शक्ति) का संचार करता है। तीन (गायों) को दुहता है। तीन लोक हैं। इस प्रकार वह इनको लोकों के योग्य बनाता है। अब वह (मौन को तोड़कर) इच्छानुसार बोल सकता है ॥१७॥

आखिरी (गाय) को दुहकर जिस पात्र में गाय दुहाई थी उसी में एक बूँद जल डालकर और हिलाकर ले आता है कि इसमें जो कुछ दूध का अंश बचा था वह भी इसी में आ जाय। यह उस रस को पूर्ण करने के लिए करता है। जब वर्षा होती है तो वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। वनस्पतियों को खाकर और जल को पीकर यह रस बनता है। इसलिये रस की पूर्णता के लिए (जल डालता है)। अब वहाँ से (आग पर से) लाकर उसको गाढ़ा करता है, तेज करता है। इसीलिये वह उसको (आग पर से) लाकर गाढ़ा करता है ॥१८॥

वह नीचे के मन्त्र से गाढ़ा करता है—"इन्द्रस्य त्वा भागँ सोमेनातनच्मि" (यजु० १।४)—"इन्द्र के तुझ भाग को सोम से गाढ़ा करता हूँ।" जैसे पहले देवता के लिए हवि देते हुए

ति यदाहेन्द्रस्य त्वा भागमिति सोमेनातनच्मीति स्वदयत्येवैनदेतद्देवेभ्यः ॥१९॥ अथोदकवतोत्तानेन पात्रेणापिदधाति । नेदेनदुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवमृशानिति वज्रो वा ऽआपस्तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतो ऽपहन्ति तस्मादुदकवतोत्तानेन पात्रेणापिदधाति ॥२०॥ सो ऽपिदधाति । विष्णो हव्यꣳ रक्षेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतद्धविः परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह विष्णो हव्यꣳ रक्षेति ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥४[७.१.]॥ ॥

ऋणꣳ ह वै जायते यो ऽस्ति । स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ॥१॥ स यदेव यजेत । तेन देवेभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ॥२॥ अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनऽर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥३॥ अथ यदेव प्रजामिच्छेत । तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषाꣳ संततताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति ॥४॥ अथ यदेव वासयेत । तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्वासयते यदेभ्यो ऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा तस्य सर्वमाप्तꣳ सर्वं जितꣳ ॥५॥ स येन देवेभ्य ऋणं जायते । तदेनांस्तदवदयते यद्यजते ऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किं चाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ॥६॥ तद्वै चतुरवत्तं भवति । इदं वा ऽअनुवाक्याथ याज्याथ वषट्कारो ऽथ सा देवता चतुर्थी यस्यै देवतायै हविर्भवत्येवꣳ हि देवता अवदानान्यन्वायत्ता अवदानानि वा देवता अन्वायत्तान्यतिरिक्तꣳ ह तदवदानं यत्पञ्चमं कस्मा ऽउ हि तदवद्येत्तस्माच्चतुरवत्तं भवति ॥७॥ उतो पञ्चावत्तमेव भवति । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्यैषो पञ्चावत्तस्य संपद्बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति यस्यैवं विदुषः पञ्चावत्तं क्रियतऽएतद्ध न्वेव प्रज्ञातं कौरुपञ्चालं यच्चतुरवत्तं तस्माच्चतुरवत्तं भवति ॥८॥ स वै यावन्मात्रमिवैवावद्येत् ।

कहा था, इसी प्रकार इस देवता के लिए भी कहता है कि 'इन्द्र के तुझ भाग को सोम से गाढ़ा करता हूँ।' वह इसको देवताओं के लिए स्वादिष्ट कर देता है ।।१९।।

अब वह उसको ऐसे पात्र से, जो ऊपर को खुला हो और जिसमें पानी हो, ढक देता है कि ऊपर से दुष्ट राक्षस उसे छू न लें। जल वज्र है। इस प्रकार वह वज्र से दुष्ट राक्षसों को उससे दूर भगा देता है। इसीलिए जल से भरे हुए पात्र से उसे ढकता है ।।२०।।

वह यह मन्त्र पढ़कर ढकता है—"विष्णो हव्यँ रक्ष" (यजु० १।४)—"हे विष्णु ! हवि की रक्षा कर।" यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार वह इस हवि को रक्षा के लिए यज्ञ के हवाले कर देता है। इसलिये कहा—'विष्णु, हवि की रक्षा कर' ।।२१।।

अध्याय ७–ब्राह्मण २

जो कोई मनुष्य है वह उत्पन्न होते ही देवताओं, ऋषियों, पितरों और मनुष्यों का ऋणी हो जाता है ।।१।।

उनको यज्ञ करना चाहिए। क्योंकि देवों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है— उनके लिए यज्ञ करता है, उनके लिए आहुति देता है ।।२।।

अब उसको (वेद) पढ़ना चाहिए। क्योंकि ऋषियों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है। जो वेद पढ़ता है उसको ऋषियों के कोष का रक्षक (ऋषीणाम् निधि-गोप) कहते हैं ।।३।।

अब उसको सन्तान की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि पितरों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है जिससे उसके वंश का सिलसिला (परम्परा) बराबर जारी रहे ।।४।।

अब उसको (लोगों का) सत्कार करना चाहिए। क्योंकि मनुष्यों का ऋणी होता है, इसलिये ऐसा करता है कि उनको बसाता है, उनको खाना देता है, वह उनके लिए सब-कुछ करता है। इससे वह अपने कर्तव्य को पूरा करता है। उसको सब-कुछ मिल जाता है, वह विजयी हो जाता है ।।५।।

क्योंकि वह देवताओं का ऋणी होता है, इसलिये देवताओं को प्रसन्न करता है (अवदयते) यज्ञ करता है, अग्नि में आहुति देता है, उनको प्रसन्न करता है। इसलिये जो कुछ अग्नि में आहुति दी जाती है उसको अवदान कहते हैं ।।६।।

इस यज्ञ के चार टुकड़े होते हैं—पहला अनुवाक्य, दूसरा यज्ञ, तीसरा वषट्कार, चौथा वह देवता जिसके लिए हवि दी जाती है। इस प्रकार अवदान के अधीन देवता है या अवदान देवता के अधीन हैं। (कुछ लोग पाँचवाँ भाग बताते हैं) यह पाँचवाँ भाग व्यर्थ है क्योंकि वह किसके लिए है ? इसलिये अवदान के चार भाग ही होते हैं ।।७।।

परन्तु (कुछ लोगों के मत में) पाँच टुकड़े भी होते हैं। पाँच भाग वाला यज्ञ होता है, पाँच भाग वाला पशु, वर्ष में पाँच ऋतुएँ—ये पाँच भाग पूरे हुए। जो इस रहस्य को जानकर पाँच भाग करता है उसके सन्तान और पशु बहुत होते हैं। परन्तु कुरु और पांचालों में चार ही टुकड़े होते हैं। इसलिये (हमारे मत में भी) चार टुकड़े ही होते हैं ।।८।।

उनको मात्रा के अनुकूल ही काटना चाहिए। यदि मात्रा से अधिक काटेगा तो यज्ञ को

मानुषꣳ ह कुर्याद्यन्मह्दवद्येद्व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यावन्मात्रमिवैवावद्येत् ॥९॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विर्हविषोऽवदायाथो-परिष्टादाज्यस्याभिघारयति द्वे वाऽआहुती सोमाहुतिरेवान्याज्याहुतिरन्या तत एषा केवली यत्सोमाहुतिरथैषाज्याहुतिर्यद्धविर्यज्ञो यत्पशुस्तदाज्यमेवैतत्करोति तस्मादुभयत आज्यं भवत्येतद्धि जुष्टं देवानां यदाज्यं तज्जुष्टमेवैतद्देवेभ्यः करोति तस्मादुभयत आज्यं भवति ॥१०॥ असौ वाऽअनुवाक्येयं याज्या । तेऽउभे योषे तयोर्मिथुनमस्ति वषट्कार एव तद्वाऽएष एव वषट्कारो य एष तपति स उद्यन्ने-वामूमधिद्रवत्यस्तं यन्निमामधिद्रवति तदेतेन वृष्णेमां प्रजातिं प्रजायेते येनयोरियं प्रजातिः ॥११॥ सोऽनुवाक्यामनूच्य । याज्यामनुद्रुत्य पश्चाद्वषट्करोति पश्चाद्धि प-रीत्य वृषा योषामधिद्रवति तदेनेऽउभे पुरस्तात्कृत्वा वृष्णा वषट्कारेणाधिद्रावयति तस्मादु सह वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषट्कृते वा ॥१२॥ देवपात्रं वाऽएष यद्व-षट्कारः । तद्यथा पात्रऽउद्धृत्य प्रयच्छेदेवं तदथ यत्पुरा वषट्काराज्जुहुयाद्यथाधो भू-मौ निदिग्धं तदमुया स्यादेवं तत्तस्मादु सह वैव वषट्कारेण जुहुयाद्वषट्कृते वा ॥१३॥ ॥ शतम् ६०० ॥ ॥ तद्यथा योनौ रेतः सिञ्चेत् । एवं तदथ यत्पुरा वष-ट्काराज्जुहुयाद्यथा योनौ रेतः सिक्तं तदमुया स्यादेवं तत्तस्मादु सह वैव वषट्कारे-ण जुहुयाद्वषट्कृते वा ॥१४॥ असौ वाऽअनवाक्येयं याज्या । सा वै गायत्रीयं त्रिष्टुबसौ स वै गायत्रीमन्वाह तदमूमनुब्रुवन्नसौ ह्यनुवाक्येमामन्वाहेयꣳ हि गायत्री ॥१५॥ अथ त्रिष्टुभा यजति । तदनया यजन्नियꣳ हि याज्यामुष्या अधि वषट्करोत्यसाऽउ हि त्रिष्टुप्तदेने सयुजौ करोति तस्मादिमे संभुञ्जातेऽअनयोरनु संभोगमिमाः सर्वाः प्रजा अनु संभुञ्जते ॥१६॥ स वाऽअङ्ग्यन्निवैवानुवाक्यामनु-ब्रूयात् । असौ ह्यनुवाक्या बृहद्ध्यसौ बार्हतꣳ हि तद्रूपं क्षिप्रऽएव याज्यया त्व-रेतियꣳ हि याज्या रथन्तरꣳ हीयꣳ राथन्तरꣳ हि तद्रूपꣳ ह्वयति वाऽअनुवाक्यया

मानुषी कर देगा। वह यज्ञ ऋद्धि-शून्य हो जायगा। इसलिये मात्रा के अनुकूल ही काटना चाहिए ॥९॥

(आज्य) अर्थात् घी की एक तह नीचे रखकर दो बार हवि काटकर उस पर घी डालता है। दो आहुतियाँ होती हैं–एक सोम की, दूसरी घी की। जो सोम-आहुति है वह तो स्वयं है ही। और जो आज्य आहुति है वह हवि है, वह पशु है। इसलिये दोनों ओर घी होता है। आज्य अर्थात् घी देवों को प्रिय है। इसलिये घी को दोनों ओर इसलिये लगाते हैं कि देवता प्रसन्न हो जायँ ॥१०॥

वह (अर्थात् द्यौ) अनुवाक्य है, यह (अर्थात् पृथिवी) याज्य है। ये दोनों स्त्रीलिंग है। उनमें से हर एक का जोड़ा वषट्कार है। अब वषट्कार वही सूर्य है जो तपता है। जब वह निकलता है तो उस (द्यौ) से सम्पर्क होता है; जब डूबता है तो इस (पृथिवी) से सम्पर्क होता है। इसलिये जो कुछ ये दोनों (द्यौ और पृथिवी) उत्पन्न करते हैं, उस नर (सूर्य) की सहायता से ही उत्पन्न करते हैं ॥११॥

अनुवाक्य को बोलकर और याज्य को करके वषट्कार को करता है। पीछे से ही घूमकर नर मादा के पास जाता है। इसलिये उन दोनों को पहले रखके पुंल्लिङ्ग वषट्कार से पीछे से उनको मिलाता है। इसलिये या तो वषट्कार के साथ आहुति दे या वषट्कार के पीछे ॥१२॥

वषट्कार देवताओं का पात्र है। जैसे (भोजन) पात्र में निकालकर दिया करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी। यदि वषट्कार के पहले ही आहुति देवे तो वह ऐसा (निरर्थक) हो जाय जैसे जमीन पर गिरकर (भोजन) हो जाता है। इसीलिये या तो वषट्कार के साथ आहुति दे या वषट्कार के पीछे ॥१४॥

जैसे योनि में वीर्य-सिंचन होता है वैसे ही यहाँ भी। यदि वषट्कार से पहले आहुति दे तो ऐसा हो जाय मानो योनि में वीर्य गया ही नहीं। इसलिये या तो वषट्कार के साथ आहुति दें या वषट्कार के पीछे ॥१४॥

वह (अर्थात् द्यौ) अनुवाक्य है। यह (पृथिवी) याज्य है। यह (पृथिवी) गायत्री है। वह (द्यौ) त्रिष्टुभ् है। यह जो गायत्री पढ़ता है वह मानो द्यौ को पढ़ता है, क्योंकि अनुवाक्य द्यौ है। इस (पृथिवी) को पढ़ता है क्योंकि गायत्री यह (पृथिवी) है ॥१५॥

त्रिष्टुभ् से यज्ञ करता है। इस प्रकार इस (पृथिवी) से यज्ञ करता है, क्योंकि याज्य पृथिवी है। उस (द्यौ) के ऊपर वषट्कार को रखता है, क्योंकि द्यौ त्रिष्टुभ् है। इस प्रकार वह इन दोनों (पृथिवी और द्यौ) को सयुज कर देता है, और इस प्रकार वे सह-भोजी हो जाते हैं। इन्हीं के सहभोज के पश्चात् सब प्रजा भोजन प्राप्त करती है ॥१६॥

अब वह लड़खड़ाती हुई वाणी से अनुवाक्य को बोलता है। वह (द्यौ) ही अनुवाक्य है। बृहत् (साम) भी वही (द्यौ) है, क्योंकि उसका बृहत् रूप है। याज्य को जल्दी-जल्दी पढ़े। याज्य यही (पृथिवी) है और रथन्तर भी यही (पृथिवी) है, क्योंकि इसका रूप रथन्तर है। अनुवाक्य से वह आवाहन करता है और याज्य से देता है, इसीलिये अनुवाक्य में ऐसे शब्द होते

प्रयच्छति याज्यया तस्मादनुवाक्यायै ब्रूयꣳ हुवे ह्वामहऽआगच्छेदं बर्हिः सीदेति यद्धयति हि तया प्रयच्छति याज्यया तस्माद्याज्यायै ब्रूयं वीहि हविर्जुषस्व हविरावृषाय स्वाद्धि पिब प्रेति यत्प्र हि तया यच्छति ॥१७॥ सा या पुरस्ताल्लक्षणा । सानुवाक्या स्यादसौ ह्यनुवाक्या तस्या अमुष्या अवस्ताल्लक्ष्म चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्यः ॥१८॥ अथ योपरिष्टाल्लक्षणा । सा याज्या स्यादियꣳ हि याज्या तस्या अस्या उपरिष्टाल्लक्ष्मौषधयो वनस्पतय आपोऽग्निरिमाः प्रजाः ॥१९॥ सा ह न्वेव समृद्धानुवाक्या । यस्यै प्रथमात्पदाद्देवतामभिव्याहरति सोऽएव समृद्धा याज्या यस्याऽउत्तमात्पदाद्देवताया अधि वषट्करोति वीर्यं वै देवतर्चस्तदुभयत एवैतद्वीर्येण परिगृह्य यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै प्रयच्छति ॥२०॥ स वै वौगिति करोति । वाग्वै वषट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति षडित्यृतवो वै षडृतुष्वेवैतद्रेतः सिच्यते तदृतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्मादेवं वषट्करोति ॥२१॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुरेतावेवार्धमासौ य एवापूर्यते तं देवा उपायन्योऽपक्षीयते तमसुराः ॥२२॥ ते देवा अकामयन्त । कथं न्विममपि संवृञ्जीमहि योऽयमसुराणामिति तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतꣳ हविर्यज्ञं ददृशुर्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजन्त ताभ्यामिष्ट्वेतमपि समवृञ्जत ॥२३॥ य एषोऽसुराणामासीत् । यदा वाऽएताऽउभौ परिप्लवेतेऽअथ मासो भवति मासशः संवत्सरः सर्वं वै संवत्सरः सर्वमेव तद्देवा असुराणाꣳ समवृञ्जत सर्वस्मात्सपत्नानसुरान्निरभजन्त्सर्वम्वेवैष एतत्सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति य एवमेतद्वेद ॥२४॥ स यो देवानामासीत् । स यवा युवत हि तेन देवा योऽसुराणाꣳ सोऽयवा न हि तेनासुरा अयुवत ॥२५॥ अथोऽइतरथाहुः । य एव देवानामासीत्सोऽयवा न हि तमसुरा अयुवत योऽसुराणाꣳ स यवा युवत हि तं देवाः सब्दमहः सगरा रात्रिर्यव्या मासाः सुमेकः संवत्सरः स्वेको ह वै

हैं—'हुवे' (मैं बुलाता हूँ), 'हवामहे' (हम बुलाते हैं), 'आगच्छ' (आ), 'इदं बर्हिः सीद' (इस आसन पर बैठो)। क्योंकि इन शब्दों द्वारा बुलाता है, याज्य से देता है, इसलिये याज्य में ऐसे शब्द आते हैं—'वीहि हविः' (हवि को स्वीकार करो), 'जुषस्व हविः' (हवि को ग्रहण करो), 'आवृषायस्व' (ग्रहण करो), 'अद्धि' (खाओ), 'पिब' (पियो), 'प्र' (वहाँ), क्योंकि इसी (याज्या) द्वारा तो वह उसको देता है जो 'प्र' अर्थात् दूर है ॥१७॥

अनुवाक्य को 'पुरस्ताल्लक्षण' अर्थात् आदि में सामने लक्षणवाला होना चाहिए। वह (द्यौ) ही अनुवाक्य है और उस (द्यौ) के नीचे के चिह्न हैं—चाँद, नक्षत्र (सूर्य) ॥१८॥

'याज्य' को 'उपरिष्टाल्लक्षण' अर्थात् ऊपर लक्षणवाला होना चाहिए। याज्य यही (पृथिवी) है और इसके ऊपर के लक्षण हैं–ओषधि, वनस्पति, जल, अग्नि और यह प्रजा ॥१९॥

वही अनुवाक्य श्रेष्ठ होता है जिसके पहले पद में देवता का नाम आता है। याज्य वही श्रेष्ठ होती है जिसके अन्तिम पद में देवता के लिए वषट् किया जाता है। देवता ऋक् ही वीर्य है। मानो दोनों ओर से बल से पकड़कर हवि को उस देवता के अर्पण करता है जिसके लिए वह हवि होता है ॥२०॥

अब कहता है 'वौक्'। वाणी ही वषट्कार है। वाणी ही वीर्य है। इस प्रकार वह वीर्य-सिंचन करता है। फिर कहता है 'षट्', क्योंकि छः ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं में ही वीर्य-सिंचन करता है। ऋतुओं से सींचा हुआ यह वीर्य इन प्रजाओं को उत्पन्न करता है, इसलिये वषट् करता है ('वषट्' के दो भाग हैं—'व' और 'षट्') ॥२१॥

अब प्रजापति की दोनों सन्तान देव और असुर अपने पिता के दायभाग अर्थात् दोनों अर्द्धमासों (पक्षों) को प्राप्त हुए। जो बढ़ता है उसको देव, जो घटता है उसको असुर ॥२२॥

देवों ने चाहा कि किस प्रकार उस भाग को भी ले लें जिसको असुर लिये हुए हैं। वे पूजा और परिश्रम करते रहे। उन्होंने इस हविर्यज्ञ अर्थात् दर्शपूर्णमास यज्ञ को देखा और उनको किया। इनको करके उन्होंने उस एक को ले लिया— ॥२३॥

जो असुरों का था। जब ये दोनों चलते हैं तो महीना होता है। महीने से साल होता है। संवत्सर का अर्थ है 'सब'। इसलिये इस प्रकार देवों ने असुरों का सब लेकर मानो अपने शत्रु असुरों का सब ले लिया। इस प्रकार वह भी जो इस रहस्य को समझता है अपने शत्रुओं का सब-कुछ ले लेता है। अपने शत्रुओं को सबसे वंचित कर देता है ॥२४॥

जो देवों का अर्द्धमास था उसे 'यवा' कहते हैं, क्योंकि देव उससे युक्त थे ('यु' का अर्थ है जुड़ना)। जो असुरों का था उसे 'अयवा' कहते हैं, क्योंकि असुर उससे युक्त न रह सके ॥२५॥

परन्तु अन्यथा भी कहते हैं। जो देवों का था उसे 'अयवा' कहते हैं, क्योंकि असुर उसको न ले सके, और जो असुरों का था उसे 'यवा' कहते हैं क्योंकि देवों ने उसे ले लिया। दिन को 'सब्द' कहते हैं, रात्रि को 'सागरा', महीने को 'यव्य', और वर्ष को 'सुमेक'। 'स्वेक' ही 'सुमेक'

नामैतद्यत्सुमेक इति यदा च हि वाऽग्रयवा यवेतीवाथ येनैतेषाᳲ होता भवति तद्याविहोत्रमित्याचक्षते ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥५[७.२.]॥ ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥ ॥

यज्ञेन वै देवाः । दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत ॥१॥ स येनैव देवा दिवमुपोदक्रामन् । तेनोऽएवार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुरथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे य इहाहीयत ॥२॥ स ऐक्षत । अहास्य हाल्पयल्यु मा यज्ञादिति सोऽनूद्यक्राम स आयतयोत्तरत उपोत्पेदे स एष स्विष्टकृतः कालः ॥३॥ ते देवा अब्रुवन् । मा विस्रक्षीरिति ते वै मा यज्ञान्मान्तर्गताहुतिं मे कल्पयतेति तथेति स समवृहत्स नास्यत्स न कं चनाहिनत् ॥४॥ ते देवा अब्रुवन् । यावन्ति नो हवीᳲषि गृहीतान्यभूवन्त्सर्वेषां तेषाᳲ हुतमुपजानीत यथास्माऽआहुतिं कल्पयामेति ॥५॥ तेऽध्वर्युमब्रुवन् । यथापूर्वᳲ हवीᳲष्यभिघारयैकस्माऽअवदानाय पुनराप्याययायातयामानि कुरु तत एकैकमवदानमवद्येति ॥६॥ सोऽध्वर्युः । यथापूर्वᳲ हवीᳲष्यभ्यघारयदेकस्माऽअवदानाय पुनराप्याययद्यातयामान्यकरोत्तत एकैकमवदानमवाद्यत्तस्माद्वास्तव्य इत्याहुर्वास्तु हि तद्यज्ञस्य यद्धुतेषु हविःषु नस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यन्ति सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तः सर्वत्र ह्येवैनं देवा अन्वाभजन् ॥७॥ तद्वाऽअग्नयऽइति क्रियते । अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमं तस्मादग्नयऽइति क्रियते स्विष्टकृतऽइति ॥८॥ ते होचुः । यद्वय्यमुत्र सत्यपद्महि तन्नः स्विष्टं कुर्विति तदेभ्यः स्विष्टमकरोत्तस्मात्स्विष्टकृतऽइति ॥९॥ सोऽनुवाक्यामनूच्य संपश्यति । ये तथाग्निᳲ स्विष्टकृतमयाडग्निरग्नेः प्रिया धामानीति तदग्नियमाज्यभागमाहायाट्सोमस्य

है। यवा और अयवा, जिसको 'यवा' भी कहते हैं, इससे ही 'होता' सम्बन्धित होता है, इसलिये उसको 'याविहोत्र' कहते हैं ॥२६॥

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

यज्ञ से ही देवों ने द्यौलोक को प्राप्त किया। जो देव पशुओं का अधिष्ठाता था वह यहीं रह गया, इसलिए उसको 'वास्तव्यं' कहा, क्योंकि वह वहाँ 'वास्तु' अर्थात् वेदि में रह गया ॥१॥

जिस यज्ञ के द्वारा देव द्यौलोक को चढ़े थे, उसी यज्ञ से वे पूजा और परिश्रम करते रहे। अब जो पशुओं का अधिष्ठाता देव था और जो यहीं रह गया था—॥२॥

उसने देखा 'अरे ! मैं यहाँ रह गया, ये मुझे यज्ञ से निकाले दे रहे हैं !' वह उनके पीछे-पीछे चढ़ा और अपने (शस्त्र को) उठाकर उत्तर की ओर चला। यह स्विष्टकृत् आहुति का समय था ॥३॥

वे देव बोले—'(शस्त्र) मत मार।' (उन्होंने कहा) 'मुझे यज्ञ से बहिष्कृत न करो। मेरे लिए आहुति दो।' देवों ने कहा—'अच्छा।' उसने शस्त्र हटा लिया; न मारा, न किसी को सताया ॥४॥

ये देव बोले—'जितनी हवियाँ हमारे लिए ली गईं, वे सब दी जा चुकीं। अब सोचो जिससे इसके लिए एक आहुति दे सकें' ॥५॥

उन्होंने अध्वर्यु से कहा—'पूर्व की भाँति हवियों के ऊपर घी छोड़ो (अभिधारय)। एक अवदान (भाग) के लिए फिर पूरा करो। और फिर एक-एक भाग अलग-अलग कर दो' ॥६॥

अध्वर्यु ने पूर्व की भाँति हवियों पर घी छोड़ा, एक भाग के लिए फिर पूरा किया और तैयार करके एक-एक भाग को अलग किया। इसलिये उस रुद्र को वास्तव्य कहा, क्योंकि यज्ञ में दी हुई आहुतियों की हवि में से जो कुछ बच रहता है उसको 'वास्तु' कहते हैं। इसलिये जिस किसी देवता के लिए 'हवि' दी जाती है, सब जगह 'स्विष्टकृत्' (अर्थात् अग्नि) को पीछे से आहुति देते हैं, क्योंकि सर्वत्र ही देवों ने अग्नि को पीछे से भाग दिया ॥७॥

वह अग्नि के लिए ही दी जाती है। अग्नि ही वह देव है। उसके ये नाम हैं—'शर्व' पूर्व के लोग कहते हैं, 'भव' बाहीक लोग कहते हैं, 'पशुओं का पति', 'रुद्र', 'अग्नि'। उसमें और नाम अशान्त अर्थात् अशुभ हैं। केवल 'अग्नि' एक नाम ही शान्त या शुभ है, इसलिये यह आहुति 'अग्नि' (स्विष्टकृत्) के लिए दी जाती है ॥८॥

उन्होंने कहा—'जो आहुति हमने तुझ दूर ठहरे हुए को दी, उसे तू हमारे लिए स्विष्ट (हितकर) बना दे।' उसने उनके लिए उस आहुति को शुभ कर दिया, इसलिये उसका नाम 'स्विष्टकृत्' हुआ ॥९॥

वह (होता) अनुवाक्य को बोलकर देखता है कि किन्हों ने अग्नि स्विष्टकृत् को लिया। 'अग्नि, अग्नि के प्रिय धामों को दे।' इससे अग्नि के आज्य भाग का तात्पर्य है 'सोम के प्रिय धामों

प्रिया धामानीति तत्सौम्यमाज्यभागमाहायाडग्नेः प्रिया धामानीति तद्ध एष उभ-
यत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तमाह ॥१०॥ अथ यथादेवतम् । अयाड्दे-
वानामाज्यपानां प्रिया धामानीति तत्प्रयाजानुयाजानाह प्रयाजानुयाजा वै देवा
आज्यपा यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानीति तदग्निꣳ होतारमाह तदस्माऽएतां देवा
आहुतिं कल्पयित्वाथैनेनैतद्भूयः समशाम्यन्प्रियऽएनं धामन्नुपाह्वयन्त तस्मादिवꣳ सं-
पश्यति ॥११॥ तद्धैके । देवतां पूर्वां कुर्वन्त्ययाट्कारादग्नेरयाट्सोमस्यायाडिति तदु
तथा न कुर्याद्विलोम ह ते यज्ञे कुर्वन्ति ये देवतां पूर्वां कुर्वन्त्ययाट्कारादिदꣳ हि
प्रथममभिव्याहरन्नयाट्कारमेवाभिव्याहरति तस्मादयाट्कारमेव पूर्वं कुर्यात् ॥१२॥
यक्षत्स्वं महिमानमिति । यत्र वाऽअदो देवता आवाहयति तदपि स्वं महिमा-
नमावाहयति तदतः प्राङ्गिय किं चन स्वाय महिम्नऽइति क्रियते तदत्र तं प्रीणा-
ति तथो हास्यैषोऽमोघायावाहितो भवति तस्मादाह यक्षत्स्वं महिमानमिति
॥१३॥ आ यजतामेज्या इष इति । प्रजा वाऽइषस्ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता
इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति ॥१४॥ सोऽअध्वरा जातवेदा जुष-
ताꣳ हविरिति । तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि म-
हज्जयति तस्मादाह जुषताꣳ हविरिति ॥१५॥ तद्यदेतेऽअत्र । याज्यानुवाक्ये
ऽअवक्लृप्ततमे भवतस्तृतीयसवनं वै स्विष्टकृद्वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं पिप्रीहि दे-
वाँ२॥ऽउशतो यविष्ठेति तदनुवाक्यायै वैश्वदेवमग्ने यदद्य विशोऽअध्वरस्य होत-
रिति तद्याज्यायै वैश्वदेवं तद्यदेतेऽएवꣳरूपे भवतस्तेनोऽएते तृतीयसवनस्य रूपं
तस्माद्वाऽएतेऽअत्र याज्यानुवाक्येऽअवक्लृप्ततमे भवतः ॥१६॥ ते वै त्रिष्टुभौ भ-
वतः । वास्तु वाऽएतद्यज्ञस्य यत्स्विष्टकृद्वीर्यं वै वास्त्विन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबिन्द्रि-
यमेवैतद्वीर्यं वास्तौ स्विष्टकृति दधाति तस्मात्त्रिष्टुभौ भवतः ॥१७॥ उतोऽअनु-
ष्टुभाविव भवतः । वास्त्वनुष्टुब्वास्तु स्विष्टकृद्वास्ताविवैतद्वास्तु दधाति पेसुकं वै

को दे।' इससे सोम आज्य का तात्पर्य है। 'अग्नि के प्रिय धामों को दे'—इससे जो अग्नि का पुरोडाश है उससे तात्पर्य है ॥१०॥

अब देवताओं के लिए—'वह आज्य पीनेवाले देवों के लिए प्रिय धामों को देवे।' इससे प्रयाज और अनुयाज से तात्पर्य है, क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य पान करनेवाले देव हैं। 'वह होता अग्नि के प्रिय धामों का यज्ञ करे।' यहाँ अग्नि का होता के रूप में तात्पर्य है। क्योंकि जब देवों ने उसके लिए अलग आहुति विचार कर ली, उन्होंने उसको इसके द्वारा शान्त किया, और उसको उसके प्रिय धाम (पदार्थ) के लिए बुलाया। इसी प्रयोजन से वह इस प्रकार सोचता है ॥११॥

कुछ लोग अयाट्कार से पहले देवताओं का नाम लेते हैं। इस प्रकार—'अग्नेः अयाट्' (अग्नि का [भाग] देवें)। 'सोमस्य अयाट्' (सोम का [भाग] देवें)। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो 'अयाट्' से पहले देवता का नाम लेते हैं, वे यज्ञ का क्रम बिगाड़ देते हैं। क्योंकि 'अयाट्' पहले कहकर ही यज्ञ में जो पहले कहना चाहिए वह कहा जाता है, इसलिये पहले अयाट्कार ही कहना चाहिए।।१२॥

अब होता अग्नि को सम्बोधन करके कहता है–"यज्ञत् स्वं महिमानम्"–"अपनी महिमा के लिए यज्ञ करे।" जहाँ इस प्रकार अग्नि के द्वारा देवताओं का आवाहन करता है वह (अग्नि की) निज महिमा का भी आवाहन करता है। इससे पहले उसकी निज महिमा के लिए कुछ नहीं किया गया, इसलिये इस प्रकार उसको प्रसन्न करता है। इसलिये (अग्नि की स्थापना) विघ्न निवारण के लिए होती है। इसलिये कहा—'अपनी महिमा के लिए यज्ञ करे' ॥१३॥

अब कहता है—"आ यजतामेज्या इषः"—"यज्ञ के योग्य अन्न का यज्ञ किया जाय।" इष (अन्न) का अर्थ है यहाँ 'प्रजा' से। इस प्रकार प्रजाओं को यज्ञ करने के प्रति उत्साही बनाता है। ये प्रजा के लोग यज्ञ, पूजा और श्रम करते रहते हैं। ('प्रजा' का अर्थ उत्पन्न हुए प्राणी आदि) ॥१४॥

अब कहता है—"अध्वरा जातवेदा जुषताꣳ हविः"—"हानि न पहुँचानेवाले और सब उत्पन्न हुए पदार्थों को जाननेवाले (देव) पवित्र हवि को करें।" इस प्रकार वह यज्ञ की समृद्धि को चाहता है। क्योंकि यदि देवों ने हवि ले ली तो मानो उसकी बड़ी सफलता हो गई, इसलिये कहता है—'हवि को ले' ॥१५॥

यहाँ 'याज्य' और 'अनुवाक्य' बहुत-कुछ एक-से हो जाते हैं। स्विष्टकृत् तृतीय सवन (सायंकाल का यज्ञ) है। तृतीय सवन विश्वे देवों का होता है। "पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ।"–"हे सबसे युवा! तुम इच्छुक देवों को प्रसन्न करो।" यह अंश अनुवाक्य का वैश्वदेव के लिए है। "अग्ने यदद्य विशोऽध्वरस्य होतः"—"हे यज्ञ के होता अग्नि! जो तुम आज लोगों के पास (आओ)।" याज्य का यह भाग वैश्व देवों के लिए है। चूँकि इन दोनों का ऐसा रूप है इसलिये यह तृतीय सवन का रूप है। इसीलिये इस स्थान पर याज्य और अनुवाक्य बहुत-कुछ एक-से हो जाते हैं ॥१६॥

ये दोनों त्रिष्टुभ् के होते हैं। यज्ञ में जो स्विष्टकृत् है वह वास्तु के समान है। वास्तु वीर्यहीन अर्थात् निर्बल होती है। त्रिष्टुभ् वीर्यवान् है। इस प्रकार स्विष्टकृत् में वीर्य (बल) धारण कराता है। इसीलिये ये दोनों त्रिष्टुभ् हैं ॥१७॥

या वे दोनों अनुष्टुभ् होते हैं। अनुष्टुभ् वास्तु है। स्विष्टकृत् वास्तु है। इस प्रकार वास्तु

वास्तु पिस्यति ह प्रजया पशुभिर्यस्यैवं विदुषोऽनुष्टुभौ भवतः ॥१८॥ तदु ह भाल्लवेयः । अनुष्टुभमनुवाक्यां चक्रे त्रिष्टुभं याज्यामेतदुभयं परिगृह्णामीति स र-थात्पपात स पतित्वा बाहुमपि शश्रे स परिममृशे यत्किमकरं तस्मादिदमापदिति स हैतदेव मेने यद्विलोम यज्ञेऽकरमिति तस्मान्न विलोम कुर्यात्सछन्दसाविव स्यातामुभे वैवानुष्टुभाऽउभे वा त्रिष्टुभौ ॥१९॥ स वाऽउत्तरार्धादवद्यति । उत्त-रार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादुत्तरार्धादवद्यत्युत्तरार्धे जुहोत्येतस्यै वै दि-श उदपद्यत तं तत एवाशमयंस्तस्मादुत्तरार्धादवद्यत्युत्तरार्धे जुहोति ॥२०॥ स वाऽअभ्यर्धऽ-इवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति । इतरा आहुतीः पशवोऽनुप्रजायन्ते रुद्रियः स्विष्टकृद्रुद्रियेण पशून्प्रसजेद्यदितराभिराहुतिभिः सꣳसृजेत्तेऽस्य गृह्याः पशव उपमूर्यमाणा ईयुस्तस्मादभ्यर्धऽ-इवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति ॥२१॥ एष वै स-यज्ञः । येन तद्देवा दिवमुपोदक्रामन्नेष आहवनीयोऽथ य इहाहीयत स गार्हप-त्यस्तस्मादेतं गार्हपत्यात्प्राञ्चमुद्धरन्ति ॥२२॥ तं वाऽअष्टासु विक्रमेष्वादधीत । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति ॥२३॥ एकादशस्वादधीत । ए-कादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रिष्टुभैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति ॥२४॥ द्वादशस्वादधीत । द्वाद-शाक्षरा वै जगती जगत्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति नात्र मात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत तदादधीत स यद्याऽअप्यल्पकमिव प्राञ्चमुद्धरति तेनैव दिवमुपोत्क्रामति ॥२५॥ तदाहुः । आहवनीये हवीꣳषि श्रपयेयुरतो वै देवा दिवमुपोदक्रामंस्तेनो ऽएवार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तस्मिन्हवीꣳषि श्रपयाम तस्मिन्यज्ञं तनवामहाऽइत्यप-स्खल-इव ह स हविषां यद्गार्हपत्ये श्रपयेयुर्यज्ञ आहवनीयो यज्ञे यज्ञं तनवाम-हाऽइति ॥२६॥ उतो गार्हपत्यऽएव श्रपयन्ति । आहवनीयो वाऽएष न वा ऽएष तस्मै यदस्मिन्नशृतꣳ श्रपयेयुस्तस्मै वाऽएष यदस्मिंछृतं जुहुयुरित्यतो यतर-था कामयेत तथा कुर्यात् ॥२७॥ स हैष यज्ञ उवाच । नग्नताया वै बिभेमीति

में वास्तु रखता है। उसका घर फूलता-फलता है, उसकी सन्तान और पशु फूलते-फलते हैं, जो इस रहस्य को समझता है और जिसके (अनुवाक्य तथा याज्य) अनुष्टुभ् होते हैं ॥१८॥

भाल्लबेय ने अनुवाक्य को अनुष्टुभ् छन्द में किया और याज्य को त्रिष्टुभ् में, जिससे दोनों का फल मिल जाय। वह रथ से गिर गया और बाहु टूट गये। उसने सोचा—'कोई काम मुझसे ऐसा हुआ है जिसके कारण यह गति हुई।' इसपर उसने समझा कि 'मैंने यज्ञ के क्रम को विलोम (उलटा) कर दिया।' इसलिये यज्ञ के क्रम को विलोम नहीं करना चाहिए। (याज्य और अनुवाक्य) एक ही छन्द में होना चाहिए चाहे अनुष्टुभ् में या त्रिष्टुभ् में ॥१९॥

वह (स्विष्टकृत् के लिए हवियों को) उत्तरी भाग में से काटता है और (कुण्ड के) उत्तरी भाग में आहुति देता है। इस देव की यही दिशा है। इसलिये वह उत्तरी भाग में से काटता है और उत्तरी भाग में आहुति देता है। इसी दिशा में वह उत्पन्न हुआ और इसी दिशा में शान्त किया गया। इसलिये उत्तरी भाग से काटकर उत्तरी भाग में आहुति देता है ॥२०॥

वह इन आहुतियों के इसी ओर (सामने ही) आहुति देता है और आहुतियों के पश्चात् ही प्रजाएँ होती हैं। स्विष्टकृत् रुद्र की शक्ति (रुद्रियः) है। यदि वह (स्विष्टकृत् आहुति को) अन्य आहुतियों से मिला दे तो मानो वह पशु पर रुद्र की शक्ति को लाये और उसके घर और पशु नष्ट हो जायँ। इसलिए स्विष्टकृत् (आहुति) को अन्य आहुतियों के इधर ही देता है ॥२१॥

यह वही यज्ञ था जिससे देव द्यौलोक को चढ़ गये, अर्थात् यह आहवनीय अग्नि। जो पीछे वहाँ रह गई वह गार्हपत्य अग्नि है। इसलिये वे इस (आहवनीय अग्नि) को गार्हपत्य अग्नि से लेते हैं जिससे वह उसकी पूर्व की ओर रहे (उसका प्राथम्य हो) ॥२२॥

उस (आहवनीय अग्नि) को (गार्हपत्य अग्नि से) आठ पग की दूरी पर रक्खे। आठ अक्षर की गायत्री होती है। इस प्रकार वह गायत्री के द्वारा द्यौ को चढ़ता है ॥२३॥

या वह ग्यारह पग पर रक्खे। ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुभ् होता है। इस प्रकार वह त्रिष्टुभ् के द्वारा द्यौ लोक को चढ़ता है ॥२४॥

या बारह पगों की दूरी पर रक्खे। बारह अक्षर की जगती होती है। जगती के द्वारा ही वह द्यौलोक को चढ़ता है। यहाँ कोई मात्रा निश्चित नहीं है। जहाँ मन चाहे वहीं रख दे। थोड़ा ही पूर्व की ओर भी रक्खे तो उससे भी द्यौलोक को चढ़ सकता है ॥२५॥

कुछ लोग कहते हैं कि आहवनीय पर ही हवियों को पकावे, क्योंकि इसी से देव द्यौलोक को चढ़े थे और इसी से ये पूजा और श्रम करते रहे। उसी में हम हवियों को पकावें, उसी में यज्ञ करें। यदि गार्हपत्य पर पकावेंगे तो अपस्खल होगा (अनुचित होगा)। यह आहवनीय यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ में यज्ञ को करते हैं ॥२६॥

परन्तु गार्हपत्य पर भी पकाते हैं। (उनकी युक्ति यह है कि) यह तो आहवनीय है। यह इस काम के लिए तो है नहीं कि उस पर बिना पकाया हुआ पकाया जाय। यह तो इसलिए है कि उस पर पकाये हुए की आहुति दी जाय। इसलिए (हमारी सम्मति में) जहाँ इच्छा हो वहाँ पकावे ॥२७॥

यज्ञ ने कहा 'मुझे नंगेपन से डर लगता है।' (उससे पूछा गया कि) 'तेरे लिए अ-नंगापन

का तेऽनयतेत्यभित एव मा परिस्तृणीयुरिति तस्मादेतदग्निमभितः परिस्तृणन्ति तृष्णाया वै बिभेमीति का ते तृप्तिरिति ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनुतृप्येयमिति तस्मात्सꣳस्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद्यज्ञमेवैतत्तर्पयति ॥२८॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥ १[७. ३.] ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ । दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति ताꣳ संबभूव ॥१॥ तद्वै देवानामाग आस । य इत्थꣳ स्वां दुहितरमस्माकꣳ स्वसारं करोतीति ॥२॥ ते ह देवा ऊचुः । योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽतिसंधं वा अयं चरति य इत्थꣳ स्वां दुहितरमस्माकꣳ स्वसारं करोति विध्येममिति तꣳ रुद्रोऽभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कन्द तथेन्नूनं तदास ॥३॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चदिति तदाग्निमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद्व्याख्यायते यथा तद्देवा रेतः प्राजनयंस्तेषां यदा देवानां क्रोधो व्यैदथ प्रजापतिमभिषज्यंस्तस्य तꣳ शल्यं निरकृन्तन्स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ॥४॥ ते होचुः । उपजानीत यथेदं नामुयासत्कनीयो ह्याहुतेर्यथेदꣳ स्यादिति ॥५॥ ते होचुः । भगायैनद्दक्षिणत आसीनाय परिहरत तद्भगः प्राशिष्यति तद्यथाहुतमेवं भविष्यतीति तद्भगाय दक्षिणत आसीनाय पर्याजह्रुस्तद्भगोऽवेक्षां चक्रे तस्याक्षिणी निर्ददाह तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरन्धो भग इति ॥६॥ ते होचुः । नो न्वेवात्राशमत्पूष्ण एनत्परिहरतेति तत्पूष्णे पर्याजह्रुस्तत्पूषा प्राश तस्य दतो निर्जघान तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति यथादन्तकायैवम् ॥७॥ ते होचुः । नो न्वेवात्राशमद्बृहस्पतय एनत्परिहरतेति तद्बृहस्पतये पर्याजह्रुः स बृहस्पतिः सवितारमेव प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳ सवितृप्रसूतं नाहिनत्ततोऽर्वाचीनꣳ शान्तं तदेतन्निदानेन

क्या है ?' (उसने उत्तर दिया) 'मेरे चारों ओर कुशा दो।' इसलिए यज्ञ के चारों ओर कुश बिछाते हैं। (यज्ञ ने कहा), 'मुझे प्यास से डर लगता है।' (उन्होंने पूछा) 'तेरी तृप्ति कैसे होती है ?' (उसने उत्तर दिया) 'ब्राह्मण की तृप्ति से मेरी तृप्ति होती है।' इसलिए यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मण की तृप्ति करने के लिए बोलना चाहिए, क्योंकि इससे यज्ञ की तृप्ति होती है ।।२८।।

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

प्रजापति अपनी लड़की अर्थात् द्यौ या उषा पर मोहित हो गये और प्रसंग की इच्छा हुई; उससे प्रसंग किया ।।१।।

देवों के लिए यह पाप था कि यह अपनी ही लड़की, हमारी बहिन के साथ ऐसा करता है ।।२।।

उन देवों ने उस देव से जो पशुओं का अधिष्ठाता (रुद्र) है कहा कि यह जो पाप करता है कि अपनी ही लड़की, हमारी बहिन के साथ ऐसा करता है, उसको बाँध दो। रुद्र ने निशाना ताककर उसे बींध दिया। उसका आधा वीर्य गिर पड़ा। यह ऐसे हुआ ।।३।।

इसीलिए ऋषि ने ऐसा कहा, 'जब पिता ने अपनी ही लड़की से प्रसंग किया तो उसका वीर्य भूमि पर गिर पड़ा' (ऋग्वेद १०।६१।७)। यह अग्नि-मारुत् उक्थ (गीत) हो गया। इसी सम्बन्ध में आख्यायिका है कि किस प्रकार देवों ने इस वीर्य को उपजाया। जब देवों का क्रोध कम हुआ तो प्रजापति का इलाज किया और उस (रुद्र) का तीर निकाला, क्योंकि यज्ञ ही प्रजापति है ।।४।।

उन्होंने कहा, 'कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि यह (यज्ञ अर्थात् प्रजापति के शरीर का वह भाग जो तीर से छिद गया था) नष्ट न हो जाय। छोटी-सी आहुति से यह काम कैसे हो ? ।।५।।

उन्होंने कहा, 'दक्षिण की ओर बैठे हुए 'भग' के पास इसे ले जाओ। भग इसको खा लेगा। यह आहुति दिये हुए के समान हो जायगा।' बस वे उसको दक्षिण की ओर बैठे हुए भग के पास ले गये। भग ने उसकी ओर देखा। उसने (भग की) आँखें जला दीं। ऐसा ही हुआ। इसीलिए कहते हैं कि भग अन्धा है ।।६।।

उन्होंने कहा, 'यह अभी शान्त नहीं हुआ। इसको पूषा के पास ले जायेंगे।' वे पूषा के पास ले गये। पूषा ने उसे चक्खा। उसने (पूषा का) दाँत तोड़ दिया। यह ऐसा ही हुआ। इसीलिए कहते हैं कि पूषा (अदन्तक) बिना दाँतवाला है। इसीलिए पूषा के लिए जो चरु बनाते हैं वह पिसे हुए अन्न की बनाते हैं जैसे बिना दाँतवालों के लिए बनाया जाता है ।।७।।

उन्होंने कहा, 'वह अभी शान्त नहीं हुआ। बृहस्पति के पास इसे ले जाओ।' ये बृहस्पति के पास ले गये। बृहस्पति ने सविता के पास प्रसव (प्रेरणा) के लिए भेज दिया। सविता ही देवों का प्रेरक (प्रसविता) है। उसने कहा, 'इसकी मुझे प्रेरणा करो।' प्रेरक सविता ने उसकी उसके लिए प्रेरणा की। चूँकि वह सविता से प्रसूत अर्थात् प्रेरित हुआ था, इसीलिए उसने सविता को हानि नहीं पहुँचाई। इसीलिए अब वह शान्त हो गया। निदान में यह वही है जो प्राशित्र (पहला

यत्प्राशित्रꣳ ॥८॥ स यत्प्राशित्रमवद्यति । यदेवात्राविद्धं यज्ञस्य यद्रुद्रियं तदेवैत-
न्निर्मिमीतेऽथाप उपस्पृशति शान्तिरापस्तदद्भिः शमयत्यथेडां पशून्त्समवद्यति ॥९॥
स वै यावन्मात्रमिवैवावद्येत् । तथा शल्यः प्रच्यवते तस्माद्यावन्मात्रमिवैवाव-
द्येदन्यतरत आज्यं कुर्यादधस्ताद्वोपरिष्टाद्वा तथा स्वदन्निःसरणवद्भवति तथा नि-
स्रवति तस्मादन्यतरत आज्यं कुर्यादधस्ताद्वोपरिष्टाद्वा ॥१०॥ स आज्यस्योपस्तीर्य ।
द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति तद्यथैव यज्ञस्यावदानमेवमेतत्॥११॥
तन्न पूर्वेण परिहरेत् । पूर्वेण हैके परिहरन्ति पुरस्ताद्धि प्रत्यञ्चो यजमानं पशव
उपतिष्ठन्ते रुद्रियेण ह पशून्प्रसजेद्यत्पूर्वेण परिहरेत्तेऽस्य गृह्याः पशव उपमूर्य-
माणा ईयुस्तस्मादित्येव तिर्यक्प्रजिह्रीत तथा ह रुद्रियेण पशून्न प्रसजति तिर्यगे-
वैनं निर्मिमीते ॥१२॥ तत्प्रतिगृह्णाति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहु-
भ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति ॥१३॥ तद्यथैवादो बृहस्पतिः । सवितारं
प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवाना प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रस-
विता प्रासुवत्तदेनꣳ सवितृप्रसूतं नाहिनदेवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोप-
धावति सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्र-
सौति तदेनꣳ सवितृप्रसूतं न हिनस्ति ॥१४॥ तत्प्राश्नाति । अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्ना-
मीति न वाऽअग्निं किं चन हिनस्ति तथो हैनमेतन्न हिनस्ति ॥१५॥ तन्न दद्भिः
खादेत् । नेन्मऽइदꣳ रुद्रियं दतो हिनसदिति तस्मान्न दद्भिः खादेत् ॥१६॥ अ-
थाप आचामति । शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतेऽथ परिक्षाल्य पात्रम् ॥१७॥
अथास्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति । ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता स एतं
भागं प्रतिविदान आस्ते यत्प्राशित्रं तदस्मै पर्याहार्षुस्तत्प्राशीदथ यमस्मै ब्रह्मभागं
पर्याहरन्ति तेन भागी स यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तदभिगोपायति तस्माद्वा
ऽअस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ॥१८॥ स वै वाचंयम एव स्यात् । ब्रह्मन्प्रस्थास्या

भाग) है ॥८॥

जब वह प्राशित्र को काटता है तो मानो यज्ञ का वह भाग काटता है जो (तीर से) बिंधा हुआ था जो रुद्र का भाग था। अब वह जलों को छूता है। जल शान्ति है। इस प्रकार जलों के द्वारा शान्त करता है। अब इडा को जो पशु (का प्रतिनिधि) है, काटता है ॥९॥

उसको बहुत थोड़ा भाग काटना चाहिए। इससे तीर निकल आता है। इसलिए थोड़ा-सा ही काटना चाहिए। अब एक ओर घी रक्खे, चाहे नीचे, चाहे ऊपर। इस प्रकार जो कठोर है वह नरम हो जाता है और बहने लगता है। इसलिए एक ओर घी रक्खे, चाहे नीचे, चाहे ऊपर ॥१०॥

घी से चुपड़कर हवि से दो टुकड़े काटकर ऊपर घी लगाता है, क्योंकि ऐसा करने से ही वह यज्ञ का भाग होता है ॥११॥

उसको (आहवनीय अग्नि के) पूर्व में न ले जाये। कुछ लोग पूर्व में ले जाते हैं, क्योंकि पूर्व में पशु यजमान की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। यदि पूर्व को ले जायगा तो पशुओं में रुद्र की शक्ति दे देगा, और उसके घरवाले पशु नष्ट हो जायेंगे। इसलिए उसको इस प्रकार मुड़कर ले जाना चाहिए। इससे वह पशुओं में रुद्र की शक्ति न देगा और इस (तीर) को मुड़कर निकाल देगा ॥१२॥

उसको वह इस मंत्र से ग्रहण करता है, "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि" (यजु० २।११)—"तुझको सविता देव की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से, पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ" ॥१३॥

अब जैसे बृहस्पति पहले प्रेरणा के लिए सविता के पास गया, क्योंकि देवताओं का प्रेरक सविता है और उससे कहा, 'प्रेरणा कर', उसने प्रेरणा की और सविता से प्रेरित होकर उसने हानि नहीं पहुँचाई, इसी प्रकार यह पुरोहित भी सविता के पास प्रेरणा के लिए जाता है, और कहता है, 'मुझे प्रेरणा कर।' क्योंकि सविता देवों का प्रेरक है, सविता उसको प्रेरणा करता है और प्रेरित होकर वह उसको हानि नहीं पहुँचाता ॥१४॥

उस प्राशित्र को इस मन्त्र से खाता है, "अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि" (यजु० २।११)—"मैं तुझे अग्नि के मुँह से खाता हूँ।" अग्नि को कोई हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार इस पुरोहित को भी यह हानि नहीं पहुँचाता ॥१५॥

इसको दाँतों से न चबावे। 'कहीं यह रुद्र का भाग मेरे दाँतों को हानि न पहुँचावे!' इसलिए वह इसको दाँतों से न चबावे ॥१६॥

अब जल से आचमन करता है। जल शान्ति है, इसलिए जलरूपी शान्ति से शान्त करता है। अब पात्रों को धोकर—॥१७॥

वे उसके पास ब्रह्म-भाग को लाते हैं। वस्तुतः ब्रह्मा यज्ञ के दक्षिण भाग में संरक्षक होकर बैठता है। वह इस भाग के सामने बैठता है। जो प्राशित्र था वे उसके पास ले आये और उसने खा लिया। अब जो ब्रह्म-भाग वे उसके पास लाते हैं वह उसको अपने भाग के रूप में लेता है। अब यज्ञ का जो भाग अधूरा रहता है वह उसकी रक्षा करता है। इसलिए वे उसके लिए ब्रह्म-भाग को लाते हैं ॥१८॥

अब वह चुपचाप रहे जब तक (अध्वर्यु) न कहे कि, 'हे ब्रह्मा! मैं आगे चलूँ?' जो

मीत्येतस्माद्वचसो विवृहन्ति वाऽएते यज्ञं छणवन्ति ये मध्ये यज्ञस्य पाकयज्ञियये-
ड्या चरन्ति ब्रह्मा वाऽऋत्विजां भिषक्तमस्तद्ब्रह्मा संदधाति न ह संदध्याद्यद्वावद्य-
मान आसीत तस्माद्वाचंयम एव स्यात् ॥१९॥ स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्या-
हरेत् । तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो
हैषा प्रायश्चित्तिः ॥२०॥ स यत्राह ब्रह्मन्प्रस्थास्यामीति तद्ब्रह्मा जपत्येतं ते देव
सवितर्यज्ञं प्राहुरिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता बृ-
हस्पतये ब्रह्मणऽइति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तद्य एव देवानां ब्रह्मा तस्मा
ऽएवैतत्प्राह तस्मादाह बृहस्पतये ब्रह्मणऽइति तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन
मामवेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥२१॥ मनो ज्योतिर्जुषतामाज्यस्येति । मनसा
वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ
समिमं दधात्विति यद्विवृढं तत्संदधाति विश्वे देवास इह मादयन्तामिति सर्वं वै
विश्वे देवाः सर्वेणैवैतत्संदधाति स यदि कामयेत ब्रूयात्प्रतिष्ठेति यद्यु कामयेतापि
नाद्रियेत ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥ २.[७.४.] ॥ अध्यायः ॥७॥ ॥

मनवे ह वै प्रातः । अवनेग्यमुदकमाजह्रुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं
तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे ॥१॥ स हास्मै वाचमुवाद । बिभृहि
मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा त-
तस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ॥२॥ स होवाच । यावद्वै क्षुल्लका भ-
वामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे
बिभरासि स यदा तामतिवर्धाऽअथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा ता-
मतिवर्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वाऽअतिनाष्ट्रो भवितास्मीति ॥३॥
शश्वद्ध झष आस । स हि ज्येष्ठं वर्धतेऽथेतिथीꣳ समां तदौघ आगन्ता तन्मा ना-
वमुपकल्प्योपासासै स औघऽउत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मीति ॥४॥

(ऋत्विज्) यज्ञ के बीच में पाकयज्ञिया इडा करते हैं, वे यज्ञ को नष्ट कर देते हैं। ब्रह्मा ही ऋत्विजों में इलाज करनेवाला (भिषक्) है। इस प्रकार ब्रह्मा को चंगा कर देता है। परन्तु यदि वह बात करता हुआ बैठा रहे तो चंगा न कर पायेगा। इसलिए वह चुपचाप रहे ॥१९॥

यदि वह पहले मानुषी भाषा को बोल दे तो उसको विष्णु-सम्बन्धी ऋग्वेद की ऋचा या यजुः जपना चाहिए। यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार वह यज्ञ को फिर आरम्भ करता है। (बात करने का) यह प्रायश्चित्त है ॥२०॥

जब (अध्वर्यु) कहे "ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि"—"हे ब्रह्मा, मैं आगे बढ़ूँ।" तब ब्रह्म कहे, "एते देव सवितर्यज्ञं प्राहुः" (यजु० २।१२)—"हे देव सविता! इन्होंने तेरे इस यज्ञ की घोषणा की।" इस प्रकार वह सविता के पास प्रेरणा के लिए जाता है, क्योंकि वह देवों का प्रेरक है। अब कहता है—"बृहस्पतये ब्रह्मणे" (यजु० २।१२)—"बृहस्पति ब्रह्मा के लिए।" बृहस्पति ही देवों का ब्रह्मा है। इसलिए वह इस यज्ञ की उसके लिए घोषणा करता है, जो देवों का ब्रह्मा है। इसलिए कहा, 'बृहस्पति ब्रह्मा के लिए।' अब कहता है—"तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव" (यजु० २।१२)—"इससे यज्ञ की रक्षा कर। इससे यज्ञपति की, इससे मेरी रक्षा कर।" यह स्पष्ट है ॥२१॥

अब कहता है—"मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य" (यजु० २।१३)—"मन-घी की धार में प्रसन्न हो।" मन से ही यह सब व्याप्त है, इसलिए मन से ही इस सबको प्राप्त होता है। अब कहता है—"बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञँ समिमं दधातु" (यजु० २।१३)—"बृहस्पति इस यज्ञ को करे। वह इस यज्ञ को पूर्ण विघ्न-रहित करे।" इस प्रकार जो घायल हो गया था उसे चंगा कर देता है। अब कहता है—"विश्वे देवासऽइह मादयन्ताम्" (यजु० २।१३)—"सब देव यहाँ प्रसन्न हों।" 'विश्वे देवा' का अर्थ है सब। सबसे ही वह इसे चंगा करता है। यदि वह चाहे तो कहे 'प्रतिष्ठ (चल)', न चाहे तो न कहे ॥२२॥

अध्याय ८—ब्राह्मण १

मनु के लिए प्रातःकाल धोने के लिए पानी लाये, जैसे हाथ धोने के लिए लाया करते हैं। जब वह धो रहा था तो उसके हाथ में मछली (मत्स्य) आ गई ॥१॥

वह उससे बोली, 'मुझे पाल! मैं तेरी रक्षा करूँगी।' उसने पूछा, 'तू मेरी किससे रक्षा करेगी?' उसने उत्तर दिया, 'तूफान में यह सब प्रजा बह जायेगी। मैं उससे तेरी रक्षा करूँगी।' मनु ने पूछा, 'मैं तुझे कैसे पालूँ?' ॥२॥

यह बोली, 'जब तक हम छोटे हैं हमारी बड़ी आफत है, क्योंकि मछली को मछली खाती हैं। मुझे पहले घड़े में पाल। जब मैं उससे बढ़ जाऊँ तो गड्ढे को खोदकर मुझे उसमें रखना। जब मैं उससे भी बढ़ जाऊँ तो मुझे समुद्र में ले जाना। तब मैं बड़ी हो जाऊँगी और कोई आपत्ति न रहेगी' ॥३॥

वह तुरन्त ही झष मछली हो गई क्योंकि झष (सब मछलियों से अधिक) बढ़ती है। (अब उसने कहा) 'अमुक वर्ष में तूफान आयेगा, तब तू मेरे कहने के अनुसार नाव बनाना। और जब तूफान उठे तो तू नाव में बैठ जाना। मैं तुझे उससे बचाऊँगी' ॥४॥

तमेवं भूत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीᳫं समां नावमुपकल्प्योपासां चक्रे स ओघऽउत्थिते नावमापेदे तᳫं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ॥५॥ स होवाच । अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सी-द्यावदुदकᳫं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति स ह तावत्तावदेवान्ववससर्प त-दप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुरे-वैकः परिशिशिषे ॥६॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तत्रापि पाकयज्ञेनेजे स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवां चकार ततः संवत्सरे योषित्सम्बभूव सा ह पिब्दमानेवोदियाय तस्यै ह स्म घृतं पदे संतिष्ठते तया मित्रावरुणौ संजग्माते ॥७॥ ताᳫं होचतुः कासीति । मनोर्दुहितेत्यावयोर्ब्रूष्वेति नेति होवाच य एव मामजीजनत तस्यैवाहमस्मीति तस्यामपित्वमीषाते तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावति त्वेवेयाय सा मनुमाजगाम ॥८॥ ताᳫं ह मनुरुवाच कासीति । तव दुहितेति कथं भगवति मम दुहितेति या अमूरप्स्वाहुतीरहौषीर्घृतं दधि मस्त्वामिक्षां ततो मामजीजनथाः साशीरस्मि तां मा यज्ञेऽवकल्पय यज्ञे चेद्वै मावकल्पयिष्यसि बहुः प्रजया पशुभिर्भविष्यसि यामु मया कां चाशिषमाशासिष्यसे सा ते सर्वा समर्धि-ष्यतऽइति तामेतन्मध्ये यज्ञस्यावाकल्पयन्मध्यᳫं ह्येतद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुया-जान् ॥९॥ तयार्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे येयं मनोः प्रजा-तिर्यामु त्वेनया कां चाशिषमाशास्त सास्मै सर्वा समार्ध्यत ॥१०॥ सैषा निदानेन यदिडा । स यो हैवं विद्वानिडया चरत्येताᳫं हैव प्रजातिं प्रजायते यां मनुः प्रा-जायत यामु त्वेनया कां चाशिषमाशास्ते सास्मै सर्वा समृध्यते ॥११॥ सा वै पञ्चा-वत्ता भवति । पशवो वाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात्पञ्चावत्ता भवति ॥१२॥ स समवदायेडाम् । पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद्ध्रुवायै निदधाति ताᳫं होत्रे

जब वह उसको इस प्रकार पाल चुका तो उसे समुद्र में ले गया, और जिस वर्ष के लिए उसने कहा था उसी वर्ष उसी के कहने के अनुसार नाव बनाई। जब तूफान उठा तो वह नाव में बैठ गया। तब मछली उस तक तैर आई और उसके सींग से उसने नाव की रस्सी को बाँध दिया। इससे वह उत्तरी पहाड़ तक जल्दी से पहुँच गया ॥५॥

उसने कहा, 'मैंने तुझे बचा लिया। वृक्ष में नाव बाँध दे। परन्तु जब तू पहाड़ पर है उस समय ऐसा न होने दे कि जल तुझे काट दे। जब जल कम हो जाय तो नीचे उतर आना।' अत: वह धीरे-धीरे उतरा। इसलिए उत्तरी पहाड़ के उस भाग को 'मनोरवसर्प्पणम्' अर्थात् 'मनु का उतार' कहते हैं। तूफान ने उस सब प्रजा को नष्ट कर दिया। केवल मनु बच रहा ॥६॥

उसने सन्तान की इच्छा से पूजा और श्रम किया। उस समय पाकयज्ञ भी किया और घी, दही, मट्ठा भी जलों में चढ़ाया। तब एक वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह मोटी होकर निकली। उसके पैर में घी था। मित्र और वरुण उसे मिले ॥७॥

उन्होंने उससे पूछा, 'तू कौन है?' उसने कहा, 'मनु की लड़की।' उन्होंने कहा, 'कह कि तू हम दोनों की है।' उसने कहा, 'नहीं, मैं उसी की हूँ जिसने मुझे जना है।' उन्होंने उसमें भाग माँगा। उसने माना या न माना। वह वहाँ से चली आई और मनु के पास आई ॥८॥

मनु ने उससे पूछा, 'तू कौन है?' 'तेरी लड़की।' उसने पूछा, 'भगवति! तू मेरी लड़की कैसे?' उसने उत्तर दिया, 'तूने जलों में जो घी-मट्ठा अर्पण किया, उसी से तूने मुझे उत्पन्न किया। मैं आशी हूँ। तू मेरा प्रयोग कर। यदि तू यज्ञ में मेरा प्रयोग करेगा तो बहुत-से पशुओं और सन्तानवाला होगा। जो कुछ चीज तू मेरे द्वारा माँगेगा वह सब तुझको मिलेगी।' अब उसने उसका यज्ञ के मध्य में प्रयोग किया, क्योंकि प्रयाज और अनुयाज के बीच में जो कुछ है वही यज्ञ का मध्य है ॥९॥

वह प्रजा की कामना से उसी के द्वारा पूजा और श्रम करता रहा। उसके द्वारा इस प्रजा को उत्पन्न किया, जो यह मनु की सन्तान है। जो कोई चीज उसके द्वारा माँगी वह सब उसको मिल गई ॥१०॥

निदान में यही इडा है। जो कोई इस रहस्य को समझकर 'इडा'-यज्ञ करता है वह इस प्रजा को जिसे मनु ने उत्पन्न किया बढ़ाता है, और जो कुछ चीज उसके द्वारा माँगता है, वही उसे मिल जाती है ॥११॥

इस (इडा) के पाँच भाग होते हैं। पशु ही इडा है। पशु के भी पाँच भाग होते हैं। इसलिए इडा के भी पाँच भाग होते हैं ॥१२॥

इडा के बराबर-बराबर टुकड़े करके और पुरोडाश के पूर्वार्द्ध को काटकर वह ध्रुवा

प्रदाय दक्षिणात्येति ॥१३॥ स होतुरिह निलिम्पति । तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते मनसस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणायेति ॥१४॥ अथ होतुरिह निलिम्पति । तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते वाचस्पतिना ते हुतस्याश्नाम्यूर्जऽउदानायेति ॥१५॥ एतद्ध वै मनुर्बिभयां चकार । इदं वै मे तनिष्ठं यज्ञस्य यदियमिडा पाकयज्ञिया यद्धि म ऽइह रक्षाꣳसि यज्ञं न हिꣳस्युरिति तामितत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येव प्रापयत तथोऽएवैनामेष एतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येव प्रापयतेऽथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदनुपहूतां प्राश्नामीत्येतदेवैनां प्रापयते यदोष्ठयोर्निलिम्पते ॥१६॥ अथ होतुः पाणौ समवद्यति । समवत्तामेव सतीं तदेनां प्रत्यक्षꣳ होतरि श्रयति तयात्मंकृतया होता यजमानायाशिषमाशास्ते तस्माद्धोतुः पाणौ समवद्यति ॥१७॥ अथोपाꣳशूपह्वयते । एतद्ध वै मनुर्बिभयां चकारेदं वै मे तनिष्ठं यज्ञस्य यदियमिडा पाकयज्ञिया यद्धि मऽइह रक्षाꣳसि यज्ञं न हन्युरिति तामितत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येवोपाꣳशूपाह्वयत तथोऽएवैनामेष एतत्पुरा रक्षोभ्यः पुरा रक्षोभ्य इत्येवोपाꣳशूपह्वयते ॥१८॥ स उपह्वयते । उपहूतꣳ रथन्तरꣳ सह पृथिव्योप माꣳ रथन्तरꣳ सह पृथिव्या ह्वयतामुपहूतं वामदेव्यꣳ सहान्तरिक्षेणोप मां वामदेव्यꣳ सहान्तरिक्षेण ह्वयतामुपहूतं बृहत्सह दिवोप मां बृहत्सह दिवा ह्वयतामिति तदेतामेवैतदुपह्वयमान इमांश्च लोकानुपह्वयतऽएतानि च सामानि ॥१९॥ उपहूता गावः सहर्षभा इति । पशवो वाऽइडा तदेनां परोऽक्षमुपह्वयते सहर्षभा इति समिथुनामेवैनामेतदुपह्वयते ॥२०॥ उपहूता सप्तहोत्रेति । तदेनाꣳ सप्तहोत्रा सौम्येनाध्वरेणोपह्वयते ॥२१॥ उपहूतेडा ततुरिरिति । तदेनां प्रत्यक्षमुपह्वयते ततुरिरिति सर्वꣳ ह्येषा पाप्मानं तरति तस्मादाह ततुरिरिति ॥२२॥ उपहूतः सखा भक्ष इति । प्राणो वै सखा भक्षस्तत्प्राणमुपह्वयतऽउपहूतꣳ हेगिति तच्छरीरमुपह्वयते तत्सर्वामुपह्वयते ॥२३॥ अथ प्र-

(चमसे) के सामने रखता है, और उसे होता को देकर दक्षिण की ओर आता है ॥१३॥

वह होता के इस जगह (पहली अँगुली के बीच में) घी लगाता है। होता घी अपने होठों से लगाता है, यह मन्त्र पढ़कर—"मनस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणाय"—"मन के पति द्वारा आहुति दिये गये तुझको वह इस (बल) और प्राण के लिए खाता हूँ" ॥१४॥

अब वह होता के इस जगह (अँगुली पर) घी लगाता है। होता घी अपने होठों से लगाता है, यह मन्त्र पढ़कर "वाचस्पतिना ते हुतस्याऽश्नाम्यूर्ज्जऽउदानाय"—"वाणी के पति द्वारा आहुति दिये गये तुझको तेज और उदान के लिए खाता हूँ" ॥१५॥

इस पर मनु डरा कि यह जो पाक-यज्ञिया इडा है, यह मेरे यज्ञ का सबसे कमजोर भाग है। कहीं ऐसा न हो कि राक्षस लोग मेरे यज्ञ को इस स्थान पर विध्वंस कर दें, इसलिए (उस इडा को) राक्षसों के आने से पहले ही उसने (होठों से लगाकर) सुरक्षित कर दिया। इसी प्रकार यह होता भी राक्षसों के आने से पहले ही सुरक्षित कर देता है। यद्यपि वह हमें खाता नहीं कि बिना आहुति दिये कैसे खा लूं, परन्तु वह होठों से लगाकर उसे सुरक्षित कर देता है ॥१६॥

अब वह होता के हाथ में इडा के टुकड़े-टुकड़े करता है। इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े की गई इडा को वह प्रत्यक्ष रूप से होता के हवाले कर देता है। जो उसके हवाले हो गई उस इडा से वह यजमान के लिए आशीर्वाद चाहता है। इसलिए होता के हाथ में रखता है ॥१७॥

अब (इडा को) चुपके-चुपके बुलाता है। उस समय सचमुच मनु यह सोचकर डरा कि यह पाक-यज्ञिया इडा मेरे यज्ञ का सबसे कमजोर भाग है; कहीं राक्षस इसको हानि न पहुँचावे। इसीलिए उसने चुपके-चुपके कहा, 'राक्षस (के आने) से पूर्व, राक्षस (के आने) से पूर्व।' इसी प्रकार यह होता भी चुपके-चुपके कहता है, 'राक्षस (के आने) से पूर्व' ॥१८॥

वह इस प्रकार (धीरे से) कहता है, 'पृथिवी के साथ रथन्तर बुलाया गया। पृथिवी के साथ रथन्तर मुझे बुलाये। अन्तरिक्ष के साथ वामदेव्य बुलाया गया। अन्तरिक्ष के साथ वामदेव्य मुझे बुलावे। द्यौ के साथ बृहत् बुलाया गया। द्यौ के साथ बृहत् मुझे बुलावे।' वह इस प्रकार बोलकर तीनों लोकों और तीनों सामों को बुलाता है (रथन्तर, वामदेव्य और बृहत् तीन साम हैं) ॥१९॥

अब कहता है, 'गायें बैलों के साथ बुलाई गईं।' पशु ही इडा है। उन्हीं को परोक्ष रीति से बुलाता है। 'बैलों के साथ' से तात्पर्य उनके जोड़े से है ॥२०॥

अब कहता है, 'सात होताओं से की गई इडा बुलाई गई।' इस प्रकार वह सात होताओं द्वारा किये गये सोम यज्ञ के नाम से उसे बुलाता है ॥२१॥

अब कहता है, 'विजय पाने वाली (ततुरि) इडा बुलाई गई।' इस प्रकार उसको प्रत्यक्ष रूप से बुलाता है। यह सब पापों को पार कर देती है। इसलिए इसको 'ततुरिः' कहा गया ॥२२॥

अब कहता है, 'भक्ष-मित्र बुलाया गया'। प्राण ही सखा भक्ष है। इससे प्राण को बुलाता है। 'हेक्,' अर्थात् बुलाया गया। इससे वह शरीर को बुलाता है। इस प्रकार वह सबको बुलाता है ॥२३॥

तिपद्यते । इडोपहूतोपहूतेडोपोऽअस्माँ२॥ऽइडा ह्वयतामिडोपहूतेति तद्वुपहूता-मेवैनामेतत्सतीं प्रत्यक्षमुपह्वयते या वै सासीद्गौर्वै सासीच्चतुष्पदी वै गौस्तस्मा-च्चतुरुपह्वयते ॥२४॥ स वै चतुरुपह्वयमानः । अथ नानेवोपह्वयतेऽजामितायै जा-मि ह कुर्याद्यदिडोपहूतेडोपहूतेत्येवोपह्वयेतोपहूतेडेति वेडोपहूतेति तदर्वाची-मुपह्वयतऽउपहूतेडेति तत्पराचीमुपोऽअस्माँ२॥ऽइडा ह्वयतामिति तदात्मानं चै-वैनन्नान्तरेत्यन्यथेव च भवतीडोपहूतेति तत्पुनरर्वाचीमुपह्वयते तदर्वाचीं चैवै-नामेतत्पराचीं चोपह्वयते ॥२५॥ मानवी घृतपदीति । मनुर्ह्येतामग्रेऽजनयत त-स्मादाह मानवीति घृतपदीति यदेवास्यै घृतं पदे समतिष्ठत तस्मादाह घृतपदी-ति ॥२६॥ उत मैत्रावरुणीति । यदेव मित्रावरुणाभ्याꣳ समगच्छत स एव मैत्रा-वरुणो न्यङ्गो ब्रह्मा देवकृतोपहूतेति ब्रह्म ह्येषां देवकृतोपहूतोपहूता दैव्या अध्वर्यव उपहूता मनुष्या इति तद्दैवांश्चैवाध्वर्यूनुपह्वयते ये च मानुषा वत्सा वै दैव्या अध्वर्यवोऽथ यऽइतरे ते मानुषाः ॥२७॥ यऽइमं यज्ञमवान्ये च यज्ञपतिं वर्धानिति । एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना एते ह्येनं त-न्वतऽएतऽएनं जनयन्ति तद्व तेभ्यो निह्नुते वत्सा उ वै यज्ञपतिं वर्धन्ति यस्य ह्येते भूयिष्ठा भवन्ति स हि यज्ञपतिर्वर्धते तस्मादाह ये च यज्ञपतिं वर्धानिति ॥२८॥ उपहूते द्यावापृथिवी पूर्वजेऽऋतावरी देवी देवपुत्रेऽइति । तदिमे द्या-वापृथिवीऽउपह्वयते ययोरिदꣳ सर्वमध्युपहूतोऽयं यजमान इति तद्यजमानमुप-ह्वयते तद्यदत्र नाम न गृह्णाति परोऽक्षꣳ ह्यत्राशीर्यदिडायां मानुषꣳ ह कुर्याद्य-न्नाम गृह्णीयादृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेदृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न नाम गृह्णाति ॥२९॥ उत्तरस्यां देवयज्यायामुपहूत इति । तदस्माऽएतज्जीवातुमेव प-रोऽक्षमाशास्ते जीवन्हि पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते ॥३०॥ तदस्मा एतत्प्रजामिव परो-ऽक्षमाशास्ते । यस्य हि प्रजा भवत्यमुं लोकमात्मनैत्यथास्मिंल्लोके प्रजा यजते

अब वह जोरसे कहता है, 'इडा बुलाई गई। बुलाई गई इडा हमको अपनी ओर बुलाये।' 'इडा यहाँ बुलाई गई' से तात्पर्य यह है कि जो पहले वास्तविक रूप में बुलाई जा चुकी है उसे अब प्रत्यक्ष रूप से बुलाता है। इडा गौ चार पैर वाली होती है। इसलिए उसको चार बार बुलाया ॥२४॥

चार बार बुलाता हुआ कई प्रकार से बुलाता है जिससे दुहराने का दोष न लगे। यदि 'इडा उपहूता'-'इडा उपहूता' ही कई बार कहे या 'उपहूता इडा'-'उपहूता इडा' ही कई बार कहे तो दुहराने का दोषी हो। इसलिए 'इडा उपहूता' कहकर वह उसे इधर बुलाता है और 'उपहूता इडा' कहकर वह उसे उधर बुलाता है। 'इडा हमको बुलाये' यह कहकर वह अपने को अलग नहीं करता और कहने की शैली भी बदल जाती है। 'इडा उपहूता' कहकर वह उसे फिर इधर बुलाता है। इस प्रकार वह उसको इधर भी बुलाता है और उधर भी बुलाता है ॥२५॥

अब कहता है, 'मानवी घृतपदी'—'मनु की लड़की घी के पैरों वाली'। मनु ने ही पहले उसे जना था, इसीलिये कहा 'मानवी' (मनु की लड़की)। 'घृतपदी' इसलिए कहा कि उसके पदचिह्न में घृत रहता है, इसलिए 'घृतपदी' नाम हुआ ॥२६॥

अब कहता है, 'मैत्रा-वरुणी'—'मित्र और वरुणी वाली'। चूँकि उसका मित्र और वरुण से समागम हुआ, इसलिए उसकी मैत्रा-वरुण प्रकृति हुई। वह देवकृत ब्रह्मा हुई, क्योंकि वह देवकृत ब्रह्मा कहकर बुलाई गई। 'देव अध्वर्यु और मनुष्य बुलाये गये' ऐसा कहकर वह दैव्य अध्वर्यु और मनुष्य अध्वर्यु दोनों को बुलाता है। दैव्य अध्वर्यु वत्स या बछड़े हैं, और जो दूसरे हैं वे मनुष्य अध्वर्यु ॥२७॥

अब कहता है, 'जो इस यज्ञ को बढ़ावें, जो इस यज्ञपति को बढ़ावें।' जिन ब्राह्मणों ने वेदों को पढ़ा और पढ़ाया है वे इस यज्ञ की रक्षा करते हैं, चूँकि वे इसको फैलाते और करते हैं। उनको इस प्रकार सन्तुष्ट करता है, और बछड़े यज्ञपति को बढ़ाते हैं क्योंकि जिस यज्ञपति के बछड़े बहुत होंगे वह बढ़ेगा। इसीलिये कहा 'वे जो इस यज्ञपति को बढ़ावें' ॥२८॥

अब कहता है, "उपहूते द्यावापृथिवी पूर्वजेऽऋतावरी देवी देवपुत्रे"—"बुलाई गई द्यावा-पृथिवी जो दोनों पूर्वज (पहले जन्मी हुई हैं), ऋतावरी (ऋत को पालने वाली), देवी (दिव्य गुण वाली), देवपुत्र (देवता हैं पुत्र जिनके ऐसी) हैं।" इस प्रकार वह द्यावापृथिवी को बुलाता है, जिसमें सब संसार आ जाता है। अब कहता है, 'यजमान बुलाया गया' इससे यजमान को बुलाता है। यहाँ नाम नहीं लेता। इससे परोक्ष रूप में इडा के लिए आशीर्वाद है। यदि नाम ले तो मानुषी भाषा हो जाय। जो मानुषी भाषा है वह यज्ञ में अशुभ है। यज्ञ में अशुभ नहीं करना चाहिये, इसलिए नाम नहीं लेना चाहिए ॥२९॥

अब कहता है, "उत्तरस्यां देव यज्यायामुपहूतः"—अर्थात् "आगे होनेवाली देवपूजा के लिए (यजमान) बुलाया गया।" इस प्रकार उस (यजमान) के लिए परोक्ष रीति से जीविका के लिए आशीर्वाद देता है। जैसे उसने जीवन-भर यज्ञ किया है, आगे भी करेगा ॥३०॥

वह उसके लिए परोक्ष-रीति से सन्तान के लिए भी आशीर्वाद देता है, क्योंकि जिसके सन्तान होती है जब वह मर जाता है तो उसकी सन्तान इस लोक में यज्ञ करती है। इसलिए

तस्मात्प्रजोत्तरा देवयज्या ॥३१॥ तदस्माऽएतत्पशूनेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि पशवो भवन्ति स पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते ॥३२॥ भूयसि हविष्करणऽउपहूत इति । तदस्मा एतज्जीवातुमेव परोऽक्षमाशास्ते जीवन्हि पूर्वमिष्ट्वाथ भूयो-भूय एव हविष्करोति ॥३३॥ तदस्माऽएतत्प्रजामेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि प्रजा भवत्येक आत्मना भवत्यथोत दशधा प्रजया हविष्क्रियते तस्मात्प्रजा भूयो हविष्करणम् ॥३४॥ तदस्मा एतत्पशूनेव परोऽक्षमाशास्ते । यस्य हि पशवो भवन्ति स पूर्वमिष्ट्वाथ भूयो-भूय एव हविष्करोति ॥३५॥ एषा वा आशीः । जीवेयं प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयमिति तद्यत्पशूनाशास्ते तच्छ्रियमाशास्ते श्रीर्हि पशवस्तदेताभ्यामेवैतदाशीर्भ्या सर्वमाप्तं तस्माद्वाऽएतेऽअत्र द्वेऽआशिषौ क्रियेते ॥३६॥ देवा मऽइद हविर्जुषन्तामिति । तस्मिन्नुपहूत इति तद्यज्ञस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि महज्जयति तस्मादाह जुषन्तामिति ॥३७॥ ॥ शतम् ७०० ॥ ॥ तां वै प्राश्नन्त्येव । नाग्नौ जुह्वति पशवो वाऽइडा नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजामिति तस्मान्नाग्नौ जुह्वति ॥३८॥ प्राणेष्वेव हूयते । होतरि त्वद्यजमाने त्वदध्वर्यौ त्वदथ यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद्ध्रुवायै निदधाति यजमानो वै ध्रुवा तद्यजमानस्य प्राशितं भवत्यथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदसंस्थिते यज्ञे प्राश्नानीत्येतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतासदिति पञ्च प्राश्नन्ति पशवो वाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात्पञ्च प्राश्नन्ति ॥३९॥ अथ यत्र प्रतिपद्यते । तच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति तदत्र पितृणां भाजनेन चतस्रो वाऽअवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति ॥४०॥ अथ यत्राहोपहूते द्यावापृथिवीऽइति । तदग्नीधऽआदधाति तदग्नीत्प्राश्नात्युपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहोपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहेति द्यावापृथिव्यो वा

'उत्तरा देवयज्या' का अर्थ है 'सन्तान' ॥३१॥

इस प्रकार वह परोक्ष-रीति से पशुओं के लिए भी आशीर्वाद देता है, क्योंकि जिसके पशु हैं वह जैसे उसने पहले यज्ञ किया उसी प्रकार फिर भी यज्ञ करेगा ॥३२॥

अब कहा, "भूयसि हविष्करणऽउपहूतः"—"वह बहुत ज्यादा हवि देने के लिए बुलाया गया।" इस प्रकार वह उसकी जीविका के लिए परोक्ष-रीति से आशीर्वाद देता है, क्योंकि जैसे उसने पहले यज्ञ किया इस प्रकार जीता रहेगा तो आगे भी यज्ञ करेगा ॥३३॥

इससे वह परोक्ष रूप से सन्तान के लिए भी आशीर्वाद देता है, क्योंकि जिसके सन्तान होती है वह चाहे अकेला ही हो सन्तान द्वारा दश गुनी हवि देता है। इसीलिये कहा कि 'सन्तान का अर्थ है बहुत-सी हवि देना' ॥३४॥

इस प्रकार वह परोक्ष रूप से पशुओं के लिए भी आशीर्वाद देता है। जिसके पशु होते हैं वह पहले जैसे यज्ञ करता था फिर भी अधिक यज्ञ करता है ॥३५॥

अब आशीर्वाद यह है, "जीवेयं प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयम्"—"मैं जियूँ। मेरी प्रजा हो, मेरी सम्पत्ति हो।" 'पशुओं के लिए आशीर्वाद' से तात्पर्य है 'सम्पत्ति से', क्योंकि पशु ही सम्पत्ति हैं। इन दो आशीर्वादों में सब आ गया, इसलिए यहाँ दो आशीर्वाद किये जाते हैं ॥३६॥

अब कहता है, "देवा म इदꣳ हविर्जुषन्ताम्"—"देव मेरी इस हवि को स्वीकार करें।" 'इसी यज्ञ में बुलाया गया'—यह जो देव हवि को स्वीकार करते हैं मानो यज्ञ की समृद्धि के लिए ही आशीर्वाद देते हैं। इससे बड़ी जय होती है। इसलिए कहा, 'स्वीकार करें' ॥३७॥

(यजमान और पुरोहित) उस (इडा) को खाते हैं। अग्नि में नहीं छोड़ते। इडा का अर्थ है पशु। इसलिए अग्नि में नहीं छोड़ते कि कहीं पशुओं को अग्नि में न छोड़ दें ॥३८॥

प्राणों में ही आहुति दी जाती है, कुछ होता में, कुछ यजमान में, कुछ अध्वर्यु में। अब पुरोडाश का पूर्वार्द्ध काटकर ध्रुवा में रखता है। ध्रुवा यजमान है, इसलिए यजमान इसको खाता है। यदि वह प्रत्यक्ष में उसे नहीं भी खाता है कि कहीं यज्ञ की समाप्ति के पहले खा लूँ, तो भी वह खाई हुई समझ ली जाती है। सब खाते हैं। तात्पर्य है कि 'सब में ये मेरे लिए हुत होवें'। पाँच इसमें से खाते हैं। इडा का अर्थ है पशु। पशु पाँच प्रकार के होते हैं। इसलिए पाँच इसमें से खाते हैं ॥३९॥

जब (होता) जोर से बोलता है तो वह (अध्वर्यु) पुरोडाश के चार भाग करके कुशों पर रखता है। वह यहाँ पितरों के स्थान पर होता है। अवान्तर दिशायें चार होती हैं। अवान्तर दिशा ही पितर हैं। इसलिए पुरोडाश के चार भाग करके उनको कुशों पर रखता है ॥४०॥

और जब वह कहता है, 'उपहूते द्यावापृथिवी'—'द्यावा-पृथिवी बुलाये गये', तो उसको अग्नीध्र को दे देता है। अग्नीध्र (उनमें से दो टुकड़ों को) यह मन्त्र पढ़कर खाता है, "उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा" (यजु० २।१०)—"उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा" (यजु० २।११)—"बुलाई गई पृथिवी माता। पृथिवी माता मुझे बुलावे। अग्नीध्र होने के कारण मैं अग्नि हूँ", "बुलाया गया द्यौ पिता। द्यौ पिता मुझे बुलावे। अग्नीध्र होने के कारण मैं अग्नि हूँ।" यह जो अग्नीध्र है वह मानो द्यावा-

ऽएष यदाग्नीध्रस्तस्मादिदं प्राश्नाति ॥४१॥ अथ यत्राशिषमाशास्ते । तज्जपति म-
यीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान्रायो मघवानः सचन्ताम् अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या
नः सन्त्वाशिष इत्याशिषामेवैष प्रतिग्रहस्तद्या एवात्रऽर्त्विजो यजमानायाशिष
आशासते ता एवैतत्प्रतिगृह्यात्मन्कुरुते ॥४२॥ अथ पवित्रयोर्मार्जयन्ते । पाकय-
ज्ञियेव वाऽएतदिडयाचारिषुः पवित्रपूता यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तन-
वामहाऽइति तस्मात्पवित्रयोर्मार्जयन्ते ॥४३॥ अथ ते पवित्रे प्रस्तरेऽपिसृजति ।
यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे यजमाने तत्प्राणोदानौ दधाति तस्मात्ते
पवित्रे प्रस्तरेऽपिसृजति ॥४४॥ ब्राह्मणम् ॥३ [८. १.]॥ ॥

ते वाऽएतेऽउल्मुकेऽउदूहन्ति । अनुयाजेभ्यो यातयामेव वाऽएतदग्निर्भवति
देवेभ्यो हि यज्ञमूहिवान्भवत्ययातयाम्न्यनुयाजांस्तनवामहाऽइति तस्माद्वाऽएते
ऽउल्मुकेऽउदूहन्ति ॥१॥ ते पुनरनुसꣳस्पर्शयन्ति । पुनरेवैतदग्निमाप्याययन्त्ययात-
यामानं कुर्वन्त्ययातयाम्नि यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मा-
त्पुनरनुसꣳस्पर्शयन्ति ॥२॥ अथ समिधमभ्यादधाति । समिन्द्धऽएवैनमेतत्समिद्धे
यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवामहाऽइति तस्मात्समिधमभ्यादधाति ॥३॥
ताꣳ होतानुमन्त्रयते । एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व वर्धिषी-
महि च वयमा च प्यासिषीमहीति तद्यथैवादः समिध्यमानायान्वाहैवमेवैतदन्वा-
ह तदेतद्धोतुः कर्म स यदि मन्येत न होता वेदेत्यपि स्वयमेव यजमानोऽनुम-
न्त्रयेत ॥४॥ अथ संमार्ष्टि । पुनरप्येवैनमेतद्युक्तो यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य त-
द्वहादिति तस्मात्संमार्ष्टि सकृत्सकृत्संमार्ष्टि त्रिस्त्रिर्वाऽअग्ने देवेभ्यः संमृजन्ति नेत्त-
था करवाम यथा देवेभ्य इति तस्मात्सकृत्सकृत्संमार्ष्ट्यजामितायै जामि ह कुर्या-
द्यत्त्रिः पूर्वं त्रिरपरं तस्मात्सकृत्सकृत्संमार्ष्टि ॥५॥ स संमार्ष्टि । अग्ने वाजजिद्वाजं
त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳ संमार्ज्मीति सरिष्यन्तमिति वाऽअग्नयऽआह सरिष्यन्निव

पृथिवी है, इसलिए वह इसे इस प्रकार खाता है ॥४१॥

जब होता आशीर्वाद देता है तब इस मन्त्र का जप करता है, "मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकँ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः" (यजु० २।१०)—"इन्द्र मुझमें इन्द्र की शक्ति दे। हमको बहुत-सा धन प्राप्त हो। आशिष हमारे लिए हो। सच्ची आशिषें हमारे लिए हों।" यह आशिष का परिग्रह (लेना) है। यहाँ ऋत्विज् जो आशिष यजमान के लिए देता है वह उनको ग्रहण करके अपनी बना लेता है ॥४२॥

अब दोनों पवित्रों से मार्जन करते हैं, क्योंकि अब उन्होंने इडा को पाक-यज्ञिया दे दिया। अब वे दोनों पवित्रों से इसलिए मार्जन करते हैं कि अब जो यज्ञ का भाग बच रहा है उसको हम पवित्रों से मार्जन करके पूरा करेंगे ॥४३॥

वह (अध्वर्यु) दोनों पवित्रों को प्रस्तर पर छोड़ देता है। यजमान ही प्रस्तर है। प्राण और अपान पवित्रे हैं। इस प्रकार वह यजमान में प्राण और अपान को धारण कराता है। इसलिए उन पवित्रों को प्रस्तर पर छोड़ता है ॥४४॥

अध्याय ८—ब्राह्मण २

अब वे (आहवनीय अग्नि में से) दो जलती हुई समिधायें निकालते हैं। यह अग्नि अनुयाजों के लिए व्यर्थ-सी हो जाती है, क्योंकि देवों के लिए यज्ञ को ले जाती है। (वे सोचते हैं कि) ऐसी आग में अनुयाज करें जो यातयामा (बुझी या व्यर्थ-सी) न हो। इसलिए दो जलती हुई समिधाओं को निकालते हैं ॥१॥

वे फिर उनको (आग के) पास लाते हैं। इस प्रकार वे आग को फिर बढ़ा देते और ताजा कर देते हैं। (वे सोचते हैं कि) जो कुछ यज्ञ में से शेष रह गया है उसको ऐसी अग्नि में करें जो यातयामा न हो। (जिस अग्नि से एक बार काम ले चुके वह मानो थक-सी गई। उसे यातयामा कहा। अब दो समिधाओं को पहले निकालकर फिर उसी में रखने से मानो वह ताजा हो गई।) इसीलिये वे उनको फिर पास लाते हैं ॥२॥

अब (अग्नीध्र) समिधा रखता है। इससे वह अग्नि को प्रज्वलित करता है। (वह सोचता है कि) जो यज्ञ की शेष क्रिया रह गई है उसको प्रज्वलित अग्नि में करूँ। अतः वह समिधा रखता है ॥३॥

होता इस मन्त्र को पढ़कर उसका अनुमन्त्रण (पवित्रीकरण) करता है, "एषा तेऽअग्ने समित् तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि" (यजु० २।१४)—"हे अग्नि! ये तेरी समिधा हैं। इनके द्वारा बढ़ और प्रज्वलित हो, और हम भी बढ़ें और प्रतापी हों।" जैसे पहले समिधा लगाते हुए जिस प्रकार मन्त्र पढ़ा था, उसी प्रकार अब भी पढ़ता है। यह होता का कर्म है। परन्तु यदि समझे कि होता नहीं जानता तो यजमान स्वयं ही अनुमन्त्रण करे ॥४॥

अब वह उसका सम्मार्जन करता है, अर्थात् उसे इकट्ठा कर देता है, जैसे इधर-उधर से चिमटे द्वारा बुझती हुई आग को इकट्ठा करके फिर ताजा कर देते हैं। 'इस प्रकार इकट्ठा होकर यह जो कुछ यज्ञ में शेष रहा है उसको भी (देवताओं के लिए) ले जावे।'—इसलिए उसका सम्मार्जन करता है। (प्रत्येक समिधा को) एक-एक बार सम्मार्जित करता है। इससे पहले देवों के लिए उन्होंने फिर से तीन-तीन बार सम्मार्जन किया था। 'ऐसा न हो कि जैसा देवों के लिए किया था वैसा ही हो जाय'—इसलिए एक-एक बार सम्मार्जन करता है। यदि तीन बार पहले करे, फिर तीन बार करे तो दुहराने का दोष लगे। इसलिए एक-एक बार ही सम्मार्जन करता है ॥५॥

वह इस मन्त्र से सम्मार्जित करता है, "अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा ससृवाँसं वाजजितँ सम्मार्जिम" (यजु० २।१४)—"हे अन्न को जीतनेवाले अग्नि, अन्न लिये हुए और अन्न को जीतने-वाले, तुझको सम्मार्जित (इकट्ठा) करता हूँ।" पहले कहा था 'सरिष्यन्तम्' अर्थात् लेते हुए,

हि तर्हि भवत्यथात्र ससृवाꣳसमिति ससृवेव ह्यत्र भवति तस्मादाह ससृवाꣳसमिति ॥६॥ अथानुयाजान्यजति । या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ता इष्टा भवन्ति तद्यत्तासु सर्वास्विष्टास्वथैतत्पश्चेवानुयजन्ति तस्मादनुयाजा नाम ॥७॥ अथ यदनुयाजान्यजति । छन्दाꣳसि वाऽअनुयाजाः पशवो वै देवानां छन्दाꣳसि तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दाꣳसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति तद्यत्र छन्दाꣳसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दाꣳसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दाꣳसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥८॥ अथ यदनुयाजान्यजति । छन्दाꣳसि वाऽअनुयाजाश्छन्दाꣳस्येवैतत्संतर्पयति तस्मादनुयाजान्यजति तस्माद्येन वाहनेन धावयेत्तद्विमुच्य ब्रूयात्पाययतैनत्सुहितं कुरुतेत्येष उ वाहनस्यापह्नवः ॥९॥ स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति । तद्धि कनिष्ठं छन्दः सद्गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यते तदु तद्वीर्येणैव यच्छ्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तदयथायथं मन्यन्ते यत्कनिष्ठं छन्दः सद्गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यतेऽथात्र यथायथं देवाश्छन्दाꣳस्यकल्पयन्ननुयाजेषु नेत्पापवस्यसमसदिति ॥१०॥ स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति । अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकऽओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिंल्लोकऽओषधयः प्रतिष्ठितास्तदिदꣳ सर्वं जगदस्यां तेनेयं जगती तज्जगतीं प्रथमामकुर्वन् ॥११॥ अथ नराशꣳसं द्वितीयं यजति । अन्तरिक्षं वै नराशꣳसः प्रजा वै नरस्ता इमा अन्तरिक्षमनु वावद्यमानाः प्रजाश्चरन्ति यद्वै वदति शꣳसतीति वै तदाहुस्तस्मादन्तरिक्षं नराशꣳसोऽन्तरिक्षमु वै त्रिष्टुप्तत्त्रिष्टुभं द्वितीयामकुर्वन् ॥१२॥ अथाग्निरुत्तमः । गायत्री वाऽअग्निस्तद्गायत्रीमुत्तमामकुर्वन्नेवं यथायथेन क्लृप्तेन छन्दाꣳसि प्रत्यतिष्ठंस्तस्मादिदमपापवस्यसम् ॥१३॥ देवान्यजेत्येवाध्वर्युराह । देवं-देवमिति सर्वेषु होता देवानां वै देवाः सन्ति छन्दाꣳस्येव पशवो ह्येषां गृहा हि पशवः प्रतिष्ठो हि गृहाश्छन्दाꣳसि वाऽअनु-

क्योंकि उस समय लेने का काम जारी था। अब कहा, 'ससृवांसम्' अर्थात् लिये हुए, क्योंकि जब लेने का काम पूरा हो चुका, इसलिए कहा 'ससृवांसम्' ॥६॥

अब वह अनुयाजों की आहुति देता है। इस यज्ञ द्वारा जिस-जिस देवता की आहुति दी गई और जिस-जिस के लिए यज्ञ किया गया, उनके लिए आहुतियां दी जा चुकीं। अब उन्हीं इष्ट देवों के लिए फिर आहुतियाँ देता है, इसलिए इसका नाम अनुयाज है। (जिस देवता के लिए यज्ञ हो चुका उस देवता को 'इष्ट' कहते हैं। अनुयाज का अर्थ है अनु+याज–'जो आहुति पीछे से दी जाय') ॥७॥

अनुयाज इसलिए किये जाते हैं। अनुयाज ही छन्द हैं। छन्द ही देवों के पशु हैं। जिस प्रकार पशु जुतकर मनुष्यों के लिए बोझ ले जाते हैं, उसी प्रकार छन्द भी युक्त होकर देवताओं के लिए यज्ञ को ले जाते हैं। जब छन्दों ने देवों को तृप्त किया और देवों ने छन्दों को तृप्त किया, यह पहले था। अब युक्त छन्दों ने देवों तक यज्ञ को पहुँचाया और उनको तृप्त किया ॥८॥

और अनुयाज करने का यह भी कारण है—अनुयाज ही छन्द हैं। इस प्रकार वह इन (छन्दों) को तृप्त करता है, इसलिए अनुयाज करता है। जिस वाहन से यात्रा की उसी वाहन को छोड़कर कहते हैं—'इसको जल दो। इसको खाना दो।' और यही वाहन का तृप्त करना है ॥९॥

वह पहले बर्हि-यज्ञ करता है। छन्दों में सबसे पहले छोटा छन्द गायत्री बोला जाता है। छन्दों को पशु या वाहन कहा, इसलिए 'जोतना' शब्द प्रयुक्त हुआ, और यह है शक्ति (वीर्य) के कारण, क्योंकि यह श्येन होकर सोम को देवों तक ले गया था। अब इसको यथार्थ नहीं समझते कि छोटे-से गायत्री छन्द को छन्दों में सबसे पहले जोतें। इसीलिये अनुयाजों में देवों ने छन्दों को ठीक-ठीक कर दिया जिससे भूल न हो जाय ॥१०॥

अब सबसे पहले बर्हि-यज्ञ करता है। यह लोक ही बर्हि है। ओषधि बर्हि है। इस प्रकार इस लोक में ओषधियों को रखता है। वे ओषधियाँ इस लोक में स्थापित होती हैं। इस छन्द में सब 'जगत्' प्रतिष्ठित है, इसलिए इसको 'जगती' कहा। इसलिए उन्होंने जगती छन्द को पहले कहा ॥११॥

अब नराशंस-यज्ञ करता है। अन्तरिक्ष ही नराशंस है। प्रजा को नर कहते हैं। ये नर (मनुष्य) अन्तरिक्ष में बोलते हुए विचरते हैं। जब मनुष्य बोलता है तो कहते हैं 'शंसति', इसलिए अन्तरिक्ष को नराशंस कहा। अन्तरिक्ष ही त्रिष्टुप् है। इसलिए त्रिष्टुप् छन्द को दूसरा दर्जा दिया ॥१२॥

अब अग्नि अन्तिम है। गायत्री ही अग्नि है। इसीलिये गायत्री को अन्तिम दर्जा दिया। इस प्रकार उन्होंने छन्दों को यथार्थ दर्जों में प्रतिष्ठित कर दिया, जिससे भूल न हो ॥१३॥

अध्वर्यु कहता है, 'देवों के लिए यज्ञ करो', और होता इस प्रकार आरम्भ करता है, 'देवं, देवम्'। क्योंकि छन्द देवों के देव हैं, ये पशु हैं। पशु ही इनके घर हैं। घर ही प्रतिष्ठा हैं।

याजास्तस्माद्देवान्यजेत्येवाध्वर्युराह देवं देवमिति सर्वेषु होता ॥१४॥ वसुवने वसुधेयस्येति । देवतायाऽएव वषट्क्रियते देवतायै हूयते न वाऽअत्र देवतास्त्यनुयाजेषु देवं बर्हिरिति तन्न नाग्निर्नेन्द्रो न सोमो देवो नराशꣳस इति नात एकं चन यो वाऽअत्राग्निर्गायत्री स निदानेन ॥१५॥ अथ यद्वसुवने वसुधेयस्येति यजति । अग्निर्वै वसुवनिरिन्द्रो वसुधेयोऽस्ति वै छन्दसां देवतेन्द्राग्नीऽएवैवमु हैतद्देवतायाऽएव वषट्क्रियते देवतायै हूयते ॥१६॥ अथोत्तममनुयाजमिष्ट्वा समानीय जुहोति । प्रयाजानुयाजा वाऽएते तद्यथैवादः प्रयाजेषु यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिꣳ हारयत्यत्त्रऽआद्यं बलिꣳ हारयत्येवमेवैतदनुयाजेषु बलिꣳ हारयति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४ [८. २.]॥ षष्ठः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १११ ॥ ॥

स वै स्रुचौ व्यूहति । अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिनाग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्युपभृतं प्रतीचीꣳ सव्येन पाणिना यदि स्वयं यजमानः ॥१॥ यद्युऽअध्वर्युः । अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति पौर्णमास्यामग्नीषोमीयꣳ हि पौर्णमासꣳ हविर्भवति ॥२॥ अथामावास्यायाम् । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति यदि स्वयं यजमानः ॥३॥ यद्युऽअध्वर्युः । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्यमावास्यायामैन्द्राग्नꣳ ह्यामावास्यꣳ हविर्भवत्येवं यथादेवतं व्यूहति तस्माद्देवं व्यूहति ॥४॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतद्यजमानमुदूहत्यपाञ्चं तमपोहति योऽस्मा

अनुयाज ही छन्द हैं। इसीलिए अध्वर्यु कहता है कि 'देवों के लिए यज्ञ करो', और हर एक बार होता इस प्रकार आरम्भ करता है, 'देवं देवम्' ॥१४॥

अब कहता है—"वसुवने वसुधेयस्य" अर्थात् "वसुधा की अधिक प्राप्ति के लिए।" वषट्कार देवता के लिए ही होता है। देवता के लिए ही आहुति दी जाती है। परन्तु यहाँ अनुयाजों में कोई देवता नहीं है। जब वह कहता है—'देवं बर्हिः', तब न तो अग्नि है, न इन्द्र, न सोम, और जब कहता है—'देवो नराशंसः', तब भी कोई नहीं; और जो अग्नि है वह निदान में गायत्री ही है ॥१५॥

अब 'वसुवने वसुधेयस्य' कहने का प्रयोजन यह है कि अग्नि ही वसुवान् (धन को लेनेवाला) और इन्द्र ही वसुधेय (धन को धारण करनेवाला) है। छन्दों के देवता हैं इन्द्र+अग्नि। इस प्रकार देवता के लिए ही वषट्कार बोला जाता है और देवता के लिए ही आहुति दी जाती है ॥१६॥

अन्तिम अनुयाज में सब घी लाकर छोड़ देता है, क्योंकि यही प्रयाज और अनुयाज है। इसलिये वहाँ अनुयाजों में भी वह हानिकारक शत्रु से यजमान के लिए बलि दिलवाता है। जो खाद्य है उससे बलि दिलवाता है। अनुयाजों में बलि दिलवाता है ॥१७॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

अब वह दो स्रुचों (जुहू और उपभृत्) को अलग करता है इस मन्त्र से—"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि' (यजु० २।१५)—"अग्नि और सोम की जीत से मैं विजयी होऊँ। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" जुहू को पूर्व से सीधे हाथ से पूर्व की ओर हटाता है इस मन्त्र से—"अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि", (यजु० २।१५)—"अग्नि और सोम उसको हटा दें, जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। अन्न की इस प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" उपभृत् को बायें हाथ से पश्चिम की ओर हटाता है, यदि यजमान स्वयं हटावे तो इस प्रकार से ॥१॥

और यदि अध्वर्यु (हटावे तो वह कहेगा)—"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि" (यजु० २।१५)—"अग्नि और सोम की जीत से यह यजमान विजयी होवें। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ। अग्नि और सोम उसको हटा दें जो इस यजमान से द्वेष करता है या जिससे यह यजमान द्वेष करता है। इस अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" यह पौर्णमास यज्ञ में ऐसा करता है, क्योंकि पौर्णमास यज्ञ अग्नि-सोम का है ॥२॥

अमावस्या में वह यह कहता है—"इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि" (यजु० २।१५)—"इन्द्र और अग्नि की जीत से मैं विजयी होऊँ। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ। इन्द्र और अग्नि उसको हटा दें, जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। अन्न की इस प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" यह उस समय कहना चाहिए जब यजमान स्वयं कहे ॥३॥

और अध्वर्यु कहे तो इस प्रकार—"इन्द्राग्न्योरुज्जितमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि।" "इन्द्र और अग्नि की जीत से यजमान विजयी होवे। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ। इन्द्र और अग्नि उसको हटा दें, जिससे यह यजमान द्वेष करता है या जो इस यजमान से द्वेष करता है। अन्न की प्रेरणा से मैं आगे बढ़ता हूँ।" यह आमावास्य यज्ञ में होता है। इन्द्र और अग्नि ही अमावस्या के देवता हैं। इस प्रकार वह चमचों को भिन्न-भिन्न देवतों के लिए अलग करता है। यही कारण है कि वह इस प्रकार उनको अलग करता है ॥४॥

जो जुहू के पीछे यजमान होता है और उपभृत् के पीछे वह जो उससे शत्रुता करता है। इस प्रकार वह यजमान को पूर्व में लाता है, और जो उसका शत्रु है उसको वह पीछे हटा देता

ऽरातीयत्यन्तैव जुहूमन्वाह उपभृतमनु प्राश्वमेवैतदत्तारमुदूहत्यपाश्वमाद्यमपो-
हति ॥५॥ तद्वाऽएतत् । समानऽएव कर्मन्व्याक्रियते तस्माडु समानादेव पुरु-
षादत्ता चाद्यश्च जायेतेऽइदꣳ हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहऽइति विदेवं दी-
व्यमाना जात्या आसतऽएतस्माडु तत् ॥६॥ अथ जुह्वा परिधीन्त्समनक्ति । यथा
देवेभ्योऽहौषीद्यया यज्ञꣳ समतिष्ठिपत्तयैवैतत्परिधीन्प्रीणाति तस्माज्जुह्वा परिधी-
न्त्समनक्ति ॥७॥ स समनक्ति । वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वेत्येते वै त्रया देवा
यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेभ्यस्त्वेत्येवैतदाह ॥८॥ अथ परिधिमभिपद्याश्रावयति ।
परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञेनैवैतत्प्रत्यक्षं परिधीन्प्रीणा-
ति तस्मात्परिधिमभिपद्याश्रावयति ॥९॥ स आश्राव्याह । इषिता दैव्या होतार
इति दैव्या वाऽएते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो ह्येते दैव्या होतार इत्येवैतदाह
यदाहेषिता दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति स्वयं वाऽएतस्मै देवा युक्ता भव-
न्ति यत्साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति प्रेषितो मानुषः सूक्तवा-
कायेति तदिमं मानुषꣳ होतारꣳ सूक्तवाकाय प्रसौति ॥१०॥ अथ प्रस्तरमादत्ते ।
यजमानो वै प्रस्तरस्तद्यत्रास्य यज्ञोऽगंस्तदेवैतद्यजमानꣳ स्वगाकरोति देवलोकं
वाऽअस्य यज्ञोऽगन्देवलोकमेवैतद्यजमानमपिनयति ॥११॥ स यदि वृष्टिकामः
स्यात् । एतेनैवाददीत संजानाथां द्यावापृथिवीऽइति यदा वै द्यावापृथिवी संजा-
नाथेऽअथ वर्षति तस्मादाह संजानाथां द्यावापृथिवीऽइति मित्रावरुणौ त्वा वृ-
ष्ट्यावतामिति तद्यो वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाहायं वै वर्षस्येष्टे योऽयं
पवते सोऽयमेकऽइवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् प्रत्यङ् ताविमौ
प्राणोदानौ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्ये-
वैतदाह तमेतेनैवाददीत यदा क्वेव कदा च वृष्टिः समिव तमनक्त्याहुतिमेवैत-
त्करोत्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति ॥१२॥ स वाऽअग्रं जुह्वामनक्ति । मध्य-

है। जुहू के पीछे अत्ता (खानेवाला) होता है, और उपभृत् के पीछे आद्य (खाद्य पदार्थ) होता है। इस प्रकार वह खानेवाले को सामने लाता है और खाद्य को पीछे हटा देता है ॥५॥

इस प्रकार एक ही कर्म से वियोग हो जाता है। इसलिये एक ही पुरुष से अत्ता (भोक्ता या पति) और आद्य (भोग्य या पत्नी) उत्पन्न होते है। इसीलिए लोग हँसी में कहते हैं कि चौथे या तीसरे पुरुष में हम मिल जाते हैं (तात्पर्य यह मालूम होता है कि तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह हो सकता था जैसा कि दक्षिणियों में आजकल भी होता है)। इसके अनुसार चमचे भी अलग होते हैं ॥६॥

अब परिधि-समिधाओं को जुहू से (घी लेकर) चुपड़ता है। जिससे देवों के लिए यज्ञ-आहुति दी, जिससे यज्ञ को समाप्त किया, उसी से परिधियों को प्रसन्न करता है, इसीलिए जुहू से चुपड़ता है ॥७॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर घी लगाता है—"वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा' (यजु० २।१६)—"वसुओं के लिए तुझको, रुद्रों के लिए तुझको, आदित्यों के लिए तुझको।" यही तीन देव हैं—वसु, रुद्र, और आदित्य। 'इनके लिए तुझको' ऐसा कहने का तात्पर्य है ॥८॥

अब परिधि को उठवाकर आश्रावण करता है (अर्थात् सुनवाता है)। परिधियों के लिए ही इसको सुनवाता है। यज्ञ ही आश्रावण है। स्पष्ट बात यह है कि यज्ञ से ही परिधियों को प्रसन्न कराता है। इसलिये परिधि को उठवाकर आश्रावण करता है ॥९॥

आश्रावण के पश्चात् कहता है—"इषिता दैव्या होतारः"—"दिव्य होता बुलाये गये।" ये जो परिधियाँ हैं वे ही दिव्य होता हैं क्योंकि वे अग्नि हैं। जब वह कहता है कि 'इषिता दैव्या होतारः' तो यहाँ तात्पर्य है 'इष्टा दैव्या होतारः' से (इषित) 'इष्ट' के अर्थ में लिया गया है। 'बुलाये गये' अर्थात् 'चाहे गये।' अब कहता है—"भद्रवाच्याय"—"शुभ वाणी के लिए।" देव स्वयं ही तैयार होते हैं कि इसके लिए अच्छी बात कहें, अच्छी बात करें। इसलिए कहा—'शुभ वाणी के लिए।' अब कहता है—"प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय"—"सूक्तवाक (प्रशंसा) के लिए मनुष्य बुलाया गया।" इस प्रकार मनुष्य होता को सूक्तवाक के लिए बुलाता है ॥१०॥

अब प्रस्तर को लेता है। यजमान ही प्रस्तर है। इसलिये जहाँ कहीं उसका यज्ञ जाय वहीं यजमान का स्वागत करता है। चूँकि उसका यज्ञ देवलोक में गया, इसलिये इस प्रकार वह यजमान को भी ले जाता है ॥११॥

यदि वृष्टि की इच्छा हो तो (प्रस्तर को यह पढ़कर) उठावें—"सञ्जानाथां द्यावा-पृथिवी" (यजु० २।१६)—"द्यौ और पृथिवी साथ चलें।" क्योंकि जब द्यौ और पृथिवी साथ-साथ चलते हैं तभी वर्षा होती है, इसलिए कहा—'द्यावापृथिवी साथ चलें।' अब कहता है—"मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्" (यजु० २।१६)—"मित्र और वरुण तेरी वृष्टि द्वारा रक्षा करें।" इस कहने से तात्पर्य यह है कि जो वर्षा का अध्यक्ष है वह तेरी वृष्टि द्वारा रक्षा करे। वही वर्षा का अध्यक्ष है जो यह बहता है (अर्थात् वायु), यह एक ही के समान बहता है। परन्तु वही पुरुष के भीतर जाकर आगे-पीछे होकर दो हो जाते हैं,उनका नाम है प्राण और उदान। प्राण और उदान ही मित्र और वरुण हैं। इसीलिए यह कहता है 'वह जो वर्षा का अध्यक्ष है तेरी वृष्टि द्वारा रक्षा करे।' इस (प्रस्तर) को वह इस (मन्त्र) द्वारा ले तो सदा वृष्टि उसके अनुकूल रहेगी। वह (प्रस्तर पर) घी लगाता है, मानो यजमान को भी आहुति का रूप देता है, जिससे वह आहुति होकर देव-लोक को चला जाय ॥१२॥

वह उस (प्रस्तर) के अगले भाग को जुहू में से चुपड़ता है, बीच को उपभृति में से, जड़

मुपभृति मूलं ध्रुवायामग्रमिव हि जुहूर्मध्यमिवोपभृन्मूलमिव ध्रुवा ॥१३॥ सो ऽनक्ति । व्यन्तु वयोऽक्तꣳ रिहाणा इति वय एवैनमेतद्भूतमस्मान्मनुष्यलोकाद्देवलोकमभ्युत्पातयति तन्नीचैरिव हरति द्यं तद्यस्मान्नीचैरिव हरेद्यजमानो वै प्रस्तरोऽस्या एवैनमेतत्प्रतिष्ठायै नोद्धन्तीहोऽएव वृष्टिं नियच्छति ॥१४॥ स हरति । मरुतां पृषतीर्गच्छेति देवलोकं गच्छेत्येवैतदाह यदाह मरुतां पृषतीर्गच्छेति वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावहेतीयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निरियं भूत्वा दिवं गच्छेत्येवैतदाह ततो नो वृष्टिमावहेति वृष्टाद्वाऽऊर्ग्रसः सुभूतं जायते तस्मादाह ततो नो वृष्टिमावहेति ॥१५॥ अथैकं तृणमपगृह्णाति । यजमानो वै प्रस्तरः स यत्कृत्स्नं प्रस्तरमनुप्रहरेत्क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति यावद्ध्वास्येह मानुषमायुस्तस्मा एवैतदपगृह्णाति ॥१६॥ तन्मुहूर्तं धारयित्वानुप्रहरति । तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तद्वास्यैतद्गमयत्यथ यन्नानुप्रहरेदन्तरियाद्ध यजमानं लोकात्तथो ह यजमानं लोकान्नान्तरेति ॥१७॥ तं प्राञ्चमनुसमस्यति । प्राची हि देवानां दिगथोऽउदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिक्तमङ्गुलिभिरिव योयुप्येरन्न काष्ठैर्दारुभिर्वाऽइतरꣳ शवं व्यूषन्ति नेत्तथा करवाम यथेतरꣳ शवमिति तस्मादङ्गुलिभिरिव योयुप्येरन्न काष्ठैर्यदा होता सूक्तवाकमाह ॥१८॥ अथाग्नीदाहानुप्रहरेति । तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तद्वास्यैतद्गमयेत्येवैतदाह तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति तेनोऽअस्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥१९॥ अथाह संवदस्वेति । संवादयैनं देवैरित्येवैतदाहागानग्नीदित्यगन्खल्वित्येवैतदाहागन्नितीतरः प्रत्याह श्रावयेति तं वै देवैः श्रावय तमनुबोधयेत्येवैतदाह श्रौषडिति विदुर्वाऽएनमनु वाऽएनमभुत्सतेत्येवैतदाहैवमध्वर्युश्चाग्नीच्च देवलोकं यजमानमपिनयतः ॥२०॥ अथाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति दैव्या वाऽएते हो-

को ध्रुवा में से। क्योंकि जुहू अग्रभाग के समान है, उपभृति मध्य-भाग के और ध्रुवा मूल के समान है ॥१३॥

वह इस मन्त्र से घी लगाता है—"व्यन्तु वयोक्तँ रिहाणा" (यजु० २।१६)—"व्यन्तु (खावें देव लोग) उक्तं (चुपड़े हुए) वयः (पक्षी को) रिहाणः (चाटते हुए)। इस प्रकार वह (यजमान को) पक्षी का रूप देता है और इस मनुष्य-लोक से देव-लोक को भेजता है। अब वह उसको दो बार नीचे लाता है। नीचे इसलिये लाता है कि प्रस्तर यजमान का रूप है। इस प्रकार वह उसको प्रतिष्ठा से नहीं हटाता और अपने स्थान पर वर्षा को लाता है ॥१४॥

वह नीचे लाने में यह मन्त्र पढ़ता है— "मरुतां पृषतीर्गच्छ" (यजु० २।१६)—"मरुतों की चितकबरी (घोड़ियों) के पास जाओ।" जब वह कहता है कि 'मरुतों की चितकबरियों के पास जाओ' तो ऐसा कहने का तात्पर्य है देव-लोक को जाओ। अब कहता है—"वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह" (यजु० २।१६)—"पृश्निः (चितकबरी) वशा (गाय) होकर द्यौलोक को जा और हमारे लिए वहाँ से वर्षा ला" [इसका ठीक अर्थ शायद यह होगा कि पृथिवी अन्तरिक्ष में होकर द्यौ को जावे। (वशा—पृथिवी, पृश्नि, अन्तरिक्षं) अर्थात् यज्ञ पृथिवी से अन्तरिक्ष ओर वहाँ से द्यौ में होकर वर्षा लावे], यह (पृथिवी) वशा पृश्निः (चितकबरी) गाय है, जिसमें मूल वाले और बिना मूल के अन्न और खाद्य-पदार्थ होते हैं। ऐसा कहने से अर्थ यह है कि पृथिवी बनकर द्यौलोक को जा और 'वहाँ से वर्षा ला।' वर्षा से शक्ति, रस और सम्पत्ति होती है। इसीलिए वह कहता है 'वहाँ से वर्षा यहाँ ला' ॥१५॥

अब उसमें से एक तृण उठा लेता है। प्रस्तर यजमान है। इसलिये यदि कहीं समस्त प्रस्तर को आग में डाल दे तो यजमान तुरन्त ही परलोक को चला जाय। परन्तु इस प्रकार यजमान बहुत जीता है। जितनी इस संसार में मनुष्य की आयु हो सकती है उसी के लिए उस प्रस्तर को लेता है ॥१६॥

उसको थोड़ी देर पकड़े रखकर आग में फेंक देता है और जहाँ उसका इतना आत्मा या भाग गया वहाँ उसको भी भेज देता है। यदि वह उसको आग में न फेंके तो वह उसका परलोक से सम्बन्ध तोड़ देता है। परन्तु इस प्रकार करने से वह यजमान को परलोक से अलग नहीं करता ॥१७॥

उसको पूर्व की ओर (सिरा करके) फेंकता है। पूर्व ही देवों की दिशा है। या उत्तर की ओर क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। उसको अँगुलियों से ही चिकना करें; लकड़ी या काठ से नहीं। काष्ठ या लकड़ी से लाश को छेदते हैं। ऐसा न हो कि इसके साथ लाश के जैसा व्यवहार करें, इसलिए वह उसे अँगुलियों से ही चिकना करता है, लकड़ी से नहीं। जब होता सूक्तवाक को कहता है—॥१८॥

अग्नीध्र कहता है—'अनुप्रहर अर्थात् (प्रस्तर के) पीछे फेंक दो।' इससे तात्पर्य यह है कि जहाँ उसका दूसरा भाग गया वहाँ इसे भी जाने दो। (अध्वर्यु) उसे चुपके से फेंककर इस मन्त्र से अपने शरीर को छूता हैं—"चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि" (यजु० २।१६)—"हे अग्नि! तू आँख की रक्षा करनेवाला है। मेरी आँख की रक्षा कर।" इस प्रकार वह अपने को आग में नहीं फेंकता ॥१९॥

अब (अग्नीध्र अध्वर्यु से) कहता है—'संवदस्व' अर्थात् 'संवाद कर।' इसके कहने से तात्पर्य यह है कि देवताओं के साथ संवाद कर। अब (अध्वर्यु) पूछता है—'हे अग्नीध्र! क्या वह (देव लोक) चला गया?' इसका तात्पर्य यह है कि क्या सचमुच चला गया? वह उत्तर देता है—'हाँ! चला गया।' अब (अध्वर्यु) कहता है—'श्रावय अर्थात् सुना।' इससे तात्पर्य यह है कि (यजमान की बात को) 'देव सुनें और देव जानें।' अब कहता है—'श्रौषट् अर्थात् उसको सुनें।' (अग्नीध्र का) ऐसा कहने से तात्पर्य है कि देवों ने उसे जान लिया, पहचान लिया। इस प्रकार अध्वर्यु और अग्नीध्र यजमान को देवलोक को ले जाते हैं ॥२०॥

अब (अध्वर्यु) कहता है—"स्वगा[1] दैव्या होतृभ्यः" अर्थात् "देवताओं के होता लोग

१. जिस प्रकार बुलाने के लिए स्वागत (सु + आगत) होता है, इसी प्रकार भेजने के लिए स्वगा (सु + अगा) कहा।

तारो यत्परिधयोऽग्नयो हि तानेवैतत्स्वगाकरोति तस्मादाह स्वगा दैव्या हो-
तृभ्य इति स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति तदस्मै मानुषाय होत्रेऽह्वलामाशास्ते ॥२१॥
अथ परिधीननुप्रहरति स मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने
देव पणिभिर्गुह्यमानः तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष नेदपचेतयाताऽइत्यग्नेः
प्रियं पाथोऽपीतमितीतरावनुसमस्यति ॥२२॥ अथ जुहूं चोपभृतं च संप्रगृह्णाति ।
अद्धो हैवाकृतिं करोति यदनत्याकृतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति तस्माज्जुहूं चोप-
भृतं च संप्रगृह्णाति ॥२३॥ स वै विश्वेभ्यो देवेभ्यः संप्रगृह्णाति । यद्वाऽअनादिष्टं
देवतायै हविर्गृह्यते सर्वा वै तस्मिन्देवता अपित्विन्यो मन्यन्ते न वाऽएतत्कस्यै
चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यः संप्रगृह्णात्येतद्
वैश्वदेवꣳ हविर्यज्ञे ॥२४॥ स संप्रगृह्णाति ॥ सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्त इति सꣳ-
स्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवति प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवा इति प्रस्तरश्च हि
परिधयश्चानुप्रहृता भवन्तीमां वाचमभि विश्वे गृणन्त इत्येतद्वैश्वदेवं करोत्यास-
द्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भव-
ति ॥२५॥ स यस्यानसो हविर्गृह्णन्ति । अनसस्तस्य धुरि विमुञ्चन्ति यतो युनजाम
ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति यस्यो पात्र्ये स्फ्ये तस्य
यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येवं युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति ॥२६॥ युञ्जौ
ह वाऽएते यज्ञस्य यत्स्रुचौ । तेऽएतद्युङ्क्ते यत्प्रचरति स यं निधायावद्यन्यथा वा-
हनमवार्छेदेवं तत्तेऽएतत्स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतस्ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति
तेऽएतत्पुनः प्रयुङ्क्तेऽनुयाजेषु सोऽनुयाजैश्चरित्वैतद्विमोचनमागच्छति ते तत्सादयति
तद्विमुञ्चति तेऽएतत्पुनः प्रयुङ्क्ते यत्संप्रगृह्णाति तस्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा
विमुञ्चते यज्ञं वाऽअनु प्रजास्तस्मादद्य पुरुषो युङ्क्तेऽथ विमुञ्चतेऽथ युङ्क्ते तस्यां ग-
तिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वान्ततो विमुञ्चते स सादयति घृताची स्थो धुर्यौ पातꣳ

विदा हों।" ये जो परिधियाँ हैं यही देवताओं के होता हैं, क्योंकि (परिधियाँ ही) अग्नि हैं। उन्हीं को विदा करता है। इसलिये कहता है—'स्वगा दैव्या होतृभ्यः।' अब कहता है—"स्वस्तिः मानुषेभ्यः" अर्थात् "मनुष्य के सम्बन्धियों के लिए कल्याण हो।" इसके द्वारा वह आशीष देता है कि मनुष्य होता असफल न हो ॥२१॥

अब वह परिधियों को आग में डालता है। पहले मध्यपरिधि को यह मन्त्र पढ़कर डालता है—"यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः। तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष मेत् त्वदपचेतयाता" (यजु० २।१७)—"हे अग्नि देव ! जिस परिधि को तूने अपने चारों ओर रक्खा जब तू पणियों से छिपा हुआ था, मैं उस तुझको तेरी प्रसन्नता के लिए भरता हूँ। यह तेरे प्रतिकूल न हो।" शेष दोनों (परिधियों) को इस मन्त्रांश से डालता है—"अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्" (यजु० २।१७)—"तुम दोनों अग्नि के प्रिय स्थान को प्राप्त हो" ॥२२॥

अब वह जुहू और उपभृत् को ग्रहण करता है। पहले जो वह (प्रस्तर को) चुपड़ता है तो मानो वह आहुति देता है कि वह आहुति बनकर देवलोक को जा सके। इसीलिए वह जुहू और उपभृत् को साथ-साथ पकड़ता है ॥२३॥

वह विश्वे देवों के लिए उनको ग्रहण करता है। क्योंकि जब कोई हवि ऐसी दी जाती है जिसमें किसी देवता के लिए निर्देश न हो तो उसमें सभी देवता समझते हैं कि हमारा भाग है। जब वह आज्य को लेता है और किसी देवता का निर्देश करके तो हवि को लेता नहीं, इसलिये वह सब देवों के लिए लेता है। इसलिए वह उस हविर्यज्ञ में आज्य को 'वैश्वदेवं' अर्थात् सब देवताओं का बना देता है ॥२४॥

वह उनको इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"सँ्स्रवभागा स्थेषा बृहन्तः" (यजु० २।१८) "इषा अर्थात् शक्ति के द्वारा बड़े आप बचा हुआ भाग लेनेवाले होओ।" ('संस्रव' कहते हैं बचे हुए को) अब कहता है—"प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः" (यजु० २।१८) अर्थात् "हे प्रस्तर पर बैठे हुए और परिधिवाले देव।" प्रस्तर और परिधियाँ तो आग में फेंकी जा चुकीं। अब कहता है—"इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तः" (यजु० २।१८)—"इस वाणी को आप सब ग्रहण करते हुए।" इससे वह वैश्वदेव (सब देवों वाली) करता है। अब कहता है—"आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वँ् स्वाहा वाट्" (यजु० २।१८)—"इस आसन पर बैठो और स्वाहावाट् को चक्खो।" जैसे वषट्कृत् हवि होता है वैसे ही यह भी है ॥२५॥

गाड़ी से जिसकी हवि लेते हैं उसकी ही गाड़ी की धुरी में (स्रुवों को) अलग करते हैं कि जहाँ हम जोड़ें वहीं अलग करें, क्योंकि जहाँ जोड़ा करते हैं वहीं अलग करते हैं (गाड़ी के जिस स्थान पर बैल जोते जाते हैं उसी स्थान पर खोले जाते हैं)। परन्तु पात्र से जिसकी हवि ली जाय उसके लिए स्रुवों को स्फ्य पर रखकर (अलग करें) कि जहाँ जोड़ें वहीं अलग करें। इसलिये जहाँ जोड़ते हैं वहीं अलग करते हैं ॥२६॥

ये जो स्रुच् (चमचे हैं) यही यज्ञ के दो बैल हैं। जब वह चलता है (यज्ञ आरम्भ करता है) तब उनको जोतता है। अब यदि वह इसको रखकर ही अलग कर दे जैसे बैल को (बिना खोले ही) बिठा दें, तो वह गिर पड़ेगा। स्विष्टकृत् में दोनों चमचों का विमोचन होता होता है। अब वह इनको खोलता है अर्थात् विमोचन करता है। वह इनको अनुयाजों में फिर जोतता है। अनुयाजों को करने के पश्चात् फिर इनका विमोचन करता है। वह इनको खोलता है अर्थात् विमोचन करता है। जब वह इनका संप्रगृहण (साथ छूना) करता है तो फिर जोतता है। जिस गति (यात्रा या कार्य) के लिए उनको जोतता है उसी गति के पार करने पर विमोचन करता है। यज्ञ के पीछे ही प्रजा होती है। इसलिए यह पुरुष पहले जोतता है, फिर खोलता है। फिर जोतता है और जिस गति के लिए उसने जोता था वह गति हो जाने के पश्चात् उसको छोड़ देता है। वह इस मन्त्र को पढ़कर रखता है—"घृताची स्थो धुर्यौ पातँ् सुम्ने स्थः सुम्ने मा

सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति साध्व्यौ स्थः साध्वी मा धत्तमित्येवैतदाह ॥२७॥
ब्राह्मणम् ॥१ [८. ३.]॥ ॥ अध्यायः ॥८॥ ॥

स यत्राह । इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकायेति यदतो होतान्वाह सूक्तऽइव तदाह यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते तद्वाऽएतदुपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते द्वयं तद्यस्मादुपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ॥१॥ यज्ञं वाऽएष जनयति । यो यजतऽएतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते तं जनयत्यथाशिषमाशास्ते तामस्मै यज्ञ आशिषꣳ संनमयति यामाशिषमाशास्ते यो माजीजनतेति तस्माद्वाऽउपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ॥२॥ देवान्वाऽएष प्रीणाति । यो यजतऽएतेन यज्ञेनऽर्ग्भिरिव यजुर्भिरिव वदाहुतिभिरिव तस्य देवान्प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वाथाशिषमाशास्ते तामस्मै देवा आशिषꣳ संनमयन्ति यामाशिषमाशास्ते यो नोऽप्रैषीदिति तस्माद्वाऽउपरिष्टाद्यज्ञस्याशिषमाशास्ते ॥३॥ अथ प्रतिपद्यते । इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूदिति भद्रꣳ ह्यभूद्यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नार्ध्म सूक्तवाकमुत नमोवाकमित्युभयं वाऽएतद्यज्ञ एव यत्सूक्तवाकश्च नमोवाकश्चाराध्म यज्ञमविदाम यज्ञमित्येवैतदाहाग्ने त्वꣳ सूक्तवागस्युपश्रुती दिवस्पृथिव्योरित्यग्निमेवैतदाह त्वꣳ सूक्तवागस्युपश्रृण्वत्योरनयोर्द्यावापृथिव्योरित्योमन्वती तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्तामित्यन्नवत्यौ तेऽस्मिन्यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्तामित्येवैतदाह ॥४॥ शंगवी जीवदानूऽइति । शंगवी ते जीवदानू स्तामित्येवैतदाहात्रस्नूऽअप्रवेदेऽइति माह कस्माच्चन प्रत्रासीर्मा तऽइदं पुष्टं कश्चन प्रविदतेत्येवैतदाह ॥५॥ उरुगव्यूतीऽअभयंकृताविति । उरुगव्यूती तेऽभये स्तामित्येवैतदाह वृष्टिद्यावा रीत्यापेति वृष्टिमत्यौ ते स्तामित्येवैतदाह ॥६॥ शम्भुवौ मयोभुवाविति । शम्भुवौ ते मयोभुवौ स्तामित्येवैतदाहोर्जस्वती च पयस्वती चेति रसवत्यौ तऽउपजीवनीये स्तामित्येवैतदाह ॥७॥ सूपचरणा च स्वधिचरणा

धत्तम् ।"—"आप घी के प्रेमी हैं, धुरियों की रक्षा करो । आप भद्र हैं, मेरे लिये भद्र कीजिये ।" इससे तात्पर्य है कि आप साधु हैं मुझे साधुत्व दीजिये ।।२७।।

अध्याय ६—ब्राह्मण १

अब अध्वर्यु कहता है—"इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय।" अर्थात् "देवों के होता लोग बुलाये गये कल्याण को कहने के लिए और होता सूक्तवाक के लिए" और जब उस पर होता सूक्त कहता है तो वह यजमान के लिए आशीष देता है। वह यज्ञ के पीछे ही आशीष देता है। दो कारण हैं कि वह यज्ञ के पीछे आशीष देता है ।।१।।

जो यज्ञ करता है वह यज्ञ को उत्पन्न करता है। इसी की आज्ञा से ऋत्विज यज्ञ को तानते अर्थात् उत्पन्न करते हैं । अब (होता) आशीष देता है। यह यज्ञ उस आशीष को उसी के लिए मानता है जो आशीष दी जाती है, क्योंकि (यज्ञ समझता है कि) मुझे इसने उत्पन्न किया। इसलिये यज्ञ के अनन्तर ही आशीष दी जाती है ।।२।।

जो यज्ञ करता है वह देवों को अवश्य ही प्रसन्न करता है। इस यज्ञ से देवों को ऋचाओं, यजुओं तथा आहुतियों द्वारा प्रसन्न करके वह देवों का हिस्सेदार हो जाता है। और जब हिस्सेदर हो गया तो होतृ उसके लिए आशीष देता है। इस-उसकी दी हुई आशीष को देवता लोग (यजमान के लिए) मानते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उसने हमें प्रसन्न किया है। इसलिये भी वह यज्ञ के पश्चात् आशीष देता है ।।३।।

अब वह जपता है—"इदं द्यावा पृथिवी भद्रमभूत्"— "हे द्यौ और पृथिवि ! यह भद्र हो गया।" जिसने यज्ञ समाप्त कर लिये उसके लिए अवश्य ही कल्याण हो गया। "आर्ध्म सूक्तवाकमुत नमो वाकम्"—"हमने सूक्तवाक् और नमोवाक् कह दिया", क्योंकि यह सूक्तवाक् और नमोवाक् यज्ञ ही हैं। इसका तात्पर्य है कि हमने यज्ञ को पूरा कर लिया या हमने यज्ञ को प्राप्त कर लिया। अब कहता है—'अग्ने त्वँ सूक्तवागस्युपश्रुति दिवस्पृथिव्योः।" इसका तात्पर्य है कि —"अग्नि ! तू सूक्तवाक् है और द्यौ तथा पृथिवी उसको सुनते हैं।" अब कहता है—"ओ मन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम्"—"हे यजमान ! इस यज्ञ में द्यौ और पृथिवी तेरे लिए कल्याणकारी होवें।" इसका तात्पर्य यह है कि "हे यजमान, इस यज्ञ में द्यौ और पृथिवी तेरे लिए अन्नवती (अन्न को देनेवाली) होवें" ।।४।।

अब कहता है—"शंगवी जीवदानू।" इसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों पशुओं के लिए हितकारी और जीवन को बढ़ानेवाले हैं। अब कहा—"अत्रस्नूऽअप्रवेदन"—"डरनेवाले और समझ में न आनेवाले।" इसके कहने से तात्पर्य यह है कि तू किसी से न डरे और तेरे इस धन को तुमसे कोई न ले ।।५।।

अब कहा—"उरुगव्यूतीऽअभयङ्कृतौ"—"विशाल घरवाले और अभय पानेवाले।" इससे तात्पर्य है कि उनके घर विशाल हों और वे भय से मुक्त हों। अब कहा—'वृष्टिद्यावारीत्यापा' यह इसलिए कहा कि वे दोनों वर्षावाले हों ।।६।।

अब कहा—'शम्भुवौ मयोभुवौ।' यह इसलिए कहा कि वे दोनों कल्याण करनेवाले और दान देनेवाले हों। अब कहा—'ऊर्ज्जस्वती च पयस्वती च।' इसके कहने से तात्पर्य यह है कि वे दोनों रसवाले और जीविका देनेवाले हों ।।७।।

अब कहा, 'सूपचरण च स्वधिचरण।' 'सूपचरण।' इसलिए कहा कि द्यौ जिसको तू नीचे

चेति। सूपचरणा ह ते ऽसावस्तु यामधस्तादुपचरसि स्वधिचरणा त ऽइयमस्तु या-
मुपरिष्टादधिचरसीत्येवैतदाह तयोराविदीति तयोरनुमन्यमानयोरित्येवैतदाह ॥८॥
अग्निरिदं हविः। अजुषतावीवृधत महो ज्यायो ऽकृतेति तदाग्नेयमाज्यभागमाह
सोम इदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायो ऽकृतेति तत्सौम्यमाज्यभागमाहाग्नि-
रिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायो ऽकृतेति तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः
पुरोडाशो भवति तमाह ॥९॥ अथ यथादेवतम्। देवा आज्यपा आज्यमजुषन्ता-
वीवृधन्त महो ज्यायो ऽक्रतेति तत्प्रयाजानुयाजानाह प्रयाजानुयाजा वै देवा आ-
ज्यपा अग्निर्होत्रेणेदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायो ऽकृतेति तदग्निं होत्रे-
णाहाजुषतेत्येवं या इष्टा देवता भवन्ति ताः संपश्यत्यसौ हविरजुषतासौ हवि-
रजुषतेति तद्यजमानस्यैवैतत्समृद्धिमाशास्ते यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेन हि महज्जयति
तस्मादाहाजुषतेत्यवीवृधतेति यद्वै देवा हविर्जोषयन्ते तदपि गिरिमात्रं कुर्वते त-
स्मादाहावीवृधतेति ॥१०॥ महो ज्यायो ऽक्रतेति। यज्ञो वै देवानां महस्तं ह्ये-
तज्ज्यायांसमिव कुर्वते तस्मादाह महो ज्यायो ऽक्रतेति ॥११॥ अस्यामृधेद्धोत्रायां
देवंगमायामिति। अस्यां राध्नोतु होत्रायां देवंगमायामित्येवैतदाहाशास्ते ऽयं य-
जमानो ऽसाविति नाम गृह्णाति तदेनं प्रत्यक्षमाशिषा संपादयति ॥१२॥ दीर्घायु-
त्वमाशास्त ऽइति। सा यामुत्रोत्तरा देवयज्या तदिह प्रत्यक्षं दीर्घायुत्वं ॥१३॥
सुप्रजास्त्वमाशास्त ऽइति। तद्यदमुत्र भूयो हविष्करणं तदिह प्रत्यक्षं सुप्रजास्त्वं
प्रशासनं स कुर्याद्य एवं कुर्यादुत्तरां देवयज्यामाशास्त ऽइति त्वेव ब्रूयात्तदेव जी-
वातुं तत्प्रजां तत्पशून् ॥१४॥ भूयो हविष्करणमाशास्त ऽइति तद्वेव तत्सजात-
वनस्यामाशास्त ऽइति प्राणा वै सजाताः प्राणैर्हि सह जायते तत्प्राणानाशास्ते
॥१५॥ दिव्यं धामाशास्त ऽइति। देवलोके मे ऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्दे-
वलोक ऽएवैनमेतदपित्विनं करोति यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात्तदृध्यादिति यद-

से छूता है तुझे सुगमता से प्राप्त हो जाय। 'स्वधिचरणा' इसलिये कहा कि यह पृथिवी जिस पर तू रहता है तुझे स्थान दे। अब कहा—"तयोराविदि"—"उन दोनों के ज्ञान से।" इससे तात्पर्य है कि 'उन दोनों की अनुमति से' ॥८॥

अब कहा—"अग्निरिदँ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"—"अग्नि ने इस हवि को ले लिया। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" इससे अग्नि के याज्य की ओर संकेत है। अब कहा—"सोम इदँ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"—"सोम ने इस हवि को ले लिया। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" इससे सोम के आज्य की ओर संकेत है। अब कहा—"अग्निरिदँ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"—"अग्नि ने यह हवि ले ली। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" इससे अग्नि के पुरोडाश से तात्पर्य है जो दर्श और पूर्णमास दोनों यज्ञों में अवश्य ही दिया जाता है ॥६॥

इसी प्रकार अन्य देवों के लिए। "देवा आज्यपा आज्यमजुषन्तावीवृधन्त महो ज्यायोऽकृत।"—"आज्य या घी को पीनेवाले देवों ने आज्य को ले लिया। वे बढ़ गये। वे बड़े हो गये।" यहाँ प्रयाज और अनुयाजों से तात्पर्य है क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य पान करनेवाले देव हैं। अब कहा—"अग्निर्होत्रेणेदँ हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत।"—"होत्र अग्नि ने इस हवि को लिया। वह बढ़ गया। वह बड़ा हो गया।" यहाँ 'होत्र अग्नि' के लिए कहा। 'जुषता' अर्थात् स्वीकार कर लिया। ऐसा कहकर वह जो देवता इष्ट होते हैं उनको गिनाता है कि इस देव ने हवि स्वीकार की। इस प्रकार यज्ञ की समृद्धि को चाहता है, क्योंकि जो कुछ हवि देवता स्वीकार करते हैं उसी से उसको बड़ी चीजों की प्राप्ति होती है। इसलिए कहा कि 'स्वीकार किया'। 'बढ़ गये' इसलिए कहा कि जब देव हवि स्वीकार करते हैं तो पहाड़-से बढ़ जाते हैं। इसलिये कहता है—'बढ़ गये'।

'बड़े हो गये' इसलिए कहा कि यज्ञ ही देवों का बड़ापन है। इसी को वे बड़ा करते हैं। इसलिए कहा 'बड़े हो गये' ॥११॥

अब कहा—"अस्यामृधेद्धोत्रायां देवङ्गमायाम्।"—"इस देवों के पास जानेवाले होत्र में वृद्धि को प्राप्त हो।" उसके कहने से तात्पर्य यह है कि इस देवों के पास जानेवाले होत्र में फूले-फले। अब कहा—"आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ।"—"यह यजमान प्रार्थना करता है।" यहाँ ('असौ' के स्थान में) यजमान का नाम लेता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से उसके लिए आशीर्वाद का सम्पादन करता है ॥१२॥

अब कहा—"दीर्घायुत्वमाशास्ते।"—"बड़े जीवन के लिए प्रार्थना करता है।" जिसको पहले (इडा में) 'देवयज्या' कहा उसी को यहाँ 'दीर्घायु' कहता है ॥१३॥

अब कहा—"सुप्रजास्त्वमाशास्ते।"—"अच्छी सन्तान के लिए प्रार्थना करता है।" वहाँ पहले 'भूयो हविष्करण' कहा, यहाँ उसी को 'सुप्रजास्त्वं' कहा। जो इस प्रकार करेगा उसे शासन प्राप्त होगा। उसको कहना चाहिए—"देवयज्यामाशास्ते।"—"देवयज्या के लिए प्रार्थना करता है।" इससे दीर्घायु, प्रजा और पशु की प्राप्ति होगी ॥१४॥

अब कहा—"भूयो हविष्करणमाशास्ते।"—"बहुत हविष्करण की प्रार्थना करता है।" इससे उसी की प्रार्थना करता है। अब कहा—"सजातवनस्यामाशास्ते।"—"अपने साथियों के लिए प्रार्थना करता है।" प्राण ही 'सजाता' हैं क्योंकि ये साथ उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्राणों के लिए प्रार्थना करता है ॥१५॥

अब कहा—"दिव्यं धामाशास्ते।"—"दिव्य धाम की प्रार्थना करता है।" जो यज्ञ करता है वह इसलिए करता है कि देवलोक में भी मेरे लिए धाम मिले। इस प्रकार वह देवलोक में भी हिस्सेदार करता है। अब कहता है—"यदनेन हविषाशास्ते तदश्यात् तदृध्यात्।" अर्थात् "इस

नेन हविषाशास्ते तदस्मै सर्वꣳ समृध्यतामित्येवैतदाह ॥१६॥ ता वा एताः। पञ्चाशिषः करोति तिस्र इडायां ता अष्टावष्टाक्षरा वै गायत्री वीर्यं गायत्री वीर्यमेवैतदाशिषोऽभिसंपादयति ॥१७॥ नातो भूयसीः कुर्यात्। अतिरिक्तꣳ ह कुर्याद्यदतो भूयसीः कुर्याद्यद्धि यज्ञस्यातिरिक्तं द्विषन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते तस्मान्नातो भूयसीः कुर्यात् ॥१८॥ अपीद्धि कनीयसीः सप्त। तदस्मै देवा रासन्तामिति तदस्मै देवा अनुमन्यन्तामित्येवैतदाह तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परि मानुषा इति तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेरध्यस्मा एतद्वनवामहा इत्येवैतदाह ॥१९॥ इष्टं च वित्तं चेति। एषिषुरिव वा एतद्यज्ञं तमविदंस्तस्मादाहेष्टं च वित्तं चेत्युभे चैनं द्यावापृथिवी अꣳहसस्पातामित्युभे चैनं द्यावापृथिवी आर्त्तेर्गोपायतामित्येवैतदाह ॥२०॥ तदु हैक आहुः। उभे च मेति तथा होताशिष आत्मानं नान्तरेतीति तदु तथा न ब्रूयाद्यजमानस्य वै यज्ञ आशीः किं नु तत्रर्त्विजां यां वै कां च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा न ह स एतां कां चनाशिषं प्रतिष्ठापयति य आहोभे च मेति तस्मादु ब्रूयादुभे चैनमित्येव ॥२१॥ इह गतिर्वामस्येति। तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाहेह गतिर्वामस्येति ॥२२॥ इदं च नमो देवेभ्य इति तद्यज्ञस्यैवैतत्सꣳस्थां गत्वा नमो देवेभ्यः करोति तस्मादाहेदं च नमो देवेभ्य इति ॥२३॥ अथ शम्योराह। शम्युर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थां विदां चकार स देवलोकमपीयाय तत्तदन्तर्हितमिव मनुष्येभ्य आस ॥२४॥ तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। शम्युर्ह वै बार्हस्पत्योऽञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थां विदां चकार स देवलोकमपीयायेति ते तामेव यज्ञस्य सꣳस्थामुपायन्याꣳ शम्युर्बार्हस्पत्योऽवेद्यच्छम्योरब्रुवंस्ताम्वेवैष एतद्यज्ञस्य सꣳस्थामुपैति याꣳ शम्युर्बार्हस्पत्योऽवेद्यच्छम्योराह तस्माद्वै शम्योराह ॥२५॥ स प्रतिपद्यते। तच्छम्योरावृणीमह इति तां यज्ञस्य सꣳस्थामावृ-

हवि से जो प्रार्थना करे वह सब प्राप्त हो जाय" ॥१६॥

ये पाँच आशीषें देता है। तीन इडा में हुईं। इस प्रकार आठ हुईं। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री वीर्य है। इसलिए वीर्य का सम्पादन करता है ॥१७॥

इनसे अधिक (आशीष) न दे। यदि इनसे अधिक दे तो सीमा से बाहर जाय, और यज्ञ में जो सीमा से बाहर जाता है वह दुष्ट शत्रु के लिए होता है। इसलिए सीमा से बाहर न जाय ॥१८॥

इनसे कम कर सकता है जैसे सात। 'तदस्मै देवा रासन्ताम्।' ऐसा कहने से अर्थ यह है कि 'उसके लिए देव इस पदार्थ को दें।' 'तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनुतां वयमग्नेः परिमानुषा।' इसका अर्थ है कि 'अग्निदेव देवों से लेवे और हम तब इस (यजमान) के लिए इसे ले लेवें' ॥१९॥

'इष्टं च वित्तं च।'—'चाहा और प्राप्त किया।' उन्होंने यज्ञ को चाहा और प्राप्त किया। इसलिए कहा 'इष्टं च वित्तं च।' अब कहा—"उभे चैनं द्यावापृथिवीऽअँहसस्पाताम्।" अर्थात् 'द्यौ और पृथिवी दोनों इसको पाप से बचावें' ॥२०॥

कुछ लोग कहते हैं 'उभे च मा'—'दोनों मुझको भी।' अर्थात् होता आशीष में अपने को भी शामिल कर लेता है। लेकिन ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि यज्ञ में आशीष तो यजमान के लिए है (उसमें ऋत्विजों से क्या प्रयोजन ?)। यज्ञ में ऋत्विज लोग जो कुछ आशीष देते हैं वह सब यजमान के लिए ही होती है। इसके अतिरिक्त जो कोई कहे 'मुझको भी', वह आशीर्वाद को कहीं भी स्थापित नहीं करता, इसलिए कहना चाहिए कि 'ये दोनों उसको बचावें' ॥२१॥

अब कहता है—"इह गतिर्वामस्य।"—"यह वाम (इष्ट पदार्थ) की गति है।" यज्ञ में जो कुछ अच्छा है उसको वह इस प्रकार यजमान के लिए दे देता है। इसलिए कहा 'यह वाम की गति है' ॥२२॥

अब कहा—"इदं च नमो देवेभ्यः।"—"यह देवों के लिए नमस्कार हो।" यज्ञ समाप्त होने पर देवों को नमस्कार करता है, इसलिए कहता है 'यह देवों के लिए नमस्कार हो' ॥२३॥

अब कहता है—"शंयोः"—"कल्याण हो।" बृहस्पति के पुत्र शंयु ने यज्ञ की संस्था को पहले जाना। वह देवलोक को भाग लेने चला गया। उस पर वह ज्ञान मनुष्यों से लोप हो गया ॥२४॥

अब ऋषियों को पता लगा कि बृहस्पति का पुत्र शंयु यज्ञ की संस्था को जानकर देवलोक में भाग लेने चला। 'शंयोः' का उच्चारण करके उन (ऋषियों) ने भी यज्ञ की उस संस्था को जान लिया जिसे बृहस्पति के पुत्र शंयु ने जाना था। यह (होता) भी शंयोः के उच्चारण से यज्ञ की उस संस्था को समझ लेता है जिसे बृहस्पति के पुत्र शंयु ने जाना था। इसलिए वह कहता है 'शंयोः' ॥२५॥

अब कहता है—"तच्छंयोरावृणीमहे।"—"उस शंयोः को हम धारण करें।" अर्थात् हम

यामहे या७ शम्युर्बार्हस्पत्यो ऽवेदित्येवैतदाह ॥२६॥ गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतय ऽइति । गातु७ ह्येष यज्ञायेच्छति गातुं यज्ञपतये यो यज्ञस्य स७स्थां दैवी स्वस्ति-रस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति स्वस्ति नो देवत्रास्तु स्वस्ति मनुष्यत्रेत्येवैतदा-होर्ध्वं जिगातु भेषजमित्यूर्ध्वं नोऽयं यज्ञो देवलोकं जयत्वित्येवैतदाह ॥२७॥ शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति । एतावद्वाऽइद७ सर्वं यावद्द्विपाच्चैव चतुष्पा-च्च तस्माऽएवैतद्यज्ञस्य स७स्थां गत्वा शं करोति तस्मादाह शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदऽइति ॥२८॥ अथानयेत्युपस्पृशति । अमानुष-इव वाऽएतद्भवति य-दाविज्ये प्रवृत इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादनयेत्युपस्पृशति ॥२९॥ ब्राह्मणम् ॥२[१.१.]॥ ॥

ते वै पत्नीः संयाजयिष्यन्तः प्रतिपरायन्ति । जुहूं च स्रुवं चाध्वर्युरादत्ते वेद७ होताज्यविलापनीमग्नीत् ॥१॥ तद्धैकेषामध्वर्युः । पूर्वेणाहवनीयं पर्येति तदु त-था न कुर्याद्बहिर्धा ह यज्ञात्स्यादध्वर्त्तेनेयात् ॥२॥ जघनेनो हैव पत्नीम् । एकेषाम-ध्वर्युरेति नोऽएव तथा कुर्यात्पूर्वार्धो वै यज्ञस्याध्वर्युर्जघनार्धः पत्नी यथा भसत्तः शिरः प्रतिदध्यादेवं तद्बहिर्धा हैव यज्ञात्स्यादध्वर्त्तेनेयात् ॥३॥ अन्तरेणो हैव प-त्नीम् । एकेषामध्वर्युरेति नोऽएव तथा कुर्यादन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीं यत्तेनेयात्तस्मा-दु पूर्वेणैव गार्हपत्यमन्तरेणाहवनीयं चेति तथा ह न बहिर्धा यज्ञाद्भवति यथो ऽएवादः प्रचरन्नन्तरेण संचरति स उऽएवास्यैष संचरो भवति ॥४॥ अथ पत्नीः संयाजयन्ति । यज्ञाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात्प्रजायमाना मिथुनात्प्रजायन्ते मिथुनात्प्र-जायमाना अन्ततो यज्ञस्य प्रजायन्ते तदेना एतदन्ततो यज्ञस्य मिथुनात्प्रजननात्प्र-जनयति तस्मान्मिथुनात्प्रजननादन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्मात्पत्नीः सं-याजयन्ति ॥५॥ चतस्रो देवता यजति । चतस्रो वै मिथुनं द्वन्द्वं वै मिथुनं द्वे-द्वे हि खलु भवतो मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माच्चतस्रो देवता यजति ॥६॥

उस संस्था को धारण करें जो बृहस्पति के पुत्र शंयु ने धारण की थी ।।२६।।

अब कहता है—"गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये ।"—"यज्ञ के लिए जय, यज्ञपति के लिए जय ।" जो यज्ञ की संस्था को चाहता है वह यज्ञ के लिए और यज्ञपति के लिए जय चाहता है। "स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः ।"—"स्वस्ति हमारे लिए, स्वस्ति मनुष्यों के लिए ।" इसका तात्पर्य है कि देवों में हमको स्वस्ति हो और मनुष्यों में स्वस्ति हो । "ऊर्ध्वं जिग्नातु भेषजम् ।" —"भेषज या मुक्ति का साधन ऊपर जावे ।" इससे तात्पर्य है कि हमारा यज्ञ देवलोक को जीते ।।२७।।

अब कहता है—"शं नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।" अर्थात् "हमारे दुपायों और चौपायों के लिए कल्याण हो ।" ये दुपाये और चौपाये ही सब संसार हैं । यज्ञ को समाप्त करके वह यजमान के लिए कल्याण माँगता है, इसलिए कहता है कि 'हमारे दुपायों और चौपायों के लिए कल्याण हो' ।।२८।।

अब उस (अँगुली) से (पृथिवी को) छूता है । जब उसका ऋत्विज के कर्म के लिए वरण होता है तो वह अमानुष (मनुष्यों से ऊपर) हो जाता है । यह पृथिवी ही प्रतिष्ठा (सुरक्षित स्थान) है, इसलिए यहीं अच्छी तरह खड़ा होता है । और वह फिर (यज्ञ करने के बाद) मनुष्य हो जाता है । इसीलिए इस अँगुली से पृथिवी को छूता है ।।२६।।

अध्याय ६—ब्राह्मण २

वे पत्नी-संयाज करने के लिए (गार्हपत्य अग्नि के पास) लौटते हैं । अध्वर्यु जुहू और स्रुवा को लेता है, होता वेद (कुशों का गुच्छ) और आग्नीध्र आज्य-विलापनी (घी पिघलाने की कटोरी) को ।।१।।

यहाँ कुछ लोगों के मतानुसार अध्वर्यु आहवनीय के पूर्व की ओर जाता है । परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि वह वहाँ जायगा तो यज्ञ के बाहर हो जायगा ।।२।।

कुछ के मत में अध्वर्यु (यजमान की) पत्नी के पीछे-पीछे चलता है । उसको ऐसा भी न करना चाहिए, क्योंकि अध्वर्यु यज्ञ का पूर्वार्द्ध है और पत्नी यज्ञ का पिछला आधा । यदि ऐसा करेगा तो मानो वह अपने शिर को पीछे फेर ले और (अध्वर्यु) यज्ञ से बहिष्कृत हो जायगा ।।३।

कुछ के मत में अध्वर्यु पत्नी और गार्हपत्य के बीच में चलता है । परन्तु उसको ऐसा भी न करना चाहिए, क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा तो यज्ञ से पत्नी को अलग कर देगा । इसलिए गार्हपत्य के पूर्व को और आहवनीय के भीतर को जाता है । इस प्रकार वह यज्ञ के बाहर नहीं होता, और चूँकि पहले (आहवनीय तक जाते हुए) वह भीतर की ओर होकर गया था, वैसा ही अब भी करना चाहिए ।।४।।

अब पत्नी-संयाज करते हैं । यज्ञ से निश्चय ही सन्तान उत्पन्न होती है और यज्ञ से जो होती है, जोड़े से उत्पन्न होती है । जोड़े से जो उत्पन्न होती है वह यज्ञ के अन्त में उत्पन्न होती है । इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर जोड़े से प्रजा उत्पन्न की जाती है । इसलिए पत्नी-संयाज किया जाता है ।।५।।

चार देवताओं के लिए यज्ञ करता है । चार जोड़ा है । दो का जोड़ा होता है । दो-दो मिलकर चार होते हैं । इससे उत्पन्न करनेवाला जोड़ा हो गया । इसलिए चार देवताओं के लिए यज्ञ करता है ।।६।।

ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति । रेतो वाऽआज्यꣳ रेत एवैतत्सिञ्चति तस्मादाज्य-
हविषो भवन्ति ॥७॥ तेनोपाꣳशु चरन्ति । तिर-इव वै मिथुनेन चर्यते तिर-इ-
वैतद्यदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु चरन्ति ॥८॥ अथ सोमं यजति । रेतो वै सोमो रेत
एवैतत्सिञ्चति तस्मात्सोमं यजति ॥९॥ अथ त्वष्टारं यजति । त्वष्टा वै सिक्तꣳ
रेतो विकरोति तस्मात्त्वष्टारं यजति ॥१०॥ अथ देवानां पत्नीर्यजति । पत्नीषु वै
योनौ रेतः प्रतिष्ठितं तत्ततः प्रजायते तत्पत्नीष्वेवैतद्योनौ रेतः सिक्तं प्रतिष्ठापय-
ति तत्ततः प्रजायते तस्माद्देवानां पत्नीर्यजति ॥११॥ स यत्र देवानां पत्नीर्यजति ।
तत्पुरस्तात्तिरः करोत्युप ह वै तावद्देवता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु
नो जुह्वत्विति ताभ्य एवैतत्तिरः करोति तस्मादिमा मानुष्य स्त्रियस्तिर-इवैव पुꣳ-
सो जिघत्सन्ति या-इव तु ता-इवेति ह स्माह याज्ञवल्क्यः ॥१२॥ अथाग्निं गृह-
पतिं यजति । अयं वाऽअग्निर्लोक इममेवैतल्लोकमिमाः प्रजा अभिप्रजनयति ता
इमं लोकमिमाः प्रजा अभिप्रजायन्ते तस्मादग्निं गृहपतिं यजति ॥१३॥ तदिडान्तं
भवति । न ह्यत्र परिधयो भवन्ति न प्रस्तरो यत्र वाऽअदः प्रस्तरेण यजमानꣳ
स्वगाकरोति पतिं वाऽअनु जाया तदेवास्यापि पत्नी स्वगाकृता भवतीयसि तꣳ
ह कुर्याद्यत्प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात्तस्मादिडान्तमेव स्यादुतो प्रस्तरस्यैव रूपं क्रियते
॥१४॥ स यदि प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात् । यथैवादः प्रस्तरेण यजमानꣳ स्वगाकरो-
त्येवमेवैतत्पत्नीꣳ स्वगाकरोति ॥१५॥ स यदि प्रस्तरस्य रूपं कुर्यात् । वेदस्यैकं
तृणमाच्छिद्याग्रं जुह्वामनक्ति मध्यꣳ स्रुवे बुध्नꣳ स्थाल्याम् ॥१६॥ अथाग्नीदाहानुप्र-
हरेति । तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति
तनोऽअप्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥१७॥ अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय
श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शम्योर्ब्रूहीति ॥१८॥ अथ जुहूं च
स्रुवं च संप्रगृह्णाति । अदो हैवाहुतिं करोति यदनक्त्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छा-

वे हवियाँ घी की होती हैं। घी ही वीर्य है। इस प्रकार वीर्य सींचता है, इसलिए घी की आहुति देता है ॥७॥

इसको ये धीमी आवाज से करते हैं। समागम छिपकर किया जाता है। और जो धीमी आवाज से किया जाय वह भी छिपकर करने के बराबर है, इसलिए इसको धीरे-धीरे करते हैं ॥८॥

पहले सोम को आहुति देता है। सोम वीर्य है। वीर्य को सींचता है। इस कारण ही सोम को आहुति देता है ॥९॥

अब त्वष्टा को आहुति देता है। त्वष्टा ही सींचे हुए वीर्य को विकृत करता है। इसलिए त्वष्टा के लिए आहुति देता है ॥१०॥

अब देवों की पत्नियों को आहुति देता है। पत्नियों की योनियों में वीर्य स्थापित होता है। उसी से सन्तान होती है। इस कृत्य द्वारा वह पत्नियों की योनि में वीर्य स्थापित करता है और वहाँ से उत्पत्ति होती है। इसलिए वह देव-पत्नियों के लिए आहुति देता है ॥११॥

जब वह देव-पत्नियों के लिए आहुति देता है तो (अग्नि को) पूर्व की ओर छिपा लेता है, क्योंकि देव उस समय तक ठहरे रहते हैं जब तक समिष्टयजु की आहुतियाँ पूरी न हो जायँ, क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे लिए आहुतियाँ दी जाएँगी। उन्हीं से इसको छिपा लेता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि स्त्रियाँ जब खाती हैं तो पुरुषों से अलग खाती हैं ॥१२॥

अब अग्नि के लिए जो गृहपति है, आहुति देता है। अग्नि ही यह लोक है। इसी लोक के लिए सन्तान उत्पन्न होती है। इसलिए गृहपति-रूपी अग्नि के लिए आहुति देता है ॥१३॥

अन्त में इडा होती है। न तो यहाँ परिधियाँ रहती हैं न प्रस्तर। जैसे पहले प्रस्तर की आहुति से यजमान को विदा किया था, इसी के साथ उसकी पत्नी भी विदा हुई क्योंकि पत्नी पति के पीछे चलती है। यदि प्रस्तर का रूप (स्थानापन्न) कुछ और करे तो पत्नी के लिए आलस्य का दोष लगे। इसलिए अन्त में इडा होती है। परन्तु प्रस्तर का स्थानापन्न भी होता है ॥१४॥

यदि वह प्रस्तर का रूप या स्थानापन्न करे तो जैसे पहले प्रस्तर द्वारा यजमान को विदाई दी, इसी प्रकार उसकी पत्नी को विदाई देता है ॥१५॥

यदि वह प्रस्तर का स्थानापन्न चुने तो वेद (कुशों का गुच्छा) का एक तृण लेकर अगला भाग जुहू में डुबोता है, बीच का स्रुवा में, अन्त का थाली में ॥१६॥

अब आग्नीध्र कहता है 'अनुप्रहर'—'इसे पीछे फेंक दो।' (अध्वर्यु) उसे चुपके से फेंक-कर नीचे का मन्त्र पढ़कर अपने को छूता है—"चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि" (यजु० २।१६)। "हे अग्ने, तू आँखों की रक्षा करनेवाला है। मेरी आँखों की रक्षा कर।" इस प्रकार वह अपने को आग में फेंकने से बचाता है ॥१७॥

अब (आग्नीध्र अध्वर्यु से) कहता है—'संवदस्व'—'संवाद कर।' अध्वर्यु—'हे अग्नीध, वह गया?' अग्नीध—'हाँ गया।' अध्वर्यु—'श्रावय' (देवों को सुना)। अग्नीध—'श्रौषट्' (वे सुनें)। अध्वर्यु—'देवताओं के होताओं के लिए विदाई हो।' मनुष्य—'होताओं के लिए स्वस्ति।' अग्नीध—'शंयो कहो।' [टिप्पणी—यह संवाद है] ॥१८॥

अब जुहू और स्रुवा को साथ उठाता है। पहले (प्रस्तर को) सिंचन करके यजमान के लिए आहुति दी थी कि वह आहुति बनकर देवलोक को जावे। इसलिए वह जुहू और स्रुवा को

दिति तस्माज्जुहूं च स्रुवं च संप्रगृह्णाति ॥१९॥ स वाऽअग्नये संप्रगृह्णाति । अग्ने
ऽदब्धायोऽशीतमेत्यमृतो ह्यग्निस्तस्मादाहादब्धायवित्यशीतमेत्यशिष्ठो ह्यग्निस्त-
स्मादाहाशीतमेति पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या
ऽइति सर्वाभ्यो मार्त्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहाविषं नः पितुं कृणुवित्यन्नं वै पितुर-
नमीवं न इदमकिल्विषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह सुषदा योनावित्यात्मन्येतदाह स्वा-
हा वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥२०॥ अथ वेदं पत्नी वि-
स्रꣳसयति । योषा वै वेदिर्वृषा वेदो मिथुनाय वै वेदः क्रियतेऽथ यदेनेन यज्ञ
ऽउपालभते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥२१॥ अथ यत्पत्नी विस्रꣳसयति । यो-
षा वै पत्नी वृषा वेदो मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माद्वेदं पत्नी विस्रꣳसयति
॥२२॥ सा विस्रꣳसयति । वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन म-
ह्यं वेदो भूया इति यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेनैव कुर्यात् ॥२३॥ तम्वा वेदः सꣳ-
स्तृणाति । योषा वै वेदिर्वृषा वेदः पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति पश्चादे-
वैनामेतत्परीत्य वृष्णा वेदेनाधिद्रावयति तस्माद्वा वेदः सꣳस्तृणाति ॥२४॥ अथ
समिष्टयजुर्जुहोति । प्राङ्मे यज्ञोऽनुसंतिष्ठाताऽइत्यथ यद्धुत्वा समिष्टयजुः पत्नीः सं-
याजयेत्प्रत्यङ्ङु हैवास्यैष यज्ञः संतिष्ठेत तस्माद्वाऽएतर्हि समिष्टयजुर्जुहोति प्राङ्मे
यज्ञोऽनुसंतिष्ठाताऽइति ॥२५॥ अथ यस्मात्समिष्टयजुर्नाम । या वाऽएतेन यज्ञेन
देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै ततः समिष्टा भवन्ति तस्मात्तु
सर्वासु समिष्टास्वथैतज्जुहोति तस्मात्समिष्टयजुर्नाम ॥२६॥ अथ यस्मात्समिष्टयजु-
र्जुहोति । या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायतऽउप ह वै
ता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यव-
सृजति यत्र-यत्रासां चरणं तदनु यज्ञं वाऽएतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा य-
त्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात्समिष्टयजुर्जुहोति ॥२७॥ स जुहोति । देवा

लेता है ॥१६॥

वह उनको अग्नि के लिए उठाता है (यह मन्त्र पढ़कर) "अग्नेऽदब्धायोऽशीतम" (यजु० २।२०)—"हे शक्तिवाले और दूर जानेवाले अग्नि।" चूँकि अग्नि 'अमर' है इसलिए कहा—'अदब्धायो।' अग्नि बहुत दूर पहुँचता है, (अशिष्ट है) इसलिए 'अशीतम' कहा। अब कहता है—"पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या।"—"बचा मुझको वज्र से, बचा मुझको बन्धनों से, बचा मुझे दूषित यज्ञ से और बचा मुझे बुरे अन्न से।" इसका तात्पर्य यह है कि हर प्रकार की बुराइयों से बचा। अब कहता है—"अविषन् नः पितुं कृणु" (यजु० २।२०)—"हमारे अन्न को विषरहित कर" (पितु नाम है अन्न का)। इससे तात्पर्य है कि हमारे अन्न को सर्वथा विषरहित कर। अब कहता है—"सुषदा योनौ" (यजु० २।२०)—"सुख देनेवाली गोद में।" इसका तात्पर्य है तुझमें। (फिर कहा) 'स्वाहावाट्' (यजु० २।२०)। चूँकि वषट्कार किया, इसलिए यह ऐसा ही हो गया ॥२०॥

अब पत्नी वेद (कुशों के गुच्छों को) खोलती है। वेदि स्त्री है, वेद पुरुष है। वेद जोड़े के के लिए बनाया जाता है और इसलिए जब यज्ञ में वह वेदि को (वेद से) छूता है तो सन्तान उत्पन्न करनेवाली सन्धि हो जाती है ॥२१॥

पत्नी वेद को इसलिए खोलती है कि—पत्नी स्त्री है, वेद पुरुष है। इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करनेवाली सन्धि हो जाती है। इसलिए पत्नी वेद को खोलती है ॥२२॥

यदि वह यजु० का मन्त्र पढ़कर खोलना चाहे तो इस यजु०को पढ़कर खोले—"वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः" (यजु २।२१)—"तू वेद है हे देव, वेद तू देवों के लिए वेद हो गया। मेरे लिए वेद हो" ॥२३॥

(होता) उसको वेदि तक फैलाता है, क्योंकि वेदि स्त्री है और वेद पुरुष है, पुरुष स्त्री के पास पीछे से जाता है। इसलिए यह पीछे से अर्थात् पश्चिम से पुरुष-वेद को स्त्री-वेदि तक ले जाता है। इसलिए वह वेदि तक फैलाता है ॥२४॥

अब समिष्ट-यजु की आहुति देता है जिससे 'मेरा यज्ञ पूर्व में समाप्त हो जाय।' यदि वह समिष्ट-यजु पहले करता और पत्नी-संयाज पीछे, तो उसका यज्ञ पश्चिम में समाप्त होता। इसलिए वह समिष्ट-यजु की आहुतियाँ इस समय देता है कि मेरा यज्ञ पूर्व में समाप्त हो ॥२५॥

अब इसका समिष्ट-यजुः नाम क्यों पड़ा ? जो देवता यज्ञ में बुलाये जाते हैं और जिन देवों के लिए यह यज्ञ किया जाता है, वे सब समिष्ट होते हैं (सम्+इष्टा) चाहे हुए या बुलाये हुए। उन सब समिष्टों में जो आहुति दी जाती है उसका नाम है समिष्ट-यजुः। (यजुः का अर्थ है आहुति) ॥२६॥

अब समिष्ट-यजुः क्यों किया जाता है ? जिन देवताओं को वह इस यज्ञ द्वारा बुलाता है और जिन देवताओं के लिए यह यज्ञ किया जाता है, वे देवता ठहरे रहते हैं, जब तक कि समिष्ट-यजुः न हो, यह सोचते हुए कि हमारे लिए यह आहुतियाँ देगा। उन्हीं देवताओं का वह यथाविधि विसर्जनकर देता है; और जिस विधि के अनुसार उसने यज्ञ को उत्पन्न किया और फैलाया, उसी को उत्पन्न करके उसको प्रतिष्ठा में स्थापित करता है। इसलिए वह समिष्ट-यजुः की आहुति देता है ॥२७॥

वह यह मन्त्रांश पढ़कर आहुति देता है —"देवा गातुविदः" (यजु० २।२१)—"मार्ग

गातुविद इति गातुविदो हि देवा गातुं वित्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातुमिते-ति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाऽइत्य-यं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन्यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ संदधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति ॥२८॥ अथ बर्हिर्जुहोति । अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकऽओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिँल्लोक ऽओषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद्बर्हिर्जुहोति ॥२९॥ तां वाऽअतिरिक्तां जुहोति । स-मिष्टयजुर्ह्येवान्तो यज्ञस्य यद्ध्यूर्ध्वꣳ समिष्टयजुषोऽतिरिक्तं तद्यदा हि समिष्टयजुर्जु-होत्यथैताभ्यो जुहोति तस्मादिमा अतिरिक्ता असंमिता ओषधयः प्रजायन्ते ॥३०॥ स जुहोति । सं बर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहेति ॥३१॥ अथ प्रणीता दक्षिणतः प-रीत्य निनयति । युङ्क्ते वाऽएतद्यज्ञं यदेनं तनुते स यन्न निनयेत्पराङु हाविमुक्त एव यज्ञो यजमानं प्रदक्षिणीयात्तथो ह यज्ञो यजमानं न प्रदक्षिणाति तस्मात्प्रणी-ता दक्षिणतः परीत्य निनयति ॥३२॥ स निनयति । कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषायेति तत्पुष्टिमुत्तमां यज-मानाय निराह स येनैव प्रणयति तेन निनयति येन ह्येव योग्यं युञ्जन्ति तेन विमुञ्चन्ति योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति योक्त्रेण विमुञ्चन्त्यथ फलीकरणान्कपालेना-धोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यति रक्षसां भागोऽसीति ॥३३॥ देवाश्च च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भ-विष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति ॥३४॥ ततो देवाः । सर्वं यज्ञꣳ संवृज्याथ यत्पा-पिष्ठं यज्ञस्य भागधेयमासीत्तेनैनानिरभजन्नस्ना पशोः फलीकरणैर्हविर्यज्ञात्सुनिर्भ-क्ता असन्नित्येष वै सुनिर्भक्तो यं भागिनं निर्भजन्त्यथ यमभागं निर्भजन्त्येव स ता-वद्ध्ꣳसतऽउत हि वशे लब्धाह किं मा बभक्थेति स यमेवैभ्यो देवा भागमक-

को पानेवाले देव।" वस्तुतः देव मार्ग को पानेवाले हैं। "गातुं वित्त्वा" (यजु०२।२१)—"मार्ग को पाकर।" इसका तात्पर्य है 'यज्ञ को पाकर'। "गातुमित" (यजु० २।२१)—"मार्ग पर चलो।" इससे वह यथाविधि (देवों का) विसर्जन करता है। अब कहता है—"मनसस्पतऽइमं देव यज्ञँ स्वाहा वाते धाः" (यजु० २।२१)—"हे मन के पति! इस देवयज्ञ को वायु में रख। स्वाहा।" यह यज्ञ ही है जो बहता है अर्थात् पवन। इस प्रकार इस यज्ञ को तैयार करके उस यज्ञ (दर्श-पूर्णमास) में स्थापित करता है। यज्ञ को यज्ञ से मिलाता है, इसलिए कहा 'स्वाहा वाते धाः' ॥२८॥

अब बर्हि-यज्ञ करता है। यह लोक ही बर्हि है। ओषधियाँ बर्हि हैं। इस विधि से वह इस लोक में ओषधियाँ धारण करता है, और ये ओषधियाँ इस लोक में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए बर्हि-यज्ञ करता है॥२९॥

यह एक अतिरिक्त आहुति है। समिष्ट-यजुः यज्ञ का अन्त है। जो समिष्ट-यजुः से ऊपर है वह अतिरिक्त आहुति है। जब समिष्ट-यजुः करता है तो इन देवताओं के लिए करता है, इसी से ये अनन्त और असीमित ओषधियाँ होती हैं॥३०॥

यह आहुति इस मन्त्र से दी जाती है—"सं बर्हिरङ्क्ताँ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः। समिन्द्रो विश्वेदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा" (यजु० २।२२)—"बर्हि हवि और घी से युक्त हों। इन्द्र आदित्यों, वसुओं, रुद्रों और विश्वेदेवों से संयुक्त हो। जो स्वाहा अर्थात् आहुति दी गई है यह दिव्य आकाश को जाये"॥३१॥

अब दक्षिण की ओर जाकर प्रणीता पात्र के जल को डालता है, अथवा जब यज्ञ को करता है तो उसको जोतता है। यदि प्रणीता के जल को न डालेगा तो न छोड़ा हुआ (न खोला हुआ) यज्ञ पीछे को हटकर यजमान को हानि पहुँचावेगा। इस प्रकार यज्ञ यजमान को हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए प्रणीता का जल दक्षिण को ओर जाकर डालता है॥३२॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर डालता है—"कस्त्वा विमुञ्चति, स त्वा विमुञ्चति। कस्मै त्वा विमुञ्चति, तस्मै त्वा विमुच्चति। पोषाय" (यजु० २।२३)—"कौन तुझे खोलता है? वह तुझे खोलता है। किसके लिए तुझको खोलता है? उसके लिए तुझको खोलता है। पुष्टि के लिए।" इससे वह उत्तम पुष्टि को यजमान के लिए माँगता है। जिस पात्र के द्वारा जल लिया था उसी के द्वारा डालता है। क्योंकि जिससे वे (घोड़ों को या बैलों को) जोतते हैं उसीसे खोलते हैं। योक्त्र अर्थात् जुए की रस्सी से जोतते हैं और उसी से खोलते हैं। फलीकरण अर्थात् चावलों का कूड़ा कपाल के द्वारा कृष्णाजिन (हिरन के चमड़े) के नीचे फेंक देता है, यह कहकर—"रक्षसां भागोऽसि" (यजु० २।२३)—"राक्षसों का भाग है तू"॥३३॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान इस यज्ञ, प्रजापति, पिता अर्थात् संवत्सर के लिए झगड़ा करते थे कि 'यह हमारा होगा, यह हमारा होगा'॥३४॥

अब देवों ने सब यज्ञ पर स्वत्व कर लिया। जो यज्ञ का बुरा भाग था वह उन असुरों क दे दिया, जैसे (यज्ञ के) पशु का रक्त और हविर्यज्ञ के चावल की भूसी। उन्होंने कहा—'इनको यज्ञ का कोई भाग न मिले।" क्योंकि जिसको यज्ञ का बुरा भाग मिलता है वह न मिलने के ही बराबर है, और जिसको कुछ भी नहीं मिलता उसे कुछ आशा होती है और कहता है—'तूने मुझको कौन-सा भाग दिया है?' इसलिए जो भाग देवों ने असुरों के लिए रक्खा था, वही भाग

ल्पयंस्तमेवैभ्य एष एतद्भागं करोत्यथ यदधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यत्यनग्नावेवैभ्य एतदन्धे तमसि प्रवेशयति तथोऽएवासृक्पशो रक्षसां भागोऽसीत्यनग्नावन्धे तमसि प्रवेशयति तस्मात्पशोस्त्विदनीं न कुर्वन्ति रक्षसाᳬं ह्नि स भागः ॥३५॥ ब्राह्मणम् ॥३[१.२]॥ ॥

संᳬस्थिते यज्ञे । दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति तथा व्युदग्भवति तस्माद्दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः ॥१॥ स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः । तदुभयतोऽग्निशिखे समोषन्त्यौ तिष्ठतः प्रति तमोषतो यः प्रत्युष्योऽत्यु तᳬं सृजेते यो ऽतिसृज्यः शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थानᳬं शमयति ॥२॥ पूर्णं निनयति । सर्वं वै पूर्णᳬं सर्वेणैवैनमेतच्छमयति संततमव्यवच्छिन्नं निनयति संततेनैवैनमेतदव्यवच्छिन्नेन शमयति ॥३॥ यद्वेव पूर्णपात्रं निनयति । यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद्वृहन्ति क्षण्वन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति ॥४॥ पूर्णं निनयति । सर्वं वै पूर्णᳬं सर्वेणैवैतत्संदधाति संततमव्यवच्छिन्नं निनयति संततेनैवैतदव्यवच्छिन्नेन संदधाति ॥५॥ तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति । सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सᳬं शिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्संदधाति ॥६॥ अथ मुखमुपस्पृशते । द्वयं तद्यस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतं वाऽआपोऽमृतेनैवैतत्सᳬंस्पृशतऽएतद्वु चैवैतत्कर्मात्मन्कुरुते तस्मान्मुखमुपस्पृशते ॥७॥ अथ विष्णुक्रमान्क्रमते । देवान्वाऽएष प्रीणाति यो यजतऽएतेन यज्ञेनऽर्ग्भिरिव यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान्प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वा तानेवाभिप्रक्रामति ॥८॥ यद्वेव विष्णुक्रमान्क्रमते । यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्र-

वह उन असुरों को देता है, अर्थात् (इस भूसी को) हिरन के लिए चमड़े के नीचे फेंक देता है। इस प्रकार वह इसे अन्धकार में डालता है, जहाँ आग नहीं है। इसी प्रकार पशु का रक्त भी अन्धकार में डालता है, यह कहकर कि तू राक्षसों का भाग है। इसलिए (यज्ञ में) प्रयुक्त नहीं करते क्योंकि यह राक्षसों का भाग है ।।३५।।

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

यज्ञ की समाप्ति पर (अध्वर्यु) दक्षिण की ओर घूमकर पूर्णपात्र के जल को गिरा देता है। इस प्रकार (संकेत से बताता है) उत्तर की ओर गिराया जाता है। इसलिए दक्षिण की ओर घूमकर पूर्णपात्र को गिराता है। जो यज्ञ करता है वह इस कामना से करता है कि देवलोक में स्थान मिले। उसका यह यज्ञ भी देवलोक को चला जाता है। इसके पीछे दक्षिणा चलती है, जिसे वह (पुरोहित को) देता है। दक्षिणा को लेकर यजमान पीछे-पीछे आता है ।।१।।

मार्ग या तो देवयान होता है या पितृयान। दोनों ओर दो अग्नि-शिखाएँ जलती रहती हैं। जो मुरसाने के योग्य होता है उसे मुरसाती हैं और जो निकल जाने के योग्य होता है उसे निकल जाने देती है। जल शान्ति है इसलिए इसके द्वारा वह मार्ग को शान्त करता है ।।२।।

पूर्णपात्र को वह उँडेलता है। पूर्ण का अर्थ है सब। इस प्रकार 'सब' से वह मार्ग को शान्त करता है। वह निरन्तर बिना धार को तोड़े हुए उँडेलता है। इस प्रकार वह मार्ग को निरन्तर लगातार शान्त करता है ।।३।।

वह पूर्णपात्र को इसीलिए उँडेलता है। यज्ञ में जो भूल हो जाती है वहाँ काट या फाड़ देते हैं। जल शान्ति हैं इसलिए जलरूपी शान्ति से शान्त करता है अर्थात् जलों से चंगा करता है ।।४।।

पूर्ण (पात्र) को उँडेलता है। पूर्ण का अर्थ है सब। 'सब' के द्वारा इसको चंगा करता है। वह लगातार बिना धार तोड़े हुए उँडेलता है, इस प्रकार निरन्तर चंगा करता है ।।५।।

उसको अञ्जलि से लेता है यह मन्त्र पढ़कर— 'सं वर्च्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सँ् शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्तो (तन्वो ?) यद् विलिष्टम् (विलीष्टम् ?)" (यजु० २।२४)—"तेज, शक्ति, शरीरों और कल्याणकारी मन से हम मिल गये। दानी त्वष्टा हमको धन दे; और जो कुछ हमारे शरीर में घाव था उसे चंगा कर दे।" ऐसा कहकर जो व्रण था उसको चंगा कर देता है ।।६।।

अब मुख का स्पर्श करता है। मुख स्पर्श करने के दो कारण हैं—पहला, जल अमृत है। अमृत से ही इसको स्पर्श करता है। दूसरे यह कि इस प्रकार वह इस कर्म को अपना (निजी) कर लेता है। इसलिए मुख का स्पर्श करता है ।।७।।

अब वह विष्णु के पगों को चलता है। जो यज्ञ करता है वह देवों को प्रसन्न करता है। इस यज्ञ द्वारा ऋचाओं से, यजुओं से या आहुतियों से देवों को प्रसन्न करके वह उनका हिस्सेदार होकर उन तक पहुँच जाता है ।।८।।

विष्णु के पगों को इसलिए चलता है—विष्णु यज्ञ है। उस (यज्ञ) ने देवों के लिए इस विक्रान्ति (शक्ति) को प्राप्त कर लिया जो इस समय उनके पास है। पहले पद से इस (पृथिवी)

थमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताम्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते तस्माद्विष्णुक्रमान्क्रमते तद्वाऽइत एव पराचीनं भूयिष्ठा-इव क्रमन्ते ॥९॥ तद्व तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त । गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्येवमिमाꣳल्लोकान्त्समारुह्याथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमाꣳल्लोकान्त्समारुह्याथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति परस्तामिवार्वाङ् क्रमेत य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेद्द्वयं तद्व्यस्मात्परस्तादर्वाङ् क्रमति ॥१०॥ अपसरणातो ह वाऽअग्रे देवा जयन्तोऽजयन् । दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात्सपत्नाननुदन्त तथोऽएवैष एतदपसरणात एवाग्रे जयञ्जयति दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात्सपत्नान्नुदतऽइयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥११॥ तद्व तद्दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त । जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽइत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वमन्नाद्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहास्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽइति ॥१२॥ अथ प्राङ् प्रेक्षते । प्राची हि देवानां दिक्तस्मात्प्राङ् प्रेक्षते ॥१३॥ स प्रेक्षते । अगन्म स्वरिति देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह सं ज्योतिषाभूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह ॥१४॥ अथ सूर्यमुदीक्षते । सैषा गतिरेषाप्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मात्सूर्यमुदीक्षते ॥१५॥ स उदीक्षते । स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरित्येष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत्सूर्यस्तस्मादाह स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो र-

को, दूसरे से अन्तरिक्ष को, तीसरे से द्यौ को। यह विष्णु-यज्ञ यजमान के लिए इस शक्ति को प्राप्त करा देता है। इसीलिए विष्णु के पगों को चलता है। अब इसी (पृथिवी) से बहुत-से (ऊपर को) चलते हैं ॥६॥

वह इस मन्त्र से—"पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रँस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २।२५), "अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २।२५), "दिवि विष्णुर्व्यक्रँस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २।२५)—"पृथिवी में विष्णु गायत्री छन्द से चला। जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह यहाँ से बहिष्कृत है", "अन्तरिक्ष में विष्णु त्रिष्टुभ छन्द से चला। जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह यहाँ से बहिष्कृत है", "द्यौ लोक में विष्णु जगती छन्द से चला। जो हमसे द्वेष करते हैं या जिससे हम द्वेष करते हैं, वह यहाँ से बहिष्कृत है।" जब इन लोगों को प्राप्त हो गया तो यही गति है, यही प्रतिष्ठा है। जो यह तपता है अर्थात् सूर्य, उसकी ये किरणें हैं वे सुकृत हैं। यह जो परम-प्रकाश है वह प्रजापति या स्वर्ग-लोक है। इस प्रकार इन लोकों को प्राप्त होता है। वह इस गति और प्रतिष्ठा को पाता है। जो अनुशासन या उपदेश देना चाहे वह ऊपर से नीचे आता है। दो कारण हैं कि वह ऊपर से नीचे आता है—॥१०॥

(शत्रु के) भागने पर विजयी देवों ने पहले द्यौ को जीता, फिर अन्तरिक्ष को, फिर उन शत्रुओं को इस (पृथिवी) से भी निकाला जहाँ से भाग जाना कठिन था। उसी प्रकार यह (होता) भी (शत्रुओं के) भागने पर पहले द्यौ लोक को जीतता है, फिर अन्तरिक्ष को, फिर उनको इस (पृथिवी) से निकालता है जहाँ से भाग जाना नहीं बन सकता। यह पृथिवी की प्रतिष्ठा है इसलिए वह इस प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित होता है ॥११॥

और इस प्रकार भी—"दिविविष्णुर्व्यक्रँस्त। जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रँस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादन्यै प्रतिष्ठाया" (यजु० २।२५)—"द्यौ लोक में विष्णु जगती छन्द से चला। वहाँ से वह निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। अन्तरिक्ष में विष्णु त्रिष्टुभ छन्द से चला। वहाँ से वह निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। पृथिवी में विष्णु गायत्री छन्द से चला। वहाँ से वह निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं। इस अन्न से और प्रतिष्ठा से (निकाल दिया गया)।" इस पृथिवी में ही सब अन्न आदि प्रतिष्ठित हैं इसीलिए कहा, 'इस अन्न से और इस प्रतिष्ठा से' ॥१२॥

अब वह पूर्व की ओर देखता है। पूर्व देवों का दिशा है। इसलिए पूर्व की ओर देखता है ॥१३॥

वह यह मन्त्र पढ़कर देखता है—"अगन्म स्वः" (यजु० २।२५)—"हम स्वर्ग को पहुँच गये।" देव ही स्वर्ग हैं इसलिए तात्पर्य है 'देवों को प्राप्त हो गये।' अब कहता है—"सं ज्योतिषा-भूम" (यजु० २।२५)—"प्रकाश से हम मिल गये।" इससे तात्पर्य है कि हम देवों से मिल गये ॥१४॥

अब वह सूर्य की ओर देखता है, क्योंकि वही गति है, वही प्रतिष्ठा है। इस गति को और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, इसलिए सूर्य की ओर देखता है ॥१५॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर देखता है—"स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिः" (यजु० २।२६)—"हे श्रेष्ठ किरण! तू स्वयम्भू है।" सूर्य श्रेष्ठ किरण है इसलिए कहा, 'हे श्रेष्ठ किरण, तू स्वयम्भू है।'

ष्मिरिति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति त्वेवाहं ब्रवीमीति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तत्त्वेव ब्राह्मणेनेष्टव्यं यद्ब्रह्मवर्चसी स्यादित्युतो ह स्माहौपोदितेय एष वाव मह्यं गा दास्यति गोदा गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥१६॥ अथावर्तते । सूर्यस्यावृतमन्वावर्तऽइति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यैवावृतमन्वावर्तते ॥१७॥ अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते । द्वयं तद्यस्माद्गार्हपत्यमुपतिष्ठते गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति यावद्ध्वास्येह मानुषमायुस्तस्माऽएवैतदुपतिष्ठते तस्माद्गार्हपत्यमुपतिष्ठते ॥१८॥ स उपतिष्ठते । अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वं मयाग्ने गृहपतिना भूया इति नात्र तिरोहितमिवास्त्यस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्यनार्त्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह शतꣳ हिमा इति शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह तदप्येतद्ब्रुवन्नाद्रियेतापि हि भूयाꣳसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति तस्मादप्येतद्ब्रुवन्नाद्रियेत ॥१९॥ अथावर्तते । सूर्यस्यावृतमन्वावर्तऽइति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यैवावृतमन्वावर्तते ॥२०॥ अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसंतनवदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन एव नाम गृह्णीयात् ॥२१॥ अथाहवनीयमुपतिष्ठते । प्राङ्मे यज्ञोऽनुसंतिष्ठाताऽइति तूष्णीमुपतिष्ठते ॥२२॥ अथ व्रतं विसृजते । इदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष-इव वाऽएतद्भवति यद्व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते यद्ब्रूयादिदमहꣳ सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत ॥२३॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥४ [१.३.]॥ ॥ सप्तमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११४ ॥ ॥ नवमोऽध्यायः ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ८३७ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे श्रीहविर्यज्ञनाम प्रथमं काण्डं समाप्तम् ॥ ॥

अब कहता है—"वर्च्चोदाऽअसि वर्च्चो मे देहि" (यजु० २।२६)—"तू तेज देनेवाला है, तू तेज दे।" याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैं यही कहता हूँ कि ब्राह्मण यह चाहे कि मैं ब्रह्मवर्च्चसी होऊँ।' औपोदितेय ने कहा, 'वह मुझे गायें देगा। इसलिए मैं कहता हूँ, तू गाय देनेवाला है मुझे गाय दे।' इस प्रकार (यजमान) जो चाहता है वही उसको मिल जाता है ॥१६॥

अब वह (बाईं ओर से दाहिनी ओर को) मुड़ता है यह पढ़कर—"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" (यजु०२।२६)—"मैं सूर्य के मार्ग को लौटता हूँ।" इस गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त होकर वह लौटता है ॥१७॥

अब वह गार्हपत्य अग्नि के पास जाता है। गार्हपत्य घर है। घर ही प्रतिष्ठा है इसलिए वह घर में अर्थात् प्रतिष्ठा में ठहरता है और दूसरे, जो मनुष्य की पूरी आयु हो सकती है उसको प्राप्त करता है। इसलिए गार्हपत्य अग्नि के पास ठहरता है ॥१८॥

वह यह मन्त्र पढ़कर जाता है—"अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वम् मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः" (यजु०२।२७)—"हे गृहपति अग्नि ! मैं तुझ गृहपति की सहायता से अच्छा गृहपति हो जाऊँ। हे अग्नि ! मुझ गृहपति की सहायता से तू अच्छा गृहपति हो जा।" यह स्पष्ट ही है। अब कहता है—"अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु" (यजु० २।२७)—"हमारे घर के मामले एक बैल की गाड़ी जैसे न हों।" इस कहने का तात्पर्य है कि हमारे घर के मामले दुःख-रहित हों। अब कहता है—"शतꣳ हिमाः" (यजु० २।२७)—"सौ वर्ष तक।" इसका तात्पर्य है 'मैं सौ वर्ष तक जीऊँ।' परन्तु उसको ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मनुष्य सौ वर्ष से अधिक जीता है। इसलिए उसको ऐसा नहीं कहना चाहिए ॥१९॥

अब वह (बाईं ओर से दाईं ओर) मुड़ता है यह पढ़कर—"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" (यजु० २।२७)—"सूर्य के मार्ग से लौटता हूँ।" वह इस गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करके इस (सूर्य के) मार्ग से लौटता है ॥२०॥

अब (यह मन्त्र पढ़ता हुआ) अपने पुत्र का नाम लेता है—"इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तन-वत्"—"मेरा पुत्र मेरे इस वीर्य को जारी रखे।" यदि पुत्र न हो तो अपना ही नाम ले ॥२१॥

अब आहवनीय के पास खड़ा होता है। वह चुपके से खड़ा होता है यह जानकर कि पूर्व में मेरा यज्ञ समाप्त होगा ॥२२॥

अब व्रत का विसर्जन करता है (यह मन्त्र पढ़कर)—"इदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि" (यजु०२।२८)—"यह मैं वहीं हूँ जो हूँ।" जब व्रत को किया था तो मनुष्य से ऊपर (देव) हो गया था। अब यह कहना तो उचित नहीं है कि मैं सच से झूठ को प्राप्त होऊँ; और वह मनुष्य हो ही जाता है, इसलिए उसको इस मन्त्र को पढ़कर ही व्रत का विसर्जन करना चाहिए—'मैं वही हूँ जो हूँ।' (यजु० २।२८) ॥२३॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का हविर्यज्ञनाम प्रथम काण्ड समाप्त हुआ।

प्रथम काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [१.२.२]	१२१
द्वितीय [१.३.३]	१२२
तृतीय [१.४.४]	१२८
चतुर्थ [१.६.१]	१२१
पंचम [१.७.२]	१२१
षष्ठ [१.८.२]	१११
सप्तम [१.९.३]	११४
योग	८३८

ओम् । स यद्वा इतश्चेतश्च सम्भरति । तत्सम्भाराणाꣳ सम्भारत्वं यत्र-यत्राग्ने-
र्न्यक्तं ततस्ततः सम्भरति तद्यशसैव त्वदेवैनमेतत्समर्धयति पशुभिरिव त्वन्मिथुने-
नेव त्वत्सम्भरन् ॥१॥ अथोल्लिखति । तद्यदेवास्यै पृथिव्या अभिष्ठितं वाभिष्ठ्यूतं
वा तदेवास्या एतदुद्धन्त्यथ यज्ञियायामेव पृथिव्यामाधत्ते तस्माद्वा उल्लिखति ॥२॥
अथाद्भिरभ्युक्षति । एष वा अपाꣳ सम्भारो यदद्भिरभ्युक्षति तद्यदपः सम्भरत्यन्नं
वा आपोऽन्नꣳ हि वा आपस्तस्माद्यदेमं लोकमाप आगच्छन्त्यथेहान्नाद्यं जायते
तदन्नाद्येनैवैनमेतत्समर्धयति ॥३॥ योषा वा आपः । वृषाग्निर्मिथुनेनैवैनमेतत्प्रज-
ननेन समर्धयत्यद्भिर्वा इदꣳ सर्वमाप्तमद्भिरेवैनमेतदाप्त्वाधत्ते तस्मादपः सम्भरति ॥४॥
अथ हिरण्यꣳ सम्भरति । अग्निर्ह वा अपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः
सम्बभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत्तस्मादेतदग्निसंकाशमग्नेर्हि रेतस्तस्माद-
प्सु विन्दन्त्यप्सु हि प्रासिञ्चत्तस्मादेनेन न धावयति न किं चन करोत्यथ यशो
देवरेतसꣳ हि तद्यशसैवैनमेतत्समर्धयति सरेतसमेव कृत्स्नमग्निमाधत्ते तस्माद्धि-
रण्यꣳ सम्भरति ॥५॥ अथोषान्त्सम्भरति । असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्या एतान्प-
शून्प्रददौ तस्मात्पशव्यमूषरमित्याहुः पशवो ह्येवैते साक्षादेव तत्पशुभिरेवैनमे-
तत्समर्धयति तेऽमुत आगता अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितास्तमनयोर्द्यावापृथिव्यो रसं
मन्यन्ते तदनयोरेवैनमेतद्द्यावापृथिव्यो रसेन समर्धयति तस्मादूषान्त्सम्भरति ॥६॥
अथाखुकरीषꣳ सम्भरति । आखवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं विदुस्तस्मात्तेऽधो
ऽध इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठा अस्यै हि रसं विदुस्ते यत्र तेऽस्यै पृथिव्यै रसं

द्वितीय काण्ड

अथ एकपादिकानाम द्वितीयं काण्डम्

[अग्न्याधानम्, पुनराधेयम्, अग्निहोत्रम्, पिण्डपितृयज्ञः, आग्रयणेष्टिः, दाक्षायणयज्ञः, चातुर्म्मास्यानि]

अग्न्याधानम्

अध्याय १—ब्राह्मण १

वह इधर-उधर से इकट्ठा करता है। यही (भिन्न-भिन्न आवश्यक) वस्तुओं का इकट्ठा करना तैयारी है। जिस-जिस वस्तु में अग्नि रहता है उसी-उसी वस्तु में तैयारी की जाती है। इस तैयारी में यश से, पशुओं से और मिथुन अर्थात् जोड़े से युक्त करता है ॥१॥

अब वह रेखा खींचता है। इस पृथिवी के जिस भाग पर चला या जहाँ थूका उस भाग को निकाल देते हैं। इस प्रकार यज्ञ के योग्य पृथिवी में ही अग्न्याधान किया जाता है। इसीलिए रेखा खींची जाती है ॥२॥

अब जल छिड़कता है। यह जो जल से छिड़कना है मानो (अग्नि की) जल के साथ तैयारी है। जल लाया इसलिए जाता है कि जल अन्न है। अन्न ही जल है। इसलिए जब जल इस लोक में आ जाता है, तभी अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह अग्नि को अन्न आदि से युक्त करता है ॥३॥

'आपः' जल स्त्री है। अग्नि पुरुष है। इस प्रकार वह अग्नि के लिए एक सन्तान-उत्पादक जोड़ा देता है। और चूंकि जल इस सब लोक में व्यापक है, इसलिए अग्नि को पहले जल के द्वारा तैयार करके ही स्थापित करता है। इसीलिए वह जल को लाता है ॥४॥

अब वह सोना (सुवर्ण) लाता है। एक बार अग्नि ने जल की ओर देखा और सोचा कि मैं इसके साथ मैथुन करूँ। उसने जल के साथ प्रसंग किया और जो वीर्य सींचा वह स्वर्ण हो गया। इसीलिए वह अग्नि के समान चमकता है, क्योंकि वह अग्नि का ही बीज है। वह (सोना) जल में पाया जाता है, क्योंकि जल में ही उसने वीर्य सींचा था। इसलिए इससे न कोई उसको धोता है और न कोई और काम करता है। अब (आग के लिए) यश है। क्योंकि देव-वीर्य अर्थात् यश से वह उसको समृद्ध करता है और वीर्यरूप पूर्ण अग्नि को आधान करता है। इसलिए वह स्वर्ण को लाता है ॥५॥

अब वह नमक को लाता है। उस द्यौ ने इस पृथिवी के लिए इन पशुओं को दिया। इसलिए कहते हैं कि नमक की भूमि (ऊषरम् या ऊसर) पशुओं के योग्य है। ये पशु ही इसलिए नमक हैं। इस प्रकार वह साक्षात् रूप से अग्नि को पशुओं से युक्त करता है। और पशु उस लोक (द्यौ) से आकर इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हुए। उस (नमक) को इन द्यौ और पृथिवी का रस मानते हैं। इसलिए इन्हीं द्यौ और पृथिवी के रस से अग्नि को समृद्ध करता है। इसलिए नमक को लाता है ॥६॥

अब वह आखु-करीष (चूहों द्वारा निकाली हुई मिट्टी को) लाता है। चूहे इस पृथिवी के रस को जानते हैं, इसलिए यह इस पृथिवी को गहरा खोदते चले जाते हैं। इस पृथिवी के रस को प्राप्त करके वे मोटे हो गये, और जहाँ पृथिवी में उनको रस प्रतीत हुआ उन्होंने उसे खोदकर

विदुस्तत उत्किरन्ति तदस्याऽएवैनमेतत्पृथिव्यै रसेन समर्धयति तस्मादाखुकरीषᳮ सम्भरति पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै पुरीषं च करीषं च तदेतस्यैवावरुद्ध्यै तस्मादाखुकरीषᳮ सम्भरति ॥७॥ अथ शर्कराः सम्भरति । देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे सा हेयं पृथिव्यलेलायद्यथा पुष्करपर्णमेवं तांᳮ ह स्म वातः संवहति सोपैव देवाञ्जगामोपासुरान्त्सा यत्र देवानुपजगाम ॥८॥ तद्धोचुः । हन्तेमां प्रतिष्ठां दृᳮहामहै तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नीऽआदधामहै ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भक्ष्याम इति ॥९॥ तद्यथा शङ्कुभिश्चर्म विहन्यात् । एवमिमां प्रतिष्ठाᳮ पर्यबृᳮहन्त सेयं ध्रुवाशिथिला प्रतिष्ठा तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नीऽआदधत ततोऽस्यै सपत्नान्निरभजन् ॥१०॥ तथोऽएवैष एतत् । इमां प्रतिष्ठाᳮ शर्कराभिः परिबृᳮहति तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नीऽआधत्ते ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माच्छर्कराः सम्भरति ॥११॥ तान्वाऽएतान् । पञ्च सम्भारान्त्सम्भरति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य ॥१२॥ तदाहुः । षडेवऽर्तवः संवत्सरस्येति न्यूनमु तर्हि मिथुनं प्रजननं क्रियते न्यूनाद्वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तच्छ्रेयसमुत्तरावत्तस्मात्पञ्च भवन्ति यद्यु षडेवऽर्तवः संवत्सरस्येत्यग्निरेवैतेषाᳮ षष्ठस्तथोऽएवैतदन्यूनं भवति ॥१३॥ तदाहुः । नैवैकं चन सम्भारᳮ सम्भरेदित्यस्यां वाऽएते सर्वे पृथिव्यां भवन्ति स यदेवास्यामाधत्ते तत्सर्वान्त्सम्भारानाप्नोति तस्मान्नैवैकं चन सम्भारᳮ सम्भरेदिति तदु समेव भरेद्यदहैवास्यामाधत्ते तत्सर्वान्त्सम्भारानाप्नोति यदु सम्भारैः सम्भृतैर्भवति तदु भवति तस्मादु समेव भरेत् ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

कृत्तिकास्वग्नीऽआदधीत । एता वाऽअग्निनक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सलोम यो ऽग्निनक्षत्रेऽग्नी आदधाते तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥१॥ एकं द्वे त्रीणि । चत्वारीति वाऽअन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति

बाहर निकाल डाला। इसलिए वह अग्नि को पृथिवी के इस रस से युक्त करता है। यही कारण है कि वह आखु-करीष को लाता है। जो श्री को प्राप्त कर लेता है, उसे पुरीष्य कहते हैं। पुरीष और करीष एक ही बात है। इसलिए इसकी बढ़ोतरी के लिए आखु-करीष को लाता है ॥७॥

अब वह कंकड़ (शर्करा) लाता है। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपनी बड़ाई के लिए झगड़ने लगे। यह पृथिवी कमल के दल के समान काँपने लगी, क्योंकि वायु इसको डगमगा रही थी। वह कभी देवों के पास जाती और कभी असुरों के। जब वह देवों के पास पहुँची तो—॥८॥

उन्होंने कहा, लाओ हम इसको दृढ़ कर लें; और जब यह दृढ़ और अचल हो जाय तो दोनों अग्नियों का आधान करें। इससे हम अपने शत्रुओं को यहाँ से बिल्कुल निकाल देंगे ॥९॥

इसलिए जैसे खूँटियों से चमड़े को तानते हैं, उसी प्रकार इसको दृढ़ किया; और यह अचल और दृढ़ हो गई। उसी दृढ़ अचल भूमि पर दो अग्नियों का आधान किया; और तब उन्होंने शत्रुओं को इसके भाग से बिल्कुल निकाल दिया ॥१०॥

इसी प्रकार यह (अध्वर्यु) भी कंकड़ों (शर्करा) से इसको दृढ़ करता है; और उस दृढ़ निश्चल पृथिवी में दो अग्नियों को स्थापित करता है; और शत्रुओं को मार भगाता है, इसलिए कंकड़ों को लाता है ॥११॥

इस प्रकार ये पाँच तैयारियाँ हैं क्योंकि यज्ञ पाँच भागों वाला (पांक्त) और पशु भी पाँच भागों वाला है; और वर्ष में पाँच ऋतुएँ भी हैं ॥१२॥

इसके विषय में उनका कहना है कि साल में छः ऋतुएँ हैं। न्यून के जोड़े से ही सन्तान उत्पन्न होती है। न्यून शरीर (के नीचे के स्थान) से ही यह प्रजा उत्पन्न होती है। यह भी (यजमान के लिए) श्रेयस्कर है। इसलिए पाँच तैयारियाँ होती हैं। और जब वर्ष की छः ऋतुएँ होती हैं तो छठी अग्नि होती है। इसलिए कोई न्यूनता नहीं हुई। [तात्पर्य यह है कि पाँच संभारों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं माननी चाहिए। पाँच ऋतुओं के लिए पाँच संभार हो गये। यदि कोई कहे कि ऋतुएँ छः होती हैं इसलिए पाँच संभारों से न्यूनता पाई जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि न्यूनता बुरी नहीं, क्योंकि न्यून से ही तो सन्तान होती है। दूसरी बात यह है कि यदि छः ऋतुएँ मानो तो पाच संभारों के साथ-साथ (अर्थात् जल, स्वर्ण, नमक, आखु-करीष और शर्करा) छठा अग्नि भी तो है। इससे छः संख्या भी पूरी हो गई और पाँच ही संभार ठीक ठहरे ॥१३॥

कुछ लोगों का मत है कि एक भी संभार नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस पृथिवी में तो सभी चीजें हैं। जब इसी पृथिवी में अग्नि को स्थापित किया तो मानो सभी संभार प्राप्त हो गये। इसलिए किसी संभार की आवश्यकता नहीं। परन्तु उसको संभारों को एकत्रित करना ही चाहिए। क्योंकि जब वह इस पृथिवी में अग्नि का आधान करता है तब सभी संभारों को प्राप्त होता है और जो कुछ संभारों का लाभ है वह उसको भी प्राप्त हो जाता है। इसलिए संभारों को इकट्ठा करना ही चाहिए ॥१४॥

अध्याय १—ब्राह्मण २

अग्नियों का आधान कृत्तिका नक्षत्रों में करे। कृत्तिका अग्नि के नक्षत्र हैं। जो अग्नि के नक्षत्र में अग्नियों का आधान करता है वह सलोम (अनुकूलता) स्थापित करता है। इसलिये कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करे ॥१॥

अन्य नक्षत्र एक, दो, तीन अथवा चार होते हैं (जबकि कृत्तिका सात होते हैं), इसलिए कृत्तिका बहुल हुए। इस प्रकार बहुत्व को प्राप्त होता है इसलिए अग्न्याधान कृत्तिका नक्षत्र में

तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥२॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणि ह वाऽअन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत्प्राच्यामेवास्यैतद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥३॥ अथ यस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत । ऋक्षाणाᳬं ह वाऽएता अग्रे पत्न्य आसुः सप्तऽर्षीनु ह स्म वै पुरऽर्क्षा इत्याचक्षते ता मिथुनेन व्यार्धास्तामी ह्युत्तराहि सप्तऽर्षय उद्यन्ति पुर एता अशमिव वै तद्यो मिथुनेन व्यृद्धः स नेन्मिथुनेन व्यृध्याऽइति तस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत ॥४॥ तद्वेव दधीत । अग्निर्वाऽएतासां मिथुनमग्निनैता मिथुनेन समृद्धास्तस्मादु एव दधीत ॥५॥ रोहिण्यामग्नीऽआदधीत । रोहिण्याᳬं ह वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नीऽआदधे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तब्धास्तस्थू रोहिण्य इवैव तद्धि रोहिण्यै रोहिणीत्वं बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान्रोहिण्यामाधत्ते ॥६॥ रोहिण्यामु ह वै पशवः । अग्नीऽआदधिरे मनुष्याणां कामᳬं रोहेमेति ते मनुष्याणां काममरोहन्यमु हैव तत्पशवो मनुष्येषु काममरोहंस्तमु हैव पशुषु कामᳬं रोहति य एवं विद्वान्रोहिण्यामाधत्ते ॥७॥ मृगशीर्षेऽग्नीऽआदधीत । एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षᳬं श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः श्रियᳬं ह गच्छति य एवं विद्वान्मृगशीर्षऽआधत्ते ॥८॥ अथ यस्मान्न मृगशीर्षऽआदधीत । प्रजापतेर्वाऽएतच्छरीरं यत्र वाऽएनं तदभ्यविध्यंस्तदिषुणा त्रिकाण्डेनेत्याहुः स एतच्छरीरमजहाद्वास्तु वै शरीरमयज्ञियं निर्वीर्यं तस्मान्न मृगशीर्षऽआदधीत ॥९॥ तद्वेव दधीत । न वाऽएतस्य देवस्य वास्तु नायज्ञियं न शरीरमस्ति यत्प्रजापतेस्तस्मादु एव दधीत पुनर्वस्वोः पुनराधेयमादधीतेति ॥१०॥ फल्गुनीष्वग्नीऽआदधीत । एता वाऽइन्द्रनक्षत्रं यत्फल्गुन्योऽप्यस्य प्रतिनाम्न्योऽर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता एतत्परोऽक्षमाचक्षते फल्गुन्य इति को ह्येतस्यार्हति गुह्यं नाम ग्र

करे ॥२॥

ये (कृत्तिका) पूर्व दिशा से हटते नहीं; अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से हटते हैं। इस प्रकार उसकी दोनों अग्नियाँ पूर्व की दिशा में ही स्थापित होती हैं, इसलिए कृत्तिका नक्षत्रों में ही अग्न्याधान करे ॥३॥

परन्तु कुछ लोग युक्ति देते हैं कि कृत्तिकाओं में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये कृत्तिका पहले ऋक्षों की पत्नियाँ थीं। सात ऋषियों को पहले ऋक्ष कहते थे। उनको मैथुन करने नहीं दिया गया, इसलिए उत्तर में सप्त-ऋषि निकलते हैं और ये (कृत्तिकाएँ) पूर्व में। मैथुन करने न देना यह दुर्भाग्य (अशम्) है। इसलिए कृत्तिका नक्षत्रों में अग्न्याधान न करे कि कहीं मैथुन से वर्जित न हो जाय ॥४॥

परन्तु कृत्तिका में अग्न्याधान किया जा सकता है, क्योंकि इनका जोड़ा तो अग्नि है। अग्नि जोड़े के साथ ही इनकी वृद्धि होती है। इसलिए अग्नि का आधान (कृत्तिका में) करे ॥५॥

रोहिणी नक्षत्र में भी अग्न्याधान करे, क्योंकि रोहिणी नक्षत्र में ही सन्तान के इच्छुक प्रजापति ने अग्न्याधान किया था। उसने प्रजा सृजी और वह प्रजा एक-रूप और ठीक रही, रोहिणी (लाल गाय) के समान। इसलिए रोहिणी नक्षत्र रोहिणी गौ के समान है। इसलिए जो कोई इस रहस्य को समझकर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह सन्तान और पशुओं से फूलता-फलता है ॥६॥

रोहिणी नक्षत्र में ही पशु अग्नियों का आधान करते हैं कि मनुष्यों की इच्छा तक चढ़ सकें (रोहेम)। उन्होंने मनुष्यों की कामनाओं तक रोहण किया। और जो कामना पशुओं की मनुष्यों के प्रति पूरी हुई, वही पशुओं के प्रति उसकी पूरी होगी जो इस रहस्य को समझकर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है ॥७॥

मृगशीर्ष नक्षत्र में भी अग्न्याधान हो सकता है, क्योंकि मृगशीर्ष प्रजापति का सिर है। श्री ही शिर है। इसलिए जो मनुष्य-जाति में श्रेष्ठ होता है उसको कहते हैं कि यह जाति का शिर है। जो इस रहस्य को समझकर मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह श्री को प्राप्त होगा ॥८॥

अब मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान न करने की (युक्ति कुछ लोग यह देते हैं) कि यह प्रजापति का शरीर है। जब इसको देवों ने त्रिकाण्ड तीर से बींधा तो कहते हैं कि उसने शरीर त्याग दिया। इसलिए यह शरीर केवल वास्तु, अयज्ञिय (यज्ञ न करने योग्य) और निर्वीर्य हो गया। इसलिए मृगशीर्ष में अग्न्याधान न करे ॥९॥

परन्तु वह कर सकता है। यह जो प्रजापति का शरीर है, न तो वास्तु है, न ही अयज्ञिय और न निर्वीर्य (इसलिए मृगशीर्ष में अग्न्याधान करे)। पुनर्वसु नक्षत्र में पुनराधेय कर्म करे। ऐसा आदेश है ॥१०॥

फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करे। ये फल्गुनी इन्द्र के नक्षत्र हैं और उसी के नाम पर हैं। इन्द्र का नाम अर्जुन भी है। यह उसका गुह्य (गुप्त) नाम है, और इन (फल्गुनी नक्षत्रों) का भी नाम अर्जुनी है। इसलिए वह परोक्ष रीति से इनको फल्गुनी कहता है, क्योंकि (इन्द्र का) गुह्य नाम कौन ले सकता है? इसके अतिरिक्त यजमान भी इन्द्र है। वह अपने ही

होतुमिन्द्रो वै यजमानस्तत्स्वऽएवैतन्नक्षत्रेऽग्नी आधत्तऽइन्द्रो यज्ञस्य देवतैतेनो हास्यैतत्सेन्द्रमग्न्याधेयं भवति पूर्वयोरादधीत पुरस्तात्क्रतुर्हैवास्मै भवत्युत्तरयोरादधीत श्वःश्रेयसꣳ हैवास्माऽउत्तरावद्भवति ॥११॥ हस्तेऽग्नीऽआदधीत । य इच्छेत्प्र मे दीयेतेति तद्धाऽअनुष्ठ्या यद्धस्तेन प्रदीयते प्र हैवास्मै दीयते ॥१२॥ चित्रायामग्नीऽआदधीत । देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तऽउभयऽएवामुं लोकꣳ समारुरुक्षां चक्रुर्दिवमेव ततोऽसुरा रौहिणमित्यग्निं चिक्यिरेऽनेनामुं लोकꣳ समारोक्ष्याम इति ॥१३॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । इमं चेद्वाऽइमे चिन्वते तत एव नोऽभिभवन्तीति स ब्राह्मणो ब्रुवाण एकेष्टकां प्रबध्येयाय ॥१४॥ स होवाच । हन्ताहमिमामप्युपदधाऽइति तथेति तामुपाधत्त तेषामल्पकाद्देवाग्निरसंचित आस ॥१५॥ अथ होवाच । अन्वाऽअहं तां दास्ये या ममेहेति तामभिपद्याबबर्ह तस्यामाबृढायामग्निर्व्यवशशादग्नेर्व्यवशादमन्वसुरा व्यवशेडुः स ता एवेष्टका वज्रान्कृत्वा ग्रीवाः प्रचिच्छेद ॥१६॥ ते ह देवाः समेत्योचुः । चित्र वाऽअभूम यऽइयतः सपत्नानबधिष्मेति तद्वै चित्रायै चित्रात्वꣳ चित्रꣳ ह भवति हन्ति सपत्नान्हन्ति द्विषन्तं भ्रातृव्यं य एवं विद्वांश्चित्रायामाधत्ते तस्मादेतत्क्षत्रिय एव नक्षत्रमुपेत्सेज्जिघाꣳसतीव ह्येष सपत्नान्वीव जिगीषते ॥१७॥ नाना ह वाऽएतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः । यथैवासौ सूर्य एवं तेषामेष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्रमादत्त तस्मादादित्यो नाम यदेषां वीर्यं क्षत्रमादत्त ॥१८॥ ते ह देवा ऊचुः । यानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं तस्मादु सूर्यनक्षत्रऽएव स्यादेष ह्येषां वीर्यं क्षत्रमादत्त यद्यु नक्षत्रकामः स्यादेतद्वाऽअनपराद्धं नक्षत्रं यत्सूर्यः स एतेनैव पुण्याहेन यदेतेषां नक्षत्राणां कामयेत तदुपेत्सेत्तस्मादु सूर्यनक्षत्रऽएव स्यात् ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य ए-

नक्षत्र में अग्नि का आधान करता है। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इस प्रकार उसका अग्न्याधान सेन्द्र (इन्द्र वाला) हो जाता है। पूर्व-फल्गुनी में अग्न्याधान करे। इससे उसका ऋतु या यज्ञ पहला अर्थात् प्रथम कोटि का हो जाता है। या पिछले फल्गुनी (उत्तर) में अग्न्याधान करे, इससे उसका यज्ञ उत्तरा के समान अर्थात् उन्नतशील हो जाता है। [यहाँ शब्दों का सादृश्य दिखाया है। पूर्व-फल्गुनी में आधान करने से पूर्व-फल अर्थात् अच्छा फल होगा। उत्तर-फल्गुनी में आधान करने से उत्तर-फल अर्थात् अच्छा फल होगा] ॥११॥

हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान करे। जो जिसकी इच्छा करे उसको वही दिया जाय। इसी अनुष्ठान से (कार्य सफल) होगा। जो हाथ से प्रदान किया जाता है, वह अवश्य ही दिया जाता है। 'हस्त' नक्षत्र का शाब्दिक सम्बन्ध हाथ द्वारा किये गये दान से जोड़ा गया है ॥१२॥

चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्रजापति के पुत्र देव और असुर बड़ाई के लिए लड़ पड़े। दोनों ने चाहा कि उस लोक (द्यौ लोक) को चढ़ जावें। अब असुरों ने रौहिण अग्नि को प्रज्वलित किया कि इसके द्वारा हम उस लोक को चढ़ जायेंगे। [यहाँ अग्नि को रौहिण कहा। चढ़ने के लिए भी 'रुह्' धातु आता है। यह शाब्दिक सादृश्य है] ॥१३॥

इन्द्र ने अब सोचा कि यदि ये इस अग्नि का आधान कर लेंगे तो हमको हरा देंगे। अब वह ब्राह्मण का भेष रखकर एक ईंट लेकर वहाँ गया ॥१४॥

उसने कहा, 'मैं भी इस (ईंट) को रख दूँ।' उन्होंने कहा 'अच्छा।' उसने (वह ईंट) रख दी। उनके अग्न्याधान में अब बहुत थोड़ी-सी कसर रह गई ॥१५॥

अब उसने कहा, 'मैं इस (ईंट) को निकाले लेता हूँ। यह मेरी है।' उसने उसे पकड़ा और खींच लिया। तब अग्नि की वेदी गिर पड़ी और अग्नि के गिरने से असुर भी गिर पड़े। उसने अब उन ईंटों को वज्र बना दिया और उनसे (असुरों के) गले काट डाले ॥१६॥

अब देव इकट्ठे होकर बोले—हमने शत्रु मार डाले, यह तो चित्र अर्थात् विचित्र बात हुई! इसलिए चित्रा नक्षत्र का चित्रत्व (विचित्रता) है। जो इस रहस्य को समझकर चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह विचित्र हो जाता है और अहितकारी शत्रुओं का नाश कर देता है। इसलिए क्षत्रिय को अवश्य ही इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने की इच्छा होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा आदमी प्राय: अपने शत्रु के नाश की इच्छा किया करता है ॥१७॥

पहले ये (नक्षत्र) बहुत-से क्षत्र थे जैसे वह सूर्य। जब वह उदय हुआ तो उसने उनके क्षत्र और वीर्य (शक्ति) को ले लिया। इसलिए उसको आदित्य कहते हैं कि वह इन (नक्षत्रों) के वीर्य और क्षत्र को ले लेता है। ['आदत्ते' का अर्थ है 'ले लेता है'। इसी 'आदत्ते' से आदित्य शब्द को निकाला है] ॥१८॥

अब उन देवों ने कहा, 'जो अब तक क्षत्र अर्थात् शक्ति थे वे अब क्षत्र न रहेंगे। इसीलिए नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। अर्थात् पहले वे 'क्षत्र' थे, अब देवों के कहने से क्षत्र नहीं रहे (अर्थात् न+क्षत्र=नक्षत्र हो गये)। इसलिए सूर्य को ही नक्षत्र मानना चाहिए क्योंकि उनका वीर्य सूर्य ने ले लिया। यदि (यजमान को) (अग्न्याधान के लिए) नक्षत्र की आवश्यकता हो तो यह सूर्य अच्छा नक्षत्र है। इस पुण्य दिन में वह जिन नक्षत्रों को चाहे उनका पुण्य ले ले। इसलिए उसको सूर्य को ही नक्षत्र मानना चाहिए ॥१९॥

अध्याय १—ब्राह्मण ३

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये देव-ऋतुएँ हैं। शरद्, हेमन्त और शिशिर ये पितृ-ऋतुएँ हैं। जो

वापूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥१॥ ते वा एत ऋतवः । देवाः पितरः स यो हैवं विद्वान्देवाः पितर इति ह्वयत्या हास्य देवा देवहूयं गच्छन्त्या पितरः पितृहूयमवन्ति हैनं देवा देवहूयेऽवन्ति पितरः पितृहूये य एवं विद्वान्देवाः पितर इति ह्वयति ॥२॥ स यत्रोदगावर्तते । देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति पितॄंस्तर्ह्यभिगोपायति ॥३॥ स यत्रोदगावर्तते । तर्ह्यग्नी आदधीतापहतपाप्मानो देवा अप पाप्मानं हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेति यस्तर्ह्याधत्तेऽथ यत्र दक्षिणावर्तते यस्तर्ह्याधत्तेऽनपहतपाप्मानः पितरो न पाप्मानमपहते मर्त्याः पितरः पुरा हायुषो म्रियते यस्तर्ह्याधत्ते ॥४॥ ब्रह्मैव वसन्तः । क्षत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षास्तस्माद्ब्राह्मणो वसन्त आदधीत ब्रह्म हि वसन्तस्तस्मात्क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत क्षत्रं हि ग्रीष्मस्तस्माद्वैश्यो वर्षास्वादधीत विड्ढि वर्षाः ॥५॥ स यः कामयेत । ब्रह्मवर्चसी स्यामिति वसन्ते स आदधीत ब्रह्म वै वसन्तो ब्रह्मवर्चसी हैव भवति ॥६॥ अथ यः कामयेत । क्षत्रं श्रिया यशसा स्यामिति ग्रीष्मे स आदधीत क्षत्रं वै ग्रीष्मः क्षत्रं हैव श्रिया यशसा भवति ॥७॥ अथ यः कामयेत । बहुः प्रजया पशुभिः स्यामिति वर्षासु स आदधीत विड्ढि वर्षा अन्नं विशो बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान्वर्षास्वाधत्ते ॥८॥ ते वा एत ऋतवः । उभय एवापहतपाप्मानः सूर्य एवैषां पाप्मनोऽपहन्तोद्यन्नेवैषामुभयेषां पाप्मानमपहन्ति तस्माद्यदेवैनं कदा च यज्ञ उपनमेदथाग्नी आदधीत न श्वःश्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

यदहरस्य श्वोऽग्न्याधेयं स्यात् । दिवैवाश्नीयान्मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तेऽस्यैतच्छ्वोऽग्न्याधेयं विदुस्तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहे-

आधा मास बढ़ता है (अर्थात् शुक्ल पक्ष) वह देवों का है और जो घटता है (अर्थात् कृष्ण पक्ष) वह पितरों का है। दिन देवों का है, रात पितरों की। फिर दिन का दोपहर से पूर्व का भाग देवों का है, पिछला भाग पितरों का ॥१॥

अब ये ऋतुएँ देवों और पितरों की हैं। जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर देवों और पितरों को बुलाता है उसका देव-निमंत्रण सुनकर देव आ जाते हैं और पितृ-निमंत्रण सुनकर पितर। जो मनुष्य देव और पितरों को जानकर बुलाता है उसकी देव देव-निमंत्रण में और पितर पितृ-निमंत्रण में रक्षा करते हैं ॥२॥

वह (सूर्य) जब उत्तर की ओर होता है तो देवों में होता है और देवों की रक्षा करता है, और जब दक्षिण की ओर होता है तो पितरों में होता है और पितरों की रक्षा करता है ॥३॥

जब (सूर्य) उत्तरायण हो तो अग्न्याधान करे। (सूर्य के द्वारा) देवों का पाप नष्ट हो गया। उसका भी पाप दूर हो जायगा। देव अमर हैं। इसलिए जो इस समय अग्न्याधान करता है उसको अमरत्व की आशा तो नहीं हो सकती, परन्तु वह पूर्ण आयु को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो दक्षिणायन सूर्य में अग्न्याधान करता है उसका पाप नहीं छूटता, क्योंकि पितरों का पाप नहीं छूटा। और वह आयु से पहले मर जाता है क्योंकि पितर अमर नहीं हैं ॥४॥

वसन्त ब्राह्मण है, ग्रीष्म क्षत्रिय, वर्षा वैश्य। इसलिए ब्राह्मण वसन्त में अग्न्याधान करे क्योंकि वसन्त ब्राह्मण है। इसलिए क्षत्रिय ग्रीष्म में अग्न्याधान करे क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रिय है। इसलिए वैश्य वर्षा में अग्न्याधान करे क्योंकि वर्षा वैश्य है ॥५॥

जो इच्छा करे कि मैं ब्रह्मवर्चसी हो जाऊँ वह वसन्त में अग्न्याधान करे, क्योंकि वसन्त ब्राह्मण है। वह निश्चय करके ब्रह्मवर्चसी हो जाता है ॥६॥

जो चाहे कि मुझे शक्ति, श्री और यश प्राप्त हो वह ग्रीष्म में अग्न्याधान करे, क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रिय है। उसे शक्ति, श्री और यश मिलेगा ॥७॥

और जो चाहे कि बहुत सन्तान तथा पशु हो जायँ, वह वर्षा में अग्न्याधान करे, क्योंकि वर्षा वैश्य है। अन्न वैश्य है। जो इस रहस्य को समझकर वर्षा में अग्न्याधान करता है, उसके बहुत सन्तान और पशु होते हैं ॥८॥

(कुछ का मत है कि) ये दोनों प्रकार की ऋतुएँ (देव-ऋतु और पितृ-ऋतु) पापों से युक्त हैं। सूर्य इनके पापों का दूर करनेवाला है। जब वह चमकता है तो इनके पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जब कभी यज्ञ की इच्छा हो तभी अग्न्याधान कर ले। कल के ऊपर न डाले क्योंकि कौन जानता है कि कल क्या होगा? ॥९॥

अध्याय १—ब्राह्मण ४

जिस दिन के अगले दिन अग्न्याधान करना है उस दिन (यजमान और उसकी स्त्री) दिन में ही भोजन करे, क्योंकि देव मनुष्यों के मन को जानते हैं। वे जानते हैं कि अगले दिन अग्न्याधान होगा। इसलिए सब देव घर मे आ जाते हैं। वे उसके घरों में ठहर जाते हैं

ह्युपवसन्ति स उपवसथः ॥१॥ तन्न्वेवानवक्लृप्तं यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादथ
किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु दिवैवाश्नीयात्तदपि काममेव नक्तमश्नी-
यान्नो ह्यनाहिताग्नेर्व्रतचर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद्भवति यावदनाहिताग्निस्त-
स्मादपि काममेव नक्तमश्नीयात् ॥२॥ तद्धैकेऽन्नमुपबध्नन्ति । आग्नेयोऽन्नोऽग्नेरेव
सर्वत्वायेति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्यस्यान्नः स्यादमोघ एवैनं प्रातर्दद्यात्तेनैव
तं काममाप्नोति तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥३॥ अथ चातुष्प्राश्यमोदनं पचन्ति । छ-
न्दांस्यनेन प्रीणीम इति यथा येन वाहनेन स्यन्त्स्यन्त्स्यात्तत्सुहितं कर्तवै ब्रूया-
देवमेतदिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्वाऽअस्य ब्राह्मणाः कुले वसन्त्यृत्विजश्चा-
नृत्विजश्च तेनैव तं काममाप्नोति तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥४॥ तस्य सर्पिरासेचनं कृ-
त्वा । सर्पिरासिच्याश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भि-
रभ्यादधति शमीगर्भमेतदाप्नुम इति वदन्तः स यः पुरस्तात्संवत्सरमभ्यादध्यात्स ह
तं काममाप्नुयात्तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥५॥ तदु होवाच भाल्लवेयः । यथा वाऽअन्य-
त्करिष्यन्त्सोऽन्यत्कुर्याद्यथान्यद्वदिष्यन्त्सोऽन्यद्वदेद्यथान्येन पथैष्यन्त्सोऽन्येन प्रति-
पद्येतैवं तद्य एतं चातुष्प्राश्यमोदनं पचेदपराद्धिरेव सेति न हि तदवकल्पते य-
स्मिन्नग्नावृचा वा साम्ना वा यजुषा वा समिधं वाभ्यादध्यादाहुतिं वा जुहुयाद्यत्तं
दक्षिणा वा हरेयुरनु वा गमयेयुर्दक्षिणा वा ह्येनं हरन्त्यन्वाहार्यपचनो भवि-
ष्यतीत्यनु वा गमयन्ति ॥६॥ अथ जाग्रति जाग्रति देवाः । तद्देवानेवैतदुपावर्त-
ते स सदेवतरः श्रान्ततरस्तपस्वितरोऽग्नीऽआधत्ते तदपि काममेव स्वप्यान्नो ह्य-
नाहिताग्नेर्व्रतचर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद्भवति यावदनाहिताग्निस्तस्मादपि का-
ममेव स्वप्यात् ॥७॥ तद्धैकेऽनुदिते मथित्वा । तमुदिते प्राञ्चमुद्धरन्ति तदु तदुभे
ऽअहोरात्रे परिगृह्णीमः प्राणोदानयोर्मनसश्च वाचश्च पर्याप्त्याऽइति वदन्तस्तदु त-
था न कुर्यादुभौ हैवास्य तथानुदितऽआहितौ भवतोऽनुदिते हि मथित्वा तमु-

(उपवसन्ति)। इसलिए इस दिन को उपवसथ (उपवास) कहते हैं ॥१॥

यह अनुचित है कि ठहरे हुए मनुष्यों के भोजन करने से पूर्व वह भोजन कर ले। इससे भी अधिक अनुचित यह है कि ठहरे हुए देवों के भोजन करने से पूर्व भोजन कर ले। इसलिए उस दिन, दिन में ही भोजन करना चाहिए। परन्तु यदि इच्छा हो तो रात में भी भोजन कर सकता है। क्योंकि अभी अग्न्याधान नहीं किया, इसलिए व्रत-चारी तो है नहीं। जब तक अग्न्याधान नहीं करता उस समय तक मनुष्य रहता है। इसलिए इच्छा हो तो रात में भी भोजन कर ले ॥२॥

कुछ लोग बकरे को बाँध लेते हैं। बकरा अग्नि का है, और यह काम अग्नि के सर्वत्व अर्थात् पूर्ति के लिए किया जाता है। परन्तु उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। जिसके पास बकरा हो वह प्रातःकाल अग्नीध् (आग्नीध्र) को दे दे, उसी से काम चल जायगा। इसलिए इस प्रथा का आदर न करे ॥३॥

अब वह चार मनुष्यों के योग्य ओदन (चातुष्प्राश्य भात) पकाते हैं (और कहते हैं कि) 'हम इसके द्वारा छन्दों को प्रसन्न करते हैं।' जैसे जिस वाहन (बैलों की जोड़ी) को जोतना चाहें उनको पहले से अच्छी प्रकार खिलाने-पिलाने की आज्ञा देते हैं। परन्तु उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। चूँकि ब्राह्मण उसी के कुल में रहते हैं, चाहे वे ऋत्विज हों, चाहे ऋत्विज न हों, इसलिए इसी से उसका काम निकल जाता है। इसलिए इस (प्रथा) का आदर नहीं करना चाहिए ॥४॥

उस (भात) में घी के लिए गड्ढा करके उसमें घी छोड़कर अश्वत्थ की तीन समिधायें घी में भिगोकर 'समिधा' और 'घी' वाली तीन ऋचाओं* से उनको अग्नि पर रख देते हैं, यह कहकर कि शमीगर्भ (शमी वृक्ष के भीतर उत्पन्न हुए अश्वत्थ की लकड़ियों से अग्नि निकाली जाती है) का फल इसी से मिल जाता है। परन्तु उसको यह फल तभी मिलता है जब वह निरन्तर सालभर तक अग्न्याधान से पहले ये तीन आहुतियाँ देता रहे। इसलिए इस प्रथा का आदर नहीं करना चाहिए। [अर्थात् जो फल शमीगर्भ में उत्पन्न हुई समिधाओं से होता है वह अश्वत्थ की तीन समिधाओं को भात में भरे हुए घी में भिगोकर चढ़ाने से होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य इसको केवल एक अंश में मानते हैं] ॥५॥

इस पर भाल्लवेय का कहना है कि 'चातुष्प्राश्य' भात पकाना उसी प्रकार अनुचित है जैसे कोई एक कार्य की इच्छा करे और करे दूसरा, या एक बात कहना चाहे और कहे दूसरी, या एक मार्ग से जाना चाहे और जाये दूसरे से। यह ठीक नहीं है कि जिस अग्नि में ऋक्, यजु या साम से आहुति चढ़ावें उसी अग्नि को या तो दक्षिण में ले जाये या बुझा दे। परन्तु अन्वाहार्य-पचन (भात पकाने) के लिए या तो यह इस भाग को दक्षिण को ले जाते हैं या बुझा देते हैं। (इसलिए यह कार्य अनुचित है) ॥६॥

अब वह जागरण करता है। देव जागते रहते हैं। इसलिए वह इस प्रकार देवों के निकट हो जाता है और अधिक देवता बनकर, श्रान्त बनकर और तपस्वी होकर अग्न्याधान करता है। परन्तु यदि उसकी इच्छा हो तो सो भी रहे, क्योंकि अग्न्याधान करने से पहले तो व्रतचारी होता नहीं। जब तक अग्न्याधान नहीं किया तब तक वह साधारण मनुष्य है और इच्छा के अनुसार सो सकता है ॥७॥

कुछ लोग सूर्योदय से पूर्व अग्नि को मथकर सूर्योदय के पश्चात् पूर्व की ओर (गार्हपत्य से आहवनीय की ओर) ले जाते हैं जिससे रात और दिन दोनों का काम निकल आवे तथा प्राण उदान और मन वाणी का भी। परन्तु उसको ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब सूर्योदय के

---

* समिधा और घी वाली तीन ऋचाएँ यह हैं—

१. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥

२. सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे ॥

३. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ —यजु० ३।१, २, ३

दिते प्राञ्चमुद्धरन्ति स य उदितऽआहवनीयं मन्थेत्स ह तत्पर्याप्नुयात् ॥८॥ अ-
ह्वै देवाः । अनपहतपाप्मानः पितरो न पाप्मानमपहते मर्त्याः पितरः पुरा
ह्यायुषो म्रियते योऽनुदिते मन्थत्यपहतपाप्मानो देवा अप पाप्मानꣳ हतेऽमृता
देवा नामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेति श्रीर्देवाः श्रियं गच्छति यशो देवा यशो ह
भवति य एवं विद्वानुदिते मन्थति ॥९॥ तदाहुः । यन्नऽर्चा न साम्ना न यजुषा-
ऽग्निराधीयतेऽथ केनाधीयतऽइति ब्रह्मणो हैवैष ब्रह्मणाधीयते वाग्वै ब्रह्म तस्यै
वाचः सत्यमेव ब्रह्म ता वाऽएताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति तदस्य सत्येनै-
वाधीयते ॥१०॥ भूरिति वै प्रजापतिः । इमामजनयत भुव इत्यन्तरिक्षꣳ स्वरिति
दिवमेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते ॥११॥ भूरिति वै प्र-
जापतिः । ब्रह्माजनयत भुव इति क्षत्रꣳ स्वरिति विशमेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं याव-
द्ब्रह्म क्षत्रं विट् सर्वेणैवाधीयते ॥१२॥ भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मानमजनयत
भुव इति प्रजाꣳ स्वरिति पशूनेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वे-
णैवाधीयते ॥१३॥ स वै भूर्भुव इति । एतावतैव गार्हपत्यमादधात्यथ यत्सर्वै-
रादध्यात्केनाहवनीयमादध्याद्धिऽअन्तरे परिशिनष्टि तेनोऽएतान्ययातयामानि भ-
वन्ति तैः सर्वैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवः स्वरिति तान्यष्टावक्षराणि स-
म्पद्यन्तेऽष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१४॥ दे-
वान्ह वाऽअग्नीऽआधास्यमानान् । तानसुररक्षसानि ररक्षुर्नाग्निर्जनिष्यते नाग्नी
आधास्यध्वऽइति तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षाꣳसि ॥१५॥ ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः ।
यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थि-
ष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेऽनाष्ट्रे
निवातेऽग्निर्जायते ॥१६॥ स वै पूर्ववाट् स्यात् । स ह्यपरिमितं वीर्यमभिवर्धते
यदि पूर्ववाहं न विन्देदपि य एव कश्चाश्वः स्याद्यद्यश्वं न विन्देदप्यनड्वानेव

पश्चात् पूर्व की ओर ले जाते हैं तो दोनों अग्नियाँ सूर्योदय के पूर्व की ही हो जाती हैं। सूर्योदय के पश्चात् आहवनीय को मथने से भी यही कार्य निकल सकता है ॥८॥

देव दिन हैं। पितर पाप-शून्य नहीं हैं, (अर्थात्) सूर्य ने पितरों के पाप छुटाये नहीं; इसलिए जो सूर्योदय से पूर्व अग्नि को मथता है वह पापों से मुक्त नहीं होता। और पितर अमर नहीं हैं इसलिए वह जो सूर्योदय से पूर्व अग्नि को मथता है, पूर्ण आयु से पूर्व मर जाता है। जो पुरुष इस रहस्य को समझकर सूर्योदय के पश्चात् अग्नि को मथता है, वह पापों से छूट जाता है क्योंकि देव पापों से मुक्त हैं। और यद्यपि अमर नहीं होता तो भी पूर्ण आयु को अवश्य प्राप्त होता है क्योंकि देव अमर हैं। श्री को प्राप्त होता है क्योंकि देव श्री हैं। यश को प्राप्त होता है क्योंकि देव यश हैं ॥९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यदि ऋक्, साम और यजुः से अग्न्याधान न किया जाय तो किससे किया जाये? (इसका उत्तर यह है कि) यह अग्नि ब्रह्म की है इसलिए ब्रह्म से ही इसका आधान होना चाहिए। वाणी ब्रह्म है। उसी वाणी का यह (अग्नि) है। ब्रह्म सत्य है और इन व्याहृतियों में सत्य है। इसलिए सत्य के द्वारा इसका आधान होता है ॥१०॥

प्रजापति ने 'भू' से इस (पृथिवी) को उत्पन्न किया, 'भुवः' से अन्तरिक्ष को और 'स्वः' से द्यौलोक को। ये जो तीन लोक हैं उतना ही जगत् है। इसलिए 'सब' से ही आधान किया जाता है ॥११॥

प्रजापति ने 'भू' से ब्राह्मण उत्पन्न किये, 'भूवः' से क्षत्रिय और 'स्वः' से वैश्य। ये जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं इतना ही सब जगत् है, इसलिए 'सब' से ही आधान किया जाता है ॥१२॥

प्रजापति ने 'भू' से आत्मा को, 'भुवः' से प्रजा को और 'स्वः' से पशुओं को उत्पन्न किया। ये जो आत्मा, प्रजा और पशु हैं उतना ही यह सब जगत् है, इसलिए 'सब' से ही आधान किया जाता हे ॥१३॥

वह 'भूर्भुवः' से गार्हपत्य अग्नि का आधान करता है। यदि सब (तीनों व्याहृतियों) से आधान करता तो आहवनीय का आधान किससे करता? इसलिए दो अक्षर (स्वः) छोड़ देता है। इससे (शेष तीन अक्षर) अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। इन पाँचों अक्षरों से अर्थात् 'भूर्भुवः स्वः' से आहवनीय का आधान करता है। इस प्रकार आठ अक्षर हो जाते हैं। गायत्री में भी आठ अक्षर होते हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। इस प्रकार वह (अग्नि का) आधान (अग्नि के ही) छन्द से करता है ॥१४॥

देवों ने अग्नियों का आधान करना चाहा। असुर और राक्षसों ने उनको रोका (और कहा कि) 'अग्नि उत्पन्न न होगी', 'अग्नि का आधान मत करो।' चूँकि उन्होंने रोका (अरक्षन्) इसलिए 'रक्ष्' धातु से उनका नाम राक्षस पड़ा ॥१५॥

तब देवों ने इस वज्र अर्थात् 'अश्व' को देखा। उन्होंने उसको सामने खड़ा कर लिया और उसके भयरहित, शत्रुरहित संरक्षण में अग्नि को उत्पन्न किया। इसलिए जहाँ अग्नि को मथना हो वहाँ अश्व को ले जाओ, ऐसा (अध्वर्यु अग्नीध्र को) बोले। वह सामने खड़ा होता है, वज्र को उठाता है और उसके भयरहित और शत्रु-शून्य संरक्षण में अग्नि उत्पन्न होती है ॥१६॥

इसको पूर्ववाट् (पूर्व को चलनेवाला या शायद अगुआ या युवा घोड़ा) होना चाहिए, क्योंकि इसमें अपरिमित वीर्य होता है। यदि पूर्ववाट् अश्व न मिले तो जैसा अश्व मिले वही सही। यदि अश्व न मिले तो अनड्वान (बैल) ही ले ले, क्योंकि यह (अग्नि) बैल का बन्धु

स्यादेष ह्येवानडुहो बन्धुः ॥१७॥ तं यत्र प्राञ्चꣳ हरन्ति । तत्पुरस्तादश्वं नयन्ति तत्पुरस्तादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण हरन्ति ॥१८॥ तं वै तथैव कुर्युः । यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेदेष वै यज्ञो यदग्निः प्रत्यङ् ह्येवैनं यज्ञः प्रविशति तं क्षिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु ह्येवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्माद्यज्ञोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥१९॥ एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव कुर्युर्यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् ह्येवैनं प्राणः प्रविशत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु ह्येवास्मात्प्राणो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्मात्प्राणोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥२०॥ ॥ शतम् १०० ॥

॥ अयं वै यज्ञो योऽय पवते । तं वै तथैव कुर्युर्यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् ह्येवैनं यज्ञः प्रविशति तं क्षिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु ह्येवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्माद्यज्ञोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥२१॥ एष उ वै प्राणः । ते वै तथैव कुर्युर्यथैनमेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् ह्येवैनं प्राणः प्रविशत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङु ह्येवास्मात्प्राणो भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पराङस्मात्प्राणोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात्तस्मादु तथैव कुर्युः ॥२२॥ अथाश्वमाक्रमयति । तमाक्रमय्य प्राञ्चमुन्नयति तं पुनरावर्तयति तमुदञ्चं प्रमुञ्चति वीर्यं वाऽअश्वो नेदस्मादिदं पराग्वीर्यमसदिति तस्मात्पुनरावर्तयति ॥२३॥ तमश्वस्य पदऽआधत्ते । वीर्यं वाऽअश्वो वीर्यऽएवैनमेतदाधत्ते तस्मादश्वस्य पदऽआधत्ते ॥२४॥ स वै तूष्णीमेवाग्रऽउपस्पृशति । अथोद्यच्छत्यथोपस्पृशति भूर्भुवः स्वरित्येव तृतीयेनादधाति त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकानाप्नोत्येतन्न्वेकम् ॥२५॥ अथेदं द्वितीयं । तूष्णीमेवाग्रऽउपस्पृशत्यथोद्यच्छति भूर्भुवः स्वरित्येव द्वितीयेनादधाति यो वाऽअस्यामप्रतिष्ठितो भारमुद्यच्छति नेनꣳ शक्नोत्युद्यन्तुꣳ सꣳ हैनꣳ मृणाति ॥२६॥ स यत्तूष्णीमुपस्पृशति ।

है ॥१७॥

और जब वह इस (अग्नि) को पूर्व की ओर ले जाते हैं तो आगे-आगे घोड़े को ले जाते हैं। इस प्रकार आगे-आगे चलकर वह दुरात्मा राक्षसों को हटाता चलता है। और वे इस (अग्नि) को (आहवनीय तक) बिना भय और बिना शत्रु के ले जाते हैं ॥१८॥

इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जायें कि उसका मुँह (यजमान की ओर) रहे। यह अग्नि ही यज्ञ है। यजमान की ओर ही यज्ञ प्रवेश होता है, उसी की ओर यज्ञ शीघ्र झुक जाता है। और जिसकी ओर से यह (अग्नि) मुँह फेर लेता है उसकी ओर से यज्ञ भी मुँह फेर लेता है। यदि कोई किसी को दुर्वाक्य कहे कि यज्ञ तुझसे मुँह फेर ले तो उसका ऐसा ही हो जाय ॥१९॥

यह (अग्नि) प्राण है। इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जाये कि इसका मुँह (यजमान की ओर) रहे, क्योंकि उधर से ही प्राण घुसता है। यदि (अग्नि) किसी से मुँह फेर लेता है तो प्राण भी उससे मुँह फेर लेता है। यदि कोई किसी से दुर्वाक्य कहे कि प्राण तुझसे मुँह फेर ले तो ऐसा ही हो जाय ॥२०॥

यह जो पवन है वही यज्ञ है। इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जायें कि उसका मुँह (यजमान की) ओर रहे, क्योंकि इसी की ओर यज्ञ प्रवेश होता है, इसी की ओर झुक जाता है। जिसकी ओर से यह (अग्नि) मुँह फेर लेता है, उसकी ओर से यज्ञ भी मुँह फेर लेते हैं। यदि कोई किसी से दुर्वाक्य कहे कि यज्ञ तुझसे मुँह फेर ले तो ऐसा ही हो जाय ॥२१॥

यह (अग्नि) प्राण है। इस (अग्नि) को इस प्रकार ले जाये कि इसका मुँह (यजमान की ओर) रहे, क्योंकि इधर से ही प्राण घुसता है। यदि (अग्नि) किसी से मुँह फेर लेता है तो प्राण भी उससे मुँह फेर लेता है। यदि कोई किसी से दुर्वाक्य कहे कि प्राण उससे मुँह फेर ले तो ऐसा ही हो जाय। इसलिए अग्नि को हम इस प्रकार ले जायँ ॥२२॥

अब (अध्वर्यु) अश्व को (आहवनीय की ओर) ले जाता है। जब वह वहाँ पहुँच गया तो वह उसे पूर्व की ओर ले जाता है। (बायीं ओर से दाहिनी ओर) घुमाता है और पश्चिम-मुख खड़ा कर देता है। अश्व वीर्य है। वह अश्व को फिर इस प्रकार घुमाता है कि वीर्य उसकी ओर मुँह न मोड़े ॥२३॥

वह अग्नि को अश्व के पद-चिह्न पर रखता है। अश्व वीर्य है। इस प्रकार वीर्य में वह इस अग्नि को रखता है। इसीलिए अश्व के पद-चिह्न में वह अग्नि को रखता है ॥२४॥

पहले वह चुपके से (अग्नि से पद-चिह्न को) छूता है। फिर वह उसको उठाता है और फिर छूता है। फिर तीसरी बार रख देता है यह मन्त्रांश पढ़कर—'भूर्भुवः स्वः' (यजु० ३।५)। तीन ही लोक हैं। इस प्रकार वह इन लोकों को प्राप्त होता है। यह अग्न्याधान की एक विधि है ॥२५॥

दूसरी विधि यह है कि चुपके से पहले छुये, फिर उठावे, फिर दूसरी बार में ही 'भूर्भुवः स्वः' से आधान कर दे। बिना भूमि पर पैर जमाये जो बोझ को उठाता है वह उठा नहीं सकता। बोझ उसको दबा देता है। इसलिए वह पहली बार पैर जमा लेता है, फिर बोझ उठाता है। पहली बार अग्नि से पद-चिह्न को छूना पैर जमाने के तुल्य है ॥२६॥

यह जो चुपके से छूना है मानो इस पृथिवी में पैर जमाता है और आधान करता है। अब

तदस्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठन्ति सोऽस्यां प्रतिष्ठित आधत्ते तथा न व्यथते तद्ध हैतत्पश्येव दधिरऽआसुरिः पाश्चिर्माधुकिः सर्वं वाऽअन्यदियसितमिव प्रथमेनैवो-ध्यत्यादध्याद्भूर्भुवः स्वरिति तदेवानियसितमित्यतो यतमथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥२७॥ अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्वार्धमुल्मुकानामभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णेति यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भूयासमित्येवैतदाह यदाह द्यौरिव भूम्नेति पृथिवीव वरिम्णेति यथेयं पृथिव्युर्व्येवमुरुर्भूयासमित्येवैतदाह त-स्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठऽइत्यस्यै ह्येनं पृष्ठऽआधत्तेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादध ऽइत्यन्नादोऽग्निरन्नादो भूयासमित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जपेदेत-द्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत ॥२८॥ अथ सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते । आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणाद-पानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते । प्रति वस्तोरह द्युभिरिति तद्यदेवास्यात्र सम्भारैर्वा नक्षत्रैर्वऽर्तुभिर्वाधानेन वा-नाप्तं भवति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति तस्मात्सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥२९॥ तदाहुः । न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेतीयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी स यदेवास्यामा-धत्ते तत्सर्वान्कामानाप्नोति तस्मान्न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेति ॥३०॥ ब्राह्म-णम् ॥४॥ अध्यायः ॥१[१०.]॥ ॥

उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं जुहोति । तद्यत्पूर्णाहुतिं जुहोत्यन्नादं वाऽएतमा-त्मनो जनयते यदग्निं तस्माऽएतदन्नाद्यमपिदधाति यथा कुमाराय वा जाताय व-त्साय वा स्तनमपिदध्यादेवमस्माऽएतदन्नाद्यमपिदधाति ॥१॥ स एतेनान्नेन शा-न्तः । उत्तराणि हवींषि श्रप्यमाणान्युपरमति शश्वद्ध वाऽअध्वर्युं वा यजमानं वा प्रदहेत्तौ ह्यस्य नेदिष्ठं चरतो यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वाऽएतामाहु-तिं जुहोति ॥२॥ तां वै पूर्णां जुहोति । सर्वं वै पूर्णं सर्वेणैवैनमेतच्छमयति

इसमें कोई व्यथा अर्थात् आपत्ति नहीं होती। आसुरि, पाञ्चि और माधुकि इस अग्नि को कुछ पश्चिम की ओर हटाकर रखते थे। उनका कथन था कि (अग्नि के छूने से) सब चीजें कुछ हट जाती हैं, इसलिए पहले ही उठाकर 'भूर्भुवः स्वः' से आधान करना चाहिए। परन्तु जैसा चाहे करे ॥२७॥

अब (यजमान) (अग्नि के) पूर्व की ओर मुड़ता है और जलती हुई समिधाओं का पूर्वार्ध पकड़कर कहता है—"द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा" (यजु० ३।५)—"द्यौ के समान बहुत और पृथिवी के समान विस्तृत।" 'द्यौरिव भूम्ना' कहने से तात्पर्य यह है कि जैसे द्यौलोक में बहुत-से नक्षत्र हैं, इसी प्रकार मैं भी बहुत हो जाऊँ। और 'पृथिवीव वरिम्णा' कहने से तात्पर्य यह है कि जैसे पृथिवी बड़ी है वैसे ही मैं भी हो जाऊँ। अब कहता है—"तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे" (यजु० ३।५)—"हे देव-यज्ञ के योग्य पृथिवि, उस तेरी पीठ पर।" क्योंकि इसी की पीठ पर आधान करता है। अब कहता है—"अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे" (यजु० ३।५)—"अन्न के खानेवाले अग्नि को अन्न की प्राप्ति के लिए रखता हूँ।" अग्नि अन्न का खानेवाला है। ऐसा कहने से तात्पर्य यह है कि मैं अन्न को खानेवाला होऊँ। यह आशीर्वाद है। चाहे तो जपे और चाहे तो छोड़ दे ॥२८॥

अब सर्प-राज्ञी वाली (तीन) ऋचाओं को पढ़कर खड़ा रखता है—"आयं गौः पृश्निर-क्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती। व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥२॥ त्रिँ शद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥ (यजु० ३।६,७,८ या ऋग्वेद १०।१८९।१,२,३)।

[टिप्पणी—इन मन्त्रों की ऋषिका सार्पराज्ञी है)—"यह पृश्नि (चितकबरी) गौ आई और मा के आगे खड़ी हो गई। और पिता के आगे स्वर्लोक को हुई" ॥१॥ "इसके प्राण से साँस लेती हुई चमकनेवाले अन्तरिक्ष के बीच में चलती है। बड़े (पदार्थ) द्वारा द्यौलोक की व्याख्या करती हुई" ॥२॥ "तीन सौ धामों के ऊपर विराजती है। वाणी पतङ्ग (सूर्य) के लिए धारण की जाती है। प्रातःकाल प्रकाशों के द्वारा"] ॥३॥

वह इन सर्पराज्ञीवाली ऋचाओं को खड़े-खड़े इसलिए पढ़ता है कि जिस वस्तु की प्राप्ति उसको यज्ञ की तैयारी से, या नक्षत्रों से, या ऋतुओं से, या अग्न्याधान से न हो सकी, वह सब इससे हो जाती है ॥२९॥

परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि सर्पराज्ञीवाली ऋचाओं को खड़े-खड़े पढ़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह पृथिवी ही सर्पराज्ञी है। जब पृथिवी में अग्न्याधान किया जाता है तो सब कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। इसलिए सर्पराज्ञीवाली ऋचाओं को खड़े-खड़े पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥३०॥

अध्याय २—ब्राह्मण १

आहवनीय अग्नि को निकालकर पूर्ण आहुति देता है। पूर्ण आहुति इसलिए देता है कि वह अपने लिए (अग्नि को) अन्न का खानेवाला बनाता है। इसलिए वह उसको अन्न देता है। जैसे उत्पन्न हुए कुमार या बछड़े के लिए स्तन पिलाते हैं, उसी प्रकार वह इसको अन्न देता है ॥१॥

इस अन्न से शान्त होकर (अग्नि) आनेवाली हवियों के पकाने की प्रतीक्षा करता है। यदि उस (अग्नि) में यह आहुति न दी जाय तो वह अध्वर्यु को या यजमान को जला दे क्योंकि यही उसके पास होकर चलते हैं। इसीलिए वह उसको यह आहुति देता है ॥२॥

इस आहुति को (चमसे में) पूरा भरकर देता है। पूर्ण का अर्थ है 'सब'। इस प्रकार

स्वाहाकारेण जुहोत्यनिरुक्तो वै स्वाहाकारः सर्वं वाऽअनिरुक्तꣳ सर्वेणैवैनमे-
तच्छमयति ॥३॥ यां वै प्रजापतिः । प्रथमामाहुतिमजुहोत्स्वाहेति वै तामजुहो-
त्सो स्विदेषा निदानेन तस्मात्स्वाहेति जुहोति तस्यां वरं ददाति सर्वं वै वरः
सर्वेणैवैनमेतच्छमयति ॥४॥ तदाहुः । एतामेवाहुतिꣳ हुत्वाथोत्तराणि हवीꣳषि
नाद्रियेतैतयैव तं काममाप्नोति यमभिकाममुत्तराणि हवीꣳषि निर्वपतीति ॥५॥
स वाऽअग्नये पवमानाय निर्वपति । प्राणो वै पवमानः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति
तद्वेतयैवास्मिंस्तद्दधात्यन्नꣳ हि प्राणोऽन्नमेषाहुतिः ॥६॥ अथाग्नये पावकाय नि-
र्वपति । अन्नं वै पावकमन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वेतयैवास्मिंस्तद्दधात्येषा ह्येव
प्रत्यक्षमन्नमाहुतिः ॥७॥ अथाग्नये शुचये निर्वपति । वीर्यं वै शुचि यद्वाऽअस्यैत-
दुज्ज्वलत्येतदस्य वीर्यꣳ शुचि वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वेतयैवास्मिंस्तद्दधाति य-
दा ह्येवास्मिन्नेनामाहुतिं जुहोत्यथास्यैतद्वीर्यꣳ शुच्युज्ज्वलति ॥८॥ तस्मादाहुः ।
एतामेवाहुतिꣳ हुत्वाथोत्तराणि हवीꣳषि नाद्रियेतैतयैव तं काममाप्नोति यमभि-
काममुत्तराणि हवीꣳषि निर्वपतीति तद्व निर्वपेदेवोत्तराणि हवीꣳषि परोऽक्ष-
मिव वाऽएतद्यददस्तदिदमितीव ॥९॥ स यदग्नये पवमानाय निर्वपति । प्राणो
वै पवमानो यदा वै जायतेऽथ प्राणोऽथ यावन्न जायते मातुर्वेव तावत्प्राणमनु
प्राणिति यथा वा तज्जातऽएवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति ॥१०॥ अथ यदग्नये पाव-
काय निर्वपति । अन्नं वै पावकं तज्जातऽएवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥११॥ अथ य-
दग्नये शुचये निर्वपति । वीर्यं वै शुचि यदा वाऽअन्नेन वर्धतेऽथ वीर्यं तदन्नेनै-
वैनमेतद्वर्धयित्वाथास्मिन्नेतद्वीर्यꣳ शुचि दधाति तस्मादग्नये शुचये ॥१२॥ तद्वैतदेव
सद्विपर्यस्तमिव । अग्निर्ह यत्र देवेभ्यो मनुष्यानभ्युपाववर्त तद्धेक्षां चक्रे नेव सर्वे-
णेवात्मना मनुष्यानभ्युपावृतमिति ॥१३॥ स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्य-
धत्त । यदस्य पवमानꣳ रूपमासीत्तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्ताथ यत्पावकं तदन्तरिक्षे

वह 'सब' से उसको शान्त करता है। 'स्वाहा' कहके वह यह आहुति देता है। 'स्वाहा' अनिरुक्त अर्थात् अपरिमित है। 'सब' भी अपरिमित है। इस प्रकार 'सब' से इसको शान्त करता है ॥३॥

प्रजापति ने जो पहली आहुति दी वह 'स्वाहा' कहकर दी। निदान से यह आहुति भी वैसी ही है, इसलिए स्वाहा कहके देता है। इसमें वह वर देता है। 'वर' का अर्थ है 'सब', इसलिए 'सब' के द्वारा उसको शान्त करता है ॥४॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि इस आहुति को देकर अब पीछे से कोई आहुतियाँ न दी जावें, क्योंकि जो इच्छा उन आहुतियों के देने से पूरी होती, वह इसी आहुति के देने से पूरी हो जाती है ॥५॥

अब वह 'अग्नि पवमान' के लिए आहुति निकालता है। प्राण ही पवमान है। इसलिए वह इस प्रकार उस (यजमान) में प्राण धारण कराता है, और वह इस (आहुति) के द्वारा उसमें धारण कराता है। अन्न ही प्राण है और अन्न ही यह आहुति है ॥६॥

अब वह 'अग्नि पावक' के लिए आहुति देता है। अन्न ही पावक है। उस (यजमान) में वह इस प्रकार अन्न को धारण कराता है। वह इसी (आहुति) के द्वारा उसमें धारण कराता है। और वह इस आहुति के द्वारा ऐसा करता है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से यह आहुति अन्न है ॥७॥

अब 'शुचि अग्नि' के लिए वह आहुति देता है। शुचि वीर्य है। यह जो उसकी ज्वाला है वही वीर्य है। इस प्रकार वह यजमान में वीर्य (पराक्रम) धारण कराता है। वह इस आहुति के द्वारा उसमें वीर्य धारण कराता है, क्योंकि जब वह आहुति देता है तो वीर्य (अर्थात् शुचि) प्रज्वलित होता है ॥८॥

इसलिए कहते हैं कि इस आहुति को देकर पीछे की आहुतियाँ न दी जायें, क्योंकि जो काम पीछे की आहुतियाँ देने से चलता है वह इसी आहुति के देने से चल जाता है। परन्तु उसको पिछली आहुतियाँ भी देनी चाहिएँ क्योंकि (पूर्ण आहुति में) जो परोक्ष-सा था वह इससे प्रकट हो जाता है ॥९॥

अग्नि पवमान के लिए आहुति इसलिए देता है कि प्राण ही पवमान है। जब बच्चा उत्पन्न होता है तब प्राण (का संचार) होता है, और जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक मा के प्राण से साँस लेता है और जब वह उत्पन्न होता है तो उसमें प्राण आता है ॥१०॥

अग्नि पावक के लिए आहुति इसलिए देता है कि अन्न ही पावक है। इस प्रकार जब बच्चा उत्पन्न होता है तब उसमें अन्न धारण कराया जाता है ॥११॥

अग्नि-शुचि के लिए आहुति इसलिए देता है कि शुचि वीर्य है। जब अन्न से बढ़ता है तो वीर्य होता है। अन्न से ही इसकी वृद्धि कराके उसमें शुचि अर्थात् वीर्य को धारण कराता है। इसलिए अग्नि-शुचि के लिए आहुति दी जाती है ॥१२॥

दूसरी प्रथा (केवल पूर्ण आहुति देने की) ठीक नहीं। जब अग्नि देवों से चलकर मनुष्यों तक आया तो उसने चाहा कि मैं अपनी सम्पूर्ण आत्मा से मनुष्यों के पास न आऊँ ॥१३॥

तब उसने इन लोकों में अपने तीन शरीर रक्खे। उसका जो पवमान रूप था वह पृथिवी में रक्खा. जो पावक रूप था वह अन्तरिक्ष में और जो 'शुचि' रूप था वह द्यौलोक में। जो ऋषि

ऽथ यच्छुचि तद्दिवि तद्धाऽऋषयः प्रतिबुबुधिरे यऽउ तर्ह्यृषय आसुः सर्वेण वै न
आत्मनाग्निरभ्युपावृतदिति तस्माऽएतानि हवीꣳषि निरवपन् ॥१४॥ स यदग्नये
पवमानाय निर्वपति । यदेवास्यास्यां पृथिव्याꣳ रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोत्यथ यदग्नये
पावकाय निर्वपति यदेवास्यान्तरिक्षे रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोत्यथ यदग्नये शुचये नि-
र्वपति यदेवास्य दिवि रूपं तदेवास्यैतेनाप्नोत्येवमु कृत्स्नमेवाग्निमनपनिहितमा-
धत्ते तस्मादु निर्वपेदेवोत्तराणि हवीꣳषि ॥१५॥ केवलबर्हिः प्रथमꣳ हविर्भव-
ति । समानबर्हिषीऽउत्तरेऽअयं वै लोकः प्रथमꣳ हविरथेदमन्तरिक्षं द्वितीयं द्यौ-
रेव तृतीयं बकुलेव वाऽइयं पृथिवी लेलयेवान्तरिक्षं लेलयेवासौ द्यौरुभे चिदे-
नां प्रत्युद्यामिनी स्तामिति तस्मात्समानबर्हिषी ॥१६॥ अष्टाकपालाः सर्वे पुरो-
डाशा भवन्ति । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते
तानि सर्वाणि चतुर्विꣳशतिः कपालानि सम्पद्यन्ते चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री
गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१७॥ अथादित्यै चरुं निर्वपति । प्र-
च्यवतऽइव वाऽएषोऽस्माल्लोकाद्य एतानि हवीꣳषि निर्वपतीमान्हि लोका-
न्समारोहन्नेति ॥१८॥ स यददित्यै चरुं निर्वपति । इयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्र-
तिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तस्माददित्यै चरुं निर्वपति ॥१९॥ त-
स्यै विराजौ संयाज्ये स्यातामित्याहुः । विराडीयमित्यथो त्रिष्टुभौ त्रिष्टुब्भीयमित्य-
थो जगत्यौ जगती हीयमिति विराजावित्येव स्याताम् ॥२०॥ तस्यै धेनुर्दक्षिणा ।
धेनुरिव वाऽइय मनुष्येभ्यः सर्वान्कामान्दुहे माता धेनुर्मातेव वाऽइयं मनुष्या-
न्बिभर्ति तस्माद्धेनुर्दक्षिणैतन्नु कमयनम् ॥२१॥ अथेदं द्वितीयम् । आग्नेयमेवाष्टाक-
पालं पुरोडाशं निर्वपति परोऽक्षमिव वाऽएतद्यदग्नये पवमानायाग्नये पावकाया-
ग्नये शुचयऽइतीवाथाञ्जसैवैनमेतत्प्रत्यक्षमाधत्ते तस्मादग्नयेऽथादित्यै चरुं निर्वपति
स य एव चरोर्बन्धुः स बन्धुः ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५[२.१.]॥

उस समय थे उन ऋषियों को यह मालूम हो गया कि अग्नि सम्पूर्ण आत्मा से हमारे पास नहीं आया। इसलिए उन्होंने अग्नि के लिए वे आहुतियाँ तैयार कीं ॥१४॥

अब वह अग्नि-पवमान के लिए आहुति देता है तो वह उस रूप को प्राप्त करता है जो इस पृथिवी में रक्खा हुआ है; अब अग्नि-पावक के लिए आहुति देता है तो उस रूप को प्राप्त करता है जो अन्तरिक्ष में रक्खा हुआ है; और अग्नि-शुचि के लिए आहुति देता है तो उस रूप को प्राप्त करता है जो द्यौ में रक्खा हुआ है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण अग्नि को बिना बिगाड़े हुए रख देता है। इसलिए भी उसको पिछली आहुतियाँ देनी चाहिएँ ॥१५॥

पहली आहुति में केवल बर्हि (कुश) होता है। बाद की दो आहुतियों में एक ही बर्हि होता है। पहली हवि इस लोक को, दूसरी अन्तरिक्ष को, तीसरी द्यौलोक को (प्रकट करती है)। यह पृथिवी बहुला-(दृढ़ या ठहरी हुई)-सी है। अन्तरिक्ष लेलया अर्थात् काँपता-सा है, द्यौ भी लेलया अर्थात् काँपता-सा है। ये दोनों उस पृथिवी के समान हो जायँ, इसलिए उन दोनों के लिए एक ही बर्हि होता है ॥१६॥

सब पुरोडाश आठ कपालों में होते हैं। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। इस प्रकार वह अग्नि को उसी के छन्द के द्वारा रखता है। कुल कपाल २४ होते हैं। गायत्री में भी चौबीस अक्षर होते हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। वह अग्नि को उसी के छन्द के द्वारा रखता है ॥१७॥

अदिति के लिए चरु (उबला भात) देता है। जो इन हवियों को देता है वह इस लोक से उठता-जैसा है अर्थात् वह इन लोकों को चढ़ता है ॥१८॥

जब वह अदिति के लिए चरु (भात) देता है तो यही पृथिवी अदिति है। यही ठहरी हुई है। इस प्रकार वह इस ठहरी हुई पृथिवी में स्थित होता है, इसलिए अदिति के लिए चरु (भात) देता है ॥१९॥

कुछ लोग कहते हैं कि उस (अदिति) के लिए दो विराज् छन्द संयाज्य होवें। क्योंकि विराज् ही पृथिवी है; या त्रिष्टुभ् क्योंकि त्रिष्टुभ् यह पृथिवी है; या जगती क्योंकि जगती यह पृथिवी है परन्तु विराज् छन्द ही होने चाहिएँ ॥२०॥

इसके लिए दक्षिणा धेनु है। धेनु जैसी ही यह पृथिवी है। वह मनुष्यों की सब कामनाओं को दूध के समान देती है। धेनु मा है, यह पृथिवी भी मा है क्योंकि मनुष्यों का पालन करती है। इसलिए इसकी दक्षिणा धेनु है। यह (आहुतियों की) एक विधि हुई ॥२१॥

अब दूसरी। आठ कपालों के पुरोडाश को केवल अग्नि के लिए अर्पण कर देता है। मानो परोक्ष रीति से अग्नि-पवमान के लिए, अग्नि-पावक के लिए और अग्नि-शुचि के लिए और इसके पश्चात् ही वह अग्नि का प्रत्यक्ष रूप से आधान कर देता है। इसलिए वह पहले अग्नि के लिए, फिर अदिति के लिए चरु देता है। चरु के साथ वैसा ही करता है (जैसा पूर्व-विधि में) ॥२२॥

घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञं । यदेनं तन्वते यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति यत्पशुꣳ संज्ञपयन्ति विशासति तत्तं घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥१॥ स एष यज्ञो हतो न ददक्षे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम तद्यदेवात्र यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैतद्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्दक्षिणा ददाति ॥२॥ ता वै षड्दद्यात् । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥३॥ द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥४॥ चतुर्विंꣳशतिं दद्यात् । चतुर्विंꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयत्येषा मात्रा दक्षिणानां दद्यात्त्वेव यथाश्रद्धं भूयसीस्तद्यद्दक्षिणा ददाति ॥५॥ द्वया वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाꣳ शुश्रुवुषामनूचानानामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानांस्तऽएनमुभये देवाः प्रीताः सुधायां दधति ॥६॥ तद्यथा योनौ रेतो दध्यात् । एवमेवैतदृत्विजो यजमानं लोके दधति तद्यदेभ्य एतद्ददाति ये मेदꣳ सम्प्रापिपन्निति नु दक्षिणानाम् ॥७॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तऽउभयऽएवानात्मान आसुर्मर्त्या ह्यासुरनात्मा हि मर्त्यस्तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत आस तꣳ ह स्मोभयेऽमृतमुपजीवन्ति स यꣳ ह स्मैषां घ्नन्ति तद्ध स्म वै स भवति ॥८॥ ततो देवाः । तनीयाꣳस इव परिशिशिषिरे तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुरुतासुरान्त्सपत्नान्मर्त्यानभिभवेमेति तऽएतदमृतमग्न्याधेयं ददृशुः ॥९॥ ते होचुः । हन्तेदममृतमन्तरात्मन्नादधामहै तऽइदममृतमन्तरात्मन्नाधा-

अध्याय २—ब्राह्मण २

जब यज्ञ को करते हैं तो उसका आघात करते हैं। जब (सोम) राजा को निचोड़ते हैं तो उसका आघात करते हैं। जब पशु को मारते या काटते हैं तो उसका आघात करते हैं। ऊखल और मूसली से तथा (चक्की के) दोनों पत्थरों से हवि का आघात करते हैं ॥१॥

मारा हुआ यज्ञ शक्ति-रहित हो गया (दक्ष न रहा)। देवों ने दक्षिणा देकर उसको दक्ष बनाया। चूँकि दक्षिणाओं द्वारा उसको दक्ष बनाया, इसलिए इनका दक्षिणा नाम पड़ा। इन दक्षिणाओं के द्वारा उन्होंने उस (यज्ञ) को दक्ष बनाया। यज्ञ समृद्ध (शक्तिशाली) हो जाता है, इसीलिए दक्षिणा दी जाती है ॥२॥

(दक्षिणा में) छः (गौएँ) दे। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर यज्ञ-प्रजापति है। जितना यज्ञ है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही दक्षिणाओं से इसको दक्ष बनाता है ॥३॥

बारह (गौयें) दे। संवत्सर के बारह मास होते हैं। संवत्सर यज्ञ-प्रजापति है। जितना बड़ा यज्ञ है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही दक्षिणाओं से उसको दक्ष बनाता है ॥४॥

चौबीस दे। संवत्सर के चौबीस अर्द्धमास (पक्ष) होते हैं। संवत्सर यज्ञ-ज ापति है। जितना बड़ा यज्ञ होता है, जितनी उसकी मात्रा होती है, उतनी ही दक्षिणाओं से वह उसको दक्ष बनाता है। दक्षिणाओं की यह मात्रा है, या श्रद्धा हो तो अधिक भी दे। दक्षिणा इसलिए दी जाती है कि—॥५॥

दो प्रकार के देव होते हैं। देव तो देव ही हैं और जो ब्राह्मण वेदों के जाननेवाले और उपदेश करने वाले हैं वे मनुष्य-देव हैं। उनका यज्ञ दो भागों में विभक्त है। देवों की आहुतियाँ हैं, और मनुष्यदेव, ब्राह्मण, वेदज्ञ, वेदोपदेष्टाओं की दक्षिणा। आहुतियों से देवों को प्रसन्न करता है और मनुष्य-देव, ब्राह्मण, वेदज्ञ, वेदोपदेष्टाओं को दक्षिणाओं से। दोनों प्रकार के देव प्रसन्न होकर उसके लिए सुधा (अमृत) देते हैं ॥६॥

जैसे योनि में वीर्य रक्खा जाता है इसी प्रकार ऋत्विज लोग यजमान को (स्वर्ग) लोक में रखते हैं, जब कि वह इनको दक्षिणा देता है कि वे उसे वहाँ पहुँचा देंगे। दक्षिणाओं के विषय में (यह बात हुई) ॥७॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान (बड़ाई के लिए) झगड़ने लगे। वे दोनों आत्मा-रहित थे, क्योंकि वे मर्त्य थे। जो मर्त्य होता है वह आत्मा-रहित होता है। इन दोनों मर्त्यों में केवल अग्नि ही अमर था। और इसी अमर के सहारे वे दोनों जीते थे। अब (असुरों ने) जिस (देव) को मारा वही मर गया ॥८॥

अब देव निर्बल हो गये। अब वे पूजा करते और तप करते रहे कि अपने शत्रु मर्त्य असुरों पर विजय पा सकें। उन्होंने इस अमर अग्न्याधेय को देखा ॥९॥

उन्होंने कहा, 'हम इस अमर को अपने आत्मा के भीतर धरें। हम इस अमृत को अपने

यामृता भूत्वास्तर्या भूत्वा स्तर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यानभिभविष्याम इति ॥१०॥ ते होचुः । उभयेषु वै नोऽयमग्निः प्र त्वेवासुरेभ्यो ब्रवामेति ॥११॥ ते होचुः । आ वै वयमग्नी धास्यामहेऽथ यूयं किं करिष्यथेति ॥१२॥ ते होचुः । अथैनं वयं न्येव धास्यामहेऽत्र तृणानि दहात्र दारूणि दहात्रौदनं पचात्र माꣳसं पचेति स यं तमसुरा न्यदधत तेनानेन मनुष्या भुञ्जते ॥१३॥ अथैनं देवाः । अन्तरात्मन्नादधत तऽइममममृतमन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वास्तर्या भूत्वा स्तर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यानभ्यभवंस्तथोऽएवैष एतदमृतमन्तरात्मन्नाधत्ते नामृतत्वस्याशास्ति सर्वमायुरेत्यस्तर्यो हैव भवति न हैनꣳ सपत्नस्तुस्तूर्षमाणाश्चन स्तृणुते तस्माद्यदाहिताग्निश्चानाहिताग्निश्च स्पर्धेतेऽआहिताग्निरेवाभिभवत्यस्तर्यो हि खलु स तर्हि भवत्यमृतः ॥१४॥ तमत्रैनमद्दो मन्थन्ति । तज्जातमभिप्राणिति प्राणो वाऽअग्निर्जातमेवैनमेतत्सन्तं जनयति स पुनरपानिति तदेनमन्तरात्मन्नाधत्ते सोऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१५॥ तमुद्दीप्य समिन्द्धे । इह यद्यऽइह सुकृतं करिष्यामीत्येवैनमेतत्समिन्द्धे योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१६॥ अन्तरेणागाद्यवृतदिति । न ह वाऽअस्यैतं कश्चनान्तरेणेति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति तस्मादु तन्नाद्रियेत यदनुगच्छेन्न ह वाऽअस्यैषोऽनुगच्छति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१७॥ ते वाऽएते प्राणा एव यदग्नयः । प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च व्यानोऽन्वाहार्यपचनः ॥१८॥ तस्य वाऽएतस्याग्न्याधेयस्य । सत्यमेवोपचारः स यः सत्यं वदति यथाग्निꣳ समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवꣳ हैनꣳ स उद्दीपयति तस्य भूयो-भूय एव तेजो भवति श्वः-श्वः श्रेयान्भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्निꣳ समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवꣳ हैनꣳ स जासयति तस्य कनीयः-कनीय एव तेजो भवति श्वः-श्वः पापीयान्भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत् ॥१९॥ तदु हाप्यरुणमौपवेशिं ज्ञातय ऊचुः । स्थविरो वाऽअ

आत्मा के भीतर रख लेंगे और अमर और अजेय हो जायेंगे तो हम अपने जीतने के योग्य शत्रुओं पर विजय पा लेंगे' ॥१०॥

उन्होंने कहा, 'यह अग्नि हम दोनों के पास है। इसलिए असुरों से खुल्लमखुल्ला कहें ॥११॥

उन्होंने कहा, 'हम दोनों अग्नियों का आधान करेंगे। तब तुम क्या करोगे' ? ॥१२॥

उन्होंने कहा, 'हम इसका आधान करेंगे और कहेंगे, यहाँ तिनकों को जला, यहाँ लकड़ियों को जला, यहाँ भात पका, यहाँ माँस पका।' असुरों ने जिस अग्नि का आधान किया, यह वही है जिससे मनुष्य खाना पकाते हैं ॥१३॥

तब देवों ने इस अग्नि को अपने अन्तरात्मा में धारण किया और इसको अपने अन्तरात्मा में धारण करके अमर और विजयी हो गये तथा अपने जीतने योग्य असुर मर्त्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। इसी प्रकार यह (यजमान) भी अपनी अन्तरात्मा में इस अमर अग्नि को धारण करता है, और यद्यपि उसे अमर होने की आशा नहीं होती, वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है क्योंकि वह अजेय हो जाता है और उसका शत्रु उस पर विजय पाना चाहता है, परन्तु विजय पा नहीं सकता। और इसलिए जब एक आहिताग्नि और अनाहिताग्नि परस्पर झगड़ते हैं तो आहिताग्नि अनाहिताग्नि को जीत लेता है, क्योंकि ऐसा करने से वह अवश्य ही दुर्जेय और अमर हो जाता है ॥१४॥

अब जब (अग्नि को) मथते हैं, तो उस उत्पन्न हुए (अग्नि) को (यजमान) फूँकता है। प्राण ही अग्नि है। मानो उस पैदा हुए को वह पैदा करता है। अब वह (यजमान) साँस को भीतर खींचता है। इस प्रकार वह (अग्नि को) अपने अन्तरात्मा में धारण करता है और वह अग्नि उसके अन्तरात्मा में स्थापित हो जाती है ॥१५॥

उसको जलाकर उद्दीप्त करता है—'इससे यज्ञ करूँगा। इससे शुभ कर्म करूँगा।' इस प्रकार वह उस अग्नि को उद्दीप्त करता है जो उसके अन्तरात्मा में स्थापित होती है ॥१६॥

(कुछ लोगों को भय है कि) कोई विघ्न बीच में आ जाय या अग्नि बुझ जाय ! परन्तु जीवन-पर्यन्त कोई उसके और अग्नि के बीच में नहीं आ सकता जिसके अन्तरात्मा में अग्नि स्थापित रहती है। इसलिए उसे भय न करना चाहिए। और बुझने के विषय में—जब तक वह जीता है वह अग्नि नहीं बुझ सकती जो उसके अन्तरात्मा में स्थापित रहती है ॥१७॥

ये जो अग्नियाँ है वे प्राण ही हैं। आहवनीय प्राण है। गार्हपत्य उदान है। अन्वाहार्यपचन अग्नि व्यान है ॥१८॥

इस अग्न्याधेय का उपचार (सेवा) सत्य है। जो कोई सच बोलता है मानो वह अग्नि पर घी छिड़कता है। क्योंकि उससे वह उसको प्रज्वलित करता है। उसका दिन-प्रतिदिन तेज बढ़ता है। दिन-प्रतिदिन उसका कल्याण होता है। और जो कोई झूठ बोलता है मानो वह जलती आग पर पानी डालता है क्योंकि वह इस प्रकार उसको कमजोर करता है। दिन-प्रतिदिन उसका तेज कम होता जाता है और दिन-प्रतिदिन वह पापी होता जाता है। इसलिए सच ही बोलना चाहिए ॥१९॥

औपवेशि अरुण से उसके बिरादरीवालों ने कहा, 'आप स्थविर (बूढ़े) हैं। दोनों अग्नियों

स्यग्नीऽआधत्स्वेति स होवाच ते मैतद्भूय वाचंयम एवैधि न वाऽआहिताग्निनाऽनृतं वदितव्यं न वदन्जातु नानृतं वदेत्तावत्सत्यमेवोपचार इति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [२.२.]॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या ११४ ॥ ॥

वरुणो हैनद्राज्यकाम आदधे । स राज्यमगच्छत्तस्माद्यश्च वेद यश्च न वरुणो राजेत्येवाहुः सोमो यशस्कामः स यशोऽभवत्तस्माद्यश्च सोमे लभते यश्च नोभावेवागच्छतो यश एवैतद्द्रष्टुमागच्छन्ति यशो ह भवति राज्यं गच्छति य एवं विद्वानाधत्ते ॥१॥ अग्नौ ह वै देवाः । सर्वाणि रूपाणि निदधिरे यानि च ग्राम्याणि यानि चारण्यानि विजयं वोपप्रेष्यन्तः कामचारस्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो गोपायदिति वा ॥२॥ तान्यु हाग्निर्निचकमे । तैः संगृह्यऽर्तून्प्रविवेश पुनरेम इति देवा एदग्निं तिरोभूतं तेषां ह्येयसेवास किमिह कर्तव्यं केह प्रज्ञेति वा ॥३॥ तत एतत्त्वष्टा पुनराधेयं ददर्श । तदादधे तेनाग्नेः प्रियं धामोपजगाम सोऽस्माऽउभयानि रूपाणि प्रतिनिःससर्ज यानि च ग्राम्याणि यानि चारण्यानि तस्मादाहुस्त्वाष्ट्राणि वै रूपाणीति त्वष्टुर्ह्येव सर्वं रूपमुप ह त्वेवान्याः प्रजा यावत्सो-यावत्स इव तिष्ठन्ते ॥४॥ तस्मै कं पुनराधेयमादधीत । एवं ह्येवाग्नेः प्रियं धामोपगच्छति सोऽस्माऽउभयानि रूपाणि प्रतिनिःसृजति यानि च ग्राम्याणि यानि चारण्यानि तस्मिन्नेतान्युभयानि रूपाणि दृश्यन्ते परमता वै सा स्पृहयन्त्यु हास्मै तथा पुष्यति लोक्यमुवापि ॥५॥ आग्नेयोऽयं यज्ञः । ज्योतिरग्निः पाप्मनो दग्धा सोऽस्य पाप्मानं दहति स इह ज्योतिरेव श्रिया यशसा भवति ज्योतिरमुत्र पुण्यलोकत्वेतन्नु तद्यस्मादादधीत ॥६॥ स वै वर्षास्वादधीत । वर्षा वै सर्वऽऋतवो वर्षा हि वै सर्वऽऋतवोऽथादो वर्षमकुर्मादो वर्षमकर्मेति संवत्सरान्संपश्यन्ति वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूनां रूपमुत हि तद्वर्षासु भवति यदाहुर्ग्रीष्मऽइव वाऽअस्मीत्युतो तद्वर्षासु भवति यदाहुः शिशिरऽइव वाऽअस्मीति वर्षादिद्वर्षाः ॥७॥

का आधान कीजिये।' उसने उत्तर दिया, 'ऐसा मत कहो। वाणी का संयम करो। जो आहिताग्नि है उसे झूठ नहीं बोलना चाहिए। अच्छा हो कि वह कुछ न बोले। परन्तु झूठ बोले ही नहीं। इसलिये सत्य ही उपचार है'।।२०।।

पुनराधेयम्

अध्याय २—ब्राह्मण ३

वरुण ने इस(अग्नि)का राज्य की कामना से आधान किया। उसने राज्य को पा लिया। इसलिए चाहे कोई (अग्न्याधान करनेवाला) जाने या न जाने, लोग उस (अग्न्याधान करनेवाले) को 'वरुण राजा' कहते हैं। सोम ने यश की कामना से (अग्न्याधान किया), वह यशस्वी हो गया। इसलिए चाहे कोई सोम का लाभ करे या न करे, दोनों ही यश पाते हैं, क्योंकि लोग यश को ही देखने आते हैं। जो पुरुष इस रहस्य को समझकर अग्न्याधान करता है वह यशस्वी होता है और राज्य को प्राप्त होता है।।१।।

देवों ने सब रूपों को अग्नि के सुपुर्द कर दिया, चाहे वह ग्राम-सम्बन्धी हो या अरण्य-सम्बन्धी; चाहे विजय करने की इच्छा से, चाहे स्वतन्त्र विचरने के लिए; चाहे यह सोचकर कि (अग्नि) अच्छा रक्षक है इनकी रक्षा करेगा।।२।।

अग्नि को उनका लोभ हो गया। वह उनको इकट्ठा करके ऋतुओं में छिप गया। देवों ने सोचा कि वहीं चलें। जहाँ अग्नि छिपा हुआ था, वहीं गये। वे निराश हो गये कि 'क्या करना चाहिए?' 'क्या राय है?'।।३।।

तब त्वष्टा ने पुनराधेय अग्नि (फिर रक्खी हुई अग्नि) को देखा। उसने उसका आधान किया और इस प्रकार अग्नि के प्रिय धाम को पहुँच गया। उस (अग्नि) ने उस (त्वष्टा) के लिए दोनों रूप अर्थात् ग्राम-सम्बन्धी और अरण्य-सम्बन्धी छोड़ दिये। इसीलिए इन रूपों को त्वाष्ट्र (त्वष्टा) कहते हैं, क्योंकि त्वष्टा से ही ये सब रूप आते हैं। परन्तु दूसरी प्रजा इस-इस प्रकार रहती है।।४।।

इसलिए (मनुष्य को चाहिए) कि त्वष्टा के लिए ही पुनराधेय करे। इसी प्रकार वह अग्नि के प्रिय धाम का लाभ कर सकता है। और वह (अग्नि) उसके लिए दोनों रूप छोड़ देता है अर्थात् ग्राम के भी और अरण्य के भी। उसी में ये दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं। वह बड़ा हो जाता है, लोग उससे डाह करते हैं। वह फूलता-फलता है और लोक में उसका यश होता है।।५।।

यह यज्ञ अग्नि का है। अग्नि ज्योति है। यह पापों को जलाती है। यह उस (यजमान) के पापों को भी जलाती है। यही ज्योति श्री और यश को देनेवाली होती है। ज्योति दूसरे लोक में पुण्य का मार्ग बनाती है। इसलिए (फिर) आधान करना चाहिए।।६।।

वर्षा में पुनराधान करे। वर्षा ही सब ऋतुओं का (प्रतिनिधि) है। वर्षा ही सब ऋतुएँ हैं। इसीलिए कहते हैं कि अमुक वर्ष में यह काम किया, अमुक वर्ष में यह काम किया। वर्षा सब ऋतुओं का एक रूप है। जब कहते हैं 'यह ग्रीष्म-सा है' तो यह वर्षा में ही है और जब कहता है कि 'आज शिशिर-सा है' तो यह भी वर्षा ही है। 'वर्ष से ही 'वर्षा' है।।७।।

अथैतदेव परोऽक्षꣳ रूपं । यदेव पुरस्ताद्वाति तद्वसन्तस्य रूपं यत्स्तनयति तद्ग्री-
ष्मस्य यद्वर्षति तद्वर्षाणां यद्विद्योतते तच्छरदो यद्वृष्ट्वोद्गृह्णाति तद्धेमन्तस्य वर्षाः सर्व
ऽऋतव ऋतून्प्राविशदृतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥८॥ आदित्यस्त्वेव सर्वऽऋतवः ।
यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदापराह्णो
ऽथ शरद्यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तस्तस्मादु मध्यन्दिनऽएवादधीत तर्हि ह्येषोऽस्य
लोकस्य नेदिष्ठं भवति तन्नेदिष्ठादेवैनमेतन्मध्यान्निर्मिमीते ॥९॥ छाययेव वाऽअ-
यं पुरुषः । पाप्मनानुषक्तः सोऽस्यात्र कनिष्ठो भवत्यधस्पदमिवैव यस्यते तत्कनिष्ठ-
मेवैतत्पाप्मानमवबाधते तस्मादु मध्यन्दिनऽएवादधीत ॥१०॥ तं वै दर्भैरुद्धरति ।
दारुभिर्वै पूर्वमुद्धरति दारुभिः पूर्वं दारुभिरपरं जामि कुर्यात्समदं कुर्यादापो दर्भा
आपो वर्षा ऋतून्प्राविशदद्भिरेवैनमेतदद्भ्यो निर्मिमीते तस्माद्दर्भैरुद्धरति ॥११॥
अर्कपलाशाभ्यां । व्रीहिमयमपूपं कृत्वा यत्र गार्हपत्यमाधास्यन्भवति तन्निदधाति
तद्गार्हपत्यमादधाति ॥१२॥ अर्कपलाशाभ्यां । यवमयमपूपं कृत्वा यत्राहवनीयमा-
धास्यन्भवति तन्निदधाति तदाहवनीयमादधाति पूर्वाभ्यामेवैनावेतदग्निभ्यामन्तर्दध्म
इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्रात्रिभिर्ह्येवान्तर्हितौ भवतः ॥१३॥ आग्नेयमेव प-
ञ्चकपालं पुरोडाशं निर्वपति । तस्य पञ्चपदाः पङ्क्तयो याज्यानुवाक्या भवन्ति पञ्च
वाऽऋतव ऋतून्प्राविशदृतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥१४॥ सर्व आग्नेयो भवति ।
एवꣳ हि त्वष्टाग्नेः प्रियं धामोपागच्छत्तस्मात्सर्व आग्नेयो भवति ॥१५॥ तेनोपाꣳशु
चरन्ति । यद्वै ज्ञातये वा सख्ये वा निष्केवल्यं चिकीर्षति तिर इवैतेन बोभवद्वै-
अदेवोऽन्यो यज्ञोऽथैष निष्केवल्य आग्नेयो यद्वै तिर इव तदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु
चरन्ति ॥१६॥ उच्चैरुत्तममनुयाजं यजति । कृतकर्मेव हि स तर्हि भवति सर्वो
हि कृतमनुबुध्यते ॥१७॥ स आश्राव्याह । समिधो यजेति तदाग्नेयꣳ रूपं परोऽक्षं
त्वग्नीन्यजेति हैव ब्रूयात्तदेव प्रत्यक्षमाग्नेयꣳ रूपꣳ ॥१८॥ स यजति । अग्नऽआज्य-

(वर्षा का) एक परोक्ष रूप है। जब यह पूर्व से बहता है तो वसन्त का रूप है, जो गरजता है वह ग्रीष्म का, जो बरसता है वह वर्षा का, जो बिजली चमकती है वह शरद् का, जब बरसकर बन्द हो जाता है वह हेमन्त का। वर्षा सब ऋतुएँ हैं। वह (अग्नि) ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया। इसलिए ऋतुओं में से ही इसका निर्माण करते हैं ॥८॥

लेकिन आदित्य भी सब ऋतुएँ हैं। जब उदय होता है तो वसन्त, जब संगव होता है (अर्थात् जब गौएँ दुहने के लिए इकट्ठी की जाती हैं) तब ग्रीष्म, जब दोपहर होता है तो वर्षा, तीसरा पहर शरद्, जब अस्त होता है तब हेमन्त। इसलिए दोपहर के समय ही (पुनराधान) करे, क्योंकि उस समय सूर्य इस लोक के निकटतम होता है और इसलिए वह मध्य से ही (अग्नि का) निर्माण करता है ॥९॥

यह पुरुष छाया के समान पाप से लिप्त है। (दोपहर के समय) यह छाया सबसे छोटी होती है, पैर के नीचे ही सिकुड़ जाती है। इस प्रकार वह पाप को सबसे छोटा कर देता है। इसलिए दोपहर के समय ही पुनराधान करे ॥१०॥

वह (गार्हपत्य में से) दर्भों के द्वारा निकालता है। पहले वह दारु (लकड़ी) से निकालता है। पहले भी दारु से निकाले और फिर भी दारु से, तो दुहराने का दोषी हो और विघ्न पड़े। जल ही दर्भ है और जल ही वर्षा है। (अग्नि) ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया। इसलिए वह उसे जलों में से जलों के द्वारा ही निकालता है। इसलिए दर्भों के द्वारा निकालता है ॥११॥

भात पकाकर वह दो आक के पत्तों पर रखता है; और उसको उस जगह रखता है जहाँ गार्हपत्य अग्नि रखनी है। फिर गार्हपत्य अग्नि की स्थापना कर देता है ॥१२॥

जौ के अपूप (पूये) पकाकर दो आक के पत्तों पर रखकर उस जगह रखता है जहाँ आहवनीय स्थापित करनी होती है और आहवनीय को स्थापित कर देता है। कुछ लोग कहते हैं कि हम इस प्रकार पहली दो अग्नियों से इनको ढक देते हैं। परन्तु ऐसा न करे क्योंकि ये रातों के द्वारा ढकी जाती हैं ॥१३॥

अब पाँच कपालों पर पुरोडाश को अग्नि के लिए तैयार करता है। इसके याज्य और अनुवाक्य पंक्ति छन्द के पाँच-पाँच पदवाले होते हैं। पाँच ही ऋतुएँ हैं। अग्नि ऋतुओं में घुसा था, इसलिए ऋतुओं से ही इसको निकालता है ॥१४॥

यह सब (यज्ञ) अग्नि का होता है। क्योंकि इसी से त्वष्टा अग्नि के प्रियधाम में घुसा, इसलिए यह सब अग्नि का ही होता है ॥१५॥

इसे चुपके-चुपके करते हैं। किसी सम्बन्धी या सखा के लिए जब कोई कुछ बनाना चाहता है तो छिपाकर रखता है। अन्य यज्ञ विश्वेदेवों का होता है और यह यज्ञ केवल अग्नि का ही है। जो छिपाकर किया जाता है वह चुपके से किया जाता है। इसलिए वे इसका चुपके-चुपके करते हैं ॥१६॥

अन्तिम अनुयाज को जोर से बोलते हैं, क्योंकि तब कार्य समाप्त हो जाता है। जब कार्य हो चुकता है तो उसे सभी जान जाते हैं ॥१७॥

वह पुकार (और आग्नीध्र द्वारा उत्तर दिये जाने के पश्चात् होतृ से) कहता है,* 'समिधाओं का यज्ञ करो।' वह अग्नि का परोक्ष-रूप है। परन्तु उसको यह भी कहना चाहिए कि 'अग्नियों का यज्ञ करो', क्योंकि वह अग्नि का प्रत्यक्ष रूप है ॥१८॥

अब वह पढ़ता है—(अ) "अग्नऽआज्यस्य व्यन्तु वौझक्"—"हे अग्नि! (ये समिधायें)

* अध्वर्यु कहता है, 'ओं श्रावय'; इस पर आग्नीध्र कहता है, 'अस्तु, श्रोषट्'।

स्य व्यन्तु वौषडग्निमाज्यस्य वेतु वौषडग्निनाज्यस्य व्यन्तु वौषडग्निराज्यस्य वेतु वौषडिति ॥१९॥ अथ स्वाहाग्निमित्याह । आग्नेयमाज्यभागॅं स्वाहाग्निं पवमानमिति यदि पवमानाय ध्रियेरन्त्स्वाहाग्निमिन्दुमन्तमिति यद्यग्नयऽइन्दुमते ध्रियेरन्त्स्वाहाग्निॅं स्वाहाग्नीनाज्यपान्जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेत्विति यजति ॥२०॥ अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागॅं सोऽन्वाहाग्निॅं स्तोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधदिति स्वपितीव खलु वाऽएतमद्दुहासितो भवति सम्प्रबोधयत्येवैनमेतत्समुदीरयति जुषाणोऽअग्निराज्यस्य वेत्विति यजति ॥२१॥ अथ यद्यग्नये पवमानाय ध्रियेरन् । अग्नये पवमानायानुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहाग्नऽआयूॅंषि पवसऽआसुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनामिति तथाहाग्नेयो भवति सोमो वै पवमानस्तद्ग सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति जुषाणोऽअग्निः पवमान आज्यस्य वेत्विति यजति ॥२२॥ अथ यद्यग्नयऽइन्दुमते ध्रियेरन् । अग्नयऽइन्दुमतेऽनुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहेह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिरः । एभिर्वर्धसऽइन्दुभिरिति तथा हाग्नेयो भवति सोमो वाऽइन्दुस्तद्ग सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति जुषाणोऽअग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेत्विति यजत्येवमु सर्वमाग्नेयं करोति ॥२३॥ अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति हविषः । अग्निं यजाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूह्यग्निॅं स्विष्टकृतं यजेत्यथ यद्देवान्यजेत्यग्नीन्यजेत्येवैतदाह ॥२४॥ स यजति । अग्नेर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौषडग्नाऽउ वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौषड्देवोऽअग्निः स्विष्टकृदिति स्वयमाग्नेयस्तृतीय एवम्वाग्नेयाननुयाजान्करोति ॥२५॥ ता वाऽएताः । षड्भिर्व्याहृतीर्यजति चतस्रः प्रयाजेषु द्वेऽअनुयाजेषु षड्वाऽऋतव ऋतून्प्राविशदतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥२६॥ द्वादश वा त्रयोदश वाजुराणि भवन्ति । द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सरमृतून्प्राविशदतुभ्य एवैनमेतत्संवत्सरान्निर्मिमीते न द्वे यन सहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्वे षित्सह स्यातां व्यन्तु वे-

घी को ग्रहण करे। वौझक्।"(आ) "अग्निमाज्यस्य वेतु वौझक्।" ("तनूनपात्) आज्य की अग्नि को स्वीकार करे। वौझक्।" (इ) "अग्निनाज्यस्य व्यन्तु वौझक्।"— "वे (इडा) अग्नि के द्वारा आज्य को स्वीकार करें, वौझक्।" (ई) "अग्निराज्यस्य वेतु वौझक्"—"अग्नि आज्य को स्वीकार करे, वौझक्" ॥१९॥

अब कहता है—'स्वाहाग्निम्'—आग्नेय आज्य भाग के लिए। यदि पवमान के लिए आधान करे तो कहे 'स्वाहाग्निं पवमानम्', यदि इन्दुमान् अग्नि के लिए आधान करे तो कहे, 'स्वाहाग्निमिन्दुमन्तम्'। 'स्वाहाग्निम्', 'स्वाहाग्नीनाज्यपान् जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु।' यह (होता) पढ़ता है ॥२०॥

आग्नेय आज्य भाग के सम्बन्ध में (अध्वर्यु) कहता है, "अग्नयेऽनुब्रूहि"—"अग्नि के लिए पढ़ो।" तब (होता) पढ़ता है—"अग्निं स्तोमेन बोधय, समिधानोऽमर्त्यम्। हव्या देवेषु नो दधत्।"—"स्तुति द्वारा अग्नि को जगाओ जो अमरत्व को प्रज्वलित करता है, जिससे यह अग्नि हमारे हवियों को देवताओं तक ले जावे।" जब अग्नि अपने स्थान से निकाला जाता है तो सोता-सा है। अब (ऋत्विज) उसको जगाता है। अब वह पढ़ता है—"जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु" अर्थात् "अग्नि कृपा करके आज्य को ग्रहण करे" ॥२१॥

यदि अग्नि-पवमान के लिए आधान करना हो तो कहे "अग्नये पवमानाय अनुब्रूहि" अर्थात् "पवमान अग्नि की स्तुति करो।" तब होता पढ़े—"अग्नऽआयूँषि पवसऽआसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्" (ऋग्वेद ९।६६।१९)—"हे अग्नि! तू आयु को (उम्रों को) फूंकती है। हमारे लिए अन्न और रस उत्पन्न करो। विपत्तियों को हमसे दूर करो।" इस प्रकार यह अग्नि-युक्त हो जाता है। सोम पवमान है। परन्तु इसको वह सोम के आज्य भाग से निकालते हैं। अब वह पढ़ता है—"जुषाणोऽग्निः पवमान आज्यस्य वेतु।"—"अग्नि पवमान प्रसन्न होकर आज्य को स्वीकार करे" ॥२२॥

यदि वह इन्दुमान् अग्नि के लिए आधान करे तो कहता है—"अग्नयेऽइन्दुमतेऽनुब्रूहि।" "इन्दुमान् अग्नि के लिए प्रार्थना करो।" तब होता पढ़े—"एह्यूषु ब्रवाणि तेऽग्ने इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः" (ऋग्वेद ६।१६।१६)—"हे अग्नि, आ। मैं और प्रार्थनायें तेरे लिए कहूँगा। इन इन्दुओं (बूंदों) से बढ़।" इस प्रकार वह अग्नि का सम्बन्धी हो जाता है। सोम ही इन्दु है। सोम आज्य भाग से लाते हैं। इसलिए पढ़ता है—"जुषाणोऽग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेतु।"—"अग्नि इन्दुमान प्रसन्न होकर आज्य को स्वीकार करे।" इस प्रकार वह इन सब को अग्नि-युक्त कर देता है ॥२३॥

अब वह हवियों के विषय में कहता है—'अग्नयेऽनुब्रूहि।' अर्थात् अग्नि की प्रार्थना करो। 'अग्निं यज' अर्थात् अग्नि को पूजो। 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि।' अर्थात् स्विष्टकृत् की प्रार्थना करो। 'अग्निं स्विष्टकृतं यज।' अर्थात् अग्नि स्विष्टकृत् को पूजो। फिर कहे 'देवान् यज।'—देवों को पूजो। 'अग्नीन् यज।'—अग्नियों को पूजो ॥२४॥

अब वह प्रार्थना करता है—"अग्नेर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु, वौझक्।"—"(बर्हि) अग्नि की वृद्धि के लिए वसुधा को ग्रहण करे, वौझक्।"—"अग्नाऽउ वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौझक्।" "(नराशंस) अग्नि में वृद्धि के लिए वसुधा को स्वीकार करे, वौझक्।" "देवोऽअग्निः स्विष्टकृत्।" अर्थात् देव स्विष्टकृत् अग्नि।" यह तीसरी प्रार्थना स्वयं अग्नि की ही है। इस प्रकार सब अनुयाजों को अग्नि का कर देता है ॥२५॥

ये छः विभक्तियाँ हैं—चार प्रयाज में और दो अनुयाजों में। छः ऋतुएँ हैं। (अग्नि) ऋतुओं में प्रविष्ट हुआ था। इस प्रकार ऋतुओं से ही उनका निर्माण करता है ॥२६॥

(इन छः विभक्तियों में) बारह या तेरह अक्षर होते हैं। वर्ष में बारह या तेरह महीने होते हैं। अग्नि ऋतुओं अर्थात् वर्ष में प्रविष्ट हुआ था। इस प्रकार ऋतुओं में अर्थात् संवत्सर से उसका निर्माण करता है। दुहराने के दोष से बचने के लिए दो एक-से नहीं होते। यदि दो एक-से हों तो दुहराने का दोष लगे। इसलिए प्रयाजों में कहते हैं 'व्यन्तु' या 'वेतु', और अनुयाजों में

विन्त्येव प्रयाजानाꣳ रूपं वसुवने वसुधेयस्येत्यनुयाजानाम् ॥२७॥ तस्य हिरण्यं दक्षिणा । आग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणानड्वान्वा स हि वहेनाग्नेयोऽग्निदग्धमिव ह्यस्य वहं भवति देवानाꣳ हव्यवाहनोऽग्निरिति वहति वाऽएष मनुष्येभ्यस्तस्मादनड्वान्दक्षिणा ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥१
[२.३.] ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽएक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत सोऽग्निमेव मुखाज्जनयां चक्रे तद्यदेनं मुखादजनयत तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥१॥ तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत । तस्मादग्निरग्रिर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति स जातः पूर्वः प्रेयाय यो वै पूर्व एत्यग्रऽएतीति वै तमाहुः सोऽएवास्याग्निता ॥२॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं वाऽइममात्मनोऽजीजने यदग्निं न वाऽइह मदन्यदन्नमस्ति यं वाऽअयं नाद्यादिति कल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्याऽस नौषधय आसुर्न वनस्पतयस्तदेवास्य मनस्यास ॥३॥ अथैनमग्निर्व्यात्तेनोपपर्यावर्त । तस्य भीतस्य स्वो महिमापचक्राम वाग्वाऽअस्य स्वो महिमा वागस्यापचक्राम स आत्मन्नेवाहुतिमीषे स उदमृष्ट तद्यदुदमृष्ट तस्मादिदं चालोमकमिदं च तत्र विवेद घृताहुतिं वैव पयआहुतिं वोभयꣳ ह त्वेव तत्पय एव ॥४॥ सा हैनं नाभिराधयां चकार । केशमिश्रेव हास तां व्यौक्षदोष धयेति तत ओषधयः समभवंस्तस्मादोषधयो नाम स द्वितीयमुदमृष्ट तत्रापरामाहुतिं विवेद घृताहुतिं वैव पयआहुतिं वोभयꣳ ह त्वेव तत्पय एव ॥५॥ सा हैनमभिराधयां चकार । स व्यचिकित्सज्जुहवानी३ मा हौषा३मिति तꣳ स्वो महिमाभ्युवाद जुहुधीति स प्रजापतिर्विदां चकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत्तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते तत एष उदियाय य एष तपति ततोऽयं प्रबभूव योऽयं पवते तत एवाग्निः पराङ्

कहते हैं 'वसुवने वसुधेयस्य' ॥२७॥

इसकी दक्षिणा है स्वर्ण। यह यज्ञ अग्नि का है और स्वर्ण अग्नि का रेत अर्थात् वीर्य है। इसलिए स्वर्ण दक्षिणा है, या बैल, क्योंकि बैल का कन्धा अग्नि का होता है। इसका कन्धा अग्नि से दग्ध-सा होता है। दूसरे, अग्नि देवों का ढोनेवाला है, और बैल मनुष्यों का बोझ ढोनेवाला है। इसलिए बैल दक्षिणा (में दिया जाता है) ॥२८॥

अग्निहोत्रम्

अध्याय २—ब्राह्मण ४

यहाँ पहले एक प्रजापति ही था। उसने सोचा, मैं कैसे उत्पन्न (प्रकट) होऊँ? उसने श्रम और तप किया। उसने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया। चूंकि उसको मुख से उत्पन्न किया इसलिए अग्नि अन्न का खानेवाला है। जो इस प्रकार अग्नि का अन्न को खानेवाला जानता है वह अन्न का खानेवाला होता है ॥१॥

इस अग्नि को देवों से पहले उत्पन्न किया, इसलिए अग्नि का अग्नि नाम है। अग्नि और अग्नि एक बात है। वह उत्पन्न होकर पूर्व की ओर अर्थात् आगे गया। जो पहले (पूर्व) जाता है उसको कहते हैं आगे (अग्रे) गया। यही अग्नि की अग्निता है ॥२॥

प्रजापति ने सोचा कि मैंने इस अग्नि को अपना अन्न खानेवाला बनाया है, और मुझे छोड़कर और कोई अन्न तो है ही नहीं; और मुझे वह खायेगा नहीं। उस समय पृथिवी गंजी थी। न ओषधियाँ थीं, न वनस्पतियाँ। उसको इसी बात का सोच था ॥३॥

अब (अग्नि) उसकी ओर मुंह फाड़कर दौड़ा। वह डर गया और उसकी महिमा चली गई। वाणी ही उसकी महिमा है। यह वाणी ही चली गई। उसने अपने में ही आहुति की इच्छा की, और (हाथ) मले। चूंकि हाथ मले, इसीलिए ये (हथेलियाँ) लोमरहित होती हैं। अब उसने घी की आहुति या दूध की आहुति ली। ये दोनों दूध ही तो हैं ॥४॥

वह उसे पसन्द न आई क्योंकि वह केशमिश्रित (बालों से मिली हुई) थी। उसने उसे (आग में) डाल दिया यह कहकर—'ओषं धय' (जलते हुए खा)। इससे 'ओषधि' उत्पन्न हुई। इसीलिए उनका नाम 'ओषधि' है। अब फिर उसने हथेलियाँ मलीं। तब दूसरी आहुति मिली। घी की आहुति या दूध की आहुति, ये दोनों दूध ही तो हैं ॥५॥

वह उसको पसन्द आ गई। उसे संकोच हुआ, 'इसे (आग में) छोड़ूँ या न छोड़ूँ।' उसकी महिमा ने कहा, 'आहुति दे।' प्रजापति ने जाना कि यह तो मेरी ही (स्व) महिमा है जो कह रही है (आह)। इसलिए उसने 'स्वाहा' कहकर आहुति दे दी। इसलिए 'स्वाहा' कहकर आहुति दी जाती है। अब वह निकला जो तपता है अर्थात् सूर्य, और वह आया जो बहता है अर्थात् वायु।

पर्याववर्त ॥६॥ स हुत्वा प्रजापतिः । प्र चाजायतात्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येताꣳ हैव प्रजातिं प्रजायते यां प्रजापतिः प्राजायतैवमु हैवात्स्यतोऽग्नेर्मृत्योरात्मानं त्रायते ॥७॥ स यत्र म्रियते । यत्रैनमग्नावभ्यादधाति तदेषोऽग्नेरधिजायतेऽथास्य शरीरमेवाग्निर्दहति तद्यथा पितुर्वा मातुर्वा जायेतैवमेषोऽग्नेरधिजायते शश्वद्ध वाऽएष न सम्भवति योऽग्निहोत्रं न जुहोति तस्माद्वाऽअग्निहोत्रꣳ होतव्यम् ॥८॥ तद्वाऽएतत् । एव विचिकित्सायै जन्म यत्प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्स विचिकित्सञ्जुह्वेयस्याध्रियत यः प्र चाजायतात्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत स यो हैवमेतद्विचिकित्सायै जन्म वेद यद्ध किं च विचिकित्सति श्रेयसि हैव ध्रियते ॥९॥ स हुत्वा न्यमृष्ट । ततो विकङ्कतः समभवत्तस्मादेष यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षस्तत एते देवानां वीरा अजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः स यो हैवमेतान्देवानां वीरान्वेदाहास्य वीरो जायते ॥१०॥ तऽउ हैतऽऊचुः । वयं वै प्रजापतिं पितरमनु स्मो हन्त वयं तत्सृजामहै यदस्माननु असदिति ते परिश्रित्य गायत्रेणापहिंकारेण तुष्टुविरे तद्यत्पर्यश्रयन्त्स समुद्रोऽथेयमेव पृथिव्यास्तावः ॥११॥ ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः । पुनरेम इति देवा एताꣳ सम्भूताꣳ सा हैनानुदीक्ष्य हिंचकार ते देवा विदां चक्रुरेष साम्नो हिंकार इत्यपहिंकारꣳ हैव पुरा ततः सामास स एष गवि साम्नो हिंकारस्तस्मादेषोपजीवनीयोपजीवनीयो ह वै भवति य एवमेतं गवि साम्नो हिंकारं वेद ॥१२॥ ते होचुः । भद्रं वाऽइदमजीजनामहि ये गामजीजनामहि यज्ञो ह्येवेयं नो ह्यृते गोर्यज्ञस्तायतेऽन्नꣳ ह्येवेयं यद्धि किं चान्नं गौरेव तदिति ॥१३॥ तद्वाऽएतदेवैतासां नाम । एतद्यज्ञस्य तस्मादेतत्परिहरेत्साधु पुण्यमिति वक्तव्यो ह वाऽअस्यैता भवन्त्युपनामुक एनं यज्ञो भवति य एवं विद्वानेतत्परिहरति साधु पुण्यमिति ॥१४॥ तामु हाग्निरभिदध्यौ । मिथुन्यनया स्यामिति ताꣳ सम्बभूव तस्याꣳ रेतः प्रासिञ्चत्तत्प-

अब अग्नि चला गया ।।६।।

प्रजापति ने आहुतियाँ देकर अपने को फिर उत्पन्न कर लिया, और अग्नि-रूपी मृत्यु से अपने को बचा लिया जो उसको खाना चाहती थी। इसलिए जो आदमी समझकर अग्निहोत्र करता है वह प्रजा-रूप में अपने को उत्पन्न करता है जैसे प्रजापति ने किया, और खानेवाली अग्नि से अपने को बचा लेता है ।।७।।

और जब वह मरता है और जब उसको अग्नि में रखते हैं तो वह अग्नि से फिर उठता है। अग्नि उसके शरीर को ही जलाता है। जैसे वह मा या बाप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार अग्नि से उत्पन्न होता है। और जो अग्निहोत्र नहीं करता वह उत्पन्न होता ही नहीं। इसलिए अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ।।८।।

संकोच के द्वारा जन्म के विषय में यह बात है कि जब प्रजापति ने संकोच किया तो न संकोच करते हुए भी श्रेय पर आरूढ़ रहा, यहाँ तक कि उसने अपने को उत्पन्न किया और अपने को मृत्युरूपी अग्नि से बचाया जबकि वह उसे खाना चाहता था; इसी प्रकार वह भी जो संकोच से जन्म को जानता है, यदि कभी संकोच करता है तो भी श्रेय पर आरूढ़ रहता है ।।९।।

आहुति देकर उसने (हथेलियाँ) मलीं। तब विकङ्कत वृक्ष उत्पन्न हुआ। इसीलिए यह यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष है और यज्ञ-सम्बन्धी पात्र इससे बनाये जाते हैं। अब देवों में जो वीर हैं वे उत्पन्न हुए, अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य। सचमुच जो इन वीर देवों को जानता है उसके वीर उत्पन्न होता है ।।१०।।

उन्होंने कहा, 'हम पिता प्रजापति के पीछे हुए हैं। अब हम प्रजा उत्पन्न करें जो हमारे पीछे हो।' उन्होंने एक घेरा घेरकर गायत्री से हिङ्कार छोड़कर प्रार्थना की। जिससे उन्होंने घेरा था वह समुद्र था; और पृथिवी आस्ताव (अर्थात् प्रार्थना की) जगह हो गई ।।११।।

वे स्तुति करके पूर्व को गये, यह कहकर कि 'हम लौटे जाते हैं।' देव एक गाय के पास आये जो उत्पन्न हो गई थी। उसने उनकी ओर देखकर 'हिंकार' किया। देवों ने जाना कि यह सामवेदीय हिंकार है। पहले वह हिंकार-शून्य था। अब ठीक शाम हो गया। यह सामवेदीय हिंकार गाय के मध्य में थी। इसलिए यह (गाय) जीविका का साधन हो गई। जो कोई गाय में इस सामवेदीय हिंकार के भेद को जानता है, वह जीविका का साधन हो जाता है ।।१२।।

उन्होंने कहा, 'यह जो हमने उत्पन्न किया वह भद्र है, यह जो हमने गाय उत्पन्न की; इसलिए कि यह तो यज्ञ ही है, क्योंकि गाय के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता। यह अन्न भी है, क्योंकि जो भी कुछ अन्न है वह गाय ही है ।।१३।।

यह ('गो' नाम) उन (गौओं) का भी है और यज्ञ का भी। इसलिए उसको दुहराना चाहिए यह कहकर 'साधु है, पुण्य है।' जो कोई इस रहस्य को समझकर 'साधु, पुण्य' दुहराता है, (गायें) उसके लिए बहुतायत देती हैं और यज्ञ उसकी ओर झुकता है ।।१४।।

अब अग्नि ने उससे प्रेम किया कि मैं इसके साथ मैथुन करूँ। उसने उसके साथ मैथुन

योऽभवत्तस्मादेतदामायां गवि सत्याꣳ शृतमग्नेर्हि रेतस्तस्माद्यदि कृष्णायां यदि रोहिण्याꣳ शुक्लमेव भवत्यग्निसंकाशमग्नेर्हि रेतस्तस्मात्प्रथमदुग्धमुष्णं भवत्यग्नेर्हि रेतः ॥१५॥ ते होचुः । हन्तेदं जुहवामहाऽइति कस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति मह्यमिति हैवाग्निरुवाच मह्यमिति योऽयं पवते मह्यमिति सूर्यस्ते न सम्पादयां चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुः प्रजापतिमेव पितरं प्रत्ययाम स यस्मै न इदं प्रथमाय होतव्यं वक्ष्यति तस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्योचुः कस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति ॥१६॥ स होवाच । अग्नयेऽग्निरनुष्या स्वꣳ रेतः प्रजनयिष्यते तथा प्रजनिष्यध्वऽइत्यथ तुभ्यमिति सूर्यमथ यदेव हूयमानस्य व्यश्नुते तदेवैतस्य योऽयं पवतऽइति तदेभ्य इदमप्येतर्हि तथैव जुह्वत्यग्नयऽएव सायꣳ सूर्याय प्रातरथ यदेव हूयमानस्य व्यश्नुते तदेवैतस्य योऽयं पवते ॥१७॥ ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं प्राजायन्त यैषामियं प्रजातिरिमां विजितिं व्यजयन्त यैयमेषां विजितिरिममेव लोकमग्निरजयदन्तरिक्षं वायुर्दिवमेव सूर्यः स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येताꣳ हैव प्रजातिं प्रजायते यामेतऽएतत्प्राजायन्तैतां विजितिं विजयते यामेतऽएतद्व्यजयन्तैतैरु हैव सलोको भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्माद्वाऽअग्निहोत्रꣳ होतव्यम् ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [२.४.]॥ अध्यायः ॥२[११.]॥ ॥

सूर्यो ह वाऽअग्निहोत्रं । तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरुदैत्तस्मात्सूर्योऽग्निहोत्रꣳ ॥१॥ स यत्सायमस्तमिते जुहोति । य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानीत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानीति तस्माद्धि सूर्योऽग्निहोत्रमित्याहुः ॥२॥ ॥ शतम् १००० ॥ ॥ अथ यदस्तमेति । तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति तं गर्भं भवन्तमिमाः सर्वाः प्रजा अनु गर्भा भवन्तीलिता हि शेरे संजानाना अथ यद्रात्रिस्तिर एवैतत्करोति तिर इव हि गर्भाः ॥३॥ स यत्सा-

किया। उसमें वीर्य सींचा। वह दूध हो गया। इसलिए गाय जब तक कच्ची रहती है (वह दूध) पकता है, क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है। इसलिए चाहे काली गाय में हो चाहे लाल में, दूध सफेद ही होता है, अग्नि के समान चमकता हुआ, क्योंकि अग्नि का वीर्य है। इसलिए जब वह पहले दुहा जाता है तो गर्म होता है, क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है ॥१५॥

उन्होंने (मनुष्य ने ?) कहा, 'इसकी आहुति दें।' (देवों ने कहा) 'ये पहले किसके लिए आहुति देंगे ?' अग्नि ने कहा, 'मेरे लिए।' वायु ने कहा, 'मेरे लिए।' सूर्य ने कहा, 'मेरे लिए।' वे निश्चय न कर सके और निश्चय न करके कहा, 'पिता प्रजापति के पास चलें। वे जिसको पहली आहुति के योग्य बतायेंगे, लोग भी उसीको पहली आहुति देंगे।' वे पिता प्रजापति के पास जाकर बोले, 'हममें से किसको लोग पहले आहुति देंगे ?' ॥१६॥

उसने कहा, 'अग्नि के लिए। अग्नि तुरन्त ही अपने वीर्य को उत्पन्न करेगा। इससे तुम्हारी भी प्रजा होगी।' फिर सूर्य से कहा, 'इसके पश्चात् तुम्हारे लिए (आहुति दी जायगी)। और जो (दूध) आहुति देने से बच रहा वह उसके लिए जो बहता है (वायु के लिए)। इसलिए अब तक लोग इसी प्रकार आहुति देते हैं—सायंकाल में अग्नि के लिए और प्रातःकाल में सूर्य के लिए; और जो आहुति देने से बच रहता है वह वायु के लिए ॥१७॥

आहुति देकर देवों ने उस प्रकार अपने को प्रजा के रूप में उत्पन्न किया जिस प्रकार उत्पन्न हुए। इस प्रकार उन्होंने वह विजय पाई जो सचमुच पाई। अग्नि ने यह लोक जीता, वायु ने अन्तरिक्ष और सूर्य ने द्यौ। जो कोई इस रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है उसके उसी प्रकार प्रजा होती है जैसे देवों के हुई, और वह उसी प्रकार विजय पाता है जैसे देवों ने। जो इस रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है वह (उन देवों के साथ) इस लोक का हिस्सेदार होता है। इसलिए अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ॥१८॥

अध्याय ३—ब्राह्मण १

सूर्य ही अग्निहोत्र है। क्योंकि वह इस आहुति के पहले उदय हुआ, इसलिए सूर्य अग्निहोत्र है ॥१॥

सायंकाल को अग्निहोत्र = (अग्रे होत्रस्य) अस्त होते हुए सूर्य के बाद आहुति देता है तो सोचता है कि जो यह है इसके यहाँ रहते हुए मैं आहुति दे दूं। और जो सूर्योदय से पहले प्रातः-काल के समय आहुति देता है तो सोचता है कि जो यह है उसके यहाँ रहते हुए आहुति दूं। इसलिए 'सूर्य ही अग्निहोत्र है' ऐसा कहते हैं ॥२॥

अब जब वह अस्त हो जाता है तब अग्निरूपी योनि में गर्भ होकर प्रवेश करता है, और उसके गर्भ होने पर यह सब प्रजा गर्भ हो जाती है। थपथपाये जाकर मानो वे सन्तुष्ट होकर सो जाते हैं। रात्रि उस (सूर्य) को इसलिए छिपा लेता है कि गर्भ भी तो छिपा रहता है ॥३॥

यमस्तमिते जुहोति । गर्भमेवैतत्सन्तमभिजुहोति गर्भꣳ सन्तमभिकरोति स यद्गर्भꣳ
सन्तमभिजुहोति तस्मादिमे गर्भा अनश्नन्तो जीवन्ति ॥४॥ अथ यत्प्रातरनुदिते जु
होति । प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद्ध वै नो-
दियाद्यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वाऽएतामाहुतिं जुहोति ॥५॥ स यथा-
हिस्त्वचो निर्मुच्येत । एवꣳ रात्रेः पाप्मना निर्मुच्यते यथा ह वाऽअहिस्त्वचो
निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तदेत-
स्यैवानु प्रजातिमिमाः सर्वाः प्रजा अनु प्रजायन्ते वि हि सृज्यन्ते यथार्थꣳ ॥६॥ स
यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीयमुद्धरत्येते वै विश्वे देवा रश्मयोऽथ यत्परं
भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वैतद्ध ह वै विश्वे देवा अग्निहोत्रं जुह्वतो गृहानाग-
च्छन्ति स यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति तस्माद्देवा अपप्रयन्ति तद्वाऽअस्मै तद्व्यृध्यते यस्माद्दे-
वा अपप्रयन्ति तस्यानु व्यृद्धिं यश्च वेद यश्च नानुद्धृतमभ्यस्तमगादित्याहुः ॥७॥
अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीयमुद्धरति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथे-
नोपकल्पितेनोपासीतैवं तत्स यस्योद्धृतमागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रविशन्ति तस्याह-
वनीये निविशन्ते ॥८॥ स यत्सायमस्तमिते जुहोति । अग्नावेवैभ्य एतत्प्रविष्टे-
भ्यो जुहोत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोत्यप्रेतेभ्य एवैभ्य एतज्जुहोति तस्मादुदितहो-
मिनां विछिन्नमग्निहोत्रं मन्यामहऽइति ह स्माहासुरिर्यथा शून्यमावसथमाहरेदेवं
तदिति ॥९॥ द्वयं वाऽइदं जीवनं । मूलि चैवामूलं च तदुभयं देवानाꣳ सन्म-
नुष्या उपजीवन्ति पशवो मूला ओषधयो मूलिन्यस्ते पशवो मूला ओषधीर्मू-
लिनीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति ॥१०॥ स यत्सायमस्तमिते जुहोति ।
अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि यदेषामिदꣳ सदुपजीवाम इति स यत्त-
तो रात्र्याश्नाति हुतोच्छिष्टमेव तन्निरवत्तबल्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जु-
ह्वदशिता ॥११॥ अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति । अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो

वह सायंकाल को अस्त होने पर इसलिए आहुति देता है कि (सूर्य) जो गर्भरूप है उसको आहुति दी जाय, और चूँकि उसको गर्भ के रूप में आहुति देता है इसलिए यह गर्भस्थ जीव बिना खाये जीते रहते हैं ॥४॥

प्रातःकाल उदय होने से पूर्व इसलिए आहुति देता है कि इस (सूर्यरूपी बालक) को जन्म दे। वह तेज होकर चमकता हुआ निकलता है। अगर वह आहुति न देता तो कदापि न निकलता। इसलिए वह आहुति देता है ॥५॥

जैसे साँप केंचुली छोड़ता है इसी प्रकार वह पाप-युक्त रात्रि को छोड़ता है। जो रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है वह उसी प्रकार पाप-युक्त रात्रि से छूट जाता है जैसे साँप केंचुली से। उस (सूर्य) के छूटने पर सब प्रजा फिर से उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अपने प्रयोजन के अनुकूल बिचरते हैं ॥६॥

वह जो सूर्यास्त से पहले आहवनीय को (गार्हपत्य से) निकालता है—ये किरणें ही विश्वेदेव (सब देव) हैं। इससे अधिक जो प्रकाशित होता है प्रजापति या इन्द्र है। अग्निहोत्र करनेवाले के घर सब देवता पहुँच जाते हैं। और जो कोई आग न निकाल पावे और देवतागण आ जायँ तो वे चले जाते हैं। और जिसके यहाँ से देवतागण लौट जायँ वह सफल नहीं होता। और जिसके यहाँ से देवतागण चले गये और वह विफल हुआ, उसके विषय में लोग कहते हैं कि चाहे यह जाने या न जाने, इसका सूर्य अस्त हो गया क्योंकि इसने (गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि को) नहीं निकाला ॥७॥

सूर्यास्त से पहले आहवनीय निकालने का यह कारण है कि जब कोई बड़ा आने वाला होता है तो घर को साफ करके सत्कार करते हैं, उसी प्रकार यह भी। क्योंकि जिस किसी के अग्नि निकालने के पीछे (देवतागण) आते हैं, वे उसके आहवनीय गृह में घुस जाते हैं और उसी आहवनीय गृह में ठहर जाते हैं ॥८॥

वह शाम को सूर्यास्त होने पर अग्नि में इसलिए आहुति देता है कि वह घर में प्रवेश किये हुए (देवताओं) के लिए आहुति देता है। और सूर्योदय होने से पहले आहुति देने का प्रयोजन यह है कि जब तक देव जाने न पावें, तब तक आहुति दी जाय। इसीलिए आसुरी का कहना था कि सूर्योदय होने के पश्चात् आहुति देनेवालों का अग्निहोत्र व्यर्थ हो जाता है जैसे खाली घर में कोई खाना ले जाय ॥९॥

जीविकाएँ दो प्रकार की हैं—जड़ वाली और बिना जड़ की। ये दोनों देवताओं की हैं। इन्हीं के सहारे मनुष्य जीते हैं। पशु बिना जड़ के हैं और ओषधियाँ जड़वाली; बिना जड़-वाले पशु जब जड़वाली ओषधियों को खाते और जल पीते हैं तब रस उत्पन्न होता है ॥१०॥

वह सूर्यास्त के पश्चात् शाम को आहुति इसलिए देता है कि इस जीवन-रस की आहुति देवताओं के लिए दे दूँ, क्योंकि यह रस उन्हीं का है जिसको खाकर हम जीते हैं। और जो वह रात्रि में भोजन करता है वह आहुति का शेष भाग है जिसमें से बलि निकाला जा चुका है (अर्थात् अन्य जीवों के लिए भाग बाँट दिया गया हो)। क्योंकि जो अग्निहोत्र करता है वह यज्ञ के शेष भाग को खाता है ॥११॥

और जो प्रातःकाल सूर्योदय से पहले आहुति देता है, वह सोचता है कि इस जीवन-रस

जुहवानि यदेषामिदꣳ सदुपजीवाम इति स यत्ततोऽश्नाश्नाति हुतोच्छिष्टमेव तन्नि-
रवत्तबल्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता ॥१२॥ तदाहुः । सम्मे-
वान्ये यज्ञास्तिष्ठन्तेऽग्निहोत्रमेव न संतिष्ठतेऽपि द्वादशसंवत्सरमन्तवदेवाथैतद-
नन्तꣳ सायꣳ हि हुत्वा वेद प्रातर्होष्यामीति प्रातर्हुत्वा वेद पुनः सायꣳ हो-
ष्यामीति तदेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं तस्यानुपस्थितिमन्वनुपस्थिता इमाः प्रजाः प्र-
जायन्तेऽनुपस्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एवमेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं वे-
द ॥१३॥ तद्दुग्धाधिश्रयति । शृतमसदिति तदाहुर्यर्ह्युदन्तं तर्हि जुहुयादिति तद्वै
नोदन्तं कुर्यादुप ह दहेद्यदुदन्तं कुर्यादप्रजज्ञि वै रेत उपदग्धं तस्मान्नोदन्तं कुर्यात्
॥१४॥ अधिश्रित्यैव जुहुयात् । यन्न्वेवैतदग्नौ रेतस्तेन न्वेव शृतं यद्वेनदग्नावधिश्रय-
न्ति तेनोऽएव शृतं तस्मादधिश्रित्यैव जुहुयात् ॥१५॥ तदवज्योतयति । शृतं वे-
दानीत्यथापः प्रत्यानयति शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वायेदꣳ हि यदा वर्षत्य-
थौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति तस्मादु रसस्यो
चैव सर्वत्वाय तस्माद्यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेदुदस्तोकमाश्चोतयितवै ब्रू-
याच्छान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥१६॥ अथ चतुरुन्नयति । चतुर्धाविहितꣳ
हीदं पयोऽथ समिधमादायोदाद्रवति समिद्धहोमायैव सोऽनुपसाद्य पूर्वामाहुतिं
जुहोति स यदुपसादयेद्यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्स्यात्तदन्तरा निदध्यादेवं तदथ
यदनुपसाद्य यथा यस्माऽअशनमाहरेत्तस्माऽआहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तदुपसाद्यो-
त्तरां नानावीर्येऽएवैनेऽएतत्करोति मनश्च ह वै वाक्चैतेऽआहुती तन्मनश्चैवैत-
द्वाचं च व्यावर्तयति तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव ॥१७॥ स वै
द्विरग्नौ जुहोति । द्विरुपमार्ष्टि द्विः प्राश्नाति चतुरुन्नयति तद्दश दशाक्षरा वै वि-
राड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ॥१८॥ स यदग्नौ जुहोति । तद्दे-
वेषु जुहोति तस्माद्देवाः सन्त्यथ यदुपमार्ष्टि तत्पितृषु चौषधीषु च जुहोति त-

की देवताओं के लिए आहुति दे दूं, क्योंकि यह इनका है जिसको खाकर हम जीते हैं। वह जो दिन में भोजन करता है वह यज्ञ-शेष है, जिसमें से बलि निकाला जा चुका हो। जो अग्निहोत्र करता है वह यज्ञ के शेष भाग को खाता है ॥१२॥

इस विषय में कहा जाता है कि अन्य सब यज्ञ समाप्त हो जाते हैं परन्तु अग्निहोत्र समाप्त नहीं होता। बारह वर्ष चलनेवाला यज्ञ भी अन्तवाला है, परन्तु अग्निहोत्र अन्तवाला नहीं है। क्योंकि सायं को आहुति देकर जानता है कि प्रातःकाल आहुति दूंगा, और प्रातःकाल आहुति देकर जानता है कि सायं को आहुति दूंगा। इसलिए अग्निहोत्र अनन्त है और इससे अनन्त सन्तान उत्पन्न होती है। और जो मनुष्य अग्निहोत्र की अनन्तता को समझता है, उसके अनन्त सन्तान और वैभव होता है ॥१३॥

दूध दुहकर (गार्हपत्य अग्नि पर) पकाने रखता है जिससे पक जावे। इस विषय में कहते हैं कि जब उबाल आवे तब आहुति दे। परन्तु उबाल आ जायगा तो जल जायगा और जला हुआ बीज उपजता नहीं। इसलिए उबाल न आने देना चाहिए ॥१४॥

आग पर चढ़ाकर ही आहुति दे, क्योंकि यह (दूध) अग्नि वा वीर्य है। इसको आग पर इसलिए रखते हैं कि गर्म हो जाय। इसलिए आग पर रखकर ही आहुति देनी चाहिए ॥१५॥

अब प्रकाशित करता है (अर्थात् तिनके जलाकर उसके प्रकाश से दूध को देखता है) कि यह पक गया क्या? अब उस पर जल छिड़कता है शान्ति के लिए तथा रस की वृद्धि के लिए। जब बरसता है तब ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाने और जल को पीने से यह रस उत्पन्न होता है। इसलिए रस की वृद्धि के लिए वह जल छोड़ता है। इसलिए यदि 'केवल' (खालिस) दूध पीना हो तो उसमें एक बूंद जल अवश्य मिला ले, शान्ति के लिए तथा रस की वृद्धि के लिए ॥१६॥

अब वह दूध को चार (चमचों) में निकालता है, क्योंकि वह दूध चार प्रकार से (चार थनों से) मिला था। अब वह समिद्ध होम के लिए समिधा को उठाता है और (चमसे को) बिना नीचे रक्खे हुए पूर्व-आहुति देता है। यदि (चमसे को) नीचे रख देगा तो मानो वह किसी के लिए खाना ले जाते हुए बीच मार्ग में रख दे। परन्तु बिना नीचे रक्खे हुए (आहुति देना) मानो किसी को खाना ले जाते हुए पहले उसके पास पहुँचाकर (बर्तन) नीचे रक्खे। नीचे रखने के बाद एक और (आहुति देता है)। इस प्रकार इन दो आहुतियों को नानावीर्य (भिन्न-भिन्न पराक्रमवाली) बनाता है। ये दो आहुतियाँ मन और वाणी हैं। इस प्रकार मन और वाणी को एक-दूसरे से अलग करता है। इस प्रकार मन और वाणी समान होते हुए भी नाना हैं ॥१७॥

दो बार अग्नि में आहुति देता है। दो बार (चमसे को) पोंछता है। दो बार (दूध) खाता है। चार बार (चमसे में) निकालता है। ये दस (क्रियाएँ) हुईं। विराज् छन्द में दस अक्षर होते हैं। विराज् ही यज्ञ है। इस प्रकार वह यज्ञ को विराज् बना देता है ॥१८॥

वह अग्नि में जो आहुति देता है, वह देवताओं के लिए देता है। इसी से देव (यज्ञों में) सम्मिलित हैं। और जो पोंछ डालता है उसकी पितरों और ओषधियों के लिए आहुति देता है।

स्मात्पितरश्चौषधयश्च सन्त्यथ यद्धुत्वा प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्ति ॥१९॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञमुखऽआभजति तेनो ह पशवोऽन्वाभक्ता यन्मनुष्याननु पशवः ॥२०॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । न वै यज्ञ इव मन्तवै पाकयज्ञ इव वा ऽइतीदꣳ हि यदन्यस्मिन्यज्ञे स्रुच्यवद्यति सर्वं तदग्नौ जुहोत्यथैतदग्नौ हुत्वोत्सृप्याचामति निर्लेढि तदस्य पाकयज्ञस्येवेति तदस्य तत्पशव्यꣳ रूपं पशव्यो हि पाकयज्ञः ॥२१॥ सैषैकाहुतिरेवाग्रे । यामेवामूं प्रजापतिरजुहोदथ यदेतऽएतत्पश्चेवाधियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्तस्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते ॥२२॥ सा या पूर्वाहुतिः । साग्निहोत्रस्य देवता तस्मात्तस्यै जुहोत्यथ योत्तरा स्विष्टकृद्भाजनमेव सा तस्मात्तामुत्तरार्धे जुहोत्येषा हि दिक् स्विष्टकृतस्तन्मिथुनायैवैषा द्वितीयाहुतिर्हूयते द्वन्द्वꣳ हि मिथुनं प्रजननम् ॥२३॥ तद्द्वयमेवैतेऽआहुती । भूतं चैव भविष्यच्च जातं च जनिष्यमाणं चागतं चाशा चाद्य च श्वश्च तद्द्वयमेवानु ॥२४॥ आत्मैव भूतं । अद्धा हि तद्यद्भूतमद्धो तद्यदात्मा प्रजैव भविष्यदनद्धा हि तद्यद्भविष्यदनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२५॥ आत्मैव जातम् । अद्धा हि तद्यज्जातमद्धो तद्यदात्मा प्रजैव जनिष्यमाणमनद्धा हि तद्यज्जनिष्यमाणमनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२६॥ आत्मैवागतम् । अद्धा हि तद्यदागतमद्धो तद्यदात्मा प्रजैवाशानद्धा हि तद्यदाशानद्धो तद्यत्प्रजा ॥२७॥ आत्मैवाद्य । अद्धा हि तद्यदद्याद्धो तद्यदात्मा प्रजैव श्वोऽनद्धा हि तद्यच्छ्वोऽनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२८॥ सा या पूर्वाहुतिः । सात्मानमभि हूयते तां मन्त्रेण जुहोत्यद्धा हि तद्यन्मन्त्रोऽद्धो तद्यदात्माऽथ योत्तरा सा प्रजामभि हूयते तां तूष्णीं जुहोत्यनद्धा हि तद्यत्तूष्णीमनद्धो तद्यत्प्रजा ॥२९॥ स जुहोति । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्सत्येनैव हूयते यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो

इससे पितर और ओषधियाँ (यज्ञ में) सम्मिलित हैं। यह जो आहुति देकर खाता है वह मनुष्यों के लिए आहुति देता है। इससे (मनुष्य यज्ञ में) सम्मिलित होते हैं ॥१९॥

जो यज्ञ में सम्मिलित नहीं किये जाते वे तिरस्कृत हैं। इस प्रकार जो प्रजा तिरस्कृत नहीं है उसके लिए यज्ञ के आरम्भ में ही भाग निकल जाता है। इस प्रकार पशु (मनुष्यों के) साथ-साथ भाग लेते हैं क्योंकि पशु मनुष्यों के पीछे चलनेवाले हैं ॥२०॥

इस पर याज्ञवल्क्य का कहना है कि इस (अग्निहोत्र) को हविर्यज्ञ नहीं मानना चाहिए। इसको तो पाकयज्ञ (Domestic Sacrifice) कहना चाहिए, क्योंकि हविर्यज्ञ में जो कुछ स्रुक् में लिया जाता है वह सब अग्नि में छोड़ दिया जाता है। और यहाँ अग्नि में आहुति देने के पश्चात् आचमन करता और खाता है। यह सब पाकयज्ञ की ही क्रिया है। यह यज्ञ का पाशविक रूप है क्योंकि पाकयज्ञ पाशविक है ॥२१॥

पहली एक आहुति वही है जिसको प्रजापति ने दिया था और जिसके पीछे देवों ने (यज्ञ) जारी रक्खा अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य ने। इसलिए यह दूसरी आहुति देता है ॥२२॥

वह जो पूर्वाहुति दी गई वह तो अग्निहोत्र का देवता है, इसलिए उसी के लिए दी जाती है। और जो दूसरी आहुति है वह स्विष्टकृत् के समान है, इसलिए वह उत्तर की ओर दी जाती है। (उत्तरा आहुति उत्तर की ओर दी जाने से शब्दों का सादृश्य है), क्योंकि स्विष्टकृत् की यही दिशा है। यह दूसरी आहुति जोड़ा बनाने के लिए दी जाती है, क्योंकि जोड़े से ही सन्तान उत्पन्न होती है ॥२१॥

ये दोनों आहुतियाँ दो का जोड़ हैं—भूत और भविष्य का और उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होनेवाले का, जो है और जिसकी आशा है उन दोनों का, आज का और कल का ॥२४॥

आत्मा ही भूत है। भूत निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। भविष्यत् प्रजा है। भविष्यत् अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२५॥

जो उत्पन्न हो गया वह आत्मा है, क्योंकि जो उत्पन्न हो गया वह निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। जो उत्पन्न होनेवाला है वह प्रजा है, क्योंकि जो उत्पन्न होनेवाला है वह अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२६॥

जो प्राप्त हो गया (आगत, actual) यही आत्मा है, क्योंकि जो प्राप्त हो गया वह निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। आशा प्रजा है क्योंकि प्रजा भी अनिश्चित है और आशा भी अनिश्चित है ॥२७॥

आत्मा आज है, क्योंकि आज भी निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। कल प्रजा है क्योंकि कल भी अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२८॥

यह जो पूर्वाहुति है वह आत्मा के लिए दी जाती हैं। यह मन्त्र से दी जाती है, क्योंकि मन्त्र निश्चित है और आत्मा भी निश्चित है। दूसरी प्रजा के लिए दी जाती है। वह मौन होकर दी जाती है, क्योंकि मौन अनिश्चित है और प्रजा भी अनिश्चित है ॥२९॥

(सायंकाल की) आहुति इस मन्त्र से दी जाती है—"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" (यजु० ३।९), और प्रातःकाल इस मन्त्र से—"सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" (यजु० ३।९)। सत्यता के साथ आहुति दी जाती है, क्योंकि जब सूर्य डूब जाता है तो अग्नि ही ज्योति रहती है।

ज्योतिर्यद्वै सत्येन हूयते तद्देवान्गच्छति ॥३०॥ तद्ध हैतदेवारुणये ब्रह्मवर्चसका-
माय तज्जानूवाचाग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसी हैव
भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३१॥ तद्वस्त्येव प्रजननस्येव रूपम् । अ-
ग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृह्णात्युभयतः-
परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति ॥३२॥ अथ प्रा-
तः । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृ-
ह्णात्युभयतःपरिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति त-
त्प्रजननस्य रूपम् ॥३३॥ तद्ध होवाच जीवलश्चैलकिः । गर्भमेवारुणिः करोति
न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं जुहुयात् ॥३४॥ अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो
ज्योतिः स्वाहेति तद्बहिर्धा ज्योती रेतो देवतया करोति बहिर्धा वै रेतः प्रजातं
भवति तदेनत्प्रजनयति ॥३५॥ तदाहुः । अग्नावेवैतत्सायꣳ सूर्यं जुहोति सूर्ये प्रा-
तरग्निमिति तद्वै तदुदितहोमिनामेव यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य
उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्य सा परिचक्षेयमेव परिचक्षा यत्तस्यै नाद्धा देवतायै हू-
यते याग्निहोत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रा-
तः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्र न सूर्याय स्वाहेति ॥३६॥ अनेनैव
जुहुयात् । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्र्येन्द्रवत्येति तद्रात्र्या
मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहेति
तदग्नये प्रत्यक्षं जुहोति ॥३७॥ अथ प्रातः । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृमत्प्र-
सवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येत्यह्नेति वा तदह्ना वोषसा वा मिथुनं करोति सेन्द्रं क-
रोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहेति तत्सूर्याय प्रत्यक्षं जुहो-
ति तस्मादेवमेव जुहुयात् ॥३८॥ ते होचुः । को न इदꣳ होष्यतीति ब्राह्मणा
एवेति ब्राह्मणेदं नो जुहुधीति किं मे ततो भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स

और जब सूय निकलता है तो सूर्य ज्योति होता है। जो सत्यता के साथ आहुति देता है वह देवों को प्राप्त होता है ।।३०।।

ब्रह्मवर्चस् की कामना के लिए तक्षा ने अरुणि के प्रति यही कहा था—'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्योवर्चो ज्योतिर्वर्चः' (यजु० ३।९)। जो पुरुष समझकर अग्निहोत्र करता है वह ब्रह्मवर्चसी हो जाता है ।।३१।।

यह मन्त्र सन्तानोत्पत्ति का रूप है। "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" कहकर वह ज्योतिरूपी वीर्य को देवता के द्वारा दोनों ओर से घेर देता है। दोनों ओर से घिरकर ही तो वीर्य से उत्पत्ति होता है। इस प्रकार दोनों ओर से घेरकर ही वह इससे सन्तानोत्पत्ति कराता है ।।३२।।

प्रातःकाल की आहुति का मन्त्र—"सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" (यजु० ३।९)। कहकर वह ज्योतिरूपी वीर्य को देवता के द्वारा दोनों ओर से घेर देता है, क्योंकि दोनों ओर से घिरकर ही वीर्य से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार दोनों ओर से इसे घेरकर ही वह इससे सन्तानोत्पत्ति कराता है ।।३३।।

जीवल चैलकि का कथन है कि आरुणि गर्भ ही धारण करता है, सन्तानोत्पत्ति नहीं कराता। इसलिए उसी आहुति से सायंकाल को होत्र करे ।।३४।।

प्रातःकाल "ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा" (यजु० ३।९), कहकर वह देवता के द्वारा ज्योति रूपी वीर्य को बाहर कर देता है। बाहर आकर ही वीर्य उत्पत्ति करता है, इसलिए इसके द्वारा उत्पत्ति करता है ।।३५।।

इसके विषय में कुछ लोग कहते हैं कि वह सायंकाल को अग्नि में सूर्य के लिए आहुति देता है और प्रातःकाल सूर्य में अग्नि के लिए। यह उनके लिए सच है जो 'उदितहोमि' अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् होम करनेवाले हैं। क्योंकि जब सूर्य अस्त होता है तब अग्नि ज्योति होती है और जब सूर्य उदय होता है तो सूर्य ज्योति होता है। इसमें कोई दोष नहीं है। दोष इसमें है कि जो अग्निहोत्र के देवता हैं उनको निश्चय करके न कहा जाय (अर्थात् सूर्य और अग्नि को अलग-अलग)। वह कहता है 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' न कि 'अग्नये स्वाहा।' इसी प्रकार प्रातःकाल के समय 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' न कि 'सूर्याय स्वाहा' ।।३६।।

(सायंकाल को) इससे भी आहुति दे—'सजूर्देवेन सवित्रा' (यजु० ३।१०)। इस प्रकार सवितृ-युक्त हो जाता है, प्रेरणा के लिए। फिर कहता है 'सजूराच्येन्द्रवत्या', इससे वह इसका रात्रि से जोड़ मिलाता है और इन्द्र से युक्त करता है। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। 'जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा' (यजु० ३।१०) कहकर वह प्रत्यक्ष रूप से अग्नि के लिए आहुति देता है ।।३७।।

अब प्रातःकाल को 'सजूर्देवेन सवित्रा' कहकर प्रेरणा के लिए सवितृ-युक्त करता है। अब कहता है—'सजूरुषसेन्द्रवत्या', इस प्रकार वह इसका दिन या उषा से जोड़ मिलाता है और इसे इन्द्र-युक्त करता है। इन्द्र यज्ञ का देवता है। 'जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा' (यजु० ३।१०) कहकर वह प्रत्यक्ष रूप से सूर्य के लिए आहुति देता है। इसलिए इसी प्रकार आहुति दे ।।३८।।

उन्होंने कहा—'हमारे लिए कौन आहुति देगा?' 'ब्राह्मण ही।' 'हे ब्राह्मण, हमारे लिए आहुति दे।' 'तब मेरा भाग क्या होगा?' 'अग्निहोत्र का उच्छिष्ट (बचा हुआ)।' यह जो

यत्स्रुचि परिशिनष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टमथ यत्स्थाल्यां यथा परीणहो निर्वपेदेवं तत्तस्मात्तस्य एव कश्च पिबेत्तद्धै नाब्राह्मणः पिबेदग्नौ ह्यधिश्रयन्ति तस्मान्नाब्राह्मणः पिबेत् ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥२ [३.१.]॥ ॥

एता ह वै देवता योऽस्ति। तस्मिन्वसन्तीन्द्रो यमो राजा नडो नैषिधोऽनश्नत्सांगमनोऽसन्याꣳसवः ॥१॥ तद्वाऽएष एवेन्द्रः। यदाहवनीयोऽथैष एव गार्हपत्यो यमो राजाथैष एव नडो नैषिधो यदन्वाहार्यपचनस्तद्यदेतमहरहर्दक्षिणात आहरन्ति तस्मादाङ्गरहरहर्वै नडो नैषिधो यमꣳ राजानं दक्षिणात उपनयतीति ॥२॥ अथ य एष सभायामग्निः। एष एवानश्नत्सांगमनस्तद्यदेतमनशिवेबोपसंगच्छन्ते तस्मादेषोऽनश्नन्नथ यदेतद्भस्मोद्धृत्य परावपत्येष एवासन्याꣳसवः स यो हैवमेतद्देवं मय्येता देवता वसन्तीति सर्वान्हैवैतांल्लोकाञ्जयति सर्वांल्लोकाननुसंचरति ॥३॥ तेषामुपस्थान। यदेव सायं प्रातराहवनीयमुप च तिष्ठतऽउप चास्ते तदेव तस्योपस्थानमथ यदेव प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमास्ते वा शेते वा तदेव तस्योपस्थानमथ यत्रैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत्तदेव तं मनसोपतिष्ठेत तदेव तस्योपस्थानम् ॥४॥ अथ प्रातः। अनशिवा मुहूर्तꣳ सभायामासित्वापि कामं पल्ययेत तदेव तस्योपस्थानमथ यत्रैव भस्मोद्धृतमुपनिगच्छेत्तदेव तस्योपस्थानमेवमु हास्यैता देवता उपस्थिता भवन्ति ॥५॥ यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः। अथैष भ्रातृव्यदेवत्यो यदन्वाहार्यपचनस्तस्मादेतं नाहरहराहरेयुर्न ह वाऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतं नाहरहराहरत्यन्वाहार्यपचनो वाऽएषः ॥६॥ उपवसथऽएवैनमाहरेयुः। यत्रैवास्मिन्यद्यन्तो भवन्ति तथो हास्यैषोऽमोघायाहृतो भवति ॥७॥ नवावसिते वैनमाहरेयुः। तस्मिन्पचेयुस्तद्ब्राह्मणा अश्नीयुर्यच्च तन्न विन्देद्यत्पचेदपि गोरिव दुग्धमधिश्रयितवै ब्रूयात्तस्मिन्ब्राह्मणान्याययितवै ब्रूयात्पापीयाꣳसो ह वाऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एवं

स्रुवे में रह जाता है वह अग्निहोत्र का उच्छिष्ट है। जो थाली में रह जाता है वह वैसा ही है जैसा कि (गाड़ी के) घेरे में से (चावल निकालना)। यदि कोई इसे पिये तो ब्राह्मण के सिवाय अन्य न पीवे। यह अग्नि में रखा हुआ (पवित्र) है, इसलिए अब्राह्मण न पीवे ॥३९॥

अध्याय ३—ब्राह्मण २

जो कोई (यजमान) होता है उसमें ये देवते होते हैं—इन्द्र, राजा, यम, नड-नैषिध (या नैषध), अनश्नत् सांगमन, असन्पांसव ॥१॥

यह जो आहवनीय है वह इन्द्र है, जो गार्हपत्य है वह राजा यम है। यह जो अन्वाहार्य-पचन (दक्षिणाग्नि) है वह नड-नैषिध है। चूँकि प्रतिदिन दक्षिण से (अग्नि) लाते हैं, इसलिए कहते हैं कि नड-नैषिध प्रतिदिन राजा यम को दक्षिण से लाता है ॥२॥

और यह जो सभा में अग्नि है वह अनश्नत् सांगमन है। इसको अनश्नत् इसलिए कहते हैं कि लोग बिना खाये उसके पास जाते हैं। और उसमें से राख निकालकर जहाँ फेंकते हैं वह असन्पांसव है। जो इस बात को जानता है वह सब लोकों को जीतता है, सब लोकों में विचरता है और समझता है कि ये देवतागण मुझमें विद्यमान हैं ॥३॥

अब उन (अग्नियों) के उपस्थान (उपासना) के विषय में। जो सायं और प्रातः को आहवनीय के पास खड़ा होना और बैठना है यही उसकी उपासना है, और जब लौटकर गार्हपत्य के पास बैठना या लेटना है वह उसकी उपासना है, और जब (आहवनीय से) निकलकर अन्वाहार्य-पचन का स्मरण करना तथा मन में उसके पास ठहरना है वह उसकी उपासना है ॥४॥

और प्रातःकाल बिना खाये मुहूर्त-भर सभा में बैठना और यथेच्छा परिक्रमा देना है वही उसकी उपासना है। और जहाँ उसमें से लेकर भस्म डाली जाती है वहाँ ठहरना है, वही उसकी उपासना है। इस प्रकार उन देवताओं की उपासना हो गई ॥५॥

गार्हपत्य का देवता यजमान है, और अन्वाहार्य-पचन का देवता उसका शत्रु है, इसलिए (दक्षिणाग्नि को) रोज-रोज (गार्हपत्य से) नहीं ले जाना चाहिए। उसके कोई शत्रु नहीं होते। जो इस बात को जानता है उसके यहाँ इस अग्नि को रोज-रोज नहीं निकालते। यह अन्वाहार्य-पचन है ॥६॥

उपवास के दिन ही उसको लाना चाहिए जब इसमें यज्ञ करनेवाले हों, और यह (यजमान के) अमोघ (निश्चित सफलता) के लिए लाई जाती है ॥७॥

या इसको नये घर में ले जायें। उसमें पकावें और ब्राह्मणों को खिलाएँ। यदि पकाने के लिए और कुछ न मिले तो गाय के दूध को ही अग्नि पर रख दें और ब्राह्मणों को पिला दें। जिस किसी यह जाननेवाले के लिए वे ऐसा करते हैं उसके शत्रु पापी (अवनति-शील) हो जाते हैं।

कुर्वन्ति तस्माद्देवमेव चिकीर्षेत् ॥८॥ तद्यत्रैतत्प्रथमꣳ समिद्धो भवति । धूप्यत
ऽइव तर्हि हैष भवति रुद्रः स यः कामयेत यथेमा रुद्रः प्रजा अश्रद्धयेवं त्वत्सक्-
सेव त्वन्निघातमिव त्वत्सचत ऽएवमन्नमद्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति है-
वैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥९॥ अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति । त-
र्हि हैष भवति वरुणः स यः कामयेत यथेमा वरुणः प्रजा गृह्णन्निव त्वत्सक्लेव
त्वन्निघातमिव त्वत्सचत ऽएवमन्नमद्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतद-
न्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१०॥ अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति । उच्चैर्धूमः
परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः स यः कामयेतेन्द्र इव श्रिया य-
शसा स्यामिति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जु-
होति ॥११॥ अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव । तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि
हैष भवति मित्रः स यः कामयेत मैत्रेणेदमन्नमद्यामिति यमाहुः सर्वस्य वा ऽअयं
ब्राह्मणो मित्रं न वा ऽअयं कं चन हिनस्तीति तर्हि ह स जुहुयात्प्राप्नोति है-
वैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१२॥ अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त ऽइव ।
तर्हि हैष भवति ब्रह्म स यः कामयेत ब्रह्मवर्चसी स्यामिति तर्हि ह स जुहु-
यात्प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१३॥ एतेषामेकꣳ संवत्स-
रमुपेर्त्सेत् । स्वयं जुहुयाद्यदि वास्यान्यो जुहुयादथ यो ऽन्यथान्यथा जुहोति यथापो
वाभिखनन्नन्यद्वान्नाद्यꣳ स सामि निवर्तेतैवं तदथ यः सार्धं जुहोति यथापो वा-
भिखनन्नन्यद्वान्नाद्यं तत्क्षिप्रे ऽभितृन्द्यादेवं तत् ॥१४॥ अभयो ह वा ऽएता अन्ना-
द्यस्य यदाहुतयः । अभि हैवैतदन्नाद्यं तृणत्ति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
॥१५॥ सा या पूर्वाहुतिः । ते देवा अथ योत्तरा ते मनुष्या अथ यत्स्रुचि परि-
शिनष्टि ते पशवः ॥१६॥ स वै कनीय इव पूर्वामाहुतिं जुहोति । भूय इवो-
त्तरां भूय इव स्रुचि परिशिनष्टि ॥१७॥ स यत्कनीय इव पूर्वामाहुतिं जुहोति ।

इसलिए ऐसा ही करना चाहिए ।।८।।

जब अग्नि पहले ही जलाई जाती है और उसमें धुआँ ही निकलता है, तब यह अग्नि रुद्र होती है। जैसे रुद्र इन प्रजाओं को कभी अश्रद्धा से, कभी कड़ेपन में, कभी मारकर बरतता है, उसी प्रकार यदि कोई चाहे कि अन्न खाऊँ तो वह यह आहुति दे। जो कोई समझकर आहुति देता है उसको अन्न की प्राप्ति हो जाती है।

जब अग्नि अधिक प्रदीप्त हो जाती है तो वरुण हो जाती है। जैसे वरुण प्रजा को कभी पकड़कर, कभी कड़ेपन से और कभी मारकर बरसता है, इसी प्रकार यदि कोई चाहे कि मैं अन्न खाऊँ तो वह यह आहुति दे। जो कोई समझकर आहुति देता है उसको अन्न की प्राप्ति हो जाती है ।।१०।।

जब अग्नि बहुत प्रज्वलित होती है और पुष्कल धुआँ चक्कर काटता हुआ ऊपर को उठता है तो यह इन्द्र हो जाती है। जो कोई चाहे कि इन्द्र के समान श्री और यश वाला हो जाऊँ तो वह यह आहुति दे। जो कोई समझकर आहुति देता है उसको अन्न की प्राप्ति हो जाती है ।।११।।

जब यह अग्नि घटती हुई शान्त-सी तिरछी जलती है तो मित्र हो जाती है। यदि कोई चाहे कि मित्रता से अन्न खाऊँ, जैसे कहा करते हैं कि अमुक ब्राह्मण मित्र है, वह किसी की हानि नहीं करता, तो वह आहुति दे। जो समझकर आहुति देता है वह अन्न को प्राप्त कर लेता है ।।१२।।

जब इस (अग्नि) के अङ्गारे जलते हैं तब यह ब्रह्म हो जाती है। जो चाहे कि मैं ब्रह्म-वर्चसी हो जाऊँ वह यह आहुति दे। जो समझकर आहुति देता है उसे अन्न की प्राप्ति हो जाती है ।।१३।।

उसको साल-भर तक इनमें से एक का सेवन करना चाहिए, चाहे स्वयं आहुति दे या किसी से दिलावे। और जो कभी किसी के और कभी किसी के लिए आहुति देता है तो वैसा ही व्यर्थ है जैसे पानी के लिए कभी यहाँ खोदे, कभी वहाँ, या अन्न के लिए और बीच में छोड़ दे। और यदि लगातार आहुति देता जाय तो ऐसा है जैसे जल या अन्न के लिए खोदता-खोदता शीघ्र प्राप्त कर ले ।।१४।।

ये जो आहुतियाँ हैं वे अन्न के (खोदने के) लिए अभ्रि या खुरपा हैं। जो समझकर अग्निहोत्र करता है वह अन्न की प्राप्ति करता है।

जो पूर्वाहुति है वह देव है, जो पिछली है वह मनुष्य और जो स्रुक् में बच रहे वह पशु ।।१६।।

पूर्वाहुति में थोड़ा ही डालता है, पिछली में अधिक और उससे भी अधिक स्रुक् में बचा रखता है ।।१७।।

पूर्वाहुति में थोड़ा-सा इसलिए डालता है कि देव आदमियों से कम हैं। दूसरी आहुति में

कनीयाꣳसो हि देवा मनुष्येभ्योऽथ यद्द्वयऽइवोत्तरां भूयाꣳसो हि मनुष्या देवे-
भ्योऽथ यद्द्वय इव स्रुचि परिशिनष्टि भूयाꣳसो हि पशवो मनुष्येभ्यः कनीयाꣳसो
ह वाऽअस्य भार्या भवन्ति भूयाꣳसः पशवो य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तद्वै
समृद्धं यस्य कनीयाꣳसो भार्या असन्भूयाꣳसः पशवः ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.२.] ॥
॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या १०३ ॥ ॥

यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे । स यत्राग्निꣳ ससृजे स इदं जातः सर्वमेव द-
ग्धुं दध्रऽइत्येवाबिलमेव ता यास्तर्हि प्रजा आसुस्ता हैनꣳ सम्पेष्टुं दध्रिरे सो
ऽतितिक्षमाणः पुरुषमेवाभ्येयाय ॥१॥ स होवाच । न वाऽअहमिदं तितिक्षे
हन्त त्वा प्रविशानि तं मा जनयित्वा बिभृहि स यथैव मां त्वमस्मिंल्लोके जनयि-
त्वा भरिष्यस्येवमेवाहं त्वाममुष्मिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यामीति तथेति तं जनयि-
त्वाबिभः ॥२॥ स यदग्नीऽआधत्ते । तदेनं जनयति तं जनयित्वा बिभर्ति स यथा
हैवैष एतमस्मिंल्लोके जनयित्वा बिभर्त्येवमु हैवैष एतममुष्मिंल्लोके जनयित्वा बि-
भर्ति ॥३॥ तन्न साम्युद्वासयेत । सामि हास्मै स ग्लायति स यथा हैवैष एतस्मा
ऽअस्मिंल्लोके सामि ग्लायत्येवमु हैवैष एतस्माऽअमुष्मिंल्लोके सामि ग्लायति
तस्मान्न साम्युद्वासयेत ॥४॥ स यत्र म्रियते । यत्रैनमग्नावभ्यादधति तदेषोऽग्नेरधि-
जायते स एष पुत्रः सन्पिता भवति ॥५॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तꣳ । शतमिन्नु
शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा
नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोरिति पुत्रो ह्येष सन्त्स पुनः पिता भवत्येतन्नु तद्यस्मा-
दग्नीऽआदधीत ॥६॥ तद्वाऽएष एव मृत्युः । य एष तपति तद्यदेष एव मृत्यु-
स्तस्माद्या एतस्मादर्वाच्यः प्रजास्ता म्रियन्तेऽथ याः पराच्यस्ते देवास्तस्मादु तेऽमृ-
तास्तस्येमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहितास्तस्मादु रश्मयः प्राणानभ्यवताय-
न्ते ॥७॥ स यस्य कामयते । तस्य प्राणमादायोदेति स म्रियते स यो हैतं मृत्युम-

अधिक इसलिए डालता है कि मनुष्य देवों से अधिक हैं। स्रुक् में सबसे अधिक इसलिए छोड़ता है कि पशु मनुष्यों से भी अधिक हैं। जो कोई समझकर अग्निहोत्र करता है उसके आश्रित मनुष्यों (भार्य) की अपेक्षा पशु अधिक होते हैं। जिसके भार्य (आश्रित मनुष्य) कम और पशु अधिक हों, उसी को समृद्ध पुरुष कहते हैं ॥१८॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

जब प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की और अग्नि उत्पन्न की तो यह उत्पन्न होते ही सबको जलाने लगी, और सबने उससे बचना चाहा, और जो प्रजा थी उसने उसको बुझाना चाहा। यह सहन न करके वह पुरुष के पास आई ॥१॥

उसने कहा—"मैं यह सहन नहीं कर सकती। तुझमें घुस जाऊँ। तू मुझे उत्पन्न करके पालन करा। जैसा तू इस लोक में मुझे जन्म देकर पालन करेगा वैसा ही परलोक में तुझे जन्म देकर पालन करूँगी।" उसने कहा—"अच्छा।" उसने उसे उत्पन्न किया और पालन किया ॥२॥

जब वह दो अग्नियों का आधान करता है तो उनको उत्पन्न करता है और उत्पन्न करके उनका पालन करता है। और जैसा वह इसका इस लोक में उत्पन्न करके पालन करता है, वैसा ही वह (अग्नि) उस लोक में उसको उत्पन्न करके उसका पालन करता है।

इस अग्नि को अधूरा न हटावे। यदि इसको अधूरा हटा देगा तो जिस प्रकार अग्नि को इस लोक में ह्रास करेगा, उसी प्रकार अग्नि उस लोक में उसका भी ह्रास कर देगा। इसलिए उसको अग्नि को अधूरा न हटाना चाहिए ॥४॥

और जब वह मरता है और उसे अग्नि पर रखते हैं तो वह अग्नि से ही उत्पन्न होता है। जो (अग्नि) अब तक उसका पुत्र था, वह अब उसका पिता हो जाता है ॥५॥

इसीलिए ऋषि ने कहा था—"शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः" (यजु० २५।२२; ऋ० १।८९।९) —"हे देवताओ, सौ वर्ष हमारे सामने हैं जब तुम हमारे शरीरों के बुढ़ापे को करते हो। जब पुत्र पिता हो जाते हैं आप हमारी पूरी होनेवाली आयु को बीच में मत काटो।" क्योंकि जो (अग्नि) अब तक पुत्र था अब पिता हो गया। यही कारण है कि अग्न्याधान करना चाहिए ॥६॥

यह जो सूर्य है वह मृत्यु है, इसलिए उससे इस ओर की प्रजा मर जाती है। और जो उससे परली ओर हैं अर्थात् देव, वे अमर रहते हैं। ये सब प्रजाएँ किरणों द्वारा प्राणों में स्थित हैं। इसीलिए किरणें प्राणों तक जाती हैं ॥७॥

यह सूर्य जिसको चाहता है उसके प्राण लेकर उदय होता है और वह मर जाता है। जो

नतिमुच्याथामुं लोकमेति यथा हैवास्मिंल्लोके न संयतमाद्रियते यदा यदेव कामयतेऽथ मारयत्येवमु हैवामुष्मिंल्लोके पुनःपुनरेव प्रमारयति ॥८॥ स यत्सायमस्तमिते द्वेऽआहुती जुहोति । तदेताभ्यां पूर्वाभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन्मृत्यौ प्रतितिष्ठत्यथ यत्प्रातरनुदिते द्वेऽआहुती जुहोति तदेताभ्यामपराभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन्मृत्यौ प्रतितिष्ठति स एनमेष उद्यन्नेवादायोदेति तदेतं मृत्युमतिमुच्यते सैषाग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिरति ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते य एवमेतामग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं वेद ॥९॥ यथा वाऽइषोरनीकम् । एवं यज्ञानामग्निहोत्रं येन वाऽइषोरनीकमेति सर्वा वै तेनेषुरेत्येतेनो हास्य सर्वे यज्ञक्रतव एतं मृत्युमतिमुक्ताः ॥१०॥ अहोरात्रे ह वाऽअमुष्मिंल्लोके परिप्लवमाने । पुरुषस्य सुकृतं क्षिणुतोऽर्वाचीनं वाऽअतोऽहोरात्रे तयो हास्याहोरात्रे सुकृत न क्षिणुतः ॥११॥ स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् । उपरिष्टाद्रथचक्रे पल्ययमानेऽउपावेक्षेतैवं परस्तादर्वाचीनोऽहोरात्रेऽउपावेक्षते न ह वाऽअस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतो य एवमेतामहोरात्रयोरतिमुक्तिं वेद ॥१२॥ पूर्वेणाहवनीयं परीत्य । अन्तरेण गार्हपत्यं चैति न वै देवा मनुष्यं विदुस्तऽएनमेतदन्तरेणातियन्तं विदुरयं वै न इदं जुहोतीत्यग्निर्वै पाप्मनोऽपहन्ता तावस्याहवनीयश्च गार्हपत्यश्चान्तरेणातियतः पाप्मानमपहतः सोऽपहतपाप्मा ज्योतिरेव श्रिया यशसा भवति ॥१३॥ उत्तरतो वाऽअग्निहोत्रस्य द्वारम् । स यथा द्वारा प्रपद्येतैवं तदथ यो दक्षिणात एत्यास्ते यथा बहिर्धा चरेदेवं तत् ॥१४॥ नौर्ह वाऽएषा स्वर्ग्या । यदग्निहोत्रं तस्याऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया आहवनीयश्चैव गार्हपत्यश्च नौमण्डेऽअथैष एव नावाजो यत्क्षीरहोता ॥१५॥ स यत्प्राङुपोदेति । तदेनां प्राचीमभ्यजति स्वर्गं लोकमभि तया स्वर्गं लोकं समश्नुते तस्या उत्तरत आरोहणं तेनं स्वर्गं लोकं समापयत्यथ यो दक्षिणात एत्यास्ते यथा प्रतीर्णायामागच्छेत्स विहीयेत स तत एव बहिर्धा स्याद्देवं तत् ॥१६॥

इस मृत्यु से न बचकर उस लोक में जाता है, उसको बार-बार मारा जाता है, उसी प्रकार जैसे इस लोक में कैदी पर सख्ती करते हैं और जब चाहते हैं तब मार डालते हैं ॥८॥

यह जो शाम को सूर्यास्त होने पर दो आहुतियाँ देता है वह इन दो अगले पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठा पाता है। और यह जो सूर्योदय से पूर्व ही आहुतियाँ देता है वह पिछले दो पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठा पाता है, और जब सूर्य निकलता है तो उसको लेकर मृत्यु से छूट जाता है। यह अग्निहोत्र के द्वारा मृत्यु से छूटने का विधान है। जो इस प्रकार अग्निहोत्र द्वारा मृत्यु से छुटकारे का ज्ञान रखता है, वह बार-बार की मौत से छूट जाता है ॥९॥

जैसे तीर की नोक होती है वैसे ही यज्ञ और अग्निहोत्र का सम्बन्ध है। जिधर तीर की नोक जाती है उसी ओर तीर जाता है। इस (अग्निहोत्र) द्वारा सब यज्ञ मृत्यु से छूटने के साधन हैं ॥१०॥

रात और दिन घूमते हुए मनुष्य के सुकृत को उस लोक में क्षीण कर देते हैं। परन्तु दिन और रात उसके इस ओर हैं, इसलिए दिन-रात उसके सुकृत को क्षीण नहीं करते ॥११॥

और जैसे रथ में बैठे हुए ऊपर से रथ के घूमते हुए पहियों को देखता है, उसी प्रकार वह ऊपर से दिन और रात को देखता है। और जो इस प्रकार दिन और रात से छुटकारा पाने का भेद जानता है, उसके सुकृत को दिन और रात क्षीण नहीं कर सकते ॥१२॥

(यजमान) पूर्व की ओर से आहवनीय का चक्कर लगाकर उसके और गार्हपत्य के बीच में होकर (अपने स्थान को) जाता है, क्योंकि (अभी) देव (इस) मनुष्य को पहचानते नहीं। परन्तु जब वह बीच में से जाता है तो पहचानते हैं कि यही हमको आहुति देगा। अग्नि पाप का नाशक है और आहवनीय और गार्हपत्य उसके पाप को नष्ट कर देते हैं जो उन दोनों के बीच में होकर निकलता है। और उसका पाप नष्ट हो जाने पर भी वह श्री और यश से युक्त होकर ज्योति हो जाता है ॥१३॥

अग्निहोत्र का द्वार उत्तर की ओर है। इसलिये वह ऐसे घुसता है मानो द्वार में होकर घुसा। और जो दक्षिण से जाकर बैठ जाय तो मानो वह बाहर चला गया ॥१४॥

अग्निहोत्र स्वर्ग की नाव है। आहवनीय और गार्हपत्य उस स्वर्ग की नाव की दो तरफें हैं, और दूध की आहुति देनेवाला मल्लाह है ॥१५॥

जब वह पूर्व की ओर चलता है तो मानो वह इस नाव को पूर्व की ओर स्वर्ग की ओर ले जाता है और उसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। उस पर उत्तर से चढ़ना उसको स्वर्गलोक में ले जाना है। जो दक्षिण से घुसकर उसमें बैठता है तो ऐसा समझना चाहिए मानो वह उस समय नाव में घुसने लगा जब वह चल पड़ी और वह पीछे और बाहर रह गया ॥१६॥

अथ यामेतां समिधमभ्यादधाति सेष्टका येन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुर्येनामिष्टकामुपदधाति यदा वाऽइष्टकोपधीयतेऽथाहुतिर्हूयते तदस्योपहितास्वेवेष्टकास्वेता आहुतयो हूयन्ते या एता अग्निहोत्राहुतयः ॥१७॥ प्रजापतिर्वाऽअग्निः । संवत्सरो वै प्रजापतिः संवत्सरे-संवत्सरे ह वाऽअस्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना संतिष्ठते संवत्सरे-संवत्सरे चित्यमग्निमाप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतद्ध ह्यस्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना संतिष्ठते चित्यमग्निमाप्नोति ॥१८॥ सप्त च वै शतान्यशीतीनामृचः । विंशतिश्च स यत्सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति ते द्वेऽआहुती ता अस्य संवत्सरऽआहुतयः सम्पद्यन्ते ॥१९॥ सप्त चैव शतानि विंशतिश्च । संवत्सरे-संवत्सरे ह वाऽअस्याग्निहोत्रं महतोक्थेन सम्पद्यते संवत्सरे-संवत्सरे महदुक्थमाप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतद्ध ह्यस्याग्निहोत्रं महतोक्थेन सम्पद्यते महदुक्थमाप्नोति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.३.]॥ ॥

अग्नौ ह वै देवाः । सर्वान्पशून्निदधिरे ये च ग्राम्या ये चारण्या विजयं वोपप्रेष्यन्तः कामचारस्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो गोपायदिति वा ॥१॥ तानु हाग्निर्निचकमे । तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेश पुनरेम इति देवा एदग्निं तिरोभूतं ते ह विदां चक्रुरिह वै प्राविक्षद्रात्रिं वै प्राविक्षदिति तमेतत्प्रत्यायत्यां रात्रौ सायमुपातिष्ठन्त देहि नः पशून्पुनर्नः पशून्देहीति तेभ्योऽग्निः पशून्पुनरददात् ॥२॥ तस्मै कमग्नीऽउपतिष्ठेत । अग्नी वै दातारौ तावेवैतद्याचते सायमुपातिष्ठेत सायं हि देवा उपातिष्ठन्त दत्तो हैवास्माऽएतौ पशून्य एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥३॥ अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत । उभये ह वाऽइदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च तद्यद्ध स्म मनुष्याणां न भवति तद्ध स्म देवान्याचन्तऽइदं वै नो नास्तीदं नोऽस्त्विति ते तस्याऽएव याच्ञायै द्वेषेण देवास्तिरोभूता नेद्धिनसानि नेद्द्वेष्योऽसानीति तस्मान्नोपतिष्ठेत ॥४॥ अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । यज्ञो वै देवानामाशीर्यजमानस्य त-

इस पर जो समिधा रखता है वह मानो ईंट है। जिस मन्त्र से आहुति देता है वह यजुः है जिससे वह ईंट रक्खी जाती है। और जब ईंट रख ली जाती है तब आहुति दी जाती है। इस-लिए उन रक्खी हुई ईंटों पर वे ही आहुतियाँ दी जाती हैं, जो अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं। (दूसरे बड़े यज्ञ से उपमा दी है) ॥१७॥

प्रजापति अग्नि हैं और प्रजापति संवत्सर है। इसलिए वर्ष-प्रतिवर्ष अग्नि-चय पर अग्निहोत्र होता है और वर्ष-प्रतिवर्ष अग्नि-चय किया जाता है, उस मनुष्य का जो यह समझकर अग्निहोत्र करता है ॥१८॥

अस्सी ऋचाओं की सात सौ बीस आहुतियाँ देवें। सायं और प्रातः के अग्निहोत्र की दो आहुतियाँ होती हैं। इस प्रकार वर्ष-भर में—॥१९॥

सात सौ बीस आहुतियाँ हुई। इस प्रकार वर्ष-प्रतिवर्ष यह अग्निहोत्र बड़ी स्तुति द्वारा किया जाता है। और जो अग्निहोत्र (उसके) रहस्य को समझकर करता है उसको बड़ी स्तुति की प्राप्ति हो जाती है ॥२०॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

देवों ने अपने सब पशुओं को, चाहे गाँव के, चाहे जंगली, अग्नि को सौंप दिया। या तो वे विजय के लिए जा रहे थे या स्वतन्त्र विचरना चाहते थे, या यह समझकर कि अग्नि रक्षक है, इनकी रक्षा करेगा ॥१॥

अग्नि को उन पर लोभ आ गया। वह उनको लेकर रात्रि में प्रविष्ट हो गया। देवों ने कहा, चलो लौट चलें और जहाँ अग्नि छिपा था वहाँ पहुँच गये। उन्होंने जान लिया कि अग्नि यहाँ छिपा है, रात में छिपा है। जब सायंकाल को रात्रि वापस आई तो उन्होंने कहा, 'हमारे पशु लौटा, हमारे पशु लौटा।' अग्नि ने उनके पशु लौटा दिये ॥२॥

इसलिए दोनों अग्नियों का नम्रता से सेवन करे। दोनों अग्नियाँ दाता हैं। उन्हीं से माँगता है। शाम को सेवन करे। शाम ही को देवताओं ने सेवन किया था। जो ज्ञानपूर्वक दोनों अग्नियों का सेवन करता है उसको वे पशु देते हैं ॥३॥

अग्नियों का सेवन करने के विरुद्ध यह युक्ति दी जाती है। पहले देव और मनुष्य दोनों साथ रहते थे। जो चीज मनुष्यों के पास नहीं होती थी उसको वे देवों से माँगते थे, 'हमारे पास यह वस्तु नहीं है। इसे हमको दीजिए।' इस माँगने के द्वेष के कारण देव छिप गये। इसलिए देवों के पास नहीं जाना चाहिए कि कहीं वे हिंसा या द्वेष न करें ॥४॥

सेवन करने के पक्ष में यह युक्ति दी जाती है—यज्ञ देवों का है और आशीर्वाद यजमान

द्वाऽएष एव यज्ञो यदाहुतिराशीरेव यजमानस्य तद्यदेवास्यात्र तदेवैतदुपतिष्ठ-
मानः कुरुते तस्मादुपैव तिष्ठेत ॥५॥ अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत । यो वै ब्राह्मणं वा
शꣳसमानोऽनुचरति क्षत्रियं वायं मे दास्यत्ययं मे गृहान्करिष्यतीति यो वै तं
वाग्येन वा कर्मणा वाभिरिराधयिषति तस्मै वै स देयं मन्यतेऽथ य आह किं नु
त्वं ममासि यो मे न ददासीतीश्वर एनं द्वेष्टोरीश्वरो निर्वेदं गन्तोस्तस्मान्नोपतिष्ठे-
तैतद्धि त्वेवैष एत याचते यदिन्द्धे यज्जुहोति तस्मान्नोपतिष्ठेत ॥६॥ अथ यस्मादु-
पैव तिष्ठेत । उत वै याचन्दातारं लभतऽएवोतो भर्ता भार्यं नानुबुध्यते स य-
देवाह भार्यो वै तेऽस्मि बिभृहि मेत्यथैनं वेदाथैनं भार्यं मन्यते तस्मादुपैव ति-
ष्ठेतेदमित्तु समस्तं यस्मादुपतिष्ठेत ॥७॥ प्रजापतिर्वाऽएष भूत्वा । यावत ईष्टे या-
वद्देनमनु तस्य रेतः सिञ्चति यदग्निहोत्रं जुहोतीदमेवैतत्सर्वमुपतिष्ठमानोऽनुवि-
करोतीदꣳ सर्वमनुप्रजनयति ॥८॥ स वाऽउपवत्या प्रतिपद्यते । इयं वाऽउप द्व-
येनेयमुप यद्धीदं किं च जायतेऽस्यां तदुपजायतेऽथ यन्मृहत्यस्यामेव तदुपोप्यते
तदह्ना रात्र्या भूयो-भूय एवाजय्यं भवति तदजय्येणैवैतद्भूम्ना प्रतिपद्यते ॥९॥ स
आह । उपप्रयन्तोऽअध्वरमित्यध्वरो वै यज्ञ उपप्रयन्तो यज्ञमित्येवैतदाह मन्त्रं वो-
चेमाग्नयऽइति मन्त्रमु ह्यस्माऽएतद्वक्ष्यन्भवत्यारेऽअस्मे च शृण्वतऽइति यद्यप्य-
स्मदारकादस्यथ न एतच्छृण्वेवैवमेवैतन्मन्यस्वेत्येवैतदाह ॥१०॥ अग्निर्मूर्धा दिवः ।
ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति तद्यथा या-
चन्कल्याणं वदेदामुष्यायणो वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्माऽअसीत्येवमेषा ॥११॥ अ-
थैन्द्राग्नी । उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै । उभा दाता-
राविषाꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वामित्येष वाऽइन्द्रो य एष तपति स
यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत्सह सन्ताऽउपतिष्ठतऽउभौ मे स-
ह सन्तौ दत्तामिति तस्मादैन्द्राग्नी ॥१२॥ अयं ते योनिर्ऋत्वियः । यतो जातोऽअ-

का। यह आहुति (अग्निहोत्र) भी यज्ञ ही है और जो कुछ वह (यजमान) वहाँ रहकर करता है वह यजमान के लिए आशीर्वाद है। इसलिए अवश्य सेवन करना चाहिए ॥५॥

सेवन के विरुद्ध यह युक्ति है—जो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय के पास जाकर उसकी प्रशंसा करता है और कहता है 'यह मुझे दान देगा या मेरा घर बनवा देगा', वह उसको वाणी और कर्म से खुश करता है; परन्तु जो कहता है 'तू मेरा कौन है ? मुझे क्या देगा ?' तो वह मालिक उससे अप्रसन्न रहेगा, उससे द्वेष करेगा। इसलिए अग्नियों के पास नहीं जाना चाहिए क्योंकि प्रज्वलित करने और आहुति देने से वह माँग चुकता है, फिर (माँगने के लिए) अग्नियों के पास नहीं जाना चाहिए ॥६॥

अब सेवन के पक्षों में यह युक्ति है। जो माँगता है उसको दाता भी मिल जाता है। कोई मालिक अपने नौकर की आवश्यकताओं को नहीं जानता जब तक नौकर नहीं कहता कि 'मैं आपके ही ऊपर हूँ। आप मेरा पालन कीजिए।' जब जान जाता है कि यह मेरे ही आश्रित है तो उसका पालन करता है। इसलिए अग्नियों का सेवन ही करना चाहिए। अग्नियों के सेवन के पक्ष में ये युक्तियाँ हैं ॥७॥

अग्नि प्रजापति है। इसलिए जब अग्निहोत्र किया जाता है तो वह (अग्नि) जिस पर शासन करता है या जो उसके अनुकूल होता है उसके वीर्य का वह सिंचन करता है। (अग्नियों के) सेवन करनेवाला उस अग्नि का इन सब बातों में अनुकरण करता है और सन्तानोत्पत्ति करता है ॥८॥

वह 'उप'* वाले मन्त्र से प्रार्थना करता है। 'उप' का अर्थ है पृथिवी, और यह दो प्रकार से—जो कुछ इस संसार में उत्पन्न होता है वह इस पृथिवी पर उत्पन्न होता है ('उप' + जायते); और जो नष्ट होता है वह यहीं दबाया जाता है ('उप' + उप्यते)। इसलिए यहाँ रात-दिन आधिक्य होता रहता है (अर्थात् पृथिवी पर जो उत्पन्न हुआ वह भी आधिक्य है और जो उसमें गाड़ दिया गया वह भी आधिक्य हुआ)। इसलिए वह ('उप' वाले मन्त्र से आरम्भ करके) आधिक्य से आरम्भ करता है ॥९॥

अब वह कहता है, "उप प्रयन्तोऽध्वरम्" अर्थात् "मैं अध्वर में (पर) जाऊँ।" 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। इसलिए "मैं यज्ञ में (पर) जाऊँ" ऐसा अर्थ हुआ। अब कहता है, "मन्त्रं वोचेमाग्नये।"—"अग्नि के लिए मन्त्र बोले।" क्योंकि वह मन्त्र बोलने ही को है। अब कहता है, "आरेऽअस्मे च शृण्वते।"—"उसके लिए जो हमको दूर से सुनता है" अर्थात् 'यद्यपि तू हमसे दूर है तो भी तू इस प्रार्थना को सुन, और हमारा भला चीत' ॥१०॥

अब कहता है, "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाँ रेताँसि जिन्वति" (यजुर्वेद ३।१२)—"अग्नि द्यौ लोक का सिर, महान्, पृथिवी का पति है। यह जलों में वीर्य को सींचता है।" इस प्रकार इस मन्त्र के द्वारा वह प्रार्थना करता हुआ उसके पीछे दौड़ता है जैसे माँगनेवाले दौड़ते हैं और कहता है, 'तू ऐसों की सन्तान है, तू ऐसा कर सकता है, तू ऐसा है' ॥११॥

अब इन्द्र और अग्निवाला मन्त्र—"उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै। उभा दाताराविषाँ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्" (यजु० ३।१३)—"इन्द्र और अग्नि, मैं तुम दोनों को बुलाता हूँ। मैं तुम दोनों को प्रीति की हवि से प्रसन्न करूँगा। तुम दोनों बल और धन के दाता हो। तुम दोनों को अन्न की प्राप्ति के लिए बुलाता हूँ।" इन्द्र सूर्य का नाम है। जब वह अस्त हो जाता है तो आहवनीय अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए प्रार्थी उन दोनों मिले हुओं से प्रार्थना करता है कि ये दोनों मिलकर मुझको देंगे। इसीलिए इन्द्र और अग्निवाला मन्त्र पढ़ता है ॥१२॥

अब पढ़ता है, "अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः। तं जानन्नग्नऽआरोहाथा

---

* उप प्रयन्तोऽध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते। (यजु० ३।११)

रोचयाः । तं जानन्नग्न ऽआरोहाथा नो वर्धया रयिमिति पुष्टं वै रयिर्भूयो-भूय ए-
व न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥१३॥ अयमिह प्रथमः । धायि धातृभिर्होता य-
जिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशऽइ-
त्यन्वेव धावति तद्यथा याचन्कल्याणं वदेदानुष्व्यायणो वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्मा
ऽअसीत्येवमेषा यथोऽएवैष तथोऽएवैनमेतदाह यदाह विभ्वं विशे-विशऽइति वि-
भूर्ह्येष विशे-विशे ॥१४ अस्य प्रत्नाम् । अनु द्युतᳪ शुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः । पयः
सहस्रसामृषिमिति परमा वाऽएषा सनीनां यत्सहस्रसनिस्तदेतस्यैवावरुद्ध्यै तस्मा-
दाह पयः सहस्रसामृषिमिति ॥१५॥ तदेतत्समाहार्यᳪ षड्टचं । तस्योपवती प्रथ-
मा प्रत्नवत्युत्तमाथोचाम तद्यस्मादुपवत्यथाद एव प्रत्नं यावन्तो ह्येव सनाग्रे दे-
वास्तावन्त एव देवास्तस्माददः प्रत्नं तदिमेऽएवान्तरेण सर्वे कामास्तेऽअस्माऽइमे
संतानानि सर्वान्कामान्त्संनमतः ॥१६॥ स वै त्रिः प्रथमां जपति । त्रिरुत्तमां त्रि-
वृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात्त्रिः प्रथमां जपति त्रिरुत्तमाम् ॥१७॥ यद्व
वाऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । वाच्येन वा कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वयच्छ-
त्यायुषो वा वर्चसो वा प्रजायै वा ॥१८॥ तदु खलु तनूपा अग्नेऽसि । तन्वं मे
पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा
ऊनं तन्मऽआपृणेति ॥१९॥ यद्व वाऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । वाच्येन वा कर्मणा
वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वयच्छत्यायुषो वा वर्चसो वा प्रजायै वा तन्मे पुनरा-
प्यायेत्येवैतदाह सर्वो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥ इन्धानास्त्वा । शतᳪ हिमा
द्युमन्तᳪ समिधीमहीति शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह तावद्धा महान्तᳪ स-
मिधीमहीति यदाह द्युमन्तᳪ समिधीमहीति वयस्वन्तो वयस्कृतᳪ सहस्वन्तः स-
हस्कृतमिति वयस्वन्तो वयं भूयास्म वयस्कृत्त्वं भूया इत्येवैतदाह सहस्वन्तो वयं
भूयास्म सहस्कृत्त्वं भूया इत्येवैतदाहाग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यमिति त्वया

नो वर्धया रयिम्" (यजु० ३।१४)—"यह तेरी ऋतु के अनुकूल योनि है जहाँ से उत्पन्न होकर तू चमकता है। हे अग्नि ! इस बात को जानकर उठ और हमारा धन बढ़ा।" 'रयि' का अर्थ है पुष्टि। इस मन्त्र का अर्थ यह है कि 'तू हमारी बढ़ोतरी कर' ॥१३॥

अब कहता है, "अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे" (यजु० ३।१५)—"विधाताओं द्वारा प्रथम यह यहाँ बनाया गया, सर्वश्रेष्ठ होता और यज्ञ में पूजा के योग्य, जिसको अप्नवान और भृगु ने प्रज्वलित किया, वनों में विचित्रता से चमकते हुए और घर-घर में फैलते हुए' ॥१४॥

अब कहता है, "अस्य प्रत्नामनु द्युत ँ् शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्" (यजुर्वेद ३।१६)—"(अह्रयः) न शरमानेवाले लोगों ने (अस्य) इस अग्नि के (प्रत्नाम्) सन्तान (द्युत ँ्) प्रकाशयुक्त (शुक्रं) शुद्ध (पयः) दूध को (सहस्रसाम्+ऋषिम्) हजारों देनेवाले ऋषि से (दुदुह्रे) दुहा।" 'सहस्रसा' का अर्थ है परम दान देनेवाला। इसी की प्राप्ति के लिए वह कहता है 'सहस्रसाम् ऋषिम्' ॥१५॥

ये छः ऋचाओं के मन्त्र हैं। पहले में 'उप' शब्द है और पिछले में 'प्रत्न' (अर्थात् यजुर्वेद के तीसरे अध्याय, ११ से १६ मन्त्र तक)। हमने इनका उच्चारण इसलिए किया 'उप' वाली यह अर्थात् पृथिवी है और प्रत्न (सन्तान) वह अर्थात् द्यौ है। क्योंकि जितने देव पहले थे उतने अब भी हैं, इसलिए 'प्रत्न' का अर्थ द्यौलोक है। अब इन्हीं दोनों के बीच में सब कामनाएँ हैं और ये दोनों यजमान के हित के लिए और उसकी कामनाओं की पूर्ति के लिए संयुक्त हैं ॥१६॥

पहला मन्त्र तीन बार जपता है और अन्तिम तीन बार। क्योंकि यज्ञ तीन आरम्भ और तीन अन्तवाले होते हैं, इसलिए तीन बार प्रथम मन्त्र जपता है और तीन बार अन्तिम ॥१७॥

अग्निहोत्र करने में जो कुछ भूल वाणी या कर्म से करता है उससे वह आत्मा आयु, वर्चस् और प्रजा को हानि पहुँचाता है ॥१८॥

इसलिए कहता है, "तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण" (यजु० ३।१७)—"हे अग्नि ! तू शरीरों का रक्षक है, मेरे शरीर की रक्षा कर। हे अग्नि ! तू आयु को देनेवाला है, मुझे आयु दे। हे अग्नि ! तू वर्चस् को देनेवाला है, मुझे वर्चस् दे। हे अग्नि ! जो मेरे शरीर में कमी है उसको मेरे लिए पूरा कर" ॥१९॥

और अग्निहोत्र करने में वह वाणी या कर्म से जो भूल करता है उससे वह आत्मा आयु, वर्चस् और प्रजा को हानि पहुँचाता है। जब वह इस मन्त्र को पढ़ता है 'मेरी कमी को पूरा कर' तो वह कमी पूरी हो जाती है ॥२०॥

अब कहता है, "इन्धानास्त्वा शत ँ् हिमा द्युमन्त ँ् समिधीमहि" (यजु० ३।१८)—"प्रज्वलित हम सौ वर्षों तक तुझ जलते हुए के ऊपर समिधा रखते हैं।" इससे तात्पर्य है कि हम सौ वर्ष जीते रहें, और 'जलते हुए तुझ पर समिधा रक्खें' का अर्थ है कि 'हे महान् ! हम तुझको प्रज्वलित करते हैं।' अब कहता है—"वयस्वन्तो वयस्कृत ँ् सहस्वन्तः सहस्कृतम्" (यजु०३।१८)—"अन्नवाले हम तुझ अन्न देनेवाले को, बलवान् हम बल देनेवाले तुझको।" इसका अर्थ है कि 'हम अन्नवाले हों, तू अन्न देनेवाला हो। हम बलवाले हों, तू बल देनेवाला हो।' अब कहा—"अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम्।" (यजु०३।१८)—"हे अग्नि ! क्षतिरहित हम तुझ क्षतिरहित

वयꣳ सपत्नान्पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह ॥२१॥ चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीयेति । त्रिरेतज्जपति रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ संगृह्येव चित्राणि वसति तस्मान्नारकाश्चित्रं ददृशे ॥२२॥ एतेन ह स्म वाऽऋषयः । रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुवतऽएतेनो ह स्मैनान्रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतेनोऽएवैष एतद्रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुतऽएतेनोऽएनꣳ रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतावन्नु तिष्ठञ्जपति ॥२३॥ अथासीनः । सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसा गथा इति तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह समृषीणाꣳ स्तुतेनेति तद्यदुपतिष्ठते तेनैतदाह सं प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वाऽअस्य प्रियं धामाहुतिभिरेव तदाह समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳ रायस्पोषेण ग्मिषीयेति यथा त्वमेतैः समगथा एवमहमायुषा वर्चसा प्रजया रायस्पोषेणेति यद्भूम्नेति तदेवमहमेतैः संगच्छाऽइत्येवैतदाह ॥२४॥ अथ गामभ्येति । अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयेति यानि वो वीर्याणि यानि वो महाꣳसि तानि वो भक्षीयेत्येवैतदाहोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीयेति रस स्थ रसं वो भक्षीयेत्येवैतदाह रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्थ भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतदाह ॥२५॥ ॥ शतम् ११०० ॥ ॥ रेवती रमध्वमिति रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमित्यस्मिन्योनावस्मिन्गोष्ठेऽस्मिंल्लोकेऽस्मिन्क्षये । इहैव स्त मापगातेत्यात्मन एवैतदाह मदेव मापगातेति ॥२६॥ अथ गामभिमृशति । सꣳहितासि विश्वरूपीति विश्वरूपा इव हि पशवस्तस्मादाह विश्वरूपीत्यूर्जा माविश गौपत्येनेत्यूर्जेति यदाह रसेनेति तदाह गौपत्येनेति यदाह भूम्नेति तदाह ॥२७॥ अथ गार्हपत्यमभ्येति । स गार्हपत्यमुपतिष्ठतऽउप त्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसीति नम एवास्माऽएतत्करोति यथैनं न हिꣳस्यात् ॥२८॥ राजन्तमध्वराणां । गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानꣳ स्वे दमऽइति स्वं वै तऽइदं यन्मम

और शत्रुओं का दमन करनेवाले को।" इसका तात्पर्य यह है कि 'तेरी सहायता से शत्रुओं को सर्वथा दुःखी करें' ॥२१॥

तीन बार इस मन्त्रांश को जपे— "चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय" (यजु० ३।१८)— "हे चित्रवाली, हम भलीभाँति तेरे पार को पा जायें।" 'चित्रावसु' रात है, क्योंकि यह चित्रों को इकट्ठा करके रहती है। इसीलिए (रात में) दूर से चित्र स्पष्ट नहीं दीखता ॥२२॥

इसी मन्त्र से ऋषि लोग रात के पार को भलीभाँति पा गये और इसी के कारण दुरात्मा राक्षसों ने उनको न पाया। इसी प्रकार इसी मन्त्र के द्वारा वह रात के पार को भलीभाँति पा जाता है और इसी के कारण दुरात्मा राक्षस उसको नहीं पा सकते। इस मन्त्र को वह खड़े होकर जपता है ॥२३॥

अब बैठे-बैठे यह जपता है —"सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः" (यजु० ३।१६)— "हे अग्नि, तू सूर्य के वर्चस् (प्रकाश) को प्राप्त हो गया।" यह वह कहता है क्योंकि डूबता हुआ सूर्य आहवनीय में घुस जाता है, इसीलिये कहा। अब कहा— "समृषीणाꣳ स्तुतेन।" (यजु० ३।१६) "ऋषियों की स्तुति से।" चूँकि वह खड़े होकर स्वयं प्रार्थना करता है इसलिए ऐसा कहता है— "सं प्रियेण धाम्ना" (यजु० ३।१६)— "प्रिय घर के द्वारा।" आहुतियाँ इसका प्रियधाम हैं। इसलिए 'धाम के द्वारा' का अर्थ है आहुतियों के द्वारा। अब कहा— "समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳ रायस्पोषेण ग्मिषीय" (यजु० ३।१६)— "मैं आयु, वर्चस्, सन्तान और धन की प्राप्ति करूँ।" इसका तात्पर्य यह है कि 'जैसे तूने ये चीजें प्राप्त कीं, वैसे मैं भी आयु, वर्चस्, सन्तान और धन अर्थात् समृद्धि को प्राप्त हो जाऊँ' ॥२४॥

अब इस मन्त्र को पढ़कर गाय के पास जाता है—"अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीय" (यजु० ३।२०)— "तुम अन्ध (अन्न) हो, मैं तुम्हारा अन्न खाऊँ; तुम धन हो, मैं तुम्हारा धन खाऊँ।" इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे जो पराक्रम हों और जो धन हों उनका मैं उपभोग करूँ। अब कहा —"ऊर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय" (यजु० ३।२०)— "तुम ऊर्ज हो, मैं तुम्हारे ऊर्ज को भोगूँ।" अर्थात् 'तुम रस हो। मैं तुम्हारे रस को भोगूँ।' अब कहा— "रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय" (यजु० ३।२०) — "तुम धन हो, तुम्हारे धन को मैं भोगूँ।" अर्थात् तुम समृद्धि हो, मैं तुम्हारी समृद्धि का भोग करूँ ॥२५॥

अब कहा "रेवती रमध्वम्" (यजु० ३।२१)— "हे धनवालो! रमण करो।" रेवन्त अर्थात् धनवाले पशु हैं। इसलिए कहा, 'रेवती रमध्वम्।' अब कहा— "अस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये। इहैव स्त मापगात।"—"इस स्थान में, इस बाड़े में, इस लोक में, इस घर में, यहाँ ही रहो, यहाँ से न जाओ।" यहाँ अपने लिए कहा है अर्थात् 'मुझको छोड़कर न जाओ' ॥२६॥

अब इस मन्त्र से गाय को छूता है— "सꣳहितासि विश्वरूपी" (यजु० ३।२२)— "तू इकट्ठा करनेवाली और नाना रूपवाली है।" पशु भिन्न-भिन्न रूपवाले होते हैं इसलिए (गाय को) 'विश्वरूपी' कहा। अब कहा— "ऊर्जा माविश गौपत्येन" (यजु० ३।२२)— "(गौपत्येन ऊर्जा) गौओं से युक्त ऊर्ज के द्वारा (मा) मुझमें (विश) प्रविष्ट हो।" यहाँ 'ऊर्ज' कहने से 'रस' का तात्पर्य है और 'गौपत्य' कहने से तात्पर्य है 'संवृद्धि' का ॥२७॥

अब गार्हपत्य में जाता है और उसकी अर्चना करता है इस मन्त्र से— "उप त्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमोभरन्तऽएमसि" (यजु० ३।२२)— "हे अग्नि! दिन-प्रतिदिन नमस्कार करते हुए हम रात को प्रकाशित करनेवाले तुझको बुद्धि से प्राप्त होते हैं। वह इसलिए इसकी अर्चना करता है कि कहीं वह उसको हानि न पहुँचा दे ॥२८॥

अब कहता है, "राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्। वर्धमानꣳ स्वे दमे" (यजु०

तन्नो भूयो-भूय एव कुर्वित्येवैतदाह ॥२९॥ स नः पितेव सूनवे । अग्ने सूपाय-
नो भव । सचस्वा नः स्वस्तयऽइति यथा पिता पुत्राय सूपचरो नैवैनं केन चन
हिनस्त्येवं नः सूपचर एधि मैव त्वा केन चन हिꣳसिष्मेत्येवैतदाह ॥३०॥ अथ
द्विपदाः । अग्ने त्वं नोऽअन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः । वसुरग्निर्वसुश्रवा
अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे स-
खिभ्यः । स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मादिति ॥३१॥ यद्वा
ऽआहवनीयमुपतिष्ठते । पशूंस्तर्ह्याचते तस्मात्तमुच्चावचैश्छन्दोभिरुपतिष्ठतऽउच्चा-
वचा इव हि पशवोऽथ यद्गार्हपत्यं पुरुषांस्तर्ह्याचते तद्गायत्रं प्रथमं त्रिचं गायत्रं
वाऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसोपपरैति ॥३२॥ अथ द्विपदाः । पुरुषच्छन्दसं वै
द्विपदा द्विपाद्वाऽअयं पुरुषः पुरुषानेवैतद्याचते पुरुषान्हि याचते तस्माद्द्विपदाः
पशुमान्ह वै पुरुषवान्भवति य एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥३३॥ अथ गामभ्येति । इ-
डऽएह्यदितऽएहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौस्तामभिमृशति काम्या एतेति मनु-
ष्याणाꣳ ह्येतासु कामाः प्रविष्टास्तस्मादाह काम्या एतेति मयि वः कामधरणं
भूयादित्यहं वः प्रिया भूयासमित्येवैतदाह ॥३४॥ अथान्तरेणाहवनीयं च गार्ह-
पत्यं च । प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्प-
ते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ यो रेवान्योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः । स नः
सिषक्तु यस्तुरः ॥ मा नः शꣳसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणा-
स्पतऽइति ॥३५॥ यद्वाऽआहवनीयमुपतिष्ठते । दिवं तदुपतिष्ठतेऽथ यद्गार्हपत्यं
पृथिवीं तदथैतदन्तरिक्षमेषा हि दिग्बृहस्पतेरेताꣳ ह्येतद्दिशमुपतिष्ठते तस्माद्बा-
र्हस्पत्यं जपति ॥३६॥ महि त्रीणामवोऽस्तु । द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं व-
रुणस्य ॥ न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशꣳसः ॥ ते हि
पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रमिति तत्रास्ति नाध्वसु वा-

३।२३)—"यज्ञों के प्रकाशित करनेवाले, ऋत के चमकानेवाले रक्षक, अपने घर में बढ़नेवाले तुझको।" इसका तात्पर्य है कि यह मेरा घर तेरा ही घर है। इसको हमारे लिए समृद्धि-शील कर ॥२९॥

अब कहा, "स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये" (यजु० ३।२४) "हे अग्नि, तू हमारे लिए उसी प्रकार सुलभ हो जैसे पिता पुत्र को। और हमारी स्वस्ति कर।" इसका तात्पर्य है कि जैसे पिता पुत्र के लिए सुलभ होता है और किसी प्रकार उसको हानि नहीं पहुँचाता, इसी प्रकार तू भी हमारे लिए सुलभ हो, किसी प्रकार हानि न पहुँचा ॥३०॥

अब वह दो पदवाले मन्त्र को पढ़ता है, 'अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तम ँ् रयिं दाः' (यजु० ३।२५)—"तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः। स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मात्" (यजु० ३।२६)—"हे अग्नि! तू मेरे निकट रह। रक्षक, कल्याणकारी और घर का हितकर हो। हे अग्नि, तुम वसु (धन) हो, वसुश्रवा अर्थात् धन देने के लिए प्रसिद्ध हो। हमको अच्छा-अच्छा चमकदार धन दो" (यजु० ३।२५)—"अपने मित्रों को सुख के लिए हम तुझ प्रकाशस्वरूप और चमकनेवाले के पास आते हैं। हमारे साथ रह, हमारी बात सुन और हमको पापी शत्रु से बचा" (यजु० ३।२६) ॥३१॥

जब आहवनीय की अर्चना करता है तो पशुओं की याचना करता है, इसलिए ऊँचे-नीचे मन्त्रों को जपता है, क्योंकि पशु भिन्न आकार के होते हैं। जब गार्हपत्य की अर्चना करता है तो पुरुषों की याचना करता है। इसलिए पहली तीन ऋचाएँ गायत्री छन्द में हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। इसलिए उसी के छन्द से स्तुति करता है ॥३२॥

अब वह (ऊपर के) दो पदवाले मन्त्र जपता है। दो पदवाले मन्त्र पुरुष छन्द हैं, क्योंकि पुरुष भी दो पैरवाला है, इसलिए पुरुषों की याचना करता है। पुरुषों की याचना करता है इसलिए दो पदोंवाले मन्त्र को जपता है। जो इस रहस्य को समझकर (दोनों अग्नियों की) सेवा करता है उसको पशु और पुरुष दोनों प्राप्त होते हैं ॥३३॥

अब वह इस मन्त्र को जपकर गाय के पास जाता है, "इड ऽएह्यदित ऽएहि" (यजुर्वेद ३।२७)—"हे इडा, आ। हे अदिति, आ।" इडा गौ है। अदिति गौ है। "काम्याऽ एत" अर्थात् "कामना के योग्य तुम आओ" यह कहकर छूता है। इनमें मनुष्यों की कामनाएँ हैं, इसलिए इनको 'काम्या एत' कहा (यजु० ३।२७)। अब कहा—"मयि वः कामधरणं भूयात्" (यजु० ३।२७)—"आपकी मेरे में इच्छा-पूर्ति हो" अर्थात् मैं आपका प्रिय होऊँ, यह तात्पर्य है ॥३४॥

अब आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में खड़ा होकर पूर्व को देखकर (इन तीन मन्त्र) को जपता है—'सोमान ँ् स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं यऽ औशिजः॥ यो रेवान् योऽ अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ मा नः श ँ् सोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते' (यजु० ३।२८, २९, ३०)—"हे वाणी के पति, सोम को अर्पण करनेवाले कक्षीवान औशिज को सुरीला कर", "धनवाला, दुखःनाशक, समृद्धिशील और पुष्टि देनेवाला तथा तीव्र, हमारे पास आवे", "हे वाणी के पति! हमारी रक्षा कर। बुरों का शाप हम तक न आवे और न किसी मनुष्य की धूर्तता" ॥३५॥

जब वह आहवनीय में जाता है तो मानो द्यौलोक में जाता है और जब गार्हपत्य में जाता है तो मानो पृथिवीलोक में, इससे वह अन्तरिक्ष में जाता है। यह बृहस्पति की दिशा है। इस दिशा को प्राप्त होना चाहता है, इसलिए बृहस्पतिवाला मन्त्र जपता है ॥३६॥

अब जपता है, "महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य" (यजु० ३।३१)। "नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघश ँ् सः' (यजु० ३।३२)। "ते हि पुत्रासोऽ अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्" (यजु० ३।३३)—"बड़ी द्यौलोक सम्बन्धी, न पराजित होनेवाली मित्र, अर्यमा और वरुण तीनों की रक्षा (हमारे लिए) हो," "(इन देवों से रक्षित) लोगों पर भयानक मार्गों अथवा घरों में पापी शत्रु स्वत्व नहीं प्राप्त कर सकते", "(ये देव) निरन्तर मनुष्य के लिए अदिति के पुत्रों के जीवन के लिए ज्योति देते हैं।"

रणेषित्येते ह वाऽअधानो वारणा यऽइमेऽन्तरेण द्यावापृथिवीऽएतान्त्येतदुप-तिष्ठते तस्मादाह नाधसु वारणेषिति ॥३७॥ अथैन्द्री । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सैन्द्रमेवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषऽइति य-जमानो वै दाश्वान्न यजमानाय दुह्यसीत्येवैतदाहोपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽइति भूयो-भूय एव न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥३८॥ अथ सा-वित्री । सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्माऽएते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदया-दिति ॥३९॥ अथाग्नेयी । तदग्नयऽएवैतदात्मानमन्ततः परिददाति गुप्त्यै परि ते दूडभो रथोऽस्माँ॥३ऽअश्नोतु विश्वतः । येन रक्षसि दाशुष इति यजमाना वै दा-श्वाꣳसो यो ह वाऽअस्यानाधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानानभिरक्षति स यस्तेऽना-धृष्यतमो रथो येन यजमानानभिरक्षसि तेन नः सर्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह त्रि-रेतज्जपति ॥४०॥ अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसंतनव-दिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन एव नाम गृह्णीयात् ॥४१॥ ब्राह्मणम् ॥२[३. ४]॥ अध्यायः ॥३[१२]॥ ॥

अथ हुतेऽग्निहोत्रऽउपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति तत्सत्येनैवैतद्वाचꣳ समर्धय-ति यदाह भूर्भुवः स्वरिति तया समृद्धयाशिषमाशास्ते सुप्रजाः प्रजाभि स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमा-शास्ते ॥१॥ यद्वाऽअदो दीर्घमग्न्युपस्थानम् । आशीरेव साशीरियं तदेतावतैवै-तत्सर्वमाप्नोति तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेतैतेन न्वेव वयमुपचराम इति ह स्माहासु-रिः ॥२॥ अथ प्रवत्स्यन् । गार्हपत्यमेवाग्रऽउपतिष्ठतेऽथाहवनीयꣳ ॥३॥ स गा-र्हपत्यमुपतिष्ठते । नर्य प्रजां मे पाहीति प्रजाया ह्येष ईष्टे तत्प्रजामेवास्माऽएत-त्परिददाति गुप्त्यै ॥४॥ अथाहवनीयमुपतिष्ठते । शꣳस्य पशून्मे पाहीति पशूनाꣳ

यहाँ कहा 'नाध्वसु वारणेषु (भयानक मार्गों में)' क्योंकि द्यौ और पृथिवी के बीच के मार्ग भयानक हैं। इन्ही मार्गों में उसको चलना है। इसलिए कहता है 'भयानक मार्गों में' ॥३७॥

अब इन्द्र की स्तुति है। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। इसलिए इन्द्र से ही अग्नि के उपस्थान को सम्बद्ध करता है, "कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे" (यजु० ३।३४)—"हे इन्द्र! तू कभी रिक्त (barren) नहीं, और कभी अपने सेवक को विफल नहीं करता।" 'दाशुषे' का तात्पर्य है यजमान। 'तू यजमान से कभी द्रोह नहीं करता' इस मन्त्र के पढ़ने से यही तात्पर्य है। अब कहता है, "उपोपेन्नु मघवन् भूयऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते" (यजु० ३।३४)—"हे मघवन्, तुझ देव का दान अधिक ही होता जाता है।" इसका तात्पर्य यह है कि हमको यहाँ अधिक पुष्ट कर ॥३८॥

अब सावित्री का जाप है। सविता देवों का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही सब काम सफ़ल होते हैं। इसलिए कहा "तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु० ३।३५) ॥३९॥

अब अग्नि के लिए एक मन्त्र है। अपने को अन्त में रक्षार्थ अग्नि के ही समर्पण करता है, "परि ते दूडभो रथोऽस्माँऽ अश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः" (यजु० ३।३६)—"तेरा अवध्य रथ हमको चारों ओर से ढक ले जिससे तू पूजकों की रक्षा करता है।" 'दाशुषः' का अर्थ है यजमान। और अग्नि के पास जो अवध्य रथ है उससे वह यजमानों की रक्षा करता है। इस कहने का तात्पर्य है कि 'हे अग्नि, जो अवध्य रथ तेरे पास है और जिससे तू यजमानों की रक्षा किया करता है, उससे हर ओर से हमारी रक्षा कर।' तीन बार इसको जपता है ॥४०॥

अब वह अपने पुत्र का नाम लेता है—'मेरा यह लड़का (नाम लेकर) मेरे इस एक क्रम को जारी रक्खे।' यदि उसके पुत्र न हो तो अपना ही नाम ले ले ॥४१॥

अध्याय ४—ब्राह्मण १

अग्निहोत्र के पश्चात् वह अग्नि को 'भूर्भुवः स्वः' (यजु० ३।३७) कहकर प्रार्थना करता है। ऐसा कहकर वह अपनी वाणी को सत्य से पवित्र करता है, और वाणी को पवित्र करके आशीर्वाद माँगता है—"सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳫँ" (यजु० ३।३७) अर्थात् "मैं अच्छी सन्तान-वाला होऊँ।" इससे सन्तान को चाहता है। "सुवीरो वीरैः" (यजु० ३।३७), इससे वीरों को चाहता है। "सुपोषः पोषैः" (यजु० ३।३७), इससे पुष्टि चाहता है ॥१॥

वह बड़ी प्रार्थना भी आशीर्वाद थी और यह छोटी प्रार्थना भी उसी के लिए। इसलिए इससे भी वह सबको प्राप्त करता है, इसलिए वह यह प्रार्थना करे। असुरि का कथन है, 'हम इसी से (अग्निहोत्र) करें' ॥२॥

यदि प्रवास (यात्रा) करना हो तो पहले गार्हपत्य में जावे, फिर आहवनीय में ॥३॥

प्रजापति के पास जाकर कहे, "नर्य प्रजां मे पाहि" (यजु० ३।३७)—"हे नरों के मित्र, मेरी सन्तान की रक्षा कर।" (गार्हपत्य अग्नि) प्रजा का अधिष्ठाता है, इसलिए रक्षा के लिए वह प्रजा को उसी के सुपुर्द कर जाता है ॥४॥

अब आहवनीय के पास जाकर कहता है, "शᳫँस्य पशून् मे पाहि" (यजु० ३।३७)—

ह्येष ईष्टे तत्पशूनेवास्माऽएतत्परिददाति गुप्त्यै ॥५॥ अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यन्वा वाचं विसृजतेऽथ प्रोष्य परेत्य यत्र वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेण स्यान्नैव तमुपेयात् ॥६॥ स आहवनीयमेवाग्रऽउपतिष्ठते । अथ गार्हपत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥७॥ स आहवनीयमुपतिष्ठते । आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥८॥ अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते । अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः । अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पत्येतन्नु जपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते ॥९॥ स वै खलु तूष्णीमेवोपतिष्ठेत । इदं वै यस्मिन्वसति ब्राह्मणो वा राजा वा श्रेयान्मनुष्यो न्वेव तमेव नार्हति वक्तुमिदं मे त्वं गोपाय प्राक्हं वत्स्यामीत्यथास्मिन्नेते श्रेयाꣳसो वसन्ति देवा अग्नयः क उ तानर्हति वक्तुमिदं मे यूयं गोपायत प्राक्हं वत्स्यामीति ॥१०॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति । स वेद गार्हपत्यः परिदां मेदमुपागादिति तूष्णीमेवाहवनीयमुपतिष्ठते स वेदाहवनीयः परिदां मेदमुपागादिति ॥११॥ अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यन्वा वाचं विसृजतेऽथ प्रोष्य परेत्य यत्र वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेण स्यान्नैव तमुपेयात् ॥१२॥ स आहवनीयमेवाग्रऽउपतिष्ठते । अथ गार्हपत्यं तूष्णीमेवाहवनीयमुपतिष्ठते तूष्णीमुपविश्य तृणान्यपलुम्पति तूष्णीमेव गार्हपत्यमुपतिष्ठते तूष्णीमुपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥१३॥ अथातो गृहाणामेवोपचारः । एतद्ध वै गृहपतेः प्रोषुष आगताद्गृहाः समुत्त्रस्ता इव भवन्ति किमयमिह वदिष्यति किं वा करिष्यतीति स यो ह तत्र किंचिद्वदति वा करोति वा तस्माद्गृहाः प्रत्रसन्ति तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोरथ यो ह तत्र न वदति न किं चन क-

"हे प्रशंसनीय, मेरे पशुओं को बचा।" (आहवनीय अग्नि) पशुओं का अधिष्ठाता है, इसलिए पशुओं की रक्षा के लिए (आहवनीय के) सुपुर्द करता है ॥५॥

अब वह चलता है या (किसी यान में बैठकर) रवाना होता है, और जिस किसी सीमा को मान लेता है वहाँ तक चलकर बोलता है (अर्थात् अब तक मौन था, अब बोलता है)। और जब यात्रा से वापस आता है तो मानी हुई सीमा के भीतर आने पर मौन रहता है और चाहे उस समय घर में राजा भी उपस्थित हो (तो भी उसके पास न जाकर) पहले अग्नि के पास जाता है ॥६॥

पहले आहवनीय के पास और फिर गार्हपत्य के पास जाता है। गार्हपत्य ही घर है और घर ही प्रतिष्ठा का स्थान है। इसलिए वह अपने को घर में अर्थात् प्रतिष्ठा के स्थान में स्थापित करता है ॥७॥

वह इस मन्त्र से आहवनीय में जाता है—"आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्। अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽ आयच्छस्व" (यजु० ३।३८)—"हे सम्राट् अग्नि! हम तुझ विश्ववेद (सबके जाननेवाले), वसुवित्तम (धन बाँटनेवाले) के पास आते हैं। हमको प्रकाश और बल दे।" और तृणों से आग को हाँकता है ॥८॥

इस मन्त्र से गार्हपत्य के पास जाता है—"अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽ आयच्छस्व' (यजु० ३।३९)—"गार्हपत्य अग्नि घर का स्वामी और हमारी सन्तान के लिए दान देनेवाला है। हे घर के स्वामी! अग्नि हमको प्रकाश और बल दे।" अब वह बैठकर तृणों से अग्नि को हाँकता है। इस प्रकार (यजमान) जप करके अग्नि के पास जाया करते हैं ॥९॥

मौन होकर भी जा सकता है और वह इसलिए—'यदि किसी स्थान में कोई ब्राह्मण, राजा या श्रेष्ठ मनुष्य रहता हो तो कोई उससे यह नहीं कह सकता कि मैं यात्रा पर जा रहा हूँ, तुम मेरे माल की रक्षा करना। यहाँ भी श्रेष्ठ अग्नि देवों का निवास है। इसलिए इनसे कौन कह सकता है कि आप रक्षा कीजिए, मैं यात्रा को जा रहा हूँ ॥१०॥

देव मनुष्यों के मन को जानते हैं। गार्हपत्य पर अग्नि को मालूम है कि यह अपने को मुझे सौंपने आया है। आहवनीय में भी मौन होकर जावे, क्योंकि आहवनीय को भी मालूम है कि यह अपने को मुझे सौंपने आया है ॥११॥

अब वह पैदल या सवारी में चल पड़ता है और नियत सीमा तक जाने के बाद बोलता है (मौन तोड़ता है)। और जब लौटता है तो जिसको सीमा मान रक्खा है उसको देखते ही मौन धारण कर लेता है, और चाहे भीतर राजा भी क्यों न हो वह उसके पास नहीं जाता ॥१२॥

वह पहले आहवनीय के पास जाता है और फिर गार्हपत्य के पास। आहवनीय के पास मौन होकर जाता है और मौन ही बैठकर तृणों से अग्नि को हाँकता है। गार्हपत्य में भी मौन होकर जाता है और मौन ही बैठकर तृणों से अग्नि को हाँकता है ॥१३॥

अब घर (में आने) के विषय में यह उपचार है। जब कोई गृपति बाहर से वापस आता है तो घरवाले डर जाते हैं कि यह क्या कहेगा या क्या करेगा। और जब वह कुछ कहता या करता है तो घरवाले डर जाते हैं और उसके कुल में क्षोभ होता है। और जो गृहपति न

रोति तं गृहा उपसँश्रयन्ते न वाऽअयमिहावादीन्न किं चनाकरदिति स यदिहा-
पि सुक्रुद्ध इव स्यात्स एव ततस्तत्कुर्याद्यद्वदिष्यन्वा करिष्यन्वा स्यादेष उ गृहा-
णामुपचारः ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.१.]॥ ॥

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि वि नो धेहि यथा जीवामेति
ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्न-
ममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिरिति ॥१॥ अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः
सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि-मासि वोऽशनँ स्वधा वो मनोजवो
वश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति ॥२॥ अथैनं मनुष्याः । प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदं-
स्तानब्रवीत्सायं प्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति ॥३॥ अथैनं
पशव उपासीदन् । तेभ्यः स्वैरमेव चकार यदैव यूयं कदा च लभाध्वै यदि काले
यद्यनाकालेऽथैवाश्नाथेति तस्मादेते यदैव कदा च लभन्ते यदि काले यद्यनाका-
लेऽथैवाश्नन्ति ॥४॥ अथ हैनँ शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः । तेभ्यस्तमश्च मायां
च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव पराभूता ह त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजास्तथैवो-
पजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् ॥५॥ नैव देवा अतिक्रामन्ति । न पितरो
न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यत्यशुभे मेद्यति वि-
हूर्छति हि न ह्ययनाय चन भवत्यनृतँ हि कृत्वा मेद्यति तस्मादु सायंप्राततरा-
श्येव स्यात्स यो हैवं विद्वान्त्सायंप्रातराशी भवति सर्वँ हैवायुरेति यदु ह किं
च वाचा व्याहरति तदु हैव भवत्येतद्धि देवसत्यं गोपायति तद्वैतत्तेजो नाम
ब्राह्मणं य एतस्य व्रतँ शक्नोति चरितुम् ॥६॥ तद्वाऽएतत् । मासि-मास्येव
पितृभ्यो ददतो यदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशेऽथैभ्यो ददात्येष वै सोमो राजा
देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स एताँ रात्रिं क्षीयते तस्मिन्क्षीणे ददाति तथैभ्योऽसमदं
करोत्यथ यदक्षीणे दद्यात्समदँ ह कुर्याद्देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च तस्माद्यदैवैष न पुर-

कुछ कहता है, न करता है तो उसके घरवाले सन्तुष्ट रहते हैं कि इसने कुछ नहीं कहा या कुछ नहीं किया। इसलिए यदि गृहपति किसी कारण क्रुद्ध भी हो तो जो कुछ कहना या करना हो, वह दूसरे दिन कहे या करे। यह घर में आने की विधि है ॥१४॥

पिण्डपितृयज्ञः

अध्याय ४—ब्राह्मण २

प्राणि-लोक एक बार प्रजापति के पास गये। ये साधारण प्राणी थे। उन्होंने कहा, 'हमको वह विधि बताओ जिससे जीवन व्यतीत करें।' इस पर यज्ञोपवीत पहने हुए देव दाहिनी जानु को नमाकर, उसके पास आकर बैठे। उसने उनसे कहा, 'यज्ञ तुम्हारा अन्न है, अमृतत्व तुम्हारा बल है और सूर्य तुम्हारी ज्योति' ॥१॥

अब पितर दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत पहने बाईं जानु नमाकर उसके पास बैठे। उसने उनसे कहा, 'तुम्हारा मासिक भोजन होगा। तुम्हारे मन की तेजी (मनोजवा) तुम्हारी स्वधा और चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति' ॥२॥

अब मनुष्य उसके पास आये कपड़े पहने (प्रावृत) और शरीर को झुकाये हुए। उनका उसने कहा, 'सायं और प्रातः तुम्हारा भोजन होगा। मृत्यु तुम्हारी प्रजा और अग्नि तुम्हारी ज्योति' ॥३॥

अब उसके पास पशु आए। उनको उसने अपनी इच्छावाला (स्वेच्छाचारी) कर दिया। जब कभी तुम कोई चीज पाओ, चाहे समय पर, चाहे कुसमय, तुम खा जाओ। इसलिए जब वे कोई चीज पाते हैं चाहे समय पर, चाहे कुसमय, वे खा जाते हैं ॥४॥

तत्पश्चात् कहते हैं कि असुर भी (प्रजापति के पास) पहुँचे। उनको उसने अन्धकार और माया दी। इसीलिए आसुरी माया होती है। वे तो नष्ट हो गये, परन्तु आजकल भी वैसी प्रजा है जो उसी प्रकार बरतती है, जैसे प्रजापति ने उनके लिए निर्धारित किया था ॥५॥

देव, पितर या पशु इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते। कुछ मनुष्य ही उल्लंघन करते हैं। इसलिए मनुष्यों में जो मोटा हो जाता है वह अशुभ कार्यों के कारण मोटा हो जाता है, और चूंकि वह अनृत के कारण मोटा होता है इसलिए वह चल नहीं सकता और उसके पैर लड़खड़ाते हैं। इसलिए सायं और प्रातःकाल को ही खाना चाहिए। जो इस रहस्य को जानकर सायं और प्रातः ही खाता है वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। और जो कुछ वह बोलता है वही होता है, क्योंकि देव सत्य की रक्षा करता है। जो आदमी प्रजापति के व्रत को पाल सकता है, उसमें ब्रह्म-तेज आ जाता है ॥६॥

यह तेज उसी को होता है जो मास में एक बार पितरों को भोजन देता है। जब पूर्व या पश्चिम में चाँद न दीखे तब उनको भोजन देता है। क्योंकि चन्द्रमा सोम राजा है जो देवों का भोजन है। (अमावस्या की) रात को वह क्षीण होता है, तब (देवताओं का भोजन भी क्षीण होता है इसलिए उस समय पितरों को) भोजन देता है। इस प्रकार वह (देवों और पितरों में) समन्वय कराता है। परन्तु यदि उस समय देगा जब (चाँद) क्षीण नहीं है तो देवों और पितरों

स्तान्न पश्चाद्दृशेऽथैभ्यो ददाति ॥७॥ स वाऽअपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददाति ॥८॥ स जघनेन गार्हपत्यं । प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति सकृत्फलीकरोति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृत्फलीकरोति ॥९॥ तं श्रपयति । तस्मिन्नधिश्रितऽआज्यं प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव पितॄणां तस्मादधिश्रित ऽआज्यं प्रत्यानयति ॥१०॥ स उद्वास्याग्नौ द्वेऽआहुती जुहोति देवेभ्यः । देवान्वा ऽएष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत्पितृयज्ञेनेवाचारीत्तद्दु देवेभ्यो निह्नुते स देवैः प्रसूतोऽथैतत्पितृभ्यो ददाति तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वेऽआहुती जुहोति देवेभ्यः ॥११॥ स वाऽअग्नये च सोमाय च जुहोति । स यदग्नये जुहोति सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्सोमाय जुहोति पितृदेवत्यो वै सोमस्तस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति ॥१२॥ स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्षणमभ्यादधाति तत्स्विष्टकृद्भाजनमथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं सकृदुल्लिखति तद्वेदिभाजनं सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदुल्लिखति ॥१३॥ अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति । स यदनिधायोल्मुकमथैतत्पितृभ्यो दद्यादसुररक्षसानि हैषामेतद्विमथ्नीरंस्तथो हैतत्पितॄणामसुररक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्परस्तादुल्मुकं निदधाति ॥१४॥ स निदधाति । ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मादित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवं निदधाति ॥१५॥ अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथाशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥१६॥ अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति । अग्रमिव वै देवानां मध्यमिव

में झगड़ा हो जायगा। इसलिए तभी भोजन दे जब (चन्द्र) न पूर्व में दीखे न पश्चिम में ॥७॥

वह दोपहर के बाद देता है। देवों का पहला पहर (पूर्वाह्ण) है, दोपहर (मध्यन्दिन) मनुष्यों का और तीसरा पहर (अपराह्ण) है पितरों का। इसलिए तीसरे पहर देता है ॥८॥

वह गार्हपत्य के पीछे बैठकर जनेऊ दक्षिण कन्धे पर रक्खे हुए दक्षिण की ओर मुँह करके (गाड़ी में से हवि) लेता है। फिर वहाँ से उठकर अन्वाहार्य-पचन के उत्तर की ओर खड़ा होकर दक्षिण की ओर मुँह करके (चावलों को) फटकता है। एक बार ही फटकता है; क्योंकि एक ही बार पितर गुजर गये इसलिए एक बार ही फटकता है ॥९॥

फिर पकाता है। इसके पकते हुए में घी छोड़ता है। देवों के लिए हवि अग्नि में छोड़ी जाती है, मनुष्यों के लिए (भोजन) अग्नि से निकालकर लिया जाता है और पितरों के लिए इस प्रकार करते हैं।—जब यह आग पर पक रहा हो, उसमें घी छोड़ते हैं ॥१०॥

वहाँ से उठाकर अग्नि में देवों के लिए दो आहुतियाँ देता है। जो अग्नि स्थापित करता है (अग्निहोत्र के लिए) या जो दर्शपूर्णमास करता है, वह देवों की सेवा में उपस्थित होता है। परन्तु यहाँ उसे पितृयज्ञ करना है। इसलिए देवों को प्रसन्न करता है कि उनको प्रसन्न करने के पश्चात् पितरों को देवे। इसलिए वहाँ से (हवि को) उठाकर अग्नि में देवों के लिए दो आहुतियाँ देता है ॥११॥

वह अग्नि और सोम के लिए आहुतियाँ देता है। अग्नि को आहुति इसलिए देता है कि अग्नि का भाग तो सभी जगह दिया जाता है। सोम के लिए यों देता है कि सोम पितरों का देवता है। इसलिए अग्नि और सोम के लिए देता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा" (यजु० २।२९)—"बुद्धिमान् कवियों के लिए, ले जानेवाले अग्नि के लिए। पितृयुक्त सोम के लिए।" स्विष्टकृत् के बदले आग पर मेक्षण (चमचा pot-ladle) रखता है। अब दक्षिणाग्नि के दक्षिण को एक रेखा खींचता है, वेदि के पहले। पितर लोग एक ही बार गुजर गये, इसलिए एक ही बार रेखा खींचता है ॥१३॥

अब दूसरे छोर पर जलती हुई लकड़ी (उल्मुक) रखता है। क्योंकि यदि बिना इस लकड़ी के रक्खे पितरों को भोजन दिया गया तो असुर और राक्षस उसको बिगाड़ ही जायँगे, जबकि इस प्रकार असुर और राक्षस उसको नहीं बिगाड़ते, इसलिए वह जलती हुई लकड़ी को रखता है ॥१४॥

वह मन्त्र पढ़कर रखता है, "ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्" (यजु० २।३०)—"जो असुर रूपों को बदलते हुए स्वतन्त्रता से विचरते हैं, छोटे शरीरवाले या बड़े शरीरवाले, अग्नि उनको इस लोक से निकाल दे।" अग्नि राक्षसों का भगानेवाला है, इसलिए वह इस लकड़ी को रखता है ॥१५॥

अब जल का पात्र लाकर हाथ धुलाता है। यजमान के बाप का नाम लेकर 'आप हाथ धोइये', यजमान के बाबा का नाम लेकर, 'आप हाथ धोइये', यजमान के परदादा का नाम लेकर, 'आप हाथ धोइये।' जैसे मेहमान को जल देते हैं ऐसे यहाँ भी ॥१६॥

कुश एक चोट में ही मूल से काटे जाते हैं। उनका अगला भाग देवों का होता है, बीच

मनुष्याणां मूलमिव पितॄणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदाछिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदाछिन्नानि भवन्ति ॥१७॥ तानि दक्षिणोपस्तृणाति । तत्र ददाति स वाऽइति ददातीतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितॄणां तस्मादिति ददाति ॥१८॥ स ददाति । असावेतत्तऽइत्येव यजमानस्य पित्रे ये च त्वामन्वित्यु हैकऽआहुस्तदु तथा न ब्रूयात्स्वयं वै तेषाᳬ सह येषाᳬ सह तस्मादु ब्रूयादसावेतत्तऽइत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्तऽइति पितामहायासावेतत्तऽइति प्रपितामहाय तद्यदितः पराग्ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥१९॥ तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह ॥२०॥ अथ पराङ् पर्यावर्तते । तिर-इव वै पितरो मनुष्येभ्यस्तिर-इवैतद्भवति स वाऽआ तमितोरासीतेत्याहुरेतावान्ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा ॥२१॥ अथोपपर्यावृत्य जपति । अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥२२॥ अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥२३॥ अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वाऽऋतव ऋतवः पितरस्तस्मात्षट्कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणाᳬ ह पितर ईशतऽएषोऽएतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्त्स यजमानभागोऽग्नौ सकृदाछिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुल्मुकमपि सृजति ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥४[४.२.]॥ ॥

तद्ध होवाच कहोडः कौषीतकिः । अनयोर्वाऽअयं द्यावापृथिव्यो रसोऽस्य रसस्य हुत्वा देवेभ्योऽथेममश्नामेति तस्माद्वाऽआग्रयणेष्ट्या यजतऽइति ॥१॥ तद्ध

का मनुष्यों का और मूल पितरों का। इसलिए वे मूल से काटे जाते हैं। वे एक ही चोट से इसलिए काटे जाते हैं कि पितर लोग एक ही बार में गुजर गये ॥१७॥

वह उनके सिरों को दक्षिण की ओर करके फैलाता है। तब (पिण्ड) देता है। वह इस प्रकार पिण्ड देता है (हाथ से बनाकर)। देवों को इस प्रकार दिया जाता है (यहाँ भी हाथ से विधि बताई जाती है)। मनुष्यों को इस प्रकार परोसते हैं, और पितरों के लिए इस प्रकार। इसलिए वह इस प्रकार देता है ॥१८॥

यजमान के बाप का नाम लेकर 'यह तुम्हारे लिए', कुछ लोग इसके साथ यह भी कहते हैं—'और उनके लिए जो तुम्हारे पीछे आवें।' परन्तु उसको ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि वह भी तो उन्हीं में से है। इसलिए पिता का नाम लेकर कहे 'यह तुम्हारे लिए', बाबा का नाम लेकर, 'यह तुम्हारे लिए', पर-दादे का नाम लेकर, 'यह तुम्हारे लिए।' वर्तमान समय से आरम्भ करके पिछले-पिछले के क्रम से देता है, क्योंकि पितरों के गुजरने का वर्तमान की अपेक्षा यही क्रम है ॥१९॥

अब वह जपता है, "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" (यजु० २।३१)— "हे पितरो ! यहाँ प्रसन्नता से खाओ जैसे बैल आकर खाते हैं अपने-अपने हिस्से का।" इसका तात्पर्य यह है कि 'अपना-अपना भाग खाओ' ॥२०॥

अब मुड़कर खड़ा होता है (अर्थात् उत्तर की ओर), क्योंकि पितर मनुष्यों से बिल्कुल दूसरी ओर हैं और वह भी पितरों से दूसरी ओर है। कुछ लोग कहते हैं कि जब तक साँस रोक सके उस समय तक खड़ा रहे, क्योंकि प्राण इतने ही होते हैं। अस्तु, एक मुहूर्त रहकर—॥२१॥

(दाहिनी ओर) मुड़कर जपता है, "अमीमदन्त पितरो यथा भागमावृषायिषत" (यजु० २।३१)—"पितरों ने खा लिया। बैलों के समान उन्होंने अपना-अपना भाग पा लिया" ॥२२॥

अब जल-पात्र लेकर हाथ धुलाता है। यजमान के बाप का नाम लेकर 'तुम धोओ', बाबा का नाम लेकर 'तुम धोओ', परदादे का नाम लेकर 'तुम धोओ।' जिस प्रकार मेहमानों को खाना खिलाकर धुलाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी ॥२३॥

नीवि (निचला कपड़ा और ऊपर का कपड़ा दोनों मे गाँठ दी जाती है) को खोलकर नमस्कार करता है। नीवि पितरों की है इसलिए उसे खोलकर नमस्कार करता है। नमस्कार यज्ञ है। इसलिए इस प्रकार वह उनको यज्ञ के योग्य बनाता है। छः बार नमस्कार करता है। क्योंकि छः ऋतुएँ हैं और पितर ऋतुएँ हैं, इसलिए छः बार नमस्कार करता है। अब वह कहता है, "गृहान्नः पितरो दत्त"(यजु० २।३२)—"हे पितरो, हमको घर दीजिए।" पितर घरों के रक्षक हैं, इसलिए इस कर्म से आशीर्वाद चाहता है। पिण्डों को पीछे हटाकर सूँघता है, क्योंकि यह यजमान का भाग है। एक चोट में काटी हुई (कुश) को अग्नि पर रखता है, और जलती हुई लकड़ी (उल्मुक) को फेंकता है ॥२४॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

कहोड कौषीतकि ने कहा, यह (वृक्षों का) रस वस्तुतः द्यावापृथिवी का है। हम देवों को आहुति देकर खावें। इसलिए 'आग्रयणेष्टि' यज्ञ किया जाता है ॥१॥

होवाच याज्ञवल्क्यः । देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा उभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्ययेव त्वद्विषेणेव त्वत्प्रलिलिपुरुतैवं चिद्देवानभिभवेमेति ततो न मनुष्या आशुर्न पशव आलिलिशिरे ता हेमाः प्रजा अनाशकेन नोत्पराबभूवुः ॥२॥ तद्ध देवाः शुश्रुवुः । अनाशकेन ह वाऽइमाः प्रजाः पराभवन्तीति ते होचुर्हन्तेदमासामपजिघाꣳसामेति केनेति यज्ञेनेवेति यज्ञेन ह स्म वै तद्देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्प्यमासऽर्षयश्च ॥३॥ ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम-ममेत्येव न सम्पादयां चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुराजिमेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जेष्यति तस्य न इदं भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजिमाजन्त ॥४॥ ताविन्द्राग्नीऽउदजयतां । तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवतीन्द्राग्नी ह्यस्य भागधेयमुदजयतां तौ यत्रेन्द्राग्नीऽउज्जिगीवाꣳसौ तस्थतुस्तद्विश्वे देवा अन्वाजग्मुः ॥५॥ क्षत्रं वाऽइन्द्राग्नी । विशो विश्वे देवा यत्र वै क्षत्रमुज्जयत्यन्वाभक्ता वै तत्र विड्विश्वान्देवानन्वाभजन्तां तस्मादेष वैश्वदेवश्चरुर्भवति ॥६॥ तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः । क्षत्रं वाऽइन्द्राग्नी नेत्क्षत्रमभ्यारोहयाणीति तौ वाऽउभावेव नवानाꣳ स्यातां यद्धि पुरोडाश इतरश्चरुरितरस्तेनैव क्षत्रमनभ्यारूढꣳ तस्मादुभावेव नवानाꣳ स्याताम् ॥७॥ तऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः । अनयोर्वाऽअयं द्यावापृथिव्यो रसो हन्तेमेऽअस्मिन्नाभजामेति ताभ्यामेतं भागमकल्पयन्नेतं द्यावापृथिव्यमेककपालं पुरोडाशं तस्माद्द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति तस्येयमेव कपालमियमेव हीयं तस्मादेककपालो भवति ॥८॥ तस्य परिचक्षा । यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तोऽथैतꣳ सर्वमेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवद्यति सा परिचक्षोतो जुतः पर्यावर्तते ॥९॥ तदाहुः । पर्याभूद्वाऽअयमेककपालो मोहिष्यति राष्ट्रमिति नास्य सा परिचक्षाहवनीयो वाऽआहुतीनां प्रतिष्ठा स यदाहवनीयं प्राप्यापि

याज्ञवल्क्य का भी कथन है कि प्रजापति की सन्तान देव और असुर बड़ाई के लिए लड़ पड़े। तब असुरों ने दोनों प्रकार की ओषधियों को, अर्थात् उनको भी जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं और उनको भी जिनके सहारे पशु रहते हैं, कुछ अपनी चालाकी से (कृत्यया) और कुछ विष के द्वारा नष्ट कर दिया कि इस प्रकार हम देवों पर विजय पा लेंगे। इस पर न मनुष्य कुछ खा सके और न पशु, और भोजन के अभाव में ये सब पराजित-से हो गये ॥२॥

अब देवों ने सुना कि बिना भोजन के यह सब प्रजा पराजित हो रही है। उन्होंने कहा, 'इस सब (विष आदि) को हटाना चाहिए।' 'कैसे ?' 'यज्ञ के द्वारा।' देव जो कुछ करना चाहते थे वह उन्होंने यज्ञ के द्वारा किया और ऋषियों ने भी ॥३॥

तब उन्होंने कहा, 'यह (यज्ञ) हममें से किसका होगा ?' हर एक ने कहा, 'मेरा'-'मेरा' और निश्चित न कर सके। निश्चय न कर सकने पर उन्होंने कहा, 'चलो बाजी बदकर दौड़ें। हममें से जो जीत जायगा यह (यज्ञ) उसी का होगा।' 'अच्छा' कहकर वे दौड़े ॥४॥

इन्द्र और अग्नि जीत गये। इसलिए पुरोडाश के बारह कपाल इन्द्र और अग्नि के होते हैं। क्योंकि इन्द्र और अग्नि ने अपना भाग जीत लिया और इन्द्र और अग्नि जीतने पर जहाँ खड़े थे वहाँ सब देव भी चले गये ॥५॥

इन्द्र और अग्नि क्षत्रिय हैं, सब देव वैश्य। जहाँ क्षत्रिय जीतता है वहाँ वैश्यों को अवश्य भाग मिलता है। इसलिए देवों को भाग मिल गया, इसलिए चरु सब देवों (विश्वेदेवा) का होता है ॥६॥

कुछ लोगों का विचार है कि (चरु) पुराने (अन्न) का हो, क्योंकि इन्द्र और अग्नि क्षत्रिय हैं इसलिए (विश्वेदेवों को भी यदि इन्द्र और अग्नि के समान नया अन्न दिया जायगा तो) वैश्य क्षत्रियों के बराबर हो जाएँगे। परन्तु दोनों को नया ही होना चाहिए। केवल यह पुरोडाश है और यह चरु है। इन दोनों के नये होने से ही क्षत्रियों के बराबर (वैश्य) नहीं हो सकते। इसलिए दोनों (पुरोडाश और चरु) नये अन्न के ही हों ॥७॥

अब देवों ने कहा, 'यह रस वस्तुतः द्यावापृथिवी का है, इसलिए हम इनको यज्ञ में भाग देवें।' इसलिए उन्होंने उन दोनों को भाग दिया अर्थात् एक कपाल का पुरोडाश द्यावापृथिवी को दिया। इसलिए एक कपाल का पुरोडाश द्यावापृथिवी का होता है। अब चूँकि यह पृथिवी उस (रस) का कपाल है और वह एक ही है, इसलिए (पुरोडाश भी) एक कपाल का होता है ॥८॥

(ऐसा करने में) उसका एक दोष (है)। चाहे किसी देवता को हवि दी जाय, पीछे से एक भाग स्विष्टकृत् का होता है। परन्तु यहाँ (पुरोडाश) की पूरी आहुति दे दी जाती है। स्विष्टकृत् के लिए कुछ बचाया नहीं जाता। यह एक दोष है, इसलिए आहुति उलटी पड़ जाती है ॥९॥

इसलिए कहते हैं, 'यह एक कपाल उलटा पड़ गया। यह राष्ट्र को बिगाड़ देगा।' परन्तु इसमें कुछ दोष नहीं। आहुतियों की प्रतिष्ठा आहवनीय है। जब आहुति आहवनीय में पहुँच गई

दश कृत्वः पर्यावर्त्तेत न तदाद्रियेत यदीत्वन्ये वदन्ति कस्तत्संधमुपेयात्तस्मादाज्य-
स्यैव यजेदाज्यꣳ ह वा ऽअनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षꣳ रसस्तत्प्रत्यक्षमेवैने ऽएत-
स्वेन रसेन मेधेन प्रीणाति तस्मादाज्यस्यैव यजेत् ॥१०॥ एतेन वै देवाः । य
ज्ञेनेष्ट्वोभयीनामोषधीनां याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्यामिव त्वद्वि-
षमिव त्वदपजघ्नुस्तत आश्नन्मनुष्या आलिशन्त पशवः ॥११॥ अथ यदेष एतेन
यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कश्चन कृत्ययेव त्वद्विषेणेव त्वत्प्रलिम्पतीति देवा
अकुर्वन्निति न्वेवैष एतत्करोति यमु चैव देवा भागमकल्पयन्त तमु चैवैभ्य एष
एतद्भागं करोतीमा उ चैवैतदुभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवस्ता
अनमीवा अकिल्विषाः कुरुते ता अस्यानमीवा अकिल्विषा इमाः प्रजा उपजी-
वन्ति तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥१२॥ तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा । अग्र्यमिव
ह्येतद्ꣳ स यदीजानः स्याद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेताथैतेन यजेत यद्यु ऽअनीजानः
स्याच्चातुष्प्राश्यमेवैतमोदनमन्वाहार्यपचने पचेयुस्तं ब्राह्मणा अश्नीयुः ॥१३॥ द्वया
वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदे-
वास्तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति तन्नो यद्धुत्वात्तद्दद्यान्नादक्षिणꣳ ह-
विः स्यादिति न्वाहुर्नाग्निहोत्रे जुहुयात्समदꣳ ह कुर्याद्यदग्निहोत्रे जुहुयादन्यद्वा
ऽआग्रयणमन्यदग्निहोत्रं तस्मान्नाग्निहोत्रे जुहुयात् ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४.३.]॥
तृतीयः प्रपाठकः ॥ ॥ कण्डिकासंख्या ११३ ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्रे यज्ञेनेजे । प्रजाकामो बहुः प्रजया पशुभिः स्याꣳ श्रि-
यं गच्छेयं यशः स्यामन्नादः स्यामिति ॥१॥ स वै दक्षो नाम । तद्यदेनेन सोऽग्रे
ऽयजत तस्माद्दाक्षायणयज्ञो नामाथैतमेके वसिष्ठयज्ञ इत्याचक्षत ऽएष वै वसिष्ठ
एतमेव तदन्वाचक्षते स एतेन यज्ञेनेजे स एतेन यज्ञेनेष्ट्वा येयं प्रजापतेः प्रजाति-
र्या श्रीरेतद्बभूवैताꣳ ह वै प्रजातिं प्रजायत ऽएताꣳ श्रियं गच्छति य एवं विद्वाने-

तो चाहे दस बार उलट जाय कुछ परवाह नहीं। और यदि कोई कहे कि इन (दोषों) के भार को कौन सहे तो केवल घी की ही आहुति दे, क्योंकि इन द्यावा-पृथिवी का प्रत्यक्ष रस घी है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में इनको वह इन्हीं के रस या मेध (तत्त्व) से तृप्त करता है, इसलिए घी की ही आहुति दे ।।१०।।

यज्ञ करके देवों ने उन सब ओषधियों को, जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं या पशु रहते हैं, (असुरों की) चालाकी और विष (के प्रभाव) से मुक्त कर दिया। इसलिए अब मनुष्य भोजन करने लगे और पशु चरने लगे ।।११।।

अब वह जो यज्ञ करता है, या तो इसलिए करता है कि कोई चालाकी या विष से (वनस्पति) को बिगाड़ने न पाये, या केवल इसलिए कि देवों ने ऐसा किया था। और जो भाग देवों ने अपने लिए निकाला था वह भी उनके लिए निकाल देता है। इसके अतिरिक्त वह दोनों प्रकार के पौधों को अर्थात् जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं और जिनके सहारे पशु रहते हैं, उनको विषरहित कर देता है और ये मनुष्य और पशु इसके दोष-रहित पौधों के सहारे जीते हैं। इसलिए वह इस यज्ञ को करता है ।।१२।।

इस यज्ञ की दक्षिणा है पहलौटी बछड़ा, क्योंकि यह (गाय का) अग्र अर्थात् पहला फल होता है। यदि दर्श और पूर्णमास यज्ञ कर चुका हो तो पहले वह आहुतियाँ दे और फिर इस यज्ञ को पीछे से करे। और यदि (दर्श और पूर्णमास) नहीं किया तो अन्वाहार्य-पचन अग्नि पर चातुष्प्राश्य को पका ले और ब्राह्मणों को खिला दे ।।१३।।

देव दो प्रकार के हैं — एक तो देव; और दूसरे ब्राह्मण जो वेदपाठी हैं, ये मनुष्य-देव हैं। जिस प्रकार वषट्कार की आहुति होती है वैसी यह भी है। इस समय भी वह जितना हो सके उतनी दक्षिणा दे, क्योंकि कहते हैं कि कोई हवि दक्षिणा के बिना पूरी नहीं होती। अग्निहोत्र में (नया अन्न) न डाले, नहीं तो झगड़ा होगा। आग्रयण भिन्न है और अग्निहोत्र भिन्न। इसलिए अग्निहोत्र में (नया अन्न) न डाले ।।१४।।

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

प्रजापति ने पहले प्रजा की कामना से यह यज्ञ किया। उसने सोचा—'मैं बहुत प्रजा और पशु-युक्त हो जाऊँ, श्री मिल जाय, यशस्वी हो जाऊँ, अन्न पचानेवाला हो जाऊँ' ।।१।।

उसका नाम दक्ष था। और चूंकि पहले उसने इस यज्ञ को किया, इसलिए यज्ञ का 'दाक्षायण यज्ञ' नाम पड़ा। कुछ लोग दक्ष को वसिष्ठ-यज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह वसिष्ठ ही है। उसी के नाम पर यज्ञ का नाम पड़ा। उसने यज्ञ किया और इस यज्ञ से उस प्रजापति ने जो सन्तान, जो श्री, जो विभूति प्राप्त की उसी सन्तान, उसी श्री को वह भी प्राप्त होता है जो इस

तेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥२॥ तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः श्वैक्नः स ये तं प्रत्यासुस्तेषां विवचनमिवास विवचनमिव ह वै भवति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥३॥ तमाजगाम । सुप्ला सार्ञ्जयो ब्रह्मचर्यं तस्मादेतं च यज्ञमनूचेऽन्यमु च सोऽनूच्य पुनः सृञ्जयाञ्जगाम ते ह सृञ्जया विदां चक्रुर्यज्ञं वै नोऽनूच्यागन्निति ते होचुः सह वै नस्तद्देवैरागन्यो नो यज्ञमनूच्यागन्निति स वै सहदेवः सार्ञ्जयस्तदप्येतन्निवचनमिवास्त्यन्यद्वाऽअग्रे सुप्ला नाम दधऽइति स एतेन यज्ञेनेजे स एतेन यज्ञेनेष्ट्वा येयं सृञ्जयानां प्रजातिर्या श्रीरेतद्बभूवैतां ह वै प्रजातिं प्रजायतऽएतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥४॥ तेनो ह तत ईजे । देवभागः श्रौतर्षः स उभयेषां कुरूणां च सृञ्जयानां च पुरोहित आस परमता वै सा यो न्वेवैकस्य राष्ट्रस्य पुरोहितोऽसत्सा न्वेव परमता किमु यो द्वयोः परमतामिव ह वै गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥५॥ तेनो ह तत ईजे । दक्षः पार्वतिस्तऽइमेऽप्येतर्हि दाक्षायणा राज्यमिवैव प्राप्ता राज्यमिह वै प्राप्नोति य एवं विद्वानेतेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत स वाऽएकैक एवानूचीनाहं पुरोडाशो भवत्येतेनो हास्यासपत्नानुपबाधा श्रीर्भवति स वै द्वे पौर्णमास्यौ यजते द्वेऽअमावास्ये द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥६॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यां ते द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥७॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्रं सांनाय्यं ते द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥८॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां ते द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥९॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञाद्यानीति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशोऽथैताविव मित्रावरुणौ द्वे देवते द्वे वै मिथुनं मिथुनमे-

यज्ञ को समझकर करता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥२॥

प्रतीदर्श श्वैक्न ने भी इसी यज्ञ को किया। और जिन्होंने उसका अनुकरण किया उनके लिए वह विवचन (authority) से था। जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है वह विवचन ही हो जाता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥३॥

सुप्ला साञ्जंय ब्रह्मचर्य व्रत के लिए उसके पास आया, इसलिए उसे यह यज्ञ और अन्य भी सिखाया। वह उनको सीखकर साञ्जंय वाले लोगों के पास (अपने देश में) चला गया। अब उन्होंने जान लिया कि यह हमारे लिए यज्ञ को सीखकर आया है। उन्होंने कहा, 'यह जो यज्ञ सीखकर आया है मानो 'देवों के साथ' आया है, इसलिए उसका सहदेव साञ्जंय नाम पड़ गया। अब तक यह कहावत चली आती है कि अरे सुप्ला का दूसरा नाम रख दिया गया। उसने उस यज्ञ को किया और जो सन्तान और वैभव इस यज्ञ के करने से सृञ्जयों को प्राप्त हुआ, उसी सन्तान को वह भी उत्पन्न करता है और उसी वैभव को प्राप्त होता है जो इस रहस्य को समझकर यह यज्ञ करता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥४॥

देवभाग श्रौतष ने भी यह किया था। वह कुरुओं और सृञ्जयों दोनों का पुरोहित था। जो एक राष्ट्र का पुरोहित होता है उसकी बड़ी पदवी होती है, और उसकी पदवी का क्या कहना जो दो राष्ट्रों का पुरोहित हो! जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है वह उसी बड़ी पदवी को पाता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे ॥५॥

दक्ष पार्वति ने भी यही यज्ञ किया था। और आज तक यह दाक्षायण (उसी की सन्तान) राज्य को पाये हुए हैं। जो कोई इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है वह भी राज्य को पा जाता है। इसलिए इस यज्ञ को अवश्य करे। एक-एक पुरोडाश प्रतिदिन देना होता है। इसलिए उसकी श्री बिना सपत्नी के और बिना बाधा के होती है। वह पूर्णमासी के दो दिन और अमावस्या के दो दिन यज्ञ करता है। दो का नाम है जोड़ा। इस प्रकार वह उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥६॥

पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि और सोम को एक पुरोडाश देता है। ये दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। इस प्रकार वह उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥७॥

दूसरे दिन अग्नि का पुरोडाश और इन्द्र का सान्नाय्य ये दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। इस प्रकार वह उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥८॥

अमावस्या को पहले दिन इन्द्र और अग्नि को पुरोडाश देता है। ये दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। इस प्रकार एक उत्पत्ति करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है ॥९॥

दूसरे दिन अग्नि के लिए पुरोडाश और मित्र-वरुण के लिए दही (पयस्या)। अग्नि का पुरोडाश केवल इसलिए कि वह यज्ञ से चला न जाय। मित्र और वरुण दो देवता हैं। दो का अर्थ है जोड़ा। वह इस प्रकार उत्पन्न करनेवाले जोड़े से सम्पन्न हो जाता है। यह उसका वह रूप है

वैतत्प्रजननं क्रियतऽएतद्ध ह्यस्य तद्रूपं येन बर्कुर्भवति येन प्रजायते ॥१०॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यां यमेवामुमुपवसथेऽग्नीषोमीयं पशुमालभते स एवास्य सः ॥११॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्रꣳ सांनाय्यं प्रातःसवनमेवास्याग्नेयः पुरोडाश आग्नेयꣳ हि प्रातःसवनमथैन्द्रꣳ सांनाय्यं माध्यन्दिनमेवास्य तत्सवनमैन्द्रꣳ हि माध्यन्दिनꣳ सवनम् ॥१२॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां तृतीयसवनमेवास्य तद्वैश्वदेवं वै तृतीयसवनमिन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः ॥१३॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशोऽथ यामेवामूं मैत्रावरुणीं वशामनूबन्ध्यामालभते सैवास्य मैत्रावरुणी पयस्या स पौर्णमासेन चामावास्येन चेष्ट्वा यावत्सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति तद्ध खलु महायज्ञो भवति ॥१४॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यामेतेन वाऽइन्द्रो वृत्रमहन्नेतेनोऽएव व्यजयत यास्येयं विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति तथोऽएव विजयतेऽथ यत्संनयत्यामावास्यं वै सांनाय्यं हूरे तद्यदमावास्येति क्षिप्रऽएवैतद्वृत्रं जघ्नुषे तमेतेन रसेनाप्रीणन्क्षिप्रे ह वै पाप्मानमपहते य एवं विद्वान्पौर्णमास्याꣳ संनयत्येष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमास्तमेतत्पूर्वेद्युरभिषुण्वन्ति प्रातर्भक्षयिष्यन्तस्तमेतद्भक्षयन्ति यदपक्षीयते ॥१५॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्यामभिषुणोत्येवैनमेतत्तस्मिन्नभिषुतऽएतꣳ रसं दधात्येतेन रसेन तीव्रीकरोति स्वदयति ह वै देवेभ्यो हव्यꣳ स्वदते हास्य देवेभ्यो हव्यं य एवं विद्वान्पौर्णमास्याꣳ संनयति ॥१६॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां दर्शपूर्णमासयोर्वै देवते स्त इन्द्राग्नीऽएव तेऽएवैतदञ्जसा प्रत्यक्षं यजत्यञ्जसा ह वाऽअस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥१७॥ अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानी-

जिससे वह बहुत (या अनेक) हो जाता है जिससे उत्पन्न होता है ।।१०।।

और जो पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि-सोम का पुरोडाश दिया जाता है, वह ऐसा ही है जैसा कि (सोम यज्ञ में) उपवास के दिन पशु-आलभन है ।।११।।

दूसरे दिन अग्नि का पुरोडाश और इन्द्र का सान्नाय्य । अग्नि का पुरोडाश वैसा ही है जैसा (सोम यज्ञ में) प्रातःकाल की आहुति, क्योंकि प्रातःकाल का सवन अग्नि का होता है। इन्द्र का सान्नाय्य वैसा ही है जैसा (सोम यज्ञ में) मध्य दिन का सवन, क्योंकि मध्य दिन का सवन इन्द्र का होता है ।।१२।।

अमावस्या को पहले दिन जो इन्द्र और अग्नि का पुरोडाश दिया जाता है वह वैसा ही है जैसा तृतीय सवन । क्योंकि तृतीय सवन विश्वेदेवों का है और वस्तुतः इन्द्र और अग्नि विश्वेदेव ही हैं ।।१३।।

और जो दूसरे दिन अग्नि के लिए पुरोडाश और मित्र-वरुण के लिए दही होता है, इसमें अग्नि का पुरोडाश केवल इसलिए है कि कहीं अग्नि यज्ञ को छोड़कर चला न जाय। और पयस्या अर्थात् दही मित्र और वरुण के लिए उसी प्रकार है जैसे (सोमयज्ञ में) मित्र और वरुण के लिए अनूबन्ध्या (बाँझ गाय) मारी जाती है। इस प्रकार पूर्णमासी और अमावस्या की इष्टियों से मनुष्य को उतना ही फल मिल जाता है जितना सोमयज्ञ से, क्योंकि यह महायज्ञ है ।।१४।।

और यह जो पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि और सोम के लिए आहुति दी जाती है वह इसलिए है कि इन्द्र ने वृत्र को मारा था। इसी से उसको वह विजय प्राप्त हुई जो आज उसे प्राप्त है। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इस यज्ञ से द्वेषी पापी शत्रु को मारता है और उस पर विजय प्राप्त करता है। और यह जो सान्नाय्य अर्थात् दूध और दही को मिलाना है, यह सान्नाय्य अमावस्या का है। अमावस्या का अर्थ है दूर होना। जिस (इन्द्र) ने वृत्र को मारा था उसको तुरन्त ही यह आहुति दी गई थी और तुरन्त ही उसको रस से प्रसन्न किया गया था। इसलिए जो पुरुष इस रहस्य को समझकर पूर्णमासी को सान्नाय्य बनाता है, वह तुरन्त ही पाप को दूर भगा देता है। यह जो चरु है वह सोम राजा और देवों का अन्न है। वे पहले दिन रस निकालते हैं कि दूसरे दिन खायेंगे। इसलिए जब (चाँद) क्षीण होने लगता है तो मानो (देव) उसको खाने लगते हैं ।।१५।।

और यह जो पूर्णमासी को पहले दिन अग्नि और सोम के लिए पुरोडाश दिया जाता है, मानो उस प्रकार वह सोम-रस निचोड़ लेते हैं। और निचोड़ने के पश्चात् उसमें मिलाता है और उस रस को तीव्र करता है। जो पुरुष इस भेद को समझकर पूर्णमासी को सान्नाय्य तैयार करता है वह मानो देवों के लिए हव्य को स्वादिष्ट बनाता है और उसका हव्य देवों के लिए स्वादिष्ट हो जाता है ।।१६।।

और यह जो अमावस्या को पहले दिन इन्द्र और अग्नि के लिए पुरोडाश दिया जाता है वह इसीलिए है कि इन्द्र और अग्नि अमावस्या और पूर्णमासी के देवता हैं। इन्हीं के लिए वह सीधा प्रत्यक्ष रूप से हव्य देता है। और जो इस भेद को समझता है वह दर्श और पूर्णमास की इष्टियों को करता है ।।१७।।

और दूसरे दिन अग्नि का पुरोडाश होता है और मित्र और वरुण के लिए पयस्या (दही)।

ति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशोऽथैतावेवार्धमासौ मित्रावरुणौ य एवापूर्यते स वरुणो योऽपक्षीयते स मित्रस्तावेताꣳ रात्रिमुभौ समागछतस्तदुभावेवैतत्सह सन्तौ प्रीणाति सर्वꣳ ह वाऽअस्य प्रीतं भवति सर्वमाप्तं य एवमेतद्वेद ॥१८॥ तद्वाऽएताꣳ रात्रिं । मित्रो वरुणे रेतः सिञ्चति तदेतेन रेतसा प्रजायते यदापूर्यते तस्माद्देषात्र मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ततमा भवति ॥१९॥ सांनाय्यभाजना वाऽअमावास्या । तदद्दस्तत्पौर्णमास्यां क्रियते स यद्धात्रापि संनयेज्जामि कुर्यात्समदं कुर्यात्तदेनमद्ध्य ओषधिभ्यः सम्भृत्याहुतिभ्योऽधिजनयति स एष आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे ॥२०॥ मिथुनाद्विद्वाऽएनमेतत्प्रजनयति । योषा पयस्या रेतो वाजिनं तद्वाऽअनुष्ठ्या यन्मिथुनाज्जायते तदेनमेतस्मान्मिथुनात्प्रजननात्प्रजनयति तस्मादेषात्र पयस्या भवति ॥२१॥ अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति । ऋतवो वै वाजिनो रेतो वाजिनं तद्वनुष्ठ्येत्रैतद्रेतः सिच्यते तदृतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्माद्वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति ॥२२॥ स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति । पश्चाद्धि परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तस्याꣳ रेतः सिञ्चति स वै प्रागेवाग्रे जुहोत्यग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति तत्स्विष्टकृद्भाजनꣳ स वै प्रागेव जुहोति ॥२३॥ अथ दिशो व्याघारयति । दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति पञ्च दिशः पञ्चऽर्तवस्तदृतुभिरेवैतद्दिशो मिथुनीकरोति ॥२४॥ तद्वै पञ्चैव भक्षयन्ति । होता चाध्वर्युश्च ब्रह्मा चाग्नीध्रश्च यजमानः पञ्च वाऽऋतवस्तदृतूनामेवैतद्रूपं क्रियते तदृतुष्वेवैतद्रेतः सिक्तं प्रतिष्ठापयति प्रथमो यजमानो भक्षयति प्रथमो रेतः परिगृह्णानीत्यथोऽअप्युत्तमो मय्युत्तमे रेतः प्रतितिष्ठादित्युपह्वत उपह्वयस्वेति सोममेवैतत्कुर्वन्ति ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४.४.]॥ अध्यायः ॥४ [१३.]॥ ॥

प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्रऽएक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि

अब अग्नि का पुरोडाश इसीलिए है कि अग्नि यज्ञ को छोड़कर न चला जाय। मित्र और वरुण अर्धमास हैं। बढ़ता हुआ वरुण है और घटता हुआ मित्र। उस (अमावस्या की) रात्रि को वे दोनों मिलते हैं। और जब वे मिलते हैं तब (यजमान) दोनों को प्रसन्न करता है। जो इस रहस्य को समझता है सब उससे प्रसन्न रहते हैं और उसको सब-कुछ प्राप्त होता है ॥१८॥

उसी रात को मित्र वरुण में वीर्य सींचता है। और जब यह (चन्द्र) घटता है तो फिर उसी वीर्य से उत्पन्न होता है। यह जो मित्र और वरुण की पयस्या (दही) है, वह (सान्नाय्य के) समान है ॥१९॥

अमावस्या सान्नाय्य के ही योग्य है। यह (अमावस्या को भी) और पूर्णमासी को भी तैयार किया जाता है। अब यदि वह यहाँ भी (अर्थात् पूर्णमासी को भी) सान्नाय्य बनावे तो दुहराने के दोष का भागी हो और देवताओं में झगड़ा हो जाय। इस (सोम) को जलों और ओषधियों से इकट्ठा करके आहुतियों में होकर उत्पन्न करता है। और यह (सोम या चाँद) आहुतियों से उत्पन्न होकर पश्चिम की ओर चमकता है ॥२०॥

इसको जोड़े से उत्पन्न करता है। पयस्या स्त्री है और मट्ठा वीर्य है। जो जोड़े से उत्पन्न होता है वह ठीक होता है। इसलिए वह इसको जोड़े से उत्पन्न करता है और इसीलिए यहाँ पयस्या तैयार की जाती है ॥२१॥

अब मट्ठे की आहुति दोनों घोड़ों (वाजियों) के लिए दी जाती है। घोड़े (वाजी) ऋतुएँ हैं और (वाजी) मट्ठा वीर्य है। यह वीर्य अनुष्ठान से सींचा जाता है। सींचे हुए वीर्य से ऋतुएँ इन प्रजाओं को उत्पन्न करती हैं। इसीलिए 'बाजी' घोड़े के लिए 'वाजी' मट्ठे की आहुति देता है। ('वाजी' घोड़े को भी कहते हैं और मट्ठे को भी) ॥२२॥

वह यज्ञ के पीछे की ओर से आहुति देता है। पीछे की ओर से ही पुरुष स्त्री के पास जाता और वीर्य-सिंचन करता है। वह पहले पूर्व की ओर आहुति देता है। 'अग्ने वीहि' (हे अग्नि, स्वीकार करो) यह पढ़कर वषट्कार को दुहराता है। यह स्विष्टकृत् के बदले में है। इसको पूर्व की ओर देता है ॥२३॥

अब वह इस मन्त्र से दिशाओं के लिए आहुति देता है—'दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिश-ऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा' (यजु० ६।१९)। पाँच दिशाएँ हैं और पाँच ऋतुएँ। इस प्रकार दिशाओं का जोड़ा मिलाता है ॥२४॥

(चमसे में जो मट्ठा बच रहता है उसे) पाँच लोग चखते हैं—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र और यजमान। पाँच ही तो ऋतुएँ हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं का तद्रूप हो जाता है। और जो वीर्य सींचा जाता है वह प्रतिष्ठित हो जाता है। यजमान (यह सोचते हुए) पहले चखता है कि मुझे पहले वीर्य की प्राप्ति हो। और वह पीछे भी चखता है कि मुझमें वीर्य अन्त तक रहे। 'उपहूत उपह्वयस्व' कहकर वह इस (मट्ठे) को मोम बना लेता है ॥२५॥

चातुर्मास्यानि

अध्याय ५—ब्राह्मण १

पहले केवल प्रजापति ही था। उसने सोचा कि कैसे प्रजा उत्पन्न करूँ? उसने श्रम किया और तप तपा। उसने प्रजा उत्पन्न की। वह उत्पन्न हुई प्रजा गुजर गई। यह वे पक्षी हैं। पुरुष

वयाꣳसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वाऽअयं पुरुषस्तस्माद्द्विपादो वयाꣳसि ॥१॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा न्वेव पुरैकोऽभूवमेवमु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य परेव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजऽइत्याहुस्ता अस्य परेव बभूवुस्तऽइमे सर्पा एता ह त्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनरृचा ॥२॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यन्प्रजापतिरीक्षां चक्रे । कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति स हैतदेव ददर्शानशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययां चक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुस्ता इमा अपराभूताः ॥३॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं । प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुरिति तद्याः पराभूतास्ता एवैतदभ्यनूक्तं न्यन्या अर्कमभितो विविश्रऽइत्यग्निर्वाऽअर्कस्तद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्निमभितो निविष्टास्ता एवैतदभ्यनूक्तम् ॥४॥ महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरिति । प्रजापतिमेवैतदभ्यनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै हरितस्ता अयं वायुः पवमान आविष्टस्ता एवैषोऽभ्यनूक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव प्रजापतिः प्रजा असृजतेदꣳ हि यदैव स्त्रियै स्तनावाप्यायेतेऽऊधः पशूनामथैव यज्जायते तज्जायते तास्तत स्तनावेवाभिपद्य सम्भवन्ति ॥५॥ तद्वै पय एवान्नम् । एतद्ध्यग्रे प्रजापतिरन्नमजनयत तद्वाऽअन्नमेव प्रजा अन्नाद्धि सम्भवन्तीदꣳ हि यासां पयो भवति स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्भवन्त्यथ यासां पयो न भवति जातमेव ता अथादयन्ति तद्व ता अन्नादेव सम्भवन्ति तस्मादन्नमेव प्रजाः ॥६॥ स यः प्रजाकामः । एतेन हविषा यजतऽआत्मानमेवैतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतꣳ ॥७॥ ॥ शतम् १२०० ॥ ॥ स वाऽआग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिस्तस्मादाग्नेयो भवति ॥८॥ अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै सोमस्तदग्नौ प्रजनयितरि

प्रजापति के निकटतम है । पुरुष के दो पैर होते हैं, इसलिए चिड़ियों के भी दो पैर होते हैं ।।१।।

प्रजापति ने सोचा कि मैं पहले भी अकेला था और अब भी अकेला हूँ। इसलिये उसने दुबारा सृष्टि की। वह भी गुजर गई। ये वे कीड़े हैं जो साँप के अतिरिक्त हैं। कहते हैं कि उसने तीसरी बार सृष्टि की। वह भी गुजर गई। वे साँप हैं। याज्ञवल्क्य उसको दो प्रकार के बताते हैं, परन्तु ऋग्वेद के अनुसार तीन प्रकार के हैं ।।२।।

प्रजापति ने पूजा और श्रम करते हुए सोचा कि मेरी बनाई प्रजा गुजर कैसे जाती है ? तब उसे मालूम हुआ कि मेरी प्रजा बिना भोजन के मर जाती है। इसलिये उसने अपने स्तनों में पहले से ही दूध भर दिया। तब उसने प्रजा उत्पन्न की, और यह उत्पन्न प्रजा स्तनों का दूध पीकर जीती रही। ये वे हैं जो मरे नहीं ।।३।।

इसीलिये ऋषि ने ऐसा कहा —"प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयु:" (ऋ० ८।१०१।१४)— "तीन प्रजायें मर चुकीं" यह उसके लिए कहा गया जो मर चुकीं। "न्यन्याऽअर्कमभितो विविश्रे" (ऋ० ८।१०१।१४)--"दूसरी आग (प्रकाश) के चारों ओर बस गई।" 'अग्नि' ही 'अर्क' है। इसलिये कहा कि जो प्रजा जीती रही वह अग्नि के चारों ओर बस गई ।।४।।

"महद्ध (बृहद्ध) तस्थौ भुवनेष्वन्त:" (ऋ० ८।१०१।१४)—"महान् (आत्मा) भुवनों के भीतर रही।" यह प्रजापति के विषय में कहा गया। "पवमानो हरितऽआविवेश" (ऋग्वेद ८।१०१।१४)—"पवमान (पवित्र करनेवाला वायु) देशों में प्रवेश हो गया।" 'हरित' का अर्थ है दिशाएँ। 'पवमान' यह हवा है। यह हवा ही दिशाओं में भर गई। इसी का ऋचा में संकेत है। जिस प्रकार प्रजापति ने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया, उसी प्रकार ये उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जब स्त्रियों और पशुओं के थनों में दूध आ जाता है तभी बच्चा पैदा होता है, और स्तन को पीकर ही वे जीते हैं ।।५।।

यह दूध ही अन्न है, क्योंकि प्रजापति ने पहले इसी भोजन को उत्पन्न किया। अन्न ही प्रजा है क्योंकि अन्न ही से यह उत्पन्न होती हैं। जिनके स्तनों में दूध है उसको पीकर ही वे जीते हैं। और जिनके दूध नहीं होता वे अपने बच्चों को जन्मते ही 'चुगा' देते हैं। इस प्रकार वे अन्न से ही जीते हैं, इसलिये अन्न ही प्रजा है ।।६।।

जो सन्तान की कामना करता है वह इस हवि से यज्ञ करता है। इस प्रकार अपने को प्रजापतिरूपी यज्ञ बना लेता है ।।७।।

अग्नि का पुरोडाश आठ कपालों में होता है। अग्नि ही देवतागणों का मुख और उत्पादक है। वह प्रजापति है। इसलिए अग्नि के लिए पुरोडाश होता है ।।८।।

इसके पीछे सोम का चरु होता है। सोम वीर्य है और वह उत्पादक अग्नि में है। वह

सोमꣳ रेतः सिञ्चति तत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननम् ॥ ९ ॥ अथ सावित्रः । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता प्रजापतिर्मथ्यतः प्रजनयिता तस्मात्सावित्रो भवति ॥ १० ॥ अथ सारस्वतश्चरुर्भवति । पौष्णश्चरुर्योषा वै सरस्वती वृषा पूषा तत्पुनर्मिथुनं प्रजननमेतस्माद्वाऽउभयतो मिथुनात्प्रजननात्प्रजापतिः प्रजाः ससृजऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तथोऽएवैष एतस्मादुभयत एव मिथुनात्प्रजननात्प्रजाः सृजतऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद्वाऽएतानि पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥ ११ ॥ अथातः पयस्याया एवायतनं । मारुतस्तु सप्तकपालो विशो वै मरुतो देवविशस्ता हैदमनिषेद्धा-इव चेरुस्ताः प्रजापतिं यजमानमुपेत्योचुर्वि वै ते मथिष्यामहऽइमाः प्रजा या एतेन हविषा स्रक्ष्यसऽइति ॥ १२ ॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । यदि मे पूर्वाः प्रजा अभूवन्निमा उ चेदिमे विमथिष्यन्ति न ततः किं चन परिशेक्ष्यतऽइति तेभ्य एतं भागमकल्पयदेतं मारुतꣳ सप्तकपालं पुरोडाशꣳ स एष मारुतः सप्तकपालस्तद्यत्सप्तकपालो भवति सप्त-सप्त हि मारुतो गणास्तस्मान्मारुतः सप्तकपालः पुरोडाशो भवति ॥ १३ ॥ तं वै स्वतवोभ्य इति कुर्यात् । स्वयꣳ हि तऽएतं भागमकुर्वतेति स्वतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये न विन्दन्ति स उ खलु मारुत एव स्यात्स वाऽएष प्रजाभ्य एवाहिꣳसायै क्रियते तस्मान्मारुतः ॥ १४ ॥ अथातः पयस्यैव । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः सम्भवन्ति तदेवाभ्य एतत्करोति तद्याः पूर्वैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता एतस्मात्पयस एतस्यै पयस्यायै सम्भवन्ति ॥ १५ ॥ तस्यां मिथुनमस्ति । योषा पयस्या रेतो वाजिनं तस्मान्मिथुनाद्विश्वमसंमितमनु प्राजायत तद्यदेतस्मान्मिथुनाद्विश्वमसंमितमनु प्राजायत तस्माद्वैश्वदेवी भवति ॥ १६ ॥ अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति । एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथोऽएवैष

अग्नि उस सोम या वीर्य को सींचता है। इस प्रकार उत्पादक जोड़ा होता है ॥६॥

अब आठ या बारह कपालों में सविता के लिए पुरोडाश होता है। सविता देवों का प्रेरक है। वह प्रजापति है। बीच का जनक है। इसलिये पुरोडाश होता है ॥१०॥

अब सरस्वती के लिए चरु आता है, और एक चरु पूषा के लिए। सरस्वती स्त्री है और पूषा पुरुष। इस प्रकार जननेवाला जोड़ा मिल गया। इस प्रकार दो प्रकार के जोड़ों के मिलने से प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया—एक से ऊपर की और एक से नीचे की। इसलिये इनके पाँच हवियाँ होतीं हैं (अर्थात् १. अग्नि का पुरोडाश, २. सोम का चरु, ३. सविता का पुरोडाश, ४. सरस्वती की चरु, ५. पूषा का चरु) ॥११॥

अब इसके पश्चात् पयस्या का आयतन एवं मरुत् का सात कपालों का पुरोडाश। मरुत् हैं वैश्य अर्थात् देवों के आदमी। वे स्वतन्त्र फिरते थे। जब प्रजापति यज्ञ कर रहा था तो उन्होंने उसके पास जाकर कहा—'तू इस यज्ञ के द्वारा जो प्रजा उत्पन्न करेगा, उसे हम नष्ट कर डालेंगे' ॥१२॥

प्रजापति ने सोचा कि मेरी पहली प्रजायें तो मर चुकीं। यदि (मरुत्) इस प्रजा को भी मार डालेंगे, तो कुछ न बचेगा। इसलिये उसने उनके लिए अलग भाग रख दिया, अर्थात् सात कपालों में मरुत् के लिए पुरोडाश। ये सात कपाल इसलिए होते हैं कि मरुत् लोगों के सात-सात के गण* होते हैं। इसलिये मरुतों के सात कपाल होने हैं ॥१३॥

'स्वतवोभ्यः' (अपने स्वत्व को बढ़ानेवालों के लिए) ऐसा कहकर आहुति देनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपने स्वत्व को ले लिया। परन्तु यदि याज्ञिकों को याज्य-अनुवाक्य न मिले तो केवल 'मरुतों के लिए' ऐसा कर देवें। यह प्रजा की अहिंसा के लिए किया जाता है, इसलिये मरुतों के लिए होता है ॥१४॥

अब इसके बाद पयस्या की आहुति। दूध से ही प्रजाएँ पलती हैं, दूध से ही प्रजाएँ पली थीं। इसलिये वह अब उनके लिए उसी की आहुति देता है जिसके द्वारा वे पली थीं। जिसको प्रजापति ने पहली हवियों से उत्पन्न किया, वे दूध से ही पलती हैं अर्थात् उसी पयस्या से ॥१५॥

इसमें जोड़ा हो जाता है। पयस्या स्त्री है और मट्ठा वीर्य है। इसी जोड़े से क्रमानुसार अनन्त विश्व उत्पन्न हुआ। और चूंकि इस जोड़े से विश्वदेव उत्पन्न हुआ इसलिए इसको 'वैश्व-देवी' अर्थात् सब देवों की आहुति कहते हैं ॥१६॥

अब एक कपाल पर द्यावापृथिवी की आहुति होती है। इन्हीं हवियों से प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करके द्यौ और पृथिवी के बीच में रख दिया, इसलिये ये द्यौ और पृथिवी के बीच

---

* त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना उस्रा इव राशयो यज्ञियासः। उप त्वेमः कृधि नो भागधेय शुष्मं त एना हविषा विधेम (ऋ० ८।९६।८)। यहाँ ६३ मरुत् हैं। उनके सात-सात के नौ गण हुए।

एतद्ध एतैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति तस्माद्द्यावा-
पृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१७॥ अथात आवृदेव । नोपकिरत्युत्तर-
वेदिं विसृष्टमसत्सर्वमसद्विश्वदेवमसदिति त्रेधा बर्हिः संनद्धं भवति तत्पुनरेकधै-
तद्धि प्रजननस्य रूपं प्रजननमु हीदं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रेधा
तत्पुनरेकधा प्रस्व उपसंनद्धा भवन्ति तं प्रस्तरं गृह्णाति प्रजननमु हीदं प्रजनन-
मु हि प्रस्वस्तस्मात्प्रसूः प्रस्तरं गृह्णाति ॥१८॥ आसाद्य हवीꣳष्यग्निं मन्थन्ति ।
अग्निꣳ ह वै जायमानमनु प्रजापतेः प्रजा जज्ञिरे तथोऽएवैतस्याग्निमेव जायमान-
मनु प्रजा जायन्ते तस्मादासाद्य हवीꣳष्यग्निं मन्थन्ति ॥१९॥ नवप्रयाजं भवति ।
नवानुयाजं दशाक्षरा वै विराडथैतामुभयतो न्यूनां विराजं करोति प्रजननायैत-
स्माद्वाऽउभयतो न्यूनात्प्रजननात्प्रजापतिः प्रजाः ससृजऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्त-
थोऽएवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात्प्रजननात्प्रजाः सृजतऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावा-
चीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम् ॥२०॥ त्रीणि समिष्टयजूꣳषि भवन्ति ।
ज्याय इव हीदꣳ हविर्यज्ञाद्यत्र नवप्रयाजं नवानुयाजमथोऽअप्येकमेव स्याद्धविर्य-
ज्ञो हि तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा ॥२१॥ एतेन वै प्रजापतिः यज्ञेनेष्ट्वा । येयं प्र-
जापतेः प्रजातिर्या श्रीरेतद्बभूवैताꣳ ह वै प्रजातिं प्रजायतऽएताꣳ श्रियं गच्छति य
एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५.१.]॥॥

वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवा-
न्जक्षुर्वरुण्यो ह वाऽअग्रे यवस्तद्यन्नेव वरुणस्य यवान्प्रादस्तस्माद्वरुणप्रघासा
नाम ॥१॥ ता वरुणो जग्राह । ता वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्य-
श्च शिश्यिरे च निषेदुश्च प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सर्वा देवता
अपचक्रमुस्तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः ॥२॥ ता एतेन हविषा प्रजा-
पतिरभिषज्यत् । तद्याश्चैवास्य प्रजा जाता आसन्याश्चाजातास्ता उभयीर्वरुणपाशा-

में रक्खे हुए हैं। जो कोई इन आहुतियों से कोई आहुति देता है वह प्रजा को उत्पन्न करके द्यौ और पृथिवी के बीच में रख देता है। इसलिये द्यावापृथिवी का एक कपाल होता है ॥१७॥

अब इसके पीछे कार्यक्रम कहते हैं। उत्तर-वेदि नहीं बनाते जिससे यह परिमित न हो; पूर्ण हो और विश्वेदेवों की हो। बर्हि को तीन गट्ठों में बाँधते हैं, फिर एक में कर लेते हैं। उत्पत्ति का यही रूप है। माता-पिता दो होते हैं। जो सन्तान उत्पन्न होती है वह तीसरी होती है। इसलिये जो त्रित्व है वह पीछे से एक हो जाता है। बर्हि के फूले हुए सिरे (प्रस्वः) बँधे होते हैं। उनको वह प्रस्तर के रूप में ग्रहण करता है, क्योंकि यह जलनेवाला संयोग है। फूले हुए बर्हि उत्पन्न करनेवाले होते हैं। यही कारण है कि वह फूले हुए कुशों को प्रस्तर के रूप में ग्रहण करता है ॥१८॥

हवियों को रखकर अग्नि को मथता है। अग्नि के उत्पन्न होने के पश्चात् ही प्रजापति की प्रजा हुई। इसी प्रकार इस यजमान के भी अग्नि के उत्पन्न होने पर ही प्रजा होगी। यही कारण है कि वह हवियों को रखने के पश्चात् अग्नि का मन्थन करते हैं ॥१९॥

नौ प्रयाज होते हैं और नौ अनुयाज। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। इसलिये वह दोनों बार विराट् से न्यून (दस से कम नौ बार) ही जनने के लिए लेता है। क्योंकि प्रजापति ने न्यून प्रजनन से ही दो बार उत्पत्ति की, ऊपर की ओर और नीचे की ओर, इसीलिए नौ प्रयाज होते हैं और नौ अनुयाज ॥२०॥

तीन समिष्ट-यजुष् होते हैं, क्योंकि यह हविर्यज्ञ से बड़ा होता है, क्योंकि इसमें नौ प्रयाज होते हैं और नौ अनुयाज। समिष्ट-यजुष् एक भी हो सकता है; तब यह हविर्यज्ञ ही होता है। इसकी दक्षिणा पहलौटी गौ होती है ॥२१॥

जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है, उसको वही प्रजा उत्पन्न होती है और वही श्री प्राप्त होती है जो प्रजापति के यज्ञ करने से प्रजा उत्पन्न हुई और श्री उसको प्राप्त हुई ॥२२॥

अध्याय ५—ब्राह्मण २

प्रजापति ने वैश्वदेव यज्ञ करके ही प्रजा उत्पन्न की। वह उससे उत्पन्न हुई प्रजा वरुण के जौ को खा गई। जौ पहले वरुण का ही था। चूँकि उन्होंने वरुण के जौ खाये, इसलिये इस यज्ञ का नाम 'वरुण प्राघास' पड़ा ॥१॥

वरुण ने उनको पकड़ लिया। वरुण से पकड़े जाकर वे सूज गये, और वे लेट गये तथा साँस बाहर-भीतर लेते हुए बैठे रहे। केवल प्राण और उदान ने उनको न छोड़ा; और सब देवता छोड़ गये, और इन्हीं दो के कारण प्रजा मरी नहीं ॥२॥

प्रजापति ने इस हवि के द्वारा उनको चंगा किया। और जो प्रजा उत्पन्न हो चुकी थी और जो अभी उत्पन्न नहीं हुई थी, उस सबको वरुण के जाल से मुक्त कर दिया, और उसकी

त्प्रामुञ्चत्ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायत ॥३॥ अथ यदेष एतैश्चतु-
र्थे मासि यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा प्रजा वरुणो गृह्णातीति देवा अकुर्व-
न्निति न्वेवैष एतत्करोति याश्च न्वेवास्य प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयीर्वरु-
णपाशात्प्रमुञ्चति ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायते तस्माद्वाऽएष ए-
तैश्चतुर्थे मासि यजते ॥४॥ तद्वै द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः । तद्यद्द्वे वेदी द्वावग्नी भ-
वतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद्द्वे वेदी
द्वावग्नी भवतः ॥५॥ स उत्तरस्यामेव वेदौ । उत्तरवेदिमुपकिरति न दक्षिणस्यां
क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः क्षत्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्ष-
त्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादुत्तरस्यामेव वेदाऽउत्तरवेदिमुपकिरति न
दक्षिणस्याम् ॥६॥ अथैतान्येव पञ्च हवीꣳषि भवन्ति । एतैर्वै हविर्भिः प्रजाप-
तिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो वरुणपाशात्प्रजाः प्रामुञ्चदितश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्त-
स्माद्वाऽएतानि पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥७॥ अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो
भवति । प्राणोदानौ वाऽइन्द्राग्नी तद्यथा पुण्यं चक्रुषे पुण्यं कुर्यादेवं तत्तयोर्हे-
वास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुस्तत्प्राणोदानाभ्यामेवैतत्प्रजा भिषज्यति प्राणोदा-
नौ प्रजासु दधाति तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥ उभयत्र
पयस्ये भवतः । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता
यतः सम्भवन्ति तत एवैतदुभयतो वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावा-
चीस्तस्मादुभयत्र पयस्ये भवतः ॥९॥ वारुण्युत्तरा भवति । वरुणो ह वाऽअस्य
प्रजा अगृह्णात्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति मारुती दक्षिणाजामितायै न्वे-
व मारुती भवति जामि ह कुर्याद्यदुभे वारुण्यौ स्यातामतो ह वाऽअस्य दक्षि-
णतो मरुतः प्रजा अजिघाꣳसꣳस्तानेतेन भागेनाशमयꣳस्तस्मान्मारुती दक्षिणा ॥१०॥
तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति । कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कमुवै-

प्रजा रोगरहित और दोषरहित उत्पन्न हुई ॥३॥

यह यजमान जो चौथे मास में यज्ञ करता है, वह इसलिये करता है कि प्रजा वरुण के जाल से बची रहे, या चूंकि देवों ने यह यज्ञ किया था, और वह जो सन्तान उत्पन्न हो चुकी और जो होनेवाली है उसको वरुण के जाल से मुक्त कर देता है और उसकी सन्तान निर्दोष और नीरोग उत्पन्न होती है, इसलिये वह चौथे मास में (वरुण प्रघास यज्ञ) करता है ॥४॥

इस (यज्ञ) में दो वेदियाँ होती हैं और दो अग्नियाँ। दो वेदियाँ और दो अग्नियाँ क्यों होती हैं ? इसलिये कि वह दोनों ओर से प्रजा को वरुण के जाल से छुड़ा देता है, ऊपर की भी और नीचे की भी। इसलिये दो वेदियाँ और दो अग्नियाँ होती हैं ॥५॥

उत्तर की दिशा में उत्तर की वेदी बनाई जाती है, दक्षिण की दिशा में नहीं। वरुण क्षत्रिय है और मरुत् वैश्य लोग। वह इस प्रकार क्षत्रियों को वैश्यों से उच्च ठहराता है, इसी-लिये क्षत्रियों को उच्च आसन पर बिठाकर सर्वसाधारण उनकी पूजा करते हैं। यही कारण है कि उत्तर की दिशा में वेदी बनाते हैं, दक्षिण की दिशा में नहीं ॥६॥

पहले पाँच हवियाँ होती हैं। क्योंकि इन पाँच हवियों के द्वारा ही प्रजापति ने प्रजायें उत्पन्न कीं और इन्हीं के द्वारा प्रजाओं को दोनों ओर से वरुण के जाल से बचाया, वे जो ऊपर की ओर थे और जो नीचे की ओर। यही कारण है कि पाँच हवियाँ होती हैं ॥७॥

अब इन्द्र-अग्नि के लिए बारह कपालों में पुरोडाश दिया जाता है। इन्द्र-अग्नि वस्तुत: प्राण और उदान हैं। यह एक प्रकार से उसके लिए पुण्य करना है जिसने पुण्य किया। क्योंकि इन्हीं दो के कारण प्रजा मरी नहीं। इसलिए अब वह अपनी प्रजा को प्राण और उदान के द्वारा चंगा करता है। प्रजाओं में प्राण और उदान को स्थापित करता है। इसलिये बारह कपालों का पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिए होता है ॥८॥

दोनों (अग्नियों) के लिए पयस्या की आहुतियाँ होती हैं। दूध से ही प्रजा जीती है और दूध से ही जीते रहे। इसलिये उसी वस्तु के द्वारा जिससे वे बचे रहे और जिससे वे पलते हैं, वह उनको वरुण के जाल से दोनों ओर छुड़ाता है, ऊपर की ओर से और नीचे की ओर से। इसलिये दोनों (अग्नियों) के लिए पयस्या की आहुति होती है ॥९॥

उत्तर की हवि वरुण के लिए होती है। क्योंकि वरुण ने ही तो उसकी प्रजा पकड़ी थी। इसलिये वह प्रत्यक्ष ही वरुण के जाल से प्रजा को छुड़ाता है। दक्षिण की हवि मरुतों के लिए होती है। एक-सी न हो, इसलिये मरुतों के लिए होती है। यदि दोनों आहुतियाँ वरुण के लिए होतीं तो एक-सी हो जातीं। दक्षिण से ही मरुतों ने प्रजा को मारना चाहा था और उसी भाग से (प्रजापति ने) उनको शान्त किया। इसलिये दक्षिण की आहुति मरुतों की होती है ॥१०॥

उन दोनों आहुतियों के ऊपर करीर-फल* (करीराणि) डालता है। प्रजापति ने करीर-फल से ही प्रजाओं को सुखी (संस्कृत में 'क' का अर्थ सुख है) किया। इसलिये वह प्रजाओं

---

* क्या यह ब्रज का करील तो नहीं है ? एगेलिंग के अनुसार Capparis Aphvlla.

ष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते ॥११॥ तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति । शं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत शम्वेवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते ॥१२॥ अथ काय एककपालः पुरोडाशो भवति । कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन पुरोडाशेनाकुरुत कम्वेवैष एतत्प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन पुरोडाशेन कुरुते तस्मात्काय एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१३॥ अथ पूर्वेद्युः । अन्वाहार्यपचने ऽतुषानिव यवान्कृत्वा तानीषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि ॥१४॥ तत्रापि मेषं च मेषीं च कुर्वन्ति । तयोर्मेषे च मेष्यां च यद्यनेडकीरूर्णा विन्देत्ताः प्रणिह्य निश्लेषयेद्यद्यु ऽअनेडकीर्न विन्देद्यथो ऽअपि कुशोर्णा एव स्युः ॥१५॥ तद्यन्मेषश्च मेषी च भवतः । एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषस्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति यवमयौ भवतो यवान्हि जक्षुषीर्वरुणोऽगृह्णान्मिथुनौ भवतो मिथुनादेवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति ॥१६॥ स उत्तरस्यामेव पयस्यायां मेषीमवदधाति । दक्षिणस्यां मेषमेवमिव हि मिथुनं कॢप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते ॥१७॥ स सर्वाण्येव हवींष्यध्वर्युः । उत्तरस्यां वेदावासादयत्यथैतामेव पयस्यां प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्यां वेदावासादयति ॥१८॥ आसाद्य हवींष्यग्निं मन्थति । अग्निं मन्थित्वानुप्रहृत्याभिजुहोत्यथाध्वर्युरेवाहाग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति ताऽउभावेवेध्मावभ्याधत्त उभौ समिधौ परिशिष्टेऽउभौ पूर्वावाघारावाघारयतोऽथाध्वर्युरेवाहाग्निमग्नीत्संमृड्ढीत्यसंमृष्टमेव भवति सम्प्रेषितम् ॥१९॥ अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति । स पत्नीमुदानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति वरुण्यं वाऽएतत्स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मेऽन्तःशल्या जुहवदिति तस्मात्पृच्छति निरुक्तं वाऽएनः कनीयो भवति सत्यं हि भवति तस्मादेव पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यै तदहितं स्यात् ॥२०॥ तां वाचयति । प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः ।

को उसी से सुख पहुँचाता है ॥११॥

उनके ऊपर वे वह शमी वृक्ष के पत्ते भी डालता है। प्रजापति ने प्रजाओं को शमी के वृक्षों से ही शान्त (शं) किया, इसलिये वह प्रजाओं को उसी से शान्त करता है ॥१२॥

अब एक कपाल का पुरोडाश 'क' अर्थात् प्रजापति के लिए होता है। 'क' प्रजापति ने 'क' के लिए एक कपाल के पुरोडाश से प्रजाओं को सुख (क) पहुँचाया। इसी प्रकार यह भी 'क' के लिए एक कपाल के पुरोडाश से प्रजा को सुख (क) पहुँचाता है। इसलिये 'क' (प्रजापति) के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है ॥१३॥

अब यज्ञ के पहले दिन अन्वाहार्य-पचन अर्थात् दक्षिणाग्नि पर जौ की भूसी निकालकर और उनको कुछ पकाकर करम्भ के इतने पात्र बनाते हैं जितने घर के लोग हों और एक अधिक। (करम्भ जौ और दही का बनता है ॥१४॥

वहीं एक मेष और एक मेषी भी बनाते हैं। यदि एडक भेड़ के सिवाय किसी अन्य भेड़ की ऊन मिले तो उस मेष और मेषी को साफ करके उस पर लगा दें। और यदि एडक भेड़ को छोड़कर अन्य की ऊन न मिले तो कुशों का अग्र-भाग ही लगा दें ॥१५॥

यह मेष-मेषी क्यों बनाते हैं ? मेष प्रत्यक्ष रूप से वरुण का पशु है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ा देता है। उनको जौ का इसलिये बनाते हैं कि जब इन्होंने जौ खाये तभी तो वरुण ने इनको पकड़ा। जोड़ा इसलिए बनाते हैं कि जोड़े से ही प्रजा वरुण के पाश से छूटती है ॥१६॥

उत्तरी पयस्या पर मेषी को रखता है और दक्षिण की पयस्या पर मेष को। क्योंकि इसी प्रकार ठीक जोड़ा मिलता है। क्योंकि स्त्री पुरुष से उत्तर की (बाईं) ओर लेटती है ॥१७॥

अध्वर्यु अन्य सब हवियों को उत्तर की वेदी में रखता है, और प्रतिप्रस्थाता दक्षिण की वेदी में पयस्या को रखता है ॥१८॥

हवियों को रखकर अग्नि का मन्थन करता है। अग्नि को मथकर और वेदी पर लाकर आहुति देता है। पहले अध्वर्यु होता से कहता है—'अग्नये समिध्यमानाम्।' (जलाई गई अग्नि लिये) ऐसा कह। तब दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) ईंधन रखकर एक-एक समिधा रखते हैं, और दोनों पहली आधार या आहुति छोड़ते हैं। इस प्रकार अध्वर्यु कहता है—'अग्निमग्नीत् संमृड्ढि।' (हे अग्नीध्, अग्नि को ठीक कर)। अभी केवल कहा जाता है, अग्नि ठीक नहीं की जाती ॥१९॥

अब प्रतिप्रस्थाता (उस जगह जहाँ गृह-पत्नी होती है) लौटता है। वह पत्नी को ले जाने की इच्छा करता हुआ पूछता है—'तू किसके साथ सहवास करती है ?' (केन चरसि ?)। यदि स्त्री एक की होकर दूसरे के साथ सहवास करे तो पाप करती है। वह इसलिये पूछता है कि कहीं वह मन में पछतावा करके आहुति न दे दे। निरुक्त पाप (अर्थात् पाप कहा हुआ) कम हो जाता है; क्योंकि यह सच होता है। इसीलिये वह ऐसा पूछता है। यदि वह पाप को छिपा लेगी तो उसके सम्बन्धियों के लिए अहित होगा ॥२०॥

अब वह उससे कहलवाता है—"प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण

करम्भेण सजोषस इति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेषैतयैवैनानेतेभ्यः पात्रेभ्यो ह्वयति ॥२१॥ तानि वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता वरुणपाशात्प्रमुञ्चत्येकेनाति-रिक्तानि भवन्ति तया एवास्य प्रजा अजातास्ता वरुणपाशात्प्रमुञ्चति तस्मादेके-नातिरिक्तानि भवन्ति ॥२२॥ पात्राणि भवन्ति पात्रेषु ह्यशनमश्यते यवमयानि भवन्ति यवान्हि जक्षुषीर्वरुणोऽगृह्णाच्छूर्पेण जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पत्नी जुहोति मिथुनादेवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चति ॥२३॥ पुरा यज्ञात्पुराहुतिभ्यो जु-होति । अहुतादो वै विशो विशो वै मरुतो यत्र वै प्रजापतेः प्रजा वरुणगृही-ताः परिदीर्णा अनन्त्यश्च प्राणन्त्यश्च शिश्यिरे च निषेदुश्च तद्धासां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे तथोऽएवैतस्य प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमथ्नति तस्मात्पुरा यज्ञात्पुराहु-तिभ्यो जुहोति ॥२४॥ स वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति । यद्ग्रामे यदरण्यऽइति ग्रामे वा ह्यरण्ये वैनः क्रियते यत्सभायां यदिन्द्रियऽइति यत्सभायामिति यन्मानुषऽइ-ति तदाह यदिन्द्रियऽइति यद्देवत्रेति तदाह यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहेति यत्किं च वयमेनश्चकृमेदं वयं तस्मात्सर्वस्मात्प्रमुच्यामहऽइत्येवैतदाह ॥२५॥ अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति । यत्र वै प्रजापतेः प्रजानां मरुतः पाप्मानं वि-मेथिरे तद्धेक्षां चक्रऽइमे ह मे प्रजा न विमथ्नीरन्निति ॥२६॥ स एतामैन्द्रीं म-रुत्वतीमजपत् । क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेद्धा निषिद्धा असन्निति तस्मादैन्द्री ॥२७॥ मो षू णः । इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शु-ष्मिन्नवयाः । महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीरिति ॥२८॥ अथैनां वाचयति । अक्रन्कर्म कर्मकृत इत्यक्रन्हि कर्म कर्मकृतः सह वाचा म-योभुवेति सह हि वाचाक्रन्देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुव इत्यन्यतो ह्येतया सह भवन्ति तस्मादाह सचाभुव इत्यस्तं प्रेतेति ज-

सजोषसः" (यजु० ३।४४)—"प्रघास और करम्भ नामी हवियों को खूब खानेवाले और इन शत्रुओं का नाश करनेवाले मरुतों को हम बुलाते हैं।" यह अनुवाक्य है। इससे वह मरुतों को पात्रों तक बुलाती है ॥२१॥

हर एक के लिए एक-एक पात्र होता है। जितने घर के लोग होते हैं उतने ही पात्र होते हैं और एक अधिक। एक-एक पुरुष के लिए एक-एक इसलिये होता है कि जो प्रजा उत्पन्न हुई है वह वरुण के पाश से छूट जाय। जो एक पात्र बच रहा वह इसलिये कि उससे जो सन्तान अभी उत्पन्न नहीं हुई वह वरुण के पाश से छूट जाय। इसलिये एक पात्र अधिक होता है ॥२२॥

पात्र इसलिए होते हैं कि पात्रों में ही खाना खाते हैं। जौ के इसलिए बनाये जाते हैं क्योंकि जब प्रजा ने जौ खाये तभी वरुण ने उनको पकड़ा। शूर्प (छाज) से आहुति देते हैं कि शूर्प (छाज) से ही भोजन तैयार किया जाता है। (पति के साथ) पत्नी भी आहुति देती है क्योंकि जोड़े द्वारा ही वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ाता है ॥२३॥

यज्ञ से पूर्व, आहुति से पूर्व ही इसलिए अर्पण करती है क्योंकि लोग (विश) आहुतियों को नहीं खाते और मरुत् लोग (विश) हैं। जब प्रजापति की प्रजा को वरुण ने पकड़ लिया और विदीर्ण कर दिया और वह श्वास-प्रश्वास लेते हुए लेट गये और बैठ गये, तब उनके पापों को मरुतों ने ही दूर किया था। इसी प्रकार इस यजमान की सन्तान का पाप भी मरुत् ही दूर करते हैं, इसलिए यज्ञ के पहले ही और आहुतियों से ही अर्पण करती है ॥२४॥

वह दक्षिण-अग्नि में आहुति देता है यह पढ़कर, "यद् ग्रामे यदरण्ये" (यजु० ३।४५)—"जो (पाप) गाँव में किया और जो वन में।" पाप गाँव में भी होता है और वन में भी। फिर कहता है—"यत् सभायां यदिन्द्रिये।" (यजु० ३।४५) अर्थात् "जो पाप सभा में किया और जो इन्द्रिय (अपने) में।' 'सभा में' का अर्थ है मनुष्यों के प्रति, 'इन्द्रिय में' का अर्थ है देवताओं के प्रति। अब कहता है—"यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा।" (यजु० ३।४५)—"जो कुछ पाप हमने किया उसके लिए हम यज्ञ करते हैं।" तात्पर्य यह है कि जो कुछ पाप हमने किया उस सबसे हम छुटकारा पाते हैं ॥२५॥

अब इन्द्र और मरुत् का मन्त्र पढ़ता है। जब प्रजापति की प्रजाओं का मरुतों ने पाप छुड़ाया तो उसने सोचा, 'ये मेरी प्रजा का नाश न करेंगे' ॥२६॥

उसने इन्द्र और मरुत् के मन्त्र को पढ़ा। इन्द्र क्षत्रिय है और मरुत् वैश्य (या साधारण लोग)। क्षत्रिय ही लोगों को वश में करनेवाले हैं। इन्द्र के मन्त्र को इसलिए पढ़ता है कि वह लोगों को वश में कर लेगा ॥२७॥

"मो षू णऽ इन्द्राऽत्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः। महश्चिद् यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः" (यजु० ३।४६)—"हे इन्द्र, युद्धों में हमारा देवों के साथ (झगड़ा) न हो। हे बलवान्! तेरे लिए यज्ञ में भाग है। हे बहुत बड़े दान की वर्षा करनेवाले, यजमान की स्तुति तेरे जौ के द्वारा पूज्य मरुतों की प्रशंसा करती है ॥२८॥

अब वह (पत्नी से) कहलवाता है—"अक्रन् कर्म कर्मकृते" (यजु० ३।४७)—"कर्म के कुशल लोगों ने कर्म कर लिया।" कर्म-कुशल लोगों ने कर्म कर ही लिया। अब कहता है—"सह वाचा मयो भुवा" (यजु० ३।४७)—"हर्ष-पूर्ण वाणी के साथ।" उन्होंने वाणी के साथ कर्म किया (अर्थात् मन्त्र पढ़ते हुए)। अब कहती है—"देवेभ्यः कर्म कृत्वा।" (यजु० ३।४७)—"देवों के लिए कर्म करके।" क्योंकि देवों के लिए ही तो कर्म किया गया। अब कहती है, "अस्तं प्रेत सचाभुवः (यजु० ३।४७)—"हे साथियो! घर जाओ।" 'सचाभुवः' इसलिए कहा कि वे दूसरी जगह से लाई गईं और अब वे उसके साथ हैं। वह कहती है, "अस्तं प्रेत" (घर जाओ);

घनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रासीषदृद्धा वाऽअस्तं गृहाः प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥२९॥ प्रतिपराणीयोदैति प्रतिप्रस्थाता । संमृजन्त्यग्निᳪ संमृष्टेऽग्नौ ताऽउभावेवोत्तरावाघारावाघारयतोऽथाध्वर्युरेवाश्राव्य होतारं प्रवृणीते प्रवृतो होतोत्तरस्यै वेदेर्होतृषदनऽउपविशत्युपविश्य प्रसौति ताऽउभावेव प्रसूतौ स्रुच आदायातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह समिधो यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानयमानौ नवभिः प्रयाजैश्चरतः ॥३०॥ अथाध्वर्युरेवाहाग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागं ता उभावेव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निं यजेति ताऽउभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३१॥ अथाध्वर्युरेवाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्यमाज्यभागं ता ऽउभावेव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह सोमं यजेति ता ऽउभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३२॥ तद्यत्किं च वाचा कर्तव्यम् । अध्वर्युरेव तत्करोति न प्रतिप्रस्थाता तद्यदध्वर्युरेवाश्रावयतीहैव यत्र वषट्क्रियते ॥३३॥ कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता । क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतस्तत्क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति प्रत्युद्यामिनीᳪ ह क्षत्राय विशं कुर्याद्यदपि प्रतिप्रस्थाताश्रावयेत्तस्मान्न प्रतिप्रस्थाताश्रावयति ॥३४॥ पाणावेव प्रतिप्रस्थाता । स्रुचौ कृत्वोपास्तेऽथाध्वर्युरेवैतैर्हविर्भिः प्रचरत्याग्नेयेनाष्टाकपालेन पुरोडाशेन सौम्येन चरुणा सावित्रेण द्वादशकपालेन वाष्टाकपालेन वा पुरोडाशेन सारस्वतेन चरुणा पौष्णेन चरुणैन्द्राग्नेन द्वादशकपालेन पुरोडाशेन ॥३५॥ अथैताभ्यां पयस्याभ्यां प्रचरिष्यन्तौ विपरिहरतः । स यो मेषो भवति मारुत्यां तं वारुण्यामवदधाति या मेषी भवति वारुण्यां तां मारुत्यामवदधाति तद्यदेवं विपरिहरतः क्षत्रं वै वरुणो वीर्यं पुमान्वीर्यमेवैतत्क्षत्रे धत्तोऽवीर्या वै स्त्री विशो मरुतस्तदवीर्यामेवैतद्विशं कुरुतस्तस्मादेवं विपरिहरतः ॥३६॥ अथाध्वर्युरेवाह वरुणाया-

पत्नी यज्ञ का निचला भाग है। और उसने उसको यज्ञ के पूर्व की ओर बिठलाया है। 'अस्तं' का अर्थ है 'गृह'। घर बैठने की जगह है। इसलिए वह उसको बैठने की जगह अर्थात् घर में बिठालता है। (Perhaps this part is to be addressed by यज्ञपति to his पत्नी। He asks her to go home from the sacrificial place.) ॥२९॥

प्रतिप्रस्थाता उसको बिठालकर लौट आता है। अब वे आग को ठीक करते हैं। जब आग ठीक हो गई तो दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) दूसरी आहुति देते हैं। फिर अध्वर्यु (आग्नीध्र को) श्रौषट् की आज्ञा देकर होता का वरण करता है। वरा हुआ होता वेदी के उत्तर में होता के स्थान में बैठता है और बैठकर दोनों को प्रेरणा करता है। इस प्रकार प्रेरित होकर वे दोनों स्रुचों को लेकर (दक्षिण की ओर) आते हैं। और 'श्रौषट्' की आज्ञा देकर अध्वर्यु (होता से) कहता है—'समिधो यज।' और हर प्रयाज में कहता है—'यज, यज।' चौथे प्रयाज में (चमचे से जुहू में) घी डालता है और दोनों नौ प्रयाजों को करते हैं ॥३०॥

अब अध्वर्यु (होता से) कहता है, 'अग्नये अनुब्रूहि।' (अग्नि के लिए प्रार्थना कर)। यह अग्नि के आज्य भाग की ओर संकेत है। अब ये दोनों आज्य भाग में से चार भाग लेकर (उत्तर की ओर) चले जाते हैं। (उत्तर की ओर) जाकर और 'श्रौषट्' कहकर अध्वर्यु कहता है, 'अग्निं यज।' 'वषट्' कहकर वे दोनों आहुतियाँ देते हैं ॥३१॥

मब अध्वर्यु कहता है, 'सोमाय अनुब्रूहि।' (सोम के लिए प्रार्थना कर)। यह सोम के आज्य-भाग के लिए कहा। दोनों आज्य के चार भाग लेकर चलते हैं और चलकर और 'श्रौषट्' कहकर अध्वर्यु होता से कहता है, 'सोमं यज।' तब दोनों 'वषट्' कहकर आहुतियाँ डालते हैं ॥३२॥

जो कुछ वाणी से कहना होता है उसे अध्वर्यु कहता है, न कि प्रतिप्रस्थाता। अब केवल अध्वर्यु ही 'श्रौषट्' क्यों कहता है? वस्तुतः जब वषट् कहा जाता है—॥३३॥

तो प्रतिप्रस्थाता केवल किये का अनुकरण करता है। वरुण क्षत्रिय है। मरुत् विश या लोग हैं। इस प्रकार वह विशों या लोगों से क्षत्रिय का अनुकरण कराता है। अगर प्रतिप्रस्थाता भी 'श्रौषट्' कहेगा तो क्षत्रिय और अन्य लोग समान हो जायेंगे। इसलिए प्रतिप्रस्थाता श्रौषट् नहीं कहता ॥३४॥

प्रतिप्रस्थाता दो स्रुचों को हाथ में लेकर बैठ जाता है। तब अध्वर्यु उन आहुतियों को करता है। अग्नि की आहुति आठ कपालवाले पुरोडाश से, सोम की चरु से, सविता की बारह कपालों या आठ कपालों के पुरोडाश से, सरस्वती की चरु से, पूषा की चरु से, इन्द्र-अग्नि की बारह कपालों के पुरोडाश से ॥३५॥

इन दोनों पयस्यों को करने की इच्छा करते हुए दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) मेष और मेषी को बदल लेते हैं। जो मेष मरुतों के पात्र में था उसे वरुण के पात्र में रख देता है। जो वरुण के पात्र में मेषी थी उसे मरुतों के पात्र में रख देता है। यह परिवर्तन इसलिए करते हैं कि वरुण क्षत्रिय है। पुरुष वीर्य है। इस प्रकार वह क्षत्रिय में वीर्य धारण कराते हैं। स्त्रीवीर्य शून्य है। मरुत् लोग (विश) हैं। इस प्रकार वे लोगों को वीर्यरहित करते हैं। इसीलिए वे इस प्रकार बदलते हैं ॥३६॥

अब अध्वर्यु (होता से) कहता है, 'वरुणाय अनुब्रूहि।'—'वरुण के लिए प्रार्थना कर।'

नुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथास्यै वारुण्यै पयस्यायै द्विरवद्यति सोऽन्यतरेणावदानेन सह मेषमवद्धात्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानेऽअतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह वरुणं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥३७॥ सव्ये पाणावध्वर्युः । स्रुचौ कृत्वा दक्षिणेन प्रतिप्रस्थातुर्वा सोऽन्वारभ्याह मरुद्भ्योऽनुब्रूहीत्युपस्तृणीतऽआज्यं प्रतिप्रस्थाताथास्यै मारुत्यै पयस्यायै द्विरवद्यति सोऽन्यतरेणावदानेन सह मेषीमवद्धात्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानेऽअतिक्रामत्यथाध्वर्युरेवाश्राव्याह मरुतो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥३८॥ अथाध्वर्युरेव कायेन । एककपालेन पुरोडाशेन प्रचरति कायेनैककपालेन पुरोडाशेन प्रचर्याध्वर्युरेवाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति स सर्वेषामेव हविषामध्वर्युः सकृत्सकृदवद्यत्यथैतस्याऽएव पयस्यायै प्रतिप्रस्थाता सकृदवद्यत्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयतस्ताऽउभावेवातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निꣳ स्विष्टकृतं यजेति ताऽउभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३९॥ अथाध्वर्युरेव प्राशित्रमवद्यति । इडाꣳ समवदाय प्रतिप्रस्थात्रेऽतिप्रजिहीते तत्रापि प्रतिप्रस्थाता मारुत्यै पयस्यायै द्विरभ्यवद्यत्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयत्युपहूय मार्जयन्ते ॥४०॥ अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन्प्रस्थास्यामि । समिधमाधायाग्निमग्नीत्संमृड्ढीति स स्रुचोरेवाध्वर्युः पृषदाज्यं व्यानयतेऽथ यदि प्रतिप्रस्थातुः पृषदाज्यं भवति तत्स द्वेधा व्यानयतऽउतो तत्र पृषदाज्यं न भवति स यदेवोपभृत्याज्यं तत्स द्वेधा व्यानयते ताऽउभावेवातिक्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह देवान्यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थेऽनुयाजे समानयमानौ नवभिरनुयाजैश्चरतस्तद्यन्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजं तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम् ॥४१॥ ताऽउभावेव सादयित्वा स्रुचौ व्यूहतः । स्रुचौ व्यूह्य परिधीन्त्समज्य परिधिमभिपद्याश्राव्याध्वर्युरेवाहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सू-

वह अब आज्य का नीचे का भाग (जुहू में) डालता है और वरुण की पयस्या में से दो भाग लेकर इनमें से किसी भाग के साथ मेष को रखता है। अब उन पर घी छोड़ता है और जहाँ से वे भाग काटे गये उस स्थान को पूर्ण कर देता है। फिर (दक्षिण की ओर) आ जाता है। इसके पश्चात् अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर होता से कहता है, 'वरुणं यज।' और 'वषट्कार' कहकर आहुति देता है ॥३७॥

अब अध्वर्यु बायें हाथ में दोनों स्रुचों को लेकर दाहिने हाथ से प्रतिप्रस्थाता का कपड़ा पकड़कर कहता है, 'मरुद्भ्योऽनुब्रूहि।'—'मरुतों के लिए प्रार्थना कर।' अब प्रतिप्रस्थाता आज्य के निचले भाग को (जुहू में) डालकर मरुतों के पयस्या से दो भाग काटकर किसी एक के साथ मेषी को रखता है और ऊपर से घी छोड़ता है और जहाँ से दो भाग काटे गये थे उनके स्थान की पूर्ति कर देता है और (दक्षिण की ओर) चला आता है। अब अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'मरुतो यज।' और वषट्कार कहकर आहुति देता है ॥३८॥

अब अध्वर्यु 'क' के एक कपालवाले पुरोडाश को लेता है और 'क' के एक कपालवाले पुरोडाश को लेकर अध्वर्यु कहता है, 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि।'—'स्विष्टकृत् अग्नि के लिए प्रार्थना कर।' अब अध्वर्यु सब हवियों में से एक-एक भाग लेता है; और प्रतिप्रस्थाता भी उसी पयस्या में से एक भाग लेता है। अब वे दो बार घी छोड़ते हैं और दोनों (दक्षिण की ओर) आते हैं। अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर कहता है, 'अग्निं स्विष्टकृतं यज।' वे दोनों 'वषट्' कहकर आहुति देते हैं ॥३९॥

अब अध्वर्यु अगला भाग काटता है। अब इडा को टुकड़े-टुकड़े करके प्रतिप्रस्थाता के हवाले करता है। प्रतिप्रस्थाता उन पर मरुतों के पयस्या से दो भाग रख देता है। (अध्वर्यु) उन पर दो बार घी छोड़ता है और 'इडा' कहकर वह अपने को पवित्र कर लेता है ॥४०॥

अब अध्वर्यु कहता है, 'ब्रह्मन्! मैं आगे जाऊँ।' समिधाओं को रखकर कहता है, 'हे अग्नीध्र, अग्नि ठीक कर।' अब अध्वर्यु स्रुचों में नवनी (पृषदाज्य) को डालता है। प्रतिप्रस्थाता भी यदि उसके पास नवनी हो तो उसके दो भाग करके स्रुचों में उँडेलता है। परन्तु यदि नवनी न हो तो उपभृति में जो घी हो उसके दो भाग करके अलग-अलग उँडेल देता है। अब वे दोनों (दक्षिण की ओर) चलते हैं और अध्वर्यु 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'देवान् यज यज।' इस प्रकार हर अनुयाज में कहता है और हर चौथे अनुयाज में चमचे में घी छोड़ता है। इस प्रकार वे दोनों नौ अनुयाज करते हैं। नौ प्रयाज और नौ अनुयाज क्यों किये जाते हैं? इसलिए कि दोनों बार प्रजा को वरुण के पाश से छुड़ाता है—पहले से ऊपर के और पिछले से नीचे के। इसीलिए नौ प्रयाज होते हैं, और नौ अनुयाज ॥४१॥

अब वे दोनों स्रुचों को (वेदी में) रखकर अलग कर देते हैं। स्रुचों को अलग करके, परिधियों पर घी डालकर और एक परिधि को लेकर 'श्रौषट्' कहकर अध्वर्यु होता से कहता है—'दिव्य-होता लोग भद्र कहने के लिए बुलाये गये और मनुष्य-होता सूक्तवाक् अर्थात् प्रार्थना के

न्वाकायेति सूक्तवाकᳮ होता प्रतिपद्यतेऽथैताऽउभाविव प्रस्तरौ समुल्लुम्पतऽउ-
भावनुप्रहरत उभौ तृणेऽअपगृह्योपासाते यदा होता सूक्तवाकमाह ॥४२॥ अ-
थाग्नीदाहानुप्रहरेति । ताऽउभाविवानुप्रहरत उभावात्मानाऽउपस्पृशेते ॥४३॥
अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मा-
नुषेभ्यः शं योर्ब्रूहीत्यध्वर्युरेवैतदाह ताऽउभाविव परिधीननुप्रहरत उभौ स्रुचः स-
म्प्रगृह्य स्फ्ये सादयतः ॥४४॥ अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य । पत्नीः संयाजयत्युपास्त
ऽएव प्रतिप्रस्थाता पत्नीः संयाज्योदैत्यध्वर्युः ॥४५॥ त्रीणि समिष्टयजूᳮषि जुहो-
ति । तूष्णीमेव प्रतिप्रस्थाता स्रुचं प्रगृह्णाति तद्ये वैश्वदेवेन यजमानयोर्वाससी
परिहिते स्यातां तेऽएवात्रापि स्यातामथास्यै वारुण्यै पयस्यायै क्षामकर्षमिश्रमा-
दायावभृथं यन्ति वरुण्यं वाऽएतन्निर्वरुणतायै तत्र न साम गीयते न ह्यत्र साम्ना
किं चन क्रियते तूष्णीमेवेत्याभ्यवेत्योपमारयति ॥४६॥ अवभृथ निचुम्पुण । नि-
चेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो
देव रिषस्पाहीति कामᳮं हैते यस्मै कामयेत तस्मै दद्यान्न हि दीक्षितवसने भ-
वतः स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवᳮ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते ॥४७॥ अथ केश-
श्मश्रू वप्ते । समारोह्याग्नीऽउदवसायैव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तर-
वेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहानित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजत
ऽउत्सन्नयज्ञ इव वाऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथैष कॢप्तः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्पौर्णमासं
तत्कॢप्तेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्यति ॥४८॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५.
२]॥ ॥

वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः । प्रजा वरुणपाशात्प्रामुञ्चत्ता स्यानमीवा अकि-
ल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्ताथैतैः साकमेधैरेतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्नेतैर्वेव व्यजयन्त ये-
यमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यᳮ हन्ति तथो ह

लिए।' अब होता सूक्तवाक् कहता है। इस पर दोनों प्रस्तरों को लेकर (आग में) डाल देते हैं। दोनों एक तृण लेकर (आग के पास) बैठे रहते हैं। अब होता सूक्तवाक् को कहता है ॥४२॥

आग्नीध्र कहता है, 'अनुप्रहर (डाल)।' दोनों डालते हैं और अपने शरीर का स्पर्श करते हैं ॥४३॥

अब आग्नीध्र कहता है, '(मुझसे) संवाद कर।' अध्वर्यु कहता है, 'आग्नीध्! क्या वह गया?' 'हाँ वह गया।' 'यहाँ देवताओं को सुनाओ।' 'वे सुनें।' 'दैवी-होता विदा हों। मनुष्य-होता का कल्याण हो।' अब अध्वर्यु होता से कहता है, 'शान्ति कह।' वे दोनों परिधियों को फेंक देते हैं, और दोनों स्रुचों को मिलाकर स्फ्या पर रख देते हैं ॥४४॥

अब अध्वर्यु (गार्हपत्य अग्नि के पास) लौटकर 'पत्नी संयाज' करता है। प्रतिप्रस्थाता ठहरा रहता है। अध्वर्यु पत्नी-संयाज करके उत्तर की ओर चला जाता है ॥४५॥

अब अध्वर्यु तीन समिष्ट-यजुष् की आहुति देता है। प्रतिप्रस्थाता स्रुच लेकर मौन होकर आहुति देता है। यजमान और पत्नी ने जो वस्त्र वैश्वदेव के समय पहने थे वे अब भी पहनें। अब वरुण की पयस्या के जले भाग को लेकर अवभृथ अर्थात् स्नान के स्थान में आवें। यह (स्नान) वरुण के लिए है जिसके पाश से छूट जाय। वहाँ साम नहीं गाया जाता क्योंकि साम से तो कुछ किया नहीं जाता। अध्वर्यु चुपके से वहाँ जाकर (जले भाग के पात्र को) जल में डुबो देता है ॥४६॥

अब वह कहता है, "अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽया-सिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि" (यजु० ३।४८)—"हे धीरे चलनेवाले जलाशय, तू चुपके-चुपके चलता है। देवों की सहायता से इन देव-कृत पापों से छूट जाऊँ और मनुष्यों की सहायता से मनुष्य-कृत पापों से। हे देव, मुझे राक्षस से बचा।" (स्नान के समय के वस्त्रों को) मन चाहे किसी (पुरोहित) को दे देवे, क्योंकि ये वस्त्र दीक्षित पुरुष के तो होते ही नहीं। जैसे साँप केंचुल छोड़ता है, इसी प्रकार यह पापों को छोड़ता है ॥४७॥

अब यजमान के बाल और दाढ़ी बनाते हैं। अब दोनों अग्नियों को लेते हैं, क्योंकि जगह बदलकर ही दूसरा यज्ञ होता है। उत्तर वेदी पर अग्निहोत्र करना ठीक नहीं। अब घर जाकर अग्नि मथकर वह पूर्णमासी का यज्ञ करता है। यह चातुर्मास्य यज्ञ अलग है, पूर्णमासी का निश्चित यज्ञ है। इसलिए वह निश्चित यज्ञ द्वारा अपने को स्थापित कर लेता है। इसीलिए वह जगह बदलता है ॥४८॥ (वर्षाकाल का वरुण-प्रघास पर्व समाप्त)

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

वरुण-प्रघास के द्वारा प्रजापति ने प्रजा को वरुण के जाल से छुड़ाया, और प्रजा रोग-रहित और दोषरहित उत्पन्न हुई। और इन 'साकमेध' आहुतियों के द्वारा देवों ने वृत्र को मारा और उस विजय को प्राप्त किया जिसको वे इस समय भोग रहे हैं। उसी प्रकार यह (यजमान) भी अपने पापी शत्रुओं और अहितैषियों को मारता है और उन पर विजयी होता है। इसीलिए

त्रिनयन्त तस्माद्वाऽएष एतैश्चतुर्थे मासि यजते स वै ध्यह्नमनूचीनाहं यजते ॥१॥
स पूर्वेद्युः । अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निᳪ ह वै देवा अ-
नीकं कृत्वोपप्रेयुर्वृत्रᳪ हनिष्यन्तः स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तथोऽएवैष एतत्पाप्मानं
द्विषन्तं भ्रातृव्यᳪ हनिष्यन्नग्निमेवानीकं कृत्वोपप्रैति स तेजोऽग्निर्न व्यथते तस्माद-
ग्नयेऽनीकवते ॥२॥ अथ मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यः । मध्यन्दिने चरुं निर्वपति मरुतो
ह वै सांतपना मध्यन्दिने वृत्रᳪ संतेपुः स संतप्तोऽनन्नेव प्राणान्परिदीर्णः शिश्ये
तथोऽएवैतस्य पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं मरुतः सांतपनाः संतपन्ति तस्मान्मरुद्भ्यः
सांतपनेभ्यः ॥३॥ अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः । शाखया वत्सानपाकृत्य पवित्रवति
संदोह्य तं चरुᳪ श्रपयति चरुरु ह्येव स यत्र ह्व च तण्डुलानावपन्ति तन्मेधो
देवा दधिरे प्रातर्वृत्रᳪ हनिष्यन्तस्तथोऽएवैष एतत्पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यᳪ ह-
निष्यन्मेधो धत्ते तद्यत्क्षीरौदनो भवति मेधो वै पयो मेधस्तण्डुलास्तमुभयं मेध-
मात्मन्धत्ते तस्मात्क्षीरौदनो भवति ॥४॥ तस्यावृत् । सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति
या मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यस्तस्यामेव स्तीर्णायां वेदौ परिधींश्च शकलांश्चोपनिदधाति
तथा संदोह्य चरुᳪ श्रपयति श्रपयित्वाभिघार्योद्वासयति ॥५॥ अथ द्वे पिशीले वा
पात्र्यौ वा निर्णेनिजति । तयोरेनं द्वेधोद्धरन्ति तयोर्मध्ये सर्पिरासेचने कृत्वा स-
र्पिरासिञ्चति स्रुवं च स्रुचं च संमार्ष्ट्येताऽओदनावादायोदैति स्रुवं च स्रुचं चा-
दायोदैति स इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्य परिधीन्परिधाय यावतः शकलान्का-
मयते तावतोऽभ्यादधात्यथैताऽओदनावासादयति स्रुवं च स्रुचं चासादयत्युपवि-
शति होता होतृषदने स्रुवं च स्रुचं चाददान आह ॥६॥ अग्नयेऽनुब्रूहीति ।
आग्नेयमाज्यभागᳪ स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्य-
तिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥७॥ अथाह सोमायानुब्रूहीति ।
सौम्यमाज्यभागᳪ स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यति-

(वरुणप्रघास के) चौथे मास में यह (साकमेध) यज्ञ करता है। वह इस यज्ञ को दो लगातार दिनों में करता है ।।१।।

पहले दिन 'अनीकवत्' अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश देता है, क्योंकि अग्नि को 'अनीक' (नुकीला) करके ही वे देव वृत्र को मारने दौड़े थे। और उस तेज को अग्नि ने छोड़ा नहीं। उसी प्रकार (यजमान भी) पापी अहितकारी शत्रु को मारने के लिए अग्नि को 'अनीक' (नुकीला) करके दौड़ता है। उस तेज को अग्नि नहीं छोड़ता, इसलिए 'अग्नि अनीकवत् के लिए' ।।२।।

दोपहर को 'सांतपन मरुतों' के लिए 'चरु' देता है। क्योंकि दोपहर को गर्म (सन्तप्त) हवाओं ने वृत्र को झुलसा दिया। इस प्रकार झुलसकर वह हाँपता हुआ और जख्मी पड़ा था। इसी प्रकार 'सांतपन मरुत्' (गर्म हवाएँ) उस यजमान के पापी, अहितकारी, शत्रु को झुलसा देते हैं, इसलिए 'सांतपन मरुतों के लिए' ।।३।।

इसके पश्चात् (सायंकाल को) 'गृहमेधी मरुतों' के लिए (चरु)। (पलाश की) शाखा से बछड़ों को दूर करके वह पवित्रोंवाले बर्तन में (गायों को) दुहकर चरु को पकाता है। जिसमें तण्डुल या चावल पकाते हैं वह 'चरु' कहलाता है। जिस अगले दिन देव वृत्र को मारने जा रहे थे उसकी शाम को देवों ने यही भोजन किया था (मेधो दधिरे)। यहाँ 'मेध' का अर्थ भोजन है ('Nourishment' according to Eggeling)। इसी प्रकार यह यजमान भी पापी अहितकारी शत्रु को मारने के लिए इसी मेध या भोजन को करता है। यह दूध और चावल दोनों का क्यों बनाते हैं? दूध 'मेध' या शक्तिवाला भोजन है और चावल भी शक्तिवाला भोजन है। इस प्रकार वह अपने में दोनों शक्तियों (मेध) को धारण करता है। इसलिए दूध और चावल का चरु बनाते हैं ।।४।।

यह इस प्रकार से—जो कुशों से आच्छादित वेदी 'सांतपन मरुतों' के लिए थी, वही अब भी काम में आती है। इसी कुशों से आच्छादित (स्तीर्णा) वेदी में 'परिधि' और 'शकल' अर्थात् बड़ी समिधाओं और छोटे टुकड़ों को रखता है और उसी प्रकार दुहकर चरु पकाता है, और पकाकर और चुपड़कर (घी डालकर) आग से हटा लेता है ।।५।।

तब दो बर्तनों या थालियों को माँजता है। और उनमें उस (चरु) के दो बराबर भाग करके रख देता है। उनके बीच में गड्ढा करके उनमें घी छोड़ता है। अब स्रुवा और स्रुक् दोनों को पोंछता है, और भात के दोनों पात्रों को लेकर (वेदी तक) आता है। फिर वह स्रुवा और स्रुक् को लेकर (वेदी तक) आता है, और कुशों से आच्छादित वेदी को छूकर समिधाएँ रखकर जितने टुकड़ों को चाहता है रख देता है। तब वह दोनों भात की थालियों को और स्रुवा और स्रुक् को यथोचित स्थान पर रख देता है। होता होता के आसन पर बैठ जाता है। स्रुवा और स्रुक् को लेकर अध्वर्यु कहता है—।।६।।

'अग्नि के लिए कह।' अग्नि के आज्य भाग की ओर संकेत करके। दाहिने भात की प्याली के गड्ढे के घी में से चार भाग लेकर दक्षिण की ओर जाता है, और जाकर आग्नीध्र के लिए 'श्रौषट्' कहता है। फिर (होता से) कहता है, 'अग्निं यज।' और वषट्कार कहने के अनन्तर आहुति देता है ।।७।।

अब सोम के आज्य भाग की ओर संकेत करके कहता है, 'सोम के लिए कह।' और बायें भात की थाली के गड्ढे के घी में से चार भाग लेकर आता है और आकर 'श्रौषट्' कहकर वह

क्रम्याश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥८॥ अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो
ऽनुब्रूहीति । स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्यमुपस्तृणीते तस्य द्वि-
रवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह मरुतो गृहमेधि-
नो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥९॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उत्तर-
स्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्यमुपस्तृणीते तस्य द्विरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्या-
भिघारयत्यतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति वषट्कृते जुहोत्य-
थेडामेवावद्यति न प्राशित्रमुपह्वय मार्जयन्त एतन्न्वेकमयनम् ॥१०॥ अथेदं द्विती-
यं । सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति या मरुद्भ्यः सांतपनेभ्यस्तस्यामेव स्तीर्णायां वेदौ
परिधींश्च शकलांश्चोपनिदधाति तथा संदोह्य चरुं श्रपयति नेदेव प्रतिविशमाज्य-
मधिश्रयति श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्यानक्ति स्थाल्यामाज्यमुद्वासयति स्रुवं च स्रुचं च
संमार्ष्ट्यथैतं सोखमेव चरुमादायोदैति स्थाल्यामाज्यमादायोदैति स्रुवं च स्रुचं
चादायोदैति स इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्य परिधीन्परिधाय यावतः शकला-
न्कामयते तावतोऽभ्यादधात्यथैतं सोखमेव चरुमासादयति स्थाल्यामाज्यमासाद-
यति स्रुवं च स्रुचं चासादयत्युपविशति होता होतृषदने स्रुवं च स्रुचं चाददान
आह ॥११॥ अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेयमाज्यभागं स स्थाल्यै चतुराज्यस्यावदाया-
तिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१२॥ अथाह सोमा-
यानुब्रूहीति । सौम्यमाज्यभागं स स्थाल्या एव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यति
क्रम्याश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१३॥ अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधि
भ्योऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीत आज्यमथास्य चरोर्द्विरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्या-
भिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानेऽअतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह मरुतो गृहमेधिनो य-
जेति वषट्कृते जुहोति ॥१४॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उपस्तृ-
णीत आज्यमथास्य चरोः सकृदवद्यत्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति न प्रत्यन-

कहता है, 'सोमं यज ।' इसके अनन्तर 'वषट्कार' कहके आहुति देता है ॥८॥

अब कहता है, 'गृहमेधी मरुतों के लिए कह ।' दाहिने भात की थाली के गड्ढे में घी फैलाता है। उसमें से दो भाग लेकर उन पर घी छोड़ता है और चला आता है। वहाँ आकर श्रौषट् कहकर कहता है, 'मरुतो गृहमेधिनो यज ।' और वषट्कार कहकर आहुति देता है ॥९॥

अब कहता है, 'स्विष्टकृत् अग्नि के लिए कह ।' बायें भात के गड्ढे के घी को फैलाता है और दो भाग लेकर उन पर घी छोड़ता है और चला आता है। आकर 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'अग्ने स्विष्टकृतं यज ।' और 'वषट्' कहकर आहुति देता है। अब इडा को काटता है परन्तु अगला भाग नहीं। इडा कहकर वे अपने को पवित्र कर लेते हैं। यह एक प्रकार है (साकमेध का) ॥१०॥

अब यह दूसरा। वेदी वही स्तीर्ण रहती है जो 'सातपन मरुतों' के लिए थी। इसी आच्छादित वेदी में परिधि और शकलों को रखता है। और (गौओं को उसी तरह) दुहकर चरु पकाता है। घृत वहीं (?) रखता है। चरु पकाकर घी डालता है, और आग से हटा लेता है। थाली में घी को निकालता है, स्रुवा और स्रुक् को पोंछता है। चरु को बर्तन में लेकर (वेदी तक) आता है। फिर थाली में घी लेकर आता है और फिर स्रुवा और स्रुक् को लेकर आता है। अब वह कुशों से ढकी हुई वेदी को छूता है। और परिधियों को (आहवनीय अग्नि पर) रखता है और जितने लकड़ी के टुकड़ों को चाहता है रख देता है। अब वह चरु के बर्तन को रख देता है, घी की थाली को रख देता है, स्रुवा और स्रुक् को रख देता है। होता होता के आसन पर बैठ जाता है। स्रुवा और स्रुक् को लेकर (अध्वर्यु) कहता है—॥११॥

'अग्नि के लिए कह ।' यह अग्नि के आज्य भाग के विषय में। अब थाली में से घी के चार भाग लेकर (अग्नि के दक्षिण को) जाता है। जाकर और (आग्नीध्र को) श्रौषट् कहकर (होता से) कहता है, 'अग्निं यज' और वषट्कार कहकर आहुति डालता है ॥१२॥

अब वह कहता है, 'सोम के लिए कह ।' यह सोम को आज्यभाग के सम्बन्ध में कहा। अब प्याली में से चार भाग लेकर जाता है। जाकर श्रौषट् कहकर कहता है 'सोमं यज' और वषट्कार के पश्चात् आहुति देता है ॥१३॥

अब कहता है, 'गृहमेधी मरुतों के लिए कह'। अब वह (जुहू में) घी को फैलाता है। चरु में से दो भाग काटता है। उस पर घी डालता है। फिर दो भागों को चुपड़ता है और (वेदी तक) जाता है। जाकर और श्रौषट् कहकर कहता है, 'मरुतो गृहमेधिनो यज' और वषट्कार कहकर आहुति दे देता है ॥१४॥

अब कहता है, 'अग्निस्विष्टकृत के लिए कह ।' अब वह घी को फैलाता है, चरु में से एक टुकड़ा लेता है और दो बार घी छोड़ता है, और दोनों टुकड़ों को बिना चुपड़े हुए जाता है।

न्ययवदानमतिक्रामत्यतिक्रम्याग्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१५॥ अथैडामिवावद्यति न प्राशित्रम् । उपहूय प्राश्नन्ति यावन्तो गृह्या हविरुच्छिष्टाशाः स्युस्तावन्तः प्राश्नीयुरथो अप्यृत्विजः प्राश्नीयुरथो अप्यन्ये ब्राह्मणाः प्राश्नीयुर्यदि बहुरोदनः स्यादथैतामनिरशितां कुम्भीमपिधाय निदधाति पूर्णदर्वाय मातृभिर्वत्सान्त्समवार्जन्ति तद्ध पशवो मेधमात्मन्दधते यवाग्वैताꣳ रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति निवान्यां प्रातर्दुहन्ति पितृयज्ञाय ॥१६॥ अथ प्रातर्जुह्वते वाजुह्वते वा । यतरथा कामयेत सो ऽस्या अनिरशितायै कुम्भ्यै दर्व्यापहन्ति पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत । वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जꣳ शतक्रतविति यथा पुरो ऽनुवाक्यैवमेवैतयैवैनमेतस्मै भागाय ह्वयति ॥१७॥ अथर्षभमाह्वयितवै ब्रूयात् । स यदि रुयात्स वषट्कार इत्यु हैक आहुस्तस्मिन्वषट्कारे जुहुयादित्यथो इन्द्रमेवैतत्स्वेन रूपेण ह्वयति वृत्रस्य बधायैतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभस्तत्स्वेनैवैनमेतद्रूपेण ह्वयति वृत्रस्य बधाय स यदि रुयाद्ा म इन्द्रो यज्ञमगन्त्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह विद्याद्यद्यु न रुयाद्ब्राह्मण एव दक्षिणत आसीनो ब्रूयाज्जुहुधीति सैवैन्द्री वाक् ॥१८॥ स जुहोति । देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहेति ॥१९॥ अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः । सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तस्तथो एवैतं पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हनिष्यन्तमभितः परिक्रीडन्ते महयन्तस्तस्मान्मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यो ऽथातो महाहविष एव तद्यथा महाहविषस्तथो तस्य ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥४[५.३.]॥ चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ॥ कण्डिकासंख्या १०५ ॥ ॥

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनो एव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथो एवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति तथो एव विजयते त-

जाकर श्रौषट् कहकर कहता है, 'अग्निं स्विष्टकृतं यज।' वषट्कार कहकर आहुति दे देता हैं ।।१५।।

अब इडा में से काटता है परन्तु आगे का भाग नहीं। (इडा को) कहकर वे (ऋत्विज) खाते हैं। घर के जितने लोग बची हुई हवि को खानेवाले हों वे खावें, या ऋत्विज लोग खावें। यदि भात अधिक हो तो अन्य ब्राह्मण भी खावें। जब तक कुम्भी (पात्र) बिल्कुल खाली न होने पावे उसे ढककर 'पूर्णदर्व' के लिए रख देते हैं। अब गायों के लिए बछड़ों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार पशु भोजन को जाते हैं। उस रात को वह यवागू (जो और गुड़ का मिला हुआ) से अग्निहोत्र करता है। प्रातःकाल पितृयज्ञ के लिए निवान्या गौ को (जो गौ दूसरे के बछड़े को पिलाती है) दुहता है ।।१६।।

इसके बाद, प्रात: के समय, अग्निहोत्र करने के बाद अथवा उससे पहले, जैसा भी वह चाहे, वे (शेष चरु को) दर्वी चमचे से बिना खाली हुई कुम्भी में से काटता है, यह कहकर (यजु० ३।४९) "पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत ! वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जँ शतक्रतो।" अर्थात् "पूर्ण हे दर्वि ! दूर उड़ो। अच्छी तरह पूर्ण, वापस हम तक उड़ो; हे शतक्रतु इन्द्र, वस्ना या व्यापार वस्तु के समान हम दोनों भोज्य और पेय का मोल-भाव करें।" उसी प्रकार अनुवाक्य के समान इस ऋचा को कहकर वह उसे (इन्द्र को) भाग के लिए बुलाता है ।।१७।।

अब वह यजमान से कहे, 'बैल को बुलवा।' कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि बैल डकारे तो यह वषट्कार है। इसी वषट्कार के पश्चात् आहुति देनी चाहिए।' इस प्रकार वह वृत्र के वध के लिए इन्द्र को उसी के रूप में बुलाता है। ऋषभ (बैल) इन्द्र का ही रूप है। इस प्रकार वह वृत्र के वध के लिए इन्द्र को उसी के रूप में बुलाता है। यदि वह डकारे तो जानना चाहिए कि मेरे यज्ञ में इन्द्र आ गया, मेरा यज्ञ इन्द्र-युक्त हो गया। और यदि (बैल) न डकारे तो दक्षिण की ओर बैठा हुआ ब्राह्मण कहे 'जुहुधि' (आहुति दो)। यह वस्तुतः इन्द्र की वाणी है ।।१८।।

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा" (यजु० ३।५०)—"मुझे दे। मैं तुझे देता हूँ। मेरे अर्पण कर। मैं तेरे अर्पण करता हूँ। मेरे लिए उपहार ला। मैं तेरे लिए उपहार लाऊँ। स्वाहा" ।।१९।।

अब सात कपालों का पुरोडाश खेलनेवाले मरुतों के लिए देता है, क्योंकि जब इन्द्र वृत्र को मारने के लिए गया तो खेलनेवाले मरुत् उसके चारों ओर खेलते थे और उसकी प्रशंसा करते थे। ऐसे ही वे यजमान के चारों ओर प्रशंसा करते हुए खेलते हैं। क्योंकि वह अपने दुष्ट और अहितकर शत्रु को मारने जा रहा है, इसलिए 'खेलनेवाले मरुतों' के लिए आहुति दी जाती है। इसके पश्चात् महाहविष् होता है। यह उसी प्रकार है जैसे महाहविष् की अलग आहुति दी जाय ।।२०।।

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

देवों ने वृत्र को महाहवि के द्वारा मारा। उसी से उन्होंने वह विजय प्राप्त की जो उनको मिली हुई है। इसलिए वह अपने पापी, अहितकारी शत्रु को मार डालता और उस पर विजय पा

स्माद्वाऽएष एतेन यजते ॥१॥ तस्यावृत् । उपकिरन्त्युत्तरवेदिं गृह्णन्ति पृषदाज्यं मन्थन्त्यग्निं नवप्रयाजं भवति नवानुयाजं त्रीणि समिष्टयजूꣳषि भवन्त्यथैतान्येव पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥२॥ स यदाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । अग्निना ह वाऽएनं तेजसाघ्नन्त्स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तस्मादाग्नेयो भवति ॥३॥ अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति । सोमेन ह वाऽएनꣳ राज्ञाघ्नन्त्सोमराजान एव तस्मात्सौम्यश्चरुर्भवति ॥४॥ अथ यत्सावित्रः । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूता हैवैनमघ्नंस्तस्मात्सावित्रो भवति ॥५॥ अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति । वाग्वै सरस्वती वागु हैवानुममाद प्रहर जहीति तस्मात्सारस्वतश्चरुर्भवति ॥६॥ अथ यत्पौष्णश्चरुर्भवति । इयं वै पृथिवी पूषेयꣳ हैवैनं बधाय प्रतिप्रददावनया हैवैनं प्रतिप्रत्तं जघ्नुस्तस्मात्पौष्णश्चरुर्भवति ॥७॥ अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति । एतेन हैवैनमघ्नंस्तेजो वाऽअग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र एताभ्यामेनमुभाभ्यां वीर्याभ्यामघ्नन्ब्रह्म वाऽअग्निः क्षत्रमिन्द्रस्ते ऽउभे सꣳरभ्य ब्रह्म च क्षत्रं च सयुजौ कृत्वा ताभ्यामेनमुभाभ्यां वीर्याभ्यामघ्नंस्तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥ अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य बधादथ वृत्रꣳ हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति महान्तमु चैवैनमेतत्खलु करोति वृत्रस्य बधाय तस्माद्वेव माहेन्द्रश्चरुर्भवति ॥९॥ अथ वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति । विश्वं वाऽएतत्कर्म कृतꣳ सर्वं जितं देवानामासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां विश्वमु हैवैतस्यैतत्कर्म कृतꣳ सर्वं जितं भवति साकमेधैरीजानस्य विजिग्यानस्य तस्माद्वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१०॥ एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्ट्वा येयं देवानां प्रजातिर्या श्रीरेतद्बभूवुरेताꣳ ह वै प्रजातिं प्रजा-

लेता है जो इस यज्ञ को करता है ।।१।।

उसकी विधि इस प्रकार है, एक उत्तर वेदी बनाते हैं। घी की नवनी लेते हैं, और अग्नि को मथते हैं। नौ प्रयाज होते हैं, नौ अनुयाज और तीन समिष्ट-यजु। पहले पाँच हविये होती हैं ।।२।।

अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश होता है। अग्नि को तीक्ष्ण करके उन्होंने (वृत्र को) मारा था, और अग्नि-तेज विफल नहीं हुआ। इसलिए अग्नि की हवि होती है ।।३।।

अब सोम का चरु होता है। सोम राजा की सहायता से उसको मारा था, इसलिए सोम राजा की हवि होती है ।।४।।

अब सविता के लिए बारह कपालों या आठ कपालों का पुरोडाश होता है। सविता देवों का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही उसको मारा था, इसलिए यह सविता की हवि हुई ।।५।।

अब सरस्वती का चरु हुआ। वाणी ही सरस्वती है और वाणी ने ही उनको यह कहकर उत्साह दिलाया, 'मारो। मारो।' इसलिए सरस्वती का चरु हुआ ।।६।।

अब पूषा का चरु होता है। पृथिवी ही पूषा है। इसी ने वध के लिए वृत्र को पेश कर दिया। और पृथिवी के पेश कर देने पर उन्होंने उसे मारा। इसलिए पूषा का चरु हुआ ।।७।।

अब बारह कपालों का पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिए हुआ। इसी अग्नि के द्वारा उन्होंने उसे मारा था। अग्नि ही तेज है और इन्द्र वीर्य। इन्हीं दोनों शक्तियों के द्वारा उन्होंने उसे मारा। अग्नि ब्राह्मण है, इन्द्र क्षत्रिय। इन दोनों को मिलाकर अर्थात् ब्रह्म-शक्ति और क्षत्र-शक्ति को मिलाकर उन्होंने उसको इन दो शक्तियों के द्वारा मारा था, इसलिए बारह कपालों का पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिए हुआ ।।८।।

अब महेन्द्र के लिए चरु होता है। वृत्र के वध से पहले वह केवल इन्द्र था। वृत्र के बध के अनन्तर महेन्द्र हो गया, जैसे विजय के पीछे महाराजा। इसलिए महेन्द्र के लिए चरु हुआ। इससे वह वृत्र के मारने के लिए उसको बड़ा (बलिष्ठ) भी कर देता है। इसलिए महेन्द्र के लिए चरु हुआ ।।९।।

अब विश्वकर्मा के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है। देवों ने साकमेध यज्ञ करके और (वृत्र पर) विजय पाकर अपने काम को पूरा कर लिया ('विश्वं कृतं' का अर्थ है पूरा कर लेना) और सब-कुछ जीत लिया। इसी प्रकार जो पुरुष साकमेध यज्ञ कर लेता है और विजय पा लेता है, वह अपने काम को पूरा कर लेता है। इसीलिए विश्वकर्मा के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है ।।१०।।

देवों की जो प्रजाति (फूलना-फलना) और श्री इस समय हे, वह सब इसी यज्ञ को करके हुई है। इसी प्रकार जो इस रहस्य को समझकर इस यज्ञ को करता है उसकी सन्तान फूलती-

यतऽएताᳪं श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥ ११॥ ब्राह्मणम् ॥ [५. ४.] ॥ अध्यायः ॥ ५ [१४.] ॥ ॥

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनोऽएव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामथ यान्येषां तस्मिन्त्संग्रामेऽघ्नंस्तान्पितृयज्ञेन समैरयन्त पितरो वै तऽआसंस्तस्मात्पितृयज्ञो नाम ॥ १॥ तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । एते ते ये व्यजयन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्तऽउ ते यान्पुनः समैरयन्त ॥ २॥ अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कं चन घ्नन्तीति देवा अकुर्वन्निति न्वेवैष एतत्करोति यमु चैवैभ्यो देवा भागमकल्पयंस्तमु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति यानु चैव देवाः समैरयन्त तानु चैवैतदवति स्वानु चैवैतत्पितॄंच्छ्रेयाᳪंसं लोकमुपोन्नयति यद्व चैवास्यात्रात्मनोऽचरणेन हन्यते वा मीयते वा तद्ध चैवास्यैतेन पुनराप्यायते तस्माद्वाऽएष एतेन यजते ॥ ३॥ स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति सोमाय वा पितृमते षड्वाऽऋतव ऋतवः पितरस्तस्मात्षट्कपालो भवति ॥ ४॥ अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः । अन्वाहार्यपचने धानाः कुर्वन्ति ततोऽर्धाः पिᳪंषन्त्यर्धा इत्येव धाना अपिष्टा भवन्ति ता धानाः पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः ॥ ५॥ अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः । निवान्यायै दुग्धे सकृदुपमथित एकशलाकया मन्थो भवति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदुपमथितो भवत्येतानि हवीᳪंषि भवन्ति ॥ ६॥ ॥ शतम् १३०० ॥ ॥ तद्ये सोमेनेजानाः । ते पितरः सोमवन्तोऽथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदोऽथ ये ततो नान्यतरच्चन यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ता एतऽउ ते ये पितरः ॥ ७॥ स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतᳪं षट्कपालं पुरोडाशं गृह्णाति स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति सकृत्फलीकरोति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृत्फलीकरोति ॥ ८॥ स दक्षिणैव दृषदुपलेऽउपदधाति ।

फलती है और उसको श्री भी प्राप्त होती है। इसलिए इस यज्ञ को करे ।।११।।

अध्याय ६—ब्राह्मण १

देवों ने 'महाहवि' के द्वारा ही वृत्र को मारा और उस विजय को पाया जो इस समय उनको प्राप्त है। और जो उनमें वीर उस संग्राम में मारे गये उनको पितृयज्ञ से जिलाया। वे पितर ही तो थे। इसलिए पितृयज्ञ नाम पड़ा ।।१।।

अब वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा। ये वे हैं जिन्होंने (वृत्र) को जीता। शरद्, हेमन्त और शिशिर ये वे हैं जिनको दुबारा जिलाया ।।२।।

जब वह यह यज्ञ करता है तो इसलिए करता है कि एक तो (असुर) उसके किसी (सम्बन्धी) को न मार सकें, दूसरे चूँकि देवों ने यज्ञ किया था। इसके अतिरिक्त वह इसलिए भी यज्ञ करता है कि देवों ने जिन पितरों के लिए भाग निकाला था वह भाग उन तक पहुँच जावे। इस प्रकार जिनको देवों ने पुनर्जीवित किया उनको सन्तुष्ट करता है और अपने पितरों को श्रेय-लोक तक पहुँचाता है। और जो कुछ हानि या मृत्यु अपने अनुचित आचार से होती उसका प्रतीकार हो जाता है। इसलिए यह यज्ञ करता है ।।३।।

छः कपालों का पुरोडाश 'सोमवन्त पितरों' के लिए होता है, या 'पितृमत् सोम' के लिए। छः ऋतुएँ होती हैं। ऋतुएँ ही पितर हैं। इसलिए छः कपाल होते हैं ।।४।।

अब 'बर्हिषद् पितरों के लिए अन्वाहार्यपचन (या दक्षिणाग्नि) पर धान भूनते हैं। आधे धान पीस लेते हैं और आधे बिना पिसे होते हैं। ये धान 'बर्हिषद् पितरों' के लिए होते हैं ।।५।।

अब 'अग्नि-ष्वात्ता पितरों' के लिए हवि को बनाते हैं। इस प्रकार कि (पिसे हुए धानों में) अन्य के बछड़े को पिलानेवाली गाय का दूध मिलाकर और उसे एक शलाका से एक बार ही हिलाकर बनाते हैं। पितर एक बार ही परलोक को चले गये, इसलिए एक ही बार चलाते हैं; ये हवियाँ हुईं ।।६।।

जिन्होंने सोम यज्ञ किया था वे हुए 'सोमवन्त पितर', और जो दिये हुए पके अन्न से लोक को जीतते हैं वे हुए 'बर्हिषद् पितर', और जिन्होंने न यह किया न वह और जिनको अग्नि ने जला दिया वे हुए 'अग्नि-ष्वात्ता'। ये पितर हुए ।।७।।

वह छः कपालों के पुरोडाश के लिए (चावल) गार्हपत्य के पीछे दक्षिण की ओर बैठकर और दाहिने कन्धे पर सामने की ओर जनेऊ रखकर निकालता है। वहाँ से उठकर अन्वाहार्यपचन के उत्तर की ओर खड़ा होकर दक्षिण की ओर मुख किये हुए पछोरता है। उनको एक ही बार साफ करता है ।।८।।

दक्षिण की ओर दृषद् और उपल (चाकी के पाट) को रखता है और गार्हपत्य के दक्षिण

दक्षिणार्धे गार्हपत्यस्य षट्कपालान्युपदधाति तद्यदेतां दक्षिणां दिशꣳ सचन्तऽएषा हि दिक् पितॄणां तस्मादेतां दक्षिणां दिशꣳ सचन्ते ॥९॥ अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं । चतुःस्रक्तिं वेदिं करोत्यवान्तरदिशोऽनु स्रक्तीः करोति चतस्रो वाऽअवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्मादवान्तरदिशोऽनु स्रक्तीः करोति ॥१०॥ तन्मध्येऽग्निꣳ समादधाति । पुरस्ताद्धि देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः प्राङ् तिष्ठञ्जुहोति सर्वतः पितरोऽवान्तरदिशो वै पितरः सर्वत-इव ह्यीमा अवान्तरदिशस्तस्मान्मध्येऽग्निꣳ समादधाति ॥११॥ स तत एव प्राक् स्तम्बयजुर्हरति । स्तम्बयजुर्हृत्वाथेत्येवाग्रे परिगृह्णात्यथेत्यथेति पूर्वेण परिग्राहेण परिगृह्य लिखति हरति यद्धार्यं भवति स तथैवोत्तरेण परिग्राहेण परिगृह्णात्युत्तरेण परिग्राहेण परिगृह्य प्रतिमृज्याह प्रोक्षणीरासादयेत्यासादयन्ति प्रोक्षणीरिध्मं बर्हिरुपसादयन्ति स्रुचः संमार्ड्याज्येनोदेति स यज्ञोपवीती भूत्वाज्यानि गृह्णाति ॥१२॥ तदाहुः । द्विरुपभृति गृह्णीयाद्द्वौ ह्यत्रानुयाजौ भवत इति तदष्टावेव कृत्व उपभृति गृह्णीयान्नेद्यज्ञस्य विधाया अयानीति तस्मादष्टावेव कृत्व उपभृति गृह्णीयादाज्यानि गृहीत्वा स पुनः प्राचीनावीती भूत्वा ॥१३॥ प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षत्यथ वेदिमथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयन्ति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रꣳस्य ग्रन्थिं न प्रस्तरं गृह्णाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्न प्रस्तरं गृह्णाति ॥१४॥ अथ संनहनमनुविस्रꣳस्य । अपसलवि त्रिः परिस्तृणन्पर्येति सोऽपसलवि त्रिः परिस्तीर्य यावत्प्रस्तरभाजनं तावत्परिशिनष्ट्यथ पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति यत्पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति तद्यानेवामूंस्त्रयान्पितॄनन्ववागात्तेभ्य एवैतत्पुनरपोदेतीमꣳ स्वं लोकमभि तस्मात्पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति ॥१५॥ स दक्षिणैव परिधीन्परिदधाति । दक्षिणा प्रस्तरꣳ स्तृणाति नान्तर्दधाति विधृती सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नान्तर्दधाति विधृती ॥१६॥ स

भाग में छः कपालों को रखता है। दक्षिण दिशा में इसलिए रखते हैं कि दक्षिण दिशा पितरों की है। इसलिए दक्षिण दिशा की ओर रखते हैं ॥९॥

अब दक्षिणाग्नि के दक्षिण की ओर एक चौकोर वेदि बनाता है, जिसके कोने अवान्तर दिशाओं की ओर होते हैं। अवान्तर दिशा चार हैं और अवान्तर दिशा ही पितर हैं। इसलिए वेदि के कोने अवान्तर दिशाओं की ओर होते हैं ॥१०॥

उसके मध्य में अग्नि को रखता है। देव पूर्व से पश्चिम को मनुष्यों तक आये। इसलिए पूर्व की ओर मुख करके खड़ा होकर आहुति देता है। पितर सभी ओर हैं। अवान्तर दिशा ही पितर है। इसलिए वह अग्नि को मध्य में रखता है ॥११॥

वहाँ से वह स्तम्बयजु (कुश) को पूर्व की ओर फेंकता है। अब कुशों से वेदी को घेरता है—पहले इस प्रकार (पश्चिम की ओर), फिर इस प्रकार (उत्तर की ओर), फिर इस प्रकार (पूर्व की ओर)। पहली लकीर (या पंक्ति) से घेरकर (अध्वर्यु) रेखा खींचता है, और जो कुछ हटाना होता है उसे हटा देता है। अब वह दूसरी लकीर से घेरता है और दूसरी लकीर से घेरकर और चिकनाकर कहता है, 'प्रोक्षणी को रख।' अतः वे प्रोक्षणी को रखते हैं। और समिधा और बर्हि को ये उसके पास रखते हैं। वह स्रुकों को पोंछता है, और घी लेकर आता है। वह यज्ञोपवीत पहने-पहने ही घी को लेता है ॥१२॥

इस सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि अनुयाज दो होते हैं, इसलिए उपभृति में दो बार घी ले। परन्तु उसे आठ बार करके घी लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि वह यज्ञ की विधि से दूर हो जाय। इसलिए आठ बार करके घी लेवे। घी लेकर और जनेऊ को दाहिने कन्धे पर करके—॥१३॥

अध्वर्यु प्रोक्षणी लेता है। पहले समिधों पर जल छिड़कता है, फिर वेदी पर। अब वे बर्हि को उसे देते हैं। और वह बर्हि को पूर्व की ओर गाँठ करके रखता है। अब उस पर जल छिड़ककर, गाँठ को खोलकर वह गाँठ को पकड़ता है, न कि प्रस्तर को। पितर एक बार ही चले गये इसलिए वह प्रस्तर को नहीं लेता ॥१४॥

(बर्हि के मुट्ठे को) खोलकर वह दाहिनी ओर से बाईं ओर को तीन बार घूमता है (वेदि पर) बर्हि को फैलाता हुआ। दाहिनी ओर से बाईं ओर को तीन तहों में फैलाकर वह इतने कुश बचा लेता है कि प्रस्तर बन सके। अब वह तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को मुड़ता है। वह तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को इसलिए मुड़ता है कि पहले वह अपने तीन पितरों के पीछे गया था, अब वह फिर अपने लोक को वापस आ जाता है। इसलिए वह तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को मुड़ता है ॥१५॥

वह परिधियों को दक्षिण की ओर रखता है। और प्रस्तर को भी दक्षिण की ओर रखता है। दो विधृतियों को बीच में नहीं रखता। पितर एक बार ही परलोक को सिधार गये, इसलिए दो विधृतियों को बीच में नहीं रखता ॥१६॥

तत्र स्रुच्यमासादयति । अथ पूर्वामुपभृतमथ ध्रुवामथ पुरोडाशमथ धाना अथ मन्थमासाद्य हवीꣳषि संमृशति ॥१७॥ ते सर्वऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । इत्याध्वर्युर्यजमानश्च ब्रह्मा च पश्चात्परीतः पुरस्तादग्नीत् ॥१८॥ तेनोपाꣳशु चरन्ति । तिर-इव वै पितरस्तिर-इवैतद्यदुपाꣳशु तस्मादुपाꣳशु चरन्ति ॥१९॥ परिवृते चरन्ति । तिर-इव वै पितरस्तिर-इवैतद्यत्परिवृतं तस्मात्परिवृते चरन्ति ॥२०॥ अथेध्ममभ्यादधदाह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति स एकामेव होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मादेकाꣳ होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह ॥२१॥ सोऽन्वाह । उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषेऽअत्तवऽइत्यथाग्निमावह सोममावह पितॄन्त्सोमवत आवह पितॄन्बर्हिषद आवह पितॄनग्निष्वात्तानावह देवाꣳ३ऽआज्यपाꣳ३ऽआवहाग्निꣳ होत्रायावह स्वं महिमानमावहेत्यावाह्योपविशति ॥२२॥ अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । पितृयज्ञो वाऽअयं नेद्धोतारं पितृषु दधानीति तस्मान्न होतारं प्रवृणीते सीद होतरित्येवाहोपविशति होता होतृषदनऽउपविश्य प्रसौति प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावादाय प्रत्यङ्ङतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह समिधो यजेति सोऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजति प्रजा वै बर्हिर्नेत्प्रजाः पितृषु दधानीति तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजत्यथाज्यभागाभ्यां चरत्याज्यभागाभ्यां चरित्वा ॥२३॥ ते सर्वऽएव प्राचीनावीतिनो भूत्वा । एतैर्हविर्भिः प्रचरिष्यन्त इत्याध्वर्युर्यजमानश्च ब्रह्मा च पुरस्तात्परीतः पश्चादग्नीत्तद्धताश्रावयत्यो३ꣳ स्वधेत्यस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावणꣳ स्वधा नम इति वषट्कारः ॥२४॥ तदु होवाचासुरिः । आश्रावयेयुरेव प्रत्याश्रावयेयुर्वषट्कुर्युर्नेद्यज्ञस्य विधाया अयामेति ॥२५॥ अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहीति । सोमाय वा पितृमते स द्वे पुरोऽनुवाक्येऽअन्वाहैकया वै देवान्प्रच्यावयन्ति द्वाभ्यां पितॄन्त्सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्माद्द्वे पुरोऽनुवाक्येऽअन्वाह ॥२६॥ स उप-

अब वह जुहू को रखता है और उसके पूर्व को उपभृत को। अब ध्रुवा, पुरोडाश, धान, मन्थ को रखकर हवियों को छूता है ॥१७॥

ये सब यज्ञोपवीती होकर यजमान और ब्रह्मा इस प्रकार पश्चिम को चलते हैं और अग्नीध् पूर्व को ॥१८॥

वे इसको धीरे-धीरे करते हैं। पितर भी छिपे हुए हैं और जो धीरे-धीरे पढ़ा जाय वह भी छिपे के ही समान है। इसलिए धीरे-धीरे ही पढ़ते हैं ॥१९॥

वे इस यज्ञ को घिरे हुए स्थान में करते हैं। पितर छिपे हुए हैं और जो घिरे स्थान में किया जाता है वह भी छिपे के तुल्य है ॥२०॥

अब वह समिधों को रखकर कहता है, 'जलती हुई आग के लिए कह।' होता एक सामिधेनी ऋचा को तीन बार पढ़ता है। पितर लोग एक ही बार परलोक को चले गये, इसलिए एक ही सामिधेनी ऋचा को तीन बार पढ़ता है ॥२१॥

वह जपता है, "उशन्तस्त्वा नि धीमहि। उशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत ऽआ वह पितॄन् हविषेऽअत्तवे' (यजु० १९।७०)—"प्रेम से हम तुझको रखते हैं। प्रेम से तुझे प्रज्वलित करते हैं। हे प्यारे, प्यारे पितरों को हवि खाने के लिए ला।" अब कहता है, 'अग्नि को ला, सोम को ला, सोमवन्त पितरों को ला, बर्हिषद् पितरों को ला, अग्निष्वात्ता पितरों को ला, घी पीने-वाले देवों को ला, होता के लिए अग्नि को ला, अपनी महिमा को ला।' इस प्रकार बुलाकर वह बैठ जाता है ॥२२॥

अब 'श्रौषट्' करने के पश्चात् वह होता का वरण नहीं करता। यह पितृयज्ञ है। ऐसा न हो कि होता को पितरों के हवाले कर दे, इसलिए होता का वरण नहीं करता। केवल यह कह-कर कि, 'होता, बैठ', बैठ जाता है। होता होता-के-आसन पर बैठकर (अध्वर्यु को) प्रेरणा करता है। प्रेरित होकर अध्वर्यु दो स्रुकों को लेता है और पश्चिम की ओर जाता है। वहाँ जाकर 'श्रौषट्' कहकर कहता है, 'समिधो यज' (समिधों का यज्ञ कर)। बर्हि को छोड़कर चार प्रयाजों को करता है। बर्हि प्रजा है। ऐसा न हो कि प्रजा पितरों के हवाले हो जाय, इसलिए बर्हि को छोड़कर चार प्रयाजों को करता है। अब दो आज्य भागों को देते हैं और उनको देकर—॥२३॥

वे अपने जनेऊ को दाहिने कन्धे पर कर लेते हैं क्योंकि इन हवियों को देने की इच्छा कर रहे हैं। यजमान और ब्रह्मा इस प्रकार करके (पश्चिम से) पूर्व की ओर मुड़ते हैं, और आग्नीध्र (पूर्व से) पश्चिम की ओर। आगे (अध्वर्यु) श्रौषट् में कहते हैं 'ओ३म्! स्वधा।' (आग्नीध्र) उत्तर देता है, 'अस्तु स्वधा।' और वषट्कार है 'स्वधा नमः' ॥२४॥

इस पर आसुरि ने कहा, 'श्रौषट् कहो' और उत्तर में श्रौषट् कहना चाहिए और वषट्-कार बोलना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि यज्ञ की विधि से हम हट जायँ ॥२५॥

तब (अध्वर्यु) कहता है, 'सोमवन्त पितरों को बुलाओ।' सोमवन्त पितरों के लिए (होता) दो अनुवाक्य बोलता है—एक अनुवाक्य देवों के लिए बोला जाता है और दो पितरों के लिए। पितर एक बार ही परलोक को सिधार गये, इसलिए पितरों के लिए दो अनुवाक्य हुए ॥२६॥

स्तृणीतऽआज्यम् । अथास्य पुरोडाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह मन्थस्य तत्सकृद्वदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याह पितॄन्त्सोमवतो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२७॥ अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्योऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथासां धानानामवद्यति स तेनैव सह मन्थस्य तेन सह पुरोडाशस्य तत्सकृद्वदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याह पितॄन्बर्हिषदो यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२८॥ अथाह पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽनुब्रूहीति । स उपस्तृणीतऽआज्यमथास्य मन्थस्यावद्यति स तेनैव सह पुरोडाशस्य तेन सह धानानां तत्सकृद्वदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याह पितॄनग्निष्वात्तान्यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२९॥ अथाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति । तत्स्विष्टकृते हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितॄणां तस्मादाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति ॥३०॥ स उपस्तृणीतऽआज्यम् । अथास्य पुरोडाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह मन्थस्य तत्सकृद्वदधात्यथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयति न प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्थायाश्राव्याहाग्निं कव्यवाहनं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥३१॥ स यन्नातिक्रामति । इत एवोपोत्थाय जुहोति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरोऽथ यत्सकृत्सकृत्सर्वेषाᳬ हविषाᳬ समवद्यति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरोऽथ यद्व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यत्यृतवो वै पितर ऋतूनेवैतद्व्यतिषजत्यृतून्त्संदधाति तस्माद्व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यति ॥३२॥ तद्धैके । एतमेव होत्रे मन्थमादधति तᳬ होतोपह्वयाविव जिघ्रति तं ब्रह्मणे प्रयच्छति तं ब्रह्मावेव जिघ्रति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीद्वेव जिघ्रत्येतन्न्वेवैतत्कुर्वन्ति यथा त्वेवेतरस्य यज्ञस्येडाम्प्राशित्रᳬ समवद्यन्त्येवमेवैतस्यापि समवद्येयुस्तामुपह्वयाविव जिघ्रन्ति न प्राश्नन्ति प्र

अब घी को फैलाता है। वह पुरोडाश में से टुकड़ा काटता है, और साथ ही धान और मन्थ। ये सब एक ही साथ (जुहू में) रख देता है। दो बार घी छोड़ता है और टुकड़ों को फिर चुपड़ता है। वह दक्षिण को जाता नहीं, किन्तु उठकर और श्रौषट् कहकर कहता है—'पितॄन् सोमवतो यज।' और वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥२७॥

अब कहता है—'बर्हिषद् पितरों को बुलाओ।' अब घी को फैलाता है और धानों में से एक टुकड़ा लेकर मन्थ तथा पुरोडाश के साथ एक ही बार जुहू में रख देता है। दो बार घी छोड़ता है और उन टुकड़ों को चुपड़ता है। वह जाता नहीं, किन्तु उठकर और 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'बर्हिषद् पितरों के लिए हवि दो', और वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥२८॥

अब कहता है—'अग्निष्वात्ता पितरों को बुलाओ।' घी को फैलाता है। मन्थ में से एक टुकड़ा काटता है और धान और पुरोडाश के साथ एक ही बार में (जुहू में) रख देता है। दो बार ऊपर से घी छोड़ता है, फिर उन टुकड़ों को चुपड़ता है। वह चलता नहीं, किन्तु उठकर 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'अग्निष्वात्ता पितरों के लिए आहुति दो।' फिर वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥२९॥

अब कहता है—'कव्यवाहन अग्नि को बुलाओ।' यह स्विष्टकृत अग्नि के लिए कहा। वह देवों के लिए हव्यवाहन है और पितरों के लिए कव्यवाहन; इसलिए 'कव्यवाहन अग्नि के लिए' ऐसा कहा ॥३०॥

अब वह घी को फैलाता है। पुरोडाश में से टुकड़ा काटता है, धान और मन्थ के साथ (जुहू में) रख देता है। दो बार घी छोड़ता है और टुकड़ों को चुपड़ता नहीं, न चलता है, किन्तु उठकर और श्रौषट् कहकर कहता है—'कव्यवाहन अग्नि के लिए आहुति दो' और वषट्कार के पश्चात् आहुति दे देता है ॥३१॥

वह चलता क्यों नहीं और उठकर ही आहुति क्यों दे देता है? इसका कारण यह है कि पितर लोग एक बार ही परलोक को चले गये। और हवियों में से एक ही टुकड़ा क्यों काटता है? इसलिए कि पितर एक ही बार परलोक को चले गये। और टुकड़ों को काटकर एक साथ क्यों रखता है? इसलिए कि ऋतुएँ ही पितर हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं को मिलाकर रखता है, ऋतुओं में सन्धि करता है। इसलिए इन टुकड़ों को एक-साथ रखता है ॥३२॥

कुछ लोग सब मन्थ को होता को दे देते हैं। होता उसका आवाहन करके सूंघता है, और ब्रह्मा को दे देता है। उसे ब्रह्मा सूंघता है और आग्नीध्र को देता है। आग्नीध्र भी उसे सूंघता है। वे ऐसा करते हैं। दूसरे यज्ञों में इडा को काटते हैं। इसमें भी काटना चाहिए। (इड का)

शितव्य त्वेव वयं मन्यामहऽइति ह स्माहासुरिर्यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वतीति ॥३३॥
अथ यतरो दास्यन्भवति । यद्यध्वर्युर्वा यजमानो वा स उदपात्रमादायापसलवि
त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति स यजमानस्य पितरमवनेजयत्यसाववनेनिक्ष्वेत्यसाववने-
निक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं तद्यथाशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत्
॥३४॥ अथास्य पुरोडाशस्यावदाय । सव्ये पाणौ कुरुते धानानामवदाय सव्ये पा-
णौ कुरुते मन्थस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते ॥३५॥ स येमामवान्तरदिशमनु स्र-
क्तिः । तस्यां यजमानस्य पित्रे ददात्यसावेतत्तऽइत्यथ येमामवान्तरदिशमनु स्रक्ति-
स्तस्यां यजमानस्य पितामहाय ददात्यसावेतत्तऽइत्यथ येमामवान्तरदिशमनु स्र-
क्तिस्तस्यां यजमानस्य प्रपितामहाय ददात्यसावेतत्तऽइत्यथ येमामवान्तरदिशमनु
स्रक्तिस्तस्यां निमृष्टेऽत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीते-
त्येवैतदाह तद्यदेवं पितृभ्यो ददाति तेनो स्वान्पितॄनेतस्माद्यज्ञान्नान्तरेति ॥३६॥
ते सर्वऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । उदञ्च उपनिष्क्रम्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते देवा-
न्वाऽएष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत्पितृ-
यज्ञेनेवाचारिषुस्तदु देवेभ्यो निह्नुवते ॥३७॥ ऐन्द्रीभ्यामाहवनीयमुपतिष्ठन्ते । इ-
न्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो वि-
प्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरीऽइति ॥३८॥
अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते । मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पि-
तॄणां च मन्मभिः ॥ आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातꣳ सचेमहीति पितृयज्ञेनेव
वाऽएतदचारिषुस्तदु खलु पुनर्जीवानपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं व्रातꣳ सचेमही-
ति ॥३९॥ अथ यतरो ददाति । स पुनः प्राचीनावीती भूत्वाभिप्रपद्य जपत्यमीम-

आवाहन करके सूँघते हैं, खाते नहीं। परन्तु आसुरि की सम्मति है कि 'हमारा विचार है कि जो कुछ अग्नि में डाला जाय उसका कुछ भाग खाना भी चाहिए' ॥३३॥

अब जो हवि देनेवाला हो, चाहे अध्वर्यु, चाहे यजमान, वह पानी का बर्तन लेकर तीन बार दाहिनी से बाईं ओर को पानी छिड़कता हुआ चलता है। वह यजमान के (पितरों के) लिए 'असौ अवनेनिक्ष्व' (आप धोवें) इस प्रकार दो बार कहकर पानी डालता है, और 'आप धोवें, आप धोवें' कहकर बाबा (पितामह) के लिए (दक्षिण-पश्चिमी कोने में), फिर परबाबा (प्रपितामह) के लिए 'आप धोवें, आप धोवें' कहकर दक्षिण-पूर्वी कोने में। जैसे अतिथि को सत्कार के लिए जल देते हैं उसी प्रकार यहाँ भी ॥३४॥

अब पुरोडाश में से एक टुकड़ा काटकर बायें हाथ में लेता है। धानों मे से भी एक भाग काटकर बायें हाथ में लेता है, और मन्थ में से भी एक टुकड़ा काटकर बायें हाथ में लेता है ॥३५॥

अब वह अवान्तर दिशा के सामने (उत्तर-पश्चिम की ओर) यजमान के बाप के लिए देता है, यह कहकर कि 'यह तुम्हारे लिए', और इस अवान्तर दिशा के सामने (दक्षिण-पश्चिम की ओर) यजमान के बाबा के लिए, यह कहकर कि 'यह तुम्हारे लिए।' और इस अवान्तर दिशा के सामने (दक्षिण-पूर्व की ओर) यजमान के परबाबा के लिए यह कहकर कि 'यह तुम्हारे लिए।' और इस अवान्तर दिशा के सामने (उत्तर-पूर्व की ओर) इस मन्त्र से हाथ धोता है—"अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" (यजु० २।३१)—"हे पितरो यहाँ खाओ, बैल के समान अपने-अपने भागों को।" इसका तात्पर्य यह है कि 'आप अपना-अपना भाग खाइये।' वह इस प्रकार पितरों को क्यों खिलाता है? इसलिए कि अपने पितरों को यज्ञ से वंचित नहीं करता ॥३६॥

अब वे सब यज्ञोपवीत धारण किये हुए उत्तर की ओर जाकर आहवनीय के (उत्तर को) खड़े होते हैं। जो आहिताग्नि होकर दर्श-पूर्णमास यज्ञ करता है वह देवों का निकटवर्ती होता है। परन्तु ये अभी पितृ-यज्ञ कर रहे थे, इसलिए अब ये देवों को सन्तुष्ट करते हैं ॥३७॥

अब वे इन्द्र-सम्बन्धी दो मन्त्रों को पढ़कर आहवनीय के पास खड़े होते हैं—"अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसंदृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी" (यजु० ३।५१,५२ या ऋ० १।८२।२,३)—"प्यारों ने खा लिया, वे सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अपने को झाड़ डाला। प्रकाशयुक्त विप्रों ने स्तुति की – हे इन्द्र! अपने दोनों घोड़ों को जोत। हे इन्द्र, तुझ उत्तम की हम स्तुति करेंगे। इस प्रकार स्तुति किया गया तू अपने रथ में हमारी इच्छा के अनुसार आ। हे इन्द्र! तू अपने दोनों घोड़ों को जोत" ॥३८॥

अब वे गार्हपत्य तक लौटते हैं और खड़े होकर इन मन्त्रों को पढ़ते हैं—"मनो न्वाह्वामहे नाराशँ्सेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥ आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातँ्सचेमहि।" (यजु० ३।५३, ५४, ५५ या ऋग्वेद १०।५७।३,४,५)—"हम नाराशंसी स्तोम के द्वारा मन का आवाहन करते हैं, और पितरों के स्तोम से। हमारे पास बुद्धि, शक्ति और जीवन के लिए मन फिर आवे कि हम बहुत दिनों तक सूर्य के दर्शन करें। हे पितरो, देव्य जन हम को फिर मन दें कि हम जीवित लोगों के साथ रह सकें।" अब तक वे पितृ-यज्ञ कर रहे थे। अब वे फिर जीवन को लौटते हैं। इसीलिए कहा—'हम जीवित लोगों के साथ रह सकें ॥३९॥

अब जिसने पिण्ड दिया था वह फिर दाहिने कन्धे पर जनेऊ रखकर यह मन्त्र जपता

दत्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥४०॥ अथो-
दपात्रमादाय । पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति स यजमानस्य पितरमत्रनेज-
यत्यसाववनेनिक्ष्वेत्यसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहं त
द्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत्तद्यत्पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति प्रसलवि न
इदं कर्मानुसंतिष्ठाताऽइति तस्मात्पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्पर्येति ॥४१॥ अथ
नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति
यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट् कृत्वो नमस्करोति षड्वाऽऋतव ऋत-
वः पितरस्तदृतुष्वेवैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति तस्मात्षट् कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पि
तरो दत्तेति गृहाणाᳮ ह पितर ईशतऽएषोऽएतस्याशीः कर्मणः ॥४२॥ ते सर्व
ऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । अनुयाजाभ्यां प्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च
पश्चात्परीतः पुरस्तादग्नीदुपविशति होता होतृषदने ॥४३॥ अथाह ब्रह्मन्प्रस्था-
स्यामि । समिधमाधायाग्निमग्नीत्संमृड्ढीति स्रुचावादाय प्रत्यङ्ङतिक्रामत्यतिक्रम्याश्रा-
व्याह देवान्यजेति सोऽपबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति प्रजा वै बर्हिर्नेत्प्रजाः पि-
तृषु दधानीति तस्मादपबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति ॥४४॥ अथ सादयित्वा स्रुचौ
व्यूहति । स्रुचौ व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधिमभिपद्याश्राव्याहेषिता दैव्या होता-
रो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकायेति सूक्तवाकᳮ होता प्रतिपद्यते ना-
ध्वर्युः प्रस्तरᳮ समुच्छुम्पतीत्येवोपास्ते यदा होता सूक्तवाकमाह ॥४५॥ अथाग्नी-
दाहानुप्रहरेति । स न किं चनानुप्रहरति तूष्णीमेवात्मानमुपस्पृशति ॥४६॥ अ-
थाह संवदस्वेति । अगानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषे-
भ्यः शं योर्ब्रूहीत्युपस्पृशत्येव परिधीन्नानुप्रहरत्यथैतद्बर्हिरनुसमस्यति परिधींश्च ॥४७॥
तद्धैके । हविरुच्छिष्टमनुसमस्यन्ति तदु तथा न कुर्याद्धुतोच्छिष्टं वाऽएतन्नेद्धुतोच्छिष्टम-
ग्नौ जुहवामेति तस्मादपो वैवाभ्यवहरेयुः प्राश्नीयुर्वा ॥४८॥ ब्राह्मणम् ॥२[६.१.]॥

है—"अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" (यजु० २।३१)—"पितरों ने खा लिया। बैलों के समान वे अपने-अपने भाग को ले गये।" इससे तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपना-अपना भाग खाया ॥४०॥

अब वह जल के पात्र को लेता है और छिड़कता हुआ फिर तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर को लौटता एवं 'आप धोइये' कहकर यजमान के पिता के लिए जल छोड़ता है, 'आप धोइये' कहकर यजमान के बाबा के लिए, 'आप धोइये' कहकर यजमान के परबाबा के लिए। जैसे अतिथि के सत्कार के लिए, जो खाना खाता है, जल दिया जाता है वैसे ही यहाँ भी किया जाता है। और तीन बार बाईं ओर से दाहिनी ओर जल छिड़कते हुए चलने के विषय में वह सोचता है कि 'हमारा यह काम इसी प्रकार (?) पूरा हो जायगा।' इसलिए वह तीन बार बाईं ओर जल छिड़कता हुआ चलता है ॥४१॥

अब नीवि अर्थात धोती के निचले भाग को नीचे खींचकर नमस्कार करता है। नीवि पितरों की है, इसलिए उसे खींचकर नमस्कार करता है। नमस्कार यज्ञ है। इस प्रकार वह उनको यज्ञ का अधिकारी बनाता है। छः बार नमस्कार करता है, क्योंकि छः ऋतुएँ होती हैं। ऋतुएँ पितर हैं। इस प्रकार ऋतुओं में ही इस यज्ञ की स्थापना करता है। इसलिए छः बार नमस्कार करता है। अब कहता है—'पितरो! हमको घर दो।' क्योंकि पितर घर के रक्षक हैं, और इस यज्ञ में यह आशीर्वाद है ॥४२॥

वे सब यज्ञोपवीत धारण करके (बायें कन्धे पर जनेऊ लाकर) तैयारी करते हैं। इस प्रकार यजमान और ब्रह्मा पश्चिम की ओर आते हैं और आग्नीध्र पूर्व की ओर, और होता होता के स्थान पर बैठ जाता है ॥४३॥

अब वह कहता है—'हे ब्रह्मा! मैं आगे चलूँगा।' अब वह समिधा रखकर कहता है—'आग्नीध्र! आग ठीक कर।' अब दोनों स्रुकों को लेकर पश्चिम की ओर जाता है। वहाँ जाकर और 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'देवों के लिए आहुति दे।' वह दो अनुयाज देता है, बर्हि का अनुयाज छोड़कर। बर्हि प्रजा है। इसलिए बर्हि का अनुयाज छोड़कर दो अनुयाज ही करता है जिससे प्रजा पितरों के हवाले न हो जाय ॥४४॥

अब दोनों स्रुकों को रखकर अलग-अलग कर देता है। उनको अलग करके और परिधियों को घी में भिगोकर एक परिधि को लेता है और 'श्रौषट्' कहकर कहता है—'भद्र कहने के लिए दिव्य-होता बुलाये गये और स्तुति के लिए मनुष्य-होता बुलाया गया। होता सूक्तवाक् या स्तुति कहता है। अध्वर्यु प्रस्तर को नहीं उठाता; केवल देखता रहता है जब कि होता स्तुति करता है ॥४५॥

अब आग्नीध्र कहता है—'छोड़।' अध्वर्यु कुछ छोड़ता नहीं। केवल चुपचाप अपने शरीर को छू लेता है।४६॥

अब आग्नीध्र कहता है—'संवाद कर।' अध्वर्यु पूछता है—'हे आग्नीध्र! वह गया?' (उत्तर देता है) 'वह गया।' 'देव सुनें।' 'दैवी-होता विदा हों।' 'मनुष्य-होता का कल्याण हो।' 'कल्याण के वाक्य कह।' यह कहकर वह केवल परिधियों को छूता है, परन्तु अग्नि में डालता नहीं। बर्हि और परिधियों को पीछे से छोड़ता है ॥४७॥

कुछ लोग बची-खुची हवि को भी (अग्नि में) डाल देते हैं; परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि यह आहुति का उच्छिष्ट (जूठा) है। इसलिए ऐसा न हो कि आहुति की जूठन छोड़ दी जाय। इसलिए उसे या तो जल में छोड़ देना चाहिए या खा लेना चाहिए ॥४८॥

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनो एव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामथ यान्येवैषां तस्मिन्त्संग्राम इषव आर्छंस्तानेतैरेव शल्यान्निरहरन्त तान्व्यवृहन्त यत्त्र्यम्बकैर्यजन्ते ॥१॥ अथ यदेष एतैर्यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कं चनेषुमहतीति देवा अकुर्वन्निति त्वेवैष एतत्करोति याश्च त्वेवास्य प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयी रुद्रियात्प्रमुञ्चति ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्माद्वा एष एतैर्यजते ॥२॥ ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य हीषुस्तस्माद्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या असन्निति तस्मादेककपाला भवन्ति ॥३॥ ते वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवैतदेकेकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्ता भवन्ति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चति तस्मादेकेनातिरिक्ता भवन्ति ॥४॥ स जघनेन गार्हपत्यं । यज्ञोपवीती भूत्वोदङ्ङासीन एतान्गृह्णाति स तत एवोपोत्थायोदङ्ङिष्टमवहरत्युदीच्यौ दृषदुपले उपदधात्युत्तरार्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति तद्यदेव तामुत्तरां दिशं सचन्त एषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादेतामुत्तरां दिशं सचन्ते ॥५॥ ते वा अक्ताः स्युः । अक्तं हि हविस्त उ वा अनक्ता एव स्युरभिमानुको ह रुद्रः पशून्त्स्याद्यदक्त्यात्तस्मादनक्ता एव स्युः ॥६॥ तान्त्सार्धं पात्र्यां समुद्वास्य । अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादायोदङ् परेत्य जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि स देवश्चरति चतुष्पथे जुहोत्येतद्ध वा अस्य ज्ञाधितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे जुहोति ॥७॥ पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स सर्वेषामेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषोऽतिरिक्तो भवति ॥८॥ स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागस्तद्यदस्यैष स्त्रिया सह भागस्तस्मात्त्र्यम्बका नाम तद्या अस्य

अध्याय ६–ब्राह्मण २

देवों ने महाहवि के द्वारा ही वृत्र को मारा था। उसी से उनको वह विजय मिली जो उनको प्राप्त है। उनमें से जिनके शरीर में उस युद्ध में वाण लगे थे उनको निकाला। उनको उन्होंने त्र्यम्बक यज्ञ करके निकाला ॥१॥

इसलिए जो कोई इस प्रकार यज्ञ करता है वह या तो इसलिए करता है कि उसके लोगों के कोई तीर न लगेगा; या इसलिए कि देवताओं ने ऐसा किया था। इस प्रकार वह उस सन्तान को जो उत्पन्न हो चुकी है और उस सन्तान को भी जो अभी उत्पन्न नहीं हुई, रुद्र के फन्दे से छुड़ा देता है और उसकी सन्तान रोगरहित और दोषरहित उत्पन्न होती है। इसीलिये वह यज्ञ करता है ॥२॥

(त्र्यम्बक यज्ञ) रुद्र के लिए किया जाता है। वाण रुद्र के ही हैं। इसलिए रुद्र की ही आहुतियाँ होती हैं। यह एक कपाल (का पुरोडाश) होता है। एक देवता के लिए ही होती है, इसलिए वे एक कपाल की ही होती हैं ॥३॥

प्रति पुरुष के लिए एक-एक। जितने घर के लोग हों उनके लिए एक-एक और एक अधिक। एक-एक के लिए एक-एक। इससे वह उत्पन्न हुई सन्तान को रुद्र के वश से छुड़ाता है। और जो एक अधिक हुई उसके सहारे से जो सन्तान अभी उत्पन्न नहीं हुई उसको रुद्र के वश से छुड़ाता है। इसीलिए वे इतने होते हैं और एक अधिक ॥४॥

वह यज्ञोपवीत धारण किये हुए उत्तराभिमुख गार्हपत्य के पीछे बैठकर (पुरोडाश के लिए चावलों को) निकालता है। वहाँ से वह उठता है और उत्तराभिमुख खड़ा होकर पछोरता है। अब दृषद और उपल (चक्की के पाट) उत्तर की ओर रखता है और गार्हपत्य के उत्तरार्द्ध में कपालों को रखता है। उत्तर की ओर ही क्यों रखता है? इसलिए कि उत्तर देव की दिशा है। इसलिए उत्तर की दिशा में रखते हैं ॥५॥

(कुछ की राय में) उनमें घी मिलाना चाहिए। हवि में घी मिला होता है, परन्तु घी न मिलाना ही अच्छा है। यदि घी मिला दिया जायगा तो रुद्र यजमान के पशुओं के पीछे पड़ेगा। इसलिए घी नहीं मिलाना चाहिए ॥६॥

एक पात्र में सब (पुरोडाश) को करके दक्षिणाग्नि से एक जलती लकड़ी लेकर उत्तर की ओर जाकर आहुति दे देता है, क्योंकि उत्तर की दिशा इस देव की है। मार्ग में ही आहुति देता है, क्योंकि वह देव (रुद्र) मार्ग में ही चलता है। चौराहे पर ही देता है, क्योंकि चौराहे पर ही (रुद्र का) प्राचीन स्थान है। इसलिए चौराहे पर ही आहुति देता है ॥७॥

पलाश पत्र के बीच के पत्ते से आहुति देता है। पलाश ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म के द्वारा ही आहुति देता है। वह सब (पुरोडाशों में से) एक-एक टुकड़ा काटता है, केवल अधिक पुरोडाश (जो एक अधिक था) में से नहीं काटता ॥८॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर आहुति देता है—"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा" (यजु० ३।५७)—"हे रुद्र, तेरी बहिन अम्बिका के साथ यह तेरा भाग है, तू इसे ग्रहण कर; स्वाहा।" उसकी बहिन का नाम अम्बिका है। उसके साथ मिला हुआ उसका यह भाग है। और चूँकि एक स्त्री उस भाग में शरीक है, अतः उन आहुतियों का नाम पड़ा 'अम्बिका'। इन

प्रजा जातास्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चति ॥ ९ ॥ अथ य एष एकोऽतिरिक्तो भवति । तमा-खूत्कर उपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुरिति तदस्माऽआखुमेव पशूनाम-नुदिशति तेनोऽइतरान्पशून्न हिनस्ति तद्यदुपकिरति तिर इव वै गर्भास्तिर-इ-वैतद्यदुपकीर्णं तस्माद्वाऽउपकिरति तया एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात्प्रमु-ञ्चति ॥ १० ॥ अथ पुनरेत्य जपन्ति । अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् । यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥ भेषजमसि भेषजं ग-वेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् सुखं मेषाय मेष्याऽइत्याशीरेवैषैतस्य कर्मणः ॥ ११ ॥ अथापसलवि त्रिः परियन्ति । सव्यानूरूनुपाघ्नानास्त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि-वर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतादित्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशासते तद्व क्षेव शमिव यो मृत्योर्मुच्याते नामृतात्तस्मादाह म-त्योर्मुक्षीय मामृतादिति ॥ १२ ॥ तद्व हापि कुमार्यः परीयुः । भगस्य भजामहाऽइ-ति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाम्बिका नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्माद्व हापि कु-मार्यः परीयुर्भगस्य भजामहाऽइति ॥ १३ ॥ तासामुतासां मन्त्रोऽस्ति । त्र्यम्बकं य-जामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत इति सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाह पतयो ह्येव स्त्रियै प्र-तिष्ठा तस्मादाह मामुत इति ॥ १४ ॥ अथ पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति । दक्षि-णानूरूनुपाघ्नाना एतेनैव मन्त्रेण तद्यत्पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति प्रसलवि न इदं कर्मानुसंतिष्ठाताऽइति तस्मात्पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति ॥ १५ ॥ अथैतान्य-जमानोऽञ्जलौ समोप्य । ऊर्ध्वानुदस्यति यथा गौर्नीदाप्नुयात्तदात्मभ्य एवैतद्धल्या-न्निर्मिमते तान्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति भेषजमेवैतत्कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृ-शन्ति ॥ १६ ॥ तान्द्वयोर्मूतकयोरुपनह्य । वेण्यग्रयां वा कुपे वोभयत आबध्योदङ् परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वेणुं वा वल्मीकं वा विन्देत्तस्मिन्नासजन्त्येतत्ते

आहुतियों के द्वारा, उसके जो सन्तान हुई है उसको रुद्र के पंजे से छुड़ा देता है ॥९॥

और एक जो (पुरोडाश की टिकिया) उसको चूहे के बिल में गाड़ देती है, यह मन्त्र पढ़कर—"एष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः" (यजु० ३।५७)—"हे रुद्र ! यह भाग है और चूहा तेरा पशु है।" इस प्रकार वह चूहे को ही (रुद्र का पशु) नियत कर देता है और वह (रुद्र) किसी अन्य पशु को नहीं सताता। गाड़ता क्यों है ? इसलिए कि गर्भ गुप्त होते हैं। और जो गड़ा हुआ होता है वह भी गुप्त होता है। इसीलिए वह उसको गाड़ता है। इसके द्वारा वह अपनी उस सन्तान को जो अभी उत्पन्न नहीं हुई रुद्र के पंजे से छुड़ा देता है ॥१०॥

अब वे लौटकर यह मन्त्र जपते हैं—"अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस्करद् यथा नः श्रेयसस्करद् यथा नो व्यवसाययात्॥ भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै" (यजु० ३।५८,५९)—"हम त्र्यम्बक देव रुद्र को सन्तुष्ट करते हैं कि वह हमको घर आदि से युक्त करे, हमको कल्याण दे, और हमको व्यवसायी बनावे" (यजु० ३।५८)—"हे रुद्र ! आप औषध हैं— गाय, घोड़े, पुरुष के लिए औषध हैं। भेड़े और भेड़ी के लिए सुख हैं (अर्थात् सब प्राणियों के लिए सुख के दाता हैं), इस यज्ञ में यह आशीर्वाद है" (यजु० ३।५९) ॥११॥

अब वे तीन बार वेदी के चारों ओर (बाईं ओर से) फिरते हैं, बाईं जाँघों को पीटते हुए और यह मन्त्र जपते हुए—"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्" (यजु० ३।६०)—"सुगन्धयुक्त और पुष्टि को बढ़ानेवाले त्र्यम्बक की हम स्तुति करते हैं कि वह हमको मौत के बन्धन से इस प्रकार छुड़ा ले जैसे उर्वारुक (लौकी) अपने डण्ठल से; परन्तु मोक्ष से नहीं" ॥१२॥

कुमारियाँ भी परिक्रमा करें, इसलिए कि उनका कल्याण हो। रुद्र की बहिन अम्बिका भाग्य की अधिष्ठात्री है। इसलिए कुमारियों को भी परिक्रमा देनी चाहिए, इस इच्छा से कि उनका भाग्य जागे ॥१३॥

उनके लिए यह मन्त्र है—"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः" (यजु० ३।६०)—"हम सुगन्धयुक्त पतियों को प्राप्त करानेवाले त्र्यम्बक की स्तुति करती हैं कि वह हमको इस (लोक) से लौकी के डण्ठल की भाँति छुड़ा दे, न कि उस (लोक) से" (यजु० ३।६०)। 'इस (लोक) से' का तात्पर्य है 'मेरे माता-पिता आदि से।' 'वहाँ से नहीं' का तात्पर्य है—'पति से नहीं'। (अर्थात् वधू अपने माँ-बाप को छोड़कर पति के घर में नित्य रहने की प्रार्थना करती है) पति ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसलिए कहती है 'वहाँ से नहीं' ॥१४॥

अब वे फिर वेदी के चारों ओर दाहिनी ओर से फिरते हैं, दाहिनी जाँघों को पीटते हुए और वही मन्त्र जपते हुए। वे दाहिनी ओर घूमकर तीन बार क्यों फिरते हैं ? इसलिए कि वे समझते हैं कि ऐसा करने से हमारे दाहिनी ओर काम सिद्ध होगा। इसलिए वे तीन बार दाहिनी ओर से परिक्रमा देते हैं ॥१५॥

अब यजमान इन बचे हुए पुरोडाश की टिकियों को अंजलि में लेकर ऊपर को इस प्रकार फेंकता है कि गौ न छू सके, और फिर हाथ में लेता है। जो पकड़ में नहीं आते और गिर पड़ते हैं उनको केवल छू लेता है। इस प्रकार वे उनको औषध के समान बनाते हैं। इसलिए यदि वे पकड़ में नहीं आते तो छू लेता है ।१६॥

अब इनको दो टोकरियों में रखकर और या तो बाँस के दो सिरों से या तराज़ू की डण्डी के दो सिरों से बाँधकर उत्तर की ओर चलता है। और रास्ते में कोई वृक्ष, ठूँठ, बाँस या चिटोहर

रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहीत्यवसेन वाऽअध्वानं यन्ति तदेनꣳ सावसमे-
वान्ववार्जन्ति यत्र-यत्रास्य चरणं तदन्वत्र ह वाऽअस्य परो मूजवद्भ्यश्चरणं तस्मा-
दाह परो मूजवतोऽतीहीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिꣳसन्नः शिवोऽतीही-
त्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापयत्येवैनमेतत्स्वपन्नु हि न कं चन हिनस्ति
तस्मादाह कृत्तिवासा इति ॥१७॥ अथ दक्षिणान्बाहूनन्वावर्तन्ते । ते प्रतीक्षं
पुनरायन्ति पुनरेत्याप उपस्पृशन्ति रुद्रियेणेव वाऽएतदचारिषुः शान्तिरापस्तदद्भिः
शान्त्या शमयन्ते ॥१८॥ अथ केशश्मश्रू वपते । समारोह्याग्नीऽउदवसायैव यजेतेन
यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहानित्वा
निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजतऽउत्सन्नयज्ञ-इव वाऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथैष क्लृप्तः
प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्पौर्णमासं तत्क्लृप्तेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्य-
ति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६.२.]॥ ॥

अक्षय्यꣳ ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति । संवत्सरꣳ हि जयति ते-
मास्याक्षय्यं भवति तं वै त्रेधा विभज्य यजति त्रेधा विभज्य प्रजयति सर्वं वै सं-
वत्सरः सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेनो हास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्यृतुरु हैवैतद्भूत्वा देवान-
प्येत्यक्षय्यमु वै देवानामेतेनो हैवास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्येतन्नु तद्यस्माच्चातुर्मा-
स्यैर्यजते ॥१॥ अथ यस्माच्छुनासीर्येण यजेत । या वै देवानाꣳ श्रीरासीत्साकमेधै-
रीजानानां विजिग्यानानां तच्छुनमथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तत्सीरꣳ
सा या चैव देवानाꣳ श्रीरासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां य उ च संव-
त्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन्कुरुते तस्माच्छुनासीर्येण य-
जते ॥२॥ तस्यावृत् । नोपकिरत्युत्तरवेदिं न गृह्णन्ति पृषदाज्यं न मन्थन्त्यग्निं
पञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयोऽनुयाजा एकꣳ समिष्टयजुः ॥३॥ अथैतान्येव पञ्च ह-
वीꣳषि भवन्ति । एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो वरुणपाशा-

मिल जाय तो इस मन्त्र से उसमें बाँध देता है—"एतत् ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि" (यजु० ३।६१)—"हे रुद्र! यह तेरा तोशा है। इसे लेकर तू मूजवत के उस पार आ।" तोशा लेकर ही लोग यात्रा को चलते हैं। इसलिए जहाँ जाना हो वहाँ तोशा लेकर विदा करता है। इस प्रसंग में उसकी यात्रा मूजवत के उधर है, इसलिए कहता है कि मूजवत के उधर। अब कहता है—"अवततधन्वा पिनाकावसः" (यजु० ३।६१)—"बिना खिंचे हुए धनुष और वज्र से युक्त।" इससे तात्पर्य है 'हिंसा न करते हुए, कल्याण करते हुए जाओ।' अब कहता है—"कृत्तिवासा" (यजु० ३।६१) "चमड़ा पहने हुए।" इससे वह उसे सुला देता है। सोते हुए कोई किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। इसलिए कहा 'चमड़ा पहने हुए' ॥१७॥

अब वे दक्षिण की ओर फिरते हैं, बिना पीछे देखते हुए। लौटकर जल का स्पर्श करते हैं। अब तक रुद्र यज्ञ कर रहे थे। जल शान्ति है। इसलिए शान्तिरूपी जल से अपने को पवित्र करते हैं ॥१८॥

अब वह केश और दाढ़ी मुँडवाता है, और (उत्तर वेदी की) अग्नि लेता है, क्योंकि जगह बदलकर ही तो वह (पौर्णमास) यज्ञ कर सकता है। यह ठीक नहीं है कि उत्तर वेदी पर अग्निहोत्र करे, इसलिए वह जगह बदल लेता है। घर जाकर और अग्नियों का मन्थन करके वह पौर्णमास यज्ञ करता है। चातुर्मास्य यज्ञ अलग होते हैं, परन्तु पौर्णमास यज्ञ नियत और प्रतिष्ठित है। इसलिए वह उस नियत यज्ञ को करके अपने को प्रतिष्ठित करता है। इसलिए जगह बदल देता है ॥१९॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है उसका पुण्य कभी नाश नहीं होता। वह संवत्सर को जीत लेता है, इसलिए वह नाश नहीं होता। वह इसके तीन भाग करके यज्ञ करता है। वह इसके तीन भाग करके जीतता है। 'संवत्सर' का अर्थ है 'सम्पूर्ण'। 'सम्पूर्ण' नाश नहीं होता। इसलिए उसका सुकृत भी अक्षय होता है। वह ऋतु हो जाता है और देवों को प्राप्त होता है। देवों में तो 'क्षय' है ही नहीं। इसलिए उसके लिए अक्षय सुकृत होता है। यही प्रयोजन है कि वह चातुर्मास्य यज्ञ करता है ॥१॥

अब शुनासीर यज्ञ क्यों करना चाहिए? साकमेध करनेवाले और (वृत्र पर) विजय पानेवाले देवों की जो 'श्री' थी वह है 'शुनम्' और प्राप्त हुए 'संवत्सर' का जो रस था वह है 'सीर'। साकमेध करनेवाले और (वृत्र पर) विजय पानेवाले देवों की जो 'श्री' थी और प्राप्त हुए संवत्सर का जो 'रस' था, उन दोनों को ग्रहण करके अपना बना लेता है, इसलिए 'शुनासीर यज्ञ' करता है ॥२॥

इसकी यह विधि है – उत्तरवेदी नहीं बनाते। नौनी घी नहीं लेते। अग्नि का मन्थन नहीं करते। पाँच प्रयाज होते हैं, तीन अनुयाज और एक समिष्ट यजुः ॥३॥

पहले ये साधारण पाँच हवियाँ होती हैं। इन्हीं हवियों से प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की।

त्प्रजाः प्रामुच्यन्तैतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्नेतैर्वेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैर्या चैव देवानाꣳ श्रीरासीत्साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां य उ च संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन्कुरुते तस्माद्वाऽएतानि पञ्च हवीꣳषि भवन्ति ॥४॥ अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति । स बन्धुः शुनासीर्यस्य यं पूर्वमवोचाम ॥५॥ अथ वायव्यं पयो भवति । पयो ह वै प्रजा जाता अभिसंजानते विजिग्यानं मा प्रजाः श्रियै यशसेऽन्नाद्यायाभिसंजानान्ताऽइति तस्मात्पयो भवति ॥६॥ तद्यद्वायव्यं भवति । अयं वै वायुर्योऽयं पवतऽएष वाऽइदꣳ सर्वं प्रप्याययति यदिदं किं च वर्षति वृष्टादोषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एतद्रसोऽधि पयः सम्भवत्येष हि वाऽएतज्जनयति तस्माद्वायव्यं भवति ॥७॥ अथ सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति । एष वै सूर्यो य एष तपत्येष वाऽइदꣳ सर्वमभिगोपायति साधुना त्वदसाधुना त्वदेष इदꣳ सर्वं विदधाति साधौ त्वदसाधौ त्वदेष मा विजिग्यानं प्रीतः साधुना त्वदभिगोपायत्साधौ त्वद्विदधदिति तस्मात्सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥ तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा । तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति यद्यश्वꣳ श्वेतं न विन्देदपि गौरेव श्वेतः स्यात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥९॥ स यत्रैव साकमेधैर्यजते । तच्छुनासीर्येण यजेत यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव संवत्सरमाप्नोति तस्माद्यदैव कदा चैतेन यजेत ॥१०॥ तद्धैके । रात्रीरापिपयिषन्ति स यदि रात्रीरापिपयिषेद्व्यद्दः पुरस्तात्फाल्गुन्यै पौर्णमास्याऽउद्दृष्टं तच्छुनासीर्येण यजेत ॥११॥ अथ दीक्षेत । तं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्पुनःप्रयागरूप-इव ह स यदेनमनीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्तस्मादेनं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयादिति नूत्सृजमानस्य ॥१२॥ अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य । पूर्वेद्युः फाल्गुन्यै पौर्णमास्यै शुनासीर्येण यजेताथ प्रातर्वैश्वदेवेनाथ पौर्णमासेनैतद्उ पुनः प्र-

इन्हीं के द्वारा दोनों ओर से वरुण के पाश से प्रजा को छुड़ाया। इन्हीं से देवों ने वृत्र को मारा। इन्हीं से उनको यह विजय मिली जो उनको प्राप्त है। इन्हीं के द्वारा साकमेध यज्ञ करनेवाले और (वृत्र को) जीतनेवाले देवों की जो श्री थी और जो प्राप्त हुए सवत्सर का रस था, उन दोनों को ग्रहण करके अपना बना लेता है। इसीलिए इन पाँच हवियों से यज्ञ करता है ।।४।।

अब शुनासीर्य पुरोडाश बारह कपालों का होता है। शुनासीर्य यज्ञ के विषय में पहले कह ही दिया गया ।।५।।

वायु के लिए दूध की आहुति होती है। प्रजा उत्पन्न होते ही दूध पीती है। वह सोचता है कि मुझ जीते हुए को प्रजा प्राप्त होवे। श्री, यश, अन्न, मेरा हो। इसलिए दूध की आहुति होती है ।।६।।

वायु के लिए क्यों आहुति होती है ? यह जो चलता है यह वायु ही तो है। इसी के द्वारा तो वर्षा होती है। वर्षा से औषध होती हैं। औषध खाकर और जल पीकर ही तो जल में से दूध होता है। इसलिए (वायु से) ही दूध होता है, इसलिए वायु के लिए आहुति देता है ।।७।।

अब एक कपाल का पुरोडाश सूर्य के लिए। यह सूर्य ही तो है जो तपता है। यही तो सबकी रक्षा करता है; कभी साधु द्वारा, कभी असाधु द्वारा। यही सबको धारण करता है; कभी साधु द्वारा, कभी असाधु द्वारा। यह सोचता है कि 'मैं विजयी हो गया। अब वह प्रसन्न होकर 'साधु' द्वारा मेरी रक्षा करे। साधु द्वारा धारण करे।' इसलिए सूर्य का एक कपाल का पुरोडाश होता है ।।८।।

इसकी दक्षिणा है सफेद घोड़ा। इसलिए उस तपनेवाले सूर्य के रूप की होती है। यदि सफेद घोड़ा न मिले तो सफेद गौ ही होवे। इस प्रकार वह तपनेवाले सूर्य के रूप की होती है ।।९।।

जब यह साकमेध यज्ञ करे तभी शुनासीर यज्ञ करे। वर्ष में तीन बार करने से सम्पूर्णता मिल जाती है। इसलिए कभी कर ले ।।१०।।

कुछ लोग रात्रि को लेना चाहते हैं। यदि वह रात्रि को लेना चाहे तो जब सामने आकाश में फाल्गुनी पूर्णमासी दिखाई पड़े उस समय शुनासीर यज्ञ को करे ।।११।।

अब वह दीक्षा लेवे कि कहीं फाल्गुनी पूर्णमासी बिना यज्ञ के न रह जाय, क्योंकि यदि फाल्गुनी पूर्णमासी बिना यज्ञ के गुजर जायगी तो उसको फिर प्रयोग करना पड़ेगा। इसलिए फाल्गुनी पूर्णमासी बिना सोम यज्ञ के नहीं गुजरनी चाहिए। यह उसके लिए जो (चातुर्मास्य आहुतियों को) छोड़ बैठता है ।।१२।।

जो (चातुर्मास्य यज्ञ) फिर करना चाहता है, उसे फाल्गुनी पूर्णमासी के पहले दिन शुनासीर यज्ञ करना चाहिए, दूसरे दिन वैश्वदेव यज्ञ, फिर पौर्णमास यज्ञ। यह उसके लिए है

युञ्जानस्य ॥१३॥ अथातः । परिवर्तनस्यैव सर्वतोमुखो वाऽअसावादित्य एष वा ऽइदꣳ सर्वं निर्धयति यदिदं किं च शुष्यति तेनैष सर्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥१४॥ सर्वतोमुखोऽयमग्निः । यतो ह्येव कुतश्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति तेनैष सर्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥१५॥ अथायमन्यतोमुखः पुरुषः । स एतत्सर्वतोमुखो भवति यत्परिवर्तयते स एवमेवान्नादो भवति यऽएतावितद्य एवं विद्वान्परिवर्तयते तस्माद्वै परिवर्तयेत ॥१६॥ तद्ध स्मोवाचासुरिः । किं नु तत्र मुखस्य यदपि सर्वाण्येव लोमानि वपेत यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव सर्वतोमुखस्तेनान्नादस्तस्मान्नाद्रियेत परिवर्तयितुमिति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४ [६.३.]॥ ॥

तद्यदाहुः । साकमेधैर्वै देवा वृत्रमघ्नंस्तैर्वेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामिति सर्वैर्ह त्वेव देवाश्चातुर्मास्यैर्वृत्रमघ्नन्त्सर्वैर्वेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम् ॥१॥ ते होचुः । केन राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम इति स हाग्निरुवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति तेऽग्निना राज्ञाग्निनानीकेन चतुरो मासः प्राजयंस्तान्ब्रह्मणा च त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥२॥ ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम इति स ह वरुण उवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति ते वरुणेनैव राज्ञा वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान्ब्रह्मणा चैव त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥३॥ ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम इति स हेन्द्र उवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति तऽइन्द्रेणैव राज्ञेन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान्ब्रह्मणा चैव त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥४॥ स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निनैवैतद्राज्ञाग्निनानीकेन चतुरो मासः प्रजयति तच्छ्येनी शलली भवति लोहः क्षुरः सा या त्र्येनी शलली सा त्रय्यै विद्यायै रूपं लोहः क्षुरो ब्रह्मणो रूपमग्निर्हि ब्रह्म लोहित-इव ह्यग्निस्तस्माल्लोहः क्षुरो भवति तेन परिवर्तयते तद्ब्रह्मणा चैवेनमेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥५॥ अथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते । वरुणेनैवैतद्रा-

जो चातुर्मास्य को फिर शुरू करना चाहता है ।।१३।।

अब सिर मुँडाना। यह सूर्य तो सब ओर मुख किये रहता है। वह जो कुछ सूखता है उसे सूर्य ही तो पीता है। इसलिए यह (यजमान भी) (सिर मुँडाने से) सर्वतोमुख और अन्न पचानेवाला हो जाता है ।।१४।।

यह अग्नि भी सर्वतोमुख है। क्योंकि जो कुछ अग्नि में जिधर से भी डाला जाय भस्म हो जाता है, इसलिए यह (यजमान) भी (सिर मुँडाने से) सर्वतोमुख और अन्न पचानेवाला हो जाता है ।।१५।।

यह पुरुष तो एक ही ओर मुख रखता है। परन्तु सिर जो मुँडाता है वह सर्वतोमुख हो जाता है। और जो इस रहस्य को समझकर सिर मुँडाता है वह दोनों (अग्नि और सूर्य) के समान अन्न पचानेवाला होता है। इसलिए उसको बिल्कुल सिर मुँडाना चाहिए ।।१६।।

इस विषय में आसुरि की राय थी कि 'चाहे सब लोम मुँडा लें, तो भी इससे और मुख से क्या सम्बन्ध ? वर्ष में तीन बार यज्ञ करने से ही सर्वतोमुख और अन्न पचानेवाला होता है। इसलिए सिर मुँडाने की कोई आवश्यकता नहीं ।।१७।।

अध्याय ६–ब्राह्मण ४

यह जो कहा गया है कि देवों ने साकमेध यज्ञ के द्वारा वृत्र को मारा और उस विजय को पा लिया जो उनको प्राप्त है, यह सभी चातुर्मास्य यज्ञों के द्वारा ऐसा हुआ कि देवों ने वृत्र को मारा और जो विजय उनको प्राप्त है वह सभी के द्वारा हुई है ।।१।।

उन्होंने कहा, 'किस राजा के द्वारा और किस नेता की सहायता से हम लड़ेंगे ?' अग्नि ने कहा—'मुझ राजा और मुझ नेता की सहायता से।' अग्नि राजा और अग्नि नेता की सहायता से उन्होंने चारों महीनों को जीता, और ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उन (महीनों) को घेरा ।।२।।

उन्होंने कहा—'किस राजा और किस नेता की सहायता से हम लड़ेंगे ?' वरुण ने कहा—'मुझ राजा और मुझ नेता की सहायता से।' उन्होंने वरुण राजा और वरुण नेता की सहायता से दूसरे चार महीनों को जीता, और ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उनको घेरा ।।३।।

उन्होंने कहा—'किस राजा और किस नेता की सहायता से हम लड़ेंगे ?' इन्द्र ने कहा—'मुझ राजा और मुझ नेता की सहायता से।' इन्द्र राजा और इन्द्र नेता की सहायता से उन्होंने शेष चार महीनों को जीता, और उनको ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से घेरा ।।४।।

जब वह वैश्वदेव यज्ञ करता है तो इसी अग्नि राजा और अग्नि नेता की सहायता से चारों महीनों को जीतता है। (सिर मुँडाने के लिए) त्र्येनी शलली (साही का काँटा जिसमें तीन धब्बे हों) और तांबे का क्षुरा होता है। त्र्येनी शलली तीन विद्याओं का रूप है और क्षुरा ब्रह्म का रूप है। अग्नि ब्रह्म है, अग्नि लाल है इसलिए तांबे का क्षुरा होता है। उससे चारों ओर मुँडवाता है। इस प्रकार वह (अध्वर्यु को) ब्रह्म और तीन विद्याओं से घेरता है ।।५।।

जब वह वरुण-प्राघास यज्ञ करता है तो वरुण राजा और वरुण नेता के द्वारा दूसरे चार

ज्ञा वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तच्छ्येनी शलली भवति ग्लौकः क्षुरस्तेन परिवर्तयते तद्ब्रह्मणा चैवैनमेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥६॥ अथ यत्साकमेधैर्यजते । इन्द्रेणैवैतद्राज्ञेन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तच्छ्येनी शलली भवति ग्लौकः क्षुरस्तेन परिवर्तयते तद्ब्रह्मणा चैवैनमेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥७॥ स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निरेव तर्हि भवत्यग्नेरेव सायुज्यꣳ स-लोकतां जयत्यथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति वरुणस्यैव सायुज्यꣳ सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधैर्यजतऽइन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यꣳ स-लोकतां जयति ॥८॥ स यस्मिन्नृतावमुं लोकमेति । स एनमृतुः परस्माऽऋत-वे प्रयच्छति पर उ परस्माऽऋतवे प्रयच्छति स परममेव स्थानं परमां गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी तदाहुर्न चातुर्मास्ययाजिनमनुविन्दन्ति परमꣳ ह्येव खलु स स्था-नं परमां गतिं गच्छतीति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥५[६.४.]॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ क-ण्डिकासंख्या १०४ ॥ षष्ठोऽध्यायः [१५.] ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ५४९ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे एकपादिकानाम द्वितीयं काण्डं

समाप्तम् ॥२॥

महीनों को जीतता है। तब भी श्येनी शलली और तांबे का क्षुरा काम में आता है। उसी से सिर मुंडवाता है। इस प्रकार ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उसको घेरता है ॥६॥

जब वह साकमेध यज्ञ करता है तो इन्द्र राजा और इन्द्र नेता की सहायता से शेष चार मासों को जीतता है। तब भी श्येनी शलली और तांबे के क्षुरे से मुण्डन होता है और ब्रह्म तथा तीन विद्याओं की सहायता से उसको घेरता है ॥७॥

जब वह वैश्वदेव यज्ञ करता है तो अग्नि ही हो जाता है और अग्नि के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है। जब वह वरुण-प्राघास यज्ञ करता है तो वरुण हो जाता है और वरुण के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है। जब वह साकमेध यज्ञ करता है तो इन्द्र हो जाता है और इन्द्र के ही सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है ॥८॥

वह जिस ऋतु में परलोक को जाता है वह ऋतु उसको दूसरे ऋतु के हवाले करता है, और वह अपने से आगेवाले ऋतु के हवाले करता है। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है वह परम धाम और परम गति को प्राप्त होता है, इसीलिए कहा है कि चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाले को कोई नहीं पाते क्योंकि वह परम धाम और परम गति को प्राप्त हो जाता है ॥९॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का एकपादिकानाम द्वितीय काण्ड समाप्त हुआ।

द्वितीय—काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [२. २. २]	११४
द्वितीय [२. ३. २]	१०३
तृतीय [२. ४. ३]	११३
चतुर्थ [२. ५. ३]	११५
पञ्चम [२. ६. ४]	१०४
योग	५४९
पूर्व के काण्ड का	८३८
पूर्णयोग	१३८७

ओम् । देवयजनं जोषयन्ते । स यदेव वर्षिष्ठꣳ स्यात्तज्जोषयेरन्यदन्यद्भूमेर्ना-
भिशयीतातो वै देवा दिवमुपोदक्रामन्देवान्वा ऽएष उपोत्क्रामति यो दीक्षते स
सदेवे देवयजने यजते स यद्धान्यद्भूमेरभिशयीतावरतर-इव हैष्टा स्यात्तस्माद्यदेव
वर्षिष्ठꣳ स्यात्तज्जोषयेरन् ॥१॥ तद्वर्ष्म सत्समꣳ स्यात् । समꣳ सदविभ्रꣳशि स्या-
दविभ्रꣳशि सत्प्राक्प्रवणꣳ स्यात्प्राची हि देवानां दिगथो ऽउदक्प्रवणमुदीची हि
मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यादेषा वै दिक् पितृणाꣳ स यद्दक्षिणा-
प्रवणꣳ स्यात्क्षिप्रे ह यजमानो ऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति त-
स्माद्दक्षिणतः प्रत्युच्छ्रितमिव स्यात् ॥२॥ न पुरस्ताद्देवयजनमात्रमतिरिच्येत । द्वि-
षन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते कामꣳ ह दक्षिणतः स्यादेवमुत्तरत एतद्ध
त्वेव समृद्धं देवयजनं यस्य देवयजनमात्रं पश्चात्परिशिष्यते क्षिप्रे हैवैनमुत्तरा दे-
वयज्योपनमतीति नु देवयजनस्य ॥३॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । वार्ष्णाय दे-
वयजनं जोषयितुमैम तत्सात्ययज्ञो ऽब्रवीत्सर्वा वा ऽइयं पृथिवी देवी देवयजनं
यत्र वा ऽअस्यै क्व च यजुषैव परिगृह्य याजयेदिति ॥४॥ ऋत्विजो हैव देवयज-
नम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसो ऽनूचाना विद्वाꣳसो याजयन्ति सैवाह्वलैतन्नेदिष्ठ-
मामिव मन्यामह ऽइति ॥५॥ तच्छालां वा विमितं वा प्राचीनवꣳशं मिन्वन्ति ।
प्राची हि देवानां दिक् पुरस्ताद्धि देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानुपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः प्रा-
ङ्तिष्ठञ्जुहोति ॥६॥ तस्मादु ह न प्रतीचीनशिराः शयीत । नेद्देवानभिप्रसार्य श-
याऽइति या दक्षिणा दिक् सा पितृणां या प्रतीची सा सर्पाणां यतो देवा उच्च-

तृतीय काण्ड

अथाध्वर नाम तृतीयं काण्डम्

[सोमयागो दीक्षाभिषवान्तः]

अध्याय १–ब्राह्मण १

वे यज्ञ का स्थान तलाश करते हैं। जो सबसे ऊँचा स्थान हो उसे तलाश करें, जिसके ऊपर और कोई भूमि न हो। ऐसे ही स्थान से देवों ने द्यौलोक को प्राप्त किया था। जो दीक्ष लेता है वह देवों को प्राप्त होता है। वह देव-युक्त स्थान में यज्ञ करता है। यदि उससे अन्य भूमि ऊँची होगी तो वह यज्ञ करने में नीचा हो जायगा। इसलिए उनको ऐसा स्थान तलाश करना चाहिए जो सबसे ऊँचा हो ॥१॥

वह ऊँचा स्थान चौरस होना चाहिए, चौरस के साथ-साथ स्थिर हो। स्थिर के साथ-साथ पूर्व की ओर कुछ झुका हुआ हो, क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है। या उत्तर की ओर झुका हुआ हो क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। वह दक्षिण की ओर कुछ उठा हुआ हो क्योंकि यह पितरों की दिशा है। यदि दक्षिण की ओर झुका हुआ होगा तो यजमान शीघ्र ही उस लोक को चला जायगा। परन्तु इस प्रकार यजमान दीर्घजीवी होता है। इसलिए यह दक्षिण की ओर उठा हुआ होना चाहिए ॥२॥

यज्ञ का स्थान पूर्व की ओर अधिक चौड़ा न हो। यदि अधिक होगा तो अहितकारी शत्रु के अनुकूल होगा। इसलिए दक्षिण में भी इतना ही हो और उत्तर में भी इतना ही। वह यज्ञ-स्थान अच्छा होता है जो पश्चिम में अधिक होता है, क्योंकि उसके लिए देवों की पूजा प्राप्त हो जाती है। इतना यज्ञ के स्थान के विषय में हुआ ॥३॥

अब याज्ञवल्क्य का कहना है—'हम वार्ष्ण्य के लिए यज्ञ का स्थान तलाश करने लगे।' सात्ययज्ञ बोला—'यह सब पृथिवी देवी यज्ञ का स्थान है। इसमें से जितने भाग को यजुः के द्वारा घेरकर यज्ञ करो वही यज्ञ-स्थान है ॥४॥

ऋत्विज ही यज्ञ का स्थान (देव-यजन) हैं। जो वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण जहाँ यज्ञ करते हैं वहाँ कोई त्रुटि नहीं होती। उसको हम (देवों से) निकटतम मानते हैं ॥५॥

वहाँ वे एक दालान या मकान बनाते हैं जो प्राचीन वंश हो (अर्थात् जिसकी धन्नियाँ पश्चिम से पूर्व को जाती हों)। पूर्व देवों की दिशा है। देव पूर्व से पश्चिम को चलकर ही मनुष्यों तक पहुँचते हैं। इसीलिए पूर्व की ओर मुँह करके खड़े होकर आहुतियाँ दी जाती हैं ॥६॥

इसीलिए पश्चिम की ओर सिर करके न सोना चाहिए, क्योंकि देवों की ओर टाँगें करके सोवेगा। दक्षिण दिशा पितरों की है। पश्चिम दिशा साँपों की है। अहीन (जो हीन न हो अर्थात्

ह्यमुः सैषाह्नीना योदीची दिक् सा मनुष्याणां तस्मान्मानुषऽउदीचीनवꣳशामेव शालां वा विमितं वा मिन्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिग्दीक्षितस्यैव प्राचीनवꣳशा नादीक्षितस्य ॥७॥ तां वाऽएतां परिश्रयन्ति । नेदभिवर्षादिति न्वेव वर्षा देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति तिर-इव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिर-इवैतद्यत्परिश्रितं तस्मात्परिश्रयन्ति ॥८॥ तन्न सर्व-इवाभिप्रपद्येत । ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः ॥९॥ स वै न सर्वेणेव संवदेत । देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञियास्तस्माद्यद्येनꣳ शूद्रेण संवादो विन्देदेतेषामेवैकं ब्रूयादिममिति विचक्ष्वेममिति विचक्ष्वेत्येष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः ॥१०॥ अथारणी पाणौ कृत्वा । शालामध्यवस्यति स पूर्वार्ध्यꣳ स्थूणाराजमभिपद्येतद्यजुराहेदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वऽइति तदस्य विश्वैश्च देवैर्जुष्टं भवति ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यद्धास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसस्तद्धास्य तैर्जुष्टं भवति ॥११॥ यद्वाह । यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वऽइति तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवत्यृक्सामाभ्याꣳ संतरन्तो यजुर्भिरित्यृक्सामाभ्यां वै यजुर्भिर्यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह रायस्पोषेण समिषा मदेमेति भूमा वै रायस्पोषः श्रीर्वै भूमाशिषमेवैतदाशास्ते समिषा मदेमेतीषं मदतीति वै तमाहुर्यः श्रियमश्नुते यः परमतां गच्छति तस्मादाह समिषा मदेमेति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

अपराह्णे दीक्षेत । पुरा केशश्मश्रोर्वपनाद्यत्कामयेत तदश्नीयाद्यद्वा सम्पद्येत व्रतꣳ ह्येवास्यातोऽशनं भवति यद्यु नाशिशिषेदपि कामं नाश्नीयात् ॥१॥ ॥ शतं १४०० ॥ ॥ अथोत्तरेण शालां परिश्रयन्ति । तदुदकुम्भमुपनिदधति तन्नापित उपतिष्ठते तत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्ततेऽस्ति वै पुरुषस्यामेध्यं य-

ठीक) दिशा वह है जहाँ से देव चढ़े थे। उत्तर की दिशा मनुष्यों की है। इसीलिए मनुष्यों के मकान या दालान उदीचीन वंश (अर्थात् दक्षिण से उत्तर की ओर जानेवाली धन्नियों के) होते हैं क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। केवल दीक्षित के लिए प्राचीन वंश मकान होवे; अदीक्षित के लिए नहीं ॥७॥

उसको घेर देते हैं कि कहीं वर्षा न हो। कम-से-कम वर्षा में (तो यह होना ही चाहिए)। जो दीक्षा लेता है वह देवों के निकट आ जाता है, वह देवों में से एक हो जाता है। देव मनुष्यों से छिपे हुए होते हैं। जो घिरा होता है वह भी छिपा हुआ होता है। इसलिए उसे घेर लेते हैं ॥८॥

इसमें सब कोई न घुसे; केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य ही। क्योंकि यही यज्ञ के अधिकारी हैं ॥९॥

वह सबसे बात न करे। जो दीक्षा लेता है वह देवों के समीप हो जाता है, वह देवतों में से एक हो जाता है। देवता सबसे नहीं बोलते; केवल ब्राह्मण से, क्षत्रिय से और वैश्य से। क्योंकि यही यज्ञ के अधिकारी हैं। यदि शूद्र से बोलने की आवश्यकता पड़े तो (द्विजों से ही) एक को कहे—"इससे ऐसा कह दो! इससे ऐसा कह दो।" दीक्षित पुरुष के लिए यही उपचार है ॥१०॥

अब दो अरणियों को हाथ में लेकर शाला को पसन्द करता है और पूर्व की ओर के विशेष आसन पर बैठकर यह यजुः पढ़ता है—"एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे" (यजु० ४।१)—"हम पृथिवी के उस यज्ञ-स्थान पर आये हैं जिसको सब देवताओं ने पसन्द किया।" इस प्रकार यह सब देवों तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा पसन्द हो जाती है। और जिसको वेदपाठी ब्राह्मण आँखों से देख लेते हैं वह उनको पसन्द हो जाती है ॥११॥

और जब वह कहता है—'यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे' (जिसको सब देवों ने पसन्द किया) तो सब देवता उसकी खातिर उसको पसन्द कर लेते हैं। अब वह पढ़ता है—"ऋक् सामाभ्याँ संतरन्तो यजुर्भिः" (यजु० ४।१)—"ऋक्, साम और यजुओं द्वारा तरते हुए।" ऋक् साम और यजुः द्वारा ही यज्ञ को पूरा करते हैं, इससे उसका तात्पर्य है कि मेरा यज्ञ पूर्णता को प्राप्त हो। अब कहता है—"रायस्पोषेण समिषा मदेम" (यजु० ४।१)—"धन और पुष्टि को पाकर आनन्द मनावें।" 'रायस्पोष' का अर्थ है 'बहुतायत' (भूमा)। बहुतायत ही 'श्री' है। इस प्रकार वह आशीर्वाद देता है। वह कहता है—'समिषा मदेम' (इष अर्थात् ओज के साथ) क्योंकि जो कोई श्री वाला हो जाता है या बड़प्पन को प्राप्त होता है उसको लोग कहते हैं कि यह इष अर्थात् ओज को पाकर प्रसन्न हो रहा है। इसलिए कहा—'समिषा मदेम' ॥१२॥

अध्याय १—ब्राह्मण २

अपराह्ण अर्थात् दोपहर के बाद दीक्षा दे। केश और दाढ़ी मुँडाने से पहले जो मन चाहे या जो मिल सके उसे खा ले, क्योंकि इसके पीछे व्रत ही उसका भोजन होता है (अर्थात् दूध आदि) परन्तु यदि खाना न चाहे तो न खावे ॥१॥ [१४००]

अब शाला के उत्तर में स्थान घेरते हैं। उसमें जल का एक घड़ा रखते हैं। इसके पास नाई बैठता है। अब (यजमान) बाल और दाढ़ी मुँडवाता है और नाखुन कतरवाता है, क्योंकि पुरुष का वह भाग अमेध्य या अपवित्र समझा जाता है जहाँ पानी नहीं पहुँचता। उसके बाल,

त्रास्यापो नोपतिष्ठन्ते केशश्मश्रौ च वाऽअस्य नखेषु चापो नोपतिष्ठन्ते तद्यत्के-
शश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति ॥२॥ तद्धैके ।
सर्वऽएव वपन्ते सर्वऽएव मेध्या भूत्वा दीक्षिष्यामहऽइति तदु तथा न कुर्याद्यद्वै
केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते तदेव मेध्यो भवति तस्मादु केशश्मश्रु
चैव वपेत नखानि च निकृन्तेत ॥३॥ स वै नखान्येवाग्रे निकृन्तते । दक्षिण-
स्यैवाग्रे सव्यस्य वाऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राङ्गुष्ठयोरेवाग्रे कनिष्ठिकयोर्वाऽअग्रे
मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥४॥ स दक्षिणमेवाग्रे गोदानं वितारयति । सव्यं वाऽअग्रे
मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥५॥ स दक्षिणमेवाग्रे गोदानमभ्युनत्ति । इमा आपः शमु मे
सन्तु देवीरिति स यदाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति वज्रो वाऽआपो वज्रो
हि वाऽआपस्तस्माद्येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत्तदेतमे-
वैतद्वज्रँ शमयन्ति तथो हैनमेष वज्रः शान्तो न हिनस्ति तस्मादाहेमा आपः श-
मु मे सन्तु देवीरिति ॥६॥ अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वेति वज्रो
वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्त्यथ क्षुरेणाभिनिदधाति स्वधिते मैनँ
हिँसीरिति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्ति ॥७॥ प्रच्छिद्योद-
पात्रे प्रास्यति । तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति तूष्णीं दर्भतरुणकमन्तर्दधाति तू-
ष्णीं क्षुरेणाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति ॥८॥ अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति ।
स केशश्मश्रु वपति स यदा केशश्मश्रु वपति ॥९॥ अथ स्नाति । अमेध्यो वै पु-
रुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति
पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो दीक्षाऽइति तस्माद्वै स्नाति ॥१०॥ स स्नाति । आ-
पोऽअस्मान्मातरः शुन्धयन्त्वित्येतद्याह शुन्धयन्त्विति घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति
तद्वै सपूतं यं घृतेनापुनंस्तस्मादाह घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति विश्वँ हि रिप्रं
प्रवहन्ति देवीरिति यद्वै विश्वँ सर्वं तद्यदमेध्यँ रिप्रं तत्सर्वँ ह्यस्मादमेध्यं प्रव-

दाढ़ी और नाखुनों में जल नहीं पहुँच सकते। इसलिए बाल और दाढ़ी मुँडवाते हैं और नाखुन कतरवाते हैं कि जिससे वह शुद्ध होकर दीक्षा ले ॥२॥

कुछ लोग सब बाल मुँडवा देते हैं जिससे सम्पूर्ण शुद्ध होकर दीक्षा लें। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि बाल और दाढ़ी मुँडवाने और नाखुन कतरवाने से भी शुद्ध हो जाते हैं। इसलिए केश और दाढ़ी ही मुँडवावे और नाखुन कतरवा ले ॥३॥

पहले नाखुन कतरवाता है। पहले दाहिने हाथ के। मनुष्यों में पहले बायें हाथ के नाखुन कतरवाने का रिवाज है, परन्तु देवों में इस प्रकार (अर्थात् दाहिने हाथ के पहले कतरे जाते हैं)। पहले दोनों अँगूठों के। मनुष्यों में पहले कनिष्ठिका अँगुली के नाखुन कतरने का रिवाज है, परन्तु देवों में इस प्रकार (अर्थात् पहले अँगूठों के नाखुन काटना चाहिए) ॥४॥

पहले दाहिनी मूँछों में कंघी करता है। मनुष्यों में पहले बायें में की जाती है। देवों में इस प्रकार (अर्थात् पहले दाहिनी मूँछों में) ॥५॥

पहले वह दाहिनी मूँछों को भिगोता है यह मन्त्र पढ़कर—"इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः" (यजु० ४।१)—"ये दिव्य जल मेरी शान्ति के लिए हों।" ऐसा वह क्यों कहता है कि ये दिव्य जल मेरी शान्ति के लिए हों? जल वज्र हैं। वस्तुतः जल वज्र हैं। इसलिए ये जल जिधर को बहते हैं उधर को गड्ढा कर देते हैं, और जहाँ पहुँचते हैं वहाँ वे भस्म अर्थात् नष्ट कर देते हैं। इसलिए इस प्रकार वह वज्र को शान्त करता है। इस प्रकार शान्त हुआ वज्र उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसीलिए कहा कि—'ये दिव्य जल मेरी शान्ति के लिए हों' ॥४॥

अब दर्भ को बालों के साथ रखता है यह मन्त्र पढ़कर—"ओषधे त्रायस्व" (यजु० ४।१)—"हे ओषधि, तू रक्षा कर।" क्षुरा वज्र है। इस प्रकार यह क्षुरारूपी वज्र उसको नहीं हानि पहुँचाता। इसलिए वह क्षुरे को यह पढ़कर चलाता है—"स्वधिते मैनँ् हिंसीः"—"हे क्षुरे, इसको मत हानि पहुँचा।" क्योंकि क्षुरा वज्र है और इस प्रकार यह वज्ररूपी क्षुरा हानि नहीं पहुँचाता ॥७॥

काटकर पानी के पात्र में डालता है। बायीं तरफ के बालों को मौन होकर भिगोता है और मौन होकर ही उनपर दर्भ रखता है और मौन होकर ही क्षुरा चलाता है और बाल काट-कर जल के पात्र में छोड़ देता है ॥८॥

अब क्षुरा नाई को दे देता है। (नाई) बाल और दाढ़ी मूँडता है। जब केश और दाढ़ी मुँड जाते हैं—॥९॥

तो स्नान करता है। पुरुष अपवित्र है क्योंकि झूठ बोलता है। इसलिए उसका भीतरी अंश अपवित्र है। जल पवित्र है। 'पवित्र होकर दीक्षा लूँ।' जल पवित्र है। 'पवित्र होकर दीक्षा लूँ' इसलिए स्नान करता है ॥१०॥

वह यह मन्त्र पढ़कर स्नान करता है—"आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु" (यजु० ४।२ या ऋ० १०।१७।१०)—"जल माताएँ हमको शुद्ध करें।" इससे तात्पर्य है कि वे शुद्ध करें। अब कहता है—"घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु" (ऋ० १०।७७।१० या यजु० ४।२)—"घी को पवित्र करनेवाले हमको घी से पवित्र करें।" जो घी से पवित्र होता है वह वस्तुतः पवित्र हो जाता है। इसलिए वह कहता है कि 'घी को पवित्र करनेवाले हमको घी से पवित्र करें।' "विश्वँ् हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः" (यजु० ४।२)—"ये दिव्य पदार्थ सब दोष को दूर कर देते हैं।" 'विश्व' का अर्थ है 'सब', 'रिप्र' का अर्थ है 'अमेध्य' या अपवित्र। वे उससे सब अपवित्र दोषों को दूर

हन्ति तस्मादाह विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति ॥११॥ अथ प्राङिवोदङ्-ङुत्क्रामति । उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीत्युद्याभ्यः शुचिः पूत एति ॥१२॥ अथ वासः परिधत्ते । सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत्त्वचं दधाति या ह वाऽइयं गोस्त्वक्पुरुषे हैषाग्रऽआस ॥१३॥ ते देवा अब्रुवन् । गौर्वाऽइदꣳ सर्वं बिभर्ति हन्त येयं पुरुषे त्वग्गव्येतां दधाम तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यतऽइति ॥१४॥ तेऽवछाय पुरुषम् । गव्येतां त्वचमदधुस्तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षते ॥१५॥ अवछितो हि वै पुरुषः । तस्मादस्य यत्रैव त्वक्च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्त्येतꣳ ह्यस्मिंस्त्वचमदधुस्तस्मादु सुवासा एव बुभूषेत्स्वया त्वचा समृध्याऽइति तस्मादप्यश्लीलꣳ सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति ॥१६॥ नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात् । वेद ह गौरहमस्य त्वचं बिभर्मीति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं मऽआदास्यतऽइति तस्मादु गावः सुवाससमुपैव निश्रयन्ते ॥१७॥ तस्य वाऽएतस्य वाससः । अग्नेः पर्यासो भवति वायोरनुछादो नीविः पितृणाꣳ सर्पाणां प्रघातो विश्वेषां देवानां तन्तव आरोका नक्षत्राणामेवꣳ हि वाऽएतत्सर्वे देवा अन्वायत्तास्तस्माद्दीक्षितवसनं भवति ॥१८॥ तद्वाऽअहतꣳ स्यात् । अयातयामतायै तद्वै निष्पेष्टवै ब्रूयाद्यदेवास्यात्रामेध्या कृणत्ति वा वयति वा तदस्य मेध्यमसदिति यद्युऽअहतꣳ स्यादद्भिरभ्युक्षेन्मेध्यमसदित्यथो यदिदꣳ स्नातवस्त्रं निक्तमपल्पूलनकृतं भवति तेनो हापि दीक्षेत ॥१९॥ तत्परिधत्ते । दीक्षातपसोस्तनूरसीत्यदीक्षितस्य वाऽअस्यैषाग्रे तनूर्भवत्यथात्र दीक्षातपसोस्तस्मादाह दीक्षातपसोस्तनूरसीति तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परिदधऽइति तां त्वा शिवाꣳ साध्वीं परिदधऽइत्येवैतदाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति पाप वाऽएषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यममुमदीक्षितोऽथात्र भद्रं तस्मादाह भद्रं वर्णं पुष्य-

कर देते हैं। इसीलिए कहता है कि 'ये दिव्य पदार्थ सब दोषों को दूर कर देते हैं' ॥११॥

अब उत्तर-पूर्व की ओर चलता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"उदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि" (यजु० ४।२)—"मैं शुद्ध-पवित्र होकर इनसे चलता हूँ।" वस्तुतः वह शुद्ध और पवित्र होकर इनसे चलता है ॥१२॥

अब वह कपड़ा पहनता है, सर्वत्व अर्थात् पूर्णता के लिए। मानो वह इस प्रकार अपनी ही खाल ओढ़ता है। जो गाय के ऊपर का यह चमड़ा है वह पहले मनुष्य के ऊपर था ॥१३॥

देवों ने कहा—'वस्तुतः गाय इस (पृथिवी) पर सभी को धारण करती है। यह जो पुरुष के ऊपर खाल है उसे गाय पर रख दें। इससे वह वर्षा, शीत और गर्मी को सह लेगी' ॥१४॥

उन्होंने पुरुष की खाल खींचकर गाय के ऊपर रख दी। इससे वह वर्षा, शीत और गर्मी को सह लेती है ॥१५॥

पुरुष की खाल खींच ली गयी है। इसलिए जहाँ कहीं कुश या और कोई चीज छिद जाती है वहीं खून निकल आता है। इसलिये उस चमड़े को ऊपर रख दिया। इसलिए मनुष्य के सिवाय और कोई कपड़े नहीं पहनता। क्योंकि उसी के ऊपर वह चमड़े के समान रख दिया गया है इसलिए उसे वस्त्रों से विभूषित होना चाहिए, जिससे वह अपनी ही खाल से ढक जाय। इसलिए एक भद्दे आदमी को भी कपड़े में ढकना चाहते हैं क्योंकि वह अपने ही चमड़े से ढका होता है ॥१६॥

उसको गाय के सामने नंगा नहीं होना चाहिए। क्योंकि गाय जानती है कि मैं इसी का चमड़ा ओढ़े हूँ और वह डरकर भागती है कि यह कहीं अपना चमड़ा न ले ले। इसलिए भी जो कपड़े पहने होता है उसी के पास गायें भली-भाँति जाती हैं ॥१७॥

अब इस कपड़े का ताना अग्नि का होता है और बाना वायु का। पितरों की नीवि, सर्पों का प्रघात (आगे का किनारा), तन्तु विश्वेदेवों का, और छिद्र नक्षत्रों के। इसमें सभी देवतागण शामिल हैं। इसलिए यह दीक्षित का कपड़ा होता है ॥१८॥

यह वस्त्र (यथासम्भव) अहत (=न मारा हुआ) अर्थात् पत्थर पर न पीटा हुआ, (बे-धुला हुआ) होना चाहिए, जिससे पूरा ओज प्राप्त हो। (अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातृ को) आदेश देवे कि उस वस्त्र को पीटे जिससे यदि अपवित्र स्त्री का कता या बुना भाग हो तो वह निकल जाय और वस्त्र पवित्र हो जाय। यदि वह नया हो तो उस पर जल छिड़के जिससे वह पवित्र हो जाय। या ऐसे कपड़े से दीक्षा ले जो अलग रक्खा रहता हो और स्नान के पश्चात् ही पहना जाता हो। वह (किसी तीक्ष्ण खार आदि में) डुबोया हुआ न हो ॥१९॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर पहनता है—"दीक्षातपसोस्तनूरसि।"—"दीक्षा और तप का तू शरीर या ढकना है।" इससे पहले वह अदीक्षित का शरीर था। अब दीक्षा और तप का हुआ। इसलिए कहा कि 'तू दीक्षा और तप का शरीर है।' अब कहता है—"तां त्वा शिवाᳪ शग्मां परिदधे।"—"मैं तुझ कल्याणकारी और शुभ (कपड़े) को धारण करता हूँ।" 'शग्मां' का अर्थ है 'साध्वी' (उत्तम) को। अब कहता है—"भद्रं वर्णं पुष्यन्।"—"भद्रवर्ण का पोषण करनेवाला।" जो वर्ण अदीक्षित होने की अवस्था में धारण किया गया वह पापयुक्त था। अब भद्र है। इसलिए कहा कि 'भद्रवर्ण का पोषण करनेवाला' ॥२०॥

न्निति ॥२०॥ अथैनꣳ शालां प्रपादयति । स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयाद्धेन्वनडु-
हौ वाऽइदꣳ सर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन्धेन्वनडुहौ वाऽइदꣳ सर्वं बिभृतो ह-
न्त यदन्येषां वयसां वीर्यं तद्धेन्वनडुहयोर्दधामेति स यदन्येषां वयसां वीर्यमासी-
त्तद्धेन्वनडुहयोरदधुस्तस्माद्धेनुश्चैवानड्वांश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तस्तद्धैतत्सर्वाश्यमिव यो धे-
न्वनडुहयोरश्नीयादन्तगतिरिव तꣳ हाद्भुतमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरबधीदिति
पापमकदिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्तदु होवाच याज्ञवल्क्यो
ऽश्नाम्येवाहमꣳसलं चेद्भवतीति ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

अपः प्रणीय । आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निर्वै सर्वा देव-
ता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वत्यग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यस्तत्स-
र्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दीक्षाऽइति तस्मादाग्नावैष्णव ए-
कादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥१॥ तद्धैके । आदित्येभ्यश्चरुं निर्वपन्ति तदस्ति
पर्युदितमिवाष्टौ पुत्रासोऽअदितेर्ये जातास्तन्वस्परि । देवां२॥ऽउप प्रैत्सप्तभिः परा
मार्ताण्डमास्यदिति ॥२॥ अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः । यांस्त्वेतद्देवा आदित्या इ-
त्याचक्षते सप्त हैव तेऽविकृतꣳ हाष्टमं जनयां चकार मार्ताण्डꣳ संदेघो हैवास
यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्यङ् पुरुषसंमित इत्यु हैकऽआहुः ॥३॥ तऽउ हैतऽऊचुः ।
देवा आदित्या यदस्मानन्वजनिमा तदमुयेव भूद्धन्तेमं विकरवामेति तं विचक्रुर्य-
थायं पुरुषो विकृतस्तस्य यानि माꣳसानि संकृत्य संन्यासुस्ततो हस्ती समभव-
त्तस्मादाहुर्न हस्तिनं प्रतिगृह्णीयात्पुरुषाजानो हि हस्तीति यमु ह तद्विचक्रुः स
विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः ॥४॥ स होवाच । राध्नवान्मे स प्रजायां य एत-
मादित्येभ्यश्चरुं निर्वपादिति राध्नोति हैव य एतमादित्येभ्यश्चरुं निर्वपत्ययं त्वेवा-
ग्नावैष्णवः प्रज्ञातः ॥५॥ तस्य सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति । उपाꣳशु देवते यजति
पञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयोऽनुयाजाः संयाजयन्ति पत्नीः सर्वत्वायैव समिष्टयजुरेव न

अब (अध्वर्यु) उसको शाला में ले जाता है। वह गाय या बैल का (मांस) न खावे, क्योंकि गाय और बैल ही इस सब विश्व को धारण करते हैं। देवों ने कहा—"ये गाय और बैल संसार को धारण करते हैं इसलिए अन्य प्राणियों का जो वीर्य या पराक्रम है वह गाय और बैल में रख दें। इसलिए जो पराक्रम अन्य प्राणियों में था उसे उन्होंने गाय और बैलों में रख दिया। इसलिए गाय और बैल बहुत खाते हैं। इसलिए यदि गाय या बैल का (मांस) खा जायगा तो सब ही खा लिया जायगा और अन्त में सबका नाश हो जायगा। वह दूसरे जन्म में अद्भुत योनि को प्राप्त होगा। कहा जायगा कि इसने पत्नी के गर्भ का नाश कर दिया; पाप कर दिया। उसकी कीर्ति पापयुक्त होगी। इसलिए गाय और बैल का मांस न खावे। परन्तु याज्ञवल्क्य ने कहा—"मैं तो खाता हूँ अगर नर्म (अंसल) हो ॥२१॥

अध्याय १—ब्राह्मण ३

जलों को लाकर अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश निकालता है। अग्नि ही सब देवता हैं क्योंकि अग्नि में ही सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। अग्नि यज्ञ का नीचे का आधा है और विष्णु ऊपर का आधा। वह सोचता है कि 'मैं सब देवताओं का परिग्रहण करके और सब यज्ञ को घेरके दीक्षित हो जाऊँगा, इसलिए वह अग्नि और विष्णु के लिए ग्यारह कपालों का पुरोडाश बनाता है ॥१॥

इस पर कुछ लोग आदित्य के लिए चरु देते हैं। इस पर एक श्रुति है—"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्त्ताण्डमास्यत्।" (ऋ० १०।७२।८)—"अदिति के आठ पुत्र हैं, जो उसके शरीर से उत्पन्न हुए हैं। सातों के साथ वह देवों तक पहुँची, और मार्तण्ड को उसने फेंक दिया" ॥२॥

अदिति के आठ पुत्र थे। परन्तु जो आदित्य (अर्थात् अदिति के अपत्य) कहलाते हैं वे सात ही हैं। आठवें मार्तण्ड को उसने अविकृत (बिगड़े) रूप में उत्पन्न किया। वह सन्देह-मात्र था अर्थात् वह किसी निश्चित रूप का न था। जितना ऊँचा था उतना ही चौड़ा था। कुछ लोग कहते हैं कि वह मनुष्य के आकार का था ॥३॥

आदित्य देव अर्थात् अदिति के पुत्रों ने कहा—"जो हमारे पीछे उत्पन्न हुआ है वह विकृत न हो जाय। लाओ इसे बनावें।" उन्होंने उसे वैसा ही बनाया जैसा मनुष्य बनाया जाता है। जो मांस काटकर डाल दिया गया उससे हाथी बन गया। इसलिए कहते हैं कि भेंटस्वरूप हाथी न लेना चाहिए क्योंकि हाथी मनुष्य से उत्पन्न हुआ है, और जिसे बनाया वह हुआ 'विवस्वान्' (सूर्य) या सूर्य, और इसी की यह सब प्रजा हैं ॥४॥

उसने कहा—"मेरी प्रजा में से वह फलीभूत होगा जो आदित्यों को चरु देता है।" इस-लिए वह सफल होता है जो आदित्यों को चरु देता है। यह चरु अग्नि और विष्णु के लिए विख्यात है ॥५॥

इसकी सत्रह सामिधेनियाँ हैं। इन दोनों देवताओं के लिए धीमी आवाज में आहुति दी जाती है। पाँच प्रयाज होते हैं और तीन अनुयाज। पूर्णता के लिए पत्नी-संयाज करते हैं। समिष्ट-

जुहोति नेदिदं दीक्षितवसनं परिधाय पुरा यज्ञस्य सꣳस्थाया अङ्गं गृह्णानीत्यन्तो हि यज्ञस्य समिष्टयजुः ॥ ६॥ अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते । अरुर्वै पुरुषोऽवहितोऽनक्तो वैतद्भवति यदभ्यङ्क्ते गवि वै पुरुषस्य त्वग्गोर्वाऽएतन्नवनीतं भवति स्वयैवैनमेतत्त्वचा समर्धयति तस्माद्वाऽअभ्यङ्क्ते ॥७॥ तद्धि नवनीतं भवति । घृतं वै देवानां फाण्टं मनुष्याणामथैतन्नाहैव घृतं नो फाण्टꣳ स्यादेव घृतꣳ स्यात्फाण्टमयातयामतायै तदेनमयातयाम्नैवायातयामानं करोति ॥ ८॥ तमभ्यनक्ति । शीर्षतोऽग्रेऽग्र आ पादाभ्यामनुलोमं महीनां पयोऽसीति मह्य इति ह वाऽएतासामेकं नाम यद्गवां तासां वाऽएतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥ ९॥ अथाक्ष्यावनक्ति । अरुर्वै पुरुषस्याक्षि प्रशान्ममेति ह स्माह याज्ञवल्क्यो दुरक्ष-इव हास पूयो हैवास्य दूषीका तेऽएवैतदनरुष्करोति यदक्ष्यावनक्ति ॥१०॥ यत्र वै देवाः । असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णो दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक-इव परिभासते तस्माऽएवैतद्यज्ञमुपप्रयन्त्सर्वतोऽश्मपुरां परिदधात्यश्मा ह्याञ्जनम् ॥११॥ त्रैककुदं भवति । यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति चक्षुष्येवैतच्चक्षुर्दधाति तस्मात्त्रैककुदं भवति यदि त्रैककुदं न विन्देदप्यत्रैककुदमेव स्यात्समानी ह्येवाञ्जनस्य बन्धुता ॥१२॥ शरेषीकयानक्ति । वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै सतूला भवत्यमूलं वाऽइदमुभयतः परिछिन्नꣳ रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिछिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्यत्सतूला भवति विरक्षस्तायै ॥१३॥ स दक्षिणमेवाग्रऽआनक्ति । सव्यं वाऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥१४॥ स आनक्ति । वृत्रस्यासि कनीनक इति वृत्रस्य ह्येष कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१५॥ स दक्षिणꣳ सकृद्यजुषानक्ति । सकृत्तूष्णीमथोत्तरꣳ स-

यजुः की आहुति नहीं देते कि कहीं ऐसा न हो कि दीक्षित के वस्त्र पहनकर यज्ञ की पूर्ति से यज्ञ के अन्त को पहुँच जाय। क्योंकि समिष्ट-यजुः यज्ञ का अन्त है ॥६॥

अब शाला के आगे खड़े होकर अभ्यंजन (नवनी शरीर पर मलना) कराता है। त्वचा से वंचित होकर पुरुष घाववाला हो जाता है। जब उसका अभ्यंजन होता है तो घाव भर जाते हैं। क्योंकि मनुष्य की त्वचा तो गाय के ऊपर है और घी (नवनी) भी गाय की होती है। इस प्रकार (अध्वर्यु) उसको उसी की चीज दिला देता है। इसीलिए अभ्यंजन किया जाता है ॥७॥

यह नवनी है। घी देवों का है और फाण्ट (अर्थात् वे मक्खन के कण जो मट्ठा चलाने में ऊपर उतरा आते हैं) मनुष्यों का। नवनी न तो घी है, न फाण्ट है। वृद्धि के लिए घी और फाण्ट दोनों होने चाहिएँ। जो वृद्धियुक्त चीज है उससे वह यजमान को वृद्धियुक्त करता है ॥८॥

वह शिर से पैर तक अनुलोम की रीति से अभ्यंजन (उबटन) करता है, इस मन्त्र को पढ़कर— "महीनां पयोऽसि" (यजु० ४।३)। 'मही' उन गायों में से एक का नाम है और यह (नवनी) उनका 'पय' है। इसीलिए कहा—'महीनां पयोऽसि।' अब कहता है—"वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि" (यजु० ४।३) —"तू वर्चस् देनेवाला है, मुझे वर्चस् दे।" यह स्पष्ट है ॥९॥

अब आँख में काजल लगाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'मनुष्य की आँख जख्मवाली है। मेरी आँख ठीक है।' पहले उसकी आँख खराब थी। अब वह काजल लगाकर उसकी आँख को नीरोग करता है ॥१०॥

जब देवों ने असुर राक्षसों को मारा तो शुष्ण दानव पीछे को लौटकर मनुष्यों की आँखों में समा गया। वही आँख की पुतली होकर छोटा बालक-सा प्रतीत होता है (कुमारक पुतली को भी कहते हैं और बालक को भी)। इस प्रकार यजमान यज्ञ में प्रवेश होते समय इस अंजन को लगाकर मानो उस दानव के चारों ओर पत्थर की दीवार खड़ी कर देता है, क्योंकि अंजन पत्थर का है। (सुरमा पत्थर का होता है) ॥११॥

यह त्रिककुद पहाड़ का सुरमा है। जब इन्द्र ने वृत्र को मारा तो उसकी आँख की जो पुतली थी उसका त्रिककुद पहाड बना दिया। अब त्रिककुद पहाड़ से सुरमा लाने का तात्पर्य यह है कि आँख में रख देवे। यदि त्रिककुद पर्वत का सुरमा न मिले तो त्रिककुद को छोड़कर किसी अन्य स्थान से सुरमा लावे, क्योंकि सुरमों का फल एक ही है ॥१२॥

सुरमा सींक से लगता है, क्योंकि सींक वज्र है। इसी (सींक) की नोक पर रुई लगी होती है जिससे राक्षस निकल जाय, क्योंकि राक्षस बिना मूल के और दोनों ओर से स्वतन्त्र होकर हवा में घूमता है, इसी तरह जैसे आदमी हवा में बिना मूल के और बिना रोकटोक के घूमता है। सींक के किनारे पर रुई इसीलिए लगी होती है कि राक्षस दूर हो जाय ॥१३॥

पहले दाहिनी आँख में सुरमा या अंजन लगाया जाता है। आदमी की बाईं आँख में पहले अंजन लगाया जाता है, देवताओं की (इसके विपरीत), ऐसी ही चाल है ॥१४॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर अंजन लगाता है—"वृत्रस्यासि कनीनकः" (यजु० ४।३)—"तू वृत्र की आँख है।" वस्तुतः यह वृत्र की ही आँख है। अब कहता है—"चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि" (यजु० ४।३)—"तू आँख देनेवाला है, मुझे आँख दे।" यह स्पष्ट है ॥१५॥

दाहिनी आँख में एक यजुः-मन्त्र पढ़कर लगाता है और एक बार चुपचाप। बाईं आँख में

कृत्वो यजुषानक्ति द्विस्तूष्णीं तदुत्तरमेवैतदुत्तरावत्करोति ॥१६॥ तद्यत्पञ्च कृत्व आ-
नक्ति । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति
तस्मात्पञ्च कृत्व आनक्ति ॥१७॥ अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति । अमेध्यो वै पुरु-
षो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वै दर्भा मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति प-
वित्रं वै दर्भाः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति ॥१८॥ त-
द्वाऽएकꣳ स्यात् । एको ह्येवायं पवते तदेतस्यैव रूपेण तस्मादेकꣳ स्यात् ॥१९॥
अथोऽअपि त्रीणि स्युः । एको ह्येवायं पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्त्रेधावि-
हितः प्राण उदानो व्यान इति तदेतस्यैवानु मात्रां तस्मात्त्रीणि स्युः ॥२०॥ अ-
थोऽअपि सप्त स्युः । सप्त वाऽइमे शीर्षन्प्राणास्तस्मात्सप्त स्युस्त्रिःसप्तान्येव स्युरे-
कविꣳशतिरेषैव संपत् ॥२१॥ तꣳ सप्तभिः-सप्तभिः पावयति । चित्पतिर्मा पुना-
त्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह वाक्पतिर्मा पुनात्वि-
ति प्रजापतिर्वै वाक्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह देवो मा सविता पुना-
त्विति तद्धि सुपूतं यं देवः सवितापुनात्तस्मादाह देवो मा सविता पुनात्वित्यच्छिद्रे-
ण पवित्रेणेति यो वाऽअयं पवतऽएषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभि-
रित्येते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥२२॥ त-
स्य ते पवित्रपतऽइति । पवित्रपतिर्हि भवति पवित्रपूतस्येति पवित्रपूतो हि भ-
वति यत्कामः पुने तच्छकेयमिति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥२३॥ अथाशि-
षामारम्भं वाचयति । आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे । आ वो देवास
आशिषो यज्ञियासो हवामहऽइति तदस्मै स्वाः सतीरेवाशिष आशास्ते
॥२४॥ अथाङ्गुलीर्न्यचति । स्वाहा यज्ञं मनसऽइति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति द्वे स्वाहा वातादारभऽइति मुष्टीकरोति न वै य-
ज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे यथायं दण्डो वा वासो वा परोऽक्षं वै देवाः परोऽक्षं य-

एक बार एक यजुः-मन्त्र पढ़कर लगाता है और दो बार चुपचाप। इस प्रकार बाईं आँख को बड़प्पन दे देता है ॥१६॥

यह पाँच बार क्यों लगाता है ? इसका कारण यह है कि यज्ञ और संवत्सर एक-से हैं। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार वह पाँच बार लगाने से संवत्सर को पा लेता है। इसलिए पाँच बार लगाता है ॥१७॥

अब यह इसको दर्भ के पवित्रा से पाक करता है। मनुष्य झूठ बोलने से अपवित्र हो जाता है। पवित्रा पाक है। वह सोचता है कि 'पाक होकर दीक्षा लूँ।' दर्भ शुद्धि का साधन है। वह सोचता है कि 'पवित्र होकर दीक्षा लूँ।' इसलिए दर्भ के पवित्रा से अपने को शुद्ध करता है ॥१८॥

यह (दर्भ का पवित्रा) एक ही हो। यह पवन भी तो एक ही है, और पवन के ही लक्षण का यह पवित्रा है (पवन का अर्थ भी पवित्र करनेवाला है), इसलिए दर्भ एक ही होना चाहिए ॥१९॥

या तीन पवित्रा हों। यह पवन तो एक ही है, लेकिन पुरुष के शरीर में पहुँचकर प्राण, व्यान और उदान बन जाता है। पवित्रा का भी यही लक्षण है। इसलिए तीन पवित्रा हो सकते हैं ॥२०॥

ये सात भी हो सकते हैं। सिर के प्राण सात हैं, इसलिए सात हो सकते हैं। ये सात के तिगुने अर्थात् २१ भी हो सकते हैं। पूर्णता इसी में है ॥२१॥

सात पवित्रों से वह यह मन्त्र पढ़कर पवित्र करता है—"चित्पतिर्मा पुनातु" (यजु० ४।४)। 'चित्पति' का अर्थ है प्रजापति, अर्थात् प्रजापति मुझे शुद्ध करे। "वाक्पतिर्मा पुनातु" (यजु० ४।४)। 'वाक्पति' भी प्रजापति है, अर्थात् प्रजापति मुझे पवित्र करे। "देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण" (यजु० ४।४)। 'सुपूत' (अर्थात् यथार्थ शुद्ध) वह है जिसको सविता देव ने शुद्ध किया हो। "अच्छिद्रेण पवित्रेण" (यजु० ४।४), क्योंकि वायु ही छिद्ररहित पवित्र करनेवाला है। "सूर्यस्य रश्मिभिः" (यजु० ४।४), क्योंकि सूर्य की किरणें सबसे अधिक पवित्र करनेवाली हैं ॥२२॥

"तस्य ते पवित्रपते" (यजु० ४।४)—"वह (जो दीक्षित पुरुष है) पवित्रता का पति है।" "पवित्रपूतस्य" (यजु० ४।४), क्योंकि वह पवित्रा से शुद्ध किया हुआ है। "यत् कामः पुने तच्छकेयम्" (यजु० ४।४), अर्थात् "जिस कामना से मैं पवित्र हुआ हूँ वह कर सकूँ" अर्थात् यज्ञ को पा सकूँ ॥२३॥

अब वह आशीर्वाद का मन्त्र बोलता है—"आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे। आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे" (यजु० ४।५)—"हे देवो, हम आपका यज्ञ के आरम्भ में आवाहन करते हैं। हे देवो, हम आपका यज्ञ में आशीर्वाद के लिए आवाहन करते हैं।" इस प्रकर ऋत्विज लोग अपने आशीर्वाद को उसके लिए देते हैं ॥२४॥

अब वह अँगुलियों को यह मन्त्र पढ़कर भीतर की ओर मोड़ता है—"स्वाहा यज्ञं मनसः" (यजु० ४।६)। इस मन्त्र से दो छोटी अँगुलियों को। "स्वाहोरोरन्तरिक्षात्" (यजु० ४।६)। इससे दो अनामिकाओं को। "स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याँ" (यजु० ४।६)। इससे दो बीच की अँगुलियों को। "स्वाहा वातादारभे" (यजु० ४।५)। इससे दोनों मुट्ठियाँ बाँधता है। जैसे डंडा या कपड़ा पकड़ा जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष रीति से यज्ञ नहीं पकड़ा जा सकता है। जैसे देव परोक्ष हैं, वैसे ही यज्ञ परोक्ष है ॥२५॥

ज्ञः ॥२५॥ स यदाह । स्वाहा यज्ञं मनसऽइति तन्मनस आरभते स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति तदन्तरिक्षादारभते स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामारभते ययोरिदꣳ सर्वमधि स्वाहा वातादारभऽइति वातो वै यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमारभते ॥२६॥ अथ यत्स्वाहा-स्वाहेति करोति । यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्तेऽत्रोऽएव वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्ते ॥२७॥ अथैनꣳ शालां प्रपादयति । स जघनेनाहवनीयमेत्यग्रेण गार्हपत्यꣳ सोऽस्य संचरो भवत्या सुत्यायै तद्यदस्यैष संचरो भवत्या सुत्यायाऽअग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य गर्भो दीक्षितोऽन्तरेण वै योनिं गर्भः संचरति स यत्स तत्रेजति वत्परि वदावर्तते तस्मादिमे गर्भा एजन्ति वत्परि वदावर्तन्ते तस्मादस्यैष सचरो भवत्या सुत्यायै ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानि । उद्गृभ्णीते वाऽएषोऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि यो दीक्षतऽएतैरेव तद्यजुर्भिरुद्गृभ्णीते तस्मादाहुः सर्वाणि दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानीति तत एतान्यवान्तरामाचक्षतऽऔद्ग्रभणानीत्याहुतयो ह्येता आहुतिर्हि यज्ञः परोऽक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षं यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि ॥१॥ ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति । तान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते सम्पदऽएव कामाय चतुर्थꣳ हूयतेऽथ यत्पञ्चमꣳ स्रुचा जुहोति तदेव प्रत्यक्षमौद्ग्रभणमनुष्टुभा हि तज्जुहोति वाग्घ्यनुष्टुब्वाग्घि यज्ञः ॥२॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥३॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति यदेतानि जुहोति ॥४॥ तानि वै पञ्च जुहोति । संवत्सरसंमितो

जब वह कहता है—"स्वाहा यज्ञं मनसः" तो मन से यज्ञ का आरम्भ करता है। जब कहता है—"स्वाहोरोरन्तरिक्षात्", तब अन्तरिक्ष से आरम्भ करता है। जब कहता है "स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्" तब द्यौ और पृथिवी से आरम्भ करता है जिनमें ये सब चीजें शामिल हैं। जब वह कहता है "स्वाहा वातादारभे" तो यज्ञ को स्वयं ही ले लेता है, क्योंकि 'वात' यज्ञ है ।।२६।।

जब वह कहता है "स्वाहा, स्वाहा" तो यज्ञ ही स्वाहा है, इसलिए यज्ञ को धारण करता है। अब वह वाणी को रोकता है। वाक् ही यज्ञ है, इसलिए यज्ञ को यज्ञ की आत्मा में ही धारण करता है ।।२७।।

अब वह उसको यज्ञ में प्रवेश करता है। वह आहवनीय के पीछे और गार्हपत्य के आगे चलता है। इस प्रकार सोम निचोड़ने तक चलता है। सोम निचोड़ने तक वह इस प्रकार क्यों चलता है? इसका कारण यह है—अग्नि यज्ञ की योनि है और दीक्षित पुरुष गर्भ है। गर्भ योनि के भीतर चलता है। और जैसे दीक्षित पुरुष यहाँ चलता और फिर मुड़कर लौट देता है उसी प्रकार योनि के गर्भ चलता है और फिर मुड़कर लौट देता है। इसलिए सोम निचोड़ने तक यही चाल रहती है ।।२८।।

अध्याय १—ब्राह्मण ४

दीक्षा-सम्बन्धी सब यजु औद्ग्रभण कहलाते हैं, क्योंकि जो पुरुष दीक्षित होता है वह इस लोक से देवलोक को उठता है (उद् गृभ्णीते) और इन यजुओं के द्वारा उठता है इसीलिए ये औद्ग्रभण कहलाते हैं। इन अवान्तर (बीच में होनेवाले) कृत्यों को भी औद्ग्रभण कहते हैं। क्योंकि ये आहुतियाँ हैं और आहुतियाँ यज्ञ हैं। यजुः का जाप तो परोक्ष यज्ञ है और यह आहुति प्रत्यक्ष यज्ञ है। इसी यज्ञ से इस लोक से देवलोक को उठते हैं ।।१।।

स्रुवों से जो तीन आहुतियाँ दी जाती हैं उनको 'अधीत यजुः' कहते हैं। चौथी आहुति कामना के लिए होती है। पाँचवीं आहुति जो स्रुक् या जुहू से दी जाती है वह प्रत्यक्ष में औद्-ग्रभण कहलाती है। क्योंकि यह अनुष्टुभ् छन्द से दी जाती है। अनुष्टुभ् वाणी है। वाणी यज्ञ है ।।२।।

यज्ञ से देवों ने वह विजय पाई जो उनकी मिली हुई है। वे कहने लगे—"यह मनुष्यों के लिए अप्राप्य कैसे हो?" उन्होंने यज्ञ के रस को चूसा जैसे शहद की मक्खी शहद को चूसती हैं, और यज्ञ को नीरस करके और यूप के द्वारा यज्ञ को तितर-बितर करके छिप गये। चूँकि उन्होंने इससे यज्ञ को तितर-बितर किया (योपयन्) इसलिए इसका यूप नाम पड़ा ।।३।।

ऋषियों ने इस बात को सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया, जैसे यज्ञ इकट्ठा किया जाता है। यह औद्ग्रभण आहुतियों द्वारा यज्ञ को इकट्ठा करता है ।।४।।

वह पाँच आहुतियाँ देता है क्योंकि यज्ञ और संवत्सर की संगति है। साल में पाँच ऋतुए

वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च जुहोति ॥५॥
अथातो होमस्यैव । आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेत्या वाऽअग्रे कुवते यजेयेति त-
द्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्संभृत्यात्मन्कुरुते ॥६॥ मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति । मे-
धया वै मनसाभिगच्छति यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्संभृत्यात्मन्कुरुते ॥७॥
दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति । अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु हूयते ॥८॥ सरस्वत्यै पूष्णे
ऽग्नये स्वाहेति । वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः प-
शवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत्सम्भृत्यात्मन्कुरुते ॥९॥ तदाहुः ।
अनद्धैवैता आकूतयो हूयन्तेऽप्रतिष्ठिता अदेवकास्तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति
॥१०॥ आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति । नात एकं चनाग्निर्वाऽअद्धेवाग्निः प्रतिष्ठि-
तः स यदग्नौ जुहोति तेनैवैता अद्धेव तेन प्रतिष्ठितास्तस्मादु सर्वास्वेवाग्नये स्वा-
हेति जुहोति तत एतान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते ॥११॥ आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वा-
हेति । आत्मना वाऽअग्रऽआकुवते यजेयेति तमात्मनऽएव प्रयुङ्क्ते यत्तनुते ते
ऽअस्यैतेऽआत्मन्देवतेऽआधीते भवत आकूतिश्च प्रयुक्च ॥१२॥ मेधायै मनसेऽग्नये
स्वाहेति । मेधया वै मनसाभिगच्छति यजेयेति तेऽअस्यैतेऽआत्मन्देवतेऽआधीते
भवतो मेधा च मनश्च ॥१३॥ सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति । वाग्वै सरस्वती
वाग्यज्ञः सास्यैषात्मन्देवताधीता भवति वाक्पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः
पशवः पशवो हि यज्ञस्तेऽस्यैतऽआत्मन्पशव आधीता भवन्ति तद्यदस्यैता आ-
त्मन्देवता आधीता भवन्ति तस्मादाधीतयजूꣳषि नाम ॥१४॥ अथ चतुर्थीं जुहो-
ति । आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष । बृहस्पतये
हविषा विधेम स्वाहेत्येषा ह नेदीयो यज्ञस्यापाꣳ हि कीर्तयत्यापो हि यज्ञो
द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्षेति लोकानाꣳ हि कीर्तयति बृहस्पतये हविषा वि-
धेम स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्म यज्ञ एतेनो हैषा नेदीयो यज्ञस्य ॥१५॥

होती हैं। इससे पाँच की प्राप्ति होती है, इसलिए पाँच आहुतिएँ दी जाती हैं ॥५॥

होम की ये आहुतियाँ हैं–पहली–"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)–"विचार, प्रयोग और अग्नि के लिए स्वाहा।" पहले यज्ञ का विचार ही करता है (कुवते)। अब इस आहुति में जो यज्ञ का भाग शामिल है उसे अपना बना लेता है ॥६॥

दूसरी—"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)–"बुद्धि, मन और अग्नि के लिए स्वाहा।" बुद्धि और मन से वह यज्ञ करना चाहता है। अब इस आहुति में जो यज्ञ का भाग है उसको अपना बना लेता है ॥७॥

"दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)–"दीक्षा, तप और अग्नि के लिए स्वाहा।" यह केवल बोला जाता है। इससे आहुति नहीं दी जाती ॥८॥

तीसरी—"सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा" (यजु० ४।७)—"सरस्वती, पूषा और अग्नि के लिए स्वाहा।" वाणी सरस्वती है। वाणी यज्ञ है। पशु पूषा हैं क्योंकि पूषा का अर्थ है पुष्टि। पशु पुष्टि हैं और पशु यज्ञ हैं। इस (तीसरी) आहुति में जो यज्ञ का भाग है उसको वह अपना बना लेता है ॥९॥

इस पर कहा जाता है कि ये आहुतियाँ अनिश्चित हैं। ये प्रतिष्ठित नहीं हैं। इनमें किसी देवता, इन्द्र, सोम या अग्नि का नाम नहीं है ॥१०॥

"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा" में किसी देवता का निश्चय नहीं है। (इस आक्षेप का उत्तर यह है कि) अग्नि तो निश्चित है। अग्नि प्रतिष्ठित है। जब अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं तो वे निश्चित हो जाती हैं। इसीलिए ये सब आहुतियाँ 'अग्नये स्वाहा' कहकर दी जाती हैं। इन आहुतियों को 'अधीत यजूंषि' कहते हैं ॥११॥

"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा।" यहाँ वह आत्मा से ही यज्ञ का विचार करता है और आत्मा से ही प्रयोग करता है। ये दोनों देवता अर्थात् आकूति (विचार) और प्रयुक् (प्रयोग) आत्मा में ही उठते हैं (अधीत) ॥१२॥

"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा।" यहाँ मेधा और मन से यज्ञ की प्राप्ति करता है, इसलिए मेधा और ये दोनों देवता स्थित होते हैं ॥१३॥

"सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा।" वाणी ही सरस्वती है। वाणी यज्ञ है। यह सरस्वती देवता आत्मा में स्थित होता है। पशु पूषा हैं। पूषा पुष्टि है। पशु यज्ञ हैं। आत्मा में पशु स्थित होते हैं। इसलिए 'अधीत यजूंषि' इनका नाम हुआ ॥१४॥

अब चौथी आहुति देता है—"आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽ अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा" (यजु० ४।७)–"हे दिव्य, बड़े, संसार के हितकारक आपो देवता, हे द्यावापृथिवी, हे विस्तृत अन्तरिक्ष! हम हवि से बृहस्पति की पूजा करें।" ये आहुति यज्ञ के घनिष्ठ हैं। आपो देवता की कीर्तियाँ हैं। 'आप' ही यज्ञ है। "द्यावापृथिवी, उरोऽअन्तरिक्ष" से लोकों की कीर्ति कहता है। "बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा।" यहाँ ब्रह्म की बृहस्पति है। ब्रह्म ही यज्ञ है। इस प्रकार यह आहुति यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध रखतीहै ॥१५॥

अथ यां पञ्चमीꣳ स्रुचा जुहोति । सा हैव प्रत्यक्षं यज्ञोऽनुष्टुभा हि तां जुहोति वाग्घ्यनुष्टुब्वाग्घि यज्ञः ॥१६॥ अथ यद्ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वामानयति त्रिः स्रुवेणाज्यविलापन्याऽअधि जुह्वां गृह्णाति यत्तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति ॥१७॥ स जुहोति । विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहेति ॥१८॥ सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । विश्वो देवस्येति वैश्वदेवं नेतुरिति सावित्रं मर्तो वुरीतेति मैत्रं द्युम्नं वृणीतेति बार्हस्पत्यं द्युम्नꣳ हि बृहस्पतिः पुष्यसऽइति पौष्णꣳ ॥१९॥ सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्यैतमेवैतयाप्नोति यद्देवताभिः पङ्क्तिर्भवति ॥२०॥ तां वाऽअनुष्टुभा जुहोति । वाग्वाऽअनुष्टुब्वाग्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति ॥२१॥ तदाहुः । एतामेवैकां जुहुयाद्यस्मै कामायेतरा हूयन्तऽएतयैव तं काममाप्नोतीति तां वै यद्येकां जुहुयात्पूर्णां जुहुयात्सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेवैनयैतदाप्नोत्यथ यत्स्रुवमभिपूरयति स्रुचं तदभिपूरयति तां पूर्णां जुहोत्यन्वेवैतदुच्यते सर्वास्वेव हूयन्ते ॥२२॥ तां वाऽअनुष्टुभा जुहोति । सैषानुष्टुप्सत्येकत्रिꣳशदक्षरा भवति दश पाण्या अङ्गुल्यो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिꣳशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान्वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः पुरुषसंमितो यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनयैतदाप्नोति यदनुष्टुभैकत्रिꣳशदक्षरया जुहोति ॥२३॥ ब्राह्मणं ॥४॥ अध्यायः ॥१[१६.]॥ ॥

दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिनेऽउपस्तृणाति । तयोरेनमधि दीक्षयति यदि द्वे भवतस्तदनयोर्लोकयो रूपं तदेनमनयोर्लोकयोरधि दीक्षयति ॥१॥ संबद्धान्ते भवतः । संबद्धान्ताविव हीमौ लोकौ तर्ह्यसमुते पश्चाद्भवतस्तदिमावेव लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरेनमधि दीक्षयति ॥२॥ यद्युऽएकं भवति । तदेषां लोकानाꣳ रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं या-

अब जो स्रुक् से पाँचवीं आहुति दी जाती है वह तो साक्षात् यज्ञ है, क्योंकि यह अनुष्टुभ् छन्द में दी जाती है। वाणी अनुष्टुभ् है। वाणी यज्ञ है ॥१६॥

ध्रुवा में जो आज्य बच रहता है वह जुहू में छोड़ा जाता है। अब तीन बार स्रुवा से आज्य घी पिघलनेवाले पात्र से जुहू में डालते हैं। तीसरी बार जो लेता है उससे स्रुवा को भर लेता है ॥१७॥

अब वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम्। विश्वे रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा" (यजु० ४।८; ऋ० ५।५०।१)—"सब आदमी दिव्य नेता की मित्रता को ग्रहण करें। सब धन को चाहते हैं। अपनी पुष्टि के लिए यश को चाहें" ॥१८॥

यह आहुति और ऋचा देवताओं की अपेक्षा से सम्बन्धित है—'विश्वो देवस्य' से तात्पर्य है वैश्वदेव का, 'नेतुः' से सविता का, 'मर्तो वुरीत' से मित्र का, 'द्युम्नं वृणीत' से बृहस्पति का, 'पुष्य' से पूषा का ॥१९॥

यह आहुति और ऋचा देवताओं की अपेक्षा से पाँच से सम्बन्धित है। यज्ञ के पाँच भाग हैं। पशु के पाँच भाग हैं। ऋतुएँ पाँच हैं। इस प्रकार पाँच देवताओं वाली आहुति के द्वारा वह सम्वत्सर की प्राप्ति कर लेता है ॥२०॥

इसको वह अनुष्टुभ् छन्द में देता है। वाणी अनुष्टुभ् है। वाणी यज्ञ है। इस प्रकार प्रत्यक्ष यज्ञ की प्राप्ति करता है ॥२१॥

इस पर कहते हैं कि बस इसी एक आहुति को देवे। अन्य आहुतियाँ जिस-जिस कामना के लिए दी जाती हैं वे सब इसी से पूरी हो जाती हैं। जो इस आहुति को देता है, पूर्ण आहुति को देता है। 'सर्व' का अर्थ है पूर्ण। स्रुवा को भरकर वह जुहू को भर लेता है और जुहू को पूरा-पूरा छोड़ देता है। परन्तु यह केवल कथन मात्र है। आहुतियाँ तो पाँचों ही दी जाती हैं ॥२२॥

इसको अनुष्टुभ् छन्द में देते हैं। अनुष्टुभ् में ३१ अक्षर होते हैं। दस हाथ की उँगलियाँ हैं, दस पैर की, दस प्राण हैं। ३१वाँ आत्मा जिसमें ये प्राण हैं। इतना ही पुरुष है। पुरुष यज्ञ है। उतने ही यज्ञ के भाग हैं जितने पुरुष के। इसलिए जितना यज्ञ है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही वह इस ३१ अक्षरवाले अनुष्टुभ् की आहुति देकर उसको प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

अध्याय २—ब्राह्मण १

आहवनीय के दक्षिण की ओर दो मृगचर्मों को इस प्रकार बिछाता है कि उनकी गर्दन पूर्व की ओर रहे। उन पर वह उसको दीक्षा देता है। ये जो दो होते हैं ये दोनों लोकों के रूप हैं। इस प्रकार वह उसको इन दोनों लोकों में दीक्षित करता है ॥१॥

ये दोनों सिरों पर जुड़े होते हैं। ये दोनों लोक भी सिरे पर जुड़े होते हैं। पीछे की ओर ये छिद्रों द्वारा जुड़े होते हैं। इन दोनों लोकों को जोड़कर वह उसको दीक्षा देता है ॥२॥

यदि एक ही चर्म हो तो वह इन तीनों लोकों का रूप है। इस प्रकार वह उसको इन तीनों लोकों में दीक्षित करता है। जो श्वेत बाल हैं वे द्यौ का रूप हैं, जो काले हैं वे इस पृथिवी

नि कृष्णानि तान्यस्यै यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपं यानि शु-
क्लानि तान्यस्यै यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपं तदेनमेषु लोके-
ष्वधि दीक्षयति ॥३॥ अन्तकमु तर्हि पश्चात्प्रत्यस्येत् । तदिमानेव लोकान्मिथुनी-
कृत्य तेष्वेनमधि दीक्षयति ॥४॥ अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात् प्राङ् जान्वाक्न
उपविशति स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च संधिर्भवति तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सा-
मयोः शिल्पे स्थऽइति यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पमृचां च साम्नां च प्रतिरूपे स्थ इत्ये-
वैतदाह ॥५॥ ते वामारभऽइति । गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते स छन्दाꣳ-
सि प्रविशति तस्मान्न्यक्नाङ्गुलिरिव भवति न्यक्नाङ्गुलय-इ-व हि गर्भाः ॥६॥ स
यदाह । ते वामारभऽइति ते वां प्रविशामीत्येवैतदाह ते मा पातमास्य यज्ञ-
स्योदृच इति ते मा गोपायतमास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह ॥७॥ अथ द-
क्षिणेन जानुनारोहति । शर्मासि शर्म मे यच्छेति चर्म वाऽएतत्कृष्णस्य तदस्य त-
न्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासि शर्म मे यच्छेति नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳ-
सीरिति श्रेयाꣳसं वाऽएष उपाधिरोहति यो यज्ञं यज्ञो हि कृष्णाजिनं तस्माऽए-
वैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्तेऽअस्तु मा
मा हिꣳसीरिति ॥८॥ स वै जघनार्धऽइवैवाग्रऽआसीत । अथ यदग्रऽएव मध्य
ऽउपविशेद्ध एनं तत्रानुध्या हरेद्रुस्यति वा प्र वा पतिष्यतीति तथा हैव स्या-
त्तस्माज्जघनार्धऽइवैवाग्रऽआसीत ॥९॥ अथ मेखलां परिहरते । अङ्गिरसो ह वै
दीक्षितानबल्यमविन्दत्ते नान्यद्व्रतादशनमवाकल्पयंस्तऽएतामूर्जमपश्यन्त्समाप्तिं तां
मध्यत आत्मन ऊर्जमदधत समाप्तिं तया समाप्नुवंस्तथोऽएवैष एतां मध्यत आ-
त्मन ऊर्जं धत्ते समाप्तिं तया समाप्नोति ॥१०॥ सा वै शाणी भवति । मृद्व्यसदिति
न्वेव शाणी यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमा-
सीत्ते शणास्तस्मात्ते पूतयो वान्ति यदस्य जराय्वासीत्तद्दीक्षितवसनमन्तरं वाऽउ

का। या इसके विपरीत यों भी कह सकते हैं कि जो काले बाल हैं वे द्यौ का रूप हैं और जो श्वेत बाल हैं वे इस पृथिवी का। जो भूरे पीले-पीले हैं वे अन्तरिक्ष का रूप हैं। इस प्रकार वह उसको इन तीनों लोकों में दीक्षित करता है ।।३।।

अन्त में उसे उस (मृगचर्म) के पीछे को मुड़ना चाहिए। इन लोकों को जोड़कर वह उसको उनमें दीक्षित करता है ।।४।।

अब वह मृगचर्मों के पीछे पूर्वाभिमुख और जानु को झुकाकर बैठ जाता है और जहाँ सफेद और काले बाल मिलते हैं वहाँ इस प्रकार (श्वेत बाल अँगूठे से और काले अगली अँगुली से एक-साथ) छूकर यह मन्त्र पढ़ता है—"ऋक् सामयोः शिल्पे स्थः" (यजु० ४।९)—"तुम ऋक् और साम के प्रतिरूप हो।" शिल्प कहते हैं प्रतिरूप को। इसका तात्पर्य यह है कि 'ऋचाओं और सामों के प्रतिरूप* हो' ।।५।।

अब कहता है, "ते वामारभे" (यजु० ४।९)—"मैं तुमको छूता हूँ।" जो दीक्षित होता है वह गर्भ बनकर छन्दों में घुस जाता है। इसलिए उसकी अँगुलियाँ सिकुड़ जाती हैं। गर्भ बँधी हुई मुट्ठी के समान होते हैं ।।६।।

और जब वे कहते हैं 'मैं तुमको छूता हूँ' तो इसका तात्पर्य है कि 'मैं तुममें प्रवेश करता हूँ।' अब कहता है—"ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः" (यजु० ४।९)—"तुम मेरी इस यज्ञ के अन्त तक रक्षा करो।" इसका तात्पर्य है कि तुम यज्ञ के अन्त तक मेरी रक्षा करो ।।७।।

अब दाहिनी जानु से उठता है। और पढ़ता है—"शर्मासि शर्म मे यच्छ" (यजु० ४।९)—"तू शरण (कल्याण) है, मुझे शरण दे"—"नमस्तेऽअस्तु मा मा हिँसी" (यजु० ४।९)—"तुझे नमस्कार हो। तू मुझे पीड़ा न दे।" मनुष्य के लिए तो वह काला मृग का चर्म है। देवताओं के लिए यह 'शर्म' या 'शरण' है। जो अपने को यज्ञ के तल तक उठाता है वह मानो अपने को उच्चतर तल तक उठाता है। यह काला मृगचर्म यज्ञ है। इस प्रकार वह उस यज्ञ को प्रसन्न करता है जिससे वह यज्ञ उसे हानि न पहुँचावे। इसलिए कहता है—'नमस्ते अस्तु मा मा हिँसीः' ।।८।।

पहले वह मृगचर्म के पीछे की ओर बैठे। यदि पहले ही बीच में बैठ जावे और कोई उसको शाप दे कि 'यह नष्ट हो जायगा' या 'इसका पतन हो जायगा' तो ऐसा हो ही जायगा। इसलिए उसको मृगचर्म के पिछले भाग में ही बैठना चाहिए ।।९।।

अब वह मेखला को पहनता है। पहले अंगिरा लोगों को दीक्षा दी जाने लगी तो उनमें निर्बलता आ गई, क्योंकि उन्होंने व्रत के दूध के सिवाय और कुछ खाना नहीं तैयार किया था। तब उन्होंने इस (मेखला-सम्बन्धी) बल को देखा और उसको प्राप्त करके शरीर के बीच (कमर) में बाँधा। इससे इनको पूर्णता प्राप्त हो गई ।।१०।।

यह (मेखला) सन की बनाई जाती है। सन की इसलिए बनाई जाती है कि नर्म रहे। जब प्रजापति गर्भ होकर उस यज्ञ से निकला, तब जो उसका उल्व था वह सन बन गया। इसीलिए उनमें बू आती है। और जो जरायु था वह दीक्षित का वस्त्र हो गया। उल्व जरायु के

* सामानि यस्य लोमानि।

ल्बं जरायुणो भवति तस्मादिषान्तरा वाससो भवति स यथैवातः प्रजापतिर्जायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात् ॥११॥ सा वै त्रिवृद्भवति । त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रिवृद्भवति ॥१२॥ मुञ्जवल्शेनान्वस्ता भवति । वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै स्तुकासर्गं सृष्टा भवति सा यत्प्रसलवि सृष्टा स्याद्यथेदमन्या रज्जवो मानुषी स्याद्यद्वपसलवि सृष्टा स्यात्पितृदेवन्या स्यात्तस्मात्स्तुकासर्गं सृष्टा भवति ॥१३॥ तां परिहरते । ऊर्गस्याङ्गिरसीत्यङ्गिरसो ह्येतामूर्जमपश्यन्नूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१४॥ अथ नीविमुद्गूहते । सोमस्य नीविरसीत्यदीक्षितस्य वाऽअस्यैषाग्रे नीविर्भवत्यथात्र दीक्षितस्य सोमस्य तस्मादाह सोमस्य नीविरसीति ॥१५॥ अथ प्रोर्णुते । गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तस्माद्वै प्रोर्णुते ॥१६॥ स प्रोर्णुते । विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येत्युभयं वाऽएषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येति ॥१७॥ अथ कृष्णविषाणां सिचि बध्नीते । देवाश्च वाऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुर्मन एव देवा उपायन्वाचमसुरा यज्ञमेव तद्देवा उपायन्वाचमसुरा अमूमेव देवा उपायन्निमामसुराः ॥१८॥ ते देवा यज्ञमब्रुवन् । योषा वाऽइयं वागुपमन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योषा वाऽइयं वागुपमन्त्रये ह्वयिष्यते वै मेति तामुपामन्त्रयत सा हास्माऽआरकादिवैवाग्रऽआसूयत्तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रेऽसूयति स हौवाचारकादिव वै मऽआसूयीदिति ॥१९॥ ते होचुः । उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपामन्त्रयत सा हास्मै निपलाशमिवोवाद तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति स हौवाच निपलाशमिव वै मेऽवादीदिति ॥२०॥ ते होचुः ।

भीतर होता है। इसीलिए यह (मेखला) वस्त्र के भीतर होती है। जैसे प्रजापति गर्भ होकर उस यज्ञ से निकला, इसी प्रकार यह दीक्षित पुरुष भी गर्भ होकर उस यज्ञ से उत्पन्न होता है ॥११॥

मेखला तीन लड़ी वाली होती है। क्योंकि अन्न तीन भागों वाला होता है। पशु अन्न हैं। माता और पिता दो होते हैं, और तीसरा वह होता है जो पैदा होता है। इसीलिए मेखला में तीन लड़ियाँ होती हैं ॥१२॥

वह मूंज से बँधी होती है। मूंज का शर वज्र है, इसलिए इससे राक्षस भाग जाते हैं। यह केशों के समान गूँथी जाती है। अगर वह रस्सी के समान 'पसलवि' अर्थात् सूर्य की चाल के समान बाईं ओर से दाहिनी ओर को गूँथी जाय तो मानुषी हो जाय। यदि 'अपसलवि' अर्थात् दाहिनी ओर से बाईं ओर को गूँथी जाय तो पितरों जैसी हो जाए। इसलिए केशों के समान गूँथी जाती है ॥१३॥

उसको यह मन्त्र पढ़कर धारण करता है—"ऊर्गस्याङ्गिरसि" (यजु० ४।१०)। क्योंकि अंगिरों ने इस 'ऊर्ज' को देखा था। "ऊर्णम्रदाऽऊर्जं मयि धेहि" (यजु० ४।१०)—"तू ऊन के समान नरम है, मुझे ऊर्ज दे।" यहाँ सब स्पष्ट है ॥१४॥

अब नीचे का मन्त्र पढ़कर नीवि को बाँधता है, "सोमस्य नीविरसि" (यजु० ४।१०)—"तू सोम की नीवि है।" पहले अदीक्षित की नीवि थी, अब दीक्षित की नीवि हो गई। इसलिए कहा 'सोम की नीवि है।' (यहाँ सोम का अर्थ 'दीक्षित' प्रतीत होता है। ऋग्वेद के ६वें मण्डल में सोम इसी अर्थ में कई जगह आया है) ॥१५॥

अब वह (सिर को) ढकता है। जो दीक्षित होता है वह गर्भ बन जाता है। गर्भ उल्व ओर जरायुज से ढके होते हैं। इसलिए वह (सिर को) ढकता है ॥१६॥

वह यह मन्त्र पढ़कर ढकता है—"विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्य" (यजु० ४।१०)—"तू विष्णु की शरण है, यजमान की शरण है।" जो दीक्षित होता है वह विष्णु और यजमान दोनों होता है। चूँकि वह दीक्षित होता है इसलिए विष्णु बन जाता है, और चूँकि यज्ञ करता है इसलिए यजमान हो जाता है। इसलिए कहा कि 'तू विष्णु की शरण है, यजमान की शरण है' ॥१७॥

अब वह काले हिरण के सींग को (अपने वस्त्र के) सिरे से बाँधता है। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान अपने पिता प्रजापति के दायभाग को प्राप्त हुए। देवों ने मन को पाया और असुरों ने वाणी को। देवों ने उस (द्यौ) लोक को पाया और असुरों ने इस (पृथिवी) लोक को ॥१८॥

उन देवों ने यज्ञ से कहा—'यह वाक् स्त्री है। तू इसको संकेत कर। वह तुझे अपने पास बुलायेगी।' या शायद उसने स्वयं ही सोचा कि 'वाक् स्त्री है। मैं इसको संकेत करूँ। यह मुझे अपने पास बुला लेगी।' उसने उसकी ओर संकेत किया। परन्तु उसने दूर से उसको तिरस्कृत कर दिया। इसीलिए स्त्री पहले पुरुष का दूर से तिरस्कार कर देती है। उसने कहा, 'इसने मुझे दूर से ही तिरस्कृत कर दिया' ॥१९॥

वे देवता बोले, 'भले आदमी, फिर संकेत कर, वह तुझे बुला लेगी।' उसने इशारा किया, लेकिन (वाक् ने) उसकी ओर सिर हिलाकर इनकार कर दिया। इसीलिए जब कोई पुरुष स्त्री को बुलाता है तो वह सिर हिलाकर इनकार कर देती है। उसने कहा, 'इसने मुझे सिर हिलाकर इनकार कर दिया' ॥२०॥

उपैव भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति तामुपामन्त्रयत सा हैनं जुजुष एव तस्मादु स्त्री पुमाꣳसꣳ ह्वयतऽएवोत्तमꣳ स होवाचाह्वत वै मेति ॥२१॥ ते देवा ईक्षां चक्रिरे । योषा वाऽइयं वाग्यदेनं न युवितेहैव मा तिष्ठन्तमभ्येहीति ब्रूहि तां तु न आगतां प्रतिप्रब्रूतादिति सा हैनं तदेव तिष्ठन्तमभ्येयाय तस्मादु स्त्री पुमाꣳसꣳ संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति ताꣳ हैभ्य आगतां प्रतिप्रोवाचेयं वाऽआगादिति ॥२२॥ तां देवाः । असुरेभ्योऽन्तरायंस्ताꣳ स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजुहवुराहुतिर्हि देवानाꣳ स यामेवामूमनुष्टुभाजुहवुस्तदेवैनां तद्देवाः स्व्यकुर्वत तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः ॥२३॥ तत्रैतामपि वाचमूदुः । उपजिज्ञास्याꣳ स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वा नैतेवैष द्विषताꣳ सपत्नानामादत्ते वाचं तेऽस्यात्तवचसः पराभवन्ति य एवमेतद्वेद ॥२४॥ सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ । मिथुन्येनया स्यामिति ताꣳ संबभूव ॥२५॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । महद्वाऽइतोऽभ्वं जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद्वाचश्च यन्मा तन्नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश ॥२६॥ स ह संवत्सरे जायमान ईक्षां चक्रे । महावीर्या वाऽइयं योनिर्या मामदीधरत यद्वै मेतो महद्देवाभ्वं नानुप्रजायेत यन्मा तन्नाभिभवेदिति ॥२७॥ तां प्रतिपरामृश्यावेष्ट्याच्छिनत् । तां यज्ञस्य शीर्षन्प्रत्यदधाद्यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञस्तत्कृष्णाजिनं यो सा योनिः सा कृष्णविषाणाथ यदेनामिन्द्र आवेष्ट्याच्छिनत्तस्मादावेष्टितेव स यथैवात इन्द्रोऽजायत गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनात् ॥२८॥ तां वाऽउत्तानामिव बध्नाति । उत्तानेव वै योनिर्गर्भं बिभर्त्यथ दक्षिणां भ्रुवमुपर्युपरि ललाटमुपस्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीतीन्द्रस्य ह्येषा योनिरतो वा ह्येनां प्रविशन्प्रविशत्यतो वा जायमानो जायते तस्मादाहेन्द्रस्य योनिरसीति ॥२९॥ ॥ शतम् १५०० ॥ ॥ अथोल्लिखति । सुसस्याः कृषीस्कृधीति यज्ञमेवै-

उन्होंने कहा, 'भले आदमी, फिर संकेत कर, वह तुझे बुला लेगी।' उसने उसकी ओर इशारा किया। अब उस (वाणी) ने उसको बुला लिया। इसलिए जब मनुष्य इशारा करता है तो स्त्री उसको बुला ही लेती है। उसने कहा, 'इसने मुझे बुला लिया' ॥२१॥

अब देवों ने सोचा—'यह वाणी स्त्री है। यह कहीं इसको रिझा न ले (और कहीं यज्ञ भी इस प्रकार असुरों के पास न चला जाय)। उससे कहा कि 'जहाँ मैं खड़ा हूँ, वहीं आ' और जब वह आ जाय तो सूचना दे। अब वह वहीं चली आई जहाँ वह खड़ा था। इसलिए स्त्री उसी घर में चली जाती है जहाँ पुरुष स्थित रहता है। उस (यज्ञ) ने उन (देवताओं) को सूचना दी कि वास्तव में वह आ गई ॥२२॥

तब देवों ने उसे असुरों से अलग कर लिया। अब देवों ने उसे स्वीकार करके अग्नि में लपेटकर उसको देवताओं के लिए आहुति दे दी। और चूँकि अनुष्टुभ् छन्द से आहुति दे दी, इसलिए उसको अपनी सत्ता में शामिल कर दिया (क्योंकि अनुष्टुभ् वाणी है)। जब वाणी को देवों ने स्वीकार कर लिया तो असुर लोग कुछ न कह सके और 'हेऽलवो हेऽलवः' कहकर पराजित हो गये, (हाय वाक्, हाय वाक्) ॥२३॥

इस प्रकार उन्होंने अर्थहीन वाणी बोली। और जो ऐसी वाणी बोलता है वह म्लेच्छ है। इसलिए कोई ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा न बोले, क्योंकि यह आसुरी भाषा है। इसी प्रकार वह शत्रु को भाषा से वंचित कर सकता है। और जो इस रहस्य को समझता है उसके शत्रु भाषा से वंचित होकर पराजित हो जाते हैं ॥२४॥

अब इस यज्ञ ने चाहा कि वाणी के साथ प्रसंग करूँ। उसने प्रसंग किया ॥२५॥

अब इन्द्र ने सोचा कि यज्ञ और वाणी के प्रसंग से एक भीषण राक्षस उत्पन्न होगा और मुझे हरा देगा। इसलिए इन्द्र स्वयं गर्भ होकर उसमें प्रविष्ट हो गया ॥२६॥

जब वह एक साल बाद पैदा हुआ तो सोचने लगा, 'जिस योनि ने मुझे धारण किया, वह तो 'महावीर्या' है। अब मैं ऐसी तरकीब करूँ कि इसमें कोई बड़ा राक्षस न पैदा हो जाय जो मुझे हरा दे' ॥२७॥

उसको पकड़कर और अच्छी तरह भींचकर उसने तोड़ डाला और यज्ञ के सिर पर रख दिया। कृष्णमृग यज्ञ है। कृष्ण मृगचर्म भी यज्ञ ही है और कृष्णमृग का सींग योनि है। और चूँकि इन्द्र ने खूब भींचकर योनि को तोड़ा, इसलिए सींग को बड़ी मजबूती से वस्त्र से बाँधते हैं। और जैसे इन्द्र गर्भ होकर उस जोड़े से उत्पन्न हुआ, इसी तरह यजमान भी गर्भ होकर उस (सींग और चर्म) के जोड़े से उत्पन्न होता है ॥२८॥

वह इस सींग को इस प्रकार बाँधता है कि खुला भाग ऊपर को रहे, क्योंकि योनि में गर्भ इसी प्रकार रहता है। अब दाहिनी भौं के ऊपर ललाट को (इस सींग से) छुआता है, यह मन्त्र पढ़कर—"इन्द्रस्य योनिरसि" (यजु० ४।१०)—"तू इन्द्र की योनि है।" यह इन्द्र की योनि ही तो है क्योंकि इसमें प्रवेश होकर ही वह यजमान उसमें प्रवेश करता है और यहाँ से उत्पन्न होकर ही वहाँ से उत्पन्न होता है। इसीलिए कहता है कि 'तू इन्द्र की योनि है' ॥२९॥ [शतम् १५००]

अब वह उस सींग से एक लकीर खींचता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"सुसस्याः कृषीस्कृधि"

तज्जनयति यदा वै सुषमं भवत्यथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न त-र्ह्यात्मने चनालं भवति तद्यज्ञमेवैतज्जनयति ॥३०॥ अथ न दीक्षितः । काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्यन्म्रियेत्ततो दीक्षितः पामनो भवितोर्दीक्षितं वाऽअ-नु रेताᳪसि ततो रेताᳪसि पामनानि जनितोः स्वा वै योनी रेतो न हिनस्त्ये-षा वाऽएतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णविषाणा तथो हैनमेषा न हिनस्ति त-स्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्णविषाणायाः ॥३१॥ अथास्मै दण्डं प्रयच्छति । वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै ॥३२॥ औदुम्बरो भवति । अन्नं वा ऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरो भवति ॥३३॥ मुखसंमितो भ-वति । एतावद्वै वीर्यᳪ स यावदेव वीर्यं तावांस्तद्भवति यन्मुखसंमितः ॥३४॥ तमुच्छ्रयति । उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यᳪहस आस्य यज्ञस्योदृच इत्यूर्ध्वो मा गोपायास्य यज्ञस्य सᳪस्थाया इत्येवैतदाह ॥३५॥ अत्र हैके । अङ्गुलीश्च न्य-चन्ति वाचं च यच्छन्त्यतो हि किं च न जपिष्यन्भवतीति वदन्तस्तदु तथा न कु-र्याद्यथा पराञ्चं धावन्तमनुलिप्सेत तं नानुलभेतैवᳪ ह स यज्ञं नानुलभते तस्मा-दमुत्रैवाङ्गुलीर्न्यचेदमुत्र वाचं यच्छेत् ॥३६॥ अथ यद्दीक्षितः । ऋचं वा यजुर्वा सा-म वाभिव्याहरत्यभिस्थिरमभिस्थिरमेवैतद्यज्ञमारभते तस्मादमुत्रैवाङ्गुलीर्न्यचेदमुत्र वाचं यच्छेत् ॥३७॥ अथ यद्वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन्धत्तेऽथ य-द्वाचंयमो व्याहरति तस्मादु हैष विसृष्टो यज्ञः पराङावर्तते तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेद्यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ॥३८॥ अथै-क उद्वदति । दीक्षितोऽयं ब्राह्मणो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति निवेदितमेवैनमे-तत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदित्ययं युष्माकैकोऽभूत्तं गो-पायतेत्येवैतदाह त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥३९॥ अथ यद्ब्राह्मण इत्याह ।

(यजु० ४।१०)—"कृषि को धान्य-पूरित कर।" इस प्रकार वह यज्ञ को उत्पन्न करता है क्योंकि जब सुकाल होता है तो यज्ञ के लिए पुष्कल सामग्री होती है। और जब दुष्काल होता है तो अपने लिए भी काफी नहीं होता। इसलिए यज्ञ को उत्पन्न करता है।।३०।।

दीक्षित को खुजलाना नहीं चाहिए, न लकड़ी से, न नाखुन से। जो दीक्षित होता है वह गर्भ हो जाता है। गर्भ को यदि कोई नाखुन से या लकड़ी से खुजलावे तो वह बाहर निकलकर मर जायगा। इससे दीक्षित पुरुष को खुजली हो जायगी और उसके बाद उसकी जो सन्तान (रेत का अर्थ यहाँ सन्तान है) होगी वह भी खुजलीवाली पैदा होगी। अपनी ही योनि अपनी सन्तान को हानि नहीं पहुँचाती। और यह जो कृष्णमृग का सींग है यह उसकी योनि है। इसलिए वह उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए दीक्षित को चाहिए कि कृष्णमृग के सींग से ही खुजलावे। कृष्णमृग के सींग के सिवाय किसी अन्य चीज से न खुजलावे।।३१।।

अब (अध्वर्यु) उसको दण्ड (डण्डा) देता है। राक्षसों को दूर करने के लिए, क्योंकि डण्डा वज्र है।।३२।।

यह उदुम्बर का होता है। तेज और अन्न की प्राप्ति के लिए, क्योंकि उदुम्बर अन्न और तेज है। इसलिए डण्डा उदुम्बर लकड़ी का होता है।।३३।।

यह डण्डा उसके मुख तक पहुँचना चाहिए। उतना ही उसका वीर्य (बल) होता है। जो डण्डा मुख तक पहुँचता है वह उसके वीर्य (पराक्रम की शक्ति) के बराबर होता है।।३४।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर उसको खड़ा करता है—"उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्य्ँहसऽआस्य यज्ञस्योदृचः" (यजु० ४।१०)—"हे डण्डे, तू खड़ा हो। इस यज्ञ के अन्त तक पहुँचने के लिए मुझे पाप से बचा।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ की समाप्ति तक खड़ा होकर मेरी रक्षा कर।।३५।।

इसी अवसर पर कुछ लोग अँगुलियों को चटखाते और वाणी को बोलते हैं, क्योंकि अब इसके पीछे कुछ भी न बोल सकेगा। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि अगर कोई भाग जाय और दूसरा उसको पकड़ने दौड़े और न पकड़ पावे, इस प्रकार यहाँ वह यज्ञ को नहीं पकड़ पावेगा। इसलिए उसी (पहले कहे अवसर पर) अँगुलियों को चटखावे और वाणी को बोले।।३६।।

जब दीक्षित पुरुष (वाणी को रोकने के पश्चात्) या तो कोई ऋचा बोले, या साम या यजुः, तो वह यज्ञ को स्थिर बनाता है। इसलिए उसी अवसर पर अँगुलियों को चटखाता और वाणी को रोकता है।।३७।।

और जब वह वाणी को रोकता है तो मानो यज्ञ को उसी के आत्मा में स्थापित करता है क्योंकि वाणी यज्ञ है। परन्तु जब वाणी को रोककर उससे यज्ञ से इतर कोई बात कहता है तो यज्ञ छूटकर भाग जाता है। उस समय विष्णु-सम्बन्धी ऋचा या यजुः का पाठ करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार वह फिर यज्ञ को प्राप्त कर लेता है। यही उस भूल का प्रायश्चित्त है।।३८।।

इस पर कोई पुकारता है, 'यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया, यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया।' इस प्रकार घोषित करके वह इसको देवताओं के प्रति घोषित करता है, 'यह महावीर्य है। इसने यज्ञ को पा लिया। यह तुममें से एक हो गया। इसकी रक्षा कीजिए।' वह तीन बार कहता है क्योंकि यज्ञ तीन भागों वाला है।।३९।।

उसे अब तक 'ब्राह्मण' कहते हैं। उसका ब्राह्मण होना अनिश्चित है, क्योंकि ऐसा

अनड्ढेव वाऽअस्यातः पुरा ज्ञानं भवतीदꣳ ह्याह रक्षाꣳसि योषितमनुसचन्ते तदुत
रक्षाꣳस्येव रेत आदधतीत्यथात्राद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज्जायते तस्माद्-
पि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद्ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते
तस्मादाहुर्न सवनकृतꣳ हन्यादेनस्वी हैव सवनकृतेति ॥४०॥ ब्राह्मणम् ॥५
[२.१]॥ ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२४ ॥ ॥

वाचं यच्छति । स वाचंयम आस्तऽआस्तमयात्तद्यद्वाचं यच्छति ॥१॥ यज्ञेन वै
देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारो-
ह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपे-
न योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥२॥ तद्वाऽऋषीणा-
मनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति
यो दीक्षते वाग्वै यज्ञः ॥३॥ तामस्तमिते वाचं विसृजते । संवत्सरो वै प्रजाप-
तिः प्रजापतिर्यज्ञोऽहोरात्रे वै संवत्सर एते ह्येनं परिप्लवमाने कुरुतः सोऽह्न-
दीक्षित स रात्रिं प्रापत्स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतदाप्त्वा वाचं
विसृजते ॥४॥ तद्धैके । नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयन्त्यत्रानुष्यास्तमितो भवतीति
वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात्स्वा ते स्युर्यन्मेघः स्यात्तस्माद्यत्रैवानुष्यास्तमितं मन्येत
तदेव वाचं विसर्जयेत् ॥५॥ अनेनो हैके वाचं विसर्जयन्ति । भूर्भुवः स्वरिति
यज्ञमाप्याययामो यज्ञꣳ संदध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्न ह स यज्ञमाप्याय-
यति न संदधाति य एतेन वाचं विसर्जयति ॥६॥ अनेनैव वाचं विसर्जयेत् ।
व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इत्येष ह्यस्यात्र यज्ञो भ-
वत्येतद्धविर्यथा पुराग्निहोत्रं तद्यज्ञेनैवैतद्यज्ञꣳ सम्भृत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति य-
ज्ञेन यज्ञꣳ संतनोति संततꣳ ह्येवास्यैतद्व्रतं भवत्या सुत्यायै त्रिष्कृत्व आह त्रिवृ-
द्धि यज्ञः ॥७॥ अथाग्निमभ्यावृत्य वाचं विसृजते । न ह स यज्ञमाप्याययति न सं-

कहा जाता है कि राक्षस लोग स्त्रियों के पीछे घूमा करते हैं और उनमें अपना वीर्य स्थापित कर देते हैं। इसलिए सच्चा ब्राह्मण वही है जो यज्ञ से उत्पन्न होता है। इसलिए क्षत्रिय या वैश्य को भी ब्राह्मण कहना चाहिए, क्योंकि जो यज्ञ से उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण ही है। इसलिए कहते हैं कि यज्ञ करनेवाले को कभी न मारे। ऐसा करना महापाप है ॥४०॥

अध्याय २—ब्राह्मण २

वह बोलता नहीं। सूर्यास्त तक मौन रखता है। न बोलने का कारण यह है ॥१॥

देवों को जो महत्ता प्राप्त है वह उनको यज्ञ से मिली है। उन्होंने कहा, 'कौन-सी विधि हो कि जो लोक हमको प्राप्त हैं उसे मनुष्य न ले सकें?' उन्होंने यज्ञ के रस को इस प्रकार चूस लिया जैसे मधुमक्खी शहद को चूसती है, और चूसे हुए यज्ञ के फोक को यूप के पास फैलाकर छिप गये। यूप को यूप इसलिए कहते हैं कि इसके पास उन्होंने यज्ञ को बिखेर दिया (अयोपयन्) ॥२॥

ऋषियों ने इस बात को सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। जैसे वह यज्ञ इकट्ठा किया गया, इसी प्रकार जो पुरुष दीक्षित हो जाता है वह भी यज्ञ को इकट्ठा करता है। वाणी ही यज्ञ है ॥३॥

सूर्य के अस्त होने पर मौन तोड़ता है। प्रजापति सम्वत्सर है। प्रजापति यज्ञ है। रात-दिन सम्वत्सर हैं, क्योंकि दोनों घूम-फिरकर सम्वत्सर बनाते हैं। वह दिन में दीक्षित हुआ और अब उसने रात प्राप्त कर ली। जितना यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है उतना ही प्राप्त करके वह मौन को तोड़ता है ॥४॥

कुछ लोगों की राय है कि जब तारा दीख जाय तो मौन तोड़ दे, क्योंकि तभी सूर्य अस्त हुआ समझा जाता है। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि यदि बादल हो तो कैसा होगा? इसलिए जब समझे कि सूर्य अस्त हो गया तभी मौन तोड़ दे ॥५॥

कुछ लोग 'भूर्भुवः स्वः' कहकर मौन तोड़ते हैं। क्योंकि इस प्रकार यज्ञ में बल आ जाता है, यज्ञ चंगा हो जाता है। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि ऐसा करने से न तो यज्ञ में बल आता है न वह चंगा ही होता है ॥६॥

इस मन्त्र से मौन तोड़े—"व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः" (यजु० ४।२१)—"व्रत (व्रत का भोजन) करो क्योंकि अग्नि ब्रह्म है, अग्नि यज्ञ है, वनस्पति यज्ञ के लिए है।" यही उसका इस समय का यज्ञ है। यही हवि है जैसे पहले अग्निहोत्र था। इस प्रकार यज्ञ से यज्ञ को पुष्ट करता है, यज्ञ में यज्ञ की प्रतिष्ठा करता है, यज्ञ से यज्ञ को तानता है। क्योंकि यह व्रत का भोजन सोम खींचने तक काम देता है। वह 'व्रत कृणुत' को तीन बार दुहराता है क्योंकि यह यज्ञ तीन भागोंवाला है ॥७॥

वह अग्नि की ओर घूमकर मौन तोड़ता है। जो और कुछ पढ़कर मौन तोड़ता है वह न

दधाति योऽतोऽन्येन वाचं विसृजते स प्रथमं व्याहरन्त्सत्यं वाचोऽभिव्याहरति
॥८॥ अग्निर्ब्रह्मेति । अग्निर्ह्येव ब्रह्माग्निर्यज्ञ इत्यग्निर्ह्येव यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इ-
ति वनस्पतयो हि यज्ञिया न हि मनुष्या यजेरन्यद्वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह
वनस्पतिर्यज्ञिय इति ॥९॥ अथास्मै व्रतꣳ प्रयच्छन्ति । देवान्वाऽएष उपावर्तते
यो दीक्षते स देवतानामेको भवति शृतं वै देवानाꣳ हविर्नाशृतं तस्माच्छ्रपयन्ति
तदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति तद्यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति ॥१०॥
यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यै-
रनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य
यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥११॥ तद्वा
ऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एष वाऽअत्र यज्ञो
भवति यो दीक्षतऽएष ह्येनं तनुतऽएष एनं जनयति तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धी-
तं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति न ह्याप्या-
ययेद्यदग्नौ जुहुयाज्जुहुद्ध हैव मन्येत नाजुह्वत् ॥१२॥ इमे वै प्राणाः । मनोजा-
ता मनोयुजो दक्षक्रतवो वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं
विश्वे देवा एतासु हैवास्यैतद्देवतासु हुतं भवति ॥१३॥ तद्धैके । प्रथमे व्रतऽउ-
भौ व्रीहियवावावपन्त्युभाभ्याꣳ रसाभ्यां यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तत्पुन-
राप्याययाम इति वदन्तो यद्यु व्रतदुघा न दुहीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं
कुर्यादेतद्ध ह्येवास्यैताऽउभौ व्रीहियवावन्वारब्धौ भवत इति तद्ध तथा न कुर्यान्न
ह स यज्ञमाप्याययति न संदधाति य उभौ व्रीहियवावावपति तस्मादन्यतरमेवा-
वपेद्धविर्वाऽअस्यैताऽउभौ व्रीहियवौ भवतः स यदेवास्यैतौ हविर्भवतस्तदेवास्यै-
तावन्वारब्धौ भवतो यद्यु व्रतदुघा न दुहीत यस्यैवातः कामयेत तस्य व्रतं कु-
र्यात् ॥१४॥ तद्धैके । प्रथमे व्रते सर्वौषधꣳ सर्वसुरभ्यावपन्ति यदि दीक्षितमार्ति-

यज्ञ को प्रबल बनाता है और न यज्ञ को चंगा करता है। पहला वाक् बोलकर वह सच बोलता है ॥८॥

वह कहता है—'अग्निर्ब्रह्म' क्योंकि अग्नि ही ब्रह्म है। 'अग्निर्यज्ञः' क्योंकि अग्नि ही यज्ञ है। 'वनस्पतिर्यज्ञियः' क्योंकि वनस्पतियाँ ही यज्ञ है। यदि वनस्पतियाँ न हों तो मनुष्य यज्ञ कैसे करें ? इसलिए कहा, 'वनस्पतिर्यज्ञियः' ॥९॥

अब वह उसके लिए 'व्रत के भोजन' को पकाते हैं। जो दीक्षित होता है वह देवों के समीप हो जाता है, देवों में से एक हो जाता है। देवों का खाना पका होना चाहिए, न कि बे-पका। इसलिए पकाते हैं। वह इस दूध (व्रत-भोजन) को पीता है, आहुति नहीं देता। वह स्वयं खा लेता है, और आहुति क्यों नहीं देता इसका कारण यह है—॥१०॥

देवों को जो विजय प्राप्त है वह उन्होंने यज्ञ के द्वारा प्राप्त की है। उन्होंने कहा कि कौन-सी विधि हो कि इसको मनुष्य न पा जायें ? उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे शहद की मक्खियाँ शहद को, और बचे हुए यज्ञ के फोक को यूप के द्वारा बिखेरकर छुप गये। चूँकि इसके द्वारा यज्ञ के फोक को बिखेरा (अयोपयन्), इसलिए इसका यूप नाम पड़ा ॥११॥

इसको ऋषियों ने सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। जैसे वह यज्ञ इकट्ठा किया गया, उसी प्रकार वह जो दीक्षित होता है यज्ञ ही हो जाता है, क्योंकि यही उसको तानता है और उत्पन्न करता है। यज्ञ का रस चूस लिया गया था, उस रस से वह फिर यज्ञ को युक्त कर देता है जब वह व्रत-भोजन (दूध) को पीता है और आहुतियाँ नहीं देता। यदि वह इसकी आहुति देवे तो यज्ञ को इससे युक्त न कर सके। परन्तु उसको सोचना चाहिए कि मैं आहुति ही दे रहा हूँ न कि आहुति नहीं दे रहा ॥१२॥

यह प्राण (मनोजाता) मन से ही उत्पन्न हुए हैं। और (मनोयुजः) मन से युक्त और (दक्ष ऋतवः) ज्ञान से युक्त हैं। अग्नि वाणी है। मित्र और वरुण प्राण और उदान हैं। आदित्य चक्षु है और सब देव श्रोत्र हैं। इन्हीं देवताओं की वह आहुति देता है (दूध पान करना मानो इन देवताओं के लिए आहुति देना है) ॥१३॥

कुछ लोग पहले दिन के व्रत-भोज में चावल और जौ मिला लेते हैं। उनका कहना है कि यज्ञ का जो भाग चूस लिया गया, उसको हम इन दोनों पदार्थों के द्वारा फिर प्राप्त कराते हैं। और यदि व्रत की गाय दूध न दे तो इन्हीं पदार्थों से व्रत का भोजन बना ले। इस प्रकार चावल और जौ दोनों अन्वारब्ध हो जाते हैं। लेकिन ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि जो चावल और जौ दोनों मिलाता है वह न तो यज्ञ को रस से युक्त करता है न उसे चंगा करता है। इसलिए इनमें से एक ही मिलाना चाहिए। चावल और जौ (दर्शपूर्णमास में तो) हवि के काम में आते हैं। और उस समय उनका आरब्ध हो ही जाता है। यदि व्रत की गौ दूध न दे तो इन दोनों पदार्थों में से किसी एक से अपनी इच्छानुसार व्रत-भोज बना ले ॥१४॥

कुछ लोग प्रथम दिवस के व्रत-भोज में सब औषध और सब सुगन्धित पदार्थ मिला लेते

विन्देद्येनैवातः कामयेत तेन भिषज्येद्यथा व्रतेन भिषज्येदिति तद्व तथा न कुर्यान्मानुषꣳ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति यदि दीक्षितमार्तिर्विन्देद्येनैवातः कामयेत तेन भिषज्येत्समाप्तिर्ह्येव पुण्या ॥१५॥ अथास्मै व्रतं प्रयच्छति । अतिनीय मानुषं कालꣳ सायंदुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमपराह्णे व्याकृत्याऽएव दैवं चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति ॥१६॥ अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्नप उपस्पर्शयति । देवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नोऽअसद्वशेऽइति मानुषाय वाऽएष पुराशनायावनेनिक्तेऽथात्र दैव्यै धिये तस्मादाह देवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नोऽअसद्वशेऽइति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत् ॥१७॥ अथ व्रतं व्रतयति । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥१८॥ अथ व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशते । श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवत्यनुत्सिक्तं वै देवानाꣳ हविरथैतद्व्रतप्रदो मिथ्य करोति व्रतमुपोत्सिञ्चन्व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत्कस्तद्वेद यद्व्रतप्रदो व्रतमुपोत्सिञ्चेत् ॥१९॥ अथ यत्र मेक्ष्यन्भवति । तत्कृष्णविषाणया लोष्टं वा किंचिद्वोपहन्तीयं ते यज्ञिया तनूरितीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिक्ष्या तस्या एतदुद्धृत्येव यज्ञियां तनूमथायज्ञियꣳ शरीरमभिमेहत्यपो मुञ्चामि न प्रजामित्युभयं वाऽअत

हैं कि यदि दीक्षित पुरुष को कोई रोग हो जाय तो जिस पदार्थ की इच्छा हो उसके द्वारा चंगा हो जाय, जैसे व्रत-भोज से चंगा हो जाता है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि यह अशुभ है। यह मानुषी प्रवृत्ति है, और जो मानुषी है वह यज्ञ के लिए अशुभ होती है। यदि दीक्षित पुरुष को रोग हो जाय तो वह जिससे चाहे उससे अपने को चंगा कर सकता है। पूर्णता होनी चाहिए (अर्थात् रोग की अवस्था में जो उपचार हो उसको यज्ञ का अंश क्यों बनाया जाय) ॥१५॥

मानुषी काल को बिताने के पश्चात् अध्वर्यु उसे व्रत-भोज देता है—शाम का दूध रात के पिछले पहर में और प्रातः का दूध दोपहर के बाद। यह व्याकृति (Distinction) के लिए। इस प्रकार वह दैवी कार्य को मानुषी कार्य से अलग करता है ॥१६॥

जब वह उसको व्रत-भोज देता है तो उससे जल छुआता है इस मन्त्र को पढ़कर—"दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसँ सुतीर्था नोऽअसद्वशे" (यजु० ४।११) "अपने सुख की पूर्ति के लिए हम सुख देनेवाली, ब्रह्मवर्चस् को बढ़ानेवाली, यज्ञ को धारण करनेवाली दैवी बुद्धि को चाहते हैं। वह हमारे लिए सुतीर्थ और वश में रहनेवाली हो जाय।" इससे पहले वह मानुषी भोजन के लिए अपने-आपको पवित्र बनाता था, अब दैवी भोजन के लिए, इसीलिए यह ऊपर का मन्त्र पढ़ता है। जब-जब व्रत-भोज ग्रहण करने के लिए वह कोई विधि करे तो यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१७॥

अब वह व्रत-भोज को इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा" (यजु० ४।११)—"जो मनोजाता, मनोयुजः और दक्षक्रतु देव हैं, वे हमारी रक्षा करें, हमको सुरक्षित रखें। उनके लिए स्वाहा।" इस प्रकार ग्रहण किया हुआ व्रत-भोज वषट्कार की आहुति के समान हो जाता है ॥१८॥

व्रत-भोज को ग्रहण करने के अनन्तर वह नाभि को इस मन्त्र से छूता है—"श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः। ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः" (यजु० ४।१२)—"हे जलो, जो तुम पिये गये हो वह हमारे पेट में जाकर अच्छी सेवा करनेवाले होओ। ये पवित्र दिव्य और अमृतरूपी जल हमको नीरोग और बलिष्ठ करें।" जो दीक्षित होता है वह देवों के समीप हो जाता है और देवों में से एक हो जाता है। देवों की हवि किसी बाह्य वस्तु से मिली नहीं होती। अब यदि व्रत-भोज में कुछ मिल जाय तो ऐसा समझना चाहिए मानो देवों की हवि मिलावट कर दी गई। इस पाप का यह प्रायश्चित्त है जो ऊपर का मन्त्र पढ़ा गया (अर्थात् यजु० ४।१२), क्योंकि सम्भव है कि व्रत-भोज बनाने में कुछ मिलावट हो गई हो। जब व्रत-भोज पीने के पश्चात् नाभि-स्पर्श करे तो इस मन्त्र को पढ़कर करना चाहिए ॥१९॥

जब पेशाब करे तो काले मृग के सींग से मिट्टी का ढेला उठावे और पढ़े—"इयं ते यज्ञिया तनूः" (यजु० ४।१३)—"यह तेरा यज्ञ-सम्बन्धी शरीर है।" क्योंकि यह पृथिवी देवी है और यज्ञ की स्थली है। दीक्षित को चाहिए कि इसे दूषित न करे। उस (पृथिवी) के इस यज्ञ-सम्बन्धी शरीर को (अर्थात् ढेले को) उठाकर इस अ-यज्ञ-सम्बन्धी शरीर द्वारा लघुशंका से अपने को पवित्र करता है यह कहकर—"अपो मुंचामि न प्रजाम्" (यजु०४।१३)—"जलों को छोड़ता हूँ, न कि सन्तान को।" इस स्थान से दोनों निकलते हैं, जल भी और वीर्य भी। यहाँ वह जल को

एत्यापश्च रेतश्च स एतदप एव मुञ्चति न प्रजामꣳहोमुचः स्वाहाकृता इत्यꣳहस इव ह्येता मुञ्चन्ति यद्दूरे गुष्टितं भवति तस्मादाहाꣳहोमुच इति स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशतेत्याहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवीमाविशतेत्येवैतदाह ॥२०॥ अथ पुनर्लोष्टं न्यस्यति । पृथिव्या सम्भवेतीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिद्ध्या तस्या एतद्धृह्येव यज्ञियां तनूमथायज्ञियꣳ शरीरमभ्यमिदन्तामेवा-स्यामेतत्पुनर्यज्ञियां तनूं दधाति तस्मादाह पृथिव्या सम्भवेति ॥२१॥ अथाग्नये प-रिदाय स्वपिति । देवान्वाऽएष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः स्वपन्त्यनवरुद्धो वाऽएतस्यास्वप्नो भवत्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्त-स्माऽएवैतत्परिदाय स्वपित्यग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहीत्यग्ने त्वं जा-गृहि वयꣳ स्वप्स्याम इत्येवैतदाह रक्षा णोऽअप्रयुच्छन्निति गोपाय नोऽप्रमत्त इ-त्येवैतदाह प्रबुधे नः पुनस्कृधीति यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुध्यामहाऽएवं नः कु-र्वित्येवैतदाह ॥२२॥ अथ यत्रऽसुप्त्वा पुनर्नावद्रास्यन्भवति । तद्वाचयति पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्नि-ति सर्वे ह वाऽएते स्वपतोऽपक्रामन्ति प्राण एव न तैरेवैतत्सुप्त्वा पुनः संगच्छते तस्मादाह पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यादिति त-द्यदेवात्र स्वप्नेन वा येन वा मिथ्याकर्म तस्मान्नः सर्वस्मादग्निर्गोपायत्वित्येवैतदाह तस्मादाह वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यादिति ॥२३॥ अथ यद्दीक्षितः । अव्रत्यं वा व्याहरति क्रुध्यति वा तन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमीणात्य-क्रोधो ह्येव दीक्षितस्याग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तमेवैतदुपधावति त्वमग्ने व्रतपा अ-सि देवऽआ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञष्वीड्यऽइति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह त्वमग्ने व्रतपा असि देवऽआ म-

छोड़ता है, न कि प्रजा को। अब कहता है—"अँहोमुचः स्वाहाकृताः" (यजु० ४।१३)—अर्थात् "(यह जल) कष्ट को दूर करनेवाले और स्वाहा से पवित्र किये गये हैं" अर्थात् पहले दूध के रूप में पान किये गये थे। क्योंकि उदर में जो कष्ट-युक्त जल (मूत्र) होता है उसको दूर करते हैं। अब कहता है—"पृथिवीमाविशत" (यजु० ४।१३)—"पृथिवी में प्रवेश करो" (मूत्र को सम्बोधन करके)। अर्थात् यह कहता है कि 'आहुति बनकर शान्त होकर पृथिवी में प्रवेश करे' ॥२०॥

अब फिर ढेले को फेंक देता है यह कहकर—"पृथिव्या संभव" (यजु० ४।१३)—"पृथिवी से मिल जा।" यह पृथिवी देवी और यज्ञ की स्थली है। दीक्षित को चाहिए कि उसे मूत्र से अपवित्र न करे। उसके इस यज्ञ-सम्बन्धी शरीर को उठाकर उस अ-यज्ञ-सम्बन्धी शरीर में मूत्र छोड़ा। अब उसको फिर यज्ञ-सम्बन्धी शरीर में रख देता है। इसलिए कहता है—"पृथिव्या संभव" (यजु० ४।१३)—"पृथिवी में मिल जा" ॥२१॥

अब अपने-आपको अग्नि के सुपुर्द करके सो रहता है। जो दीक्षित होता है वह देवों के समीप खिंच आता है। वह देवों में एक हो जाता है। देव तो सोते नहीं। परन्तु वह सोये बिना रह नहीं सकता। अग्नि देवों में व्रतपति है। इसलिए वह अपने को अग्नि के समर्पण करके सोता है यह पढ़कर—"अग्ने त्वँ सु जागृहि वयँ सु मन्दिषीमहि" (यजु० ४।१४)—"हे अग्नि! तू जाग और हम भली-भाँति आराम कर लें।" अर्थात् वह अग्नि से कहता है कि तू जाग और हम सोवें। फिर वह कहता है—"रक्षा णोऽअप्रयुच्छन्" (यजु० ४।१४)—"हमारी निरन्तर रक्षा कर।" अर्थात् प्रमादरहित होकर रक्षा कर। "प्रबुधे नः पुनस्कृधि" (यजु० ४।१४)—"हम अच्छी तरह जागें।" अर्थात् हमको इस योग्य बना कि हम जब जागें तो स्वस्थ हों ॥२२॥

अब सो चुकने के पश्चात् फिर उसे आलस्य न आ जाय, इसलिए (अध्वर्यु) उससे यह मन्त्र बुलवाता है—"पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्" (यजु० ४।१५)—"मेरा मन फिर आ गया। मेरी आयु फिर आ गई। मेरे प्राण फिर आ गये। मेरा आत्मा फिर आ गया। मेरी आँख फिर आ गई। मेरे कान फिर आ गये।" सोनेवाले के ये सब उससे दूर हो जाते हैं; केवल प्राण रह जाता है। इसलिए कहा—"पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽ-अदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्" (यजु० ४।१५)—"वैश्वानर अर्थात् सब पुरुषों का हितकारक और 'अदब्ध' अर्थात् किसी से न सताया हुआ अग्नि हमको निन्दित (नाम न लेने योग्य) पाप से बचावे।" उसके कहने का तात्पर्य यह है कि जो सोने में या अन्यथा पाप हो सकते हों उनसे ईश्वर हमारी रक्षा करे। इसलिए यह मन्त्र पढ़ता है, "पुनर्मनः···दुरितादवद्यात् (यजु० ४।१५) ॥२३॥

जो पुरुष दीक्षित हुआ है वह यदि व्रत के विरुद्ध आचरण करता है या क्रोध करता है तो वह पाप करता है और व्रत को भंग कर देता है। दीक्षित पुरुष को क्रोध नहीं करना चाहिए। अग्नि देवों का व्रतपति है। इसलिए उसी का आश्रय लेता है यह मन्त्र पढ़कर—"त्वमग्ने व्रत-पाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः" (यजु० ४।१६)—"हे अग्निदेव! आप व्रत के पालने-वाले हैं, मनुष्यों के बीच में। आप यज्ञों में प्रशंसा के योग्य हैं।" यह उस पाप का प्रायश्चित्त है। ऐसा पढ़ने से वह यह दोष नहीं करता और न उसका व्रत भंग होता है। इसलिए वह कहता है

त्वेष्ठा । त्वं यज्ञघोढ इति ॥२४॥ अथ यद्दीक्षितायाभिहरन्ति । तस्मिन्वाचयति हास्त्वेयत्सोमा भूयो भरेति सोमो ह वाऽअस्माऽएतद्धुते यद्दीक्षितायाभिहरन्ति स यदाह हास्त्वेयत्सोमेति ह्रस्व न इयत्सोमेत्येवैतदाहा भूयो भरेत्या नो भूयो हरेत्येवैतदाह देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदादिति तथो हास्माऽएतत्सवितृप्रसूतमेव दानाय भवति ॥२५॥ पुरास्तमयादाह । दीक्षित वाचं यच्छेति तामस्तमिते वाचं विसृजते पुरोदयादाह दीक्षित वाचं यच्छेति तामुदिते वाचं विसृजते संतत्याऽएवाहरेवैतद्रात्र्या संतनोत्यह्ना रात्रिम् ॥२६॥ नैनमन्यत्र चरन्तमभ्यस्तमियात् । न स्वपन्तमभ्युदियात्स यदेनमन्यत्र चरन्तमभ्यस्तमियाद्रात्रेरेनं तदन्तरियाद्यत्स्वपन्तमभ्युदियादह्न एनं तदन्तरियान्नात्र प्रायश्चित्तिरस्ति प्रतिगुप्यमेवैतस्मात् न पुरावभृथादपोऽभ्यवेयान्नैनमभिवर्षेदनवक्लृप्तꣳ ह तद्यत्पुरावभृथादपोऽभ्यवेयाद्यद्वैनमभिवर्षेदथ परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृतां तद्यत्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताम् ॥२७॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥२८॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति यो दीक्षते वाग्वै यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति यत्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृतां न हाप्याययेद्यत्प्रसृतां मानुषीं वाचं वदेत्तस्मात्परिह्वालं वाचं वदति न मानुषीं प्रसृताꣳ ॥२९॥ स वै धीक्षते । वाचे हि धीक्षते यज्ञाय हि धीक्षते यज्ञो हि वाग्धीक्षितो ह वै नामैतद्यद्दीक्षित इति ॥३०॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२.२]॥ ॥

आदित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । देवा ह वाऽअस्यां यज्ञ तन्वाना इमां य-

"त्वमग्ने व्रतपा···यज्ञेष्वीड्यः" (यजु० ४।१६) ॥२४॥

अब लोग दीक्षित पुरुष के लिए जो भेंट देते हैं उस समय (अध्वर्यु) उससे यह जाप कराता है—"रास्वेयत् सोमा भूयो भर" (यजु० ४।१६)—"हे सोम ! इतने को दे, और अधिक को भरपूर कर।" जो भेंट लाई जाती है उसका सोम ही देनेवाला है, इसलिए कहता है "रास्वेयत् सोमा भूयो भर।" तात्पर्य यह है कि हे सोम ! इतना हमारे लिए दे और आगे के लिए अधिक ला। अब कहता है—"देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्" (यजु० ४।१६)—"धन के दाता सविता देव ने यह धन मुझे दिया।" इस प्रकार यह दान सविता से प्रेरित हुआ होता है ॥२५॥

सूर्यास्त से पहले (अध्वर्यु) कहता है, 'दीक्षित पुरुष, तू वाणी को रोक।' सूर्यास्त से पीछे वह वाणी को छोड़ देता है। सूर्योदय के पहले (अध्वर्यु) कहता है, 'दीक्षित पुरुष, तू वाणी को रोक।' सूर्योदय के पीछे वह वाणी को छोड़ देता है। यह वह सिलसिला कायम रखने के लिए करता है। दिन का रात के साथ सिलसिला कायम करता है और रात का दिन के साथ ॥२६॥

ऐसा न हो कि वह (यज्ञशाला से) बाहर हो और सूर्य अस्त हो जाय, और न ऐसा हो कि वह सोता रहे और सूर्योदय हो जाय। यदि वह बाहर हो और सूर्यास्त हो जाय तो सूर्य उसके और रात के बीच में अन्तर डाल देगा, और अगर सूर्योदय के समय सोता रहेगा तो सूर्य उसके और दिन के बीच में अन्तर डाल देगा अर्थात् उसका सिलसिला (सन्तति) टूट जायगा। इसका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। इसलिए इससे बचा रहे। स्नान से पहले जलों में न जावे और न वर्षा में भीगे, क्योंकि स्नान से पहले जलों में प्रवेश करना या वर्षा में भीगना अनुचित है। रुक-रुककर बोलता है, मनुष्य की भाँति नहीं। रुक-रुककर क्यों बोलता है और मनुष्य की भाँति क्यों नहीं ? इसका कारण नीचे दिया है—॥२७॥

देवों ने उस विजय को जो उनको प्राप्त है यज्ञ के द्वारा ही प्राप्त किया। उन्होंने कहा—'यह जगत् ऐसा कैसे हो जिसमें मनुष्य न रह सकें ?' उन्होंने यज्ञ के रस को चूस लिया जैसे मधु-मक्खी शहद को। यज्ञ को दुहकर उसे यूप से तितर-बितर करके छिप गये। चूँकि यूप के द्वारा तितर-बितर किया इसलिए इसका नाम यूप पड़ा ॥२८॥

ऋषियों ने इसको सुना। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। जैसे यज्ञ इकट्ठा किया गया, उसी प्रकार जो दीक्षित होता है वह यज्ञ को इकट्ठा करता है, क्योंकि वाणी ही यज्ञ है। और यज्ञ का जो भाग चूस लिया गया उसको रुक-रुककर बोलकर फिर स्थापित कर देता है और मनुष्य के समान नहीं बोलता। यदि वह मनुष्य की भाँति जल्दी-जल्दी बोले तो उस भाग को स्थापित न कर सके। इसलिए वह मनुष्य की भाँति नहीं बोलता, किन्तु रुक-रुककर बोलता है ॥२९॥

अब वह 'धीक्षते' अर्थात् दीक्षा लेता है। वाणी के लिए दीक्षा लेता है। यज्ञ के लिए दीक्षा लेता है। वाणी ही यज्ञ है। 'धीक्षा' को ही 'दीक्षा' कहते हैं ॥३०॥

अध्याय २–ब्राह्मण ३

अदिति के लिए प्रायणीय चरु बनाता है। (यहाँ प्रायणीय-इष्टि का वर्णन है।) जब देव

ज्ञादन्तरीयुः सा हैषामियं यज्ञं मोक्ष्यां चकार कथं नु मयि यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरीयुरिति तꣳ ह यज्ञं न प्रजज्ञुः ॥१॥ ते होचुः । यन्न्वस्यामेव यज्ञमतꣳस्महि कथं नु नोऽमुहत्कथं न प्रजानीम इति ॥२॥ ते होचुः । अस्यामेव यज्ञं तन्वाना इमां यज्ञादन्तरगाम सा न इयमेव यज्ञममूमुहदिमामेवोपधावामेति ॥३॥ ते होचुः । यन्नु त्वय्येव यज्ञमतꣳस्महि कथं नु नोऽमुहत्कथं न प्रजानीम इति ॥४॥ सा होवाच । मय्येव यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरगात सा वोऽहमेव यज्ञममूमुहं भागं नु मे कल्पयताथ यज्ञं द्रक्ष्यथाथ प्रज्ञास्यथेति ॥५॥ तथेति देवा अब्रुवन् । तवैव प्रायणीयस्तवोदयनीय इति तस्मादेष आदित्य एव प्रायणीयो भवत्यादित्य उदयनीय इयꣳ ह्येवादितिस्ततो यज्ञमपश्यंस्तमतन्वत ॥६॥ स यदादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति । यज्ञस्यैव दृष्ट्यै यज्ञं दृष्ट्वा क्रीणानि तं तनवा इति तस्मादादित्यं चरुं प्रायणीयं निर्वपति तद्धि निरुप्तꣳ हविरासीदनिष्टा देवता ॥७॥ अथैभ्यः पथ्या स्वस्तिः प्रारोचत । तामयजन्वाग्वै पथ्या स्वस्तिर्वाग्यज्ञस्तद्यज्ञमपश्यंस्तमतन्वत ॥८॥ अथैभ्योऽग्निः प्रारोचत । तमयजन्त्स यदाग्नेयं यज्ञस्यासीत्तदपश्यन्यद्धि शुष्कं यज्ञस्य तदाग्नेयं तदपश्यंस्तदतन्वत ॥९॥ अथैभ्यः सोमः प्रारोचत । तमयजन्त्स यत्सौम्यं यज्ञस्यासीत्तदपश्यन्यद्ध्याऽआर्द्रं यज्ञस्य तत्सौम्यं तदपश्यंस्तदतन्वत ॥१०॥ अथैभ्यः सविता प्रारोचत । तमयजन्पशवो वै सविता पशवो यज्ञस्तद्यज्ञमपश्यंस्तमतन्वताथ यस्यै देवतायै हविर्निरुप्तमासीत्तामयजन् ॥११॥ ता वाऽएताः । पञ्च देवता यजति यो वै स यज्ञो मुग्ध आसीत्पाङ्क्तो वै स आसीत्तमेताभिः पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१२॥ ऋतवो मुग्धा आसन्पञ्च । तानेताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१३॥ दिशो मुग्धा आसन्पञ्च । ता एताभिरेव पञ्चभिर्देवताभिः प्राजानन् ॥१४॥ उदीचीमेव दिशम् । पथ्यया स्वस्त्या प्राजानंस्तस्मादत्रोत्तराहि वाग्वदति कुरुपञ्चालत्रा वाग्घ्येषा निदानेनोदीचीꣳ ह्ये-

इस पृथिवी पर यज्ञ रचाने लगे तो उन्होंने इस पृथिवी को ही यज्ञ से बहिष्कृत कर दिया। उस पृथिवी ने उनके इस यज्ञ को मोहित (गड़बड़) कर दिया। उसने कहा कि ये लोग मेरे ऊपर तो यज्ञ रचते हैं और मुझी को यज्ञ से बाहर निकाले देते हैं! उनको इस यज्ञ का प्रज्ञान न हुआ ॥१॥

उन्होंने कहा—'हमने जिस यज्ञ को इस पृथिवी में रचा, वह यज्ञ गड़बड़ कैसे हो गया? हमको इसका प्रज्ञान क्यों न हो सका?' ॥२॥

उन्होंने कहा—'हमने इसी पर यज्ञ रचा और इसी को यज्ञ से बाहर कर दिया। इसी ने यज्ञ को गड़बड़ा दिया। इसलिए इसी के पास चलें' ॥३॥

उन्होंने कहा—'जब हमने तेरे ही ऊपर यज्ञ रचा तो यह यज्ञ गड़बड़ा कैसे गया? हमको इस यज्ञ का प्रज्ञान कैसे न हो सका?' ॥४॥

उसने उत्तर दिया—'तुमने मेरे ही ऊपर यज्ञ रचा, मुझी को यज्ञ से बाहर कर दिया। मैंने ही यज्ञ को गड़बड़ा दिया। मेरा भाग निकाल दो। तब तुम यज्ञ को देखोगे, तभी तुमको इसका परिज्ञान होगा' ॥५॥

देवों ने कहा—'अच्छा ऐसा ही करेंगे। प्रायणीय और उदयनीय आहुतियाँ तेरी ही होंगी।' इसलिए प्रायणीय आहुति अदिति की होती है और उदयनीय भी अदिति की। यह पृथिवी ही अदिति है। तब उन्होंने यज्ञ को देखा और उसको रच डाला ॥६॥

वह जो अदिति के लिए प्रायणीय चरु बनाता है, वह यज्ञ के दर्शन के लिए। 'यज्ञ को देखकर मैं (सोम) को खरीदूँगा और यज्ञ को रचूँगा' ऐसा सोचकर वह अदिति के लिए प्रायणीय चरु तैयार करता है। हवि तो तैयार हो गई थी, परन्तु (अदिति) देवता के लिए दी नहीं गई थी ॥७॥

अब इनको पथ्य-स्वस्ति (मार्ग का कल्याण) मिली। उसके लिए इन्होंने आहुति दी। वाणी ही पथ्य-स्वस्ति है। वाणी ही यज्ञ है। इस प्रकार उन्होंने यज्ञ को देखा और उसको रचा ॥८॥

अब उनको अग्नि मिला। उसके लिए उन्होंने आहुति दी। अब उन्होंने यज्ञ के उस भाग को देखा जो अग्नि का भाग था। यज्ञ का जो शुष्क भाग है वह अग्नि का है। उसको उन्होंने देखा और रचा ॥९॥

अब इनको सोम मिला। उसके लिए उन्होंने आहुति दी। अब उन्होंने यज्ञ के उस भाग को देखा जो सोम का भाग था। यज्ञ का जो गीला भाग है वह सोम का भाग है। उसको उन्होंने देखा और रचा ॥१०॥

अब इनको सविता मिला। उसके लिए उन्होंने आहुति दी। पशु ही सविता है। पशु ही यज्ञ हैं। उस यज्ञ को उन्होंने देखा। उस यज्ञ को रचा। इस प्रकार जिस देवता के लिए हवि बनाई गई उसी के लिए दी गई ॥११॥

अब वह पाँच देवताओं को आहुति देता है। क्योंकि जब यह यज्ञ गड़बड़ाया गया तो इसके पाँच भाग हो गये। इन पाँच देवताओं के द्वारा उनको उनका ज्ञान हुआ ॥१२॥

ऋतुएँ भी गड़बड़ाकर पाँच हो गईं। इनको भी पाँच देवताओं के द्वारा जाना गया ॥१३॥

दिशाएँ भी गड़बड़ाकर पाँच हो गईं। इनको भी पाँच देवताओं के द्वारा पहचाना गया ॥१४॥

पथ्य-स्वस्ति के द्वारा उन्होंने उत्तर दिशा को पहचाना। इसलिए कुरु-पांचालों में वाणी ही उत्तर (उत्कृष्ट) होती है। यह (पथ्य-स्वस्ति) वाणी ही तो है। इसी के द्वारा उन्होंने उत्तर

तया दिशं प्राज्ञानन्नुदीची ह्येतस्यै दिक् ॥१५॥ प्राचीमेव दिशम् । अग्निना प्राज्ञानंस्तस्मादग्निं पश्चात्प्राञ्चमुद्धृत्योपासते प्राचीᳪ ह्येतेन दिशं प्राज्ञानन्प्राची ह्येतस्य दिक् ॥१६॥ दक्षिणामेव दिशᳪ । सोमेन प्राज्ञानंस्तस्मात्सोमं क्रीतं दक्षिणा परिवहन्ति तस्मादाहुः पितृदेवत्यः सोम इति दक्षिणाᳪ ह्येतेन दिशं प्राज्ञानन्दक्षिणा ह्येतस्य दिक् ॥१७॥ प्रतीचीमेव दिशᳪ । सवित्रा प्राज्ञानन्नेष वै सविता य एष तपति तस्मादेष प्रत्यङ्ङेति प्रतीचीᳪ ह्येतेन दिशं प्राज्ञानन्प्रतीची ह्येतस्य दिक् ॥१८॥ ऊर्ध्वामेव दिशम् । अदित्या प्राज्ञानन्नियं वाऽअदितिस्तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतय ऊर्ध्वाᳪ ह्येतया दिशं प्राज्ञानन्नूर्ध्वा ह्येतस्यै दिक् ॥१९॥ शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । बाहू प्रायणीयोदयनीयावभितो वै शिरो बाहू भवतस्तस्मादभित आतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च ॥२०॥ तदाहुः । यदेव प्रायणीये क्रियेत तदुदयनीये क्रियेत यदेव प्रायणीयस्य बर्हिर्भवति तदुदयनीयस्य बर्हिर्भवतीति तदपोद्धृत्य निदधाति ताᳪ स्थालीᳪ सक्षामकर्षी प्रमृज्य मेक्षणं निदधाति यऽएव प्रायणीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति तऽउदयनीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति तद्यदेतत्समानं यज्ञे क्रियते तेन बाहू सदृशौ तेन सरूपौ ॥२१॥ तदु तथा न कुर्यात् । काममेवैतद्बर्हिरनुप्रहरेदेवं मेक्षणं निर्णिज्य स्थालीं निदध्याद्यऽएव प्रायणीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति तऽउदयनीयस्यऽर्त्विजो भवन्ति यद्यु ते विप्रेताः स्युरप्यन्यऽएव स्युः स यद्वै समानीर्देवता यजति समानानि हवीᳪषि भवन्ति तेनैव बाहू सदृशौ तेन सरूपौ ॥२२॥ स वै पञ्च प्रायणीये देवता यजति । पञ्चोदयनीये तस्मात्पञ्चेत्थादङ्गुलयः पञ्चेत्थात्तद्धस्यूतं भवति न पत्नीः संयाजयन्ति पूर्वार्धं वाऽअन्वात्मनो बाहू पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभिसंस्करोति तस्माद्धस्यूतं भवति न पत्नीः संयाजयन्ति ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥२[२.३.]॥ ॥

दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा अकामयन्ता नः सोमो गच्छेते-

दिशा को पहचाना। इस (पथ्य-स्वस्ति) की दिशा उत्तर है ॥१५॥

पूर्व दिशा को अग्नि के द्वारा पहचाना। इसलिए अग्नि के पीछे से होकर पूर्व की ओर ले जाते हैं, और उसकी उपासना करते हैं। क्योंकि (अग्नि) के द्वारा उन्होंने पूर्व दिशा को पहचाना और पूर्व दिशा उसी की है ॥१६॥

दक्षिण दिशा को सोम के द्वारा पहचाना। इसलिए सोम-क्रय के पीछे उसको दक्षिण को ले जाते हैं। इसीलिए कहते हैं कि सोम पितृ-देव वाला है। उसी के द्वारा उन्होंने दक्षिण दिशा को पहचाना। दक्षिण दिशा इसी की है ॥१७॥

सविता के द्वारा उन्होंने पश्चिम दिशा को पहचाना। क्योंकि सविता तपता है, इसीलिए वह पश्चिम को जाता है। उसी के द्वारा उन्होंने पश्चिम को पहचाना। पश्चिम दिशा उसी की है ॥१८॥

अदिति के द्वारा उन्होंने ऊर्ध्व (ऊपर की) दिशा को पहचाना। यह (पृथिवी) ही अदिति है। इसलिए इस पृथिवी पर ओषधियाँ ऊपर को उगती हैं। उसी के द्वारा उन्होंने ऊपर की दिशा को पहचाना। ऊपर की दिशा उसी की है ॥१९॥

(सोम के प्रति) जो आतिथ्य किया जाता है वह यज्ञ का शिर है। प्रायणीय और उदयनीय (अर्थात् आरम्भ की और अन्त की क्रियाएँ) यज्ञ के बाहू हैं। बाहू शिर के दोनों ओर रहते हैं। इसलिए प्रायणीय और उदयनीय आतिथ्य के दोनों ओर होती हैं ॥२०॥

कुछ लोग कहते हैं कि जो कृत्य प्रायणीय में हो, वही उदयनीय में भी हो; जो प्रायणीय की बर्हि है वही उदयनीय की भी। वह इसको वहाँ से हटाकर अलग रख देता है। थाली को भुने हुए कर्ष के साथ और चमचे (मेक्षण) को माँजकर एक ओर रख देता है। जो प्रायणीय के ऋत्विज् होते हैं वही उदयनीय के भी होते हैं। ये यज्ञ में एक-से होते हैं। इसलिए एक-सा स्वरूप होने के कारण ये यज्ञ के बाहू कहलाते हैं ॥२१॥

परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। बर्हि को (आग में) डाल देना चाहिए और चमचे को भी, और थाली को माँजकर अलग रख देना चाहिए। जो प्रायणीय के ऋत्विज् हों वही उदयनीय के भी हों। यदि कोई मर जाय तो दूसरे नियत कर लिये जायँ। ये दोनों यज्ञ के बाहू इसलिए हैं कि इनके देवता एक ही हैं और आहुतियाँ एक ही। इस प्रकार इनका स्वरूप भी एक ही है ॥२२॥

प्रायणीय में पाँच देवताओं की आहुतियाँ दी जाती हैं, और उदयनीय में भी। इसलिए पाँच अँगुलियाँ यहाँ हैं और पाँच अँगुलियाँ वहाँ। प्रायणीय के अन्त में शम्यु होता है, पत्नी-संयाज नहीं होता। भुजाएँ शरीर का अगला भाग हैं। यह प्रायणीय भी यज्ञ का अगला भाग है। इसलिए इसके अन्त में शम्यु होता है, पत्नी-संयाज नहीं होता ॥२३॥

अध्याय २—ब्राह्मण ४

सोम द्यौलोक में था, और देव यहाँ (पृथिवी पर) थे। देवों ने चाहा कि सोम हमारे समीप

नागतेन यजेमहीति तऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्रा-
ह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकाद्रवं यथा तदास ॥१॥ तेभ्यो गायत्री सोममच्छाप-
तत् । तस्याऽआहरन्त्यै गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्ते देवा अविदुः प्रच्युतो वै
परस्तात्सोमोऽथ नो नागच्छति गन्धर्वा वै पर्यमोषिषुरिति ॥२॥ ते होचुः । यो-
षित्कामा वै गन्धर्वा वाचमेवैभ्यः प्रहिणवाम सा नः सह सोमेनागमिष्यतीति
तेभ्यो वाचं प्राहिणवन्त्सैनान्त्सह सोमेनागच्छत् ॥३॥ ते गन्धर्वा अन्वागत्याब्रु-
वन् । सोमो युष्माकं वागेवास्माकमिति तथेति देवा अब्रुवन्निहो चेदागान्मैना-
मभीषहेव नेष्ट विह्वयामहाऽइति तां व्यह्वयन्त ॥४॥ तस्यै गन्धर्वाः । वेदानेव
प्रोचिरऽइति वै वयं विद्मेति वयं विद्मेति ॥५॥ अथ देवाः । वीणामेव सृष्ट्वा
वादयन्तो निगायन्तो निषेदुरिति वै ते वयं गास्याम इति त्वा प्रमोदयिष्यामह
ऽइति सा देवानुपाववर्त सा वै सा तन्मोघमुपाववर्त या स्तुवद्भ्यः शꣳसद्भ्यो
नृत्तं गीतमुपाववर्त तस्मादप्येतर्हि मोघसꣳहिता एव योषा एवꣳ हि वागुपा-
वर्तत तामु ह्यन्या अनु योषास्तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता नि-
मिश्लतमा-इव ॥६॥ तद्वाऽएतदुभयं देवेष्वासीत् । सोमश्च वाक्च स यत्सोमं क्री-
णात्यागत्याऽएवागतेन यजाऽइत्यनागतेन ह वै स सोमेन यजते योऽक्रीतेन
यजते ॥७॥ अथ यद्ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वां चतुष्कृत्वो विगृह्णा-
ति बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति समानज-
न्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयꣳ ह्यग्निरेतसꣳ ॥८॥ स हिरण्यमवदधाति । एषा ते
शुक्र तनूरेतद्वर्च इति वर्चो वाऽएतद्यद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति स प्रदा-
ह तया सम्भवेति तया सम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं गच्छेति सोमो वै भ्राट् सोमं
गच्छेत्येवैतदाह ॥९॥ तां यथैवादो देवाः । प्राहिण्वन्त्सोममच्छैवमेवैनामेष एत-
त्प्रहिणोति सोममच्छ वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्या प्रीणाति प्री-

आ जाय तो उसके द्वारा यज्ञ करें। उन्होंने दो माया बनाईं, सुपर्णी और कद्रू। सुपर्णी और कद्रू की कथा धिष्ण्यों के ब्राह्मण में लिखी है ॥१॥

उनके लिए गायत्री सोम के पास उड़ गई। जब वह उसे ला रही थी तो गन्धर्व विश्वावसु ने उसको चुरा लिया। देवताओं ने जान लिया कि सोम अब द्यौलोक में नहीं है, गन्धर्वों ने इसे चुरा लिया है ॥२॥

उन्होंने कहा—'गन्धर्व लोगों को स्त्रियाँ प्रिय हैं। उनके पास वाणी भेज दें। वह सोम के साथ हमारे पास चली आवेगी।' उन्होंने वाणी को भेजा और वह सोम को लेकर चली आई ॥३॥

गन्धर्व उसके पीछे-पीछे आये और कहने लगे कि 'सोम तुम्हारा और वाणी हमारी।' देवों ने कहा 'अच्छा। परन्तु यदि वह यहाँ आना चाहे तो उसको बलात्कार से न ले जाओ। उसको राजी करो।' इस प्रकार उन्होंने उसको राजी करना चाहा ॥४॥

गन्धर्वों ने उसके लिए वेदों का पाठ किया और कहने लगे—'हम जानते हैं, हम जानते हैं' ॥५॥

तब देवों ने वीणा बनाई और बजा-बजाकर कहने लगे कि 'हम इस प्रकार बजायेंगे, हम इस प्रकार तुझे प्रसन्न करेंगे।' वह देवों के पास चली आई। परन्तु वह व्यर्थ ही आई क्योंकि जो लोग स्तुति और प्रार्थना करते थे (अर्थात् वेद-पाठी गन्धर्व) उनसे हटकर गाने-बजानेवालों के पास आ गई। इसीलिए स्त्रियाँ आज तक व्यर्थ बातों में फँसी रहती हैं। जैसे वाणी ने किया वैसे ही अन्य स्त्रियाँ भी करती हैं, और जो गाता-बजाता है उसी पर वे मोहित हो जाती हैं ॥६॥

इस प्रकार सोम और वाणी दोनों देवों को मिल गये। सोम को खरीदा इसलिए जाता है कि अपनी सम्पत्ति से यज्ञ किया जा सके। यदि बिना खरीदे सोम से यज्ञ किया तो मानो नाजायज सम्पत्ति से यज्ञ किया गया ॥७॥

ध्रुवा में जो घी बचा था, उसको चार भाग करके जुहू में डाल देता है, और बर्हि (कुशा) से सोने का टुकड़ा बाँधकर (जुहू में) रख देता है और आहुति देने में यह समझता है कि मैं शुद्ध घी से आहुति देता हूँ, क्योंकि घी और सोना दोनों समान-जन्मा है। दोनों की उत्पत्ति अग्नि के वीर्य से हुई ॥८॥

सोने के टुकड़े को रखने में यह मन्त्र पढ़ता है—"एषा ते शुक्र तनूरेतद् वर्चः" (यजु० ४।१७)—"हे चमकनेवाले शुक्र या अग्नि ! यह (घी) तेरा शरीर है, यह (सोना) तेरी ज्योति है।" हिरण्य यानी सोना वस्तुतः ज्योति ही है। अब कहता है—"तया सम्भव भ्राजं गच्छ" (यजु० ४।१७)—"उससे मिल और ज्योति को प्राप्त कर।" 'उससे मिल' का अर्थ है 'उसके साथ संयुक्त हो जाय', 'ज्योति को प्राप्त कर' का अर्थ है 'सोम को प्राप्त कर', क्योंकि 'भ्राजं' या 'ज्योति' का अर्थ है 'सोम' ॥९॥

जिस प्रकार देवों ने वाणी को सोम के पास भेजा था, इसी प्रकार इसको भी वह सोम के पास भेजता है। वाणी ही सोम-क्रय करनेवाली है। इस आहुति से वह इसी को प्रसन्न करता है

तथा सोमं क्रीणानीति ॥१०॥ स जुहोति । जूरसीत्येतद्ध वा अस्या एकं नाम यज्जूरसीति धृता मनसेति मनसा वाऽइयं वाग्धृता मनो वाऽइदं पुरस्ताद्वाच इत्थं वद मैतद्वादीरित्यलग्लमिव ह वै वाग्वदेद्यन्मनो न स्यात्तस्मादाह धृता मनसेति ॥११॥ जुष्टा विष्णवऽइति । जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह यमह्नेम इति तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवऽइति सत्यप्रसवा न एधि सोमं नोऽह्नेहीत्येवैतदाह तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहेति स ह वै तन्वो यन्त्रमश्नुते यो यज्ञस्योदृचं गच्छति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१२॥ अथ हिरण्यमपोद्धरति । तन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति स यत्सहिरण्यं जुहुयात्परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यात्तन्न मनुष्येषु हिरण्यमभिगम्येत ॥१३॥ सोऽपोद्धरति । शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसीति कृत्स्नेन पयसा हुत्वा यद्वैवैतत्तदाह शुक्रमसीति शुक्रꣳ ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रꣳ ह्येतदमृतमसीत्यमृतꣳ ह्येतद्वैश्वदेवमसीति वैश्वदेवꣳ ह्येतत्प्रमुच्य तृणं बर्हिष्यपिसृजति सूत्रेण हिरण्यं प्रबध्नाति ॥१४॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । अन्वारभस्व यजमानेत्याहापोर्णुवन्ति शालायै द्वारे दक्षिणतः सोमक्रयण्युपतिष्ठते तत्प्रक्तितामेवैनामेतत्सतीं प्राह्वैषीद्वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्याप्रैषीत्प्रीतया सोमं क्रीणानीति ॥१५॥ अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते । चिदसि मनासीति चित्तं वाऽइदं मनो वागनुवदति धीरसि दक्षिणेति धिया-धिया ह्येतया मनुष्या जुजूषत्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव तस्मादाह धीरसीति दक्षिणेति दक्षिणा ह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति क्षत्रिया ह्येषा यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति स यदेनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदति यदपरं तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वं तदपरं तेनोभयतःशीर्ष्णी तस्मादाहादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति ॥१६॥ सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति । सुप्राची न एधि सोमं नोऽह्नेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची त एधि सोमेन नः सह पुनरेह्येत्येवैतदाह तस्मादाह सा नः सुप्राची सुप्र-

कि इसको प्रसन्न करके ही सोम को क्रय करूँगा ।।१०।।

अब वह आहुति देता है इस मन्त्र से—"जूरसि" (यजु० ४।१७)—"तू स्तुति करनेवाला है।" 'जू' वाणी का एक नाम है। अब कहता है—"धृता मनसा" (यजु० ४।१७)—"मन से धारण की गई।" यह वाणी मन से धारण की जाती है क्योंकि पहले मन चलता है, और कहता है 'यह कह, यह मत कह।' यदि मन साथ न हो तो वाणी असंगत हो जाय, इसलिए वह कहता है 'मन से धारण की गई' ।।११।।

अब कहता है—"जुष्टा विष्णवे" (यजु० ४।१७)—"विष्णु के लिए प्रिय।" इसका तात्पर्य है 'सोम के लिए, जिसको हम प्राप्त हो रहे हैं।' अब कहता है—"तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवेः" (यजु० ४।१८)—"तुझ सत्य प्रेरणावाली की प्रेरणा के लिए।" अर्थात् तू सत्य प्रेरणावाली है। सोम के पास जा। अब कहता है—"तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा" (यजु० ४।१८)—"मैं अपने शरीर का बल प्राप्त करूँ।" जो यज्ञ की पूर्णता प्राप्त करता है वह शरीर का बल भी प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य है कि यज्ञ की पूर्णता प्राप्त करूँ ।।१२।।

अब वह सोने को (जुहू में से) निकालता है। इससे वह मनुष्यों को सोना देता है। यदि वह घी के साथ सोने की भी आहुति दे डाले तो मानो वह मनुष्यों से सोने को छीन ले अर्थात् मनुष्यों में सोना मिले ही नहीं ।।१३।।

वह इस मन्त्र को पढ़कर सोने को निकालता है—"शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि" (यजु० ४।१८)—"तू शुद्ध है, तू चमकदार है, तू सब देवों को प्रिय है।" सम्पूर्ण दूध से आहुति देकर जब कहता है कि 'तू शुक्र है' तो यह शुक्र ही है। 'तू चन्द्र है' कहता है तो यह चन्द्र ही है। 'तू अमृत है।' यह अमृत है ही। 'तू सब देवों को प्रिय है।' यह सब देवों को प्रिय है ही। अब तृण को खोलकर बर्हि के ऊपर डालता है और सूत्र के सोने को बाँधता है ।।१४।।

अब फिर घी के चार भाग करके कहता है—'यजमान, चलो।' वे शाला के (दक्षिण और पूर्व के) द्वार खोलते हैं (और बाहर आ जाते हैं)। द्वार की दाहिनी ओर सोम-क्रय करनेवाली (गाय) खड़ी होती है। उसको सामने करके मानो उसने गाय को सोम-प्राप्ति के लिए भेज दिया, क्योंकि सोम-क्रयणी गाय ही वाणी है। इस आहुति से उसने इसी को प्रसन्न किया है, इस आशा से कि जब यह प्रसन्न हो जायगी तो मैं इससे सोम खरीद सकूँगा ।।१५।।

अब उसके पास जाकर अभिवादन करता है, यह मन्त्र पढ़कर—"चिदसि मनोसि" (यजु० ४।१९)—"तू चित् है, तू मन है।" वाणी चित् और मन की अनुगामिनी है। अब कहता है—"धीरसि दक्षिणासि" (यजु० ४।१९)—"तू बुद्धि है, तू दक्षिणा है।" बुद्धि से ही लोग जीविका कमाते हैं, वेदपाठ से या बातचीत करके या कथा कहकर। इसलिए कहा कि 'तू धी है।' उसको 'दक्षिणा' कहता है क्योंकि वह 'दक्षिणा' है ही। "क्षत्रियासि यज्ञियासि" (यजु० ४।१९)—"तू श्रेष्ठ है, तू पूज्या है।" वस्तुतः वह श्रेष्ठ और पूज्या है। "अदितिरसि उभयतः शीर्ष्णी" (यजु० ४।१९)—"तू दो सिरवाली अदिति है।" क्योंकि वाणी से ही वह ठीक को बेठीक कहता है, पीछे को पहले कहता है। इसीलिए कहा कि 'तू दो सिरवाली अदिति है' ।।१६।।

अब कहता है—"सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि" (यजु० ४।१९)—"वह हमारे लिए आगे और पीछे शुभ हो।" 'आगे शुभ हो' कहने से तात्पर्य है कि 'तू हमारे लिए सोम लाने के लिए आगे चल। और 'पीछे शुभ हो' से तात्पर्य है कि 'सोम के साथ लौट।' इसीलिए कहा कि 'तू

तीच्येधीति ॥१७॥ मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति । वरुण्या वाऽएषा यद्रज्जुः सा यद्रज्ज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यद्वनभिहिता स्याद्यतेव स्यादितद्वाऽअवरुण्यं यन्मैत्रꣳ सा यथा रज्ज्वाभिहिता यतैवमस्यै तद्भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति ॥१८॥ पूषाध्वनस्पात्विति । इयं वै पृथिवी पूषा यस्य वाऽइयमध्वन्गोप्त्री भवति तस्य न का चन ह्वला भवति तस्मादाह पूषाध्वनस्पात्विति ॥१९॥ इन्द्रायाध्यक्षायेति । स्वध्यक्षासदित्येवैतदाह यदाहेन्द्रायाध्यक्षायेत्यनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति सा यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहीत्येवैतदाह सा देवि देवमच्छेहीति देवी ह्येषा देवमच्छैति यद्वाक्सोमं तस्मादाह सा देवि देवमच्छेहीतीन्द्राय सोममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय सोममिति रुद्रस्त्वावर्तयत्वित्यप्रणाशायैतदाह रुद्रꣳ हि नाति पशवः स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवैतदाह ॥२०॥ तां यथैवादो देवाः । प्राहिण्वन्त्सोममच्छ सैनान्त्सह सोमेनागच्छदेवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ सैनꣳ सह सोमेनागच्छति ॥२१॥ तां यथैवादो देवाः । व्यह्वयन्त गन्धर्वैः सा देवानुपावर्ततैवमेवैनामेतद्यजमानो विह्वयते सा यजमानमुपावर्तते तामुदीचीमत्याकुर्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिक्सोऽएव यजमानस्य तस्मादुदीचीमत्याकुर्वन्ति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥३ [२.४]॥ द्वितीयोऽध्यायः [१७.]॥ ॥

सप्त पदान्यनुनिक्रामति । वृङ्क्तऽएवैनामेतत्तस्मात्सप्त पदान्यनुनिक्रामति यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दाꣳसि सप्तपदा वै तेषां परार्ध्या शक्वरी तामेवैतत्परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते तस्मात्सप्त पदान्यनुनिक्रामति ॥१॥ स वै वाच एव रूपेणानुनिक्रामति । वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासीति वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषादित्या ह्येषा रुद्रा ह्येषा चन्द्रा ह्येषा बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णात्विति ब्रह्म वै

आगे और पीछे शुभ हो' ॥१७॥

अब कहता है–"मित्रस्त्वा यदि बध्नीताम्" (यजु० ४।१९)–"मित्र तुझे पैर में बाँधे।" क्योंकि रस्सी वरुण की होती है। यदि वह रस्सी से बँधेगी तो वरुण की हो जायगी। और यदि बाँधी न जायगी तो वश में न रहेगी। जो मित्र की है वह वरुण की नहीं है। जैसे गाय रस्सी से बँधकर वश में रहती है इसी प्रकार यह है, इसलिए कहा कि 'मित्र तुझे पैर में बाँधे' ॥१८॥

अब कहता है—"पूषाऽध्वनस्पातु" (यजु० ४।१९)–"पूषा तेरे मार्ग की रक्षा करे।" पूषा यह पृथिवी है। पृथिवी जिसकी मार्ग में रक्षा करती है वह विचलित नहीं होता। इसलिए कहा–'पूषा तेरे मार्ग की रक्षा करे' ॥१९॥

अब कहता है—"इन्द्राय अध्यक्षाय" (यजु० ४।१९)–"अध्यक्ष इन्द्र के लिए।" इसका अर्थ यह है कि 'वह सुरक्षित रहे।' अब कहता है–"अनु त्वा माता मन्यताम्, अनु पिता, अनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः" (यजु०४।२०)–"तुझे तेरी माता अनुमति दे, तेरा पिता, तेरा भ्राता, तेरा समूह में रहनेवाला सखा।" अर्थात् तेरे जो अपने सम्बन्धी हैं उनकी अनुमति से सोम को ला। अब कहता है–"सा देवि देवमच्छेहि" (यजु० ४।२०)–"देवि, तू देव के पास जा।" अर्थात् वाणी देवी है और सोम देव है। इसीलिये कहा कि 'देवि, तू देव के पास जा।' "इन्द्राय सोमम्" (यजु० ४।२०)–"इन्द्र के लिए सोम के पास जा।" इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसलिए कहा 'इन्द्र के लिए सोम के पास जा।' "रुद्रस्त्वावर्त्तयतु" (यजु० ४।२०)–"रुद्र तुझे सुरक्षित लौटा लावे।" यह उसकी रक्षा के लिए कहा, क्योंकि पशु रुद्र से आगे नहीं जा सकते। "स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि" (यजु० ४।२०)—"स्वस्ति हो। हे सोम-सखा, तू लौट आ।" इसका अर्थ है कि 'तू सोम लेकर वापस आ' ॥२०॥

जैसे पहले देवों ने उसको सोम के पास भेजा और वह सोम को लेकर वापस आ गई, इसी प्रकार वह सोम के पास जाती है और सोम लेकर वापस आ जाती है ॥२१॥

जैसे देवों ने गन्धर्वों के साथ उसका मोह न किया और वह देवों के पास आ गई, ऐसे ही यजमान उसको विह्वान करता है और वह यजमान के पास लौट आती है। वे उसको उत्तर की ओर ले जाते हैं। उत्तर मनुष्यों की दिशा है इसलिए यह यजमान की भी दिशा है। इसलिए वे उसे उत्तर की दिशा में ले जाते हैं ॥२२॥

अध्याय ३—ब्राह्मण १

उस (सोम-गौ) के पीछे सात पग चलता है। सात पग चलने का तात्पर्य यह है कि वह उस पर आधिपत्य प्राप्त करता है। जब वाणी से छन्द उत्पन्न हुए तो उनमें से अन्त का सात पदवाला शक्वरी था। वह इस छन्द को ऊपर से अपनी ओर खींचता है, इसलिए सात पग चलता है ॥१॥

वह वाणी के समान पग भरता है यह पढ़कर—"वस्व्यसि, अदितिरसि, आदित्यासि, रुद्रासि, चन्द्रासि" (यजु० ४।२१)–"तू वस्वी है, तू अदिति है, तू आदित्या है, तू रुद्रा है, तू चन्द्रा है।" यह वस्वी है, यह अदिति है, यह आदित्या है, यह रुद्रा है, यह चन्द्रा है। "बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु" (यजु० ४।२१)–"बृहस्पति तुझको आनन्द में रक्खे।" बृहस्पति ब्रह्म है। इस

बृहस्पतिर्बृहस्पतिष्ट्वा साधुनावर्तयत्वित्येवैतदाह रुद्रो वसुभिराचकऽइत्यप्रणाशायैतदाह रुद्रँ हि नाति पशवः ॥२॥ अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति । स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति न वाऽअनग्नावाहुतिर्हूयतेऽग्निरेतसं वै हिरण्यं तथो हास्यैषाग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति वज्रो वाऽआज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृणुते ताँ स्पृत्वा स्वीकुरुते ॥३॥ स जुहोति । अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मीतीयं वै पृथिव्यदितिरस्यै हि मूर्धञ्जुहोति देवयजने पृथिव्याऽइति देवयजने हि पृथिव्यै जुहोतीडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहेति गौर्वाऽइडा गोर्हि पदे जुहोति घृतवत्स्वाहेति घृतवद्ध्येतदभिहुतं भवति ॥४॥ अथ स्फ्यमादाय परिलिखति । वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणैवैतत्परिलिखति त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतैवैतद्वज्रेण समन्तं परिगृह्णात्यनतिक्रमाय ॥५॥ स परिलिखति । अस्मे रमस्वेति यजमाने रमस्वेत्येवैतदाहाथ समुल्लिख्य पदँ स्थाल्याँ संवपत्यस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह ॥६॥ अथाप उपनिनयति । यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादप उपनिनयति ॥७॥ अथ यजमानाय पदं प्रयच्छति । त्वे राय इति पशवो वै रायस्त्वयि पशव इत्येवैतदाह तद्यजमानः प्रतिगृह्णाति मे राय इति पशवो वै रायो मयि पशव इत्येवैतदाह ॥८॥ अथाध्वर्युरात्मानमुपस्पृशति । मा वयँ रायस्पोषेण वियौष्मेति तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति ॥९॥ अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति । गृह्या वै पत्न्यै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मात्पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति ॥१०॥ तां नेष्टा वाचयति । तोतो राय इत्यथैनाँ सोमक्रयण्या संख्यापयति वृषा वै सोमो योषा पत्न्येष वाऽअत्र सोमो भवति यत्सोमक्रयणी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादेनां सोमक्रयण्या संख्यापयति ॥११॥ स संख्यापयति । समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा मऽआयुः प्रमोषीर्मो

कथन का तात्पर्य है कि 'बृहस्पति अच्छे काम के द्वारा तुझे यहाँ तक लौटा लेवे।' "रुद्रो वसुभि-राचके" (यजु० ४।२१)—"रुद्र वसुओं के सहित तुझसे प्रसन्न हैं।" इस कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि 'वह गाय विना किसी हानि के लौट आवे' क्योंकि पशु रुद्र के आगे नहीं जा सकते ॥२॥

वे सातवें पद में बैठ जाते हैं। और पद-चिह्न पर सोना रखकर वह आहुति देता है। आहुति अग्नि के सिवाय इतर स्थान में तो हो नहीं सकती। स्वर्ण अग्नि के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, इसलिए ऐसा करने से मानो वह अग्नि में ही आहुति देता है। घी वज्र है। इस वज्ररूपी घी के द्वारा वह उसकी रक्षा करता है और रक्षा करके उसको स्वीकार करता है ॥३॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मि" (यजु० ४।२२)—"मैं तुझको अदिति के सिर पर रखता हूँ।" यह पृथिवी अदिति है। उसी के सिर पर आहुति देता है। "देवयजने पृथिव्याः" (यजु० ४।२२)—"पृथिवी के यज्ञ-स्थल पर आहुति देता है।" "इडाया-स्पदमसि घृतवत् स्वाहा" (यजु० ४।२२)—"तू घृत-युक्त इडा का पद है।" गौ ही 'इडा' है। गौ के पद पर आहुति देता है। 'घृत-युक्त' यों कहा कि जब आहुति देता है तो वह घी से भर जाता है ॥४॥

अब स्फ्या से चारों ओर लकीर देता है। स्फ्या वज्र है, इसलिए वज्र से लकीर करता है। तीन लकीरें करता है, जिससे तिहरे वज्र से घिर जाय और कोई उसको लाँघ न सके ॥५॥

वह लकीर खींचने के समय यह मन्त्र पढ़ता है—"अस्मे रमस्व" (यजु० ४।२२)—"हम में रम" अर्थात् 'यजमान में रम।' अब वह पद के चिह्न को (स्फ्या से खुरचकर) थाली में रख देता है। "अस्मे ते बन्धुः" (यजु० ४।२२)—"हम में तेरा सम्बन्ध है।" अर्थात् 'यजमान में' ॥६॥

अब (उस स्थान पर) पानी छिड़कता है। जहाँ कहीं खोदते या खुरचते हैं वहाँ घाव हो जाता है। जल शान्ति देता है। जल से शान्त करता है। इसलिए जल को छिड़कता है ॥७॥

अब पैर (की रेणु) को यजमान को देता है। "त्वे रायः" (यजु० ४।२२)—"तुझको धन मिले।" पशु ही धन हैं। इससे तात्पर्य है कि तुझे पशु मिलें। यजमान यह कहकर लेता है—"मे रायः" (यजु० ४।२२)—"मेरे लिए धन हो।" पशु ही धन हैं। इससे तात्पर्य है कि मुझे पशु मिलें ॥८॥

अब अध्वर्यु इस मन्त्रांश को पढ़कर अपने (सीने) को छूता है—"मा वयँ रायस्पोषेण वियौष्म" (यजु० ४।२२)—"हम धन से रहित न हों।" इस प्रकार अध्वर्यु अपने को भी पशुओं से अलग नहीं करता ॥९॥

अब वे पद-रेणु को यजमान की पत्नी को दे देते हैं। पत्नी की प्रतिष्ठा घर है। इस प्रकार उसको घर में स्थापित कर देते हैं। इसीलिए पद-धूलि को यजमान की पत्नी को दे देते हैं ॥१०॥

नेष्टा उससे कहता है—"तो तो रायः" (यजु० ४।२२)—"यह धन तेरा है, तेरा है।" इस प्रकार वह सोम-गौ को उसे दिखाता है ॥११॥

इसको दिखाने में यह मन्त्र पढ़ता है—"समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा। मा

ऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशीत्याशिषमेवैतदाशास्ते पुत्रो वै वीरः पुत्रं विदेय तव संदृशीत्येवैतदाह ॥१२॥ सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी यत्र वाऽइन्द्राविष्णू त्रेधा सहस्रं व्यैरयेतां तदेकात्यरिच्यत तां त्रेधा प्राजनयतां तस्माद्योऽप्येतर्हि त्रेधा सहस्रं व्याकुर्यादेकैवातिरिच्येत ॥१३॥ सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयण्यथ या रोहिणी सा वार्त्रघ्नी यामिदꣳ राजा संग्रामं जिग्वोदाकुरुतेऽथ या रोहिणी श्येताक्षी सा पितृदेवत्या यामिदं पितृभ्यो घ्नन्ति ॥१४॥ ॥ शतम् १६०० ॥ ॥ सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी स्याद्यदि बभ्रुं पिङ्गाक्षीं न विन्देदरुणा स्याद्यद्यरुणां न विन्देद्रोहिणी वार्त्रघ्नी स्याद्रोहिण्ये ह त्वेव श्येताक्ष्याऽआशां नेयात् ॥१५॥ सा स्यादप्रवीता । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्सोमक्रयण्ययातयाम्नी वाऽइयं वागयातयाम्न्यप्रवीता तस्मादप्रवीता स्यात्सा स्यादखण्डाकूटाकाणाकर्णालक्षितासप्तशफा सा ह्येकरूपैकरूपा ह्येयं वाक् ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.१.]॥ ॥

पदꣳ समुप्य पाणीऽअवनेनिक्ते । तद्यत्पाणीऽअवनेनिक्ते वज्रो वाऽआज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्मात्पाणीऽअवनेनिक्ते ॥१॥ अथास्याꣳ हिरण्यं बध्नीते । द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या अग्निरेतसं वै हिरण्यꣳ सत्येनाꣳशूनुपस्पृशानि सत्येन सोमं पराहणानीति तस्माद्वाऽअस्याꣳ हिरण्य बध्नीते ॥२॥ अथ सम्प्रेष्यति । सोमोपनहनमाहर सोमपर्याणहनमाहरोष्णीषमाहरेति स यदेव शोभनꣳ तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्वासो ह्यस्यैतद्भवति शोभनꣳ ह्येतस्य वासः स यो हैनꣳ शोभनेनोपचरति शोभते हाथ य आह यदेव किं चेति यद्वेव किं च भवति तस्माद्यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्यदेव किं च सोमपर्याणहनम् ॥३॥ यद्युष्णीषं विन्देत् । उष्णीषः स्याद्यद्युष्णीषं न विन्देत्सोमपर्याणहनस्यैव ह्यङ्गुलं

मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि" (यजु० ४।२३)—"दिव्य बुद्धि से मैंने तुझको देखा। दीर्घ दृष्टिवाली आँख से मैंने तुझको देखा। तू मेरा जीवन न ले और न मैं तेरा जीवन लूँ। हे देवो, तेरे दर्शन करके मैं पुत्र को प्राप्त होऊँ।" इस प्रकार पत्नी आशीर्वाद माँगती है। वीर का अर्थ है पुत्र, अर्थात् वह कहती है कि मैं तेरे दर्शन पाकर पुत्र को प्राप्त होऊँ ॥१२॥

सोम-गौ भूरी होती है और उसकी आँखें पिंगल होती हैं। जब इन्द्र और विष्णु ने एक हजार गायों को तीन भागों में विभक्त किया तो एक रह गई। उससे उन्होंने तीन प्रकार सन्तान जनाई। इसलिए आज भी अगर एक हजार को तीन में बाँटें तो एक बच रहता है ॥१३॥

जो भूरी और पिङ्गल आँखोंवाली है वह सोम-गौ है। जो रोहिणी है वह वृत्र को मारनेवाली है जिसको राजा संग्राम में विजय प्राप्त करके लेता है। जो लाल और सफेद आँखोंवाली है वह पितरों की है और पितरों के लिए मारी जाती है (घ्नन्ति) ॥१४॥ [शतम् १६००]

जो भूरी और भूरी आँखवाली हो वही सोम-गौ हो। यदि भूरी और भूरी आँखवाली न मिले तो अरुण हो। यदि अरुण न मिले तो वृत्र को मारनेवाली रोहिणी हो। लेकिन लाल और श्वेत नेत्रवाली कभी न हो ॥१५॥

वह गर्भिणी न हो। क्योंकि जो सोम-गौ है वह वास्तव में वाणी है। यह जो वाणी है वह पूर्ण बलवाली है। पूर्ण बलवाली वही होती है जो गर्भिणी न हो। यह सोम-गौ गर्भिणी न हो। ऐसी हो जो पूँछ-रहित न हो, बिना सींगों की न हो। कानी न हो। न बिना कान की हो, न विशेष चिह्नवाली हो, न सात खुरवाली हो। यह एकरूपा है। वाणी भी एकरूपा है ॥१६॥

अध्याय ३—ब्राह्मण २

पद-धूलि को फेंककर हाथ धोता है। वह हाथ क्यों धोता है? घी वज्र है। सोम वीर्य है। वह हाथ इसलिए धोता है कि वीर्य-सोम को वज्र-घी से कोई हानि न पहुँचे ॥१॥

इस (अनामिका अँगुली) में सोना बाँधता है। संसार में दो ही होते हैं सत्य और अनृत, तीसरा नहीं। देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत है। अँगुली में सोना इसलिए बाँधता है कि अग्नि के वीर्य से सोना उत्पन्न हुआ है। मैं सत्य से सोम की डाली को छुऊँ, अर्थात् सत्य के द्वारा मैं सोम को खरीदूँ ॥२॥

अब वह आदेश देता है कि सोम-वस्त्र को लाओ, सोम का अँगोछा लाओ, सोम की पगड़ी लाओ। सोम-वस्त्र शोभन (सुन्दर) हो, क्योंकि यह सोम राजा का वस्त्र है। जो शोभन वस्तु से सोम की पूजा करता है वह स्वयं भी शोभन हो जाता है। और जो कहता है, 'अभी कैसा भी हो', वह कैसा भी हो जाता है। इसलिए सोम वस्त्र सुन्दर होना चाहिए। सोम का अँगोछा कैसा भी क्यों न हो ॥३॥

उष्णीष (पगड़ी) हो तो हो और न हो तो अँगोछे में से दो या तीन अंगुल फाड़ ले और

वा त्र्यङ्गुलं वावकृत्तेदुष्णीषभाजनमध्वर्युर्वा यजमानो वा सोमोपनहनमादत्ते य एव कश्च सोमपर्याणहनम् ॥४॥ अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति। तदुदकुम्भ उपनिहितो भवति तद्ब्राह्मण उपास्ते तदभ्यायन्ति प्राञ्चः ॥५॥ तदायत्सु वाचयति। एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादित्येकं वाऽएष क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसाꣳ साम्राज्याय घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतदाह छन्दसामेव वा राज्याय क्रीणामि छन्दसाꣳ साम्राज्याय न वधायेत्यथैत्य प्राङुपविशति ॥६॥ सोऽभिमृशति। आस्माकोऽसीति स्वऽइव ह्यस्यैतद्भवति यदागतस्तस्मादाहास्माकोऽसीति शुक्रस्ते ग्रह्य इति शुक्रꣳ ह्यस्माद्ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति सर्वत्वायैतदाह ॥७॥ अत्र हैके। तृणं वा काष्ठं वा विष्ठापास्यन्ति तदु तथा न कुर्यात्क्षत्रं वै सोमो विडन्या ओषधयोऽन्नं वै क्षत्रियस्य विट् स यथा ग्रसितमनुह्नायाहृत्य परास्येदेवं तत्तस्मादभ्येव मृशेद्विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति तद्यऽएवास्य विचेतारस्तऽएनं विचिन्वन्ति ॥८॥ अथ वासः। द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्रागदशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति तद्राजानं मिमीते स यद्राजानं मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा ॥९॥ सावित्र्या मिमीते। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्माऽएष सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति ॥१०॥ अतिच्छन्दसा मिमीते। एषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथा हास्यैष सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति तस्मादतिच्छन्दसा मिमीते ॥११॥ स मिमीते। अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वरिति ॥१२॥ एतया सर्वाभिः। एतया चतसृभिरेतया तिसृभिरे-

उसकी उष्णीष बना ले। सोम-वस्त्र को अध्वर्यु ले या यजमान। अँगोछा कोई और ले ले ॥४॥

अब सोम राजा को चुनते हैं। उसके निकट जल के घड़े को रखते हैं। और एक ब्राह्मण पास बैठता है। अब वे पूर्व की ओर जाते हैं ॥५॥

जाते हुए यह मन्त्र बोलते हैं—"एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताद्, एष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताद्, एष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात्" (यजु० ४।२४)—"मेरे लिए सोम से कहो कि यह तुम्हारा गायत्र भाग है। मेरे लिए सोम से कहो कि यह तुम्हारा त्रैष्टुभ भाग है। मेरे लिए सोम से कहो कि यह तुम्हारा जगती का भाग है। मेरे लिए सोम से कहो कि छन्दों के साम्राज्य को प्राप्त करो।" सोम राजा को क्रय करते हैं तो एक उद्देश्य के लिए— छन्दों के राज्य के लिए, छन्दों के साम्राज्य के लिए। उसको निचोड़ते हैं तो मानो उसको मारते हैं। इसीलिए कहते हैं कि तुझे छन्दों के राज्य के लिए और छन्दों के साम्राज्य के लिए मोल लेते हैं, मारने के लिए नहीं। अब चलकर वह (सोम के) पूर्व में बैठता है ॥६॥

इस मन्त्र को पढ़कर (सोम के पौधे को) छूता है—"अस्माकोऽसि" (यजु० ४।२४)—"तू हमारा है।" जब सोम आ गया तो वह अपना ही हो गया। इसलिए कहते हैं कि तू हमारा है। "शुक्रस्ते ग्रह्य" (यजु० ४।२४)—"तेरा शुक्र (रस) ग्रहण के योग्य है" क्योंकि वह उसको ग्रहण करेगा ही। "विचितस्त्वा विचिन्वन्तु" (यजु० ४।२४)—"चुननेवाले तुझे चुनें।" वह सम्पूर्णता के लिए ऐसा कहता है ॥७॥

कुछ लोग (सोम के साथ) तृण या काष्ठ को देखकर उसे फेंक देते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। सोम राजा है और अन्य वृक्षादि प्रजा। प्रजा राजा का अन्न है, इसलिए (इसको फेंक देना ऐसा ही होगा) जैसा किसी के मुँह में रक्खे हुए अन्न को निकालकर फेंक देना। इसलिए केवल उसको छूकर कहे कि 'चुननेवालो, इसको चुन लो।' चुननेवाले उसको चुन लेंगे ॥८॥

अब वह कपड़े को दुल्लर या चौलर करके बिछाता है इस प्रकार कि झालर पूर्व या उत्तर की ओर रहे। उस पर सोम राजा को तोलता (मापता, मिमीते) है। चूँकि उससे सोम राजा को तोलता है इसलिए उसको मात्रा कहते हैं—चाहे वह मनुष्यों में प्रचलित मात्रा हो या अन्य कुछ ॥९॥

वह सावित्री मन्त्र पढ़कर तोलता है। सविता सब देवों का प्रेरक है। ऐसा करने से मानो सोम-क्रय सविता की प्रेरणा से होता है ॥१०॥

अतिछन्द पढ़कर तोलता है। अतिछन्द में सब छन्द आ जाते हैं। अतिछन्द से इसलिए तोलता है कि वह सब छन्दों से तुला होने के बराबर हो जाता है ॥११॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर तोलता है—"अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः" (यजु० ४।२५)—"मैं उस द्यावापृथिवी के प्रेरक, कवि, क्रतु, सत्यसव, रत्नधा, प्रिय, बुद्धिवान्, कवि की पूजा करता हूँ, जिसकी न नापी जानेवाली ज्योति ऊपर चमकती है और जिस प्रकाश-युक्त किरणोंवाले यज्ञ-साधक ने संसार में शक्ति की प्रेरणा की है" ॥१२॥

इसी मन्त्र को पढ़कर वह सोम को लेता है सब अँगुलियों से, फिर चार से, फिर तीन

तया द्वाभ्यामेतयैकयैतयैवैकयैतया द्वाभ्यामेतया तिसृभिरेतया चतसृभिरेतया सर्वाभिः समस्याञ्जलिनाध्यावपति ॥१३॥ स वाऽउदाचं न्याचं मिमीते । स यदुदाचं न्याचं मिमीतऽइमा एवैतदङ्गुलीर्नानाज्ञानाः करोति तस्मादिमा नाना जायन्तेऽथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीते सꣳश्लिष्टा-इव हैवेमा जायेरंस्तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ॥१४॥ यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते । इमा एवैतन्नानावीर्याः करोति तस्मादिमा नानावीर्यास्तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ॥१५॥ यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते । विराजमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ॥१६॥ अथ यद्दश कृत्वो मिमीते । दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दश कृत्वो मिमीते ॥१७॥ अथ सोमोपनहनस्य समुत्पार्यान्तान् । उष्णीषेण विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति स यद्वेदꣳ शिरश्चाꣳसौ चान्तरापेनितमिव तदेवास्यैतत्करोति ॥१८॥ अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति । प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तमयतीव वाऽएनमेतत्समायच्छन्नप्राणमिव करोति तस्यैतदत एव मध्यतः प्राणमुत्सृजति तं ततः प्राणन्तं प्रजा अनुप्राणन्ति तस्मादाह प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तꣳ सोमविक्रयिणे प्रयच्छत्यथातः पणनस्यैव ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥५[३.२.]॥ ॥

स वै राजानं पणते । स यद्राजानं पणते तस्मादिदꣳ सकृत्सर्वं पण्यꣳ स आह सोमविक्रयिन्क्रय्यस्ते सोमो राजा३इति क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी तं वै ते क्रीणानीति क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी कलया ते क्रीणानीति भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः ॥१॥ गोर्वै प्रतिधुक् । तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्याऽआमिक्षा तस्यै वाजिनꣳ ॥२॥ शफेन ते क्रीणानीति । भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय

से, फिर दो से, फिर एक से, फिर एक से, फिर दो से, फिर तीन से, फिर चार से, फिर सब से ॥१३॥

वह अँगुलियों को झुकाकर और ऊपर को उठाकर सोम को तोलता है। उठाकर और झुकाकर इसीलिए तोलता है कि अँगुलियों को अलग-अलग मान लेता है। इसीलिए ये अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। और सब अँगुलियों से इसलिए तोलता है कि वे संयुक्त उत्पन्न हों। इसीलिए वह अँगुलियों को उठाकर और झुकाकर तोलता है ॥१४॥

अँगुलियों को उठाकर और झुकाकर इसलिए लेता है कि ये भिन्न शक्तिवाली हो जायँ। इसीलिए अँगुलियाँ भिन्न-भिन्न शक्तिवाली हैं ॥१५॥

अँगुलियों को उठाने और झुकाने का प्रयोजन यह है कि विराज (विराज छन्द को जिसमें दश अक्षर के पद होते हैं) को ले जाता और ले आता है। अर्थात् यज्ञ को पहले देवों के लिए ले जाता है, फिर मनुष्यों के लिए वापस लाता है ॥१६॥

इस बार तोलने का तात्पर्य यह है कि विराट् छन्द में दश अक्षर होते हैं। सोम विराट् के समान हैं। इसलिए दश बार तोलता है ॥१७॥

सोम-वस्त्र के किनारों को पकड़कर अध्वर्यु उसको पगड़ी से बाँधता है यह पढ़कर—"प्रजाभ्यस्त्वा" (यजु० ४।२५)—"सन्तान के लिए तुझे।" सन्तान के लिए ही सोम को मोल लिया जाता है। शिर और कन्धों के बीच में जो शक्ल होती है वैसी ही बना देता है (अर्थात् सोम की गठरी ऐसी बाँधी जाती है कि लड़के की आकृति हो जाय, सिर निकला रहे) ॥१८॥

अब इस मन्त्र को पढ़कर गाँठ में अँगुली जाने के लिए छेद कर देता है—"प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु" (यजु० ४।२५), अर्थात् सन्तान तेरे समान प्राण (साँस) लें। जब गाँठ बाँधी तो मानो उसका गला घोंट दिया। वह साँस न ले सका। अब वह इस प्रकार प्राणों को छोड़ता है (साँस को लेता है)। इसी के समान सन्तान भी साँस लेगी। इसीलिए कहा 'सन्तान तेरे समान साँस लें।' अब वह उसको सोम बेचनेवाले को दे देता है। अब आगे मोल चुकाने की बात आवेगी ॥१९॥

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

सोम राजा के लिए मोल किया जाता है। चूँकि सोम राजा का मोल किया जाता है इसलिए सभी चीजों का मोल करते हैं। पहले सोम बेचनेवाले से पूछता है, 'क्या सोम राजा बिकाऊ है?' वह उत्तर देता है, 'हाँ, बिकाऊ है।' वह पूछता है, 'मैं तुझसे मोल लूंगा।' सोम बेचनेवाला उत्तर देता है, 'ले लो।' अध्वर्यु कहता है कि, 'कला (गौ के सोलहवें भाग) के बदले सोम को लूंगा।' सोम बेचनेवाला कहता है, 'सोम राजा का मोल इससे अधिक है।' अध्वर्यु कहता है कि 'निस्सन्देह सोम राजा का मोल इससे अधिक है, परन्तु गाय की महिमा भी तो अधिक है' ॥१॥

गाय से दूध मिलता है, उसी से श्रृत, उसी से मलाई, उसी से दही, उसी से मस्तु, आतंचन, नवनीत, घी, आमिक्षा और वाजी। (ये सब दूध से बनी चीजों के नाम हैं) ॥२॥

'मैं गाय के एक शफ (खुर) के बदले इसको मोल लूंगा।' सोम बेचनेवाला कहता है,

एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरेतान्येव दश वीर्याण्युदाख्या-
याह यदा तेऽर्धेन ते गवा ते क्रीणामीति क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी
वयाꣳसि प्रब्रूहीति ॥३॥ स आह । चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ
ते गावौ तिस्रस्तेऽन्या इति स यदवाक्पणाते परः सम्पादयति तस्मादिदꣳ सकृ-
त्सर्वं पण्यमवाक्पणाते परः सम्पादयत्यथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोम-
स्य सोमविक्रयी महितो वै सोमो देवो हि सोमोऽथैतदध्वर्युर्गां महयति तस्यै
पश्यन्वीर्याणि क्रीणादिति तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोम-
विक्रयी ॥४॥ अथ यत्पञ्च कृत्वः पणते । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋत-
वः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वः पणते ॥५॥ अथ हिरण्ये वा-
चयति । शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामीति शुक्रꣳ ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हि-
रण्येन चन्द्रं चन्द्रेणेति चन्द्रꣳ ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येनामृतममृ
तेनेत्यमृतꣳ ह्येतदमृतेन क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येन ॥६॥ अथ सोमविक्रयि-
णमभिप्रकम्पयति । सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह तद्यजमानम-
भ्याहृत्य न्यस्यत्यस्मे ते चन्द्राणीति स आत्मन्येव वीर्यं धत्ते शरीरमेव सोमवि-
क्रयी हरते नत्ततः सोमविक्रय्यादत्ते ॥७॥ अथाजायां प्रतीचीनमुख्यां वाचयति ।
तपसस्तनूरसीति तपसो ह वाऽएषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा तस्मादाह तपस-
स्तनूरसीति प्रजापतेर्वर्ण इति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः
परमेण पशुना क्रीयसऽइति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमः पशुः स-
हस्रपोषं पुषेयमित्याशिषमेवैतदाशास्ते भूमा वै सहस्रं भूमानं गच्छानीत्येवैतदाह
॥८॥ स वाऽअनेनैवाजां प्रयच्छति । अनेन राजानमादत्तऽआजा ह वै नामैषा
यदजैतया ह्येनमजत आजति तामेतत्परोऽक्षमजेत्याचक्षते ॥९॥ अथ राजानमा-
दत्ते । मित्रो न एहि सुमित्रध इति शिवो नः शान्त एहीत्येवैतदाह तं यजमा-

'सोम राजा इससे कहीं अधिक कीमती है।' अध्वर्यु कहता है, 'सोम राजा अवश्य कीमती है परन्तु गाय की महिमा भी तो अधिक है।' इस प्रकार दश गुण वर्णन करके अध्वर्यु कहता जाता है कि 'एक पद के बदले खरीदूँगा, आधी गाय के बदले, पूरी गाय के बदले।' यहाँ तक कि सोम बेचनेवाला कह उठता है, 'बस सोम राजा खरीदा जा चुका। क्या-क्या दोगे, यह बताओ' (वयांसि प्रब्रूहि) ॥३॥

अध्वर्यु कहता है, 'चन्द्र (सोना?) तुम्हारा हुआ, वस्त्र तुम्हारा हुआ, बकरी तुम्हारी हुई, गाय तुम्हारी हुई, एक बैल का जोड़ा तुम्हारा हुआ। तीन और गायें तुम्हारी हुईं।' पहले वे मोल करते हैं और फिर मोल का निश्चय होता है। इसीलिए हर एक बिक्री की चीज में पहले मोल किया जाता है, फिर निश्चय करते हैं। केवल अध्वर्यु ही गाय के गुण क्यों कहता है? सोमवाला सोम के गुण क्यों नहीं कहता? इसका कारण यह है कि सोम देवता है, उसकी महिमा तो प्रख्यात है। इसलिए अध्वर्यु गाय के गुण कहता है, सोमवाला सोम के नहीं। सोमवाला गाय के गुण सुनकर उसको ले लेगा। इसीलिए अध्वर्यु गाय के गुण गाता है, सोमवाला सोम के गुण नहीं कहता ॥४॥

पाँच बार क्यों मोल करता है? यज्ञ संवत्सर के तुल्य है। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। पाँच बार मोल करने से इसको भी पाँच अंगवाला बना देता है ॥५॥

अब वह यजमान से स्वर्ण के लिए कहलवाता है—"शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि" (यजु० ४।२६)—"तुझ शुद्ध को शुद्ध के बदले खरीदता हूँ।" वस्तुतः जब वह स्वर्ण के बदले सोम को लेता है तो शुद्ध के बदले ही शुद्ध को खरीदता है। "चन्द्रं चन्द्रेण" (यजु० ४।२६)—"चन्द्र को चन्द्र के बदले।" सोम को स्वर्ण के बदले लेना मानो चमकी ली चीज के बदले लेना है। "अमृतं अमृतेन" (यजु० ४।२६)—"अमृत को अमृत के बदले।" सोम को स्वर्ण के बदले खरीदना मानो अमृत को अमृत के बदले खरीदना ही है ॥६॥

अब सोमवाले को धमकाता है, "सग्मे ते गौः" (यजु० ४।२६)—"गायवाले अर्थात् यजमान के साथ तेरी गाय हो।" अब (स्वर्ण को) यजमान की ओर लाकर फेंक देता है—"अस्मे ते चन्द्राणि" (यजु० ४।२६)—"ये चमकीले सोने के टुकड़े हमारे हों।" इससे यजमान वीर्य (शक्ति) धारण करता है। और सोम-विक्रेता के पास केवल शरीर रह जाता है। इसके पीछे सोम-विक्रेता उस सोने को ले लेता है ॥७॥

पश्चिमाभिमुखी बकरी के प्रति यजमान से कहलवाता है—"तपस्तनूरसि" (यजु० ४।२६)—"तू तप का शरीर है।" यह जो बकरी है वह प्रजापति के तप से उत्पन्न हुई। इसीलिए कहता है कि 'तू तप का शरीर है।' अब कहता है—"प्रजापतेर्वर्णः" (यजु० ४।२६)—"प्रजापति का वर्ण है।" चूँकि वर्ष में तीन बार जनती है, इसलिए प्रजापति के समान हुई। "परमेण पशुना क्रीयसे" (यजु० ४।२६)—"तू परम पशु के बदले खरीदा गया।" बकरी तीन बार वर्ष में जनती है, इसलिए परम पशु है। "सहस्रपोषं पुषेयम्" (यजु० ४।२६)—"मैं सहस्रों वस्तुओं से पुष्ट हो जाऊँ।" यह आशीर्वाद है। सहस्र का अर्थ है भूमा या बहुत। तात्पर्य यह है कि मुझे बहुत-सी चीजें मिल जायँ ॥८॥

इस (बायें हाथ) से बकरी को देता है और इस (दाहिने हाथ) से सोम को लेता है। यह जो 'अजा' है वह 'आजा'। इसी बकरी के द्वारा वह अन्त में सोम को ले जाता है (आजाति) इसलिए उसका परोक्ष नाम 'आजा' या 'अजा' हुआ ॥९॥

इस मन्त्र को पढ़कर सोम राजा को लेता है, "मित्रो नऽएहि सुमित्रधः" (यजु० ४।२७)—"तू मित्र बनकर हमारे पास आ, अच्छे मित्रों का देनेवाला।" इसका अर्थ यह हुआ कि तू कल्याणकारी है, हमारे लिए कल्याण कर। उसको यजमान की दाहिनी जाँघ पर रखकर वस्त्र से ढाँपकर

नस्य दक्षिणऽऊरौ प्रत्युह्य वासो निदधातीन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्येष वाऽअत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्युशन्नुशन्तमिति प्रियः प्रियमित्येवैतदाह स्योनः स्योनमिति शिवः शिवमित्येवैतदाह ॥१०॥ अथ सोमक्रयणाननुदिशति । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन्निति धिष्ण्यानां वाऽएते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एतदन्वदिक्षत् ॥११॥ अथात्रापोर्णुते । गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्वेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत तस्मादपोर्णुतेऽएष वाऽअत्र गर्भो भवति तस्मात्परिवृतो भवति परिवृता-इव हि गर्भा उल्वेनेव जरायुणेव ॥१२॥ अथ वाचयति । परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेत्यासीनं वाऽएतमेष आगच्छति स आगतऽउत्तिष्ठति तन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेति ॥१३॥ अथ राजानमादायोत्तिष्ठति । उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२॥ऽअन्वित्यमृतं वाऽएषो ऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२॥ऽअन्विति ॥१४॥ अथ राजानमादायारोहणमभिप्रैति । प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम् । येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ॥१५॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तऽएतद्यजुः स्वस्त्ययनं ददृशुस्तऽएतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समाश्नुवत तथोऽएवैष एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समश्नुते तस्मादाह प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम् । येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ॥१६॥ तं वाऽइति हरन्ति । अनसा परिवहन्ति महयन्त्येवैनमेतत्तस्माच्छीर्ष्णा वीजꣳ हरन्त्यनसोदावहन्ति ॥१७॥

कहता है, "इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणम्" (यजु० ४।२७)—"इन्द्र की दाहिनी जंघा पर बैठ।" यहाँ यजमान इन्द्र है। इसलिए कहता है कि इन्द्र की जाँघ पर बैठ। "उशन्नुशन्तम्" (यजु० ४।२७) —"प्यारा प्यारे के पास।" 'स्योनःस्योनम्' (यजु० ४२७)—"कोमल कोमल के पास।" अर्थात् कल्याणकारक कल्याणकारक के पास ॥१०॥

अब सोम के मोल को सुपुर्द करता है यह कहकर कि—'हे स्वान, हे भ्राज, हे अंघारि, हे बंभारि, हे हस्त, हे सुहस्त, हे कृशानु, ये-ये चीजें तुम्हारे सोम का मोल हैं। इनकी रक्षा करो। ये तुमको प्रतिकूल सिद्ध न हों (यजु० ४।२७)। स्वान—उपदेश देनेवाला। भ्राज—चमकनेवाला। अंघारि—अंघ अर्थात् पाप का शत्रु। बंभारि—विश्व का धारण करनेवाला। हस्त—जिसके द्वारा हँसते या प्रसन्न होते हैं वह। सुहस्त—जिसके द्वारा हाथ की क्रियाएं ठीक होती हैं। कृशानु—जो कृश अर्थात् दुर्बलों को जिलाता है (कृशं अनीति इति) या जो दुष्टों को दुबला करता है (दुष्टान् कृशति इति)। ये सात नाम धिष्ण्या अर्थात् यज्ञ की वेदी के हैं, और इसलिए वेदी के अधिष्ठाताओं के भी ये नाम हैं। अतः इन्हीं के लिए ये अनुदेश हैं ॥११॥

अब वह अपने सिर को खोलता है। जो दीक्षा लेता है वह गर्भ के तुल्य होता है। गर्भ उल्व और जरायु से लिपटा होता है। उसी गर्भ का अब जन्म हुआ। इसलिए वह सिर को खोल लेता है। अब वह सोम गर्भ का रूप धारण करता है, इसलिए ढका हुआ होता है, क्योंकि गर्भ उल्व और जरायु से ढका होता है ॥१२॥

अब वह इस वेदमन्त्र को पढ़वाता है—"परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज" (यजु० ४।२८)—"हे अग्नि! तू मुझे दुश्चरित से हटा और अच्छे चरित में ले जा।" जब सोम राजा आया था तब वह यजमान बैठा था। उसके आने पर वह यजमान खड़ा हो जाता है। यही मिथ्या आचरण है। इससे व्रत भंग होता है (क्योंकि उसने व्रत किया था कि सोमरस निकालने तक गर्भ की अवस्था में ही बैठा रहूँगा)। यह मन्त्र पढ़ना मानो इस दोष का प्रायश्चित्त है। इस पाठ से मिथ्या आचरण नहीं होता और न व्रत भंग होता है, इसलिए 'परि माग्ने' मन्त्र का पाठ किया जाता है ॥१३॥

अब सोम राजा को लेकर उठता है यह मंत्रांश पढ़कर—"उदायुषा स्वायुषोदस्था-ममृताँ२ ऽ अनु' (यजु० ४।२८)—"उत्कृष्ट और अच्छी आयु के द्वारा मैं अमृतों का अनुसरण करके उठूँ (उन्नत होऊँ)।" वस्तुतः वह मोल लिये हुए सोम के पीछे उठता है, मानो अमृत के पीछे उठता है। इसलिए इस 'उदायुषा' मन्त्र का पाठ करता है ॥१४॥

अब सोम राजा को लेकर गाड़ी तक आता है इस मन्त्र को पढ़कर—"प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु" (यजु० ४।२९)—"हमने कल्याणकारक और पाप-रहित मार्ग का अवलम्बन किया है जिससे मनुष्य सब बुराइयों (शत्रुओं) को छोड़ता और धन को प्राप्त करता है" ॥१५॥

एक बार देवों ने यज्ञ ताना। वे असुर राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हुए। तब उन्होंने इस यजुः (प्रार्थना) को कल्याण-गृह के रूप में देखा और इस यजुः के द्वारा राक्षस दुष्टों को मारकर इस यजुः के अभय और क्लेशरहित घर में शान्ति प्राप्त की। इसी प्रकार इस यजुः की सहायता से दुष्ट राक्षसों को मारकर इस यजुः के अभय और क्लेशरहित घर में शान्ति प्राप्त करता है। इसीलिए 'प्रति पन्थाम्' मंत्र का पाठ करता है ॥१६॥

इस सोम को पहले इस प्रकार (हाथ में सिर पर रखकर) ले जाते हैं और फिर गाड़ी में ले जाते हैं। इससे वे उसकी महत्ता बढ़ाते हैं। इसलिए वे बीज को सिर पर रखकर (खेत में) ले जाते हैं ॥१७॥

अथ यदपामन्ते क्रीणाति । रसो वाऽआपः सरसमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्धिरण्यं भवति सशुक्रमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्वासो भवति सत्वचसमेवैतत्क्रीणात्यथ यदजा भवति सतपसमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्धेनुर्भवति साशिरमेवैतत्क्रीणात्यथ यन्मिथुनौ भवतः समिथुनमेवैतत्क्रीणाति तं वै दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिर्दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिः ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥६[३.३.]॥
द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२८ ॥ ॥

नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति । अदित्यास्त्वगसीति सोऽसावेव बन्धुरथैनमासादयत्यदित्यै सद आसीदेतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मादाहादित्यै सद आसीदेति ॥१॥ अथैवमभिपद्य वाचयति । अस्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तऽएनमेतज्ज्यायाꣳसमेव बधाच्चक्रुर्यदाहास्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति ॥२॥ अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति । तदेनेनेमांल्लोकानास्पृणोति तस्य ह्नि न हन्तास्ति न बधो येनेमे लोका आस्पृतास्तस्मादाहामिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति ॥३॥ आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति । तदेनेनेदꣳ सर्वमास्पृणोति तस्य ह्नि न हन्तास्ति न बधो येनेदꣳ सर्वमास्पृतं तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति ॥४॥ विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति । तदस्माऽइदꣳ सर्वमनुवर्त्म करोति यदिदं किं च न कं चन प्रत्युद्यामिनं तस्मादाह विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति ॥५॥ अथ सोमपर्याणहनेन पर्याणह्यति । नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानिति गर्भो वाऽएष भवति तिर-इव वै गर्भास्तिर-इवैतत्पर्याणद्धं तिर-इव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिर-इवैतद्यत्पर्याणद्धं तस्माद्धि पर्याणह्यति ॥६॥ स पर्याणह्यति । वनेषु व्यन्तरिक्षं ततानेति वनेषु ह्रीदमन्तरिक्षं विततं वृक्षाग्रेषु वाजमर्वत्सु पय उस्रियास्विति वीर्यं वै वाजाः पुमाꣳसोऽर्वन्तः

सोम को जल के समीप मोल लेता है। जल ही रस है। इस प्रकार वह उसको रस-युक्त करता है। सोने के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको शुक्र-(तेज)-सहित मोल लेता है। वस्त्र के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको चमड़े-सहित मोल लेता है। बकरी के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको तप के साथ मोल लेता है। गाय के होने का तात्पर्य यह है कि वह उसको दूध-सहित मोल लेता है जिससे सोमरस में मिलाया जा सके। गायों के जोड़े का अर्थ यह है कि वह सोम को जोड़े के साथ मोल लेता है। सोम को दश चीजों के बदले मोल ले। दश से कम या ज्यादा नहीं, क्योंकि विराट् छन्द में दश अक्षर होते हैं। सोम विराट् है इसलिए दश के बदले खरीदे, न्यूनाधिक के बदले नहीं ।।१८।।

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

गाड़ी के नीड अर्थात् बन्द स्थान में काले हिरन के चर्म को रखता है यह कहकर—"अदित्यास्त्वगसि" (यजु० ४।३०)—"तू अदिति की त्वचा है।" अब वह सोम को रख देता है यह कहकर—"अदित्यैँ सदऽआसीद" (यजु० ४।३०)—"तू अदिति के स्थान पर बैठ।" यह पृथिवी ही अदिति है और यही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार वह उसको इस प्रतिष्ठा में स्थापित करता है। इसीलिए कहा, 'तू अदिति के स्थान पर बैठ' ।।१।।

अब वह सोम को छूकर पढ़ता है—"अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षम्" (यजु० ४।३०)—"इस वृषभ ने द्यौ और अन्तरिक्ष को उभारा।" देवों ने यज्ञ ताना और वे असुर राक्षसों के आक्रमण से डरे। उन्होंने इस सोम को वध की अपेक्षा बड़ा कर दिया। इसीलिए कहा, 'अस्तभ्नाद्' इति ।।२।।

"अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः" (यजु० ४।३०)—"उसने पृथिवी के विस्तार को मापा। इस प्रकार इस सोम की सहायता से इन लोकों को प्राप्त करता है। जिसने इन लोकों को प्राप्त कर लिया उसके लिए न कोई वध है, न मारनेवाला। इसीलिए कहता है, 'अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः' ।।३।।

"आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राट्" (यजु० ४।३०)—"सब भुवनों में वह सम्राट् के रूप में बैठा।" इसकी सहायता से वह 'सब' की प्राप्ति करता है। जिसको इस 'सब' की प्राप्ति हो गई उसके लिए कोई घातक या वध करनेवाला नहीं रहता। इसीलिए 'आशीदद्' मन्त्र पढ़ा ।।४।।

"विश्वेत् तानि वरुणस्य व्रतानि" (यजु० ४।३०)—"वस्तुतः ये वरुण के व्रत हैं।" इसके द्वारा वह सबको उसका अनुयायी करता है, अर्थात् जो कुछ यहाँ है अथवा जो कोई प्रतिकूल है उस सबको। इसीलिए 'विश्वेत् तानि' मन्त्र पढ़ा गया ।।५।।

अब सोम पर्याणहन अर्थात् सोम-वस्त्र से सोम को लपेटता है कि दुष्ट राक्षस उसको छू न ले। वस्तुतः यह गर्भ है, गर्भ छिपा रहता है; और यह जो ढका हुआ है वह भी छिपा रहता है। देव मनुष्यों से छिपे रहते हैं। जो ढका हुआ है वह भी छिपा रहता है, अतः सोम को कपड़े में लपेटता है ।।६।।

इस मन्त्र को पढ़कर लपेटता है—"वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान" (यजु० ४।३१)—"वनों के ऊपर अन्तरिक्ष ताना गया।" वनों अर्थात् वृक्षों के सिरों पर तो अन्तरिक्ष तना हुआ है ही। "वाजमर्वत्सु पयऽउस्रियासु" (यजु० ४।३१)—"मनुष्यों में वीर्य और गायों में दूध।" यहाँ 'वाज्' का अर्थ है वीर्य और 'अर्वन्त' का अर्थ है मनुष्य। इस प्रकार मनुष्यों में वीर्य धारण करता है।

पुꣳस्वेवैतद्वीर्यं दधाति पय उस्रियास्विति पयो हीदमुस्रियासु हितꣳ हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निमिति हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टो विक्ष्वग्निमिति विक्षु ह्ययं प्रजास्वग्निर्दिवि सूर्यमदधात्सोममद्राविति दिवि ह्यसौ सूर्यो हितः सोममद्राविति गिरिषु हि सोमस्तस्मादाह दिवि सूर्यमदधात्सोममद्राविति ॥७॥ अथ यदि द्वे कृष्णाजिने भवतः । तयोरन्यतरत्प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनं यद्युऽएकं भवति कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनꣳ सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् । यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चितेति सूर्यमेवैतत्पुरस्तात्करोति सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नित्यथाभयेनानाष्ट्रेण परिवहन्ति ॥८॥ उद्धते प्रऽउग्ये फलके भवतः । तदन्तरेण तिष्ठन्त्सुब्रह्मण्यः प्राजति श्रेयान्वाऽएषोऽभ्यारोहाद्भवति को ह्येतमर्हत्यभ्यारोढुं तस्मादन्तरेण तिष्ठन्प्राजति ॥९॥ पलाशशाखया प्राजति । यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात्पलाशशाखया प्राजति ॥१०॥ अथानड्वाहावाजन्ति । तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णस्तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्येषमः पर्जन्यो वृष्टिमान्भविष्यतीत्येतदु विज्ञानम् ॥११॥ अथ युनक्ति । उस्रावेतं धूर्षाहावित्युस्रौ हि भवतो धूर्षाहाविति धूर्वाहौ हि भवतो युज्येथामनश्रूऽइति युज्येते ह्यनश्रूऽइत्यनार्ताविति तदवीरहणावित्यपापकृताविति तद्ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मचोदनौ हि भवतः स्वस्ति यजमानस्य गृहान्गच्छतमिति यथैनावन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरेवमेतदाह ॥१२॥ अथ पश्चात्परिक्रम्य । अपालम्बमभिपद्याह सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणायेति वा यतरथा कामयेत ॥१३॥ अथ वाचयति । भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पतऽइति भद्रो ह्यस्यैष भवति तस्मान्नान्यमाद्रियतेऽप्यस्य राजानः सभागा आ-

गायों में तो दूध होता ही है। [मेरी धारणा है कि पुमान् का अर्थ है 'नर' और 'उस्रियासु' का मादा। नरों में वीर्य होता है और नारियों में दूध'] । "हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निम्" (यजु० ४।३१)–"मनों में बुद्धि और घरों में अग्नि वरुण ने (स्थापित की)।" मनों में बुद्धि स्थापित है ही और घरों में या प्रजाओं में अग्नि। "दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ" (यजु० ४।३१)–"सूर्य को द्यौलोक में स्थापित किया और सोम को पहाड़ पर" [यहाँ सोम का अर्थ 'चन्द्र' ठीक नहीं है। सोमलता ही पहाड़ पर होती है और द्यौलोक का सूर्य उसको प्रभावित करता है ?] द्यौलोक में सूर्य है ही और सोम पहाड़ों में होता ही है। इसलिए कहा 'दिवि सूर्य' इत्यादि ॥७॥

यदि दो मृगचर्म हों तो उनमें से एक को ध्वजा बनाकर लटकाता है। यदि एक हो तो गर्दन के ऊपर से काटकर ध्वजा के रूप में लटकाता है यह मन्त्र पढ़कर—'सूर्यस्य चक्षुरारोहाऽग्नेरक्षणः कनीनकम्। यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता" (यजु० ४।३२)—"हे मृगचर्म, तू सूर्य की आँख के ऊपर चढ़ और अग्नि की आँख के तारे के ऊपर चढ़। जहाँ सूर्य और अग्नि के साथ चमकता हुआ तू चढ़ता है।" इस प्रकार वह सूर्य को आगे करता है। सूर्य के सामने दुष्ट राक्षस नहीं आने पाते। अब वे सोम को निर्विघ्न गाड़ी में ले जाते हैं ॥८॥

गाड़ी को बल्लियों के आगे के भाग में प्रउग या त्रिभुजाकार दो तख्ते होते हैं। उन दोनों के बीच में सुब्रह्मण्य (उद्गाता का सहायक) खड़ा होकर गाड़ी को चलाता है। सोम राजा उससे बहुत ऊँचा होता है। ऐसा कौन है जो सोम राजा के बराबर बैठ सके ? इसलिए वह खड़ा होकर गाड़ी को चलाता है ॥९॥

पलाश की शाखा से हाँकता है। जब गायत्री सोम की ओर उड़ी और उसको लिये जा रही थी तो एक बिना पैर के मनुष्य ने निशाना लगाकर गायत्री का या सोम राजा का एक पर गिरा दिया। वह गिरकर पर्ण हो गया। इसीलिए उसे पर्ण कहते हैं। वह सोचता है कि जो बात उस सोम के साथ हुई वह यहाँ भी हो। इसलिए वह पलाश से हाँकता है ॥१०॥

दो बैल जुतते हैं। यदि दोनों काले हों या एक काला हो तो जानना चाहिए कि वर्षा बहुत अच्छी होगी। यही विज्ञान है ॥११॥

बैलों को जोतता है यह मन्त्र पढ़कर–"उस्रावेतं धूर्षाहौ" (यजु० ४।३३)–"हे धुरे को सहन करनेवाले दो बैलो, तुम आओ।" क्योंकि ये दो बैल हैं और धुरे को सह सकते हैं। "युज्येथामनश्रू" (यजु० ४।३३)–"आँसूरहित तुम जुतो।" 'आँसूरहित' का अर्थ है दुःख-रहित'। "अवीरहणौ" (यजु० ४।३३)–"पापरहित।" "ब्रह्मचोदनौ" (यजु० ४।३३)–"ब्रह्म के प्रेरक।" "स्वस्ति यजमानस्य गृहान्गच्छतम्" (यजु० ४।३३)–"यजमान के घर में कल्याणकारक होकर आओ।" इसके कहने का प्रयोजन यह है कि मार्ग में दुष्ट राक्षस उसको न सतावें ॥१२॥

मुड़कर गाड़ी के पीछे जाता है और अपालम्ब (गाड़ी के पीछे एक लकड़ी का टुकड़ा लगा रहता है जिसे अपालम्ब कहते हैं) को पकड़कर (होता से) कहता है, 'खरीदे हुए सोम के लिए पढ़ो' या 'गाड़ी में लाये हुए सोम के लिए पढ़ो' इन दोनों वाक्यों में से जिस वाक्य को चाहे कहे ॥१३॥

अब वह मन्त्र पढ़वाता है–"भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते" (यजु० ४।३४)–"हे संसार के पति ! तू मेरे लिए कल्याणकारी है, चल।" सोम वस्तुतः उसके लिए कल्याणकारी है। अतः वह सोम के सिवाय और किसी का आदर नहीं करता। जिस प्रकार महाराजा के आधीन राजा

गछन्ति पूर्वो राज्ञोऽभिवदति भद्रो हि भवति तस्मादाह भद्रो मेऽसीति प्रच्यव-
स्व भुवस्पतऽइति भुवनानाᳫं ह्येष पतिर्विश्वान्यभि धामानीत्यङ्गानि वै विश्वा-
नि धामान्यङ्गान्येवैतदभ्याह मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विद-
न्मा त्वा वृका अघायवो विदन्निति यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षाᳫंसि न विन्देयुरेवमे-
तदाह ॥१४॥ श्येनो भूत्वा परापतेति । वय एवैनमेतद्भूतं प्रपातयति यद्वाऽअग्रं
तन्नाष्ट्रा रक्षाᳫंसि नान्ववयन्त्येतद्धि वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनस्तमेवैतद्भूतं प्रपा-
तयति यदाह श्येनो भूत्वा परापतेति ॥१५॥ अथ शरीरमेवान्ववहन्ति । यजमा-
नस्य गृहान्गछ तन्नौ सᳫंस्कृतमिति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१६॥ अथ सुब्रह्म-
ण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त्स्यात्तान्ब्रूयादित्यह्ने वः पक्तास्मीत्येवमेवैतद्देवे-
भ्यो यज्ञं निवेदयति सुब्रह्मण्यो३ᳫं सुब्रह्मण्यो३मिति ब्रह्म हि देवान्प्रच्यावयति
त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१७॥ इन्द्रागछेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मा-
दाहेन्द्रागछेति हरिव आगछ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नह-
ल्यायै जारेति तान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति ॥१८॥ कौशि-
क ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति । शश्वद्धैतदारुणिनाधुनोपज्ञातं यद्गौतम ब्रुवाणेति
स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेतेत्यह्ने सुत्यामिति यावदह्ने सु-
त्या भवति ॥१९॥ देवा ब्रह्माण आगछतेति । तद्देवांश्च ब्राह्मणांश्चाहैतैर्ह्यत्रोभ-
यैरर्थो भवति यद्देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥२०॥ अथ प्रतिप्रस्थाता । अग्रेण शालामग्नी-
षोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीषोमौ वाऽएतमन्तर्जम्भऽआदधाते यो दीक्षत
ऽआग्नावैष्णवᳫं ह्यदो दीक्षणीयᳫं हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वाऽए-
ष भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भऽआदधाति तत्पशुनात्मानं निष्क्रीणीते ॥२१॥
तद्धैके । आहवनीयादुल्मुकमाहरन्त्ययमग्निरयᳫं सोमस्ताभ्याᳫं सह सख्यां निष्क्रे-
ष्यामहऽइति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यत्र वाऽएतौ क्व च तत्सहैव ॥२२॥ स

लोग आते हैं और वह पहले उनका अभिवादन करता है और कल्याणकारी होता है, इसीलिए कहा, 'भद्रो मे ऽ असि'' इत्यादि। यह भुवनों का पति है। इसलिए कहा है 'चल'। ''विश्वान्यभि धामानि'' (यजु० ४।३४)—''सब धामों के लिए।'' 'विश्वानि धामानि' से तात्पर्य है अंगों से। ''मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृकाऽअघायवो विदन्'' (यजु० ४।३४)—''तुझे लुटेरे न मिलें, तुझे डाकू न मिलें, तुझे खाऊ भेड़िये न मिलें।'' यह इसलिये कहता है कि दुष्ट राक्षस उसको किसी प्रकार से न सतावें ॥१४॥

''श्येनो भूत्वा परापत'' (यजु० ४।३४)—''बाज होकर उड़ जा।'' उसको पक्षी बनाकर उड़ाता है। जो बलवान् होता है, दुष्ट राक्षस उसका पीछा नहीं करते। श्येन या बाज सब पक्षियों में बलवान् होता है। उसको बाज बनाकर उड़ाता है। इसलिये कहा, 'श्येनो भूत्वा' आदि ॥१५॥

अब वे उसके शरीर को लाते हैं। ''यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम्'' (यजु० ४।३४)—''यजमान के घरों को जा, जो हमारे लिए तैयार किया हुआ है।'' यह बहुत स्पष्ट है ॥१६॥

अब सुब्रह्मण्य-सम्बन्धी जाप करता है। जैसे जिन लोगों के लिए खाना पकाना हो उनसे कहे कि मैं आपके लिए अमुक दिन भोजन बनाऊँगा, इसी प्रकार देवताओं के लिए यज्ञ का निवेदन करता है। 'सुब्रह्मण्यमो३म्' ऐसा तीन बार कहता है, क्योंकि ब्रह्म ही देवताओं को प्रेरणा करता है। तीन बार कहने का प्रयोजन यह है कि यज्ञ के तीन भाग हैं ॥१७॥

'इन्द्र, आ।' इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसलिए कहा कि इन्द्र आ। 'आ जा; घोड़ोंवाले मेधातिथि के भेड़े, आ! वृषणश्व की स्त्री (या बाणी), आ! भैंस के सवार, आ! अहल्या के जार या उपपति, आ!' इन प्रकार वह उसको उसके व्यवहार में प्रसन्न करता है। (पता नहीं कि इन्द्र के ये नाम क्यों हैं? या इनका वास्तविक अर्थ क्या है) ॥१८॥

'कौशिक, ब्राह्मण, गौतम कहलानेवाले' (ये भी इन्द्र के ही नाम मालूम होते हैं)। आजकल आरुणि ने यह वाक्य निकाला है अर्थात् 'कौशिक, ब्राह्मण, गौतम कहलानेवाले'। यदि जी चाहे तो इस वाक्य को कहे, जी चाहे न कहे। 'इतने दिनों में सोम-यज्ञ होगा।' यहाँ जितने दिनों में होनेवाला हो उनके नाम ले दे ॥१९॥

'देव और ब्राह्मण, आओ!' यह वह देवों और ब्राह्मणों से कहता है, क्योंकि इन्हीं देवों और ब्राह्मणों की उसको आवश्यकता है ॥२०॥

अब प्रतिप्रस्थाता शाला के आगे अग्नि और सोम के पशु को लाता है। जो दीक्षा लेता है वह अपने-आपको अग्नि और सोम को डाढ़ों में रख देता है। दीक्षा की हवि वस्तुतः अग्नि और विष्णु की होती है। जो विष्णु है वही सोम है। हवि वही है जो दीक्षा लेता है। इस प्रकार उन्होंने उसको डाढ़ों में दबा लिया है और इस पशु के द्वारा ही उसका छुटकारा होता है ॥२१॥

कुछ लोग आहवनीय में से जलती लकड़ी निकाल लाते हैं यह कहते हुए, 'यह अग्नि है, यह सोम है। इन्हीं दोनों के सहारे हमारा उद्धार होगा।' परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। जहाँ कहीं वे हों वे साथ ही होते हैं ॥२२॥

वै द्विरूपो भवति । द्विदेवत्यो हि भवति देवतयोः समृद्ध्यै कृष्णसारंग स्यादित्याहुरेतद्ध्येनयो रूपतममिवेति यदि कृष्णसारंगं न विन्देद्योऽअपि लोहितसारंग स्यात् ॥२३॥ तस्मिन्वाचयति । नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतꣳ सपर्यत । दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शꣳसतेति नम एवास्माऽएतत्करोति मित्रधेयमेवैनेनैतत्कुरुते ॥२४॥ अथाध्वर्युरारोहणं विमुञ्चति । वरुणस्योत्तम्भनमसीत्युपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति शम्येऽउद्वृहति स यदाह वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमः क्रीतः ॥२५॥ अथ चत्वारो राजासन्दीमाददते । द्वौ वाऽअस्मै मानुषाय राज्ञऽआददातेऽथैतां चत्वारो योऽस्य सकृत्सर्वस्येष्टे ॥२६॥ औदुम्बरी भवति । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरी भवति ॥२७॥ नाभिदघ्ना भवति । अत्र वाऽअन्नं प्रतितिष्ठत्यन्नꣳ सोमस्तस्मान्नाभिदघ्ना भवत्यत्रोऽएव रेतस आशयो रेतः सोमस्तस्मादत्रदघ्ना भवति ॥२८॥ तामभिमृशति । वरुणस्यऽऋतसदन्यसीत्यथ कृष्णाजिनमास्तृणाति वरुणस्यऽऋतसदनमसीत्यथैनमासादयति वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति स यदाह वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति ॥२९॥ अथैनꣳ शालां प्रपादयति । स प्रपादयन्वाचयति या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् । गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यानिति गृहा वै दुर्या गृहान्नः शिवः शान्तोऽपापकृत्प्रचरेत्येवैतदाह ॥३०॥ अत्र हैके । उदपात्रमुपनिनयन्ति यथा राज्ञऽआगतायोदकमाहरेदेवमेतदिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्मानुषꣳ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्नोपनिनयेत् ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.४]॥ तृतीयोऽध्यायः [१८] ॥ ॥

शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं बाहू प्रायणीयोदयनीयौ । अभितो वै शिरो बाहू भ-

पशु दो रूप का होता है, क्योंकि दो देवताओं का होता है। कुछ का कथन है कि इन दोनों का मेल करने के लिए कृष्ण सारंग होना चाहिए, क्योंकि यही उन दोनों देवताओं के समानतम है। यदि कृष्ण-सा रंग न मिले तो लोहित सारंग (लाल धब्बेवाला) होना चाहिए ॥२३॥

अब यह मन्त्र पढ़वाता है—"नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतँ सपर्यत। दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शँसत" (यजु० ४।३५)—"मित्र और वरुण की आँख के लिए नमस्कार। बड़े देव के लिए इस पूजा को करो। इस दूरदर्शी देवोत्पन्न, केतु, द्यौ के पुत्र, सूर्य के लिए प्रशंसा करो।" इस प्रकार पशु की अर्चना करता है और उसकी मित्रता का चिह्न बनाता है ॥२४॥

अब अध्वर्यु कपड़े को कटाता है। "वरुणस्योत्तम्भनमसि" (यजु० ४।३६)—"वरुण का खम्भा है तू।" इससे गाड़ी में खम्भा लगाता है। "वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः" (यजु० ४।३६)—"तुम दोनों वरुण की खूँटी हो।" इससे खूँटियाँ निकालता है। 'वरुण की तुम दोनों खूँटियाँ हो' इसलिए कहता है कि सोम ही अब वरुण है ॥२५॥

अब चार आदमी सोम राजा के तख्त को उठाते हैं। मनुष्य राजा के तख्त को दो आदमी उठाते हैं। सोम राजा के तख्त को चार उठाते हैं क्योंकि यह सबके ऊपर है ॥२६॥

यह तख्त उदुम्बर की लकड़ी का होता है, उदुम्बर रस और अन्न है। रस और अन्न के लिए। इसलिए यह उदुम्बर की लकड़ी का होता है ॥२७॥

यह नाभि के बराबर ऊँचा होता है। क्योंकि नाभि तक ही अन्न पहुँचता है। सोम अन्न है, इसलिए यह नाभि के बराबर ऊँचा होता है। यहीं वीर्य रहता है, सोम वीर्य है। इसलिए नाभि के बराबर होता है ॥२८॥

अब वह तख्त को छूता है यह पढ़कर—'वरुणस्य ऽ ऋतसदन्यसि' (यजु० ४।३६)—"तू वरुण की उचित बैठक है।" अब वह उस पर काला मृग-चर्म बिछाता है यह पढ़कर—"वरुणस्य ऋतसदनमासीद" (४।३६)—"वरुण के उचित स्थान पर बैठ।" सोम अब वरुण जैसा हो गया। इसलिए कहा 'वरुण के उचित स्थान पर बैठ' ॥२९॥

अब सोम को शाला में ले जाता है। और ले जाते हुए यजमान से यह कहलवाता है—"या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्। गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्" (यजु० ४।३७)—"हवि से ये लोग तेरे जिन धामों की अर्चना करें वे सब धाम यज्ञ को चारों ओर से घेर लें। हे सोम, हमारे घरों में आ जा!" गृहस्थ की सम्पत्ति को देनेवाला, आपत्तियों का भगानेवाला, वीर और वीरों का हनन न करनेवाला, (ये चार विशेषण सोम के हैं) 'दुर्यान्' का अर्थ है घर। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे घर शुभ और शान्त तथा पापरहित होवें ॥३०॥

कुछ लोग जल के पात्र से जल उँडेलते हैं और कहते हैं कि जब राजा आता है तो उसके लिए भी जल-सिंचन किया जाता है; परन्तु ऐसा न करे। यह तो मानुषी क्रिया है, यज्ञ में मानुषी क्रिया करना ठीक नहीं। इसलिये जल-सिंचन न करे, क्योंकि ऐसा करना अनुचित है ॥३१॥

अध्याय ४—ब्राह्मण १

आतिथ्य (मेहमान का सत्कार) यज्ञ का सिर है। प्रायणीय और उदयनीय बाहू हैं।

वतस्तस्मादभित आतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च ॥१॥ अथ यस्मादातिथ्यं नाम । अतिथिर्वा एष एतस्यागच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषꣳ हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति ॥२॥ तदाहुः । पूर्वोऽतीत्य गृह्णीयादिति यत्र वा अर्हन्तमागतं नापचायन्ति क्रुध्यति वै स तत्र तथा हापचितो भवति ॥३॥ तद्वा अन्यतर एव विमुक्तः स्यात् । अन्यतरोऽविमुक्तोऽथ गृह्णीयात्स यदन्यतरो विमुक्तस्तेनागतो यद्वन्यतरोऽविमुक्तस्तेनापचितः ॥४॥ तदु तथा न कुर्यात् । विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयाद्यथा वै देवानां चरणं तद्वा अनु मनुष्याणां तस्मान्मानुषे यावन्न विमुञ्चते नैवास्मै तावदुदकꣳ हरन्ति नापचितिं कुर्वन्त्यनागतो हि स तावद्भवत्यथ यदैव विमुञ्चतेऽथास्मा उदकꣳ हरन्त्यथापचितिं कुर्वन्ति तर्हि हि स आगतो भवति तस्माद्विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयात् ॥५॥ स वै संत्वरमाण-इव गृह्णीयात् । तथा हापचितो भवति तत्पत्न्यन्वारभते पर्युह्यमाणं वै यजमानोऽन्वारभतेऽथात्र पत्न्युभयत एवैतन्मिथुनेनान्वारभेते यत्र वा अर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या-इव वै तत्र चेष्टन्ति तथा हापचितो भवति ॥६॥ स वा अन्येनैव ततो यजुषा गृह्णीयात् । येनो चान्यानि हवीꣳष्येकं वा एष भागं क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसाꣳ साम्राज्याय तस्य छन्दाꣳस्यभितः साचयानि यथा राज्ञोऽराजानो राजकृतः सूतग्रामण्य एवमस्य छन्दाꣳस्यभितः साचयानि ॥७॥ न वै तदवकल्पते । यच्छन्दोभ्य इति केवलं गृह्णीयाद्यत्र वा अर्हते पचन्ति तदभितः साचयोऽन्वाभक्ता भवन्त्यराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यस्तस्माद्यत्रैवैतस्यै गृह्णीयात्तदेव छन्दाꣳस्यन्वाभजेत् ॥८॥ स गृह्णाति । अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्रीमन्वाभजति ॥९॥ सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वेति । क्षत्रं वै सोमः क्षत्रं त्रिष्टुप्तत्त्रिष्टुभमन्वाभजति ॥१०॥ अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वेति ।

सिर के दोनों ओर बाहू होते हैं। इसलिये प्रायणीय और उदयनीय आहुतियाँ आतिथ्य के दोनों ओर होती हैं ॥१॥

यह आतिथ्य नाम यों पड़ा। यह जो खरीदा गया सोम है वह यजमान के पास अतिथि के रूप में आता है। जैसे राजा या ब्राह्मण के सत्कारार्थ [साथ आए] महोक्ष (बड़े बैल) या महाज (बड़े बकरे) को पकाते (पोषित करते) हैं, यह मानुषी सत्कार होता है, इसी प्रकार देवताओं के लिए हवि दी जाती है, इसलिए आतिथ्य-सत्कार किया जाता है। (सम्भव है 'महोक्ष' और 'महाज' किन्हीं भोजनविशेष के नाम हों) ॥२॥

इस पर कहते हैं कि पहले सोम के पास जाये, तब आतिथ्य की सामग्री निकाले। जब कोई अर्हन्त आता है और उसका कोई आदर नहीं करते तो वह क्रुद्ध हो जाता है। इस प्रकार सोम का सत्कार किया जाता है ॥३॥

उन (गाड़ी के बैलों) में से एक को मुक्त कर दे (जुआ खोल दे) और दूसरे को नहीं। एक को विमुक्त करने का अर्थ यह हुआ कि सोम आ गया, और दूसरे को न छोड़ने का अर्थ यह हुआ कि उसका सत्कार किया गया। (युक्ति हमारी समझ में नहीं आई—अनुवादक) ॥४॥

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। दोनों बैलों को खोलने और शाला में सोम के आने के पश्चात् सामग्री निकाले। जैसा देवों का चलन होता है वैसा ही मनुष्यों का। मनुष्यों में चलन यह होता है जब आगन्तुक बैल खोल देता है और भीतर आ जाता है तभी पानी लाते हैं और सत्कार करते हैं, क्योंकि तभी वह 'आया हुआ' समझा जाता है। इसी प्रकार बैल खोलकर और सोम को भीतर लाकर ही सामग्री इकट्ठी करे ॥५॥

इसमें शीघ्रता करनी चाहिए। सत्कार की यही रीति है। एक ओर से पत्नी आरम्भ करती है और दूसरी ओर से यजमान। इस प्रकार सोम के दोनों ओर पति और पत्नी लगते हैं। जब कोई अर्हन्त आता है तो सभी मिलकर सत्कार करते हैं। इसी प्रकार चेष्टा करते हैं और इसी प्रकार सत्कार किया जाता है ॥६॥

इस सामग्री को भिन्न यजुः से ग्रहण करे; उसी से नहीं जिससे अन्य हवियाँ ग्रहण की जाती हैं। क्योंकि जब सोम खरीदा जाता है तो विशेष कार्य के लिए खरीदा जाता है अर्थात् छन्दों के राज्य के लिए, छन्दों के साम्राज्य के लिए। छन्द सोम के परिचारक (सेवक) होते हैं। जैसे सूत या ग्रामीण लोग जो राजा नहीं हैं राजा के सेवक होते हैं, इसी प्रकार छन्द भी सोम के परिचारक होते हैं ॥७॥

ऐसा न चाहिए कि केवल छन्दों के लिए ही सामग्री ग्रहण करे। जब किसी अर्हन्त के लिए भोजन बनाते हैं तो जो उसके साथी सूत या ग्रामीण मनुष्य हैं, उनको भी राजा के साथ-साथ खाना देते हैं। इसी प्रकार जब सोम के सत्कार की सामग्री इकट्ठी करे तो छन्दों के लिए भी भाग निकाले ॥८॥

इस मन्त्र से ग्रहण करे—"अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"तू अग्नि का शरीर है। विष्णु के लिए तुझको।" अग्नि गायत्री है। इस प्रकार गायत्री को उसका भाग मिलता है ॥९॥

"सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"सोम का तू शरीर है। विष्णु के लिए तुझको।" सोम क्षत्र है। क्षत्र त्रिष्टुभ् है। इसलिये त्रिष्टुम् का सत्कार किया जाता है ॥१०॥

"अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"अतिथि का आतिथ्य है तू। तुझको

सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैषऽऋते छन्दोभ्यः ॥११॥ श्येनाय त्वा
सोमभृते विष्णवे त्वेति । तद्गायत्रीमन्वाभजति सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः
सोममाहरत्तेन सा श्येनः सोमभृत्तेनैवैनामेतद्वीर्येण द्वितीयमन्वाभजति ॥१२॥
अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेति । पशवो वै रायस्पोषः पशवो जगती तज्जगतीमन्वाभजति ॥१३॥ अथ यत्पञ्च कृत्वो गृह्णाति । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः
पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वो गृह्णात्यथ यद्विष्णवे त्वा विष्णवे त्वेति गृह्णाति विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति ॥१४॥ नवकपालः पुरोडाशो भवति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं नवाक्षरा वै गायत्र्यष्टौ तानि यान्यन्वाह प्रणवो नवमः पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मान्नवकपालः पुरोडाशो भवति ॥१५॥ काष्मर्यमयाः परिधयः । देवा ह वा
ऽएतं वनस्पतिषु रक्षोघ्नं ददृशुर्यत्काष्मर्यꣳ शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं नेच्छिरो यज्ञस्य
नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति तस्मात्काष्मर्यमयाः परिधयो भवन्ति ॥१६॥ अश्ववालः प्रस्तरः । यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम सोऽश्वो भूत्वा पराङावर्तत तस्य देवा
अनुहाय वालानभिपेदुस्तानालुलुपुस्तानालुप्य सार्धꣳ संन्यासुस्तत एता ओषधयः समभवन्यदश्ववालाः शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जघनार्धो वाला उभयत एवैतद्यज्ञं परिगृह्णाति यदाश्ववालः प्रस्तरो भवति ॥१७॥ ऐक्षव्यौ विधृती । नेद्बर्हिश्च
प्रस्तरश्च संलुभ्यात इत्यथोत्पूयाज्यꣳ सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति न
ह्यत्रानुयाजा भवन्ति ॥१८॥ आसाद्य हवीꣳष्यग्निं मन्थति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जनयन्ति वाऽएनमेतद्यन्मन्थन्ति शीर्षतो वाऽअग्रे जायमानो जायते शीर्षत
एवैतदग्रे यज्ञं जनयत्यग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति
शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यꣳ शीर्षत एवैतद्यज्ञꣳ सर्वाभिर्देवताभिः समर्धयति तस्मादग्निं
मन्थति ॥१९॥ सोऽधिमन्थनꣳ शकलमादत्ते । अग्नेर्जनित्रमसीत्यत्र ह्यग्निर्जायते

विष्णु के लिए।" यह उस (सोम) का भाग है। जैसे राजा का भाग अलग होता है, इसी प्रकार छन्दों से अतिरिक्त यह सोम का भाग है ॥११॥

"श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"तुझे सोम लानेवाले श्येन के लिए। तुझे विष्णु के लिए।" इस प्रकार गायत्री का भाग देता है, क्योंकि गायत्री श्येन होकर द्यौलोक से सोम लाई। इसलिए गायत्री को सोम लानेवाला 'श्येन' कहते हैं। इस पराक्रम के लिए उसको दूसरा भाग देता है ॥१२॥

"अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१)—"अग्नि के लिए तुझको, धन और पुष्टि के देनेवाले के लिए तुझको, विष्णु के लिए तुझको।" 'रायस्पोष' से यहाँ पशु से तात्पर्य है। पशु जगती हैं। इस प्रकार जगती का भाग देता है ॥१३॥

पंचगुना इसलिये लेता है कि यज्ञ संवत्सर के तुल्य है। संवत्सर में ऋतुएँ पाँच होती हैं। संवत्सर के पाँच भाग हैं। इसलिए वह पंचगुना लेता है। 'विष्णु के लिए तुझको, विष्णु के लिए तुझको' यह कहकर वह सामग्री इसलिए लेता है कि जो चीज यज्ञ के लिए ली जाती है वह विष्णु के लिए ही ली जाती है ॥१४॥

पुरोडाश के नौ कपाल होते हैं। आतिथ्य यज्ञ का शिर है। गायत्री में नौ अक्षर होते हैं। आठ तो वे हैं जो पढ़े जाते हैं और नवाँ प्रणव (ओ३म्) है। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। पुरोडाश भी यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसलिए उसमें नौ कपाल होते हैं ॥१५॥

परिधि की समिधाएँ कार्ष्मर्य लकड़ी की होती हैं। देवताओं ने अनुभव किया कि वृक्षों में यह वृक्ष राक्षसों का घातक है। आतिथ्य यज्ञ का सिर है। परिधियाँ कार्ष्मर्य की इसलिये होती हैं कि राक्षस यज्ञ के सिर को हानि न पहुँचा सकें ॥१६॥

प्रस्तर आश्ववाल घास का होता है। एक बार यज्ञ देवताओं के पास से भाग गया। वह घोड़ा बनकर भाग गया। देवों ने उसका पीछा किया और पूँछ के बाल तोड़ डाले, और उनको तोड़कर एक जगह फेंक दिया। उसकी अश्वबाल घास उग खड़ी हुई। आतिथ्य यज्ञ का सिर है और पूँछ के बाल पिछला भाग होते हैं। इस प्रकार अश्वबाल का प्रस्तर होने से वह यज्ञ को दोनों ओर से घेर लेता है ॥१७॥

विधृतियाँ (बर्हि के ऊपर रखने के डंठल) गन्ने की होती हैं जिससे बर्हि और प्रस्तर मिल न जायें। घी को शुद्ध करके सब-का-सब चार भागों में ले लेवे, क्योंकि इसमें अनुयाज नहीं होते ॥१८॥

हवियों को रखकर अग्नि का मंथन करता है। आतिथ्य यज्ञ का शिर है। अग्नि के मन्थन का अर्थ यह है कि यज्ञ को उत्पन्न किया जाय। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो सिर की ओर से उत्पन्न होता है, इस प्रकार वह यज्ञ को सिर की ओर से उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त अग्नि 'सब देवता' के अर्थ में आता है; अग्नि में सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। 'आतिथ्य यज्ञ का सिर है' इस प्रकार सब देवताओं के द्वारा वह यज्ञ को सिर अर्थात् आरम्भ से ही बढ़ाता है। इसलिये अग्नि का मंथन करता है ॥१९॥

अब अधिमंथन शकल को लेता है। (अधिमंथन शकल एक लकड़ी का टुकड़ा होता है जो अधरारणि के ऊपर रक्खा जाता है।) इस मन्त्र से—"अग्नेर्जनित्रमसि" (यजु० ५।२)—"तू अग्नि का जन्म-स्थान है।" क्योंकि यहीं तो अग्नि उत्पन्न की जाती है। इसलिए कहा कि 'तू

तस्मादाहाग्नेर्जनित्रमसीति ॥२०॥ अथ दर्भतरुणके निदधाति । वृषणौ स्थ इति तद्यावेवेमौ स्त्रियै साकञ्जावेतावेवैतौ ॥२१॥ अथाधरारणिं निदधाति । उर्वश्य-सीत्यथोत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशत्यायुरसीति तामभिनिदधाति पुरूरवा अ-सीत्युर्वशी वाऽअप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुरेवमेवैष एतस्मान्मिथुनाद्यज्ञं जनयत्यथाहाग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति ॥२२॥ स मन्थति । गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामीति तं वै छन्दोभिरेव मन्थति छन्दाꣳसि मथ्यमानायान्वाह छन्दाꣳस्येवै-तद्यज्ञमन्वायातयति यथामुमादित्यꣳ रश्मयो जातायानुब्रूहीत्याह यदा जायते प्र-ह्रियमाणायेत्यनुप्रहरन् ॥२३॥ सोऽनुप्रहरति । भवतं नः समनसौ सचेतसावरे-पसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य न इति शा-न्तिमेवाभ्यामेतद्वदति यथा नान्योऽन्यꣳ हिꣳस्याताम् ॥२४॥ अथ स्रुवेणोपहत्या-ज्यम् । अग्निमभिजुहोत्यग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा । स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहेत्याकृत्यै वाऽएतमजी-जनत तमेतयाकृत्याप्रैषीत्तस्मादेवमभिजुहोति ॥२५॥ तदिडान्तं भवति । नानुया-जान्यजन्ति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं पूर्वार्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभिसꣳस्क-रोति स यद्धानुयाजान्यजेद्यथा शीर्षतः पर्याहृत्य पादौ प्रतिदध्यादेवं तत्तस्मादि-डान्तं भवति नानुयाजान्यजन्ति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥२ [४.१]॥ ॥

आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा । तान्त्समदविन्दत्ते चतुर्धा व्यद्रवन्नन्योऽन्यस्य श्रि-याऽअतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैर्वरुण आदित्यैरिन्द्रो मरुद्भिर्बृहस्पतिर्वि-श्वैर्देवैरित्यु हैकऽआहुरेते ह त्वेव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा व्यद्रवंस्तान्विद्रु-तानसुररक्षसान्यनुव्यवेयुः ॥१॥ तेऽविदुः । पापीयाꣳसो वै भवामोऽसुररक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुर्द्विषद्भ्यो वै रध्यामो हन्त संजानामहाऽएकस्य श्रियै तिष्ठामहा

अग्नि का जन्म-स्थान है' ॥२०॥

अब वह दो दर्भ के डंठल रखता है, यह मन्त्र पढ़कर—"वृषणौ स्थ" (यजु० ५।२)—"तुम नर हो।" यहाँ ये इसी प्रकार हैं जैसे किसी स्त्री के दो बच्चे एक-साथ उत्पन्न हुए हों ॥२१॥

अब वह अधरारणि (नीचे की लकड़ी) को रखता है यह मन्त्र पढ़कर—"उर्वश्यसि" (यजु० ५।२)—"तू उर्वशी है।" अब वह घी की थाली को उत्तरारणि (ऊपर की लकड़ी) से छूता है, यह मन्त्र कहकर—"आयुरसि" (यजु० ५।२)—"तू आयु है।" और उसको (अधरारणि के ऊपर) रख देता है यह कहकर—"पुरूरवाऽअसि" (यजु० ५।२)—"तू पुरूरवा है।" उर्वशी अप्सरा थी और 'पुरूरवा' उसका पति था, और उनके जोड़े से जो लड़का उत्पन्न हुआ वह 'आयु' था। इसी प्रकार वह यज्ञ को जोड़े से उत्पन्न करता है। अब वह (होता से) कहता है कि मथी जानेवाली आग से प्रार्थना कर ॥२२॥

अब वह आग का मंथन करता है यह पढ़कर—"गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि' (यजु० ५।२)--"तुझे गायत्री छन्द से मथता हूँ, त्रिष्टुभ् छन्द से मथता हूँ, जगती छन्द से मथता हूँ।" अग्नि को छन्दों से मथता है, या मथ जाती हुई अग्नि के लिए मन्त्र पढ़ता है। इस प्रकार वह छन्दों को यज्ञ से संयुक्त कर देता है जैसे किरणें उस सूर्य से संयुक्त होती हैं। फिर कहता है 'इस उत्पन्न हुए के लिए मन्त्र पढ़ो।' जब उसको 'आहवनीय' पर डालता है तो कहता है, 'डाले हुए के लिए मन्त्र पढ़ो' ॥२३॥

वह अग्नि को इस मन्त्र से (वेदी में) डालता है—"भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञ ँ् हि ँ् सिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः" यजु० ५।३)—"हमारे लिए तुम एक मनवाली, एक बुद्धिवाली और पापरहित हो जाओ। यज्ञ को हानि न पहुँचाओ। यज्ञपति को हानि न पहुँचाओ। हे दोनों जातवेद अग्नियो! आज हमारे लिए कल्याणकारी हो जाओ।" दोनों की शान्ति के लिए वह ऐसा कहता है जिससे एक-दूसरे को हानि न पहुँचा सकें ॥२४॥

अब स्रुवा से घी लेकर इस मन्त्र से अग्नि में छोड़ता है—"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्य ँ् सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा" (यजु० ५।४)—"ऋषियों का पुत्र पाप से बचानेवाले अग्नि (आहवनीय अग्नि) में प्रविष्ट होकर चलता है। वह अग्नि हमारे लिए सुखकर होकर अच्छे प्रकार यज्ञ करे, देवताओं के लिए हवि को कभी वंचित न करते हुए।" आहुति के लिए अग्नि को उत्पन्न किया और आहुति से ही उसको प्रसन्न किया। इसलिए उसमें यह आहुति देता है ॥२५॥

अन्त में इसमें इडा आती है। इसके पीछे अनुयाज नहीं होते। आतिथ्य यज्ञ का सिर है। सिर पूर्वार्ध होता है। उसको यज्ञ का पूर्वार्द्ध करके संस्कृत करता है। यदि वह अनुयाज को करता तो सिर की जगह पैर कर देता। इसलिए अन्त में इडा आती है और अनुयाज नहीं होता ॥२६॥

अध्याय ४—ब्राह्मण २

जब देवताओं ने आतिथ्य कर लिया तो उनमें झगड़ा हो गया। वे चार भागों में बँट गये और एक-दूसरे की महत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। कहते हैं कि अग्नि वसुओं के साथ हुआ, सोम रुद्रों के, वरुण आदित्यों के, इन्द्र मरुतों के और बृहस्पति विश्वेदेवों के, परन्तु ये जो चार भागों में बँटे वे 'विश्वेदेव' ही थे। जब वे अलग-अलग हो गये तो असुर राक्षस उनके बीच में आ घुसे ॥१॥

उनको मालूम हो गया—'अरे हम पापी हो गये, असुर राक्षस हमारे बीच में आ घुसे हैं, शत्रु अवश्य हमको विध्वंस कर देंगे। आओ, हम अपने में से एक की महत्ता स्वीकार कर लें।' तब

ऽइति तऽइन्द्रस्य श्रियाऽअतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा
इति ॥२॥ तस्मादु ह न स्वा आर्तीयेरन् । य एषां परस्तरामिव भवति स ए-
नाननुव्यवैति ते प्रियं द्विषतां कुर्वन्ति द्विषद्भ्यो रध्यन्ति तस्मान्नऽर्तीयेरन्त्स यो
हैवं विद्वान्नऽर्तीयतेऽप्रियं द्विषतां करोति न द्विषद्भ्यो रध्यति तस्मान्नऽर्तीयेत
॥३॥ ते होचुः । हन्तेदं तथा करवामहै यथा न इदमाप्रदिवमेवाजर्यमसदिति
॥४॥ ॥ शतम् १७०० ॥ ॥ ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समव-
ददिरे ते होचुरेतेन नः स नानासदेतेन विष्वङ्यो न एतदतिक्रामादिति कस्यो-
पद्रष्टुरिति तनूनप्तुरेव शाक्वरस्येति यो वाऽअयं पवतऽएष तनूनपाच्छाक्वरः सो
ऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ ॥५॥ तस्मादाहुः । मनो देवा
मनुष्यस्याजानन्तीति मनसा संकल्पयति तत्प्राणमपिपद्यते प्राणो वातं वातो दे-
वेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः ॥६॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । मनसा संक-
ल्पयति तद्वातमपिगच्छति । वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन इति ॥७॥
ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे ते होचुरेतेन नः स
नानासदेतेन विष्वङ्यो न एतदतिक्रामादिति तद्देवा अप्येतर्हि नातिक्रामन्ति के
हि स्युर्यदतिक्रामेयुरनृतꣳ हि वदेयुरेकꣳ ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव त-
स्मादेषां जितमनपजय्यं तस्माद्यश एवꣳ ह वाऽअस्य जितमनपजय्यमेवं यशो भ-
वति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति तदेतत्तानूनप्त्रं निदानेन ॥८॥ ते देवाः । जु-
ष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरेऽथैतऽआज्यान्येव गृह्णाना जुष्टास्त-
नूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवद्यन्ते तस्मादु ह न सर्वेणेव समभ्यवेयान्नेन्मे
जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समभ्यवायानिति येनो ह समभ्यवेयान्नास्मै
द्रुह्येदिदꣳ ह्याहुर्न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति ॥९॥ अथातो गृह्णात्येव । आ-
पतये त्वा परिपतये गृह्णामीति यो वाऽअयं पवतऽएष आ च पतति परि च प-

उन्होंने इन्द्र की श्रेष्ठता मान ली, इसलिए इन्द्र ही सर्व-देवता है। इन्द्र ही को देवों ने श्रेष्ठ माना है ॥२॥

इसलिए आपस में झगड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि इनका कोई (शत्रु) दूर भी होता है तो इनमें घुस आता है, और शत्रु को जो प्रिय होता है वे उसी को करने लगते हैं, और शत्रु उनका विध्वंस कर देता है। इसलिए झगड़ा नहीं करना चाहिए। जिसको इसका ज्ञान है वह झगड़ता नहीं और वही करता है जो शत्रु को अप्रिय होता है, और शत्रु उसका नाश नहीं कर सकता; इसलिए झगड़ा नहीं करना चाहिए ॥३॥

तब उन्होंने कहा कि ऐसी बात करनी चाहिए कि यह हमारी मैत्री अजर-अमर हो जाय और कभी नष्ट न हो ॥४॥ [शतम् १७००]

उन दोनों ने अपने प्रिय शरीरों और धामों को एकत्र कर लिया अर्थात् अपनी शक्तियों को संयुक्त किया और कहने लगे कि हमारी इस सन्धि का हममें से जो कोई उल्लङ्घन करेगा वही नाश को प्राप्त हो जायेगा। इसका उपद्रष्टा (गवाह) कौन है? 'बलवान् तनूनपात्।' यह जो बहता है अर्थात् वायु, वही बलवान् तनूनपात् है। यही प्रजाओं का उपद्रष्टा (गवाह) है क्योंकि यह प्राण और उदान होकर घुसता है ॥५॥

इसीलिए कहा है—'देव मनुष्यों के मन की बात जानते हैं।' जो संकल्प मन में उठता है वह प्राण तक आता है, प्राण से वायु तक, वायु देवताओं को बता देता है कि मनुष्य के मन में क्या है ॥६॥

यही बात है जो ऋषि ने कही थी—'जो मन में संकल्प होता है वह वायु को पहुँच जाता है, वायु देवताओं से कह देता है कि इस पुरुष के मन में यह है।' (प्रतीत होता है कि यहाँ वायु का अर्थ है वात-संस्थान या Nervous System और देवों का इन्द्रियाँ। मन के संकल्प Nervous System के द्वारा इन्द्रियों तक आते हैं यह एक स्पष्ट बात है) ॥७॥

देवों ने अपने प्यारे शरीरों और धामों को (शक्तियों को) एकत्र कर लिया और उन्होंने कहा कि हममें से जो इस सन्धि का उल्लङ्घन करेगा वह हममें से निकल जायगा और उसका नाश हो जायगा। और अब भी देव इसका उल्लङ्घन नहीं करते। क्योंकि अगर वे उसका उल्लङ्घन करें तो उनकी क्या दशा हो! वे झूठे पड़ जायँ। देव एक ही व्रत पर चलते हैं, वह है सत्य। इसी से उनकी विजय होती है और कोई उनको जीत नहीं सकता। जो इस रहस्य को जानकर सत्य बोलता है उसकी जीत होती है, उसको कोई पराजित नहीं कर सकता। अब तनूनप्त्र यही व्रत है ॥८॥

देवों ने अपने प्यारे शरीर और धामों (शक्तियों) को संयुक्त कर लिया। घी की आहुतियों को ग्रहण करके ही वे अपने शरीरों और धामों को संयुक्त करते हैं। ऐसा न चाहिए कि हर किसी के साथ अपनी शक्तियाँ जोड़ दी जायँ, क्योंकि दूसरे का उन पर साझा हो जाता है। परन्तु जिसके साथ सन्धि करे उसका उल्लङ्घन न करे, क्योंकि कहा है कि 'जिसके साथ तनूनपात् सन्धि हो जाय उसके साथ द्रोह न करना चाहिए' ॥९॥

अब पहले इस मन्त्र से आज्य ग्रहण करता है—"आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि" (यजु० ५।५)—"मैं तुझको उसके लिए लेता हूँ जो आगे को बहता है, जो चारों ओर बहता है (अर्थात् वायु)।" यह जो बहनेवाला वायु है वही 'आपतति' और 'परिपतित' अर्थात् आगे को

तन्वेतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाहापतये त्वा परिपतये गृह्णामीति ॥१०॥ तनू-नप्त्रे शाक्वरायेति । यो वाऽअयं पवतऽएष तनूनपा शाक्वर एतस्माऽउ हि गृ-ह्णाति तस्मादाह तनूनप्त्रे शाक्वरायेति ॥११॥ शक्मनऽओजिष्ठायेति । एष वै शक्मौजिष्ठ एतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाह शक्मनऽओजिष्ठायेति ॥१२॥ अथा-तः समवमृशन्त्येव । एतद्ध देवा भूयः समामिरऽइत्थं नः सोऽमुथासद्यो न एत-दतिक्रामादिति तथोऽएवैतऽएतत्सममतऽइत्थं नः सोऽमुथासद्यो न एतदतिक्रा-मादिति ॥१३॥ ते समवमृशन्ति । अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोज इत्यनाधृष्टा हि देवा आसन्ननाधृष्याः सह सन्तः समानं वदन्तः समानं दधाना देवानामोज इति देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामान्यनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्ते-न्यमिति सर्वाꣳ हि देवा अभिशस्तिं तीर्णा अञ्जसा सत्यमुपगेषमिति सत्यं वदा-नि मेदमतिक्रमिषमित्येवैतदाह स्विते मा धा इति स्विते हि तद्देवा आत्मान-मदधत यत्सत्यमवदन्यत्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते मा धा इति ॥१४॥ अथ या-स्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवदद्रिरे तदिन्द्रे संन्यदधतैष वाऽइन्द्रो य एष तपति न ह वाऽएषोऽग्रे तताप यथा हैवेदमन्यत्कृष्णमेवꣳ हैवास तेनैवैतद्वीर्येण तपति तस्माद्यदि बहवो दीक्षेरन्गृहपतयऽएव व्रतमभ्यु-त्सिच्य प्रयच्छेयुः स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति यद्यु दक्षिणावता दीक्षेत यजमा-नायैव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुरिदꣳ ह्याहुरिन्द्रो यजमान इति ॥१५॥ अथ या-स्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवदद्रिरे तत्सार्धꣳ संजघ्ने तत्सा-माभवत्तस्मादाहुः सत्यꣳ साम देवत्रꣳ सामेति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.२]॥ ॥

आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा । तान्त्समदविन्दत्ते तानूनप्त्रैः समशाम्यंस्तऽएतस्य प्रायश्चित्तिमैछन्यदन्योऽन्यं पापमवदन्नाह पुरावभृथात्सु दीक्षामवाकल्पयंस्तऽए-तामवान्तरां दीक्षामपश्यन् ॥१॥ तेऽग्निमेव त्वचं विपल्याङ्कयन्त । तयो वाऽअ-

चलता है, चारों ओर चलता है। इसीलिए कहा कि 'आपतये त्वा' आदि ॥१०॥

"तनूनप्त्रे शाक्वराय" (यजु० ५।५)—"बलवान् तनूनप्तृ के लिए।" 'तनूनप्तृ शाक्वर' से तात्पर्य है वायु। यह आज्य उसी के लिए ग्रहण करता है, इसलिए कहा 'तनूनप्त्रे' इति॥११॥

"शक्वनऽओजिष्ठाय" (यजु० ५।५)—"शक्तिवाले और ओज के लिए।" वस्तुतः वही (वायु) शक्तिवाला और ओजवाला है। उसी के लिए वह ग्रहण करता है, इसलिए कहता है—'शक्वने' इति ॥१२॥

अब वे इसको छूते हैं। देवतागण इस बात पर एकमत हो गये थे कि जो हममें से इसका उल्लङ्घन करेगा उसकी यह गति होगी। इसी प्रकार यह होता और यजमान भी इस बात पर एकमत हो जाते हैं कि जो कोई हमसे से इसका उल्लङ्घन करेगा उसकी ऐसी गति होगी ॥१३॥

वे इस मन्त्र को बोलकर छूते हैं—"अनाधृष्ट मस्यनाधृष्यं देवानामोजः" (यजु० ५।५)—"तू अजेय है (कोई तुझको जीत नहीं सकता) क्योंकि देवताओं का ओज अजेय होता है।" क्योंकि देवता-गण जब एक मिलकर बोलते और एक-साथ रहते हैं तो अजेय होते हैं, कोई उन-पर आक्रमण नहीं कर सकता। 'देवों के ओज' का अर्थ है उनके प्यारे शरीर और धाम अर्थात् शक्तियाँ। अब कहा—"अनभिशस्त्यभिशस्तिपा ऽ अनभिशस्तेन्यम्" (यजु० ५।५)—"जिन पर शाप नहीं लगा, जो शाप से रक्षा करते हैं और जिनपर शाप नहीं लग सकता।" क्योंकि सब देव शाप को पार कर जाते हैं। "अञ्जसा सत्यमुपगेषम्" (यजु० ५।५)—"सीधा सच को प्राप्त हो जाऊँ।" इसका तात्पर्य है कि सत्य ही बोलूँ और व्रत का उल्लङ्घन न करूँ। अब कहा—"स्विते मा धाः" (यजु० ५।५)—"मुझे कल्याण में स्थापित कर।" क्योंकि निश्चय ही देवों ने अपने को कल्याण में स्थापित किया जब उन्होंने सत्य बोला और जो सत्य था उसी को किया। इसीलिए कहा—'स्विते मा धाः' ॥१४॥

देवों ने जिन प्यारे शरीरों और धामों को इकट्ठा किया था उनको उन्होंने इन्द्र में स्थापित कर दिया। निश्चय करके इन्द्र वही है जो वह तपता है (अर्थात् सूर्य)। यह पहले तपता (चमकता) नहीं था। यह ऐसा ही काला (अन्धकारमय) था जैसे अन्य सब। यह वही (देवों का दिया हुआ) पराक्रम है जिससे वह चमकता है। इसलिए यदि बहुत-से दीक्षित होते हों तो इस (तानूनप्त्र आज्य) को दूध मिलाकर गृहपति को ही देना चाहिए, क्योंकि गृहपति ही इन्द्र के तुल्य है; और यदि दक्षिणा के साथ दीक्षा हो तो इस (आज्य) को दूध मिलाकर गृहपति को ही देना चाहिए क्योंकि कहा भी है कि 'यजमान ही इन्द्र है' ॥१५॥

देवों ने जिन प्यारे शरीरों और धामों (शक्तियों) को इकट्ठा किया वह सब मिलाया गया और वह साम हो गया। इसीलिए कहा है 'साम सत्य है, साम देवज (देवों से उत्पन्न हुआ) है' ॥१६॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

जब देव आतिथ्य-इष्टि कर चुके तो उनमें झगड़ा हो गया। इसको उन्होंने तानूनप्त्र द्वारा शान्त किया और इच्छा करने लगे कि यह जो हमने एक-दूसरे की बुराई की है, उसका प्रायश्चित्त होना चाहिए। अवभृथ स्नान से पहले उन्होंने कोई और प्रायश्चित्त रक्खा नहीं था। इसलिए उन्होंने अवान्तरा-दीक्षा निकाली ॥१॥

अग्नि के द्वारा उन्होंने त्वचा से शरीर को ढक लिया। अग्नि का अर्थ है 'तप' और दीक्षा

ग्निस्तपो दीक्षा तदवान्तरां दीक्षामुपायंस्तद्यदवान्तरां दीक्षामुपायंस्तस्मादवान्तरदी-
क्षा संतरामङ्गुलीराचक्षत संतरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यास्यन्त तथो
ऽएवैष एतद्यदतः प्राचीनमव्रत्यं वा करोत्यव्रत्यं वा वदति तस्यैवैतत्प्रायश्चित्तिं
कुरुते ॥२॥ सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्गयते । तपो वाऽअग्निस्तपो दीक्षा तदवा-
न्तरां दीक्षामुपैति संतरामङ्गुलीरचते संतरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्य-
स्यते प्रजामु हैव तद्देवा उपायन् ॥३॥ तेऽग्निनैव त्वच विपल्याङ्गयन्त । अग्निर्वै
मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपायन्त्संतरामङ्गुलीराचक्षत संतरां मेखलां तत्प्र-
जामात्मन्नकुर्वत तथोऽएवैष एतत्प्रजामेवोपैति ॥४॥ सोऽग्निनैव त्वचं विपल्य-
ङ्गयते । अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपैति संतरामङ्गुलीरचते संत-
रां मेखलां तत्प्रजामात्मन्कुरुते ॥५॥ देवानामु ह स्म दीक्षितानाम् । यः समि-
द्धारो वा स्वाध्यायं वा विसृजते तꣳ ह स्मेतरस्यैवेतरꣳ रूपेणेतरस्येतरमसुररक्ष-
सानि जिघाꣳसन्ति ते ह पापं वदन्त उपसमेयुरिति वै मां त्वमचिकीर्षीरिति मा-
जिघाꣳसीरित्यग्निर्हैव तथा नान्यमुवादाग्निं तथा नान्यः ॥६॥ ते होचुः । अपीत्थं
त्वामग्नेऽवादिषू३रिति नैवाहमन्यं न मामन्य इति ॥७॥ तेऽविदुः । अयं वै नो
विरक्षस्तमोऽस्यैव रूपमसाम तेन रक्षाꣳस्यतिमोक्ष्यामहे तेन स्वर्गं लोकꣳ सम-
श्नुविष्यामहऽइति तेऽग्नेरेव रूपमभवंस्तेन रक्षाꣳस्यत्यमुच्यन्त तेन स्वर्गं लोकꣳ
समाश्नुवत तथोऽएवैष एतदग्नेरेव रूपं भवति तेन रक्षाꣳस्यतिमुच्यते तेन स्वर्गं
लोकꣳ समश्नुते स वै समिधमेवाभ्यादधदवान्तरदीक्षामुपैति ॥८॥ स समिधमभ्या-
दधाति । अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपा-
स्त्वे व्रतपा इति या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि । सह
नौ व्रतपते व्रतानीति तदग्निना त्वचं विपल्यङ्गयतेऽनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्य-
तामनु तपस्तपस्पतिरिति तदवान्तरां दीक्षामुपैति संतरामङ्गुलीरचते संतरां मे-

'तप' है। इस प्रकार उन्होंने अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त किया; और चूँकि अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त किया इसलिये अवान्तरा-दीक्षा की जाती है। उन्होंने अँगुलियों को कड़ा करके मोड़ लिया (मुट्ठी बाँध ली) और मेखला को कस लिया, जैसा कि पहले था। इसी प्रकार वह भी प्रायश्चित्त करता है, उस सबके लिए जो व्रत के विरुद्ध उसने किया हो या कहा हो ॥२॥

उन्होंने अग्नि के द्वारा त्वचा को शरीर के चारों ओर लपेटा। अग्नि तप है। दीक्षा तप है। इस प्रकार वह अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त करता है। अँगुलियों को भीतर की ओर मोड़ता है और मेखला को कसता है जैसे पहले था। देवों ने इसके द्वारा प्रजा की प्राप्ति की थी ॥३॥

अग्नि के द्वारा उन्होंने शरीर पर त्वचा लपेटी। अग्नि मिथुन (जोड़े) का कर्त्ता या जनक है। इससे उनको सन्तान की प्राप्ति हुई। उन्होंने अपनी मुट्ठी बाँध ली और मेखला कस ली और अपने लिए सन्तान उत्पन्न की। इसी प्रकार यजमान भी सन्तान की प्राप्ति करता है ॥४॥

अग्नि के द्वारा वह त्वचा को शरीर पर लपेटता है। अग्नि मिथुन (स्त्री-पुरुष के प्रसंग) का कर्त्ता और जाननेवाला है। वह मुट्ठी को बाँधता और मेखला को कसता है। इस प्रकार सन्तान को प्राप्त करता है ॥५॥

जब देव दीक्षित हो गये तो उनमें जो कोई समिधा लाता या स्वाध्याय का मन्त्र पढ़ता उसका ही वह-वह रूप धारण करके असुर राक्षस उसको मारते। और देवता-गण आपस में कहते कि तुमने मेरा अहित किया, तुमने मुझे मारा। केवल अग्नि ने किसी से ऐसा नहीं कहा, न किसी ने अग्नि से कहा ॥६॥

उन्होंने पूछा—'हे अग्नि, क्या तुझसे भी उन्होंने ऐसा कहा?' उसने उत्तर दिया कि 'न मैंने किसी से ऐसा कहा, न किसी ने मुझसे ऐसा कहा' ॥७॥

उन्होंने जान लिया कि यही हमारे बीच में ऐसा है जो राक्षसों को मार सकता है। हमको इसी का रूप धारण करना चाहिए। इससे हम राक्षसों से बच सकेंगे और स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे। उन्होंने अग्नि का रूप धारण कर लिया और राक्षसों से बच गये और स्वर्ग प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार यह भी अग्नि का रूप धारण करता, राक्षसों से बचता और स्वर्ग की प्राप्ति करता है। वह समिधा को (आहवनीय अग्नि पर) रखकर अवान्तरा-दीक्षा को प्राप्त करता है ॥८॥

वह यह मन्त्र पढ़कर समिधा रखता है—"अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपाः" (यजु० ५।६)—"हे अग्नि, व्रत के पालनेवाले, तुझ पर, हे व्रत के पालनेवाले!" अग्नि देवों का व्रतपति है, इसलिए कहा—"अग्ने व्रतपा' इत्यादि। "या तव तनूरियँ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि। सह नौ व्रतपते व्रतानि" (यजु० ५।६)—"जो तेरा शरीर है, वह मेरा हो। जो मेरा शरीर है, वह तेरा हो। हे व्रतपते! हम दोनों के व्रत एक-से हों।" इस प्रकार वह अग्नि के द्वारा अपने को त्वचा से ढकता है। "अनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः" (यजु० ५।६)—"दीक्षा-पति मेरी दीक्षा को स्वीकार करे और तप का पति मेरे तप को स्वीकार करे।" इस प्रकार वह अवान्तरा-

खलां पर्यस्तामेवैतत्सतीं पर्यस्यते ॥९॥ अथैनमन्तो मदन्तीभिरुपचरन्ति । तपो
वाऽअग्निस्तपो मदन्त्यस्तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति ॥१०॥ अथ मदन्तीभिरुपस्पृ-
श्य । राजानमाप्याययन्ति तद्यन्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति वज्रो वाऽआ-
ज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसामेति तस्मान्मदन्तीरुपस्पृश्य
राजानमाप्याययन्ति ॥११॥ तदाहुः । यस्माऽएतदाप्यायनं क्रियतऽआतिथ्यꣳ सो-
माय तमेवाग्रऽआप्याययेयुरथावान्तरदीक्षामथ तानूनप्त्राणीति तदु तथा न कुर्या-
द्यज्ञस्य वाऽएतं कर्मात्र वाऽएनान्त्समदविन्दत्ते सꣳशममेव पूर्वमुपायन्नथावान्तर-
दीक्षामथाप्यायनम् ॥१२॥ तद्यदाप्याययन्ति । देवो वै सोमो दिवि हि सोमो
वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जाय-
तऽइति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्ति तां दीक्षोपसद्भि-
स्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति तथोऽएवैनामेष एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रै-
राप्यायनेन सोमं करोति ॥१३॥ मधु सारघमिति वाऽआहुः । यज्ञो ह वै मधु
सारघमथैतऽएव सरघो मधुकृतो यदृत्विजस्तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुरेवमे-
वैतद्यज्ञमाप्याययन्ति ॥१४॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते
होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु
मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्त-
स्माद्यूपो नाम ॥१५॥ तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञꣳ समभरन्यथायं यज्ञः
सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञꣳ सम्भरति यो दीक्षते वाग्वै यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य नि-
र्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति ॥१६॥ ते वै षड्भूत्वाप्याययन्ति । षड्वा
ऽऋतव ऋतव एवैतद्भूत्वाप्याययन्ति ॥१७॥ तऽआप्याययन्ति । अꣳशुरꣳशुष्टे देव
सोमाप्यायतामिति तदस्याꣳशुमꣳशुमेवाप्याययन्तीन्द्रायैकधनविदऽइतीन्द्रो वै य-
ज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेत्येकधनविदऽइति शतꣳ-शतꣳ ह स्म वाऽएष दे-

दीक्षा को करता है। मुट्ठी को कड़ा बाँधता है और मेखला को कसता है जैसे वह पहले था ॥९॥

अब वे उसका मदन्ती जल (गरम जलों) से सत्कार करते हैं। अग्नि तप है, मदन्ती जल तप हैं। इसलिए मदन्ती जलों से सत्कार करता है ॥१०॥

मदन्ती जलों को छूकर वे सोम राजा को सम्पुष्ट करते हैं। वे मदन्ती जलों को छूकर सोम राजा को क्यों सम्पुष्ट करते हैं? इसलिए कि घी वज्र है और सोम वीर्य। मदन्ती जलों को छूकर वे सोम राजा को इसलिए सम्पुष्ट करते हैं कि कहीं वज्ररूपी घी से वीर्यरूपी सोम को हानि न पहुँचे ॥११॥

कुछ लोग कहते हैं कि पहले सोम को सम्पुष्ट करना चाहिए जिसके लिए आतिथ्य किया जाता है, फिर अवान्तर दीक्षा, फिर तानूनप्त्र। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यज्ञ का कर्म ऐसा ही था। उसमें झगड़ा हो गया। पहले पुरानी शान्ति मिली, फिर अवान्तरा दीक्षा, फिर सम्पुष्टि ॥१२॥

वे उसकी सम्पुष्टि क्यों करते हैं? सोम देव है। सोम द्यौलोक में है। सोम वृत्र था। जो पहाड़ और पत्थर थे, वे उसके शरीर थे, क्योंकि उसपर उशान औषध उगती है। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने कहा—'वे इसको लाते और निचोड़ते हैं और दीक्षा, उपसद, तनूनप्त्र और सम्पुष्टि द्वारा वे इसका सोम बनाते हैं' ॥१३॥

कहते हैं कि यह मक्खियों का शहद है। यज्ञ ही मक्खियों का शहद है; बनानेवाली मक्खियाँ ऋत्विज हैं। जैसे मक्खियाँ मधु की पुष्टि करती हैं उसी प्रकार ऋत्विज यज्ञ की पुष्टि करते हैं ॥१४॥

यज्ञ के द्वारा ही देवों ने वह विजय पाई जो उनको प्राप्त है। उन्होंने सोचा कि यह कैसे हो कि मनुष्य हमारे इस स्थान तक न चढ़ सके? उन्होंने यज्ञ के रस को इस प्रकार चूस लिया जैसे शहद की मक्खियाँ शहद को चूस लेती हैं और यज्ञ को यूप के द्वारा बिखेरकर अन्तर्धान हो गये। यूप को यूप इसलिए कहते हैं कि इसके द्वारा यज्ञ को बिखेरा गया ॥१५॥

ऋषियों ने इसको सुन लिया। उन्होंने यज्ञ को इकट्ठा किया। इसी प्रकार वह भी यज्ञ को इकट्ठा करता है जो दीक्षित होता है। वाणी ही यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ का जो भाग चूस लिया गया था उसकी पूर्ति कर देता है ॥१६॥

वे छः होकर [अर्थात् ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु, आग्नीध्र और यजमान] (सोम की) पुष्टि करते हैं। छः ऋतुएँ बनकर वे इसकी पुष्टि करते हैं ॥१७॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर पुत्रेष्टि करते हैं—"अँशुरँशुष्टे देव सोमाप्यायताम्" (यजु० ५।७)—"हे देव सोम, तेरा अंशु-अंशु (प्रत्येक डण्ठल) पुष्ट हो।" ऐसा कहकर वे सोम का प्रत्येक डंठल पुष्ट करते हैं।" 'इन्द्रायैकधनविदे" (यजु० ५।७)—"एक-धन प्राप्त करनेवाले इन्द्र के लिए।" (या तो इसका अर्थ यह है कि सोम-मात्र जो धन है उसको लेनेवाला, या उस घड़े का नाम भी 'एक-धन' है जिसमें सोम मिलाने के लिए जल होता है, उसको प्राप्त करनेवाला)। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है, इसलिए कहा 'एक-धन इन्द्र के लिए।' क्योंकि देवों के प्रति एक-एक डंठल सौ-सौ या दस-दस 'एक-धन' घोड़ों को भर देता है। "आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायताम्, त्वमिन्द्राय

वान्प्रत्येकैक एवाꣳशुरेकधनानाप्यायते दश-दश वा तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमि-
न्द्राय प्यायस्वेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतदाप्याय-
त्या त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति तदेतस्मिन्नाप्यायनं दधात्याप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मे-
धयेति स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येत्यथ यदनुब्रूते तदु तदाह यन्मधयेति स्व-
स्ति ते देव सोम सुत्यामशीयेत्येका वाऽएतेषामाशीर्भवत्यृत्विजां च यजमानस्य
च यज्ञस्योदृचं गच्छेमेति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१८॥ अथ प्रस्तरे निह्नु-
वते । उत्तरत उपचारो वै यज्ञोऽथैतद्दक्षिणेवान्वित्याप्याययन्त्यग्निर्वै यज्ञस्तद्यज्ञं
पृष्ठतः कुर्वन्ति तन्मिथ्याकुर्वन्ति देवेभ्य आवृश्च्यन्ते यज्ञो वै प्रस्तरस्तद्यज्ञं पुनरार-
भन्ते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हैषामेतन्न मिथ्याकृतं भवति न देवेभ्य आवृ-
श्च्यन्ते तस्मात्प्रस्तरे निह्नुवते ॥१९॥ तदाहुः । अन्ते निह्नुवीरा३ननन्ता३ऽइत्यन-
न्ते हैव निह्नुवीरन्ननुप्रहरणाꣳ ह्येवाक्तस्य ॥२०॥ ते निह्नुवते । एष्टा रायः प्रेषे
भगायऽऋतमृतवादिभ्य इति सत्यꣳ सत्यवादिभ्य इत्येवैतदाह नमो द्यावापृथि-
वीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवते ययोरिदꣳ सर्वमधि ॥२१॥ अथा-
ह समुल्लुप्य प्रस्तरम् । अग्नीन्मदन्त्यापा३इति मदन्तीत्यग्नीदाह ताभिरेहीत्युपर्युप-
र्यग्निमतिहरति स यन्नानुप्रहरत्येतेन ह्यत ऊर्ध्वान्यहानि प्रचरिष्यन्भवत्यथ यदु-
पर्युपर्यग्निमतिहरति तदेवास्यानुप्रहृतभाजनं भवति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीन्निद-
धाति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४.३.]॥ ॥

ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः । तस्माद्यदि प्रवर्ग्यवान्भवति प्रवर्ग्येण
प्रचर्योपसद्भिः प्रचरन्ति तद्ग्रीवाः प्रतिदधति ॥१॥ तथ्याः पूर्वाह्णेऽनुवाक्या भव-
न्ति । ता अपराह्णे याज्या या याज्यास्ता अनुवाक्यास्तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि
ग्रीवाणां पर्वाणि व्यतिषक्तानीमान्यस्थीनि ॥२॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये
प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरेऽयस्मयीमेवास्मिंल्लोके

प्यायस्व" (यजु० ५।७)–"इन्द्र तेरे लिए पुष्ट हो और तू इन्द्र के लिए पुष्ट हो।" इन्द्र यज्ञ का देवता है। इस प्रकार वह इस यज्ञ के देवता की पुष्टि करता है। 'इन्द्र के लिए तू पुष्ट हो' ऐसा कह उसमें पुष्टि का निर्धारण करता है। "आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया" (यजु० ५।७)–"हम मित्रों को लाभ और बुद्धि से भरपूर कर।" जो उसको लाभ मिलता है उसके लिए वह कहता है 'सन्न्या' (लाभ से) और जो वह पाठ करता है उसके लिए कहता है 'मेधया' (बुद्धि से)। "स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय" (यजु० ५।७)–"हे देव सोम, तेरे लिए स्वस्ति हो और मैं सोम भोग को खाऊँ।" यजमान और ऋत्विज का एक ही आशीर्वाद होता है अर्थात् यज्ञ के अन्त को पा जावें। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि मैं यज्ञ के अन्त को प्राप्त कर लूँ ॥१८॥

अब वे प्रस्तर पर प्रायश्चित्त करते हैं। यज्ञ में उत्तर की ओर उपस्थित रहना चाहिए था, परन्तु सोम की पुष्टि करने के लिए दक्षिण की ओर जाना पड़ा। अग्नि ही यज्ञ है, और यज्ञ की ओर पीठ कर लेनी पड़ी। यह मिथ्याचार हो गया और देवों से वियोग हो गया। प्रस्तर भी यज्ञ का ही भाग है। इसलिए प्रस्तर को छूकर फिर यज्ञ की प्राप्ति होती है। यही उस मिथ्याचार का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार मिथ्याचार का निवारण हो जाता है और देवों से वियोग नहीं होता। इसलिए प्रस्तर पर प्रायश्चित्त किया जाता है ॥१९॥

इस पर प्रश्न उठता है 'अक्त (घृत-युक्त) प्रस्तर पर या अनक्त (जिस पर घृत न लगा हो) प्रस्तर पर?' उत्तर यह है कि अनक्त पर ही, क्योंकि अक्त को तो अग्नि के समर्पित किया जाता है ॥२०॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर प्रायश्चित्त करते हैं—"एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यः" (यजु० ५।७)–"इच्छित धन शक्ति के लिए मिले, ऋतवादियों के लिए ऋत।" इसका अर्थ यह है कि सत्यवादियों के लिए सत्य। "नमो द्यावापृथिवीभ्याम्" (यजु० ५।७)–"द्यौ और पृथिवी के लिए नमस्कार।" इस प्रकार वे द्यौ और पृथिवी के लिए प्रायश्चित्त करते हैं जिन पर सबकी स्थिति है ॥२१॥

अब प्रस्तर को उठाकर वह कहता है—'अग्नीध्, क्या जल खौल गया?' अग्नीध् कहता है—'हाँ, खौल गया।' 'इसको यहाँ ले आओ।' वह (प्रस्तर को) अग्नि के पास ले आता है। वह प्रस्तर को आग में इसलिए नहीं डालता कि अगले दिनों में उससे काम लेना है; और आग के ऊपर इसलिए ले आता है कि वह अग्नि में डालने के लगभग बराबर हो जाय। वह इस अग्नीध् को दे देता है और अग्नीध् इसको (सुरक्षित) रख देता है ॥२२॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

उपसद यज्ञ की गर्दन है। प्रवर्ग्य सिर है। इसलिए यदि यज्ञ प्रवर्ग्य के साथ किया जाता है तो प्रवर्ग्य के पीछे उपसद करते हैं। इससे गर्दन अपने स्थान पर आ जाती है ॥१॥

पूर्वाह्न में अनुवाक्य होते हैं और अपराह्न में याज्य। जो याज्य हैं वही अनुवाक्य हैं। इस प्रकार वह जोड़ों को मिला देता है जैसे गर्दन की हड्डियाँ और जोड़ मिले होते हैं ॥२॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान लड़ पड़े। तब असुरों ने इन तीनों लोकों में अपने लिए किले (पुर) बनाये—लोहे का इस लोक में, चाँदी का अन्तरिक्ष में और सोने का

रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवि ॥३॥ तद्धै देवा अस्पृण्वत । तऽएताभिरुपसद्भिरु-पासीदंस्तद्यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम ते पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तस्मा-दाहुरुपसदा पुरं जयन्तीति यद्धोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति ॥४॥ एता-भिर्वै देवा उपसद्भिः । पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतन्नाद्वैत्रा-स्माऽअस्मिंल्लोके कश्चन पुरः कुरुतऽइमानेवैतल्लोकान्प्रभिनत्तीमांल्लोकान्प्रजयति तस्मादुपसद्भिर्यजते ॥५॥ ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वाऽआज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येन पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणा-ज्येनेमांल्लोकान्प्रभिनत्तीमांल्लोकान्प्रजयति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥६॥ स वा ऽअष्टौ कृत्वो जुह्वां गृह्णाति । चतुरुपभृत्यथोऽइतरथाहुश्चतुरेव कृत्वो जुह्वां गृ-ह्णीयादष्टौ कृत्व उपभृतीति ॥७॥ स वाऽअष्टावेव कृत्वो जुह्वां गृह्णाति । चतुरु-पभृति तद्धममभिभारं करोति तेन वज्रेणाभिभारेणेमांल्लोकान्प्रभिनत्तीमांल्लोका-न्प्रजयति ॥८॥ अग्नीषोमौ वै देवानाᳫं सयुजौ । ताभ्याᳫं सार्धं गृह्णाति विजन्त्र ऽएकाकिनेऽन्यतरमेवाघारमाघारयति यᳫं स्रुवेण प्रतिक्रामति वाऽउत्तरमाघार-माघार्याभिजित्याऽअभिजयानीति तस्मादन्यतरमेवाघारमाघारयति यᳫं स्रुवेण ॥९॥ अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । सीद होतरित्येवाहोपविशति होता होतृष-दनऽउपविश्य प्रसौति प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावादत्ते ॥१०॥ स आहातिक्रामन्नग्नयेऽनु-ब्रूहीति । आश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥११॥ अथाह सोमायानुब्रू-हीति । आश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१२॥ अथ यदुपभृत्याज्यं भवति । तत्समानयमान आह विष्णवेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह विष्णुं यजेति वषट्-कृते जुहोति ॥१३॥ स यत्समानत्र तिष्ठञ्जुहोति । न यथेदं प्रचरत्संचरत्यभि-जित्याऽअभिजयानीत्यथ यदेता देवता यजति वज्रमेवैतत्सᳫंस्करोत्यग्निमनीकᳫं सो-मᳫं शल्यं विष्णुं कुल्मलᳫं ॥१४॥ संवत्सरो हि वज्रः । अग्निर्वाऽअहः सोमो रा-

द्यौलोक में ॥३॥

अब देवों की जीत हुई। देवों ने इन किलों को उपसदों के द्वारा घेरा (उपासीदन्); उपासीदन् से 'उपसद' नाम पड़ा। उन्होंने किलों को तोड़ डाला और लोकों को जीत लिया। इसलिए कहते हैं कि 'उपसदों के द्वारा किले जीते जाते हैं।' वस्तुत: घेरा डालकर ही मनुष्य के किले जीते जाते हैं ॥४॥

देवों ने इन उपसदों के द्वारा ही किलों को तोड़ा और लोकों को जीत लिया। (यजमान भी) ऐसा ही करता है। यह सच है कि कोई उसके विरुद्ध अपने किले नहीं बनाता। वह इन्हीं लोकों को भेद देता है। वह इनको जीत लेता है। इसीलिए उपसदों के द्वारा यज्ञ करता है ॥५॥

ये आहुतियाँ घृत की होती हैं। घी वज्र है। इस वज्र-घी से देवों ने किलों को तोड़कर इन लोकों पर विजय पाई। इसी प्रकार यह यजमान वज्र-घी द्वारा इन लोकों का भेदन करता है, इन लोकों को जीतता है। इसलिए ये घी की आहुतियाँ दी जाती हैं ॥६॥

वह आठ बार जुहू में भरता है और चार बार उपभृत में। कुछ उलटा भी करते हैं अर्थात् चार बार जुहू में और आठ बार उपभृत में ॥७॥

वह आठ बार जुहू में भरता है और चार बार उपभृत में। इससे वह वज्र के आगे के भाग को भारी कर देता है। वज्र के इस भारी भाग से इन लोकों को तोड़ देता और इन पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥८॥

देवताओं में अग्नि और सोम का जोड़ा है। इनके लिए एक-साथ लेता है। विष्णु के लिए अकेली। एक ही आघार देता है जो स्रुवा में भरी जाती है, क्योंकि जब पीछे की आघार दे देता है तो चल देता है यह कहकर कि 'जीतकर विजयी बनूँ।' इसलिए स्रुवा से एक ही आघार देता है ॥९॥

श्रौषट् कहने के पीछे होता का वरण नहीं करता। इतना ही कहता है कि 'हे होता, बैठ।' होता अपने स्थान पर बैठ जाता है। अब वह अध्वर्यु को प्रेरणा करता है और अध्वर्यु दो चमचे भर लेता है ॥१०॥

(वेदी के दक्षिण की ओर) जाते हुए वह (होता से) कहता है 'अग्नि को आवाहन कर।' और श्रौषट् कहकर कहता है 'अग्नि की स्तुति कर।' और वषट्कार के पीछे आहुति दे देता है ॥११॥

अब कहता है—'सोम का आवाहन कर।' फिर श्रौषट् कहकर कहता है—'सोम की स्तुति कर।' फिर वषट्कार के पीछे आहुति दे देता है ॥१२॥

अब उपभृत में जो घी होता है उसको (जुहू के बचे घी में) मिलाकर कहता है—'विष्णु का आवाहन कर।' फिर श्रौषट् कहकर कहता है 'विष्णु की स्तुति कर।' फिर वषट्कार के पीछे आहुति दे देता है ॥१३॥

वह एक ही स्थान पर खड़ा रहता है। और जैसा चलना-फिरना चाहिए, चलता-फिरता नहीं। इसका कारण यह है कि वह सोचता है कि 'जीतकर विजयी बनूँ।' इन देवताओं के लिए आहुति इसलिए देता है कि वज्र बना सकूँ। अग्नि को वज्र का 'अनीक' या सिरा बनाता है, सोम को शल्य और विष्णु को कुल्मल (ये वज्र के भाग हैं) ॥१४॥

संवत्सर ही वज्र है। अग्नि दिन है और सोम रात तथा बीच का भाग विष्णु। इस

त्रिरथ यदन्तरेण तद्धिष्णुरेतद्धि परिप्लवमानꣳ संवत्सरं करोति ॥१५॥ संवत्सरो वज्रः । एतेन वै देवाः संवत्सरेण वज्रेण पुरः प्राभिन्दन्निमाँल्लोकान्प्राजयंस्तथो ऽएवैष एतेन संवत्सरेण वज्रेणेमाँल्लोकान्प्रभिनत्तीमाँल्लोकान्प्रजयति तस्मादेता देवता यजति ॥१६॥ स वै तिस्र उपसद उपेयात् । त्रयो वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ॥१७॥ ताः षट्सम्पद्यन्ते । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति ॥१८॥ यद्यु द्वादशोपसद उपेयात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ॥१९॥ ताश्चतुर्विꣳशतिः सम्पद्यन्ते । चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्सꣳस्करोति ॥२०॥ स यत्सायम्प्रातः प्रचरति । तथा ह्येव सम्पत्सम्पद्यते स यत्पूर्वाह्णे प्रचरति तज्जयत्यथ यदपराह्णे प्रचरति सुजितमसदित्यथ यज्जुहोतीदं वै पुरं युध्यन्ति तां जित्वा स्वाꣳ सतीं प्रपद्यन्ते ॥२१॥ स यत्प्रचरति । तद्युध्यत्यथ यत्संतिष्ठते तज्जयत्यथ यज्जुहोति स्वामेवैतत्सतीं प्रपद्यते ॥२२॥ स जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीदयस्मयी हि सासीत् ॥२३॥ अथ जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीद्रजता हि सासीत् ॥२४॥ अथ जुहोति । ययाद्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीद्धरिणी हि सासीद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयाच्चतुरह्णमेकया प्रचरेच्चतुरह्णमेकया ॥२५॥ अथातो व्रतोपसदामेव । परउर्वीवाऽअन्या उपसदः परोऽह्वीर-

प्रकार वह वर्ष के चक्र को बनाता है ॥१५॥

संवत्सर वज्र है। इसी संवत्सर वज्र के द्वारा दोनों देवों ने किलों को तोड़ा और इन लोकों को जीता। इसी प्रकार यह भी इसी संवत्सर वज्र की सहायता से इन लोकों को तोड़ता और इन लोकों को जीतता है। इसीलिए वह इन देवतों का यजन करता है॥१६॥

तीन उपसदों को करे। संवत्सर में तीन ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार संवत्सर का तद्रूप आ जाता है। इस प्रकार वह संवत्सर को बनाता है। वह प्रत्येक क्रिया को दो बार करता है॥१७॥

यह छः के बराबर हो जाते हैं। वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार वर्ष का तद्रूप हो जाता है। वह इस प्रकार वर्ष को बनाता है ॥१८॥

या बारह उपसदों को करे। वर्ष में बारह मास होते हैं। इस प्रकार वर्ष का तद्रूप हो जाता है। वह इस प्रकार वर्ष बनाता है। वह प्रत्येक क्रिया को दो बार करता है॥१९॥

इस प्रकार चौबीस हो जाते हैं। वर्ष में चौबीस अर्द्धमास होते हैं। यह संवत्सर का रूप हो जाता है। इस प्रकार वह संवत्सर को बनाता है॥२०॥

वह सायं-प्रातः इसलिए करता है कि इसी से सम्पूर्णता आती है। प्रातःकाल की क्रिया का अर्थ है जय, सायंकाल की क्रिया का 'सुजय' और आहुति का अर्थ है कि जीतकर किले को अपना समझकर भीतर घुस जाना ॥२१॥

उपसदों के करने का अर्थ है युद्ध करना, क्रिया के पूर्ण होने का अर्थ है विजय पाना, और आहुति देने का अर्थ है किले को अपना करके उसमें घुस जाना ॥२२॥

वह दिन में दो बार इस मन्त्र से आहुति देता है—"या ते ऽ अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत् त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा" (यजु० ५।८)—"हे अग्नि, यह जो तेरा लोहे का शरीर है, गहरे में बैठा हुआ, इसने (शत्रु की) उग्र वाणी को मार डाला, तीक्ष्ण वाणी को मार डाला।" वह ऐसी ही थी। वह लोहे के समान थी॥२३॥

अब दिन में दो बार इस मन्त्र से आहुति देता है—"या ते ऽ अग्ने रजःशया तनुर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत् त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा" (यजु० ५।८)—"हे अग्नि, यह जो तेरा चाँद का शरीर है, गहरे में पैठा हुआ, इसने उग्र वाणी को मार डाला, तीक्ष्ण वाणी को मार डाला।" इसका ऐसा ही रूप था। चाँदी का रूप था ॥२४॥

अब दिन में दो बार इस मन्त्र से आहुति देता है—"या तेऽग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा" (यजु० ५।८)—"हे अग्नि, यह जो तेरा सोने का शरीर है, गहरे में पैठा हुआ, इसने उग्र वाणी को मार डाला, तीक्ष्ण वाणी को मार डाला।" इसका ऐसा ही रूप था। सोने का रूप था। अगर वह बारह उपसदों को करे तो हर एक को चार दिन करना चाहिए॥२५॥

अब व्रत-उपसदों को लीजिये। कुछ उपसद चौड़े होते जाते हैं और कुछ तंग, जिनमें

न्याः स यासामेकं प्रथमाहं दोग्ध्यथ द्वावथ त्रींस्ताः परउर्वीरिथ यासां त्रीन्प्रथमाहं दोग्ध्यथ द्वावथैकं ताः परोऽक्षीर्या वै परोऽक्षीस्ताः परउर्वीर्याः परउर्वीस्ताः परोऽक्षीः ॥२६॥ तपसा वै लोकं जयन्ति । तदस्यैतत्परः-पर एव वरीयस्तपो भवति परः-परः श्रेयाꣳसं लोकं जयति वसीयानु हैवास्मिंलोके भवति य एवं विद्वान्परोऽक्षीरुपसद उपैति तस्माद परोऽक्षीरेवोपसद उपेयाद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयात्त्रींश्चतुरहं दोहयेद्वौ चतुरहमेकं चतुरहम् ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥५[४.४]॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२१ ॥ ॥ चतुर्थोऽध्यायः [११] ॥ ॥

तस्य एष पूर्वार्ध्यो वर्षिष्ठ स्थूणाराजो भवति । तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपातः ॥१॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । दक्षिणा पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः ॥२॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । उदङ् पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरा श्रोणिः ॥३॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । प्राङ् षट्त्रिꣳशतं विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स पूर्वार्धः ॥४॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । दक्षिणा द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स दक्षिणोऽꣳसः ॥५॥ तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः । उदङ् द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स उत्तरोऽꣳस एषा मात्रा वेदेः ॥६॥ अथ यत्त्रिꣳशद्विक्रमा पश्चाद्भवति । त्रिꣳशदक्षरा वै विराड्विराजा वै देवा अस्मिंलोके प्रत्यतिष्ठंस्तथोऽएवैष एतद्विराजैवास्मिंलोके प्रतितिष्ठति ॥७॥ अथोऽअपि त्रयस्त्रिꣳशत्स्युः । त्रयस्त्रिꣳशदक्षरा वै विराड्विराजैवास्मिंलोके प्रतितिष्ठति ॥८॥ अथ यत्षट्त्रिꣳशद्विक्रमा प्राची भवति । षट्त्रिꣳशदक्षरा वै बृहती बृहत्या वै देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तथोऽएवैष एतद्बृहत्यैव स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते सोऽस्य दिव्याहवनीयो भवति ॥९॥ अथ यच्चतुर्विꣳशतिविक्रमा पुरस्ताद्भवति । चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्माच्चतुर्विꣳशतिविक्रमा पुरस्ताद्भव-

पहले दिन एक थन दुहता है, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, वे चौड़े होते जाते हैं। और जिनमें पहले दिन तीन थन दुहता है, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन एक, वे तंग हो जाते हैं। जो तंग होते जाते हैं वह ऐसे ही हैं जैसे चौड़े। और जो चौड़े होते जाते हैं ऐसे ही हैं जैसे तंग ॥२६॥

लोकों को तप से जीतते हैं। जो इस रहस्य को समझकर उन उपसदों को लेता है जो तंग होते जाते हैं, उसका तप बढ़ता जाता है और उसका श्रेय बढ़ता है और वह लोक में अच्छा हो जाता है। इसलिए उन उपसदों को लेना चाहिए जो तंग होते जाते हैं। अगर बारह उपसदों को लेवे तो चार दिन तक तीन थन दुहने चाहिएँ, चार दिन तक फिर दो थन, और फिर चार दिन तक एक थन ॥२७॥

अध्याय ५—ब्राह्मण १

शाला के पूर्व की ओर का जो सबसे बड़ा खम्भा होता है उससे पूर्व की ओर तीन पग चलता है। और वहाँ एक कील गाड़ देता है जिसको 'अन्तः-पात' कहते हैं ॥१॥

इस बीच की कील से दक्षिण की ओर पन्द्रह पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'दक्षिणा श्रोणि' (दाहिना कूल्हा) कहते हैं ॥२॥

इस बीच की कीली से उत्तर की ओर पन्द्रह पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'उत्तरा-श्रोणि' (बायाँ कूल्हा) कहते हैं ॥३॥

इस बीच की कील से पूर्व की ओर छत्तीस पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'पूर्वार्ध' कहते हैं ॥४॥

इस बीच की कील से दक्षिण की ओर बारह पग चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'दक्षिणोऽँसः' (दायाँ कंधा) कहते हैं ॥५॥

इस बीच की कील से बारह पग उत्तर की ओर चलता है और वहाँ एक कील गाड़ता है। उसको 'उत्तरोऽँसः' (बायाँ कंधा) कहते हैं। यही वेदी की मात्रा (प्रमाण) है ॥६॥

यह पीछे तीस पग इसलिए होती है कि विराट् छन्द में तीस अक्षर होते हैं। और विराट् छन्द के द्वारा ही देवों ने इस लोक में प्रतिष्ठा पाई। इसी प्रकार यह भी विराट् छन्द द्वारा इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ।७॥

तैंतीस पग भी हो सकते हैं। क्योंकि विराट् में तैंतीस अक्षर भी होते हैं और विराट् के द्वारा ही वह इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ॥८॥

पूर्व में छत्तीस पग क्यों होते हैं? बृहती छन्द छत्तीस अक्षर का होता है। बृहती के द्वारा ही देव लोग स्वर्गलोक को प्राप्त हुए। इसी प्रकार यह भी बृहती छन्द द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। उसकी आहवनीय अग्नि द्यौलोक में होती है ॥९॥

वेदी आगे की ओर २४ पग की क्यों होती है? गायत्री चौबीस अक्षर की होती है। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। उसलिए वह आगे को चौबीस पग चौड़ी होती है। वेदी की यही मात्रा

त्येषा मात्रा वेदेः ॥१०॥ अथ यत्पश्चाद्वरीयसी भवति । पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति यद्वेव पश्चाद्वरीयसी भवति पश्चाद्वैतद्वरीयः प्रजननं करोति तस्मात्पश्चाद्वरीयसः प्रजननादिमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥११॥ नासिका ह वाऽएषा यज्ञस्य यदुत्तरवेदिः । अथ यदेनामुत्तरां वेदेरुपकिरति तस्मादुत्तरवेदिर्नाम ॥१२॥ द्वय्यो ह वाऽइदमग्रे प्रजा आसुः । आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च ततोऽङ्गिरसः पूर्वे यज्ञꣳ समभरंस्ते यज्ञꣳ सम्भृत्योचुरग्निमिमं नः श्वःसुत्यामादित्येभ्यः प्रब्रूह्यनेन नो यज्ञेन याजयतेति ॥१३॥ ते हादित्या ऊचुः । उपजानीत यथास्मानिवाङ्गिरसो याजयान्न वयमङ्गिरस इति ॥१४॥ ते होचुः । न वाऽअन्येन यज्ञादपक्रमणमस्त्यन्तरामेव सुत्यां श्रियामहाऽइति ते यज्ञꣳ संजह्रुस्ते यज्ञꣳ सम्भृत्योचुः श्वःसुत्यां वै त्वमस्मभ्यमग्ने प्रावोचोऽथ वयमद्यसुत्यामेव तुभ्यं प्रब्रूमोऽङ्गिरोभ्यश्च तेषां नस्त्वꣳ होतासीति ॥१५॥ तेऽन्यमेव प्रतिप्रजिघ्युः । अङ्गिरसोऽह ते हाप्यङ्गिरसोऽग्नयेऽन्वागत्य चुक्रुधुरिव कथं नु नो दूतश्चरन्न प्रत्यादृथा इति ॥१६॥ स होवाच । अनिन्द्या वै मावृषत सोऽनिन्द्यैर्वृतो नाशकमपक्रमितुमिति तस्मादु हानिन्द्यस्य वृतो नापक्रामेत्तऽएतेन सद्यःक्रियाङ्गिरस आदित्यानयाजयन्त्स सद्यःक्रीः ॥१७॥ तेभ्यो वाचं दक्षिणामानयन् । तां न प्रत्यगृह्णन्हास्यामहे यदि प्रतिग्रहीष्याम इति तदु तद्यज्ञस्य कर्म न व्यमुच्यत यद्दाक्षिणामासीत् ॥१८॥ अथैभ्यः सूर्यं दक्षिणामानयन् । तं प्रत्यगृह्णंस्तस्मादु ह स्माहुरङ्गिरसो वयं वाऽआर्त्विजीनाः स्मो वयं दक्षिणीया अपि वाऽअस्माभिरेष प्रतिगृहीतो य एष तपतीति तस्मात्सद्यःक्रियोऽश्वः श्वेतो दक्षिणा ॥१९॥ तस्य रुक्मः पुरस्ताद्भवति । तदेनस्य रूपं क्रियते य एष तपति यद्यश्वं श्वेतं न विन्देदपि गौरेव श्वेतः स्यात्तस्य रुक्मः पुरस्ताद्भवति तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥२०॥ तेभ्यो ह वाक्चुक्रोध । केन मदेष श्रेयान्बन्धुना३ केना३ यदेतं प्रत्यग्रहीष्ट न मामिति सा हैभ्योऽपचक्रा-

है ॥१०॥

यह पीछे चौड़ी क्यों होती है? स्त्रियों की प्रशंसा करते हैं कि इनकी श्रोणी (पिछला भाग) चौड़ी है। पिछले भाग के चौड़े होने से कोख बड़ी हो जाती है। कोख से ही सब प्रजा उत्पन्न होती है ॥११॥

उत्तर वेदी यज्ञ की नाक है। यह ऊपर को उठी होती है इसीलिए इसका नाम 'उत्तर वेदी' है ॥१२॥

पहले दो प्रकार की प्रजा थी—आदित्य और अंगिरा। सबसे पहले अंगिरों ने यज्ञ का आरम्भ किया और अग्नि से बोले, 'आदित्यों से कह दो कि कल हमारे सोम-भाग में शामिल हों' ॥१३॥

आदित्य बोले, 'ऐसी तरकीब करो कि अंगिरा लोग हमारे यज्ञ में आवें, न कि हम उनके में' ॥१४॥

उन्होंने कहा, 'इसकी तरकीब केवल यज्ञ ही हैं। हम दूसरा सोम-यज्ञ करें।' उन्होंने यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की, "हे अग्नि, तूने तो हमको कल के सोम-याग का बुलावा दिया है, हम तो तुझको और अंगिरों को आज के ही सोम-याग का न्योता देते हैं। तू हमारे लिए होता बन' ॥१५॥

उन्होंने किसी को अंगिरों के पास भेजा। परन्तु अंगिरों ने अग्नि का पीछा किया और इस पर क्रुद्ध होकर बोले कि जब तू हमारा दूत थी तो तूने हमारा आदर क्यों नहीं किया ॥१६॥

उसने कहा कि 'अनिन्द्य' अर्थात् निर्दोष लोगों ने मेरा वरण किया। निर्दोषों से वरी जाकर मैं उनका कहना टाल न सकी।' इसलिए अगर कोई निर्दोष मनुष्य किसी (होता) का वरण कर ले तो उसको इनकार नहीं करना चाहिए। तब अंगिरों ने आदित्यों के सोमयाग को उसी दिन कराया। उसका नाम है 'सद्यः-क्री' ॥१७॥

उन्होंने उनको वाणी की दक्षिणा दी। उन्होंने उस (वाणी) को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि यदि इसे स्वीकार करेंगे तो हमको हानि होगी। इसलिए यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ क्योंकि उसमें दक्षिणा की कमी रह गई ॥१८॥

इस पर वे दक्षिणा के लिए उनके पास सूर्य को लाये। उन्होंने सूर्य को स्वीकार कर लिया। इसीलिए अंगिरा लोग कहते हैं, 'हम याज्ञिक होने के योग्य हैं; हम दक्षिणा लेने के योग्य हैं। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, उसका हमने ग्रहण किया है।' इसलिए 'सद्यः-क्री' यज्ञ की दक्षिणा सफेद घोड़ा होता है ॥१९॥

इस घोड़े के आगे एक सोने का आभूषण होता है। इस प्रकार वह उसका प्रतिरूप हो जाता है जो ऊपर तपता है (अर्थात् सूर्य) ॥२०॥

अब वाणी उनसे नाराज हो गई—'वह मुझसे किस बात में अच्छा है? उन्होंने उसको क्यों स्वीकार किया, मुझे क्यों न स्वीकार किया?' ऐसा कहकर वह वहां से चली गई। और

म सोभयानन्तरेण देवासुरान्त्संयत्तान्त्सिꣳही भूत्वाददाना चचार तामुपैव देवा अ-
मन्त्रयन्तोपासुरा अग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाꣳ ॥२१॥
सा देवानुपावर्त्स्यन्त्युवाच । यद्युपावर्त्स्येय किं मे ततः स्यादिति पूर्वामेव त्वाग्ने-
राहुतिः प्राप्स्यतीत्यथ हैषा देवानुवाच यां मया कां चाशिषमाशासिष्यध्वे सा वः
सर्वा समर्धिष्यत ऽइति सैवं देवानुपाववर्त ॥२२॥ स यद्धार्यमाणेऽग्नौ । उत्तरवे-
दिं व्याघारयति यदेवैनामदो देवा अब्रुवन्पूर्वा त्वाग्नेराहुतिः प्राप्स्यतीति तदेवै-
नामेतत्पूर्वामग्नेराहुतिः प्राप्नोति वाग्घ्येषा निदानेनाथ यदुत्तरवेदिमुपकिरति य-
ज्ञस्यैव सर्वत्वाय वाग्घि यज्ञो वागु ह्येषा ॥२३॥ तां वै युगशम्येन विमिमीते ।
युगेन यत्र हरन्ति शम्यया यतो हरन्ति युगशम्येन वै योग्यं युञ्जन्ति सा यदेवादः
सिꣳही भूत्वाशान्तेवाचरत्तदेवैनामेतद्यज्ञे युनक्ति ॥२४॥ तस्मान्निवृत्तदक्षिणां न
प्रतिगृह्णीयात् । सिꣳही हैनं भूत्वा क्षिणोति नो हामाकुर्वीत सिꣳही हैवैनं भू-
त्वा क्षिणोति नो ह्यन्यस्मै दद्याद्यद्ध तदन्यत्रात्मनः कुर्वीत तस्माद्योऽस्यापि पा-
प ऽइव समानबन्धुः स्यात्तस्मा ऽएनां दद्यात्स यद्ददाति तदेनꣳ सिꣳही भूत्वा न
क्षिणोति यदु समानबन्धवे ददाति तदु नान्यत्रात्मनः कुरुत ऽएषो निवृत्तदक्षि-
णायै प्रतिष्ठा ॥२५॥ अथ शम्यां च स्फ्यं चादत्ते । तस्य एष पूर्वार्ध्यः उत्तरार्ध्यः
शङ्कुर्भवति तस्मात्प्रत्यङ् प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्चात्वालं परिलिखति सा चात्वा-
लस्य मात्रा नात्र मात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येताग्रेणोत्करं तच्चात्वालं प-
रिलिखेत् ॥२६॥ स वेद्यन्तात् । उदीचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखति त-
प्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि तप्त इति ॥२७॥ अथ पुरस्तात् । उदीचीꣳ
शम्यां निदधाति स परिलिखति वित्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि वि-
विदान इति ॥२८॥ अथानुवेद्यन्तम् । प्राचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखत्य-
वतान्मा नाथितादितीमामेवैतदाह यत्र नाथितन्मावतादिति ॥२९॥ अथोत्तरतः ।

सिंहिनी बनकर उन दोनों देव और असुरों के बीच में जो कुछ मिला उसको खाने लगी। देवों ने उसको बुलाया और असुरों ने भी। देवों का दूत 'अग्नि' था और असुर-राक्षसों का 'सह-रक्षा' ॥२१॥

देवों के पास आने की इच्छा करती हुई वह बोली, 'यदि मैं तुम्हारी ओर आ जाऊँ तो मुझे क्या मिलेगा?' 'तेरे लिए अग्नि से भी पूर्व आहुति मिलेगी।' तब उसने देवों से कहा, 'तुम मेरे आशीर्वाद द्वारा जो चाहोगे वह तुमको प्राप्त होगा।' अतः वह देवों के पास चली गई ॥२२॥

इसलिए उत्तर वेदी में अग्नि का आधान करके जब वह आहुति देता है तो वह आहुति वाणी को अग्नि से भी पूर्व पहुँच जाती है, क्योंकि देवों ने कहा था कि तुझे अग्नि से पहले ही आहुति पहुँच जाया करेगी, क्योंकि जो उत्तर वेदी है वह वस्तुतः वाणी ही है। यह जो उत्तर वेदी को बनाता है वह यज्ञ की पूर्णता के लिए ही बनाता है। वाणी ही यज्ञ है। वाणी ही यह उत्तर वेदी है ॥२३॥

वह उस वेदी को युग और शम्या से नापता है—युग से उस स्थान को जहाँ मिट्टी लाते हैं, और शम्या से उस स्थान को जहाँ से मिट्टी लाते हैं। (शायद युग का अर्थ है डण्डा या जुआ और शम्या का कील?) क्योंकि बैलों को जुए और कील से जोता जाता है। चूँकि वह सिंहिनी बनकर अशान्ति से विचरती रही, इसलिए वह उसको यज्ञ में जोतता (बांधता) है ॥२४॥

इसलिए तिरस्कृत दक्षिणा को न ग्रहण करना चाहिए (अर्थात् यदि एक ऋत्विज दक्षिणा न ले तो उस दक्षिणा को दूसरा ऋत्विज न ले), नहीं तो वह सिंहिनी बनकर हानि पहुँचाती है। न (यजमान) उसे घर वापस ले जाये, क्योंकि सिंहिनी होकर वह उसे हानि पहुँचाती है। वह न किसी दूसरे को दे, नहीं तो अपने यज्ञ को दूसरे का बना देगा। यदि उसका कोई पापी रिश्तेदार हो उसे दे दे। तब वह सिंहिनी होकर हानि न पहुँचायेगी। और चूँकि वह अपने ही रिश्तेदार को देता है इसलिए यज्ञ को अपने से अलग नहीं करता। तिरस्कृत दक्षिणा का यही निर्णय है ॥२५॥

अब वह शम्या और स्फ्या को लेता है। जहाँ पूर्वार्ध की उत्तरी कील (शंकु) होती है वहाँ से तीन पग पीछे की ओर भरता है और वहाँ 'चात्वाल' का चिह्न बना देता है। चात्वाल की मात्रा वही होती है जो उत्तर वेदी की। और कोई मात्रा नहीं है। जहाँ उसका मन चाहे उत्कट अर्थात् कूड़े के चात्वाल बना दे ॥२६॥

वह वेदी के अन्त से उत्तर की ओर शम्या को रखता है और रेखा खींच देता है इस मन्त्र को पढ़कर—"तप्तायनी मेऽसि" (यजु० ५।९)—"मेरे लिए तू वह स्थान है जहाँ पीड़ित लोग सहारा पाते हैं।" इससे तात्पर्य इस भूमि से है जिस पर वह पीड़ित होकर चलता है ॥२७॥

अब वह आगे की ओर उत्तर को शम्या रखता है और रेखा खींचता है, यह पढ़कर—"वित्तायनी मेऽसि" (यजु० ५।९)—"तू मेरा धन का स्थान है।" इससे तात्पर्य इस भूमि से है क्योंकि यहीं वह धन प्राप्त करके चलता है ॥२८॥

अब वह वेदी के किनारे पर पूर्व की ओर शम्या रखता और रेखा खींचता है, यह पढ़-कर—"अवतान् मा नाथितात्" (यजु० ५।९)—"मुझे दरिद्रता से बचा।" इससे भूमि से तात्पर्य है अर्थात् जहाँ-जहाँ दरिद्रता हो वहाँ से मुझे बचा ॥२९॥

अब वह उत्तर की ओर पूर्व को शम्या रखता है और रेखा खींचता है यह मन्त्र पढ़कर—

प्राचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखत्यत्र तान्मा व्यथितादितीमामेवैतदाह यत्र व्यथेतन्मात्र तादिति ॥३०॥ अथ हरति । यत्र हरति तदग्नीदुपसीदति स वाऽअग्नीनामेव नामानि गृह्णन्हरति यान्वाऽअमून्देवा अग्रेऽग्नीन्होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वंस्तऽइमा एव पृथिवीरूपसर्पन्निमामह्नैव द्वेऽअस्याः परे तेनैवैतान्नदानेन हरति ॥३१॥ स प्रहरति । विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर आयुना नाम्नेहीति स यत्प्राधन्वंस्तदायुर्दधाति तत्समीरयति योऽस्यां पृथिव्यामसीति योऽस्यां पृथिव्यामसीति ह्वा निदधाति यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वादधऽइति यत्तेऽनाधृष्टꣳ रक्षोभिर्नाम यज्ञियं तेन त्वादधऽइत्येवैतदाहानु त्वा देववीतयऽइति चतुर्थꣳ हरति देवेभ्यस्त्वा जुष्टꣳ हरामीत्येवैतदाह तां वै चतुःस्रक्तिमाबालाङ्हरति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनामेतद्दिग्भ्यो हरति ॥३२॥ अथानुव्यूहति । सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्वेति सा यदेवादः सिꣳही भूत्वाशान्तेवाचरत्तदेवैनामेतदाह सिꣳह्यसीति सपत्नसाहीति त्वया वयꣳ सपत्नान्पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह देवेभ्यः कल्पस्वेति योषा वाऽउत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यः कल्पयति ॥३३॥ तां वै युगमात्रीं वा सर्वतः करोति । यजमानस्य वा दश-दश पदानि दशाक्षरा वै विराड्वाग्वै विराड्वाग्यज्ञो मध्ये नाभिकामिव करोति समानत्रासीनो व्याघारयाणीति ॥३४॥ तामद्भिरभ्युक्षति । सा यदेवादः सिꣳही भूत्वाशान्तेवाचरच्छान्तिरापस्तामद्भिः शमयति योषा वाऽउत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यो क्लिन्दति तस्मादद्भिरभ्युक्षति ॥३५॥ सोऽभ्युक्षति । सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्वेत्यथ सिकताभिरनुविकिरत्यलंकारो न्वेव सिकता आज्ञतऽइव हि सिकता अग्नेर्वाऽएतद्वैश्वानरस्य भस्म यत्सिकता अग्निं वाऽअस्यामाधास्यन्भवति तथो हैनामग्निर्न हिनस्ति तस्मात्सिकताभिरनुविकिरति सोऽनुविकिरति सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्वेत्यथैनां छादयति सा हुत्वैताꣳ रात्रिं वसति ॥३६॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [५.१] ॥ ॥

"अवतान् मा व्यथितात्" (यजु० ५।६)—"मुझे व्यथा से बचा।" इससे भी भूमि से तात्पर्य है अर्थात् 'जहाँ कहीं व्यथा हो वहाँ से बचा' ॥३०॥

अब वह स्फ्या को फेंकता है। जहाँ स्फ्या को फेंकता है वहाँ आग्नीध्र बैठता है। जब वह फेंकता है तो अग्नियों के नाम लेता जाता है। देवों ने जिन अग्नियों को पहले होत्र के लिए चुना था वे चली गईं और पृथिवी में घुस गईं—एक इस पृथिवी में और दो उनमें जो इससे परे हैं। वह उस अग्नि के साथ फेंकता है जो इस (पृथिवी) में घुसी थी ॥३१॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर फेंकता है—"विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्ना एहि" (यजु० ५।६)—"नभ नामवाली अग्नि तुझे जाने, हे अङ्गिरा अग्नि, आयु नाम के साथ जा।" जिस आयु से वे गुजर गये उस आयु को दिलाता है। फिर प्राणों से सम्पन्न करता है। नीचे लिखे मन्त्रांश से मिट्टी उठाता है—"योऽस्यां पृथिव्यामसि" (यजु० ५।६)—और नीचे के मन्त्रांश से उस मिट्टी को उत्तर वेदी में रखता है—"यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे" (यजु० ५।६)—"जो तेरा आदर का नाम हो उससे तुझको रखता हूँ।" इससे उसका तात्पर्य यह है कि मैं तुझको उस नाम से रखता हूँ जिसे राक्षसों ने अपमानित नहीं किया। इस मन्त्रांश से चौथी बार लेता है—"अनु त्वा देववीतये" (यजु० ५।६)—"देवों की प्रसन्नता के लिए तुझको।" इससे तात्पर्य है कि तुझसे देव प्रसन्न हैं। इसको वह चौकोर चत्वाल से लेता है। चार दिशाएँ हैं। अर्थात् वह चारों दिशाओं से लेता है ॥३२॥

अब वह मिट्टी को इस मन्त्रांश से अलग करता है—"सिँ्ह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व" (यजु० ५।१०)—"तू सिंहिनी है। शत्रुओं पर विजयिनी। देवों के योग्य बन।" चूँकि वह पहले सिंहिनी बन गई और अशान्त विचरती रही, इसलिए वह उसको कहता है, 'तू सिंहिनी है।' 'शत्रुओं पर विजयिनी' से तात्पर्य है कि 'तेरे द्वारा हम अपने शत्रुओं पर विजय पावें।' 'देवों के योग्य बन' अर्थात् उत्तर वेदी स्त्री है, उसको देवों के योग्य बनाता है ॥३३॥

वे इसको चारों ओर से या तो 'युग' के बराबर बनाता है या यजमान के दस-दस पद के बराबर। विराट् छन्द दश अक्षर का होता है। विराट् वाणी है और वाणी यज्ञ है। बीच में नाभि के समान है कि एक ही स्थान पर बैठा-बैठा आहुति दे सकूँ ॥३४॥

वह इसे जल से सींचता है। चूँकि वह सिंहिनी होकर अशान्त विचरती रही, अतः जल शान्ति है, इसलिए वह उसको जल से शान्त करता है। उत्तर वेदी स्त्री है। वह इसको देवों के योग्य बनाता है, इसलिए वह उसको जल से सींचता है ॥३५॥

वह यह मन्त्रांश पढ़कर जल सिंचन करता है—"सिँ्ह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व" (यजु० ५।१०)—"तू सिंहिनी है, शत्रुओं पर विजयिनी, देवों के लिए पवित्र बन।" अब वह रेत डालता है। रेत अलंकार है क्योंकि रेत चमकता है। रेत अग्नि विश्वानर की भस्म है। अब वह इस पर अग्नि रक्खेगा, इसलिए अग्नि उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए वह उस पर रेत डालता है। इस मन्त्रांश को पढ़कर—"सिँ्ह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व" (यजु० ५।१०) "तू सिंहिनी है, शत्रुओं पर विजयिनी, देवों के लिए सज।" अब वह उसे ढक देता है। वह रात-भर ढकी रहती है ॥३६॥

इध्ममभ्यादधाति । उपयमनीरुपकल्पयत्याज्यमधिश्रयति स्रुवं च स्रुचं च संमार्ष्ट्यथोत्पूयाज्यं पञ्चगृहीतं गृह्णीते यदा प्रदीप्त इध्मो भवति ॥१॥ अथोपयच्छत्तीध्मम् । उपयच्छत्युपयमनीरथाहाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूह्येकस्फ्ययानूदेहीत्यनूदेति प्रतिप्रस्थातैकस्फ्ययैतस्मान्मध्यमाद्धङ्कोर्य एष वेदेर्जघनार्धे भवति तद्यदेवात्रान्तःपातेन गार्हपत्यस्य वेदेर्व्यवच्छिन्नं भवति तदेवैतदनुसंतनोति ॥२॥ तद्वैके । श्रोत्तरवेदेरनूद्रायन्ति तदु तथा न कुर्यादैवैतस्मान्मध्यमाद्धङ्कोरनूदियात्त उश्रायत्यागच्छत्युत्तरवेदिम् ॥३॥ ॥ शतम् १८०० ॥ ॥ प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स पुरस्तादेवाग्रे प्रोक्षत्युदङ् तिष्ठन्निन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पात्वितीन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्ताद्गोपायत्वित्येवैतदाह ॥४॥ अथ पश्चात्प्रोक्षति । प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पात्विति प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चाद्गोपायत्वित्येवैतदाह ॥५॥ अथ दक्षिणतः प्रोक्षति । मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पात्विति मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतो गोपायत्वित्येवैतदाह ॥६॥ अथोत्तरतः प्रोक्षति । विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विति विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतो गोपायत्वित्येवैतदाह ॥७॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । तयोऽएते पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा ता न्यक्तेन बहिर्वेदि निनयतीदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामीति सा यदेवादः सिंही भूत्वाशान्तेवाचरत्तामेवास्या एतच्छुचं बहिर्धा यज्ञान्निःसृजति यदि नाभिचरेद्यद्युऽअभिचरेदादिशेदिदमहं तप्तं वारमुमभि निःसृजामीति तमेतया शुचा विध्यति स शोचन्नेवामुं लोकमेति ॥८॥ स यद्धार्यमाणेऽग्नौ । उत्तरवेदिं व्याघारयति यदेवैनामदो देवा अब्रुवन्पूर्वा त्वाग्नेराहुतिः प्राप्स्यतीति तदेवैनामेतत्पूर्वामग्नेराहुतिः प्राप्नोति यद्वेषा देवानब्रवीद्यां मया कां चाशिषमाशासिष्यध्वे सा वः सर्वा समर्धिष्यतऽइति तामिनयात्र ऽर्त्विजो यजमानायाशिषमाशासते सास्मै सर्वा समृध्यते ॥९॥ तद्वाऽएतदेकं कुर्वन्द्वयं करोति । यदुत्तरवेदिं व्याघारयत्यथ यैषां मध्ये नाभिकेव भवति तस्यै ये

अध्याय ५—ब्राह्मण २

वे (आहवनीय अग्नि पर) समिधाएँ रखते हैं। और उपयमनी (नीचे की तह जो बालू डालकर बनाई जाती है) बनाते हैं। (अध्वर्यु) [गार्हपत्य अग्नि पर] घी रखता है। स्रुवा और स्रुक् दोनों को माँजता है, और घी को छानकर उसमें से पाँच चम्मच (स्रुक् में) लेता है। जब अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तो—॥१॥

जलती समिधा को उठाकर उपयमनी पर रखते हैं। अब वह (होता से) कहता है, 'अग्नि को लिये जाते हैं, इसके लिए स्तुति कर।' और (प्रतिप्रस्थाता से) कहता है कि 'एक स्फ्या को लेकर उसके पीछे-पीछे आ।' प्रतिप्रस्थाता एक स्फ्या को लेकर उसके पीछे-पीछे चलता है, वेदी के निचले भाग की बीच की कील तक। उस बीच की कील ने गार्हपत्य का जितना भाग वेदी से अलग कर दिया उसको जोड़ देता है॥२॥

कुछ लोग उत्तर वेदी तक पीछे-पीछे जाने के पक्ष में हैं, परन्तु ऐसा न करना चाहिए, केवल मध्य की कील तक जाना चाहिए। वे आते हैं और उत्तर वेदी तक पहुँच जाते हैं॥३॥ [शतम् १८००]

अध्वर्यु प्रोक्षणी ले लेता है। वह आगे उत्तर की वेदी को सींचता है, दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा होकर और यह मन्त्र बोलकर—"इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु" (यजु० ५।११)—"इन्द्र का शोर वसुओं के साथ तेरी रक्षा करे।" यही उसका तात्पर्य है॥४॥

अब वह पीछे की ओर जल सींचता है इस मन्त्र को पढ़कर—"प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु" (यजु० ५।११)—"बुद्धिमान् लोग रुद्रों के साथ पीछे की ओर तेरी रक्षा करें।" इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् लोग रुद्रों के साथ पीछे से तेरी रक्षा करें॥५॥

अब दक्षिण की ओर जल-सिंचन करता है इस मन्त्र को पढ़कर—"मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु" (यजु० ५।११)—"तीव्र मनवाले पितरों के साथ दक्षिण की ओर तेरी रक्षा करें।" इसका तात्पर्य यह है कि तीव्र मनवाले पितरों के साथ दक्षिण की ओर तेरी रक्षा करें॥६॥

अब उत्तर की ओर जल-सिंचन करता है इस मन्त्र को पढ़कर—"विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पातु" (यजु० ५।११)—"विश्वकर्मा आदित्यों के साथ उत्तर की ओर तेरी रक्षा करें।" इसका तात्पर्य है कि विश्वकर्मा उत्तर की ओर आदित्यों के साथ तेरी रक्षा करें॥७॥

प्रोक्षणी पात्र में जो पानी बच रहता है उसको वह वेदी के बाहर जहाँ उत्तर वेदी के दो पूर्व कोने हैं उनमें से दक्षिणी कोने के पास फेंक देता है यह मन्त्र पढ़कर—"इदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि" (यजु० ५।११)—"इस गर्म जल को मैं यज्ञ के बाहर निकालता हूँ।" चूँकि वह वाणी सिंहिनी बनकर अशान्त फिरती रही, उसके उस शोक को इस प्रकार यज्ञ से निकालता है। यदि किसी के विरुद्ध शाप न देना चाहे तो इतना ही कहे, परन्तु यदि शाप देना चाहे तो इतना कहे कि 'अमुक पुरुष के विरुद्ध इस जल को मैं यज्ञ के बाहर निकालता हूँ।' इस प्रकार वह उस पुरुष को उस शोक से बाँधता है और वह शोक से पीड़ित उस लोक को जाता है॥८॥

वह अग्नि को लेते हुए उत्तर वेदी पर घी क्यों छोड़ता है? इसलिए कि देवों ने पहले ही वाणी से कह दिया था कि अग्नि से पूर्व तुझको आहुति मिलेगी। इसलिए आहुति अग्नि से पूर्व ही उस तक पहुँच जाती है। और वाणी ने देवों से जो यह कहा था कि जो कुछ मेरा आशीर्वाद होगा वह सब तुमको प्राप्त होगा, इसीलिए ऋत्विज यजमान के लिए वह सब आशीर्वाद प्राप्त कराते हैं, और उसके लिए इस सब की पूर्ति होती है॥९॥

यह जो उत्तर वेदी पर घी छोड़ता है वह एक बार छोड़ता हुआ मानो दो बार छोड़ता

पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा ॥१०॥ तस्यामाघारयति । सिꣳहीरसि स्वाहेत्यथापरयोरुत्तरस्याꣳ सिꣳहीरस्यादित्यवनिः स्वाहेत्यथापरयोर्दक्षिणस्याꣳ सिꣳहीरसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहेति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्तऽउभे वीर्ये ॥११॥ अथ पूर्वयोरुत्तरस्याꣳ । सिꣳहीरसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहेति तत्प्रजामाशास्ते यदाह सुप्रजावनिरिति रायस्पोषवनिरिति भूमा वै रायस्पोषस्तद्भूमानमाशास्ते ॥१२॥ अथ मध्यऽआघारयति । सिꣳहीरस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहेति तद्देवान्यजमानायावाहयत्यथ स्रुचमुद्गृह्णाति भूतेभ्यस्त्वेति प्रजा वै भूतानि प्रजाभ्यस्त्वेत्येवैतदाह ॥१३॥ अथ परिधीन्परिदधाति । ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳहेति मध्यमं ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहेति दक्षिणमच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहेत्युत्तरमग्नेः पुरीषमसीति सम्भारानुपनिवपति तद्यत्सम्भारा भवन्त्यग्नेरेव सर्वत्वाय ॥१४॥ शरीरꣳ हैवास्य पीतुदारु । तद्यत्पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१५॥ माꣳसꣳ हैवास्य गुल्गुलु । तद्यद्गुल्गुलु भवति माꣳसेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१६॥ गन्धो हैवास्य सुगन्धितेजनम् । तद्यत्सुगन्धितेजनं भवति गन्धेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१७॥ अथ यद्वृष्णे स्तुका भवति । वृष्णेर्ह वै विषाणेऽअन्तरेणाग्निरेकाꣳ रात्रिमुवास तद्यद्देवात्राग्निर्यत्किं तदिहाप्यसदिति तस्माद्वृष्णे स्तुका भवति तस्माद्या शीर्ष्णो नेदिष्ठꣳ स्यात्तामाछिद्याहरेद्यद्यु तां न विन्देदपि यामेव कां चाहरेत्तद्यत्परिधयो भवन्ति गुप्त्याऽएव दूरऽइव ह्येनमुत्तरे परिधय आगछन्ति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥२[५.२]॥ ॥

पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुतऽएष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥१॥ शिर एवास्य हविर्धानम् । वैष्णवं देवतयाथ यदस्मिन्त्सोमो भवति हविर्वै देवानाꣳ सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम ॥२॥ मुखमेवास्याहवनीयः । स यदाहवनीये जुहोति यथा मुखऽआसि-

है। अब जो मध्य में नाभि है उसके जो सामने कोने हैं उनमें जो दक्षिणी कोना है—॥१०॥

उस पर घी छोड़ता है यह पढ़कर—"सिँ ह्यसि स्वाहा" (यजु०५।१२)—"तू सिंहिनी है। स्वाहा।" अब पिछले कोनों में से उत्तरी कोने पर यह पढ़कर—"सिँ ह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है आदित्यों को जीतनेवाली। स्वाहा।" पिछले दो कोनों से दक्षिणी कोने पर यह पढ़कर—"सिँ ह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है ब्रह्म-तेज को जीतनेवाली, क्षत्र-तेज को जीतनेवाली, स्वाहा।" आशीर्वाद-सम्बन्धी यजुर्वेद के मन्त्र बहुत-से हैं। वह इन दो से ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए आशीर्वाद देता है, क्योंकि यही दोनों पराक्रम हैं ॥११॥

अब आगे के कोनों में से जो उत्तर का है उस पर—"सिँ ह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है अच्छी प्रजा को प्राप्त करनेवाली और धन को प्राप्त करनेवाली। स्वाहा।" 'सुप्रजावनी' का अर्थ है कि सन्तान अधिक हो, 'रायस्पोष' का अर्थ है कि धन का बाहुल्य हो ॥१२॥

अब वह मध्य में घी डालता है यह पढ़कर—"सिँ ह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहा" (यजु० ५।१२)—"तू सिंहिनी है, देवों को यजमान के लिए ला। स्वाहा।" इससे वह देवों को यजमान के पास बुलाता है। अब वह स्रुच को उठाता है यह पढ़कर—"भूतेभ्यस्त्वा" (यजु० ५।१२)—"भूतों के लिए तुझको।" 'भूत' का अर्थ है प्रजा। 'प्रजा के लिए' यह तात्पर्य है ॥१३॥

अब वह परिधियों को रखता है, बीच की परिधि को यह मन्त्र पढ़कर—"ध्रुवोऽसि पृथिवी दृँ ह" (यजु० ५।१३)—"तू दृढ़ है, पृथिवी को दृढ़ कर।" दक्षिण की परिधि को यह मन्त्र पढ़कर—"ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृँ ह" (यजु० ५।१३)—"तू दृढ़ है, अन्तरिक्ष को दृढ़ कर।" उत्तर की परिधि को यह मन्त्र पढ़कर—"अच्युतक्षिदसि दिवं दृँ ह" (यजु० ५।१३)—"तू दृढ़ है, द्यौलोक को दृढ़ कर।" और इस मन्त्र के सब सामान को उत्तर वेदी में फेंक देता है—"अग्नेः पुरीषमसि" (यजु० ५।१३)—"तू अग्नि का भोजन (शरीर को पूरा करनेवाला) है।" वह सामान किसलिए है? अग्नि की पूर्ति के लिए ॥१४॥

यह जो पीतु दारु है वह इसका शरीर है। ये जो पीतु दारु की लकड़ियाँ परिधियाँ होती हैं, इसलिए वह इन परिधियों के द्वारा उसको शरीर देता है, अर्थात् उसकी पूर्ति करता है ॥१५॥

यह जो गुल्गुल (उसका गोंद) है वह उस (अग्नि) का मांस है। यह जो गुल्गुलु है वह मानो उसको मांस देता है अर्थात् उसकी पूर्ति करता है। (शायद पीतु दारु के गोंद को गुल्गुलु कहते हैं) ॥१६॥

सुगन्धि-तेज उसकी गन्ध है। सुगन्धि-तेज से मानो वह उसे सुगन्धि से सम्पन्न करता है। उसकी पूर्ति करता है ॥१७॥

मेंढे की पूँछ के बाल क्यों होते हैं? (?) अग्नि एक बार एक रात को मेंढे के दो सींगों के बीच में रहा था। वह सोचता है कि अग्नि का जो अंश उसमें था वही यहाँ भी हो, इसलिए मेंढे के बाल होते हैं। इसलिए बालों के उस गुच्छे को काटना चाहिए जो सिर के बिल्कुल पास हो और यदि वह न मिले तो जो मिले वही लावे। परिधियाँ क्यों होती हैं? अग्नि की रक्षा के लिए। क्योंकि अभी वह समय दूर है जब अगली परिधियाँ आवेंगी ॥१८॥

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

यज्ञ पुरुष है। पुरुष इसलिए है कि इसको पुरुष ही तानता है। तनकर यह उतना ही हो जाता है जितना पुरुष होता है। इसीलिए यज्ञ पुरुष है ॥१॥

हविर्धान अर्थात् सोम ले-जानेवाली गाड़ी का घर सिर है। विष्णु इसका देवता है। और चूँकि इसमें सोम होता है और सोम देवताओं का हवि है, इसलिए इस गाड़ी को हविर्धान कहते हैं ॥२॥

आहवनीय मुख है। इसलिए जब वह आहवनीय में आहुति देता है तो मानो मुख के

श्चेदेवं तत् ॥३॥ स्तुप एवास्य यूपः । बाहूऽएवास्याग्नीध्रीयश्च मार्जालीयश्च ॥४॥
उदरमेवास्य सदः । तस्मात्सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किं चाश्नन्त्युदरऽएवेदꣳ सर्वं
प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन्विश्वे देवा असीदंस्तस्मात्सदो नाम तऽउऽएवास्मिन्नेते ब्रा-
ह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्ति ॥५॥ अथ यावेतौ जघनेनाग्नी । पादावेवास्यैतावेष
वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥६॥ उभयतो-
द्वारꣳ हविर्धानं भवति । उभयतोद्वारꣳ सदस्तस्मादयं पुरुष आन्तꣳ संतृण्णः प्रणि-
क्ते हविर्धानेऽउपतिष्ठते ॥७॥ ते समववर्तयन्ति । दक्षिणेनैव दक्षिणमुत्तरेणो-
त्तरं यद्वर्षीयस्तद्दक्षिणꣳ स्यात् ॥८॥ तयोः समववृत्तयोः । छदिरधिनिदधति यदि
छदिर्न विन्देयुश्छदिःसंमितां भित्तिं प्रत्यानह्यन्ति रराट्यां परिश्रयन्त्युच्छ्रायीभ्यां छ-
दिः पश्चादधिनिदधति छदिःसंमितां वा भित्तिम् ॥९॥ अथ पुनः प्रपद्य । चतुर्गृही-
तमाज्यं गृहीत्वा सावित्रं प्रसवाय जुहोति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृ-
प्रसूताय यज्ञं तनवामहाऽइति तस्मात्सावित्रं जुहोति ॥१०॥ स जुहोति । यु-
ञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति मनसा च वै वाचा च यज्ञं तन्वते स यदाह यु-
ञ्जते मन इति तन्मनो युनक्त्युत युञ्जते धिय इति तद्वाचं युनक्ति धिया-धिय
ह्येतया मनुष्या जुजूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव ताभ्यां युक्ताभ्यां य-
ज्ञं तन्वते ॥११॥ विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित इति । ये वै ब्राह्मणाः शुश्रु-
वाꣳसोऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदभ्याह बृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै बृह-
न्विपश्चिद्यज्ञमेवैतदभ्याह वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इदिति वि हि होत्रा दधते
यज्ञं तन्वाना मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहेति तत्सावित्रं प्रसवाय जु-
होति ॥१२॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । उपनिष्क्रामति दक्षिणया द्वा-
रा पत्नीं निष्क्रामयन्ति स दक्षिणस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां वर्तन्याꣳ हिरण्यं
निधाय जुहोतीदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहेति

भीतर डालता है ॥३॥

यूप उसके सिर की चोटी है। अग्नीध्रीय और मार्जालीय उसके बाहू हैं ॥४॥

सदः (ऋत्विजों का स्थान) उसका उदर है। इसलिए सदः में ही भोजन करते हैं। इस संसार में जो कुछ खाया जाता है वह सब उदर में ही रक्खा जाता है। इसको 'सदस्' इसलिए कहते हैं कि इसमें सब देव बैठे थे (आसीदन्), और सब गोत्रों के ब्राह्मण इसी में बैठते हैं ॥५॥

और पिछली जो दो अग्नियाँ हैं वे पैर हैं। तानने से यज्ञ उतना ही हो जाता है जितना पुरुष है। इसलिए कहा है कि यज्ञ पुरुष है ॥६॥

हविर्धान-गृह के दोनों ओर द्वार होते हैं। सदस् के भी दोनों ओर द्वार होते हैं। इसी प्रकार पुरुष के भी दोनों ओर छिद्र होते हैं। जब हविर्धान धुल जाते हैं तो वह उनमें प्रवेश करता है ॥७॥

वे उनको घुमा देते हैं, दाहिना दक्षिण की ओर और बायाँ उत्तर की ओर। जो बड़ा होता है वह दाहिना होता है ॥८॥

घुमाये हुए उन पर एक चटाई रखते हैं। यदि चटाई न मिले तो बेत को चीरकर चटाई के समान बना लें! आगे के द्वार में टट्टी लगाते हैं। दो सीधी टट्टियाँ खड़ी करके गाड़ियों को उनके बीच में रखते हैं और उनके ऊपर चटाई या बेत का पाल-सा डाल देते हैं ॥९॥

अब वह शाला में जाकर और चार चम्मच घी लेकर सविता की प्रेरणा के लिए आहुति देता है, क्योंकि सविता देवों का प्रेरक है। वह सोचता है कि सविता की प्रेरणा के लिए मैं यज्ञ करूँगा। इसलिए वह सविता के लिए आहुतियाँ देता है ॥१०॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियः" (यजु० ५।१४)—"मन को लगाते हैं और बुद्धियों को लगाते हैं।" मन और वाणी से यज्ञ किया जाता है। जब कहता है 'युञ्जते मन' तब मन को लगाता है। जब कहता है 'युञ्जते धियः' तो वाणी को लगाता है, क्योंकि इसी वाणी के द्वारा मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार जीविका कमाते हैं, वेदपाठ द्वारा या बातचीत द्वारा, या गीत गाकर। उन दोनों (मन और बुद्धि) को लगाकर यज्ञ किया जाता है ॥११॥

"विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः" (यजु० ४।१४)—"बड़े ज्ञानी, विप्र के विप्र।" ये जो वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण हैं उनका नाम विप्र है। उन्हीं के विषय में यह कथन है। 'बृहतो विपश्चितः' यह यज्ञ के विषय में है। "वि होत्रा दधे वयुना विदेकऽइत्" (यजु० ५।१४)—"एक वयुनावित् अर्थात् सर्वज्ञ ने ही होताओं का काम निश्चित किया है" [नोट—'वयुनं वेत्तेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा'—यास्क, निरुक्तं ५।१५]—"मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा" (यजु० ५।१४)—"देव सविता की स्तुति बड़ी है।" यह कहकर प्रेरक सविता के लिए आहुति देता है ॥१२॥

अब फिर चार चम्मच घी लेकर शाला के बाहर निकलता है। दक्षिण द्वार से पत्नी को निकालते हैं। दायें हविर्धान के दायें पहिये के मार्ग में सोना रखकर आहुति देता है, यह मन्त्र पढ़कर—"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा" (यजु० ५।१५ तथा ऋ० १।२२।१७)—"विष्णु ने इस संसार को पार किया। उसने तीन बार पग रक्खा। यह

सꣳस्रवं पत्न्यै पाणावानयति सात्तस्य संतापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमि-
ति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे स्रुचं चाज्यविलापनीं च पर्याणयन्ति पत्नीमुभौ जघनेना-
ग्नी ॥१३॥ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । प्रतिप्रस्थातोत्तरस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां
वर्तन्याꣳ हिरण्यं निधाय जुहोतीरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे
दशस्या । व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहेति सꣳ-
स्रवं पत्न्यै पाणावानयति सात्तस्य संतापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमिति
तद्यदेवं जुहोति ॥१४॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बि-
भयां चक्रुर्विष्णो वाऽआस्य तऽएतेन वज्रेणाज्येन दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवाघ्न-
स्तथैषां नियानं नान्ववायंस्तथोऽएवैष एतन वज्रेणाज्येन दक्षिणतो नाष्ट्रा र-
क्षाꣳस्यवहन्ति तथास्य नियानं नान्ववयन्ति तद्यद्वैष्णवीभ्यामृग्भ्यां जुहोति वैष्ण-
वꣳ हि हविर्धानम् ॥१५॥ अथ यत्पत्न्यक्षस्य संतापमुपानक्ति । प्रजननमेवैत-
त्क्रियते यदा वै स्त्रियै च पुꣳसश्च संतप्यतेऽथ रेतः सिच्यते तत्ततः प्रजायते परा-
गुपानक्ति पराग्घ्येव रेतः सिच्यतेऽथाह हविर्धानाभ्यां प्रवर्त्यमानाभ्यामनुब्रूहीति
॥१६॥ अथ वाचयति । प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽइत्यध्वरो वै यज्ञः प्राची प्रेतं
यज्ञं कल्पयन्तीऽइत्येवैतदाहोर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतमित्यूर्ध्वमिमं यज्ञं देवलो-
कं नयतमित्येवैतदाह मा जिह्वरतमिति तदेतस्माऽअह्वलामाशास्ते समुद्धृत्येव
प्रवर्तयेयुर्यथा नोत्सर्जेतामसुर्या वाऽएषा वाग्याक्षे नेदिहासुर्या वाग्वदादिति य-
द्युत्सर्जेताम् ॥१७॥ एतद्वाचयेत् । स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं
प्रजां मा निर्वादिष्टमिति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः ॥१८॥ तदाहुः । उत्तरवेदेः प्र-
त्यङ् प्रक्रामेत्त्रीन्विक्रमांस्तद्धविर्धाने स्थापयेत्सा हविर्धानयोर्मात्रेति नात्र मात्रा-
स्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत नाहैव सत्रात्यन्तिके नो दूरे तत्स्थापयेत् ॥१९॥
तेऽअभिमन्त्रयते । अत्र रमेथां वर्ष्मन्पृथिव्याऽइति वर्ष्म ह्येतत्पृथिव्यै भवति दि-

उसकी धूल में लिपटा है। स्वाहा।" जो घी बच रहा उसको पत्नी के हाथ में डाल देता है। पत्नी उसको पहिये के गर्म भाग में मल देती है, यह मन्त्र पढ़कर—"देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्" (यजु० ५।१७)—"देवों से सुने गये तुम देवों के प्रति घोषणा करो।" अब वह स्रुच और आज्य-पात्र को प्रतिप्रस्थाता को दे देता है। वे पत्नी को दोनों अग्नियों के पीछे होकर ले जाते हैं ।।१३।।

चार चम्मच घी लेकर प्रतिप्रस्थाता उत्तरी हविर्धान के बायें मार्ग में सोना रखकर इस मन्त्र से आहुति देता है—"इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा" (यजु० ५।१६, ऋ० ७।९९।३)—"मनुष्य के कल्याण के लिए तुम दोनों अन्नवाले, गायवाले, धान्यवाले हो। हे विष्णु, तूने इन दोनों द्यौ और पृथिवी को अलग-अलग कर और पृथिवी को चारों ओर से किरणों से घेर लिया। स्वाहा।" शेष घी को पत्नी के हाथ में छोड़ता है, और वह उसको गर्म पहिये से मल देती है। यह मन्त्रांश पढ़कर—'देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्' (यजु० ५।१७) यह आहुति क्यों देता है? (इसका उत्तर आगे आयेगा) ।।१४।।

एक बार देवों ने यज्ञ का आरम्भ किया। और उनको असुर-राक्षसों के आक्रमण का भय हुआ। घी वज्र है। उस वज्र-घी की सहायता से उन्होंने दक्षिण की ओर से असुरों को हटा दिया, और वे उनके मार्ग में उनके पीछे न आये। इसी प्रकार यह भी असुर-राक्षसों को दक्षिण की ओर से घीरूपी वज्र से हटा देता है। वह इन आहुतियों को विष्णु की दो ऋचाओं से (ऋ० १।२२।१७ और ७।९९।३) क्यों देता है? इसलिए कि हविर्धान विष्णु का है ।।१५।।

पत्नी पहिये को घी क्यों लगाती है? इससे सन्तानोपत्ति होती है। जब स्त्री और पुरुष गर्म होते हैं तो वीर्य बहता है। तब उत्पत्ति होती है। वह पहिये को गाड़ी से दूर दूसरी ओर चुपड़ती है। क्योंकि वीर्य दूर ही सींचा जाता है। अब वह होता से कहता है, 'आगे चलते हुए हविर्धानों के लिए मन्त्र बोल' ।।१६।।

अब वह (यजमान से) कहलवाता है—"प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती" (यजु० ५।१७)—"तुम दोनों आगे को चलो, अध्वर को बढ़ाते हुए।" 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ को बढ़ाते हुए आगे चलो। "ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्" (यजु० ५।१७)—"यज्ञ को ऊपर उठाओ। विचलित मत होने दो।" इससे तात्पर्य है कि यज्ञ को ऊपर देवों के लोक तक उठाओ। 'इसको विचलित न होने दो' से तात्पर्य है कि यजमान विचलित न होवें। गाड़ी को ऐसे चलावें कि मानो उठाकर चलाते हैं। पहियों की आवाज न हो, क्योंकि पहियों की आवाज आसुरी होती है। उसका तात्पर्य यह है कि कहीं आसुरी शब्द न हो जाय। और यदि पहियों की आवाज हो तो—।।१७।।

(यजमान से) कहलवावें—"स्व गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टम्" (यजु० ५।१७)—"हे गृह-समान दोनों गाड़ियो, अपने गोष्ठ से बात करो। मेरी आयु को मत नष्ट करो, मेरी प्रजा को मत नष्ट करो।" यही इसका प्रायश्चित्त है ।।१८।।

इसके विषय में कहते हैं कि उत्तर वेदी से पश्चिम की ओर तीन पग चले और वहाँ हविर्धान को ठहरा दे। यही उसकी मात्रा है। परन्तु कोई नियत मात्रा नहीं है। जहाँ समझे कि न तो बहुत दूर है न बहुत निकट, वहीं ठहरा दे ।।१९।।

नीचे के मन्त्र से नमस्कार करे—"अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः" (यजु० ५।१७)—"तुम

वि ह्यस्याहवनीयो भवति नभ्यस्थे करोति तद्धि नेमस्य रूपम् ॥२०॥ अथोत्त-
रेण पर्येत्याध्वर्युः । दक्षिणꣳ हविर्धानमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं
यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि । योऽअस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधो-
रुगायो विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यदु च मानुषे ॥२१॥ अथ प्र-
तिप्रस्थाता । उत्तरꣳ हविर्धानमुपस्तभ्नाति दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या म-
हो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात् । उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणा-
दोत सव्याद्विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यदु च मानुषे तद्यद्वैष्णवीभिर्यजु-
र्भिरुपचरन्ति वैष्णवꣳ हि हविर्धानम् ॥२२॥ अथ मध्यमं छदिरुपस्पृश्य वाचयति ।
प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु विक्र-
मणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वेतीदꣳ ह्येवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदमुपरिष्टादधीव
ह्येतत्क्षियन्त्यन्यानि शीर्षकपालानि तस्मादाहाधिक्षियन्तीति ॥२३॥ अथ रराट्या-
मुपस्पृश्य वाचयति । विष्णो रराटमसीति ललाटꣳ ह्येवास्यैतदथो छाद्याऽउपस्पृ-
श्य वाचयति विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इति स्रक्वे ह्येवास्यैतेऽअथ यदिदं पश्चाच्छदिर्भव-
तीदꣳ ह्येवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदं पश्चात् ॥२४॥ अथ स्यूतान्या स्यन्द्यया प्रसी-
व्यति । विष्णोः स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोति विष्णोर्ध्रुवोऽसीति नेदव्यवपद्याताऽइति
तं प्रकृते कर्मन्विष्यति तथो हाध्वर्युं वा यजमानं वा ग्राहो न विन्दति तन्निष्ठि-
तमभिमृशति वैष्णवमसीति वैष्णवꣳ हि हविर्धानम् ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५. ३]॥ ॥

इयं वाऽअभ्युपरवाः खायन्ते । शिरो वै यज्ञस्य हविर्धानं तस्माऽइमे शीर्षंश्च-
त्वारः कूपा इमावह द्वाविमौ द्वौ तानेवैतत्करोति तस्मादुपरवान्खनन्ति ॥१॥ दे-
वाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततोऽसुरा एषु लोकेषु कृत्यां
वलगान्निचख्नुरुतैवं चिद्देवानभिभवेमेति ॥२॥ तद्वै देवा अस्पृण्वत । तऽएतैः
कृत्या वलगानुदखनन्यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ सालसा मोघा भवति तथोऽए-

दोनों यहाँ पृथिवी की ऊँचाई पर ठहरो।" यह (उत्तर वेदी ही) ऊँचाई है। आहवनीय द्यौलोक में है। वह उनके नाभि में खड़ी करता है, शान्ति का यही रूप है ॥२०॥

उत्तर की ओर चलकर अध्वर्यु दक्षिणी हविर्धान को ठहराता है यह मन्त्र पढ़कर—"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाᳬसि। योऽअस्कभायदुत्तरᳬ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१८)—"मैं अब विष्णु के पराक्रम कहता हूँ जिसने पृथिवी के देशों को नापा, जिसने उत्तर के (ऊपरी) स्थान को स्थापित किया, तीन बड़े पग चलकर। विष्णु के लिए मैं तुझे स्थापित करता हूँ।" जहाँ खड़ा किया करते हैं वहाँ से हटकर दूसरी जगह खड़ा करता है ॥२१॥

प्रतिप्रस्थाता उत्तरी हविर्धान को खड़ा करता है यह मन्त्र पढ़कर—"दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद् विष्णवे त्वा" (यजु० ५।१९)—"हे विष्णु, या तो द्यौलोक से या पृथिवी से या बड़े विस्तृत अन्तरिक्ष से दोनों हाथों से धन को भर और दाईं और बाईं दोनों ओर से दे। विष्णु के लिए तुझको।" वहाँ नियत स्थान से अन्य स्थान पर खड़ा करता है। विष्णु-सम्बन्धी यजुओं को इसलिए पढ़ता है कि हविर्धान विष्णु की है ॥२२॥

बीच की चटाई को छूकर (यजमान से) कहलवाता है— "प्र तद् विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा" (यजु० ५।२०)—"उस विष्णु के पराक्रम के लिए स्तुति करो जो भयानक जन्तु के समान भयानक और पहाड़ी जानवरों के समान भयानक है। जिसके तीन पदों पर सब संसार स्थित है।" यह चटाई उस (छप्पर) की मुख्य शीर्ष कपाल है, क्योंकि इसी पर अन्य कपाल ठहरते हैं। इसीलिए कहा, 'अधिक्षियन्ति' ॥२३॥

अब रराट (टट्टी) को छूकर (यजमान से) कहलवाता है—"विष्णोः रराटमसि" (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु का ललाट है।" क्योंकि यह उसका ललाट है। अब दो टट्टियों को छूकर कहलवाता है, "विष्णोः श्नप्त्रे स्थः" (यजु० ५।२१)—"तुम विष्णु के मुँह के किनारे हो।" अब जो पीछे की चटाई है वह इसके पीछे का शीर्ष-कपाल है ॥२४॥

अब लकड़ी की कील से सीता है, यह कहकर—"विष्णोः स्यूरसि" (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु की सुई है।" अब गाँठ देता है पढ़कर—"विष्णोर्ध्रुवोऽसि" (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु का ध्रुव है।" यह गाँठ इसलिए देता है कि छूट न जाय। जब काम समाप्त हो जाता है तो गाँठ खोल देता है। इस प्रकार न अध्वर्यु को रोग लगता है न यजमान को। जब छप्पर बन जाता है तो कहता है 'वैष्णवमसि' (यजु० ५।२१)—"तू विष्णु का है।" क्योंकि हविर्धान विष्णु का है ॥२५॥

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

दो कारण हैं कि छिद्र बनाये जाते हैं। हविर्धान यज्ञ का सिर है। सिर में भी तो चार छिद्र होते हैं, दो यह और दो यह (नाक और कान)। उसी प्रकार से वह भी बनाता है, इसीलिए छिद्र (उपरव) खोदता है ॥१॥

प्रजापति की दोनों सन्तान देव और असुर लड़ पड़े। असुरों ने इन लोकों में वलग अर्थात् जादू-टोने को गाड़ दिया कि देवों पर विजय पा जावें ॥२॥

अब देव जीत गये। उन्होंने इन्हीं उपरवों की सहायता से टोनों को खोद डाला। जो टोना खोद लिया जाय उसका प्रभाव नहीं रहता। यहाँ भी अगर किसी शत्रु ने टोना गाड़ दिया

वैष एतद्यद्यस्माऽअत्र कश्चिद्द्विषन्भ्रातृव्यः कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्कि-
रति तस्मादुपरवान्खनति स दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोऽधः प्रउगं खनति ॥३॥
सोऽभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे
नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वाऽएषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसी-
ति ॥४॥ तान्प्रादेशमात्रं त्रिना परिलिखति । इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्ता-
मीति वज्रो वाऽअभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तति ॥५॥ तद्या-
वेतौ पूर्वौ । तयोर्दक्षिणमेवाग्रे परिलिखेदथापरयोरुत्तरमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्व-
योरुत्तरम् ॥६॥ अथोऽइतरथाहुः । अपरयोरेवाग्रऽउत्तरं परिलिखेदथ पूर्वयोर्द-
क्षिणमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरमित्यथोऽअपि समीच एव परिलिखेदेतं त्वे-
वोत्तमं परिलिखेद्य एष पूर्वयोरुत्तरो भवति ॥७॥ तान्यथापरिलिखितमेव य-
थापूर्वं खनति । बृहन्नसि बृहद्रवा इत्युपस्तौत्येवैनानेतन्महयत्येव यदाह बृह-
न्नसि बृहद्रवा इति बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवꣳ
हविर्धानं तत्सेन्द्रं करोति तस्मादाह बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेति ॥८॥ रक्षोह-
णं वलगहनमिति । रक्षसाꣳ ह्येते वलगानां बधाय खायन्ते वैष्णवीमिति वैष्ण-
वी हि हविर्धाने वाक् ॥८॥ तान्यथाखानमेवोत्किरति । इदमहं तं वलगमु-
त्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेति निष्ट्यो वा वाऽअमात्यो वा कृ-
त्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥९॥ इदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं
मे समानो यमसमानो निचखानेति समानो वा वाऽअसमानो वा कृत्यां वल-
गान्निखनति तानेवैतदुत्किरति ॥१०॥ इदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सब-
न्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेनि सबन्धुर्वा वाऽअसबन्धुर्वा कृत्यां वलगान्निखनति ता-
नेवैतदुत्किरति ॥११॥ इदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सजातो यमसजातो
निचखानेति सजातो वा वाऽअसजातो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदु-

हो तो वह इन उपरवों के द्वारा उसको खोद डालता है। इसलिए उपरव बनाये जाते हैं। दक्षिणी हविर्धान के आगे के भाग में उपरवों को बनाता है ॥३॥

वह खुरपी (अभ्रिम्) उठाता है, इस मन्त्र को पढ़कर—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्यसि" (यजु० ५।२२)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विन की दोनों भुजाओं और पूषा के दोनों हाथों से तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इस यजु० का तात्पर्य भी वैसा ही है। खुरपी स्त्री है, इसलिए कहा 'तू नारी है' ॥४॥

वह एक प्रादेश (बालिश्त) छोड़कर रेखा खींचता है इस मन्त्र को पढ़कर—"इदमहँ रक्षसां ग्रीवांऽअपिकृन्तामि" (यजु० ५।२२)—"यह मैं राक्षसों की गर्दन काटता हूँ।" खुरपी वज्र है। वज्र से ही वह राक्षसों की गर्दन काटता है ॥५॥

(इन उपरवों का चिह्न इस प्रकार बनाया जाय) पहले अगलों में से दायाँ, फिर पिछलों में का बायाँ। फिर पिछलों का दायाँ, फिर अगलों का दायाँ ॥६॥

कुछ लोग इससे उलटा बताते हैं अर्थात् पहले पिछलों का बायाँ, फिर अगलों का बायाँ या एक ही दिशा में ले। परन्तु अन्त में उसको लेना चाहिए जो बायाँ है ॥७॥

फिर जिस क्रम से चिह्न बनाया उसी प्रकार खोदना चाहिए, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"बृहन्नसि बृहद्रवा" (यजु० ५।२२)—"तू बड़ी है, बड़े शब्दवाली।" उसी की बड़ाई करता है जब कहता है कि 'बृहन्नसि' इत्यादि। "बृहतीमिन्द्राय वाचं वद" यजु० ५।२२)—"इन्द्र के लिए बड़ी वाणी बोल।' इन्द्र यज्ञ का देवता है। हविर्धान विष्णु का है। वह इस मन्त्र (बृहती इत्यादि) को पढ़कर इनका इन्द्र के साथ सम्बन्ध जोड़ता है ॥८॥

"रक्षोहणं वलगहनं" (यजु० ५।२३)—"राक्षसों के मारनेवाले और जादू-टोने के मारनेवाले।" ये राक्षसों और टोनों को नष्ट करने के लिए खोदे जाते हैं। "वैष्णवीम्" (यजु० ५।२३), क्योंकि हविर्धान की जो वाणी है वह विष्णु की है ॥९॥

जैसा-जैसा खोदता है वैसे-वैसे (उसी क्रम से) मिट्टी को फेंकता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान' (यजु० ५।२३)—"मैं उस टोने को उखाड़कर फेंकता हूँ जो मेरे पुत्र या सम्बन्धी ने मेरे लिए गाड़ दिया हो।" पुत्र या सम्बन्धी टोने को घर में गाड़ता है। यह उसी को उखाड़कर फेंक देता है ॥१०॥

"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखान" (यजु० ५।२३)—"मैं इस-उस टोने को खोदकर फेंकता हूँ जिसको मेरे बराबरवाले ने गाड़ा हो या बे-बराबरवाले ने।" समान या असमान पुरुष जिस जादू-टोने को गाड़ता है उसी को उखाड़कर फेंकता है ॥११॥

"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखान' (यजु० ५।२३)—"मैं इस-उस टोने को खोदकर फेंकता हूँ जिसको मेरे सम्बन्धी (सबन्धु) या (असबन्धु) ने गाड़ा हो।"

त्किरत्युत्कृत्यां किरामीत्यन्तत उद्वपति तत्कृत्यामुत्किरति ॥१२॥ तान्बाहुमात्रा-न्खनेत् । अन्तो वाऽएषोऽन्तेनैवैतत्कृत्यां मोहयति तानन्यया संतृन्दन्ति यथा-न्यया न शक्नुयादपि समीचस्तस्मादिमे प्राणाः परः संतृण्णाः ॥१३॥ तान्यथाखा-तमेवावमर्शयति । स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते ॥१४॥ अथाध्वर्युश्च यजमानश्च संमृशेते । पूर्वयोर्दक्षिणोऽध्वर्युर्भवत्यपरयोरुत्तरे यजमानः सोऽध्वर्युः पृ-च्छति यजमान किमत्रेति भद्रमित्याह तन्नौ सहेत्युपांश्वध्वर्युः ॥१६॥ अथापरयोर्द-क्षिणोऽध्वर्युर्भवति । पूर्वयोरुत्तरे यजमानः स यजमानः पृच्छत्यध्वर्यो किमत्रेति भद्र-मित्याह तन्म इति यजमानस्तद्यदेवꣳ संमृशेते प्राणानेवैतत्सयुजः कुरुतस्तस्मा-दिमे प्राणाः परः संविद्रेऽथ यत्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याह कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वा-चो वदति तस्मात्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याहाथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्या-मेवैतत्करोति ॥१७॥ स प्रोक्षति । रक्षोहणो वो वलगहन इति रक्षोहणो ह्येते वलगहनो ह्येते प्रोक्षामि वैष्णवानिति वैष्णवा ह्येते ॥१८॥ अथ याः प्रो-क्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेष्ववनयति तद्या इमाः प्राणेष्वापस्ता एवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमा आपः ॥१९॥ सोऽवनयति । रक्षोहणो वो वलगहनोऽव-नयामि वैष्णवानित्यथ बर्हीꣳषि प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति यानीमानि प्राणेषु लोमानि तान्येवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमा-नि ॥२०॥ सोऽवस्तृणाति । रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवानि-त्यथ बर्हीꣳषि तनूनीवोपरिष्टात्प्रच्छादयति केशा हैवास्यैते ॥२१॥ अथाधिषवणे फलकेऽउपदधाति । रक्षोहणौ वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवीऽइति हनू है-वास्यैतेऽअथ पर्यूहति रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवीऽइति दृꣳह-त्येवैनेऽएतदशिथिले करोति ॥२२॥ अथाधिषवणं परिकृत्तं भवति । सर्वरोहितं

टोने को या तो अपने सम्बन्धी ने गाड़ा या किसी गैर ने, उस सबको खोदकर फेंकता है ।।१२।।

"इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखान' (यजु० ५।२३)—"मैं इस-उस टोने को खोदकर फेंकता हूँ जो मेरे देशवाले या अन्यदेशवाले ने गाड़ा हो।" टोने को या तो अपने देशवाले (सजात) ने या दूसरे देशवाले (असजात) ने गाड़ा होगा, उसी को उखाड़-कर फेंकता है। "उत्कृत्यां किरामि" (यजु० ५।२३)—"कृत्या (जादू) को उखाड़कर फेंकता हूँ।" जो सूराखों में मिट्टी बची हो उसको निकालकर फेंक देता है ।।१३।।

उन गड्ढों को हाथ-भर गहरा खोदना चाहिए। यहीं तक अन्त हैं (अर्थात् जहाँ तक पहुँचे वहीं तक खोदे)। इस प्रकार वह जादू-टोने (कृत्या) को नष्ट करता है। इन गड्ढों को भीतर-भीतर आड़े मार्गों से मिला दे। यदि आड़े मार्ग न बना सके तो सीधों से ही। इसीलिए (मनुष्य के) प्राण भी एक-दूसरे से भीतरी नालियों द्वारा मिले रहते हैं ।।१४।।

जैसे खोदे गये हैं उस क्रम से यजमान को छुआता है, यह मन्त्र पढ़कर—"स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्य मित्रहा" (यजु० ५।२४)—"तू शत्रु का मारनेवाला स्वराट् है। अभिमानियों का मारनेवाला तू सत्रराट् (सततं राजति) अर्थात् सदा चमकनेवाला है। राक्षसों का मारनेवाला तू मनुष्य का राजा है। शत्रु का मारनेवाला तू सर्वराट् है।" यह उस काम का आशीर्वाद है। वह इस प्रकार आशीर्वाद प्राप्त करता है ।।१५।।

अध्वर्यु और यजमान (गड्ढों में हाथ डालकर नीचे से) एक-दूसरे को छूते हैं—सामने के दक्षिण गड्ढे में अध्वर्यु और पिछले बायें गड्ढे में यजमान। अब अध्वर्यु पूछता है 'यजमान, यहाँ क्या है?' वह उत्तर देता है, 'भद्र (कल्याण) है।' अध्वर्यु कहता है, 'यह (भद्र) हम दोनों के लिए हो' ।।१६।।

अब पिछले दक्षिणी गड्ढे में अध्वर्यु होता है और पिछले उत्तर में यजमान। यजमान पूछता है, 'अध्वर्यु, यह क्या है?' अध्वर्यु कहता है 'भद्र।' यजमान कहता है, 'मेरे लिए भी वही हो।' वे इस प्रकार इसलिए छूते हैं कि प्राणों को जोड़ देते हैं। इसीलिए प्राण बहुत दूर भीतर मिले होते हैं। जब पूछने पर वह 'भद्र' कहता है तो तात्पर्य है कि मनुष्य की भाषा में वह 'कल्याण' कहता है। इसीलिए पूछने पर कहता है 'भद्र।' अब उन गड्ढों को जल से सींचता है। जल-सिंचन का एकमात्र प्रयोजन यही है कि उनको पवित्र करता है ।।१७।।

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है—"रक्षोहणो वो वलगहनः" (यजु० ५।२५)—"तुम राक्षसों और जादू-टोने के नष्ट करनेवाले हो।" यह राक्षसों को नष्ट करनेवाले और जादू-टोने को नष्ट करनेवाले हैं। "प्रोक्षामि वैष्णवान्" (यजु० ५।२५)—'विष्णु के इनको सींचता हूँ।" यह विष्णु के तो हैं ही ।।१८।।

अब जो जल बच रहता है उसे गड्ढों में ही डाल देता है। मानो प्राणों में जो जल है उसको वह डालता है। इसलिए इन प्राणों के इन जलों को—।।१९।।

यह मन्त्र पढ़कर बाहर फेंकता है—"रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू के नाश करनेवाले तुम वैष्णवों को मैं बाहर फेंकता हूँ।" अब वह कुश बिछाता है। कुछ की नोक पूर्व की ओर, कुछ की उत्तर की ओर हो। प्राणों में जो लोम होते हैं उनको धारण करता है। इसलिए इन प्राणों में लोमों को—।।२०।।

वह फैला देता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू-टोने के नष्ट करनेवाले तुम वैष्णवों को फैलाता हूँ।" अब वह कुश फैलाता है, मानो शरीर को ऊपर से ढकता है। क्योंकि कुश (विष्णु के) बाल हैं ।।२१।।

अब सोम निचोड़ने के दो तख्ते रखता है, यह मन्त्रांश पढ़कर—"रक्षोहणौ वां वलगहना-ऽउपदधामि वैष्णवी" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू को नष्ट करनेवाले दो को मैं रखता हूँ। तुम विष्णु के हो।" वस्तुतः वे विष्णु के जबड़े हैं। वह उनको मिट्टी से ढकता है यह मन्त्रांश पढ़कर—"रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी" (यजु० ५।२५)—"राक्षसों और जादू-टोने को नष्ट करनेवाले तुमको ढाँपता हूँ। तुम विष्णु के हो।" इस प्रकार वह इनको दृढ़ और न हिलनेवाला बनाता है ।।२२।।

अब सोम निचोड़ने का चमड़ा सीधा काटा जाता है और सम्पूर्ण लाल रंग से रंगा जाता

जिह्वा ह्येवास्यैषा तस्मात्सर्वरोहितं भवति लोहिनीव हीयं जिह्वा तन्निदधाति वैष्णवमसीति वैष्णवꣳ ह्येतत् ॥२३॥ अथ ग्राव्णा उपावहरति । दन्ता ह्येवास्य ग्रावाणस्तस्माद्ग्रावभिरभिषुण्वन्ति यथा दद्भिः प्सायादेवं तत्तान्निदधाति वैष्णवा स्थेति वैष्णवा ह्येतऽएतदु यज्ञस्य शिरः सꣳस्कृतम् ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [५.४]॥ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [२०] ॥ ॥

उदरमेवास्य सदः । तस्मात्सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किं चाश्नन्त्युदरऽएवेदꣳ सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन्विश्वे देवा असीदंस्तस्मात्सदो नाम तऽउऽएवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्त्यैन्द्रं देवतया ॥१॥ तन्मध्यऽऔदुम्बरीं मिनोति । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर उदरमेवास्य सदस्तन्मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति तस्मान्मध्यऽऔदुम्बरीं मिनोति ॥२॥ अथ य एष मध्यमः शङ्कुर्भवति । वेदेर्जघनार्धे तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति षड्विक्रमान्दक्षिणा सप्तममपक्रामति सम्पदः कामाय तदवटं परिलिखति ॥३॥ सोऽभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वाऽएषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति ॥४॥ अथावटं परिलिखति । इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामीति वज्रो वाऽअभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तति ॥५॥ अथ खनति । प्राञ्चमुत्करमुत्किरति यजमानेन संमायौदुम्बरीं परिवासयति तामग्रेण प्राचीं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधिनिदधाति ॥६॥ अथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति । आपो ह वाऽओषधीनाꣳ रसस्तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्त्योषधय उ हापाꣳ रसस्तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति यदैवोभय्यः सꣳसृष्टा भवन्त्यथैव धिन्वन्ति तर्हि हि सरसा भवन्ति सरसाभिः प्रोक्षाणीति ॥७॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवेभ्यः सर्वा एवौषधय ईयुर्यवा हैवेभ्यो नेयुः ॥८॥ तद्धै देवा अस्पृण्वत । तऽएतैः सर्वाः सपत्नानामो-

है, क्योंकि यह विष्णु की जिह्वा है। वह बिल्कुल लाल इसलिए रंगा जाता है कि जीभ का रंग लाल होता है। यह पढ़कर नीचे रख देता है—'वैष्णवमसि' (यजु० ५।२५)। 'तू विष्णु की है।' यह विष्णु का तो है ही ॥२३॥

अब सोम निचोड़ने के पत्थर लाता है (पाँच पत्थर)। ये पत्थर बिष्णु के दाँतों के तुल्य हैं। इसलिए जब सोम को पीसते हैं तो मानो दाँतों से पीसते हैं। यह कहकर रख देता है—'वैष्णवा स्थ' (यजु० ५।२५)—"विष्णु के होकर रहो।" क्योंकि विष्णु के तो हैं ही। अब यज्ञ का सिर पूरा हो गया ॥२४॥

अध्याय ६—ब्राह्मण १

सदस् इस यज्ञ का पेट है। इसलिए सदस् में ही खाते हैं। क्योंकि इस संसार में जो कुछ खाया जाता है वह पेट में ही रक्खा जाता है। इसको सदस् इसलिए कहते हैं कि इसमें सब देव बैठे (असीदन्)। इसी प्रकार सब गोत्रों के ब्राह्मण इसी में बैठते हैं। इसका देवता इन्द्र है ॥१॥

इसके मध्य में वह उदुम्बर की लकड़ी रखता है। उदुम्बर अन्न या शक्ति है। सदस् इस यज्ञ का पेट है। इसलिए उस पेट के बीच में वह उदुम्बर की लकड़ी रखता है ॥२॥

वेदी के पिछले आधे भाग के बीच में जो खूंटी होती है उससे पूर्व की ओर छः पग चलता है। इससे हटकर दाहिनी ओर सातवाँ पग भरता है, कामना की पूर्ति के लिए। वहाँ एक गढ्ढे का चिह्न बना देता है ॥३॥

इस मन्त्र को पढ़कर खुरपी (अभ्रि) लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णे हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" (यजु० ५।२२)—"सविता देव की प्रेरणा पर अश्विनी की भुजाओं और पूषा के हाथों से मैं तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इस यजुः का भी यही तात्पर्य है जो पहले बता दिया गया। खुरपी (अभ्रि) तो स्त्रीलिङ्ग है ही। इसलिए वह उसको कहता है कि 'तू नारी है' ॥४॥

अब वह इस मन्त्रांश से गड्ढे का चिह्न बनाता है—"इदमहँ रक्षसां ग्रीवाऽअपि-कृन्तामि" (यजु० ५।२२)—"मैं इससे राक्षसों की गर्दन काटता हूँ।" यह खुरपी वज्र है। वज्र से ही दुष्ट राक्षसों की गर्दन काटता है ॥५॥

अब खोदता है। मिट्टी पूर्व को डालता है। यजमान के कद के बराबर नापकर उदुम्बर की लकड़ी को चारों ओर से चिकनाता है और गड्ढे के आगे इस प्रकार रखता है कि उसका अग्रभाग पूर्व की ओर रहे। उतने ही बड़े कुशों को उसके ऊपर रखता है ॥६॥

अब प्रोक्षणी के जलों में जौ (यव) होते हैं। ओषधियों का रस जल है। इसलिए यदि ओषधियाँ ही खाई जायँ तो तृप्ति नहीं करतीं। जलों का रस ओषधियाँ हैं, इसलिए केवल जल ही पिया जाय तो तृप्ति नहीं होती। जब दोनों मिल जाते हैं तो तृप्ति करते हैं, क्योंकि तब वे रसवाले हो जाते हैं। वह सोचता है कि सरस जल का सिंचन करूँ ॥७॥

प्रजापति की सन्तान देव और असुरों में झगड़ा हुआ। देवों से सब ओषधियाँ चली गईं। केवल जौ (यव) नहीं गये ॥८॥

अब देव जीत गये। जौ ने शत्रुओं की सब ओषधियों को खींच लिया (अयुवत्)।

षधीरयुवत यदयुवत तस्माद्यवा नाम ॥९॥ ते होचुः । हन्त यः सर्वासामोषधीनाꣳ रसस्तं यवेषु दधामेति स यः सर्वासामोषधीनाꣳ रस आसीत्तं यवेष्वदधुस्तस्माद्यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्तऽएवꣳ ह्येषु रसमदधुस्तथोऽएवैष एतैः सर्वाः सपत्नानामोषधीर्युते तस्माद्यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति ॥१०॥ स यवानावपति । यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यामेवैतत्करोति ॥११॥ स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेतीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषूर्जꣳ रसं दधाति ॥१२॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खातस्तमेवैतन्मेध्यं करोति ॥१३॥ अथ बर्हीꣳषि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्य वाऽअस्याऽएतद्भवति यन्निखातꣳ सा यथानिखातौषधिषु मिता स्यादेवमेतास्वोषधिषु मिता भवति ॥१४॥ तामुच्छ्रयति । उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यामितीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषूर्जꣳ रसं दधाति ॥१५॥ अथ मिनोति । द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोत्विति यो वाऽअयं पवतऽएष द्युतानो मारुतस्तदेनामेतेन मिनोति मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणेति प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनां प्राणोदानाभ्यां मिनोति ॥१६॥ अथ पर्यूहति । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामीति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्तऽउभे वीर्ये रायस्पोषवनीति भूमा वै रायस्पोषस्तद्भूमानमाशास्ते ॥१७॥ अथ पर्यृषति । ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳहेत्याशीर्वैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते समम्भूमि पर्यर्षणं करोति गर्तस्य वाऽउपरिभूम्यथैवं देवत्रा तथा हागर्तमिद्भवति ॥१८॥ अथाप उपनिनयति । यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः

इसीलिए उनका 'यव' (जौ) नाम पड़ा ॥६॥

उन्होंने कहा कि सब ओषधियों में जो रस है उस सब को हम जौ में रख दें। इसलिए जो रस सब ओषधियों में था उसको उन्होंने जौ में रख दिया। इसलिए जब ओषधियाँ सूख जाती हैं तो जौ हरे-भरे रहते हैं क्योंकि देवों ने इनमें इस प्रकार रस भर दिया है। इसी प्रकार यजमान भी इन्हीं जौ के द्वारा शत्रु के सब अन्नों को खींच लेता है। इसीलिए प्रोक्षणी पात्र के जलों में जौ रहते हैं ॥१०॥

वह इस (गड्ढे) में जौ को डाल देता है इस मंत्रांश को पढ़कर—"यवोऽसि यवयास्मद्‌-द्वेषो यवयाराती:" (यजु० ५।२६)—"तू जौ है तो हमसे शत्रु को हटा दे (यवय) और बुरी बातों को हटा दे (यवय)।" यह सब स्पष्ट है। अब जल-सिंचन करता है। जल-सिंचन का एक ही प्रयोजन है अर्थात् यज्ञ की पवित्रता ॥११॥

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है —"दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा" (यजु० ५।२६)—"तुझको द्यौलोक के लिए, अन्तरिक्ष के लिए और पृथिवी के लिए।" इस प्रकार वह इन लोकों को शक्ति और रस से पूर्ण करता है। शक्ति और रस को इन लोकों में स्थापित करता है ॥१२॥

अब जो जल प्रोक्षणी में बच रहता है उसको सूराख में डाल देता है यह कहकर, "शुन्धन्तॉं-ल्लोका: पितृषदना:" (यजु० ५।२६)—"जहाँ पितृ रहते हैं वे लोक शुद्ध हों।" यह जो गड्ढा खोदा जाता है वह पितरों का है। इसको वह यज्ञ के लिए शुद्ध करता है ॥१३॥

अब वह उनमें कुश बिछा देता है। इस प्रकार कि उनके अग्रभाग पूर्व की ओर रहें और उत्तर की ओर, यह कहकर—"पितृषदनमसि" (यजु०५।२६)—"तू पितरों की बैठक है।" क्योंकि इसका जितना भाग खोदा जाता है वह पितरों का होता है। मानो वह खोदा नहीं गया, वृक्षों के साथ मिल गया। इस प्रकार वह वृक्षों के समान हो जाता है ॥१४॥

अब वह इसको इस मन्त्र से उठाता है—"उद्दिवँ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृँहस्व पृथिव्याम्" (यजु० ५।२७)—"द्यौलोक को उठा, अन्तरिक्ष को भर और पृथिवी को दृढ़ कर।" इस प्रकार वह इन लोकों को शक्ति और रस से युक्त करता है और इन लोकों में शक्ति और रस स्थापित करता है ॥१५॥

अब वह उसको (गड्ढे में) गाड़ देता है, यह मन्त्र पढ़कर—"द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु" (यजु० ५।२७)—"मरुत् का पुत्र द्युतान तुझको गाड़े।" यह जो हवा चलती है उसी को 'मारुत द्युतान' कहते हैं। उसी से वह गाड़ता है—"मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा" (यजु० ५।२७)—"मित्र और वरुण के दृढ़ धर्म के द्वारा।" प्राण और उदान का नाम मित्र-वरुण है। प्राण और उदान से इसको गाड़ता है ॥१६॥

अब वह चारों ओर मिट्टी इकट्ठी करता है इस मन्त्रांश से—"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि" (यजु० ५।२७)—"मैं तुझको घेरता हूँ, हे ब्रह्मत्व के प्राप्त करनेवाले, क्षत्रियत्व के प्राप्त करनेवाले, धन के प्राप्त करनेवाले!" यजुओं में आशीर्वाद बहुत हैं। इससे वह ब्रह्मत्व और क्षत्रियत्व के लिए आशीर्वाद देता है। 'रायस्पोषवनि' से पुष्कलता से प्रयोजन है। उसी पुष्कलता के लिए आशीर्वाद देता है ॥१७॥

अब वह इस मन्त्रांश को पढ़कर मिट्टी को दबा-दबाकर मजबूत करता है—"ब्रह्म दृँह क्षत्रं दृँहायुर्दृँह प्रजां दृँह" (यजु० ५।२७)—"ब्रह्मत्व को दृढ़ कर, क्षत्रियत्व को दृढ़ कर आयु को दृढ़ कर, प्रजा को दृढ़ कर।" यही इस कर्म का आशीर्वाद है। वह इससे यही आशीर्वाद देता है। वह इतना दबाता है कि मिट्टी भूमि के बराबर हो जाती है। या गड्ढे की भूमि कुछ ऊँची होती है। यह ऊँचाई देवतापन हो जाती है; इसका तात्पर्य यह है कि यह गड्ढा असाधारण हो जाता है ॥१८॥

अब वह उस पर पानी छिड़कता है। जहाँ कहीं भूमि में गड्ढा खोदते हैं तो उसमें धान उत्पन्न कर देते हैं। जल शान्तिदायक है। जल से शान्ति देता है। इसलिए जल से सींचता

संदधाति तस्मादप उपनिनयति ॥१९॥ अथैवमभिपद्य वाचयति । ध्रुवासि ध्रुवो ऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया भूयादिति पशुभिरिति वैवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥२०॥ अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । विष्टपमभि जुहोति घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिति तदिमे द्यावापृथिवीऽऊर्जा रसेन भाजयत्यनयो- र्वूर्जᳯ रसं दधाति ते रसवत्याऽउपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्ति ॥२१॥ अथ छदिरधिनिदधाति । इन्द्रस्य छदिरसीत्यैन्द्रᳯ हि सदो विश्वजनस्य छायेति विश्व- गोत्र्या ह्यस्मिन्ब्राह्मणा आसते तदुभयतश्छदिषीऽउपदधात्युत्तरतस्त्रीणि परस्त्रीणि तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत्तस्मान्नव भवन्ति ॥२२॥ तदुदीची- नवᳯशᳯ सदो भवति । प्राचीनवᳯशᳯ हविर्धानमेतद्वै देवानां निष्केवल्यं यद्ध- विर्धानं तस्मात्तत्र नाश्नन्ति न भक्षयन्ति निष्केवल्यᳯ ह्येतद्देवानाᳯ स यो ह त- त्राश्नीयाद्वा भक्षयेद्वा मूर्धा हास्य विपतेद्थैते मिश्रे यदाग्नीध्रं च सदश्च तस्मात्तयो- रश्नन्ति तस्माद्भक्षयन्ति मिश्रे ह्येतेऽउदीची वै मनुष्याणां दिक्तस्मादुदीचीनवᳯशᳯ सदो भवति ॥२३॥ तत्परिश्रयन्ति । परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः । वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयऽइतीन्द्रो वै गिर्वा विशो गिरो विशैवैत- त्क्षत्रं परिबृᳯहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिबृढम् ॥२४॥ अथ स्यूजन्या स्यूजन्या प्रसीव्यति । इन्द्रस्य स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोतीन्द्रस्य ध्रुवोऽसीति नेद्व्य- वपद्याताऽइति प्रकृते कर्मन्विष्यति तथो हाध्वर्युं वा यजमानं वा ग्राहो न वि- न्दति तन्निष्ठितमभिमृशत्यैन्द्रमसीत्यैन्द्रᳯ हि सदः ॥२५॥ अथ हविर्धानयोः । ज- घनार्धᳯ समन्वीक्ष्योत्तरेणाग्नीध्रं मिनोति तस्यार्धमन्तर्वेदि स्यादर्धं बहिर्वेद्यथोऽअ- पि भूयोऽर्धादन्तर्वेदि स्यात्कनीयो बहिर्वेद्यथोऽअपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात्तन्नि- ष्ठितमभिमृशति वैश्वदेवमसीति द्वयेनैतद्वैश्वदेवं यदस्मिन्पूर्वेद्युर्विश्वे देवा वसती- वरीमुपवसन्ति तेन वैश्वदेवम् ॥२६॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसे-

है ॥१९॥

इसको छुआकर (यजमान से) कहलवाता है—"ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया भूयात्' (यजु० ५।२८) — "तू दृढ़ है। यह यजमान इस घर में प्रजा के साथ दृढ़ हो।" "पशुभिः" (यजु० ५।२८)—"पशुओं के साथ।" अर्थात् जैसी-जैसी कामना हो उसी की पूर्ति होती है ॥२०॥

अब स्रुवा में घी लेकर विष्ट (अर्थात् त्रिशूल के समान सिरे) पर डालता है, इस मन्त्रांश से—"घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्" (यजु० ५।२८)—"द्यौ और पृथिवी घी से भर जायें।" इस प्रकार द्यौ और पृथिवी को ऊर्ज और रस से भर देता है। उनमें ऊर्ज और रस स्थापित कर देता है। यह सब प्रजा ऊर्ज और रसयुक्त द्यावा-पृथिवी पर ही निवास करती हैं ॥२१॥

अब चटाई (छदि) बिछाता है, यह पढ़कर—"इन्द्रस्य छदिरसि" (यजु० ५।२८)—"तू इन्द्र की चटाई है।" क्योंकि सदस् इन्द्र का है। "विश्वजनस्य छाया" (यजु० ५।२८)—"सब मनुष्यों के लिए आश्रय है।" क्योंकि इसमें सब गोत्रों के ब्राह्मण बैठते हैं। इसमें दो चटाइयाँ और जोड़ता हैं। फिर उनके उत्तर में तीन चटाइयाँ और उनके उत्तर में तीन और चटाइयाँ। इस प्रकार नौ हो जाती हैं। यह त्रिवृत् (तीन भागों वाला) होता है। नौ भी त्रिवृत् होता है। इसलिए नौ चटाइयाँ होती हैं ॥२२॥

सदस् का बाँस (दक्षिण से) उत्तर को होता है, हविर्धान का पूर्व से पश्चिम को। हविर्धान पूरा-पूरा देवताओं का होता है, इसलिए वहाँ न खाते हैं न पीते हैं। अगर कोई उसमें खाय या पिये तो उसका सिर गिर जायगा। आग्नीध्र और सदस् दोनों में मिश्रित हैं (अर्थात् देव और मनुष्य दोनों में उनकी गिनती है)। इसलिए इनके साथ खाना-पीना होता है, क्योंकि इन दोनों की दोनों में गिनती है। मनुष्यों की दिशा उत्तर है, इसलिए सदस् का बाँस उत्तर की ओर होता है ॥२३॥

इस मन्त्र को पढ़कर उसको घेरते हैं—"परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः। वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः" (यजु० ५।२९, ऋ० १।१०।१२)—"हे स्तुतियों को पसन्द करनेवाले! स्तुतियाँ चारों ओर से तुझको घेर लें। वृद्धियाँ (उन्नतियाँ) बहुत आयुवाली हों। शक्तियाँ शक्तिवाली हों।" 'गिर्वा' का अर्थ है इन्द्र और 'गिरः' का जनसाधारण (विश)। इस प्रकार वह क्षत्रिय को जन-साधारण (विश) से घेरता है। इसलिए जन-साधारण से दोनों ओर क्षत्रिय घिरा रहता है ॥२४॥

अब वह सुई-डोरे से सीता है, यह मन्त्रांश पढ़कर—"इन्द्रस्य स्यूरसि" (यजु० ५।३०)—"तू इन्द्र की सुई है।" फिर गाँठ देता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि" (यजु० ५।३०)—"तू इन्द्र का ध्रुव है।" कहीं खुल न जाय। कार्य समाप्त होने पर खोल देता हैं। इस प्रकार अध्वर्यु या यजमान रोग-ग्रसित नहीं होते। कार्य की समाप्ति पर वह सदस् को छूता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"ऐन्द्रमसि" (यजु० ५।३०)—"तू इन्द्र का है।" क्योंकि सदस् इन्द्र का ही होता है ॥२५॥

हविर्धानों में से पिछले को देखकर उत्तर की ओर आग्नीध्र शाला बनाता है। इसका आधा वेदी के भीतर होना चाहिए और आधा बाहर, या आधे से अधिक भीतर हो और आधे से कम बाहर, या सब भीतर ही हो। जब पूरा हो जाय तो इस मन्त्रांश से उसको छुए—"वैश्व-देवमसि" (यजु० ५।३०)—"तू सब देवों का है।" यह सब देवों का है ही, क्योंकि इससे पूर्व के दिन 'विश्वेदेवा' 'वसतीवरी' जलों के पास इसी में बैठते हैं (उप+वास करते हैं) ॥२६॥

एक बार यज्ञ करते हुए देवों को भय हुआ कि असुर राक्षस आक्रमण न करें। असुर

भ्य आसन्नादभयं चक्रुस्तान्दक्षिणतोऽसुररक्षसान्यासेदुस्तान्सदसो निजघ्नुस्तेषामे-
तान्धिष्ण्यानुद्वापयां चक्रुर्यऽएतेऽन्तःसदसꣳ ॥२७॥ सर्वे ह स्म वाऽएते पुरा ज्वल-
न्ति । यथायमाहवनीयो यथा गार्हपत्यो यथाग्नीध्रीयस्तद्यत एनानुदवापयंस्तत
एवैतन्न ज्वलन्ति तानाग्नीध्रमभि सꣳरुरुधुस्तानप्यर्धमाग्नीध्रस्य निजघ्नुस्ततो विश्वे दे-
वा अमृतत्वमपाजयंस्तस्माद्वैश्वदेवम् ॥२८॥ तान्देवाः प्रतिसमैन्धत । यथा प्रत्यव-
स्येत्तस्मादेनान्त्सवने-सवनऽएव प्रतिसमिन्धते तस्माद्यः समृद्धः स आग्नीध्रं कुर्या-
द्यो वै ज्ञातोऽनूचानः स समृद्धस्तस्मादग्नीधे प्रथमाय दक्षिणां नयन्त्यतो हि वि-
श्वे देवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्माद्यं दीक्षितानामबल्यं विन्देदाग्नीध्रमेनं नयतेति ब्रू-
यात्तदनार्तं तन्नारिष्यतीति तद्यदतो विश्वे देवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्माद्वैश्वदेवम्
॥२९॥ ब्राह्मणम् ॥५ [६.१]॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १३२ ॥ ॥

विक्षामानो हैवास्य धिष्ण्याः । इमे समङ्का ये वै समङ्कास्ते विक्षामान एतऽउ
हैवास्यैतऽआत्मनः ॥१॥ दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा अकाम-
यन्ता नः सोमो गच्छेत्तेनागतेन यजेमहीति तऽएते मायेऽअसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं
च वागेव सुपर्णीयं कद्रूस्ताभ्याꣳ समदं चक्रुः ॥२॥ ते हऽईयिमानेऽऊचतुः ।
यतरा नौ दवीयः परापश्यादात्मानं नौ सा जयादिति तथेति सा ह कद्रूरुवाच
परेक्षस्वेति ॥३॥ सा ह सुपर्ण्युवाच । अस्य सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेत स्थाणौ
सेवते तमहं पश्यामीति तमेव त्वं पश्यसीति तꣳ हीत्यथ ह कद्रूरुवाच तस्य
वालो न्यषञ्जि तममुं वातो धूनोति तमहं पश्यामीति ॥४॥ सा यत्सुपर्ण्युवाच ।
अस्य सलिलस्य पारऽइति वेदिर्वै सलिलं वेदिमेव सा तदुवाचाश्वः श्वेत स्थाणौ
सेवतऽइत्यग्निर्वाऽअश्वः श्वेतो यूप स्थाणुरथ यत्कद्रूरुवाच तस्य वालो न्यषञ्जि
तममुं वातो धूनोति तमहं पश्यामीति रशना हैव सा ॥५॥ सा ह सुपर्ण्युवा-
च । एहीदं पताव वेदितुं यतरा नौ जयतीति सा ह कद्रूरुवाच त्वमेव पत त्वं

राक्षसों ने दक्षिण से आक्रमण किया और सदस् से निकाल दिया, और सदस् के भीतर जो 'धिष्ण्यः' (कुण्ड) थे उनको उलट दिया ॥२७॥

पहले ये सब कुण्ड ऐसे ही जलते थे जैसे यह आहवनीय या गार्हपत्य या आग्नीध्रीय। जब से उन्होंने इनको उलट दिया तब से ये नहीं जलते। उन (राक्षसों) ने (देवों को) आग्नीध्रीय अग्नि तक रोक दिया। उनसे आग्नीध्रीय अग्नि का आधा भाग जीत भी लिया। वहीं से देवों ने अमरपन को प्राप्त किया। इसलिए 'आग्नीध्रीय अग्नि' सब देवों की हो गई ॥२८॥

देवों ने उनको फिर जला लिया, क्योंकि उनका वहाँ रहना था। इसलिए प्रत्येक सोमयाग में इनको जलाया जाता है। इसलिए जो समृद्ध (पूर्ण योग्य) हो वही आग्नीध्र का काम करे। समृद्ध वह होता है जो ज्ञानी और वेदपाठी हो। पहले आग्नीध्र के पास दक्षिणा ले जाते हैं। सब देवों ने यहीं अमरत्व की प्राप्ति की थी। अगर दीक्षित लोगों में किसी प्रकार की निर्बलता (अबल्य) आ जाय तो अध्वर्यु कहे—'इसको आग्नीध्र के पास ले जाओ।' चूँकि वह अनार्त या दुःखरहित है इसलिए उसको भी वहाँ दुःख न होगा। चूँकि यहाँ सब देवों को अमरत्व प्राप्त हुआ इसलिए यह 'सब देवों का' है ॥२९॥

अध्याय ६—ब्राह्मण २

धिष्णियाँ (कुण्ड) यजमान के विजामान होते हैं, क्योंकि ये समङ्क होते हैं। जो समङ्क हों उनको विजामान कहते हैं। (समङ्क या विजामान वे वस्तुएँ होती हैं जिनके अङ्ग एक-दूसरे के अनुकूल होते हैं, जैसे यदि मनुष्य के सिर है तो धिष्णी का भी सिर है। यदि मनुष्य के आँख है तो धिष्णी की भी आँख है। अर्थात् एक-एक अङ्ग के स्थान में दूसरा अङ्ग होना)। उसके धड़ के अङ्ग ये हैं—॥१॥

सोम द्यौलोक में था और देव इस लोक में। देवों ने कामना की कि सोम हमारे पास आ जावे और उस आये हुए सोम के साथ हम यज्ञ करें। उन्होंने दो माया बनाईं—सुपर्णी और कद्रू। सुपर्णी वाणी थी और कद्रू यह भूमि। उन्होंने उनके बीच में झगड़ा करा दिया ॥२॥

तब वे झगड़ने लगीं, 'जो हममें से सबसे दूर की चीज देख लेगी वही दूसरी पर विजय पायेगी।' कद्रू ने कहा, 'अच्छा, देख' ॥३॥

सुपर्णी ने कहा—'इस सलिल के उस पार एक श्वेत घोड़ा एक खम्भे के पास खड़ा है। मैं उसे देख रही हूँ। क्या तू भी उसको देखती है?' कद्रू ने कहा—'मैं देखती हूँ। उसकी पूँछ अभी लटक रही थी। मैं देखती हूँ कि वायु इस समय उसको हिला रही है' ॥४॥

अब जब सुपर्णी ने कहा—'उस सलिल के उस पार' तो सलिल का अर्थ था वेदी। उससे उसका तात्पर्य वेदी से था। 'खम्भे के पास एक सफेद घोड़ा खड़ा है।' श्वेत घोड़े से तात्पर्य यज्ञ का है और खम्भे से यज्ञ-यूप का। कद्रू ने जो कहा था कि 'इसकी पूँछ अभी लटक रही थी, अब उसको वायु हिला रहा है। मैं उसे देख रही हूँ' यह केवल रस्सी थी ॥५॥

तब सुपर्णी ने कहा—'चलो वहाँ तक उड़ चलें और देखें कि हममें से किसकी जीत हुई।'

वै न आख्यास्यसि यतरा नौ जयतीति ॥६॥ सा ह सुपर्णी पपात । तद्ध तथै-
वास यथा कद्रूरुवाच तामागतामभ्युवाद त्वमजैषी३स्त्वा३मिति त्वमिति होवाचै-
तद्व्याख्यानꣳ सौपर्णीकाद्रवमिति ॥७॥ ॥ शतम् ११०० ॥ ॥ सा ह कद्रूरुवाच ।
आत्मानं वै त्वाजैषं दिव्यसौ सोमस्तं देवेभ्य आहर तेन देवेभ्य आत्मानं नि-
ष्क्रीणीष्वेति तथेति सा छन्दाꣳसि ससृजे सा गायत्री दिवः सोममाहरत् ॥८॥
हिरण्मय्योर्ह कुश्योरन्तरवहित आस । ते ह स्म क्षुरपव्यौ निमेषं-निमेषमभिसं-
धत्तो दीक्षातपसौ हैव तेऽआसतुस्तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुरिमे धिष्ण्या इ-
मा होत्राः ॥९॥ तयोरन्यतरां कुशीमाचिच्छेद । तां देवेभ्यः प्रददौ सा दीक्षा त-
या देवा अदीक्षन्त ॥१०॥ अथ द्वितीयां कुशीमाचिच्छेद । तां देवेभ्यः प्रददौ तत्त-
पस्तया देवास्तप उपायन्नुपसदस्तपो ह्युपसदः ॥११॥ खदिरेण ह सोममाचखा-
द । तस्मात्खदिरो यदेनेनाखिदत्तस्मात्खादिरो यूपो भवति खादिरः स्फ्योऽच्छावा-
कस्य हैनं गोपनायां जहार सोऽच्छावाकोऽहीयत ॥१२॥ तमिन्द्राग्नीऽअनुसमत-
नुताम् । प्रजानां प्रजात्यै तस्मादैन्द्राग्नोऽच्छावाकः ॥१३॥ तस्माद्दीक्षिता राजानं
गोपायन्ति । नेन्नोऽपहरानिति तस्मात्तत्र सुगुप्तं चिकीर्षन्त्यस्य ह गोपनायामप-
हरन्ति हीयते ह ॥१४॥ तस्माद्ब्रह्मचारिण आचार्यं गोपायन्ति । गृहान्पशून्नेन्नो
ऽपहरानिति तस्मात्तत्र सुगुप्तं चिकीर्षन्त्यस्य ह गोपनायामपहरन्ति हीयते ह
तेनैतेन सुपर्णी देवेभ्य आत्मानं निरक्रीणीत तस्मादाहुः पुण्यलोक ईजान इ-
ति ॥१५॥ ऋणꣳ ह वै पुरुषो जायमान एव । मृत्योरात्मना जायते स यद्यजते
यथैव तत्सुपर्णी देवेभ्य आत्मानं निरक्रीणातैवमेवैष एतन्मृत्योरात्मानं निष्क्री-
णीते ॥१६॥ तेन देवा अयजन्त । तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा अन्वाजग्मुस्तेऽन्वा-
गत्याब्रुवन्ननु नो यज्ञऽआभजत मा नो यज्ञादन्तर्गातास्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग इति
॥१७॥ ते होचुः । किं नस्ततः स्यादिति यथैवास्याऽमुत्र गोप्तारोऽभूमैवमेवास्या-

कद्रू ने कहा—'तुम्हीं जाओ और बता देना कि हममें से किसकी विजय हुई' ॥६॥

सुपर्णी वहाँ तक उड़ी और कद्रू ने जो कहा था वही ठीक निकला। जब वह वापस आई तो कद्रू ने उससे पूछा— 'तुम जीतीं या मैं ?' उसने कहा 'तुम।' इसको 'सौपर्णी-काद्रव' व्याख्यान कहते हैं ॥७॥ [शतम् १६००]

तब कद्रू ने कहा—'सचमुच मैंने तुमको जीत लिया। द्यौलोक में सोम है, उसको देवों के लिए ले आओ। और देवों के ऋण से मुक्त हो।' यथास्तु। वह छन्दों को लाई। वह गायत्री द्यौलोक से सोम को ले आई ॥८॥

वह (सोम) दो सोने के प्यालों के बीच में था। आँख मारते में ही वे प्याले तेज किनारों द्वारा बन्द हो जाते थे। ये थे दीक्षा और तप। उन पर सोमरक्ष गन्दर्भ देखभाल रखते थे। यही धिष्णियाँ हैं, यही होता ॥९॥

उसने इनमें से एक प्याले को खोला और देवों को दे दिया। यह दीक्षा थी। इसी से देवों ने अपने को दीक्षित किया ॥१०॥

अब उसने दूसरे प्याले को खोला और देवों को दिया। यही 'तप' था। इससे देवों ने तप किया अर्थात् उपसद, क्योंकि उपसद ही तप है ॥११॥

उसने खदिर की लकड़ी से सोम को लिया (आचखाद), इसलिए उनका खदिर नाम पड़ा। और चूँकि उसी के द्वारा उसने सोम को लिया, इसलिए यूप और स्फ्या खदिर की लकड़ी के होते हैं। जब वह अछावाक के सुपुर्द था तब वह उसे ले गई। इसीलिए 'अछावाक' को सोम-पान का अधिकार नहीं ॥१२॥

इन्द्र और अग्नि ने प्रजाओं की उत्पत्ति के लिए उसको स्थित रक्खा, इसलिए अछावाक् इन्द्र और अग्नि का होता है ॥१३॥

इसीलिए दीक्षित पुरुष ही सोम राजा की रक्षा करते हैं कि गन्धर्व कहीं इसको ले न जायँ। इसलिए उचित है कि उसकी भलीभाँति रक्षा की जाय। क्योंकि जिस किसी की सुपुर्दगी में से वे सोम को ले-जायँगे, वही (सोमपान से) बहिष्कृत कर दिया जायगा ॥१४॥

इसीलिए ब्रह्मचारी लोग अपने आचार्य, उसके घर तथा पशुओं की रक्षा करते हैं कि कहीं वे उसको ले न जायँ। इसलिए उस (सोम) की बड़ी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जिस किसी की सुपुर्दगी में से वे ले जायँगे उसी को (सोमपान से) बहिष्कृत कर दिया जायगा। इसी के द्वारा सुपर्णी ने देवोंके ऋण से छुटकारा पाया, इसलिए कहते हैं कि यज्ञ करनेवाले पुण्य-लोक को प्राप्त होते हैं ॥१५॥

पुरुष जब पैदा होता है तभी मृत्यु का ऋणी होता है। और जब वह यज्ञ करता है तो मृत्यु के ऋण से छूटता है, जैसे सुपर्णी देवताओं के ऋण से छूट गई ॥१६॥

देवों ने (सोम के साथ) यज्ञ किया। सोमरक्ष गन्धर्वों ने उसका अनुसरण किया और आकर कहने लगे—'हमको यज्ञ में भाग दो। हमको यज्ञ से बाहर मत करो। यज्ञ में हमारा भी भाग होना चाहिए' ॥१७॥

उन्होंने कहा—'हमको इससे क्या लाभ होगा ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'जैसे उस लोक

पीथ गोप्तारो भविष्याम इति ॥१८॥ तथेति देवा अब्रुवन् । सोमक्रयणा वै इ-
ति तानेभ्य एतत्सोमक्रयणाननुदिशत्यथैनानब्रुवंस्तृतीयसवने वो घृताहुतिः प्रा-
प्स्यति न सौम्यापहृता हि युष्मत्सोमपीथस्तेन सोमाहुतिं नार्हथेति सैनानेषा
तृतीयसवनऽएव घृताहुतिः प्राप्नोति न सौम्या यद्धालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति
॥१९॥ अथ यदग्नौ होष्यन्ति । तद्वोऽविष्यतीति स यदग्नौ जुहोति तदेनानवत्यथ
यद्वः सोमं बिभ्रत उपर्युपरि चरिष्यन्ति तद्वोऽविष्यतीति स यदेनान्त्सोमं बिभ्रत
उपर्युपरि चरन्ति तदेनानवति तस्मादध्वर्युः समया धिष्ण्यान्नातीयादध्वर्युर्हि सोमं
बिभर्ति तमेते व्यात्तेन प्रत्यासते स एतेषां व्यात्तमापद्येत तमग्निर्वाभिदह्येद्वा-
यं देवः पशूनामीष्टे स वा हैनमभिमन्येत तस्मादध्वर्योः शालायामर्थः स्यादु-
त्तरेणैवाग्नीध्रीयꣳ संचरेत् ॥२०॥ ते वाऽएते । सोमस्यैव गुप्त्यै न्युप्यन्तऽआहव-
नीयः पुरस्तान्मार्जालीयो दक्षिणत आग्नीध्रीय उत्तरतोऽथ ये सदसि ते पश्चात्
॥२१॥ तेषां वाऽअर्धानुपकिरन्ति । अर्धाननुदिशन्त्येतऽउ हैवैतद्दध्रिरेऽर्धान्न उप
किरन्त्वर्धाननुदिशन्तु तथा यस्माल्लोकादागताः स्मो दिवस्तथा तं लोकं प्रतिप्र
ज्ञास्यामस्तथा न जिह्मा एष्याम इति ॥२२॥ स यानुपकिरन्ति । तेनास्मिंल्लोके
प्रत्यक्षं भवन्त्यथ याननुदिशन्ति तेनामुष्मिंल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति ॥२३॥ ते वै द्वि-
नामानो भवन्ति । एतऽउ हैवैतद्दध्रिरे न वाऽएभिर्नामभिरार्त्स्म येषां नः सो-
ममपाहार्षुर्हन्त द्वितीयानि नामानि करवामहाऽइति ते द्वितीयानि नामान्यकु-
र्वत तैरराध्नुवन्यानपहृतसोमपीथात्सतोऽथ यज्ञऽआभजंस्तस्माद्द्विनामानस्तस्माद्ब्रा-
ह्मणोऽनृध्यमाने द्वितीयं नाम कुर्वीत राध्नोति हैव य एवं विद्वान्द्वितीयं नाम
कुरुते ॥२४॥ स यदग्नौ जुहोति । तद्देवेषु जुहोति तस्माद्देवाः सन्त्यथ यत्सदसि
भक्षयन्ति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्त्यथ यद्धविर्धानयोर्नाराशꣳसाः
सीदन्ति तत्पितृषु जुहोति तस्मात्पितरः सन्ति ॥२५॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभ-

में हम उसके रक्षक रहे उसी प्रकार इस भूमि पर भी रक्षक रहेंगे' ॥१८॥

देवों ने कहा—'अच्छा।' जब वह कहता है—'यह है सोम की मजदूरी।' तो इससे सोम के मोल से तात्पर्य है। फिर उन्होंने कहा—'तीसरे सवन में जो घी की आहुति दी जायगी वह तुम्हारी होगी। सोम का पान तुमसे छीन लिया गया है। इसलिए तुम सोम की आहुति के अधिकारी नहीं रहे। इसलिए सायंकाल के तीसरे सवन में कुण्ड में लकड़ियों पर जो घी की आहुति दी जाती है वही इनकी होती है, सोम की आहुति नहीं ॥१९॥

'और जो आहुति घी में दी जायगी वह तुमको तृप्त कर देगी।' इसलिए जो घी में आहुति दी जाती है वह उनको तृप्त कर देती है। 'और वह जो सोम को चमचों के लिए ऊपर-ऊपर फिरायेंगे उनसे इसकी तृप्ति होगी।' इसलिए यह जो सोम को चमचे में भरकर ऊपर-ऊपर फिराते हैं उनसे इसकी तृप्ति होती है। इसलिए अध्वर्यु को चाहिए कि कुण्डों के बीच से न गुजरे क्योंकि वह सोम के लिए होता है और वे (कुण्ड) सोम के लिए मुँह खोले बैठे होते हैं, और वह उनके मुँह में घुस जायेगा। इसलिये या तो उसको अग्नि जला देगा या जो देव पशुओं का अधिष्ठाता है (पशुपति, रुद्र) वह उसको पकड़ लेगा। इसलिये जब कभी अध्वर्यु का शाला में कुछ काम हो तो वह आग्नीध्रीय अग्नि के उत्तर की ओर होकर जावे ॥२०॥

ये कुण्ड सोम की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं—आगे आहवनीय, दाईं ओर मार्जालीय, बाईं ओर आग्नीध्रीय और पीछे की ओर सदस् ॥२१॥

इनमें से आधे को मिट्टी डालकर ऊँचा करते हैं और आधे की ओर केवल संकेत करते हैं। उन्हीं का यह आग्रह था कि हममें से आधों को ऊँचा करो, आधों की ओर संकेत करो। (यहाँ 'अनुदिशन्तु' का अर्थ समझ में नहीं आया) इस प्रकार हम उस द्यौलोक को जान लेंगे जहाँ से हम आये हैं, और हम बहक न सकेंगे ॥२२॥

जो ऊँचे किये गये वे इस लोक में प्रत्यक्ष होते हैं, और जिनकी ओर संकेत करते हैं वे उस लोक में प्रत्यक्ष होते हैं ॥२३॥

उनके दो नाम होते हैं। वस्तुतः यह उन्हीं का आग्रह था कि 'हम इन नामों से फलीभूत नहीं हुए क्योंकि हमसे सोम ले लिया गया। अब हम दूसरे नाम रख लें।' उन्होंने दूसरा नाम रख लिया। इससे वे सफल हो गये, क्योंकि जो सोम से वंचित हो चुके थे उनको यज्ञ में भाग मिल गया। इसलिये दो नाम होते हैं। इसलिए यदि कोई ब्राह्मण सफल न होता हो तो दूसरा नाम रख ले। जो इस रहस्य को समझकर दूसरा नाम रख लेता है वह फलीभूत हो जाता है ॥२४॥

वह अग्नि में जो आहुतियाँ देता है वह देवों के प्रति देता है। इसी से देव स्थित रहते हैं। और जो सदस् में खाते हैं वे मनुष्यों के प्रति देते हैं। उससे मनुष्यों की स्थिति है। हविर्धानों में जो नाराशंस बैठते हैं वे पितरों के प्रति होते हैं। उनसे पितरों की स्थिति है ॥२५॥

अब जो ऐसी प्रजा बच रही जिसका यज्ञ में कोई भाग ही नहीं है, वह तो कहीं की नहीं

क्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतर्ह्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञऽआभजति मनुष्याननु पशवो देवाननु वयाꣳस्योषधयो वनस्पतयो यदिदं किं चैवमु तत्सर्वं यज्ञऽआभक्तं ते ह स्मैतऽउभये देवमनुष्याः पितरः सम्पिबन्ते सैषा सम्पा ते ह स्म दृश्यमाना एव पुरा सम्पिबन्तऽउतैतर्ह्यदृश्यमानाः ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [६. २.]॥ ॥

सर्वं वाऽएषोऽभि दीक्षते । यो दीक्षते यज्ञꣳ ह्यभि दीक्षते यज्ञꣳ ह्येवेदꣳ सर्वमनु तं यज्ञꣳ सम्भृत्य यमिममभि दीक्षते सर्वमिदं विसृजते ॥१॥ यद्वैसर्जिनानि जुहोति । स यदिदꣳ सर्वं विसृजते तस्माद्वैसर्जिनानि नाम तस्माद्योऽपिव्रतः स्यात्सोऽन्वारभेत यद्युऽअन्यत्र चरेन्नाद्रियेत यद्वै जुहोति तदेवेदꣳ सर्वं विसृजते ॥२॥ यद्वेव वैसर्जिनानि जुहोति । यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते यज्जुहोति तस्माद्वैसर्जिनानि जुहोति ॥३॥ सोऽपराह्णे वेदिꣳ स्तीर्त्वा । अर्धव्रतं प्रदाय सम्प्रपद्यन्तऽइध्ममभ्यादधत्युपयमनीरुपकल्पयन्त्याज्यमधिश्रयति स्रुचः संमार्ष्ट्युपस्थे राजानं यजमानः कुरुतेऽथ सोमक्रयण्यै पदं जघनेन गार्हपत्यं परिकिरति पदा वै प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित्याऽएव ॥४॥ तद्धैके । चतुर्धा कुर्वन्ति यत्राहवनीयमुद्धरन्ति तासूपयमनीषु चतुर्भागमक्षं चतुर्भागेणोपाञ्जन्त्येतासूपयमनीषु चतुर्भागं जघनेन गार्हपत्यं चतुर्भागं परिकिरति ॥५॥ तदु तथा न कुर्यात् । सार्धमेव परिकिरेज्जघनेन गार्हपत्यमथोत्पूयाज्यं चतुर्गृहीतं जुह्वां चोपभृति च गृह्णाति पञ्चगृहीतं पृषदाज्यं ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳ समिदिति वैश्वदेवꣳ हि पृषदाज्यं धारयन्ति स्रुचो यदा प्रदीप्त इध्मो भवति ॥६॥ अथ जुहोति । त्वꣳ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथꣳ स्वाहेति तदेतेनैवास्यां पृथिव्यां प्र-

रही। इसलिए वह इनको यहाँ यज्ञ में भाग देता है जिससे वे फलीभूत हो जायँ। पशु मनुष्यों के पीछे हैं; चिड़ियाँ, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ देवों के पीछे हैं। इस प्रकार यहाँ जो कुछ है, सभी को यज्ञ में भाग मिलता है। देव और मनुष्य दोनों पितरों के साथ पीते हैं। पहले यह प्रत्यक्ष रूप से पीते थे, अब परोक्ष रूप से पीते हैं ॥२६॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

जो दीक्षा लेता है वह सबको दीक्षित करता है। क्योंकि वह यज्ञ को दीक्षित करता है। यह यज्ञ ही सब-कुछ है। जिस यज्ञ के लिए उसने दीक्षा ली थी उसको समाप्त करके मानो वह सबको युक्त कर देता है ॥१॥

वैसर्जिन आहुति इसलिये दी जाती है। चूँकि वह इस सब का विसर्जन करता है इसलिये इसका नाम वैसर्जिन है। इसलिये जिस किसी ने व्रत लिया हो वह पीछे से (यजमान को) छुए। यदि कहीं जाना हो तो न सही। जब वह आहुति देता है तो सबका विसर्जन करता है ॥२॥

वैसर्जिन आहुतियाँ क्यों दी जाती हैं? यज्ञ विष्णु है। उस (विष्णु) ने देवों के लिए इस विक्रान्ति (शक्ति) को विचक्रमे अर्थात् प्राप्त किया, जो इस समय उनको प्राप्त है—पहले पद से इस (भूलोक) को, दूसरे से अन्तरिक्ष को, अन्तिम से द्यौलोक को। इसी विक्रान्ति को यज्ञ यजमान के लिए प्राप्त कराता है जब यजमान यज्ञ करता है। इसीलिये वैसर्जिन आहुतियाँ दी जाती हैं ॥३॥

तीसरे पहर वेदी में कुश रखकर, व्रत के दूध का आधा भाग यजमान और उसकी स्त्री को देकर शाला में आते हैं, समिधा को रखते हैं और उपयमनी को बनाते हैं। (अध्वर्यु) घी को (गार्हपत्य की) अग्नि पर रखता है। स्रुच् को माँजता है। यजमान सोम राजा को अपनी गोद में लेता है। अध्वर्यु सोम-गौ के पद की रेणु को गार्हपत्य के पीछे फेंकता है जिससे उसकी प्रतिष्ठा हो, क्योंकि पैरों से ही तो प्रतिष्ठा होती है (आदमी पैरों के बल ही खड़ा होता है) ॥४॥

कुछ लोग (इस रेणु के) चार भाग करते हैं। चौथाई भाग को उस उपयमनी में रखते हैं जहाँ से आहवनीय लेते हैं। चौथाई भाग अक्ष में लगाते हैं। चौथाई भाग को (अग्नीध्रीय अग्नि की) उपयमनी पर रखते हैं और एक-चौथाई को गार्हपत्य के पीछे फेंकते हैं ॥५॥

परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उसको बिल्कुल गार्हपत्य के पीछे ही फेंकना चाहिए। घी को साफ करके जुहू और उपभृत में चार चमचे लेता है—पृषदाज्य (जमे हुए घी) के पाँच चमचे इस मन्त्र से—"ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाँ समित्" (यजु० ५।३५)—"तू विश्वरूप ज्योति है, सब देवताओं की समिधा या ज्वाला।" क्योंकि पृषदाज्य सब देवों का है। जब ईंधन प्रदीप्त हो जाता है तो स्रुचों को रखते हैं ॥६॥

अब वह आहुति देता है—"त्वँ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि वरूथँ स्वाहा" (यजु० ५।३५)—"हे सोम, तू शरीरों को कष्ट देनेवाले, दूसरों द्वारा किये हुए द्वेषों से बचानेवाला है। बहुत प्रकार से नियन्ता है। तू हमारे यज्ञरूपी घर की रक्षा कर।" इस प्रकार

तिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनेमं लोकꣳ स्पृणुते ॥७॥ अथात्रैव द्वितीयामाहुतिं जुहो-
ति । जुषाणोऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहेत्येष उ हैवैतदुवाच रक्षोभ्यो वै बिभेमि
यथा मान्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिनसन्नेवं मा कनीयाꣳसमेव बधात्कृत्वातिनय-
त स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तुरिति तमेतत्कनीयाꣳसमेव बधात्कृत्वात्यनयन्त्स्तोकमेव
स्तोको ह्यप्सू रक्षोभ्यो भीषा तस्मादत्रैव द्वितीयामाहुतिं जुहोति ॥८॥ उद्यह-
न्तीध्मम् । उपयच्छन्त्युपयमनीरथाहाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि सोमाय प्रणीयमा-
नायेति वाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयात् ॥९॥ आददते ग्रावाणः । द्रो-
णकलशं वायव्यानीध्मं कार्ष्मर्यमयान्परिधीनाश्ववालं प्रस्तरमैक्षव्यौ विधृती त-
द्बर्हिरुपसंनद्धं भवति वपाश्रपण्यौ रशनेऽअरणीऽअधिमन्थनः शकलो वृषणौ
तत्समादाय प्राञ्च आयन्ति स एष ऊर्ध्वो यज्ञ एति ॥१०॥ तदायत्सु वाचयति ।
अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुरा-
णमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेमेत्यग्निमेवैतत्पुरस्तात्करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा
रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण हरन्ति तऽआयन्त्यागच्छन्त्याग्नीध्रं तमाग्नीध्रे निद-
धाति ॥११॥ स निहिते जुहोति । अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु
प्रभिन्दन् । अयं वाजान्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहेति तदे-
तेनैवैतस्मिन्नन्तरिक्षे प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनेतं लोकꣳ स्पृणुते ॥१२॥ तदेव नि-
दधति ग्रावाणः । द्रोणकलशं वायव्यान्यथेतरमादायायन्ति तदुत्तरेणाहवनीयमुप-
सादयन्ति ॥१३॥ प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षत्यथ वेदिमथास्मै ब-
र्हिः प्रयच्छन्ति तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रꣳस्य ग्रन्थिमाश्व-
वालः प्रस्तर उपसंनद्धो भवति तं गृह्णाति गृहीत्वा प्रस्तरमेकवृद्बर्हि स्तृणाति
स्तीर्त्वा बर्हिः कार्ष्मर्यमयान्परिधीन्परिदधाति परिधाय परिधीन्त्समिधावभ्यादधा-
त्यभ्याधाय समिधौ ॥१४॥ अथ जुहोति । उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय न-

वह इस पृथिवी पर प्रतिष्ठा लाभ करता है और इस लोक को प्राप्त करता है ॥७॥

अब वह अप्तु (अर्थात् तीव्रगामी सोम) के लिए दूसरी आहुति देता है—"जुषाणोऽअप्तु-राज्यस्य वेतु स्वाहा" (यजु० ५।३५)—"तेज सोम हमारे घी को स्वीकार करे।" उस (सोम) ने ही तो कहा था कि 'मुझे राक्षसों से भय लगता है कि दुष्ट राक्षस मुझे मार्ग में हानि न पहुँचावें। इसलिए मुझे छोटा करके ले चलो कि मैं उनके वध के लिए अति सूक्ष्म हो जाऊँ। मुझे बूंद के रूप में ले चलो।' क्योंकि बूंद अप्तु अर्थात् तेज होती हैं, इसलिए वध के लिए अतिसूक्ष्म करके वह राक्षसों के डर से उसको बूंद के रूप में लेते हैं क्योंकि बूंद तेज होती है। इसीलिए वह तेज सोम के लिए दूसरी आहुति देता है ॥८॥

वे जलती हुई समिधा को उठाते हैं और उपयमनी पर रखते हैं। तब वह होता से कहता है—'लिये जाती हुई अग्नि के लिए मन्त्र बोल।' या 'लिये जाते हुए सोम के लिए।' परन्तु ऐसा कहना चाहिए कि 'लिये जाती हुई अग्नि के लिए' ॥९॥

अब वह (सोम कुचलने के) पत्थरों को, द्रोण कलश को, वायव्यों को (लकड़ी की कूंडियों को 'वायव्य' कहते हैं), (बीस) समिधाओं को, कार्ष्मण्य लकड़ी की परिधियों को, अश्वबाल घास के प्रस्तरों को, ईख की विधृतियों को लेता है। कुश को उससे बाँधते हैं। दो वपाश्रपणी (कार्ष्मण्य लकड़ी की शलाकायें जिन पर भूनते हैं), दो रस्सियाँ, दो अरणी, अधि-मन्थन लकड़ी, दो वृषण इन सबको लेकर वे आगे (अग्नीध्र तक) जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ ऊँचा उठता है ॥१०॥

जब वे आगे चलते हैं तो वह (यजमान से) यह बँचवाता है—"अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम" (यजु० ५।३६, ऋ० १।१८९।१)—"हे अग्नि देव, जो तू सब कर्मों को जानता है, हमको धन के लिए ठीक मार्ग पर चला। हमको बहकानेवाले पाप से बचा। हम तेरी बहुत प्रार्थना करते हैं।" इस प्रकार वह अग्नि को आगे करता है। अग्नि ही दुष्ट राक्षसों को मारती चलती है। वे उसको भय-रहित और हानि-रहित मार्ग से ले जाते हैं। वे चलते हैं और आग्नीध्र तक पहुँचते हैं, और अध्वर्यु आग्नीध्र कुण्ड में अग्नि रख देता है ॥११॥

अब वह रखकर आहुति देता है इस मन्त्र से—"अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतुप्रभिन्दन्। अयं वाजान् जयतु वाजसातावयँ शत्रून् जयतु जर्हृषाणः स्वाहा" (यजुर्वेद ५।३७)—"यह अग्नि हमारे लिए चौड़ा मार्ग बनावे। संग्रामों को भेदता हुआ आगे चले। अन्न-सेवन में यह अन्नों को जीते, वेग से आगे बढ़कर वह शत्रुओं को जीते।" इसके द्वारा वह अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है और उस लोक को प्राप्त करता है ॥१२॥

वे सोम कुचलने के पत्थरों, द्रोण कलश और वायव्यों को उसी स्थान पर रख देते हैं; और चीजों को लेकर वे आगे चलते हैं और आहवनीय के उत्तर में रख देते हैं ॥१३॥

अध्वर्यु प्रोक्षणी को लेता है। पहले समिधा पर जल छिड़कता है, फिर वेदी पर। तब वे उसको कुश दे देते हैं। वह (इस कुश) को इस प्रकार रखता है कि गाँठ पूर्व की ओर रहे। तब उस पर जल छिड़कता है। जो जल बचा उसे कुशों की जड़ पर छिड़ककर और गाँठ को खोल-कर अश्वबाल घास के प्रस्तर को कुश से बाँधकर वह उसको लेता है और प्रस्तर को लेकर कुशा की एक तह बिछा देता है। कुश को बिछाने के पश्चात् कार्ष्मय की परिधियों को आग पर रखता है। परिधियों को रखकर दो समिधाओं को रखता है और दो समिधाओं को रखकर—॥१४॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने

स्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र-प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति तदेतेनैवैतस्यां दिवि प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैनं लोकꣳ स्पृणुत यदेतया जुहोति ॥१५॥ यद्वेव वैष्णव्यर्चा जुहोति । कनीयाꣳस वाऽएनमेतद्धात्कृत्वात्यनैषु स्तोकमेव स्तोको ह्यप्सुस्तमेतदभय प्राप्य य एवैष तं करोति यज्ञमेव यज्ञो हि विष्णुस्तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति ॥१६॥ अथासाद्य स्रुचः । अप उपस्पृश्य राजान प्रपादयति तद्यदासाद्य स्रुचोऽप उपस्पृश्य राजानं प्रपादयति वज्रो वाऽआज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्मादासाद्य स्रुचोऽप उपस्पृश्य राजान प्रपादयति ॥१७॥ स दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति । तदेनमासादयति देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्निति तदेनं देवायैव सवित्रे परिददाति गुप्त्यै ॥१८॥ अथानुसृत्योपतिष्ठते । एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ऽउपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेणेत्यग्नीषोमौ वाऽएतमन्तर्जम्भऽआदधाते यो दीक्षतऽआग्नावैष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वाऽएष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भऽआदधाते तत्प्रत्यक्षꣳ सोमान्निर्मुच्यते यदाहैतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ऽउपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेणेति भूमा वै रायस्पोषः सह भूम्नेत्येवैतदाह ॥१९॥ अथोपनिष्क्रामति । स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्यऽइति वरुणपाशे वाऽएषोऽन्तर्भवति योऽन्यस्यासंस्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशान्निर्मुच्यते यदाह स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मच्यऽइति ॥२०॥ अथेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति । अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इति या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि । यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिरिति तत्प्रत्यक्षमग्नेर्निर्मुच्यते स स्वेन सतात्मना यजते तस्मादस्यात्राश्नन्ति मानुषो हि भवति तस्मादस्यात्र नाम गृह्णन्ति

पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (यजु० ५।३८)—"हे विष्णु, फैल-फूटकर कदम भर। हमारे घर के लिए फैल-फूटकर स्थान दे। तू घृत की योनि है, घृत पी और यज्ञपति को आगे बढ़ा।" इस प्रकार वह द्यौलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है और इस आहुति को देकर द्यौलोक की प्राप्ति कर लेता है ॥१५॥

विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र से आहुति देने का अर्थ यह है कि इस प्रकार उन्होंने (सोम को) इतना सूक्ष्म कर लिया कि आक्रमणों से बच सके और बूँद के रूप में ले गये, क्योंकि बूँद अप्तु अर्थात् तीव्रगामी होता है। रक्षा करने के बाद उसको यज्ञ-सम्बन्धी बनाता है क्योंकि विष्णु ही यज्ञ है। इसलिए वह विष्णु के मन्त्र से आहुति देता है ॥१६॥

स्रुचों को रखकर और जल को स्पर्श करके सोम राजा का (हविर्धान में) प्रवेश कराते हैं। स्रुचों को रखकर और जल को स्पर्श करके सोम राजा को हविर्धान में क्यों ले जाते हैं? इसलिए कि घी वज्र है और सोम रेत या वीर्य है। वह स्रुचों को रखकर और जल को स्पर्श करके सोम राजा को इसलिए ले जाते हैं कि कहीं सोम-वीर्य और घी-वज्र को हानि न पहुँच जाय ॥१७॥

दक्षिणी हविर्धान के नीड में मृगचर्म बिछाता है और उसपर सोम को बिठाल देता है, इस मन्त्र से—"देव सवितरेष ते सोमस्तँ रक्षस्व मा त्वा दभन्" (यजु० ५।३१)—"हे सविता देव, यह तेरा सोम है। तू इसकी रक्षा कर। कोई तुझको हानि न पहुँचावे।" इस प्रकार वह रक्षा के हेतु सोम को सविता के हवाले कर देता है ॥१८॥

उसको हाथ से छोड़कर उसकी उपासना करता है—"एतत् त्वं देव सोम देवो देवाँर ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण" (यजु० ५।३१)—"हे देव सोम, तू देव होकर दूसरे देवों से मिला और मैं धन की वृद्धि के लिए मनुष्यों से मिला।" जो दीक्षा लेता है उसको अग्नि-सोम अपने जबड़ों के बीच में लेते हैं। वह दीक्षा की आहुति अग्नि और विष्णु की होती है। जो विष्णु है वह सोम ही है। जो दीक्षा लेता है वह देवताओं की हवि होता है। इस प्रकार उन्होंने उसको अपने जबड़ों के बीच दाब लिया। यह जो 'एतत् त्वं देव सोम' आदि मन्त्र पढ़ा, मानो वह इससे सोम से मुक्त होगा। 'रायस्पोषः' का अर्थ है चीजों का बाहुल्य। 'रायस्पोषेण' का तात्पर्य है 'बाहुल्य के साथ' ॥१९॥

अब वह यह मन्त्रांश पढ़कर हविर्धान से निकल आता है—"स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान् मुच्ये" (यजु० ५।३९)—"मैं वरुण के फंदों से छूटता हूँ।" जो दूसरे के मुँह में है वह मानो वरुण के फंदे में है। इसलिए जब वह कहता है 'स्वाहा निर्वरुणस्य' इति, तब मानो वह वरुण के फंदे से छूटता है ॥२०॥

अब इस प्रकार आहवनीय में समिधा को रखता है—"अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपाः" (यजु० ५।४०)—"हे व्रत के पालनेवाले अग्नि, तुझ पर, हे व्रत के पालनेवाले।" अग्नि देवों का व्रत-पति है। इसलिए कहा 'अग्ने व्रतपाः' आदि। अब कहता है—"या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियँ सा मयि। यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमँस्तानु तपस्तपस्पतिः" (यजु० ५।४०)—"जो तेरी सत्ता मुझमें थी वह तुझमें हो। जो मेरी सत्ता तुझमें थी वह मुझमें हो। हे व्रतपते, हम दोनों के व्रत ठीक-ठीक हो गये। दीक्षा के पति ने मेरी दीक्षा स्वीकार कर ली। तप के पति ने मेरा तप स्वीकार कर लिया।" इस प्रकार वह अग्नि से मुक्त हो जाता है और अपनी ही सत्ता से यज्ञ करता है। अब वे उसका अन्न खाते हैं क्योंकि अब वह मनुष्य है। अब वे उसका नाम लेते हैं क्योंकि अब वह मनुष्य है। पहले वे इसका अन्न

मानुषो हि भवत्यथ यत्पुरा नाश्नन्ति यथा हविषोऽहुतस्य नाश्नीयादेवं तत्तस्मा-
द्दीक्षितस्य नाश्नीयादथात्राङ्गुलीर्विसृजते ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥२[६.३]॥ ॥

यूपं व्रक्ष्यन्वैष्णव्यऽर्चा जुहोति । वैष्णवो हि यूपस्तस्माद्वैष्णव्यऽर्चा जुहोति ॥१॥ यद्वेव वैष्णव्या जुहोति । यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैतद्यूपमच्छैति तस्माद्वैष्णव्य ऽर्चा जुहोति ॥२॥ स यदि स्रुचा जुहोति । चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यद्यु स्रुवेण स्रुवेणैवोपहत्य जुहोत्युरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति ॥३॥ यदाज्यं परिशिष्टं भवति । त-दादत्ते यत्तक्ष्णः शस्त्रं भवति तत्तदादत्ते तऽआयन्ति स यं यूपं जोषयन्ते ॥४॥ तमेवमभिमृश्य जपति । पश्चाद्वेव प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयतेऽत्यन्यां२॥ऽअगां ना-न्यां२॥ऽउपागामित्यति ह्यन्यानेति नान्यानुपैति तस्मादाहात्यन्यां२॥ऽअगां ना-न्यां२॥ऽउपागामिति ॥५॥ अर्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्य इति । अर्वाग्घ्येनं परेभ्यो वृश्चति यऽएतस्मात्पराञ्चो भवन्ति परोऽवरेभ्य इति परो ह्येनमवरेभ्यो वृश्चति यऽएतस्मादर्वाञ्चो भवन्ति तस्मादाहार्वाक्त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्य इति ॥६॥ तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायाऽइति । तद्यथा बहूनां म-ध्यात्साधवे कर्मणे जुषेत स रातमनास्तस्मै कर्मणे स्यादेवमेवैनमेतद्बहूनां मध्या-त्साधवे कर्मणे जुषते स रातमना व्रश्चनाय भवति ॥७॥ देवास्त्वा देवयज्यायै जु-षन्तामिति । तद्वै समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषान्तै तस्मादाह देवास्त्वा देव-यज्यायै जुषन्तामिति ॥८॥ अथ स्रुवेणोपस्पृशति । विष्णवे त्वेति वैष्णवो हि यू-पो यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञाय ह्येनं वृश्चति तस्मादाह विष्णवे त्वेति ॥९॥ अथ दर्भत-रुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वैति वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्त्यथ परशुना प्रहरति स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति वज्रो वै परशुस्तथो है-नमेष वज्रः परशुर्न हिनस्ति ॥१०॥ स यं प्रथमꣳ शकलमपच्छिनत्ति । तमादत्ते

नहीं खाते क्योंकि जब तक आहुति न पड़ जाय, हवि का भाग न खाना चाहिए। इसलिए दीक्षित का अन्न नहीं खाना चाहिए। अब वह अँगुलियों को ढीला कर लेता है ॥२१॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

यूप को काटते हुए विष्णु-सम्बन्धी ऋचा से आहुति देता है। यूप विष्णु का है। इसलिए विष्णु की ऋचा से आहुति देता है ॥१॥

वह विष्णु की ऋचा से क्यों आहुति देता है ? यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा ही यूप तक पहुँचता है। इसलिए विष्णु की ऋचा से आहुति देता है ॥२॥

यदि स्रुच् से आहुति देता है तो चार चमचे घी लेकर आहुति देता है। और यदि स्रुवा से आहुति देता है तो स्रुवा से ही घी में से थोड़ा भाग लेकर आहुति देता है, इस मन्त्र से—"ऊरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। धृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (यजु० ५।४१)—"हे यज्ञ ! तुम फूलो-फलो। तुम हमारे लिए विस्तृत घर बनाओ। हे घृत के घर, घृत पियो और यजमान को तारो" ॥३॥

जो घी बच रहता है उसे ले लेता है। जो औजार बढ़ई का है उसे बढ़ई ले लेता है। अब वे चलते हैं। और जो लकड़ी यूप के लिए निश्चित की जाती है—॥४॥

उसको इस मन्त्र का जाप करते हुए छूते हैं। ये पीछे खड़े होकर और पूर्व की ओर मुँह करके उसको नमस्कार करते हैं—"अत्यन्याँ२ऽ अगां नान्याँ२ऽ उपागाम् (यजु० ५।४२)—"मैं दूसरों को छोड़ आया। मैं दूसरों के पास तक नहीं गया।" वस्तुतः वह दूसरों को छोड़ जाता है और उनके पास तक नहीं जाता। इसलिए वह कहता है कि 'अन्यन्यां' इत्यादि ॥५॥

"अर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः" (यजु० ५।४२)—"तुझको मैंने दूर चीजों से निकट और निकटों से दूर पाया।" वस्तुतः जब वह इसको काटकर गिराता है तो जो दूर हैं उनकी अपेक्षा निकट गिराता है और जो निकट हैं उनकी अपेक्षा दूर गिराता है। इसलिए कहता है 'अर्वाक् त्वा' इत्यादि ॥६॥

"तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै" (यजु० ५।४२)—"हे वनस्पते, देवों के यज्ञ के लिए हम तुझको पसन्द करते हैं।" जैसे किन्हीं अच्छे कार्यों के लिए कई पदार्थों में से एक को छाँट लेते हैं और वह छँटा हुआ पदार्थ उत्तमता से उस कार्य को सम्पादित करता है, इसी प्रकार इस वृक्ष को कई वृक्षों में से शुभ-कर्म के लिए छाँटते हैं, और यह वृक्ष काटने के लिए उपयुक्त होता है ॥७॥

"देवास्त्बा देवयज्यायै जुषन्ताम्" (यजु० ५।४२)—"तुझको देव देवताओं के यज्ञ के लिए पसन्द करें।" जिसको देवतागण किसी साधु कर्म के लिए पसन्द कर लेते हैं वह अवश्य ही सफल होता है, इसलिए कहा 'देवास्त्वा' इत्यादि ॥८॥

अब वह स्रुवा से उसको छूता है—"विष्णवे त्वा" (यजु० ५।४२)—"विष्णु के लिए तुझको।" विष्णु का यूप है। विष्णु यज्ञ है। यज्ञ के लिए ही उसको काटता है, इसलिए कहता है 'विष्णवे' ॥९॥

अब वह बीच में एक दर्भ रख देता है—"ओषधे त्रायस्व" (यजु० ५।४२)—"हे ओषधे, तू बचा।" परशु वज्र है। इस प्रकार वह वज्र परशु उसको हानि नहीं पहुँचाता। अब परशु से मारता है "स्वधिते मैनँ हिँसीः" (यजु० ५।४२)—"हे परशु, इसको न मार।" परशु वज्र है। परन्तु वह परशु वज्र इस प्रकार उसे हानि नहीं पहुँचाता ॥१०॥

पहली चीपुटी जो काटता है उसे अलग रख देता है। उसको इस प्रकार काटना चाहिए

तं वाऽअनक्षस्तम्भं वृश्चेदुत ह्येनमनसा वहन्ति तथानो न प्रतिबाधते ॥११॥ तं प्राञ्चं पातयेत् । प्राची हि देवानां दिगथोऽउदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिगथो प्रत्यञ्चं दक्षिणायै त्वेवैनं दिशः परिबिबाधिषेतैषा वै दिक् पितृणां तस्मादेनं दक्षिणायै दिशः परिबिबाधिषेत ॥१२॥ तं प्रच्यवमानमनुमन्त्रयते । द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भवेति वज्रो वाऽएष भवति यं यूपाय वृश्चन्ति तस्माद्वज्रात्प्रच्यवमानादिमे लोकाः सꣳरेजन्ते तदेभ्य एवैनमेतल्लोकेभ्यः शमयति तथेमाँल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति ॥१३॥ स यदाह । द्यां मा लेखीरिति दिवं मा हिꣳसीरित्येवैतदाहान्तरिक्षं मा हिꣳसीरिति नात्र तिरोहितमिवास्ति पृथिव्या सम्भवेति पृथिव्या संजानीष्वेत्येवैतदाहायꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगायेत्येष ह्येनꣳ स्वधितिस्तेजमानः प्रणयति ॥१४॥ अथाव्रश्चनमभिजुहोति । नेदतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यनूत्तिष्ठानिति वज्रो वाऽआज्यं तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवबाधते तथातो नाष्ट्रा रक्षाꣳसि नानूत्तिष्ठन्त्यथो रेतो वाऽआज्यं तद्वनस्पतिष्वेवैतद्रेतो दधाति तस्मादितस आव्रश्चनाद्वनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते ॥१५॥ स जुहोति । अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेमेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१६॥ तं परिवासयति । स यावन्तमेवाग्रे परिवासयेत्तावान्त्स्यात् ॥१७॥ पञ्चारत्निं परिवासयेत् । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य तस्मात्पञ्चारत्निं परिवासयेत् ॥१८॥ षडरत्निं परिवासयेत् । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो वज्रो वज्रो यूपस्तस्मात्षडरत्निं परिवासयेत् ॥१९॥ अष्टारत्निं परिवासयेत् । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टारत्निं परिवासयेत् ॥२०॥ नवारत्निं परिवासयेत् । त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत्तस्मान्नवारत्निं परिवासयेत् ॥२१॥ एकादशारत्निं परिवासयेत् । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वज्रो यूपस्तस्मादेकाद-

कि धुरे को हानि न पहुँचे। चूँकि वे गाड़ी में ले जाते हैं, इसलिए ऐसा करने से गाड़ी में कोई रुकावट नहीं होती। (अर्थात् वृक्ष को काटते समय नीचे से काटना चाहिए जिससे गाड़ी उस ठूँठ के ऊपर से निकल सके और गाड़ी का धुरा अटक न जाय) ॥११॥

उसको पूर्व की ओर गिरावे क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है, या उत्तर की ओर क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है, या पश्चिम की ओर। परन्तु दक्षिण की ओर गिरने से बचाना चाहिए क्योंकि दक्षिण पितरों की दिशा है। इसलिए दक्षिण सी ओर गिराना नहीं चाहिए॥१२॥

उस गिरते हुए वृक्ष को सम्बोधन करके मह मन्त्र पढ़े—"द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिँ्सीः पृथिव्या सम्भव" (यजु० ५।४३)—"द्योलोक को मत छील, जन्तरिक्ष को हानि मत पहुँचा। पृथिवी से मिल।" जो वृक्ष यूप के लिए काटा जाता है वह वज्र हो जाता है। इस वज्र से ये लोक काँप जाते हैं। हसलिए वह इस प्रकार इन लोकों के लिए उसको शान्त करता है। इस प्रकार शान्त हुआ वह इनको हानि नहीं पहुँचाता॥१३॥

'द्यां मा लेखीः' का तात्पर्य है कि द्यौलोक को हानि न पहुँचा। 'अन्तरिक्षं मां हिँ्सीः' तो स्पष्ट है। 'पृथिव्या सम्भव' से मतलब है कि तू पृथिवी के अनुकूल हो जा। "अयँ् हि त्वा स्वाधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय" (यजु० ५।४३)—"इस तेज परशु ने तुझको बड़े सौभाग्य के लिए आगे बढ़ाया है।" क्योंकि वह तेज कुल्हाड़ी ही तो इसको आगे को बढ़ाती है॥१४॥

अब ठूँठ पर आहुति देता है कि कहीं वहाँ से दुष्ट राक्षस न निकल पड़ें। घी वज्र है। इस वज्ररूपी घी से दुष्ट राक्षसों को रोकता है। इस प्रकार दुष्ट राक्षस उसमें से उत्पन्न नहीं होते। या घी वीर्य है। वह इस प्रकार वृक्ष को वीर्य-युक्त करता है, और उस ठूँठ के वीर्य में से वृक्ष उत्पन्न होते हैं॥१५॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयँ् रुहेम' (यजु० ५।४३)—"हे वनस्पते, तू इसमें से सौ कुल्होंवाला होकर उग, और हम हजार कुल्हेवाले होकर उगें।" यह स्पष्ट है॥१६॥

अब वह उसे काटता है। जितना पहले काटा जाय उतना ही रहने देना चाहिए॥१७॥

पाँच हाथ (अरलि) भरके काटना चाहिए। यज्ञ पाँच अंगोंवाला है। पशु भी पाँच अंगोंवाला है। साल में ऋतुएँ भी पाँच होती हैं। इसलिए पाँच हाथ का काटना चाहिए॥१८॥

या छः हाथ-भर काटे। वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं। वर्ष वज्र है। यूप वज्र है। इसलिए छः हाथ का काटना चाहिए॥१९॥

या आठ हाथ-भर काटे। आठ अक्षर की गायत्री होती है। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसलिए आठ हाथ-भर काटे॥२०॥

या नौ हाथ का काटे। यज्ञ तीन अंगवाला होता है, और नौ तीन अंगोंवाला है। इस-लिए नौ हाथ का काटे॥२१॥

या ग्यारह हाथ का काटे। त्रिष्टुप् में ११ अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है। यूप भी

शारत्निं परिवासयेत् ॥२२॥ द्वादशारत्निं परिवासयेत् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो वज्रो वज्रो यूपस्तस्माद्द्वादशारत्निं परिवासयेत् ॥२३॥ त्रयोदशारत्निं परिवासयेत् । त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो वज्रो वज्रो यूपस्तस्मात्त्रयोदशारत्निं परिवासयेत् ॥२४॥ पञ्चदशारत्निं परिवासयेत् । पञ्चदशो वै वज्रो वज्रो यूपस्तस्मात्पञ्चदशारत्निं परिवासयेत् ॥२५॥ सप्तदशारत्निर्वाजपेययूपः । अपरिमित एव स्यादपरिमितेन वाऽएतेन वज्रेण देवा अपरिमितमजयंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणापरिमितेनैवापरिमितं जयति तस्मादपरिमित एव स्यात् ॥२६॥ स वाऽअष्टाश्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टाश्रिर्भवति ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६.४]॥ षष्ठोऽध्यायः [२१.] ॥ ॥

अभ्रिमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषो वाऽएषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति ॥१॥ अथावटं परिलिखति । इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामीति वज्रो वाऽअभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तति ॥२॥ अथ खनति । प्राञ्चमुत्करमुत्किरत्युपरेण संमायावटं खनति तदग्रेण प्राञ्चं यूपं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधिनिदधाति तद्वोपरिष्टाद्यूपशकलमधिनिदधाति पुरस्तात्प्राञ्चमथ चषालमुपनिदधात्यथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति सोऽसावेव बन्धुः ॥३॥ स यवानावपति । यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥४॥ स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेति वज्रो वै यूप एषां लोकानामभिगुप्त्याऽएषां त्वा लोकानामभिगुप्त्यै प्रोक्षामीत्येवैतदाह ॥५॥ अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खा-

वज्र है। इसलिए ११ हाथ का काटे ॥२२॥

या बारह हाथ-भर काटे। साल में बारह मास होते हैं। वर्ष वज्र है। यूप भी वज्र है। इसलिए बारह हाथ का काटे ॥२३॥

या तेरह हाथ का काटे। वर्ष में तेरह मास होते हैं। वर्ष वज्र है। यह यूप वज्र है। इसलिए तेरह हाथ-भर का काटे ॥२४॥

या पन्द्रह हाथ का काटे। पन्द्रह वज्र है। यूप भी वज्र है। इसलिए पन्द्रह हाथ का काटे ॥२५॥

वाजपेय यज्ञ का यूप १७ हाथ का होता है। या यह अपरिमित या बे-नपा हो। बे-नपे वज्र से ही देवों ने बे-नपे (अपरिमित) को जीता। इसी प्रकार अपरिमित वज्र के द्वारा वह अपरिमित को जीतता है। इसलिए यह अपरिमित भी हो सकता है ॥२६॥

वह आठ कोण का होता है। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध है। यह यूप यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसलिए इसको आठ कोण का होना चाहिए ॥२७॥

अध्याय ७—ब्राह्मण १

इस मन्त्रांश को पढ़कर खुरपी (अभ्रि) लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" (यजु० ६।१)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विनों को बाहुओं से, पूषा के दोनों हाथों से तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इस यजुः का वही तात्पर्य है जो पहले का। 'अभ्रि' स्त्रीलिङ्ग है। इसलिए कहता है कि तू नारी है ॥१॥

इस प्रकार (यूप के गाड़ने के लिए) सूराख खोदता है, इस मन्त्रांश से—"इदमहँ रक्षसां ग्रीवाऽअपिकृन्तामि" (यजु० ६।१)—"इससे मैं राक्षसों की गर्दनें काटता हूँ।" अभ्रि या खुरपी वज्र है। इसी खुरपी रूपी वज्र से राक्षसों की गर्दनें काटता है ॥२॥

अब खोदता है और मिट्टी को पूर्व की ओर फेंक देता है। अब इतना सूराख खोदता है जिसमें यूप का नीचे का भाग समा सके। आगे की ओर वह यूप को इस प्रकार रखता है कि पूर्व की ओर सिरा रहे। उतने ही बड़े कुशों को उसके ऊपर रखता है। उसके ऊपर यूप के शकल को रखता है। आगे बगल को चषाल रखता है (चषाल यूप के ऊपर सिर के समान रक्खा जाता है)। प्रोक्षणी में जौ होते हैं। इसका भी वही तात्पर्य है ॥३॥

अब वह जौ को बोता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—'यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः" (यजु० ६।१)—"तू यव है। हमसे द्वेष और शत्रुओं को दूर कर (यवय)।" यह स्पष्ट है। अब वह जल छिड़कता है। जल छिड़कने का एक ही तात्पर्य है, अर्थात् वह उसको यज्ञ के लिए पवित्र करता है ॥४॥

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है—"दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा" (यजु० ६।१)—"द्यौलोक के लिए तुझको, अन्तरिक्ष के लिए तुझको, पृथिवी के लिए तुझको।" यूप वज्र है। इस काम को वह इन लोकों की रक्षा के लिए करता है। इससे इसका तात्पर्य यह है कि मैं इन लोकों की रक्षा के लिए तुझको जल से सींचता हूँ ॥५॥

प्रोक्षणी पात्र में जो जल बचा रहता है उसको सूराख में डाल देता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः" (यजु ६।१)—"पितरों के रहने के लोक शुद्ध हों।"

तस्तमेवैतन्मेध्यं करोति ॥६॥ अथ बर्हीꣳषि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि
चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्यं वाऽअस्यैतद्भवति यन्निखातꣳ स यथा-
निखात ओषधिषु मितः स्यादेवमेतास्वोषधिषु मितो भवति ॥७॥ अथ यूपश-
कलं प्रास्यति । तेजो ह वाऽएतद्वनस्पतीनां यद्बाह्याशकलस्तस्माद्यदा बाह्या-
शकलमपतक्ष्णुवन्त्यथ ग्रुष्यन्ति तेजो ह्येषामेतत्तद्यूपशकलं प्रास्यति सतेजसं
मिनवानीति तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं
प्रास्यति ॥८॥ स प्रास्यति । अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामिति पुरस्ताद्वाऽअ-
स्मादेषोऽपच्छिद्यते तस्मादाहाग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामित्येतस्य वित्तादधि त्वा
स्थास्यतीत्यधि ह्येनं तिष्ठति तस्मादाहैतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यतीति ॥९॥ अ-
थ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अवटमभिजुहोति नेदधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानिति
वज्रो वाऽआज्यं तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवबाधते तथाधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि नो-
पोत्तिष्ठन्त्यथ पुरस्तात्परीत्योदङ्ङासीनो यूपमनक्ति स आह यूपायाज्यमानायानुब्रू-
हीति ॥१०॥ सोऽनक्ति । देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति सविता वै देवानां प्र-
सविता यजमानो वाऽएष निदानेन यद्यूपः सर्वं वाऽइदं मधु यदिदं किं च तदे-
नमनेन सर्वेण सꣳस्पर्शयति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तस्मादाह देवस्त्वा
सविता मध्वानक्त्विति ॥११॥ अथ चषालमुभयतः प्रत्यज्य प्रतिमुञ्चति । सुपिप्प-
लाभ्यस्त्वौषधीभ्य इति पिप्पलꣳ ह्येवास्यैतद्यन्मध्ये संगृहीतमिव भवति तिर्यग्वा
ऽइदं वृक्षे पिप्पलमाहितꣳ स यदेवेदꣳ संबन्धनं चान्तरोपेनितमिव तदेवैतत्करो-
ति तस्मान्मध्ये संगृहीतमिव भवति ॥१२॥ आन्तमग्निष्ठामनक्ति । यजमानो वा
ऽअग्निष्ठा रस आज्यꣳ रसेनैवैतद्यजमानमनक्ति तस्मादान्तमग्निष्ठामनक्त्यथ परिव्य-
यणं प्रतिसमन्तं परिमृशत्यथाहोच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति ॥१३॥ स उच्छ्रयति । द्या-
मग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीरिति वज्रो वै यूप एषां

यह जो गड्ढा खोदा गया वह पितरों के लिए था। इसलिए वह उसे पवित्र करता है ॥६॥

अब वह पूर्व की ओर, उत्तर की ओर सिरा करके कुश रखता है, इस मन्त्रांश को पढ़कर—"पितृषदनमसि" (यजु० ६।१)—"तू पितरों के रहने का स्थान है।" यह जो गड्ढा खोदा गया वह पितरों का था। मानो वह वृक्षों की भाँति गाड़ दिया गया; खोदा नहीं गया। इस प्रकार वह वृक्षों के समान स्थापित हो जाता है। (तात्पर्य यह है कि यूप जब गाड़ दिया गया तो वृक्षों के समान हो गया) ॥७॥

अब वह यूप-शकल को भीतर डालता है। यह जो बाहरी छाल होती है वह वृक्ष का तेज होता है। इसलिए यह जो बाहर की छाल को छील देते हैं, मानो उसके तेज को सुखा देते हैं, क्योंकि यह उनका तेज है। यूप-शकल को भीतर डालने का तात्पर्य यह है कि यूप को तेज के साथ गाड़ सकूँ। इसी को क्यों डालता है, अन्य को क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि इसको यजुः-मन्त्र पढ़कर शुद्ध किया गया है। इसलिए वह यूप-शकल को डालता है ॥८॥

वह इस मन्त्रांश को पढ़कर डालता है—"अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतॄणाम्" (यजु० ६।२)—"तू अगुआ है। उन्नेताओं के लिए सुगमता से मिलने योग्य।" यह यूप-शकल आगे के भाग से छीला गया है, इसलिए वह कहता है, 'अग्रेणीरसि' इत्यादि। अब कहता है—"एतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति" (यजु० ६।२)—"सावधान हो। यह तुझ पर खड़ा होगा।" वस्तुतः यह उसी पर खड़ा होगा। इसलिए वह कहता है, 'एतस्य' इत्यादि ॥९॥

अब स्रुवा से घी लेकर गड्ढे में आहुति देते हैं कि कहीं दुष्ट राक्षस उसको न सतावें। घी वज्र होता है। इस प्रकार वह वज्र से दुष्ट राक्षसों को भगाता है। इस प्रकार दुष्ट राक्षस नीचे से नहीं उठते। अब वह परिक्रमा करके आगे की ओर उत्तराभिमुख बैठता है और यूप पर घी लगाता है। अब वह होता से कहता है, 'घी-युक्त यूप के लिए मन्त्र पढ़' ॥१०॥

वह इस मन्त्रांश से घी लगाता है—"देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु" (यजु० ६।२)—"सविता देव तुझको मधु से युक्त करे।" सविता देवों का प्रेरक है, और यह यूप यजमान ही है। और यहाँ की ये सब चीजें मधु हैं। इस सबके साथ इस प्रकार से इसको सम्बन्धित करता है, और प्रेरक सविता प्रेरणा करता है। इसलिए कहता है, 'देवस्त्वा सविता' इत्यादि ॥११॥

अब वह चषाल को दोनों ओर से घी लाकर यूप के ऊपर रखता है यह पढ़कर—"सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः" (यजु० ६।२)—"अच्छे फलों-युक्त ओषधियों के लिए।" क्योंकि यह (चषाल) उसका फल ही है यह जो बीच में सिकुड़ा होता है। इसका कारण यह है कि वृक्ष पर फल दोनों ओर से जुड़ा होता है और डंठल और फल के बीच का भाग सिकुड़ा होता है। इसलिए बीच में सुकड़ा होता है ॥१२॥

जो आग के सामने का भाग है उसमें ऊपर से नीचे तक घी लगाता है। क्योंकि आग के सामने का भाग यजमान होता है और घी रस है। रस से वह यजमान को युक्त करता है। इसलिए वह आग के सामने के भाग पर ऊपर से नीचे तक घी लगाता है। अब वह यूप की पिंडी को उठाता है, यह कहकर, 'यूप के गाड़ने के लिए मन्त्र पढ़' ॥१३॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर उठाता है—"द्यामग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृँ्हीः।" (यजु० ६।२)—"तूने अग्र भाग से द्यौलोक को छुआ, बीच के से अन्तरिक्ष को, पैरों से तूने पृथिवी को सुदृढ़ कर दिया" ॥१४॥

लोकानामभिजित्यै तेन वज्रेणेमांल्लोकान्त्स्पृणुतऽएभ्यो लोकेभ्यः सपत्नान्निर्भजति ॥१४॥ अथ मिनोति । या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरीत्येतया त्रिष्टुभा मिनोति वज्रस्त्रिष्टुब्वज्रो यूपस्तस्मात्त्रिष्टुभा मिनोति ॥१५॥ सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोति । यजमानो वाऽअग्निष्ठाग्निर्वै यज्ञः स यदग्नेरग्निष्ठाꣳ ह्वलयेद्ध्वलेद्ध यज्ञाद्यजमानस्तस्मात्सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोत्यथ पर्यूहत्यथ पर्यृषत्यथाप उपनिनयति ॥१६॥ अथैवमभिपद्य वाचयति । विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखेति वज्रं वाऽएष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियद्विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवो यूपस्तꣳ सेन्द्रं करोति तस्मादाहेन्द्रस्य युज्यः सखेति ॥१७॥ अथ चषालमुदीक्षते । तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततमिति वज्रं वाऽएष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियत्तां विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततमिति ॥१८॥ अथ परिव्ययति । अनग्नतायै न्वेव परिव्ययति तस्मादत्रैव परिव्ययत्यत्रैव हीदं वासो भवत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रैव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति तस्मादत्रैव परिव्ययति ॥१९॥ त्रिवृता परिव्ययति । त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात्त्रिवृता परिव्ययति ॥२०॥ स परिव्ययति । परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणामिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणामिति ॥२१॥ अथ यूपशकलमवगूहति । दिवः सूनुरसीति प्रजा हैवास्यैषा तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात्स्वꣳ-स्वमेवावगूहेदविपर्यासं तस्य हैषामुग्धानुव्रता प्रजा जायतेऽथ यो विपर्यासमवगूहति न स्वꣳ-स्वं तस्य हैषा मुग्धाननुव्रता प्रजा

अब वह गाड़ता है इस मन्त्रांश को पढ़कर—"या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि" (यजु० ६।३)—"हम तेरे उन धामों में जाना चाहते हैं जिनमें तेज और बहुत-से सींगोंवाली गायें (सूर्य की किरणें) रहती हैं। वहाँ वस्तुतः विशाल विष्णु के परम पद की ज्योति अनेक प्रकार से चमकती है।" (यहाँ 'गावो' का अर्थ गाय नहीं किन्तु सूर्य की किरणें और ईश्वर की भक्ति है, अर्थात् एक से भौतिक प्रकाश और दूसरे से आत्मिक प्रकाश का तात्पर्य है।) इस त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा वह गाड़ता है। त्रिष्टुप् वज्र है और यूप वज्र है, इसलिए त्रिष्टुप् से गाड़ता है ॥१५॥

जो सिरा अग्नि के सामने था उसको अग्नि की ओर कर देता है। क्योंकि यजमान अग्नि के सम्मुख होता है और यज्ञ अग्नि है। यदि उस सिरे का मुँह फेर दिया जाय तो यजमान का मुँह यज्ञ से फिर जाय, इसलिए उसका मुँह अग्नि की ओर कर देता है। अब वह उसके चारों ओर मिट्टी डालता है और चारों ओर दबाकर पानी को उस पर डाल देता है ॥१६॥

अब इसको छूकर यजमान से कहलवाता है—"विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा" (यजु० ६।४, ऋ० १।२२।१९)—"विष्णु के कर्मों को देखो जिससे व्रत बँधे हुए हैं। जो इन्द्र का उचित सखा है।" इन्द्र यज्ञ का देवता है। यूप विष्णु का है। उसको इन्द्र से युक्त करता है, इसलिए कहा 'इन्द्रस्य' इत्यादि ॥१७॥

अब इस मन्त्र को पढ़कर चषाल को देखता है—"तद् विष्णोः परम पदँ सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्" (यजु० ६।५, ऋ० १।२२।२०)—"विष्णु के उस परम पद को बुद्धिमान् लोग सदा देखते हैं जैसे विकसित आँख सूर्य को।" क्योंकि जिसने यूप लगाया उसने वज्र छोड़ दिया। जब यह कहता है 'तद् विष्णोः' इत्यादि, तब मानो वह कहता है कि विष्णु की विजय की ओर देखो ॥१८॥

अब वह कुश की रस्सी को (यूप के चारों ओर) बाँधता है। नंगापन दबाने के लिए ऐसा करता है। इसलिए धोती को कमर में बाँधते हैं। इससे वह उसमें अन्न रखता है, क्योंकि अन्न भी तो वहीं (पेट में) रहता है। इसलिए वह (यूप की कमर में) रस्सी बाँधता है ॥१९॥

वह तीन लपेट लगाता है। अन्न तीन भागोंवाला है। पशु अन्न है। (पहला) माता, (दूसरा) पिता और (बच्चा) जो पैदा होता है तीसरा है। इसलिए वह तीन लपेट लगाता है ॥२०॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर तीन लपेट लगाता है—"परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानँ रायो मनुष्याणाम्' (यजु० ६।६)—"तू लिपटा हुआ है। दिव्य लोक के लोग तुझे लिपटें। मनुष्यों में यजमान धन से लिपटा होवे।" जब वह कहता है, 'परीमं यजमानं' आदि, तो मानो वह यजमान को आशीर्वाद देता है ॥२१॥

अब वह यूप-शकल को प्रवेश कराता है, इस मन्त्र से—"दिवः सूनुरसि" (यजु० ६।६)—"तू द्यौलोक का पुत्र है।" वस्तुतः वह उसीकी सन्तान है। इसलिए यदि ग्यारह यूप हों तो हर एक में उसी का यूप-शकल (चीपुटी) लगाना चाहिए। ऐसा करने से उसकी सन्तान मूर्ख (मुग्धा) या अननुव्रता (न व्रत पालनेवाली) न होगी। जो यूपों में यूप-शकल लगाने के समय उसी-उसी यूप की चीपुटी नहीं लगाता और गड़बड़ कर देता है, उस-उसकी सन्तान मूर्ख और

जायते तस्मादु स्वꣳ-स्वमेवावगूहेद्विपर्यासꣳ ॥२२॥ स्वर्गस्यो हैष लोकस्य समारोहणः क्रियते । यद्यूपशकल इयꣳ रशना रशनायै यूपशकलो यूपशकलाच्चषालं चषालात्स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते ॥२३॥ अथ यस्मात्स्वरुर्नाम । एतस्माद्वाऽएषोऽपछिद्यते तस्यैतत्स्वमेवारुर्भवति तस्मात्स्वरुर्नाम ॥२४॥ तस्य यन्निखातम् । तेन पितृलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं निखातादा रशनायै तेन मनुष्यलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वꣳ रशनाया आ चषालात्तेन देवलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं चषालाद्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं वा साध्या इति देवास्तेन तेषां लोकं जयति सलोको वै साध्यैर्देवैर्भवति य एवमेतद्वेद ॥२५॥ तं वै पूर्वार्धे मिनोति । वज्रो वै यूपो वज्रो दण्डः पूर्वार्धं वै दण्डस्याभिपद्य प्रहरति पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति ॥२६॥ यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम पुरस्ताद्धि प्रज्ञा पुरस्तान्मनोजवस्तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति ॥२७॥ स वाऽअष्टाश्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टाश्रिर्भवति ॥२८॥ तꣳ ह स्मैतं देवा अनुप्रहरन्ति । यथेदमप्येतर्ह्येकेऽनुप्रहरन्तीति देवा अकुर्वन्निति ततो रक्षाꣳसि यज्ञमनूदपिबन्त ॥२९॥ ते देवा अध्वर्युमब्रुवन् । यूपशकलमेव जुहुधि तद्धैष स्वगाकृतो भविष्यति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पास्यन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति ॥३०॥ सोऽध्वर्युः । यूपशकलमेवाजुहोत्तद्धैष स्वगाकृत आसीत्तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूदपिबन्तायं वै वज्र उद्यत इति ॥३१॥ तथोऽएवैष एतत् । यूपशकलमेव जुहोति तद्धैष स्वगाकृतो भवति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पिबन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति स जुहोति दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहेति ॥३२॥ ब्राह्मणम् ॥४[७.१.]॥

अननुव्रत होती है। इसलिए उस-उस यूप में उसी-उसी की चिपुटी लगानी चाहिए ।।२२।।

जो यूप-शकल है वह स्वर्ग की सीढ़ी है। वह इस प्रकार कि पहले तो रस्सी हुई, फिर यूप-शकल, फिर चषाल। फिर चषाल से चढ़कर स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है ।।२३।।

इसका 'स्वरु' नाम इसलिए है कि वह उसी में से काटी जाती है। 'स्व' का अर्थ है 'अपना' और 'अरु' का अर्थ है 'घाव'। इससे मिलकर 'स्वरु' हुआ ।।२४।।

जो नीचे गड़ा हुआ भाग है उससे स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है और जो ऊपर का भाग है उससे रस्सी-सहित मनुष्य-लोक की प्राप्ति करता है। और जो रस्सी से ऊपर चषाल है उससे देवलोक को प्राप्त करता है। और चषाल से ऊपर जो दो-तीन अँगुल लकड़ी होती है उससे जो 'साध्य देव' हैं उनके लोक को प्राप्त करता है। जो इस रहस्य को समझता है वह साध्य देवों का सलोक बन जाता है ।।२५।।

वह यूप को वेदी के पूर्वार्ध में लगाता है। यूप वज्र है। दण्ड वज्र है। जब कोई वज्र को मारता है तो अग्रभाग को पकड़कर मारता है। यह यज्ञ का पूर्वार्ध है। इसीलिए पूर्वार्ध में यूप को लगाता है ।।२६।।

यज्ञ के द्वारा देवों ने विजय प्राप्त की जो इनको प्राप्त है। उन्होंने कहा कि इस अपने लोक को किस प्रकार ऐसा बनायें कि मनुष्य न आ सकें? उन्होंने यज्ञ का रस चूस लिया जैसे मधु-मक्खियाँ मधु को चूसती हैं। और यज्ञ को यूप के चारों ओर बिखेरकर (योपयित्वा) छिप गये। चूँकि उन्होंने इसको यूप द्वारा (उपापयन) बिखेरा, इसलिए इसका नाम यूप पड़ा। बुद्धि अग्रभाग में होती है। मन का वेग भी अग्रभाग में होता है। इसलिए वह उसको 'अग्रभाग' में लगाता है ।।२७।।

वह अष्ट कोणवाला होता है। गायत्री छन्द के आठ अक्षर होते हैं और गायत्री यज्ञ का पूर्वार्ध होती है। यह भी चूँकि यज्ञ का पूर्वार्ध है, इसलिए वह उसको अष्ट कोणवाला बनाता है ।।२८।।

एक बार देवों ने इसको (प्रस्तर को आग में) पीछे से फेंका था, इसका अनुसरण करके ये भी पीछे फेंक देते हैं, क्योंकि देवों ने ऐसा किया था। इसलिए राक्षसों ने यज्ञ को देवों के पीछे पिया ।।२९।।

देवों ने अध्वर्यु से कहा, 'केवल यूप-शकल की आहुति दे।' इससे यज्ञ सफल हो जायगा और राक्षस उसमें न आवेंगे—यह सोचकर कि यह यूपरूपी वज्र खड़ा हो गया है ।।३०।।

तब अध्वर्यु ने यूप-शकल की आहुति दी, और यजमान सफल हो गया। इसके पीछे राक्षस यज्ञ को न पी सके। यह सोचकर कि यह एक वज्र खड़ा हो गया है ।।३१।।

इसी प्रकार वह यूप-शकल की आहुति ही देता है। यजमान इससे सफल हो जाता है। राक्षस यज्ञ को नहीं पीने पाते, यह सोचकर कि यह तो वज्र खड़ा हो गया है। वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा" (यजु० ६।२१)—"द्यौलोक तक तेरा धुआँ जाय, स्वर्लोक तक ज्योति और पृथिवी तेरी भस्म से भर जाय" ।।३२।।

यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी । वज्रा वै यूपास्तदिमामेवैतत्पृथिवीमेतैर्वज्रैः स्पृणुतेऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माद्यूपैकादशिनी भवति द्वादश उपशयो भवति वितष्टस्तं दक्षिणात उपनिदधाति तद्यद्द्वादश उपशयो भवति ॥१॥ ॥ शतम् २००० ॥ ॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तद्य एत उच्छ्रिता यथेषुरस्ता तया वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुते यथा दण्डः प्रहृतस्तेन वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुतेऽथ य एष द्वादश उपशयो भवति यथेषुरायतानस्ता यथोद्यतमप्रहृतमेवमेष वज्र उद्यतो दक्षिणतो नाष्ट्राणां रक्षसामपहत्यै तस्माद्द्वादश उपशयो भवति ॥२॥ तं निदधाति । एष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते पशुरिति पशुश्च वै यूपश्च तदस्माऽआरण्यमेव पशूनामनुदिशति तेनो एष पशुमान्भवति तद्धैके यूपैकादशिन्यै संमयनमाहुः श्वःसुत्यायै ह न्वेवैके संमिन्वन्ति प्रकॢप्ततायै चैव श्वःसुत्यायै यूपं मिन्वन्तीत्यु च ॥३॥ तदु तथा न कुर्यात् । अग्निष्ठमेवोच्छ्रयेदिदं वै यूपमुच्छ्रित्याध्वर्युरा परिव्ययणान्नान्वर्ततयपरिवीता वाऽएतऽएतां रात्रिं वसन्ति सा न्वेव परिचक्षा पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति प्रातर्वै पशूनालभन्ते तस्मादु प्रातरेवोच्छ्रयेत् ॥४॥ स य उत्तरोऽग्निष्ठात्स्यात् । तमेवाग्र उच्छ्रयेदथ दक्षिणमथोत्तरं दक्षिणार्ध्यमुत्तमं तथोदीची भवति ॥५॥ अथोऽइतरथाहुः । दक्षिणमेवाग्रेऽग्निष्ठादुच्छ्रयेदथोत्तरमथ दक्षिणमुत्तरार्ध्यमुत्तमं तथो ह्यस्योदगेव कर्मानुसंतिष्ठतऽइति ॥६॥ स यो वर्षिष्ठः स दक्षिणार्ध्यः स्यात् । अथ ह्रसीयानथ ह्रसीयानुत्तरार्ध्यो ह्रसिष्ठस्तथोदीची भवति ॥७॥ अथ पत्नीभ्यः पत्नीयूपमुच्छ्रयन्ति । सर्वत्वाय न्वेव पत्नीयूप उच्छ्रायते तत्त्वाष्ट्रं पशुमालभते त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति तदेष एवैतत्सिक्तं रेतो विकरोति मुष्करो भवत्येष वै प्रजनयिता यन्मुष्करस्तस्मान्मुष्करो भवति तं न संस्थापयेत्पर्यग्निकृतमेवोत्सृ-

अध्याय ७—ब्राह्मण २

जितनी बड़ी वेदी होती है उतनी बड़ी पृथिवी। यूप वज्र होते हैं। इन्हीं वज्रों के द्वारा वह पृथिवी पर स्वत्व कर लेता है और शत्रुओं को जीत लेता है। इसलिए ११ यूप होते हैं और बारहवाँ छिला-छिलाया अलग पड़ा रहता है। वह उसको वेदी के दक्षिण को डालता है। यह बारहवाँ अलग क्यों रहता है, इसका कारण आगे दिया है—॥१॥ [शतम् २०००]

यज्ञ करनेवाले देवताओं को असुर राक्षसों के आक्रमण का भय हुआ। यह जो ग्यारह यूप खड़े कर दिये गये वे उन तीरों के समान थे जो छोड़ दिये गये हों, चाहे किसी (शत्रु) के लगे हों या न लगे हों; या वे उस लाठी के समान थे जो मार दी गई, चाहे वह लगी या न लगी। और जो यह बारहवाँ यूप पड़ा हुआ है वह उस तीर के समान है जो खींचा तो गया है परन्तु अभी छोड़ा नहीं गया। यह उस शस्त्र के समान है जो उठा तो लिया गया लेकिन अभी छोड़ा नहीं गया। यह यूप वह वज्र था जो दक्षिण की ओर शत्रु राक्षसों को मारने के लिए रक्खा गया था। इसलिए बारहवाँ यूप पड़ा रहता है॥२॥

वह इस यूप को इस मन्त्र से रखता है—"एष ते पृथिव्यां लोकऽआरण्यस्ते पशुः" (यजु० ६।९)—"पृथिवी में तेरा यह स्थान है। जंगली पशु तेरे हैं।" पशु भी हैं और यूप भी। इसलिए जंगलों के पशुओं का इसकी ओर निर्देश करता है। इसलिए यह भी पशुवाला कहा जाता है। ये ग्यारह यूप दो तरह के होते हैं। कुछ लोग तो सब यूपों को एक-साथ लगाते हैं, दूसरे दिन के सोम-याग के लिए। कुछ दूसरे दिन के सोमयोग के लिए एक ही यूप लगाते हैं (अर्थात् कुछ तो एक-साथ लगाते हैं और कुछ एक-एक करके)॥३॥

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। केवल अग्नि के सम्मुख एक लगाना चाहिए, क्योंकि इसको लगाकर अध्वर्यु इसको नहीं छोड़ता जब तक कि वह इसको घेरता नहीं (परिव्ययण); और दूसरे यूप रात-भर अपरिवीत रहते हैं। यह दोष होगा क्योंकि यूप पशु के लिए हैं। पशु (पशुता) की बलि दूसरे दिन प्रातःकाल के समय होगी।[1] इसलिए और यूपों को दूसरे दिन प्रातः-काल ही लगाना चाहिए॥४॥

अब उसको वह यूप लगाना चाहिए जो अग्नि के सामनेवाले यूप के ठीक उत्तर में है, फिर दक्षिण को, फिर उत्तर को, अन्तिम दक्षिण की ओर। इस प्रकार यूपों की पंक्ति उत्तर की ओर होती है॥५॥

कुछ इसके विरुद्ध भी कहते हैं। अर्थात् पहले अग्नि के सामनेवाले यूप के दक्षिण की ओर लगाये, फिर उत्तर की ओर, फिर दक्षिण की ओर, अन्तिम उत्तर की ओर। इस प्रकार उसका उत्तर का काम समाप्त हो जाता है॥६॥

दक्षिण की ओर सबसे बड़ा होना चाहिए। फिर उससे छोटा, फिर उससे छोटा, जो सबसे उत्तर में हो वह सबसे छोटा। इस प्रकार पंक्ति उत्तर की ओर हो जाती है॥७॥

तत्पश्चात् पत्नियों के लिए पत्नी-यूप गाड़ते हैं। पत्नी-यूप सम्पूर्णता के लिए गाड़ा जाता है। यहाँ त्वष्टा के पशु को पकड़ते हैं, क्योंकि त्वष्टा वीर्य का पोषक है। इस प्रकार वह सींचे हुए वीर्य को बनाता है। यदि यह पशु अण्डकोषों वाला है तो उत्पादक है। इसकी बलि न दे। इसको अग्नि के चारों ओर फिराकर छोड़ दे। यदि बलि देगा तो प्रजा का अन्त हो जायगा। परन्तु इस

---

१. वेदों में पशु-प्रेम के मन्त्र तो जहाँ-तहाँ मिलेंगे, पशु-बलि के कहीं नहीं; अतः 'शतपथ ब्राह्मण' में 'पशु-बलि' के सन्दर्भ प्रक्षिप्त हैं। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

जेत्स यत्सꣳस्थापयेत्प्रजायै ह्रान्तमियात्तत्प्रजामुत्सृजति तस्मान्न सꣳस्थापयेत्पर्यग्नि-
कृतमेवोत्सृजेत् ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥५[७.२]॥ ॥

पशुश्च वै यूपश्च । न वाऽऋते यूपात्पशुमालभन्ते कदा चन तद्यत्तथा न ह
वाऽएतस्माऽअग्रे पशवश्चक्षमिरे यदन्नमभविष्यन्यथेदमन्नं भूता यथा ह्येवायं द्विपा-
त्पुरुष उच्छ्रित एवꣳ ह्येव द्विपाद उच्छ्रिताश्चेरुः ॥१॥ ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः ।
यद्यूपं तमुच्छिश्रियुस्तस्माद्भीषा प्राव्लीयन्त ततश्चतुष्पादा अभवंस्ततोऽन्नमभवन्यथेद-
मन्नं भूता एतस्मै हि वाऽएतेऽतिष्ठन्त तस्माद्यूपऽएव पशुमालभन्ते नऽर्ते यूपा-
त्कदा चन ॥२॥ अथोपाकृत्य पशुम् । अग्निं मथित्वा नियुनक्ति तद्यत्तथा न ह
वाऽएतस्माऽअग्रे पशवश्चक्षमिरे यद्धविरभविष्यन्यथैनानिदꣳ हविर्भूतानग्नौ जुह्व-
ति तान्देवा उपानिरुरुधुस्तऽउपनिरुद्धा नोपावेयुः ॥३॥ ते होचुः । न वाऽइमे
ऽस्य यामं विदुर्यदग्नौ हविर्जुह्वति नैतां प्रतिष्ठामुपरुध्यैव पशूनग्निं मथित्वाग्नावग्निं
जुहवाम ते वेदिष्यन्त्येष वै किल हविषो याम एषा प्रतिष्ठाग्नौ वै किल हवि-
र्जुह्वतीति ततोऽभ्यवैष्यन्ति ततो रातमनस आलम्भाय भविष्यन्तीति ॥४॥ त
ऽउपरुध्यैव पशून् । अग्निं मथित्वाग्नावग्निमजुहवुस्तेऽविदुरेष वै किल हविषो
याम एषा प्रतिष्ठाग्नौ वै किल हविर्जुह्वतीति ततोऽभ्यवायंस्ततो रातमनस आ-
लम्भायाभवन् ॥५॥ तथोऽएवैष एतत् । उपरुध्यैव पशुमग्निं मथित्वाग्नावग्निं जु-
होति स वेदैष वै किल हविषो याम एषा प्रतिष्ठाग्नौ वै किल हविर्जुह्वतीति
ततोऽभ्यवैति ततो रातमना आलम्भाय भवति तस्मादुपाकृत्य पशुमग्निं मथित्वा
नियुनक्ति ॥६॥ तदाहुः । नोपाकुर्यान्नाग्निं मन्थेद्रशनामेवादायाञ्जसोपपरेत्याभि-
धाय नियुञ्ज्यादिति तदु तथा न कुर्याद्यथाधर्मं तिरश्चथा चिकीर्षेदेवं तत्तस्माद-
तदेवानुपरीयात् ॥७॥ अथ तृणमादायोपाकरोति । द्वितीयवान्निरुणधाऽइति द्वि-
तीयवान्हि वीर्यवान् ॥८॥ स तृणमादत्ते । उपावीरसीत्युप हि द्वितीयोऽवति

प्रकार वह सन्तान को स्वतन्त्र कर देता है। इसलिए इसकी बलि न दे। इसको अग्नि के चारों ओर फिराकर ही छोड़ दे ॥८॥

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

पशु भी और यूप भी। बिना यूप के पशु कभी नहीं मारा जाता। ऐसा इसलिए होता है कि पहले पशुओं ने अन्न अर्थात् खाद्य-पदार्थ बनना स्वीकार नहीं किया, जैसा अब कर लिया; क्योंकि जैसा आजकल मनुष्य दो पैरों पर और खड़ा चलता है उसी प्रकार पशु भी दो पैरों पर और खड़े-खड़े चलते थे ॥१॥

तब देवों ने उस वज्र को देखा जिसका नाम यूप है। उन्होंने उस यूप को स्थापित किया। उसके डर से पशु सिकुड़ गये और अन्न बन गये, जैसा कि अब हो गये हैं क्योंकि उन्होंने मान लिया है। इसीलिए पशु को यूप पर ही मारते हैं; बिना यूप के कभी नहीं मारते ॥२॥

पशु को लाकर, अग्नि को मथकर पशु को यूप से बाँधते हैं। ऐसा क्यों करते हैं? पहले पशुओं ने यह बात स्वीकार नहीं की कि वे हवि बन जायें, जैसे वे अब हवि बन गये हैं और अग्नि में बलि दिये जाते हैं। उनको देवों ने वश में किया। इस प्रकार वश में होकर भी वे न माने ॥३॥

उन्होंने कहा, 'यह पशु इस नियम (याम) को नहीं जानते कि अग्नि में आहुति दी जाती हैं न इस (अग्निरूपी) प्रतिष्ठा को मानते हैं। पशुओं को लाकर और आग को मथकर अग्नि में अग्नि की आहुति दें। तब वे जान लेंगे कि हवि का नियम यह है और अग्नि की यह प्रतिष्ठा है। अग्नि में ही आहुति दी जाती है। तब वे मान जायँगे और मारे जाने के लिए तैयार हो जायँगे ॥४॥

तब पशुओं को लाकर, आग में मथकर उन्होंने अग्नि में अग्नि की आहुति दी। तब पशुओं ने जाना कि हवि का यह नियम है, अग्नि की यह प्रतिष्ठा है और अग्नि में ही हवि की आहुति दी जाती है। तब वे पशु मान गये और बलि के लिए तैयार हो गये। ॥५॥

इसी प्रकार यह भी पशुओं को लाकर, अग्नि को मथकर, अग्नि में अग्नि की आहुति देता है। वह (पशु) जान लेता है कि हवि का नियम क्या है, अग्नि की प्रतिष्ठा क्या है। अग्नि में ही हवि की आहुति दी जाती है। इसलिए वह मान जाता है और बलि के लिए तैयार हो जाता है। इसीलिए पशु को लाकर और अग्नि को मथकर वह पशु को (यूप से) बाँधता है ॥६॥

इसके विषय में कहते हैं कि न तो पशु को लाये और न अग्नि को मथे। केवल रस्सी को लेकर और सीधा जाकर रस्सी को डालकर पशु को बाँध ले। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यह बात ऐसी ही होगी जैसे कोई चुपके-चुपके नियम का उल्लंघन करे। इसलिए उसको वहाँ जाना ही चाहिए ॥७॥

वह तृण को लेकर पशु को लाता है। यह सोचकर कि दूसरे को साथ लेकर मैं पशु को ले आऊँगा, क्योंकि जिसका कोई साथी होता है वह शक्तिवाला होता है ॥८॥

इस मन्त्रांश को पढ़कर तृण लेता है—"उपावीरसि" (यजु० ६।७)—"तू समीप रक्षा

तस्मादाहोपावीरसीत्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरिति दैव्यो वाऽएता विशो यत्प-
शवोऽस्थिषत देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरिति ॥९॥ उ-
शिजो वह्नितमानिति । विद्वाꣳसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति ॥१०॥
देव त्वष्टर्वसु रमेति । त्वष्टा वै पशूनामीष्टे पशवो वसु तानेतद्देवा अतिष्ठमा-
नांस्त्वष्टारमब्रुवन्नुपनिमदेति यदाह देव त्वष्टर्वसु रमेति ॥११॥ हव्या ते स्वदन्तामि-
ति । यदा वाऽएतऽएतस्माऽअधियन्त यद्धविरभविष्यंस्तस्मादाह हव्या ते स्वद-
न्तामिति ॥१२॥ रेवती रमधमिति । रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध-
मिति बृहस्पते धारया वसूनीति ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु तानेतद्देवा
अतिष्ठमानान्ब्रह्मणैव परस्तात्पर्यदधुस्तन्नात्यायंस्तथोऽएवैनानेष एतद्ब्रह्मणैव प-
रस्तात्परिदधाति तन्नातियन्ति तस्मादाह बृहस्पते धारया वसूनीति पाशं कृत्वा
प्रतिमुञ्चत्यथातो नियोजनस्यैव ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥६[७.३]॥ ॥ पञ्चमः प्रपाठ-
कः ॥ कण्डिकासंख्या १२७ ॥ ॥

पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चति । ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामीति वरुण्या
वाऽएषा यद्रज्जुस्तदेनमेतदृतस्यैव पाशे प्रतिमुञ्चति तथो हैनमेषा वरुण्या र-
ज्जुर्न हिनस्ति ॥१॥ धर्षा मानुष इति । न वाऽएतमग्रे मनुष्योऽधृष्णोत्स यदेव
ऽर्तस्य पाशेनैतद्देवहविः प्रतिमुञ्चत्यथैनं मनुष्यो धृष्णोति तस्मादाह धर्षा मानुष
इति ॥२॥ अथ नियुनक्ति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो ह-
स्ताभ्यामग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मीति तद्यथैवादो देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्ये-
वमेवैतद्देवताभ्यामादिशत्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति
॥३॥ स प्रोक्षति । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य इति तद्यत एव सम्भवति तत एवैतन्मेध्यं
करोतीदꣳ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्धापः पीत्वा तत एष रसः
सम्भवति रसाद्रेतो रेतसः पशवस्तद्यत एव सम्भवति यतश्च जायते तत एवैत-

करनेवाला है।" साथी रक्षा करता है इसलिए कहता है 'उपावीरसि।' "उपदेवान् दैवीर्विशः-प्रागुः" (यजु० ६।७) [महीधर-भाष्य में 'विशेपागुः' पाठ है]—"दैवी लोग देवों के पास आये हैं।" ये जो पशु हैं वे दैवी लोग हैं। जब वह 'उपदेवान्' आदि कहता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह देवों के वश में आ गया है ॥९॥

"उशिजो वह्नितमान्" (यजु० ६।७)—उशिज=मेधावी, 'वह्नितम'=सबसे अच्छा वाहक ॥१०॥

"देव त्वष्टर्वसु रम" (यजु० ६।७)—"हे देव त्वष्टा, धन में रम।" त्वष्टा ही पशुओं का ईश है। पशु ही वसु हैं। जो पशु माने नहीं उन्हीं के लिए देवों ने त्वष्टा से कहा, 'देव त्वष्टर्वसु रम' ॥११॥

"हव्या ते स्वदन्ताम्" (यजु० ६।७)—"हवि तुझको स्वादिष्ट लगें।" चूँकि वे स्वयं ही मान गये कि हम हवि हो जायँ, इसलिए कहा, 'हव्या ते स्वदन्ताम्' ॥१२॥

"रेवती रमध्वम्" (यजु० ६।८)—"हे सुखी, सुख उठाओ।" पशु 'सुखी' हैं इसलिए कहा "रेवती रमध्वम्। बृहस्पते धारया वसूनि" (यजु० ६।८)—"हे बृहस्पति, धनों को धारो।" ब्रह्म बृहस्पति है। पशु वसु हैं। जो पशु माने नहीं थे वे ब्रह्म के साथ सुरक्षित थे। इसी प्रकार यह भी उनको ब्रह्म के साथ सुरक्षित रख देता है जो मानते नहीं हैं, इसलिए कहता है 'बृहस्पते धारया वसूनि।' पाश या फन्दा बनाकर वह उसके पशु के गले में डालता है। बाँधने के विषय में अगले ब्राह्मण में है ॥१३॥

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

फन्दा बनाकर (पशु के गले में) डालता है, इस मन्त्रांश से—"ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रति मुञ्चामि" (यजु० ६।८)—"हे देव-हवि, तुझको ऋत के फन्दे से बाँधता हूँ।" क्योंकि जो रस्सी है वह वरुण की है। इसलिए ऋत के फन्दे से उसको बाँधता है (अर्थात् वरुण की रस्सी में ऋत का फन्दा लगाता है)। इसलिए वह वरुण की रस्सी उसको नहीं सताती ॥१॥

"धर्षा मानुषः" (यजु० ६।८)—"मनुष्य धृष्ट है।" क्योंकि पहले मनुष्य (पशु के) पास तक नहीं जा सकता था। लेकिन जब उसने उसको ऋत के पाश से देव-हवि के रूप में बाँध लिया तब मनुष्य उसके पास जा सकता है, इसलिए कहा 'धर्षा मानुषः' ॥२॥

अब वह उस (पशु) को यूप में बाँधता है, इस मन्त्रांश से—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि" (यजु० ६।९)—"देव सविता की प्रेरणा से दोनों अश्विनों के बाहुओं और पूषा के हाथों से तुझको अग्नि और सोम का प्रिय बनाता हूँ।" जिस प्रकार एक देवता को निर्दिष्ट करके हवि की आहुति दी जाती है, उसी प्रकार दो देवताओं को निर्दिष्ट करके आहुति दी जाती है। अब वह जल-सिंचन करता है। जल-सिंचन का वही एक तात्पर्य है अर्थात् यज्ञ के लिए पवित्र करना ॥३॥

वह इस मन्त्र से जल-सिंचन करता है—"अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः" (यजु० ६।९)—"तुझको जलों और ओषधियों के लिए।" जिससे उस (पशु) की स्थिति है उसी से उसको पवित्र करता है। क्योंकि जब जल बरसता है तब पृथिवी पर ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाकर

न्मेध्यं करोति ॥४॥ अनु त्वा माता मन्यतामनु पितेति । स हि मातुश्चाधि पितु-
श्च जायते तद्यत एव जायते तत एवैतन्मेध्यं करोत्यनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा
सयूथ्य इति स यत्ते जन्म तेन त्वानुमतमारभऽइत्येवैतदाहाग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं
प्रोक्षामीति तद्याभ्यां देवताभ्यामारभते ताभ्यां मेध्यं करोति ॥५॥ अथोपगृह्णाति ।
अपां पेरुरसीति तदेनमन्तरतो मेध्यं करोत्यथाधस्तादुपोक्षत्यापो देवीः स्वदन्तु
स्वात्तं चित्सद्देवहविरिति तदेनꣳ सर्वतो मेध्यं करोति ॥६॥ अथाहाग्नये समि-
ध्यमानायानुब्रूहीति । स उत्तरमाघारमाघार्यासꣳस्पर्शयन्स्रुचौ पर्येत्य जुह्वा पशुꣳ
समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार एष वाऽअत्र यज्ञो भवति यत्पशुस्तद्यज्ञ
ऽएवैतच्छिरः प्रतिदधाति तस्माज्जुह्वा पशुꣳ समनक्ति ॥७॥ स ललाटे समनक्ति ।
सं ते प्राणो वातेन गच्छतामिति समङ्गानि यजत्रैरित्यꣳसयोः सं यज्ञपतिराशिषेति
श्रोण्योः स यस्मै कामाय पशुमालभन्ते तत्प्राप्नुहीत्येवैतदाह ॥८॥ इदं वै पशोः
संज्ञप्यमानस्य । प्राणो वातमपिपद्यते तत्प्राप्नुहि यत्ते प्राणो वातमपिपद्याता
ऽइत्येवैतदाह समङ्गानि यजत्रैरित्यङ्गैर्वाऽअस्य यजन्ते तत्प्राप्नुहि यत्तेऽङ्गैर्यजान्ता
ऽइत्येवैतदाह स यज्ञपतिराशिषेति यजमानाय वाऽएतेनाशिषमाशासते तत्प्राप्नु-
हि यत्त्वया यजमानायाशिषमाशासान्ताऽइत्येवैतदाह सादयति स्रुचावथ प्रवराया-
श्रावयति सोऽसावेव बन्धुः ॥९॥ अथ द्वितीयमाश्रावयति । द्वौ ह्यत्र होतारौ
भवतः स मैत्रावरुणायाहैवाश्रावयति यजमानं वेव प्रवृणीतेऽग्निर्ह दैवीनां वि-
शां पुरएतेत्यग्निर्हि देवतानां मुखं तस्मादाहाग्निर्ह दैवीनां विशां पुरएतेत्ययं य-
जमानो मनुष्याणामिति तꣳ हि सोऽन्वर्धो भवति यस्मिन्नर्धे यजते तस्मादाहायं
यजमानो मनुष्याणामिति तयोरस्थूरि गार्हपत्यं दीदयच्छतꣳ हिमा द्वा यूऽइति त-
योरनार्तानि गार्हपत्यानि शतं वर्षाणि सन्त्वित्येवैतदाह ॥१०॥ राधाꣳसीत्सम्पृ-
ञ्चानावसम्पृञ्चानौ तन्व इति । राधाꣳस्येव सम्पृञ्चाथां मापि तनूरित्येवैतदाह तौ

और पानी को पीकर रस बनता है, रस से वीर्य, वीर्य से पशु । इसलिए जिससे उत्पन्न होता या जन्मता है उसीसे उसको पवित्र करता है ॥४॥

"अनु त्वा माता मन्यतामनु पिता" (यजु० ६।६)—"तेरी माता तुझे अनुमति दे और तेरा पिता।" क्योंकि माता और पिता से उसकी उत्पत्ति है। इसलिए जिससे उसका जन्म हुआ है उसी से उसकी यज्ञ के लिए पवित्रता करता है। "अनु भ्रातासगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः" (यजु० ६।६)—"तेरा ही सगा भाई, तेरे ही दलवाला सखा।" इसका तात्पर्य यह है कि जो तेरे रिश्तेदार हैं उनकी अनुमति लेता हूँ। "अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजु० ६।६)—"अग्नि और सोम की प्रसन्नता के लिए तुझ पर जल छिड़कता हूँ।" अर्थात् जिन दो देवतों के लिए मारता है उन्हीं के लिए पवित्र करता है। (आ+रभ का अर्थ 'मारना' लिया है। यह विचारणीय है) ॥५॥

इस मन्त्रांश से (जल को पिलाने के लिए) लेता है—"अपां पेरुरसि" (यजु० ६।१०)—"तू जलों का पीनेवाला है।" इससे वह उसकी आन्तरिक शुद्धि करता है। अब (शरीर के निचले भाग को) धोता है, इस मन्त्र से—"आपो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित् सद् देवहविः" (यजु० ६।१०)—"दिव्य जल तुझको सच्ची देवहवि के लिए स्वादिष्ट बनावे।" इस प्रकार वह इसको हर प्रकार से यज्ञ के लिए पवित्र कर देता है ॥६॥

अब वह (होता से) कहता है—'प्रज्वलित अग्नि के लिए मन्त्र बोल।' पिछली आघार-आहुति देकर स्रुचों को बिना छुए हुए जब वह अपने स्थान पर लौटकर आता है तो जुहू में बचे हुए घी से पशु को चुपड़ता है। पिछली आघार-आहुति यज्ञ का शिर है। और यह जो पशु है वह यज्ञ है। यह पशु का घी से चुपड़ना ऐसा है जैसा यज्ञ के सिर लगा देना ॥७॥

वह ललाट में घी लगाता है, इस मन्त्रांश से—"सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्" (यजु० ६।१०)—"तेरे प्राण वायु से मिल जावें।" इस मन्त्रांश से कन्धों पर—"समङ्गानि यजत्रैः" (यजु० ६।१०)—"तेरे अङ्ग यज्ञ करनेवालों से मिलें।" इस मन्त्रांश से पिछाड़ी पर—"सं यज्ञपतिराशिषा" (यजु० ६।१०)—"यज्ञपति आशीर्वाद से मिले।" इसका तात्पर्य यह है कि जिस किसी कार्य के लिए पशु का बलि दी गई हो उसी की प्राप्ति हो ॥८॥

बलि दिये हुए पशु के प्राण वायु में मिल जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कर कि तेरे प्राण वायु में मिल जायँ, अर्थात् तेरे प्राण वायु में मिल जायँ, 'यज्ञ करनेवालों से तेरे अंग मिल जायँ'; इसलिए कहता है कि अंगों से ही तो यज्ञ किया जाता है अर्थात् ऐसा कर कि अंगों से यज्ञ हो जाय। 'यज्ञपति आशीर्वाद से' ये शब्द इसलिए कहे जाते हैं कि यह आशीर्वाद है अर्थात् 'हे यजमान, तुझे यह आशीर्वाद दिया जाता है।' अब वह दोनों स्रुचों को रखकर होता के प्रवर (निर्वाचन) के लिए श्रौषट् कहता है। उसका वैसा ही तात्पर्य है ॥९॥

अब वह द्वितीय श्रौषट् कहता है। यहाँ दो होता होते हैं। वह मित्र-वरुण के लिए श्रौषट् कहता है। यजमान का वरण करता है जब कहता है कि 'अग्नि ही दैवी मनुष्यों के आगे चलता है।' अग्नि देवों का मुख है इसलिए कहा 'अग्नि ही दैवी मनुष्यों के आगे चलता है।' 'मनुष्यों का यजमान' इसलिए कि जिन लोकों में वह यज्ञ करता है वे उससे नीच हैं। इसलिए वह कहता है कि 'यजमान मनुष्यों का (सिर) है।' अब कहता है, "इन दोनों के घर चमकें, न एक बैल से, सौ वर्ष तक दो से।' अर्थात् उनके घर सौ वर्ष तक आपत्तियों से मुक्त रहें ॥१०॥

अब वह कहता है—'वैभव मिल जाय, न कि शरीर' इसका तात्पर्य यह है कि 'तुम

ह यत्तनूरपि सम्पृच्येयातां प्राग्निर्यजमानं दहेत्स यदग्नौ जुहोति तदेषोऽग्नये प्रय-च्छत्यथ यामेवात्रऽर्त्विजो यजमानायाशिषमाशासते तामस्मै सर्वामग्निः समर्धयति तद्राधाꣳस्येव सम्पृच्याते नापि तनूस्तस्मादाह राधाꣳसीत्सम्पृच्यानावसम्पृच्यानौ तन्व इति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१ [७.४.]॥ सप्तमोऽध्यायः [२२.] ॥ ॥

तद्यत्रैतत्प्रवृतो होता होतृषदनऽउपविशति । तदुपविश्य प्रसौति प्रसूतो ऽध्वर्युः स्रुचावादत्ते ॥१॥ अथाप्रीभिश्चरन्ति । तद्यदाप्रीभिश्चरन्ति सर्वेणेव वाऽएष मनसा सर्वेणेवात्मना यज्ञꣳ सम्भरति सं च जिहीर्षति यो दीक्षते तस्य रिरि-चान-इवात्मा भवति तमेताभिराप्रीभिराप्याययन्ति तद्यदाप्याययन्ति तस्मादाप्रियो नाम तस्मादाप्रीभिश्चरन्ति ॥२॥ ते वाऽएतऽएकादश प्रयाजा भवन्ति । दश वा ऽइमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान्वै पुरुष-स्तदस्य सर्वमात्मानमाप्याययन्ति तस्मादेकादश प्रयाजा भवन्ति ॥३॥ स आश्रा-व्याह । समिधः प्रेष्येति प्रेष्य-प्रेष्येति चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानयमानो दशभिः प्रयाजैश्चरति दश प्रयाजानिष्ट्वाह शासमाहरेत्यसिं वै शास इत्याचक्षते ॥४॥ अ-थ यूपशकलमादत्ते । तावग्रे जुह्वा अक्त्वा पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्तौ पशूं-स्त्रायेथामिति वज्रो वै यूपशकलो वज्रः शासो वज्र आज्यं तमेवैतत्कृत्स्नं वज्रꣳ सम्भृत्य तमस्याभिगोप्तारं करोति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति पुनर्यूपश-कलमवगूहत्येषा ते प्रज्ञाताश्रिरस्त्वित्याह शासं प्रयच्छन्त्सादयति स्रुचौ ॥५॥ अ-थाह पर्यग्नयेऽनुब्रूहीति । उल्मुकमादायाग्नीत्पर्यग्निं करोति तद्यत्पर्यग्निं करोत्य-च्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसा-मपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति तद्यत्रैनꣳ श्रपयन्ति तदभिपरिहरति ॥६॥ तदा-हुः । पुनरेतदुल्मुकꣳ हरेदथात्रान्यमेवाग्निं निर्मथ्य तस्मिन्नेनꣳ श्रपयेयुराहवनी-यो वाऽएष न वाऽएष तस्मै यदस्मिन्नशृतꣳ श्रपयेयुस्तस्मै वाऽएष यदस्मिञ्छृतं

अपने वैभव को ही मिलाओ, शरीरों को नहीं।' क्योंकि अगर वह मिला दें तो अग्नि उस यजमान को जला देगी। जब कोई अग्नि में आहुति देता है तो मानो अग्नि के अर्पण करता है। और ऋत्विज लोग जो आशीर्वाद यजमान को देते हैं अग्नि उन सबका सम्पादन करता है। इस प्रकार ये अपने वैभव को ही जोड़ते हैं, न कि शरीरों को। इसीलिए कहता है कि 'अपने वैभव को मिलाओ, न कि शरीरों को' ॥११॥

अध्याय ८—ब्राह्मण १

इस प्रकार चुना जाकर होता, होता के स्थान में बैठता है, बैठकर प्रेरणा करता है और अध्वर्यु प्रेरित होकर दो स्रुचों को लेता है ॥१॥

अब वे आप्रि मन्त्रों से कार्य करते हैं। आप्रि मन्त्रों से क्यों करते हैं? इसलिए कि जो दीक्षा लेता है वह अपने सब मन से और सम्पूर्ण आत्मा से यज्ञ की तैयारी करता है। उसका आत्मा खाली-सा हो जाता है। इन आप्रि मन्त्रों से वे उसको भर-सा देते हैं। और चूंकि वे इनसे भरते हैं इसलिए इनका नाम आप्रि है ॥२॥

ये ग्यारह प्रयाज होते हैं। इस पुरुष में दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है, जिसमें ये दसों प्राण स्थापित हैं। इतना सम्पूर्ण पुरुष है। इस प्रकार ये उसको पूर्ण कर देते है। इसलिए ग्यारह प्रयाज होते हैं ॥३॥

(अध्वर्यु) आग्नीध्र में श्रौषट् कहकर (मैत्रावरुण से) कहता है—'समिधाओं के लिए प्रेरणा कर।' इस प्रकार 'प्रेष्य'-'प्रेष्य' कहकर हर चौथी आहुति में घी को साथ-साथ छोड़ता हुआ दस प्रयाजों का कार्य करता है। दस प्रयाजों को कहकर कहता है, 'शास (घातक) को लाओ।' शास नाम है 'असि' या तलवार का ॥४॥

अब वह यूप के टुकड़े को लेता है। और इन दोनों (अर्थात् शास और यूप-शकल) को जुहू में से घी लगाकर उनसे पशु के ललाट को छूता है—"घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाम्" (यजु० ६।११)—"घृत से युक्त तुम दोनों पशुओं की रक्षा करो।" यूप-शकल वज्र है। शास वज्र है। आज्य (घृत) वज्र है। इन सबको मिलाकर वज्र बनाकर उसको उस पशु का रक्षक नियत करता है जिससे दुष्ट राक्षस उसकी हिंसा न कर सकें। अब यूप के टुकड़े को छिपा देता है और (घातक के हाथ में) शास को देकर कहता है कि यह प्रज्ञात (स्वीकृत) धार है। और दोनों स्रुचों को रख देता है ॥५॥

अब (होता से) कहता है कि परि-अग्नि के लिए अनुवाक कह। (इस पर होता ऋग्वेद ४।१५।१-३ को पढ़ता है)। आग्नीध्र आग की लकड़ी को लेकर (पशु के) चारों ओर फिराता है। वह अग्नि को चारों ओर इसलिए फिराता है कि चारों ओर से छिद्र-रहित परिखा बन जाय और दुष्ट राक्षस उसको सता न सकें। अग्नि ही राक्षसों का घातक है, इसलिए अग्नि को चारों ओर फिराता है। जहाँ उसे पकाते हैं वहाँ वह अग्नि को फिराता है ॥६॥

कुछ लोगों का कहना है कि उस लकड़ी को फिर वापस (आहवनीय तक) ले जाना चाहिए और अन्य अग्नि का मन्थन करके उससे पकाना चाहिए, क्योंकि यह आहवनीय है और इसमें कच्चे को पकाना ठीक नहीं। यह तो इसलिए है कि पके-पकाये की आहुति दी जाय ॥७॥

जुहुयुरिति ॥७॥ तदु तथा न कुर्यात् । यथा वै ग्रसितमेवमस्यैतद्भवति यदेनेन पर्यग्निं करोति स यथा ग्रसितमनुह्वायाच्छिद्य तदन्यस्मै प्रयच्छेदेवं तत्तस्मादेतस्यैवोल्मुकस्याङ्गारान्निमृद्य तस्मिन्नेनं श्रपयेयुः ॥८॥ अथोल्मुकमादायाग्नीत्पुरस्तात्प्रतिपद्यते । अग्निमेवैतत्पुरस्तात्करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण पशुं नयन्ति तं वपाश्रपणीभ्यां प्रतिप्रस्थातान्वारभते प्रतिप्रस्थातारमध्वर्युरध्वर्युं यजमानः ॥९॥ तदाहुः । नैष यजमानेनान्वारभ्यो मृत्यवे ह्येतं नयन्ति तस्मान्नान्वारभेतेति तदन्वेवारभेत न वाऽएतं मृत्यवे नयन्ति यं यज्ञाय नयन्ति तस्मादन्वेवारभेत यज्ञादु हैवात्मानमन्तरियाद्यन्नान्वारभेत तस्मादन्वेवारभेत तत्परोऽक्षमन्वारब्धं भवति वपाश्रपणीभ्यां प्रतिप्रस्थाता प्रतिप्रस्थातारमध्वर्युरध्वर्युं यजमान एतदु परोऽक्षमन्वारब्धं भवति ॥१०॥ अथ स्तीर्णायै वेदेः । द्वे तृणेऽअध्वर्युरादत्ते स आश्राव्याहोपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्येतदु वैश्वदेवं पशौ ॥११॥ अथ वाचयति । रेवति यजमानऽइति वाग्वै रेवती सा यद्वाग्बहु वदति तेन वाग्रेवती प्रियं धा आविशेत्यनार्तिमाविशेत्येवैतदाहोरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनेत्यन्तरिक्षं वाऽअनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्वातेनैवꣳ संविदानान्तरिक्षाद्गोपायेत्येवैतदाह यदाहोरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनेति ॥१२॥ अस्य हविषस्त्मना यजेति । वाचमेवैतदाहानार्तस्यास्य हविष आत्मना यजेति समस्य तन्वा भवेति वाचमेवैतदाहानार्तस्यास्य हविषस्तन्वा सम्भवेति ॥१३॥ तद्यत्रैनं विशसन्ति । तत्पुरस्तात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धा इति बर्हिरेवास्माऽएतत्स्तृणात्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवास्यात्र विशस्यमानस्य किंचित्स्कन्दति तदेतस्मिन्प्रतितिष्ठति तथा नामुया भवति ॥१४॥ अथ पुनरेत्याहवनीयमभ्यावृत्यासते । नेदस्य संज्ञप्यमानस्याध्यक्षा असामेति तस्य न कूटेन प्रघ्नन्ति मानुषꣳ

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। अग्नि जिसके चारों ओर फिरा ली गई वह तो अग्नि से ग्रसित हो गया। इसका अर्थ यह होगा कि जो ग्रसित हो चुका उसको छीनकर दूसरे को दे दिया गया। इसलिए इस लकड़ी से ही अंगारों को लेकर उसमें पका लेना चाहिए ॥८॥

अब आग्नीध्र एक और जलती लकड़ी लेकर आगे आता है। इस प्रकार वह अग्नि को आगे रखता है कि वह दुष्ट राक्षसों को दूर भगा देगी। और भयरहित मार्ग से पशु को ले जाता है। दोनों वपाश्रपणियों से प्रतिप्रस्थाता उस (आग्नीध्र) को देता है। प्रतिप्रस्थाता को अध्वर्यु देता है और अध्वर्यु को यजमान ॥९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यजमान न पकड़े। क्योंकि उसको मृत्यु के लिए ले जाते हैं, इसलिए उसको नहीं थामना चाहिए। परन्तु उसको थामना चाहिए ही, क्योंकि जिसको यज्ञ के लिए ले जाते हैं उसे मृत्यु के लिए नहीं ले जाते। दूसरे यह कि यदि वह न थामेगा तो अपने को यज्ञ से हटा लेगा, इसलिए उसे थामना अवश्य चाहिए। यह एक प्रकार का परोक्ष थामना है अर्थात् वपाश्रपणियों द्वारा प्रतिप्रस्थाता थामता है। प्रतिप्रस्थाता को अध्वर्यु देता है और अध्वर्यु को यजमान। इस प्रकार यह थामना परोक्ष प्रकार का है ॥१०॥

अब छायी हुई वेदी में से अध्वर्यु दो तृण निकालता है, और श्रौषट् कहकर कहता है—'होता, देवों के लिए हव्य ला।' पशु-याग[1] में यह विश्वेदेवों का भाग है ॥११॥

अब वह यजमान से कहलवाता है—"रेवति यजमाने" (यजु० ६।११)—"हे भाग्यवती, तू यजमान में।" बाणी रेवती है क्योंकि वह बहुत बोलती है, इसलिए वाणी रेवती हुई। "प्रियं धाऽआविश" (यजु० ६।११)—"प्रिय को धारण कर। तू आ।" अर्थात् तू बिना आपत्ति के आ। "उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेन" (यजु० ६।११)—"विस्तृत अन्तरिक्ष से दैवी वायु के द्वारा।" जिस प्रकार मनुष्य बिना किसी जड़ के स्वच्छन्दता से अन्तरिक्ष में विचरता है, इसी प्रकार राक्षस भी अन्तरिक्ष में बिना किसी मूल के विचरता है। (नोट—पेड़ की मूल होती है, वह स्थावर है। राक्षस और मनुष्य दोनों जंगम हैं)। यह जो कहा कि 'विस्तृत अन्तरिक्ष से दैवी वायु के द्वारा' इसका तात्पर्य है कि वायु से मिलकर इसकी अन्तरिक्ष से रक्षा कर ॥१२॥

"हविषस्त्मना यज" (यजु० ६।११)—"हवि की आत्मा से यज्ञ कर।" अर्थात् वाणी से कहता है कि हवि की आत्मा से यज्ञ कर। "समस्य तन्वा भव" (यजु० ६।११)—अर्थात् वाणी से कहता है कि इस हवि की आत्मा के साथ सयुक्त हो ॥१३॥

जहाँ उसको मारते हैं उसके सामने तृण को फेंकते हैं। "वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः" (यजु० ६।११)—"हे महान्, इस महान् यज्ञ में यज्ञपति को ले जा।" इस प्रकार कुशों को नीचे बिछा देता है कि हवि का कोई भाग भी नष्ट न हो सके। इस प्रकार काटने में जो कुछ नीचे गिरता है वह इन्हीं कुशों में गिरता है। इस प्रकार नष्ट नहीं होता ॥१४॥

अब आहवनीय की ओर जाकर उधर को मुँह करके बैठते हैं कि इस कटते हुए को देख न लें। वे इसको 'कूट' अर्थात् सामने की हड्डी से नहीं काटते; यह मानुषी विधि है। न कान के

---

१. 'पशु-याग' वेद-विरुद्ध एवं प्रक्षिप्त है। मन्त्रांश (यजु० ६-११) स्पष्ट कहता है—'पशूँस्त्रायेथाम्' अर्थात् 'पशुओं की रक्षा करो'। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

हि तन्नोऽएव पश्चात्कर्णं पितृदेवत्यꣳ हि तदपिगृह्य वैव मुखं तमयन्ति वेष्कं वा कुर्वन्ति तन्नाह जहि मारयेति मानुषꣳ हि तत्संज्ञपयान्वगन्निति तद्धि देवत्रा स यदाहान्वगन्नित्येतर्हि ह्येष देवाननुगच्छति तस्मादाहान्वगन्निति ॥१५॥ तस्य-त्रैनं निविध्यन्ति । तत्पुरा संज्ञपनाज्जुहोति स्वाहा देवेभ्य इत्यथ यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरित्यथ जुहोति देवेभ्यः स्वाहेति पुरस्तात्स्वाहाकृतयो वाऽअन्ये देवा उपरिष्टात्स्वाहाकृतयोऽन्ये तानेवैतत्प्रीणाति तऽएनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ते वाऽएते परिपशव्येऽइत्याहुती स यदि कामयेत जुहुयादेते यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥२[८.१.]॥ ॥

यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरिति । अथाध्वर्युराह नेष्टः पत्नीमुदानयेत्युदानयति नेष्टा पत्नीं पात्रेजनं बिभ्रतीम् ॥१॥ तां वाचयति । नमस्तऽआतानेति यज्ञो वाऽआतानो यज्ञꣳ हि तन्वते तेन यज्ञ आतानो जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन्भवति तस्माऽएवैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनामेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्तऽआतानेति ॥२॥ अनर्वा प्रेहीति । असपत्नेन प्रेहीत्येवैतदाह घृतस्य कुल्या उपऽऋतस्य पथ्या अन्विति साधूपेत्येवैतदाह देवीरापः शुद्धा वोढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्मेत्यप एवैतत्पावयति ॥३॥ अथ पशोः प्राणानद्भिः पत्न्युपस्पृशति । तद्यदद्भिः प्राणानुपस्पृशति । जीवं वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतत्पशुं घ्नन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासत्यापो वै प्राणास्तदस्मिन्नेतान्प्राणान्दधाति तथैतज्जीवमेव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृतानाम् ॥४॥ अथ यत्पत्न्युपस्पृशति । योषा वै पत्नी योषायै वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तदेनमेतस्यै योषायै प्रजनयति तस्मात्पत्न्युपस्पृशति ॥५॥ सोपस्पृशति । वाचं ते शुन्धामीति मुखं प्राणं ते शुन्धामीति नासिके चक्षुस्ते शुन्धामीत्यक्ष्यौ श्रोत्रं ते शुन्धामीति कर्णौ नाभिं ते शुन्धामीति योऽयम-

पीछे से; यह पितरों की विधि है। या तो उसका मुँह बन्द करके घोंट देते हैं या फन्दा डाल देते हैं। इसलिए ऐसा नहीं कहते 'इसको मार।' यह तो मनुष्यों की भाषा है। किन्तु कहते हैं 'संज्ञपय, अन्वगन्' (इसको शान्त कर दे। यह चला गया)। यह देवों की भाषा है। जब कहते हैं कि 'अन्वगन्' (चला गया) तो यजमान देवों के पास चला जाता है। इसलिए कहते हैं 'अन्वगन्' (चला गया) ॥१५॥

जब ये इसको पकड़कर नीचे गिरा लेते हैं तो संज्ञपन (गला घोंटने) से पहले आहुति देते हैं "स्वाहा देवेभ्यः" (यजु० ६।११)। जब मारनेवाला कहता है 'संज्ञप्तः पशुः' (अर्थात् पशु शान्त हो गया) तो एक आहुति देते हैं—"देवेभ्यः स्वाहा" (यजु० ६।११)। इस प्रकार कुछ देवों के पहले 'स्वाहा' कहा जाता है और कुछ के पीछे। इस प्रकार इन सबको प्रसन्न करता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के देव प्रसन्न होकर उसको स्वर्गलोक को ले जाते हैं। ये 'परिपशव्य' आहुतियाँ हैं। चाहे तो इनकी आहुति दे, चाहे न दे। यदि इच्छा हो तो इनका आदर न करे ॥१६॥

अध्याय ८—ब्राह्मण २

जब घातक ने कहा कि पशु शान्त हो गया तो अध्वर्यु कहता है 'नेष्टा पत्नी को ला।' तब नेष्टा पत्नी को लाता है। उसके हाथ में पैर धोने के लिए पात्र में जल होता है ॥१॥

अब वह उस पत्नी से कहलवाता है—"नमस्तऽआतान" (यजु० ६।१२)—"हे फैले हुए, तुझे नमस्कार हो।" 'फैला हुआ' यज्ञ है क्योंकि यज्ञ फैलाया जाता है, इसलिए यज्ञ का नाम 'आतान' है। यह जो पत्नी है, वह यज्ञ का पिछला अर्द्धभाग है। उसको यज्ञ को प्रसन्न करने के हेतु आगे की ओर बुलाता है। इस प्रकार वह यज्ञ की त्रुटि को पूरा करती है, और यज्ञ उसकी हानि नहीं करता। इसलिए कहा 'यज्ञ, तुझे नमस्कार हो' ॥२॥

"अनर्वा प्रेहि" (यजु० ६।१२)—अर्थात् "स्वच्छ चल।"—"घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु" (यजु० ६।१२)—"घी की नदियों में या सत्यता की गलियों में।" अर्थात् कल्याण-मार्गों में जा। "देवीरापः शुद्धा वोढ्व॑ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म" (यजु० ६।१३)—"हे दैवी जलो! भलीभाँति तैयार होकर तुम देवों को प्राप्त होओ। हम भलीभाँति तैयार हो जावें।" इस प्रकार वह जल को पवित्र करती है ॥३॥

अब पत्नी पशु के प्राणों को जलों से स्पर्श करती है। वह प्राणों को जलों से इसलिए स्पर्श करती है कि देवों की हवि जीव है—अमृतों की अमृत। संज्ञपन में पशु को मारते हैं। जल प्राण है, इस प्रकार इसमें प्राणों को धारण कराती है। इस प्रकार 'देवों' का हवि जीव हो जाता है—अमृतों का अमृत ॥४॥

पत्नी क्यों स्पर्श करती है? पत्नी स्त्री है। स्त्री से ही प्रजा उत्पन्न होती है। इसको इस प्रजा को स्त्री से उत्पन्न कराता है, इसलिए पत्नी ही इसका स्पर्श करती है ॥५॥

वह इस प्रकार स्पर्श करती है—"वाचं ते शुन्धामि" से मुख को (यजु० ६।१४)। "प्राणं ते शुन्धामि" से नासिका को। "चक्षुस्ते शुन्धामि" से आँखों को। "श्रोत्रं ते शुन्धामि" से कानों को। "नाभिं ते शुन्धामि" से अस्पष्ट प्राण को। "मेढ्रं ते शुन्धामि" या "पायुं ते शुन्धामि" से

निरुक्तः प्राणो मेढ्रं ते शुन्धामीति वा पायुं ते शुन्धामीति योऽयं पश्चात्प्राणस्त-त्प्राणान्दधाति तत्समीरयत्यथ सꣳहृत्य पदश्चरित्रांस्ते शुन्धामीति पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित्याऽएव तदेनं प्रतिष्ठापयति ॥६॥ अथ या आपः परिशिष्यन्ते । अर्धा वा यावत्यो वा ताभिरेनं यजमानश्च शीर्षतोऽग्रेऽनुषिञ्चतस्तत्प्राणांश्चैवा-स्मिंस्तत्तौ धत्तस्तञ्चैनमतः समीरयतः ॥७॥ तद्यत्क्रूरीकुर्वन्ति । यदास्थापयन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतस्तदद्भिः संधत्तः ॥८॥ तावनुषिञ्चतः । मनस्तऽआ-प्यायतां वाक्तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायताꣳ श्रोत्रं तऽआ-प्यायतामिति तत्प्राणान्धत्तस्तत्समीरयतो यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतामिति ॥९॥ तद्यत्क्रूरीकुर्वन्ति । यदास्थापयन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयतस्तदद्भिः संधत्तस्तत्ते शुध्यत्विति तन्मेध्यं कुरुतः शमहोभ्य इति जघनेन पशुं निनयतः ॥१०॥ तद्यत्क्रूरीकुर्वन्ति । यदास्थापयन्ति नेदेतदन्वशान्तान्य-होरात्राण्यसन्निति तस्मादहमहोभ्य इति जघनेन पशुं निनयतः ॥११॥ अथोत्तानं पशुं पर्यस्यन्ति । स तृणमन्तर्दधात्योषधे त्रायस्वैति वज्रो वाऽअसिस्तथो हैनमेष वज्रोऽसिर्न हिनस्त्यथासिनाभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति वज्रो वाऽअ-सिस्तथो हैनमेष वज्रोऽसिर्न हिनस्ति ॥१२॥ सा या प्रज्ञाताग्रिः । तयाभिनिद-धाति सा हि यजुष्कृता मेध्या तद्यदग्रं तृणस्य तत्सव्ये पाणौ कुरुतेऽथ यद्बुध्नं त-द्दक्षिणेनादत्ते ॥१३॥ स यत्राच्छ्यति । यत एतल्लोहितमुत्पतति तदुभयतोऽनक्ति रक्षसां भागोऽसीति रक्षसाꣳ ह्येष भागो यदसृक् ॥१४॥ तदुपास्याभितिष्ठति । इदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमं तमो नयामी-ति तद्यज्ञेनैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवबाधते तद्यदमूलमुभयतः परिच्छिन्नं भवत्यमूलं वा ऽइदमुभयतः परिच्छिन्नꣳ रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परि-च्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तस्मादमूलमुभयतः परिच्छिन्नं भवति ॥१५॥ अथ वपामु-

पीछे के प्राण को। इस प्रकार वह प्राणों को धारण कराती है अर्थात् उसको फिर जीवन देती है। "चरित्राँस्ते शुन्धामि" से पैरों को। पैरों पर खड़ा होता है अतः पैरों पर उसको खड़ा करती है, प्रतिष्ठा के लिए ॥६॥

अब जो जल बच रहे उससे या उसके आधे से अध्वर्यु और यजमान उसको स्पर्श करते हैं। सिर से लेकर। इस प्रकार वे उसमें प्राण धारण कराते हैं और उसको पुनर्जीवित करते हैं ॥७॥

इस प्रकार जहाँ कहीं वे उसको घाव लगाते हैं, वहाँ जलों से शान्ति दिलाते हैं। शान्ति-दायक जलों से शान्ति दिलाते हैं। वे उसको जलों से चंगा करते हैं ॥८॥

इन मन्त्रों से स्पर्श करते हैं— "मनस्तऽआप्यायतां वाक्तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायताँ श्रोत्रं तऽआप्यायताम्" (यजु० ६।१५)—"तेरा मन चंगा हो, तेरी वाणी चंगी हो, तेरे प्राण चंगे हों, तेरी आँखें चंगी हों, तेरे कान चंगे हों।" इस प्रकार वे इसमें प्राण धारण कराते हैं—"यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां" (यजु० ६।१५)—"जो कुछ तेरा घाव हो, जो तुझे क्षति हो, वह सब पूरी हो जाय और तू मजबूत हो जा" ॥९॥

इस प्रकार जो कुछ घाव लगाते हैं, जहाँ कहीं चोट लगाते हैं, वहाँ शान्तिदायक जलों के द्वारा उसको चंगा कर देते हैं। उसको वे ठीक कर देते हैं। "तत्ते शुध्यतु" (यजु० ६।१५)— "इस प्रकार वे उसे शुद्ध करते हैं।" "शमहोभ्यः" (यजु० ६।१५)—"तेरे दिन कल्याणकर हों।" इससे जो जल बचता है उसको पशु के पिछले भाग में डाल देते हैं ॥१०॥

इस प्रकार जहाँ घाव करते हैं या जहाँ चोट पहुँचाते हैं वहाँ 'शमहोभ्यः' से जल को पशु के पिछले भाग में डाल देते हैं कि कहीं रात-दिन अहितकर न हो जायँ ॥११॥

अब वे पशु को उलटा लिटा देते हैं। अब अध्वर्यु उसके ऊपर कुश रखता है, "ओषधे त्रायस्व" (यजु० ६।१५) से। असि वज्र है। इस प्रकार वह वज्र उस पशु को नहीं सताता। और असि को उसमें लगाता है, "स्वधिते मैनँ हिँसीः" (यजु० ६।१५)—"हे क्षुरा, तू इसको न सता। असि वज्र है।" इस प्रकार यह वज्र (असि) उसको हानि नहीं पहुँचाता ॥१२॥

जो प्रज्ञातधार है उसका प्रयोग करता है क्योंकि यजुः पढ़कर वह पवित्र की जा चुकी है। कुशा का जो अग्रभाग है उसे बायें हाथ में रखता है और जो नीचे का भाग है उसे दाहिने हाथ में ॥१३॥

जहाँ चमड़ा उचेला जाय या रक्त निकले वहाँ दोनों ओर से इसके नीचे के भाग में रुधिर लगा देता है, इस मन्त्र से—"रक्षसां भागोऽसि" (यजु० ६।१६)—"तू राक्षसों का भाग है।" यह जो रुधिर (असृक्) है वह राक्षसों का ही भाग है ॥१४॥

उसको फेंककर उस पर चढ़ता है—"इदमहँ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहँ रक्षोऽवबाधऽइद-महँ रक्षोऽधमं तमो नयामि" (यजु० ६।१६)—"यह मैं राक्षसों को कुचलता हूँ। यह मैं राक्षसों को निकालता हूँ। यह मैं राक्षसों को सबसे निकृष्ट अँधेरे को प्राप्त कराता हूँ।" यज्ञ के द्वारा ही वह राक्षसों को निकाल भगाता है। यह कुश मूलरहित और दोनों ओर से कटा इसलिए रहता है कि राक्षस भी तो मूलरहित, दोनों ओर से परिच्छिन्न, अन्तरिक्ष में विचरा करता है, जैसे इस लोक में मनुष्य मूलरहित और दोनों ओर से परिच्छिन्न विचरता है; इसीलिए यह कुश मूलरहित होता है और दोनों ओर से परिच्छिन्न होता है ॥१५॥

त्खिदन्ति । तया वपाश्रपण्यौ प्रोर्णोति घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथामिति तदिमे द्यावापृथिवीऽऊर्जा रसेन भाजयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्याऽउपजीवनीयेऽइमाः प्रजा उपजीवन्ति ॥१६॥ कार्ष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतः । यत्र वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे तदुदीचः कृष्यमाणस्यावाङ्मेधः पपात स एष वनस्पतिरजायत तद्यत्कृष्यमाणस्यावाङपतत्तस्मात्कार्ष्मर्यस्तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात्कार्ष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतः ॥१७॥ तां परिवासयति । तां पशुश्रपणे प्रतपति तथो हास्यात्रापि शृता भवति पुनरुल्मुकमग्नीदादत्ते ते जघनेन चात्वालं यन्ति तऽआयन्त्यागच्छन्त्याहवनीयꣳ स एतत्तृणमध्वर्युराहवनीये प्रास्यति वायो वे स्तोकानामिति स्तोकानाꣳ हैषा समित् ॥१८॥ अथोत्तरतस्तिष्ठन्वपां प्रतपति । अत्येष्यन्वाऽएषोऽग्निं भवति दक्षिणतः परीत्य श्रपयिष्यंस्तस्माऽएवैतन्निह्नुते तथो हैनमेषोऽतियन्तमग्निर्न हिनस्ति तस्मादुत्तरतस्तिष्ठन्वपां प्रतपति ॥१९॥ तामन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति । तद्यत्समया न हरन्ति येनान्यानि हवीꣳषि हरन्ति नेदशृतया समया यज्ञं प्रसजामेति यदु बाह्येन न हरन्त्यग्रेण यूपं बहिर्धा यज्ञात्कुर्युस्तस्मादन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति दक्षिणतः परीत्य प्रतिप्रस्थाता श्रपयति ॥२०॥ अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अध्वर्युर्वपामभिजुहोत्यग्निराज्यस्य वेतु स्वाहेति तथो हास्यैते स्तोकाः शृताः स्वाहाकृता आहुतयो भूत्वाग्निं प्राप्नुवन्ति ॥२१॥ अथाह स्तोकेभ्योऽनुब्रूहीति । स आग्नेयी स्तोकेभ्योऽन्वाह तद्यदाग्नेयी स्तोकेभ्योऽन्वाहेतःप्रदाना वै वृष्टिरितो ह्यग्निर्वृष्टिं वनुते स एते स्तोकैरेतान्स्तोकान्वनुते तऽएते स्तोका वर्षन्ति तस्मादाग्नेयी स्तोकेभ्योऽन्वाह यदा शृता भवति ॥२२॥ अथाह प्रतिप्रस्थाता शृता प्रचरेति । स्रुचावादायाध्वर्युरतिक्रम्याश्राव्याह स्वाहाकृतिभ्यः प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति ॥२३॥ हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयति । अथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमे-

अब वह वपा को निकालकर दोनों वपाश्रपणियों को ढक देता है इस मन्त्र से—"घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां" (यजु० ११।१६)—"द्यौ और पृथिवी को घी से ढको।" अर्थात् इस द्यौ और पृथिवी को शक्ति और रस से युक्त करता है। इनमें शक्ति और रस की स्थापना करता है। यह प्रजा इस ऊर्ज और रस के सहारे ही जीवित है ॥१६॥

ये दोनों वपा-पात्र कार्ष्मर्य लकड़ी के होते हैं। जब देव लोगों ने पहले पशु को पकड़ा (मारा) तो उसको ऊपर को खींचा, तब उसका मेध नीचे को गिर पड़ा। उससे वनस्पति उत्पन्न हुआ। और चूंकि यह खिचा और मेध नीचे को गिरा, इससे कार्ष्मर्य वृक्ष हुआ। इसी मेध से वह इसको पूरा करता है। इसीलिए वपा-पात्र कार्ष्मर्य लकड़ी के होते हैं ॥१७॥

उस वपा को चारों ओर से काटता है और उसको पशुश्रपण में पकाता है। इस प्रकार यह पक जाता है। अब आग्नीध्र एक जलती लकड़ी लेता है। वे चात्वाल के पीछे जाते और आहवनीय की ओर चलते हैं। अध्वर्यु आहवनीय में उस तृण को डाल देता है—"वायो वे स्तोकानम्" (यजु० ६।१६)—"हे वायो, इन बूंदों को लो," क्योंकि यह उन बूंदों को जलाने-वाला है ॥१८॥

अब उत्तर को खड़ा होकर वपा को तपाता है। उसे अग्नि के पास होकर गुजरना है और दक्षिण की ओर चलकर पकाना है। इससे वह उसको प्रसन्न करता है और इस प्रकार प्रसन्न होकर अग्नि उसको हानि नहीं पहुँचाता। इसलिए उत्तर की ओर वपा को पकाता है ॥१९॥

उसको यूप और अग्नि के बीच में ले जाते हैं। इसको वेदी के बीच में होकर क्यों नहीं ले जाते जहाँ अन्य हवियों को ले जाते हैं? इसलिए कि कहीं बे-पकी वपा के साथ इसका संसर्ग न हो जाय। यूप के आगे बाहर की ओर क्यों नहीं ले जाते? यदि ऐसा करें तो यज्ञ से बहिष्कृत हो जाय। इसलिए यूप और अग्नि के बीच से ले जाते हैं। दक्षिण की ओर जाकर प्रतिप्रस्थाता उसको पकाता है ॥२०॥

अध्वर्यु स्रुवा में घी लेकर छोड़ता है—"अग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा" (यजु० ६।१६)—"अग्नि घी को स्वीकार करे।" इस प्रकार स्वाहा-युक्त पकी हुई आहुतिएँ अग्नि को पहुँचती हैं ॥२१॥

अब वह (मैत्रावरुण से) कहता है—स्तोकों (बूंदों) के लिए अनुवाक कहो। अब वह आग्नेय मन्त्रों को स्तोकों के लिए पढ़ता है। स्तोकों के लिए आग्नेय मन्त्रों के अनुवाक क्यों पढ़ता है? इसलिए कि इसी (पृथिवी) के दान से वृष्टि होती है। अग्नि यहीं से वृष्टि को लेती है। यही बूंदें बरसती हैं जो यहाँ ली जाती हैं। इसलिए अग्नि के मन्त्रों से, अनुवाक से बूंदों की प्रशंसा में बोले जाते हैं। जब पक जाय तब—॥२२॥

प्रतिप्रस्थाता कहता है 'पक गया, आगे चलो।' अध्वर्यु दो स्रुचों को लेकर, आगे चलकर 'श्रौषट्' कहता है; 'स्वाहा-कृति को करो।' ऐसा कहकर वषट्कार करके घी की आहुति देता है ॥२३॥

आहुति देकर पहले वपा को और फिर पृषद् घी को अभिघार करता है। चरकाध्वर्यु

वाग्रेऽभिघारयन्ति प्राणाः पृषदाज्यमिति वदन्तस्तदु ह याज्ञवल्क्यं चरकाध्वर्युरनुव्याजहारैवं कुर्वन्तं प्राणं वाऽअयमन्तरगादध्वर्युः प्राण एनꣳ हास्यतीति ॥२४॥ स ह स्म बाहूऽअन्ववेक्ष्याह । इमौ पलितौ बाहू क्व स्विद्ब्राह्मणस्य वचो बभूवेति न तदाद्रियेतोत्तमो वाऽएष प्रयाजो भवतीदं वै हविर्यज्ञ उत्तमे प्रयाजे ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति तस्यै हि प्रथमावाज्यभागौ होष्यन्भवति वपां वाऽअत्र प्रथमाꣳ होष्यन्भवति तस्माद्वपामेवाग्रेऽभिघारयेदथ पृषदाज्यमथ यत्पशुं नाभिघारयति नेदमृतमभिघारयाणीत्येतद्वास्य सर्वः पशुरभिघारितो भवति यद्वपामभिघारयति तस्माद्वपामेवाग्रेऽभिघारयेदथ पृषदाज्यम् ॥२५॥ अथाज्यमुपस्तृणीते । अथ हिरण्यशकलमवदधात्यथ वपामवद्यन्नाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोऽनुब्रूहीत्यथ हिरण्यशकलमवदधात्यथोपरिष्टाद्धिराज्यस्याभिघारयति ॥२६॥ तद्यद्धिरण्यशकलावभितो भवतः । घ्नन्ति वाऽएतत्पशुं यदग्नौ जुह्वत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतऽआयुषि प्रतितिष्ठति तथात उदेति तथा संजीवति तस्माद्धिरण्यशकलावभितो भवत आश्राव्याहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपां मेदः प्रेष्येति न प्रस्थितमित्याह प्रसुते प्रस्थितमिति वषट्कृते जुहोति ॥२७॥ हुत्वा वपाꣳ समीच्यौ । वपाश्रपण्यौ कृत्वानुप्रास्यति स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतमिति नेदिमेऽअमुया सतो याभ्यां वपामशिश्रपामेति ॥२८॥ तद्यद्वपया चरन्ति । यस्यै वै देवतायै पशुमालभन्ते तामेवैतद्देवतामेतेन मेधेन प्रीणाति सैषा देवतैतेन मेधेन प्रीता शान्तोत्तराणि हवीꣳषि श्रप्यमाणान्युपरमति तस्माद्वपया चरन्ति ॥२९॥ अथ चात्वाले मार्जयन्ते । क्रूरं वाऽएतत्कुर्वन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः संदधते तस्माच्चात्वाले मार्जयन्ते ॥३०॥ ब्राह्मणम् ॥३ [८.२.]॥ ॥

यद्देवत्यः पशुर्भवति । तद्देवत्यं पुरोडाशमनुनिर्वपति तद्यत्पुरोडाशमनुनिर्व

पृषदाज्य को पहले अभिघार करते हैं, क्योंकि प्राण पृषदाज्य है। एक चरकाध्वर्यु ने याज्ञवल्क्य को ऐसा करने के लिए धिक्कारा कि इस अध्वर्यु ने प्राण को निकाल दिया। प्राण इसको छोड़ देगा ॥२४॥

परन्तु उसने अपने बाहुओं की ओर देखकर कहा, 'ये भुजाएँ पल गईं (मैं बुड्ढा हो गया)। इस ब्राह्मण की वाणी को क्या हुआ ?' परन्तु इसकी परवाह न करे। यह उत्तम प्रयाज है। यह हविर्यज्ञ है। अन्तिम प्रयाज में पहले ध्रुवा में घी डालता है, दो आज्य-भागों की आहुति के लिए। इस समय पहले वह वपा की आहुति देगा। इसलिए पहले वपा का अभिघार करेगा, फिर पृषदाज्य का। यदि वह सम्पूर्ण पशु का अभिघार नहीं करता कि कहीं बिन-पके का अभिघार न हो जाय, तो भी वपा का अभिघार करने से सम्पूर्ण पशु का अभिघार हो ही जाता है। इसलिए पहले वपा का अभिघार करना चाहिए, फिर पृषदाज्य का ॥२५॥

अब (जुहू में) पहले आज्य की एक तह लगाता है। फिर उसमें सोने का एक टुकड़ा डालता है। फिर वपा को काटकर होता से कहता है, 'अग्नि और सोम के अनुवाक कहो। बकरे के वपा और मेद के लिए।' अब वह सोने के टुकड़े को वपा पर रखता है और घी से दो बार अभिघार करता है ॥२६॥

दोनों ओर सोने के टुकड़े इसलिए रक्खे जाते हैं कि जब अग्नि में पशु की आहुति देते हैं तो उसको मारते हैं। यह जो सोना है वह अमर जीवन है। इस प्रकार उसको अमर जीवन में स्थापित करता है। इस प्रकार वह वहाँ से उठता है। इस प्रकार जीवित होता है। इसलिए सोने के टुकड़ों को दोनों ओर रखते हैं। अब वह श्रौषट् कहकर (मैत्रावरुण से) कहता है, 'अग्नि और सोम के लिए बकरे के वपा और मेद को दे।' इस स्थान पर वह 'प्रस्थितन्' (उपस्थित है) नहीं कहता। ऐसा तो सोम के निचोड़ने पर कहा जाता है। वषट्कार करके आहुति देता है ॥२७॥

वपा की आहुति देकर दोनों वपाश्रपणियों को फेंक देता है इस मन्त्र से—"स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्" (यजु० ६।१६)—"स्वाहा से युक्त होकर मरुत्-सम्बन्धी ऊर्ध्वनभस् को जाओ।" वह ऐसा इसलिए करता है कि दोनों जिन पर वपा पकाई गई हैं व्यर्थ न जायँ ॥२८॥

वपा से क्यों काम लेते हैं? इसलिए कि जिस देवता के लिए पशु का आलभन किया जाता है उसी देवता को उसी पशु के मेध से प्रसन्न करता है। वही देवता उस पशु के मेध से प्रसन्न होकर अन्य हवियों के पकने की प्रतीक्षा करता है। इसलिए वपा से काम लिया जाता है ॥२९॥

अब चात्वाल पर मार्जन करते हैं। जब उसे काटते हैं तो वह घायल हो जाता है। जल शान्ति है। इसलिए जल से शान्त करते हैं या जल से चंगा करते हैं। इसलिए वह चात्वाल पर मार्जन करते हैं ॥३०॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

जिस देवता के लिए पशु होता है उसी देवता के लिए पीछे से पुरोडाश बनाया जाता है।

पति सर्वेषां वाऽएष पशूनां मेधो यद्व्रीहियवौ तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृ-
त्स्नं करोति तस्मात्पुरोडाशमनुनिर्वपति ॥१॥ अथ यद्वपया प्रचर्य । एतेन पुरो-
डाशेन प्रचरति मध्यतो वाऽइमां वपामुत्खिदन्ति मध्यत एवैनमेतेन मेधेन स-
मर्धयति कृत्स्नं करोति तस्माद्वपया प्रचर्यैतेन पुरोडाशेन प्रचरत्येष न्वेवैतस्य
बन्धुर्यत्र क्व चैष पशौ पुरोडाशोऽनुनिरुप्यते ॥२॥ अथ पशुं विशास्ति । त्रिः प्र-
च्यावयतात्त्रिःप्रच्युतस्य हृदयमुत्तमं कुरुतादिति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥३॥ अथ शमिता-
रꣳ सꣳशास्ति । यदा पृच्छाच्छृतꣳ हविः शमितारिति शृतमित्येव ब्रूतान्न शृतं
भगवो न शृतꣳ हीति ॥४॥ अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपहत्य । अध्वर्युरुपनिष्क्रम्य
पृच्छति शृतꣳ हविः शमितारिति शृतमित्याह तद्देवानामित्युपाꣳश्वध्वर्युः ॥५॥
तद्यत्पृच्छति । शृतं वै देवानाꣳ हविर्नाशृतꣳ शमिता वै तद्वेद यदि शृतं वा भ-
वत्यशृतं वा ॥६॥ तद्यत्पृच्छति । शृतेन प्रचराणीति तद्यदशृतं भवति शृतमेव
देवानाꣳ हविर्भवति शृतं यजमानस्यानेना अध्वर्युर्भवति शमितरि तदेनो भवति
त्रिष्कृत्वः पृच्छति त्रिवृद्धि यज्ञोऽथ यदाह तद्देवानामिति तद्धि देवानां यद्धुतं त-
स्मादाह तद्देवानामिति ॥७॥ स हृदयमेवाग्रेऽभिघारयति । आत्मा वै मनो हृ-
दयं प्राणाः पृषदाज्यमात्मन्येवैतन्मनसि प्राणं दधाति तथैनज्जीवमेव देवानाꣳ ह-
विर्भवत्यमृतममृतानाꣳ ॥८॥ सोऽभिघारयति । सं ते मनो मनसा सं प्राणाः प्रा-
णेन गच्छतामिति न स्वाहाकरोति न ह्येषाहुतिरुद्वासयन्ति पशुम् ॥९॥ तं जघ-
नेन चात्वालमन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति । तद्यत्समया न हरन्ति येनान्यानि
हवीꣳषि हरन्ति शृतꣳ सन्तं नेदङ्गशो विकृत्तेन क्रूरीकृतेन समया यज्ञं प्रसजानी-
ति यदु बाह्येन न हरन्त्यग्रेण यूपं बहिर्धा ह यज्ञात्कुर्युस्तस्मादन्तरेण यूपं चा-
ग्निं च हरन्ति दक्षिणतो निधाय प्रतिप्रस्थातावद्यति प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवन्ति
ता अध्यवद्यति तद्यत्प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवन्ति ॥१०॥ यत्र वै देवाः । अग्रे य-

पीछे से पुरोडाश इसलिए बनाते हैं कि जो धान और जौ हैं वे वस्तुतः सब पशुओं का मेध है। इसी मेध से वह इस पशु को चंगा करता है या पूरा करता है। इसीलिए वह पीछे से पुरोडाश बनाता है ॥१॥

वपा को काम में लाकर पुरोडाश क्यों बनाते हैं ? इसलिए कि पशु के बीच से ही तो वपा को निकालते हैं। मध्य में ही इसको मेध द्वारा चंगा करते हैं या पूरा करते हैं। इसीलिए वपा को काम में लाकर तब पुरोडाश को काम में लाते हैं। इनका सम्बन्ध हर जगह एक-सा ही है। जहाँ कहीं पशु होता है वहीं पुरोडाश भी होता है ॥२॥

अब पशु (पशुता) को काटता है। और कहता है, 'तीन बार घूमो और तीन बार घूमे हुए के हृदय को ऊपर उठाओ।' क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तीन वाला) होता है ॥३॥

अब शमिता (काटनेवाला—कसाई) को आदेश देता है 'यदि कोई पूछे कि हे शमिता, हवि पक गया ?' तो कहना 'पक गया'; यह न कहना कि 'श्रीमान् जी पक गया' या 'पक तो गया' ॥४॥

अब जुहू से पृषदाज्य को लेकर अध्वर्यु आगे बढ़कर पूछता है, 'हे शमिता, हवि पका ?' वह कहता है 'पका।' अध्वर्यु चुपके से कहता है, 'यह देवताओं का है' ॥५॥

यह इसलिए पूछता है कि देवताओं का हवि पका हुआ होता है, बे-पका नहीं। शमिता इसको जानता है कि पका है या नहीं पका है ॥६॥

वह पूछता इसलिए है कि वह समझता है कि मैं पके हुए को काम में लाऊँ। और यदि बे-पका हो तो देवों का हवि पका होता है और यजमान की अपेक्षा से पका ही होता है। अध्वर्यु निर्दोष हो जाता है। दोष शमिता का रहता है। वह तीन बार पूछता है क्योंकि यज्ञ तिहरा होता है। 'यह देवों का है' ऐसा इसलिए कहता है कि जो पका है वह देवों का है। इसलिए वह कहता है कि यह देवों का है ॥७॥

पहले वह हृदय का अभिघार करता है, क्योंकि 'हृदय' मन और आत्मा है, पृषदाज्य प्राण है। इस प्रकार वह आत्मा और मन में प्राण धारण कराता है। इस प्रकार देवों का हवि जीव होता है, अमृतों का अमृत ॥८॥

वह इस मन्त्र से अभिघार करता है—"सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्" (यजु० ६।१८)—"तेरा मन मन से मिले, प्राण प्राण से।" वह 'स्वाहा' नहीं कहता क्योंकि हवि तो है नहीं। वह पशु को हटा देता है ॥९॥

वे इसको चात्वाल के पीछे से यूप और अग्नि के बीच से ले जाते हैं। जब यह पका हुआ है तो फिर उसे मध्य से क्यों नहीं ले जाते जैसा कि अन्य हवियों को ले जाते हैं ? इसका कारण यह है कि कहीं मध्य में इसका संसर्ग अङ्गों से विकृत (कटा-कटाया) और घायल से न हो जाय। बाहर से इसलिए नहीं ले जाते कि कहीं यज्ञ से बहिष्कृत न हो जाय। इसलिए वे यूप और अग्नि के बीच से ले जाते हैं। दक्षिण की ओर रखकर प्रतिप्रस्थाता टुकड़े-टुकड़े करता है। पलाश की शाखाएँ ऊपरी बर्हि का काम देती हैं। उन्हीं पर काटता है। पलाश शाखा में ऊपरी बर्हि का काम क्यों देती हैं ? (इसका उत्तर आगे पढ़िये) ॥१०॥

शुमालेभिरे तं त्वष्टा शीर्षतोऽग्रेऽभ्युवामोतीवं चिन्नालभेरन्निति त्वष्टुर्हि पशवः स एष शीर्षन्मस्तिष्कोऽनूक्यश्च मज्जा तस्मात्स वान्त-इव त्वष्टा ह्येतमभ्यवमत्तस्मात्तं नाश्नीयात्त्वष्टुर्ह्येतदभिवान्तम् ॥११॥ तस्यावाङ् मेधः पपात । स एष वनस्पतिरजायत तं देवाः प्रापश्यंस्तस्मात्प्लक्षः प्रख्यो ह वै नामैतद्यत्प्लक्ष इति तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात्प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवन्ति ॥१२॥ अथाज्यमुपस्तृणीते । जुह्वां चोपभृति च वसाहोमहवन्याꣳ समवत्तधान्यामथ हिरण्यशकलाववदधाति जुह्वां चोपभृति च ॥१३॥ अथ मनोतायै हविषोऽनुवाच आह । तद्यन्मनोतायै हविषोऽनुवाच आह सर्वा ह वै देवताः पशुमालभ्यमानमुपसंगच्छन्ते मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति सर्वासाꣳ हि देवतानाꣳ हविः पशुस्तासाꣳ सर्वासां देवतानां पशौ मनाꣳस्योतानि भवन्ति तान्येवैतत्प्रीणाति तथो हामोघाय देवतानां मनाꣳस्युपसंगतानि भवन्ति तस्मान्मनोतायै हविषोऽनुवाच आह ॥१४॥ स हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति । तद्यन्मध्यतः सतो हृदयस्याग्रेऽवद्यति प्राणो वै हृदयमतो ह्ययमूर्ध्वः प्राणः संचरति प्राणो वै पशुर्यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति तावत्पशुरथ यदास्मात्प्राणोऽपक्रामति दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते ॥१५॥ हृदयमु वै पशुः । तदस्यात्मन एवाग्रेऽवद्यति तस्माद्यदि किंचिदवदानꣳ हीयेत न तदाद्रियेत सर्वस्य हैवास्य तत्पशोरवत्तं भवति यद्धृदयस्याग्रेऽवद्यति तस्मान्मध्यतः सतो हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यत्यथ यथापूर्वम् ॥१६॥ अथ जिह्वायै । सा हीयं पूर्वार्धात्प्रतिष्ठत्यथ वक्षसस्तद्धि ततोऽथैकचरस्य दोष्णोऽथ पार्श्वयोरथ तनिम्नोऽथ वृक्क्योः ॥१७॥ गुदं त्रेधा करोति । स्थविमोपयड्भ्यो मध्यं जुह्वां द्वेधा कृत्वावद्यत्यणिम त्र्यङ्गेष्वथैकचरायै श्रोणेरेतावन्नु जुह्वामवद्यति ॥१८॥ अथोपभृति । त्र्यङ्ग्यस्य दोष्णो गुदं द्वेधा कृत्वावद्यति त्र्यङ्ग्यायै श्रोणेरथ हिरण्यशकलाववदधात्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति ॥१९॥ अथ वसाहोमं गृ-

जब देवों ने पहले पशु का आलभन किया तो त्वष्टा ने उसके सिर पर थूक दिया यह सोचकर कि 'वे उसको छुएँगे नहीं।' क्योंकि पशु तो त्वष्टा के ही हैं। यह सिर में मस्तिष्क और गर्दन में मज्जा बन गया। इसलिए वह थूक है, क्योंकि त्वष्टा ने उस पर वमन कर दिया। इसलिए उसको न खाना चाहिए क्योंकि यह त्वष्टा का वमन किया हुआ है ॥११॥

इसका मेध नीचे गिर पड़ा; उससे एक वृक्ष उगा। उसको देवों ने देखा। इसलिए प्रख्य हुआ। प्रख्य ही प्लक्ष है। उसी मेध से वह उसको चंगा करता है और पूर्ण करता है। इसलिए प्लक्ष शाखाएँ ऊपर के बर्हि का काम देती हैं ॥१२॥

अब जुहू और उपभृति दोनों में घी एक तह लगाता है, वसा-होम-हवनी और समवत्त-धानी में भी। जुहू और उपभृति दोनों में सोने के टुकड़े भी रखता है ॥१३॥

अब वह (होता से) कहता है कि मनोता के लिए हवि पर अनुवाक कह। हवि पर मनोता के लिए अनुवाक कहलवाने का तात्पर्य यह है—जब पशु का आलभन करते हैं तो सब देवता घिर आते हैं कि मेरा नाम लेगा, मेरा नाम लेगा। क्योंकि पशु तो सभी देवताओं की हवि हैं।[1] सभी देवताओं के मन उस पशु में लगे रहते हैं। उनके उन मनों को वह प्रसन्न करता है जिसमें से देवों के मन वहाँ व्यर्थ न आवें। इसलिए वह मनोता के लिए हवि पर अनुवाक कहलवाता है ॥१४॥

पहले वह हृदय के टुकड़े करता है। हृदय तो बीच में है। फिर वह पहले इसके टुकड़े क्यों करता है? इसलिए कि हृदय प्राण है, यहीं से प्राण ऊपर को जाता है। पशु भी प्राण है क्योंकि जब तक साँस लेता है तभी तक पशु है, और जब प्राण निकल जाता है तो लकड़ी के समान निरर्थक पड़ा रहता है ॥१५॥

हृदय ही पशु है। इसलिए वह पहले इसके आत्मा (धड़) को ही काटता है। इसलिए यदि कोई टुकड़ा रह भी जाय तो परवाह न करनी चाहिए। क्योंकि पहले हृदय को काटने से पशु का सम्पूर्ण ही कट जाता है। इसलिए हृदय के बीच में रहते हुए भी पहले उसी को काटते हैं, फिर यथापूर्व ॥१६॥

फिर जिह्वा को, क्योंकि वह अगले भाग में सबसे आगे है। फिर छाती क्योंकि वह भी वैसी ही है। फिर साथ चलनेवाला अर्थात् बायाँ अगला पैर। फिर बगल, फिर यकृत, फिर वृक्क ॥१७॥

गुदा के तीन टुकड़े करता है। स्थूल भाग पिछली आहुतियों के लिए (रख छोड़ता है)। बीच के भाग को जुहू में काटकर दो भाग करता है। और सबसे सूक्ष्म भाग को त्र्यंग्य के लिए। फिर एक घर श्रोणि को। इतने को जुहू में काटकर रखता है ॥१८॥

अब त्र्यंग्य के अगले भाग को उपभृति में रखता है, गुदा के दो टुकड़े काटकर, और त्र्यंग्य की श्रोणि के। उन पर दो सोने के टुकड़े रखता है। उन पर घी छोड़ता है ॥१९॥

१. देवत्व और पशुत्व का मेल असम्भव है। वस्तुतः हृदय की दुर्भावना, जिह्वा की कटुता एवं अंग-प्रत्यंग की अपवित्रता को भस्म करना ही देवत्व है। प्रस्तुत बीभत्स व्याख्या सर्वथा प्रक्षिप्त है। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

ह्लाति । रेडसीति लेलयेव हि पूस्तस्मादाह रेडसीत्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यग्निर्ह्येत-
च्छ्रपयति तस्मादाहाग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यापस्त्वा समरिणन्नित्यापो ह्येतमङ्गेभ्यो रसꣳ
सम्भरन्ति तस्मादाहापस्त्वा समरिणन्निति ॥२०॥ वातस्य त्वा ध्राज्याऽइति । अन्त-
रिक्षं वाऽअयमनुपवते योऽयं पवतेऽन्तरिक्षाय वै गृह्णाति तस्मादाह वातस्य त्वा
ध्राज्याऽइति ॥२१॥ पूष्णो रꣳह्याऽइति । एष वै पूष्णो रꣳहिरेतस्माऽउ हि गृ-
ह्णाति तस्मादाह पूष्णो रꣳह्याऽइति ॥२२॥ ऊष्मणो व्यथिषदिति । एष वाऽऊ-
ष्मैतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाहोष्मणो व्यथिषदित्यथोपरिष्टाद्धिराज्यस्याभिघा-
रयति ॥२३॥ ॥ शतम् २१०० ॥ ॥ अथ पार्श्वेन वासिना वा प्रयौति । प्रयुत द्वे-
ष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥२४॥ अथ यच्छूष्परिशिष्यते । तत्स-
मवत्तधान्यामानयति तद्धृदयं प्रास्यति जिह्वां वक्षस्तनिम मतस्ने वनिष्ठुमथोपरि-
ष्टाद्धिराज्यस्याभिघारयति ॥२५॥ तयोर्हिरण्यशकलावभितो भवतः । घ्नन्ति वाऽए-
तत्पशुं यदग्नौ जुह्वत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतऽआयुषि प्रतितिष्ठति तथात उदेति
तथा संजीवति तस्माद्धिरण्यशकलावभितो भवतः ॥२६॥ अथ यदक्ष्णयावद्यति ।
सव्यस्य च दोष्णो दक्षिणायाश्च श्रोणेर्दक्षिणस्य च दोष्णः सव्यायाश्च श्रोणेस्तस्मा-
दयं पशुरक्ष्णया पदो हरत्यथ यत्सम्यगवद्येत्समीचो हैवायं पशुः पदो हरेत्तस्मा-
दक्ष्णयावद्यत्यथ यन्न शीर्ष्णोऽवद्यति नाꣳसयोर्नानूकस्य नापरसक्थ्योः ॥२७॥
असुरा ह वाऽअग्रे पशुमालेभिरे । तद्देवा भीषा नोपावेयुस्तान्हेयं पृथिव्युवाच
मैतदादृढ्वमहं व एतस्याध्यक्षा भविष्यामि यथा-यथैतऽएतेन चरिष्यन्तीति ॥२८॥
सा होवाच । अन्यतरामेवाकृतिमहौषुरन्यतरां पर्यशिषन्निति स यां पर्यशिꣳष-
स्तानीमान्यवदानानि ततो देवाः स्विष्टकृते त्र्यङ्गाण्यपाभजंस्तस्मात्त्र्यङ्गाण्यथासुरा
अवाद्यञ्छीर्ष्णोऽꣳसयोरनूकस्यापरसक्थ्योस्तस्मात्तेषां नावद्येद्यन्न्वेव त्वष्टानूकमभ्य-
वमत्तस्मादनूकस्य नावद्येदथाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य हविषोऽनुब्रूहीत्याश्राव्या-

अब वसाहोम को लेता है, इस मन्त्र से–"रेडसि" (यजु० ६।१८)–"तू काँपता है।" वह वसा काँपती-सी है इसलिए कहा 'रेडसि'। "अग्निष्ट्वा श्रीणातु" (यजु० ६।१८)—"अग्नि तुझको पकावे।" अग्नि ही उसको पकाता है इसलिए कहा कि 'अग्नि तुझे पकावे।' "आपस्त्वा समरिणन्" (यजु० ६।१८)—"जल तुझको मिलावे।" जल ही इन अंगों से रस को इकट्ठा करके मिलाते हैं। इसलिए कहा कि 'जल तुझे मिलावे' ॥२०॥

"वातस्य त्वा ध्राज्यै" (यजु० ६।१८)—"हवा तुझे हिलावे।" यह जो वायु है वह अन्तरिक्ष में बहता है। वायु के लिए ही इसको लेता है, इसलिए कहता है 'तू हवा के लिए है" ॥२१॥

"पूष्णो रँ ह्या" (यजु० ६।१८)—"पूषा के वेग के लिए।" वह वायु पूषा का वेग है। उसी के लिए यह ग्रहण करता है, इसलिए कहता है कि 'पूषा के वेग के लिए' ॥२२॥

"ऊष्मणो व्यथिषत्" (यजु० ६।१८)–"ऊष्ण से तपाया जाता है।" यह वायु उष्ण है। उसी के लिए ग्रहण करता है। इसलिए कहता है कि 'उष्ण से तपाया गया।' इस पर दो बार घी लगाता है ॥२३॥ [शतम् २१००]

पार्श्व या वासि (छुरियों के नाम हैं) से मिलाता है, इस मन्त्र से—"प्रयुतं द्वेषः" (यजु० ६।१८)–"द्वेष हट गया।" इससे वह यहाँ दुष्ट राक्षसों को हटाता है ॥२४॥

अब जो हवि (यूप) बचता है उसे समवत्तधानी में लाता है। उसमें हृदय, जीभ, छाती, तनिम, मतस्न (गुर्दे), वनिष्ठ को डाल देता है। फिर उस पर दो बार घी लगाता है ॥२५॥

दोनों ओर सोने के टुकड़ों को इसलिए रखता है कि जब पशु की आग में आहुति देते हैं तो उसको मारते हैं। सोना अमृत-जीवन है। इस प्रकार उसको अमृत-जीवन में स्थापित करता है। इसी से वह उत्पन्न होता है, इसी से जीता है। इसलिए दोनों ओर सोने का टुकड़ा होता है ॥२६॥

और चूँकि तिरछा काटता है। दाहिनी टाँग और बायाँ चूतड़, तथा बाईं टाँग और दाहिना चूतड़, इसलिए यह पशु तिरछे पैर बढ़ता है। यदि सीधा काटता तो दोनों पैर साथ-साथ उठते हैं, इसलिए तिरछा काटता है। अब प्रश्न है कि सिर को क्यों नहीं काटता, न कन्धों को, न गर्दन को, न पिछली जाँघों को ? ॥२७॥

असुरों ने पहले पशु का आलभन किया था। देव डर के मारे उसके पास नहीं गये। पृथिवी ने उनसे कहा—'इसकी परवाह न करो। मैं जिस-जिस प्रकार ये इसको करेंगे, मैं इसकी साथी होऊँगी' ॥२८॥

उसने कहा—'एक आहुति इन्होंने दी। एक छोड़ दी। जिसको उन्होंने छोड़ दिया यह यही भाग हैं।' इस पर देवों ने तीन अंगों के अग्निस्विष्टकृत् के लिए अर्पण किया, इसलिए त्र्यङ्ग-आहुति हुई। तब असुरों ने सिर, कन्धों, गर्दन और पिछली जाँघों के टुकड़े किये। इसलिए इनको नहीं काटना चाहिए। चूँकि त्वष्टा ने गर्दन पर थूका था, इसलिए गर्दन के टुकड़े न करे। अब वह होता कहता है कि बकरे के हवि पर अग्नि-सोम के लिए अनुवाक कह। और श्रौषट् कहकर

हाग्नीषोमाभ्यां छागस्य हविः प्रेष्येति न प्रस्थितमित्याह प्रसुते प्रस्थितमिति
॥२९॥ अन्तरेणार्धर्चौ याज्यायै वसाहोमं जुहोति । इतो वाऽअयमूर्ध्वो मेध उ-
त्थितो यमस्या इमꣳ रसं प्रजा उपजीवन्त्यर्वाचीनं दिवो रसो वै वसाहोमो र-
सो मेधो रसेनैवैतद्रसं तीव्रीकरोति तस्मादयꣳ रसोऽद्यमानो न क्षीयते ॥३०॥
तद्यदन्तरेण । अर्धर्चौ याज्यायै वसाहोमं जुहोतीयं वाऽअर्धर्चोऽसौ द्यौरर्धर्चो
ऽन्तरा वै द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षमन्तरिक्षाय वै जुहोति तस्मादन्तरेणार्धर्चौ या-
ज्यायै वसाहोमं जुहोति ॥३१॥ स जुहोति । घृतं घृतपावानः पिबत वसां व-
सापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहेत्येतेन वैश्वदेवेन यजुषा जुहोति वै-
श्वदेवं वाऽअन्तरिक्षं तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति ते-
न वैश्वदेवं वषट्कृते जुहोतिऽयानि जुह्वामवदानानि भवन्ति ॥३२॥ अथ जुह्वा
पृषदाज्यस्योपघ्नन्नाह । वनस्पतयेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह वनस्पतये प्रेष्येति वषट्-
कृते जुहोति तद्यद्वनस्पतये जुहोत्येतमेवैतद्वज्रं यूपं भागिनं करोति सोमो वै व-
नस्पतिः पशुमेवैतत्सोमं करोति तद्यदन्तरेणोभेऽआहुती जुहोति तयोभयं व्या-
प्नोति तस्मादन्तरेणोभेऽआहुती जुहोति ॥३३॥ अथ यान्युपभृत्यवदानानि भव-
न्ति । तानि समानयमान आहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याहाग्नये स्विष्टकृते
प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति ॥३४॥ अथ यद्वसाहोमस्य परिशिष्यते । तेन दिशो
व्याघारयति दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति रसो वै
वसाहोमः सर्वास्वेवैतद्दिक्षु रसं दधाति तस्मादयं दिशि दिशि रसोऽभिगम्यते
॥३५॥ अथ पशुं संमृशति । एतर्हि संमर्शनस्य कालोऽथ यत्पुरा संमृशति यऽइ-
मऽउपतिष्ठन्ते ते विमथिष्यन्तऽइति शङ्कमानो यद्यु विमाथान्न शङ्केतात्रैव संमृ-
शेत् ॥३६॥ ऐन्द्रः प्राणः । अङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीत इ-
ति यदङ्गशो विकृत्तो भवति तत्प्राणोदानाभ्याꣳ संदधाति देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳ-

वह (मैत्रावरुण से) कहता है कि 'अग्नि-सोम के लिए बकरे के हवि की प्रेरणा कर।' 'प्रस्थित' है ऐसा नहीं कहता। ऐसा तो सोम निचोड़ने पर कहा जाता है ॥२९॥

याज्य की दो आधी ऋचाओं के बीच में वसाहोम देता है। यहीं से मेध ऊपर को उठा था,—पृथिवी का वह रस जिससे प्रजाएँ द्यौलोक के इस ओर जीती हैं। वसाहोम रस है, मेध रस है। रस से रस को तीव्र करता है। इससे रस खाया जाकर क्षीण नहीं होता ॥३०॥

याज्य की दो अर्द्ध ऋचाओं के बीच में वसाहोम की आहुति क्यों दी जाती है? आधी ऋचा यह पृथिवी है। आधी ऋचा वह द्यौलोक है। द्यौ और पृथिवी के बीच में अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष के लिए यह आहुति है। इसलिए याज्य की दो अर्द्ध ऋचाओं के बीच में वसाहोम की आहुति देता है ॥३१॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा" (यजु० ६।१९)—"घी के पीनेवालो, घी पियो। वसा के पीनेवालो, वसा पियो। तू अन्तरिक्ष की हवि है, स्वाहा।" इस यजुः से विश्वेदेवों को आहुति देता है। अन्तरिक्ष विश्वेदेवों का है। इस अन्तरिक्ष में प्रजा प्राण और उदान लेती हैं। इसलिए यह अन्तरिक्ष विश्वेदेवों का है। जुहू में जो कुछ टुकड़े रहते हैं उनसे वषट्कृत आहुति दी जाती है ॥३२॥

अब जुहू में पृषदाज्य लेकर (होता से) कहता है कि 'वनस्पति के लिए अनुवाक कह।' श्रौषट् कहकर वह (मैत्रावरुण से) कहता है कि 'वनस्पति के लिए प्रेरणा कर।' वषट्कार करने पर वह आहुति दे देता है। वह वनस्पति के लिए इसलिए आहुति देता है कि इस यूप वज्र को वह भागी बनाता है। सोम वनस्पति है। इस प्रकार वह पशु को सोम कर लेता है। दो आहुतियों के बीच में आहुति क्यों देता है? इस प्रकार वह दोनों को व्याप्त कर लेता है। इसलिए वह दो आहुतियों के बीच में आहुति देता है ॥३३॥

अब जो उपभृत के लिए टुकड़े होते हैं उनको साथ-साथ डालकर कहता है 'अग्नि-स्विष्टकृत् के लिए अनुवाक कहे।' श्रौषट् कहकर 'अग्नि स्विष्टकृत् के लिए प्रेरणा कर' ऐसा कहता है और वषट्कार के बाद आहुति दे देता है ॥३४॥

वसाहोम से जो बचता है उसे दिशाओं में फेंकता है, इस मन्त्र से—"दिशः प्रदिशऽ आदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा" (यजु ६।१९)—"वसाहोम रस है। सब दिशाओं में रस को पहुँचाता है। इसलिए पृथिवी पर सब दिशाओं में रस मिलता है" ॥३५॥

अब पशु का स्पर्श करता है। यही स्पर्श का समय है। चाहे पहले इस डर से ही छुआ हो कि राक्षस उपस्थित हैं, वे इसने नष्ट कर डाले, या इस प्रकार शंका न भी की हो तो भी इस समय छूना अवश्य चाहिए ॥३६॥

"ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः" (यजु० ६।२०)—"प्राण इन्द्र-सम्बन्धी है। यह अंग-अंग में स्थापित है। उदान इन्द्र-सम्बन्धी है। यह अंग-अंग में स्थापित है।" जहाँ-जहाँ अङ्ग से काटा गया है वहाँ-वहाँ प्राण और उदान से संयुक्त करता है।

समेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवातीति कृत्स्नवृतमेवैनत्करोति देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा मातापितरो मदन्त्विति तद्यत्रैनमहौषीत्तदेनं कृत्स्नं कृत्वानुसमस्यति सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति ॥३७॥ ब्राह्मणम् ॥४ [८.३]॥ ॥

त्रीणि ह वै पशोरेकादशानि । एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयजो दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणाः प्राण उदानो व्यान इत्येतावान्वै पुरुषो यः परार्ध्यः पशूनां यꣳ सर्वेऽनु पशवः ॥१॥ तदाहुः । किं तद्यज्ञे क्रियते येन प्राणः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिव इति ॥२॥ यदेव गुदं त्रेधा करोति । प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङाततस्तमयं प्राणोऽनुसंचरति ॥३॥ स यदेव गुदं त्रेधा करोति । तृतीयमुपयड्भ्यस्तृतीयं जुह्वां तृतीयमुपभृति तेन प्राणः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिवः ॥४॥ स ह त्वेव पशुमालभेत । य एनं मेधमुपनयेद्यदि कृशः स्याद्यद्वुदर्यस्य मेदसः परिशिष्येत तद्गुदे न्यृषेत्प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङाततस्तमयं प्राणोऽनुसंचरति प्राणो वै पशुर्यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति तावत्पशुरथ यदास्मात्प्राणोऽपक्रामति दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते ॥५॥ गुदो वै पशुः । मेदो वै मेधस्तदेनं मेधमुपनयति यद्युऽअꣳसलो भवति स्वयमुपेत एव तर्हि मेधं भवति ॥६॥ अथ पृषदाज्यं गृह्णाति । द्वयं वाऽइदꣳ सर्पिश्चैव दधि च द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥७॥ तेनानुयाजेषु चरति । पशवो वाऽअनुयाजाः पयः पृषदाज्यं तत्पशुष्वेवैतत्पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितं प्राणो हि पृषदाज्यमन्नꣳ हि पृषदाज्यमन्नꣳ हि प्राणः ॥८॥ तेन पुरस्तादनुयाजेषु चरति । स योऽयं पुरस्तात्प्राणास्तमेवैतद्दधाति तेन पश्चादुपयजति स योऽयं पश्चात्प्राणास्तमेवैतद्दधाति ताविमाऽउभयतः प्राणौ हितौ यश्चायमुपरिष्टाद्यश्चाधस्तात् ॥९॥ तद्वाऽएतदेको द्वाभ्यां वषट्करोति । अध्वर्यवे च यश्चैष उपयजत्यथ यद्यजन्तमुपयजति तस्मादुपयजो नामाथ यदुपयजति प्रैवैतज्जनयति पश्चाद्ध्युपयज-

"देव त्वष्टर्भूरि ते सँ समेतु सलक्ष्मा यद् विषुरूपं भवाति" (यजु० ६।२०)—"हे त्वष्टा देव, तेरी शक्ति संयुक्त हो जिससे जो अलग-अलग रूप की चीज है वह एकरूप हो जाय।" इस प्रकार वह इसको पूरा चारों ओर से घेर देता है। "देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु" (यजु० ६।२०)—"तेरे सखा, माता-पिता, देवलोक में जाते हुए तुझसे प्रसन्न हों।" जहाँ-जहाँ इसके अंगों की आहुति दी है वहाँ-वहाँ इसको पूरा करके समन्वय करता है जिससे परलोक में उसको पूरा शरीर मिले ॥३७॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ४

पशुयाग में ग्यारह-ग्यारह के तीन होते हैं— ग्यारह प्रयाज, ग्यारह अनुयाज और ग्यारह उपयाज। दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, दस प्राण, प्राण, व्यान और उदान। इतने मिल-कर पुरुष होता है जो पशुओं में सबसे श्रेष्ठ है और पशु जिसके पीछे हैं ॥१॥

इस पर कहते हैं कि यज्ञ में क्या किया जाता है जिससे प्राण सब अंगों के लिए कल्याण-कारी हो ॥२॥

गुदा के तीन भाग करता है। गुदा प्राण है (प्राण निकलने का स्थान है)। वहाँ से यह (पशु) फैलाता है और यह प्राण उसका संचार करता है ॥३॥

वह गुदा के तीन भाग करता है—एक-तिहाई उपयाज, एक-तिहाई जुहू में और एक-तिहाई उपभृत में। इस प्रकार प्राण सब अंगों के लिए कल्याणकारी होता है ॥४॥

केवल वही पशु का आलभन करे जो उसे मेधयुक्त कर सकता हो। यदि दुबला हो तो जो कुछ चर्बी वची वह गुदा में भर दे। गुदा प्राण है। वहाँ से यह (पशु) फैलता है और यह प्राण उसका संचार करता है। प्राण ही पशु है। जब तक प्राण रहता है तब तक वह पशु है। जब उससे प्राण निकल जाता है तो लकड़ी के समान वह व्यर्थ पड़ा रहता है ॥५॥

गुदा पशु है। चर्बी मेघ है। इसमें मेध देता है। यदि यह पतली हो तो स्वयं ही मेध हो जाता है ॥६॥

अब पृषदाज्य को लेता है। यह दो प्रकार का है, घी भी और दही भी। द्वन्द्व का नाम है जोड़ा। प्रजनन का नाम भी जोड़ा है। इस प्रकार प्रजनन करता है ॥७॥

उससे अनुयाज में काम लेता है। पशु अनुयाज हैं। पृषदाज्य दूध है। इस प्रकार वह पशुओं में दूध धारण कराता है और इस प्रकार पशुओं में दूध रक्खा जाता है। प्राण पृषदाज्य है। अन्न पृषदाज्य है। अन्न प्राण है ॥८॥

इनको अनुयाज, में आहवनीय के सम्मुख काम में लाता है। इस प्रकार यह जो आगे प्राण है उसको (पशु में) रखता है। (प्रतिप्रस्थाता) इसी से पीछे की ओर उपयाज करता है। इसके द्वारा यह जो पीछे प्राण है उसको (पशु में) धारण कराता है। इस प्रकार दो प्राणों की प्रतिष्ठा होती है, एक ऊपर, दूसरी नीचे ॥९॥

यह एक (होता) दो के लिए वषट्कार करता है—एक तो अध्वर्यु के लिए और दूसरे उसके लिए जो उपयाज करता है (अर्थात् प्रतिप्रस्थाता के लिए)। और चूँकि यजन के बाद दी जाती है इसलिए इसका नाम उपयाज है। उपयाज करने में पीछे से उत्पत्ति होती है। स्त्रियों के

ति पश्चाद्धि योषायै प्रजाः प्रजायन्ते ॥१०॥ स उपयजति । समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यापो वै समुद्र आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥११॥ अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहेति । अन्तरिक्षं वाऽअनु प्रजाः प्रजायन्तेऽन्तरिक्षमेवैतदनु प्रजनयति ॥१२॥ देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहेति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैतत्प्रजनयति ॥१३॥ मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहेति । प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ प्राणोदानावेवैतत्प्रजासु दधाति ॥१४॥ अहोरात्रे गच्छ स्वाहेति । अहोरात्रे वाऽअनु प्रजाः प्रजायन्तेऽहोरात्रेऽएवैतदनु प्रजनयति ॥१५॥ छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहेति । सप्त वै छन्दाꣳसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्यास्तानेवैतदुभयान्प्रजनयति ॥१६॥ द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहेति । प्रजापतिर्वै प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथोऽएवैष एतत्प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति ॥१७॥ अथात्युपयजति । स यन्नात्युपयजेद्यावत्यो हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैव स्युर्न प्रजायेरन्नथ यदत्युपयजति प्रैवैतज्जनयति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥५[८.४]॥ ॥ षष्ठः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११२ ॥ ॥

सोऽत्युपयजति । यज्ञं गच्छ स्वाहेत्यापो वै यज्ञ आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥१॥ सोमं गच्छ स्वाहेति । रेतो वै सोमो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥२॥ दिव्यं नभो गच्छ स्वाहेति । आपो वै दिव्यं नभ आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति ॥३॥ अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहेति । इयं वै पृथिव्यग्निर्वैश्वानरः सेयं प्रतिष्ठेमामेवैतत्प्रतिष्ठामभिप्रजनयति ॥४॥ अथ मुखं विमृष्टे । मनो मे हार्दि यच्छेति तथो होपयष्टात्मानं नानुप्रवृणक्ति ॥५॥ अथ जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति । जघनार्धो वै जाघनी जघनार्धाद्धि योषायै प्रजाः प्रजायन्ते तत्प्रैवैतज्जनयति यज्जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति ॥६॥ अन्तरतो देवानां पत्नीभ्योऽवद्यति । अन्तरतो वै योषायै प्रजाः

भी सन्तान पीछे से ही उत्पन्न होती है ॥१०॥

वह उपयाज को इस मन्त्र से देता है—"समुद्रं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२२) जल समुद्र है। जल वीर्य है। यह वीर्य ही है जिसको सींचते हैं ॥११॥

"अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) अन्तरिक्ष में ही सन्तान उत्पन्न होती हैं। अन्तरिक्ष में ही वह उत्पत्ति करता है ॥१२॥

"देवं सवितारं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) देवों का प्रेरक सविता है। सविता से प्रेरित होकर जीवों को प्रेरित कर रहा है ॥१३॥

"मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) प्राण और उदान मित्र और वरुण हैं। इस प्रकार प्रजाओं में प्राण और उदान धारण कराता है ॥१४॥

"अहोरात्रे गच्छ स्वाहा" (यजु० ६।२१) दिन-रात में ही सन्तान उत्पन्न होती है। दिन-रात में ही वह जीवों को उत्पन्न कराता है ॥१५॥

"छन्दाँसि गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१)। सात छन्द हैं—सात घर के (ग्राम्य) और सात वन के (आरण्य) पशु हैं। इन दोनों को वह उत्पन्न कराता है ॥१६॥

"द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) प्रजापति ने प्रजा को रचकर द्यौ और पृथिवी के बीच में भर दिया, इसलिए वह द्यौ और पृथिवी के बीच में है। इसी प्रकार यह आहुति देनेवाला भी प्राणियों को उत्पन्न करके उनको द्यौ और पृथिवी के बीच में रख देता है ॥१७॥

अब वह अन्य उपयाज करता है। यदि इन अन्य उपयाजों को न करे तो उतने ही पशु रहें जितने आरम्भ में उत्पन्न हुए थे। और न उत्पन्न हों। परन्तु अधिक उपयाजों को करके वह सन्तान को बढ़ाता है, जिससे इस पृथिवी पर फिर-फिर उत्पन्न हो ॥१८॥

अध्याय ८—ब्राह्मण ५

वह उपयाज करता है—"यज्ञं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) जल यज्ञ है, जल वीर्य है। इसके द्वारा वीर्य को सींचता है ॥१॥

"सोमं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) वीर्य सोम है। वीर्य को इससे सींचता है ॥२॥

"दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) जल 'दिव्य नभ' है। जल वीर्य है। वीर्य को इससे सींचता है ॥३॥

"अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा।" (यजु० ६।२१) यह पृथिवी अग्नि वैश्वानर है। यही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इस प्रतिष्ठा को उत्पन्न करता है ॥४॥

अब इस मन्त्र से मुख का स्पर्श करता है—"मनो मे हार्दि यच्छ" (यजु० ६।२१)—"मुझे मन और हृदय दे।" इस प्रकार उपयाज करनेवाला अपने को नहीं आहुति देता ॥५॥

अब (पशु की) पूँछ से 'पत्नीः-संयाज' करते हैं। पूँछ पिछला भाग है। स्त्रियों के पिछले भाग से ही सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसलिए पूँछ से 'पत्नी-संयाज' करके सन्तान की उत्पत्ति करता है ॥६॥

देवों की पत्नियों के लिए भीतर से भाग काटता है; स्त्रियों के अन्दर से ही सन्तान

प्रजायन्त ऽउपरिष्टादग्नये गृहपतय ऽउपरिष्टाद्धि वृषा योषामधिद्रवति ॥७॥ अथ हृदयशूलेनावभृथं यन्ति । पशोर्ह वा ऽआलभ्यमानस्य हृदयꣳ शुक्समभ्यवैति हृदयाद्धृदयशूलमथ यच्छृतस्य परितृन्दन्ति तदलंतुषं तस्माद्ध परितृद्यैव शूलाकुर्यात्त्रिःप्रच्युते पशौ हृदयं प्रवृह्योत्तमं प्रत्यवदधाति ॥८॥ अथ हृदयशूलं प्रयच्छति । तन्न पृथिव्यां परास्येन्नाप्सु स यत्पृथिव्यां परास्येदोषधीश्च वनस्पतींश्चैषा शुक्प्रविशेद्यदप्सु परास्येदप एषा शुक्प्रविशेत्तस्मान्न पृथिव्यां नाप्सु ॥९॥ अप एवाभ्यवेत्य । यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य च संधिः स्यात्तदुपगूहेद्यद्यु ऽअभ्यवायनाय ग्लायेदग्रेण यूपमुदपात्रं निनीय यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य च संधिर्भवति तदुपगूहति मापो मौषधीर्हिꣳसीरिति तथा नापो नौषधीर्हिनस्ति धाम्नो-धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्चेति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति ॥१०॥ अथाभिमन्त्रयते । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यत्र वा ऽएतेन प्रचरन्त्यापश्च ह वा ऽअस्मात्तावदोषधयश्चापक्रम्येव तिष्ठन्ति तदु ताभिर्मित्रधेयं कुरुते तथो हैनं ताः पुनः प्रविशन्त्येषो तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते स वै नाग्नीषोमीयस्य पशोः करोति नाग्नेयस्य वशाया ऽएवानूबन्ध्यायै ताꣳ हि सर्वो ऽनु यज्ञः संतिष्ठत ऽएतदु ह्यस्याग्नीषोमीयस्य च पशोराग्नेयस्य च हृदयशूलेन चरितं भवति यद्वशायाश्चरन्ति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१[८.५.]॥ अष्टमोऽध्यायः [२३.] ॥ ॥

प्रजापतिर्वै प्रजाः ससृजानो रिरिचान-इवामन्यत । तस्मात्पराच्यः प्रजा आसुर्नास्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय तस्थिरे ॥१॥ स ऐक्षतारिच्यहम् । अस्मा ऽउ कामायासृक्षि न मे स कामः समार्धि पराच्यो मत्प्रजा अभूवन्न म प्रजाः श्रियेऽन्नाद्यायास्थिषतेति ॥२॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । कथं नु पुनरात्मानमाप्याययेयोप मा

उत्पन्न होती है। ऊपर से गृहपति अग्नि के लिए, क्योंकि ऊपर से ही नर स्त्री में वीर्य धारण कराता है ॥७॥

इस पर वे हृदय-शूल के साथ 'अवभृथ' स्नान को जाते हैं। जब पशु को मारते हैं तो उसका शोक हृदय में ही इकट्ठा होता है, हृदय से हृदयशूल में। पकाये हुए मांस का जो भाग छिदा होता है वह स्वादिष्ट होता है।[1] इसलिए उसे छेदकर काँटे पर पकाना चाहिए। पशु के तीन बार हिलाये हुए भाग पर काँटे से निकालकर हृदय को रखता है ॥८॥

अब (शमिता अध्वर्यु को) हृदय-शूल देता है। उसे पृथिवी पर न फेंके, न जल में। यदि पृथिवी पर फेंकेगा तो शोक ओषधि और वनस्पतियों में घुस जायगा। यदि जल में फेंकेगा तो शोक जल में घुस जायगा। इसलिए न पृथिवी पर फेंके, न जल में ॥९॥

किन्तु जल में जाकर ऐसे स्थान पर गाड़ दे जहाँ नमी और खुश्की का मेल हो। परन्तु जल में जाने की इच्छा न हो तो यूप के सामने जल का पात्र लाकर जहाँ नमी और खुश्की का मेल हो वहाँ गाड़ दे, इस मन्त्र से—"मापो मौषधीर्हिꣳसीः" (यजु० ६।२२)—"जल और ओषधि न सतावें।" इस पर जल और ओषधि हानि नहीं पहुँचाते। "धाम्नो धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च" (यजु० ६।२२)—"हे राजा वरुण, हर (धान) जाल से हमको छुड़ा। हे वरुण, हमको छुड़ा जिससे वे कहें कि न हने जानेवाली और वरुण की हम शपथ खाते हैं।" इस प्रकार वह वरुण के सब जालों से या सम्बन्धी पापों से उसको छुड़ा देता हैं ॥१०॥

अब वह जलों को कहता है—"सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० ६।२२)—"जल और ओषधियाँ हमको लाभ पहुँचावें और हानि उनको जो हमको द्वेष करते हैं या जिनसे हम द्वेष करते हैं।" क्योंकि जब वे शूल के साथ जाते हैं तो जल और ओषधियाँ मानो उनसे पीछे हटते हैं। परन्तु इस प्रकार वह उनसे मित्रता करता है। इस प्रकार वे फिर उसके पास आते हैं। अब वह वहाँ प्रायश्चित्त करता है। वह यह (अवभृथ) अग्नि-सोम के पशु-याग में नहीं करता, न अग्नि के; किन्तु अनुबन्धी-गौ के सम्बन्ध में करता है। इस प्रकार सब यज्ञ पूर्ण हो जाता है। यह जो वशा-गौ के साथ अवभृथ किया जाता है उससे अग्नि-सोम या अग्नि के भी पशु-याग की पूर्ति हो जाती है ॥११॥

अध्याय ९—ब्राह्मण १

प्रजापति प्रजा को उत्पन्न करके थक-सा गया। प्रजा उसके पास से हट गई। उसकी श्री और भोजन के लिए वह उसके पास न ठहरी ॥१॥

उसने सोचा—'मैं थक गया और जिस कामना के लिए मैंने सृष्टि की रचना की वह भी पूरी न हुई। मेरी प्रजा मेरे पास से चली गई। मेरी श्री और भोजन के लिए मेरे पास ठहरी नहीं' ॥२॥

प्रजापति ने सोचा कि—'मैं फिर अपने को कैसे पुष्ट करूँ? कैसे मेरी प्रजा लौटे और

---

१. पशु-हिंसा सर्वथा अवैदिक है और ऐसे स्थल पूर्णतः प्रक्षिप्त हैं।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

प्रजाः समावर्तेरंस्तिष्ठेरन्मे प्रजाः श्रियेऽन्नाद्यायेति ॥३॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । स एतामेकादशिनीमपश्यत्स एकादशिन्येष्ट्वा प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययतोपैनं प्रजाः समावर्तन्तातिष्ठन्तास्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय स वसीयानेवेष्ट्वाभवत् ॥४॥ तस्मै कमेकादशिन्या यजेत । एवꣳ हैव प्रजया पशुभिराप्यायतऽउपैनं प्रजाः समावर्तन्ते तिष्ठन्तेऽस्य प्रजाः श्रियेऽन्नाद्याय स वसीयानेवेष्ट्वा भवत्येतस्मै कमेकादशिन्या यजते ॥५॥ स आग्नेयं प्रथमं पशुमालभते । अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः स उऽएव यजमानस्तस्मादाग्नेयो भवति ॥६॥ अथ सारस्वतम् । वाग्वै सरस्वती वाचैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत वागेनमुपसमावर्तत वाचमनुकामात्मनोऽकुरुत वाचोऽएवैष एतदाप्यायते वागेनमुपसमावर्तते वाचमनुकामात्मनः कुरुते ॥७॥ अथ सौम्यम् । अन्नं वै सोमोऽन्नेनैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययतान्नमेनमुपसमावर्ततान्नमनुकमात्मनोऽकुरुतान्नेनोऽएवैष एतदाप्यायतऽन्नमेनमुपसमावर्ततेऽन्नमनुकमात्मनः कुरुते ॥८॥ तद्यत्सारस्वतमनु भवति । वाग्वै सरस्वत्यन्नꣳ सोमस्तस्माद्यो वाचा प्रसाम्यन्नादो हैव भवति ॥९॥ अथ पौ म् । पशवो वै पूषा पशुभिरेव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत पशव एनमुपसमावर्तन्त पशूननुकानात्मनोऽकुरुत पशुभिर्वैवैष एतदाप्यायते पशव एनमुपसमावर्तन्ते पशूननुकानात्मनः कुरुते ॥१०॥ अथ बार्हस्पत्यम् । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैतत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत ब्रह्मैनमुपसमावर्तत ब्रह्मानुकमात्मनोऽकुरुत ब्रह्मणोऽएवैष एतदाप्यायते ब्रह्मैनमुपसमावर्तते ब्रह्मानुकमात्मनः कुरुते ॥११॥ तद्यत्पौष्णमनु भवति । पशवो वै पूषा ब्रह्म बृहस्पतिस्तस्माद्ब्राह्मणाः पशूनभिधृष्णुतमः पुरोहिता ह्यस्य भवन्ति मुखऽआहितास्तस्मादु तत्सर्वं द्वाजिनवासी चरति ॥१२॥ अथ वैश्वदेवꣳ । सर्वं वै विश्वे देवाः सर्वेणैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययत सर्वमेनमुपसमावर्त-

मेरी श्री और भोजन के लिए ठहरे' ॥३॥

वह सन्तान की इच्छा से पूजा और श्रम करता रहा। उसने तब इस एकादशिनी (ग्यारह का समूह) को देखा। उस एकादशिनी की इष्टि करके उसने अपने को पुष्ट किया। प्रजा उसके पास लौट आई और उसकी श्री और भोजन के लिए उसके पास ठहरी। इस इष्टि से वह वस्तुतः अच्छा हो गया ॥४॥

इसलिए ग्यारह इष्टि करनी चाहिएँ। इस प्रकार प्रजा और पशुओं के द्वारा पुष्टि हो जाती है। प्रजा उसके पास लौट आती है। उसकी प्रजा श्री और भोजन के लिए ठहरती है। वह इष्टि करके अच्छा हो जाता है। इसलिए ग्यारह की इष्टि करनी चाहिए ॥५॥

पहले वह अग्नि देवता सम्बन्धी पशु का आलभन करता है। अग्नि देवताओं का मुख और उत्पन्न करनेवाला है। वह प्रजापति है। इस प्रकार यजमान अग्नि का हो जाता है ॥६॥

फिर सरस्वती के लिए। वाणी सरस्वती है। वाणी से ही प्रजापति ने फिर अपने को पुष्ट किया। वाणी फिर उसके पास वापस आई। वाणी को उसने अपने अनुकूल किया। वाणी से यह भी अपने को पुष्ट करता है। वाणी उसके पास लौट आती है और वह वाणी को अपने अनुकूल बनाता है ॥७॥

फिर सोम के लिए। सोम अन्न है। अन्न से ही तब प्रजापति ने अपने को पुष्ट किया। अन्न उसके पास लौटकर आया। अन्न को ही उसने अपने अनुकूल बनाया। अन्न से यह भी अपने को पुष्ट करता है। अन्न उसके पास लौटकर आता है और अन्न को वह अपने अनुकूल बनाता है ॥८॥

सरस्वती के पीछे सोम क्यों आता है ? सरस्वती वाणी है, सोम अन्न है, इसलिए जो वाणी के द्वारा अधूरा रहता है अन्न का खानेवाला होता है ॥९॥

अब पूषा के लिए। पशु पूषा हैं। पशुओं से ही तब प्रजापति ने अपने को पुष्ट किया। पशु उसके पास लौट आये। पशुओं को उसने अपने अनुकूल बनाया। इसी प्रकार यह भी पशुओं के द्वारा अपने को पुष्ट करता है। पशु उसके पास लौट आते हैं और वह पशुओं को अपने अनुकूल बनाता है ॥१०॥

अब बृहस्पति के लिए। ब्रह्म बृहस्पति है। ब्रह्म के द्वारा ही प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। ब्रह्म उसके पास लौट आया। ब्रह्म को वह अपने अनुकूल करता है। यह भी ब्रह्म के द्वारा अपने को पुष्ट करता है। ब्रह्म उसके पास लौट आता है। ब्रह्म को वह अपने अनुकूल करता है ॥११॥

बृहस्पति पूषा के पीछे क्यों होता है ? पशु ही पूषा हैं। ब्रह्म बृहस्पति है। इसलिए पशु ब्रह्म के हैं। उसी ने उनको आगे रक्खा है, मुख के स्थान में रक्खा है। इसलिए इन सबको देकर वह भेड़ के चमड़े को पहनकर चलता है ॥१२॥

अब विश्वेदेवों के लिए। विश्वेदेव 'सर्व या सब' हैं। सबके द्वारा ही प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। 'सब' उसके पास लौट आये। 'सबको' उसने अपने अनुकूल बनाया। यह भी

त सर्वमनुकमात्मनोऽकुरुत सर्वेणोऽएवैष एतदाप्यायते सर्वमेनमुपसमावर्तते सर्वमनुकमात्मनः कुरुते ॥१३॥ तद्यद्बार्हस्पत्यमनु भवति । ब्रह्म वै बृहस्पतिः सर्वमिदं विश्वे देवा अस्यैवैतत्सर्वस्य ब्रह्म मुखं करोति तस्मादस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम् ॥१४॥ अथैन्द्रम् । इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्यायतेन्द्रियमेनं वीर्यमुपसमावर्ततेन्द्रियं वीर्यमनुकमात्मनोऽकुरुतेन्द्रियेणोऽएवैष एतद्वीर्येणाप्यायतऽइन्द्रियमेनं वीर्यमुपसमावर्ततऽइन्द्रियं वीर्यमनुकमात्मनः कुरुते ॥१५॥ तद्यद्वैश्वदेवमनु भवति । क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो विश्वे देवा अन्नाद्यमेवास्माऽएतत्पुरस्तात्करोति ॥१६॥ अथ मारुतम् । विशो वै मरुतो भूमो वै विड्भूम्नैव तत्प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्यायत भूमैनमुपसमावर्तत भूमानमनुकमात्मनोऽकुरुत भूम्नोऽएवैष एतदाप्यायते भूमैनमुपसमावर्तते भूमानमनुकमात्मनः कुरुते ॥१७॥ तद्यदैन्द्रमनु भवति । क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो विश्वे देवा विशो वै मरुतो विशैवैतत्क्षत्रं परिबृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिबृढम् ॥१८॥ अथैन्द्राग्नम् । तेजो वाऽअग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र उभाभ्यामेव तद्वीर्याभ्यां प्रजापतिः पुनरात्मानमाप्याययतोभेऽएनं वीर्येऽउपसमावर्तेतामुभे वीर्येऽअनुकेऽआत्मनोऽकुरुतोभाभ्यामेवैष एतद्वीर्याभ्यामाप्यायतऽउभेऽएनं वीर्येऽउपसमावर्तेतेऽउभे वीर्येऽअनुकेऽआत्मनः कुरुते ॥१९॥ अथ सावित्रꣳ । सविता वै देवानां प्रसविता तथो ह्यस्माऽएते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते ॥२०॥ अथ वारुणमन्तत आलभते । तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति ॥२१॥ तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात् । आग्नेयमेवाग्निष्ठे नियुञ्ज्यादथेतरान्व्युपनयेयुर्यथापूर्वम् ॥२२॥ यद्यु पश्वेकादशिनी स्यात् । आग्नेयमेव यूपऽआलभेरन्नथेतरान्यथापूर्वम् ॥२३॥ तान्यत्रोदीचो नयन्ति । आग्नेयमेव प्रथमं नयन्त्यथेतरान्यथापूर्वम् ॥२४॥ तान्यत्र निविध्यन्ति । आग्नेयमेव प्रथमं दक्षिणार्ध्य

'सब' के द्वारा अपने को पूर्ण करता है। सब उसके पास लौट आते हैं और सबको वह अपने अनुकूल कर लेता है ॥१३॥

यह बृहस्पति के पीछे क्यों होता है? बृहस्पति ब्रह्म है। यह सब विश्वेदेव है। वह ब्रह्म को इन सबका मुख बनाता है। इसी से ब्राह्मण सबका मुख है ॥१४॥

अब इन्द्र के लिए। इन्द्र का अर्थ है शक्ति, वीर्य। इसी शक्ति तथा वीर्य के द्वारा प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। यही शक्ति या वीर्य उसके पास लौट आया। इसी शक्ति या वीर्य को उसने अपने अनुकूल बनाया। यह भी शक्ति या वीर्य के द्वारा अपने को पूर्ण करता है। यह शक्ति या वीर्य उसके पास लौट आता है और वह उसको अपने अनुकूल बना लेता है ॥१५॥

यह विश्वेदेवों के पीछे क्यों होता है? इन्द्र क्षत्रिय है। विश्वेदेव वैश्य हैं। इस प्रकार वह अन्न को सामने रखता है ॥१६॥

अब मरुत् के लिए। मरुत् वैश्य है। वैश्य का अर्थ है भूमः या बहुतायत। बहुतायत (भूमः) से ही प्रजापति ने तब अपने-आपको पूर्ण किया। बहुतायत उसके पास लौट आई। बहुतायत को उसने अपने अनुकूल बना लिया। इसी प्रकार वह भी बहुतायत से अपने को पूर्ण करता है। बहुतायत उसके पास लौट आती है। बहुतायत को अपने अनुकूल बना लेता है ॥१७॥

वह इन्द्र के पीछे क्यों होता है? इन्द्र क्षत्रिय है, विश्वेदेव वैश्य हैं, मरुत् वैश्य हैं। इस प्रकार वैश्यों से क्षत्रिय की रक्षा होती है। यह क्षत्रिय दोनों ओर से वैश्यों के द्वारा सुरक्षित है ॥१८॥

अब इन्द्राग्नी के लिए। अग्नि तेज है। इन्द्र वीर्य है। इन दोनों शक्तियों के द्वारा प्रजापति ने अपने को पूर्ण किया। दोनों शक्तियाँ उसके पास आईं। उन दोनों शक्तियों को उसने अपने अनुकूल बनाया। यह भी इन दोनों शक्तियों द्वारा अपने को पूर्ण करता है। ये दोनों शक्तियाँ उसके पास लौट आती हैं और वह दोनों को अपने अनुकूल कर लेता है ॥१९॥

अब सविता के लिए। सविता देवों का प्रेरक है। इस प्रकार सविता से प्रसवित होकर उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥२०॥

अन्त में वह वरुण के लिए (पशु का) आलभन करता है। वह इसको वरुण के सब पाशों से और सब पापों से मुक्त कर देता है ॥२१॥

इसलिए यदि ग्यारह यूप हों तो अग्निवाले पशु को अग्नि के सामनेवाले यूप से बाँधे। अन्य सब को इसी प्रकार क्रमशः ॥२२॥

यदि ग्यारह पशु हों तो अग्निवाले पशु को यूप में आलभन करे। अन्यों को इसी प्रकार क्रमशः ॥२३॥

जब उनको उत्तर की ओर ले जाते हैं तो अग्निवाले को पहले ले जाते हैं, फिर औरों को इसी क्रम से ॥२४॥

जब उनको पहले गिराते हैं, तो अग्निवाले को पहले दक्षिण की ओर गिराते हैं। औरों

निविध्यन्त्यथेतरानुदीचोऽग्निनीय यथापूर्वम् ॥२५॥ तेषां यत्र वपाभिः प्रचरन्ति । आग्नेयस्यैव प्रथमस्य वपया प्रचरन्त्यथेतरेषां यथापूर्वम् ॥२६॥ तैर्यत्र प्रचरन्ति । आग्नेयेनैव प्रथमेन प्रचरन्त्यथेतरैर्यथापूर्वम् ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥२[१.१.]॥ ॥

यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसꣳ स्यन्दमानं मन्यन्ते ॥१॥ स यद्वसतीवरीर्हरति । तमेवैतद्रसꣳ समाहृत्य यज्ञे दधाति रसवन्तं यज्ञं करोति तस्माद्वसतीवरीर्हरति ॥२॥ ता वै सर्वेषु सवनेषु विभजति । सर्वेष्वेवैतत्सवनेषु रसं दधाति सर्वाणि सवनानि रसवन्ति करोति तस्मात्सर्वेषु सवनेषु विभजति ॥३॥ ता वै स्यन्दमानानां गृह्णीयात् । ऐद्धि स यज्ञस्य रसस्तस्मात्स्यन्दमानानां गृह्णीयात् ॥४॥ गोपीथाय वा ऽएता गृह्यन्ते । सर्वं वाऽइदमन्यदिलयति यदिदं किं चापि योऽयं पवतेऽथैता एव नेलयन्ति तस्मात्स्यन्दमानानां गृह्णीयात् ॥५॥ दिवा गृह्णीयात् । पश्यन्यज्ञस्य रसं गृह्णानीति तस्माद्दिवा गृह्णीयादेतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य विश्वे देवास्तस्माद्दिवा गृह्णीयाद्दिवेव वा ऽएष तस्माद्देव दिवा गृह्णीयात् ॥६॥ एतद्ध वै विश्वे देवाः । यजमानस्य गृहानागच्छन्ति स यः पुरादित्यस्यास्तमयाद्वसतीवरीर्गृह्णाति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपासीतैवं तत्तऽएतद्धविः प्रविशन्ति तऽएतासु वसतीवरीषूपवसन्ति स उपवसथः ॥७॥ स यस्यागृहीता अभ्यस्तमियात् । तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते यदि पुरेजानः स्यान्निनाह्याद्गृह्णीयाद्दिवा हि तस्य ताः पुरा गृहीता भवन्ति यद्युऽअनीजानः स्याद्य एनमीजान उपावसितो वा पर्यवसितो वा स्यात्तस्य निनाह्याद्गृह्णीयाद्दिवा हि तस्य ताः पुरा गृहीता भवन्ति ॥८॥ यद्युऽएतदुभयं न विन्देत् । उल्कुषीमेवादायोपपर्यावृत्यातामुपर्युपरि धारयन्गृह्णीयाद्धिरण्यं वोपर्युपरि धारयन्गृह्णीयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥९॥ अथातो गृह्णात्येव । ह-

को उत्तर की ओर ले जाते हुए उसी क्रम से ॥२५॥

अब उनकी वपा की आहुति देते हैं तो पहले अग्नि की, फिर औरों की उसी क्रम से ॥२६॥

जब उनसे अन्य आहुतियाँ देते हैं तो पहले अग्निवाले से। फिर औरों से उसी क्रम से ॥२७॥

अध्याय ६—ब्राह्मण २

जब यज्ञ का शिर काट दिया गया तो उसका रस बहकर जलों में मिल गया। इसी रस के कारण वे जल बहते हैं। यह माना जाता है कि वही रस बहता है ॥१॥

जब वह वसतीवरी जल के पास जाता है तो इसी रस को लाकर यज्ञ में रखता है और यज्ञ को रसयुक्त करता है। इसलिए वह वसतीवरी जल के पास जाता है ॥२॥

उनको वह सब सवनों में बाँट देता है। इससे वह सब सवनों में रस को धारण करता है। सब सवनों को रसयुक्त करता है। इसलिए सब सवनों में उसे बाँटता है ॥३॥

उसको वह बहते हुए में से लेवे। चूँकि यज्ञ का रस बह रहा था, इसलिए उसे बहते हुए जलों में से लेना चाहिए ॥४॥

इनको रक्षा के लिए लेते हैं। इस संसार में जो कुछ है वे सब आराम लेते हैं, यहाँ तक कि यह वायु भी जो चलता है। परन्तु जल आराम नहीं लेते, इसलिए इन बहते हुए जलों में से ही लेवे ॥५॥

इन (जलों) को दिन में लेना चाहिए, यह सोचकर कि यज्ञ के रस को देखकर ग्रहण करूँ। इसलिए इनको दिन में लेना चाहिए। यह जो तपता है (अर्थात् सूर्य) उसी के लिए इनका ग्रहण करता है, क्योंकि विश्वेदेवों के लिए ग्रहण करता है। उसकी किरणें ही विश्वेदेव हैं। इसलिए दिन में ग्रहण करना चाहिए। वह (सूर्य) केवल दिन में ही (उदय होता है) इसलिए दिन में ही ग्रहण करना चाहिए ॥६॥

विश्वेदेव यजमान के घर आते हैं। यदि वसतीवरी जलों को सूर्यास्त से पहले ग्रहण करता है तो यह सर्वथा ऐसा ही है कि जैसे कोई बड़ा (मान्य) आवे तो वह उसे अपने घर को शुद्ध करके स्वागत करे। ऐसा ही यह है। ये देव हवि के पास आते हैं और उन वसतीवरी जलों में प्रविष्ट हो जाते हैं। यही उपवसथ कहलाता है ॥७॥

यदि कोई इन जलों को लेने में सूर्यास्त कर दे तो प्रायश्चित्त किया जाता है। यदि उस पुरुष ने पहले (सोम) यज्ञ किया हो तो उसी के घड़े (निनाह्य) से ले लेना चाहिए। क्योंकि उसके जल सूर्यास्त से पहले ही के लिए होते हैं। यदि उसने पहले सोमयज्ञ न किया हो तो यदि उसके पास या पड़ोस में कोई और पुरुष हो जिसने यज्ञ किया हो तो उसी के घड़े से लेवे, क्योंकि उसके जल भी सूर्यास्त से पहले ही ग्रहण किये हुए होते हैं ॥८॥

अगर ये दोनों न मिलें तो एक जलती लकड़ी लेकर उन जलों के ऊपर दिखाकर ग्रहण करे। वह स्वर्ण को ऊपर दिखाकर ग्रहण करे। इससे उसी का रूप हो जाता है जो ऊपर तपता है। (अर्थात् जलती लकड़ी या सोने का टुकड़ा सूर्य के बराबर हो जाता है) ॥९॥

इन जलों को इस मन्त्र से लेता है—

विष्मतीरिमा आप इति यज्ञस्य ह्यासु रसः प्राविशत्तस्मादाह हविष्मतीरिमा आप इति हविष्मां२॥ऽआविवासतीति हविष्मान्ह्येना यजमान आविवासति तस्मादाह हविष्मां२॥ऽआविवासतीति ॥१०॥ हविष्मान्देवोऽअध्वर इति । अध्वरो वै यज्ञस्तद्यस्मै यज्ञाय गृह्णाति तꣳ हविष्मन्तं करोति तस्मादाह हविष्मान्देवोऽअध्वर इति ॥११॥ हविष्मा२॥ऽअस्तु सूर्य इति । एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य विश्वे देवास्तस्मादाह हविष्मां२॥ऽअस्तु सूर्य इति ॥१२॥ ता आहृत्य जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयति । अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीत्यग्नेर्वोऽनार्तगृहस्य सदसि सादयामीत्येवैतदाहाथ यदाग्नीषोमीयः पशुः संतिष्ठतेऽथ परिहरति व्युत्क्रामतेत्याहाग्रेण हविर्धाने यजमान आस्ते ता आदत्ते ॥१३॥ स दक्षिणेन निष्क्रामति । ता दक्षिणायाꣳ श्रोणौ सादयतीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णातीन्द्राग्नी हि विश्वे देवास्ताः पुनराहृत्याग्रेण पत्नीꣳ सादयति स जघनेन पत्नीं पर्येत्य ता आदत्ते ॥१४॥ स उत्तरेण निष्क्रामति । ता उत्तरायाꣳ श्रोणौ सादयति मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थेति नैवꣳ सादयेदतिरिक्तमेतन्नैवꣳ सम्पत्सम्पद्यतऽइन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेत्येव ब्रूयात्तदेवानतिरिक्तं तथा सम्पत्सम्पद्यते ॥१५॥ गुप्त्यै वाऽएताः परिह्रियन्ते । अग्निः पुरस्तादथैताः समन्तं पल्यङ्ग्यन्ते नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्त्यस्ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति तदासु विश्वान्देवान्संवेशयन्त्येते वै वसतां वरं तस्माद्वसतीवर्यो नाम वसताꣳ ह वै वरं भवति य एवमेतद्वेद ॥१६॥ तानि वाऽएतानि सप्त यजूꣳषि भवन्ति । चतुर्भिर्गृह्णात्येकेन जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयत्येकेन परिहरत्येकेनाग्नीध्रे तानि सप्त यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दाꣳसि सप्तपदा वै तेषां परार्ध्या शक्वर्येतामभिसम्पदं तस्मात्सप्त यजूꣳषि भवन्ति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [१.२.]॥ ॥

"हविष्मतीरिमा आपः" (यजु० ६।२३)—"ये जल हवि-युक्त हैं।" यज्ञ का रस इनमें मिला है। इसलिए कहा 'हविष्मती'। "हविष्मां२ऽआविवासति" (यजु० ६।२३)—"हवि-युक्त पुरुष इनको काम में लावे।" हवियुक्त यजमान इनको काम में लाता है। इसलिए कहा 'हविष्मान् आविवासति' ॥१०॥

"हविष्मान्देवोऽध्वरः" (यजु० ६।२३)—"देव अध्वर हवियुक्त है।" अध्वर कहते हैं यज्ञ को। इस प्रकार जिस यज्ञ के लिए वह इन जलों को लेता है उसको वह हवियुक्त कर देता है। इसलिये कहा कि 'हविष्मान्देवोऽध्वरः' ॥११॥

"हविष्मां२ऽअस्तु सूर्यः" (यजु० ६।२३)—"सूर्य हवि-युक्त हो।" यह जो सूर्य तपता है उसी के लिए इनको ग्रहण करता है। यह विश्वे-देवों के लिए ग्रहण करता है। विश्वे-देव दस किरणें हैं। इसलिये कहा कि 'सूर्य हवि-युक्त हो' ॥१२॥

इनको लाकर वह गार्हपत्य के पीछे देता है—"अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि" (यजु० ६।२४) अर्थात् "सुरक्षित गृहवाले अग्नि के घर में तुमको रखता हूँ।" जब अग्निसोम-वाला पशु निकट आवे तो वह (वसतीवरी जलों को) उसके पास ले जाता है और कहता है 'उत्क्राम' (चले जाओ)।' यजमान हविर्धान के सामने बैठता है और (अध्वर्यु जलों को) वहीं लेकर खड़ा होता है ॥१३॥

वह दक्षिण द्वार से निकलता है और दक्षिणी श्रोणि में रख देता है। "इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ" (यजु० ६।२४)—"तुम इन्द्र-अग्नि के भाग हो।" क्योंकि यह विश्वे-देवों के लिए ग्रहण करता है। इन्द्र-अग्नि विश्वे-देव है। वह इन जलों को लेकर पत्नी के आगे रख देता है और पत्नी के पीछे से घूमकर उनको उठा लेता है ॥१४॥

वह उत्तर द्वार से निकलता है। उन जलों को उत्तरी श्रोणि में रख देता है। "मित्रा वरुणयोर्भागधेयी स्थ" (यजु० ६।२४)—"तुम मित्र-वरुण के भाग हो।" उसी प्रकार न रक्खे। यह व्यर्थ है। इससे काम भी सिद्ध नहीं होता। ऐसा कहे कि तू इन्द्र-अग्नि के भागधेय हो। इसमें कोई अनर्थकता नहीं है और काम भी सिद्ध हो जाता है ॥१५॥

इन जलों को रक्षा के लिए लाते हैं। अग्नि आगे है। और जल चारों ओर घूमकर दुष्ट राक्षसों को हटाते हैं। इनको वह आग्नीध्र (के स्थान) में रख देता है। "विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ" (यजु० ६।२४)—"तुम विश्वे-देवों के भाग हो।" इस प्रकार वह विश्वे-देवों को इनमें प्रवेश कराता है। यह 'वसतां' अर्थात् रहनेवालों के लिए 'वरं' शुभ होते हैं। इसलिए इनका नाम 'वसतीवरी' है। जो इस रहस्य को समझता है वह निवासियों के लिए श्रेष्ठ हो जाता है ॥१६॥

ये सात यजुः हैं। चार यजुओं से ग्रहण करता है। एक से गार्हपत्य के पीछे ले जाता है। एक से चारों ओर फिराता है। एक से आग्नीध्र के स्थान में रखता है। ये सात हुए। जब वाणी से सात छन्द उत्पन्न हुए तो उनमें से अन्तिम शक्वरी था। इससे सम्पूर्ति हुई। इसलिए सात यजुः होते हैं ॥१७॥

तान्त्सम्प्रबोधयन्ति । तेऽप उपस्पृश्याग्नीध्रमुपसमायन्ति तऽआज्यानि गृह्णते गृ-
हीत्वाज्यान्यायन्त्यासाद्याज्यानि ॥१॥ अथ राजानमुपावहरति । इयं वै प्रतिष्ठा
जनूरासां प्रजानामिमामेवैतत्प्रतिष्ठामभ्युपावहरति तमस्यै तनुते तमस्यै जनयति
॥२॥ अन्तरेणेषेऽउपावहरति । यज्ञो वाऽअनस्तन्नेव यज्ञान्न बहिर्धा करोति
ग्रावसु संमुखेष्वधिनिदधाति क्षत्रं वै सोमो विशो ग्रावाणः क्षत्रमेवैतद्विश्यध्यूह-
ति तद्यत्संमुखा भवन्ति विशमेवैतत्संमुखां क्षत्रियमभ्यविवादिनीं करोति तस्मा-
त्संमुखा भवन्ति ॥३॥ स उपावहरति । हृदे त्वा मनसे त्वेति यजमानस्यैतत्का-
मायाह हृदयेन हि मनसा यजमानस्तं कामं कामयते यत्काम्या यजते तस्मादाह
हृदे त्वा मनसे त्वेति ॥४॥ दिवे त्वा सूर्याय त्वेति । देवलोकाय त्वेत्येवैतदाह
यदाह दिवे त्वेति सूर्याय त्वेति देवेभ्यस्त्वेत्येवैतदाहोर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु हो-
त्रा यच्छेत्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वमिमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहीत्येवैतदाह ॥५॥ सोम
राजन्विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोहेति । तदेनमासां प्रजानामाधिपत्याय राज्यायोपाव-
हरति ॥६॥ अथानुसृज्योपतिष्ठते । विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्वित्ययथायथमि-
व वाऽएतत्करोति यदाह विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोहेति क्षत्रं वै सोमस्तत्पापव-
स्यसं करोति तद्धेदमनु पापवस्यसं क्रियतेऽथात्र यथायथं करोति यथापूर्वं यदाह
विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्विति तदेनमाभिः प्रजाभिः प्रत्यवरोहयति तस्मादु
क्षत्रियमायन्तमिमाः प्रजा विशः प्रत्यवरोहन्ति तमधस्तादुपासतऽउपसन्नो होता
प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यन्भवति ॥७॥ अथ समिधमभ्यादधदाह । देवेभ्यः प्रातर्याव-
भ्योऽनुब्रूहीति छन्दाꣳसि वै देवाः प्रातर्यावाणश्छन्दाꣳस्यनुयाजा देवेभ्यः प्रेष्य दे-
वान्यजेति वाऽअनुयाजैश्चरन्ति ॥८॥ तदु हैकऽआहुः । देवेभ्योऽनुब्रूहीति तदु
तथा न ब्रूयाच्छन्दाꣳसि वै देवाः प्रातर्यावाणश्छन्दाꣳस्यनुयाजा देवेभ्यः प्रेष्य दे-
वान्यजेति वाऽअनुयाजैश्चरन्ति तस्मादु ब्रूयाद्देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहीत्येव ॥९॥

अध्याय ९—ब्राह्मण ३

उन (ऋत्विजों) को जगाते हैं। वे जलों को छूकर आग्नीध्र में जाते हैं और आज्यों को ग्रहण करते हैं। आज्यों को लेकर वे (वेदि पर) जाते हैं। आज्यों को रखकर—॥१॥

सोम राजा को उतारता है। यह पृथिवी इन प्रजाओं की प्रतिष्ठा और जन्म-स्थान है। वह राजा (सोम) को इसी प्रतिष्ठा में उतारता है। उसी पर फैलाता है। उसी मे उत्पन्न करता है ॥२॥

वह गाड़ी के जुओं के बीच में उसको उतारता है। गाड़ी यज्ञ (का साधन) है। इस प्रकार वह उसको यज्ञ से बाहर नहीं करता। वह उस (सोम) को उन पत्थरों पर रखता है जो एक-दूसरे के सम्मुख होते हैं। सोम क्षत्रिय है, पत्थर वैश्य है। इस प्रकार वह क्षत्रिय को वैश्य के ऊपर रखता है। पत्थर एक-दूसरे के सम्मुख क्यों होते हैं ? इसलिए कि वह वैश्यों को एक-मुख होकर क्षत्रियों के सामने विवाद-रहित करता है। इसलिए पत्थर एक-दूसरे के सम्मुख होते हैं ॥३॥

वह (सोम को) इस मन्त्र से उतारता है—"हृदे त्वा मनसे त्वा" (यजु० ६।२५)—"हृदय के लिए तुझको, मन के लिए तुझको।" अर्थात् यजमान की कामना के लिए। यजमान हृदय और मन से कामना करता है। कामना करके ही यज्ञ करता है इसलिए कि 'हृदय के लिए तुझको, मन के लिए तुझको' ॥४॥

"दिवे त्वा सूर्याय त्वा" (यजु० ६।२५)—"अर्थात् तुझको देवलोक के लिए, तुझको सूर्यलोक के लिए।" जब वह कहता है 'दिवे त्वा सूर्याय त्वा' तो आशय होता है 'देवों के लिए'। "ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ" (यजु० ६।२५)—'अध्वर' कहते हैं यज्ञ को। इसका तात्पर्य यह है कि "तू इस यज्ञ को और हवन को द्यौलोक में ऊपर देवों के लिए ले जा" ॥५॥

"सोम राजन् विश्वास्त्वं प्रजाऽउपावरोह" (यजु० ६।२६)—"हे सोम राजा, तू इस सब प्रजा पर उतर।" वह इस राजा को प्रजाओं के आधिपत्य और राज्य के लिए नीचे उतारता है ॥६॥

उसको रखकर उसके पास बैठ जाता है—"विश्वास्त्वां प्रजाऽउपावरोहन्तु" (यजु० ६।२६)—"सब प्रजाएँ तुझ तक उतरें।" यह जो उसने कहा कि 'तू सब प्रजा तक उतर' यह अनुचित था, क्योंकि सोम क्षत्रिय है। इस प्रकार बुरे-भले मिल गये। इसीलिए तो आज भी बुरे-भले मिल जाते हैं। यह जो कहा कि 'प्रजाएँ तुझ तक उतरें' यह ठीक है, क्योंकि वैश्य लोग क्षत्रिय के सामने आकर झुकते हैं, अर्थात् सिर झुकाते हैं। पास बैठकर होता प्रातःकालीन अनुवाक पढ़ना आरम्भ करता है ॥७॥

अब समिधा को चढ़ाकर वह कहता है—'प्रातःकाल आनेवाले देवों के लिए अनुवाक कह।' प्रातः आनेवाले देव छन्द हैं, जैसे कि अनुयाज भी छन्द हैं। अनुयाज यह कहकर किये जाते हैं—'देवों के लिए भेजो, देवों के लिए यजन करो' ॥८॥

कुछ लोग कहते हैं 'देवों के लिए अनुवाक कहो।' ऐसा न कहना चाहिए। प्रातः आनेवाले देव छन्द हैं, और अनुयाज किये जाते हैं यह कहकर कि 'देवों के लिए भेजो, देवों के लिए यजन करो।' इसलिए कहना चाहिए कि 'प्रातःकाल आनेवाले देवों के लिए अनुवाक कह' ॥९॥

अथ यत्समिधमभ्यादधाति । छन्दाꣳस्येवैतत्समिन्द्धेऽथ यद्धोता प्रातरनुवाकमन्वा-
ह छन्दाꣳस्येवैतत्पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति यातयामानि वै देवैश्छन्दाꣳ-
सि छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत न वाऽअत्र स्तुवते न शꣳसन्ति
तच्छन्दाꣳस्येवैतत्पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते त-
स्माद्धोता प्रातरनुवाकमन्वाह ॥१०॥ तदाहुः । कः प्रातरनुवाकस्य प्रतिगर इ-
ति जाग्रद्धैवाध्वर्युरुपासीत स यन्निमिषति स हैवास्य प्रतिगरस्तदु तथा न कुर्या-
द्यदि निद्रायादपि कामꣳ स्वप्यात्स यत्र होता प्रातरनुवाकं परिदधाति तत्प्रचर-
णीति स्रुग्भवति तस्यां चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति ॥११॥ यत्र वै यज्ञस्य
शिरोऽछिद्यत । तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तमदः पूर्वैर्युर्वसतीवरीभिराहरन्त्यथ
योऽत्र यज्ञस्य रसः परिशिष्टस्तमेवैतदहैति ॥१२॥ यद्वेवैतामाहुतिं जुहोति । ए-
तमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारन्द्धे याभ्य उ चैवैतां देवताभ्य आहुतिं
जुहोति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः प्रीता एतं यज्ञस्य रसꣳ संनमन्ति
॥१३॥ ॥ शतम् २२०० ॥ ॥ स जुहोति । शृणोत्वग्निः समिधा हवं मऽइति शृ-
णोतु मऽइदमग्निरनु मे जानात्वित्येवैतदाह शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीरिति शृ-
ण्वन्तु मऽइदमापोऽनु मे जानन्त्वित्येवैतदाह श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञ-
मिति शृण्वन्तु मऽइदं ग्रावाणोऽनु मे जानन्त्वित्येवैतदाह विदुषो न यज्ञमिति
विद्वाꣳसो हि ग्रावाणः शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहेति शृणोतु मऽइदं
देवः सवितानु मे जानात्वित्येवैतदाह सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्र-
सूत एवैतद्यज्ञस्य रसमहैति ॥१४॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । उदङ् प्र-
पन्नाहाप इष्य होतरित्यप इह होतरित्येवैतदाह तद्यदतो होतान्वाहैतमेवैत-
द्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारन्द्धऽएतानु चैवैतदनुतिष्ठते नेदेनानन्तरा नाष्ट्रा
रक्षाꣳसि हिनसन्निति ॥१५॥ अथ सम्प्रेष्यति । मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहि ने-

जब वह समिधा रखता है तो इससे छन्दों को उत्तेजित करता है। और जब होता प्रातः-अनुवाक को कहता है उससे भी वह छन्दों को ही पुष्ट और पूर्ण करता है। देव छन्दों के द्वारा ही स्वर्गलोक को गये, इसलिए छन्द अपूर्ण हो गये, क्योंकि अब न तो स्तुति होती है न प्रशंसा। इसलिए अब वह छन्दों को पूर्ण करता है। और इन्हीं पूर्ण छन्दों से यज्ञ को करता है और होता अनुवाक पढ़ता है ॥१०॥

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि 'प्रातरनुवाक का प्रतिगर या फल क्या है?' अध्वर्यु को जागते हुए उपासना करनी चाहिए और जब वह निमेष ले, वही उसका प्रतिगर है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यदि नींद आ जाय तो सो जाय। जब होता प्रातः-अनुवाक को समाप्त करता है तब प्रचरणी आहुति दी जाती है। स्रुक् में चार बार आज्य लेकर आहुति देता है ॥११॥

जब यज्ञ का सिर काटा गया तो रस जलों में मिल गया। उसको गत दिवस वसतीवरी जलों के द्वारा लाये थे। अब जो कुछ रस बच गया उसको इसके द्वारा लाते हैं ॥१२॥

जब वह उस आहुति को देता है तो इसको यज्ञ के रस के लिए देता है। उस रस को अपनी ओर खींचता है। जिन देवताओं के लिए आहुति देता है उन्हीं को प्रसन्न करता है। इस प्रकार तृप्त होकर ये देवते यज्ञ के रस को इसके लिए दिलाते हैं ॥१३॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे" (यजु० ६।२६) इसका अर्थ है कि "अग्नि समिधा द्वारा मेरी स्तुति सुने या स्वीकार करे।" "शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः" अर्थात् "दिव्य गुणयुक्त जल और धिष्ण हमारी स्तुति सुनें।" "श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञम्" (यजु० ६।२६) अर्थात् "यज्ञ को जाननेवाले ग्रावा (पत्थर के तुल्य दृढ़ गुरुजन) इस मेरी स्तुति को सुनें या स्वीकार करें।" 'विदुषः' इसलिए कहा कि यह ग्रावा विद्वान् है। "शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा" (यजु० ६।२५) अर्थात् "सविता देव मेरी इस स्तुति को स्वीकार करे।" सविता देवों का प्रेरक है। सविता की ही प्रेरणा से वह यज्ञ के रस की इच्छा करता है ॥१४॥

फिर चार चमसों में घी को लेकर उत्तर की ओर जाकर कहता है, 'हे होता, जलों को बुलाओ।' या 'जलों की इच्छा करो।' होता ऐसा क्यों कहता है? इसका कारण यह है कि इसी आहुति के द्वारा अध्वर्यु घी को यज्ञ के रस में डालता है और अपनी ओर खींचता है। और होता (एकधन) ग्रहों के पास खड़ा रहता है कि दुष्ट राक्षस उसको सता न सकें ॥१५॥

अब अध्वर्यु आदेश देता है—'हे मित्रावरुण के चमसा रखनेवाले, आओ। नेष्टा, पत्नियों

ष्टः पत्नीरुदानयेऽथनेन एताग्नीध्रावाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचम-
सेन चेति सम्प्रैष एवैषः ॥१६॥ तऽउदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वालमग्रे-
णाग्नीध्रꣳ स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ते वै सह पत्नीभिर्यन्ति तद्य-
त्सह पत्नीभिर्यन्ति ॥१७॥ यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत । तस्य रसो द्रुत्वापः प्र-
विवेश तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुः ॥१८॥ ते ह देवा ऊचुः । इयमु न्वेवे-
ह नाष्ट्रा यदिमे गन्धर्वाः कथं न्विममभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरेमेति ॥१९॥ ते
होचुः । योषित्कामा वै गन्धर्वाः सह पत्नीभिरयाम ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गर्धि-
ष्यन्त्यथैतमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरिष्याम इति ॥२०॥ ते सह पत्नीभिरीयुः ।
ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा जगृधुरथैतमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाजह्रुः ॥२१॥ तथोऽए-
वैष एतत् । सहैव पत्नीभिरेति ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गृध्यन्त्यथैतमभयेऽनाष्ट्रे य-
ज्ञस्य रसमाहरति ॥२२॥ सोऽपोऽभिजुहोति । एताꣳ ह वाऽआहुतिꣳ हुतामेष
यज्ञस्य रस उपसमेति तां प्रत्युत्तिष्ठति तमेवैतदाविष्कृत्य गृह्णाति ॥२३॥ यद्वेवै-
तामाहुतिं जुहोति । एतमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारुन्द्धे तमपो याचति
याभ्य उ चैवैनां देवताभ्य आहुतिं जुहोति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः
प्रीता एतं यज्ञस्य रसꣳ संनमन्ति ॥२४॥ स जुहोति । देवीरापोऽअपांनपादिति
देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीरापोऽअपांनपादिति यो व ऊर्मिर्हविष्य इति यो
व ऊर्मिर्यज्ञिय इत्येवैतदाहेन्द्रियावान्मदिन्तम इति वीर्यवानित्येवैतदाह यदाहे-
न्द्रियावानिति मदिन्तम इति स्वादिष्ठ इत्येवैतदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेत्येतदे-
ना अयाचिष्ट यदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेति शुक्रपेभ्य इति सत्यं वै शुक्रꣳ स-
त्यपेभ्य इत्येवैतदाह येषां भाग स्थ स्वाहेति तेषामु ह्येष भागः ॥२५॥ अथ मै-
त्रावरुणचमसेनैतामाहुतिमपप्लावयति । कार्षिरसीति यथा वाऽअङ्गारोऽग्निना
ध्मातः स्यादेवमेषाहुतिरेतया देवतया ध्माता भवति राजानं वाऽएताभिरद्भिरुप-

को लाओ। एकधनवाले, आओ। आग्नीध्र वसतीवरी और होता के चमसों के साथ चत्वाल पर खड़े हो।' यह मिश्रित सन्देश है ॥१६॥

वे चत्वाल के पीछे और आग्नीध्र के आगे उत्तर की ओर बढ़ते हैं। अब जिधर को जल होते हैं उधर को चलते हैं। वे वहाँ पत्नियोंसहित जाते हैं। पत्नियों के साथ वहाँ क्यों जाते हैं, इसका कारण यह है—॥१७॥

जब यज्ञ का सिर काटा गया तो उसका रस बहकर जलों में मिल गया। उसकी गन्धर्व सोमरक्षकों ने रक्षा की ॥१८॥

तब देवता बोले—'ये जो गन्धर्व हैं वे हमारे लिए भयङ्कर हैं। हम इस यज्ञ के रस को कहाँ ले जावें कि भय से मुक्त हो जायँ' ॥१९॥

उन्होंने कहा—'ये गन्धर्व स्त्रियों के अभिलाषी हैं। पत्नियों के साथ चलना चाहिए। गन्धर्व अवश्य ही स्त्रियों के पीछे फिरेंगे और हम यज्ञ के रस को ऐसे स्थान में ले जायँगे जो भय से मुक्त हो' ॥२०॥

वे पत्नियों के साथ चले। गन्धर्व उनकी स्त्रियों के पीछे चले। और वे यज्ञ के रस को ऐसे स्थान में ले गये जहाँ भय न था ॥२१॥

उसी प्रकार यह अध्वर्यु भी पत्नियों के साथ जाता है। गन्धर्व स्त्रियों के पीछे दौड़ते हैं और यह यज्ञ के रस को सुरक्षित स्थान में ले जाता है ॥२२॥

वह जलों पर आहुति देता है। जब यह आहुति दी जाती है तो यज्ञ का रस उसको खींच लेता है। वह उस तक उठता है और उसको पाकर पकड़ लेता है ॥॥२३॥

वह इस आहुति को क्यों देता है? वह यज्ञ के रस पर घी की आहुति देता है और अपनी ओर उसको खींचता है। उसकी जलों से याचना करता है। जिन देवताओं के लिए वह आहुति देता है उन्हीं को वह प्रसन्न करता है। इस प्रकार तृप्त होकर वे यज्ञ के रस को प्राप्त करते हैं ॥२४॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"देवीरापोऽपां न पात्" (यजु० ६।२७)—"हे दिव्य जलो, जलों की सन्तान।" जल दिव्य, है अतः कहा 'देवीरापोऽपां न पात्।' "यो व ऽऊर्मिर्हविष्यः" (यजु० ६।२७) अर्थात् "आपकी तरंग हवि या यज्ञ के लिए उपयुक्त है।" "इन्द्रियावान् मदिन्तमः" (यजु० ६।२७) अर्थात् "बलवान्, और स्वादिष्ट।" "तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त" (यजु० ६।२७)—"उसको देवों के देव को दो।" अर्थात् वह उसको उनसे माँगता है। "शुक्रपेभ्यः" (यजु० ६।२७)—शुक्र नाम है सत्य का, अर्थात् "सत्य के पालन करनेवाले के लिए।" "येषां भाग स्थ स्वाहा" (यजु० ६।२७)—"जिनके तुम भाग हो।" क्योंकि वस्तुतः यह उनका ही भाग है ॥२५॥

अब मैत्रावरुण चमस् के द्वारा उस आहुति को तैराता है। "कार्षिरसि" (यजु० ६।२८)—"तू कार्षि अर्थात् कृषि-सम्बन्धी है।" जैसे आग कोयले को खा जाती है, ऐसे ही इस आहुति को देवता खा जाता है। चूँकि सोम राजा का उस जल से अभिषेक होना है जो मैत्रावरुण ग्रह में

स्वद्यन्भवति या एता मैत्रावरुणचमसे वज्रो वाऽआज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्माद्वाऽअपप्लावयति ॥२६॥ अथ गृह्णाति । समुद्रस्य त्वाक्षित्याऽउन्नयामीत्यापो वै समुद्रोऽप्स्वेवैतदक्षितिं दधाति तस्मादाप एतावति भोगे भुज्यमाने न क्षीयन्ते तदन्वेकधनानुन्नयन्ति तदनु पान्नेजनान् ॥२७॥ तद्यन्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति । यत्र वै देवेभ्यो यज्ञोऽपाक्रामत्तमेतद्देवाः प्रैषैरेव प्रैषमैच्छन्पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्निविद्भिर्न्यवेदयंस्तस्मान्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति ॥२८॥ तऽआयन्ति । प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीध्रावाले वसतीवरीभिश्च होतृचमसेन च स उपर्युपरि चात्वालꣳ सꣳस्पर्शयति वसतीवरीश्च मैत्रावरुणचमसं च समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीरिति यश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रसो यश्चाद्याहृतस्तमेवैतदुभयꣳ सꣳसृजति ॥२९॥ तद्धैके । एव मैत्रावरुणचमसे वसतीवरीर्नयन्त्या मैत्रावरुणचमसाद्वसतीवरीषु यश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रसो यश्चाद्याहृतस्तमेवैतदुभयꣳ सꣳसृजाम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्वाऽआधवनीये समवनयति तदेवैष उभयो यज्ञस्य रसः सꣳसृज्यतेऽथ होतृचमसे वसतीवरीर्गृह्णाति निग्राभ्याभ्यस्तद्यदुपर्युपरि चात्वालꣳ सꣳस्पर्शयत्यतो वै देवा दिवमुपोदक्रामंस्तद्यजमानमेवैतत्स्वर्ग्यं पन्थानमनुसंख्यापयति ॥३०॥ तऽआयन्ति । तꣳ होता पृच्छत्यध्वर्योऽवेरपा३ऽइत्यविदोऽपा३ऽइत्येवैतदाह तं प्रत्याहोतेव नंनमुरित्यविदमथो मेऽनꣳसतेत्येवैतदाह ॥३१॥ स यद्यग्निष्टोमः स्यात् । यदि प्रचरण्याꣳ सꣳस्रवः परिशिष्टोऽलꣳ होमाय स्यात्तं जुहुयाद्यद्यु नालꣳ होमाय स्यादपरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहेत्याग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वाऽअग्निष्टोमस्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति मर्तवत्या पुरुषसंमितो वाऽअग्निष्टोम एवं जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात् ॥३२॥ यद्युक्थ्यः स्यात् । मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत्त्रयः परिधयस्त्रीण्युक्थान्येतैरु हि तर्हि य-

है और घी वज्र है तथा सोम वीर्य है; ऐसा न हो कि वज्र-रूपी घृत से सोमरूपी वीर्य नष्ट हो जाय इसलिए उसको उस पर तैराता है ॥२६॥

अब वह इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"समुद्रस्य त्वा क्षित्याऽउन्नयामि ।"—"तुझको समुद्र के अक्षय होने के लिए उठाता हूँ ।" जल समुद्र हैं। जलों में ही वह अक्षयपन को रखता है। इसीलिए जल इतना खाना खाये जाने पर भी क्षीण नहीं होते। इसके पीछे वे एकधन ग्रहों को लेते हैं, इसके पीछे पैर धोने के जल को ॥२७॥

मैत्रावरुण चमसे से वह क्यों लेता है? इसलिए कि जब यज्ञ देवों से भाग गया तब उसको देवों ने 'प्रैष' (यज्ञ-सम्बन्धी निमन्त्रणों) द्वारा बुलाया। 'पुरोरुक्' मन्त्रों से उसको प्रसन्न किया। निविद मन्त्रों से निवेदन किया। इसलिए मैत्रावरुण चमस् से ग्रहण करता है ॥२८॥

अब वे लौट आते हैं। अग्नीध वसतीवरी जलों और मैत्रावरुण चमस् के साथ चात्वाल में खड़ा होता है। चात्वाल के ऊपर वह वसतीवरी जलों और मैत्रावरुण चमसे को स्पर्श कराता है। "समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः" (यजु० ६।२८)—"जल जल से मिले और ओषधि ओषधि से ।" इस प्रकार वह उन जलों को, जो कल लाये गये थे और उनको जो आज लाये गये हैं, मिला देता है ॥२९॥

कुछ लोग ऐसा करते हैं कि मैत्रावरुण चमसे में कुछ वसतीवरी जल को और कुछ मैत्रा-वरुण चमसे के जल को वसतीवरी में डालते हैं। इस प्रकार यज्ञ का जो रस कल लाया गया और जो आज लाया गया उन दोनों को मिला देते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। क्योंकि जब आधवनीय में जल छोड़ता है तब भी तो दोनों रस मिल जाते हैं। अब होता के चमसे में वसती-वरी को निग्राभ्य के लिए छोड़ता है। चात्वाल के ऊपर क्यों स्पर्श कराता है? इसलिए कि वहीं से तो देव द्यौलोक को गये थे। इस प्रकार वह यजमान को स्वर्ग का मार्ग दिखा देता है ॥३०॥

अब वे (हविर्धान में) लौट आते हैं। होता उससे पूछता है, 'हे अध्वर्यु, तुमको जल मिल गया?' वह उत्तर देता है कि 'हाँ' या 'जलों ने अपने को मेरे हवाले कर दिया' अर्थात् जल मिल गया ॥३१॥

और यदि अग्निष्टोम होवे, और प्रचारणी में कुछ (घी का) शेष होम के लिए पर्याप्त रह जाय तो उससे आहुति दे दे। और यदि होम के लिए पर्याप्त न हो तो चारों चमसों में आज्य को लेकर आहुति दे, इस मन्त्र से—"यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु य जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा" (यजु० ६।२९)—"हे अग्नि, जिस मनुष्य को तुम युद्ध में या दौड़ में सहायता देते हो वह निश्चयात्मक जीत को प्राप्त हो जाता है।" वह अग्नि-सम्बन्धी मन्त्र से आहुति देता है क्योंकि अग्निष्टोम का अर्थ है अग्नि। इस प्रकार अग्नि में अग्निष्टोम की स्थापना करता है। यदि अग्निष्टोम हो तो इस प्रकार आहुति दे ॥३२॥

और यदि उक्थ्य हो तो बीच की समिधा को छुए। तीन परिधियाँ हैं और तीन उक्थ्य।

ज्ञः प्रतितिष्ठति यद्युऽअतिरात्रो वा षोडशी वा स्यान्नैव जुहुयान्न मध्यमं परिधि मुपस्पृशेत्समुद्यैव तूष्णीमेत्य प्रपद्येत तद्यथायथं यज्ञक्रतून्व्यावर्तयति ॥ ३३ ॥ अयुज्ञा-अयुज्ञा एकधना भवन्ति । त्रयो वा पञ्च वा पञ्च वा सप्त वा सप्त वा नव वा नव वैकादश वैकादश वा त्रयोदश वा त्रयोदश वा पञ्चदश वा द्वन्द्वमह मिथुनं प्रजननमथ य एष एकोऽतिरिच्यते स यजमानस्य श्रियमभ्यतिरिच्यते स वाऽएषाᳪ सधनं यो यजमानस्य श्रियमभ्यतिरिच्यते तद्यदेषाᳪ सधनं तस्मादेक-धना नाम ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [१.३] ॥ ॥

अथाधिषवणे पर्युपविशन्ति । अथास्याᳪ हिरण्यं बध्नीते द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या अग्निरेतसं वै हिरण्यᳪ सत्येनाᳪशूनुपस्पृशानि सत्येन सोमं पराहणानीति तस्माद्वाऽअस्याᳪ हिरण्यं बध्नीते ॥ १ ॥ अथ ग्रावाणमादत्ते । ते वाऽएतेऽश्ममया ग्रावाणो भवन्ति देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तच्छरीरेणैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादश्ममया भवन्ति घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा संजीवति तस्मादश्ममया ग्रावाणो भवन्ति ॥ २ ॥ तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे रावासीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां वज्रो वाऽएष तस्य न मनुष्यो भर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते ॥ ३ ॥ आददे रावासीति । यदा वाऽएनमेतेनाभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति यदाहुतिं जुहोत्यथ दक्षिणा ददात्येतद्धोष द्वयᳪ रासतऽआहुतीश्च दक्षिणाश्च तस्मादाह रावासीति ॥ ४ ॥ गभीरमिममध्वरं कृधीति । अध्वरो वै यज्ञो महान्तमिमं यज्ञं कृधीत्येवैतदाहेन्द्राय सुषूतम-

इन्हीं के द्वारा यज्ञ की स्थापना होती है। यदि अतिरात्र या षोडशी हो तो न आहुति दे और न बीच की परिधि को छुए। चुपके से वहाँ जावे। इस प्रकार वह यज्ञ के ऋतुओं में भेद कर सकता है ॥३३॥

एकधन विषम संख्या में (अयुङ्ग)होते हैं, तीन या पाँच, पाँच या सात, सात या नौ, नौ या ग्यारह, ग्यारह या तेरह, तेरह या पन्द्रह। जोड़े से सन्तति होती है। यह जो एक बच रहता है वह यजमान की श्री के लिए होता है। और जो यह यजमान की श्री के लिए बच रहा है वह सबका धन अर्थात् सधन होता है और चूंकि सबका धन होता है इसलिए उसका नाम 'एकधन' है ॥३४॥

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

अब वे अधिषवण के पास बैठते हैं। अब वह इस (अनामिका अँगुली) में सुवर्ण का टुकड़ा बाँधता है। दो ही होते हैं, तीसरा नहीं, अर्थात् सत्य और अनृत। देव सत्य है और मनुष्य अनृत। सुवर्ण अग्नि के बीज से उत्पन्न है। 'सत्य से अंशों को छुऊँ, सत्य से सोम को लूं'—वह ऐसा विचारता है इसलिए अनामिका अँगुली में सुवर्ण को बाँधता है ॥१॥

अब वह ग्रावा (पत्थर) को लेता है। ये जो ग्रावा हैं वे अश्ममय अर्थात् पत्थर के हैं। सोम देव है। सोम द्यौलोक में था। सोम वृत्र था। ये जो पहाड़ हैं वे इसके शरीर हैं। उसके ही शरीर से उसको पुष्ट करता है, पूर्ण करता है। इसीलिए ग्रावा (पट्टे) पत्थर के होते हैं। ये जो सोम को निचोड़ते हैं तो मानो उसका हनन करते हैं। उसको उसी से मारते हैं। वहीं से वह उठता है और जीवित है, इसलिए भी पट्टे पत्थर के होते हैं ॥२॥

वह पट्टे को इस मन्त्र से लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि।"—"तुझको सविता देव की प्रेरणा से, अश्विन के बाहुओं से, पूषा के हाथों से लेता हूँ। तू दानी है।" सविता देवों का प्रेरक है। इस प्रकार सविता से प्रेरित करके उसे लेता है। 'अश्विनों के बाहुओं से' इसलिए कि अश्विन देवों के अध्वर्यु हैं। वह अपने बाहुओं से नहीं किन्तु उनके बाहुओं से लेता है। 'पूषा के हाथों से' इसलिए कि पूषा भागों का बाँटनेवाला है। इसलिए पूषा के हाथों से लेता है, अपने हाथों से नहीं। इसके अतिरिक्त वह (पत्थर का पट्टा) वज्र है, कोई उसे उठा नहीं सकता। उन्हीं देवताओं की सहायता से वह उसे उठाता है ॥३॥

वह कहता है 'मैं तुझे लेता हूँ, तू दाता है।' जब वे उसको इस पत्थर से कुचलते हैं, तब आहुति होती है। जब आहुति देता है तो दक्षिणा देता है। इस प्रकार वह पट्टा दो चीजें देता है, आहुति भी और दक्षिणा भी। इसलिए कहा 'तू दाता है' ॥४॥

"गभीरमिममध्वरं कृधि" (यजु० ६।३०)—'अध्वर' नाम है यज्ञ का अर्थात् "इस गम्भीर यज्ञ को कर।" "इन्द्राय सुषूतमम्" (यजु० ६।३०)—अर्थात् "इन्द्र के लिए उत्तम

मितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेति सुषूतमामिति सुसुतममित्येवैतदा-
होत्तमेन पविनेत्येष वाऽउत्तमः पविर्यत्सोमस्तस्मादाहोत्तमेन पविनेत्यूर्जस्वन्तं
मधुमन्तं पयस्वन्तमिति रसवन्तमित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति
॥५॥ अथ वाच यच्छति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभ-
यां चक्रुस्ते होचुरुपाꣳशु यजाम वाचं यच्छामेति तऽउपाꣳश्वयजन्वाचमयच्छन् ॥६॥
अथ निग्राभ्या आहरति । तास्वेनं वाचयति निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा
मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पय-
तात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा
वितृषन्निति रसो वाऽआपस्तास्वेवैतामाशिषमाशास्ते सर्वं च मऽआत्मानं तर्प-
यत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्निति स
य एष उपाꣳशुसवनः स विवस्वानादित्यो निदानेन सोऽस्यैष व्यानः ॥७॥ त-
मभिमिमीते । घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा
संजीवति यद्वेव मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा ॥८॥
स मिमीते । इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवतऽइतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहे-
न्द्राय त्वेति वसुमते रुद्रवतऽइति तदिन्द्रमेवानु वसूंश्च रुद्रांश्चाभजतीन्द्राय त्वादि-
त्यवतऽइति तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजतीन्द्राय त्वाभिमातिघ्नऽइति सपत्नो वा
ऽअभिमातिरिन्द्राय त्वा सपत्नघ्नऽइत्येवैतदाह सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार ए-
वमस्यैषऽऋते देवेभ्यः ॥९॥ श्येनाय त्वा सोमभृतऽइति । तद्गायत्र्यै मिमीतेऽग्नये
त्वा रायस्पोषदऽइत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्र्यै मिमीते स यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दि-
वः सोममाहरत्तेन मा श्येनः सोमभृत्तेनैवास्या एतद्वीर्येण द्वितीयं मिमीते ॥१०॥
अथ यत्पञ्च कृत्वो मिमीते । मंवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सर-
स्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वो मिमीते ॥११॥ तमभिमृशति । यत्ते सोम

रीति से बनाया गया।" यज्ञ का देवता इन्द्र है इसलिए कहा 'इन्द्र के लिए'। "उत्तमेन पविना" (यजु० ६।३०)—सोम सबसे अच्छा वज्र (पवि) है, इसलिए कहा 'उत्तम वज्र से'। "ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तम्" (यजु० ६।३०)—इसके कहने का तात्पर्य कि "रस वाला" ॥५॥

अब वाणी को रोक लेता है (चुप हो जाता है)। यज्ञ को करते हुए देव लोग राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हो गये। उन्होंने कहा, 'चुपके-चुपके यज्ञ करें। वाणी को रोक लें।' उन्होंने चुपके-चुपके आहुति दी और वाणी को रोक लिया। ६॥

अब निग्राभ्य जलों को लेता और उन पर यह जपता है—"निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा। (यजु० ६।३०) मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत, प्राणं मे तर्पयत, चक्षुर्मे तर्पयत, श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत, प्रजां मे तर्पयत, पशून्मे तर्पयत, गणान्मे तर्पयत, गण मे मा वितृषन्' (यजु० ६।३१)—"हे जलो! तुम देवश्रुत निग्राभ्य हो। मुझे तृप्त करो, मेरे मन को तृप्त करो, मेरी वाणी को तृप्त करो, मेरे प्राण को तृप्त करो, मेरी आँख को तृप्त करो, मेरे कान को तृप्त करो, मेरे आत्मा को तृप्त करो, मेरी प्रजा को तृप्त करो, मेरे पशुओं को तृप्त करो, मेरे गणों को तृप्त करो, मेरे गण प्यास से न मरें।" जल रस हैं। उन पर आशीर्वाद कहता है कि मुझ सम्पूर्ण को तृप्त करो—प्रजा को, पशु को, गणों को; मेरे गण प्यासे न मरें। यह उपांशुसवन ही आदित्य विवस्वान् है। यह वस्तुतः इस यज्ञ का व्यान है ॥७॥

अब वह उसको नापता है। ये जो उसको कुचलते हैं तो मानो उसका हनन करते हैं। वहीं से यह उठता है, जीता है। चूंकि उससे नापते हैं इसलिए नाप होती है—जो मनुष्यों में प्रचलित है वह भी और अन्य नाप (मात्रा) भी ॥८॥

वह इस मन्त्र से नापता है—"इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते" (यजु० ६।३२)—"यह वसुवाले और रुद्रवाले इन्द्र के लिए।" यज्ञ का देवता इन्द्र है, इसलिए कहा 'इन्द्र के लिए।' 'वसुवाले और रुद्रवाले' कहकर वह इन्द्र के साथ वसु और रुद्रों का भी भाग स्थापित कर देता है। "इन्द्राय त्वादित्यवते" (यजु० ६।३२)—इससे इन्द्र के साथ आदित्यों का भाग भी स्थापित कर देता है। "इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने" (यजु० ६।३२)—'अभिमाति' का अर्थ है शत्रु, अर्थात् "शत्रु के मारनेवाले इन्द्र के लिए।" यह उस (इन्द्र) का विशेष भाग है जैसे किसी श्रेष्ठ (नेता) का होता है,—अन्य देवों से अलग ॥९॥

"श्येनाय त्वा सोमभृते" (यजु० ६।३२)—"तुम सोम रखनेवाले श्येन के लिए।" यह गायत्री के लिए नापता है। "अग्ने त्वा रायस्पोषदे" (यजु० ६।३२)—"तुझ धन देनेवाले अग्नि के लिए।" अग्नि गायत्री है। इसको गायत्री के लिए नापता है। यह जो गायत्री श्येन होकर सोम को द्यौलोक में ले गई, इसलिए उसको 'सोमभृत श्येन' कहा। इसके उस पराक्रम के लिए वह दूसरा भाग बाँटता है (नापता है) ॥१०॥

पाँच बार क्यों नापता है? यज्ञ की वही नाप है जो वर्ष में पाँच ऋतुएँ होती हैं। वह इसको पाँच भागों में लेता है। इसलिए पाँच बार नापता है ॥११॥

दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे । तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे
वोच इति यत्र वाऽएषोऽग्रे देवानाꣳ हविर्बभूव तद्धैतां चक्रे मैव सर्वेणेवा-
त्मना देवानाꣳ हविर्भूवमिति स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त ॥१२॥
तद्वै देवा अस्पृण्वत । तेऽस्यैतेनैवैतास्तनूराप्नुवन्त्स कृत्स्न एव देवानाꣳ हविर-
भवत्तथोऽएवास्यैष एतेनैवैतास्तनूराप्नोति स कृत्स्न एव देवानाꣳ हविर्भवति
तस्मादेवमभिमृशति ॥१३॥ अथ निग्राभ्याभिरुपसृजति । आपो ह वै वृत्रं जघ्नु-
स्तेनैवैतद्वीर्येणापः स्यन्दन्ते तस्मादेनाः स्यन्दमाना न किं चन प्रतिधारयति ता
ह स्वमेव वशं चेरुः कस्मै नु वयं तिष्ठामहे याभिरस्माभिर्वृत्रो हत इति सर्वं
वाऽइदमिन्द्राय तस्थानमास यदिदं किं चापि योऽयं पवते ॥१४॥ स इन्द्रोऽब्र-
वीत् । सर्वं वै मऽइदं तस्थानं यदिदं किं च तिष्ठध्वमेव मऽइति ता होचुः किं
नस्ततः स्यादिति प्रथमभक्ष एव वः सोमस्य राज्ञ इति तथेति ता अस्माऽअति-
ष्ठन्त तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत तद्यदेना उरसि न्यगृह्णीत तस्मान्निग्राभ्या ना-
म तथैवैता एतद्यजमान उरसि निगृह्णीते स आसामेष प्रथमभक्षः सोमस्य राज्ञो
यन्निग्राभ्याभिरुपसृजति ॥१५॥ स उपसृजति । श्वात्रा स्थ वृत्रतुर इति शिवा ह्या-
पस्तस्मादाह श्वात्रा स्थेति वृत्रतुर इति वृत्रꣳ ह्येता अघ्नन्राधोगूर्ता अमृतस्य प-
त्नीरित्यमृता ह्यापस्ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतेति नात्र तिरोहितमिवास्त्युपहूताः
सोमस्य पिबतेति तदुपहूता एव प्रथमभक्षꣳ सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति ॥१६॥ अ-
थ प्रहरिष्यन् । यं द्विष्यात्तं मनसा ध्यायेदमुष्माऽअहं प्रहरामि न तुभ्यमिति यो
न्वेवेमं मानुषं ब्राह्मणꣳ हन्ति तं न्वेव परिचक्षतेऽथ किं य एतं देवो हि सोमो
घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा संजीवति त-
थानेनस्यं भवति यद्यु न द्विष्यादपि तृणमेव मनसा ध्यायेत्तथोऽअनेनस्यं भवति
॥ ७॥ स प्रहरति । मा भेर्मा संविक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संविक्था अमुष्मा

वह इस मन्त्र से छूता है—"यत् ते सोम दिवि ज्योतिर्यत् पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे । तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः" (यजु० ६।३३)—"हे सोम, जो तेरा प्रकाश द्यौलोक में है, जो पृथिवी में, जो अन्तरिक्ष में, उससे इस यजमान के लिए और उसके धन के लिए स्थान कर। दाता के लिए आज्ञा दे।" जब यह (सोम) देवों की हवि बना तो उसने चाहा कि मैं अपनी पूर्ण सत्ता (आत्मा) के साथ देवों का हवि न बनूं। इसलिए उसने अपने तीन शरीरों को संसार में छोड़ दिया ॥१२॥

तब देव विजयी हो गये। उन्होंने इसी मन्त्र द्वारा उसके इन तीनों शरीरों को प्राप्त कर लिया, और वह सम्पूर्ण देवों का हवि हो गया। इसी प्रकार यह भी इसके शरीरों को प्राप्त करता है और यह सोम सम्पूर्णतया देवों का हवि हो जाता है। इसी कारण से वह इस प्रकार उसको छूता है ॥१३॥

अब निग्राभ्य जल को उस पर छिड़कता है। जलों ने ही वृत्र को मारा। उसी पराक्रम से ये बहते हैं। इसीलिए जब जल बहते हैं तो कोई उनको रोक नहीं सकता। वे अपनी ही इच्छा से चले थे। उन्होंने सोचा कि जब हम वृत्र को मार चुके तो किसके लिए रुकें? सृष्टि में यह जो कुछ है वह सब इन्द्र के लिए रुक गया, यहाँ तक कि पवन भी ॥१४॥

इन्द्र बोला कि 'सृष्टि में जो कुछ है सब मेरे लिए रुक गया। तुम भी रुको।' उन्होंने कहा कि 'तो हमारा क्या होगा?' उसने कहा कि 'सोम राजा का पहला घूंट तुमको मिलेगा।' उन्होंने कहा, 'अच्छा।' वे उसके लिए रुक गये। जब वे उसके लिए रुक गये तो उसने उनको छाती से लगा लिया (न्यगृह्णीत), इसलिए इनका नाम 'निग्राभ्य' है। इसी प्रकार यह यजमान भी इनको छाती से लगाता है। यह उनका सोम राजा का पहला घूंट है कि वह इन जलों को (सोम पर) छोड़ता है ॥१५॥

वह इस मन्त्र से छोड़ता है—'श्वात्रा स्थ वृत्रतुरः' (यजु० ६।३४) जल कल्याणकारक होते हैं इसलिए कहा—"वृत्र को मारनेवाले कल्याणकारी" क्योंकि इन्होंने वृत्र को मारा। "राधोगूर्ताऽअमृतस्य पत्नीः" (यजु० ६।३४)—"ऐश्वर्य की देनेवाली अमृत की पत्नियाँ।" जल अमृत हैं। "ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नय" (यजु० ६।३४)—"हे देवियो, देवों के लिए इस यज्ञ को ले जाओ।" यह सब स्पष्ट है। "उपहूताः सोमस्य पिबत" (यजु० ६।३४)—"आप निमन्त्रित होकर सोम को पियो।" ये जल निमन्त्रित हैं और सोम राजा के पहले घूंट को पीते हैं ॥१६॥

जब सोम को कुचले तो मन में अपने शत्रु का विचार करे—'मैं अमुक शत्रु को कुचलता हूँ। तुझको नहीं।' जो कोई ब्राह्मण मनुष्य को मारते हैं वे पाप करते हैं, फिर उनका क्या कहना जो सोम राजा का हनन करते हैं क्योंकि सोम तो देव है! ये जो उसको पत्थर से कुचलते हैं तो इसका हनन करते हैं। वहीं से वह उठता है, जीता है, इस प्रकार पाप नहीं होता। यदि कोई उसका शत्रु न हो तो तृण का ही चिन्तन कर ले। इससे भी पाप न लगेगा ॥१७॥

वह इस मन्त्र से कुचलता है—"मा भेर्मा संविक्था" (यजु० ६।३५)—अर्थात् "डरे

ऽअहं प्रहरामि न तुभ्यमित्येवैतदाहोर्जं धत्स्वेति रसं धत्स्वेत्येवैतदाह धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथामितीमेऽएवैतत्फलकेऽआहुरित्यु हैकऽआहुः किं नु तत्र योऽप्येते फलके भिन्द्यादिमे ह वै द्यावापृथिवीऽएतस्माद्वज्रादुद्यतात्सꣳरेजेते तदाभ्यामेवैनमेतद्द्यावापृथिवीभ्याꣳ शमयति तथेमे शान्ते न हिनस्त्यूर्जं दधाथामिति रसं दधाथामित्येवैतदाह पाप्मा हतो न सोम इति तदस्य सर्वं पाप्मानꣳ हन्ति ॥१८॥ स वै त्रिरभिषुणोति । त्रिः सम्भरति चतुर्निग्राभमुपैति तद्दश दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दश कृत्वः सम्पादयति ॥१९॥ अथ यन्निग्राभमुपैति । यत्र वाऽएषोऽग्रे देवानाꣳ हविर्बभूव तद्धेमा दिशोऽभिदध्यावाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्पृशेयेति तमेतद्देवा आभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन्यन्निग्राभमुपायंस्तथोऽएवैनमेष एतदाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्पर्शयति यन्निग्राभमुपैति ॥२०॥ स उपैति । प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश आधावन्त्विति तदेनमाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्पर्शयत्यम्ब निष्पर समरीर्विदामिति योषा वाऽअम्बा योषा दिशस्तस्मादाहाम्ब निष्परेति समरीर्विदामिति प्रजा वाऽअरीः सं प्रजा जानतामित्येवैतदाह तस्माद्या अपि विदूरमिव प्रजा भवन्ति समेव ता जानते तस्मादाह समरीर्विदामिति ॥२१॥ अथ यस्मात्सोमो नाम । यत्र वाऽएषोऽग्रे देवानाꣳ हविर्बभूव तद्धेक्षां चक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानाꣳ हविर्भूवमिति तस्य या जुष्टतमा तनूरास तामपनिदधे तद्धि देवा अस्पृण्वत ते होचुरुपैवैतां प्रवृहस्व सहैव न एतया हविरेधीति तां दूरऽइवोपप्रावृहत स्वा वै मऽएषेति तस्मात्सोमो नाम ॥२२॥ अथ यस्माद्यज्ञो नाम । घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते स यन्जायते तस्माद्यञ्जो यज्ञो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति ॥२३॥ तत्रैतामपि वाचमुवाद । त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।

मत, काँपे मत।" क्योंकि मैं अमुक को कुचलता हूँ, तुझको नहीं। "ऊर्जं धत्स्व" (यजु० ६।३५)– अर्थात् "रस को धारण कर।" "धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्" (यजु० ६।३५)– "हे निश्चल धिषण, तुम निश्चल रहो और रस को धारण करो।" कुछ लोग कहते हैं कि इससे उन दो पट्टों से तात्पर्य है। यदि इनको कोई तोड़ दे तो क्या हो? ये वस्तुतः द्यौ और पृथिवी हैं जो इस उद्यत वज्र से काँपते हैं। इसलिए इसको शान्त करता है और यह शान्त होकर हानि नहीं पहुँचाता। 'ऊर्जं दधाथाम्' का अर्थ है 'रस को धारण कर।' "पाप्मा हतो न सोमः" (यजु० ६।३५)–"पापी मर गया, न कि सोम।" इस प्रकार इसके सब पापों का नाश करता है ॥१८॥

वह तीन बार कुचलता है, तीन बार बटोरता है। चार बार निग्राभ-क्रिया करता है। इस प्रकार दस हुए। दस अक्षर का विराट् छन्द होता है। सोम विराट्वाला है। इस प्रकार दस बार में सम्पादन करता है ॥१९॥

वह निग्राभ-क्रिया क्यों करता है? जब यह सोम पहले देवताओं की हवि बना तो इसने इन चार दिशाओं का ध्यान किया कि मैं इन चार दिशाओं के द्वारा अपने प्रिय तेज का स्पर्श करूँ। निग्राभ के द्वारा देवों ने इन दिशाओं से प्रिय प्रकाश के साथ स्पर्श कराया। यह यजमान भी निग्राभ करके इन दिशाओं के द्वारा प्रिय प्रकाश से इसका स्पर्श कराता है ॥२०॥

वह (निग्राभ क्रिया) इस मन्त्र से करता है—"प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिशऽ-आधावन्तु" (यजु० ६।३६)—"पूर्व से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, चारों ओर से दिशाएँ तुझे धारण करें।" इस प्रकार वह दिशाओं से उसका जोड़ा मिला देता है, उसके प्रिय प्रकाश से। "अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्" (यजु० ६।३६)—"हे मा, इसको सन्तुष्ट कर। उच्च लोग मिलें।" 'अम्बा' स्त्री हैं। 'दिशाएँ' स्त्री हैं। इसलिए कहा, 'अम्ब निष्पर।' 'अरीः' प्रजा हैं। इसका तात्पर्य है कि प्रजाएँ परस्पर मेल से रहें। जो दूर-दूर रहते हैं वे भी मेल से रहते हैं। इसलिए कहा कि प्रजाएँ मेल से रहें ॥२१॥

अब सोम नाम क्यों पड़ा? जब यह पहले देवताओं का हवि बना तो इसने चाहा कि मैं अपनी पूर्ण सत्ता से देवों का हवि न बनूँ। उसका जो सबसे प्यारा शरीर (अंश) था उसको उसने अलग कर लिया। अब देव विजयी हो गये। उन्होंने कहा, 'तू इसको अपने में धारण कर। तब तू हमारा हवि होगा।' उसने उस अपने अंश को दूर से खींच लिया। यह मेरा ही है। (स्वा वै म) इससे सोम हो गया ॥२२॥

इसको यज्ञ क्यों कहते हैं? जब उसको कुचलते हैं तो उसको मारते हैं। जब उसको फैलाते हैं तो उसको उत्पन्न करते हैं। वह फैलाया जाकर उत्पन्न होता है। उत्पन्न होता है, इसलिए 'यन् जायते', 'यञ्ज', 'यज्ञ' हुआ ॥२३॥

उसने उस समय यह कहा—"त्वमङ्ग प्रशँसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्। न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः" (यजु० ६।३७, ऋ० १।८४।१९)—"हे श्रेष्ठ देव, तू

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वच इति मर्त्यो ह्येवैतद्भवन्नुवाच त्वमेवैतो जनयितासि नान्यस्त्वदिति ॥२४॥ अथ निग्राभ्याभ्यो ग्रहान्विगृह्णते । आपो ह वै वृत्रं जघ्नुस्तेनैवैतद्वीर्येणापः स्यन्दन्ते स्यन्दमानानां वै वसतीवरीर्गृह्णाति वसतीवरीभ्यो निग्राभ्या निग्राभ्याभ्यो ग्रहान्विगृह्णते तेनैवैतद्वीर्येण ग्रहान्विगृह्णते होतृचमसाद्योषा वाऽऋग्घोता योषायै वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते तदेनमेतस्यै योषायाऽऋचो होतुः प्रजनयति तस्माद्धोतृचमसात् ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥५ [१.४]॥ सप्तमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११४ ॥ नवमोऽध्यायः [२४.] ॥ ॥

अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ८५१ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे अध्वरनाम तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥३॥ ॥

मर्त्य को प्रशंसित करेगा। तुझसे अन्य कोई सुख का दाता नहीं है। हे ऐश्वर्यवान्, मैं तुझसे यह वचन कहता हूँ।" यह मर्त्य ही था जो इसने यह कहा, अर्थात् तू ही इसको उत्पन्न करनेवाला है, तुझसे अन्य कोई दूसरा नहीं ॥२४॥

अब निग्राभ्य जलों से कई ग्रहों (प्यालों) को भरते हैं। जलों ने ही वृत्र को मारा था। उसी पराक्रम से जल बहते हैं। बहते हुओं से ही वसतीवरी को ग्रहण करता है, वसतीवरी से निग्राभ्य को, निग्राभ्य से ग्रहों को। उसी पराक्रम के द्वारा होता के चमसे से वह ग्रहों को लेता है। यह जो होता है, वह ऋक् है, ऋक् स्त्री है, स्त्री से ही यह प्रजा उत्पन्न होती है। इसलिए वह (इस सोम) को स्त्री, ऋक् होता से उत्पन्न कराता है। इसलिए वह होतृ के चमसे से ग्रहों को लेता है ॥२५॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का अध्वरनाम तृतीय काण्ड समाप्त हुआ।

तृतीय काण्ड

प्रपाठक		कण्डिका-संख्या
प्रथम [३. २. १]		१२४
द्वितीय [३. ३. ३]		१२८
तृतीय [३. ४. ४]		१२२
चतुर्थ [३. ६. १]		१३२
पञ्चम [३. ७. ३]		१२७
षष्ठ [३. ८. ४]		११२
सप्तम [३.९. ४]		११४
	योग	८५९
	पूर्व के काण्डों का योग	१३८७
	पूर्णयोग	२२४६

तृतीय काण्ड के विशेष शीर्षक

अवान्तर दीक्षा [३।४।३]; उपसदिष्टिः [३।४।४]; महावेदिनामम् [३।५।१]; अग्निप्रणयनादि [३।५।२]; सदो हविर्धाननिर्माणादि [३।५।३]; उपरवनिर्माणम् [३।५।४]; सदस्यौदुम्बरी निखननम् [३।६।१]; धिष्ण्य निवापादि [३।६।२]; वैसर्जनहोमः [३।६।३]; अग्निषोमीय पशुप्रयोगः, तत्र यूपच्छेदनम् [३।६।४]; यूपोच्छ्रयणादि [३।७।१]; यूपैकादशिनी [३।७।२]; पशूपकरणादि [३।७।३]; पशुनियोजन प्रोक्षणादि [३।७।४]; पशु संज्ञपनम्; तत्रोपवेशनादि विधिः [३।८।१]; अग्निषोमीय वपायागः [३।८।२]; पशुपुरोडाशयागः [३।८।३]; उपयड्ढोमः [३।८।४]; पश्वेकादशिनी [३।९।१]; वसतीवर ग्रहणविधिः [३।९।२]; सवनीयपशुप्रयोगः [३।९।३]; सोमाभिषवः [३।९।४]।

ओम् । प्राणो ह वाऽअस्योपाꣳशुः । व्यान उपाꣳशुसवन उदान एवान्तर्यामः ॥१॥ अथ यस्मादुपाꣳशुर्नाम । अꣳशुर्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिस्तस्यैष प्राणस्तद्यदस्यैष प्राणस्तस्मादुपाꣳशुर्नाम ॥२॥ तं बर्हिष्पवित्राद्गृह्णाति । पराञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति सोऽस्यायं पराङेव प्राणो निर्र्दति तमꣳशुभिः पावयति पूतोऽसदिति षड्भिः पावयति षड्वाऽऋतव ऋतुभिरेवैनमेतत्पावयति ॥३॥ तदाहुः । यदꣳशुभिरुपाꣳशुं पुनाति सर्वे सोमाः पवित्रपूता अथ केनास्याꣳशवः पूता भवन्तीति ॥४॥ तानुपनिवपति । यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तदस्य स्वाहाकारेणैवाꣳशवः पूता भवन्ति सर्वं वाऽएष ग्रहः सर्वेषाꣳ हि सवनानाꣳ रूपम् ॥५॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्ते होचुः सꣳस्थापयाम यज्ञं यदि नोऽसुररक्षसान्यासजेयुः सꣳस्थित एव नो यज्ञः स्यादिति ॥६॥ ते प्रातःसवनऽएव । सर्वं यज्ञꣳ समस्थापयन्नेतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे स्तोत्रे सामतः प्रथमे शस्त्रऽऋक्तस्तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेनाचरन्त्स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः संतिष्ठतऽएतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे स्तोत्रे सामतः प्रथमे शस्त्रऽऋक्तस्तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेन चरति ॥७॥ स वाऽअष्टौ कृत्वोऽभिषुणोति । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं प्रातःसवनमेवैतत्क्रियते ॥८॥ स गृह्णाति । वाचस्पतये पवस्वेति प्राणो वै वाचस्पतिः प्राण एष ग्रहस्तस्मादाह वाचस्पतये पवस्वेति वृष्णोऽअꣳशुभ्यां गभस्तिपूत इति सोमाꣳशुभ्याꣳ ह्येनं पावयति तस्मादाह वृष्णोऽअꣳशुभ्यामिति

चतुर्थ काण्ड

अथ ग्रह नामकं चतुर्थ काण्डम्

उपांशुग्रहः क्षुल्लकाभिषवश्च

अध्याय १—ब्राह्मण १

उपांशु यज्ञ का प्राण है। उपांशु सवन व्यान है और अन्तर्याम ग्रह उदान है ॥१॥

इसको उपांशु क्यों कहते हैं? अंशु नामी ग्रह प्रजापति है। यह ग्रह उसका प्राण है। चूंकि वह इसका प्राण है इसलिए उपांशु हुआ ॥२॥

इसको पवित्रे के विना लेता है। उससे परांच प्राण (दूर जाते हुए प्राण) को धारण करता है। उसका यह बाहर की ओर जाता हुआ निकलता है। उसको सोम के अंशु या डालियों से पवित्र करता है, क्योंकि ये पवित्र होती हैं। छः डालियों से पवित्र करता है। छः ऋतुएँ हैं। इस प्रकार ऋतुओं से पवित्र करता है ॥३॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि उपांशु ग्रह को तो सोम की डालियों से पवित्र करते हैं और अन्य सोम पवित्रे से पवित्र किये जाते हैं, तो ये डालियाँ किससे पवित्र होती हैं? ॥४॥

उन (डालियों) को इस मन्त्र को पढ़कर (सोम पर) डाल देता है या उपवपन करता है—"यत् ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा" (यजु० ७।२)—"हे सोम, तेरा जो दमन करने योग्य जगानेवाला नाम है उस तुझ सोम के लिए स्वाहा।" इस स्वाहाकार से ही ये डालियाँ पवित्र हो जाती हैं। यह ग्रह सब-कुछ है, क्योंकि यह सब सवनों का रूप है ॥५॥

जब देवों ने यज्ञ ताना तो वे राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हो गए। उन्होंने कहा कि पहले हम यज्ञ की स्थापना कर लें, फिर यदि राक्षस आक्रमण भी करेंगे तो हमारा यज्ञ तो स्थापित रहेगा ही ॥६॥

उन्होंने प्रातः-सवन में ही सम्पूर्ण यज्ञ स्थापित कर दिया—इसी (उपांशु) ग्रह में यजुः से, पहले स्तोत्र में साम से, पहले शस्त्र में ऋक् से। इसी पूर्णतया स्थापित यज्ञ के द्वारा उन्होंने अर्चन किया। यह भी इसी प्रकार यज्ञ को स्थापित करता है,—पहले इसी ग्रह में यजुः से, पहले स्तोत्र में सोम से, प्रथम शस्त्र में ऋक् से। उसी स्थापित यज्ञ से वह अर्चन करता है ॥७॥

यह सोम आठ बार कुचला जाता है। आठ अक्षर की गायत्री होती है। प्रातः-सवन गायत्री-सम्बन्धी है। इस प्रकार यह प्रातः-सवन होता है ॥८॥

वह इस मन्त्र से लेता है—"वाचस्पतये पवस्व" (यजु० ७।१)—"वाचस्पति के लिए पवित्र हो।" वाचस्पति प्राण है। यह ग्रह भी प्राण है। इसलिए कहा कि वाचस्पति के लिए पवित्र हो। "वृष्णोऽअꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः" (यजु० ७।१) सोम की दो डालियों से इसे पवित्र करता है, इसलिए कहा कि "शक्तिशाली के दो अंशुओं से।" 'गभस्ति' का अर्थ है हाथ। हाथ से

गभस्तिपूत इति पाणी वै गभस्ती पाणिभ्याꣳ ह्येनं पावयति ॥ ९॥ अथैकादश कृत्वोऽभिषुणाति । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं माध्यन्दिनमेवैतत्सवनं क्रियते ॥१०॥ स गृह्णाति । देवो देवेभ्यः पवस्वेति देवो ह्येष देवेभ्यः पवते येषां भागोऽसीति तेषामु ह्येष भागः ॥११॥ अथ द्वादश कृत्वोऽभिषुणोति । द्वादशाक्षरा वै जगती जागतं तृतीयसवनं तृतीयसवनमेवैतत्क्रियते ॥१२॥ स गृह्णाति । मधुमतीर्न इषस्कृधीति रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वदयत्येवैनमेतद्देवेभ्यस्तस्मादेष कृतो न पूयत्यथ यज्जुहोति सꣳस्थापयत्येवैनमेतत् ॥१३॥ अष्टावष्टौ कृत्वः । ब्रह्मवर्चसकामस्याभिषुणुयादित्याहुरष्टाक्षरा वै गायत्री ब्रह्म गायत्री ब्रह्मवर्चसी हैव भवति ॥१४॥ तच्चतुर्विꣳशतिं कृत्वोऽभिषुतं भवति । चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्सꣳस्थापयति ॥१५॥ पञ्च-पञ्च कृत्वः । पशुकाम स्याभिषुणुयादित्याहुः पाङ्क्ताः पशवः पशून्हैवावरुन्द्धे पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्सꣳस्थापयति सोऽएषा मीमाꣳसैवेतरं त्वेव क्रियते ॥१६॥ तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि । नेदवश्चोतदिति तं न सादयति प्राणो ह्यस्यैष तस्मादयमसन्नः प्राणः संचरति यदीवाभिचरेदथैनꣳ सादयेदमुष्य त्वा प्राणꣳ सादयामीति तथाह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्नानुसृजति तेनोऽअध्वर्युश्च यजमानश्च ज्योग्जीवतः ॥१७॥ अथोऽअप्येवैनं दध्यात् । अमुष्य त्वा प्राणमपिदधामीति तथाह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्न सादयति तेनो प्राणान्न लोभयति ॥१८॥ स वाऽअन्तरेव सन्त्स्वाहेति करोति । देवा ह वै बिभयां चक्रुर्यद्वै नः पुरैवास्य ग्रहस्य होमादसुररक्षसानीमं ग्रहं न हन्युरिति तमन्तरेव सन्तः स्वाहाकारेणाजुहवुस्तꣳ हुतमेव सन्तमग्नावजुहवुस्तथोऽएवैनमेष एतदन्तरेव सन्त्स्वाहाकारेण जुहोति तꣳ हुतमेव सन्तमग्नौ जुहो-

उसको पवित्र करता है, इसलिए कहा 'गभस्तिपूतः' ॥९॥

अब वह ग्यारह बार कुचलता है। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् दोपहर का सवन है। इस प्रकार यह दोपहर का सवन हो जाता है ॥१०॥

वह इस मन्त्र से ग्रहण करता है—"देवो देवेभ्यः पवस्व" (यजु० ७।१)—"देव देवों के लिए पवित्र हो।" यह (सोम) देव है और देवों के लिए पवित्र होता है। "येषां भागोऽसि" (यजु० ७।१)—वस्तुतः यह उनका भाग है ॥११॥

अब बारह बार कुचलता है। जगती बारह अक्षर की होती है। तीसरा सवन जगती का है। इस प्रकार यह तीसरा सवन हो जाता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र के द्वारा ग्रहण करता है—"मधुमतीर्नऽइषस्कृधि" (यजु० ७।२)—"हमारे अन्नों को मीठा कर।" इस प्रकार इसमें रस डालता है और देवों के चखने योग्य बनाता है। इस प्रकार मारा जाकर वह सड़ता नहीं। और जब वह इस ग्रह की आहुति देता है तो उसकी वहाँ स्थापना करता है ॥१३॥

ब्रह्मवर्चस् की इच्छावाला आठ बार कुचले। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री ब्रह्मवर्चसी है ॥१४॥

इस प्रकार चौबीस चोटों से कुचलना हो जाता है। वर्ष के अर्ध मास चौबीस होते हैं। संवत्सर प्रजापति हैं, प्रजापति यज्ञ है। वह यज्ञ जितना है और जितनी उसकी मात्रा है उतनी ही उसकी संस्थापना हो जाती है ॥१५॥

पशु की कामनावाला पाँच बार कुचले। कहते हैं कि पशु पाँचवाले हैं। इस प्रकार पशु की प्राप्ति करता है। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर ही प्रजापति है। प्रजापति यज्ञ है। जितना यह यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है उतनी ही इसकी संस्थापना है। यह केवल मीमांसा (कल्पना) है। दूसरी क्रिया इस प्रकार है—॥१६॥

ग्रह को लेकर पोंछता है कि कुछ टपके न। वह इसको रखता नहीं है। यह उसका प्राण है। इस प्रकार उसका प्राण निरन्तर चलता है। यदि इसको रोकना चाहे तो इसको रख दे और कहे 'मैं अमुक के तुम प्राण को रोकता हूँ।' चूँकि अध्वर्यु उसको छोड़ता नहीं, अतः वह (प्राण) उस (शत्रु) में नहीं रहता। इस प्रकार अध्वर्य और यजमान दीर्घ जीवन को प्राप्त होते हैं ॥१७॥

या उसको हाथ से दबाकर कहे कि 'मैं अमुक के तुझ प्राण को दबाता हूँ।' चूँकि वह उसको रखता नहीं, अतः वह (प्राण) शत्रु में नहीं रहता। इस प्रकार वह प्राणों को नष्ट नहीं करता ॥१८॥

जब वह हविर्धान के भीतर ही होता है तभी 'स्वाहा' कहता है। देवों को डर था कि होम से पहले जो कुछ इस ग्रह का अंश है उसको असुर राक्षस नष्ट न कर दें। इसलिए जब वे हविर्धान के भीतर थे तभी उन्होंने स्वाहा कह दिया, और जो कुछ आहुति दी उससे अग्नि में फिर आहुति दे दी। इस प्रकार यह भी जब हविर्धान के भीतर है तभी स्वाहा करके आहुति देता है, और जो कुछ आहुति दी जाती है उसी को फिर आग में छोड़ देता है ॥१९॥

ति ॥१९॥ अथोपनिष्क्रामति । उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वाऽअनु रक्षश्चरत्य-
मूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरत्येतद्वै
यजुर्ब्रह्म रक्षोहा स एतेन ब्रह्मणान्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते ॥२०॥ अथ वरं वृ-
णीते । बलवद्ध वै देवा एतस्य ग्रहस्य होमं प्रेप्सन्ति तेऽस्माऽएतं वरꣳ समर्ध-
यन्ति क्षिप्रे न इमं ग्रहं जुहवदिति तस्माद्वरं वृणीते ॥२१॥ स जुहोति । स्वां-
कृतोऽसीति प्राणो वाऽअस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातस्तस्मादाह स्वां-
कृतोऽसीति विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इति सर्वाभ्यो ह्येष प्रजा-
भ्यः स्वयं जातो मनस्त्वाष्टिति प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ट्वाश्नुतामित्येवैतदाह स्वा-
हा त्वा सुभव सूर्यायेति तदवरꣳ स्वाहाकारꣳ करोति परां देवताम् ॥२२॥ अमु-
ष्मिन्वाऽएतमहौषीत् । य एष तपति सर्वं वाऽएष तदेनꣳ सर्वस्यैव परार्ध्यं क-
रोत्यथ यदवरां देवतां कुर्यात्परꣳ स्वाहाकारꣳ स्यादु हैवामुष्मादादित्यात्परं त-
स्मादवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवताम् ॥२३॥ अथ हुत्वोर्ध्वं ग्रहमुन्मार्ष्टि ।
पराञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधात्यथोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टि प-
राञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति ॥२४॥ अमुष्मिन्वा
ऽएतं मण्डलेऽहौषीत् । य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते देवा मरीचिपास्ताने-
वैतत्प्रीणाति तऽएनं देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ॥२५॥ तस्य वाऽए-
तस्य ग्रहस्य । नानुवाक्यास्ति न याज्या तं मन्त्रेण जुहोत्येतेनो हास्यैषोऽनुवा-
क्यवान्भवत्येतेन याज्यवानथ यद्यभिचरेद्योऽस्याꣳशुराश्लिष्टः स्याद्बाह्वोर्वारणि वा
वाससि वा तं जुहुयाद्देवाꣳशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फ-
डिति यथा ह वै हन्यमानानामपधावेदेवमेषोऽभिषूयमाणानाꣳ स्कन्दति तथा
ह तस्य नैव धावन्नापधावत्परिशिष्यते यस्माऽएवं करोति तꣳ सादयति प्राणाय
त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः ॥२६॥ दक्षिणार्धे हैके सादयन्ति । एताꣳ ह्येष दिशमनु

अब वह 'हविर्धान' से बाहर आता है यह कहता हुआ कि मैं अन्तरिक्ष में होकर आता हूँ। अन्तरिक्ष में राक्षस दोनों ओर से स्वच्छन्द मूलरहित फिरता है। इसी प्रकार यह पुरुष भी दोनों ओर से स्वच्छन्द मूलरहित अन्तरिक्ष में फिरता है। यह यजु: है, राक्षस को मारनेवाली स्तुति। इसी स्तुति के द्वारा वह अन्तरिक्ष को निर्भय और राक्षस से मुक्त कर देता है ॥२०॥

अब वर मांगता है—देव इस ग्रह के होम को अत्यन्त चाहते हैं। और वे इसके लिए उसको वर देते हैं कि शीघ्र ही यह होम हमारे लिए दे देवे। इसलिए वर को माँगता है ॥२१॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"स्वां कृतोऽसि" (यजु० ७।३)—"यह ग्रह इसका प्राण है।" वह उसी का किया हुआ स्वयं उत्पन्न हुआ है, इसलिए कहा कि 'स्वांकृत:' अर्थात् अपने-आप बना हुआ है। "विश्वेभ्य ऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्य: पार्थिवेभ्य:" (यजु० ७।३)—"सब प्रजाओं के लिए यह स्वयं ही बना है।" "मनस्त्वाष्टु" (यजु० ७।३)—"तुझको मन प्राप्त करे।" मन प्रजापति है, इसलिए इसका अर्थ हुआ कि प्रजापति तुझको पावे। "स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय" (यजु० ७।३)—"हे भलीभाँति उत्पन्न तुझ सूर्य के लिए स्वाहा।" इस प्रकार वह दूसरे देवता के लिए स्वाहाकार करता है ॥२२॥

यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, उसी में उसने आहुति दी है। यही सब-कुछ है। इसलिए वह उस (सूर्य) को सर्वोपरि बनाता है। यदि वह दूसरे स्वाहाकार को पहले देवता के लिए करता तो वह सूर्य से भी बड़ा हो जाता। इसलिए दूसरे स्वाहाकार को उसी देवता के लिए करता है ॥२३॥

अब आहुति देकर ग्रह को पोंछता है। इसमें वह जाते हुए प्राण को फिर रखता है। अब हथेली से मध्यपरिधि में वह पोंछा हुआ सोम लगाता है। इस प्रकार उसमें जाते हुए प्राण को धारण कराता है इस मन्त्र से —"देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य:" (यजु० ७।३)—"किरणों को पीनेवाले देवों के लिए तुझको" ॥२४॥

उसी (सूर्यमंडल) में उसने आहुति दी है, जो कि तपता है। उसी की किरणें 'मरीचिपा' (प्रकाश का पान करनेवाली) हैं। उन्हीं को वह प्रसन्न करता है। उसी से प्रसन्न होकर देव उसे स्वर्गलोक को ले जाते हैं ॥२५॥

इस ग्रह के लिए न कोई अनुवाक्य है न याज्य। वह एक मन्त्र से आहुति देता है, इसी से वह अनुवाक्य और याज्य दोनों से युक्त हो जाता है। यदि वह कोई अभिचार करना चाहे तो सोम की डाली को चिपका ले, बाहों से, छाती से या कपड़े से, और इस मन्त्र से आहुति देवे—'देवाᳪशो यस्मै त्वेडे तत् सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट्"—"हे दिव्य सोम ! जिस काम के लिए मैं तेरी स्तुति करता हूँ, वह पूरा होवे। और अमुक पुरुष (मेरा शत्रु) नष्ट हो जाय।" जिस प्रकार मारे जानेवाले शत्रुओं में से कोई भाग जाता है, इसी प्रकार सोम की कुचली जानेवाली शाखाओं में से यह एक बच सकती है। जो इस प्रकार करता है उसका कोई शत्रु भागकर बचने नहीं पाता। इस मन्त्र से वह ग्रह को रख देता है—"प्राणाय त्वा" (यजु० ७।३) क्योंकि यह ग्रह इस यज्ञ का प्राण है ॥२६॥

कुछ लोग इसको दक्षिण की ओर रखते हैं। वे कहते हैं कि इसी दिशा में सूर्य चलता

संचरतीति तद्द तथा न कुर्यादुत्तरार्धऽएवैन७ सादयेन्नो ह्येतस्या ग्राहुतेः का चन परास्ति त७ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः ॥२७॥ ग्रथोपा७शुसवनमादत्ते । तं न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति यथा ह्यद्भिः प्रणिक्तमेवं तद्यद्य७शुराश्लिष्टः स्यात्पाणिनैव प्रध्व७स्योदञ्चमुपनिपादयेद्व्यानाय त्वेति व्यानो ह्यस्यैषः ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

प्राणो ह वाऽग्रस्योपा७शुः । व्यान उपा७शुसवन उदान एवान्तर्यामः ॥१॥ ग्रथ यस्मादन्तर्यामो नाम । यो वै प्राणः स उदानः स व्यानस्तमेवास्मिन्नेतत्पराञ्चं प्राणं दधाति यदुपा७शुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्प्रत्यञ्चमुदानं दधाति यदन्तर्यामं गृह्णाति सोऽस्यायमुदानोऽन्तरात्मन्यतस्तद्यदस्यैषोऽन्तरात्मन्यतो यद्वेनेनेमाः प्रजा यतास्तस्मादन्तर्यामो नाम ॥२॥ तमन्तःपवित्राद्गृह्णाति । प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति सोऽस्यायमुदानोऽन्तरात्मन्हितः एतेनो हास्याप्युपा७शुरन्तःपवित्राद्गृहीतो भवति समान७ ह्येतद्यदुपा७श्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ ह्येतेनो हैवास्यैषोऽपीतरेषु ग्रहेष्वनाहितो भवति ॥३॥ ग्रथ यस्मात्सोमं पवित्रेण पावयति । यत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ तेन सम७शशाम तस्मिन्पुनर्ददुष्यासैवातिशिष्टमेनो यदीन्नूनं ब्रह्म ज्यानायाभिदध्यौ ॥४॥ तं देवाः पवित्रेणापावयन् । स मेध्यः पूतो देवाना७ हविरभवत्तथोऽएवैनमेष एतत्पवित्रेण पावयति स मेध्यः पूतो देवाना७ हविर्भवति ॥५॥ तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते । इयं वाऽग्रदितिस्तस्या ग्रदः प्रायणीय७ हविरसावादित्यश्चरुस्तद्वै तत्पुरेव सुत्यायै सा हेयं देवेषु सुन्यायामपित्वमीषेऽस्त्वेव मेऽपि प्रसुते भाग इति ॥६॥ त ह देवा ऊचुः । व्यादिष्टोऽयं देवताभ्यो यज्ञस्त्वयैव ग्रहा गृह्यन्तां देवताभ्यो हूयन्तामिति तथेति सोऽस्या एष प्रसुते भागः ॥७॥ तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते । इयं वाऽउपयाम इयं वाऽइदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्य इतो वाऽऊ-

है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उसको उत्तर की ओर रक्खे। क्योंकि इससे उत्तर (उत्कृष्ट) कोई ग्रह है ही नहीं। इसको "प्राणाय त्वा" (यजु० ७।३) कहकर रखता है क्योंकि यह उसका प्राण है ।।२७।।

अब वह उपांशु सवन को लेता है। वह इसको न झालर से छूता है न पवित्रे से। ऐसा करने से तो पानी से धोने के तुल्य होगा। यदि कोई अंशु या सोमलता का टुकड़ा लगा हो तो उसे हाथ से छुटा दे और उस (उपांशु सवन) को (उपांशु-ग्रह के) पास रख दे उत्तर की ओर मुंह करके, इस मन्त्र से—"व्यानाय त्वा" (यजु० ७।३) क्योंकि यह यज्ञ का व्यान है ।।२८।।

अन्तर्यामग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण २

इस (यज्ञ) का प्राण उपांशु ग्रह है, व्यान उपांशु सवन है और अन्तर्याम ग्रह उदान है ।।१।।

अन्तर्याम नाम यों पड़ा—जो प्राण है सो उदान, वही व्यान है, इसी में उस जाते हुए प्राण को धारण करता है; जो उपांशु ग्रह को लेता है, और जो अन्तर्याम ग्रह को लेता है उसमें लौटते हुए उदान को लेता है, यह उदान उसके अन्तरात्मा में ही है; यह जो उदान अन्तरात्मा में है और चूंकि इसमें यह प्रजा 'यताः' अर्थात् व्याप्त है, इसलिए इस ग्रह का नाम 'अन्तर्याम' पड़ गया ।।२।।

उसको पवित्रे के भीतर से निकालता है। इस प्रकार लौटके निकलते हुए उदान को उसमें धारण करता है। यह उदान उसी में स्थित होता है। इसीसे उसकी उपांशु-आहुति पवित्रे के भीतर से निकली हुई हो जाती है, क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम एक ही हैं, क्योंकि वे प्राण और उदान हैं। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा उसका प्राण अन्य ग्रहों में भी निरन्तर स्थित हो जाता है ।।३।।

सोम को पवित्रे से शुद्ध करने का कारण यह है—जब सोम ने अपने ही पुरोहित बृहस्पति को सताया था तो पीछे से उसने उसका माल वापस कर दिया था और वह शान्त हो गया था। माल लौटा देने पर भी कुछ दोष तो शेष रह ही गया क्योंकि उसने ब्राह्मण को सताने का विचार कर लिया था ।।४।।

उसको देवों ने पवित्रे से शुद्ध किया। वह पवित्र होकर देवों की हवि बन गया। इसी प्रकार यह भी इसे पवित्रे से शुद्ध करता है। यह पवित्र होकर देवों की हवि बन जाता है ।।५।।

उपयाम के साथ ग्रह इसलिए लिये जाते हैं कि यह पृथिवी आहुति है। आदित्य चरु इसका प्रायणीय हवि है। वह सोम के बनाने से पूर्व की बात है। उसने चाहा कि देवों के साथ मेरा भी भाग मिल जाय, और कहा कि निचोड़े हुए सोम में से मुझे भी भाग मिले ।।६।।

उन देवों ने कहा, 'यज्ञ तो देवताओं में बँट चुका। तेरे द्वारा ही ग्रह लिये जावेंगे, और तेरे ही द्वारा देवताओं की आहुतियाँ दी जावेंगी।' उसने कहा 'अच्छा।' वस्तुतः यह उस अर्पित सोम का उस (अदिति) का भाग है ।।७।।

उपयाम के साथ ग्रह इसलिए भी लिये जाते हैं कि यह पृथिवी उपयाम है क्योंकि यह अन्न आदि को रखती है (उपयच्छति)—पशुओं के लिए, मनुष्यों के लिए और वनस्पतियों के लिए।

र्धा देवा दिवि हि देवाः ॥८॥ तद्यदुपयामेन गृह्यन्ते । अनयैव तद्गृह्यन्तेऽथ यद्योनौ सादयतीयं वाऽअस्य सर्वस्य योनिरस्यै वाऽइमाः प्रजाः प्रजाताः ॥९॥ तं वाऽएतꣳ । रेतो भूतꣳ सोममृत्विजो बिभ्रति यद्वाऽअयोनौ रेतः सिच्यते प्र वै तन्मीयतेऽथ यद्योनौ सादयत्यस्यामेव तत्सादयति ॥१०॥ प्राणोदानौ ह वाऽअस्यैतौ ग्रहौ । तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरं प्राणोदानयोर्व्याकृत्यै प्राणोदानावेवैतद्व्याकरोति तस्मादेतौ समानावेव सन्तौ नानेवाचक्षते प्राण इति चोदान इति च ॥११॥ अहोरात्रे ह वाऽअस्यैतौ ग्रहौ । तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरमहोरात्रयोर्व्याकृत्याऽअहोरात्रेऽएवैतद्व्याकरोति ॥१२॥ अहः सन्तमुपांꣳशुम् । तꣳ रात्रौ जुहोत्यहरेवैतद्रात्रौ दधाति तस्मादपि सुतमिश्रायामुपैव किंचित्ख्यायते ॥१३॥ रात्रिꣳ सन्तमन्तर्यामम् । तमुदिते जुहोति रात्रिमेवैतदहन्दधाति तेनो हासावादित्य उद्यन्नेवेमाः प्रजा न प्रदहति तेनेमाः प्रजास्त्राताः ॥१४॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसीत्युक्त उपयामस्य बन्धुरन्तर्यच्छ मघवन्पाहि सोममितीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्निति पाहि सोममिति गोपाय सोममित्येवैतदाहोरुष्य राय एषो यजस्वेति पशवो वै रायो गोपाय पशूनित्येवैतदाहेषो यजस्वेति प्रजा वाऽइषस्ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति ॥१५॥ अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि । अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चेति तदेनं वैश्वदेवं करोति तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदनत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति तेन वैश्वदेवोऽन्तर्यामे मघवन्मादयस्वेतीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्नित्यथ यदन्तरन्तरिति गृह्णात्यन्तस्त्वात्मन्दधऽइत्येवैतदाह ॥१६॥ तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि । नेदवश्चोतदिति तं न सादयत्युदानो ह्यस्यैष तस्मादयमसन्न उदानः संचरति यदीत्वभिचरेदथैनꣳ सादयेदमुष्य त्वोदानꣳ सादयामीति ॥१७॥ स

देव इससे ऊपर हैं क्योंकि वे द्यौलोक में हैं ।।८।।

उपयाम के साथ ग्रह इसलिए लिये जाते हैं कि इसी पृथिवी के साथ लिये जाते हैं। इसी योनि में वे रक्खे जाते हैं क्योंकि पृथिवी योनि है, इसी से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं ।।९।।

ऋत्विज लोग रेत (वीर्य) के रूप में सोम को रखते हैं। जो रेत योनि के बाहर जाता है वह खराब हो जाता है और जो योनि में रहता है वह ठीक रक्खा जाता है ।।१०।।

ये दोनों ग्रह उसके प्राण और उदान हैं। एक की आहुति सूर्योदय के पीछे देता है और दूसरे की पहले, जिससे प्राण और उदान अलग-अलग रहें। इस प्रकार वह प्राण और उदान को अलग-अलग रखता है। इसलिए ये दोनों अर्थात् प्राण और उदान एक होते हुए भी अलग-अलग कहे जाते हैं ।।११।।

ये दोनों ग्रह उसके लिए रात और दिन हैं। एक की आहुति सूर्योदय के पीछे दी जाती है और दूसरे की पहले—रात और दिन को अलग-अलग करने के लिए। इस प्रकार वह रात और दिन को अलग-अलग करता है ।।१२।।

उपांशु दिन है, उसकी आहुति रात में देता है। इस प्रकार दिन को रात्रि में रखता है। इसलिए अन्धकार-से-अन्धकार में भी कुछ तो दिखाई देता ही है ।।१३।।

अन्तर्याम रात है। उसकी आहुति दिन में देता है। इस प्रकार रात को दिन में रखता है। इसलिए यह सूर्य उदय होकर इन प्रजाओं को नहीं जलाता। इसी से यह प्रजा सुरक्षित रहती हैं ।।१४।।

वह उसमें से अन्तर्याम ग्रह को इस मन्त्र से लेता है—"उपयामगृहीतोऽसि" (यजु० ७।४)—"तू उपयाम अर्थात् 'सहारे (आश्रय)' के साथ लिया हुआ है।" यह 'उपयाम' का योग कहा। "अन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्" (यजु० ७।४)—'मघवा' है इन्द्र या यज्ञ का नेता, इसलिए कहा कि "हे इन्द्र, सोम की रक्षा कर।" "उरुष्य रायऽ एषो यजस्व" (यजु० ७।४)—"पशु राय हैं अर्थात् पशुओं की रक्षा कर।" प्रजा इष हैं, इस प्रकार प्रजा को यज्ञ के इच्छुक बनाता है जिससे ये प्रजा यज्ञ करते हुए, अर्चन करते हुए और श्रम करते हुए रहें ।।१५।।

"अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि। अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्। सजूर्देवेभिरवरैः परैश्च" (यजु० ७।५)—"तेरे भीतर द्यौ और पृथिवी को रखता हूँ। तेरे भीतर विस्तृत अन्तरिक्ष को। देवों से युक्त निचले और ऊँचे।" इस प्रकार इस ग्रह को सब देवों से सम्बन्धित करता है। यह सब देवों का इसलिए है कि इसी से यह प्रजा प्राण और उदान लेती है और अन्तरिक्ष में चलती हैं। "अन्तर्यामे मघवन् मादयस्व" (यजु० ७।५)—"हे मघवन्! अन्तर्याम में आनन्द करो।" मघवा इन्द्र है। इन्द्र यज्ञ का नेता है इसलिए कहा 'मघवा'। यह जो "अन्तः-अन्तः" कहकर उसे लेता है इसका अर्थ यह है कि 'मैं तुझे आत्मा के भीतर रखता हूँ' ।।१६।।

उस ग्रह को लेकर पोंछता है कि इसमें से कुछ सोम टपक न जाय। वह इसको रखता नहीं। यह उदान है। इसीलिए उदान निरन्तर चलता रहता है। यदि उसको कुछ पुरश्चरण करना हो तो कहे, 'अमुक पुरुष के उदान! मैं तुझको रखता हूँ' ।।१७।।

यद्युपाꣳशुꣳ सादयेत् । अथैनꣳ सादयेद्युपाꣳशुं न सादयेन्नैनꣳ सादयेद्युपाꣳशु-
मपिदध्यादप्येनं दध्याद्युपाꣳशुं नापिदध्यान्नैनमपिदध्याद्यथोपाꣳशोः कर्म तथैतस्य
समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि ॥१८॥ ताऽउ ह चरकाः । ना-
नैव मन्त्राभ्यां जुह्वति प्राणोदानौ वाऽअस्यैतौ नानावीर्यौ प्राणोदानौ कुर्म इति
वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्मोहयन्ति ह ते यजमानस्य प्राणोदानावपीद्वाऽएनं तू-
ष्णीं जुहुयात् ॥१९॥ स यद्वाऽउपाꣳशुं मन्त्रेण जुहोति । तदेवास्यैषोऽपि मन्त्रेण
हुतो भवति किमु तत्तूष्णीं जुहुयात्समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि
॥२०॥ स येनैवोपाꣳशुं मन्त्रेण जुहोति । तेनैवैतं मन्त्रेण जुहोति स्वांकृतोऽसि
विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा सुभव सूर्यायेत्युक्तो
यजुषो बन्धुः ॥२१॥ अथ हुत्वावाञ्चं ग्रहमवमार्ष्टि । इदं वाऽउपाꣳशुꣳ हुत्वोर्ध्व-
मुन्मार्ष्ट्यथात्रावाञ्चमवमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति ॥२२॥ अथ नीचा
पाणिना । मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टीदं वा उपाꣳशुꣳ हुत्वोत्तानेन पाणिना म-
ध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्ट्यथात्र नीचा पाणिना मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टि प्रत्य
ञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति सोऽसावेव बन्धुः ॥२३॥
तं प्रत्याक्रम्य सादयति । उदानाय त्वेत्युदानो ह्यस्यैष तानि वै सꣳस्पृष्टानि सा-
दयति प्राणोदानावेवैतत्सꣳस्पर्शयति प्राणोदानौ संदधाति ॥२४॥ तानि वाऽअ-
निरुह्यमानानि शेरे । आ तृतीयसवनात्तस्मादिमे मनुष्याः स्वपन्ति तानि पुन-
स्तृतीयसवने प्रयुज्यन्ते तस्मादिमे मनुष्याः सुप्त्वा प्रबुध्यन्ते तेऽनिशिताश्चराचरा य-
ज्ञस्यैवैतद्विधामनु वय-इव ह वै यज्ञो विधीयते तस्योपाꣳश्वन्तर्यामाविव पक्षावा-
त्मोपाꣳशुसवनः ॥२५॥ तानि वाऽअनिरुह्यमानानि शेरे । आ तृतीयसवनात्ता-
यते यज्ञ एति वै तद्यत्तायते तस्मादिमानि वयाꣳसि विगृह्य पक्षावनायुवानानि
पतन्ति तानि पुनस्तृतीयसवने प्रयुज्यन्ते तस्मादिमानि वयाꣳसि समासं पक्षावा-

अगर वह उपांशु को रक्खे तो इस अर्थात् अन्तर्याम को भी रक्खे। यदि उपांशु को न रक्खे तो इसको भी न रक्खे। यदि उपांशु को (हाथ से) ढके तो इस अन्तर्याम को भी ढके। वह उपांशु को न ढके तो इस अन्तर्याम को भी न ढके। जैसा उपांशु के लिए, वैसा इसके लिए, क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम दोनों एक ही हैं। वे प्राण और उदान हैं ॥१८॥

चरक लोग इन आहुतियों को दो और मन्त्रों से देते हैं। उनका कहना है कि दोनों यज्ञ के प्राण और उदान हैं। हम इन दोनों को भिन्न-भिन्न पराक्रमवाले बनाते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। इससे यजमान के प्राण और उदान बिगड़ जाते हैं। इस आहुति को चुपचाप भी दिया जा सकता है ॥१९॥

जिस मन्त्र से उपांशु की आहुति दी जाती है उसी से इसकी भी दी हुई समझ ली जाती है। फिर इसको चुपचाप कैसे दिया जाय ? क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम दोनों एक ही हैं। ये उसके प्राण और उदान हैं ॥२०॥

वह जिस मन्त्र से उपांशु की आहुति देता है उसी से इस (अन्तर्याम) की भी देता है—"स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य ऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा सुभव सूर्याय" (यजु० ७।६)—"तू स्वयं-बना हुआ है, सब पार्थिव और दिव्य शक्तियों के लिए। मन तेरा हो। हे स्वयं होनेवाले ! सूर्य के लिए।" इस मन्त्र का महत्त्व कहा जा चुका ॥२१॥

आहुति देकर ग्रह को नीचे से पोंछ डालता है। उपांशु की आहुति देकर उसने ग्रह को ऊपर से पोंछा था। इसको नीचे से पोंछता है। इस प्रकार उदान को उसमें निर्धारित करता है ॥२२॥

अब हथेली को नीचे को करके बीच की परिधि (समिधा) में सोम मलता है। उपांशु की आहुति देकर उसने हथेली को ऊपर को करके पश्चिम से पूर्व की ओर मध्य समिधा को मला था। परन्तु अब की बार पूर्व से पश्चिम की ओर हथेली को नीचा करके मलता है, इस मन्त्र से, "देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः" (यजु० ७।६)—इसका महत्त्व वही है जो पहले का ॥२३॥

(हविर्धान की ओर) चलकर वह ग्रह को इस मन्त्र से रख देता है, "उदानाय त्वा" (यजु० ७।६)—यह उसका उदान है। वह इस प्रकार रखता है कि वे एक-दूसरे को छूते हैं। इस प्रकार वह प्राण और उदान को छुआता है। उन दोनों में संसर्ग उत्पन्न करता है ॥२४॥

ये (उपांशु और सवन) सायंकाल के सवन तक वैसे ही रक्खे रहते हैं जैसे मनुष्य भूमि पर सोते हैं। इनका सायंकाल के सवन में प्रयोग होता है। जैसे ये मनुष्य सोकर उठते हैं, और कारबार में लगते हैं। यह यज्ञ के अनुसार है। यज्ञ एक पक्षी है। उपांशु और अन्तर्याम इसके पक्ष हैं। उपांशु-सवन इसका आत्मा (शरीर) है ॥२५॥

सायंकाल के सवन तक वे वैसे ही रहते हैं। यज्ञ ताना जाता है। जो ताना जाता है उसमें गति होती है। जैसे पक्षी पंख खोलकर उड़ते हैं, सिकोड़कर नहीं उड़ते। सायंकाल के सवन में इनका फिर प्रयोग होता है। ये पक्षी अपने पंखों को सिकोड़कर उड़ते हैं जब उड़ान को बन्द

युवानानि पतन्ति यज्ञस्यैवैतद्विधामनु ॥२६॥ ॥ शतम् २३०० ॥ ॥ इयꣳ ह वा ऽउपाꣳशुः । प्राणो ह्युपाꣳशुरिमाꣳ ह्येव प्राणन्नभिप्राणित्यसावेवान्तर्याम उदानो ह्यन्तर्यामोऽमुꣳ ह्येव लोकमुदनन्नभ्युदनित्यन्तरिक्षमेवोपाꣳशुसवनो व्यानो ह्युपाꣳशुसवनोऽन्तरिक्षꣳ ह्येव व्यनन्नभिव्यनिति ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ ॥

वाग्घ वाऽअस्यैन्द्रवायवः । एतन्न्वध्यात्ममिन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार सोऽबलीयान्मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयां चक्रे तदेवापि देवा अपन्य-लयन्त ॥१॥ ते ह देवा ऊचुः । न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवꣳ हन्त न एको वेत्तु यदि हतो वा वृत्रो जीवति वेति ॥२॥ ते वायुमब्रुवन् । अयं वै वायुर्यो ऽयं पवते वायो त्वमिदं विद्धि यदि हतो वा वृत्रो जीवति वा त्वं वै न आशिष्ठोऽसि यदि जीविष्यति त्वमेव क्षिप्रं पुनरागमिष्यसीति ॥३॥ स होवाच । किं मे ततः स्यादिति प्रथमवषट्कार एव ते सोमस्य राज्ञ इति तथेत्येयाय वायुरेद्धतं वृत्रꣳ स होवाच हतो वृत्रो यद्धते कुर्यात तत्कुरुतेति ॥४॥ ते देवा अभ्यसृज्यन्त । यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवꣳ स यमेकोऽलभत स एकदेवत्योऽभवद्यं द्वौ स द्विदेवत्यो यं बहवः स बहुदेवत्यस्तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णत तस्माद्ग्रहा नाम ॥५॥ स एषामापूयत् । स एनांकृतः पूतिरभिववौ स नालमाहुत्याऽआस नालं भक्षाय ॥६॥ ते देवा वायुमब्रुवन् । वायविमं नो विवाहीमं नः स्वदयेति स होवाच किं मे ततः स्यादिति त्वय्येवैतानि पात्राण्याचक्षीरन्निति तथेति होवाच यूयं तु मे सच्युपवातेति ॥७॥ तस्य देवाः । यावन्मात्रमिव गन्धस्यापजघ्नुस्तं पशुष्वदधुः स एष पशुषु कुणपगन्धस्तस्मात्कुणपगन्धान्नापिगृह्णीत सोमस्य ह्येष राज्ञो गन्धः ॥८॥ नोऽएव निष्ठीवेत् । तस्माद्यद्यप्यासक्त-इव मन्येताभिवातं परीयाद्धीर्वै सोमः पाप्मा यक्ष्मः स यथा श्रेयस्यायति पापीयान्प्रत्यवरोहेदेवꣳ हास्माद्यक्ष्मः प्रत्यवरोहति ॥९॥ अथेतरं वायुर्व्यवात् । तदस्वदयन्ततोऽलमाहुत्या

करना चाहते हैं ।।२६।।

यह पृथिवी उपांशु है। उपांशु प्राण है। प्राण के द्वारा ही तो प्राणी पृथिवी पर साँस लेता है। अन्तर्याम द्यौ है, क्योंकि अन्तर्याम उदान है। उदान से ही प्राणी द्यौ में साँस लेता है। उपांशु-सवन व्यान है। उपांशु-सवन अन्तरिक्ष है, क्योंकि अन्तरिक्ष में ही प्राणी व्यान-वायु को छोड़ता है ।।२७।।

ऐन्द्रवायवग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण ३

ऐन्द्र-वायव ग्रह उसकी वाणी है और वह उसका आत्मा है। इन्द्र ने जब वृत्र के लिए वज्र मारा तब उसने समझा कि 'मैं निर्बल हूँ, मैं उसे मार नहीं पाया।' इसलिए वह छिप गया। अन्य देवता भी वहीं छिप गये ।।१।।

उन देवों ने कहा, 'हम नहीं जानते कि वृत्र मारा गया या नहीं। हममें से एक को देखना चाहिए कि वह मारा गया या नहीं' ।।२।।

उन्होंने वायु से कहा, इसी वायु से जो बहता है—'हे वायु, पता तो लगा कि वृत्र जीता है या नहीं ? हम लोगों में तू सबसे अधिक तेज है। यदि वह जीता होगा तो जल्दी से भाग आ सकता है' ।।३।।

वायु ने कहा, 'इससे मुझे क्या लाभ ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'सोम राजा का प्रथम वषट्कार तुझे मिलेगा।' उसने कहा 'अच्छा' और वह गया। वृत्र तो मर चुका था। उसने कहा, 'वृत्र मर चुका है। जो मरे हुए के लिए किया जाता है उसे कीजिए' ।।४।।

देवता वहाँ दौड़े गये जैसे धन की इच्छा में लोग दौड़ते हैं। उसमें से जिसको एक देवता ने पकड़ा वह एक-देवत्य हुआ, जिसे दो ने पकड़ा वह द्विदेवत्य, जिसको बहुतों ने पकड़ा वह बहुदेवत्य। चूँकि उसको पात्रों के द्वारा ग्रहण किया इसलिए इनका नाम ग्रह पड़ा ।।५।।

उसमें से उनको दुर्गन्ध आई। वह खट्टा और सड़ा प्रतीत हुआ। वह न आहुति के योग्य था, न भक्षण के ।।६।।

देवों ने वायु से कहा, 'हे वायो ! इसमें होकर बह। इसको हमारे लिए स्वादिष्ट कर दे।' उसने कहा, 'मुझे क्या लाभ ?' उन्होंने कहा कि, 'इन ग्रहों का नाम तेरे ही नाम पर पड़ेगा।' उसने कहा, 'अच्छा ! परन्तु मेरे साथ तुम भी फूंको' ।।७।।

देवों ने उसकी जितनी दुर्गन्ध निकाल दी उतनी पशुओं में रख दी। यह वही बदबू है जो मुर्दा पशुओं में पाई जाती है। इस दुर्गन्ध पर नाक नहीं सिकोड़ना चाहिए, क्योंकि यह सोम राजा की गन्ध है ।।८।।

उस पर थूकना भी नहीं चाहिए। चाहे उस पर कितना ही असर क्यों न हुआ हो, उसको वायु की ओर मुड़ जाना चाहिए। सोम का अर्थ है बड़ाई और रोग का अर्थ है बुराई। जिस प्रकार बड़े के आने पर छोटा दब जाता है, इसी प्रकार सोम के आने पर रोग दब जाता है ।।९।।

अब वायु ने फिर फूंका। वह स्वादिष्ट हो गया—आहुति के भी योग्य और भक्षण के

ऽआसाल्तं भक्षाय तस्मादेतानि नानादेवत्यानि सन्ति वायव्यानीत्याचक्षते सो ऽस्यैष प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्युऽएनेन पात्राण्याचक्षते ॥१०॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । वायुर्वै नोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाग्यस्य प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्युऽएनेन पात्राण्याचक्षते हन्तास्मिन्नपिवमिछाऽइति ॥११॥ स होवाच । वायवा मास्मिन्ग्रहे भजेति किं ततः स्यादिति निरुक्तमेव वाग्वदेदिति निरुक्तं चेद्वाग्वदेद्वा त्वा भजामीति तत एष ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवद्वायव्यो हैव ततः पुरा ॥१२॥ स इन्द्रोऽब्रवीन् । अर्धं मेऽस्य ग्रहस्येति तुरीयमेव तऽइति वायुरर्धमेव मऽइतीन्द्रस्तुरीयमेव तऽइति वायुः ॥१३॥ तौ प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्ग्रहं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरित्यथ पुनरर्धं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरितीदं तवेतीन्द्रं तुरीयमेव भाजयां चकार यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं तत एष ऐन्द्रतुरीयो ग्रहोऽभवत् ॥१४॥ तस्य वाऽएतस्य ग्रहस्य । द्वे पुरोरुचौ वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वेऽअनुवाक्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वौ प्रैषौ वायव्य एव पूर्व ऐन्द्रवायव उत्तरो द्वे याज्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरैवमेनं तुरीयं-तुरीयमेव भाजयां चकार ॥१५॥ स होवाच । तुरीयं-तुरीयं चेन्मामबीभजुस्तुरीयमेव तर्हि वाङ्निरुक्तं वदिष्यतीति तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयाꣳसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं वदति ॥१६॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति ॥१७॥ अथातो गृह्णात्येव । आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार । उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वेति ॥१८॥ अथापगृह्य पुनरानयति । इन्द्रवायूऽइमे सुता उप प्रयोभिरागतम् । इन्दवो वामु-

भी योग्य। इसलिए यह ग्रह भिन्न-भिन्न देवताओं के होते हुए भी वायु के ही कहे जाते हैं। सोम राजा का पहला वषट्कार भी वायु का है और ये ग्रह भी वायु के ही कहे जाते हैं ॥१०॥

इन्द्र ने सोचा—हमारे इस यज्ञ का सबसे बड़ा भाग तो वायु का हो गया, क्योंकि सोम राजा का पहला वषट्कार उसका है। इसके अतिरिक्त ये ग्रह भी उसी के नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें से मैं भी भाग लूँगा ॥११॥

उसने कहा, 'वायु! इस ग्रह में मुझे भी भाग दे।' 'मुझे क्या लाभ?' 'वाणी व्यक्त हो जायगी।' 'यदि वाणी व्यक्त हो जायगी तो मैं तुझे भाग दे दूँगा।' इसलिए इस ग्रह का नाम ऐन्द्रवायव पड़ा। पहले केवल इन्द्र का ही था ॥१२॥

इन्द्र ने कहा, 'इस ग्रह का आधा मेरा।' वायु ने कहा, 'इस ग्रह का चौथाई तेरा।' इन्द्र ने कहा, 'आधा मेरा।' वायु ने कहा, 'चौथाई तेरा' ॥१३॥

वे दोनों फैसले के लिए प्रजापति के पास गये। उस प्रजापति ने ग्रह के दो भाग कर दिये। उसने कहा, 'यह वायु का।' फिर आधे के दो भाग किये, और कहा, 'यह वायु का ओर यह तेरा।' तब उसने अपने भाग का चौथाई इन्द्र को दिया। चतुर्थ और तुरीय का एक अर्थ है। इसलिए इसका नाम ऐन्द्र-तुरीय ग्रह हो गया ॥१४॥

इस ग्रह के दो पुरोरुच मन्त्र होते हैं—पहला वायु-सम्बन्धी, दूसरा इन्द्र-वायु-सम्बन्धी; दो प्रैष—पहला वायु-सम्बन्धी, दूसरा इन्द्र-वायु सम्बन्धी; दो याज्य—पहला वायु-सम्बन्धी, दूसरा इन्द्र-वायु-सम्बन्धी। इस प्रकार वह सदा इन्द्र के लिए चौथाई भाग रखता है ॥१५॥

उसने कहा कि अगर मुझे चौथाई भाग दिया है तो वाणी भी चौथाई भाग ही स्पष्ट बोलेगी। इससे केवल यही चौथाई वाणी समझ में आती है जो मनुष्य बोलता है, और जिस चौथाई को पशु बोलते हैं वह समझ में नहीं आती। वह चौथी वाणी समझ में नहीं आती जिसे पक्षी बोलते हैं और वह चौथाई वाणी भी समझ में नहीं आती जिसको क्षुद्र कीड़े बोलते हैं ॥१६

इसीलिए ऋषि ने कहा, "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋ० १।१६४।४५)— "वाणी से परिमित चार पद होते हैं। बुद्धिमान्, ब्राह्मण उनको जानते हैं। तीन गुहा में रक्खे हुए स्पष्ट नहीं होते हैं। चौथाई वाणी को मनुष्य बोलते हैं" ॥१७॥

अब उस (सोम) में से ग्रह को मारता है, इस मन्त्र से—"आ वायो भूष शुचिपा ऽ उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार। उपो ते ऽ अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा" (यजु० ७।७, ऋ० ७।९२।१)—"हे शुद्ध ध्यान करनेवाले वायु, आ। तेरे हजारों अश्व हैं। तू सब वरों का दाता है। हे देव, जिसका तू पहला घूँट पीता है वह आनन्द-युक्त रस तुझको अर्पण किया गया" ॥१८॥

इस ग्रह को लेकर फिर भरता है, इस मन्त्र से—"इन्द्र वायू ऽ इमे सुता ऽ उप प्रयो-

शन्ति हि । उपयामगृहीतोऽसि वायवऽइन्द्रवायुभ्यां त्वेष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति सादयति स यदाह सजोषोभ्यां त्वेति यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुस्तस्मादाहैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

क्रतूदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ । एतन्न्वध्यात्मꣳ स यदेव मनसा कामयतऽइदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः ॥१॥ ते हैतेऽअग्रे नानेवासतुः । ब्रह्म च क्षत्रं च ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात्स्थातुम् ॥२॥ न क्षत्रं वरुणः । ऋते ब्रह्मणो मित्राद्यद्ध किं च वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समानृधे ॥३॥ स क्षत्रं वरुणः । ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयां चक्रऽउप मावर्तस्व सꣳसृजावहै पुरस्त्वा करवै त्वत्प्रसूतः कर्म करवाऽइति तथेति तौ समसृजेतां तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् ॥४॥ सोऽएव पुरोधा । तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत सꣳ ह्येतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरोदधीत सꣳ ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च स यत्ततो वरुणः कर्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण सꣳ हैवास्मै तदानृधे ॥५॥ तत्तदवक्लृप्तमेव । यद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद्यद्यु राजानं लभेत समृद्धं तदेतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति यद्ध किं च कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृध्यते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः सꣳ हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्मऽर्ध्यते ॥६॥ अथातो गृह्णात्येव । अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा । ममेदिह श्रुतꣳ हवम् । उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वेति ॥७॥ तं पयसा श्रीणाति । तद्यत्पयसा श्रीणाति वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तं मित्रमब्रुवंस्त्वमपि हꣳसीति स न चकमे सर्वस्य वाऽअहं मि-

भिरागतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि । उपयामगृहीतोऽसि वायव ऽ इन्द्र वायुभ्यां" (यजु० ७।८, ऋ० १।२।४)—"हे इन्द्र-वायु, यह सोम है । आप दोनों इसके पान के लिए आइये । बूंदें आपको चाहती हैं । तू उपयाम के साथ लिया गया है । इन्द्र और वायु के लिए तू है ।" अब वह यह कहकर रखता है कि 'यह तेरी योनि है । तुझको ही मिले हुओं के साथ लेता हूँ ।' जो वायु है वह इन्द्र है; जो इन्द्र है सो वायु है, इसलिए कहा, 'यह तेरी योनि है । दोनों मिले हुओं के साथ तुझको लेता हूँ' ॥१६॥

मैत्रावरुणग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण ४

मित्र और वरुण इसके क्रतु और दक्ष हैं । यह इनका अध्यात्म है, अर्थात् क्रतु और दक्ष आत्मिक वृत्तियाँ हैं । जब वह मन में सोचता है कि 'मेरा ऐसा हो जाय, मैं यह करूँ' यही क्रतु अर्थात् मित्र है । और जब उसकी इच्छा पूरी हो जाती है तो यह दक्ष हुआ । मित्र क्रतु है और वरुण दक्ष । ब्रह्म मित्र हैं, क्षात्र वरुण । ब्राह्मण सोचता है और क्षत्रिय करता है ॥१॥

आरम्भ में ये ब्राह्मण और क्षत्रिय अलग-अलग थे । तब मित्र अर्थात् ब्राह्मण वरुण अर्थात् क्षत्रिय बिना रह सकता था ॥२॥

लेकिन वरुण या क्षत्रिय मित्र अर्थात् ब्राह्मण के बिना नहीं रह सकता था । वरुण जो कुछ कर्म मित्र या ब्राह्मण की प्रेरणा के बिना करता उसी में असफलता हो जाती ॥३॥

वह क्षत्रिय वरुण ब्राह्मण मित्र के पास आया और कहा, 'तू मेरी ओर आ कि हम दोनों मिल जायँ । तुझी को आगे रक्खूँ । तेरी प्रेरणा से काम करूँ ।' उसने कहा, 'अच्छा ।' वे दोनों मिल गये । इसीलिए यह मित्र और वरुण का ग्रह हुआ ॥४॥

यही पुरोहित है । इसलिए ब्राह्मण को चाहिए कि (बिना पता लगाये) हर किसी क्षत्रिय का पुरोहित न बने जिससे पुण्य और पाप मिल न जावें, और क्षत्रिय को चाहिए कि (बिना पता लगाये) हर ब्राह्मण को अपना पुरोहित न बना ले कि पाप और पुण्य मिल न जायँ । वरुण ने मित्र ब्राह्मण की प्रेरणा से जो कर्म किये उनमें उसकी सफलता हुई ॥५॥

यदि ब्राह्मण राजा के बिना रहे तो कोई दोष नहीं है । यदि राजा हो तो इसमें दोनों का भला है । परन्तु क्षत्रिय को बिना ब्राह्मण के नहीं रहना चाहिए । क्षत्रिय जो कुछ कर्म बिना मित्र ब्राह्मण की प्रेरणा के करता है उसमें उसकी सफलता नहीं होती । इसलिए क्षत्रिय जो कुछ करना चाहे उसमें वह ब्राह्मण के पास जाय, क्योंकि जो कुछ वह ब्राह्मण की प्रेरणा से करेगा उसमें उसे सफलता होगी ॥६॥

अब वह इसको इस मन्त्र से लेता है—"अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऽ ऋतावृधा । ममेदिह श्रुत्ँ हवम् । उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा" (यजु० ७।९, ऋ० २।४१।४)—"हे पवित्र मित्र और वरुण, यह सोम तुम दोनों के लिए निचोड़ा गया । मेरे निमन्त्रण को सुनो । तुमको उठाया गया है मित्र वरुण के लिए" ॥७॥

उसमें दूध मिलाता है । दूध इसलिए मिलाता है । सोम ही वृत्र था । जब देवों ने उसे मारा तो उन्होंने मित्र से कहा, 'तू भी मार ।' उसने न माना—'मैं सबका मित्र हूँ । मित्र होकर

त्रमस्मि न मित्रꣳ सन्नमित्रो भविष्यामीति तं वै त्वा यज्ञादन्तरेष्याम इत्यहमपि हन्मीति होवाच तस्मात्पशवोऽपाक्रामन्मित्रꣳ सन्नमित्रोऽभूदिति स पशुभिर्व्यार्ध्यत तमेतद्देवाः पशुभिः समार्धयन्यत्पयसाश्रीणांस्तथोऽएवैनमेष एतत्पशुभिः समर्धयति यत्पयसा श्रीणाति ॥८॥ तदाहुः। शश्वद्ध नैव चकमे हन्तुमिति तस्माद्देवात्र पयस्तन्मित्रस्य सोम एव वरुणस्य तस्मात्पयसा श्रीणाति ॥९॥ स श्रीणाति। राया वयꣳ ससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति सादयति स यदाहऽर्तायुभ्यां त्वेति ब्रह्म वाऽऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुस्तस्मादाहैष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ ॥

श्रोत्रꣳ ह वाऽअस्याश्विनः। तस्मात्सर्वतः परिहारं भक्षयति सर्वतो ह्यनेन श्रोत्रेण शृणोति यत्र वै भृगवो वाङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे ॥१॥ शर्यातो ह वाऽइदं मानवो ग्रामेण चचार। स तदेव प्रतिवेशो निविविशे तस्य कुमाराः क्रीडन्त इमं जीर्णिं कृत्यारूपमनर्थ्यं मन्यमाना लोष्टैर्विपिपिषुः ॥२॥ स शार्यातेभ्यश्चुक्रोध। तेभ्योऽसंज्ञां चकार पितैव पुत्रेण युयुधे भ्राता भ्रात्रा ॥३॥ शर्यातो ह वाऽईक्षां चक्रे। यत्किमकरं तस्मादिदमापदीति स गोपालांश्चाविपालांश्च सꣳह्वयितवाऽउवाच ॥४॥ स होवाच। को वोऽद्येह किंचिदद्राक्षीदिति ते होचुः पुरुष एवायं जीर्णिः कृत्यारूपः शेते तमनर्थ्यं मन्यमानाः कुमारा लोष्टैर्व्यपिक्षन्निति स विदां चकार स वै च्यवन इति ॥५॥ स रथं युक्त्वा। सुकन्याꣳ शार्यातीमुपाधाय प्रसिष्यन्द स आजगाम यत्रऽर्षिरास तत् ॥६॥ स होवाच। ऋषे नमस्ते यन्नावेदिषं तेनाहिꣳसिषमियꣳ सुकन्या तया तेऽपह्नुवे संजानीतां मे

अमित्र नहीं होना चाहता।' 'तो हम तुझे यज्ञ से निकाल देंगे।' तब उसने कहा 'अच्छा, मैं भी मारूँगा।' तब पशु उसके पास से चले गये कि यह मित्र था, अमित्र हो गया। तब वह पशुओं से वंचित रह गया। सोम में दूध मिलाने से देवों ने उसको पशुओं से युक्त कर दिया। इसी प्रकार यह भी सोम में दूध मिलाकर इस यजमान या मित्र को पशुओं से युक्त कर देता है ॥८॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि उसने तो मारना नहीं चाहा था। इसलिए इसमें जितना दूध है वह मित्र का है और जितना सोम है वह वरुण का। इसलिए सोम में दूध मिलाता है ॥९॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है—"राया वयँ्ँ ससवाँ्ँसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा" (यजु० ७।१०, ऋक् ४।४२।१०)—"जो सम्पत्ति हमको मिली है उससे हम आनन्दित हों। देव हव्य से और गायें घास से। हे मित्र-वरुण, तुम हमको यह सदा दूध देनेवाली गाय दो।" यह कहकर वह उस ग्रह को रख देता है—"यह तेरी योनि है। ऋत और आयु के लिए तुझको।" 'ऋत और आयु के लिए' क्यों कहा? ब्रह्म ऋत है। ब्रह्म मित्र है। वरुण आयु है। संवत्सर वरुण है, संवत्सर आयु है। इसलिए कहा कि 'यह तेरी योनि है, ऋत और आयु के लिए तुझको' ॥१०॥

आश्विनग्रहः

अध्याय १—ब्राह्मण ५

आश्विन ग्रह इसका श्रोत्र है। इसलिए चारों ओर घुमाकर पीता है। इस श्रोत्र से चारों ओर की बात सुनता है। जब अङ्गिरा-वंशी भृगु लोग स्वर्ग को गये, च्यवन भार्गव या च्यवन आंगिरस जीर्ण और आकृति-मात्र पीछे छूट गया ॥१॥

उसी समय मनुवंशी शर्यात अपने स्वजनों के साथ उधर आया और वहीं बस गया। उसके कुमारों ने खेलते हुए इस जीर्ण भयानक पुरुष को देखा और उसको अनर्थ्य या नाचीज समझकर उस पर ढेले मारने लगे ॥२॥

उसने शर्यात वालों पर क्रोध किया और उनमें उसने विद्रोह उत्पन्न कर दिया। बाप बेटे से और भाई भाई से लड़ने लगा ॥३॥

शर्यात ने सोचा कि मैंने कुछ किया है जिससे ऐसी आपत्ति आई है। उसने ग्वालों और गडरियों को बुलाकर कहा—॥४॥

उसने कहा, 'अरे तुमने आज कोई नई बात देखी है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'एक जीर्ण और दीन पुरुष लेटा हुआ है, उसको नाचीज समझकर कुमारों ने उस पर ढेले फेंके थे।' वह समझ गया कि यह च्यवन है ॥५॥

उसने रथ जोतकर उसमें अपनी सुकन्या नामक लड़की को बिठाया और वहाँ आया जहाँ वह ऋषि था ॥६॥

और कहा, 'ऋषि, नमस्ते! मैंने जाना नहीं इसलिए आपको दुःख दिया। यह सुकन्या है

ग्राम इति तस्य ह तत एव ग्रामः संजज्ञे स ह तत एव शर्यातो मानव उप्यु-
युजे नेदपरꣳ हिनसानीति ॥७॥ अश्विनौ ह वाऽइदं भिषज्यन्तौ चेरतुः । तौ सु-
कन्यामुपेयतुस्तस्यां मिथुनमीषाते तन्न जज्ञौ ॥८॥ तौ होचतुः । सुकन्ये कमिमं
जीर्णिं कृत्यारूपमुपशेषऽआवामनुप्रेहीति सा होवाच यस्मै मां पितादान्नैवाहं
तं जीवन्तꣳ हास्यामीति तद्धायमृषिराजज्ञौ ॥९॥ स होवाच । सुकन्ये किं त्वेत-
दवोचतामिति तस्माऽएतद्व्याचचक्षे स ह व्याख्यात उवाच यदि त्वैतत्पुनर्ब्रुवतः
सा त्वं ब्रूतान्न वै सुसर्वाविव स्थो न सुसमृद्धाविवाथ मे पतिं निन्दथ इति तौ
यदि त्वा ब्रवतः केनावमसर्वौ स्वः केनासमृद्धाविति सा त्वं ब्रूतात्पतिं नु मे पु-
नर्युवाणं कुरुतमथ वां वक्ष्यामीति तां पुनरुपेयतुस्ताꣳ हैतदेवोचतुः ॥१०॥ सा
होवाच । न वै सुसर्वाविव स्थो न सुसमृद्धाविवाथ मे पतिं निन्दथ इति तौ
होचतुः केनावमसर्वौ स्वः केनासमृद्धाविति सा होवाच पतिं नु मे पुनर्युवाणं
कुरुतमथ वां वक्ष्यामीति ॥११॥ तौ होचतुः । एतꣳ ह्रदमभ्यवहर स येन व-
यसा कमिष्यते तेनोदैष्यतीति तꣳ ह्रदमभ्यवजहार स येन वयसा चकमे तेनो-
देयाय ॥१२॥ तौ होचतुः । सुकन्ये केनावमसर्वौ स्वः केनासमृद्धाविति तौ हऽ
र्षिरेव प्रत्युवाच कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते ते वां यज्ञादन्तर्यन्ति तेनासर्वौ
स्थस्तेनासमृद्धाविति तौ ह तत एवाश्विनौ प्रेयतुस्तावाजग्मतुर्देवान्यज्ञं तन्वाना-
न्स्तुते बहिष्पवमाने ॥१३॥ तौ होचतुः । उप नौ ह्वयध्वमिति ते ह देवा ऊ-
चुर्न वामुपह्वयिष्यामहे बहु मनुष्येषु सꣳसृष्टमचारिष्टं भिषज्यन्ताविति ॥१४॥
तौ होचतुः । विशीर्ष्णा वै यज्ञेन यजध्वऽइति कथं विशीर्ष्णेत्युप नु नौ ह्वयध्वमथ
वो वक्ष्याव इति तथेति ताऽउपाह्वयन्त ताभ्यामेतमाश्विनं ग्रहमगृह्णंस्तावध्वर्यू य-
ज्ञस्याभवतां तावेतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तददस्तद्दिवाकीर्त्यानां ब्राह्मणे व्या-
ख्यायते यथा तद्यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतुस्तस्मादेष स्तुते बहिष्पवमाने ग्रहो गृ-

इससे मैं उसका प्रतीकार करता हूँ। अब मेरे लोग ठीक रहें।' तब से वे लोग ठीक रहे। लेकिन मनुवंशी शर्यात वहाँ से चलता बना कि कहीं मैं इसे फिर अप्रसन्न न कर दूँ ॥७॥

उसी समय चिकित्सा करते-करते अश्विन आ निकले। उन्होंने सुकन्या को ग्रहण करना चाहा परन्तु वह राजी न हुई ॥८॥

वे दोनों बोले, 'सुकन्या, तू किस जीर्ण नाचीज पुरुष के पास रहती है ? हमारे पास आ।' वह बोली, 'मेरे पिता ने मुझे जिसके साथ ब्याहा है उसी के पास रहूँगी, जब तक यह जीवित है।' ऋषि को यह बात मालूम हो गई ॥९॥

वह बोला, 'सुकन्या, इन दोनों ने तुझसे क्या कहा ?' उसने उससे सब-कुछ कह दिया। यह सुनकर उसने कहा, 'अगर तुझसे ये फिर कहें तो उनसे कहना कि तुम दोनों पूर्ण तो हो नहीं फिर मेरे पति की क्यों निन्दा करते हो ? यदि वे पूछें कि किस बात में हम कम हैं या निर्बल हैं तो कहना कि पहले मेरे पति को युवा कर दो तब कहूँगी।' वे फिर उसके पास आये और उससे वही बात कही ॥१०॥

वह बोली, 'तुम न तो पूर्ण हो, न समृद्धवान्। फिर मेरे पति की क्यों निन्दा करते हो ?' वे दोनों बोले, 'हम किस बात में कम हैं ? किस बात में निर्बल हैं ?' वह बोली, 'मेरे पति को युवा कर दो तब मैं बताऊँ' ॥११॥

वे बोले, 'उस तालाब में इसको ले जा, यह जिस अवस्था की कामना करेगा उसी अवस्था का होकर निकलेगा।' वह उसको तालाब पर ले गई। उसने जिस आयु की कामना की, उसी आयु का होकर निकला ॥१२॥

वे बोले, 'सुकन्या, हम किस बात में अधूरे हैं, किसमें कम हैं ?' तब ऋषि ने स्वयं उत्तर दिया, 'कुरुक्षेत्र में देव यज्ञ करते हैं और तुमको बाहर निकाल दिया है। यही तुममें अधूरापन है, यही कमी है।' यह सुनकर ये दोनों अश्विन लौट गये। वे वहाँ पहुँचे जहाँ देवों ने बहिष्पवमान स्तुति करने के पश्चात् यज्ञ रच रक्खा था ॥१३॥

वे बोले, 'हमको भी यज्ञ में बुलाओ।' देव बोले, 'हम नहीं बुलाते। तुम तो चिकित्सा करते-करते सब प्रकार मनुष्यों में फिरते रहे हो' ॥१४॥

वे बोले, 'अरे तुम तो बे-सिर के यज्ञ को करते हो?' 'बे-सिर का कैसे?' 'हमको बुलाओ तब हम बतायेंगे।' 'अच्छा।' उन्होंने उन अश्विनों का आवाहन कर लिया और उनके लिए इस आश्विन-ग्रह को लिया। ये दोनों यज्ञ के अध्वर्यु हो गये। उन्होंने यज्ञ को सिर-वाला बना दिया। 'दिवाकीर्त्यों' के ब्राह्मण में लिखा है कि उन्होंने यज्ञ के सिर को किस प्रकार सम्पादित किया। इसलिए बहिष्पवमान की स्तुति के पश्चात् यह ग्रह लिया जाता है, क्योंकि बहिष्पवमान

ह्यते स्तुते हि वहिष्पवमानऽआगच्छताम् ॥१५॥ तौ होचतुः । मुख्यौ वाऽआवां
यज्ञस्य स्वो यावध्वर्यूऽइह नाविमं पुरस्ताद्ग्रहं पर्याहरताभि द्विदेवत्यानिति ता-
भ्यामेतं पुरस्ताद्ग्रहं पर्याजह्रुरभि द्विदेवत्यांस्तस्मादेष दशमो ग्रहो गृह्यते तृतीय
एव वषट्क्रियतेऽथ यदश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे ही-
दꣳ सर्वमाश्नुवातां पुष्करस्रजावित्यग्निरेवास्यै पुष्करमादित्योऽमुष्यै ॥१६॥ अथा-
तो गृह्णात्येव । या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वेति सादयति तं वै मधुमत्य-
ऽर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति तद्यन्मधुमत्यऽर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति
सादयति ॥१७॥ दध्यङ् ह वाऽआभ्यामाथर्वणः । मधु नाम ब्राह्मणमुवाच तदे-
नयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति तस्मान्मधुमत्यऽर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां
त्वेति सादयति ॥१८॥ तानि वाऽएतानि । श्लक्ष्णानि पात्राणि भवन्ति रास्नाव-
मैन्द्रवायवपात्रं तत्तस्य द्वितीयꣳ रूपं तेन तद्द्विदेवत्यमजकावं मैत्रावरुणपात्रं त-
त्तस्य द्वितीयꣳ रूपं तेन तद्द्विदेवत्यमौष्ठमाश्विनपात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन त-
द्द्विदेवत्यमथ यदश्विनाविति मुख्यौ वाऽअश्विनावौष्ठमिव वाऽइदं मुखं तस्मादौ-
ष्ठमाश्विनपात्रं भवति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ प्रथमोऽध्यायः [२५.] ॥ ॥

चक्षुषी ह वाऽअस्य शुक्रामन्थिनौ । तद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति त-
द्यदेष एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी ॥१॥ तꣳ सक्तुभिः श्रीणाति ।
तदेनं मन्थं करोति तेनोऽएष मन्थ्येतौ ह वाऽआसां प्रजानां चक्षुषी स यद्धैतौ
नोदियातां न हैवेह स्वौ चन पाणी निर्जानीयुः ॥२॥ तयोरत्तैवान्यतरः । आ-
द्योऽन्यतरोऽत्तैव शुक्र आद्यो मन्थी ॥३॥ तयोरत्तैवान्यतरमनु । आद्योऽन्यत-
रमन्वत्तैव शुक्रमन्वाद्यो मन्थिनमनु तौ वाऽअन्यस्मै गृह्येतेऽन्यस्मै हूयेते श-
ण्डामर्कावित्यसुररक्षसे ताभ्यां गृह्येते देवताभ्यो हूयेते तद्यत्तथा ॥४॥ यत्र वै

की स्तुति के पश्चात् ही वे आये थे ॥१५॥

वे बोले, 'हम अध्वर्यु हैं, हमीं यज्ञ में मुख्य हैं। हमारे इस पहले ग्रह को द्विदेवत्यों के लिए दे दो।' उन्होंने उस पहले ग्रह को द्विदेवत्यों को दे दिया। इसलिए यह दसवाँ ग्रह है और तीसरा वषट्कार होता है। ये अश्विन कौन हैं ? द्यौ और पृथिवी। यही दो तो हैं जो सबको अश्नुवातां या प्राप्त करते हैं। यह पुष्कर स्रज अर्थात् पुष्कर की माला वाले हैं, क्योंकि पृथिवी का पुष्कर अग्नि है और द्यौ का सूर्य ॥१६॥

वह अश्विन ग्रह को इस मन्त्र से लेता है—"या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्" (यजु० ७।११, ऋ० १।२२।३)—"हे अश्विन, यह जो तुम्हारी मीठी और प्रसन्न करनेवाली कशा या वाणी है उससे यज्ञ को मिलाओ।" "उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा" (यजु० ७।११)—"तुझे आश्रय के लिए ग्रहण किया है। दोनों अश्विनों के लिए तुझको।" इस मन्त्रांश से उसको रख देता है—"एष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा" (यजु० ७।११)—"यह तेरी योनि है, मधु-प्रियों के लिए तुझे।" 'मधु' शब्द वाली ऋचा के साथ क्यों उठाता है और 'मधु-प्रियों के लिए तुझे' ऐसा कहकर क्यों रख देता है ? ॥१७॥

दध्यङ् अथर्वा ने 'मधु-ब्राह्मण' को अश्विनों को बताया था। यह इनका प्रिय धाम है। उनके इसी प्रिय से वह उनके पास जाता है। इसलिए मधु शब्द वाली ऋचा से उठाता है और 'मधुप्रियों के लिए तुझको' यह कहकर रखता है ॥१८॥

ये पात्र चिकने होते हैं। इन्द्र और वायु के पात्र के बीच में मेखला होती है। यह इसका दूसरा रूप है। इसलिए यह दो देवों का होता है। मित्र-वरुण का पात्र बकरी की आकृति का होता है। यह इसका दूसरा रूप है। इसलिए यह दो देवताओं का है। आश्विनों का ग्रह होंठ की आकृति का होता है। यह उसका दूसरा रूप है, इसलिए यह दो देवताओं का है। यह पात्र अश्विनों का इसलिए होता है कि अश्विन यज्ञ का मुख (मुख्य) हैं और मुख में होंठ होते हैं। इसलिए आश्विन-ग्रह होंठ की आकृति का होता है ॥१९॥

शुक्रामन्थि ग्रहौ

अध्याय २—ब्राह्मण १

शुक्र और मन्थिन् ग्रह उसकी आँख हैं। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वह शुक्र है। चूँकि तपता है इसलिए इसका नाम सूर्य है। चन्द्रमा मन्थी है ॥१॥

उसमें सत्तू मिलाता है। यह जो मथता है इसलिए इसका नाम मन्थी है। ये दोनों सूर्य और चाँद इन प्रजाओं की आँख हैं, क्योंकि यदि दोनों उदय न हों तो लोगों को अपने दोनों हाथ भी न दीखें ॥२॥

इनमें एक खानेवाला है और एक खाद्य। शुक्र खानेवाला है और मन्थी खाद्य ॥३॥

एक इनमें से खानेवाले के अनुकूल है, दूसरा खाद्य के—शुक्र खानेवाले के, मन्थिन् खाद्य के। ये ग्रह एक के लिए जाते हैं और दूसरे के लिए इनकी आहुति दी जाती है। शण्ड और मर्क दो असुर राक्षस हैं। इनके लिए ग्रह लिये जाते हैं और देवों के लिए इनकी आहुति दी जाती है। यह इस प्रकार से—॥४॥

देवाः । असुररक्षसान्यपजघ्निरे तदेताविव न शेकुरपहन्तुं यद्ध स्म देवाः किं च कर्म कुर्वते तद्ध स्म मोहयित्वा क्षिप्रऽएव पुनरपद्रवतः ॥५॥ ते ह देवा ऊचुः । उपजानीत यथेमावपहनामहाऽइति ते होचुर्ग्रहावेवाभ्यां गृह्णाम तावभ्यवैष्यत-स्तौ स्वीकृत्यापहनिष्यामहऽइति ताभ्यां ग्रहौ जगृहुस्तावभ्यवैतां तौ स्वीकृत्या-पाघ्नत तस्माच्छण्डामर्काभ्यामिति गृह्येते देवताभ्यो हूयेते ॥६॥ अपि होवाच याज्ञवल्क्यः । नो स्विद्देवताभ्य एव गृह्णीयामा३ विजितरूपमिव हीदमिति तद्वै स तन्मीमाꣳसामेव चक्रे नेत्तु चकार ॥७॥ इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्व-न्ति । अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमानऽइति तदेतस्य रूपं कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायुरिति ॥८॥ इमां त्वेव शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्यात् । तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदमित्यत्ता ह्ये-तमन्वत्ता हि ज्येष्ठस्तस्मादाह ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम् प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे । उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाहीति सादयत्यत्ता ह्येतमन्वत्ता हि वीरस्तस्मादाहैष ते योनि-र्वीरतां पाहीति दक्षिणार्धे सादयत्येताꣳ ह्येष दिशमनु संचरति ॥९॥ अथ म-न्थिनं गृह्णाति । अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इमम-पाꣳ संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति । उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वेति ॥१०॥ तꣳ सक्तुभिः श्रीणाति । तद्यत्सक्तुभिः श्रीणाति वरुणो ह वै सो-मस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः समभवत्तद्यच्छ्वयथात्समभवत्त-स्मादश्वो नाम तस्याश्रु प्रास्कन्दत्ततो यवः समभवत्तस्मादाहुर्वारुण्यो यव इति तद्यदेवास्यात्र चक्षुषोऽमीयत तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात्सक्तु-भिः श्रीणाति ॥११॥ स श्रीणाति । मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता । आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते

जब देवों ने असुर दाक्षसों को मार भगा दिया तो वे इन दोनों को न भगा सके। देवता जो कुछ करते, ये दोनों उनमें विघ्न डालते और फिर झट से भाग जाते ॥५॥

तब देवों ने कहा–'क्या तुम कोई उपाय कर सकते हो कि इन दोनों को भगा सकें?' वे कहने लगे—'इन दोनों के लिए दो ग्रह लें। वे इन दोनों को लेने के लिए आवेंगे। हम इनको पकड़कर मार भगायेंगे।' उन दोनों के लिए ग्रह लिये और जब वे आये तो उनको पकड़कर मार भगाया। इसलिए शण्ड और मर्क के लिए ये दो ग्रह लिये जाते हैं और देवताओं के लिए इनकी आहुति दी जाती है ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है कि हम इनको देवताओं के लिए ही क्यों न न लें। यह तो जीत का चिह्न है। परन्तु उन्होंने इतनी मीमांसा मात्र की है। व्यवहार में इसको कभी नहीं लाये ॥७॥

कुछ लोग इस ऋचा को शुक्र की पुरोरुक् या स्तुति में लाते हैं, "अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने" (यजु० ७।१६)—यहाँ 'ज्योतिर्जरायुः' (प्रकाश है जरायु जिसका) कहा, इससे तात्पर्य यह है कि वह इसको तपनेवाले सूर्य के समान करता है ॥८॥

परन्तु शुक्र की पुरोरुक् या स्तुति इस मन्त्र से होनी चाहिए, "तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदँ् स्वर्विदम्" (यजु० ७।१२, ऋ० ५।४४।१)—"पुरानी रीति से, पहली रीति से, सब रीति से, आजकल की रीति से बड़े, यज्ञधारी, स्वर्ग विद्या के जाननेवाले यजमान को।" यह शुक्र खानेवाला है, और खानेवाला ही बड़ा है। इसलिए कहा कि 'बड़े, यज्ञधारी, स्वर्ग विद्या के जाननेवाले को'। "प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाहि" (यजु० ७।१२)—"जो उपस्थित है, बलवान् है, शत्रुओं को जीतनेवाला और शीघ्रगामी है, ऐसे यजमान को तू दुहता है उन यज्ञक्रियाओं में जिनमें तू बढ़ता है। तुझे रक्षा के लिए ग्रहण किया गया है। शण्ड के लिए तुझे। यह तेरी योनि है। तू वीरता की रक्षा कर।" यह पढ़कर वह रख देता है। यह खानेवाला है। खानेवाला वीर होता है। इसलिए कहा कि 'यह तेरी योनि है, तू वीरता की रक्षा कर।' दक्षिण के कोने में इसको रखता है, क्योंकि इसी दिशा में सूर्य चलता है ॥९॥

अब इस मन्त्र से मन्थी को लेता है, "अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाँ संगमे सूर्यस्य, शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा" (यजु० ७।१६)—"यह वेनः (चन्द्र) पृश्निगर्भा (द्यौलोक या सूर्य के सहारे स्थित) ज्योतिर्जरायु (ज्योति से लिपटा हुआ), (विमाने) अन्तरिक्ष में (रजसः) जलों को (चोदयत्) प्रेरणा करता है। विद्वान् लोग शिशु के समान इसकी सूर्य के जलों के साथ संगम के समय में बुद्धियुक्त वाणियों से स्तुति करते हैं। रक्षार्थ लिया गया है। मर्क के लिए तुझको" ॥१०॥

उसमें सत्तू मिलाता है। सत्तू इसलिए मिलाता है कि वरुण ने सोम राजा की आँख में मारा और वह सूज गई (अश्वयत्)। उसमें से अश्व (घोड़ा) निकला। चूँकि यह सूजन में से निकला इसलिए इसका 'अश्व' नाम पड़ा। उसका एक आँसू गिरा। उसमें से जौ उत्पन्न हुए। इसलिए जौ (वरुण) वरुण का समझा जाता है। इस प्रकार आँख का जितना भाग उस समय दुख गया था उसी की पूर्ति करता है। उसे चंगा करता है। इसलिए सत्तुओं को मिलाता है ॥११॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है, "मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता। आ यः शर्याभिस्तु विनृम्णो ऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ" (यजु० ७।१७, ऋ० १।६१।३) "जिन

योनिः प्रजाः पाहीति सादयत्याग्नेयो ह्येतमन्वाग्नेय्यो हीमाः प्रजा विशस्तस्मादाहैष ते योनिः प्रजाः पाहीति ॥१२॥ द्वौ प्रोक्षितौ यूपशकलौ भवतः । द्वावप्रोक्षितौ प्रोक्षितं चैवाध्वर्युरादत्तेऽप्रोक्षितं चैवमेव प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं चैवादत्तेऽप्रोक्षितं च शुक्रमेवाध्वर्युरादत्ते मन्थिनं प्रतिप्रस्थाता ॥१३॥ सोऽध्वर्युः । अप्रोक्षितेन यूपशकलेनापमार्ष्ट्यपमृष्टः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थातापमृष्टो मर्क इति तदाददानावेवासुररक्षसेऽअपहतो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वित्येवाध्वर्युर्निष्क्रामति देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्विति प्रतिप्रस्थाता तदेतौ देवताभ्य एव प्रणयतः ॥१४॥ तौ जघनेनाहवनीयमरत्नी संधत्तः । ताऽउत्तरवेदौ सादयतो दक्षिणायामेव श्रोणावध्वर्युः सादयत्युत्तरायां प्रतिप्रस्थातानानुसृजन्तावेवानाधृष्टासीति तद्रक्षोभिरेवैतदुत्तरवेदिमनाधृष्टां कुरुतो विपर्येष्यन्तौ वाऽएतावग्निं भवतोऽत्येष्यन्तौ तस्माऽएवैतन्निह्नुवाते तथो हैनौ विपरियन्तावग्निर्न हिनस्ति ॥१५॥ सोऽध्वर्युः पर्येति । सुवीरो वीरान्प्रजनयन्परीहीत्यत्ता ह्येतमन्वत्ता हि वीरस्तस्मादाह सुवीरो वीरान्प्रजनयन्परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति ॥१६॥ अथ प्रतिप्रस्थाता पर्येति । सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्परीहीत्याग्नेयो ह्येनमन्वाग्नेय्यो हीमाः प्रजा विशस्तस्मादाह सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति ॥१७॥ तावपिधाय निष्क्रामतः । तिर एवैनावेतत्कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्राञ्चौ यन्तौ न कश्चन पश्यति तौ पुरस्तात्परीत्यापोर्णुतः पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुत आविरेवैनावेतत्कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यञ्चौ यन्तौ सर्व एव पश्यति तस्मात्पराग्रेतः सिच्यमानं न कश्चन पश्यति तदु पश्चात्प्रजायमानꣳ सर्व एव पश्यति ॥१८॥ तौ जघनेन यूपमरत्नी संधत्तः । यद्यग्निर्नोद्बाधित यद्युऽअग्निरुद्बाधेताप्यग्रेणैव यूपमरत्नी संदध्याताꣳ संज-

हवनों में विचार के समान तेज तुम दोनों अध्वर्यु कर्म के द्वारा जाते हो। जिस बहुत धनवाले अध्वर्यु ने अँगुलियों से हाथ में लिये हुए (मन्थि में) सत्तू मिलाये हैं।" इस मन्त्र से रख देता है, "एष ते योनिः प्रजाः पाहि" (यजु० ७।१७)—"यह तेरी योनि है। प्रजा को पाल।" यह ग्रह खाद्य है। यह प्रजा भी खाद्य है। इसलिए कहा कि यह योनि है, तू प्रजा को पाल ॥१२॥

यूप के दो टुकड़े प्रोक्षित (जल छिड़के) होते हैं और दो अप्रोक्षित (बिना जल के छिड़के)। अध्वर्यु एक प्रोक्षित और एक अप्रोक्षित लेता है। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता भी एक प्रोक्षित और अप्रोक्षित लेता है। अध्वर्यु शुक्र को लेता है और प्रतिप्रस्थाता मन्थि को ॥१३॥

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों राक्षसों को इस प्रकार निकालते हैं कि अध्वर्यु अप्रोक्षित यूप-शकल से उस ग्रह को माँजता है और कहता है 'अपमृष्टः शंडः' (शंड भगा दिया गया) और इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता कहता है 'अर्क भगा दिया गया'। अध्वर्यु यह कहकर बाहर जाता है, "देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्तु"—"शुक्र पीनेवाले देव तुझे ले जावें।" प्रतिप्रस्थाता यह कहकर बाहर जाता है, "देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्तु"—"मन्थि पीनेवाले देव तुझे ले जावें।" इस प्रकार ये दोनों देवताओं के निमित्त हवियों को ले जाते हैं ॥१४॥

वे दोनों आहवनीय के पीछे उत्तर वेदी पर (दाहिनी हाथ की) कुहनी मिलाकर उन ग्रहों को रखते हैं। दक्षिण श्रोणी में अध्वर्यु रखता है और उत्तर में प्रतिप्रस्थाता बिना छोड़े हुए, यह कहकर, "अनाधृष्टाऽसि" (यजु० ७।१७)—"तू आक्रमण से सुरक्षित है।" इस प्रकार ये दोनों वेदी को राक्षसों से सुरक्षित करते हैं। ये अग्नि की परिक्रमा करनेवाले हैं। इसलिये इनको प्रसन्न करता है। इस प्रकार जब वे परिक्रमा करते हैं तो अग्नि इनको नहीं सताती ॥१५॥

अध्वर्यु इस मंत्र से परिक्रमा करता है, "सुवीरो वीरान् प्रजनयन्" (यजु० ७।१३)—"वीर वीरों को उत्पन्न करता हुआ।" यह हवि खानेवाले की स्थानी है और खाने वाला वीर है। इसलिए कहा कि वीरों को उत्पन्न करता हुआ। "परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्" (यजु० ७।१३)—"यजमान को धन से युक्त कर।" यह जो कहा कि यजमान को धन से युक्त कर, इससे यजमान को आशीर्वाद देता है ॥१६॥

प्रतिप्रस्थाता इस मन्त्र से परिक्रमा करता है, "सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन्" (यजु० ७।१८)—"अच्छी प्रजावाले, प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए।" यह हवि खाद्य का स्थानी है, और ये प्रजा के लोग खाद्य हैं। इसलिए कहा कि प्रजा को उत्पन्न करते हुए। "परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्" (यजु० ७।१८)—"यजमान को धन से युक्त कर।" यह जो कहा कि यजमान को धन से युक्त कर, इससे यजमान को आशीर्वाद देता है ॥१७॥

वे दोनों ग्रहों को (हाथ से) ढककर ले जाते हैं। वह इनको छिपा लेता है। इसीलिए जब सूर्य और चन्द्र आगे की ओर चले जाते हैं तो छिप जाते हैं। (यूप के) सामने जाकर वे (ग्रहों को) खोल देते हैं और सम्मुख खड़े होकर आहुति देते हैं। इससे वे उनको 'दृष्ट' बनाते हैं। इसीलिए जब सूर्य और चन्द्र पीछे लौटते हैं तो उसको सब कोई देखता है। इसीलिए जब वीर्य सींचा जाता है तो कोई नहीं देखता, परन्तु जब उत्पत्ति होती है तो सब देखते हैं ॥१८॥

वे यूप के पीछे अपनी कुहनियाँ रखते हैं कि कहीं आग भड़क न उठे। लेकिन अगर आग भड़क उठे तो यूप के सामने कुहनी कर लें—अध्वर्यु इस मन्त्र से, "संजग्मानो दिवा पृथिव्या

ग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषेत्येवाध्वर्युः संजग्मानो दिवा पृथिव्या म-
न्थी मन्थिशोचिषेति प्रतिप्रस्थाता चक्षुषोर्ह्येवैतेऽआरमणे कुरुतश्चक्षुषीऽएवैत-
त्संधत्तस्तस्मादिमेऽअभितोऽस्थिनी चक्षुषी सꣳहिते ॥१९॥ सोऽध्वर्युः । अप्रोक्षितं
यूपशकलं निरस्यति निरस्तः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थाता निरस्तो मर्क इति
तत्पुराक्कृतिभ्योऽसुररक्षसेऽअपहतः ॥२०॥ अथाध्वर्युः । प्रोक्षितं यूपशकलमाहव
नीये प्रास्यति शुक्रस्याधिष्ठानमसीत्येवमेव प्रतिप्रस्थाता मन्थिनोऽधिष्ठानमसीति
चक्षुषोर्ह्येवैते समिधौ चक्षुषीऽएवैतत्समिन्द्धे तस्मादिमे समिद्धे चक्षुषी ॥२१॥ त-
त्र जपति । अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्यामेत्याशी-
र्ह्येवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते ॥२२॥ अथाश्राव्याह । प्रातः-प्रातः स-
वस्य शुक्रवतो मधुश्चुत इन्द्राय सोमान्प्रस्थितान्प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोति त-
दनु प्रतिप्रस्थाता तदनु चमसाध्वर्यवः ॥२३॥ तौ वै पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुतः । च-
क्षुषी वाऽएतौ तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी धत्तस्तस्मादिमे पुरस्ताच्चक्षुषी ॥२४॥ अ-
भितो यूपं तिष्ठन्तौ जुहुतः । यथा वै नासिकैवं यूपस्तस्मादिमेऽअभितो नासिकां
चक्षुषी ॥२५॥ तौ वै वषट्कृतौ सन्तौ मक्षेण हूयेते । एतेनो ह्येतौ तदुदश्नुवाते
यदेनौ सर्वꣳ सवनमनुहूयते यद्वेवैतौ सर्वꣳ सवनमनुहूयतऽएतौ वै प्रजापतेः
प्रत्यक्षतमां चक्षुषी ह्येतौ सत्यं वै चक्षुः सत्यꣳ हि प्रजापतिस्तस्मादेनौ सर्वꣳ
सवनमनुहूयते ॥२६॥ स जुहोति । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो व-
रुणो मित्रोऽअग्निः । स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्माऽइन्द्राय सुतमाजुहोत
स्वाहेति ॥२७॥ स यज्जुहोति । सा प्रथमा स प्रथम इति शश्वद्ध वै रेतसः सि-
क्तस्य चक्षुषीऽएव प्रथमे सम्भवतस्तस्माज्जुहोति सा प्रथमा स प्रथम इति ॥२८॥
अथ सम्प्रेष्यति । प्रेतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु
सदस्यानाꣳ होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वꣳ शुक्रस्याभ्युन्नयध्वमिति सम्प्रेष एवैष

शुक्रः शुक्रशोचिषा" (यजु० ७।१३)—"शुक्र प्रकाशस्वरूप द्यौ और पृथिवी के साथ संयुक्त होकर।" और प्रतिप्रस्थाता इस मन्त्र से, "संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा" (यजु० ७।१८)—"मन्थी मन्थी के समान दीप्तिवाले द्यौ और पृथिवी के साथ संयुक्त होकर।" इस प्रकार ये इन ग्रहों को आँखों के ठहरने का स्थान बनाते हैं। इनको आँखों के समान पास-पास जोड़कर रखते हैं। इसीलिए आँखें पास-पास हड्डियों द्वारा मिली होती हैं ॥१९॥

अध्वर्यु अप्रोक्षित यूप-शकल को यह कहकर फेंक देता है, "निरस्तः शण्डः" (यजु० ७।१३)—"शण्ड भगा दिया गया।" प्रतिप्रस्थाता यह कहकर फेंकता है, "निरस्तो मर्कः" (यजु० ७।१८)—"मर्क भगा दिया गया।" इस प्रकार आहुतियों के पहले इन दोनों राक्षसों को भगा देते हैं ॥२०॥

अध्वर्यु प्रोक्षित यूप-शकल को यह कहकर आहवनीय अग्नि में छोड़ता है, "शुक्र-स्याधिष्ठानमसि" (यजु० ७।१३)—"तू शुक्र का अधिष्ठान है।" इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता यह कहकर "मन्थिनोऽधिष्ठानमसि" (यजु० ७।१८)—"मन्थि का अधिष्ठान है तू।" ये दोनों को प्रकाश देनेवाले हैं। इससे वह आँखों को प्रकाश देता है। इसीलिए आँखों में प्रकाश है।।२१॥

अब जाप करता है, "अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम" (यजु० ७।१४)—"हे सोम देव, तेरे न नष्ट होनेवाले, वीर्यवान् धन के हम दाता होवें।" इस कर्म का यह आशीर्वाद है। इस आशीर्वाद को देता है ॥२२॥

श्रौषट् कहकर कहता है—'प्रातःसवन के चमकीले, मीठे सोमों को इन्द्र के लिए प्रेरित करो।' वषट्कार होने पर अध्वर्यु आहुति देता है। उसके पीछे चमसाध्वर्यु ॥२३॥

ये आगे खड़े होकर आहुति देते हैं। ये दोनों आहुतियाँ यज्ञ की आँखें हैं। इस प्रकार आँखों को आगे रखता है। इसीलिए तो आँखें आगे होती हैं ॥२४॥

ये यूप के दोनों ओर खड़े होकर आहुति देते हैं। यूप नासिका के समान है। नासिका के दोनों ओर आँखें होती हैं ॥२५॥

वषट्कार कहकर ये दोनों आहुतियाँ मन्त्र पढ़कर दी जाती हैं। इनमें यह विशेषता है कि इनके पश्चात् पूरे सवन की आहुतियाँ दी जाती हैं। इनके पीछे पूरे सवन की आहुतियाँ इसलिए दी जाती हैं कि ये आहुतियाँ प्रजापति की प्रत्यक्षतम आँखें हैं। सत्य चक्षु है, सत्य प्रजापति है। इसलिए इनके पीछे पूरे सवन की आहुतियाँ दी जाती हैं ॥२६॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो ऽअग्निः ॥ स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा ऽ इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा" (यजु० ७।१४, १५)—"सबके ग्रहण करने योग्य यह पहली संस्कृति है। वह पहला वरुण, मित्र और अग्नि है। वह पहला चेतनावा बृहस्पति है। उस इन्द्र के लिए निचोड़े हुए सोम की आहुति दो" ॥२७॥

'सा प्रथमा, स प्रथमः' यह कहकर वह जो आहुति देता है वह सदा सींचे हुए वीर्य के समान है। आँखें पहले होती हैं इसलिए वह 'सा प्रथमा, स प्रथमः' ऐसा कहकर आहुति देता है ॥२८॥

अब वह आदेश देता है, 'होता का चमसा आवे, ब्राह्मण का, उद्गाता का, यजमान का, सदस्यों के, होताओं के, अध्वर्युओं के। इन चमसों को शुद्ध सोमरस से भरो।' यह सब

पर्येत्य प्रतिप्रस्थाताधर्योः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्यत्तꣳ एवैतदाद्यं बलिꣳ हारयति तमधर्युर्होतृचमसेऽवनयति भक्षाय वषट्कर्तुर्हि भक्षः प्राणो वै वषट्कारः सोऽस्मादेतद्वषट्कुर्वतः पराङिवाभूत्प्राणो वै भक्षस्तत्प्राणं पुनरात्मन्धत्ते ॥२९॥ अथ यदेते प्रतीची पात्रे न हरन्ति । हरन्त्यन्यान्ग्रहांश्चक्षुषी ह्येते सꣳस्रवमेव होतृचमसेऽवनयति ॥३०॥ अथ होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति । ऊतोच्छिष्टा वाऽएते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत्पुनराप्याययन्ति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्धोत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति ॥३१॥ अथ होत्राः संयाजयन्ति । होत्रा ह वै युक्ता देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ता एवैतत्संतर्पयन्ति तृप्ताः प्रीता देवेभ्यो यज्ञं वहानिति तस्माद्धोत्राः संयाजयन्ति ॥३२॥ स प्रथमायां वा होत्रायाम् । इष्टायामुत्तमायां वानुमन्त्रयते तृम्पन्तु होत्रा मधो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहेति होत्राणामेवैषा तृप्तिरथेत्य प्रत्यङ्ङुपविशत्यथाऽग्नीदित्यग्नीध्रत्र यजतामुत्तमः संयजति तस्मादाहाथाऽग्नीदिति ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥६ [२.१.]॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १३६ ॥ ॥

आत्मा ह वाऽअस्याग्रयणः । सोऽस्यैष सर्वमेव सर्वꣳ ह्ययमात्मा तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णाति सर्वं वाऽइयꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मादनया गृह्णाति ॥१॥ पूर्णं गृह्णाति । सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मात्पूर्णं गृह्णाति ॥२॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति । सर्वं वै विश्वे देवाः सर्वमेष ग्रहस्तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति ॥३॥ सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति । सर्वं वै सवनानि सर्वमेष ग्रहस्तस्मात्सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति ॥४॥ स यदि राजोपदस्येत् । तमत एव तन्वीरन्नतः प्रभावयेयुरात्मा वाऽआग्रयण आत्मनो वाऽइमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्त्येतस्मादन्ततो हारियोजनं ग्रहं गृह्णाति तदात्मन्येवास्यां प्रतिष्ठायामन्ततो यज्ञः प्रतितिष्ठति ॥५॥ अथ यस्मादाग्रयणो नाम । यां वाऽअमूं ग्रा-

मिला-जुला आदेश है। प्रतिप्रस्थाता घूमकर अध्वर्युओं के पात्र में बचा-खुचा सोम डाल देता है। मानो खानेवाले के लिए खाद्यपदार्थ में से बलि दिलवाता है। अध्वर्यु उसको होता के चमसे में डाल देता है पीने के लिए। वषट्कार पढ़नेवाले का यह भक्ष्य है। वषट्कार-प्राण है। यह प्राण वषट् करने के समय निकल-सा गया। प्राण भक्ष है, अर्थात् प्राण को फिर उसमें धारण करता है ॥२९॥

इन पात्रों को वे पीछे क्यों नहीं ले जाते और दूसरे ग्रहों को क्यों पीछे ले जाते हैं? इस-लिए कि ये दोनों आँखें हैं। वह बचे-खुचे को होता के चमसे में डाल देता है ॥३०॥

अब होताओं के चमसों को भरते हैं। ये बचे-खुचे भाग जो आहुतियों के अवशिष्ट हैं आहुतियों के लिए काफी नहीं हैं। इनको भर देता है तो ये आहुतियों के लिए काफी हो जाते हैं, इसलिए वह होताओं के चमसों को भर देता है ॥३१॥

अब होता लोग मिलकर ही देवों के लिए यज्ञ को ले जाते हैं। इन सबको वह एक साथ सन्तुष्ट करता है कि तृप्त होकर वे देवों के लिए यज्ञ को ले जावें। इसलिए होता लोग एक-साथ आहुति देते हैं ॥३२॥

पहले या पिछले होता की आहुति हो चुकने पर उनसे वह कहता है, "तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहा" (यजु० ७।१५)—"मीठे सोम को पीनेवाले, भलीभाँति प्रसन्न होनेवाले होता लोग सन्तुष्ट होवें।" यह होताओं की सन्तुष्टि है। अब वह आता है और पश्चिमाभिमुख बैठ जाता है। "याडग्नीत" (यजु० ७।१५)—"अग्नीध्र ने आहुति दी।" अग्नीध्र सबसे पीछे आहुति देता है। इसलिए कहा, 'याड् अग्नीत्' अर्थात् अग्नीध्र ने आहुति दी ॥३३॥

आग्रयणग्रहः

अध्याय २—ब्राह्मण २

आग्रयण ग्रह इसका आत्मा है। इस प्रकार यह उसका सर्वस्व है। आत्मा सर्वस्व होता है। इसलिए वह इस (पृथिवी) के द्वारा लेता है। स्थाली इसी (मिट्टी) की होती है। स्थाली में ही इस आहुति को निकालता है। यह पृथिवी सब-कुछ है, इसलिए यह ग्रह सब-कुछ है। इसलिए वह इसको इस पृथिवी के द्वारा लेता है ॥१॥

वह इसको पूरा भरकर लेता है। पूर्ण का अर्थ है सब। यह ग्रह 'सब' है। इसलिए पूरा भरता है ॥२॥

विश्वेदेवों के लिए लेता है। 'विश्वेदेवा' सब हैं। यह ग्रह भी सब है। इसलिए सब देवों के लिए ग्रहण करता है ॥३॥

सब सवनों में लेता है। सवन 'सब' हैं। यह ग्रह भी 'सब' है। इसलिए सब सवनों में लेता है ॥४॥

यदि सोम राजा चुक जावे, तो उसे इसी ग्रह में से भर देते हैं। इसी में से निकालते हैं। यह आग्रायण ग्रह आत्मा (शरीर) है। आत्मा (शरीर) से ही वे सब अंग निकलते हैं। इस-लिए अन्त में हारियोजन ग्रह को लेते हैं। इस प्रकार अन्त में यज्ञ इसी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥५॥

इसका आग्रयण नाम यों पड़ा। यह जो पत्थर (सोम निचोड़ने का) को लेते समय मौन

वाणमाददानो वाचं यच्छत्यत्र वै साग्रेऽवदत्तद्यत्सात्राग्रेऽवदत्तस्मादाग्रयणो नाम ॥ ६ ॥ रक्षोभ्यो वै तां भीषा वाचमयच्छन् । षड्वाऽअग्रतः प्राचो ग्रहान्गृह्णात्यथैष सप्तमः षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य सर्वं वै संवत्सरः ॥ ७ ॥ तां देवाः । सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचमवदंस्तथोऽएवैष एतात्सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचं वदति ॥ ८ ॥ अथातो गृह्णात्येव । ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ । अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् । उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति वाचमेवैतद्यातयाम्नीं करोति तस्मादनया समानत्सद्विपर्यासं वदत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदाग्रयणोऽस्याग्रयणोऽसीति गृह्णीयात्तस्मादाहाग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति ॥ ९ ॥ पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति । वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह गोपाय यज्ञमिति पाहि यज्ञपतिमिति वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह गोपाय यजमानमिति यजमानो हि यज्ञपतिर्विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्त्वां वीर्येण गोपायत्विति विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुत्सृष्टामाह यज्ञं त्वं गोपायेत्यभि सवनानि पाहीति तदेतं ग्रहमाह सर्वाणि ह्येष सवनानि प्रति ॥ १० ॥ अथ दशापवित्रमुपगृह्य हिङ्करोति । सा हैषा वागनुद्यमाना तताम तस्यां देवा वाचि तान्तायात्हिङ्कारेणैव प्राणमदधुः प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुत्शक्नोति सैतेन प्राणेन समजिहीत यदा वै तान्तः प्राणं लभतेऽथ स संजिहीते तथोऽएवैष एतद्वाचि तान्तायात्हिङ्कारेणैव प्राणं दधाति सैतेन प्राणेन संजिहीते त्रिष्कृत्वो हिङ्करोति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥ ११ ॥ अथाह सोमः पवतऽइति । स यामेवामूं भीषासुररक्षसेभ्यो न निरब्रुवंस्तामेवैतत्सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्र निराह तामाविष्करोति तस्मादाह सोमः पवतऽइति ॥ १२ ॥ अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेति । तद्ब्रह्मणे च क्षत्राय चाहास्मै सुन्वते

धारण किया था, इसके बाद अभी मुँह खोला गया। और चूँकि सबसे आगे वचन बोला, इसलिए आग्रयण नाम हुआ ॥६॥

राक्षसों के डर से मौन साधन किया था। इसके पहले वह छः ग्रह लेता है। यह सातवाँ है। वर्ष में छः ऋतुएं होती हैं। वर्ष सब है ॥७॥

सबके जीतने और भयरहित तथा हानिरहित होने पर पहले देवों ने वाणी बोली थी। यह भी सबके जीतने पर और भयरहित तथा हानिरहित होने पर वाणी को बोलता है ॥८॥

इसको वह इस मन्त्र से ग्रहण करता है, "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश-स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयण:" (यजु० ७।१६,२०, ऋ० १।१३६।११)—"जो आप देव लोग, द्यौलोक में ११ हैं, पृथिवी में ११ और जलों में (अन्तरिक्ष में) प्रकाशयुक्त ११ हैं। ये तैंतीसों देव मेरे यज्ञ को ग्रहण करें। तू रक्षा के लिए लिया गया है तो आग्रयण है। अच्छा आग्रयण है।" इस प्रकार वाणी जोरदार कर देता है कि एकार्थ होते हुए भी कुछ भेद कर देता है। यदि 'आग्रयणोऽसि, आग्र-यणोऽसि' दो बार कहेगा तो एक ही बात को दुहराने का दोष आ जायगा, इसलिए पहले 'आग्र-यणोऽसि' कहता है फिर 'स्वाग्रयणोऽसि' ॥६॥

"पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्" (यजु० ७।२०)—अर्थात् "यज्ञ की रक्षा कर, यज्ञपति की रक्षा कर।" यज्ञपति से यजमान का तात्पर्य है, क्योंकि यजमान ही यज्ञपति है। "विष्णुस्त्वा-मिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाहि" (यजु० ७।२०)—विष्णु नाम है यज्ञ का, अर्थात् "यज्ञ अपनी शक्ति द्वारा तेरी रक्षा करे। तू यज्ञ की रक्षा कर।" "अभि सवनानि पाहि" (यजु० ७।२०)—इससे तात्पर्य ग्रह का है क्योंकि यह (आग्रयण ग्रह) सभी सवनों में आता है ॥१०॥

(ग्रह को) छन्ने में लपेटकर हिंकार बोलता है। यह वाणी विना आश्रय के थक गई थी। देवों ने उस थकी हुई वाणी में हिंकार के द्वारा प्राण स्थापित किये। प्राण हिंकार है। प्राण ही हिंकार है। इसीलिए तो नाक बन्द करके हिंकार नहीं बोल सके। वह इस प्राण के द्वारा फिर ताजा हो गई। जब थका आदमी प्राण को पाता है तो प्राण के कारण ताजा हो जाता है। इसी प्रकार यह उस वाणी में हिंकार से प्राण को धारण कराता है। वह उस प्राण के द्वारा ताजा होती है। हिंकार तीन बार करता है क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् (तीन लड़ी वाला) है ॥११॥

अब कहता है, "सोम: पवते" (यजु० २१)—"सोम पवित्र करता है।" असुर राक्षसों से डरकर उन्होंने अब तक यह वाणी न बोली थी। जब सबको जीत लिया और भय-रहित तथा हानि-रहित हो गये तब इस वाणी को स्पष्ट किया और कहा। इसलिए कहता है कि 'सोम पवित्र करता है' ॥१२॥

"अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय" (यजु० ७।२१)—"इस ब्राह्मण के लिए, इस क्षत्रिय के लिए।" क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए यह यज्ञ किया गया। "यजमानाय पवते" (यजु०

यजमानाय पवतऽइति तद्यजमानायाह ॥ १३ ॥ तदाहुः । एतावदेवोक्त्वा सादयेदेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावद्ब्रह्म क्षत्रं विडिन्द्राग्नी वाऽइदꣳ सर्वं तस्मादेतावदेवोक्त्वा सादयेदिति ॥ १४ ॥ तदु ब्रूयादेव भूयः । इषऽऊर्जे पवतऽइति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषऽइत्यूर्जेऽइति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाहाद्भ्य ओषधीभ्यः पवत ऽइति तदद्भ्यश्चौषधिभ्यश्चाह द्यावापृथिवीभ्यां पवतऽइति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामाह ययोरिदꣳ सर्वमधि सुभूताय पवतऽइति साधवे पवतऽइत्येवैतदाह ॥ १५ ॥ तदु हैकऽआहुः । ब्रह्मवर्चसाय पवतऽइति तदु तथा न ब्रूयाद्यद्वाऽआहास्मै ब्रह्मणऽइति तदेव ब्रह्मवर्चसायाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति तं वै मध्ये सादयत्यात्मा ह्यस्यैष मध्यऽइव ह्ययमात्मा दक्षिणोक्थ्यस्थाली भवत्युत्तरादित्यस्थाली ॥ १६ ॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [२.२.] ॥ ॥

अयꣳ ह वाऽअस्यैषोऽनिरुक्त आत्मा यदुक्थ्यः । सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्ययमनिरुक्तः प्राणः सोऽस्यैष आयुरेव तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णात्यजरा ह्ययममृताजरꣳ ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति ॥ १ ॥ तं वै पूर्णं गृह्णाति । सर्वं वै तद्यत्पूर्णꣳ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात्पूर्णं गृह्णाति ॥ २ ॥ ॥ शतम् २४०० ॥ ॥ तस्यासावेव ध्रुव आयुः । आत्मैवास्यैतेन सꣳहितः पर्वाणि संततानि तद्वाऽअगृहीत एवैतस्मादछावाकायोत्तमो ग्रहो भवति ॥ ३ ॥ अथ राजानमुपावहरति । तृतीयं वसतीवरीणामवनयति तत्पर्व समैति प्रथममहोत्तरस्य सवनस्य करोत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानीदमित्थमतिक्रान्तमिदमित्थम् ॥ ४ ॥ एवमेव माध्यन्दिने सवने । अगृहीत एवैतस्मादछावाकायोत्तमो ग्रहो भवत्यथ तृतीयं वसतीवरीणामवनयति तत्पर्व समैति प्रथममहोत्तरस्य

७।२१)—"यजमान के लिए पवित्र करता है।" यह यजमान के लिए कहा ॥१३॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि इतना ही कहकर ग्रह को रख दे, जितना ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य है। वह सब इतना ही तो है। इन्द्र और अग्नि यह सब है। इसलिए इतना ही कहकर रख दे ॥१४॥

परन्तु इतना और कहना चाहिए "इष ऽ ऊर्जे पवते।" 'इषे' कहा वृष्टि के लिए। 'ऊर्जे' कहा रस के लिए, क्योंकि वृष्टि से रस उत्पन्न होता है। "अद्भ्य ऽ ओषधीभ्यः पवते" (यजु० ७।२१)—यह जलों और ओषधियों के लिए कहा। "द्यावापृथिवीभ्यां पवते" (यजु०७।२१)—यह द्यौ और पृथिवी के लिए कहा जिसके आश्रित सभी हैं। "सुभूताय पवते" (यजु० ७।२१)–अर्थात् 'साधु या भलाई के लिए' ॥१५॥

कुछ कहते हैं कि 'ब्रह्मवर्चसाय पवते', परन्तु ऐसा न कहना चाहिए। क्योंकि ऊपर 'अस्मै ब्रह्मणे' कहा जा चुका है। इसका अर्थ 'ब्रह्मवर्चस्' है। "विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ऽ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ७।२१)—"तुझको विश्वेदेवों के लिए। यह तेरी योनि है। तुझको विश्वेदेवों के लिए।" उस ग्रह को रख देता है कि इसको विश्वेदेवों के लिए भरा था। उसको मध्य में रखता है, क्योंकि यह इसका आत्मा है। आत्मा मध्य में है। दाहिनी ओर उक्थ्य थाली को रखते हैं, बाईं ओर आदित्य थाली को ॥१६॥

उक्थ्यग्रहः

अध्याय २—ब्राह्मण ३

यह जो उक्थ्य ग्रह है वह इसका अनिरुक्त (अस्पष्ट) आत्मा है। यह उसका आत्मा है। यह इसका जो अनिरुक्त प्राण है वह इसका आत्मा है। यह इसकी आयु है। इसलिए वह इसको इस (पृथिवी) के द्वारा ग्रहण करता है। इसी की थाली होती है (अर्थात् थाली मिट्टी की ही तो बनती है) और थाली में ही इसको निकालता है। यह पृथिवी अजर-अमर है। अजर-अमर ही आयु है। इसलिए इस पृथिवी के द्वारा इसको ग्रहण करता है ॥१॥

उसको पूरा-पूरा भरता है। यह जो आयु है वह 'सब' है। इसलिए पूरा-पूरा भरता है ॥२॥

ध्रुव ग्रह उसकी आयु है। इसी से उसका आत्मा सुगठित रहता है। पर्व अर्थात् जोड़ इसी के द्वारा संगठित रहते हैं। अभी अच्छावाक (ऋत्विज विशेष) के लिए पिछला ग्रह भरा नहीं जा चुका ॥३॥

तभी सोम राजा को (गाड़ी से) उतारता है और वसतीवरीयों का तीसरा भाग (आधवनीय स्थाली में) छोड़ता है, इस प्रकार पर्व जुड़ता हैं अर्थात् इस उक्थ्य ग्रह को पिछले सवन का पहला और पहले सवन का पिछला ग्रह बना देता है (इस प्रकार दोनों सवन जुड़ गये), जो पिछले सवन का है उसे पहले करता है, जो पहले का है उसे पीछे। इस प्रकार वह एक का दूसरे में जोड़ मिला देता है, इसीलिए तो शरीर के जोड़ एक-दूसरे में मिले हुए हैं (व्यतिषक्तानि–interlocked), यह इस प्रकार, यह इस प्रकार (हाथ के इशारे से बताकर) ॥४॥

इसी प्रकार दोपहर के सवन में, चूँकि अभी इसमें से अच्छावाक के लिए पिछला ग्रह भरा नहीं जाता। इसलिए वसतीवरीयों का तीसरा भाग (आधवनीय में) छोड़ता है। इस प्रकार जोड़ मिल जाता है। पहले को वह पिछले सवन का बनाता है और पिछले को पहले सवन

सवनस्य करोत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य त-
दुत्तमं तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानीदमित्थमतिक्रान्तमिदमित्थं
तद्यदस्यैतेनात्मा सꣳहितस्तेनास्यैष आयुः ॥ ५ ॥ सैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्गारः ।
त्रिभ्य एवैनं प्रातःसवनऽउक्थेभ्यो विगृह्णाति त्रिभ्यो माध्यन्दिने सवने तत्षट् कृ-
त्वः षड्वाऽऋतव ऋतवो वाऽइमान्त्सर्वान्कामान्पचन्त्येतेनो हैषा कामदुघैवेन्द्र-
स्योद्गारः ॥ ६ ॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृह्णाति । उक्थꣳ हि पुरोरुगृग्घि पुरोरुगृ-
ग्घ्युक्थꣳ साम ग्रहोऽथ यदन्यज्जपति तद्यजुस्ता हैता अभ्यर्ध एवाग्रऽऋग्भ्य आ-
सुरभ्यर्धो यजुर्भ्योऽभ्यर्धः सामभ्यः ॥ ७ ॥ ते देवा अब्रुवन् । हन्तेमा यजुःषु दधाम
तथेयं बहुलतरेव विद्या भविष्यतीति ता यजुःष्वदधुस्तत एषा बहुलतरेव वि-
द्याभवत् ॥ ८ ॥ तं यदपुरोरुक्कं गृह्णाति । उक्थꣳ हि पुरोरुगृग्घि पुरोरुगृग्घ्युक्थꣳ
स यदेवैनमुक्थेभ्यो विगृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुग्वान्भवति तस्मादपुरोरुक्कं
गृह्णाति ॥ ९ ॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वय-
स्वतऽइतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय त्वेति बृहद्वते वयस्वतऽइति
वीर्यवतऽइत्येवैतदाह यदाह बृहद्वते वयस्वतऽइत्युक्थाव्यं गृह्णामीत्युक्थेभ्यो
ह्येनं गृह्णाति यत्तऽइन्द्र बृहद्वय इति यत्तऽइन्द्र वीर्यमित्येवैतदाह तस्मै त्वा
विष्णवे त्वेति यज्ञस्य ह्येनमायुषे गृह्णाति तस्मादाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेत्येष ते
योनिरुक्थेभ्यस्त्वेति सादयत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति ॥ १० ॥ तं विगृह्णाति । देवे-
भ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीति प्रशासनꣳ स कुर्याद्य एवं कुर्याद्यथादेवतं
त्वेव विगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ मित्रावरुणाभ्यां त्वा । देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव
मैत्रावरुणाय मैत्रावरुणीषु हि तस्मै स्तुवते मैत्रावरुणीरनुशꣳसति मैत्रावरुण्या
यजति ॥ १२ ॥ इन्द्राय त्वा । देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव ब्राह्मणाच्छꣳसिन
ऽऐन्द्रीषु हि तस्मै स्तुवतऽऐन्द्रीरनुशꣳसत्यैन्द्या यजति ॥ १३ ॥ इन्द्राग्निभ्यां त्वा ।

का। जो पिछले सवन का है उसे पहले करता है, जो पहले का है उसे पीछे। इस प्रकार दोनों को मिला देता है। इसीलिए ये शरीर के जोड़ भी मिले हुए हैं। यह इस प्रकार और यह इस प्रकार (हाथ के इशारे से बताकर) चूँकि इस ग्रह से उसका आत्मा सुघटित है, इसलिए यह इसकी आयु है ॥५॥

यह (उक्थ्य ग्रह) इन्द्र का विशेष भाग या कामधेनु है। प्रातःसवन में तीन उक्थ्यों के लिए (विशेष मन्त्रों के लिए) इसके तीन भाग करता है; दोपहर के सवन में तीन को; ये छः हुए। छः ही ऋतुएं हैं। ये ऋतुएँ ही पृथिवी पर सब कामनाओं को पकाती हैं। इसलिए यह कामधेनु या इन्द्र का विशेष भाग है ॥६॥

इसको पुरोरुक् के बिना ही लेता है। उक्थ्य पुरोरुक् है। पुरोरुक् ऋक् है। उक्थ्य ऋक् है। साम ग्रह है। यह जो जपा जाता है वह यजुः है। ये पुरोरुक् ऋचाएँ पहले ऋक् से अलग थीं, यजुः से अलग थीं, साम से अलग थीं ॥७॥

वे देव बोले, 'इनको यजुओं में मिला दें, इस प्रकार यह बहुत बड़ी विद्या हो जायगी।' तब उन्होंने इनको यजुओं में मिला दिया और यह बहुत बड़ी विद्या हो गई ॥८॥

इसको बिना पुरोरुक् के क्यों लेता है? उक्थ्य पुरोरुक् है। ऋक् पुरोरुक् है, ऋक् उक्थ्य है। चूँकि इसको उक्थ्यों में से लेता है, इसलिए यह पुरोरुक्वाला हो जाता है। इसलिए इसको बिना पुरोरुक् के लेता है ॥९॥

इसको इस मन्त्र से लेता है, "उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वते" (यजु० ७।२२)—"तुझको आश्रय के लिए लिया गया है, बड़े और आयुवाले इन्द्र के लिए।" इन्द्र यज्ञ का देवता है, इसलिए कहा कि बड़े और आयुवाले इन्द्र के लिए। 'बड़े और आयुवाले' का अर्थ है वीर्यवाले, पराक्रमवाले। "उक्थाव्यं गृह्णामि" (यजु० ७।२२)—"उक्थ्यों से इसे लेता हूँ।" "यत्त ऽ इन्द्र बृहद्वयः" (यजु० ७।२२) अर्थात् "हे इन्द्र, जो तेरा पराक्रम है।" "तस्मै त्वा विष्णवे त्वा" (यजु० ७।२२)—यज्ञ की आयु के लिए इसको ग्रहण करता है, इसलिए कहा, "उसके लिए तुझको, विष्णु के लिए तुझको।" "एष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा" (यजु० ७।२२)—"यह तेरी योनि है, उक्थों के लिए तुझे।" ऐसा कहकर उसको रख देता है, उक्थों के लिए उसे लेता है ॥१०॥

इस मन्त्रांश से बाँटता है, "देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२२)—"तुझे देवों के लिए तथा यज्ञ की आयु के लिए लेता हूँ।" जो इस प्रकार करेगा वह शासन करनेवाला होगा। अब उसे प्रत्येक देवता के लिए बाँट देना चाहिए ॥११॥

"मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२३)—यह मित्रावरुण के लिए, क्योंकि मित्रावरुणी मन्त्रों में (उद्गाता लोग) उसी की स्तुति करते हैं और मैत्रावरुणी शस्त्र को होता पढ़ता है, और मैत्रावरुण के लिए ही आहुति दी जाती है ॥१२॥

"इन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२३)—"देव के अर्पण तुझको इन्द्र के लिए, यज्ञ की आयु के लिए लेता हूँ।" यह भाग ब्राह्मणाच्छंसी के लिए होता है। इन्द्र-सम्बन्धी मन्त्रों के साथ इसके लिए स्तुति की जाती है। शस्त्रा भी ऐसे ही मन्त्रों से पढ़ा जाता है जिनमें इन्द्र शब्द आया हो और इन्द्रवाले मन्त्र से ही आहुति दी जाती है ॥१३॥

देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येवाच्छावाकायैन्द्राग्नीषु हि तस्मै स्तुवतऽऐन्द्राग्नोर्-नुशᳫंसत्यैन्द्राग्न्या यजतीन्द्राय त्वेत्येव माध्यन्दिने सवनऽऐन्द्रᳫं हि माध्यन्दिनᳫं सवनम् ॥१४॥ तदु ह चरकाध्वर्यवो विगृह्णन्ति । उपयामगृहीतोऽसि देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यं मित्रावरुणाभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिर्मित्रावरुणाभ्यां त्वेति सादयति पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति ॥ १५ ॥ उपयामगृहीतोऽसि । देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राय जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वेति सादयति पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति ॥ १६ ॥ उपयामगृहीतोऽसि । देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वेति सादयति नात्र पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशतीन्द्राय त्वेन्द्राय त्वेत्येव माध्यन्दिने सवनऽऐन्द्रᳫं हि माध्यन्दिनᳫं सवनं द्विर्ह पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति तूष्णीं तृतीयं निदधाति ॥ १७ ॥ तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् । न योनौ सादयेदग्रे ह्येवैष उपयामेन गृहीतो भवत्यग्रे योनौ सन्नोऽजामितायै जामि ह कुर्याद्यदेनमत्राप्युपयामेन गृह्णीयाद्यद्योनौ सादयेदथ यत्पुनर्हविरसीति स्थालीमभिमृशति पुनर्ह्यस्यै ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति न तदाद्रियेत तूष्णीमेव निदध्यात् ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [२. ३.] ॥ ॥

अयᳫं ह वाऽअस्यैष प्राणः । योऽयं पुरस्तात्स वै वैश्वानर एवाथ योऽयं पश्चात्स ध्रुवस्तौ ह स्मैतौ द्वावेवाग्रे ग्रहौ गृह्णन्ति ध्रुववैश्वानराविति तयोरयमप्येतर्ह्यन्यतर एव गृह्यते ध्रुव एव स यदि तं चरकेभ्यो वा यतो वानुब्रुवीत यजमानस्य तं चमसेऽवनयेदथैतमेव होतृचमसे ॥ १ ॥ यद्वाऽअस्यावाचीनं नाभेः । तदस्यैष आत्मनः सोऽस्यैष आयुरेव तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णात्यजरा ह्रीयममृताजरᳫं ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति ॥२॥ तं वै पूर्णं गृह्णाति । सर्वं वै तद्यत्पूर्णᳫं सर्वं तद्यदायुस्तस्मात्पूर्णं गृह्णाति ॥३॥

"इन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि" (यजु० ७।२३)—"यह भाग आच्छा-वाक का है। इसकी स्तुति के मन्त्रों में इन्द्र-अग्नि आता है, इन्द्र-अग्निवाले मन्त्र ही शस्त्र में पढ़े जाते हैं और इन्द्र-अग्नि के मन्त्रों से ही आहुति दी जाती है। 'इन्द्राय त्वा' से दोपहर के सवन को करता है, क्योंकि दोपहर का सवन इन्द्र का होता है ॥१४॥

चरकाध्वर्यु इसको इस प्रकार बाँटते हैं, "उपयामगृहीतोऽसि देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यं मित्रावरुणाभ्यां जुष्टं गृह्णामि"—"तू आश्रय के लिए है। तुझ देव के अर्पण को देवों के लिए जिनको स्तुति प्रिय है, मित्र-वरुण के लिए लेता हूँ।" अब वह इस मन्त्र से ग्रह को रखता है, "एष ते योनिर्मित्रावरुणाभ्यां त्वा।" यह कहकर थाली को छूता है, 'हविरसि'—'तू हवि है' ॥१५॥

इस मन्त्र से रखता है, "उपयामगृहीतोऽसि देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्येभ्य उक्थाव्य-मिन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा।" यह कहकर थाली को छूता है। "पुनर्हवि-रसि।"—"तू फिर हवि है" ॥१६॥

उपयामगृहीतोऽसि। देवेभ्यस्त्वा देवाव्यमुक्थेभ्य उक्थाव्यमिन्द्राग्निभ्यां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा।' इससे रखता है। परन्तु 'पुनर्हविरसि' कहकर इस बार थाली को नहीं छूता। 'इन्द्राय' 'इन्द्राय त्वा' कहकर दोपहर के सवन को करता है क्योंकि दोपहर का सवन 'इन्द्र' का है। 'तू हवि है' ऐसा कहकर थाली को दो बार छूता है, तीसरी बार चुपके से रख देता है ॥१७॥

इसको 'उपयाम······इति' कहकर न ले और न 'योनि' में रक्खे। यह तो पहले ही 'उपयाम···' से ली जा चुकी है और पहले ही 'योनि' में रक्खी जा चुकी है। यदि अब भी 'उपयाम······' से लेगा और 'योनि' में रक्खेगा तो एक ही चीज को दुहराने का दोषी होगा। 'पुनर्हविरसि' कहकर थाली को छूने से इस ग्रह को दुबारा ग्रहण करना पड़ेगा। इसलिए इसको न करे। चुपके से रख दे ॥१८॥

ध्रुवग्रहः

अध्याय २—ब्राह्मण ४

यह जो आगे का प्राण है वह वैश्वानर ग्रह है, और यह जो पीछे का प्राण है वह ध्रुव है। पहले ये दोनों ग्रह लिये जाया करते थे—ध्रुव भी और वैश्वानर भी। इनमें से एक अब भी निकाला जाता है अर्थात् ध्रुव। उस अर्थात् वैश्वानर ग्रह को यदि चरकों की रीति के अनुसार लिया जाय तो उसको यजमान के चमसे में डालना चाहिए, 'ध्रुव' को होता के चमसे में ॥१॥

यह जो नाभि से नीचे का स्थान है उसी का आत्मा, उसी की आयु यह ध्रुव ग्रह है। इसलिए उसको इसे भूमि द्वारा ही लेता है क्योंकि थाली इसी की मिट्टी की होती है। थाली में ही इसे लेना है। यह अजर-अमर है। आयु भी अजर-अमर है। इसलिए इसके द्वारा लेता है ॥२॥

उसको पूरा-पूरा भरता है। 'सब' पूर्ण है। यह जो आयु है वह पूर्ण है। इसलिए पूरा-पूरा भरता है ॥३॥

वैश्वानराय गृह्णाति । संवत्सरो वै वैश्वानरः संवत्सर आयुस्तस्माद्वैश्वानराय गृह्णाति ॥४॥ स प्रातःसवने गृहीतः । एतस्मात्कालादुपशेते तदेनꣳ सर्वाणि सवनान्यतिनयति ॥५॥ तं न स्तूयमानेऽवनयेत् । न ह संवत्सरं यजमानोऽतिजीविष्यत्स्तूयमानेऽवनयेत् ॥६॥ तꣳ शस्यमानेऽवनयति । तदेनं द्वादशꣳ स्तोत्रमतिनयति तथा परम्परमायुः समश्नुते तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निष्टोमसत्स्यादितस्य होमान्न सर्पेन्न प्रस्रावयेत तथा सर्वमायुः समश्नुत ऽआयुर्वाऽअस्यैष तथा सर्वमायुरेति ॥७॥ यद्वाऽअस्यावाचीनं नाभेः । तदस्यैष आत्मनः स यत्पुरैतस्य होमात्सर्पेद्वा प्र वा स्रावयेत ध्रुवꣳ हावमेहेन्निद्ध्रुवमवमेहानीति तस्माद्वाऽअग्निष्टोमसद्भवति तद्वै तद्यजमान एव यजमानस्य ह्येष तदात्मनः ॥८॥ स वाऽअग्निष्टोमसद्भवति । यशो वै सोमस्तस्माद्यश्च सोमे लभते यश्च नोभावेवागच्छतो यश एवैतद्द्रष्टुमागच्छन्ति तद्वाऽएतद्यशो ब्राह्मणाः सम्प्रसृप्यात्मन्दधते यद्भक्षयन्ति स ह यश एव भवति य एवं विद्वान्भक्षयति ॥९॥ ते वाऽएते । सर्पन्त एवाग्निष्टोमसद्येतद्यशः संनिधाय सर्पन्ति ते पराञ्चो यशसो भवन्ति तदेष परिगृह्यैव पुनरात्मन्यशो धत्ते तेषाꣳ ह्येष एव यशस्वितमो भूत्वा प्रैति य एवं विद्वानग्निष्टोमसद्भवति ॥१०॥ देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरऽएतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति ॥११॥ ततो देवाः । अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतदग्निष्टोमसद्यं ददृशुस्तऽएतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ समवृञ्जत्तांस्तरायन्नसुरान्यज्ञात्तथोऽएवैष एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ संवृङ्क्तेऽन्तरेति सपत्नान्यज्ञात्तस्माद्वाऽअग्निष्टोमसद्भवति ॥१२॥ तं गृहीत्वोत्तरे हविर्धाने सादयति प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीत्युपकीर्णो वाऽइतरान्ग्रहान्सादयत्यथैतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय ॥१३॥ यद्वाऽअस्योर्ध्वं नाभेः । तदस्यैतऽआत्मन उपरीव वै तद्यदूर्ध्वं नाभेरुपरीवैतद्यदुप-

वैश्वानर के लिए लेता है। संवत्सर वैश्वानर है। संवत्सर आयु है, इसलिए वैश्वानर के लिए लेता है ॥४॥

इसको प्रातःसवन के लिए लिया गया था। इसके बाद यह वैसे ही रखा रहा। इस प्रकार वह इसको सब सवनों में होकर ले जाता है ॥५॥

स्तुति के समय इसको (होता के चमसे में) न डाले, क्योंकि यदि स्तुति के बीच में डाल देगा तो यजमान साल-भर न जियेगा ॥६॥

जिस समय शस्त्र पढ़ा जाता है उस समय इसको लेता है। इस प्रकार वह इसको बारह स्तोत्रों से ऊपर कर देता है। इस प्रकार उसका जीवन परस्पर (बिना सिलसिला टूटे) रहता है। यजमान दीर्घायु होता है। इसलिए ब्राह्मण अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहे। होम से हट न जाय। न पेशाब करे। इस प्रकार पूर्ण आयु को प्राप्त करे। यह जो आहुति है वह इसकी आयु है। इस प्रकार सब आयु को प्राप्त करता है ॥७॥

यह जो इसकी नाभि के नीचे है उसके आत्मा का उतना भाग यह (ध्रुव ग्रह) है। इसलिए यदि हटकर जायगा या पेशाब करेगा तो जो चीज ध्रुव (दृढ़) है उसको विचल कर देगा। वह ध्रुव को विचल नहीं करता, इसलिए अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहता है। यह आदेश यजमान के लिए है क्योंकि यह यजमान का ही आत्मा है ॥८॥

वह अग्निष्टोम सद् इसलिए भी होता है कि सोम यश है; इसलिए जो इसका लाभ करता है और जो इसका लाभ नहीं करता, दोनों ही इस यश को देखने आते हैं। ब्राह्मण लोग जब (इस सोम को) पीते हैं तो वे अपने आत्मा में इस यश को धारण करते हैं। जो इस रहस्य को समझकर इसका पान करता है वह अवश्य ही यशस्वी हो जाता है ॥९॥

ये (ब्राह्मण लोग) अग्निष्टोम से हटते हुए इस यश को उस (यजमान) में रखकर हटते हैं और इस प्रकार यश से विमुख हो जाते हैं। और यह यजमान चारों ओर से घेरकर ही यश को अपने में धारण करता है, इसलिए वह मनुष्य उन सबमें यशस्वी होकर मरता है जो इस रहस्य को जानकर अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहता है ॥१०॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान इस पिता प्रजापति संवत्सररूपी यज्ञ में इस बात पर लड़ पड़े कि 'यह हमारा होगा'-'यह हमारा होगा' ॥११॥

इस पर देव तो अर्चना और श्रम करते रहे। उन्होंने इस अग्निष्टोम को देखा (निकाला)। इस अग्निष्टोम के द्वारा उन्होंने पूरे यज्ञ पर स्वत्व कर लिया और असुरों को यज्ञ से बाहर कर दिया। इस प्रकार यह यजमान भी अग्निष्टोम के द्वारा इस सम्पूर्ण यज्ञ पर स्वत्व कर लेता है, यज्ञ से अपने शत्रुओं को बाहर कर देता है। इसलिए वह अग्निष्टोम में बराबर बैठा रहता है ॥१२॥

इस ग्रह को लेकर वह उत्तरी हविर्धान में रख देता है। ग्रह प्राण है। ऐसा न हो कि प्राण विचलित हो जायँ। अन्य ग्रहों को उपकीर्ण (ऊँचे उठे हुए भाग में) रखता है। लेकिन इसको धूल हटाकर इस प्रकार रखता है कि एक तिनका भी बीच में न रहने पावे ॥१३॥

यह जो नाभि से ऊपर का भाग है वही शरीर का ऊपरी भाग कहलाता है। ये जो अन्य

कीर्णा तस्मादुपकीर्णे सादयत्यथैतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय ॥१४॥ यद्वाऽअस्या-वाचीनं नाभेः । तदस्यैष आत्मनोऽध-इव वै तद्यदवाचीनं नाभेरध-इवैतद्य द्व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय तस्मादेतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय सादयति ॥१५॥ एष वै प्रजापतिः । य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्ये-तर्ह्यनु प्रजायन्ते स यानुपकीर्णे सादयति तस्माद्यास्तानन्नु प्रजाः प्रजायन्ते ता अ-न्येनात्मनोऽस्यां प्रतितिष्ठन्ति या वै शफैः प्रतितिष्ठन्ति ता अन्येनात्मनोऽस्यां प्रतितिष्ठन्त्यथ यदेतं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय सादयति तस्माद्या एतमनु प्रजाः प्रजायन्ते ता आत्मनैवास्यां प्रतितिष्ठन्ति मनुष्याश्च श्वापदाश्च ॥१६॥ तद्वाऽएतत् । अस्या एवान्यदुत्तरं करोति यदुपकिरति स यानुपकीर्णे सादयति तस्माद्यास्ता-ननु प्रजाः प्रजायन्ते ता अन्येनैवात्मनोऽस्यां प्रतितिष्ठन्ति शफैः ॥१७॥ तद्वाऽए-तत् । आहवनीये जुह्वति पुरोडाशं धानाः करम्भं दध्यामिक्षामिति तद्यथा मुख ऽआसिञ्चेदेवं तदथैष एकरूप उपशेतऽआप इवैव तस्माद्यदनेन मुखेन नानारू-पमशनमश्नात्यथैतेन प्राणेनैकरूपमेव प्रस्रावयतेऽप इवैवाथ यस्माद्ध्रुवो नाम ॥१८॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयां चक्रुस्तान्द-क्षिणतोऽसुररक्षसान्यासेदुस्तेषामेतान्दक्षिणान्यह्नानुज्जघ्नुरथैतद्दक्षिणाᳮ हविर्धान-मुज्जघ्नुरथैतमेव न शेकुरुद्धन्तुं तदुत्तरमेव हविर्धानं दक्षिणाᳮ हविर्धानमदᳮहन्त-यदेतं न शेकुरुद्धन्तुं तस्माद्ध्रुवो नाम ॥१९॥ तं वै गोपायन्ति । शिरो वाऽएष एतस्यै गायत्र्यै यज्ञो वै गायत्री द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि तच्चतुर्विᳮश-तिश्चतुर्विᳮशत्यक्षरा वै गायत्री तस्याऽएष शिरः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्त-स्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः श्रेष्ठो ह व्ययेत यदेष व्ययेत यजमानो वै श्रेष्ठो नेद्यजमानो व्ययाताऽइति तस्माद्धि गोपायन्ति ॥२०॥ वत्सो वाऽएष । एतस्यै गायत्र्यै यज्ञो वै गायत्री द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्रा-

ग्रह हैं वे ऊपरी भाग के तुल्य हैं, और जो उपकीर्ण या उठा हुआ भाग है वह भी ऊपरी भाग कहलाता है। इसलिए वह और ग्रहों को उपकीर्ण में रखता है और इसको धूल हटाकर ऐसी जगह जहाँ तिनका भी न छूट गया हो ॥१४॥

यह जो नाभि से नीचे है वह इस शरीर का निचला भाग है, और यह ग्रह भी यज्ञ का निचला भाग है, और जहाँ से धूल हटाकर तिनका तक नहीं छोड़ा वह जगह भी निचला भाग है, इसलिए वह इस ध्रुव ग्रह को इस स्थान में रखता है ॥१५॥

यह जो यज्ञ किया जा रहा है वह प्रजापति है, उसी से प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं और अब भी इसी से उत्पन्न होती हैं। जिन ग्रहों को उपकीर्ण पर रक्खा था उनकी आहुति के बाद जो प्रजा उत्पन्न होती है वह इस पृथिवी पर अपने स्वरूप से भिन्न रीति से खड़ी होती है। जो शफ या खुरवाले प्राणी हैं वे अपने स्वरूप से भिन्न रूप से खड़े होते हैं। जब वह इस ध्रुव ग्रह को धूल हटाकर ऐसी जगह रखता है जहाँ तिनका तक न रहा हो तो इस आहुति देने के पश्चात् जो प्राणी उत्पन्न होते हैं अर्थात् मनुष्य, जंगली जानवर (श्वापद), वे अपने स्वरूप के अनुकूल खड़े होते हैं ॥१६॥

एक बात यह भी है, पृथिवी पर जो ऊँचा स्थान (उपकीर्ण) बनाया जाता है वह मानो पृथिवी के स्वरूप के भिन्न होता है। इसलिए जिन ग्रहों को उपकीर्ण पर रखता है उनकी आहुति देने के बाद जो प्राणी पैदा होते हैं वे अपने स्वरूप से विरुद्ध खड़े होते हैं अर्थात् खुरों पर ॥१७॥

दूसरी बात यह है कि आहवनीय में जो डाला जाता है अर्थात् पुरोडाश, धान, करम्भ, दही, आमिक्षा, यह सब एक प्रकार से मुख में रखने के तुल्य है। यह ग्रह जल के समान अलग रक्खा रहता है। जैसे मुख में भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ खाते हैं तो प्राण के रूप में एक ही होकर निकलता है। अब इसका ध्रुव नाम क्यों पड़ा ? ॥१८॥

जब देव यज्ञ करने लगे तो उनको असुर राक्षसों से भय लगा। असुर राक्षसों ने दक्षिण दिशा से आक्रमण किया और दक्षिण ओर के ग्रहों को गिरा दिया। दक्षिण के हविर्धान को उलट दिया। यह जो उत्तरी हविर्धान था उसको न गिरा सके। ऐसे समय में उत्तरी हविर्धान ने दक्षिणी हविर्धान को ठीक रक्खा। और चूँकि वे उसको न हिला सके इसलिए इसका नाम ध्रुव हुआ ॥१९॥

इसकी रक्षा करते हैं। यह इस गायत्री का शिर है। यज्ञ गायत्री है। बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र ये सब मिलकर चौबीस होते हैं। चौबीस अक्षर की गायत्री होती है। यह ग्रह उसका सिर है। श्री सिर है। श्री ही सिर है। इसीलिए जो पुरुष सबसे श्रेष्ठ होता है उसको कहते हैं कि यह यहाँ का सिर (मुखिया) है। यदि इस ग्रह को हानि पहुँचे तो मानो सिर को हानि पहुँची। यजमान श्रेष्ठ है। इसलिए कहीं श्रेष्ठ को हानि न पहुँच जाय इसलिए इसकी रक्षा करते हैं ॥२०॥

यह ग्रह गायत्री का बछड़ा भी है। गायत्री यज्ञ है। बारह स्तोत्र और बारह शस्त्र

णि नवचतुर्विंशानि चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष वत्सस्तं यद्गोपायन्ति गोपायन्ति वा ऽइमान्वत्सान्दोहाय यदिदं पयो दुह्र ऽएवमियं गायत्री यजमानाय सर्वान्कामान्दोहाता ऽइति तस्माद्धि गोपायन्ति ॥ २१ ॥ अथ यश्चाध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च । निश्च क्रामतः प्र च पद्येते यथा बड्वत्सोपाचरेदेवमेतं ग्रहमुपाचरतस्तमवनयति गायत्रीमेवैतत्प्रस्नावयति प्रत्तेयं गायत्री यजमानाय सर्वान्कामान्दोहाता ऽइति तस्माद्वा ऽअवनयति ॥ २२ ॥ सो ऽवनयति । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामीति गृह्णामीति वाथा न इन्द्र इद्विशो ऽसपत्नाः समनसस्करदिति यथा न इन्द्र इमाः प्रजा विशः श्रियै यशसे ऽन्नाद्यायासपत्नाः संमनसः करवदित्येवैतदाह ॥ २३ ॥ अथातो गृह्णात्येव । मूर्धानं दिवो ऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽआ जातमग्निम् । कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । उपयामगृहीतो ऽसि ध्रुवो ऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमो ऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वेति सादयति व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय वैश्वानराय ह्येनं गृह्णाति ॥ २४ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [२.४.] ॥ ॥

ग्रहान्गृहीत्वा । उपनिष्क्रम्य विप्रुषां होमं जुहोति तद्यद्विप्रुषां होमं जुहोति या एवास्यात्र विप्रुष स्कन्दन्ति ता एवैतदाहवनीये स्वगाकरोत्याहवनीयो ह्याहुतीनां प्रतिष्ठा तस्माद्विप्रुषां होमं जुहोति ॥ १ ॥ स जुहोति । यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते ऽअंशुरिति यो वै स्तोक स्कन्दति स द्रप्सस्तत्तमाह यस्ते ऽअंशुरिति तदंशुमाह ग्रावच्युतो धिषणायोरुपस्थादिति ग्राव्णा हि च्युतो ऽधिषवणाभ्यां स्कन्दत्यध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रादित्यध्वर्योर्वा हि पाणिभ्यां स्कन्दति पवित्राद्वा तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतं स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतं हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥ २ ॥ अथ स्तीर्णायै वेदेः । द्वे तृणे ऽअध्वर्युरादत्ते तावध्वर्यू प्रथमौ प्रतिपद्येते प्राणोदानौ यज्ञस्याथ प्रस्तोता वागेव यज्ञस्याथोद्गातात्मैव प्रजा-

मिलकर चौबीस होते हैं। चौबीस अक्षरों की गायत्री होती है। यह उसका बछड़ा है। यह जो बछड़ों की रक्षा किया करते हैं वे दूध दुहने के लिए। इसकी रक्षा वे इसलिए करते हैं कि जैसे ये बछड़े दूध से सम्पन्न करते हैं इसी प्रकार यह गायत्री भी यजमान की सब कामनाओं को पूरा करे ॥२१॥

और अब अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता (हविर्धान के बाहर) जाते हैं और फिर लौटते हैं तो मानो गाय अपने बछड़े के साथ लौट आई, इस प्रकार ये उस ग्रह के पास लौटते हैं। अध्वर्यु ग्रह को उँडेलता है। इस प्रकार वह गायत्री को छोड़ देता है। यह इस ग्रह को इसलिए उँडेलता है कि यह गायत्री यजमान के हवाले होकर उसकी सब कामनाओं की पूर्ति करे ॥२२॥

वह इस मन्त्र से उँडेलता है, "ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि" (यजु० ७।२५) —अर्थात् "ध्रुव ग्रह को दृढ़ मन और वाणी से सोम को उँडेलता हूँ" अर्थात् ग्रहण करता हूँ। "अथा न ऽ इन्द्र ऽ इद् विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्" (यजु० ७।२५)—"अब इन्द्र हमारे स्वजनों को शत्रु-रहित और एक मनवाला करे" ॥२३॥

अब इस (सोम में) से वह लेता है इस मन्त्र से, "मूर्धानं दिवो ऽ अरतिं पृथिव्या वैश्वानर-मृत ऽ आ जातमग्निम्। कविँ् सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः" (यजुर्वेद ७।२४) "उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युत क्षित्तम ऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा" (यजु० ७।२५)—"द्यौलोक के मूर्धा, पृथिवी के पोषक, वैश्वानर अग्नि को जो कवि, सम्राट्, लोगों का अतिथि है और जो ऋत अर्थात् यज्ञ में पैदा हुआ है, मुँह के पात्र के समान देवों ने उत्पन्न किया। तू आश्रय के लिए लिया गया है। तू दृढ़ है, दृढ़ घरवाला है, सबसे दृढ़ है। ठोसों में ठोस है। यह तेरी योनि है। वैश्वानर के लिए तुझको।" धूल को अलग करके और इस प्रकार कि तिनका भी न रहे वह इसको रख देता है, क्योंकि वह इसको वैश्वानर अग्नि के लिए लेता है ॥२४॥

विप्रुड्ढोमः

अध्याय २—ब्राह्मण ५

ग्रहों को लेकर और (हविर्धान से) बाहर निकलकर (वेदी में पहुँचकर) विप्रुषों अर्थात् बूँदों का होम करता है। यह विप्रुषों का होम इसलिए करता है कि इस सोम की जो बूँदें गिर पड़ती हैं उनको वह आहवनीय में पहुँचा देता है। क्योंकि आहवनीय ही आहुतियों की प्रतिष्ठा है, इसलिए बूँदों की आहुति करता है ॥१॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है, "यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते ऽ अँ्शुः" (यजु० ७।२६, ऋ० १०।१७।२)—"यह जो तेरा रस गिर पड़ता है, और यह जो तेरा खण्ड है।" यह जो थोड़ा खिड जाता है उसको द्रप्स कहा, और खण्ड कहा उसके डण्ठल आदि टुकड़ों को। "ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात्" (यजु० ७।२६)—"पत्थर से कुचला हुआ और प्यालों में से निकला हुआ।" जब पत्थर पर पीसा जाता है तो वह प्यालों में से निकल भागता है अर्थात् खिड जाता है। "अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्" (यजु० ७।२१)—"या तो अध्वर्यु के हाथ से या पवित्रे अर्थात् छन्ने से।" क्योंकि या तो अध्वर्यु के हाथ से या छन्ने से गिर पड़ता है। "तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतँ् स्वाहा" (यजु० ७।२६)—"उसकी मैं मन से वषट्कार के साथ आहुति देता हूँ।" इस प्रकार यह उसकी वषट्कार-युक्त आहुति हो जाती है ॥२॥

अब अध्वर्यु छयी हुई वेदी से दो तिनके निकाल लेता है। दोनों अध्वर्यु यज्ञ के प्राण और उदान के स्वरूप में पहले जाते हैं। फिर प्रस्तोता यज्ञ की वाणी के रूप में, फिर उद्गाता यज्ञ के

पतिर्यज्ञस्याथ प्रतिहर्ता भिषग्वा व्यानो वा ॥ ३ ॥ तान्वाऽएतान् । पञ्चऽर्त्विजो यजमानोऽन्वारभतऽएतावान्वै सर्वो यज्ञो यावन्त एते पञ्चऽर्त्विजो भवन्ति पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतद्यजमानोऽन्वारभते ॥४॥ अथान्यतरत्तृणम् । चात्वालमभिप्रास्यति देवानामुत्क्रमणमसीति यत्र वै देवा यज्ञेन स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तऽएतस्माच्चात्वालादूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामंस्तद्यजमानमेवैतत्स्वर्ग्यं पन्थानमनुसंख्यापयति ॥५॥ अथान्यतरत्तृणम् । पुरस्तादुद्गातॄणामुपास्यति तूष्णीमेव स्तोमो वाऽएष प्रजापतिर्यदुद्गातारः स इदꣳ सर्वं युतऽइदꣳ सर्वꣳ सम्भवति तस्माऽएवैतत्तृणमपिदधाति तथो हाध्वर्युं न युते नैनꣳ सम्भवत्यथ यदा जपन्ति जपन्ति ह्यत्रोद्गातारः ॥ ६ ॥ अथ स्तोत्रमुपाकरोति । सोमः पवतऽइति स वै परागेव स्तोत्रमुपाकरोति पराञ्च स्तुवते देवान्वाऽएतानि स्तोत्राण्यभ्युपावृत्तानि यत्पवमानाः पराञ्चो ह्येतैर्देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तस्मात्परागेव स्तोत्रमुपाकरोति पराञ्च स्तुवते ॥७॥ उपावर्तध्वमिति वाऽअन्यानि स्तोत्राणि । अभ्यावर्तं ध्युर्वै स्तुवतऽइमा वै प्रजा एतानि स्तोत्राण्यभ्युपावृत्तास्तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥ ८ ॥ अथ यदत्र बहिष्पवमानेन स्तुवते । अत्र ह वाऽअसावग्रऽआदित्य आस तमृतवः परिगृह्यैवात ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामन्त्स एष ऋतुषु प्रतिष्ठितस्तपति तथो एवैतदृत्विजो यजमानं परिगृह्यैवात ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोत्क्रामन्ति तस्मादत्र बहिष्पवमानेन स्तुवते ॥ ९ ॥ नौर्ह वाऽएषा स्वर्ग्या । यद्बहिष्पवमानं तस्या ऋत्विज एव स्फ्याश्चारित्राश्च स्वर्गस्य लोकस्य सम्पारणास्तस्या एक एव मज्जयिता य एव निन्द्यः स यथा पूर्णामभ्यारुह्य मज्जयेदेवꣳ हैनाꣳ स मज्जयति तद्वै सर्व एव यज्ञो नौः स्वर्ग्या तस्मादु सर्वस्मादेव यज्ञान्निन्द्य परिबिबाधिषेत ॥१०॥ अथ स्तुतऽएतां वाचं वदति । अग्नीदग्नीन्विहर बर्हि स्तृणीहि पुरोडाशाँ२॥ऽअलंकुरु पशुनेहीति विहरत्यग्नीदग्नीन्त्समिन्द्ध

आत्मा या प्रजापति के रूप में, फिर प्रतिहर्ता चिकित्सक या व्यान के रूप में ॥३॥

इन पाँचों को यजमान पीछे से साधता है। इतना ही तो सब यज्ञ है जितने ये पाँच ऋत्विज हैं। यज्ञ पाँच भाग वाला है। इसलिए यजमान इस प्रकार इस यज्ञ को साधता है ॥४॥

अब अध्वर्यु एक तिनके को चात्वाल पर फेंक देता है, यह कहकर—"देवानामुत्क्रमण-मसि" (यजु० ७।२६)—"तू देवताओं की सीढ़ी है" (स्वर्ग जाने के लिए)। जब देव यज्ञ से स्वर्गलोक को गये तो इस चात्वाल से ऊपर उठकर स्वर्गलोक को गये। इस प्रकार वह यजमान को भी स्वर्ग का रास्ता बताता है ॥५॥

दूसरे तिनके को वह उद्गाताओं के आगे चुपके से फेंक देता है। यह जो उद्गाता है, वे स्तोम प्रजापति हैं। यह (प्रजापति) इस सबको अपने में खींच लेता है, इस सबको अपना कर लेता है। इसी को यह तिनका दिया जाता है। इस प्रकार वह अध्वर्यु को नहीं खींचता और न उसको अपना बनाता है। और जब वे जाप करते हैं—क्योंकि उद्गाता लोग अब जाप करते हैं—॥६॥

तो वह स्तोत्र पढ़ता है यह कहकर कि 'सोमः पवते' या सोम शुद्ध हो रहा है। वह स्तोत्र को सीधा (पराग एव—बिना अन्य किसी कृत्य के) पढ़ता है। वे सब भी सीधा ही पढ़ते हैं। यह स्तोत्र जिनको 'पवमान' कहते हैं सीधे देवों को पहुँचाये जाते हैं। देव इन्हीं के द्वारा तो स्वर्गलोक को पहुँचे थे। इसीलिए वह सीधा इस स्तोत्र को पढ़ता है और वे भी सीधे इस स्तोत्र को पढ़ते हैं ॥७॥

'पीछे लौटिये' यह कहकर वह और स्तोत्रों (धुर्यों को) पढ़ता है और पीछे लौटकर वे धुर्यों को पढ़ते हैं, क्योंकि ये स्तोत्र इन प्रजाओं के लिए पढ़े जाते हैं। इनसे ही यह प्रजा बार-बार उत्पन्न होती हैं ॥८॥

यहाँ (चात्वाल के पास) बहिष्पवमान स्तोत्रों को क्यों पढ़ते हैं? आरम्भ में यह सूर्य यहीं था। ऋतु उसको लेकर स्वर्ग को गये। वहाँ वह ऋतुओं में स्थापित होकर तपता है। इसी प्रकार ऋत्विज लोग यजमान को लेकर स्वर्ग को ले जाते हैं। इसलिए यहाँ बहिष्पवमान स्तोत्र पढ़े जाते हैं ॥९॥

बहिष्पवमान स्वर्ग की नौका है। ऋत्विज लोग इस नौका के स्फ्या और चारित्र अर्थात् डाँड आदि हैं। ये स्वर्ग पहुँचाने के सम्पारण (साधक) हैं। (नौका में) यदि एक भी बुरा आदमी होता है तो वह नौका को डुबो देता है। उसी प्रकार जैसे ऊपर तक भारी नौका में यदि एक भी आ जाय तो वह डूब जाती है। हर एक यज्ञ स्वर्ग की नौका है, इसलिए सब यज्ञों से बुरे आदमियों को अलग रखना चाहिए ॥१०॥

स्तोत्र पढ़े जाने के बाद यह बात बोलता है 'अग्नीध् अग्नियों को फैला, कुशों को फैला, पुरोडाश बना, पशु को ला।' अग्नीध् अग्नियों को फैलाता अर्थात् प्रज्वलित करता है। कुशों को

ऽएवैनानेतत्स्तृणाति बर्हिः स्तीर्णे बर्हिषि समिद्धे देवेभ्यो जुहवानीति पुरोडाशाँ२॥ऽअलंकुर्विति पुरोडाशैर्हि प्रचरिष्यन्भवति पशुनेहीति पशुं ह्युपाकरिष्यन्भवति ॥११॥ अथ पुनः प्रपद्य । आश्विनं ग्रहं गृह्णात्याश्विनं ग्रहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति परिवीय यूपं पशुमुपाकरोति रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥१२॥ स प्रातःसवनऽआलब्धः । आ तृतीयसवनाच्छ्प्यमाण उपशेते सर्वस्मिन्नेवैतद्यज्ञे रसं दधाति सर्वं यज्ञं रसेन प्रसजति ॥१३॥ तस्मादाग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत । तद्धि सलोम यदाग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत यद्युक्थ्यः स्यादैन्द्राग्नं द्वितीयमालभेतैन्द्राग्नानि ह्युक्थानि यदि षोडशी स्यादैन्द्रं तृतीयमालभेतेन्द्रो हि षोडशी यद्यतिरात्रः स्यात्सारस्वतं चतुर्थमालभेत वाग्वै सरस्वती योषा वै वाग्योषा रात्रिस्तद्यथायथं यज्ञक्रतून्व्यावर्तयति ॥१४॥ अथ सवनीयैः पुरोडाशैः प्रचरन्ति । देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जायतऽइति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्तीति ॥१५॥ स यत्पशुमालभते । रसमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथ यत्सवनीयैः पुरोडाशैः प्रचरति मेधमेवास्मिन्नेतद्दधाति तथो हास्यैष सोम एव भवति ॥१६॥ सर्वऽऐन्द्रा भवन्ति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मात्सर्वऽऐन्द्रा भवन्ति ॥१७॥ अथ यत्पुरोडाशः धानाः करम्भो दध्यामिक्षेति भवति या यज्ञस्य देवतास्ताः सुप्रीता असन्निति ॥ १८ ॥ इदं वाऽअपूपमशित्वा कामयते । धानाः खादेयं करम्भमश्नीयां दध्यश्नीयामामिक्षामश्नीयामिति ते सर्वे कामा या यज्ञस्य देवतास्ताः सुप्रीता असन्नित्यथ यदेषा प्रातःसवनऽएव मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ता भवति नेतरयोः सवनयोः ॥१९॥ गायत्री वै प्रातःसवनं वहति । त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनं जगती तृतीयसवनं तद्वाऽअनेकाकिन्येव त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनं वहति गायत्र्या च बृहत्या चानेकाकिनी जगती तृतीयसवनं गायत्र्योष्णिहक-

फैलाता है यह सोचकर कि कुशों को फैलाकर प्रज्वलित अग्नि में देवों के लिए आहुति दूँगा। 'पुरोडाश बना' यह इसलिए कहता है कि पुरोडाशों का प्रयोग करनेवाला है; 'पशु को ला' क्योंकि पशु को तैयार करनेवाला होता है ॥११॥

(हविर्धान में) फिर आकर आश्विन ग्रह को निकालता है। आश्विन ग्रह को निकालकर बाहर आकर यूप के चारों ओर रस्सी बाँधता है और यूप में रस्सी बाँधकर पशु को तैयार करता है। इस प्रकार वह उस (सोम) में रस धारण कराता है ॥१२॥

यह (पशु) प्रातःसवन में मारा जाकर तीसरे सवन तक पकता रहता है।[1] इस सम्पूर्ण यज्ञ में रस धारण करता है। सब यज्ञ को रस से युक्त करता है ॥१३॥

इसलिए अग्निष्टोम में आग्नेय पशु का आलभन करे। अग्निष्टोम में आग्नेय पशु का आलभन सलोम अर्थात् उपयुक्त है। यदि उक्थ्य यज्ञ हो तो दूसरे स्थान पर इन्द्र-अग्नि-सम्बन्धी पशु का आलभन करे, क्योंकि उक्थ इन्द्र-अग्नि के हैं। यदि षोडशी हो तो तीसरे स्थान में इन्द्र-सम्बन्धी पशु का आलभन करे, क्योंकि षोडशी इन्द्र का है। यदि अतिरात्र हो तो सरस्वती-सम्बन्धी पशु का चौथे स्थान में आलभन करे। वाणी सरस्वती है। वाणी स्त्री है, रात्रि। स्त्री है, इस प्रकार वह क्रमशः यज्ञों को अलग-अलग कर देता है ॥१४॥

अब सवन-सम्बन्धी पुरोडाशों की आहुति देता है। सोम देव है। सोम द्यौलोक में था। सोम वृत्र था। जो पहाड़ और पत्थर हैं वे इसके शरीर हैं। श्वेतकेतु औद्दालकि ने कहा कि वहीं 'उशाना' नाम की ओषधि उत्पन्न होती है जिसको लाकर निचोड़ते हैं ॥१५॥

जब पशु का आलभन करता है तो उसमें रस डालता है। सवनीय पुरोडाश की आहुति देता है तो उसमें मेध डालता है। इस प्रकार यह सोम ही हो जाता है ॥१६॥

यह सब इन्द्र के होते हैं। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसलिए यह सब इन्द्र का होता है ॥१७॥

पुरोडाश, धान, करम्भ, दही, आमिक्षा इसलिए होते हैं कि यज्ञ के देवता इनसे प्रसन्न हो जायँ ॥१८॥

रोटी खाकर मनुष्य की इच्छा होती है कि मैं धान खाऊँ, करम्भ खाऊँ, दही खाऊँ, आमिक्षा खाऊँ। ये सब कामनाएँ हैं कि जो यज्ञ के देवता हों वे सब प्रसन्न हों। मैत्रावरुणी पयस्या प्रातःसवन में ही क्यों की जाती है, अन्य सवनों में क्यों नहीं? ॥१९॥

इसलिए कि गायत्री प्रातःसवन को (देवों तक) ले जाती है, त्रिष्टुप् दोपहर के सवन को और जगती तीसरे सवन को। दोपहर के सवन को त्रिष्टुप् अकेली नहीं ले जाती किन्तु गायत्री और बृहती की सहायता से। जगती भी तृतीय सवन को अकेली नहीं ले जाती, किन्तु गायत्री,

---

१. 'पशु-बलि' प्रचलित होने के बाद ऐसे स्थल 'प्रक्षिप्त' हैं।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

कुब्भ्यामनुष्टुभा ॥२०॥ गायत्र्येवैकाकिनी प्रातःसवनं वहति । सैताभ्यां पङ्क्तिभ्याᳪ स्तोत्रपङ्क्त्या च हविष्पङ्क्त्या च चत्वार्याज्यानि बहिष्पवमानं पञ्चमं पञ्चपदा पङ्क्तिः सैतया स्तोत्रपङ्क्त्यानेकाकिनी गायत्री प्रातःसवनं वहति ॥२१॥ इन्द्रस्य पुरोडाशः । हर्योर्धानाः पूष्णः करम्भः सरस्वत्यै दधि मित्रावरुणयोः पयस्या पञ्चपदा पङ्क्तिः सैतया हविष्पङ्क्त्यानेकाकिनी गायत्री प्रातःसवनं वहत्येतस्या एव पङ्क्तेः सम्पदः कामाय प्रातःसवनऽएवैषा मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ता भवति नेतरयोः सवनयोः ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [२.५.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [२६] ॥ ॥

भक्षयित्वा ममुपह्वताः स्म इत्युक्त्वोत्तिष्ठति । पुरोडाशबृगलमादाय तद्यत्रैतदुपसन्नोऽच्छावाकोऽन्वाह तदस्मै पुरोडाशबृगलं पाणावादधदाहाच्छावाक वदस्व यत्ते वाद्यमित्यह्वयत वाऽअच्छावाकः ॥१॥ तमिन्द्राग्नीऽअनुसमतनुताम् । प्रजानां प्रजात्यै तस्मादैन्द्राग्नोऽच्छावाकः स एतेन च हविषा यदस्माऽएतत्पुरोडाशबृगलं पाणावादधात्येतेन चार्षेयेण यदेतदन्वाह तेनानुसमश्नुते ॥२॥ स वै सन्नेऽच्छावाके । ऋतुग्रहैश्चरति तद्यत्सन्नेऽच्छावाकऽऋतुग्रहैश्चरति मिथुनं वा अच्छावाक ऐन्द्राग्नो ह्यच्छावाको द्वौ हीन्द्राग्नी द्वन्द्वᳪ हि मिथुनं प्रजननᳪ स एतस्मान्मिथुनात्प्रजननादृतूल्संवत्सरं प्रजनयति ॥३॥ यद्वेव सन्नेऽच्छावाके । ऋतुग्रहैश्चरति सर्वं वाऽऋतवः संवत्सरः सर्वमेवैतत्प्रजनयति तस्मात्सन्नेऽच्छावाकऽऋतुग्रहैश्चरति ॥४॥ तान्वै द्वादश गृह्णीयात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्माद्द्वादश गृह्णीयादथोऽअपि त्रयोदश गृह्णीयादस्ति त्रयोदशो मास इति द्वादश त्वेव गृह्णीयादेषैव सम्पत् ॥५॥ द्रोणकलशाद्गृह्णाति । प्रजापतिर्वै द्रोणकलशः स एतस्मात्प्रजापतेर्ऋतूल्संवत्सरं प्रजनयति ॥६॥ उभयतोमुखाभ्यां पात्राभ्यां गृह्णाति । कुतस्तयोरन्तौ यऽउभयतोमुखे तस्मादयमनन्तः संवत्सरः परिप्लवते तं गृहीत्वा न सादयति तस्मादयमसन्नः संवत्सरः ॥७॥ नानुवाक्यामन्वाह । ह्वयति वा

उष्णिक्, ककुभ् और अनुष्टुभ् के साथ ॥२०॥

गायत्री ही अकेली प्रातःसवन को ले जाती है—दो पंक्तियों के साथ अर्थात् स्तोत्र-पंक्ति और हविष्पंक्ति के साथ। आज्यस्तोत्र चार होते हैं और हविष्पवमान पाँचवाँ है। पंक्ति छन्द में पाँच पाद होते हैं। इस पंक्ति के साथ, न कि अकेली गायत्री प्रातःसवन को ले जाती है ॥२१॥

पुरोडाश इन्द्र का होता है। धान दो घोड़ों का, करम्भ पूषा का, दही सरस्वती का, पयस्या मित्र-वरुण की। पंक्ति में पाँच पद होते हैं। हवियों की इस पंक्ति के साथ, न कि अकेली, गायत्री प्रातःसवन को ले जाती है। इस पंक्ति को पूरा करने के लिए ही मैत्रावरुणी पयस्या प्रातःसवन में ही की जाती है, अन्य सवनों में नहीं ॥२२॥

ऋतुग्रहैन्द्राग्नवैश्वदेव ग्रहाः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

(सोम) पान करके और यह कहकर कि 'हम सबको साथ निमन्त्रण दिया गया था', अध्वर्यु उठ खड़ा होता है। जहाँ अच्छावाक अनुवाक पढ़ने को है वहाँ पुरोडाश के टुकड़े को ले जाकर और उसके हाथ में देकर कहता है, 'अच्छावाक, कह जो तुझको कहना है।' अच्छावाक का सोम से बहिष्कार हो चुका था ॥१॥

इन्द्र और अग्नि ने उसको प्रजा की उत्पत्ति के लिए बनाये रक्खा। इसलिए अच्छावाक इन्द्र-अग्नि का होता है। इस हवि के द्वारा, इस पुरोडाश के टुकड़े के द्वारा जिसको उसने हाथ में रक्खा है और उस ऋषि-वाणी के द्वारा (वेदमन्त्रों द्वारा) जिसको वह जपता है यह इन्द्र और अग्नि उसको बचाते हैं ॥२॥

अच्छावाक के बैठ जाने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति देता है। अच्छावाक के बैठ जाने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति इसलिए देता है कि अच्छावाक जोड़ा है, अच्छावाक इन्द्र और अग्नि का है। इन्द्र और अग्नि दो हैं। जोड़े का अर्थ है उत्पत्ति। वह इस उत्पत्ति करनेवाले जोड़े से ऋतुओं और संवत्सर को उत्पन्न करता है ॥३॥

अच्छावाक के बैठ चुकने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति इसलिए भी देता है कि ऋतुयें 'सब' हैं, संवत्सर 'सब' है। इस प्रकार वह सबकी उत्पत्ति करता है। इसलिए वह अच्छावाक के बैठ चुकने पर ऋतु-ग्रहों की आहुति देता है ॥४॥

उसको बारह (ग्रह) लेने चाहिएँ। संवत्सर के १२ महीने होते हैं। इसलिए बारह ग्रह लेने चाहिएँ। तेरह भी ले सकता है, क्योंकि तेरहवाँ महीना भी होता है। परन्तु बारह ही लेने चाहिएँ। यही पूर्ण है ॥५॥

ये ग्रह द्रोण कलश से लिये जाते हैं। द्रोण कलश प्रजापति है। वह इसी प्रजापति से ऋतुओं और संवत्सर को उत्पन्न करता है ॥६॥

दो मुखवाले पात्रों से लेता है। दो मुखवाले पात्रों का अन्त कहाँ? इसलिए यह अनन्त संवत्सर घूमा करता है। इसको लेकर रखता नहीं। इसलिए यह संवत्सर निरन्तर है ॥७॥

न अनुवाक कहता है। अनुवाक से तो निमन्त्रण दिया जाता है। यह ऋतु तो पहले से

ऽअनुवाक्ययागतो ह्येवायमृतुर्यदि दिवा यदि नक्तं नानुवषट्करोति नेदृतूनपवृणजाऽइति सहैव प्रथमौ ग्रहौ गृह्णीतः सहोत्तमाविदमेवैतत्सर्वꣳ संवत्सरेण परिगृहीतस्तदिदꣳ सर्वꣳ संवत्सरेण परिगृहीतम् ॥८॥ निरेवान्यतरः क्रामति । प्रान्यतरः पद्यते तस्मादिमेऽन्वञ्चो मासा यन्त्यथ यदुभौ वा सह निष्क्रामेतामुभौ वा सह प्रपद्येयातां पृथगु हैवेमे मासा ईयुस्तस्मान्निरेवान्यतरः क्रामति प्रान्यतरः पद्यते ॥९॥ तौ वाऽऋतुनेति षट् प्रचरतः । तद्देवा अहरसृजन्तऽर्तुभिरिति चतुस्तद्रात्रिमसृजन्त स यद्धैतावदेवाभविष्यद्रात्रिर्हैवाभविष्यन्न व्यवत्स्यत् ॥१०॥ तौ वाऽऋतुनेत्युपरिष्टाद्द्विश्चरतः । तद्देवाः परस्तादहरदधुस्तस्मादिदमद्याहरथ रात्रिरथ श्वोऽहर्भविता ॥११॥ ऋतुनेति वै देवाः । मनुष्यानसृजन्तऽर्तुभिरिति पशूंस्स यत्तन्मध्ये येन पशूनसृजन्त तस्मादिमे पशव उभयतः परिगृहीता वशमुपेता मनुष्याणाम् ॥१२॥ तौ वाऽऋतुनेति षट् प्रचर्य । इतरथा पात्रे विपर्यस्येतेऽऋतुभिरिति चतुश्चरित्वेतरथा पात्रे विपर्यस्येतेऽअन्यतरत एव तद्देवा अहरसृजन्तान्यतरतो रात्रिमन्यतरत एव तद्देवा मनुष्यानसृजन्तान्यतरतः पशून् ॥१३॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव वासन्तिकौ स यद्वसन्तऽओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च ॥१४॥ उपयामगृहीतोऽसि । शुक्राय त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव ग्रैष्मौ स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनो हैतौ शुक्रश्च शुचिश्च ॥१५॥ उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयानगृहीतोऽसि नभस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव वार्षिकावमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च ॥१६॥ उपयामगृहीतोऽसि । इषे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव शारदौ स यच्छरद्यूर्ग्रस ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च ॥१७॥

ही आई हुई है, दिन हो या रात हो। दुबारा वषट्कार भी नहीं कहता कि कहीं ऋतुओं को वापस न कर दे। (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) पहले ग्रहों को साथ-साथ लेते हैं, और पिछलों को भी साथ-साथ। यह 'सब' संवत्सर द्वारा ग्रहण हो जाता है। यह 'सब' संवत्सर में शामिल है ॥८॥

एक (हविर्धान के) बाहर जाता है, दूसरा भीतर आता है। इसलिए एक मास के बाद दूसरा आता है (एक जाता, दूसरा आता है)। यदि दोनों साथ निकलें और साथ घुसें तो ये महीने अलग-अलग गुजरा करें। इसलिए एक बाहर जाता है और दूसरा भीतर आता है ॥९॥

वे दोनों 'ऋतु के लिए' छः बार आहुति देते हैं। इसी से देवों ने दिन बनाया। 'ऋतुओं के लिए' इससे चार बार। इससे उन्होंने रात बनाई। यदि इतना ही होता तो रात ही होती, यह कभी समाप्त न होती ॥१०॥

'ऋतुना' इससे दो बार आहुति देता है। इससे देवों ने फिर दिन दिया। इसलिए अब दिन है, फिर रात होगी। फिर कल ॥११॥

'ऋतुना' (ऋतु से) देवों ने मनुष्यों को उत्पन्न किया, 'ऋतुभिः' (ऋतु से) पशुओं को। पशुओं को मनुष्यों के बीच में बनाया, इसलिए पशु दोनों ओर से घिरकर मनुष्यों के वश में हो गये ॥१२॥

'ऋतुना' इससे छः बार आहुति देकर पात्रों को दूसरी ओर लौट देते हैं। 'ऋतुभिः' इससे चार बार आहुति देकर पात्रों को दूसरी ओर लौट देते हैं। एक ओर से देवों ने दिन बनाया, दूसरी से रात। एक ओर से देवों ने मनुष्य बनाया, दूसरी ओर से पशु ॥१३॥

वह इन (ऋतु-ग्रहों को द्रोण कलश से) लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। 'मधु और माधव' ये दो वसन्त के महीने हैं। क्योंकि वसन्त में ही ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और वनस्पति पकती हैं, इसलिए यह मधु और माधव हैं ॥१४॥

"उपयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों ग्रीष्म के महीने हैं, इनमें धूप कड़ी होती है, इसलिए यह शुक्र और शुचि दो महीने हुए ॥१५॥

"उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों वर्षा के महीने हैं। इनमें वर्षा बहुत होती है। 'नभ' और 'नभस्य' ये दो वर्षा ऋतु के महीने हुए ॥१६॥

"उपयामगृहीतोऽसि इषे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वा" (यजु० ७।३०) – इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों शरद् ऋतु के महीने हैं क्योंकि शरद् ऋतुओं में अन्न और रस पकता है, इसलिए शरद् के इन महीनों का नाम इष और ऊर्ज है ॥१७॥

उपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव हैमन्तिकौ स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतौ सहश्च सहस्यश्च ॥१८॥ उपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव शैशिरौ स यदेतयोर्बलिष्ठं श्यायति तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च ॥१९॥ उपयामगृहीतोऽसि । अꣳहसस्पतये त्वेति त्रयोदशं ग्रहं गृह्णाति यदि त्रयोदशं गृह्णीयादथ प्रतिप्रस्थाताध्वर्योः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्यध्वर्युर्वा प्रतिप्रस्थातुः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्याहरति भक्षम् ॥२०॥ अथ प्रतिप्रस्थाताभक्षितेन पात्रेण । ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेणैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति न वाऽऋतुग्रहाणामनुवषट्कुर्वन्त्येतेभ्यो वाऽऐन्द्राग्नं ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति तदस्यैन्द्राग्नेनैवानुवषट्कृता भवन्ति ॥२१॥ यद्वेवैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वाऽइदं प्राजीजनद्य ऋतुग्रहानग्रहीत्स इदꣳ सर्वं प्रजनय्येदमेवैतत्सर्वं प्राणोदानयोः प्रतिष्ठापयति तदिदꣳ सर्वं प्राणोदानयोः प्रतिष्ठितमिन्द्राग्नी हि प्राणोदानाविमे हि द्यावापृथिवी प्राणोदानावनयोर्हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२२॥ यद्वेवैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वाऽइदं प्राजीजनद्य ऋतुग्रहानग्रहीत्स इदꣳ सर्वं प्रजनय्यास्मिन्नेवैतत्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ दधाति ताविमावस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ हितौ ॥२३॥ अथातो गृह्णात्येव । इन्द्राग्नीऽआगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वेति सादयतीन्द्राग्निभ्याꣳ ह्येनं गृह्णाति ॥२४॥ अथ वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वाऽइदं प्राजीजनद्य ऋतुग्रहानग्रहीत्स यद्धैतावदेवाभविष्यद्यावत्या हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैवाभविष्यन्न प्राजनिष्यन्त ॥२५॥ अथ यद्वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । इदमेवैतत्सर्वमिमाः प्रजा यथायथं व्यवसृजति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते शुक्रपात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपति तस्य

"उपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयाम-गृहीतोऽसि सहस्याय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों हेमन्त के महीने हैं। क्योंकि हेमन्त इन प्रजाओं को साहस के साथ वश में लाता है, इसलिए सहस और साहस ये दो हेमन्त के महीने हुए ॥१८॥

"उपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे अध्वर्यु लेता है। "उपयाम-गृहीतोऽसि तपस्याय त्वा" (यजु० ७।३०)—इससे प्रतिप्रस्थाता। ये दोनों शिशिर ऋतु के महीने हैं। क्योंकि इनमें पाला बहुत पड़ता है, इसलिए तप और तपस्या ये शिशिर के महीने हैं ॥१९॥

"उपयामगृहीतोऽसि अ॑ँहसस्पतये त्वा" (यजु० ७।३०)—"इससे तेरहवाँ ग्रह (अध्वर्यु) लेता है। यदि तेरहवाँ लेना हो तो प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु के पात्र में बचा-खुचा छोड़ देता है, या अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता के पात्र में बचा-खुचा छोड़ देता है। (अध्वर्यु) अब पान करने के लिए (सदस् में) ले जाता है ॥२०॥

अब प्रतिप्रस्थाता उस पात्र से जिसमें से पिया नहीं गया इन्द्र-अग्नि के ग्रह को लेता है। ऐसे पात्र से इन्द्र-अग्नि के ग्रह को क्यों लेता है, जिसमें पिया न गया हो ? इसलिए कि ऋतु-ग्रहों पर तो दुबारा वषट्कार हुआ नहीं। और उन्हीं के लिए इन्द्र-अग्नि ग्रह लेता है। इस प्रकार इन्द्र-अग्नि के द्वारा इनका वषट्कार हो जाता है ॥२१॥

इन्द्र-अग्नि ग्रह को इसलिए भी लेता है कि ऋतु-ग्रहों को लेकर ही इसने इन 'सब' को उत्पन्न किया। वह इन 'सब' को उत्पन्न करके प्राण और उदान में इनकी प्रतिष्ठा करता है। इसीलिए ये 'सब' प्राण और उदान में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्र-अग्नि प्राण और उदान हैं। इन्हीं में ये सब प्रतिष्ठित हैं ॥२२॥

इन्द्र-अग्नि ग्रह को लेने का यह भी प्रयोजन है कि ऋतु-ग्रहों से उसने इस 'सब' को उत्पन्न किया और इस 'सब' को उत्पन्न करके 'प्राण और उदान' की इस 'सब' में प्रतिष्ठा करता है, इसलिए प्राण और उदान इस सबमें प्रतिष्ठित हैं ॥२३॥

वह इसको (द्रोण कलश से) इस मन्त्र से लेता है—"इन्द्राग्नी ऽ आगत॑ँ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वा" (यजु० ७।३१, ऋ० ३।१२।१)—"हे इन्द्र-अग्नि, हमारी वाणियों द्वारा तुम दोनों आओ इस निचोड़े हुए और आदित्य के समान वरने योग्य सोम के पास। बुद्धि के द्वारा प्रेरित हुए तुम दोनों इसको पियो। आश्रय के लिए लिया गया है तू इन्द्र और अग्नि के लिए तुझको।" "एष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा" (यजु० ७।३१)—"यह तेरी योनि है। इन्द्र और अग्नि के लिए तुझको।" यह कहकर वह रख देता है, क्योंकि इन्द्र और अग्नि के लिए उसने लिया था ॥२४॥

अब 'वैश्वदेव' ग्रह को लेता है। ऋतु-ग्रहों को लेकर ही उसने इस 'सब' को उत्पन्न किया। यदि इतना ही होता तो जितनी प्रजा पहले उत्पन्न हो गई उतनी ही रह जाती, आगे उत्पन्न न होती ॥२५॥

वैश्वदेव ग्रह को इसलिए भी लेता है कि वह इन सब प्रजाओं को क्रमशः कर देता है। इससे यह प्रजा बार-बार उत्पन्न होती रहती है। इसको शुक्र-पात्र से लेता है। यह जो सूर्य

ये रश्मयस्ते विश्वे देवास्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति ॥२६॥ अथातो गृह्णात्येव । ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत । दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३. १.] ॥ ॥

गृणाति ह वाऽएतद्धोता यच्छꣳसति । तस्माऽएतद्गृणते प्रत्येवाध्वर्युरागृणाति तस्मात्प्रतिगरो नाम ॥१॥ तं वै प्राञ्चमासीनमाह्वयते । सर्वे वाऽअन्यऽउद्गातुः प्राञ्च आर्त्विज्यं कुर्वन्ति तथो हास्यैतत्प्रागेवार्त्विज्यं कृतं भवति ॥२॥ प्रजापतिर्वाऽउद्गाता । योषऽर्ग्घोता स एतत्प्रजापतिरुद्गाता योषायामृचि होतरि रेतः सिञ्चति यत्स्तुते तद्धोता शस्त्रेण प्रजनयति तच्छ्यति यथायं पुरुषः शितस्तच्छ्येदे-नच्छ्यति तस्माच्छस्त्रं नाम ॥३॥ तदुपपल्यय्य प्रतिगृणाति । इदमेवैतद्रेतः सिक्ता-मुपनिमदत्यथ यत्पराङ् तिष्ठन्प्रतिगृणीयात्पराग्घ हैवैतद्रेतः सिक्तं प्रणश्येत्तन्न प्र-जायेत सम्यञ्चाऽउ चैवैतद्भवत्येतद्रेतः सिक्तं प्रजनयतः ॥४॥ यातयामानि वै देवै-श्छन्दाꣳसि । छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत मदो वै प्रतिगरो यो वाऽऋचि मदो यः सामन्रसो वै स तच्छन्दःस्वेवैतद्रसं दधात्ययातयामानि करो-ति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते ॥५॥ तस्मादर्धर्चशः शꣳसेत् । अर्धर्चेऽर्धर्चे प्रति-गृणीयाद्यदि पच्छः शꣳसेत्पदे-पदे प्रतिगृणीयाद्यत्र वै शꣳसन्नवानिति तदसुररक्ष-सानि यज्ञमन्ववचरन्ति तत्प्रतिगरेण संदधाति नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामनन्ववचाराय यजमानस्यो चैवैतद्भ्रातृव्यलोकं छिनत्ति ॥६॥ चतुरक्षराणि ह वाऽअग्रे छन्दाꣳ-स्यासुः । ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वाजगाम ततस्त्रिष्टुप्सो-ममच्छापतत्सैकमक्षरꣳ हित्वाजगाम ततो गायत्री सोममच्छापतत्सैतानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च ततोऽष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्तस्मादाहुरष्टाक्षरा गायत्रीति ॥७॥ तया प्रातःसवनमतन्वत । तस्माद्गायत्रं प्रातःसवनं तयैव माध्यन्दिनꣳ सवनम-

तपता है, शुक्र (तेजों से) तपता है जिसकी ये सब किरणें हैं। यही विश्वेदेव हैं। इसलिए शुक्र-ग्रह से लेता है ।।२६।।

वह (द्रोण कलश से सोम) इस मन्त्र से निकलता है—"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास ऽ आगत । दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ७।३३, ऋ० १।३।७)—"हे रक्षक और मनुष्यों के पोषक विश्वेदेव, आओ। आप कामनाओं के देनेवाले हैं। देनेवाले के निचोड़े हुए सोम को (पीने के लिए)। तुझको आश्रय के लिए लिया गया है। विश्वेदेवों के लिए तुझको।" "एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ७।३३)—"यह तेरी योनि है। विश्वेदेवों के लिए तुझको।" ऐसा कहकर वह उसको रख देता है, क्योंकि विश्वेदेवों के लिए इसको लेता है ।।२७।।

शस्त्रप्रतिगरः

अध्याय ३—ब्राह्मण २

जब होता शस्त्र पढ़ता है तो गाता है। और जब वह गाता है तो अध्वर्यु उसके प्रत्युत्तर में गाता है। इसलिए उसको 'प्रतिगर' (प्रति+आ+गृणाति) कहते हैं ।।१।।

होता पूर्वाभिमुख बैठे हुए अध्वर्यु का आह्वान करता है। उद्गाता को छोड़कर और सब पूर्वाभिमुख होकर ऋत्विज का कार्य करते हैं। इसलिए इसका ऋत्विका का कार्य भी पूर्वाभिमुख हो जाता है ।।२।।

उद्गाता प्रजापति है। ऋचा होतारूपी स्त्री है। यह प्रजापतिरूप उद्गाता पुरुष ऋचारूपी होता स्त्री में वीर्य का सिंचन करता है जबकि वह स्तुति करता है। होता शस्त्र के रूप में जनता है (जैसे माँ बच्चे को जनती है)। वह पैना करता है जैसे यह पुरुष पैना किया जाता है (चाकू पैना करने के लिए सान पर रखते हैं। इस प्रकार 'शो' का अर्थ है पैना करना, बनाना) चूँकि पैना करते हैं इसलिए 'शो' से 'शस्त्र' शब्द बना। ('शो तनूकरणे' धातु के रूप 'श्यति' आदि होते हैं) ।।३।।

(अध्वर्यु) घूमकर (होता की ओर मुँह करके) प्रत्युत्तर में गाता है। इस प्रकार यह सींचे हुए वीर्य को तेज कर देता है। यदि मुँह फेरकर गावे तो सींचा हुआ वीर्य नष्ट हो जाय, और उत्पत्ति न हो। (स्त्री और पुरुष) एक-दूसरे की ओर मुख करके सींचे हुए वीर्य से उत्पत्ति करते हैं ।।४।।

देवों द्वारा छन्द थका दिये गये। क्योंकि छन्दों द्वारा ही देव स्वर्गलोक को गये। प्रतिगर (प्रत्युत्तर का गाना) यह है। यह जो ऋक् में मद है और यह जो साम में, वही रस है। यह रस वह छन्दों में रख देता है, अर्थात् छन्दों की थकावट दूर कर देता है। इन फिर से पुष्ट छन्दों से यज्ञ करता है ।।५।।

इसलिए यदि (होता) आधी ऋचाओं से शस्त्र पढ़े तो अध्वर्यु आधी ऋचाओ के द्वारा प्रत्युत्तर भी दे। यदि पाद-पाद करके तो प्रतिगर भी पद-पद से हो, क्योंकि शस्त्र पढ़ने में ज्योंही साँस टूटता है त्यों ही असुर राक्षस दौड़ पड़ते हैं। इसको अध्वर्यु प्रतिगर द्वारा बन्द कर देता है। इससे दुष्ट राक्षस आने नहीं पावे। इस प्रकार वह यजमान के शत्रु-लोक का नाश कर देता है ।।६।।

पहले छन्दों में चार अक्षर होते थे। उनमें से जगती सोम को लेने उड़ गई, और तीन अक्षर पीछे छोड़कर लौट आई। अब त्रिष्टुप् सोम को लेने उड़ गया और एक अक्षर छोड़कर घर लौट आया। फिर गायत्री सोम को लेने उड़ी और इन सब अक्षरों को और सोम को भी लेकर वापस आ गई। इसलिए आठ अक्षर की गायत्री हो गई। इसलिए कहते हैं कि आठ अक्षर की गायत्री होती है ।।७।।

उस (गायत्री) से प्रातःसवन किया गया। इसलिए प्रातःसवन का नाम गायत्र है।

तन्वत ताꣳ ह त्रिष्टुबुवाचोप त्वाह्वयामहि त्रिभिरक्षरैरुप मा ह्वयस्व मा मा य-
ज्ञादन्तर्गा इति तथेति तामुपाह्वयत तत एकादशाक्षरा त्रिष्टुबभवत्तस्मादाहुस्त्रै-
ष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनमिति ॥८॥ तथैव तृतीयसवनमतन्वत । ताꣳ ह जगत्यु-
वाचोप त्वाह्वयामह्येकेनाक्षरेणोप मा ह्वयस्व मा मा यज्ञादन्तर्गा इति तथेति
तामुपाह्वयत ततो द्वादशाक्षरा जगत्यभवत्तस्मादाहुर्जागतं तृतीयसवनमिति ॥९॥
तदाहुः । गायत्राणि वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृज्यमानैदिति तस्मा-
त्सꣳसिद्धं प्रातःसवने प्रतिगृणीयात्सꣳसिद्धा हि गायत्र्यागच्छत्सकृन्मद्वन्माध्यन्दिने
सवनऽएकꣳ हि साक्षरꣳ हित्वागच्छत्तेनैवैनामेतत्समर्धयति कृत्स्नां करोति ॥१०॥
यत्र त्रिष्टुभः शस्यन्ते । त्रिमद्वत्तृतीयसवने त्रीणि हि साक्षराणि हित्वागच्छत्तैरेवै-
नामेतत्समर्धयति कृत्स्नां करोति ॥११॥ ॥ शतम् २५०० ॥ ॥ यत्र द्यावापृथिव्यꣳ
शस्यते । इमे ह वै द्यावापृथिवीऽइमाः प्रजा उपजीवन्ति तदनयोरेवैतद्द्यावापृ-
थिव्यो रसं दधाति ते रसवत्याऽउपजीवनीयेऽइमाः प्रजा उपजीवन्ति स वा
ऽओ३मित्येव प्रतिगृणीयात्तद्धि सत्यं तद्देवा विदुः ॥१२॥ तद्धैके । ओथामोदैव
वागिति प्रतिगृणन्ति वाक्प्रतिगर एतद्वाचमुपाप्नुम इति वदन्तस्तदु तथा न कु-
र्याद्यथा वै कथा च प्रतिगृणात्युपाप्तैवास्य वाग्भवति वाचा हि प्रतिगृणाति
तस्मादो३मित्येव प्रतिगृणीयात्तद्धि सत्यं तद्देवा विदुः ॥ १३ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ६
[३. २.] ॥ ॥

इन्द्रा३ऽइन्द्रा३ऽइत्यभिषुणोति । इन्द्रमेवैतदाच्यावयति बृहद्बृहदितीन्द्रमेवै-
तदाच्यावयति ॥१॥ स शुक्रामन्थिनौ प्रथमौ गृह्णाति । शुक्रवद्ध्येतत्सवनमथाग्र-
यणꣳ सर्वेषु ह्येष सवनेषु गृह्यतेऽथ मरुत्वतीयमथोक्थ्यमुक्थानि ह्यत्रापि भव-
न्ति ॥२॥ तद्धैके । उक्थ्यं गृहीत्वाथ मरुत्वतीयं गृह्णन्ति तदु तथा न कुर्यान्मरुत्व-
तीयमेव गृहीत्वाथोक्थ्यं गृह्णीयात् ॥३॥ तान्वाऽएतान् । पञ्च ग्रहान्गृह्णात्येष

उसी से दोपहर का सवन किया गया। उससे त्रिष्टुप् ने कहा, 'मैं अपने तीन अक्षरों के साथ आता हूँ। मुझे बुला। मुझे यज्ञ से बाहर न निकाल।' 'अच्छा' ऐसा कहकर (गायत्री ने त्रिष्टुप् को) बुला लिया। इस प्रकार त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर हो गये। इसलिए कहते हैं कि दोपहर का सवन त्रैष्टुप् होता है ॥८॥

उसी गायत्री से तीसरा सवन किया। उससे जगती ने कहा, 'मैं अपने एक अक्षर के साथ तेरे पास आती हूँ, तू मुझे बुला, यज्ञ से बाहर मत निकाल।' उसने कहा 'अच्छा' और बुला लिया। तब से जगती बारह अक्षर की हो गई। इसलिए कहते हैं कि तीसरा सवन 'जागत' है ॥९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि सभी सवन 'गायत्र' हैं क्योंकि गायत्री ही तो बढ़ती गई। इसलिए प्रातःसवन में पूरा 'प्रतिगर' कहे, क्योंकि गायत्री पूरी होकर लौटी थी। दोपहर के सवन में एक बार 'मद्' शब्द कहकर प्रतिगर पढ़े, क्योंकि त्रिष्टुप् एक अक्षर छोड़कर लौटा था। उसी से वह उसको समृद्ध करता है अर्थात् उसको पूरा कर देता है जबकि—॥१०॥

त्रिष्टुप् से शस्त्र पढ़ता है। तीसरे सवन में तीन बार 'मद्' शब्द से प्रतिगर कहे, क्योंकि जब जगती लौटी तो तीन अक्षर पीछे छोड़ आई। इससे वह इसकी समृद्धि करता है, उसको पूरा करता है जबकि—॥११॥

द्यौ और पृथिवी के लिए शस्त्र पढ़ता है। यह प्रजा इन्हीं दोनों अर्थात् द्यौ और पृथिवी के सहारे रहते हैं; इसके द्वारा इन्हीं द्यौ और पृथिवी में वह रस रखता है। इन्हीं रसवाले द्यौ और पृथिवी के सहारे प्रजा उत्पन्न होती है। 'ओ३म्' ऐसा कहकर 'प्रतिगर' करे, क्योंकि यही सत्य है जिसको देव जानते हैं ॥१२॥

कुछ इस प्रकार प्रतिगर करते हैं 'ओथामो दैववाक्' अर्थात् वाणी प्रतिगर है, उसी को लेते हैं। परन्तु ऐसा न करे। क्योंकि चाहे जैसे प्रतिगर करे, वाणी ही हो जाती है, क्योंकि प्रतिगर वाणी द्वारा ही हो सकता है। इसलिए 'ओ३म्' कहकर ही प्रतिगर करे। यही सत्य है जिसको देव जानते थे ॥१३॥

माध्यन्दिनसवनम्—मरुत्वतीयग्रहादि

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

'इहा' 'इहा' कहकर (सोमरस) निकालता है। ('इह' का अर्थ है 'यहाँ'। इसी का अन्त का अक्षर प्लुत करके 'इहा' हो गया। बुलाने में प्लुत हो ही जाता है)। इस प्रकार इन्द्र को निकट बुलाता है। 'बृहद्-बृहद्' भी कहता है; इससे भी इन्द्र को निकट बुलाता है ॥१॥

पहले शुक्र और मन्थी ग्रहों को लेता है। इससे (सोम यज्ञ) 'शुक्र-युक्त' हो जाता है। अब आग्रयण ग्रह को लेता है। यह ग्रह तो सभी सवनों में लिया जाता है। फिर मरुत्वतीय ग्रह लेता है। फिर उक्थ्य ग्रह को। क्योंकि यहाँ भी उक्थ्य मन्त्र होते हैं ॥२॥

कुछ लोग उक्थ्य ग्रह को लेकर मरुत्वतीय को लेते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। मरुत्वतीय को लेकर उक्थ्य को ले ॥३॥

इस प्रकार यह इन पाँच ग्रहों को लेता है (शुक्र, मन्थी, आग्रयण, मरुत्वतीय और

वै वज्रो यन्माध्यन्दिनः पवमानस्तस्मात्पञ्चदशः पञ्चनामा भवति पञ्चदशो हि वज्रः स एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पञ्च वाऽइमा अङ्गुलयोऽङ्गुलिभिर्वै प्रहरति ॥४॥ इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रजहार । स वृत्रं पाप्मानꣳ हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा निनाय तस्माद्प्येतर्हि यदैवैतेन माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवतेऽथ विजितेऽभये ऽनाष्ट्रे दक्षिणा नीयन्ते तथोऽएवैष एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रं प्रहरति स वृत्रं पाप्मानꣳ हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा नयति तस्माद्वाऽएतान्पञ्च ग्रहान्गृह्णाति ॥५॥ तद्यन्मरुत्वतीयान्गृह्णाति । एतद्वाऽइन्द्रस्य निष्केवल्यꣳ सवनं यन्माध्यन्दिनꣳ सवनं तेन वृत्रमजिघाꣳसत्तेन व्यजिगीषत मरुतो वाऽइत्यश्वत्थेऽपक्रम्य तस्थुः क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान्भवति तस्मादाश्वत्थेऽऋतुपात्रे स्यातां कार्ष्मर्यमये त्वेव भवतः ॥६॥ तानिन्द्र उपमन्त्रयां चक्रे । उप मावर्तध्वं युष्माभिर्बलेन वृत्रꣳ हनानीति ते होचुः किं नस्ततः स्यादिति तेभ्य एतौ मरुत्वतीयौ ग्रहावगृह्णात् ॥७॥ ते होचुः । अपनिधायैनमोज उपावर्तामहाऽइति तऽएनमपनिधायैवौज उपाववृतुस्तद्वाऽइन्द्रोऽस्पृणुतापनिधाय वै मौज उपावृतन्निति ॥८॥ स होवाच । सहैव मौजसोपावर्तध्वमिति तेभ्यो वै नस्तृतीयं ग्रहं गृहाणेति तेभ्य एतं तृतीयं ग्रहमगृह्णादुपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसऽइति तऽएनꣳ सहैवौजसोपावर्तन्त तैर्व्यजयत तैर्वृत्रमहन्क्षत्रं वाऽइन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान्भवति तत्क्षत्रऽएवैतद्बलं दधाति तस्मान्मरुत्वतीयान्गृह्णाति ॥९॥ स वाऽइन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयात् । नापि मरुद्भ्यः स यद्धापि मरुद्भ्यो गृह्णीयात्प्रत्युद्यामिनीꣳ ह क्षत्राय विशं कुर्यादथैतदिन्द्रमेवानु मरुत आभजति तत्क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः ॥१०॥ अपक्रमाद्धैवैषामेतद्बिभयां चकार । यदिमे मन्नापक्रामेयुर्यन्नान्यद्भ्रियेरन्निति तानेवैतदनपक्र-

उक्थ्य)। यह जो दोपहर का पवमान है, वह वज्र है। इसमें पाँच साम होते हैं, १५ मन्त्रवाले। वज्र पन्द्रहवाला होता है। पाँच ग्रहों के द्वारा। ये अँगुलियाँ भी पाँच हैं। इन अँगुलियों से ही तो वज्र फेंका जाता है ॥४॥

इन्द्र ने वृत्र पर वज्र फेंका। पापी वृत्र को मारकर और विजय तथा अभय प्राप्त करके दक्षिणा लाया। इसलिए ये उद्गाता लोग भी जब दोपहर के सवन में पवमान पढ़ते हैं और अभय तथा विजय प्राप्त करते हैं तो दक्षिणा को लाते हैं। इसी प्रकार यह भी इन पाँच ग्रहों द्वारा दुष्ट पापी शत्रु पर वज्र फेंकता है और पापी वृत्र को मारकर अभय तथा विजय प्राप्त होने पर दक्षिणा को ले जाता है। इसलिए इन पाँच ग्रहों को लेते हैं ॥५॥

मरुत्वतीय ग्रहों को इसलिए लेता है कि यह जो दोपहर का सवन है वह इन्द्र का निज का सवन (निष्कैवल्य) है। उसी से उसने वृत्र को मारने और जीतने की इच्छा की। इस समय मरुत् अश्वत्थ कक्षा पर घूमकर जा खड़े हुए। इन्द्र क्षत्रिय है। मरुत् वैश्य हैं। क्षत्रिय बलवान् होता है। इसलिए दो पात्र अश्वत्थ लकड़ी के हो सकते हैं। (ऐसी लोगों की राय है) परन्तु काष्मर्य लकड़ी के तो होते ही हैं ॥६॥

उनको इन्द्र ने बुलाया, 'मेरे पास आइये कि आपकी सहायता से मैं वृत्र को मार डालूं?' उन्होंने कहा, 'हमको क्या मिलेगा?' उसने इन दो मरुत्वतीय ग्रहों को उनके लिए निकाला ॥७॥

वे बोले, 'इस एक ग्रह अर्थात् आज को अलग रखकर हम आ रहे हैं।' वे इस ओज को अलग रखकर आये। परन्तु इन्द्र ने इस (ग्रह अर्थात् ओज) को भी लेना चाहा, यह सोचकर कि ये ओज को अलग रखकर आ रहे हैं। (ओज के बिना तो कुछ सफलता होती नहीं) ॥८॥

उसने कहा, 'ओज के साथ आइये।' उन्होंने उत्तर दिया, 'तो हमारे लिए एक तीसरा ग्रह और लो।' तब उनके लिए उसने एक तीसरा ग्रह निकाला, इस मन्त्र से "उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे—" (यजु० ७।३६)। तब वे ओज के साथ (इन्द्र की सहायता को) गये। उनकी सहायता से विजय पाई, उनकी सहायता से वृत्र को मारा। इन्द्र क्षत्रिय है। मरुत् वैश्य है। क्षत्रिय वैश्य की सहायता से ही बलवान् होता है। इसलिए वह क्षत्रिय में बल को रखता है। इसलिए मरुत्वतीय ग्रहों को लेता है ॥९॥

उन ग्रहों को वह 'मरुत्-युक्त इन्द्र' के लिए निकाले, अकेले इन्द्र के लिए नहीं। यदि वह केवल मरुतों के लिए निकालेगा तो वैश्यों को क्षत्रियों के विरुद्ध कर देगा। इसलिए वह इन्द्र के पीछे मरुत् का भी भाग रख देता है। इस प्रकार वह वैश्य को क्षत्रिय के अधीन और उसका आज्ञाकारी बना देता है। इसलिए मरुत्-युक्त इन्द्र के लिए निकाले, न कि 'मरुतों' के लिए ॥१०॥

उस (इन्द्र) को उनके छोड़ने का भय था, 'कहीं वे मुझे छोड़ जायँ और दूसरे दल में मिल जायँ।' इस प्रकार वह इस भाग के द्वारा उनको ऐसा बना देता है कि वे उसे छोड़ने न

मिणोऽकुरुत तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः ॥११॥ ऋतुपात्राभ्यां गृह्णाति । ऋतवो वै संवत्सरो यज्ञस्तेऽदः प्रातःसवने प्रत्यक्षमवकल्प्यन्ते यदृतुग्रहान्गृह्णात्यथैतत्परोऽक्षं माध्यन्दिने सवनेऽवकल्प्यन्ते यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान्गृह्णाति विशो वै मरुतोऽन्नं वै विश ऋतवो वाऽइदᳫं सर्वमन्नाद्यं पचन्ति तस्मादृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान्गृह्णाति ॥१२॥ अथातो गृह्णात्येव । इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्याते ऽअपिबः सुतस्य । तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥१३॥ मरुत्वन्तं वृषभम् । वावृधानमकवारिं दिव्यᳫं शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रᳫं सहोदामिह तᳫं हुवेम । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसऽइति तृतीयं ग्रहं गृह्णाति ॥१४॥ अथ माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति । पाप्मना वाऽएतदिन्द्रः सᳫंसृष्टोऽभूद्यद्विशा मरुद्भिः स यथा विजयस्य कामाय विशा समाने पात्रेऽश्नीयादेवं तद्यदस्माऽएतं मरुद्भिः समानं ग्रहमगृह्णन् ॥१५॥ तं देवाः । सर्वस्मिन्विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवᳫं सर्वस्मात्पाप्मनो व्यवृहन्यन्माहेन्द्रं ग्रहमगृह्णंस्तथोऽएवैष एतद्यथेषीका विमुञ्जा स्यादेवᳫं सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते यन्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति ॥१६॥ यद्वेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति । इन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य बधादथ वृत्रᳫं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति महान्तमु चैवैनमेतत्खलु करोति वृत्रस्य बधाय तस्माद्वेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति शु पात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएव महांस्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति ॥१७॥ अथातो गृह्णात्येव । महांᳫंऽइन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः । अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय

पावें। इसलिए भी 'मरुत्-युक्त इन्द्र' के लिए निकाले, मरुतों के लिए नहीं ॥११॥

दो ऋतु-पात्रों से निकालता है। ऋतु संवत्सर यज्ञ है। प्रातःसवन में तो प्रत्यक्ष ही लिये जाते हैं, जब ऋतु-ग्रह निकाले जाते हैं। परन्तु दोपहर के सवन में परोक्ष रूप से निकलता है जब दो मरुत्वतीय ऋतुपात्रों को निकालता है, इसलिए दो मरुत्वतीय ऋतु-पात्रों में निकालता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र से निकालता है—"इन्द्र मरुत्व ऽ इह पाहि सोमं यथा शार्याते ऽ अपिबः सुतस्य। तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते" (यजु० ७।३५, ऋ० ३।५१।७)—"हे मरुतों से युक्त इन्द्र! यहाँ सोम को पी, जैसे शार्यात के सोम को पिया था। सुयज्ञ कवि लोग तेरी प्रसन्नता और तेरी शरण की सहायता से ही यज्ञ में तेरी सेवा करते हैं। तुझे आश्रय के लिए लिया है। इन्द्र मरुत्-युक्त के लिए तुझको! यह तेरी योनि है। मरुत्-युक्त इन्द्र के लिए तुझको" ॥१३॥

दूसरे ग्रह को इस मन्त्र से निकालता है—"मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यँ शासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रँ सहोदामिह तँ हुवेम। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते" (यजु० ७।३६, ऋ० ३।४७।५)—"मरुतोंवाले, बलवान्, वृद्धि-शील, दोष-रहित, दिव्य, शासक, सबके पालक इन्द्र को हम इस यज्ञ में नई रक्षा के लिए बुलाते हैं। आश्रय के लिए तुझे लिया जाता है। इन्द्र-मरुत्वाले के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। इन्द्र मरुत्वाले के लिए तुझको।' इस मन्त्र से तीसरा ग्रह निकालता है—"उपयामगृहीतोसि मरुतां त्वौजसे" (यजु० ७।३६)—"तुझे आश्रय के लिए लिया गया है। मरुतों के ओज के लिए तुझको" ॥१४॥

अब वह माहेन्द्र ग्रह को लेता है। जैसे विजय की कामना के लिए वैश्यों के साथ एक ही पात्र में खा लेवे, इसी प्रकार इन्द्र भी वैश्य मरुतों के साथ मिलकर पाप-युक्त हो गया, क्योंकि मरुतों के साथ-साथ इन्द्र के लिए भी एक ही ग्रह निकाला गया ॥१५॥

तब देवों ने जीत हो जाने और अभय और शान्ति प्राप्त हो जाने पर इन्द्र को उस पाप से मुक्त किया जैसे सिरकी से मूँज निकाल लेते हैं, इस माहेन्द्र ग्रह को लेकर। जैसे सिरकी बिना मूँज के (साफ) हो जाती है इसी प्रकार माहेन्द्र ग्रह को निकालकर वह सब दोषों से दूर हो जाता है ॥१६॥

माहेन्द्र ग्रह को इसलिए भी निकालता है, वृत्र के वध से पहले वह इन्द्र था। अब किसी बड़े विजयी राजा के समान, वृत्र को मारकर माहेन्द्र बन गया। इसलिए माहेन्द्र ग्रह को लेता है। वृत्र के वध के लिए उसको बड़ा बनाता है, इसलिए भी माहेन्द्र ग्रह को लेता है। शुक्र-पात्र से लेता है। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वह शुक्र है। शुक्र महान् है, इसलिए शुक्र-पात्र से निकालता है ॥१७॥

इस मन्त्र से निकालता है—"महाँ२ ऽ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा ऽ उत द्विबर्हा ऽ अमिनः सहोभिः। अस्मद्रयग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय

ह्येष ते योनिर्महेन्द्राय त्वेति सादयति महेन्द्राय ह्येनं गृह्णाति ॥१८॥ अथोपाकृत्यैतां वाचं वदति । अभिषोतारोऽभिषुणुतौलूखलानुद्वादयताग्नीदाशिरं विनय सौम्यस्य वित्तादिति ते वै तृतीयसवनायैवाभिषोतारोऽभिषुण्वन्ति तृतीयसवनायौलूखलानुद्वादयन्ति तृतीयसवनायाग्नीदाशिरं विनयति तृतीयसवनाय सौम्यं चरुꣳ श्रपयत्येते वै शुक्रवती रसवती सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनमथैतन्निर्धीतशुक्रं यत्तृतीयसवनं तद्वैतस्मान्माध्यन्दिनात्सवनान्निर्मिमीते तथो हास्यैतच्छुक्रवद्रसवत्तृतीयसवनं भवति तस्मादेतामत्र वाचं वदति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [३.३.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १३१ ॥ ॥

घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञम् । यदेनं तन्वते यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति यत्पशुꣳ संज्ञपयन्ति विशासति तत्तं घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥१॥ स एष यज्ञो हतो न ददक्षे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम तद्यदेवात्र यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैतद्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्दक्षिणा ददाति ॥२॥ तद्वै षड्द्वादशेत्येव हविर्यज्ञे ददति । न ह त्वेवाशतदक्षिणः सौम्योऽध्वरः स्यादेष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठꣳ सोऽयꣳ शतायुः शततेजाः शतवीर्यस्तꣳ शतेनैव दक्षयति नाशतेन तस्मान्नाशतदक्षिणः सौम्योऽध्वरः स्यान्नो हैवाशतदक्षिणेन यजमानस्यऽर्त्विक्स्यान्नेदस्याद्धिभूरसानि यमिमि हनिष्यन्त्येव न दक्षयिष्यन्तीति ॥३॥ द्वया वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधाविभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाꣳ शुश्रुवुषामनूचानानामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानांस्तऽएनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ॥४॥ ता वाऽएताः । ऋत्विजामेव द-

त्वा" (यजु० ७।३६, ऋ० ६।१६।१)—"बड़ा इन्द्र ! नेता के समान, मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति करनेवाला, दुहरे यज्ञोंवाला, अपार बलों के साथ, हमारे सामने बढ़ा वीर्य अर्थात् पराक्रम से, उस (यशवाला), पृथुः (विस्तृत) यजमानों द्वारा पूज्य हुआ।" यह पढ़कर नीचे रख देता है—"एष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा" (यजु० ७।३६)—"यह तेरा घर है। महेन्द्र के लिए तुझको" ॥१८॥

उपाकरण करके यह वचन बोलता है, 'निचोड़नेवाला, निचोड़ो। मूसलों को जोर से चलाओ (सोम पीसने के लिए) आग्नीध्, दही को देख, सोम की खबर रख।' ये निचोड़नेवाले तीसरे सवन के लिए निचोड़ते हैं। तीसरे सवन के लिए ही मूसली चलाते हैं। तीसरे सवन के लिए ही आग्नीध् दही को बिलोता है। तीसरे सवन के लिए ही सोम के चरु को पकाता है। ये जो दो सवन थे अर्थात् प्रातः और दोपहर के, ये तो शुक्र और रसवाले थे। परन्तु तीसरा सवन शुक्र-रहित हो जाता है। इसलिए दोपहर के सवन से इसको बनाता है। इस प्रकार यह तीसरा सवन शुक्र और रसवाला हो जाता है। इसीलिए इस वाणी को इस समय बोलता है ॥१६॥

दाक्षिणहोमो दक्षिणादानश्च

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

अब इस यज्ञ का वध करते हैं। जब यज्ञ में सोम राजा को कुचलते हैं तो मानो उसका वध करते हैं। जैसे पशु को काटते हैं तो उसका वध करते हैं, इसी प्रकार ओखली और मूसल से या दो पाटों से यज्ञ की हवि का वध किया जाता है ॥१॥

जब इस यज्ञ का बध हो गया तो उसकी शक्ति जाती रही, तब देवों ने दक्षिणाओं द्वारा पूरा किया। यह यज्ञ दक्षिणाओं द्वारा दक्ष हो गया। इसलिए इसका नाम दक्षिणा पड़ा (दक्ष बनानेवाली)। यहाँ यज्ञ के वध होने से जो कुछ कमी आ जाती है उसकी वह दक्षिणाओं से पूर्ति कर देता है। यज्ञ पूर्ण हो जाता है। इसलिए वह दक्षिणा देता है ॥२॥

हविर्यज्ञ में छः या बारह गायें दक्षिणा में दी जाती हैं। परन्तु सोम यज्ञ में सौ से कम नहीं। यह जो प्रजापति है वह प्रत्यक्ष यज्ञ है। पुरुष प्रजापति का निकटतम है। इसकी सौ वर्ष की आयु, सौ गुना तेज और सौ गुना पराक्रम होता है। सौ से ही वह इसको शक्ति-सम्पन्न करता है, सौ से कम से नहीं। इसलिए सोम यज्ञ में सौ गायों की दक्षिणा देनी चाहिए, और न किसी को ऐसे यज्ञ में ऋत्विक् बनना चाहिए जहाँ सौ से कम गायें दक्षिणा में दी जायें, कि कहीं मैं ऐसी क्रिया का साक्षी न हो जाऊँ जहाँ यज्ञ का वध तो किया जाता है परन्तु उसकी पूर्ति नहीं की जाती ॥३॥

देव दो प्रकार के हैं—एक तो देव और दूसरे मनुष्य-देव, जो ब्राह्मण, वेदशास्त्र पढ़े हुए। इसलिए यज्ञ भी दो भागों में विभक्त है। देवों की आहुतियाँ हैं और मनुष्यदेवों की अर्थात् उन ब्राह्मणों की जो वेद-शास्त्र पढ़े हुए हैं दक्षिणा है। आहुतियों से देवों को प्रसन्न किया जाता है और मनुष्य-देव अर्थात् वेदशास्त्र पढ़े हुए ब्राह्मणों को दक्षिणाओं से। इस प्रकार दोनों देव प्रसन्न होकर यजमान को स्वर्गलोक में ले जाते हैं ॥४॥

यह दक्षिणा केवल ऋत्विजों की ही होती है। यह जो ऋक्, यजुः और साम और

क्षिणा अन्यं वाऽएतऽएतस्यात्मान७ संस्कुर्वन्त्येतं यज्ञमृक्मयं यजुर्मय७ साममय-
माहुतिमय७ सोऽस्यामुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति तद्ये माजीजनन्तेति तस्मादृत्विग्भ्य
एव दक्षिणा दद्यान्नानृत्विग्भ्यः ॥५॥ अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यम् । दाक्षिणानि
जुहोति स दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति देवलोके मेऽप्य-
सदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा
यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः ॥६॥ चतस्रो वै दक्षिणाः । हिरण्यं
गौर्वासोऽश्वो न वै तदवकल्पते यदश्वस्य पादमवदध्याद्यद्वा गोः पादमवदध्यात्त-
स्माद्दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति ॥७॥ सौरीभ्यामृग्भ्यां जु-
होति । तमसा वाऽअसौ लोकोऽन्तर्हितः स एतेन ज्योतिषा तमोऽपहत्य
स्वर्गं लोकमुपसंक्रामति तस्मात्सौरीभ्यामृग्भ्यां जुहोति ॥८॥ स जुहोति । उदु
त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य७ स्वाहेत्येतया गायत्र्या
गायत्री वाऽइयं पृथिवी सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥९॥
अथ द्वितीयां जुहोति । चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा
द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्ष७ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहेत्येतया त्रिष्टुभा लो-
कमेवैतयोपप्रैति ॥१०॥ अथाग्नीध्रे । द्वे वैकां वा जुहोति तद्यदाग्नीध्रे द्वे वै-
कां वा जुहोत्यग्निर्वै पशूनामीष्टे तऽएनमभितः परिणिविशन्ते तमेतयाहुत्या प्री-
णाति सोऽस्मै प्रीतोऽनुमन्यते तेनानुमतां ददाति ॥१२॥ स जुहोति । अग्ने नय
सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भू-
यिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहेत्यथ यद्यश्वं युक्तं वायुक्तं वा दास्यन्त्स्यादथ द्वि-
तीयां जुहुयाद्यद्यु न नाद्रियेत ॥१२॥ स जुहोति । अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणो-
त्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावय७ शत्रूञ्जयतु जर्हृ-
षाणः स्वाहेति वाजसा ह्यश्वः ॥१३॥ अथ हिरण्यमादाय शालामभ्यैति । दक्षि-

आहुतिमय यज्ञ है, यह यजमान का मानो एक नया आत्मा बनाया जाता है। यह इसका परलोक में आत्मा होता है। इस आत्मा को इन्हीं ऋत्विजों ने बनाया है। इसलिए यह दक्षिणा ऋत्विजों की ही होनी चाहिए, उनकी नहीं जो ऋत्विज न हों ॥५॥

गार्हपत्य के पास जाकर दक्षिणा की आहुति देता है। झालरदार कपड़े में सोने का टुकड़ा बाँधकर और उसे चमसे में रखकर आहुति देता है यह कहकर कि 'देवलोक में मेरा स्थान हो।' जो कोई यज्ञ करता है वह इसलिए करता है कि यह यज्ञ देवलोक को जाता है। और जो दक्षिणा देता है वह भी देवलोक को जाती है। और दक्षिणा से लगा हुआ यजमान भी जाता है ॥६॥

चार प्रकार की दक्षिणा होती है—सोना, गौ, कपड़ा और घोड़ा। यह उचित नहीं है कि घोड़े के पैर को चमसे में रख दे या गौ के पैर को। इसलिए झालरदार कपड़े में सोना बाँधकर रखता है और उसकी आहुति देता है ॥७॥

सूर्य की दो ऋचाओं से आहुति देता है। सूर्य की दो ऋचाओं से आहुति इसलिए देता है कि वह (पर) लोक अन्धकार से छिप गया है। वह ज्योति से अन्धकार को हटाकर स्वर्ग-लोक को जाता है ॥८॥

इस आहुति के मन्त्र ये हैं, "उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्य्यँ स्वाहा" (यजु० ७।४१, ऋ० १।५०।१)—"ये प्रकाश की किरणें उस सूर्य्य जातवेद देव सूर्य्य तक ले जाती हैं, सर्वत्र विश्व को दिखाने के लिए।" इस गायत्री से। यह पृथिवी गायत्री है। यह पृथिवी प्रतिष्ठा है। इसी प्रतिष्ठा में वह प्रतिष्ठित होता है ॥९॥

दूसरी आहुति का मन्त्र यह है, "चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणास्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी ऽ अन्तरिक्षँ सूर्य ऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा" (यजु० ७।४२)—"विचित्र (आश्चर्य-युक्त) देवों अर्थात् प्रकाशों का अनीक अर्थात् समूह उदय होता है। यह मित्र, वरुण और अग्नि की आँख है अर्थात् इसी से सब प्रकाश को लेते हैं। यह सूर्य द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष में फैल जाता है। यह जंगम और स्थावर जगत् का आत्मा है। यह त्रिष्टुभ् है। इसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥१०॥

अब अग्नीध्र में एक या दो आहुति देता है। अग्नीध्र में एक या दो आहुतियाँ इसलिए देता है कि अग्नि पशुओं पर राज करता है। ये पशु उसको चारों ओर से घेर लेते हैं। उस अग्नि को इस आहुति से प्रसन्न करता है। वह अग्नि इससे प्रसन्न होकर अनुमति देता है। अनुमति से वह (गाय की) दक्षिणा देता है ॥११॥

आहुति का मन्त्र यह है, "अग्ने नय सुपथा राये ऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा" (यजु० ७।४३, ऋ० १।१८९।१)—"हे अग्नि! धन के लिए हमको ठीक मार्ग पर ले चल। हे देव, तू सब कर्मों को जानता है। हमको पाप से बचा कि हम तेरी बहुत-बहुत स्तुति कर सकें।" अब यदि युक्त (सजे हुए) या अयुक्त (बेसजे) घोड़े को देना चाहे तो एक और आहुति पढ़े, अन्यथा नहीं ॥१२॥

वह आहुति का मन्त्र यह है, "अयं नो ऽ अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर ऽ एतु प्रभिन्दन्। अयं वाजान् जयतु वाजसातावयँ शत्रून् जयतु जर्हृषाणः स्वाहा" (यजु० ७।४४)—"यह अग्नि होम को धन (वरिवः=धनं) दे। यह युद्धों का भेद न करते हुए आगे बढ़े। यह अन्नों को जीते। यह जोश में आकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे।" घोड़ा विजय प्राप्त करनेवाला है ॥१३॥

अब सोने को लेकर शाला में जाता है। वेदी के दक्षिण की ओर दक्षिण की गौएँ खड़ी

णेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते सोऽग्रेण शालां तिष्ठन्नभिमन्त्रयते रूपेण वो रूप-
मभ्यागामिति न ह वाऽअग्रे पशवो दानाय चक्षमिरे तेऽपनिधाय स्वानि रूपा-
णि शरीरैः प्रत्युपातिष्ठन्त तानेतद्देवाः स्वैरेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपायंस्ते स्वानि रू-
पाणि जानाना अभ्यवायंस्ते रातमनसोऽलं दानायाभवंस्तथोऽएवैनानेष एतत्स्वै-
रेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपैति ते स्वानि रूपाणि जानाना अभ्यवायन्ति ते रातमनसो
ऽलं दानाय भवन्ति ॥१४॥ तुथो वो विश्ववेदा विभजत्विति । ब्रह्म वै तुथस्त-
देना ब्रह्मणा विभजति ब्रह्म वै दक्षिणीयं चादक्षिणीयं च वेद तथो हास्यैता
दक्षिणीयायैव दत्ता भवन्ति नादक्षिणीयाय ॥१५॥ ऋतस्य पथा प्रेतेति । यो वै
देवानां पथैति स ऋतस्य पथैति चन्द्रदक्षिणा इति तदेतेन ज्योतिषा यन्ति
॥१६॥ अथ सदोऽभ्यैति । वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षमिति वि त्वया दक्षिणाया लो-
कं ख्येषमित्येवैतदाह ॥१७॥ अथ सदः प्रेक्षते । यतस्व सदस्यैरिति मा त्वा स-
दस्या अतिरिक्षतेत्येवैतदाह ॥१८॥ अथ हिरण्यमादायाग्नीध्रमभ्यैति । ब्राह्मणम-
द्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमिति यो वै ज्ञातो ज्ञातकुलीनः स पितृमान्पैतृमत्यो
या वै ज्ञातायापि कतिपयीर्दक्षिणा ददाति ताभिर्महयत्यृषिमार्षेयमिति यो वै
ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः सुधातुदक्षिणमिति स हि सुधातुदक्षिणः ॥ १९ ॥
अथैवमुपसद्य । अग्नीधे हिरण्यं ददात्यस्मद्राता देवत्रा गच्छतेति यां वै रातमना
अविचिकित्सन्दक्षिणां ददाति तया महयति देवत्रा गच्छतेति देवलोके मेऽस-
सदिति वै यजते यो यजते तद्देवलोकऽएवैनमेतदपित्विनं करोति प्रदातारमावि-
शतेति मामाविशतेत्येवैतदाह तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति तद्यदग्नी-
धे प्रथमाय दक्षिणां ददात्यतो हि विश्वे देवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्मादग्नीधे प्रथ-
माय दक्षिणां ददाति ॥२०॥ अथैवमेवोपसद्य । आत्रेयाय हिरण्यं ददाति यत्र
वाऽअदः प्रातरनुवाकमन्वाहुस्तद्ध स्मैतत्पुरा शंसन्त्यत्रिर्वाऽऋषीणां होतास-

रहती हैं। वह शाला के आगे खड़े होकर उनको सम्बोधन करता है, "रूपेण वो रूपणमभ्यागाम्" (यजु० ७।४५)—"तुम्हारे रूप से मुझे रूप मिला।" पहले-पहल पशु दान में दान दिये जाने के लिए राजी नहीं हुए। वे अपने रूपों को अलग रखकर केवल (नंगे) शरीरों के द्वारा खड़े हो गये। देव यज्ञ से उन पशुओं के अपने रूपों को ले गए। उन्होंने अपने इन रूपों को पहचाना और दान के लिए राजी हो गये। यह यजमान भी इसी प्रकार यज्ञ के सामने से पशुओं के निज रूपों को ले जाता है और वे अपने रूपों को पहचानकर दान में दिये जाने के लिए राजी हो जाते हैं ॥१४॥

"तुथो वो विश्ववेदा विभजतु" (यजु० ७।४५)—"सबको जाननेवाला तुथ (ब्राह्मण) तुमको बाँटे।" 'तुथ' है ब्राह्मण। इस प्रकार वह ब्राह्मण के द्वारा बँटवाता है। ब्राह्मण जानता है कि कौन दक्षिणा के योग्य हैं, कौन नहीं। इस प्रकार ये गायें भी उसी को दी जाती हैं जो दक्षिणा के योग्य है। उसको नहीं जो दक्षिणा के योग्य न हो ॥१५॥

"ऋतस्य पथा प्रेत" (यजु० ७।४५)—"ऋत के मार्ग से चलो।" जो देवों के मार्ग से चलता है वह ऋत के मार्ग से चलता है। "चन्द्र (चन्द्र=स्वर्ण) दक्षिणावाली।" ये गायें यजमान के दिये स्वर्ण की ज्योति से चलती हैं ॥१६॥

अब वह सदस् में जाता है, "वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं" (यजु० ७।४५)—"स्वर्ग और अन्तरिक्ष को देख।" अर्थात् तुझ दक्षिणा के द्वारा मैं स्वर्ग को प्राप्त करूँ—यह उसका उद्देश्य है ॥१७॥

अब सदस् को देखता है, "यतस्व सदस्यैः" (यजु० ७।४५)—"सदस्यों के साथ यत्न कर।" अर्थात् 'सदस्य तुझसे आगे न बढ़ जाय' ऐसा कहता है ॥१८॥

अब सोने को लेकर आग्नीध्र (अग्निशाला) के पास जाता है, "ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यम्" (यजु० ७।४६)—"आज मैं पिता और पितामह वाले ब्राह्मण को प्राप्त करूँ।" जो अच्छे कुल का ब्राह्मण है उसी का नाम पितृमान और पैतृमत्य है। ऐसे घोड़ों को भी दक्षिणा देता है; उसको बहुत बड़ी विजय प्राप्त होती है। "ऋषिमार्षेयम्" (यजु० ७।४६)—"जो वेद पढ़ा हुआ है वह ऋषि और आर्ष है।" "सुधातु दक्षिणम्" (यजु० ७।४६)—"अच्छी दक्षिणावाला।" क्योंकि इसको अच्छी दक्षिणा दी गई है ॥१९॥

अब अग्नीध् के समीप (आदरपूर्वक) बैठकर (उपसद्य) उसे स्वर्ण देता है। "अस्मद्राता देवत्रा गच्छत" (यजु० ७।४६)—"हमारे द्वारा दिया हुआ तू देवलोक को जावे।" जो दक्षिणा उदार मन से बिना संकोच के दी जाती है उसका फल बड़ा होता है। 'देवलोक को जावे' का तात्पर्य यह है कि मेरे लिए देवलोक में स्थान कर दे। जो कोई यज्ञ करता है इस आश्रय से करता है कि देवलोक को पाऊँ। इस प्रकार वह इसके लिए देवलोक में स्थान कर देता है। "प्रदातारमाविशत" (यजु० ७।४६)—"दाता में प्रवेश करो।" अर्थात् मुझमें प्रवेश करो। इस प्रकार उन गायों से वह वंचित नहीं होता। अग्नीध् को दक्षिणा पहले दिये जाने का तात्पर्य यह है कि देवों ने इसी के द्वारा अमृतत्व को पाया था। इसलिए अग्नीध् को दक्षिणा पहले देता है ॥२०॥

अब इसी प्रकार जाकर आत्रेय (अत्रि-वंशज एक पुरुष) को स्वर्ण देता है। पहले एक बार जब वह प्रातरनुवाक को बोल रहे थे तो सामने स्तोत्र भी कह रहे थे। ऋषियों का होता

थैतत्सदोऽसुरतमसमभिपुप्लुवे तऽऋषयोऽत्रिमब्रुवन्नेहि प्रत्यङ्ङिदं तमोऽपजहीति स एतत्तमोऽपाहन्नयं वै ज्योतिर्य इदं तमोऽपावधीदिति तस्माऽएतज्ज्योतिर्हिरण्यं दक्षिणामनयञ्ज्योतिर्हि हिरण्यं तद्वै स तत्तेजसा वीर्येणऽर्षिस्तमोऽपजघान। थैष एतेनैवैतज्ज्योतिषा तमोऽपहन्ति तस्मादात्रेयाय हिरण्यं दधाति ॥२१॥ अथ ब्रह्मणे । ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायत्यथोद्गात्रेऽथ होत्रेऽथाध्वर्युभ्याꣳ हविर्धानऽआसीनाभ्यामथ पुनरेत्य प्रस्तोत्रेऽथ मैत्रावरुणायाथ ब्राह्मणाच्छꣳसिनेऽथ पोत्रेऽथ नेष्ट्रेऽथाच्छावाकायाथोन्नेत्रेऽथ ग्रावस्तुतेऽथ सुब्रह्मण्यायै प्रतिहर्त्रऽउत्तमाय ददाति प्रतिहर्ता वाऽएष सोऽस्माऽएतदन्ततः प्रतिहरति तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति ॥२२॥ अथाहेन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीति । यत्र वै प्रजापतिरग्रे ददौ तद्धेन्द्र ईक्षां चक्रे सर्वं वाऽअयमिदं दास्यति नास्मभ्यं किं चन परिशेक्ष्यतीति स एतं वज्रमुदयच्छदिन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीत्यदानाय ततो नाददात्स एषोऽप्येतर्हि तथैव वज्र उद्यम्यतऽइन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीत्यदानाय ततो न ददाति ॥२३॥ चतस्रो वै दक्षिणाः । हिरण्यमायुरेवैतेनात्मनस्त्रायत ऽआयुर्हि हिरण्यं तदग्नयऽआग्नीध्रं कुर्वतेऽददात्तस्मादप्येतर्ह्याग्नीध्रे हिरण्यं दीयते ॥१४॥ अथ गौः । प्राणमेवैतयात्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नꣳ हि गौरन्नꣳ हि प्राणस्ताꣳ रुद्राय होत्रेऽददात् ॥२५॥ अथ वासः । त्वचमेवैतेनात्मनस्त्रायते त्वग्घि वासस्तद्बृहस्पतयऽउद्गायतेऽददात् ॥२६॥ अथाश्वः । वज्रो वाऽअश्वो वज्रमेवैतत्पुरोगां कुरुते यमलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्यमलोकऽएवैनमेतदपिविनं करोति तं यमाय ब्रह्मणेऽददात् ॥२७॥ स हिरण्यं प्रत्येति । अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददात्वित्यग्नये ह्येतद्वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रऽइति ॥२८॥ अथ गां प्रत्येति । रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददात्विति रुद्राय ह्येतां वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो

अत्रि था। उस समय सदस् में असुरों का अन्धकार छा गया। ऋषियों ने अत्रि से कहा, 'यहाँ लौट आओ और अन्धकार को निकाल दो।' उसने इस अन्धकार को भगा दिया। उन्होंने यह समझकर कि यह ज्योति है, इसने अन्धकार दूर कर दिया, उसके लिए चमकीली सोने की दक्षिणा दी। स्वर्ण ज्योति है। उस ऋषि ने अपने तेज और पराक्रम से अन्धकार को दूर कर दिया। यह भी इसी ज्योति से अन्धकार को दूर करता है। इसलिए यहाँ अत्रि को स्वर्ण देता है ॥२१॥

अब ब्रह्मा को (दक्षिणा देता है)। ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिण की ओर से रक्षा करता है। इसके बाद उद्गाता को, फिर होता को, फिर दोनों अध्वर्युओं को जो हविर्धान में बैठे हों। फिर लौटकर प्रस्तोता को, फिर मैत्रावरुण को, फिर ब्राह्मणाच्छंसी को, फिर पोता को, फिर नेष्टा को, फिर अच्छावाक को, फिर उन्नेता को, फिर ग्रावस्तोता को, फिर सुब्रह्मण्य को और सबसे पीछे प्रतिहर्ता को दक्षिणा देता है। प्रतिहर्ता इसके लिए गौवों को पकड़े रहता है। वे भागकर जाने नहीं पातीं ॥२२॥

अब (अध्वर्यु मैत्रावरुण से) कहता है कि 'इन्द्र मरुत्वत के लिए अनुवाक पढ़ो।' जब पहले प्रजापति दक्षिणा दे रहा था तो इन्द्र ने सोचा कि यह तो सब दे डालेगा। हमारे लिए कुछ भी न छोड़ेगा। उसने 'इन्द्र-मरुत्वत के लिए अनुवाक पढ़ो' इस वचनरूपी वज्र को उठाया कि वह दान देना बन्द कर दे। उसने दान बन्द कर दिया। यहाँ यह भी 'इन्द्र-मरुत्वत के लिए अनुवाक पढ़ो' यह वज्र उठाता है, दान देना बन्द करने के लिए। वह दान देना बन्द कर देता है ॥२३॥

चार तरह की दक्षिणा होती है। (१) सोना—यह आयु है। इससे वह अपने जीवन की रक्षा करता है। सोना आयु है। (प्रजापति ने) यह सोना अग्नि को दिया था जो अग्नीध् (अग्नि प्रज्वलित करनेवाले) का काम कर रही थी। इसीलिए यह भी अग्नीध् को सोना देता है ॥२४॥

अब (२) गौ—इससे प्राणी की रक्षा होती है। गौ प्राण है, अन्न गौ है, अन्न प्राण है। इसको रुद्र या होता को देता है ॥२५॥

अब (३) कपड़ा—इससे अपनी खाल की रक्षा करता है। कपड़ा खाल है। उसको गानेवाले बृहस्पति को देता है ॥२६॥

अब (४) घोड़ा—घोड़ा वज्र है, वज्र को वह इस प्रकार अपना अगुआ बनाता है। जो यज्ञ करता है वह इस आशा से करता है कि यमलोक में मुझे स्थान मिलेगा। इस प्रकार वह इसको यमलोक का हिस्सेदार कर देता है। इस (घोड़े) को वह यम या ब्रह्मा को देता है ॥२७॥

अध्वर्यु सोने को इस मन्त्र से लेता है, "अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)—"वरुण तुझे अग्नि के लिए मेरे लिए देवे।" वरुण ने अग्नि को ही तो दिया था। "सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र ऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मैं अमृतत्व को प्राप्त करूँ।" दाता के लिए आयु दे। मुझे लेनेवाले के लिए सुख दे" ॥२८॥

अब गाय को इस मन्त्र से लेता है, "रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)—"वरुण तुझे रुद्र के लिए मुझे दे।" इसको वरुण ने रुद्र के लिए दिया था। "सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र ऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मुझे अमृतत्व मिले। दाता को प्राण

मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति ॥२९॥ अथ वासः प्रत्येति । बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददात्विति बृहस्पतये ह्येतद्वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति ॥३०॥ अथाश्वं प्रत्येति । यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददात्विति यमाय ह्येतं वरुणोऽददात्सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति ॥३१॥ अथ यदन्यद्ददाति । कामेनैव तद्ददातीदं मेऽप्यमुत्रासदिति तत्प्रत्येति कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्त इति तद्देवताया अतिदिशति ॥३२॥ तदाहुः । न देवताया अतिदिशेदिदं वै यां देवताꣳ समिन्द्धे सा दीप्यमाना श्वः-श्वः श्रेयसी भवतीदं वै यस्मिन्नग्नावभ्यादधति स दीप्यमान एव श्वः-श्वः श्रेयान्भवति श्वः-श्वो ह वै श्रेयान्भवति य एवं विद्वान्प्रतिगृह्णाति तद्यथा समिद्धे जुहुयादेवमेतां जुहोति याम धीयते ददाति तस्माद्धीयन्नातिदिशेत् ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥ १[३. ४.] ॥ ॥

त्रया वै देवाः । वसवो रुद्रा आदित्यास्तेषां विभक्तानि सवनानि वसूनामेव प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां तृतीयसवनं तद्वा अमिश्रमेव वसूनां प्रातःसवनममिश्रꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनं मिश्रमादित्यानां तृतीयसवनम् ॥१॥ ते हादित्या ऊचुः । यथेदममिश्रं वसूनां प्रातःसवनममिश्रꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमेवं न इमं पुरा मिश्राद्ग्रहं जुहुथेति तथेति देवा अब्रुवंस्ते सꣳस्थित एव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनादेतमजुहवुः स एषोऽप्येतर्हि तथैव ग्रहो हूयते सꣳस्थित एव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनात् ॥२॥ ते हादित्या ऊचुः । नेव वा इतरस्मिन्त्सवने स्मो नेवेतरस्मिन्यद्वै नो रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरिति ॥३॥ ते ह द्विदेवत्यानूचुः । रक्षोभ्यो वै बिभीमो हन्त युष्मान्प्रविशामेति ॥४॥ ते ह द्विदेवत्या ऊचुः । किमस्माकं ततः स्यादित्यस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुस्तथेति ते द्विदेवत्यान्प्राविशन् ॥५॥

मिलें। मुझ लेनेवाले को वय अर्थात् आयु मिले" ॥२९॥

अब कपड़ा यह पढ़कर लेता है, "बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)— "वरुण तुझे बृहस्पति के लिए मुझे दे।" वरुण ने इसे बृहस्पति को ही तो दिया था। "सोऽमृतत्त्वमशीय त्वग्दात्र ऽ एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मैं अमृतत्व को पाऊँ, दाता को त्वचा मिले। मुझ लेनेवाले को सुख" ॥३०॥

अब घोड़े को यह पढ़कर लेता है, "यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु" (यजु० ७।४७)— "वरुण तुझे यम के लिए मुझे दे।" वरुण ने इसको यम को दिया था। "सोऽमृतत्त्वमशीय हयो दात्र ऽ एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे" (यजु० ७।४७)—"मैं अमरतत्त्व को पाऊँ, घोड़ा दाता के लिए। आयु मुझ लेनेवाले के लिए" ॥३१॥

अब और जो कुछ देता है इस कामना से देता है कि जो मैं यहाँ दूँ वह मुझको उस लोक में मिले। उसको इस मन्त्र से लेता है, "कोऽदात् कस्मा ऽ अदात् कामोऽदात् कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते" (यजु० ७।४८)—"किसने दिया, किसको दिया, कामना ने दिया, कामना को दिया। कामना ही देनेवाली, कामना ही लेनेवाली। हे कामना! यह सब तुझको।" इस प्रकार वह इसको एक देवता के लिए निश्चित कर देता है ॥३२॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि किसी देवता को अतिदेश न करे। जिस-जिस देवता को प्रज्वलित करता है वह देवता प्रकाशित होता और उसकी शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ती है। जिस अग्नि में ईंधन डाला जाता है वह प्रकाशित होती है और उसकी शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ती है। जो इस रहस्य को समझकर (दक्षिणा) लेता है उसकी शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। जैसे जलती हुई अग्नि में ही आहुति डालते हैं उसी प्रकार पढ़े हुए को ही दान देता है। इसलिए विद्वान् को चाहिए कि किसी देवता को अतिदेश न करे ॥३३॥

आदित्यग्रहः

अध्याय ३—ब्राह्मण ५

देव तीन प्रकार के हैं—वसु, रुद्र, आदित्य। सवन इन्हीं में बँटे हुए हैं। प्रातःसवन केवल वसुओं का है, दोपहर का रुद्रों का और तीसरा सवन आदित्यों का। प्रातःसवन वसुओं का, बिना साझे का है। दोपहर का सवन रुद्रों का, बिना साझे का है। लेकिन तीसरे सवन में आदित्यों के साथ दूसरों का भी साझा है ॥१॥

आदित्यों ने कहा, 'चूँकि प्रातःसवन में वसुओं के साथ किसी का साझा नहीं, दोपहर में रुद्र के साथ किसी का साझा नहीं, इसलिए इस प्रकार हमारे लिए भी एक ग्रह की आहुति दो, पूर्व इसके कि सबका मिश्रित सवन हो।' देवों ने कहा 'अच्छा।' दोपहर की समाप्ति पर तीसरे सवन से पहले-पहले उन्होंने आहुति दे दी। इसी प्रकार अब तक भी इस ग्रह की आहुति दी जाती है। दोपहर के सवन की समाप्ति पर और तीसरे सवन के पहले-पहले ॥२॥

आदित्य बोले, 'हम न तो पहले सवन में साझी हैं, न दूसरे में। ऐसा न हो कि राक्षस हमको हानि पहुँचावें' ॥३॥

उन्होंने द्विदेवत्य अर्थात् उन ग्रहों से जिनमें दो देवताओं का साझा है, कहा, 'हम राक्षसों से डरते हैं। ऐसा करो कि हम तुममें घुस बैठें' ॥४॥

उन द्विदेवत्य ग्रहों ने उत्तर दिया, 'हमको इससे क्या लाभ होगा?' आदित्यों ने कहा कि 'हमारे साथ अनुवषट्कार में तुम्हारा भी साझा होगा।' उन्होंने कहा 'अच्छा' और वे द्विदेवत्य ग्रहों में घुस बैठे ॥५॥

स यत्र प्रातःसवने । द्विदेवत्यैः प्रचरति तत्प्रतिप्रस्थातादित्यपात्रेण द्रोणकलशात्प्रतिनिगृह्णीतऽउपयामगृहीतोऽसीत्येतावताध्वर्युरेवाश्रावयत्यध्वर्योरनु होमं जुहोति प्रतिप्रस्थातादित्येभ्यस्त्वेति सᳬस्रवमवनयत्येतावतैवमेव सर्वेषु ॥ ६॥ तद्यत्प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते । द्विदेवत्यान्वै प्राविशन्नस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुर्यो वाऽअग्नं द्वितीयामाहुतिं जुहोति स्विष्टकृते वै तां जुहोति स्विष्टकृतो वाऽएतेऽनुवषट्क्रियन्ते तथो हास्यैतेऽनुवषट्कृता इष्टस्विष्टकृतो भवन्त्युत्तरार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादुत्तरार्धे जुहोति ॥ ७॥ यद्वेव प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते । द्विदेवत्यान्वै प्राविशन्त्स यानेव प्राविशंस्तेभ्य एवैतन्निर्मिमीतेऽथापिदधाति रक्षोभ्यो हाबिभयुर्विष्णऽउरुगायैष ते सोमस्तᳬ रक्षस्व मा त्वा दभन्निति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत्परिददाति गुप्त्याऽअथाहु सᳬस्थितऽएव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनादेहि यजमानेति ॥ ८॥ ते सम्प्रपद्यन्ते । अध्वर्युश्च यजमानश्चाग्नीध्रश्च प्रतिप्रस्थाता चोन्नेताथ योऽन्यः परिचरो भवत्युभे द्वारेऽअपिदधति रक्षोभ्यो हाबिभयुरथाध्वर्युरादित्यस्थालीं चादित्यपात्रं चादत्ते स उपर्युपरि पूतभृतं विगृह्णाति नेद्यवश्चोतदिति ॥ ९॥ अथ गृह्णाति । कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे । उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वेति ॥ १०॥ तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् । अग्रे ह्येवैष उपयामेन गृहीतो भवत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदेनमत्राप्युपयामेन गृह्णीयात् ॥ ११॥ अथापगृह्य पुनरानयति । कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरीयादित्य सवनं तऽइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वेति ॥ १२॥ अथ दधि गृह्णाति । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान्वाऽअनु पशवस्तत्पशुष्वेवैतत्पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितं मध्यत-इव गृह्णीयादित्याहुर्मध्यत-इव हीदं पशूनां पय इति पश्चादिव त्वेव गृह्णीयात्पश्चादिव हीदं पशूनां पयः ॥ १३॥ यद्वेव

इसलिए जब प्रातःसवन में (अध्वर्यु) द्विदेवत्य ग्रहों को तैयार करता है तो प्रतिप्रस्थाता द्रोण कलश से आदित्य-पात्र में इस मन्त्र से सोम निकालता है, "उपयामगृहीतोऽसि" (यजु० ८।१)। अब अध्वर्यु श्रौषट् कहता है और उसके आहुति देने के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता। "आदित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।१) कहकर बचे-खुचे को (आदित्य-स्थाली में) छोड़ देता है। इसी प्रकार अन्य सब (द्विदेवत्य ग्रहों में भी ऐसा ही होता है) ।।६।।

प्रतिप्रस्थाता (सोमरस को) क्यों लेता है ? इसलिए कि द्विदेवत्य ग्रहों में प्रवेश करते आदित्यों ने कहा कि हमारे अनुवषट्कार में तुम्हारा भी हिस्सा होगा। यह जो दूसरी आहुति देता है वह अग्नि-स्विष्टकृत् के लिए देता है, स्विष्टकृत् से ही अनुवषट्कार हो जाता है। इस प्रकार यह स्विष्टकृत् के लिए दी हुई आहुतियाँ अनुवषट्कार से युक्त हो जाती हैं। वह उत्तरार्द्ध में आहुति देता है क्योंकि उस देवता की दिशा यही है। इसलिए उत्तरार्द्ध में आहुति देता है ।।७।।

प्रतिप्रस्थाता इसलिए भी लेता है कि वे द्विदेवत्य ग्रहों में घुस गए। जिनमें वे घुस गए उनमें से वह लेता है। चूँकि वे राक्षसों से डरते थे, इसलिए वह इस मन्त्र से ढक देता है, "विष्ण ऽ उरुगायैष ते सोमस्त ँ रक्षस्व मा त्वा दभन्" (यजु० ८।१)—"हे ऊर्ध्वगति वाले विष्णु, यह सोम तुम्हारे लिए है। इसकी रक्षा करो, जिससे वे तुमको हानि न पहुँचा सकें।" विष्णु यज्ञ है। यज्ञ को ही वह देता है रक्षा के लिए। अब दोपहर के सवन की समाप्ति पर और तृतीय सवन के पहले वह कहता है 'यजमान, यहाँ आओ' ।।८।।

ये सब (हविर्धान में) साथ घुसते हैं—अध्वर्यु, यजमान, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता, और इनके साथ दूसरा जो कोई परिचर हो। दोनों द्वारों को बन्द कर देता है क्योंकि वे राक्षसों से डरते थे। अब अध्वर्यु आदित्य-स्थाली और आदित्य-पात्र को लेता है और पूतभृत के ऊपर रखता है कि कहीं सोमरस गिर न जाय ।।९।।

अब वह (स्थाली में से पात्र में) इस मन्त्र से लेता है, "कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन् भूय ऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत ऽ आदित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।२, ऋ० ८।५१।७)—"हे इन्द्र, तू कभी संकुचित नहीं होता। तू दानशील सेवक के सदा समीप रहता है। हे शक्तिशाली मघवा ! तुझ देव का दान अधिक बढ़ता है। हे ग्रह ! तुझको आदित्यों के लिए" ।।१०।।

'उपयाम गृहीतोऽसि' कहकर न ले। ऐसा कहकर तो आगे ही निकाला था। पुनरुक्ति से बचने के लिए। यदि 'उपयाम' कहकर लेगा तो अवश्य ही पुनरुक्ति-दोष लगेगा ।।११।।

(उस ग्रह को एक बार कुछ) हटाकर फिर उसी में (सोम रस) लेता है, इस मन्त्र से—"कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी। तुरीयादित्य सवनं त ऽ इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।३, ऋ० ८।५२।७)—"हे आदित्य ! तुम कभी आलस्य नहीं करते। तुम दोनों जन्मों की रक्षा करते हो। आपका जो यह तीसरा (या चौथा) सवन है, उस दिव्य सवन में आपका 'इन्द्रियं अमृतं' अर्थात् पराक्रमशील अमरत्व रक्खा हुआ है। हे ग्रह ! तुझको आदित्य के लिए ।।१२।।

अब दही लेता है। तीसरा सवन आदित्य का है। पशु आदित्यों के पीछे हैं। इस प्रकार पशुओं में दूध रखता है। इसीलिए तो पशुओं में दूध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'इस ग्रह को ठीक बीच में रक्खे; क्योंकि पशुओं के मध्य में ही दूध होता है', परन्तु उसको कुछ पीछे हटाकर रखना चाहिए क्योंकि पशुओं में दूध कुछ पीछे की ओर ही होता है ।।१३।।

दधि गृह्णाति । हुतोच्छिष्टा वाऽएते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत्पुनराप्याययति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्दधि गृह्णाति ॥१४॥ स गृह्णाति । यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः । आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वेति ॥१५॥ तमुपाꣳशुसवनेन मेक्षयति । विवस्वान्वाऽएष आदित्यो निदानेन यदुपाꣳशुसवन आदित्यग्रहो वाऽएष भवति तदेनꣳ स्वऽएव भागे प्रीणाति ॥१६॥ तं न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति एते वै शुक्रवती रसवती सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनमथैतन्निर्धीतशुक्रं यत्तृतीयसवनꣳ स यन्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति तेनो हास्यैतच्छुक्रवद्रसवत्तृतीयसवनं भवति तस्मान्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति ॥१७॥ स मेक्षयति । विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्वेत्यथोन्नेत्रऽउपाꣳशुसवनं प्रयच्छत्यथाहोन्नेतारमासृज ग्राव्णा इति तानाधवनीये वासृजति चमसे वा ॥१८॥ राजानमुन्नीय । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान्वाऽअनु ग्रावाणस्तदेनान्त्स्वऽएव भागे प्रीणात्यपोर्णुवन्ति द्वारे ॥१९॥ अथापिधायोपनिष्क्रामति । रक्षोभ्यो हाबिभयुरथाहादित्येभ्योऽनुब्रूहीत्यत्र सम्पश्येद्यदि कामयेताश्राव्य त्वेव सम्पश्येदादित्येभ्यः प्रेष्य प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो महस्वसरस्य पतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्य इति वषट्कृते जुहोति नानुवषट्करोति नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजानीति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे सꣳस्रवौ ॥२०॥ अथ पुनः प्रपद्य । आग्रयणमादत्तऽउदीचीनदशं पवित्रं वितन्वन्ति प्रस्कन्दयत्यध्वर्युराग्रयणस्य सम्प्रगृह्णाति प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवावानयत्युन्नेता चमसेन वोदञ्चनेन वा ॥२१॥ तं चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान्वाऽअनु गावस्तस्मादिदं गवां चतुर्धाविहितं पयस्तस्माच्चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति ॥२२॥ तद्यत्प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति । आदित्यग्रहो वाऽएष भवति न वा

दही इसलिए लेता है कि यह जो बचा-खुचा सोमरस होता है वह आहुतियों के लिए काफी नहीं होता। उसको दही से बढ़ा लेता है और यह दही के लिए काफी हो जाता है। इसलिए दही मिलाता है ॥१४॥

वह इस मन्त्र से लेता है, "यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्याद्ँहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदात्। आदित्येभ्यस्त्वा" (यजु० ८।४; ऋ० १।१०७।१)—"यज्ञ देवों के साथ सुख के लिए आता है। हे आदित्यो! कृपा करो। आपकी सुमति हमारे समक्ष हो।" यज्ञ देवों के सुख का सम्पादन करता है। हे आदित्यो! आप हमको सुख देनेवाले हों। आपकी अच्छी मति (सुमति) हमारे समक्ष आवे (अर्थात् हम सुमतिवाले हों)। जो मति दरिद्रतायुक्त मनुष्य को भी अत्यन्त धन देनेवाली है वह भी हमारे समक्ष आवे। हे ग्रह, तुझको आदित्य के लिए" ॥१५॥

उपांशु सवन पत्थर से पीसकर उसको मिलाता है। यह जो उपांशु सवन है वह तो वास्तव में आदित्य विवस्वान् (सूर्य) ही है और यह आदित्य का ग्रह है। इस प्रकार इसको इसी के भाग से प्रसन्न करता है ॥१६॥

इसको न झालर से और न पवित्रे से छूता है। ये जो प्रातःसवन और दोपहर के सवन हैं ये दोनों शुक्रवाले और रसवाले हैं। परन्तु यह जो तीसरा सवन है वह सोम से शून्य है (सोम इसमें से निकल चुका है)। झालर या पवित्रे से न छूने से यह शुक्रवाला और रसवाला हो जाता है। इसलिए वह न झालर से और न पवित्रे से छूता है ॥१७॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है, "विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व" (यजु० ८।५)—"हे प्रतापी आदित्य! आ! यह तेरा सोम-भाग है। इससे तृप्त हो।" अब उपांशु सवन को उन्नेता को दे देता है। फिर उन्नेता से कहता है, 'ग्रावा (पत्थर) को डाल दे।' उसको आधवनीय या चमसे में डाल देता है ॥१८॥

सोम राजा को निकालकर—तीसरा सवन आदित्यों का है। ये पत्थर भी आदित्य ही हैं। इस प्रकार इनको इन्हीं के भाग से प्रसन्न करता है। अब दरवाजे को खोल देते हैं ॥१९॥

उस ग्रह को ढककर बाहर निकल आता है, क्योंकि आदित्यों को राक्षसों से भय था। अब वह कहता है कि आदित्यों के लिए अनुवाक कहो। यदि चाहे तो (उनके गुणों को) गिना दे। श्रौषट् कहकर गिनावे, इस प्रकार—'प्रिय, प्रियधाम, प्रियव्रत, महान् घर के पति, बड़े अन्तरिक्ष के अधिपति, आदित्यों के लिए प्रेरणा कर।' वषट्कार करके आहुति देता है। अनु-वषट्कार नहीं किया जाता कि कहीं पशुओं को अग्नि के समर्पण न कर दे। बचा-खुचा प्रति-प्रस्थाता को दे देता है ॥२०॥

अब वह फिर (हविर्धान में) आकर आग्रयण को लेता है। उत्तर की ओर झालर और पवित्रे को फैला देते हैं। अध्वर्यु आग्रयण में से (रस) उँडेलता है। प्रतिप्रस्थाता बचे-खुचे दोनों भागों को पकड़ता है। उन्नेता (आधवनीय में से) कुछ रस मिलाता है, चमसे या उदंचन से ॥२१॥

इस प्रकार आग्रयण को चार धाराओं में लेता है। तीसरा सवन आदित्यों का है। गायें आदित्यों के पीछे हैं। इसीलिए गायों का दूध चार प्रकार का होता है। इसलिए आग्रयण को चार धाराओं में लेता है ॥२२॥

प्रतिप्रस्थाता उन बचे-खुचे दोनों भागों को इसलिए पकड़ता है कि बचा-खुचा आदित्य

ऽग्रादित्यग्रहस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्धि सावित्रं ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति तदस्य सावित्रेणैवानुवषट्कृतो भवति ॥२३॥ यद्वेव प्रतिप्रस्थाता सछस्रवौ सम्प्रगृह्णाति । पुरा वाऽएष्य एतन्मिश्राद्धहमहीषुः पुरा तृतीयसवनात्तृतीयसवनाय वाऽएष ग्रहो गृह्यते तदादित्यास्तृतीयसवनमपियन्ति तथा न बहिर्धा यज्ञाद्भवन्ति तस्मात्प्रतिप्रस्थाता सछस्रवौ सम्प्रगृह्णाति ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [३. ५.] ॥ तृतीयो ऽध्यायः [२७.] ॥ ॥

मनो ह वाऽग्रस्य सविता । तस्मात्सावित्रं गृह्णाति प्राणो ह वाऽग्रस्य सविता तमेवास्मिन्नेतत्पुरस्तात्प्राणं दधाति यदुपाछंशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्पश्चात्प्राणं दधाति यत्सावित्रं गृह्णाति ताविमाऽउभयतः प्राणौ हितौ यश्चायमुपरिष्टाद्यश्चाधस्तात् ॥१॥ ऋतवो वै संवत्सरो यज्ञः । तेऽद्यः प्रातःसवने प्रत्यक्षमवकल्प्यन्ते यदृतुग्रहान्गृह्णात्यथैतत्परोऽक्षं माध्यन्दिने सवनेऽवकल्प्यन्ते यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान्गृह्णाति न वाऽग्रत्रऽर्तुभ्य इति कं चन ग्रहं गृह्णन्ति नऽर्तुपात्राभ्यां कश्चन ग्रहो गृह्यते ॥२॥ एष वै सविता य एष तपति । एष उऽएव सर्वऽऋतवस्तदृतवः संवत्सरस्तृतीयसवने प्रत्यक्षमवकल्प्यन्ते तस्मात्सावित्रं गृह्णाति ॥३॥ तं वाऽउपाछशुपात्रेण गृह्णाति । मनो ह वाऽग्रस्य सविता प्राण उपाछशुस्तस्मादुपाछशुपात्रेण गृह्णात्यन्तर्यामपात्रेण वा समानछ ह्येतद्यदुपाछश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि ॥४॥ ग्राग्रयणाद्गृह्णाति । मनो ह वाऽग्रस्य सवितात्माग्रयण ग्रात्मन्येवैतन्मनो दधाति प्राणो ह वाऽग्रस्य सवितात्माग्रयण ग्रात्मन्येवैतत्प्राणं दधाति ॥५॥ ग्रथातो गृह्णात्येव । वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे-दिवे वाममस्मभ्यछ सावीः । वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम । उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा ग्रसि चनो मयि धेहि । जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगायेति ॥६॥ तं गृहीत्वा न सादयति । मनो ह वा

ग्रह का है। आदित्य ग्रह का अनुवषट्कार तो होता नहीं। इसी आदित्य ग्रह से तो सावित्र ग्रह को निकालेंगे। इस प्रकार सावित्र ग्रह के द्वारा इसका भी अनुवषट्कार हो जायगा ।।२३।।

प्रतिप्रस्थाता उन शेष भागों को इसलिए भी पकड़ता है कि इस मिश्रण कृत्य के पहले, तीसरे सवन से पहले (आदित्यों के लिए) ग्रह दिया जा चुका है। यह ग्रह तीसरे सवन के लिए है। इस प्रकार आदित्य इस सवन में भी भाग ले लेते हैं और यज्ञ से निकाले नहीं जाते। इसलिए प्रतिप्रस्थाता उन शेष भागों को लेता है ।।२४।।

सावित्रग्रहः

अध्याय ४—ब्राह्मण १

सविता इस (यज्ञ) का मन है। इसलिए सावित्र ग्रहों को लेता है। सविता इसका प्राण भी है। जब उपांशु ग्रह को लेता है तो प्राण को आगे रख लेता है, और जब सावित्र ग्रहों को लेता है तो प्राण को पीछे रख लेता है। इस प्रकार वे दोनों प्राण हितकर हो जाते हैं, वह जो ऊपर है और वह जो नीचे ।।१।।

यज्ञ ऋतुएँ या संवत्सर है। प्रातःसवन में तो ऋतुएँ प्रत्यक्ष रीति से मनाई जाती हैं क्योंकि ऋतु-ग्रहों को निकाला जाता है। दोपहर के सवन में परोक्ष रीति से, क्योंकि दोनों ऋतु-पात्रों में मरुत्वती ग्रहों को निकाला जाता है। यहाँ न तो ऋतुओं के लिए कोई ग्रह निकाला जाता है और न ऋतु-पात्रों में ही किसी ग्रह को निकालते हैं ।।२।।

यह जो तपता है वही तो सविता है। यही सब ऋतुएँ हैं। इस प्रकार ऋतुएँ या संवत्सर तीसरे सवन में प्रत्यक्ष रूप से मनाये जाते हैं। इसलिए सावित्र ग्रह को लेता है ।।३।।

उसको उपांशु पात्र में लेता है। इसका मन सविता है और प्राण उपांशुपात्र। इसलिए उपांशुपात्र से लेता है, या अन्तर्याम पात्र से। क्योंकि ये तो समान ही है। उपांशु और अन्तर्याम प्राण और उदान हैं ।।४।।

आग्रयण में से लेता है। इसका मन सविता है और आत्मा आग्रयण। इस मन को आत्मा में ही रखता है; इसका प्राण सविता है, और आत्मा आग्रयण। इस प्रकार आत्मा में ही प्राण को रखता है ।।५।।

इस मन्त्र से लेता है, "वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे। वाममस्मभ्यँ् सावीः। वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम।। उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा ऽ असि चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय" (यजु० ८।६-७; ऋ० ६।७१।६)—"हे सविता! आज और कल, प्रतिदिन हमारे लिए उत्तम फल की प्रेरणा कर। हे देव! बहुत बड़े सुखवाले निवास को हम इस बुद्धि से पावें।"—"तुझे आश्रय के लिए लिया गया है। तू सावित्र ग्रह है। तू आनन्द देनेवाला है। मुझे आनन्द दे। यज्ञ को तृप्त कर। यज्ञपति को तृप्त कर। भाग्य के लिए" ।।६।।

उसको लेकर भूमि पर नहीं रखता। सविता इस यज्ञ का मन है। यह मन चलायमान

ऽस्य सविता तस्मादिदमसन्नं मनः प्राणो ह वाऽअस्य सविता तस्मादयमसन्नः प्राणः संचरत्यथाह देवाय सवित्रेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह देवाय सवित्रे प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति नानुवषट्करोति मनो ह वाऽअस्य सविता नेन्मनोऽग्नौ प्रवृणजानीति प्राणो ह वाऽअस्य सविता नेत्प्राणमग्नौ प्रवृणजानीति ॥७॥ अथाभक्षितेन पात्रेण । वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेण वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति न वै सावित्रस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्वै वैश्वदेवं ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति तदस्य वैश्वदेवेनैवानुवषट्कृतो भवति ॥८॥ यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । मनो ह वाऽअस्य सविता सर्वमिदं विश्वे देवा इदमेवैतत्सर्वं मनसः कृतानुकरमनुवर्त्म करोति तदिदꣳ सर्वं मनसः कृतानुकरमनुवर्त्म ॥९॥ यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । प्राणो ह वाऽअस्य सविता सर्वमिदं विश्वे देवा अस्मिन्नेवैतत्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ दधाति ताविमावस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्राणोदानौ हि तौ ॥१०॥ यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं तदुच्यतऽएव सामतो यस्माद्वैश्वदेवं तृतीयसवनमुच्यतऽऋक्तोऽथैतदेव यजुष्टः पुरश्चरणातो यदेतं महावैश्वदेवं गृह्णाति ॥११॥ तं वै पूतभृतो गृह्णाति । वैश्वदेवो वै पूतभृदतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्येभ्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद्वैश्वदेवः पूतभृत् ॥१२॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृह्णाति । विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति सर्वं वै विश्वे देवा यदृचो यद्यजूꣳषि यत्सामानि स यद्देवैनं विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान्भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥१३॥ अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठान इति प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नम इति प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः प्रजापतये नम इत्येवैतदाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णात्यथैत्य प्राङुपविशति ॥१४॥ स यत्रैताꣳ होता शꣳसति । एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये

होता है। सविता इसका प्राण है। प्राण चलायमान होता है। अब वह मैत्रावरुण से कहता है 'सविता देव के लिए अनुवाक कहो।' श्रौषट् कहकर कहता है कि 'देव सविता के लिए आहुति दे।' वषट्कार आहुति देता है। अनुवषट्कार नहीं करता। सविता इसका मन है। ऐसा न हो कि मन अग्नि के अर्पण हो जाय। सविता इसका प्राण है। ऐसा न हो कि प्राण अग्नि के अर्पण हो जाय ।।७।।

अब बिना जूठा किये (अभक्षित) पात्र से वैश्वदेव ग्रह को लेता है। वैश्वदेव ग्रह को अभक्षित पात्र से इसलिए निकालता है कि सावित्र ग्रह का अनुवषट्कार तो होता नहीं। इसी से वैश्वदेव ग्रह निकालता है। इस प्रकार वैश्वदेव ग्रह के द्वारा ही उसका भी अनुवषट्कार हो जाता है ।।८।।

वैश्वदेव ग्रह इसलिए भी निकाला जाता है—सविता इस (यज्ञ) का मन है, विश्वेदेव ये सब-कुछ हैं, इस प्रकार वह इस सबको मन के आधीन कर देता है। इसीलिए यह सब-कुछ मन के आधीन होता है ।।९।।

वैश्वदेव ग्रह को इसलिए भी लेता है कि सविता इस यज्ञ का प्राण है। विश्वेदेव ये सब-कुछ हैं। इस सब में इस प्रकार प्राण और उदान को धारण कराता है। इसलिए इस सब में प्राण और उदान स्थित हैं ।।१०।।

वैश्वदेव ग्रह को इसलिए भी लेता है कि तीसरा सवन विश्वेदेवों का है। यह साम के हिसाब से भी 'वैश्वदेव' है, ऋक् के हिसाब से भी और यजुः के पुरश्चरण के हिसाब से भी, जब कि महावैश्वदेव ग्रह निकाला जाता है ।।११।।

इस ग्रह को पूतभृत में से निकालते हैं। पूतभृत वैश्वदेवों का है, क्योंकि इसी से देवों के लिए भी निकालते हैं, इसी से मनुष्यों के लिए भी और इसी से पितरों के लिए भी। इसलिए वैश्वदेव ग्रह को पूतभृत से निकालते हैं ।।१२।।

इसको बिना पुरोरुच् के निकालता है। इसको विश्वदेवों के लिए निकालता है। विश्व-देवा का अर्थ है 'सब'। अर्थात् जो कुछ ऋक् है, जो यजुः है, जो साम है। चूँकि वह इसको सब देवों के लिए निकालता है इसलिए वह इसके लिए पुरोरुच्-सम्पन्न हो जाता है। इसलिए उसको बिना पुरोरुच् के निकालता है ।।१३।।

उसको इस प्रकार निकालता है, "उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानः" (यजु० ८।८)—"तू आश्रय के लिए लिया गया है। तू सुरक्षित और सुप्रतिष्ठित है।" प्राण ही सुशर्मा और सुप्रतिष्ठान है। "बृहदुक्षाय नमः" (यजु० ८।८)—'बृहदुक्ष' का अर्थ है प्रजापति, तात्पर्य यह है कि "प्रजापति के लिए नमः।" "विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ऽ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः" (यजु० ८।८)—"सब देवों के लिए तुझे। यह तेरा स्थान है, सब देवों के लिए तुझे।" यह कह-कर उसे रख देता है क्योंकि इसको यह विश्वेदेवों के लिए लेता है। अब वह (सदस् में) जाता है और (होता के सामने) पूर्वाभिमुख बैठता है ।।१४।।

"एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विँशती च। तिसृभिश्च वहसे त्रिँशता

विꣳशती च । तिसृभिश्च वहसे त्रिꣳशता च नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति त-देतस्यां वायव्यायामृचि पात्राणि विमुच्यन्ते वायुप्रणेत्रा वै पशवः प्राणो वै वा-युः प्राणेन हि पशवश्चरन्ति ॥१५॥ स ह देवेभ्यः पशुभिरपचक्राम । तं देवाः प्रातःसवनेऽन्वमन्त्रयन्त स नोपाववर्त तं माध्यन्दिने सवनेऽन्वमन्त्रयन्त स ह नैवोपाववर्त तं तृतीयसवनेऽन्वमन्त्रयन्त ॥१६॥ स होपावर्त्स्यन्नुवाच । यद्व उ-पावर्तेय किं मे ततः स्यादिति त्वय्येवैतानि पात्राणि युज्येरंस्त्वया विमुच्येरन्निति तदेनेनैतत्पात्राणि युज्यन्ते यदैन्द्रवायवाग्रान्प्रातःसवने गृह्णात्यथैनेनैतत्पात्राणि विमुच्यन्ते यदाह नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति पशवो वै नियुतस्तत्पशुभिरे-वैतत्पात्राणि विमुच्यन्ते ॥१७॥ स यत्प्रातःसवनऽउपावर्त्स्यत् । गायत्रं वै प्रातः-सवनं ब्रह्म गायत्री ब्राह्मणेषु ह पशवोऽभविष्यन्नथ यन्माध्यन्दिने सवनऽउपा-वर्त्स्यदैन्द्रं वै माध्यन्दिनꣳ सवनं क्षत्रमिन्द्रः क्षत्रियेषु ह पशवोऽभविष्यन्नथ य-त्तृतीयसवनऽउपावर्तत वैश्वदेवं वै तृतीयसवनꣳ सर्वमिदं विश्वे देवास्तस्मादिमे सर्वत्रैव पशवः ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [४. १.] ॥ ॥

सौम्येन चरुणा प्रचरति । सोमो वै देवानाꣳ हविरथैतत्सोमायैव हविष्क्रि-यते तथातः सोमोऽनन्तर्हितो भवति चरुर्भवति चरुर्वै देवानामन्नमोदनो हि चरुरोदनो हि प्रत्यक्षमन्नं तस्माच्चरुर्भवति ॥१॥ तेन न प्रातःसवने प्रचरति । न माध्यन्दिने सवनऽऋते वै देवानां निष्केवल्ये सवने यत्प्रातःसवनं च मा-ध्यन्दिनं च सवनं पितृदेवत्यो वै सोमः ॥२॥ स यत्प्रातःसवने वा प्रचरेत् । माध्यन्दिने वा सवने समदꣳ ह कुर्याद्देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च तेन तृतीयसवने प्रच-रति वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं तथा हासमदं करोति नानुवाक्यामन्वाह सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नानुवाक्यामन्वाह ॥३॥ अथ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । आश्राव्याह घृतस्य यजेति वषट्कृते जुहोति तद्या अतः प्राच्य आहुतयो

च नियुद्भिर्वायविह ता विमुंचः।"—"एक और दस (ग्यारह) से अपने लिए, दो और बीस (बाईस) से इष्टि के लिए, तीन और तीस (तेंतीस) से देवों के लिए। हे वायु, तू अपने घोड़ों की जोड़ी के द्वारा इनको छोड़।" जब होता इस वायुवाली ऋचा को पढ़ता है तो पात्र छूट जाते हैं (जैसे घोड़े हल या रथ से छोड़ दिये जाते हैं उसी प्रकार)। पशु वायु के ही अनुचर हैं (वायु ही उनका अगुआ है)। वायु प्राण है। प्राण से ही पशु चलते हैं ॥१५॥

एक बार (प्राण) देवों से निकलकर पशुओं के साथ चला गया। देवों ने उसे प्रातः-सवन में बुलाया, वह नहीं आया। दोपहर के सवन में बुलाया, वह नहीं आया। तीसरे सवन में बुलाया, तब—॥१६॥

लौटने की इच्छा करके उसने कहा, 'यदि लौट आऊँ तो मुझे क्या मिलेगा?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'तेरे ही द्वारा ये पात्र नियुक्त हो सकेंगे और तेरे ही द्वारा खुल सकेंगे।' इसलिए ये पात्र (वायु के) द्वारा ही नियुक्त होते हैं जब प्रातःसवन में इन्द्र, वायु आदि के लिए ग्रहों को निकालते हैं। और जब कहा कि 'हे वायु, तू अपनी जोड़ियों को खोल दे' तो इसी (वायु) के द्वारा वे खुलते हैं। जोड़ी का अर्थ है पशु। इस प्रकार पशुओं द्वारा ये पात्र खोले जाते हैं ॥१७॥

अगर वह प्रातःसवन में ही लौट आया होता—प्रातःसवन गायत्री का है और गायत्री ब्राह्मण है—तो पशु केवल ब्राह्मण के ही हो जाते। यदि वह दोपहर के सवन में लौट आया होता—दोपहर का सवन इन्द्र का है, इन्द्र क्षत्रिय है—तो पशु केवल क्षत्रिय के ही हो जाते। परन्तु चूँकि वह तीसरे सवन में लौटा—तीसरा सवन विश्वेदेवों का है और विश्वेदेव का अर्थ है 'सब-कुछ', इसलिए पशु भी सर्वत्र ही होते हैं ॥१८॥

सौम्यश्चरुः, पात्नीवतग्रहश्च

अध्याय ४—ब्राह्मण २

अब सोम के चरु का कृत्य आरम्भ हुआ। सोम देवों की हवि है। अब यह सोम के लिए हवि बनाई जाती है। इस प्रकार सोम इससे अलग नहीं होता। यह चरु होता है क्योंकि चरु देवों का अन्न है। चरु भात है। भात तो प्रत्यक्ष में अन्न है। इसलिए चरु बनाया जाता है ॥१॥

यह (चरु को) न तो प्रातःसवन में बनाते हैं, न दोपहर के सवन में, क्योंकि प्रातःसवन और दोपहर का सवन केवल देवों के ही हैं। सोम पितरों का है ॥२॥

यदि (चरु) प्रातःसवन में बनाता या दोपहर के सवन में, तो देवों और पितरों में झगड़ा हो जाता। वह इसको तीसरे सवन में बनाता है क्योंकि तीसरा सवन विश्वेदेवों का है। इस प्रकार वह झगड़ा नहीं होने देता। अनुवाक नहीं पड़ता, क्योंकि पितर तो एक बार ही चले गये। इसलिए अनुवाक नहीं पढ़ता ॥३॥

पहले चार पात्रों में घी लेकर और (आग्नीध्र से) श्रौषट् कहलवाकर आदेश देता है कि 'घी की आहुति दे' और वषट्कार करके आहुति देता है। अब तक जितनी आहुतियाँ दी जा चुकीं

हुता भवन्ति ताभ्य एवैतदन्तर्दधाति तथा हासमदं करोति ॥४॥ ॥शतम् २६००॥॥
स आज्यस्योपस्तीर्य । द्विश्चरोरवद्यत्यथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयत्याश्राव्याह सौ-
म्यस्य यजेति वषट्कृते जुहोति ॥५॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । आ-
श्राव्याह घृतस्य यजेति वषट्कृते जुहोति तद्या अत ऊर्ध्वा आहुतीर्होष्यन्भवति
ताभ्य एवैतदन्तर्दधाति तथा हासमदं करोति स यदि कामयेतोभयतः परियजेद्य-
द्यु कामयेतान्यतरतः परियजेत् ॥६॥ अथ प्रचरणीति स्रुग्भवति । तस्यां चतुर्गृ-
हीतमाज्यं गृहीत्वाध्वर्युः शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति तद्यच्छालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघा-
रयति यद्वैनानदो देवा अब्रुवंस्तृतीयसवने वो घृत्याहुतिः प्राप्स्यति न सौ-
म्यापहृतो हि युष्मत्सोमपीथस्तेन सोमाहुतिं नार्हथेति सैनानेषा तृतीयसवन
ऽएव घृत्याहुतिः प्राप्नोति न सौम्या यच्छालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति तानेतैरेव
यजुर्भिर्यथोपकीर्णं यथापूर्वं व्याघारयति मार्जालीयऽएवोत्तमम् ॥७॥ तद्धैके ।
आग्नीध्रीये पुनराघारयन्त्युदङ्ङऽइदं कर्मानुसंतिष्ठाताऽइति तदु तथा न कुर्यान्मा-
र्जालीयऽएवोत्तमꣳ ॥८॥ स यत्राध्वर्युः । शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति तत्प्रतिप्र-
स्थाता पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति यज्ञाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात्प्रजायमाना मिथुनात्प्र-
जायन्ते मिथुनात्प्रजायमाना अन्ततो यज्ञस्य प्रजायन्ते तदेना एतदन्ततो यज्ञस्य मि-
थुनात्प्रजननात्प्रजनयति तस्मान्मिथुनात्प्रजननादन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते
तस्मात्पात्नीवतं गृह्णाति ॥९॥ तं वाऽउपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति । यदि सावित्रमुपाꣳ-
शुपात्रेण गृह्णीयादन्तर्यामपात्रेणैतं यदि सावित्रमन्तर्यामपात्रेण गृह्णीयादुपाꣳशुपा-
त्रेणैतꣳ समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणो हि यो वै प्राणः स उदानो वृषा
वै प्राणो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥१०॥ तं वाऽअपुरोरुक्कं गृ-
ह्णाति । वीर्यं वै पुरोरुग्नेत्स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥११॥
अथातो गृह्णात्येव । उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तऽइति ब्रह्म

उनसे इसको अलग कर देता है। इस प्रकार झगड़ा नहीं होने देता ॥४॥

घी की एक तह लगाकर चरु के दो भाग करता है, और ऊपर से भी घी लगा देता है। श्रौषट् कहलवाकर कहता है 'सौम्य की आहुति दे' और वषट्कार से आहुति देता है ॥५॥

फिर चार जगह घी लेकर, श्रौषट् कहलवाकर और 'आहुति दे' ऐसा आदेश देकर वषट्-कार से आहुति देता है। इस प्रकार जो आहुतियाँ आगे दी जानेवाली हैं उनसे इसको अलग कर देता है। इससे झगड़ा नहीं होने पाता। चाहे तो चरु के आगे और पीछे दोनों बार घी की आहुति दे दे, चाहे एक बार ॥६॥

एक स्रुक् का नाम है 'प्रचरणी'। उसमें चारों भाग घी लेकर अध्वर्यु शलाकाओं (लकड़ी की चीपटी) से धिष्ण्या में घी छोड़ता है। धिष्ण्या में शलाकों द्वारा घी छोड़ने का कारण यह है कि पहले कभी देवों ने उन (गन्धर्व सोम-संरक्षकों) से कहा था कि तीसरे सवन में एक घृत-आहुति तुम्हारी होगी, लेकिन सोम की नहीं। सोम-पान तो तुमसे छाना जा चुका है। तुम सोम की आहुति के योग्य नहीं हो। वही घी की आहुति तीसरे सवन में उनको प्राप्त होती है, न सोम की, क्योंकि वह धिष्ण्या में शलाकाओं पर घी छोड़ता है। उनको उन्हीं यजुओं से क्रमशः पूर्व की भाँति घी से युक्त करता है। सबसे पीछे मार्जालीय को ॥७॥

कुछ लोग आग्नीध्रीय पर फिर घी छोड़ते हैं जिससे अग्नि के उत्तर की ओर इस कार्य की समाप्ति हो। परन्तु ऐसा न करे। मार्जालीय ही सबसे अन्त में होना चाहिए ॥८॥

जब अध्वर्यु शलाकाओं द्वारा धिष्ण्या में घी छोड़े, तब प्रतिप्रस्थाता पत्नीवत ग्रह को लेवे। यज्ञ से ही प्रजा उत्पन्न होती है। यज्ञ से उत्पन्न होते हुए मिथुन (जोड़े) से पैदा होते हैं। जोड़े से पैदा होते हुए यज्ञ के पिछले भाग से पैदा होते हैं। इसलिए यहाँ वह इसको मिथुन से, यज्ञ के अन्तिम भाग से उत्पन्न करता है। इसलिए वह पत्नीवत ग्रह को लेता है ॥९॥

वह इसको उपांशु पात्र के साथ लेता है। यदि उपांशु पात्र के साथ सावित्र पात्र को लिया हो तो अन्तर्याम पात्र के साथ। यदि अन्तर्याम पात्र के साथ सावित्र को ले तो इसको उपांशु पात्र के साथ। यह सब एक ही बात है। उपांशु और अन्तर्याम दोनों ही प्राण हैं। जो प्राण है वही उदान है। प्राण नर है (प्राणः-पुंल्लिग) और पत्नी नारी है। इस प्रकार जोड़े से ही उत्पत्ति होती है ॥१०॥

इस ग्रह को पुरोरुक् के बिना ही लेता है। पुरोरुक् वीर्य है। स्त्री में तो वीर्य होता नहीं। इसलिए बिना पुरोरुक् के लेता है ॥११॥

इस मन्त्र से लेता है, "उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम ते" (यजु० ८।९)

वै बृहस्पतिर्ब्रह्मप्रसूतस्य देव सोम तऽइत्येवैतदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति वीर्यवत इत्येवैतदाह यदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति पत्नीवतो ग्रहांऽ३॥ऽऋध्यासमिति न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति नेत्स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मान्न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति ॥१२॥ अथ यः प्रचरण्याᳪ सᳪस्रवः परिशिष्टो भवति । तेनैनᳪ श्रीणाति समर्धयति वाऽअन्यान्ग्रहाञ्छ्रीणन्नथैतं व्यर्धयति वज्रो वाऽआज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनाघ्नन्नेव पत्नीर्निराह्णुवंस्ता हता निरष्टा नात्मनश्चनैशत न दायस्य चनैशत तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येन हन्त्येव पत्नीर्निरह्णोति ता हता निरष्टा नात्मनश्चनेशते न दायस्य चनेशते ॥१३॥ स श्रीणाति । अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत् । अहᳪ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यदिति स यदहमहमिति श्रीणाति पुᳪस्येवैतद्वीर्यं दधाति ॥१४॥ अथाहाग्नीत्पात्नीवतस्य यजेति । वृषा वाऽअग्नीद्योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते स जुहोत्यग्ना३ऽइ पत्नीवन्निति वृषा वाऽअग्निर्योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥१५॥ सजूर्देवेन त्वष्ट्रेति । त्वष्टा वै सिक्तᳪ रेतो विकरोति तदेष एवैतत्सिक्तᳪ रेतो विकरोति सोमं पिब स्वाहेत्युत्तरार्धे जुहोति या इतरा आहुतयस्ते देवा अथैताः पत्न्य एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाᳪसमुपशेतऽआहरत्यध्वर्युरग्नीधे भक्षᳪ स आहाध्वर्यऽउप मा ह्वयस्वेति तं न प्रत्युपह्वयेत को हि हतस्य निरष्टस्य प्रत्युपह्वस्तं वै प्रत्येवोपह्वयेत जुह्वत्यस्याग्नौ वषट्कुर्वन्ति तस्मात्प्रत्येवोपह्वयेत ॥१६॥ अथ सम्प्रेष्यति । अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं मातिरीरिच इति यद्यग्निष्टोमः स्यात् ॥१७॥ यद्युक्थ्यः स्यात् । सोमं प्रभावयेति ब्रूयात्स बिभ्रदेवैतत्यात्रमग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीदत्यग्निर्वाऽएष निदानेन यदाग्नीध्रो योषा नेष्टा वृषा वाऽअग्नीद्योषा नेष्टा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियतऽउदानयति नेष्टा पत्नीं तामुद्गात्रा

"तू आश्रय के लिए लिया गया है, हे बृहस्पति से उत्पन्न हुए सोम तुझको।" बृहस्पति ब्रह्म है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हे ब्रह्म से उत्पन्न हुए सोम। "इन्दोरिन्द्रियावतः।" (यजु० ८।९) अर्थात् "वीर्यवाले को।" "पत्नीवतो ग्रहाँ२ ऽ ऋध्यासम्" (यजु० ८।९)—"पत्नीवत ग्रहों को मैं पाऊँ।" वह पत्नियों के लिए नहीं निकालता क्योंकि स्त्रियों में तो वीर्य होता नहीं। इसलिए इस समय पत्नियों के लिए नहीं निकालता ॥१२॥

अब प्रचरणी में जो घी शेष रह गया हो उसमें इसको मिलाता है। घी मिलाने से और आहुतियों को तो बढ़ाता था, परन्तु इसको घटा देता है। घी वज्र है। इसी घी रूपी वज्र से देवों ने पत्नियों को मारा था। और इस प्रकार वे इतनी नष्ट हुईं कि न उनमें अपना आत्मा रहा, न वे दायभाग की भागी हुईं। इस प्रकार यह भी घी रूपी वज्र से पत्नियों को मारता है जिससे वे इतनी क्षीण हो जायें कि न उनका अपना आत्मा रहे और न उनको दायभाग मिले ॥१३॥

वह इस मन्त्र से मिलाता है, "अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहँ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्" (यजु० ८।९)—"मैं ऊपर हूँ। मैं नीचे हूँ। जो अन्तरिक्ष है वह मेरा पिता था। मैंने सूर्य को दोनों ओर देखा। गुहा में जो कुछ है उसमें मैं देवों के लिए सर्वोत्तम हूँ।" 'अहं'-'अहं' (मैं-मैं) कहकर मिलाता है, इस प्रकार नर में ही वीर्य को रखता है ॥१४॥

अब कहता है, 'अग्नीध्! पत्नीवत् आहुति दे।' अग्नीध् नर है, पत्नी नारी है। इस प्रकार उत्पत्ति के लिए जोड़ा मिल गया। वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"अग्ना३इ पत्नीवत्" (यजु० ८।१०)—"हे पत्नीवाले अग्नि।" अग्नि नर है, पत्नी नारी है। इस प्रकार उत्पत्ति के लिए जोड़ा मिल गया ॥१५॥

"सजूर्देवेन त्वष्ट्रा" (यजु० ८।१०)—"त्वष्ट्रा देव के साथ।" त्वष्ट्रा ही सींचे हुए वीर्य को बनाता है (विकरोति, प्रकृति से विकृत करता है)। यह भी इसी प्रकार यहाँ सींचे हुए वीर्य को बनाता है। "सोमं पिब स्वाहा" (यजु० ८।१०)–इससे उत्तर की ओर आहुति देता है। जो और आहुतियाँ हैं वे देव हैं, और ये पत्नियाँ हैं। इसी प्रकार जोड़ा मिलता है। क्योंकि स्त्री पुरुष के बायें ओर सोती है। अध्वर्यु सोम का एक घूँट अग्नीध् के पास ले जाता है। अग्नीध् कहता है 'अध्वर्यु, मुझे बुला।' यह हो सकता है कि उसे न बुलाया जाय क्योंकि क्षीण और वीर्य-हीन को कौन बुलाता है! परन्तु उसको बुलाना चाहिए। वे उसकी अग्नि में आहुति देते और वषट्कार करते हैं। इसलिए उसको बुलावा देना चाहिए ॥१६॥

अब वह आदेश देता है—'अग्नीध्, नेष्टा की गोद में बैठ! नेष्टा पत्नी को ले चल, और उद्गाता से मिला। उन्नेता होता के चमसे को भर। कुछ भी सोम शेष न रहे।' अगर अग्निष्टोम हो तो ऐसा करे ॥१७॥

लेकिन अगर उक्थ्य हो तो कहे, 'सोम को बढ़ा।' उसी पात्र को लाकर वह अग्नीध् की गोद में बैठ जाता है। अग्नीध् ही अग्नि है और नेष्टा स्त्री है। अग्नीध् नर और नेष्ट्रा रानी। इस प्रकार उत्पत्ति के लिए जोड़ा मिल जाता है। नेष्टा पत्नी को ले चलता है और उद्गाता से

संख्यापयति प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहीति प्रजापतिर्वाऽउद्गाता यो-
षा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [४. २.] ॥ ॥

पशवो वै देवानां छन्दाꣳसि । तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं
छन्दाꣳसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति तद्यत्र छन्दाꣳसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छ-
न्दाꣳसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दाꣳसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवा-
क्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥१॥ अथ हारियोजनं गृह्णाति । छन्दाꣳसि वै हारियोज-
नश्छन्दाꣳस्येवैतत्संतर्पयति तस्माद्धारियोजनं गृह्णाति ॥२॥ तं वाऽअतिरिक्तं गृ-
ह्णाति । यदा हि शम्योराहाथैनं गृह्णातीदं वै देवा अथ छन्दाꣳस्यतिरिक्तान्यथ
मनुष्या अथ पशवोऽतिरिक्तास्तस्मादतिरिक्तं गृह्णाति ॥३॥ द्रोणकलशे गृह्णाति ।
वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तस्य मूर्धोद्ववर्त स द्रोणकलशोऽभवत्त-
स्मिन्यावान्वा यावान्वा रसः समस्रवदतिरिक्तो वै स आसीदतिरिक्त एष ग्रह-
स्तदतिरिक्तऽएवैतदतिरिक्तं दधाति तस्माद्द्रोणकलशे गृह्णाति ॥४॥ तं वाऽअपु-
रोरुक्कं गृह्णाति । छन्दोभ्यो ह्येनं गृह्णाति स यदेवैनं छन्दोभ्यो गृह्णाति तेनो
हास्यैष पुरोरुक्मान्भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति ॥५॥ अथातो गृह्णात्येव । उप-
यामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वेत्यृक्सामे वै हरीऽऋक्सामा-
भ्याꣳ ह्येनं गृह्णाति ॥६॥ अथ धाना आवपति । हर्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्रा-
येति तद्यदेवात्र मितं च छन्दोऽमितं च तदेवैतत्सर्वं भक्षयति ॥७॥ तस्योन्नेता-
श्रावयति । अतिरिक्तो वाऽउन्नेता न ह्येषोऽन्यस्याश्रावयत्यतिरिक्त एष ग्रहस्त-
दतिरिक्तऽएवैतदतिरिक्तं दधाति तस्मादुन्नेताश्रावयति ॥८॥ मूर्धन्नभिनिधायाश्रा-
वयति । मूर्धा ह्यस्यैषोऽथाह धानासोमेभ्योऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह धानासोमान्प्र-
स्थितान्प्रेष्येति वषट्कृते जुहोत्यनुवषट्कृतेऽथ धाना विलिप्सन्ते भक्षाय ॥९॥
तद्धैके । होत्रे द्रोणकलशं प्रतिपराहरन्ति वषट्कर्तुर्भक्ष इति वदन्तस्तदु तथा न

मिला देता है इस मन्त्र को पढ़कर "प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि" (यजु० ८।१०)– "तू प्रजापति नर है, वीर्य को रखनेवाला। मुझे वीर्य दे।" प्रजापति उद्गाता है और पत्नी स्त्री है। इस प्रकार जोड़े से उत्पत्ति होती है ॥१८॥

हरियोजनग्रहः

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

छन्द देवों के पशु (वाहक या बैल) हैं। जैसे बैल जुतकर मनुष्यों का सामान ले जाते हैं, ऐसे ही छन्द जुतकर देवों के लिए यज्ञ को ले जाते हैं। जब-जब छन्दों ने देवों की तृप्ति की, तब-तब देवों ने छन्दों की तृप्ति की। जुते हुए छन्द देवों के लिए यज्ञ को ले गये, उससे पहले उन्होंने उनको तृप्त किया ॥१॥

अब हारियोजन ग्रह को लेता है। हारियोजन छन्द है। इस प्रकार वह छन्दों को तृप्त करता है, इसीलिए हारियोजन ग्रह लिया जाता है ॥२॥

इसको अतिरिक्त-ग्रह (दूसरों ग्रहों से अतिरिक्त) की भाँति लेता है। इसे उस समय लेता है जब होता 'शम्य' कहता है। देव हैं और अतिरिक्त छन्द भी है। मनुष्य हैं और अतिरिक्त पशु भी हैं। इसलिए अतिरिक्त ग्रह को लेता है ॥३॥

इसको द्रोणकलश में लेता है। सोम वृत्र था। उसको जब देवों ने मारा, उसका सिर फट गया और वह द्रोणकलश हो गया। उसमें जितना-जितना रस बहा वह अतिरिक्त था, इसी प्रकार यह ग्रह भी अतिरिक्त है। इस प्रकार अतिरिक्त में अतिरिक्त को रखता है, इसलिए द्रोण-कलश में लेता है ॥४॥

इसको बिना पुरोरुक् के लेता है क्योंकि वह इसको छन्दों के लिए लेता है। चूँकि इसको वह छन्दों के लिए लेता है इसलिए वह पुरोरुक् का काम देता है, अर्थात् पुरोरुक् के रस को लेता है ॥५॥

इसको इसमें से (आग्रायण ग्रह में से) इस मन्त्र से लेता है, "उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा" (यजु० ७।११)—"तुझे आश्रय के लिए लिया गया है, तू हरि है। हरि से युक्त है। दोनों हरियों के लिए तुझको।" दो हरियों से तात्पर्य है ऋक् और सोम का, अर्थात् ऋक् और साम द्वारा इसको लेता है ॥६॥

अब धान बोता है–"हर्योर्धाना स्थ सहसोमा ऽ इन्द्राय" (यजु० ७।११)–"तुम हरियों के धान हो। इन्द्र के लिए सोम के साथ।" मित (नपे हुए) या अमित (न नपे हुए) जितने छन्द हैं वे सब (सोम को) पीते हैं ॥७॥

इस आहुति के लिए उन्नेता श्रौषट् बोलता है। उन्नेता अतिरिक्त है। इस प्रकार किसी अन्य आहुति के लिए श्रौषट् नहीं कहता। यह आहुति भी अतिरिक्त है। इस प्रकार अति-रिक्त में अतिरिक्त को रखता है। इसलिए उन्नेता श्रौषट् बोलता है ॥८॥

(द्रोण कलश को) सिर पर रखकर श्रौषट् बोलता है। क्योंकि यह (सोम का) सिर है। पहले वह (मैत्रावरुण से) कहता है कि 'सोमों के लिए धान के साथ अनुवाक पढ़ो।' श्रौषट् कहकर बोलता है कि लाये हुए धान-सोमों की आहुति दे। वषट्कार करके आहुति देता है और अनुवषट्कार करके आहुति देता है। अब सोमपान के लिए धानों को बाँट देते हैं ॥९॥

कुछ लोग द्रोण कलश को होता के पास ले जाते हैं क्योंकि यह सोमपान वषट्कार करने-

कुर्याद्यथाचमस वाऽअन्ये भक्षा अथैषोऽतिरिक्तस्तस्मादेतस्मिन्त्सर्वेषामेव भक्षस्त-स्माद्याना विलिप्सन्ते भक्षाय ॥१०॥ ता न दद्भिः खादेयुः । पशवो वाऽएते ने-त्पशून्प्रम्रदे करवामहाऽइति प्राणैरेव भक्षयन्ति यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोस-निरिति पशवो ह्येते तस्मादाह यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिरिति तस्य त ऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्येतीष्टानि हि यजूꣳषि भवन्ति स्तुता स्तोमाः शस्तोक्थ-स्येति शस्तानि ह्युक्थानि भवन्त्युपहूतस्योपहूतो भक्षयामीत्युपहूतस्य ह्येतदु-पहूतो भक्षयति ॥११॥ ता नाग्नौ प्रकिरेयुः । नेदुच्छिष्टमग्नौ जुहवामेत्युत्तरवेदा-वेव निवपन्ति तथा न बहिर्धा यज्ञाद्भवन्ति ॥१२॥ अथ पूर्णपात्रात्समवमृशन्ति । यानि केऽप्सुषोमा इत्याचक्षते यथा वै युक्तो वहेदेवमेते यऽआर्त्विज्यं कुर्वन्त्युत वै युक्तः क्षणुते वा वि वा लिशते शान्तिरापो भेषजं तद्यदेवात्र क्षण्वते वा वि वा लिशन्ते शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः संदधते तस्मात्पूर्णपात्रात्स-मवमृशन्ति ॥१३॥ ते समवमृशन्ति । सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृꣳ तत्संदधते ॥१४॥ अथ मुखान्युपस्पृशन्ते । द्वयं तद्यस्मान्मुखान्युपस्पृशन्तेऽमृतं वा ऽआपोऽमृतेनैवैतत्सꣳस्पृशन्तऽएतदु चैवैतत्कर्मात्मन्कुर्वते तस्मान्मुखान्युपस्पृश-न्ते ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४. ३.] ॥ ॥

तानि वाऽएतानि । नव समिष्टयजूꣳषि जुहोति तद्यन्नव समिष्टयजूꣳषि जु-होति नव वाऽअमूर्बहिष्पवमाने स्तोत्रिया भवन्ति सैषोभयतो न्यूना विराट् प्रजननायैतस्माद्वाऽउभयतो न्यूनात्प्रजननात्प्रजापतिः प्रजाः ससृजऽइतश्चोर्ध्वा इत-श्चावाचीस्तथोऽएवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात्प्रजननात्प्रजाः सृजत इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः ॥१॥ हिङ्कार स्तोत्रियाणां दशमः । स्वाहाकार एतेषां तथो हा-स्यैषा न्यूना विराड्दशंदशिनी भवति ॥२॥ अथ यस्मात्समिष्टयजूꣳषि नाम । या

वाले के लिए है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि और पान तो चमसों के अनुसार होते हैं और यह अतिरिक्त है। इसलिए इसमें सबका भाग शामिल है। इसलिए धानों को सोम-पान के लिए बाँट लेते हैं ॥१०॥

उनको दाँत से न चबाना चाहिए। ये पशु हैं। कहीं ऐसा न हो कि पशुओं को हानि पहुँचे। केवल प्राणों के द्वारा पीते हैं, इस मन्त्र से—"यस्ते ऽ अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिः" (यजु० ८।१२)—"जो तेरा पान घोड़ों का दाता और गौओं का दाता है।" यह पशु है। इसलिए कहा यह घोड़ों का दाता है, गौओं का दाता है। "त ऽ इष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य" (यजु० ८।१२)—"यजु से आहुति दी गई और स्तोमों से स्तुति की गई।" क्योंकि यजुओं से आहुति दी गई और स्तोमों से स्तुति की गई। "शस्तोक्थस्य।" (यजु० ८।१२)—क्योंकि उक्थ्य कहे गये। "उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि" (यजु० ८।१२)—"बुलाया हुआ मैं बुलाये हुए को पीता हूँ।" क्योंकि निमन्त्रित निमन्त्रित को पीता है ॥११॥

उनको आग में न डालना चाहिए। ऐसा न हो कि अग्नि में उच्छिष्ट (जूठा) वस्तु पड़ जाय। उनको उत्तर वेदी में रख देते हैं। इस प्रकार ये यज्ञ से बहिष्कृत नहीं होते ॥१२॥

अब वे भरे हुए पात्रों को छूते हैं जिनको कुछ लोग 'अप्सु षोमा' (जलों में सोम) कहते हैं। जैसे जुता हुआ घोड़ा ले जाता है इसी प्रकार ये भी ऋत्विज का काम करते हैं। परन्तु जुते हुए घोड़े के घाव हो जाता है या वह खुजलाता है। जल शान्ति और ओषधि है। यहाँ यज्ञ में भी जब कभी घाव हो जाय या खुजलावें तो जल शान्तिदायक होने के कारण जलों से ही शान्ति लेते हैं; जलों को ही धारण करते हैं इसलिए वे भरे हुए पात्रों को छूते हैं ॥१३॥

वे इस मन्त्र से छूते हैं "सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सँ शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्" (यजु० ८।१४)—"तेज, रस और शरीरों से तथा कल्याणकारी मन से हम मिलें। अच्छा दानी त्वष्टा हमको धन दे और हमारे शरीर में जो घाव (त्रुटियाँ) हों उनको चंगा कर दे।" इस प्रकार जो घाव है उसको चंगा करता है ॥१४॥

अब वे अपने मुँह को छूते हैं। दो कारण हैं जिनसे मुख को छूते हैं। जल अमृत है। अमृत से ही वे छूते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस कर्म (यज्ञ) को अपने में धारण करते हैं। इसलिए मुखों को छूते हैं ॥१५॥

समिष्टयजुर्होमः

अध्याय ४–ब्राह्मण ४

इस अवसर पर वह नौ समिष्ट यजुओं से आहुति देता है। नौ समिष्ट यजुओं से आहुति देने का तात्पर्य यह है कि ये बहिष्पवमाने स्तोत्र नौ होते हैं। इस प्रकार दोनों ओर विराट् न्यून रहता है उत्पत्ति के लिए (विराट् में १० अक्षर चाहिएँ)। इसी दो ओर की न्यूनता से प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया। एक से ऊर्ध्व (ऊपर को चढ़ानेवाले) और दूसरे से नीचे जानेवाले ॥१॥

स्तोत्रों में हिङ्कार दसवाँ है। इन समिष्ट-यजुओं में स्वाहा दसवाँ है। इस प्रकार यह न्यून विराट् रसवाला हो जाता है ॥२॥

समिष्ट-यजु नाम इसलिए पड़ा कि इस यज्ञ से जिस देवता को बुलाते हैं या जिन देवताओं

वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भ-
वन्ति तद्यत्तासु सर्वासु समिष्टास्वथैतानि जुहोति तस्मात्समिष्टयजूꣳषि नाम ॥३॥
अथ यस्मात्समिष्टयजूꣳषि जुहोति । रिरिचानऽइव वाऽएतदीजानस्यात्मा भवति
यद्ध्यस्य भवति तस्य हि ददाति तमेवातस्त्रिभिः पुनराप्याययति ॥४॥ अथ या-
न्युत्तराणि त्रीणि जुहोति । या वाऽएतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञ-
स्तायतऽउप हैव ता आसते यावन्न समिष्टयजूꣳषि जुह्वतीमानि नु नो जुह्वति-
ति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति यत्र-यत्रासां चरणं तदनु ॥५॥ अथ यान्युत्तमा-
नि त्रीणि जुहोति । यज्ञं वाऽएतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्र-
तिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात्समिष्टयजूꣳषि जुहोति ॥६॥ स जुहोति । समिन्द्र
णो मनसा नेषि गोभिरिति मनसेति तन्मनसा रिरिचानमाप्याययति गोभिरिति
तद्गोभी रिरिचानमाप्याययति सꣳ सूरिभिर्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देव-
कृतं यदस्तीति ब्रह्मणेति तद्ब्रह्मणा रिरिचानमाप्याययति सं देवानाꣳ सुमतौ
यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥७॥ सं वर्चसा । पयसा सं तनूभिरिति वर्चसेति तद्वर्चसा
रिरिचानमाप्याययति पयसेति रसो वै पयस्तत्पयसा रिरिचानमाप्याययत्यगन्महि
मनसा सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति
विवृढं तत्संदधाति ॥८॥ धाता रातिः । सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो
ऽअग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहेति तद्वेव
रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहेति ॥९॥ सुगा
वो देवाः । सदना अकर्म यऽआजग्मेदꣳ सवनं जुषाणा इति सुगानि वो देवाः
सदनान्यकर्म यऽआगन्तेदꣳ सवनं जुषाणा इत्येवैतदाह भरमाणा वहमाना ह-
वीꣳषीति तद्देवता व्यवसृजति भरमाणा अह ते यन्तु येऽवाहना वहमाना उ
ते यन्तु ये वाहनवन्त इत्येवैतदाह तस्मादाह भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे

के लिए यज्ञ रचाते हैं वे सब समिष्ट (चाहे हुए) हो जाते हैं। उन सब समिष्टों में इनकी आहुति दी जाती है इसलिए इनको समिष्ट-यजु कहते हैं ॥३॥

समिष्ट यजुओं की आहुति इसलिए दी जाती है कि यज्ञ करनेवाले का आत्मा तो खाली हो जाता है, क्योंकि जो कुछ उसका होता है उसको वह दे चुकता है, इनमें से तीन आहुतियों से उसी की पूर्ति की जाती है ॥४॥

और जो अन्य तीन आहुतियाँ दी जाती हैं, इस यज्ञ से जिस देवता को बुलाता है, या जिन देवताओं के लिए यज्ञ रचता है, वे सब देवता प्रतीक्षा करते रहते हैं जब तक कि समिष्ट-यजुओं की आहुति नहीं पड़ती कि यह हमारे लिए आहुतियाँ देगा। इन्हीं देवताओं का वह यथाविधि विसर्जन कर देता है। जहाँ-जहाँ वे जाना चाहें क्रम से ॥५॥

और जो तीन अन्तिम आहुतियाँ हैं, उनसे यज्ञ की उत्पत्ति की, और उत्पत्ति करके उसने यहाँ उसकी प्रतिष्ठा की। चूंकि वह उसकी प्रतिष्ठा करता है इसलिए वह समिष्ट-यजुओं से आहुति देता है ॥६॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः" (यजु० ८।१५, ऋ० ५।४२।४)—"हे इन्द्र, तू हमको मन से और गौओं से प्राप्त होता है।" जो मन (विचार) से खाली था उसको मन से और जो गौओं से खाली था उसको गौओं से भरता है। "सँ सूरिभिर्मघवन्त्सँ स्वस्त्या। सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति" (यजु०८।१५)—"हे इन्द्र, विद्वानों से, कल्याण से और देवकृत-स्तुति।" जो स्तुति से खाली था उसकी स्तुति द्वारा पूर्ति करता है। "सं देवानाँ सुमतौ यज्ञियानाँ स्वाहा" (यजु० ८।१५)—"यज्ञ करनेवाले देवों की सुमति से" ॥७॥

"सं वर्चसा पयसा सं तनूभिः" (यजु० ८।१६)—"तेज से खाली को तेज से, रस से खाली को रस से भरता है क्योंकि 'पय' नाम है रस का।" "अगन्महि मनसा संशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टिम्" (यजु० ८।१६)—"(यह वही है जो ८।१४ है। इसका अर्थ ऊपर आ चुका) उस प्रकार जो व्रण था उसको चंगा करता है ॥८॥

तीसरी आहुति इस मन्त्र से—"धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः। त्वष्टा विष्णुः प्रजया सँ रराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा" (यजु० ८।१७, अथर्व ७।१७।४)—"कृपालु धाता, सविता, कोष की रक्षा करनेवाला प्रजापति, अग्निदेव इस आहुति को लेवे। त्वष्टा विष्णु यजमान के लिए धन और सन्तान दे।" 'यजमान को धन दे' ऐसा कहने से प्रयोजन यह है कि यह जो खाली हो गया था उसको भरता है ॥९॥

चौथी आहुति इससे—"सुगा वो देवाः सदना ऽअकर्म य ऽआजग्मेदँ सवनं जुषाणाः" (यजु० ८।१८)—"अर्थात् हे देवो ! जो इस सोम-भाग में आये हुए हो, तुम्हारे लिए हमने ऐसे घर बनाये हुए हैं जिनमें तुम सुगमता से जा सको।" "भरमाणा वहमाना हवीँषि" (यजु० ८।१८)—"हवियों को ढोते हुए या गाड़ियों में ले-जाते हुए।" ऐसा कहकर वह कतिपय देवों का विसर्जन करता है। जिनके पास सवारियाँ नहीं हैं वे स्वयं हवियों को ढोते हैं और जिनके पास सवारियाँ हैं वे सवारी में ले जाते हैं। इसलिए कहा 'भरमाणा' अर्थात् ढोते हुए और

धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥१०॥ याँ२॥ऽआवहः । उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय
स्वेऽअग्ने सधस्थऽइत्यग्निं वाऽआहामून्देवानावहामून्देवानावहेति तमेवैतदाह
यान्देवानावाक्षीस्तान्गमय यत्र-यत्रैषां चरणं तदन्विति जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च
विश्वऽइति जक्षिवाꣳसो हि पशुं पुरोडाशं भवन्ति पपिवाꣳस इति पपिवाꣳसो
हि सोमꣳ राजानं भवन्ति तस्मादाह जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳ
स्वरातिष्ठतानु स्वाहेति तद्वेव देवता व्यवसृजति ॥११॥ वयꣳ हि त्वा । प्रयति
यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन्यज्ञमुप-
याहि विद्वान्स्वाहेत्यग्निमेवैतया विमुञ्चत्यग्निं व्यवसृजति ॥१२॥ देवा गातुविद
इति । गातुविदो हि देवा गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातमितेति तदे-
तेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धा इत्ययं वै
यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन्यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ सं-
दधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति ॥१३॥ यज्ञ यज्ञं गच्छ । यज्ञपतिं गच्छ
स्वां योनिं गच्छ स्वाहेति तत्प्रतिष्ठितमेवैतद्यज्ञꣳ सन्तꣳ स्वायां योनौ प्रतिष्ठाप-
यत्येष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहेति तत्प्रतिष्ठित-
मेवैतद्यज्ञꣳ सन्तꣳ सहसूक्तवाकꣳ सर्ववीरं यजमानेऽन्ततः प्रतिष्ठापयति ॥१४॥
ब्राह्मणम् ॥६ [४.४.]॥ ॥तृतीयः प्रपाठकः॥ कण्डिकासंख्या १२२॥॥

स वाऽअवभृथमभ्यवैति । तद्यदवभृथमभ्यवैति यो वाऽअस्य रसोऽभूदाहुति-
भ्यो वाऽअस्य तमजीजनदथैतच्छरीरं तस्मिन्न रसोऽस्ति तन्न परास्यं तदपोऽभ्यव-
हरन्ति रसो वाऽआपस्तदस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन संगमयन्ति त-
देनमतो जनयति स एनं जात एव सञ्जनयति तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादव-
भृथः ॥१॥ अथ समिष्टयजूꣳषि जुहोति । समिष्टयजूꣳषि ह्येवान्तो यज्ञस्य स हु-
त्वैव समिष्टयजूꣳषि यदेतमभितो भवति तेन चात्वालमुपसमायन्ति स कृष्णविषा-

'वहमाना' अर्थात् गाड़ियों में ले-जाते हुए। "अस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा" (यजु० ८।१८)–"हे वसुओ, हमारे लिए धन दो" ॥१०॥

पाँचवीं इस मन्त्र से—"यां२ ऽ आवह ऽ उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे ऽ अग्ने सधस्थे" (यजु० ८।१९)—"हे देव, जिन इच्छुक देवों को तुम यहाँ लाये हो, हे अग्नि, तुम उनको अपने-अपने घर पहुँचा दो।" पहले तो अग्नि से कहा था कि इन देवों को लाओ, इन देवों को लाओ। अब अग्नि से कहता है कि जिन-जिन देवों को तुम लाये हो उन उनको अपने-अपने घर पहुँचा दो। "जक्षिवाँ्ँसः पपिवाँ्ँसश्च विश्वे" (यजु० ८।१९)–"तुम सबने खा भी लिया और पी भी लिया।" अर्थात् पशु पुरोडाश को खा लिया और सोम राजा को पी लिया। "असुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा" (यजु० ८।१९)—"प्राण या वायु को, धर्म या आदित्य लोक को, स्व अर्थात् द्यौलोक को जाओ" ऐसा कहकर उन देवों को विदा करता है ॥११॥

इससे छठी—"वयँ् हि त्वा प्रयति यज्ञे ऽ अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह। ऋधगया-ऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा" (यजु० ८।२०)–"हे अग्नि, इस यज्ञ से आरम्भ में हमने तुमको होता बनाया है। तू समृद्धि के साथ आया और तूने समृद्धि के साथ शयन किया। तू अपने अधिकार को जानते हुए यज्ञ में आ।" इससे वह अग्नि को छोड़ देता है, उसका विसर्जन कर देता है ॥१२॥

सातवीं इस मन्त्र से—"देवा गातुविदः" (यजु० ८।२१)—"मार्ग जाननेवाले देवो।" क्योंकि देव मार्ग को जानते हैं। "गातुं वित्त्वा" (यजु० ८।२१)—"मार्ग अर्थात् यज्ञ को मालूम करके।" "गातुमित" (यजु० ८।२१)—"जाइये।" इससे वह उनको उचित रीति से विदा कर देता है। "मनसस्पत ऽ इमं देव यज्ञँ् स्वाहा वाते धाः" (८।२१)—"हे मन के पति देव, इस यज्ञ को वायु में रख।" यह जो वायु है वही यज्ञ है। यज्ञ को समाप्त करके वह इसको इस प्रकार यज्ञ में ही स्थापित करता है। यज्ञ को यज्ञ से मिला देता है, इसलिए कहता है यज्ञ को वायु में रख॥१३॥

आठवीं इस मन्त्र से—"यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा" (यजु० ८।२२)—"हे यज्ञ, यज्ञ को प्राप्त हो, यज्ञपति को प्राप्त हो, अपनी योनि को प्राप्त हो।" जब यज्ञ प्रतिष्ठित हो गया तो फिर उसको उसी की योनि में प्रतिष्ठित करता है। "एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा" (यजु० ८।२२)–"हे यज्ञपति, यह तेरा यज्ञ है, स्तोत्रों सहित, सब वीरों से युक्त; इसको स्वीकार कर।' इस स्तोत तथा वीरयुक्त यज्ञ को यजमान में स्थापित करता है ॥१४॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ५

अब अवभृथ स्नान के लिए जाता है। अवभृथ स्नान के लिए इसलिए जाता है कि जो इस (सोम) का रस था, वह इसकी आहुतियों के लिए उत्पन्न हुआ था। रहा उस (सोम) का शरीर, उसमें तो रस नहीं है। उसे फेंकना तो चाहिए नहीं। अब उसको जलों के पास ले जाता है। इस प्रकार वह उसको रस से युक्त करता है और उस (सोम) को रस में से ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्पन्न हुआ सोम यजमान को उत्पन्न करता है। चूंकि सोम को जलों के पास ले जाते हैं (अभि-अव-हरन्ति) इसलिए इसका नाम अवभृथ है ॥१॥

इसके पश्चात् समिष्ट-यजुओं की आहुति देता है। समिष्ट-यजुः यज्ञ का अन्त है। समिष्ट-यजुओं की आहुतियाँ देने के पश्चात् जो कुछ उसके पास होता है उसको लेकर चात्वाल

णां च मेखलां च चात्वाले प्रास्यति ॥२॥ माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति । असौ वाऽउष्णीषस्य स्वगाकारो यदेनदपोऽभ्यवहरन्त्यथैष एवैतस्य स्वगाकारो रज्जुरिव हि सर्पाः कूपा-इव हि सर्पाणामायतनान्यस्ति वै मनुष्याणां च सर्पाणां च विभ्रातृव्यमिव नेत्तदतः सम्भवदिति तस्मादाह माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति ॥३॥ अथ वाचयति । उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउऽइति यथायमुरुरभयोऽनाष्ट्रः सूर्याय पन्था एवं मेऽयमुरुरभयोऽनाष्ट्रः पन्था अस्त्वित्येवैतदाह ॥४॥ अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरिति । यदि ह वाऽअप्यपाद्भवत्यलमेव प्रतिक्रमणाय भवत्युतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिति तदेनꣳ सर्वस्माद्धृद्यादेनसः पाप्मनः प्रमुञ्चति ॥५॥ अथाह साम गायेति । साम ब्रूहीति वा गायेति त्वेव ब्रूयाद्गायन्ति हि साम तद्यत्साम गायति नेदिदं बहिर्धा यज्ञाच्छरीरं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति साम हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥६॥ आग्नेय्यां गायति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्तातिच्छन्दसि गायत्येषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तस्मादतिच्छन्दसि गायति ॥७॥ स गायति । अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावोऽहावऽइति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥८॥ तऽउदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रꣳ स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ॥९॥ स यः स्यन्दमानानाꣳ स्थावरो ह्रदः स्यात् । तमपोऽभ्यवेयादेता वाऽअपां वरुणगृहीता याः स्यन्दमानानां न स्यन्दन्ते वरुण्यो वाऽअवभृथो निर्वरुणतायै यद्यु ता न विन्देदपि या एव काश्चापोऽभ्यवेयात् ॥१०॥ तमपोऽवक्रमयन्वाचयति । नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाश इति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रमुञ्चति ॥११॥ अथ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । समिधं प्रास्याभिजुहोत्यग्नेरनीकमप आविवेशापां नपात्प्रतिरक्षन्नसुर्यम् । दमे-दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत्स्वाहेति ॥१२॥ अग्नेर्ह वै देवाः । यावद्वा यावद्वाप्सु प्रवेशयां चक्रुर्नेदतो

में जाते हैं। वह कृष्ण विशाण (हरिण के सींगों) और मेखला को चात्वाल में फेंक देता है इस मन्त्र से—॥२॥

"माहिर्भूर्मा पृदाकुः" (यजु० ८।२३)—"न सर्प हो न पृदाकू।" जब इस (सोम के फोक) को अवभृथ के लिए ले जाते हैं तो यह उनका स्वगाकार (farewell or विदाई) है। यह यजमान के लिए भी स्वगाकार है। सर्प रस्सी के समान होते हैं। सर्पों के घर कुयें के समान हैं। मनुष्य सर्पों की लड़ाई है। वह ऐसा सोचता है कि 'कहीं वह उससे उत्पन्न न हो जावे', और इसलिए वह कहता है, कि 'तू न तो अहि (adder, सर्पविशेष) बन, और न पृदाकू (viper)' ॥३॥

अब वह यजमान से कहलवाता है, "उरुँ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउ (यजु० ८।२३; ऋ० १।२४।८)—"राजा वरुण के सूर्य के लिए बड़ा चौड़ा मार्ग बनाया है।" इसका तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य के लिए भयरहित चौड़ा-चकला मार्ग है इसी प्रकार मेरे लिए भयरहित चौड़ा-चकला मार्ग हो ॥४॥

"अपदे पादा प्रतिधातवेऽकः" (यजु० ८।२३; ऋ० १।२४।८)—"पैर-रहित लोगों के पैर दिये हैं।" सूर्य यद्यपि पैर-रहित है तो भी वह चल सकता है। "उतापवक्ता हृदयाविधश्चित्" (यजु० ८।२३; ऋ० १।२४।८)—"जो चीज हृदय को बेधनेवाली है उसका अपवाद करनेवाला (निषेध करनेवाला) है।" इस प्रकार इसको सब हृदय के पाप से छुड़ा देता है ॥५॥

अब वह कहता है 'साम गाओ' या 'साम बोलो।' 'साम गाओ' ऐसा कहना चाहिए क्योंकि साम को गाते हैं। गाने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ से बाहर शरीर को दुष्ट राक्षस न सतावें। क्योंकि साम दुष्ट राक्षसों का नाशक है ॥६॥

प्रस्तोता अग्निवाला मन्त्र बोलता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों का नाशक है। वह अतिछन्द में गाता है। यह अतिछन्द सब छन्द हैं। इसलिए अतिछन्द में गाता है ॥७॥

वह इस मन्त्र को गाता है—"अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावोऽहावः" (?) "अग्नि तपता है, अग्नि जलाता है—अहवः, आहावः।" इस प्रकार दुष्ट राक्षसों को भगाता है ॥८॥

अब वे (वेदी से) उत्तर की ओर निकलते हैं, चात्वाल के पीछे और आग्नीध्र के आगे, और जिस दिशा में जल होता है उसी दिशा में जाते हैं ॥९॥

उस यजमान को चाहिए कि जिधर बहते हुए जल का ठहरा हुआ तालाब हो उसके जल में प्रवेश करे। बहते हुए जल के जो भाग स्थिर हैं वह वरुण-गृहीत (वरुण से पकड़े हुए हैं)। अवभृथ वरुण है—वरुण से छुटकारा पाने के लिए। परन्तु यदि ऐसा जल न मिले तो किसी जल में सही ॥१०॥

जब वह उसे जल में प्रवेश कराता है तो यह मन्त्र कहलवाता है, "नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः।"—"वरुण के लिए नमस्कार हो। वरुण का पाश तोड़ डाला गया।" इस प्रकार वरुण के सब पाश से अर्थात् प्रत्येक वरुण्य (अपराध, guilt against Varuna—Eggeling) से छुड़ा देता है ॥११॥

अब चार भाग में घी लेकर और समिधा को डालकर इस मन्त्र से आहुति देता है, "अग्नेरनीकमपऽआविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्। दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा" (यजु० ८।२४)—"मैं अग्नि के मुख अर्थात् जलों में घुसा हूँ। हे अपां नपात् (जलों की सन्तान)! राक्षसों से बचने के लिए। प्रत्येक घर में हे अग्नि! समिधा जला। तेरी जीभ घी की ओर लपके" '॥१२॥

एक बार देवों ने जितना-जितना सम्भव हो सका अग्नि को जलों में प्रवेश करा दिया

नाष्ट्रा रक्षा७स्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तमेतया च समिधैतया चाहु-
त्या समिन्द्धे समिद्धे देवेभ्यो जुहवानीति ॥१३॥ अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृ-
हीत्वा । आश्राव्याह समिधो यजेति सोऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजति प्रजा वै
बर्हिर्वरुण्यो वाऽअवभृथो नेत्प्रजा वरुणो गृह्णादिति तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्र-
याजान्यजति ॥१४॥ अथ वारुण एककपालः पुरोडाशो भवति । यो वाऽअस्य
रसोऽभूदाहुतिभ्यो वाऽअस्य तमजीजनदथैतच्छरीरं तस्मिन्न रसोऽस्ति रसो वै
पुरोडाशस्तदस्मिन्नेत७ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन संगमयति तदेनमतो जन-
यति स एनं जात एव सञ्जनयति तस्माद्वारुण एककपालः पुरोडाशो भवति
॥१५॥ स आज्यस्योपस्तीर्य । पुरोडाशस्यावद्यन्नाह वरुणायानुब्रूहीत्यत्र हैक
ऽऋजीषस्य द्विरवद्यन्ति तदु तथा न कुर्याच्छरीरं वाऽएतद्भवति नालमाहुत्यै द्वि-
रवद्यति सकृदभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानेऽआश्राव्याह वरुणं यजेति वषट्कृते
जुहोति ॥१६॥ अथाज्यस्योपस्तीर्य । पुरोडाशमवद्धदाहाग्नीवरुणाभ्यामनुब्रूहीति
तत्स्विष्टकृते स यन्नाग्नयऽइत्याह नेदग्निं वरुणो गृह्णादिति स यद्यमुत्रऽर्जीषस्य
द्विरवद्येदथात्र सकृद्यद्यु न नाद्रियेताथोपरिष्टाद्विराज्यस्याभिघारयत्याश्राव्याहाग्नी-
वरुणौ यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१७॥ ता वाऽएताः । षडाहुतयो भवन्ति ष-
ड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो वरुणस्तस्मात्षडाहुतयो भवन्ति ॥१८॥ एतदा-
दित्यानामयनम् । आदित्यानीमानि यजू७षीत्याहुः स यावदस्य वशः स्यादेवमेव
चिकीर्षेद्यद्युऽएनमितरथा यजमानः कर्तवै ब्रूयादितरथो तर्हि कुर्यादेतानेव चतु-
रः प्रयाजानपबर्हिषो यजेद्द्वावाज्यभागौ वरुणमग्नीवरुणौ द्वावनुयाजावपबर्हिषौ
तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ॥१९॥ ए-
तदङ्गिरसामयनम् । अतोऽन्यतरत्कृत्वा यस्मिन्कुम्भऽऋजीषं भवति तं प्रप्लावयति
समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरित्यापो वै समुद्रो रसो वाऽआपस्तदस्मिन्नेत७ रसं दधाति

जिससे राक्षस उनमें से उठने न पावें। अग्नि राक्षसों का विनाशक है। समिधा से और आहुति से वह इसी अग्नि को प्रज्वलित करता है इसलिए कि 'मैं देवों के लिए आहुति दूँ' ॥१३॥

अब फिर चार भागों में घी लेकर और (आग्नीध्र से) श्रौषट् कहलवाकर कहता है—'समिधाओं की स्तुति कर।' अब वह बर्हि की आहुति को छोड़कर शेष चारों आहुतियाँ दे डालता है। बर्हि प्रजा है। अवभृथ वरुण का है। ऐसा न हो कि सन्तान वरुण-गृहीत हो जाय। इसीलिए बर्हि को छोड़कर शेष चार आहुतियाँ दे डालता है ॥१४॥

वरुण का एक कपाल का पुरोडाश बनता है। क्योंकि (सोम में) जो कुछ रस था वह तो आहुतियों के लिए निकाला जा चुका। अब जो शरीर (भाग) बच रहा उसमें रस है ही नहीं। पुरोडाश रस है। इस प्रकार उसमें रस डालता है। इस प्रकार वह उसको रस से युक्त कर देता है। इस प्रकार वह उसको रस में से उत्पन्न करता है। यह सोम उत्पन्न होकर यजमान को उत्पन्न करता है। इसलिए वरुण के लिए एक कपाल का पुरोडाश होता है ॥१५॥

वह घी चुपड़कर पुरोडाश को काटते समय कहता है—'वरुण के लिए अनुवाक पढ़।' कुछ लोग इस अवसर पर सोम के फोक के दो भाग करते हैं। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि यह तो खाली शरीर है। आहुतियों के लिए काफी नहीं है। वह दो टुकड़े करता है और घी चुपड़ता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ काटा था वहाँ घी लगा देता है। श्रौषट् कहलवाकर वह कहता है—'वरुण के लिए अनुवाक पढ़।' और वषट्कार के साथ आहुति दे देता है ॥१६॥

अब घी की एक तह लगाकर और (चमचे में) पुरोडाश के टुकड़े को रखकर कहता है कि 'अग्नि और वरुण के लिए अनुवाक कह।' यह अग्नि स्विष्टकृत् के लिए है। केवल अग्नि के लिए यों नहीं कहता कि कहीं वरुण पकड़ ले। यदि सोम के फोक के दो भाग किये हों तो एक भाग करे। न किये हों तो न सही। अब वह ऊपर की ओर दो बार घी लगाता है और श्रौषट् कहलाकर कहता है 'अग्नि और वरुण के लिए अनुवाक पढ़' और वषट्कार से आहुति दे देता है ॥१७॥

ये छः आहुतियाँ होती हैं। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर वरुण है। इसलिए छः आहुतियाँ होती हैं ॥१८॥

यह आदित्यों का अयन है। और 'यजुः आदित्य के हैं' ऐसा कहा जाता है। (अध्वर्यु को चाहिए) कि जितना (यजमान) कहे उतना करे। यजमान अन्यथा कहे तो अन्यथा करे। बर्हि की आहुति को छोड़कर शेष चारों आहुतियाँ दे देवे। दो आज्यभाग अग्नि और अग्नि-वरुण के लिए और दो अनुयाज; बर्हि को छोड़कर। ये दस हो गये। विराट् में दस अक्षर होते हैं। यज्ञ विराट् है। इस प्रकार यज्ञ को विराट् के समान कर देता है ॥१९॥

यह अयन अंगिराओं का है। (ऊपर कही हुई दोनों विधियों में से) किसी प्रकार (आहुति देकर) जिस पात्र में फोक होता है उसको (अध्वर्यु) इस मन्त्र से पानी पर तैराता है—"समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः" (यजु० ८।२५)—"तेरा हृदय समुद्र में जलों के भीतर है।" जल समुद्र हैं। जल रस है। इस (फोक) में इस प्रकार रस रखता है। इसको इस रस से युक्त करता है। इसमें

तदेनमेतेन रसेन संगमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव तज्जनयति
सं वा विशन्त्वोषधीरुताप इति तदस्मिन्नुभयꣳ रसं दधाति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहेति तद्यदेव यज्ञस्य साधु
तदेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥२०॥ अथानुसृज्योपतिष्ठते । देवीराप एष वो गर्भ इत्य-
पाꣳ ह्येष गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृतेति तदेनमद्भ्यः परिददाति गुप्त्यै देव
सोमैष ते लोक इत्यापो ह्येतस्य लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्वेति त-
स्मिन्नः शं चैधि सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह ॥२१॥ अथोपमारयति
। अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनो यासिषमव
मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतद्देवैर्देवकृतमेनोऽयासीत्सोमेन राज्ञाव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमि-
त्यव ह्येतन्मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽयासीत्पशुना पुरोडाशेन पुरुराव्णो देव रिषस्पा-
हीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह ॥२२॥ अथाभ्यवेत्य स्नातः । अन्यो
ऽन्यस्य पृष्ठे प्रधावतस्तावन्ये वाससी परिधायोदेतः स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतै-
वꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते तस्मिन्न तावच्चनैनो भवति यावत्कुमारेऽदति
स येनैव निष्क्रामन्ति तेन पुनरायन्ति पुनरेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति देवा-
नाꣳ समिदसीति यजमानमेवैतया समिन्द्धे देवानाꣳ हि समिद्धिमनु यजमानः स-
मिध्यते ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [४. ५.] ॥ ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥२८॥ ॥

आदित्येन चरुणोदयनीयेन प्रचरति । तद्यदादित्यश्चरुर्भवति यदेवैनामदो दे-
वा अब्रुवंस्त्वयैव प्रायणीयस्त्वयोदयनीय इति तमेवास्या एतदुभयत्र भागं करो-
ति ॥१॥ स यदमुत्र राजानं क्रेष्यन्नुपप्रैष्यन्यजते । तस्मात्तत्प्रायणीयं नामाथ यद-
त्रावभृथादुदेत्य यजते तस्मादेतदुदयनीयं नाम तद्वा एतत्समानमेव हविरदित्या
एव प्रायणीयमदित्या उदयनीयमियꣳ ह्येवादितिः ॥२॥ स वै पथ्यामेवाग्रे स्व-
स्तिं यजति । तद्देवा अप्रज्ञायमाने वाचैव प्रत्यपद्यन्त वाचा हि मुग्धं प्रज्ञायते

इस रस को उत्पन्न करता है। वह (सोम) पैदा होकर इस (यजमान) को पैदा करता है। "सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप:" (यजु० ८।२५)—"ओषधियाँ और जल तुझसे मिलें।" इस प्रकार इसमें दोनों रसों को युक्त करता है—वह रस जो ओषधि में है और वह जो जलों में है। "यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा" (यजु० ८।२५)—"हे यज्ञपति, सूक्त पढ़ने और नमस्कार में तुझ यज्ञ की आराधना करें।" यज्ञ में जो कुछ भली बात है उसको वह उस (यजमान) में रखता है ॥२०॥

अब उस (सोम के फोक) को छोड़कर यह मन्त्र पढ़कर खड़ा होता है, "देवीरापऽ एष वो गर्भ:" (यजु० ८।२६)—"हे प्रकाशयुक्त जल, यह तेरा गर्भ (बच्चा) है।" यह जलों का ही तो गर्भ है।" "त॑ं सुप्रीत॑ं सुभृतं बिभ्रत" (यजु० ८।२६)—"इसको प्रीति के साथ और अच्छी तरह उठाकर ले जाओ।" इस प्रकार वह रक्षा के लिए उसको जल के सुपुर्द कर देता है। "देव सोमैष ते लोक:" (यजु० ८।२६)—"हे सोम देव, यह तुम्हारा घर है।" जल ही तो इसका घर है। "तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व" (यजु० ८।३६)—अर्थात् "इसमें तू हमको कल्याण दे और सब कष्टों से बचा" ॥२१॥

अब वह रस को इस मन्त्र से डुबो देता है—"अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण:। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्" (यजु० ८।२७)—"हे अवभृथ, मन्द गति से जा। यद्यपि तू तेज चलनेवाला है, तो भी मन्द गति से जा। मैंने देवों की सहायता से देवों के प्रति किये हुए पाप को और मनुष्यों की सहायता से मनुष्यों के प्रति किये पाप को दूर कर दिया।" इसने वस्तुत: देवों की सहायता से अर्थात् सोम राजा के द्वारा देवकृत पाप को दूर कर दिया और मनुष्यों की सहायता से अर्थात् पशु तथा पुरोडाश के द्वारा मनुष्यकृत पाप को दूर कर दिया। "पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि" (यजु० ८।२७)—"हे देव, विरुद्धफलदायी वध से तू हमको बचा।" अर्थात् सब कष्टों से हमको बचा ॥२२॥

अब यजमान और उसकी पत्नी जलों में उतरकर नहाते हैं और एक-दूसरे की पीठ मलते हैं। दूसरे कपड़े पहनकर वे बाहर आते हैं। जिस प्रकार साँप केंचुल छोड़ देता है उसी प्रकार यह सब पापों से युक्त हो जाता है। उसमें इतना पाप भी नहीं रहता जितना दाँत-शून्य बच्चे में। जिस मार्ग से ये बाहर आये थे उसी से जाते हैं। लौटकर आहवनीय में समिधा रखता है (इस मन्त्र से) "देवाना॑ᳫ समिदसि" (यजु० ८।२७)—"तू देवों की समिधा है।" इस प्रकार यजमान को प्रकाश-युक्त करता है, क्योंकि देवों के प्रज्वलित होने से यजमान भी प्रज्वलित होता है ॥२३॥

उदयनीयेष्टि:

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब अन्तिम अदिति-सम्बन्धी चरु बनाता है। अदिति का चरु इसलिए बनाता है कि पहले कभी देवों ने उससे कहा था कि तेरी ही प्रायणीय अर्थात् पहली (Opening) आहुति होगी और तेरी ही उदनीय अर्थात् पिछली (Concluding)। इसलिए पहले और पीछे दोनों भाग उसी के होते हैं ॥१॥

उस समय सोम राजा को मोल लेने की इच्छा से जाते हुए (उपप्रैष्यन्) आहुति देता है, इसलिए इसका नाम 'प्रायणीय' पड़ा और इस समय अवभृथ से लौटकर आहुति देता है, इसलिए इसका 'उदनीय' नाम हुआ। यह आहुति तो समान ही है। प्रायणीय भी अदिति की और उदयनीय भी अदिति की। यह पृथिवी ही अदिति है ॥२॥

पहले वह 'पथ्या-स्वस्ति' (कल्याणकारी मार्ग हो) इसकी इच्छा के लिए आहुति देता है। पहले देवों ने न जानने की दशा में वाणी से ही मार्ग को पाया था। वाणी से ही अज्ञान को

ऽथात्र प्रज्ञाते यथापूर्वं करोति ॥३॥ सोऽग्निमेव प्रथमं यजति । अथ सोममथ सवितारमथ पथ्याᳬ स्वस्तिमथादितिं वाग्वै पथ्या स्वस्तिरियमदितिरस्यामेव तद्देवा वाचं प्रत्यष्ठापयन्त्सेयं वागस्यां प्रतिष्ठिता वदति ॥४॥ अथ मैत्रावरुणीं वशामनूबन्ध्यामालभते । स एषोऽन्य एव यज्ञस्तायते पशुबन्ध एव समिष्टयजूᳬषि ह्येवान्तो यज्ञस्य ॥५॥ तद्यन्मैत्रावरुणी वशा भवति । यद्वाऽईजानस्य स्विष्टं भवति मित्रोऽस्य तद्गृह्णाति यद्वस्य दुरिष्टं भवति वरुणोऽस्य तद्गृह्णाति ॥६॥ तदाहुः । क्वेजानोऽभूदिति तद्यदेवास्यात्र मित्रः स्विष्टं गृह्णाति तदेवास्माऽएतया प्रीतः प्रत्यवसृजति यदु चास्य वरुणो दुरिष्टं गृह्णाति तच्चैवास्माऽएतया प्रीतः स्विष्टं करोति तदु चास्मै प्रत्यवसृजति सोऽस्यैष स्व एव यज्ञो भवति स्वᳬ सुकृतम् ॥७॥ तद्यन्मैत्रावरुणी वशा भवति । यत्र वै देवा रेतः सिक्तं प्राजनयंस्तदाग्निमारुतमित्युक्थं तस्मिंस्तद्व्याख्यायते यथा तद्देवा रेतः प्राजनयंस्ततोऽङ्गाराः समभवन्नङ्गारेभ्योऽङ्गिरसस्तदन्वन्ये पशवः ॥८॥ अथ यद्रासाः पाᳬसवः पर्यशिष्यन्त । ततो गर्दभः समभवत्तस्माद्यत्र पाᳬसुलं भवति गर्दभस्थानमिव बतेत्याहुरथ यदा न कश्चन रसः पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत्तस्मादेषा न प्रजायते रसाद्धि रेतः सम्भवति रेतसः पशवस्तद्यदन्ततः समभवत्तस्मादन्ते यज्ञस्यानुवर्तते तस्माद्वाऽएषात्र मैत्रावरुणी वशावक्लृप्ततमा भवति यदि वशां न विन्देदप्युक्षवश एव स्यात् ॥९॥ अथैतरं विश्वे देवा अमरीमृत्स्यन्त । ततो वैश्वदेवी समभवदथ बार्हस्पत्या सोऽन्तोऽन्तो हि बृहस्पतिः ॥१०॥ स यः सहस्रं वा भूयो वा दद्यात् । स एनाः सर्वा आलभेत सर्वं वै तस्याप्तं भवति सर्वं जितं यः सहस्रं वा भूयो वा ददाति सर्वमेता एवमेव यथापूर्वं मैत्रावरुणीमेवाग्रेऽथ वैश्वदेवीमथ बार्हस्पत्यम् ॥११॥ अथो ये दीर्घसत्रमासीरन् । संवत्सरं वा भूयो वा तऽएनाः सर्वा आलभेरन्त्सर्वं वै तेषामाप्तं भवति सर्वं जितं

दूर किया जाता है। अब यहाँ ज्ञान होने पर क्रमशः ठीक-ठीक कार्य करता है ॥३॥

वह पहले अग्नि के लिए आहुति देता है, फिर सोम के लिए, फिर सविता के लिए, फिर पथ्या के लिए, फिर अदिति के लिए। वाणी ही पथ्यास्वस्ति है और पृथिवी अदिति है। इसी पृथिवी पर देवों ने वाणी को स्थापित किया और उसी पर स्थापित होकर वाणी बोलती है ॥४॥

अब मित्र और वरुण के लिए अनुबन्ध्या गाय को मारते हैं।[1] यह पशुबन्ध एक दूसरा ही यज्ञ है। यज्ञ का अन्त समष्टि-यजुः हैं ॥५॥

मित्र और वरुण के लिए गाय इसलिए होती है कि यज्ञ का जो स्विष्ट भाग (अच्छा, हितकर) है उसे मित्र लेता है और जो दुरिष्ट भाग है उसे वरुण लेता है ॥६॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यजमान का क्या हुआ ? उसके जिस स्विष्ट भाग को मित्र लेता है उसको वह इस गाय के द्वारा प्रसन्न होकर उसी को लौटा देता है। और इसके दुरिष्ट भाग को वरुण लेता है। उसको वह इस गाय के द्वारा प्रसन्न होकर स्विष्ट बना देता है और उसी के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार यह यज्ञ उसका अपना ही हो जाता है, अपना ही और भलीभाँति किया हुआ (सुकृत) ॥७॥

यह गौ मित्र वरुण की इसलिए होती है कि जब देवों ने सींचे हुए वीर्य को उगाया, उसे अग्नि-मारुत उक्थ्य कहते हैं। उसकी व्याख्या है कि देवों ने वीर्य को कैसे उगाया। उससे अंगारे हुए, अंगारों से अंगिरस, उसके पीछे दूसरे पशु ॥८॥

अब जो राख की धूलि रह गई उससे गधा उत्पन्न हुआ। इसीलिए जब कोई धूल का स्थान (बुरा स्थान) होता है तो कहते हैं कि यह तो गधे का स्थान (गर्दभ-स्थान) है। जब कुछ भी रस शेष न रहा तो उससे मित्र और वरुण की गौ उत्पन्न हुई। इसलिए यह वशा (बन्ध्या गौ) बच्चा नहीं देती। क्योंकि रस से वीर्य होता है और वीर्य से सन्तान। चूंकि वह सबसे पीछे उत्पन्न हुई, इसलिए यह यज्ञ के अन्त में लाई जाती है। इसीलिए मित्र वरुण के लिए वशा (बन्ध्या गाय) ही ठीक है। यदि बन्ध्या गाय न मिले तो बैल ही सही ॥९॥

अब विश्वेदेवों ने यत्न किया, उससे वैश्वदेवी गाय हुई, फिर बृहस्पति-सम्बन्धी गाय। बृहस्पति अन्त है, बृहस्पति ही अन्त है ॥१०॥

यह जो हजार गायें देता है वह इन सबका आलभन करता है। जो हजार या बहुत-सी गायें दान करता है उसे सब प्रकार की जय प्राप्त हो जाती है। यह सब क्रमानुसार इस प्रकार है—पहले मित्र-वरुण की, फिर वैश्वदेव की, फिर बृहस्पति की ॥११॥

जो दीर्घ सत्र करते हैं, वर्ष-भर का या अधिक काल का, वे इन सबका आलभन करते हैं। उनकी सब इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं, सब विजय मिल जाती है, जो दीर्घ सत्र को करते हैं,

१. वेदों में तो गाय को बारम्बार 'अघ्न्या' कहा गया है; यह सन्दर्भ मांसाहारियों द्वारा प्रक्षिप्त है। —स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

ये दीर्घसत्त्रमासते संवत्सरं वा भूयो वा सर्वमेता एवमेव यथापूर्वम् ॥१२॥ अथोदवसानीययेष्ट्या यजते । स आग्नेयं पञ्चकपालं पुरोडाशं निर्वपति तस्य पञ्चपदाः पङ्क्त्यो याज्यानुवाक्या भवन्ति यातयामेव वाऽएतदीजानस्य यज्ञो भवति सोऽस्मात्पराङिव भवत्यग्निर्वै सर्वे यज्ञा अग्नौ हि सर्वान्यज्ञांस्तन्वते ये च पाकयज्ञा ये चेतरे तद्यज्ञमेवैतत्पुनरारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति ॥१३॥ तद्यत्पञ्चकपालः पुरोडाशो भवति । पञ्चपदाः पङ्क्त्यो याज्यानुवाक्याः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति ॥१४॥ तस्य हिरण्यं दक्षिणा । आग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणानड्वान्वा स हि वह्नेनाग्नेयोऽग्निदग्धमिव ह्यस्य वहं भवति ॥१५॥ अथो चतुर्गृहीतमेवाज्यं गृहीत्वा । वैष्णव्यऽर्चा जुहोत्युरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र-प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञमेवैतत्पुनरारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति तत्रो यद्दक्षयात्तद्दद्यान्नादक्षिणꣳ हविः स्यादिति ह्याहुरथ यदेवैषोदवसानीयेष्टिः संतिष्ठतेऽथ सायमाहुतिं जुहोति कालऽएव प्रातराहुतिम् ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५. १.] ॥ ॥

वशामालभन्ते । तामालभ्य संज्ञपयन्ति संज्ञप्याह वपामुत्खिदेत्युत्खिद्य वपामनुमर्श गर्भमिष्टवै ब्रूयात्स यदि न विन्दन्ति किमाद्रियेरन्यद्यु विन्दन्ति तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते ॥१॥ न वै तदवकल्पते । यदेकां मन्यमाना एकयेवैतया चरेयुर्यद्द्वे मन्यमाना द्वाभ्यामिव चरेयु स्थालीं चैवोष्णीषं चोपकल्पयितवै ब्रूयात् ॥२॥ अथ वपया चरन्ति । यथैव तस्यै चरणं वपया चरित्वाध्वर्युश्च यजमानश्च पुनरेतः स आहाध्वर्युर्निर्हरैतं गर्भमिति तꣳ ह नोदरतो निर्हरेदार्ताया वै मृताया उदरतो निर्हरन्ति यदा वै गर्भः समृद्धो भवति प्रजननेन वै स तर्हि प्रत्यङ्ङेति

वर्ष-भर के लिए या अधिक काल के लिए ॥१२॥

अब वह उदवसानीय इष्टि करता है। वह अग्नि के लिए पाँच कपालों का पुरोडाश बनाता है। उसके याज्य और अनुवाक पाँच पद की पंक्तिवाले होते हैं। इस समय यज्ञ करनेवाले का यज्ञ थक-सा जाता है, वह उससे विमुख-सा हो जाता है। अग्नि 'सब यज्ञ' है, क्योंकि अग्नि में ही सब यज्ञ किये जाते हैं चाहे पाक यज्ञ हों या अन्य। वह इसी यज्ञ को फिर लेता है। इस प्रकार यह यज्ञ थकने नहीं पाता, वह उससे विमुख नहीं होने पाता ॥१३॥

पाँच कपालों का पुरोडाश इसलिए होता है कि याज्य और अनुवाक में पाँच पद की पंक्तियाँ होती हैं और यज्ञ भी पाँचवाला है। इस प्रकार वह फिर यज्ञ को ही आरम्भ करता है। इस प्रकार यज्ञ थकता नहीं और इससे विमुख नहीं होता ॥१४॥

उसकी दक्षिणा सोना है। यह यज्ञ अग्नि का है। सोना अग्नि का वीर्य है। इसलिए सोना दक्षिणा है या बैल, यह ढोने के कारण अग्नि का है। क्योंकि इसका कन्धा ऐसा हो जाता है मानो अग्नि में जला दिया गया ॥१५॥

अब चार भाग घी लेकर विष्णु की ऋचा द्वारा आहुति देता है, "उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा" (यजु० ५।३८)—"हे विष्णु, चौड़ी टाँगें बढ़ाओ। हमारे लिए खुले मकान बनाओ। हे घृतयोनि, घृत पियो और यज्ञपति की उन्नति करो।" यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार वह यज्ञ को फिर आरम्भ करता है। इस प्रकार यज्ञ थकता नहीं और वह उससे विमुख नहीं होता। इस समय जितनी शक्ति हो उतनी दक्षिणा दे, क्योंकि यज्ञ बिना दक्षिणा के नहीं होना चाहिए ऐसा कहते हैं। जब यह उदवसानीय इष्टि समाप्त हो जाय तो सायंकाल की आहुति देता है। परन्तु प्रातःकाल की आहुति प्रातःकाल ही दी जाती है ॥१६॥

आनुबन्ध्य-यागः

अध्याय ५—ब्राह्मण २

वे वशा का आलभन करते हैं और उसका आलभन करके उसे मारते हैं। मारने के बाद कहते हैं 'वपा को निकाल।' जब वपा निकल चुके तो मारनेवाले से कहना चाहिए कि गर्भ को खोजे (अर्थात् यह देखने का यत्न करे कि गाय कहीं गर्भिणी तो नहीं थी)।[1] यदि गर्भ न मिले तो अच्छा ही है। यदि मिल जाय तो इसका प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥१॥

यह तो ठीक है नहीं कि उसको एक (अकेली गाय) मानकर ही कार्य कर डालें या उसको दो मानकर (अर्थात् गाय और उसका पेट का बच्चा) ही कार्य करें। तात्पर्य यह है कि देख-भालकर जाँच कर लेनी चाहिए और उसी के अनुसार बरतना चाहिए। अब कहे कि थाली और उष्णीष (अँगोछा या कपड़े का छोटा-सा टुकड़ा) लाओ ॥२॥

अब वपा से जैसा नियम है उसी के अनुसार कृत्य करते हैं। वपा के कृत्य के पश्चात् अध्वर्यु और यजमान दोनों लौट आते हैं। अध्वर्यु कहता है कि 'गर्भ को निकाल।' क्योंकि बिना कहे तो कोई गर्भ को निकालता नहीं, जब तक कि माता रोगी न हो या मर न गई हो। या जब गर्भ पूरा हो जाता है तो जनने के समय स्वयं ही बाहर निकल आता है। उससे कहना चाहे कि

१. गो-हत्या के ये बीभत्स कर्मकाण्ड सर्वथा प्रक्षिप्त हैं। —**स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती**

तमपि विरुह्य श्रोणी प्रत्यञ्चं निरूहन्निति ब्रूयात् ॥३॥ तं निरुह्यमाणमभिमन्त्र-यते । एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सहेति स यदाहैजत्विति प्राणमेवास्मिन्ने-तद्दधाति दशमास्य इति यदा वै गर्भः समृद्धो भवत्यथ दशमास्यस्तमेतदप्यदश-मास्यꣳ सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति ॥४॥ जरायुणा सहेति । तद्यथा दशमास्यो जरायुणा सहेयादेवमेतदाह यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजतीति प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधात्येवायं दशमास्योऽअस्रज्जरायुणा सहेति तद्यथा दशमास्यो जरायुणा सह स्रꣳसेतैवमेतदाह ॥५॥ तदाहुः । कथमेतं गर्भं कुर्यादित्यङ्गादङ्गाद्धै-वास्यावद्येयुर्यथैवेतरेषामवदानानामवदानं तदु तथा न कुर्यादुत ह्येषोऽविकृ ताङ्गो भवत्यधस्तादिव ग्रीवा अपिकृत्यैतस्याꣳ स्थाल्यामेतं मेधꣳ श्चोतयेयुः सर्वे-भ्यो वाऽअस्यैषोऽङ्गेभ्यो मेध श्चोतति तदस्य सर्वेषामेवाङ्गानामवत्तं भवत्यवद्य-न्ति वशाया अवदानानि यथैव तेषामवदानम् ॥६॥ तानि पशुश्रपणे श्रपयन्ति । तदेवैतं मेधꣳ श्रपयन्त्युत्तीषेणावेष्य गर्भं पार्श्वतः पशुश्रपणस्योपनिदधाति यदा शृतो भवत्यथ समुद्यावदानान्येवाभिजुहोति नैतं मेधमुद्वासयन्ति पशुं तदेवैतं मे-धमुद्वासयन्ति ॥७॥ तं जघनेन चात्वालमन्तरेण यूपं चाग्निं च हरन्ति । दक्षिणतो निधाय प्रतिप्रस्थातावद्यत्यथ स्रुचोरुपस्तृणातेऽथ मनोतायै हविषोऽनुवाच आ-हावद्यन्ति वशाया अवदानानां यथैव तेषामवदानम् ॥८॥ अथ प्रचरणीति स्रु-ग्भवति । तस्यां प्रतिप्रस्थाता मेधायोपस्तृणाति द्विरवद्यति सकृदभिघारयति प्र-त्यनक्त्यवदानेऽअथानुवाच आश्राव्याह प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोत्यध्वर्योरनु होमं जुहोति प्रतिप्रस्थाता ॥९॥ यस्यै ते यज्ञियो गर्भ इति । अयज्ञिया वै गर्भा-स्तमेतद्ब्रह्मणैव यजुषा यज्ञियं करोति यस्यै योनिर्हिरण्ययीत्यदो वाऽएतस्यै योनिं विच्छिन्दन्ति यददो निष्कर्षन्त्यमृतमायुर्हिरण्यं तामेवास्या एतदमृतां योनिं करोत्य-ङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यदि पुमान्त्स्याद्यद्यु स्त्री स्यादङ्गा

चाहें जाँघें चीरना ही क्यों न पड़ें इस गर्भ को निकाल ले ।।३।।

जब वह (गर्भ) निकल आवे तो इस मन्त्र को पढ़े, "एजतु दशमास्यो गर्भः" (यजु० ८।२८)—"जरायुणा सह" (यजु० ८।२८)—"दश मास का गर्भ जरायु के साथ स्पन्दन करे।" 'स्पन्दन करे' यह कहकर कि वह उसमें प्राणों की स्थापना करता है। दश मास का इसलिए कहा कि दश मास में गर्भ पूर्णतया बढ़ पाता है। यहाँ यह दस मास का नहीं भी हो तो भी यजु० के मन्त्र पढ़कर वह उसे दस मास का कर देता है ।।४।।

'जरायुणा सह' (यजु० ८।२८)—दस मास का बच्चा जरायु के साथ निकलता है। इसी प्रकार यह भी निकले। "यथायं वायुरेजति यथा समुद्र ऽएजति" (यजु० ८।२८)—"जैसे यह वायु चलता है या जैसे यह समुद्र चलता है।" इससे वह उसमें प्राणों की स्थापना करता है(?)। "एवायं दशमास्यो ऽअस्रज्जरायुणा सह" (यजु० ८।२८)—"इसी प्रकार यह दश मास का जरायु के साथ बाहर निकल आया।" अर्थात्—जैसे दश मास का गर्भ जरायु के साथ निकलता है उसी प्रकार यह भी निकले ।।५।।

अब कुछ लोग पूछते हैं कि इस गर्भ का करना क्या चाहिए ? क्या इसके अंग-अंग काट डालने चाहिएँ, जैसे अन्यों के टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए। इसके अंग तो अभी बन नहीं पाये। गर्दन के नीचे काटकर उसका मेध थाली में टपका देवे। यह मेध सभी अंगों से टपकता है, इसलिए सभी अंगों का भाग समझा जाता है। अब वह वशा (गाय) के इसी प्रकार भाग करते हैं जैसे किये जाते हैं ।।६।।

पशुश्रपण (पशु को पकाने की अग्नि) पर उन भागों को पकाते हैं। वहीं उस मेध को भी पकाते हैं। गर्भ को अँगोछे में चारों ओर लपेटकर पशुश्रपण के पास रख देते हैं। जब पक जाता है तो उन भागों को इकट्ठा करके आहुति देते हैं (अभिजुहोति), परन्तु मेध की नहीं। अब वे पशु को निकालते हैं और मेध को भी ।।७।।

इसको चात्वाल के पीछे अग्नि और यूप के बीच में होकर ले जाते हैं। दक्षिण की ओर रखकर प्रतिप्रस्थाता (यज्ञ के भागों को) काटता है। अब दोनों स्रुचों में घी लगाता है और (होता से) कहता है कि मनोता के लिए हवि के अवसर पर अनुवाक पढ़। अब वे वशा (गाय) के टुकड़े-टुकड़े करते हैं, उसी प्रकार जैसे करने चाहिएँ ।।८।।

प्रचरणी नाम की एक स्रुक् होती है। उसमें प्रतिप्रस्थाता मेध की एक तह लगा देता है। दो भाग काटता है। एक बार घी डालता है और उन दोनों भागों को पूरा करता है। अब अनुवाक के लिए कहता है, और श्रौषट् कहलवाकर (मैत्रावरुण से) कहता है कि अनुवाक कहलवा। वषट्कार के बाद अध्वर्यु आहुति देता है। अध्वर्यु के होम के पीछे प्रतिप्रस्थाता आहुति देता है, इस मंत्र से—।।९।।

"यस्यै ते यज्ञियो गर्भः" (यजु० ८।२९)—"तू जिसका गर्भ यज्ञ के योग्य हो गया है।" गर्भ यज्ञ के योग्य नहीं था। इसको वह मंत्र पढ़कर यज्ञ के योग्य बनाता है। "यस्यै योनिर्हिरण्ययी" (यजु० ८।२९)—"जिसकी सोने की योनि है।" पहले योनि को फाड़ा था जब उसमें से गर्भ निकाला था। सोना अमर-आयु है। इस प्रकार वह इसकी योनि को अमर बना देता हैं। "अंगान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमँ स्वाहा" (यजु० ८/२९)—"जिसके अंग टूटे नहीं हैं उसको मैंने माता के साथ जोड़ा है।" यदि गर्भ नर हो तो ऐसा कहे और यदि गर्भ मादा हो तो

न्यक्तता यस्यै तां मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यद्युऽअविज्ञातो गर्भो भवति पुꣳस्कृत्यैव जुहुयात्पुमाꣳसो हि गर्भो अङ्गान्यक्तता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेत्यदो वाऽएतं मात्रा विष्वञ्चं कुर्वन्ति यददो निष्कर्षन्ति तमेतद्ब्रह्मणैव यजुषा समर्ध्य मध्यतो यज्ञस्य पुनर्मात्रा सङ्गमयति ॥१०॥ अथाध्वर्युर्वनस्पतिना चरति । वनस्पतिनाध्वर्युश्चरित्वा यान्युपभृत्यवदानानि भवन्ति तानि समानयमान आहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीत्यत्याक्रामति प्रतिप्रस्थाता स एतꣳ सर्वमेव मेधं गृह्णीतेऽथोपरिष्टाद्द्विराज्यस्याभिघारयत्याश्राव्याह प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोत्यध्वर्योरनु होमं जुहोति प्रतिप्रस्थाता ॥११॥ पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरिति । बहुदान इति हैतद्यदाह पुरुदस्म इति विषुरूप इति विषुरूपा-इव हि गर्भा इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीर इत्यन्तर्ह्येष मातर्यक्तो भवत्येकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳ स्वाहेति प्रथयत्येवैनामेतत्सुभूयो ह जायत्यष्टापद्येष्टा यदु चानष्टापद्या ॥१२॥ तदाहुः । क्वैतं गर्भं कुर्यादिति वृक्षऽएवैनमुद्दध्युरन्तरिक्षायतना वै गर्भा अन्तरिक्षमिवैतद्यद्वृक्षस्तदेनꣳ स्वऽएवायतने प्रतिष्ठापयति तदु वाऽआहुर्य एनं तत्रानुव्याहरेद्वृक्षऽएनं मृतमुद्धास्यन्तीति तथा हैव स्यात् ॥१३॥ अप एवैनमभ्यवहरेयुः । आपो वाऽअस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनमप्स्वेव प्रतिष्ठापयति तदु वाऽआहुर्य एनं तत्रानुव्याहरेदप्स्वेव मरिष्यतीति तथा हैव स्यात् ॥१४॥ आखूत्करऽएवैनमुपकिरेयुः । इयं वाऽअस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनमस्यामेव प्रतिष्ठापयति तदु वाऽआहुर्य एनं तत्रानुव्याहरेत्क्षिप्रेऽस्मै मृताय श्मशानं करिष्यन्तीति तथा हैव स्यात् ॥१५॥ पशुश्रपणऽएवैनं मरुद्भ्यो जुहुयात् । अहुतादो वै देवानां मरुतो विडहुतमिवैतद्यदशृतो गर्भ आहवनीयाद्वाऽएष आहृतो भवति पशुश्रपणास्तथाह न बहिर्धा यज्ञाद्भवति न प्रत्यक्षमिवाहवनीये देवानां वै मरुतस्तदेनं मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति ॥१६॥ स हुत्वैव समिष्टयजूꣳषि ।

'यस्य' के स्थान में 'यस्यै' और 'तं' के स्थान में 'तां' कह दे अर्थात् "अंगान्यह्रुता यस्यै तां माता समजीगमँ स्वाहा" (यजु० ८।२९)। "यदि गर्भ में (नर-मादा का भेद) ज्ञात न हो सके तो नर मानकर ही कार्य करे क्योंकि 'गर्भ' पुंल्लिग है अर्थात् "अंगान्यह्रुता यस्य तं माता समजीगमँ स्वाहा" (यजु० ८।२९)। पहले इसको इसकी माता से अलग किया था जब इसे माँ के गर्भ से निकाला था। अब इसको मंत्र-पाठ के द्वारा पूर्ण करके इसकी माँ से मिला देता है ॥१०॥

अब अध्वर्यु वनस्पति के लिए आहुति देता है। अध्वर्यु वनस्पति के लिए आहुति देने के पश्चात् उपभृत में जो भाग हैं उनको मिलाकर कहता है, 'अग्नि स्विष्टकृत् के लिए अनुवाक पढ़।' अब प्रतिप्रस्थाता आता है और सम्पूर्ण मेध को लाता है। उसके ऊपर दो बार घी छोड़ता है। श्रौषट् कहलवाकर अध्वर्यु कहता है 'प्रेष्य' अर्थात् आरम्भ करो। वषट्कार के पीछे अध्वर्यु आहुति देता है। अध्वर्यु के पीछे प्रतिप्रस्थाता होम करता है—॥११॥

इस मंत्र से—"पुरुदस्मो विषरूप ऽ इन्दुः" (यजु० ८।३०)—'पुरुदस्म' का अर्थ है बहु-दान (बहुत दान करनेवाला); विषरूप का अर्थ है बहुरूप वाला, क्योंकि गर्भ कई रूपों के होते हैं। "इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः" (यजु० ८।३०)—"मेधावी रस ने अपने भीतर महत्ता को धारण किया।" वस्तुतः यह गर्भ माता में स्थित हुआ। "एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताँ स्वाहा" (यजु० ८।३०)—"एक पैर वाली, दो पैर वाली, तीन पैर वाली, चार पैर वाली, आठ पैर वाली में ये भुवन प्रसरित हों।" यह गाय की बड़ाई है। अष्टापदी न होने के स्थान में यदि अष्टापदी से आहुति दी जाय तो अधिक फल होगा ॥१२॥

इस पर कुछ लोग पूछते हैं कि गर्भ का क्या किया जाय ? उसको वृक्ष पर फैला दें। गर्भ अन्तरिक्ष में स्थित रहते हैं। वृक्ष भी अन्तरिक्ष है, इस प्रकार इसकी इसी से प्रतिष्ठा हो जायगी, परन्तु इस पर लोग कहते हैं कि यदि कोई गाली दे कि वह 'इसको काटकर वृक्ष पर लटका देंगे' तो उसी के समान यह भी है ॥१३॥

इसको जल में छोड़ दें। क्योंकि जल तो इस सबकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार जल में इसकी स्थापना हो जाएगी। परन्तु इस पर भी लोग कहते हैं कि जैसे कोई गाली दे कि 'वह जल में डूबकर मर जाय' यह भी वैसा ही है ॥१४॥

उसको घूरे में गाड़ दें। यह पृथिवी तो सभी की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार वह इसकी पृथिवी में स्थापना करता है। इस पर भी लोगों का कहना है कि यह भी वैसा ही होगा जैसे कोई गाली दे कि यह मर गया, इसके लिए श्मशान तैयार है ॥१५॥

पशुश्रपण में इसकी मरुतों के लिए आहुति दे देवे। देवों में मरुत् या साधारण पुरुष तो आहुति को खाते नहीं। बे-पका गर्भ तो आहुति में गिना नहीं जाता (अहुत है)। पशुश्रपण तो आहवनीय में से लिया जाता है। इस प्रकार इसका यज्ञ से बहिष्कार नहीं होगा, और न यह प्रत्यक्ष रूप में आहवनीय में डाला जाता है। मरुत् देवों के ही हैं। इस प्रकार वह इसकी मरुतों में स्थापना कर देता है ॥१६॥

समिष्ट यजुओं की आहुति के पीछे जब अंगारे कुछ शान्त हो रहे हों तो अंगोछे में गर्भ

प्रथमावशान्तेष्वङ्गारेष्वेतꣳ सोष्णीषं गर्भमादत्ते तं प्राङ् तिष्ठन्जुहोति मारुत्यऽर्चा मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः स सुगोपातमो जन इति न स्वाहाकरोत्यहुतादो वै देवानां मरुतो विडहुतमिवैतद्यदस्वाहाकृतं देवानां वै मरुतस्तदेनं मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति ॥१७॥ अथाङ्गारैरभिसमूहति । मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिरिति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५. २.] ॥ ॥ शतम् २७०० ॥ ॥

इन्द्रो ह वै षोडशी । तं नु सकृदिन्द्रं भूतान्यत्यरिच्यन्त प्रजा व भूतानि ताह्येनेन सदृग्भवमिवासुः ॥१॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां चक्रे । कथं न्वहमिदꣳ सर्वमतितिष्ठेयमर्वागेव मदिदꣳ सर्वꣳ स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत स इदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत्सर्वꣳ ह वाऽइदमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति ॥२॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यानूक्तम् । न ते महित्वमनुभूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्था इति न ह वाऽअस्यासौ द्यौरन्यतरां चन स्फिगीमनुबभूव तथेदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत्सर्वꣳ ह वाऽइदमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति ॥३॥ तं वै हरिवत्यऽर्चा गृह्णाति । हरिवतीषु स्तुवते हरिवतीरनुशꣳसति वीर्यं वै हर इन्द्रोऽसुराणाꣳ सपत्नानाꣳ समवृङ्क्त तथोऽएवैष एतद्वीर्यꣳ हरः सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते तस्माद्धरिवत्यऽर्चा गृह्णाति हरिवतीषु स्तुवते हरिवतीरनुशꣳसति ॥४॥ तं वाऽअनुष्टुभा गृह्णाति । गायत्रं वै प्रातःसवनं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं जागतं तृतीयसवनमथातिरिक्तानुष्टुबत्यैवैनमेतद्रेचयति तस्मादनुष्टुभा गृह्णाति ॥५॥ तं वै चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति । त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्तिसृभिः स्रक्तिभिराप्नोत्यत्यैवैनं चतुर्थ्या स्रक्त्या रेचयति तस्माच्चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति ॥६॥ तं वै प्रातःसवने गृह्णी-

को लेकर पूर्वाभिमुख होकर मरुतों के लिए इस मंत्र से आहुति दे देता है, "मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः" (यजु० ८।३१) —"हे द्यौलोक के वीर मरुतो ! जिसके घर में तुम पीते हो वह सबसे अधिक सुरक्षित होता है।" इसके साथ 'स्वाहा' का उच्चारण नहीं होता; देवों में मरुत् (साधारण जन) आहुति दिये हुए को नहीं खाते। 'स्वाहा' के बिना जो आहुति दी जाती है वह आहुति नहीं समझी जाती। मरुत् देवों में से हैं। इस प्रकार वह इसको मरुतों के साथ प्रतिष्ठित कर देता है ॥१७॥

अब वह इसको कोयले से ढक देता है, इस मंत्र से, "मही द्यौः पृथिवी च न ऽ इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः" (यजु० ८।३२, ऋ० १।२२।१३)—"बड़े द्यौ-पृथिवी इस हमारे यज्ञ को मिलावें और हमको शक्ति देनेवाले पदार्थों से पूर्ण करें" ॥१८॥

षोडशिग्रहः

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

षोडशी ग्रह इन्द्र है। एक बार भूत अर्थात् प्राणी-वर्ग इन्द्र से बढ़ गये। प्राणी ही प्रजा हैं। वे उसकी बराबरी करने लगे ॥१॥

इन्द्र ने सोचा मैं इन सबसे कैसे बढ़ सकूँ और ये सब मुझसे नीचे किस प्रकार रहें ? उसने इस ग्रह (षोडशी) को देखा और इसको ले लिया। वह इन सबसे बढ़ गया और ये सब उससे नीचे हो गये। जो इस रहस्य को समझकर इस ग्रह को ग्रहण करता है वह सबसे बढ़ जाता है और सब उसके अधीन हो जाते हैं ॥२॥

इसीलिए तो ऋषि का वचन है—"न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्थाः" (ऋ० ३।३२।११)—"जब तू अपनी दूसरी जाँघ के सहारे पृथिवी पर ठहरा तो द्यौलोक तेरी बड़ाई का अनुभव नहीं कर सका, या तेरी बड़ाई को न पहुँच सका।" वस्तुतः यह द्यौ उसकी दूसरी जाँघ तक न पहुँच सका। इस प्रकार वह यहाँ की सब वस्तुओं से बढ़ गया और सब वस्तुएँ उसके नीचे हो गईं। वस्तुतः इस रहस्य को समझकर यदि जिस किसी के लिए इस ग्रह को निकालते हैं, वह सबसे बढ़ जाता है और सब उसके अधीन हो जाते हैं ॥३॥

इस ग्रह को लेते समय 'हरिवती' ऋचा पढ़ी जाती है (अर्थात् वह मंत्र जिसमें 'इन्द्र हरिवान्' का उल्लेख हो)। (उद्गाता लोग) 'हरिवती' से ही स्तुति करते हैं और होता 'हरिवती' का ही पाठ करता है। इन्द्र ने अपने शत्रु असुरों का वीर्य अर्थात् 'हर' ले लिया। इसी प्रकार यह (यजमान) भी अपने शत्रुओं के 'हर' को छीन लेता है। इसीलिए वह 'हरिवान्' वाली ऋचा से ग्रह को लेता है। हरिवान् की स्तुति होती है और हरिवती ऋचाओं का ही (उद्गाता लोग) पाठ करते हैं ॥४॥

वह इसको अनुष्टुम् छन्द से लेता है। प्रातःसवन गायत्री का है, दोपहर का सवन त्रिष्टुम् का, तीसरा सवन जगती का। अनुष्टुम् इन सबके ऊपर है। इसी प्रकार इस ग्रह को भी सबके ऊपर रखता है। इसीलिए इसको अनुष्टुम् छन्द से ग्रहण करता है ॥५॥

उसको चौकोर पात्र में लेता है। ये लोक तीन हैं। तीन कोनों से वह तीन लोकों का ग्रहण करता है। चौथे कोने से वह इस सोने को सबके ऊपर स्थापित करता है। इसलिए वह इसके चौकोर पात्र लेता है ॥६॥

इसको प्रातःसवन के आग्रयण के लेने के पीछे लेना चाहिए। प्रातःसवन में लेने के पश्चात्

यात् । आग्रयणं गृहीत्वा स प्रातःसवने गृहीत एतस्मात्कालादुपशेते तदेनᳪ सर्वाणि सवनान्यतिरेचयति ॥७॥ माध्यन्दिने वैनᳪ सवने गृह्णीयात् । आग्रयणं गृहीत्वा सोऽएषा मीमाᳪसैव प्रातःसवनऽएवैनं गृह्णीयादाग्रयणं गृहीत्वा स प्रातःसवने गृहीत एतस्मात्कालादुपशेते ॥८॥ अथातो गृह्णात्येव । आतिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनᳪ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनऽइति ॥९॥ अनया वा । युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा । अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनऽइति ॥१०॥ अथैत्य स्तोत्रमुपाकरोति । सोमोऽत्यरेच्युपावर्तध्वमित्यत्येवैनमेतद्रेचयति तं वै पुरास्तमयादुपाकरोत्यस्तमितेऽनुशᳪसति तदेनेनाहोरात्रे संदधाति तस्मात्पुरास्तमयादुपाकरोत्यस्तमितेऽनुशᳪसति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५. ३.] ॥ ॥

सर्वे ह वै देवाः । अग्रे सदृशा आसुः सर्वे पुण्यास्तेषाᳪ सर्वेषाᳪ सदृशानाᳪ सर्वेषां पुण्यानां त्रयोऽकामयन्तातिष्ठावानः स्यामेत्यग्निरिन्द्रः सूर्यः ॥१॥ तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । तऽएतानतिग्राह्यान्ददृशुस्तानत्यगृह्णत तद्यदेनानत्यगृह्णत तस्मादतिग्राह्या नाम तेऽतिष्ठावानोऽभवन्यथैतऽएतदतिष्ठेवातिष्ठेव ह वै भवति यस्यैवं विदुष एतान्ग्रहान्गृह्णन्ति ॥२॥ नो ह वाऽइदमग्रेऽग्नौ वर्च आस । यदिदमस्मिन्वर्चः सोऽकामयतेदं मयि वर्चः स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत ततोऽस्मिन्नेतद्वर्च आस ॥३॥ नो ह वाऽइदमग्रऽइन्द्रऽओज आस । यदिदमस्मिन्नोजः सोऽकामयतेदं मय्योजः स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत ततोऽस्मिन्नेतदोज आस ॥४॥ नो ह वाऽइदमग्रे सूर्ये भ्राज आस । यदिदमस्मिन्भ्राजः सोऽकामयतेदं मयि भ्राजः स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत ततोऽस्मिन्नेतद्भ्राज

इस समय से रक्खा ही रहता है। इस प्रकार वह इसको सब सवनों से बढ़ा देता है ॥७॥

या आग्रयण के लेने के पीछे दोपहर के सवन में इसको लेवे। यह तो मीमांसा मात्र है। लेना तो प्रातःसवन में ही चाहिए, आग्रयण के पश्चात्। वह प्रातःसवन में लिये जाने के पश्चात् रक्खा ही रहता है ॥८॥

वह उसमें से इस मंत्र से लेता है—"आतिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनँ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने" (यजु० ८।३३, ऋ० १।८४।३)—"हे वृत्र को मारनेवाले, रथ पर चढ़। तेरे घोड़े मंत्रों द्वारा जोत दिये गए। पत्थर (सोम पीसने का) अपने शब्द द्वारा तेरे मन को इधर खींचे। तू आश्रय के लिए लिया गया है षोडशी इन्द्र के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। इन्द्र षोडशी के लिए तुझको" ॥९॥

या इस मंत्र से—"युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न ऽ इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने" (यजु० ८।३४, ऋ० १।१०।३)—"बड़े केशवाले, प्रबल और लगामवाले घोड़ों को जोतो। हे सोम या इन्द्र! हमारी वाणी सुनने के लिए यहाँ आ। तू आश्रय के लिए लिया गया है इन्द्र षोडशी के लिए तुझको। यह तेरी योनि है। तुझको इन्द्र षोडशी के लिए" ॥१०॥

अब लौटकर स्तोत्र पढ़ता है, 'सोम सबके ऊपर हो गया। लौट आओ।' वस्तुतः वह इसे ऊपर बढ़ा देता है (षोडशी ग्रह के द्वारा)। सूर्यास्त से ही पढ़ता है। सूर्यास्त के पीछे शस्त्र पढ़ा जाता है। वह सूर्यास्त से पहले इसको पढ़ता है और सूर्यास्त के पीछे शस्त्र-पाठ करता है। इस प्रकार वह रात और दिन को मिला देता है ॥११॥

अतिग्राह्या ग्रहाः

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

पहले सब देव एकसमान थे। सब भले थे। उन सब एक-से और पुण्य-देवों में से तीन अर्थात् अग्नि, इन्द्र और सूर्य ने चाहा कि हम बढ़ जावें ॥१॥

वे पूजा और श्रम करते रहे। उन्होंने इन अतिग्राह्य (ग्रहों) को देखा और उनको (अति+ग्रह) अधिक निकाल लिया। इसलिए इनका नाम 'अतिग्राह्य' पड़ा। वे बढ़ गये जैसे कि अब तक बढ़े हैं। जो कोई इस रहस्य को समझकर इन 'अतिग्राह्य' ग्रहों को निकालता है वह बढ़ जाता है ॥२॥

अग्नि में पहले वह तेज नहीं था जो अब है। उसने चाहा कि मुझमें तेज हो जाय। उसने इस ग्रह को देखा और अपने लिए निकाल लिया। तब से उसमें यह तेज आ गया ॥३॥

इन्द्र में पहले वह ओज नहीं था जो अब है। उसने चाहा कि मुझमें यह चमक आ जाय। उसने इस ग्रह को देखा और अपने लिए निकाल लिया। तब से उसमें ओज है ॥४॥

सूर्य में पहले वह चमक न थी जो अब है। उसने चाहा कि मुझमें यह चमक आ जाय। उसने इस ग्रह को देखा और अपने लिए निकाल लिया। तब से उसमें चमक है। वस्तुतः इस

आसैतानि ह वै तेजाꣳस्येतानि वीर्याण्यात्मन्धत्ते यस्यैवं विदुष एतान्ग्रहान्गृह्ण-
न्ति ॥५॥ तान्वै प्रातःसवने गृह्णीयात् । आग्रयणं गृहीत्वात्मा वाऽआग्रयणो बहु
वाऽइदमात्मन एकैकमतिरिक्तं क्लोमहृदयं त्वग्यत् ॥६॥ माध्यन्दिने वैनान्त्सव-
ने गृह्णीयात् । उक्थ्यं गृहीत्वोपाकरिष्यन्वा पूतभृतोऽग्रꣳ ह वाऽअस्यैषोऽनि-
रुक्त आत्मा यदुक्थ्यः सोऽएषा मीमाꣳसैव प्रातःसवनऽएवैनान्गृह्णीयादाग्रयणं
गृहीत्वा ॥७॥ ते माहेन्द्रस्यैवानु होमꣳ हूयन्ते । एष वाऽइन्द्रस्य निष्केवल्यो
ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वै यज-
मानो यजमानस्य वाऽएते कामाय गृह्यन्ते तस्मान्माहेन्द्रस्यैवानु होमꣳ हूयन्ते
॥८॥ अथातो गृह्णात्येव । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं म-
यि पोषम् । उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे
॥९॥ उत्तिष्ठन्नोजसा । सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् । उपया-
मगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ॥१०॥ अदृश्रमस्य केत-
वः । वि रश्मयो जनाꣳ२॥ऽअनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सू-
र्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजायेति ॥११॥ तेषां भक्षः । अग्ने व-
र्चस्विन्वर्चस्वांस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासमिन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवे-
ष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासꣳ सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं
मनुष्येषु भूयासमित्येतानि ह वै भ्राजाꣳस्येतानि वीर्याण्यात्मन्धत्ते यस्यैवं विदुष
एतान्ग्रहान्गृह्णन्ति ॥१२॥ तान्वै पृष्ठ्ये षडहे गृह्णीयात् । पूर्वे त्र्यहऽआग्नेयमेव
प्रथमेऽहन्नैन्द्रं द्वितीये सौर्यं तृतीयऽएवमेवान्वहम् ॥१३॥ तानु हैकऽउत्तरे
त्र्यहे गृह्णन्ति । तदु तथा न कुर्यात्पूर्वऽएवैनांस्त्र्यहे गृह्णीयात्कामं तूत्तरे त्र्यहे ग्रही-
ष्यन्त्स्यात्पूर्वऽएवैनांस्त्र्यहे गृहीत्वाथोत्तरे त्र्यहे गृह्णीयादेवमेव यथापूर्वं विश्वजिति
सर्वपृष्ठऽएकाहऽएव गृह्यन्ते ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [५. ४.] ॥॥

रहस्य को समझकर जिसके लिए ये ग्रह निकाले जाते हैं वह इन तेज, पराक्रमोंवाला हो जाता है ।।५।।

इनको प्रातःसवन में लेना चाहिए, आग्रयण ग्रह को लेने के पीछे । आग्रयण आत्मा है । अन्य इसके एक-एक करके अतिरिक्त अंग हैं जैसे क्लोम (फेफड़े) और हृदय तथा अन्य ।।६।।

या इन ग्रहों को दोपहर के सवन में पूतभृत में से लेना चाहिए, उक्थ्य ग्रह को लेने के पीछे अथवा स्तोत्र पढ़ने के समय (उपाकरिष्यन्) । उक्थ्य इसका अनिरुक्त आत्मा है । परन्तु यह तो मीमांसा मात्र है । वस्तुतः इसको आग्रयण के पीछे प्रातःसवन में ही लेना चाहिए ।।७।।

माहेन्द्र ग्रह के पीछे इनकी आहुति दी जाती है । यह जो माहेन्द्र ग्रह है, इन्द्र का निष्केवल्य (अकेला या अपना निज का) ग्रह है । इसी प्रकार स्तोत्र तथा शस्त्र भी इन्द्र के अपने निज के (निष्केवल्य हैं ।) यजमान इन्द्र है, उसी के लिए ये ग्रह निकाले जाते हैं । इसलिए माहेन्द्र ग्रह के पीछे इनकी आहुति दी जाती है ।।८।।

इन ग्रहों को इस प्रकार निकालता है (पहला इस मंत्र से)—"अग्ने पवस्व स्वपा ऽ अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् । उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस ऽ एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे" (यजु० ८।३८, ऋ० ९।६६।२१)—"हे अग्नि, अपने कार्य में दक्ष, तू पवित्र हो, मुझे तेज और पराक्रम दे । धन और पुष्टि दे । तू आश्रय के लिए लिया गया है अग्नि के लिए तुझे, तेज के लिए । यह तेरी योनि है । अग्नि के लिए तुझको, तेज के लिए तुझको" ।।९।।

दूसरा इस मंत्र से—"उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे ऽ अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ।" उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौ जस ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे" (यजु० ८।३९, ऋ० ८।७६।१०) "हे इन्द्र ! आपने ओज के साथ ग्रह में निकाले हुए सोम को इस प्रकार पिया है कि ठोढ़ी आदि काँप गए हैं । तू आश्रय के लिए लिया गया है । तुझे इन्द्र के लिए ओज के साथ । यह तेरी योनि है । तुझे इन्द्र के लिए, ओज के लिए" ।।१०।।

तीसरा इस मंत्र से—"अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ ऽ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाया" (यजु० ८।४०, ऋ० १।५०।३)—"जैसे तेजयुक्त अग्नियाँ दिखाई देती हैं उसी प्रकार इसके केतु और रश्मियाँ चमकें । तुझे आश्रय के लिए लिया गया । सूर्य के लिए तुझको, चमकनेवाले के लिए तुझको । यह तेरी योनि है । सूर्य के लिए तुझको, प्रकाश के लिए तुझको" ।।११।।

अब सोम-पान इस प्रकार है (पहला)—"अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्" (यजु० ८।३८)—"हे वर्चस्वी अग्नि ! तू देवों में वर्चस्वी है । मैं मनुष्यों में वर्चस्वी हो जाऊँ ।" (दूसरा)—"इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्" (यजु० ८।३९)—"हे ओजवाले इन्द्र ! तू देवों में ओजवाला है । मैं मनुष्यों में ओजिष्ठ हो जाऊँ ।" (तीसरा)—"सूर्य्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्" (यजु० ८।४०)—"हे तेजयुक्त सूर्य ! तू देवों में तेजयुक्त है । मैं मनुष्यों में तेजयुक्त हो जाऊँ ।" इस रहस्य को जाननेवाले जिस मनुष्य के लिए ये ग्रह निकाले जाते हैं उसके लिए ये ऋत्विज् उसमें तेज और पराक्रम की स्थापना करते हैं ।।१२।।

इनको पृष्ठ्य षडह (छः दिन षडह होता है) के पहले तीन दिनों में निकालना चाहिए, अर्थात् अग्नि का पहले दिन, इन्द्र का दूसरे दिन और सूर्य का तीसरे दिन । इस प्रकार एक-एक प्रतिदिन ।।१३।।

कुछ लोग इनको पिछले तीन दिन में निकालते हैं, परन्तु ऐसा न करना चाहिए । इनको पहले तीन दिन में ही निकालना चाहिए । यदि पिछले तीन दिनों में ही निकालने की इच्छा हो तो पहले इनको पहले तीन दिन में निकाल ले और फिर पिछले तीन दिन में । 'विश्वजित् सर्व-पृष्ठ' में ये तीनों ग्रह यथाक्रम एक ही दिन में निकाले जाते हैं ।।१४।।

एष वै प्रजापतिः । य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवा-प्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते ॥१॥ उपाꣳशुपात्रमेवान्वजाः प्रजायन्ते । तद्धि तत्पुनर्यज्ञे प्र-युज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥२॥ अन्तर्यामपात्रमेवान्ववयः प्रजायन्ते । तद्धि तत्पुनर्यज्ञे प्रयुज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥३॥ अथ यदेतयोरुभयोः । सह सतोरुपाꣳशुं पूर्वं जुहोति तस्मादु सह सतोऽजावि-कस्योभयस्यैवाजाः पूर्वा यन्त्यनूच्योऽवयः ॥४॥ अथ यदुपाꣳशुꣳ हुत्वा । ऊर्ध्वमु-न्मार्ष्टि तस्मादिमा अजा अरा ऊतरा आक्रममाणा-इव यन्ति ॥५॥ अथ यदन्तर्या-मꣳ हुत्वा । अवाञ्चमवमार्ष्टि तस्मादिमा अवयोऽवाचीनशीर्ष्ण्यः खनन्त्य-इव य-न्त्येता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजावयस्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति ॥६॥ शुक्रपात्रमेवानु मनुष्याः प्रजायन्ते । तद्धि तत्पुनर्यज्ञे प्रयुज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्तऽएष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएवेन्द्रः पुरुषो वै पशूनामिन्द्रस्तस्मात्पशूनामीष्टे ॥७॥ ऋतुपात्रमेवान्वेकश-फं प्रजायते । तद्धि तत्पुनर्यज्ञे प्रयुज्यते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्त ऽइतीव वाऽऋतुपात्रमितीवैकशफस्य शिर आग्रयणपात्रमुक्थ्यपात्रमादित्यपात्र-मेतान्येवानु गावः प्रजायन्ते तानि वै तानि पुनर्यज्ञे प्रयुज्यन्ते तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते ॥८॥ अथ यदजाः । कनिष्ठानि पात्राण्यनु प्रजायन्ते तस्मा-देतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्त्यः कनिष्ठाः कनिष्ठानि हि पात्राण्यनु प्रजायन्ते ॥९॥ अथ यद्गावः । भूयिष्ठानि पात्राण्यनु प्रजायन्ते त-स्मादेताः सकृत्संवत्सरस्य विजायमाना एकैकं जनयन्त्यो भूयिष्ठा भूयिष्ठानि हि पात्राण्यनु प्रजायन्ते ॥१०॥ अथ द्रोणकलशे । अन्ततो हारियोजनं ग्रहं गृह्णाति प्रजापतिर्वै द्रोणकलशः स इमाः प्रजा उपावर्तन्ते ता अवति ता अभिजिघ्रत्येत-द्वाऽएना भवति यदेनाः प्रजनयति ॥११॥ पञ्च ह त्वेव तानि पात्राणि । यानी-

अध्याय ५—ब्राह्मण ५

यह जो यज्ञ किया जाता है यही प्रजापति है जिससे प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं या अब तक उत्पन्न होती हैं ।।१।।

उपांशु पात्र के पीछे बकरियाँ लाई जाती हैं । इस उपांशु पात्र का प्रयोग यज्ञ में पुनः-पुनः होता है । इसलिए ये प्रजा भी फिर-फिर लाई जाती हैं ।।२।।

अन्तर्याम पात्र के पीछे भेड़ें लाई जाती हैं । इस अन्तर्याम पात्र का प्रयोग यज्ञ में पुनः-पुनः होता है । इसलिए ये प्रजा भी फिर-फिर लाई जाती हैं ।।३।।

अब चूँकि इन दोनों पात्रों के होते हुए उपांशु की आहुति पहले दी जाती है, इसी प्रकार बकरियों और भेड़ों के साथ होते हुए बकरियाँ आगे चलती हैं, भेड़ें पीछे ।।४।।

अब चूँकि उपांशु की आहुति देकर उसको ऊपर से पोंछते हैं, इसलिए जिस प्रकार तेज (गाड़ी के) आरे ऊपर को चलते हैं इसी प्रकार ये बकरियाँ भी बड़ी तेजी से चढ़ जाती हैं ।।५।।

और चूँकि अन्तर्याम की आहुति देकर उसको नीचे से पोंछते हैं, इसीलिए भेड़ें नीचे को सिर करके चलती हैं मानो खोद रही हैं । ये बकरियाँ और भेड़ें प्रजापति के सबके प्रत्यक्ष नमूने हैं । इसलिए वर्ष में तीन बार बच्चा देती हैं और दो या तीन बच्चे देती हैं ।।६।।

शुक्र पात्र के पीछे मनुष्य लाये जाते हैं । चूँकि इस पात्र का यज्ञ में पुनः-पुनः प्रयोग होता है, इसलिए प्रजा भी पुनः-पुनः लाई जाती हैं । शुक्र वही है जो तपता है (अर्थात् सूर्य) ; यही इन्द्र है । मनुष्य पशुओं में इन्द्र है । इसलिए यह उनके ऊपर राज्य करता है ।।७।।

ऋतु-पात्र के पीछे एक खुरवाले (पशु) लाये जाते हैं । चूँकि यज्ञ में इस पात्र का प्रयोग फिर-फिर होता है, इसलिए ये प्रजा भी फिर-फिर लाई जाती हैं । ऋतु-पात्र ऐसा होता है (हाथ से बताकर) और एक खुरवाले पशुओं का सिर भी ऐसा होता है । आग्रयण पात्र, उक्थ्य पात्र और आदित्य पात्र—इन पात्रों के पीछे गायें लाई जाती हैं । इन सबका यज्ञ में पुनः-पुनः प्रयोग होता है, इसलिए प्रजायें बार-बार लाई जाती हैं ।।८।।

चूँकि बकरियाँ कनिष्ठ पात्रों के पीछे लाई जाती हैं, इसलिए ये साल में तीन बार बच्चा देती हैं और दो या तीन बच्चे होते हैं, और कनिष्ठ होते हैं, क्योंकि ये कनिष्ठ पात्रों के पीछे लाई जाती हैं ।।९।।

और गायें चूँकि भूयिष्ठ (पुश्कल) पात्रों के पीछे लाई जाती हैं, इसलिए साल में एक बार एक ही बच्चा देकर भी वे पुश्कल होती हैं, क्योंकि भूयिष्ठ पात्रों के पीछे लाई जाती हैं ।।१०।।

अब द्रोण कलश में अन्त को हारियोजन ग्रह निकालता है । द्रोण कलश प्रजापति है । यह इन्हीं प्रजाओं का रूप हो जाता है । इनकी रक्षा करता है । इनको सूँघता है । यह इनको उत्पन्न करता है अर्थात् इन्हीं का-सा रूप हो जाता है ।।११।।

ये पात्र पाँच हैं जिनके अनुसार प्रजायें लाई जाती हैं—उपांशु और अन्तर्याम (मिलकर)

माः प्रजा अनु प्रजायन्ते समानमुपा७श्वन्तर्यामयोः शुक्रपात्रमृतुपात्रमाग्रयणपात्रमु-क्थ्यपात्रं पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञो यद्यु ष-डेवऽर्तवः संवत्सरस्येत्यादित्यपात्रमेवैतेषा७ षष्ठम् ॥१२॥ एक७ ह त्वेव तत्पा-त्रम् । यदिमाः प्रजा अनु प्रजायन्तऽउपा७शुपात्रमेव प्राणो ह्युपा७शुः प्राणो हि प्रजापतिः प्रजापति७ ह्येवेद७ सर्वमनु ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [५.५.] ॥

एष वै प्रजापतिः । य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्ये-तर्ह्यनु प्रजायन्ते स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वावकाशानवकाशयति ॥१॥ स उपा७-शुमेव प्रथममवकाशयति । प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथोपा७शुसवनं व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथान्तर्याममुदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वे-त्यथैन्द्रवायवं वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ मैत्रावरुणं क्रतूदक्षाभ्यां मे व-र्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाश्विन७ श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ शुक्राम-न्थिनौ चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथामिति ॥२॥ अथाग्रयणम् । आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथोक्थ्यमोजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ ध्रुवमायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाम्भृणौ विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे प-वेथामिति वैश्वदेवौ वाऽअम्भृणावतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्येभ्योऽतः पि-तृभ्यस्तस्माद्वैश्वदेवावम्भृणौ ॥ ३ ॥ अथ द्रोणकलशम् । कोऽसि कतमोऽसीति प्रजापतिर्वै कः कस्यासि को नामासीति प्रजापतिर्वै को नाम यस्य ते नामाम-न्महीति मनुते ह्यस्य नाम यं त्वा सोमेनातीतृपामेति तर्पयति ह्येन७ सोमेन स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वान्वङ्गमाशिषमाशास्ते सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामिति तत्प्रजामा-शास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते ॥४॥ तान्वै न सर्वमिवावकाशयेत् । यो न्वेव ज्ञातस्तमवकाशयेद्यो वास्य प्रि-यः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनान्प्राप्नुयात्स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा कृत्स्नं यज्ञं

एक हुआ, शुक्र पात्र, ऋतु पात्र, आग्रयण पात्र, उक्थ्य पात्र । साल की पाँच ऋतुएँ होती हैं। वर्ष प्रजापति है, प्रजापति यज्ञ है। अगर कहें कि संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं तो छठा आदित्य ग्रह भी तो है ॥१२॥

वस्तुतः एक ही पात्र है जिसके पीछे प्रजाएँ लाई जाती हैं, अर्थात् उपांशु पात्र। उपांशु प्राण है, प्रजापति प्राण है, और इस संसार में प्रत्येक वस्तु प्रजापति के पीछे है ॥१३॥

ग्रहावेक्षणम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ६

यह जो यज्ञ किया जाता है यही प्रजापति है, इसी से प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं और इसी से आज तक उत्पन्न होती हैं। आश्विन ग्रह को लेने के पश्चात् वह अवकाश कृत्य को करता है (अर्थात् ग्रहों को देखना) ॥१॥

पहले उपांशु ग्रह का अवकाशन करता है, इस मन्त्र से—"प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के दाता, मेरे प्राण के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" उपांशु सवन को इस मन्त्र से—"व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"व्यान के लिए, हे वर्चस् के लिए दाता, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" फिर अन्तर्याम को इस मन्त्र से—"उदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, उदान के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" फिर ऐन्द्रवायव को इस मन्त्र से—"वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, वाणी के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब मैत्रा-वरुण को इस मन्त्र से—"क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, विचार और क्रिया दोनों के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब आश्विन को—"श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, श्रोत्र के लिए, वचस् के लिए पवित्र हो।" अब शुक्र और मन्थिन ग्रहों को इस मन्त्र से—"चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्" (यजु० ७।२७)—"हे वर्चस् के देनेवाले, तुम दोनों आँखों के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो" ॥२॥

अब आग्रायण को इस मन्त्र से—"आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२८)—"हे वर्चस् के दाता, मेरे आत्मा के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब उक्थ्य को इस मन्त्र से—"ओजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२८)—"मेरे ओज के लिए, हे वर्चस् के दाता, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब ध्रुव को—"आयुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व" (यजु० ७।२८)—"हे वर्चस् के दाता, मेरी आयु के लिए, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" अब आम्भृण अर्थात् पूतभृत और आध-वनीय को—"विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्" (यजु० ७।२८)—"मेरी सब प्रजाओं के लिए, हे वर्चस् के देनेवालो, वर्चस् के लिए पवित्र हो।" ये दो पात्र विश्वेदेवों के हैं। क्योंकि इन्हीं में से सोम निकाला गया है—मनुष्य के लिए भी और पितरों के लिए भी, इसलिए ये दो पात्र विश्वेदेवों के हैं ॥३॥

अब द्रोण कलश को—"कोऽसि कतमोऽसि" (यजु० ७।२९)—'कः' प्रजापति है। "कस्यासि को नामासि" (यजु० ७।२९)—'को' नाम प्रजापति का है। "यस्य ते नामामन्महि" (यजु० ७।२९)—"जिस तेरे नाम का हम चिन्तन करते हैं।" वस्तुतः वह उसके नाम का चिन्तन करता है। "यं त्वा सोमेनातीतृपाम्" (यजु० ७।२९)—"जिस तुझको मैंने सोम से तृप्त किया।" वह इनको सोम से तृप्त करता है। आश्विन ग्रह को लेकर एक-एक अंग को आशीर्वाद कहता है—"सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम" (यजु० ७।२९)—"सन्तानों से युक्त होऊँ।" इस प्रकार वह सन्तान के लिए प्रार्थना करता है। "सुवीरो वीरैः" (यजु० ७।२९)—"वीरों के द्वारा सुवीर होऊँ।" इस प्रकार वीरों के लिए प्रार्थना करता है। "सुपोषः पोषैः" (यजु० ७।२९)—"सम्पुष्टि-दायक पदार्थों द्वारा सुपोष होऊँ।" इस प्रकार पुष्टि के लिए प्रार्थना करता हूँ ॥४॥

सबसे अवकाशन न कराये। केवल उसी से जो ज्ञात हो, या जो अपना प्रिय हो, या जिसने वेद-पाठ द्वारा अपने को ऋचाओं से युक्त किया हो। आश्विन ग्रह को लेकर वह सब यज्ञ

जनयति तं कृत्स्नं यज्ञं जनयित्वा तमात्मन्धत्ते तमात्मन्कुरुते ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [५. ६.] ॥

ता वा ऽएताः । चतुस्त्रिꣳशद्व्याहृतयो भवन्ति प्रायश्चित्तयो नामैष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते ॥१॥ अष्टौ वसवः । एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे ऽएव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिꣳश्यौ त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशस्तदेनं प्रजापतिं करोत्येतद्वा ऽअस्त्येतद्ध्यमृतं यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्त्येतदु तद्यन्मर्त्यꣳ स एष प्रजापतिः सर्वं वै प्रजापतिस्तदेनं प्रजापतिं करोति तस्मादेताश्चतुस्त्रिꣳशद्व्याहृतयो भवन्ति प्रायश्चित्तयो नाम ॥२॥ ता हैके । यज्ञतन्व इत्याचक्षते यज्ञस्य ह्येवैतानि पर्वाणि स एष यज्ञस्तायमान एता एव देवता भवन्नेति ॥३॥ सा यदि घर्मदुघा ह्वलेत् । अन्यामुपसंक्रामेयुः स यस्यामेवैनं वेलायां पुरा पिन्वयन्ति तद्धैवैनामुदीचीꣳ स्थापयेदग्रेण वा शालां प्राचीम् ॥४॥ तद्ये ऽएते ऽअभितः । पुच्छकाण्डꣳ शिखण्डास्ये ऽउह्याते तयोर्यद्दक्षिणं तस्मिन्नेताश्चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोत्येतावान्वै सर्वो यज्ञो यावत्य एताश्चतुस्त्रिꣳशद्व्याहृतयो भवन्ति तदस्यां कृत्स्नमेव सर्वं यज्ञं दधात्येषा ह्यतो घर्मं पिन्वत ऽएषो तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते ॥५॥ अथ यद्यज्ञस्य ह्वलेत् । तत्समन्वीक्ष्य जुहुयाद्दीक्षोपसत्स्वाहवनीये प्रसुत ऽआग्नीध्रे वि वा ऽएतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद्ध्वलति सा यैव तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्भिषज्यति तया संदधाति ॥६॥ अथ यदि स्कन्देत् । तदद्भिरुपनिनयेदद्भिर्वा ऽइदꣳ सर्वमाप्तꣳ सर्वस्यैवाप्त्यै वैष्णववारुण्य ऽर्चा यद्वा ऽइदं किं चार्छति वरुण एवेदꣳ सर्वमार्पयति ययोरोजसा स्कभिता रजाꣳसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा । या पत्येते ऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णू ऽअगन्वरुणा पूर्वहूताविति यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैतदार्छति वरुणो वा ऽआर्पयिता तद्यस्याश्चैवैतद्देवताया आर्छति यो च देवतार्पयति ताभ्यामेवैतदुभाभ्यां

को उत्पन्न करता है और सब यज्ञ को उत्पन्न करके वह उसको अपने में धारण करता है। वह उसको अपना बना लेता है ॥५॥

सोमप्रायश्चित्तानि

अध्याय ५—ब्राह्मण ७

चौंतीस व्याहृतियाँ होती हैं जिनको प्रायश्चित्ति कहते हैं। यह जो यज्ञ किया जाता है वही प्रजापति है जिससे ये प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं और जिससे अब तक ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं ॥१॥

आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य और ये दो द्यौ तथा पृथिवी—ये हुए तैंतीस। प्रजापति है चौंतीसवाँ। यह (यजमान को) प्रजापति कर देता है। यह जो है वह अमृत है; जो अमृत है वह यह है। जो मर्त्य है वह भी प्रजापति है, क्योंकि प्रजापति सब-कुछ है। इस प्रकार वह इसको प्रजापति बनाता है। इस प्रकार ये चौंतीस व्याहृतियाँ हैं जिनको प्रायश्चित्ति कहते हैं ॥२॥

कुछ इनको 'यज्ञ का तनु' कहते हैं। ये यज्ञ के ही पर्व हैं। यह यज्ञ जब किया जाता है तो वह इन देवताओं का रूप धारण करता जाता है ॥३॥

यदि वह घर्मदुघा दूध न दें (वह गाय जिसके दूध को औटा कर घर्म बनाया जाता है घर्मदुघा कहलाती है) तो दूसरी को लेवें। और जिस स्थान पर उसको दुहते, उसी स्थान पर उसको खड़ा करें, उत्तराभिमुख या शाला की ओर मुख करके ॥४॥

और जो पूँछ की डण्डी के दोनों ओर जो शिखण्ड या निकली हुई हड्डियाँ हैं उनमें जो दाहिनी है, उसी पर वह चौंतीस आहुतियाँ देता है। ये सब यज्ञ ही तो हैं ये जो चौंतीस आहुतियाँ हैं। इस प्रकार वह उस सम्पूर्ण यज्ञ को उसमें स्थापित कर देता है। क्योंकि वहीं से घर्म निकलता है; यही उसका प्रायश्चित्त है ॥५॥

अब यज्ञ का जो भाग सफल न हो उसी के उद्देश्य से आहुति दे—उपसदों में और आहवनीय में, दीक्षा यज्ञ में, तथा सोम यज्ञ में, अग्नीध्र में। क्योंकि यज्ञ के जिस भाग में सफलता न हो वही टूटा हुआ समझो। और जो उसका देवता है उसी के द्वारा वह सम्पूर्ण होता है ॥६॥

यदि कुछ गिर जाय तो उस पर पानी डाल दे, क्योंकि वे सब जलों से ही व्याप्त हैं—सबकी प्राप्ति के लिए, विष्णु और वरुण की ऋचा पढ़कर। यहाँ जो कुछ कष्ट मनुष्य को होता है वह सब वरुण देवता के ही द्वारा होता है। "ययोरोजसा स्कभिता रजाᳬसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। य पत्येते ऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णू ऽ अगन्वरुणा पूर्वहूतौ" (यजु० ८।५९, अथर्व ७।२५।१)—"जिन दोनों के ओज से ये लोक ठहरे हुए हैं जो पराक्रमों के द्वारा सबसे वीर और उत्तम हैं; जो अपूर्व शक्ति से युक्त हैं। इन बुलाये हुए विष्णु और वरुण के पास (यह यज्ञ) गया है।" यज्ञ विष्णु है। यह यज्ञ ही कष्ट में है। वरुण ने कष्ट दिया है। जिस देवता की हानि होती है और जिस देवता के द्वारा हानि होती है उन दोनों के द्वारा उसका उपचार करता है।

भिषज्यत्युभाभ्याᳫं संदधाति ॥७॥ अथोऽअग्न्येव मृशेत् । देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन्पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूदित्येवैतदाह ॥८॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह । किᳫं स यजेत यो यज्ञस्य व्यृद्ध्या पापीयान्मन्येत यज्ञस्य वाऽअहं व्यृद्ध्या श्रेयान्भवामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह यदेता आशिष उपगच्छति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥८ [५. ७.] ॥ ॥

तस्यैतत्त्रिरात्रे सहस्रं ददाति । तदेषा साहस्री क्रियते स प्रथमेऽहंस्त्रीणि च शतानि नयति त्रयस्त्रिᳫंशतं चैवमेव द्वितीयेऽहंस्त्रीणि चैव शतानि नयति त्रयस्त्रिᳫंशतं चैवमेव तृतीयेऽहंस्त्रीणि चैव शतानि नयति त्रयस्त्रिᳫंशतं चाथैषा साहस्र्यतिरिच्यते ॥१॥ सा वै त्रिरूपा स्यादित्याहुः । एतद्ध्यस्यै रूपतममिवेति रोहिणी ह त्वेवोपध्वस्ता स्यादेतद्धैवास्यै रूपतममिव ॥२॥ सा स्यादप्रवीता । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्साहस्र्ययातयाम्नी वाऽइयं वागयातयाम्न्यप्रवीता तस्मादप्रवीता स्यात् ॥३॥ तां प्रथमेऽहन्नयेत् । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्साहस्री तस्या एतत्सहस्रं वाचः प्रज्ञातं पूर्वा हैषैति पश्चादेनां प्रज्ञातमन्वेत्युत्तमे वैनामहन्नयेत्पूर्वमहास्यै प्रज्ञातमेति पश्चादेषान्वेति सोऽएषा मीमाᳫंसैवोत्तमऽएवैनामहन्नयेत्पूर्वमहास्यै प्रज्ञातमेति पश्चादेषान्वेति ॥४॥ तामुत्तरेण हविर्धाने । दक्षिणेनाग्नीध्रं द्रोणकलशमवघ्रापयति यज्ञो वै द्रोणकलशो यज्ञमेवैनामेतद्दर्शयति ॥५॥ आजिघ्र कलशम् । मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति रिरिचान-इव वाऽएष भवति यः सहस्रं ददाति तमेवैतद्रिरिचानं पुनराप्याययति यदाहाजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति ॥६॥ पुनरूर्जा निवर्तस्वेति । तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह पुनरूर्जा निवर्तस्वेति ॥७॥ सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति । तत्सहस्रेण रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति ॥८॥ उरु-

उसी के द्वारा वह इसको संयुक्त करता है ॥७॥

इस मन्त्र से स्पर्श करे—"देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्ष-मगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्" (यजु० ८।६०)—"यज्ञ देवों के पास द्यौलोक को गया। वहाँ से मुझे धन मिले। यज्ञ मनुष्य के पास अन्तरिक्ष में गया। वहाँ से मुझे धन मिले। यज्ञ पितरों के पास पृथिवी में गया। वहाँ से मुझे धन मिले। जिस किसी लोक में यज्ञ गया वहीं मेरा कल्याण हो।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ जहाँ कहीं जाय, वहीं मेरा कल्याण हो ॥८॥

इस पर आरुणि ने कहा था कि 'वह क्यों यज्ञ करे जो यज्ञ की त्रुटि पर अपने को पापी समझे। मैं तो यज्ञ की त्रुटि द्वारा अच्छा होता हूँ।' यह बात उसने आशीर्वाद को ध्यान में रखते हुए कही थी ॥९॥

सहस्र-दक्षिण।

अध्याय ५—ब्राह्मण ८

जब वह उस त्रिरात्र यज्ञ में सहस्र गायें देता है तो गायें सहस्रवीं होती हैं। पहले दिन तीन सौ तैंतीस गायें लाता है। इसी प्रकार दूसरे दिन तीन सौ तैंतीस लाता है। तीसरे दिन भी तीन सौ तैंतीस लाता है। अब हजारवीं रह गई ॥१॥

कुछ लोग कहते हैं कि वह तीन रंग की हो, क्योंकि यही इसका सबसे अच्छा रूप है। परन्तु वह रोहिणी (लाल) और उपध्वस्त (धब्बेदार) हो, यही उसका सबसे अच्छा रूप है ॥२॥

वह अप्रवीत (अक्षत योनि) होनी चाहिए। यह जो साहस्री है वह वस्तुतः वाणी है। यह वाणी आतयाम्नी (पूर्ण शक्तिवाली) है। जो अक्षतयोनि है वह पूर्ण शक्तिवाली है। इसलिए इसको अप्रवीत होना चाहिए ॥३॥

उसको पहले दिन ही ले आवे, क्योंकि यह साहस्री वस्तुतः वाणी है। यह जो सहस्र सन्तान (प्रजात) है वह इसी वाणी की है। वह आगे-आगे चलती है और उसकी सन्तति पीछे-पीछे। या अन्तिम दिवस लावे। उस दिन आगे-आगे उसकी सन्तति चले और पीछे-पीछे वह। परन्तु यह तो मीमांसा मात्र है। उसको अन्तिम दिवस ही लाना चाहिए और आगे-आगे उसकी सन्तति हो और वह पीछे ॥४॥

हविर्धान के उत्तम और आग्नीध्र के दक्षिण को वह द्रोण कलश को सुँघवाता है। द्रोण-कलश यज्ञ है। इस प्रकार वह उसको यज्ञ के दर्शन कराता है—॥५॥

इस मन्त्र से—"आजिघ्र कलशम्। मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः" (यजु० ८।४२)—"कलश को सूँघ। इस तुझ महान् में सोम की बूँदें प्रवेश करें।" यह जो एक हजार गायें दान करता है वह खाली-सा हो जाता है। इसी खाली को फिर भरता है। जब वह कहता है कि 'हे बड़ी गाय! कलश को सूँघ, जिससे ये सोम की बूँदें तुझमें प्रवेश करें' ॥६॥

"पुनरूर्जा निवर्त्तस्व" (यजु० ८।४२)—"ऊर्ज के साथ फिर आ।" ऐसा कहने से वह मानो खाली चीज को भरता है ॥७॥

"सा नः सहस्रं धुक्ष्व" (यजु० ८।४२)—"हजार गुना हमारे लिए दूध दे।" ऐसा कहने से मानो वह खाली को भरता है ॥८॥

धारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिरिति । तदेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह पुनर्माविशताद्रयिरिति ॥ ९ ॥ अथ दक्षिणे कर्णऽआजपति । इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिति सरस्वति महि विश्रुति । एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतादिति वोचेरिति वैतानि ह वाऽअस्यै देवत्रा नामानि ता यानि ते देवत्रा नामानि तैर्मा देवेभ्यः सुकृतं ब्रूतादित्येवैतदाह ॥ १० ॥ तामवार्जति । सा यद्यपुरुषाभिवीता प्राचीयात्तत्र विद्याद्राध्नोतीदं यजमानः कल्याणं लोकमजैषी-दिति यद्युदीचीयाच्छ्रेयानस्मिंलोके यजमानो भविष्यतीति विद्याद्यदि प्रतीचीया-द्भियतिल्विल-इव धान्यतिल्विलो भविष्यतीति विद्याद्यदि दक्षिणेयात्क्षिप्रे ऽस्माल्लोकाद्यजमानः प्रैष्यतीति विद्यादेतानि विज्ञानानि ॥ ११ ॥ तद्या एतास्ति-स्रस्तिस्रस्त्रिꣳशत्यधि भवन्ति । तास्वेतामुपसमाकुर्वन्ति वि वाऽएतां विराजं वृह-न्ति यां व्याकुर्वन्ति विछिन्नोऽएषा विराड्या विवृढा दशाक्षरा वै विराट्कृत्स्नां विराजꣳ संदधाति ताꣳ होत्रे दद्याद्धोता हि साहस्रस्तस्मात्ताꣳ होत्रे दद्यात् ॥ १२ ॥ द्वौ वोन्नेतारौ कुर्वीत । तयोर्यतरो नाश्रावयेत्तस्माऽएनां दद्याद्यूढो वा ऽएष उन्नेता य अविक्रसन्नाश्रावयति व्यूढोऽएषा विराड्या विवृढा तद्व्यूढऽएवै-तद्व्यूढं दधाति ॥ १३ ॥ तदाहुः । न सहस्रेऽधि किं चन दद्यात्सहस्रेण ह्येव स-र्वान्कामानाप्नोतीति तदु होवाचासुरिः काममेव दद्यात्सहस्रेणाह सर्वान्कामा-नाप्नोति कामिनोऽअस्येतरद्दत्तं भवतीति ॥ १४ ॥ अथ यदि रथं वा युक्तं दास्य-न्स्यात् । यद्वा वशायै वा वपायाꣳ हुतायां दद्यादुदवसानीयायां वेष्टौ ॥ १५ ॥ स वै दक्षिणा नयन् । अन्यूना दशतो नयेद्यस्माऽएकां दास्यन्स्याद्दशभ्यस्तेभ्यो दश-तमुपावर्तयेद्यस्मै द्वे दास्यन्स्यात्पञ्चभ्यस्तेभ्यो दशतमुपावर्तयेद्यस्मै तिस्रो दास्य-न्स्यात्त्रिभ्यस्तेभ्यो दशतमुपावर्तयेद्यस्मै पञ्च दास्यन्स्याद्द्वाभ्यां ताभ्यां दशतमुपा-वर्तयेदेवमा शतात्तथो हास्यैषान्यूना विराडमुष्मिंलोके कामदुघा भवति ॥ १६ ॥

"उरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः" (यजु० ८।४२)—"हे बड़ी धार वाली और दूधवाली ! मुझे फिर धन मिले।" ऐसा कहने से वह खाली को फिर भरता है ॥९॥

अब वह उसके दाहिने कान में जपता है—"इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते ऽअघ्न्ये[1] नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्" (यजु० ८।४३)—"हे गाय, तेरे इतने नाम हैं—इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योति, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुती। तू देवताओं से मेरे पुण्य को कह दे।" वस्तुतः देवों में इसके यही नाम हैं। इसका यही तात्पर्य है कि देवों में तेरे जो-जो नाम प्रचलित हैं उनके द्वारा मेरे पुण्य को देवलोक में पहुँचा दे ॥१०॥

उसको छोड़ देते हैं। यदि वह किसी पुरुष की प्रेरणा के बिना ही पूर्व की ओर चल दे तो समझना चाहिए कि यह यजमान सफल हो गया; उसने कल्याणलोक को जीत लिया। यदि उत्तर को जाय तो समझना चाहिए कि यजमान इस लोक में ही यशस्वी होगा। यदि पश्चिम की ओर जाय तो समझना चाहिए कि धन-धान्य आदि से पूर्ण होगा। यदि दक्षिण की ओर जाय तो समझना चाहिए कि यजमान शीघ्र ही इस लोक से चल बसेगा। ऐसी सूचनायें हैं ॥११॥

ये जो गायें तीस से तीन-तीन हजार ऊपर होती हैं, उनमें इसको मिला देते हैं। जब विराट् छन्द को लेते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं तो वह विच्छिन्न हो जाता है, अर्थात् उस विराट् छन्द के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। यह जो दश अक्षर का विराट् है वह पूरा-पूरा है। इस प्रकार दस अक्षर पूरा करने से विराट् छन्द पूरा हो जाता है। इस गाय को होता के अर्पण करना चाहिए। होता साहस्र (हजारवाँ) है, इसलिए इसको होता को देना चाहिए ॥१२॥

दो उन्नेताओं की नियुक्ति करनी चाहिए। इनमें से जो श्रौषट् न पढ़े उसी को इस गाय को दे। वह उन्नेता अपूर्ण है जो ऋत्विज् होता हुआ भी श्रौषट् नहीं पढ़ता। जिस विराट् छन्द का विश्लेषण कर दिया गया वह भी तो अपूर्ण है। इस प्रकार अपूर्ण में अपूर्ण को रखता है ॥१३॥

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि हजार गायों से अधिक कुछ न देना चाहिए, क्योंकि हजार गायों का दान ही सब कामनाओं की पूर्ति कर देता है। परन्तु आसुरि का मत है कि जितनी इच्छा हो उतना देवे। अवश्य ही सहस्र गायों के दान से सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। परन्तु जो अधिक दिया जाय अपनी इच्छा से दिया जाय ॥१४॥

अब यदि घोड़े जुते हुए रथ को देना हो तो या तो उसकी वशा की वपा की आहुति के पश्चात् देना चाहिए या अन्तिम आहुति के पीछे ॥१५॥

जब दक्षिणा के लिए (गायें) लावे तो दस-दस करके लावे; कम न हों। यदि किसी को एक गाय देनी हो तो दस गायें दस को दे देवे। यदि किसी को दो-दो देनी हों तो पाँच को दे देवे। यदि तीन-तीन देनी हो तो दस गायों को तीन को दे देवे। यदि पाँच-पाँच देनी हों तो उन दस को दो को दे देवे। इस प्रकार सौ तक। इस प्रकार यह पूर्ण विराट् परलोक में उसके लिए कामधेनु हो जाती है ॥१६॥

---

१. मंत्र में गाय का 'अघ्न्या' नाम भी है, किन्तु मांसाहारियों ने व्याख्या में इसलिए छोड़ दिया है कि (उनके द्वारा प्रक्षिप्त) पशु-बलि के प्रसंग झूठे न पड़ जायें।

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

ब्राह्मणम् ॥१ [५. ८.]॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १२५ ॥ ॥

तद्यत्रैतद्द्वादशाहेन व्यूढच्छन्दसा यजते । तद्ग्रहान्व्यूहति व्यूहत उद्गाता च होता च छन्दाꣳसि स एष प्रज्ञात एव पूर्वस्त्र्यहो भवति समूढच्छन्दास्तदैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णाति ॥१॥ अथ चतुर्थेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाꣳसि तदाग्रयणाग्रान्गृह्णाति प्राजापत्यं वाऽएतच्चतुर्थमहर्भवत्यात्मा वाऽआग्रयण आत्मा वै प्रजापतिस्तस्मादाग्रयणाग्रान्गृह्णाति ॥२॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनꣳ हिंकृत्य सादयत्यथैतत्प्रज्ञातमेव पञ्चममहर्भवति तदैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णाति ॥३॥ अथ षष्ठेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाꣳसि तच्छुक्राग्रान्गृह्णात्यैन्द्रं वाऽएतत्षष्ठमहर्भवत्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएवेन्द्रस्तस्माच्छुक्राग्रान्गृह्णाति ॥४॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनꣳ सादयति ॥५॥ अथ सप्तमेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाꣳसि तच्छुक्राग्रान्गृह्णाति बार्हतं वाऽएतत्सप्तममहर्भवत्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उऽएव बृहꣳस्तस्माच्छुक्राग्रान्गृह्णाति ॥६॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनꣳ सादयत्यथैतत्प्रज्ञातमेवाष्टममहर्भवति तदैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णाति ॥७॥ अथ नवमेऽहन्व्यूहति । ग्रहान्व्यूहन्ति छन्दाꣳसि तदाग्रयणाग्रान्गृह्णाति जागतं वाऽएतन्नवममहर्भवत्यात्मा वाऽआग्रयणः सर्वं वाऽइदमात्मा जगत्तस्मादाग्रयणाग्रान्गृह्णाति ॥८॥ तं गृहीत्वा न सादयति । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यत्सादयेत्तं

व्यूढ द्वादशाह धर्मः

अध्याय ५—ब्राह्मण ६

जब द्वादशाह यज्ञ को (जो यज्ञ बारह दिन का हो वह द्वादशाह कहलाता है) व्यूढ छन्दों से करता है तो ग्रहों का क्रम बदल देता है (जिन छन्दों का क्रम बदल दिया जाय वे व्यूढ छन्द हैं)। उद्गाता और होता दोनों ही छन्दों के क्रमों को बदल देते हैं। पहले तो छन्दों के सामान्य क्रम से त्र्यह (तीन दिन का यज्ञ) होता है। इसमें वह ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों को लेता है ।।१।।

चौथे दिन ग्रहों का क्रम बदल देता है। वे छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। इसमें वह आग्रयण आदि ग्रहों को लेता है। चौथा दिन प्रजापति का अपना है, और आग्रयण आत्मा है, प्रजापति आत्मा है। इसलिए आग्रायण से आरम्भ होनेवाले ग्रहों को लेता है ।।२।।

उस ग्रह को लेकर रखता नहीं। ये ग्रह प्राण हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में कुछ विक्षोभ उत्पन्न हो जाय। यदि वह इसको रख देगा तो अवश्य ही प्राणों को विक्षुब्ध कर देगा। वे ग्रहों को लिये-लिये पास बैठे रहते हैं। अध्वर्यु दूसरे ग्रहों को लेता रहता है। जब वह ग्रहों को लेता है तो हर एक ग्रह की पारी आने पर वह हिङ्कार का उच्चारण करता है और ग्रह को रख देता है। अब साधारण पाँचवाँ दिन आता है। उस दिन ऐन्द्रवायव से आरम्भ होनेवाले ग्रह लिये जाते हैं ।।३।।

अब छठे दिन वह ग्रहों के क्रम को बदल देता है और वे छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। उस दिन शुक्र से आरम्भ होनेवाले ग्रह लिये जाते हैं। यह जो छठा दिन है वह इन्द्र का अपना है। शुक्र वह है जो ऊपर तपता है (सूर्य) और वही इन्द्र है। इसलिए वह शुक्रसे आरम्भ होनेवाले ग्रहों को लेता है ।।४।।

उसको लेकर रखता नहीं। ग्रह प्राण हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में विक्षोभ हो जाय। यदि रक्खेगा तो अवश्य ही प्राणों में विक्षोभ होगा। उसको लिये-लिये पास में बैठे रहते हैं। और अध्वर्यु दूसरे ग्रहों को लेता रहता है। इन ग्रहों के लेने में जब इनकी पारी आती है तो रख देता है ।।५।।

अब सातवें दिन वह ग्रहों के क्रम को बदल देता है, और वे छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। उस दिन वह शुक्र ग्रह से आरम्भ करता है। यह सातवाँ दिन बृहस्पति का है। शुक्र वही है जो तपता है (सूर्य), और यह बृहत् अर्थात् बड़ा है। इसलिए शुक्र ग्रह से आरम्भ करता है ।।६।।

उसको लेकर रखता है। प्राण ग्रह हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में विक्षोभ हो जाय। यदि रख देगा तो प्राणों में अवश्य विक्षोभ हो जायगा। उनको लिये-लिये पास बैठे रहते हैं। और अध्वर्यु दूसरे ग्रह निकालता रहता है। जब उसकी पारी आती है तो उसको रख देता है। आठवाँ दिन सामान्य होता है। उस दिन ऐन्द्रवायव ग्रह से आरम्भ करते हैं ।।७।।

अब नवें दिन वह ग्रहों के क्रम को बदलता है और वे लोग छन्दों के क्रम को बदल देते हैं। उस दिन आग्रयण ग्रह से आरम्भ करते हैं। यह नवाँ दिन जगती छन्द का होता है। आत्मा आग्रयण है। यह सब जगत् आत्मा है। इसलिए आग्रयण ग्रह से आरम्भ करते हैं ।।८।।

उसको लेकर रखता नहीं। ग्रह प्राण हैं। ऐसा न हो कि प्राणों में विक्षोभ उत्पन्न हो

धारयन्त एवोपासतेऽथ ग्रहान्गृह्णात्यथ यदा ग्रहान्गृह्णात्यथ यत्रैवैतस्य कालस्तदेनꣳ किंकृत्य सादयति ॥९॥ तदाहुः । न व्यूहेद्ग्रहान्प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यद्व्यूहेत्तस्मान्न व्यूहेत् ॥१०॥ तद्व व्यूहेदेव । अङ्गानि वै ग्रहाः कामं वाऽइमान्यङ्गानि व्यत्यासꣳ शेते तस्माद्व व्यूहेदेव ॥११॥ तद्व नैव व्यूहेत् । प्राणा वै ग्रहा नेत्प्राणान्मोहयानीति मोहयेद्ध प्राणान्यद्व्यूहेत्तस्मान्न व्यूहेत् ॥१२॥ किं नु तत्राध्वर्योः । यदुद्गाता च होता च छन्दाꣳसि व्यूहत एतद्वाऽअध्वर्युर्व्यूहति ग्रहान्यदैन्द्रवायवाग्रान्प्रातःसवने गृह्णाति शुक्राग्रान्माध्यन्दिने सवनऽआग्रयणाग्रांस्तृतीयसवने ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥१ [५. १.] ॥

यदि सोममपहरेयुः । विधावतेच्छतेति ब्रूयात्स यदि विन्दन्ति किमाद्रियेरन्यद्यु न विन्दन्ति तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते ॥१॥ द्वयानि वै फाल्गुनानि । लोहितपुष्पाणि चारुणपुष्पाणि च स यान्यरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तान्यभिषुणुयादेष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तस्मादरुणपुष्पाण्यभिषुणुयात् ॥२॥ यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः । श्येनहृतमभिषुणुयाद्यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तस्याऽआहरन्त्यै सोमस्यांꣳशुरपतत्तच्छ्येनहृतमभवत्तस्माच्छ्येनहृतमभिषुणुयात् ॥३॥ यदि श्येनहृतं न विन्देयुः । आदारानभिषुणुयाद्यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य यो रसो व्यप्रुष्यत्तत आदाराः समभवंस्तस्मादादारानभिषुणुयात् ॥४॥ यद्यादारान्न विन्देयुः । अरुणदूर्वा अभिषुणुयादेष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणदूर्वास्तस्मादरुणदूर्वा अभिषुणुयात् ॥५॥ यद्यरुणदूर्वा न विन्देयुः । अपि यानेव कांश्च हरितान्कुशानभिषुणुयात्तत्राप्येकामिव गां दद्याद्यावभृथादुदेत्य पुनर्दीक्षेत पुनर्यज्ञो ह्येव तत्र प्रायश्चित्तिरिति नु सोमापहृतानाम् ॥६॥ अथ कलशदिराम् । यदि कलशो दीर्येतानुलिप्सधमिति ब्रूयात्स यद्यनुलभेरन्प्रसृतमात्रं वाञ्जलिमात्रं वा तदन्यैरेकधनैरभ्युन्नीय यथाप्रभावं प्रचरेयुर्यद्यु नानुलभेरन्नाग्रयणस्यैव प्रस्कन्द्या-

जाय। यदि रख देगा तो अवश्य ही प्राणों में विक्षोभ उत्पन्न कर देगा। उसको लिये-लिये बैठे रहते हैं और अध्वर्यु अन्य ग्रहों को लेता रहता है। जब पारी आती है तो उस-उस ग्रह को हिंकार बोलकर रख देता है।।९।।

कुछ लोग कहते हैं कि ग्रहों का क्रम नहीं बदलना चाहिए। ग्रह प्राण हैं। कहीं ऐसा न हो कि प्राणों का क्रम बदल जाय। जब इनके ग्रहों का क्रम बदलेगा तो प्राणों में अवश्य ही विक्षोभ होगा। इसलिए ग्रहों के क्रम को न बदले।।१०।।

परन्तु उसको बदल देना चाहिए, क्योंकि ग्रह अंग हैं और सोते में इच्छा होती है कि अंगों को एक ओर से दूसरी ओर को फेरा जाय। इसलिए क्रम को बदल देना उचित है।।११।।

उनको कभी न बदलें। ग्रह प्राण हैं। कहीं प्राणों में गड़बड़ न हो जाय। क्योंकि जब वह ग्रहों को बदलेगा तो अवश्य ही प्राणों में गड़बड़ होगी। इसलिए न बदलना चाहिए।।१२।।

अच्छा, जब उद्गाता और होता छन्दों के क्रम को बदलें तो अध्वर्यु क्या करे? प्रातः-सवन में वह ऐन्द्रवायव ग्रह को लेता है, दोपहर के सवन में शुक्र ग्रह को और तीसरे सवन में आग्रयण ग्रह को। इस प्रकार अध्वर्यु ग्रहों के क्रम को बदल देता है।।१३।।

सोमापहरणादि

अध्याय ५—ब्राह्मण १०

यदि सोम चोरी जाय तो कहना चाहिए कि 'दौड़ो और तलाश करो।' यदि मिल जाय तो अच्छा ही है। परन्तु यदि न मिले तो इस प्रकार इसका प्रायश्चित्त हो जाता है।।१।।

फाल्गुन वृक्ष दो प्रकार का होता है—लोहित-पुष्प और अरुण-पुष्प। जो अरुण-पुष्प फाल्गुन हों उनको निचोड़े, क्योंकि जो अरुण-पुष्प के फाल्गुन हैं वे सोम के समान होते हैं। इसलिए उन्हीं फाल्गुनों को पीसना चाहिए जिनके अरुण-पुष्प हों।।२।।

यदि अरुण फूलवाले न मिलें तो श्येनहृत वृक्ष को निचोड़ना चाहिए। जब गायत्री सोम को लेने के लिए उड़ी और ला रही थी तो सोम की एक डाली उससे गिर पड़ी, वही श्येनहृत वृक्ष बन गई। इसीलिए श्येनहृत वृक्ष को निचोड़ना चाहिए।।३।।

यदि श्येनहृत भी न मिले तो आदार वृक्ष को लेना चाहिए। जब यज्ञ का शिर काटा गया तो उससे जो रस बहा उससे आदार वृक्ष उगा। इसलिए आदार वृक्ष को निचोड़ना चाहिए।।४।।

यदि आदार वृक्ष न मिले तो अरुण दूर्वा को पीसे। अरुण दूर्वा सोम के सदृश होती है। इसलिए अरुण दूर्वा को पीसना चाहिए।।५।।

यदि अरुण दूर्वा न मिले तो कैसे ही हरित कुशों को पीस डाले। परन्तु एक गाय भी दान करे और अवभृथ स्नान के पीछे दीक्षा भी ले। सोम के चोरी जाने का यही प्रायश्चित्त है कि यह दूसरा यज्ञ रचा जाय।।६।।

जिनका कलश टूट जाय उनका क्या कहना? जब कलश टूट जाय तो कहना चाहिए कि 'इसे पकड़ो।' यदि मुट्ठी-भर या पसों-भर सोम मिल जाय तो एक-धन पात्र से पानी मिलाकर यथाशक्ति काम निकालना चाहिए। परन्तु यदि कुछ भी न मिल सके तो आग्रयण में से कुछ लेकर दूसरे एक-धन पात्रों में से पानी मिलाकर यथाशक्ति काम निकालना चाहिए। यदि

न्यैरेकधनैरभ्युन्नीय यथाप्रभावं प्रचरेयुः स यद्युन्नीतासु दक्षिणासु कलशो दीर्येत तत्राप्येकामेव गां दद्यादथावभृथादुदेत्य पुनर्दीक्षेत पुनर्यज्ञो ह्येव तत्र प्रायश्चित्तिरिति नु कलशदीराम् ॥७॥ अथ सोमातिरिक्तानाम् । यद्यग्निष्टोममतिरिच्येत पूतभृत एवोक्थ्यं गृह्णीयाद्यद्युक्थ्यमतिरिच्येत षोडशिनमुपेयुर्यदि षोडशिनमतिरिच्येत रात्रिमुपेयुर्यदि रात्रिमतिरिच्येताह्रुपेयुर्नेत्त्वेवातीरेकोऽस्ति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५. १०.]॥ पञ्चमोऽध्यायः [२१.] ॥॥

प्रजापतिर्वाऽएष यदꣳशुः । सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्ययं प्रजापतिस्तदस्यैतमात्मानं कुर्वन्ति यत्रैतं गृह्णन्ति तस्मिन्नेतान्प्राणान्दधाति यथा-यथैते प्राणा ग्रहा व्याख्यायन्ते स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंल्लोके सम्भवति ॥१॥ तदारम्भणवत् । यत्रैतं गृह्णन्त्यथैतदनारम्भणमिव यत्रैतं न गृह्णन्ति तस्माद्वाऽअꣳशुं गृह्णाति ॥२॥ तं वाऽऔदुम्बरेण पात्रेण गृह्णाति । प्रजापतिर्वा एष प्राजापत्य उदुम्बरस्तस्मादौदुम्बरेण पात्रेण गृह्णाति ॥३॥ तं वै चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति । त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्त्रिभिराप्नोति प्रजापतिर्वाऽअतीमांल्लोकांश्चतुर्थस्तत्प्रजापतिमेव चतुर्थ्याप्नोति तस्माच्चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति ॥४॥ स वै तूष्णीमेव ग्रावाणमादत्ते । तूष्णीमꣳशून्निवपति तूष्णीमप उपसृजति तूष्णीमुद्यत्य सकृदभिषुणोति तूष्णीमेनमनवानञ्जुहोति तदेनं प्रजापतिं करोति ॥५॥ अथास्याꣳ हिरण्यं बद्धं भवति । तदुपजिघ्रति स यदेवात्र क्षणुते वा वि वा लिशतेऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतमायुरात्मन्धत्ते ॥६॥ तदु होवाच राम औपतस्विनिः । काममेव प्राण्यात्काममुदन्याद्धि तूष्णीं जुहोति तदेवैनं प्रजापतिं करोतीति ॥७॥ अथास्याꣳ हिरण्यं बद्धं भवति । तदुपजिघ्रति स यदेवात्र क्षणुते वा वि वा लिशतेऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतमायुरात्मन्धत्ते ॥८॥ तदु होवाच बुडिल आश्वतराश्विः । उद्यत्यैव गृह्णीयान्नाभिषुणुयादभिषुण्वन्ति वाऽअन्याभ्यो

दक्षिणा की गायें लाने से पहले कलश टूट जाय तो एक गाय दान दे और अवभृथ स्नान के पीछे फिर दीक्षित होवे, क्योंकि यह दूसरा यज्ञ ही इसका प्रायश्चित्त है। इतना उन लोगों के लिए जिनसे कलश टूट जाय ॥७॥

अब उन लोगों के विषय में जिनसे सोम कुछ शेष रह जाय। यदि अग्निष्टोम के पीछे कुछ सोम शेष रह जाय तो पूतभृथ में से उक्थ्य ग्रह को भर ले। यदि उक्थ्य भरने पर भी शेष रहे तो षोडशी करे। यदि षोडशी पर भी बच रहे तो अतिरात्र यज्ञ करे। यदि अतिरात्र से भी बच रहे तो दिन का यज्ञ (बृहत्साम या महाव्रत) करे। इसके पीछे तो अवश्य ही कुछ न बचेगा ॥८॥

अंशुग्रहः

अध्याय ६--ब्राह्मण १

यह जो अंशु ग्रह है वह प्रजापति ही है। यह इस यज्ञ का आत्मा है, क्योंकि प्रजापति आत्मा है। इस प्रकार जब वे इस ग्रह को निकालते हैं तो मानो यज्ञ के आत्मा को बनाते हैं। इसमें प्राणों को स्थापित करता है, जैसे इन प्राणों अर्थात् ग्रहों की व्याख्या होती है। यजमान अपने सम्पूर्ण शरीरसहित परलोक में जन्म लेता है ॥१॥

जब इस ग्रह को ग्रहण करते हैं तो यह आरम्भण है। जब नहीं ग्रहण करते तो आरम्भण नहीं है। इसलिए अंशु ग्रह को ग्रहण करता है ॥२॥

वह उदुम्बर लकड़ी का होता है। यह प्रजापति है। उदुम्बर प्रजापति का है। इसलिए उदुम्बर लकड़ी का पात्र होता है ॥३॥

यह चौकोर पात्र होता है। लोक तीन हैं। तीन कोनों से तीन लोकों की प्राप्ति होती है। इन तीन लोकों के अतिरिक्त चौथा प्रजापति है। इस प्रकार चौथे कोने से प्रजापति की प्राप्ति करता है। इसलिए चौकोर पात्र होता है ॥४॥

सिल-बटने (ग्रावाण) को चुपके से लेता है। चुपके ही सोम अंशु को उस पर रखता है। चुपके से उस पर पानी छोड़ता है। चुपके से बटना उठाकर उसे एक बार पीसता है। चुपके से बिना साँस लिये आहुति देता है। इस प्रकार यजमान को प्रजापति बना देता है ॥५॥

इसमें एक सोने का टुकड़ा रक्खा होता है। उसको सूँघता है। यदि कहीं खुजलाये या घाव हो जाय तो सोना अमृत है। इस प्रकार अपने में अमृत को धारण करता है ॥६॥

राम औपतस्विनि का कहना है कि जितना जी चाहे साँस ले। चुपके से आहुति देने-मात्र से ही यजमान प्रजापति बन जाता है ॥७॥

उसमें सोने का टुकड़ा होता है। उसको सूँघता है। यदि खुजलाये या घाव हो जाय तो सोना अमृत है। इसलिए इसमें अमृत या दीर्घ जीवन की स्थापना करता है ॥८॥

बुडिल आश्वतराश्वि का कहना है कि केवल बटने को उठाकर इसको ले लेवे, पीसे न।

देवताभ्यस्तदन्यथा ततः करोति यथो चान्याभ्यो देवताभ्योऽथ यदुच्छ्वति तदेवास्याभिषुतं भवतीति ॥९॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । अभ्येव षुणुयान्न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानꣳ सुतास इत्यृषिणाभ्यनूक्तं न वाऽअन्यस्यै कस्यै चन देवतायै सकृदभिषुणोति तदन्यथा ततः करोति यथो चान्याभ्यो देवताभ्यस्तस्मादभ्येव षुणुयादिति ॥१०॥ तस्य द्वादश प्रथमगर्भाः । पष्ठौह्यो दक्षिणा द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरꣳशुस्तदेनं प्रजापतिं करोति ॥११॥ ॥शतम्२८००॥॥ तासां द्वादश गर्भाः । ताश्चतुर्विꣳशतिश्चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरꣳशुस्तदेनं प्रजापतिं करोति ॥१२॥ तदु ह कौकूस्तः । चतुर्विꣳशतिमेवैताः प्रथमगर्भाः पष्ठौह्योर्दक्षिणा ददावृषभं पञ्चविꣳशꣳ हिरण्यमेतदु ह स ददौ ॥१३॥ स वाऽएष न सर्वस्येव ग्रहीतव्यः । आत्मा ह्यस्यैष यो न्वेव ज्ञातस्तस्य ग्रहीतव्यो यो वाऽस्य प्रियः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनं प्राप्नुयात् ॥१४॥ सहस्रे ग्रहीतव्यः । सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वमेष सर्ववेदसे ग्रहीतव्यः सर्वं वै सर्ववेदसꣳ सर्वमेष विश्वजिति सर्वपृष्ठे ग्रहीतव्यः सर्वं वै विश्वजित्सर्वपृष्ठः सर्वमेष वाजपेये राजसूये ग्रहीतव्यः सर्वꣳ हि तत्सत्त्रे ग्रहीतव्यः सर्वं वै सत्त्रꣳ सर्वमेष एतानि ग्रहणानि ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६. १.] ॥॥

एतं वाऽएते गच्छन्ति । षड्भिर्मासैर्य एष तपति ये संवत्सरमासते तदुच्यतऽएव सामतो यथैतस्य रूपं क्रियतऽउच्यतऽऋक्तोऽथैतदेव यजुष्टः पुरश्चरणातो यदेतं गृह्णन्त्येतेनोऽएवैनं गच्छन्ति ॥१॥ अथातो गृह्णात्येव । उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजायेति ॥२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [६. २.] ॥॥

अथातः पञ्चयनस्यैव । पञ्चैकादशिन्यैवैयात्स आग्नेयं प्रथमं पशुमालभतेऽथ

क्योंकि अन्य देवताओं के लिए पीसते हैं। इस प्रकार वह जैसा अन्य देवताओं के लिए करता है उससे कुछ भिन्न इसके लिए करता है। यह जो बटने का ऊपर उठाना है वही पीसने के तुल्य है ॥६॥

इस पर याज्ञवल्क्य का कहना है कि पीसना अवश्य चाहिए। ऋषि का कहना है कि "न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः" (ऋ० ७।२६।१)—"बिना पिसे सोम ने इन्द्र को तृप्त नहीं किया, न पिसे सोम ने बिना स्तुति के।" किसी अन्य देवता के लिए एक बार से अधिक नहीं पीसा जाता। इस प्रकार जैसा अन्य देवताओं के लिए किया जाता है इससे भिन्न इसके लिए। इसलिए पीसना अवश्य चाहिए ॥१०॥

इसकी दक्षिणा है बारह गर्भिणी गायें जो पहलौटी हों। वर्ष के बारह मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति अंशु है। इस प्रकार वह यजमान को प्रजापति बना देता है॥११॥

उनके बारह गर्भ भी तो होते हैं। इस प्रकार चौबीस हुए। संवत्सर में चौबीस अर्ध-मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। अंशु प्रजापति है। इस प्रकार यजमान को प्रजापति बना देता है ॥१२॥

कौकूस्त ने चौबीस प्रथम गर्भा गायें अपने पहलौटी बच्चों के साथ दी थीं और पच्चीसवाँ साँड और सोना। इतना ही दिया था ॥१३॥

यह ग्रह सबके लिए नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि यह यज्ञ का आत्मा है। या तो उसके लिए निकाले जिससे जान-पहचान हो या, जो अध्वर्यु का मित्र हो, या जो वेदाध्ययन के द्वारा इसका अधिकारी बन गया हो ॥१४॥

हजार-गाय-दान-वाले यज्ञ में इसको निकालना चाहिए। सहस्र का अर्थ है सम्पूर्ण। यह ग्रह भी सम्पूर्ण है। सर्ववेदस् यज्ञ में इसको निकालना चाहिए (सर्ववेद वह यज्ञ है जिसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर दी जाती है)। सर्ववेद सब-कुछ है और यह ग्रह भी सब-कुछ है। सर्वपृष्ठ विश्वजित् में इसको निकालना चाहिए। विश्वजित् सर्वपृष्ठ सब-कुछ है, और यह ग्रह भी सब-कुछ है। वाजपेय और राजसूय यज्ञ में इसको निकालना चाहिए, क्योंकि वह सब-कुछ है। सत्र में निकालना चाहिए, क्योंकि सत्र सब-कुछ है और यह सब ग्रह निकालने की क्रिया में भी सब-कुछ है ॥१५॥

अतिग्राह्यग्रहग्रहणम्

अध्याय ६—ब्राह्मण २

जो सालभर तक यज्ञ में बैठते हैं वे छः महीनों के द्वारा उसको प्राप्त होते हैं। जो वह चमकता है (अर्थात् सूर्य), ऐसा साम के अनुसार है। यह सूर्य का रूप हो जाता है ऐसा ऋक् का विधान है। यजुः के अनुसार भी यही है कि पुरश्चरण करके जो इस ग्रह को लेते हैं वे भी इसी सूर्य को प्राप्त होते हैं ॥१॥

उसको इस मन्त्र से लेता है—"उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय' (यजु० ८।४१, ऋ० १।५०।१)—"उस सब के ज्ञाता देव सूर्य की ओर यह केतु ले जाते हैं, जिससे सब संसार की वस्तुओं को देखा जा सके। तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे सूर्य के लिए, तेज के लिए। यह तेरी योनि है। सूर्य के लिए तुझको, प्रकाश के लिए तुझको ॥२॥

पश्वयनस्तोमायने

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

पशु-अयन (पशु-याग) का यह नियम है। ग्यारह पशुओं से ही यज्ञ करे। अग्नि के लिए

वारुणमथ पुनराग्नेयमेवमेवैतया पश्वेकादशिन्येयात् ॥१॥ अथोऽअप्यैन्द्राग्नमेवाह-रहः पशुमालभेत । अग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वती-न्द्रो वै यज्ञस्य देवता तत्सर्वाश्चैवैतद्देवता नापराध्नोति यो च यज्ञस्य देवता तां नापराध्नोति ॥२॥ अथात स्तोमायनस्यैव । आग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत तद्धि स-लोम यदाग्नेयमग्निष्टोमऽआलभेत यद्युक्थ्यः स्यादैन्द्राग्नं द्वितीयमालभेतैन्द्राग्नानि ह्युक्थानि यदि षोडशी स्यादैन्द्रं तृतीयमालभेतेन्द्रो हि षोडशी यद्यतिरात्रः स्यात्सारस्वतं चतुर्थमालभेत वाग्वै सरस्वती योषा वै वाग्योषा रात्रिस्तद्यथा-यथं यज्ञक्रतून्व्यावर्तयत्येतानि त्रीण्ययनानि तेषां यतमत्कामयेत तेनेयाद्वाऽउपा-लभ्यौ पशू सौर्यं द्वितीयं पशुमालभते वैषुवतेऽहन्प्राजापत्यं महाव्रते ॥३॥ ब्रा-ह्मणम् ॥५ [६. ३.] ॥॥

अथातो महाव्रतीयस्यैव । प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रꣳसुः स विस्रस्तैः पर्वभिर्न शशाक सꣳहातुं ततो देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतं महाव्रतीयं ददृशुस्तमस्माऽअगृह्णंस्तेनास्य पर्वाणि समदधुः ॥१॥ स सꣳहितैः पर्वभिः । इदमन्नाद्यमभ्युत्तस्थौ यदिदं प्रजापतेरन्नाद्यं यद्वै मनुष्याणामशनं तद्देवा-नां व्रतं महद्वाऽइदं व्रतमभूद्येनायꣳ समहास्तेति तस्मान्महाव्रतीयो नाम ॥२॥ एवं वाऽएते भवन्ति । ये संवत्सरमासते यथैव तत्प्रजापतिः प्रजाः ससृजान आ-सीत्स यथैव तत्प्रजापतिः संवत्सरेऽन्नाद्यमभ्युदतिष्ठदेवमेवैतऽएतत्संवत्सरेऽन्नाद्य-मभ्युत्तिष्ठन्ति येषामेवं विदुषामेतं ग्रहं गृह्णन्ति ॥३॥ तं वाऽइन्द्रायैव विमृधे गृ-ह्णीयात् । सर्वा वै तेषां मृधो हता भवन्ति सर्वं जितं ये संवत्सरमासते तस्मा-द्विमृधे वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्य-धरं गमया तमः । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधऽइति ॥४॥ अथो विश्वकर्मणे । विश्वं वै तेषां कर्म कृतं सर्वं जितं भवति

पहले पशु का आलभन करे— एक वरुण के लिए, फिर एक अग्नि के लिए। इस प्रकार ग्यारह पशुओं से यज्ञ करे ॥१॥

या प्रतिदिन इन्द्र-अग्नि के लिए एक-एक पशु का आलभन करे। अग्नि ही सब देवता हैं। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इन्द्र यज्ञ का देवता है। इस प्रकार न तो वह किसी देवता को अप्रसन्न करता है, न उसको जो यज्ञ का देवता है ॥२॥

स्तोम-अयन का नियम यह है। अग्निष्टोम में अग्नि के पशु का आलभन करे। अग्निष्टोम में अग्नि के लिए आलभन करना उचित ही है। यदि उक्थ्य यज्ञ हो तो दूसरे पशु को इन्द्र और अग्नि के लिए, क्योंकि उक्थ्य इन्द्र और अग्नि के हैं। यदि षोडशी हो तो तीसरा पशु इन्द्र के लिए होना चाहिए, क्योंकि इन्द्र षोडशी है। यदि अतिरात्र हो तो सरस्वती के लिए एक पशु हो, क्योंकि सरस्वती वाणी है। वाणी स्त्री है और रात्रि भी स्त्री है। इस प्रकार यज्ञ-ऋतुओं की अलग-अलग-पहचान है। ये तीन अयन या यज्ञ की रीतियाँ हैं। जैसा चाहे वैसा करे। दो पशुओं का आलभन अवश्य करे। दूसरे पशु का सूर्य के लिए विषुवत् के दिन और प्रजापति के लिए महाव्रत के दिन ॥३॥

महाव्रतीयः

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

अब महाव्रतीय ग्रह के विषय में यह बात है कि जब प्रजापति ने प्रजा को सृजा तो उसके शरीर के जोड़ थक गये और थके हुए जोड़ों से वह अपने को उठा न सका। तब देव अर्चना तथा श्रम करते रहे। तब उन्होंने इस महाव्रतीय ग्रह को देखा। उसको उन्होंने इस (प्रजापति) के लिए लिया और उससे इसके जोड़ स्वस्थ हो गये ॥१॥

उन स्वस्थ जोड़ों से वह उस अन्न को प्राप्त हुआ जो कुछ कि प्रजापति का अन्न है, क्योंकि जो मनुष्यों का खाना है वही देवों का व्रत है। चूँकि यह महान् व्रत था जिससे वह स्वस्थ हो गया, इसलिए इसका नाम 'महाव्रतीय' पड़ा ॥२॥

जो सालभर के यज्ञ में बैठते हैं वे उसी प्रकार के हो जाते हैं, जैसा प्रजापति हो गया था जब वह प्रजा बनाने बैठा। जिस प्रकार प्रजापति वर्षभर के पश्चात् अन्न को प्राप्त हुआ, इस प्रकार ये भी वर्षभर के पश्चात् अन्न को प्राप्त होते हैं। और जो इन रहस्यों को समझते हैं उन्हीं के लिए वे इस (महाव्रतीय) ग्रह को निकालते हैं ॥३॥

इसको इन्द्र विमृध के लिए निकालना चाहिए। जो वर्षभर के यज्ञ में बैठते हैं उनके साथ 'मृध' अर्थात् शत्रु या हँसी करनेवाले मर जाते हैं और वे सबको जीत लेते हैं, इसलिए 'इन्द्र विमृध' के लिए इस मन्त्र से, "वि न ऽ इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो ऽ अस्माँ२ ऽ अभिदासत्यधरं गमया तमः। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृध ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे" (यजु० ८।४४, ऋ० १०।१५२।४)—"हे इन्द्र, हमारे शत्रुओं का नाश कर। उनको जो हमसे लड़ते हैं नीचा कर। जो हमारे ऊपर आक्षेप करते हैं, उनसे घोर निकृष्ट अन्धकार को प्राप्त करा। हे ग्रह ! तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे इन्द्र मृध के लिए। यह तेरी योनि है। तुझे विमृध इन्द्र के लिए" ॥४॥

या विश्वकर्मा के लिए। जो सालभर के यज्ञ में बैठते हैं उनका सब काम पूर्ण हो जाता

ये संवत्सरमासते तस्माद्विश्वकर्मणो वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे ऽअद्या हुवेम । स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽइति ॥५॥ यद्युऽऐन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात् । तथैव गृह्णीयाद्विश्वकर्मन्हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् । तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽइति ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥६ [६. ४.] ॥॥

एष वै ग्रहः । य एष तपति येनेमाः सर्वाः प्रजा गृहीतास्तस्मादाहुर्ग्रहान्गृह्णीम इति चरन्ति ग्रहगृहीताः सन्त इति ॥१॥ वागेव ग्रहः । वाचा हीदꣳ सर्वं गृहीतं किमु तद्यद्वाग्ग्रहः ॥२॥ नामैव ग्रहः । नाम्ना हीदꣳ सर्वं गृहीतं किमु तद्यन्नाम ग्रहो बहूनां वै नामानि विद्माथ नस्तेन ते न गृहीता भवन्ति ॥३॥ अन्नमेव ग्रहः । अन्नेन हीदꣳ सर्वं गृहीतं तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति ते नः सर्वे गृहीता भवन्त्येषैव स्थितिः ॥४॥ स य एष सोमग्रहः । अन्नं वाऽएष स यस्यै देवतायाऽएतं ग्रहं गृह्णाति सास्मै देवतैतेन ग्रहेण गृहीता तं कामꣳ समर्धयति यत्काम्या गृह्णाति स उद्यन्तं वादित्यमुपतिष्ठतेऽस्तं यन्तं वा ग्रहोऽस्यामुमनयार्त्या गृह्णाणासावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समर्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्माऽएवमुपतिष्ठते ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥७ [६. ५.] ॥॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्विभयां चक्रुस्ते होचुः को नो दक्षिणत आसिष्यतेऽथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥१॥ ते होचुः । य एव नो वीर्यवत्तमः स दक्षिणत आस्तामथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥२॥ ते होचुः । इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तम इन्द्रो दक्षिणत

है, वे सबको जीत लेते हैं, इसलिए विश्वकर्मा के लिए इस मन्त्र से—"वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे ऽ अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे' (यजु० ८।४५)—"आज हम इस युद्ध में वाचस्पति विश्वकर्मा को बुलाते हैं जो हमारे मनों का प्रेरक है। वह सब प्रकार से हित करनेवाला और शुभ कर्मवाला हमारे सब हवनों को रक्षा के लिए स्वीकार करे। हे ग्रह, तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझको विश्वकर्मा इन्द्र के लिए। यह तेरी योनि है, तुझ के इन्द्र विश्वकर्मा के लिए ॥५॥

यदि वह इन्द्र और विश्वकर्मा वाली ऋचा को जानता हो तो इस प्रकार निकाले, "विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे" (यजु० ८।४६)—"हे विश्वकर्मन्! तूने उन्नति करनेवाली हवि के द्वारा इन्द्र को त्राता (बचानेवाला) और अवध्य (न मारे जानेवाला) बना दिया। उसके लिए पूर्व लोगों ने नमस्कार किया क्योंकि वह उग्र और पूजनीय है। हे ग्रह! तू आश्रय के लिए लिया गया है। तुझे इन्द्र विश्वकर्मा के लिए। यह तेरी योनि है। तुझको विश्वकर्मा इन्द्र के लिए" ॥६॥

ग्रहस्तुतिः

अध्याय ६—ब्राह्मण ५

यह जो तपता है और जिसने सब प्रजाओं को थाम रक्खा है वह ग्रह है। इसलिए वे कहते हैं कि हम ग्रहों को ग्रहण करते हैं, या ग्रहों से थामे हुए हम चलते हैं। (यहाँ ग्रह के दो अर्थ दिये हैं—(१) जिसको ग्रहण किया जाय, (२) जिससे थामे हुए हम चलें) ॥१॥

वाणी एक ग्रह है। वाणी से यह सब थामा हुआ है। क्या आश्चर्य यदि वाणी ग्रह है ॥२॥

नाम ग्रह है। नाम से ही यह सब थामा हुआ है। क्या आश्चर्य है यदि नाम ग्रह हो! हम बहुतों के नामों को जानते हैं, क्या वे इस प्रकार हमसे बाँधे नहीं गये? ॥३॥

अन्न भी ग्रह है। अन्न से ये सब थामे हुए हैं। इसलिए जितने हमारा अन्न खाते हैं वे हमसे थामे जाते हैं। यह स्थिति है ॥४॥

यह जो सोम ग्रह है वह अन्न है। जिस देवता के लिए यह ग्रह निकाला जाता है वह देवता इस ग्रह से बद्ध होकर उसकी कामना पूरी कर देता है जिसके लिए इस ग्रह को निकालते हैं। वे उदय होते हुए या अस्त होते हुए सूर्य की उपासना करें, यह सोचकर—'तू पकड़नेवाला (ग्रह) है। अमुक पुरुष को अमुक रोग के द्वारा पकड़। अमुक पुरुष को अमुक वस्तु न मिले।' यह उसका नाम लेकर जिससे वह द्वेष करता है, या 'अमुक पुरुष की वृद्धि न हो, वह अपनी इच्छा को पूरा न करे।' वस्तुतः यदि वह सूर्य की उपासना किसी के अहित के लिए करता है तो उस पुरुष की समृद्धि नहीं होती और न उसकी कामना पूरी होती है ॥५॥

सौमिकं ब्रह्मत्वम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ६

यज्ञ रचाते हुए देवों को असुर राक्षसों के आक्रमण का भय हो गया। उन्होंने कहा—'हममें से कौन दक्षिण की ओर बैठेगा कि हम अभय और निश्चिन्त होकर उत्तर की ओर यज्ञ करते रहें?' ॥१॥

वे बोले—'जो हममें सबसे प्रबल हो वह दक्षिण की ओर बैठे जिससे हम अभय और निश्चिन्त होकर उत्तर की ओर यज्ञ करते रहें' ॥२॥

वे बोले—'इन्द्र ही हममें सबसे प्रबल है। इन्द्र दक्षिण की ओर बैठे जिससे हम अभय

आस्तामथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥३॥ ते हेन्द्रमूचुः । त्वं वै नो वीर्यवत्तमोऽसि त्वं दक्षिणत आस्वाथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरिष्याम इति ॥४॥ स होवाच । किं मे ततः स्यादिति ब्राह्मणाच्छंस्या ते ब्रह्मसाम तऽइति तस्माद्ब्राह्मणाच्छंसिनं प्रवृणीतऽइन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणादितीन्द्रस्य ह्येषा स इन्द्रो दक्षिणत आस्ताथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपाचरंस्तस्माद्य एव वीर्यवत्तमः स्यात्स दक्षिणत आसीताथाभयेऽनाष्ट्र उत्तरतो यज्ञमुपचरेयुर्यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमोऽथ यदिदं य एव कश्च ब्रह्मा भवति कुवित्तूष्णीमास्तऽइति तस्माद्य एव वीर्यवत्तमः स्यात्स दक्षिणत आसीताथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरेयुस्तस्माद्ब्राह्मणा दक्षिणत आसतेऽथाभयेऽनाष्ट्रऽउत्तरतो यज्ञमुपचरन्ति ॥५॥ स यत्राह । ब्रह्मन्त्स्तोष्यामः प्रशास्तरिति तद्ब्रह्मा जपत्येतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे । तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव । स्तुत सवितुः प्रसवऽइति सोऽसावेव बन्धुरेतेन न्वेव भूयिष्ठा-इवोपचरन्ति ॥६॥ अनेन त्वेवोपचरेत् । देव सवितरेतद्बृहस्पते प्रेति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता बृहस्पते प्रेति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तद्य एव देवानां ब्रह्मा तस्माऽएवैतत्प्राह तस्मादाह बृहस्पते प्रेति ॥७॥ अथ मैत्रावरुणो जपति । प्रसूतं देवेन सवित्रा जुष्टं मित्रावरुणाभ्यामिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति स हि देवानां प्रसविता जुष्टं मित्रावरुणाभ्यामिति मित्रावरुणौ वै मैत्रावरुणस्य देवते तयोऽएव मैत्रावरुणस्य देवते ताभ्यामेवैतत्प्राह तस्मादाह जुष्टं मित्रावरुणाभ्यामिति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥ ८ [६. ६.] ॥॥

त्रयी वै विद्या । ऋचो यजूंषि सामानीयमेवर्चोऽस्यां ह्यर्चति योऽर्चति स वागेवर्चो वाचा ह्यर्चति योऽर्चति सोऽन्तरिक्षमेव यजूंषि द्यौः सामानि सैषा त्रयी विद्या सौम्येऽध्वरे प्रयुज्यते ॥१॥ इममेव लोकमृचा जयति । अन्तरिक्षं

और निश्चिन्त होकर उत्तर में यज्ञ करें' ॥३॥

उन्होंने इन्द्र से कहा—'तू हममें सबसे प्रबल है, तू दक्षिण की ओर बैठ जिससे हम अभय और निश्चिन्त होकर उत्तर में यज्ञ करें' ॥४॥

उसने उत्तर दिया—'तो मुझे क्या मिलेगा?' उन्होंने कहा कि 'ब्राह्मणाच्छंसी का पद तेरा होगा, ब्रह्मसाम तेरा होगा।' इसलिए ब्राह्मणाच्छंसी का वरण करते हैं तो कहते हैं कि 'इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात्' अर्थात् 'इन्द्र ब्राह्मण होने के कारण ब्रह्मा है।' यह पदवी इन्द्र की है। इन्द्र दक्षिण की ओर बैठा और वे अभय तथा निश्चिन्त स्थान में यज्ञ करने लगे। इसलिए जो सबसे बलिष्ठ हो उसको दक्षिण की ओर बैठना चाहिए और उत्तर की ओर अभय और निश्चिन्त स्थान में उनको यज्ञ करना चाहिए। ब्राह्मणों में जो सबसे अधिक वेद पढ़ा है वही सबसे प्रबल है। अब जो कोई ब्रह्मा हो जाता है वह क्या चुपचाप नहीं बैठता? इसलिए जो कोई सबसे प्रबल हो उसको दक्षिण की ओर बैठना चाहिए और औरों को उत्तर की ओर अभय तथा निश्चिन्त स्थान में यज्ञ करना चाहिए। इसलिए ब्राह्मण वेदी के दक्षिण भाग में बैठते हैं और दूसरे लोग उत्तर की ओर अभय और निश्चिन्त स्थान में यज्ञ करते हैं ॥५॥

जब प्रस्तोता कहता है कि 'हे ब्रह्मन् प्रशास्ता, हम स्तुति करेंगे।' तब ब्रह्मा जपता है, "एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव" (यजु० २।१२)—"हे देव सविता! तेरे इस यज्ञ को ब्रह्म बृहस्पति के लिए विज्ञप्त किया है। इसलिए यज्ञ की रक्षा कर, यज्ञपति की रक्षा कर, मेरी रक्षा कर।" सविता की प्रेरणा से स्तुति करो। इसका भी वही फल है। वे अधिकतर स्तुति इसी मन्त्र से करते हैं ॥६॥

ऐसा कहकर भी स्तुति हो सकती है कि 'हे देव सविता' यह, 'हे बृहस्पति, आगे बढ़िए।' इससे वह प्रेरणा के लिए सविता की उपासना करता है। वही देवों का प्रेरक है। 'बृहस्पति, बढ़ो' वह इसलिए कहता है कि बृहस्पति देवों का ब्रह्मा है। इस प्रकार जो देवों का ब्रह्मा है उसकी घोषणा करता है। इसलिए कहता है कि 'बृहस्पति, बढ़ो' ॥७॥

अब मैत्रावरुण जपता है, 'देव सविता से प्रेरित होकर मित्र और वरुण के लिए प्रिय हो।' इस प्रकार प्रेरणा के लिए सविता की उपासना करता है क्योंकि वह देवों का प्रेरक है। 'मित्र और वरुण के लिए प्रिय' इसलिए कि मैत्रावरुण के दो देवता हैं—मित्र और वरुण। इस प्रकार मैत्रावरुण के जो दो देवता हैं उनके प्रति घोषणा करता है। इसलिए कहता है 'मित्र और वरुण के लिए' ॥८॥

ब्रह्मत्व-सदो-हविर्धान-विधिशेषः

अध्याय ६—ब्राह्मण ७

विद्या के तीन भाग हैं—ऋक्, यजुः और साम। यह पृथिवी ऋक् है क्योंकि जो कोई ऋक् पढ़ता है यही पढ़ता है। वाणी ऋक् है क्योंकि जो कोई पढ़ता है वाणी से पढ़ता है। अन्तरिक्ष यजुः है और द्यौ साम है। सोम यज्ञ में इस तीनों भाग वाली विद्या का प्रयोग होता है ॥१॥

इस लोक को ऋक् से जीतता है, अन्तरिक्ष को यजुः से और द्यौ को साम से। इसलिए

यजुषा दिवमेव साम्ना तस्माद्यस्यैका विद्यानूक्ता स्यादन्वेवापीतरयोर्निर्मितं विवक्तेतेममेव लोकमृचा जयत्यन्तरिक्षं यजुषा दिवमेव साम्ना ॥२॥ तद्वाऽएतत् । सहस्रं वाचः प्रजातं द्वेऽइन्द्रस्तृतीये तृतीयं विष्णुर्ऋचश्च सामानि चेन्द्रो यजूꣳषि विष्णुस्तस्मात्सदस्यृक्सामाभ्यां कुर्वन्त्यैन्द्रꣳ हि सदः ॥३॥ अथैतं विष्णुं यज्ञम् । एतैर्यजुर्भिः पुर इवैव बिभ्रति तस्मात्पुरश्चरणं नाम ॥४॥ वागेवऽर्चश्च सामानि च । मन एव यजूꣳषि सा यत्रेयं वागासीत्सर्वमेव तत्राक्रियत सर्वं प्राज्ञायताथ यत्र मन आसीन्नैव तत्र किं चनाक्रियत न प्राज्ञायत नो हि मनसा ध्यायतः कश्चनाजानाति ॥५॥ ते देवा वाचमब्रुवन् । प्राची प्रेहीदं प्रज्ञपयेति सा होवाच किं मे ततः स्यादिति यत्किं चावषट्कृतꣳ स्वाहाकारेण यज्ञे हूयते तत्तऽइति तस्माद्यत्किं चावषट्कृतꣳ स्वाहाकारेण यज्ञे हूयते तद्वाचः सा प्राची प्रेत्सैतत्प्राज्ञपयदितीदं कुरुतेतीदं कुरुतेति ॥६॥ तस्मादु कुर्वन्त्येवऽर्चा हविर्धाने । प्रातरनुवाकमन्वाह सामिधेनीरन्वाह ग्राव्णोऽभिष्टौत्येवꣳ हि सयुजावभवताम् ॥७॥ तस्मादु कुर्वन्त्येव सदसि । यजुषौदुम्बरीमुच्छ्रयन्ति सदः संमिन्वन्ति धिष्ण्यानुपकिरन्त्येवꣳ हि सयुजावभवताम् ॥८॥ तद्वाऽएतत्सदः परिश्रयन्ति । एतस्मै मिथुनाय तिर इवेदं मिथुनं चर्यातऽइति व्यृद्धं वाऽएतन्मिथुनं यदन्यः पश्यति तस्माद्यद्यपि जायापती मिथुनं चरन्तौ पश्यन्ति व्येव द्रवत आग एव कुर्वाते तस्माद्द्वारेण सदः प्रेक्षमाणं ब्रूयान्मा प्रेक्षथा इति यथा ह मिथुनं चर्यमाणं पश्येदेवं तत्कामं द्वारेण देवकृतꣳ हि द्वारम् ॥९॥ एवमेवैतद्धविर्धानं परिश्रयन्ति । एतस्मै मिथुनाय तिर इवेदं मिथुनं चर्यातऽइति व्यृद्धं वाऽएतन्मिथुनं यदन्यः पश्यति तस्माद्यद्यपि जायापती मिथुनं चरन्तौ पश्यन्ति व्येव द्रवत आग एव कुर्वाते तस्माद्द्वारेण हविर्धानं प्रेक्षमाणं ब्रूयान्मा प्रेक्षथा इति यथा ह मिथुनं चर्यमाणं पश्येदेवं तत्कामं द्वारेण देवकृतꣳ हि द्वारम् ॥१०॥ तद्वाऽएतद्-

जो एक विद्या को जानता हो उसको चाहिए कि अन्य दो विद्याओं को भी जान ले, क्योंकि ऋक् से पृथिवी को जीतता है, यजु: से अन्तरिक्ष को और साम से द्यौ लोक को ।।२।।

यह वाणी की सहस्र प्रजा है। इन्द्र ने दो-तिहाई ले लिया और विष्णु ने एक-तिहाई। ऋक् और साम को इन्द्र ने और यजु: को विष्णु ने। इसलिए सदस् में ऋक् और साम से स्तुति करते हैं क्योंकि सदस् इन्द्र का अपना है ।।३।।

यजुओं से इस विष्णु अर्थात् यज्ञ को आगे लाते हैं, इसलिए इसका नाम पुरश्चरण है ।।४।।

वाणी ही ऋक् और साम ह। मन ही यजु: है। जहा वाणी थी वहाँ सब काम हो गया, सब ज्ञात हो गया। जहाँ मन था वहाँ कुछ न हुआ, कुछ न ज्ञात हुआ। क्योंकि जो कोई मन में विचार करता है उसको कोई भी नहीं जानता ।।५।।

उन देवों ने वाणी से कहा, 'आगे चल और इसका ज्ञान करा।' उसने कहा, 'मुझे क्या होगा ?' उन्होंने कहा कि 'जो कुछ बिना वषट्कार के स्वाहाकार से दिया जाता है वह सब तेरा लाभ होगा।' इसलिए जो कुछ वषट्कार के बिना स्वाहाकार से दिया जाता है वह सब वाणी का होता है। वह आगे बढ़ी और यह विज्ञप्ति दी कि 'ऐसा करो, ऐसा करो' ।।६।।

इसलिए वे भी हविर्धान में ऋक् से ही यज्ञ करते हैं। (होता) प्रातःकाल अनुवाक् पढ़ता है, सामिधेनियों को पढ़ता है। वह (ग्रावस्तुत) ग्राव्ण की स्तुति करता है। इस प्रकार ये दोनों अर्थात् मन और वाणी संयुक्त हो गए ।।७।।

इसलिए सदस् में यजु: से यज्ञ करते हैं। वे उदुम्बरी को उठाते हैं, सदस् को खड़ा करते हैं। वे धिष्ण्या का निर्माण करते हैं। इस प्रकार मन और वाणी दोनों संयुक्त हो जाते हैं ।।८।।

इस सदस् को वे चारों ओर से घेर देते हैं, मैथुन के लिए, यह सोचकर कि 'गुप्त रीति से ही मैथुन (मन और वाणी का संयोग) होगा।' क्योंकि यदि कोई देख ले तो मैथुन अनुचित हो जाता है। इसीलिए जब स्त्री-पुरुष मैथुन करते हुए देख लिये जाते हैं तो वे एक-दूसरे को छोड़कर अलग हो जाते हैं क्योंकि यह बुरा लगता है। इसलिए जो कोई सदस् में द्वार के सिवाय अन्य स्थान से झांके, उससे कहना चाहिए कि मत झाँको, क्योंकि यह ऐसी ही बात है जैसे किसी को मैथुन करते हुए देखे। द्वार की ओर से कोई देख सकता है क्योंकि द्वार तो देवों का बनाया हुआ है ।।९।।

इसी प्रकार हविर्धान को भी चारों ओर से घेर देते हैं, मैथुन के लिए, अर्थात् मैथुन गुप्त रीति से किया जाय। जो कोई दूसरा मैथुन करते देख लेता है वह मैथुन अनुचित समझा जाता है। इसलिए यदि पति-पत्नी मैथुन करते हुए देख लिये जाते हैं तो वे अलग हो जाते हैं क्योंकि यह बुरी बात समझी जाती है। इसलिए यदि कोई द्वार के अतिरिक्त और किधर से ही हविर्धान में झाँके तो उससे कहना चाहिए कि 'मत झांको' अर्थात् मानो वह मैथुन को देख रहा है। द्वार में होकर कोई देख सकता है, क्योंकि द्वार देवों द्वारा निर्मित है ।।१०।।

षा साम । योषामृचꣳ सदस्यध्येति तस्मान्मिथुनादिन्द्रो जातस्तेजसो वै तत्तेजो जातं यदृचश्च साम्नश्चेन्द्र इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष तपति ॥११॥ अथैतद्वृषा सोमः । योषा अपो हविर्धानेऽध्येति तस्मान्मिथुनाच्चन्द्रमा जातोऽन्नाद्वै तदन्नं जातं यदप्सश्च सोमाच्च चन्द्रमाश्चन्द्रमा ह्येतस्यान्नं य एष तपति तद्यजमानं चैवैतज्जनयत्यन्नाद्यं चास्मै जनयत्यृचश्च साम्नश्च यजमानं जनयत्यप्सश्च सोमाच्चास्मा ऽअन्नाद्यम् ॥१२॥ यजुषा ह वै देवाः । अग्रे यज्ञं तेनिरेऽथर्चाथ साम्ना तदिदमप्येतर्हि यजुषैवाग्रे यज्ञं तन्वतेऽथर्चाथ साम्ना यजो ह वै नामैतद्यद्यजुरिति ॥१३॥ यत्र वै देवाः । इमा विद्याः कामान्दुदुह्रे तद्ध यजुर्विद्यैव भूयिष्ठान्कामान्दुदुहे सा निर्धीततमेवास सा नेतरे विद्ये प्रत्यास नान्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यास ॥१४॥ ते देवा अकामयन्त । कथं न्वियं विद्येतरे विद्ये प्रतिस्यात्कथमन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिस्यादिति ॥१५ ॥ ते होचुः । उपांश्वेव यजुर्भिश्चराम तेन एषा विद्येतरे विद्ये प्रतिभविष्यति ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिभविष्यतीति ॥१६॥ तैरुपांश्वचरन् । आप्याययन्नेवैनानि तत्तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रत्यासीत्ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यासीत्तस्माद्यजूꣳषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि तस्मादयमन्तरिक्षलोको निरुक्तः सन्ननिरुक्तः ॥१७॥ स य उपांशु यजुर्भिश्चरति । आप्याययत्येवैनानि स तान्येनमापीनान्याप्याययन्त्यथ य उच्चैश्चरति रूक्षयत्येवैनानि स तान्येनꣳ रूक्षाणि रूक्षयन्ति ॥१८॥ वागेवऽर्चश्च सामानि च । मन एव यजूꣳषि स यऽऋचा च साम्ना च चरन्ति वाक्ते भवन्त्यथ ये यजुषा चरन्ति मनस्ते भवन्ति तस्मान्नानभिप्रेषितमध्वर्युणा किं चन क्रियते यद्वेवाध्वर्युराहानुब्रूहि यजेत्यथैव ते कुर्वन्ति यऽऋचा कुर्वन्ति यद्वेवाध्वर्युराह सोमः पवतऽउपावर्तध्वमित्यथैव ते कुर्वन्ति ये साम्ना कुर्वन्ति नो ह्यनभिगतं मनसा वाग्वदति ॥१९॥ तद्वाऽएतन्मनोऽध्वर्युः । पुर इवैव चरति तस्मात्पु-

इस सदस् में नर-साम नारी-ऋक् की कामना करता है। इनके मैथुन से इन्द्र उत्पन्न होता है। तेज ही तेज उत्पन्न हुआ। ऋक् और साम से इन्द्र हुआ क्योंकि इन्द्र उसी को कहते हैं जो तपता है (सूर्य) ॥११॥

इस हविर्धान में नर-सोम नारी-जल (संस्कृत में 'आप' स्त्रीलिंग है। अर्बी और हीब्रू में भी जल के वाचक स्त्रीलिंग मिलते हैं) की कामना करता है। इसके मैथुन से चाँद उत्पन्न होता है। यह जो जल और सोम के मैथुन से चाँद उत्पन्न हुआ, मानो अन्न से अन्न उत्पन्न हुआ, क्योंकि चन्द्रमा उसका अन्न है जो तपता है (सूर्य का)। इस प्रकार वह यजमान को उत्पन्न करता है, और उसके लिए अन्न को उत्पन्न करता है। ऋक् और साम से वह यजमान को उत्पन्न करता है और सोम-जल से वह उसके लिए अन्न उत्पन्न करता है ॥१२॥

देवों ने पहले यजुः से यज्ञ किया, फिर ऋक् से, फिर साम से। इसीलिए ये भी पहले यजुः से यज्ञ करते हैं, फिर ऋक् से, फिर साम से, क्योंकि वे कहते हैं कि 'यज' ही 'यजुः' है ॥१३॥

जब देवों ने इन विद्याओं से अपनी कामनाओं को दुहा तो सबसे अधिक यजुः मे दुहा। इस प्रकार यह खाली-सा हो गया। यह उन दो विद्याओं के बराबर न रहा, अन्तरिक्ष दोनों लोकों के बराबर न था ॥१४॥

देवों ने चाहा कि यह विद्या उन दो विद्याओं के बराबर कैसे हो? यह अन्तरिक्ष उन दो लोकों के बराबर कैसे हो? ॥१५॥

उन्होंने कहा, 'धीमी आवाज से यजुः से यज्ञ करें, तब यह विद्या उन दो विद्याओं के बराबर हो जायगी। तब अन्तरिक्ष इन दो लोकों के बराबर हो जायगा' ॥१६॥

उनके धीमी आवाज से यज्ञ करने से यजुओं की शक्ति बढ़ गई। यह विद्या दूसरी दो विद्याओं के बराबर हो गई। इस प्रकार अन्तरिक्षलोक अन्य दो लोकों के तुल्य हो गया। इसलिए यजुः निरुक्त (स्पष्ट) होते हुए भी अनिरुक्त है, इसलिए अन्तरिक्ष निरुक्त होते हुए भी अनिरुक्त है ॥१७॥

जो यजुओं को धीमी आवाज से पढ़ता है वह यजुओं को शक्तिशाली करता है और ये शक्तिशाली होकर उसको शक्तिशाली करते हैं। जो यजुओं को उच्चस्वर से पढ़ता है वह उनको निर्बल बनाता है और वे निर्बल होकर उसको निर्बल कर देते हैं ॥१८॥

ऋक् और साम वाणी हैं। मन ही यजुः है। जो ऋक् और साम से यज्ञ करते हैं वे वाणी हैं और जो यजुः से यज्ञ करते हैं वे मन हैं। इसलिए बिना अध्वर्यु की आज्ञा के कुछ काम नहीं किया जाता। जब अध्वर्यु कहता है 'अनुवाक् कहो, यज्ञ करो' तब वे यज्ञ करते हैं जो ऋक् से यज्ञ करते हैं। जब अध्वर्यु कहता है कि 'सोम पवित्र हो गया, लौटो' तो वे यज्ञ करते हैं जो साम से यज्ञ करते हैं। मन के द्वारा विचारे बिना तो वाणी कुछ कहती नहीं ॥१९॥

इस प्रकार मनरूपी अध्वर्यु आगे-आगे चलता है। इसीलिए पुरश्चरण नाम पड़ा। जो

श्चरणं नाम पुर-इव ह वै श्रिया यशसा भवति य एवमेतद्वेद ॥२०॥ तद्वाऽए-तदेव पुरश्चरणम् । य एष तपति स एतस्यैवावृता चरेद्ग्रहं गृह्णीतैतस्यैवावृतमन्वावर्तेत प्रतिगीर्यैतस्यैवावृतमन्वावर्तेत ग्रहँ जुह्वेतैतस्यैवावृतमन्वावर्तेत स हैष भर्ता स यो हैवं विद्वानेतस्यावृता शक्नोति चरितुँ शक्नोति हैव भार्यान्भर्तुम् ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [६. ७.] ॥

या वै दीक्षा सा निषत् । तत्सत्त्रं तस्मादेनानासतऽइत्याहुरथ यत्ततो यज्ञं तन्वते तद्यन्ति तन्नयति यो नेता भवति स तस्मादेनान्यन्तीत्याहुः ॥१॥ या ह दीक्षा सा निषत् । तत्सत्त्रं तदयनं तत्सत्त्रायणमथ यत्ततो यज्ञस्योदृचं गत्वोत्तिष्ठन्ति तदुत्थानं तस्मादेनानुदस्थुरित्याहुरिति नु पुरस्ताद्वदनम् ॥२॥ अथ दीक्षिष्यन्तः समवस्यन्ति । ते यद्यग्निं चेष्यमाणा भवन्त्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपसमायन्ति यत्र प्राजापत्येन पशुना यक्ष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहवनीयं यजन्तऽएतेन प्राजापत्येन पशुना ॥३॥ तस्य शिरो निदधति । तेषां यदि तदहर्दीक्षा न समेत्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्य यथायथं विपरेत्य जुह्वति ॥४॥ अथ यदहरेषां दीक्षा समेति । अरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपसमायन्ति यत्र दीक्षिष्यमाणा भवन्ति गृहपतिरेव प्रथमो मन्थते मध्यं प्रति शालाया अथेतरेषामर्धा दक्षिणत उपविशन्त्यर्धा उत्तरतो मथित्वोपसमाधायैकैकमेवोल्मुकमादायोपसमायन्ति गृहपतेर्गार्हपत्यं गृहपतेरेव गार्हपत्यादुद्धृत्याहवनीयं दीक्षन्ते तेषाँ समान आहवनीया भवति नाना गार्हपत्या दीक्षोपसत्सु ॥५॥ अथ यदहरेषां क्रयो भवति । तदहर्गार्हपत्यां चितिमुपदधात्यथेतरेभ्य उपवसथे धिष्ण्यान्वैसर्जिनानां काले प्राच्यः पत्न्य उपसमायन्ति प्रजहत्येतानपरानग्नीन्कृतऽएव वैसर्जिने ॥६॥ राजानं प्रणयति । उद्यत एवैष आग्नीध्रीयोऽग्निर्भवत्यथैतऽएकैकमेवोल्मुकमादाय यथाधिष्ण्यं विपरायन्ति तैरेव तेषामुल्मुकैः प्रघ्नन्तीति ह स्माह याज्ञवल्क्यो ये तथा

इस रहस्य को समझता है वह श्री और यश में आगे होता है ।।२०।।

यह पुरश्चरण वही है जो तपता है (अर्थात् सूर्य्य) । उसी की चाल के अनुसार चलना चाहिए। जब सोम ग्रह को लेवे तो उसी की चाल के अनुसार घुमावे । जब वे होता के गीत का अनुसरण करें, तो भी सूर्य्य की चाल का ही अनुसरण करना चाहिए । जब वे ग्रह की आहुति दें तब भी सूर्य्य की चाल का ही अनुसरण करना चाहिए। सूर्य्य ही भर्त्ता है। जो इस रहस्य को समझकर सूर्य्य का अनुसरण करता है वह अपने आश्रितों (भार्या) का पालन कर सकता है ।।२१।।

सत्रायणम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ८

यह जो दीक्षा है उसका नाम है निषत् (बैठना)। उसी को सत्र (बैठक, session) कहते हैं। इसीलिए कहते हैं कि 'आसत्' अर्थात् वे बैठे हैं। और इसके पश्चात् जब यज्ञ करते हैं तब वे 'यन्ति' अर्थात् 'जाते हैं'। इनमें जो 'नयति' अर्थात् अगुआ होता है वह 'नेता' होता है । इसलिए इनको कहते हैं कि ये जाते हैं । (तात्पर्य यह है कि 'दीक्षा' के लिए 'बैठने' का और यज्ञ करने के लिए 'जाने' शब्द का प्रयोग होता है) ।।१।।

जो दीक्षा है वह निषत् या बैठना है। वही सत्र (बैठक) है। वह 'अयन' (जाना) भी है। वह 'सत्रायण' अर्थात् 'बैठने के लिए जाना' है। और जब यज्ञ की समाप्ति पर उठते हैं उसको 'उत्थान' कहते हैं। इसलिए कहते हैं कि 'वे उठ बैठे।' यह हुआ प्राक्कथन (पुरस्ताद् वदनम्) ।।२।।

जिनको दीक्षित होना है वे (समय तथा स्थान को) तै कर लेते हैं। जिनको वेदी बनानी है वे अरणियों में अग्नियों को लेकर वहाँ चले जाते हैं जहाँ प्रजापति के लिए पशु का आलभन करना है। आग को मथकर उसमें प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करते हैं ।।३।।

उसके सिर को रख लेते हैं। यदि उसी दिन उनकी दीक्षा नहीं होनी है तो अरणियों में ही फिर आग लेकर अपने-अपने घर चले जाते हैं और दैनिक आहुतियों में ही देते हैं ।।४।।

यदि उनकी दीक्षा उसी दिन होती है तो अरणियों में ही अग्नि को लेकर उस स्थान पर आ जाते हैं जहाँ दीक्षा होनी है। शाला के बीच में वहीं पर गृहपति पहले (आग को) मथता है। इनमें से आधे उसकी दक्षिण की ओर बैठते हैं, आधे उत्तर की ओर। जब आग मथ जाती है और उस पर समिधा रख जाती है तो वे एक-एक लकड़ी को लेकर गृहपति की गार्हपत्य अग्नि तक आते हैं। गृहपति को ही गार्हपत्य से आहवनीय लेकर दीक्षा लेते हैं। दीक्षा और उपसद् में आहवनीय एक ही होती है और गार्हपत्य अलग-अलग ।।५।।

जिस दिन इनको (सोम) मोल लेना है, उस दिन गार्हपत्य को चिनते हैं और उपवास के दिन (सोमयज्ञ से पूर्व दिन को उपवसथ करते हैं) दूसरों के लिए धिष्ण्या चिनते हैं। विसर्जन के दिन पत्नियाँ भी साथ आती हैं। और यजमान उन दूसरी अग्नियों को (गार्हपत्यों को) छोड़ जाते हैं। जब वैसर्जिन आहुति हो चुकती है तो—।।६।।

सोम राजा को लाते हैं। आग्नीध्रीय अग्नि उसी समय अभी लाई हुई होती है। वे इसमें से एक-एक लकड़ी लेकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में चले जाते हैं। (याज्ञवल्क्य ने) कहा है कि

कुर्वन्तीत्येतन्न्वेकमयनम् ॥७॥ अथेदं द्वितीयम् । अरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपस-
मायन्ति यत्र प्राजापत्येन पशुना यक्ष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहव-
नीयं यजन्तऽएतेन प्राजापत्येन पशुना ॥८॥ तस्य शिरो निदधति । तेषां यदि
तदहर्दीक्षा न समैत्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्य यथायथं विपरेत्य जुह्वति ॥९॥ अथ
यदहरेषां दीक्षा समैति । अरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्योपसमायन्ति यत्र दीक्षिष्यमा-
णा भवन्ति गृहपतिरेव प्रथमो मन्थतेऽथेतरे पर्युपविश्य मन्थन्ति ते जातं-जातमे-
वानुप्रहरन्ति गृहपतेर्गार्हपत्ये गृहपतेरेव गार्हपत्यादुद्धृत्याहवनीयं दीक्षन्ते ते-
षाꣳ समान आहवनीयो भवति समानो गार्हपत्यो दीक्षोपसत्सु ॥१०॥ अथ
यदहरेषां क्रयो भवति । तदहर्गार्हपत्यां चितिमुपदधात्यथेतरेभ्य उपवसथे धि-
ष्ण्यान्वैसर्जिनानां काले प्राच्यः पत्न्य उपसमायन्ति प्रजहत्येतमपरमग्निꣳ हुतऽएव
वैसर्जिने ॥११॥ राजानं प्रणयति । उद्यत एवैष आग्नीध्रीयोऽग्निर्भवत्यथैतऽएकै-
कमेवोल्मुकमादाय यथाधिष्ण्यं विपरायन्ति समदमु हैव ते कुर्वन्ति समद्धैनान्वि-
न्दत्यर्तुका ह भवन्त्यपि ह तमर्धꣳ समद्विन्दति यस्मिन्नर्धे यजन्ते ये तथा कुर्वन्त्ये-
तद्द्वितीयमयनम् ॥१२॥ अथेदं तृतीयम् । गृहपतेरेवारण्योः संवदन्ते य इतो
ऽग्निर्जनिष्यते स नः सह यदनेन यज्ञेन नेष्यामोऽनेन पशुबन्धेन तन्नः सह सह
नः साधुकृत्या य एव पापं करवत्तस्यैव तदित्येवमुक्त्वा गृहपतिरेव प्रथमः समा-
रोहयतेऽथेतरेभ्यः समारोहयति स्वयं वैव समारोहयन्ते तऽआयन्ति यत्र प्राजा-
पत्येन पशुना यक्ष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहवनीयं यजन्तऽएतेन
प्राजापत्येन पशुना ॥१३॥ तस्य शिरो निदधति । तेषां यदि तदहर्दीक्षा न स-
मैत्यरणिष्वेवाग्नीन्त्समारोह्य यथायथं विपरेत्य जुह्वति ॥१४॥ अथ यदहरेषां दी-
क्षा समैति । गृहपतेरेवारण्योः संवदन्ते य इतोऽग्निर्जनिष्यते स नः सह यदनेन
यज्ञेन नेष्यामोऽनेन सत्त्रेण तन्नः सह सह नः साधुकृत्या य एव पापं करवत्तस्यैव

ये इन्हीं लकड़ियों से वध करते हैं। यह रीति है ॥७॥

दूसरी यह है—अरणियों पर अग्नियों को लेकर वहाँ जाते हैं जहाँ प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करना है। आग मथकर उस पर समिधा रखके उसमें से आहवनीय को लेकर प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करते हैं ॥८॥

उसके सिर को रख लेते हैं। यदि उस दिन दीक्षा नहीं होनी होती तो अरणियों पर अग्नियों को लेकर अपने-अपने घर चले जाते हैं और वहाँ (दैनिक) आहुतियाँ देते हैं ॥९॥

यदि दीक्षा उसी दिन लेनी हो तो अरणियों पर अग्नियों को लेकर वहाँ चले आते हैं जहाँ दीक्षा लेनी है। पहले गृहपति ही मथता है, फिर और उसके पास बैठकर मथते हैं। और जो-जो अपनी आग मथता है वह उसको गृहपति के ही गार्हपत्य में डाल देता है। गृहपति के ही गार्हपत्य से आहवनीय लेकर दीक्षा लेते हैं, उनकी आहवनीय एक ही होती है और एक ही गार्हपत्य दीक्षा में भी और उपसदों में भी ॥१०॥

जिस दिन उनको सोम का क्रय करना हो (मोल लेना हो) उस दिन गार्हपत्य को चिनते हैं, और उपवास के दिन दूसरों के लिए धिष्ण्या। विसर्जन के समय पत्नियाँ आगे आती हैं और यजमान इस दूसरी अग्नि को छोड़ जाता है। और जब विसर्जन की आहुति दी जाती है—॥११॥

तभी सोम राजा को लाता है। आग्नीध्र अग्नि उस समय लाई हुई होती है। उसमें से एक-एक लकड़ी को लेकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में लाते हैं। जो इस प्रकार करते हैं वे झगड़ा करते हैं। झगड़ा उनके बीच में आ जाता है। वे झगड़ा कर बैठते हैं जो इस प्रकार यज्ञ करते हैं। यह दूसरी रीति है ॥१२॥

यह तीसरी रीति है—गृहपति की ही अरणियों में साझी हो जाते हैं। 'जो अग्नि इनसे उत्पन्न होगी इसमें हमारा भाग है। इस यज्ञ के करने से जो फल होगा, या पशु-बन्ध से, इसमें हमारा भाग है। जो पुण्य कर्म है उसमें हम सब शामिल हैं। जो पाप करे वह उसका अपना है।' ऐसा कहकर गृहपति पहले अपने लिए आग लेता है, फिर दूसरों के लिए, या वे स्वयं अपने लिए लेते हैं। वे उस स्थान पर आते हैं जहाँ प्रजापति का पशुयाग होना होता है। आग मथकर, समिधा रखकर आहवनीय को लेते हैं और प्रजापति-सम्बन्धी पशु-यज्ञ करते हैं ॥१३॥

उसके सिर को रख लेते हैं। यदि उस दिन उनकी दीक्षा नहीं होनी होती तो अरणियों पर अग्नियों को लेकर अपने-अपने घर चले जाते हैं और आहुतियाँ दे लेते हैं ॥१४॥

यदि इस दिन दीक्षा होनी होती है तो गृहपति की ही अरणियों में साझा कर लेते हैं कि 'जो अग्नि उत्पन्न होगी उसमें हमारा भाग है और जो इस होनेवाले यज्ञ तथा सत्र से फल होना है उसमें हमारा साझा है। जो-जो पुण्य करना है उसमें हमारा साझा है। जो पाप हो जाय वह

तदित्येवमुक्त्वा गृहपतिरेव प्रथमः समारोहयतेऽथेतरेभ्यः समारोहयति स्वयं वैव समारोहयन्ते तऽआयन्ति यत्र दीक्षिष्यमाणा भवन्ति मथित्वोपसमाधायोद्धृत्याहवनीयं दीक्षन्ते तेषाꣳ समान आहवनीयो भवति समानो गार्हपत्यो दीक्षोपसत्सु ॥१५॥ अथ यदहरेषां क्रयो भवति । तदहर्गार्हपत्यां चितिमुपदधात्यथेतरेभ्य उपवसथे धिष्ण्यान्वैसर्जिनानां काले प्राच्यः पत्न्य उपसमायन्ति प्रजहत्येतमपरमग्निꣳ हुतऽएव वैसर्जिने ॥१६॥ राजानं प्रणयति । उद्यत एवैष आग्नीध्रीयो ऽग्निर्भवत्यथैतऽएकैकमेवोल्मुकमादाय यथाधिष्ण्यं विपरायन्ति तत्तत्कृतं नाकृतं यन्नानाधिष्ण्या भवन्ति वरीयानाकाशोऽसत्परिचरणायेत्यथ यन्नानापुरोडाशा भूयो हविरुच्छिष्टमसत्समाप्त्याऽइति ॥१७॥ अथ येन सत्त्रेण देवाः । क्षिप्रऽएव पाप्मानमपाघ्नतेमां जितिमजयन्येषामियं जितिस्तदेन उद्यतऽएकगृहपतिका वै देवा एकपुरोडाशा एकधिष्ण्याः क्षिप्रऽएव पाप्मानमपाघ्नत क्षिप्रे प्राजायन्त तथोऽएवैत ऽएकगृहपतिका एकपुरोडाशा एकधिष्ण्याः क्षिप्रऽएव पाप्मानमपघ्नते क्षिप्रे प्रजायन्ते ॥१८॥ अथादः पूर्वस्मिन्नुदीचीनवꣳशा शाला भवति । तन्मानुषꣳ समान आहवनीयो भवति नाना गार्हपत्यास्तद्विकृष्टं गृहपतेरेव गार्हपत्ये जाघन्या पत्नीः संयाजयन्त्याज्येनेतरे प्रतियजन्तऽआसते तद्विकृष्टम् ॥१९॥ अथात्र प्राचीनवꣳशा शाला भवति । तद्देवत्रा समान आहवनीयो भवति समानो गार्हपत्यः समान आग्नीध्रीयस्तदेतत्सत्त्रꣳ समृद्धं यथैकाहः समृद्ध एवं तस्य न ह्वलास्ति तस्यैषैव समान्यावृद्यदन्यद्धिष्ण्येभ्यः ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥१० [६. ८.] ॥ ॥

देवा ह वै सत्त्रमासत । श्रियं गच्छेम यशः स्यामान्नादाः स्यामेति तेभ्य एतदन्नाद्यमभिजितमपाचिक्रमिषत्पशवो वाऽअन्नं पशवो हैवैभ्यस्तदपाचिक्रमिषन्न्यहै न इमे श्रान्ता न हिꣳस्युः कथमिव स्विन्नः सन्न्यन्तऽइति ॥१॥ तऽएते गार्हपत्ये द्वेऽआहुतीऽअजुहवुः । गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तदेनान्गृहेष्वेव

हर एक का अपना-अपना है।' ऐसा कहकर पहले गृहपति अरणियों पर अपने लिए मथता है, फिर दूसरों के लिए, या वे स्वयं अपने लिए मथ लेते हैं। अब वे वहाँ आते हैं जहाँ दीक्षा होनी होती है। मथकर, समिधा रखकर आहवनीय को लाते हैं और उसमें दीक्षा लेते हैं। दीक्षा और उपसद में इनकी एक ही आहवनीय होती है और एक ही गार्हपत्य ॥१५॥

अब जिस दिन सोम-क्रय करना हो उस दिन गार्हपत्य को चिनते हैं, और उपवास के दिन दूसरों के लिए धिष्ण्या। विसर्जन के समय पत्नियाँ आगे आती हैं। यजमान उस दूसरी अग्नि को छोड़ जाता है। विसर्जन की आहुति होने पर—॥१६॥

सोम राजा को लाता है। आग्नीध्र अग्नि लाई हुई होती है। उसमें से एक-एक लकड़ी लेकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में लाते हैं। इस प्रकार यह हो जाता है; अधूरा (अहत) नहीं रहता। अलग-अलग धिष्ण्या इसलिए होती है कि बीच में आने-जाने के लिए अवकाश रहे। पुरोडाश अलग-अलग इसलिए होता है कि यज्ञ की समाप्ति के लिए अधिक हव्य बच रहे ॥१७॥

जिस सत्र से देवों ने शीघ्र ही पाप को मार डाला और वह विजय पा ली जो इस समय उनको प्राप्त है, उसकी व्याख्या हो चुकी। एक गृहपति, एक पुरोडाश, एक धिष्ण्या से उन्होंने पाप को शीघ्र ही भगा दिया और शीघ्र ही उत्पन्न हो गये। इसी प्रकार यह भी एक गृहपति, एक पुरोडाश और एक धिष्ण्या से पाप को शीघ्र ही भगा देते हैं और फिर उत्पन्न हो जाते हैं ॥१८॥

पहली दशा में एक शाला होती है जिसमें बाँस दक्षिण से उत्तर की ओर होते हैं। यह मानुषी विधि है। एक ही आहवनीय होती है और भिन्न-भिन्न गार्हपत्य। यह विकृष्टि अर्थात् भिन्नता है। गृहपति के ही गार्हपत्य में पशु के पिछले भाग से पत्नी संयाज आहुतियाँ देते हैं, और दूसरे बैठकर घी की आहुति देते हैं। यह विकृष्टि अर्थात् भिन्नता है ॥१९॥

परन्तु यहाँ ऐसी शाला होती है जिसमें पश्चिम से पूर्व की ओर बाँस होते हैं। यहाँ एक ही आहवनीय होती है और एक ही गार्हपत्य, एक आग्नीध्रीय। इस प्रकार यह सत्र सफल होता है जैसे एकाह (एक दिन का यज्ञ) सफल हुआ। इसमें कोई वैफल्य नहीं। धिष्ण्या को छोड़कर यहाँ हर बात में समानता है ॥२०॥

सत्रधर्माः

अध्याय ६—ब्राह्मण ९

देव एक सत्र में बैठे इस इच्छा से कि श्री और यश मिले; अन्न को खानेवाले हो जायें। उनसे वह अन्न जो उन्होंने जीता था भाग गया। पशु अन्न हैं। पशु ही उनसे भाग गये, यह सोचकर कि ये देव थक गये हैं, कहीं हमको हानि न पहुँचावें, और न जाने हमारे साथ कैसा वर्ताव करें ॥१॥

उन्होंने गार्हपत्य में इन दो आहुतियों को दिया। गार्हपत्य गृह हैं। गृह प्रतिष्ठा हैं। इस

न्ययंस्तेभ्य एतदन्नाद्यमभिजितं नापाक्रामत् ॥२॥ तथोऽएवेमे सत्रमासते । ये सत्रमासते श्रियं गच्छेम यशः स्यामान्नादाः स्यामेति तेभ्य एतदन्नाद्यमभिजितमपचिक्रमिषति पशवो वाऽअन्नं पशवो हैवैभ्यस्तदपचिक्रमिषन्ति यद्वै न इमे श्रान्ता न हिंस्युः कथमिव स्विन्नः सद्यतऽइति ॥३॥ तऽएते गार्हपत्ये द्वेऽआहुती जुह्वति । गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तदेनान्गृहेष्वेव नियच्छन्ति तथैभ्य एतदन्नाद्यमभिजितं नापक्रामति ॥४॥ तथोऽएवैतस्मात् । एतदन्नाद्यमुपाहृतमपचिक्रमिषति यद्वै मायं न हिंस्यात्कथमिव स्विन्मा सद्यतऽइति ॥४॥ तस्य परस्तादिवाग्रेऽल्पश-इव प्राश्नाति । तदेनदुपनिमदति तद्वेद न वै तथाभूद्यथामऽसि न वै माहिंसीदिति तदेनमुपावश्रयते स ह प्रिय एवान्नस्यान्नादो भवति य एवं विद्वानेतस्य व्रतं शक्नोति चरितुम् ॥५॥ तद्वाऽएतत् । दशमेऽहन्त्सत्रोत्थानं क्रियते तेषामेकैक एव वाचंयम आस्ते वाचमाप्याययंस्तयापीनयायातयाम्न्योत्तरमहस्तन्वतेऽथेतरे विसृज्यन्ते समिद्धारा वा स्वाध्यायं वा तत्राप्यश्नन्ति ॥६॥ तेऽपराह्णऽउपसमेत्य । अथ उपस्पृश्य पत्नीशालं सम्प्रपद्यन्ते तेषु समन्वारब्धेष्वेतेऽआहुती जुहोतीह रतिरिह रमधमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति पशूनेवैतदाह पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते ॥८॥ अथ द्वितीयां जुहोति । उपसृजन्धरुणं मात्रऽइत्यग्निमेवैतत्पृथिव्याऽउपसृजन्नाह धरुणो मातरं धयन्नित्यग्निमेवैतत्पृथिवीं धयन्तमाह रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहेति पशवो वै रायस्पोषः पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते ॥९॥ ते प्राञ्च उपनिष्क्रामन्ति । ते पश्चात्प्राञ्चो हविर्धाने सम्प्रपद्यन्ते पुरस्ताद्धि प्रत्यञ्चस्तंस्यमाना अथैवं सत्रोत्थाने ॥१०॥ तऽउत्तरस्य हविर्धानस्य । जघन्यायां कूबर्यां सामाभिगायन्ति सत्रस्यऽऋद्धिरिति राद्धिमेवैतदभ्युत्तिष्ठन्त्युत्तरवेदेर्वोत्तरायां श्रोणावितरं तु कृततरम् ॥११॥ यद्युत्तरस्य हविर्धानस्य । जघन्यायां कूबर्यामगन्म ज्योतिरमृता अभूमेति ज्योतिर्वाऽएते भवन्त्य-

प्रकार उन्होंने इनको गृहों में ही थाम लिया, इस प्रकार इनसे जीता हुआ अन्न न भागा ।।२।।

इसी प्रकार ये लोग भी जो सत्र में बैठते हैं इस आशा से बैठते हैं कि श्री और यश मिले, अन्न को खानेवाले हो जायँ । जो अन्न उन्होंने जीता है वह उनसे भागना चाहता है । पशु अन्न हैं, अर्थात् पशु भागना चाहते हैं यह सोचकर कि ये थके हुए हैं, कहीं हमको हानि न पहुँचावें, (न जाने) हमसे कैसा वर्ताव करें ।।३।।

वे गार्हपत्य में दो आहुतियाँ देते हैं । गृह गार्हपत्य हैं। गृह प्रतिष्ठा हैं । इस प्रकार उनको गृहों में ही थाम लेते हैं । इस प्रकार यही जीता हुआ अन्न उनसे भाग नहीं सकता ।।४।।

इसी प्रकार जीता हुआ अन्न उनसे भागना चाहता है कि कहीं ये मुझे हानि न पहुँचावें। न जाने कैसे वर्ताव करें ।।५।।

इसमें से पीछे की ओर से थोड़ा-सा खाता है । इस प्रकार वह उसका साहस बढ़ाता है । तब वह जानता है कि वैसा नहीं हुआ जैसा मैंने समझा था । इन्होंने मुझे हानि नहीं पहुँचाई । इस प्रकार वे उसके आश्रय हो जाते हैं । वह अन्न का प्रिय हो जाता है, अन्न का खानेवाला हो जाता है यदि वह इस रहस्य को समझकर व्रत कर सकता है ।।६।।

यह कृत्य दसवें दिन सत्रोत्थान के समय होता है। हर एक चुप बैठता है इस प्रकार वाणी को शक्ति देते हुए । उस शक्तिशाली और पूर्ण वाणी से वे अन्तिम दिवस का कृत्य करते हैं । अब दूसरों का विसर्जन हो जाता है या तो समिधा लेने के लिए या स्वाध्याय के लिए । अब खाना खाते हैं ।।७।।

तीसरे पहर को साथ आकर और जल का स्पर्श करके पत्नीशाला में जाते हैं । जब वे उसके पास होते हैं वह आहुति दे देता है इस मन्त्र से—"इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा" (यजु० ८।५१)—"यहाँ प्रसन्नता है, यहाँ आनन्द मनाइये । यहाँ धृति है । यहाँ आपकी अपनी धृति है—स्वाहा ।" वह पशुओं से ऐसा कहता है । इस प्रकार वे अपने लिए पशुओं को प्राप्त कर लेते हैं ।।८।।

अब दूसरी आहुति देता है—"उपसृजन् धरुणं मात्रे" (यजु० ८।५१)—"बछड़े को माता के लिए छोड़ते हुए ।" इसका तात्पर्य है कि अग्नि को पृथिवी के पास छोड़ते हुए । "धरुणो मातरं धयन्" (यजु० ८।५१)—"बछड़ा माता का दूध पीता हुआ अर्थात् अग्नि पृथिवी से दूध पीती हुई । "रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा" (यजु० ८।५१)—"वह हममें धन को जारी रक्खे ।" इस प्रकार वह पशुओं को अपने में स्थित रखता है ।।९।।

वे पूर्व की ओर निकलते हैं और पीछे से पूर्व की ओर हविर्धान में प्रवेश करते हैं । आगे से पीछे को उस समय गये थे जब यज्ञ करना था । सत्रोत्थान में इस प्रकार—।।१०।।

उत्तरी हविर्धान के पिछले भाग में सामगान करते हैं जिसको 'सत्र की ऋद्धि' (यजु० ८।५२) कहते हैं । यहीं वे ऋद्धि को प्राप्त होते हैं, या उत्तर वेदी के उत्तर भाग में । परन्तु दूसरी विधि अधिक प्रचलित है—।।११।।

अर्थात् उत्तरी हविर्धान के पिछले भाग में । "अगन्म ज्योतिरमृताऽ अभूम" (यजु० ८।५२)—"हमको ज्योति मिल गई। हम अमर हो गये ।" जो सत्र में बैठते हैं उनको ज्योति

मृता भवन्ति ये सत्त्रमासते दिवं पृथिव्या अध्यारुहामेति दिवं वाऽएते पृथिव्या अध्यारोहन्ति ये सत्त्रमासतेऽविदाम देवानिति विन्दन्ति हि देवान्त्स्वर्ज्योतिरिति त्रिर्निधनमुपावयन्ति स्वर्ह्येते ज्योतिर्ह्येते भवन्ति तद्यदेवैतस्य साम्नो रूपं तदेवैते भवन्ति ये सत्त्रमासते ॥१२॥ ते दक्षिणस्य हविर्धानस्य । अधोऽधोऽक्षꣳ सर्पन्ति स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यन्तेऽतिच्छन्दसा सर्पन्त्येषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथैनान्पाप्मा नान्वत्येति तस्मादतिच्छन्दसा सर्पन्ति ॥१३॥ ते सर्पन्ति । युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं-तमिद्धतं वज्रेण तं-तमिद्धतम् । दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत् । अस्माकꣳ शत्रून्परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वत इति ॥१४॥ ते प्राञ्च उपनिष्क्रामन्ति । ते पुरस्तात्प्रत्यञ्चः सदः सम्प्रपद्यन्ते पश्चाद्धि प्राञ्चस्तꣳस्यमाना अथैवꣳ सत्त्रोत्थाने ॥१५॥ ते यथाधिष्ण्यमेवोपविशन्ति । देवेभ्यो ह वै वाचो रसोऽभिजितोऽपचिक्रमिषां चकार स इमामेव पराङत्यसिसृप्सदियं वै वाक्तस्या एष रसो यदोषधयो यद्वनस्पतयस्तमेतेन साम्नाप्नुवन्त्स एनानाप्तोऽभ्यावर्तत तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतयस्तथोऽएवैतेभ्य एतद्वाचो रसोऽभिजितोऽपचिक्रमिषति स इमामेव पराङतिसिसृप्सतीयं वै वाक्तस्या एष रसो यदोषधयो यद्वनस्पतयस्तमेतेन साम्नाप्नुवन्ति स एनानाप्तोऽभ्यावर्तते तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतयः ॥१६॥ सर्पराज्ञ्या ऋक्षु स्तुवते । इयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी तदनयैवैतत्सर्वमाप्नुवन्ति स्वयम्प्रस्तुतमनुपगीतं यथा नान्य उपशृणुयादिति ह रेचयेद्यदन्यः प्रस्तुयादतिरेचयेद्यदन्य उपगायेदतिरेचयेद्यदन्य उपशृणुयात्तस्मात्स्वयम्प्रस्तुतमनुपगीतम् ॥१७॥ चतुर्होतॄन्होता व्याचष्टे । एतद्वै तत्स्तुतमनुशꣳसति यदि होता न विद्याद्गृहपतिर्व्याचक्षीत होतुस्त्वेव व्याख्यानम् ॥१८॥ अथाध्वर्योः प्रतिगरः । अरात्सुरिमे यजमाना भद्रमेभ्योऽभूदिति कल्याणमेवैतन्मानुष्यै

मिल जाती है। ये अमर हो जाते हैं। "दिवं पृथिव्या ऽअध्यारुहाम" (यजु० ८।५२)—"हम पृथिवी से द्यौलोक में पहुँच गये।" जो सत्र में बैठते हैं वे पृथिवी से द्यौलोक में पहुँच जाते हैं। "विदाम देवान्" (यजु० ८।५२)—"हमने देवों को प्राप्त किया।" क्योंकि वे वस्तुतः देवों को पा जाते हैं। "स्वर्ज्योतिः" (यजु० ८।५२)—"स्वर्ग को और ज्योति को।" इसको तीन बार कहते हैं। यही स्वर्ग और ज्योति के भागी हो जाते हैं। इस प्रकार जो सत्र में बैठते हैं उनका वही रूप हो जाता है जो साम का रूप है ।।१२।।

वे दक्षिणी हविर्धान के धुरे के नीचे रेंगते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल छोड़ देता है उसी प्रकार ये अपने पापों से मुक्त हो जाते हैं। अतिछन्दस् से रेंगते हैं। ये जो अतिछन्दस् हैं वे ही सब छन्द हैं। इस प्रकार पाप उनको नहीं लगता। इसलिए वे अतिछन्दस् से रेंगते हैं ।।१३।।

वे इस मन्त्र को पढ़कर रेंगते हैं—"युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं-तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। अस्माकँ शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः' (यजु० ८।५३)—"हे इन्द्र और पर्वत! तुम दोनों उसको जो हमसे युद्ध में लड़ता है मारो। वज्र से उसको मारो। उसको भी जो दूर देश में जाकर छिप गया हो। हे शूर! हमारे शत्रुओं को फाड़ डालनेवाला चारों ओर से फाड़ डाले—चारों ओर से" ।।१४।।

वे पूर्व की ओर निकलते हैं और सदस् में आगे से पीछे की ओर प्रवेश करते हैं। पीछे से आगे की ओर उस समय आये थे जब यज्ञ करना था। सत्रोत्थान के अवसर पर इस प्रकार—।।१५।।

वे अपनी-अपनी धिष्ण्या के पास बैठ जाते हैं। एक बार वाणी के रस ने देवों से, जिन्होंने इसको जीत लिया था, अलग होना चाहा। उसने पृथिवी पर रेंग-रेंगकर भागने का यत्न किया। पृथिवी ही वाणी है। ये जो ओषधियाँ या बनस्पतियाँ हैं यही इसका रस हैं। उसको इसी साम के द्वारा पकड़ा। इस प्रकार पकड़ने पर वह लौट आया। इसीलिए भूमि पर ओषधियाँ और वनस्पतियाँ ऊपर को उगीं। इसी प्रकार वाणी का रस इन यजमानों को भी जिन्होंने इसको जीत लिया है छोड़ना चाहता है, और इस भूमि पर बहकर भागने की कोशिश करता है। क्योंकि यह पृथिवी वाणी है और इसका रस ये ओषधियाँ और वनस्पतियाँ हैं। इसी साम के द्वारा वे इसको पकड़ते हैं और पकड़ा जाने पर वह लौट आता है, इसलिए इस पृथिवी पर ओषधियाँ ऊपर को उगती हैं और वनस्पतियाँ भी ऊपर को ही उगती हैं ।।१६।।

सर्पराज्ञी ऋचाओं से स्तुति करते हैं। यह पृथिवी सर्पराज्ञी है। इसके द्वारा ये सब चीजों की प्राप्ति करते हैं। उद्गाता अकेले ही स्तुति करता है (बिना प्रस्तोता के) और उपगाता भी साथ में नहीं होते, इसलिए कि कोई इसे सुन न ले। अति हो जाय यदि कोई दूसरा स्तुति करे। अति हो जाय यदि दूसरा गावे। अति हो जाय यदि दूसरा सुन ले। इसलिए बिना उपगाता की सहायता के उद्गाता स्वयं ही स्तुति करता है ।।१७।।

होता चतुर्होतृ का पाठ करता है और उस स्तुति के बाद शस्त्र पढ़ता है। यदि होता उनको न जानता हो तो गृहपति पढ़े। परन्तु है तो यह होता के पढ़ने के लिए ही ।।१८।।

अब अध्वर्यु प्रत्युत्तर देता है—'ये यजमान सफल हो गये। इनका कल्याण हो।' इस

वाचो वदति ॥१९॥ अथ वाकोवाक्यं ब्रह्मोद्यं वदन्ति । सर्वं वै तेषामाप्तं भवति सर्वं जितं ये सत्रमासतेऽचारिषुर्यजुर्भिस्तत्तान्यापंस्तद्वारुन्त्सताशंसिषुर्ऋचस्तत्ता आपंस्तद्वारुन्त्सतास्तोषत सामभिस्तत्तान्यापंस्तद्वारुन्त्सताथैषामेतद्वानाप्तमनवरुद्धं भवति यद्वाकोवाक्यं ब्राह्मणं तद्वैतेनाप्नुवन्ति तदवरुन्धते ॥२०॥

औदुम्बरीमुपसंसृप्य वाचं यच्छन्ति । विद्रुह्यन्ति वाऽएते यज्ञं निर्धयन्ति ये वाचा यज्ञं तन्वते वाग्घि यज्ञस्तामेषां पुरैकैक एव वाचंयम आस्ते वाचमाप्याययंस्तयापीनयायातयाम्न्योत्तरमहस्तन्वतेऽथात्र सर्वैव वागाप्ता भवत्यपवृक्ता तां सर्व एव वाचंयमा वाचमाप्याययन्ति तयापीनयायातयाम्न्यातिरात्रं तन्वते ॥२१॥

औदुम्बरीमन्वारभ्यासते । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जैवैतद्वाचमाप्याययन्ति ॥२२॥

तेऽस्तमिते प्राञ्च उपनिष्क्रामन्ति । ते जघनेनाहवनीयमासतेऽग्रेण हविर्धाने तान्वाचंयमानेव वाचंयमः प्रतिप्रस्थाता वसतीवरीभिरभिपरिहरति ते यत्कामा आसीरंस्तेन वाचं विसृजेरन्कामैर्ह स्म वै पुरऽर्षयः सत्रमासतेऽसौ नः कामः स नः समृध्यतामिति यद्यु अनेककामाः स्युर्लोककामा वा प्रजाकामा वा पशुकामा वा ॥२३॥ अनेनैव वाचं विसृजेरन् । भूर्भुवः स्वरिति तत्सत्येनैवैतद्वाचं समर्धयन्ति तया समृद्धयाशिष आशासते सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामेति तत्प्रजामाशासते सुवीरा वीरैरिति तद्वीरानाशासते सुपोषाः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशासते ॥२४॥ अथ गृहपतिः सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यं वा गृहपतिर्ब्रूयात्पृथगु हैवैके सुब्रह्मण्यामाह्वयन्ति गृहपतिस्त्वेव सुब्रह्मण्यामाह्वयेद्यं वा गृहपतिर्ब्रूयात्तस्मिन्त्समुपहूतमिष्ट्वा समिधोऽभ्यादधति ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥११ [६. ९.] ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१२६ ॥ ॥ षष्ठोऽध्यायः [३०.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या६४८ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे ग्रहनाम चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥४॥

प्रकार वह मानुषी वाणी के लिए कल्याण चाहता है ।।१९।।

अब वाकोवाक्य के रूप में ब्रह्मोद्य पड़ते हैं । उनको सभी कुछ प्राप्त हो जाता है, सब जीत लिया जाता है जो सत्र में बैठते हैं । इन्होंने यजुओं से यज्ञ किया, इतना उनको मिल गया, इतना प्राप्त हो गया । उन्होंने ऋचाएँ पढ़ीं, उनको इतना मिल गया, इतना प्राप्त हो गया । उन्होंने साम से स्तुति की, उनको इतना मिल गया, इतना प्राप्त हो गया । परन्तु इतना नहीं मिला, इतना नहीं प्राप्त हुआ अर्थात् वाकोवाक्य या ब्राह्मण, इसको वे इसके द्वारा प्राप्त करते हैं ।।२०।।

औदुम्बरी के पास पहुँचकर वे वाणी को रोक लेते हैं । जो वाणी से यज्ञ करते हैं वे यज्ञ को दुह लेते या चूस लेते हैं, क्योंकि वाणी यज्ञ है । इससे पहले हर एक वाणी को रोककर बैठता है अर्थात् उसको प्रबल बनाता है । इस रुकी हुई और प्रबल हुई वाणी के द्वारा वे अन्त के दिन यज्ञ करते हैं । परन्तु इस वाकोवाक्य में समस्त वाणी थक जाती है । वे सब इस वाणी को चुप होकर शक्तिशाली करते हैं । इस प्रकार प्रबल और शक्ति-सम्पन्ना वाणी से वे अतिरात्र करते हैं ।।२१।।

औदुम्बरी को छूकर बैठते हैं । अन्न शक्ति है । उदुम्बर शक्ति है । उदुम्बर से ही वे वाणी को शक्ति देते हैं ।।२२।।

सूर्यास्त पर वे सदस् से पूर्व की ओर बाहर आते हैं, और हविर्धान के सामने आहवनीय के पीछे बैठते हैं । जब वे चुपचाप बैठे होते हैं तो प्रतिप्रस्थाता उनके चारों ओर वस्तीवरी जलों को फिराता है । जिस कामना के लिए उन्होंने यह सत्र रचा उसी कामना से उनको इस वाणी को छोड़ना चाहिए (अर्थात् मौन तोड़ते समय उसी समय बात को कहना चाहिए) । क्योंकि पहले समय में ऋषियों ने भिन्न-भिन्न कामनाओं से सत्र किये थे अर्थात् यह हमारी इच्छा है, हमको यह मिले इत्यादि । और यदि उनकी कामनाएँ अनेक हों अर्थात् लोक की कामना, सन्तान की कामना या पशुओं की कामना, तो—।।२३।।

'भूः भुवः स्वः' कहकर मौन तोड़ना चाहिए । इस प्रकार सत्य के द्वारा वाणी को शक्तिशाली बनाते हैं, और इसी शक्तिशाली वाणी से आशीर्वाद देते हैं । "सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम" (यजु० ८।५३)—"हम सन्तानवाले हों ।" इससे सन्तान की प्रार्थना करते हैं । "सुवीराः वीरैः" (यजु० ८।५३)—"वीर पुरुषों से युक्त हों ।" इससे वीर पुरुषों के लिए प्रार्थना करते हैं । "सुपोषाः पोषैः" (यजु० ८।५३)—"सम्पत्तिशाली हों ।" इससे सम्पत्ति के लिए प्रार्थना ।।२४।।

अब गृहपति सुब्रह्मण्या को पढ़ता है, या वह पुरुष जिसको गृहपति नियुक्त कर दें । कुछ लोग सुब्रह्मण्या को पृथक्-पृथक् पढ़ते हैं, परन्तु गृहपति को ही सुब्रह्मण्या पढ़नी चाहिए या उसको जिसे गृहपति आज्ञा दे । (अतिरात्र भोज में) निमंत्रण की इच्छा करके वे आग पर समिधाएँ रख देते हैं ।।२५।।

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का ग्रहनाम चतुर्थ काण्ड समाप्त हुआ ।

चतुर्थ काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [४. २. १]	१३६
द्वितीय [४. ३. ३]	१३९
तृतीय [४. ४. ४]	१२२
चतुर्थ [४. ५. ८]	१२५
पञ्चम [४. ६ ९]	१२६
योग	६४८
पूर्व के काण्डों का योग	२२४६
पूर्णयोग	२८९४

ओ३म्

श्री शुक्लयजुर्वेदीय

शतपथब्राह्मण

द्वितीय भाग

माध्यन्दिनी शाखा

मूल संस्करण

डॉ० अल्बेर्त वेबेर

हिन्दी अनुवाद

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

(रत्नदीपिका भाष्य)

सम्पादक

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

शतपथ ब्राह्मण

विषय-सूची

शतपथब्राह्मण

द्वितीय भाग

ओम् । देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा अति-
मानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराब-
भूवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः ॥१॥ अथ देवाः । अन्यो
ऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो हैषामास यज्ञो हि
देवानामन्नम् ॥२॥ ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम ममेत्येव न
सम्पादयां चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुराजिमेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जेष्यति तस्य
न इदं भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजिमाजन्त ॥३॥ स बृहस्पतिः । सवितारमेव
प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानी-
ति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तत्सवितृप्रसूत उदजयत्स इदꣳ सर्वमभवत्स
इदꣳ सर्वमुदजयत्प्रजापतिꣳ ह्युदजयत्सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिस्तेनेष्ट्वैतामेवोर्ध्वां दि-
शमुदक्रामत्तस्माद्यश्च वेद यश्च नैषोर्ध्वा बृहस्पतेर्दिगित्येवाहुः ॥४॥ तद्ध स्म
पुरा वाजपेयेन यजन्ते । एताꣳ ह स्मैवोर्ध्वां दिशमुत्क्रामन्ति तत औपाविनैव
जानश्रुतेयेन प्रत्यवरूढं ततोऽर्वाचीनं प्रत्यवरोहन्ति ॥५॥ तेनेन्द्रोऽयजत । स
इदꣳ सर्वमभवत्स इदꣳ सर्वमुदजयत्प्रजापतिꣳ ह्युदजयत्सर्वमु ह्येवेदं प्रजापति-
स्तेनेष्ट्वैतामेवोर्ध्वां दिशमुदक्रामत् ॥६॥ ॥शतम्२१००॥ ॥ तद्ध स्म पुरा वाज-
पेयेन यजन्ते । एताꣳ ह स्मैवोर्ध्वां दिशमुत्क्रामन्ति तत औपाविनैव जानश्रुतेयेन
प्रत्यवरूढं ततोऽर्वाचीनं प्रत्यवरोहन्ति ॥७॥ स यो वाजपेयेन यजते । स इदꣳ
सर्वं भवति स इदꣳ सर्वमुज्जयति प्रजापतिꣳ ह्युज्जयति सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः

पंचम काण्ड

अथ सवनाम पञ्चमं काण्डम्

अध्याय १—ब्राह्मण १

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान लड़ पड़े। असुरों ने अभिमान से सोचा कि हम किसमें आहुति दें? वे अपने-अपने मुँह में आहुति देने लगे। बे अभिमान के कारण ही पराजित हो गये। इसलिए अभिमान न करना चाहिए। यह अभिमान तो पराजय का मुख (कारण) है ॥१॥

देवों ने एक-दूसरे को आहुति देनी आरम्भ की। प्रजापति ने अपने को उनके सुपुर्द कर दिया। इस प्रकार यज्ञ उनका हो गया। यज्ञ ही देवों का अन्न है ॥२॥

तब उन्होंने कहा, 'यह (यज्ञ) हममें से किसका होगा?' उन्होंने कहा, 'मेरा, मेरा' और वे राजी न हो सके। जब राजी न हो सके तो कहा, 'अच्छा एक दौड़ दौड़ें। हममें से जो जीत जायगा यज्ञ उसीका हो जायगा।' 'अच्छा' कहकर वे दौड़ दौड़ने लगे ॥३॥

अब बृहस्पति सविता के पास प्रेरणा के लिए दौड़ा, क्योंकि सविता प्रेरक है। उसने कहा, 'मेरे लिए प्रेरणा करो कि प्रेरणा से प्रेरित होकर मैं जीत जाऊँ।' तब प्रेरक सविता ने प्रेरणा की और इस प्रेरणा के कारण वह जीत गया। अब वह सब-कुछ हो गया। उसने यह सब-कुछ जीत लिया, क्योंकि उसने प्रजापति को जीत लिया और प्रजापति ही सब-कुछ है। इस यज्ञ को करके प्रजापति ऊर्ध्व दिशा को प्राप्त हुआ। इसलिए जो जानता है और जो नहीं जानता वे दोनों यही कहते हैं कि ऊपर की दिशा बृहस्पति की है ॥४॥

इसी प्रकार जो पुराने जमाने में वाजपेय यज्ञ किया करते थे वे ऊर्ध्वलोक को चढ़ जाते थे। वहाँ से औपात्री जानश्रुतेय नीचे उतर आया। तब से आजकल के लोग नीचे उतर आते हैं ॥५॥

तब इन्द्र ने यज्ञ किया और वह सब-कुछ हो गया। उसने सब-कुछ जीत लिया, क्योंकि उसने प्रजापति को जीत लिया। प्रजापति तो सब-कुछ है। इसी यज्ञ को करके वह ऊर्ध्व दिशा को प्राप्त हुआ ॥६॥

इसी प्रकार जो पुराने युग में वाजपेय यज्ञ करते थे वे ऊर्ध्व दिशा को प्राप्त हो जाते थे। वहाँ से पहले औपावी जानश्रुतेय उतरा। तब से आजकल के लोग भी उतरते हैं ॥७॥

जो वाजपेय यज्ञ करता है वह सब-कुछ हो जाता है, वह सब-कुछ जीत लेता है; क्योंकि वह प्रजापति को जीत लेता है और प्रजापति सब-कुछ है ॥८॥

॥८॥ तदाहुः । न वाजपेयेन यजेत सर्वं वाऽएष इदमुज्जयति यो वाजपेयेन
यजते प्रजापतिꣳ ह्युज्जयति सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः स इह न किं चन परिशि-
नष्टि तस्येश्वरः प्रजा पापीयसी भवितोरिति ॥९॥ तदु वै यजेतैव । यऽएवमेतं
यज्ञं कॢप्तं विदुर्ऋक्तो यजुष्टः सामतो ये प्रज्ञयस्तऽएनं याजयेयुरेषा ह
त्वेवैतस्य यज्ञस्य समृद्धिर्यदेनं विद्वाꣳसो याजयन्ति तस्मादु यजेतैव ॥१०॥ स वाऽएष ब्रा-
ह्मणस्यैव यज्ञः । यदेनेन बृहस्पतिरयजत ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणो
ऽथो राजन्यस्य यदेनेनेन्द्रोऽयजत क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥११॥ राज्ञ एव
राजसूयꣳ । राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति न वै ब्राह्मणो राज्यायालमवरं वै रा-
जसूयं परं वाजपेयꣳ ॥१२॥ राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति । सम्राड्वाजपेयेनावरꣳ
हि राज्यं परꣳ साम्राज्यं कामयेत वै राजा सम्राड् भवितुमवरꣳ हि राज्यं परꣳ
साम्राज्यं न सम्राट्कामयेत राजा भवितुमवरꣳ हि राज्यं परꣳ साम्राज्यꣳ ॥१३॥
स यो वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति । स इदꣳ सर्वꣳ संवृङ्क्ते स कर्मणः-कर्मणः पु-
रस्तादेताꣳ सावित्रीमाहुतिं जुहोति देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भ-
गायेति ॥१४॥ तद्ध्येवादो बृहस्पतिः । सवितारं प्रसवायोपाधावत्सविता वै
देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्मै सविता प्रसविता
प्रासुवत्तत्सवितृप्रसूत उदजयदेवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति सवि-
ता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्मै सविता प्र-
सविता प्रसौति तत्सवितृप्रसूत उज्जयति ॥१५॥ तस्मादाह । देव सवितः प्रसुव
यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पति-
र्वाजं नः स्वदतु स्वाहेति प्रजापतिर्वै वाचस्पतिरन्नं वाजः प्रजापतिर्न इदमद्यान्नꣳ
स्वदत्वित्येवैतदाह स एतामेवाहुतिं जुहोत्या श्वःसुत्याया एतद्ध्यस्यैतत्कर्मारब्धं
भवति प्रसम एतं यज्ञं भवति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि 'वाजपेय यज्ञ न करें, क्योंकि जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह-सब कुछ जीत लेता है, क्योंकि वह प्रजापति को जीत लेता है, प्रजापति सब-कुछ है, अब वह कुछ बाकी नहीं छोड़ता। उसकी प्रजा के लिए गिरावट का भय है' ॥९॥

परन्तु उसको यज्ञ करना चाहिए अवश्य। और जो इस यज्ञ को यथाविधि ऋक्, यजुः और साम को रीति से जानते हों और जो निपुण हों वे इस यज्ञ में सहायता करें, क्योंकि जब विद्वान् लोग यज्ञ करावें तो यही यज्ञ की समृद्धि है। इसलिए यज्ञ करना ही चाहिए ॥१०॥

यह (वाजपेय) यज्ञ विशेषकर ब्राह्मण का ही है, क्योंकि यह यज्ञ बृहस्पति ने स्वयं किया, क्योंकि बृहस्पति ब्रह्म है। ब्राह्मण ब्रह्म है, और यह क्षत्रिय का भी है; क्योंकि इन्द्र ने इसको किया। इन्द्र क्षत्र है और क्षत्रिय अर्थात् राजा भी क्षत्र है ॥११॥

राजा का विशेषकर राजसूय है; क्योंकि राजसूय यज्ञ करके ही राजा बनता है। ब्राह्मण राज्य के लिए काफी नहीं होता। राजसूय नीचा है और वाजपेय ऊँचा है ॥१२॥

क्योंकि राजसूय करके राजा बनता है और वाजपेय करके सम्राट्, अतः राजा का पद नीचा है और सम्राट् का ऊँचा। राजा को सम्राट् होने की कामना हो सकती है क्योंकि राजा का पद नीचा है और सम्राट् का ऊँचा। परन्तु सम्राट् राजा नहीं बनना चाहता, क्योंकि सम्राट् का पद ऊँचा है और राजा का नीचा ॥१३॥

जो (राजा) वाजपेय यज्ञ करके सम्राट् बन जाता है, उसको सब-कुछ प्राप्त हो जाता है। वह कर्म के पहले इस सविता-सम्बन्धी मन्त्र से आहुति दे—"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।" (यजु० ११।७)—"हे सवितादेव, यज्ञ को प्रेरित कर और यज्ञपति को भी जिससे वैभव प्राप्त हो" ॥१४॥

और जिस प्रकार बृहस्पति प्रेरणा के लिए सविता के पास गया, क्योंक सविता देवों का प्रेरक है, और कहा, 'मुझे प्रेरणा कर, तेरी प्रेरणा से मैं विजय पा जाऊँ', और सविता ने प्रेरणा की और सविता की प्रेरणा से जीत गया, इसी प्रकार यह (राजा) भी प्रेरणा के लिए सविता के पास जाता है, क्योंकि सविता देवों का प्रेरक है और कहता है, 'हे सविता, मुझे प्रेरणा कर। तेरी प्रेरणा पाकर मैं विजय पा जाऊँ।' और प्रेरक सविता प्रेरणा करता है और इस प्रेरणा से वह जीत जाता है ॥१५॥

इसलिए वह कहता है—"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा।" प्रजापति ही वाचस्पति है। 'वाज' है अन्न का नाम। इससे प्रयोजन यह है कि वह कहता है कि प्रजापति आज इस अन्न को हमारे लिए ठीक प्राप्त करावे। इसी आहुति को वह सोमयाग के दिन तक देता है, क्योंकि उसका वह यज्ञ इस प्रकार आरम्भ होता है और सविता उस यज्ञ में प्रसन्न होता है ॥१६॥

अꣳशुं गृह्णाति । सर्वत्वायैव तस्माद्वाऽअꣳशुं गृह्णात्यथैतान्प्रज्ञातानेवाग्निष्टोमि-
कान्ग्रहान्गृह्णात्याग्रयणात् ॥१॥ अथ पृष्ठ्यान्गृह्णाति । तद्यदेवैतैर्देवा उदजयंस्तदे-
वैष एतैरुज्जयति ॥२॥ अथ षोडशिनं गृह्णाति । तद्यदेवैतेनेन्द्र उदजयत्तदेवैष
एतेनोज्जयति ॥३॥ अथैतान्पञ्च वाजपेयग्रहान्गृह्णाति । ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनः-
सदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतममि-
ति सादयत्येषां वै लोकानामयमेव ध्रुव इयं पृथिवीममेवैतेन लोकमुज्जयति
॥४॥ अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष
ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतममिति सादयत्येषां वै लोकानामयमेव व्योमेदमन्त-
रिक्षमन्तरिक्षलोकमेवैतेनोज्जयति ॥५॥ पृथिविसदं त्वान्तरिक्षसदं दिविसदं देव-
सदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जु-
ष्टतममिति सादयत्येष वै देवसन्नाकसदेष एव देवलोको देवलोकमेवैतेनोज्ज-
यति ॥६॥ अपाꣳ रसमुद्वयसꣳ सूर्ये सन्तꣳ समाहितमपाꣳ रसस्य यो रसस्तं वो
गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जु-
ष्टतममिति सादयत्येष वाऽअपाꣳ रसो योऽयं पवते स एष सूर्ये समाहितः सू-
र्यात्पवतऽएतमेवैतेन रसमुज्जयति ॥७॥ ग्रहा ऊर्जाहुतयः । व्यन्तो विप्राय मतिं
तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जꣳ समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टमेष
ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतममिति सादयत्यूर्ग्वै रसो रसमेवैतेनोज्जयति ॥८॥
तान्वाऽएतान् । पञ्च वाजपेयग्रहान्गृह्णाति प्रजापतिं वाऽएष उज्जयति यो वा-
जपेयेन यजते संवत्सरो वै प्रजापतिः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तत्प्रजापति-
मुज्जयति तस्मात्पञ्च वाजपेयग्रहान्गृह्णाति ॥९॥ अथ सप्तदश सोमग्रहान्गृह्णाति
। सप्तदश सुराग्रहान्प्रजापतेर्वाऽएतेऽअन्धसी यत्सोमश्च सुरा च ततः सत्यं श्री-
र्ज्योतिः सोमोऽनृतं पाप्मा तमः सुरैतेऽएवैतदुभेऽअन्धसीऽउज्जयति सर्वं वाऽएष

अंशुग्रहग्रहणादि

अध्याय १—ब्राह्मण २

वह अंशु ग्रह को ग्रहण करता है। सर्वत्व (सम्पूर्णता) के लिए ही अंशु को ग्रहण करता है। अब इन प्रज्ञात अग्निष्टोम ग्रहों को आग्रयण तक ले जाता है ॥१॥

अब पृष्ठ्यों को लेता है और इनके द्वारा देवों (अग्नि, इन्द्र और सूर्य) ने जिसको जीता वह भी उनसे उसी को जीतता है ॥२॥

अब षोडशी को ग्रहण करता है और इससे इन्द्र ने जिसको जीता उसीको यजमान भी जीत लेता है ॥३॥

अब वह इन पाँच वाजपेय ग्रहों को नीचे के मन्त्र से ग्रहण करता है। पहले ग्रह को इस मन्त्र से—"ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनः सदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्" (यजु० ९।२)—"तुझ निश्चित आसनवाले को, तुझ मनुष्य के आसनवाले को, तुझ मन के आसनवाले को। तू भली-भाँति ग्रहण किया गया है। इन्द्र के उपयुक्त तुझको ग्रहण करता हूँ। यह तेरी योनि है। इन्द्र के लिए अत्यन्त उपयुक्त तुझको।" इस मन्त्र से रख देता है। इन लोकों में यह जो पृथिवीलोक है वही दृढ़ है। वह इससे इस लोक को जीत लेता है ॥४॥

दूसरे ग्रह को इस मन्त्र से—"अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्" (यजु० ९।२)—"तुझ जल के आसनवाले को, तुझ घृत के आसनवाले को, तुझ आकाश के आसनवाले को। तू भली-भाँति ग्रहण किया गया है। इन्द्र के उपयुक्त तुझको ग्रहण करता हूँ। तू इन्द्र के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।" इस मन्त्र से वह उसको रख देता है, क्योंकि इन लोकों में व्योम ही अन्तरिक्ष है। वह इससे इसी लोक पर विजय पाता है ॥५॥

तीसरे को इस मन्त्र से—"पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्" (यजु० ९।२)—"पृथिवी आसनवाले तुझको, अन्तरिक्ष-आसनवाले तुझको, द्यौलोक आसनवाले तुझको, देव-आसनवाले, स्वर्ग आसनवाले तुझको। तू भली-भाँति ग्रहण किया गया है। इन्द्र के उपयुक्त तुझको ग्रहण करता हूँ। यह तेरी योनि है। इन्द्र के लिए सबसे उपयुक्त तुझको।" इस मन्त्र को पढ़कर रख देता है। क्योंकि यह जो देवलोक है, वह देवसद और नाकसद है। इसके द्वारा वह इस देवलोक को जीत लेता है ॥६॥

चौथे को इस मन्त्र से—"अपाँ᳭ रसमुद्वयसँ᳭ सूर्ये सन्तँ᳭ समाहितम् अपाँ᳭ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्" (यजु० ९।३)—"जलों के बलप्रद रस, सूर्य में ठहरे हुए हैं। जलों के रस का जो उत्तम रस है उसको मैं तुम्हारे लिए ग्रहण करता हूँ। तू भली-भाँति ग्रहण किया गया है। इन्द्र के उपयुक्त तुझको ग्रहण करता हूँ। यह तेरी योनि है। तुम सबसे उपयुक्त को इन्द्र के लिए।" इस मन्त्र को पढ़कर वह रख देता है। जो यह पवन है वह जलों का रस है। वह पवन (वायु) सूर्य में समाहित है, क्योंकि वह सूर्य से चलता है। इसके द्वारा वह इस रस को प्राप्त कर लेता है ॥७॥

पाँचवें को इस मन्त्र से—"ग्रहा ऽ ऊर्जाहुतयः व्यन्तो विप्राय मतिं। तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जँ᳭ समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिद्राय त्वा जुष्टतममिति सादयत्यूर्वे रसो रसमेवैतेनोज्जयति" (यजु० ९।४—पाठान्तर)—"तुम ऊर्ज (उत्कृष्ट) आहुतिवाले ग्रह विप्रों की मति को उभारनेवाले हो। शिप्रि अर्थात् गर्दनरहित तुमसे रस और तेज को ग्रहण करता हूँ। तू भली-भाँति ग्रहण किया गया है। इन्द्र के उपयुक्त तुझको ग्रहण करता हूँ। यह तेरी योनि है। इन्द्र के लिए सबसे उपयुक्त तुझको।" इस मन्त्र से उसको रख देता है। ऊर्ज का अर्थ है रस, इसके द्वारा वह रस को ग्रहण करता है ॥८॥

ये पाँच वाजपेय ग्रह हैं जिनको वह लेता है। जो वाजपेय यज्ञ करता है वह प्रजापति को जीत लेता है। संवत्सर प्रजापति है। संवत्सर की पाँच ऋतुएँ हैं। इस प्रकार वह प्रजापति को जीतता है। इसलिए वह पाँच वाजपेय ग्रहों को लेता है ॥९॥

अब अध्वर्यु सत्रह सोम ग्रहों को लेता है और नेष्टा सुरा के सत्रह ग्रहों को। ये जो सोम

इदमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते प्रजापतिꣳ ह्युज्जयति सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः ॥१०॥ स यत्सप्तदश । सोमग्रहान्गृह्णाति सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्यैतत्सत्यꣳ श्रियं ज्योतिरुज्जयति ॥११॥ अथ यत्सप्तदश । सुराग्रहान्गृह्णाति सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्यैतदनृतं पाप्मानं तम उज्जयति ॥१२॥ त उभये चतुस्त्रिꣳशद्ग्रहाः सम्पद्यन्ते । त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥१३॥ अथ यत्र राजानं क्रीणाति । तद्दक्षिणतः प्रतिवेशतः केशवात्पुरुषात्सीसेन परिस्रुतं क्रीणाति न वा एष स्त्री न पुमान्यत्केशवः पुरुषो यदह पुमांस्तेन न स्त्री यद्वु केशवस्तेन न पुमान्नैतदयो न हिरण्यं यत्सीसं नैष सोमो न सुरा यत्परिस्रुत्तस्मात्केशवात्पुरुषात्सीसेन परिस्रुतं क्रीणाति ॥१४॥ अथ पूर्वेद्युः । द्वौ खरौ कुर्वन्ति पुरोऽक्षमेवान्यं पश्चादक्षमन्यं नेत्सोमग्रहांश्च सुराग्रहांश्च सह सादयामेति तस्मात्पूर्वेद्युर्द्वौ खरौ कुर्वन्ति पुरोऽक्षमेवान्यं पश्चादक्षमन्यम् ॥१५॥ अथ यत्र पूर्वया द्वारा । वसतीवरीः प्रपादयन्ति तदपरया द्वारा नेष्टा परिस्रुतं प्रपादयति दक्षिणतः पात्राण्यभ्यवहरन्ति पुरोऽक्षमेव प्रत्यङ्ङासीनोऽध्वर्युः सोमग्रहान्गृह्णाति पश्चादक्षं प्राङासीनो नेष्टा सुराग्रहान्सोमग्रहमेवाध्वर्युर्गृह्णाति सुराग्रहं नेष्टा सोमग्रहमेवाध्वर्युर्गृह्णाति सुराग्रहं नेष्टैवमेवैनान्व्यत्यासं गृह्णीतः ॥१६॥ न प्रत्यञ्चमक्षमध्वर्युः । सोमग्रहमतिहरति न प्राञ्चमक्षं नेष्टा सुराग्रहं नेज्ज्योतिश्च तमश्च सꣳसृजावेति ॥१७॥ उपर्युपर्येवाक्षमध्वर्युः । सोमग्रहं धारयत्यधोऽधोऽक्षं नेष्टा सुराग्रहꣳ सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तमिति नेत्पापमिति ब्रवावेति तौ पुनर्विहरतो विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तमिति तद्यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवमेनꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो विवृहतस्तस्मिन्न तावच्चनैनो भवति यावत्तृणस्याग्रं तौ सादयतः ॥१८॥ अथाध्वर्युः । हिरण्यपात्रेण मधुग्रहं

और सुरा हैं ये दोनों प्रजापति के अन्न हैं। इनमें जो सोम है वह सत्य है, श्री है, ज्योति है। और जो सुरा है वह अमृत है, पाप है, अन्धकार है। वह इन दोनों को प्राप्त करता है। जो वाजपेय करता है, वह सबको जीत लेता है, क्योंकि वह प्रजापति को जीत लेता है, क्योंकि यह सब प्रजापति है ॥१०॥

वह सत्रह ग्रह क्यों लेता है ? प्रजापति सप्तदश (१७) हैं। प्रजापति यज्ञ है। जितना यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से वह सत्य, श्री और ज्योति को जीतता है ॥११॥

सत्रह सुरा ग्रहों को क्यों लेता है ? प्रजापति सत्रह है, प्रजापति यज्ञ है। जितना यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही वह असत्य, पाप और अन्धकार को जीत लेता है ॥१२॥

इस प्रकार ३४ ग्रह होते हैं। क्योंकि तेतीस देवता हैं और चौतीसवाँ प्रजापति है। इस प्रकार वह प्रजापति को जीत लेता है ॥१३॥

जब वह सोम राजा को खरीदता है तो उसके दक्षिण की ओर खड़े हुए लम्बे केशवाले पुरुष से सीसा के बदले वह परिस्रुत को लेता है (जिससे सुरा बनाई जाती है, उसे परिस्रुत कहते हैं)। जो केशव पुरुष है वह न सुरा है न पुरुष। चूँकि पुरुष है इसलिए स्त्री नहीं है, और केशव अर्थात् लम्बे बाल वाला है इसलिए पुरुष नहीं है। इसी प्रकार सीसा न लोह है, न स्वर्ण। यह जो परिस्रुत है वह न सुरा है, न सोम है। इसलिए केशव पुरुष से सीसे के बदले परिस्रुत को खरीदता है ॥१४॥

पहले दिन वे दो मिट्टी के तूदे बनाते हैं—एक अक्ष के पहले और दूसरा अक्ष के पीछे। ऐसा न हो कि सोमग्रह और सुराग्रह एक ही जगह रख दिये जायें, इसलिए दो तूदे बनाता है—एक अक्ष के आगे और दूसरा अक्ष के पीछे ॥१५॥

जब वसतीवरी जलों को वे (हविर्धान में) आगे के द्वार से लाते हैं तो नेष्टा परिस्रुत को पीछे के द्वार से ले जाता है। पीने के पात्रों को दक्षिण की ओर से लाते हैं। अक्ष के सामने पश्चिमाभिमुख बैठा हुआ अध्वर्यु सोम के ग्रहों को लेता है और अक्ष के पीछे पूर्वाभिमुख बैठकर नेष्टा सुरा के ग्रहों को लेता है। इस प्रकार अध्वर्यु सोम के ग्रहों को, फिर नेष्टा सुरा ग्रह को। इसी क्रम से वे ग्रहों को लेते हैं ॥१६॥

अध्वर्यु सोमग्रह को अक्ष के पीछे नहीं ले जाता और न नेष्टा सुरा के ग्रह को अक्ष के आगे, जिससे ज्योति और अन्धकार इकट्ठे न हो जायें ॥१७॥

अध्वर्यु सोम ग्रह को ठीक अक्ष के ऊपर उठाता है और नेष्टा सुरा ग्रह को ठीक अक्ष के नीचे। इस मन्त्र से—"सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तम्" (यजु० ९।४)—तुम ऐसा विचारते हो कि 'पाप' शब्द न कहना पड़े। वे उन ग्रहों को हटाते हैं। "तुम मिले हुए हो। मुझे भद्र (भलाई) के साथ मिलाओ।" इस मन्त्र से—"विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्" (यजु० ९।४)—"तुम दोनों अलग-अलग हो। मन को पाप से उठाओ।" जैसे सब घास में से एक तिनके को हटा लेते हैं, ऐसे ही सब पापों से उसको हटा लेते हैं। उसमें घास के तिनके बराबर भी पाप नहीं रहता। वे दोनों ग्रहों को प्रति बार तूदों पर रख देते हैं ॥१८॥

अब अध्वर्यु शहद के ग्रहों को सोने के पात्र में सोमग्रहों के बीच में रखता है। अब वह

गृह्णाति तं मध्ये सोमग्रहाणाꣳ सादयत्यथोक्थ्यं गृह्णात्यथ ध्रुवमथैतान्त्सोमग्रहानुत्तमे स्तोत्रऽऋत्विजां चमसेषु व्यवनीय जुह्वति तान्भक्षयन्त्यथ माध्यन्दिने सवने मधुग्रहस्य च सुराग्रहाणां चोद्यते तस्यातः ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

आग्नेयमग्निष्टोमऽआलभते । अग्निर्वाऽअग्निष्टोमोऽग्निष्टोममेवैतेनोज्जयत्यैन्द्राग्नमुक्थेभ्य आलभतऽऐन्द्राग्नानि वाऽउक्थान्युक्थान्येवैतेनोज्जयत्यैन्द्रꣳ षोडशिनऽआलभतऽइन्द्रो वै षोडशी षोडशिनमेवैतेनोज्जयति ॥१॥ सारस्वतꣳ सप्तदशाय स्तोत्रायालभते । तदेतदनतिरात्रे सति रात्रे रूपं क्रियते प्रजापतिं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते संवत्सरो वै प्रजापतिस्तदेतेन सारस्वतेन रात्रिमुज्जयति तस्मादेतदनतिरात्रे सति रात्रे रूपं क्रियते ॥२॥ अथ मरुद्भ्य उज्जेषेभ्यः । वशां पृश्निमालभतऽइयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निरन्नं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयꣳ ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं विशो वै मरुतोऽन्नं वै विश उज्जेषेभ्य इत्युज्जित्याऽएव दुर्विदेऽउज्जेषवत्यौ याज्यानुवाक्ये यद्युज्जेषवत्यौ न विन्देदपि येऽएव के च मारुत्यौ स्यातां दुर्विदोऽएव वशा पृश्निर्यदि वशां पृश्निं न विन्देदपि यैव का च वशा स्यात् ॥३॥ तस्या आवृत् । यत्र होता माहेन्द्रं ग्रहमनुशꣳसति तदस्यै वपया प्रचरेयुरेष वाऽइन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽथस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वै यजमानस्तन्मध्यत एवैतद्यजमाने वीर्यं दधाति तस्मादस्याऽअत्र वपया प्रचरेयुः ॥४॥ द्वेधावदानानि श्रपयन्ति । ततोऽर्धानां जुह्वामुपस्तीर्य द्विर्द्विरवद्यति सकृदभिघारयति प्रत्यनक्त्यवदानान्यथोपभृति सकृत्सकृदवद्यति द्विरभिघारयति न प्रत्यनक्त्यवदानानि तद्यदर्धानां द्विर्द्विरवद्यति तथैषा कृत्स्ना भवत्यथ यदेतैः प्रचरति तेन दैवीं विशमुज्जयत्यथार्धानि मानुष्यै विशऽउपहरति तेनो मानुषीं विशमुज्जयति ॥५॥ तदु तथा न कुर्यात् । कृत्स्न

उक्थ्य को लेता है और फिर ध्रुव को। और जब सोम ग्रहों को पिछले स्तोत्र के समय ऋत्विजों के चमसों में डालते हैं, तो वे आहुति देकर उनका पान करते हैं। मध्य सवन में ग्रह मधु और सुरा के लिए ऐसा ही होता है। इसके पश्चात्—॥१६॥

पशोस्तन्व्रता

अध्याय १—ब्राह्मण ३

अग्निष्टोम में अग्नि-सम्बन्धी पशु को पकड़ता है। अग्नि ही अग्निष्टोम है। इससे अग्निष्टोम को जीतता है। उक्थों के लिए इन्द्र और अग्नि-सम्बन्धी को पकड़ता है। उक्थ इन्द्र और अग्नि के हैं। वह इनके द्वारा उक्थों को जीत लेता है। षोडशी के लिए इन्द्र-सम्बन्धी को पकड़ता है, क्योंकि षोडशी इन्द्र है। वह इसके द्वारा षोडशी अर्थात् इन्द्र को जीतता है॥१॥

सत्रह स्तोत्रों के लिए वह सरस्वती-सम्बन्धी पशु को लेता है। इस प्रकार जो कृत्य अति-रात्रि का नहीं है, उसको वह रात्रि का रूप देता है। क्योंकि जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह प्रजापति को जीत लेता है। संवत्सर प्रजापति है। इस सरस्वती-सम्बन्धी पशु के द्वारा वह रात्रि को जीतता है। इसलिए जब अतिरात्रि का कृत्य नहीं भी होता, तब भी उसको रात का रूप दे दिया जाता है॥२॥

अब विजयी मरुतों के लिए चितकबरी वशा (बाँझ गौ) को लेता है। यह चितकबरी वशा पृथिवी है। क्योंकि मूलवाले या मूलरहित अन्न आदि खाद्य पदार्थ पृथिवी पर हैं, इसीलिए पृथिवी को चितकबरी वशा कहा। जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह अन्न को जीत लेता है, क्योंकि वाजपेय का वही अर्थ है जो अन्नपेय का। मरुत् किसान हैं और किसान अन्न हैं। वह विजय के लिए कहता है, 'विजयी (मरुतों) के लिए।' ऐसे याज्य और अनुवाक्य दुष्प्राप्य हैं, जिनमें विजय का शब्द आया हो। यदि ऐसे याज्य और अनुवाक्य न मिलें, जिनमें 'विजय' का शब्द हो, तो कोई मरुत्-सम्बन्धी मन्त्र ले लिये जावें। चितकबरी वशा भी दुष्प्राप्य है। यदि चितकबरी वशा न मिले, तो कैसी ही वशा हो, उसे ले लेना चाहिए॥३॥

इसकी विधि इस प्रकार है—जब होता माहेन्द्र ग्रह को ले, तो वपा की आहुति होनी चाहिए, क्योंकि जो यह माहेन्द्र ग्रह है, वह इन्द्र का निष्केवल्य (अपना ही) ग्रह है। और निष्केवल्य स्तोत्र और निष्केवल्य शस्त्र भी उसी इन्द्र का है। इन्द्र यजमान है। वपा की आहुति का अर्थ यह है कि यज्ञ के मध्य में ही यजमान में पराक्रम भर देता है॥४॥

दो भागों में पकाते हैं। जुहू में घी की एक तह फैलाकर उन आधे-आधे भागों के दो-दो भाग करते हैं, फिर उन पर एक बार घी छोड़ते हैं और टुकड़ों को चुपड़ते हैं। अब उपभृत में एक-एक टुकड़ा रखते हैं। दो बार घी छोड़ते हैं, परन्तु टुकड़ों को चुपड़ते नहीं। आधे-आधे भागों के दो-दो हिस्से करने का तात्पर्य यह है कि वह वशा पूर्ण हो जाती है। और जब उन टुकड़ों को व्यवहार में लाता है, तो मानो दैवी विश (लोगों) को जीत लेता है। बचे अर्द्ध भाग को वह मानुषी लोगों को अर्पण करता है। उससे मनुष्य लोगों को जीत लेता है॥५॥

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। जो यज्ञ के पथ से विचलित होता है, वह बहक जाता है।

ति वाऽएष यो यज्ञपथादेत्येति वाऽएष यज्ञपथाद्य एवं करोति तस्माद्यत्रैवेतरे-
षां पशूनां वपाभिः प्रचरन्ति तदेवैतस्यै वपया प्रचरेयुरेकधावदानानि श्रपयन्ति
न मानुष्यै विशऽउपहरन्ति ॥६॥ अथ सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभते । ते वै
सर्वे तूपरा भवन्ति सर्वे श्यामाः सर्वे मुष्कराः प्रजापतिं वाऽएष उज्जयति यो
वाजपेयेन यजतेऽन्नं वै प्रजापतिः पशुर्वाऽअन्नं तत्प्रजापतिमुज्जयति सोमो वै प्र-
जापतिः पशुर्वै प्रत्यक्षꣳ सोमस्तत्प्रत्यक्षं प्रजापतिमुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तद-
शो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥७॥ ते वै सर्वे तूपरा भवन्ति । पुरुषो
वै प्रजापतेर्नेदिष्ठꣳ सोऽयं तूपरोऽविषाणस्तूपरो वाऽअविषाणः प्रजापतिः प्रा-
जापत्या एते तस्मात्सर्वे तूपरा भवन्ति ॥८॥ सर्वे श्यामाः । द्वे वै श्यामस्य रूपे
शुक्लं चैव लोम कृष्णं च द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं प्रजननं प्रजापतिः प्राजापत्या
एते तस्मात्सर्वे श्यामा भवन्ति ॥९॥ सर्वे मुष्कराः । प्रजननं वै मुष्करः प्रजननं
प्रजापतिः प्राजापत्या एते तस्मात्सर्वे मुष्करा भवन्ति दुर्वेदा एवꣳसमृद्धाः पशवो
यद्येवꣳसमृद्धान्न विन्देदपि कतिपया एवैवꣳसमृद्धाः स्युः सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः
॥१०॥ तद्धैके । वाचऽउत्तममालभन्ते यदि वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तदेत-
द्वाचमुज्जयाम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात्सर्वं वाऽइदं प्रजापतिर्यदिमे लोका
यदिदं किं च सा यदेवैषु लोकेषु वाग्वदति तद्वाचमुज्जयति तस्मादु तन्नाद्रियेत
॥११॥ तेषामावृत् । यत्र मैत्रावरुणो वामदेव्यमनुशꣳसति तदेषां वपाभिः प्रच-
रेयुः प्रजननं वै वामदेव्यं प्रजननं प्रजापतिः प्राजापत्या एते तस्मादेषां वपाभि-
रत्र प्रचरेयुः ॥१२॥ अथेष्टा अनुयाजा भवन्ति । अव्यूढे स्रुचावथैषाꣳ हविर्भिः
प्रचरन्ति सोऽन्तोऽन्तो वै प्रजापतिस्तदन्तत एवैतत्प्रजापतिमुज्जयत्यथ यत्पुरा प्र-
चरेद्यथा यमध्वानमेष्यन्त्स्यात्तं गत्वा स ह्वा ततः स्यादेवं तत्तस्मादेषामत्र हविर्भिः
प्रचरन्ति ॥१३॥ तदु तथा न कुर्यात् । ह्वलति वाऽएष यो यज्ञपथादेत्येति व

और जो इस प्रकार करता है वह अवश्य ही यज्ञ के पथ से विचलित होता है। इसलिए जब दूसरे पशुओं की वपा को व्यवहार में लावें, तभी इस गाय की वपा को भी व्यवहार में लाना चाहिए। वे उन भागों को एक बार ही पकाते हैं और मनुष्य लोगों को अर्पण नहीं करते ॥६॥

अब प्रजापति-सम्बन्धी सत्रह पशुओं को लेता है। वे सब बिना सींग के होते हैं, सब श्याम वर्ण और सब नर। जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह प्रजापति को जीत लेता है। अन्न ही प्रजापति है। वह इस प्रकार प्रजापति को जीतता है। और प्रजापति सोम है। पशु प्रत्यक्ष रूप में सोम है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में प्रजापति को जीतता है। वे संख्या में १७ होते हैं। प्रजापति भी १७ संख्या वाला है। इस प्रकार वह प्रजापति को जीतता है ॥७॥

वे सब बिना सींग के होते हैं। पुरुष ही प्रजापति के निकटतम है। वह बिना सींग के होता है। प्रजापति भी सींग के बिना होता है। ये सब पशु प्रजापति के हैं, इसलिए ये बिना सींग के होते हैं ॥८॥

वे सब श्यामवर्ण होते हैं। श्याम वर्ण के दो रूप होते हैं—शुक्ल और लोम कृष्ण। मिथुन का अर्थ है जननेवाला जोड़ा। प्रजापति का अर्थ है उत्पत्ति करनेवाला। ये पशु प्रजापति के हैं, इसलिए वे श्यामवर्ण होते हैं ॥९॥

वे सब नर होते हैं। नर का अर्थ है उत्पन्न करने की शक्तिवाला। प्रजापति उत्पन्न करने की शक्तिवाला है। ये सब प्रजापति से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए नर होते हैं। इन गुणों से युक्त पशु दुष्प्राप्य होते हैं, इसलिए जितने गुण मिलें, उतने ही भले। यह सब तो प्रजापति ही है ॥१०॥

कुछ लोग वाणी के लिए अन्तिम पशु को लेते हैं, इस विचार से कि 'यदि प्रजापति के आगे कोई चीज है तो वाणी है। इस प्रकार वाणी पर विजय प्राप्त होगी।' परन्तु उसको ऐसा न करना चाहिए। यह सब तो प्रजापति ही है—ये सब लोक और जो कुछ उसमें है, इन लोगों में जो कुछ वाणी बोलती है। इससे वाणी को जीत लेता है। इससे ऐसा न करे ॥११॥

इनका क्रम इस प्रकार है—जब वामदेव्य के पीछे मित्रावरुण पढ़े तो इनकी वपा को व्यवहार में लावे। वामदेव्य का अर्थ है जनना। प्रजापति का अर्थ है जनना। ये सब पशु प्रजापति के हैं। इसलिए इनकी वपा को व्यवहार में लाना चाहिए ॥१२॥

जब अनुयाज हो जावें और स्रुच अलग न किये जाएँ, तो इन हवियों को देवे। यह अन्त ही अन्त है और प्रजापति भी अन्त है। इसलिए अन्त के द्वारा प्रजापति को जीतता है। यदि जल्दी कर लें, तो ऐसा होगा जैसे किसी को कहीं जाना हो और वह समझ ले कि पहुँच गया। फिर वहाँ से कहाँ जायगा? इसलिए इन हवियों को इसी समय देते हैं ॥१३॥

लेकिन ऐसा नहीं करना चाहिए। जो यज्ञ के मार्ग से अलग होता है, वह बहक जाता है।

ऽएष यज्ञपथाय एवं करोति तस्माद्यत्रैवेतरेषां पशूनां वपाभिः प्रचरन्ति तदेवै-
तेषां वपाभिः प्रचरेयुर्यत्रैवेतरेषां पशूनाꣳ हविर्भिः प्रचरन्ति तदेवैतेषाꣳ हविषा
प्रचरेयुरेकानुवाक्या एका याज्यैकदेवत्या हि प्रजापतयऽइत्युपाꣳशूक्ता छागानाꣳ
हविषोऽनुब्रूहीति प्रजापतयऽइत्युपाꣳशूक्ता छागानाꣳ हविः प्रस्थितं प्रेष्येति व-
षट्कृते जुहोति ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

तं वै माध्यन्दिने सवनेऽभिषिञ्चति । माध्यन्दिने सवनऽआजिं धावन्त्येष वै
प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते
तन्मध्यत एवैतत्प्रजापतिमुज्जयति ॥१॥ अगृहीते माहेन्द्रे । एष वाऽइन्द्रस्य
निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यꣳ शस्त्र-
मिन्द्रो वै यजमानस्तदेनꣳ स्वऽएवायतनेऽभिषिञ्चति तस्मादगृहीते माहेन्द्रे ॥२॥
अथ रथमुपावहरति । इन्द्रस्य वज्रोऽसीति वज्रो वै रथ इन्द्रो वै यजमानस्त-
स्मादाहेन्द्रस्य वज्रोऽसीति वाजसा इति वाजसा हि रथस्त्वयायं वाजꣳ सेदित्यन्नं
वै वाजस्त्वयायमन्नमुज्जयत्वित्येवैतदाह ॥३॥ तं धूर्गृहीतमन्तर्वेद्यभ्यववर्तयति ।
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमित्यन्नं वै वाजोऽन्नस्य नु प्रसवे मातरं महीमि-
त्येवैतदाहादितिं नाम वचसा करामहऽइतीयं वै पृथिव्यदितिस्तस्मादाहादितिं
नाम वचसा करामहऽइति यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेशेत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं
भुवनमाविष्टं तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषदिति तस्यां नो देवः सविता
यजमानꣳ सवतामित्येवैतदाह ॥४॥ अथाश्वानद्भिरभ्युक्षति । स्नपनायाभ्यवनीय-
मानान्त्स्नपितान्वोदानीतानश्वो ह वाऽअग्रेऽश्वः सम्बभूव सोऽश्वः सम्भवन्नसर्वः
समभवदसर्वो हि वै समभवत्तस्मान्न सर्वैः पद्भिः प्रतितिष्ठत्येकैकमेव पादमुदच्य
तिष्ठति तद्यदेवास्यात्राप्स्वहीयत तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्माद-
श्वानद्भिरभ्युक्षति स्नपनायाभ्यवनीयमानान्त्स्नपितान्वोदानीतान् ॥५॥ सोऽभ्युक्ष-

जो इस प्रकार करता है, वह अवश्य ही यज्ञ के मार्ग से च्युत होता है। इसलिए जब अन्य पशुओं की वपा से काम लेना हो तो इनकी वपा से भी काम ले, और जब दूसरे पशुओं की हवियों से काम लेना हो तो इन पशुओं की हवियों से भी काम ले। अनुवाक्य एक ही होता है और याज्य भी एक ही, क्योंकि देवता भी एक ही है। अब वह कहता है—"प्रजापतये"—यह धीरे से बोलता है। अब कहता है—"छागानां हविषोऽनुब्रूहि"—"बकरों की हवियों के लिए अनुवाक पढ़ो।" अब धीरे से कहता है—"प्रजापतये", फिर कहता है—"छागानां हविः प्रस्थितं प्रेष्य"—"बकरों की हवि को तैय्यार कर।" और वषट्कार बोलने के पश्चात् आहुति देता है ॥१४॥

अथ माध्यन्दिनसवनम्

अध्याय १—ब्राह्मण ४

माध्यन्दिन (दोपहर) को (यजमान का) अभिषेक करते हैं, और माध्यन्दिन सवन में ही दौड़ दौड़ते हैं। क्योंकि जो यज्ञ यहाँ रचाया जा रहा है, वह प्रजापति है। इसी से सब प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। अब भी उसी के अनुरूप उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वह मध्य में प्रजापति को जीत लेता है ॥१॥

अभी माहेन्द्र ग्रह नहीं लिया गया है। यह जो माहेन्द्र ग्रह है, वह इन्द्र का निष्केवल्य ग्रह है। निष्केवल्य स्तोत्र और निष्केवल्य शस्त्र भी उसी के हैं। यजमान इन्द्र है। इस प्रकार वह उसका उसी के घर में अभिषेक करता है ॥२॥

अब रथ को नीचे उतारता है इस मन्त्र से—"इन्द्रस्य वज्रोऽसि" (यजु० ९।५)—"तू इन्द्र का वज्र है।" रथ वज्र है और यजमान इन्द्र है, इसलिए कहा 'तू इन्द्र का वज्र है'। "वाजसाः" (यजु० ९।५)—"धान को जीतनेवाला।" क्योंकि रथ वस्तुतः धान को जीतनेवाला है। "त्वयाऽयं वाजँ सेत्।" (यजु० ९।५)—"तेरे द्वारा वाज को जीते।" वाज का अर्थ है अन्न अर्थात् तेरे द्वारा वह अन्न को जीत सके ॥३॥

'धू' (जुए) को पकड़कर वह रथ को वेदी के भीतर को मोड़ता है इस मन्त्र से—"वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीम्" (यजु० ९।५)—"अन्न की उत्पत्ति के लिए बड़ी माता को।" वाज कहते हैं अन्न को। इसका तात्पर्य है कि अन्न की प्राप्ति के लिए बड़ी माता को। "अदितिं नाम वचसा करामहे" (यजु० ९।५)—"वाणी से हम अदिति की प्रशंसा करते हैं।" यह पृथिवी ही अदिति है। इसलिए कहा कि अदिति की हम वाणी से प्रशंसा करते हैं। "यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश" (यजु० ९।५)—"जिसमें यह सब विश्व बसा हुआ है।" वस्तुतः इसी पृथिवी पर तो सब विश्व बसा हुआ है। "तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्" (यजु० ९।५)—"उसी में सविता देव हमारी स्थिति को सुरक्षित करें", अर्थात् हमारे यजमान की स्थिति को ॥४॥

अब वह घोड़ों पर जल छिड़कता है, या तो उस समय जब पानी पिलाने ले जाते हैं, या उस समय जब पानी पिलाकर लाते हैं : पहले घोड़ा जल से ही उत्पन्न हुआ था। जब वह जल से उत्पन्न हुआ, तो अपूर्ण उत्पन्न हुआ। अपूर्ण तो हुआ ही, क्योंकि वह सब पैरों से बराबर नहीं खड़ा होता; एक पैर एक ओर को उठाकर खड़ा होता है। अब जो कुछ जल में शेष रह गया, उसकी पूर्ति जलों से करता है, इसलिए घोड़ों पर जल छिड़कता है, चाहे उस समय जब पानी पिलाने ले-जा रहे हों, चाहे उस समय जब पानी पिलाकर ला रहे हों ॥५॥

ति । अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिन इत्यनेनापि देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेदित्यन्नं वै वाजस्तेनायमन्नमुज्जयत्वित्येवैतदाह ॥६॥ अथ रथं युनक्ति । स दक्षिणायुग्यमेवाग्रे युनक्ति सव्यायुग्यं वा ऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥७॥ स युनक्ति । वातो वा मनो वेति न वै वातात्किं चनाशीयोऽस्ति न मनसः किं चनाशीयोऽस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति गन्धर्वाः सप्तविꣳशतिस्तेऽग्रेऽश्वमयुञ्जन्निति गन्धर्वा ह वा ऽअग्रेऽश्वं युयुजुस्तद्येऽग्रेऽश्वमयुञ्जꣳस्ते त्वा युञ्जन्त्वित्येवैतदाह तेऽअस्मिञ्जवमादधुरिति तद्येऽस्मिञ्जवमादधुस्ते त्वयि जवमादधत्वित्येवैतदाह ॥८॥ अथ सव्यायुग्यं युनक्ति । वातरꣳहा भव वाजिन्युज्यमान इति वातजवो भव वाजिन्युज्यमान इत्येवैतदाहेन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधीति यथेन्द्रस्य दक्षिणः श्रियैवं यजमानस्य श्रियैधीत्येवैतदाह युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस इति युञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवैतदाहा ते त्वष्टा पत्सु जवं दधात्विति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ दक्षिणाप्रष्टिं युनक्ति सव्याप्रष्टिं वा ऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥९॥ स युनक्ति । जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽअचरच्च वातऽइति जवो यस्ते वाजिन्नप्यन्यत्रापिनिहितस्तेन न इमं यज्ञं प्रजापतिमुज्जयेत्येवैतदाह तेन नो वाजिन्बलवान्बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुरित्यन्नं वै वाजोऽन्नजिच्च न एध्यस्मिंश्च नो यज्ञे देवसमनऽइमं यज्ञं प्रजापतिमुज्जयेत्येवैतदाह ॥१०॥ ते वा ऽएतऽएव त्रयो युक्ता भवन्ति । त्रिवृद्धि देवानां तद्धि देवत्राधिप्रष्टियुग एव चतुर्थोऽन्वेति मानुषो हि स तं यत्र दास्यन्भवति तच्चतुर्थमुपयुज्य ददाति तस्मादपीतरस्मिन्यज्ञऽएतऽएव त्रयो युक्ता भवन्ति त्रिवृद्धि देवानां तद्धि देवत्राधिप्रष्टियुग एव चतुर्थोऽन्वेति मानुषो हि स तं यत्र दास्यन्भवति तच्चतुर्थमुपयुज्य ददाति ॥११॥ अथ बार्हस्पत्यं चरुं नैवारꣳ सप्तदशशरावं निर्वपति । अन्नं वा ऽएष उज्जयति

वह इस मन्त्र से जल छिड़कता है—"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः" (यजु० ९।६)—"जलों में अमृत है, जलों में औषध है, जलों की प्रशंसा से ही हे घोड़ो, तुम शक्तिशालीहो जाओ।" और इससे भी—"देवीरापो यो ष ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाज्ं सेत्"—"हे जलदेवियो ! आपकी जो यह तेज और ऊँची उठनेवाली लहर है उसी के द्वारा यह अन्न को प्राप्त हो।" वाज का अर्थ है अन्न, इसलिए उसका तात्पर्य अन्न की प्राप्ति से है ॥६॥

अब रथ में घोड़े जोतता है। पहले दाहिना। मनुष्य लोग पहले बायाँ जोतते हैं, परन्तु देवताओं की प्रथा विपरीत है ॥७॥

वह इस मन्त्र से जोतता है—"वातो वा मनो वा" (यजु० ९।७)—"या वायु या मन।" न तो वायु से तेज कोई चीज है न मन से, इसलिए कहता है 'वायु या मन'। "गन्धर्वाः सप्तविं्शतिस्ते ऽ अग्रेऽश्वमयुञ्जन्" (यजु० ९।७) —"सत्ताईस गन्धर्व। इन्होंने पहले घोड़े को जोता।" वस्तुतः गन्धर्वों ने ही पहले-पहल घोड़े को जोता था। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि जिन्होंने पहले-पहल घोड़े को जोता था वे आज भी जोतें। "ते ऽ अस्मिन् जवमादधुः" (यजु० ९।७)—"उन्होंने इसमें जव अर्थात् तेज़ी को रक्खा।" इसके कहने का तात्पर्य यह है कि जिन्होंने पहले-पहल घोड़े को तेज चाल दी, वह तुझको भी दे ॥८॥

अब वह बायें घोड़े को जोतता है, इस मन्त्र से—"वातरं्हा भव वाजिन् युज्यमानः" (यजु० ९।८)—"हे घोड़े, जुतकर तू वायु के समान तेज हो।" इसका अर्थ यह है कि तू जुतकर वायु के समान वेगवाला हो। "इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि" (यजु० ९।८)—"इन्द्र के दाहिने घोड़े के समान सौन्दर्य के लिए।" इसका तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्र का दाहिना घोड़ा सुन्दर है, इसी प्रकार यजमान का दाहिना घोड़ा भी। "युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसः" (यजु० ९।८)—"सब ज्ञान रखनेवाले मरुत् तुझको जोतें।" "आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु" (यजु० ९।८)—"त्वष्टा तेरे पैरों में वेग दे।" यह स्पष्ट है। अब वह दाहिनी ओर के पास के दूसरे घोड़े को जोतता है। आनमी पहले बायें घोड़े को जोतते हैं, परन्तु देवों की प्रथा भिन्न है ॥९॥

वह इस मन्त्र से जोतता है—"जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो ऽ अचरच्च वाते" (यजु० ९।९)—"हे घोड़े ! जो वेग तुझमें गुप्त रूप से रक्खा है, और जो वेग बाज पक्षी में और हवा में रक्खा है।" इसका तात्पर्य यह है कि जो वेग तेरा अन्य वस्तुओं में गुप्त है, उसके द्वारा तू इस यज्ञ-प्रजापति को जीत। "तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः" (यजु० ९।९)—"हे घोड़े ! उस बल से बलवान् और धान्यवान् हो और सभा के मध्य में विजयी हो।" वाज कहते हैं अन्न को। तात्पर्य यह है कि हे बलवान् घोड़े ! इस हमारे यज्ञ में जिसमें देव इकट्ठे हुए हैं, इस प्रजापतिरूपी यज्ञ को जीत ॥१०॥

ये तीन ही घोड़े जुतते हैं। देवों को त्रयी प्यारी है। और यह यज्ञ देवों का है। उस तीसरे घोड़े के पास-पास चौथा घोड़ा चलता है, क्योंकि वह मानुषी है। जब वह इस रथ को अध्वर्यु को देता है तो वह उसको चौथा घोड़ा जोतकर देता है। इसलिए किसी यज्ञ में भी तीन ही घोड़े जुतते हैं। त्रयी देवों की है और यह यज्ञ भी देवों का है। उस तीसरे घोड़े की बगल में चौथा घोड़ा होता है क्योंकि वह मानुषी है ॥११॥

अब वह बृहस्पति के लिए नीवार चावल का चरु बनाने के लिए १७ शरावे लेता है। जो

यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयᳪ ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तदेवास्माऽएतत्करोति ॥१२॥ अथ यद्बार्हस्पत्यो भवति । बृहस्पतिर्ह्येतमग्रऽउदजयत्तस्माद्बार्हस्पत्यो भवति ॥१३॥ अथ यन्नैवारो भवति । ब्रह्म वै बृहस्पतिरेते वै ब्रह्मणा पच्यन्ते यन्नीवारास्तस्मान्नैवारो भवति सप्तदशशरावो भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥१४॥ तमश्वानवघ्रापयति । वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाह वाजᳪ सरिष्यन्त इत्याजिᳪ हि सरिष्यन्तो भवन्ति बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति बृहस्पतेर्ह्येष भागो भवति तस्मादाह बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति तद्यदश्वानवघ्रापयतीममुज्जयानीति तस्माद्वाऽअश्वानवघ्रापयति ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ ॥

तद्यदाजिं धावन्ति । इममेवैतेन लोकमुज्जयत्यथ यद्ब्रह्मा रथचक्रे साम गायति नाभिदघ्नऽउद्धितेऽन्तरिक्षलोकमेवैतेनोज्जयत्यथ यद्यूपᳪ रोहति देवलोकमेवैतेनोज्जयति तस्माद्वाऽएतत्त्रयं क्रियते ॥१॥ स ब्रह्मा रथचक्रमधिरोहति । नाभिदघ्नऽउद्धितं देवस्याहᳪ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकᳪ रुहेयमिति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥२॥ अथ यदि राजन्यो यजते । देवस्याहᳪ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकᳪ रुहेयमिति क्षत्रᳪ ह्यैन्द्रः क्षत्रᳪ राजन्यः ॥३॥ त्रिः सामाभिगायति । त्रिरभिगीयावरोहति देवस्याहᳪ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहमिति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥४॥ अथ यदि राजन्यो यजते । देवस्याहᳪ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहमिति क्षत्रᳪ ह्यैन्द्रः क्षत्रᳪ राजन्यः ॥५॥ अथ सप्तदश दुन्दुभीननुवेद्यन्तᳪ संमिन्वन्ति । प्रतीच आग्नीध्रात्प्रजापतिं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते वाग्वै प्रजापतिरेषा वै परमा वाग्या सप्तदशानां दुन्दुभीनां परमामेवैतद्वाच परमं प्रजापतिमुज्जयति

वाजपेय यज्ञ करता है वह अन्न को जीत लेता है। यह जो वाजपेय है वह अन्नपेय है। जो कुछ अन्न उसने जीता है, उसी को वह उसके लिए तैयार करता है ।।१२।।

यह बृहस्पति का क्यों है ? पहले इसको बृहस्पति ने ही जीता था, इसलिए वह बृहस्पति का है ।।१३।।

वह नीवार चावल का क्यों है ? ब्रह्म ही बृहस्पति है, नीवार भी ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों द्वारा पकाये हैं, इसलिए यह नीवार चावल का होता है। १७ शरावे इसलिए होते हैं कि प्रजापति १७ संख्यावाला है। वह इस प्रकार प्रजापति को जीतता है ।।१४।।

वह घोड़ों को सुंघाता है यह कहकर—"वाजिनः" (यजु० ९।९) "हे घोड़ो !" "वाजजितः"—"अन्न को जीतनेवाले ।" क्योंकि वाज अन्न को कहते हैं। वाजजित का अर्थ है अन्न-जित। "वाजँ सरिष्यन्तः" (यजु० ९।९)—"मार्ग पर चलते हुए ।" "बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत" (यजु० ९।९)—"बृहस्पति के भाग को सूंघो ।" क्योंकि यह बृहस्पति का भाग है, इसलिए कहता है कि तुम बृहस्पति के भाग को सूँघो। वह घोड़ों को क्यों सुंघाता है ? इसलिए कि वह समझता है कि मैं उसे जीत लूंगा। इसलिए वह घोड़ों को सुंघाता है ।।१५।।

आजिधावनप्रशंसा, ब्रह्मणोरथचक्रेगानम्, दुन्दुभ्युपावहरणञ्च

अध्याय १—ब्राह्मण ५

जब दौड़ दौड़ते हैं तो इससे इस (पृथिवी) लोक को जीत लेते हैं, और जब ब्रह्मा नाभि तक उठे हुए रथ के पहिये पर चढ़कर साम-गान करता है तो उससे अन्तरिक्ष लोक को जीतता है, और जब यूप को खड़ा करता है तो इससे देवलोक को जीतता है। इसीलिए यह तीन प्रकार का कृत्य किया जाता है ।।१।।

ब्रह्मा नीचे के मन्त्र से नाभि तक उठे हुए रथ के पहिये पर बैठता है—"देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकँ रुहेयम्" (यजु० ९।१०)—"सत्यनिष्ठावाले सविता देव की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के उत्तम स्थान पर चढ़ता हूँ ।" यह उस दशा में कहना चाहिए, जब ब्राह्मण यज्ञ करनेवाला हो। ब्रह्म ही बृहस्पति है। ब्रह्म ही ब्राह्मण है ।।२।।

यदि क्षत्रिय यज्ञ करे तो—"देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकँ रुहेयम्" (यजु० ९।१०)—"सत्यनिष्ठावाले देव सविता की प्रेरणा से इन्द्र के उत्तम स्थान पर चढ़ता हूँ ।" इन्द्र क्षत्र है, क्षत्रिय क्षत्र है ।।३।।

तीन बार सामगान करता है, तीन बार गाकर नीचे उतरता है इस मन्त्र से—"देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम्" (यजु० ९।१०)—"मैं सत्यनिष्ठावाले सविता देव की प्रेरणा से बृहस्पति के उत्तम स्थान पर चढ़ा ।" यदि ब्राह्मण यज्ञ करे तो, क्योंकि बृहस्पति ब्रह्म है। ब्राह्मण ब्रह्म है ।।४।।

और यदि क्षत्रिय यज्ञ करे तो—"देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यप्रसवस ऽ इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम्" (यजु० ९।१०)—"मैं सत्यनिष्ठावाले सविता देव की प्रेरणा से इन्द्र के उस उत्तम स्थान पर चढ़ा ।" क्योंकि इन्द्र क्षत्र है, क्षत्रिय क्षत्र है ।।५।।

अब वेदी के किनारे पर १७ दुन्दुभियाँ रखते हैं, आग्नीध्र के पीछे (पश्चिम की ओर)। क्योंकि जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह प्रजापति को जीतता है। वाणी ही प्रजापति है, और इन १७ दुन्दुभियों की वाणी ही सबसे बड़ी वाणी है। इस प्रकार वह बड़ी वाणी के द्वारा बड़े प्रजा-

सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥६॥ अथैतेषां दुन्दुभीनाम् । एकं यजुषाहन्ति तत्सर्वे यजुषाहता भवन्ति ॥७॥ स आहन्ति । बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयतेति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥८॥ अथ यदि राजन्यो यजते । इन्द्र वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयतेति क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥९॥ अथैतेष्वाजिसृत्सु रथेषु । पुनरासृतेष्वेतेषां दुन्दुभीनामेकं यजुषोपावहरति तत्सर्वे यजुषोपावहृता भवन्ति ॥१०॥ स उपावहरति । एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वमिति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥११॥ अथ यदि राजन्यो यजते । एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वमिति क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥१२॥ अथ वेद्यन्तात् । राजन्य उदङ् सप्तदश प्रव्याधान्प्रविध्यति यावान्वाऽएकः प्रव्याधस्तावांस्तिर्यङ् प्रजापतिरथ यावत्सप्तदश प्रव्याधास्तावानन्वङ् प्रजापतिः ॥१३॥ तद्यद्राजन्यः प्रविध्यति । एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यद्राजन्यस्तस्मादेकः सन्बहूनामीष्टे यद्वेव चतुरक्षरः प्रजापतिश्चतुरक्षरो राजन्यस्तस्माद्राजन्यः प्रविध्यति सप्तदश प्रव्याधान्प्रविध्यति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥१४॥ अथ यं यजुषा युनक्ति । तं यजमान आतिष्ठति देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषमिति ॥१५॥ तद्यथैवादो बृहस्पतिः । सवितारं प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तत्सवितृप्रसूत उदजयदेवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तत्सवितृप्रसूत उज्जयति ॥१६॥ अथ

पति को जीत लेता है। १७ इसलिए हैं कि प्रजापति १७ संख्यावाला है। इस प्रकार वह प्रजापति को जीत लेता है ॥६॥

इन दुन्दुभियों से एक को यजुः के द्वारा बजाता है। इस प्रकार सभी यजुः द्वारा बजे हुए समझे जाते हैं ॥७॥

वह इस मन्त्र से बजाता है —"बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयत" (यजु० ९।११)—"बृहस्पति, बाजी को जीत, बृहस्पति के लिए वाणी को बोलो। इन्द्र को बाजी जितवाओ।" यह उस समय कहना चाहिए जब ब्राह्मण यज्ञ करे। ब्रह्म बृहस्पति है, ब्रह्म ब्राह्मण है॥८॥

अगर क्षत्रिय यज्ञ करे तो—"इन्द्र, वाजं जयेन्द्राय वाच वदतेन्द्रं वाजं जापयत" (यजु० ९।११)—"इन्द्र, बाजी को जीत, इन्द्र के लिए वाणी को बोलो। इन्द्र को बाजी जितवाओ।" क्षत्र इन्द्र है, क्षत्रिय इन्द्र है ॥९॥

जब यह बाजी दौड़नेवाले रथ वापस आ जायँ, तो उन दुन्दुभियों में से एक को यजुः से उतार लेता है। इस प्रकार सभी यजुः से उतारे हुए समझे जाते हैं ॥१०॥

वह इस यजुः से उतारता है—"एषा वः सा सत्या संवागभूद् यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्" (यजु० ९।१२)—"यह तुम्हारी सच्ची वाणी थी, जिससे तुमने बृहस्पति को बाजी जितवाई। बृहस्पति को बाजी जितवाई। हे वनस्पतियो! (दुन्दुभियों के रूप में) अब तुम छुटकारा पा जाओ।" यह उस दशा में कहें जब यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण हो। क्योंकि बृहस्पति ब्रह्म है, ब्राह्मण ब्रह्म है ॥११॥

अगर क्षत्रिय यज्ञ करे तो कहे—"एषा वः सा सत्या संवागभूद् ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्" (यजु० ९।१२)—"यह तुम्हारी सच्ची वाणी थी, जिससे तुमने इन्द्र को बाजी जितवाई। हे (दुन्दुभि रूपी) वनस्पतियो! अब छुटकारा पा जाओ।" क्योंकि इन्द्र क्षत्र है, क्षत्रिय क्षत्र है ॥१२॥

अब एक क्षत्रिय वेदी के उत्तर की ओर १७ तीर मारता है। जितनी दूर एक तीर जाता है वह प्रजापति की चौड़ाई है, और जितनी दूर १७ तीर जाते हैं वह प्रजापति की लम्बाई है ॥१३॥

क्षत्रिय क्यों तीर मारता है? क्षत्रिय प्रजापति का प्रत्यक्षतम रूप है, क्योंकि वह एक होता हुआ भी बहुतों पर राज्य करता है। 'प्रजापति' में भी चार अक्षर हैं और 'राजन्य' में भी चार अक्षर हैं, इसलिए क्षत्रिय ही तीर मारता है। १७ तीर इसलिए मारता है कि प्रजापति की १७ संख्या है, इससे प्रजापति को जीतता है ॥१४॥

और जिस घोड़े को यजुः से जोतता है, उस तक यजमान जाता है इस मन्त्र को पढ़कर—"देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्" (यजु० ९।१३)—"सत्यनिष्ठ सविता देव की प्रेरणा से मैं बाजी जीतनेवाले बृहस्पति की बाजी को जीतूँ" ॥१५॥

और जैसे बृहस्पति सविता की प्रेरणा के लिए दौड़ गया क्योंकि सविता देवों का प्रेरक है और उससे कहा—"प्रेरणा कर, तेरी प्रेरणा से मैं जीतूँ" और प्रेरक सविता ने उसकी प्रेरणा की और वह जीत गया, इस प्रकार यह यजमान भी सविता की ओर दौड़ता है, क्योंकि यह सविता देवों का प्रेरक है और कहता है—"हे प्रेरक सविता, मुझे प्रेरणा कर। तेरी प्रेरणा से मैं जीत जाऊँ।" और प्रेरक सविता उसकी प्रेरणा करता है, और वह जीत जाता है ॥१६॥

यद्यधर्योः । अन्तेवासी वा ब्रह्मचारी वैतद्यजुरधीयात्सोऽन्वास्थाय वाचयति वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाहाध्वन स्कभ्नुवन्त इत्यध्वनो हि स्कभ्नुवन्तो धावन्ति योजना मिमाना इति योजनशो हि मिमाना अध्वानं धावन्ति काष्ठां गच्छतेति यथैनानन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरेवमेतदाह धावत्स्वाजिमाघ्नन्ति दुन्दुभीनभि साम गायति ॥१७॥ अथैताभ्यां जगतीभ्याम् । जुहोति वानु वा मन्त्रयते यदि जुहोति यद्यनुमन्त्रयते समान एव बन्धुः ॥१८॥ स जुहोति । एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि । क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत्स्वाहा ॥१९॥ उत स्म । अस्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः । श्येनस्येव ध्रजतोऽअङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहेति ॥२०॥ अथोत्तरेण त्रिचेन । जुहोति वानु वा मन्त्रयते द्वयं तद्यस्माज्जुहोति वानु वा मन्त्रयते यदि जुहोति यद्यनुमन्त्रयते समान एव बन्धुरेतानि वैतदश्वान्धावत उपवाजयत्येतेषु वीर्यं दधाति तिस्रो वाऽइमाः पृथिव्य इयमहैका द्वेऽअस्याः परे ता एवैतदुज्जयति ॥२१॥ सोऽनुमन्त्रयते । शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥२२॥ ते नोऽअर्वन्तः । हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः । सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳ समिथेषु जभ्रिरे ॥२३॥ वाजे-वाजेऽवत । वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः । अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैरिति ॥२४॥ अथ बार्हस्पत्येन चरुणा प्रत्युपतिष्ठते । तमुपस्पृशत्यन्नं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयꣳ ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳस्पृशति तदात्मन्कुरुते ॥२५॥ स उपस्पृशति । आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादित्यन्नं वै वाज

और अगर अध्वर्यु का शिष्य या कोई ब्रह्मचारी इस यजु को जानता हो, तो वह यजमान से कहलवावे—"वाजिन:" (यजु० ६।१३)—'वाजिन' का अर्थ है घोड़े, इसलिए "वाजिन:" कहा। "वाजजित:" (यजु० ६।१३)—वाज कहते हैं अन्न को अर्थात् अन्न के जीतनेवाले। "अध्वन: स्कभ्नुवन्त:" (यजु० ६।१३)—"मार्ग पर चलते हुए।" क्योंकि ये मार्ग पर तो चलते ही हैं। "योजना मिमाना:" (यजु० ६।१३)—"मंजिलों को नापते हुए।" क्योंकि ये मंजिलों को नापते हुए चलते हैं। "काष्ठां गच्छत" (यजु० ६।१३)—"काष्ठा को जाओ।" [काष्ठा वह अन्तिम जगह है, जहाँ तक दौड़ने से जीतता है जिसे अंगरेजी में गोल (Goal) कहते हैं]। दुष्ट राक्षस हानि न पहुँचावें, इसलिए वह ऐसा कहता है। अब दौड़ दौड़ते हैं, दुन्दुभी बजाते हैं, और साम-गान करते हैं ॥१७॥

अब नीचे के दो जगती छन्दों से (घोड़ों के लिए) आहुति देता या आमन्त्रण करता है। आहुति देना या आमन्त्रण करना एक ही बात है ॥१८॥

वे मन्त्र ये हैं—"एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो ऽ अपिकक्ष ऽ आसनि। क्रतुं दधिक्रा ऽ अनु सँसनिष्यदत् पथामङ्काँस्यन् वापनीफणत् स्वाहा" (यजु० ६।१४)—"गले में, बगल में और मुँह में बँधा हुआ घोड़ा कोड़े के बल तेज दौड़ता है। दधिक्रा अर्थात् घोड़ा यज्ञ का सम्पादन करे, सड़क के पेचदार मार्गों को चले। स्वाहा" ॥१६॥

"उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यत: पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्द्धिन:। श्येनस्येव ध्रजतो ऽ अङ्कसं परि दधिक्रावण: सहोर्जा तरित्रत: स्वाहा" (यजु० ६।१५)—"जैसे श्येन (बाज) पक्षी जब उत्सुकता से उड़ता है तो उसके पंख हिलते हैं, इसी प्रकार यह घोड़ा जब बड़े वेग से तेज दौड़ता है, तो उसकी छाती भी उड़ती-सी मालूम पड़ती है" ॥२०॥

अगली तीन ऋचाओं से आहुति या आमन्त्रण करता है। ये दो काम हैं—आहुति देना और आमन्त्रण करना। चाहे आहुति दे, चाहे आमन्त्रण करे, बात एक ही है। इससे वह घोड़ों में तेजी और पराक्रम देता है। लोक तीन हैं—एक पृथिवी और दो इससे परे। वह इन तीनों को जीतता है ॥२१॥

वे मन्त्र ये हैं—"शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रव: स्वर्का:। जम्भयन्तोऽहिं वृकँ रक्षाँसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवा:" (यजु० ६।१६, ऋ० ७।३८।७)—"यज्ञों में घोड़े कल्याणप्रद हों। कैसे घोड़े? (देवताता:) देवों के यज्ञ में (मितद्रव:) नपी हुई चाल चलनेवाले और (स्वर्का:) उत्तम तेजवाले—सर्प, भेड़िये और राक्षस को खाते हुए, हमसे पीड़ाओं को दूर करते हुए" ॥२२॥

"ते नो ऽ अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रव:। सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनँ समिथेषु जभ्रिरे" (यजु० ६।१७, ऋ० १०।६४।६)—"वे पुकार को सुननेवाले, तेज और नपी चाल चलनेवाले घोड़े हमारी पुकार सुनें। हजारों को यज्ञ में जीतने-वाले और जिन्होंने युद्धों में बड़े धनों को जीता है" ॥२३॥

"वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा ऽ अमृता: ऽ ऋतज्ञा:। अस्य मध्व: पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानै:" (यजु० ६।१८; ऋ० ७।३८।८)—"हे ज्ञानवान्, अमृत और ऋत को जाननेवाले घोड़ो! हमको बाजी में जिताओ। इस मधु को पियो और प्रसन्न हो और तृप्त होकर देवों के चलने के योग्य मार्गों से चलो" ॥२४॥

अब बृहस्पति-सम्बन्धी चरु को लेकर घोड़ों के पास जाता है और उनसे उसको छुआता है। जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह अन्न को जीतता है। वाजपेय का नाम है अन्नपेय। जिस किसी अन्न को उसने जीता है, उसको इस गति को प्राप्त होकर वह छूता है, अर्थात् अपने में धारण करता है ॥२५॥

वह इस मन्त्र से छूता है—"आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यात्" (यजु० ६।१६)—"हमारे

आ मा जस्य प्रसवो जगम्यादित्येवैतदाहेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपेऽइति द्यावापृथिवी हि प्रजापतिरा मा गन्तां पितरामातरा चेति मातेव च हि पितेव च प्रजापतिरा मा सोमोऽअमृतत्वेन गम्यादिति सोमो हि प्रजापतिः ॥२६॥ तमश्वानवघ्रापयति । वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाह वाजᳪ समृवाᳪस इति सरिष्यन्त इति वा ऽअग्रऽआह सरिष्यन्त-इव हि तर्हि भवन्त्यथात्र समृवाᳪस इति समृवाᳪस-इव ह्यत्र भवन्ति तस्मादाह समृवाᳪस इति बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति बृहस्पतेर्ह्येष भागो भवति तस्मादाह बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति निमृजाना इति तद्यजमाने वीर्यं दधाति तद्यदश्वानवघ्रापयतीममुज्जयानीति वाऽअग्रेऽवघ्रापयत्यथात्रेममुदजैषमिति तस्माद्वाऽअश्वानवघ्रापयति ॥२७॥ अथैतेषामाजिसृताᳪ रथानाम् । एकस्मिन्वैश्यो वा राजन्यो वोपास्थितो भवति स वेदेरुत्तरायाᳪ श्रोणाऽउपविशत्यथाध्वर्युश्च यजमानश्च पूर्वया द्वारा मधुग्रहमादाय निष्क्रामतस्तं वैश्यस्य वा राजन्यस्य वा पाणावाधत्तोऽथ नेष्टापरया द्वारा सुराग्रहानादाय निष्क्रामति स जघनेन शालां पर्येत्यैकं वैश्यस्य वा राजन्यस्य वा पाणावादधदाहानेन तऽइमं निष्क्रीणामीति सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमोऽनृतं पाप्मा तमः सुरा सत्यमेवैतच्छ्रियं ज्योतिर्यजमाने दधात्यनृतेन पाप्मना तमसा वैश्यं विध्यति तैः स यं भोगं कामयते तं कुरुतेऽथैतᳪ सहिरण्यपात्रमेव मधुग्रहं ब्रह्मणे ददाति तं ब्रह्मणे ददममृतमायुरात्मन्धत्तेऽमृतᳪ ह्यायुर्हिरण्यं तेन स यं भोगं कामयते तं कुरुते ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ ॥ प्रथमोऽध्यायः [३१.] ॥॥

अथ स्रुवं चाज्यविलापनीं चादाय । आहवनीयमभ्यैति स एता द्वादशाप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा यदि जुहोति यदि वाचयति समान एव बन्धुः ॥१॥ स जुहोति । आपये स्वाहा स्वापये स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे

पास धन आवे।" वाज का अर्थ है अन्न। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्न आवे। "इमे द्यावा पृथिवी विश्वरूपे" (यजु० ६।१६)— "यह भिन्न-भिन्न रूपवाली द्यौ और पृथिवी हमारे पास आवें।" द्यौ और पृथिवी ही प्रजापति है। "आ मा गन्तां पितरा मातरा च" (यजु० ६।१६)— "मा और बाप हमारे पास आवें।" "आ मा सोमो ऽअमृतत्वेन गम्यात्" (यजु० ६।१६)—"सोम अमृतत्व के साथ हमारे पास आवे।" सोम प्रजापति है ॥२६॥

वह घोड़ों को सुँघाता है यह पढ़कर—"वाजिनः।" (यजु० ६।१६)—"हे घोड़ो!" वाजी नाम है घोड़े का, इसलिए कहा 'वाजिनः'। "वाजजितः" (यजु० ६।१६)—वाज कहते हैं अन्न को, इसलिए कहा 'वाजजितः'। "वाजँ् ससृवाँसः" (यजु० ६।१६)—"बाजी को जीत चुकनेवाले।" पहले कहा था 'सरिष्यन्तः' (जीतने की इच्छा करनेवाले) क्योंकि पहले दौड़ में जाने को थे; अब जा चुके, इसलिए अब कहा 'ससृवांसः'। "बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत" (यजु० ६।१६)—"बृहस्पति के भाग को सूंघो।" यह बृहस्पति का भाग है, इसलिए ऐसा कहा। "निमृजानाः" (यजु० ६।१६)—"शुद्ध करते हुए।" इससे यजमान में पराक्रम की स्थापना करता है। वह घोड़ों को क्यों सुँघाता है? पहले इसलिए सुँघाया था कि इस लोक को जीतूँ, अब इसलिए सुँघाता है कि यह लोक जीत लिया ॥२७॥

अब इन वाजी जीतनेवाले रथों पर या तो एक वैश्य होगा या क्षत्रिय। वह वेदी के उत्तर की बाजू में बैठता है। अब अध्वर्यु और यजमान शहद के ग्रह को पूर्व-द्वार से लेकर उस वैश्य या क्षत्रिय के हाथ में देता है, और नेष्टा सुराग्रह को लेकर दूसरे द्वार से निकल जाता है। वह शाला के पिछले द्वार से निकलता है और वैश्य या क्षत्रिय के हाथ में देकर कहता है— 'मैं इसके द्वारा तुझसे उसको खरीदता हूँ।' सोम सत्य, श्री और ज्योति है। सुरा अनृत, पाप और अन्धकार है। इस प्रकार वह यजमान में सत्य, श्री, और ज्योति देता है, और वैश्य को अनृत, पाप और अन्धकार से बींधता है; जिस भोग को चाहता है, प्राप्त करता है। मधुग्रह को वह स्वर्ण के पात्रसहित ब्राह्मण को देता है। ब्राह्मण को इसे देकर वह अपने में अमृत-आयु धारण करता है, क्योंकि स्वर्ण अमृत है; जिस भोग की कामना करता है, उसकी उसके द्वारा प्राप्ति होती है ॥२८॥

यूपारोहणम्

अध्याय २—ब्राह्मण १

अब स्रुवा और आज्यविलापनी (घी गर्म करने का बर्तन) को लेकर वह आहवनीय अग्नि तक जाता है। अब वह इन १२ आप्तियों को देता है (यजु० ६-२० में १२ आहुतियाँ हैं, जिनको आप्त आहुतियाँ कहते हैं, क्योंकि पहली आहुति 'आपये स्वाहा' है), या यजमान से जाप कराता है। आहुति देना या यजमान से कहलवाना एक ही बात है ॥१॥

ये आहुतियाँ ये हैं—(१) "आपये स्वाहा। (२) स्वापये स्वाहा। (३) अपिजाय स्वाहा। (४) क्रतवे स्वाहा। (५) वसवे स्वाहा। (६) अहर्पतये स्वाहा। (७) अह्ने मुग्धाय स्वाहा। (८) मुग्धाय वैनँ्शिनाय स्वाहा। (९) विनँ्शिन ऽआन्त्यायनाय स्वाहा। (१०) आन्त्याय भौवनाय स्वाहा। (११) भुवनस्य पतये स्वाहा। (१२) अधिपतये स्वाहा" (यजु० ६।२०) इन बारह आहुतियों को इसलिये देता है कि संवत्सर के १२ मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है,

स्वाहार्यतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनᳫँशिनाय स्वाहा विनᳫँशिन ऽआन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहेत्येता द्वादशाप्तीर्जुहोति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तस्यैवास्याप्तिर्या सम्पत्तामेवैतदुज्जयति तामात्मन्कुरुते ॥२॥ अथ षट् क्लृप्तीः। जुहोति वा वाचयति वा यदि जुहोति यदि वाचयति समान एव बन्धुः ॥३॥ स वाचयति। आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳫँ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पतामित्येताः षट् क्लृप्तीर्वाचयति षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तस्यैवास्य क्लृप्तिर्या सम्पत्तामेवैतदुज्जयति तामात्मन्कुरुते ॥४॥ अष्टाश्रिर्यूपो भवति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दो देवलोकमेवैतेनोज्जयति सप्तदशभिर्वासोभिर्यूपो वेष्टितो वा विग्रथितो वा भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥५॥ गौधूमं चषालं भवति। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठᳫँ सोऽयमत्वगेते वै पुरुषस्यौषधीनां नेदिष्ठतमां यद्गोधूमास्तेषां न त्वगस्ति मनुष्यलोकमेवैतेनोज्जयति ॥६॥ गर्तन्वान्यूपोऽतीक्ष्णाग्रो भवति। पितृदेवत्यो वै गर्तः पितृलोकमेवैतेनोज्जयति सप्तदशारत्निर्भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥७॥ अथ नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन्। कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनाज्जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन्भवत्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेर्मेध्या वै दर्भास्तद्यदेवास्या अमेध्यं तदेवास्या एतद्दर्भैर्मेध्यं कृत्वाथैनां प्राचीं यज्ञं प्रसादयति तस्मान्नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन्कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनात् ॥८॥ अथ निश्रयणीं निश्रयति। स दक्षिणत उदङ् रोहेदुत्तरतो वा दक्षिणा दक्षिणतस्त्वेवोदङ् रोहेत्तथा ह्युदग्भवति ॥९॥ स रोहयन्जायामामन्त्रयते। जायऽएहि

प्रजापति यज्ञ है। इसलिए जो कुछ उसकी प्राप्ति है, उसको वह जीतता है, उसको वह अपने में स्थापित करता है ॥२॥

अब छः क्लृप्ति—आहुतियों को देता है या यजमान से कहलवाता है। आहुतियाँ देना या यजमान से कहलवाना एक ही बात है ॥३॥

इनको कहलवाता है—(१) "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्। (२) प्राणो यज्ञेन कल्पताम्। (३) चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्। (४) श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्। (५) पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम्। (६) यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्" (यजु० ९।२१)—ये छः क्लृप्तियाँ इसलिए दी जाती हैं कि संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर प्रजापति है, प्रजापति यज्ञ है। यह जो प्राप्ति है, वही क्लृप्ति है। उसी को जीत लेता है, उसी को अपने आत्मा में धारण कर लेता है ॥४॥

यूप अठकोना होता है, क्योंकि गायत्री में आठ अक्षर होते है। गायत्री अग्नि का छन्द है। इसके द्वारा वह देवलोक को जीतता है। यूप को सत्रह कपड़ों से लपेटते या बाँधते हैं। प्रजापति सत्रह संख्यावाला है। इससे प्रजापति को जीतता है ॥५॥

(यूप के सिरे पर) गेहूँ के आटे की रोटी होती है। पुरुष प्रजापति से निकटतम है और त्वचारहित है और ओषधियों में मनुष्य के निकटतम गेहूँ है, उसपर छिलका नहीं होता। इससे मनुष्यलोक को जीतता है ॥६॥

(यूप के सिरे पर) खुखला होता है, और नुकीला नहीं होता। खुखलापन पितरों को प्रिय है। इससे वह पितृलोक को जीतता है। यह १७ हाथ लम्बा होता है। प्रजापति १७ संख्या-वाला है, इस प्रकार प्रजापति को जीतता है ॥७॥

अब नेष्टा यजमान-पत्नी को लाकर कुशा के वस्त्र को, जो दीक्षा का वस्त्र है, उसके चारों ओर लिपटवाता है। पत्नी यज्ञ का पिछला भाग है। वह उसको आगे इसलिए लाता है कि यज्ञ प्रसन्न हो जाये। पत्नी का नाभि से नीचे का भाग अपवित्र है, दर्भ पवित्र होते हैं। इस प्रकार पत्नी के अपवित्र भाग को दर्भों से पवित्र करता है, और उसको आगे लाकर यज्ञ को प्रसन्न करता है। यही कारण है कि नेष्टा यजमान की पत्नी को आगे लाकर उसको दीक्षा के वस्त्र अर्थात् कुशा-वस्त्र से लपेटता है ॥८॥

अब यूप में सीढ़ी लगाता है। या तो दक्षिण से उत्तर की ओर चढ़े या उत्तर से दक्षिण की ओर। परन्तु दक्षिण से उत्तर की ओर चढ़ना अच्छा है, क्योंकि ऊपर चढ़ने का अर्थ यही है ॥९॥

यजमान चढ़ते हुए पत्नी को सम्बोधन करता है, 'हे पत्नी! आ, स्वर्ग को चढ़ें।' पत्नी

स्वो रोहावेति रोहावेत्याह जाया तद्यज्जायामामन्त्रयतेऽर्धो ह वाऽएष आत्म-
नो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद्भव-
त्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति सर्व एतां गतिं ग-
च्छानीति तस्माज्जायामामन्त्रयते ॥१०॥ स रोहति । प्रजापतेः प्रजा अभूमेति प्र-
जापतेर्ह्येष प्रजा भवति यो वाजपेयेन यजते ॥११॥ अथ गोधूमानुपस्पृशति ।
स्वर्देवा अगन्मेति स्वर्ह्येष गच्छति यो वाजपेयेन यजते ॥१२॥ तद्यद्गोधूमानुप-
स्पृशति । अन्नं वै गोधूमा अन्नं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयꣳ
ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳस्पृशते त-
दात्मन्कुरुते तस्माद्गोधूमानुपस्पृशति ॥१३॥ अथ शीर्ष्णा यूपमत्युज्जिहीते । अमृ-
ता अभूमेति देवलोकमेवैतेनोज्जयति ॥१४॥ ॥शतम् ३०००॥ अथ दिशोऽनु-
वीक्षमाणो जपति । अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाꣳसि सन्तु
व इति सर्वं वाऽएष इदमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते प्रजापतिꣳ ह्युज्जयति
सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः सोऽस्य सर्वस्य यश इन्द्रियं वीर्यꣳ संवृज्य तदात्मन्धत्ते
तदात्मन्कुरुते तस्माद्दिशोऽनुवीक्षमाणो जपति ॥१५॥ अथैनमूषपुटैरनूदस्यन्ति ।
पशवो वाऽऊषा अन्नं वै पशवोऽन्नं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्न-
पेयꣳ ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳ-
स्पृशते तदात्मन्कुरुते तस्मादेनमूषपुटैरनूदस्यन्ति ॥१६॥ आश्वत्थेषु पलाशेषूपन-
द्धा भवन्ति । स यदेवादोऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत तस्मादाश्वत्थेषु
पलाशेषूपनद्धा भवन्ति विशोऽनूदस्यन्ति विशो वै मरुतोऽन्नं विशस्तस्माद्विशो
ऽनूदस्यन्ति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥१७॥
अथेमामुपावेक्षमाणो जपति । नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइति बृ-
हस्पतेर्ह वाऽअभिषिषिचानात्पृथिवी बिभयां चकार महद्वाऽअयमभूद्योऽभ्यषिचि

कहती है, 'अच्छा चढ़ें।' वह पत्नी को क्यों सम्बोधन करता है ? इसलिए कि पत्नी उसका आधा भाग है। जब तक स्त्री को नहीं पाता, प्रजा उत्पन्न नहीं होती और वह अपूर्ण रहता है। ज्योंही उसको पा जाता है, प्रजावान् हो जाता है और पूर्ण हो जाता है। वह सोचता है कि पूर्ण होकर उद्देश्य की पूर्ति करूँ, इसलिए पत्नी को बुलाता है ॥१०॥

वह इस मन्त्र से चढ़ता है—"प्रजापतेः प्रजा ऽ अभूम" (यजु० ६।२१)—"प्रजापति की प्रजा हो जायें।" जो वाजपेय यज्ञ करता है वह प्रजापति की प्रजा होता है ॥११॥

अब गेहूँ के आटे की टोपी को (यूप के जो ऊपर है, अर्थात् चषात को) छूता है। इस मन्त्र से—"स्वर्देवा ऽ अगन्म" (यजु० ६।२१)—"हे देवो ! हम स्वर्ग को प्राप्त हो गये।" क्योंकि जो वाजपेय यज्ञ करता है उसे वस्तुतः स्व अर्थात् ज्योति की प्राप्ति हो जाती है ॥१२॥

वह गेहूँ को क्यों छूता है ? गेहूँ अन्न है। जो वाजपेय करता है, अन्न को जीतता है, क्योंकि वाजपेय वस्तुतः अन्न-पेय (खाना और पीना) है। जो कुछ अन्न उसने प्राप्त किया, उससे उसने उद्देश्य की पूर्ति की। और उसको छूता है, आत्मा में धारण करता है, इसलिए गेहूँ को छूता है ॥१३॥

अब अपने सिर के बराबर यूप के ऊपर चढ़ता है और कहता है —"अमृता ऽ अभूम" (यजु० ६।२१)—"हम अमृत हो गये।" इस प्रकार देवलोक को जीत लेता है ॥१४॥

अब भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर देखकर जपता है—"अस्मे वो ऽ अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाᳪसि सन्तु वः" (यजु० ६।२२)—"तुम्हारा पराक्रम हमारा हो, तुम्हारा धन हमारा हो, तुम्हारा यज्ञ हमारा हो, तुम्हारा तेज हमारा हो।" क्योंकि जो वाजपेय यज्ञ करता है वह यहाँ सबको जीत लेता है, क्योंकि वह प्रजापति को जीत लेता है। और प्रजापति ही सब-कुछ है। इस सब यश, पराक्रम, वीर्य को प्राप्त करके वह अपने आत्मा में धारण करता या अपना बनाता है, इसीलिए वह चारों दिशाओं को देखकर इसका जाप करता है ॥१५॥

अब वे उसके पास नमक के थैले को फेंकते हैं। ऊषा (नमक) पशु है और अन्न पशु है। जो वाजपेय यज्ञ करता है, वह उसको जीत लेता है, क्योंकि वाजपेय वस्तुतः अन्नपेय है। इसलिए जो कुछ अन्न उसने प्राप्त किया उससे वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह इसके संसर्ग में आता है। वह इसको अपने आत्मा में धारण कराता है इसलिए वे अपने नमक के थैलों को उसके पास फेंकते हैं ॥१६॥

यह नमक अश्वत्थ के पत्तों में होता है। क्योंकि पहले इन्द्र ने अश्वत्थ के पत्तों पर बैठे हुए मरुतों को बुलाया था, इसलिए यह नमक भी अश्वत्थ के पत्तों में रखते हैं। किसान लोग फेंकते हैं, क्योंकि मरुत् किसान हैं। और किसान अन्न हैं, इसलिए किसान लोग फेंकते हैं। वे सत्रह होते हैं—प्रजापति सत्रह अंक से सम्बन्ध रखता है। इसलिए प्रजापति को जीतता है ॥१७॥

अब वह इस भूमि पर दृष्टिपात करते हुए जपता है—"नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या" (यजु० ६।२२)—"पृथिवी माता के लिए नमस्कार, पृथिवी माता के लिए नमस्कार।" क्योंकि जब बृहस्पति का अभिषेक हुआ, तो पृथिवी डरी कि 'अब इसका अभिषेक हो गया

यद्वै मायं नावदणीयादिति बृहस्पतिर्ह पृथिव्यै बिभयां चकार यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयमकुरुत न हि माता पुत्रᳫं हिनस्ति न पुत्रो मातरम् ॥१८॥ बृहस्पतिसवो वाऽएष यद्वाजपेयम् । पृथिव्यु हैतस्माद्बिभेति महद्वाऽअयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै मायं नावदणीयादित्येष उ हास्यै बिभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयं कुरुते न हि माता पुत्रᳫं हिनस्ति न पुत्रो मातरम् ॥१९॥ अथ हिरण्यमभ्यवरोहति । अमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतऽआयुषि प्रतितिष्ठति ॥२०॥ अथाजर्षभस्याजिनमुपस्तृणाति । तदुपरिष्टाद्रुक्मं निदधाति तमभ्यवरोहतीमां वेव ॥२१॥ अथास्माऽआसन्दीमाहरन्ति । उपरिसद्यं वाऽएष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासीनमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादस्माऽआसन्दीमाहरन्ति ॥२२॥ औदुम्बरी भवति । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जो ऽन्नाद्यस्यावरुद्धै तस्मादौदुम्बरी भवति तामग्रेण हविर्धाने जघनेनाहवनीयं निदधाति ॥२३॥ अथाजर्षभस्याजिनमास्तृणाति । प्रजापतिर्वाऽएष यदजर्षभ एता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजास्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति तत्प्रजापतिमेवैतत्करोति तस्मादजर्षभस्याजिनमास्तृणाति ॥२४॥ स आस्तृणाति । इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोऽसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिंल्लोके करोति कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति साधवे त्वेत्येवैतदाह ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [२.१.] ॥ ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या११७॥ ॥

बार्हस्पत्येन चरुणा प्रचरति । तस्यानिष्ट एव स्विष्टकृद्भवत्यथास्माऽअन्नᳫं सम्भरत्यन्नं वाऽएष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयᳫं ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तदेवास्माऽएतत्सम्भरति ॥१॥ औदुम्बरे पात्रे । अन्नं

इसलिए यह बड़ा हो गया। कहीं वह मुझे फाड़ न दे।' और बृहस्पति भी डरा कि कहीं यह मुझे फेंक न दे। इसलिए इस प्रकार वह मित्र बन गया। क्योंकि न तो माता पुत्र को हानि पहुँचाती है और न पुत्र माता को हानि पहुँचाता है ॥१८॥

यह जो वाजपेय यज्ञ है, वह वस्तुतः बृहस्पति-सवन है। और पृथिवी डरवाती है कि जिसका अभिषेक हो रहा है, वह वस्तुतः बड़ा आदमी हो गया है, कहीं यह मुझे फाड़ न डाले। और यह भी पृथिवी से डरता है कि यह कहीं मुझे फेंक न दे। इसलिए वह इससे मित्रता कर लेता है। कोई माता अपने पुत्र को हानि नहीं पहुँचाती और न कोई पुत्र माता को हानि पहुँचाता है ॥१९॥

अब वह स्वर्ण पर चलता है। सोना अमृत-जीवन है। इस प्रकार वह अमर-जीवन को प्राप्त करता है ॥२०॥

अब वह बकरे के चमड़े को बिछाता है और उस पर सोने का टुकड़ा रखता है। उसी पर चलता है या इसी (अर्थात् पृथिवी) पर ॥२१॥

अब वे उसके लिए चौकी (आसन्दी) लाते हैं। जो अन्तरिक्ष को जीत लेता है, वह ऊपर के लोक को भी जीत लेता है। इस प्रकार उस ऊपर बैठे हुए का नीचे बैठी हुई प्रजा सम्मान करती है। इसीलिए वे उसके लिए चौकी लाते हैं ॥२२॥

यह चौकी उदुम्बर की लकड़ी की होती है। उदुम्बर पराक्रम और अन्न है। अन्न और पराक्रम के लिए ही ये इसको उदुम्बर की लकड़ी का बनाते हैं। वे इसको हविर्धान के आगे और आहवनीय के पीछे रखते हैं ॥२३॥

अब वह उस पर बकरी का चाम बिछाता है। ये जो बकरियाँ हैं ये प्रजापति ही हैं। ये जो बकरियाँ हैं वे वस्तुतः प्रजापति ही हैं, क्योंकि ये तीन बार दो-तीन बच्चे देती हैं। इस प्रकार वह यजमान को ही प्रजापति बनाता है। इसलिए बकरे का चाम बिछाता है ॥२४॥

वह इस मन्त्र से बिछाता है—"इयं ते राट्" (यजु० ९।२२)—"यह तेरा राज्य है" इस प्रकार वह उसको राज्य देता है। आप इस मन्त्र से बिठाता है—"यन्ताऽसि यमनः" (यजु० ९।२२)—"तू शासक (नियन्ता) है।" इस प्रकार वह उसको प्रजाओं का शासक बनाता है। "ध्रुवोऽसि धरुणः" (यजु० ९।२२)—"तू अचल और दृढ़ है!" "कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा" (यजु० ९।२२)—"तुझे कृषि के लिए, तुझे क्षेम के लिए, तुझे धन के लिए, तुझे पालन-पोषण के लिए।" इसका तात्पर्य यह है कि वह उसे कल्याण के हेतु बिठाता है ॥२५॥

नैवारचरुप्रचारः, उज्जिति होमः, स्विष्टकृद्यागश्च

अध्याय २—ब्राह्मण २

अब बृहस्पति के चरु से कार्य करता है। अभी स्विष्टकृत् आहुति शेष है। अब वह उसके लिए अन्न लाता है। जो वाजपेय यज्ञ करता है वह अन्न को जीतता है; क्योंकि वाजपेय ही अन्न-पेय है। वह अन्न को जीत ले, इसलिए वह अन्न को उसके पास लाता है ॥१॥

उदुम्बर के पात्र में अन्न-पराक्रम है। उदुम्बर पराक्रम है। अन्न और ऊर्ज की प्राप्ति

वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे सोऽप एव प्रथमाः सम्भरत्यथ पयोऽथ यथोपस्मारमन्नानि ॥२॥ तद्धैके । सप्तदशान्नानि सम्भरन्ति सप्तदशः प्रजापतिरिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात्प्रजापतेर्न्वेव सर्वमन्नमनवरुद्धं क उ तस्मै मनुष्यो यः सर्वमन्नमवरुन्धीत तस्मादु सर्वमेवान्नं यथोपस्मारꣳ सम्भरन्नैकमन्नं न सम्भरेत् ॥३॥ स यन्न सम्भरति । तस्योद्धुवीत तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवं तथा नान्तमेति तथा ज्योग्जीवति स एतस्य सर्वस्यान्नाद्यस्य सम्भृतस्य स्रुवेणोपघातं वाजप्रसवीयानि जुहोति तद्याभ्य एवैतद्देवताभ्यो जुहोति ता अस्मै प्रसुवन्ति ताभिः प्रसूत उज्जयति तस्माद्वाजप्रसवीयानि जुहोति ॥४॥ स जुहोति । वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु । ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥५॥ वाजस्येमाम् । प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् । अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिꣳ सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥६॥ वाजस्य नु । प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः । सनेमि राजा परियाति विद्वान्प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽअस्मे स्वाहा ॥७॥ सोमꣳ राजानम् अवसेऽग्निमन्वारभामहे । आदित्यान्विष्णुꣳ सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिꣳ स्वाहा ॥८॥ अर्यमणं बृहस्पतिम् । इन्द्रं दानाय चोदय । वाचं विष्णुꣳ सरस्वतीꣳ सवितारं च वाजिनꣳ स्वाहा ॥९॥ अग्नेऽअच्छा । वदेह नः प्रति नः सुमना भव । प्र नो यच्छ सहस्रजित्त्वꣳ हि धनदा असि स्वाहा ॥१०॥ प्र नः । यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः । प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहेति ॥११॥ अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति । अन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादेनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति ॥१२॥ सोऽभिषिञ्चति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति देवहस्तैरेवैनमेतदभिषिञ्चति सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामीति वाग्वै सरस्वती तदेनं वाच एव

हो, इसलिए उदुम्बर के पात्र में लाता है, पहले पानी लाता है, फिर दूध, फिर अन्य प्राप्तव्य अन्न ॥२॥

कुछ लोग सत्रह -प्रकार का अन्न लाते हैं; क्योंकि प्रजापति सत्रह संख्यावाला है। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि सब अन्न प्रजापति ही को तो दिये जा सकते हैं और उससे तुलना की जाय तो मनुष्य क्या है, जो सभी अन्नों को अपना लेवे। इसलिए सभी अन्नों को लाना चाहिए, किसी विशेष अन्न को नहीं ॥३॥

जिस अन्न को वह न ला सके, उसको त्याग दे और आयु-पर्यन्त उसको न खावे। इससे उसका अन्त न होगा और वह दीर्घायु होगा। इस सब लाये हुए अन्न के स्रुवा से टुकड़े करके वाज-प्रसवीय नामक (सात) आहुतियाँ देता है। जिस देवता के लिए वह आहुति देता है, वह देवता उसको प्रेरणा करता है और उन्हीं की प्रेरणा से वह विजय पाता है। इसलिए वाज-प्रसवनीय आहुतियों को देता है ॥४॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रेसोमँ् राजानमोषधीष्वप्सु। ता ऽ अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयँ् राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा" (यजु० ९।२३)—"पहले पराक्रम की प्रेरणा ने सोम राजा को ओषधियों और जलों में प्रेरित किया। वे हमारे लिए सुख-कर होवें। हम राष्ट्र में पुरोहित अर्थात् प्रधान बनकर जागरूक रहें" ॥५॥

"वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्। अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिँ सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा" (यजु० ९।२४)—"पराक्रम की इस प्रेरणा ने सम्राट् होकर द्यौ और सब लोकों को प्रेरित कर दिया। वह जानता हुआ कि मैं देने की इच्छा नहीं रखता, दिलवाता है। हमारे धन को वह बलवान् करके देवे" ॥६॥

"वाजस्य नु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः। सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो ऽअस्मे स्वाहा" (यजु० ९।२५)—"पराक्रम की यह प्रेरणा सब लोकों से ऊपर हो गई। पहले से ही राजा जानता हुआ इस प्रजा का पालन और संवृद्धि करता है" ॥७॥

"सोमँ् राजानम् अवसेऽग्निमन्वारभामहे। आदित्यान् विष्णुँ् सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिँ् स्वाहा" (यजु० ९।२६)—"रक्षा के लिए हम सोम राजा का, आदित्यों का, विष्णु का, सूर्य का, ब्रह्मा का, बृहस्पति का आश्रय लेते हैं" ॥८॥

"अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय। वाचं विष्णुँ् सरस्वतीँ सवितारं च वाजिनँ् स्वाहा" (यजु० ९।२७)—"दान के लिए अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वाणी, विष्णु, सरस्वती, शक्तिशाली सविता को पुकारो" ॥९॥

"अग्ने ऽअच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव। प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वँ् हि धनदा ऽ असि स्वाहा" (यजु० ९।२८)—"हे अग्नि! हमारे लिए बोल, हमारे लिए शुभचिन्तक हो। हे सहस्रों के जीतनेवाले, तू हमको दान कर। तू दान देनेवाला है" ॥१०॥

"प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः। प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा" (यजु० ९।२९)—"अर्यमा, पूषा, बृहस्पति, हमको दान दें। वे देवी वाणी हमको दान दे" ॥११॥

जो शेष बचा, उससे यजमान का अभिषेक करता है ॥१२॥

वह इस मन्त्र से अभिषेक करता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्" (यजु० ९।३०)—"देव सविता की प्रेरणा, अश्विनों के बाहु और पूषा के हाथों से।" अर्थात् वह देवों के हाथों से अभिषेक करता है। "सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि" (यजु० ९।३०)—"मैं तुझको नियन्ता सरस्वती वाणी के नियन्त्रण में रखता हूँ ॥१३॥

यन्तुर्यन्त्रिये दधाति ॥१३॥ तदु हैकऽआहुः । विश्वेषां त्वा देवानां यन्तुर्यन्त्रिये दधामीति सर्वं वै विश्वे देवास्तदेनं सर्वस्यैव यन्तुर्यन्त्रिये दधाति तदु तथा न ब्रूयात्सरस्वत्यै त्वा वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामीत्येव ब्रूयाद्वाग्वै सरस्वती तदेनं वाच एव यन्तुर्यन्त्रिये दधाति बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसाविति नाम गृह्णाति तद्बृहस्पतेरेवैनमेतत्सायुज्यं सलोकतां गमयति ॥१४॥ अथाह । सम्राडयमसौ सम्राडयमसाविति निवेदितमेवैनमेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्यो योऽभ्यषेचीत्ययं युष्माकैकोऽभूत्तं गोपायतेत्येवैतदाह त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१५॥ अथोज्जितीः । जुहोति वा वाचयति वा यदि जुहोति यदि वाचयति समान एव बन्धुः ॥१६॥ स वाचयति । अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषमिति तद्यदेवैताभिरेता देवता उदजयंस्तदेवैष एताभिरुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥१७॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । तद्यदन्तरेणाहुतीऽएतत्कर्म क्रियतऽएष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तन्मध्यत एवैतत्प्रजापतिमुज्जयति तस्मादन्तरेणाहुती ऽएतत्कर्म क्रियतऽआश्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१८॥ अथेडामादधाति । उपहूतायामिडायामप उपस्पृश्य माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति माहेन्द्रं ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रमुपाकरोति तं स्तोत्राय प्रमीवति स उपावरोहति सोऽन्ते स्तोत्रस्य भवत्यन्ते शस्त्रस्य ॥१९॥ तद्धैके । एतत्कृत्वाथैतत्कुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यादात्मा वै स्तोत्रं प्रजा शस्त्रमेतस्माद्ध स यजमानं प्रणाशयति स जिह्म एति स ह्वलति तस्मादेतदेव कृत्वाथैतत्कुर्यात् ॥२०॥ अथेडामादधाति । उपहूतायामिडायामप उपस्पृश्य माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति माहेन्द्रं ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रमुपाकरोति तं स्तोत्राय प्रमीवति स उपावरोहति सोऽन्ते स्तोत्रस्य भवत्यन्ते शस्त्रस्य

यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि 'मैं तुझको सब देवों के नियन्ता के नियन्त्रण में रखता हूँ।' क्योंकि 'विश्वेदेवा' सब देव हैं। उनके नियन्ता के नियन्त्रण में रखता है। परन्तु ऐसा न कहना चाहिए। 'मैं सरस्वती वाणी के नियन्त्रण में रखता हूँ' ऐसा कहना चाहिए। वाणी ही सरस्वती है। वह उसको वाणी के नियन्त्रण में रखता है। "बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ" (यजु० ९।३०)—"मैं तेरा बृहस्पति के साम्राज्य से अभिषेक करता हूँ" 'असौ' के स्थान में नाम लेता है। इस प्रकार वह उसको बृहस्पति की साम्राज्यता और सलोकता प्राप्त कराता है ॥१४॥

अब वह कहता है—'यह सम्राट् है, यह सम्राट् है।' उससे निवेदन करके मानो वह देवों को निवेदन करता है। इससे तात्पर्य यह है कि 'वह अभिषेक पाकर महावीर हो गया। आप में से एक हो गया। आप इसकी रक्षा कीजिए।' वह तीन बार कहता है, क्योंकि यज्ञ तीन अंग वाला है ॥१५॥

अब वह उज्जिती आहुति देता है या जप कराता है। आहुति देना या जप कराना एक ही बात है ॥१६॥

वह इस मन्त्र का जप कराता है—"अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषं।" "प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषम्"[1] (यजु० ९।३१ से ९।३४ तक)—"अग्नि ने एक अक्षर से प्राण को जीता। मैं भी जीतूं।" "प्रजापति ने १७ अक्षरों से १७ स्तोम को जीता। मैं भी जीतूं।" इन-इन देवों ने जिस-जिस प्रकार से जो-जो जीता, उसी को उन्हीं के द्वारा वह भी जीतता है। ये प्रकार १७ हैं। प्रजापति का १७ के अंक से सम्बन्ध है। इस प्रकार वह प्रजापति को जीतता है ॥१७॥

अब वह कहता है, 'स्विष्टकृत् अग्नि के लिए बोल।' अब दो आहुतियों के मध्य में ऐसा क्यों करता है? यह जो यज्ञ हो रहा है यह प्रजापति है। इसी से यह प्रजा उत्पन्न हुई है; इसी से अब भी उत्पन्न होती है, इसलिए मध्य में ही प्रजापति को जीत लेता है। इसलिए इन दो आहुतियों के बीच में यह कर्म किया जाता है। पहले आग्नीध्र 'श्रौषट्' कहलाता है, फिर कहता है 'स्विष्टकृत् अग्नि के लिए बोल' और वषट् कहकर आहुति देता है ॥१८॥

अब इडा को रखता है। इडा कहने के पीछे जलों को छूकर माहेन्द्र ग्रह लेता है। माहेन्द्र ग्रह को लेकर वह स्तोत्र पढ़ता है और स्तोत्र के लिए यजमान को प्रेरित करता है। चौकी से उतरता है। वह स्तोत्र के पास रहता है, शस्त्र के पास रहता है ॥१९॥

कुछ लोग ऐसा करके ऐसा करते हैं (अर्थात् उज्जीति आहुति के बाद माहेन्द्र ग्रह लेते और स्तोत्र पढ़ते हैं) परन्तु ऐसा न करना चाहिए। स्तोत्र आत्मा है और शस्त्र पजा है। इससे वह यजमान का नाश करता है। वह बहकता है। वह भूल करता है। इसलिए ऐसा करके ऐसा करना चाहिए ॥२०॥

अब इडा को रखता है। इडा कहकर जलों को छूता और फिर माहेन्द्र ग्रह को लेता है। माहेन्द्र ग्रह को लेने के उपरान्त वह स्तोत्र पढ़ता है। वह यजमान को स्तोत्र पढ़ने की प्रेरणा करता है। वह चौकी से उतरता है, वह स्तोत्र के समय पास रहता है, वह शस्त्र के पास रहता है ॥२१॥

१. पहला टुकड़ा ३१वें मन्त्र का है और अन्तिम ३४वें मन्त्र का। इसके बीच में इसी विषय के मन्त्र छूटे हुए हैं)

॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२. २.] ॥॥

पूर्णाहुतिं जुहोति । सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वं परिगृह्य सूयाऽइति तस्यां वरं ददाति सर्वं वै वरः सर्वं परिगृह्य सूयाऽइति स यदि कामयेत जुहुयादेतां यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत ॥१॥ अथ श्वो भूते । अनुमत्यै हविरष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति स ये जघनेन शम्यां पिष्यमाणानामवशीयन्ते पिष्टानि वा तण्डुला वा तान्स्रुवे सार्धꣳ संवपत्यन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते तेन दक्षिणा यन्ति स यत्र स्वकृतं वेरिणं विन्दति श्वभ्रप्रदरं वा ॥२॥ तदग्निꣳ समाधाय जुहोति । एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहेतीयं वै निर्ऋतिः सा यं पाप्मना गृह्णाति तं निर्ऋत्या गृह्णाति तद्यदेवास्या अत्र नैर्ऋतꣳ रूपं तदेवैतच्छमयति तथो हैनꣳ सूयमानं निर्ऋतिर्न गृह्णात्यथ यत्स्वकृते वेरिणे जुहोति श्वभ्रप्रदरे वैतदु ह्यस्यै निर्ऋतिगृहीतम् ॥३॥ अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति । अथानुमत्याऽअष्टाकपालेन पुरोडाशेन प्रचरतीयं वाऽअनुमतिः स यस्तत्कर्म शक्नोति कर्तुं यच्चिकीर्षतीयꣳ हास्मै तदनुमन्यते तदिमामेवैतत्प्रीणात्यनयानुमत्यानुमतः सूयाऽइति ॥४॥ अथ यदष्टाकपालो भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्री वाऽइयं पृथिव्यथ यत्समानस्य हविष उभयत्र जुहोत्येषा ह्येवैतदुभयं तस्य वासो दक्षिणा यद्वै सवासा अरण्यं नोदाशꣳसते निधाय वै तद्वासोऽतिमुच्यते तथो हैनꣳ सूयमानमासङ्गो न विन्दति ॥५॥ अथ श्वो भूते । आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति तेन यथेष्ट्यैवं यजते तद्यदेवादः प्रज्ञातमाग्नावैष्णवं दीक्षणीयꣳ हविस्तदेवैतदग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वत्यग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यस्तत्सर्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य सर्वं च यज्ञं परिगृह्य सूयाऽइति तस्मादाग्नावैष्णव एकादशकपालः पुरोडाशो भवति तस्य हिरण्यं दक्षिणाग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं यो वै विष्णुः स यज्ञोऽग्निरु वै यज्ञ एव तदु तदाग्नेयमेव

अथ राजसूयविधिः

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अब वह पूर्ण आहुति देता है। सबका अर्थ है पूर्ण। वह सोचता है कि सबको प्राप्त करके सूय (दीक्षित) होऊँ। इस समय वह वर देता है। वर का अर्थ है सब। वह सोचता है कि सबको प्राप्त करके दीक्षित होऊँ। चाहे तो इस आहुति को देवे, चाहे तो न देवे ।।१।।

अगले दिन अनुमति के लिए हवि के हेतु आठ कपालों का पुरोडाश बनाता है। और जो आटा या चावल पीसने से नीचे गिर जाता है, उसको वह स्रुवा में रख लेता है। अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) में से एक जलती हुई लकड़ी लेकर दक्षिण की ओर चलते हैं और जहाँ कहीं स्वयं बना हुआ गड्ढा या प्रदर देखते हैं—।।२।।

वहीं अग्नि को रखकर आहुति देता है इस मन्त्र से—"एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा" (यजु० ६।३५)—"हे निर्ऋति, यह तेरा भाग है, स्वीकार कर।" इस पृथिवी को ही निर्ऋति कहते हैं। यह जिसको बुरी भावना से पकड़ लेती है, उसका नाश कर देती है। इस प्रकार आहुति देकर वह पृथिवी की इस बुरी भावना को शान्त कर देता है और इस प्रकार शान्त होकर निर्ऋति उसको नहीं पकड़ती। और वह गड्ढे या प्रदर में क्यों आहुति देता है? इसलिए कि पृथिवी का यह भाग निर्ऋति अर्थात् बुरी भावना से युक्त है ।।३।।

अब वे बिना पीछे देखते हुए लौटते हैं। अब अनुमति के लिए आठ कपालों के पुरोडाश को लेता है। इस पृथिवी का नाम अनुमति है, क्योंकि यदि कोई किसी काम को करना चाहता है तो इसपर कर सकता है, वह इसकी अनुमति देती है। इसलिए वह इसको प्रसन्न करता है कि इसकी अनुमति लेकर दीक्षित होऊँ ।।४।।

अब आठ कपाल क्यों होते हैं? गायत्री में आठ अक्षर होते हैं और यह पृथिवी ही गायत्री है। एक ही हवि से दोनों आहुतियाँ क्यों देता है? इसलिए कि दोनों का एक ही फल निकले (अर्थात् अनुमति)। इसकी दक्षिणा कपड़ा है। जैसे कपड़ा पहने कोई जंगल में सुरक्षित नहीं जा सकता (कपड़ा उतारकर ही डाकुओं से बच सकता है), इसी प्रकार (इस वस्त्र को दक्षिणा में देने से) उसे दीक्षित होने में कोई आपत्ति नहीं आती ।।५।।

दूसरे दिन अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है और साधारण दृष्टि के समान आहुति देता है। यह वही है तो अग्नि विष्णु की दीक्षणीय हवि है। अग्नि ही देवता है। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए हवि दी जाती है। अग्नि ही निचला भाग है सब और विष्णु ऊपरी भाग। वह सोचता है कि सब देवताओं को ग्रहण करके और सब यज्ञ को ग्रहण करके ही मैं दीक्षित होऊँ, इसलिए ११ कपालों का पुरोडाश अग्नि और विष्णु के लिए होता है। इसकी दक्षिणा सोना है। यह यज्ञ अग्नि का होता है। सोना अग्नि का वीर्य है। जो विष्णु है वही यज्ञ है। अग्नि ही यज्ञ है। यह अग्नि का ही है, इसलिए सोना ही

तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा ॥६॥ अथ श्वो भूते । अग्नीषोमीयमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति तेन यथेष्ट्यैवं यजतऽएतेन वाऽइन्द्रो वृत्रमहन्नेतेनोऽएव व्यजयत या-स्येयं विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति तथोऽएव विजयते विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सूयाऽइति तस्मादग्नीषोमीय एकादशकपालः पुरो-डाशो भवति तस्योत्सृष्टो गौर्दक्षिणोत्सर्जं वाऽअमुं चन्द्रमसं घ्नन्ति पौर्णमासेनाह्व घ्नन्त्यामावास्येनोत्सृजन्ति तस्मादुत्सृष्टो गौर्दक्षिणा ॥७॥ अथ श्वो भूते । ऐन्द्राग्नं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति तेन यथेष्ट्यैवं यजते यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्त-दस्य भीतस्येन्द्रियं वीर्यमपचक्राम स एतेन हविषेन्द्रियं वीर्यं पुनरात्मन्नधत्त त-थोऽएवैष एतेन हविषेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते तेजो वाऽअग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र उभे वीर्ये परिगृह्य सूयाऽइति तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति तस्यऽर्षभोऽनड्वान्दक्षिणा स हि वहेनाग्नेय आण्डाभ्यामैन्द्रस्तस्मादृषभोऽनड्वान्द-क्षिणा ॥८॥ अथाग्रयणेष्ट्या यजते । सर्वान्वाऽएष यज्ञक्रतूनवरुन्द्धे सर्वा इष्टीर-पि दर्विहोमान्यो राजसूयेन यजते देवसृष्टो वाऽएषेष्टिर्यदाग्रयणेष्टिरनया मेऽपी-ष्टमसदनयापि सूयाऽइति तस्मादाग्रयणेष्ट्या यजतऽओषधीर्वाऽएष सूयमानोऽभि सूयते तदोषधीरेवैतदनमीवा अकिल्विषाः कुरुतेऽनमीवा अकिल्विषा ओषधी-रभि सूयाऽइति तस्य गौर्दक्षिणा ॥९॥ अथ चातुर्मास्यैर्यजते । सर्वान्वाऽएष य-ज्ञक्रतूनवरुन्द्धे सर्वा इष्टीरपि दर्विहोमान्यो राजसूयेन यजते देवसृष्टो वाऽएष यज्ञक्रतुर्यच्चातुर्मास्यान्येभिर्मेऽपीष्टमसदेभिरपि सूयाऽइति तस्माच्चातुर्मास्यैर्यजते ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥२ [२. ३.] ॥॥

वैश्वदेवेन यजते । वैश्वदेवेन वै प्रजापतिर्भूमानं प्रजाः ससृजे भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा सूयाऽइति तथोऽएवैष एतद्वैश्वदेवेनैव भूमानं प्रजाः सृजते भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा सूयाऽइति ॥१॥ अथ वरुणप्रघासैर्यजते । वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः प्रजा व-

इसकी दक्षिणा है ॥६॥

अब दूसरे दिन अग्नि और सोम के लिए ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है और साधारण इष्टि के समान आहुति देता है। इसी से इन्द्र ने वृत्र को मारा था और इसी से उसने वह विजय प्राप्त की, जो उसको प्राप्त है। इसी प्रकार यह (राजा, यजमान) भी पापी शत्रु को मारता है और विजय प्राप्त करता है। वह सोचता है कि अभय और शत्रु-रहित होकर दीक्षित होऊँ। इसलिए अग्नि-सोम के लिए ११ कपालों का पुरोडाश होता है। इस यज्ञ की दक्षिणा यही है कि एक गाय छोड़ दी जाय (मुक्त कर दी जाय। शायद साँड?)। उस चन्द्रमा को मुक्त करके ही मारते हैं। पूर्णमासी को मारते हैं और अमावस्या को मुक्त करते हैं (स्पष्ट नहीं है?) इसलिए दक्षिणा में गौ को मुक्त किया जाता है ॥७॥

अब अगले दिन इन्द्र और अग्नि के लिए १२ कपालों का पुरोडाश बनाता है और उसको साधारण इष्टि के समान आहुति देता है। जब इन्द्र ने वृत्र को मारा, तो उससे पराक्रम और वीर्य डरकर भाग गये। और इसी हवि के द्वारा उसने पराक्रम और वीर्य को फिर जीता। इसी प्रकार यह भी इस हवि के द्वारा पराक्रम और वीर्य को धारण करता है। अग्नि तेज है और इन्द्र पराक्रम तथा वीर्य। वह सोचता है कि दोनों वीर्यों को ग्रहण करके दीक्षित होऊँ। इसलिए इन्द्र और अग्नि का १२ कपालों को पुरोडाश होता है। इसकी दक्षिणा एक साँड है। वह कन्धों में तो अग्नि के समान है और अण्डकोषों में इन्द्र के। इसलिए इसकी दक्षिणा साँड है ॥८॥

अब वह अग्रयणी इष्टि करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है, वह अपने लिए सब यज्ञों को, सब इष्टियों को और दर्विहोमों को भी प्राप्त कर लेता है। अग्रयणी इष्टि वस्तुतः देवों की सूजी हुई है। वह सोचता है कि इस इष्टि को भी कर लूँ तब दीक्षित होऊँ। इसलिए वह अग्रयणी इष्टि को करता है। जो राजसूय करता है वह ओषधियों के लिए करता है। इसलिए वह ओषधियों को रोगरहित और निर्दोष कर देता है। वह सोचता है कि मैं निर्दोष ओषधियों के लिए दीक्षित होऊँ। इसकी दक्षिणा एक गौ है ॥९॥

अब वह चातुर्मास्य यज्ञ करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब यज्ञों व सब इष्टियों को और दर्विहोमों को प्राप्त कर लेता है। यह जो चातुर्मास्य यज्ञ है, वह देवों के द्वारा सूजा हुआ है। वह यह सोचकर चातुर्मास्य यज्ञ करता है कि इस यज्ञ को करके भी दीक्षित हो जाऊँ ॥१०॥

वैश्वदेवादिपर्वाणि, पञ्चवातीयहोमविध्यादिकथनम्

अध्याय २—ब्राह्मण ४

वह वैश्वदेव यज्ञ करता है। वैश्वदेव यज्ञ द्वारा ही प्रजापति ने बहुत प्रजा बनाई, यह सोचकर कि बहुत प्रजा बनाकर मैं दीक्षित हो जाऊँ। वह भी यही सोचकर वैश्वदेव यज्ञ करता है कि बहुत प्रजा बनाकर दीक्षित हो जाऊँ ॥१॥

अब वह वरुणप्रघास यज्ञ करता है। वरुणप्रघास यज्ञ करके ही प्रजापति ने प्रजा को

रुणपाशात्प्रामुञ्चत्ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजा प्राजायन्तानमीवा अकिल्बि-
षाः प्रजा अभि सूयाऽइति तथो एवैष एतद्वरुणप्रघासैरेव प्रजा वरुणपाशात्प्र-
मुञ्चति ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्रजायन्तेऽनमीवा अकिल्बिषाः प्र-
जा अभि सूयाऽइति ॥२॥ अथ साकमेधैर्यजते । साकमेधैर्वै देवा वृत्रमघ्नंस्तैर्वेव
व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति
तथोऽएव विजयते विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सूयाऽइति ॥३॥ अथ शुनासीर्येण यजते ।
उभौ रसौ परिगृह्य सूयाऽइत्यथ पञ्चवातीयꣳ स पञ्चधाहवनीयं व्युह्य स्रुवेणो-
पघातं जुहोति ॥४॥ स पूर्वार्द्धे जुहोति । अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वा-
हेत्यथ दक्षिणार्द्धे जुहोति यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहेत्यथ पश्चार्द्धे
जुहोति विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहेत्यथोत्तरार्द्धे जुहोति मित्रा-
वरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहेत्यथ मध्ये जुहोति
सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहेति ॥५॥ अथ सार्द्धꣳ समुह्य
जुहोति । ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणास-
दस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्राव-
रुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दु-
वस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहेति तद्यदेवं जुहोति ॥६॥ यत्र वै देवाः । साकमेधैर्व्यजयन्त
येयमेषां विजितिस्तां तद्धोचुरुत्पिबन्ते वाऽइमानि दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ते-
भ्यो वज्रं प्रहरामेति वज्रो वाऽआज्यं तऽएतेन वज्रेणाज्येन दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳ-
स्यवाघ्नंस्ते व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येन दिक्षु
नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवहन्ति तथोऽएव विजयते विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सूयाऽइति ॥७॥
अथ यदेता अपराः पञ्चाहुतीर्जुहोति । क्षण्वन्ति वाऽएतदग्नेर्विवृहन्ति यत्पञ्चधा-
हवनीयं व्यूहन्ति तदेवास्यैतेन संदधाति तस्मादेता अपराः पञ्चाहुतीर्जुहोति

वरुणपाश से छुड़ाया और वे तन्दुरुस्त और दोषरहित उत्पन्न हो सके। उसने सोचा कि तन्दुरुस्त और दोषरहित प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ। इसी प्रकार यह भी सोचता है कि स्वस्थ और रोगरहित प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ। इसलिए वरुणप्रघास यज्ञ करता है कि प्रजा को वरुण के पाश से मुक्त कर सके ।।२।।

अब साकमेध यज्ञ करता है। साकमेध के द्वारा ही देवों ने वृत्र को मारा और उसी से उन्होंने वह विजय प्राप्त की जो उनको प्राप्त है। वह भी इस प्रकार अपने शत्रुओं को मारता है और विजय प्राप्त करता है यह सोचकर कि जब शान्ति और रक्षा स्थापित हो जाये तो, मैं दीक्षित होऊँ ।।३।।

अब शुनासीर्य यज्ञ करता है। यह सोचकर कि दोनों रसों को प्राप्त करके दीक्षित होऊँ। अब पंचवातीय यज्ञ है। अग्नि को फूंककर पाँच भाग करके, स्रुवा से पाँच भाग करके आहुति देता है ।।४।।

इस मन्त्र से पहले आधे भाग में आहुति देता है—"अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा" (यजु० ९।३५)—"पूर्व में बैठे हुए अग्नि के समान नेत्रवाले देवों के लिए स्वाहा।" अब दक्षिण के आधे भाग में इस मन्त्र से आहुति देता है—"यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा" (यजु० ९।३५)—"दक्षिण में बैठे हुए यम के समान नेत्रवाले देवों के लिए स्वाहा।" अब पश्चिम के आधे भाग में आहुति देता है—"विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा" (यजु० ९।३५)—"पश्चिम में बैठे हुए विश्वदेव नेत्रवाले देवों के लिए स्वाहा।" अब उत्तर के आधे भाग में आहुति देता है—"मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुनेत्रेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहा" (यजु० ९।३५)—"उत्तर में बैठे हुए मित्रावरुण या मरुत् के-से नेत्रवाले देवों के लिए स्वाहा।" अब बीच में आहुति देता है—"सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा" (यजु० ९।३५)—"ऊपर बैठे हुए पूज्य सोम के-से नेत्रवाले देवों के लिए स्वाहा" ।।५।।

अब फिर फूंककर आहुतियाँ देता है—"ये देवा ऽ अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा। ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा। ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा। ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा। ये देवाः सोमनेत्रा ऽ उपरिसदो दुवस्यन्त-स्तेभ्यः स्वाहा" (यजु० ९।३६) ।।६।।

जब देवों ने साकमेध यज्ञ द्वारा उस विजय को पाया, जो उनको प्राप्त है, तो उन्होंने कहा कि दुष्ट राक्षस सब दिशाओं में (प्राणियों के जीवन को) पी रहे हैं, इन पर वज्र मारना चाहिए। घी वज्र है। इसी वज्र से उन्होंने सब दिशाओं में राक्षसों को मार दिया और उस विजय को पा लिया जो उनको प्राप्त है। इसी प्रकार यह यजमान भी इसी घी रूपी वज्र द्वारा सब दिशाओं में राक्षसों को मारता है, और विजय प्राप्त करता है, वह सोचता है कि सुरक्षित होकर दीक्षित होऊँ ।।७।।

ये पाँच आहुतियाँ क्यों देता है? यह जो आग को फूंककर पाँच भाग करता है, उसमें अग्नि क्षीण हो जाती है। ये पाँच आहुतियाँ इसलिए देता है कि इनसे अग्नि ठीक हो जाती है ।।८।।

॥८॥ तस्य प्रष्टिवाहनोऽश्वरथो दक्षिणा । त्रयोऽश्वा द्वौ सव्यष्ठसारथी ते पञ्च प्राणा यो वै प्राणः स वातस्तद्यदेतस्य कर्मण एषा दक्षिणा तस्मात्पञ्चवातीयं नाम ॥९॥ स हैतेनापि भिषज्येत् । अयं वै प्राणो योऽयं पवते यो वै प्राणः स आयुः सोऽयमेक-इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टो दशधा विहितो दश वाऽएता आहुतीर्जुहोति तदस्मिन्दश प्राणान्कृत्स्नमेव सर्वमायुर्दधाति स यद्या-पि गतासुरिव भवत्या हैवैनेन हरति ॥१०॥ अथेन्द्रतुरीयम् । आग्नेयोऽष्टाक-पालः पुरोडाशो भवति वारुणो यवमयश्चरू रौद्रो गावेधुकश्चरुरनडुह्यै वहला-याऽऐन्द्रं दधि तेनेन्द्रतुरीयेण यजतऽइन्द्राग्नीऽउ हैवैतत्समूदातेऽउत्पिबन्ते वाऽइमानि दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्तेभ्यो वज्रं प्रहरावेति ॥११॥ स हाग्निरुवाच । त्रयो मम भागाः सन्त्वेकस्तवेति तथेति तावेतेन हविषा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳ-स्यवाहतां तौ व्यजयेतां यैनयोरियं विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन हविषा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवहन्ति तथोऽएव विजयते विजितेऽभये ऽनाष्ट्रे सूयाऽइति ॥१२॥ स य एष आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । सोऽग्नेरेको भागोऽथ यद्वारु-णो यवमयश्चरुर्भवति यो वै वरुणः सोऽग्निः सोऽग्नेर्द्वितीयो भागोऽथ यद्रौद्रो गावेधुकश्चरुर्भवति यो वै रुद्रः सोऽग्निः सोऽग्नेस्तृतीयो भागोऽथ यद्गावेधुको भ-वति वास्तव्यो वाऽएष देवो वास्तव्या गवेधुकास्तस्माद्गावेधुको भवत्यथ यद-नडुह्यै वहलायाऽऐन्द्रं दधि भवति स इन्द्रस्य चतुर्थो भागो यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं तस्मादिन्द्रतुरीयं नाम तस्यैषैवानडुही वहला दक्षिणा सा हि वहेनाग्नेय्यग्निद-ग्धमिव ह्यस्यै वहं भवत्यथ यत्स्त्री सती वहत्यधर्मेणा तदस्यै वारुणꣳ रूपमथ यद्गौस्तेन रौद्र्यथ यदस्याऽऐन्द्रं दधि तेनैन्द्र्येषा हि वाऽएतत्सर्वं व्यश्नुते तस्मादे-षैवानडुही वहला दक्षिणा ॥१३॥ अथापामार्गहोमं जुहोति । अपामार्गैर्वै दे-वा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपामृजत ते व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष

इसकी दक्षिणा दो घोड़ों का रथ और एक घोड़ा है। तीन घोड़े और दो सवार तथा रथवान ये पाँच प्राण हुए। प्राण वही है जो वायु है। चूंकि उसकी ऐसी दक्षिणा है, इसलिए इसको पंचवातीय यज्ञ कहते हैं ॥९॥

इस यज्ञ से रोग का इलाज भी होता है। यह जो वायु चलती है यही प्राण है। जो प्राण है वही आयु है। वायु तो एक ही है, पर जब वह मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होती है, तो इसके दस रूप हो जाते हैं। वह दस आहुति देता है। इस प्रकार वह उसको दस प्राण और पूर्ण आयु देता है। यदि कोई ऐसा हो जिसके प्राण निकल गये हों तो वह इनको वापस बुला लेता है ॥१०॥

अब इन्द्रतुरीय यज्ञ है। अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश होता है—वरुण के लिए जौ का चरु, रुद्र के लिए गावेधुक चरु (एक अन्न का नाम गावेधुक है), और इन्द्र के लिए गाड़ी में जुतनेवाली गाय के दही का भाग। इस प्रकार इन्द्रतुरीय यज्ञ होता है। इन्द्र और अग्नि ने ही परामर्श किया था कि ये राक्षस सब दिशाओं में (प्राणियों की आयु को) पिये जाते हैं। इनके ऊपर वज्र चलाना चाहिए ॥११॥

अग्नि ने कहा, 'तीन भाग मेरे और एक भाग तेरा।' (उसने कहा) 'अच्छा।' इन दोनों ने इस हवि के द्वारा दिशाओं में दुष्ट राक्षसों को मारा और उस विजय को प्राप्त किया जो उनको प्राप्त है। इसी प्रकार यह यजमान भी इस हवि के द्वारा दिशाओं में दुष्ट राक्षसों को मारता है और विजय को प्राप्त होता है यह सोचकर कि सुरक्षित होकर ही मैं दीक्षित होऊँ ॥१२॥

आठ कपालों पर जो अग्नि का पुरोडाश है, वह अग्नि का पहला भाग है और जो वरुण का जौ का चरु है, वह अग्नि का दूसरा भाग है; क्योंकि जो अग्नि है वही वरुण है। और जो रुद्र का गावेधुक चरु है, वह अग्नि का तीसरा भाग है; क्योंकि रुद्र ही अग्नि है। गावेधुक का चरु क्यों होता है ? यह देव (रुद्र) बची-खुची का खानेवाला है और गावेधुक घास बची-खुची के तुल्य है, अतः गावेधुक घास का बनाते हैं। और जो गाड़ी में जुती हुई गाय का दही है, वह इन्द्र का चतुर्थ भाग है, क्योंकि तुरीय का अर्थ है चतुर्थ। इसलिए इस यज्ञ को इन्द्रतुरीय कहते हैं। वही गाड़ी में जुती हुई गाय उसकी दक्षिणा है। अपने कन्धे के हिसाब से वह अग्नि का भाग है; क्योंकि अग्नि से दग्ध हुई के समान है। स्त्रीजाति होने से वह वरुण का अंश है; क्योंकि गाड़ी को अनुचित रीति से खींचती है। चूंकि वह गाय है इसलिए रुद्र का रूप है; और चूंकि उससे दही निकलता है, इसलिए वह इन्द्र का रूप है। इस गाय से सब चीजों की प्राप्ति होती है, इसलिए जुतनेवाली गाय ही इसकी दक्षिणा है ॥१३॥

अब वह अपामार्ग होम करता है। अपामार्ग से ही देवों ने सब दिशाओं में दुष्ट राक्षसों को मारा और वह विजय लाभ की, जो उनको प्राप्त है। इसी प्रकार इस होम के द्वारा यह

एतदपामार्गैरेव दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यपमृष्टे तथोऽएव विजयते विजितेऽभयेऽना-
ष्ट्रे सूयाऽइति ॥१४॥ स पालाशे वा स्रुवे वैकङ्कते वा । अपामार्गतण्डुलाना-
दत्तेऽन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते तेन प्राञ्चो वोदञ्चो वा यन्ति तदग्निᳬ समा-
धाय जुहोति ॥१५॥ स उल्मुकमादत्ते । अग्ने सहस्व पृतना इति युधो वै पृत-
ना युधः सहस्वेत्येवैतदाहाभिमातीरपास्येति सपत्नो वाऽअभिमातिः सपत्नमपज-
हीत्येवैतदाह दुष्टरस्तरन्नरातीरिति दुस्तरो ह्येष रक्षोभिर्नाष्ट्राभिस्तरन्नरातीरिति
सर्वᳬ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तरन्नरातीरिति वर्चो धा यज्ञवाहसीति
साधु यजमाने दधदित्येवैतदाह ॥१६॥ तदग्निᳬ समाधाय जुहोति । देवस्य त्वा
सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुपाᳬशोर्वीर्येण जुहोमीति यज्ञ-
मुखं वाऽउपाᳬशुर्यज्ञमुखेनैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳬसि हन्ति हतᳬ रक्षः स्वाहेति तन्ना-
ष्ट्रा रक्षाᳬसि हन्ति ॥१७॥ स यदि पालाशः स्रुवो भवति । ब्रह्म वै पलाशो
ब्रह्मणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳬसि हन्ति यद्यु वैकङ्कतो वज्रो व विकङ्कतो वज्रेणैवैतन्ना-
ष्ट्रा रक्षाᳬसि हन्ति रक्षसां त्वा वधायेति तन्नाष्ट्रा रक्षाᳬसि हन्ति ॥१८॥ स यदि
प्राङ्ङिवा जुहोति । प्राञ्चᳬ स्रुवमस्यति यद्युदङ्ङिवा जुहोत्युदञ्चᳬ स्रुवमस्यत्यवधि-
ष्म रक्ष इति तन्नाष्ट्रा रक्षाᳬसि हन्ति ॥१९॥ अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति । स हैते-
नापि प्रतिसरं कुर्वीत स यस्यां ततो दिशि भवति तत्प्रतीत्य जुहोति प्रतीची-
नफलो वाऽअपामार्गः स यो हास्मै तत्र किंचित्करोति तमेव तत्प्रत्यग्धूर्वति
तस्य नामादिशेदवधिष्मामुमसौ हत इति तन्नाष्टा रक्षाᳬसि हन्ति ॥२०॥ ब्राह्म-
णम् ॥३ [२. ४.] ॥॥

आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति । ऐन्द्रावैष्णवं चरुं वैष्णवं त्रि-
कपालं वा पुरोडाशं चरुं वा तेन त्रिषंयुक्तेन यजते पुरुषानेतद्देवा उपायंस्तथो
ऽएवैष एतत्पुरुषानिर्वपेति ॥१॥ स यदाग्नावैष्णवः । एकादशकपालः पुरोडाशो

(यजमान भी) दिशाओं में राक्षसों को मारता है और सोचता है कि सुरक्षित होकर मैं दीक्षित होऊँ ॥१४॥

वह अपामार्ग-तण्डुलों को या तो पलाश के स्रुवा में लेता है, या वैकङ्कत के स्रुवा में। अन्वाहार्यपचन अग्नि में से वह जलती हुई लकड़ी को लेता है और उसको लेकर पूर्व या उत्तर को चलता है और वहाँ अग्नि का आधान करके आहुति देता है ॥१५॥

वह जलती लकड़ी को इस वेदमन्त्र से लेता है—"अग्ने सहस्व पृतनाः (यजु० ६।३७; ऋ० ३।२४।१)—"हे अग्नि, युद्धों को सामना कर।" 'पृतना' का अर्थ है युद्ध, अर्थात् युद्धों का सामना कर। "अभिमातीरपास्य" (यजु० ६।३७)—"बुरों को दूर कर।" 'अभिमाति' का अर्थ है शत्रु। तात्पर्य यह है कि शत्रुओं को मार। "दुष्टरस्तरन्नरातीः" (यजु० ६।३७)—"दुर्जेय और शत्रुओं को जीतनेवाला।" वस्तुतः यह राक्षसों और शत्रुओं से दुर्जेय है (वे इसको जीत नहीं सकते), और बुरों को जीतनेवाला है, क्योंकि वह सब पाप को जीतता है। "वर्चो धा यज्ञ-वाहसि" (यजु० ६।३७) "अन्न का धारण करनेवाला और यज्ञ का ले-जानेवाला है।" इसका अर्थ है कि यजमान का कल्याण करता है ॥१६॥

अब अग्नि का आधान करके आहुति देता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुपाँशोर्वीर्येण जुहोमि" (यजु० ६।३८)—"सविता देव की प्रेरणा से अश्विन के बाहु और पूषा के हाथों से और उपांशु के पराक्रम से आहुति देता हूँ।" उपांश (सोम-ग्रह) यज्ञ का मुख है। यज्ञ के मुख से दुष्ट राक्षसों को मारता है। "हतँ रक्षः स्वाहा" (यजु० ६।३८)—"राक्षस मारा गया।" इससे राक्षसों को मारता है ॥१७॥

अगर स्रुवा पलाश का हो तो पलाश ब्रह्म है। ब्रह्म से ही दुष्ट राक्षस को मारता है। वैकङ्कत लकड़ी का हो तो वैकङ्कत वज्र है। वज्र से ही दुष्ट राक्षसों को मारता है। "रक्षसां त्वा वधाय" (यजु० ६।३८)—"तुझको राक्षसों के वध के लिए।" इससे दुष्ट राक्षसों को मारता है ॥१८॥

यदि पूर्व की ओर चलकर आहुति देता है, तो स्रुवा को पूर्व की ओर फेंक देता है। यदि उत्तर की ओर चलकर आहुति देता है, तो उत्तर की ओर फेंकता है। "अवधिष्म रक्षः" (यजु० ६।३८)—"हमने राक्षस को मार डाला।" इससे दुष्ट राक्षसों को मारता है ॥१९॥

अब बिना पीछे की ओर देखे ही लौटते हैं। इससे भी वह प्रतीकार करता है। उसकी, जिस दिशा में शत्रु है, उसी ओर आहुति देता है। अपामार्ग का फल उल्टा होता है। जो कोई उसके साथ बुराई करता है, उसके साथ वह उल्टा ही करता है। "अवधिष्मामुमसौ हतः" (यजु० ६।३८)—"हमने अमुक को मारा। अमुक मारा गया।" इस प्रकार वह दुष्ट राक्षसों को मारता है ॥२०॥

त्रिषंयुक्तेष्टिः, द्विहविष्केष्टिश्च

अध्याय २—ब्राह्मण ५

अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है। इन्द्र और विष्णु के लिए चरु, तीन कपालों का पुरोडाश या चरु विष्णु के लिए। इनसे 'विषयुक्त' यज्ञ करता है। इसी से देवों ने मनुष्यों को पाया। इसी प्रकार यह (राजा) भी मनुष्यों को पाता है ॥१॥

अग्निविष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश क्यों? अग्नि दाता है। पुरुष वैष्णव

भवत्यग्निर्वै दाता वैष्णवाः पुरुषास्तदस्मा ऽअग्निर्दाता पुरुषान्ददाति ॥२॥ अथ यदैन्द्रावैष्णवः । चरुर्भवतीन्द्रो वै यजमानो वैष्णवाः पुरुषास्तदस्मा ऽअग्निर्दाता पुरुषान्ददाति तैरेवैतत्सᳬस्पृशते तानात्मन्कुरुते ॥३॥ अथ यद्वैष्णवः । त्रिकपालो वा पुरोडाशो भवति चरुर्वा यानेवास्मा ऽअग्निर्दाता पुरुषान्ददाति तेष्वेवैतदन्ततः प्रतितिष्ठति यद्वै पुरुषवान्कर्म चिकीर्षति शक्नोति वै तत्कर्तुं तत्पुरुषानेवैतदुपैति पुरुषवान्त्सूया ऽइति तस्य वामनो गौर्दक्षिणा स हि वैष्णवो यद्वामनः ॥४॥ अथापरेण त्रिषंयुक्तेन यजते । स आग्नापौष्णमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यैन्द्रापौष्णं चरुं पौष्णं चरुं तेन त्रिषंयुक्तेन यजते पशूनेव तद्देवा उपायंस्तथो ऽएवैष एतत्पशूनेवोपैति ॥५॥ स यदाग्नापौष्णः । एकादशकपालः पुरोडाशो भवत्यग्निर्वै दाता पौष्णाः पशवस्तदस्मा ऽअग्निरेव दाता पशून्ददाति ॥६॥ अथ यदैन्द्रापौष्णः । चरुर्भवतीन्द्रो वै यजमानः पौष्णाः पशवः स यानेवास्मा ऽअग्निर्दाता पशून्ददाति तैरेवैतत्सᳬस्पृशते तानात्मन्कुरुते ॥७॥ अथ यत्पौष्णः । चरुर्भवति यानेवास्मा ऽअग्निर्दाता पशून्ददाति तेष्वेवैतदन्ततः प्रतितिष्ठति यद्वै पशुमान्कर्म चिकीर्षति शक्नोति वै तत्कर्तुं तत्पशूनेवैतदुपैति पशुमान्त्सूया ऽइति तस्य श्यामो गौर्दक्षिणा स हि पौष्णो यच्छ्यामो द्वे वै श्यामस्य रूपे शुक्लं चैव लोम कृष्णं च द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं प्रजननं वै पूषा पशवो हि पूषा पशवो हि प्रजननं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्माच्छ्यामो गौर्दक्षिणा ॥८॥ अथापरेण त्रिषंयुक्तेन यजते । सोऽग्नीषोमीयमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यैन्द्रासौम्यं चरुᳬ सौम्यं चरुं तेन त्रिषंयुक्तेन यजते वर्च एव तद्देवा उपायंस्तथो ऽएवैष एतद्वर्च एवोपैति ॥९॥ स यदग्नीषोमीयः । एकादशकपालः पुरोडाशो भवत्यग्निर्वै दाता वर्चः सोमस्तदस्मा ऽअग्निरेव दाता वर्चो ददाति ॥१०॥ अथ यदैन्द्रासौम्यः । चरुर्भवतीन्द्रो वै यजमानो वर्चः सोमः स यदेवास्मा ऽअग्निर्दाता वर्चो ददाति तेनैवैत-

(विष्णु के) हैं। इस प्रकार दाता अग्नि उस (राजा) को पुरुष देता है ॥२॥

अब इन्द्र-विष्णु का चरु क्यों होता है ? इन्द्र यजमान है। पुरुष वैष्णव (विष्णु के) हैं। अग्निदाता इस (राजा) को पुरुष देता है। वह पुरुषों के संसर्ग में आता है और उनको अपना लेता है ॥३॥

अब विष्णु का तीन कपालों का पुरोडाश या चरु क्यों होता है ? अग्नि इसको (राजा) जो आदमी देता है उन्हीं के बीच में वह प्रतिष्ठित होता है और उनसे जो काम चाहे ले सकता है। वह पुरुषों को प्राप्त होता है यह सोचकर कि पुरुषों को प्राप्त होकर ही मैं दीक्षित होऊँ। बौना बैल इसकी दक्षिणा है, क्योंकि बौना विष्णु का है ॥४॥

अब दूसरी 'त्रिषंयुक्त' आहुति देता है। अब अग्नि और पूषा के लिए ११ कपालों का पुरोडाश, इन्द्र और पूषा के लिए चरु, पूषा के लिए चरु। अब 'त्रिषंयुक्त' यज्ञ करता है, इससे देवों ने पशुओं को पाया। इसी प्रकार यह भी पशुओं को प्राप्त करता है ॥५॥

अग्नि-पूषा के लिए ११ कपालों का पुरोडाश क्यों देता है ? अग्नि दाता हैं। पशु पूषा के हैं। अग्निदाता उसको पशु देता है ॥६॥

इन्द्र और पूषा के लिए चरु क्यों होता है। यजमान इन्द्र है। पशु पूषा के हैं। अग्निदाता उसको पशु देता है। वह पशुओं के संसर्ग में आता है और उनको अपनाता है ॥७॥

पूषा का चरु क्यों होता है ? दाता अग्नि इसको जो-जो पशु देता है, उन्हीं में वह प्रतिष्ठित होता है। और जो कोई काम उन पशुओं से ले सकता है, लेता है। वह पशुओं को प्राप्त होता है यह सोचकर कि "पशुओं को प्राप्त होकर दीक्षित होऊँ।" इसकी दक्षिणा श्याम-वर्ण का बैल है। श्यामवर्ण पूषा का है। श्याम के दो रूप हैं—एक सफेद (बाल) और दूसरे कृष्णलोम। द्वन्द्व का अर्थ है उत्पत्ति करनेवाला जोड़ा। पूषा उत्पादक है। पशु ही पूषा है। जोड़े से ही उत्पत्ति होती है, इसलिए यज्ञ की दक्षिणा श्याम बैल है ॥८॥

अब दूसरी 'त्रिषंयुक्त' आहुति देता है। वह अग्नि-सोम के लिए ११ कपाल, इन्द्र-सोम के लिए चरु, सोम के लिए चरु। इससे 'त्रिषंयुक्त' यज्ञ करता है। देवों ने इसी के द्वारा वर्चस् की प्राप्ति की। वह भी उससे वर्चस् की प्राप्ति करता है ॥९॥

अग्नि और सोम के लिए ११ कपालों का पुरोडाश क्यों देता है ? अग्नि दाता है, सोम वर्चस् है। अग्निदाता उसको वर्चस् देता है ॥१०॥

इन्द्र और सोम का चरु क्यों होता है ? इन्द्र यजमान है, सोम वर्चस् है। अग्निदाता

त्सꣳस्पृशते तदात्मन्कुरुते ॥११॥ अथ यत्सौम्यः । चरुर्भवति यद्वेवास्माऽअग्निर्दाता वर्चो ददाति तस्मिन्नेवैतदन्ततः प्रतितिष्ठति यद्वै वर्चस्वी कर्म चिकीर्षति शक्नोति वै तत्कर्तुं तद्वर्च एवैतदुपैति वर्चस्वी स्यामिति नो ह्यवर्चसो व्यात्या चनार्योऽस्ति तस्य बभ्रुर्गौर्दक्षिणा स हि सौम्यो यद्बभ्रुः ॥१२॥ अथ श्वो भूते । वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति वारुणं यवमयं चरुं ताभ्यामनूचीनाह्ने वेष्टिभ्यां यजते समानबर्हिर्भ्यां वा ॥१३॥ स यद्वैश्वानरो भवति । संवत्सरो वै वैश्वानरः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरिव तद्भूमानं प्रजाः ससृजे भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा स्यामिति तथोऽएवैष एतद्भूमानं प्रजाः सृजते भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा स्याऽइति ॥२४॥ अथ यद्द्वादशकपालो भवति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो वैश्वानरस्तस्माद्द्वादशकपालो भवति ॥१५॥ अथ यद्वारुणो यवमयश्चरुर्भवति । तत्सर्वस्मादेवैतद्वरुणपाशात्सर्वस्माद्वरुण्यात्प्रजाः प्रमुञ्चति ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायन्तेऽनमीवा अकिल्विषाः प्रजा अभि स्याऽइति ॥१६॥ ऋषभो वैश्वानरस्य दक्षिणा । संवत्सरो वै वैश्वानरः संवत्सरः प्रजापतिर्ऋषभो वै पशूनां प्रजापतिस्तस्मादृषभो वैश्वानरस्य दक्षिणा कृष्णं वासो वारुणस्य तद्धि वारुणं यत्कृष्णं यदि कृष्णं न विन्देदपि यदेव किं च वासः स्याद्ग्रन्थिभिर्हि वासो वारुणं वरुण्यो हि ग्रन्थिः ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४ [२. ५.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [३२.] ॥ ॥

अरण्योरग्नी समारोह्य । सेनान्यो गृहान्परेत्याग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपत्यग्निर्वै देवतानामनीकꣳ सेनाया वै सेनानीरनीकं तस्मादग्नयेऽनीकवतऽएतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यत्सेनानीस्तस्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रमिणं कुरुते तस्य हिरण्यं दक्षिणाग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा ॥१॥ अथ श्वो भूते । पुरोहितस्य गृहान्परेत्य बार्हस्पत्यं

उसको वर्चस् देता है। वह उसी के संसर्ग में आता है, उसी को अपनाता है ।।११।।

सोम के लिए चरु क्यों होता है? अग्निदाता उसको जो कुछ वर्चस् देता है उसी में वह प्रतिष्ठित है। जो वर्चस्वी कर्म चाहता है, करा लेता है। वह वर्चस् को प्राप्त होता है, यह सोचकर कि वर्चस्वी होकर दीक्षित होऊँ। क्योंकि जो वर्चस्वी नहीं उसको सफलता भी नहीं। इसकी दक्षिणा भूरा बैल है। भूरा रंग सोम का है ।।१२।।

अब अगले दिन वैश्वानर के लिए १२ कपालों का पुरोडाश बनाता है, वरुण के लिए जौ का चरु। इन दोनों आहुतियों को वह क्रमशः दो दिन में देता है या एक ही बर्हि के साथ अर्थात् एक ही दिन (अब बर्हि बदलने न पड़ेंगे क्योंकि यज्ञ के भिन्न-भिन्न दिनों में भिन्न-भिन्न बर्हि प्रयुक्त करने पड़ते हैं) ।।१३।।

यह वैश्वानर का क्यों होता है? संवत्सर वैश्वानर है। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति ने बहुत प्रजा उत्पन्न की यह सोचकर कि मैं प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ। इसी प्रकार यह भी बहुत प्रजा उत्पन्न करता है और सोचता है कि बहुत प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ ।।१४।।

१२ कपाल क्यों होत हैं? संवत्सर के १२ मास होते हैं। संवत्सर वैश्वानर है। इसलिए १२ कपाल होते हैं ।।१५।।

वरुण का जौ का चरु क्यों होता है? इसके द्वारा वरुण के सब पाशों को या वरुण-सम्बन्धी सब बातों से (all criminal tendencies) प्रजा को छुड़ा देता है। इससे रोग-रहित और दोषरहित प्रजा उत्पन्न होती है। वह सोचता है कि रोगरहित और दोषारहित प्रजा को पाकर मैं दीक्षित होऊँ ।।१६।।

वैश्वानर यज्ञ की दक्षिणा सांड है। संवत्सर वैश्वानर है। संवत्सर प्रजापति है। सांड पशुओं का प्रजापति है। इसलिए वैश्वानर यज्ञ की दक्षिणा सांड है। वरुण के लिए काला कपड़ा है। जो कुछ वरुण का है (criminal) वह काला है। यदि काला कपड़ा न मिले तो जैसा मिले। गाँठ के कारण कपड़ा वरुण का हो जाता है; क्योंकि गाँठ का वरुण से सम्बन्ध है ।।१७।।

रत्नहविरिष्टिः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

अरणी और उत्तराणी लकड़ियों में (गार्हपत्य और आहवनीय) दोनों अग्नियों को लेकर सेनानी (मुख्य सेनापति) के गृह को जाता है और 'अनीकवत् अग्नि' के लिए आठ कपालों का पुरोडाश बनाता है। अग्नि देवताओं का 'अनीक' अर्थात् शिरोमणि है और सेनानी सेना का शिरोमणि है, इसलिए 'अनीकवत् अग्नि के लिए'। सेनानी राजा का एक रत्न है। उसी के लिए वह दीक्षित होता है, और उसको अपना अनुयायी बना लेता है। इसकी दक्षिणा स्वर्ण है। यह यज्ञ अग्नि का है, सोना अग्नि का वीर्य है, इसलिए स्वर्ण ही दक्षिणा है ।।१।।

दूसरे दिन पुरोहित के घर पर जाकर बृहस्पति के चरु को बनाता है। बृहस्पति देवों का

चरुं निर्वपति बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहित एष वाऽएतस्य पुरोहितो भवति तस्माद्बार्हस्पत्यो भवत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यत्पुरोहितस्तस्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रमिणं कुरुते तस्य शितिपृष्ठो गौर्दक्षिणैषा वाऽऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्तदेष उपरिष्टादर्यम्णः पन्थास्तस्माच्छितिपृष्ठो बार्हस्पत्यस्य दक्षिणा ॥२॥ अथ श्वो भूते । सूयमानस्य गृहऽऐन्द्रमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति क्षत्रं वाऽइन्द्रः क्षत्रꣳ सूयमानस्तस्मादैन्द्रो भवति तस्यऽर्षभो दक्षिणा स ह्यैन्द्रो यदृषभः ॥३॥ अथ श्वो भूते । महिष्यै गृहान्परेत्य । आदित्यं चरुं निर्वपतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्न्येषा वाऽएतस्य पत्नी भवति तस्मादादित्यो भवत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यन्महिषी तस्याऽएवैतेन सूयते ताꣳ स्वामनपक्रमिणीं कुरुते तस्यै धेनुर्दक्षिणा धेनुरिव वाऽइयं मनुष्येभ्यः सर्वान्कामान्दुहे माता धेनुर्मातेव वाऽइयं मनुष्यान्बिभर्ति तस्माद्धेनुर्दक्षिणा ॥४॥ अथ श्वो भूते । सूतस्य गृहान्परेत्य वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति सवो वै सूतः सवो वै देवानां वरुणस्तस्माद्वारुणो भवत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यत्सूतस्तस्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रमिणं कुरुते तस्याश्वो दक्षिणा स हि वारुणो यदश्वः ॥५॥ अथ श्वो भूते । ग्रामण्यो गृहान्परेत्य मारुतꣳ सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति विशो वै मरुतो वैश्यो वै ग्रामणीस्तस्मान्मारुतो भवत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यद्ग्रामणीस्तस्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रमिणं कुरुते तस्य पृषन्गौर्दक्षिणा भूमा वाऽएतद्रूपाणां यत्पृषतो गोर्विशो वै मरुतो भूमो वै विट्तस्मात्पृषन्गौर्दक्षिणा ॥६॥ अथ श्वो भूते । क्षत्तुर्गृहान्परेत्य सावित्रं द्वादशकपालं वाष्टाकपालं वा पुरोडाशं निर्वपति सविता वै देवानां प्रसविता प्रसविता वै क्षत्ता तस्मात्सावित्रो भवत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यत्क्षत्ता तस्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रमिणं कुरुते तस्य श्येतोऽनड्वान्दक्षिणैष वै सविता य एष तपत्येति वाऽएष एत्यनड्वान्युक्तस्तस्माच्छ्येतो भवति

पुरोहित है, और यह राजा का पुरोहित है। इसलिए यह बृहस्पति का होता है। यह जो पुरोहित है वह राजा का एक रत्न है। इसलिए इससे दीक्षित होता है और उसको अपने अनुकूल करता है। उसकी दक्षिणा सफेद पीठ का साँड है। यह जो ऊपर का देश है वह बृहस्पति का है। ऊपर अर्यमा (अर्थात् सूर्य्य) का मार्ग है। इसलिए सफेद पीठवाला साँड बृहस्पति के यज्ञ की दक्षिणा है ॥२॥

दूसरे दिन जिसका राजसूय संस्कार होना है अर्थात् राजा के घर में इन्द्र का ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है। इन्द्र क्षत्रिय है, जिसका राजसूय होना है वह भी क्षत्रिय है, इसलिए इन्द्र के लिए पुरोडाश बनाया जाता है। साँड इन्द्र का है; इसलिए साँड दक्षिणा है ॥३॥

दूसरे दिन रानी के घर में जाकर अदिति के लिए चरु बनाता है। यह पृथिवी अदिति है। यह देवों की पत्नी है, और रानी राजा की पत्नी है। इसलिए यह चरु अदिति के लिए बनाया जाता है। रानी राजा का एक रत्न है। इसीलिए राजसूय संस्कार किया जाता है और इसी को वह अपना अनुयायी बनाता है। उसके लिए दक्षिणा गाय है। यह पृथिवी गौ है; क्योंकि इससे मनुष्यों की सब कामनाएँ पूरी होती हैं। गाय माँ है और यह पृथिवी भी माँ-सी है। यह मनुष्यों का पालन-पोषण करती है, इसलिए गाय दक्षिणा है ॥४॥

दूसरे दिन सूत के घर जाकर वरुण का जौ का चरु बनाता है। सूत सव (जोश पैदा करनेवाली चीज) है। वरुण देवों का सव है, इसलिए यह वरुण का चरु होता है। यह सूत जो है, यह राजा का एक रत्न है (सूत भाट को कहते हैं, जो काव्य द्वारा राजा को जोश दिलाता है), इसलिए इसके लिए राजसूय संस्कार कराता है और इसको अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा घोड़ा है। घोड़ा वरुण का होता है ॥५॥

अगले दिन ग्रामणी (ग्राम के नेता) के घर जाकर मरुत् के लिए ७ कपालों का पुरोडाश बनाता है। मरुत् वैश्य है, ग्रामणी भी वैश्य है, इसलिए यह चरु मरुत् का होता है। यह जो ग्रामणी है वह राजा का एक रत्न है। इसी के लिए राजसूय यज्ञ करता है और इसी को अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा चितकबरा बैल है। चितकबरे बैल के शरीर पर बहुत-से रंग होते हैं, वैश्य बहुत होते हैं। इसलिए चितकबरा बैल इसकी दक्षिणा है ॥६॥

अगले दिन क्षत्ता (कोई अफसर विशेष) के घर जाकर सविता के लिए १२ कपालों का या आठ कपालों का पुरोडाश बनाता है। सविता देवों का प्रेरक है, क्षत्ता भी प्रेरक है, इसलिए यह पुरोडाश सविता के लिए होता है। यह जो क्षत्ता है वह राजा का एक रत्न है। इसी के लिए राजसूय संस्कार होता है और इसी को वह अपना अनुयायी बनाता है। श्येत (कुछ लाल कुछ श्वेत) बैल इसकी दक्षिणा है। यह जो तपता है वही सविता अर्थात् सूर्य्य है। सूर्य्य चलता है और बैल भी जब जोता जाता है तो चलता है। यह बैल श्येत क्यों होता है? सूर्य्य भी श्येत है, जब

श्येत-इव ह्येष उच्चंश्चास्तं च यन्भवति तस्माच्छ्येतोऽनड्वान्दक्षिणा ॥७॥ अथ श्वो
भूते । संग्रहीतुर्गृहान्परेत्याश्विनं द्विकपालं पुरोडाशं निर्वपति सयोनी वाऽअ-
श्विनौ सयोनी सव्यष्ठसारथी समानꣳ हि रथमधितिष्ठतस्तस्मादाश्विनो भवत्येत-
द्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यत्संग्रहीता तस्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रामिणं कुरुते
तस्य यमौ गावौ दक्षिणा तौ हि सयोनी यद्यमौ यदि यमौ न विन्देदप्यनूची-
नगर्भाविव गावौ दक्षिणा स्यातां ताऽउ ह्यपि समानयोनी ॥८॥ अथ श्वो भूते
। भागदुघस्य गृहान्परेत्य पौष्णं चरुं निर्वपति पूषा वै देवानां भागदुघ एष
वाऽएतस्य भागदुघो भवति तस्मात्पौष्णो भवत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यद्भागदुघस्त-
स्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रामिणं कुरुते तस्य श्यामो गौर्दक्षिणा तस्या-
साविव बन्धुर्योऽसौ त्रिषंयुक्तेषु ॥९॥ अथ श्वो भूते । अक्षावापस्य च गृहेभ्यो
गोविकर्तस्य च गवेधुकाः सम्भृत्य सूयमानस्य गृहे रौद्रं गावेधुकं चरुं निर्वपति
ते वाऽएते द्वे सती रत्नेऽएकं करोति सम्पदः कामाय तद्यदेतेन यजते यां वा
ऽइमाꣳ सभायां घ्नन्ति रुद्रो हैतामभिमन्यतेऽग्निर्वै रुद्रोऽधिदेवनं वाऽअग्निस्तस्यैते
ऽङ्गारा यदक्षास्तमेवैतेन प्रीणाति तस्य ह वाऽएषानुमता गृहेषु हन्यते यो वा
राजसूयेन यजते यो वैतदेवं वेदैतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यदक्षावापश्च गोविकर्तश्च
ताभ्यामेवैतेन सूयते तौ स्वावनपक्रामिणौ कुरुते तस्य द्विरूपो गौर्दक्षिणा शि-
तिबाहुर्वा शितिवालो वासिर्नखरो वालदाम्नाक्षावपनं प्रबद्धमेतद्ध हि तयोर्भ-
वति ॥१०॥ अथ श्वो भूते । पालागलस्य गृहान्परेत्य चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा-
ध्वन आज्यं जुहोति जुषाणोऽध्वाज्यस्य वेतु स्वाहेति प्रहेयो वै पालागलोऽध्वानं
वै प्रहित एति तस्मादध्वन आज्यं जुहोत्येतद्वाऽअस्यैकꣳ रत्नं यत्पालागलस्त-
स्माऽएवैतेन सूयते तꣳ स्वमनपक्रामिणं कुरुते तस्य दक्षिणा प्युक्षावेष्टितं धनु-
श्चर्ममया वाणवन्तो लोहित उष्णीष एतद्ध हि तस्य भवति ॥११॥ तानि वा

वह निकलता है और डूबता है। इसलिए इसकी दक्षिणा श्येत बैल है ॥७॥

अगले दिन संग्रहीता अर्थात् रथवान के घर जाकर अश्विन के लिए दो कपालों का पुरोडाश बनाता है। अश्विन सयोनी अर्थात् एक ही योनि से उत्पन्न हुए हैं, और योद्धा और सारथी भी सयोनी हैं, क्योंकि एक ही रथ या योनि पर बैठते हैं। इसलिए यह पुरोडाश अश्विन का होता है। सारथी उसका एक रत्न है। उसी के लिए राजसूय संस्कार किया जाता है, और उसी को अपना अनुयायी बनाता है। यम बैल (जो एकसाथ एक ही माँ के पेट से उत्पन्न हुए हों) इसकी दक्षिणा है। यम सयोनी होते हैं। यदि यम न मिलें तो एक ही गाय से एक के पीछे दूसरा उत्पन्न हुए बैल दे, क्योंकि यह भी सयोनी ही है ॥८॥

अब अगले दिन भागदुघ (Collector of Taxes) के घर जाकर पूषा के लिए चरु बनाता है। पूषा देवों का भागदुघ है और यह राजा का भागदुघ है। इसलिए पूषा के लिए चरु होता है। भागदुघ राजा का एक रत्न है, उसी के लिए राजसूय संस्कार करता है और उसी को अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा श्यामवर्ण बैल है। इसका वही मूल्य है जा 'त्रिषंयुक्त' में ॥९॥

अगले दिन अक्षावाप और गोविकर्त (शायद जुए-पाँसे जिसकी अध्यक्षता में रहते हैं, उसे अक्षावाप और जो पशुओं का हनन करता है उसको गोविकर्त कहते हैं, परन्तु इनका ठीक-ठीक अर्थ निश्चय करना है) के घरों से गावेधुक बीजों को लाकर राजसूय करनेवालों के घर में रुद्र के लिए चरु बनाता है। ये दोनों दो रत्न हैं; परन्तु समृद्धि के लिए इनको एक करता है। वह आहुति क्यों देता है ? जिस (गाय) को इस सभा में मारते हैं रुद्र उसकी तलाश में रहता है। रुद्र अग्नि है और पाँसा खेलने का तख्ता अग्नि है और पाँसे अंगारा हैं, इससे वह उसी को प्रसन्न करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है और इस रहस्य को समझता है उसके घर में यह अनुमता (गौ) मारी जाती है।[1] अक्षावाप और गोविकर्त इसका एक रत्न है। वह सोचता है कि इन्हीं के लिए राजसूय संस्कार करूँ और इनको अपना अनुयायी बनाऊँ। दो रंग का बैल इसकी दक्षिणा है। या तो आगे के पैर श्वेत हों या पूँछ श्वेत हो। पंजे की आकृति की छुरी, घोड़े के बालों के समान लकीरोंवाला पाँसे खेलने का तख्ता, यह इन दोनों का होता है ॥१०॥

अगले दिन पालागल (हरकारा) के घरों पर जाकर चार चमसे घी लेकर मार्ग के लिए आहुतियाँ देता है यह कहकर—"जुषाणोऽध्वाऽऽज्यस्य वेतु स्वाहा"—"मार्ग घी की आहुति ग्रहण करे ॥" हरकारे का काम चलने का है। जब हरकारे को भेजते हैं तो वह मार्ग पर चलता है। इसलिए मार्ग के लिए आहुति देता है। यह जो हरकारा है, वह उसका एक रत्न है। इसीलिए राजसूय यज्ञ करता है, इसी को अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा है चमड़े से ढकी हुई कमान, चमड़े के तरकश और एक लाल पगड़ी। ये उसी की चीजें हैं ॥११॥

---

१. वेदानुसार गौ 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) है, अतः ऐसे सन्दर्भ मांसाहारियों द्वारा प्रक्षिप्त हैं।
—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

ऽएतानि । एकादश रत्नानि सम्पादयत्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वीर्यमे-
वैतद्रत्नान्यभिसम्पादयति तद्यद्रत्निनाꣳ हविर्भिर्यजतऽएतेषां वै राजा भवति ते-
भ्य एवैतेन सूयते तान्त्स्वाननपक्रमिणः कुरुते ॥१२॥ अथ श्वो भूते । परिवृत्त्यै
गृहान्परेत्य नैर्ऋतं चरुं निर्वपति या वा अपुत्रा पत्नी सा परिवृत्ती स कृष्णानां
व्रीहीणां नखैर्निर्भिद्य तण्डुलान्नैर्ऋतं चरुꣳ श्रपयति स जुहोत्येष ते निर्ऋते भा-
गस्तं जुषस्व स्वाहेति या वाऽअपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता तद्यदेवास्याऽअत्र
नैर्ऋतꣳ रूपं तदेवैतच्छमयति तथो हैनꣳ सूयमानं निर्ऋतिर्न गृह्णाति तस्य दक्षि-
णा कृष्णा गौः परिमूर्णी पर्यारिणी सा ह्यपि निर्ऋतिगृहीता तामाह मा मेऽस्ये-
शायां वात्सीदिति तत्पाप्मानमपादत्ते ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३. १.] ॥॥

उपरिष्टाद्रत्नानाꣳ सौमारौद्रेण यजते । स श्वेतायै श्वेतवत्सायै पयसि शृतो
भवति तद्यदुपरिष्टाद्रत्नानाꣳ सौमारौद्रेण यजते ॥१॥ स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः ।
सूर्यं तमसा विव्याध स तमसा विद्धो न व्यरोचत तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमो
ऽपाहताꣳ स एषोऽपहतपाप्मा तपति तथोऽएवैष एतत्तमः प्रविशत्येतं वा त-
मः प्रविशति यदयज्ञियान्यज्ञेन प्रसजत्ययज्ञियान्वाऽएतद्यज्ञेन प्रसजति शूद्रांस्त्व-
द्यांस्त्वत्तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपहतः सोऽपहतपाप्मैव दीक्षते तच्छ्वेतायै श्वे-
तवत्सायै पयसि शृतो भवति कृष्णं वै तमस्तत्तमोऽपहन्ति तस्यैषैव श्वेता श्वेत-
वत्सा दक्षिणा ॥२॥ स हैतेनापि यजेत । योऽलं यशसे सन्न यशो भवति यो
वाऽअनूचानः सोऽलं यशसे सन्न यशो भवति यो न यशो भवति स तमसा वै
स तत्प्रावृतो भवति तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपहतः सोऽपहतपाप्मा ज्योति-
रेव श्रिया यशसा भवति ॥३॥ अथ मैत्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति । ह्वलति
वाऽएष यो यज्ञपथादेत्येति वाऽएष यज्ञपथाद्यदयज्ञियान्यज्ञेन प्रसजत्ययज्ञियान्वा
ऽएतद्यज्ञेन प्रसजति शूद्रांस्त्वद्यांस्त्वन्मित्राबृहस्पती वै यज्ञपथो ब्रह्म हि मित्रो

इन ११ रत्नों का सम्पादन करता है। त्रिष्टुप् ११ अक्षरों का होता है। त्रिष्टुप् पराक्रम है। पराक्रम के लिए ही वह ११ रत्नों का सम्पादन करता है। इनका राजा होता है। इन्हीं के लिए राजसूय यज्ञ करता है, इन्हीं को अपना अनुयायी बनाता है ॥१२॥

अगले दिन परिवृत्ती के घर जाकर निर्ऋति के लिए चरु बनाता है। परिवृत्ती वह पत्नी है जो पुत्ररहित हो। काले धानों को नखों से तोड़कर चावलों को पकाकर निर्ऋति के लिए चरु बनाता है। वह यह कहकर आहुति देता है—"एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा"—"हे निर्ऋति, यह तेरा भाग है, तू ग्रहण कर।" पुत्र-हीना पत्नी निर्ऋत-गृहीत (आपत्ति-ग्रसित) होती है, और उसमें जो निर्ऋति का गुण है उसका शमन करता है। इसलिए जब वह राजसूय यज्ञ करता है तो निर्ऋति उसको नहीं सताती। इसकी दक्षिणा है काली, बुड्ढी और रोगी गाय, क्योंकि वह भी निर्ऋति-गृहीत है। वह उससे कहता है 'मेरे देश में आज मत बस।' इस प्रकार वह अपने में से पाप को निकाल देता है ॥१३॥

यज्ञ-सम्बन्धी सारांश

राज के ११ रत्न ये हैं—(१) सेनानी-सेनाध्यक्ष। (२) पुरोहित। (३) राजमहिषी। (४) सूत (राज-ऐतिहासिक)। (५) ग्रामणी (village Headman)। (६) क्षत्ता (?)। (७) संग्रहीता या सारथी। (८) भागदुघ–कर लेनेवाला। (९) अक्षावाप और गोविकर्तव (पांसे का अध्यक्ष और पशुहनन का अध्यक्ष ?)। (१०) पालागल या हरकारा। इनके घरों पर जा कर निम्न देवताओं के लिए आहुतियाँ देता है–(१) अग्नि, (२) बृहस्पति, (३) अदिति, (४) वरुण, (५) मरुत्, (६) सविता, (७) अश्विन, (८) पूषा, (९) रुद्र, (१०) मार्ग। इन्द्र के लिए आहुति राजघर में ही दी जाती है ॥१३॥

सौमारौद्रयागः

अध्याय ३—ब्राह्मण २

रत्नों के पश्चात् सोम और रुद्र के लिए आहुति देता है। यह चरु श्वेत बछड़ेवाली श्वेत गाय के दूध से बनाया जाता है। रत्नों के पीछे सोम और रुद्र की आहुति क्यों दी जाती है ?॥१॥

एक दिन स्वर्भानु नामक असुर ने सूर्य को अन्धकार में छिपा लिया। अन्धकार से बिंधा हुआ सूर्य न चमका। सोम और रुद्र ने इस अन्धकार को हटा दिया और सूर्य को पाप से बचा लिया। इसी प्रकार जब राजा अयज्ञों (शूद्र, आदि) को यज्ञ के साथ संसर्ग कराता है, तो उसमें अन्धकार घुस जाता है, या वह अन्धकार में घुस जाता है। सोम और रुद्र ही उसके अन्धकार को दूर करते हैं और वह पाप से मुक्त होकर दीक्षित होता है। श्वेत बछड़ेवाली श्वेत गाय का दूध क्यों लिया ? अन्धकार काला होता है। श्वेत रंग काले को दूर करता है, इसीलिए इसकी दक्षिणा भी यही सफेद बछड़ेवाली सफेद गौ है ॥२॥

इस आहुति को वह भी दे सकता है, जो अधिकारी तो हो, परन्तु अभी उसको यश प्राप्त न हुआ हो। जो अनूचान या वेदपाठी है, वह अधिकारी तो है, परन्तु उसको अभी यश का लाभ नहीं हुआ। वह अन्धकार से ढका होता है। सोम और रुद्र उसके अन्धकार को दूर कर देते हैं। वह पाप से मुक्त होकर श्री और यश से युक्त होकर ज्योति बन जाता है ॥३॥

अब वह मित्र और बृहस्पति के लिए चरु बनाता है। जो यज्ञ के मार्ग से च्युत होता है, वह पतित होता है। जब कोई अयज्ञों अर्थात् शूद्र आदि का यज्ञ के साथ संसर्ग कराता है, वह वस्तुतः यज्ञ के मार्ग से च्युत होता है। यह वस्तुतः अयज्ञों (शूद्र आदि) का यज्ञ के साथ संसर्ग कराता है, इसलिए यह यज्ञ के मार्ग से च्युत हो जाता है। मित्र और बृहस्पति यज्ञ के मार्ग हैं।

ब्रह्म हि यज्ञो ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्मा हि यज्ञस्तत्पुनर्यज्ञपथमपिपद्यते सोऽपि-पद्यैव यज्ञपथं दीक्षते तस्मान्मैत्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति ॥४॥ तस्यावृत् । या स्वयम्प्रशीर्णाश्वत्थी शाखा प्राची वोदीची वा भवति तस्यै मैत्रं पात्रं करोति वरुण्या वाऽएषा या परशुवृक्णाथैषा मैत्री या स्वयम्प्रशीर्णा तस्मात्स्वयम्प्रशी-र्णायै शाखायै मैत्रं पात्रं करोति ॥५॥ अथातच्य दधि । विनाटऽआसिच्य रथं युक्त्वाबध्य दंदोधितवाऽआह तद्यत्स्वयमुदितं नवनीतं तदाज्यं भवति वरुण्यं वा ऽएतद्यन्मथितमथैतन्मैत्रं यत्स्वयमुदितं तस्मात्स्वयमुदितमाज्यं भवति ॥६॥ द्वे-धा तण्डुलान्कुर्वन्ति । स येऽणीयाꣳसः परिभिन्नास्ते बार्हस्पत्या अथ ये स्थवी-याꣳसोऽपरिभिन्नास्ते मैत्रा न वै मित्रः कं चन हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिन-स्ति नैनं कुशो न कण्टको विभिनत्ति नास्य व्रणश्चनास्ति सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम् ॥७॥ अथ बार्हस्पत्यं चरुमधिश्रयति । तं मैत्रेण पात्रेणापिदधाति तदा-ज्यमानयति तत्तण्डुलानावपति स एष ऊष्मणैव श्रप्यते वरुण्यो वाऽएष यो ऽग्निना शृतोऽथैष मैत्रो य ऊष्मणा शृतस्तस्मादूष्मणा शृतो भवति तयोरुभयो-रवद्यन्नाह मित्राबृहस्पतिभ्यामनुब्रूहीत्याश्राव्याह मित्राबृहस्पती यजेति वषट्कृ-ते जुहोति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३. २.] ॥॥ शतम्३२०० ॥॥

स वै दीक्षते । स उपवसथेऽग्नीषोमीयं पशुमालभते तस्य वपया प्रचर्याग्नी-षोमीयमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति तदनु देवस्वाꣳ हवीꣳषि निरुप्यन्ते ॥१॥ सवित्रे सत्यप्रसवाय । द्वादशकपालं वाष्टाकपालं वा पुरोडाशं निर्वपति प्लाशुकानां व्रीहीणाꣳ सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूतः सूयाऽइत्यथ यत्प्लाशुकानां व्रीहीणां क्षिप्रे मा प्रसुवानिति ॥२॥ अथाग्नये गृहपतये । अष्टा-कपालं पुरोडाशं निर्वपत्याशूनाꣳ श्रीर्वै गार्हपतं यावतो-यावत ईष्टे तदेनमग्निरे-व गृहपतिर्गार्हपतमभि परिणयत्यथ यदाशूनां क्षिप्रे मा परिणयानिति ॥३॥

मित्र ब्रह्म है, यज्ञ ब्रह्म है; बृहस्पति ब्रह्म है, यज्ञ ब्रह्म है। इस प्रकार वह फिर यज्ञ के मार्ग तक वापस आता है। जब वह यज्ञ के मार्ग तक वापस आता है, तो दीक्षित हो जाता है। इसलिए वह मित्र और बृहस्मति के लिए चरु बनाता है ॥४॥

वह इस प्रकार—अश्वत्थ वृक्ष की शाखा, जो स्वयं गिर पड़ी हो, चाहे वृक्ष के पूर्व की ओर या उत्तर की ओर, उसी की लकड़ी से मित्र के चरु के लिए पात्र बनाता है। जो कुल्हाड़ी से काटा जाय वह वरुण्य (दोषयुक्त) हो जाता है। जो स्वयं गिर पड़े वह मित्र का है। इसलिए स्वयं गिरी हुई शाखा से मित्र के चरु के लिए पात्र बनाता है ॥५॥

अब दही जमाकर और उसको विनाट अर्थात् चमड़े के थैले में रखकर, रथ में घोड़े जोतकर और (गाड़ी में थैले को) लगाकर इसको कहता है कि 'उड़ जा'। अब वह स्वयं उत्पन्न हुई नवनी हो जाती है। जो नवनी मथानी से मथकर निकाली जाती है वह वरुण की होती है, और जो अपने-आप निकल आती है वह मित्र की। इसलिए वह स्वयं निकली हुई नवनी होती है ॥६॥

अब ये चावलों के दो भाग कर डालते हैं। जो छोटे और टूटे-टूटे होते हैं वे बृहस्पति के, और बड़े और बे-टूटे हुए मित्र के, क्योंकि न मित्र किसी को सताता है और न मित्र को कोई सताता है। उसको कुश या काँटा पीड़ा नहीं देता, क्योंकि मित्र सबका मित्र है ॥७॥

अब बृहस्पति के चरु को पकाता है, और उसके ऊपर मित्रवाले पात्र को रखता है। उसमें घी उँडेलता है और चावलों को डाल देता है। यह (नीचे की) गर्मी से ही पक जाता है। जो आग से पकता है वह वरुण का होता है और जो गर्मी से पकता है वह, मित्र का। इसलिए यह गर्मी से पकता है। इन दोनों (अर्थात् बृहस्पति और मित्र के चरुओं) में से भाग काटकर वह कहता है 'मित्र और बृहस्पति के लिए अनुवाक बोलो।' श्रौषट् कहकर वह कहता है—'मित्र और बृहस्पति के लिए आहुतियाँ दो।' वषट् कहने पर वह आहुतियाँ देता है ॥८॥

अथ अभिषेचनीयाख्यः सोमयागः

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

वह दीक्षा लेता है। उपवास के दिन वह अग्नि-सोम के पशु को पकड़ता है। उसकी वपा (चर्बी ?) की आहुति देकर अग्नि-सोम का ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है। इसके उपरान्त देव-स्वां हवियाँ बनाई जाती हैं ॥१॥

सत्य-प्रसव सविता के लिए १२ या ८ कपालों का प्लाशुक (शीघ्र उगे हुए ?) चावलों का पुरोडाश बनाता है। सविता देवों का प्रेरक है। 'सविता की प्रेरणा से दीक्षित होऊँ।' इसलिए सविता का पुरोडाश बनाता है, और प्लाशुक चावलों का, इसलिए कि उनसे शीघ्र ही प्रेरणा मिले ॥२॥

अब गृहपति अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश आशू-चावलों का बनाता है। गृहपति का तात्पर्य है श्री। राजा शासन करता है। गृहपति अग्नि ही उसको अपने घर का स्वामी बनाता है। आशू-चावलों का इसलिए कि शीघ्र ही घर का स्वामी बन जाऊँ ॥३॥

अथ सोमाय वनस्पतये । श्यामाकं चरुं निर्वपति तदेनꣳ सोम एव वनस्पतिरोषधिभ्यः सुवत्यथ यच्छ्यामाको भवत्येते वै सोमस्यौषधीनां प्रत्यक्षतमां यच्छ्यामाकास्तस्माच्छ्यामाको भवति ॥४॥ अथ बृहस्पतये वाचे । नैवारं चरुं निर्वपति तदेनं बृहस्पतिरेव वाचे सुवत्यथ यन्नैवारो भवति ब्रह्म वै बृहस्पतिरेते वै ब्रह्मणा पच्यन्ते यन्नीवारास्तस्मान्नैवारो भवति ॥५॥ अथेन्द्राय ज्येष्ठाय । हायनानां चरुं निर्वपति तदेनमिन्द्र एव ज्येष्ठो ज्यैष्ठ्यमभि परिणयत्यथ यद्धायनानां भवत्यतिष्ठा वा एता ओषधयो यद्धायना अतिष्ठो वा इन्द्रस्तस्माद्धायनानां भवति ॥६॥ अथ रुद्राय पशुपतये । रौद्रं गावेधुकं चरुं निर्वपति तदेनꣳ रुद्र एव पशुपतिः पशुभ्यः सुवत्यथ यद्गावेधुको भवति वास्तव्यो वा एष देवो वास्तव्या गवेधुकास्तस्माद्गावेधुको भवति ॥७॥ अथ मित्राय सत्याय । नाम्बानां चरुं निर्वपति तदेनं मित्र एव सत्यो ब्रह्मणे सुवत्यथ यन्नाम्बानां भवति वरुण्या वा एता ओषधयो याः कृष्टे जायन्तेऽथैते मैत्रा यन्नाम्बास्तस्मान्नाम्बानां भवति ॥८॥ अथ वरुणाय धर्मपतये । वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति तदेनं वरुण एव धर्मपतिर्धर्मस्य पतिं करोति परमता वै सा यो धर्मस्य पतिरसद्यो हि परमतां गच्छति तꣳ हि धर्म उपयन्ति तस्माद्वरुणाय धर्मपतये ॥९॥ अथाग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति । तस्यानिष्ट एव स्विष्टकृद्भवत्यथैतैर्हविर्भिः प्रचरति यदेतैर्हविर्भिः प्रचरति ॥१०॥ अथैनं दक्षिणे बाहावभिपद्य जपति । सविता त्वा सवानाꣳ सुवतामग्निर्गृहपतीनाꣳ सोमो वनस्पतीनाम् । बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥११॥ इमं देवाः । असपत्नꣳ सुवधमितीमं देवा अभ्रातृव्यꣳ सुवधमित्येवैतदाह महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्यायेति नात्र तिरोहितमिवास्ति महते जानराज्यायेति महते जनानाꣳ राज्यायेत्येवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेति वीर्यायेत्येवैतदाह यदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेतीमममुष्यै पुत्रम-

अब वनस्पति-सोम के लिए श्यामाक (एक प्रकार की ज्वारी) का चरु बनाता है। इस प्रकार वनस्पति-सोम उसको ओषधियों के लिए प्रेरणा करता है। श्यामाक का क्यों? ओषधियों में श्यामाक तो प्रत्यक्ष रूप से सोम का ही है। इसलिए श्यामाक का बनाता है ॥४॥

अब बृहस्पति-वाणी के लिए नीवर (जंगली चावलों) का चरु बनाता है कि बृहस्पति इसको वाणी से सुसज्जित कर दे। नीवार का क्यों? बृहस्पति ब्रह्म है और ये जो नीवार हैं उनको भी ब्रह्म ही पकाता है। इसलिए नीवार का होता है ॥५॥

अब ज्येष्ठ इन्द्र के लिए हायन (नामी चावलों) का चरु बनाता है कि ज्येष्ठ इन्द्र इसको ज्येष्ठ अर्थात् बड़प्पन दे। हायन का क्यों? इसलिए कि ये जो हायन हैं वे ओषधियों में अतिष्ठ (मुख्य) हैं, और इन्द्र भी अतिष्ठ (मुख्य) है, इसलिए यह हायन का होता है ॥६॥

अब पशुपति रुद्र के लिए गावेधुक चावलों का चरु बनाता है। इसलिए कि पशुपति रुद्र इस (यजमान) को पशुओं से युक्त करे। गावेधुक का क्यों? इसलिए कि यह देव (रुद्र) कूड़े-करकट का देवता है और गावेधुक कूड़ा-करकट है। इसलिए गावेधुक का बनाता है ॥७॥

अब सत्य मित्र के लिए नाम्ब चावलों का चरु बनाता है कि इसको सत्य मित्र ब्रह्म से युक्त करे। नाम्ब का क्यों? जो अन्न जोतकर उगता है वह वरुण का है। यह जो नाम्ब है, वह मित्र का है। इसलिए नाम्ब का होता है ॥८॥

अब धर्मपति वरुण के लिए जौ का चरु बनाता है कि धर्मपति वरुण उसको धर्म का पति बना दे। यह जो धर्म का पति होना है यही परमता (बड़प्पन) है। जो कोई इस परमता को प्राप्त हो जाता है, उसके पास धर्म के लिए आते हैं। इसलिए धर्मपति वरुण के लिए ॥९॥

अब अग्नि-सोम के लिए पुरोडाश बनाता है। जब वह ये दूसरी हवियाँ देता है, तो उसकी स्विष्टकृत् आहुति शेष रह जाती है ॥१०॥

अब वह दाहिनी भुजा (यजमान की) पकड़कर जपता है—"सविता त्वा सवानाँ सुवतामग्निर्गृहपतीनाँ सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच ऽ इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्" (यजु० ९।३९)—"तुझको सविता प्रेरणा अर्थात् शासन की शक्ति दे, अग्नि गृहपति की, सोम वनस्पति की, बृहस्पति वाणी की, इन्द्र बड़प्पन की, रुद्र पशुओं की, मित्र सत्य की, वरुण धर्म-पति की ॥११॥

"इमं देवा ऽ असपत्नँ सुवध्वम्" (यजु० ९।४०)—"हे देव! इसको शत्रु-रहित करो।" यह इसलिए कहता है कि कोई इसका शत्रु न रहे। "महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय" (यजु० ९।४०)—"बड़ी शक्ति और बड़े बड़प्पन के लिए।" यह स्पष्ट है। "महते जानराज्याय" (यजु० ९।४०)—"बड़े जन-राज्य के लिए" अर्थात् मनुष्यों पर राज्य करने के लिए। "इन्द्रस्येन्द्रियाय" (यजु० ९।४०)—"इन्द्र के पराक्रम के लिए" अर्थात् वीर्य के लिए। "इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्" (यजु० ९।४०) —"अमुक पुरुष का लड़का और अमुक स्त्री का लड़का।"

मुष्यै पुत्रमिति तद्यदेवास्य जन्म तत एवैतदाहास्यै विशऽइति यस्यै विशो राजा भवत्येष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳯ राजेति तदस्माऽइदᳯ सर्वमाद्यं करोति ब्राह्मणमेवापोद्धरति तस्माद्ब्राह्मणोऽनाद्यः सोमराजा हि भवति ॥१२॥ एता ह वै देवाः सवस्येशते । तस्माद्देवस्वो नाम तदेनमेता एव देवताः सुवते ताभिः सूतः श्वः सूयते ॥१३॥ ता वै द्विनाम्न्यो भवन्ति । द्वन्द्वं वै वीर्यं वीर्यवत्यः सुवान्ताऽइति तस्माद्द्विनाम्न्यो भवन्ति ॥१४॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । तद्यदन्तरेणाहुतीऽएतत्कर्म क्रियतऽएष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति तस्मादन्तरेणाहुतीऽएतत्कर्म क्रियत ऽआश्राव्याहाग्नये स्विष्टकृते प्रेष्येति वषट्कृते जुहोति ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [३. ३.] ॥ ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०४ ॥ ॥

स वाऽअपः सम्भरति । तद्यदपः सम्भरति वीर्यं वाऽआपो वीर्यमेवैतद्रसमपाᳯ सम्भरति ॥१॥ औदुम्बरे पात्रे । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे ॥२॥ स सारस्वतीरेव प्रथमा गृह्णाति । अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नित्यपो देवा रसवतीरगृह्णन्नित्येवैतदाहोर्जस्वती राजस्वश्चितानाऽइति रसवतीरित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वतीरिति राजस्वश्चितानाऽइति याः प्रज्ञाता राजस्व इत्येवैतदाह याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्नित्येताभिर्हि मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीरित्येताभिर्हीन्द्रं नाष्ट्रा रक्षाᳯस्यत्यनयंस्ताभिरभिषिञ्चति वाग्वै सरस्वती वाचैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥३॥ अथाध्वर्युः । चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वापोऽभ्यवैति तद्याऽऊर्मी व्युदतः पशौ वा पुरुषे वाभ्यवैते तौ गृह्णाति ॥४॥ स यः प्राङुदर्दति । तं गृह्णाति वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति

जिससे उसका जन्म हुआ है, उसका नाम लेता है। "अस्यै विशः" (यजु० ६।४०)—"इन लोगों का।" अर्थात् इस नामवाली प्रजा का यह राजा है। "एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" (यजु० ६।४०)—"हे लोगो, यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों का सोम राजा है।" इस प्रकार वह इस सबको उसका खाद्य बना देता है। केवल ब्राह्मण बच रहता है, इसलिए ब्राह्मण खाद्य नहीं। उसका राजा तो सोम है ॥१२॥

ये देव शक्ति देनेवाले हैं, इसलिए इनका नाम "देवस्व" है। ये देव ही हैं, जो आज उसको शक्ति देते हैं। और इसी शक्ति से सम्पन्न होकर कल उसका राजसूय संस्कार होगा ॥१३॥

इनके दो नाम होते हैं। दो का अर्थ है शक्ति। 'शक्तिवाले, मुझे शक्ति दें' यह सोचकर उनके दो नाम होते हैं ॥१४॥

अब कहता है कि अग्नि-स्विष्टकृत् के लिए बोलो। यह क्रिया दो आहुतियों के बीच में क्यां की जाती है? यह प्रजापति ही है, जो यज्ञ किया जाता है, और जिससे यह सब प्रजा उत्पन्न हुई और आज भी उसी प्रकार उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह उसको प्रजापति के मध्य में रख देता है, और मध्य में ही शक्ति देता है। इसीलिए यह क्रिया दो आहुतियों के बीच में की जाती है। श्रौषट् कहलाकर वह कहता है—अग्निस्विष्टकृत् के लिए आहुति दे। और वषट् कहकर आहुति देता है ॥१५॥

यजमानाभिषेकार्थं सप्तदशानामपां ग्रहणम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

वह जलों को एकत्रित करता है। वह जलों को क्यों एकत्रित करता है? जल शक्ति है, यह रस शक्ति है, इसलिए जलों को एकत्रित करता है— ॥१॥

उदुम्बर के पात्र में। उदुम्बर रस या अन्न है। अन्न आदि की प्राप्ति के लिए ही वह उदुम्बर के पात्र में (जलों को मिलाता है) ॥२॥

पहले सरस्वती का जल लेता है—"अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्" (यजु० १०।१)—"देवों ने मीठा जल लिया।" "ऊर्जस्वती राजस्वश्चिताना:" (यजु० १०।१)—"ऊर्जवाला और राजत्व का प्रेरक।" रसवती का अर्थ है शक्तिवाला और 'राजत्व का प्रेरक' अर्थ है राजा को प्रेरणा करता है। "याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्" (यजु० १०।१)—"जिनसे इन्होंने मित्र और वरुण का अभिषेक किया।" क्योंकि इन्हीं से मित्र और वरुण का अभिषेक किया था। "याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः" (यजु १०।१)—"जिनसे उन्होंने इन्द्र को शत्रुओं के पास से होकर निकाला।" क्योंकि इन्हीं (जलों) की सहायता से वे इन्द्र को राक्षसों के विरुद्ध ले गये। वह इनसे उसका अभिषेक करता है। सरस्वती वाक् का देवता है, मानो वह वाणी से ही उसका अभिषेक करता है। यह एक प्रकार का जल हुआ। उसको वह लाता है ॥३॥

अब अध्वर्यु चार चमसों में घी लेकर जल में प्रवेश करता है और उन दो लहरों को लेता है, जो उस समय उत्पन्न हुआ करती हैं, जब जल में कोई मनुष्य या पशु प्रवेश करता है ॥४॥

जो लहर सामने उठती है, उसको इस मन्त्र से लेता है—"वृष्ण ऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा। वृष्ण ऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि" (यजुं० १०।२)—"तू पुरुष-लहर (शक्ति सिंचन करनेवाली) राज्य को देनेवाली है। मुझे राज्य दे। तू पुरुष-लहर राज्य को देनेवाली है, अमुक को राज्य दे ॥५॥

॥५॥ अथ यः प्रत्यङ्ङुदर्दति । तं गृह्णाति वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि
स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति ताभिरभिषिञ्चति वीर्यं वाऽएत-
दपामुदर्दति पशौ वा पुरुषे वाभ्यवैति वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वाऽएका
आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥६॥ अथ स्यन्दमाना गृह्णाति । अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं
मे दत्त स्वाहार्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वीर्येण वा
ऽएताः स्यन्दन्ते तस्मादेनाः स्यन्दमाना न किंचन प्रतिधारयते वीर्येणैवैनमेतद-
भिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥७॥ अथ याः स्यन्दमानानां
प्रतीपꣳ स्यन्दन्ते । ता गृह्णात्योजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती
स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वीर्येण वाऽएताः स्यन्दमानानां
प्रतीपꣳ स्यन्दन्ते वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भर-
ति ॥८॥ अथापयतीर्गृह्णाति । आपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति
ताभिरभिषिञ्चत्येतस्यै वाऽएषापछिद्यैव पुनर्भवत्यपि ह वाऽअस्यान्यराष्ट्रीयो
राष्ट्रे भवत्यप्यन्यराष्ट्रीयमवहरते तथास्मिन्भूमानं दधाति भूम्नैवैनमेतदभिषिञ्चत्ये-
ता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥९॥ अथ नदीपतिं गृह्णाति । अपां प-
तिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति ता-
भिरभिषिञ्चत्यपां वाऽएष पतिर्यन्नदीपतिर्विशामेवैनमेतत्पतिं करोत्येता वाऽए-
का आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१०॥ अथ निवेष्यं गृह्णाति । अपां गर्भोऽसि रा-
ष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति ताभिरभिषि-
ञ्चति गर्भं वाऽएतदाप उपनिवेष्टन्ते विशामेवैनमेतद्गर्भं करोत्येता वाऽएका आ-
पस्ता एवैतत्सम्भरति ॥११॥ अथ यः स्यन्दमानानाꣳ स्थावरो ह्रदो भवति ।
प्रत्यातापे ता गृह्णाति सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ
राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वर्चसैवैनमेतदभिषिञ्चति सूर्यत्वचसमे-

जो लहर पीछे उठती है, उसको इस मन्त्र से लेता है—"वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा। वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि" (यजु० १०।२)—"तू पुरुषों का सेनापति राष्ट्र को देनेवाला है, मुझे राष्ट्र दे। तू पुरुषों का सेनापति राष्ट्र को देनेवाला है, अमुक पुरुष को राज्य दे।" इन जलों से अभिषेक करता है। जब पशु या पुरुष जल में घुसता है तो जलों का जो ऊपर आता है वह वीर्य (पराक्रम) है, अर्थात् वह वीर्य या पराक्रम से अभिषेक करता है। यह एक प्रकार का जल है, जिसको वह लेता है ॥६॥

अब वह बहते हुए जल को लेता है—"अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहाऽर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।३)—"तुम अर्थ या प्रयोजन के सिद्ध करनेवाले राष्ट्र के देनेवाले हो, राष्ट्र दो। तुम अर्थ के सिद्ध करनेवाले तथा राष्ट्र के देनेवाले हो, अमुक को राष्ट्र दो।" वह इन जलों से अभिषेक करता है। ये जल शक्ति से बहते हैं। इसलिए जब बहते हैं, तो कोई उनको रोक नहीं सकता। इस प्रकार शक्ति से ही वह इनका अभिषेक करता है। यह एक प्रकार के जल हैं, जिनको लेता है ॥७॥

अब उन जलों को लेता है, जो बहते हुए जलों के उल्टे ओर बहते हैं, इस मन्त्र से—"ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।३)—"तुम ओजवाले और राष्ट्र देनेवाले हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम ओजवाले और राष्ट्र देनेवाले हो, अमुक को राज्य दो।" अब इनसे अभिषेक करता है। जो जल बहते हुए जलों के विरुद्ध चलते हैं, वे वस्तुतः शक्ति से चलते हैं। इस प्रकार वह शक्ति द्वारा अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं। इनको लेता है ॥८॥

अब उन जलों को लेता है, जो मुख्यधारा से इधर-उधर हो जाते हैं, इस मन्त्र से—"आपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त। आपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।३)—"तुम अति बहनेवाले राष्ट्र के देनेवाले हो। मुझको राज्य दो। तुम अति बहनेवाले राष्ट्र के देनेवाले हो, अमुक पुरुष को राज्य दो।" उन जलों से अभिषेक करता है। ये जल ऐसे हैं कि मुख्य धारा से हटकर भी फिर मुख्य धारा से आ मिलते हैं। इसी प्रकार यदि इसके राज्य में बाहर का कोई हो तो वह इस बाहरी पुरुष को भी अपने में शामिल कर लेता है और इस प्रकार बहुतायत द्वारा अपना अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हुए, जिनको लेता है ॥९॥

वह अब नदीपति (समुद्र के जल ?) को लेता है—"अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा। अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि" (यजु० १०।३)—"तू जलों का पति, राष्ट्र का दाता है, मुझे राष्ट्र दे। तू जलों का पति राष्ट्र का दाता है, अमुक पुरुष को राष्ट्र दे।" अब इससे अभिषेक करता है। यह जो नदी-पति है, वह जलों का पति है। इस प्रकार इस (यजमान राजा) को भी प्रजा का पति बनाता है। ये एक प्रकार के जल हैं। इनको लेता है ॥१०॥

अब निवेष्य (अर्थात् भँवर के जल ?) को लेता है—"अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा। अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि" (यजु० १०।३)—"तू जलों का गर्भ है राष्ट्र का देनेवाला, मुझे राष्ट्र दे। तू जलों का गर्भ है राष्ट्र का देनेवाला, अमुक पुरुष को राष्ट्र दे।" इससे अभिषेक करता है, गर्भ को जल चारों ओर से घेरे रहते हैं। इस प्रकार (यजमान को) प्रजा का गर्भ बनाता है (अर्थात् जैसे जलों से सुरक्षित गर्भ होता है वैसे ही प्रजा से सुरक्षित राजा)। ये एक प्रकार के जल हैं, इनको लेता है ॥११॥

अब वह उस जल को लेता है जो धूप में एक स्थान पर इकट्ठा है—"सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम सूर्य-त्वचावाले, राष्ट्र देनेवाले हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम सूर्य-त्वचावाले, राष्ट्र देनेवाले हो, अमुक पुरुष को राज दो।" उनसे अभिषेक करता है, अर्थात् ज्योति से अभिषेक करता है। सूर्य

वैनमेतत्करोति वरुण्या वाऽएता आपो भवन्ति याः स्यन्दमानानां न स्यन्दन्ते वरुणसवो वाऽएष यद्राजसूयं तस्मादेताभिरभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१२॥ अथ या आतपति वर्षन्ति । ता गृह्णाति सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वर्चसैवैनमेतदभिषिञ्चति सूर्यवर्चसमेवैनमेतत्करोति मेध्या वाऽएता आपो भवन्ति या आतपति वर्षन्त्यप्राप्ता ह्येमां भवन्त्यथैना गृह्णाति मेध्यमेवैनमेतत्करोत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१३॥ अथ वैशन्तीर्गृह्णाति । मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति विशमेवास्माऽएतत्स्थावरामनपक्रमिणीं करोत्येता वा एका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१४॥ अथ कूप्या गृह्णाति । व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति तद्या इमां परेणापस्ता एवैतत्सम्भरत्यपामु चैव सर्वत्वाय तस्मादेताभिरभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१५॥ अथ प्रुषा गृह्णाति । वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चत्यन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधातीदं वाऽअसावादित्य उद्यन्नेव यथायमग्निर्निर्दहेदेवमोषधीरन्नाद्यं निर्दहति तदेता आपोऽभ्यवयत्यः शमयन्ति न ह वाऽइहान्नाद्यं परिशिष्येत यदेता आपो नाभ्यवेयुरन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१६॥ अथ मधु गृह्णाति । शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चत्यपां चैवैनमेतदोषधीनां च रसेनाभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१७॥ अथ गोर्विजायमानाया उल्ब्या गृह्णाति । शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति पशुभिरेवैनमेतदभि

की ज्योति से इस (यजमान) को युक्त करता है। ये जल वरुण के होते हैं, जो बहते हुए भी नहीं बहते। राजसूय भी वरुण का प्रेरित है। इसलिए वह इसका इससे अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं। इनको वह लेता है ॥१२॥

अब उन जलों को लेता है, जो धूप में बरसते हैं—"सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम सूर्य के समान तेजवाले, राष्ट्र देनेवाले हो, हमको राष्ट्र दो। तुम सूर्य के समान तेजवाले, राष्ट्र के देनेवाले हो, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।" इनसे अभिषेक करता है, मानो तेज से अभिषेक करता है और (यजमान को) सूर्य के समान तेजयुक्त करता है। जो जल धूप चमकने के समय बरसता है, वह पवित्र होता है; क्योंकि जमीन पर नहीं आने पाता, बीच में ही ले लिया जाता है। इस प्रकार इसके द्वारा वह यजमान को पवित्र बनाता है। यह एक प्रकार का जल है। इसी को वह लाता है ॥१३॥

अब तालाब का जल लेता है—"मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम प्रसन्न हो राष्ट्र के देनेवाले, मुझे राष्ट्र दो। तुम प्रसन्न हो राष्ट्र के देनेवाले, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।" इनसे अभिषेक करता है। इनसे प्रजा को इष्ट और आज्ञाकारी बनाता है। ये एक प्रकार के जल हैं, इनको लाता है ॥१४॥

अब वह कुएँ के जल को लाता है—"व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४०)—"तुम बाड़े में बन्द दो, राष्ट्र के देनेवाले हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम बाड़े में बन्द हो, राष्ट्र के देनेवाले हो, अमुक पुरुष को राज्य दो।" वह इनसे अभिषेक करता है। इस प्रकार उन जलों को लाता है, जो (पृथिवी के) उस पार हैं। इनको वह जलों की पूर्णता (सर्वत्व) के लिए भी करता है। ये एक प्रकार के जल हैं। इनको वह लाता है ॥१५॥

अब वह ओस को लेता है—"वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम वश में रहनेवाले, राष्ट्र के देनेवाले हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम वश में रहनेवाले, राष्ट्र के देनेवाले हो, अमुक पुरुष को राज्य दो।" इनसे अभिषेक करता है। मानो वह इसका अन्न से अभिषेक करता है। उसमें अन्न को धारण कराता है। जैसे अग्नि (लकड़ी को) जला देती है, इसी प्रकार सूर्य भी जब चमकता है, तो ओषधियों को जला देता है। जब यह (ओस का) जल पड़ता है, तो यह उस दाह को शान्त कर देता है। यदि यह न पड़ता तो अन्न न बचता। इस प्रकार मानो अन्न से ही इसका अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं, जिनको वह लाता है ॥१६॥

अब मधु (शहद) को लेता है—"शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम बड़े प्रबल हो, राष्ट्र के देनेवाले, मुझे राष्ट्र दो। तुम बड़े प्रबल हो, राष्ट्र के देनेवाले, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।" इनसे अभिषेक करता है। मानो वह जलों और ओषधियों के रस से अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं, उनको लाता है ॥१७॥

अब वह जनती हुई गाय के निकलते हुए पानी को लेता है—"शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम बलवान् हो, राष्ट्र के देनेवाले, मुझे राष्ट्र दो। तुम बलवान् हो, राष्ट्र के देनेवाले, अमुक पुरुष को राज्य दो।" इनसे अभिषेक करता है, मानो इसका पशुओं से अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं,

षिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१८॥ अथ पयो गृह्णाति । जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति पशुभिरेवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥१९॥ अथ घृतं गृह्णाति । विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति पशूनामेवैनमेतद्रसेनाभिषिञ्चत्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥२०॥ अथ मरीचीः । अञ्जलिना संगृह्यापिसृजत्यापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेत्येता वाऽआपः स्वराजो यन्मरीचयस्ता यत्स्यन्दत्तऽइवान्योऽन्यस्या एवैतच्छ्रियाऽअतिष्ठमाना उत्तराधरा-इव भवन्त्यो यन्ति स्वाराज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्येता वाऽएका आपस्ता एवैतत्सम्भरति ॥२१॥ ता वाऽएताः । सप्तदशापः सम्भरति सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तस्मात्सप्तदशापः सम्भरति ॥२२॥ षोडश ता आपो या अभिजुहोति । षोडशाहुतीर्जुहोति ता द्वात्रिंशद्द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु च मरीचिषु च ताश्चतुस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशस्तदेनं प्रजापतिं करोति ॥२३॥ अथ यज्जुह्वा-जुह्वा गृह्णाति । वज्रो वाऽआज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृत्वा-स्पृत्वा स्वीकृत्य गृह्णाति ॥२४॥ अथ यत्सारस्वतीषु न जुहोति । वाग्वै सरस्वती वज्र आज्यं नेद्वज्रेणाज्येन वाचं हिनसानीति तस्मात्सारस्वतीषु न जुहोति ॥२५॥ अथ यन्मरीचिषु न जुहोति । नेदनद्धेवेतामाहुतिं जुहवानीति तस्मान्मरीचिषु न जुहोति ॥२६॥ ताः सार्धमौदुम्बरे पात्रे समवनयति । मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति रसवती रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति तत्परोऽक्षं क्षत्रं यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति ॥२७॥ ता अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यं सादयति । अनाधृष्टाः सीदत सहौजस इत्यनाधृष्टाः सीदत रक्षोभिरित्येवैतदाह सहौजस इति सवीर्या इ-

जिनको ग्रहण करता है ।।१८।।

अब वह दूध को लेता है—"जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। जनभृतथ स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"तुम जनों के पालक, राष्ट्र के दाता हो, मुझे राष्ट्र दो। जनों के पालक, राष्ट्र के दाता हो, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।" इससे उसका अभिषेक करता है। मानो पशुओं से इसका अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं, जिनको लाता है ।।१९।।

अब घी को लाता है—"विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त"(यजु० १०।४)—"संसार के पालक, राष्ट्र के देनेवाले हो, मुझे राष्ट्र दो। संसार के पालक, राष्ट्र के देनेवाले हो, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।" इनसे इसका अभिषेक करता है। मानो यह पशुओं के रस से अभिषेक करता है। एक प्रकार के जल ये भी हैं, जिनको लेता है ।।२०।।

अब मरीची अर्थात् सूर्य की किरणों को अंजलि में लेकर जलों में मिलाता है—"आप: स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त" (यजु० १०।४)—"हे जलो, तुम स्वराज अर्थात् स्वयं चमकनेवाले, राष्ट्र देनेवाले हो। राष्ट्र को अमुक पुरुष को दो।" ये जो मरीची हैं, वे 'स्वराज आप:' अर्थात् स्वयं चमकनेवाले जल हैं; क्योंकि ये एक-दूसरे के आश्रित न होते हुए बहते हैं, कभी ऊपर कभी नीचे। वह इस प्रकार इस (यजमान राजा) में स्वराज स्थापित करता है। एक प्रकार के जल ये भी हैं, जिनको लाता है ।।२१।।

ये सत्रह तरह के जल हुए, जिनको लाता है। प्रजापति सत्रह के अंकवाला है। यज्ञ प्रजापति है। इसलिए सत्रह प्रकार के जलों का सम्पादन करता है ।।२२।।

सोलह प्रकार के जलों को अर्पण करता है। सोलह आहुतियाँ देता है। ये बत्तीस हुए। दो की आहुति नहीं देता—सरस्वती के जलों और मरीची के जलों की। ये ३४ हुए। ३३ देव हैं, प्रजापति ३४वाँ है। इस प्रकार वह इस यजमान को प्रजाओं का पति बनाता है ।।२३।।

प्रत्येक आहुति के पीछे जलों को क्यों लेता है? घी वज्र है। इसी घी-रूपी वज्र से इनको जीतकर अपना कर लेता है ।।२४।।

सरस्वती के जलों की आहुति क्यों नहीं देता? सरस्वती वाणी है। घी-रूप वज्र है। ऐसा नहीं कि घी-रूपी वज्र से वाणी को हानि पहुँचावे। इसलिए सरस्वती के जलों की आहुति नहीं देता ।।२५।।

मरीचियों की आहुति क्यों नहीं देता? इसलिए कि शायद संदिग्ध स्थान में आहुति न हो जाय। इसलिए मरीचियों की आहुति नहीं देता ।।२६।।

इन सबको उदुम्बर के पात्र में मिलाता है—"मधुमतीर्मधुमतीभि: पृच्यन्ताम्" (यजु० १०।४)—"मधुवाली मधुवालियों से मिलें।" अर्थात् रसवाली रसवालियों से मिलें। "महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना"(यजु० १०।४)—"क्षत्रिय के लिए बड़े क्षत्र को जीतनेवाले।" यह इसलिए कहता है कि परीक्षा-रीति से यजमान के लिए क्षत्रियत्व का आशीर्वाद देता है ।।२७।।

वह मित्र-वरुण के कुण्ड के आगे इनको रखता है—"अनाधृष्टा: सीदत सहौजस:"(यजु० १०।४)— "विना बिगाड़े हुए, शक्तिवाले, बैठिये।" तात्पर्य यह है कि राक्षस लोग तुमको

त्यैवैतदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति तत्प्रत्यक्षं क्षत्रं यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.४.] ॥॥

तं वै माध्यंदिने सवनेऽभिषिञ्चति । एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति ॥१॥ अगृहीते माहेन्द्रे । एष वाऽइन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यं शस्त्रमिन्द्रो वै यजमानस्तदेनꣳ स्वऽएवायतनेऽभिषिञ्चति तस्मादगृहीते माहेन्द्रे ॥२॥ अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यꣳ । शार्दूलचर्मोपस्तृणाति सोमस्य त्विषिरसीति यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिस्तस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति तवेव मे त्विषिर्भूयादिति शार्दूलत्विषिमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाह तवेव मे त्विषिर्भूयादिति ॥३॥ अथ पार्थानि जुहोति । पृथी ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे सोऽकामयत सर्वमन्नाद्यमवरुन्धीयेति तस्माऽएतान्यजुहवुः स इदꣳ सर्वमन्नाद्यमवरुरुधेऽपि ह स्मास्माऽआरण्यान्पशूनभिह्वयन्त्यसावेहि राजा त्वा पश्यतऽइति तथेदꣳ सर्वमन्नाद्यमवरुरुधे सर्वꣳ ह वाऽअन्नाद्यमवरुन्द्धे यस्यैवं विदुष एतानि हूयन्ते ॥४॥ तानि वै द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्माद्द्वादश भवन्ति ॥५॥ षट् पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति । षडुपरिष्टात्तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति ॥६॥ स यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति । बृहस्पतिस्तेषामुत्तमो भवत्यथ यान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोतीन्द्रस्तेषां प्रथमो भवति ब्रह्म वै बृहस्पतिरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र एताभ्यामेवैनमेतद्वीर्याभ्यामुभयतः परिबृꣳहति ॥७॥ स जुहोति । यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहेति तेजो वाऽअग्निस्तेजसैवैनमेतदभिषिञ्चति सोमाय स्वाहेति क्षत्रं वै सोमः क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चति सवित्रे स्वाहेति सविता वै

बिगाड़ न सकें और तुम पराक्रम-शील होओ। "महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधती:" (यजु० १०।४)– "क्षत्रिय को अधिक शक्ति प्रदान करते हुए।" ऐसा कहने से मानो क्षत्रिय के लिए प्रत्यक्ष रूप से शक्ति के लिए आशीर्वाद देता है ॥२८॥

अथ यजमानाभिषेकधर्मा

अध्याय ३—ब्राह्मण ५

उसका अभिषेक दोपहर के सवन में किया जाता है। यह जो यज्ञ यहाँ किया जाता है, वही प्रजापति है, जिससे ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार आजकल भी उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वह उस (यजमान) को उस प्रजापति के मध्य में रखता है, और मध्य में ही उसको दीक्षित करता है ॥१॥

माहेन्द्र ग्रह इन्द्र का निज ग्रह है और निष्केवल्य स्तोत्र भी और निष्केवल्य शस्त्र भी। और यजमान इन्द्र है। इस प्रकार वह उसका उसीके घर में अभिषेक करता है। इसलिए माहेन्द्र ग्रह लेने से पूर्व—॥२॥

मित्र-वरुण के कुण्ड पर सिंह का चमड़ा बिछाता है—"सोमस्य त्विषिरसि" (यजु० १०।४)—"तू सोम की दीप्ति (सौंदर्य) है।" क्योंकि जब सोम इन्द्र में होकर बहा, तो उससे सिंह उत्पन्न हुआ। उसी से सोम की दीप्ति है। इसलिए कहा कि 'तू सोम की दीप्ति है।' 'मेरा सौन्दर्य तेरा हो जाय।' इस प्रकार वह सिंह की दीप्ति को उसमें धारण कराता है। इसीलिए कहता है कि तेरी दीप्ति के समान मेरी दीप्ति हो जाय ॥३॥

अब पार्थ आहुतियों को देता है। पृथु वैन्य पहला मनुष्य था, जिसका अभिषेक हुआ। उसने चाहा कि सब अन्न उसी का हो जाय। उन्होंने उसके लिए वे आहुतियाँ दीं और उसने इस पृथिवी का सभी अन्न अपना लिया। उन्होंने जंगली पशुओं को भी एक-एक करके बुलाया– 'हे पशु! (नाम लेकर) तू आ। राजा तुझको पकायेगा।' इस प्रकार उसने पृथिवी पर का सभी अन्न अपना कर लिया। इसी प्रकार जो इस रहस्य को समझकर, जिसके लिए आहुति देते हैं, वह पुरुष यहाँ के सभी अन्न को अपना लेता है ॥४॥

ये (पार्थ आहुतियाँ) बारह होती हैं। संवत्सर के १२ मास होते हैं। इसलिए १२ आहुतियाँ होती हैं ॥५॥

छ: आहुतियाँ अभिषेक के पहले दी जाती हैं और छ: पीछे। इस प्रकार वह उसको प्रजापति के मध्य में रख देता है और मध्य में उसको दीक्षित करता है ॥६॥

जो आहुतियाँ अभिषेक के पहले दी जाती हैं उनमें बृहस्पति की सबसे पिछली होती है, और जो अभिषेक के बाद दी जाती हैं उनमें इन्द्र की सबसे पहली होती है। बृहस्पति ब्रह्म है और इन्द्र वीर्य है। इस प्रकार वह उस यजमान को दोनों ओर से दो शक्तियों से युक्त कर देता है ॥७॥

अब वह आहुतियाँ देता है। जो आहुतियाँ अभिषेक से पहले दी जाती हैं उनको इन मन्त्रों से देता है —"अग्नये स्वाहा" (यजु० १०।५)—क्योंकि अग्नि तेज है। तेज से उसका अभिषेक करता है। "सोमाय स्वाहा" (यजु० १०।५)—सोम क्षत्र है। क्षत्र से उसका अभिषेक करता है। "सवित्रे स्वाहा" (यजु० १०।५)—सविता देवों का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से

देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैनमेतदभिषिञ्चति सरस्वत्यै स्वाहेति वाग्वै सरस्वती वाचैवैनमेतदभिषिञ्चति पूष्णे स्वाहेति पशवो वै पूषा पशुभिरेवैनमेतदभिषिञ्चति बृहस्पतये स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येतानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति तान्येतान्यग्निनामानीत्याचक्षते ॥८॥ अथ जुहोति । यान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोतीन्द्राय स्वाहेति वीर्यं वा इन्द्रो वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चति घोषाय स्वाहेति वीर्यं वै घोषो वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चति श्लोकाय स्वाहेति वीर्यं वै श्लोको वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्यꣳशाय स्वाहेति वीर्यं वा अꣳशो वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चति भगाय स्वाहेति वीर्यं वै भगो वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्यर्यम्णे स्वाहेति तदेनमस्य सर्वस्यार्यमणं करोत्येतान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोति तान्येतान्यादित्यनामानीत्याचक्षते ॥९॥ अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम् । अभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति यत्रैता आपोऽभिषेचनीया भवन्ति ॥१०॥ पालाशं भवति । तेन ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतदभिषिञ्चति ॥११॥ औदुम्बरं भवति । तेन स्वोऽभिषिञ्चत्यन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्ग्वै स्वं यावद्वै पुरुषस्य स्वं भवति नैव तावदशनायति तेनोर्क्स्वं तस्मादौदुम्बरेण स्वोऽभिषिञ्चति ॥१२॥ नैयग्रोधपादं भवति । तेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति पद्भिर्वै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितो मित्रेण वै राजन्यः प्रतिष्ठितस्तस्मान्नैयग्रोधपादेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति ॥२३॥ आश्वत्थं भवति । तेन वैश्योऽभिषिञ्चति स यदेवादोऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत तस्मादाश्वत्थेन वैश्योऽभिषिञ्चत्येतान्यभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति ॥१४॥ अथ पवित्रे करोति । पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति सोऽसावेव बन्धुस्तयोर्हिरण्यं प्रवयति ताभ्यामेता अभिषेचनीया अप उत्पुनाति तद्यद्धिरण्यं प्रवयत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदा स्वमृतमायुर्दधाति तस्माद्धिरण्यं प्रवयति ॥१५॥ स उत्पुनाति । सवितुर्वः प्रसव

इसका अभिषेक करता है। "सरस्वत्यै स्वाहा" (यजु० १०।५)—सरस्वती वाणी है। वाणी से उसका अभिषेक करता है। "पूष्णे स्वाहा" (यजु० १०।५)—पशु पूषा हैं। पशुओं से उसका अभिषेक करता है। "बृहस्पतये स्वाहा" (यजु० १०।५)—ब्रह्म बृहस्पति है। ब्रह्म से उसका अभिषेक करता है। ये आहुतियाँ अभिषेक से पहले दी जाती हैं। इनको अग्नि-नामक आहुतियाँ कहते हैं ॥८॥

अब अभिषेक के पीछे जो आहुतियाँ दी जाती हैं, वे इन मन्त्रों से—"इन्द्राय स्वाहा" (यजु० १०।५)—पराक्रम (वीर्य) का नाम इन्द्र है। पराक्रम के द्वारा उसका अभिषेक करता है। "घोषाय स्वाहा" (यजु० १०।५)—पराक्रम का नाम घोष है। पराक्रम के द्वारा उसका अभिषेक करता है। "श्लोकाय स्वाहा" (यजु० १०।५)—पराक्रम का नाम श्लोक है। पराक्रम के द्वारा उसका अभिषेक करता है। "अंशाय स्वाहा" (यजु० १०।५)—वीर्य का नाम अंश है। वीर्य के द्वारा अभिषेक करता है। "भगाय स्वाहा" (यजु० १०।५)—वीर्य का नाम भग है। वीर्य के द्वारा उसका अभिषेक करता है। "अर्यम्णे स्वाहा" (यजु० १०।५)— इस प्रकार वह उसको सबका अर्यमा या मित्र बनाता है। ये आहुतियाँ अभिषेक के पीछे दी जाती हैं और इनका नाम आदित्य है ॥९॥

मित्र-वरुण के कुण्ड के सामने अभिषेक के पात्र रक्खे जाते हैं और उनमें अभिषेक का जल रक्खा रहता है ॥१०॥

एक पात्र पलाश का होता है। उससे ब्राह्मण अभिषेक करता है। पलाश ब्रह्म है। ब्रह्म से ही उसका अभिषेक करता है ॥११॥

एक पात्र उदुम्बर का होता है। उससे उसी का वंशज अभिषेक करता है। उदुम्बर कहते हैं अन्न या ऊर्ज को। ऊर्ज ही पुरुष की अपनी चीज है। जहाँ तक पुरुष में अपनापन रहता है, वह भूखों नहीं मरता और उसकी स्थिति बनी रहती है। इसलिए उदुम्बर के पात्र से उसका वंशज अभिषेक करता है ॥१२॥

एक पात्र न्यग्रोध के तले (जड़?) का होता है। इससे क्षत्रिय-मित्र अभिषेक करता है। न्यग्रोध वृक्ष अपने पैरों या जड़ों की सहायता से स्थित रहता है और राजा भी मित्र-क्षत्रियों की सहायता से स्थित रहता है। इसलिए न्यग्रोध की जड़ों के पात्र से क्षत्रिय-मित्र अभिषेक करता है ॥१३॥

एक पात्र अश्वत्थ का होता है। इससे वैश्य अभिषेक करता है। पहले इन्द्र ने जब मरुतों को बुलाया, तो वे अश्वत्थ पर बैठे थे। इसलिए अश्वत्थ के पात्र से वैश्य अभिषेक करता है। ये अभिषेक के पात्र होते हैं ॥१४॥

अब वह दो पवित्रे बनाता है—"पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ" (यजु० १०।६)—"तुम दो पवित्र करनेवाले और स्वयं विष्णु से सम्बन्ध रखनेवाले हो।" इसका तात्पर्य वही है। उनमें (सोने के तार) बींधता है। इनसे वह अभिषेक के जलों को शुद्ध करता है। सोने के तार क्यों पिरोता है? सोना अमृत-जीवन है। इन जलों में वह अमृत-जीवन का प्रवेश करता है, इसलिए सोने के तार पिरोता है ॥१५॥

वह इस मन्त्र से पवित्र करता है—"सवितुर्वः प्रसव ऽ उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य

ऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सोऽसावेव बन्धुरनिभृष्टमसि
वाचो बन्धुस्तपोजा इत्यनाधृष्टा स्थ रक्षोभिरित्येवैतदाह यदाहानिभृष्टमसीति
वाचो बन्धुरिति यावद्धि प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति तस्मादाह वाचो
बन्धुरिति ॥१६॥ तपोजा इति । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता
जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति ॥१७॥ सोमस्य दात्रमसीति । यदा वा एनमेता-
भिरभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति तस्मादाह सोमस्य दात्रमसीति स्वाहा राजस्व इति
तदेनाः स्वाहाकारेणैवोत्पुनाति ॥१८॥ ता एतेषु पात्रेषु व्यानयति । सधमादो
द्युम्निनीराप एता इत्यनतिमानिन्य इत्येवैतदाह यदाह सधमाद इति द्युम्निनीरा-
प एता इति वीर्यवत्य इत्येवैतदाहानाधृष्टा अपस्यो वसाना इत्यनाधृष्टा स्थ र-
क्षोभिरित्येवैतदाह यदाहानाधृष्टा अपस्यो वसाना इति पस्त्यासु चक्रे वरुणः
सधस्थमिति विशो वै पस्त्या विक्षु चक्रे वरुणः प्रतिष्ठामित्येवैतदाहापाꣳ शि-
शुर्मातृतमास्वन्तरित्यपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते तस्मादाहापाꣳ
शिशुर्मातृतमास्वन्तरिति ॥१९॥ अथैनं वासाꣳसि परिधापयति । तत्तार्प्यमिति
वासो भवति तस्मिन्त्सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति तदेनं परिधापयति
क्षत्रस्योल्बमसीति तद्यदेव क्षत्रस्योल्बं तत एवैनमेतज्जनयति ॥२०॥ अथैनं
पाण्ड्वं परिधापयति । क्षत्रस्य जराय्वसीति तद्यदेव क्षत्रस्य जरायु तत एवैनमेत-
ज्जनयति ॥२१॥ अथाधीवासं प्रतिमुञ्चति । क्षत्रस्य योनिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य
योनिस्तस्या एवैनमेतज्जनयति ॥२२॥ अथोष्णीषꣳ संहृत्य । पुरस्तादवगूहति
क्षत्रस्य नाभिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य नाभिस्तामेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥२३॥ तद्धैके । समन्तं
परिवेष्टयन्ति नाभिर्वा अस्यैषा समन्तं वा इयं नाभिः पर्येतीति वदन्तस्तदु तथा
न कुर्यात्पुरस्तादेवावगूहेत्पुरस्ताद्धीयं नाभिस्तद्यदेनं वासाꣳसि परिधापयति ज-
नयत्येवैनमेतज्जातमभिषिञ्चानीति तस्मादेनं वासाꣳसि परिधापयति ॥२४॥ तद्धै-

रश्मिभिः" (यजु० १०।६)—"सविता की प्रेरणा से दोष-रहित पवित्रे से सूर्य की रश्मियों द्वारा पवित्र करता हूँ।" इसका भी वही तात्पर्य है। "अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः" (यजु० १०।६)—"तू भृष्ट नहीं है, वाणी और बन्धु और तप से उत्पन्न हुआ।" इसका अर्थ है कि राक्षस तुमको भ्रष्ट नहीं कर सके, इसलिए 'अनिभृष्ट' कहा। जब तक प्राणों में जल रहते हैं, तब तक वाणी से बोलते हैं। इसलिए वाणी का बन्धु कहा ॥१६॥

'तपोजा' इसलिए कहा कि अग्नि से भाप बनती है, भाप से बादल, बादल से वर्षा, ये सब अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए 'तपोजा' कहा ॥१७॥

"सोमस्य दात्रमसि" (यजु० १०।६) —"तू सोम का भाग है।" क्योंकि जब वे जलों से उसका अभिषेक करते हैं, तब एक आहुति देते हैं। "स्वाहा राजस्वः" (यजु० १०।६) —इस प्रकार 'स्वाहाकार' से उसको पवित्र करता है ॥१८॥

उन जलों को इन पात्रों में बाँटता है—"सधमादो द्युम्निनीराप ऽ एताः" (यजु० १०।७)–ये जल साथी और वीरयुक्त हैं। सदमाद या साथी कहने से तात्पर्य यह है कि वह अति-मानिन्य अर्थात् एक-दूसरे पर अपने को बड़ाई प्राप्त करानेवाले नहीं हैं। द्युम्निनी का अर्थ है वीर्यवान्। "अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः" (यजु० १०।७)—'अनाधृष्टा' का अर्थ है न बिगड़े हुए। 'अपस्यः' का अर्थ है काम करते हुए। 'वसानाः' का अर्थ है ढके हुए। तात्पर्य यह है कि राक्षस इन जलों को बिगाड़ नहीं पाये। "पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम्" (यजु० १०।७)—"घरों में वरुण ने निवास किया।" विश् अर्थात् जनसमुदाय को 'पस्त्या' कहा है; तात्पर्य यह है कि वरुण लोगों की सहायता करता है। "अपाँ शिशुर्मातृतमास्वन्तः" (यजु० १०।७)–"जलों का शिशु सबसे अच्छी माताओं के भीतर।" जो राजसूय यज्ञ करता है 'वह जलों का बेटा' ही है। इसीलिए ऐसा कहा ॥१९॥

अब वह इस (राजा) को वस्त्र पहनवाता है। एक तो 'तार्प्य' होता है। उसमें सब यज्ञ-सम्बन्धी चित्र सिले रहते हैं। इस मन्त्र से पहनाता है–"क्षत्रस्योल्बमसि" (यजु० १०।८)–"तू क्षत्र का 'उल्ब' या झिल्ली (जिसमें बच्चा उत्पन्न होता है) है।" इस प्रकार वह उसको क्षत्रियत्व के उल्ब में से उत्पन्न कराता है ॥२०॥

अब वह उसको बिना रंगी ऊन का कपड़ा पहनाता है—"क्षत्रस्य जराय्वसि" (यजु० १०।८)—"क्षत्रियत्व का जरायु है तू।" इस प्रकार वह जरायु में से उसे उत्पन्न कराता है ॥२१॥

वह ऊपर के वस्त्र को पहनाता है—"क्षत्रस्य योनिरसि" (यजु० १०।८)—"क्षत्रियत्व की योनि है तू।" इस प्रकार क्षत्रियत्व की योनि में से उसे उत्पन्न कराता है ॥२२॥

अब उष्णीष अर्थात् सिर की पट्टी को लेकर आगे की ओर बाँधता है—"क्षत्रस्य नाभिरसि" (यजु० १०।८)—"क्षत्रियत्व की नाभि है तू।" इसी क्षत्रियत्व की नाभि में वह उसको रखता है ॥२३॥

कुछ लोग उसको चारों ओर लपेटते हैं। वे कहते हैं कि यह इसकी नाभि है और चारों ओर जाती है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उसको केवल आगे टाँक लेना चाहिए। नाभि भी तो आगे टँकी हुई है। वह उसको वस्त्र क्यों पहनवाता है? वह उसको जनवाता है। क्योंकि जब वह जना जायेगा, तो उसका अभिषेक होगा। इसलिए कपड़े पहनवाता है ॥२४॥

के । निदधत्येतानि वासाꣳस्यथैनं पुनर्दीक्षितवसनं परिधापयन्ति तदु तथा न
कुर्यादङ्गानि वाऽअस्य तनूर्वासाꣳस्यङ्गैरेनꣳ सतन्वा तन्वा व्यर्धयन्ति वरुण्यं दी-
क्षितवसनꣳ स एतेषामेवैकं वाससां परिदधीत तदेनमङ्गैस्तन्वा तन्वा समर्धयति
वरुण्यं दीक्षितवसनं तदेनं वरुण्याद्दीक्षितवसनात्प्रमुञ्चति ॥२५॥ स यत्रावभृथम-
भ्यवैति । तदेतदभ्यवहरन्ति तत्सलोम क्रियते स एतेषामेवैकं वाससां परिधा-
योदैति तानि वशायै वा वपायाꣳ हुतायां दद्यादुदवसानीयायां वेष्टौ ॥२६॥
अथ धनुरधितनोति । इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसीति वार्त्रघ्नं वै धनुरिन्द्रो वै यजमानो
द्वयेन वाऽएष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वार्त्र-
घ्नमसीति ॥२७॥ अथ बाहू विमार्ष्टि । मित्रस्यासि वरुणस्यासीति बाहू वै धनु-
र्बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मादाह मित्रस्यासि वरुणस्यासीति तदस्मै प्र-
यच्छति त्वयायं वृत्रं बधेदिति त्वयायं द्विषन्तं भ्रातृव्यं बधेदित्येवैतदाह ॥२८॥ अ-
थास्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति । स यया प्रथमया समर्पणेन पराभिनत्ति सैका सेयं पृ-
थिवी सैषा दृबा नामाथ यया विद्धः शयित्वा जीवति वा म्रियते वा सा द्वितीया
तदिदमन्तरिक्षꣳ सैषा रुजा नामाथ ययापैव राध्नोति सा तृतीया सासौ द्यौः सैषा
क्षुमा नामैता हि वै तिस्र इषवस्तस्मादस्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति ॥२९॥ ताः प्रय-
च्छति । पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पातेति तदस्मै सर्वा
एव दिशोऽशरव्याः करोति तद्यदस्मै धनुः प्रयच्छति वीर्यं वाऽएतद्राजन्यस्य यद्ध-
नुर्वीर्यवन्तमभिषिञ्चानीति तस्माद्वाऽअस्माऽआयुधं प्रयच्छति ॥३०॥ अथैनमाविदो
वाचयति । आविर्मर्या इत्यनिरुक्तं प्रजापतिर्वाऽअनिरुक्तस्तदेनं प्रजापतयऽआवि-
दयति सोऽस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥३१॥ आवित्तोऽअग्निर्गृहपति-
रिति । ब्रह्म वाऽअग्निस्तदेनं ब्रह्मणाऽआवेदयति तदस्मै सवमनुमन्यते तेनानु-
मतः सूयते ॥३२॥ आवित्तोऽइन्द्रो वृद्धश्रवा इति । क्षत्रं वाऽइन्द्रस्तदेनं क्षत्रा-

कुछ लोग इन वस्त्रों को उतरवाकर दीक्षा के वस्त्रों को फिर पहनवाते हैं। परन्तु ऐसा न करे। ये जो कपड़े हैं वे उसके अंग हैं। उन अंगों से उसको वंचित करता है, अर्थात् उत्पन्न हुए शरीर से। दीक्षित वस्त्र वरुण्य (वरुण का) है। उन्हीं को वेह पहने। इस प्रकार (पुरोहित) यजमान को अंगों और शरीर से सम्पन्न करता है। दीक्षित वस्त्र वरुण का है। इस प्रकार वह उसको वरुण के दीक्षित वस्त्र से छुड़ाता है ॥२५॥

जब वह स्नानागार में पहुँचता है, तो वे उस वस्त्र को जल में फेंक देते हैं। यह क्रिया सुसंगत है। वह इन्हीं वस्त्रों में से एक को धारण करके बाहर निकलता है। वह इनको दे डाले या तो वपा की आहुति होने पर, या इष्टि की पूर्ति पर ॥२६॥

अब वह (अध्वर्यु) धनुष पर चिल्ला चढ़ाता है। इस मन्त्र को पढ़कर—"इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि" (यजु० १०।८)—क्योंकि धनु वार्त्रघ्न अर्थात् "वृत्र का घातक है।" यजमान इन्द्र है। वह दो प्रकार से इन्द्र है, क्षत्रिय होने से और यजमान होने से। इसीलिए कहा कि इन्द्र का वार्त्रघ्न है ॥२७॥

अब वह भुजाओं को मलता है इस मन्त्र से—"मित्रस्यासि वरुणस्यासि" (यजु० १०।८)—क्योंकि धनु दो भुजाओं के बीच में है। इन भुजाओं से क्षत्रिय मित्र और वरुण होता है। इसीलिए कहा कि "तू मित्र का है और वरुण का है।" वह उसको दे देता है इस मन्त्र से—"त्वयायं वृत्रं वधेत्" (यजु० १०।८)—अर्थात् "तेरी सहायता से यह अपने शत्रु को मारे।" ऐसा तात्पर्य है ॥२८॥

अब वह उसको तीन तीर देता है। पहला तीर वह है जिससे भेदन करता है। वह पृथिवी है। उसका नाम दृबा है। दूसरा वह है जिसके भेदन से लेट जाता है, जीता है, या मरता है। वह अन्तरिक्ष है। वह रुजा है। और तीसरा वह है जो चूक जाता है। वह द्यौ है। वह क्षुमा है। ये तीन प्रकार के तीर होते हैं, इसलिए उसको ये तीन तीर देता है। (देखो यजु० १०।८ "दृबासि, रुजासि, क्षुमासि") ॥२९॥

वह इनको इस मन्त्र से देता है—"पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात" (यजु० १०।८)—"उसकी आगे की ओर रक्षा करो, पीछे की ओर रक्षा करो, बगल की ओर रक्षा करो, सब ओर रक्षा करो।" इस प्रकार वह उसके लिए सब दिशायें बाणों से रहित (अशरव्या) कर देता है। उसको धनु क्यों देता है? यह जो धनु है वह क्षत्रिय का बल है। ऐसा करने में उसका विचार है कि 'मैं बलवान् का अभिषेक करूँ।' इसीलिए उसको वह अस्त्र देता है ॥३०॥

अब उससे इस 'आविद' को बचवाता है—"आविर्मर्याः" (यजु० १०।९)—"हे मनुष्यो! सामने।" यह स्पष्ट नहीं है। प्रजापति भी स्पष्ट नहीं। इस प्रकार वह उसका प्रजापति के लिए आवेदन करता है। इस प्रकार उसकी सवन के लिए अनुमति हो जाती है, और उसी अनुमति से उसकी दीक्षा होती है ॥३१॥

"आवित्तो ऽ अग्निर्गृहपतिः" (यजु० १०।९)—"गृहपति अग्नि उपस्थित है।" अग्नि ब्राह्मण है। इस प्रकार ब्राह्मण से उसका आवेदन करता है। उसी की अनुमति से सवन होता है। उसकी अनुमति से दीक्षित होता है ॥३२॥

"आवित्त ऽ इन्द्रो वृद्ध श्रवा" (यजु० १०।९)—"बहुत कीर्तिवाला इन्द्र उपस्थित है।"

यावेदयति तदस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥३३॥ आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति । प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यामावेदयति तावस्मै सवमनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते ॥३४॥ आवित्तः पूषा विश्ववेदा इति । पशवो बै पूषा तदेनं पशुभ्य आवेदयति तेऽस्मै सवमनुमन्यन्ते तैरनुमतः सूयते ॥३५॥ आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवाविति । तदेनमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामावेदयति तेऽअस्मै सवमनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते ॥३६॥ आवित्तादितिरुरुशर्मेति । इयं वै पृथिव्यदितिस्तदेनमस्यै पृथिव्याऽआवेदयति सास्मै सवमनुमन्यते तयानुमतः सूयते तद्याभ्य एवैनमेतद्देवताभ्य आवेदयति ता अस्मै सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते ॥३७॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [३. ५.] ॥ ॥ तृतीयो ऽध्यायः [३३.] ॥ ॥

केशवस्य पुरुषस्य । लोहायसमास्यऽआविध्यत्यवेष्टा दन्दशूका इति सर्वान्वा ऽएष मृत्यूनतिमुच्यते सर्वान्बधान्यो राजसूयेन यजते तस्य जरैव मृत्युर्भवति तद्यो मृत्युर्यो बधस्तमेवैतदतिनयति यद्दन्दशूकान् ॥१॥ अथ यत्केशवस्य पुरुषस्य । न वाऽएष स्त्री न पुमान्यत्केशवः पुरुषो यदह पुमांस्तेन न स्त्री यदु केशवस्तेनो न पुमान्नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसं नैते क्रिमयो नाक्रिमयो यद्दन्दशूका अथ यल्लोहायसं भवति लोहिता-इव हि दन्दशूकास्तस्मात्केशवस्य पुरुषस्य ॥२॥ अथैनं दिशः समारोहयति । प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥३॥ दक्षिणामारोह । त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥४॥ प्रतीचीमारोह । जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥५॥ उदीचीमारोह । अनुष्टुप्त्वावतु वैराजꣳ सामैकविꣳश स्तोमः शरदृतुः फल द्रविणम् ॥६॥ ऊर्ध्वामारोह । पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशि-

इन्द्र क्षत्रिय है। इस प्रकार क्षत्रिय से उसका आवेदन करता है। उसी की अनुमति से सवन होता है। उसी की अनुमति से दीक्षित होता है ॥३३॥

"आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतौ" (यजु० १०।९)—"व्रतों के धारण करनेवाले मित्र और वरुण उपस्थित हैं।" प्राण और उदान मित्र और वरुण हैं। इस प्रकार प्राण और उदान से उसका आवेदन कराता है। उन्हीं की अनुमति से उसका सवन होता है। उन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है ॥३४॥

"आवित्तः पूषा विश्ववेदा" (यजु० १०।९)—पशु ही पूषा हैं। इस प्रकार पशुओं के लिए उसका आवेदन कराता है। वे ही दीक्षा की अनुमति देते हैं। उन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है ॥३५॥

"आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवौ" (यजु० १०।९)—"कल्याणकारी द्यौ और पृथिवी उपस्थित हैं।" इस प्रकार वह द्यौ और पृथिवी के लिए आवेदन कराता है। इन्हीं की अनुमति से यह सवन होता है। इन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है ॥३६॥

"आवित्ताऽदितिरुरुशर्मा" (यजु० १०।९)—"यह बड़ी रक्षिका अदिति उपस्थित है।" यह बड़ी रक्षिका अदिति है। इस प्रकार वह इस पृथिवी के लिए आवेदन करता है। उसी की अनुमति से सवन होता है, उसी की अनुमति से दीक्षित होता है। इस प्रकार जिन-जिन देवताओं के प्रति वह आवेदन कराता है, वे-वे देवता अनुमति देते हैं। उन्हीं की अनुमति से वह दीक्षित होता है ॥३७॥

लम्बकेशपुरुषमुखे लोहशलाकाप्रक्षेपः, सीसनिरसनं, रुक्मनिधानं च

अध्याय ४—ब्राह्मण १

केशवाले पुरुष (नपुंसक) के मुँह में तांबे का टुकड़ा रखके कहता है—"अवेष्टा दन्दशूकाः" (यजु० १०।१०)—"मृत्यु करनेवाले जन्तु अलग रहें।" जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब प्रकार की मृत्यु से बच जाता है और सब प्रकार के वध से। उसकी बुढ़ापे में ही मृत्यु होती है। इस प्रकार जो मौत हो, जो घात हो उससे यह (यजमान को) बचाता है, जैसे (सर्प आदि) घातकों से। (दन्दशूक सर्प आदि घातक वस्तुओं का नाम है) ॥१॥

केशव पुरुष क्यों लिया गया? इसलिए कि न यह स्त्री है न पुरुष। केशव पुरुष 'पुरुष' होता है, इसलिए स्त्री नहीं। चूँकि केशव (नपुंसक) है, इसलिए पुरुष नहीं। यह जो तांबा है, वह न लोहा है न सोना। और यह जो दन्दशूक सर्पादि हैं, वे तो क्रिमि हैं, न अक्रिमि। तांबा इसलिए कि दन्दशूक भी लाल-लाल होते हैं। इसलिए केशव के (मुँह में तांबा डालता है) ॥२॥

अब वह उसको दिशाओं में चढ़ाता है—"प्राचीमारोह गायत्री त्वाऽवतु रथन्तर ँ साम। त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऽ ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम्" (यजु० १०।१०)—"पूर्व की ओर चढ़। गायत्री तेरी रक्षा करे, रथन्तर साम, त्रिवृत् स्तोम। वसन्त ऋतु, ब्राह्मणरूपी धन (तेरी रक्षा करें)" ॥३॥

"दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वाऽवतु बृहत्साम। पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऽ ऋतुः क्षत्रं द्रविणम्" (यजु० १०।११)—"दक्षिण दिशा में चढ़। त्रिष्टुप् तेरी रक्षा करे। बृहत्साम, पन्द्रह स्तोम, ग्रीष्म ऋतु, क्षत्रियरूपी धन (तेरी रक्षा करें)" ॥४॥

"प्रतीचीमारोह जगती त्वाऽवतु वैरूप ँ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम्" (यजु० १०।१२)—"पश्चिम की ओर चढ़। जगती तेरी रक्षा करे। वैरूप साम, १७ स्तोम, वर्षा ऋतु, वैश्यरूपी धन (तेरी रक्षा करें) ॥५॥

"उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वाऽवतु वैराज ँ सामैकवि ँ श स्तोमः शरद् ऋतुः फलं द्रविणम्" (यजु० १०।१३)—"उत्तर की ओर चढ़। अनुष्टुप् तेरी रक्षा करे। वैराज साम, बीस स्तोम, शरद् ऋतु, यज्ञ का फलरूपी द्रव्य (तेरी रक्षा करें)" ॥६॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वाऽवतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रि ँ शौ स्तोमौ हेमन्त-शिशिरावृतू वर्चो द्रविणम्" (यजु० १०।१४)—"ऊपर की ओर चढ़, पङ्क्ति तेरी रक्षा करे। शाक्वर और रैवत दो साम, २७ और ३० स्तोम, हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतुएँ, वर्चस्रूपी

शिरावृत् वर्चो द्रविणमिति ॥७॥ तद्यदेनं दिशः समारोहयति। ऋतूनामेवैतद्रू-
पमृतूनेवैनमेतत्संवत्सरꣳ समारोहयति स ऋतूंत्संवत्सरꣳ समारुह्य सर्वमेवेदमु-
पर्युपरि भवत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति ॥८॥ शार्दूलचर्मणो जघनार्धे। सीसं
निहितं भवति तत्पदा प्रत्यस्यति प्रत्यस्तं नमुचेः शिर इति नमुचिर्ह वै नामा-
सुर आस तमिन्द्रो निविव्याध तस्य पदा शिरोऽभितष्ठौ स यदभिष्ठित उदबाधत
स उच्छ्वङ्कस्तस्य पदा शिरः प्रचिच्छेद ततो रक्षः समभवत्तद्धैनमनुभाषते क्व ग-
मिष्यसि क्व मे मोक्ष्यसऽइति ॥९॥ तत्सीसेनापजघान। तस्मात्सीसं मृदु सृतज-
वꣳ हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तस्माद्धिरण्यरूपꣳ सन्न किंचनार्हति सृतज-
वꣳ हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तद्वै स तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपजघान तथोऽएवै-
ष एतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति ॥१०॥ अथैनꣳ शार्दूलचर्मारोहयति। सोमस्य
त्विषिरसीति यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य
त्विषिस्तस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति तवेव मे त्विषिर्भूयादिति शार्दूलत्विषिमेवा-
स्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाह तवेव मे त्विषिर्भूयादिति ॥११॥ अथ रुक्ममधस्तादुपा-
स्यति। मृत्योः पाहीत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतऽआयुषि प्रतितिष्ठति ॥१२॥ अथ
रुक्मः शतवितृण्णो वा भवति। नववितृण्णो वा स यदि शतवितृण्णः शतायुर्वा
ऽअयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्माच्छतवितृण्णो यद्यु नववितृण्णो नवेमे पुरुषे
प्राणास्तस्मान्नववितृण्णः ॥१३॥ तमुपरिष्टाच्छीर्ष्णो निदधाति। ओजोऽसि सहो
ऽस्यमृतमसीत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदस्मिन्नमृतमायुर्दधाति तद्यद्रुक्माऽउभयतो भवतो
ऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतेनैवैनमेतदायुषोभयतः परिबृꣳहति तस्माद्रुक्माऽउभयतो
भवतः ॥१४॥ अथ बाहूऽउद्गृह्णाति। हिरण्यरूपाऽउषसो विरोकऽउभाविन्द्रो
ऽउदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं चेति बाहू
वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तस्तस्मादाहारोहतं वरुण मित्र गर्तमिति ततश्चक्षाथा-

धन (तेरी रक्षा करें)" ॥७॥

वह दिशाओं में उसको क्यों चढ़ाता है ? यह वस्तुतः ऋतुओं का रूप है। वह इस प्रकार उसको ऋतुओं और संवत्सर के ऊपर कर देता है। वह ऋतुओं और संवत्सर के ऊपर होकर सबके ऊपर हो जाता है। ये सब उसके नीचे होते हैं ॥८॥

सिंह-चर्म के पिछले भाग में सीसे का टुकड़ा रक्खा होता है। वह उसको पैर से ठोकर मारता है—"प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः" (यजु० १०।१४)—"नमुचि का सिर ठुकरा दिया गया।" नमुचि एक असुर था। इन्द्र ने उसको मारा और पैर से उसका सिर ठुकरा दिया। वह जो कुचला हुआ सिर सूज गया यही उछ्वङ्क है। उसने अपने पैर से उसका सिर छेदा। उससे एक राक्षस उत्पन्न हुआ। वह चिल्लाकर कहने लगा 'कहाँ जायेगा ? उनसे कहाँ बचेगा' ॥९॥

उसने उसको सीसे से मार भगाया। इसलिए सीसा कोमल होता है। क्योंकि उसने समस्त बल से (राक्षस को) मारा, इसलिए उसका जोर निकल गया। इसलिए यद्यपि सीसा सोने के रूप का होता है, परन्तु उसका कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि उसने समस्त बल लगाकर राक्षस को मारा। इन्द्र ने इस प्रकार सब राक्षसों को मारा। इसी प्रकार यह राजा भी राक्षसों को मार भगाता है ॥१०॥

अब वह उसको सिंह-चर्म के ऊपर चढ़ाता है। "सोमस्य त्विषिरसि" (यजु० १०।१५)—"तू सोम का सौन्दर्य है।" क्योंकि जब सोम इन्द्र में होकर बहा तो इन्द्र शेर हो गया। इसलिए वह सोम का सौन्दर्य है। इसीलिए वह कहता है कि तू इन्द्र का सौन्दर्य है। "तवेव मे त्विषिर्भूयात्" (यजु० १०।१५)—"तेरा-सा मेरा भी सौन्दर्य हो।" इस प्रकार वह उसको सिंह का सौन्दर्य देता है। इसलिए कहता है कि 'तेरा-सा मेरा भी सौन्दर्य हो' ॥११॥

(राजा के पैर के) तले वह एक सोने का टुकड़ा डाल देता है—"मृत्योः पाहि" (यजु० १०।१५)—"मृत्यु से बचा।" सोना अमर जीवन है। इस प्रकार वह अमर जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित होता है ॥१२॥

अब एक सोने का टुकड़ा होता है, जिसमें सौ छिद्र होते हैं या नौ छिद्र। यदि सौ छिद्र हुए तो सौ वर्ष की आयु होती है, सौ गुना तेज और सौ गुना पराक्रम होता है। इसलिए सौ छिद्र होते हैं। यदि नौ छिद्र हुए, पुरुष में ये नौ प्राण होते हैं, इसलिए नौ छिद्र हुए ॥१३॥

इससे सोने के टुकड़े को यह मन्त्र पढ़कर उसके सिर पर रखता है—"ओजोऽसि सहोऽसि अमृतमसि" (यजु० १०।१५)—"तू ओज है, तू शक्ति है, तू अमृत है।" सोना अमर जीवन है। इस प्रकार वह उसमें अमर जीवन का प्रवेश कराता है। दोनों ओर सोने के टुकड़े क्यों होते हैं ? इसलिए कि सोना अमर जीवन है। इस प्रकार वह उसको दोनों ओर से अमर जीवन से घेर देता है। इसीलिए दोनों ओर सोने के टुकड़े होते हैं ॥१४॥

अब वह अपनी भुजाएँ उठाता है—हिरण्यरूपा ऽ उषसो विरोक ऽ उभाविन्द्रा ऽ उदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च" (यजु० १०।१६)—"हे स्वर्ण-रूप ! तुम दोनों इन्द्र (स्वामी) उषा के निकलने पर सूर्य्य के साथ-साथ निकलते हो। हे वरुण ! और मित्र ! तुम रथ पर चढ़ो और वहाँ से अदिति तथा दिति को देखो।" भुजाएँ मित्र और वरुण हैं, और पुरुष रथ है। इसलिए वह कहता है कि 'हे मित्र ! और वरुण ! रथ पर चढ़ो

मदितिं दितिं चेति ततः पश्यत७ स्वं चारणं चेत्येवैतदाह ॥१५॥ नैतेनोदूह्लीयात् । मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोदूह्लीयाद्वाहू वै मित्रावरुणौ बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मान्मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोदूह्लीयात् ॥१६॥ तद्यदेनमूर्धबाहुमभिषिञ्चति । वीर्यं वाऽएतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्यं वाऽएतदपा७ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति नेन्मऽइदं वीर्यं वीर्यमपा७ रसः सम्भृतो बाहू व्लिनादिति तस्मादेनमूर्धबाहुमभिषिञ्चति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४. १.] ॥॥

तं वै प्राञ्चं तिष्ठन्तमभिषिञ्चति । पुरस्ताद्ब्राह्मणोऽभिषिञ्चत्यध्वर्युर्वा यो वास्य पुरोहितो भवति पश्चादितरे ॥१॥ सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामीति । वीर्येणैतदाहाग्नेर्भ्राजसेति वीर्येणैवैतदाह सूर्यस्य वर्चसेति वीर्येणैवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियेणेति वीर्येणैवैतदाह क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधीति राज्ञामधिराज एधीत्येवैतदाहाति दिद्यून्पाहीतीषवो वै दिद्यव इषुबधमेवैनमेतदतिनयति तस्मादाहाति दिद्यून्पाहीति ॥२॥ इमं देवाः । असपत्न७ सुवधमितीमं देवा अभ्रातृव्य७ सुवधमित्येवैतदाह महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्यायेति नात्र तिरोहितमिवास्ति महते जानराज्यायेति महते जनाना७ राज्यायेत्येवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेति वीर्यायेत्येवैतदाह यदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेतीमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमिति तद्यदेवास्य जन्म तत एवैतदाहास्यै विशऽइति यस्यै विशो राजा भवत्येष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना७ राजेति तदस्माऽइद७ सर्वमाद्यं करोति ब्राह्मणमेवापोद्धरति तस्माद्ब्राह्मणोऽनाद्यः सोमराजा हि भवति ॥३॥ ॥शतम् ३२०० ॥॥ अथैतमभिषेकम् । कृष्णविषाणयानुविमृष्टे वीर्यं वाऽएतदपा७ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चतीदं मे वीर्य७ सर्वमात्मानमुपस्पृशादिति तस्माद्वाऽअनुविमृष्टे ॥४॥ सोऽनुविमृष्टे । प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठादिति यथायं पर्वतोऽतिष्ठावा यथऽर्षभः पशूनतिष्ठावेवं वाऽएष इद७ सर्वमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिद७ सर्वं भवति यो

और अदिति और दिति को देखो।" इसका तात्पर्य है कि तुम अपने को देखो और अन्य को ॥१५॥

इसी को कहकर हाथ न उठाना चाहिए, किन्तु कहना चाहिए कि—"मित्रोऽसि वरुणोऽसि" (यजु० १०।१६)—"तू मित्र है। तू वरुण है।" क्योंकि मित्र और वरुण दो भुजाएँ हैं। इन्हीं भुजाओं के कारण क्षत्रिय का नाम मैत्रावरुण है। इसलिए 'तू मित्र है, तू वरुण है' ऐसा कहकर हाथ उठाना चाहिए ॥१६॥

वह उसकी भुजाएँ उपर उठाकर क्यों अभिषेक करता है ? ये जो भुजाएँ हैं, वह क्षत्रिय की शक्ति है, और वह जलों का रस भी शक्ति है, जिससे अभिषेक होगा। वह सोचता है कि कहीं ऐसा न हो कि जलों की शक्ति मेरी शक्ति को दबा दे। इसलिए वह हाथ उठवाकर उसका अभिषेक करता है ॥१७॥

अथाभिषेकः

अध्याय ४—ब्राह्मण २

पूर्वाभिमुख खड़े हुए का अभिषेक किया जाता है। पहले ब्राह्मण अभिषेक करता है, अध्वर्यु या पुरोहित। पीछे से दूसरे ॥१॥

"सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि" (यजु० १०।१७)—"तेरा सोम की कान्ति से अभिषेक करता हूँ।" अर्थात् वीर्य (पराक्रम) से। "अग्नेर्भ्राजसा" (यजु० १०।१७)—"अग्नि के तेज से" अर्थात् वीर्य से। "सूर्यस्य वर्चसा" (यजु० १०।१७)—अर्थात् वीर्य से। "इन्द्रस्येन्द्रियेण" (यजु० १०।१७)—अर्थात् वीर्य से। "क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधि" (यजु० १०।१७)—"तू क्षत्रों का क्षत्रपति हो" अर्थात् राजाओं का अधिराज। "दिद्यून् पाहि" (यजु० १०।१७)—"बाणों से रक्षा कर।" 'दिद्यु' का अर्थ है बाण। इस प्रकार वह बाणों की चोट से उसको दूर कर देता है। इसलिए कहता है 'बाणों से रक्षा कर' ॥२॥

"इमं देवाः असपत्नं सुवध्वम्" (यजु० १०।१८)—अर्थात् "हे देवो, इसको शत्रुरहित करो।" "महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय। (यजु० १०।१८)—"बड़े क्षत्रियत्व और बड़प्पन के लिए।" यह स्पष्ट है। "महते जानराज्याय" (यजु० १०।१८)—अर्थात् "लोगों के बड़े राज्य के लिए।" "इन्द्रस्येन्द्रियाय" (यजु० १०।१८) अर्थात् "इन्द्र के पराक्रम के लिए।" "इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्" (यजु० १०।१८)—"इस अमुक पुरुष और अमुक स्त्री के पुत्र को" इसका तात्पर्य यह है कि उसने कहाँ जन्म लिया है। "अस्यै विशः" (यजु० १०।१८)—अर्थात् इन लोगों का वह अधिपति है। "एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाँ राजा।" (यजु० १०।१८)—"हे लोगो ! यह तुम्हारा राजा है। सोम हम ब्राह्मणों का राजा है।" इस प्रकार वह ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सबको राजा का खाद्य बनाता है। इसलिए ब्राह्मण खाद्य नहीं है; क्योंकि उसका राजा सोम है ॥३॥

अब वह राजा काले हिरण के सींग से उस छिड़के हुए जल को अपने ऊपर मलता है, क्योंकि जलों के जिस रस से उसका अभिषेक हुआ है वह शक्ति-मय है। वह इस सबको अपने शरीर पर इसलिए मलता है कि वह समझता है कि सब शक्ति मेरे में प्रविष्ट हो जाय ॥४॥

वह इस मन्त्र से मलता है—"प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठात्" (यजु० १०।१९)—"पर्वत, बैल की पीठ से" जैसे पर्वत ऊँचा होता है या जैसे और पशुओं में बैल होता है, इसी प्रकार जो राजसूय यज्ञ करता है, सबसे ऊँचा होता है और सब उसके नीचे होते हैं। इसीलिए कहा—

राजसूयेन यजते तस्मादाह प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः । ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणा इति ॥५॥ अथैनमन्तरेव शार्दूलचर्मणि विष्णुक्रमान्क्रमयति । विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसीतीमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तं तदिमानेव लोकान्त्समारुह्य सर्वमेवेदमुपर्युपरि भवत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति ॥६॥ अथ ब्राह्मणस्य पात्रे । सꣳस्रवान्त्समवनयति तद्ब्राह्मणꣳ राजानमनु यशः करोति तस्माद्ब्राह्मणो राजानमनु यशः ॥७॥ तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमो भवति । तस्मा एतत्पात्रं प्रयच्छतीदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसंतनवदिति ॥८॥ अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमन्वारब्धे जुहोति । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्त्वयममुष्य पितेति तद्यः पुत्रस्तं पितरं करोति यः पिता तं पुत्रं तदेनयोर्वीर्ये व्यतिषजत्यसावस्य पितेति तद्यः पिता तं पितरं करोति यः पुत्रस्तं पुत्रं तदेनयोर्वीर्ये व्यतिषज्य पुनरेव यथायथं करोति वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳ स्वाहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते ॥९॥ अथ य एष सꣳस्रवोऽतिरिक्तो भवति । तमाग्नीध्रीये जुहोत्यतिरिक्तो वाऽएष सꣳस्रवो भवत्यतिरिक्त आग्नीध्रीयो गार्हपत्ये हवीꣳषि श्रपयन्त्याहवनीये जुह्वत्यथैषोऽतिरिक्तस्तदतिरिक्तऽएवैतदतिरिक्तं दधात्युत्तरार्धे जुहोत्येष ह्येतस्य देवस्य दिक्तस्मादुत्तरार्धे जुहोति स जुहोति रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहेति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४. २.] ॥ ॥

तद्योऽस्य स्वो भवति । तस्य शते वा परःशता वा गा उत्तरेणाहवनीयꣳ स्थापयति तद्देवं करोति ॥१॥ वरुणाद्ध वाऽअभिषिषिचानात् । इन्द्रियं वीर्यमपचक्राम यश्च ह्येषोऽपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्येन्द्रियं वीर्यं निर्जघान तत्पशुष्वन्वविन्दत्तस्मात्पशवो यशो यदेष्वन्वविन्दत्तत्पशु-

"प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान् नावश्चरन्ति स्वसिच ऽ इयाना: ता ऽ आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणा:" (यजु० १०।१९)—वृषभ पर्वत (या वर्षायुक्त बादल) की पीठ से स्वयं सींची हुई जलधाराएँ चलती हैं। वे नीचे से ऊपर को लौटती हुई प्रधान यजमान तक पहुँचती हैं (अहि का अर्थ है 'अहन्तारं' यजमान और बुध्न का अर्थ है मूल, इसलिए 'बुध्न्य' का अर्थ हुआ मौलिक, या प्रधान) ॥५॥

अब वह व्याघ्र-चर्म के भीतर-भीतर विष्णु के तीन पग भरवाता है—'विष्णोर्विक्रमण-मसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णो: क्रान्तमसि" (यजु० १०।१९)—"तू विष्णु का विक्रमण, विक्रान्त और क्रान्त है" (यह तीन पगों का नाम है)। इन्हीं तीनों पगों को चलकर तीनों लोकों को पार करके वह सबके ऊपर हो जाता है और सब उसके नीचे रहते हैं ॥६॥

अब जो कुछ शेष जल है उसको वह ब्राह्मण के पात्र में छोड़ देता है। इस प्रकार अपने पीछे ब्राह्मण को यजमान करता है। इसलिए ब्राह्मण राजा का अनुयश है (अर्थात् राजा के पीछे ब्राह्मण का यश है) ॥७॥

जो उसका (राजा का) प्रियतम पुत्र होता है उसको यह पात्र देकर कहता है—'मेरा यह पुत्र मेरे पराक्रम के सिलसिले को आगे बढ़ावे' ॥८॥

अब उसको पीछे से पकड़े-पकड़े गार्हपत्य अग्नि तक आता है और इस मन्त्र से आहुति देता है—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत् कामास्ते जुहमस्तन्नो अस्त्वयममुष्य पिता" (यजु० १०।१९)—"हे प्रजापति, तुझे छोड़कर किसी और ने इन सब रूपों को घेरा नहीं है। जिस-जिस कामना के लिए हम आहुति दें, कामना हमारी पूरी हो। यह अमुक का पिता है।" जो पुत्र है उसे पिता करता है, और जो पिता है उसे पुत्र करता है। इस प्रकार इनके पराक्रम को एक-दूसरे से जोड़ देता है। फिर उनको पहले की तरह ठीक-ठीक कर देता है—"वयं स्याम पतयो रयीणाँ स्वाहा (यजु० १०।१९)—"हम धनों के स्वामी होवें।" यह उस कर्म का आशीर्वाद है। इस प्रकार वह आशीर्वाद देता है ॥९॥

अब जो बच रहा उससे अग्नीध्रीय में आहुति देता है; जो कुछ बच रहा वह शेष ही तो है और अग्नीध्रीय भी शेष ही है। गार्हपत्य में हवियों को पकाते हैं। आहवनीय में आहुति देते हैं। इस प्रकार (अग्नीध्रीय) शेष है। इस शेष को शेष में डालता है। वह कुण्ड के उत्तर भाग में आहुति देता है; क्योंकि यह दिशा उस देव (रुद्र) की है। इसलिए उत्तर भाग में आहुति देता है—"रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा" (यजु० १०।२०)—"हे रुद्र, जो तेरा यह बड़ा क्रिवि (हिंसा करनेवाला या काम करनेवाला या सबसे अच्छा—'क्रिवि' इन तीन अर्थों में आता है) नाम है, उसी में तू आहुत है। तू घर में इष्ट है" ॥१०॥

रथोपावहरणम्

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

जो उसका अपना सम्बन्धी होता है, उसकी सौ या सौ से अधिक गायों को वह आहवनीय के उत्तर में रखता है। इसका यह प्रयोजन है ॥१॥

जब वरुण का अभिषेक हुआ तो सब वीर्य और पराक्रम उसमें से निकल गया। शायद यह जो जलों का रस था जिससे उसका अभिषेक हुआ था, उसी रस ने उसके वीर्य और पराक्रम को मार डाला। उसने उसे पशुओं में पाया। और चूँकि पशुओं में पाया इसलिए पशु यज्ञ हो गये।

अनुविद्येन्द्रियं वीर्यं पुनरात्मन्नधत्त तथोऽएवैष एतन्नाहैवास्मान्निन्द्रियं वीर्यम-
पक्रामति वरुणसवो वाऽएष यद्राजसूयमिति वरुणोऽकरोदिति वेवैष एतत्क-
रोति ॥२॥ अथ रथमुपावहरति । यद्वै राजन्यात्पराग्भवति रथेन वै तदनुयुङ्क्ते
तस्माद्रथमुपावहरति ॥३॥ स उपावहरति । इन्द्रस्य वज्रोऽसीति वज्रो वै रथ
इन्द्रो वै यजमानो द्वयेन वाऽएष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्त-
स्मादाहेन्द्रस्य वज्रोऽसीति ॥४॥ तमन्तर्वेद्यभ्यववर्त्य युनक्ति । मित्रावरुणयोस्त्वा
प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मीति बाहू वै मित्रावरुणौ बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्राव-
रुणस्तस्मादाह मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मीति ॥५॥ तं चतुर्युजं
युनक्ति । स जघनेन सदोऽग्रेण शालां येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते तं
जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रमुद्यच्छति ॥६॥ तमातिष्ठति । अव्यथायै त्वा स्वधायै
त्वेत्यनार्त्यै त्वेत्येवैतदाह यदाहाव्यथायै त्वेति स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतदाहा-
रिष्टोऽअर्जुन इत्यर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम द्वयेन वाऽएष इन्द्रो
भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहारिष्टोऽअर्जुन इति ॥७॥ अथ द-
क्षिणायुग्यमुपार्षति । मरुतां प्रसवेन जयेति विशो वै मरुतो विशा वै तत्क्ष-
त्रियो जयति यज्जिगीषति तस्मादाह मरुतां प्रसवेन जयेति ॥८॥ अथ मध्ये ग-
वामुद्यच्छति । आपाम मनसेति मनसा वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमा-
प्नोति तस्मादाहापाम मनसेति ॥९। अथ धनुरार्त्न्या गामुपस्पृशति । समिन्द्रिये-
णेतीन्द्रियं वै वीर्यं गाव इन्द्रियमेवैतद्वीर्यमात्मन्धत्तेऽथाह जिनामीमाः कुर्वेऽइ-
मा इति ॥१०॥ तद्यत्स्वस्य गोषूद्यच्छति । यद्वै पुरुषात्पराग्भवति यशो वा किं-
चिद्वा स्वꣳ हैवास्य तत्प्रतमामिवाभ्यपक्रामति तत्स्वादेवैतदिन्द्रियं वीर्यं पुनरा-
त्मन्धत्ते तस्मात्स्वस्य गोषूद्यच्छति ॥११॥ तस्मै तावन्मात्रीर्वा भूयसीर्वा प्रतिद-
दाति । न वाऽएष क्रूरकर्मणो भवति यद्यजमानः क्रूरमिव वाऽएतत्करोति यदाह

पशुओं में पाकर वीर्य और पराक्रम को उसने स्वयं अपने में धारण कर लिया। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। यहाँ उसमें से वीर्य और पराक्रम निकलता तो नहीं, परन्तु वह यह समझ लेता है कि जैसा वरुण ने किया वैसा मैं भी करूँ। इसलिए ऐसा करता है ॥२॥

अब वह रथ को (रथशाला से) लाता है। जो चीज राजा से भागती है राजा रथ में चढ़कर ही उसको पकड़ लेता है। इसीलिए वह रथ को लाता है ॥३॥

वह इस मन्त्र से लाता है—"इन्द्रस्य वज्रोऽसि" (यजु० १०।२१)—"तू इन्द्र का वज्र है।" रथ वज्र है और यजमान इन्द्र। वह दो अर्थ में इन्द्र है—एक तो क्षत्रिय है और दूसरे यजमान। इसलिए कहा 'इन्द्र का वज्र है तू' ॥४॥

उसको इस प्रकार घुमाकर कि वेदी के भीतर खड़ा हो सके, जोतता है इस मन्त्र से—"मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि" (यजु० १०।२१)—"मित्र और वरुणरूपी दोनों शासकों के शासन से तुझको जोतता हूँ।" मित्र और वरुण दो बाहें हैं। इन दो भुजाओं के बल पर ही क्षत्रिय मित्र और वरुण होता है। इसलिए कहा 'मित्र और वरुणरूपी दोनों शासकों के शासन से तुझको जोतता हूँ" ॥५॥

वह उसमें चार घोड़े जोतता है। वह सदस् के पीछे शाला के आगे उस रास्ते से जाता है, जिससे दक्षिणा में दी हुई गायें जाती हैं। वह चात्वाल के पीछे और आग्नीध्र के सामने ठहरता है ॥६॥

उस पर नीचे के मन्त्र से चढ़ता है—"अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वा" (यजु० १०।२१)—"तुझमें तन्दुरुस्ती के लिए और स्वधा के लिए।" अव्यथा का अर्थ है विपत्तियों से अलग रहना। स्वधा का अर्थ है 'रस'। "अरिष्टो अर्जुनः" (यजु० १०।२१)—"सुरक्षित अर्जुन।" अर्जुन इन्द्र का गुप्त नाम है। वह दो कारणों से इन्द्र है—एक तो क्षत्रिय है दूसरे यजमान। इसलिए कहा 'सुरक्षित अर्जुन' ॥७॥

अब दाहिने घोड़े को इस मन्त्र से हाँकता है—"मरुतां प्रसवेन जय" (यजु० १०।२१)—"तू मरुतों की प्रेरणा से जीत।" मरुत् कहते हैं लोगों को। क्षत्रिय जो कुछ जीतता है, वह लोगों की सहायता से ही जीतता है। इसलिए कहा 'मरुतों की प्रेरणा से जीत' ॥८॥

अब वह गायों के मध्य में (रथ को) ठहराता है। "आपाम मनसा" (यजु० १०।२१)—"हम मन से प्राप्त करें।" मन से ही सब चीज प्राप्त की गई। मन से ही सब-कुछ प्राप्त होता है। इसलिए कहा, 'मन से प्राप्त करें' ॥९॥

अब वह धनुष के अग्रभाग से गाय को छूता है—"समिन्द्रियेण" (यजु० १०।२१)—"पराक्रम से।" इन्द्रिय वीर्य हैं और गायें वीर्य हैं। इसलिये वह वीर्य की प्राप्ति करता है। वह यह भी कहता है 'इनको जीतें, इनको पकड़ें' ॥१०॥

अपने सम्बन्धियों की गायों के मध्य में इसलिये खड़ा होता है कि जो कुछ पुरुष से निकलता है, चाहे वह यज्ञ हो या अन्य कुछ, वह सबसे पहले सम्बन्धियों में ही जाता है। वह सम्बन्धियों से ही पराक्रम को अपने में धारण करता है। इसलिये सम्बन्धियों की गायों के मध्य में खड़ा होता है ॥११॥

इसके बदले में वह उसको उतनी ही या अधिक गायें देता है। यह जो यजमान है, वह क्रूर कर्म के योग्य नहीं है; परन्तु जब वह कहता है कि 'मैं इनको जीतूं या पकड़ूं', तो यह अवश्य

त्रिनामीमाः कुर्वऽइमा इति तथो हास्यैतदक्रूरं कृतं भवति तस्मात्तावन्मात्रीर्वा भूयसीर्वा प्रतिददाति ॥१२॥ अथ दक्षिणानायच्छति । सोऽग्रेण यूपं दक्षिणेन वेदिं येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते तं जघनेन सदोऽग्रेण शालामुद्यच्छति ॥१३॥ मा न इन्द्र ते वयं तुराषाट् । अयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम । तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वानित्युद्यच्छत्येवैतयाभीशवो वै रश्मयस्तस्माद्दाह रश्मीन्देव यमसे स्वश्वानित्यथ रथविमोचनीयानि जुहोति प्रीतो रथो विमुच्याताऽइति तस्माद्रथविमोचनीयानि जुहोति ॥१४॥ स जुहोति । अग्नये गृहपतये स्वाहेति स यदेवाग्नेयꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति वहा वाऽआग्नेया रथस्य वहानेवैतेन प्रीणाति श्रीर्वै गार्हपतं यावतो-यावत ईष्टे तच्छ्रियमेवास्यैतद्गार्हपतꣳ राज्यमभिविमुच्यते ॥१५॥ सोमाय वनस्पतये स्वाहेति । द्वयानि वै वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि चानसानि च तेभ्यो न्वेवैतदुभयेभ्योऽरिष्टिं कुरुते सोमो वै वनस्पतिः स यदेव वानस्पत्यꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति दारूणि वै वानस्पत्यानि रथस्य दारूण्येवैतेन प्रीणाति क्षत्रं वै सोमः क्षत्रमेवास्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते ॥१६॥ मरुतामोजसे स्वाहेति । स यदेव मारुतꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति चत्वारोऽश्वा रथः पञ्चमो द्वौ सव्यष्ठसारथी ते सप्त सप्त-सप्त व मारुतो गणः सर्वमेवैतेन रथं प्रीणाति विशो वै मरुतो विशमेवास्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते ॥१७॥ इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहेति । स यदेवैन्द्रꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति सव्यष्ठा वाऽऐन्द्रो रथस्य सव्यष्ठारमेवैतेन प्रीणातीन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियमेवास्यैतद्वीर्यꣳ राज्यमभिविमुच्यते ॥१८॥ अथ वाराह्याऽउपानहाऽउपमुञ्चते । अग्नौ ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयां चक्रुस्ततो वराहः सम्बभूव तस्माद्वराहो मेदुरो घृताद्धि सम्भूतस्तस्माद्वराहे गावः संजानते स्वमेवैतद्रसमभिसंजानते तत्पशूनामेवैतद्रसे प्रतितिष्ठति तस्माद्वाराह्याऽउपानहाऽउपमुञ्चते ॥१९॥ अथेमां

ही क्रूर कर्म है। और यह कर्म क्रूरता-शून्य हो जाता है, इसलिये वह उसको उतनी या अधिक गायें देता है ॥१२॥

अब वह घोड़ों को दाहिनी ओर खींचता है। वह यूप के आगे वेदी की दाहिनी ओर जाता है, जिस मार्ग से कि दक्षिणा की गायें जाती हैं। सदस् के पीछे और शाला के आगे वह रथ को ठहराता है ॥१३॥

वह रथ को इस मन्त्र से ठहराता है—"मा त ऽ इन्द्र ते वयं तुराषाट्। अयुक्तासो ऽ अब्रह्मता विदसाम। तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वान्" (यजु० १०।२२)—"हे वज्रहस्त इन्द्र, तुम उस रथ पर बैठो, जिसको और जिसके घोड़ों को रस्सियों सहित तुम शासन में रखते हो। कहीं ऐसा न हो कि हम असावधान और नास्तिक हो जायें। हे ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र, कहीं ऐसा न हो कि तुम हमारे बीच में न रहो।" 'रश्मि' का अर्थ है 'लगाम'। इसलिये कहा कि हे देव, तू अच्छे घोड़ों की रश्मियों सहित शासन में रखता है। अब वह रथ-विमोचन-सम्बन्धी आहुतियाँ देता है। वह सोचता है कि रथ जब खुल जायगा तो खुश हो जायगा। इसीलिये वह रथ-विमोचन-सम्बन्धी आहुतियाँ देता है ॥१४॥

वे आहुतियाँ इन मन्त्रों से दी जाती हैं—"अग्नये गृहपतये स्वाहा" (यजु० १०।२३)—इससे वह रथ के अग्नि-सम्बन्धी भाग को प्रसन्न करता है। रथ का कंधा ("वह") अग्नि का है। इसलिये रथ के कन्धे को खुश करता है। 'श्री' गृहपति की है, क्योंकि राजा जो राज करता है तो गृह की श्री के लिए ही करता है। इस आहुति से राज की श्री स्वतन्त्र हो जाती है (अर्थात् किसी के बन्धन में नहीं रहती) ॥१५॥

"सोमाय वनस्पतये स्वाहा" (यजु० १०।२३)—वनस्पति वृक्षों से दो चीजें मिलती हैं, रथ के पहिये और गाड़ी। इन दोनों को वह सुरक्षित कर देता है। सोम वन का राजा है। इसलिये रथ का जो भाग वन का है उसको वह प्रसन्न कर देता है। रथ के जो भाग लकड़ी के बने हुए हैं, वे ही वन से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये रथ के लकड़ी के भागों को वह सन्तुष्ट कर देता है। सोम क्षत्रिय है, इसलिये इस आहुति से राजा के क्षत्रिय-भाग को मुक्त कर देता है ॥१६॥

"मरुतामोजसे स्वाहा" (यजु० १०।२३)—इस आहुति से वह रथ के उस भाग को प्रसन्न करता है जो मरुत् का है। चार घोड़े, पाँचवाँ रथ, सवार और रथवान, ये सात हुए। सात ही मरुत्गण हैं। इससे वह सम्पूर्ण रथ को प्रसन्न करता है। मरुत् का अर्थ है किसान। इस आहुति से वह वैश्यों को मुक्त कर देता है ॥१७॥

"इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा" (यजु० १०।२३)—इस आहुति से वह रथ के उस भाग को प्रसन्न करता है जो इन्द्र का भाग है। सवार इन्द्र-सम्बन्धी है। इस आहुति से वह सवार को प्रसन्न करता है। इन्द्र की इन्द्रिय उसका पराक्रम है। इस आहुति से वह राज के पराक्रम को (आपत्तियों से) मुक्त करता है ॥१८॥

अब वह वराह (सूअर) के चमड़े के जूते पहनता है। एक बार देवों ने घी के घड़े को अग्नि पर रखा। उसमें वराह (सूअर) उत्पन्न हुआ। इसलिये सूअर मोटा होता है, क्योंकि वह घी से उत्पन्न होता है। इसलिए गायें वराह को चाहती हैं (तस्माद् वराहे गावः संजानते ?)। वे अपने ही रस को इस प्रकार चाहती हैं। इस प्रकार वह पशुओं के इस रस में अपने को प्रतिष्ठित करता है। इसलिये सूअर के चमड़े के जूते पहनता है ॥१९॥

प्रत्यवेक्षमाणो जपति । पृथिवि मातर्मा मा हिᳪसीर्मोऽअहं त्वामिति वरुणाद्ध वाऽअभिषिषिचानात्पृथिवी बिभयां चकार महद्वाऽअयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै मायं नावदृणीयादिति वरुण उ ह पृथिव्यै बिभयां चकार यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयमकुरुत न हि माता पुत्रᳪ हिनस्ति न पुत्रो मातरम् ॥२०॥ वरुणसवो वाऽएष यद्राजसूयम् । पृथिव्यु हैतस्माद्बिभेति महद्वाऽअयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै मायं नावदृणीयादित्येष उ हास्यै बिभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयं कुरुते न हि माता पुत्रᳪ हिनस्ति न पुत्रो मातरं तस्मादेवं जपति ॥२१॥ सोऽवतिष्ठति । हᳪसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहदित्येतामतिछन्दसं जपन्नेषा वै सर्वाणि छन्दाᳪसि यदतिछन्दास्तथैनं पाप्मा नान्ववतिष्ठति ॥२२॥ तं न संग्रहीतान्ववतिष्ठेत् । नेत्त्वं लोकमन्ववतिष्ठाद्यᳪ सुषुवाणोऽन्ववास्थादिति तᳪ सरथमेव रथवाहनऽआदधाति ततोऽवाङुपप्रवते तथा तं लोकं नान्ववतिष्ठति यᳪ सुषुवाणोऽन्ववास्थात् ॥२३॥ उत्तरेणाहवनीयं पूर्वाग्निरुद्धृतो भवति । स रथवाहनस्य दक्षिणमन्वनुष्यन्दᳪ शतमानौ प्रवृत्तावाबध्नाति ॥२४॥ औदुम्बरीᳪ शाखामुपगूहति । तयोरन्यतरमुपस्पृशतीयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेहीति तदायुर्वर्च आत्मन्धत्ते ॥२५॥ अथौदुम्बरीᳪ शाखामुपस्पृशति । ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहीति तदूर्जमात्मन्धत्ते तस्यैतस्य कर्मण एतावेव शतमानौ प्रवृत्तौ दक्षिणा तौ ब्रह्मणे ददाति ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायति तस्मात्तौ ब्रह्मणे ददाति ॥२६॥ अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम् । मैत्रावरुणी पयस्या निहिता भवति तामस्य बाहूऽअभ्युपावहरतीन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामीति पशूनां वाऽएष रसो यत्पयस्या तत्पशूनामेवास्यैतद्रसं बाहूऽअभ्युपावहरति तद्यन्मैत्रावरुणी भवति मित्रावरुणाऽउ

वह भूमि की ओर देखकर जपता है—"पृथिवि मातर्मा हिँ सीर्मो ऽ अहं त्वाम्" (यजु० १०।२३)—"हे पृथिवि माता ! तू मुझे दुःख न दे और मैं तुझे दुःख न दूं।" जब वरुण का अभिषेक हो गया, तो पृथिवी उससे डर गई। उसने सोचा कि जिसका अभिषेक हो जाता है, वह बहुत बड़ा हो जाता है। ऐसा न हो कि वह मेरा अनादर करे। वरुण भी पृथिवी से डरा कि यह मुझे उखाड़ न दे। इसलिए इस नियम से वह पृथिवी के साथ मित्रता पैदा करता है, क्योंकि न माता पुत्र को दुःख देती है न पुत्र माता को ॥२०॥

यह जो राजसूय है, वह वरुण का 'सव' अर्थात् अभिषेक है। पृथिवी उससे डरती है यह सोचकर कि अभिषेक से वह वस्तुतः बहुत बड़ा बन गया है। ऐसा न हो कि वह मेरा अनादर करे। यह इससे डरता है यह सोचकर कि कहीं यह मुझे उखाड़ न दे। इसलिये इससे वह पृथिवी के साथ मित्रता की स्थापना करता है, क्योंकि माता पुत्र को दुःख नहीं देती और न पुत्र माता को दुःख देता है ॥२१॥

वह इस अतिछन्दस् मन्त्र को पढ़कर रथ से उतरता है—"हँ सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसत्, होता वेदिषत् अतिथिर्दुरोणसत्। नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा, गोजा ऋतजा ऽ अद्रिजा ऋतं बृहत्" (यजु० १०।२४)—"प्रकाश में रहनेवाला हंस, अन्तरिक्ष में रहनेवाला वसु, वेदि में रहनेवाला होता, दुरोण में रहनेवाला अतिथि, मनुष्य में रहनेवाला, श्रेष्ठों में रहनेवाला, अन्तरिक्ष में रहनेवाला, जलों से उत्पन्न होनेवाला, गौ से उत्पन्न होनेवाला, सत्य से उत्पन्न होने वाला, अद्रि या मेघ से उत्पन्न होनेवाला, ब्रह्म, इनसे मैं उतरता हूँ।" अतिछन्द में सब छन्द आ जाते हैं। इस प्रकार उसको पाप नहीं सताता ॥२२॥

रथवान उसके साथ न उतरे, जिससे उसी लोक में न उतर सके, जिसमें अभिषेकवाला राजा उतरता है। उसको रथ के साथ रथवाहन (रथ खड़ा करने का अड्डा) में ले जाते हैं। वह वहाँ कूद पड़ता है, इस प्रकार वह उसी लोक में नहीं उतरता, जिसमें अभिषेकयुक्त राजा उतरता है ॥२३॥

आहवनीय के उत्तर में पहली अग्नि रक्खी होती है। रथवाहन के पिछले दाहिने पहिये में दो शतमान (सोने के सिक्के) बांध देता है ॥२४॥

अब उदुम्बर की शाखा को (मार्ग में) छिपा देता है। इन दोनों (Plates? Eggeling) में से एक को छूता है इस मन्त्र से—"इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेहि" (यजु० १०।२५)—"तू इतना बड़ा है। तू आयु है, मुझे आयु दे। तू जोड़ा है। तू वर्चस् है, मुझे वर्चस् दे।" इस प्रकार वह अपने में आयु और वर्चस् को धारण करता है ॥२५॥

अब वह उदुम्बुर की शाखा को नीचे के मन्त्र से छूता है—"ऊर्गस्यूर्ज मयि धेहि" (यजु० १०।२५)—"तू ऊर्ज है, मुझे ऊर्ज दे।" इस प्रकार वह अपने में ऊर्ज को धारण करता है। इस कर्म की दक्षिणा वही दो गोल शतमान (सिक्काविशेष) है। वह उनको ब्रह्मा को देता है। ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिणा की ओर से रक्षा करता है, इसलिये वह उनको ब्रह्मा को दे देता है ॥२६॥

मित्र-वरुण के कुण्ड के पास मित्रा-वरुण के दही के पात्र रक्खे हुए होते हैं। वह यजमान के दोनों बाहुओं को उन तक खींचता है इस मन्त्र से—"इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि" (यजु० १०।२५)—"हे इन्द्र की बलवान् भुजाओ ! मैं तुमको खींचता हूँ।" दही पशुओं का रस है। इस प्रकार वह इन भुजाओं को पशुओं के रस तक ले जाता है। इनको मित्र-वरुण

हि बाहू तस्मान्मैत्रावरुणी भवति ॥२७॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४. ३.] ॥ तृतीयः प्र-
पाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१११ ॥ ॥

मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति । तस्या अनिष्ट एव स्विष्टकृद्भवत्यथास्मा
ऽआसन्दीमाहरन्त्युपरिसद्यं वाऽएष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासी-
नमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादस्माऽआसन्दीमाहरन्ति सैषा खादिरी वि-
तृण्णा भवति येयं वर्ध्रव्युता भरतानाम् ॥१॥ तामग्रेण । मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यं नि-
दधाति स्योनासि सुषदासीति शिवामेवैतच्छग्मां करोति ॥२॥ अथाधीवासमास्तृ-
णाति । क्षत्रस्य योनिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तामेवैतत्करोति ॥३॥ अथै-
नमासादयति । स्योनामासीद सुषदामासीदेति शिवाꣳ शग्मामासीदेत्येवैतदाह
क्षत्रस्य योनिमासीदेति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तस्यामेवैनमेतद्दधाति ॥४॥ अथा-
न्तराꣳसेऽभिमृश्य जपति । निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा न वाऽएष
सर्वस्माऽइव वदनाय न सर्वस्माऽइव कर्मणे यदेव साधु वदेद्यत्साधु कुर्यात्तस्मै
वाऽएष च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ तस्मादाह निषसाद धृत-
व्रत इति वरुणः पस्त्यास्वेति विशो वै पस्त्या विक्ष्वेत्येवैतदाह साम्राज्याय सु-
क्रतुरिति राज्यायेत्येवैतदाह यदाह साम्राज्याय सुक्रतुरिति ॥५॥ अथास्मै पञ्चा-
क्षान्पाणावावपति । अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामित्येष वाऽअयानभि-
भूर्यत्कलिरेष हि सर्वानयानभिभवति तस्मादाहाभिभूरसीत्येतास्ते पञ्च दिशः
कल्पन्तामिति पञ्च वै दिशस्तदस्मै सर्वा एव दिशः कल्पयति ॥६॥ अथैनं पृष्ठ-
तस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति । तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजादण्ड्यो यदेनं
दण्डवधमतिनयन्ति ॥७॥ अथ वरं वृणीते । यꣳ ह वै कं च सुषुवाणो वरं
वृणीते सोऽस्मै सर्वः समृध्यते तस्माद्वरं वृणीते ॥८॥ स ब्रह्मन्नित्येव प्रथममा-
मन्त्रयते । ब्रह्म प्रथममभिव्याहराणि ब्रह्मप्रसूतां वाचं वदानीति तस्माद्ब्रह्मन्नि-

का क्यों कहते हैं ? बाहु ही मित्र और वरुण हैं। इसलिये वे मित्र और वरुण के होते हैं ॥२७॥

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

मित्र-वरुण के दही का प्रयोग चलता है। इसकी स्विष्टकृद् आहुति अभी शेष रहती है। तभी उसके लिए चौकी (आसन्दी) लाते हैं। जो अन्तरिक्ष में स्थान पा लेता है, वह सबके ऊपर स्थान पा लेता है। उसकी प्रजा नीचे बैठती है और वह ऊपर बैठता है। इसीलिये उसके लिए चौकी लाते हैं। यह खादिर लकड़ी की और छिद्र-युक्त होती है और तस्मों से बँधी होती है, जैसे भरतों की चौकी थी ॥१॥

वह उसको मित्र-वरुण के कुण्ड के आगे रखता है इस मन्त्र से—"स्योनाऽसि सुषदाऽसि" (यजु० १०।२६) "तू आनन्दयुक्त और नरम है।" इससे वह इसको कल्याणयुक्त बनाता है ॥२॥

अब वह उसपर कपड़ा उढ़ाता है, यह पढ़कर—"क्षत्रस्य योनिरसि" (यजु० १०।२६)—"तू क्षत्र की योनि है।" इस प्रकार वह इसको क्षत्र की योनि बना देता है ॥३॥

अब वह उसको उसपर बिठाता है यह पढ़कर—"स्योनामासीद सुषदामासीद" (यजु० १०।२६)—"आनन्दयुक्त स्थान पर बैठ, नरम स्थान पर बैठ।" अर्थात् तू कल्याणकारी आसन पर बैठ। अब कहता है—"क्षत्रस्य योनिमासीद" (यजु० १०।२६) —"क्षत्र की योनि में बैठ।" इस प्रकार वह उसको क्षत्रियत्व की योनि में बिठाता है ॥४॥

अब उसकी छाती का स्पर्श करके कहता है—"निषसाद धृतव्रतः" (यजु० १०।२७; ऋ० १।२५।१०)—"व्रत की रक्षा करनेवाला बैठ गया।" राजा व्रतों का रक्षक है, क्योंकि राजा ऐसा व्यक्ति नहीं जो सब-कुछ बोल सके, और सब-कुछ कर सके। जो कुछ कहेगा, साधु कहेगा; जो कुछ करेगा, साधु करेगा। ये दो काम इन्हीं दोनों अर्थात् राजा (क्षत्रिय) और श्रोत्रिय (ब्राह्मण) के लिए हैं। मनुष्यों के बीच में ये दोनों धृतव्रत (अर्थात् व्रत को पालनेवाले) हैं, इसीलिए कहा कि 'धृतव्रत बैठ गया'। "वरुणः पस्त्यासु।" (यजु० १०।२७)—"पस्त्या में वरुण।" यहाँ पस्त्या नाम है प्रजा का, अर्थात् राजा प्रजा में बैठता है। "साम्राज्याय सुक्रतुः" (यजु० १०।२७)—"वह (राजा) साम्राज्य के लिए अच्छे काम करनेवाला है, अर्थात् राजा साम्राज्य के लिए है ॥५॥

अब वह पाँच अक्षों को (पाँसों को ?) उसके हाथ में देता है—"अभिभूरस्येतास्ते पञ्च-दिशः कल्पन्ताम्" (यजु० १०।२८)—"तू अधिपति है। तेरी ये पाँच दिशायें कल्याणकारी हों।" जैसे कलि (पाँसों में एक ओर को कलि और शेष को कृत, त्रेता, द्वापर कहते हैं, कलि ऊपर रहने से जुआ खेलनेवाले की जीत होती है) सबके ऊपर रहता है, इसी प्रकार राजा भी सबके ऊपर रहता है। इसलिए कहा कि ये पाँच दिशायें कल्याणकारी हों। दिशायें पाँच ही होती हैं, इसलिए पाँच दिशायें कल्याणकर हों, ऐसा कहा ॥६॥

अब उसको (अध्वर्यु आदि) चुपके से पीठ में लकड़ी से मारते हैं। उसको डण्डे से मार-कर दण्ड से मुक्त कर देते हैं। चूँकि राजा दण्ड के विधान से मुक्त होता है, इसलिए वह अदण्ड्य होता है ॥७॥

अब वह वर माँगता है। अभिषेक करनेवाला जो कुछ वर माँगता है, वह पूरा हो जाता है। इसलिए वह वर माँगता है ॥८॥

अब वह पहले को "हे ब्रह्मन् !" ऐसा कहकर बुलाता है। वह "हे ब्रह्मन्" कहकर पहले इसलिए पुकारता है कि मैं पहले, "ब्रह्मा" को बोलूँ और ब्रह्मा से प्रेरित वाणी का उच्चारण

त्येव प्रथममामन्त्रयते त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याह सवितासि सत्यप्रसव इति वी-
र्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति सवितारमेव सत्यप्रसवं करोति ॥९॥ ब्रह्मन्नित्येव द्विती-
यमामन्त्रयते । त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याह वरुणोऽसि सत्यौजा इति वीर्यमेवा-
स्मिन्नेतद्दधाति वरुणमेव सत्यौजसं करोति ॥१०॥ ब्रह्मन्नित्येव तृतीयमामन्त्र-
यते । त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याहेन्द्रोऽसि विशौजा इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधा-
तीन्द्रमेव विशौजसं करोति ॥११॥ ब्रह्मन्नित्येव चतुर्थमामन्त्रयते । त्वं ब्रह्मासी-
तीतरः प्रत्याह रुद्रोऽसि सुशेव इति तद्वीर्याण्येवास्मिन्नेतत्पूर्वाणि दधात्यथैनमे-
तच्छमयत्येव तस्मादेष सर्वस्येशानो मृडयति यदेनꣳ शमयति ॥१२॥ ब्रह्मन्नित्येव
पञ्चममामन्त्रयते । त्वं ब्रह्मासीतीतरोऽनिरुक्तं प्रत्याह परिमितं वै निरुक्तं तत्प-
रिमितमेवास्मिन्नेतत्पूर्वं वीर्यं दधात्यथात्रानिरुक्तं प्रत्याहापरिमितं वाऽअनिरुक्तं
तदपरिमितमेवास्मिन्नेतत्सर्वं वीर्यं दधाति तस्मादत्रानिरुक्तं प्रत्याह ॥१३॥ अथ
सुमङ्गलनामानꣳ ह्वयति । बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेति य एवंनामा भवति
कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति ॥१४॥ अथास्मै ब्राह्मण स्फ्यं प्रयच्छति । अ-
ध्वर्युर्वा यो वास्य पुरोहितो भवतीन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति वज्रो वै स्फ्यः
स एतेन वज्रेण ब्राह्मणो राजानमात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते यो वै राजा ब्राह्म-
णादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान्भवति तदमित्रेभ्य एवैनमेतद्बलीयाꣳसं क-
रोति ॥१५॥ तꣳ राजा राजभ्रात्रे प्रयच्छति । इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति ते-
न राजा राजभ्रातरमात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते ॥१६॥ तꣳ राजभ्राता सूताय वा
स्थपतये वा प्रयच्छति । इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति तेन राजभ्राता सूतं वा
स्थपतिं वात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते ॥१७॥ तꣳ सूतो वा स्थपतिर्वा ग्रामण्ये प्र-
यच्छति । इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति तेन सूतो वा स्थपतिर्वा ग्रामण्यमा-
त्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते ॥१८॥ तं ग्रामणीः सजाताय प्रयच्छति । इन्द्रस्य वज्रो

करूँ। इसलिए "ब्रह्मन्" ऐसा कहकर बोलता है। दूसरा उत्तर देता है, "तू ब्रह्मा है, सत्य का प्रेरक सविता है" (यजु० १०।२८)। इस प्रकार वह उसमें वीर्य धारण कराता है और सविता को सत्यप्रसव अर्थात् 'सत्य का प्रेरक' बनाता है ।।९।।

अब वह "हे ब्रह्मन्" दूसरे को कहता है। तब दूसरा उत्तर देता है—"तू ब्रह्मा है, तू सत्य ओजवाला वरुण है।" (यजु० १०।२८) इस प्रकार उसमें वीर्य धारण कराता है और इन्द्र को सत्य ओजवाला बनाता है ।।१०।।

अब वह तीसरे को कहता है "हे ब्रह्मन्!" तब वह उत्तर देता है। "तू ब्रह्मा है, तू प्रजाओं में ओजवाला इन्द्र है।" (यजु० १०।२८) इस प्रकार वह उसमें वीर्य धारण कराता है और इनको प्रजा के मध्य में ओजवाला बनाता है ।।११।।

अब वह चौथे को बोलता है "हे ब्रह्मन्!" वह उत्तर देता है, "तू ब्रह्मा है, दयालु रुद्र है।" (यजु० १०।२८) इस प्रकार वह राजा में पुराने पराक्रम को धारण कराता है और रुद्र को शमन करता है। इसीलिए रुद्र सब पर दया करता है कि याज्ञिक ने उसका शमन कर दिया ।।१२।।

अब वह पाँचवें को बोलता है, "हे ब्रह्मन्!" वह अनिरुक्त अर्थात् अनिश्चित रीति से उत्तर देता है, "तू ब्रह्मा है।" निरुक्त का अर्थ है परिमित, अनिरुक्त का अपरिमित। अब तक उसने उसमें परिमित पराक्रम धारण कराया। अब वह उसमें अपरिमित पराक्रम धारण कराता है। इसीलिए अनिरुक्त या अपरिमित उत्तर देता है ।।१३।।

अब वह उसको मंगल नामों से पुकारता है, अर्थात् "बहुकार (बहुत काम करनेवाला), श्रेयस्कर (अधिक काम करनेवाला), भूयस्कर (अत्यन्त काम करनेवाला।" (यजु० १०।२८) जो कोई ऐसे नामवाला होता है, वह मनुष्य की वाणी से भी कल्याण ही बोलता है ।।१४।।

अब एक ब्राह्मण, अध्वर्यु या राजा का पुरोहित, उसको स्फ्या देता है—"तू इन्द्र का वज्र है। मेरा लाभ कर।" (यजु० १०।२८) स्फ्या वज्र है। ब्राह्मण इस वज्र के द्वारा राजा को अपने-आपसे निर्बल बना देता है। जो राजा ब्राह्मण से निर्बल है, वह शत्रुओं से बलवान् है। इस प्रकार वह राजा को शत्रुओं से अधिक बलवान् बनाता है ।।१५।।

राजा उस स्फ्या को राजभ्राता को देता है, यह कहकर कि "तू इन्द्र का वज्र है, मेरा काम कर" ।।१६।।

राजभ्राता उसको सूत या स्थपति को देता है, यह कहकर कि "तू इन्द्र का वज्र है, मेरा काम कर।" (यजु० २८) इस प्रकार वह सूत या स्थपति को अपने से दुर्बल बनाता है ।।१७।।

सूत या स्थपति उसको गाँव के मुखिया को देता है, यह कहकर कि "तू इन्द्र का वज्र है, मेरा काम कर।" इस प्रकार वह सूत या स्थपति गाँव के मुखिया को अपने से दुर्बल करता है ।।१८।।

तब गाँव का मुखिया उसे सजात (साझी) को दे देता है यह कहकर कि "तू इन्द्र का

ऽसि तेन मे रध्येति तेन ग्रामणीः सजातमात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते तद्यदेवꣳ सम्प्रयच्छन्ते नेत्पापवस्यसमसद्यथापूर्वमसदिति तस्मादेवꣳ सम्प्रयच्छन्ते ॥१९॥ अथ सजातश्च प्रतिप्रस्थाता च । एतेन स्फ्येन पूर्वाग्नौ शुक्रस्य पुरोरुचाधिदेवनं कुरुतोऽत्ता वै शुक्रोऽत्तारमेवैतत्कुरुतः ॥२०॥ अथ मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमिनुतः । आद्यो वै मन्थी तदत्तारमेवैतत्कृत्वाथास्माऽएतदाद्यं जनयतस्तस्मान्मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमिनुतः ॥२१॥ अथाध्वर्युः । चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाधिदेवने हिरण्यं निधाय जुहोत्यग्निः पृथुर्धर्मणास्पतिर्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्धर्मणास्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहेति ॥२२॥ अथाक्षान्निवपति । स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳ सजातानां मध्यमेष्ठ्यायेत्येष वाऽअग्निः पृथुर्यदधिदेवनं तस्यैतेऽङ्गारा यदक्षास्तमेवैतेन प्रीणाति तस्य ह वाऽएषानुमता गृहेषु हन्यते यो वा राजसूयेन यजते यो वैतदेवं वेदेतेषद्वेषाह गां दीव्यध्वमिति पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा ॥ २३ ॥ अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । तद्यदन्तरेणाहुतीऽएतत्कर्म क्रियत ऽएष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति तस्मादन्तरेणाहुतीऽएतत्कर्म क्रियतऽआश्राव्याहाग्निꣳ स्विष्टकृतं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥२४॥ अथेडामादधाति । उपहूतायामिडायामप उपस्पृश्य माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति माहेन्द्रं ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रमुपाकरोति तꣳ स्तोत्राय प्रमीवति स उपावरोहति सोऽन्ते स्तोत्रस्य भवत्यन्ते शस्त्रस्य ॥२५॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [४. ४.] ॥ ॥

वरुणाद्ध वाऽअभिषिषिचानाद्भर्गोऽपचक्राम । वीर्यं वै भर्ग एष विष्णुर्यज्ञः सोऽस्मादपचक्राम शश्वद्ध एषोऽपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्य भर्गं निर्जघान ॥१॥ तमेताभिर्देवताभिरनुसमसर्पत् । सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणे-

वज्र है, मेरा काम कर।" इस प्रकार मुखिया अपने साथी को अपने से दुर्बल करता है। वे स्फ्या को एक-दूसरे को इसलिए देते हैं कि इससे समाज की व्यवस्था ठीक रहे और समाज ठीक रहे ॥१९॥

अब समाज और प्रतिप्रस्थाता उस स्फ्या से अग्नि के सामने शुक्र पुरोरुच मन्त्र पढ़कर (यजु० ७।२०) 'अधिदेवन' अर्थात् जुआ खेलने के स्थल (?) को बनाता है। शुक्र का अर्थ है अत्ता (खानेवाला), वह इस प्रकार उसको अत्ता बनाता है ॥२०॥

अब मन्थि के पुरोरुच मन्त्र से (यजु० ७।१९) विमित (छप्पर की शाला) बनाते हैं। मन्थी का अर्थ है आद्य (जो कुछ खाया जाय)। मन्थि के पुरोरुच मन्त्र से विमित बनाने का प्रयोजन यह है कि पहले उसे अत्ता बनाते हैं, फिर आद्य ॥२१॥

अब अध्वर्यु चार प्यालों में घी लेकर अधिदेवन (द्यूतस्थान) में सुवर्ण रखकर इस मन्त्र से आहुति देता है—"अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो ऽ अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा" (यजु० १०।२९) "फैलनेवाला अग्नि जो धर्म का पति है प्रसन्न हो। फैलनेवाला अग्नि जो धर्म का पति हैं इस आज्य को स्वीकार करे" ॥२२॥

अब अध्वर्यु नीचे के मन्त्र से पाँसे फेंकता है—"स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वँ सजातानां मध्यमेष्ठ्याय" (यजु० १०।२९)—"स्वाहा से युक्त तुम सूर्य की किरणों की सहायता से सजातों के मध्य में उत्तम स्थान प्राप्त करने के लिए यत्न करो।" द्यूतस्थान ही फैलनेवाली अग्नि है। पाँसे उसके अंगारे हैं। इस प्रकार इसी अग्नि को वह प्रसन्न करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है, या जो इस रहस्य को समझता है, उसके घरों में गाय भारी जा सकती है। पाँसों के लिए वह कहता है, "गाय के लिए खेलो।" (अर्थात् गाय को दाव पर लगाकर खेलो)। इसकी दक्षिणा अग्नि को ले-जानेवाले दो बैल हैं ॥२३॥

अब वह कहता है, "स्विष्टकृत् अग्नि के लिए अनुवचन कहो।" यह कर्म दो आहुतियों के बीच में क्यों किया जाता है? जो यज्ञ यहाँ किया जाता है वह प्रजापति है। इसी से यह प्रजा उत्पन्न हुई है और अब भी इसी से उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह यजमान को प्रजापति के मध्य में प्रतिष्ठित कर देता है और मध्य में ही उसको दीक्षित करता है। इसीलिए दो आहुतियों के बीच में यह कर्म किया जाता है। श्रौषट् कहकर कहता है कि अग्नि स्विष्टकृत् के लिए यज्ञ करो। और वषट्कृत आहुति देता है ॥२४॥

अब वह इडा को आग पर रखता है, इडा का मन्त्र पढ़कर तथा इडा को छूकर वह महेन्द्र-ग्रह को लेता है। महेन्द्र-ग्रह को लेकर वह स्तोत्र पढ़ता है। अब वह यजमान को स्तोत्र के लिए प्रेरित करता है। अब वह नीचे उतरता है। स्तोत्र और शस्त्र के निकट रहता है ॥२५॥

संसृपाहविः, दशपेयः, उपसद्यागञ्च

अध्याय ४—ब्राह्मण ५

जब वरुण का अभिषेक हुआ था तो उसका भर्ग चला गया था। भर्ग का अर्थ है वीर्य। विष्णु या यज्ञ ही उससे चला गया था। शायद जिन जलों के रस से उसका अभिषेक हुआ था, उन्होंने इसके भर्ग (तेज) को नष्ट कर डाला ॥१॥

यजमान ने उस भर्ग का इन देवताओं के साथ पीछा किया—प्रेरक सविता के साथ, वाणी सरस्वती के साथ, रूपवाले त्वष्टा के साथ, पूषा अर्थात् पशुओं के साथ, ब्रह्म बृहस्पति के

नौजसाग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुनैव दशम्या देवतयान्वविन्दत् ॥२॥ तद्यदेनमेताभिर्देवताभिरनुसमसर्पत् । तस्मात्सꣳसृपो नामाथ यद्दशमेऽहन्प्रसुतो भवति तस्माद्दशपेयोऽथो यद्दश दशैकैकं चमसमनुप्रसृप्ता भवन्ति तस्माद्विव दशपेयः ॥३॥ तदाहुः । दश पितामहान्त्सोमपान्त्संख्याय प्रसर्पेत्तथो हास्य सोमपीथमश्नुते दशपेयो हीति तद्वै त्र्या द्वौ त्रीनित्येव पितामहान्त्सोमपान्विन्दन्ति तस्मादेता एव देवताः संख्याय प्रसर्पेत् ॥४॥ एताभिर्वै देवताभिर्वरुण एतस्य सोमपीथमाश्नुत । तथोऽएवैष एताभिरेव देवताभिरेतस्य सोमपीथमश्नुते तस्मादेता एव देवताः संख्याय प्रसर्पेदथ यदेवैषोदवसानीयेष्टिः संतिष्ठतऽएतस्याभिषेचनीयस्य ॥५॥ अथैतानि हवीꣳषि निर्वपति । सावित्रं द्वादशकपालं वाष्टाकपालं वा पुरोडाशꣳ सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एव तद्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथोऽएवैष एतत्सवितृप्रसूत एवानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥६॥ अथ सारस्वतं चरुं निर्वपति । वाग्वै सरस्वती वाचैव तद्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथोऽएवैष एतद्वाचैवानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥७॥ अथ त्वाष्ट्रं दशकपालं पुरोडाशं निर्वपति । त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे त्वष्ट्रैव तद्रूपैर्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथोऽएवैष एतत्त्वष्ट्रैव रूपैरनुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥८॥ अथ पौष्णं चरुं निर्वपति । पशवो वै पूषा पशुभिरेव तद्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथोऽएवैष एतत्पशुभिरेवानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥९॥ अथैन्द्रमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति । इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण वरुणोऽनुसमसर्पत्तथोऽएवैष एतदिन्द्रियेणैव वीर्येणानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥१०॥ अथ बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैव तद्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथोऽएवैष एतद्ब्रह्मणैवानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥११॥ अथ वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति । स येनैवौजसेमाः प्रजा वरुणोऽगृ-

साथ, ओजवाले वरुण के साथ, तेजयुक्त अग्नि के साथ, राजा सोम के साथ, विष्णु के साथ। परन्तु केवल दशमे देवता विष्णु की सहायता से उसके उस भर्ग को प्राप्त किया ॥२॥

चूंकि यह इन देवताओं के साथ उसके पीछे चला (समसर्पत्) इसलिए इस यज्ञ का संसृप नाम हुआ (सम् उपसर्ग + सृप् धातु) और चूंकि दशमे दिन उसका अभिषेक हुआ इसलिए ये उसे दशपेय कहते हैं। और चूंकि एक-एक चमसे के पीछे दस-दस आदमी चलते हैं, इसलिए भी यह दशपेय कहलाता है ॥३॥

कुछ लोगों का कहना है कि इस सोम पीनेवाले पितामहों का नाम लेकर पीछे चले। इसी से स्वयं भी सोम पीने के योग्य हो सकेगा। परन्तु यह बहुत ज्यादा है; क्योंकि दो-तीन सोम पीनेवाले पितामह ही मिल सकते हैं। इसलिए इन दस देवताओं का नाम लेकर ही पीछे चले ॥४॥

इन्हीं (दस) देवताओं का नाम लेकर ही वरुण ने सोमपान किया था। इसी प्रकार (इस दशपेय यज्ञ का) यह भी सोमपान करता है। इसलिए इन्हीं देवताओं का नाम लेकर वह पीछा करे। जब इस अभिषेक की अन्तिम इष्टि समाप्त होने पर आवे तो—॥५॥

इन हवियों को तैयार करता है। सविता के लिए बारह कपालों का या आठ कपालों का पुरोडाश। सविता देवताओं का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही वरुण उस समय आगे चला था, और इसी प्रकार सविता की प्रेरणा से यह भी आगे चलता है। यहां पर एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥६॥

अब सरस्वती के लिए चरु तैयार करता है। वाणी सरस्वती है। इसी वाणी के साथ वरुण ने उस समय उसका पीछा किया, और इसी प्रकार यह भी वाणी के साथ ही उसका पीछा करता है। वहां पर एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥७॥

अब त्वष्टा के लिए दश कपालों का पुरोडाश बनाता है। त्वष्टा ही रूपों का अधिपति है। त्वष्टा के रूपों से ही वरुण उस समय उसके पीछे चला था और इसी प्रकार त्वष्टा के रूपों के साथ यह भी पीछे चलता है। वहां एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥८॥

अब पूषा के लिए चरु बनाता है। पशु ही पूषा हैं। पशुओं के साथ ही वरुण ने उसका पीछा किया था, और पशुओं के साथ ही यह भी पीछा करता है। वहां एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥९॥

अब इन्द्र का ग्यारह कपालों का पुरोडाश बनाता है। वीर्य इन्द्र का है। इन्द्र के ही वीर्य से वरुण ने उस समय उसका पीछा किया था। इन्द्र के वीर्य के ही सहारे यह भी उसका पीछा करता है। वहां एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥१०॥

अब बृहस्पति का चरु बनाता है। ब्रह्म ही बृहस्पति है। ब्रह्म के साथ ही वरुण ने उसका पीछा किया था। इसी प्रकार यह भी ब्रह्म के साथ ही पीछा करता है। वहां एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥११॥

अब वरुण का जौ का चरु बनाता है। जिस ओज से वरुण ने इन प्रजाओं को पकड़ा,

ह्यात्तेनैव तदोजसा वरुणोऽनुसमसर्पत्तेनो एवैष तदोजसानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ॥१२॥ उपसदो दशम्यो देवताः । तत्र पञ्च पुण्डरीकाण्युपप्रयच्छति तां द्वादशपुण्डरीकाꣳ स्रजं प्रतिमुञ्चते सा दीक्षा तया दीक्षया दीक्षते ॥१३॥ अथ यद्द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य सर्वं वै संवत्सरः सर्वेणैवैनमेतद्दीक्षयति यानि पुण्डरीकाणि तानि दिवो रूपं तानि नक्षत्राणाꣳ रूपं ये वधकास्तेऽन्तरिक्षस्य रूपं यानि बिसानि तान्यस्यै तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति ॥१४॥ अथ राजानं क्रीत्वा । द्वेधोपनह्य परिवहन्ति ततोऽर्धमासन्यामासाद्य प्रचरत्यथ य एषोऽर्धो ब्रह्मणो गृहे निहितो भवति तमासन्यामासाद्यातिथ्येन प्रचरति यदातिथ्येन प्रचरत्यथोपसद्भिः प्रचरति यदोपसद्भिः प्रचरति ॥१५॥ अथैतानि हवीꣳषि निर्वपति । आग्नेयमष्टाकपालं पुरोडाशꣳ सौम्यं चरुं वैष्णवं त्रिकपालं वा पुरोडाशं चरुं वा तेन यथेष्ट्यैवं यजते ॥१६॥ तदु तथा न कुर्यात् । ह्वलति वा एष यो यज्ञपथादेत्येति वा एष यज्ञपथाद्य उपसत्पथादेति तस्मादुपसत्पथादेव नेयात् ॥१७॥ स यदग्निं यजति । अग्निनैवैतत्तेजसानुसꣳसर्पत्यथ यत्सोमं यजति सोमेनैवैतद्राज्ञानुसꣳसर्पत्यथ यद्विष्णुं यजति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति तं प्रत्यक्षमात्मन्कुरुते ॥१८॥ स एष सप्तदशोऽग्निष्टोमो भवति । सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति तं प्रत्यक्षमात्मन्कुरुते ॥१९॥ तस्य द्वादश प्रथमगर्भाः पष्ठौह्यो दक्षिणा । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति तं प्रत्यक्षमात्मन्कुरुते ॥२०॥ तासां द्वादश गर्भाः । ताश्चतुर्विꣳशतिश्चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति तं प्रत्यक्षमात्मन्कुरुते ॥२१॥ ता ब्रह्मणे ददाति । ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायति तस्मात्ता ब्रह्मणे ददाति हिरण्मयीꣳ स्रजमुद्गात्रे रुक्मꣳ होत्रे हि-

उसी ओज से वह उसके पीछे चला । उसी ओज से यह भी उसका पीछा करता है । वहाँ एक कमल-पुष्प अर्पण करता है ॥१२॥

उपसद के देवता दशमे हैं । यहाँ वह पाँच कमल-पुष्प अर्पण करता है । १२ कमल-पुष्पों की माला वह स्वयं पहनता है । यही दीक्षा है । इसी दीक्षा से दीक्षित होता है ॥१३॥

ये फूल बारह क्यों होते हैं ? संवत्सर में १२ मास होते हैं । संवत्सर का नाम है 'सब', इस प्रकार 'सब' के द्वारा ही वह इसको दीक्षित करता है । कमल के फूल तो द्यौलोक का रूप हैं । वे नक्षत्रों का रूप हैं । जो वधक अर्थात् डंठल हैं, वे अन्तरिक्ष का रूप हैं । जो अंकुए हैं, वे पृथिवी का रूप हैं । इस प्रकार तीनों लोकों में वह उसको दीक्षित करता है ॥१४॥

अब सोम राजा को खरीदकर और उसको दो भागों में बाँधकर चारों ओर फिराते हैं । आधे को चौकी पर बिठाकर अगला कृत्य करता है । जो आधा भाग ब्राह्मण के घर में रक्खा होता है, उसको चौकी पर बिठाकर आतिथ्य करता है । जब आतिथ्य बनाता है, तभी उपसद भी बनाता है । जब उपसद बनाता है तभी—॥१५॥

इन हवियों को भी बनाता है, अर्थात् अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश, सोम के लिए चरु, विष्णु के लिए तीन कपालों का पुरोडाश या चरु । इस प्रकार यथेष्ट यज्ञ करता है ॥१६॥

परन्तु ऐसा न करे । जो यज्ञ-पथ से चूकता है वह गिरता है, और जो उपसद के मार्ग से चूकता है, वह यज्ञ के पथ से चूकता है । इसलिए उपसद-पथ से न चूकना चाहिए ॥१७॥

अग्नि में आहुति देने का अर्थ यह है कि अग्नि देवता की सहायता से तेज के साथ उसका पीछा करता है । सोम के लिए आहुति देने का अर्थ यह है कि सोम राजा की सहायता से पीछा करता है । विष्णु के लिए आहुति देने का अर्थ यह है कि विष्णु तो स्वयं यज्ञ है । ऐसा करने से प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ को प्राप्त कर लेता है । उसको प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके वह इसको अपना बना लेता है ॥१८॥

यही दशपेय सप्तदश भागोंवाला अग्निष्टोम हो जाता है । प्रजापति सत्रह भागोंवाला है । प्रजापति यज्ञ है । इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से उसको प्राप्त करता है और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बना लेता है ॥१९॥

इसकी दक्षिणा है १२ गौएँ, जिनके पहलौठी गर्भ हों । संवत्सर में १२ मास होते हैं । प्रजापति यज्ञ है । इस प्रकार वह यज्ञ को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करता है, और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बना लेता है ॥२०॥

इन गौओं के बारह गर्भ हुए । इस प्रकार चौबीस हो गये । संवत्सर में चौबीस पक्ष होते हैं । संवत्सर प्रजापति है । प्रजापति यज्ञ है । इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ को प्राप्त करता है और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बना देता है ॥२१॥

वह इनको ब्रह्मा को देता है । क्योंकि ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिणा से रक्षा करता है, इसलिए वह इनको ब्रह्मा को देता है । सोने की माला उद्गाता को । होता को सोने की प्याली । दोनों

रण्मयौ प्राकाशावध्वर्युभ्यामश्वं प्रस्तोत्रे वशां मैत्रावरुणायऽर्षभं ब्राह्मणाछꣳसिने वाससी नेष्टापोतृभ्यामन्यतरतोयुक्तं यवाचितमच्छावाकाय गामग्नीधे ॥२२॥ ता वाऽएताः । द्वादश वा त्रयोदश वा दक्षिणा भवन्ति द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति तं प्रत्यक्षमात्मन्कुरुते ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [४. ५.] ॥ चतुर्थोऽध्यायः [३४.] ॥ ॥

आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । तं पूर्वार्धऽआसादयत्यैन्द्र एकादशकपालः पुरोडाशो भवति सौम्यो वा चरुस्तं दक्षिणार्धऽआसादयति वैश्वदेवश्चरुर्भवति तं पश्चार्धऽआसादयति मैत्रावरुणी पयस्या भवति तामुत्तरार्धऽआसादयति बार्हस्पत्यश्चरुर्भवति तं मध्यऽआसादयत्येष चरुः पञ्चबिलस्तद्यत्पञ्च हवीꣳष्यपि भवन्ति तेषां पञ्च बिलानि तस्माच्चरुः पञ्चबिलो नाम ॥१॥ तद्यदेतेन राजसूययाजी यजते । यदेवैनं दिशः समारोहयति यदृतून्यत्स्तोमान्यच्छन्दाꣳसि तस्मादेवैनमेतेन निष्क्रीणाति स यद्धैतेन राजसूययाजी न यजेतोद्वा ह माद्येत्प्र वा पतेत्तस्माद्वाऽएतेन राजसूययाजी यजते ॥२॥ स यदाग्नेयेनाष्टाकपालेन पुरोडाशेन प्रचरति । यदेवैनं प्राचीं दिशꣳ समारोहयति यदृतून्यत्स्तोमान्यच्छन्दाꣳसि तस्मादेवैनमेतेन निष्क्रीणाति सꣳस्रवं बार्हस्पत्ये चराववनयति ॥३॥ अथ यदैन्द्रेणैकादशकपालेन पुरोडाशेन प्रचरति । सौम्येन वा चरुणा यदेवैनं दक्षिणां दिशꣳ समारोहयति यदृतून्यत्स्तोमान्यच्छन्दाꣳसि तस्मादेवैनमेतेन निष्क्रीणाति सꣳस्रवं बार्हस्पत्ये चराववनयति ॥४॥ अथ यद्वैश्वदेवेन चरुणा प्रचरति । यदेवैनं प्रतीचीं दिशꣳ समारोहयति यदृतून्यत्स्तोमान्यच्छन्दाꣳसि तस्मादेवैनमेतेन निष्क्रीणाति सꣳस्रवं बार्हस्पत्ये चराववनयति ॥५॥ अथ यन्मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति । यदेवैनमुदीचीं दिशꣳ समारोहयति यदृतून्यत्स्तोमान्यच्छन्दाꣳसि तस्मादेवैनमेतेन निष्क्रीणाति सꣳस्रवं बार्हस्पत्ये चरावनयति तद्यत्सꣳस्रवा-

अध्वर्युओं को दो सोने के दर्पण, प्रस्तोता को घोड़ा, मित्र-वरुण को एक बाँझ गौ, ब्राह्मणाच्छसिन् को एक बैल, नेष्टा और पोता को दो कपड़े, अच्छावाक् को जौ-भरी गाड़ी, जिसमें एक ओर बैल जुता हो, अग्नीध को एक बैल ॥२२॥

ये दक्षिणा बारह होती हैं या तेरह। संवत्सर में या बारह मास होते हैं या तेरह। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ को प्राप्त करता है और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बनाता है ॥२३॥

पञ्चबिलसंज्ञकश्चरुः

अध्याय ५—ब्राह्मण १

आठ कपालों पर अग्नि का पुरोडाश होता है। इसको वह वेदी के पूर्वार्द्ध में रखता है। इन्द्र का ग्यारह कपालों का पुरोडाश होता है या सोम का चरु। उसको दक्षिणार्ध की ओर रखता है। विश्वेदेवों का चरु होता है, उसे पश्चिमार्ध में रखता है। मित्र और वरुण की पयस्या (दही) होती है, उसे उत्तरार्ध में रखता है। बृहस्पति का चरु होता है, उसे बीच में रखता है। यह पाँच बिलोंवाला चरु होता है। जो पाँच हवियाँ होती हैं, उनके पाँच बिल (छिद्र) होते हैं। इसलिए चरु को 'पंचबिल' कहते हैं ॥१॥

राजसूय करनेवाला इसको क्यों करता है? इस यज्ञ से यजमान को दिशाओं, ऋतुओं, स्तोमों, छन्दों के ऊपर चढ़ा देता है। इस कृत्य से उसका उपचार हो जाता है। यदि राजसूय करनेवाला इसको न करे तो अभिमानी हो जाय, तथा पतित हो जाय। अतएव राजसूय यज्ञ करनेवाला इसको करता है ॥२॥

वह अग्नि का आठ कपालों का पुरोडाश क्यों बनाता है? इससे पूर्व की दिशा को चढ़ता है, ऋतुओं को, तथा स्तोमों को और छन्दों को। इस कृत्य स उसका उपचार हो जाता है। इसका अवशिष्ट बृहस्पति के चरु में डाल देता है ॥३॥

ग्यारह कपालों का इन्द्र का पुरोडाश क्यों होता है और सोम का चरु क्यों? इसलिए कि वह दक्षिण दिशा को चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को और छन्दों को। इस कृत्य से उसका उपचार हो जाता है। अवशिष्ट को वह बृहस्पति के चरु में डाल देता है ॥४॥

विश्वेदेवों का चरु क्यों बनाता है? क्योंकि वह पूर्व की दिशा को चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को और छन्दों को। इससे उसका उपचार हो जाता है। अवशिष्ट को वह बृहस्पति के चरु में डाल देता है ॥५॥

मित्र-वरुण की पयस्या क्यों दी जाती है? इससे वह उत्तर की दिशा को चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को और छन्दों को। इसी से इसका उपचार हो जाता है। अवशिष्ट को बृहस्पति के चरु में डाल देता है। बृहस्पति के चरु में अवशिष्ट को डाल देने से वह इस (यजमान)

न्बार्हस्पत्ये चरावववनयति सर्वत एवास्मिन्नेतदन्नाद्यं दधाति तस्माद्व दिशो-दिश एव राज्ञेऽन्नाद्यमभिह्रियते ॥६॥ अथ यद्बार्हस्पत्येन चरुणा प्रचरति । यद्वेवैन-मूर्ध्वां दिशꣳ समारोहयति यदृतून्यत्स्तोमान्यच्छन्दाꣳसि तस्माद्वेवैनमेतेन निष्क्रीणाति ॥७॥ स य एष आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । तस्य हिरण्यं दक्षिणाग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्य तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा तदग्नीधे ददात्यग्निर्वाऽएष निदानेन यदाग्नीधस्तस्मात्तदग्नीधे ददाति ॥८॥ अथ य एष ऐन्द्र एकादशकपालः पुरोडाशो भवति । तस्यऽर्षभो दक्षिणा स हैन्द्रो यदृषभो यश्चु सौम्यश्चरुर्भवति तस्य बभ्रुर्गौर्दक्षिणा स हि सौम्यो यद्बभ्रुस्तं ब्रह्मणे ददाति ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायति तस्मात्तं ब्रह्मणे ददाति ॥९॥ अथ य एष वैश्वदेवश्चरुर्भवति । तस्य पृषन्गौर्दक्षिणा भूमा वाऽएतद्रूपाणां यत्पृषतो गोर्विशो वै विश्वे देवा भूमा वै विट्तस्मात्पृषन्गौर्दक्षिणा तꣳ होत्रे ददाति होता हि भूमा तस्मात्तꣳ होत्रे ददाति ॥१०॥ अथ यैषा मैत्रावरुणी पयस्या भवति । तस्यै वशा दक्षिणा सा हि मैत्रावरुणी यद्वशा यदि वशां न विन्देदपि यैव का चाप्रवीता स्यात्सर्वा ह्येव वशाप्रवीता तामध्वर्युभ्यां ददाति प्राणोदानौ वाऽअध्वर्यू प्राणोदानौ मित्रावरुणौ तस्मात्तामध्वर्युभ्यां ददाति ॥११॥ अथ य एष बार्हस्पत्यश्चरुर्भवति । तस्य शितिपृष्ठो गौर्दक्षिणैषा वाऽऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्तदेष उपरिष्टादर्यम्णः पन्थास्तस्माच्छितिपृष्ठो बार्हस्पत्यस्य दक्षिणा तं ब्रह्मणे ददाति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मैष वाऽएतस्य ब्रह्मा भवति तस्मात्तं ब्रह्मणे ददाति स हैतेनापि विष्ठाव्राड्यन्नाद्यकामो यजेत तदस्मिन्त्सर्वतोऽन्नाद्यं दधाति स हान्नाद एव भवति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५. १.] ॥॥

स वै प्रयुजाꣳ हविर्भिर्यजते । तद्यत्प्रयुजाꣳ हविर्भिर्यजतऽऋतून्वाऽएतत्सुषुत्राणो युङ्क्ते तऽएनमृतवो युक्ता वहन्त्यृतून्वा प्रयुक्ताननुचरति तस्मात्प्रयुजाꣳ

को अन्न प्राप्त कराता है। इसलिए सब दिशाओं से राजा के लिए अन्न आता है ॥६॥

बृहस्पति का चरु क्यों बनाता है ? क्योंकि इससे वह ऊपर की दिशा में चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को और छन्दों को। इससे उसका उपचार हो जाता है ॥७॥

अग्नि के लिए आठ कपालों का जो पुरोडाश होता है, उसके लिए ऋत्विज की दक्षिणा स्वर्ण है, क्योंकि यह यज्ञ अग्नि-सम्बन्धी है। स्वर्ण अग्नि का रेत है, इसलिए उसकी दक्षिणा स्वर्ण है। यह दक्षिणा अग्नीध्र को दी जाती है। अग्नीध्र अन्त को अग्नि ही तो है, इसलिए वह इसको अग्नीध्र को देता है ॥८॥

यह जो इन्द्र का ग्यारह कपालों का पुरोडाश होता है, उसकी दक्षिणा बैल है। यह जो बैल है वह इन्द्र-सम्बन्धी है। यह जो सोम का चरु है उसकी दक्षिणा भूरी गाय है। भूरी गाय सोम-सम्बन्धिनी है। उसको ब्रह्मा को देता है। ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिण की ओर से रक्षा करता है, इसलिए वह इसको ब्रह्मा के अर्पण करता है ॥९॥

यह जो विश्वेदेवों का चरु है, उसकी दक्षिणा है चितकबरी गाय। यह जो चितकबरी गौ है वह बहुतायत है। विश्वेदेवा प्रजा हैं। प्रजा बहुतायत है। इसलिए इसकी दक्षिणा चितकबरी गौ है। उसको होता को देता है। होता बहुतायत है, इसलिए वह इसे होता को देता है ॥१०॥

जो मित्र-वरुण की पयस्या है, उसकी दक्षिणा बाँझ गाय है। यह बाँझ गाय मित्र-वरुण की होती है। यदि बाँझ गौ न हो, तो गर्भिणी नहीं। जो गर्भिणी नहीं है वह बाँझ ही तो है। उसको अध्वर्यु को देता है। प्राण और उदान दो अध्वर्यु हैं। प्राण और उदान मित्रावरुण हैं। इसलिए उसको दो अध्वर्युओं को देता है ॥११॥

यह जो बृहस्पति का चरु है, उसकी दक्षिणा है श्वेत पीठ की गौ। यह जो ऊपर की दिशा है वह बृहस्पति की है। इससे ऊपर का मार्ग अर्यमा का है। इस बृहस्पति के यज्ञ की दक्षिणा श्वेत पृष्ठ की गौ है। इसको ब्रह्मा को देता है। बृहस्पति ही देवताओं का ब्रह्मा है। और यह ब्रह्मा यजमान का है। इसलिए वह इसको ब्रह्मा को देता है। जो विष्ठाव्राजी (?) अन्न को चाहे वह यह यज्ञ करे। इस प्रकार वह चारों ओर से उसके लिए अन्न लाता है और वह अन्नाद हो जाता है ॥१२॥

प्रयुग्घविः

अध्याय ५—ब्राह्मण २

अब वह प्रयुज हवियों को देता है। प्रयुज हवियों को क्यों देता है ? इसलिए कि जिसका अभिषेक हुआ है वह इनसे ऋतुओं को जोड़ता है। इस प्रकार जुड़े हुए ऋतु उसको ले चलते हैं (जैसे जुड़े हुए घोड़े सवारी को)। वह जुड़े ऋतुओं के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए वह प्रयुज

हविर्भिर्यजते ॥१॥ तानि वै द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य त-
स्माद्द्वादश भवन्ति मासि-मासि यजेतेत्याहुः को वेद मनुष्यस्य तस्मान्न मासि-मा-
सि यजेत शम्यापराव्याधे-शम्यापराव्याधऽएव षड्भिर्यजते प्राङ् यानथ पुनरावृत्तः
शम्यापराव्याधे-शम्यापराव्याधऽएव षड्भिर्यजते ॥२॥ तदु तथा न कुर्यात् । षडे-
वैतानि पूर्वाणि हवीꣳषि निर्वपति समानबर्हीꣳषि तासां देवतानाꣳ रूपं यथा
शिशिरे युक्ता प्राञ्च आप्रावृषं यायुस्तत्षडृतून्युङ्क्ते तऽएनꣳ षडृतवो युक्ताः प्राञ्च
आप्रवृषं वहन्ति षड्ऽर्तून्प्रयुक्तानाप्रावृषमनुचरति पूर्वाग्निवाहौ द्वौ दक्षिणा ॥३॥
षडेवोत्तराणि हवीꣳषि निर्वपति । समानबर्हीꣳषि तासां देवतानाꣳ रूपं यथा
पुनरावर्तेरन्वार्षिकमभि तत्षडृतून्युङ्क्ते तऽएनꣳ षडृतवो युक्ता वार्षिकमभि वहन्ति
षड्ऽर्तून्प्रयुक्तान्वार्षिकमनुचरति पूर्वाग्निवाहौ द्वौ दक्षिणा तद्यत्पूर्वाग्निवाहो द-
क्षिणाऽर्तून्वाऽएतत्सुषुवाणो युङ्क्ते वहन्ति वाऽअनड्वाहस्तस्मात्पूर्वाग्निवाहो दक्षि-
णा ॥४॥ तद्ध स्मैतत्पुरा कुरुपञ्चाला आहुः । ऋतवो वाऽअस्मान्युक्ता वहन्त्यृ-
तून्वा प्रयुक्ताननुचराम इति यदेषाꣳ राजानो राजसूययाजिन आसुस्तद्ध स्म तद-
भ्याहुः ॥५॥ आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । सौम्यश्चरुः सावित्रो द्वाद-
शकपालो वाष्टाकपालो वा पुरोडाशो बार्हस्पत्यश्चरुस्त्वाष्ट्रो दशकपालः पुरो-
डाशो वैश्वानरो द्वादशकपाल एतानि षट् पूर्वाणि हवीꣳषि भवन्ति ॥६॥
॥ शतम् ३३०० ॥ ॥ षडेवोत्तरे चरवः । सारस्वतश्चरुः पौष्णश्चरुर्मैत्रश्चरुः क्षैत्रपत्य-
श्चरुर्वारुणश्चरुरादित्यश्चरुरेतऽउ षडुत्तरे चरवः ॥७॥ अथ श्येनीं विचित्रगर्भाम-
दित्याऽआलभते । तस्या एषैवावृद्याष्टापद्यै वशायाऽइयं वाऽअदितिरस्या एवै-
नमेतद्गर्भं करोति तस्या एतादृश्येव श्येनी विचित्रगर्भा दक्षिणा ॥८॥ अथ पृष-
तीं विचित्रगर्भां मरुद्भ्य आलभते । तस्या एषैवावृद्विशो वै मरुतो विशामेवैन-
मेतद्गर्भं करोति तस्या एतादृश्येव पृषती विचित्रगर्भा दक्षिणा ॥९॥ एतौ पशु-

आहुतियों को देता है ॥१॥

ये बारह होते हैं। वर्ष में बारह मास होते हैं, इसलिए ये भी बारह होते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मास-मास में यज्ञ करे। मनुष्य के जीवन की कौन जाने? इसलिए मास-मास में न करे। पूर्व की ओर चलकर छः आहुतियाँ एक-दूसरे से शमी की दूरी पर (?) दे, और फिर लौटकर छः आहुतियाँ उसी प्रकार एक-दूसरे से शमी की दूरी पर दे ॥२॥

परन्तु ऐसा न करे। इन पहली छः हवियों को यह एक बर्हि से उन-उन देवताओं के रूप में देता है। जैसे जाड़े में घोड़े जोतकर वर्सात तक चलें, इस प्रकार छः ऋतुओं को जोतता है, और जुते हुए ऋतु उसको आगे ले जाते हैं, और वह जुते हुए ऋतुओं को वर्षा-ऋतु तक अनुसरण करता है। इसकी दक्षिणा होते हैं वे दोनों बैल, जो पूर्व-अग्नि को ले जाते हैं ॥३॥

पिछली छः हवियों को एक ही बर्हियों के साथ उन-उन देवताओं के रूप में देता है, जैसे वे फिर वर्षा तक लौटेंगे, इस प्रकार वह छः ऋतुओं को जोतता है और इस प्रकार जुते हुए ये ऋतु उसको आगे ले चलते हैं और वह उन जुते हुए ऋतुओं का वर्षा तक अनुसरण करता है। इसकी दक्षिणा होते हैं दो बैल, जो पूर्व-अग्नि को ले जाते हैं। ये पूर्व-अग्नि को ले-जानेवाले बैल क्यों दक्षिणा हैं? इसलिए कि अभिषेकवाला ऋतुओं को जोतता है और बैल ही खींचा करते हैं। इसलिए पूर्व-अग्नि के ले-जानेवाले दो बैल ही उसकी दक्षिणा हैं ॥४॥

पहले इस विषय में कुरुपंचालों का कहना था, 'ये ऋतुएँ ही हैं जो जुतकर हमको ले जाती हैं और हम इन्हीं जुते हुए ऋतुओं का अनुसरण करते हैं — उनके राजा राजसूय यज्ञ करने वाले होते थे, इसलिए वे ऐसा कहते थे ॥५॥

अग्नि का आठ कपालों का पुरोडाश होता है, सोम का चरु, सविता का बारह कपालों का या आठ कपालों का पुरोडाश, बृहस्पति का चरु, त्वष्टा का दस कपालों का पुरोडाश, वैश्वानर का बारह कपालों का पुरोडाश, ये पहली छः हवियाँ हुईं ॥६॥

पिछले छः चरु होते हैं। सरस्वती का चरु, पूषा का चरु, मित्र का चरु, क्षेत्रपति का चरु, वरुण का चरु, अदिति का चरु, ये छः अन्न की हवियाँ हुईं ॥७॥

अब आदित्य के लिए श्येनी विचित्रगर्भ (वह गाय जो लाल हो और जिसके गर्भ हो) को लेते हैं। इसके साथ वैसा ही कृत्य होता है, जैसा अष्ट-पदी वश्या (बाँझ गौ) के साथ। यह पृथिवी अदिति है। इस राजा को इस पृथिवी का गर्भ बनाता है। इसलिए श्येनी विचित्रगर्भा इसकी दक्षिणा है ॥८॥

अब मरुतों के लिए पृषती विचित्रगर्भा को लेते हैं। इसके साथ भी वैसा ही कृत्य होता है। मरुत् का अर्थ है विश या प्रजा। इस प्रकार वह इसको मरुतों (प्रजा) का गर्भ बनाता है। इसकी दक्षिणा है पृषती विचित्रगर्भा ॥९॥

बन्धौ । तदेतावेव सन्तावन्यथेवालभन्ते यामदित्याऽआलभन्तऽआदित्येभ्यस्तामालभन्ते सर्वं वाऽआदित्याः सर्वस्यैवैनमेतद्गर्भं करोति यां मरुद्भ्य आलभन्ते विश्वेभ्यस्तां देवेभ्य आलभन्ते सर्वं वै विश्वे देवाः सर्वस्यैवैनमेतद्गर्भं करोति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५. २.] ॥ ॥

अभिषेचनीयेनेष्ट्वा । केशान्न वपते तद्यत्केशान्न वपते वीर्यं वाऽएतदपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति तस्याभिषिक्तस्य केशान्प्रथमान्प्राप्नोति स यत्केशान्वपेतैताꣳ श्रियं जिह्मां विनाशयेद्व्युदुह्यात्तस्मात्केशान्न वपते ॥१॥ संवत्सरं न वपते । संवत्सरसंमिता वै व्रतचर्या तस्मात्संवत्सरं न वपते स एष व्रतविसर्जनीयोपयोगो नाम स्तोमो भवति केशवपनीयः ॥२॥ तस्यैकविꣳशं प्रातःसवनꣳ । सप्तदशं माध्यन्दिनꣳ सवनं पञ्चदशं तृतीयसवनꣳ सहोक्थैः सह षोडशिना सह रात्र्या ॥३॥ त्रिवृद्राथन्तरः संधिर्भवति । एष एवैकविꣳशो य एष तपति स एतस्मादेकविꣳशादपयुङ्क्ते स सप्तदशमभिप्रत्यवैति सप्तदशात्पञ्चदशं पञ्चदशादस्यामेव त्रिवृति प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥४॥ तस्य रथन्तरं पृष्ठं भवति । इयं वै रथन्तरमस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्यतिरात्रो भवति प्रतिष्ठा वाऽअतिरात्रस्तस्मादतिरात्रो भवति ॥५॥ स वै न्येव वर्तयते । केशान्न वपते वीर्यं वाऽएतदपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति तस्याभिषिक्तस्य केशान्प्रथमान्प्राप्नोति स यत्केशान्वपेतैताꣳ श्रियं जिह्मां विनाशयेद्व्युदुह्यादथ यन्निवर्तयते तदात्मन्येवैताꣳ श्रियं नियुनक्ति तस्मान्न्येव वर्तयते केशान्न वपते तस्यैषैव व्रतचर्या भवति यावज्जीवं नास्यां प्रतितिष्ठति ॥६॥ आसन्द्या उपानहाऽउपमुञ्चते । उपानड्भ्यामधि यदस्य यानं भवति रथो वा किंचिद्वा सर्वं वाऽएष इदमुपर्युपरि भवत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यो राजसूयेन यजते तस्मादस्यैषैव व्रतचर्या भवति यावज्जीवं नास्यां प्रतितिष्ठति ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥५ [५ ३.] ॥ ॥

ये दोनों पशु-बन्ध एक-से ही हैं परन्तु (कुछ लोग) इनके साथ भिन्न-भिन्न कृत्य करते हैं। जो अदिति के लिए है उसे आदित्य के लिए लेते हैं। आदित्य 'सब' हैं। उस प्रकार उसको सबका गर्भ बनाता है। जो मरुत् के लिए हैं उसको विश्वेदेवों के लिए लेते हैं। विश्वेदेवों का अर्थ है सब। इसलिए इसको सबका गर्भ बनाता है ॥१०॥

केशवपनीयातिरात्रधर्माः

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

अभिषेचनीय इष्टि के बाद वह बाल नहीं बनवाता। क्यों बाल नहीं बनवाता ? जिन बालों से उसका अभिषेक हुआ है उनका संयुक्त रस वीर्य है। जब अभिषेक होता है, तो जल पहले केशों को छूता है। यदि केशों को मुंडवाये तो उसकी श्री झड़ जाय; इसलिए केशों को नहीं मुंडवाता ॥१॥

वह साल-भर केश नहीं मुंडवाता। व्रतचर्या वर्ष से नापी जाती है। इसलिए साल-भर नहीं मुंडवाता। व्रत-विसर्जन के दिन स्तोत होता है जिसे "केशवपनीय" कहते हैं ॥२॥

इसका प्रातःसवन इक्कीस भागों का होता है, माध्यन्दिनसवन सत्रह का, तृतीयसवन पन्द्रह का—उक्थ, षोडशी तथा रात्रि-सवन को मिलाकर ॥३॥

सन्धि त्रिवृत् और रथान्तर के साथ होती है। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वह २१ भागोंवाला होता है। इस २१ भागोंवाले से यह अलग होता है, और सत्रहवाले तक आता है। १७ वाले से १५ वाले तक, और १५ वाले से वह इस त्रिवृत् में स्थापित होता है ॥४॥

रथन्तर इस इष्टि का पृष्ठ है। इसी रथन्तर में वह प्रतिष्ठा पाता है। अतिरात्र होता है। अतिरात्र प्रतिष्ठा है। इसलिए यह अतिरात्र है ॥५॥

वह केशों को कतरवाता है। मुंडवाता नहीं। जिन जलों से उसका अभिषेक हुआ, उनके संघात का रस वीर्य है। जब अभिषेक होता है तो जल सबसे पहले केशों को छूते हैं। यदि केशों को मुंडवा दे, तो समस्त श्री झड़ जाय। परन्तु जब कतरवाता है, तो श्री अपने में ही रह जाती है। इसलिए वह केवल बाल कतरवाता है; मुंडवाता नहीं। उसके लिए यह व्रत-चर्या है। जीवन-भर वह इस पृथिवी पर नहीं ठहरता (अर्थात् नंगे पैर नहीं ठहरता या श्री उसके साथ रहती ही है) ॥६॥

चौकी से उतरकर जूते में पैर रखता है। चाहे उसकी सवारी रथ हो या अन्य कुछ, पैर जूते में ही होता है। जो राजसूय यज्ञ करता है वह सबसे ऊपर होता है, और सब उसके नीचे होते हैं। इसलिए यह उसकी व्रत-चर्या है। जीवन-भर वह जमीन पर पैर नहीं रखता ॥७॥

श्येत आश्विनो भवति । श्येताविव ह्याश्विनावविर्मल्हा सारस्वती भवत्यृष-
भमिन्द्राय सुत्राम्णऽआलभते दुर्वेदा एवꣳसमृद्धाः पशवो यद्येवꣳसमृद्धान्न विन्दे-
दप्यजानेवालभेरंस्ते हि सुअपतरा भवन्ति स यदजानालभेरंल्लोहित आश्विनो
भवति तद्यदेतया यजते ॥१॥ त्वष्टुर्ह वै पुत्रः । त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्री-
ण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेवꣳरूप आस तस्माद्विश्वरूपो नाम ॥२॥ तस्य सोमपान-
मेवैकं मुखमास । सुरापाणमेकमन्यस्माऽअशनायैकं तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि
शीर्षाणि प्रचिच्छेद ॥३॥ स यत्सोमपानमास । ततः कपिञ्जलः समभवत्तस्मात्स
बभ्रुक-इव बभ्रुरिव हि सोमो राजा ॥४॥ अथ यत्सुरापाणमास । ततः कलविङ्कः
समभवत्तस्मात्सोऽभिमाद्यत्क-इव वदत्यभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति ॥५॥
अथ यदन्यस्माऽअशनायास । ततस्तित्तिरिः समभवत्तस्मात्स विश्वरूपतम-इव
सन्त्येव घृतस्तोका-इव त्वन्मधुस्तोका-इव त्वत्पर्णेष्वाश्चुतिता एवꣳरूपमिव हि स
तेनाशनमावयत् ॥६॥ स त्वष्टा चुक्रोध । कुविन्मे पुत्रमवधीदिति सोऽपेन्द्रमेव
सोममाजह्रे स यथायꣳ सोमः प्रसुत एवमपेन्द्र एवास ॥७॥ इन्द्रो ह वाऽईक्षां
चक्रे । इदं वै मा सोमादन्तर्यन्तीति स यथा बलीयानबलीयस एवमनुपहूत एव
यो द्रोणकलशे शुक्र आस तं भक्षयां चकार स हैनं जिहिꣳस सोऽस्य विष्वङ्ङेव
प्राणेभ्यो दुद्राव मुखाद्धैवास्य न दुद्राव तस्मात्प्रायश्चित्तिरास स यद्धापि मुखाद्-
द्रोष्यन्न हैव प्रायश्चित्तिरभविष्यत् ॥८॥ चत्वारो वै वर्णाः । ब्राह्मणो राजन्यो
वैश्यः शूद्रो न हैतेषामेकश्चन भवति यः सोमं वमति स यद्धैतेषामेकश्चित्स्या-
त्स्याद्धैव प्रायश्चित्तिः ॥९॥ स यन्नस्तोऽद्रवत् । ततः सिꣳहः समभवदथ यत्कर्णा-
भ्यामद्रवत्ततो वृकः समभवदथ यदवाचः प्राणादद्रवत्ततः शार्दूलज्येष्ठाः श्वापदाः
समभवन्नथ यदुत्तरात्प्राणादद्रवत्सा परिस्रुदथ त्रिर्निरष्ठीवत्ततः कुवलं कर्कन्धु ब-
दरमिति समभवन्त्स सर्वेणैव व्यार्ध्यत सर्वꣳ हि सोमः ॥१०॥ स सोमातिपूतो

अथ चरकसौत्रामणिप्रयोगः

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

अश्विनों के लिए श्येत (बकरा) चाहिए, क्योंकि अश्विन श्येत होते हैं, सरस्वती के लिए मल्हा अवि (वह नर भेड़ा जिसके स्तन होते हैं), सुत्राम्णी इन्द्र के लिए एक बैल। ऐसे गुणोंवाले पशु कठिनाई से मिलते हैं। यदि ऐसे पशु न मिलें, बकरों को ही ले लें; क्योंकि बकरे सुगमता से पक जाते हैं। यदि बकरों को ही ले तो अश्विन के लिए लाल होना चाहिए। यह यज्ञ क्यों किया जाता है? ॥१॥

त्वष्टा के एक पुत्र था, जिसके तीन सिर थे, और छः आँखें। उसके तीन मुँह थे। चूंकि वह ऐसा था, इसलिए उसका नाम था "विश्वरूप" ॥२॥

उसका एक मुँह सोम पीने के लिए था, एक सुरा पीने के लिए, और एक अन्य खाद्यों के लिए। इन्द्र ने उससे द्वेष किया और तीनों सिर काट लिये ॥३॥

जिससे सोमपान होता था, उससे कपिंजल (मुर्गा) उत्पन्न हुआ। इसलिए मुर्गा भूरा होता है। सोम भी भूरा ही होता है ॥४॥

सुरापान वाले से कलविंक (गोरैया) उत्पन्न हुआ। इसी से कलविंक मतवाला-सा बोलता है। जो सुरा पीता है, वह मतवाला हो जाता है ॥५॥

जिससे भोजन पाता था, उस मुँह से तीतर उत्पन्न हुआ। इसलिए तीतर विश्वरूप होता है। उसके परों पर कहीं-कहीं घी के-से दाग होते हैं और कहीं-कहीं शहद के-से। वह ऐसा ही भोजन किया करता था ॥६॥

त्वष्टा को क्रोध आया। इसने मेरा पुत्र मार डाला। उसने इन्द्र से सोमरस हटा लिया, और जैसा सोमरस बना वह इन्द्र से अलग रहा ॥७॥

इन्द्र ने सोचा, 'ये मुझे सोम से अलग रखते हैं।' इसलिए जैसे बलवान् निर्बलों का खाना खा जाते हैं, इसी प्रकार बिना बुलाये भी इन्द्र ने द्रोणकलश में जो शुक्र था उसे भक्षण कर लिया। परन्तु इस काम ने (शुक्र को) हानि पहुँचाई। वह प्राणों में होकर चारों ओर बहने लगा। केवल मुख के द्वारा न बहा। इसलिए प्रायश्चित्त किया गया। यदि मुँह की ओर से बहता, तो कुछ प्रायश्चित्त न होता ॥८॥

चार वर्ण होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। इनमें से कोई ऐसा नहीं है, जो सोम का वमन करे। यदि इनमें से कोई एक हो तो प्रायश्चित्त किया जाय ॥९॥

जो नाक से बहा, उससे सिंह उत्पन्न हुआ। जो कान से बहा उससे भेड़िया। जो निचले प्राण से बहा, उससे हिंसक जीव हुए, जिनमें शार्दूल शेर सबसे बड़ा। जो ऊपर के प्राण से बहा, वह 'परिस्रुत' हुआ। उसने तीन बार थूका। उससे कुवल, कर्कन्धु और बदर (बेर) उत्पन्न हुए। अब उस इन्द्र में से सब-कुछ चला गया; क्योंकि सोम ही सब-कुछ है ॥१०॥

मङ्क्षुरिव चचार । तमेतयाश्विनावभिषज्यतां तꣳ सर्वेणेव समार्धयताꣳ सर्वꣳ हि सोमः स वसीयानेवेष्ट्वाभवत् ॥११॥ ते देवा अब्रुवन् । सुत्रातं बतेनमत्रासतामिति तस्मात्सौत्रामणी नाम ॥१२॥ स हैतयापि सोमातिपूतं भिषज्येत् । सर्वेण वाऽएष व्यृध्यते यꣳ सोमोऽतिपवते सर्वꣳ हि सोमस्तꣳ सर्वेणेव समर्धयति सर्वꣳ हि सोमः स वसीयानेवेष्ट्वा भवति तस्मादु हैतयापि सोमातिपूतं भिषज्येत ॥१३॥ तद्यदेतया राजसूययाजी यजते । सर्वान्वाऽएष यज्ञक्रतूनवरुन्द्धे सर्वा इष्टीरपि दर्विहोमान्यो राजसूयेन यजते देवसृष्टा वाऽएषेष्टिर्यत्सौत्रामण्यनया मेऽपीष्टमसदनयापि सूयाऽइति तस्माद्वाऽएतया राजसूययाजी यजते ॥१४॥ अथ यदाश्विनो भवति । अश्विनौ वाऽएनमभिषज्यतां तथोऽएवैनमेष एतदश्विभ्यामेव भिषज्यति तस्मादाश्विनो भवति ॥१५॥ अथ यत्सारस्वतो भवति । वाग्वै सरस्वती वाचा वाऽएनमश्विनावभिषज्यतां तथोऽएवैनमेष एतद्वाचैव भिषज्यति तस्मात्सारस्वतो भवति ॥१६॥ अथ यदैन्द्रो भवति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तयैवैनमेतद्भिषज्यति तस्मादैन्द्रो भवति ॥१७॥ एतेषु पशुषु । सिꣳहलोमानि वृकलोमानि शार्दूललोमानीत्यावपत्येतद्धि ततः समभवद्यदेनꣳ सोमोऽत्यपवत तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादेतान्यावपति ॥१८॥ तदु तथा न कुर्यात् । उल्कया ह स नखिन्या पशूननुषुवति य एतानि पशुष्वावपति तस्मादु परिस्रुत्येवावपेत्तथा होल्कया नखिन्या पशून्नानुषुवति तथोऽएवैनꣳ समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादु परिस्रुत्येवावपेत ॥१९॥ अथ पूर्वेद्युः । परिस्रुतꣳ संदधात्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेति सा यदा परिस्रुद्भवत्यथैनया प्रचरति ॥२०॥ द्वावग्नीऽउद्धरन्ति । उत्तरवेदावेवोत्तरमुद्धते दक्षिणं नेत्सोमाहुतीश्च सुराहुतीश्च सह जुहवामेति तस्माद्द्वावग्नीऽउद्धरन्त्युत्तरवेदावेवोत्तरमुद्धते दक्षिणमथ यदा वपाभिः प्रचरत्यथैतया परिस्रुता प्रचरति ॥२१॥ तां दर्भैः

अब सोम से खाली होकर वह पंगु के समान चलने लगा। अश्विनों ने उसको चंगा किया, और "सब" से उत्पन्न किया। क्योंकि सोम "सब-कुछ" है, इस इष्टि से वह अच्छा हो गया ॥११॥

देवों ने कहा, 'इन दोनों ने इसे बचा लिया', 'सुत्रातं'—भला बचाया, इसलिए इसका नाम सौत्रामणि हुआ ॥१२॥

जो सोम से खाली हो गया हो, उसको इसी इष्टि से चंगा करे। जिसमें सोम नहीं रहता उसमें कुछ नहीं रहता, क्योंकि सोम ही सब-कुछ है। अब वह उसको सब-कुछ देता है, क्योंकि सोम सब-कुछ है। इस इष्टि से वह चंगा हो जाता है। इसलिए जिसमें सोम न रहे, उसको इसी से चंगा करना चाहिए ॥१३॥

राजसूय यज्ञवाला इस इष्टि को क्यों करे? जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब यज्ञ-ऋतुओं, सब इष्टियों और दर्वि-होम का अधिकारी हो जाता है। यह जो सौत्रामणि इष्टि है, वह देवसृष्ट (देवों से बनाई हुई) है। अतः वह सोचता है कि 'मैं यह इष्टि भी करूँ। इससे दीक्षित हो जाऊँ।' इसलिए राजसूय यज्ञवाला यह भी करता है ॥१४॥

इसमें अश्विनों को बलि क्यों दी जाती है? अश्विनों ने ही उसको (इन्द्र को) चंगा किया था। अश्विनों द्वारा ही वह इसको (यजमान को) चंगा करता है, इसलिए अश्विनों के लिए बलि दी जाती है ॥१५॥

सरस्वती के लिए बलि क्यों दी जाती है? वाणी सरस्वती है। वाणी द्वारा ही अश्विनों ने उसको चंगा किया था। इसी प्रकार वह वाणी द्वारा ही इसको चंगा करता है। इसलिए सरस्वती के लिए बलि दी जाती है ॥१६॥

इन्द्र के लिए बलि क्यों दी जाती है? इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसी यज्ञ से उसको चंगा करता है, इसलिए इन्द्र के लिए बलि दी जाती है ॥१७॥

इन पशुओं पर सिंहलोम, वृकलोम और शार्दूललोम लगा देता है। क्योंकि जब उसमें से सोम बहा, तो यही उत्पन्न हुए थे। इनसे उसको युक्त कर देता है और उसको भरपूर कर देता है। इसलिए वह इन लोमों को उस पर लगाता है ॥१८॥

परन्तु ऐसा न करना चाहिए। पशुओं पर इन लोमों को लगाने के अर्थ ये हैं कि नखवाली उल्का से पशुओं को हाँका जाय। इसलिए परिस्रुत में ही उनको डाल दे। इस प्रकार वह नखवाली उल्का से उनको नहीं हाँकता। इस प्रकार वह उसको युक्त कर देता है, भरपूर कर देता है। इसलिए उसको परिस्रुत में ही डालना चाहिए ॥१९॥

पहले दिन वह परिस्रुत को बनाता है यह कहकर—"अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।"—"दोनों अश्विनों के लिए, सरस्वती के लिए, रक्षक इन्द्र के लिए पक।" जब पककर परिस्रुत तैयार हो जाता है, तो इष्टि आरम्भ होती है ॥२०॥

दो अग्नियों को लेते हैं। उत्तराग्नि को उत्तर वेदी में और दक्षिणाग्नि को उठे हुए टीले पर। कहीं ऐसा न हो कि सोम-आहुति और सुरा-आहुति साथ पड़ जाय। इसलिए दो अग्नियों को लेते हैं—उत्तरवेदी में उत्तराग्नि और उठे हुए टीले पर दक्षिणाग्नि। जब वपा की आहुति होती है, तभी परिस्रुत की ॥२१॥

पावयति । पूतासदिति वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमोऽअतिस्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखेति तत्कुवलसक्तून्कर्कन्धुसक्तून्बदरसक्तूनित्यावपत्येतद्वै ततः समभवन्यत्त्रिर्निरष्ठीवत्तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादेतानावपति ॥२२॥ अथ ग्रहान्गृह्णाति । एकं वा त्रीन्वैकस्त्वेव ग्रहीतव्य एका हि पुरोरुग्भवत्येकानुवाक्यैका याज्या तस्मादेक एव ग्रहीतव्यः ॥२३॥ स गृह्णाति । कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय । इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽइति यद्यु त्रीन्गृह्णीयादेतयैव गृह्णीयादुपयामैस्तु तर्हि नाना गृह्णीयादथाहाश्विभ्याꣳ सरस्वत्याऽइन्द्राय सुत्राम्णोऽनुब्रूहीति ॥२४॥ सोऽन्वाह । युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा । विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रं कर्मस्वावतमित्याश्राव्याहाश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रꣳ सुत्रामाणं यजेति ॥२५॥ स यजति । पुत्रमिव पितराश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः । यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णगिति द्विर्होता वषट्करोति द्विरध्वर्युर्जुहोत्याहरति भक्षं यद्यु त्रीन्गृह्णीयादेतस्यैवानु होममितरौ हूयेते ॥२६॥ अथ कुम्भः । शतवितृण्णो वा भवति नववितृण्णो वा स यदि शतवितृण्णः शतायुर्वाऽअयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्माच्छतवितृण्णो यद्यु नववितृण्णो नवेमे पुरुषे प्राणास्तस्मान्नववितृण्णः ॥२७॥ तꣳ शिक्यौद्युतम् । उपर्युपर्याहवनीयं धारयन्ति सा या परिशिष्टा परिस्रुद्भवति तामासिञ्चति तां विक्षरन्तीमुपतिष्ठते पितॄणाꣳ सोमवतां तिसृभिर्ऋग्भिः पितॄणां बर्हिषदां तिसृभिर्ऋग्भिः पितॄणामग्निष्वात्तानां तिसृभिर्ऋग्भिस्तद्यदेवमुपतिष्ठते यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्पितॄनगच्छत्तया वै पितरस्तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादेवमुपतिष्ठते ॥२८॥ अथैतानि हवीꣳषि निर्वपति । सावित्रं द्वादशकपालं वाष्टाकपालं वा पुरोडाशं वारुणं यवमयं चरुमैन्द्रमेकादशकपालं

दर्भों से पवित्र करता है—यह सोचकर कि पवित्र हो जाय, यह मन्त्र पढ़कर—"वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो ऽ अतिस्रुतः इन्द्रस्य युज्यः सखा।"—"पवित्रों से पवित्र किया गया सोम पीछे बहा। यह इन्द्र का योग्य सखा है।" अब उसमें कुवल, कर्कन्धु और बेर का सत्तू मिलाता है। क्योंकि जब इन्द्र ने तीन बार थूका, तो यही पैदा हुए थे। अब वह इनसे उसको युक्त करता है। भरपूर करता है। इसलिए वह सत्तू को मिलाता है ॥२२॥

अब वह ग्रहों को लेता है, एक को या तीन को। एक ही लेना चाहिए। एक ही पुरोरुच होता है, एक ही आनुवाक्य और एक ही याज्या। इसलिए एक ही ग्रह लेना चाहिए ॥२३॥

वह इस मन्त्र से लेता है—"कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय। इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नम ऽ उक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे।" (यजु० १०।३२)—"जिस प्रकार जौ के खेतवाले क्रम से रख-कर फिर जौ को काटते हैं, उसी प्रकार उन लोगों के लिए यहाँ भोजन प्राप्त करा, जो बर्हियों द्वारा यज्ञ करते हैं। तेरा आश्रय लिया गया है। तुझको अश्विनों के लिए और सुरक्षित इन्द्र के लिए ग्रहण करता हूँ।" यदि तीन ग्रहों को लेवे, तब भी इसी मन्त्र से लेवे। पर उपयामगृहीतो··· आदि भाग को बार-बार कहे। अब वह कहता है कि अश्विनों, सरस्वती, और सुत्रामन् इन्द्र के लिए अनुवाक कहो ॥२४॥

अब वह यह अनुवाक पढ़ता है—"युवँ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती ऽ इन्द्रं कर्म स्वावतम्" (यजु० १०।३३, ऋ० १०।१३१।४)—"हे अच्छे पालनेवाले, दोनों अश्विनो, तुम दोनों ने सुरा को नमुचि असुर के साथ पीकर इन्द्र की उसके कर्मों में रक्षा की है।" अब श्रौषट् कहकर 'अश्विनों, सरस्वती और सुत्राम्ण इन्द्र के लिए आहुति दो' ऐसा आदेश देता है ॥२५॥

वह आहुति देता है इस मन्त्र से—"पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दँसनाभिः। यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्।" (यजु० १०।३४, ऋ० १०।१३१।५)—"जिस प्रकार माता-पिता पुत्र को सहारा देते हैं, उसी प्रकार, हे इन्द्र, अश्विनों ने चातुर्य और श्रेष्ठ पराक्रम द्वारा तुझको सहारा दिया है। जब तूने सुरा का पान किया तो हे मघवन्, सरस्वती ने अपनी सेवाओं (शचियों) द्वारा तुझको चंगा किया।" होता दो बार वषट्कार कहता है। अध्वर्यु दो बार आहुति देता है, और भक्ष्य को लाता है। यदि तीन ग्रह लेवे तो एक होम के पश्चात् दो और करे ॥२६॥

अब वह घड़े को लेता है, सौ छेदवाले को या नौ छेदवाले को। यदि सौ छेदवाले को, तो मनुष्य सौ वर्ष जीता है, सौ तेज और सौ वीर्यवाला होता है। इसलिए सौ छेदोंवाला हो। यदि नौ छेदवाला, तो पुरुष में नौ प्राण होते हैं। इसलिए नौ छेदवाला होना चाहिए ॥२७॥

इसको शिक्या या छींके से बाँधकर आहवनीय के ऊपर-ऊपर रखते हैं। जो परिस्रुत बच रहा हो, उसे इसमें डालता है। जब उसमें से टपकता है, तो खड़ा-खड़ा 'सोमवान् पितरों' के लिए तीन ऋचायें, 'बर्हिषद् पितरों' के लिए तीन ऋचायें, 'अग्निष्वात्ता पितरों' के लिए तीन ऋचायें बोलता है। खड़े होकर ऋचायें पढ़ने का प्रयोजन यह है कि जब सोम इन्द्र में होकर बहा तो वह भाग पितरों को पहुँचा। पितर तीन प्रकार के हैं। खड़े होकर ऋचायें पढ़ने से वह उसको भरपूर कर देता है ॥२८॥

अब इन हवियों को तैयार करता है—सविता के लिए १२ या ८ कपालों का पुरोडाश, वरुण का जौ का चरु, इन्द्र का ११ कपालों का पुरोडाश ॥२९॥

पुरोडाशम् ॥२९॥ स यत्सावित्रो भवति । सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैतद्भिषज्यति तस्मात्सावित्रो भवति ॥३०॥ अथ यद्वारुणो भवति । वरुणो वाऽअर्पयिता तम्ब एवार्पयिता तेनैवैतद्भिषज्यति तस्माद्वारुणो भवति ॥३१॥ अथ यदैन्द्रो भवति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तयैवैतद्भिषज्यति तस्मादैन्द्रो भवति ॥३२॥ स यदि हैतयापि सोमातिपूतं भिषज्येत् । इष्टा अनुयाजा भवन्त्यव्यूढे स्रुचावथैतैर्हविर्भिः प्रचरति यस्माद्धि सोमोऽतिपवते यस्मादेवैनमेतेन मेधेनापिदधात्यथाश्विनमनु तर्हि द्विकपालं पुरोडाशं निर्वपेदथ यदा वपाभिः प्रचरत्यथैतेनाश्विनेन द्विकपालेन पुरोडाशेन प्रचरति ॥३३॥ तदु तथा न कुर्यात् । ह्वलति वाऽएष यो यज्ञपथादेत्येति वाऽएष यज्ञपथाद्य एवं करोति तस्माद्यत्रैवैतेषां पशूनां वपाभिः प्रचरन्ति तदेवैतैर्हविर्भिः प्रचरेयुर्नो तर्ह्याश्विनं द्विकपालं पुरोडाशं निर्वपेत् ॥३४॥ तस्य नपुंसको गौर्दक्षिणा । न वाऽएष स्त्री न पुमान्यन्नपुंसको गौर्यदह पुमांस्तेन न स्त्री यदु स्त्री तेनो न पुमांस्तस्मान्नपुंसको गौर्दक्षिणाश्वा वा रथवाही सा हि न स्त्री न पुमान्यदश्वा रथवाही यदह रथं वहति तेन न स्त्री यदु स्त्री तेनो न पुमांस्तस्मादश्वा रथवाही दक्षिणा ॥३५॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [५. ४.] ॥ ॥

ऐन्द्रवैष्णवं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति । तद्यदेतया यजते वृत्रे ह वाऽइदमग्रे सर्वमास यदृचो यद्यजूंषि यत्सामानि तस्माऽइन्द्रो वज्रं प्राजिहीर्षत् ॥१॥ स ह विष्णुमुवाच । वृत्राय वै वज्रं प्रहरिष्याम्यनु मा तिष्ठस्वेति तथेति ह विष्णुरुवाचानु त्वा स्थास्ये प्रहरेति तस्माऽइन्द्रो वज्रमुद्ययाम स उद्यताद्वज्राद्वृत्रो बिभयां चकार ॥२॥ स होवाच । अस्ति वाऽइदं वीर्यं तन्नु ते प्रयच्छानि मा तु मे प्रहार्षीरिति तस्मै यजूंषि प्रायच्छत्तस्मै द्वितीयमुद्ययाम ॥३॥ स होवाच । अस्ति वाऽइदं वीर्यं तन्नु ते प्रयच्छानि मा तु मे प्रहार्षीरिति तस्माऽऋ-

सविता के लिए क्यों ? सविता देवताओं का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही वह उसको चंगा करता है, इसलिए सविता के लिए (पुरोडाश) ॥३०॥

वरुण के लिए क्यों ? वरुण हानि पहुँचानेवाला है। जो हानि पहुँचानेवाला है उसके द्वारा भी वह उसको चंगा करता है, इसलिए वरुण के लिए (चरु) ॥३१॥

इन्द्र के लिए क्यों ? इन्द्र यज्ञ का देवता है। यह यज्ञ का देवता ही है, जिससे उसको चंगा करता है, इसलिए इन्द्र के लिए (पुरोडाश) ॥३२॥

यदि वह (सौत्रामणि यज्ञ से) सोम से रिक्त व्यक्ति को चंगा करना चाहता है तो अनुयाज होने तथा स्रुतों के अलग-अलग रखने के पश्चात् इन (तीन) हवियों से कृत्य करता है। पीछे होकर ही सोम बहा था और इस मेध के द्वारा पीछे ही वह उसको बन्द करता है। अश्विनों के लिए दो कपालों का पुरोडाश बनाना चाहिए। और जब वपा से कृत्य किया जाय, इन दो कपालों के पुरोडाश से भी ॥३३॥

परन्तु ऐसा न करे। क्योंकि जो यज्ञ के मार्ग से बहकता है, वह पतित होता है, और जो ऐसा करता है वह अवश्य यज्ञ के मार्ग से बहकता है। इसलिए जब वपा का कृत्य हो तो इन तीन हवियों का भी। अश्विनों के लिए दो कपालों के पुरोडाश की जरूरत नहीं ॥३४॥

इसकी दक्षिणा है एक नपुंसक बैल। जो नपुंसक बैल है वह न स्त्री है न पुरुष। जो पुमान् है तो स्त्री नहीं, जो स्त्री है तो पुमान् नहीं, इसलिए इसकी दक्षिणा है नपुंसक बैल; या रथ हाँकनेवाली घोड़ी। वह न स्त्री है न पुमान्। रथ हाँकती है इसलिए स्त्री नहीं, और स्त्री है इसलिए पुमान् नहीं, इसलिए रथ खींचनेवाली घोड़ी इसकी दक्षिणा है ॥३५॥

त्रैधातवीष्टिः

अध्याय ५—ब्राह्मण ५

इन्द्र और विष्णु के लिए बारह कपालों का पुरोडाश बनाता है। यह इष्टि क्यों की जाती है ? पहले जो कुछ ऋक्, यजु या साम था वह सब वृत्र में ही था। इन्द्र ने उसको वज्र मारना चाहा ॥१॥

उसने विष्णु से कहा, 'मैं वृत्र के वज्र मारूँगा। मेरी मदद कर।' विष्णु ने कहा, 'अच्छा मार। मैं तेरी मदद करूँगा।' इन्द्र ने वज्र उठाया। उठे वज्र से वृत्र डर गया ॥२॥

उसने कहा, 'यह वीर्य है। इसे मैं तुझको देता हूँ। मुझे मत मार।' उसने उसको यजु दे दिये। उसने दुबारा वज्र उठाया ॥३॥

उसने कहा, 'यह वीर्य है। इसे मैं तुझको देता हूँ। मुझे मत मार।' उसने उसको ऋक्

चः प्रायच्छत्तस्मै तृतीयमुद्ययाम ॥४॥ अस्ति वाऽइदं वीर्यं तन्नु ते प्रयच्छानि मा तु मे प्रहार्षीरिति तस्मै सामानि प्रायच्छत्तस्मादप्येतर्ह्येवमेवैतैर्वेदैर्यज्ञं तन्वते यजुर्भिरेवाग्रेऽथऽर्ग्भिरथ सामभिरेवꣳ ह्यस्माऽएतत्प्रायच्छत् ॥५॥ तस्य यो योनिराशय आस । तमनुपरामृश्य संलुप्याच्छिनत्तैषेष्टिरभवत्तद्यदेतस्मिन्नाशये त्रिधातुरिवैषा विद्याशेत तस्मात्त्रैधातवी नाम ॥६॥ अथ यदिन्द्राविष्णवꣳ हविर्भवति । इन्द्रो हि वज्रमुदयच्छद्विष्णुरन्वतिष्ठत ॥७॥ अथ यद्द्वादशकपालो भवति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरसंमितैषेष्टिस्तस्माद्द्वादशकपालो भवति ॥८॥ तमुभयेषां व्रीहियवाणां गृह्णाति । व्रीहिमयमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद्यजुषाꣳ रूपमथ यवमयं तदृचाꣳ रूपमथ व्रीहिमयं तत्साम्नाꣳ रूपं तदेतत्त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते सैषा राजसूययाजिन उदवसानीयेष्टिर्भवति ॥९॥ सर्वान्वाऽएष यज्ञक्रतूनवरुन्द्धे । सर्वा इष्टीरपि दर्विहोमान्यो राजसूयेन यजते तस्य यातयामेव यज्ञो भवति सोऽस्मात्पराङिव भवत्येतावान्वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदस्तस्यैतद्रूपं क्रियतऽएष योनिराशयस्तदेतेन त्रयेण वेदेन पुनर्यज्ञमारभते तथास्यायातयामा यज्ञो भवति तथोऽअस्मान्न पराङ् भवति ॥१०॥ सर्वान्वाऽएष यज्ञक्रतूनवरुन्द्धे । सर्वा इष्टीरपि दर्विहोमान्यो राजसूयेन यजते देवसृष्टो वाऽएषेष्टिर्यत्त्रैधातव्यनया मेऽपीष्टमसदनयापि सूयाऽइति तस्माद्वाऽएषा राजसूययाजिन उदवसानीयेष्टिर्भवति ॥११॥ अथो यः सहस्रं वा भूयो वा दद्यात् । तस्य हाप्युदवसानीया स्याद्रिरिचान इव वाऽएष भवति यः सहस्रं वा भूयो वा ददात्येतद्वै सहस्रं वाचः प्रजातं यदेष त्रयो वेदस्तत्सहस्रेण रिरिचानं पुनराप्याययति तस्मादु ह तस्याप्युदवसानीया स्यात् ॥१२॥ अथो ये दीर्घसत्त्रमासीरन् । संवत्सरं वा भूयो वा तेषाꣳ हाप्युदवसानीया स्यात्सर्वं वै तेषामाप्तं भवति सर्वं जितं ये दीर्घसत्त्रमासते संवत्सरं वा भूयो वा सर्वमेषा तस्मादु ह तेषामप्युदवसानीया

दे दिये। उसने तीसरी बार वज्र उठाया ॥४॥

उसने कहा, 'यह वीर्य है। इसे मैं तुझको देता हूँ। मुझे मत मार।' उसने उसको साम दे दिये। इसलिए अब तक इन तीन वेदों से यज्ञ करते हैं—पहले यजु से, फिर ऋक् से, और फिर साम से। क्योंकि इसी क्रम से उसने इनको दिया था ॥५॥

और जो उस (वृत्र) की योनि अर्थात् स्थान था, उसको चीरकर फाड़ डाला। वही यह इष्टि बन गया। चूँकि इस आशय में तीन धातुवाली विद्या थी, इसलिए इस इष्टि का नाम है "त्रैधातवी" ॥६॥

इन्द्र-विष्णु के लिए हवि क्यों?—इसलिए कि इन्द्र ने वज्र मारा और विष्णु ने मदद की ॥७॥

बारह कपाल क्यों?—इसलिए कि वर्ष के बारह मास होते हैं। यह वर्ष-भर की इष्टि होती है, इसलिए बारह कपाल ॥८॥

यह चावल और जौ दोनों की बनाई जाती है। पहले चावल का पिण्ड पकाते हैं; यह यजुओं का रूप है। फिर जौ का; यह ऋक् का रूप है। फिर चावल का; यह साम का रूप है। इसलिए यह त्रयी विद्या का रूप हो जाती है। राजसूय यज्ञ करनेवाले के लिए उदवसानीय-इष्टि हो जाती है ॥९॥

जो राजसूय यज्ञ करता है वह वस्तुतः सब यज्ञ-क्रतुओं का, सब इष्टिओं का, सब दर्वि-होमों का अधिकारी हो जाता है। उसके लिए यज्ञ समाप्त हो जाता है। वह यज्ञ से लौट-सा पड़ता है। सब यज्ञ इतना ही है जितने तीन वेद। यह इसी वेद का रूप होता है, जो इसकी योनि या आशय है। इस प्रकार तीन वेदों से वह फिर यज्ञ आरम्भ करता है। इस प्रकार इसका यज्ञ समाप्त नहीं होता, और वह यज्ञ से लौटता नहीं ॥१०॥

और जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब यज्ञ-क्रतुओं, सब इष्टियों और सब दर्वि-होमों को कर लेता है। यह जो त्रैधातवी इष्टि है वह देवों से सजी गई है। वह सोचता है कि 'मैं इस इष्टि को भी कर लूं। इससे भी दीक्षित हो जाऊँ।' इसलिए राजसूय यज्ञ करनेवाले के लिए यह "उदवसानीय-इष्टि", पूर्ण करानेवाली इष्टि है ॥११॥

जो हजार गायें दे या अधिक, उसके लिए भी यह पूर्ण करनेवाली इष्टि हुई। जो एक हजार या अधिक गायें देता है, वह खाली-सा हो जाता है। ये जो तीन वेद हैं, ये वाणी की सन्तान हैं। इसलिए एक हजार या अधिक से वह फिर उसकी पूर्ति करता है। इसलिए उसके लिए भी यह पूर्ण करानेवाली इष्टि है ॥१२॥

जो कोई बड़ा सत्र करे, साल-भर का या अधिक का, उनके लिए भी यह पूर्ण करनेवाली इष्टि है। जो साल-भर या अधिक का लम्बा सत्र करते हैं, उनको सब-कुछ प्राप्त हो जाता है, वे सब पर विजय पा लेते हैं। इसलिए उनके लिए भी यह पूर्ण करानेवाली इष्टि है ॥१३॥

स्यात् ॥१३॥ अथो ह्येनयाप्यभिचरेत् । एतया वै भद्रसेनमाजातशत्रवमारुणिरभि चचार क्षिप्रं किलास्तृणुतेति ह स्माह याज्ञवल्क्योऽपि ह वाऽएनयेन्द्रो वृत्रस्यास्थानमच्छिनदपि ह वाऽएनयास्थानं छिनत्ति य एनयाभिचरति तस्माद्ध्येनयाप्यभिचरेत् ॥१४॥ अथो ह्येनयापि भिषज्येत् । यं न्वेवैकयऽर्चा भिषज्येदेकेन यजुषैकेन साम्ना तं न्वेवागदं कुर्यात्किमु यं त्रयेण वेदेन तस्माद्ध्येनयापि भिषज्येत् ॥१५॥ तस्यै त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा । तानि ब्रह्मणे ददाति न वै ब्रह्मा प्रचरति न स्तुते न शꣳसत्यथ स यशो न वै हिरण्येन किं चन कुर्वन्त्यथ तद्यशस्तस्मात्त्रीणि शतमानानि ब्रह्मणे ददाति ॥१६॥ तिस्रो धेनूर्होत्रे । भूमा वै तिस्रो धेनवो भूमा होता तस्मात्तिस्रो धेनूर्होत्रे ॥१७॥ त्रीणि वासाꣳस्यध्वर्यवे । तनुते वाऽअध्वर्युर्यज्ञं तन्वते वासाꣳसि तस्मात्त्रीणि वासाꣳस्यध्वर्यवे गामग्नीधे ॥१८॥ ता वाऽएताः । द्वादश वा त्रयोदश वा दक्षिणा भवन्ति द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सरसंमितैषेष्टिस्तस्माद्द्वादश वा त्रयोदश वा दक्षिणा भवन्ति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [५. ५.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१३१ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [३५.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ४७१ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे सवनाम पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥५॥ ॥

इसी का प्रयोग करे। आरुणि ने भद्रसेन अजातशत्रव पर इसी का प्रयोग किया था। याज्ञवल्क्य कहा करता था, '(बर्हि को) जल्दी बिछाओ।' और इसी से इन्द्र ने वृत्र के लौटने के मार्ग को रोक दिया। जो कोई इसका प्रयोग करता है वह अपने शत्रु के लौटने के मार्ग को रोक देता है। इसलिए इसका प्रयोग करे॥१४॥

और इसी से चंगा भी करे। क्योंकि जो कोई किसी को एक ऋक्, एक यजु, या एक साम से चंगा करे, वह उसको अवश्य ही रोग-शून्य कर दे। जो तीनों वेदों से चंगा करे, उसका कहना ही क्या! इसलिए इस इष्टि से चंगा करे॥१५॥

इसकी दक्षिणा है सोने के तीन शतमान। उसको ब्रह्मा को देता है। क्योंकि ब्रह्मा न तो अध्वर्यु का काम करता है न (होता के समान) स्तुति करता है, फिर भी उसका यश होता है। सोने से भी वे कुछ नहीं करते, परन्तु उसका भी यश होता है। इसलिए तीन शतमान सोना वह ब्रह्मा को देता है॥१६॥

होता को तीन दूध की गायें (धेनु) देता है। तीन धेनुओं का अर्थ है बाहुल्य, होता का अर्थ है बाहुल्य। इसलिए होता को तीन गायें देता है॥१७॥

अध्वर्यु को तीन कपड़े देता है। अध्वर्यु यज्ञ को तानता है। वस्त्र भी ताने जाते हैं। इसलिए अध्वर्यु को तीन वस्त्र देता है। अग्नीध्र को एक बैल॥१८॥

ये बारह या तेरह दक्षिणाएँ हुईं। वर्ष के महीने भी बारह या तेरह होते हैं। यह इष्टि वर्ष से ही मापी जाती है। इसलिए बारह या तेरह दक्षिणाएँ होती हैं॥१९॥

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत "रत्न कुमारी दीपिका" भाषा-व्याख्या का सवनाम पञ्चम काण्ड समाप्त हुआ।

पंचम काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [५. २. १]	११७
द्वितीय [५. ३. ३]	१०४
तृतीय [५. ४. ३]	११९
चतुर्थ [५. ५. ५]	१३१
	४७१
पूर्व के काण्डों का योग	२८९४
पूर्णयोग	३३६५

ओम्। असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः ॥१॥ स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तऽइद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥२॥ तेऽब्रुवन्। न वाऽइत्थꣳ सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति तऽएतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥३॥ अथ यैतेषाꣳ सप्तानां पुरुषाणां श्रीः। यो रस आसीत्तमूर्ध्वꣳ समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवद्यच्छ्रियꣳ समुदौहंस्तस्माच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन्प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वेवैतच्छिरोऽथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियोऽथ यत्सर्वस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम् ॥४॥ स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते ॥५॥ स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि चत्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छान्यथ यदेकेन पुरुषेणात्मानं वर्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्यच्छति ॥६॥ अथ यश्चिते ऽग्निर्निधीयते। यैवैतेषाꣳ सप्तानां पुरुषाणाꣳ श्रीर्यो रसस्तमेतदूर्ध्वꣳ समुद्वहन्ति तदस्यैतच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन्त्सर्वे देवाः श्रिता अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्माद्वेवैतच्छिरः ॥७॥ सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत। भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति

षष्ठ काण्ड

अथोखासम्भरणं नाम षष्ठं काण्डम्

अथ हिरण्यगर्भकर्तृकसृष्टिवर्णनम्

अध्याय १—ब्राह्मण १

पहले यह असत् ही था। इस पर कहते हैं कि असत् क्या था? पहले वह असत् ऋषि ही थे। इस पर कहते हैं कि वे ऋषि कौन थे?—प्राण ही वे ऋषि थे जिन्होंने सबसे पहले इस सृष्टि को चाहा। वे श्रम तथा तप से खिन्न हो गये (अरिषन्), इसलिए उनका नाम ऋषि हुआ ॥१॥

यह प्राण ही मध्य में इन्द्र है। इसी इन्द्र ने अपने इन्द्रिय अर्थात् पराक्रम से मध्य में इन प्राणों को दीप्त किया। 'इन्ध्' अर्थात् दीप्त करने से 'इन्ध' (दीप्ति करनेवाला) नाम पड़ा। उसी दीप्ति करनेवाले को 'इन्द्र' कहते हैं। 'इन्द्र' परोक्ष है। देव परोक्षप्रिय होते हैं। दीप्त हुए इन प्राणों ने सात पृथक्-पृथक् पुरुष उत्पन्न किये ॥२॥

उन्होंने कहा, 'इस प्रकार रहते हुए तो हम उत्पत्ति करने में समर्थ न हो सकेंगे। इन सातों को एक पुरुष बना दें।' उन्होंने इन सात पुरुषों को एक पुरुष बना दिया। दो को दबाकर नाभि के ऊपर का जो भाग है, वह कर दिया, और दो को दबाकर वह भाग जो नाभि के नीचे है। दो में से एक से एक पक्ष (पहलू), दूसरे से दूसरा पक्ष (पहलू), एक को प्रतिष्ठा (अर्थात् स्थित रहने का स्थान) ॥३॥

इन सात पुरुषों में जो श्री या रस था, उसको ऊपर इकट्ठा करके सिर कर दिया। चूंकि इसमें 'श्री' इकट्ठी हुई इसलिए इसका नाम 'शिर' हुआ। इसमें प्राणों ने आश्रय लिया (अश्रयन्त), इसलिए भी इसका नाम शिर हुआ। चूंकि प्राणों ने इसमें आश्रय लिया, इसलिए प्राण 'श्री' अर्थात् उत्तम हुए। और चूंकि ये सब प्राण इस सबमें फैल गये, इसलिए इसका नाम 'शरीर' हुआ ॥४॥

वह, एक पुरुष प्रजापति हुआ। यही प्रजापति पुरुष वह अग्नि है, जिसका चयन किया जाता है ॥५॥

यह सात पुरुषोंवाला होता है, जैसे यह अग्नि सात पुरुषोंवाला होता है, अर्थात् चार का धड़, दो में पक्ष और एक में पूंछ। क्योंकि उस पुरुष को चार से धड़, दो से दो पक्ष और एक में पूंछ थी। चूंकि एक ही पुरुष से शरीर की वृद्धि होती है, इसलिए उसी के बल से पक्ष और पूंछ को उठाता है ॥६॥

यह जो अग्नि का चयन होता है, यह जो सात पुरुषों की श्री या रस था, यह सब प्रकार इकट्ठा हुआ। यही शिर है जिसमें सब देव आश्रित हैं। इसीमें सब देवों के लिए आहुति दी जाती है, इसलिए इसको शिर कहते हैं ॥७॥

इस प्रजापति पुरुष ने चाहा, 'मैं बहुत हो जाऊँ', 'मैं प्रजा को उत्पन्न करूँ।' उसने

सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव वि-
द्याꣳ सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति तस्मादनूच्य प्रति-
तिष्ठति प्रतिष्ठा ह्येषा यद्ब्रह्म तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत ॥८॥ सोऽपो
ऽसृजत । वाच एव लोकाद्वागेवास्य सासृज्यत सेदꣳ सर्वमाप्नोद्यदिदं किं च य-
दाप्नोत्तस्मादापो यदवृणोत्तस्माद्वाः ॥९॥ सोऽकामयत । आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजाये-
येति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्तत आण्डꣳ समवर्तत तदभ्यमृश-
दस्त्वित्यस्तु भूयोऽस्त्वित्येव तदब्रवीत्ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या त-
स्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमित्यपि हि तस्मात्पुरुषाद्ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत त-
दस्य तन्मुखमेवासृज्यत तस्मादनूचानमाहुरग्निकल्प इति मुखꣳ ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म
॥१०॥ अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् । सोऽग्निरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत त-
स्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यदश्रु
संक्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि
देवा अथ यदरसदिव स रासभोऽभवदथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्सोऽजो
ऽभवदथ यत्कपालमासीत्सा पृथिव्यभवत् ॥११॥ सोऽकामयत । आभ्योऽद्भ्यो
ऽधीमां प्रजनयेयमिति ताꣳ संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्स
कूर्मोऽभवदथ यदूर्ध्वमुदौक्ष्यतेदं तद्यदिदमूर्ध्वमद्भ्योऽधि जायते सेयꣳ सर्वाप एवानु-
व्यैत्तदिदमेकमेव रूपꣳ समदृश्यतात्प एव ॥१२॥ सोऽकामयत । भूय एव स्यात्प्र-
जायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत सोऽवेदन्यद्वा
ऽएतद्रूपं भूयो वै भवति श्राम्याण्येवेति स श्रान्तस्तेपानो मृदꣳ शुष्कापमूषसिक-
तꣳ शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्
॥१३॥ ता वाऽएता नव सृष्टयः । इयमसृज्यत तस्मादाहुस्त्रिवृदग्निरितीयꣳ ह्य-
ग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते ॥१४॥ अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति । तद्भूमिरभवत्तामप्रथय-

श्रम किया, उसने तप तपा। उसने श्रान्त और तप्त होकर ब्रह्म अर्थात् त्रयी विद्या को उत्पन्न किया। वही उसकी प्रतिष्ठा (आधार) हुई। इसीलिए कहते हैं कि इस सब (संसार) का आधार ब्रह्म (त्रयी विद्या) को पढ़कर ही मनुष्य प्रतिष्ठित होता है। इसीलिए यह (त्रयी विद्या) प्रतिष्ठा है। उसी आधार पर प्रतिष्ठित होकर उसने (फिर) तप किया ॥८॥

वाणीरूपी लोक से उसने जल बनाया, क्योंकि वाणी इसी की थी। वह सृजी गई, वह इस सबमें व्यापक (वि+आप+क) हुई, इसलिए इन (जलों) का नाम आपः हुआ। चूंकि इन्होंने ढका (अवृणोत्) इसलिए इसका नाम 'वारि' हुआ ॥९॥

उसने चाहा कि इन जलों से मैं उत्पन्न करूँ। वह इस त्रयी विद्या के साथ जलों में प्रविष्ट हुआ। इससे एक अण्डा हुआ। उसने उसे छुआ और कहा, 'यह ठहरे, इससे बहुत्व उपजे।' इसी से ब्रह्म अर्थात् त्रयी विद्या उत्पन्न हुई। इसीलिए कहते हैं कि ब्रह्म सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है; क्योंकि ब्रह्म उस पुरुष से भी पहले उत्पन्न हुआ था। वह मुखरूप उत्पन्न हुआ था, इसलिए जो ब्रह्मविद्या का अध्ययन करता है, उसको (अग्नि के तुल्य) कहते हैं। यह जो ब्रह्म (त्रयी विद्या) है वह अग्नि का मुख है ॥१०॥

यह जो भीतर गर्भ था वह पहले (अग्रे) उत्पन्न हुआ। वह सबमें अग्रे उत्पन्न हुआ इसलिए उसका नाम अग्रि हुआ। अग्रि ही अग्नि हो गया। यह परोक्ष है। देवों को परोक्ष ही प्रिय है। जो अश्रु गिरा वह अश्रु हो गया। अश्रु को ही अश्व कहते हैं। यह परोक्ष है। परोक्ष देवों को प्रिय है। जो रेंका (अरसत्) वह रासभ हुआ। जो कपाल में रस लगा रहा वह अज हुआ। जो कपाल था वह पृथिवी हुई ॥११॥

उसने चाहा 'इन जलों से इस पृथिवी को बनाऊँ।' उसने इसको दबाकर जलों में डाल दिया। जो रस उसमें से बहा वह कूर्म हुआ। जो ऊपर को उठा वह वह है जो ऊपर दीखता है। यह सब पृथिवी "आप" रूप हो गई। यह जो कुछ दीखता है वह एकरूप अर्थात् आप (जल) रूप हो गया ॥१२॥

उसने चाहा 'मैं और बढ़ूँ।' उसने श्रम किया और तप तपा। उस श्रान्त और तप्त से फेन उठा। उसने जाना कि यह तो बहुत्व हो रहा है, मैं और श्रम करूँ। इस श्रान्त और तप्त से मिट्टी, कीचड़, रेह, रेत, शर्करा, पत्थर, लोहा, सोना, ओषधि, वनस्पति बने। इनसे पृथिवी आच्छादित हो गई ॥१३॥

ये नौ सृष्टियाँ हो गईं। इसलिए कहते हैं कि अग्नि तिगुने का तिगुना (नौ गुना) है। यह (पृथिवी) अग्नि है, क्योंकि इससे सब अग्नियों का चयन होता है ॥१४॥

यह पृथिवी प्रतिष्ठा (आधार) हो गई (अभूद्) इसलिए इसका नाम 'भूमि' हुआ। यह

त्सा पृथिव्यभवत्सेयꣳ सर्वा कृत्स्ना मन्यमानागायद्यदगायत्तस्मादियं गायत्र्यथो ऽअग्निरग्निर्वास्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायद्यदगायत्तस्मादग्निर्गायत्र इति तस्मादु हैतद्यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

सोऽकामयत प्रजापतिः । भूय एव स्यात्प्रजायेतेति सोऽग्निना पृथिवीं मिथुनꣳ समभवत्तत आण्डꣳ समवर्तत तदभ्यमृशत्पुष्यत्विति पुष्यतु भूयोऽस्त्वित्येव तदब्रवीत् ॥१॥ स यो गर्भोऽन्तरासीत् । स वायुरसृज्यताथ यदश्रु संक्षरितमासीत्तानि वयाꣳस्यभवन्नथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ता मरीचयोऽभवन्नथ यत्कपालमासीत्तदन्तरिक्षमभवत् ॥२॥ सोऽकामयत । भूय एव स्यात्प्रजायेतेति स वायुनान्तरिक्षं मिथुनꣳ समभवत्तत आण्डꣳ समवर्तत तदभ्यमृशद्यशो बिभृहीति ततोऽसावादित्योऽसृज्यतैष वै यशोऽथ यदश्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्निरभवदश्रुर्ह वै तमश्मेत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ते रश्मयोऽभवन्नथ यत्कपालमासीत्सा द्यौरभवत् ॥३॥ सोऽकामयत । भूय एव स्यात्प्रजायेतेति स आदित्येन दिवं मिथुनꣳ समभवत्तत आण्डꣳ समवर्तत तदभ्यमृशद्रेतो बिभृहीति ततश्चन्द्रमा असृज्यतैष वै रेतोऽथ यदश्रु संक्षरितमासीत्तानि नक्षत्राण्यभवन्नथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ता अवान्तरदिशो ऽभवन्नथ यत्कपालमासीत्ता दिशोऽभवन् ॥४॥ स इमांल्लोकान्त्सृष्ट्वाकामयत । ताः प्रजाः सृजेय या मऽएषु लोकेषु स्युरिति ॥५॥ स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवत् । सोऽष्टौ द्रप्सान्गर्भ्यभवत्तेऽष्टौ वसवोऽसृज्यन्त तानस्यामुपादधात् ॥६॥ स मनसैव । वाचं मिथुनꣳ समभवत्स एकादश द्रप्सान्गर्भ्यभवत्तऽएकादश रुद्रा असृज्यन्त तानन्तरिक्षऽउपादधात् ॥७॥ स मनसैव । वाचं मिथुनꣳ समभवत्स द्वादश द्रप्सान्गर्भ्यभवत्ते द्वादशादित्या असृज्यन्त तान्दिव्युपादधात् ॥८॥ स मन-

फैल गई (अप्रथयत्) इसलिए इसका नाम पृथिवी हुआ। उसने अपने को पूर्ण जानकर गाया, इसलिए गायत्री हुई। कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि ने ही इसकी पीठ पर अपने को पूर्ण मानकर गाया, इसलिए अग्नि ही गायत्र है। इसलिए जो कोई आजकल अपने को पूर्ण समझता है, वह गाता है और प्रसन्न होता है ॥१५॥

वाय्वन्तरिक्षादिसृष्टिः

अध्याय १—ब्राह्मण २

प्रजापति ने चाहा कि यह बहुत हो जाय। इसकी सन्तति बढ़े। अग्निरूप से वह पृथिवी के साथ संयुक्त हुआ। एक अण्डा हुआ। उसने उसे छुआ और कहा, 'यह बढ़े, यह बहुतायत को प्राप्त होवे' ॥१॥

जो भीतर गर्भ था, वह वायुरूप से उत्पन्न हुआ। जो आँसू गिरा उसके पक्षी हुए। कपाल में जो रस लगा रह गया, उसकी किरणें हो गईं। जो कपाल था वह अन्तरिक्ष बन गया ॥२॥

उसने चाहा कि वह बहुत हो जाय, इसकी सन्तति बढ़े। वायुरूप से वह अन्तरिक्ष से संयुक्त हुआ। उसने उसको छुआ और कहा कि यश को धारण कर। उससे उस आदित्य की उत्पत्ति हुई, क्योंकि यह यश है। जो आँसू गिरा उसका अनेक रंग का अश्मा या पत्थर बन गया। जो अश्रु है वही अश्मा है। यह परोक्ष है। देव परोक्षकामा होते हैं। कपाल में जो रस लगा रहा उसकी किरणें बन गईं। जो कपाल था वह द्यौ बन गया ॥३॥

उसने चाहा कि यह बहुत हो जाय, इसकी सन्तति बढ़े। आदित्यरूप से वह द्यौ से संयुक्त हुआ। उससे अण्डा हुआ। उसने उसको छुआ और कहा—'रेत (वीर्य) को धारण कर।' इससे चन्द्रमा हुआ क्योंकि चन्द्रमा रेत है। जो आँसू गिरा उसके नक्षत्र बन गये। कपाल में जो रस लगा रहा उससे अवान्तर दिशाएँ बन गईं। जो कपाल था उसकी दिशाएँ बन गईं ॥४॥

उसने इन लोकों को बनाकर चाहा कि ऐसी प्रजा उत्पन्न हो, जो इन लोकों में मेरी कहलाई जा सकें ॥५॥

उसने मन के रूप में वाणी के साथ संयोग किया। वह आठ बूंदों से गर्भस्थ हो गया। उससे आठ वसु हुए। उनको उसने पृथिवी में रख दिया ॥६॥

उसी मन के रूप में वह वाणी के साथ संयुक्त हुआ। वह ग्यारह बूंदों से गर्भस्थ हो गया। उससे ग्यारह रुद्र हुए। उनको उसने अन्तरिक्ष में रख दिया ॥७॥

उसी मन के रूप में उसने वाणी से संयोग किया। वह बारह बूंदों से गर्भस्थ हो गया। उससे बारह आदित्य हुए। उसने उनको द्यौ में रख दिया ॥८॥

सैव । वाचं मिथुनꣳ समभवत्स गर्भ्यभवत्स विश्वान्देवानसृजत तान्दिक्षूपादधात् ॥९॥ अथोऽआहुः । अग्निमेव सृष्टं वसवोऽन्वसृज्यन्त तानस्यामुपादधाद्वायुꣳ रुद्रास्तानन्तरिक्षऽआदित्यमादित्यास्तान्दिवि विश्वे देवाश्चन्द्रमसं तान्दिक्षूपादधादिति ॥१०॥ अथोऽआहुः । प्रजापतिरेवेमाँल्लोकान्त्सृष्ट्वा पृथिव्यां प्रत्यतिष्ठत्तस्माऽइमा ओषधयोऽन्नमपच्यन्त तदाश्नात्स गर्भ्यभवत्स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजा इत्यतो यतमथासृजत तथासृजत प्रजापतिस्त्वेवेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किं च ॥११॥ स प्रजाः सृष्ट्वा । सर्वमाजिमित्वा व्यस्रꣳसत तस्मादु हैतद्यः सर्वमाजिमेति व्येव स्रꣳसते तस्माद्विस्रस्तात्प्राणो मध्यत उदक्रामत्तस्मिन्नेनमुत्क्रान्ते देवा अजहुः ॥१२॥ सोऽग्निमब्रवीत् । त्वं मा संधेहीति किं मे ततो भविष्यतीति त्वया माचक्षान्तै यो वै पुत्राणाꣳ राध्यते तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते त्वया माचक्षान्ताऽअथ मा संधेहीति तथेति तमग्निः समदधात्तस्मादेतं प्रजापतिꣳ सन्तमग्निरित्याचक्षतऽआ ह वाऽएनेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रं चक्षते य एवं वेद ॥१३॥ तमब्रवीत् । कस्मिंस्त्वोपधास्यामीति हितऽएवेत्यब्रवीत्प्राणो वै हितं प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितस्तद्यदेनꣳ हितऽउपादधात्तस्मादाहोपधास्याम्युपदधाम्युपाधामिति ॥१४॥ तदाहुः । किꣳ हितं किमुपहितमिति प्राणा एव हितं वागुपहितं प्राणो ह्ययं वागुपेव हिता प्राणस्त्वेव हितमङ्गान्युपहितं प्राणो हीमान्यङ्गान्युपेव हितानि ॥१५॥ सो ऽस्यैष चित्य आसीत् । चेतव्यो ह्यस्यासीत्तस्माच्चित्यश्चित्य उ एवायं यजमानस्य भवति चेतव्यो ह्यस्य भवति तस्मादेव चित्यः ॥१६॥ तदेता वाऽअस्य ताः । पञ्च तन्वो व्यस्रꣳसन्त लोम त्वङ्माꣳसमस्थि मज्जा ता एवैताः पञ्च चितयस्तद्यत्पञ्च चितीश्चिनोत्येताभिरेवैनं तत्तनूभिश्चिनोति यच्चिनोति तस्माच्चितयः ॥१७॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । संवत्सरः सोऽथ या अस्यैताः पञ्च तन्वो

मन के रूप में उसने वाणी से संयोग किया। वह गर्भस्थ हो गया। उससे विश्वदेवा उत्पन्न हुए। उनको उसने दिशाओं में रक्खा ॥६॥

इसलिए कहावत है कि अग्नि के बन जाने पर वसु बने। उनको उसने पृथिवी पर रक्खा। वायु के पीछे रुद्र। इसलिए इनको वायु में रक्खा। द्यौ के पीछे आदित्य। उनको उसने द्यौ में रक्खा। चन्द्र के विश्वेदेवा। उनको उसने दिशाओं में रक्खा ॥१०॥

इसलिए कहावत है कि प्रजापति ने इन लोकों को उत्पन्न कर अपने को पृथिवी में स्थापित कर लिया। उसके लिए ये ओषधियाँ और अन्न पके : उनको उसमें खाना और गर्भस्थ हुआ। ऊर्ध्व प्राणों से उसने देवों को रचा और निचले प्राणों से आदमियों को। जैसे उसने पीछे बनाया तब भी उसी प्रकार बनाया। वस्तुतः जो कुछ है, उस सबको प्रजापति ने ही बनाया॥११॥

इन सब प्रजाओं को सृजकर वह थक गया। इसलिए जो सबको सृजते हैं, वे आज भी थक जाते हैं। उस थके हुए के बीच से प्राण निकल गए। प्राणों के निकलते ही देवों ने उसे छोड़ दिया ॥१२॥

उसने अग्नि से कहा—'तू मुझको पुनर्जीवित कर।' उसने कहा—'इससे मेरा क्या होगा?' उसने उत्तर दिया कि 'तुझे मेरे नाम पर पुकारेंगे। पुत्रों में जो कोई बड़ा होता है, उसी के नाम पर पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र आदि को पुकारते हैं। इसलिए मुझको पुनर्जीवित कर।' अब अग्नि ने उसको पुनर्जीवित कर दिया। इसलिए यद्यपि वह प्रजापति है, परन्तु उसे अग्नि कहते हैं। वस्तुतः जो इस रहस्य को समझता है, उसी के नाम पर पिता, पितामह, पुत्र या पौत्र का नाम पड़ता है ॥१३॥

वह बोला—'तुम को कहाँ रक्खें?' उसने उत्तर दिया 'हित में।' प्राण हित है। प्राण सब प्राणियों के लिए हित हैं। चूंकि उसको हित में रक्खा, इसलिए कहते हैं—'मैं रक्खूंगा, मैं रखता हूँ, मैंने रक्खा। (यहाँ 'धा' के साथ उप उपसर्ग है, 'धा' से हित बनता है) ॥१४॥

अब वे कहते हैं—'हित क्या और उपहित क्या?' प्राण हित है और वाणी उपहित है। प्राण में ही यह वाणी उपहित है। प्राण हित है, अंग उपहित हैं; क्योंकि प्राण में ही ये अंग स्थित हैं ॥१५॥

यह (अग्नि) प्रजापति का चित्य था; क्योंकि उसने उसका चयन किया था। यह यजमान चित्य होता है; क्योंकि यजमान इसका चयन करता है ॥१६॥

(प्रजापति के) पाँच शरीरांग शिथिल हुए थे—लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा। यही पाँच चितियाँ हैं जो पाँच चितियाँ (वेदी बनाने में) चिनी जाती हैं। इन्हीं अंगों से वह चिनता है। चूंकि चिनी जाती हैं, इसलिए उनका नाम चिति है (वेदी में जो चिनी जाती हैं, उनको चिति कहते हैं) ॥१७॥

यह जो थका हुआ प्रजापति है, वह वर्ष है। उसके जो पाँच अंग शिथिल हो गये थे ये

व्यस्रꣳसन्तर्तवस्ते पञ्च वा ऋतवः पञ्चैताश्चितयस्तद्यत्पञ्च चितीश्चिनोत्यृतुभिरेवैनं तच्चिनोति यच्चिनोति तस्माच्चितयः ॥१८॥ स यः स संवत्सरः प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स वायुर्योऽयं पवतेऽथ या अस्य ता ऋतवः पञ्च तन्वो व्यस्रꣳसन्त दिशस्ताः पञ्च वै दिशः पञ्चैताश्चितयस्तद्यत्पञ्च चितीश्चिनोति दिग्भिरेवैनं तच्चिनोति यच्चिनोति तस्माच्चितयः ॥१९॥ अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते । असौ स आदित्यः स एष एवैषोऽग्निश्चित एतावन्तु तद्यदेनमग्निः समदधात् ॥२०॥ ॥शतम् ३४०० ॥॥ अथो आहुः । प्रजापतिरेव विस्रस्तो देवानब्रवीत्सं मा धत्तेति ते देवा अग्निमब्रुवंस्त्वयीमं पितरं प्रजापतिं भिषज्यामेति स वा अहमेतस्मिन्त्सर्वस्मिन्नेव विशानीति तथेति तस्मादेतं प्रजापतिꣳ सन्तमग्निरित्याचक्षते ॥२१॥ तं देवा अग्नावाकृतिभिरभिषज्यन् । ते यां-यामाकृतिमजुहवुः सा-सैनं पक्वेष्टका भूत्वाप्यपद्यत तद्यदिष्टात्समभवंस्तस्मादिष्टकास्तस्मादग्निनेष्टकाः पचन्त्याहुतीरेवैनास्तत्कुर्वन्ति ॥२२॥ सोऽब्रवीत् । यावद्यावद्वै जुहुथ तावत्तावन्मे कं भवतीति तद्यदस्माऽइष्टे कमभवत्तस्मादिवेष्टकाः ॥२३॥ तद्ध स्माहाषाढ्यः । य एव यजुष्मतीर्भूयसीरिष्टका विद्यात्सोऽग्निं चिनुयाद्भूय एव तत्पितरं प्रजापतिं भिषज्यतीति ॥२४॥ अथ ह स्माह ताण्ड्यः । क्षत्रं वै यजुष्मत्य इष्टका विशो लोकम्पृणा अत्ता वै क्षत्रियोऽन्नं विड्यत्र वा अत्तुरन्नं भूयो भवति तद्राष्ट्रꣳ समृद्धं भवति तदेधते तस्माल्लोकम्पृणा एव भूयसीरुपदध्यादित्येतदह तयोर्वचोऽन्यात्वेवात स्थितिः ॥२५॥ स एष पिता पुत्रः । यदेषोऽग्निमसृजत तेनैषोऽग्नेः पिता यदेतमग्निः समदधात्तेनैतस्याग्निः पिता यदेष देवानसृजत तेनैष देवानां पिता यदेतं देवाः समदधुस्तेनैतस्य देवाः पितरः ॥२६॥ उभयꣳ हैतद्भवति । पिता च पुत्रश्च प्रजापतिश्चाग्निश्चाग्निश्च प्रजापतिश्च प्रजापतिश्च देवाश्च देवाश्च प्रजापतिश्च य एवं वेद ॥२७॥ स उपदधाति । तया देवतयेति वाग्वै सा देवताङ्गिरस्वदिति प्राणो

पांच ऋतुएँ हैं और पांच तहें हैं। पांच तहें बनाता है तो मानो पांच ऋतुओं से बनाता है। चूंकि चिनता है, अतः इनको चिति कहते हैं ॥१८॥

यह जो संवत्सर प्रजापति थक गया, वह वायु है जो बहता है। ये जो पाँच थके हुए अंग अर्थात् ऋतुएँ हैं वही दिशाएँ हैं। पांच ही दिशाएँ हैं। यह जो पाँच तहों को चिनता है, मानो दिशाओं से ही चिनता है। चूंकि चिनी जाती हैं इसलिए इनको चिति कहते हैं ॥१९॥

यह जो चिनी हुई वेदी पर अग्नि रक्खी जाती है, यही सूर्य है। यही अग्नि वेदी पर है; क्योंकि इसी अग्नि ने प्रजापति की क्षति को पूरा किया ॥२०॥

कहावत है कि थके हुए प्रजापति ने देवों से कहा—'मुझे पूर्ण करो।' देवों ने अग्नि से कहा कि 'हम तुझमें ही अपने पिता प्रजापति का इलाज करेंगे।' उसने कहा—'जब यह चंगा हो जायगा तो मैं इसमें घुस जाऊँगा।' इसलिए यद्यपि यह प्रजापति है,परन्तु उसको अग्नि कहते हैं ॥२१॥

देवों ने उसको अग्नि में आहुति देकर चंगा किया। जो-जो आहुति उन्होंने दी उसकी पकी ईंट हो गई और उसमें मिल गई। चूंकि वह 'इष्ट' से बनी, इसलिए इनका नाम इष्टका (ईंट) हुआ; इसीलिए ईंटों को अग्नि में पकाते हैं। उनको वे आहुति करके ही मानते हैं ॥२२॥

उस (प्रजापति) ने कहा कि जो-जो आहुति तुम देते हो वह मेरे 'क' अर्थात् सुखकर होती है। 'इष्ट' में जो 'क' हुआ इसीलिए इष्टका नाम हुआ ॥२३॥

महाशय 'आक्ताक्ष्य' कहा करते थे कि जो यजु से युक्त जड़ी इष्टका को जानता हो, वही अग्नि का चयन करे। वही ठीक प्रकार से प्रजापति पिता को चंगा करेगा ॥२४॥

'ताण्ड्य' कहा करते थे कि यजु से युक्त इष्टका क्षत्रिय हैं और उनके बीच का अवकाश वैश्य (साधारण लोग) हैं। क्षत्रिय खानेवाले हैं और वैश्य खाद्य हैं। जहाँ खाद्य की बहुतायत होती है, वही राष्ट्र समृद्धिशाली होता है। इसलिए अवकाश भरनेवाली चीजों की पुष्कलता होनी चाहिए। यह उन दोनों का कथन था। परन्तु स्थिति तो भिन्न ही है ॥२५॥

वह पिता ही पुत्र है। इसने अग्नि को बनाया, इसलिए यह अग्नि का पिता हुआ। चूंकि अग्नि ने इसको चंगा किया, इसलिए अग्नि इसका पिता हुआ। इसने देवों को उत्पन्न किया, इसलिए यह देवों का पिता है, और चूंकि देवों ने इसको चंगा किया इसलिए देव इसके पिता हुए ॥२६॥

जो इस रहस्य को समझता है, उसके लिए ये दोनों हैं—पिता भी, पुत्र भी; प्रजापति भी अग्नि भी; अग्नि भी, प्रजापति भी; प्रजापति भी, देव भी; देव भी, प्रजापति भी ॥२७॥

वाऽअङ्गिरा ध्रुवा सीदेति स्थिरा सीदेत्येतदथो प्रतिष्ठिता सीदेति वाचा चैवैन-
मेतत्प्राणेन च चिनोति वाग्वाऽअग्निः प्राण इन्द्र ऐन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्य-
स्य मात्रा तावतैवैनमेतच्चिनोतीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्नि-
र्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतच्चिनोति ॥२८॥ तदाहुः । कस्मादस्याऽअग्निश्चीयत
ऽइति यत्र वै सा देवता व्यस्रꣳसत तदिमामेव रसेनानु व्यक्षरत्तं यत्र देवाः स-
मस्कुर्वंस्तदेनमस्याऽएवाधि समभरंस्तैषैकैवेष्टकेयमेवेयꣳ ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्नि-
श्चीयते सेयं चतुःस्रक्तिर्दिशो ह्यस्यै स्रक्तयस्तस्माच्चतुःस्रक्तय इष्टका भवन्तीमाꣳ
ह्यनु सर्वा इष्टकाः ॥२९॥ तदाहुः । यदेवमेकेष्टकोऽथ कथं पञ्चेष्टक इतीयं न्वेव
प्रथमा मृन्मयीष्टका तद्यत्किं चात्र मृन्मयमुपदधात्येकैव सेष्टकाथ यत्पशुशीर्षाण्यु-
पदधाति सा पश्विष्टकाथ यद्रुक्मपुरुषाऽउपदधाति यद्धिरण्यशकलैः प्रोक्षति सा
हिरण्येष्टकाथ यत्स्रुचाऽउपदधाति यदुलूखलमुसले याः समिध आदधाति सा वा-
नस्पत्येष्टकाथ यत्पुष्करपर्णमुपदधाति यत्कूर्मं यद्दधि मधु घृतं यत्किं चात्रान्नमुप-
दधाति सैवान्नं पञ्चमीष्टकैवमु पञ्चेष्टकः ॥३०॥ तदाहुः । कतरत इष्टकायाः शिर
इति यत उपस्पृश्य यजुर्वदतीत्यु हैकऽआहुः स स्वयमातृण्णाया एवार्धादुपस्पृश्य
यजुर्वदेत्तथो हास्यैताः सर्वाः स्वयमातृण्णामभ्यावृत्ता भवन्तीति न तथा कुर्यादङ्गा-
नि वाऽअस्यैतानि यजूꣳषि यदिष्टका यथा वाऽअङ्गेऽङ्गे पर्वन्पर्वञ्छिरः कुर्यात्तादृ-
क्तद्यो वाव चितेऽग्निर्निधीयते तदेवैतासाꣳ सर्वासाꣳ शिरः ॥३१॥ तदाहुः । क-
ति पशवोऽग्नाऽउपधीयन्तऽइति पञ्चेति न्वेव ब्रूयात्पञ्च ह्येतान्पशूनुपदधाति
॥३२॥ अथोऽएक इति ब्रूयात् । अविरितीयं वाऽअविरियꣳ हीमाः सर्वाः प्रजा
अवतीयमु वाऽअग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते तस्मादेक इति ब्रूयात् ॥३२॥ अथो
द्वाविति ब्रूयात् । अवीऽइतीयं चासौ चेमे हीमाः सर्वाः प्रजा अवतो यन्मृदियं
तद्यदापोऽसौ तन्मृच्चापश्चेष्टका भवन्ति तस्माद्द्वाविति ब्रूयात् ॥३३॥ अथो गौरि-

वह "तया देवतया (उसी देवता के द्वारा)" ऐसा कहकर चिनता है। वाणी ही वह देवता है, "अंगिरस्वत् (अंगिरा के समान)।" प्राण ही अंगिरा हैं। "ध्रुवासीद" अर्थात् स्थिर रहो या प्रतिष्ठा के साथ रहो। इस प्रकार वह इसको वाणी और प्राण से चिनता है।अग्नि वाणी है और इन्द्र प्राण है। यह अग्नि (अर्थात् वेदी) अग्नि और इन्द्र दोनों की है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह चिनता है ॥२८॥

इस पर लोग कहते हैं कि यह अग्नि (अर्थात् वेदी) मिट्टी की क्यों बनाई जाती है ? जब वह देवता (प्रजापति) शिथिल हुआ तो रस के साथ इस पृथिवी पर हो बह निकला। जल देवों ने उसको चंगा किया तो इसको पृथिवी पर से ही इकट्ठा किया। इसलिए यह (पृथिवी) एक इष्टका है। यह पृथिवी ही अग्नि है; क्योंकि इसी से अग्नि (वेदी) बनाई जाती है। यह पृथिवी चार कोनों की है। दिशाएँ ही इसके कोने हैं। इसलिए ईंटें भी चार कोनों की होती हैं। सब ईंटें पृथिवी का अनुकरण हैं ॥२९॥

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि अगर अग्नि (वेदी) एक इष्टका का है तो पाँच इष्टका का कैसे हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि यह पृथिवी पहली मिट्टी की इष्टका है। इस वेदी पर जो कुछ मिट्टी का रक्खा जाता है वह एक इष्टका का है, और जो पशुओं के शिर रक्खे जाते हैं (अर्थात् जहाँ पशु निवास करते हैं) वह पशु-इष्टका, और जो स्वर्ण और पुरुष को रखता है और स्वर्ण के टुकड़े रखता है वह हिरण्य-इष्टका है, और जो दो स्रुचों को रखता है और उलूखल और मुसल को रखता है और समिधाओं को रखता है वह वनस्पति-इष्टका है, और जब कमल के पत्ते या कूर्म को, दही या मधु को, घृत को या अन्न को रखता है वह अन्न-इष्टका और पाँचवीं इष्टका है। इस प्रकार अग्नि पाँच इष्टकावाला हो गया ॥३०॥

अब कहते हैं कि इष्टका का शिर किधर को होता है ? कुछ का कथन है कि उधर ही जिधर उसको छूकर यजु पढ़े जाते हैं। स्वयमातृण्णा (स्वयं ही जिस ईंट में छिद्र हो गये हैं, झामाँ) इष्टका के एक भाग को छूकर ही उस पर यजु पढ़े। परन्तु इस प्रकार सब इष्टका ही उस ओर को जायेगी जिधर वह स्वयमातृण्णा इष्टका है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। ये जो इष्टका हैं वे इस अग्नि के कठोर अंग हैं, उसके पर्व या पोरे हैं। इसका अर्थ तो यह होगा कि हर पोरे में शिर हो। उस चिति पर जो आग रक्खी जाती है वह सब इष्टकाओं का शिर हैं ॥३१॥

इस पर लोगों का कहना है कि अग्नि की वेदी पर कितने पशु रक्खे जाते हैं ? कहना चाहिए कि पाँच; क्योंकि वह वस्तुतः पाँच पशुओं को उस पर रखता है ॥३२॥

यह कहना चाहिए कि एक, अवि। यह पृथिवी ही अवि है, क्योंकि सब प्रजाओं की रक्षा करती है। यह पृथिवी अग्नि भी है, क्योंकि अग्नि उसमें रक्खी जाती है। इसलिए कहना चाहिए कि 'एक' ॥३३॥

ति ब्रूयात् । इमे वै लोका गौर्यद्धि किं च गच्छतीमांस्तल्लोकान्गच्छतीमऽउ लोका एषोऽग्निश्चितस्तस्माद्गौरिति ब्रूयात् ॥३४॥ तदाहुः । कस्मै कामायाग्निश्चीयत ऽइति सुपर्णो मा भूत्वा दिवं वहादित्यु हैकऽआहुर्न तथा विद्यादेतद्वै रूपं कृत्वा प्राणाः प्रजापतिरभवन्नेतद्रूपं कृत्वा प्रजापतिर्देवानसृजतैतद्रूपं कृत्वा देवा अमृता अभवंस्तद्यदेवैतेन प्राणा अभवन्यत्प्रजापतिर्यद्देवास्तदेवैतेन भवति ॥३५॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत् । एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानादापोऽसृज्यन्त तस्मात्पुरुषात्तप्तादापो जायन्ते ॥१॥ आपोऽब्रुवन् । क्व वयं भवामेति तप्यध्वमित्यब्रवीत्ता अतप्यन्त ताः फेनमसृजन्त तस्मादपां तप्तानां फेनो जायते ॥२॥ फेनोऽब्रवीत् । क्वाहं भवानीति तप्यस्वेत्यब्रवीत्सोऽतप्यत स मृदमसृजतैतद्वै फेनस्तप्यते यदप्स्वावेष्टमानः प्लवते स यदोपहन्यते मृदेव भवति ॥३॥ मृदब्रवीत् । क्वाहं भवानीति तप्यस्वेत्यब्रवीत्सातप्यत सा सिकता असृजतैतद्वै मृत्तप्यते यदेनां विकृषन्ति तस्माद्यद्यपि सुमार्त्स्नं विकृषन्ति सैकतमिवैव भवत्येतावन्नु तद्यत्क्वाहं भवानि क्वाहं भवानीति ॥४॥ सिकताभ्यः शर्करामसृजत । तस्मात्सिकताः शर्करैवान्ततो भवति शर्कराया अश्मानं तस्माच्छर्कराश्मैवान्ततो भवत्यश्मनोऽयस्तस्मादश्मनोऽयो धमन्त्ययसो हिरण्यं तस्मादयो बहुध्मातꣳ हिरण्यसंकाशमिवैव भवति ॥५॥ तद्यदसृज्यताक्षरत् । तद्यदक्षरत्तस्मादक्षरं यदष्टौ कृत्वोऽक्षरत्सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत् ॥६॥ अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति । तद्भूमिरभवत्तामप्रथयत्सा पृथिव्यभवत्तस्यामस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सरायादीक्षन्त भूतानां पतिर्गृहपतिरासीदुषाः पत्नी ॥७॥ तद्यानि तानि भूतानि । ऋतवस्तेऽथ यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सोऽथ या सोषाः पत्न्यौषसी सा तानीमानि भूतानि च भू-

या कहे कि दो, क्योंकि यह पृथ्वी भी अवि है और द्यौ भी अवि, क्योंकि ये सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करते हैं। इष्टका में जो मिट्टी है वह पृथिवी है, जो जल है वह द्यौ है। ईंट में मिट्टी और पानी दोनों होते हैं, इसलिए कहना चाहिए कि दो ॥३४॥

या कहे कि 'गौ'। गौ ये लोक हैं। क्योंकि जिस किसी की गति है उसकी पृथिवी में ही गति है, और यह लोक भी स्वयं अग्नि है, इसलिए कहे "गौ" हैं ॥३५॥

कुछ पूछते हैं—अग्नि (वेदी) क्यों चिनी जाती है ? कुछ कहते हैं कि सुपर्ण होकर वह मुझे द्यौलोक को ले जायगी। परन्तु ऐसा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि इसी रूप से तो प्राण प्रजापति हो गये, इसी रूप से प्रजापति ने देवों को उत्पन्न किया, इसी रूप से 'देव' अमृत हो गये। और जो कुछ प्राण हो गये या प्रजापति हो गया, या देव हो गये, इसी प्रकार वह (यजमान) भी हो जायगा ॥३६॥

अबादीनामष्टरूपताबि

अध्याय १—ब्राह्मण ३

प्रजापति ही पहले था। उसने चाहा कि मैं हो जाऊँ, मैं उत्पन्न करूँ। उसने श्रम किया, उसने तप किया। उस श्रम और तप से तपे हुए से आप (जल) उत्पन्न हुए। उस तपे पुरुष से जल उत्पन्न होते हैं ॥१॥

जलों ने कहा—'हमारा क्या होगा ?' उसने उनसे कहा—'तुमको तपाया जायगा।' वे तपाये गये, उनसे फेन उत्पन्न हुआ। इसीलिए तपाये हुए जलों से फेन उठता है ॥२॥

फेन ने कहा—'मेरा क्या होगा ?' उसने कहा—'तुझे तपाया जायेगा।' वह तपाया गया, उससे मिट्टी उत्पन्न हुई। यह जो जलों पर तैरता है वह तपाया हुआ फेन है। यही जब पीटा जाता है, तो मिट्टी हो जाता है ॥३॥

मिट्टी बोली—'मेरा क्या होगा ?' उसने कहा—'तुझे तपाया जायगा।' वह तपाई गई और उससे रेत पैदा हुआ। क्योंकि जब जोतते हैं तो मिट्टी तपाई जाती है, और जब अच्छी तरह जोतते हैं तो रेत हो जाता है। 'मेरा क्या होगा। मेरा क्या होगा ?' यह इसी प्रकार सबके साथ कहना चाहिए ॥४॥

रेत से कंकड़ हुए। इसीलिए रेत के अन्त में कंकड़ हो जाते हैं, कंकड़ से पत्थर। इसलिए कंकड़ अन्त में पत्थर हो जाते हैं, पत्थर से लोहा, इसलिए पत्थर से लोहा बनाते हैं, लोहे से सोना। इसलिए बहुत तपाया हुआ लोहा स्वर्ण के रूप में हो जाता है ॥५॥

जब यह बना तो बहा (अक्षरत्)। इसलिए अक्षर कहने लगे। यह जो आठ बार बहा इसलिए आठ अक्षर की गायत्री हुई ॥६॥

चूँकि यह प्रतिष्ठा (जीव) हो गई, इसलिए इसका नाम भूमि हुआ। फैलाई गई इसलिए पृथिवी हुई। इसी बुनियाद (प्रतिष्ठा) पर पंच भूतों के पति संवत्सर वर्ष-भर के लिए दीक्षित किये गये। गृहपति प्रजापति था और उषा पत्नी ॥७॥

ये भूत ऋतु हैं, संवत्सर भूतों का पति है, और उषा पत्नी है इन भूतों और भूतों के

तानां च पतिः संवत्सरऽ उषसि रेतोऽसिञ्चत्स संवत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरो-
दीत् ॥८॥ तं प्रजापतिरब्रवीत् । कुमार किꣳ रोदिषि यच्छ्रमात्तपसोऽधि जातो
ऽसीति सोऽब्रवीदनपहतपाप्मा वाऽअस्म्यहितनामा नाम मे धेहीति तस्मात्पु-
त्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्पाप्मानमेवास्य तदपहन्त्यपि द्वितीयमपि तृतीयमभिपू-
र्वमेवास्य तत्पाप्मानमपहन्ति ॥९॥ तमब्रवीद्रुद्रोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरो-
दग्निस्तद्रूपमभवदग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत्तस्माद्रुद्रः सोऽब्रवीज्ज्यायान्वाऽअतोऽस्मि धे-
ह्येव मे नामेति ॥१०॥ तमब्रवीत्सर्वोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोदापस्तद्रू-
पमभवन्नापो वै सर्वोऽद्भ्यो हीदꣳ सर्वं जायते सोऽब्रवीज्ज्यायान्वाऽअतोऽस्मि
धेह्येव मे नामेति ॥११॥ तमब्रवीत्पशुपतिरसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोदोष-
धयस्तद्रूपमभवन्नोषधयो वै पशुपतिस्तस्माद्यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति
सोऽब्रवीज्ज्यायान्वाऽअतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति ॥१२॥ तमब्रवीदुग्रोऽसीति ।
तद्यदस्य तन्नामाकरोद्वायुस्तद्रूपमभवद्वायुर्वाऽउग्रस्तस्माद्यदा बलवद्वात्युग्रो वाती-
त्याहुः सोऽब्रवीज्ज्यायान्वाऽअतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति ॥१३॥ तमब्रवीदश-
निरसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोद्विद्युत्तद्रूपमभवद्विद्युद्वाऽअशनिस्तस्माद्यं विद्युद्ध-
न्त्यशनिरवधीदित्याहुः सोऽब्रवीज्ज्यायान्वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति ॥१४॥
तमब्रवीद्भवोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोत्पर्जन्यस्तद्रूपमभवत्पर्जन्यो वै भवः
पर्जन्याद्धीदꣳ सर्वं भवति सोऽब्रवीज्ज्यायान्वाऽअतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति
॥१५॥ तमब्रवीन्महान्देवोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोच्चन्द्रमास्तद्रूपमभवत्प्र-
जापतिर्वै चन्द्रमाः प्रजापतिर्वै महान्देवः सोऽब्रवीज्ज्यायान्वाऽअतोऽस्मि धेह्येव
मे नामेति ॥१६॥ तमब्रवीदीशानोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोदादित्यस्तद्रू-
पमभवदादित्यो वाऽईशान आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे सोऽब्रवीदेतावान्वाऽअ-
स्मि मा मेतः परो नाम धा इति ॥१५॥ तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि । कुमारो न-

मालिक संवत्सर ने उषा में वीर्य सींचा। वर्ष-भर पीछे एक कुमार उत्पन्न हुआ। वह रोया ॥८॥

प्रजापति ने उससे कहा—'हे कुमार ! श्रम से, तप से उत्पन्न होकर भी तू क्यों रोता है ?' उसने कहा—'मैं पाप से मुक्त नहीं हूँ। मेरा अभी नाम नहीं रक्खा गया। मेरा नाम रख दो।' इसीलिए जन्मे पुत्र का नाम रखते हैं, इससे उसके पाप को हर लेते हैं। दूसरी बार भी, तीसरी बार भी, क्योंकि इस प्रकार बार-बार उसको पापरहित करते हैं ॥९॥

उसने उससे कहा—'तू रुद्र है।' चूँकि उसको ऐसा नाम दिया इसलिए अग्नि रुद्र हो गया, क्योंकि अग्नि ही रुद्र है। चूँकि रोई, इसलिए रुद्र। उसने कहा—'मैं इसलिए बड़ा हूँ। मेरा नाम रख' ॥१०॥

उससे कहा—'तू सर्व है।' चूँकि उसका ऐसा नाम पड़ा, इसलिए वह जल हो गया, क्योंकि जलों का नाम सर्व है। जल से ही सबकी उत्पत्ति है। उसने कहा—'मैं उससे बड़ा हूँ। मेरा नाम रख' ॥११॥

उससे कहा—'तू पशुपति है।' उसका ऐसा नाम रक्खा, तो ओषधियाँ उसके रूप की हो गईं। ओषधियाँ ही पशुपति हैं, क्योंकि पशु ओषधियों को पाते हैं तभी उनमें पतिपन आता है। उसने कहा—'मैं इससे भी बड़ा हूँ। मेरा नाम रख' ॥१२॥

उससे कहा—'तू उग्र है।' जब उसका यह नाम रक्खा तो वायु उस रूप का हो गया। वायु ही उग्र है। जब वायु तेज चलता है तो कहते हैं कि उग्र चल रहा है। उसने कहा—'मैं इससे भी बड़ा हूँ। मेरा नाम रख' ॥१३॥

उससे कहा, 'तू अशनि है।' चूँकि उसका ऐसा नाम रखा, बिजली उस रूप की हो गई। क्योंकि बिजली अशनि है। इसलिए जिस पर बिजली गिर जाती है उसके लिए कहते हैं कि अशनि मार गई। उसने कहा, 'मैं इससे भी बड़ा हूँ। मेरा नाम रख' ॥१४॥

उससे कहा, 'तू मन है।' जब उसका ऐसा नाम रखा, पर्जन्य उसके रूप का हो गया। पर्जन्य ही भव है। पर्जन्य से ही यह सब-कुछ होता है। उसने कहा, 'मैं इससे भी बड़ा हूँ, मेरा नाम रख' ॥१५॥

उससे कहा, 'तू महान् देव है।' जब उसका ऐसा नाम रखा तो चन्द्र उस रूप का हो गया। चन्द्रमा प्रजापति है। प्रजापति ही महान् देव है। उसने कहा, 'मैं इससे भी बड़ा हूँ। मेरा नाम रख' ॥१६॥

उससे कहा, 'तू ईशान है।' चूँकि उसका ऐसा नाम रखा गया, इसलिए सूर्य रूप का हो गया। ईशान सूर्य है, क्योंकि वह सब पर शासन करता है। उसने कहा, 'मैं इतना ही हूँ। इससे आगे मेरा नाम न रख' ॥१७॥

ये आठ अग्नि के रूप हैं। कुमार नवाँ है।

वमः सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता ॥१८॥ यद्वेवाष्टावग्निरूपाणि । अष्टाक्षरा गायत्री तस्मादाहु-
र्गायत्रोऽग्निरिति सोऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्राविशन्न वाऽअग्निं कुमारमिव पश्य-
न्त्येतान्येवास्य रूपाणि पश्यन्त्येतानि हि रूपाण्यनुप्राविशत् ॥१९॥ तमेतꣳ सं-
वत्सर एव चिनुयात् । संवत्सरेऽनुब्रूयाद्वयोरित्यु हैकऽआहुः संवत्सरे वै तद्रे-
तोऽसिञ्चन्त्स संवत्सरे कुमारोऽजायत तस्माद्वयोरेव चिनुयाद्वयोरनुब्रूयादिति
संवत्सरे त्वेव चिनुयात्संवत्सरेऽनुब्रूयाद्यद्वाव रेतः सिक्तं तदेव जायते तत्ततो वि-
क्रियमाणमेव वर्धमानꣳ शेते तस्मात्संवत्सरऽएव चिनुयात्संवत्सरेऽनुब्रूयात्तस्य
चितस्य नाम करोति पाप्मानमेवास्य तदपहन्ति चित्रनामानं करोति चित्रोऽसी-
ति सर्वाणि हि चित्राण्यग्निः ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ प्रथमोऽध्यायः [३६.] ॥ ॥

प्रजापतिरग्निरूपाण्यभ्यध्यायत् । स योऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्रविष्ट आसीत्तम-
न्वैच्छत्सोऽग्निरवेदनु वै मा पिता प्रजापतिरिच्छति हन्त तद्रूपमसानि यन्मऽएष न
वेदेति ॥१॥ स एतान्पञ्च पशूनपश्यत् । पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत्तस्मादेते
पशवः ॥२॥ स एतान्पञ्च पशून्प्राविशत् । स एते पञ्च पशवोऽभवत्तमु वै प्र-
जापतिरन्वैवैच्छत् ॥३॥ स एतान्पञ्च पशूनपश्यत् । यदपश्यत्तस्मादेते पशवस्ते-
ष्वेतमपश्यत्तस्माद्वेवैते पशवः ॥४॥ स ऐक्षत । इमे वाऽअग्निरिमानेवात्मानम-
भिसंस्करवै यथा वाऽअग्निः समिद्धो दीप्यतऽएवमेषां चक्षुर्दीप्यते यथाग्नेर्धूम उद्-
यतऽएवमेषामूष्मोद्यते यथाग्निरभ्याहितं दहत्येवं बप्सति यथाग्नेर्भस्म सीदत्येव-
मेषां पुरीषꣳ सीदतीमे वाऽअग्निरिमानेवात्मानमभिसंस्करवाऽइति तान्नाना दे-
वताभ्य आलिप्सत वैश्वकर्मणं पुरुषं वारुणमश्वमैन्द्रमृषभं त्वाष्ट्रमविमाग्नेयमजꣳ
॥५॥ स ऐक्षत । नाना वाऽइदं देवताभ्य आलिप्सेऽग्नेर्वहꣳ रूपाणि कामये ह-
न्तैनानग्निभ्यः कामायालभाऽइति तानग्निभ्यः कामायालभत तद्यदग्निभ्य इति ब-
हूनि ह्यग्निरूपाण्यभ्यध्यायदथ यत्कामायेति कामेन ह्यालभत तानाप्रीतान्पर्यग्नि-

यह अग्नि का त्रिवृत्त है ॥१८॥

चूंकि अग्नि के आठ रूप हैं, और आठ अक्षर की गायत्री है, इसलिए कहते हैं कि गायत्री अग्नि है। यह कुमार एक के पीछे दूसरा रूप धारण करता गया। कोई उसको कुमार के रूप में नहीं देखते। उसके इन रूपों को ही देखता है, क्योंकि उसने एक के पीछे दूसरे रूप को धारण किया ॥१९॥

इस वेदी को साल-भर में चिने और साल-भर अनुवाक कहे। कुछ कहते हैं कि दो वर्ष, क्योंकि एक वर्ष वीर्य सींचा और एक वर्ष में कुमार उत्पन्न हुआ। परन्तु एक ही वर्ष में चिने और एक ही वर्ष अनुवाक बोले, क्योंकि जो वीर्य सींचा जाता है, वही जानता है। उसमें विकार होकर वृद्धि होती रहती है। इसलिए एक ही वर्ष चिने; एक ही वर्ष अनुवाक बोले। जब चिन जाता है तो उसका नाम रखते हैं जिससे पाप से बचा रहे। उसका नाम चित्र रखते हैं। कहते हैं कि तू चित्र है क्योंकि अग्नि चमकीला है ॥२०॥

अथ पुरुषाश्वादिपञ्चपश्वालम्भनविधिः

अध्याय २—ब्राह्मण १

प्रजापति अग्नि के रूपों पर मुग्ध हो गया। उसने उस कुमार को खोजा जो अग्नि के रूपों में प्रविष्ट हो गया था। अग्नि को मालूम हो गया कि मेरा पिता प्रजापति मुझको तलाश कर रहा है। मुझको ऐसा रूप धारण करना चाहिये कि वह मुझे न पहचाने ॥१॥

उसने इन पाँच पशुओं को देखा—पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज। वह इन पाँच पशुओं में प्रविष्ट हो गया। चूंकि उसने इनको देखा (अपश्यत्) इसलिए इनका नाम पशु हो गया ॥२॥

वह इन पाँच पशुओं में प्रविष्ट हो गया तो पाँच पशु ही बन गया। उसको फिर भी प्रजापति ढूंढता रहा ॥३॥

उसने इन पाँच पशुओं को देखा, इसलिए उनका नाम पशु हुआ। या उसने इनमें अग्नि को देखा इसलिए इनका नाम पशु हुआ ॥४॥

उसने सोचा कि यह अग्नि है। इनको मैं अपने रूप में मिला लूं। जैसे जलकर अग्नि चमकती है उसी प्रकार इनकी आँखें चमकती हैं। जैसे अग्नि में से धुआँ उठता है, इसी प्रकार इनमें से साँस उठती है। जैसे अग्नि में जो कुछ डाला जाता है, उसे वह जला देती है, इसी प्रकार वे भी खाते हैं। जैसे अग्नि की राख होती है इसी प्रकार इनका पुरीष होता है। वे अग्नि ही तो हैं। मैं उनको अपने रूप में कर लूंगा। उसने उनको नाना देवताओं के लिए लाभ करना चाहा (बलि देना चाहा ? 'लभ' में 'आ' उपसर्ग लगने से बलि देने का अर्थ होता है। यह क्यों ? क्या इसमें कोई विशेष प्रमाण है ?) विश्वकर्मा के लिए पुरुष को, वरुण के लिए अश्व को, इन्द्र के लिए ऋषभ को, त्वष्टा के लिए अवि को और अग्नि के लिए अज को ॥५॥

उसने सोचा कि नाना देवताओं के लिए मैं इनका आलभन करना चाहता हूँ। मैं अग्नि के लिए इनका आलभन करूँ, जिससे अपनी कामना भी पूरी हो। उनका अग्नियों की कामना के लिए आलभन किया। 'अग्नियों' (बहुवचन) इसलिए कहा कि अग्नि के बहुत-से रूप हैं। 'कामना के लिए' इसलिए कहा कि उसने कामना के लिए आलभन किया। उसने उनको सन्तुष्ट

कृतानुदाचो नीत्वा समज्ञपयत् ॥६॥ स ऐक्षत । या वै श्रीरभ्यधासिषमिमास्ताः
शीर्षसु हन्त शीर्षाण्येवोपदधा इति स शीर्षाण्येवोत्कृत्योपाधत्ताथेतराणि कुसि-
न्धान्यप्सु प्राप्लावयद्येन यज्ञꣳ समस्थापयन्नेन्मे यज्ञो विकृष्टोऽसदित्यात्मा वै य-
ज्ञो नेन्मेऽयमात्मा विकृष्टोऽसदित्येतेन पशुनेष्ट्वा तत्प्रजापतिरपश्यद्यथैतस्याग्ने-
रन्तं न पर्यैत् ॥७॥ स ऐक्षत । यमिममात्मानमप्सु प्राप्लावं तमन्विच्छानीति त-
मन्वैच्छत्तद्यदेषामप्सु प्रविद्धानां प्रत्यतिष्ठत्ता अपः समभरदथ यदस्यां तां मृदं तदु-
भयꣳ सम्भृत्य मृदं चापश्चेष्टकामकरोत्तस्मादेतदुभयमिष्टका भवति मृच्चापश्च ॥८॥
स ऐक्षत । यदि वाऽइदमित्थमेव सदात्मानमभिसंस्करिष्ये मर्त्यं कुणपोऽनपहत-
पाप्मा भविष्यामि हन्तैतदग्निना पचानीति तदग्निनापचत्तदेनदमृतमकरोदेतद्वै
हविरमृतं भवति यदग्निना पचन्ति तस्मादग्निनेष्टकाः पचन्त्यमृता एवैनास्तत्कुर्व-
न्ति ॥९॥ तद्यदिष्ट्वा पशुनापश्यत् । तस्मादिष्टकास्तस्मादिष्ट्वैव पशुनेष्टकाः कुर्या-
दनिष्टका ह ता भवन्ति याः पुरा पशोः कुर्वन्त्यथो ह तदन्यदेव ॥१०॥ तद्यास्ताः
श्रियः । एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ यानि तानि कुसिन्धान्येतास्ताः पञ्च चित-
यस्तद्यत्पशुशीर्षाण्युपधाय चितीश्चिनोत्येतैरेव तच्छीर्षभिरेतानि कुसिन्धानि संद-
धाति ॥११॥ तऽएते सर्वे पशवो यदग्निः । तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते पशुभिरेव
तत्पशवो रमन्ते तस्माद्यस्य पशवो भवन्ति तस्मिन्नग्निराधीयतेऽग्निर्ह्येष यत्पशव-
स्ततो वै प्रजापतिरग्निरभवत् ॥१२॥ तद्धैकऽआहुः । अत्रैवैतैः सर्वैः पशुभिर्यजेत
यद्वाऽएतैरत्र सर्वैः प्रजापतिरयक्ष्यत तदेवाग्नेरन्तं पर्यैष्यत्तद्यदेतैरत्र सर्वैर्यजेत तदे-
वाग्नेरन्तं परीयादिति न तथा कुर्याद्देवानां तदितादियादथो पथस्तदियादथो किं
ततः सम्भरेदेतानि वाऽएतत्कुसिन्धान्येताश्चितीः सम्भरति तस्मात्तथा न कुर्यात्
॥१३॥ यद्वेवैतान्पशूनालभते । आयतनमेवैतदग्नये करोति न ह्यनायतने कश्चन
रमतेऽन्नं वाऽआयतनं तदेतत्पुरस्तान्निदधाति तदेनं पश्यन्नग्निरुपावर्तते ॥१४॥

(आप्रीत) करके अग्नि की परिक्रमा कराके उत्तर की ओर ले-जाकर उनका समज्ञापन (बलिदान) कर दिया ॥६॥

उसने सोचा कि जिन श्रियों की मुझे अभिलाषा है, वे शिरों में रहती हैं, इसलिये शिरों को ही धारण करूँ। इसलिए इनको काटकर स्वयं धारण कर लिया। शेष धड़ों को जल पर बहने दिया, और यज्ञ को अज (बकरे ?) के द्वारा पूर्ण किया कि मेरा यज्ञ न बिगड़ जाय। आत्मा ही यज्ञ है, इसलिए कहीं मेरा आत्मा न बिगड़ जाये। इस पशु से यज्ञ करके प्रजापति ने देखा कि मैंने अभी इस अग्नि का अन्त नहीं पाया ॥७॥

उसने विचारा, जिस इस आत्मा (धड़) को जल में प्रवाहित कर दिया, उसका अन्वेषण करूँ। उसको तलाश किया, और इनका जो भाग जल में प्रवेश होकर बैठ गया था, उस जल को उसने ले लिया, और जो मिट्टी में मिल गया था उस मिट्टी को भी ले लिया, और जल और मिट्टी दोनों मिलाकर एक ईंट बनाई। इसलिए ईंट दो चीजों की बनी होती है, मिट्टी और जल की ॥८॥

उसने विचारा कि अगर इस (ईंट) को इसी प्रकार काम में लगा लूँ तो मरणशील लाश और पापी हो जाऊँगा, इसलिये इसको आग में पका लूँ। उसे अग्नि में पकाया, इस प्रकार उसको अमर कर दिया। यह हवि भी अमृत हो जाती है अगर अग्नि में पकाई जाती है। इसलिए ईंटों को आग में पकाते हैं। इस प्रकार इनको अमर बना देते हैं ॥९॥

पशु से यज्ञ करके (इष्ट्वा) उनको देखा, इसलिए उनका नाम इष्टका (ईंट) हुआ। इसलिए पशु-यज्ञ करके ही ईंटें बनानी चाहियें। जो पशु से पहले बनाई जायें, वे ईंटें न होंगी (अनिष्टका)। और यह भी हेतु है कि—॥१०॥

ये जो श्री हैं, ये उन पशुओं के सिर हैं, और जो ये धड़ हैं वे पाँच चितियाँ (तहें) हैं। पशुओं के शिरों को रखकर जो चितियाँ चिनी जाती हैं, इससे सिर और धड़ का संयोग हो जाता ॥११॥

यह जो अग्नि है वही ये सब पशु हैं। इसलिये अग्नि के पास पशुओं को आनन्द होता है, अर्थात् पशुओं से पशुओं को आनन्द होता है। इसलिये जिसके पास पशु होते हैं उसमें अग्नि का आधान होता है। यह जो अग्नि है वही पशु है। इसीलिए प्रजापति अग्नि हो गया ॥१२॥

कुछ का कथन है कि यहाँ सब पशुओं से यज्ञ कर देना चाहिए, क्योंकि अगर प्रजापति इन सबसे यज्ञ करता तो अग्नि के अन्त को अवश्य पा लेता। यदि वह इन सब पशुओं से यज्ञ करेगा तो अग्नि के अन्त को पा लेगा। परन्तु ऐसा न करना चाहिये, क्योंकि यह देवों के मार्ग का उल्लङ्घन होगा। जब देव-मार्ग का उल्लंघन किया तो इससे क्या बनेगा ? ये जो धड़ हैं, चितियाँ हैं, उनको ही वह पाता है। इसलिए उसे ऐसा नहीं करना चाहिए ॥१३॥

जब इन पशुओं का आलभन करता है, तो अग्नि के लिए स्थान बनाता है। क्योंकि बिना घर के किसी को आनन्द नहीं होता। या अन्न ही घर है। इसको वह सामने रख देता है। इसको देखकर अग्नि उसकी ओर लौट आता है ॥१४॥

पुरुषोऽश्वो गौरविरजो भवन्ति । एतावन्तो वै सर्वे पशवोऽन्नं पशवस्तद्यावदन्नं
तदेतत्पुरस्तान्निदधाति तदेनं पश्यन्नग्निरुपावर्तते ॥१५॥ पञ्च भवन्ति । पञ्च ह्येते
ऽग्नयो यदेताश्चितयस्तेभ्य एतत्पञ्चायतनानि निदधाति तदेनं पश्यन्नग्निरुपावर्तते
॥१६॥ तद्यदग्निभ्य इति । बहवो ह्येतेऽग्नयो यदेताश्चितयोऽथ यत्कामायेति य-
था तं काममाप्नुयाद्यजमानो यत्काम एतत्कर्म कुरुते ॥१७॥ पुरुषं प्रथममालभते
। पुरुषो हि प्रथमः पशूनामथाश्वं पुरुषᳬ ह्यन्वश्वोऽथ गामश्वᳬ ह्यनु गौरथाविं
गाᳬ ह्यन्वविरथाजमविᳬ ह्यन्वजस्तदेनान्यथापूर्वं यथाश्रेष्ठमालभते ॥१८॥ तेषां
विषमा रशनाः स्युः । पुरुषस्य वर्षिष्ठाथ ह्रसीयस्यथ ह्रसीयसी तद्यथारूपं पशू-
नाᳬ रशनाः करोत्यपापवस्यसाय सर्वास्त्वेव समाः स्युः सर्वाः सदृश्यः सर्वे ह्येते
समाः सर्वे सदृशा अग्नयो ह्युच्यन्तेऽन्नᳬ ह्युच्यन्ते तेन समास्तेन सदृशाः ॥१९॥
तदाहुः । कथमस्यैषोऽग्निः पञ्चेष्टकः सर्वः पशुष्वारब्धो भवतीति पुरोडाशकपाले-
षु न्वेवाप्यतऽइयं प्रथमा मृन्मयीष्टकाथ यत्पशुमालभते तेन पश्विष्टकाप्यतेऽथ
यद्वपामभितो हिरण्यशकलौ भवतस्तेन हिरण्येष्टकाप्यतेऽथ यदिध्मो यूपः परि-
धयस्तेन वानस्पत्येष्टकाप्यतेऽथ यदाज्यं प्रोक्षण्यः पुरोडाशस्तेनान्नं पञ्चमीष्टका-
प्यतऽएवमु हास्यैषोऽग्निः पञ्चेष्टकः सर्वः पशुष्वारब्धो भवति ॥२०॥ तेषां चतु-
र्विᳬशतिः सामिधेन्यः । चतुर्विᳬशत्यर्धमासो वै संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावान-
ग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्समिन्द्धे ॥२१॥ यद्वेव चतुर्विᳬशतिः । चतुर्विᳬ
शत्यक्षरा वै गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्समिन्द्धे
॥२२॥ यद्वेव चतुर्विᳬशतिः । चतुर्विᳬशो वै पुरुषो दश हस्त्या अङ्गुलयो दश
पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा ताव-
तैवैनमेतत्समिन्द्धे ॥२३॥ उभयीर्गायत्रीश्च त्रिष्टुभश्चान्वाह । प्राणो गायत्र्यात्मा
त्रिष्टुप्प्राणमेवास्य गायत्रीभिः समिन्द्धऽआत्मानं त्रिष्टुब्भिर्मध्ये त्रिष्टुभो भवन्त्यभि-

पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज यही सब पशु होते हैं। पशु अन्न है। जो कुछ यह अन्न है उसको वह सामने रख देता है। इसको देखकर अग्नि लौट आता है ॥१५॥

ये पाँच होते हैं, ये जो पाँच चितियाँ हैं और पाँच अग्नियाँ हैं। इस प्रकार उनके लिए पाँच घर बनाता है। उनको देखकर अग्नि लौट आता है ॥१६॥

यह जो 'अग्निभ्यः' (बहुवचन) अग्नियों के लिए आहुति देता है, सो बहुवचन कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नियाँ बहुत-सी हैं, अर्थात् चितियाँ बहुत-सी हैं। और यह जो कहा 'कामाय' (कामना के लिए) इसका तात्पर्य यह है कि यजमान की कामना पूरी हो, अर्थात् यजमान जो चाहे वह पूरा हो जाय ॥१७॥

पहले पुरुष का आलभन होता है, क्योंकि पशुओं में पहला पुरुष है; फिर अश्व का, क्योंकि पुरुष के पीछे अश्व है; फिर गौ का, क्योंकि अश्व के पीछे गौ है; फिर अवि का, क्यों कि गाय के पीछे अवि है; और फिर अज का, क्योकि अवि के पीछे अज है। इस प्रकार उनका यथाक्रम अर्थात श्रेष्ठता के हिसाब से आलभन करता है ॥१८॥

उनकी रस्सियाँ नाबराबर (विषम) होनी चाहियें। पुरुष की सबसे बड़ी, फिर क्रमशः छोटी। इस प्रकार पशुओं के रूपों के हिसाब से रस्सियाँ होती हैं, पापी और अच्छे की पहचान के हिसाब से। परन्तु (याज्ञवल्क्य की राय से) सबकी बराबर होनी चाहिएँ, क्योंकि सब एक-से हैं, सब अग्नि कहलाते हैं, सब अन्न कहलाते हैं, इसलिये सब बराबर होते हैं ॥१९॥

अब प्रश्न है कि यह पूरी पाँच ईंटोंवाली अग्नि पशुओं में कैसे प्राप्त होती है? इसका उत्तर यह है कि पुरोडाश के कपालों में पहली अर्थात् मिट्टी की इष्टका प्राप्त होती है। पशुओं का आलभन करने से पशु-इष्टका प्राप्त होती है। जब दपा के दोनों ओर सोने के टुकड़े रखते हैं तो सोने की इष्टका की प्राप्ति होती है, और समिधा, यूप और परिधियों से बनस्पति की इष्टका की प्राप्ति होती हे। इस प्रकार इन पशुओं में पाँच ईंटोंवाली अग्नि की प्राप्ति हो जाती है ॥२०॥

इन पशुओं की चौबीस सामिधेनियाँ होती हैं। वर्ष में २४ अर्धमास होते हैं। अग्नि वर्ष है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही सामिधेनियों से अग्नि प्रज्वलित की जाती है ॥२१॥

चौबीस इसलिये भी होती हैं कि गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्री है। जितना बड़ा अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही समिधाओं से प्रज्वलित होती है ॥२२॥

चौबीस इसलिए भी होती हैं कि पुरुष में २४ अंग होते हैं--दस हाथ की उँगलियाँ, दस पैर की और चार अंग (२ हाथ, दो पैर)। प्रजापति पुरुष है। प्रजापति अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही समिधायें होती हैं ॥२३॥

गायत्री और अनुष्टुभ् दोनों का पाठ होता है। प्राण गायत्री है और आत्मा त्रिष्टुभ् है। गायत्री से प्राण का प्रज्वलन होता है और त्रिष्टुभ् से आत्मा का। बीच में त्रिष्टुभ् होते हैं और

तो गायत्र्यो मध्ये ह्ययमात्माभितः प्राणा भूयसीः पुरस्ताद्गायत्रीरन्वाह कनीय-
सीरुपरिष्टाद्भूयाꣳसो ह्यमे पुरस्तात्प्राणाः कनीयाꣳस उपरिष्टात् ॥२४॥ सोऽन्वा-
ह । समास्त्वाग्नऽऋतवो वर्धयन्त्विति प्रजापतिं विस्रस्तं यत्राग्निः समदधात्तमब्रवी-
द्या मत्संमिताः सामिधेन्यस्ताभिर्मा समिन्त्स्वेति ॥२५॥ स एता अपश्यत् । समा-
स्त्वाग्नऽऋतवो वर्धयन्त्विति समाश्च त्वाग्नऽऋतवश्च वर्धयन्त्वित्येतत्संवत्सरा ऋषयो
यानि सत्येति संवत्सराश्च त्वऽर्षयश्च सत्यानि च वर्धयन्त्वित्येतत्सं दिव्येन दीदि-
हि रोचनेनेत्यसौ वाऽआदित्यो दिव्यꣳ रोचनं तेन संदीदिहीत्येतद्विश्वा आभा-
हि प्रदिशश्चतस्र इति सर्वा आभाहि प्रदिशश्चतस्र इत्येतत् ॥२६॥ ता एता ए-
कव्याख्यानाः । एतमेवाभि यथैतमेव संस्कुर्यादेतꣳ संदध्यादेतं जनयेत्ता आग्नेय्यः
प्राजापत्या यदग्निरपश्यत्तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिꣳ समैन्द्ध तेन प्राजापत्याः ॥२७॥
द्वादशाप्रियः । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा
तावतैवैनमेतदाप्रीणाति ॥२८॥ यद्वेव द्वादश । द्वादशाक्षरा वै जगतीयं वै जग-
त्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं जगदियमु वाऽअग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते यावानग्निर्याव-
त्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदाप्रीणाति ॥२९॥ यद्वेव द्वादश । द्वादशाक्षरा वै जग-
ती जगती सर्वाणि छन्दाꣳसि सर्वाणि छन्दाꣳसि प्रजापतिः प्रजापतिरग्निर्यावान-
ग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदाप्रीणाति ॥३०॥ ता एता ऊर्ध्वा अस्य समि-
धो भवन्तीति । प्रजापतिं विस्रस्तं यत्राग्निः समदधात्तमब्रवीद्या मत्संमिता आप्रि-
यस्ताभिर्माप्रीणीहीति ॥३१॥ स एता अपश्यत् । ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्तीत्यू-
र्ध्वा ह्येतस्य समिद्धस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीꣳष्यग्नेरित्यूर्ध्वानि ह्येतस्य
शुक्राणि शोचीꣳष्यर्चीꣳषि भवन्ति द्युमत्तमेति वीर्यवत्तमेत्येतत्सुप्रतीकस्येति सर्व-
तो वाऽअग्निः सुप्रतीकः सूनोरिति यदेनं जनयति तेनास्यैष सूनुः ॥३२॥ ता
एता एकव्याख्यानाः । एतमेवाभि यथैतमेव संस्कुर्यादेतꣳ संदध्यादेतं जनयेत्ता

आस-पास गायत्री। बीच में आत्मा है और आसपास प्राण। पहले बहुत-सी गायत्री पढ़ी जाती हैं और पीछे थोड़ी, क्योंकि प्राण आगे अधिक हैं और पीछे कम ॥२४॥

वह पढ़ता है—"समास्त्वाग्न ऽ ऋतवो वर्धयन्तु" (यजु० २७।१)—"हे अग्नि, तुझको ऋतुएँ बढ़ावें।" अब अग्नि ने क्षीण प्रजापति को पूर्ण कर दिया तो प्रजापति ने कहा कि जितनी सामिधेनियाँ मेरे बराबर हों उनसे मुझे प्रज्वलित करो ॥२५॥

अग्नि ने इन ऋचाओं को देखा—"समास्त्वाग्न ऽ ऋतवो वर्धयन्तु"—"हे अग्नि, तुझको महीने और ऋतु बढ़ावें" अर्थात् महीने भी बढ़ावें और ऋतु भी। "संवत्सरा ऽ ऋषयो यानि सत्या" (यजु० २७।१) "संवत्सर, ऋषि और जो कुछ सचाइयां हों" अर्थात् ये सब तुझको बढ़ावें। "सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन" (यजु० २७।१)—"दिव्य प्रकाश से प्रकाशित हो।" यह जो आदित्य है वह दिव्य प्रकाश से युक्त है, उससे प्रकाशित हो। "विश्वा ऽ आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः" (यजु० २७।१) "चारों दिशाएँ जगमगा उठें" अर्थात् चारों दिशाओं में प्रकाश हो जाय ॥२६॥

इन सबका एक ही अर्थ है, अर्थात् इस (प्रजापति अग्नि) का संस्कार कैसे हो, इसे पूर्ण कैसे किया जाय, इसका प्रादुर्भाव कैसे हो। ये सब मन्त्र अग्नि और प्रजापति दोनों से संबंध रखते हैं। अग्नि से इसलिये कि अग्नि ने उनको देखा। प्रजापति से इसलिये कि प्रजापति को अग्नि ने प्रज्वलित किया ॥२७॥

आप्रि-मन्त्र बारह होते हैं। वर्ष में बारह मास होते हैं। अग्नि सम्वत्सर है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही आप्रि-मन्त्र हैं ॥२८॥

इसलिये भी बारह होते हैं कि बारह अक्षरों की जगती होती है। यह पृथिवी जगती है क्योंकि इसमें जगत् की गति होती है। यह पृथिवी ही अग्नि है। इसी में सब अग्नि का चयन होता है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही आप्रि-मन्त्र होते हैं ॥२९॥

इसलिये भी बारह होते हैं। सब छन्द जगती हैं। सब छन्द प्रजापति हैं। प्रजापति अग्नि है। जितनी अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही उनके आप्रि-मन्त्र हैं (अर्थात् उनसे उसको संतुष्ट करता है) ॥३०॥

इसकी समिधायें ऊँची होती हैं। जब थके हुए प्रजापति को अग्नि ने पूर्ण किया, तो उससे कहा कि जो आप्रि-मन्त्र मेरे समान हों उनसे मुझे प्रसन्न कर ॥३१॥

उसने इन मन्त्रों को देखा, "ऊर्ध्वा ऽ अस्य समिधो भवन्ति" (यजु० २७।११)—"इसकी समिधाएं ऊँची होती हैं।" इस प्रज्वलित की समिधाएँ ऊँची होती हैं। वस्तुतः जब अग्नि प्रज्वलित होता है, तो उसकी समिधाएँ ऊर्ध्व होती हैं। "ऊर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः" (यजु० २७।११)—"उस अग्नि की चमकती हुई ज्वालाएँ ऊँची होती हैं" अर्थात् जब ज्वालाएँ उठती हैं तो ऊँची होती हैं। "द्युमत्तमा" (यजु० २७।११)—अर्थात् वीर्यवत्तम। "सुप्रतीकस्य" (यजु० २७।११)—क्योंकि अग्नि चारों ओर सुप्रतीक (सुन्दर) है। "सूनोः" (यजु० २७।११)—चूंकि यजमान अग्नि को उत्पन्न करता है, इसलिए अग्नि उसका सूनुः या पुत्र हुआ ॥३२॥

इन सब मन्त्रों का तात्पर्य एक ही है कि इस (अग्नि) का संस्कार हो, यह बढ़े और उत्पन्न

आग्नेय्यः प्राजापत्या यदग्निरपश्यत्तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिमाप्रीणात्तेन प्राजापत्याः
॥३३॥ ता विषमा विषमपदाः । विषमाक्षरा विषमाणि हि छन्दाꣳस्यथो यान्य-
स्याध्यात्ममङ्गानि विषमाणि तान्यस्यैताभिराप्रीणाति ॥३४॥ वैश्वानरः पशुपुरो-
डाशः । वैश्वानरो वै सर्वेऽग्नयः सर्वेषामग्नीनामुपाप्त्यै ॥३५॥ यद्वेव वैश्वानरः ।
ऋतवो ह्येते यदेताश्चितयोऽग्नयो वाऽऋतव ऋतवः संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरो
यद्ग्नय इति स्यादति तद्रेचयेद्द्वादशकपालो द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो वै-
श्वानर आग्नेय्यो याज्यानुवाक्या अग्निरूपाणामुपाप्त्यै कामवत्यः कामानामुपाप्त्यै
॥३६॥ तद्धैके । इत्येवैतानि पशुशीर्षाणि बिल्वोपदधत्युभयेनैते पशव इति ते
ह ते मर्त्याः कुणपाः सम्भवन्त्यनाप्रीतानि हि तानि तद्ध तथाषाढिः सौश्रोमतेय-
स्योपदधुः स ह क्षिप्रऽएव ततो ममार ॥३७॥ हिरण्मयान्यु हैके कुर्वन्ति । अ-
मृतेष्टका इति वदन्तस्ता ह ता अनृतेष्टका न हि तानि पशुशीर्षाणि ॥३८॥
मृन्मयान्यु हैके कुर्वन्ति । उत्सन्ना वाऽएते पशवो यद्ध किंचोत्सन्नमियं तस्य स-
र्वस्य प्रतिष्ठा तद्यत्रैते पशवो गतास्तत एनानधि सम्भराम इति न तथा कुर्या-
द्यो वाऽएतेषामावृतं च ब्राह्मणं च न विद्यात्तस्यैतऽउत्सन्नाः स्युः स एतानेव
पञ्च पशूनालभेत यावदस्य वशः स्यात्तान्हैतान्प्रजापतिः प्रथम आलेभे श्यापर्णः
सायकायनोऽन्तमोऽथ ह स्मैतानेवान्तरेणालभन्तेऽथैतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते प्रा-
जापत्यश्च वायव्यश्च तयोरेतो ब्राह्मणमुच्यते ॥३९॥ ब्राह्मणम् ॥४ [२. १.] ॥ प्र-
थमः प्रपाठकः । कण्डिकासंख्या११० ॥॥

प्राजापत्यं चरका आलभन्ते । प्रजापतिरग्निं चित्वाग्निरभवत्तद्यदेतमालभते त-
देवाग्नेरन्तं पर्येतीति ॥१॥ श्यामो भवति । द्वयानि वै श्यामस्य लोमानि शुक्ला-
नि च कृष्णानि च द्वन्द्वं मिथुनं प्रजननं तदस्य प्राजापत्यꣳ रूपं तूपरो भवति
तूपरो हि प्रजापतिः ॥२॥ तस्यैकविꣳशतिः सामिधेन्यः । द्वादश मासाः पञ्चऽर्त-

हो। ये सब मन्त्र अग्नि से भी सम्बन्ध रखते हैं और प्रजापति से भी। अग्नि ने इनको देखा, इसलिये अग्नि से और प्रजापति को संतुष्ट किया, इसलिए प्रजापति से ॥३३॥

ये विषम होते हैं। इनके पद और अक्षर भी विषम होते हैं। छन्द विषम होते हैं। अग्नि के जो विषम अंग हैं उनसे उनकी सन्तुष्टि होती है ॥३४॥

पशु पुरोडाश वैश्वानर अग्नि का है। सब अग्नियाँ वैश्वानर हैं। यह सब अग्नियों की प्राप्ति के लिए है ॥३५॥

यह वैश्वानर का क्यों है? ये जितनी चितियाँ हैं, वे ऋतु हैं। अग्नि ऋतु हैं। ऋतु संवत्सर है। संवत्सर वैश्वानर अग्नि है। यदि यह अग्नि का हो तो मर्यादा का उल्लंघन हो जाय। यह पुरोडाश बारह कपालों पर होता है। वर्ष में बारह मास होते हैं और वर्ष वैश्वानर है। याज्य और अनुवाक्य अग्नि के होते हैं, अग्नि के रूपों की प्राप्ति के लिए। उनमें 'काम' शब्द होता है, जिससे कामनाओं की पूर्ति हो सके ॥३६॥

कुछ लोगों ने पशुओं के सिरों को किसी प्रकार प्राप्त करके वहाँ रख दिया, क्योंकि यह पशु ही तो है। परन्तु मनुष्य लाश के समान हो जाते हैं, क्योंकि यह सिर अनाप्रीत हैं (आप्रि-मन्त्रों द्वारा उनको संस्कृत नहीं किया गया)। इसी प्रकार उन्होंने आषाढ़ि सौश्रोमति (कोई मनुष्यविशेष) के लिए किया था, वह मर गया ॥३७॥

कुछ लोग सोने की बनवाते हैं, और कहते हैं कि ये इष्टकायें (ईंटें) अमृत हैं। परन्तु ये अनृत इष्टकायें हैं अर्थात् झूठी। ये पशुओं के सिर नहीं हैं ॥३८॥

कुछ मिट्टी की बनाते हैं। ये पशु मर तो गये ही हैं; जो मर जाता है पृथिवी ही उसका आश्रय होती है। जहाँ ये पशु गये हैं, वहीं से हम इनको प्राप्त करते हैं।

परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। जो इस कार्य को या उसके ब्राह्मण (theory) को नहीं जानता, उसके ये काम नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके इन पाँच पशुओं का आलभन करना चाहिए, क्योंकि प्रजापति ने इनका पहले आलभन किया था, और श्यापर्ण सायकायन ने अन्त में। इन दोनों (कालों) के बीच में भी लोग आलभन करते थे, परन्तु अब केवल दो का ही आलभन होता है—एक प्रजापतिवाले का, और एक वायुवाले का। इन दोनों का ब्राह्मण (theory) आगे सुनाया जायेगा ॥३९॥

अथ प्राजापत्यादिपश्वनुष्ठानसम्प्रदायः

अध्याय २—ब्राह्मण २

चरक लोग प्रजापति के लिए पशु का आलभन करते हैं। प्रजापति ने अग्नि (वेदी) को चिना। वह अग्निरूप हो गया। यह जो प्रजापति के लिए आलभन करता है मानो अग्नि (वेदी) के अन्त तक पहुँच जाता है ॥१॥

यह श्यामवर्ण होता है। श्याम के लोम दो प्रकार के होते हैं—शुक्ल और कृष्ण। दो को मिलाकर प्रजनन करनेवाला जोड़ा होता है। यही प्रजापति का रूप है। यह बिना सींग का होना चाहिये, क्योंकि प्रजापति बिना सींग का है ॥२॥

इसकी सामिधेनियाँ इक्कीस होती हैं। बारह महीने होते हैं, पाँच ऋतुएँ, तीन ये लोक

वस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳश एष प्रजापतिः प्रजापतिरग्निर्यावान-
ग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्समिन्द्धे ॥३॥ यद्वेवैकविꣳशतिः । एकविꣳशो
वै पुरुषो दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविꣳशः पुरुषः प्रजापतिः प्र-
जापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्समिन्द्धे ॥४॥ उभयीर्गायत्रीश्च
त्रिष्टुभश्चान्वाह । तासामुक्तो बन्धुरुत्तम्वेवान्वृचꣳ हिरण्यगर्भवत्याघारमाघारयति
प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतिरग्निर्द्वादशाप्रियस्तासामुक्तो बन्धुरुत्तम्वेवान्वृच
प्राजापत्यः पशुपुरोडाशो य एव पशोर्बन्धुः स पुरोडाशस्य द्वादशकपालो द्वादश
मासाः संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः कद्वत्यो याज्यानुवाक्याः को हि प्रजापतिः
॥५॥ अथैतं वायवे नियुत्वते । शुक्लं तूपरमालभते प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वानुव्यैक्ष-
त तस्यात्यानन्देन रेतः परापतत्सोऽजः शुक्लस्तूपरो लप्सुध्यभवद्रसो वै रेतो
यावानु वै रसस्तावानात्मा तद्यदेतमालभते तदेवाग्नेरन्तं पर्यैति शुक्लो भवति
शुक्लꣳ हि रेतस्तूपरो भवति तूपरꣳ हि रेतो वायवे भवति प्राणो वै वायुर्नि-
युत्वते भवत्युदानो वै नियुतः प्राणोदानावेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥६॥ यद्वेवैतं वायवे
नियुत्वते । शुक्लं तूपरमालभते प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वꣳस्स यो
ऽस्मात्प्राणो मध्यत उदक्रामत्तमस्मिन्नेतेन पशुनादधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति वा-
यवे भवति प्राणो वै वायुर्नियुत्वते भवत्युदानो वै नियुतः प्राणोदानावेवास्मि-
न्नेतद्दधाति शुक्लो भवति शुक्लो हि वायुस्तूपरो भवति तूपरो हि वायुः ॥७॥
तस्य सप्तदश सामिधेन्यः । सप्तदशो वै संवत्सरो द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवः संव-
त्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्समिन्द्धे
॥८॥ यद्वेव सप्तदश । सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चदशो
ग्रीवाः षोडश्यः शिरः सप्तदशं पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य
मात्रा तावतैवैनमेतत्समिन्द्धे ॥९॥ उभयीर्गायत्रीश्च त्रिष्टुभश्चान्वाह । तासामुक्तो

और एक आदित्य। ये २१ प्रजापति होते हैं। प्रजापति अग्नि है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही सामिधेनियाँ हैं ।।३।।

ये इक्कीस इसलिये हैं कि पुरुष २१ अंगोंवाला है—दस हाथ की अंगुलियाँ, दस पैर की और एक आत्मा। इस प्रकार २१ अंग वाला पुरुष प्रजापति है। प्रजापति अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही सामिधेनियाँ हुईं ।।४।।

वह गायत्री और त्रिष्टुभ् दोनों पढ़ता है। उनकी ऋचाओं के क्रमानुकूल व्याख्या हो चुकी। जिस मन्त्र में 'हिरण्यगर्भ' शब्द पड़ा है, उसी मन्त्र से वह आघार आहुति देता है। हिरण्यगर्भ प्रजापति है और प्रजापति अग्नि है। आप्रि-मन्त्र बारह होते हैं। उनका और मन्त्रों के क्रम का कथन हो चुका। पशुपुरोडाश प्रजापति का होता है। यही पशु का सम्बन्ध है। यह बारह कपालों पर होता है। साल में बारह मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। याज्य और अनुवाक में 'क' होता है; क्योंकि 'क' प्रजापति है ।।५।।

अब नियुत्वत् वायु के लिए शुक्ल बकरे का आलभन करता है। प्रजापति ने प्रजा को बनाकर चारों ओर देखा और अति आनन्द के मारे उसका रेत (वीर्य) गिर पड़ा। वह श्वेत, बिना सींग का डाढ़ीवाला बकरा हो गया। वीर्य रस है। जितना रस है उतना आत्म (जीवन) है। जब वह उसका आलंभन करता है तो अग्नि के अन्त तक पहुँच जाता है। यह श्वेत होता है। यह बिना सींग का (तूपर) होता है क्योंकि वीर्य भी बिना सींग के होता है। यह वायु के लिए होता है क्योंकि वायु प्राण है। नियुत्वत् के लिए क्योंकि उदान नियुत्वत् है, इस प्रकार वह उसमें प्राण और उदान की स्थापना करता है ।।६।।

शुक्ल बकरे का आलंभन वायु नियुत्वत् के लिए इसलिए भी किया जाता है कि जब क्षीण प्रजापति को देवताओं ने चंगा किया, तो उसके बीच से जो प्राण निकल गया था उसको उसने उसमें उस पशु के द्वारा स्थापित किया। इसी प्रकार यह भी इसमें इस प्रकार प्राण धारण कराता है। यह वायु के लिए है क्योंकि वायु प्राण है। नियुत्वत् के लिए क्योंकि नियुत्वत् उदान है। इसमें प्राण औरअपान दोनों धारण कराता है। यह शुक्ल होता है क्योंकि वायु शुक्ल है। यह बिना सींग के होता है क्योंकि वायु भी बिना सींग के है ।।७।।

उसकी सामिधेनियाँ सत्रह (१७) होती हैं। संवत्सर १७ वाला है—बारह मास और पाँच ऋतुएँ। संवत्सर प्रजापति है, प्रजापति अग्नि है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही सामिधेनियाँ होनी चाहिएँ ।।८।।

इसलिए भी सत्रह होती हैं—पुरुष सत्रहवाला है—दश प्राण, चार अंग और आत्मा पन्द्रहवाँ, गर्दन सोलहवीं और सिर सत्रहवाँ। पुरुष प्रजापति है। प्रजापति अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही सामिधेनियों से उसको प्रज्वलित करता है ।।९।।

वह गायत्री और अनुष्टुभ् दोनों का पाठ करता है। उनका प्रभाव और क्रम बताया जा

बन्धुरुक्तम्वेवान्वृचं द्वादशाप्रियस्तासामुक्तो बन्धुरुक्तम्वेवान्वृचं प्राजापत्यः पशुपुरोडाशोऽत्रो स काम उपाप्त इति ह स्माह माह्नित्थियं चरकाः प्राजापत्ये पशावाङ्गरिति ॥१०॥ यद्वेव वायव्यः पशुर्भवति । प्राजापत्यः पशुपुरोडाशोऽर्धᳫ ह प्रजापतेर्वायुरर्धं प्रजापतिस्तद्यदुभौ वायव्यौ स्यातामुभौ वा प्राजापत्यावर्धᳫ हैवास्य कृतᳫ स्यान्नार्धमथ यद्वायव्यः पशुर्भवति प्राजापत्यः पशुपुरोडाशस्तेन हैवैतᳫ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिᳫ संस्करोति ॥११॥ यद्वेव वायव्यः पशुर्भवति । प्राजापत्यः पशुपुरोडाशः प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्त यो ऽस्मात्प्राणो मध्यत उदक्रामत्तमस्मिन्नेतेन पशुनादधुरथास्यैतेन पुरोडाशेनात्मानᳫ समस्कुर्वंस्त यत्प्राजापत्यो भवति प्रजापतिर्ह्यात्मा द्वादशकपालो द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः कद्वत्यौ याज्यानुवाक्ये को हि प्रजापतिः ॥१२॥ तद्यद्वपां पुरस्ताज्जुहोति । य एवायं पुरस्तात्प्राणस्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथ यदेतेन मध्यतश्चरन्ति मध्यतो ह्ययमात्माथ यद्धविषोपरिष्टाच्चरन्ति य एवायमुपरिष्टात्प्राणस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शुक्लवत्यौ याज्यानुवाक्याः स्युः शुक्लरूपाणामुपाप्त्यै नियुत्वत्यौ यदेव नियुत्वद्रूपं तस्योपाप्त्यै ॥१३॥ तद्ध वाऽआङ्गः । वपाया एव शुक्लवत्यौ स्यातामितावद्धे पशौ शुक्लं यद्वपाशुक्लवत्यौ नियुत्वत्यौ हविषो यदेव नियुत्वद्रूपं तस्योपाप्त्याऽइति ॥१४॥ यद्वेवैतं पशुमालभते । एतस्मिन्ह पशौ सर्वेषां पशूनाᳫ रूपं यत्तूपरो लप्सुदी तत्पुरुषस्य रूपं तूपरो हि लप्सुदी पुरुषो यत्तूपरः केसरवांस्तदश्वस्य रूपं तूपरो हि केसरवानश्वो यदष्टाशफस्तद्गो रूपमष्टाशफो हि गौरथ यदस्यावेरिव शफास्तदवे रूपं यदजस्तदजस्य तद्यदेतमालभते तेन हैवास्यैते सर्वे पशव आलब्धा भवन्त्यतो यतमदस्य कर्मोपकल्पेतैते वा पञ्च पशव एष वा प्राजापत्य एष वा नियुत्वतीयः ॥१५॥ तं पौर्णमास्यामालभेत । अमावास्यायामालभेतेत्यु हैकऽआङ्गरसौ वै चन्द्रः प्रजापतिः स एताᳫ रात्रिमिह वसति तद्य-

चुका है। बारह आप्रि-मन्त्र होते हैं ? उनका प्रभाव और क्रम बताया जा चुका है। पशुपुरोडाश प्रजापति का है। माहित्थि ने कहा था कि चरक लोगों की प्राजापत्य पशु में जो कामना थी वह इसमें पूरी हो गई ॥१०॥

वायु का पशु और प्रजापति का पुरोडाश क्यों होता है ? प्रजापति का आधा भाग वायु है और आधा प्रजापति। अब अगर दोनों वायु के हों या दोनों प्रजापति के, तो इनका आधा भाग ही पूरा हो, आधा न हो। यह जो पशु वायु का होता है और पुरोडाश प्रजापति का, इससे पूरा प्रजापति पूर्ण हो जाता है ॥११॥

वायु का पशु और प्रजापति का पुरोडाश क्यों होता है ? जब क्षीण हुए प्रजापति को देवों ने चंगा किया, उस समय उसके मध्य से जो प्राण निकला उसको उसने इस पशु के द्वारा ही स्थापित किया, और इसी पुरोडाश से उन्होंने इसके धड़ को पूर्ण किया। यह प्रजापति का इस-लिए है कि धड़ प्रजापति है। बारह कपालों का इसलिए है कि बारह महीने होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। याज्य और अनुवाक में 'क' होता है, क्योंकि 'क' प्रजापति है ॥१२॥

यह जो पहले वपा की आहुति देता है, इससे मानो जो आगे प्राण है उसको प्रजापति में धारण कराता है। और यह जो (पुरोडाश को) बीच में देते हैं, सो यह धड़ तो बीच में ही होता है। और जो पीछे हवि देते हैं मानो प्रजापति में उस प्राण का धारण कराते हैं जो पीछे है। याज्य और अनुवाक्यों में 'शुक्ल' शब्द आना चाहिए, शुक्ल (चमकीले) रूपों की प्राप्ति के लिए। नियुत्वत् शब्द भी आना चाहिए 'नियुत्वत्' रूप की प्राप्ति के लिए (यजुर्वेद अ० २७ मं०२९ से ३४ में शुक्र और नियुत्वत् शब्द आये हैं) ॥१३॥

इस पर कुछ लोगों का कथन है कि वपा के दो मन्त्रों में 'शुक्ल' शब्द होना चाहिए। जितनी ये 'शुक्ल' शब्दवाली ऋचाएँ हैं उतना ही पशु में तेज है। और हवि के मन्त्रों में 'नियुत्वत्' शब्द होना चाहिए, जिससे प्रजापति के 'नियुत्वत्' रूप की प्राप्ति हो सके ॥१४॥

पशु का आलभन इसलिए करते हैं, क्योंकि इस पशु में सब पशुओं का रूप है। यह जो डाढ़ी नहीं और सींग नहीं, यह पुरुष का रूप है। यह जो डाढ़ी नहीं और गर्दन के बाल (अयाल) हैं, वह अश्व का रूप; घोड़े के डाढ़ी नहीं होती, अयाल होते हैं और आठ खुर भी; आठ खुर बैल के होते हैं, इसलिए यह बैल का रूप है। उसके खुर अवि अर्थात् भेड़ के-से हैं, इसलिए वह भेड़ का रूप है, और अज तो है ही। और जो आलभन करता है उससे मानो सभी पशुओं का आलभन हो जाता है, जैसी उनकी इच्छा हो; या तो पाँचों पशुओं का अलग-अलग आलभन किया जाय या एक प्रजापति के लिए पशु का या एक नियुत्वत् के लिए पशु का ॥१५॥

उसका आलभन पूर्णमासी के दिन करना चाहिए। कुछ कहते हैं कि अमावस्या के दिन आलभन करना चाहिए। वह चन्द्र प्रजापति है। वह प्रजापति अमावस्या की रात को इसी पृथिवी

थोपतिष्ठेत्तमालभेतैवं तदिति ॥१६॥ तद्वै पौर्णमास्यामेव । असौ वै चन्द्रः पशु-
स्तं देवाः पौर्णमास्यामालभन्ते यत्रैनं देवा आलभन्ते तदेनमालभाऽइति तस्मा-
त्पौर्णमास्यां यद्वेव पौर्णमास्यां पौर्णमासी ह वाव प्रथमा व्युवास तस्माद्वेव पौ-
र्णमास्याम् ॥१७॥ तद्वै फाल्गुन्यामेव । एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फा-
ल्गुनी पौर्णमासी योत्तरैषोत्तमा या पूर्वा मुखत एव तत्संवत्सरमारभते ॥१८॥
स वाऽइष्ट्वैव पौर्णमासेन । अथ पशुमालभेत पौर्णमासेन वाऽइन्द्रो वृत्रं पा-
प्मानꣳ हत्वापहतपाप्मैतत्कर्मारभत तथैवैतद्यजमानः पौर्णमासेनैव वृत्रं पाप्मा-
नꣳ हत्वापहतपाप्मैतत्कर्मारभते ॥१९॥ तद्वाऽउपाꣳशु भवति । एतद्वैतैः प्रजा-
पतिः पशुभिः कर्मैयेष तद्वात्रानद्धेवैवासानिरुक्तमिव तस्मादुपाꣳशु ॥२०॥ यद्वे-
वोपाꣳशु । प्राजापत्यं वाऽएतत्कर्म प्रजापतिꣳ ह्येतेन कर्मणारभतेऽनिरुक्तो वै
प्रजापतिः ॥२१॥ यद्वेवोपाꣳशु । रेतो वाऽअत्र यज्ञ उपाꣳशु वै रेतः सिच्यते
वपा पशुपुरोडाशो हविरेतावान्हि पशुः ॥२२॥ अष्टकायामुखाꣳ सम्भरति ।
प्राजापत्यमेतदहर्यदष्टका प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा प्राजापत्यऽएव तदहन्प्राजा-
पत्यं कर्म करोति ॥२३॥ यद्वेवाष्टकायाम् । पर्वैतत्संवत्सरस्य यदष्टका पर्वैतदग्ने-
र्यदुखा पर्वण्येव तत्पर्व करोति ॥२४॥ यद्वेवाष्टकायाम् । अष्टका वाऽउखा नि-
धिर्ह्याऽउद्धी तिरश्ची रास्ना तच्चतुश्चतस्र ऊर्ध्वास्तदष्टावष्टकायामेव तदष्टकां करोति
॥२५॥ ॥शतम्३५००॥ अमावास्यायां दीक्षते । अमावास्यायै वाऽअधि यज्ञस्ता-
यते यतो यज्ञस्तायते ततो यज्ञं जनयानीति ॥२६॥ यद्वेवामावास्यायाꣳ । रेतो
वाऽएतद्भूतमात्मानꣳ सिञ्चत्युखायां योनौ यद्दीक्षते तस्माऽएतं पुरस्ताल्लोकं करो-
ति यद्दीक्षितो भवति तं कृतं लोकमभि जायते तस्मादाहुः कृतं लोकं पुरुषो
ऽभि जायतऽइति ॥२७॥ स यत्कनीयः संवत्सराद्दीक्षितः स्यात् । अलोका इष्ट-
का उपदध्यादिष्टका लोकानतिरिच्येरन्नथ यद्भूयसो लोकान्कृत्वेष्टका नानूपदध्या-

पर रहता है। इसलिए यहीं ठहरे हुए के लिए आलभन करना चाहिए ॥१६॥

परन्तु उसका पूर्णमासी को ही आलभन करना चाहिए। यह चन्द्र ही पशु है और देव चन्द्र को ही पूर्णमासी के दिन आलभन करते हैं। वह सोचता है कि जब देव आलभन करते हैं तभी मैं भी आलभन करूँ। इसलिए पूर्णमासी के दिन ही आलभन करते हैं। पूर्णमासी के दिन क्यों? पूर्णमासी ही पहले प्रकट हुई थी, इसलिए पूर्णमासी के दिन ही ॥१७॥

फाल्गुनी के दिन ही। यही वर्ष की पहली रात है, जो फाल्गुनी पूर्णमासी है। जो पिछली है वह पिछले साल का अन्त है। इस प्रकार वह वर्ष के मुख (आरम्भ) से ही आरम्भ करता है ॥१८॥

पूर्णमासी की इष्टि के पीछे ही पशु का आलभन करे। पूर्णमासी को ही इन्द्र ने पापी वृत्र को मारकर पृथिवी को पापरहित किया था। इसी प्रकार यह यजमान भी पूर्णमासी को पापी वृत्र को मारकर पृथिवी को पापरहित करना चाहता है ॥१९॥

वह मौन होकर किया जाता है। क्योंकि जब प्रजापति ने इन पशुओं द्वारा यह कर्म किया, तब वह व्यक्त न था, अव्यक्त ही था। इसलिए मौन होकर किया जाता है ॥२०॥

मौन होकर इसलिए भी कि यह कर्म प्रजापति का है। इस कर्म से प्रजापति का आरम्भ करता है और प्रजापति अव्यक्त है ॥२१॥

मौन होकर इसलिए भी कि इस यज्ञ में रेत(वीर्य)है और वीर्य मौन होकर सींचा जाता है; वपा, पुरोडाश, और हवि —यही सब पशु है ॥२२॥

आठवीं तिथि को उखा की तैयारी करता है। यह जो आठवीं तिथि है, वह प्रजापति की है। यह जो उखा है वह भी प्रजापति का काम है। इसीलिए उसी दिन प्रजापति का काम करता है ॥२३॥

आठवीं तिथि को इसलिए भी कि यह जो आठवीं तिथि है, वह संवत्सर का एक पर्व (पोरा) है। उखा अग्नि का एक पर्व है। वह पर्व में ही पर्व की स्थापना करता है ॥२४॥

आठवीं तिथि को इसलिए भी कि उखा के आठ भाग हैं। नीचे का भाग, दो बाजू और बीच का भाग ये चार हुए, और चार सीधी पट्टियाँ, ये आठ हुईं। इस प्रकार वह आठवाली चीज की आठवाली चीज में स्थापना करता है ॥२५॥

अमावस्या के दिन दीक्षा लेता है। अमावस्या के दिन ही यज्ञ आरम्भ हुआ था। जिस दिन यज्ञ आरम्भ हुआ था, उसी दिन यज्ञ का आरम्भ करता है ॥२६॥

अमावस्या के दिन इसलिए भी कि यह जो दीक्षा लेता है वह मानो उखारूपी योनि में अपने आत्मारूपी वीर्य को सींचता है। जब दीक्षित हो जाता है तो आमने-सामने एक लोक बनाता है और उसी स्वरचित लोक में उत्पन्न होता है। इसीलिए तो कहते हैं कि मनुष्य जिस लोक को बनाता है उसी में उत्पन्न होता है ॥२७॥

यदि वर्ष से पहले ही दीक्षित हो जाय तो ईंटों को बिना समय-विभाग के रखता है, अर्थात् ईंटें समय-विभाग से अधिक हो जाती हैं। यदि समय-विभाग अधिक हो तो ईंटें कम पड़ जायँ।

ल्लोका इष्टका अतिरिच्येरन्नथ यदमावास्यायां दीक्षित्वामावास्यायां क्रीणाति त-
द्यावन्तमेव लोकं करोति तावतीरिष्टका उपदधात्यथास्यापूर्यमाणपक्षे सर्वोऽग्नि-
श्चीयते ॥२८॥ तदाहुः । यद्यावत्य एतस्याग्नेरिष्टकास्तावन्ति क्रयेऽहोरात्राणि स-
म्पद्यन्तेऽथ यान्यूर्ध्वानि क्रयादहानि कथमस्य ते लोका अनूपहिता भवन्तीति
यद्वाऽअमावास्यायां दीक्षित्वामावास्यायां क्रीणाति तद्यावन्तमेव लोकं करोति
तावतीरिष्टका उपदधात्यथ यान्यूर्ध्वानि क्रयादहानि तस्मिन्नवकाशेऽध्वर्युरग्निं चि-
नोति द्वौ हि चिनुयान्न च सोऽवकाशः स्याद्यावन्ति वै संवत्सरस्याहोरात्राणि
तावत्य एतस्याग्नेरिष्टका उप च त्रयोदशो मासस्त्रयोदशो वाऽएष मासो यान्यू-
र्ध्वानि क्रयादहानि तद्या अमूस्त्रयोदशस्य मास इष्टकास्ताभिरस्य ते लोका अनू-
पहिता भवन्ति तत्समा लोकाश्चेष्टकाश्च भवन्ति ॥२९॥ एतद्वै येव प्रथमा पौर्ण-
मासी । तस्यां पशुमालभते या प्रथमाष्टका तस्यामुखाᳪं सम्भरति या प्रथमामा-
वास्या तस्यां दीक्षतऽएतद्वै यान्येव संवत्सरस्य प्रथमान्यहानि तान्यस्य तदारभते
तानि च तदाप्नोत्यथातः सम्पदेव ॥३०॥ तदाहुः । कथमस्यैतत्कर्म संवत्सरमग्नि-
माप्नोति कथᳪं संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यतऽइत्येतेषां वै पञ्चानां पशूनां चतुर्विᳪं-
शतिः सामिधेन्यो द्वादशाप्रियस्तत्षट्त्रिᳪंशदेकादशानुयाजा एकादशोपयजस्तदष्टा-
पञ्चाशत् ॥३१॥ ततो याष्टाचत्वारिᳪंशत् । साष्टाचत्वारिᳪंशदक्षरा जगतीयं वै
जगत्यस्याᳪं हीदᳪं सर्वं जगदियमु वाऽअग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते यावानग्नि-
र्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥३२॥ यद्वेवाष्टाचत्वारिᳪंशत् । अष्टाचत्वारिᳪंशद-
क्षरा वै जगती जगती सर्वाणि छन्दाᳪंसि सर्वाणि छन्दाᳪंसि प्रजापतिः प्रजापति-
रग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥३३॥ अथ यानि दश । सा दशा-
क्षरा विराड्विराडग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य
मात्रा तावत्तद्भवति ॥३४॥ वपा पशुपुरोडाशः । तत्षष्टिः षष्टिर्मासस्याहोरात्राणि

यदि अमावस्या को दीक्षा लेकर अमावस्या के दिन ही (सोम का) क्रय करता है तो जितना समय-विभाग है उतनी ही ईंटें रखता है। जब अग्नि का पक्ष पूरा हो गया तो सब अग्नि चिन जाती है (तात्पर्य यह है कि वर्ष-भर का ईंटों का हिसाब है। कम-बढ़ होने में वह हिसाब बिगड़ जाता है, इसीलिए अमावस्या के दिन ही दीक्षा होनी चाहिए। यही प्रश्न था कि अमावस्या के दिन क्यों हो। इसी का यह एक उत्तर है) ॥२८॥

इस पर प्रश्न होता है कि अगर सोमक्रय के समय जितनी ईंटें हैं उतने ही दिन-रात हैं, तो क्रय के पीछे जितने दिन बचते हैं उनमें वह स्थान क्यों नहीं पूरित होता? इसका उत्तर यह है कि जब अमावस्या के दिन दीक्षित होकर ठीक साल-भर बाद उसी अमावस्या को सोमक्रय करता है, तो वह उतनी ही ईंटें लगाता है जितना स्थान होता है। और सोमक्रय के पश्चात् जो दिन रहते हैं उस अवकाश में अध्वर्यु अग्नि चिनता है। यदि वह अवकाश न होता तो कब चिनता? जितने साल के दिन-रात होते हैं उतनी ही इस अग्नि की ईंटें होती हैं। अब तेरहवाँ महीना आता है। यह तेरहवाँ महीना है, अब सोमक्रय करने के पीछे जो दिन बचते हैं अर्थात् तेरहवें मास के उन दिनों में वह उस अवकाश को भर लेता है। इस प्रकार अवकाश और ईंटें एक-सी हो जाती हैं ॥२९॥

इस प्रकार जो पहली पूर्णमासी होती है, उसमें पशु का आलभन करता है। जो पहली अष्टमी होती है उसमें उखा बनाता है। जो पहली अमावस्या होती है उसमें दीक्षा लेता है। इस प्रकार वर्ष में जो प्रथम (मुख्य) दिन होते हैं उनको वह उस अग्नि के लिए प्राप्त कर लेता है। अब इसका परिमाण कितना हो?—॥३०॥

इसके विषय में कहते हैं—इसका यह कर्म अग्निरूपी संवत्सर को किस प्रकार प्राप्त कराता है? संवत्सररूपी अग्नि से किस प्रकार जोड़ खाता है? इन पाँच पशुओं की चौबीस सामिधेनियाँ होती हैं, बारह आप्रि-मन्त्र होते हैं, ये ३६ हुए। ११ अनुयाज हुए, ११ उपयाज। ये हो गये ४८ ॥३१॥

इनमें जो ४८ हैं, यह जगती ४८ अक्षर की होती है। यह पृथिवी ही जगती है। इसी में यह सब जगत् है। यही पृथिवी अग्नि है। इसी के लिए सब अग्नि चिनी जाती है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह परिमाण हो जाता है ॥३२॥

इसलिए भी अड़तालीस होती हैं, जगती ४८ अक्षर की होती है। जगती सब छन्द हैं। सब छन्द प्रजापति हैं। प्रजापति अग्नि है। जितना अग्नि है, उतनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह भी हो जाता है ॥३३॥

ये जो दस रहे, दस अक्षर का विराट् छन्द होता है। विराट् अग्नि है। दस दिशाएँ हैं, दिशाएँ अग्नि हैं। दस प्राण हैं, प्राण अग्नि हैं। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना हो जाते हैं ॥३४॥

वपा और पशुपुरोडाश, ये साठ हो गये। साठ ही महीने के दिन-रात होते हैं। इससे

तन्मासमाप्नोति मास आप्त ऋतुमाप्नोत्यृतुः संवत्सरं तत्संवत्सरमग्निमाप्नोति ये च संवत्सरे कामा अथ यदतोऽन्यद्यदेव संवत्सरेऽन्नं तत्तत् ॥३५॥ अथैतस्य प्राजापत्यस्य । एकविꣳशतिः सामिधेन्यो द्वादशाप्रियस्तत्त्रयस्त्रिꣳशदेकादशानुयाजा एकादशोपयजा तत्पञ्चपञ्चाशद्वपा पशुपुरोडाशो हविस्तदष्टापञ्चाशत्स योऽष्टापञ्चाशति कामोऽत्रैव तमाप्नोति द्वावाघारौ तत्षष्टिः स यः षष्ट्यां कामोऽत्रैव तमाप्नोत्यथ यदतोऽन्यद्यदेव संवत्सरेऽन्नं तत्तत् ॥३६॥ अथैतस्य नियुत्वतीयस्य । सप्तदश सामिधेन्यो द्वादशाप्रियस्तदेका न त्रिꣳशदेकादशानुयाजा एकादशोपयजास्तदेकपञ्चाशद्वपा पशुपुरोडाशो हविस्तच्चतुष्पञ्चाशद्द्वावाघारौ द्वौ स्विष्टकृतौ तदष्टापञ्चाशत्स योऽष्टापञ्चाशति कामोऽत्रैव तमाप्नोति वनस्पतिश्च वसाहोमश्च तत्षष्टिः स यः षष्ट्यां कामोऽत्रैव तमाप्नोत्यथ यदतोऽन्यद्यदेव संवत्सरेऽन्नं तत्तदेवमु हास्यैतत्कर्म संवत्सरमग्निमाप्नोत्येवꣳ संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यते ॥३७॥ तदाहुः । नैतस्य पशोः समिष्टयजूꣳषि जुहुयान्न हृदयशूलेनावभृथमभ्यवेयादारम्भो वाऽएषोऽग्नेः पशुर्व्यवसर्गो देवतानाꣳ समिष्टयजूꣳषि सꣳस्थावभृथो नेदारम्भे देवता व्यवसृजानि नेद्यज्ञꣳ सꣳस्थापयानीति स वै समेव स्थापयेदेतेन पशुनेष्ट्वा तत्प्रजापतिरपश्यद्यथैतस्याग्निरन्तं न पर्यैत्तस्मात्सꣳस्थापयेद्यद्वेव सꣳस्थापयति प्राण एष पशुस्तस्य यदन्तरियात्प्राणस्य तदन्तरियाद्यद्वु वै प्राणस्यान्तरियात्तत एवं म्रियेत तस्मात्समेव स्थापयेदथातो व्रतानामेव ॥३८॥ तदाहुः । नैतेन पशुनेष्ट्वोपरि शयीत न माꣳसमश्नीयान्न मिथुनमुपेयात्पूर्वदीक्षा वाऽएष पशुरनवक्लृप्तं वै तद्यद्दीक्षित उपरि शयीत यन्माꣳसमश्नीयाद्यन्मिथुनमपेयादिति नेत्त्वेवैषा दीक्षा नैव हि मेखलास्ति न कृष्णाजिनमिष्टकां वाऽएतां कुरुते तस्माद्उ काममेवोपरि शयीतैतद्उ सर्वमन्नं यदेते पशवस्तदस्यात्राप्तमारब्धं भवति तद्यानि कानि चामधुनोऽशनानि तेषामस्य सर्वेषां कामाशनं यदि लभेत मिथुनं तु नोपेयात्पुरा

मास को प्राप्त करता है। मास को प्राप्त करके ऋतु को प्राप्त करता है, ऋतु से संवत्सर को, फिर अग्निरूपी संवत्सर को; ये जो वर्ष में कामनाएँ हैं, उनको भी और इनसे अतिरिक्त वर्ष में जो अन्न है उसको भी ।।३५।।

प्रजापति के (पशु के) लिए २१ सामिधेनियाँ होती हैं और १२ आप्रि-मन्त्र, ये हुईं ३३। ११ अनुयाज, ११ उपयाज, ये हुए ५५। वपा, पशुपुरोडाश और हवि, ये हुए ५८। ये जो ५८ में कामनाएँ हैं, उनको प्राप्त करता है। दो आघार, ये साठ हुईं। ये जो साठ में कामनाएँ हैं उनको भी और इनके अतिरिक्त जो कुछ अन्न है उसको भी ।।३६।।

अब इस नियुत्वत् के लिए १७ सामिधेनियाँ और १२ आप्रि-मन्त्र, ये हुए २९। ११ अनुयाज, ११ उपयाज, ये हुए ५१। वपा, पशुपुरोडाश, और हवि, ये हुए ५४। दो आघार, दो स्विष्टकृत्, ये हुए ५८। इन अट्ठावन में जो अभिलाषाएँ हैं, उनको प्राप्त करता है। वनस्पति और वसा होम, ये साठ हुए। जो ६० में कामनाएँ हैं, उनको प्राप्त करता है; और जो वर्ष में इससे अधिक अन्न है उसको भी। उसका यह कर्म संवत्सररूपी अग्नि को प्राप्त करता है; संवत्सर-रूपी अग्नि से सम्पन्न होता है ।।३७।।

इस पर कहते हैं कि इस पशु की समष्टि-यजुओं से आहुति न दे और न हृदयशूल को लेकर अवभृथ स्नान करने जाय। क्योंकि यह पशु तो अग्नि का आरम्भ मात्र है। समष्टि-यजुओं से तो देवताओं का विसर्जन होता है। अवभृथ स्नान यज्ञ का अन्तिम भाग है। कहीं ऐसा न हो कि आरम्भ में ही देवता विदा हो जायें, और यज्ञ समाप्त हो जाय। परन्तु यज्ञ को यहीं समाप्त कर देना चाहिए। पशु से यज्ञ करके प्रजापति ने देखा कि वह अग्नि के अन्त को प्राप्त नहीं कर सका। इसलिए यज्ञ को पूर्ण ही कर देना चाहिए। वह समाप्त क्यों करता है? यह पशु प्राण है। यदि इसके बीच में कोई अन्तर हो जाय, तो इसके और प्राण के बीच में अन्तर हो जायगा और वह मर जायगा। इसलिए इसको समाप्त ही कर देना चाहिए। अब व्रतों के विषय में—।।३८।।

इस पर लोग कहते हैं कि इस पशु-यज्ञ को करके न तो खाट पर सोये, न मांस खाये और न मैथुन करे। यह पशु तो पहली ही दीक्षा है। बड़ा अनुचित होगा अगर दीक्षित पुरुष खाट पर सोये या मांस खाये। परन्तु न तो यह दीक्षा है, न मेखला, न कृष्णाजिन। यह तो केवल एक ईंट की स्थापना है। इसलिए अपनी इच्छा के अनुकूल सोवे और जो कुछ अन्न पशु खाते हैं वह सब उसको प्राप्त होता है। और मधु को छोड़कर अन्य जो कुछ खाद्य वस्तुएँ हैं, उन सबको इच्छा-

मैत्रावरुण्ये पयस्यायै तस्योपरि बन्धुः ॥३९॥ तदाहुः । दद्यादेतस्मिन्यज्ञे दक्षिणां नेन्मेऽयं यज्ञोऽदक्षिणोऽसद्ब्रह्मणाऽआदिष्टदक्षिणां दद्याद्ब्रह्मा वै सर्वो यज्ञस्तदस्य सर्वो यज्ञो भिषज्ज्यितो भवतीति न तथा कुर्यादिष्टकां वाऽएतां कुरुते तस्यैवेष्टकायामिष्टकायां दद्यात्तादृक्तदमुर्वैव दद्याद्यदस्योपकल्पेत ॥४०॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२. २.] ॥ ॥

एतद्वै देवा अब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तेषां चेतयमानानां प्रजापतिरिमां प्रथमाᳬ स्वयमातृण्णां चितिमपश्यत्तस्मात्तां प्रजापतिनोपदधाति ॥१॥ तमग्निरब्रवीत् । उपाहमायानीति केनेति पशुभिरिति तथेति पशुमिष्टकया ह तदुवाचैषा वाव पश्विष्टका यद्दूर्वेष्टका तस्मात्प्रथमायै स्वयमातृण्णायाऽअनन्तर्हिता दूर्वेष्टकोपधीयते तस्मादस्याऽअनन्तर्हिता ओषधयोऽनन्तर्हिताः पशवोऽनन्तर्हितोऽग्निरनन्तर्हितो ह्येष एतयोपैत् ॥२॥ तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमेवेति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति तेषां चेतयमानानामिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा चान्तरिक्षं द्वितीयाᳬ स्वयमातृण्णां चितिमपश्यंस्तस्मात्तामिन्द्राग्निभ्यां च विश्वकर्मणा चोपदधाति ॥३॥ तान्वायुरब्रवीत् । उपाहमायानीति केनेति दिग्भिरिति तथेति दिश्याभिर्ह तदुवाच तस्माद्द्वितीयायै स्वयमातृण्णाया ऽअनन्तर्हिता दिश्या उपधीयन्ते तस्मादन्तरिक्षादनन्तर्हिता दिशोऽनन्तर्हितो वायुरनन्तर्हितो ह्येष एताभिरुपैत् ॥४॥ तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमेवेति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति तेषां चेतयमानानां परमेष्ठी दिवं तृतीयाᳬ स्वयमातृण्णां चितिमपश्यत्तस्मात्तां परमेष्ठिनोपदधाति ॥५॥ तमसावादित्योऽब्रवीत् । उपाहमायानीति केनेति लोकम्पृणयेति तथेत्येष वाव लोकम्पृणात्मना ह्येव तदुवाच तस्मात्तृतीया स्वयमातृण्णानन्तर्हिता लोकम्पृणायाऽउपधीयते तस्मादसावादित्योऽनन्तर्हितो दिवोऽनन्तर्हितो ह्येष एतयोपैत् ॥६॥ तदेता वाव

अनुसार खा सकता है। परन्तु मित्रावरुण को दही की आहुति दिये बिना मैथुन न करे। इसका विवरण आगे आयेगा ॥३९॥

इस पर कहते हैं कि इस यज्ञ में दक्षिणा दे, जिससे कहीं यज्ञ दक्षिणा-शून्य न हो जाय। ब्रह्मा को नियत दक्षिणा दे; क्योंकि ब्रह्मा ही पूरा यज्ञ है। इस प्रकार समस्त यज्ञ चंगा हो जाता है। ऐसा न करे, क्योंकि यह तो एक ईंट है। इसका अर्थ यह होगा कि हर ईंट के साथ दक्षिणा दी जाय। इसलिए उचित समय पर जितनी हो सके देवे ॥४०॥

चितीनामृषिदेवतासम्बन्धेनोत्पत्तिप्रकारः

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अब देवों ने कहा, "चेतयध्वम्।" इसका अर्थ था कि चिति अर्थात् तह की स्थापना करो। जब देव चिति की स्थापना के विषय में सोच रहे थे, उस समय प्रजापति ने इस पृथिवी को पहली तह के रूप में देखा। इसलिए प्रजापति द्वारा ही वह इस ईंट की स्थापना करता है ॥१॥

अग्नि ने उससे कहा, "मैं तेरे पास आ जाऊँ।" "किसके साथ?" "पशुओं के साथ।" "अच्छा।" इसका तात्पर्य है कि पशु-ईंट के साथ। पश्विष्टका वही है जो दूर्वेष्टका। इसलिए दूर्वेष्टका रखते हैं जिससे पहली छिद्रयुक्त ईंट के साथ इसका स्वाभाविक सम्पर्क हो। इसलिए पृथिवी से वृक्षों, पशुओं और अग्नि का सम्पर्क होता है, क्योंकि अग्नि से और पृथिवी से इसी ईंट द्वारा सम्पर्क हुआ ॥२॥

उन्होंने कहा, "चेतयध्वमेव" अर्थात् चिति की और स्थापना करो, यहाँ से ऊपर की ओर बनाओ। जब वे चिति लगा रहे थे तो इन्द्र, अग्नि और विश्वकर्मा ने अन्तरिक्ष को दूसरी छिद्र-युक्त ईंट देखा। इसलिए इन्द्र, अग्नि और विश्वकर्मा के द्वारा वह उस ईंट का चयन करता है ॥३॥

वायु ने कहा, "मैं तेरे पास आ जाऊँ।" "किसके साथ?" दिशाओं के साथ।" "अच्छा।" इसका तात्पर्य था दिशाओं की ईंटों के साथ। इसलिए दूसरी स्वाभाविक छिद्रयुक्त ईंट के साथ दिशाओं की ईंटें रक्खी जाती हैं, मिली-जुली। इसलिए दिशाओं से अन्तरिक्ष मिला रहता है और वायु भी मिली रहती है, क्योंकि वायु इसी ईंट के साथ मिला था ॥४॥

उन्होंने कहा, "और चिति बनाओ।" इसका तात्पर्य यह है कि "एक और तह बनाओ। ऊपर की ओर बनाओ।" जब वे चिति बना रहे थे, तो परमेष्ठी ने द्यौलोक को तीसरी छिद्रयुक्त ईंट देखा। इसलिए परमेष्ठी के द्वारा ही वह ईंट को लाता है ॥५॥

उस आदित्य ने उससे कहा, "मैं पास आऊँ।" किसके साथ?" "लोकम्पृणा" अर्थात् "लोक को भरनेवाली के साथ।" "अच्छा।" यह आदित्य ही लोक को भरनेवाला है। इससे उसका तात्पर्य था अपने ही साथ। इसलिए तीसरी छिद्रयुक्त ईंट इस प्रकार रखी जाती है कि लोकम्पृणा अर्थात् आदित्य से सम्पर्क रहे। इसलिए वह आदित्य द्यौलोक से अलग नहीं होता, क्योंकि उससे मिलकर ही तो वह ईंट के पास आया ॥६॥

षड् देवताः । इदꣳ सर्वमभवन्यदिदं किं च ते देवाश्चऽर्षयश्चाब्रुवन्निमा वाव षड्
देवता इदꣳ सर्वमभूवन्नुप तज्जानीत यथा वयमिहाप्यसामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्व-
मिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथा वयमिहाप्यसामेति तेषां चेत-
यमानानां देवा द्वितीयां चितिमपश्यन्नृषयश्चतुर्थीम् ॥७॥ तेऽब्रुवन् । उप वय-
मायामेति केनेति यदेषु लोकेषूपेति तथेति तद्यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरि-
क्षात्तेन देवा उपायंस्तदेषा द्वितीया चितिरथ यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तेनऽ
र्षय उपायंस्तदेषा चतुर्थी चितिः ॥८॥ ते यदब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छ-
तेति वाव तदब्रुवन्यच्चेतयमाना अपश्यंस्तस्माच्चितयः ॥९॥ प्रजापतिः प्रथमां चि-
तिमपश्यत् । प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयं देवा द्वितीयां चितिमपश्यन्देवा एव त-
स्या आर्षेयमिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यंस्तऽएव तस्या आर्षेय-
मृषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या आर्षेयं परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत्प-
रमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयꣳ स यो हैतदेवं चितीनामार्षेयं वेदार्षेयवत्यो हास्य बन्धु-
मत्यश्चितयो भवन्ति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [२. ३.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [३७.] ॥ ॥

एतद्वै देवा अब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तेषां चेत-
यमानानाꣳ सवितैतानि सावित्राण्यपश्यद्यत्सवितापश्यत्तस्मात्सावित्राणि स ए-
तामष्टागृहीतामाकूतिमजुहोत्ताꣳ हुत्वेमामष्टधाविहितामषाढामपश्यत्पुरैव सृष्टाꣳ
सतीम् ॥१॥ ते यदब्रुवन् चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्यच्चेतयमा-
ना अपश्यंस्तस्माच्चितिराकूतिर्वै यज्ञो यदिष्ट्वापश्यत्तस्मादिष्टका ॥२॥ तां वाऽए-
ताम् । एकाꣳ सतीमष्टागृहीतामष्टाभिर्यजुर्भिर्जुहोति तस्मादियमेका सत्यष्टधावि-
हिता ॥३॥ तामूर्ध्वामुद्गृह्णञ्जुहोति । इमाꣳ तदूर्ध्वाꣳ रूपैरुद्गृह्णाति तस्मादियमूर्ध्वा
रूपैः ॥४॥ ताꣳ संततां जुहोति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इह रक्षाꣳसि ना-
ष्ट्रा नान्ववेयुरिति तऽएतꣳ संततहोममपश्यन्रक्षसां नाष्ट्राणामनन्ववायनाय त-

ये छः देवता ही समस्त सृष्टि हैं। देवों और ऋषियों ने कहा, "ये छः देवता ही सृष्टि में सब-कुछ हो गए। हमको कैसे भाग मिले ?" उन्होंने कहा "चेतयध्वम्" इसका तात्पर्य था कि एक तह की इच्छा करो और यह भी कोशिश करो कि हमारा भाग कैसे मिले। जब वे चिन्तन कर रहे थे तो देवों ने दूसरी और ऋषियों ने चौथी तह देखी ॥७॥

उन्होंने कहा, "हम निकट आवें।" "किसके साथ ?" "उसके साथ जो इन लोकों के ऊपर है।" "अच्छा।" यह जो पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष के नीचे है उसके द्वारा देव निकट पहुँचे, यही दूसरी चिति है। जो अन्तरिक्ष से ऊपर और द्यौलोक के नीचे है उसके द्वारा ऋषियों ने समीपता प्राप्त की, यह चौथी चिति थी ॥८॥

जब उन्होंने कहा, "चेतयध्वम्" (चिन्तन करो) तो उनका तात्पर्य था "चितिं इच्छथ" चिति या तह की इच्छा करो। चूँकि चिन्तन करके उन्होंने इनको खोजा, इसलिए इनका नाम चिति हुआ ॥९॥

प्रजापति ने पहली चिति को देखा। प्रजापति उसका अवश्य ही ऋषि 'द्रष्टा' है। देवों ने दूसरी चिति को देखा। उसके ऋषि (द्रष्टा) देव हैं। विश्वकर्मा ने तीसरी चिति को देखा। विश्वकर्मा उसका ऋषि या द्रष्टा है। ऋषियों ने चौथी चिति को देखा। ऋषि उसके द्रष्टा हुए। परमेष्ठी ने पाँचवीं चिति को देखा। परमेष्ठी उसका द्रष्टा हुआ। सचमुच जो वेदी की इन चितियों की आर्षेयता को समझता है, उसका चितियों में ऋषित्व, देवत्व तथा बन्धुत्व हो जाता है ॥१०॥

होमः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

देवों ने कहा 'चेतयध्वम्' (चिन्तन करो), इसका तात्पर्य था कि चितियों की इच्छा करो। जब वे चिन्तन करते थे तो सविता ने इन 'सावित्रों' को देखा। सविता ने देखा इसलिए इनका नाम सावित्र हुआ। उसने इस अष्टगृहीत आहुति को देखा। जब वह यह आहुति दे चुका, तो आठ अंगवाली आषाढ़ा (ईंट) को देखा जो पहले से ही बनी हुई थी ॥१॥

उन्होंने कहा, 'चेतयध्वम्।' इसका तात्पर्य था कि चिति की इच्छा करो। चिन्तन करते हुए देखा, इसलिए इसका नाम चिति हुआ। आहुति यज्ञ है। आहुति देकर (इष्ट्वा) देखा इसलिए इसका नाम इष्टका हुआ ॥२॥

इस एक आहुति को वह आठ यजुओं से आहुति देता है। इसलिए यह ईंट भी एक होते हुए आठ हो जाती है ॥३॥

वह (चमसे को) ऊपर उठाकर आहुति देता है। वह इस पृथिवी को इसके रूपों के द्वारा ऊपर को उठाता है। इसलिए यह पृथिवी भी अपने रूपों द्वारा उठी हुई है ॥४॥

वह निरन्तर आहुति देता है। देवों को डर था कि राक्षस दुष्ट लोग हमारे पीछे न आ जायें। उन्होंने इन राक्षस दुष्टों से बचने के लिए होम को देखा। इसलिए—

स्मात्संतता जुहोति ॥५॥ यद्वेवैतामाकूतिं जुहोति । सवितैषो ऽग्निस्तमेतयाकूत्या पुरस्तात्प्रीणाति तमिष्ट्वा प्रीत्वाथैनꣳ सम्भरति तद्यदेतया सवितारं प्रीणाति तस्मात्सावित्राणि तस्माद्वा ऽएतामाकूतिं जुहोति ॥६॥ यद्वेवैतामाकूतिं जुहोति । सवितैषो ऽग्निस्तमेतयाकूत्या पुरस्ताद्धितो भूतꣳ सिञ्चति यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यदेतया सवितारꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति तस्मात्सावित्राणि तस्माद्वा ऽएतामाकूतिं जुहोति ॥७॥ स्रुवश्चात्र स्रुक्च प्रयुज्येते । वाग्वै स्रुक्प्राणः स्रुवो वाचा च वै प्राणेन चैतदग्रे देवाः कर्मान्वैछंस्तस्मात्स्रुवश्च स्रुक्च ॥८॥ यद्वेव स्रुवश्च स्रुक्च । यो वै स प्रजापतिरासीदेष स स्रुवः प्राणो वै स्रुवः प्राणः प्रजापतिरथ या सा वागासीदेषा सा स्रुग्योषा वै वाग्योषा स्रुगथ यास्ता आप आयन्वाचो लोकादेतास्ता यामेतामाकूतिं जुहोति ॥९॥ ताꣳ संततां जुहोति । संतता हि ता आप आयन्नथ यः स प्रजापतिस्त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशदेष स यैरेतद्यजुर्भिर्जुहोति ॥१०॥ तद्यानि त्रीणि प्रथमानि । इमे ते लोका अथ यच्चतुर्थं यजुस्त्रयी सा विद्या जगती सा भवति जगती सर्वाणि छन्दाꣳसि सर्वाणि छन्दाꣳसि त्रयी विद्याथ यानि चत्वार्युत्तमानि दिशस्तानीमे च वै लोका दिशश्च प्रजापतिरथैषा त्रयी विद्या ॥११॥ स जुहोति । युञ्जानः प्रथमं मन इति प्रजापतिर्वै युञ्जानः स मन एतस्मै कर्मणे ऽयुङ्क्त तद्यन्मन एतस्मै कर्मणे ऽयुङ्क्त तस्मात्प्रजापतिर्युञ्जानः ॥१२॥ तत्वाय सविता धिय इति । मनो वै सविता प्राणा धियो ऽग्नेर्ज्योतिर्निचाय्येत्यग्नेर्ज्योतिर्दृष्ट्वेत्येतत्पृथिव्या ऽअध्याभरदिति पृथिव्यै ह्येनदध्याभरति ॥१३॥ युक्तेन मनसा वयमिति । मन एवैतदेतस्मै कर्मणे युङ्क्ते न ह्ययुक्तेन मनसा किं चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुं देवस्य सवितुः सव ऽइति देवेन सवित्रा प्रसूता इत्येतत्स्वर्ग्याय शक्त्येति यथैतेन कर्मणा स्वर्गं लोकमियादेवमेतदाह शक्त्येति शक्त्या हि स्वर्गं लोकमेति ॥१४॥ युक्त्वाय सविता देवानिति । मनो वै

वह निरन्तर आहुति देता है ॥५॥

वह आहुति इसलिए भी देता है कि यह अग्नि सविता है। वह इसको आरम्भ में ही आहुति द्वारा प्रसन्न करता है। उसके लिए यज्ञ करके, उसे प्रसन्न करके उसको इकट्ठा करता है। चूँकि इसी आहुति से वह सविता को भी प्रसन्न करता है, इसलिए इन आहुतियों को सावित्र कहते हैं। इसीलिए वह इस आहुति को देता है ॥६॥

वह इसलिए भी आहुति देता है कि सविता यही अग्नि है। पहले इसको आहुति देकर रेत से सींचता है। योनि में जैसा वीर्य सींचा जाता है, उसी प्रकार की सन्तान होती है। चूँकि इस आहुति द्वारा वह वीर्य के समान सविता को सींचता है, इसलिए इनका नाम सविता है। इसलिए वह इस आहुति को देता है ॥७॥

स्रुवा और स्रुक् दोनों का प्रयोग होता है। वाणी स्रुवा है, स्रुक् प्राण है। वाणी और प्राण दोनों से पहले देवों ने इस कर्म को किया। इसलिए स्रुवा और स्रुक् दोनों हैं ॥८॥

स्रुवा और स्रुक् इसलिए भी हैं कि जो प्रजापति था वही स्रुवा है। प्राण ही स्रुवा है। प्राण प्रजापति है। अब यह जो वाणी थी, वही यह स्रुक् है। वाणी स्त्री है। स्रुक् भी स्त्री है। जो जल वाणी के लोक से आये, यह वही (घी) हैं, जिनसे आहुति देता है ॥९॥

वह निरन्तर आहुति देता है। वे जल भी निरन्तर बहे थे। चूँकि प्रजापति त्रयी विद्या द्वारा जलों में प्रविष्ट हुआ, इसलिए यह भी तीन यजुओं से आहुति देता है ॥१०॥

ये जो पहले तीन हैं वे ये तीन लोक हैं। यह जो चौथा यजु है वह त्रयी विद्या है। वह जगती है। जगती सब छन्द हैं। सब छन्द ही त्रयी विद्या हैं। और जो शेष चार हैं, वे ये दिशाएँ हैं। प्रजापति ही ये लोक और ये दिशाएँ हैं और यह (जगती) ही त्रयी विद्या है ॥११॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"युंजानः प्रथमं मनः" (यजु० ११।१)—"पहले मन को लगानेवाला।" प्रजापति ही 'लगानेवाला'(युंजानः) है। वह इस काम में मन को लगाता है। उसने मन को इस काम में लगाया, इसलिए प्रजापति युंजान है ॥१२॥

"तत्त्वाय सविता धियः।" (यजु० ११।१)—"सविता ने बुद्धियों को तानकर।" मन सविता है। प्राण धियः (बुद्धियाँ) हैं। "अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य।" (यजु० ११।१)—"अग्नि की ज्योति को देखकर।" "पृथिव्या ऽ अध्याभरत्।" (यजु० ११।१)—"पृथिवी से ऊपर को उठाया।" पृथिवी से ही इसको उठाता है ॥१३॥

"युक्तेन मनसा वयम्" (यजु० ११।२)—"हम योग-सम्पन्न मन से।" वह मन को इसमें लगाता है। यदि मन न लगाये तो कोई काम हो ही नहीं सकता! "देवस्य सवितुः सवे" (यजु० ११।२)—"सविता देव के उत्पन्न किये हुए जगत् में।" यह सब जगत् सविता देव से ही प्रसूत है। "स्वर्ग्याय शक्त्या" (यजु० ११।२)—"स्वर्गीय शक्ति से।" इसका तात्पर्य है कि इस शक्ति के द्वारा वह स्वर्ग-लोक को जावे। 'शक्ति से' इसलिए कहा कि शक्ति से ही स्वर्ग-लोक को प्राप्त होता है ॥१४॥

"युक्त्वा सविता देवान्" (यजु० ११।३)—"सविता देवों को युक्त करके।" मन

सविता प्राणा देवाः स्वर्यन्तो धिया दिवमिति स्वर्गꣳ ह्येनांलोकं यतो धियैतस्मै क-
र्मणे युयुजे बृहज्ज्योतिः करिष्यत इत्यसौ वाऽआदित्यो बृहज्ज्योतिरेष उऽएषो
ऽग्निरेतम्वेते संस्करिष्यन्तो भवन्ति सविता प्रसुवाति तानिति सवितृप्रसूता एत
त्कर्म करवन्नित्येतत् ॥१५॥ युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति । मनश्चैवैतत्प्रा-
णांश्चैतस्मै कर्मणे युङ्क्ते विप्रा विप्रस्येति प्रजापतिर्वै विप्रो देवा विप्रा बृहतो
विपश्चित इति प्रजापतिर्वै बृहन्विपश्चिद्धि होत्रा दधऽइति यद्वाऽएष चीयते त-
देष होत्रा विधत्ते चिते ह्येतस्मिन्होत्रा अधिविधीयन्ते वयुनाविदित्येष हीदं
वयुनमविन्ददेक इदित्येको ह्येष इदꣳ सर्वं वयुनमविन्दन्मही देवस्य सवितुः
परिष्टुतिरिति महती देवस्य सवितुः परिष्टुतिरित्येतत् ॥१६॥ युजे वां ब्रह्म पू-
र्व्यं नमोभिरिति । प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यमन्नं नमस्तत्तदेषैवाकृतिरन्नमेतयैव तदा-
कृत्यैतेनान्नेन प्राणानेतस्मै कर्मणे युङ्क्ते वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेरिति यथोभयेषु
देवमनुष्येषु कीर्तिश्लोको यजमानस्य स्यादेवमेतदाह शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पु-
त्रा इति प्रजापतिर्वाऽअमृतस्तस्य विश्वे देवाः पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि त-
स्थुरितीमे वै लोका दिव्यानि धामानि तस्थुऽएषु लोकेषु देवास्तानेतदाह ॥१७॥
यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुरिति । प्रजापतिर्वाऽएतदग्रे कर्माकरोत्तत्ततो देवा अ-
कुर्वन्देवा देवस्य महिमानमोजसेति यज्ञो वै महिमा देवा देवस्य यज्ञं वीर्यमो-
जसेत्येतद्यः पार्थिवानि विममे स एतश इति यद्वै किं चास्यां तत्पार्थिवं तदेष
सर्वं विमिमीते रश्मिभिर्ह्येनदभ्यवतनोति रजाꣳसि देवः सविता महित्वनेतीमे
वै लोका रजाꣳस्यसावादित्यो देवः सविता तानेष महिम्ना विमिमीते ॥१८॥
देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति । असौ वाऽआदित्यो देवः स-
विता यज्ञो भगस्तमेतदाह प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति दिव्यो गन्धर्वः
केतपूः केतं नः पुनात्वित्यसौ वाऽआदित्यो दिव्यो गन्धर्वोऽन्नं केतोऽन्नपूरन्नं नः

सविता है। प्राण देव हैं। "स्वर्यतो धिया दिवम्" (११।३)—"बुद्धि से स्वर्ग या द्यौलोक को जाते हुए।" जो स्वर्गलोक को जा सकते हैं, उनको बुद्धि से इस काम में लगाता है। "बृहज्-ज्योतिः करिष्यतः।" (यजु० ११।३)—"बड़ी ज्योति को पैदा करनेवाला।" यह आदित्य ही बड़ी ज्योति है और वह यह अग्नि है। इसी का वे संस्कार करनेवाले हैं। "सविता प्रसुवाति तान्" (यजु० ११।३)—"सविता इनको प्रेरित करे।" अर्थात् वे सविता की प्रेरणा से यह काम करें ॥१५॥

"युञ्जते मन ऽ उत युञ्जते धियः" (यजु० ११।४)—"मन और प्राण दोनों को कर्म में लगाता है।" "विप्रा विप्रस्य" (यजु० ११।४)—"प्रजापति विप्र है और देव 'विप्रा'।" "बृहतो विपश्चितः" (यजु० ११।४)—"प्रजापति 'बृहत् विपश्चित्' अर्थात् बड़ा ज्ञानी है।" "वि होत्रा दधे" (यजु० ११।४)—जब इस (अग्नि प्रजापति) का चयन हो जाता है, तब वह होताओं को धारण करता है। इसके चयन होने पर ही होताओं की नियुक्ति होती है।" "वयुना-वित्" (यजु० ११।४)—"नियमों को जाननेवाला।" इसी ने नियम को जाना। "एकः इत्" (यजु०११।४)—"यही एक सब नियमों को जानता है।" "मही देवस्व सवितुः परिष्टुतिः।" (यजु० ११।४)—"देव सविता की स्तुति बड़ी है।" वस्तुतः देव सविता की स्तुति बड़ी है ॥१६॥

"युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।"(यजु० ११।१५)पूर्व्यं ब्रह्म 'प्राण' है, नमः अन्न है, यह आहुति अन्न है। इस आहुति और इस अन्न के द्वारा वह प्राणों को इस पवित्र काम में लगाता है। "विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः"(यजु० ११।५)—"देव के मार्ग में यश फैले।" देव और मनुष्य दोनों की कीर्ति यजमान को मिले, इसलिए ऐसा कहता है। "शृण्वन्तु विश्वे ऽ अमृतस्य पुत्राः।" (यजु० ११।५)—"सब अमृतपुत्र सुनें।" प्रजापति अमृत है। सब देव उसके पुत्र हैं। "आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।" (यजु० ११।५)—यह लोक ही दिव्य धाम है और इसमें ये देव उपस्थित हैं, इसलिए ऐसा कहा ॥१७॥

"यस्य प्रयाणमन्वन्य ऽ इद्ययुः" (यजु० ११।६)—"जिसके मार्ग का अन्य देवों ने अनु-सरण किया।" पहले प्रजापति ने इस शुभ कर्म को किया, फिर दूसरे देवताओं ने इसका अनुकरण किया। "देवा देवस्य महिमानमोजसा।" (यजु० ११।६)—"देवों ने आज से देव की महिमा का अनुकरण किया।" यज्ञ ही महिमा है, "देवों ने देव के यज्ञ अर्थात् वीर्य का ओज के द्वारा अनुकरण किया।" "यः पार्थिवानि विममे स ऽ एतशः।" (यजु० ११।६)—"जिसने पार्थिव पदार्थों को नापा, वह तेजस्वी है।" जो कुछ पृथिवी में है वही पार्थिव है। उसको अपनी किरणों से व्याप्त करता है। "रजाँसि देवः सविता महित्वना।" (यजु० ११।६)—"देव सविता ने अपनी महिमा से लोकों को।" ये लोक ही रज हैं। यह आदित्य देव अपनी महिमा से इनको नापता है ॥१८॥

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।" (यजु० ११।७)—"हे देव सविता, यज्ञ को प्रेरणा कर, यज्ञपति को प्रेरणा कर, भग या तेज के लिए।" यह सूर्य ही देव सविता है। यज्ञ भग है। इसलिए कहा कि भग या तेज के लिए यज्ञ और यज्ञपति को प्रेरणा करे। "दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु। (यजु० ११।७)—"दिव्य गन्धर्व और अन्न को पवित्र करनेवाला हमारे केतं या अन्न को पवित्र करे।" यह आदित्य दिव्य गन्धर्व है। केत नाम है अन्न का।

पुनात्वित्येतद्वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदत्विति वाग्वाऽइदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः प्राणो न इदं कर्म स्वदत्वित्येतत् ॥१९॥ इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणयेति । असौ वाऽआदित्यो देवः सविता यद्व वाऽएष यज्ञियं कर्म प्रणयति तदनार्तꣳ स्वस्त्युदृचमश्नुते देवाव्यमिति यो देवानवदित्येतत्सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितमिति य एतत्सर्वं विन्दादित्येतदृचेत्यृचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्तनीति सामानि स्वाहेति यजूꣳषि सैषा त्रयी विद्या प्रथमं जायते यथैवादोऽमुत्राजायतैवमथ यः सोऽग्निरसृज्यतैष स योऽत ऊर्ध्वमग्निश्चीयते ॥२०॥ तान्येतान्यष्टौ सावित्राणि । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्धुतो भूतꣳ सिञ्चति तानि नव भवन्ति स्वाहाकारो नवमो नव दिशो दिशोऽग्निर्नव प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्धुतो भूतꣳ सिञ्चति तानि दश भवन्त्याकूतिर्दशमी दशाक्षरा विराड्विराडग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥२१॥ एतस्यामाकूत्याꣳ हुतायाम् । अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्तं देवा अब्रुवन्पशुर्वाऽअग्निः पशुभिरिममन्विच्छाम स स्वाय रूपायाविर्भविष्यतीति तं पशुभिरन्वैच्छन्त्स स्वाय रूपायाविरभवत्तस्माद्ध्वैतत्पशुः स्वाय रूपायाविर्भवति गौर्वा गवेऽश्वो वाश्वाय पुरुषो वा पुरुषाय ॥२२॥ तेऽब्रुवन् । यद्वै सर्वैरन्वेषिष्यामो यातयामा अनुपजीवनीया भविष्यन्ति यद्युऽअसर्वैरसर्वमनुवेत्स्याम इति तऽएतमेकं पशुं द्वाभ्यां पशुभ्यां प्रत्यपश्यन्रासभं गोश्चाविश्च तद्यदेतमेकं पशुं द्वाभ्यां पशुभ्यां प्रत्यपश्यंस्तस्मादेष एकः सन्द्विरेताः ॥२३। अनड्वापुरुषं पुरुषात् । एष ह वाऽअनड्वापुरुषो यो न देवानवति न पितॄन्न मनुष्यांस्तत्सर्वैर्ह पशुभिरन्वैच्छन्नो यातयामा अनुपजीवनीया अभवन् ॥२४॥ त्रिभिरन्विच्छति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्विच्छति ते पञ्च सम्पदा भवन्ति पञ्चचितिको

'केतपू' का अर्थ है अन्न का शुद्ध करनेवाला। हमारे अन्न को पवित्र करे। "वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु" (यजु० ११।७)—वाग् है यह कर्म, वाचस्पति नाम है प्राण का, "प्राण हमारे इस कर्म को अनुकूल बनावे" ॥१९॥

"इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय" (यजु० ११।८)—यह सूर्य ही देव सविता है। यह जिस यज्ञ कर्म की प्रेरणा करता है, वही कल्याण और सुख का हेतु होता है। "देवाव्यम्" (यजु० ११।८)—"जो देवों को प्रिय हो।" "सखिविदँ सत्राजितं धनजितँ स्वर्जितम्" (यजु० ११।८)—"मित्रों को देनेवाला, सत्र को देनेवाला, धन को जीतनेवाला, स्वर्ग को जीतनेवाला" अर्थात् यह इन सबका लाभ कराता है। "ऋचा स्तोमँ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि" (यजु० ११।८) —"ऋचा से स्तुति को बढ़ा, गायत्र से रथन्तर को, बृहद् को गायत्र छन्द में।" 'स्वाहा' साम है। यजु ! यहाँ त्रयी विद्या उत्पन्न होती है। मानो वह पहले थी और फिर उत्पन्न हुई। यह जो अग्नि उत्पन्न हुई थी वह यही अग्नि है जिसका ऊपर की ओर चयन किया जाता है ॥२०॥

ये आठ सावित्र मन्त्र हुए। आठ अक्षर की गायत्री होती है। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही उसको वीर्य के रूप में सींचता है। ये नौ हो जाती हैं। 'स्वाहा' नवीं होती है। दिशायें नौ होती हैं। दिशायें अग्नि हैं। नौ प्राण होते हैं। प्राण अग्नि हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रायें हैं, उतना ही वह उसको वीर्य के रूप में सींचता है। ये दश होती हैं। दशमी आहुति होती है। विराट् में दश अक्षर होते हैं। विराट् अग्नि है। दश दिशायें हैं। दिशायें अग्नि हैं। दश प्राण हैं। प्राण अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह होता है ॥२१॥

इस आहुति के दिये जाने पर अग्नि देवों के पास से चला गया। उन देवों ने कहा—पशु अग्नि है, पशुओं के द्वारा ही इसको तलाश कर; वह अपने रूप को प्रकट करेगा। उसको पशुओं द्वारा तलाश किया। उसने अपने रूप को प्रकट किया। इसीलिए अब तक पशु अपने ही रूप पर प्रकट होता है। गाय गाय पर, घोड़ा घोड़े पर और मनुष्य मनुष्य पर ॥२२॥

उन्होंने कहा—यदि हम सब पशुओं द्वारा तलाश करें तो जीविका समाप्त हो जायेगी; यदि अधूरे से तलाश करें तो अधूरा (अग्नि) मिलेगा। इसलिए दो पशुओं के बजाय एक पशु लिया, अर्थात् गाय और भेड़ के बदले गधा। चूंकि उन्होंने दो के बजाय एक लिया, इसीलिए (गधा) दुहरे वीर्यवाला होता है (द्विरेताः) ॥२३॥

मनुष्य के स्थान पर अनद्धा (बनावटी पुरुष—लकड़ी आदिक)। अनद्धा पुरुष वह है, जो देवों की रक्षा करे न पितरों की न मनुष्यों की। इस प्रकार उन्होंने सब पशुओं द्वारा तलाश किया परन्तु जीविका की समाप्ति नहीं हुई ॥२४॥

तीन के द्वारा तलाश करता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उसी के अनुकूल उसको तलाश करता है। ये पाँच-पाँच सम्पदायें होती हैं—पाँच चितियों

ऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥२५॥ ते मौञ्जीभिरभिधानीभिरभिहिता भवन्ति । अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्स मुञ्जं प्राविशत्तस्मात्स सुषिरस्तस्माद्वेवान्तरतो धूमरक्त-इव सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जोऽग्निरिमे पशवो न वै योनिर्गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै योनेर्वै जायमानो जायते योनिर्जायमानो जायाताऽइति ॥२६॥ त्रिवृतो भवन्ति । त्रिवृद्ध्यग्निरश्वाभिधानीकृता भवन्ति सर्वतो वाऽअश्वाभिधानी मुखं परिशेते सर्वतो योनिर्गर्भं परिशेते योनिरूपमेतत्क्रियते ॥२७॥ ते प्राञ्चस्तिष्ठन्ति । अश्वः प्रथमोऽथ रासभोऽथाज एवꣳ ह्येतेऽनुपूर्वं यद्वै तदश्रु समक्षरितमासीदेष सोऽश्वोऽथ यत्तद्रसदिवैष रासभोऽथ यः स कपाले रसो लिप्त आसीदेष सोऽजोऽथ यत्तत्कपालमासीदेषा सा मृद्यामेतदाहरिष्यन्तो भवन्त्येतेभ्यो वाऽएष रूपेभ्योऽग्रेऽसृज्यत तेभ्य एवैनमेतज्जनयति ॥२८॥ ते दक्षिणतस्तिष्ठन्ति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतं वज्रमपश्यन्नमुमेवादित्यमसौ वाऽआदित्य एषोऽश्वस्तऽएतेन वज्रेण दक्षिणतो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञमतन्वत तथैवैतद्यजमान एतेन वज्रेण दक्षिणतो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञं तनुते ॥२९॥ दक्षिणत आहवनीयो भवति । उत्तरत एषाभ्रिरुपशेते वृषा वाऽआहवनीयो योषाभ्रिर्दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेतेऽरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते ॥३०॥ सा वैणवी स्यात् । अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्स वेणुं प्राविशत्तस्मात्स सुषिरः स एतानि वर्माण्यभितोऽकुरुत पर्वाण्यननुप्रज्ञानाय यत्र-यत्र निददाह तानि कल्माषाण्यभवन् ॥३१॥ सा कल्माषी स्यात् । सा ह्याग्नेयी यदि कल्माषीं न विन्देदप्यकल्माषी स्यात्सुषिरा तु स्यात्सैवाग्नेयी सैषा योनिरग्नेर्यद्वेणुरग्निरियं मृन्न वै योनिर्गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै योनेर्वै जायमानो जायते योनेर्जायमानो जायाताऽइति ॥३२॥ प्रादेशमात्री स्यात् ।

वाला अग्नि, पाँच ऋतुवाला वर्ष। संवत्सर ही अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही होता है ॥२५॥

वे मूंज की रस्सी से बँधे होते हैं (अग्नि की रक्षा के लिए)। अग्नि देवों के पास से चला गया। वह मूंज में घुस गया। इसीलिए वह खुखला और भीतर से धुएँ से रचा-सा होता है। यह जो मूंज है, सो अग्नि का योनि है। अग्नि ही यह पशु है। योनि गर्भ को नहीं मारती, अहिंसा (रक्षा) के लिए। जो उत्पन्न होता है, वह योनि से ही होता है। वह सोचता है कि अग्नि जब उत्पन्न होगा, तो योनि से ही उत्पन्न होगा ॥२६॥

(रस्सियाँ) तीन तार की होती हैं, क्योंकि अग्नि त्रिवृत् है। वह घोड़े की रस्सी के समान होती है, क्योंकि घोड़े की रस्सी उसी के मुख के चारों ओर रहती है। योनि गर्भ के चारों ओर रहती है, इस प्रकार यह योनिरूप होता है ॥२७॥

वे पूर्वाभिमुख खड़े होते हैं। पहले घोड़ा, फिर गधा, फिर बकरा। क्योंकि यही उचित क्रम है। यह अश्व वही है, जो आरम्भ में अश्रु-सुरक्षित किया गया था, और जो "अरसत्" अर्थात् चिल्लाया, इसलिए रासभ हुआ। और जो कपाल में रस लगा रह गया, वह अज था। यह जो मिट्टी लाते हैं यही कपाल है। यही तो रूप थे, जिनसे वह पहले बनाया गया था। इन्हीं से वह इसको उत्पन्न करता है ॥२८॥

वे दक्षिण की ओर खड़े होते हैं—देवों को भय था कि दुष्ट राक्षस यज्ञ को दक्षिण की ओर से नष्ट न कर दें। उन्होंने इस वज्र को देखा, अर्थात् यह सूर्य। इसी वज्र के द्वारा उन्होंने राक्षसों को दक्षिण की ओर से भगाया, और भयरहित अच्छे स्थान में यज्ञ को रक्खा। इसी प्रकार यजमान भी इस वज्र द्वारा राक्षसों को दक्षिण की ओर से भगा देता है, और यज्ञ को भयरहित और अच्छे स्थान में रख देता है ॥२९॥

दक्षिण की ओर आहवनीय होती है और उत्तर की ओर अभ्रि (खुरपी) आहवनीय नर है। अभ्रि योषा है। नर योषा के दाहिनी ओर सोता है, हाथ-भर दूर, क्योंकि नर योषा से हाथ-भर दूर सोता है ॥३०॥

यह (अभ्रि) वेणु (बाँस) की होनी चाहिए। अग्नि देवों के पास भाग गया। वह बाँस में घुस गया, इसलिए बाँस खुखला होता है। उसने दोनों ओर रक्षा के लिए गाँठें बना लीं, (बाँस के पोरे के दोनों ओर गाँठें होती हैं), जिससे वह मिल न सके। जहाँ-जहाँ उसने जलाया काले धब्बे पड़ गये ॥३१॥

इस (खुरपी) पर काले धब्बे होने चाहिएँ, क्योंकि अग्नि का यही गुण है। यदि काले धब्बेवाली न मिले तो न सही, पर खुखली अवश्य हो—अग्नि की रक्षा के लिए; वह भी तो अग्नि का ही गुण है। यह जो बाँस है, वह अग्नि का योनि है। यह मिट्टी अग्नि है। योनि गर्भ को कभी हानि नहीं पहुँचाती। जो उत्पन्न होता है, योनि से ही उत्पन्न होता है। इसको भी योनि से ही उत्पन्न होना चाहिए। यह उसका विचार है ॥३२॥

एक बालिश्त लम्बी होवे।

प्रादेशमात्रꣳ ह्यीदमभि वागवदत्यरत्निमात्री त्वेव भवति बाहुर्वाऽअरत्निर्बाहुना वै वीर्यं क्रियते वीर्यसंमितेव तद्भवति ॥३३॥ अन्यतःक्ष्णुत्स्यात् । अन्यतरतो ह्यीदं वाचः क्ष्णुतमुभयतःक्ष्णुत्त्वेव भवत्युभयतो ह्यीदं वाचः क्ष्णुतं यदेनया दैवं च वदति मानुषं चाथो यत्सत्यं चानृतं च तस्मादुभयतःक्ष्णुत् ॥३४॥ यद्वेवोभयतःक्ष्णुत् । अतो वाऽअग्नेर्वीर्यं यतोऽस्य क्ष्णुतमुभयत एवास्यामेतद्वीर्यं दधाति ॥३५॥ यद्वेवोभयतःक्ष्णुत् । एतद्वाऽएनं देवा अनुविद्येभ्यो लोकेभ्योऽखनंस्तथैवेनमयमेतदनुविद्येभ्यो लोकेभ्यः खनति ॥३६॥ स यदिति खनति । तदेनमस्माल्लोकात्खनत्यथ यदूर्ध्वोच्चरति तदमुष्माल्लोकादथ यदन्तरेण संचरति तदन्तरिक्षलोकात्सर्वेभ्य एवैनमेतदेभ्यो लोकेभ्यः खनति ॥३७॥ तामादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वदिति सवितृप्रसूत एवैनामेतदेताभिर्देवताभिरादत्ते गायत्रेण छन्दसाथोऽअस्यां गायत्रं छन्दो दधाति पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरेति पशवो वै पुरीषं पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवदाभरेत्येतत्त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति तदेनां त्रैष्टुभेन छन्दसादत्तेऽथोऽअस्यां त्रैष्टुभं छन्दो दधाति ॥३८॥ अभ्रिरसीति । अभ्रिर्ह्येषा तदेनꣳ सत्येनादत्ते नार्यसीति वज्रो वाऽअभ्रिर्योषा नारी न वै योषा कं चन हिनस्ति शमयत्येवैनामेतदहिꣳसायै त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थऽइतीदं वै सधस्थं त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुमस्मिन्त्सधस्थऽइत्येतज्जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति तदेनां जागतेन छन्दसादत्तेऽथोऽअस्यां जागतं छन्दो दधाति ॥३९॥ त्रिभिरादत्ते । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदादत्ते त्रिभिरादायाथैनां चतुर्थेनाभिमन्त्रयतऽएतद्वाऽएनां देवास्त्रिभिरादायाथास्यां चतुर्थेन वीर्यमदधुस्तथैवैनामयमेतत्त्रिभिरादायाथास्यां चतुर्थेन वीर्यं दधाति ॥४०॥ हस्तऽआधाय सवितेति । हस्ते ह्यस्याहिता भवति बिभ्रदभ्रिमिति बिभर्ति ह्येनाꣳ

यह वाणी भी तो बालिश्त पर दूर ही बोलती है। यह हाथ-भर होनी चाहिए। हाथ का अर्थ है बाहु। बाहु से ही वीर्य (पराक्रम) किया जाता है। यह इस प्रकार पराक्रमशाली हो जाती है ।।३३।।

एक ओर तेज होनी चाहिए। यह वाणी भी तो दोनों तरफों में एक तरफ ही तेज होती है। यह दोनों ओर भी तेज होती है। यह वाणी भी दोनों ओर तेज होती है, क्योंकि इससे दैवी बातें भी बोली जाती हैं और मानुषी भी, सत्य भी और अनृत भी। यह दोनों ओर तेज होती है ।।३४।।

यह दोनों ओर इसलिए भी तेज होवे कि इस अभ्रि का पराक्रम उसी ओर चलता है, जिधर तेज होती है। इस प्रकार यह उसके दोनों ओर पराक्रम रख देता है ।।३५।।

यह दोनों ओर इसलिए भी तेज होवे कि जब देवों ने उसको यहाँ देखा तो इन लोकों में से खोदा। इसी प्रकार यह भी इसको यहाँ देखकर इन लोकों में से खोदता है ।।३६।।

जब यह यों (नीचे की ओर) खोदती है, तो इसको इस लोक में से खोदती है। और जब ऊपर को चलती है, तो ऊपर के लोक से। और जब दोनों के बीच में चलती है, तब अन्तरिक्ष से। इस प्रकार सभी लोकों में से खोदती है ।।३७।।

उसको इस मन्त्र से उठाता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्।" (यजु० ११।९)—"देव सविता की प्रेरणा से अश्विन के बाहुओं से पूषा के हाथों से गायत्री छन्द से अंगिरा के समान तुझको उठाता हूँ।" सविता से प्रेरित होकर ही इसको इन देवताओं की सहायता से लेता है, गायत्र छन्द से अर्थात् इसमें गायत्र छन्द को स्थापित करता है। "पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर।" (यजु० ११।९)—"पृथिवी के आसन से अंगिरा के समान पुरीष्य अग्निवाला।" पशु ही पुरीष हैं। अग्नि के स्थान से पशु-सम्बन्धी अग्नि को अग्नि के समान। "त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्।" (यजु० ११।९)—इसको त्रैष्टुभ छन्द से लेता है, अर्थात् इसमें त्रैष्टुभ छन्द को धारण कराता है ।।३८।।

"अभ्रिरसि" (यजु० ११।१०)–"तू खुरपी है।" यह खुरपी तो है ही। इस प्रकार सत्य बोलकर ही इसको उठाता है। "नार्यसि" (यजु० ११।१०)—"तू नारी है।" अभ्रि वज्र है। अभ्रि नारी है। नारी किसी को हानि नहीं पहुँचाती। वह इसको इस प्रकार शान्त करता है, जिससे यह किसी को हानि न पहुँचावे। "त्वया वयमग्निँ शकेम खनितुँ सधस्थ आ।" (यजु० ११।१०)—"हम तुझसे अग्नि को स्थान से खोद सकें।" यह स्थान ही तो आसन है। इसका तात्पर्य यह है कि इस स्थान पर हम अग्नि को तेरे द्वारा खोद सकें। "जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत्।" (यजु० ११।१०)—उसको जगती छन्द से लेता है अर्थात् इसमें जगती छन्द की स्थापना करता है ।।३९।।

वह इसको तीन मन्त्रों से उठाता है। अग्नि त्रयी है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना उसको बनाता है। इसको तीन मन्त्रों से उठाकर चौथे से सम्बोधित करता है। क्योंकि देवों ने इसको तीन मन्त्रों से लेकर चौथे से इसमें पराक्रम भरा था, इसी प्रकार यह भी तीन से इसको उठाकर चौथे से इसमें पराक्रम भरता है ।।४०।।

"हस्त ऽआधाय सविताः" (यजु० ११।११)—"हाथ में लेकर सविता।" हाथ में तो इसे ले ही लिया। "बिभ्रदभ्रिम्" (यजु० ११।११)–"खुरपी को लेकर।" खुरपी को लिये तो है।

हिरण्ययीमिति हिरण्मयी ह्येषा या छन्दोमय्यग्नेर्योतिर्निचाय्येत्यग्नेर्ज्योतिर्दृष्ट्वेत्ये-
तत्पृथिव्याऽअध्याभरदिति पृथिव्यै ह्येनदध्याभरत्यानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति त-
देनामानुष्टुभेन छन्दसादत्तेऽथोऽअस्यामानुष्टुभं छन्दो दधाति तान्येतान्येव छ-
न्दाꣳस्येषाभ्रिरारम्भायैवेयं वैणवी क्रियते ॥४१॥ ताꣳ हैके हिरण्मयीं कुर्वन्ति ।
हिरण्ययीति वाऽअभ्युक्तेति न तथा कुर्याद्यद्वाऽएषा छन्दाꣳसि तेनैषा हिरण्मम-
मृतꣳ हिरण्यममृतानि छन्दाꣳसि ॥४२॥ तां चतुर्भिरादत्ते । चतुरक्षरा वै सर्वा
वाग्वागित्येकमक्षरमक्षरमिति त्र्यक्षरं तद्यत्तद्वागित्येकमक्षरं यैवैषानुष्टुबुत्तमा
सा साथ यदक्षरमिति त्र्यक्षरमेतानि तानि पूर्वाणि यजूꣳषि सर्वयैवैतद्वाचाग्निं
खनति सर्वया वाचा सम्भरति तस्माच्चतुर्भिः ॥४३॥ यद्वेव चतुर्भिः । चतस्रो वै
दिशश्चतसृषु तद्दिक्षु वाचं दधाति तस्माच्चतसृषु दिक्षु वाग्वदति छन्दोभिश्च यजु-
र्भिश्चादत्ते तदष्टौ चतस्रो दिशश्चतस्रोऽवान्तरदिशः सर्वासु तद्दिक्षु वाचं दधाति
तस्मात्सर्वासु दिक्षु वाग्वदति ॥४४॥ ब्राह्मणम् ॥३ [३. १.] ॥ ॥

हस्तऽएषाभ्रिर्भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते । एतद्वाऽएषु देवा अन्वैषिष्यन्तः पुर-
स्ताद्वीर्यमदधुस्तथैवैष्वयमेतदन्वैषिष्यन्पुरस्ताद्वीर्यं दधाति ॥१॥ सोऽश्वमभिमन्त्रयते ।
प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रवेति यद्वै क्षिप्रं तत्तूर्तमथ यत्क्षिप्रात्क्षेपीयस्तत्प्रतूर्तं वरिष्ठामनु
संवतमितीयं वै वरिष्ठा संवदिमामनु संवतमित्येतद्दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे
तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरिदिति तदेनमेता देवताः करोत्यग्निं वायुमादित्यं
तदस्मिन्वीर्यं दधाति ॥२॥ अथ रासभम् । युञ्जाथाꣳ रासभं युवमित्यध्वर्युं चैतद्यज-
मानं चाहास्मिन्यामे वृषण्वसूऽइत्यस्मिन्कर्मणि वृषण्वसूऽइत्येतदग्निं भरन्तमस्म-
युमित्यग्निं भरन्तमस्मत्प्रेषितमित्येतत्तद्रासभे वीर्यं दधाति ॥३॥ अथाजम् । योगे-
योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहऽइत्यन्नं वै वाजः कर्मणि-कर्मणि तवस्तरमन्ने
ऽन्ने हवामहऽइत्येतत्सखाय इन्द्रमूतयऽइतीन्द्रियवन्तमूतयऽइत्येतत्तदजे वीर्यं

"हिरण्ययीम्" (यजु० ११।११)—"जो छन्दोमयी है वह हिरण्यमयी भी है ही। "अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य।" (यजु० ११।११)–अर्थात् "अग्नि की ज्योति को देखकर।" "पृथिव्या अध्याभरत्" (यजु० ११।११)—इसको पृथिवी से तो उठाता ही है। "अनुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।११)—इसको अनुष्टुम् छन्द से अङ्गिरा के समान उठाता है, अर्थात् इसमें अनुष्टुम् छन्द की स्थापना करता है। इन छन्दों को भरने के लिए ही यह अभ्रि बांस की बनाई जाती है ॥४१॥

कुछ इसको सोने की बनाते हैं, क्योंकि इसको हिरण्ययी कहा गया है। परन्तु ऐसा न करे। यह छन्दों का कारण है कि यह हिरण्ययी और अमृत है। छन्द हिरण्य हैं और अमृत हैं ॥४२॥

चार मन्त्रों से इसको लेता है। सब वाणी चार अक्षर की है। "वाग्" में एक अक्षर है और "अक्षर" में तीन अक्षर। एक-अक्षरा वाग् वही है जो यह पिछला अनुष्टुम् है। और तीन-अक्षरवाले अक्षर वही तीन मन्त्र हैं। इस प्रकार वह अग्नि को सम्पूर्ण वाणी से खोदता है, और सम्पूर्ण वाणी से युक्त करता है। इसलिए वह चार मन्त्रों से उसको उठाता है ॥४३॥

चार से इसलिए भी कि चार दिशायें हैं। चार दिशाओं में वाणी को धारण करता है, इसलिए चार दिशाओं में वाणी बोलता है। वह इसको छन्दों से और यजुओं से लेता है। ये आठ हो जाते हैं। चार दिशायें हैं, और चार उपदिशायें। सब दिशाओं में वाणी को धारण करता है। इसीलिए वाणी सब दिशाओं बोलती है ॥४४॥

अश्वादिपञ्चपशूनामभिमन्त्रणादि

अध्याय ३—ब्राह्मण २

हाथ में अभ्रि होती है तभी पशुओं का अभिमन्त्रण करता है। जब देव (पशुओं में) अग्नि की तलाश कर रहे थे, तो उन्होंने पराक्रम को आगे रक्खा। इसी प्रकार यह भी इन पशुओं में अग्नि की तलाश करता हुआ पराक्रम को आगे रखता है ॥१॥

वह घोड़े से कहता है—"प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव" (यजु० ११।१२)–"हे घोड़े, तेज आ।" तूर्त्त कहते हैं जल्दी को और प्रतूर्त्त कहते हैं बहुत जल्दी को। "वरिष्ठामनु संवतम्" (यजु० ११।१२)–"इस सब से विस्तृत को।" यह पृथिवी ही वरिष्ठा है, इसलिए कहा। "दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्।" (यजु० ११।१२)—"द्यौलोक में तेरा परमधाम है, अन्तरिक्ष में तेरी नाभि, पृथिवी में तेरी योनि।" इस प्रकार वह उसको तीन देवता अग्नि, वायु और आदित्य बनाता है और इस प्रकार अश्व में पराक्रम स्थापित करता है ॥२॥

अब गधे को–"युंजाथाँ रासमं युवम्" (यजु० ११।१३)–"तुम दोनों गधे को जोतो।" यह वह अध्वर्यु और यजमान से कहता है। "अस्मिन् यामे वृषण्वसू" (यजु० ११।१३)—"इस मार्ग पर धन को बरसाते हुए।" अर्थात् इस यज्ञ में धन की वर्षा करते हुए। "अग्निं भरन्तमस्मयुम्।" (यजु० ११।१३)—"अग्नि को रखते हुए और हमसे प्रेरित हुए।" इस प्रकार वह गधे में पराक्रम स्थापित करता है ॥३॥

अब बकरे को—"योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे" (यजु० ११।१४)—अन्न ही 'वाज' है। इसलिए "हर यज्ञ में, हर अन्न में हम उसको शक्तिशाली कहते हैं।" "सखाय ऽ इन्द्रमूतये" (यजु० ११।१४)—"हम मित्र लोग इन्द्र को सहायता के लिए बुलाते हैं।" इन्द्र का अर्थ है इन्द्रियवत् अर्थात् पराक्रमशील। इस प्रकार वह बकरे में पराक्रम स्थापित करता है ॥४॥

दधाति ॥४॥ त्रिभिरभिमन्त्रयते । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैष्वे-
तद्वीर्यं दधाति ॥५॥ अथैनान्प्राच उत्क्रमयति । तदेनमेतैः पशुभिरन्विच्छति नो-
पस्पृशत्यग्निरेष यत्पशवो नेन्मायमग्निर्हिनसदिति ॥६॥ सोऽश्वमुत्क्रमयति । प्र-
तूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्तीरिति पाप्मा वाऽअशस्तिस्त्वरमाण एह्यवक्रामन्पाप्मान-
मित्येतद्रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहीति रौद्रा वै पशवो या ते देवता तस्यै गाण-
पत्यं मयोभूरेहीत्येतत्तदेनमश्वेनान्विच्छति ॥७॥ अथ रासभम् । उर्वन्तरिक्षं वीहि
स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन्निति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पूष्णा सयुजा सहेतीयं
वै पूषानया सयुजा सहेत्येतत्तदेनꣳ रासभेनान्विच्छति ॥८॥ अथाजम् । पृथिव्याः
सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरेति पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवदाभरेत्येत-
त्तदेनमजेनान्विच्छति ॥९॥ त्रिभिरन्विच्छति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा
तावतैवैनमेतदन्विच्छति त्रिभिः पुरस्तादभिमन्त्रयते तत्षट् षड्ऋतवः संवत्सरः संव-
त्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.२.] ॥
द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १०४ ॥॥

प्रदीप्ता एतेऽग्नयो भवन्ति । अथ मृदमच्छयन्तीमे वै लोका एतेऽग्नयस्ते यदा
प्रदीप्ता अथैतऽइमे लोकाः पुरो वाऽएतेभ्यो लोकेभ्योऽग्रे देवाः कर्मान्वैच्छन्त
यदेतानग्नीनतीत्य मृदमाहरति तदेनं पुरेभ्यो लोकेभ्योऽन्विच्छति ॥१॥ प्राञ्चो
यन्ति । प्राची हि दिगग्नेः स्वायामेवैनमेतद्दिश्यन्विच्छति स्वायां दिशि विन्दति
॥२॥ ते प्रयन्ति । अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम इत्यग्निं पशव्यमग्निवदच्छेम इत्येतत्
॥३॥ अथानद्धापुरुषमीक्षते । अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्याम इत्यग्निं पशव्यमग्नि-
वद्भरिष्याम इत्येतत्तदेनमनद्धापुरुषेणान्विच्छति ॥४॥ अथ वल्मीकवपा सुषिरा
व्यधे निहिता भवति । तामन्वीक्षतऽइयं वै वल्मीकवपेयमु वाऽइमे लोका
एतद्वाऽएनं देवा एषु लोकेषु विग्राह्ममैच्छंस्तथैवैनमयमेतदेषु लोकेषु विग्राह्मि

तीन मन्त्रों से आमन्त्रित करता है—अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार वह उसमें पराक्रम स्थापित करता है ॥५॥

अब वह इनको पूर्व की ओर चलाता है, इस प्रकार पशुओं द्वारा इस अग्नि की तलाश करता है। वह उनको छूता नहीं कि अग्नि हानि न पहुँचावे। यह पशु ही अग्नि है ॥६॥

वह घोड़े को इस मन्त्र से चलाता है—"प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती:" (यजु० ११।१५)—"वेगवान् तू बुराइयों को कुचलता हुआ चल।" अशस्ती का अर्थ है पाप, अर्थात् पाप को कुचलते हुए भागता हुआ आ। "रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि" (यजु० ११।१५)—"रुद्र के नेतृत्व में हर्षित आ।" पशु रुद्र के हैं। जो तेरा देवता है उसी के नेतृत्व में तू आ। इस प्रकार घोड़े के द्वारा उस (अग्नि) की तलाश करता है ॥७॥

अब गधे को—"उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन्" (यजु० ११।१५)—"कल्याणमार्ग को रखता हुआ और अभय को देता हुआ अन्तरिक्ष को आ।" जैसा यजु है वैसा उसका अर्थ है। "पूष्णा सयुजा सह" (यजु० ११।१५)—"पूषा मित्र के साथ।" यह पृथिवी ही पूषा है। उसके मित्र के साथ उसको गधे के द्वारा तलाश करता है ॥८॥

अब बकरे को—"पृथिव्या: सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर" (यजु० ११।१६)—"पृथिवी के आसन से अंगिरा के समान पुरीष्य अग्नि को ला।" पृथिवी के आसन से पशु-सम्बन्धी अग्नि को अग्नि के समान ला—ऐसा तात्पर्य है। इस प्रकार वह उसको बकरे के द्वारा तलाश करता है ॥९॥

तीन पशुओं द्वारा तलाश करता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसको तलाश करता है। तीन से अभिमन्त्रण करता है। इस प्रकार छ: हो गये। संवत्सर में छ: ऋतुयें होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही हो जाता है ॥१०॥

पिण्डं प्रति ब्रह्मादीनामभिगमनादि

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

ये अग्नियाँ प्रदीप्त हो गईं। अब मिट्टी के पास जाते हैं। ये अग्नियाँ ही ये लोक हैं। अब ये प्रदीप्त हो गईं तो ये लोक हो गये। पहले देवों ने कर्म को इन लोकों से पहले तलाश किया। ये जो इन अग्नियों को पार करके मिट्टी को लाता है, मानो इसको इन लोकों से पूर्व तलाश करता है ॥१॥

पूरब की ओर जाते हैं। पूर्व ही अग्नि की दिशा है। वह मानो उसको उसकी दिशा में तलाश करता है, और उसी दिशा में उसको प्राप्त करता है ॥२॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर जाते हैं—"अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम" (यजु० ११।१६)—"हम अंगिरस् के समान पुरीष्य अग्नि के पास जावें" अर्थात् हम पशु-सम्बन्धी अग्नि के पास अग्नि के समान जावें ॥३॥

अब अनद्ध पुरुष (बनावटी पुरुष) को देखता है, इस मन्त्र से—"अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्याम:" (यजु० ११।१६)—"पुरीष्य अग्नि को अंगिरा के समान भरेंगे" अर्थात् पशु-सम्बन्धी अग्नि को अग्नि के समान भरेंगे। इस प्रकार इसको बनावटी पुरुष के द्वारा तलाश करता है ॥४॥

अब खुखले चिटोहर को बीच में रखता है और उसकी ओर देखता है। यह पृथिवी ही चिटोहर है और यह पृथिवी ही लोक है। देवों ने इस (अग्नि) को लोकों में एक-एक करके तलाश किया था। इसी प्रकार यह भी इन लोकों में एक-एक करके उसको तलाश करता है ॥५॥

हन्ति ॥५॥ अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदिति । तदेनमुषःस्विच्छन्नन्वख्यानि प्रथमो जात-
वेदा इति तदेनमहःस्विच्छन्ननु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीनिति तदेनꣳ सूर्यस्य रश्मि-
ष्विच्छन्ननु द्यावापृथिवीऽआततन्थेति तदेनं द्यावापृथिव्योरेच्छंस्तमविन्दंस्तथैवैनम-
यमेतद्विन्दति तं यदा परापश्यत्यथ तामवास्यत्यागच्छन्ति मृदम् ॥६॥ अथाश्वमभिम-
न्त्रयते । एतद्वै देवा अब्रुवन्पाप्मानमस्यापहनामेति श्रमो वै पाप्मा श्रममस्य पा-
प्मानमपहनामेति तस्य श्रमं पाप्मानमपाघ्नंस्तथैवास्यायमेतच्छ्रमं पाप्मानमपहन्ति
॥७॥ आगत्य वाज्यध्वानमिति । आगतो ह्यस्याध्वा भवति सर्वा मृधो विधूनुत
ऽइति पाप्मा वै मृधः सर्वान्पाप्मनो विधूनुतऽइत्येतत्तस्माद्ध वैतदश्वः स्थित्वा
विधूनुतेऽग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषऽइतीदं वै महत्सधस्थमग्निमस्मि-
न्महति सधस्थे चक्षुषा दिदृक्षतऽइत्येतत् ॥८॥ अथैनमाक्रमयति । एतद्वाऽएष
एतं देवेभ्योऽनुविद्य प्राब्रवीद्यथायमिहेवेत्येवम् ॥९॥ यद्वेवाक्रमयति । एतद्वै
देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्माऽएतं वज्रमु-
परिष्टादभिगोप्तारमकुर्वन्नमुमेवादित्यमसौ वाऽआदित्य एषोऽश्वस्तथैवास्माऽअय-
मेतं वज्रमुपरिष्टादभिगोप्तारं करोति ॥१०॥ आक्रम्य वाजिन् । पृथिवीमग्निमिच्छ
रुचा त्वमिति चक्षुर्वै रुगाक्रम्य त्वं वाजिन्पृथिवीमग्निमिच्छ चक्षुषेत्येतद्भूम्या वृत्वाय
नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयमिति भूमेस्तत्स्पाशयित्वाय नो ब्रूहि यत एनं ख-
नेमेत्येतत् ॥११॥ अथैनमुन्मृशति । एतद्वाऽएनं देवाः प्रोचिवाꣳसं वीर्येण स-
मार्धयंस्तथैवैनमयमेतत्प्रोचिवाꣳसं वीर्येण समर्धयति द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थ-
मात्मान्तरिक्षꣳ समुद्रो योनिरितीत्थमसीत्थमसीत्येवैतदाह विख्याय चक्षुषा त्वम-
भितिष्ठ पृतन्यत इति विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ सर्वान्पाप्मन इत्येतन्नोपस्पृ-
शति वज्रो वाऽअश्वो नेन्माऽयं वज्रो हिनसदिति ॥१२॥ अथैनमुत्क्रमयति । एतद्वै
देवा अब्रुवन्किमिममभ्युत्क्रमिष्याम इति महत्सौभगमिति तं महत्सौभगमभ्युद-

"अन्वग्निरुषसामग्रमख्यत्" (यजु० ११।१७)—"अग्नि उषाओं के अग्रभाग में दिखाई दी।" इससे उन्होंने उसे उषा में खोजा। "अन्वहानि प्रथमो जातवेदा:" (यजु० ११।१७)—"पहला जातवेद दिनों में।" इसलिए दिनों में खोजा। "अनु सूर्य्यस्य पुरुत्रा च रश्मीन्" (यजु० ११।१७)—"और बहुधा सूर्य्य की किरणों में।" इसलिए सूर्य्य की किरणों में खोजा। "अनु द्यावा पृथिवी आततन्थ" (यजु० ११।१७)–"द्यौ और पृथिवी-भर में तू फैल गया।" उन्होंने इसे द्यौ और पृथिवी में खोजा और पा लिया। इसी प्रकार यह भी इस को पा लेता है। जब दूर से अग्नि को देख लिया तो चिंटोहर को फेंक देता है और मिट्टी के पास तक जाते हैं ॥६॥

अब घोड़े का अभिमन्त्रण करता है। देवों ने कहा—'इसके दोषों को (पापों को) दूर कर दो।' थकावट ही पाप है। उन्होंने कहा कि इसकी इस थकावट को दूर करें और उसकी थकावट दूर कर दी। इसी प्रकार यह भी उसकी थकावटरूपी बुराई को दूर करता है ॥७॥

"आगत्य वाज्यध्वानम्" (यजु० ११।१८)—"घोड़ा मार्ग पर आकर।" यह मार्ग पर तो आ ही गया। "सर्वा मृधो विधूनुते" (यजु० ११।१८)—"सब पापों को दूर कर देता है।" मृध का अर्थ है पाप। यह पापों को दूर करता है। इसलिए घोड़ा जब चलता है तो "विधूनुते" अर्थात् अपने को हिलाता है। "अग्निँ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते" (यजु० ११।१८)—"उस स्थान पर अग्नि को बड़ी आँख से देखता है।" यह वेदी वस्तुतः बड़ा स्थल है, इससे ज्ञात होता है कि वह अपनी आँख से इस बड़े स्थल को देखना चाहता है ॥८॥

अब वह उसको (उस मिट्टी पर) चलाता है। जब अग्नि को पा लिया तो घोड़े ने देवों पर जता दिया कि "वह यहाँ है" ॥९॥

चलाता इसलिए है कि देवों को भय हुआ कि दुष्ट राक्षस हमको न मार डालें। इसलिए रक्षक के रूप में यह वज्र रख दिया। यही आदित्य है। यही अश्व है। इसी प्रकार यह भी रक्षक के रूप में वज्र को रख देता है ॥१०॥

"आक्रम्य वाजिन् पृथ्वीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्" (यजु० ११।१९)—"हे वाजी, पृथिवी पर आकर तू अपने प्रकाश से अग्नि की इच्छा कर।" चक्षु ही रुक् या प्रकाश है। इसलिए कहा कि तू चक्षु से अग्नि को देख। "भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यत: खनेम तं वयम्" (यजु० ११।१९)–अर्थात् "भूमि की ओर पैर से संकेत करके बता कि हम उसको खोदकर निकाल सकें" ॥११॥

अब उस (घोड़े) को रोक लेता है। देवों ने इसको अग्नि का निर्देश करने के बदले में पराक्रम से भर दिया। इसी प्रकार यह भी घोड़े को अग्नि का निर्देश करने के बदले में पराक्रम-युक्त कर देता है, इस मन्त्र से—"द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षँ समुद्रो योनि:" (यजु० ११।२०)–"द्यौ तेरी पीठ है, पृथिवी आसन, अन्तरिक्ष शरीर और समुद्र योनि।" तात्पर्य यह है कि तू ऐसा है, तू ऐसा है। "विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यत:" (यजु० ११।२०)–"आँख से इधर-उधर देखकर तू शत्रुओं को दबा।" अर्थात् सब पापों को दबा। वह हमको छूता नहीं, अश्व वज्र है। ऐसा न हो कि यह वज्र इसे हानि पहुँचा दे ॥१२॥

अब वह उसको हटा लाता है। देवों ने कहा कि इसको क्या दिलावें? महान् सौभग (सौभाग्य)। उसको महा सौभाग्य दिला दिया। इसी प्रकार यह भी इसको महासौभाग्य दिलाता

क्रमयंस्तथैवैनमयमेतन्महत्सौभगमभ्युत्क्रमयत्युत्क्राम महते सौभगायेत्युत्क्राम म-
हते सौभगमित्येतत्तस्माद्ध्येतदश्वः पशूनां भगितमोऽस्मादास्थानादिति यत्रैतत्ति-
ष्ठसीत्येतद्द्रविणोदा इति द्रविणꣳ ह्येभ्यो ददाति वाजिन्निति वाजी ह्येष वयꣳ
स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थेऽअस्या इति वयमस्यै पृथिव्यै सुमतौ
स्यामाग्निमस्या उपस्थे खनन्त इत्येतत् ॥१३॥ अथैनमुत्क्रान्तमभिमन्त्रयते । एतद्वा
ऽएनं देवाः प्रोचिवाꣳसं यथा ददिवाꣳसं वन्देतैवमुपास्तुवन्नुपामहयंस्तथैवैनमय-
मेतदुपस्तौत्युपमहयत्युदक्रमीदित्युद्ध्यक्रमीद्द्रविणोदा इति द्रविणꣳ ह्येभ्यो ददाति
वाज्यर्वेति वाजी च ह्येषोऽर्वा चाकः सुलोकꣳ सुकृतं पृथिव्यामित्यकरः सुलो-
कꣳ सुकृतं पृथिव्यामित्येतत्ततः खनेम सुप्रतीकमग्निमिति तत एनं खनेमेत्येतत्सु-
प्रतीकमिति सर्वतो वाऽअग्निः सुप्रतीकः स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तममिति
स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गं लोकꣳ रोहन्तोऽधि नाकमुत्तममित्येतत्तं दक्षिणो-
पसंक्रमयति यत्रेतरौ पशू भवतस्ते दक्षिणतः प्राञ्चस्तिष्ठन्ति स य एवामुत्र दक्षि-
णात स्थानस्य बन्धुः सोऽत्र ॥१४॥ अथोपविश्य मृदमभिजुहोति । एतद्वै देवा
अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना एतामाहुतिमप-
श्यंस्तामजुहवुस्ताꣳ हुत्वेमाँल्लोकानुखामपश्यन् ॥१५॥ तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमेवेति
चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना एतां द्वितीयामाहुतिमपश्यंस्तामजुह-
वुस्ताꣳ हुत्वा विश्वज्योतिषोऽपश्यन्नेता देवता अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देव-
ता विश्वं ज्योतिस्तथैवैतद्यजमानऽएते आहुती हुत्वेमांश्च लोकानुखां पश्यत्येता-
श्च देवता विश्वज्योतिषो व्यतिषक्ताभ्यां जुहोतीमांश्च तल्लोकानेताश्च देवता व्य-
तिषजति ॥१६॥ यद्वेवैतेऽआहुती जुहोति । मृदं च तदपश्च प्रीणाति तेऽइष्टा
प्रीतावथैनेन सम्भरति व्यतिषक्ताभ्यां जुहोति मृदं च तदपश्च व्यतिषजति ॥१७॥
आज्येन जुहोति । वज्रो वाऽआज्यं वज्रमेवास्माऽएतदभिगोप्तारं करोत्यथो रेतो

है—"उत्क्राम महते सौभगाय" (यजु० ११।२१)—"बड़े सौभाग्य के लिए चल" अर्थात् तेरा सौभाग्य बड़ा हो। इसलिए घोड़ा सब पशुओं में सौभाग्यवान् है। "अस्मादास्थानात्" (यजु० ११।२१) अर्थात् "जहाँ तू खड़ा है वहाँ से।" "द्रविणोदा" (यजु० ११।२१)—"धन देनेवाला।" उसको धन देता है। "वाजिन्" (११।२१)—यह वाजी अर्थात् घोड़ा तो है ही। "वयं स्याम सुमतौ पृथिव्या ऽ अग्निं खनन्त उपस्थे ऽ अस्याः" (यजु० ११।२१) —"हम पृथिवी की सुमति में होवें जब हम उसकी गोद में अग्नि खोदते हैं।" अर्थात् हम अग्नि के लिए पृथिवी में वेदी खोदें तो पृथिवी हमारे ऊपर कृपा करे ॥१३॥

जब वह हट आया तो उससे कहता है—जैसे कोई किसी को कुछ दे तो उसकी प्रशंसा की जाती है, इसी प्रकार देवों ने अग्नि का निर्देश करने के बदले उसकी प्रशंसा की थी, इसी प्रकार यह भी उसकी स्तुति करता है—"उदक्रमीत्" (यजु० ११।२२)—"वह आ तो गया ही।" "द्रविणोदा" (यजु० ११।२२)—"वह इसको धन देता है।" "वाजी" (यजु० ११।२२) घोड़ा तो यह है ही। "अर्वाकः सुलोकँ सुकृतं पृथिव्याम्" (यजु० ११।२२)—अर्थात् "पृथिवी पर पुण्यस्थल बनाया है।" "ततः खनेम सुप्रतीकमग्निम्" (यजु० ११।२२)—"वहाँ सुन्दर अग्नि को खोदें।" अग्नि तो चारों तरफ सुन्दर है। "स्वो रुहाणा ऽ अधि नाकमुत्तमम्" (यजु० ११।२२)—"उत्तम स्वर्गलोक के नाकलोक तक ऊपर चढ़ें।" अर्थात् स्वर्गलोक को चढ़ते हुए नाकलोक तक चढ़ जायें। वह उसके दाहिनी ओर चलाता है, जहाँ दो और पशु हैं। वे दक्षिण की ओर पूर्वाभिमुख खड़े होते हैं। दक्षिण की ओर खड़े होने का जो तात्पर्य पहले था वह अब भी है ॥१४॥

अब बैठकर मिट्टी पर आहुति देता है। देवों ने कहा था—'चेतयध्वम्' (चिंतन करो)। इससे तात्पर्य था कि चिति की इच्छा करो। चिन्तन करते हुए उन्होंने इस आहुति को देखा और यह आहुति दी। इस आहुति को देकर उन्होंने इन लोकों को उखा या कड़ाही के रूप में देखा ॥१५॥

उन्होंने कहा—'चेतयध्वम्।' इसका तात्पर्य यही था कि चिति की इच्छा करो। चिंतन करते हुए उन्होंने इसी द्वितीय आहुति को देखा। उस आहुति को दिया। आहुति, आहुति देकर उन्होंने विश्वज्योति अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य देवताओं को देखा, क्योंकि ये देव ही विश्व-ज्योति हैं। इसी प्रकार यह यजमान करता है। दो आहुतियों को देकर कड़ाहीरूपी इन लोकों को देखता है और विश्वज्योति देवताओं को। दो व्यतिषक्त मन्त्रों (मिले हुए) से आहुति देता है। इनसे वह इन लोकों को तथा उन देवों को व्यतिषक्त कर देता है ॥१६॥

इन दोनों आहुतियों से इसलिये आहुति देता है कि वह इनसे मिट्टी और जल दोनों को तृप्त करता है। इन दोनों को आहुति देकर तथा तृप्त करके इनको मिला देता है। दो व्यतिषक्त मन्त्रों से आहुति देता है, अर्थात् मिट्टी और पानी को मिलाता है ॥१७॥

घी की आहुति देता है। घी ही वज्र है। इस वज्र को ही अपना संरक्षक बनाता है। घी

वाऽआज्यꣳ रेत एवैतत्सिञ्चति स्रुवेण वृषा वै स्रुवो वृषा वै रेतः सिञ्चति
स्वाहाकारेण वृषा वै स्वाहाकारो वृषा वै रेतः सिञ्चति ॥१८॥ आ त्वा जि-
घर्मि मनसा घृतेनेति । आ त्वा जुहोमि मनसा च घृतेन चेत्येतत्प्रतिक्षियन्तं
भुवनानि विश्वेति प्रत्यङ् ह्येष सर्वाणि भुवनानि क्षियति पृथुं तिरश्चा वयसा
बृहन्तमिति पृथुर्वाऽएष तिर्यग्वयसो बृहन्धूमेन व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानमित्यव-
काशवन्तमन्नैरन्नादं दीप्यमानमित्येतत् ॥१९॥ आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्मीति ।
आ सर्वतः प्रत्यञ्चं जुहोमीत्येतदरक्षसा मनसा तज्जुषेतेत्यहृणीयमानेन मनसा
तज्जोषयेतेत्येतन्मर्यश्री स्पृहयद्वर्णोऽअग्निरिति मर्यश्रीर्ह्येष स्पृहयद्वर्णोऽग्निर्नाभि-
मृशे तन्वा जर्भुराण इति न ह्येषोऽभिमृशे तन्वा दीप्यमानो भवति ॥२०॥ द्वा-
भ्यामभिजुहोति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा ताव-
तैवैनमेतद्रेतो भूतꣳ सिञ्चत्याग्नेयीभ्यामग्निमेवैतद्रेतो भूतꣳ सिञ्चति ते यदाग्नेय्यौ
तेनाग्निरथ यत्त्रिष्टुभौ तेनेन्द्र ऐन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन-
मेतद्रेतो भूतꣳ सिञ्चतीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य
मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतो भूतꣳ सिञ्चति ॥२१॥ ॥ शतम् ३६०० ॥ ॥ अश्वस्य पदे
जुहोति । अग्निरेष यदश्वस्तथो हास्यैतेऽअग्निमत्येवाहुती हुते भवतः ॥२२॥ अ-
थैनं परिलिखति । मात्रामेवास्माऽएतत्करोति यथैतावानसीत्येवम् ॥२३॥ य-
द्वेवैनं परिलिखति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न
हन्युरिति तस्माऽएतां पुरं पर्यश्रयंस्तथैवास्माऽअयमेतां पुरं परिश्रयत्यभ्रा वज्रो
वाऽअभ्रिर्वज्रमेवास्माऽएतदभिगोप्तारं करोति सर्वतः परिलिखति सर्वत एवा-
स्माऽएत वज्रमभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतमेवास्माऽएतं व-
ज्रमभिगोप्तारं करोति ॥२४॥ परि वाजपतिः कविः । परि त्वाग्ने पुरं वयं त्वमग्ने
द्युभिरित्यग्निमेवास्माऽएतदुपस्तुत्य वर्म करोति परिवतीभिः परीव हि पुर आ-

वीर्य है। इस प्रकार वह स्रुवा से वीर्य सींचता है। स्रुवा नर है। नर वीर्य सींचता है, स्वाहा से। स्वाहाकार नर है। नर वीर्य सींचता है ॥१८॥

"आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन" (११।२३)—अर्थात् "मैं तुझ पर मन से और घी से आहुति देता हूँ।" "प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा" (यजु० ११।२३)–अर्थात् "वह सब प्राणियों के पास रहता है।" "पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तम्" (यजु० ११।२३)—"फैला हुआ और बड़ा टेढ़ी शक्ति से।" यह पृथु तो है ही और टेढ़ा-टेढ़ा-सा धुएँ से। "व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्" (यजु० ११।२३)—"अन्न के द्वारा बड़ा और देखने में रौबदार।" अर्थात् अवकाशवाला, अन्न खानेवाला और चमकदार ॥१९॥

"आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्मि" (यजु० ११।२४)–"चारों ओर से सामनेवाले के ऊपर छिड़कता हूँ।" अर्थात् हर तरफ से तुझ पर आहुति देता हूँ जो तू इधर को देखता है। "अरक्षसा मनसा तज्जुषेत" (यजु० ११।२४)—"दोषरहित मन से वह आस्वादन करे।" "मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो ऽग्निः" (यजु० ११।२४)—"मनुष्यों में शोभायुक्त और सुन्दरवर्ण अग्नि।" "नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः" (यजु० ११।२४) —अर्थात् "जब इसका शरीर जलता है तो कोई इसे छू नहीं सकता है" ॥२०॥

दो मन्त्रों से आहुतियाँ देता है। यजमान के दो पैर होते हैं और यजमान अग्नि है। जैसे अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह वीर्य सींचता है। अग्नि-सम्बन्धी मन्त्रों से अग्नि को ही वह वीर्यरूप से सींचता है। ये अग्नि के मन्त्र हैं, इसलिए अग्नि ही हैं। चूँकि ये त्रिष्टुम् हैं इसलिये इन्द्र हैं। अग्नि इन्द्र भी है और अग्नि भी। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना वह वीर्यरूप से सींचता है। इन्द्र और अग्नि विश्वेदेव हैं। अग्नि में विश्वेदेव हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह वीर्य सींचता है ॥२१॥

वह घोड़े के पैर पर आहुति देता है। जो अश्व है वह अग्नि है। इस प्रकार ये दोनों आहुतियाँ अग्नि में ही होती हैं ॥२२॥

इसके चारों ओर रेखा खींचता है, अर्थात् वह इसकी मात्रा नियत करता है, मानो कहता है कि तू इतना बड़ा है ॥२३॥

यह रेखा इसलिए भी खींचता है कि देवों को भय था कि कहीं दुष्ट राक्षस आकर इस अग्नि को हानि न पहुँचावें। उन्होंने उसके चारों ओर दीवार खींच दी। इसी प्रकार यह भी इसके चारों ओर दीवार खींचता है, अभ्रि या खुरपी से। अभ्रि वज्र है। इस प्रकार वह अग्नि की रक्षा के लिए अभ्रि बनाता है। वह रेखा को चारों ओर खींचता है। इससे वह इस वज्र को चारों ओर रक्षक बनाता है। वह तिहरी रेखा खींचता है। इस प्रकार वह इस तिहरे वज्र को रक्षक बनाता है ॥२४॥

"परि वाजपतिः कविः" (यजु० ११।२५)–"परित्वाऽग्ने पुरं वयं" (यजु० ११।२६)– "त्वमग्ने द्युभिः" (११।२७)—इन मन्त्रों में 'परि' शब्द आया है। इस प्रकार 'परि' वाले मन्त्रों से अग्नि की स्तुति करके वह अपने लिए परिखा (रक्षा के निमित्त खाई) बना लेता है। वह

ग्नेयीभिरग्निपुरामेवास्माऽएतत्करोति सा ह्येषाग्निपुरा दीप्यमाना तिष्ठति तिसृभि-
स्त्रिपुरमेवास्माऽएतत्करोति तस्मादु हैतत्पुरां परमꣳ रूपं यत्त्रिपुरꣳ स वै वर्षी-
यसा वर्षीयसा छन्दसा परां-परां लेखां वरीयसीं करोति तस्मात्पुरां परा-परा
वरीयसी लेखा भवन्ति लेखा हि पुरः ॥२५॥ अथैनमस्यां खनति । एतद्वै देवा
अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्माऽइमामेवात्मानम-
कुर्वन्गुप्त्याऽआत्मात्मानं गोप्स्यतीति सा समंबिला स्यात्तदस्येयमात्मा भवति य-
द्वेव समंबिला योनिर्वाऽइयꣳ रेत इदं यद्वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद्भव-
त्यथ यन्न्यूनं व्यृद्धं तदेतद्वै रेतसः समृद्धं यत्समंबिलं चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति
चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यः खनति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.३.] ॥
तृतीयोऽध्यायः [३८.] ॥ ॥

अथैनमतः खनत्येव । एतद्वाऽएनं देवा अनुविद्याखनंस्तथैवैनमयमेतदनुविद्य
खनति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पृथिव्याः सध-
स्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत्खनामीति सवितृप्रसूत एवैनमेतदेताभिर्देवताभिः पृथि-
व्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवत्खनति ॥१॥ ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमिति ।
ज्योतिष्मान्वाऽअयमग्निः सुप्रतीकोऽजस्रेण भानुना दीद्यतमित्यजस्रेणार्चिषा दी-
प्यमानमित्येतच्छिवं प्रजाभ्योऽहिꣳसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत्ख-
नाम इति शिवं प्रजाभ्योऽहिꣳसन्तं पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवत्खनाम इ-
त्येतत् ॥२॥ द्वाभ्यां खनति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य
मात्रा तावतैवैनमेतत्खनत्यथो द्वयꣳ ह्येवैतद्रूपं मृच्चापश्च ॥३॥ स वै खनामि
खनाम इति खनति । खनामीति वाऽएत प्रजापतिरखनत्खनाम इति देवास्त-
स्मात्खनामि खनाम इति ॥४॥ स वाऽअभ्र्या खनन् । वाचा खनामि खनाम
इत्याह वाग्वाऽअभ्रिरारम्भायैवेयं वैणवी क्रियते वाचा वाऽएतमभ्र्या देवा अ-

अग्नि-सम्बन्धी मन्त्रों से ऐसा करता है कि वह अपने लिए अग्नि का किला बनाता है। यह निरन्तर देदीप्यमान रहता है, तीन मन्त्रों से। इस प्रकार तिहरा किला बनाता है। इसी लिए त्रिपुर (तीसरा किला) सबसे अच्छा किला होता है। हर एक अगली रेखा को चौड़ी करता है। इसीलिए किले की बाहरी परिखा बड़ी होती है, क्योंकि रेखा ही परिखा है ॥२५॥

अब वह अग्नि के लिए भूमि को खोदता है। देवों को भय हुआ। उन्होंने सोचा कि कहीं दुष्ट राक्षस इसको यहाँ हानि न पहुँचावें। इसलिए उन्होंने इस पृथिवी को ही अग्नि का आत्मा (शरीर) बनाया, यह सोचकर कि इसका शरीर इसकी रक्षा करेगा। यह (मिट्टी) छिद्र के बराबर होवे। इस प्रकार यह पृथिवी इस अग्नि की रक्षक बन जाती है। यह छिद्र बड़ा क्यों हो? पृथिवी योनि है और यह मिट्टी वीर्य है। जो योनि से बाहर जाता है व्यर्थ जाता है; और जो कम रहता है वह असफल होता है। वीर्य का जो भाग योनि के भीतर जाता है सफल होता है। यह कूप चार कोनों का होता है, क्योंकि चार दिशायें हैं। इसको सभी दिशाओं से खोदता है ॥२६॥

मृत्खननम्, कृष्णाजिनास्तरणम् पुष्करपर्णनिधानादिकञ्च

अध्याय ४—ब्राह्मण १

अब वह (मिट्टी को) उसमें से खोदता ही है। देवों ने उसको पाकर उसमें से खोदा था। इसी प्रकार यह भी इसको पाकर खोदता है, इस मन्त्र से—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि" (यजु० ११।२८)—"तुझ देव सविता की प्रेरणा से अश्विनों के बाहुओं से पूषा के हाथों से पृथिवी के आसन से पुरीष्य अग्नि को अङ्गिरा के समान खोदता हूँ।" अर्थात् सविता की प्रेरणा से इन देवताओं की सहायता से पृथिवी के ऊपर पशु-सम्बन्धी अग्नि को अग्नि के समान खोदता हूँ ॥१॥

"ज्योतिष्मन्तं त्वाऽग्ने सुप्रतीकम्" (यजु० ११।२८)—"हे अग्नि, तुझ चमकीली और सुन्दर को।" अग्नि चमकीली और सुन्दर है ही। "अजस्रेण भानुना दीद्यतम्" (यजु० ११।२८)—"अर्थात् "निरन्तर प्रकाश से चमकती हुई।" "शिवं प्रजाभ्योऽहिँसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः" (यजु० ११।२८)—अर्थात् "कल्याणकारी, प्रजा को क्षति न पहुँचाने-वाले पुरीष्य अग्नि को पृथिवी पर अंगिरा के समान हम खोदते हैं" ॥२॥

दो मन्त्रों से खोदता है। यजमान दो पैर वाला है। अग्नि यजमान है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसको खोदता है। उसके दो ही रूप हैं, मिट्टी और पानी ॥३॥

वह कहता है खनामि (मैं खोदता हूँ) और खनामः (हम खोदते हैं)। 'मैं खोदता हूँ' कहकर प्रजापति ने खोदा था और 'हम खोदते हैं' कहकर देवताओं ने। इसलिए कहता है खनामि, खनामः ॥४॥

अभ्रि से खोदता हुआ वाणी से कहता है खनामि, खनामः। वाणी अभ्रि है। आरम्भ में अभ्रि भी बाँस की बनाई जाती है। वाणीरूपी अभ्रि से ही देवताओं ने खुदाई की थी, इसी

खनंस्तथैवैनमयमेतद्वाचैवाभ्र्या खनति ॥५॥ अथैनं कृष्णाजिने सम्भरति । यज्ञो
वै कृष्णाजिनं यज्ञऽएवैनमेतत्सम्भरति लोमतश्छन्दाꣳसि वै लोमानि छन्दःस्वे-
वैनमेतत्सम्भरति तत्तूष्णीमुपस्तृणाति यज्ञो वै कृष्णाजिनं प्रजापतिर्वै यज्ञोऽनिरु-
क्तो वै प्रजापतिरुत्तरतस्तस्योपरि बन्धुः प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा ॥६॥ अथैन
पुष्करपर्णे सम्भरति । योनिर्वै पुष्करपर्णं योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः
सिच्यते तत्प्रजनिष्णु भवति तन्मन्त्रेणोपस्तृणाति वाग्वै मन्त्रो वाक्पुष्करपर्णम्
॥७॥ अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति । अपाꣳ ह्येतत्पृष्ठं योनिर्ह्येतदग्नेः समुद्रम-
भितः पिन्वमानमिति समुद्रो ह्येतदभितः पिन्वते वर्धमानो महाꣳ२॥ऽआ च पु-
ष्करऽइति वर्धमानो महीयस्व पुष्करऽइत्येतद्दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्वेत्य-
नुविमार्ष्ट्यसौ वाऽआदित्य एषोऽग्निर्नो ह्येतमन्यो दिवो वरिमा यन्तुमर्हति द्यौर्भू-
त्वेमं यच्छेत्येवैतदाह ॥८॥ तदुत्तरं कृष्णाजिनादुपस्तृणाति । यज्ञो वै कृष्णाजिन-
मियं वै कृष्णाजिनमियमु वै यज्ञोऽस्याꣳ हि यज्ञस्तायते द्यौष्पुष्करपर्णमापो वै
द्यौरापः पुष्करपर्णमुत्तरो वाऽअसावस्यै ॥९॥ अथैनेऽअभिमृशति । संज्ञामेवा-
ऽभ्यामेतत्करोति शर्म च स्थो वर्म च स्थ इति शर्म च ह्यस्यैते वर्म चाछिद्रे ब-
हुलेऽउभेऽइत्यछिद्रे ह्येते बहुलेऽउभे व्यचस्वती संवसाथामित्यवकाशवती सं-
वसाथामित्येतद्भृतमग्निं पुरीष्यमिति बिभृतमग्निं पशव्यमित्येतत् ॥१०॥ संवसा-
थाꣳ स्वर्विदा । समीचीऽउरसा त्मनेति संवसाथामेनꣳ स्वर्विदा समीचीऽउरसा
चात्मना चेत्येतदग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमिदित्यसौ वाऽआदित्य एषो
ऽग्निः स एष ज्योतिष्मानजस्रस्तमेतेऽअन्तरा बिभृतस्तस्मादाह ज्योतिष्मन्तमजस्र-
मिदिति ॥११॥ द्वाभ्यामभिमृशति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्य-
स्य मात्रा तावतैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोत्यथो द्वयꣳ ह्येवैतद्रूपं कृष्णाजिनं च पुष्क-
रपर्णं च ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥२ [४.१.] ॥॥

प्रकार यह भी अभ्रि-वाणी से खुदाई करता है ॥५॥

अब वह इसे कृष्णाजिन (मृगचर्म) में भरता है। कृष्णाजिन यज्ञ है, अर्थात् यज्ञ में ही वह इसको भरता है, उस ओर जिधर बाल होते हैं। बाल छन्द हैं। इस प्रकार वह छन्द में ही उसको भरता है। वह चुपके-से फैलाता है। यज्ञ ही मृगचर्म है। प्रजापति यज्ञ है। प्रजापति अनिश्चित है। उसके उत्तर की ओर रखता है। इसके विषय में आगे आवेगा। चर्म का गर्दन-वाला सिर आगे रहता है, क्योंकि इसी प्रकार देवों के प्रति ॥६॥

अब इसको कमल के पत्ते में भरता है। कमला का पत्ता योनि है। योनि में वह वीर्य सींचता है। और योनि में गया हुआ वीर्य उत्पन्न होता है। वह एक मन्त्र से फैलाता है, क्योंकि मन्त्र वाक् है और कमल का पत्ता भी वाक् है ॥७॥

"अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः" (यजु० ११।२९)—"तू जलों की पीठ है और अग्नि की योनि।" "समुद्रमभितः पिन्वमानम्" (यजु० ११।२९)—"उठते हुए समुद्र के चारों ओर।" क्योंकि समुद्र ही चारों ओर उठता है। "वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्करे" (यजु० ११।२९)—"तू कमल पर जोर से बढ़ता हुआ" अर्थात् तू कमल के पत्ते पर बढ़े। "दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व" (यजु० ११।२९)—"द्यौ की मात्रा से चौड़ाई में बढ़।" यह कहकर वह उसे फैलाता है। यह जो आदित्य है वही अग्नि है, और वस्तुतः उसको द्यौलोक की चौड़ाई के सिवाय और कोई नहीं धारण कर सकता, इसका अर्थ यह है कि द्यौ बनकर इसको धारण कर ॥८॥

इसको मृगचर्म के ऊपर फैलाता है, क्योंकि मृगचर्म यज्ञ है और पृथिवी यज्ञ है, क्योंकि पृथिवी पर ही यज्ञ रचा जाता है। कमल द्यौ है, जल भी द्यौ हैं और पुष्करपर्ण (कमल के पत्ते) भी जल हैं। और वह द्यौ पृथिवी के ऊपर है ॥९॥

अब इन दोनों को छूता है। इस प्रकार इन दोनों में मैत्री कराता है—"शर्म च स्थो वर्म च स्थ" (यजु० ११।३०)—"आप शर्म हैं, आप वर्म हैं।" "अछिद्रे बहुले उभे" (यजु० ११।३०)—"आप दोनों छिद्ररहित और बड़े हैं।" "व्यचस्वती संवसाथाम्" (यजु० ११।३०)—अर्थात् "आप बड़े, रक्षा करें।" "भृतमग्निं पुरीष्यम्" (यजु० ११।३०)—"पुरीष्य अग्नि को धारण करते हुए" ॥१०॥

"संवसाथाँ स्वर्विदा समीची ऽउरसात्मना। (यजु० ११।३१)—"हे ज्योति को लाभ करनेवालो, भली प्रकार छाती से छाती लगाकर मिलो।" "अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तम-जस्रमित्" (यजु० ११।३१)—"यह यूयं ही अग्नि है। वह ज्योतिवाला है और निरन्तर रहने-वाला भी है। और ये दोनों इसी को अपने में धारण करते हैं।" इसलिए कहा 'ज्योतिवाला और निरन्तर रहनेवाला' ॥११॥

वह इनको दो मन्त्रों से छूता है। यजमान के दो पैर होते हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह इनमें मैत्री कराता है। इसके दो रूप हैं, मृग का चर्म और कमलपत्र ॥१२॥

अथ मृत्पिण्डमभिमृशति । पुरीष्योऽसीति पशव्योऽसीत्येतद्विश्वभरा इत्येष हीदꣳ सर्वं बिभर्त्यथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्नऽइति प्राणो वाऽअथर्वा प्राणो वाऽएतमग्रे निरमन्थत्तद्योऽसावग्रेऽग्निरसृज्यत सोऽसीति तदाह तमेवैनमेतत्करोति ॥१॥ अथैनं परिगृह्णाति । अभ्र्या च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतस्त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थतेत्यापो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा प्राणो वाऽएतमग्रेऽद्भ्यो निरमन्थन्मूर्ध्नो विश्वस्य वाघत इत्यस्य सर्वस्य मूर्ध्न इत्येतत् ॥२॥ तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः । पुत्र ईधेऽअथर्वण इति वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः स एनं तत ऐन्द्ध वृत्रहणं पुरंदरमिति पाप्मा वै वृत्रः पाप्महनं पुरंदरमित्येतत् ॥३॥ तमु त्वा पाथ्यो वृषा । समीधे दस्युहन्तममिति मनो वै पाथ्यो वृषा स एनं तत ऐन्द्ध धनंजयꣳ रणे-रणऽइति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥४॥ गायत्रीभिः । प्राणो गायत्री प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति तासां नव पदानि नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥५॥ अथैते त्रिष्टुभाऽउत्तरे भवतः । आत्मा वै त्रिष्टुबात्मानमेवास्यैताभ्याꣳ संस्करोति सीद होत स्वऽउ लोके चिकित्वानित्यग्निर्वै होता तस्यैष स्वो लोको यत्कृष्णाजिनं चिकित्वानिति विद्वानित्येतत्सादया यज्ञꣳ सुकृतस्य योनाविति कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिर्देवावीर्देवान्हविषा यजासीति देवः सन्देवानवन्हविषा यजासीत्येतदग्ने बृहद्यजमाने वयो धा इति यजमानायाशिषमाशास्ते ॥६॥ नि होता होतृषदने विदान इति । अग्निर्वै होता कृष्णाजिनꣳ होतृषदनं विदान इति विद्वानित्येतत्त्वेषो दीदिवाँ२ऽअसदत्सुदक्ष इति त्वेषो दीप्यमानोऽसदत्सुदक्ष इत्येतददब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठ इत्यदब्धव्रतप्रमतिर्ह्येष वसिष्ठः सहस्रंभरः शुचिजिह्वोऽअग्निरिति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वम्भरः शुचिजिह्वोऽग्निरित्येतद्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां त्रिष्टुब्भ्यां तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥ अथैषा बृहत्युत्तमा भ-

अध्याय ४—ब्राह्मण २

अब इस मन्त्र से मिट्टी के पिण्ड को छूता है—"पुरीष्योऽसि" (यजु० ११।३२)—अर्थात् "तू पशुओं का मित्र है।" "विश्वम्भरा" (यजु० ११।३२)—क्योंकि "सबका पालन करता है।" "अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने" (यजु० ११।३२)—"हे अग्नि, तुझको अथर्वा ने पहलेपहल प्रदीप्त किया।" प्राण अथर्वा है। प्राण ने ही पहले इसको मथा। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि तू वही अग्नि है जो पहलेपहल मथा गया। इस पिण्ड को भी उसी अग्नि के समान बनाता है ॥१॥

अब इसको लेता है। दाहिनी ओर दाहिना हाथ और खुर्पी, बाईं ओर बायाँ हाथ। "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत" (यजु० ११।३२)—"हे अग्नि, अथर्वा ने तुझको पुष्कर से मथकर निकाला।" पुष्कर है जल, अथर्वा है प्राण। प्राण ने ही पहले जल में से अग्नि को निकाला। "मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः" (यजु० ११।३२)—"सबके मेधावी सिर से" अर्थात् इस सब संसार के सिर से ॥२॥

"तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे ऽ अथर्वणः" (यजु० ११।३३)—"उस तुझको अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने प्रज्वलित किया।" अथर्वा का पुत्र दध्यङ् वाणी है। उसी ने इसे इसमें से प्रज्वलित किया। "वृत्रहणं पुरन्दरम्" (यजु० ११।३३)—"पुरन्दर वृत्रहन् को।" पाप वृत्र है। पुरन्दर पापनाशक है ॥३॥

"तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्" (यजु० ११।३४)—"पाथ्यवृषा ने तुझ दस्यु के नाशक को प्रज्वलित किया।" "धनञ्जयं रणेरणे" (यजु० ११।३४)—"हर युद्ध में धन जीतनेवाले को।" इसका अर्थ स्पष्ट है ॥४॥

गायत्रियों से। प्राण गायत्री है। प्राण को ही इसमें धारण कराता है, तीन मन्त्रों से। प्राण तीन हैं—प्राण, उदान, व्यान। उन्हीं को उसमें धारण कराता है। इनके नौ पाद हुए। नौ ही प्राण हैं—सात सिर में और दो नीचे। उन्हीं को उसमें धारण कराता है ॥५॥

ये दो अगले मन्त्र (यजु० ११।३५, ३६) त्रिष्टुम् हैं। त्रिष्टुम् आत्मा है। इन दो मन्त्रों से वह उसके आत्मा को बनाता है। "सीद होतः स्व ऽ उ लोके चिकित्वान्" (यजु० ११।३५)—"हे विद्वान् होता, अपने स्थान पर बैठ।" अग्नि ही होता है। यह जो मृगचर्म है, वह उसका स्थान है। चिकित्वान् का अर्थ है विद्वान्। "सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ" (यजु० ११।३५)—"पुण्य के स्थान में यज्ञ को रख।" मृगचर्म सुकृत की योनि है। "देवावीर्देवान् हविषा यजासि" (यजु० ११।३५)—"देव को प्रसन्न करनेवाला तू देवों को हवियों से सन्तुष्ट करता है।" "अग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः" (यजु० ११।३५)—"हे अग्नि, यजमान में बहुत पराक्रम दे।" इससे वह यजमान को आशीर्वाद देता है ॥६॥

"नि होता होतृषदने विदानः" (यजु० ११।३६)—"जानकार होता होता के स्थान में।" अग्नि होता है, मृगचर्म होता का आसन, विदान का अर्थ है विद्वान्। "त्वेषो दीदिवाँ२ ऽ असदत्सुदक्षः" (यजु० ११।३६)—"सुदक्ष कान्तिवान् और तेजस्वी बैठा।" दीदिवान् का अर्थ है दीप्यमान। "अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः" (यजु० ११।३६)—वस्तुतः यह 'अदब्धव्रत अर्थात् निर्विघ्न व्रतों का 'प्रमति' रक्षक है, और वसिष्ठ (सबसे अधिक धनवान्। "सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो ऽ अग्निः" (यजु० ११।३६)—"हजारों का पालन करनेवाला, चमकीली जीभोंवाला अग्नि।" सहस्र का अर्थ है सब, इसलिए सबका पालक। इन दो अग्नि-सम्बन्धी त्रिष्टुम् यजुओं से यज्ञ करता है। इसका अर्थ आ चुका ॥७॥

अब अन्तिम ऋचा बृहती है।

वति । बृहतीं वाऽएष संचितोऽभिसम्पद्यते यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते ता-
दृग्जायते तद्यदेतामत्र बृहतीं करोति तस्मादेष संचितो बृहतीमभिसम्पद्यते ॥८॥
सꣳसीदस्व महाꣳ२॥ऽअसीति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तꣳ सꣳसादयति तस्माद्योनौ रे-
तः सिक्तꣳ सꣳसीदति शोचस्व देववीतम इति दीप्यस्व देववीतम इत्येतद्वि धू-
ममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतमिति यदा वाऽएष समिध्यतेऽथैष धूमम-
रुषं विसृजते दर्शतमिति ददृशऽइव ह्येषः ॥९॥ ताः षट् सम्पद्यन्ते । षडृतवः
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति यद्वेव संवत्सरम-
भिसम्पद्यते तद्बृहतीमभिसम्पद्यते बृहती हि संवत्सरो द्वादश पौर्णमास्यो द्वाद-
शाष्टका द्वादशामावास्यास्तत्षट्त्रिꣳशत्षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहती तं दक्षिणात उदञ्च-
माहरति दक्षिणतो वाऽउदग्योनौ रेतः सिच्यतऽएषोऽअस्यैतर्हि योनिरविच्छेद-
माहरति रेतसोऽविच्छेदाय ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [४. २.] ॥ ॥

अथ तत्राप उपनिनयति । यद्वाऽअस्यै क्षतं यद्विलिष्टमद्भिर्वै तत्संधीयतेऽद्भि-
रेवास्याऽएतत्क्षतं विलिष्टꣳ संतनोति संदधाति ॥१॥ अपो देवीरुपसृज । म-
धुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्य इति रसो वै मधु रसवतीरयक्ष्माय प्रजाभ्य इत्येतत्ता-
सामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पला इत्यपां वाऽआस्थानादुज्जिहतऽओषध-
यः सुपिप्पलाः ॥२॥ अथैनां वायुना संदधाति । यद्वाऽअस्यै क्षतं यद्विलिष्टं वा-
युना वै तत्संधीयते वायुनैवास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ संतनोति संदधाति ॥३॥
सं ते वायुर्मातरिश्वा दधात्विति । अयं वै वायुर्मातरिश्वा योऽयं पवतऽउत्ता-
नाया हृदयं यद्विकस्तमित्युत्तानाया ह्यस्या एतद्धृदयं विकस्तं यो देवानां चरसि
प्राणथेनेत्येष हि सर्वेषां देवानां चरति प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यमिति
प्रजापतिर्वै कस्तस्माऽएवैतदिमां वषट्करोति नो ह्येतावत्यन्याहुतिरस्ति यथैषा
॥४॥ अथैनां दिग्भिः संदधाति । यद्वाऽअस्यै क्षतं यद्विलिष्टं दिग्भिर्वै तत्संधीयते

यह वेदी पूरी होकर बृहती हो जाती है। योनि में जैसा वीर्य सींचा जाता है वैसी उत्पत्ति होती है। अब चूँकि वह इसको बृहती बनाता है, इसलिए यह वेदी भी पूर्ण होकर बृहती हो जाती है ॥८॥

"स ँ सीदस्व महाँ२ ऽअसि" (यजु० ११।३७)—"बैठ, तू महान् है।" सींचे हुए वीर्य को स्थापित कराता है, जिससे योनि में वीर्य बैठ जाय। "शोचस्व देववीतमः" (यजु० ११।३७)—"हे देवों को संतुष्ट करनेवाले, चमक।" "वि धूममग्ने ऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्"—"हे अपने को दर्शानेवाले अग्नि, अपने लाल धुएं को छोड़।" क्योंकि जब अग्नि जलता है तो लाल धुएँ को छोड़ता है। दर्शतम् का अर्थ है अपने को दिखाने की इच्छा करनेवाला ॥६॥

ये छः मन्त्र होते हैं। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह होता है। जो संवत्सर होता है वह बृहती भी होता है। संवत्सर बृहती है— बारह पूर्णमासी, बारह अष्टमी, बारह अमावस्या, ये छत्तीस हुए। बृहती में ३६ अक्षर होते हैं। मिट्टी के पिण्ड को दाहिनी ओर से बाईं ओर ले जाते हैं, क्योंकि वीर्य भी दाईं ओर से बाईं ओर सींचा जाता है। यह अग्नि की योनि है। वह निरन्तर ले जाता है जिससे वीर्य का विच्छेद न हो ॥१०॥

उदकनिनयनादि

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

उस (छिद्र, जहाँ से मृत् पिण्ड को खोदा गया था) में पानी डालता है। जहाँ जब कोई घाव हो ज़ाता है वह जलों से ठीक हो जाता है। इस पृथिवी में जो घाव हो गया है, उसको भी वह जल डालकर ठीक करता है और जोड़ता है ॥१॥

"अपो देवीरूपसृज। मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः" (यजु० ११।३८)—"दिव्य मधु-युक्त जलों को बहाओ, नीरोगता तथा प्रजाओं के लिए।" मधु का अर्थ है रस अर्थात् रसयुक्त; नीरोगता के लिए और सन्तान के लिए। "तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः" (यजु० ११।३८)—"उनके स्थान से फलवती ओषधियाँ उत्पन्न हों।" जलों के स्थान से ही फलवती ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं ॥२॥

इसको वायु के द्वारा चंगा करता है। इस पृथिवी में जो कुछ घाव हो जाता है वह वायु द्वारा ठीक हो जाता है। इस घाव को भी वह वायु के द्वारा ही चंगा करता है ॥३॥

"सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातु" (यजु० ११।३९)—"यह जो बहता है, यही वायु मातरिश्वा है।" "उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्" (यजु० ११।३९)—"फैली हुई पृथिवी का हृदय जो खुल रहा है।" यह छिद्र फैली हुई पृथिवी का हृदय तो है ही। "यो देवानां चरसि प्राणथेन" (यजु० ११।३९)—"जो देवों के प्राण के द्वारा चलता है।" क्योंकि वायु देवों के प्राण से ही चलता है। "कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्" (यजु० ११।३९)—"तुझ 'क' (प्रजापति) के लिए वषट् (कल्याण) हो।" 'क' प्रजापति है। उसी के लिए यह वषट्कार है। क्योंकि अब तक जैसी यह आहुति है वैसी अन्य नहीं ॥४॥

अब उसको दिशाओं के द्वारा चंगा करता है। पृथिवी में जो घाव हो जाता है वह

दिग्भिरेवास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ संतनोति संदधाति स इमां चेमां च दिशौ संदधाति तस्मादेते दिशौ सꣳहितेऽअथेमां चेमां च तस्माद्वेवैते सꣳहितेऽइत्यग्रे ऽथेति अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रानयानया वै भेषजं क्रियतेऽनयैवैना-मेतद्भिषज्यति ॥५॥ अथ कृष्णाजिनं च पुष्करपर्णं च समुद्गृह्णाति । योनिर्वै पुष्क-रपर्णं योन्या तद्रेतः सिक्तꣳ समुद्गृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तꣳ समुद्गृह्यते सु-ज्ञातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वरिति सुज्ञातो ह्येष ज्योतिषा सह शर्म चैतद्वरूथं च स्वश्चासीदति ॥६॥ अथैनमुपनह्यति । योनौ तद्रेतो युनक्ति तस्मा-द्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते योक्त्रेण योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति मौञ्जेन त्रिवृ-ता तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥ तत्पर्यस्यति । वासोऽअग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभा-वसविति वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यमेवैनदेतत्कृत्वा यथा वासः परिधापयेदेवं परिधापयति ॥८॥ अथैनमादायोत्तिष्ठति । असौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरमुं तदा-दित्यमुत्थापयत्युदु तिष्ठ स्वधरेत्यधरो वै यज्ञ उदु तिष्ठ सुयज्ञियेत्येतद्वा नो दे-व्या धियेति या ते दैवी धीस्तया नोऽवेत्येतद्दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिरिति दर्शनाय च भासा बृहता सुशुक्वनिरित्येतदाग्ने याहि सुशस्तिभिरिति ये वोढार-स्ते सुशस्तय आग्ने याहि वोढृभिरित्येतत् ॥९॥ अथैनमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णाति । असौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावा-दित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ् धीयतऽऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सवितेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरूर्ध्वो वाजस्य सनितेत्यूर्ध्वो वाऽएष तिष्ठन्वाजमन्नꣳ सनोति यदञ्जि-भिर्वाघद्भिर्विह्वयामहऽइति रश्मयो वाऽएतस्याञ्जयो वाघतस्तानेतदाह परोबा-हु प्रगृह्णाति परोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरति तमुपावहृत्योपरिनाभि धार-यति तस्योपरि बन्धुः ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [४. ३.] ॥ ॥

हस्तऽएष भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते । एतद्वाऽएषु देवाः सम्भरिष्यन्तः पुरस्ता-

दिशाओं द्वारा भर जाता या ठीक हो जाता है। पृथिवी के इस छिद्र को भी दिशाओं द्वारा ठीक करता है। वह इस और इस दिशा को जोड़ता है। इसीसे तो ये दिशाएँ जुड़ी हुई हैं। फिर यह और यह दिशा जोड़ता है। ये दो दिशाएं भी जुड़ी हुई हैं। इसी प्रकार यों, यों, फिर यों। यह दक्षिण की ओर घूमता है। यहाँ तक कि देवों तक पहुँच जाता है। इसी से औषध बनता है। इसी से चंगा किया जाता है ।।५।।

अब मृगचर्म और कमल-पत्र को लेता है। कमल-पत्र योनि है। सींचे हुए वीर्य को योनि से ही ग्रहण करता है। "सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः" (यजु० ११।४०)—"ठीक तौर से उत्पन्न हुआ ज्योति के साथ कल्याण में स्थित।" वह सुजात तो है ही और ज्योति के साथ, कल्याण और प्रकाश में ठहरता है ।।६।।

वह उसको बांधता है। योनि में जो वीर्य जुड़ जाता है तो वह निकल नहीं भागता। रस्सी से; रस्सी से ही बैल बाँधे जाते हैं—तिहरी मूंज से। यह हो चुका ।।७।।

वह इस मन्त्र से लपेटता है—"वासो ऽ अग्ने विश्वरूपँ संव्ययस्व विभावसो" (यजु० ११।४०)—"हे अग्नि, अपने को इस विश्वरूप वस्त्र में बाँध।" यज्ञ में रस्सी वरुण की होती है। उसको अवरुण्य करके वस्त्र के समान धारण कराता है ।।८।।

अब उसको लेकर उठता है। यह आदित्य ही अग्नि है। इस प्रकार यह उस आदित्य को उठाता है—"उदु तिष्ठ स्वध्वरे" (यजु० ११।४१)—अध्वर यज्ञ है, इसका तात्पर्य है कि "यज्ञ में उठ।" "अवा नो देव्या धिया" (यजु० ११।४१)—"हमारी दैवी बुद्धि के द्वारा रक्षा कर।" अर्थात् जो तेरी बुद्धि है उससे हमारी रक्षा कर। "दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिः" (यजु० ११।४१)—"अर्थात् दर्शन के लिए बहुत ही तेज तथा चमक के साथ।" "अग्ने याहि सुशस्तिभिः (यजु० ११।४१)—"हे अग्नि, प्रशस्तियों के साथ आओ।" सुशस्ति घोड़े हैं। इन घोड़ों पर चढ़कर आ ।।९।।

अब वह इसको पूर्व की ओर उठाता है। यह जो अग्नि है वह आदित्य है। इस प्रकार इस आदित्य को ही पूर्व की ओर ऊपर उठाता है। "ऊर्ध्व ऽ ऊषु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता" (यजु० ११।४१)—"सविता देव के समान हमारे कल्याण के लिए उठ।" जैसा यजु है वैसा उसका तात्पर्य है। "ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता" (यजु० ११।४२)—"ऊर्ध्व और शक्ति देनेवाला।" क्योंकि आदित्य ऊर्ध्व होकर शक्ति देता है। "यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे" (यजु० ११।४२)—"प्रकाशमय याज्ञिकों के साथ हम आवाहन करते हैं।" अंजिभिः वाघद्भिः का अर्थ है रश्मियाँ, इसलिए ऐसा कहा। वह भुजाओं से ऊपर उठाता है। यह सूर्य भी तो भुजाओं से ऊपर है। फिर वह नीचे को कर लेता है। नीचे को करके नाभि तक लाता है। इसका अर्थ आगे आयेगा ।।१०।।

अश्वादिपञ्चपशूनामभिमन्त्रणादि

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

हाथ में इस मिट्टी (मिट्टी के पिण्ड) को लिये हुए ही पशुओं को सम्बोधित करता है। क्योंकि जैसे पहले देवों ने (अग्नि को) ठीक करने के लिए (पशुओं में) पराक्रम भरा था, इसी

द्वीर्यमदधुस्तथैवैष्वयमेतत्सम्भरिष्यन्पुरस्ताद्वीर्यं दधाति ॥१॥ सोऽश्वमभिमन्त्रयते । स जातो गर्भोऽअसि रोदस्योरितीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी तयोरेष जातो गर्भोऽग्ने चारुर्विभृत ओषधीष्विति सर्वासु ह्येष चारुर्विभृत ओषधिषु चित्रः शिशुः परि तमाꣳस्यक्तूनिति चित्रो वाऽएष शिशुः परेण तमाꣳस्यक्तूनतिरोचते प्र मातृभ्योऽअधि कनिक्रदद्गा इत्योषधयो वाऽएतस्य मातरस्ताभ्य एष कनिक्रदत्प्रैति तदश्वे वीर्यं दधाति ॥२॥ अथ रासभꣳ । स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्निति स्थिरश्च भव वीड्वङ्गश्चाशुश्च भव वाजी चार्वन्नित्येतत्पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहण इति पृथुर्भव सुशीमस्त्वमग्नेः पशव्यवाहन इत्येतत्तद्रासभे वीर्यं दधाति ॥३॥ अथाजꣳ । शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिर इत्यङ्गिरा वाऽअग्निराग्नेयोऽजः शमयत्येवैनमेतदहिꣳसायै मा द्यावापृथिवीऽअभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीनित्येतत्सर्वं मा हिꣳसीरित्येतत्तदजे वीर्यं दधाति ॥४॥ त्रिभिरभिमन्त्रयते । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैष्वेतद्वीर्यं दधाति ॥५॥ अथैनमेतेषां पशूनामुपरिष्टात्प्रगृह्णाति । तदेनमेतैः पशुभिः सम्भरति नोपस्पृशति वज्रो वै पशवो रेत इदं नेदिदꣳ रेतो वज्रेण हिनसानीत्यथोऽअग्निरयं पशव इमे नेदयमग्निरिमान्पशून्हिनसदिति ॥६॥ तमश्वस्योपरिष्टात्प्रगृह्णाति । प्रैतु वाजी कनिक्रददिति प्रैतु वाजी कनिक्रन्द्यमान इत्येतन्नानदद्रासभः पत्वेति तदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरेति भरन्नग्निं पशव्य मोऽअस्मात्कर्मणः पुरा पादीत्येतत्तदेनमश्वेन सम्भरति ॥७॥ अथ रासभस्य । वृषाग्निं वृषणं भरन्निति वृषा वाऽअग्निर्वृषा रासभः स वृषा वृषाणं भरत्यपां गर्भꣳ समुद्रियमित्यपाꣳ ह्येष गर्भः समुद्रियस्तदेनꣳ रासभेन सम्भरति ॥८॥ अथापादत्ते । अग्नऽआयाहि वीतयऽइत्यवितवऽइत्येतत्तदेनं ब्रह्मणा यजुषैतस्माच्छौद्राद्वर्णादपादत्ते ॥९॥ अथाजस्य । ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमित्ययं वा

प्रकार यह भी (अग्नि को) ठीक करने के लिए इन (पशुओं) में पराक्रम भरता है ॥१॥

वह घोड़े से कहता है—"स जातो गर्भो ऽ असि रोदस्योः" (यजु० ११।४३, ऋ० १०।१।२) "तू इन दोनों लोकों का उत्पन्न हुआ गर्भ है।" रोदसी हैं ये पृथिवी और द्यौः। उनको यह उत्पन्न हुआ गर्भ है। "अग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु" (यजु० ११।४३)—"हे सुन्दर अग्नि, ओषधियों द्वारा धारण किया हुआ।" क्योंकि यह ओषधियों में व्यापक है ही। "चित्रः शिशुः परि तमाᳬस्यक्तून्" (यजु० ११।४३)—"रात्रि तथा अन्धेरे में रंगबिरंग शिशु।" "प्रमातृभ्यो ऽ अधि कनिक्रदद् गाः" (यजु० ११।४३)—"तू शोर करता हुआ माताओं के पास से गया।" ओषधियाँ उसकी मातायें हैं। वह इनसे शोर करता हुआ भागता है। इस प्रकार वह घोड़े में पराक्रम देता है ॥२॥

अब वह गधे से कहता है—"स्थिरो भव वीड्वङ्ग ऽ आशुर्भव वाज्यर्वन्" (यजु० ११।४४)—"हे दृढ़ अंगोंवाले, वीर्यवान् स्थिर और शीघ्रगामी हो।" "पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः" (यजु० ११।४४)—"अग्नि के सामान को ले चलनेवाले, तू चौड़ा-चकला तथा अच्छे स्थानवाला हो।" इस प्रकार वह गधे में पराक्रम भरता है ॥३॥

अब बकरे से कहता है—"शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः" (यजु ११।४५)—"हे अङ्गिरा, मनुष्यों के लिए कल्याणकारी हो" अग्नि अंगिरा है। बकरा अग्नि का है। वह उसको शान्त करता है कि कहीं उससे हानि न पहुँचे। "मा द्यावापृथिवी ऽ अभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्" (यजु० ११।४५)—"द्यौ और पृथिवी को मत सुखा, न अन्तरिक्ष को न वनस्पतियों को" अर्थात् हानि न पहुँचा। इस प्रकार वह बकरे में पराक्रम भरता है ॥४॥

तीन मन्त्रों से सम्बोधन करता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसमें पराक्रम देता है ॥५॥

अब इस (मिट्टी के पिण्डरूपी अग्नि) को पशुओं के ऊपर करता है। इस प्रकार वह इसको पशुओं से युक्त करता है। उनको छूता नहीं। पशु वज्र हैं, और मिट्टी वीर्य है। कहीं वज्र से वीर्य को हानि न पहुँचा दे। यह अग्नि इन पशुओं को हानि पहुँचावे, क्योंकि यह मृत् पिण्ड अग्नि है और ये पशु हैं—॥६॥

उसको घोड़े के ऊपर इस मन्त्र से उठाता है—"प्रैतु वाजी कनिक्रदद्" (यजु० ११।४६)—"घोड़ा हिनहिनाता चले।" "नानदद्रासभः पत्वा" (यजु० ११।४६)—"गधा रेंकता हुआ।" घोड़े के मन्त्र में गधे का जिक्र करता है। इस प्रकार गधे को रंज देता है। "भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा" (यजु० ११।४६)—"पुरीष्य अग्नि को ढोता हुआ पूरी आयु से पहले मत गिर।" अर्थात् पशु-हितकारी अग्नि को ढोता हुआ इस पवित्र कार्य से पहले मत नष्ट हो। इस प्रकार वह अग्नि को घोड़े से युक्त करता है ॥७॥

अब गधे को—"वृषाग्निं वृषणं भरन्" (यजु० ११।४६)—"नर अग्नि नर को धारण करते हुए।" अग्नि नर है और गधा भी नर है। नर नर को ले जाता है। "अपां गर्भं समुद्रियम्" (यजु० ११।४६)—"जलों का समुद्रोत्पन्न गर्भ।" यह जलों का समुद्रोत्पन्न गर्भ है ही। इस प्रकार गधे को ठीक करता है (सजाता है) ॥८॥

अब इसको हटा लेता है। "अग्न ऽ आयाहि वीतये" (यजु० ११।४६)—"हे अग्नि, वीति अर्थात् अवितु (प्रसन्नता) के लिए आ।" इस प्रकार यजुरूपी ब्राह्मण के द्वारा वह इसको शूद्र वर्ण से हटा लेता है ॥९॥

अब बकरे के ऊपर—"ऋतᳪ सत्यमृतᳪ सत्यम्" (यजु० ११।४७)—"ऋत सत्य है, अमृत सत्य है।" यह अग्नि ऋत है। यह आदित्य सत्य है। या आदित्य ऋत है, अग्नि सत्य है

ऽअग्निर्ऋतमसावादित्यः सत्यं यदि वासावृतमयꣳ सत्यमुभयम्वेतदयमग्निस्तस्मादाह ऽर्तꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमिति तदेनमन्नेन सम्भरति ॥१०॥ त्रिभिः सम्भरति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्सम्भरति त्रिभिः पुरस्तादभिमन्त्रयते तत्षट् तस्योक्तो बन्धुः ॥११॥ अथैनान्पशूनावर्तयन्ति । तेषामजः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाश्वोऽथेतो यतामश्वः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाजः क्षत्रं वाऽअन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानु रासभो ब्राह्मणमजः ॥१२॥ तद्यदितो यताम् । अश्वः प्रथम एति तस्मात्क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्त्यथ यदमुत आयतामजः प्रथम एति तस्माद्ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्त्यथ यन्नेवेतो यतां नामुतो रासभः प्रथम एति तस्मान्न कदा चन ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च वैश्यं च शूद्रं च पश्चादन्वितस्तस्मादेवं यन्त्यपापवस्यसायाथो ब्रह्मणा चैवैतत्क्षत्रेण चैतौ वर्णावभितः परिगृह्णीतेऽनपक्रमिणौ कुरुते ॥१३॥ अथानद्धापुरुषमीक्षते । अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भराम इत्यग्निं पशव्यमग्निवद्भराम इत्येतत्तदेनमनद्धापुरुषेण सम्भरति ॥१४॥ तमजस्योपरिष्टात्प्रगृह्णन्नेति । आग्नेयो वाऽअजः स्वेनैवैनमेतदात्मना स्वया देवतया सम्भरत्यथो ब्रह्म वाऽअजो ब्रह्मणैवैनमेतत्सम्भरति ॥१५॥ अथैनमुपावहरति । ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्मा इत्येतद्वैतस्मादायत ओषधयो बिभ्यति यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति ताभ्य एवैनमेतच्छमयति प्रत्येनं मोदध्वꣳ शिवो वोऽभ्येतीति न वो हिꣳसिष्यतीति व्यस्यन्विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नोऽअप दुर्मतिं जहीति व्यस्यन्विश्वा अनिराश्चामीवाश्च निषीदन्नोऽप सर्वं पाप्मानं जहीत्येतत् ॥१६॥ ओषधयः प्रतिगृभ्णीत । पुष्पवतीः सुपिप्पला इत्येतद्वैतासाꣳ समृद्धꣳ रूपं यत्पुष्पवत्यः सुपिप्पलाः समृद्धा एनं प्रतिगृह्णीतेत्येतदयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासददित्ययं वो गर्भ ऋतव्यः सनातनꣳ सधस्थमासददित्येतत् ॥१७॥ द्वाभ्यामुपावहरति । द्विपाद्यज-

परन्तु यह अग्नि दोनों है, ऋत भी सत्य भी। इसलिए कहा 'ऋत सत्य है, अमृत सत्य है'। इस प्रकार वह बकरे को सुसज्जित करता है ॥१०॥

अग्नि को तीन (पशुओं) द्वारा सजाता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसको सजाता है। पहले तीन मन्त्रों से (पशुओं का) अभि-मन्त्रण किया था। इस प्रकार छः हो गये। इसका महत्त्व पहले वर्णन हो चुका है ॥११॥

अब वह पशुओं को लौटाता है। इनमें बकरा पहला था, फिर गधा, फिर घोड़ा। लौटकर जानेवालों में घोड़ा पहला, फिर गधा, फिर बकरा। घोड़ा क्षत्रिय है, गधा वैश्य और शूद्र, बकरा ब्राह्मण ॥१२॥

इधर से जाते हुए घोड़ा पहला था, इसलिए पहले क्षत्रिय चलता है और शेष तीनों वर्ण उसके पीछे चलते हैं। लौटते हुए बकरा पहले चलता है, इसलिए ब्राह्मण पहले चलता है और शेष तीन वर्ण उसके पीछे चलते हैं। और चूंकि गधा न इधर से पहले चलता है न उधर से, इस-लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र के पीछे कभी नहीं चलते। इसलिए पाप और पुण्य की गड़बड़ हटाने के लिए इस प्रकार चलते हैं। एक ओर से ब्राह्मण और दूसरी ओर क्षत्रिय से वह इन दोनों (वैश्य, शूद्र) वर्णों को घेर लेता है और उनको वश में कर लेता है ॥१३॥

अब वह बनावटी पुरुष की ओर देखता है— "अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः" (यजु० ११।४७)—यहाँ पुरीष्य का अर्थ है पशु-सम्बन्धी। इस प्रकार वह इसको बनावटी पुरुष (अनद्धा पुरुष) से सुसज्जित करता है ॥१४॥

अब (अध्वर्यु) उस बकरे के ऊपर (मिट्टी के पिण्ड को) उठाए हुए निकट आता है। बकरा अग्नि का है। इस प्रकार वह इसको इसी के देवता द्वारा सुसज्जित करता है। या बकरा ब्राह्मण है, इसको ब्राह्मण से ही सुसज्जित करता है ॥१५॥

अब वह उनको इस मन्त्र से नीचे को कर लेता है—"ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतं-शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः" (यजु० ११।४७)—"हे ओषधियो, इस कल्याणकर अग्नि को इधर आते हुए स्वागत करो।" ओषधियों को भय है कि यह मुझे हानि न पहुँचावे। उन्हीं के लिए वह इसको सन्तुष्ट करता है, यह कहकर कि इसका हर्ष से स्वागत करो, यह कल्याण-कर तुम्हारे पास आता है, यह तुमको हानि न करेगा। "व्यस्यन् विश्वा ऽ अनिरा ऽ अमीवा निषीदन्नो ऽ अप दुर्मतिं जहि" (यजु० ११।४७)–अर्थात् "सब बुराइयों और रोगों को हटाते हुए बैठकर हमारी दुर्मति या पाप को नष्ट कर" ॥१६॥

"ओषधयः प्रतिगृभ्णीत। पुष्पवतीः सुपिप्पलाः" (यजु० ११।४८)—"हे पुष्पवती, फलवती ओषधियो, इसको धारण करो।" क्योंकि पुष्पवती और फलवती होना ही वृक्षों का समृद्ध रूप है। इसका तात्पर्य है कि समृद्ध होकर इसको धारण करो। "अयं वो गर्भ ऽ ऋत्वियः प्रत्नं सधस्थमासदत्" (यजु० ११।४८)—अर्थात् "यह तुम्हारा ऋतु-अनुकूल गर्भ इस सनातन स्थान पर ठहर गया है" ॥१७॥

वह दो मन्त्रों से नीचे को उतारता है। यजमान के दो पैर होते हैं। यजमान अग्नि है।

मानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपावहरति तं द-
क्षिणत उदञ्चमुपावहरति तस्योक्तो बन्धुरुद्धतमवोक्षितं भवति यत्रैनमुपावहर-
त्युद्धते वाऽअवोक्षितेऽग्निमादधति सिकता उपकीर्णा भवन्ति तासामुपरि बन्धुः
॥१८॥ परिश्रितं भवति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा
न हन्युरिति तस्माऽएतां पुरं पर्यश्रयंस्तथैवास्माऽअयमेतां पुरं परिश्रयत्यथो यो-
निर्वाऽइयꣳ रेत इदं तिर-इव वै योनौ रेतः सिच्यते योनिरूपमेतत्क्रियते त-
स्मादपि स्वया जायया तिर-इवैव चिचरिषति ॥१९॥ अथैनं विष्यति । तद्यदे-
वास्यात्रोपनद्धस्य सꣳशुच्यति तामेवास्मादेतत्शुचं बहिर्धा दधात्यथोऽएतस्या एवै-
नमेतद्योनेः प्रजनयति ॥२०॥ वि पाजसा पृथुना शोशुचान इति । वि पाजसा
पृथुना दीप्यमान इत्येतद्बाधस्व द्विषो रक्षसोऽअमीवा इति बाधस्व सर्वान्पाप्मन
इत्येतत्सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीताविंत्याशिषमाशा-
स्ते ॥२१॥ अथाजलोमान्याछिद्य । उदीचः प्राचः पशून्प्रसृजत्येषा ह्योभयेषां देव-
मनुष्याणां दिग्यदुदीची प्राच्येतस्यां तद्दिशि पशून्दधाति तस्मादुभये देवमनुष्याः
पशूनुपजीवन्ति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५ [४. ४.] ॥ चतुर्थोऽध्यायः [३१.] ॥ ॥

पर्णकषायनिष्पक्वा एता आपो भवन्ति । स्थेम्ने न्वेव यद्वेव पर्णकषायेण सो-
मो वै पर्णश्चन्द्रमा उ वै सोम एतदु वाऽएकमग्निरूपमेतस्यैवाग्निरूपस्योपाप्त्यै
॥१॥ ता उपसृजति । आपो हि ष्ठा मयोभुव इति यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां
यजुः सैव देवता सऽर्क्सो देवता तद्यजुस्ता हैता आप एवैष त्रिचस्तद्या अमू-
राप एकꣳ रूपꣳ समद्रवꣳस्ता एतास्तदेवैतद्रूपं करोति ॥२॥ अथ फेनं जनयि-
त्वान्ववदधाति । यदेव तत्फेनो द्वितीयꣳ रूपमसृज्यत तदेवैतद्रूपं करोत्यथ या-
मेव तत्र मृदꣳ संयौति सैव मृच्चत्तृतीयꣳ रूपमसृज्यतैतेभ्यो वाऽएष रूपेभ्यो
ऽग्रेऽसृज्यत तेभ्य एवैनमेतज्जनयति ॥३॥ अथाजलोमैः सꣳसृजति । स्थेम्ने न्वेव

जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी प्रकार उतारता है। उसको दाहिनी ओर से बाईं ओर ले जाता है। इसका महत्त्व वर्णित हो चुका। जहाँ उतारता है वह जगह कुछ ऊँची और जल छिड़का होता है। अग्न्याधान भी वहीं किया जाता है जो स्थान उठा हुआ और जल-छिड़का व कंकड़-बिछा होता है। इसका महत्त्व आगे कहा जायगा ॥१८॥

चारों ओर से घिरा होता है। देवों को भय हुआ कि दुष्ट राक्षस इसको नष्ट न कर डालें, इसलिए उन्होंने उसको चारों ओर से घेर दिया। इसी प्रकार यह भी इसको चारों ओर से घेर देता है। यह योनि है और मिट्टी वीर्य है। वीर्य योनि में गुप्त रीति से जाता है। इसको वह योनिरूप कर देता है; इसीलिए जो अपनी भार्या के साथ संभोग करता है, वह अकेले में करता है ॥१९॥

अब वह इसको खोलता है। उस (अग्नि) के शरीर को बाँधने में जो उसे कष्ट हुआ उसे वह अलग रखता है। वह इसको इस (मृगचर्म रूपी) योनि से ही उत्पन्न कराता है ॥२०॥

"विपाजसा पृथुना शोशुचानः" (यजु० ११।४९)—अर्थात् "विस्तृत चमक के साथ जलते हुए।" "बाधस्व द्विषो रक्षसो ऽ अमीवा" (यजु० ११।४९)—"अर्थात् सब पापों को दूर कर।" "सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतौ" (यजु० ११।४९)—"कल्याण-कारक और बड़े और सरलता से बुलाये जा सकनेवाले अग्नि की सुरक्षा में हो जाऊँ, यह आशीर्वाद है ॥२१॥

अब वह बकरे के बालों को काटकर पशुओं को उत्तर-पूर्व की दिशा में छोड़ देता है, क्योंकि यह उत्तर-पूर्व देवों और मनुष्यों दोनों की दिशा है। इस प्रकार वह इस दिशा में पशुओं को रखता है। यही कारण है कि देव और मनुष्य सबकी गुजर पशुओं से होती है ॥२२॥

मृत्पिण्डे पलाशपर्णक्वथितोदकसेचनम्, अजलोमाधिश्रयणादिकं च

अध्याय ५—ब्राह्मण १

(मृत् पिण्ड को बनाने के लिए) जल को पलाश के गोंद में पकाते हैं, मजबूती के लिए। पलाश के गोंद में क्यों? सोम पूर्ण है। चन्द्रमा भी सोम है। यह (चन्द्र) अग्नि का ही एक रूप है। अग्नि के इसी रूप की प्राप्ति के लिए ॥१॥

वह इसको मिट्टी पर छोड़ता है—"आपो हि ष्ठा मयोभुवः" (यजु० ११।५०)—"हे जलो, तुम सुखप्रद हो।" जिस ऋचा में या जिस यजु में जिस देवता का विधान है, वह ऋचा भी वही देवता है और वह यजु भी वही देवता है। यह जो तृच (यजु० ११।५०-५२) या ऋ० (१०।९।१-३) अर्थात् तीन मन्त्र हैं, वे भी 'आपः' ही हुए (क्योंकि इनमें आपो देवता का वर्णन है)। ये जल ही एक रूप में प्रकट हुए थे। यह उनको उसी रूप में बनाता है ॥२॥

अब फेन उत्पन्न करके उसको रख देता है। यह जो फेन ने दूसरा रूप धारण किया था उसी रूप को धारण करता है। जिस मिट्टी को इसमें मिलाता है, वह मिट्टी इसका तीसरा रूप थी। इन्हीं तीन रूपों में आरम्भ से (अग्नि) उत्पन्न हुआ था। इन्हीं से यह अब उत्पन्न करता है ॥३॥

अब बकरे के बाल मिलाता है, दृढ़ता के लिए। बकरे के बालों को इसलिए कि देवों ने

यद्वेवाजलोमैरेतद्धाऽएनं देवाः पशुभ्योऽधि समभरंस्तथैवैनमयमेतत्पशुभ्योऽधि
सम्भरति तद्यदजलोमैरेवाजे हि सर्वेषां पशूनाꣳ रूपमथ यल्लोम लोम हि रू-
पम् ॥४॥ मित्रः सꣳसृज्य । पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सहेति प्राणो वै मित्रः
प्राणो वाऽएतदग्रे कर्माकरोत्सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्य
इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥५॥ अथैतत्त्रयं पिष्टं भवति । शर्कराश्मायोरसस्तेन
सꣳसृजति स्थेम्ने न्वेव यद्वेव तेनैतावती वाऽइयमग्रेऽसृज्यत तद्यावतीयमग्रेऽसृ-
ज्यत तावतीमेवैनामेतत्करोति ॥६॥ रुद्राः सꣳसृज्य । पृथिवीं बृहज्ज्योतिः स-
मीधिरऽइत्यसौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरेतद्धि तद्रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः
समीधिरे तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचतऽइत्येष वाऽएषां भानुरजस्रः शु-
क्रो देवेषु रोचते ॥७॥ द्वाभ्याꣳ सꣳसृजति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावा-
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्सꣳसृजति ॥८॥ अथ प्रयौति । सꣳसृष्टां व-
सुभी रुद्रैरिति सꣳसृष्टा ह्येषा वसुभिश्च रुद्रैश्च भवति यन्मित्रेण तद्वसुभिर्यद्रुद्रैस्त-
द्रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदमिति धीरा हि ते कर्मण्योऽइयं मृद्धस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा
सिनीवाली कृणोतु तामिति वाग्वै सिनीवाली सैनाꣳ हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा
करोत्वित्येतत् ॥९॥ सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशेति । योषा वै सि-
नीवाल्येतद्वै योषायै समृद्धꣳ रूपं यत्सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा समर्धयत्येवै-
नामेतत्सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोरितीयं वाऽअदितिर्मह्यस्यै तदाह
॥१०॥ उखां कृणोतु । शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धियेति शक्त्या च हि करोति बा-
हुभ्यां च धिया च माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भऽएति यथा माता पुत्र-
मुपस्थे बिभृयादेवमग्निं गर्भे बिभर्त्वित्येतत् ॥११॥ त्रिभिः प्रयौति । त्रिवृदग्निर्या-
वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्प्रयौति द्वाभ्याꣳ सꣳसृजति तत्पञ्च पञ्चचि-
तिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्त

पहले इस (अग्नि) को पशुओं में से उत्पन्न किया था। इसी प्रकार यह भी पशुओं में से उत्पन्न करता है। बकरे के बालों को क्यों ? इसलिए कि बकरा सब पशु का रूप है। बाल क्यों ? बाल रूप हैं ॥४॥

"मित्रः स ँ सृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह" (यजु० ११।५३)—"मित्र ने पृथिवी और भूमि को प्रकाश के साथ मिलाया।" मित्र प्राण है। प्राण ने ही पहले यह कर्म किया था। "सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा स ँ सृजामि प्रजाभ्यः" (यजु० ११।५३)—"प्रजाओं की रक्षा के लिए तुझ अच्छे उत्पन्न हुए, और सबको जाननेवाले को सृजता हूँ।" जैसा यजु है, वैसा ही उसका अर्थ है ॥५॥

तीन तरह के चूर्ण होते हैं--कंकड़, पत्थर और लोह चूर्ण। उसको वह मिट्टी में मिलाता है दृढ़ता के लिए। क्यों ? इसलिए कि पृथिवी पहले इसी प्रकार की थी। जैसी आरम्भ में बनाई गई, वैसी ही अब भी बनाता है ॥६॥

"रुद्राः स ँ सृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे" (यजु० ११।५४)—"रुद्रों ने पृथिवी को बनाकर बड़ी ज्योति उत्पन्न की।" यह अग्नि आदित्य है। रुद्रों ने इसी को पृथिवी को मिलाकर बड़ी ज्योति उत्पन्न की। "तेषां भानुरजस्र ऽ इच्छुक्रो देवेषु रोचते" (यजु० ११।५४)—"इन्हीं की निरन्तर वर्तमान ज्योति देवों में चमकती है।" वस्तुतः इन्हीं की निरन्तर ज्योति देवों में चमकती है ॥७॥

दो मन्त्रों में मिलाता है। यजमान दो पैरों वाला है। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी प्रकार उसको मिलाता है ॥८॥

अब वह इस मन्त्र से (मिट्टी को) गूँधता है—"स ँ सृष्टां वसुभीरुद्रैः" (यजु० ११।५५)—"वसुओं रुद्रों से मिलाई गई।" वस्तुतः यह वसुओं और रुद्रों से मिलाई गई है। मित्र से, इसलिए वसुओं से। रुद्रों से, इसलिए रुद्रों से। "धीरैः कर्मण्यां मृदम्" (यजु० ११।५५)—"काम के योग्य मिट्टी बुद्धिमानों से।" देव धीर हैं ही। यह मिट्टी काम के योग्य है ही। "हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्" (यजु० ११।५५)—"सिनीवाली दोनों हाथों से इसको नरम करके बनावे।" सिनीवाली वाणी है। वह इसको दोनों हाथों से नरम करके बनावे ॥९॥

"सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा" (यजु० ११।५६)—सिनीवाली स्त्री है। स्त्री का पूर्ण रूप यह कि वह सुकपर्दा, सुकुरीरा, स्वौपशा अर्थात् सुन्दर गुँथे हुए बालोंवाली हो। "सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः" (यजु० ११।५६)—"हे बड़ी अदिति, वह तेरे हाथों में उखा को रक्खे।" बड़ी अदिति यह पृथिवी है। इसी पृथिवी को सम्बोधन करके कहा है ॥१०॥

"उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।" (यजु० ११।५७)—"अदिति उखा को शक्ति से, दोनों बाहुओं से और बुद्धि से बनावे।" वह वस्तुतः अपनी शक्ति से ही भुजाओं से, और बुद्धि से तो बनाती ही है। "माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ ऽ आ" (यजु० ११।५७)—"जैसे माता पुत्र को गोद में लेती है, इसी प्रकार अग्नि को यह अदिति गर्भ में रक्खे" ॥११॥

तीन यजुओं से मिट्टी को गूँधता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने से ही गूँधता है। दो मन्त्रों से मिलाता है। ये पाँच हो गये। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ

द्भवति त्रिभिरुप उपसृजति तद्ष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवत्यथोऽअष्टाक्षरा वाऽइयमग्रेऽसृज्यत तद्यावतीयमग्रेऽसृज्यत तावतीमेवैनामेतत्करोति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [५. १.] ॥

अथ मृत्पिण्डमपादत्ते । यावन्तं निधयेऽलं मन्यते मखस्य शिरोऽसीति यज्ञो वै मखस्तस्यैतच्छिर आहवनीयो वै यज्ञस्य शिर आहवनीयमु वाऽएतं चेष्यन्भवति तस्मादाह मखस्य शिरोऽसीति ॥१॥ यद्वेवाह मखस्य शिरोऽसीति । जायतऽएष एतच्चीयते शीर्षतो वै मुखतो जायमानो जायते शीर्षतो मुखतो जायमानो जायाताऽइति ॥२॥ तं प्रथयति । वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वदित्ययꣳ ह्येष लोको निधिस्तमेतद्वसवो गायत्रेण छन्दसाकुर्वंस्तथैवैनमयमेतद्गायत्रेण छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वाऽअङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतद्यो प्रतिष्ठितासीति पृथिव्यसीति पृथिवी ह्येष निधिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै वसव इमं लोकं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमान इमं लोकं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशास्ते तां प्रादेशमात्रीं कृत्वाथास्यै सर्वतस्तीरमुन्नयति ॥३॥ अथ पूर्वमुद्धिमादधाति । रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदित्यन्तरिक्षꣳ ह्येष उद्धिस्तमेतद्रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसाकुर्वंस्तथैवैनमयमेतत्त्रैष्टुभेन छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वाऽअङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतद्यो प्रतिष्ठितासीत्यन्तरिक्षमसीत्यन्तरिक्षꣳ ह्येष उद्धिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै रुद्रा अन्तरिक्षं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानोऽन्तरिक्षं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशास्ते ताꣳ संलिप्य सꣳश्लक्ष्णय ॥४॥ अथोत्तरमुद्धिमादधाति । आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति द्यौर्ह्येष उद्धिस्तमेतदादित्या जागतेन छन्दसाकुर्वंस्तथैवैनमयमेतज्जागतेन छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति

होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही होता है। तीन मन्त्रों से जल छोड़ता है। ये आठ हो गये। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना वह हो जाता है। पृथिवी पहले आठ अक्षर की बनाई गई थी। (उखा को) भी वह इतना ही बनाता है ॥१२॥

उखाया अधस्तान्मृत्पिण्डदानविध्यादि

अध्याय ५—ब्राह्मण २

अब मिट्टी के पिण्ड को लेता है, इतना जितना तले के लिए पर्याप्त समझता है। "मखस्य शिरोऽसि" (यजु० ११।५७) —"मख का सिर है तू।" 'मख' नाम है यज्ञ का और यह उसका सिर है। आहवनीय यज्ञ का शिर है, और आहवनीय ही उसे बनाती है। इसीलिए कहा कि 'तू मख का शिर है' ॥१॥

'तू मख का शिर है' इसलिए भी कहा कि जब इसका चयन होता है तभी तो यह उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है वह शिर या मुख से उत्पन्न होता है। वह चाहता है कि जिसे उत्पन्न होना है वह शिर या मुख से उत्पन्न होवे ॥२॥

वह इस मन्त्र से फैलाता है—"वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।५८) —"तुझको वसु अंगिरा के समान गायत्र छन्द से बनावें।" यह लोक तले का है, वसुओं ने इसे गायत्र छन्द से बनाया। इसी प्रकार यह भी इसको गायत्री छन्द से बनाता है, अङ्गिरा के समान। प्राण अंगिरा है। "ध्रुवासि" (यजु० ११।५८) अर्थात् "तू स्थिर है या प्रतिष्ठित है।" "पृथिव्यसि" (यजु० ११।५८) —अर्थात् तू तले का लोक है। "धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान्यजमानाय" (यजु० ११।५८)—"मुझमें यजमान के लिए प्रजा, धन, पशु, वीर्य और मनुष्यों को दो।" इस प्रकार वसुओं ने इस लोक को बनाकर उसमें यह आशीर्वाद चाहा था, इसी प्रकार यह यजमान भी इस लोक को बनाकर इसमें यह आशीर्वाद चाहता है। उसको एक-एक बालिश्त चारों ओर से लेकर फिर उसके किनारे को ऊँचा कर देता है ॥३॥

अब वह उस पर पहली तह रखता है—"रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।५८)—"रुद्रों ने तुझको अंगिरा के समान त्रैष्टुभ छन्द से बनाया।" अन्तरिक्ष ही यह उद्धि या तह है। उसको रुद्रों ने त्रैष्टुभ छन्द से बनाया। इसी प्रकार (यजमान भी) इसको त्रैष्टुभ छन्द से बनाता है। प्राण ही अंगिरा है। "ध्रुवासि" (यजु० ११।५८)—अर्थात् "तू स्थिर या प्रतिष्ठित है।" "अन्तरिक्षमसि" (यजु० ११।५८)—"तू अन्तरिक्ष है।" यह 'उद्धि' अन्तरिक्ष है ही। "धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान्यजमानाय" (यजु० ११।५८) अर्थात् "यजमान के लिए तू मुझमें प्रजा, धन, पशु, पराक्रम और जाति-बान्धवों को धारण करा।" रुद्रों ने इस अन्तरिक्ष को बनाकर उसमें आशीर्वाद चाहा। इसी प्रकार यह भी अन्तरिक्ष को बनाकर आशीर्वाद चाहता है। उसको थप-थपाकर और चिकना करके—॥४॥

दूसरी तह को रखता है—"आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।५८)—"आदित्यों ने तुझको अंगिरा के समान जगती छन्द से बनाया।" यह उद्धि या तह द्यौ है। इसको आदित्यों ने जगती छन्द से बनाया था। इसी प्रकार यह भी इसको जगती छन्द से बनाता है 'अङ्गिरा के समान'। प्राण अङ्गिरा है। "ध्रुवासि" (यजु० ११।५८) अर्थात् "तू

प्राणो वा ऽअङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति द्यौरसीति द्यौर्ह्ये-
ष उद्धिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वा
ऽआदित्या दिवं कृत्वा तस्यामेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानो दिवं कृत्वा
तस्यामेतामाशिषमाशास्ते ॥५॥ अथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोति । विश्वे त्वा दे-
वा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति दिशो हैतद्यजुरेतद्वै विश्वे
देवा वैश्वानरा एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशोऽदधुस्तथैवैतद्यजमा-
न एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशो दधात्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा
ऽअङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति दिशोऽसीति दिशो ह्येत-
द्यजुर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै वि-
श्वे देवा वैश्वानरा दिशः कृत्वा तास्वेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानो दिशः
कृत्वा तास्वेतामाशिषमाशास्ते ॥६॥ तेनैतेनान्तरतश्च बाह्यतश्च करोति । तस्मा-
देषां लोकानामन्तरतश्च बाह्यतश्च दिशाऽपरिमितमेतेन करोत्यपरिमिता हि
दिशः ॥७॥ तां प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वां करोति । प्रादेशमात्रीं तिरश्चीं प्रादेशमात्रो
वै गर्भो विष्णुर्योनिरेषा गर्भसंमितां तद्योनिं करोति ॥८॥ सा यदि वर्षीयसी
प्रादेशात्स्यात् । एतेन यजुषा ह्रसीयसीं कुर्याद्यदि ह्रसीयस्येतेन वर्षीयसीम् ॥९॥
स यद्येकः पशुः स्यात् । एकप्रादेशां कुर्यादथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चप्रादेशां
कुर्यादिषुमात्रीं वा वीर्यं वाऽइषुर्वीर्यसंमितैव तद्भवति पञ्चप्रादेशा ह स्म त्वेव पु-
रेषुर्भवति ॥१०॥ अथ तिरश्चीꣳ रास्नां पर्यस्यति । दिशो हैव सैतद्वै देवा इमांल्लो-
कानुखां कृत्वा दिग्भिरदृꣳहन्दिग्भिः पर्यतन्वंस्तथैवैतद्यजमान इमांल्लोकानुखां कृ-
त्वा दिग्भिर्दृꣳहति दिग्भिः परितनोति ॥११॥ तामुत्तरे वितृतीये पर्यस्यति । अत्र
ह्येषां लोकानामन्ताः समायन्ति तदेवैनांस्तद्दृꣳहति ॥१२॥ अदित्यै रास्नासीति ।
वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यामेवैनामेतद्रास्नां कृत्वा पर्यस्यति ॥१३॥ अथ चतस्र

स्थिर या प्रतिष्ठित है।" "द्यौरसि" (यजु०११।५८)—"तू द्यौ है।" "धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यँ सुवीर्यँ सजातान्यजमानाय" (यजु० ११।५८)—"यजमान के लिए मुझमें प्रजा, धन, पशु, पराक्रम, बान्धवों को धारण करा।" आदित्यों ने द्यौलोक को बनाकर उसके लिए आशीर्वाद चाहा। इसी प्रकार यह यजमान भी इसको बनाकर आशीर्वाद चाहता है ॥५॥

चौथे यजु से इसको समाप्त करता है—"विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।५८)—"विश्वे देव सबके मित्र तुझको अनुष्टुम् छन्द से अंगिरा के समान बनावें।" ये यजु ही चारों दिशाएँ हैं। वैश्वानर विश्वे देवों ने इस जगत्‌रूपी उखा को बनाकर उसमें चार दिशाएँ स्थापित की थीं। इसी प्रकार यजमान भी इस उखारूपी जगत् को बनाकर उसमें चार दिशाएँ स्थापित करता है। "अंगिरस्वत्" (यजु० ११।५८)—"अंगिरा के समान।" प्राण अंगिरा है। "ध्रुवासि" (यजु० ११।५८) अर्थात् "स्थिर और स्थापित है।" "दिशोऽसि" (यजु० ११।५८) "तू दिशा है।" यह यजु दिशा है। "धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यँ सुवीर्यँ सजातान्यजमानाय" (यजु० ११।५८)—"यजमान के लिए मुझमें प्रजा, धन, पशु, पराक्रम और बान्धवों को धारण करा।" वैश्वानर विश्वे देवों ने दिशाओं को बनाकर उनके लिए आशीर्वाद चाहा। इसी प्रकार यह यजमान भी इन दिशाओं को बनाकर उनके लिए आशीर्वाद चाहता है ॥६॥

उसी (यजु) से वह बाहर और भीतर दोनों ओर को बनाता है। इसीलिए इन लोकों के बाहर और भीतर दोनों ओर दिशाएँ होती हैं। बिना नाप के बनाता है, क्योंकि दिशाएँ बिना नाप के (अपरिमित) होती हैं ॥७॥

इसको एक बालिश्त ऊँची और एक बालिश्त तिरछी बनाता है। विष्णु गर्भ में एक बालिश्त ही था। यह (उखा) योनि है। गर्भ के बराबर ही वह इस योनि को बनाता है ॥८॥

यह अगर बालिश्त से बड़ी हो, तो यजु से उसे छोटी कर ले। और यदि छोटी हो तो बड़ी कर ले ॥९॥

यदि एक पशु हो तो एक बालिश्त लम्बी कर ले। यदि पाँच पशु हों तो पाँच बालिश्त करे, या एक इषु (बाण) के बराबर हो। इषु का अर्थ है वीर्य। इस प्रकार वह इसको पराक्रमशील बनाता है। पहले एक बाण पाँच बालिश्त का हुआ भी करता था ॥१०॥

अब वह आड़ा किनारा बाँधता है। देवों ने इस लोकों रूपी उखा को बनाकर दिशाओं द्वारा उसको दृढ़ किया। इसी प्रकार यजमान भी इस उखारूपी लोकों को बनाकर दिशाओं द्वारा उसको दृढ़ करता है और दिशाओं से घेर देता है ॥११॥

वह इस किनारे को ऊपर के तीसरे भाग में बनाता है। वहीं तो लोकों के सिरे मिलते हैं। इस प्रकार इसको दृढ़ करता है—॥१२॥

इस मन्त्र से—"आदित्यै रास्नासि।" (यजु० ११।५९)—"तू अदिति का घेरा है।" यज्ञ में रस्सी वरुण की होती है (वरुण्या का अर्थ शायद 'आक्षेपजनक' भी है)। इसको अवरुण्या करके घेरता है ॥१३॥

ऊर्ध्वाः करोति । तूष्णीमेव दिशो ह्येव ता एतद्वै देवा इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतोऽदृꣳहंस्तथैवैतद्यजमान इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतो दृꣳहति ॥१४॥ ता एता ऐतस्यै भवन्ति । एतद्वाऽएता एतामस्तभ्नुवस्तथैवैनामेतत्स्तभ्नुवन्ति तद्यदत ऊर्ध्वं तदेतया तिरश्च्या दृꣳमथ यदतोऽर्वाक्तदेताभिः ॥१५॥ तासामग्रेषु स्तनानुन्नयन्ति । एतद्वै देवा इमांल्लोकानुखां कृत्वैते स्तनैः सर्वान्कामानदुह्रन तथैवैतद्यजमान इमांल्लोकानुखां कृत्वैते स्तनैः सर्वान्कामान्दुह्रे ॥१६॥ सैषा गौरेव । इमे वै लोका उखेमे लोका गौस्तस्याऽएतदूधो यैषा तिरश्ची रास्ना सा वितृतीये भवति वितृतीये हि गोरूधः ॥१७॥ तस्यै स्तनानुन्नयति । ऊधसस्तत्स्तनानुन्नयति सा चतुस्तना भवति चतुस्तना हि गौः ॥१८॥ ताꣳ हैके द्विस्तनां कुर्वन्ति । अथोऽअष्टस्तनां न तथा कुर्याद्ये वै गोः कनीयस्तनाः पशवो ये भूयस्तना अनुपजीवनीयतरा वाऽअस्यैतेऽनुपजीवनीयतराꣳ ह्येनां ते कुर्वतेऽथो ह ते न गां कुर्वते शुनीं वाविं वा वडबां वा तस्मात्तथा न कुर्यात् ॥१९॥ अथास्यै बिलमभिपद्यते । अदितिष्टे बिलं गृभ्णात्विति वाग्वाऽअदितिरेतद्वाऽएनां देवाः कृत्वा वाचादित्या निरष्ठापयंस्तथैवैनामयमेतत्कृत्वा वाचादित्या निष्ठापयति ॥२०॥ तां परिगृह्य निदधाति । कृत्वाय सा महीमुखामिति कृत्वाय सा महतीमुखामित्येतन्मृन्मयीं योनिमग्नयऽइति मृन्मयी ह्येषा योनिरग्नेः पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानित्येतद्वाऽएनामदितिः कृत्वा देवेभ्यः पुत्रेभ्यः श्रपणाय प्रायच्छत्तथैवैनामयमेतत्कृत्वा देवेभ्यः श्रपणाय प्रयच्छति ॥२१॥ ता हैके तिस्रः कुर्वन्ति । त्रयो वाऽइमे लोका इमे लोका उखा इति वदन्तोऽथो अन्योऽन्यस्यै प्रायश्चित्त्यै यदीतरा भेत्स्यतेऽथेतरस्यां भरिष्यामो यदीतराथेतरस्यामिति न तथा कुर्याद्यो वाऽएष निधिः प्रथमोऽयꣳ स लोको यः पूर्व उद्धिरन्तरिक्षं तद्य उत्तरो द्यौः साथ यदेतच्चतुर्थं यजुर्दिशो ह्येव तदेतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावदिमे च लोका दि-

अब चुपके-चुपके (बिना मन्त्र पढ़े) ऊपर से चार घेरे बनाता है। ये दिशाएँ हैं। देवों ने इन लोकों को उखा करके दिशाओं से चारों तरफ दृढ़ कर दिया। यह यजमान भी इस उखारूपी लोकों को बनाकर दिशाओं से चारों ओर से दृढ़ कर देता है॥१४॥

ये यहाँ तक आती हैं। ये पहले उसका आधार थीं। अब भी वे उसको टिकाती हैं। इस प्रकार वह ऊपर का हिस्सा आड़े घेरों पर टिका रहता है और नीचे का भाग सीधे घेरों पर।१५॥

उनके आगे की ओर स्तन बनाते हैं। देवों ने उखारूपी लोकों को बनाकर स्तनों में से जो चाहा दुहा। इसी प्रकार यह यजमान भी लोकों रूपी उखा को बनाकर इन स्तनों से सब कामनाओं को दुहता है॥१६॥

यह उखा गौ ही है। ये लोक उखा हैं। लोक गौ हैं। यह जो आड़ा घेरा है, वे स्तन हैं। यह उसका ऊपर का तीसरा भाग है। गाय के तीसरे भाग में ही स्तन होते हैं॥१७॥

उसके स्तन बनाता है। वे छाती के स्तन होते हैं। उसके चार स्तन होते हैं, क्योंकि गाय के भी चार ही स्तन होते हैं॥१८॥

कुछ लोग दो स्तन बनाते हैं, कुछ आठ। परन्तु ऐसा न करें, क्योंकि जिन पशुओं के कम स्तन होते हैं, या जिनके अधिक स्तन होते हैं, वे जीविका के योग्य नहीं होते। इस प्रकार वे इसको जीविका के योग्य नहीं बनाते। वे इसको गाय नहीं बनाते, कुतिया बनाते हैं या भेड़ी या घोड़ी। इसलिए ऐसा न करें॥१९॥

अब वह इसके बिल को लेता है—"अदितिष्टे बिलं गृभ्णातु" (यजु० ११।५९)—"अदिति तेरे बिल को ले।" वाणी अदिति है। देवों ने इसे बनाकर वाणी अदिति के द्वारा पूर्ण किया। यह भी इसी प्रकार इसको बनाकर अदितिरूपी वाणी के द्वारा इसको पूर्ण करता है॥२०॥

वह इसको पकड़कर रख देता है—"कृत्वाय सा महीमुखाम्" (यजु० ११।५९) अर्थात् "वह उस बड़ी उखा को बनाकर।" "मृन्मयीं योनिमग्नये" (यजु० ११।५८)—"अग्नि के लिए मिट्टी की योनि को।" क्योंकि वह अग्नि के लिए मिट्टी की योनि है। "पुत्रेभ्यः प्रायच्छद-दितिः श्रपयानिति" (यजु० ११।५८)—"अदिति ने उसे पुत्रों के लिए दिया कि पकावें।" क्योंकि अदिति ने वस्तुतः इसको बनाकर अपने पुत्र देवों को दिया कि वे इसे पका डालें। इस प्रकार यह भी इसको बनाकर देवों को पकाने के लिए देता है॥२१॥

कुछ लोग तीन उखाएँ बनाते हैं क्योंकि तीन लोक हैं, तीन उखाएँ हैं। या प्रायश्चित्त के लिए, अर्थात् यदि एक टूट जाय तो दूसरी में अग्नि ले जाय और अगर दूसरी टूट जाय तो तीसरी में, परन्तु ऐसा न करें। यह जो तला है वह यह लोक है। उद्धि अन्तरिक्ष है। ऊपर का द्यौ है। यह जो चौथा, यजु, दिशाएँ हैं। जितने ये लोक और दिशाएँ हैं, उतनी ही समस्त सृष्टि है। यदि

शश्च स यदत्रोपाहरेदिति तद्वेचयेद्यद्वै यज्ञेऽतिरिक्तं क्रियते यजमानस्य तद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते यद्वै भिन्नायै प्रायश्चित्तिरुत्तरस्मिंस्तदन्वाख्याने ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥७ [५.२.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११४॥ ॥

तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोति । इयं वाऽअषाढेयमु वाऽएषां लोकानां प्रथमासृज्यत तामेतस्या एव मृदः करोत्येषाᳬ ह्येव लोकानामियं महिषी करोति महिषी हीयं तस्यैव प्रथमा वित्ता सा महिषी ॥१॥ पादमात्री भवति । प्रतिष्ठा वै पाद इयमु वै प्रतिष्ठा त्र्यालिखिता भवति त्रिवृद्धीयम् ॥२॥ अथोखां करोति । इमांस्तल्लोकान्करोत्यथ विश्वज्योतिषः करोत्येता देवता अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिस्ता एतस्या एव मृदः करोत्येभ्यस्तल्लोकेभ्य एतान्देवान्निर्मिमीते यजमानः करोति त्र्यालिखिता भवन्ति त्रिवृतो ह्येते देवा इत्यधिदेवतम् ॥३॥ अथाध्यात्मम् । आत्मैवोखा वागषाढा तां पूर्वां करोति पुरस्ताद्धीयमात्मनो वाक्तामेतस्या एव मृदः करोत्यात्मनो ह्येवेयं वाङ्महिषी करोति महिषी हि वाक्त्र्यालिखिता भवति त्रेधाविहिता हि वागृचो यजूᳬषि सामान्यथो यदिदं त्रयं वाचो रूपमुपाᳬश्वन्तरामुच्चैः ॥४॥ अथोखां करोति । आत्मानं तत्करोत्यथ विश्वज्योतिषः करोति प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतत्करोति ता एतस्या एव मृदः करोत्यात्मनस्तत्प्रजां निर्मिमीते यजमानः करोति यजमानस्तदात्मनः प्रजां करोत्यनन्तर्हिताः करोत्यनन्तर्हितां तदात्मनः प्रजां करोत्युत्तराः करोत्युत्तरां तदात्मनः प्रजां करोति त्र्यालिखिता भवन्ति त्रिवृद्धि प्रजातिः पिता माता पुत्रोऽथो गर्भ उल्बं जरायु ॥५॥ ता एता यजुष्कृतायै करोति । अयजुष्कृतायाऽइतरा निरुक्ता एता भवन्त्यनिरुक्ता इतराः परिमिता एता भवन्त्यपरिमिता इतराः ॥६॥ प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयम्वेतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तस्या यजुष्कृतायै करोति

अधिक करेगा तो व्यर्थ होगा । यज्ञ में जो व्यर्थ होता है, वह यजमान के शत्रु के लिए होता है। उखा के टूटने पर प्रायश्चित्त क्या हो यह आगे आयेगा ॥२२॥

अषाढेष्टकादिनिर्माणम्, अश्वशकृद्भिर्धूपनञ्च

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

इसी मिट्टी से वह (रानी) पहले अषाढ़ा (एक ईंटविशेष का नाम है) बनाती है। यह पृथिवी अषाढ़ा है, क्योंकि लोकों में सबसे पहले यही बनाई गई। उसको इसी मिट्टी सेबनाती है। यह पृथिवी इन लोकों में से एक है। इसको महिषी (पटरानी) बनाती है, क्योंकि यह पृथिवी भी तो महिषी है। जो पहले प्राप्त की जाय (ब्याही जाय) वह महिषी है ॥१॥

यह एक फुट (पादमात्री) होती है। पैर प्रतिष्ठा (बुनियाद) है। यह पृथिवी भी बुनियाद है। इस पर तीन रेखाएँ हैं। पृथिवी भी तिहरी है ॥२॥

अब (यजमान) उखा को बनाता है। इससे वह लोकों को बनाता है। अब 'विश्वज्योतिष' (नामी ईंटों) को बनाता है, अर्थात् अग्नि, वायु और आदित्य नामी देवताओं को। यही देव विश्वज्योति हैं। इन (विश्वज्योतिष नामी ईंटों) को उसी मिट्टी से बनाता है। इन्हीं लोकों से इन देवों को बनाता है। यजमान बनाता है। इन पर तीन रेखाएँ होती हैं। ये देव तिहरे हैं। यह देवों के विषय में हुआ ॥३॥

अब अध्यात्म लीजिये—उखा आत्मा है। अषाढ़ा वाणी है। उसको पहले बनाती है, क्योंकि शरीर में वाणी पहली है। उसको इसी मिट्टी से बनाती है, क्योंकि यह वाणी शरीर में ही तो है। महिषी बनाती है। महिषी वाणी है। उसमें तीन रेखाएँ होती हैं। वाणी भी तिहरी है, अर्थात् ऋक्, यजु और साम। वाणी के ये तीन रूप ही तो हैं—उपांशु (मौन या धीरे-धीरे बोलना), व्यन्तराम् (बीच की), उच्चैः (ऊँची) ॥४॥

अब उखा को बनाता है। इससे वह अपने आत्मा (अपने-आप) को बनाता है। अब विश्वज्योतिष को बनाता है। प्रजा ही विश्वज्योति है। इस प्रकार वह प्रजनन (उत्पत्ति) करता है। इनको वह इसी मिट्टी से बनाता है। अपने-आपसे ही वह उस प्रजा को बनाता है। उनको यजमान बनाता है, अर्थात् यजमान अपने-आपमें से प्रजा को बनाता है। वह इनको निरन्तर बनाता है, अर्थात् वह प्रजा को निरन्तर बनाता है। वह इनको पीछे से बनाता है, अर्थात् अपने-आपसे पीछे प्रजा को बनाता है। उन पर तीन रेखाएँ होती हैं। प्रजा तिहरी होती है—पिता, माता और पुत्र; या गर्भ, उल्ब और जरायु ॥५॥

उनको वह यजुओं से (तैयार की हुई मिट्टी से) बनाता है; अन्य ईंटों को बिना यजुओं के। ये निरुक्त या नियत (विशेष) होती हैं, दूसरी अनिश्चित। ये परिमित होती हैं, अन्य अपरिमित ॥६॥

यह अग्नि प्रजापति है। प्रजापति दोनों प्रकार का है—निरुक्त और अनिरुक्त, परिमित और अपरिमित। यह जो यजुओं से बनाता है, यह प्रजापति के उस रूप को बनाता है, जो निरुक्त

यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ या अयजुष्कृतायै यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वाऽएतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति य एवं विद्वानेतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः ॥७॥ ॥शतम् ३७००॥ ॥ अथैनां धूपयति । स्थेम्ने न्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेव धूपयति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणो धूमः शीर्षंस्तत्प्राणं दधाति ॥८॥ अश्वशकैर्धूपयति । प्राजापत्यो वाऽअश्वः प्रजापतिरग्निर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै तद्वै शकेव तद्धि जग्धं यातयाम तथो ह नैवास्यꣳ हिनस्ति नेतरान्पशून् ॥९॥ वसवस्त्वा धूपयन्तु । गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयत्वित्येताभिरेवैनामेतद्देवताभिर्धूपयति ॥१०॥ सप्ताश्वशकानि भवन्ति । सप्त यजूꣳषि सप्ततय्य एता देवताः सप्त शीर्षन्प्राणा यद्व वाऽअपि बहुकृत्वः सप्त-सप्त सप्तैव तच्छीर्षण्येव तत्सप्त प्राणान्दधाति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥१ [५. ३] ॥ ॥

अथैनामस्यां खनति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्माऽइमामेवात्मानमकुर्वन्गुप्त्याऽआत्मात्मानं गोप्स्यतीति ॥१॥ तं वाऽअदित्या खनति । इयं वाऽअदितिर्नो वाऽआत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै यदन्यया देवतया खनेद्धिꣳस्याद्धैनम् ॥२॥ अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती । पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्खनत्ववटेत्यवटो ह्येष देवत्रात्र सा वैणाव्यभिहृत्सीदति चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यः खनत्यथ पषनमवधायाषाढामवदधाति तूष्णीमेव ताꣳ हि पूर्वां करोति ॥३॥ अथोखामवदधाति । देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वद्दधतूखे

और परिमित है। और यह जो बिना यजुओं के बनाता है, यह प्रजापति का वह रूप है जो अनिरुक्त और अपरिमित है। जो इस रहस्य को समझकर इस प्रकार बनाता है वह पूर्ण प्रजापति को बनाता है। जो शेष मिट्टी बची उसमें से मिट्टी का एक पिण्ड प्रायश्चित्त के लिए (टूट जाय तो फिर बनाने के लिए) छोड़ देता है ॥७॥

अब वह उसको धूप देता है, दृढ़ता के लिए या कार्य को बढ़ाने के लिए। इसलिए भी धूप देता है कि उखा जो है, वह इस यज्ञ का शिर है, और प्राण धुआँ है। इस प्रकार सिर में प्राण धारण कराता है ॥८॥

घोड़े की लीद से धूप देता है। घोड़ा प्रजापति का है। प्रजापति अग्नि है। कोई अपने-आपको नहीं हनता। घोड़े की लीद से इसलिए कि लीद वही है, जो घोड़े ने खाई और व्यर्थ समझकर त्याग दी। वह घोड़े को सताता है न अन्य पशुओं को ॥९॥

"वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् विश्वे त्वा देवा वैश्नानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु" (यजु० ११।६०)—"वसु तुझे अङ्गिरा के समान गायत्री छन्द से धूप दें। रुद्र तुझको अङ्गिरा के समान त्रैष्टुभ छन्द से धूप दें। आदित्य तुझको अङ्गिरा के समान जगती छन्द से धूप दें। वैश्वानर विश्वेदेवा तुझे अनुष्टुभ् छन्द से अङ्गिरा के समान धूप दें। वरुण तुझको धूप दे, विष्णु तुझको धूप दे।" इस प्रकार इन देवताओं की सहायता से वह इसको धूप देता है ॥१०॥

घोड़े की लीद के सात उपले होते हैं। सात यजु हैं। सात ये देवता हैं। सिर में सात प्राण हैं, जो बहुत भी हैं। यह सात का सतगुना या सात ही है। इस प्रकार वह सिर में सात प्राणों को धारण करता है ॥११॥

अथोखाविस्थापनार्थमवटखननम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

अब इस गढ़े को जमीन में खोदता है। देवों को भय हुआ। उन्होंने सोचा कि यहाँ दुष्ट राक्षस इस अग्नि को नष्ट न कर सकेंगे। इसलिए उन्होंने इस पृथिवी को इसका आत्मा बनाया कि यह अपनी रक्षा कर सकेगा ॥१॥

इसको अदिति की सहायता से खोदता है, अहिंसा के लिए। यह पृथिवी अदिति है। कोई अपने-आपको पीड़ा नहीं देता। यदि वह किसी अन्य देवता की सहायता से खोदता तो निस्सन्देह अग्नि को हानि पहुँच सकती ॥२॥

"अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे ऽ अंगिरस्वत् खनत्ववट" (यजु० ११।६१)—"सब देवों की प्यारी देवी अदिति तुम्हें पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान खोदे, हे गढ़े।" यह अवट या गढ़ा देवों के मध्य में ही (खोदा गया) है। अब बाँस की अभ्रि (खुरपी) चली जाती है। यह गढ़ा चार कोनों का होता है, क्योंकि चार दिशाएँ हैं। इस प्रकार वह सब दिशाओं में से खोदता है। अब ईंधन को रखकर चुपके से अषाढ़ा ईंट को उसमें रख देता है, क्योंकि वह सबसे पहले बनी थी ॥३॥

अब वह उखा को रखता है—"देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽ अंगिरस्वद् दधतूखे" (यजु० ११।६१)—"हे उखे, तुझको सब देवों की प्यारी देवों की पत्नियाँ

ऽइति देवानाᳬ हैतामग्रे पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वद्दधुस्ताभिरेवैनामेतद्दधाति ता ह ता ओषधय एवौषधयो वै देवानां पत्न्य ओषधिभिर्हीदᳬ सर्वᳬ हितमोषधिभिरेवैनामेतद्दधात्यथ विश्वज्योतिषोऽवदधाति तूष्णीमेवाथ पचनमवधायाभीन्द्धे ॥४॥ धिषणास्त्वा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वदभीन्धतामुखऽइति धिषणा हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वदभीधिरे ताभिरेवैनामेतदभीन्द्धे सा ह सा वागेव वाग्वै धिषणा वाचा हीदᳬ सर्वमिद्धं वाचैवैनामेतदभीन्द्धेऽथैतानि त्रीणि यजूᳬषीक्षमाण एव जपति ॥५॥ वरूत्रीष्ट्वा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थऽअङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखऽइति वरूत्रीर्हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वच्छ्रपयां चक्रुस्ताभिरेवैनामेतच्छ्रपयति तानि ह तान्यहोरात्राण्येवाहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदᳬ सर्वं वृतमहोरात्रैरेवैनामेतच्छ्रपयति ॥६॥ ग्नास्त्वा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्पचन्तूखऽइति ग्ना हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्पेचुस्ताभिरेवैनामेतत्पचति तानि ह तानि छन्दाᳬस्येव छन्दाᳬसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति छन्दोभिरेवैनामेतत्पचति ॥७॥ जनयस्त्वाछिन्नपत्रा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्पचन्तूखऽइति जनयो हैतामग्रेऽछिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्पेचुस्ताभिरेवैनामेतत्पचति तानि ह तानि नक्षत्राण्येव नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतीᳬषि नक्षत्रैरेवैनामेतत्पचति ॥८॥ स वै खनत्येकेन । अवदधात्येकेनाभीन्द्धऽएकेन श्रपयत्येकेन द्वाभ्यां पचति तस्माद्द्विः संवत्सरस्यान्नं पच्यते तानि षट् सम्पद्यन्ते षडृतवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥९॥ अथ मित्रस्य चर्षणीधृत इति । मैत्रेण यजुषोपन्याचरति यावत्क्रियस्यो-

पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान रक्खें।" पहले देवों की प्यारी देवपत्नियों ने ही अंगिरा के समान उखा को पृथिवी की गोद में रखा था, और उन्हीं की सहायता से वह इस समय भी इसको रखता है। ये ओषधियाँ हैं। ओषधियाँ ही देवपत्नियाँ हैं। इस पृथिवी पर सब-कुछ ओषधियों के ही सहारे है। ओषधियों के सहारे ही वह इसको रखता है। अब विश्वज्योतिष नामी ईंटों को रख देता है। चुपचाप उसमें ईंधन रखकर उसको जला देता है ॥४॥

"धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽ अंगिरस्वदभीन्धतामुखे" (यजु० ११।६१)—"सब देवों की प्यारी धिषणा देवियाँ अंगिरा के समान पृथिवी की गोद में तुझको प्रज्वलित करें।" क्योंकि पहले युग में देवों की प्यारी धिषणा देवियों ने अंगिरा के समान पृथिवी की गोद में इसको प्रज्वलित किया था। उन्हीं की सहायता से वह आज इसको प्रज्वलित करता है। यह वाणी है। वाणी ही धिषणा है। वाणी से ही यह सब (संसार) प्रज्वलित है। वाणी से ही यह इसको भी प्रज्वलित करता है। इसकी ओर देखकर इन तीन यजुओं को जपता है ॥५॥

"वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽ अंगिरस्वच्छ्रपयन्तूखे" (यजु० ११।६१)—"हे उखे, तुझको पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान देवों की प्यारी वरूत्री (रक्षिका) देवियाँ पकावें।" पहले सब देवों की प्यारी वरूत्री देवियों ने अंगिरा के समान उखा को पृथिवी की गोद में पकाया था। उन्हीं की सहायता से यह भी उनको पकाता है। ये दिन-रात ही हैं। दिन-रात ही वरूत्री हैं। दिन-रात से ही यहाँ सब-कुछ ढका है। दिन-रात से ही वह इसको पकाता है ॥६॥

"ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽ अङ्गिरस्वत्पचन्तूखे" (यजु० ११।६१)—"सब देवों की प्यारी ग्ना देवियाँ पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान तुझको पकावें हे उखे!" पहले सब देवों की प्यारी ग्नादेवियों ने पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान इसको पकाया था। इन्हीं की सहायता से यह भी पकाता है। ये छन्द हैं। छन्द ही ग्ना हैं। छन्द से ही स्वर्गलोक को जाते हैं। छन्द से ही वह इसको भी पकाता है ॥७॥

"जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे ऽ अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे" (यजु० ११।६१)—"हे उखे, सब देवों की प्यारी अच्छिन्नपत्रा जनि देवियों ने पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान तुझे पकाया।" पहले युग में सब देवों की प्यारी अच्छिन्नपत्रा जनि देवियों ने पृथिवी की गोद में अंगिरा के समान इसको पकाया था। उसी की सहायता से यह भी पकाता है। ये नक्षत्र हैं। नक्षत्र ही जनि हैं। जो पुण्यात्मा लोग स्वर्ग को जाते हैं, उनकी ये ज्योतियाँ हैं। नक्षत्रों की सहायता से ही यह इसको पकाता है ॥८॥

वह एक मंत्र से खोदता है, एक से रखता है, एक से जलाता है, एक से गर्म करता है, दो से पकाता है। इसलिए साल में दो बार अन्न पकता है। ये छः हो जाते हैं। संवत्सर में भी छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही हो जाता है ॥९॥

जब-जब वह अग्नि का उपचार करता है (अर्थात् उसमें ईंधन डालने आता है), इस मित्र-सम्बन्धी मंत्र को पढ़ता है—"मित्रस्य चर्षणीधृतः" (यजु० ११।६२, ऋ० ३।५९।६)—

पन्याचरति न वै मित्रं कं चन हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिनस्ति तथो हैष एतां न हिनस्ति नोऽएतमेषा तां द्विरेवोपवपेद्द्विरुद्वपेद्धर्म्याग्रियम् ॥१०॥ ताᳪं सावित्रेण यजुषोद्वपति । सविता वै प्रसविता सवितृप्रसूत एवैनामेतदुद्वपति देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्येति सर्वम्बु ह्येतत्सविता ॥११॥ अथैनां पर्यावर्तयति । अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृणेत्यव्यथमाना त्वं पृथिव्यामाशा दिशो रसेनापूरयेत्येतत् ॥१२॥ अथैनामुद्यच्छति । उत्थाय बृहती भवेत्युत्थाय ह्यमे लोका बृहन्त उदु तिष्ठ ध्रुवा त्वमित्युद्गु तिष्ठ स्थिरा त्वं प्रतिष्ठितेत्येतत् ॥१३॥ तां परिगृह्य निदधाति । मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्त्याऽएषा मा भेदीत्ययं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते तस्माऽएवैनामेतत्परिददाति गुप्त्यै ते ह्यमे लोका मित्रगुप्तास्तस्मादेषां लोकानां न किं चन मीयते ॥१४॥ अथैनामाच्छृणत्ति । स्थेम्ने न्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेवाच्छृणत्ति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणाः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधात्यथो योषा वाऽउखा योषायां तत्पयो दधाति तस्माद्योषायां पयः ॥१५॥ अजायै पयसाच्छृणत्ति । प्रजापतेर्वै शोकादजा समभवन्प्रजापतिरग्निर्नो वाऽआत्माᳪत्मानᳪं हिनस्त्यहिᳪंसायै यद्वेवाजायाऽअजा ह सर्वा ओषधीरत्ति सर्वासामेवैनामेतदोषधीनाᳪं रसेनाच्छृणत्ति ॥१६॥ वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु । गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदित्येताभिरेवैनामेतद्देवताभिराच्छृणत्ति स वै याभिरेव देवताभिः करोति ताभिर्धूपयति ताभिराच्छृणत्ति यो वाव कर्म करोति स एवं तस्योपचारं वेद तस्माद्याभिरेव देवताभिः करोति ताभिर्धूपयति ताभिराच्छृणत्ति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५. ४.] ॥ पञ्चमोऽध्यायः [४०.] ॥ ॥

भूयाᳪंसि हवीᳪंषि भवन्ति । अग्निचित्यायां यदु चानग्निचित्यायामतीनि ह

मित्र किसी को हानि नहीं पहुँचाता, और न मित्र को कोई हानि पहुँचाता है। इसलिए न यह (उखा को) हानि पहुँचाता है न (उखा) उसको। दिन में ही उपचार करना (ईंधन डालना) चाहिए और दिन में ही राख हटा देनी चाहिए ॥१०॥

इस राख को सविता के मंत्र से दूर करता है। सविता प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही उसकी राख को हटाता है—"देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वंगुरिः सुबाहुरुत शक्त्या" (यजु० ११।६३)—"अच्छे हाथ, अच्छी अँगुलियों, अच्छे बाहुओंवाला सविता देव शक्ति से तुझे शुद्ध करे (तेरी राख दूर करे)।" यह सब-कुछ सविता ही तो है ॥११॥

अब वह इस (उखा) को पलटता है—"अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश ऽ आपृण" (यजु० ११।६३)—अर्थात् "पृथ्वी पर तू न कांपते हुए, लोकों और दिशाओं को इससे परिपूर्ण कर" ॥१२॥

अब वह इसको उठाता है – "उत्थाय बृहती भव" (यजु० ११।६४) – "उठकर बड़ी हो।" ये लोक उठकर ही बड़े हुए हैं। "उदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्" (यजु० ११।६४)—अर्थात् "ध्रुव या निश्चल होकर उठ" ॥१३॥

उसको पकड़कर रखता है—"मित्रैतां तऽउखां परि ददाम्यभित्त्या ऽ एषा मा भेदि" (यजु० ११।६४)—"हे मित्र, मैं इस उखा को रक्षार्थ तुझे देता हूँ। यह टूटने न पावे।" मित्र वह वायु है जो बहता है। रक्षा के लिए वह उसी को अर्पण करता है। मित्र से ही इन लोकों की रक्षा होती है। इसलिए इन लोकों में किसी चीज की भी हानि नहीं होती ॥१४॥

अब इसमें (दूध) छोड़ता है, दृढ़ता के लिए और कार्य को आगे बढ़ाने के लिए। दूध इसलिए छोड़ता है कि यह जो उखा है वह यज्ञ का सिर है। दूध प्राण है, इस प्रकार सिर में प्राण धारण कराता है। उखा स्त्री है। स्त्री में दूध धारण कराता है। इसलिए स्त्रियाँ दूध देती हैं ॥१५॥

बकरी का दूध डालता है, रक्षा के लिए। प्रजापति के सिर से बकरी उत्पन्न हुई। प्रजापति अग्नि है। कोई अपने को ही हानि नहीं पहुँचाता। बकरी का दूध इसलिए कि बकरी सब ओषधियों को खाती है। इसलिए वह इसमें सब ओषधियों के रस को डालता है ॥१६॥

"वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् आदित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा ऽ आच्छृन्दन् त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।६५)—"वसु तुझको अंगिरा के समान गायत्री छन्द से उँडेलें। रुद्र तुझको अंगिरा के समान त्रैष्टुभ छन्द से उँडेलें। आदित्य तुझको अंगिरा के समान जगती छन्द से उँडेलें। वैश्वानर विश्वेदेव तुझको अनुष्टुभ् छन्द से अंगिरा के समान उँडेलें।" इन देवताओं की सहायता से वह इसको (दूध से) भिगोता है। जिन देवताओं की सहायता से इसको बनाता है, उन्हीं देवताओं की सहायता से उसे धूप देता है। उन्हीं देवताओं की सहायता से उसको भिगोता है। जो कर्म करता है, वही उसका उपचार भी जानता है। इसलिए जिन देवों की सहायता से बनाता है ॥१७॥

दीक्षणीयाहविः, औद्ग्रभणहोमः, मुञ्जतृणावस्तरणाविकञ्च

अध्याय ६—ब्राह्मण १

अग्नि चिति (वेदी के चयन करने में) या अनग्नि चिति (अर्थात् अन्य क्रियाओं में जिनमें अग्नि का चयन नहीं करना पड़ता) बहुत-सी आहुतियाँ होती हैं। कुछ कर्म 'अतीनि' होते हैं।

कर्माणि सन्ति यान्यन्यत्कर्माति तान्यतीनि तेषामग्निचित्या राजसूयो वाजपेयो ऽश्वमेधस्तद्यत्तान्यन्यानि कर्माण्यति तस्मात्तान्यतीनि ॥१॥ आग्नावैष्णव एकादशकपालः । तदध्वरस्य दीक्षणीयं वैश्वानरो द्वादशकपाल आदित्यश्च चरुस्तेऽग्नेः ॥२॥ स यदाग्नावैष्णवमेव निर्वपेत् । नेतरे हविषीऽध्वरस्यैव दीक्षणीयं कृतꣳ स्यान्नाग्नेरथ यदितरेऽएव हविषी निर्वपेन्नाग्नावैष्णवमग्नेरेव दीक्षणीयं कृतꣳ स्यान्नाध्वरस्य ॥३॥ उभयानि निर्वपति । अध्वरस्य चाग्नेश्चोभयꣳ ह्येतत्कर्माध्वरकर्म चाग्निकर्म चाध्वरस्य पूर्वमथाग्नेरुपायि ह्येतत्कर्म यदग्निकर्म ॥४॥ स य एष आग्नावैष्णवः । तस्य तदेव ब्राह्मणं यत्पुरश्चरणे वैश्वानरो द्वादशकपालो वैश्वानरो वै सर्वेऽग्नयः सर्वेषामग्नीनामुपाप्त्यै द्वादशकपालो द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः ॥५॥ यद्वेवैतं वैश्वानरं निर्वपति । वैश्वानरं वाऽएतमग्निं जनयिष्यन्भवति तमेतत्पुरस्ताद्दीक्षणीयायाꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र वैश्वानरꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति तस्मादेषोऽमुत्र वैश्वानरो जायते ॥६॥ यद्वेवैते हविषी निर्वपति । क्षत्रं वै वैश्वानरो विडेष आदित्यश्चरुः क्षत्रं च तद्विशं च करोति वैश्वानरं पूर्वं निर्वपति क्षत्रं तत्कृत्वा विशं करोति ॥७॥ एक एष भवति । एकदेवत्य एकस्थं तत्क्षत्रमेकस्याꣳ श्रियं करोति चरुरितरो बहुदेवत्यो भूमा वाऽएष तण्डुलानां यच्चरुर्भूमोऽएष देवानां यदादित्या विशि तद्भूमानं दधातीत्यधिदेवतम् ॥८॥ अथाध्यात्मꣳ । शिर एव वैश्वानर आत्मैष आदित्यश्चरुः शिरश्च तदात्मानं च करोति वैश्वानरं पूर्वं निर्वपति शिरस्तत्कृत्वात्मानं करोति ॥९॥ एक एष भवति । एकमिव हि शिरश्चरुरितरो बहुदेवत्यो भूमा वाऽएष तण्डुलानां यच्चरुर्भूमोऽएषोऽङ्गानां यदात्मातमस्तदङ्गानां भूमानं दधाति ॥१०॥ घृत एष भवति । घृतभाजना ह्यादित्याः स्वेनैवैनानेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणात्युपाꣳश्वेतानि हवीꣳषि भवन्ति रेतो वा

'अतीनि' कर्म वे हैं जो किसी कर्म से अधिक किये जायें। अग्निचिति जिनमें हो ऐसे अतीनि कर्म राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध हैं। चूंकि ये दूसरे कर्मों से अधिक या अतीत हैं, इसलिए इनको 'अतीनि' कहते हैं ॥१॥

अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपाल का पुरोडाश, यह सोम यज्ञ की दीक्षा मात्र है। विश्वानर का १२ कपाल और आदित्यों का चरु, ये दोनों अग्नि के हैं ॥२॥

यदि अग्नि और विष्णु के लिए ही आहुति दे और शेष दो न दे, तो यह सोम यज्ञ की दीक्षा मात्र ही हो, अग्नि के लिए नहीं। यदि दूसरी दो आहुतियाँ ही दे और अग्नि-विष्णु की न दे, तो अग्नि की ही आहुति हो, सोम यज्ञ की नहीं ॥३॥

इसलिए वह दोनों देता है—सोमयज्ञ की भी और अग्नि की भी, क्योंकि ये कर्म दोनों ही हैं—सोमयज्ञ का भी और अग्नि का भी। पहले सोमयज्ञ का, फिर अग्नि का। अग्नि कर्म उपायि अर्थात् केवल सहयोगी कर्म है ॥४॥

अग्नि और विष्णु के कपाल के सम्बन्ध में यह है कि इसका वही रहस्य है जो पुरश्चरण का। विश्वानर का १२ कपाल। सब अग्नियाँ ही विश्वानर हैं। सब अग्नियों की प्राप्ति के लिए ही ऐसा होता है। बारह कपाल इसलिए कि संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर वैश्वानर है ॥५॥

विश्वानर के लिए इसलिए कि वह वैश्वानर (सब मनुष्यों की प्यारी) अग्नि को बनाना चाहता है और दीक्षा की आहुति में उसको वीर्य के समान डालता है। वीर्य के समान जो चीज है वह योनि में डाली जाती है और वैसा ही बच्चा उत्पन्न होता है। और चूंकि वह वैश्वानर अग्नि को डालता है, इसलिए पीछे से वैश्वानर अग्नि ही उत्पन्न होता है ॥६॥

ये दो हवियाँ क्यों दी जाती हैं? वैश्वानर क्षत्रिय है और आदित्य का चरु वैश्य। इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्य दोनों शक्तियों को उत्पन्न करता है। पहले वैश्वानर की आहुति देता है। इस प्रकार क्षत्रिय शक्ति को उत्पन्न करके ही वैश्य की शक्ति उत्पन्न की जाती है ॥७॥

वैश्वानर का पुरोडाश एक ही होता है, क्योंकि देवता भी तो एक ही है। इस प्रकार क्षत्रिय शक्ति को एक में केन्द्रीभूत कर देता है। चरु बहुत हैं क्योंकि देवता बहुत-से हैं। चरु बहुत चावलों का होता है। आदित्य बहुत-से देवता हैं। इस प्रकार वह प्रजा को बहुत्व देता है। इतना आधिदैवत हुआ ॥८॥

अध्यात्म यह है—सिर वैश्वानर है और आदित्यों का चरु शरीर है। इस प्रकार वह सिर और शरीर दोनों बनाता है। पहले वैश्वानर की आहुति देता है। इस प्रकार सिर बनाकर शरीर बनाता है ॥९॥

वैश्वानर का पुरोडाश एक ही होता है, सिर एक ही होता है। चरु बहुत-से हैं क्योंकि बहुत-से देवता हैं। यह जो चरु होता है वह बहुत-से चावलों का होता है। और शरीर में भी बहुत-से अंग होते हैं। इस प्रकार वह शरीर में बहुत-से अंग धारण कराता है ॥१०॥

यह चरु घी का होता है। आदित्य घी के पात्र होते हैं। इस प्रकार इनको इन्हीं के भाग से, इन्हीं के रस से तृप्त करता है। ये हवियाँ चुपचाप दी जाती हैं। इस यज्ञ में यह वीर्य है।

ऽअत्र यज्ञ उपांशु वै रेतः सिच्यते ॥११॥ अथौद्ग्रभणानि जुहोति । औद्ग्रभणैर्वै
देवा आत्मानमस्माल्लोकात्स्वर्गं लोकमभ्युदगृह्णत यदुदगृह्णत तस्मादौद्ग्रभणानि
तथैवैतद्यजमान औद्ग्रभणैरेवात्मानमस्माल्लोकात्स्वर्गं लोकमभ्युद्गृह्णाति ॥१२॥
तानि वै भूयांसि भवन्ति । अग्निचित्यायां यद्व चानग्निचित्यायां तस्यान्तो बन्धु-
रुभयानि भवन्ति तस्योक्तोऽध्वरस्य पूर्वाण्यथाग्नेस्तस्योऽएवोक्तः ॥१३॥ पञ्चाध्वरस्य
जुहोति । पाङ्क्तो यज्ञो यावान्यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतो भूतं सि-
ञ्चति सप्ताग्नेः सप्तचितिकोऽग्निः सप्तऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्याव-
त्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतो भूतं सिञ्चति तान्युभयानि द्वादश सम्पद्यन्ते द्वा-
दश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥१४॥
स जुहोति । आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहेत्याकूताद्वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तद्देवैत-
देतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते ॥१५॥ मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहेति । मनसो वाऽएत-
दग्रे कर्म समभवत्तद्देवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते ॥१६॥ चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजं
स्वाहेति । चित्ताद्वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तद्देवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते ॥१७॥ वा-
चो विधृतिमग्निं प्रयुजं स्वाहेति । वाचो वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तामेवैतदेत-
स्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते ॥१८॥ प्रजापतये मनवे स्वाहेति । प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं
सर्वममनुत प्रजापतिर्वाऽएतदग्रे कर्माकरोत्तमेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते ॥१९॥ अ-
ग्नये वैश्वानराय स्वाहेति । संवत्सरो वाऽअग्निर्वैश्वानरः संवत्सरो वाऽएतदग्रे
कर्माकरोत्तमेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते ॥२०॥ अथ सावित्रीं जुहोति । सविता वा
ऽएतदग्रे कर्माकरोत्तमेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत स-
ख्यम् विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहेति यो देवस्य सवितुः स-
ख्यं वृणीते स द्युम्नं च पुष्टिं च वृणीतऽएष वाऽअस्य सख्यं वृणीते य एत-
त्कर्म करोति ॥२१॥ तान्यु हैके । उखायामेवैतान्यौद्ग्रभणानि जुह्वति कामेभ्यो

वीर्य चुपके ही डाला जाता है ॥११॥

वह अब औद्ग्रभणआहुतियों को देता है। औद्ग्रभण आहुतियों की ही सहायता से देवों ने अपने-आपको इस लोक से स्वर्गलोक में उठाया। उद्गर्म से औद्गर्भण बना। इसी प्रकार यजमान भी औद्ग्रभण आहुतियों के द्वारा अपने-आपको इस लोक से स्वर्गलोक को ले जाता है ॥१२॥

ये आहुतियाँ बहुत-सी होती हैं, अग्नि चिति में और अनग्नि चिति में। इनका रहस्य वर्णन हो चुका। ये दोनों प्रकार की होती हैं। इनका भी वर्णन हो चुका। पहले सोम याग की, फिर अग्नि की। इसका भी वर्णन हो चुका ॥१३॥

सोम याग की पाँच आहुतियाँ होती हैं। यज्ञ के पाँच भाग हैं। जितना यज्ञ है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही उसको वीर्य से सींचता है। अग्नि की सात; अग्नि में सात चितियाँ होती हैं। संवत्सर में सात ऋतुयें होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही वीर्य से उसको सींचता है। ये दोनों मिलकर बारह होते हैं। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह हो जाता है ॥१४॥

अब आहुति देता है—"आकूतिमग्निं प्रयुजँ स्वाहा" (यजु० ११।६६)—पहले आकूत या विचार से ही कर्म उत्पन्न होता है। इसलिए यह इसको इस काम में लगाता है ॥१५॥

"मनो मेधामग्निं प्रयुजँ स्वाहा" (यजु० ११।६६)—पहले मन से ही कर्म उत्पन्न हुआ। इसलिए इसी कर्म में लगाता है ॥१६॥

"चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजँ स्वाहा" (यजु० ११।६६)—चित्त से ही पहले कर्म उत्पन्न हुआ। इसलिए इसे कर्म में लगाता है ॥१७॥

"वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजँ स्वाहा" (यजु० ११।६६)—वाणी से ही पहले कर्म उत्पन्न हुआ। इसलिए इसे कर्म में लगाता है ॥१८॥

"प्रजापतये मनवे स्वाहा" (यजु० ११।६६)—प्रजापति मनु है, क्योंकि इसी ने पहले सब सृष्टि का मनन किया। प्रजापति ने ही पहले कर्म किया। इस यज्ञ के लिए भी वह उसी को लगाता है ॥१९॥

"अग्नये वैश्वानराय स्वाहा" (यजु० ११।६६)—अग्नि वैश्वानर संवत्सर है। संवत्सर ने ही पहले यह कर्म किया। उसी को वह अब इस काम में लगाता है ॥२०॥

अब सविता के लिए आहुति देता है। पहले सविता ने ही इस कर्म को किया था। इसलिए उसी को इस काम में लगाता है। "विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा" (यजु० ११।६७)—"जो सविता देव की मित्रता को प्राप्त करता है, वह यश और सम्पत्ति दोनों को प्राप्त करता है।" जो इस कर्म को करता है वह इसकी मित्रता को लाभ करता है ॥२१॥

कुछ लोग इन औद्ग्रभण आहुतियों को इस उखा में ही देते हैं। 'ये आहुतियाँ कामनाओं

वाऽएतानि जुह्वतऽआत्मोऽएष यजमानस्य यदुखात्मन्यजमानस्य सर्वान्कामान्प्रतिष्ठापयाम इति न तथा कुर्यादेतस्य वै यज्ञस्य सꣳस्थितस्यैतासामाहुतीनां यो रसस्तदेतदर्चिर्यद्दीप्यते तद्यत्सꣳस्थिते यज्ञे हुतेष्वौद्ग्रभणेषूखां प्रवृणक्ति तदेनामेष यज्ञ आरोहति तं यज्ञं बिभर्ति तस्मात्सꣳस्थितऽएव यज्ञे हुतेष्वौद्ग्रभणेषूखां प्रवृञ्ज्यात् ॥२२॥ मुञ्जकुलायेनावस्तीर्णा भवति । आदीप्यादिति न्वेव यद्वेव मुञ्जकुलायेन योनिरेषाग्नेर्यन्मुञ्जो न वै योनिर्गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै योनेर्वै जायमानो जायते योनेर्जायमानो जायाताऽइति ॥२३॥ शणकुलायमन्तरं भवति । आदीप्यादिति न्वेव यद्वेव शणकुलायं प्रजापतिर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्याऽउमा उल्बमासञ्छणा जरायु तस्माते पूतयो जरायु हि ते न वै जरायु गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै जरायुणो वै जायमानो जायते जरायुणो जायमानो जायाताऽइति ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६ १.] ॥ ॥

तां तिष्ठन्प्रवृणक्ति इमे वै लोका उखा तिष्ठन्तीव वाऽइमे लोका अथो तिष्ठन्वै वीर्यवत्तमः ॥१॥ उदङ् प्राङ् तिष्ठन् । उदङ्ङ्वै प्राङ् तिष्ठन्प्रजापतिः प्रजा असृजत ॥२॥ यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन् । एषा ह्युभयेषां देवमनुष्याणां दिग्यदुदीची प्राची ॥३॥ यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन् । एतस्याꣳ ह दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं तस्मादुदङ् प्राङ् तिष्ठन्नाहुतीर्जुहोत्युदङ् प्राङ् तिष्ठन्दक्षिणा नयति द्वारैव तत्स्वर्गस्य लोकस्य वित्तं प्रपादयति ॥४॥ मा सु भित्था मा सु रिष इति । यथैव यजुस्तथा बन्धुरम्ब धृष्णु वीरयस्व स्विति योषा वाऽउखाम्बेति वै योषाया ऽआमन्त्रणꣳ स्विव वीरयस्वाग्निश्चेदं करिष्यथ इत्यग्निश्च ह्येतत्करिष्यन्ती भवतः ॥५॥ दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयऽइति । यथैव यजुस्तथा बन्धुरासुरी माया स्वधया कृतासीति प्राणो वाऽअसुस्तस्यैषा माया स्वधया कृता जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमिति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुतीर्होष्यन्भवति ता एतदाहाथोऽएषैव

के लिए दी जाती हैं। यह जो उखा है वह यजमान का आत्मा है। यजमान की सब कामनाओं को आत्मा में ही स्थापित कर दें' ऐसा सोचते हैं। परन्तु ऐसा न करे। यह जो ज्वाला जलती है, वह इस समाप्त यज्ञ का और आहुतियों का रस है। यज्ञ की समाप्ति और औद्ग्रभण आहुतियों के दिये जाने के पश्चात् उखा को रखता है, तो यज्ञ उस पर चढ़ता है और वह यज्ञ को धारण करती है। इसलिए यज्ञ की समाप्ति और औद्ग्रभण आहुतियाँ देने के पश्चात् उखा को रक्खे ॥२२॥

प्रज्वलित करने के लिए मूंज बिछाता है। मूंज इसलिए कि यह अग्नि की योनि है। योनि गर्भ को हानि नहीं पहुँचाती, रक्षा के लिए। योनि से ही पैदा होनेवाला पैदा होता है। योनि से ही पैदा होनेवाला पैदा होवे, इसलिए ॥२३॥

नीचे सन रहता है जल उठने के लिए। जिस योनि से प्रजापति उत्पन्न हुआ था उसकी भीतर की तह मूंज की थी और ऊपर की सन की, सन में इसीलिए। जरायु में दुर्गन्ध आता है कि वह जरायु की बाहरी तह है, रक्षा के लिए, क्योंकि बाहरी तह गर्भ को हानि नहीं पहुँचाती। पैदा होनेवाला जरायु से ही पैदा होता है। पैदा होनेवाला जरायु से ही पैदा होवे, ऐसा विचार करता है ॥२४॥

उखाया आहवनीयेऽधिश्रयणम्, प्रवृञ्जनम्, समिदाधानञ्च

अध्याय ६—ब्राह्मण २

उस (उखा) को खड़े-खड़े रखता है। ये लोक उखा हैं और ये खड़े ही तो हैं। मनुष्य जब खड़ा होता है तो सबसे बलवान् होता है ॥१॥

उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़े होकर। क्योंकि उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़े होकर ही प्रजापति ने सृष्टि बनाई थी ॥२॥

उत्तर-पूर्वाभिमुख इसलिए कि उत्तर-पूर्व देवों और मनुष्यों दोनों की दिशा है ॥३॥

उत्तर-पूर्व दिशा इसलिये कि स्वर्गलोक का द्वार यही है। इसलिए उत्तर-पूर्वाभिमुख होकर ही आहुतियाँ देता है। उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़े होकर ही दक्षिण तक पहुँचता है। इसी द्वार से होकर वह स्वर्ग के लोक को प्राप्त करता है ॥४॥

"मा सु भित्था मा सु रिषः" (यजु० ११।६८) —"मत टूट, मत नष्ट हो।" जैसा यजु है वैसा ही अर्थ है। "अम्ब धृष्णु वीरयस्व सु" (यजु० ११।६८) "हे माता, वीरता से ठहर।" उखा स्त्री है। स्त्री को 'माँ' कहकर पुकारते हैं —'भली-भाँति ठहर'। "अग्निश्चेदं करिष्यथः" (यजु० ११।६८) —"अग्नि और तुम, दोनों इस कर्म को करोगे।" क्योंकि उखा और अग्नि तो इस काम को करेंगे ही ॥५॥

"दृँहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये" (यजु० ११।६९) —"हे देवि, पृथिवि, हमारे कल्याण के लिए अचल रह।" जैसा यजु है वैसा उसका अर्थ। "आसुरी माया स्वधया कृतासि" (यजु० ११।६९) —"तू स्वधा के द्वारा दैवी वस्तु बनाई गई है।" 'असु' कहते हैं प्राण को, उसकी यह (उखा) माया स्वधा द्वारा बनाई हुई। "जुष्टं देवेभ्य ऽ इदमस्तु हव्यम्" (यजु० ११।६९) — "यह हवि देवों के पसन्द आवे।" ये जो आहुतियाँ अग्नि में डाली गई हैं, उनके विषय में कहा गया

हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽअस्मिन्निति यथैवारिष्टानार्तैतस्मिन्यज्ञऽउदियादेवमेत-
दाह ॥६॥ द्वाभ्यां प्रवृणक्ति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य
मात्रा तावतैवैनामेतत्प्रवृणक्ति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च प्राणो गायत्र्यात्मा त्रिष्टु-
बेतावान्वै पशुर्यावान्प्राणश्चात्मा च तद्यावान्पशुस्तावतैवैनामेतत्प्रवृणक्त्यथो
ऽअग्निर्वै गायत्रीन्द्रस्त्रिष्टुबैन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतत्प्र-
वृणक्तीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवै-
नामेतत्प्रवृणक्ति तयोः सप्त पदानि सप्तचितिकोऽग्निः सप्तऽर्तवः संवत्सरः संव-
त्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावद्भवति ॥७॥ तां यदाग्निः संतपति ।
अथैनामर्चिरारोहति योषा वाऽउखा वृषाग्निस्तस्माद्यदा वृषा योषाꣳ संतपत्य-
थास्याꣳ रेतो दधाति ॥८॥ तद्धैके । यदि चिरमर्चिरारोहत्यङ्गारानेवावपन्त्युभये-
नैषोऽग्निरिति न तथा कुर्यादस्थन्वान्वाव पशुर्जायतेऽथ तं नाग्रऽएवास्थन्वन्त-
मिव न्यृषन्ति रेत-इवैव दधति रेत उऽएतदनस्थिकं यदर्चिस्तस्मादेनामर्चिरेवा-
रोहेत् ॥९॥ तां यदार्चिरारोहति । अथास्मिन्त्समिधमादधाति रेतो वाऽएनामेत-
दापद्यतऽएषोऽग्निस्तस्मिन्नेताꣳ रेतसि सम्भूतिं दधाति ॥१०॥ सा कार्मुकी स्यात्
। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवा अग्निमनीकं कृत्वासुरानभ्यायंस्त-
स्यार्चिषः प्रगृहीतस्यासुरा अग्रं प्रावृश्चंस्तदस्यां प्रत्यतिष्ठत्स कृमुकोऽभवत्तस्मात्स
स्वादू रसो हि तस्मादु लोहितोऽर्चिर्हि स एषोऽग्निरेव यत्कृमुकोऽग्निमेवास्मि-
न्नेतत्सम्भूतिं दधाति ॥११॥ प्रादेशमात्री भवति । प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरा-
त्मसंमितामेवास्मिन्नेतत्सम्भूतिं दधाति ॥१२॥ घृते न्युत्ता भवति । अग्निर्यस्यै यो-
नेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत्तस्मात्तत्प्रत्युद्दीप्यतऽआत्मा ह्यस्यैष तस्मात्तस्य
न भस्म भवत्यात्मैव तदात्मानमप्येति न वाऽउल्बं गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसाया
ऽउल्बाद्धि जायमानो जायतऽउल्बाज्जायमानो जायाताऽइति ॥१३॥ तामादधाति

है। फिर यह उखा भी तो हवि है। "अरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे ऽ अस्मिन्" (यजु० ११।६६)—"इस यज्ञ में तू हानिरहित उठ।" यह इसलिए कहा कि इस यज्ञ में तू हानिरहित, पूर्ण और निर्दोष उठे ॥६॥

दो यजुओं से इसे आग पर गर्म करता है। यजमान दो पैर वाला है। अग्नि यजमान है। जितनी अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही मन्त्रों से इसको गर्म करता है—गायत्री और त्रिष्टुम् से। प्राण गायत्री हैं। आत्मा त्रिष्टुम् है। जैसा प्राण, जैसा आत्मा, वैसा ही पशु। इस-लिए जैसा पशु है उसी के अनुसार वह आग पर गर्म करता है। अग्नि गायत्री है। इन्द्र त्रिष्टुम् है। अग्नि इन्द्र और अग्नि दोनों का है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उसी के अनुसार इसको गर्म करता है। इन्द्राग्नी सब देवता हैं। अग्नि सब देवों का है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतनी ही बार अग्नि को गर्म करता है। इन दो मन्त्रों में सात पद हैं। अग्नि में सात चितियाँ हैं। संवत्सर में सात ऋतुएँ हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही यह भी हो जाता है ॥७॥

जब अग्नि जलता है तो लौ इस उखा तक उठती है। उखा स्त्री है और अग्नि नर है। जब नर स्त्री को गर्भाता है तब उसमें वीर्य डालता है ॥८॥

जब लौ अधिक उठती है तो कुछ लोग उस (उखा) में अंगारे डाल देते हैं कि दोनों ओर अग्नि हो जाय। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। पशु हड्डियोंसहित उत्पन्न होता है। परन्तु वह पहले ही हड्डियोंवाला नहीं डाला जाता। केवल वीर्य के रूप में ही डाला जाता है। यह लौ तो हड्डीशून्य वीर्य के समान है, इसलिए केवल लौ को ही उठना चाहिए ॥९॥

जब लौ वहाँ तक उठे तो उस पर समिधा रख देता है। इसके द्वारा वीर्य उखा में जाता है और अग्नि उसमें इस समिधा के रूप में सम्भूति (growth) उत्पन्न करता है ॥१०॥

यह (समिधा) क्रमुक लकड़ी की होनी चाहिए। प्रजापति की सन्तान देव और असुर लड़ पड़े। देव अग्नि को आगे करके असुरों के पास गए। असुरों ने अग्नि की लौ को आगे से कतर दिया। यह पृथिवी पर गिर पड़ा और क्रमुक वृक्ष बन गया। इसलिए यह स्वादिष्ट होता है क्योंकि इसमें रस होता है। इसलिए यह लाल होता है क्योंकि यह लौ थी। क्रमुक वही है जो अग्नि। अग्नि के रूप में ही इसको सम्भूति देता है ॥११॥

यह समिधा बालिश्त-भर होती है। विष्णु गर्भ में बालिश्त-मात्र ही था। इस प्रकार वह इसको उतनी ही सम्भूति देता है ॥१२॥

। द्रुन्नः सर्पिरासुतिरिति दार्वन्नः सर्पिरशन इत्येतत्प्रत्नो होता वरेण्य इति सनातनो होता वरेण्य इत्येतत्सहसस्पुत्रोऽअद्भुत इति बलं वै सहो बलस्य पुत्रोऽद्भुत इत्येतत्तिष्ठन्नादधाति स्वाहाकारेण तस्योपरि बन्धुः ॥१४॥ तद्वाऽआत्मैवोखा । योनिर्मुञ्जाः शणा जरायूल्वं घृतं गर्भः समित् ॥१५॥ बाह्योखा भवति । अन्तरे मुञ्जा बाह्यो ह्यात्मान्तरा योनिर्बाह्ये मुञ्जा भवन्त्यन्तरे शणा बाह्या हि योनिरन्तरं जरायु बाह्ये शणा भवन्त्यन्तरं घृतं बाह्यꣳ हि जरायवन्तरमुल्वं बाह्यं घृतं भवत्यन्तरा समिद्बाह्यꣳ ह्युल्वमन्तरो गर्भ एतेभ्यो वै जायमानो जायते तेभ्य एवैनमेतज्जनयति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [६. २.] ॥ ॥

अथ वैकङ्कतीमादधाति । प्रजापतिर्या प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत्सैषा प्रथमाहुतिर्यद्विकङ्कतस्तामस्मिन्नेतज्जुहोति तयैनमेतत्प्रीणाति परस्या अधि संवतोऽवराँ२॥ऽअभ्यातर । यत्राहमस्मि ताँ२॥ऽअवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥१॥ अथौदुम्बरीमादधाति । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते ह सर्वऽएव वनस्पतयोऽसुरानभ्युपेयुरुदुम्बरो हैव देवान्न जहौ ते देवा असुराञ्जित्वा तेषां वनस्पतीनवृञ्जत ॥२॥ ते होचुः । हन्त येषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस उदुम्बरे तं दधाम ते यद्यपक्रामेयुर्यातयामा अपक्रामेयुर्यथा धेनुर्दुग्धा यथानड्वानूढिवानिति तद्येषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस आसीदुदुम्बरे तमदधुस्तयैतदूर्जा सर्वान्वनस्पतीन्प्रति पच्यते तस्मात्स सर्वदार्द्रः सर्वदा क्षीरी तदेतत्सर्वमन्नं यदुदुम्बरः सर्वे वनस्पतयः सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति सर्वैर्वनस्पतिभिः समिन्द्धे ॥३॥ परमस्याः परावत इति । या परमा परावदित्येतद्रोहिदश्व इहागहीति रोहितो ह्यग्निरश्वः पुरीष्यः पुरुप्रिय इति पशव्यो बहुप्रिय इत्येतदग्ने त्वं तरा मृध इत्यग्ने त्वं तर सर्वान्पाप्मन इत्येतत् ॥४॥ अथापरशुवृक्णामादधाति । जायतऽएष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायतऽएतद्वेकमन्नं यदपरशु-

वह घी में डुबोई होती है। जिस योनि से अग्नि उत्पन्न हुआ, उसकी भीतरी तह घी से युक्त थी। इसलिए वह इस तक प्रज्वलित होता है। क्योंकि यह (समिधा) उसका आत्मा (शरीर) है, इसलिए उसकी भस्म नहीं होती। अग्नि स्वयं अपने शरीर में घुसता है, अहिंसा के लिए। क्योंकि योनि की भीतरी तह गर्भ को नष्ट नहीं करती। और जो उत्पन्न होता है वह उल्ब से ही उत्पन्न होता है। वह सोचता है कि जब अग्नि उत्पन्न हो तो उल्ब में ही उत्पन्न हो ॥१३॥

वह समिधा को इस मन्त्र से चढ़ाता है—"द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः" (यजु० ११।७०)—"अर्थात् लकड़ी को खानेवाला घी को पीनेवाला।" "प्रत्नो होता वरेण्यः" (यजु० ११।७०)—अर्थात् "सनातन और वरने योग्य होता।" "सहसस्पुत्रो ऽ अद्भुतः" (यजु० ११।७०)—अर्थात् "अद्भुत शक्तिपुत्र।" क्योंकि सह का अर्थ है बल। वह स्वाहा कहकर खड़े-खड़े इसको डालता है। इसका अर्थ आगे आएगा ॥१४॥

उखा शरीर है, योनि मूंज है, जरायु सन, उल्व घी और समिधा गर्भ ॥१५॥

उखा बाहर होती है और मूंज भीतर। शरीर बाहर होता है और योनि भीतर। मूंज बाहर होती है और सन भीतर; क्योंकि योनि बाहर होती है और जरायु भीतर। सन बाहर होता है और घी भीतर, क्योंकि जरायु बाहर है और उल्ब भीतर। घी बाहर होता है और समिधा भीतर, क्योंकि उल्ब बाहर होता है और गर्भ भीतर। इन्हीं से उत्पन्न हुआ उत्पन्न होता है, इसलिए इन्हीं के द्वारा उत्पन्न करता है ॥१६॥

समिधा वैकङ्कतत्वविध्यादि

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

अब वह विकंकत वृक्ष की समिधा रखता है। प्रजापति ने जिस पहली आहुति को दिया था और आहुति देकर जहाँ हाथ धोये थे, वहीं विकंकत वृक्ष उत्पन्न हो गया। यह जो विकंकत है वह पहली आहुति है; उसी आहुति को द्रूप में देता है। उसी से इसको तृप्त करता है। "परस्या अधि संवतो ऽ वरां२ ऽ अभ्यातर, यत्राहमस्मि तां२ ऽ अव" (यजु० ११।७१; ऋ० ८।६४।१५)—"दूर स्थान से निकट स्थान को आ। जहाँ मैं हूँ उस स्थान की रक्षा कर" ॥१॥

अब उदुम्बर की समिधा रखता है। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान परस्पर लड़ पड़े। सब वृक्ष असुरों की ओर हो गये, केवल उदुम्बर देवों के साथ रहा। देवों ने असुरों को जीतकर उनके वृक्षों को ले लिया ॥२॥

उन्होंने कहा कि इन वनस्पतियों में जो ऊर्ज-रस है उसे हम उदुम्बर में रख दें। फिर यदि ये वृक्ष हमको छोड़कर चले भी जावें तो ये साररहित होकर जायेंगे, जैसे दुही हुई गाय, या गाड़ी में जुतकर थका हुआ बैल। इसलिए इन वृक्षों में जो कुछ ऊर्ज या रस था वह सब उदुम्बर में रख दिया। उसी रस के द्वारा वह अकेला उतना ही पकता है, जितना सब वृक्ष मिलकर पकते हैं। इसलिए इस वृक्ष में सदा नमी और रस (दूध) बना रहता है। यह जो उदुम्बर है वह सब अन्न है। और सब अन्न भी है। इसलिए सब अन्न से या सब वनस्पतियों द्वारा आहुति देता है ॥३॥

"परमस्याः परावतः" (यजु० ११।७२)—"बड़ी दूर से" अर्थात् जहाँ कहीं हो वहाँ से। "रोहिदश्व ऽ इहागहि" (यजु० ११।७२)—"हे लाल घोड़ोंवाले, यहाँ आ।" अग्नि लाल घोड़ोंवाला है। "पुरीष्यः पुरुप्रियः" (यजु ११।७२)—अर्थात् "सबका प्यारा पुरीष्य।" "अग्ने त्वं तरा मृधः" (यजु० ११।७२)—अर्थात् "हे अग्नि, तू पापियों को जीत" ॥४॥

अब परशु से न कटी हुई लकड़ी रखता है। जब चयन होता है तभी अग्नि उत्पन्न होता है। यह सबके अन्न के लिए ही उत्पन्न होता है। यह परशु से न कटा हुआ एक प्रकार का अन्न

वृकणां तेनैनमेतत्प्रीणाति यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्येति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तद्यत्किं चापरशुवृकणां तदस्माऽएतत्स्वदयति तदस्माऽअन्नं कृत्वापिदधाति ॥५॥ अथाधःशयमादधाति । जायतऽएष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायतऽएतदेकमन्नं यदधःशयं तेनैनमेतत्प्रीणाति यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रोऽअतिसर्पतीत्युपजिह्विका वा हि तदत्ति वम्रो वातिसर्पति सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्येति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तद्यत्किं चाधःशयं तदस्माऽएतत्स्वदयति तदस्माऽअन्नं कृत्वापिदधाति ॥६॥ अथैता उत्तराः पालाश्यो भवन्ति । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतत्समिन्द्धे यद्वेव पालाश्यः सोमो वै पलाश एषो ह परमाहुतिर्यत्सोमाहुतिस्तामस्मिन्नेतज्जुहोति तयैनमेतत्प्रीणाति ॥७॥ अहरहरप्रयावं भरन्त इति । अहरहरप्रमत्ता आहरन्त इत्येतदश्वायेव तिष्ठते घासमस्माऽइति यथाश्वाय तिष्ठते घासमित्येतद्रायस्पोषेण समिषा मदन्त इति रय्या च पोषेण च समिषा मदन्त इत्येतदग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति यथैवास्य प्रतिवेशो न रिष्येदेवमेतदाह ॥८॥ नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नाविति । एषा ह नाभिः पृथिव्यै यत्रैष एतत्समिध्यते रायस्पोषाय बृहते हवामहऽइति रय्यै च पोषाय च बृहते हवामहऽइत्येतदिरंमदमिति इरया ह्येष मत्तो बृहदुक्थमिति बृहदुक्थो ह्येष यजत्रमिति यज्ञियमित्येतज्जेतारमग्निं पृतनासु सासहिमिति जेता ह्यग्निः पृतना उ सासहिः ॥९॥ याः सेना अभीत्वरीः । दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून्ये जनेषु मलिम्लवो योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः । निन्दाद्योऽअस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुर्विति ॥१०॥ एतद्वै देवाः । यश्चैनानद्वेड्यं चाद्विषुस्तमस्माऽअन्नं कृत्वाप्यदधुस्तेनैनमप्रीणन्नन्नमहैतस्याभवद्दहन्तु देवानां पाप्मानं तथैवैतद्यजमानो यश्चैनं द्वेष्टि यं च द्वेष्टि तमस्माऽअन्नं कृत्वापिदधाति तेनैनं प्रीणात्यन्नमहैतस्य भवति दहत्यु यजमानस्य पाप्मा-

है। इसलिए इसी के द्वारा इसको सन्तुष्ट करता है। "यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारुणि दध्मसि सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य" (यजु० ११।७३; ऋ० ८।१०२।२०)—"हे अग्नि, हम जो-जो लकड़ी तेरे ऊपर रखते हैं, वे सब तेरे लिए घी का काम करें। हे बलवान्, तुम स्वीकार करो।" जैसा यजु है वैसा उसका अर्थ है। जो परशु से न कटा हुआ काष्ठ है, वह उसके लिए स्वादिष्ट बनाता है और उसको अन्न करके उसके सामने रखता है ॥५॥

अब उसको रखता है जो नीचे पड़ी हुई थी। जिसका चयन होता है वही उत्पन्न होता है। यह अग्नि सब प्रकार के अन्नों के लिए उत्पन्न होता है। यह जो जमीन पर पड़ी हुई लकड़ी है वह एक प्रकार का अन्न है। इसी के द्वारा वह इसको सन्तुष्ट करता है। "यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो ऽ अति सर्पति" (यजु० ११।७४) —अर्थात् "जिस पर लाल चींटी या दीमक चले वह।" "सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य" (यजु० ११।७४) —"वह सब तेरे लिए घृत हो जाय। हे बलवान्, तू इसे स्वीकार कर।" जैसा यजु वैसा उसका अर्थ। इस प्रकार जो कुछ धराशायी है उसी को उसके स्वीकार करने योग्य बनाता है और उसको अन्नरूप करके सम्मुख रखता है ॥६॥

शेष समिधायें पलाश की होती हैं। पलाश ब्राह्मण है। इस प्रकार वह ब्राह्मण-लकड़ी से ही प्रदीप्त करता है। पलाश से इसलिए कि सोम पलाश है। यह परम आहुति है जो सोम-आहुति है। इसी को वह आग पर अर्पण करता है और इससे वह अग्नि को सन्तुष्ट करता है ॥७॥

"अहरहरप्रयावं भरन्तः" (यजु० ११।७५)—अर्थात् सावधान होकर प्रतिदिन। "अश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै" (यजु० ११।७५)—अर्थात् जैसे घोड़े के लिए घास देते हैं उसी प्रकार। "रायस्पोषेण समिषा मदन्तः" (यजु० ११।७५)—अर्थात् धन और रस से आनन्दित होकर। "अग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम" (यजु० ११।७५) —अर्थात् अग्नि के मित्र यजमान किसी हानि को प्राप्त न हो ॥८॥

"नाभा पृथिव्याः समिधाने ऽ अग्नौ" (यजु० ११।७६)—जहाँ अग्नि प्रज्वलित होती है, वह पृथिवी का नाभिप्रदेश तो है ही। "रायस्पोषाय बृहते हवामहे" (यजु० ११।७६)—अर्थात् हम बहुत धन और शक्ति के लिए बुलाते हैं। "इरं मदम्" (यजु० ११।७६)—अर्थात् यह मद से युक्त है। "बृहदुक्थं" (यजु० ११।७६)—बहुत प्रशंसित है। "यजत्रम्" (यजु० ११।७६)–"यजनीय को।" "जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्" (यजु० ११।७६)—अर्थात् अग्नि युद्ध आदि में विजेता है ॥९॥

"याः सेना ऽ अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा ऽ उत ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते ऽ अग्ने ऽपिदधाम्यास्ये ॥ 'दं' ष्ट्राभ्यां मलिम्लून्जम्भ्यैस्तस्कराँ२ ऽ उत। हनुभ्या'ँ' स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥" दो और मन्त्र (११।७७, ७८, ७९, ८०)—अर्थात् "जो विरोधिनी सेनायें, चोर, डाकू आदि हों, उनको हे अग्नि, मैं तेरे मुख में रखता हूँ ॥ मनुष्यों में जो आक्रमण करने वाले चोर-डाकू हैं, उन चोरों को, हे अग्नि, अपने जबड़ों में चबा जा, अर्थात् मनुष्य के जितने शत्रु हैं उनको चूर्ण कर दे" ॥१०॥

जिस किसी ने देवों से द्वेष किया या जिससे इन्होंने द्वेष किया, उसको उन्होंने अग्नि में रख दिया और उसको सन्तुष्ट किया। ये उनका अन्न हो गये। इस प्रकार अग्नि ने देवों की बुराइयों को भस्म कर दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी जिस किसी से द्वेष करता है, या जो उससे द्वेष करता है उसको वह अग्नि के अर्पण करता है, यह उसका अन्न हो जाता है। इससे वह अग्नि को सन्तुष्ट करता है और यह अग्नि यजमान के पाप को दग्ध कर देता है ॥११॥

नम् ॥११॥ ता एता एकादशादधाति । अक्षत्रियस्य वापुरोहितस्य वासर्वं वै तद्यदेकादशासर्वं तद्यदक्षत्रियो वापुरोहितो वा ॥१२॥ द्वादश क्षत्रियस्य वा पुरोहितस्य वा । सर्वं वै तद्यद्द्वादश सर्वं तद्यत्क्षत्रियो वा पुरोहितो वा ॥१३॥ स पुरोहितस्यादधाति । सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम् । सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहित इति तदस्य ब्रह्म च क्षत्रं च सꣳश्यति ॥१४॥ अथ क्षत्रियस्य । उदेषां बाहू ऽअतिरमुद्वर्चो ऽअथो बलम् । क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वां२॥ऽअहमिति यथैव क्षिणुयादमित्रानुन्नयेत्स्वानेवमेतदाहोभे ह्येवैते ऽआदध्यादयं वा ऽअग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं चेममेवैतदग्निमेताभ्यामुभाभ्याꣳ समिन्द्धे ब्रह्मणा च क्षत्रेण च ॥१५॥ तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते । त्रयोदश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥१६॥ प्रादेशमात्र्यो भवन्ति । प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरन्नमेतदात्मसंमितेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यदु वा ऽआत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति तिष्ठन्नादधाति तस्योपरि बन्धुः स्वाहाकारेण रेतो वा ऽइदꣳ सिक्तमयमग्निस्तस्मिन्यत्काष्ठान्यस्वाहाकृतान्यभ्यादध्याद्धिꣳस्याद्धैनं ता यत्समिधस्तेन नाहुतयो यदु स्वाहाकारेण तेनान्नमन्नꣳ हि स्वाहाकारस्तथो हैनं न हिनस्ति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥५ [६. ३.] ॥॥

अथ विष्णुक्रमान्क्रान्त्वा । वात्सप्रेणोपस्थायास्तमित ऽआदित्ये भस्मैव प्रथममुद्वपत्येतद्वा ऽएनमेतेनान्नेन प्रीणात्येताभिः समिद्भिस्तस्यान्नस्य जग्धस्यैष पाप्मा सीदति भस्म तेनैनमेतद्व्यावर्तयति तस्मिन्नपहतपाप्मन्वाचं विसृजते वाचं विसृज्य समिधमादधाति रात्र्या ऽएवैनमेतदन्नेन प्रीणाति रात्रीꣳ-रात्रीमप्रयावं भरन्त इति तस्योक्तो बन्धू रात्र्या ऽएवैतामरिष्टिꣳ स्वस्तिमाशास्ते तद्यत्किं चातो रात्र्योपसमादधात्याहुतिकृतꣳ हैवास्मै तदुपसमादधाति ॥१॥ अथ प्रातरुदित ऽआदित्ये ।

ये ग्यारह समिधायें उसके लिए हैं जो अक्षत्रिय हैं या अपुरोहित। (ग्यारह) असर्व अर्थात् अधूरी हैं। और जो न क्षत्रिय है न पुरोहित, वह भी असर्व अर्थात् अधूरा है ॥१२॥

बारह क्षत्रिय की या पुरोहित की। बारह पूरा है और क्षत्रिय तथा पुरोहित भी पूरा है ॥१३॥

पुरोहित के लिए इस मन्त्र से—"सँ शितम्मे ब्रह्म सँ शितं वीर्यं बलम्। सँ शितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः" (यजु० ११।८१)—"मेरी विद्या, मेरा वीर्य, मेरा बल, मेरा क्षत्र सब प्रशंसित है, जिसका मैं पुरोहित हूँ" ॥१४॥

क्षत्रिय के लिए इस मन्त्र से—"उदेषां बाहू ऽअतिरमुद्वर्चो ऽ अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वाँ २ ऽ अहम्।" (यजु० ११।८२)—"इनकी भुजाओं को, वर्चस् को, बल को मैंने उठाया है। अमित्रों को ब्रह्मविद्या द्वारा क्षीण करता हूँ और अपने जातिवालों को उठाता हूँ।" यह वह इसलिए कहता है कि शत्रुओं को क्षीण कर सके और मित्रों को उठा सके। उसे दोनों समिधायें रखनी चाहियें, क्योंकि ब्रह्म और क्षत्र दोनों अग्नि हैं। इन दोनों अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय से वह अग्नि को प्रज्वलित करता है ॥१५॥

ये तेरह होती हैं। संवत्सर में तेरह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से उसको तृप्त करता है ॥१६॥

वे बालिश्त-भर की होती हैं। विष्णु गर्भ में बालिश्त-भर ही था, और यह अन्न है। इस प्रकार वह अपने शरीर के अनुकूल खाने से ही उसको प्रज्वलित करता है। जो अन्न शरीर के अनुकूल होता है वह शरीर को हानि नहीं पहुँचाता। जो अधिक है वह हानि करता है, जो कम है वह रक्षा नहीं करता। खड़े होकर आहुति देता है। इसका रहस्य आगे समझाया जाएगा। स्वाहा करके; क्योंकि यदि बिना स्वाहा कहे काष्ठों को उसमें रक्खेगा तो वह अग्नि को हानि पहुँचाएगा। चूँकि ये समिधायें हैं; ये आहुतियाँ नहीं हैं। चूँकि स्वाहा के साथ रक्खे जाते हैं, अतः ये अन्न हैं और यह उस (अग्नि) को हानि नहीं पहुचाता ॥१७॥

भस्मोद्वपनम्, व्रतपरिग्रहः, उखाभेदे प्रायश्चित्तादिकंच

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

विष्णु के पगों को चलकर वात्सप्र मन्त्रों से सूर्य के अस्त होने तक अग्नि के निकट खड़ा होकर पहले राख को झाड़ता है। पहले उसने समिधारूपी अन्न से अग्नि को तृप्त किया था। यह जो भस्म है वह उस खाए हुए अन्न का पाप अर्थात् बुरा भाग है। इसी निकृष्ट भाग को दूर करता है। उसके पापरहित होने पर वह वाणी को छोड़ता है। वाणी को छोड़कर समिधा रखता है रात के लिए। रात के लिए अन्न से तृप्त करता है—"रात्रीँ रात्रीमप्रयावं भरन्तः"—"निरन्तर प्रत्येक रात के लिए।"—इसका अर्थ हो चुका। इससे रात के लिए कल्याण चाहता है। उसके अनन्तर जो कुछ वह रात के लिए रखता है, उसको वह आहुति करके ही रखता है ॥१॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर पहले राख झाड़ता है। इस समय वह इसको अन्न से

भस्मैव प्रथममुद्वपत्येतद्वाऽएनमेतेनान्नेन प्रीणात्येतया समिधा यच्च रात्र्योपसमा-
दधाति तस्यान्नस्य जग्धस्यैष पाप्मा सीदति भस्म तेनैनमेतद्व्यावर्तयति तस्मिन्नप-
हतपाप्मन्वाचं विसृजते वाचं विसृज्य समिधमादधात्यह्नऽएवैनमेतदन्नेन प्रीणा-
त्यहरहरप्रयावं भरन्त इति तस्योक्तो बन्धुरह्नऽएवैनामरिष्टिꣳ स्वस्तिमाशास्ते
तद्यत्किं चातोऽह्नोपसमादधात्याहुतिकृतꣳ हैवास्मै तदुपसमादधाति ॥२॥ अ-
होरात्रे वाऽअभिवर्तमाने संवत्सरमाप्नुतः संवत्सर इदꣳ सर्वमाह्नायैवैतामरिष्टिꣳ
स्वस्तिमाशास्ते ॥३॥ अथ यदास्मै व्रतं प्रयच्छन्ति । अथ व्रते न्यज्य समिधमादधाति
न व्रते न्यञ्ज्यादित्यु हैकऽआहुराहुतिं तज्जुहुयादनवक्लृप्तं वै तद्यद्दीक्षित आहु-
तिं जुहुयादिति ॥४॥ स वै न्यञ्ज्यादेव । दैवो वाऽअस्यैष आत्मा मानुषोऽयꣳ
स यन्न न्यञ्ज्यान्न हैतं दैवमात्मानं प्रीणीयादथ यन्न्यनक्ति तथो हैतं दैवमात्मानं
प्रीणाति सा यत्समित्तेन नाहुतिर्यदु व्रते न्यक्ता तेनान्नमन्नꣳ हि व्रतꣳ ॥५॥ स
वै समिधमाधायाथ व्रतयति । दैवो वाऽअस्यैष आत्मा मानुषोऽयं देवा उ वा
ऽअग्रेऽथ मनुष्यास्तस्मात्समिधमाधायाथ व्रतयति ॥६॥ अन्नपतेऽन्नस्य नो देही-
ति । अशनपतेऽशनस्य नो देहीत्येतदनमीवस्य शुष्मिण इत्यनशनायस्य शुष्मि-
ण इत्येतत्प्र-प्र दातारं तारिष इति यजमानो वै दाता प्र यजमानं तारिष इत्ये-
तदूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदऽइत्याशिषमाशास्ते यदु भिन्नायै प्रायश्चित्तिमाहोत्त-
रस्मिंस्तदन्वाख्यानऽइति ॥७॥ यद्येषोखा भिद्येत । याभिन्ना नवा स्थाल्युरुबि-
ला स्यात्तस्यामेनं पर्यावपेदार्छति वाऽएषोखा या भिद्यतेऽनार्तोऽइयं देवता-
नार्तायामिममनार्तं बिभराणीति तत्रोखायै कपालं पुरस्तात्प्रास्यति तथो हैष
एतस्यै स्वायै योनेर्न च्यवते ॥८॥ अथ मृदमाहृत्य । उखां चोपशयां च पिष्ट्वा
सꣳसृज्योखां करोत्येतयैवावृतानुपहरन्यजुस्तूष्णीमेव पक्त्वा पर्यावपति कर्मणि-
रेव तत्र प्रायश्चित्तिः पुनस्तत्कपालमुखायामुपसमस्योखां चोपशयां च पिष्ट्वा सꣳ

तृप्त करता है, अर्थात् इस समिधा से। यह जो रात को समिधा रक्खी थी, उस खाए हुए का निकृष्ट भाग यह भस्म थी। उस पापमय राख को दूर कर देता है। तब वाणी को छोड़ता है। वाणी को छोड़कर समिधा रखता है। इस समिधारूपी अन्न से तृप्त करता है। "अहरहरप्रयावं भरन्तः" अर्थात् "निरन्तर दिन-भर पालन करते हुए।" इसका अर्थ हो चुका। दिन के लिए वह कल्याण चाहता है। जो कुछ वह इसके बाद दिन में अर्पण करता है, वह आहुति के रूप में अर्पण करता है ॥२॥

दिन और रात एक-दूसरे के पश्चात् आते हुए संवत्सर बनाते हैं। संवत्सर ही यह सब है। वह दिन-रात के इस निरन्तर सिलसिले के कल्याण के लिए यह सब-कुछ चाहता है ॥३॥

अब (यजमान को) व्रत का दूध देता है। वह समिधा को दूध में भिगोकर चढ़ाता है। कुछ का कहना है कि दूध में न भिगोवे। यह आहुति देने के तुल्य है और दीक्षित होकर आहुति देना अनुचित है ॥४॥

परन्तु भिगोना अवश्य चाहिए। यह जो आहवनीय है, वह इसका दैवी शरीर है और जो (असली) शरीर है वह मानुषी शरीर है। यदि भिगोएगा नहीं, तो अपने दैवी शरीर को कैसे सन्तुष्ट कर सकेगा? यह जो भिगोता है, तो अपने दैवी शरीर को सन्तुष्ट करता है। यह समिधा है, आहुति नहीं है। दूध में भिगोई है, इसलिए अन्न है। दूध अन्न है ॥५॥

समिधा को चढ़ाकर वह दूध को पीता है। क्योंकि वह (आहवनीय अग्नि) उसका दैवी शरीर है और यह (असली) शरीर मानुषी है—पहले दैवी, फिर मानुषी। इसलिए समिधा को चढ़ाकर ही व्रत-दूध को पीता है ॥६॥

वह इस मन्त्र से चढ़ाता है—"अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि" (यजु० ११।८३)—इसका अर्थ है कि भोजन-पति भोजन मुझे दो। "अनमीवस्य शुष्मिणः" (यजु० ११।८३)—अर्थात् भूख को दूर करनेवाले ओर शक्ति को देनेवाले। "प्रप्रदातारं तारिष" (यजु० ११।८३)—यजमान दाता है। इसका अर्थ हुआ कि यजमान को ले चल। "ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे" (यजु० ११।८३)—"हम दुपायों और चौपायों को बल दे।" यह आशीर्वाद है। यदि उखा टूट जाय तो क्या प्रायश्चित्त है? पहले कहा था कि इसकी आगे व्याख्या होगी ॥७॥

यदि यह उखा टूट जाय तो आग को किसी ऐसे बर्तन में जो नया हो, टूटा न हो, और चौड़े मुंह का हो, उँडेल दे। क्योंकि जो उखा टूट गयी उसने दुःख सहा। यह जो अग्नि देवता है, वह तो दुःखित नहीं है। इस अनार्त (अ-दुःखित) को अनार्त अर्थात् अदुःखित में ही भरूँ, ऐसा सोचता है। उसी बर्तन में उखा के एक कपाल को डालता है कि वह अपनी योनि से च्युत न हो ॥८॥

अब शेष मिट्टी को लेकर और टूटी हुई उखा को लेकर पीसता है और उसको मिलाकर नई उखा बनाता है, उसी प्रकार जैसे पहले बनाई थी, बिना किसी मन्त्र के चुपके-चुपके। उसको पकाकर आग को फिर उसमें उँडेल देता है। यह कर्म ही उसका प्रायश्चित्त है। उस कपाल को उस नई उखा में डालकर और दोनों को पीसकर शेष मिट्टी में मिलाकर प्रायश्चित्त के लिए

सृज्य निदधाति प्रायश्चित्तिभ्यः ॥९॥ अथ यद्येष उद्धृतोऽग्निरनुगच्छेत् । गार्हपत्यं
वाव स गच्छति गार्हपत्याद्धि स आहृतो भवति गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चमुद्धृत्योप-
समाधायोखां प्रवृञ्ज्यादेतयैवावृतानुपहरन्यजुस्तूष्णीमेव तां यदाग्निरारोहति ॥१०॥
अथ प्रायश्चित्ती करोति । सर्वेभ्यो वाऽएष एतं कामेभ्य आधत्ते तद्यदेवास्यात्र
कामानां व्यवच्छिद्यतेऽग्नावनुगते तदेवैतत्संतनोति संदधात्युभे प्रायश्चित्ती करो-
त्यध्वरप्रायश्चित्तिं चाग्निप्रायश्चित्तिं चाध्वरस्य पूर्वामथाग्नेस्तस्योक्तो बन्धुः ॥११॥ स
समिधाज्यस्योपहत्य । आसीन आहुतिं जुहोति विश्वकर्मणे स्वाहेत्यथोपोत्थाय
समिधमादधाति पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ य-
ज्ञैरित्येतास्त्वा देवताः पुनः समिन्धतामित्येतद्घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु
यजमानस्य कामा इति घृतेनाह त्वं तन्वं वर्धयस्व येभ्य उ त्वां कामेभ्यो यजमान
आधत्त तेऽस्य सर्वे सत्याः सन्त्वित्येतत् ॥१२॥ अथ यदि गार्हपत्योऽनुगच्छेत् ।
अरणी वाव स गच्छत्यरणिभ्याꣳ हि स आहृतो भवत्यरणिभ्यामेवैनं मथित्वोप-
समाधाय प्रायश्चित्ती करोति ॥१३॥ अथ यदि प्रसुत आहवनीयोऽनुगच्छेत् । गार्ह-
पत्यं वाव स गच्छति गार्हपत्याद्धि स आहृतो भवति गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चꣳ सां-
काशिनेन हृत्वोपसमाधाय प्रायश्चित्ती करोति यस्तस्मिन्कालेऽध्वरः स्यात्तामध्वर-
प्रायश्चित्तिं कुर्यात्समान्यग्निप्रायश्चित्तिः ॥१४॥ अथ यद्याग्नीध्रीयोऽनुगच्छेत् । गार्ह-
पत्यं वाव स गच्छति गार्हपत्याद्धि स आहृतो भवति गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चमुत्त-
रेण सदो हृत्वोपसमाधाय प्रायश्चित्ती करोत्यथ यदि गार्हपत्योऽनुगच्छेत्तस्योक्तो
बन्धुः ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥६ [६.४.]॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १०० ॥
षष्ठोऽध्यायः [४१.] ॥ ॥

रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति । सत्यꣳ ह्येतद्यद्रुक्मः सत्यं वाऽएतं यन्तुमर्हति सत्ये-
नैतं देवा अबिभरुः सत्येनैवैनमेतद्बिभर्ति ॥१॥ तद्यत्तत्सत्यम् । असौ स आदित्यः

अलग रख देता है ॥६॥

अगर इस उखा की अग्नि बुझ जाय तो वह गार्हपत्य को चली जाती है, क्योंकि गार्हपत्य से ही लाई गई थी। गार्हपत्य से ही इसको लेकर पूर्व की ओर और ईंधन रखकर, उस पर उखा को पहले की भाँति रख दे, बिना मन्त्र के चुपके-चुपके। जब अग्नि वहाँ तक आ पहुँचे तो—॥१०॥

दो प्रायश्चित्त करता है। अपनी सब कामनाओं के लिए ही वह अन्याधान करता है। यह जो अग्नि बुझ गई, मानो उसकी कामनाओं में बाधा पड़ गई; यह जो दो प्रायश्चित्त करता है मानो उसको जोड़ता है और ठीक करता है। दो प्रायश्चित्त ये हैं—एक अग्नि का और एक सोम-भाग का। पहले सोम-भाग का, फिर अग्नि का। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी ॥११॥

वह समिधा से घी को अलग करके बैठे-बैठे आहुति देता है—"विश्वकर्मणे स्वाहा।" फिर निकट जाकर समिधा रखता है, इस मन्त्र से—"पुनस्त्वाऽऽदित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः" (यजु० १२।४३)—"हे वसुनीथ (धन लानेवाले अग्नि), आदित्य, रुद्र, वसु तुझे फिर प्रदीप्त करें। यज्ञों के साथ ब्राह्मण लोग भी फिर प्रज्वलित करें।" अर्थात् ये देव फिर तुझे प्रज्वलित करें। "घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः" (यजु० १२।४४)—अर्थात् "तू अपने तन को घी से बढ़ा और यजमान की कामनायें सत्य हों" ॥१२॥

यदि गार्हपत्य अग्नि बुझ जाय, तो वह अरणियों को चली जाती है, क्योंकि अरणियों से ही तो लाई गई थी। इसके दो प्रायश्चित्त करता है, एक तो अरणियों को मथकर अग्नि उत्पन्न करना और दूसरा उस पर ईंधन रखकर बढ़ाना ॥१३॥

यदि सोम-रस निकालते समय आहवनीय बुझ जाय तो वह गार्हपत्य को जाती है। गार्हपत्य से ही तो लाई गई थी। गार्हपत्य से लेकर पूर्व की ओर लाकर और समिधा रखकर दो प्रायश्चित्त करता है। जिस प्रकार का यज्ञ हो उसी प्रकार का प्रायश्चित्त करे। अग्नि-चिति का प्रायश्चित्त भी वैसा ही है ॥१४॥

यदि अग्नीध्र-अग्नि बुझ जावे, तो यह भी गार्हपत्य को ही जाती है। गार्हपत्य से ही तो लाई गई थी। गार्हपत्य से लेकर सदस के उत्तर-पूर्व से लाकर और समिधा रखकर दो प्रायश्चित्त करता है। यदि गार्हपत्य बुझ जाय तो उसकी व्याख्या भी हो चुकी ॥१५॥

रुक्मप्रतिमोकविध्यादि, उखाया आसन्द्यां निधानम्,
उख्याग्नेः परिग्रहश्च

अध्याय ७—ब्राह्मण १

सोने को पहनकर ले चलता है। यह सोना सत्य है, सत्य ही इसको ले-जा सकता है। सत्य द्वारा ही देव इसको उठा सके। सत्य द्वारा ही वह इसको उठा सकता है ॥१॥

यह जो आदित्य है वही सत्य है। वह हिरण्मय है, क्योंकि ज्योति ही हिरण्य है। यह

स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यममृतमेष परि-
मण्डलो भवति परिमण्डलो ह्येष एकविꣳशतिनिर्बाध एकविꣳशो ह्येष बहि-
ष्टान्निर्बाधं बिभर्ति रश्मयो वाऽएतस्य निर्बाधा बाह्यत उ वाऽएतस्य रश्मयः
॥२॥ यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति । असौ वाऽआदित्य एष रुक्मो नो हैतम-
ग्निं मनुष्यो मनुष्यरूपेण यन्तुमर्हत्येतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति ॥३॥ यद्वेव रुक्मं
प्रतिमुच्य बिभर्ति । रेतो वाऽइदꣳ सिक्तमयमग्निस्तेजो वीर्यꣳ रुक्मोऽस्मिꣳस्तद्रेत-
सि तेजो वीर्यं दधाति ॥४॥ यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति । एतद्वै देवा अबि-
भयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्माऽएतमन्तिकाद्गोप्तारमकु-
र्वन्नमुमेवादित्यमसौ वाऽआदित्य एष रुक्मस्तथैवास्माऽअयमेतमन्तिकाद्गोप्तारं क-
रोति ॥५॥ कृष्णाजिने निष्यूतो भवति । यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञो वाऽएतं
यन्तुमर्हति यज्ञेनैतं देवा अबिभरुर्यज्ञेनैवैतमेतद्बिभर्ति लोमतश्छन्दाꣳसि वै लो-
मानि छन्दाꣳसि वाऽएतं यन्तुमर्हन्ति छन्दोभिरेतं देवा अबिभरुश्छन्दोभिरेवैनमे-
तद्बिभर्ति ॥६॥ अभि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि निष्यूतो भवति । ऋ-
क्सामयोर्हैते रूपेऽऋक्सामे वाऽएतं यन्तुमर्हत ऋक्सामाभ्यामेतं देवा अबिभ-
रुरृक्सामाभ्यामेवैनमेतद्बिभर्ति शाणो रुक्मपाशस्त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥ ॥ श-
तम् ३८०० ॥ ॥ तमुपरिनाभि बिभर्ति । असौ वाऽआदित्य एष रुक्म उपरिनाभ्यु
वाऽएषः ॥८॥ यद्वेवोपरिनाभि । अवाग्वै नाभे रेतः प्रजातिस्तेजो वीर्यꣳ रुक्मो
नेन्मे रेतः प्रजातिं तेजो वीर्यꣳ रुक्मः प्रदहादिति ॥९॥ यद्वेवोपरिनाभि । एतद्वै
पशोर्मेध्यतरं यदुपरिनाभि पुरीषसꣳहिततरं यदवाङ्नाभेस्तद्यदेव पशोर्मेध्यतरं ते-
नैनमेतद्बिभर्ति ॥१०॥ यद्वेवोपरिनाभि । यद्वै प्राणस्यामृतमूर्ध्वं तन्नाभेरूर्ध्वः प्राणो-
रुच्चरत्यथ यन्मर्त्यं पराक्तन्नाभिमत्येति तद्यदेव प्राणस्यामृतं तदेनमेतदभिसम्पाद-
यति तेनैनमेतद्बिभर्ति ॥११॥ अथैनमासन्द्या बिभर्ति । इयं वाऽआसन्द्यस्याꣳ

अमृत है क्योंकि हिरण्य (स्वर्ण) अमृत है। यह (सोने का प्लेट) गोल है, आदित्य भी गोल है। इसमें भी इक्कीस निर्बाध (?) हैं, सूर्य में भी इक्कीस निर्बाध होते हैं। इसके निर्बाध बाहर को हैं, सूर्य के निर्बाध भी बाहर को हैं। सूर्य की किरणें ही उसके निर्बाध हैं और वे बाहर को हैं। (निर्बाध शायद दन्दानें होंगे जैसे बहुधा तश्तरियों में होते हैं) ॥२॥

वह सोने की प्लेट को पहनकर क्यों चलता है? यह सोने की प्लेट आदित्य है। मनुष्य इस अग्नि को मनुष्यरूप से ले जाने में असमर्थ है। इसी रूप से उसके रूप को ले-जा सकता है ॥३॥

वह सोने की प्लेट को इसलिए भी लेकर चला जाता है कि यह जो अग्नि है वह सींचा हुआ वीर्य है। सोने की प्लेट का अर्थ है कि उसमें तेज और वीर्य धारण कराता है ॥४॥

सोने की प्लेट को इसलिए भी पहनता है कि देवों को भय हुआ कि यहाँ इस अग्नि को दुष्ट राक्षस हानि न पहुँचा दें। उन्होंने उस आदित्यरूपी स्वर्ण को उस अग्नि का रक्षक बनाया। यह सोना आदित्य ही है और उस सोने को वह इस अग्नि का रक्षक बनाता है ॥५॥

वह मृगचर्म में सिला हुआ होता है। यज्ञ मृगचर्म है। यज्ञ इसको ले जाने में समर्थ है। यज्ञ के द्वारा ही देव इसको ले गये थे। यज्ञ ही के द्वारा यह भी ले जाता है। उस चर्म के लोम भीतर को होते हैं। लोम छन्द हैं। छन्द ही इसको ले-जा सकते हैं। छन्दों की सहायता से ही देव इसको ले गये थे। छन्दों के द्वारा ही यह भी ले जाता है ॥६॥

शुक्ल और कृष्ण बालों में यह सिला हुआ होता है। शुक्ल और कृष्ण ऋक् और साम के दो रूप हैं। ऋक् और साम इसको ले जाने में समर्थ हैं। ऋक् और साम की सहायता से ही देव इसको ले-जा सके। ऋक् और साम की सहायता से ही वह इसको ले जाता है। इस स्वर्ण-प्लेट की रस्सी तिहरी सन की होती है। इसकी व्याख्या हो चुकी है ॥७॥

उसको नाभि के ऊपर-ऊपर पहनता है। यह प्लेट आदित्य है और आदित्य नाभि के ऊपर-ऊपर है ॥८॥

नाभि के ऊपर-ऊपर इसलिए कि नाभि के नीचे-नीचे वीर्य रहता है, जिससे सन्तान उत्पन्न होती है। यह सोना तेज और वीर्य है। ऐसा न हो कि मेरे तेज और वीर्य को यह स्वर्ण जला दे ॥९॥

नाभि के ऊपर इसलिए भी कि पशु की नाभि के ऊपर का भाग पवित्र होता है और जो नाभि के नीचे है वह पुरीष के अधिक पास होता है। इसलिए वह पशु के उस भाग के सहारे ले जाता है जो पवित्र है ॥१०॥

नाभि के ऊपर इसलिए भी कि प्राणों का जो अमृतभाग है वह नाभि के ऊपर है और ऊपर की साँस में होकर बाहर निकलता है। लेकिन जो मरणशील भाग है वह नीचे की ओर होकर निकलता है। इसलिए वह यजमान को प्राणों का वह भाग प्राप्त कराता है जो अमृत है और इसी के द्वारा वह अग्नि को ले जाता है ॥११॥

उस (अग्नि) को किसी चौकी पर ले जाता है। यह पृथिवी चौकी है, क्योंकि उस पर

ह्मीद७ सर्वमासन्नमियं वा ऽ एतं यत्तुमर्हत्यनयैतं देवा अबिभरुरनयैवैनमेतद्बिभर्ति ॥१२॥ औदुम्बरी भवति । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन बिभर्त्यथो सर्वे ऽ एते वनस्पतयो यदुदुम्बरः सर्वे वा ऽ एतं वनस्पतयो यत्तुमर्हन्ति सर्वै रेतं वनस्पतिभिर्देवा अबिभरुः सर्वै रेवैनमेतद्वनस्पतिभिर्बिभर्ति ॥१३॥ प्रादेशमात्र्यूर्ध्वा भवति । प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुर्योनिरेषा गर्भसंमितां तद्योनिं करोत्यरत्निमात्री तिरश्ची बाहुर्वा ऽ अरत्निर्बाहुना वै वीर्यं क्रियते वीर्यसंमितेव तद्भवति वीर्यं वा ऽ एतं यत्तुमर्हति वीर्येणैतं देवा अबिभरुर्वीर्येणैवैनमेतद्बिभर्ति ॥१४॥ चतुःस्रक्तयः पादा भवन्ति । चतुःस्रक्तीन्यनूच्यानि चतस्रो वै दिशो दिशो वा ऽ एतं यत्तुमर्हन्ति दिग्भिरेतं देवा अबिभरुर्दिग्भिरेवैनमेतद्बिभर्ति मौञ्जीभी रज्जुभिर्व्युता भवति त्रिवृद्भिस्तस्योक्तो बन्धुर्मृदा दिग्धा तस्योऽएवोक्तोऽथोऽअनतिदाहाय ॥१५॥ अथैन७ शिक्येन बिभर्ति । इमे वै लोका एषोऽग्निर्दिशः शिक्यं दिग्भिर्ह्मीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुं यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यं दिग्भिरेवैनमेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढि दिशो मौञ्जं त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुर्मृदा दिग्धं तस्योऽएवोक्तोऽथोऽअनतिदाहाय ॥१६॥ तस्याप एव प्रतिष्ठा । अप्सु ह्मीमे लोकाः प्रतिष्ठिता आदित्य आसञ्जनमादित्ये ह्मीमे लोका दिग्भिरासक्ताः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति ॥१७॥ यद्वेवैन७ शिक्येन बिभर्ति । संवत्सर एषोऽग्निर्ऋतवः शिक्यमृतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यमृतुभिरेवैनमेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढ्यृतवः ॥१८॥ तस्याहोरात्रेऽएव प्रतिष्ठा । अहोरात्रयोर्ह्मय७ संवत्सरः प्रतिष्ठितश्चन्द्रमा आसञ्जनं चन्द्रमसि ह्मय७ संवत्सर ऋतुभिरासक्तः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति तस्य ह वा ऽ एष संवत्सरभृतो भवति य एवं वेद संवत्सरोपासितो हैव तस्य भवति य एवं न वेदेत्यधिदेवतम् ॥१९॥ ॥शतपथस्यार्धम् कण्डिकाः३८१२॥ ॥अथाध्यात्मम् । आत्मैवाग्निः

सब-कुछ रक्खा हुआ है। यह चौकी ही उसका भार उठा सकती है। देव इसी के द्वारा उसको ले गये और यह यजमान भी उसी के द्वारा ले जाता है ॥१२॥

यह चौकी उदुम्बर की होती है। उदुम्बर ऊर्ज है और रस है। इसी ऊर्ज और रस के द्वारा वह उसको ले जाता है। यह उदुम्बर सब वृक्षों का प्रतिनिधि है। सब वनस्पतियाँ उस (अग्नि) को ले जाने में समर्थ हैं। इन सब वनस्पतियों के द्वारा ही देव उस (अग्नि) को ले गये थे। इन सब वनस्पतियों द्वारा ही वह इसको ले जाता है ॥१३॥

यह चौकी एक बालिश्त ऊँची होती है। विष्णु गर्भ में एक बालिश्त ऊँचा था। इस प्रकार वह योनि को गर्भ के बराबर बनाता है। हाथ-भर चौड़ी होती है। हाथ भुजा है और भुजा से ही पराक्रम किया जाता है। इस प्रकार यह पराक्रम के योग्य (तुल्य) हो जाती है और पराक्रम कर सकती है। पराक्रम से ही देव इसको ले सके थे और पराक्रम द्वारा ही यह यजमान भी उसको लाता है ॥१४॥

चार कोने और चार पाद होते हैं। चार कोने इसलिए कि चार दिशायें होती हैं। चार दिशाओं में इसको ले जाने के यह समर्थ होता है। दिशाओं के द्वारा ही देव इसको ले-जा सके थे और दिशाओं के द्वारा ही यह भी ले-जा सकता है। यह तिहरी मूँज की रस्सी से युक्त होती है। इसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। इसके ऊपर मिट्टी लगी होती है, इसकी भी व्याख्या हो चुकी। इससे जलने से भी रक्षा होती है ॥१५॥

इसको एक छींके (शिक्य) में ले जाता है। ये अग्नि लोक हैं। दिशायें छींका हैं। दिशाओं के द्वारा ही ये लोक ठहरे हुए हैं। ये ठहर सकते हैं (शक्नुवन्ति), इसलिए 'शक्' से शिक्य (छींका) बन गया। इस प्रकार वह इसको दिशाओं के सहारे ले जाता है। इसमें छः रस्सियाँ होती है। दिशायें भी तो छः ही हैं। मूँज तिहरी होती है, इसकी व्याख्या हो चुकी। मिट्टी लिपटी होती है, इसकी भी व्याख्या हो चुकी। इसलिए भी कि आग से न जले ॥१६॥

उस (अग्नि) की बुनियाद (प्रतिष्ठा) जल हैं। जलों पर ही ये लोक स्थित हैं। आदित्य जोड़नेवाला है। आदित्य से ही ये लोक दिशाओं द्वारा जुड़े हुए हैं। जो इस रहस्य को समझता है, वह इस प्रकार की चीजों को इसी प्रकार ले जाता है ॥१७॥

छींके पर इसलिए भी ले जाते हैं कि यह अग्नि संवत्सर है। ऋतु छींके हैं। ऋतुओं द्वारा ही संवत्सर ठहर सकता है। शक् से शिक्य (छींका) बनाया। ऋतुओं के द्वारा ही यह उसको ले-जा सकता है। छः रस्सियाँ होती हैं। छः ही ऋतुएँ हैं ॥१८॥

उसकी प्रतिष्ठा (बुनियाद) रात-दिन हैं। दिन-रात पर ही यह संवत्सर प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा मिलानेवाला है। यह संवत्सर चन्द्रमा से ऋतुओं द्वारा बँधा हुआ है। जो इस रहस्य को समझता है, वह इस प्रकार की चीज को इसी प्रकार से ले जाता है। जो इस रहस्य को समझता है, वह साल-भर तक अग्नि को ले जाता है। जो इस रहस्य को नहीं समझता, उसकी तो साल-भर तक उपासना मात्र होती है, अर्थात् कोई लाभ नहीं होता। यह आधिदैवत हुआ ॥१९॥

अब अध्यात्म—आत्मा अग्नि है, प्राण छींके हैं; प्राणों की सहायता से ही यह आत्मा

प्राणाः शिक्यं प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यं प्राणैरेवैन-
मेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढि प्राणाः ॥२०॥ तस्य मन एव प्रतिष्ठा । मनसि
ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितोऽन्नमासज्जनमन्ने ह्ययमात्मा प्राणैरासक्तः स यो हैतदेवं वे-
दैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति ॥२१॥ अथैनमुखया बिभर्ति । इमे वै लोका उखे-
मे वाऽएतं लोका यत्तुमर्हन्त्येभिरेतं लोकैर्देवा अबिभरुरेभिरेवैनमेतल्लोकैर्बि-
भर्ति ॥२२॥ सा यदुखा नाम । एतद्ध देवा एतेन कर्मणैतयावृतेमांल्लोकानुदख-
नन्यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तामुखेत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि
देवाः ॥२३॥ तद्वाऽउखेति हेऽअक्षरे । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्नि-
र्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्बिभर्ति सोऽएव कुम्भी सा स्थाली तत्षट् षडृतवः
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥२४॥ अथैनमि-
ण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति । असौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरहोरात्रेऽइण्ड्वेऽअमुं तदादि-
त्यमहोरात्राभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेषोऽहोरात्राभ्यां परिगृहीतः ॥२५॥ यद्वेवैन-
मिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति । असौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरिमाऽउ लोकाविण्ड्वेऽअ-
मुं तदादित्यमाभ्यां लोकाभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेष आभ्यां लोकाभ्यां परिगृहीतः
परिमण्डले भवतः परिमण्डलौ हीमौ लोकौ मौञ्जे त्रिवृती तस्योक्तो बन्धुर्मृ-
दा दिग्धे तस्योऽएवोक्तोऽथोऽअनतिदाहाय ॥२६॥ अथातः सम्पदेव । आसन्दी
चोखा च शिक्यं च रुक्मपाशश्चाग्निश्च रुक्मश्च तत्षट् षडृतवः संवत्सरः संवत्सरो
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवतीण्ड्वे तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्रो
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥२७॥ अथ सर्वसम्पत् । चत्वारः
पादाश्चत्वार्यनूच्यानि शिक्यं च रुक्मपाशश्च यदु किं च रज्जव्यꣳ शिक्यं तदनूखा-
ग्नी रुक्मस्तत्त्रयोदश त्रयोदश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य
मात्रा तावत्तद्भवति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥१ [७. १.] ॥ ॥

ठहर सकता है। शक् से शिक्य या छींका बना। प्राण की सहायता से ही इसको ले जाता है। इसमें छः रस्सियाँ होती हैं, छः ही प्राण होते हैं ॥२०॥

मन ही इसकी बुनियाद है। यह आत्मा मन में ठहरा है। अन्न इसका मिलानेवाला है। अन्न में ही यह आत्मा प्राण द्वारा मिला हुआ है। जो इस रहस्य को समझता है वह इसी रूप के द्वारा इसको ले जाता है ॥२१॥

इसको उखा के द्वारा ले जाता है। ये लोक ही उखा हैं। ये लोक ही इस (अग्नि) को ले-जा सकते हैं। देव इन्हीं लोकों द्वारा इसको ले-जा सके थे। इन्हीं लोकों के द्वारा यह भी इसको ले जाता है ॥२२॥

इसका उखा नाम क्यों है? इस यज्ञ और इस व्यापार द्वारा देवों ने इन लोकों को खोदा। चूंकि खोदा, इसलिए इसको उत्खा कहा। उत्खा से उखा हुआ, क्योंकि देव लोग परोक्ष-प्रिय हैं ॥२३॥

उखा में दो अक्षर हैं। यजमान के दो पैर हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसको ले जाता है। यही 'कुम्भी' है, यही स्थाली है। ये छः अक्षर हुए। वर्ष में छः ही ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह भी हो जाता है ॥२४॥

उसको दो गुल्लों से पकड़ता है। यह अग्नि आदित्य है। दिन-रात दो गुल्ले हैं। इस आदित्य को दिन और रात के सहारे ले जाता है, इसलिए आदित्य दिन और रात से घिरा हुआ है ॥२५॥

इन दो गुल्लों के द्वारा क्यों ले जाता है? यह अग्नि आदित्य है और दो गुल्ले ये लोक हैं। मानो इस आदित्य को इन लोकों के सहारे पकड़ता है। ये गोल होते हैं, क्योंकि ये लोक भी गोल हैं। मूंज तिहरी होती है, इसकी व्याख्या हो चुकी। उस पर मिट्टी लगी होती है, इसकी भी व्याख्या हो चुकी—जलने से बचाने के लिए ॥२६॥

अब सम्पत्ति या अनुकूलता लीजिए। चौकी, उखा, छींका, सोने को बांधने की रस्सियाँ, अग्नि और स्वर्ण की प्लेट – ये छः हुए। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही यह हो जाता है। दो गुल्ले। ये आठ हुए। आठ अक्षर की गायत्री होती है। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही हो जाता है ॥२७॥

अब पूरी अनुकूलता को विचारिये। चौकी के चार पैर, चार कोने, छींका, रुक्म, पाश, या कुछ और रस्सी की चीज, उखा, अग्नि, और स्वर्ण की प्लेट, ये तेरह हुए। साल के तेरह महीने हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह भी हो जाता है ॥२८॥

तं तिष्ठन्प्रतिमुञ्चते । असौ वाऽआदित्य एष रुक्मस्तिष्ठतीव वाऽअसावा-
दित्योऽथो तिष्ठन्वै वीर्यवत्तर उदङ् प्राङ् तिष्ठंस्तस्योक्तो बन्धुः ॥१॥ दृशानो
रुक्म उर्व्या व्यद्यौदिति । दृश्यमानो ह्येष रुक्म उर्व्या विद्योतते दुर्मर्षमायुः श्रिये
रुचान इति दुर्मरं वाऽएतस्यायुः श्रियोऽएष रोचतेऽग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिरिति
सर्वैर्वाऽएष वयोभिरमृतोऽभवद्यदेनं द्यौरजनयदिति द्यौर्वाऽएतमजनयत्सुरेता
इति सुरेता ह्येषा यस्या एष रेतः ॥२॥ अथैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति । नक्तो-
षासा समनसा विरूपे इत्यहोरात्रे वै नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शि-
शुमेकꣳ समीचीऽइति यद्वै किं चाहोरात्रयोस्तेनैतमेव समीची धापयेते द्यावा-
क्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभातीति हरन्नेतद्यजुर्जपतीमे वै द्यावापृथिवी द्यावाक्षामा
तेऽएष यन्नन्तरा विभाति तस्मादेतद्धरन्यजुर्जपति देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदा इ-
ति परिगृह्य निदधाति प्राणा वै देवा द्रविणोदास्तऽएतमग्रऽएवमधारयंस्तैरेवै-
नमेतद्धारयति ॥३॥ अथ शिक्यपाशं प्रतिमुञ्चते । विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते क-
विरित्यसौ वाऽआदित्यः कविर्विश्वा रूपा शिक्यं प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदऽइ-
त्युद्यन्वाऽएष द्विपदे चतुष्पदे च भद्रं प्रसौति वि नाकमख्यत्सविता वरेण्य इति
स्वर्गो वै लोको नाकस्तमेष उद्यन्नेवानुविपश्यत्यनु प्रयाणमुषसो विराजतीत्युषा
वाऽअग्रे व्युच्छति तस्याऽएष व्युष्टिं विराजन्ननूदेति ॥४॥ अथैनमतो विकृत्या
विकरोति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते
॥५॥ सुपर्णोऽसि गरुत्मानिति । वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान्वीर्यमेवैनमेतदभिसं-
स्करोति त्रिवृत्ते शिर इति त्रिवृतमस्य स्तोमꣳ शिरः करोति गायत्रं चक्षुरिति
गायत्रं चक्षुः करोति बृहद्रथन्तरे पक्षाविति बृहद्रथन्तरे पक्षौ करोति स्तोम
आत्मेति स्तोममात्मानं करोति पञ्चविꣳशं छन्दाꣳस्यङ्गानीति छन्दाꣳसि वाऽए-
तस्याङ्गानि यजूꣳषि नामेति यदेनमग्निरित्याचक्षते तदस्य यजूꣳषि नाम साम ते

रुक्मप्रतिमुञ्चनादि

अध्याय ७—ब्राह्मण २

उस (स्वर्ण-प्लेट) को खड़े-खड़े पहनता है। यह स्वर्ण-प्लेट आदित्य है, और यह आदित्य खड़ा-सा ही रहता है। खड़ा पुरुष अधिक बलवान् भी होता है। उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़ा होकर; इसकी व्याख्या पहले हो चुकी ॥१॥

"दृशानो रुक्म ऽ उर्व्या व्यद्यौत्" (यजु० १२।१, ऋ० १०।४५।८)—"सुनहरी दीखता हुआ बहुत विशाल रूप से चमकता है।" यह स्वर्ण-प्लेट भी दिखाई देकर बहुत दूर तक चमकता है। **"दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः"** (यजु० १२।१)—"श्री के लिए न दबनेवाली आयु तक चमकता हुआ।" इस अग्नि की आयु दुर्मर्ष है (सहज मरनेवाली नहीं है) और यह श्री के लिए चमकता है। "अग्निरमृतो ऽ अभवद्वयोभिः" (यजु० १२।१)—"अग्नि अपनी शक्तियों से ऊपर हो गया।" अर्थात् अपनी सब शक्तियों से। "यदेनं द्यौरजनयत्" (यजु० १२।१)—"द्यौ ने उसे उत्पन्न किया।" "सुरेताः" (यजु० १२।१)— यह द्यौ "सुरेताः" अर्थात् अच्छे रेतवाला है" ॥२॥

वह उसको गुल्लों को पकड़कर उठाता है, इस मन्त्र से—"नक्तोषासा समनसा विरूपे" (यजु० १२।२)—"भिन्न-भिन्न रूपवाले रात-दिन एक मन से।" "धापयेते शिशुमेकँ समीची" (यजु० १२।२)— "एक शिशु को भली-भाँति पालते हैं।" रात-दिन में जो कुछ है उससे ये इस अग्नि को भलीभाँति पालते हैं। "द्यावाक्षामा रुक्मो ऽ अन्तर्विभाति" (यजु० १२।२)—"द्यौ और पृथिवी के बीच में यह स्वर्ण चमकता है।" उस अग्नि को ले जाता हुआ इस मन्त्र को जपता है। यह द्यौ और पृथिवी है और वह इन दोनों के बीच में चमकता है। "देवा ऽ अग्निं धारयन् द्रविणोदाः" (यजु० १२।२)—"धन देनेवाले देवों ने अग्नि को धारण किया।" इसको दोनों हाथों से पकड़कर उठाता है। धन देनेवाले देव ये प्राण हैं। इन्होंने पहले अग्नि को धारण किया था। इन्हीं के द्वारा अब यह (यजमान) इसको धारण करता है ॥३॥

अब वह छींके की रस्सी को गले में पहनता है—"विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः" (यजु० १२।३)—"बुद्धिमान् सब रूपों को धारण करता है।" यह आदित्य कवि है और छींका विश्वरूप है। "प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे" (यजु० १२।३)—"दुपायों और चौपायों के लिए लाभप्रद चीजों को उत्पन्न किया।" उदय होकर वह आदित्य अवश्य ही दुपायों और चौपायों के लिए कल्याणकर चीजें उत्पन्न करता है। "वि नाकमख्यत् सविता वरेण्यः" (यजु० १२।३)—"योग्य सविता ने स्वर्ग को देखा।" नाक का अर्थ है स्वर्गलोक। उदय होते ही (सूर्य) इसको देखता है। "अनु प्रयाणमुषसो विराजति" (यजु० १२।३, ऋ० ५।८१।२)—"उषा के पीछे चमकता है।" उषा पहले चमकती है। उसके चमकने के पश्चात् सूर्य चमकता है ॥४॥

इसी विकृति से उसमें विकार उत्पन्न करता है (अर्थात् इस यजु से उसके निर्माण की कल्पना करता है)। इस प्रकार वह सींचे हुए वीर्य को उत्पन्न करता है। इसी से तो योनि में सींचा हुआ वीर्य उत्पन्न होता है ॥५॥

"सुपर्णोऽसि गरुत्मान्" (यजु० १२।४)—"तू सुपर्ण और गरुत्मान् है।" वीर्य ही सुपर्ण गरुत्मान् है। वह इसको वीर्य-युक्त बनाता है। "त्रिवृते शिरः" (यजु० १२।४)—"तेरा सिर तिहरा है।" इस प्रकार तिहरे स्तोत्र को उसका शिर बनाता है। "गायत्रं चक्षुः" (यजु० १२।४)—गायत्री को चक्षु बनाता है। "बृहद्रथन्तरे पक्षौ" (यजु० १२।४)—बृहद्रथन्तरों को दो पक्ष बनाता है। "स्तोम ऽ आत्मा" (यजु० १२।४)—पच्चीस स्तोमों का शरीर बनाता है। "छन्दाँस्यङ्गानि" (यजु० १२।४)—छन्दों को अङ्ग बनाता है। "यजूँषि नाम" (यजु० १२।४)—"यजुओं को नाम।" जिसको वे अग्नि कहते हैं उसके यजु-

तनूर्वामदेव्यमित्यात्मा वै तनूरात्मा ते तनूर्वामदेव्यमित्येतद्यज्ञायज्ञियं पुच्छमिति यज्ञायज्ञियं पुच्छं करोति धिष्ण्याः शफा इति धिष्ण्यैर्वाऽएषोऽस्मिंल्लोके प्रतिष्ठितः सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पतेति तदेनꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वाह देवान्गच्छ स्वर्गं लोकं पतेति ॥६॥ तं वाऽएतम् । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति यादृग्वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषोऽमुत्र पक्षपुच्छवाञ्जायते ॥७॥ तꣳ हैके । एतया विकृत्याभिमन्त्र्यान्यां चितिं चिन्वन्ति द्रोणचितं वा रथचक्रचितं वा कङ्कचितं वा प्रउगचितं वोभयतः-प्रउगं वा समुह्यपुरीषं वा न तथा कुर्याद्यथा पक्षपुच्छवन्तं गर्भं परिवृश्चेत्तादृक्तत्तस्मादेनꣳ सुपर्णचितमेव चिनुयात् ॥८॥ तमेतया विकृत्या । इत ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णात्यसौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ् धीयते परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरति तमुपावहृत्योपरिनाभि धारयति तस्योक्तो बन्धुः ॥९॥ अथ विष्णुक्रमान्क्रमते । एतद्वै देवा विष्णुर्भूत्वेमांल्लोकानक्रमन्त यद्विष्णुर्भूत्वाक्रमन्त तस्माद्विष्णुक्रमास्तथैवैतद्यजमानो विष्णुर्भूत्वेमांल्लोकान्क्रमते ॥१०॥ स यः स विष्णुर्यज्ञः सः । स यः स यज्ञोऽयमेव स योऽयमग्निरुखायामेतमेव तद्देवा आत्मानं कृत्वेमांल्लोकानक्रमन्त तथैवैतद्यजमान एतमेवात्मानं कृत्वेमांल्लोकान्क्रमते ॥११॥ उदङ् प्राङ् तिष्ठन् । एतद्वै तत्प्रजापतिर्विष्णुक्रमैरुदङ् प्राङ् तिष्ठन्प्रजा असृजत तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमैरुदङ् प्राङ् तिष्ठन्प्रजाः सृजते ॥१२॥ विष्णोः क्रमोऽसीति । विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते सपत्नहेति सपत्नान्ह्यत्र हन्ति गायत्रं छन्द आरोहेति गायत्रं छन्द आरोहति पृथिवीमनु विक्रमस्वेति पृथिवीमनु विक्रमते प्रहरति पादं क्रमतऽऊर्ध्वमग्निमुद्गृह्णात्यूर्ध्वो ह्वि रोहति ॥१३॥ विष्णोः क्रमोऽसीति । विष्णुर्हि भूत्वा क्रमतेऽभिमातिहेत्यभिमातीर्ह्यत्र हन्ति त्रैष्टुभं छन्द आरोहेति त्रैष्टुभं छन्द आरोहत्यन्त-

नाम हैं। "साम ते तनूर्वामदेव्यम्" (यजु० १२।४)—"वामदेव्य साम तेरा तन है।" शरीर आत्मा है। वामदेव तेरा आत्मा है। "यज्ञायज्ञियं पुच्छं" (यजु० १२।४)—"यज्ञायज्ञिय को तेरी पूँछ बनाता है। धिष्ण्याः शफाः" (यजु० १२।४)—"अग्निकुण्ड खुर हैं।" क्योंकि अग्नि-कुण्ड में ही तो अग्नि इस लोक में ठहरता है। "सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत" (यजु० १२।४)—इसको सुपर्ण और गरुत्मान् करके कहता है कि "तू देवों तक जा और स्वर्गलोक को पहुँच" ॥६॥

इस प्रकार वह इसको पक्ष और पूँछ से युक्त करता है। योनि म सा बीज पड़ेगा वैसी ही उत्पत्ति होगी। वह इसको पक्ष और पूँछयुक्त इसलिए करता है कि जिससे वह उस लोक में भी पक्ष और पूँछयुक्त उत्पन्न हो ॥७॥

कुछ लोग उसको इस प्रकार मन्त्र से सम्बोधन करके दूसरे ही प्रकार का बनाते हैं—दोने (द्रोण) की आकृति का, या रथ के पहिये की आकृति का, या कंक के समान, या प्र-उग के समान, या दोनों ओर प्र-उग के समान, या पुरीष (गोबर ?) को इकट्ठा करके। परन्तु ऐसा न करे। पक्ष और पूँछवाला बनावे। उसको सुपर्ण (चील) की आकृति का बनावे ॥८॥

इस मन्त्र से वह इसको पूर्व की ओर ऊँचा उठाता है। यह अग्नि आदित्य है। इस अग्नि को वह पूर्व की ओर ऊँचा उठाता है। इसलिए सूर्य पूर्व में ऊँचा उठा हुआ है। वह इतना ऊँचा उठाता है कि भुजाएँ न पहुँच सकें। यह सूर्य है भी भुजाओं से ऊपर। फिर वह उसे नीचे को लाता है और नीचे को उतारकर नाभि तक लाता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥९॥

अब विष्णु के चरणों को चलता है। देवों ने विष्णु (आदित्य) के रूप में इन लोकों को पार किया, विष्णु के रूप में पार किया। इसलिए इनका नाम विष्णुक्रमा है। इसी प्रकार वह यजमान भी विष्णु बनकर इन लोकों को पार करता है ॥१०॥

यह जो यज्ञ है वह विष्णु है। जो यज्ञ है वही यह अग्नि है जो उखा में है। देवों ने अपने को इस अग्नि के रूप में करके लोकों को पार किया। इसी प्रकार यह यजमान भी अपने को अग्निरूप करके इन लोकों को पार करता है—॥११॥

उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़ा होकर। प्रजापति ने उत्तर-पूर्व खड़े होकर विष्णु-क्रमों के द्वारा सृष्टि उत्पन्न की। इसी प्रकार यह यजमान भी उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़ा होकर प्रजा को उत्पन्न करता है ॥१२॥

"विष्णोः क्रमोऽसि" (यजु० १२।५)—"तू विष्णु का क्रम है।" विष्णु बनकर चलता है। "सपत्नहा (यजु० १२।५)—क्योंकि यह शत्रु का नाश करता है। "गायत्रं छन्द ऽ आरोह" (यजु० १२।५)—वह गायत्री छन्द पर चढ़ता है। "पृथिवीमनु विक्रमस्व" (यजु० १२।५)—"पृथिवी पर चल।" वह पृथिवी पर चलता है। वह (दाहिना) पैर बढ़ाकर चढ़ता है। वह आग को ऊपर को उठाता है, क्योंकि वह चढ़ता है ॥१३॥

"विष्णोः क्रमोऽसि" (यजु० १२।५)—क्योंकि विष्णु के रूप में चलता है। "अभि-मातिहा" (यजु० १२।५)—"षड्यन्त्र का नाशक।" वह षड्यन्त्रों का विनाशक है। "त्रैष्टुभं

रिक्षमनु विक्रमस्वेत्यन्तरिक्षमनु विक्रमत प्रहरति पादं क्रमतऽऊर्ध्वमग्निमुद्गृह्णा-त्यूर्ध्वो हि रोहति ॥१४॥ विष्णोः क्रमोऽसीति । विष्णुर्हि भूत्वा क्रमतेऽरातीयतो हन्तेत्यरातीयतो हात्र हन्ति जागतं छन्द आरोहेति जागतं छन्द आरोहति दि-वमनु विक्रमस्वेति दिवमनु विक्रमते प्रहरति पादं क्रमतऽऊर्ध्वमग्निमुद्गृह्णात्यूर्ध्वो हि रोहति ॥१५॥ विष्णोः क्रमोऽसीति । विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते शत्रूयतो हन्तेति शत्रुयतो हात्र हन्त्यानुष्टुभं छन्द आरोहेत्यानुष्टुभं छन्द आरोहति दिशोऽनु विक्रमस्वेति सर्वा दिशोऽनु वीक्षते न प्रहरति पादं नेदिमाँल्लोकानतिप्रणश्या-नीत्यूर्ध्वमेवाग्निमुद्गृह्णाति सᳬ ह्यारोहति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥२ [७. २.] ॥ ॥

अथैनमिति प्रगृह्णाति । एतद्वै देवा अकामयन्त पर्जन्यो रूपᳬ स्यामेति तऽए-तेनात्मना पर्जन्यो रूपमभवंस्तथैवैतद्यजमान एतेनात्मना पर्जन्यो रूपं भवति ॥१॥ अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौरिति । क्रन्दतीव हि पर्जन्य स्तनयन्क्षामा रे-रिहद्वीरुधः समञ्जन्निति क्षमा वै पर्जन्यो रेरिह्यमाणो वीरुधः समनक्ति सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदिति सद्यो वाऽएष जज्ञान इदᳬ सर्वं विख्यापयत्या रोदसी भानुना भात्यन्तरितीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी तेऽएष भानुनाभाति प-रोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु हि पर्जन्यः ॥२॥ अथैनमुपावहरति । एतद्वै यो ऽस्मिँल्लोके रसो यदुपजीवनं तेनैतत्सहोर्ध्व इमाँल्लोकान्रोहत्यग्निर्वाऽअस्मिँल्लोके रसोऽग्निरुपजीवनं तद्यत्तावदेव स्यान्न हास्मिँल्लोके रसो नोपजीवनᳬ स्यादथ यत्प्रत्यवरोहत्यस्मिन्नेवैतल्लोके रसमुपजीवनं दधाति ॥३॥ यद्वेव प्रत्यवरोहति । एतद्वाऽएतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो रोहति स स पराङिव रोह इयमु वै प्रतिष्ठा तद्यत्तावदेव स्यात्प्र हास्माल्लोकाद्यजमानश्च्यवेताथ यत्प्रत्यवरोहतीमामेवैतत्प्र-तिष्ठामभिप्रत्येत्यस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥४॥ यद्वेवं प्रत्यवरोहति । । एतद्वाऽएतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो जयति स स पराङिव जयो यो वै पराङिव

छन्द ऽआरोह" (यजु० १२।५)—त्रिष्टुम् छन्द पर चढ़ता है। "अन्तरिक्षमनु विक्रमस्व" (यजु० १२।५)—अन्तरिक्ष में चलता है। पैर को आगे बढ़ाकर चलता है। अग्नि को ऊपर को उठा लेता है, क्योंकि ऊपर को चढ़ रहा है ।।१४।।

"विष्णोः क्रमोऽसि" (यजु० १२।५)—क्योंकि विष्णु के रूप में वह चलता है। "अरातीयतो हन्ता" (यजु० १२।५)—"शत्रुओं का नाशक है।" यह शत्रुओं का नाशक है। "जागतं छन्द ऽ आरोह" (यजु० १२।५)—जगती छन्द पर चढ़ता है। "दिवमनु विक्रमस्व" (यजु० १२।५)—"द्यौ लोक में चल।" द्यौ लोक में चलता है। पैर आगे बढ़ाता है। अग्नि को ऊपर करता है क्योंकि ऊपर को चढ़ रहा है ।।१५।।

"विष्णोः क्रमोऽसि" (यजु० १२।५)—विष्णु बनकर चलता है। "शत्रूयतो हन्ता" (यजु० १२।५)—"शत्रुओं का नाशक।" शत्रुओं का नाशक है। "अनुष्टुभं छन्द ऽ आरोह" (यजु० १२।५)—अनुष्टुम् छन्द पर चढ़ता है। "दिशोऽनु विक्रमस्व" (यजु० १२।५)—"दिशाओं पर चल।" वह चारों दिशाओं की ओर देखता है। वह पैर आगे नहीं बढ़ाता कि कहीं इन लोकों को न खो दे। वह अग्नि को बिल्कुल ऊपर उठा लेता है, क्योंकि अब वह पूरा चढ़ गया ।।१६।।

विष्णुक्रमः

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

वह इसको इस प्रकार उठाता है (अग्नि को उत्तर-पूर्वाभिमुख)। देवों ने चाहा कि हम पर्जन्य (मेघ) का रूप धारण कर लें। इस (अग्नि की) आत्मा से वे पर्जन्यरूप हो गये। इस प्रकार यजमान भी अग्नि के आत्मा के सहारे पर्जन्यरूप हो जाता है ।।१।।

"अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः" (यजु० १२।६)—"अग्नि बादल के समान गर्जा।" वस्तुतः अग्नि पर्जन्य के समान गरजता है। "क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्" (यजु० १२।६)—"पृथिवी को बार-बार चाटते हुए और वृक्षों को हिलाते हुए।" वस्तुतः पर्जन्य पृथिवी को चाटता और वृक्षों को हिलाता है। "सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो ऽअख्यत्" (यजु० १२।६)—"अभी उत्पन्न हुआ, जलता हुआ चमका।" यह अभी तो उत्पन्न ही हुआ और सब चीजों को चमका ही देता है। "आ रोदसी भानुना भात्यन्तः" (यजु० १२।६, ऋ० १०।४५।४)—"प्रकाश द्वारा पृथिवी और द्यौ के बीच चमकता है।" रोदसी का अर्थ है द्यावापृथिवी। इनको यह अपने प्रकाश से चमकाता ही है। वह अग्नि को भुजाओं के ऊपर उठा लेता है। पर्जन्य भुजाओं से ऊपर है ही ।।२।।

अब वह उसको नीचे लाता है। इस लोक में जो रस है, जो उपजीवन है, उसके साथ यह इन लोकों से ऊपर उठता है। इस लोक में अग्नि रस है। अग्नि ही उपजीवन है। यदि वह उसी प्रकार रहे (अर्थात् यदि अग्नि नीचे न उतारा जाय) तो न इस लोक में रस रहे न उपजीवन। परन्तु जब वह अग्नि को नीचे उतारता है, तो इस लोक को रस और उपजीवन देता है ।।३।।

इसलिए भी नीचे उतारता है। यह जो पहले यहाँ से इन लोकों से ऊपर उठा, वह मानो यहाँ से बाहर चला गया। यह पृथिवी प्रतिष्ठा (ठहरने का स्थान) है। यदि यह अग्नि वैसा ही रहे (अर्थात् नीचे न आवे) तो यजमान इस लोक से अलग हो जाय। परन्तु जब वह आग को नीचे उतारता है तो वह अपनी प्रतिष्ठा तक आ जाता है और उस पर भली-भाँति खड़ा होता है ।।४।।

इसलिए भी वह अग्नि को नीचे उतारता है कि (जब वह अग्नि को ऊपर उठाता है तब) इन लोकों से ऊपर जय को प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह है कि आगे-आगे जय है। जो

जयत्यन्ये वै तस्य जितमन्ववस्यन्त्यथ य उभयथा जयति तस्य तत्र कामचरणं भ-
वति तद्यत्प्रत्यवरोहतीमानेवैतल्लोकानितश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचो जयति ॥५॥ अ-
ग्नेऽभ्यावर्तिन् । अभि मा निवर्तस्वाग्नेऽअङ्गिरः पुनरूर्जा सह रय्येत्येतेन मा सर्वे-
णाभिनिवर्तस्वेत्येतच्चतुष्कृत्वः प्रत्यवरोहति चतुर्हि कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तद्याव-
त्कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तावत्कृत्वः प्रत्यवरोहति तमुपावहृत्योपरिनाभि धारयति
तस्योक्तो बन्धुः ॥६॥ अथैनमभिमन्त्रयते । आयुर्वाऽअग्निरायुरेवैतदात्मन्धत्तऽआ
त्वाहार्षमित्या ह्येनꣳ हरत्यन्तरभूरित्यायुरेवैतदात्मन्धत्ते ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिरि-
त्यायुरेवैतद्ध्रुवमन्तरात्मन्धत्ते विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वित्यन्नं वै विशोऽन्नं त्वा
सर्वं वाञ्छत्वित्येतन्मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशदिति श्रीर्वै राष्ट्रं मा त्वच्छ्रीरधिभ्रशदित्येतत्
॥७॥ अथ शिक्यपाशं च रुक्मपाशं चोन्मुञ्चते । वारुणो वै पाशो वरुणपाशा-
देव तत्प्रमुच्यते वारुण्यऽर्चा स्वेनैव तदात्मना स्वया देवतया वरुणपाशात्प्रमु-
च्यतऽउदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथायेति यथैव यजुस्तथा
बन्धुरथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्यामेतीयं वाऽअदितिरनागस-
स्तुभ्यं चास्यै च स्यामेत्येतत् ॥८॥ अथैनमिति प्रगृह्णाति । एतद्वाऽएनमदो वि-
कृत्येत ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णाति तं तत इति प्रगृह्णाति तद्यत्तावदेवाभविष्यदत्र है-
वैष व्यरꣳस्यताथ यदेनमिति प्रगृह्णाति तस्मादेष इतीवाथेति पुनरेति ॥९॥ अग्रे
बृहन्नुषसामूर्ध्वोऽअस्थादिति । अग्रे ह्येष बृहन्नुषसामूर्ध्वस्तिष्ठति निर्जगन्वान्तमसो
ज्योतिषागादिति निर्जगन्वान्वाऽएष रात्र्यै तमसोऽह्ना ज्योतिषेत्यग्निर्भानुना रु-
शता स्वङ्ग इत्यग्निर्वाऽएष भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्रा इ-
तीमे वै लोका विश्वा सद्मानि तानेष जात आपूरयति परोबाहु प्रगृह्णाति प-
रोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरतीमामेवैतत्प्रतिष्ठामभिप्रत्येत्यस्यामेवैतत्प्रतिष्ठा-
यां प्रतितिष्ठति जगत्या जगती हेमांल्लोकानमुतोऽर्वाचो व्यश्नुते ॥१०॥ हꣳसः

आगे-आगे ही जय प्राप्त करता है उसकी जय अन्यों द्वारा पूर्ण होती है। परन्तु जो दोनों ओर जय प्राप्त करता है, उसकी पूरी जय अर्थात् कामना सिद्धि के अनुसार होती है। परन्तु जब वह (अग्नि को) नीचे उतारता है तो दोनों ओर जय को प्राप्त करता है—नीचे से ऊपर की ओर और ऊपर से नीचे की ओर ॥५॥

"अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन। सन्या मेधया रय्या पोषेण" (यजु० १२।७)—"फिर-फिर लौटनेवाले अग्नि! तू आयु, वर्चस्, प्रजा, धन, सम्पत्ति, मेधा, ऐश्वर्य और पुष्टि के साथ मेरे पास लौट आ।' "अग्ने ऽअङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त ऽ उपावृतः। अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि" (यजु० १२।८)—"हे अंगिरा अग्नि! तेरा लौटना सौ बार और सहस्र बार हो। पुष्टि के साथ जो हमारा नष्ट हो चुका हो उसको फिर ला, फिर धन को ला। "पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न ऽ इषायुषा। पुनर्नः पाह्यँहसः" (यजु० १२।९)—"ऊर्ज के साथ फिर लौट हे अग्नि, अन्न और आयु के साथ।" हमको फिर पाप से बचा। "सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि" (यजु० १२।१०)—"हे अग्नि, धन के साथ लौट, चारों ओर से सम्पूर्ण सम्पत्ति द्वारा हमको सम्पन्न कर।" अर्थात् इन सब के साथ तू लौट। इस प्रकार चार बार नीचे उतारता है और उतारकर नाभि के ऊपर तक ले आता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥६॥

अब अग्नि का अभिमन्त्रण करता है। अग्नि आयु है। आयु को ही इस प्रकार अपने में धारण करता है—"आ त्वाहार्षम्" (यजु० १२।११, ऋ० १०।१७३।१)—"मैं तुझको यहाँ लाया हूँ।" क्योंकि वे उसको यहाँ लाते हैं। "अन्तरभूः" (यजु० १२।११)—"तू भीतर चला गया।" इस प्रकार अपने में आयु को धारण करता है। "ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः" (यजु० १२।११)— "तू निश्चल और अचल रह।" इस प्रकार वह अपने में आयु को धारण करता है। "विश्वस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।" (यजु० १२।११)—विश् या लोग अन्न हैं, इसका तात्पर्य यह है कि सब अन्न तुझको चाहे। "मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् (यजु० १२।११)—"तुझसे तेरा राज्य न जाय।" राष्ट्र का अर्थ है श्री। तुझसे श्री न जाय ॥७॥

अब छींके की रस्सी और सोने की प्लेट की रस्सी को खोल देता है। रस्सी वरुण की होती है। इस प्रकार वह वरुण के पाश से अपने को छुटा लेता है, वरुण की ऋचा से। इस प्रकार उसी की आत्मा से उसी के देवता वरुण के पाश से छुटकारा प्राप्त करता है। "उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमँ श्रथाय" (यजु० १२।१२; ऋ० १।२४।१५)—"हे वरुण, मुझको उत्तम, मध्यम और अधम बन्धन से दूर कर।" इस यजु का अर्थ स्पष्ट है। "अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो ऽ अदितये स्याम" (यजु० १२।१२)—"हे आदित्य, हम तेरे व्रत में निष्पाप होकर अदिति (सुरक्षण) के लिए रहें।" "यह पृथिवी अदिति है अर्थात् हम तुझे और इस पृथिवी को निष्पाप-भाव से प्राप्त हों ॥८॥

अब वह अग्नि को इस प्रकार उठाता है (दक्षिण-पूर्व की ओर)। पहले उसने उसको यहाँ से ऊपर-पूर्व की ओर बनानेवाले मन्त्र से उठाया था। फिर उसने उसको उत्तर-पूर्व की ओर उठाया। यदि इतना ही होता तो वह (सूर्य) उत्तर में ही ठहर जाता। परन्तु वह उसको इस प्रकार अर्थात् दक्षिण-पूर्व की ओर उठाता है। इसलिए सूर्य यों जाकर फिर यों लौट आता है (उत्तर दिशा से होकर दक्षिण दिशा को) ॥९॥

"अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो ऽ अस्थात्।" (यजु० १२।१३, ऋ० १०।१।१)—"यह बड़ा उषा के आगे खड़ा हुआ है।" वस्तुतः यह बड़ा उषा के आगे सीधा खड़ा होता है। "निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात्" (यजु० १२।१३)— 'अँधेरे से निकलकर उजाले में आया है।" वस्तुतः वह रात के अंधकार से निकलकर दिन के उजाले में आता है। "अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्गः" (यजु० १२।१३)—"अग्नि स्वच्छ ज्योति के साथ।" "आ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः" (यजु० १२।१३)—"उसने प्रकट होकर सब घरों को चमका दिया।" 'विश्वा सद्मानि' ये लोक हैं। यह प्रकट होकर इनको भर देता है। भुजाओं से ऊपर उठाता है, क्योंकि यह सूर्य भुजाओं से ऊपर ही है। अब वह इसको नीचे को उतारता है। इस प्रकार फिर अपनी प्रतिष्ठा (पूर्वस्थान) को प्राप्त होता है और दृढ़ता से वहाँ ठहरता है—जगती छन्द से, क्योंकि जगती इन लोकों को ऊपर से यहाँ पर प्राप्त कराता है ॥१०॥

शुचिषदिति । असौ वाऽआदित्यो हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसदिति वायुर्वै वसु-रन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदित्यग्निर्वै होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसदिति सर्वेषां वाऽएष भूता-नामतिथिर्दुरोणसदिति विषमसदित्येतन्नृषदिति प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्यो ऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतदाह वरसदिति सर्वेषु ह्येष वरेषु सन्न ऋतसदिति सत्यसदित्येतद्व्योमसदिति सर्वेषु ह्येष व्योमसु सन्नोऽब्जा गोजा इत्यब्जाश्च ह्येष गोजाश्चऽर्तजा इति सत्यजा इत्येतदद्रिजा इत्यद्रिजा ह्येष ऋतमिति सत्यमित्येत-द्बृहदिति निदधाति बृहद्ध्येष तद्यदेष तदेनमेतत्कृत्वा निदधाति ॥११॥ द्वाभ्याम-न्तराभ्याम् । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमे-तन्निदधाति ॥१२॥ अथैनमुपतिष्ठते । एतद्वाऽएनमेतच्छाघूयतीव यदेनेन सहेति चेति चेमांल्लोकान्क्रमते तस्माऽएवैतन्निह्नुतेऽहिꣳसायै ॥१३॥ यद्वेवोपतिष्ठते । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयमिमांल्लोकानन्तिकान्न हिꣳस्यादिति तदेभ्य एवैन-मेतल्लोकेभ्योऽशमयंस्तथैवैनमयमेतदेभ्यो लोकेभ्यः शमयति ॥१४॥ सीद त्वं मा-तुः । अस्या उपस्थेऽन्तरग्ने रुचा त्वꣳ शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽअथो सीद शिवस्त्व-मिति शिवः-शिव इति शमयत्येवैनमेतदहिꣳसायै तथो ह्येष इमांल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति ॥१५॥ त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निर्यावानग्नि-र्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्माऽएतन्निह्नुतेऽथो तावतैवैनमेतदेभ्यो लोकेभ्यः श-मयति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥३ [७. ३.] ॥ ॥

अथ वात्सप्रेणोपतिष्ठते । एतद्वै प्रजापतिर्विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्स-प्रेणायुष्यमकरोत्तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्सप्रेणायुष्यं करोति ॥१॥ स हैष दाक्षायणहस्तः । यद्वात्सप्रं तस्माद्यं जातं कामयेत सर्वमा-युरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्तदस्मै जातायायुष्यं करोति तथो ह स सर्वमा-युरेत्यथ यं कामयेत वीर्यवान्स्यादिति विकृत्यैनं पुरस्तादभिमन्त्रयेत तथो ह

"हँ सः शुचिषत्" (यजु० १२।१४)–"प्रकाश में ठहरनेवाला हंस।" यह आदित्य हंस है प्रकाश में ठहरनेवाला। "वसुरन्तरिक्षसत्" (यजु० १२।१४)–अन्तरिक्ष में रहनेवाला वसु वायु ही है। "होता वेदिषत्" (यजु० १२।१४)–"वेदि में बैठनेवाला होता" अग्नि है। "अतिथिः" (यजु० १२।१४) —यह सब भूतों का अतिथि है ही। "दुरोणसत्" (यजु० १२।१४)— अर्थात् "विषम स्थान में रहनेवाला।" "नृषत्।" (यजु० १२।१४)— यह प्राण-वायु मनुष्यों में रहती ही है। "वरसत्" (यजु० १२।१४)–"सब श्रेष्ठों के बीच में रहनेवाला।" "ऋतसत्" (यजु० १२।१४) —अर्थात् "सत्य में ठहरनेवाला।" "व्योमसद्" (यजु० १२।१४)—क्योंकि वह सब व्योमों में ठहरा है। "अब्जा गोजा" (यजु० १२।१४)—"यह जल और गो दोनों से उत्पन्न हुआ है।" "ऋतजा" (यजु० १२।१४)—अर्थात् "सत्य से उत्पन्न हुआ।" "अद्रिजा" (यजु० १२।१४)–"यह पर्वत से उत्पन्न हुआ।" "ऋतम्" (यजु० १२।१४)—"यह सत्य है।" "बृहत्" (यजु० १२।१४) —इस अग्नि को वह बृहत् अर्थात् महान् के पास रख देता है ॥११॥

वह दो अक्षरों से यह काम करता है। यजमान दुपाया है। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही के साथ उसको रखता है ॥१२॥

अब वह इसकी उपासना करता है। वस्तुतः जब वह उसको कभी ऊपर कभी नीचे उठाये हुए इन लोकों में फिरा, उसका लाघव (अनादर) हो गया, अब वह इसका प्रतिकार करता है कि इसे हिंसा न पहुँचे ॥१३॥

उपासना इसलिए भी करता है कि देवता डर गये कि कहीं यह निकट से इन लोकों को हानि न पहुँचावे। इसलिए इसके द्वारा इन्होंने इनका शमन किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन लोकों के प्रति इसका शमन करता है ॥१४॥

"सीद त्वं मातुरस्या ऽ उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्। मैनां तपसा मार्चिषा ऽभिशोशीरन्तरस्याँ शुक्रज्योतिर्विभाहि।" (यजु० १२।१५)—"अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे। तस्यास्त्वँ हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव" (यजु० १२।१६)—"शिवो भूत्वा-मह्यमग्ने ऽ अथो सीद शिवस्त्वम्। शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः" (यजु० १२।१७)—"हे अग्नि ! तू इन सब नियमों को जानता हुआ इस माता की गोद में बैठ। इसको तप या ज्वाला से मत जला। इसमें प्रकाश कर।" "हे जातवेद अग्नि, तू इस उखारूपी अपने घर में प्रकाश और तेज से बैठ और कल्याण कर। हे कल्याणकारक अग्नि, तू कल्याणकारक हो। तू सब दिशाओं में कल्याणकारी होकर अपनी योनि में बैठ।" "शिव-शिव" कहकर वह इसका शमन करता है कि यह इन लोकों को हानि न पहुँचा सके। यह शान्त होकर इन लोकों को हानि नहीं पहुँचाता ॥१५॥

इन तीन मन्त्रों से उपासना करता है। ये लोक तीन हैं। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इसको सन्तुष्ट करता है और इतने ही से इन लोकों को शान्त करता है ॥१६॥

वात्सप्रोपस्थानम्

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

अब वात्सप्र द्वारा उपासना करता है। प्रजापति ने विष्णु-क्रमों द्वारा प्रजा को उत्पन्न करके वात्सप्र द्वारा उनको आयु दी। इसी प्रकार यजमान भी विष्णु-क्रमों से प्रजा को उत्पन्न करके वात्सप्र द्वारा उनको आयु प्रदान करता है ॥१॥

यह जो वात्सप्र है वह स्वर्ण-हाथवाला (अग्नि) ही है। इसलिए यदि किसी प्राणी की दीर्घ आयु करनी हो तो उसे वात्सप्र द्वारा छुए। इस प्रकार वह उस उत्पन्न हुए प्राणी के लिए दीर्घायु कराता है और वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। यदि किसी को वीर्यवान् कराना हो तो उसको विकृति-मन्त्रों से अभिमन्त्रण करे।

वीर्यवान्भवति ॥२॥ दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽअग्निरिति । प्राणो वै दिवः प्राणाद्ध वाऽएष प्रथममजायतास्मद्द्वितीयं परि जातवेदा इति यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत्तृतीयमप्स्विति यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयन्नृमणा अजस्रमिति प्रजापतिर्वै नृमणा अग्निरजस्र इन्धान एनं जरते स्वाधीरिति यो वाऽएनमिन्द्धे स एनं जनयते स्वाधीः ॥३॥ विद्मा तेऽअग्ने त्रेधा त्रयाणीति । अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह्यस्य तानि त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रेति यदिदं बहुधा विह्रियते विद्मा ते नाम परमं गुहा यदिति यविष्ठ इति वाऽअस्य तन्नाम परमं गुहा विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थेत्यापो वाऽउत्सोऽद्भ्यो वाऽएष प्रथममाजगाम समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तरिति प्रजापतिर्वै नृमणा अप्सु त्वा प्रजापतिरित्येतन्नृचक्षा ईधे दिवोऽअग्नऽऊधन्निति प्रजापतिर्वै नृचक्षा आपो दिव ऊधस्तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाँसमिति द्यौर्वै तृतीयँ रजोऽपामुपस्थे महिषा अवर्धन्निति प्राणा वै महिषा दिवि त्वा प्राणा अवर्धन्नित्येतत् ॥५॥ ता एता एकव्याख्यानाः । एतमेवाभि ता आग्नेय्यस्त्रिष्टुभस्ता यदाग्नेय्यस्तेनाग्निरथ यत्त्रिष्टुभो यदेकादश तेनैन्द्र ऐन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपतिष्ठतऽइन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपतिष्ठते ॥६॥ यद्वेव विष्णुक्रमवात्सप्रे भवतः । विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरिमं लोकमसृजत वात्सप्रेणाग्निं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरन्तरिक्षमसृजत वात्सप्रेण वायुं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्दिवमसृजत वात्सप्रेणादित्यं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्दिशोऽसृजत वात्सप्रेण चन्द्रमसं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्भूतमसृजत वात्सप्रेण भविष्यद्विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्वित्तमसृजत वात्सप्रेणाशां विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरहरसृजत वात्सप्रेण रात्रिं विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिः पूर्वपक्षानसृजत वात्सप्रेणापरपक्षान्विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरर्धमासानसृजत वात्सप्रेण मासान्विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिर्ऋतूनसृजत वात्सप्रेण संवत्सरं तद्यद्विष्णुक्रम-,

इस प्रकार वह वीर्यवान् बन जाता है ॥२॥

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे ऽ अग्निः" (यजु० १२।१८)—"अग्नि पहले द्यौ से उत्पन्न हुआ।" द्यौ प्राण है। प्राण से ही पहले यह उत्पन्न हुआ। "अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः" (यजु० १२।१८)—"हमसे दूसरा जातवेदस्" पुरुष के समान उसको दुबारा उत्पन्न किया। "तृतीयमप्सु" (यजु० १२।१८)—वस्तुतः उसको जलों में तीसरी बार उत्पन्न किया। "नृमणा अजस्रम्" (यजु० १२।१८)—प्रजापति 'नृमणा' अर्थात् नर के-से मन वाला है और अग्नि अजस्र अर्थात् अमर है। "इन्धान ऽ एनं जरते स्वाधीः" (यजु० १२।१८)—"मननशील पुरुष इसको जलाकर इसकी प्रशंसा करता है।" जो इसको जलाता है वह मननशील उसको उत्पन्न करता है। (वेदमन्त्र में 'जरते' है। शतपथ में इसका अर्थ 'जनयते' लिखा है। 'जरते' का अर्थ है प्रशंसा करना, 'जनयते' का उत्पन्न करना) ॥३॥

"विद्मा ते ऽ अग्ने त्रेधा त्रयाणि" (यजु० १२।१९)—"हे अग्ने, हम तेरे तीन-तीन भाग वाले तीनों को जानते हैं, अग्नि, वायु, आदित्य।" ये इसके तीन-तीन रूप वाले तीन हैं। "विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा" (यजु० १२।१९)—"हम तेरे बहुत प्रकार के धामों को जानते हैं।" क्योंकि यह (अग्नि) अनेक रूप में पाया जाता है। "विद्मा ते नाम परमं गुहा यत्" (यजु० १२।१९)—"हम तेरे परम रहस्यमय नाम को जानते हैं।" इसका रहस्यमय नाम 'यविष्ठ' है। "विद्मा तमुत्सं यत ऽ आजगन्थ" (यजु० १२।१९)—"हम उस निकास को जानते हैं, जहाँ से तू आया है।" जल ही निकास है क्योंकि जलों से ही यह उत्पन्न हुआ है ॥४॥

"समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तः" (यजु० १२।२०)—"समुद्र में जल के भीतर तुझको नरों के-से मन वाले ने (प्रज्वलित किया)।" नृमणा का अर्थ है प्रजापति। तुझको जलों में प्रजापति ने (प्रज्वलित किया)। "नृचक्षा ऽ ईधेदिवो अग्न ऽ ऊधन्" (यजु० १२।२०)—"हे अग्नि, तुझको द्यौ के ऊध अर्थात् स्तनों में नृचक्षों (बुद्धिमानों) ने प्रज्वलित किया। नृचक्ष प्रजापति है। द्यौ के स्तन 'आपः' या जल हैं। "तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाँ॑सम्" (यजु० १२।२०)—"तीसरे धाम में ठहरे हुए तुझको।" तीसरा धाम द्यौ है। "अपामुपस्थे महिषा ऽ अवर्धन्" (यजु० १२।२०)—"तुझको महिषों ने जलों की गोद में बढ़ाया।" 'महिष' प्राण हैं। प्राणों ने तुझे द्यौ में बढ़ाया ॥५॥

ये तीनों मन्त्र इसी एक (अग्नि) के विषय में व्याख्यान हैं। ये तीन त्रिष्टुभ् मन्त्र अग्नि-सम्बन्धी हैं। चूँकि आप अग्नि के हैं इसलिए अग्नि हैं। चूँकि त्रिष्टुभ् हैं और ग्यारह अक्षरवाले हैं इसलिए इन्द्र हैं। अग्नि इन्द्राग्नी है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से उसकी उपासना करता है। इन्द्राग्नी सब देव हैं। अग्नि सर्व-देवत्य है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने से ही उसकी उपासना करता है ॥६॥

विष्णु-क्रम और वात्सप्र इसलिए भी किये जाते हैं कि प्रजापति ने विष्णु-क्रमों से इस लोक को बनाया और वात्सप्र से अग्नि को। प्रजापति ने विष्णु-क्रम से अन्तरिक्ष को बनाया और वात्सप्र से वायु को। विष्णु-क्रम से प्रजापति ने द्यौ को बनाया और वात्सप्र से आदित्य को। विष्णु-क्रम से प्रजापति ने दिशाओं को बनाया और वात्सप्र से चन्द्रमा को। प्रजापति ने विष्णु-क्रम से भूत को बनाया और वात्सप्र से भविष्य को। प्रजापति ने विष्णु-क्रम से धन को रचा और वात्सप्र से आशा को। विष्णु-क्रम से प्रजापति ने दिन को रचा और वात्सप्र से रात को। प्रजापति ने विष्णु-क्रम से पूर्वपक्ष को रचा और वात्सप्र से अपरपक्ष को। प्रजापति ने विष्णु-क्रम से अर्धमास को बनाया, वात्सप्र से मासों को। विष्णु-क्रमों से प्रजापति ने ऋतुओं को बनाया, वात्सप्र से संवत्सर को। विष्णु-क्रम और वात्सप्र इसलिए किये जाते हैं कि इन्हीं से

वात्सप्रे भवत एतदेव तेन सर्वꣳ सृजते ॥७॥ यद्वेव विष्णुक्रमवात्सप्रे भवतः ।
विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिः स्वर्गं लोकमभिप्रायात्स एतदवसानमपश्यद्वात्सप्रं तेना-
वास्यदप्रदाहाय यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद्दह्यते तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमै-
रेव स्वर्गं लोकमभिप्रयाति वात्सप्रेणावस्यति ॥८॥ स वै विष्णुक्रमान्क्रान्त्वा ।
अथ तदानीमेव वात्सप्रेणोपतिष्ठते यथा प्रयायाथ तदानीमेव विमुञ्चेत्तादृक्तद्दे-
वानां वै विधामनु मनुष्यास्तस्माद्ध हैदमुत मानुषो ग्रामः प्रयायाथ तदानीमेवा-
वस्यति ॥९॥ तद्वाऽअहोरात्रेऽएव विष्णुक्रमा भवन्ति । अहोरात्रे वात्सप्रमहो-
रात्रेऽएव तद्यात्यहोरात्रे क्षेम्यो भवति तस्माद्ध हैदमुत मानुषो ग्रामोऽहोरात्रे
यात्वाहोरात्रे क्षेम्यो भवति ॥१०॥ स वाऽअर्धमेव संवत्सरस्य विष्णुक्रमान्क्रमते
। अर्धं वात्सप्रेणोपतिष्ठते मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः स यत्कनीयोऽर्धा-
त्क्रमेत न हैतꣳ स्वर्गं लोकमभिप्राप्नुयादथ यद्भूयोऽर्धात्पराङ् हैतꣳ स्वर्गं लोक-
मतिप्रणश्येदथ यदर्धं क्रमतेऽर्धमुपतिष्ठते तत्सम्प्रति स्वर्गं लोकमाप्त्वा विमुञ्चते
॥११॥ ताभ्यां वै विपर्यासमेति । यथा महालमधानं विमोकꣳ समश्नुवीत तादृ-
क्तत्स वै पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चोभे विष्णुक्रमवात्सप्रे समस्यत्यहर्वै विष्णुक्रमा रात्रि-
र्वात्सप्रमेतद्वाऽइदꣳ सर्वं प्रजापतिः प्रजनयिष्यंश्च प्रजनयित्वा चाहोरात्राभ्यामुभयतः
पर्यगृह्णात्तथैवैतद्यजमान इदꣳ सर्वं प्रजनयिष्यंश्च प्रजनयित्वा चाहोरात्राभ्यामुभयतः
परिगृह्णाति ॥१२॥ तदाहुः । यदहर्विष्णुक्रमा रात्रिर्वात्सप्रमथोभेऽएवाहन्भवतो
न रात्र्यां कथमस्यापि रात्र्यां कृते भवत इत्येतद्वाऽएनेऽअदो दीक्षमाणः पुरस्ता-
दपराह्णेऽउभे समस्यति रात्रिर्हैतद्यदपराह्णोऽथैनेऽएतत्संनिवपस्यन्नुपरिष्टात्पूर्वाह्णे
ऽउभे समस्यत्यहर्हैतद्यत्पूर्वाह्ण एवमु हास्योभेऽएवाहन्कृते भवत उभे रात्र्याꣳ
॥१३॥ स यदहः संनिवपस्यन्त्स्यात् तदहः प्रातरुदितऽआदित्ये भस्मैव प्रथममु-
द्वपति भस्मोदुप्य वाचं विसृजते वाचं विसृज्य समिधमादधाति समिधमाधाय भ

यह सब चीजों को बनाता है ।।७।।

विष्णु-क्रम और वात्सप्र इसलिए भी किये जाते हैं कि विष्णु-क्रम से ही प्रजापति स्वर्ग को गया (स्वर्ग तक अपना रथ ले गया)। वात्सप्र को उसने अवसान (घोड़े खोलने की मंजिल) देखा और घोड़े खोल दिये कि घोड़ों को कष्ट न हो। क्योंकि जब घोड़े मंजिल पर भी खोले नहीं जाते तो उनको कष्ट होता है। इसी प्रकार यजमान विष्णु-क्रम से स्वर्गलोक को जाता है और वात्सप्र से घोड़ों को खोलता है ।।८।।

विष्णु-क्रमों को चलकर वह वात्सप्र के द्वारा अग्नि की उपासना करता है, जैसे कोई यात्री यात्रा करने के पश्चात् घोड़ों को खोल देता है। मनुष्य देवों का अनुकरण किया करते हैं। इसलिए आजकल भी मनुष्य यात्रा करने के पश्चात् घोड़ों को छोड़ देते हैं ।।९।।

दिन और रात विष्णु-क्रम हैं, और वात्सप्र दिन और रात हैं। इस प्रकार एक दिन-रात चलता है और एक दिन-रात विश्राम करता है। इसलिए आजकल भी मनुष्य लोग एक दिन-रात चलते हैं और एक दिन-रात आराम करते हैं ।।१०।।

वे अर्द्ध-संवत्सर विष्णु-क्रम चलते हैं और अर्द्ध-संवत्सर अग्नि की उपासना करते हैं। संवत्सर के मध्य में स्वर्गलोक है। अगर अर्ध से कम चला जाय तो स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। यदि आधे से अधिक चला जाय तो स्वर्ग से उधर चले जाओगे (अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी)। परन्तु यदि वह अर्ध-संवत्सर को चले और अर्द्ध-संवत्सर अग्नि की उपासना करे तो स्वर्गलोक को प्राप्त होकर घोड़ों को खोलता है ।।११।।

इन दोनों (विष्णु-क्रम और वात्सप्र) को विपर्यास (एक के पीछे दूसरा, alternately) से करता है, जैसे कोई बड़ी यात्रा पर जाय तो घोड़ों को बार-बार छोड़ता है। परन्तु (दीक्षा के) आगे और पीछे विष्णु-क्रम और वात्सप्र दोनों को मिला देता है। विष्णु-क्रम दिन है और वात्सप्र रात। प्रजापति ने जब सृष्टि को बनाना चाहा और जब वह बना चुका तो उसने सृष्टि को दिन और रात से घेर दिया। इसी प्रकार यजमान भी इस सब को बनाने की इच्छा करता हुआ और बना चुकने पर भी दिन-रात से घेर देता है ।।१२।।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जब विष्णु-क्रम दिन है और वात्सप्र रात और ये दोनों दिन में होते हैं न कि रात में, तो इनको रात में किया हुआ कैसे माना जाय ? इसका समाधान यह है कि जब वह दीक्षा लेने को था, तब वह दोनों को तीसरे पहर (अपराह्ण) में मिलाता है क्योंकि अपराह्ण रात्रि ही है। और जब समाप्त कर लेता है तो इन दोनों को पूर्वाह्ण में मिलाता है क्योंकि पूर्वाह्ण दिन ही है ।।१३।।

जिस दिन उसको मिलाना हो, उस दिन प्रातःकाल सूर्य के निकलते ही पहले भस्म को अलग कर दे। भस्म को अलग करके वाणी को छोड़ देता है (मौन तोड़ता है)। वाणी को छोड़कर समिधा रखता है। समिधा को रखकर भस्म को जल तक ले जाता है। जैसे वह उतरता है उसी

स्मापोऽभ्यवहरति यथैव तस्याभ्यवहरणं तथापादाय भस्मनः प्रत्येत्योखायामोप्योपतिष्ठतेऽथ प्रायश्चित्ती करोति ॥१४॥ स यदि विष्णुक्रमीयमहः स्यात् । विष्णुक्रमान्क्रान्त्वा वात्सप्रेणोपतिष्ठेताथ यदि वात्सप्रीयं वात्सप्रेणोपस्थाय विष्णुक्रमान्क्रान्त्वा वात्सप्रमन्ततः कुर्यान्न विष्णुक्रमानन्ततः कुर्याद्यथा प्रयाय न विमुञ्चेत्तादृक्तद्य यद्वात्सप्रमन्ततः करोति प्रतिष्ठा वै वात्सप्रं यथा प्रतिष्ठापयेद्वसाययेत्तादृक्तत्तस्मादु वात्सप्रमेवान्ततः कुर्यात् ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥४ [७. ४.] ॥ सप्तमोऽध्यायः [४२.] ॥॥

वनीवाह्येताग्निं बिभ्रदित्याहुः । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवाश्चक्रमचरञ्छालमसुरा आसंस्ते देवाश्चक्रेण चरन्त एतत्कर्मापश्यंश्चक्रेण हि वै देवाश्चरन्त एतत्कर्मापश्यंस्तस्मादनस एव पौरोडाशेषु यजूꣳष्यनसोऽग्नौ ॥१॥ स यो वनीवाह्यते । देवान्कर्मणेति दैवꣳ ह्यस्य कर्म कृतं भवत्यथ यो न वनीवाह्यतेऽसुरान्कर्मणेत्यसुर्यꣳ ह्यस्य कर्म कृतं भवति ॥२॥ तद्धैकऽआहुः । स्वयं वाऽएष वनीवाहितो विष्णुक्रमैर्वाऽएष प्रयाति वात्सप्रेणावस्यतीति न तथा विद्याद्दैवं वाऽअस्य तत्प्रयाणं यद्विष्णुक्रमा दैवमवसानं यद्वात्सप्रमथास्येदं मानुषं प्रयाणं यदिदं प्रयाति मानुषमवसानं यदवस्यति ॥३॥ प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयम्वेतत्प्रजापतिर्यच्च देवा यच्च मनुष्यास्तद्यद्विष्णुक्रमवात्सप्रे भवतो यद्वास्य दैवꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यद्वनीवाह्यते यदेवास्य मानुषꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वाऽएतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति य एवं विद्वान्वनीवाह्यते तस्मादु वनीवाह्येतैव ॥४॥ स यदहः प्रयास्यन्त्स्यात् । तदहरुत्तरतोऽग्नेः प्रागन उपस्थाप्यायास्मिन्त्समिधमादधात्येतद्वाऽएनं देवा एष्यन्तं पुरस्तादन्नेनाप्रीणन्नेतया समिधा तथैवैनमयमेतदेष्यन्तं पुरस्तादन्नेन प्रीणात्येतया समिधा ॥५॥ समिधाग्निं दुवस्यतेति । समिधाग्निं नमस्यतेत्येतद्घृतैर्बोधयतातिथिमा-

प्रकार कुछ भस्म लेकर वापस आता है और उसको उखा में डालकर अग्नि की उपासना करना है, फिर प्रायश्चित्त करता है ॥१४॥

यदि विष्णु-क्रम का दिन हो, तो विष्णु-क्रम करके वात्सप्र से उपासना करे। यदि वात्सप्र का दिन हो तो वात्सप्र से उपासना करके विष्णु-क्रम करके पीछे से वात्सप्र करे। विष्णु-क्रम से अन्त न करे। इसका अर्थ होगा कि यात्रा करके घोड़े नहीं खोले। परन्तु जब वात्सप्र से अन्त करता है तो वात्सप्र प्रतिष्ठा है। इसलिए वह विश्राम भी करता है और घोड़ों को भी खोलता है। इसलिए वात्सप्र से अन्त करना चाहिए ॥१५॥

अथ वनीवाहनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १

कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि को उठाये-उठाये फिरे। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान लड़ पड़े। देव रथ पर चढ़े फिरते थे और असुर घर में बैठे थे। देवों ने रथ पर चढ़े-चढ़े इस कर्म को देखा। चूंकि देवों ने रथ पर चढ़े-चढ़े इस कर्म को देखा, इसलिए पुरोडाश में भी और अग्नि-चिति में भी, ये यजु अनस् अर्थात् गाड़ी से सम्बन्ध रखते हैं ॥१॥

जो अग्नि को उठाये-उठाये फिरता है वह देवकर्म करता है। इसलिए इस कर्म से देवों को प्राप्त होता है। जो उठाये-उठाये नहीं फिरता, वह इस कर्म से असुरों को प्राप्त होता है क्योंकि यह आसुरी कर्म होता है ॥२॥

कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि स्वयं ही चलता है, विष्णु-क्रम से चलता है और वात्सप्र से ठहरता है। परन्तु ऐसा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि विष्णु-क्रम द्वारा जो प्रयाण है वह दैवी है और वात्सप्र द्वारा जो अवसान है वह भी दैवी है। जो इस प्रकार प्रयाण करेगा वह मानवी होगा और जो इस प्रकार अवसान करेगा वह भी मानवी होगा (दैवी न होगा) ॥३॥

यह अग्नि प्रजापति है। प्रजापति दोनों हैं, देव भी मनुष्य भी। जब विष्णु-क्रम और वात्सप्र किये जाते हैं तो यह दैवी रूप होता है, और जब वह अग्नि को लिये-लिये फिरता है तो यह उसका मानुषी रूप है। जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर अग्नि को फिराता है, वह प्रजापति के पूरे रूप का संस्करण करता है ॥४॥

जिस दिन अग्नि को फिराना हो उस दिन गाड़ी को अग्नि के उत्तर को पूर्वाभिमुख खड़ा करता है, और (आग पर) एक समिधा रखता है। पहले देवों ने इस (अग्नि) को अन्न से, समिधा से, सन्तुष्ट किया था, जब वह (अग्नि) जाने की इच्छा कर रहा था। इसी प्रकार यह यजमान भी यात्रा करने से पहले समिधारूपी अन्न से तृप्त करता है ॥५॥

"समिधाग्निं दुवस्यत" (यजु० १२।३०)—अर्थात् "समिधा से अग्नि को नमस्कार करो।" "घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन" (यजु० १२।३०)—अर्थात् "धीरे

स्मिन्हव्या जुह्वोतनेति घृतैरन्न बोधयतातिथिमोऽअस्मिन्हव्यानि जुहुतेत्येतद्बुद्ध-वत्येत्यपि क्वेनमेतद्बोधयति ॥६॥ अथैनमुद्यच्छति । उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भ-रन्तु चित्तिभिरिति विश्वे वाऽएतमग्रे देवाश्चित्तिभिरुदभरन्नेतद्ध्येषां तदा चित्तमा-सीत्तथैवैनमयमेतच्चितिभिरुद्धरत्येतद्ध्यस्य तदा चित्तं भवति स नो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुरिति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तं दक्षिणात उदञ्चमादधाति तस्यो-क्तो बन्धु स्थाल्यां गार्हपत्यꣳ समुप्यापरमादधाति स यदि कामयेतोपाधिरोहेत्या-श्वतो वा व्रजेत् ॥७॥ अथानडुाहौ युनक्ति । दक्षिणमग्रेऽथ सव्यमेवं देवत्रेतरथा मानुषे स यां कां च दिशं यास्यन्त्स्यात्प्राङेवाग्रे प्रयायात्प्राची हि दिगग्नेः स्वामे-व तद्दिशमनु प्रयाति ॥८॥ प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि । शिवेभिरर्चिभिष्ट्वमिति प्रेदग्ने त्वं ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिर्दीप्यमानैरित्येतद्बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिꣳसी-स्तन्वा प्रजा इति बृहद्भिरर्चिभिर्दीप्यमानैर्मा हिꣳसीरात्मना प्रजा इत्येतत् ॥९॥ स यदाक्ष उत्सर्जेत् । अथैतद्यजुर्जपेद्सुर्या वाऽएषा वाग्याक्षस्य तामेतच्छमयति तामेतद्देवत्रा करोति ॥१०॥ यद्वेवैतद्यजुर्जपति । यस्मिन्वै कस्मिंश्चाहितेऽक्ष उ-त्सर्जति तस्यैव सा वाग्भवति तद्यदग्रावाहितेऽक्ष उत्सर्जत्यग्नेरेव सा वाग्भव-त्यग्निमेव तद्देवा उपास्तुवन्नुपामहयंस्तथैवैनमयमेतदुपस्तौत्युपमहयत्यक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौरिति तस्योक्तो बन्धुः ॥११॥ स यदि पुरा वसत्यै विमुञ्चेत । अ-नस्येवाग्निः स्यादथ यदा वसत्यै विमुञ्चेत प्रागन उपस्थाप्योत्तरत उद्धत्यावोक्षति यत्रैनमुपावहरति तं दक्षिणात उदञ्चमुपावहरति तस्योक्तो बन्धुः ॥१२॥ अथा-स्मिन्त्समिधमादधाति । एतद्वाऽएनं देवा ईयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन्नेतया स-मिधा तथैवैनमयमेतदीयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणात्येतया समिधा ॥१३॥ प्र-प्रा-यमग्निर्भरतस्य शृण्वऽइति । प्रजापतिर्वै भरतः स हीदꣳ सर्वं बिभर्ति वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भा इति वि यत्सूर्य-इव रोचते बृहद्भा इत्येतदभि यः पूरुं पृतनासु

इस अतिथि को जगाओ और उसमें आहुतियाँ दो।" 'उद्बोधन' वाले मन्त्र से उद्बोधन करता है ॥६॥

अब वह उसको इस मन्त्र से उठाता है—"उदु त्वा विश्वे देवा ऽ अग्ने भरन्तु चित्तिभि:" (यजु० १२।३१)—"हे अग्नि, सब देव अपने चित्त से तुझे उठावें।" पहले देवों ने अपने चित्तों से उसको उठाया था, क्योंकि वह उनके चित्तों में था। इसी प्रकार यह (यजमान) भी अपने चित्तों से इसको उठाता है क्योंकि वह तब उसके चित्त में होता है। "[illegible] नो भव शिवस्त्वँ सुप्रतीको विभावसु:" (यजु० १२।३१)—"हमारे लिए कल्याणप्रद, [illegible] और वैभव-युक्त हो।" जैसा यजु है वैसा उसका अर्थ है। उसको दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर गाड़ी पर रख देता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। गार्हपत्य को थाली में रखकर (आहवनीय या उख्य अग्नि के) पीछे रख देता है। यदि इच्छा हो तो स्वयं भी उसके पास बैठ जाय या साथ-साथ पैदल चले ॥७॥

अब इसमें दो बैल जोतता है—पहले दाहिना, फिर बायाँ। यह देवताओं की रीति है। मनुष्यों की इससे इतर। वह चाहे किसी दिशा में जाना चाहे, पहले पूर्व की ओर चले। पूर्व ही अग्नि की दिशा है। इस प्रकार वह अपनी ही दिशा में जाता है ॥८॥

"प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।" (यजु० १२।३२)—अर्थात् "हे अग्नि, तू ज्योतिष्मान् होकर भी हितकर ज्वालाओं के साथ जा।" "बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिँसीस्तन्वा प्रजा:" (यजु० १२।३२)—अर्थात् "बड़ी ज्वालाओं के साथ प्रदीप्त होकर तू अपने शरीर से मेरी प्रजा को मत सता" ॥९॥

जब पहिये की कीली से आवाज निकले, तभी इस यजु का जप करे। यह आवाज आसुरी होती है। इसको इससे शान्त करता है और दैवी बनाता है ॥१०॥

यह यजु इसलिए भी जपता है कि जिस किसी के सवार होने पर पहिये की कीली यह आवाज करती है, उसी की यह आवाज समझी जाती है। अग्नि के सवार होने पर जो आवाज होती है वह अग्नि की ही आवाज है। देवों ने अग्नि की ही उपासना की थी और इसी की महत्ता वर्णन की थी। यह यजमान भी इसी की उपासना करता है, इसी की महत्ता वर्णन करता है। "अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौ:" (यजु० १२।३३)—"अग्नि इस प्रकार गर्जा जैसे बादल गरजता है।" इसकी व्याख्या हो चुकी ॥११॥

यदि अपनी बसती में पहुँचने से पहले ही घोड़े खोले, तो अग्नि को गाड़ी में ही रहने दे। यदि बसती (घर) में ठहरने के लिए खोले तो पूर्व में गाड़ी को बढ़ाकर उत्तर की ओर एक स्थान को ऊँचा करके और पानी छिड़ककर अग्नि को उतार लेता है। दक्षिण से उत्तर की ओर उतारता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥१२॥

अब उस पर एक समिधा रखता है। देवों ने इसको यात्रा के बाद इस समिधारूपी अन्न से तृप्त किया था। इसी प्रकार यह भी इसको यात्रा के पश्चात् इस समिधारूपी अन्न से तृप्त करता है ॥१३॥

"प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे" (यजु० १२।३४)—"यह अग्नि भरत की सुनता है (या भरत की यह अग्नि प्रसिद्ध है)।" प्रजापति भरत है। वह इसको भरता है। "वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद्भा" (यजु० १२।३४)—अर्थात् "यह सूर्य के समान बहुत चमकता है।" "अभि य

तस्थाविति पूरुर्ह नामासुररक्षसमास तमग्निः पृतनास्वभितस्थौ दीदाय दैव्योऽअ-
तिथिः शिवो न इति दीप्यमानो देवोऽतिथिः शिवो न इत्येतत्स्थितवत्या वस-
त्यै ह्येनं तत्स्थापयति ॥१४॥ अथातः सम्पदेव । समिधं प्रथमेनादधात्युपच्छत्ये-
केन प्रयात्येकेनाक्षमेकेनानुमन्त्रयते समिधमेव पञ्चमेनादधाति तत्पञ्च पञ्चचिति-
कोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भ-
वति ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥५ [८. १.] ॥

अथातो भस्मन एवाभ्यवहरणस्य । देवा वाऽएतदग्रे भस्मोदवपंस्तेऽब्रुवन्य-
दि वाऽइदमित्थमेव सदात्मानमभिसंस्करिष्यामहे मर्त्याः कुणपा अनपहतपाप्मा-
नो भविष्यामो यद्यु परावप्स्यामो यदत्राग्नेयं बहिर्धा तदग्नेः करिष्याम उप तज्जा-
नीत यथेदं करवामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत
यथेदं करवामेति ॥१॥ ते चेतयमानाः । एतदपश्यन्नप एवैनदभ्यवहरामापो वा
ऽअस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तद्यत्रास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनत्प्रतिष्ठाप्य यदत्राग्नेयं तद-
द्भ्योऽधि जनयिष्याम इति तदपोऽभ्यवाहरंस्तथैवैनदयमेतदपोऽभ्यवहरति ॥२॥
आपो देवीः । प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्व७ सुरभाऽउ लोकऽइति जग्धं
वाऽएतद्यातयाम भवति तदेतदाह सभिष्ठऽएनल्लोके कुरुध्वमिति तस्मै नमन्तां
जनय इत्यापो वै जनयोऽद्भ्यो हीद७ सर्वं जायते सुपत्नीरित्यग्निना वाऽआपः सु-
पत्न्यो मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनदिति यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभृयादेवमेनद्बिभृते-
त्येतत् ॥३॥ अप्स्वग्ने सधिष्टवेति । अप्स्वग्ने योनिष्टवेत्येतत्सौषधीरनुरुध्यसऽइ-
त्योषधीर्ह्येषोऽनुरुध्यते गर्भे सञ्जायसे पुनरिति गर्भे ह्येष सञ्जायते पुनर्गर्भो
ऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसीति
तदेनमस्य सर्वस्य गर्भं करोति ॥४॥ त्रिभिरभ्यवहरति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्याव-
त्यस्य मात्रा तावतैवैनदेतदभ्यवहरत्येकेनाग्रेऽथ द्वाभ्यां द्वाभ्यां वाग्रेऽथैकेन द्वि-

पूरुं पृतनासु तस्थौ'' (यजु० १२।३४)—''जिसने पुरु को युद्ध में हराया।'' पुरु नाम का एक असुर राक्षस था, उसको अग्नि ने युद्धों में मार गिराया। ''दीदाय दैव्यो ऽ अतिथिः शिवोनः'' (यजु० १२।३४)—''यह अतिथि (अग्नि) हमारा कल्याण-कारक होकर चमकता है।'' 'स्था' धातुवाले मन्त्र से यह कृत्य किया गया है जिससे वह अपने घर में ठहर सके ॥१४॥

सम्पत् (निष्पति, correspondance) यह है। एक मन्त्र से समिधा रखता है। एक मन्त्र से उठाता है। एक से प्रस्थान करता है। एक से पहिये का अभिमन्त्रण करता है। एक मन्त्र से समिधा रखता है। ये पाँच हुए। अग्नि भी पंचचितिक (पाँच चितियोंवाला) है। पाँच ऋतुएँ संवत्सर में होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, वह उतना ही हो जाता है ॥१५॥

भस्मापोऽभ्यवहरणम्, उपस्थानम्, द्विविधप्रायश्चित्तविधिश्च

अध्याय ८—ब्राह्मण २

अच्छा अब भस्म के (जल तक) ले जाने के विषय में। पहले देवों ने भस्म को अलग कर दिया था। उन्होंने कहा, 'यदि हम इसका इसी प्रकार संस्कार करेंगे तो हम मर्त्य कुणप (जीव-रहित) और पापयुक्त हो जायेंगे। और यदि इसको अग्नि से बाहर फेंक देंगे तो जो अग्नि का ही है उसे अग्नि के बाहर फेंक देंगे। अब बताओ क्या करें? उन्होंने कहा, 'चेत करो' अर्थात् चिति बनाओ। सोचो कि किस प्रकार करोगे ॥१॥

उन्होंने चेतते हुए इसको देखा, 'इस जल को ले चलें।' जल ही इन सबकी प्रतिष्ठा है। यह जो सबकी प्रतिष्ठा है, उसमें उसकी स्थापना करके जो अग्नि का स्वयं अंश है उसे जल में उत्पन्न करेंगे। इसलिए इसको जल तक ले गये और जल में इसका प्रवाह कर दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इसको जल तक ले जाता है ॥२॥

''आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत् स्योने कृणुध्वं सुरभा ऽ उ लोके'' (यजु० १२।३५)—''हे जलो, तुम इस भस्म को लो और इसको अच्छे और सुरभियुक्त लोकों में पहुँचा दो।'' यह जलकर अपनी यात्रा पूरी कर चुकी। इसलिए इसके विषय में कहा गया है कि इसको सुरम्य स्थान में पहुँचा दो। ''तस्मै नमन्तां जनयः'' (यजु० १२।३५)—''पत्नियाँ उसको नमस्कार करें।'' 'जल' पत्नी हैं, क्योंकि इन्हीं में से सब चीजें उत्पन्न होती हैं। ''सुपत्नीः'' (यजु० १२।३५)—''जल अग्नि की सुपत्नियाँ हैं।'' ''मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत्'' (यजु० १२।३५)—अर्थात् ''जैसे माता पुत्र को गोद में लेती है, इसी प्रकार यह भी इसको ले जाता है'' ॥३॥

''अप्स्वग्ने सधिष्टव'' (यजु० १२।३६)—अर्थात् ''हे अग्नि, जलों में तेरी योनि (धाम) है।'' ''सौषधीरनु रुध्यसे'' (यजु० १२।३६)—अर्थात् ''ओषधियों के साथ तू लगा रहता है।'' ''गर्भे सञ्जायसे पुनः'' (यजु० १२।३६)—अर्थात् ''गर्भ में आकर फिर उत्पन्न होता है।'' ''गर्भो ऽ अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो ऽ अपामसि'' (यजु० १२।३७)—''तू ओषधियों का, वनस्पतियों का, सब भूतों का तथा जलों का गर्भ है।'' इस प्रकार इसको सब संसार का गर्भ बना देता है ॥४॥

तीन मन्त्रों से (भस्म को) जल में डालता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से उसको जल में छोड़ता है। पहले एक मन्त्र से, फिर दो से।

स्तु कृत्वोऽभ्यवहरति तद्ये द्विपादः पशवस्तैरेवैनमेतदभ्यवहरति ॥५॥ अथापा-
दत्ते । तद्यदत्राग्नेयं तदेतदद्भ्योऽधि जनयत्यनयानया वै भेषजं क्रियतेऽनयैवैनमे-
तत्सम्भरति प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्नऽइति प्रसन्नो ह्येष भस्मना
योनिमपश्च पृथिवीं च भवति संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्पुनरासद इति सं-
गत्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्पुनरासद इत्येतत्पुनरासद्य सदनं पुनरूर्जा सह रय्ये-
त्येतेन मा सर्वेणाभिनिवर्तस्वेत्येतत् ॥६॥ चतुर्भिरपादत्ते । तद्ये चतुष्पादः प-
शवस्तैरेवैनमेतत्सम्भरत्यथोऽअन्नं वै पशवोऽन्नेनैवैनमेतत्सम्भरति त्रिभिरभ्यव-
हरति तत्सप्त सप्तचितिकोऽग्निः सप्तऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्या-
वत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥७॥ अपादाय भस्मनः प्रत्येत्य । उखायामोप्योपति-
ष्ठतऽएतद्वाऽएतदयथायथं करोति यदग्निमपोऽभ्यवहरति तस्माऽएवैतन्निह्नुते
ऽहिंसायाऽआग्नेयीभ्यामग्नयऽएवैतन्निह्नुते बुद्धवतीभ्यां यथैवास्यैतदग्निर्वचो नि-
बोधेत् ॥८॥ बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठेति । बोध मेऽस्य वचसो यविष्ठेत्ये-
तन्मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव इति भूयिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव इत्येतत्पीयति
त्वोऽअनु त्वो गृणातीति पीयत्येकोऽन्वेको गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्न
ऽइति वन्दिता तेऽहं तन्वं वन्देऽग्नऽइत्येतत्स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसु-
दावन् युयोध्यस्मद्द्वेषांसीति यथैवास्माद्द्वेषांसि युयादेवमेतदाह द्वाभ्यामुपति-
ष्ठते गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः ॥९॥ तानि नव भवन्ति । नव दि-
शो दिशोऽग्निर्नव प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति
॥१०॥ अथ प्रायश्चित्ती करोति । सर्वेभ्यो वाऽएष एतं कामेभ्य आधत्ते तद्यद्-
वास्यात्र कामानां व्यवछिद्यतेऽग्नावपोऽभ्यवह्रियमाणे तदेवैतत्संतनोति संदधा-
त्युभे प्रायश्चित्ती करोति येऽएवाग्नावनुगते तस्योक्तो बन्धुः ॥११॥ तानि दश
भवन्ति । दशाक्षरा विराड्विराडग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्या-

या पहले दो से, फिर एक से। दो बार करके डालता है; इस प्रकार ये जो दुपाये पशु हैं, उनके द्वारा इसको ले जाता है ॥५॥

अब उस भस्म में से कुछ ले लेता है, क्योंकि इसमें जो अग्नि का अंश है उसे जलों में से उत्पन्न करता है। उसको इससे (अनामिका अँगुली से) उठाता है। इसी से तो औषध तैयार होती है। इसी से वह अग्नि को ठीक करता है। "प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने" (यजु० १२।३८) — "हे अग्नि, योनि में ठहरकर, भस्म के रूप में जलों में और पृथिवी में ठहरकर।" भस्म के द्वारा ही यह योनि में, जलों में, पृथिवी में ठहरता है। "सᳬसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासद" (यजु० १२।३८) — अर्थात् "माताओं से मिलकर तू ज्योतिवाला अपने घर में फिर बैठ।" "पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने। शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याᳬ शिवतमः।" (यजु० १२।३९) — "अपने स्थान, जल और पृथिवी में बैठकर, हे अग्नि, तू माता की गोद में सुखपूर्वक बैठ।" "पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न ऽ इषायुषा। पुनर्नः पाह्यᳬहसः" (यजु० १२।४०) "हे अग्नि, ऊर्ज के साथ अन्न और जीवन के साथ फिर लौट, हमको पाप से बचा।" "सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि" (यजु० १२।४१) — "हे अग्नि, धन के साथ लौट, तेरी चारों ओर पूर्णता से बहनेवाली नदियाँ रहें।" अर्थात् इस सबके साथ तू लौट ॥६॥

इस भस्म को वह चार मन्त्रों से लेता है। ये जो चौपाये पशु हैं, उनके द्वारा ही वह इसको लाता है। पशु अन्न हैं। इस प्रकार वह अन्न से इसको युक्त करता है। तीन मन्त्रों से वह (भस्म को जल तक) ले जाता है। ये सात हुए। वेदी की तहें भी सात ही होती हैं। संवत्सर में सात ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह हो जाता है ॥७॥

कुछ भस्म को लेकर और लौटकर वह उसको उखा में डालता है और (अग्नि की) उपासना करता है, क्योंकि जब वह अग्नि को जल में डालता है तो अनुचित करता है। अब वह उसका प्रायश्चित्त करता है कि वह उसे हानि न पहुँचावे। अग्नि-सम्बन्धी दो मन्त्रों से वह उपासना करता है, क्योंकि अग्नि के प्रति ही तो प्रतिकार करना है, ऐसे मन्त्रों से जिनमें 'बुध' पड़ा है, जिससे अग्नि उसकी बात को समझ ले ॥८॥

"बोधा मे ऽ अस्य वचसो यविष्ठ" (यजु० १२।४२) — अर्थात् "हे बलवान्, मेरी बात सुन।" "मᳬहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः" (यजु० १२।४२) — अर्थात् "हे स्वामी, ऐसे वचन को जो पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है।" "पीयति त्वो ऽ अनु त्वो गृणाति" (यजु० १२।४२) — "एक तुझको बुरा कहता है और एक प्रशंसा करता है।" "वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे ऽ अग्ने" (यजु० १२।४२) — "हे अग्नि, मैं तेरे शरीर की भली-भाँति वन्दना करता हूँ।" "स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्। युयोध्यस्मद् द्वेषाᳬसि" (यजु० १२।४३) — "हे वसुपते, वसु के दाता, ऐश्वर्यवान्, बुद्धिमान्, तू हमारी बात को जान और हमसे द्वेष करनेवालों को अलग रख।" यह इसलिए कहते हैं कि उसके शत्रु उससे अलग रहें। इन दो मन्त्रों से अग्नि की उपासना करता है, एक गायत्री और दूसरा त्रिष्टुभ्। इसका रहस्य वर्णित हो चुका ॥९॥

ये मन्त्र नौ हो जाते हैं। नौ दिशाएँ हैं। अग्नि दिशाएँ हैं। नौ प्राण। प्राण अग्नि हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्राएँ हैं, उतना यह हो जाता है ॥१०॥

अब वह दो प्रायश्चित्त करता है। उसने अग्नि का आधान सब कामनाओं के लिए किया था। इन कामनाओं का जो भाग भस्म को जल में डालने के कारण कट जाता है, उसी की वह इसके द्वारा पूर्ति करता है। वह उन दोनों प्रायश्चित्तों को करता है, जो अग्नि बुझ जाने पर किये जाते हैं ॥११॥

इस प्रकार दस हो जाते हैं। विराट् में दस अक्षर होते हैं। अग्नि विराट् है। दस दिशाएँ हैं। दिशाएँ अग्नि हैं। दस प्राण हैं। प्राण अग्नि हैं।

वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥१२॥ ब्राह्मणाम् ॥६ [८.२.] ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १०२ ॥ अष्टमोऽध्यायः [४३.] ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या ५३० ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे उखासम्भरणनाम षष्ठं काण्डं समाप्तम ॥६॥ ॥

जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही यह भी हो जाता है ॥१२॥

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत
"रत्न कुमारीदीपिका" भाषा व्याख्या का उखा सम्भरण नाम
षष्ठ काण्ड समाप्त हुआ ।

षष्ठ काण्ड

प्रपाठक		कण्डिका-संख्या
प्रथम [६. २. १]		११०
द्वितीय [६. ३. २]		१०४
तृतीय [६. ५. २]		११४
चतुर्थ [६. ६. ४]		१००
पञ्चम [६. ८. २]		१०२
		५३०
	पूर्व के काण्डों का योग	३३६५
	पूर्ण योग	३८९५

ओम् । गार्हपत्यं चेष्यन्पलाशशाखया व्युदूहति । अवस्यति ह्येतद्यद्गार्हपत्यं चिनोति यऽउ वै के चाग्निचितोऽस्यामेव तेऽवसितास्तद्व्युदूहत्यवसितानिव तद्व्युदूहति नेदवसितानध्यवस्यानीति ॥१॥ अपेत वीत वि च सर्पतात इति । अप चैवेत वि चेत व्यु च सर्पतात इत्येतद्यऽउदरसर्पिणास्तानेतदाह येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना इति येऽत्र स्थ सनातना ये चाधुनातना इत्येतत् ॥२॥ अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या इति । यमो ह वाऽअस्या अवसानस्येष्टे स एवास्मा ऽअस्यामवसानं ददाति ॥४॥ अक्रन्निमं पितरो लोकमस्माऽइति । क्षत्रं वै यमो विशः पितरो यस्मा उ वै क्षत्रियो विशा संविदानोऽस्यामवसानं ददाति तत्सु-दत्तं तथो हास्मै क्षत्रं यमो विशा पितृभिः संविदानोऽस्यामवसानं ददाति ॥४॥ पलाशशाखया व्युदूहति । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैव तदवसितान्व्युदूहति म-न्त्रेण ब्रह्म वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तदवसितान्व्युदूहति तामुदीचीमुदस्यति ॥५॥ ॥ शतम् ३१०० ॥॥ अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः पशव ऊषा अ-स्मिंस्तल्लोके पशून्दधाति तस्मादिमेऽस्मिंलोके पशवः ॥६॥ यद्वेवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत ता नानोल्बा असृजत ता न समजानत सोऽकामयत संजानीरन्निति ताः समानोल्बा अकरोत्तासामूषानुल्बमकरोत्ताः समजानत त-स्मादप्येतर्हि समानोल्बाः समेव जानते देवैः समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्यदूषान्निवपति देवैरेव तत्समानोल्बो भवति ॥७॥ संज्ञानमसीति । समजानत ह्येतेन कामधरणमिति पशवो वाऽऊषाः पशवः कामधरणं मयि ते

सप्तम काण्ड

हस्ति-घट-नाम सप्तमं काण्डम्

गार्हपत्यचितिस्थाने पतितानां तृणपर्णादीनामपसरणादि

अध्याय १—ब्राह्मण १

गार्हपत्य को बनाने की इच्छा करता हुआ पलाश की शाखा से (स्थान को) झाड़ता है। जहाँ गार्हपत्य को चिनता है वहीं अपना निवास निर्धारित करता है। जो कोई गार्हपत्य को चिननेवाले हो गये हैं वे सब इसी (पृथिवी) पर स्थित थे। वह जो झाड़ देता है मानो स्थित लोगों को हटाता है कि कहीं उन्हीं के ऊपर न बस जाय ॥१॥

इस मंत्र से—"अपेत वीत विच सर्पतात।" (यजु० १२।४५)—अर्थात् "यहाँ से हटो, यहाँ से हटो।" जो पेट के बल चलते हैं उनसे वह यह कहता है। "येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः (यजु० १२।४५)—"अर्थात् जो पहले समय के हैं और जो आजकल के" ॥२॥

"अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्याः" (यजु० १२।४५)—"यम ने मुझे इस पृथिवी पर स्थान दिया है।" यम ही इस पृथिवी के ऊपर ठहरनेवालों का प्रबन्धक है। यही इस पृथिवी पर यजमान को ठहरने का विधान करता है ॥३॥

"अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै" (यजु० १२।४५)—"पितरों ने इस लोक को इसके लिए बनाया है।" यम क्षत्रिय है और पितर वैश्य (साधारण लोग) हैं। जब क्षत्रिय राजा अपने जनों की अनुमति से किसी को निवास दान दे देता है तो यही सुदत्त अर्थात् अच्छा दिया हुआ समझा जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय यम विश् पितरों की अनुमति से इस (यजमान) को निवास देता है ॥४॥

वह पलाश की शाखा से झाड़ता है। पलाश ब्राह्मण है। जो पहले बस गये थे उनको ब्राह्मण के द्वारा ही अलग करता है। मंत्र से अलग करता है, क्योंकि मंत्र ब्राह्मण हैं। वे जो पहले बस गये थे उनको मंत्र द्वारा ही झाड़ता है। वह इस शाखा को उत्तर की ओर फेंक देता है ॥५॥

अब उस पर ऊषा (देह) को बिछाता है, क्योंकि यह लोक गार्हपत्य है और पशु देह हैं। इस प्रकार वह इस लोक में पशुओं को रखता है। इसीलिए लोक में पशु हैं ॥६॥

वह देह को इसलिए भी बिछाता है कि प्रजापति ने प्रजा बनाई। उसने इनको भिन्न-भिन्न प्रकार के जरायु के साथ बनाया। वे समान न थे। उसने इच्छा की कि ये एक-समान हो जायें। इसलिए उनको समान जरायु का बना दिया। तब वे एक-से हो गये। जो आहुति देता है यह सोचकर देता है कि देवों के समान जरायुवाला हो जाऊँ। और जब वह देह को बिछाता है तो वह देवों के समान जरायु का हो जाता है ॥७॥

"संज्ञानमसि" (यजु० १२।४६) "तू ही ज्ञान देनेवाला है।" क्योंकि इसी से उनको ऐक्य मिला। "कामधरणम्" (यजु० १२।४६)—"कामनाओं की पूर्तिवाला।" देह पशु है और पशु ही

कामधरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूयासुरित्येतत्तैः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै गार्हपत्या चितिरुल्बमूषाः सर्वां तद्योनिमुल्बेन प्रच्छादयति ॥८॥ अथ सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य भस्म यत्सिकता अग्निमु वाऽएतं वैश्वानरं चेष्यन्भवति न वाऽअग्निः स्वं भस्मातिदहत्यनतिदाहाय ॥९॥ यद्वेव सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकता अग्निमु वाऽएतं वैश्वानरं चेष्यन्भवति न वाऽअरेतस्कात्किं चन विक्रियतेऽस्माद्रेतसोऽधि विक्रियाताऽइति ॥१०॥ अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसीति । यातयाम वाऽअग्नेर्भस्मायातयाम्न्यः सिकता अयातयाममेवैनदेतत्करोति ताभिः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै गार्हपत्या चिती रेतः सिकताः सर्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति ॥११॥ अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । योनिर्वै परिश्रित इदमेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परिगृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्यते ॥१२॥ यद्वेवैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । अयं वै लोको गार्हपत्य आपः परिश्रित इमं तं लोकमद्भिः परितनोति समुद्रेण हैनं तत्परितनोति सर्वतस्तस्मादिमं लोकꣳ सर्वतः समुद्रः पर्येति दक्षिणावृत्तस्मादिमं लोकं दक्षिणावृत्समुद्रः पर्येति खातेन तस्मादिमं लोकं खातेन समुद्रः पर्येति ॥१३॥ चित स्थेति । चिनोति ह्येनाः परिचित स्थेति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः श्रयध्वमित्यूर्ध्वा उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजतेऽथ यत्तिरश्चीरुपदध्यात्सकृद्धैवेदꣳ सर्वꣳ समुद्रो निर्मृज्यान्न सादयत्यसन्ना ह्यापो न सूददोहसाधिवदति ॥१४॥ अस्थीनि वै परिश्रितः । प्राणः सूददोहा न वाऽअस्थिषु प्राणोऽस्त्येकेन यजुषा बह्वीरिष्टका उपदधात्येकꣳ ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद्बह्व्यः परिश्रितो भवन्ति बह्व्यो ह्यापः ॥१५॥ तद्वै योनिः परिश्रितः । उल्बमूषा रेतः सिकता बाह्याः परिश्रितो भवन्त्यन्तरऽऊषा बाह्या हि योनिरन्तरमुल्बं बाह्यऽऊषा भवन्त्यन्तराः सिकता बाह्यꣳ ह्युल्बमन्तरꣳ रेत एतेभ्यो वै जायमानो जायते तेभ्य एवैनमेत-

'कामधरण' हैं। "मयि ते कामधरणं भूयात्" (यजु० १२।४५)—"मुझमें तेरी पूर्ण कामनायें हों।" अर्थात् मुझमें तेरे पशु हों। इस प्रकार वह इस देह से सब गार्हपत्य को ढक देता है। गार्हपत्य योनि है और चिति जरायु है, अर्थात् समस्त योनि को जरायु से ढक देता है ।।८।।

इस देह को जलने से बचाने के लिए उस पर रेत बिछाता है, क्योंकि यह रेत अग्नि विश्वानर का भस्म ही तो है। वह अग्नि विश्वानर को ही तो चयन करनेवाला है। अग्नि स्वयं अपने को तो जलायेगा नहीं ।।९।।

वह रेत क्यों बिछाता है ? यह जो रेत है वह अग्नि वैश्वानर का वीर्य है। वह अग्नि वैश्वानर का ही तो चयन करेगा। वीर्य-रहित से तो कुछ बनता नहीं। वह सोचता है कि वीर्य से ही अग्नि को उत्पन्न करे ।।१०।।

इस मंत्र से—"अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि" (यजु० १२।४५)—"तू अग्नि की भस्म है, अग्नि का पुरीष है।" अग्नि की भस्म बेकार है और रेत बेकार नहीं है। इस प्रकार वह इसको काम की बनाता है। वह इससे समस्त गार्हपत्य को ढक देता है। गार्हपत्य योनि है और रेत वीर्य है। इस प्रकार योनि में वीर्य को धारण कराता है ।।११।।

अब इसको परिश्रित् (पत्थरों) से घेरता है। यह जो परिश्रित् है वह योनि है। सींचा हुआ वीर्य इस प्रकार सुरक्षित होता है। इसीलिए योनि में जो वीर्य पहुँचता है सुरक्षित रहता है ।।१२।।

इसको परिश्रितों से क्यों घेरता है ? यह लोक गार्हपत्य है और जल परिश्रित् हैं। इस प्रकार वह लोक को जलों से घेरता है। इसको समुद्र से घेरता है, इसलिए यह भूमि चारों ओर समुद्र से घिरी हुई है। वह दक्षिण की ओर घेरता है, क्योंकि समुद्र दक्षिण की ओर घेरे हुए हैं; खाई के रूप में घेरता है, क्योंकि भूमि को समुद्र खाई के रूप में घेरे हुए है ।।१३।।

"चित स्थ" (यजु० १२।४६) "चिने हुए रहो।" क्योंकि वह इनको चिनता है। "परिचित स्थ" (यजु० १२।४६)—"चारों ओर से चिने हुए रहो।" क्योंकि वह चारों ओर से चिनता है। "ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम्" (यजु० १२।४६)—क्योंकि वह उनको खड़ा-खड़ा चिनता है। इसीलिए समुद्र ऊपर को उठा करता है। यदि कहीं तिरछा रख दे तो समुद्र पृथिवी-भर पर फैल जाय। वह इनको स्थिर भी नहीं करता, क्योंकि जल स्थिर नहीं होते। और 'सूददोहस' मंत्रों को भी नहीं पढ़ता (सूददोहस यजु० १२।५५ मंत्र है) ।।१४।।

परिश्रित् हड्डियाँ हैं और सूददोह प्राण हैं। हड्डियों में प्राण नहीं होते। एक ही यजु से बहुत-सी ईंटें रखता है। क्योंकि जलों का एक ही रूप होता है। परिश्रित् बहुत-सी क्यों होती हैं ? जल भी तो बहुत-से होते हैं ।।१५।।

परिश्रित् योनि हैं, देह जरायु है और रेत वीर्य है। परिश्रित् बाहर होते हैं और देह भीतर, क्योंकि बाहर योनि है और भीतर जरायु। बाहर देह होता है और भीतर रेत, क्योंकि जरायु बाहर होता है और वीर्य भीतर। जो उत्पन्न होता है इन्हीं से उत्पन्न होता है। इन्हीं से वह

ज्जनयति ॥१६॥ अथैनमतश्चिनोति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते ॥१७॥ स चतस्रः प्राचीरुपदधाति । द्वे पश्चात्तिरश्च्यौ द्वे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्ययमात्माथ ये पश्चात्ते सक्थ्यौ ये पुरस्तात्तौ बाहू यत्र वाऽआत्मा तदेव शिरः ॥१८॥ तं वाऽएतम् । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति यादृग्वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषोऽमुत्र पक्षपुच्छवान्जायते ॥१९॥ तं वै पक्षपुच्छवन्तमेव सन्तम् । न पक्षपुच्छवन्तमिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथारूपं पश्यन्त्यथैनममुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्माज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति ॥२०॥ स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवति दक्षिणात उदङ्ङासीन उत्तरार्ध्यां प्रथमामुपदधाति तथो हास्यैषोऽभ्यात्ममेवाग्निश्चितो भवति ॥२१॥ अयꣳ सोऽअग्निः । यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधऽइत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सोमः सुतोऽस्मिंस्तल्लोकेऽप इन्द्रोऽधत्त जठरे वावशान इति मध्यं वै जठरꣳ सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिमित्यापो वै सहस्रियो वाजः ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेद इति चितः संश्रीयसे जातवेद इत्येतत् ॥२२॥ अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति । आदित्यो वाऽअस्य दिवि वर्चः पृथिव्यामित्ययमग्निः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्रेति य एवौषधिषु चाप्सु चाग्निस्तमेतदाह येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थेति वायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षा इति महान्त्स भानुरर्णवो नृचक्षा इत्येतत् ॥२३॥ अग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगासीति । आपो वाऽअस्य दिवोऽर्णास्ता एष धूमेनाच्छैत्यच्छा देवाँ२॥ऽऊचिषे धिष्ण्या यऽइति प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽआप इति रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता एतदाह ॥२४॥ पुरीष्यासोऽअग्नय इति । पशव्यासोऽग्नय इत्येतत्प्रा-

इस अग्नि को उत्पन्न करता है ॥१६॥

अब वह इस (कुण्ड) को बनाता है। इस प्रकार वह सींचे हुए वीर्य को बनाता है। इसीलिए सींचा हुआ वीर्य योनि में बनता है ॥१७॥

वह चार (ईंटों) को पूर्व में रखता है—दो पीछे को तिरछी, दो आगे को। जिन चारों को पूर्व में रखता है वह आत्मा (शरीर) है। ये चार इसलिए होती हैं कि चार भागों वाले का आत्मा शरीर है। पीछे की दो जंघा हैं। आगे की दो भुजायें। यह जो शरीर है उसमें सिर भी है ॥१८॥

अब उसको पर और पूंछ से युक्त करता है। जैसा योनि में वीर्य पड़ता है वैसा ही बच्चा उत्पन्न होता है। चूंकि यहां उसको पूंछ और परवाला बनाता है इसलिए ही वह पूंछ और पर-वाला उत्पन्न होता है ॥१९॥

पर और पूंछवाला होते हुए भी वह पर और पूंछवाला दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए योनि में गर्भ अपने रूप में नहीं दिखाई देता। परन्तु इसके पश्चात् वे इसको पर और पूंछसहित देखते हैं। इसीलिए उत्पन्न होने पर गर्भ अपने निज रूप में प्रकट होता है ॥२०॥

वह पहले चार ईंटें रखता है। जो जन्मता है उसका पहले शरीर निकलता है। उत्तरा-भिमुख दक्षिण में बैठकर वह पहली ईंट रखता है। इस प्रकार इस (यजमान) के लिए अग्नि का चयन होता है—॥२१॥

इस मंत्र से —"अयँ सो ऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे" (यजु० १२।४७)—"यह वही अग्नि है जिसमें इन्द्र ने निचोड़े हुए सोम को रक्खा।" गार्हपत्य यह लोक है और 'सुत सोम' जल है। इन्द्र ने इस प्रकार इस लोक में जलों को लिया। "जठरे वावशानः" (यजु० १२।४७)—"पेट में चाहते हुए।" मध्य का नाम जठर है। "सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिम्" (यजु० १२।४७)—"वेगवान् के समान हजारों घोड़ों की शक्ति रखनेवाला।" वस्तुतः जलों में हजारों घोड़ों की शक्ति है। "ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः" (यजु० १२।४७)—"हे जातवेद, तू प्राप्त करने के पश्चात् स्तुति किया जाता है।" अर्थात् हे जातवेद, तू चिनकर बनाया जाता है ॥२२॥

इस मंत्र से दूसरी ईंट —"अग्ने यत् ते दिवि वर्चः" (यजु० १२।४८)—"हे अग्नि, द्यौलोक में जो तेरी ज्योति है।" द्यौलोक में जो इसकी ज्योति है वह आदित्य है। "पृथिव्यां" (यजु० १२।४८) —पृथिवी में तो यही अग्नि है। "यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र" (यजु० १२।४८)—"हे यजत्र अर्थात् यज्ञ के योग्य अग्नि, जो तेरी ज्योति ओषधियों और जलों में है।" अर्थात् जो अग्नि ओषधियों और जलों में है। "येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ" (यजु० १२।४६)—"जिससे तू विस्तृत अन्तरिक्ष में ओत-प्रोत है" अर्थात् वायु। "त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः" (यजु० १२।४८)—अर्थात् "वह बड़ी चमकीली, व्यापक तथा मनुष्यों पर दृष्टि रखनेवाली ज्योति" ॥२३॥

तीसरी ईंट इस मंत्र से—"अग्ने दिवो ऽअर्णमच्छा जिगासि" (यजु० १२।४९)—"हे अग्नि, तू द्यौ लोक के जलसमूह तर जाती है।" द्यौलोक के जलसमूह से व्यापक जलों से तात्पर्य है। यह धुआं बनकर उन तक पहुँचता है। "अच्छा देवाँ २ ऽऊचिषे धिष्ण्या ये" (यजु० १२।४९)—"यह तू उन स्वच्छ देवों को बुलाता है जो प्रेरक हैं।" 'धिष्ण्य देवों' से तात्पर्य है प्राणों से; क्योंकि यही सब बुद्धियों के प्रेरक हैं। "या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त ऽआपः" (यजु० १२।४९) "वे जल जो ज्योतिर्मय सूर्य के उस पार हैं और वे जो यहाँ नीचे स्थित हैं, सब तुझी को प्राप्त होते हैं।" 'रोचन' वह लोक है जहाँ पर यह सूर्य तपता है। उसका तात्पर्य दोनों प्रकार के जलों से है अर्थात् वे जो सूर्य के ऊपर हैं और वे जो नीचे हैं ॥२४॥

चौथी ईंट इस मंत्र से—"पुरीष्यासो ऽअग्नयः" (यजु० १२।५०)—अर्थात् "पशुओं के

वयोभिः सजोषस इति प्रायणरूपं प्रायणꣳ ह्येतदग्नेर्यद्गार्हपत्यो जुषन्तां यज्ञमद्रुहो ऽनमीवा इषो महीरिति जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनशनाया इषो महीरित्येतत् ॥२५॥ नानोपदधाति । ये नानाकामा आत्मंस्तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तदात्मानं करोति सूददोहसाधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणेनैवैनमेतत्संतनोति संदधाति ॥२६॥ अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणासीनोऽपरयोर्दक्षिणामग्र ऽउपदधातीडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिं गोरिति पशवो वाऽइडा पशूनामेवास्माऽएतामाशिषमाशास्ते शश्वत्तमꣳ हवमानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावेति प्रजा वै सूनुरग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मेऽइत्याशिषमाशास्ते ॥२७॥ अथोत्तराम् । अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋतव्यः सनातनो यतो जातोऽदीप्यथा इत्येतत्तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्धया रयिमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२८॥ सक्थ्यावस्येते । ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना ह्यीमे सक्थ्यौ द्वे भवतो द्वे ह्यीमे सक्थ्यौ पश्चादुपदधाति पश्चाद्धीमे सक्थ्यावग्राभ्याꣳ सꣳस्पृष्टे भवत एवꣳ ह्यीमे सक्थ्यावग्राभ्याꣳ सꣳस्पृष्टे ॥२९॥ अथ तेनैव पुनः परीत्य । दक्षिणत उदङ्ङासीनः पूर्वयोरुत्तरामग्रऽउपदधाति चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीदेति ॥३०॥ बाहूऽअस्येते । ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना ह्यीमौ बाहू द्वे भवतो द्वौ ह्यीमौ बाहू पूर्वार्धऽउपदधाति पुरस्ताद्धीमौ बाहूऽअग्राभ्याꣳ सꣳस्पृष्टे भवत एवꣳ ह्यीमौ बाहूऽअग्राभ्याꣳ सꣳस्पृष्टौ स वाऽइतीमाऽउपदधातीतीमेऽइतीमे तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रा ॥३२॥ अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तमेवैनमेतच्चिनोति पञ्च कृत्वः सादयति पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्या-

हितकर अग्नियाँ।" "प्रावणेभिः सजोषसः" (यजु० १२।५०) "प्रावणों के साथ।" यह प्रायण अर्थात् आरम्भ करने की रीति है। यह जो गार्हपत्य है वह अग्नि का आरम्भ मात्र है। "जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा ऽ इषो महीः" (यजु० १२।५०)–अर्थात् "ये द्रोहरहित, रोगरहित बड़े अन्न यज्ञ को प्राप्त हों" ॥२५॥

उनको अलग-अलग रखता है। ये जो भिन्न-भिन्न कामनायें हैं उनको अपने में धारण करता है। वह इनको एक बार में ही रखता है। इस प्रकार अपने आत्मा को एक बना लेता है। उन पर 'सूददोहस' मंत्र पढ़ता है, क्योंकि सूददोह प्राण हैं। इन प्राणों द्वारा ही वह अग्नि को निरन्तर बनाता है। यह उसको जोड़ता है ॥२६॥

अब पिछली ओर जाकर वह उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख बैठता है। और उन दोनों में से जो दक्षिण की ओर है, उसको इस मंत्र से सामने रख देता है—"इडामग्ने पुरुद्ँ सँ सनि गोः" (यजु० १२।५१)—"हे अग्नि! गौ-सम्बन्धी बहुत कर्मों में साधनरूप 'इडा' अर्थात् अन्न को।" 'इडा' का अर्थ है 'पशु', इस प्रकार वह उसके लिए पशु-सम्बन्धी आशीर्वाद देता है। "शश्वत्तमँ हवमानाय साध" (यजु० १२।५१)—"आवाहन करनेवाले के लिए सदा हितकर हो।" हवमान का अर्थ है यजमान। "स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा" (यजु० १२।५१)—"हमारे एक तनय और विजावा लड़का हो।" (जो हवन को ताने वह 'तनय', जो प्रजावान् है वह विजावा है)। "अग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे" (यजु० १२।५१)—"हे अग्नि, हमारे लिए तेरी ऐसी सुमति हो।" यह आशीर्वाद है ॥२७॥

उत्तरवाली को इस मंत्र से—"अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽ अरोचथाः" (यजु० १२।५२, ऋ० ३।२९।१०)–"यह तेरी योनि है जिसमें से उत्पन्न होकर तू चमकता है।" अर्थात् यह तेरी सनातन योनि है जिसमें उत्पन्न होकर तू चमकता है। "तं जानन्नग्न ऽ आरोहाथा नो वर्धया रयिम्" (यजु० १२।५२)—"हे अग्नि, इसको जानकर बढ़ और हमारे धन को बढ़ा।" मंत्र का अर्थ स्पष्ट है ॥२८॥

ये दोनों इस अग्नि की जंघायें हैं। उनको अलग-अलग रखता है। अलग-अलग बिठाता है, अलग-अलग सूददोहस मंत्र पढ़ता है, क्योंकि ये दोनों जाँघें अलग-अलग हैं। ये दो होती हैं क्योंकि जंघा भी तो दो हैं। वह पिछली ओर रखता है, क्योंकि जंघायें भी तो पिछली ओर होती हैं। ये दोनों ऊपर को जुड़ी होती हैं, क्योंकि जंघा भी तो ऊपर की ओर जुड़ी ही होती हैं ॥२९॥

उसी मार्ग से फिर लौटकर दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख बैठकर सामने की दो ईंटों में से उत्तर की ओर वाली ईंट को रखता है इस मन्त्र से–"चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद" (यजु० १२।५३)—"तू चिता हुआ है। उस देवता के साथ अङ्गिरा के समान निश्चल बैठ।" फिर दक्षिण की ओर वाली को–"परिचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद" (यजु० १२।५३)—(इसका भी वही अर्थ है) ॥३०॥

ये दोनों इस अग्नि के बाहु हैं। इनको अलग-अलग रखता है, अलग-अलग बिठाता है। सूददोहस मन्त्रों को अलग-अलग पढ़ता है। ये दो बाहु अलग-अलग हैं। ये भी दो हैं और बाहु भी दो होते हैं। इनको आगे की ओर रखता है क्योंकि ये बाहु भी आगे की ओर हैं। इनको ऊपर की ओर जोड़ता है क्योंकि ये बाहु भी तो ऊपर की ओर शरीर से जुड़े हुए हैं। इन दोनों (बाहुओं) को इस प्रकार रखता है (उत्तर से दक्षिण को)। और उन दोनों (जघाओं) को इस प्रकार रखता है (दक्षिण से उत्तर को) अर्थात् (पूर्व से) दक्षिण की ओर। यही देवों की रीति है ॥३१॥

आठ ईंटें रखता है। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही वह उसको चिनता है। पांच-पांच करके रखता है। अग्नि की वेदी की पांच तहें होती हैं। संवत्सर में पांच ऋतुएं होती हैं। अग्नि संवत्सर है। जितना अग्नि

वत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोत्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तत्त्रयोदश त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥३२॥ अथ लोकम्पृणामुपदधाति । तस्या उपरि बन्धुस्तिस्रः पूर्वास्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोति दशोत्तरास्तासामुपरि बन्धुर्द्वे वाग्रेऽथ दशथैकामेवᳮ ह्यि चितिं चिन्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तो बन्धुः ॥३३॥ ता उभय्य एकविᳮशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविᳮशोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति ॥३४॥ एकविᳮशतिर्वेव परिश्रितः । द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका अयमग्निरमुतोऽध्येकविᳮश इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति तद्यदेता एवमुपदधात्येतावेवैतदन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठापयति तावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ तौ वाऽएतावत्र द्वावेकविᳮशौ सम्पादयत्यत्र ह्येवेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च ॥३५॥ अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्तच्चावालवेलाया आहरत्यग्निरेष यच्चावालस्तथो हास्यैतदाग्नेयमेव भवति सा समम्बिला स्यात्तस्योक्तो बन्धुः ॥३६॥ व्याममात्री भवति । व्याममात्रो वै पुरुषः पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसंमितां तद्योनिं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला ह्यि योनिरथोऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परिमण्डल उ वाऽअयं लोकः ॥३७॥ अथैनौ संनिवपति । संज्ञामेवाभ्यामेतत्करोति समितᳮ संकल्पेथाᳮ सं वां मनाᳮसि सं व्रताग्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति शमयत्येवैनावेतदहिᳮसायै यथा नान्योऽन्यᳮ हिᳮस्याताम् ॥३८॥ चतुर्भिः संनिवपति । तद्ये चतुष्पदाः पशवस्तैरेवाभ्यामेतत्संज्ञां करोत्यथोऽअन्नं वै पशवोऽन्नेनैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोति ॥३९॥ तां न रिक्तामवेक्षेत । नेद्रिक्तामवेक्षाऽइति यद्रिक्तामवेक्षेत ग्रसेत हैनम् ॥४०॥ अथास्याᳮ सिकता आवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकता अग्नि-

है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह उसको चिनता है। आठ ईंटों को पाँच पाँच करके रखता है। ये तेरह हो गईं। संवत्सर में तेरह मास होते हैं। वेदी में तेरह तहें होती हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह भी हो जाता है ॥३२॥

अब लोकम्पृणा (खाली जगह भरनेवाली) ईंट को रखता है। इसका महत्त्व आगे बताया जायगा। आगे की ओर तीन। अग्नि तीन वाला है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसको बनाता है। दस और ! इनका महत्त्व भी आगे बताया जायेगा। या पहले दो, फिर दस, फिर एक। क्योंकि इसी प्रकार तो वे चिनते हैं। ये तेरह हुए। इनका महत्व बताया जा चुका ॥३३॥

ये दोनों मिलकर इक्कीस होते हैं। बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, ये तीन लोक और एक आदित्य, ये इक्कीस हुए। उस आदित्य की इस अग्नि में स्थापना करता है ॥३४॥

परिश्रित् (घेरने के पत्थर) भी २१ होते हैं। बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन ये लोक और एक (उस आदित्य से ली गई) अग्नि, ये हुए इक्कीस। इस अग्नि को उस आदित्य में स्थापित करता है। चूंकि वह ईंटों को इस प्रकार रखता है (संकेत करके) इसलिए वह इस अग्नि और आदित्य को एक-दूसरे में स्थापित करता है। और वे एक-दूसरे में स्थापित हो जाते हैं। इन दोनों के लिए वह इक्कीस-इक्कीस का सम्पादन करता है। और यहाँ ये दोनों आहवनीय और गार्हपत्य के रूप में उपस्थित होते हैं ॥३५॥

अब इसके ऊपर मिट्टी की एक तह लगाता है। इसका महत्त्व बताया जायेगा। इसको वह चात्वाल के किनारे से लेता है। यह चात्वाल अग्नि ही है। इस प्रकार वह आग्नेय हो जाता है। इस (गार्हपत्य वेदी) को पात्र के समतल होना चाहिए। इसका महत्त्व कहा जा चुका ॥३६॥

यह (गार्हपत्य वेदी) व्याम के बराबर होनी चाहिए। पुरुष भी व्याम (एक नापविशेष) के बराबर होता है। पुरुष प्रजापति है, प्रजापति अग्नि है। इस प्रकार वह अग्नि की योनि को अग्नि के बराबर बनाता है। यह परिमण्डल (गोल-गोल) होनी चाहिए। योनि मण्डल होती है। गार्हपत्य एक लोक है। यह लोक भी परिमण्डल है ॥३७॥

इन दोनों में साथ-साथ अग्नि स्थापित करता है। इस प्रकार इन दोनों में समन्वय उत्पन्न करता है—"समित्ँ संकल्पेथाँ सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ" (यजु० १२।५७)—"तुम दोनों संयुक्त हो और साथ-साथ चलो। परस्पर प्रिय, चमकीले, और एक-दूसरे को चाहनेवाले। अन्न और रस को साथ-साथ प्राप्त करनेवाले।" "सं वां मनाँसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्। अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न ऽ इषमूर्जं यजमानाय धेहि" (यजु० १२।५८)—"मैंने तुम दोनों के मनों, व्रतों और चित्तों को संयुक्त कर दिया है। हे पुरीषा अग्नि, तू अधिपति हो और हमारे यजमान को अन्न और रस दे।" "अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२ ऽ असि। शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः" (यजु० १२।५९)—"हे अग्नि, तू पुरीष्य, धनवान् और पुष्टिवाला है। सब दिशाओं को कल्याणमय बनाकर यहाँ अपने घर में बैठ। "भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञँ हिँसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः" (यजु० १२।६०)—"तुम दोनों हमारे लिए एक मन, एक चित्त और पापरहित हो। यज्ञ का हनन न करो। यज्ञपति का भी नहीं। हे ज्ञानी, तुम दोनों हमारे लिए कल्याणमय हो।" इस प्रकार वह इन दोनों को परस्पर शान्त करता है, जिससे वे एक-दूसरे को हानि न पहुँचावें ॥३८॥

इन चारों मन्त्रों को पढ़कर वह इन अग्नियों को छोड़ता है। इस प्रकार वह चौपाये पशुओं को इनके साथ समन्वय करता है। पशु अन्न हैं, अर्थात् इनका अन्न के साथ समन्वय करता है ॥३९॥

रिक्त पात्र की ओर न देखे। कहे कि मैं रिक्त पात्र को नहीं देखता। यदि रीते पात्र की ओर देखेगा तो पात्र उसको पकड़ लेगा (खा लेगा) ॥४०॥

इस पर रेत डालता है। यह जो रेत है वह वैश्वानर अग्नि का वीर्य है। इस प्रकार वह

मेवास्यामेतद्वैश्वानरꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति सा समम्बिला स्यात्तस्योक्तो बन्धुः ॥४१॥ अथैनां विमुञ्चति । अप्रदाहाय यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद्दह्यत एतद्वा एतद्युक्ता रेतोऽभार्षीदितमग्निं तमत्राजीजनदथापरं धत्ते योषा वा उखा तस्माद्यदा योषा पूर्वꣳ रेतः प्रजनयत्यथापरं धत्ते ॥४२॥ मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमिति । मातेव पुत्रं पृथिवी पशव्यमित्येतदग्निꣳ स्वे योनावभारुखेत्यग्निꣳ स्वे योनावभार्षीदुखेत्येतत्तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चत्वित्यृतवो वै विश्वे देवास्तदेनां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चति तामुत्तरतोऽग्नेर्निदधात्यरत्निमात्रे तस्योक्तो बन्धुः ॥४३॥ अथास्यां पय आनयति । एतद्वा एतद्रेतो धत्तेऽथ पयो धत्ते योषा वा उखा तस्माद्यदा योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्तेऽधराः सिकता भवन्त्युत्तरं पयोऽधरꣳ हि रेत उत्तरं पयस्तन्मध्य आनयति यथा तत्प्रति पुरुषशीर्षमुपदध्यात् ॥४४॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

प्रजापतिः प्रजा असृजत । स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिमित्वा व्यस्रꣳसत तस्माद्विस्रस्तात्प्राणो मध्यत उदक्रामदथास्माद्वीर्यमुदक्रामत्तस्मिन्नुत्क्रान्तेऽपद्यत तस्मात्पन्नादन्नमस्रवद्यच्चक्षुरध्यशेत तस्मादस्यान्नमस्रवन्नो हैह तर्हि का चन प्रतिष्ठास ॥१॥ ते देवा अब्रुवन् । न वा इतोऽन्या प्रतिष्ठास्तीममेव पितरं प्रजापतिꣳ संस्करवाम सैव नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति ॥२॥ तेऽग्निमब्रुवन् । न वा इतोऽन्या प्रतिष्ठास्ति त्वयीमं पितरं प्रजापतिꣳ संस्करवाम सैव नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भविष्यतीति ॥३॥ तेऽब्रुवन् । अन्नं वा अयं प्रजापतिस्त्वन्मुखा एतदन्नमदाम त्वन्मुखानां न एषोऽन्नमसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्नावेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद्देवा अन्नमकुर्वत ॥४॥ स योऽस्मात्प्राणो मध्यत उदक्रामत् । अयमेव स वायुर्योऽयं पवतेऽथ यदस्माद्वीर्यमुदक्रामदसौ स आदित्योऽथ यदस्मादन्नमस्रवद्यदेव संवत्सरेऽन्नं तत्तत्

इसमें वैश्वानर अग्नि का वीर्य के रूप में सिंचन करता है। यह समतल होनी चाहिए। इसका महत्त्व कहा जा चुका ॥४१॥

अब इसको मुक्त कर देता है, जिससे दाह न उत्पन्न हो। यदि जुते हुए (बैल) को मुक्त न किया जाय तो उसका कंधा जलने लगता है। जब यह पात्र जुता हुआ (युक्त) था तो इसने अग्नि को बीज के रूप में धारण किया था और अब उसी अग्नि को जना। अब यह दूसरी बार गर्भ धारण करता है। क्योंकि उखा नारी है। नारी जब एक बार धारण किए हुए गर्भ को जन देती है तो दुबारा गर्भ धारण करती है—॥४२॥

इस मन्त्र से—"मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निँ स्वे योनावभारुखा" (यजु० १२।६१)—अर्थात् "जैसे माता पुत्र को, उसी प्रकार पृथिवी पुरीष्य अग्नि को अर्थात् पशुसमूह को धारण करती है—'उखा अपनी ही योनि में' अर्थात् उखा ने अग्नि को अपनी ही योनि में धारण किया है। "तां विश्वैर्देवैॠतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु" (यजु० १२।६१)—"प्रजापति विश्वकर्मा विश्वेदेवों अर्थात् ऋतुओं के साथ उसको मुक्त करें।" "विश्वेदेवा' ऋतु हैं। प्रजापति विश्वकर्मा इन्हीं ऋतुओं की सहायता से उसको मुक्त करता है। वह अग्नि से उत्तर की ओर एक हाथ की दूरी पर इसको रखता है। इसका महत्त्व वर्णन हो चुका ॥४३॥

अब इसमें दूध छोड़ता है। पहले इसने वीर्य (रेत) धारण किया। अब दूध धारण करता है। उखा नारी है। नारी पहले गर्भ धारण करती है तब उसमें दूध आता है। नीचे बालू रहती है और ऊपर दूध। वह इसको मध्य में डालता है, जिससे पुरुषशीर्ष उसमें रक्खा जा सके ॥४४॥

प्रजापतिशरीरविश्लेषप्रतिपादनादि

अध्याय १—ब्राह्मण २

प्रजापति ने प्रजा बनाई। प्रजा को बनाकर और समस्त वंश को चलाकर वह थक गया। उस थके हुए के मध्य से प्राण निकल गया। अब उससे वीर्य भी निकल गया। उसके निकलने पर वह गिर पड़ा। इस प्रकार उस गिरे हुए से अन्न बाहर बहा, उस आँख से जिसके बल वह पड़ा हुआ था अन्न बाहर को बहा था। अब कोई प्रतिष्ठा ही शेष न रही ॥१॥

देवों ने कहा, 'वस्तुतः इसके अतिरिक्त कोई प्रतिष्ठा है नहीं। अपने पिता प्रजापति को हम पुनर्जीवित करें। वह ही हमारी प्रतिष्ठा होगी' ॥२॥

वे अग्नि से बोले, 'इससे अन्य कोई प्रतिष्ठा नहीं है। हम तुझमें ही इस पिता प्रजापति को पुनर्जीवित करेंगे। वही हमारी प्रतिष्ठा होगा।' अग्नि ने कहा कि 'मुझे इससे क्या लाभ होगा?' ॥३॥

उन्होंने कहा, 'अन्न ही यह प्रजापति है। तुझको मुख बनाकर हम अन्न खायेंगे और तुझ मुख के द्वारा ही वह (प्रजापति) हमारा अन्न होगा।' उसने कहा 'अच्छा।' इसलिए देव अग्नि को मुख बनाकर ही अन्न खाते हैं। क्योंकि चाहे किसी देवता की आहुति देनी हो, इसी अग्नि के द्वारा दी जाती है। क्योंकि इसी अग्नि को मुँह बनाकर ही देवों ने अपने अन्न का भक्षण किया था ॥४॥

यह जो उसके मध्य से यह प्राण निकल गया, यह वायु है जो बहता है, और जो वीर्य उसमें से निकला वह यह आदित्य है। जो अन्न उसमें से बह निकला था, वह वही अन्न है जो वर्ष के मध्य में है ॥५॥

॥५॥ तं देवा अग्नौ प्रावृञ्जन् । तस्य एनं प्रवृक्तमग्निरारोहय एवास्मात्स प्राणो मध्यत उदक्रामत्स एवैनꣳ स आपद्यत तमस्मिन्नदधुरथ यदस्माद्वीर्यमुदक्रामत्तदस्मिन्नदधुरथ यदस्मादन्नमस्रवत्तदस्मिन्नदधुस्तꣳ सर्वं कृत्स्नꣳ संस्कृत्योर्ध्वमुदश्रयंस्तद्यं तमुदश्रयन्निमे स लोकाः ॥६॥ तस्यायमेव लोकः प्रतिठा । अथ योऽस्मिंलोकेऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणोऽथास्यान्तरिक्षमात्माथ योऽन्तरिक्षे वायुर्य एवायमात्मन्प्राणः सोऽस्य स द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्चक्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात्स मीलिततरोऽन्नꣳ ह्रि तस्मादस्रवत् ॥७॥ तदेषा वै सा प्रतिष्ठा । यां तद्देवाः समस्कुर्वंस्तस्यैवेयमद्यापि प्रतिष्ठा सोऽएवाप्यतोऽधि भविता ॥८॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयत तद्यदेषोखा रिक्ता शेते पुरा प्रवर्जनाद्यथैव तत्प्रजापतिरुत्क्रान्ते प्राणऽउत्क्रान्ते वीर्ये स्रुतेऽन्ने रिक्तोऽशयदेतदस्य तद्रूपम् ॥९॥ तामग्नौ प्रवृणक्ति । यथैवैनमदो देवाः प्रावृञ्जंस्तस्य एनां प्रवृक्तामग्निरारोहति य एवास्मात्स प्राणो मध्यत उदक्रामत्स एवैनꣳ स आपद्यते तमस्मिन्दधात्यथ यद्रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति यदेवास्माद्वीर्यमुदक्रामत्तदस्मिन्दधात्यथ याः समिध आदधाति यदेवास्मादन्नमस्रवत्तदस्मिन्दधाति ॥१०॥ ता वै सायं प्रातरादधाति । अह्नश्च हि तद्रात्रेश्चान्नमस्रवत्तान्येतानि सर्वस्मिन्नेव संवत्सरे स्युः संवत्सरो हि स प्रजापतिर्यस्मात्तान्युदक्रामंस्तदस्मिन्नेतत्सर्वस्मिन्नेव सर्वं दधाति यस्मिन्हास्यैतदतो न कुर्यान्न हास्य तस्मिन्नेतद्दध्यान्नासंवत्सरभृतस्योक्षेण चन भवितव्यमिति ह स्माह वामकत्तायणो नेदिमं पितरं प्रजापतिं विछिद्यमानं पश्यानीति तꣳ संवत्सरे सर्वं कृत्स्नꣳ संस्कृत्योर्ध्वमुच्छ्रयति यथैवैनमदो देवा उदश्रयन् ॥११॥ तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः । अथ यो गार्हपत्येऽग्निर्य एवायमस्मिंलोकेऽग्निः सोऽस्य सोऽथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षमथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवायमन्तरिक्षे वायुः सोऽस्य स आहवनीय एव द्यौ-

देवों ने उसको अग्नि में तपाया। जब इस तपे हुए के ऊपर अग्नि उठी तो इसके बीच से जो प्राण निकल चुका था वह फिर वापस आ गया और उसको उन्होंने उसमें रख दिया। और जो उसमें से वीर्य निकल चुका था उसको उन्होंने उसमें रख दिया, और जो इसमें से अन्न बहकर निकल चुका था उसे उन्होंने उसमें रख दिया। इस प्रकार उन्होंने उसको पूरा चंगा करके सीधा खड़ा कर दिया। यह खड़ा हुआ ही ये सब लोक हैं ॥६॥

यह लोक ही उसकी प्रतिष्ठा है। इस लोक में जो अग्नि है वह इस (प्रजापति) का निचला प्राण है। अन्तरिक्ष इसका आत्मा है। अन्तरिक्ष में जो वायु है वही इसके शरीर का प्राण है। द्यौ इसका सिर है। सूर्य-चन्द्र इसकी दो आँखें हैं। जिस आँख के सहारे वह लेटा था वह चन्द्रमा है। वह आँख कुछ मिची-सी है, क्योंकि उसी में होकर तो अन्न बहकर निकला था ॥७॥

यह वही प्रतिष्ठा है जिसको देवों ने बनाया था। वह प्रतिष्ठा अब तक मौजूद है और वही आगे को भी रहेगी ॥८॥

यह जो प्रजापति थक गया था, वह यही अग्नि है जिसका चयन किया जा रहा है, और यह जो तपाने से पहले रिक्त उखा पड़ी है वह प्रजापति के समान है जैसा कि वह पड़ा हुआ था, जब प्राण और वीर्य उसमें से निकल चुका था और अन्न उसमें से बहकर बाहर निकल चुका था ॥९॥

वह उसको आग पर तपाता है जैसा देवों ने प्रजापति को तपाया था। और जब इस तपे हुए के ऊपर आग उठती है, तब वही प्राण जो उसमें से बाहर निकल चुका था, फिर उसमें वापस आ जाता है और वह इसको इसमें रख देता है। और जो स्वर्ण को पहनता है इसका अर्थ है कि जो वीर्य निकल चुका था उसको उसमें रख देता है। और जो उसमें समिधायें रखता है मानो उसमें उस अन्न को रख देता है जो इससे बहकर निकल चुका था ॥१०॥

वह इसको सायंकाल और प्रातःकाल को रखता है; क्योंकि रात और दिन दोनों का अन्न बह चुका था। ये कृत्य संवत्सर-भर में करने चाहिएँ, क्योंकि जिसमें से ये सब निकल गए थे, यह वही संवत्सर प्रजापति है। इसी में इन सबको रखता है। संवत्सर के जिस भाग में वह इसको न करेगा उसके उतने ही भाग में उसकी उन चीजों को न रक्खेगा। "जो फिर संवत्सर के लिए न हो उसको देखना भी नहीं चाहिए।" वामकक्ष आचार्य ऐसा कहा करते थे जिससे इस पिता प्रजापति के टुकड़े-टुकड़े किये हुए देखने न पड़ें। उस सम्पूर्ण संवत्सर को बनाकर सीधा खड़ा कर देता है, जैसा पहले देवों ने उसको खड़ा किया था ॥११॥

यह लोक प्रजापति का गार्हपत्य है। पर जो इस लोक में अग्नि है वही उसके लिए गार्हपत्य की अग्नि है। यह आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में है वह जो अन्तरिक्ष है। यह जो अन्तरिक्ष में वायु है वह आग्नीध्र की अग्नि है। यह जो द्यौ है वह इसके लिए आहवनीय और

एष य आहवनीयेऽग्निस्तौ सूर्याचन्द्रमसौ सोऽस्यैष आत्मैव ॥१२॥ तस्य शिर एवाहवनीयः । अथ य आहवनीयेऽग्निर्य एवायꣳ शीर्षन्प्राणः सोऽस्य स तद्यत्स पक्षपुच्छवान्भवति पक्षपुच्छवान्ह्ययꣳ शीर्षन्प्राणश्चक्षुः शिरो दक्षिणꣳ श्रोत्रं दक्षिणः पक्ष उत्तरꣳ श्रोत्रमुत्तरः पक्षः प्राणो मध्यमात्मा वाक्पुच्छं प्रतिष्ठा तद्यत्प्राणा वाचान्नं जग्ध्वा प्रतितिष्ठन्ति तस्माद्वाक्पुच्छं प्रतिष्ठा ॥१३॥ अथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च । स आत्माथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवायमन्तरात्मन्प्राणः सोऽस्य स प्रतिष्ठैवास्य गार्हपत्योऽथ यो गार्हपत्येऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणः ॥१४॥ तꣳ हैके त्रिचितं चिन्वन्ति । त्रयो वाऽइमेऽवाञ्चः प्राणा इति न तथा कुर्यादति ते रेचयन्त्येकविꣳशसम्पदमथोऽअनुष्टुप्सम्पदमथो बृहतीसम्पदं ये तथा कुर्वन्त्येकꣳ ह्येवैतद्रूपं योनिरेव प्रजातिरेव यदेतेऽवाञ्चः प्राणा यद्धि मूत्रं करोति यत्पुरीषं प्रैव तज्जायते ॥१५॥ अथातः सम्पदेव । एकविꣳशतिरिष्टका नव यजूꣳषि तत्त्रिꣳशत्सादनं च सूददोहाश्च तद्द्वात्रिꣳशद्द्वात्रिꣳशदक्षरानुष्टुप्सैषानुष्टुप् ॥१६॥ एकविꣳशतिर्वेव परिश्रितः । यजुर्द्वाविꣳशं व्यूहनस्य यजुरूषाश्च यजुश्च सिकताश्च यजुश्च पुरीषं च यजुश्च चतुर्भिः संनिवपति विमुञ्चति पञ्चमेन ततस्त्रिभिरियं द्वात्रिꣳशदक्षरानुष्टुप्सैषानुष्टुप् ॥१७॥ अथैते द्वे यजुषी । सोऽअनुष्टुबेव वाग्वाऽअनुष्टुप्तद्यदिदं द्वयं वाचो रूपं दैवं च मानुषं चोच्चैश्च शनैश्च तदेते द्वे ॥१८॥ ता वाऽएतास्तिस्रोऽनुष्टुभः । चित एष गार्हपत्यस्तद्यदेता अत्र तिस्रोऽनुष्टुभः सम्पादयन्त्यत्र ह्येवेमे तदा सर्वे लोका भवन्ति ततोऽन्यतरां द्वात्रिꣳशदक्षरामनुष्टुभमाहवनीयꣳ हरन्ति स आहवनीयः सा द्यौस्तच्छिरोऽथेहान्यतरा परिशिष्यते स गार्हपत्यः सा प्रतिष्ठा स उऽअयं लोकः ॥१९॥ अथ येऽएते द्वे यजुषी । एतत्तद्यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षꣳ स आत्मा तद्यत्ते द्वे भवतस्तस्मादेतत्तनीयो यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तस्मादेषां लोकानामन्तरिक्षलोक-

यह जो सूर्य और चन्द्र हैं वे आहवनीय की अग्नि के समान हैं। यह वस्तुतः उसका आत्मा है ॥१२॥

आहवनीय उसका शिर है। और आहवनीय में जो अग्नि है वह उसके सिर का प्राण है। इस (आहवनीय) में पक्ष और पुच्छ क्यों होते हैं ? इसलिए कि शिर के प्राण में भी पक्ष और पुच्छ होते हैं। इसका सिर आँख है। दक्षिण कान दक्षिण पक्ष, बायाँ कान बायाँ पक्ष। प्राण बीच का आत्मा। वाणी इसकी पूंछ और प्रतिष्ठा है। चूंकि प्राण मुंह के द्वारा (वाचा) अन्न खाकर ही रह सकते हैं, इसलिए वाक् पूंछ और प्रतिष्ठा है ॥१३॥

यह जो आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में है वह उसका आत्मा है। यह जो आग्नीध्रीय की अग्नि है वह इसका अन्तरात्मा प्राण है। गार्हपत्य इसकी प्रतिष्ठा है। इसलिए जो गार्हपत्य में अग्नि है, वह इसका नीचे का प्राण है ॥१४॥

कुछ लोग गार्हपत्य को तीन तहों में चिनते हैं क्योंकि ये नीचे के प्राण भी तीन होते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं अति करते हैं। इक्कीस सम्पदा का, अनुष्टुप् सम्पदा का और बृहती सम्पदा का, इसका तो एक ही रूप यह योनि है। ये जो निचले प्राण हैं वह प्रजापति अर्थात् जनने की शक्ति है। यह जो मल और मूत्र त्यागना है यह भी तो प्रजनन ही है ॥१५॥

अब इसका सम्पत् (दो वस्तुओं की संख्याओं के क्रमशः परस्पर मिल जाने को सम्पत् कहते हैं) इक्कीस ईंटें और नौ यजु मिलकर तीस हुए। सादनं अर्थात् इन ईंटों की स्थापना और सूददोह मन्त्र, ये मिलकर बत्तीस हुए। अनुष्टुप में भी बत्तीस अक्षर होते हैं। इस प्रकार बत्तीस संख्यावाला यह भी अनुष्टुप् है ॥१६॥

परिश्रित् अर्थात् चारों ओर के पत्थर इक्कीस हुए। यजु० बाइसवाँ, झाड़ू देने का मन्त्र, उषा और उसका मन्त्र, सिकता (बालू) और उसका मन्त्र, पुरीष और उसका मन्त्र, चार मन्त्रों से अग्नि छोड़ता है। पाँचवें मन्त्र से पात्र को अलग करता है। फिर तीन मन्त्रों से यह निर्ऋति। ये बत्तीस हुए। अनुष्टप् बत्तीस अक्षर का होता है। ये भी अनुष्टप् हैं ॥१७॥

ये दो यजु भी हैं। ये भी अनुष्टुप् हैं। वाणी अनुष्टुप् है। ये जो वाणी है इसके दो रूप हैं—दैवी और मानुषी। ऊँची वाणी और नीची वाणी, ये भी दो रूप हुए ॥१८॥

यह चिनी हुई गार्हपत्य वेदी तीन अनुष्टुभों से युक्त है। इस वेदी को तीन अनुष्टुभों वाली इसलिए बनाते हैं कि लोक तीन हैं। वे सब इसमें आ जाते हैं। इन पहले दो अनुष्टुभों में से पहले बत्तीस अक्षरों वाले अनुष्टुप् अर्थात् आहवनीय को लेते हैं। यह आहवनीय द्यौलोक है। वह प्रजापति का सिर है। इन दो अनुष्टुभों में से एक बच रहा अर्थात् गार्हपत्य। यही प्रतिष्ठा है। यह लोक है ॥१९॥

ये जो दो यजु हैं, यह आहवनीय और गार्हपत्य के बीच का अन्तर है। जो अन्तरिक्ष है, वह प्रजापति का आत्मा है। चूंकि ये दो होते हैं (दो का मिलाकर एक होता है) इसलिए यह आहवनीय और गार्हपत्य के बीच का अन्तर छोटा है। इसलिए इन लोकों से अन्तरिक्ष

स्तनिष्ठः ॥२०॥ सैषा त्रेधाविहिता वागनुष्टुप् । तामेषोऽग्निः प्राणो भूत्वानुसं-
चरति य आहवनीयेऽग्निः स प्राणः सोऽसावादित्योऽथ य आग्नीध्रीयेऽग्निः स
व्यानः स उऽअयं वायुर्योऽयं पवतेऽथ यो गार्हपत्येऽग्निः स उदानः स उऽअयं
योऽयमस्मिँल्लोकेऽग्निरेवंविद्ध वाव सर्वां वाचं सर्वं प्राणं सर्वमात्मानं संस्कु-
रुते ॥२१॥ सैषा बृहत्येव । ये वै द्वे द्वात्रिंशतौ द्वात्रिंशदेव तद्यैते द्वे यजु-
षी तच्चतुस्त्रिंशदग्निरेव पञ्चत्रिंशो नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्यां स उ
एवाक्षरस्तत्षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशदक्षरा बृहती बृहतीं वाऽएष संचितोऽभिसम्पद्यते
यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यदेतामत्र बृहतीं करोति तस्मादेष
संचितो बृहतीमभिसम्पद्यते ॥२२॥ तदाहुः । यदयं लोको गार्हपत्योऽन्तरिक्षं
धिष्ण्या द्यौराहवनीयोऽन्तरिक्षलोक उ अस्माल्लोकादनन्तर्हितोऽथ कस्माद्गार्हपत्यं
चित्वाहवनीयं चिनोत्यथ धिष्ण्यानिति सह हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्विय-
तोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा वाऽइद-
मीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षं तद्यद्गार्हपत्यं चित्वाहवनीयं चिनोत्येतौ ह्यग्रे लो-
कावसृज्येतामथ प्रत्येत्य धिष्ण्यान्निवपति कर्मणा एवानन्तरयायाथोऽअन्तयोर्वाव
संस्क्रियमाणयोर्मध्यं संस्क्रियते ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ प्रथमोऽध्यायः [४४.] ॥ ॥

अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति । एतद्वै देवा गार्हपत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको
गार्हपत्य इममेव तं लोकं संस्कृत्य समारोहंस्ते तम एवानतिदृश्यमपश्यन्
॥१॥ तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेदं तमः पाप्मानमपहनामहाऽइति तेऽब्रु-
वंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं तमः पाप्मानमपह-
नामहाऽइति ॥२॥ ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्नैर्ऋतीस्ता उपादधत
ताभिस्तत्तमः पाप्मानमपाघ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिस्तद्यदेताभिः पाप्मानं निर्ऋतिम
पाघ्नत तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥३॥ तद्वाऽएतत्क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु तत्तम

छोटा है ॥२०॥

यह अनुष्टुप् वाणी तीन प्रकार की होती है। यह अग्नि प्राण बनकर इसका अनुसरण करता है। आहवनीय में जो अग्नि है, वही प्राण है, वही यह आदित्य है। आग्नीध्रीय में जो अग्नि है वह व्यान है। वही यह वायु है जो बहता है। गार्हपत्य में जो अग्नि है वही उदान है जो इस लोक में अग्नि के रूप में है। जो इस रहस्य को समझता है वह अपने लिए पूर्ण वाणी, पूर्ण प्राण और पूर्ण आत्मा को बनाता है ॥२१॥

अब बृहती—ये जो बत्तीस अक्षर के दो यजु-मन्त्र हैं ये बत्तीस हुए। दो यजु-मन्त्र—ये चौंतीस। अग्नि—पैंतीस। एक-दो अक्षर के घटने-बढ़ने से छन्द में भेद नहीं आता। 'अग्नि' में भी तो दो अक्षर हैं—ये हुए छत्तीस। बृहती में छत्तीस अक्षर होते हैं। यह संचित आहवनीय अग्नि भी तो बृहती हो गई। योनि में जैसा वीर्य जायगा वैसा उत्पन्न होगा। चूँकि गार्हपत्य अग्नि में बृहती छन्द बनता है, इसलिए आहवनीय में भी बृहती बन जाता है ॥२२॥

इस विषय में लोग पूछते हैं कि गार्हपत्य यह लोक है, धिष्ण्या अन्तरिक्ष और आहवनीय द्यौ लोक। अन्तरिक्ष इस लोक से अलग नहीं है। तो फिर गार्हपत्य को चिनकर आहवनीय क्यों चिनते हैं और सबसे पीछे धिष्ण्या क्यों? पहले ये दोनों लोक एक थे। और जब ये अलग हुए तो बीच का स्थान, अन्तरिक्ष हो गया। यह इन दोनों के लिए 'ईक्षा' थी। यह ईक्षा बीच में आ गई, इसलिए अन्तरिक्ष हुआ। गार्हपत्य को चिनकर आहवनीय इसलिए भी चिनते हैं कि ये दोनों लोक पहले बनाए गये थे। इन दोनों के बीच में धिष्ण्या इसलिए बना देता है कि इस पवित्र कर्म में आनन्तर्य रहे (अर्थात् बीच में सिलसिला न टूटे)। इस प्रकार दो अन्त के भाग बनने पर बीच का भाग भी बन जाता है ॥२३॥

नैर्ऋतीष्टकाहरणादि

अध्याय २—ब्राह्मण १

अब नैर्ऋती ईंटों को वहाँ से लेते हैं (निर्ऋति बनाने के लिए)। देवों ने गार्हपत्य को चिनकर उस पर आरोहण किया। यह लोक ही गार्हपत्य है। इसी लोक को बनाकर वे उस पर चढ़े। उन्होंने ऐसा अन्धकार देखा जिसमें होकर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था ॥१॥

वे बोले, 'इस पापमय अन्धकार को कैसे दूर करें? इस पर विचार करो।' उन्होंने कहा 'चेतयध्वम्' (अर्थात् विचार करो), अर्थात् उन्होंने कहा 'चितिमिच्छत' (वेदी चिनने की इच्छा करो), अर्थात् ऐसी बात सोचो जिससे यह पापमय अन्धकार दूर हो जाय ॥२॥

उन्होंने सोचते-सोचते (चेतयमानाः) इन नैर्ऋती ईंटों को देखा। उन्होंने उनको चिना और उस पापमय अन्धकार को दूर कर दिया। पाप ही निर्ऋति है। चूँकि इनसे निर्ऋति अर्थात् पाप को दूर किया इसलिए इन ईंटों का नाम 'नैर्ऋतीः' है ॥३॥

वही कृत्य यहाँ भी किया जाता है जो देवों ने किया था। अब भी देव उस पापरूपी तम

स पाप्मा देवैरेवापहतो यद्वेवैतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो य एव पाप्मा या निर्ऋतिस्तमेवैताभिरपहते तद्यदेताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपहते तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥४॥ यद्वेवैता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतो भूतमसिञ्चन्योनिर्वा ऽउखा तस्मा ऽएताꣳ संवत्सरे प्रतिष्ठाꣳ समस्कुर्वन्निममेव लोकमयं वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयंस्तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरपाघ्नंस्तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपाघ्नंस्तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥५॥ तथैवैतद्यजमानः । आत्मानमुखायां योनौ रेतो भूतꣳ सिञ्चति योनिर्वा ऽउखा तस्मा ऽएताꣳ संवत्सरे प्रतिष्ठाꣳ संस्करोतीममेव लोकमयं वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्रजनयति तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरपहन्ति तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपहन्ति तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥६॥ पादमात्र्यो भवन्ति । अधस्पदमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वै नास्ति तदलक्षणमसत्तमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुते तुषपक्वा भवन्ति नैर्ऋता वै तुषा नैर्ऋतैरेव तन्नैर्ऋतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति कृष्णꣳ हि तत्तम आसीदथो कृष्णा वै निर्ऋतिः ॥७॥ ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैर्ऋती दिङ्नैर्ऋत्यामेव तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति स यत्र स्वकृतं वेरिणꣳ श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्तदेना उपदध्याद्यत्र वा ऽअस्या ऽअवदीर्यते यत्र वास्या ऽओषधयो न जायन्ते निर्ऋतिर्हास्यै तद्गृह्णाति नैर्ऋत ऽएव तद्भूमेर्निर्ऋतिं दधाति ताः पराचीर्लोकभाजः कृत्वोपदधाति ॥८॥ असुन्वन्तमयजमानमिच्छेति । यो वै न सुनोति न यजते तं निर्ऋतिर्ऋच्छति स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्यामन्विहि तस्करस्य चेत्येतदथो यथा स्तेनस्तस्करः प्रलायमेत्येवं प्रलायमिहीत्यन्यमस्मदिच्छ सा त ऽइत्येत्यनित्थंत्रिष्टाꣳसमिच्छेत्येतन्नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्त्विति नमस्कारेणैवैनामपहते ॥९॥ नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति । तिग्मतेजा वै

को दूर करते हैं। वह जब यह कृत्य करता है तो सोचता है कि देवों ने ऐसा किया वैसा ही मैं करूँ। इन नैर्ऋति ईंटों से वह उस पाप या निर्ऋति को दूर करता है और चूँकि वह ईंटों से पाप या निर्ऋति को दूर करता है, इसलिए इनका नाम 'नैर्ऋति' है ॥४॥

वे इन नैर्ऋति ईंटों को इसलिए भी लेते हैं कि जब देवों ने थके हुए प्रजापति को चंगा किया तो उन्होंने उसे उखा योनि में वीर्य के रूप में सिंचन कर दिया। उखा योनि है। साल-भर में उन्होंने उसके लिए प्रतिष्ठा बनाई, अर्थात् यह लोक! यह लोक गार्हपत्य है। वहीं उन्होंने उसको उत्पन्न किया। उसका जो मैल, पीव, उल्ब या जरायु था (ये सब प्रसव के समय के मैल हैं) उसको उन्होंने इन ईंटों के द्वारा दूर किया। चूँकि उन्होंने इनसे उस पाप या निर्ऋति को दूर किया, इसलिए इनका नाम 'नैर्ऋती' हुआ ॥५॥

इसी प्रकार यजमान भी अपने-आपको उखारूपी योनि में वीर्य के रूप में सींचता है। उखा योनि है। अपनी इस आत्मा के लिए साल-भर में यह प्रतिष्ठा अर्थात् यह लोक तैयार कर पाता है। गार्हपत्य यह लोक है। इसमें यह जना जाता है। उसका जो मैल, पीव, उल्ब या जरायु होता है, वह इन ईंटों के द्वारा दूर किया जाता है। इसलिए यह 'नैर्ऋतीः' हुईं ॥६॥

वे पाद के बराबर (फुट-भर) होती हैं। इस प्रकार वह निर्ऋति अर्थात् बुराई को अपने पैर के नीचे कुचल देता है। वे 'अलक्षण' होती हैं (अर्थात् उन पर कोई चिह्न नहीं होते)। जो नहीं है वह अलक्षण है। इस प्रकार वह निर्ऋति या पाप को अस्तित्व-शून्य कर देता है। वे तुष अर्थात् भूसी की आँच से पकाई जाती हैं। तुषा का निर्ऋति से सम्बन्ध है। इस प्रकार वह निर्ऋति का काम निर्ऋति से ही लेता है। ये ईंटें काली होती हैं, क्योंकि यह अन्धकार काला था। निर्ऋति अर्थात् पाप काला होता है ॥७॥

इन ईंटों को वे उस दिशा (दक्षिण-पश्चिम) को ले जाते हैं। यह नैर्ऋति दिशा है। इस प्रकार निर्ऋति या पाप को उसी दिशा में ले जाते हैं। उस दिशा में जहाँ कहीं कोई स्वयं बना हुआ गढ़ा हो उसी में उन ईंटों को रख देते हैं। इस पृथिवी में जहाँ कहीं गढ़ा होता है, या जहाँ कहीं वनस्पति उत्पन्न नहीं होती, उन जगहों की निर्ऋति ले लेती है। इस प्रकार वह पाप को 'नैर्ऋति' में रख देता है। उनको 'पराचीः लोक भाज' करके रखता है (अर्थात् उन ईंटों को इस प्रकार रख देता है कि जब वह उस कृत्य-सम्बन्धी मन्त्र पढ़ता है तो ईंटों को छूता नहीं। उनको पहले ही अपने से दूर रख देता है) ॥८॥

"असुन्वन्तमयजमानमिच्छ" (यजु० १२।६२)—"जो सोम याग या अन्य यज्ञ नहीं करता उसके पास जा।" अर्थात् पाप उसी के पास जाता है जो न तो सोम याग करता है न अन्य यज्ञ करता है। "स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य" (यजु० १२।६२)—"चोर या डाकू के मार्ग का अनुसरण कर" अर्थात् जैसे चोर और डाकू छिपे रहते हैं, वैसे ही तू भी छिपा रह। "अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या" (यजु० १२।६२) —"हमसे अन्य को ढूँढ। यही तेरा मार्ग है।" "नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु" (यजु० १२।६२) —"हे देवि निर्ऋति, तुझको नमस्कार हो।" इस प्रकार नमस्कार करके वह इस पाप को दूर करता है ॥९॥

"नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजः" (यजु० १२।६३) —"हे तीक्ष्ण निर्ऋति, तेरे लिए

निर्ऋतिस्तस्याऽएतन्नमस्करोत्ययस्मयं विचृता बन्धमेतमित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन निर्ऋतिर्बध्नाति यं बध्नाति यमेन त्वं यम्या संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यम्याभ्याꣳ हीदꣳ सर्वं यतमाभ्यां त्वꣳ संविदानेत्येतदुत्तमे नाकेऽअधि रोहयेनमिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गे लोके यजमानमधिरोहयेत्येतत् ॥१०॥ यस्यास्ते घोरऽआसन्जुहोमीति । घोरा वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासन्जुहोति यत्तद्देवत्यं कर्म करोत्येषां बन्धानामवसर्जनायेति यैर्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दतऽइतीयं वै भूमिरस्यां वै स भवति यो भवति निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वत इति निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वत इत्येतदियं वै निर्ऋतिरियं वै तं निर्र्पयति यो निर्ऋच्छति तद्यथा वै ब्रूयादसावामुष्यायणोऽसि वेद त्वा मा मा हिꣳसीरित्येवमेतदाह नतराꣳ हि विदित आमन्त्रितो हिनस्ति ॥११॥ नोपस्पृशति । पाप्मा वै निर्ऋतिर्नेत्पाप्मना सꣳस्पृशाऽइति न सादयति प्रतिष्ठा वै सादनं नेत्पाप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सूददोहसाधिवदति प्राणो वै सूददोहा नेत्पाप्मानं प्राणेन संतनवानि संदधानीति ॥१२॥ ता हैके परस्तादर्वाचीरुपदधति । पाप्मा वै निर्ऋतिर्नेत्पाप्मानं निर्ऋतिमन्ववायामेति न तथा कुर्यात्पराचीरेवोपदध्यात्पराञ्चमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते ॥१३॥ तिस्र इष्टका उपदधाति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते ॥१४॥ अथासन्दीꣳ शिक्यꣳ । रुक्मपाशमिण्ड्वे तत्परार्धे न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशादेव तत्प्रमुच्यते यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यमित्यनेवंविदुषा ह्यविचृत्यस्तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वाऽआयुस्तस्यैतन्मध्यं यच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयस्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविर आयुषो न मध्यादित्येवाहाथैतं पितुमद्धि प्रसूत इत्यन्नं वै पितुरथैतदन्नमद्धि प्रमुक्त इत्येतत्त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब्वज्रेणैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते ॥१५॥

नमस्कार हो।" 'निर्ऋति' अवश्य ही तीक्ष्ण है, उसको इस प्रकार नमस्कार करता है। "अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्" (यजु० १२।६३)—"इस लोहे की जंजीर को ढीली कर।" निर्ऋति जिसको बाँधती है लोहे की जंजीर से बाँधती है। "यमेन त्वं यम्या संविदान" (यजु० १२।६३)—"यम और यमी से सलाह करके।" अग्नि यम है, पृथिवी यमी है। इन्हीं दोनों के काबू में ये सब चीजें हैं, अर्थात् इन दोनों से सलाह करके। "उत्तमे नाके ऽअधि रोहयैनम्" (यजु० १२।६३)—"इसको सबसे ऊँचे स्वर्ग में पहुँचा।" नाक स्वर्गलोक को कहते हैं। इस प्रकार यजमान को स्वर्गलोक को चढ़ाता है ॥१०॥

"यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोमि" (यजु० १२।६४)—"हे भयावनी निर्ऋति! मैं तेरे मुख में आहुति देता हूँ।" निर्ऋति घोर (भयावहा) है, उसके मुख में आहुति देता है, जब यह देवकृत्य करता है। "एषां बन्धानामवसर्जनाय" (यजु० १२।६४)— अर्थात् "उन बन्धनों से छुड़ाने के लिए" जिनसे वह बँधा होता है। "यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते" (यजु० १२।६४) "जिस तुझको भूमि कहने में लोग आनन्द लेते हैं।" यह भूमि है। जो है वह इसी में स्थित है। "निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः" (यजु० १२।६४)—अर्थात् "मैं जिस तुझको हर जगह निर्ऋति जानता हूँ।" यह पृथिवी ही निर्ऋति है। जो 'निर्ऋच्छति' अर्थात् पाप करता है, उसको यह पृथिवी ही नष्ट कर देती है। यह सब कहने का अर्थ यह है कि 'तू अमुक है, अमुक का पुत्र है। मैं तुझे जानता हूँ। तू मेरी हिंसा मत कर।' क्योंकि इस प्रकार यदि परिचित पुरुष से कहा जाय तो वह हिंसा नहीं करता ॥११॥

वह इन (नैर्ऋतीः ईंटों) को छूता नहीं, क्योंकि नैर्ऋति पाप है। कहीं उसका पाप से संसर्ग न हो जाय। उनको रखता भी नहीं। रखना प्रतिष्ठा है। कहीं ऐसा न हो कि पाप की प्रतिष्ठा हो जाय। सूददोहस् मन्त्रों का पाठ भी नहीं करता। सूददोह-मन्त्र प्राण हैं। कहीं ऐसा न हो कि पाप में प्राण धारण हो जायँ ॥१२॥

कुछ लोग इनको परले छोर से अपनी ओर को रखते हैं। निर्ऋति पाप है। कहीं ऐसा न हो कि यह भी पाप के मार्ग का अनुसरण करें। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उसको अपनी ओर से परले छोर की ओर रखना चाहिए। इस प्रकार वह निर्ऋति अर्थात् पाप को दूर भगाता है ॥१३॥

तीन ईंटें रखता है। अग्नि तीनवाला है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से वह पाप या निर्ऋति को दूर करता है ॥१४॥

आसन्दी (चौकी), शिक्य और रुक्मपाश (सोने की गोफन) और दोनों इंड्वों को (जिससे कड़ाही के दोनों छल्लों को पकड़कर चूल्हे से उतारते हैं उसे इंड्व कहते हैं) ईंटों से परे फेंक देता है। पाश निर्ऋति का होता है। इस प्रकार वह उसको निर्ऋति के पाप से मुक्त करता है। "यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम्" (यजु० १२।६५)—"देवी निर्ऋति ने जिस न टूटनेवाले पाश को तेरी गर्दन में बाँधा है।" जो अनजान है उसके लिए यह पाश अटूट है। "तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यात्" (यजु० १२।६५)— "तेरे उस पाश को आयु के मध्य से छुड़ाता हूँ।" 'आयु' अग्नि है। यह जो चिना हुआ गार्हपत्य है वह इसका मध्य है। आहवनीय है वह अभी चिना हुआ नहीं है। इसलिए अग्नि (वेदी) को चाहे जवान चिने चाहे बूढ़ा, वह यही कहता है 'आयु के मध्य से ही।' "अथैतं पितुमद्धि प्रसूतः" (यजु० १२।६५)—"प्रेरित होकर इस अन्न (पितु=अन्न) को खा।" पितु का अर्थ है अन्न। प्रसूत से तात्पर्य है प्रमुक्त होकर। यह त्रिष्टुप् है। त्रिष्टुप् वज्र है, अर्थात् इस त्रिष्टुप् वज्र से पाप अर्थात् निर्ऋति को दूर करता है ॥१५॥

तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी शिक्यꣳ रुक्मपाश इण्ड्वे तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते ॥१६॥ अथान्तरेणोदचमसं निनयति । वज्रो वाऽआपो वज्रेणैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमन्तर्धत्ते नमो भूत्यै येदं चकारेत्युपोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वाऽएतदग्रे देवाः कर्माकुर्वत तस्याऽएतन्नमोऽकुर्वन्भूत्याऽउ एवायमेतत्कर्म कुरुते तस्याऽएतन्नमस्करोत्यप्रतीक्षमायन्त्यप्रतीक्षमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं जहति ॥१७॥ प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते । एतद्वाऽएतदयथायथं करोति यदग्नौ सामिचितऽएतां दिशमेति तस्माऽएवैतन्निह्नुतेऽहिꣳसायै ॥१८॥ यद्वेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको गार्हपत्यः प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयमु वै प्रतिष्ठाथैतदपथमिवैति यदेतां दिशमेति तद्यदुपतिष्ठतऽइमामेवैतत्प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥१९॥ निवेशनः संगमनो वसूनामिति । निवेशनो ह्ययं लोकः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे शचीभिरित्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनामिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥३ [२.१.] ॥॥

अथ प्रायणीयं निर्वपति । तस्य हविष्कृता वाचं विसृजते वाचं विसृज्य स्तम्बयजुर्हरति स्तम्बयजुर्हृत्वा पूर्वेण परिग्राहेण परिगृह्य लिखित्वाह हर त्रिरिति हरति त्रिराग्नीध्रः ॥१॥ प्रत्येत्य प्रायणीयेन प्रचरति । प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्त्येतद्वाऽएनं देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नेन समार्धयंस्तथैवैनमयमेतत्संस्करिष्यन्पुरस्तादन्नेन समर्धयति सीरं भवति सेरꣳ ह्येतद्यत्सीरमिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥२॥ औदुम्बरं भवति । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन समर्धयति मौञ्जं परिसीर्यं त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुः ॥३॥ सोऽग्नेर्दक्षिणाꣳ श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नुत्तरस्याꣳसस्य पुरस्ताद्युज्यमानमभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये विद्वाꣳसस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि च

तीन ईंटें हुईं, चौथी आसन्दी, पाँचवाँ शिक्य, छटा रुक्मपाश और दो इण्ड्वा, ये हुए आठ। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्रीवाला है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इस पाप या निर्ऋति को दूर करता है ॥१६॥

अब (यजमान और ईंटों) के बीच के स्थान पर चमसा भरकर पानी छोड़ता है। जल वज्र है। इस जलरूपी वज्र से ही पाप या निर्ऋति को अपने से दूर भगाता है। "नमो भूत्यै येदं चकार" (यजु० १२।६५)—"उस विभूति के लिए नमस्कार जिसने यह किया।" यह कहकर वे उठ खड़े होते हैं। देवों ने पहले विभूति के लिए ही यह कृत्य किया था और फिर उस विभूति के लिए नमस्कार किया। विभूति के लिए ही यजमान यह कर्म करता है और विभूति को नमस्कार करता है। वे बिना मुड़े हुए चलते हैं, अर्थात् वे निर्ऋति या पाप को इस प्रकार त्याग देते हैं कि उसकी ओर फिरकर भी नहीं देखते ॥१७॥

लौटकर अग्नि की उपासना करता है। पहले जो अग्नि (वेदी) के आधा बनने पर ही उस दिशा को चला गया था, यह अनुचित था। उसका ही प्रायश्चित्त करता है कि उसे हानि न पहुँचे ॥१८॥

वह इसलिए भी उपासना करता है कि गार्हपत्य यह पृथिवीलोक है। गार्हपत्य प्रतिष्ठा है। यह पृथिवी प्रतिष्ठा है। उस दिशा में जाता है तो अपथ अर्थात् कुमार्ग में जाता है। अग्नि के पास खड़ा होने से मानो वह फिर प्रतिष्ठा को लौट आता है। इसी प्रतिष्ठा में स्थापित होता है—॥१९॥

इस मन्त्र से—"निवेशनः संगमनो वसूनाम्" (यजु० १२।६६)—"वसु अर्थात् धनों का तू कोष और स्थान है।" यह लोक वस्तुतः धनों के इकट्ठा होने का स्थान है। "विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः" (यजु० १२।६६)—"सब रूपों को अपनी शची अर्थात् दया से देखता है।" अर्थात् सब रूपों को (सर्व प्राणियों को)। "देव ऽ इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्" (यजु० १२।६६)—"देव सविता और सत्यधर्मा इन्द्र के समान वह मार्गवालों के समर अर्थात् मिलने के स्थान में स्थित है।" अर्थ स्पष्ट है ॥२०॥

प्रायणेष्टि

अध्याय २—ब्राह्मण २

अब प्रायणीय की तैयारी करता है। हविष्कृत से उसकी वाणी को छुटकारा देता है (अर्थात् यजमान ने अब तक मौन धारण किया था। अब उसको छुट्टी मिली)। वाणी को छुटकारा देकर वह स्तम्ब यजु (घास) को फेंक देता है। घास को फेंककर और एक परिधि खींचकर वह कहता है 'तीन बार फेंक।' तब अग्नीध्र स्फ्या को तीन बार फेंकता है ॥१॥

लौटकर प्रायणीय का आरम्भ करता है। प्रायणीय को करके हल में बैल जोतता है। पहले देवों ने उस (अग्नि प्रजापति) को चंगा करने के लिए पहले अन्न से उसे बढ़ाया। यह अन्न ही सीर अर्थात् हल है। जो सीर है वही सेर (स + इरम् इरासहितं अन्नसहितं), अर्थात् वह इसमें इरा या अन्न को रखता है ॥२॥

यह (हल) उदुम्बर का होता है। उदुम्बर रस या ऊर्ज है, अर्थात् इसको रस या ऊर्ज से सम्पन्न करता है। हल की रस्सी मूंज की होती है और तिहरी होती है। इसकी व्याख्या हो चुकी है ॥३॥

वह (प्रतिप्रस्थाता) अग्नि के दक्षिण बाजू के पीछे खड़ा होकर बायें बाजू में जुते हुए हल को सम्बोधन करके कहता है—"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्" (यजु० १२।६७)—"जो विद्वान् हैं वही कवि हैं। वे हल को जोतते हैं और जुए को फैलाते हैं।" "धीरा

वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुम्नयेति यज्ञो वै सुम्नं धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इ-
त्येतत् ॥४॥ युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वमिति । युञ्जन्ति हि सीरं वि युगानि
तन्वन्ति कृते योनौ वपतेह बीजमिति बीजाय वाऽएषा योनिष्क्रियते यत्सीता
यथा ह वाऽअयोनौ रेतः सिञ्चेदेवं तद्यदकृष्टे वपति गिरा च श्रुष्टिः सभरा अ-
सन्न इति वाग्वै गीरन्नꣳ श्रुष्टिर्नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयादिति यदा वाऽअन्नं पच्य-
तेऽथ तत्सृण्योपचरन्ति द्वाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः
॥५॥ स दक्षिणमेवाग्रे युनक्ति । अथ सव्यमेवं देवत्रेतरथा मानुषे षड्गवं भवति
द्वादशगवं वा चतुर्विꣳशतिगवं वा संवत्सरमेवाभिसम्पदम् ॥६॥ अथैनं विकृष-
ति । अन्नं वै कृषिरेतद्वाऽअस्मिन्देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नमदधुस्तथैवास्मिन्न-
यमेतत्संस्करिष्यन्पुरस्तादन्नं दधाति ॥७॥ स वाऽआत्मानमेव विकृषति । न प-
क्षपुच्छान्यात्मंस्तदन्नं दधाति यदु वाऽआत्मन्नन्नं धीयते तदात्मानमवति तत्पक्षपु-
च्छान्यथ यत्पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानमवति न पक्षपुच्छानि ॥८॥ स दक्षिणार्धेना-
ग्नेः । अन्तरेण परिश्रितः प्राचीं प्रथमाꣳ सीतां कृषति शुनꣳ सु फाला विकृषन्तु
भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैरिति शुनꣳ शुनमिति यद्वै समृद्धं तच्छुनꣳ स-
मर्धयत्येवैनामेतत् ॥९॥ अथ जघनार्धेनोदीचीम् । घृतेन सीता मधुना समज्यता-
मिति यथैव यजुस्तथा बन्धुर्विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा म-
रुतश्च वर्षस्येशतऽऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानेति रसो वै पय ऊर्जस्वती रसेनान्ने-
न पिन्वमानेत्येतदस्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्वेत्यस्मान्त्सीते रसेनाभ्याववृत्स्वे-
त्येतत् ॥१०॥ अथोत्तरार्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति लाङ्गलꣳ रयिमदि-
त्येतत्सुशेवꣳ सोमपित्सर्वित्यन्नं वै सोमस्तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं
प्रस्थावद्रथवाहनमित्येतद्धि सर्वꣳ सीतोद्वपति ॥११॥ अथ पूर्वार्धेन दक्षिणाम् ।
कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधी-

देवेषु सुम्नया" (यजु० १२।६७)—यज्ञ 'सुम्न' है अर्थात् "विद्वान् देवों के लिए यज्ञ करते हुए" ॥४॥

"युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वम्" (यजु० १२।६८)—"हलों को जोतो और जुओं को फैलावो।" वस्तुतः वे हलों को जोतते और जुओं को फैलाते हैं। "कृते योनौ वपतेह बीजम्" (यजु० १२।६८)—"और तैयार योनि में बीज बोओ।" बीज के लिए ही यह योनि (भूमि में जो कूंड बनाते हैं वही योनि है) बनाई जाती है। यदि बिना योनि को तैयार किये बीज बोया जाय तो मानो बीज को योनि से बाहर अन्यत्र फेंकना है। "गिरा च श्रुष्टिः सभरा: असन्नः" (यजु० १२।६८)—"और हमारी स्तुति से फसल अच्छी (भरपूर) हो।" गिरा का अर्थ है वाणी या स्तुति और श्रुष्टि का अर्थ है अन्न। "नेदीय ऽ इत्सृण्यः पक्वमेयात्" (यजु० १२।६८)—"और पकी फसल दरांती से निकटतम होवे" (अर्थात् फसल कटने के लिए शीघ्र ही तैयार हो जाय)। क्योंकि ज्यों ही फसल पक जाती है लोग दरांती लेकर पहुँच जाते हैं। हल को दो मन्त्रों से जोतता है—एक गायत्री, दूसरा त्रिष्टुभ्। इसका प्रयोजन कहा जा चुका ॥५॥

पहले दाहिने बैल को जोतता है, फिर बायें को। देव ऐसा ही करते हैं। मनुष्यों की चाल उलटी है। छः बैल होते हैं या बारह या चौबीस। संवत्सर ही सम्पदा है॥६॥

अब खेत जोतता है। अन्न ही कृषि है। देवों ने पहले प्रजापति को चंगा करते हुए उसके मुँह में अन्न रक्खा था। उसी प्रकार यह यजमान भी उस प्रजापति को चंगा करने के लिए उसमें अन्न रखता है॥७॥

वेदी के आत्मा को ही (मुख्य बीच के भाग को) जोतता है। न बाजू को न पूंछ को। इस प्रकार आत्मा में ही अन्न को धारण करता है। जो अन्न आत्मा को दिया जाता है, वह आत्मा की भी रक्षा करता है और पक्ष तथा पूंछ की भी। जो पक्ष या पूंछ में अन्न को धारण करता है वह न तो आत्मा की ही रक्षा करता है न पक्ष या पूंछ की॥८॥

अग्नि के दक्षिण-अर्द्ध की ओर परिश्रित् के बीच में पूर्व की ओर पहला कूंड बनाता है। "शुनँ सु फाला वि कृषन्तु भूमिँ शुनं कीनाशा ऽ अभि यन्तु वाहैः" (यजु० १२।६९)—"हल के फाल शुभ रीति से भूमि को जोतें और शुभ रीति से कृषक लोग बैलों को चलावें।" वह "शुनं"-"शुनं" इसलिए कहता है कि जो सफल है वही शुभ है। इसी प्रकार इस कृषि को भी सफल बनाता है॥९॥

अब पिछले आधे से उत्तर की ओर—"घृतेन सीता मधुना समज्यताम्" (यजु० १२।७०)—"सीता अर्थात् खेत का कूंड 'मधुना घृतेन' अर्थात् मीठे जल से सींचा जावे।" मंत्र का अर्थ स्पष्ट है। "विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः" (यजु० १२।७०)—"सब देवों और मरुतों की अनुमति से।" सब देव और मरुत् वर्षा के ऊपर शासन करते हैं। "ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना" (यजु० १२।७०)—'पय' रस है। इसका अर्थ है "ऊर्जवाले अन्न से युक्त।" "अस्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व" (यजु० १२।७०)—"हे सीता, रस के साथ हमारी ओर देख" अर्थात् हमको जीवन का रस दे॥१०॥

अगले आधे से पूर्व की ओर—"लाङ्गलं पवीरवत्" (यजु० १२।७१)—"धारवाला हल का फाल" अर्थात् धनवाला हल का फल। "सुशेवँ सोमपित् सरु" (यजु० १२।७१)—"अच्छी प्रकार सेवा करनेवाला, सोम पीनेवाला और पाप का नाशक।" अन्न ही सोम है। "तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहनम्" (यजु० १२।७१)—"यह कूंड गौ, भेड़, युवती तथा गाड़ी आदि के लिए अन्न उत्पन्न करता है" ॥११॥

अब पूर्व-अर्द्ध से दक्षिण की ओर—"कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च। इन्द्राया‌श्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ऽ ओषधीभ्यः" (यजु० १२।७२)—"हे कामधेनु! मित्र, वरुण, इन्द्र,

भ्य इति सर्वदेवत्या वै कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्वान्कामान्धुक्ष्वेत्येतदित्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रा ॥१२॥ चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यच्चतसृषु दिक्ष्वन्नं तदस्मिन्नेतद्दधाति तद्वै यजुषाद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमा दिशः ॥१३॥ अथात्मानं विकृषति । तद्यदेव संवत्सरेऽन्नं तदस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीमनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीᳫं सर्वं वाऽअनिरुक्तᳫं सर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधातीत्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रा ॥१४॥ तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥१५॥ द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥१६॥ ता उभय्यः षोडश सम्पद्यन्ते । षोडशकलः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसंमितमेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति यद्वै वाऽआत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति ॥१७॥ यद्वेवैनं विकृषति । एतद्वाऽअस्मिन्देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तात्प्राणानदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतत्संस्करिष्यन्पुरस्तात्प्राणान्दधाति लेखा भवन्ति लेखासु हीमे प्राणाः ॥१८॥ ॥ शतम् ४००० ॥ ॥ चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यऽइमे शीर्षंश्चत्वारो निरुक्ताः प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति तद्वै यजुषाद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमे शीर्षन्प्राणाः ॥१९॥ यद्वेवात्मानं विकृषति । यऽएवेमेऽन्तरात्मन्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीं को हि तद्वेद यावन्त इमेऽन्तरात्मन्प्राणाः ॥२०॥ अथैनान्विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनान्युङ्क्ते विमुच्यध्वमघ्न्या इत्यघ्न्या ह्येते देवत्रा देवयाना इति देवाᳫं ह्येभिः कर्म करोत्यगन्म तमसस्पारमस्येत्यशनाया वै तमोऽगन्मास्याऽअशनायायै पारमित्येतज्ज्योतिरापामेति ज्योतिर्ह्याप्नोति यो देवान्यो यज्ञमथैनानुदीचः प्राचः प्रसृजन्ति तस्योक्तो बन्धुस्तानध्वर्यवे ददाति स हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनुदिशेत्

अश्विनों, पूषा, प्रजा, तथा ओषधियों के लिए काम को दुह अर्थात् इच्छा की पूर्ति कर।" कृषि 'सर्वदेवत्या' अर्थात् सबका भला करनेवाली है। 'इन सब देवताओं के लिए सब कामनाओं की पूर्ति करो।' पहले इस प्रकार जोतता है, फिर ऐसे, फिर ऐसे (पहले दक्षिण-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को, फिर दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पश्चिम को, फिर उत्तर-पश्चिम से उत्तर-पूर्व को)। यह दक्षिणावत् है (अर्थात् सूर्य इसी प्रकार चलता है)। यह देवों की चाल है ॥१२॥

इन यजु-मंत्रों से वह चार कूंड बनाता है। इस प्रकार चार दिशाओं में जो अन्न है वह उसमें रखता है, वह भी यजु-मंत्रों से। जो यजु है वह सत्य है और ये दिशायें भी सत्य हैं ॥१३॥

अब वेदी के आत्मा (बीच के भाग) को जोतता है। इस प्रकार संवत्सर में जो अन्न है उसको उस (प्रजापति) में रखता है। इसको मौन होकर करता है (बिना किसी मंत्र को पढ़े हुए)। जो मौन है वह अनिरुक्त है। 'सब' शब्द भी अनिरुक्त (अनिश्चयवाचक) है। इस प्रकार वह उसमें 'सब' के द्वारा अन्न रखता है। पहले इस प्रकार जोतता है, फिर इस प्रकार, फिर इस प्रकार (अर्थात् पहले दक्षिण से उत्तर की ओर, फिर दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पश्चिम की ओर, फिर पूर्व से पश्चिम की ओर, फिर उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर)। यह दक्षिणावत् (सूर्य-चाल) है। यही देवों की रीति है ॥१४॥

एक-एक बार में तीन-तीन कूंड बनाता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही वह इसमें अन्न धारण करता है ॥१५॥

बारह कूंड मौन होकर करता है। संवत्सर में बारह महीने होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसमें अन्न धारण कराता है ॥१६॥

दोनों प्रकार के सोलह कूंड़ हुए। प्रजापति की सोलह कलायें हैं। प्रजापति अग्नि है। इस प्रकार इसमें इसके आत्मा के अनुकूल ही अन्न रखता है। जो अन्न आत्मा (शरीर) के अनुकूल होता है वही पुष्टिदायक है। वह हानि नहीं पहुँचाता। जो अधिक होता है वह हानि पहुँचाता है। जो कम होता है वह पुष्टि नहीं करता ॥१७॥

उस (प्रजापति के आत्मा या शरीर) को क्यों जोतता है? पहले देवों ने इसी का संस्कार करके इसमें प्राणों को स्थापित किया था। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इसका संस्कार करके इसमें प्राणों को स्थापित करता है। ये कूंड रेखा होते हैं। प्राण भी रेखाओं में ही चला करते हैं ॥१८॥

यजु-मन्त्र से चार कूंड बनाता है। इस प्रकार सिर में जो चार निरुक्त (निश्चित) प्राण होते हैं उनको इसमें स्थापित करता है। यह भी यजु से। यजु सत्य है और ये सिर के प्राण भी सत्य हैं ॥१९॥

वेदी के आत्मा को इसलिए जोतता है कि जो आत्मा अर्थात् शरीर के भीतर प्राण हैं उनको वह उसमें स्थापित करता है। इनको मौन होकर! क्योंकि कौन जानता है कि शरीर के भीतर कितने प्राण हैं ॥२०॥

अब जिस काम के लिए बैलों को हल में जोता था उसके समाप्त हो जाने पर उनको छोड़ देता है, इस मन्त्र से—"वि मुच्यध्वमघ्न्या" (यजु० १२।७३)—"हे न मारने योग्य (बैलो), अब छूट जाओ।" वस्तुत: वे देवों के प्रति अघ्न्य (न हनने योग्य) हैं। "देवयाना:" (यजु० १२।७३)—क्योंकि इनसे देवों का काम लेता है। "अगन्म तमसस्पारमस्य" (यजु० १२।७३)—"हम इस अन्धकार के पार हो गये।" अन्धकार का अर्थ है दुर्भिक्ष, अर्थात् हम इस दुर्भिक्ष के पार हो गये। "ज्योतिरापाम्" (यजु० १२।७३)—"हमने ज्योति पा ली।" जिसने देवों को और यज्ञ को पा लिया उसको ज्योति भी मिल गई। उन (बैलों) को उत्तर-पूर्व की दिशा में छोड़ता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। उनको अध्वर्यु को दे देता है, क्योंकि वही तो इनसे काम लेता है। जब दक्षिणा देने का समय आवे उस समय उनको देवे ॥२१॥

॥ २१ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [२. २] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १०८ ॥ ॥

अथ दर्भस्तम्बमुपदधाति । एतद्वै देवा ओषधीरुपादधत तथैवैतद्यजमान ओषधीरुपधत्ते ॥१॥ यद्वेव दर्भस्तम्बमुपदधाति । जायतऽएष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायतऽउभयम्वेतदन्नं यद्दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च या वै वृत्राद्बीभत्समाना आपो धन्व दभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन्यद्दभन्त्य उदायंस्तस्माद्दर्भास्ता हैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भा यदु दर्भास्तेनौषधय उभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥२॥ सीतासमरे । वाग्वै सीतासमरः प्राणा वै सीतास्तासामयꣳ समयो वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यन एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तूष्णीमनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीꣳ सर्वं वाऽअनिरुक्तꣳ सर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥३॥ अथैनमभिजुहोति । जायतऽएष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायते सर्वस्योऽअस्यैष रसो यदाज्यमपां च ह्येष ओषधीनां च रसोऽस्यैवैनमेतत्सर्वस्य रसेन प्रीणाति यावानु वै रसस्तावानात्मानिनैवैनमेतत्सर्वेण प्रीणाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥४॥ यद्वेवैनमभिजुहोति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निꣳ समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतं पुरस्ताद्भागमकुर्वत तस्मात्पुरस्ताद्भागास्तद्यदभिजुहोति यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः पुरस्ताद्भागमकुर्वत तानेवैतत्प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः ॥५॥ यद्वेवैनमभिजुहोति । एतद्वै यान्येतस्मिन्नग्नौ रूपाण्युपधास्यन्भवति यान्स्तोमान्यानि पृष्ठानि यानि छन्दाꣳसि तेभ्य एतं पुरस्ताद्भागं करोति तान्येवैतत्प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः ॥६॥ यद्वेवैनमभिजुहोति । एतद्वै देवा अबिभयुर्दीर्घं वाऽइदं कर्म यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतामेतस्य कर्मणः पुरस्तात्सꣳस्थामपश्यंस्तमत्रैव सर्वꣳ समस्थापयन्नत्राचिन्वंस्तथैवैनमयमेतदत्रैव सर्वꣳ

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अब दर्भ घास का एक गुच्छा उस पर रखता है। पहले देवों ने ओषधि को रखा था। इसी प्रकार यजमान भी ओषधि को रखता है ॥१॥

दर्भ घास को इसलिए रखता है कि जब अग्नि का चयन होता है, तो मानो उसका जन्म होता है। वह सब अन्नों के लिए उत्पन्न होता है। ये जो दर्भ हैं ये दोनों प्रकार के अन्न हैं। इनमें जल भी है और ओषधि भी। वृत्र से डरके जो जल सूखी पृथिवी पर उग खड़े हुए वे दर्भ हैं। इनको दर्भ इसलिए कहते हैं कि ये डरके उग खड़े हुए (दृभ् धातु का अर्थ है डरना)। ये दर्भ वह शुद्ध और यज्ञ के योग्य जल हैं जो वृत्र के बहने पर बच रहे। दर्भ होने से वे ओषधि भी हैं। इस प्रकार वह अग्नि को दोनों प्रकार के अन्नों से प्रसन्न करता है ॥२॥

(दर्भ को वह उस स्थान में रखता है) जहां दो कूंड मिलते हैं अर्थात् सीता समर में। वाक् सीता समर है। प्राण सीता हैं। इनका यह समर अर्थात् इकट्ठा होने का स्थान है। मुँह में प्राणों के लिए ही अन्न रक्खा जाता है, बीच में। इसके बीच में अन्न को रखता है, चुपचाप। जो चुपचाप है वह निश्चित नहीं है। 'सब' भी अनिश्चित ही है। इस प्रकार 'सब' के द्वारा वह इसमें अन्न की स्थापना करता है ॥३॥

अब वह आहुति देता है। इस अग्नि का जब चयन होता है तभी इसका जन्म होता है। इसका जन्म सब अन्न के लिए होता है। यह जो घी है वह इस सबका रस है—जलों का भी और ओषधियों का भी। इस प्रकार वह इस (अग्नि) को सब रसों द्वारा सन्तुष्ट करता है। जितना रस है उतना ही शरीर है। इस प्रकार वह इस अग्नि को 'इस सब' के द्वारा प्रसन्न करता है, पाँच बार घी लेकर। अग्नि (की वेदी) की पाँच तहें होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। अग्नि संवत्सर है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उसको उतने ही अन्न से प्रसन्न करता है ॥४॥

यह आहुति इसलिए भी दी जाती है कि जब प्राण-ऋषियों ने पहले अग्नि का संस्कार किया तो उन्होंने अपने लिए अगला भाग रख लिया। इसलिए ये 'पुरस्ताद्भाग' (पहले भाग-वाले) हो गये। इसलिए जब वह दर्भ पर आहुति देता है तो वह उन प्राण-ऋषियों को तृप्त करता है, जिन्होंने अग्नि में अपना पूर्वभाग प्राप्त कर लिया। पाँच बार घी क्यों लिया जाता है, इसकी पहले व्याख्या हो चुकी ॥५॥

यह आहुति इसलिए भी देता है कि जिन रूपों को अग्नि में रखनेवाला है, जिन स्तोमों को, जिन पृष्ठ अर्थात् स्तोत्रों को, जिन छन्दों को, उनके लिए इस अग्नि को पुरस्ताद्भाग बना देता है। इसके द्वारा उन्हीं को प्रसन्न करता है, पाँच-पाँच बार घी लेकर। इसका महत्त्व बताया जा चुका ॥६॥

यह आहुति इसलिए भी देता है कि देवों को भय हुआ कि यह कर्म तो बहुत बड़ा है। ऐसा न हो कि दुष्ट राक्षस इसको हानि पहुँचावें। उन्होंने इस कर्म के पहले इसकी संस्थापना को देखा (मालूम किया)। इस सबकी इसी स्थान पर संस्थापना करके वेदी चिन दी। इसी प्रकार

सꣳस्थापयत्यत्र चिनोति ॥७॥ सन्नूरब्द इति चितिः । अयवोभिरिति पुरीषꣳ सन्नूरुषा इति चितिररुणीभिरिति पुरीषꣳ सन्नोषसावश्विनेति चितिर्दꣳसोभिरिति पुरीषꣳ सन्नः सूर इति चितिरेतशेनेति पुरीषꣳ सन्नूर्वैश्वानर इति चितिरिडयेति पुरीषं घृतेनेति चितिः स्वेति पुरीषꣳ हेति चितिः ॥८॥ त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति । त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोत्याज्येन जुहोत्यग्निरेष यदाज्यमग्निमेवैतच्चिनोति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोत्यूर्ध्वामुद्गृह्णञ्जुहोत्यूर्ध्वं तदग्निं चितिभिश्चिनोति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [२. ३.] ॥

अथोदचमसान्निनयति । एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवँस्ते चेतयमाना वृष्टिमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥१॥ उदचमसा भवन्ति । आपो वै वृष्टिर्वृष्टिमेवास्मिन्नेतद्दधात्यौदुम्बरेण चमसेन तस्योक्तो बन्धुश्चतुःस्रक्तिना चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्यो वृष्टिं दधाति ॥२॥ त्रींस्त्रीनुदचमसान्निनयति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्वृष्टिं दधाति ॥३॥ द्वादशोदचमसान्कृष्टे निनयति । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्वृष्टिं दधाति ॥४॥ स वै कृष्टे निनयति। तस्मात्कृष्टाय वर्षति स यत्कृष्टऽएव निनयेन्नाकृष्टे कृष्टायैव वर्षेन्नाकृष्टायाथ यदकृष्टऽएव निनयेन्न कृष्टेऽकृष्टायैव वर्षेन्न कृष्टाय कृष्टे चाकृष्टे च निनयति तस्मात्कृष्टाय चाकृष्टाय च वर्षति ॥५॥ त्रीन्कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्वृष्टिं दधाति ॥६॥ यद्वेवोदचमसान्निनयति । एतद्वाऽअस्मिन्देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादपो दधुस्तथैवास्मिन्नयमेतत्संस्करिष्यन्पुरस्तादपो दधाति ॥१॥ त्रींस्त्रीनुद-

यह यजभान भी इस सबकी स्थापना करके वेदी चिन देता है ॥७॥

"सजूरब्द:" (यजु० १२।७४)—"अब्द के साथ" (अब्द = अप: ददातीति—जो जल को दे वह अब्द या वर्ष या संवत्सर)। यह ईंटों की एक तह हुई। "अयवोभि:" (यजु० १२।७४)—"अँधेरे अर्द्धमास या पक्षों के साथ।" यह पुरीष या गोद की एक तह हुई। "सजूरुषा" (यजु० १२।७४) "उषा के साथ।" यह एक चिति हुई। "अरुणीभि:" (यजु० १२।७४)—"लाल-लाल के साथ।" यह एक पुरीष हुआ। "सजोषसाविश्वना" (यजु० १२।७४)—"दोनों अश्विनों के साथ।" यह एक चिति हुई। "दँ सोभि:" (यजु० १२।७४)—यह पुरीष हुआ। "सजू: सूर" (यजु० १२।७४)—"सूर्य के साथ।" यह चिति हुई। "एतशेन" (यजु० १२।७४)—"घोड़े के साथ, सूर्य की किरणों के साथ।" यह पुरीष हुआ। "सजूर्वैश्वानर:" (यजु० १२।७४)—"वैश्वानर अग्नि के साथ।" यह चिति हुई। "इडया" (यजु० १२।७४)—"इडा के साथ।" यह पुरीष हुआ। "घृतेन" (यजु० १२।७४)—"घी के साथ।" यह चिति हुई। "स्वा" (यजु० १२।७४)—यह पुरीष हुआ। "हा" (यजु० १२।७४)—यह चिति हुई ॥८॥

ये तेरह व्याहृतियाँ होती हैं। वर्ष में तेरह महीने होते हैं। अग्नि की वेदी में भी चिति और पुरीष मिलकर तेरह हुए। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसको उसी के अनुसार चिनता है। घी की आहुति देता है। यह जो घी है, वह अग्नि ही है। अग्नि की ही तो वेदी चिन रहा है पाँच बार घी लेकर। अग्नि में पाँच चितियाँ होती हैं। वर्ष में भी पाँच ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उसको उसी के अनुसार चिनता है। चमसे को ऊपर उठाकर आहुति देता है। इसी प्रकार अग्नि की वेदी को ऊपर को चिनता है, अर्थात् इस प्रकार चिनते-चिनते वेदी ऊँची होती जाती है ॥९॥

कर्षणक्रमेणसीतासूदकप्रक्षेप:

अध्याय २—ब्राह्मण ४

अब चमसे भर-भर कर पानी छोड़ता है। देवों ने कहा 'चेतयध्वम्' (सोचो) अर्थात् चिति की इच्छा करो। ऐसा कहते हुए उन्होंने वृष्टिरूपी चिति को देखा और इस चिति को उस वेदी में रख दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी करता है ॥१॥

चमसे भर-भरकर जल छोड़ा जाता है। जल वृष्टि हैं। इस प्रकार इसमें वृष्टि को रखता है, उदुम्बर के चमसे से। इसकी व्याख्या हो चुकी। चार कोनेवाले से। चार दिशायें हैं। इस प्रकार इन सब दिशाओं के लिए वृष्टि देता है ॥२॥

हर बार तीन चमसे पानी छोड़ता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसमें वृष्टि को रखता है ॥३॥

जुती हुई भूमि पर बारह चमसे से जल छोड़ता है। संवत्सर के बारह महीने होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसमें वृष्टि को रखता है ॥४॥

जुती हुई भूमि पर छोड़ता है, क्योंकि जोती हुई भूमि के लिए ही तो वर्षा होती है। यदि वह जुती हुई पर ही जल छोड़े ओर बेजुती हुई पर न छोड़े तो केवल जुती हुई के लिए ही वर्षा हो, बेजुती हुई के लिए न हो। और यदि बेजुती हुई पर छोड़े और जुती हुई पर न छोड़े तो बेजुती हुई के लिए वर्षा हो, जुती हुई के लिए न हो। इसलिए जुती हुई पर भी छोड़ता है और बेजुती हुई पर भी। इसीलिए जुती हुई के लिए भी वर्षा होती है और बेजुती हुई के लिए भी ॥५॥

तीन चमसे जुती हुई और बेजुती हुई पर छोड़ता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुकूल वह उसमें वृष्टि रखता है ॥६॥

वह चमसों को भर-भरके इसलिए छोड़ता है कि पहले जब देवों ने (अग्नि-प्रजापति का) संस्कार किया तो उसमें जल को धारण कराया। इसी प्रकार यह यजमान भी अग्नि-प्रजापति का संस्कार करते हुए जल को धारण कराता है ॥७॥

चमसान्निनयति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥८॥ द्वादशोदचमसान्कृष्टे निनयति । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥९॥ स वै कृष्टे निनयति । प्राणेषु तदपो दधाति स यत्कृष्टऽएव निनयेन्नाकृष्टे प्राणेष्वेवापः स्युर्नेतरस्मिन्नात्मन्नथ यदकृष्टऽएव निनयेन्न कृष्टऽआत्मन्नेवापः स्युर्न प्राणेषु कृष्टे चाकृष्टे च निनयति तस्मादिमा उभयत्रापः प्राणेषु चात्मंश्च ॥१०॥ त्रीन्कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥११॥ पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशो वै वज्र एतेनैवास्यैतत्पञ्चदशेन वज्रेण सर्वं पाप्मानमपहन्ति ॥१२॥ अथ सर्वौषधं वपति । एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना अन्नमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥१३॥ सर्वौषधं भवति । सर्वमेव तदन्नं यत्सर्वौषधꣳ सर्वमेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तेषामेकमन्नमुद्धरेत्तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवमौदुम्बरेण चमसेन तस्योक्तो बन्धुश्चतुःस्रक्तिना चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्योऽन्नं दधात्यनुष्टुब्भिर्वपति वाग्वाऽअनुष्टुब्वाचो वाऽअन्नमद्यते ॥१४॥ तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्वपति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥१५॥ द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे वपति । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥१६॥ स वै कृष्टे वपति । तस्मात्कृष्टेऽन्नं पच्यते यत्कृष्टऽएव वपेन्नाकृष्टे कृष्टऽएवान्नं पच्येत नाकृष्टेऽथ यदकृष्टऽएव वपेन्न कृष्टेऽकृष्टऽएवान्नं पच्येत न कृष्टे कृष्टे चाकृष्टे च वपति तस्मात्कृष्टे चाकृष्टे चान्नं पच्यते ॥१७॥ तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च वपति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥१८॥ यद्वेव सर्वौषधं वपति । एतद्वाऽएन देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तात्सर्वेण भेषजेनाभिषज्यं-

तीन-तीन चमसे अग्नि पर छोड़ता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसमें जल को धारण कराता है ॥८॥

जुती हुई भूमि पर बारह चमसे छोड़ता है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुकूल उसमें जल धारण कराता है ॥९॥

वह जुती हुई भूमि में छोड़ता है। इससे प्राणों में जल को धारण कराता है। परन्तु यदि जुती हुई भूमि में ही छोड़े, बिना जुती में न छोड़े तो केवल प्राणों में ही जल हो, शरीर के अन्य भागों में न हो। यदि बेजुती हुई में छोड़े, जुती हुई में न छोड़े तो केवल शरीर के अन्य भागों में ही जल हो, प्राणों में नहीं। जुती हुई और बेजुती हुई दोनों में छोड़ता है। इससे प्राणों में भी जल होता है और शरीर के अन्य भागों में भी ॥१०॥

जुती हुई और बेजुती हुई में तीन बार छोड़ता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार वह जल छोड़ता है ॥११॥

पन्द्रह चमसे छोड़ता है। वज्र पन्द्रह अंगोंवाला है। पन्द्रह अंगोंवाले वज्र से वह सब पापों को हरता है ॥१२॥

अब सर्वौषध को बोता है। देवों ने कहा 'चिन्तन करो।' उनका तात्पर्य था कि चिति की इच्छा करो। उन्होंने चिन्तन करते हुए अन्नरूपी चिति को देखा। उसको उसमें रख दिया। इसी प्रकार इसमें भी वह इसको धारण कराता है।१३॥

यह सर्वौषध है। जो सर्वौषध है वह सर्वान्न है। इस प्रकार इससे 'सब अन्न' को स्थापित करता है। इनमें से एक अन्न को छोड़ दे और जीवनपर्यन्त न खाये। उदुम्बर के चमसे से। इसका महत्त्व बताया जा चुका। चार कोनोंवाले चमसे से। दिशाएँ चार होती हैं। इस प्रकार इन सब दिशाओं में वह अन्न को स्थापित करता है। अनुष्टुप् छन्द से वपन करता है। वाणी अनुष्टुप् है। वाणी से ही अन्न खाया जाता है ॥१४॥

तीन-तीन ऋचाओं से वपन करता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार वह इसमें अन्न को स्थापित करता है ॥१५॥

बारह ऋचाओं से जुती हुई भूमि में बोता है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुकूल उसमें अन्न धारण कराता है ॥१६॥

वह जुते हुए में ही बोता है। इसलिए जुते हुए में ही अन्न पकाता है। यदि जुते हुए में ही बोवे, बिना जुते में न बोवे तो जुते में ही अन्न पके, बेजुते में न पके। यदि बिना जुते में बोवे, जुते में न बोवे तो बिना जुते में ही पके, जुते में न पके। इसलिए जुते और बेजुते दोनों में बोता है। इसलिए जुते और बेजुते दोनों में अन्न पकता है ॥१७॥

तीन ऋचाओं से जुते और बेजुते दोनों में बोता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसमें अन्न को स्थापित करता है ॥१८॥

सर्वौषध को क्यों बोता है? पहले देवों ने (अग्नि-प्रजापति को) चंगा करते हुए सब ओषधियों से उपचार किया था।

स्तथैवैनमयमेतत्संस्करिष्यन्पुरस्तात्सर्वेण भेषजेन भिषज्यति ॥१९॥ सर्वौषधं भवति। सर्वमेतद्भेषजं यत्सर्वौषधं सर्वेणैवैनमेतद्भेषजेन भिषज्यति ॥२०॥ तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्वपति। त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्भिषज्यति ॥२१॥ द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे वपति। द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्भिषज्यति ॥२२॥ स वै कृष्टे वपति। प्राणांस्तद्भिषज्यति स यत्कृष्टऽएव वपेन्नाकृष्टे प्राणानेव भिषज्येन्नेतरमात्मानमथ यद्कृष्टऽएव वपेन्न कृष्टऽआत्मानमेव भिषज्येन्न प्राणान्कृष्टे चाकृष्टे च वपति प्राणांश्च तदात्मानं च भिषज्यति ॥२३॥ तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च वपति। त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्भिषज्यति ॥२४॥ पञ्चदशोदचमसान्निनयति। पञ्चदशभिर्ऋग्भिर्वपति तत्त्रिंशत्त्रिंशदक्षरा विराड्विराडु कृत्स्नमन्नं सर्वमेवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति ॥२५॥ या ओषधीः पूर्वा जाताः। देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यृतवो वै देवास्तेभ्य एतास्त्रिः पुरा जायन्ते वसन्ता प्रावृषि शरदि मनै नु बभ्रूणामहमिति सोमो वै बभ्रुः सौम्या ओषधय ओषधः पुरुषः शतं धामानीति यदिदं शतायुः शतार्घः शतवीर्य एतानि ह्यस्य तानि शतं धामानि सप्त चेति यऽएवेमे सप्त शीर्षन्प्राणास्तानेतदाह ॥२६॥ शतं वोऽअम्ब धामानि। सहस्रमुत वो रुह इति यदिदं शतधा च सहस्रधा च विरूढा अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृतेति यमिमं भिषज्यामीत्येतत् ॥२७॥ ता एता एकव्याख्यानाः। एतमेवाभि यथैतमेव भिषज्येदेतं पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति वाग्वाऽअनुष्टुब्वागु सर्वं भेषजं सर्वेणैवैनमेतद्भेषजेन भिषज्यति ॥२८॥ अथातो निरुक्तानिरुक्तानामेव। यजुषा द्वावनड्वाहौ युनक्ति तूष्णीमितरान्यजुषा चतस्रः सीताः कृषति तूष्णीमितरास्तूष्णीं दर्भस्तम्बमुपदधाति यजुषाभिजुहोति तूष्णीमुदचमसान्निनयति यजुषा वपति ॥२९॥ प्रजापतिरेषोऽग्निः। उभयम्वेतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च

यह भी उसका सस्कार करते हुए सब ओषधियों से उपचार करता है ॥१९॥

यह सर्वौषध है। जो सबका उपचार हो वह सर्वौषध। इस प्रकार वह सब ओषधियों से उपचार करता है ॥२०॥

तीन-तीन ऋचाओं से वपन करता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुकूल उपचार करता है ॥२१॥

बारह ऋचाओं से जुते हुए भाग में वपन करता है। बारह महीनों का संवत्सर होता है। संवत्सर अग्नि है जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार वह इसका उपचार करता है ॥२२॥

वह जुते हुए में वपन करता है। इससे वह प्राणों की चिकित्सा करता है। यदि वह जोते हुए में ही बोवे, बिना जोते में न बोवे तो प्राणों की ही चिकित्सा करे, शरीर के अन्य भागों की नहीं, और यदि बेजुते में बोवे, जुते में न बोवे तो शरीर के अन्य भागों की ही चिकित्सा करे, प्राणों की न करे। इसलिए जुते में भी बोता है और बेजुते में भी। इस प्रकार प्राणों और अन्य अंगों की भी चिकित्सा करता है ॥२३॥

तीन-तीन ऋचाओं से जुते और बेजुते में भी बोता है। अग्नि त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसका उपचार करता है ॥२४॥

पन्द्रह चमसों से जल छोड़ता है और पन्द्रह ऋचाओं से वपन करता है। ये हुए तीस। तीस अक्षर का विराट् छन्द होता है। विराट् ही सब अन्न है। इस प्रकार इसमें सम्पूर्ण अन्न की स्थापना करता है ॥२५॥

इस ऋचा से बोता है—"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा" (यजु० १२।७५, ऋ०१०।९७।१)—"जो ओषधियाँ देवों से तीन युग पहले पैदा हुईं।" ऋतु देव हैं। ये इन तीन से उत्पन्न होती हैं—वसन्त, वर्षा और शरद् में। "मनै नु बभ्रूणामहम्।" (यजु० १२।७५)—सोम बभ्रू है। ओषधियाँ सोम से सम्बन्ध रखती हैं। पुरुष भी ओषधियों से ही बना है। "शतं धामानि।" (यजु० १२।७५)—यह जो सौ वर्ष की आयु रखता है, सौ गुण और सौ पराक्रम, इसी का नाम है 'सौधाम'।" "सप्त च।" (यजु० १२।७५)—इनसे सिर के सात प्राणों की ओर संकेत है ॥२६॥

"शतं वो ऽ अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः" (यजु० १२।७६) —"हे माता, तेरे सौ धाम हैं और हजार उगने की रीतियाँ।" क्योंकि इसमें सैकड़ों और सहस्रों कोंपल होती हैं। "अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे ऽ अगदं कृत" (यजु० १२।७६) —"हे सैकड़ों गुणोंवाले, तुम इस मेरे की चिकित्सा करो।" अर्थात् उसकी जिसका मैं उपचार करता हूँ ॥२७॥

इन ऋचाओं का इस (अग्नि-प्रजापति) के सम्बन्ध में एक ही महत्त्व है कि यह उसकी कैसे चिकित्सा करे और कैसे स्वस्थ रखे। ये अनुष्टुप् ऋचाएँ हैं। वाणी अनुष्टुभ् है। वाणी ही 'सब ओषधि' है, इस प्रकार वह 'सब ओषधि' से ही उपचार कराता है ॥२८॥

अब निरुक्त और अनिरुक्त कृत्यों के विषय में यह है कि यजु-मन्त्र पढ़कर दो बैलों को जोतता है। अन्यों को मौन होकर। चार कूंड यजु-मन्त्र पढ़कर, शेष मौन रीति से। मौन होकर दर्भ रखता है और यजु-मन्त्र से आहुति देता है। मौन होकर चमसे भर-भरकर जल छोड़ता है। यजु-मन्त्र पढ़कर वपन करता है ॥२९॥

यह अग्नि प्रजापति है। प्रजापति निरुक्त है और अनिरुक्त, परिमित है और अपरिमित।

परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वाऽएतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिं संस्करोति य एवं विद्वानेतदेवं करोति बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि पशुरेष यदग्निस्तस्मात्पशोर्बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि ॥३०॥ ब्राह्मणम् ॥२ [२. ४.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [४५.] ॥ ॥

चितो गार्हपत्यो भवति । अचित आहवनीयोऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीयोऽथ योऽयं वायुः पवतऽएष सोम एतं तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण पवते ॥१॥ यद्वेव चिते गार्हपत्ये । अचितऽआहवनीयेऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वाऽअग्निः प्राणः सोम आत्मंस्तत्प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयमात्मन्प्राणो मध्यतः ॥२॥ यद्वेव चिते गार्हपत्ये । अचितऽआहवनीयेऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वाऽअग्नी रसः सोम आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयमात्मन्नेवात्मा रसेनानुषक्तः ॥३॥ राजानं क्रीत्वा पर्युह्य । अथास्माऽआतिथ्यꣳ हविर्निर्वपति तस्य हविष्कृता वाचं विसृजतेऽथ वाऽएतद्व्यतिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च कर्मणः समानतायै समानमिदं कर्मासदिति ॥४॥ यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वाऽअग्निः प्राणोऽध्वर आत्मंस्तत्प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयमात्मन्प्राणो मध्यतः ॥५॥ यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वाऽअग्नी रसोऽध्वर आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयमात्मन्नेवात्मा रसेनानुषक्तोऽथाहवनीयस्यार्धमेति ॥६॥ तद्वैके । उभयत्रैव पलाशशाखया व्युद्धृत्योभयत्र वै चिनोतीति न तथा कुर्याद्वसति वाव गार्हपत्येनोर्ध्व एवाहवनीयेन रोहति तस्मात्तथा न कुर्यात् ॥७॥ अथ गार्हपत्यऽएवोषान्निवपति । नाहवनीयेऽयं वै लोको गार्हपत्यः पशव ऊषा अस्मिंस्तल्लोके पशून्दधाति तस्मादि-

जो कृत्य वह यजु-मन्त्र पढ़कर करता है, उससे निरुक्त और परिमित को संस्कृत करता है। जो मौन होकर करता है उससे अनिरुक्त और अपरिमित को संस्कृत करता है। जो इस रहस्य को समझकर कृत्य करता है, वह पूर्ण प्रजापति को संस्कृत करता है। बाह्य रूप निरुक्त होते हैं और भीतरी अनिरुक्त। यह जो अग्नि है वह पशु है। इसलिए पशुओं का बाह्य रूप निरुक्त होता है भीतरी अनिरुक्त ॥३०॥

सोमक्रयादि

अध्याय ३—ब्राह्मण १

जब गार्हपत्य चिनी जाती है और आहवनीय बेचिनी, तब सोम राजा को मोल लेते हैं। यह लोक गार्हपत्य है, द्यौ आहवनीय। यह जो वायु बहता है यह सोम है। इस प्रकार वह इस सोम को इन दोनों लोकों के बीच में स्थापित करता है। इसी प्रकार यह दोनों लोकों के बीच में बहता है ॥१॥

सोम राजा को ऐसे समय क्यों मोल लेता है जब गार्हपत्य चिनी जा चुकती है और आहवनीय चिनी नहीं होती ? अग्नि आत्मा है और सोम प्राण है। इस प्रकार वह प्राण को आत्मा (शरीर) के मध्य में रखता है, इसलिए प्राण शरीर के मध्य में है ॥२॥

गार्हपत्य के चिने जाने और आहवनीय के न चिने जाने के बीच में सोम राजा के मोल लेने का यह कारण भी है कि अग्नि शरीर है और सोम रस है। इस प्रकार शरीर को रस से युक्त करता है। इसीलिए हमारा शरीर अन्न से अन्त तक रस से युक्त है ॥३॥

सोम राजा को मोल लेकर और लाकर आतिथ्य हवि को तैयार करता है। इसके हविष्कृत के साथ वाणी को छोड़ता है (मौन तोड़ता है)। इस प्रकार कर्म की समानता के लिए अध्वर-कर्म और अग्नि-कर्म में सम्बन्ध उत्पन्न करता है, यह सोचकर कि इस कर्म में समानता हो जाय ॥४॥

उनमें सम्बन्ध उत्पन्न करने का प्रयोजन यह भी है कि अग्नि शरीर है और अध्वर प्राण है। इस प्रकार शरीर के मध्य में प्राण को रखता है, इसीलिए शरीर के मध्य में प्राण है ॥५॥

उनमें सम्बन्ध उत्पन्न करने का प्रयोजन यह भी है कि अग्नि शरीर है और अध्वर रस है। इस प्रकार शरीर को रस से सम्पन्न करता है। इसीलिए यह (हम लोगों का) शरीर आदि से अन्त तक रस से युक्त है। अब आहवनीय को लौटता है ॥६॥

कुछ लोग दोनों स्थानों में पलाश की शाखा से बुहारते हैं। इसलिए कि दोनों स्थानों पर ही तो चिनना है (अर्थात् गार्हपत्य और आहवनीय दोनों को चिनना है)। परन्तु ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि गार्हपत्य के चिनने से तो भूमि पर स्थापित होता है और आहवनीय के द्वारा ऊपर को उठता है। इसलिए ऐसा न करना चाहिए ॥७॥

गार्हपत्य स्थान में ही ऊषा (रेह) को बिछाता है, आहवनीय में नहीं। यह लोक ही गार्हपत्य है और पशु रेह हैं। इस प्रकार इस लोक में पशुओं की स्थापना करता है। इसीलिए

मेऽस्मिंल्लोके पशवः ॥८॥ अथाहवनीयऽएव पुष्करपर्णमुपदधाति । न गार्हपत्य ऽआपो वै पुष्करपर्णं द्यौराहवनीयो दिवि तदपो दधात्युभयत्र सिकता निवपति रेतो वै सिकता उभयत्र वै विक्रियते तस्माद्रेतसोऽधि विक्रियाताऽइति ॥९॥ ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति । मनुष्यलोको वै गार्हपत्यो देवलोक आहवनीयो नानो वाऽएतद्यद्दैवं च मानुषं च द्राघीयसा मन्त्रेणाहवनीये निवपति ह्रसीयसा गार्हपत्ये द्राघीयो हि देवायुषꣳ ह्रसीयो मनुष्यायुषꣳ स पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निवपति रेतो वै सिकता अस्माद्रेतसोऽधीमा विक्रियान्ताऽइति ॥१०॥ तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो रेतः सिकता अथ पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निवपति कथमस्यैतद्रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवतीत्युल्बं वाऽऊषास्तद्यदूषान्पूर्वान्निवपत्येतेनो हास्यैतदुल्बेन रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवत्यथाहवनीये परिश्रितोऽभिमन्त्रयते तस्योक्तो बन्धुरथ सिकता निवपति रेतो वै सिकता एतयोऽअस्यैतद्योन्या रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवति ॥११॥ अथाहवनीयऽएवाप्यानवतीभ्यामभिमृशति । न गार्हपत्येऽयं वै लोको गार्हपत्यः स्वर्गो लोक आहवनीयोऽद्धो वाऽअयमस्मिंल्लोके जातो यजमानः स्वर्गऽएव लोके प्रजिजनयिषितव्यस्तद्यदाहवनीयऽएवाप्यानवतीभ्यामभिमृशति न गार्हपत्ये स्वर्गऽएवैनं तल्लोके प्रजनयति ॥१२॥ अथ लोगेष्टका उपदधाति । इमे वै लोका एषोऽग्निर्दिशो लोगेष्टका एषु तल्लोकेषु दिशो दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः ॥१३॥ बाह्येनाग्निमाहरति । आप्ता वाऽअस्य ता दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमांल्लोकान्परेण दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति ॥१४॥ बर्हिर्वेदेरियं वै वेदिः । आप्ता वाऽअस्य ता दिशो या अस्यामथ या इमां परेण दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति ॥१५॥ यद्वेव लोगेष्टका उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तस्य सर्वा दिशो रसोऽनु व्यक्षरत्त यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेता-

इस लोक में पशु विद्यमान हैं ॥८॥

पुष्करपर्ण अर्थात् कमल के पत्ते को आहवनीय में ही रखता है, न कि गार्हपत्य में। पुष्कर-पर्ण जल हैं और आहवनीय द्यौलोक है। इस प्रकार द्यौ में जल को रखता है। दोनों स्थानों पर बालू बिछाता है। बालू रेत या वीर्य है। अग्नि दोनों स्थानों में उत्पन्न किया जाता है, इसलिए कि वीर्य से वह अग्नि उत्पन्न किया जाय ॥९॥

भिन्न-भिन्न मन्त्रों से बिछाता है। गार्हपत्य मनुष्यलोक है और आहवनीय देवलोक। दैवी और मानुषी चीजें भिन्न-भिन्न होती हैं। बड़े मन्त्र से आहवनीय में बिछाता है और छोटे से गार्हपत्य में। देवों की आयु बड़ी होती है, मनुष्यों की छोटी। वह गार्हपत्य में बालू को परिश्रितों से पहले बिछाता है। बालू वीर्य है। इसका प्रयोजन यह है कि इस वीर्य में से इन (परिश्रितों) की उत्पत्ति हो ॥१०॥

इस पर लोग कहते हैं कि यदि परिश्रित योनि हुए और बालू वीर्य हुआ और परिश्रितों के पहले ही बालू बिछा दिया तो वीर्य को योनि ने बिना नष्ट किये किस प्रकार ग्रहण किया ? ऊषा अर्थात् रेह उल्ब है। और चूंकि रेह को पहले बिछा लिया, यह वीर्य नष्ट नहीं हुआ, किन्तु उल्ब ने ग्रहण कर लिया। अब आहवनीय में परिश्रित का अभिमन्त्रण करता है। इसका महत्त्व बताया जा चुका। अब बालू को बिछाता है। बालू वीर्य है। इस प्रकार वीर्य नष्ट नहीं होता है, किन्तु योनि में सुरक्षित हो जाता है ॥११॥

अब आहवनीय की ही दो आप्यानवती ऋचाओं (जिन ऋचाओं में 'आप्य' शब्द पड़ा है) से छूता है, न कि गार्हपत्य को। यह लोक गार्हपत्य है। आहवनीय स्वर्गलोक है। यजमान इस लोक में उत्पन्न होकर ही स्वर्गलोक में उत्पन्न होने की इच्छा करता है। इसलिए आहवनीय को ही दो आप्यानवती ऋचाओं से छूता है, गार्हपत्य को नहीं। इस प्रकार उसको उस स्वर्गलोक में ही उत्पन्न कराता है ॥१२॥

अब उसमें लोगेष्टक (विशेष प्रकार की ईंटें) रखता है। यह अग्नि लोक हैं और लोगेष्टक दिशाएँ हैं। इस प्रकार लोकों में दिशाओं को रखता है। इसीलिए ये दिशाएँ इन लोकों में हैं ॥१३॥

इनको अग्नि-वेदी के बाहर-बाहर ले जाता है। इन लोकों में जो दिशाएँ हैं वे तो इसको प्राप्त ही हैं। जो दिशाएँ इन लोकों से परे हैं उनको उसमें रखता है— ॥१४॥

वेदी के बाहर-बाहर। यह पृथिवी वेदी है। जो दिशाएँ इस पृथिवी में हैं वे तो इसको प्राप्त ही हैं। जो इससे परे दिशाएँ हैं उनको उसमें रखता है ॥१५॥

लोगेष्टक रखने का यह भी प्रयोजन है कि जब प्रजापति थक गया तो उसका रस सब दिशाओं में फैल गया। जब देवों ने उसको चंगा किया तो इन लोगेष्टकों के द्वारा ही उसको रस

भिर्लोगेष्टकाभिस्तꣳ रसमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥१६॥ बाह्येनाग्निमाहरति । आप्तो वाऽअस्य स रसो य एषु लोकेष्वथ य इमांल्लोकान्पराङ्सोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधाति ॥१७॥ बर्हिर्वै देरियं वै वेदिः । आप्तो वाऽअस्य स रसो योऽस्यामथ य इमां पराङ्सोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधाति ॥१८॥ स्फ्येनाहरति । वज्रो वै स्फ्यो वीर्यं वै वज्रो वित्तिरियं वीर्येण वै वित्तिं विन्दते ॥१९॥ स पुरस्तादाहरति । मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा हिꣳसीत्प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानडिति यो वा दिवꣳ सत्यधर्मासृजतेत्येतद्यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजानेति मनुष्या वाऽआपश्चन्द्रा यो मनुष्यान्प्रथमोऽसृजतेत्येतत्कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्तामाहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नुपदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्राचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥२०॥ अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बन्धुर्वपां तेऽअग्निरिषितोऽअरोहदिति यद्वै किं चास्याꣳ सास्यै वपा तामग्निरिषित उपादीप्तो रोहति तामाहृत्यान्तरेण पक्षसंधिमात्मन्नुपदधाति स यो दक्षिणायां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो दक्षिणामेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥२१॥ अथ पश्चात् । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियमितीयं वाऽअग्निरस्यै तदाह तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै देवाय कर्मणे हराम इत्येतत्तामाहृत्यान्तरेण पुच्छसंधिमात्मन्नुपदधाति स यः प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्रतीचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति स न सम्प्रति पश्चादाहरेन्नेद्यजुषथाद्समाहराणीतीत -इवाहरति ॥२२॥ अथोत्तरतः । इषमूर्जमहमित आदमितीषमूर्जमहमित आददऽइत्येतदृतस्य योनिमिति सत्यं वाऽऋतꣳ सत्यस्य योनिमित्येतन्महिषस्य धारामित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान्त्सर्वमैक्षादा मा गोषु विशत्वा तनूषि

से सम्पन्न किया। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इसको इस रस से सम्पन्न करता है ॥१६॥

वह अग्नि के बाहर-बाहर ले जाता है। जो रस इन लोकों में है वह तो उसको प्राप्त ही है। जो रस इन लोकों के बाहर है उसको उससे सम्पन्न करता है—॥१७॥

वेदी के बाहर-बाहर। पृथिवी वेदी है। जो रस इस पृथिवी में है, वह तो प्राप्त ही है। अब जो इससे बाहर रस है उसी को वह उसमें धारण कराता है ॥१८॥

वह स्फ्या से ले जाता है। स्फ्या वज्र है। वीर्य वज्र है। यह पृथिवी वित्ति या धन है। इस प्रकार वीर्य के द्वारा धन प्राप्त करता है ॥१९॥

वह सामने होकर लाता है इस मन्त्र से—"मा मा हिँ्सीज्जनिता यः पृथिव्याः" (यजु० १२।१०२)—"जो पृथिवी को उत्पन्न करनेवाला है वह हमको न सतावे।" प्रजापति पृथिवी का जनक है, अर्थात् प्रजापति मुझको न सतावे। "यो वा दिवँ् सत्यधर्मा व्यानट्" (यजु० १२।१०२)—"या वह सत्यधर्मा जो द्यौ में व्यापक है।" अर्थात् जिस सत्यधर्मा ने द्यौ लोक को उत्पन्न किया। "यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान" (यजु० १२।१०२)—'आपश्चन्द्र' मनुष्य हैं, अर्थात् "जिसने पहले मनुष्य को बनाया।" "कस्मै देवाय हविषा विधेम" (यजु० १२।१०२)—'कः' का अर्थ है प्रजापति, अर्थात् "उस प्रजापति के लिए हवि से अर्चना करें।" उसको लाकर वेदी के मुख्य भाग में परिश्रितों के बीच में रखता है। इस प्रकार जो रस पूर्वभाग में फैल गया था उसको उसमें स्थापित करता है। इसी प्रकार उसका पूर्व दिशा पर आधिपत्य कराता है ॥२०॥

अब दक्षिण दिशा से इस मन्त्र से एक लोगेष्टिका लाता है—"अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह" (यजु० १२।१०३)—"हे पृथिवि! यज्ञ के साथ, दूध के साथ लौट।" जैसा यजु है वैसा ही उसका प्रयोजन है (अर्थात् अर्थ स्पष्ट है)। "वपां ते ऽ अग्निरिषितो ऽ अरोहत्" (यजु० १२।१०३)—"भेजा हुआ अग्नि तेरी त्वचा पर चढ़ा है।" पृथिवी पर जो कुछ है सब उसकी त्वचा है। अग्नि जब भेजा जाता है अर्थात् जब उद्दीप्त होता है तो उस त्वचा पर चढ़ता है। उस ढेले को लाकर उस स्थान पर रख देता है जहाँ शरीर (मुख-भाग) और पक्ष की सन्धि है। इस प्रकार जो रस दक्षिण दिशा में बह गया था उसको उस अग्नि में स्थापित करता है, और दक्षिण दिशा को भी उसके आधिपत्य में कराता है ॥२१॥

अब पश्चिम या पीछे की ओर से एक लोगेष्टिका इस मन्त्र से लाता है—"अग्ने यत्ते शुक्रं यच् चन्द्रं यत् पूतं यच्च यज्ञियम्" (यजु० १२।१०४)—"हे अग्नि, तेरा जो भाग पवित्र है, जो चमकीला है, जो स्वच्छ है और जो यज्ञ के योग्य है।" वस्तुतः यह पृथिवी अग्नि है। उसी के विषय में यह कहा गया है। "तद् देवेभ्यो भरामसि" (यजु० १२।१०४)—"उसको देवों के लिए लाते हैं।" अर्थात् देव-कर्म के लिए लाते हैं। इसको लाकर वेदी के मुख्य भाग और पूँछ की सन्धि में रख देता है। इस प्रकार जो रस पश्चिम की दिशा में बह गया था उसको उसमें धारण कराता है, और इस प्रकार पश्चिम दिशा को भी उसके आधिपत्य में कराता है। ठीक पश्चिम से न ले, अन्यथा यज्ञ के मार्ग के रस को लेगा। लगभग उसके निकट से ले ॥२२॥

अब उत्तर से इस मन्त्र से—"इषमूर्जमहमित आदम्" (यजु० १२।१०५)—अर्थात् "मैंने यहाँ से रस और ऊर्ज को लिया (या खाया)।" "ऋतस्य योनिम्" (यजु० १२।१०५)—"ऋत की योनि को।" सत्य ऋत है अर्थात् सत्य की योनि को। "महिषस्य धाराम्" (यजु० १२।१०५)—"अग्नि महिष है।" क्योंकि इसने पृथिवी में महान् होकर सबको शक्तिमान् कर दिया। "आ मा गोषु विशत्वा तनूषु" (यजु० १२।१०५)—"मुझको गायों के रूप में तथा

त्यात्मा वै तनूरा मा गोषु चात्मनि च विशत्वित्येतच्छामि सेदिमनिरामभीवा-मिति सिकताः प्रध्वꣳसयति तथैव सेदिर्यानिरा यामीवा तामेतस्यां दिशि दधाति तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्तामाहुत्यान्तरेणा पक्षसंधिमात्मन्नुपदधाति स य उदीच्यां दिशि रसोऽत्यन्नरुतमस्मिन्नेतद्दधात्यथोऽ उदीचीमेवास्मिन्नेतद्दिश दधाति ॥२३॥ ता एता दिशः । ताः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति त-स्मात्सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात्सर्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति ना-ना हि दिशस्तिष्ठन्नुपदधाति तिष्ठन्तीव हि दिशोऽथो तिष्ठन्वै वीर्यवत्तरः ॥२४॥ ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः । ता आत्मन्नेवोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन्न्येव यजु-ष्मत्य इष्टका उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु ॥२५॥ तदाहुः । कथमस्यैताः पक्वाः शृता उपहिता भवन्तीति रसो वाऽएताः स्वयꣳशृत उ वै रसोऽथो यद्वै किं चैतमग्निं वैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत्पक्वꣳ शृतमुपहितं भवति ॥२६॥ अथोत्तरवे-दिं निवपति । इयं वै वेदिर्द्यौरुत्तरवेदिर्दिशो लोगेष्टकास्तद्यदन्तरेणा वेदिं चोत्त-रवेदिं च लोगेष्टका उपदधातीमौ तल्लोकावन्तरेणा दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्तरेणा दिशस्तां युगमात्रीं वा सर्वतः करोति चत्वारिꣳशत्पदां वा यतर-था कामयेताथ सिकता निवपति तस्योक्तो बन्धुः ॥२७॥ ता उत्तरवेदौ निवप-ति । योनिर्वाऽउत्तरवेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिच्यते तत्प्रज-निष्णु भवति ताभिः सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वस्मिंस्तदात्मन्नेतो दधाति तस्मा-त्सर्वस्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति ॥२८॥ अग्ने तव श्रवो वय इति । धूमो वा ऽअस्य श्रवो वयः स ह्येनममुष्मिंल्लोके श्रावयति महि भ्राजन्ते अर्चयो विभाव-साविति महान्तो भ्राजन्तेऽर्चयः प्रभूवसवित्येतद्बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यमिति बलं वै शवो बृहद्भानो बलेनान्नमुक्थ्यमित्येतद्दधासि दाशुषे कवऽइति यजमानो

शरीरों के रूप में (स्वास्थ्य तथा पुत्र-पौत्र के रूप में) प्राप्त हो।" "जहामि सेदिमनिराम-मीवाम्" (यजु० १२।१०५)—"मैं क्षय, निर्बलता तथा रोग को छोड़ता हूँ।" इससे वह बालू को बिछाता है। इस प्रकार जो क्षय, निर्बलता या रोग है उसको उस (उत्तर दिशा) में फेंकता है। इसलिए इस दिशा में भुक्कड़ लोग रहते हैं। उसको लेकर वेदी के मुख्य भाग और पक्ष की सन्धि में रखता है। इस प्रकार जो रस उत्तर दिशा में बह गया था, उसको उसमें स्थापित करता है ॥२३॥

ये (लोगेष्टिकायें) दिशायें हैं, उनको सब ओर रखता है। इस प्रकार सब ओर दिशाओं को रखता है। इसलिए दिशायें सब ओर विद्यमान हैं। इन ढेलों को इस प्रकार रखता है कि एक-दूसरे के आमने-सामने हों, अर्थात् दिशाओं को आमने-सामने रखता है। इसीलिए तो दिशायें आमने-सामने हैं। इनको अलग-अलग रखता है, अलग-अलग स्थापित करता है और अलग-अलग सूददोहस मन्त्र पढ़ता है, क्योंकि दिशायें अलग-अलग हैं। खड़े-खड़े रखता है, क्योंकि दिशायें भी तो खड़ी ही हैं। खड़ा हुआ मनुष्य बलवान् भी होता है ॥२४॥

जो यजुष्मती ईंटें हैं, उनको वेदी के मुख्य भाग में ही रखता है, न कि पक्ष या पूँछ में। क्योंकि यजुष्मती ईंटें वेदी के मुख्य भाग में ही रखी जाती हैं, पक्ष या पूँछ में नहीं ॥२५॥

कुछ लोग शंका करते हैं कि ये लोगेष्टिक पके हुए क्यों मान लिये गये ? इसका उत्तर यह है कि यह रस है। रस तो स्वयं ही पका हुआ होता है। दूसरी बात यह है कि जो कोई वस्तु अग्नि वैश्वानर के संसर्ग में आती है, वह पकी के तुल्य ही हो जाती है ॥२६॥

अब उत्तर वेदी को उठाता है। वेदी यह पृथिवी है। उत्तर वेदी द्यौ है। लोगेष्टिका दिशायें हैं। यह जो वेदी और उत्तर वेदी के बीच में लोगेष्टिकायें रक्खीं, मानो दोनों लोकों के बीच में दिशाओं को स्थापित कर दिया। इसीलिए इन दोनों लोकों के बीच में दिशायें हैं। इसको या तो लम्बाई-चौड़ाई में युग के बराबर बनाता है या चालीस पग लम्बी-चौड़ी— जैसी चाहे। अब उस पर बालू बिछाता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥२७॥

इसको उत्तर वेदी में फैलाता है। उत्तर वेदी योनि है, अर्थात् योनि में वीर्य का सिंचन करता है। जो वीर्य योनि में सींचा जाता है वही जन्मता है। उस बालू से समस्त वेदी को ढक लेता है। इस प्रकार समस्त वेदी में वीर्य को रखता है। वीर्य समस्त शरीर से उत्पन्न होता है ॥२८॥

"अग्ने तव श्रवो वयः" (यजु० १२।१०६)—"हे अग्नि, यह यश और बल तुम्हारा है।" इसका श्रव और वय धुआँ है जो इसका दूसरे लोक में परिचय देता है (स्रावयति)। "महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो" (यजु० १२।१०६)—अर्थात् "हे वैभवशील, तेरी ज्योतियाँ बहुत चमकती हैं।" "बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यम्" (यजु० १२।१०६)—'शव' कहते हैं बल को, अर्थात् "हे चमकवाले, तू प्रशंसा के योग्य अन्न को देता है।" "दधासि दाशुषे कवे" (यजु०

वै दाश्वान्दधासि यजमानाय कवऽइत्येतत् ॥२९॥ पावकवर्चाः शुक्रवर्चा इति । पावकवर्चा ह्येष शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुनेत्यनूनवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येतत्पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्नुपावति पृणक्षि रोदसीऽउभेऽइतीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी तेऽएष उभे पृणक्ति धूमेनामूं वृष्ट्येमाम् ॥३०॥ ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति । ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन्मन्दस्व धीतिभिर्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वेऽइषः संदधुर्भूरिवर्पस इति त्वेऽइषः संदधुर्बहुवर्पस इत्येतच्चित्रोतयो वामजाता इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥३१॥ इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या वै जन्तवो दीप्यमानोऽग्ने प्रथस्व मनुष्यैरित्येतदस्मे रायोऽअमर्त्येत्यस्मे रयिं दधदमर्त्येत्येतत्स दर्शतस्य वपुषो विराजसीति दर्शतस्य ह्येष वपुषो विराजति पृणक्षि सानसिं क्रतुमिति पृणक्षि सनातनं क्रतुमित्येतत् ॥३२॥ इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसमिति । अध्वरो वै यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतसमित्येतत्क्षयन्तꣳ राधसो महऽ इति क्षयन्तꣳ राधसि महतीत्येतद्रातिं वामस्य सुभगां महीमिषमिति रातिं वामस्य सुभगां महतीमिषमित्येतद्दधासि सानसिꣳ रयिमिति दधासि सनातनꣳ रयिमित्येतत् ॥३३॥ ऋतावानमिति । सत्यावानमित्येतन्महिषमित्यग्निर्वै महिषो विश्वदर्शतमिति विश्वदर्शतो ह्येषोऽग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जना इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वाऽएतं पुरो दधते श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगेत्याशृण्वन्तꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या ह्वयामहऽइत्येतत् ॥३४॥ स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः । एतत्षडृचमारम्भायैवेमाः सिकता न्युप्यन्तेऽग्निमेवास्मिन्नेतद्वैश्वानरꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति षडृचेन षडृतवः संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः ॥३५॥ तदाहुः । यद्वेतः सिकता उच्यन्ते किमासाꣳ रेतो रूपमिति शुक्ला इति ब्रूयाच्छुक्लꣳ हि रेतोऽथो पृश्नय इति पृश्नीव हि रेतः ॥३६॥ तदाहुः । यदार्द्रꣳ

१२।१०६)—"हे कवि, तू भक्त के लिए देता है।" दाष्वान् यजमान है, अर्थात् यजमान के लिए ॥२६॥

"पावकवर्चाः शुक्रवर्चाः" (यजु० १२।१०७)–क्योंकि अग्नि "पवित्र ज्योतिवाला और चमकीली ज्योतिवाला है।" "अनूनवर्चा ऽ उदर्यषि भानुना" (यजु० १२।१०७)–अर्थात् "तू पूर्ण प्रकाश के साथ चमकता है।" "पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि" (यजु० १२।१०७)–अर्थात् "तू पुत्र के समान दो माताओं की सहायता करता है।" "पृणक्षि रोदसी उभे।" (यजु० १२।१०७)—"तू दोनों लोकों को भरता है।" अर्थात् द्यौ को धुएँ से और भूमि को वर्षा से ॥३०॥

"ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिः" (यजु० १२।१०८)—'सुशस्तिभिः' का अर्थ है सुष्टुभिः अर्थात् "स्तुतियों के साथ, हे जलों के पौत्र जातवेद।" (यहाँ अग्नि को जलों का पौत्र बताया है।) "मन्दस्व धीतिभिर्हितः" (यजु० १२।१०८)—अर्थात् "बुद्धियों के साथ प्रसन्न हो या प्रकाशमान हो।" "त्वे ऽ इषः संदधुर्भूरिवर्पसः" (यजु० १२।१०८)–"तुझमें उन्होंने बहुत अन्न रक्खा है।" "चित्रोतयो वामजाताः" (यजु० १२।१०८)–"सुन्दर जन्मवाले विचित्र होते हैं।" अर्थ स्पष्ट है ॥३१॥

"इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः" (यजु० १२।१०६)—'जन्तु' का अर्थ है मनुष्य, अर्थात् "हे अग्नि, प्रकाश होते हुए मनुष्यों के साथ फूल-फल।" "अस्मे रायो ऽ अमर्त्य" (यजु० १२।१०६)—अर्थात् "हे अमर! हमको धन से सम्पन्न कर।" "स दर्शतस्य वपुषो विराजसि" (यजु० १२।१०६)—अर्थात् "वह सुन्दर शरीर के साथ चमकता है।" "पृणक्षि सानसिं क्रतुम्" (यजु० १२।१०६)—अर्थात् "सनातन क्रतु या यज्ञ को तू भरपूर करता है" ॥३२॥

"इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसम्" (यजु० १२।११०)–अर्थात् "यज्ञ के ज्ञानवान् सम्पादन करनेवाले को।" क्योंकि 'अध्वर' का अर्थ है यज्ञ। "क्षयन्त ँ् राधसो महः" (यजु० १२।११०)–अर्थात् "बड़े धन पर शासन करनेवाले को।" रातिं वामस्य सुभगां महीमिषम्।" (यजुर्वेद १२।११०)–"उत्तम धन तथा अन्न देनेवाले को।" "दधासि सानसिँ रयिम्" (यजु० १२।११०)—"तू स्थायी धन को देता है" ॥३३॥

"ऋतावानम्" (यजु० १२।१११)—अर्थात् "सत्यवान् को।" "महिषम्" (यजु० १२।१११)—"बलवान् को" क्योंकि अग्नि महिष या बलवान् है। "विश्वदर्शतम्" (यजु० १२।१११)—अग्नि वस्तुतः "सबको दर्शानेवाला है।" "अग्नि ँ् सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः" (यजु० १२।१११)—"मनुष्यों ने अग्नि को सुम्न के लिए सबसे अधिक ठहराया है।" सुम्न से तात्पर्य यज्ञ से है। यज्ञ के लिए ही अग्नि को सबसे आगे रखा है। "श्रुत्कर्ण ँ् सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा" (यज० १२।१११)—अर्थात् "हम मनुष्य तुझ अग्नि का आह्वान करते हैं जो सुननेवाला और सबका सबसे बड़ा शासक है" ॥३४॥

ये जो छः मन्त्रों का सूक्त है यही अग्नि वैश्वानर है। यह बालू वेदी-निर्माण के आरम्भ के लिए बिछाई जाती है। इसमें वैश्वानर को वीर्यरूप से रखता है। वह छः मन्त्रों के सूक्त से इस कृत्य को करता है। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर वैश्वानर है ॥३५॥

इस पर कुछ लोग पूछते हैं कि अगर बालू वीर्यस्थानी है तो इसमें वीर्य की कौन-कौन विशेषतायें हैं? कहना चाहिए कि यह श्वेत अर्थात् शुक्ल है; या यों कहना चाहिए कि धूसर (अग्नि) है, क्योंकि यह धूसर भी है ॥३६॥

इस पर कुछ लोग पूछते हैं कि—

रेतः शुष्काः सिकता निवपति कथमस्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्तीति रसो वै छन्दाꣳस्यार्द्र उ वै रसस्तद्यदेनाश्छन्दोभिर्निवपत्येवमु हास्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्ति ॥३७॥ तदाहुः । कथमस्यैता अहोरात्राभ्यामुपहिता भवन्तीति । द्वे वा ऽअहोरात्रे शुक्लं च कृष्णं च द्वे सिकते शुक्ला च कृष्णा चैवमु हास्यैता अहोरात्राभ्यामुपहिता भवन्ति ॥३८॥ तदाहुः । कथमस्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यूना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीत्यनन्तानि वाऽअहोरात्राण्यनन्ताः सिकता एवमु हास्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यूना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्त्यथ कस्मात्समुद्रियं छन्द इत्यनन्तो वै समुद्रोऽनन्ताः सिकतास्तत्समुद्रियं छन्दः ॥३९॥ तदाहुः । कथमस्यैताः पृथङ्नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्तीति मनो वै यजुस्तदिदं मनो यजुः सर्वाः सिकता अनुविभवत्येवमु हास्यैताः पृथङ्नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्ति ॥४०॥ तदाहुः । कथमस्यैताः सर्वैश्छन्दोभिरुपहिता भवन्तीति यदेवैना एतेन षड्ऋचेन निवपति यावन्ति हि सप्तानां छन्दसामक्षराणि तावन्त्येतस्य षड्ऋचस्याक्षराण्येवमु हास्यैताः सर्वैश्छन्दोभिरुपहिता भवन्ति ॥४१॥ यद्वेव सिकता निवपति । प्रजापतिरेषोऽग्निः सर्वमु ब्रह्म प्रजापतिस्तद्धैतद्ब्रह्मणा उत्सन्नं यत्सिकता अथ यदनुत्सन्नमिदं तद्योऽयमग्निश्चीयते तद्यत्सिकता निवपति यदेव तद्ब्रह्मणा उत्सन्नं तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति ता असंख्याता अपरिमिता निवपति को हि तद्वेद यावत्तद्ब्रह्मण उत्सन्नꣳ स ह वाऽएतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति य एवं विद्वान्त्सिकता निवपति ॥४२॥ तदाहुः । कैतासामसंख्यातानाꣳ संख्येति द्वेऽइति ब्रूयाद्द्वे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा चाथो सप्त विꣳशतिशतानीति ब्रूयादेतावन्ति हि संवत्सरस्याहोरात्राण्यथो द्वे द्वापञ्चाशे शतेऽइत्येतावन्ति ह्येतस्य षड्ऋचस्याक्षराण्यथो पञ्चविꣳशतिरिति पञ्चविꣳशꣳ हि रेतः ॥४३॥ ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः । ता आत्मन्नेवोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन्ह्येव यजुष्मत्य इष्टका

वीर्य गीला है, बालू शुष्क है, फिर इस फैली हुई बालू को गीले वीर्य का रूप कैसा दिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि छन्द रस हैं। रस गीला होता है। बालू को छन्द पढ़कर बिखेरता है। इस प्रकार बालू भी वीर्य का रूप अर्थात् गीली हो जाती है ॥३७॥

अब प्रश्न यह है कि दिन और रात के द्वारा इस पर क्या प्रभाव पड़ता है ? दिन और रात दो हैं। दो प्रकार का बालू है—श्वेत और कृष्ण। इस प्रकार दिन और रात से ये प्रभावित होते हैं ॥३८॥

इस पर प्रश्न होता है कि दिन-रात से सम्पन्न यह बालू रस के लिए पूरी-पूरी कैसे होती है (अर्थात् न न्यून न अधिक) ? इसका उत्तर यह है कि दिन-रात अनन्त हैं, और बालू अनन्त है। इस प्रकार दिन और रात से युक्त यह बालू ठीक-ठीक हो जाती है, न कम न अधिक। समुद्रिय छन्द कैसे ? छन्द अनन्त है। समुद्र अनन्त है, इसलिए छन्द अनन्त है ॥३९॥

इस पर आक्षेप होता है कि यह बालू भिन्न-भिन्न मन्त्रों में क्यों रखी जाती है ? मन ही यजु-मन्त्र है। यह मन-यजु सम्पूर्ण बालू के बराबर होता है। इस प्रकार यह बालू भिन्न-भिन्न मन्त्रों से रखी जाती है ॥४०॥

अब प्रश्न होता है कि यह बालू भिन्न-भिन्न छन्दों से युक्त किस प्रकार होती है ? इसका उत्तर यह है कि छः मन्त्रोंवाले सूक्त से बिखेरी जाती है। जितने अक्षर सात छन्दों में होते है उतने ही अक्षर इस छः मन्त्रोंवाले सूक्त में हैं। इस प्रकार ये सब छन्दों से युक्त हो जाते हैं ॥४१॥

बालू को क्यों फैलाता है ? इसलिए कि यह अग्नि (वेदी) प्रजापति है और प्रजापति ही 'सब ब्रह्म' है। यह बालू ब्रह्म के नष्ट भाग का स्थानी है। ब्रह्म का जो भाग नष्ट होने से बच रहा वह यह अग्नि-वेदी है जो चिनी जा रही है। इस प्रकार जो बालू फैलाई जाती है वह ब्रह्म के नष्ट भाग को पुनः लाने के लिए। बालू असंख्यात और अपरिमित होती है। कौन जानता है कि ब्रह्म का नष्ट भाग कितना है ? और जो इस रहस्य को समझकर बालू बिछाता है, वह ब्रह्म के नष्ट भाग को पुनर्जीवित करता है ॥४२॥

इस पर प्रश्न होता है कि असंख्यात बालू की क्या संख्या है ? कहना चाहिए कि दो—शुक्ल और कृष्ण। या कहे कि सात सौ बीस, क्योंकि वर्ष में सात सौ बीस दिन-रात होते हैं। या कहे कि दो सौ बावन, क्योंकि उस छः ऋचावाले सूक्त में इतने ही अक्षर हैं। या कहे पच्चीस, क्योंकि वीर्य के पच्चीस भाग हैं ॥४३॥

यही बालू यजुष्मती इष्टका है। इनको वेदी के आत्मा अर्थात् मुख्य भाग में रखता है, न कि पूँछ या पक्ष में।

उपधीयन्ते न पत्नपुङ्खेषु न सादयति नेद्गेतः प्रज्ञातिᳪ स्थापयानीति ॥४४॥ अथैना आप्यानवतीभ्यामभिमृशति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तमाप्याययति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तमाप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणमभिसम्भवति पृथेह यद्रेते प्राणात्सम्भवेदेषो हैवात्र सूद्दोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूद्दोहाः ॥४५॥ आप्यायस्व समेतु ते । विश्वतः सोम वृष्ण्यमिति रेतो वै वृष्ण्यमाप्यायस्व समेतु ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद्भवा वाजस्य संगथऽइत्यन्नं वै वाजो भवान्नस्य संगथऽइत्येतत्सं ते पयाᳪसि समु यन्ति वाजा इति रसो वै पयोऽन्नं वाजाः सं ते रसाः समु यन्त्वन्नानीत्येतत्सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाह इति सᳪ रेताᳪसि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानोऽअमृताय सोमेति प्रज्ञात्यां तदमृतं दधाति तस्मात्प्रज्ञातिरमृता दिवि श्रवाᳪस्युत्तमानि धिष्वेति चन्द्रमा वाऽअस्य दिवि श्रव उत्तमᳪ स ह्येनममुष्मिंल्लोके श्रावयति द्वाभ्यामाप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः ॥४६॥ अथातः सम्पदेव । चतस्रो लोगेष्टका उपदधाति षड्चेन निवपति द्वाभ्यामाप्याययति तद्द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥४७॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [३. १.] ॥

आप्यानवतीभ्यामभिमृश्य । प्रत्येत्यातिथ्येन प्रचरत्यातिथ्येन प्रचर्य प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचरति प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचर्यायैतां चर्मणि चितिᳪ समवशमयन्ति तद्यच्चर्मणि चर्म वै रूपᳪ रूपाणामुपाप्त्यै लोमतो लोम वै रूपᳪ रूपाणामुपाप्त्यै रोहिते रोहिते ह सर्वाणि रूपाणि सर्वेषाᳪ रूपाणामुपाप्त्याऽआनडुहेऽग्निरेष यदनड्वानग्निरूपाणामुपाप्त्यै प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा ॥१॥ तदग्रेण गार्हपत्यम् । अन्तर्वेद्युत्तरलोम प्राचीनग्रीवमुपस्तृणाति तदेतां चितिᳪ समवशमयन्त्यथ प्रोक्षति तद्यत्प्रोक्षति शुद्धमेवैतन्मेध्यं करोत्याज्येन तद्धि शुद्धं मेध्यमथोऽअनभ्यारोहाय न

यजुष्मती इष्टिका आत्मा में ही रक्खी जाती है, पक्ष या पूंछ में नहीं। वह इनको स्थापित नहीं करता कि कहीं प्रजापति या वीर्य को रोक न दे ॥४४॥

आप्यानवती दो ऋचाओं से (जिन मन्त्रों में आप्यायस्व शब्द आता है) बालू को छूता है। इनसे वह सींचे हुए वीर्य को बढ़ाता है। इससे सींचा हुआ वीर्य योनि में बढ़ता है। दो सोम-सम्बन्धी ऋचाओं से छूता है। सोम प्राण है। इस प्रकार वीर्य में प्राण की स्थापना करता है। इस प्रकार सींचे हुए वीर्य में प्राण उत्पन्न होता है। यदि बिना प्राण के उत्पन्न होगा, तो सड़ जायगा। इसके लिए यही सूददोह है, क्योंकि सोम प्राण है और सूददोह भी प्राण है ॥४५॥

ये मन्त्र हैं—"आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्" (यजु० १२।११२)—"हे सोम, बढ़, तुझमें चारों ओर से शक्ति आवे।" 'वृष्ण्य' का अर्थ है रेत या वीर्य। "भवा वाजस्य संगथे" यजु० (१२।११२)—अन्न ही 'वाज' है, अर्थात् "तू पुष्टिदायक पदार्थ को इकट्ठा कर।" "सं ते पयांसि तमु यन्ति वाजा." (यजु० १२।११३)—'पय' रस है, वाज अन्न है, अर्थात् "तुझमें रस और बल हो।" "सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः" (यजु० १२।११३)—"शत्रु को परास्त करनेवाले बल तुझमें हों।" अर्थात् पापनाशक रेत या वीर्य तुझमें हो। "आप्यायमानो ऽमृताय सोम" (यजु० १२।११३)—"हे सोम, अमर होने के लिए बढ़।" इस प्रकार सन्तान में अमरत्व रखता है। इससे सन्तान अमर होती है। "दिवि श्रवाँऽस्युत्तमानि धिष्व" (यजु० १२।११३)—"द्यौलोक में बहुत बड़े यश को प्राप्त कर।" द्यौलोक में सबसे यशस्वी चन्द्र है। यह दूसरे लोक में उसकी कीर्ति फैलाता है—दो मन्त्रों से, अर्थात् गायत्री और त्रिष्टुभ् से वह इसको तृप्त करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥४६॥

अब इसका सम्पत् अर्थात् समन्वय! चार लोगेष्टका रखता है। छः मन्त्रोंवाले सूक्त से रेत बिछाता है। दो मन्त्रों से वृद्धि करता है। ये हुए बारह। वर्ष में बारह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार यह भी होता है ॥४७॥

आनडुहे चर्मणि प्रथमचितीष्टकानामुपधानादि

अध्याय ३—ब्राह्मण २

आप्यान शब्द वाली दो ऋचाओं से (रेत को) चिकना करके (शाला में) आकर आतिथ्य-आहुति देता है। आतिथ्य-आहुति के पश्चात् प्रवर्ग्य और उपसद्-आहुतियाँ देता है। प्रवर्ग्य और उपसद्-आहुतियों को देकर चमड़े पर वे उस चिति को संतुष्ट करते हैं। चमड़े पर इसलिए कि चमड़ा रूप है, रूपों की प्राप्ति के लिए। (चमड़े की उस ओर) जिधर रोम होते हैं। रोम ही रूप है, रूपों की प्राप्ति के लिए। लाल चमड़े पर क्योंकि लाल चमड़ा ही सब रूप है, सब रूपों की प्राप्ति के लिए। बैल के चमड़े पर। बैल ही अग्नि है, अग्नि के रूपों की प्राप्ति के लिए। पूर्व की ओर गर्दन करके, क्योंकि यही देवों की दिशा है ॥१॥

गार्हपत्य के सामने वेदी के भीतर फैलाता है। रोम ऊपर की ओर और गर्दन पूर्व की ओर! इससे इस चिति को सन्तुष्ट करते हैं। अब इस पर छिड़कता है। इसलिए छिड़कता है कि इसको शुद्ध और यज्ञ के योग्य बनाता है। घी को, क्योंकि घी शुद्ध और यज्ञ के योग्य (मेध्य) है। उसके सर्वोत्कृष्ट होने के लिए।

हि किं चनान्यद्धविराज्येन प्रोक्षन्ति तूष्णीमनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीꣳ सर्वं वा ऽअनि-
रुक्तꣳ सर्वेणैवैतच्छुद्धं मेध्यं करोत्यथो ऽअनभ्यारोहाय न हि किं चनान्यद्धविस्तू-
ष्णीं प्रोक्षन्ति ॥२॥ यद्वेव प्रोक्षति । हविर्वा ऽएतत्तदेतदभिघारयति यद्वै हवि-
रभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं तन्मेध्यमाज्येनाज्येन हि हविरभिघारयन्ति तूष्णीं तू-
ष्णीꣳ हि हविरभिघारयन्ति दर्भैस्ते हि शुद्धा मेध्या अग्रैरग्रꣳ हि देवानाम् ॥३॥
तदाहुः । यत्प्रथमामेव चितिं प्रोक्षति कथमस्यैष सर्वो ऽग्निः प्रोक्षितो भवति कथं
चर्मणि प्रणीतः कथमश्मप्रणीत इति यदेवात्र सर्वासां चितीनामिष्टकाः प्रोक्षत्ये-
वमु हास्यैष सर्वो ऽग्निः प्रोक्षितो भवत्येवं चर्मणि प्रणीत एवमश्मप्रणीत उप-
हन्त्येतां चितिम् ॥४॥ अथाहाग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्यो ऽनुब्रूहीति । एतद्वै देवानु-
पप्रैष्यत एतं यज्ञं तꣳस्यमानान्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अजिघाꣳसन्न यक्ष्यध्वे न यज्ञं तꣳ-
स्यध्व ऽइति तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका वज्रान्क्षुरपवीन्कृत्वा प्राहरंस्तैरेनानस्तृण्व-
त तान्त्स्तृत्वाभये ऽनाष्ट्र ऽएत यज्ञमतन्वत ॥५॥ तद्वा ऽएतत्क्रियते । यद्देवा अकु-
र्वन्निदं नु तानि रक्षाꣳसि देवैरेवोपहतानि यत्त्वेतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्क-
रवाणीत्यथो यदेव रक्षो यः पाप्मा तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका वज्रान्क्षुरपवीन्कृ-
त्वा प्रहरति तैरेनान्स्तृणुते तान्त्स्तृत्वाभये ऽनाष्ट्र ऽएतं यज्ञं तनुते ॥६॥ तद्यदग्निभ्य
इति । बहवो ह्येते ऽग्नयो यदेताश्चितयो ऽथ यत्प्रह्रियमाणेभ्य इति प्र हि हरति
॥७॥ तद्धैके ऽन्वाहुः । पुरीष्यासो ऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न
तथा कुर्यादाग्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयादा ते वत्सो मनो यमत्तुभ्यं ता
अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धामस्विति ॥८॥ आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणामुपाप्त्यै
कामवतीः कामानामुपाप्त्यै गायत्रीर्गायत्रो ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतै-
वैनमेतद्रेतो भूतꣳ सिञ्चति तिस्रस्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन-
मेतद्रेतो भूतꣳ सिञ्चति ताः सप्त सम्पद्यन्ते सह त्रिरनूक्ताभ्याꣳ सप्तचितिको ऽग्निः

किसी अन्य हवि को घी से नहीं सींचते। चुपके-चुपके। 'चुपके' का अर्थ है अस्पष्ट (अनिरुक्त)। अनिरुक्त का अर्थ है 'सब'। इस प्रकार 'सब' के द्वारा वह इसको शुद्ध और मेध्य बनाता है। सर्वोत्कृष्ट करने के लिए, क्योंकि कोई अन्य हवि चुपके-चुपके नहीं दी जाती ॥२॥

छिड़कने का यह भी प्रयोजन है— यह (चिति) हवि है। इस हवि को घी से चुपड़ता है। जिस हवि में घी का अवघार दिया जाता है वह स्वादिष्ट और मेध्य हो जाती है। घी से अवघार करते हैं, क्योंकि हवि का घी से ही अवघार होता है। चुपचाप, क्योंकि हवि का अवघार चुपचाप किया जाता है। दर्भों से, क्योंकि दर्भ शुद्ध और मेध्य होते हैं। दर्भों के सिरों (अग्रभाग) से, क्योंकि दर्भों के सिरे 'देवों' के समझे जाते हैं ॥३॥

इस पर कहते हैं कि जब वह पहली ही चिति का प्रोक्षण करते हैं, तो उससे समस्त वेदी का प्रोक्षण कैसे हो जाता है? यह चर्मप्रणीत या अश्वप्रणीत कैसे होती है? इस चिति की ईंटों द्वारा सब जातियों की ईंटों का प्रोक्षण कर देता है। इससे सभी अग्नि (वेदी) प्रोक्षित हो जाती है। इसी प्रकार चर्मप्रणीत और अश्वप्रणीत इस चिति को उठाते हैं ॥४॥

अब अध्वर्यु होता से कहता है—ली जाती हुई अग्नियों के लिए अनुवाक पढ़ो। जब देवों ने यज्ञ बिछाया तो दुष्ट राक्षसों ने उनको मारना चाहा और कहा 'तुम यज्ञ न करोगे। तुम यज्ञ को नहीं फैलाओगे।' इन अग्नियों को, इन ईंटों का वज्र बनाकर और उनको तीक्ष्ण करके उन्होंने उन पर फेंक दिया और उनको नीचा दिखा दिया। इस प्रकार उन्होंने राक्षसों से युक्त सुरक्षित स्थान में यज्ञ ताना ॥५॥

जैसा देवों ने किया वैसा यहाँ भी किया जाता है। अब भी देव ही इन राक्षसों को मारते हैं। जब वह ऐसा करता है तो इसलिए करता है कि जो देवों ने किया वह मैं भी करूँ। इन अग्नियों को, इन ईंटों को तीक्ष्ण वज्र बनाकर उनको दुष्ट राक्षसों पर फेंकता है और उनका दमन करता है। उनका दमन करके वह ऐसे स्थान में यज्ञ करता है, जो भयरहित और उनकी दुष्टता से मुक्त है ॥६॥

अग्नियों के लिए अनुवाक क्यों पढ़ता है? ये जो चितियाँ हैं वे अग्नियाँ हैं। वे 'प्रह्रियमाण' अर्थात् ले-जाई जाती हैं, क्योंकि वह इनको फेंकता है (प्रहरति) ॥७॥

कुछ लोग यह अनुवाक पढ़ते हैं—"पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः" यह आरम्भ करने की रीति है, परन्तु ऐसा न करना चाहिए। अग्नि-सम्बन्धी और कामनावाली गायत्रियों का अनुवाक पढ़ना चाहिए। "आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित्सधस्थात्। अग्ने त्वां कामया गिरा" (यजु० १२।११५, ऋ० ८।४६।१८) —"हे अग्ने! वत्स तेरे मन को परम पद से भी कामनायुक्त वाणी द्वारा ले जाय।" "तुभ्यं ता ऽ अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे" (यजु० १२।११६, ऋ० ८।४३।१८)—"हे सब अंगिरों में उत्तम अग्नि, कामनाओं के लिए सब अच्छे स्थानों ने तेरे लिए अपने-आपको सुसज्जित किया है। "अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति" (यजु० १२।११७) —"भूत और भविष्यत् कामनाओं के लिए प्रिय स्थानों में एक अग्नि सम्राट् चमकता है" ॥८॥

अग्नि के रूपों की प्राप्ति के लिए वह अग्नि-सम्बन्धी ऋचाओं को पढ़ता है —अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए उन ऋचाओं को, जिनमें 'कामना' का वर्णन है। गायत्रियों को इस-लिए कि अग्नि गायत्रीवाला है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, वैसा ही इसमें वीर्य सींचता है, तीन ऋचाओं से — क्योंकि अग्नि तीन-वाला (त्रिवृत्) है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही वह उसमें वीर्य सींचता है। वे (आदि और अन्त की) तीन-तीन बार पढ़ने से सात हो जाती हैं। वेदी में सात चितियाँ होती हैं।

सप्तऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवत्युपाꣳ-
श्वन्वाह रेतो वाऽअत्र यज्ञ उपाꣳशु वै रेतः सिच्यते पश्चादनुब्रुवन्नन्वेति छन्दो-
भिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्नेति ॥९॥ अथाश्वꣳ शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्वै देवा
अबिभयुर्यद्वै न इह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतं वज्रमपश्यन्नमुमेवादि-
त्यमसौ वाऽआदित्य एषोऽश्वस्तऽएतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्या-
भयेऽनाष्ट्रे स्वस्ति समाश्नुवत तथैवैतद्यजमान एतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाꣳसि ना-
ष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रे स्वस्ति समश्नुतऽआगच्छन्त्यग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चितिमु-
पनिदधत्युत्तरतोऽश्वमाक्रमयन्ति ॥१०॥ तमुत्तरार्धेनाग्नेः । अन्तरेणा परिश्रितः प्राञ्चं
नयन्ति तत्प्राच्यै दिशः पाप्मानमपघ्नन्ति तं दक्षिणा तद्दक्षिणायै दिशः पाप्मान-
मपघ्नन्ति तं प्रत्यञ्चं तत्प्रतीच्यै दिशः पाप्मानमपघ्नन्ति तमुदञ्चं तदुदीच्यै दिशः
पाप्मानमपघ्नन्ति सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याथैनमुदञ्चं प्राञ्चं
प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुः ॥११॥ ॥ शतम् ४१०० ॥ ॥ तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चि-
तिमवघ्रापयत्यसौ वाऽआदित्य एषोऽश्व इमा उ सर्वाः प्रजा या इमा इष्टकास्त-
द्यदवघ्रापयत्यसावेव तदादित्य इमाः प्रजा अभिजिघ्रति तस्मादु हैतत्सर्वोऽस्मी-
ति मन्यते प्रजापतेर्वीर्येणा तद्यत्प्रत्यञ्चं यन्तमवघ्रापयति प्रत्यङ् ह्येवैष यन्निमाः
सर्वाः प्रजा अभिजिघ्रति ॥१२॥ यद्वेवावघ्रापयति । असौ वाऽआदित्य एषोऽश्व
इमऽउ लोका एताः स्वयमातृण्णास्तद्यदवघ्रापयत्यसावेव तदादित्य इमांल्लोकान्त्सू-
त्रे समावयते तद्यत्तत्सूत्रमुपरि तस्य बन्धुः ॥१३॥ यद्वेवावघ्रापयति । अग्निर्देवे-
भ्य उदक्रामत्सोऽपः प्राविशत्ते देवाः प्रजापतिमब्रुवंस्त्वमिममन्विच्छ स तुभ्यꣳ स्वा-
य पित्रऽआविर्भविष्यतीति तमश्वः शुक्लो भूत्वान्वैच्छत्तमद्भ्य उपोदासृप्तं पुष्करपर्णे
विवेद तमभ्यवेक्षां चक्रे स हैनमुदुवोष तस्मादश्वः शुक्ल उदुष्टमुख-इवाथो ह
दुरक्षो भावुकस्तमु वाऽऋत्वेव हिꣳसित्विव मेने तꣳ होवाच वरं ते ददामीति

वर्ष में सात ऋतु होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही यह हो जाता है। इसको चुपचाप ही पढ़ते हैं, क्योंकि यज्ञ में वीर्य का सिंचन किया जाता है। वीर्य का सिंचन चुपचाप ही होता है। पढ़ता हुआ पीछे चलता है। इस प्रकार वह छन्दों द्वारा यज्ञ की रक्षा करता हुआ चलता है ॥९॥

आगे-आगे श्वेत घोड़ों को ले जाते हैं। देव डर गए कि दुष्ट राक्षस हमको मार न डालें। उन्होंने इस सूर्यरूपी वज्र को देखा है। श्वेत घोड़ा सूर्य है। दुष्ट राक्षसों को उस वज्र के द्वारा भगाकर उन्होंने भयरहित और दुष्टतारहित शान्ति प्राप्त की। इसी प्रकार यजमान इस वज्र से आगे-आगे दुष्ट राक्षसों को भगाकर भयरहित और दुष्टतारहित शान्ति को प्राप्त करता है। वह अग्नि (वेदी) के पास आता है। पुच्छ की दक्षिण की ओर वह चिति को रखता है। उत्तर की ओर से घोड़े को लाता है ॥१०॥

उसको वेदी के उत्तरार्द्ध की ओर से प्रस्तरों के भीतर पूर्व की ओर ले जाता है। इस प्रकार पूर्व दिशा से पाप को दूर कर देता है। फिर दक्षिण की ओर; इससे दक्षिण दिशा से पाप को दूर करता है। फिर पश्चिम की ओर; इससे पश्चिम दिशा से पाप को दूर करता है। फिर उत्तर की ओर, इससे उत्तर दिशा से पाप को दूर करता है। इस प्रकार सब दिशाओं से दुष्ट राक्षसों को दूर भगाकर वह घोड़े को उत्तर-पूर्व की दिशा में मुक्त कर देता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥११॥

जब वह उसको पश्चिम की ओर ले जाता है, तो इस चिति को सुंघवाता है। यह जो घोड़ा है वह आदित्य है। ये जो ईंटें हैं वे प्रजा हैं। यह जो सुंघवाता है इसका तात्पर्य है कि आदित्य प्रजाओं को सूंघता है। इसलिए प्रजापति के पराक्रम से प्रत्येक पुरुष सोचता है कि 'मैं हूँ'। पश्चिम की ओर जाते हुए क्यों सूंघता है? क्योंकि सूर्य पश्चिम की ओर जाते हुए ही समस्त प्रजा को सूंघता है ॥१२॥

इसको इसलिए भी सुंघवाता है कि यह घोड़ा तो आदित्य है और ये जो स्वयं छिद्रों वाली ईंटें हैं, वे लोक हैं। जैसे यह घोड़ा इसको सूंघता है, इसी प्रकार सूर्य भी इन लोकों को एक सूत्र में पिरोता है। इस सूत्र के विषय में जो महत्त्व है, वह समझाया जा चुका है ॥१३॥

इसको सुंघवाने का एक कारण यह भी है कि अग्नि देवों में से निकलकर जलों में चला गया। इन देवों ने प्रजापति से कहा—'इसकी खोज कर, तुमको पिता समझकर वह तुझ पर प्रकट हो जायगा।' वह श्वेत घोड़ा बनकर उसकी खोज में निकला। उसने देखा कि वह जलों से चलकर कमल के पत्ते पर बैठा है। उसने उसे देखा। अग्नि ने उसको झुलस दिया। इसलिए श्वेत घोड़े का मुख झुलसा-सा होता है और उसकी आँख खराब होती है। उसने सोचा कि मैंने इसको पीड़ा पहुँचाई है, इसलिए कहा—'अच्छा, मैं तुझको एक वर देता हूँ' ॥१४॥

॥१४॥ स होवाच । यस्त्वानेन रूपेणान्विच्छादिन्द्रादेव त्वा स इति स यो हैन-
मेतेन रूपेणान्विच्छति विन्दति हैनं वित्त्वा हैवैनं चिनुते ॥१५॥ स शुक्लः स्यात्
। तद्ध्येतस्य रूपं य एष तपति यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः स्यादश्वस्त्वेव स्या-
द्यद्यश्वं न विन्देदप्यनड्वानेव स्यादाग्नेयो वाऽअनड्वानग्निरु सर्वेषां पाप्मनामप-
हन्ता ॥१६॥ अथातोऽधिरोहणस्यैव । त७ हैके पुरस्तात्प्रत्यञ्चमधिरोहन्ति प-
श्चाद्वा प्राञ्चं न तथा कुर्यात्पशुरेष यदग्निर्यो वै पशुं पुरस्तात्प्रत्यञ्चमधिरोहति
विषाणाभ्यां त७ हन्त्यथ यः पश्चात्प्राञ्चं पद्भ्यां तमात्मनैवैनमारोहेदयं वाऽआत्म-
ना पशुमारोहन्ति स पारयति स न हिनस्त्युत्तरतो य७ हि कं च पशुमारो-
हन्त्युत्तरत एवैनमारोहन्त्यारुह्याग्निमीत्तरवेदिकं कर्म कृत्वात्मन्नग्निं गृह्णीतऽआ-
त्मन्नग्निं गृहीत्वा सत्य७ साम गायति पुष्करपर्णमुपदधाति तस्यातः ॥१७॥ अथै-
न७ साग्ने भूतेऽश्वं परिणयन्ति । एतद्ध देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षा७सि
नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्माऽएतं वज्रमभिगोप्तारमकुर्वन्नमुमेवादित्यमसौ वाऽआ-
दित्य एषोऽश्वस्तथैवास्माऽअयमेतं वज्रमभिगोप्तारं करोति ॥१८॥ तं वाऽउपा-
स्तमयमादित्यस्य परिणयति । एष वाऽअस्य प्रत्यक्षं दिवा गोप्ता भवति रात्रि-
साचयान्यु वै रक्षा७सि रात्र्या एवास्माऽएतं वज्रमभिगोप्तारं करोति सर्वतः परि-
णयति सर्वत एवास्माऽएतं वज्रमभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः परिणयति त्रिवृ-
तमेवास्माऽएतं वज्रमभिगोप्तारं करोत्यथैनमुदञ्चं प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धु-
रथ स पुनर्विपल्ययते तस्योपरि बन्धुः ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [३.२.] ॥ द्वितीयः
प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०५ ॥ तृतीयोऽध्यायः [४६.] ॥ ॥

आत्मन्नग्निं गृह्णीते चेष्यन् । आत्मनो वाऽएतमधिजनयति यादृशाद्ध जायते
तादृङ्ङेव भवति स यदात्मन्नगृहीत्वाग्निं चिनुयान्मनुष्यादेव मनुष्यं जनयेन्मर्त्या-
न्मर्त्यमनपहतपाप्मनोऽनपहतपाप्मानमथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति तदग्ने-

प्रजापति ने कहा—'जो तुझको इस रूप में खोजेगा वह तुझको पा लेगा।' इसलिए जो इस अग्नि को इस रूप में खोजता है, वह उसको पा लेता है और पाने के पश्चात् चिन देता है ॥१५॥

घोड़ा श्वेत होना चाहिए, क्योंकि यह जो तपनेवाला (सूर्य) है, उसका यही रूप है। सफेद न हो तो भिन्न ही हो, परन्तु घोड़ा हो। घोड़ा न हो तो बैल ही सही, क्योंकि बैल की भी अग्नि की-सी प्रकृति है। अग्नि सब पापों का नाशक है ॥१६॥

वेदी पर चढ़ना कैसे चाहिए ? कुछ तो आगे से पीछे की ओर चढ़ते हैं, कुछ पीछे से आगे की ओर। परन्तु ऐसा न करे। यह जो अग्नि है वह पशु के तुल्य है। जो पशु पर आगे-पीछे की ओर चढ़ेगा उसको वह सींगों से मारेगा। जो पीछे से आगे की ओर चढ़ेगा, उसको लातों से मारेगा। इसलिए बीच से चढ़ना चाहिए। जो लोग पशु की पीठ पर बीच से चढ़ते हैं, उनको वह ले जाता है और हानि नहीं पहुँचाता। बाईं ओर से चढ़ना चाहिए, क्योंकि जो चढ़ते हैं बाईं ओर से चढ़ते हैं। बाईं ओर से वेदी पर चढ़कर और उस सम्बन्धी कार्य करके मानो अग्नि को बीच से पकड़ता है। अग्नि को बीच से पकड़कर सत्य साम को गाता है। वेदी पर एक कमलपत्र रखता है। इसका आगे वर्णन आयेगा ॥१७॥

सायंकाल होने पर घोड़े को टहलाते हैं। इस समय देवों को भय था कि कहीं वेदी को दुष्ट राक्षस आघात न पहुँचावें। इसलिए उन्होंने उस सूर्य को रक्षा करनेवाला वज्र बनाया। वह घोड़ा सूर्य ही है। इस प्रकार इसको रक्षा करनेवाला वज्र बनाता है ॥१८॥

सूर्य अस्त होने पर उसको टहलाता है। दिन में तो यह सूर्य प्रत्यक्ष ही रक्षा करनेवाला है। राक्षस रात के सहचर हैं, इसलिए रात के लिए वह इस वज्र को रक्षक बनाता है। उसको चारों ओर टहलाता है। इस प्रकार इस वज्र को चारों ओर रक्षक बनाता है। उसको तीन बार टहलाता है। इस प्रकार वज्र को तिगुना रक्षक बनाता है। तब इसको उत्तर-पश्चिम की ओर छोड़ देता हैं। इसकी व्याख्या हो चुकी। यह फिर लौट आता है। यह भी हो चुका ॥१९॥

अग्निग्रहणम्, सत्यसामगानम्, पुष्करपर्णोपधानञ्च

अध्याय ४—ब्राह्मण १

अग्नि अर्थात् वेदी को बनाने की इच्छा करता हुआ अपने-आप में अग्नि को धारण करता है, अर्थात् अपने-आप में से ही अग्नि को उत्पन्न करता है। जिससे जो चीज उत्पन्न होती है वैसी ही होती है। यदि अपने में ग्रहण किये बिना ही अग्नि (वेदी) को चिने तो मनुष्य से मनुष्य को उत्पन्न करेगा, मर्त्य से मर्त्य को, पापयुक्त को पापयुक्त से। परन्तु जब अग्नि को अपने में धारण करके वेदी को चिनता है तो अग्नि को अग्नि से उत्पन्न करता है, अमृत को

रेत्राध्यग्निं जनयत्यमृतादमृतमपहतपाप्मनोऽपहतपाप्मानम् ॥१॥ स गृह्णाति । मयि गृह्णाम्यग्रेऽअग्निमिति तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णाति रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्वा आशिष आत्मन्गृह्णीते मामु देवताः सचन्तामिति तदु सर्वान्देवानात्मन्गृह्णीते तद्यत्किं चात्मनोऽधि जनयिष्यन्भवति तत्सर्वमात्मन्गृह्णीते स वै तिष्ठन्नात्मन्नग्निं गृह्णीत्वानुपविश्य चिनोति पशुरेष यदग्निस्तस्मात्पशुस्तिष्ठन्गर्भं धित्वानूपविश्य विजायते ॥२॥ अथ सत्यꣳ साम गायति । एतद्वै देवा अब्रुवन्त्सत्यमस्य मुखं करवाम ते सत्यं भविष्यामः सत्यं नोऽनुवर्त्स्यति सत्यो नः स कामो भविष्यति यत्कामा एतत्करिष्यामहऽइति ॥३॥ तऽएतत्सत्यꣳ साम पुरस्तादगायन् । तदस्य सत्यं मुखमकुर्वंस्ते सत्यमभवन्त्सत्यमेनाननन्ववर्तत सत्य एषां स कामोऽभवद्यत्कामा एतदकुर्वत ॥४॥ तथैवैतद्यजमानः । यत्सत्यꣳ साम पुरस्ताद्गायति तदस्य सत्यं मुखं करोति स सत्यं भवति सत्यमेनमनुवर्तते सत्यो ऽस्य स कामो भवति यत्काम एतत्कुरुते ॥५॥ तद्यत्तत्सत्यम् । आप एव तदापो हि वै सत्यं तस्माद्येनापो यन्ति तत्सत्यस्य रूपमित्याहुरप एव तस्य सर्वस्याग्रमकुर्वंस्तस्माद्यदैवापो यन्त्यथेदꣳ सर्वं जायते यदिदं किं च ॥६॥ अथ पुष्करपर्णमुपदधाति । योनिर्वै पुष्करपर्णं योनिमेवैतदुपदधाति ॥७॥ यद्वेव पुष्करपर्णमुपदधाति । आपो वै पुष्करं तासामियं पर्णं यथा ह वाऽइदं पुष्करपर्णमप्स्वध्याहितमेवमियमप्स्वध्याहिता सेयं योनिरग्नेरियꣳ ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयतऽइमामेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिताꣳ सत्यादुपदधातीमां तत्सत्ये प्रतिष्ठापयति तस्मादियꣳ सत्ये प्रतिष्ठिता तस्माद्वियमेव सत्यमियꣳ ह्येवैषां लोकानामद्धातमाम् ॥८॥ अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति । अपाꣳ ह्येयं पृष्ठं योनिर्ह्येयमग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानमिति समुद्रो ह्येनामभितः पिन्वते वर्धमानो महाँ२ऽआ च पुष्करऽइति वर्धमानो महीयस्व पुष्करऽइत्येतद्दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथ-

अमृत से और पापरहित को पापरहित से ।।१।।

वह यह मन्त्र पढ़कर ग्रहण करता है—"मयि गृह्णाम्यग्रे ऽ अग्निम्" (यजु० १३।१)–"मैं अपने में अग्नि को ग्रहण करता हूँ।" इस प्रकार पहले आत्म में अग्नि को ग्रहण करता है। "रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय" (यजु० १३।१)—"धन, सुसन्तान और पराक्रम के लिए।" इस प्रकार सब आशिष (आशीर्वाद) को अपने में ग्रहण करता है। "मामु देवताः सचन्ताम्" (यजु० १३।१)–"देवता मेरी सहायता करें।" इस प्रकार सब देवतों (शक्तियों) को अपने में धारण करता है। इस प्रकार अपने में उन सब शक्तियों को ले लेता है जिनको वह अपने में उत्पन्न करना चाहता है। खड़ा होकर वह अपने में अग्नि को धारण करता है और बैठकर वेदी को चिनता है। अग्नि पशु है। इसीलिए पशु खड़ा-खड़ा गर्भ धारण करता है और बैठकर बच्चा जनता है ।।२।।

अब सत्य साम शायद यहाँ का गान करता है, क्योंकि देवों ने कहा था कि सत्य को इसका मुख बनावें (इसको सत्य से आरम्भ करें) और सत्य हो जावें। सत्य हमारे अनुकूल हो। जिस कामना से हम इस कृत्य को करें वह सत्य हो जाय ।।३।।

उन्होंने सत्य साम का गान किया। इस प्रकार सत्य को इस (यज्ञ) का मुख बनाया (इस को सत्य से आरम्भ किया)। वे सत्य हो गए। सत्य उनका अनुगामी हो गया। जिस कामना से उन्होंने यज्ञ किया वह सत्य हो गई ।।४।।

यह यजमान भी इसी प्रकार जब सत्य साम का गान करता है तो सत्य को इसका मुख बनाता है (अर्थात् सत्य से इसका आरम्भ करता है)। वह सत्य हो जाता है। सत्य उसके अनुकूल हो जाता है। जिस कामना से वह यज्ञ को करता है वह कामना सच्ची हो जाती है ।।५।।

यह सत्य ही 'आप' है, क्योंकि 'आप' ही सत्य है। इसीलिए कहते हैं कि ये जो जल बहते हैं यह सत्य का रूप है। सृष्टि में सबसे पहले जल बनाये गए। इसलिए जब जल बहते हैं तो वे सब चीजें जिनको उगना है उगती हैं ।।६।।

अब वह एक कमल-पत्र रखता है। कमल-पत्र योनि है। इस प्रकार योनि को रखता है। (अर्थात् अग्नि के लिए 'योनि' बनाता है) ।।७।।

कमल-पत्र के रखने का प्रयोजन यह भी है कि जल पुष्कर है और पृथिवी इसका पत्र है। जैसे जल पर कमल रक्खा रहता है इसी प्रकार जल पर पृथिवी ठहरी हुई है। यह पृथिवी ही अग्नि की योनि है, क्योंकि पृथिवी से ही समस्त अग्नि (वेदी) चुनी जाती है। इस प्रकार इस पृथिवी को ही वह स्थापित करता है। वह इसलिए स्थापित करता है कि सत्य से वियोग न हो। इस प्रकार पृथिवी को सत्य के ऊपर स्थापित करता है। इसलिए यह पृथिवी सत्य पर स्थापित है। यह पृथिवी ही सत्य है क्योंकि यह सब लोकों में दृढ़तम है ।।८।।

वह इस मन्त्र से इसको रखता है—"अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः" (यजु० १३।२)—"हे पृथिवि, तू जलों की पीठ है और अग्नि की योनि।" वस्तुतः यह पृथिवी जलों की पीठ है और अग्नि की योनि। "समुद्रमभितः पिन्वमानम्" (यजु० १३।२)–"उठते हुए समुद्र के चारों ओर" क्योंकि समुद्र पृथिवी को ऊपर उठाता है। "वर्धमानो महाँ२ ऽ आ च पुष्करे" (यजु० १३।२)—अर्थात् "कमलपत्र पर बढ़।" "दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व" (यज० १३।२) "इतनी मात्रा और

स्वेत्यनुविमार्ष्ट्यसौ वाऽआदित्य एषोऽग्निर्नो हैतमन्यो दिवो वरिमा यत्तुमर्हति द्यौर्भूत्वैनं यच्छेत्येवैतदाह स्वराज्ञोपदधाति स्वाराज्यꣳ ह्यापाꣳ सादयित्वा सूददोह-साधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥९॥ अथ रुक्ममुपदधाति । असौ वाऽआदित्य एष रुक्म एष ह्रीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते रोचो ह वै तꣳ रुक्म इत्याचक्षते प-रोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति स हिरण्मयो भवति परिमण्डल एकविꣳशतिनिर्बाधस्तस्योक्तो बन्धुरधस्तान्निर्बाधमुपदधाति रश्मयो वाऽएतस्य निर्बाधा अवस्ताद्व वाऽएतस्य रश्मयः ॥१०॥ तं पुष्करपर्णऽउपदधा-ति । योनिर्वै पुष्करपर्णं योनावेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति ॥११॥ यद्वेव पुष्करपर्ण ऽउपदधाति । प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं वै पुष्करपर्णमियमु वै प्रतिष्ठा यो वा ऽअस्यामप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव स रश्मिभिर्वाऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठि-तोऽस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥१२॥ यद्वेव पुष्करपर्णऽउपदधाति । इन्द्रो वृत्रꣳ हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्रवीद्बिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपाꣳ रस आसीत्तमूर्ध्वꣳ समुदौहंस्तामस्मै पुरमकुर्वंस्तद्यदस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मात्पुष्करं पूष्करꣳ ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्ष-कामा हि देवास्तद्यत्पुष्करपर्णऽउपदधाति यमेवास्यैतमापो रसꣳ समुदौहन्या-मस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति ॥१३॥ ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ता-दिति । असौ वाऽआदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः सुरुचो वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः सुरुचोऽसावादित्यो वेनो यद्वै प्रजिज्ञनिषमा-णोऽवेनत्तस्माद्वेनस्तानेष सीमतो मध्यतो विवृण्वन्नुदेति स बुध्या उपमा अस्य विष्ठा इति दिशो वाऽअस्य बुध्या उपमा विष्ठास्ता ह्येष उपवितिष्ठते सतश्च योनिमसतश्च विवरितीमे वै लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते त्रिष्टुभोपदधाति त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा सूददोह-

फैलाव में बढ़ जितना द्यौलोक है।" ऐसा पढ़कर कमल-पत्र का मार्जन करता है, क्योंकि यह अग्नि ही आदित्य है, और इसको द्यौलोक के सिवाय दूसरा कोई धारण नहीं कर सकता है। वह (कमल-पत्र से) कहता है—"द्यौ होकर इसको धारण कर।" वह स्वराज छन्द से इसको रखता है, क्योंकि स्वराज्य जलों का ही है। इसको रखकर वह सूददोह का पाठ करता है। इसका महत्त्व बताया जा चुका ॥९॥

अब वह उस पर स्वर्ण रखता है। यह स्वर्ण ही सूर्य है, क्योंकि यह सब प्रजाओं पर चमकता है। 'रोच' या चमकनेवाले का नाम ही 'रुक्म' है। 'रुक्म' परोक्ष नाम है। देव परोक्ष को प्रिय समझते हैं। इस प्रकार वह उस आदित्य को (वेदी में) स्थापित करता है। यह स्वर्णमय, गोल और नीचे की ओर इक्कीस नोकोंवाला होता है। इसका महत्त्व बताया जा चुका। ये नोकें उसकी किरणें हैं क्योंकि किरणें नीचे की ओर चमकती हैं ॥१०॥

उसको कमल-पत्र पर रखता है। कमल-पत्र योनि है। इस प्रकार इसको योनि में स्थापित करता है ॥११॥

कमलपत्र पर रखने का यह भी तात्पर्य है कि कमलपत्र प्रतिष्ठा है। कमलपत्र यह पृथिवी है। पृथिवी प्रतिष्ठा है। जो इस पृथिवी पर स्थापित नहीं है वह ऐसा ही अप्रतिष्ठ है जैसा वह जो दूर हो। सूर्य भूमि पर किरणों द्वारा प्रतिष्ठित है। वह इस अग्नि को इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित करता है ॥१२॥

कमलपत्र पर रखने का यह भी प्रयोजन है कि इन्द्र ने जब वृत्र को मारा तो यह समझा कि मैं अभी इसको परास्त न कर पाया। इसलिए वह जलों में घुस गया। उसने उन (जलों) से कहा, 'मैं भयभीत हूँ। मेरी रक्षा करो।' जलों में जो रस था उसको उन्होंने ऊपर उठा लिया और उसके लिए एक पुर बनाया। इसको चूँकि उन्होंने 'पुर' (रक्षा का स्थान) बनाया, इसलिए इसका नाम 'पुरकर' (पुः + कर) पड़ा। 'पुष्कर' को 'पुष्कर' कहते हैं। यह परोक्ष रूप है। देव परोक्ष को प्रिय समझते हैं। उस (स्वर्ण) को कमलपत्र पर रखने का तात्पर्य यह है कि जिस रस को जलों ने (इन्द्र के लिए) इकट्ठा किया था उस रस में, और जिस पुर को उन्होंने उसके लिए बनाया था उस पुर में, इस (अग्नि अर्थात् वेदी) की स्थापना करता है ॥१३॥

वह इस मन्त्र से इसको रखता है—"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्" (यजु० १३।३)—"पहले प्रादुर्भूत हुआ ब्रह्म आगे।" यह आदित्य ब्रह्म है क्योंकि यह प्रतिदिन पहले प्रादुर्भूत होता है। "वि सीमतः सुरुचो वेन ऽ आवः" (यजु० १३।३)—'सीमा' का अर्थ है मध्य। 'सुरुच' चमकीले ये लोक हैं। यह आदित्य 'वेन' है। प्रादुर्भूत होने की इच्छा करता है इसलिए 'वेन' (इच्छा करनेवाला) हुआ। जब वह उठता है तो मध्य में सब लोकों को ढक लेता है। "स बुध्न्या ऽ उपमा ऽ अस्य विष्ठाः" (यजु० १३।३)—"वे बुध्न्या (दिशाएँ) उसकी उपमा (माप) हैं।" क्योंकि वह उन्हीं के पास ठहरता है। "सतश्च योनिमसतश्च विवः" (यजु० १३।३)—"सत् और असत् की योनि को उसने ढका। यह लोक सत् और असत् की योनि है, क्योंकि जो है या नहीं है वह सब इन्हीं लोकों से प्रादुर्भूत होता है। इसको त्रिष्टुम् छन्द से रखता है। त्रिष्टुम् से

साधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥१४॥ अथ पुरुषमुपदधाति । स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतꣳ हिरण्यममृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥१५॥ यद्वेव पुरुषमुपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्ताद्रम्या तनूर्मध्यत उदक्रामत्तस्यामेनमुत्क्रान्तायां देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेताꣳ रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुस्तस्यामस्य देवा अरमन्त तद्यदस्यैतस्याꣳ रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धिरम्यꣳ हिरम्यꣳ ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नयमेताꣳ रम्यां तनूं मध्यतो दधाति तस्यामस्य देवा रमन्ते प्राणो वाऽअस्य सा रम्या तनूः प्राणमेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति ॥१६॥ तꣳ रुक्मऽउपदधाति । असौ वाऽआदित्य एष रुक्मोऽथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः स एष तमेवैतदुपदधाति ॥१७॥ उत्तानमुपदधाति । एतद्वै देवा अब्रुवन्यदि वाऽइमाववाञ्चाऽउपधास्यामः सर्वमेवेदं प्रधक्ष्यतो यद्यु पराञ्चौ पराञ्चाविव तप्स्यतो यद्यु सम्यञ्चावन्तरैवैतावेतज्ज्योतिर्भविष्यत्यथोऽअन्योऽन्यꣳ हिꣳसिष्यतऽइति तेऽर्वाञ्चमन्यमुपादधुः पराञ्चमन्यꣳ स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः प्राणैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः प्राञ्चमुपदधाति प्राङ् ह्येषोऽग्निश्चीयते ॥१८॥ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रऽइति । हिरण्यगर्भो ह्येष समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमामित्येष वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत् ॥१९॥ द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिति । असौ वाऽआदित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दतीत्यमूमितीमामिमं च योनिमनु यश्च पूर्व इतीमं च लोकममुं चेत्येतदथो यश्चेदमेतर्हि चीयते यश्चादः पूर्वमचीयतेति समानं योनिमनु संचरन्तमिति समानꣳ ह्येष एतं योनिमनु संचरति द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यसौ वा

इसको रखकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥१४॥

अब वह उस पर पुरुष (स्वर्ण के बने हुए पुरुष) को रखता है। वह प्रजापति है, वह अग्नि है और वह यजमान है। वह स्वर्ण का होता है, क्योंकि स्वर्ण ज्योति है, अग्नि भी ज्योति है। स्वर्ण अमृत है, अग्नि अमृत है। यह पुरुष होता है, क्योंकि प्रजापति भी पुरुष है ॥१५॥

पुरुष को रखने का प्रयोजन यह है कि जब प्रजापति सुस्ताया तो उसका रम्य शरीर उसके भीतर से भाग गया। जब वह रम्य शरीर उसमें से निकल भागा तो देवों ने उसे छोड़ दिया। जब देवों ने उसे चंगा किया तो उन्होंने उस रम्य शरीर को उसके भीतर रख दिया और देव उसके उस रम्य शरीर से प्रसन्न हो गये। और वे प्रसन्न हो गये (हिरम्य), इसलिए उसका नाम हिरम्य या परोक्ष रूप में हिरण्य हो गया, क्योंकि देवों को परोक्ष रूप प्रिय है। इसी प्रकार यह यजमान भी इस रम्य शरीर को अग्नि में स्थापित करता है। इसी से देव प्रसन्न होते हैं। यह रम्य शरीर इसका प्राण है। इस प्रकार वह उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है ॥१६॥

वह उसको स्वर्णपत्र (रुक्म) पर रखता है, क्योंकि यह सूर्य ही रुक्म है। यह जो उस (सूर्य के) गोले में पुरुष है वह इसी को स्थापित करता है, अर्थात् यह स्वर्ण का पुरुष उसी पुरुष का स्थापक है ॥१७॥

उस (स्वर्ण के पुरुष को) पीठ के बल रखता है। उस समय देवों ने कहा था, 'यदि हम इन दोनों को अपनी ओर रक्खेंगे तो इस सब जगत् को भस्मीभूत कर देंगे। यदि दूसरी ओर रक्खेंगे तो केवल दूसरी ओर ही गर्मी पहुँचेगी। यदि एक-दूसरे की ओर मुँह करके, तो इन दोनों के बीच में ही प्रकाश पहुँचेगा और ये एक-दूसरे को हानि पहुँचावेंगे। इसलिए एक को इस ओर मुँह करके रक्खा और दूसरे को दूसरी ओर। एक अर्थात् रुक्म अपनी किरणों से निचले प्रान्त को गर्मी पहुँचाता है और पुरुष अपने प्राण द्वारा ऊपर के प्रान्त को। उसको पूर्व की ओर (मुख करके) रखता है। पूर्व में ही अग्नि (वेदी) का चयन किया जाता है ॥१८॥

इसको इस मन्त्र से रखता है—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (यजु० १३।४, ऋग्वेद १०।१२१।१)—पहले हिरण्यगर्भ ही प्रादुर्भूत हुआ था। "भूतस्य जातः पतिरेक ऽ आसीत्" (यजु० १३।४)—"यह वस्तुतः इस सब जगत् का पति था।" "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (यजु० १३।४)—"वस्तुतः इसने द्यौलोक और पृथिवी को धारण किया।" "कस्मै देवाय हविषा विधेम" (यजु० १३।४)—'कः' नाम है प्रजापति का, उसी की हवि से पूजा करते हैं ॥१९॥

"द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्याम्" (यजु० १३।५, ऋ० १०।१७।११)—"पृथिवी और द्यौ पर एक बिन्दु गिरा।" यह आदित्य ही बिन्दु है जो पृथिवी और द्यौलोक में गिरता है—चढ़ते समय द्यौ में और डूबते समय पृथिवी में। "इमं च योनिमनु यश्च पूर्वः" (यजु० १३।५)—"इस योनि में और पहली में" अर्थात् इस लोक में और उस लोक में। यह इसमें जो बनने को है (अर्थात् आहवनीय) और उसमें जो बन चुकी है अर्थात् गार्हपत्य। "समानं योनिमनु संचरन्तम्" (यजु० १३।५)—"समान योनि की ओर जाता हुआ।" "द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः (यजु० १३।५)—"सप्तहोत्रों को बिन्दु अर्पण करता हूँ।" 'द्रप्स' कहा है इस आदित्य (चमकनेवाले

ऽआदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥२०॥ द्वाभ्यामुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपदधाति । त्रिष्टुब्भ्यां त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥२१॥ अथ साम गायति । एतद्वै देवाऽएतं पुरुषमुपधाय तमेतादृशमेवापश्यन्यथैतच्छुष्कं फलकम् ॥२२॥ तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति ॥२३॥ ते चेतयमानाः । एतत्सामापश्यंस्तदगायंस्तदस्मिन्वीर्यमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति पुरुषे गायति पुरुषे तद्वीर्यं दधाति चित्रे गायति सर्वाणि हि चित्राण्यग्निस्तमुपधाय न पुरस्तात्परीयान्नेन्मायमग्निर्हिनसदिति ॥२४॥ अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽइमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च सर्वेषामु ह्येष देवानामात्मा यदग्निस्ते देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै न इमे लोका अनेनात्मना न सर्पेयुरिति ॥२५॥ तऽएतानि सर्पनामान्यपश्यन् । तैरुपातिष्ठन्त तैरस्माऽइमांल्लोकानस्थापयंस्तैरनमयन्यदनमयंस्तस्मात्सर्पनामानि तथैवैतद्यजमानो यत्सर्पनामैरुपतिष्ठतऽइमानेवास्माऽएतल्लोकान्स्थापयतीमांल्लोकान्नमयति तथो हास्यैतऽएतेनात्मना न सर्पन्ति ॥२६॥ यद्वेव सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽइमे वै लोकाः सर्पा यद्धि किं च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति तद्यत्सर्पनामैरुपतिष्ठते येष्वेषु लोकेषु नाष्ट्रा यो व्यद्वरो या शिमिदा तदेवैतत्सर्वं शमयति ॥२७॥ नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु । येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति यऽएवेषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति ॥२८॥ या इषवो यातुधानानामिति । यातुधानप्रेषिता ह्येके दशन्ति ये वा वनस्पतींरनु ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव वनस्पतिषु सर्पा ये चावटेषु शेरते तेभ्य एतन्नमस्करोति ॥२९॥ ये वामी

सूर्य को) और दिशायें 'सप्त होत्र' हैं। इस प्रकार दिशाओं में आदित्य की स्थापना करता है ॥२०॥

इसको दो ऋचाओं द्वारा रखता है। यजमान के दो पाद हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही द्वारा इसको रखता है। दो त्रिष्टुम्-मंत्रों से, क्योंकि इस (आदित्य) का त्रिष्टुम् से सम्बन्ध है। उसको रखकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥२१॥

अब साम का गान करता है। जब देवों ने उस पुरुष की स्थापना की तो उन्होंने उसको ऐसा देखा जैसे कोई सूखा फलक (लकड़ी का तख्ता) हो ॥२२॥

वे बोले, इस बात पर विचार करो कि इस पुरुष में वीर्य कैसे धारण करावें ॥२३॥

उन्होंने सोचकर इस साम को निकाला और उसका गान किया। इस प्रकार इस पुरुष में वीर्य धारण कराया। इसी प्रकार यह भी इस पुरुष में वीर्य धारण कराता है। वह पुरुष के ऊपर ही साम गान करता है। वह पुरुष में वीर्य धारण कराता है। वह चित्र (चमकदार)पर गाता है, क्योंकि जितने चित्र हैं वे सब अग्नि ही हैं। इसको रखने के पश्चात् वह उसके सामने से न निकले जिससे अग्नि उसको हानि न पहुँचा सके ॥२४॥

अब 'सर्पनाम' ऋचा (यजु० १३।६) के द्वारा उसकी पूजा करता है। ये लोक सर्प हैं। वे इसी सबके साथ जो कुछ कि यहाँ है चलते हैं। यह जो अग्नि है यह इन सबका देवता है। जब उन देवों ने अपने आत्मा को उसमें धारण कर लिया तो वे डरे कि कहीं उनकी आत्मा भी इन लोकों के साथ न चली जाय ॥२५॥

उन्होंने 'सर्पनाम' ऋचाओं को निकाला और उनसे पूजा की। इन्हीं के द्वारा उन्होंने उन लोकों को ठहराया और उनको नमाया। इसीलिए इनको सर्पनाम कहते हैं। इसी प्रकार यजमान भी जब सर्पनाम ऋचाओं से पूजा करता है तो इन लोकों को अपने लिए ठहराता है और इनको नमाता है। इस प्रकार वे इसके आत्मा के साथ भागने नहीं पाते ॥२६॥

सर्पनामों से पूजा करने का यह भी हेतु है कि ये लोक सर्प हैं, क्योंकि जो कुछ चलता है इन्हीं के भीतर चलता है। जब यह सर्पनामों से पूजा करता है तो इन लोकों में जो नाष्ट्र, व्यध्वर और शमिदा (दुष्ट राक्षस) हैं उन सबका शमन करता है ॥२७॥

वे मन्त्र ये हैं—"नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये ऽ अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः" (यजु० १३।६)—"जो लोक पृथिवी में हैं या अन्तरिक्ष में या द्यौ में, उन सबको नमस्कार हो।" इस प्रकार इन तीनों में जो-जो लोक हैं उनको नमस्कार करता है ॥२८॥

"या ऽ इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ १ ऽ रनु। ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः" (यजु० १३।७)—"जो यातुधानों के बाण हैं, जो वनस्पतियों में हैं, या जो छिद्रों में सोते हैं, उन सब लोकों को नमस्कार हो।" अर्थात् जो बाण यातुधानों दारा प्रेरित होकर काटते हैं, इत्यादि, उन सबको नमस्कार करता है ॥२९॥

रोचने दिवो । ये वा सूर्यस्य रश्मिषु येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति यत्र-यत्रैते तद्देवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवै-नानेतन्नमस्कारेण नमस्यति तस्माडु ह नायज्ञियं ब्रूयान्नमस्तऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्तऽइति तादृक्तत् ॥३०॥ त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका अथो त्रि-वृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्माऽएतदिमाँल्लोकान्त्स्थापयत्यथो ता-वतैवैतदिदꣳ सर्वꣳ शमयति तिष्ठन्नुपतिष्ठते तिष्ठन्तीव वाऽइमे लोका अथो ति-ष्ठन्वै वीर्यवत्तरः ॥३१॥ अथैनमुपविश्याभिजुहोति । आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्यो-क्तो बन्धुः सर्वतः परिसर्पꣳ सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति ॥३२॥ य-द्वेवैनमभिजुहोति । एतद्धि देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै न इममिह र-क्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतान्राक्षोघ्नान्प्रतिसरानपश्यन्कृणुष्व पाजः प्रसि-तिं न पृथ्वीमिति राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्तऽएतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो र-क्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानꣳ समस्कुर्वत तथैवैतद्यजमान एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानꣳ सं स्कुरुते ॥३३॥ आज्येन जुहोति । वज्रो वाऽआज्यं वज्रेणैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अ-पहन्ति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावा-नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्त्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती रक्षोहाग्निनैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्रक्षाꣳ-सि नाष्ट्रा अपहन्ति सर्वतः परिसर्पꣳ सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अ-पहन्ति ॥३४॥ पश्चादग्नेः प्राङासीनो । ऽथोत्तरतो दक्षिणाथ पुरस्तात्प्रत्यङ्ङथ ज-घनेन परीत्य दक्षिणात उदङ्ङासीनस्तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्राथानुपरीत्य पश्चात्प्रा-ङासीनस्तथो हास्यैतत्प्रागेव कर्म कृतं भवति ॥३५॥ अथ स्रुचाऽउपदधाति । बाहू वै स्रुचौ बाहूऽएवास्मिन्नेतत्प्रतिदधाति ते यत्स्रुचौ भवतः स्रुचौ हि बाहू

"ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्य्यस्य रश्मिषु । येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः" (यजु० १३।८)—इस प्रकार वह उन सबको नमस्कार करता है जहाँ कहीं भी ये हों। 'नम' नाम है यज्ञ का, इस नम या यज्ञ द्वारा ही वह इनकी पूजा करता है, इनको नमाता है। इसी लिए कहते हैं कि जो अयज्ञिय है (यज्ञ का अधिकारी नहीं) उसको नमस्कार न करे, क्योंकि इस कथन का अर्थ यह होगा कि तुम्हारे लिए यज्ञ हो ॥३०॥

इन तीन ऋचाओं से पूजा करता है। ये लोक तीन हैं। अग्नि भी त्रिवृत् है। जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा है, उसी के अनुसार वह इन लोकों की स्थापना करता है और उसी के द्वारा वह यहाँ की सब चीजों का शमन करता है। वह खड़े-खड़े पूजा करता है, क्योंकि ये लोक भी खड़े-से हैं। खड़े मनुष्य में अधिक बल होता है ॥३१॥

अब बैठकर उस (स्वर्णमय पुरुष) पर घी की पाँच आहुतियाँ देता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। ये आहुतियाँ सब ओर घूमकर दी जाती हैं। इससे यह सब ओर अग्नि को अन्न पहुँचाता है ॥३२॥

इन आहुतियों का यह भी प्रयोजन है कि जब देवों ने अपना शरीर रख दिया तो डरे कि राक्षस दुष्ट इस शरीर को कहीं नष्ट न कर दें। तब उन्होंने इन राक्षसों को नष्ट करनेवाले प्रतिसरों को देखा। (यजु० १३।९-१३ या ऋ० ४।४।१-५ ये पाँच मन्त्र प्रतिसर हैं) "कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथिवीम्" (प्रसितिं पृथिवीम् न)—भारी जाल के समान (पाजः कृणुष्व) बल को बढ़ाओ। ये प्रतिसर (पाँच मन्त्र) राक्षसों के घातक हैं। इन प्रतिसरों से सब दिशाओं के राक्षसों को मारकर अपने शरीर की रक्षा की। इसी प्रकार यह यजमान भी इन प्रतिसरों से सब दिशाओं के दुष्ट राक्षसों को मारकर अपने शरीर की रक्षा करता है ॥३३॥

घी की आहुति देता है। घी वज्र है। इस घीरूपी वज्र के द्वारा वह दुष्ट राक्षसों को मारता है, पाँच आहुतियों से। अग्नि (वेदी) में पाँच तहें हैं। वर्ष में पाँच ऋतुएँ हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने से ही वह दुष्ट राक्षसों का नाश करता है, अग्नि-सम्बन्धी मन्त्रों से, क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारनेवाली ज्योति है। इससे राक्षसों को मारता है, त्रिष्टुभ् छन्द से। त्रिष्टुभ् वज्र है। इस त्रिष्टुभ् रूपी वज्र से दुष्ट राक्षसों का नाश करता है। सब ओर घूमकर आहुति देता है जिससे सब ओर राक्षसों का नाश करता है ॥३४॥

वेदी के पीछे पूर्व की ओर मुख करके, उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख होकर, फिर आगे पश्चिम की ओर, फिर परिक्रमा देकर पीछे, दाहिनी ओर उत्तराभिमुख बैठकर। (आहुतियाँ इस प्रकार दी जाती हैं) इस प्रकार दाहिनी ओर मुड़ता है। यह देवों की रीति है। फिर घूमकर पीछे बैठकर पूर्वाभिमुख होकर। इस प्रकार यह कर्म पूर्व की ओर किया जाता है ॥३५॥

अब वह स्रुचों को रखता है। स्रुच बाहें हैं। इस प्रकार वह वेदी को भुजाओं से युक्त

ऽइदमेव कपुष्ठलमयं दण्डो द्वे भवतो द्वौ ह्रीमौ बाहू पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो ह्रीमौ बाहू ॥३६॥ कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतᳬ रक्षोहणं वनस्पतिमपश्यन्कार्ष्मर्यं तऽएतेन वनस्पतिना दक्षिणतो रक्षाᳬसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञमतन्वत तथैवैतद्यजमान एतेन वनस्पतिना दक्षिणतो रक्षाᳬसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञं तनुतऽआज्येन पूर्णा भवति वज्रो वाऽआज्यं वज्रेणैवैतद्दक्षिणतो रक्षाᳬसि नाष्ट्रा अपहन्ति ॥३७॥ अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जमेवास्मिन्नेतद्रसं दधाति दध्ना पूर्णा भवति रसो वै दधि रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥३८॥ यद्वेव स्रुचाऽउपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत्सोऽत्रोद्रमच्छत्कृष्टोद्रमतस्मात्कार्ष्मर्योऽथास्येन्द्र ओज आदायोदङ्ङुदक्रामत्स उदुम्बरोऽभवत् ॥३९॥ तावब्रवीत् । उप मेतं प्रति मऽएतद्धत्तं येन मे युवमुदक्रमिष्टमिति ताभ्यां वै नौ सर्वमन्नं प्रयच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथामिति तथेति ताभ्यां वै सर्वमन्नं प्रायच्छत्तावेनं बाहू भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद्बाहुभ्यामेवान्नं क्रियते बाहुभ्यामद्यते बाहुभ्याᳬ ह्नि स सर्वमन्नं प्रायच्छत् ॥४०॥ स कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामीति यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यग्निर्मूर्धा दिवः ककुदित्येष उ सोऽग्निर्गायत्र्या गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदुपदधाति घृतेन पूर्णा भवत्याग्नेयं वै घृतᳬ स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥४१॥ अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति । इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र ओज आदायोदङ्ङुदक्रामत्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदाग्नेय्यग्निकर्म ह्यथ यत्त्रिष्टुप्त्रैष्टुभो हीन्द्र ऐन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदुपदधा-

करता है। स्रुचों को क्यों? इसलिए कि ये बाहु हैं। स्रुच के दो भाग हैं—एक कपुच्छल (कटोरी), दूसरा दण्ड (पकड़ने का हत्था)। बाहु भी दो होते हैं। इनको दोनों बाजू से (दाहिनी ओर और बाईं ओर) रखता है क्योंकि ये बाहु भी दोनों ओर ही होते हैं ॥३६॥

दक्षिण की ओर कार्ष्मर्य लकड़ी का बना स्रुच होता है। इसका कारण यह है कि देवों को डर लगा कि दक्षिण (दाहिनी) की ओर दुष्ट राक्षस यज्ञ को विध्वंस न कर डालें। तब उन्होंने इन राक्षसों को मारनेवाली कार्ष्मर्य लकड़ी को देखा (खोजकर निकाला)। इससे उन्होंने दुष्ट राक्षसों का संहार किया और अभय होकर यज्ञ का सम्पादन किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इस कार्ष्मर्य लकड़ी के द्वारा दुष्ट राक्षसों का संहार करके अभय होकर यज्ञ करता है। यह स्रुच घी से पूर्ण होता है। घी वज्र है। इसी घीरूपी वज्र से दक्षिण की ओर दुष्ट राक्षसों का हनन करता है ॥३७॥

उत्तर (बाईं) की ओर उदुम्बर लकड़ी का स्रुच होता है। उदुम्बर का अर्थ है ऊर्ज (शक्ति) या रस। इस प्रकार वह इसको ऊर्ज से सम्पन्न करता है। यह स्रुच दही से पूर्ण होता है। दही रस है। इस प्रकार वह इसको रस से सम्पन्न करता है ॥३८॥

इन दो स्रुचों के रखने का प्रयोजन यह भी है कि जब प्रजापति थक गया तो उसके तेज को लेकर अग्नि दक्षिण की ओर चला गया और वहीं ठहर गया। चूँकि (कृष्ट्वा) अर्थात् तेज को 'खींच' कर ले गया इसलिए 'कार्ष्मर्य' हुआ। और इसके पश्चात् इन्द्र इसके ओज को लेकर उत्तर को चला गया। इसलिए इसका नाम उदुम्बर हुआ ॥३९॥

उन दोनों से प्रजापति बोला कि तुम दोनों आओ और मुझसे जो ले गये हो उसको मुझे लौटा दो। उन्होंने कहा, 'अच्छा, सब अन्न हमको दे दो।' प्रजापति ने कहा, 'अच्छा, तुम दोनों हमारी भुजाएँ बन जाओ।' उन्होंने कहा, 'अच्छा।' उसने उन दोनों को सब अन्न दे दिया और वे दोनों उसके बाहु बनकर रहे। इसीलिए अन्न इन दो भुजाओं से कमाया जाता है और दोनों बाहुओं से ही खाया (भोगा) जाता है, क्योंकि प्रजापति ने यह अन्न उन दोनों बाहुओं को ही तो अर्पण कर दिया था ॥४०॥

कार्ष्मर्य स्रुच को दाहिनी ओर इस मन्त्र से रखता है। "अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि" (यजु० १३।१३)—"तुमको अग्नि के तेज से रखता हूँ।" इसके जिस तेज को अग्नि लेकर दक्षिण को भाग गया था, उस तेज को वह इसमें स्थापित करता है। "अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाँ रेताँसि जिन्वति" (यजु० १३।१४)—"अग्नि द्यौलोक का शिर और पृथिवी का पति है। यह जलों के बीज को जीवित करता है।" अग्नि द्यौ का शिर तो है ही, गायत्री छन्द से, क्योंकि अग्नि गायत्रीवाला है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी के अनुसार उसको रखता है। यह स्रुच घी से पूर्ण होती है। घी अग्नि का है। इस प्रकार उसको उसी के भाग या उसी के रस से प्रसन्न करता है ॥४१॥

उदुम्बर के स्रुच को उत्तर में रखता है, इस मन्त्रांश से—"इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि" (यजु० १३।१४)—"तुझको इन्द्र के ओज से रखता हूँ।" इसका जो ओज इन्द्र लेकर उत्तर को चला गया था, उसी को वह उसमें फिर धारण कराता है—"भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्" (यजु० १३।१५)—"तू पृथिवी का, यज्ञ का और द्यौलोक का नेता है, जहाँ तू अपनी कल्याणप्रद किरणों के साथ व्यवहार करता है। द्यौलोक में तू अपने तेजयुक्त शिर को रखता है। हे अग्नि, तू जीभ में हवि को ले जाता है।" यह स्रुच इन्द्र ही है। ये आग्नेयी ऋचा इसलिए हैं कि यह अग्नि-सम्बन्धी कर्म है। त्रिष्टुभ् छन्द से इसलिए कि इन्द्र का त्रिष्टुभ् छन्द है। अग्नि में इन्द्र और अग्नि दोनों शामिल हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही के अनुसार उसको

तौन्द्राग्नौ वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामे-तदुपदधाति दध्ना पूर्णा भवत्यैन्द्रं वै दधि स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणा-ति ॥४२॥ तावस्यैताविन्द्राग्नीऽएव बाहू । तावेनं तेजसा च वीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुषमाकाश्य यत्राभ्याप्नोति तदालिख्यैनेऽउपदधात्येष ह्ये-तयोर्लोकः ॥४३॥ ते हैके तिरश्च्याऽउपदधति । तिर्यञ्चौ वाऽइमौ बाहूऽइति न तथा कुर्यात्प्राच्यावेवोपदध्यात्प्राङ् ह्येषोऽग्निश्चीयतेऽथोऽएवं वै बाहू वीर्य-वत्तरौ ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना ह्ये-मौ बाहू ॥४४॥ तदाहुः । नैतस्य पुरुषस्य बाहू कुर्यादेतौ वाऽअस्य बाहू येऽएते स्रुचौ नेदतिरेचयानीति स वै कुर्यादेवैतौ वाऽअस्य बाहूऽअन्वेते स्रुचा-वथोऽएतौ पक्षावथो यान्येतस्मिन्नग्नौ रूपाण्युपधास्यन्भवति यान्स्तोमान्यानि पृ-ष्ठानि यानि छन्दाᳬस्येतयोरेव सा संस्कृतिरेतयोर्वृद्धिस्तस्माद् कुर्यादेवैतस्य पु-रुषस्य बाहू ॥४५॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [४. १.] ॥ ॥

स्वयमातृण्णामुपदधाति । इयं वै स्वयमातृण्णेमामेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधात्यन्नं वै स्वयमातृण्णेयं वै स्वयमातृण्णेयमु वाऽअन्नमस्याᳬ हि सर्व-मन्नं पच्यतेऽनन्तर्हितमेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरामुत्तरमेवास्मादेतदन्नं दधाति ॥१॥ यद्वेव स्वयमातृण्णामुपदधाति । प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो ह्येवैतत्स्वयमात्मन आतृन्ते प्राणमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधाति प्राणो वै स्वयमा-तृण्णेयं वै स्वयमातृण्णेयमु वै प्राणो यद्धि किं च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्त्यनन्तर्हि-तमेवास्मादेतत्प्राणं दधात्युत्तरामुत्तरमेवास्मादेतत्प्राणं दधाति ॥२॥ यद्वेव स्वय-मातृण्णामुपदधाति । प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तासु व्युत्क्रामन्ती-षु प्रतिष्ठामभिपद्योपाविशत् ॥३॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रᳬसत । अयमेव स यो ऽयमग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वयमातृण्णा तद्यदेतामत्रोपदधाति

रखता है। यह स्रुच दही से पूर्ण होती है। दही इन्द्र का है। इस प्रकार इसको इसी के भाग और रस से तृप्त करता है ॥४२॥

वस्तुतः इन्द्र और अग्नि प्रजापति की भुजाएँ हैं। उनको तेज और वीर्य से युक्त करता है। वह स्वर्ण पुरुष की ओर छाती करके उसको देखता हुआ पृथिवी को छूता हैं। अब अध्वर्यु वही चिह्न बनाकर दोनों स्रुचों को रख देता है, क्योंकि यही उनका स्थान है ॥४३॥

कुछ उनको तिरछा रखते हैं, क्योंकि हमारे बाहु भी तो तिरछे होते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उनको पूर्वाभिमुख रक्खे, क्योंकि यह अग्नि (वेदी) पूर्वाभिमुख ही बनाई जाती है। इससे बाहु दृढ़ भी होते हैं। वह इनको-अलग अलग रखता है, अलग-अलग स्थापित करता है। सूददोहों का पाठ भी अलग-अलग करता है, क्योंकि ये दोनों भुजाएँ अलग-अलग होती हैं ॥४४॥

इस विषय में वे कहते हैं—'इस स्वर्ण पुरुष के बाहु न होने चाहिएँ। यह स्रुच ही इसके के बाहु हैं। अधिक की क्या आवश्यकता!' परन्तु बाहु तो बनाने ही चाहिएँ। स्रुच तो केवल बाहुओं के समान हैं। इसके अतिरिक्त ये दो बाहु तो पक्ष हैं। इस अग्नि में जितने रूप होते हैं, जो स्तोम, जो पृष्ठ, जो छन्द, ये सब इन दोनों की संस्कृति है, वृद्धि है। इसलिए इस स्वर्ण-पुरुष के बाहु भी बनाने ही चाहियें ॥४५॥

स्वयमातृण्णेष्टकोपधानादि

अध्याय ४—ब्राह्मण २

वह स्वर्ण-पुरुष के ऊपर स्वयमातृण्ण (ऐसी ईंट जिसमें स्वयं ही छिद्र हो गये हों) को रखता है। यह पृथिवी वस्तुतः स्वयमातृण्णा है। इसलिए इस पृथिवी को ही उस पर रखता है। उसको इस प्रकार रखता है कि स्वर्ण-पुरुष से अलग न हो सके। स्वयमातृण्ण अन्न है और स्वयमातृण्ण पृथिवी है। पृथिवी ही अन्न है, क्योंकि पृथिवी पर ही सब अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह अन्न को उसके अति समीप रखता है। स्वर्ण-पुरुष के ऊपर रखता है अर्थात् वह उसके ऊपर अन्न को रखता है ॥१॥

स्वयमातृण्ण के रखने का प्रयोजन यह भी है कि प्राण भी स्वयमातृण्ण है, क्योंकि वह स्वयं शरीर में से फूटकर निकलता है। इस प्रकार उसमें प्राण धारण कराता है। उसके पुरुष से चिमटाकर रखने का प्रयोजन यह है कि प्राण भी स्वयमातृण्ण है और पृथिवी भी स्वयमा-तृण्ण है। पृथिवी प्राण है, क्योंकि जो प्राणवाले हैं, वे सब इसी से उत्पन्न होते हैं। अतः वह प्राण को इस प्रकार रखता है कि वह पुरुष से अलग न होने पावे। इससे पुरुष के ऊपर रखता है। इस प्रकार प्राण को इसके ऊपर रखता है ॥२॥

स्वयमातृण्ण के रखने का यह भी प्रयोजन है कि देवता थके हुए प्रजापति को लेकर अलग हो गये। और उनमें प्रतिष्ठा पाकर वह वहाँ प्रवेश कर गया ॥३॥

यह थका हुआ प्रजापति वह अग्नि (वेदी) ही है, जो चिनी जा रही है। स्वयमातृण्ण यह

यद्वेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति ॥४॥ तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ह्येवैतत्स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुणमास्तृता विश्वकर्मणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्ण इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा मोद्वधिष्टामित्येतदव्यथमाना पृथिवीं दृꣳहेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥५॥ प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां प्रथमां चितिमपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्नित्यपाꣳ ह्ययं पृष्ठꣳ समुद्रस्य ह्ययमेम व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमिति व्यचस्वती च ह्ययं प्रथस्वती च प्रथस्व पृथिव्यसीति प्रथस्व पृथिवी चासीत्येतत् ॥६॥ भूरसीति । भूर्ह्ययं भूमिरसीति भूमिर्ह्ययमदितिरसीतीयं वाऽअदितिरियꣳ हीदꣳ सर्वं ददते विश्वधाया इत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वꣳ हितं विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीति सर्वस्य भुवनस्य धर्त्रीत्येतत्पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिꣳसीरित्येतत् ॥७॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायोदानायेति प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्माऽउ वाऽएतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इमऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रमग्निष्ट्वाभिपात्वित्यग्निष्ट्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शंतमेनेति यच्छर्दिः शंतमं तेनेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुरथ साम गायति तस्योपरि बन्धुः ॥८॥ तदाहुः । कथमेष पुरुषः स्वयमातृण्णयानभिनिहितो भवतीत्यन्नं वै स्वयमातृण्णा प्राणः स्वयमातृण्णानभिनिहितो वै पुरुषोऽन्नेन च प्राणेन च ॥९॥ अथ दूर्वेष्टकामुपदधाति । पशवो वै दूर्वेष्टका पशूनेवैतदुपदधाति तद्यैरदोऽग्निरनन्तर्हितैः पशुभिरपैत्तऽएते तानेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिताꣳ स्वयमातृण्णाया उपदधातीयं वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितांस्तदस्यै पशून्दधात्युत्तरामुत्तरांस्तदस्यै पशून्दधाति ॥१०॥ यद्वेव

पहली प्रतिष्ठा है। जब यह उस पर इसको रखता है तो मानो वेदी पर उस प्रतिष्ठा को रखता है, जो उसके शरीर के लिए थी। इसलिए वह इस (स्वयमातृण्ण ईंट) को उस पर रखता है ॥४॥

उसको वह प्रजापति के द्वारा रखता है। प्रजापति ने ही स्वयं अपने शरीर के लिए इस प्रतिष्ठा को धारण किया था। "ध्रुवासि" (यजु० १३।१६) अर्थात् "तू स्थिर है, प्रतिष्ठित है।" "धरुणा" (यजु० १३।१६)—धरुणा (बुनियाद) ही प्रतिष्ठा है क्योंकि जो धारण करे वही प्रतिष्ठा है। "आस्तृता विश्वकर्मणा" (यजु० १३।१६)—"विश्वकर्मा द्वारा स्थापित।" प्रजापति ही विश्वकर्मा है, उसी के द्वारा स्थापित हुई है। "मा त्वा समुद्र ऽ उद्वधीन्मा सुपर्णः" (यजु० १३।१६)—"तुझको समुद्र या सुपर्ण हानि न पहुँचावे।" रुक्म (स्वर्णपट) समुद्र है और पुरुष (स्वर्ण-पुरुष) सुपर्ण है। ये दोनों तुझको हानि न पहुँचावें। "अव्यथमाना पृथिवीं दृँ ह" (यजु० १३।१६)—"बिना हिले पृथिवी को दृढ़ कर।" जैसा यजु है वैसा उसका अर्थ ॥५॥

"प्रजापतिष्ट्वा सादयतु" (यजु० १३।१७)—"प्रजापति तुझको स्थापित करे।" प्रजापति ने ही तो इस पहली चिति को खोज निकाला था। "अपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्" (यजु० १३।१७)—"जलों की पीठ पर समुद्र के मार्ग में।" जलों की पीठ पृथिवी है। यही समुद्र का मार्ग है। "व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं" (यजु० १३।१७)—क्योंकि यह पृथिवी बड़ी और विस्तृत है। "प्रथस्व पृथिव्यसि" (यजु० १३।१७)—"तू फैल क्योंकि तू पृथिवी है" ॥६॥

"भूरसि" (यजु० १३।१८)—यह पृथिवी भू है। "भूमिरसि" (यजु० १३।१८)—यह पृथिवी भूमि है। "अदितिरसि" (यजु० १३।१८)—यह भूमि अदिति है, क्योंकि यही सब-कुछ देती है। "विश्वधाया" (यजु० १३।१८)—क्योंकि इसी पर सब रहते हैं। "विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री" (यजु० १३।१८)—"सब संसार को धारण करनेवाली।" "पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृँ ह पृथिवीं मा हिँ सि" (यजु० १३।१८)—अर्थात् "पृथिवी को सम्भाल, पृथिवी को दृढ़ कर, पृथिवी को हानि न पहुँचा" ॥७॥

"विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय" (यजु० १३।१९)—स्वयमातृण्ण प्राण है। प्राण से सब काम चलता है। "प्रतिष्ठायै चरित्राय" (यजु० १३।१९)—यह लोक स्वयमातृण्ण है। यही लोक प्रतिष्ठा या चरित्र है। "अग्निष्ट्वाऽभिपातु" (यजु० १३।१९)—"तेरी अग्नि रक्षा करे।" "मह्या स्वस्त्या" (यजु० १३।१९)—अर्थात् "बड़ी स्वस्ति से।" "छर्दिषा शन्तमेन" (यजु० १३।१९)—अर्थात् "सुखप्रद गृह से।"

इसको रखकर सूददोह पढ़ता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। फिर साम को गाता है। इसकी भी व्याख्या हो चुकी ॥८॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि स्वयमातृण्ण ईंट से वह स्वर्ण-पुरुष दब क्यों नहीं जाता? बात यह है कि स्वयमातृण्ण अन्न या प्राण है। अन्न या प्राण से तो पुरुष दबता नहीं ॥९॥

अब दूर्व-ईंट को रखता है। दूर्व-ईंट पशु है। इस प्रकार इसमें पशुओं की स्थापना करता है। इन्हीं पशुओं से चिपटकर अग्नि पहले आई थी। इन्हीं को उसमें स्थापित करता है। इसको वह स्वयमातृण्ण से चिपटाकर रखता है। स्वयमातृण्ण है पृथिवी। इस प्रकार पृथिवी के ठीक ऊपर ही पशुओं को रखता है—उसके ऊपर, क्योंकि ऊपर ही पशुओं को स्थापित करता है ॥१०॥

दूर्वेष्टकामुपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तस्य यानि लोमान्यशीयन्त ता इमा ओषध-
योऽभवन्नथास्मात्प्राणो मध्यत उदक्रामत्तस्मिन्नुत्क्रान्तेऽपद्यत ॥११॥ सोऽब्रवीत्
। अयं वाव माधूर्वीदिति यदब्रवीद्धूर्वीन्मेति तस्माद्धूर्वा धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्या-
चक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तदेतत्क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो लोमान्य-
न्या ओषधय एतामुपदधत्सर्वा ओषधीरुपदधाति ॥१२॥ तं यत्र देवाः समस्कुर्वं
। स्तदस्मिन्नेतं प्राणꣳ रसं मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति तामनन्तर्हिताꣳ
स्वयमातृण्णाया उपदधातीयं वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितास्तदस्याऽओषधीर्दधात्युत्तरा-
मुत्तरास्तदस्याऽओषधीर्दधाति सा स्यात्समूला साग्रा कृत्स्नतायै यथा स्वयमातृण्णा-
यामुपहिता भूमिं प्राप्नुयादेवमुपदध्यादस्याꣳ ह्येवैता जायन्तऽइमामनु प्ररोहन्ति
॥१३॥ काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती । परुषः-परुषस्परीति काण्डात्काण्डाद्ध्येषा पर्व-
णः-पर्वणः प्ररोहत्येवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन चेति यथैव यजुस्तथा
बन्धुः ॥१४॥ या शतेन प्रतनोषि । सहस्रेण विरोहसीति शतेन ह्येषा प्रतनो-
ति सहस्रेण विरोहति तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयमिति यथैव यजु-
स्तथा बन्धुर्द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुः सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्यो-
क्तो बन्धुः ॥१५॥ अथ द्वियजुषमुपदधाति । इन्द्राग्नीऽअकामयेताꣳ स्वर्गं लोक-
मियावेति तावेतामिष्टकामपश्यतां द्वियजुषमिमामेव तामुपादधातां तामुपधायास्यै
प्रतिष्ठायै स्वर्गं लोकमैतां तथैवैतद्यजमानो यद्द्वियजुषमुपदधाति येन रूपेण य-
त्कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकमैतां तेन रूपेण तत्कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकमयानीति
सा यद्द्वियजुर्नाम द्वे ह्येतां देवतेऽअपश्यतां यद्वेव द्वियजुषमुपदधाति यजमानो
वै द्वियजुः ॥१६॥ तदाहुः । यदसावेव यजमानो योऽसौ हिरण्मयः पुरुषोऽथ
कतमदस्येदꣳ रूपमिति दैवो वाऽअस्य स आत्मा मानुषोऽयं तद्यत्स हिरण्मयो
भवत्यमृतं वाऽअस्य तद्रूपं देवरूपममृतꣳ हिरण्यमथ यदियं मृदः कृता भवति

दूर्व-ईंट को रखने का यह भी कारण है कि थके हुए प्रजापति के जो लोग थे वे ओषधि बन गये, इनके बीच से प्राण निकल गया और उसके निकलते ही वह गिर गया ।।११।।

वह बोला—"अयं वाव माधूर्वीत्" (इसने मुझे नष्ट कर डाला) । चूँकि अधूर्वीत् कहा इससे "धूर्वा" हो गया। 'धूर्वा' ही 'दूर्वा' है। क्योंकि देव परोक्ष को चाहते हैं। दूर्वा क्षत्र या रक्षक है। यह प्राण है, रस है। अन्य ओषधियाँ लोम हैं। दूर्वा को रखकर मानो सभी ओषधियों को रख देता है ।।१२।।

जब देवों ने उसको पुनर्जीवित किया तो उसके मध्य में प्राण या रस को रख दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी उसमें (प्राण या रस को) रखता है। वह इसको स्वयमातृण्ण के ठीक ऊपर रखता है। स्वयमातृण्ण के ऊपर ओषधि रखता है। इस प्रकार वह पृथिवी पर ओषधी रखता है; मूल और शाखा के सहित होनी चाहिए, पूर्णता के लिए। इसको इस प्रकार रखना चाहिए कि स्वयमातृण्ण ईंट के ऊपर रहकर यह पृथिवी को छू सके, क्योंकि ये पृथिवी पर ही उपजते हैं और पृथिवी पर ही उगते हैं ।।१३।।

इन ऋचाओं से रखता है—"काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि। एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च" (यजु० १३।२०)—"हे दूर्वे, काण्ड से काण्ड तक और पोरे से पोरे तथा सैकड़ों और सहस्रों गुणा हमको बढ़ा।" अर्थ स्पष्ट है ।।१४।।

"या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि। तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्" (यजु० १३।२१)—"हे ईंट देवी! हम तुझ हवि से पूछते हैं कि तू सौ गुणा बढ़ती है और हजार गुणा उगती है।" अर्थ स्पष्ट है। दो ऋचाओं को पढ़कर रखता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। इसको रखकर सूददोह पढ़ता है। इसका अर्थ भी दिया जा चुका है ।।१५।।

अब वह 'द्वियजु' ईंट को रखता है। इन्द्र और अग्नि ने चाहा कि स्वर्गलोक को जावें। उन्होंने इस द्वियजुष् नाम की ईंट को खोज निकाला और रख दिया। रखकर उसी की प्रतिष्ठा से वे स्वर्ग को गये। इसी प्रकार जब यजमान इस द्वियजुष् ईंट को रखता है तो वह सोचता है कि इसी रूप से मैं भी स्वर्ग जाना चाहता हूँ, उस कर्म को करके जिसके करने से इन्द्र और अग्नि स्वर्गलोक को गये। इसको द्वियजुष् इसलिए कहते हैं कि दो देवताओं ने इसे खोज निकाला। चूँकि इसको दो यजुओं से रखता है इसलिए यजमान को द्वियजुः कहते हैं ।।१६।।

इस पर प्रश्न करते हैं कि यदि यह (द्वियजुः) वही यजमान है जो हिरण्मय पुरुष है तो इसका असली रूप क्या है? इसका उत्तर यह है कि हिरण्मय पुरुष उसका दैवी शरीर है और यह द्वियजु ईंट उसका मानुषी शरीर। हिरण्य (ज्योति या स्वर्ण) अमृत है इसलिए हिरण्मय पुरुष इसका देवरूप या अमृतरूप है। और यह जो मिट्टी का बना है अर्थात् ईंट, यह उसका

मानुषꣳ ह्यस्येदꣳ रूपꣳ ॥१७॥ स यदमूमेवोपदध्यात् । नेमामपशिꣳष्यात्क्षिप्रे हा-स्माल्लोकाद्यजमानः प्रेयादथ यदिमामपशिनष्टि यदेवास्येदं मानुषꣳ रूपं तदस्यैत-दपशिनष्टि तथो हानेनात्मना सर्वमायुरेति ॥१८॥ स यन्नानूपदध्यात् । न हैतं दैवमात्मानमनुप्रजानीयादथ यदनूपदधाति तथो हैतं दैवमात्मानमनुप्रजानाति तामनन्तर्हितां दूर्वेष्टकाया उपदधाति पशवो वै दूर्वेष्टका यजमानं तत्पशुषु प्र-तिष्ठापयति ॥१९॥ तदाहुः । कथमस्यैतावात्मानौ प्राणेन संततावव्यवच्छिन्नौ भ-वत इति प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो दूर्वेष्टका यजमानो द्वियजुः स यदनन्तर्हि-ताꣳ स्वयमातृण्णायै दूर्वेष्टकामुपदधाति प्राणेनैव तत्प्राणꣳ संतनोति संदधात्यथ य-दनन्तर्हितां दूर्वेष्टकायै द्वियजुषमुपदधाति प्राणो वै दूर्वेष्टका यजमानो द्वियजुरे-वमु हास्यैतावात्मानौ प्राणेन संततावव्यवच्छिन्नौ भवतः ॥२०॥ यास्ते ऽअग्ने सूर्ये रुचो । या वो देवाः सूर्ये रुच इति रुचꣳ रुचमित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वमेवास्मिन्ने-तद्दधाति द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुरथो द्वयꣳ ह्येवैतद्रूपं मृच्चापश्च सादयि-त्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥२१॥ अथ रेतःसिचा ऽउपदधाति । इमौ वै लोकौ रेतःसिचाविमौ ह्येव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो वा ऽअयमूर्ध्वꣳ रेतः सिञ्चति धूमꣳ सामुत्र वृष्टिर्भवति तामसावमुतो वृष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजायन्ते तस्मादिमौ लोकौ रेतःसिचौ ॥२२॥ विराड्ज्योतिरधारयदिति । अयं वै लो-को विराट् स इममग्निं ज्योतिर्धारयति स्वराड्ज्योतिरधारयदित्यसौ वै लोकः स्वराट् सो ऽमुमादित्यं ज्योतिर्धारयति विराड्ढेमौ लोकौ स्वराड् नानोपदधाति नाना हीमौ लोकौ सकृत्सादयति समानं तत्करोति तस्मादु हानयोर्लोकयो-रन्ताः समायन्ति ॥२३॥ यद्वेव रेतःसिचा ऽउपदधाति । आण्डौ वै रेतःसिचौ यस्य ह्याण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति विराड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधार-यदिति विराड्ढेमावाण्डौ स्वराड् तावेतज्ज्योतिर्धारयतो रेत एव प्रजापतिमेव

मानुषी रूप है ॥१७॥

यदि उसी (हिरण्मय) को रखता, इस (ईंट) को न रहने देता, तो यजमान शीघ्र ही इस लोक से चल बसता। यह जो इसको रहने देता है तो मानो वह इसके मानुषी शरीर को रहने देता है, इस प्रकार वह पूरी आयु-भर इस शरीर के साथ रहता है ॥१८॥

और यदि वह इसको (स्वर्ण पुरुष के) पीछे से न रखता तो फिर इसको दैवी शरीर न मिलता। इसलिए चूँकि इसको पीछे से रखता है, अतः इसको दैवी शरीर मिलता है। वह इसको दूर्वा ईंट के पास ही रखता है। दूर्वा ईंट पशु है। इस प्रकार वह यजमान को पशुओं में स्थापित करता है ॥१९॥

इस पर उनका कहना है कि इसके इन दोनों शरीरों का प्राण के द्वारा कैसे सम्बन्ध है? वे अलग-अलग क्यों नहीं हो जाते? इसका उत्तर यह है कि स्वयमातृण्ण ईंट प्राण है। दूर्वा ईंट भी प्राण है। द्वियजु ईंट यजमान है। वह दूर्वा ईंट को स्वयमातृण्ण से चिपटाकर रखता है, इसलिए वह प्राण को प्राण से मिलाता है। और जब वह द्वियजु ईंट को दूर्वा ईंट से मिलाता है तो दूर्वा ईंट प्राण है और द्वियजु यजमान, इसलिए इसके दोनों शरीर जुड़े रहते हैं, अलग नहीं होते ॥२०॥

द्वियजु ईंट को इन दो मन्त्रों से रखता है—"यास्ते ऽ अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः। ताभिर्नो ऽ अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि" (यजु० १३।२२)—"हे अग्नि! तेरी जो ज्योतियाँ सूर्य में किरणों द्वारा द्यौलोक में फैलीं, उन सबसे आज हमको ज्योति और जन (मनुष्यगण) के लिए सहायता दे।" "या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः। इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते" (यजु० १३।२३)—"जो तुम्हारी ज्योतियाँ सूर्य में हैं, जो गौ और घोड़ों में हैं, हे इन्द्र और अग्नि, उन सब ज्योतियों को हममें स्थापित कीजिये, हे बृहस्पति!" ज्योति की प्रार्थना करता है। ज्योति अमृत है। इस प्रकार उसमें अमृत है। इस प्रकार उसमें अमृतत्व को धारण कराता है। इसको दो मन्त्रों से रखता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। इस (ईंट) के दो ही रूप हैं—एक मिट्टी का, एक जल का। इसको रखकर सूददोह का पाठ पढ़ता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥२१॥

अब 'रेतः सिच्' नामी दो ईंटों को रखता है। ये रेतःसिच् दो लोक हैं, क्योंकि ये दोनों रेत या बीज को सींचते हैं। यहाँ (पृथिवी) से ऊपर को बीज जाता है धूम के रूप में। इससे उस लोक में वृष्टि बनती है, और उस लोक से वृष्टि यहाँ होती है। इन्हीं दोनों के बीच में प्रजा उत्पन्न होती है। इसलिए ये दोनों लोक "रेतःसिच्" हैं ॥२२॥

वह इनको इस मन्त्र से रखता है—"विराड् ज्योतिरधारयत्" (यजु० १३।२४)—यह लोक विराट् है। वह इस अग्नि या ज्योति को रखता है। "स्वराड् ज्योतिरधारयत्" (यजु० १३।२४)—वह लोक स्वराट् है, वह आदित्य ज्योति को धारण करता है। विराट् और स्वराट् ये दोनों अलग-अलग लोक हैं। इसलिए वह इन (रेतःसिच् ईंटों) को अलग-अलग रखता है। वह इनको एकसाथ रखता है। इससे इनमें एकता आती है, क्योंकि इन दोनों लोकों के अन्त मिले हुए हैं ॥२३॥

रेतःसिच् ईंटों के रखने का यह भी कारण है कि ये दोनों अण्डकोष 'रेतःसिच्' हैं। जिसके ये दोनों अण्डकोष होते हैं वही वीर्य सींचने में समर्थ होता है। विराट् और स्वराट् ये दोनों अण्डकोष हैं, क्योंकि ये वीर्य अर्थात् प्रजापति को धारण करते हैं। वे दोनों अण्डकोष

नानोपदधाति नाना ह्यैतौ आण्डौ सकृत्सादयति समानं तत्करोति तस्मात्समानसम्बन्धनौ तेऽअनन्तर्हिते द्वियजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुरनन्तर्हितौ तद्यजमानादाण्डौ दधाति ॥२४॥ अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति । अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्ह्येवास्मिंल्लोके विश्वं ज्योतिरग्निमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिताꣳ रेतःसिग्भ्यामुपदधातीमौ वै लोकौ रेतःसिचावनन्तर्हितं तदाभ्यां लोकाभ्यामग्निं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव ह्यैमौ लोकावग्निः ॥२५॥ यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति । प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिताꣳ रेतःसिग्भ्यामुपदधात्याण्डौ वै रेतःसिचावनन्तर्हितां तदाण्डाभ्यां प्रजातिं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव ह्याण्डौ प्रजाः प्रजायन्ते ॥२६॥ प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां प्रथमां चितिमपश्यत्पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीमिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः ॥२७॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्माऽउ वाऽएतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतदग्निष्टेऽधिपतिरित्यग्निमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥२८॥ अथर्तव्येऽउपदधाति । ऋतव एते यदृतव्येऽऋतूनेवैतदुपदधाति मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽइति नामनीऽएनयोरेते नामभ्यामेवैनेऽएतदुपदधाति द्वेऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति ॥२९॥ तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषोऽग्निरिमेऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्यायमेव लोकः प्रथमा चितिरयमस्य लोको वसन्त ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥३०॥ यद्वेवैतेऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य प्रतिष्ठेव प्रथमा चितिः प्रतिष्ठोऽअस्य वसन्त ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति तेऽअनन्तर्हिते वि-

अलग-अलग होते हैं, इसलिए यह इनको अलग-अलग रखता है। इन दोनों को एकसाथ रखता है, क्योंकि ये दोनों मिले हैं। इन दोनों का सम्बन्ध है। इन (रेत:सिच्) ईंटों को द्वियजु ईंटों से चिपटाकर रखता है। यजमान ही द्वियजु है, अर्थात् अण्डकोषों से यजमान को युक्त करता है ॥२४॥

अब विश्वज्योतिष ईंट को रखता है। अग्नि ही पहली विश्वज्योति है। इस लोक में अग्नि ही विश्वज्योति है। इस प्रकार मानो वह अग्नि को ही रखता है। रेत:सिचों से चिपटा-कर रखता है। 'रेत:सिच्' ये दो लोक हैं, अर्थात् इन दोनों लोकों को अग्नि से संयुक्त करता है। वह इनको 'रेत:सिचों' के बीच में रखता है, क्योंकि अग्नि इन लोकों के बीच में है ॥२५॥

विश्वज्योति को इसलिए भी रखता है कि विश्वज्योति प्रजा है, क्योंकि प्रजा या सन्तान ही तो विश्वज्योति है। इस प्रकार अग्नि में प्रजनन-शक्ति को रखता है। वह इसको इस प्रकार रखता है कि 'रेत:सिच्' ईंटों से दूर न हो जाय। 'रेत:सिच्' अण्डकोष हैं, अर्थात् अण्डकोषों से प्रजनन-शक्ति दूर न होने पावे। वह इसको बीच में रखता है, क्योंकि अण्डकोषों के बीच में ही तो प्रजनन-शक्ति है ॥२६॥

वह इस मन्त्र से रखता है—"प्रजापतिष्ट्वा सादयतु" (यजु० १३।२४)—"तुझको प्रजापति रक्खे।" क्योंकि प्रजापति ने ही तो इस पहली चिति को निकाला था। "पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम्" (यजु० १३।२४)—"पृथिवी की पीठ पर ज्योतिवाली को।" क्योंकि यह ज्योतिष्मयी अग्नि भी तो पृथिवी की पीठ पर ही है ॥२७॥

"विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय" (यजु०१३।२४)—" 'विश्वज्योति' ईंट प्राण है। प्राण समस्त जगत् के लिए आवश्यक है।" "विश्वं ज्योतिर्यच्छ" (यजु० १३।२४)—अर्थात् "सम्पूर्ण ज्योति को दे।" "अग्निष्टेऽधिपति:" (यजु० १३।२४)—"अग्नि तेरा अधिपति है।" इस प्रकार अग्नि को उसका अधिपति करता है। इसको रखकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥२८॥

अब दो ऋतव्य ईंटों को रखता है। ये जो ऋतव्य ईंटें हैं, ये ऋतु हैं, अर्थात् वह ऋतुओं को रखता है। "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू" (यजु० १३।२५)—" 'मधु' और माधव ये दो वसन्त ऋतुएँ हैं।" 'मधु' और माधव इन दो ईंटों के नाम हैं। इन्हीं के नामों से इनको रखता है। दो ईंटों को रखता है क्योंकि ऋतुएँ दो हैं। एकसाथ रखता है जिससे ये दो महीने मिलकर एक ऋतु बन जावें ॥२९॥

इन दोनों को रखने का यह भी तात्पर्य है कि यह अग्नि (वेदी) संवत्सर है। ये संवत्सर भी लोक हैं। वेदी की पहली चिति यह लोक है। वसन्त ऋतु भी इस संवत्सर का लोक है। जब वह इन दो ईंटों को रखता है तो मानो (वह इस वेदी में) उस अंश को रखता है जो उसके शरीर में वसन्त से सम्बन्धित है। इसलिए वह इन दो ईंटों को रखता है ॥३०॥

इन दो ईंटों के रखने का यह भी तात्पर्य है कि यह अग्नि (वेदी) प्रजापति है। संवत्सर प्रजापति है। पहली चिति इसकी प्रतिष्ठा (बुनियाद) है। वसन्त संवत्सर की प्रतिष्ठा (बुनियाद) है। जब वह इन दो ईंटों को रखता है तो मानो वेदी में वह अंश रखता है जो उसके शरीर में वसन्त का है। इसलिए इन दोनों ईंटों को रखता है।

श्वज्योतिष उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्प्रजा ऋतुभ्यो दधाति तस्मात्प्रजा ऋतूनेवानुप्रजायन्तऽऋतुभिर्ह्येव गर्भे सन्तᳬ सम्पश्यन्त्यृतुभिर्जातम् ॥३१॥ अथाषाढामुपदधाति । इयं वाऽअषाढेमामेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्धऽउपदधाति प्रथमा ह्येयमसृज्यत ॥३२॥ सा यदषाढा नाम । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवा एतामिष्टकामपश्यन्नषाढामिमामेव तामुपादधत तामुपधायासुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्मादषाढा तथैवैतद्यजमान एतामुपधाय द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात्सर्वस्मात्सहते ॥३३॥ यद्वेवाषाढामुपदधाति । वाग्वाऽअषाढा वाचैव तद्देवा असुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त तथैवैतद्यजमानो वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात्सर्वस्मात्सहते वाचमेव तद्देवा उपादधत तथैवैतद्यजमानो वाचमेवोपधत्ते ॥३४॥ सेयं वामभृत् । प्राणा वै वामं यद्धि किं च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्ति तेनेयं वामभृद्वाग्घ त्वेव वामभृत्प्राणा वै वामं वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं धीयते तस्माद्वाग्वामभृत् ॥३५॥ तऽएते सर्वे प्राणा यदषाढा । तां पूर्वार्धऽउपदधाति पुरस्तात्तत्प्राणान्दधाति तस्मादिमे पुरस्तात्प्राणास्तान्नान्यया यजुष्मत्येष्टकया पुरस्तात्प्रत्युपदध्यादेतस्यां चितौ नेत्प्राणानपिदधानीति ॥३६॥ यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति । अन्नं वाऽआपोऽनपिहिता वाऽअन्नेन प्राणास्तामनन्तर्हितामृतव्याभ्यामुपदधात्यृतुषु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं वागृतुषु प्रतिष्ठिता वदति ॥३७॥ तदाहुः । यत्प्रजा विश्वज्योतिर्वागषाढाथ कस्मादन्तरेणाऽर्तव्येऽउपदधातीति संवत्सरो वाऽऋतव्ये संवत्सरेण तत्प्रजाभ्यो वाचमन्तर्दधाति तस्मात्संवत्सरवेलायां प्रजा वाचं प्रवदन्ति ॥३८॥ अषाढासि सहमानेति । असहन्त ह्येतया देवा असुरान्त्सहस्वारातीः सहस्व पृतनायत इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्वेति सर्वं वै सहस्रᳬ सर्ववीर्यासि सा मा जिन्वेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥३९॥ त-

इनको विश्वज्योति ईंटों से चिपटाकर रखता है। विश्वज्योति प्रजा है। इस प्रकार प्रजा को ऋतुओं से सटाकर रखता है। इसलिए सन्तान ऋतुओं के अनुसार होती है। गर्भ में भी ऋतुओं के अनुसार ही आयु का हिसाब लगाते हैं और उत्पन्न होने पर भी ऋतुओं के ही अनुसार अर्थात् कौन से मास का है, इत्यादि ॥३१॥

अब अषाढ़ा ईंट को रखता है। अषाढ़ा यह पृथिवी है। इस प्रकार वह इस पृथिवी को रखता है। इसको वह पूर्वार्ध में रखता है, क्योंकि यह पृथिवी भी तो सबसे पहले बनी थी ॥३२॥

यह अषाढ़ा नाम क्यों पड़ा? प्रजापति की दोनों सन्तान देव और असुर लड़ पड़े। देवों ने इस 'अषाढ़ा' ईंट को खोज निकाला और इसको वेदी में रख दिया, और इसके द्वारा अपने शत्रु दुष्ट असुरों को जीतकर संसार से निकाल बाहर किया। उन्होंने जीता (असहन्त), इसलिए अषाढ़ा नाम पड़ा। इसी प्रकार यजमान भी इस ईंट को रखकर अपने शत्रुओं को जीतता है ॥३३॥

अषाढ़ा को रखने का यह भी अर्थ है कि 'वाणी' अषाढ़ा है। वाणी के द्वारा ही देवों ने अपने शत्रु दुष्ट राक्षसों को जीता था। इसी प्रकार यह यजमान भी वाणी से ही अपने दुष्ट शत्रुओं को जीतकर इस सब संसार से निकालता है। देवों ने तब वाणी की ही तो स्थापना की थी। और इसी प्रकार यजमान भी वाणी की ही स्थापना करता है ॥३४॥

यह पृथिवी 'वामभृत्' है (इष्ट पदार्थों को रखनेवाली)। प्राण वाम हैं। यह पृथिवी सब प्राण लेनेवालों को धारण करती है। इसलिए इसका नाम 'वामभृत्' है। वाणी भी 'वामभृत्' है; प्राण 'वाम' हैं। वाणी में ही प्राणों के लिए खुराक पहुँचती है, इसलिए वाणी वामभृत् है ॥३५॥

यह जो अषाढ़ा ईंट है, वह सब प्राण है। उसको पूर्वार्द्ध में रखता है मानो प्राणों को सबके आगे रखता है। इसलिए प्राण भी शरीर में सबसे आगे हैं (अर्थात् प्राण लेने का अंग 'नासिका' शरीर के सामने ही है)। इस ईंट को किसी अन्य यजुष्मती ईंट के द्वारा छिपा न देना चाहिए, जिससे कहीं प्राणों को रोक न दिया जाय ॥३६॥

आगे पाँच अपस्या ईंटों को रखने का अर्थ यह है कि जल (आप) अन्न है और अन्न के द्वारा प्राण रुकते नहीं। इस (अषाढ़ा) को ऋतव्य ईंटों से सटाकर रखता है, अर्थात् ऋतुओं में वाणी की स्थापना करता है। यह वाणी ऋतुओं में स्थापित होकर ही बोलती है ॥३७॥

इस पर आक्षेप होता है कि प्रजा तो विश्वज्योति है और वाणी अषाढ़ा है, तो इसको दो ऋतव्यों के बीच में क्यों रक्खा जाय? बात यह है कि दो ऋतव्य ईंटें संवत्सर हैं। वह वाणी के बीच में एक संवत्सर या वर्ष को डाल देता है, इसीलिए बच्चे एक साल में बोल पाते हैं ॥३८॥

इस मन्त्र से रखता है—"अषाढासि सहमाना" (यजु० १३।२६)—"तू जीतनेवाली अषाढ़ा है।" इसी से देवों ने असुरों को जीता था। "सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः" (यजु० १३।२६)—"शत्रुओं को जीत, वैरियों को जीत।" "सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व" (यजु० १३।२६)—"हजार पराक्रमवाली है वह तू, मुझको जिता।" इसको रखकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥३९॥

दाङ्क्षः । कस्मादभिस्वयमातृण्णमन्या इष्टका उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वे वै यो-नीऽइति ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रजनना वै देवाः प्रतीचीन-प्रजनना मनुष्यास्तद्यदेताः प्राचीरुपदधाति देवयोनेरेवैतद्यजमानं प्रजनयति ॥४०॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [४. २.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या८५ ॥ चतुर्थो ऽध्यायः [४७.] ॥ ॥

कूर्ममुपदधाति । रसो वै कूर्मो रसमेवैतदुपदधाति यो वै स एषां लोकाना-मप्सु प्रविष्टानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तमेवैतदुपदधाति यावानु वै रस-स्तावानात्मा स एष इमऽएव लोकाः ॥१॥ तस्य यदधरं कपालम् । अयꣳ स लोकस्तत्प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित-इव ह्ययं लोकोऽथ यदुत्तरꣳ सा द्यौ-स्तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौरथ यदन्तरा तदन्तरिक्षꣳ स एष इमऽएव लोका इमानेवैतल्लोकानुपदधाति ॥२॥ तमभ्यनक्ति । दध्ना मधु-ना घृतेन दधि हैवास्य लोकस्य रूपं घृतमन्तरिक्षस्य मधमुष्य स्वेनैवैनमेतद्रूपेण समर्धयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो घृतमन्तरिक्षस्य मधमुष्य स्वेनैवैनमेत-द्रसेन समर्धयति ॥३॥ मधु वाता ऋतायतऽइति । यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सऽर्क्सो देवता तद्यजुस्तद्धैतन्मध्वेवैष त्रिचो रसो वै मधु रस-मेवास्मिन्नेतद्दधाति गायत्रीभिस्तिसृभिस्तस्योक्तो बन्धुः ॥४॥ स यत्कूर्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्मः क-श्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति ॥५॥ स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यो । ऽमुमेवैतदादित्यमुपदधाति तं पुरस्तात्प्रत्यञ्चमुपदधात्यमुं तदादि-त्यं पुरस्तात्प्रत्यञ्चं दधाति तस्मादसावादित्यः पुरस्तात्प्रत्यङ् धीयते दक्षिणातो ऽषाढायै वृषा वै कूर्मो योषाषाढा दक्षिणातो वै वृषा योषामुपशेतेऽरत्निमात्रे ऽरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते सैषा सर्वासामिष्टकानां महिषी यदषाढैतस्यै

इस पर प्रश्न करते हैं–इन ईंटों को स्वयमातृण्ण ईंटों के सामने क्यों रखते हैं ? इसका उत्तर देना चाहिए कि ये दो योनियाँ हैं, एक देवों की, दूसरी मनुष्यों की। देव पूर्व में हुए (शायद पहले) और मनुष्य पश्चिम में (शायद पीछे)। इन ईंटों को आगे रखता है, मानो यजमान को देवयोनि से ही उत्पन्न कराता है ॥४०॥

कूर्मादीनामुपधानादि

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब वह कूर्म (कछुआ ?) को रखता है। कूर्म कहते हैं रस को। इस प्रकार रस को उस (वेदी) में रखता है। इन लोकों का जो रस जल में डूबने के कारण निकल भागा था, वह यही कूर्म है। उसी को उसमें रखता है। जितना रस होता है, उतना ही शरीर होता है। इस प्रकार यही कूर्म ये लोक हैं (इन लोकों का स्थानापन्न है) ॥१॥

उसका जो नीचे का कपाल है वह यह लोक है। यह प्रतिष्ठित अर्थात् निश्चल होता है, क्योंकि यह लोक भी प्रतिष्ठित है। जो ऊपर का कपाल है वह द्यौ है। उसके किनारे झुके होते हैं क्योंकि द्यौ झुका हुआ है। जो बीच का है वह अन्तरिक्ष है। इस प्रकार यह कूर्म इन सब लोकों का स्थानापन्न है। इन्हीं सब लोकों को इस (वेदी) में रखता है ॥२॥

इस पर दही, मधु और घी लगाता है। दही इस लोक का रूप है, घी अन्तरिक्ष का, मधु उस लोक का। इस प्रकार वह इसको उसी के निज रूप से संयुक्त करता है। अथवा दही इस लोक का रस है, घी अन्तरिक्ष का और मधु उस लोक का। इस प्रकार इसको इसी के निज रस से संयुक्त करता है—॥३॥

इन मन्त्रों से—"मधुवाता ऽ ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः" (यजु० १३।२७) "मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव ँ्रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता" (यजु० १३।२८) "मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ ऽ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः" (यजु० १३।२९, ऋ० १।९०।६-८)—जिस देवता को ऋचा कहती है या जिसको यजु, वह देवता वह ऋचा है, वही देवता वह यजु है। इसलिए यह त्रिच (तीन ऋचाओं का योग) मधु है। मधु रस है। इस प्रकार इसमें रस रखता है, तीन गायत्री मन्त्रों से। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥४॥

इसको कूर्म क्यों कहते हैं ? प्रजापति ने यही रूप धारण करके प्रजा सृजी। 'सृजी' का अर्थ है 'की' (अकरोत्)। 'की', इसलिए इसका नाम हुआ कूर्म। कूर्म कहते हैं कश्यप (कछवे) को। इसलिए कहते हैं कि सब प्रजा कश्यप की सन्तान है ॥५॥

यह जो कूर्म है वही आदित्य है। इस प्रकार वह इस सूर्य को रखता है। इसको सामने की ओर इस प्रकार रखता है कि इसका सिर पश्चिम की ओर होता है, अर्थात् वह सूर्य को पूर्व की ओर इस प्रकार रखता है कि वह पश्चिम की ओर को चलें। इसलिए सूर्य पूर्व की ओर निकलता है पश्चिम की ओर चलता हुआ, अषाढ़ा ईंट की दक्षिण की ओर। कूर्म नर है और अषाढ़ा नारी। नर नारी की दाहिनी ओर सोता है, एक हाथ दूर ! क्योंकि नर नारी से एक हाथ दूर सोता है। यह अषाढ़ा सब ईंटों की रानी है। इसकी दाहिनी ओर होने से यह (कूर्म)

दक्षिणतः सत्सर्वासामिष्टकानां दक्षिणतो भवति ॥६॥ यद्वेव कूर्ममुपदधाति। प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राणमेवैतदुपदधाति तं पुरस्तात्प्रत्यञ्चमुपदधाति पुरस्तात्तत्प्रत्यञ्चं प्राणं दधाति तस्मात्पुरस्तात्प्रत्यङ् प्राणो धीयते पुरुषमभ्यावृत्तं यजमाने तत्प्राणं दधाति दक्षिणतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो वागषाढा प्राणो वै वाचो वृषा प्राणो मिथुनम् ॥७॥ ॥ शतम् ४२०० ॥ ॥ अपां गम्भन्त्सीदेति। एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभितापसीन्माग्निर्वैश्वानर इति नैव त्वा सूर्यो हिᳬसीन्मोऽअग्निर्वैश्वानर इत्येतदच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सर्वाः प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनुवीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचतामिति यथैवेनं दिव्या वृष्टिरनुसचेतैवमेतदाह ॥८॥ अथैनमेजयति। त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानेष कूर्मो भूत्वानुसᳬसर्पापां पतिर्वृषभ इष्टकानामित्यपाᳬ ह्येष पतिर्वृषभ इष्टकानां पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोकऽइति पशवो वै पुरीषं पशून्वसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत्तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे कर्मणेयुरित्येतत् ॥९॥ मही द्यौः पृथिवी च न इति। महती द्यौः पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षतामितीमं यज्ञमवतामित्येतत्पिपृतां नो भरीमभिरिति बिभृतां नो भरीमभिरित्येतद्द्यावापृथिव्ययोत्तमयोपदधाति द्यावापृथिव्यो हि कूर्मः ॥१०॥ त्रिभिरुपदधाति। त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपदधाति त्रिभिरभ्यनक्ति तत्यदृस्योक्तो बन्धुरवका अधस्ताद्भवन्त्यवका उपरिष्टादापो वाऽअवका अपामेवैनमेतन्मध्यतो दधाति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥११॥ अथोलूखलमुसलेऽउपदधाति। विष्णुरकामयतान्नादः स्यामिति स एतेऽइष्टकेऽअपश्यदुलूखलमुसले तेऽउपाधत्त तेऽउपधायान्नादोऽभवत्तथैवैतद्यजमानो यदुलूखलमुसलेऽउपदधाति

सब ईंटों की दाहिनी ओर होता है ।।६।।

कर्म रखने का यह भी हेतु है कि प्राण कूर्म है। प्राण ही इन सब प्रजाओं को बनाता है। इस प्रकार प्राण को ही इसमें रखता है। उसको आगे इस प्रकार रखता है कि पश्चिम की ओर मुंह रहे। प्राण भी इसी प्रकार होता है, अर्थात् प्राण आगे से पीछे को खींचा जाता है। इसको स्वर्ण-पुरुष की ओर रखता है, अर्थात् यजमान में प्राण धारण कराता है, अषाढ़ा की दाहिनी ओर। अषाढ़ा वाणी है। प्राण नर है, वाणी का पति या जोड़ा ।।७।।

इन मन्त्रों से—"अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन् माग्निर्वैश्वानरः। अच्छिन्न-पत्राः प्रजा ऽ अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्" (यजु० १३।३०)—"जलों की गहराई में पैठ, तुझे सूर्य या अग्नि वैश्वानर न जलावे, ऐसी प्रजा की जिसके पंख कटे नहीं हैं, देखभाल कर। दिव्य वृष्टि तुझे सींचे।" जलों की गहराई में ही सूर्य तपता है। ये ईंटें वे प्रजा हैं, जिनके पंख नहीं कटे (अर्थात् जिनको क्षति नहीं पहुँची)। तात्पर्य है कि दिव्य वृष्टि इसका सिंचन करे ।।८।।

इस मन्त्र से इसको (कछवे को) चलाता है—"त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्-वृषभ ऽ इष्टकानाम्। पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः" (यजु० १३।३१) —"वह स्वर्ग को जानेवाले तीन समुद्रों पर चला, जलों का पति, ईंटों में नर। लोक में सुकृति के पुरीष को रखता हुआ ! वहाँ जा जहाँ पहले गये।" तीन "स्वर्ग समुद्र" लोक हैं, जिनमें कूर्म होकर चला। पुरीष पशु हैं। वहाँ जा जहाँ इस कर्म के द्वारा पहले जा चुके ।।९।।

"मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः" (यजु० १३।३२) —"बड़ा द्यौ और बड़ी पृथिवी हमारे इस यज्ञ को मिलावें और हमको हमारे भोजन (सामग्री) से पूरित करें।" अर्थात् हमारे यज्ञ की रक्षा करें। द्यावा-पृथिवीवाली इस अन्तिम ऋचा को पढ़कर वह इसको रख देता है, क्योंकि कूर्म द्यावा-पृथिवी (का प्रतिनिधि) है ।।१०।।

तीन ऋचाओं से इसलिए रखता है कि तीन लोक हैं और अग्नि भी त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से इसको रखता है। तीन चीजों (दही, घी और मधु) को उस पर चुपड़ता है। इस प्रकार छः हुए। इसकी व्याख्या हो चुकी। इस (कछवे) के नीचे अवका (एक प्रकार की वनस्पति) होता है और इसके ऊपर भी अवका। 'अवका' का अर्थ है जल। इस प्रकार उसको जल में स्थापित करता है। इसको रखकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ।।११।।

अब ऊखल और मूसली को रखता है। विष्णु ने चाहा कि मैं अन्नाद (अन्न का खाने-वाला) हो जाऊँ। उसने इन ईंटों को ओखली और मूसल के रूप में देखा। उन दोनों को उसने (वेदी में) रख दिया। उनको रखकर 'अन्नाद' हो गया। इसी प्रकार यह यजमान भी ओखली और मूसल को रखता है ताकि—

येन रूपेण यत्कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण तत्कर्म कृत्वान्नादोऽसानी-
ति तदेतत्सर्वमन्नं यदुलूखलमुसले उलूखलमुसलाभ्याᳪं ह्येवान्नं क्रियत उलू-
खलमुसलाभ्यामद्यते ॥१२॥ ते रेतःसिचोर्वेलयोपदधाति । पृष्टयो वै रेतःसि-
चौ मध्यमु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधात्युत्तरे उत्तरमेवास्मादेतदन्नं दधा-
त्यरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्ध्यन्नमद्यते ॥१३॥ प्रादेशमात्रे भवतः । प्रादेशमात्रो वै
गर्भो विष्णुरन्नमेतदात्मसंमितमेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति यद्वा आत्मसंमितमन्नं त-
दवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति ॥१४॥ औदुम्बरे
भवतः । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जमेवास्मिन्नेतद्रसं दधात्यथो सर्व एते वनस्पतयो
यदुदुम्बर एते उपदधत्सर्वान्वनस्पतीनुपदधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसि-
चावनयोस्तद्वनस्पतीन्दधाति तस्मादनयोर्वनस्पतयश्चतुःस्रक्ति भवति चतस्रो वै
दिशः सर्वासु तद्दिक्षु वनस्पतीन्दधाति तस्मात्सर्वासु दिक्षु वनस्पतयो मध्ये सं-
गृहीतं भवत्युलूखलरूपतायै ॥१५॥ यद्वेवोलूखलमुसले उपदधाति । प्रजापते-
र्विस्रस्तात्प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत्तमन्नेनागृह्णात्तस्मात्प्राणोऽन्नेन गृहीतो यो
ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति ॥१६॥ प्राणो गृहीतेऽस्मादन्नमुदचिक्रमिषत्तत्प्राणेनागृ-
ह्णात्तस्मात्प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति सोऽन्नमत्ति ॥१७॥ एतयोरुभ-
योर्गृहीतयोः । अस्मादूर्गुदचिक्रमिषत्तामेताभ्यामुभाभ्यामगृह्णात्तस्मादेताभ्यामुभा-
भ्यामूर्ग्गृहीता यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति तमूर्जयति ॥१८॥ ऊर्जि गृहीतायाम्
। अस्मादेते उभे उदचिक्रमिषतां ते ऊर्जागृह्णात्तस्मादेते उभे ऊर्जा गृहीते यᳪं
ह्येवोर्जयति स प्राणिति सोऽन्नमत्ति ॥१९॥ तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि ।
तान्यन्योऽन्येन गृहीत्वात्मन्प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्यमानᳪं सर्वे देवा अनुप्राप-
द्यन्तान्नजीवनᳪं हीदᳪं सर्वम् ॥२०॥ तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः । तद्वै स प्राणोऽभव-
दिति तद्धि स प्राणोऽभवन्महा भूत्वा प्रजापतिरिति महान्हि स तदभवद्यदेन-

जिस रूप से जिस कर्म को करके विष्णु अन्नाद हो गया, उसी रूप से उसी कर्म को करके अन्नाद हो जाऊँ। उलूखल और मूसल अन्न हैं, क्योंकि इन्हीं से अन्न शुद्ध किया जाता है। इन्हीं के द्वारा अन्न खाया जाता है ॥१२॥

इनको रेतःसिच् ईंटों की दूरी पर रखता है (अर्थात् स्वयमातृण्ण से उतना ही उत्तर को जितनी दूर रेतःसिच पूर्व की ओर है)। रेतःसिच पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं। इस प्रकार अन्न को वेदी के बीच में स्थापित करता है, उत्तर में। इस प्रकार उत्तर में अन्न को रखता है। एक हाथ की दूरी पर, क्योंकि एक हाथ की दूरी पर अन्न खाया जाता है (हाथ से लेकर मुँह तक ले जाते हैं—?) ॥१३॥

वे एक बालिश्त-भर होते हैं, क्योंकि विष्णु गर्भ में एक बालिश्त ही था। यह (ऊखल, मूसल) अन्न है। इस प्रकार वह उसमें अन्न रखता है उसी के शरीर के अनुसार। जो अन्न शरीर के अनुसार होता है वही रक्षा करता है। वह मारता नहीं। अधिक मार देता है और कम रक्षा नहीं कर पाता ॥१४॥

ये ओखली और मूसल उदुम्बर लकड़ी के होते हैं। उदुम्बर ऊर्ज और रस है। इस प्रकार ऊर्ज और रस को उसमें स्थापित करता है। उदुम्बर सब वनस्पतियों का प्रतिनिधि है। इस प्रकार इनको रखकर मानो सब वनस्पतियों को रख देता है, रेतःसिच् की दूरी पर। ये दोनों रेतःसिच् हैं। इस प्रकार इन दोनों (लोकों) में वनस्पतियों को रखता है। इसलिए इन दोनों लोकों में वनस्पतियाँ हैं। इसके चार कोने होते हैं। इस प्रकार चारों दिशाओं में वनस्पतियों को रखता है। बीच में सिकुड़ा होता है उलूखल का रूप देने के लिए ॥१५॥

ओखली-मूसल रखने का यह भी तात्पर्य है कि थके हुए प्रजापति के मध्य से प्राण निकल गया। उसको अन्न से वापस लाया। इसलिए प्राण अन्न के द्वारा वापस आते हैं। इसीलिए जो खाता है वही प्राण लेता है ॥१६॥

जब प्राण वापस आ गया, तो अन्न ने बाहर जाना चाहा। उसको प्राण के द्वारा रोका, इसलिए प्राणशक्ति से ही अन्न खाया जाता है। जो प्राणशक्ति रखता है वही अन्न को खा सकता है ॥१७॥

इन दोनों के रहने पर ऊर्ज ने बाहर जाना चाहा। उसको इन दोनों के द्वारा रोका। इसीलिए ऊर्ज इन दोनों (प्राण तथा अन्न) के द्वारा आता है। जो अन्न खाता है, जिसमें प्राण-शक्ति है, वही ऊर्ज रखता है ॥१८॥

ऊर्ज के स्थित रहने पर उन दोनों (प्राण और अन्न) ने बाहर जाना चाहा। इनको ऊर्ज से रोका। इसलिए ये ऊर्ज के द्वारा रुके रहते हैं। जिसमें ऊर्ज है, वही खा सकता है और उसी में प्राणशक्ति है ॥१९॥

ये तीनों एक-दूसरे के द्वारा ठहरे हुए हैं। इन्होंने एक-दूसरे के द्वारा स्थित होकर ही (प्रजापति के) शरीर की स्थिति रक्खी। इन तीनों के एक-दूसरे के द्वारा स्थित रहने पर शरीर की स्थिति है। अन्न के पहुँचते ही सब देवता पहुँच गये, क्योंकि सब अन्न के ही आश्रय है ॥२०॥

यह मन्त्र भी इसी आशय का है—"सप्राणोऽभवत्"—"वह प्राण हो गया।" "महा-भूत्वा प्रजापतिः" अर्थात् "बड़ा प्रजापति हो गया।"

मेते देवाः प्रापश्यन्त भुज्यो भुजिष्या विश्वेति प्राणा वै भुज्योऽन्नं भुजिष्या एतत्सर्वं विश्वेत्येतद्यत्प्राणान्प्राणयत्पुरीत्यात्मा वै पूर्यद्धि प्राणान्प्राणयत्तस्मात्प्राणा देवा अथ यत्प्रजापतिः प्राणयत्तस्मादु प्रजापतिः प्राणो यो वै स प्राण एषा सा गायत्र्यथ यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवताथ या सोऽर्केष स उदुम्बरः ॥२१॥ सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा सर्वस्मात्पाप्मन उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा ऊरु मे करदिति तस्मादुरूकरमुरूकरं ह वै तदुलूखलमित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्ष-कामा हि देवाः सैषा सर्वेषां प्राणानां योनिर्यदुलूखलं शिरो वै प्राणानां यो-निः ॥२२॥ तत्प्रादेशमात्रं भवति । प्रादेशमात्रमिव हि शिरश्चतुःस्रक्ति भवति चतुःस्रक्तीव हि शिरो मध्ये संगृहीतं भवति मध्ये संगृहीतमिव हि शिरः ॥२३॥ तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतत्सर्वं मध्यतोऽदधुः प्राणमन्नमूर्जं तथैवा-स्मिन्नयमेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेतत्सर्वं दधाति ॥२४॥ विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । वीर्यं वै कर्म वि-ष्णोर्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पस्पशऽइत्यन्नं वै व्रतं यतोऽन्नं स्पाशयां चक्रऽइत्येतदिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य ह्येष युज्यः सखा द्विदेवत्ययोपदधाति द्वे ह्युलूखलमुसले सकृत्सादयति समानं तत्करोति समानं ह्येतदन्नमेव सादयि-त्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥२५॥ अथोखामुपदधाति योनिर्वाऽउ-खा योनिमेवैतदुपदधाति तामुलूखलऽउपदधात्यन्तरिक्षं वाऽउलूखलं यद्धि किं चास्या ऊर्ध्वमन्तरिक्षमेव तन्मध्यं वाऽअन्तरिक्षं मध्यतस्तद्योनिं दधाति तस्मात्सर्वे-षां भूतानां मध्यतो योनिरपि वनस्पतीनाम् ॥२६॥ यद्वेवोखामुपदधाति । यो वै स प्रजापतिर्व्यस्रंसतैषा सोखेमे वै लोका उखेमे लोकाः प्रजापतिस्तामु-लूखलऽउपदधाति तदेनमेतस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्रतिष्ठापयति प्राणोऽन्नऽऊर्ग्घ्योऽएत-

क्योंकि, सब देवता उसमें घुस गये। "भुजो भुजिष्या वित्वा"—"भोगों को प्राप्त करके भोगी।" प्राण भोगी हैं और अन्न भोग है। इस प्रकार सबको प्राप्त करके। "यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि" जब पुरी में प्राणों को फूंका। पुरी शरीर है। शरीर में प्राणों को फूंका, इसलिए प्राण देव हैं। प्रजापति ने फूंका, इसलिए प्राण प्रजापति है। जो प्राण है वही यह गायत्री है। जो अन्न है वह विष्णु देवता है। यह जो उदुम्बर है वह ऊर्ज है ॥२१॥

वह बोला—इसी ने मुझे सब पापों से उभारा (उदभार्षीत्) है। 'उभारा' कहने से उदुम्भर नाम हुआ। उदुम्भर का उदुम्बर हो गया, क्योंकि देवों को परोक्ष प्रिय है। "वह मेरे लिए चौड़ा स्थान देगा" (उरु करत्), इसीलिए 'उरूकर' हुआ। उसी का उलूखल हो गया, क्योंकि देव परोक्षप्रिय हैं। उलूखल सब प्राणों की योनि है। शिर ही प्राणों की योनि है ॥२२॥

उलूखल बालिश्त-भर होता है, सिर भी तो बालिश्त-भर ही होता है। चार कोनों वाला, सिर भी तो चार कोनोंवाला ही है। बीच में सिकुड़ा हुआ, क्योंकि सिर भी बीच में सिकुड़ा हुआ है ॥२३॥

जब देवों ने (प्रजापति-अग्नि को) चंगा किया, तो उसमें प्राण, अन्न और ऊर्ज सब भर दिये। इसी प्रकार यजमान भी उस (वेदी) में इन सबको रखता है, रेतःसिचों की दूरी पर। रेतःसिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं। इस प्रकार वह यह सब-कुछ मध्य में रखता है ॥२४॥

वह इसको इस मन्त्र से रखता है—"विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा" (यजु० १३।३३, ऋ० १।२२।१९)—कर्म का अर्थ है वीर्य, अर्थात् "विष्णु के पराक्रमों को देखो, जिनसे उसने अन्न को प्राप्त किया। यह इन्द्र का योग्य सखा तो है ही।" इन दो देवताओं के मन्त्र को पढ़कर उसको रखता है, क्योंकि ओखली और मूसल दो हैं। उनको साथ-साथ रखता है जिससे वे दोनों एक हो जायें, क्योंकि अन्न तो एक ही है। इसको रखकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥२५॥

अब 'उखा' को रखता है। उखा योनि है। इस प्रकार इसमें योनि को रखता है। उसको ओखली पर रखता है। ओखली अन्तरिक्ष है। जो पृथिवी के ऊपर है वह अन्तरिक्ष है, मध्य में भी अन्तरिक्ष है। इस प्रकार वह योनि को बीच में रखता है। इसलिए सब प्राणियों की योनि बीच में होती है; वृक्षों की भी ॥२६॥

उखा को रखने का यह भी प्रयोजन है कि प्रजापति थक गया था, वह यह उखा ही है। ये लोक उखा हैं। ये प्रजापति हैं। उसको उलूखल में रखता है अर्थात् वह प्रजापति को हरचीज में स्थापित करता है—प्राण में, अन्न में, ऊर्ज में।

स्माद्वेवैनमेतत्सर्वस्मादनन्तर्हितं दधाति ॥२७॥ अथोपशयां पिष्ट्वा । लोकभाज-
मुखां कृत्वा पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष ह्येतस्यै लोकस्तथो हास्यैषानन्तरिता
भवति ॥२८॥ तदाहुः । कथमस्यैषा पक्वा शृतोपहिता भवतीति यदेव यजुष्कृ-
ता तेनाथो यद्वै किं चैतमग्निं वैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत्पक्वꣳ शृतमुप-
हितं भवति ॥२९॥ ध्रुवासि धरुणेति । तस्योक्तो बन्धुरितो जज्ञे प्रथममेभ्यो यो-
निभ्योऽअधि जातवेदा इत्येतेभ्यो हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गा-
यत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्नित्येतैर्वाऽएष छन्दोभिर्दे-
वेभ्यो हव्यं वहति प्रजानन् ॥३०॥ इषे राये रमस्व । सहसे द्युम्नऽऊर्जेऽअप-
त्यायेत्येतस्मै सर्वस्मै रमस्वेत्येतत्सम्राडसि स्वराडसीति सम्राड् ह्येष स्वराट् सा-
रस्वतौ त्वोत्सौ प्रावतामिति मनो वै सरस्वान्वाक्सरस्वत्येतौ सारस्वताऽउत्सौ
तौ त्वा प्रावतामित्येतद्द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुरथो द्वयꣳ ह्येवैतद्रूपं मृत्पा
पश्च सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥३१॥ अथैनामभिजुहोति ।
एतद्वाऽअस्यामेतत्पूर्वꣳ रेतः सिक्तं भवति सिकतास्तदेतदभिकरोति तस्माद्योनौ
रेतः सिक्तमभिक्रियतऽआज्येन जुहोति स्रुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां
गायत्रीभ्यां तस्योक्तो बन्धुः ॥३२॥ अग्ने युक्ष्वा हि ये तव । युक्ष्वा हि देवहू-
तमानिति युक्तवतीभ्यामिदमेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न
निष्पद्यते ॥३३॥ स यदि संवत्सरभृतः स्यात् । अथाभिजुहुयात्सर्वं वै तद्यत्सं-
वत्सरभृतः सर्वं तद्यदभिजुहोत्यथ यद्यसंवत्सरभृतः स्यादुपैव तिष्ठेतासर्वं वै त-
द्यदसंवत्सरभृतोऽसर्वं तद्यदुपतिष्ठतेऽभि त्वेव जुहुयात् ॥३४॥ पशुरेष यदग्निः ।
सोऽत्रैव सर्वः कृत्स्नः संस्कृतस्तस्यावाङ् प्राणाः स्वयमातृण्णा श्रोणी द्वियजुः पृष्ठ-
यो रेतःसिचौ कीकसा विश्वज्योतिः ककुदमृतव्ये ग्रीवा अषाढा शिरः कूर्मो ये
कूर्मे प्राणा ये शीर्षन्प्राणास्ते ते ॥३५॥ तं वाऽएतम् । इत ऊर्ध्वं प्राञ्चं चिनो-

इस प्रकार रखता है कि उनके बीच दूरी न होने पाये ॥२७॥

अब बची-खुची मिट्टी को पीसकर और उसके स्थान पर उखा को रखकर उखा के सामने उसे डाल देता है। यही उसका लोक (स्थान) है। इस प्रकार इसकी उससे दूरी नहीं होने पाती ॥२८॥

इस पर आक्षेप करते हैं कि यह मिट्टी पकी हुई का स्थान कैसे ले सकती है? इसका उत्तर यह है कि यजु अर्थात् विधि के अनुसार होने से। या जो कुछ अग्नि वैश्वानर के संसर्ग में आता है उसे पका ही समझना चाहिए ॥२९॥

उखा रखने का मन्त्र यह है—"ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जात-वेदाः। स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्" (यजु० १३।३४)—"तू सहारा देने के लिए दृढ़ है। यह पहले यहीं से उत्पन्न हुआ था, इन्हीं योनियों से, यह जातवेद (सबको जाननेवाला)। गायत्री, त्रिष्टुभ्, अनुष्टुभ् के द्वारा यह जानता हुआ देवों के लिए हव्य ले जावे।" वस्तुतः यह जानता हुआ इन छन्दों द्वारा देवों को हव्य ले जाता है ॥३०॥

"इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे ऽ अपत्याय। सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम्" (यजु० १३।३५)—"शक्ति के लिए, धन के लिए, तू रमण कर, बल के लिए, तेज के लिए, ऊर्ज के लिए, सन्तान के लिए। तू सम्राट् है, स्वराट् है। सरस्वती के ये दो कुएँ (कूप) तुझको पालें।" अग्नि वास्तव में सम्राट् और स्वराट् है। मन सरस्वती का है। वाणी सरस्वती की है। ये दोनों सरस्वती के कुएँ हैं। ये दोनों तेरा पालन करें। उखा को इन दोनों मन्त्रों से रखता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। यह रूप दुहरा है, मिट्टी का और जलों का। इसको रखकर सूददोह का पाठ पढ़ता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥३१॥

अब इस पर आहुति देता है। पहले इस पर सिकता (रेत) के रूप में बीज डाला गया था। अब इसको रूप देता है। इसीलिए बीज योनि में पहुँचकर रूप धारण करता है। घी की आहुति देता है, स्रुवा से, स्वाहा से, दो मन्त्रों से जिनका देवता अग्नि है और गायत्री छन्द है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥३२॥

वे मन्त्र ये हैं—"अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्ति मन्यवे॥ युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः" (यजु० १३।३६-३७, ऋ०६।१६।४३, ८।७५।१)—"हे अग्नि! अपने इन अच्छे घोड़ों को जोत! ये तेरी शक्ति के अनुसार चलते हैं। हे अग्नि! रथवान के समान इन देवों से बुलाये गये घोड़ों को जोत! प्राचीन होता के समान बैठ।" इन दोनों मन्त्रों में 'जोतने' का शब्द आया है। इससे वह योनि में बीज को स्थापित करता है। इससे योनि में ठहरा हुआ बीज नष्ट नहीं होता ॥३३॥

यदि उखा की आग वर्ष-भर से रक्खी हो तो अभी आहुति देवे। यह वर्ष-भर रक्खी हुई अग्नि सब-कुछ है। जो कुछ वर्ष-भर रक्खा जाता है वह सब-कुछ है। यदि वर्ष-भर रक्खा हुआ न हो तो केवल उसकी उपासना करे। जो वर्ष-भर रक्खा नहीं जाता वह असर्व या अपूर्ण है। जो अपूर्ण है उसकी उपासना की जाती है। परन्तु आहुति तो देनी ही चाहिए ॥३४॥

यह जो अग्नि है वह पशु है। यहीं यह पूर्ण और संस्कृत किया जाता है। स्वयमातृण्ण ईंट इसका नीचे का प्राण है, द्वियजुः श्रोणी है, रेतःसिच् पसलियाँ हैं। विश्वज्योति कीकस (छाती की हड्डी) है, ऋतव्य पीठ है, अषाढ़ा गर्दन है, कूर्म सिर है, कूर्म के प्राण सिर के प्राण हैं। इस प्रकार यह सब हैं ॥३५॥

इस (वेदी) को पूर्व की ओर ऊँचा उठाकर चिनता है।

त्यसौ वाऽआदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ् धीयते ॥३६॥ अथैनं प्रसलव्यावर्तयति । अमुं तदादित्यं प्रसलव्यावर्तयति तस्मादसावादित्य इमांल्लोकान्प्रसलव्यनुपर्येति ॥३७॥ उदरमुखा । योनिरुलूखलमुत्तरोखा भवत्यधरमुलूखलमुत्तरᳫ ह्युदरमधरा योनिः शिश्नं मुसलं तद्वृत्तमिव भवति वृत्तमिव हि शिश्नं तद्दक्षिणत उपदधाति दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेते यद्वु पशोः संस्कृतस्यान्नं तद्वेष्टका तस्य वाऽएतस्योत्तरोऽर्ध उद्धाहिततरो भवति पशुरेष यदग्निस्तस्मात्पशोः सुहितस्योत्तरः कुक्षिरुन्नततरो भवति ॥३८॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [५. १.] ॥ ॥

पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि पशूनेवैतदुपदधाति तान्नुखायामुपदधातीमे वै लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून्दधाति तस्मादिमऽएषु लोकेषु पशवः ॥१॥ यद्वेवोखायाम् । योनिर्वाऽउखा पशवः पशुशीर्षाणि योनौ तत्पशून्प्रतिष्ठापयति तस्माद्धयमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते योनौ ह्येनान्प्रतिष्ठापयति ॥२॥ यद्वेव पशुशीर्षाण्युपदधाति । या वै ताः श्रिय एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ यानि तानि कुसिन्धान्येतास्ताः पञ्च चितयस्तद्यास्ताः पञ्च चितय इमे ते लोकास्तद्ये तऽइमे लोका एषा सोखा तद्यदुखायां पशुशीर्षाण्युपदधात्येतैरेव तच्छीर्षभिरेतानि कुसिन्धानि संदधाति ॥३॥ तान्पुरस्तात्प्रतीच उपदधाति । एतद्ध यत्रैतान्प्रजापतिः पशूनालिप्सत तऽआलिप्स्यमाना उदचिक्रमिषंस्तान्प्राणेषु समगृह्णात्तान्प्राणेषु संगृह्य पुरस्तात्प्रतीच आत्मन्नधत्त ॥४॥ तद्वाऽएतत्क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं न्वस्मात्ते पशवो नोत्क्रमिषन्ति यद्वेतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो प्राणेष्वेवैनानेतत्संगृह्य पुरस्तात्प्रतीच आत्मन्धत्ते ॥५॥ यद्वेव पशुशीर्षाण्युपदधाति । प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीदेक एव सोऽकामयतान्नᳫ सृजेय प्रजायेयेति स प्राणेभ्य एवाधि प-

यह अग्नि (वेदी) आदित्य है। इस प्रकार इस आदित्य को पूर्व की ओर उठता हुआ बनाता है। इसलिए आदित्य (सूर्य) पूर्व की ओर उठता हुआ होता है ॥३६॥

वह अब उसको दाहिनी ओर झुका देता है। इस प्रकार आदित्य को दाहिनी ओर झुकाता है। इसीलिए आदित्य इन सब लोकों के चारों ओर दाहिनी ओर घूमता है ॥३७॥

उखा पेट है। उलूखल योनि है। ऊपर उखा होती है और नीचे उलूखल ! ऊपर पेट है, नीचे योनि। मूसल शिश्न (उपस्थेन्द्रिय) है। वह गोल-गोल होता है क्योंकि शिश्न गोल-गोल है। वह दक्षिण की ओर रक्खा जाता है, क्योंकि नर नारी के दाहिनी ओर ही रहता है। दूर्वेष्टका पशु का अन्न है। वेदी की बाईं (उत्तरी) ओर अधिक उठी हुई होती है। यह अग्नि पशु है। इसलिए अघाये हुए पशु की बाईं कोख अधिक उठी होती है ॥३८॥

उखायां पशुशीर्षोपधानादि

अध्याय ५—ब्राह्मण २

पशुओं के सिरों को रखता है। पशुशीर्ष ही पशु हैं। इस प्रकार मानो पशुओं को रखता है। उनको उखा में रखता है। ये लोक उखा हैं। पशुओं के सिर पशु हैं। इस प्रकार इन लोकों में पशु रखता है। इसीलिए पशु इन लोकों में पाये जाते हैं ॥१॥

उखा में रखने का यह भी अर्थ है कि उखा योनि है, पशुओं के सिर पशु हैं। उन पशुओं को योनि में स्थापित करता है। इसीलिए खाये जाने से या पकाये जाने से पशु कम नहीं होते, क्योंकि इनको योनि में स्थापित करता है ॥२॥

पशुओं के सिरों को रखने का यह भी हेतु है कि जो श्री हैं वे ये पशुओं के सिर हैं। ये जो कुसिन्ध (?) हैं वे पाँच चितियाँ (तहें) हैं। पाँच चितियाँ ये लोक हुए और ये लोक ही उखा हैं। इस प्रकार जब वह उखा में इन पशुओं के सिरों को रखता है, तो मानो उन सिरों से उन कुसिन्धों को मिलाता है ॥३॥

वह इनको आगे की ओर इस प्रकार रखता है कि पीछे (पश्चिम) की ओर रहें। बात यह है कि प्रजापति ने पशुओं का आलभन करना चाहा तो वे आलभन के भय से भाग गये। उसने उनको प्राणों के द्वारा पकड़ा, और उनको प्राणों की ओर से पकड़कर स्वयं अपने में मुख के द्वारा पीछे की ओर ग्रहण कर लिया ॥४॥

जो देवों ने किया वही यहाँ भी किया जाता है। वस्तुतः पशु उससे भागते नहीं। परन्तु जब वह करता है तो इसलिए कि मैं वही करूँ जो देवों ने किया। इस प्रकार उनको प्राणों के द्वारा पकड़कर उनको अपने मुख में आगे की ओर से पीछे की ओर रख लेता है ॥५॥

पशुओं के सिर रखने का यह भी हेतु है कि पहले तो केवल प्रजापति ही था। उसने चाहा कि 'मैं अन्न को उत्पन्न करूँ। मैं प्रजावाला हो जाऊँ।' उसने पशुओं को अपने प्राणो

शून्निरमिमीत मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राणाद्गां श्रोत्रादविं वाचोऽजं तद्यदे-
नान्प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत तस्मादाहुः प्राणाः पशव इति मनो वै प्राणानां
प्रथमं तद्यन्मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः प्रथमः पशूनां वीर्यवत्तम
इति मनो वै सर्वे प्राणा मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठितास्तद्यन्मनसः पुरुषं
निरमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः सर्वे पशव इति पुरुषस्य ह्येवैते सर्वे भवन्ति
॥ ६ ॥ तदेतदन्नं सृष्ट्वा । पुरस्तात्प्रत्यगात्मन्नधत्त तस्माद्यः कश्चान्नं सृजते पुर-
स्तादेवैनत्प्रत्यगात्मन्धत्ते तद्वाऽइआयामुदरं वाऽइओदरे तदन्नं दधाति ॥ ७ ॥
अथैषु हिरण्यशकलान्प्रत्यस्यति । प्राणो वै हिरण्यमथ वाऽएतेभ्यः पशुभ्यः सं-
ज्ञप्यमानेभ्य एव प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यद्धिरण्यशकलान्प्रत्यस्यति प्राणानेवैष्वेतद-
धाति ॥ ८ ॥ सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षन्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधात्यथ यदि पञ्च
पशवः स्युः पञ्चैव कृत्वः सप्त-सप्त प्रत्यस्येत्पञ्च वाऽएतान्पशूनुपदधाति सप्त-सप्त
वाऽएकैकस्मिन्पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान्दधाति ॥ ९ ॥ तदेकेऽपि । पञ्चैकः
पशुर्भवति पञ्चैव कृत्वः सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति पञ्च वाऽएतान्पशूनुपदधाति सप्त-
सप्त वाऽएकैकस्मिन्पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान्दध्म इति न तथा कुर्यादे
तस्मिन्वै पशौ सर्वेषां पशूनां रूपं तद्यदेतस्मिन्प्रत्यस्यति तदेवैषु सर्वेषु प्रा-
णान्दधाति ॥ १० ॥ मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति । सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना इत्यन्नं
वै धेनान्तदिदं सम्यङ्मुखमभिसंस्रवत्यन्तर्हृदा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्वै हृद-
येन मनसा सतान्नं पूतं घ्र अनुस्तस्य घृतस्य धारा अभिचाकशीमीति या एवैत-
स्मिन्नग्नावाहुतीर्होष्यन्भवति ता एतदाह हिरण्ययो वेतसो मध्येऽअग्नेरिति य
एवैष हिरण्मयः पुरुषस्तमेतदाह ॥ ११ ॥ ऋचे त्वेतीह । प्राणो वाऽऋक्प्राणेन
ह्यर्चति रुचे त्वेतीह प्राणो वै रुक्प्राणेन हि रोचतेऽथो प्राणाय हीदं सर्वं
रोचते भासे त्वेतीह ज्योतिषे त्वेतीह भास्वती हीमे ज्योतिष्मती चक्षुषीऽअभू-

से उत्पन्न किया—मन से पुरुष को, आँख से घोड़े को, कान से भेड़ को, वाणी से बकरे को; चूंकि इन्होंने इनको प्राणों से बनाया, इसलिए कहा कि प्राण पशु हैं। प्राणों में मन पहले है। चूंकि मन से पुरुष को बनाया, इसीलिए कहते हैं कि पशुओं में पुरुष सबसे बलवान् है। मन ही सब प्राण हैं। मन में ही सब प्राण स्थित हैं। चूंकि मन से पुरुष को बनाया, इसलिए कहते हैं कि पुरुष सब पशु हैं, क्योंकि सब पशु पुरुष के ही होते हैं ॥६॥

तब अन्न को बनाकर पहले उसने अपने आत्मा में आगे की ओर से पीछे को धारण किया। इसलिए जो कोई अन्न को उत्पन्न करता है वह अपने में आगे की ओर से (मुँह से) पीछे की ओर ग्रहण करता है। वह उखा में रखता है। उखा पेट है, इसलिए मानो पेट में रखता है ॥७॥

इन में स्वर्ण के टुकड़े रखता है। प्राण स्वर्ण हैं। जब ये पशु मारे जाते हैं तो इनके प्राण इनमें से निकल जाते हैं। स्वर्ण के टुकड़े इसलिए रखता है कि मानो प्राण उनमें रखता है ॥८॥

सात टुकड़े रखता है। सिर में सात प्राण होते हैं। उनको वह इसमें रखता है। यदि पाँच ही पशु हों तो सात टुकड़ों को पाँच बार डाले, क्योंकि वह उन पाँच पशुओं को रखता है। एक-एक पशु में सात-सात प्राण होते हैं। इस प्रकार वह उनमें प्राण धारण कराता है ॥९॥

कुछ लोग एक पशु के होने पर भी सात टुकड़ों को पाँच बार डालते हैं। इस प्रकार समझते हैं कि पाँच पशुओं में सात-सात प्राण डाल दिये। ऐसा नहीं करना चाहिए। इस पशु में सब पशुओं का रूप है। जब वह इनको इसमें डालता है, तो इन सब में प्राण डालता है ॥१०॥

पहले को मुख में इन मन्त्रों से डालता है—"सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना ऽ अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। घृतस्य धारा ऽ अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये ऽ अग्नेः॥" (यजु० १३।३८; ऋ० ४।५८।६ और ५ कुछ पाठभेद के साथ) "हृदय के भीतर मन से शुद्ध हुए अन्न नदियों के समान बहते हैं। मैं घी की धाराओं को देखता हूँ, अग्नि के बीच में हिरण्मय पुरुष को।" धेना का अर्थ है अन्न। वह मुख में जाता ही है। जो श्रेष्ठ पुरुष है उसके मन के द्वारा यह अन्न शुद्ध होता है। हवन में घी की धारा के लिए कहा गया है कि मैं उसे देखता हूँ। शेष हिरण्मय पुरुष के लिए हैं ॥११॥

"ऋचे त्वा" (यजु० १३।३९ से दाहिने नथने में) क्योंकि ऋक् प्राण है। "रुचे त्वा" (यजु० १३।३९ से बायें नथने में) क्योंकि रुक् प्राण है। प्राण से ही मनुष्य प्रिय होता है। प्राणों के लिए सब चीजें प्रिय होती हैं। "भासे त्वा" (यजु० १३।३९ से दाहिनी आँख में), "ज्योतिषे त्वा' (यजु० १३।३९ से बाई आँख में) क्योंकि ये दोनों आँखें चमकवाली हैं। "अभूदिदं

दिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य चेतीद्धाग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान्रु-
क्मो वर्चसा वर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वꣳ हि श्रोत्रम् ॥१२॥ अथ पुरु-
षशीर्षमुद्गृह्णाति । महयत्येवैनदेतत्सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ
सर्वस्य दातासि सर्वस्मै त्वेत्येतत् ॥१३॥ अथैनानुपदधाति । पुरुषं प्रथमं पुरुषं
तद्वीर्येणाप्त्वा दधाति मध्ये पुरुषमभित इतरान्पशून्पुरुषं तत्पशूनां मध्यतोऽत्तारं
दधाति तस्मात्पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽत्ता ॥१४॥ अश्वं चाविं चोत्तरत । ए-
तस्यां तद्दिश्येतौ पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ ॥१५॥ गां चा-
जं च दक्षिणात । एतस्यां तद्दिश्येतौ पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भू-
यिष्ठौ ॥१६॥ पयसि पुरुषमुपदधाति । पशवो वै पयो यजमानं तत्पशुषु प्रति-
ष्ठापयत्यादित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धीत्यादित्यो वाऽएष गर्भो यत्पुरुषस्तं पयसा
समङ्ग्धीत्येतत्सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपमिति पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा पुरुष-
स्य ह्येव सहस्रं भवति परिवृङ्ग्धि हरसा माभिमꣳस्था इति पर्येनं वृङ्ग्ध्यर्चिषा
मैनꣳ हिꣳसीरित्येतच्छतायुषं कृणुहि चीयमान इति पुरुषं तत्पशूनाꣳ शतायुं क
रोति तस्मात्पुरुष एव पशूनाꣳ शतायुः ॥१७॥ अथोत्तरतोऽश्वम् । वातस्य जू-
तिमिति वातस्य वाऽएष जूतिर्यदश्वो वरुणस्य नाभिमिति वारुणो ह्यश्वोऽश्वं
जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्यऽइत्यापो वै सरिरमप्सुजा उ वाऽअश्वः शिशुं नदीनाꣳ ह-
रिमद्रिबुध्नमिति गिरिर्वाऽअद्रिर्गिरिबुध्ना उ वाऽआपोऽग्ने मा हिꣳसीः परमे व्यो-
मन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतत् ॥१८॥ अथ
दक्षिणतो गाम् । अजस्रमिन्दुमरुषमिति सोमो वाऽइन्दुः स ह्येष सोमोऽजस्रो
यद्गौर्भुरण्युमिति भर्तारमित्येतदग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्व-
चित्तिमिति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमान इति
यद्वाऽएष चीयते तदेष पर्वभिर्ऋतुशः कल्पते गां मा हिꣳसीरदितिं विराजमिति

विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च" (यजु० १३।३९ से दाहिने कान में) "यह सब संसार का और अग्नि-वैश्वानर का वाजी अर्थात् यज्ञ है।" "अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्" (यजु० १३।४०)—"अग्नि ज्योति से चमकवाला, रुक्म तेज से तेजवाला" (इससे बायें कान में)। इन मन्त्रों में 'विश्व' शब्द है। 'विश्व' कहते हैं कान को ॥१२॥

अब पुरुष के सिर को उठाता है (शायद स्वर्ण-पुरुष के) अर्थात् उसका महत्त्व बढ़ाता है—"सहस्रदा असि सहस्राय त्वा" (यजु० १३।४०)—"तू सहस्र है। तुझे सहस्र के लिए देता हूँ।" सहस्र का अर्थ है पूर्ण। पूर्ण के लिए तुझे देता हूँ ॥१३॥

अब वह इनको (उखा) में रखता है। पहले पुरुष (अर्थात् स्वर्ण-पुरुष) के सिर को। इस प्रकार पुरुष पराक्रम से प्राप्त करके रखता है। पुरुष को बीच में, पुरुष के चारों ओर अन्य पशुओं को। इस प्रकार पुरुष को खानेवाले के रूप में रखता है। इसीलिए तो पुरुष पशुओं के मध्य में खानेवाला है। (यहाँ 'अत्ता का अर्थ ग्रहण करनेवाला अधिक उत्तम होगा—'अत्ता चराचर ग्रहणात्') ॥१४॥

घोड़े और भेड़ को उत्तर की (बाईं) ओर। इस प्रकार इनको इस दिशा में रखता है। इसीलिए इस दिशा में ये पशु अधिक हैं ॥१५॥

गाय और बकरे को दक्षिण की (दाईं) ओर। इन पशुओं को इस दिशा में रखता है। इसीलिए इस दिशा में ये पशु अधिक हैं ॥१६॥

पुरुष (स्वर्ण पुरुष) के सिर को दूध में रखता है। दूध पशु हैं। इस प्रकार पशुओं में यजमान की प्रतिष्ठा करता है, इस मन्त्र से—"आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्। परिवृङ्ग्धि हरसा माभिमꣳस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः" (यजु० १३।४१)—"आदित्यरूपी गर्भ को दूध से युक्त करो। सहस्रों की विश्वरूप प्रतिमा को। इसको अग्नि के दाह से बचा। इसको हानि न पहुँचा। चिनी जाती हुई तू इसको सौ वर्ष का कर।" यह गर्भ आदित्य है। पुरुष सहस्रों की प्रतिमा है, क्योंकि पुरुष के ही ये सब रूप हो जाते हैं। वह पुरुष को पशुओं के बीच में सौ वर्ष का करता है। इसीलिए पुरुष ही सौ वर्ष की आयुवाला होता है ॥१७॥

अब उत्तर की ओर घोड़े को, इस मन्त्र से—"वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्ये। शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्" (यजु० १३।४२)—"वायु का वेग, वरुण की नाभि, सलिल के मध्य में उत्पन्न हुआ घोड़ा। नदियों का बालक, हरि, पहाड़ों से उत्पन्न हुआ। हे अग्नि, इसको तू व्योम में हानि न पहुँचा।" यह अश्व वायु का वेग है। अश्व वरुण का है। यह जलों में पैदा हुआ है। अद्रि का अर्थ है पहाड़। व्योम का अर्थ है यह लोक, अर्थात् इन लोकों में इसको हानि न पहुँचा ॥१८॥

गाय के सिर को दाहिनी ओर इस मन्त्र से—"अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः। स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिꣳसीरदितिं विराजम्" (यजु० १३।४३)—"अखण्ड, इन्दु, रोषरहित, भर्त्ता, अग्नि, पूर्व की ओर चिनी गई, को नमस्कार करता हूँ। तू अनेक अंगों से युक्त है। इस विराट् अग्नि को हानि न पहुँचा।" इन्दु सोम है। यह गौ ही अखण्ड सोम है। गौ आग्नेय है। अग्नि पूर्व की ओर चिती जाती है। पूर्व की ओर इसका उपचार होता है। जब वेदी (अग्नि) चिनी जाती है, तो इसको सब अंगों से सम्पन्न करते हैं।

२

विराड्वै गौरन्नं वै विराडन्नमु गौः ॥१९॥ अथोत्तरतोऽविम् । वरूत्रीं त्वष्टुर्वरु-
णस्य नाभिमिति वारुणी च ह्वि त्वाष्ट्री चाविरविं जज्ञानाꣳ रजसः परस्मादिति
श्रोत्रं वै परꣳ रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परꣳ रजो महीꣳ साहस्रीमसुरस्य मा-
यामिति महतीꣳ साहस्रीमसुरस्य मायामित्येतदग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नि-
तीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतत् ॥२०॥ अथ दक्षि-
णतोऽजम् । योऽअग्निरग्नेरध्यजायतेत्यग्निर्वाऽएषोऽग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उ-
त वा दिवस्परीति यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवश्च पृथिव्यै च शोकादजा
यत येन प्रजा विश्वकर्मा जजानेति वाग्वाऽअजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा ज-
जान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्त्विति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२१॥ तऽएते पश-
वः । नानानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना ह्येते
पशवः ॥२२॥ अथ पुरुषशीर्षमभिजुहोति । आहुतिर्वै यज्ञः पुरुषं तत्पशूनां य-
ज्ञियं करोति तस्मात्पुरुष एव पशूनां यजते ॥२३॥ यद्वेवैनदभिजुहोति । शीर्ष-
स्तद्वीर्यं दधात्याज्येन जुहोति वज्रो वाऽआज्यं वीर्यं वै वज्रो वीर्यमेवास्मिन्नेतद्द-
धाति स्वाहाकारेण वृषा वै स्वाहाकारो वीर्यं वै वृषा वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति
त्रिष्टुभा वज्रो वै त्रिष्टुब्वीर्यं वै वज्रो वीर्यं त्रिष्टुब्वीर्येणैवास्मिन्नेतद्वीर्यं दधाति
॥२४॥ स वाऽअर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । अस्थि वाऽऋगिदं तच्छीर्षकपालं
विहाप्य यदिदमन्तरतः शीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन्दधाति ॥२५॥ अथोत्तरमर्धर्चमनुद्रुत्य
स्वाहाकरोति । इदं तच्छीर्षकपालꣳ संधाय यदिदमुपरिष्टाच्छीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन्द-
धाति ॥२६॥ चित्रं देवानामुदगादनीकमिति । असौ वाऽआदित्य एष पुरुषस्त-
देतच्चित्रं देवानामुदेत्यनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेरित्युभयेषाꣳ ह्येतद्देवमनुष्या-
णां चक्षुराप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षमित्युद्यन्वाऽएष इमांल्लोकानापूरयति सूर्य
आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्येष ह्यस्य सर्वस्यात्मा यच्च जगद्यच्च तिष्ठति ॥२७॥ अथो-

विराट् नाम है गौ का। विराट् नाम है अन्न का। गौ अन्न है ॥१९॥

अब बाईं ओर भेड़ को इस मन्त्र से—"वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाँ रजसः परस्मात्। महीँ साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिँसीः परमे व्योमन्" (यजु० १३।४४)—"त्वष्टा को ढाँपनेवाली, वरुण की नाभि। परम अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुई भेड़। असुर की बड़ी माया। हे अग्नि, इसको परम व्योम में हानि न पहुँचा।" भेड़ त्वष्टा और वरुण दोनों से सम्बन्धित है। 'परम रज' या परम अन्तरिक्ष का अर्थ है श्रोत्र (कान)। दिशा ही श्रोत्र हैं। परम व्योम का अर्थ है ये लोक, अर्थात् इन लोकों में उसकी हिंसा मत कर ॥२०॥

दक्षिण की ओर बकरे को, इस मन्त्र से—"यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात् पृथिव्या ऽ उत वा दिवस्परि। येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु" (यजु० १३।४५)—"जो अग्नि अग्नि से उत्पन्न हुई। पृथिवी के शोक से या द्यौ के। जिससे विश्वकर्मा ने प्रजा को उत्पन्न किया। हे अग्नि, हमको अपने क्रोध से बचा।" यह अग्नि अग्नि से उत्पन्न तो होती है, जो प्रजापति के शोक से उत्पन्न हुई। वह पृथिवी और द्यौ के शोक से उत्पन्न हुई। अज का अर्थ है वाणी। वाणी से ही प्रजा है। शेष स्पष्ट है ॥२१॥

ये हैं इतने पशु। इनको अलग-अलग रखता है, अलग-अलग स्थापित करता है। अलग-अलग इन पर सूददोह का पाठ करता है। क्योंकि ये पशु एक-दूसरे से अलग हैं ॥२२॥

अब स्वर्ण-पुरुष के सिर पर आहुति देता है। आहुति ही यज्ञ है। इस प्रकार पुरुष को पशुओं में 'यज्ञिय' अर्थात् यज्ञ के योग्य बनाता है। इसलिए पशुओं में केवल पुरुष ही 'यज्ञिय' अर्थात् यज्ञ का अधिकारी है ॥२३॥

इस आहुति का यह भी प्रयोजन है कि इस प्रकार सिर में पराक्रम रखता है। घी से आहुति देता है, क्योंकि घी वज्र है। पराक्रम वज्र है। इस प्रकार इसमें पराक्रम रखता है। स्वाहा पढ़कर। स्वाहा नर है। वीर्य भी नर है। इस प्रकार इसमें वीर्य स्थापित करता है त्रिष्टुप् छन्द से। त्रिष्टुप् वज्र है। वीर्य भी त्रिष्टुप् है। इस प्रकार वीर्य के द्वारा ही इसमें वीर्य की स्थापना करता है ॥२४॥

आधी ऋचा पढ़कर स्वाहा करता है। ऋचा हड्डी है, इस प्रकार सिर के कपाल को फाड़कर उसके भीतर वीर्य भरता है ॥२५॥

अब पिछला आधा मन्त्र पढ़कर स्वाहा करता है। इस प्रकार सिर के कपाल को जोड़कर मानो सिर के ऊपर वीर्य स्थापित करता है ॥२६॥

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी ऽ अन्तरिक्षँ सूर्य ऽ आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजु० १३।४६)—"ज्योतियों का विचित्र मुख प्रादुर्भूत हुआ है मित्र, वरुण और अग्नि का मित्र। इसने द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को परिपूर्ण किया है। यह सूर्य जंगम और स्थावर का आत्मा है।" यह पुरुष (स्वर्ण-पुरुष) आदित्य है। देव और मनुष्य दोनों का पशु है। यह उदय होकर इन लोकों को भर लेता है। यह सब जंगम और स्थावर का आत्मा है ॥२७॥

त्सर्गैरुपतिष्ठत । ऽएतद्वै यत्रैतान्प्रजापतिः पशूनालिप्सत तऽआलिप्स्यमाना अ-
शोचंस्तेषामेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपाहंस्तथैवैषामयमेतदेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मा-
नमपहन्ति ॥२८॥ तद्धैके । यं-यमेव पशुमुपदधति तस्य-तस्य शुचमुत्सृजन्ति ने-
च्छुचं पाप्मानमभ्युपदधामहाऽइति ते ह ते शुचं पाप्मानमभ्युपदधति याꣳ हि
पूर्वस्य शुचमुत्सृजन्ति तामुत्तरेण सहोपदधति ॥२९॥ विपरिक्राममु हैकऽउप-
तिष्ठन्ते । ऊर्ध्वाꣳ शुचमुत्सृजाम इति ते ह ते शुचं पाप्मानमनूह्यन्त्यूर्ध्वा ह्येतेन
कर्मणेत्यूर्ध्वामु शुचमुत्सृजन्ति ॥३०॥ बाह्येनैवाग्निमुत्सृजेत् । इमे वै लोका एषो
ऽग्निरेभ्यस्तल्लोकेभ्यो बहिर्धा शुचं दधाति बहिर्वेदीयं वै वेदिरस्यै तद्बहिर्धा शुचं
दधात्युदङ् तिष्ठन्नेतस्याꣳ ह दिश्येते पशवस्तद्यत्रैते पशवस्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति
॥३१॥ पुरुषस्य प्रथममुत्सृजति । तꣳ हि प्रथममुपदधातीमं मा हिꣳसीर्द्विपादं
पशुमिति द्विपाद्वाऽएष पशुर्यत्पुरुषस्तं मा हिꣳसीरित्येतत्सहस्राक्षो मेधाय ची-
यमान इति हिरण्यशकलैर्वाऽएष सहस्राक्षो मेधायेत्यन्नायेत्येतन्मयुं पशुं मेधमग्ने
जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुषमग्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वो नि-
षीदेत्यात्मा वै तनूस्तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतन्मयुं ते शुगृच्छतु यं
द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तन्मयौ च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥३२॥ अ-
थाश्वस्य । इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुमित्येकशफो वाऽएष पशुर्यदश्वस्तं मा
हिꣳसीरित्येतत्कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेष्विति कनिक्रदो वाऽएष वाज्यु वाजि-
नेषु गौरमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै गौरमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वान-
स्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतद्गौरं ते शुगृच्छतु यं द्वि-
ष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥३३॥ अथ
गोः । इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्समिति साहस्रो वाऽएष शतधार उत्सो यद्गौ-
र्व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्यऽइतीमे वै लोकाः सरिरमुपजीव्यमानमेषु लोकेष्वि-

वह इन (सिरों) की उपासना उत्सर्गों से (अगले पाँच मन्त्रों से) करता है। जब प्रजापति ने पशुओं को मारना चाहा, तो मारे जाने के विचार से उनको बड़ा सोच हुआ। इन उत्सर्ग-मन्त्रों द्वारा ही उसने इनके सोच (शुच् का अर्थ जलती हुई आग भी है) और पाप को दूर किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन उत्सर्गों द्वारा इनके सोच और पाप को दूर कर देता है ॥२८॥

कुछ लोग जिस-जिस पशु को रखते हैं, उस-उसके शोक को दूर करते हैं कि कहीं उस पर सोच और पाप रक्खा हुआ न छोड़ दें। परन्तु ये तो इस सोच और पाप को उस पर छोड़ ही देते हैं, क्योंकि पहले पशु से सोच को दूर करते हैं, तो अगले पशु पर रख देते हैं ॥२९॥

कुछ परिक्रमा करते हुए उपासना करते हैं, मानो शोक को ऊपर को छोड़ते हैं। परन्तु यह तो सोच का अनुसरण करते हैं, क्योंकि इस कर्म से (यजमान) ऊपर को ही जाता है और ये सोच को भी ऊपर की ओर ही छोड़ देते हैं ॥३०॥

इस सोच को बाहर छोड़ना चाहिए। यह अग्नि या वेदी तो इन लोकों की प्रतिनिधि है। इस प्रकार सोच को इन लोकों से बाहर रखता है, वेदी के बाहर, क्योंकि यह पृथिवी वेदी है। इस प्रकार पृथिवी से बाहर सोच को निकालता है, उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा होकर। यह पशु इसी दिशा में है। जिधर पशु हैं उधर ही सोच को छुड़ाता है ॥३१॥

पहलेपहल पुरुष (स्वर्ण-पुरुष) के सोच को छुड़ाता है। उसी को पहले रखता है, इस मन्त्र से—"इमं मा हिँ सीर्द्विपादं पशुँ सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः"—"हे अग्नि, इस बनावटी पशु-मेध को स्वीकार कर।" "तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु" (यजु० १३।४७)—यह पुरुष दुपाया पशु है। इसको मत मार। यह सहस्राक्ष है, क्योंकि स्वर्ण का टुकड़ा है! मेध का अर्थ है अन्न, मयु का अर्थ है किम्पुरुष (बनावटी पुतला), आत्मा शरीर है उससे चिना जाता हुआ। इस प्रकार इस पुतले में सोच को छोड़ता है और उसमें जिसके साथ वह द्वेष करता है ॥३२॥

अब घोड़े को इस मन्त्र से—"इमं मा हिँ सीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु" (यजु० १३।४८)—'एकशफ' (एक खुर का) घोड़ा है। इसको हानि न पहुँचावें। तेज चलने-वालों में हिनहिनाता हुआ तेज चलनेवाला। वह उसको गौरवर्ण जंगली जानवर को देता है। चिनी जाती हुई तू बैठ। तेरी गर्मी इस पशु तक पहुँचे, और उस तक भी जिससे हम द्वेष करते हैं ॥३३॥

अब गौ को इस मन्त्र से—"इमँ साहस्रँ शतधारमुत्सं व्यच्यमानँ सरिरस्य मध्ये।

त्येतद्घृतं दुहानामदितिं जनायेति घृतं वाऽएषादितिर्जनाय दुहेऽग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतद्गवय-मारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै गवयमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतद्गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तद्गवये च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥३४॥ अथाविः । इ-ममूर्णायुमित्यूर्णावलमित्येतद्वरुणस्य नाभिमिति वारुणी ह्यविस्त्वचं पशूनां द्वि-पदां चतुष्पदामित्युभयेषाꣳ ह्येष पशूनां त्वग्द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमित्येतद्ध त्वष्टा प्रथमꣳ रूपं विचकाराग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नि-तीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतदुष्ट्रमारण्यमनु ते दि-शामीति तदस्माऽउष्ट्रमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चि-न्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतदुष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तदुष्ट्रे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥३५॥ अथाजस्य । अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शो-कादिति यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत सोऽअपश्यज्जनिता-रमग्रऽइति प्रजापतिर्वै जनिता सोऽपश्यत्प्रजापतिमग्रऽइत्येतत्तेन देवा देवता-मग्रऽआयन्निति वाग्वाऽअजो वाचो वै देवा देवतामग्रमायंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन स्वर्गं लोकमायन्नुप मेध्यास इत्येतच्छ-रभमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै शरभमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतच्छरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तच्छरभे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥३६॥ तदाहुः । यां वै तत्प्रजापतिरेतेषां पशूनाꣳ शुचं पाप्मानमपाहꣳस्तऽएते पञ्च पशवोऽभवंस्त ऽएतऽउत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्मणो नाश्नीयात्तानेतस्यां दिशि द-धाति तस्मादेतस्यां दिशि पर्जन्यो न वर्षुको यत्रैते भवन्ति ॥३७॥ प्रत्येत्याग्निमु-

घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिँ्सीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु" (यजु० १३।४९)—"इस हजारवाले तथा सौ धारोंवाले कुएँ को जो सलिल के मध्य में उठा हुआ है, और जो मनुष्यों के लिए बहुत घी देनेवाला पशु है, हे अग्नि! हानि न पहुँचाना परम व्योम में। तुझे जंगली गवय देता हूँ। अपने रूप को चिनता हुआ तू बैठ। अपनी गर्मी को गवय तक पहुँचा या उस तक जिसको हम द्वेष की दृष्टि से देखते हैं।" गौ है ही सहस्रोंवाला तथा सैकड़ों धारोंवाला कुआँ। सलिल के ये लोक हैं। गाय मनुष्य के लिए दूध देती ही है। परम व्योम ये लोक हैं, अर्थात् इन लोकों में हानि न पहुँचा। इस प्रकार वह गवय में अग्नि पहुँचाता है और उसमें भी जिसके साथ वह द्वेष करता है ॥३४॥

अब भेड़ को इस मन्त्र से—"इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिँ्सीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु" (यजु० १३।५०)— "भेड़ में ऊन तो होती ही है। यह वरुण की नाभि है, क्योंकि भेड़ वरुण से सम्बन्ध रखती है। भेड़ दुपाये और चौपाये दोनों का चमड़ा हैं। यह त्वष्टा के प्रजाओं का पहला जन्मस्थान है, अर्थात् त्वष्टा ने सबसे पहले इसे उत्पन्न किया। इसको परम व्योम में हानि न पहुँचा। व्योम ये लोक हैं, अर्थात् इन लोकों में हानि न पहुँचा। जंगली ऊँट को मैं तुझे देता हूँ। अपनी गर्मी को इस ऊँट तक पहुँचा या उस पुरुष तक जिससे हम द्वेष करते हैं" ॥३५॥

अब बकरे को इस मन्त्र से—"अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो ऽ अपश्यज् जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः। शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु" (यजु० १३।५१)—"बकरा अग्नि के शोक या गर्मी से उत्पन्न हुआ, अर्थात् प्रजापति के शोक से। उसने अपने उत्पन्न करनेवाले को देखा। उत्पन्न करनेवाला प्रजापति है। इसी से पहले देव देवत्व को प्राप्त हुए। अज है वाणी। इस अज वाणी से ही देव देवतापन को प्राप्त हुए। इसी से वे उँचाई को गये। स्वर्ग उँचाई है। मैं तुझको जंगली शरभ देता हूँ। अपने रूप को चिनता हुआ अपने को पूर्ण कर। शरभ तक गर्मी पहुँचा, या उस तक जिससे हम द्वेष करते हैं। इस प्रकार वह शरभ तक आग पहुँचाता है या उस तक जिससे हम द्वेष करते हैं ॥३६॥

इस पर वे कहते हैं कि प्रजापति ने जिस पाप या गर्मी को इन पशुओं से निकाला, वे ही ये पांच पशु हो गये। वे यज्ञ के अयोग्य हैं क्योंकि उनका मेध (रस) तो निकल गया। ब्राह्मण उनको न खावे। उनको उसी दिशा में रखता है। इसलिए उस दिशा में वर्षा नहीं होती जिसमें ये पशु रहते हैं ॥३७॥

पीछे लौटकर अग्नि की उपासना करता है।

प्रतिष्ठते । एतद्वाऽएतद्यथायथं करोति यदग्नौ सामिचिते बहिर्वेद्येति तस्माऽए-वैतन्निह्नुतेऽहिꣳसायाऽआग्नेय्यायऽएवैतन्निह्नुते गायत्र्या गायत्रोऽग्निर्यावानग्नि-र्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्माऽएतन्निह्नुतेऽनिरुक्तया सर्वं वाऽअनिरुक्तꣳ सर्वे-णैवास्माऽएतन्निह्नुते यविष्ठवत्येतद्धास्य प्रियं धाम यद्यविष्ठ इति यद्धि जात इदꣳ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः ॥३८॥ त्वं यविष्ठ दाशुष इति । यजमानो वै दाश्वान्नॄꣳ पाहीति मनुष्या वै नरः शृणुधी गिर इति शृणु न इमाꣳ स्तुतिमित्येतद्रक्षा तोकमुत त्मनेति प्रजा वै तोकꣳ रक्ष प्रजां चात्मानं चेत्येतत् ॥३९॥ आहुत्या-ग्निं जघनेन स्वयमातृण्णां परीत्यापस्या उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा ऽएतेभ्यः पशुभ्य आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या उपदधात्येष्वेवैतत्पशुष्वपो द-धात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पञ्च-पञ्चोपद-धाति पञ्च ह्येते पशवः सर्वत उपदधाति सर्वत एवैष्वेतदपो दधाति ॥४०॥ त-याः पञ्चदश पूर्वाः । ता अपस्या वज्रो वाऽआपो वज्रः पञ्चदशस्तस्माद्येनापो यन्त्यपैव तत्र पाप्मानं घ्नन्ति वज्रो ह्येव तस्यार्धस्य पाप्मानमपघ्नन्ति तस्माद्वर्षत्य-प्रावृतो व्रजेदयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति ॥४१॥ अथ याः पञ्चोत्तराः । ता-श्छन्दस्याः पशवो वै छन्दाꣳस्यन्नं पशवोऽन्नमु पशोर्माꣳसमथ वाऽएतेभ्यः पशु-भ्यो माꣳसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्यच्छन्दस्या उपदधात्येष्वेवैतत्पशुषु माꣳसानि दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्पशुभ्यो माꣳसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति बाह्याश्छन्दस्या अन्तरा ह्यापो बाह्यानि माꣳसानि ॥४२॥ त-दाहुः । यदिमा आप एतानि माꣳसान्यथ क्व त्वग्लोमेत्यन्नं वाव पशोस्त्वगन्नं लोम तद्यच्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक्तल्लोमाथो यान्यमून्युखायामजलो-मानि तानि लोमानि बाह्योखा भवत्यन्तराणि पशुशीर्षाणि बाह्यानि हि लो-मान्यन्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति ह स्माह शाण्डिल्यः सर्वानेव वयं कृ-

यदि अग्नि या वेदी के आधे चिने जाने पर ही बाहर निकलता है, तो अनुचित कर्म करता है। इसका प्रतीकार करता है कि कहीं उससे हानि न पहुँच जाय आग्नेय मन्त्र से। क्योंकि अग्नि के प्रति ही प्रतीकार करता है, अनिश्चित (अनिरुक्त) से। अनिरुक्त का अर्थ है सब। इस प्रकार 'सब' के द्वारा प्रतीकार करता है, ऐसे मन्त्र से जिसमें यविष्ठ शब्द है। यविष्ठ इसका प्रिय धाम है। उत्पन्न होते ही इसने सबको "अयुवत" प्राप्त कर लिया था। इसलिए यह यविष्ठ कहलाया। (यविष्ठ यु धातु से बनता है) ॥३८॥

"त्वं यविष्ठ दाशुषोन्नॄः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना" (यजु० १३।५२, ऋ०८।८४।३)—"हे यविष्ठ, भक्त जनों की रक्षा कर। वाणी को सुन। प्रजा की और अपनी रक्षा कर।" भक्तजन यजमान है। वाणी अर्थात् स्तुति। लोक का अर्थ है प्रजा। अर्थात् प्रजा की भी रक्षा कर, मेरी अपनी भी ॥३९॥

(वेदी पर) चढ़कर और स्वयमातृण्ण ईंट की परिक्रमा देकर वह अपस्याओं को रखता है। अपस्या है जल। इन पशुओं से जल निकल गया है। अपस्याओं को रखने का अर्थ यह है कि पशुओं में जल को रखता है। पशुओं के पास रखता है, अर्थात् जल को पशुओं के पास रखता है। पाँच-पाँच रखता है, क्योंकि पशु पाँच हैं। उनको सब दिशाओं में रखता है, अर्थात् सब दिशाओं में वह जल को रख देता है ॥४०॥

पहली पन्द्रह अपस्या हैं। जल वज्र है। वज्र पन्द्रहवाला है, अतः जिधर जल बहते हैं, बुराई को बहा ले जाते हैं। वज्र इस बुराई को मारता है। इसलिए जब वर्षा हो तो नंगा चले कि यह वर्षा मेरी बुराई को मुझसे निकाल दे ॥४१॥

पिछली पाँच छन्दस्य ईंटें हैं। छन्द पशु हैं। अन्न पशु हैं। या पशु का मांस अन्न है। इन पशुओं से मांस निकल चुका है। छन्दस्यों को रखने का तात्पर्य यह है कि वह पशुओं में मांस रखता है। पशुओं से चिपटाकर रखता है अर्थात् पशुओं से चिपटाकर मांस को रखता है। भीतर को अपस्य होती है और बाहर को छन्दस्य, क्योंकि जल भीतर होता है और मांस बाहर ॥४२॥

कुछ लोग पूछते हैं कि जल और मांस तो हो गया, त्वचा कहाँ है और लोम कहाँ? पशु की त्वचा अन्न है और पशु के लोम अन्न हैं। जब वह छन्दस्य को रखता है तो वही पशु की त्वचा है वही लोम। या उखा में जो बकरे के लोम हैं वही लोम हैं। उखा बाहर है और पशु सिर के भीतर हैं। क्योंकि लोम बाहर हैं और शरीर भीतर है। शाण्डिल्य का कहना है कि चाहे यों

त्वान्यशून्त्संस्कुर्म इति ॥४३॥ यद्वेवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तादाप आयंस्तास्वितास्वविशद्यदविशत्तस्माद्विँशतिस्ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्रवन्नन्तो वा ऽअङ्गुलयोऽन्तत एवास्मात्ता आप आयन् ॥४४॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रँसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात्ता आप आयन्नेतास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति ॥४५॥ अपां त्वेमन्त्सादयामीति । वायुर्वाऽअपामेम यदा ह्येवैष इतश्चेतश्च वात्यथापो यन्ति वायौ ताँ सादयति ॥४६॥ अपां त्वोद्मन्त्सादयामीति । ओषधयो वाऽअपामोद्म यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्तऽओषधिषु ताँ सादयति ॥४७॥ अपां त्वा भस्मन्त्सादयामीति । अभ्रं वाऽअपां भस्माभ्रे ताँ सादयति ॥४८॥ अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति । विद्युद्वाऽअपां ज्योतिर्विद्युति ताँ सादयति ॥४९॥ अपां त्वायने सादयामीति । इयं वाऽअपामयनमस्याँ ह्यापो यन्त्यस्यां ताँ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथोऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥५०॥ अर्णवे त्वा सदने सादयामीति । प्राणो वाऽअर्णवः प्राणे ताँ सादयति ॥५१॥ समुद्रे त्वा सदने सादयामीति । मनो वै समुद्रा मनसो वै समुद्राद्वाचाभ्र्या देवास्त्रयीं विद्यां निरखनंस्तदेष श्लोकोऽभ्युक्तो ये समुद्रान्निरखनन्देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः सुदेवो ऽअद्य तद्विद्याद्यत्र निर्वपणं दधुरिति मनः समुद्रो वाक्तीक्ष्णाभ्रिस्त्रयी विद्या निर्वपणमेतदेष श्लोकोऽभ्युक्तो मनसि ताँ सादयति ॥५२॥ सरिरे त्वा सदने सादयामीति । वाग्वै सरिरं वाचि ताँ सादयति ॥५३॥ अपां त्वा क्षये सादयामीति । चक्षुर्वाऽअपां क्षयस्तत्र हि सर्वदैवापः क्षियन्ति चक्षुषि ताँ सादयति ॥५४॥ अपां त्वा सधिषि सादयामीति । श्रोत्रं वाऽअपाँ सधिः श्रोत्रे ताँ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथोऽएतान्ये-

चाहो त्यों, हम पशुओं को पूर्ण कर देते हैं ।।४३।।

अपस्या को यों भी रखता है। प्रजापति थक गया तो जल उससे निकल गये। जल के निकलने से वह डूब गया (अविशत्)। विश् से विंशति बना (इसलिए बीस ईंटें हुईं)। वह अँगुलियों में से निकला। अँगुलियाँ अन्त हैं। जल उसके अन्त से ही निकला ।।४४।।

जो प्रजापति थक गया वह यही अग्नि या वेदी है जो चिनी जा रही है। और जो जल उससे निकला वह ये ईंटें हैं। जब वह इन ईंटों को रखता है तो मानो उस जल को वापस लौटाता है जो उसमें से निकल गया था। इसीलिए इन ईंटों को रखता है -।।४५।।

इस मन्त्र से— "अपां त्वेमन्त्सादयामि" (यजु० १३।५३)—"तुझे जलों के मार्ग में रखता हूँ।" जलों का मार्ग है वायु। जब वायु चलता है तो जल इधर-उधर बहता है। इस (पहली ईंट) को वह वायु में स्थापित करता है ।।४६।।

"अपां त्वोद्मन् सादयामि" (यजु० १३।५३)—"तुझे जलों की बाढ़ में रखता हूँ।" जलों की बाढ़ हैं ओषधियाँ। जब जल बढ़ते हैं तो ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस (ईंट) को वह ओषधियों में स्थापित करता है ।।४७।।

"अपां त्वा भस्मन्त्सादयामि" (यजु० १३।५३)—"जलों की भस्म में तुझको रखता हूँ।" जलों की भस्म अभ्र (बादल) है। बादल में उसको रखता है ।।४८।।

"अपां त्वा ज्योतिषि सादयामि" (यजु० १३।५३)—"तुझे जलों की ज्योति में रखता हूँ।" जलों की ज्योति बिजली है। इस प्रकार बिजली में उसको रखता है ।।४९।।

"अपां त्वायने सादयामि" (यजु० १३।५३)—"जलों के घर में तुझको रखता हूँ।' पृथिवी जलों का घर है, क्योंकि इसमें जल चलते हैं। उसी में इसको रखता है। इसके जिन पाँच रूपों से जल निकला था उनमें वह (इन पाँच मंत्रांशों को पढ़कर) उसको रखता है। इस प्रकार वह इन रूपों को पूर्ण कर देता है ।।५०।।

"अर्णवे त्वा सदने सादयामि" (यजु १३।५३)— अर्णव कहते हैं प्राण को, अर्थात् "तुझ को प्राण में रखता हूँ ।।५१।।

"समुद्रे त्वा सदने सादयामि" (यजु० १३।५३)—समुद्र का अर्थ है मन। मनरूपी समुद्र से देवों ने वाणीरूपी कुदाल द्वारा त्रयी विद्या को खोदकर निकाला। इसी का यह मन्त्र प्रतिपादन करता है—"ये समुद्रान्निरखनन्देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः सुदेवो ऽअद्य तद्विद्याद्यत्र निर्वपणं दधुः" (यजु० १३।५३)—"जिन देवों ने तीक्ष्ण कुदालों से समुद्र से खोदकर निकाला, उन्होंने जहाँ उस आहुति (निर्वपण) को रक्खा, उसको आज ईश्वर ही जानता है।" समुद्र मन है। वाणी तीक्ष्ण कुदाल है। त्रयी विद्या आहुति है। यह श्लोक इसी का प्रतिपादन करता है। मन में उसको रखता है ।।५२।।

"सरिरे त्वा सदने सादयामि" (यजु० १३।५३)—सरिर है वाणी। उसको वाणी में रखता है ।।५३।।

"अपां त्वा क्षये सादयामि" (यजु० १३।५३)—जलों का क्षय या घर चक्षु है, क्योंकि जल उसी में रहता है। उसको आँख में रखता है ।।५४।।

"अपां त्वा सधिषि सादयामि" (यजु० १३।५३)—जलों का सधि या अन्त कान है। उसको कान में रखता है। जो जल उसके इन पाँच रूपों से गया था, उसको वह उसमें फिर से

वास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥५५॥ अपां त्वा सदने सादयामीति । द्यौर्वाऽअपाᳯ सदनं दिवि ह्यापः सन्ना दिवि ताᳯ सादयति ॥५६॥ अपां त्वा सधस्थे सादयामीति अन्तरिक्षं वा अपाᳯ सधस्थमन्तरिक्षे ताᳯ सादयति ॥५७॥ अपां त्वा योनौ सादयामीति । समुद्रो वाऽअपां योनिः समुद्रे ताᳯ सादयति ॥५८॥ अपां त्वा पुरीषे सादयामीति । सिकता वाऽअपां पुरीषᳯ सिकतासु ताᳯ सादयति ॥५९॥ अपां त्वा पाथसि सादयामीति । अन्नं वाऽअपां पाथोऽन्ने ताᳯ सादयति तस्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथोऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥६०॥ गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि । त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामीति तस्या अस्यैतेभ्यश्छन्दोभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथोऽएतान्येवास्मिन्नेतच्छन्दाᳯसि दधाति ॥६१॥ ता एता अङ्गुलयः । ताः सर्वत उपदधाति सर्वतो ह्येमा अङ्गुलयोऽन्तेषूपदधात्यन्तेषु ह्येमा अङ्गुलयश्चतुर्धोपदधाति चतुर्धा ह्येमा अङ्गुलयः पञ्च-पञ्चोपदधाति पञ्च-पञ्च ह्येमा अङ्गुलयो नानोपदधाति नाना ह्येमा अङ्गुलयः सकृत्सकृत्सादयति समानं तत्करोति तस्मात्समानसम्बन्धनाः ॥६२॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५.२.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१००॥ पञ्चमोऽध्यायः [४८.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या३१८ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे हस्तिघटनाम सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥७॥

रखता है और वह उसके उन रूपों को पूरा कर देता है ॥५५॥

"अपां त्वा सदने सादयामि" (यजु० १३।५३)—जलों का सदन द्यौ है। जल द्यौ में हैं। इसलिए इसको द्यौ में रखता है ॥५६॥

"अपां त्वा सधस्थे सादयामि" (यजु० १३।५३)—जलों का सधस्थ (घर) अन्तरिक्ष है। वह उसको अन्तरिक्ष में रखता है ॥५७॥

"अपां त्वा योनौ सादयामि" (यजु० १३।५३)—समुद्र जलों की योनि है। समुद्र में वह उसको रखता है ॥५८॥

"अपां त्वा पुरीषे सादयामि" (यजु० १३।५३)—जलों का पुरीष रेत (बालुका) है। इस प्रकार वह रेत में उसको रखता है ॥५९॥

"अपां त्वा पाथसि सादयामि" (यजु० १३।५३)—जलों का स्थान (पाथस्) अन्न है। इसको वह अन्न में रखता है। जो जल उसके इन पाँचों रूपों से निकल भागा था, उसको वह फिर उसमें स्थापित करता है। उसके उन पाँचों रूपों को पूरा करता है ॥६०॥

"गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि" (यजु० १३।५३)—"त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि" (यजु० १३।५३)—"जागतेन त्वा छन्दसा सादयामि" (यजु० १३।५३)—"अनुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि" (यजु० १३।५३)—"पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि" (यजु० १३।५३)—उसके उन छन्दों से जो जल निकल गया था, उसको वह इन छन्दों द्वारा उसमें रखता है। इसके द्वारा इन छन्दों को पूरा करता है ॥६१॥

ये ईंटें अँगुलियाँ हैं। उनको सब ओर रखता है, क्योंकि अँगुलियाँ सब ओर होती हैं। सिरों पर रखता है, क्योंकि अँगुलियाँ सिरों पर हैं। चार भागों में रखता है, क्योंकि अँगुलियाँ चार भागों में हैं (दो हाथ की, दो पैर की)। पाँच-पाँच करके रखता है, क्योंकि अँगुलियाँ पाँच पाँच हैं। अलग-अलग रखता है, क्योंकि अँगुलियाँ अलग-अलग हैं। उनको एकसाथ रखता है, जिससे वे सम्बन्धित हो जाएँ। अँगुलियाँ सम्बन्धित हैं ॥६२॥

माध्यन्दिनीयशतपथब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत
"रत्नकुमारी दीपिका" भाषाव्याख्या का हस्ति-घटनाम
सप्तम काण्ड समाप्त हुआ।

सप्तम काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [७.२.२]	१०८
द्वितीय [७.३.२]	१०५
तृतीय [७.४.२]	८५
चतुर्थ [७.५.२]	१००
	३९८
पूर्व के काण्डों का योग	३८९५
पूर्णयोग	४२९३

ओम् । प्राणभृत उपदधाति । प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति ताः प्रथमायां चिताऽउपदधाति पूर्वार्ध एषोऽग्नेर्यत्प्रथमा चितिः पुरस्तात्तत्प्राणान्दधाति तस्मादिमे पुरस्तात्प्राणाः ॥१॥ ता दश-दशोपदधाति । दश वै प्राणा यद् वाऽअपि बहु कृत्वो दश-दश दशैव तत्पञ्च कृत्वो दश-दशोपदधाति पञ्च वाऽएतान्पशूनुपदधाति दश-दश वाऽएकैकस्मिन्पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान्दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तत्पशुभ्यः प्राणान्दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवैष्वेतत्प्राणान्दधाति ॥२॥ यद्वेव प्राणभृत उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात्प्राणा उदक्रामन्देवता भूत्वा तानब्रवीदुप मेत प्रति मऽएतद्धत्त येन मे यूयमुदक्रमिष्टेति स वै तदन्नꣳ सृजस्व यत्ते वयं पश्यन्त उपवसामेति ते वाऽउभये सृजामहाऽइति तथेति ते प्राणाश्च प्रजापतिश्चैतदन्नमसृजन्तैताः प्राणभृतः ॥३॥ स पुरस्तादुपदधाति । अयं पुरो भुव इत्यग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्भुव इत्याहाग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदꣳ सर्वं भवति प्राणो ह्यग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥४॥ तस्य प्राणो भौवायन इति । प्राणं तस्माद्रूपादग्नेर्निरमिमीत वसन्तः प्राणायन इति वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत गायत्री वासन्तीति गायत्रीं छन्दो वसन्तादृतोर्निरमिमीत गायत्र्यै गायत्रमिति गायत्र्यै छन्दसो गायत्रꣳ साम निरमिमीत गायत्रादुपाꣳशुरिति गायत्रात्साम्न उपाꣳशुं ग्रहं निरमिमीतोपाꣳशोस्त्रिवृदित्युपाꣳशोर्ग्रहात्त्रिवृतꣳ स्तोमं निरमिमीत त्रिवृतो रथन्तरमिति त्रिवृत स्तोमाद्रथन्तरं पृष्ठं निरमिमीत ॥५॥

अष्टम काण्ड

अथ चिति नामाष्टमं काण्डम्

प्राणभृत्संज्ञकेष्टकोपधानम्

अध्याय १—ब्राह्मण १

अब प्राणभृतों (ईंटों) को रखता है। प्राणभृत् ईंटें प्राण हैं, अर्थात् प्राणों को ही इनके रूप में रखता है। उनको पहली चिति में रखता है। यह पहली चिति अग्नि (वेदी) का पहला आधा भाग है, अर्थात् प्राणों को आगे रखता है। (प्राणियों में) प्राण आगे ही होते हैं ॥१॥

उनको दस-दस करके रखता है। प्राण दस होते हैं। यद्यपि दश-दश का अर्थ 'बहुतों' का भी होता है। यहाँ दश का अर्थ दश ही है। पाँच बार दस-दस करके रखता है, अर्थात् इन पाँच पशुओं को रखता है। हर एक पशु में दस-दस प्राण होते हैं। उन सबमें प्राण रखता है। पशुओं से चिपटाकर रखता है अर्थात् प्राणों को पशुओं से चिपटाकर रखता है। सब ओर रखता है अर्थात् सब दिशाओं में प्राण रखता है ॥२॥

प्राणभृत् (ईंटों) को रखने का प्रयोजन यह भी है कि प्रजापति जब थक गया तो उसके प्राण निकलकर भागे। वे देवता बन गये। उनसे उसने कहा, 'तुम जो मुझमें से निकलकर चले गये हो फिर आ जाओ।' (उन्होंने उत्तर दिया) 'अच्छा, उस अन्न को उपजा दे जिसको देख-कर हम तेरी उपासना कर सकें।' उसने कहा, 'अच्छा, हम दोनों बनावें।' उन्होंने कहा, 'अच्छा।' इस प्रकार उन दोनों ने इस अन्न को उपजाया जिसका रूप ये प्राणभृत् ईंटें हैं ॥३॥

वह इस मन्त्र से (एक ईंट को) वेदी के आगे की ओर रखता है—"अयं पुरो भुवः" (यजु० १३।५४)–अग्नि ही 'पुरः' है। इसको 'पुरः' इसलिए कहते हैं कि अग्नि को (गार्हपत्य से) आगे लाते हैं और सामने से ही पूजते हैं। अग्नि को 'भुवः' इसलिए कहा कि अग्नि से ही यह सब जगत् होता है (भवति)। प्राण ही अग्नि होकर आगे ठहरा। इसी रूप को वह अब अग्नि में स्थापित करता है ॥४॥

दूसरी ईंट को इससे—"तस्य प्राणो भौवायनः" (यजु० १३।५४)—"(अग्नि हुआ 'भुव'। 'भुव' का अपत्य 'भौवायन', अतः प्राण को अग्नि का अपत्य कहा। क्योंकि) अग्नि के ही उस रूप से प्रजापति ने प्राण बनाया। "वसन्ती प्राणायनः" (यजु० १३।५४)—"प्राण का अपत्य वसन्त।" क्योंकि वसन्त ऋतु को प्राण से उत्पन्न किया। "गायत्री वासन्ती" (यजु० १३।५४)—"वसन्ती की अपत्य गायत्री।" क्योंकि वसन्त ऋतु से गायत्री छन्द बनाया। "गायत्र्यै गायत्रम्" (यजु० १३।५४)—क्योंकि गायत्री छन्द से गायत्र साम बनाया गया। "गायत्रादुपांशुः" (यजु० १३।५४)—"साम 'गायत्र' से 'उपांशुग्रह' बनाया।" "उपांशो-स्त्रिवृत्" (यजु० १३।५४)—"उपांशु से त्रिवृत् स्तोम बनाया।" "त्रिवृतो रथन्तरम्" (यजु० १३।५४)—'त्रिवृत्' स्तोम से रथन्तर पृष्ठ ॥५॥

वसिष्ठ ऋषिरिति । प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनोऽएव वसिष्ठः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतत्प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्य इति प्राणं पुरस्तात्प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामाः प्राणे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तत्प्राणं करोत्यथ यन्नाना सादयेत्प्राणꣳ ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका यजुः सादनꣳ सूददोहास्तत्त्रिवृत्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तत्कृत्वोपदधाति ॥६॥ अथ दक्षिणतः । अयं दक्षिणा विश्वकर्मेत्ययं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवतऽएष हीदꣳ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥७॥ ॥ शतम् ४३०० ॥ ॥ तस्य मनो वैश्वकर्मणमिति । मनस्तस्माद्रूपाद्वायोर्निरमिमीत ग्रीष्मो मानस इति ग्रीष्ममृतुं मनसो निरमिमीत त्रिष्टुब्ग्रैष्मीति त्रिष्टुभं छन्दो ग्रीष्मादृतोर्निरमिमीत त्रिष्टुभः स्वारमिति त्रिष्टुभश्छन्दसः स्वारꣳ साम निरमिमीत स्वारादन्तर्याम इति स्वारात्साम्नोऽन्तर्यामं ग्रहं निरमिमीतान्तर्यामात्पञ्चदश इत्यन्तर्यामाद्ग्रहात्पञ्चदशꣳ स्तोमं निरमिमीत पञ्चदशाद्बृहदिति पञ्चदशात्स्तोमाद्बृहत्पृष्ठं निरमिमीत ॥८॥ भरद्वाज ऋषिरिति । मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतन्मनो गृह्णामि प्रजाभ्य इति मनो दक्षिणतः प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामा मनसि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तन्मनः करोत्यथ यन्नाना सादयेन्मनो ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

अथ पश्चात् । अयं पश्चाद्विश्वव्यचा इत्यसौ वाऽआदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदꣳ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति चक्षुर्ह्यादित्यो भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१॥ तस्य

"वसिष्ठ ऽ ऋषिः" (यजु० १३।५४)—प्राण ही वसिष्ठ ऋषि है। श्रेष्ठ होने से वसिष्ठ हुआ है। या 'वस्तृततमः' अर्थात् जिसके द्वारा वसते या जीते हैं, इससे 'वसिष्ठं' हुआ।" "प्रजापतिगृहीतया त्वया" (यजु० १३।५४)—अर्थात् "प्रजापति द्वारा बनाये हुए तुझसे।" "प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः" (यजु० १३।५४)—"प्राण को सन्तान के लिए ग्रहण करता हूँ।" प्राण को आगे से प्रविष्ट किया। ईंटों को अलग-अलग रखता है, अर्थात् प्राण में जो अलग-अलग कामनायें हैं उनको रखता है। एकसाथ रखता है। इससे प्राण को एक करता है। यदि कई बार में रक्खे तो प्राण का विच्छेद कर दे। यह ईंट त्रिवृत् (तीन वाली) हुई—एक यजु, दूसरा सादन (रखना) और तीसरा सूददोह। अग्नि भी त्रिवृत् है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसके अनुकूल ही उसको बनाता है ॥६॥

अब दाहिनी ओर इस मन्त्र से—"अयं दक्षिणा विश्वकर्मा" (यजु० १३।५५)—"यह जो वायु चलता है वही विश्वकर्मा है।" क्योंकि यही तो सब-कुछ बनाता है। इसको 'दक्षिणा' इसलिए कहा कि दक्षिण की ओर से ही बहुत वायु चलता है। मन ही वायु होकर दक्षिण की ओर ठहरा। इसलिए इसको इस रूप में रखता है ॥७॥

"तस्य मनो वैश्वकर्मणम्" (यजु० १३।५५)—उस वायु के रूप से उसने मन बनाया, इसलिए 'मन' को 'वैश्वकर्म' कहा गया। (विश्वकर्मा का अपत्य वैश्वकर्म)। "ग्रीष्मो मानसः" (यजु० १३।५५)—मन से ग्रीष्म ऋतु को बनाया, इसलिए ग्रीष्म का नाम मानस है। "त्रिष्टुब् ग्रैष्मी" (यजु० १३।५५)—"त्रिष्टुम् छन्द को ग्रीष्म ऋतु से बनाया।" "त्रिष्टुभः स्वारम्" (यजु० १३।५५)—"त्रिष्टुम् छन्द से स्वार साम बनाया।" "स्वारादन्तर्याम" (यजु० १३।५५)—"स्वार साम से अन्तर्याम ग्रह बनाया।" "अन्तर्यामात् पंचदशः" (यजु० १३।५५) —"अन्तर्याम ग्रह से पंचदश स्तोम बनाया।" "पंचदशाद् बृहत्" (यजु० १३।५५)—"पंचदश स्तोम से बृहत् पृष्ठ बनाया" ॥८॥

"भरद्वाज ऽ ऋषिः" (यजु० १३।५५)—मन ही भरद्वाज ऋषि है। वाज कहते हैं अन्न को, जिसके मन है उसके अन्न है। इसलिए 'मन' को 'भरद्वाज' ऋषि कहा। "प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः" (यजु० १३।५५)—"प्रजापति द्वारा बनाये हुए तुझसे प्रजा के लिए मन को ग्रहण करता हूँ।" मन को दाहिनी ओर से प्रविष्ट किया। इन ईंटों को अलग-अलग रखता है। इस प्रकार मन में अनेक कामनायें हैं उनको रखता है। एक बार में रखता है। इस प्रकार मन को एक करता है। यदि कई बार में रक्खे तो मन को टुकड़े-टुकड़े कर दे। यह ईंट त्रिवृत् होती है। इसका अर्थ स्पष्ट है ॥९॥

अध्याय १—ब्राह्मण २

पश्चिम की ओर इस मन्त्र से—"अयं पश्चाद् विश्वव्यचाः" (यजु० १३।५६)—"पश्चिम की ओर यह विश्वव्यापी।" विश्वव्यचा आदित्य है। क्योंकि जब यह उदय होता है, तो यह सब जगत् व्यक्त हो जाता है। इसको 'पश्चाद्' इसलिए कहा गया कि जब यह पश्चिम की ओर चलता है तभी लोग इसे देखते हैं। वस्तुतः आदित्य चक्षु होकर पश्चिम में ठहरा। उसी के रूप को इस समय 'अग्नि' में धारण कराता है ॥१॥

चक्षुर्वैश्वव्यचसमिति । चक्षुस्तस्माद्रूपादादित्यान्निरमिमीत वर्षाश्चाक्षुष्य इति वर्षा ऋतुं चक्षुषो निरमिमीत जगती वार्षीति जगतीं छन्दो वर्षाभ्य ऋतोर्निरमिमीत जगत्याऽऋक्सममिति जगत्यै छन्दस ऋक्सम७ साम निरमिमीतऽर्क्समाच्छुक्र इत्यृक्समात्साम्नः शुक्रं ग्रहं निरमिमीत शुक्रात्सप्तदश इति शुक्राद्ग्रहात्सप्तदश७ स्तोमं निरमिमीत सप्तदशाद्वैरूपमिति सप्तदशात्स्तोमाद्वैरूपं पृष्ठं निरमिमीत ॥२॥ जमदग्निरृषिरिति । चक्षुर्वै जमदग्निरृषिर्यदनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निरृषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतच्चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्य इति चक्षुः पश्चात्प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामाश्चक्षुषि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तच्चक्षुः करोत्यथ यन्नाना सादयेच्चक्षुर्ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः ॥३॥ अथोत्तरतः । इदमुत्तरात्स्वरिति दिशो वाऽउत्तरात्तच्चत्ता आहोत्तरादित्युत्तरा ह्यस्मात्सर्वस्माद्दिशोऽथ यत्स्वरित्याह स्वर्गो हि लोको दिशः श्रोत्र७ ह दिशो भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥४॥ तस्य श्रोत्र७ सौवमिति । श्रोत्रं तस्माद्रूपाद्दिग्भ्यो निरमिमीत शरच्छ्रौत्रीति शरदमृतु७ श्रोत्रान्निरमिमीतानुष्टुप्शारदीत्यनुष्टुभं छन्दः शरद ऋतोर्निरमिमीतानुष्टुभ ऐडमित्यनुष्टुभश्छन्दस ऐड७ साम निरमिमीतैडान्मन्थीत्यैडात्साम्नो मन्थिनं ग्रहं निरमिमीत मन्थिन एकविंश इति मन्थिनो ग्रहादेकविंश७ स्तोमं निरमिमीतैकविंशाद्वैराजमित्येकविंशात्स्तोमाद्वैराजं पृष्ठं निरमिमीत ॥५॥ विश्वामित्र ऋषिरिति । श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतच्छ्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्य इति श्रोत्रमुत्तरतः प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामाः श्रोत्रे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तच्छ्रोत्रं करोत्यथ यन्नाना सादयेच्छ्रोत्र७ ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः ॥६॥ अथ मध्ये । इ-

"तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसम्" (यजु० १३।५६)—"चक्षु उसकी अपत्य है। उसने चक्षु को आदित्य रूप से ही बनाया।" "वर्षाश्चाक्षुष्यः" (यजु० १३।५६)—"वर्षा को चक्षु से बनाया।" "जगती वार्षी" (यजु० १३।५६)—"जगती छन्द को वर्षा ऋतु से।" "जगत्या ऽ ऋक्समम्" (यजु० १३।५६)—"जगती से 'ऋक्सम' नामक साम बनाया।" "ऋक्समाच्छुक्रः" (यजु० १३।५६)—"ऋक्सम से शुक्र ग्रह उत्पन्न किया।" "शुक्रात्सप्तदशः" (यजु० १३।५६)—"शुक्र से सप्तदश स्तोम को बनाया।" "सप्तदशाद् वैरूपम्" (यजु० १३।५६)—"सप्तदश से वैरूप पृष्ठ को बनाया" ॥२॥

"जमदग्निर्ऋषिः" (यजु० १३।५६)—चक्षु जमदग्नि ऋषि है, क्योंकि इससे जगत् देखता है और मनन करता है। "प्रजापतिगृहीतया त्वया" (यजु० १३।५६)—अर्थात् "प्रजापति से उत्पन्न हुए तुझसे।" "चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः" (यजु० १३।५६)—"मैं सन्तान के लिए चक्षु को ग्रहण करता हूँ।" इस प्रकार पश्चिम की ओर से आँख को प्रविष्ट करता है। इन (दस ईंटों) को अलग-अलग रखता है। आँख में जो अलग-अलग कामनाएँ हैं, उनको उसमें रखता है। एक ही समय में रखता है। यदि भिन्न-भिन्न समय में रखता तो आँख के दो टुकड़े हो जाते। यह ईंट त्रिवृत् है। इसका अर्थ स्पष्ट है ॥३॥

उत्तर की ओर इस मन्त्र से—"इदमुत्तरात् स्वः" (यजु० १३।५७)—"दिशायें उत्तर की ओर हैं।" इनको 'उत्तर की ओर' इसलिए कहा कि ये सबके ऊपर हैं। इनको 'स्व' इसलिए कहा कि ये प्रकाशयुक्त हैं। श्रोत्र ही दिशायें होकर उत्तर की ओर ठहरीं, अतः इसी रूप को उस (वेदी) में धारण कराता है ॥४॥

"तस्य श्रोत्रं सौवं" (यजु० १३।५७)—'स्व' का अपत्यवाचक है 'सौव'। "दिशाओं के 'स्व' रूप से श्रोत्र बनाया।" "शरच्छ्रौत्री" (यजु० १३।५७)—"श्रोत्र से शरद् ऋतु बनाई।" "अनुष्टुप् शारदी" (यजु० १३।५७)—"शरद् ऋतु से अनुष्टुप् छन्द बनाया।" "अनुष्टुभ ऽ ऐडम्" (यजु० १३।५७)—"अनुष्टुप् छन्द से ऐडम साम बनाया।" "ऐडात् मन्थी" (यजु० १३।५७)—"ऐड साम से मन्थी ग्रह बनाया।" "मन्थिन ऽ एकविंशः" (यजु० १३।५७)—"मन्थी ग्रह से एकविंश स्तोम बनाये।" "एकविंशाद् वैराजम्" (यजु० १३।५७)—"एकविंश स्तोम से वैराज पृष्ठ बनाया ॥५॥

"विश्वामित्र ऽ ऋषिः" (यजु० १३।५७)—'श्रोत्र विश्वामित्र ऋषि है' क्योंकि इसी से सब ओर सुनते हैं और इसके लिए सब ओर मित्र मिल जाते हैं। "प्रजापतिगृहीतया त्वया" (यजु० १३।५७)—अर्थात् "प्रजापति द्वारा बनाये हुए तुझसे।" "श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः" (यजु० १३।५७)—"श्रोत्र को सन्तान के लिए ग्रहण करता हूँ।" इससे श्रोत्र को उत्तर की ओर से (वेदी में) रखता है। अलग-अलग रखता है। श्रोत्र में जो अनेक कामनायें हैं उनको रखता है। एक ही समय में रखता है। यदि कई बार में रक्खे तो मानो कान के टुकड़े-टुकड़े कर दे। यह त्रिवृत् है, इसका अर्थ स्पष्ट हो चुका ॥६॥

अब बीच में इस मन्त्र से—

यमुपरि मतिरिति चन्द्रमा वाऽउपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि चन्द्रमा अथ यन्मतिरित्याह वाग्वै मतिर्वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते वागथ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥७॥ तस्यै वाङ्मात्येति । वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिमीत हेमन्तो वाच्य इति हेमन्तमृतुं वाचो निरमिमीत पङ्क्तिर्हैमन्तीति पङ्क्तिं छन्दो हेमन्तादृतोर्निरमिमीत पङ्क्त्यै निधनवदिति पङ्क्त्यै छन्दसो निधनवत्साम निरमिमीत निधनवत आग्रयण इति निधनवतः साम्न आग्रयणं ग्रहं निरमिमीताग्रयणात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशावित्याग्रयणाद्ग्रहात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ निरमिमीत त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ शाक्वररैवतेऽइति त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ स्तोमाभ्याꣳ शाक्वररैवते पृष्ठे निरमिमीत ॥८॥ विश्वकर्मऽऋषिरिति । वाग्वै विश्वकर्मऽर्षिर्वाचा हीदꣳ सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मऽर्षिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतद्वाचं गृह्णामि प्रजाभ्य इति वाचमुपरिष्टात्प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामा वाचि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोत्यथ यन्नाना सादयेद्वाचꣳ ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः ॥९॥ एतद्वै तदन्नम् । यत्तत्प्राणाश्च प्रजापतिश्चासृजन्तैतावान्वै सर्वो यज्ञो यज्ञ उ देवानामन्नम् ॥१०॥ ता दश-दशोपदधाति । दशाक्षरा विराड्विराडु कृत्स्नमन्नꣳ सर्वमेवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति ता हैता विराज एतान्प्राणान्बिभ्रति यत्प्राणान्बिभ्रति तस्मात्प्राणभृतः ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

तदाहुः । किं प्राणाः किं प्राणभृत इति प्राणा एव प्राणा अङ्गानि प्राणभृन्त्यङ्गानि हि प्राणान्बिभ्रति प्राणास्त्वेव प्राणा अन्नं प्राणभृदन्नꣳ हि प्राणान्बिभर्ति ॥१॥ तदाहुः । कथमस्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्तीति यदेव सर्वास्वाह प्रजापतिगृहीतया त्वयेत्येवमु हास्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्ति ॥२॥ तदाहुः ।

"इयमुपरि मतिः" (यजु० १३।५८)— उपरि का अर्थ है चन्द्रमा, क्योंकि चन्द्रमा ऊपर है। इसको मति इसलिए कहा कि वाक् मति है, क्योंकि वाणी के द्वारा ही सब सोचते हैं। वाणी ही चन्द्रमा होकर ऊपर ठहरी। उसी को उस रूप में (वेदी में) रखता है ॥७॥

"तस्यै वाङ्मात्या" (यजु० १३।५८)–"चन्द्रमा के उस रूप से वाणी को बनाया।" "हेमन्तो वाच्यः" (यजु० १३।५८)—वाक् का अपत्य हुआ 'वाच्य'। "हेमन्त को वाक् से बनाया।" "पङ्क्तिर्हैमन्ती" (यजु० १३।५८)—"हेमन्त ऋतु से पङ्क्ति छन्द बनाया।" "पङ्क्त्यै निधनवत्" (यजु० १३।५८)–"पङ्क्ति छन्द से निधनवत् साम बनाया।" "निधनवत ऽआग्रयणः" (यजु० १३।५८)–"निधनवत् नाम से आग्रयण ग्रह बनाया।" "आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिँ शौ" (यजु० १३।५८)—"आग्रयण ग्रह से त्रिणव और त्रयस्त्रिंश दो स्तोम बनाये।" "त्रिणवत्रयस्त्रिँ शाभ्याँ शाक्वररैवते" (यजु० १३।५८)–"त्रिणव और त्रयस्त्रिंश स्तोमों से शाक्वर और रैवत पृष्ठों को बनाया ॥८॥

"विश्वकर्म ऽ ऋषिः" (यजु० १३।५८)–"वाक् ही विश्वकर्म ऋषि है।" वाणी ही इस सबको बनाती है। "प्रजापतिगृहीतया त्वया" (यजु० १३।५८)—अर्थात् "प्रजापति से बनाये हुए तुझको।" "वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः" (यजु० १३।५८)—"वाक् को सन्तान के लिए ग्रहण करता हूँ।" इस प्रकार वाक् को ऊपर से रखता है। इन ईंटों को अलग-अलग रखता है। वाक् में जो नाना प्रकार की कामनायें हैं उनको रखता है। एक ही समय में रखता है। इस प्रकार वाणी को एक करता है। यदि कई बार में रक्खे तो एक वाक् के टुकड़े कर दे। यह ईंट त्रिवृत् है। इसका अर्थ स्पष्ट है ॥९॥

यह वह अन्न है, जिसको प्राणों ने और प्रजापति ने बनाया। सब यज्ञ इतना ही है। यज्ञ देवों का अन्न है ॥१०॥

इनको दस-दस करके रखता है। विराट् में दस अक्षर होते हैं। विराट् अन्न है। इस प्रकार वह (वेदी में) सब अन्न को स्थापित करता है। उनको सब ओर रखता है। इस प्रकार सब ओर उसको अन्न से युक्त करता है। ये ईंटें ही इन प्राणों को सहारती हैं। प्राणों को सहारने (भृ) से इनका नाम 'प्राणभृत्' है ॥११॥

प्राणभृच्छब्दनिर्वचनम्, तत्स्तुतिश्च

अध्याय १—ब्राह्मण ३

इस विषय में वे पूछते हैं कि प्राण क्या हैं और प्राणभृत् क्या? प्राण प्राण हैं और अंग प्राणभृत् हैं, क्योंकि ये प्राणों को धारण करते हैं। प्राण प्राण हैं और अन्न प्राणभृत् है, क्योंकि अन्न ही प्राणों को धारण करता है ॥१॥

फिर प्रश्न होता है कि इस (वेदी) की ये सब ईंटें प्राजापत्य कैसे हुईं? इन सबके साथ 'प्रजापतिगृहीतया त्वया' ये शब्द कहे गये। इसलिए ये प्राजापत्य हो गईं ॥२॥

फिर प्रश्न करते हैं—

यद्ग्रहाय गृहीताय स्तुवतेऽथ शꣳसत्यथ कस्मात्पुरस्ताद्ग्रहाणामृचश्च सामानि चो-
पदधातीति सꣳस्था वै कर्मणोऽन्वीक्षितव्यर्चा वै प्रतिपदा ग्रहो गृह्यतऽऋचि
साम गीयते तदस्यैतद्यत्पुरस्ताद्ग्रहाणामृचश्च सामानि चोपदधात्यथ यदुपरिष्टाद्ग्र-
हाणाꣳ स्तुतशस्त्रे भवतस्तदस्यैतद्यदुपरिष्टाद्ग्रहाणाꣳ स्तोमांश्च पृष्ठानि चोपदधा-
ति ॥३॥ तदाहुः । यदेतत्त्रयꣳ सह क्रियते ग्रह स्तोत्रꣳ शस्त्रमथात्र ग्रहं चैव स्तो-
त्रं चोपदधाति कथमस्यात्रापि शस्त्रमुपहितं भवतीति यद्वाव स्तोत्रं तच्छस्त्रं यासु
ह्येव स्तुवते ता उऽएवानुशꣳसत्येवमु हास्यात्रापि शस्त्रमुपहितं भवति ॥४॥
तदाहुः । यद्यथा पितुः पुत्रमेवं त्रीणि प्रथमान्याहाथ कस्मादृक्सामयोः संक्राम-
तीति साम वाऽऋचः पतिस्तद्यत्तत्रापि यथा पितुः पुत्रमेवं ब्रूयाद्यथा पतिꣳ सन्तं
पुत्रं ब्रूयात्तादृक्तत्तस्मादृक्सामयोः संक्रामति कस्मादु त्रिः संतनोतीति पितरं पुत्रं
पौत्रं तांस्तत्संतनोति तस्मादु तेभ्य एक एव ददाति ॥५॥ तद्याः पुरस्तादुपद-
धाति । ताः प्राणभृतोऽथ याः पश्चात्ताश्चक्षुर्भृतस्ता अपानभृतोऽथ या दक्षिणत-
स्ता मनोभृतस्ता उ व्यानभृतोऽथ या उत्तरतस्ताः श्रोत्रभृतस्ता उदानभृतोऽथ
या मध्ये ता वाग्भृतस्ता उ समानभृतः ॥६॥ तदु ह चरकाध्वर्यवः । अन्या एवा-
पानभृतो व्यानभृत उदानभृतः समानभृतश्चक्षुर्भृतो मनोभृतः श्रोत्रभृतो वाग्भृत
इत्युपदधति न तथा कुर्यादत्यह्वैव रेचयन्त्यत्रोऽएवैतानि सर्वाणि रूपाण्युपधी-
यन्ते ॥७॥ स वै पुरस्तादुपधाय पश्चादुपदधाति । प्राणो ह्यपानो भूत्वाङ्गुल्यग्रेभ्य
इति संचरत्यपान उ ह प्राणो भूत्वाङ्गुल्यग्रेभ्य इति संचरति तद्यत्पुरस्तादुपधाय
पश्चादुपदधात्येनात्रैवैतत्प्राणौ संतनोति संदधाति तस्मादेतौ प्राणौ संततौ सꣳ-
हितौ ॥८॥ अथ दक्षिणत उपधायोत्तरत उपदधाति । व्यानो ह्युदानो भूत्वाङ्गु-
ल्यग्रेभ्य इति संचरत्युदान उ ह व्यानो भूत्वाङ्गुल्यग्रेभ्य इति संचरति तद्यद्दक्षि-
णत उपधायोत्तरत उपदधात्येतावेवैतत्प्राणौ संतनोति संदधाति तस्मादेतौ प्रा-

जब गृहीत ग्रह के लिए ही स्तुति की जाती है तो ग्रह को निकालने से पूर्व ही ऋचा और साम क्यों पढ़े जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यज्ञ की संस्था (पूर्ति) ही लक्ष्य है। पहली ऋचा से ग्रह निकाला जाता है और ऋचा में ही साम गाया जाता है। यही कारण है कि ग्रह से पूर्व ही ऋचा और साम गाये जाते हैं। ग्रहों के पश्चात् जो स्तुति और शस्त्र पढ़े जाते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि ग्रहों के लेने के पीछे इस (यजमान) के लिए स्तोम और पृष्ठ रखता है ॥३॥

फिर प्रश्न होता है कि जब ग्रह, स्तोत्र और शस्त्र तीनों साथ किये जाते हैं और यहाँ केवल ग्रह और स्तोत्र ही किये जाते हैं, तो शस्त्र का सम्पादन कहाँ हुआ ? इसका उत्तर यह है कि स्तोत्र ही शस्त्र है। जिसकी स्तुति करते हैं उसी की अनुशंसा। इस प्रकार शस्त्र का सम्पादन हो जाता है ॥४॥

फिर पूछते हैं कि जब तीनों में से पहले के साथ अपत्यसूचक शब्द लगाया गया (जैसे गायत्री से गायत्र) तो ऋक् और साम के साथ यह सम्बन्ध कैसे हुआ ? वस्तुतः बात यह है कि ऋक् का पति है साम। यदि साम को पुत्र कहकर सम्बोधन करते तो पति को पुत्र कहकर पुकारते। अतः ऋक् और साम का ऐसा ही सम्बन्ध रक्खा। तीन पीढ़ियों का उल्लेख इसलिए है कि पिता, पुत्र और पौत्र ये तीन एक हैं, क्योंकि एक ही इनका पोषण करता है ॥५॥

जो (ईंटें) आगे रक्खी जाती हैं वे प्राणभृत् हुईं, जो पीछे वे चक्षुर्भृत् या अपानभृत्। जो दक्षिण की ओर वे मनोभृत् या व्यानभृत्। जो उत्तर की ओर वे श्रोत्रभृत् या उदानभृत्। जो बीच में वे वाग्भृत् या समानभृत् ॥६॥

चरकाध्वर्यु लोग अपानभृत्, व्यानभृत्, उदानभृत्, समानभृत्, चक्षुर्भृत्, मनोभृत्, श्रोत्रभृत्, वाग्भृत् को अलग-अलग रखते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। ये अति करते हैं। इसी में वे सब रूप आ जाते हैं ॥७॥

आगे रखकर फिर पीछे इसलिए रखता है कि प्राण ही अपान होकर हाथ की अँगुलियों के अग्रभाग में होकर चलता है और अपान प्राण होकर पैर की अँगुलियों में होकर चलता है। यह जो आगे रखकर फिर पीछे रखता है, मानो दोनों प्राणों को एक कर देता है। इसलिए ये दोनों प्राण जुड़े हुए हैं ॥८॥

दक्षिण में रखकर फिर उत्तर में रखता है, क्योंकि व्यान उदान होकर हाथ की अँगुलियों में होकर चलता है और उदान व्यान होकर पैर की अँगुलियों में होकर चलता है। यह जो दक्षिण में रखकर उत्तर में रखता है मानो इन दोनों प्राणों को संयुक्त करता है, इसलिए व्यान

यौ संततौ सꣳहितौ ॥९॥ अथ या मध्यऽउपदधाति । स प्राणस्ता रेतःसिचोर्वि-
लयोपदधाति पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतत्प्राणं दधा-
ति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेतत्प्राणं दधात्यथोऽएवꣳ ह्येष गुदः प्राणः
समन्तं नाभिं पर्यक्तोऽनूचीश्च तिरश्चीश्चोपदधाति तस्मादिमेऽन्वञ्चश्च तिर्यञ्चश्चात्म-
न्प्राणाः सꣳस्पृष्टा उपदधाति प्राणानेवैतत्संतनोति संदधाति तस्मादिमे प्राणाः
संतताः सꣳहिताः ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

ता हैके पुरुषमुपार्व्योपदधति । एष वै प्राणस्तमेता बिभ्रति यत्प्राणं बिभ्रति
तस्मात्प्राणभृत इति न तथा कुर्यादेषोऽह्येव प्राणो य एष हिरण्मयः पुरुषस्तस्य
अयमात्मा यावदिदमभ्ययमग्निर्विहितस्तस्यहास्यैता अङ्गं नाभिप्राप्नुयुः प्राणो ह्यस्य
तदङ्गं नाभिप्राप्नुयाद्यदु वै प्राणोऽङ्गं नाभिप्राप्नोति शुष्यति वा वै तन्म्लायति वा
तस्मादेनाः परिश्रित्स्वेवोपार्व्योपदध्यादथ या मध्यऽउपदधाति ताभिरस्यैष आत्मा
पूर्णस्ता उऽएवैतस्मादनन्तर्हिताः ॥१॥ तदाहुः । यदयं पुरो भुवोऽयं दक्षिणा वि-
श्वकर्मायं पश्चाद्विश्वव्यचा इदमुत्तरात्स्वरियमुपरि मतिरिति सम्प्रति दिशोऽभ्यनू-
च्यतेऽथ कस्मादेना अव्यायादेशेषूपदधातीति प्राणा वै प्राणभृतस्ता यत्सम्प्रति
दिश उपदध्यात्प्रागपꣳ हैवायं प्राणः संचरेदथ यदेना एवमभ्यनूक्ताः सतीरव्याया-
देशेषूपदधाति तस्मादयं प्रागपं प्राणः सन्नव्याया सर्वाण्यङ्गानि सर्वमात्मानमनुसं-
चरति ॥२॥ स एष पशुर्यदग्निः । सोऽत्रैव सर्वः कृत्स्नः संस्कृतस्तस्य याः पुर-
स्तादुपदधाति तौ बाहूऽअथ याः पश्चात्ते सक्थ्यावथ या मध्यऽउपदधाति स आ-
त्मा ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधाति पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यतो
ह्ययमात्मा सर्वत उपदधाति सर्वतो ह्ययमात्मा ॥३॥ तदाहुः । यत्पूर्वेषु गणो-
ष्वेकैकꣳ स्तोममेकैकं पृष्ठमुपदधात्यथ कस्मादत्र द्वौ स्तोमौ द्वे पृष्ठेऽउपदधाती-
त्यात्मा वाऽअस्यैष आत्मानं तदङ्गानां ज्येष्ठं वरिष्ठं वीर्यवत्तमं करोति तस्मा-

और उदान दोनों परस्पर सम्बन्धित रहते हैं ॥९॥

यह जो मध्य में रखता है ये प्राण हैं। उनको रेत:सिच् ईंटों की वेला के पास रखता है। रेत:सिच् हैं पसलियाँ। पसलियाँ बीच में होती हैं, मानो प्राण को मध्य में होकर रखता है। सब ओर रखता है, मानो वेदी में सब ओर से प्राण धारण करता है। इसी प्रकार गुदा का प्राण नाभि के चारों ओर चक्कर लगाता है। वह सीधे और तिरछे दोनों प्रकार से रखता है। इसलिए प्राण सीधे और तिरछे दोनों चलते हैं। उनको चिपटाकर रखता है। इस प्रकार वह प्राणों को निरन्तर जोड़ देता है। इसलिए ये प्राण निरन्तर जुड़े हुए हैं ॥१०॥

प्राणभृदिष्टकानिधानस्थानादि

अध्याय १—ब्राह्मण ४

कुछ लोग इन ईंटों को स्वर्णपुरुष से मिलाकर रखते हैं। ये प्राण हैं। ये प्राण ही उस स्वर्णपुरुष को थामे रहते हैं, इसीलिए प्राण को थामने से प्राणभृत् हुए। ऐसा न करना चाहिए। यह जो स्वर्णपुरुष है वह प्राण है। परन्तु उसका शरीर वहाँ तक पहुँचता है, जहाँ तक यह अग्नि या वेदी फैली हुई है। इसलिए यह प्राणभृत् जिस अंग तक न पहुँच सकेगी, प्राण उस अंग तक न पहुँच सकेगा। जिस अंग तक प्राण नहीं पहुँच पाता वह सूख जाता है या मुरझा जाता जाता है। इसलिए इन ईंटों को इस प्रकार से रखना चाहिए कि वे परिश्रित् ईंटों से मिली रहें। जिन ईंटों को मध्य में रखता है उनसे उसका यह शरीर भर जाता है। वे इससे चिपटी रहती हैं ॥१॥

इस पर कहते हैं कि 'यह सामने भुवः, दक्षिण में विश्वकर्मा, पश्चिम में विश्वव्यचा, उत्तर में स्वः, यह ऊपर 'मतिः'—इस प्रकार ईंटें दिशाओं के हिसाब से रक्खी गईं, तो फिर इनको अक्षि-देश में क्यों (?) रखते हैं?' इसका उत्तर यह है कि प्राणभृत् ईंटें प्राण हैं। यदि उनको केवल दिशाओं के हिसाब से ही रक्खा जाय तो यह प्राण केवल आगे-पीछे ही चलेगा। इनको चूँकि अक्षि-देश में भी रखते हैं, इसलिए यह सब अंगों में और शरीर-भर में चलता है ॥२॥

यह जो अग्नि है वह पशु है। इसका निर्माण यहाँ पूर्णतया किया जाता है। जो ईंटें आगे रक्खी जाती हैं वे भुजा हुई, जो पीछे वे जाँघें, जो बीच में वे उसका शरीर। इनको वह दो रेत:-सिच् ईंटों के स्थान में रखता है, क्योंकि रेत:सिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं। वह इनको सब ओर रखता है, क्योंकि शरीर सब ओर है ॥३॥

इस पर कहते हैं कि पहले (चार) गणों में तो एक स्तोम और एक पृष्ठ से काम करते हैं तो यहाँ दो स्तोम और दो पृष्ठों का प्रयोग क्यों करते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह गण वेदी का शरीर है। वह इसको ज्येष्ठ, वरिष्ठ और बलवान बनाना चाहता है। इसीलिए सब

दयमात्माङ्गानां ज्येष्ठो वरिष्ठो वीर्यवत्तमः ॥४॥ तदाहुः । कथमस्यैषोऽग्निः सर्वः कृत्स्न इष्टकायामिष्टकायाꣳ संस्कृतो भवतीति मज्जा यजुरस्थीष्टका माꣳसꣳ सादनं त्वक्पूददोह्या लोम पुरीषस्य यजुरन्नं पुरीषमेवमु हास्यैषोऽग्निः सर्वः कृत्स्न इष्टकायामिष्टकायाꣳ संस्कृतो भवति ॥५॥ स एष सार्वायुषोऽग्निः । स यो हैतमेवꣳ सार्वायुषमग्निं वेद सर्वꣳ हैवायुरेति ॥६॥ अथातः समञ्चनप्रसारणस्यैव । संचितꣳ हैके समञ्चनप्रसारणेनेत्यभिमृशन्ति पशुरेष यदग्निर्यदा वै पशुरङ्गानि सं चाञ्चति प्र च सारयत्यथ स तैर्वीर्यं करोति ॥७॥ संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि । इदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳ संवत्सरस्ते कल्पताम् प्रेत्या एत्यै सं चाञ्च प्र च सारय सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवः सीदेति ॥८॥ अपि ह स्माह शाट्यायनिः । स्फोटतोर्हैकः पत्नयोरुपशुश्रावैतेनाभिमृष्टस्य तस्मादेनमेतेनाभ्येव मृशेदिति ॥९॥ अथ ह स्माह स्वर्जिन्नाग्नजितः । नग्नजिद्वा गान्धारः प्राणो वै समञ्चनप्रसारणं यस्मिन्वाऽअङ्गे प्राणो भवति तत्सं चाञ्चति प्र च सारयति संचितमेवैनं बहिष्टादभ्यन्यात्तदस्मिन्प्राणꣳ समञ्चनप्रसारणं दधाति तथा सं चाञ्चति प्र च सारयतीति तद्धैव समञ्चनप्रसारणं यत्स तदुवाच राजन्यबन्धुरिव त्वेव तदुवाच यन्नु शतं कृत्वोऽथो सहस्रं बहिष्टादभ्यन्युर्न वै तस्मिंस्ते प्राणं दध्युर्यो वाऽआत्मन्प्राणः स एष प्राणस्तद्यत्प्राणभृत उपदधाति तदस्मिन्प्राणꣳ समञ्चनप्रसारणं दधाति तथा सं चाञ्चति प्र च सारयत्यथ लोकम्पृणेऽउपदधात्यस्याꣳ स्रक्त्यां तयोरुपरि बन्धुः पुरीषं निवपति तस्योपरि बन्धुः ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ प्रथमोऽध्यायः [४१] ॥ ॥

द्वितीयां चितिमुपदधाति । एतद्वै देवाः प्रथमां चितिं चित्वा समारोहन्नयं वै लोकः प्रथमा चितिरिममेव तल्लोकꣳ संस्कृत्य समारोहन् ॥१॥ तेऽब्रुवन् । चे-

अंगों में यह शरीर (धड़) ज्येष्ठ, वरिष्ठ और बलवान् होता है ॥४॥

एक और प्रश्न होता है कि यह अग्नि का शरीर ईंट-ईंट करके पूरा कैसे हो जाता है ? उत्तर यह है कि यजु मज्जा हुआ, ईंट हड्डी हुई, रखना मांस हुआ, सूददोह त्वचा हुई, पुरीष का यजु लोम, और पुरीष अन्न। इस प्रकार यह अग्नि का शरीर एक-एक ईंट से पूरा हो जाता है ॥५॥

यह अग्नि या वेदी सर्व-सम्पन्न हो जाती है। जो इस अग्नि को सर्व-सम्पन्न समझता है वह सर्व-सम्पन्न हो जाता है ॥६॥

अब रहा सिकुड़ना और फैलना। कुछ लोग ऐसा बनाते हैं कि सिकुड़े भी और फैल भी जाय। यह जो अग्नि है वह पशु है। जब पशु सिकुड़ता और फैलता है तो उसमें शक्ति आती है ॥७॥

"संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ता्ँ संवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्या एत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवः सीद"—"तू संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, ईद्वत्सर, वत्सर है। तेरी उषायें शुद्ध हों, दिन-रात शुद्ध हों, अर्द्धमास शुद्ध हों, मास शुद्ध हों, तेरी ऋतुयें शुद्ध हों, तेरा वर्ष शुद्ध हो। जाने-आने के लिए सिकुड़ और फैल। तू सुपर्ण (अच्छे बाजूवाला) है। उस देवता के साथ अचल रह जैसे अंगिरा ॥८॥

शाट्यायनि का कथन है कि इस मन्त्र से युक्त करने पर स्फोट का शब्द सुनाई दिया। इसलिए अवश्य ही इस मन्त्र से युक्त करना चाहिए ॥९॥

स्वर्जित्, नाग्नजित् या नग्नजित् गान्धार का कथन है कि सिकुड़ना और फैलना भी तो प्राण हैं। क्योंकि जिस अंग में प्राण होता है, उसमें सिकुड़ना और फैलना भी होता है। जब पूरी बन जाय तो बाहर से प्राण डालना चाहिए। इस प्रकार वह प्राण अर्थात् सिकुड़ने और फैलने को उसमें रखता है। इसीलिए यह सिकुड़ती-फैलती है। यह जो सिकुड़ने और फैलने की बात उसने की, वह तो राजाओं की-सी बात थी। चाहे सौ बार या हजार बार बाहर से फूंका जाय, प्राण नहीं आ सकता। जो प्राण शरीर के भीतर है वही प्राण है। इसलिए प्राणभृत् को रखता है, अर्थात् प्राण को रखता है। इसीलिए यह सिकुड़ता-फैलता है। अब दो लोकम्पृण ईंटों को उस कोने में रखता है। इसकी व्याख्या आवेगी। उसके ऊपर रेत डालता है। इसके विषय में आगे वर्णन होगा ॥१०॥

द्वितीयायां चितावश्विनीष्टकोपधानम्

अध्याय २—ब्राह्मण १

दूसरी चिति को रखता है। देवों ने पहली चिति को चिना और उस पर चढ़े। यह लोक पहली चिति है। इसी लोकरूपी चिति को पूर्ण करके वे उस पर चढ़े ॥१॥

वे बोले—

तयधमिति चितिमिछ्तेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिछ्तेति. ते चेतयमाना एतां द्वितीयां चितिमपश्यन्यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तेषामेष लोकोऽध्रुव इवाप्रतिष्ठित-इव मनस्यासीत् ॥२॥ तेऽश्विनावब्रुवन् । युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ स्थो युवं न इमां द्वितीयां चितिमुपधत्तमिति किं नौ ततो भविष्यतीति युवमेव नोऽस्याऽअग्निचित्यायाऽअध्वर्यू भविष्यथ इति तथेति तेभ्य एतामश्विनौ द्वितीयां चितिमुपाधत्तां तस्मादाहुरश्विनावेव देवानामध्वर्यूऽइति ॥३॥ स उपदधाति । ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासीति यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद्ध्रुवमथ वाऽएषामेष लोकोऽध्रुव-इवाप्रतिष्ठित-इव मनस्यासीत्तमेवैतत्स्थिरं ध्रुवं कृत्वा प्रत्यधत्तां ध्रुवं योनिमासीद साधुयेति स्थिरं योनिमासीद साधुयेत्येतदुख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणेत्ययं वाऽअग्निरुख्यस्तस्यैष प्रथमः केतुर्यत्प्रथमा चितिस्तं जुषाणेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यूऽउपाधत्ताम् ॥४॥ कुलायिनी घृतवती पुरंधिरिति । कुलायमिव वै द्वितीया चितिः स्योने सीद सदने पृथिव्या इति पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्यै शिवे स्योने सीद सदनऽइत्येतदभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्वित्येतास्त्वां देवता अभिगृणन्त्वित्येतदिमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायेतीमा ब्रह्माव सौभगायेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यूऽउपाधत्ताम् ॥५॥ स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीदेति । स्वेन वीर्येणेह सीदेत्येतद्देवानाᳬ सुम्ने बृहते रणायेति देवानाᳬ सुम्नाय महते रणायेत्येतत्पितेवैधि सूनवऽआ सुशेवेति यथा पिता पुत्राय स्योनः सुशेव एवᳬ सुशेवैधीत्येतत्स्वावेशा तन्वा संविशस्वेत्यात्मा वै तनूः स्वावेशेनात्मना संविशस्वेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यूऽउपाधत्ताम् ॥६॥ पृथिव्याः पुरीषमसीति । पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यद्द्वितीयाप्सो नामेति रसो नामेत्येतत्तां त्वा विश्वेऽअभिगृणन्तु देवा इति तां त्वा सर्वेऽभिगृणन्तु देवा इत्येतत्स्तोमपृष्ठा घृतवतीह

'चेतयध्वम्' (विचार करो)। इसका तात्पर्य हुआ 'चितिमिच्छत' अर्थात् चिति बनाओ, अर्थात् उन्होंने कहा 'इसके ऊपर चढ़ो।' इस पर विचार करते-करते उन्होंने दूसरी चिति को देखा (निकाला)। जो कुछ पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष के नीचे है, उसके सम्बन्ध में उनका विचार था कि यह अध्रुव और अप्रतिष्ठित अर्थात् चलायमान है ॥२॥

उन्होंने अश्विनों से कहा, 'तुम दोनों ब्रह्मा और चिकित्सक हो। तुम हमारे लिए इस दूसरी चिति को बनाओ।' उन्होंने पूछा कि 'फिर हमको इससे क्या लाभ होगा?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'हमारी इस अग्नि=चिति में तुम दोनों अध्वर्यु बन जाना।' वे राजी हो गए। अश्विनों ने उनके लिए यह दूसरी चिति बनाई। इसलिए कहते हैं कि दोनों अश्विन देवों के अध्वर्यु हैं ॥३॥

वह इस मंत्र को पढ़कर पहली अश्विनी ईंट को रखता है—"ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि" (यजु० १४।१)—"जो स्थिर और अचल है वही ध्रुव है।" उनके विचार से यह लोक अस्थिर और चलायमान था। उसको निश्चित और स्थिर बनाकर उन्होंने उस चिति को बनाना आरम्भ किया—"ध्रुवं योनिमासीद साधुया" (यजु० १४।१)—अर्थात् "इस निश्चल योनि में भली-भाँति बैठो।" "उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणा" (यजु० १४।१)—उख्य है अग्नि, यह जो पहली चिति है वह इसका पहला केतु है।" "अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा" (यजु० १४।१)—"अश्विनों ने अध्वर्यू बनकर इस ईंट को रक्खा ॥४॥

दूसरी अश्विनी ईंट को इस मंत्र से रखता है—"कुलायिनी घृतवती पुरंधिः" (यजु० १४।२)—"यह दूसरी चिति 'कुलाय' अर्थात् घर के समान है।" "स्योने सीद सदने पृथिव्याः" (यजु० १४।२)—पृथिवी पहली चिति है। "इसकी हितकारिणी जगह पर बैठ।" "अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्तु" (यजु० १४।२)—अर्थात् "रुद्र और वसु देव तेरी स्तुति करें। "इमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाय" (यजु० १४।२)—"हे ब्रह्म! बहुत ऐश्वर्य के लिए इनको प्राप्त कर।" "अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा" (यजु० १४।२)—"अश्विन जो अध्वर्यू हैं, वे तुझको यहाँ रक्खें।" इस ईंट को अश्विनों ने रक्खा था जो अध्वर्यू थे ॥५॥

तीसरी अश्विनी ईंट को इस मन्त्र से रखता है—"स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद" (यजु० १४।३)—"वीर्य की रक्षक तू अपने वीर्य के साथ बैठ।" "देवानां सुम्ने बृहते रणाय" (यजु० १४।३)—"देवों के बड़े सुख के लिए।" "पितेवैधि सूनव ऽआ सुशेवा" (यजु० १४।३)—अर्थात् "जैसे पिता पुत्र के लिए सुखकारी होता है, इसी प्रकार तू भी हो।" "स्वावेशा तन्वा संविशस्व" (यजु० १४।३)—"अपने स्वरूप के साथ बैठ।" "अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा" (यजु० १४।३)—"दोनों अश्विन जो अध्वर्यू हैं, तुझको रक्खें।" क्योंकि अश्विन अध्वर्यू ने ही इसको रक्खा था ॥६॥

चौथी अश्विनी ईंट इस मन्त्र से रखता है—"पृथिव्याः पुरीषमसि" (यजु० १४।४)—पृथिवी पहली चिति है और दूसरी चिति इसकी पुरीष अर्थात् ढकनेवाली है। "अप्सो नाम इति" (यजु० १४।४)—अर्थात् इसका रस। "तां त्वा विश्वे ऽ अभिगृणन्तु देवाः" (यजु० १४।४)—अर्थात् "सब देव तेरी स्तुति करें।" "स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद" (यजु० १४।४)—

सीदेति यात्स्तोमानस्यां तऽस्यमानो भवति तैरेषा स्तोमपृष्ठा प्रजावदस्मै द्रविणायजस्वेति प्रजावदस्मै द्रविणमायजस्वेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यूऽउपाधत्ताम् ॥७॥ ता एता दिशः । ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्दिशो दधाति तस्मादनयोर्दिशः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात्सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात्सर्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाऽधिवदति नाना हि दिशः ॥८॥ अथ पञ्चमीं दिश्यामुपदधाति । ऊर्ध्वा ह सा दिक्सा या सोर्ध्वा दिगसौ स आदित्योऽमुमेवैतदादित्यमुपदधाति तामन्तरेण दक्षिणां दिश्यामुपदधात्यमुं तदादित्यमन्तरेण दक्षिणां दिशं दधाति तस्मादेषोऽन्तरेण दक्षिणां दिशमेति ॥९॥ अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयामीति । इयं वाऽअदितिरस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयत्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानामित्यन्तरिक्षस्य ह्येष धर्ता विष्टम्भनो दिशामधिपतिर्भुवनानामूर्मिर्द्रप्सो ऽअपामसीति रसो वाऽऊर्मिर्विश्वकर्मा तऽऋषिरिति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा प्रजापतिसृष्टासीत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यूऽउपाधत्ताम् ॥१०॥ यद्वेवैता आश्विनीरुपदधाति । प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य यदूर्ध्वं प्रतिष्ठायाऽअवाचीनं मध्यात्तदस्याश्विनावादायोत्क्रम्यातिष्ठताम् ॥११॥ तावब्रवीत् । उप मेतं प्रति मऽएतद्धत्तं येन मे युवमुदक्रामिष्टमिति किं नौ ततो भविष्यतीति युवद्देवत्यमेव मऽएतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतदश्विनौ प्रत्यधत्ताम् ॥१२॥ तस्मा एताः पञ्चाश्विन्यः । एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेता अत्रोपदधाति यदेवास्यैता आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति ॥१३॥ ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासीति । यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद्ध्रुवमथ वाऽअस्यैतदस्थिरमिवाध्रुवमिवात्मन आसीत्तदेवैतत्स्थिरं ध्रुवं कृत्वा प्रत्यधत्ताम् ॥१४॥

"स्तुतियों से युक्त और घृतवती यहाँ बैठ।" अर्थात् जिन स्तोमों को वह इस पर तानता है अर्थात् जो स्तुतियाँ इसके लिए बनाता है, उनसे यह युक्त हो जाती है। "प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व।" (यजु० १४।४)—"हमारे लिए सन्तानसहित धन दे।" अर्थात् यज्ञ के द्वारा हमको सन्तान भी प्राप्त करा और धन भी। "अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा।" (यजु० १४।४)—"यहाँ मुझको दोनों अश्विन अध्वर्यू रक्खें।" क्योंकि अश्विन अध्वर्यू ने ही इसे रक्खा था ॥७॥

ये ईंटें दिशायें हैं। उनको रेतःसिचों की वेला में रखता है। ये दोनों रेतःसिच् ईंटें इन दोनों लोकों के स्थानीय हैं। इस प्रकार वह इन दिशाओं को इन दोनों लोकों के भीतर रखता है, क्योंकि दिशायें तो इन दोनों लोकों के भीतर ही हैं। इन ईंटों को प्रत्येक दिशा में रखता है। इस प्रकार वह इन लोकों को सब दिशाओं में रखता है। इसीलिए लोक हर दिशा में हैं। सब ओर एक-दूसरे के सम्मुख रखता है। इस प्रकार लोकों को एक-दूसरे के सम्मुख रखता है, क्योंकि सब लोक एक-दूसरे के आमने-सामने हैं। उनको अलग-अलग जमाता है, अलग-अलग सूददोह पढ़ता है, क्योंकि लोक अलग-अलग हैं ॥८॥

अब पाँचवीं दिश्या ईंट या पाँचवीं अश्विनी को रखता है। यह ऊर्ध्व दिशा है। ऊर्ध्व दिशा आदित्य है। इस प्रकार वह आदित्य को रखता है। इसको दक्षिण दिशा में रखता है। इस प्रकार मानो आदित्य को दक्षिण दिशा में रखता है। इसीलिए आदित्य दक्षिण दिशा को जाया करता है ॥९॥

इस मन्त्र से—"आदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयामि" (यजु० १४।५)—यह पृथिवी अदिति है। इस प्रकार वह (अग्नि को) पृथिवी पर स्थापित करता है। "अन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्" (यजु० १४।५)—क्योंकि यह आदित्य (और यहाँ आदित्य की स्थानीय ईंट) अन्तरिक्ष का धारण करनेवाला, दिशाओं को थामनेवाला और भुवनों का पति है। "ऊर्मिर्द्रप्सो ऽ अपामसि" (यजु० १४।५)—ऊर्मि का अर्थ है रस, अर्थात् तू जलों का रस या बूँद है।" "विश्वकर्मा त ऽ ऋषिः" (यजु० १४।५)—"विश्वकर्मा नाम है प्रजापति का, अर्थात् "प्रजापति तेरा स्रष्टा है।" "अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा" (यजु० १४।५)—"दोनों अश्विन अध्वर्यु तुमको यहाँ रक्खें।" क्योंकि इसको दोनों अश्विनों ने अध्वर्यु बनकर रक्खा था ॥१०॥

इन अश्विनी ईंटों को इसलिए रखता है कि देवता थके हुए प्रजापति को लेकर सब दिशाओं में निकल भागे। उसको प्रतिष्ठा अर्थात् पैरों से ऊपर और मध्य भाग से नीचे जो भाग था उसको दोनों अश्विनों ने लिया और उससे दूर ठहर गये ॥११॥

प्रजापति ने उन दोनों अश्विनों से कहा कि 'मेरा जो भाग तुम ले गये हो उसको मुझे दे दो।' उन्होंने कहा कि 'इससे हमको क्या लाभ होगा?' प्रजापति ने कहा कि 'मेरे शरीर के उस भाग के तुम देवता हो जाओगे।' उन्होंने कहा—'अच्छा।' इस प्रकार अश्विनों ने उस भाग को दे दिया ॥१२॥

उस वेदी रूपी शरीर का वही भाग ये पाँच अश्विनी ईंटें हैं। जब वह इनको इस चिति में रखता है तो मानो इस वेदी के उस भाग को जिनकी स्थानीय ये ईंटें हैं, पूरा कर देता है। इसीलिए वह उस चिति में इन (अश्विनी ईंटें) को रखता है ॥१३॥

वह कहता है—"ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि"—जो स्थिर है वही ध्रुव है, वही ठहरा हुआ है, अर्थात् इसका जो भाग अध्रुव और अस्थिर था उसको ध्रुव और स्थिर बना देता है ॥१४॥

कुलायिनी घृतवती पुरंधिरिति । कुलायमिव वाऽअस्यैतदात्मनः स्वेर्द्दक्षेर्द्दक्षपितेह्व सीदेत्यदक्षयतामेवास्यैतदात्मनः पृथिव्याः पुरीषमसीति पुरीषसꣳहितमिव वाऽअस्यैतदात्मनो रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ पृष्टिसाचयमिव वा ऽअस्यैतदात्मनः सर्वत उपदधाति सर्वतो ह्यस्यैतदश्विनावात्मनः प्रत्यधत्ताम् ॥१५॥ अथऽर्तव्येऽउपदधाति । ऋतव एते यदृतव्येऽऋतूनेवैतदुपदधाति शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽइति नामनीऽएनयोरेते नामभ्यामेवैनेऽएतदुपदधाति द्वेऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति ॥१६॥ तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषोऽग्निरिमऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्य यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तदस्यैषा द्वितीया चितिस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥१७॥ यद्वेवैतेऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवाचीनं मध्यात्तदस्यैषा द्वितीया चितिस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥५ [२. १.] ॥॥

अथ वैश्वदेवीरुपदधाति । एषा वै सा द्वितीया चितिर्यामेभ्यस्तदश्विनाऽउपाधत्तां तामुपधायेदꣳ सर्वमभवतां यदिदं किं च ॥१॥ ते देवा अब्रुवन् । अश्विनौ वाऽइदꣳ सर्वमभूतामुप तज्जानीत यथा वयमिहाप्यसामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथा वयमिहाप्यसामेति ते चेतयमाना एता इष्टका अपश्यन्वैश्वदेवीः ॥२॥ तेऽब्रुवन् । अश्विनौ वाऽइदꣳ सर्वमभूतामश्विभ्यामेवाश्विनोश्चितिमनूपदधामहाऽइति तेऽश्विभ्यामेवाश्विनोश्चितिमनूपादधत तस्मादेतामाश्विनी चितिरित्याचक्षते तस्माद्ध्येव पूर्वासामुदर्क एवमेतासामश्विभ्याꣳ ह्येवाश्विनोश्चितिमनूपादधत ॥३॥ यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति । ये वै ते विश्वे

वह कहता है—"कुलायिनी घृतवती पुरंधि", क्योंकि इसके शरीर के लिए यह कुल या घर है। "स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेहं सीद", क्योंकि उन्होंने इसको दक्ष या शक्तिशाली बनाया था। "पृथिव्याः पुरीषमसि", क्योंकि यह पुरीष-युक्त है, रेतःसिच् की वेला में, क्योंकि रेतःसिच्-ईंटें पसलियाँ हैं। इस प्रकार इनको इस प्रकार रखता है जैसे शरीर में पसलियाँ होती हैं। इनको वह हर तरफ रखता है, क्योंकि अश्विनों ने प्रजापति के शरीर के उस भाग को हर तरफ पूरा कर दिया था ॥१५॥

अब वह दो ऋतव्य ईंटों को रखता है। ये जो ऋतव्य ईंटें हैं वे ऋतुओं की स्थानीय हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं को रखता है, इस मन्त्र से—"शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू" (यजु० १४।६)—शुक्र और शुचि ये दोनों इनके नाम हैं। इन नामों को लेकर वह उसको रखता है। ईंटें दो होती हैं। ग्रीष्म के मास भी दो होते हैं। इनको एकसाथ रखता है। इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु को एक कर देता है ॥१६॥

इनको वह इसलिए रखता है कि यह वेदी संवत्सर है। यह जो पृथिवी से ऊपर और अन्तरिक्ष के नीचे है यही यह दूसरी चिति है। ग्रीष्म भी संवत्सर का वही भाग है। जब वह इन दोनों को वेदी में चिनता है तो मानो वह इस वेदी के उस भाग को पूरा कर देता है जो भाग यह है। इसीलिए इन ईंटों को इस चिति में रखता है ॥१७॥

इस चिति में इन दोनों ईंटों के रखने का प्रयोजन यह भी है कि यह वेदी प्रजापति है। संवत्सर भी प्रजापति है। यह जो पैरों के ऊपर और मध्य कटि से नीचे का भाग है, उसी की स्थानीय दूसरी चिति है। ग्रीष्म ऋतु भी संवत्सर का वही भाग है। इस प्रकार जब वह इस चिति में इन ईंटों को रखता है तो मानो वह उस भाग को पूरा करता है जिसकी स्थानीय ये ईंटें हैं। इसलिए वह इस चिति में इन ईंटों को रखता है ॥१८॥

द्वितीयस्यां चितौ वैश्वदेवीष्टकोपधानम्

अध्याय २—ब्राह्मण २

अब वह वैश्वदेवी ईंटों को रखता है। यह दूसरी चिति वह है जिसको दोनों अश्विनों ने उन देवों के लिए उस समय रक्खा था। उसको रखकर ये दोनों सब-कुछ बन गये जो कुछ कि यहाँ है ॥१॥

उन देवों ने कहा—'ये दोनों अश्विन तो जो कुछ हैं वे सब हो गये। अब विचार करो कि हम भी कैसे उस प्रकार के हो जायें?' उन्होंने कहा 'चेतयध्वम्' अर्थात् विचार करो। इसका यह भी अर्थ हुआ कि 'चितिम् इच्छत' अर्थात् चिति की इच्छा करो, अर्थात् उन्होंने कहा कि ऐसा विचार करो कि हम भी वैसे ही हो जायँ। उन्होंने विचार करके इन वैश्वदेवी ईंटों को निकाला ॥२॥

वे बोले—'अश्विन सब-कुछ हो गये। इन्हीं अश्विनों की सहायता से इन्हीं की चिति में हम (ईंटों को) रक्खें।' उन्होंने अश्विनों की सहायता से अश्विनों की चिति को रक्खा, इसीलिए इस चिति का नाम 'अश्विनी चिति' हुआ। इसलिए इनके किनारे भी पहली ईंटों के किनारों के-से हैं, क्योंकि अश्विनों की सहायता से इन्होंने अश्विनों को चिति में इन ईंटों को रक्खा ॥३॥

वैश्वदेवी ईंटों के रखने का प्रयोजन यह है कि ये वही विश्वे देव हैं, जिन्होंने इस दूसरी

देवा एतां द्वितीयां चितिमपश्यन्ये त ऽ एतेन रसेनोपायंस्त ऽ एते तानेवैतदुपद्धाति ता एताः सर्वाः प्रजास्ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तत्प्रजा दधाति तस्मादनयोः प्रजाः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तत्प्रजा दधाति तस्मात्सर्वतः प्रजा दिश्या अनूपदधाति दिक्षु तत्प्रजा दधाति तस्मात्सर्वासु दिक्षु प्रजाः ॥४॥ यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात्सर्वाः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतस्या अधि योनेस्ता एनमेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते प्रापद्यन्त ॥५॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात्ताः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतास्ता वैश्वदेव्य इष्टकास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ताः प्रजा मध्यत उदक्रामंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रपादयति रेतःसिचोर्वेलया पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति ॥६॥ यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति । एतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहितेऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति स ऋतुभिरद्भिः प्राणैः संवत्सरेणाश्विभ्याꣳ सयुग्भूत्वैताः प्रजाः प्राजनयत्तथैवैतद्यजमान एताभिर्देवताभिः सयुग्भूत्वैताः प्रजाः प्रजनयति तस्माद्व सर्वास्वेव सजूः-सजूरित्यनुवर्तते ॥७॥ सजूर्ऋतुभिरिति । तदृतून्प्राजनयदृतुभिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत्सजूर्विधाभिरित्यापो वै विधा अद्भिर्हीदꣳ सर्वं विहितमद्भिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत्सजूर्देवैरिति तद्देवान्प्राजनयद्यद्देवा इत्याचक्षते सजूर्देवैर्वयोनाधैरिति प्राणा वै देवा वयोनाधाः प्राणैर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धमथो छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धं प्राणैर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयदग्नये त्वा वैश्वानरायेति संवत्सरो वाऽअग्निर्वैश्वानरः संवत्सरेण वै सयुग्भूत्वा प्राजनयदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विभ्यां वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत् ॥८॥ सजूर्वसुभिरिति दक्षिणतः । तद्वसून्प्राजनयत्सजू रुद्रैरिति पश्चात्तद्रुद्रान्प्राजनयत्सजूरादित्यैरित्युत्तरतस्तदादित्यान्प्राजनयत्सजूर्विश्वैर्देवैरित्युप

चिति को खोजा और जो इस रस को लाये। उन्हीं को अर्थात् प्रजा को वह रखता है। उनको रेत:सिचों की वेला में रखता है। रेत:सिच् ये दोनों लोक 'पृथिवी तथा अन्तरिक्ष' हैं। उन्हीं के बीच में उनको रखता है। इसीलिए इन दोनों लोकों के बीच में प्रजा है। सब ओर रखता है, अर्थात् सब ओर प्रजा को रखता है, इसलिए सब ओर प्रजा है। दिश्या ईंटों के पास रखता है, अर्थात् दिशाओं में प्रजा को रखता है, इसलिए प्रजा सब दिशाओं में है ॥४॥

वैश्वदेवी ईंटों को इसलिए भी रखता है कि जब प्रजापति शिथिल हो गया, तो सब प्रजा अपनी योनि अर्थात् प्रजापति के बीच से भाग निकली। जब वह शरीर स्वस्थ हो गया तो वे सब उसमें आ गये ॥५॥

यह शिथिल प्रजापति यह अग्नि (वेदी) ही है जो बनाया जा रहा है। यह जो प्रजा उसके भीतर से निकल भागी थी, ये वैश्वदेवी ईंटें ही थीं। उनको उसी के मध्य में रखता है, रेत:सिचों की वेला में, क्योंकि रेत:सिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं। इस प्रकार वह प्रजाओं को इसके बीच में प्रविष्ट कराता है। वह उनको सब ओर रखता है अर्थात् वह सब ओर उसमें प्रजा को प्रविष्ट कराता है ॥६॥

वैश्वदेवी ईंटों को इसलिए भी रखता है कि जब प्रजापति स्वस्थ हो गया तो उसने इच्छा की कि मैं प्रजा को रचूँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ। उसने ऋतुओं, प्राणों, संवत्सर, दोनों अश्विनों से मिलकर इन प्रजाओं को उत्पन्न किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन देवताओं के साथ मिलकर इन प्रजाओं को उत्पन्न करता है। इसीलिए इन सब ईंटों के साथ 'सजू:' शब्द का प्रयोग हुआ करता है ॥७॥

"सजूर्ऋतुभि:" (यजु० १४।७)—प्रजापति ने ऋतुओं को उत्पन्न किया और ऋतुओं से मिलकर प्रजा को। "सजूर्विधाभि:" (यजु० १४।७)—'विधा' का अर्थ है जल। जलों से ही यह सब विहित है। जलों से मिलकर ही प्रजा को उत्पन्न किया। "सजूर्देवै:" (यजु० १४।७)—इससे उसने देवों को उत्पन्न किया; उन्हीं को जिनको देव कहते हैं। "सजूर्देवैर्वयोनाधै:" (यजु० १४।७)—वयोनाध देव प्राण हैं क्योंकि प्राणों से ही यह सब संसार बिधा हुआ है। वयोनाध देव छन्द भी हैं, क्योंकि छन्दों द्वारा यह सब बिधा हुआ है। प्राणों से ही मिलकर उन्होंने इन सबको बनाया। "अग्नये त्वा वैश्वानराय" (यजु० १४।७)—संवत्सर अग्नि वैश्वानर है। संवत्सर से ही मिलकर प्रजा को बनाया था। "अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा" (यजु० १४।७)—अश्विनों से मिलकर ही बनाया था ॥८॥

"सजूर्वसुभि:" (यजु० १४।७)—यह शब्द कहकर दक्षिण की ओर। इससे वसुओं को बनाया। "सजू रुद्रै:" (यजु० १४।७)—पश्चिम की ओर। इससे रुद्रों को बनाया। "सजूरादित्यै:" (यजु० १४।७)—उत्तर की ओर। इससे आदित्यों को बनाया। "सजूर्विश्वैर्देवै:" (यजु०

रिष्टात्तद्विश्वान्देवान्प्राज्ञनयत्ता वै समानप्रभृतयः समानोदर्का नाना मध्यतस्ता यत्समानप्रभृतयः समानोदर्काः समानीभिर्हि देवताभिः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च सयुग्भूत्वा प्राज्ञनयदथ यन्नाना मध्यतोऽन्या-अन्या हि प्रज्ञा मध्यतः प्राज्ञनयत् ॥ १ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [२. २.] ॥ ॥

अथ प्राणभृत उपदधाति । एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना वायुमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥ १ ॥ प्राणभृत उपदधाति । प्राणो वै वायुर्वायुमेवास्मिन्नेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्वायुं दधाति तस्मादनयोर्वायुः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्वायुं दधाति तस्मात्सर्वतो वायुः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्सम्यञ्चं वायुं दधाति तस्मात्सर्वतः सम्यङ्भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वाति दिश्या अनूपदधाति दिक्षु तद्वायुं दधाति तस्मात्सर्वासु दिक्षु वायुः ॥ २ ॥ यद्वेव प्राणभृत उपदधाति । आस्वेवैतत्प्रजासु प्राणान्दधाति ता अनन्तर्हिता वैश्वदेवीभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तत्प्रजाभ्यः प्राणान्दधाति प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकयेत्येतानेवास्वेतत्क्लृप्तान्प्राणान्दधाति ॥ ३ ॥ अथापस्या उपदधाति । एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना वृष्टिमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥ ४ ॥ अपस्या उपदधाति । आपो वै वृष्टिर्वृष्टिमेवास्मिन्नेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्वृष्टिं दधाति तस्मादनयोर्वर्षति सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्वृष्टिं दधाति तस्मात्सर्वतो वर्षति सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीं वृष्टिं दधाति तस्मात्सर्वतः सम्यङ्भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वर्षति वायव्या अनूपदधाति वायौ तद्वृष्टिं दधाति तस्माद्यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति ॥ ५ ॥ यद्वेवापस्या उपदधाति । एष्वेवैतत्प्राणेष्वपो दधाति ता अनन्तर्हिताः प्राणभृद्भ्य उपदधात्यन-

१४।७)—इससे ऊपर की ओर। इससे विश्वेदेवों को बनाया। ये ईंटें आरम्भ और अन्त में एक-सी होती हैं और मध्य में भिन्न-भिन्न। आरम्भ और अन्त में एक-सी इसलिए कि देवों ने आदि और अन्त में मिलकर ही प्रजा को रचा। बीच में भिन्न इसलिए कि अपने बीच से भिन्न-भिन्न प्रजा को उत्पन्न किया ॥६॥

द्वितीयस्यां चितौ प्राणभृदपस्या-छन्दस्या-वयस्येष्टकोपधानम्

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अब प्राणभृत् ईंटों को रखता है। इसलिए कि देवों ने कहा 'चेतयध्वम्' अर्थात् विचार करो। इसका यह भी अर्थ हुआ कि 'चितिम् इच्छत' अर्थात् चिति की इच्छा करो। या जब उन्होंने कहा तो विचार करते हुए उन्होंने वायुरूपी चिति को खोजा। उसको उन्होंने इसमें स्थापित किया। उसी प्रकार यह (यजमान) भी इसमें इसकी स्थापना करता है ॥१॥

वह प्राणभृतों को रखता है। प्राण वायु है। इसलिए वायु को ही इससे स्थापित करता है, रेतःसिचों की वेला में। ये दोनों लोक रेतःसिच् हैं। इस प्रकार इन दोनों लोकों में वायु को स्थापित करता है। इसीलिए इन लोकों में वायु है। सब ओर स्थापित करता है, मानो सब ओर वायु की स्थापना करता है। हर तरफ एक ही ओर मुख करके, मानो हर तरफ एक ही ओर मुँह करके वायु की स्थापना करता है। इसीलिए वायु सब ओर एक ही ओर मुख करके बहता है। दिश्या ईंटों के पास रखता है, अर्थात् वायु की दिशाओं में स्थापना करता है। इसीलिए सब दिशाओं में वायु है ॥२॥

प्राणभृतों को इसलिए भी रखता है कि इन प्रजाओं में प्राणों को रखता है। उनको वैश्वदेवी ईंटों से चिपटाकर रखता है अर्थात् प्राणों को प्रजा से चिपटाकर रखता है। "प्राणं मे पाहि अपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म ऽ ऊर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकय" (यजु० १४।८)—"मेरे प्राण की रक्षा कर, अपान की रक्षा कर, कान की रक्षा कर, मेरे चक्षुओं को उग्र बना, मेरे कानों को शब्दायमान कर।" इस प्रकार विधिपूर्वक प्राणों की स्थापना करता है ॥३॥

अब अपस्या ईंटों को रखता है। जब देवों ने कहा 'चेतयध्वम्' तो इसका अर्थ निकला, चिति को खोजो। विचार करते हुए उन्होंने वृष्टिरूपी चिति को खोजा और उसमें स्थापित किया, इसी प्रकार यह यजमान भी इस वेदी में इस वृष्टि की स्थापना करता है ॥४॥

अपस्या ईंटों को इसलिए रखता है कि जल वृष्टि हैं, इस प्रकार इसमें वृष्टि की स्थापना करता है, रेतःसिचों की वेला में। ये दोनों लोक रेतःसिच् हैं। इन दोनों में वृष्टि की स्थापना करता है। इसीलिए इन दोनों लोकों में वर्षा हुआ करती है। सब ओर रखता है, अर्थात् सब ओर वृष्टि की स्थापना करता है। इसीलिए सब ओर वर्षता है। हर तरफ एक ओर मुख करके, अर्थात् सब तरफ एक ओर मुँह करके वृष्टि की स्थापना करता है। इसीलिए सब तरफ एक ही रुख से वर्षा होती है। वायव्य ईंटों के पास रखता है, अर्थात् वायु में वृष्टि की स्थापना करता है। इसीलिए जिस दिशा में वायु बहता है, उसी दिशा में वृष्टि भी होती है ॥५॥

अपस्या ईंटों को इसलिए भी रखता है कि इन प्राणों में आप या जल की स्थापना करता है। इनको प्राणभृत् ईंटों से चिपटाकर रखता है, अर्थात् आप या जल को प्राणों से चिपटाकर

न्तर्हितास्तत्प्राणेभ्योऽपो दधात्यथोऽअन्नं वाऽआपोऽनन्तर्हितं तत्प्राणेभ्योऽन्नं दधात्यपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरयेत्येता एवैष्वेतत्कृप्ता अपो दधाति ॥६॥ अथ छन्दस्या उपदधाति । एतद्ध देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमानाः पशूनेव चितिमपश्यंस्तानस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥७॥ छन्दस्या उपदधाति । पशवो वै छन्दाꣳसि पशूनेवास्मिन्नेतद्दधाति सर्वत उपदधाति सर्वतस्तत्पशून्दधाति तस्मात्सर्वतः पशवोऽपस्या अनूपदधात्यप्सु तत्पशून्प्रतिष्ठापयति तस्माद्यदा वर्षत्यथ पशवः प्रतितिष्ठन्ति ॥८॥ यद्वेव छन्दस्या उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उदक्रामंश्छन्दाꣳसि भूत्वा तान्गायत्री छन्दो भूत्वा वयसाप्नोत्तद्यद्गायत्र्याप्नोदेतद्धि छन्द आशिष्ठꣳ सा तद्भूत्वा प्रजापतिरेतान्पशून्वयसाप्नोत् ॥९॥ मूर्धा वय इति । प्रजापतिर्वै मूर्धा स वयोऽभवत्प्रजापतिश्छन्द इति प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत् ॥१०॥ क्षत्रं वय इति । प्रजापतिर्वै क्षत्रꣳ स वयोऽभवन्मयंदं छन्द इति यद्वाऽअनिरुक्तं तन्मयंदमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत् ॥११॥ विष्टम्भो वय इति । प्रजापतिर्वै विष्टम्भः स वयोऽभवदधिपतिश्छन्द इति प्रजापतिर्वाऽअधिपतिः प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत् ॥१२॥ विश्वकर्मा वय इति । प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स वयोऽभवत्परमेष्ठी छन्द इत्यापो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति प्रजापतिरेव परमेष्ठी छन्दोऽभवत् ॥१३॥ तानि वाऽएतानि । चत्वारि वयाꣳसि चत्वारि छन्दाꣳसि तदष्टावष्टाक्षरा गायत्र्येषा वै सा गायत्री या तद्भूत्वा प्रजापतिरेतान्पशून्वयसाप्नोत्तस्माज्जीर्णं पशुं वयसाप्त इत्याचक्षते तस्माद्ध सर्वास्वेव वयो वय इत्यनुवर्ततेऽथ येऽस्मात्ते पशव उदक्रामन्नेते ते पञ्चदशोत्तरे वज्रो वै पशवो वज्रः पञ्चदशस्तस्माद्यस्य पशवो भवन्त्यपैव स पाप्मानꣳ हते वज्रो हैव तस्य पाप्मानमपहन्ति तस्माद्यां कां च दिशं पशुमानेति

रखता है। आप का अर्थ अन्न भी है, मानो अन्न को प्राणों से चिपटाकर रखता है ॥६॥

"अप: पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरय" (यजु० १४।८)—"जलों को बढ़ा, वृक्षों को उगा, दुपायों की रक्षा कर, चौपायों की रक्षा कर, ऊपर से वृष्टि कर।" इस प्रकार विधिपूर्वक जलों की स्थापना करता है ॥७॥

अब छन्दस्य ईंटों को रखता है। छन्दस् पशु हैं। इस प्रकार इसमें पशुओं की स्थापना करता है। सब ओर रखता है, मानो सब ओर पशुओं की स्थापना करता है। इसीलिए पशु सब ओर पाये जाते हैं। अपस्या ईंटों के पास रखता है, अर्थात् जलों में पशुओं को स्थापित करता है। इसीलिए जब वर्षा होती है तो पशुओं की पुष्टि होती है ॥८॥

छन्दस्य ईंटें को रखने का यह भी हेतु है कि शिथिल हुए प्रजापति से पशु छन्द बनकर भाग निकले। गायत्री ने छन्द बनकर उनको अपनी शक्ति से पकड़ा। गायत्री ने इसलिए पकड़ा कि गायत्री सबसे आशिष्ठ (अच्छा, या छोटा, या तेज) छन्द है। इस प्रकार प्रजापति ने छन्द होकर इस पशुओं को अपनी शक्ति से फिर पा लिया ॥९॥

चार को आगे की ओर इस मन्त्र से—"मूर्धा वय:" (यजु० १४।९)—प्रजापति मूर्धा है। वह वय: (आयु) हो गया! "प्रजापतिश्छन्द:" (यजु० १४।९)—प्रजापति ही छन्द हो गया ॥१०॥

"क्षत्रं वय:" (यजु० १४।९)—प्रजापति क्षत्र है। वह वय (आयु) हो गया! "मयन्दं छन्द:" (यजु० १४।९)—"सुख देनेवाला छन्द है।" जो अनिरुक्त (अनिश्चित) है वह मय या सुख है। प्रजापति अनिरुक्त है। प्रजापति ही छन्द हो गया! ॥११॥

"विष्टम्भो वय:" (यजु० १४।९)—प्रजापति विष्टम्भ है। वही वय हो गया! "अधिपतिश्छन्द:" (यजु० १४।९)—अधिपति प्रजापति है। प्रजापति ही छन्द हो गया!॥१२॥

"विश्वकर्मा वय:" (यजु० १४।९)—प्रजापति विश्वकर्मा है। वह वय हो गया! "परमेष्ठी छन्द:"(यजु० १४।९)—जल परमेष्ठी प्रजापति है। वही परम अर्थात् बड़े स्थान में है। प्रजापति ही परमेष्ठी छन्द हो गया! ॥१३॥

ये चार आयु या वय हुई और चार छन्द हुए। ये हुए आठ। आठ अक्षर की गायत्री है। यह वही गायत्री है जिसके रूप में प्रजापति ने अपनी शक्ति से पशुओं को पकड़ा था। इसीलिए जीर्ण पशुओं के लिए कहते हैं कि इनको आयु ने पकड़ लिया। इसीलिए 'वय:' शब्द का इन सब ईंटों के साथ प्रयोग हुआ है। जो पशु उस प्रजापति से भाग गये थे वे आगे के १५ यजु हैं। पशु वज्र हैं। वज्र पन्द्रह हैं। जिसके पास पशु होते हैं वह पापी को नष्ट कर देता है। वज्र उसके पाप का हनन कर देता है। पशुवाला जिस दिशा को निकल जाता है, वह दिशा वज्र द्वारा

वज्रविद्धताꣳ हैव तामन्वेति ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [२. ३.] ॥ ॥

बस्तो वय इति बस्तं वयसाप्नोद्विवलं छन्द इत्येकपदा वै विवलं छन्द एकपदा ह भूत्वाजा उच्चक्रमुः ॥१॥ वृष्णिर्वय इति । वृष्णिं वयसाप्नोद्विशालं छन्द इति द्विपदा वै विशालं छन्दो द्विपदा ह भूत्वावय उच्चक्रमुः ॥२॥ पुरुषो वय इति । पुरुषं वयसाप्नोत्तन्द्रं छन्द इति पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः पङ्क्तिर्ह भूत्वा पुरुषा उच्चक्रमुः ॥३॥ व्याघ्रो वय इति । व्याघ्रं वयसाप्नोदनाधृष्टं छन्द इति विराड्वा ऽअनाधृष्टं छन्दोऽन्नं वै विराडन्नमनाधृष्टं विराड् भूत्वा व्याघ्रा उच्चक्रमुः ॥४॥ सिꣳहो वय इति । सिꣳहं वयसाप्नोच्छदिश्छन्द इत्यतिछन्दा वै छदिश्छन्दः सा हि सर्वाणि छन्दाꣳसि छादयत्यतिछन्दा ह भूत्वा सिꣳहा उच्चक्रमुरथातो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि छन्दाꣳस्युपदधाति ॥५॥ पष्ठवाड्वय इति । पष्ठवाहं वयसाप्नोद्बृहती छन्द इति बृहती ह भूत्वा पष्ठवाह उच्चक्रमुः ॥६॥ उक्षा वय इति । उक्षाणं वयसाप्नोत्ककुप्छन्द इति ककुब्भ भूत्वोक्षाण उच्चक्रमुः ॥७॥ ऋषभो वय इति । ऋषभं वयसाप्नोत्सतोबृहती छन्द इति सतोबृहती ह भूत्वऽर्षभा उच्चक्रमुः ॥८॥ अनड्वान्वय इति । अनड्वाहं वयसाप्नोत्पङ्क्तिश्छन्द इति पङ्क्तिर्ह भूत्वानड्वाह उच्चक्रमुः ॥९॥ धेनुर्वय इति । धेनुं वयसाप्नोज्जगती छन्द इति जगती ह भूत्वा धेनव उच्चक्रमुः ॥१०॥ त्र्यविर्वय इति । त्र्यविं वयसाप्नोत्त्रिष्टुप्छन्द इति त्रिष्टुब्भ भूत्वा त्र्यवय उच्चक्रमुः ॥११॥ दित्यवाड्वय इति । दित्यवाहं वयसाप्नोद्विराट् छन्द इति विराड् भूत्वा दित्यवाह उच्चक्रमुः ॥१२॥ पञ्चाविर्वय इति । पञ्चाविं वयसाप्नोद्गायत्री छन्द इति गायत्री ह भूत्वा पञ्चावय उच्चक्रमुः ॥१३॥ त्रिवत्सो वय इति । त्रिवत्सं वयसाप्नोदुष्णिक्छन्द इत्युष्णिग्घ भूत्वा त्रिवत्सा उच्चक्रमुः ॥१४॥ तुर्यवाड्वय इति । तुर्यवाहं वयसाप्नोदनुष्टुप्छन्द इत्यनुष्टुब्भ भूत्वा तुर्यवाह उच्चक्रमुः ॥१५॥ एते वै ते पशवः । यांस्तत्प्रजापतिर्वयसाप्नोत्स वै पशुं प्रथममाहाथ

विदीर्ण हो जाती है ॥१४॥

अध्याय २—ब्राह्मण ४

"वस्तो वय:" (यजु० १४।९)—उसने वस्त या पशु को आयु के द्वारा पकड़ा। "विबलं छन्द:" (यजु० १४।९)—एकपदा छन्द को विबल कहते हैं। बकरे एकपद होकर ही भागे थे ॥१॥

"वृष्णिर्वय:" (यजु० १४।९) —भेड़ को उसने वय या आयु के द्वारा पकड़ा। "विशालं छन्द:" (यजु० १४।९)—द्विपदे छन्द को विशाल कहते हैं। भेड़ द्विपद छन्द होकर ही भागी थी ॥२॥

"पुरुषो वय:" (यजु० १४।९)—उसने पुरुष को आयु के द्वारा पकड़ा। "तन्द्रं छन्द:" (यजु० १४।९)—पंक्ति छन्द तन्द्र कहलाता है। पुरुष पंक्ति होकर ही भागे थे ॥३॥

"व्याघ्रो वय:" (यजु० १४।९)—व्याघ्र को वय या आयु के द्वारा पकड़ा "अनाधृष्टं छन्द: (यजु० १४।९)—विराट् छन्द को अनाधृष्ट कहते हैं। अन्न विराट् है। व्याघ्र अनाधृष्ट अन्न होकर ही भागे थे ॥४॥

"सिँहो वय: (यजु० १४।९)—सिंह को वय से पकड़ा। "छदिश्छन्द:" (यजु० १४।९)—अतिच्छन्द को छदि कहते हैं क्योंकि वह सब छन्दों को ढक लेता है। सिंह अतिछन्द होकर ही भागे थे। इस प्रकार वह अनिरुक्त छन्दों को निरुक्त पशुओं के साथ मिलाता है ॥५॥

"षष्ठवाड् वय:" (यजु० १४।९)—बैल को वय से पकड़ा। "बृहती छन्द:" (यजु० १४।९)—बैल बृहती होकर भागा था ॥६॥

"उक्षा वय: (यजु० १४।९)—उक्षा को वय से पकड़ा था। "ककुप् छन्द:" (यजु० १४।९)—उक्षा ककुप् होकर भागे थे ॥७॥

"ऋषभो वय:" (यजु० १४।९)—ऋषभ को वय से पकड़ा। "सतोबृहती छन्द:" (यजु० १४।९)—ऋषभ सतोबृहती होकर भागे थे ॥८॥

"अनड्वान् वय:" (यजु: १४।१०)—अनड्वान् को वय से पकड़ा था। "पंक्तिश्छन्द:" (यजु० १४।१०)—अनड्वान् पंक्ति होकर ही भागे थे ॥९॥

"धेनुर्वय:" (यजु० १४।१०)—धेनु को वय से पकड़ा। "जगती छन्द:" (यजु० १४।१०)—धेनु जगती होकर भागी थीं ॥१०॥

"त्र्यविर्वय:" (१४।१०)—त्र्यवि अर्थात् अठारह महीने के पशु को वय से पकड़ा। "त्रिष्टुप् छन्द:" (यजु० १४।१०)—त्र्यवि छन्द होकर भागे थे ॥११॥

"दित्यवाड् वय:" (यजु० १४।१०)—दित्यवाट् (दो वर्ष का सांड) को वय से पकड़ा। "विराट् छन्द:" (यजु० १४।१०)—दित्यवाट् विराट् छन्द होकर भागे थे ॥१२॥

"पञ्चाविर्वय:" (यजु० १४।१०)—पंचावि (ढाई वर्ष का सांड) को वय से पकड़ा। "गायत्री छन्द:" (यजु० १३।१०)—पंचावि गायत्री छन्द बनकर भागे थे ॥१३॥

"त्रिवत्सो वय:" (यजु० १४।१०)—तीन बरस के सांड को वय से पकड़ा। "उष्णिक् छन्द:" (यजु० १४।१०)—त्रिवत्स उष्णिक् छन्द होकर भागे थे ॥१४॥

"तुर्यवाड् वय:" (यजु० १४।१०)—चार बरस के सांड को वय से पकड़ा। "अनुष्टुप् छन्द:" (यजु० १४।१०)—अनुष्टुप् छन्द होकर तुर्यवाट् भागे थे ॥१५॥

ये वे पशु थे जिनको प्रजापति ने वय अर्थात् पराक्रम से पकड़ा था। पहले वह पशु का

वयोऽथ छन्दो वयसा च ह्येनांश्छन्दसा च परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुर्वत तथैवै-
नानयमेतद्वयसा चैव छन्दसा च परिगत्यात्मन्धत्तऽआत्मन्कुरुते ॥१६॥ स एष प-
शुर्यदग्निः । सोऽत्रैव सर्वः कृत्स्नः संस्कृतस्तस्य याः पुरस्तादुपदधाति शिरोऽस्य
ता अथ या दक्षिणतश्चोत्तरतश्च स आत्माथ याः पश्चात्तत्पुच्छम् ॥१७॥ स वै पु-
रस्तादेवाग्रऽउपदधाति । शिरो हि प्रथमं जायमानस्य जायतेऽथ दक्षिणत उप-
धायोत्तरत उपदधाति सार्धमयमात्मा जायाताऽइत्यथ पश्चात्पुच्छꣳ ह्यन्ततो जाय-
मानस्य जायते ॥१८॥ तद्यानि वर्षिष्ठानि छन्दाꣳसि । ये स्थविष्ठाः पशवस्तान्म-
ध्यऽउपदधाति मध्यं तत्प्रति पशुं वरिष्ठं करोति तस्मान्मध्यं प्रति पशुर्वरिष्ठोऽथ
ये वीर्यवत्तमाः पशवस्तान्दक्षिणत उपदधाति दक्षिणं तदर्धं पशोर्वीर्यवत्तरं क-
रोति तस्माद्दक्षिणोऽर्धः पशोर्वीर्यवत्तरः ॥१९॥ पूर्वार्धं च जघनार्धं चाणिष्ठौ क-
रोति । यद्ध्यमूश्चतस्रस्तेनैना अणिष्ठा अथ यद्धि ह्रसिष्ठान्पशूनुपदधाति तेनो
ऽएता अणिष्ठाः पूर्वार्धं च तज्जघनार्धं च पशोरणिष्ठौ करोति तस्मात्पूर्वार्धश्च
जघनार्धश्च पशोरणिष्ठौ तस्मात्पूर्वार्धेन च जघनार्धेन च पशुरुच्च तिष्ठति सं च
विशत्यथ लोकम्पृणेऽउपदधात्यस्याꣳ स्रक्त्यां तयोरुपरि बन्धुः पुरीषं निवपति
तस्योपरि बन्धुः ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥८ [२. ४.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [५०.] ॥ ॥

तृतीयां चितिमुपदधाति । एतद्वै देवा द्वितीयां चितिं चित्वा समारोहन्यदूर्ध्वं
पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तदेव तत्संस्कृत्य समारोहन् ॥१॥ तेऽब्रुवन् । चेत-
यध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना अन्तरि-
क्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यंस्तेभ्य एष लोकोऽच्छन्दयत् ॥२॥ तऽइन्द्राग्नी
ऽअब्रुवन् । युवं न इमां तृतीयां चितिमुपधत्तमिति किं नौ ततो भविष्यतीति
युवमेव नः श्रेष्ठौ भविष्यथ इति तथेति तेभ्य एतामिन्द्राग्नी तृतीयां चितिमुपा-
धत्तां तस्मादाहुरिन्द्राग्नीऽएव देवानाꣳ श्रेष्ठाविति ॥३॥ स वाऽइन्द्राग्निभ्यामुप-

नाम लेता है, फिर वय का, फिर छन्द का, क्योंकि इनको वय और छन्द से घेरकर अपने-आप में रक्खा था और अपना बनाया था। इसी प्रकार यह भी इनको वय और छन्द से घेरकर अपने में धारण करता और अपना बनाता है ॥१६॥

यह जो अग्नि (वेदी) है वह पशु है। इसी प्रकार तो वह पूर्ण बनाया गया है। जो ईंटें आगे रक्खीं गईं वे इसका सिर हैं, जो उत्तर और दक्षिण की ओर, वे शरीर या धड़, जो पीछे वह पूंछ ॥१७॥

जो आगे की ईंटें हैं उनको पहले रखता है क्योंकि जब बच्चा उत्पन्न होता है तो पहले सिर निकलता है। दक्षिण की ओर की ईंटों को रखकर फिर उत्तर (बाईं) की ओर की ईंटों को रखता है, जिससे यह शरीर साथ-साथ उत्पन्न हो। फिर पीछे की ईंटों को, क्योंकि पूंछ सबसे पीछे निकलती है ॥१८॥

जो छन्द सबसे बड़े हैं अथवा जो पशु बड़े हैं, उनको मध्य में रखता है। इस प्रकार वह (वेदीरूपी) पशु को बीच में बड़ा कर देता है क्योंकि पशु बीच में होता ही बड़ा है। जो बलवान् पशु हैं उनको दक्षिण की (दाहिनी) ओर। इस प्रकार वह पशु की दाहिनी ओर को मजबूत बनाता है। पशु की दाहिनी ओर मजबूत होती भी है ॥१९॥

आगे और पिछले के भागों को छोटा बनाता है। ये जो आगे की चार ईंटें हैं, वे छोटी हैं। और चूंकि पीछे की ओर छोटे पशुओं को रखता है, इसलिए ये छोटे हैं। इस प्रकार वह पशु के अगले-पिछले भागों को छोटा बनाता है। पशु के अगले-पिछले भाग छोटे होते भी हैं। इसीलिए पशु अपने अगले-पिछले भागों की सहायता से ही उठता-बैठता है। इस कोने में लोकम्पृण ईंटों को रखता है। इसकी व्याख्या आगे आयेगी। इसके ऊपर पुरीष या मिट्टी डालता है। इसकी व्याख्या भी आगे आयेगी ॥२०॥

तृतीयायां चितौ स्वयमातृण्णादिश्येष्टकोपधानम्

अध्याय ३—ब्राह्मण १

अब तीसरी चिति को रखता है। बात यह है कि देव जब दूसरी चिति को चिनकर चढ़े, तो उसको समाप्त करके केवल वहीं तक चढ़ पाये जो पृथिवी से ऊपर और अन्तरिक्ष से नीचे है ॥१॥

वे बोले 'चेतयध्वम्' अर्थात् विचार करो। इसका अर्थ निकला 'चिति इच्छत' अर्थात् चिति की इच्छा करो, अर्थात् इस चिति से आगे चिनो। विचार करते हुए उन्होंने अन्तरिक्ष-रूपी तीसरी बड़ी चिति को खोजा। यह लोक इनको अच्छा लगा ॥२॥

उन्होंने इन्द्र-अग्नि से कहा, 'तुम दोनों इस तीसरी चिति को चिनो।' उन्होंने कहा, 'हमको इससे क्या लाभ होगा?' उन्होंने उत्तर दिया कि, 'तुम दोनों हममें श्रेष्ठ हो जाओगे।' उन्होंने कहा 'अच्छा।' और इन्द्र-अग्नि ने इस तीसरी चिति को उनके लिए चिना। इसलिए कहते हैं कि देवों में इन्द्र और अग्नि श्रेष्ठ हैं ॥३॥

यह भी इन्द्र-अग्नि की सहायता से चिनता है।

दधाति । विश्वकर्मणा सादयतीन्द्राग्नी च वै विश्वकर्मा चैतां तृतीयां चितिमपश्यं-स्तस्मादिन्द्राग्निभ्यामुपदधाति विश्वकर्मणा सादयति ॥४॥ यद्वेवेन्द्राग्निभ्यामुपदधा-ति । विश्वकर्मणा सादयति प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्येन्द्रा-ग्नी च विश्वकर्मा च मध्यमादायोत्क्रम्यातिष्ठन् ॥५॥ तानब्रवीत् । उप मेत प्रति मऽएतद्धत्त येन मे यूयमुदक्रमिष्टेति किं नस्ततो भविष्यतीति युष्मद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतदिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च प्रत्यदधुः ॥६॥ ॥ शतम् ४४०० ॥ ॥ तस्यैषा मध्यमा स्वयमातृण्णा । एतदस्य तदात्मनस्तद्य-देतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति ॥७॥ इन्द्राग्नीऽअव्यथमानाम् । इष्टकां दृꣳहतं युवमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पृष्ठेन द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं च विबाधसऽइति पृष्ठेन ह्येषा द्यावापृथिवीऽअ-न्तरिक्षं च विबाधते ॥८॥ विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति । विश्वकर्मा ह्येतां तृतीयां चितिमपश्यदन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमित्यन्तरिक्षस्य ह्येतत्पृष्ठं व्यच-स्वत्प्रथस्वदन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिꣳसीरित्येतत् ॥९॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायोदाना-येति प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्माऽउ वाऽएतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायै-तीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इमऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रं वायुष्ट्वाभिपात्विति वायुष्ट्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शंतमेने-ति यच्छर्दिः शंतमं तेनेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुरथ साम गायति तस्योपरि बन्धुः ॥१०॥ अथ दिश्या उपदधाति । दिशो वै दिश्या दिश एवैतदुपदधाति तद्याभिरदो वायुर्दिग्भिरन्तरिक्षेनाभिरुपैत्ता एतास्ता एवै-तदुपदधाति ता उऽएवामूः पुरस्तादर्भस्तम्बं च लोगेष्टकाश्चोपदधात्यसौ वाऽआ-दित्य एता अमुं तदादित्यं दिक्षुधूरुति दिक्षु चिनोति ता यत्तत्रैव स्युर्बहिर्धा

विश्वकर्मा की सहायता से स्थापित करता है। इन्द्र-अग्नि और विश्वकर्मा ने इस चिति को खोजा था। इसलिए इन्द्र-अग्नि की सहायता से चिनता है और विश्वकर्मा की सहायता से स्थापित करता है ।।४।।

इन्द्र-अग्नि की सहायता से इसलिए चिनता है और विश्वकर्मा की सहायता से इसलिए स्थापित करता है कि जब प्रजापति शिथिल हो गया अर्थात् उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये, तो देवता उसको लेकर इधर-उधर भाग गये। इन्द्र-अग्नि और विश्वकर्मा उसके मध्य भाग को लेकर भागे ।।५।।

उसने उनसे कहा, 'मेरे पास आओ और जो मेरा भाग तुम लेकर भाग गये हो, उसको मुझमें धारण करा दो।' उन्होंने पूछा, 'इससे हमको क्या लाभ होगा?' उसने उत्तर दिया कि 'मेरे शरीर के उस भाग के तुम्हीं देवता हो जाओगे।' उन्होंने स्वीकार कर लिया और इन्द्र-अग्नि तथा विश्वकर्मा ने उसके शरीर में उस भाग को रख दिया ।।६।।

बीच की स्वयमातृण्णा ईंट उसके शरीर का वही भाग है। जब वह इस ईंट को रखता है, तो मानो उसके शरीर में उस भाग को रखता है जो भाग उसके शरीर का यह ईंट है। इसी-लिए उस ईंट को रखता है ।।७।।

"इन्द्राग्नी ऽ अव्यथमानामिष्टकाँ दृ̐हतं युवम्। पृष्ठेन द्यावापृथिवी ऽ अन्तरिक्षं च विबाधसे' (यजु० १४।११)—"हे इन्द्र-अग्नि! तुम दोनों इस ईंट को ऐसा कसो कि हिले न। अपनी पीठ से तू द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को चीरता है।" वस्तुतः यह ईंट द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को चीरती है ।।८।।

"विश्वकर्मा त्वा सादयतु" (यजु० १४।१२)--क्योंकि विश्वकर्मा ने इस तीसरी चिति को खोजा था। "अन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीम्" (यजु० १४।१२)—"अन्तरिक्ष की पीठ पर यह चौड़ी-चकली ईंट है।" "अन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृ̐हान्तरिक्षं मा हि̐सीः"(यजु० १४।१२)—"अन्तरिक्ष को सम्भाल, अन्तरिक्ष को दृढ़ कर। अन्तरिक्ष को हानि न कर" अर्थात् अपने को सम्भाल, अपने-आपको दृढ़ कर और अपने-आपको हानि न पहुँचा ।।९।।

"विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानायोदानाय" (यजु० १४।१२)—स्वयमातृण्णा ईंट प्राण है। प्राण इस सबके लिए है। "प्रतिष्ठायै चरित्राय" (यजु० १४।१२)—"प्रतिष्ठा के लिए, चरित्र के लिए।" ये लोक स्वयमातृण्णा हैं। ये लोक प्रतिष्ठा हैं, चरित्र हैं। "वायुष्ट्वा-भिपातु" (यजु० १४।१२)—"वायु तेरी रक्षा करे।" "मह्या स्वस्त्या" (यजु० १४।१२)—'बड़ी स्वस्ति से।" "छर्दिषा शंतमेन" (यजु० १४।१२)—"शान्तियुक्त रक्षा से।" उसको स्थापित करके सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। फिर सामगान करता है। इसकी व्याख्या आगे होगी ।।१०।।

अब (पाँच) दिश्या ईंटों को रखता है। दिश्या दिशायें हैं। इस प्रकार दिशाओं को रखता है। ये वही दिशायें हैं जिनसे चिपटकर वायु चलता है। इन्हीं को वह रखता है। परन्तु इनसे पूर्व दर्भ और लोगेष्टका को रखता है। ये दिश्या ईंटें आदित्य हैं। इस प्रकार आदित्य को दिशाओं के ऊपर रखता है और दिशाओं में चिनता है। यदि (दर्भ और लोगेष्टका के) साथ-

तत्स्युर्बर्हिर्धा वा एतद्योनिरग्निकर्म यत्पुरा पुष्करपर्णात्ता यद्दिक्षाक्त्योपदधाति तदेना योनौ पुष्करपर्णे प्रतिष्ठापयति तथो हैता अबर्हिर्धा भवन्ति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधात्यन्तरिक्षं वै मध्यमा स्वयमातृण्णानन्तर्हितास्तदन्तरिक्षाद्दिशो दधात्युत्तरा उत्तरास्तदन्तरिक्षाद्दिशो दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्दिशो दधाति तस्मादनयोर्दिशः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात्सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात्सर्वतः समीच्यो दिशः ॥११॥ यद्वेव दिश्या उपदधाति । छन्दाꣳसि वै दिशो गायत्री वै प्राची दिक्त्रिष्टुब्दक्षिणा जगती प्रतीच्यनुष्टुबुदीची पङ्क्तिरूर्धा पशवो वै छन्दाꣳस्यन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशून्दधाति तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः ॥१२॥ यद्वेव दिश्या उपदधाति । छन्दाꣳसि वै दिशः पशवो वै छन्दाꣳस्यन्नं पशवो मध्यं मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधाति प्राणो वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितं तत्प्राणादन्नं दधात्युत्तरा उत्तरं तत्प्राणादन्नं दधाति रेतःसिचोर्वेलया पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥१३॥ राज्ञ्यसि प्राची दिक् । विराडसि दक्षिणा दिक्सम्राडसि प्रतीची दिक्स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिगिति नामान्यासामेतानि नामग्राहमेवैना एतदुपदधाति ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हि दिशः ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३.१.] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या११५ ॥ ॥

अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति । वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिर्वायुर्ह्येवान्तरिक्षलोके विश्वं ज्योतिर्वायुमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां दिश्याभ्य उपदधाति दिक्षु तद्वायुं दधाति तस्मात्सर्वासु दिक्षु वायुः ॥१॥ यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति । प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति तामनन्त-

साथ चिने तो बाहरी हो जाय। जो अग्निकर्म पुष्करपर्ण से पहले किया जाता है वह योनि के बाहर समझा जाता है। जब वह इनको लाकर रखता है तो उनको योनि में, पुष्करपर्ण में स्थापित करता है। इस प्रकार ये ईंटें बाहरी नहीं समझी जातीं। इनको स्वयमातृण्णा ईंट से चिपटाकर रखता है। बीच की स्वयमातृण्णा अन्तरिक्ष है। इस प्रकार दिशाओं को अन्तरिक्ष से चिपटाकर रखता है। पीछे से, अर्थात् दिशाओं को अन्तरिक्ष से पीछे से रखता है, रेत:सिचों की वेला में। ये दोनों लोक रेत:सिच् हैं। इन्हीं में दिशाओं को रखता है। सब ओर दिशाओं को रखता है। इसीलिए दिशायें सब ओर हैं। सीधा-सीधा रखता है, अर्थात् दिशाओं को सीधा-सीधा रखता है। इसलिए दिशायें सीधी-सीधी हैं ॥११॥

दिश्या ईंटों को इसलिए भी रखता है कि छन्द दिशायें हैं। गायत्री पूर्व दिशा है, त्रिष्टुप् दक्षिण, जगती पश्चिम, अनुष्टुप् उत्तर, पंक्ति ऊपर की। छन्द पशु हैं। अन्तरिक्ष बीच की चिति है। इस प्रकार पशुओं को अन्तरिक्ष में स्थापित करता है। इसीलिए पशुओं का घर अन्तरिक्ष है ॥१२॥

दिश्या ईंटों को इसलिए भी रखता है कि छन्द दिशाएँ हैं। छन्द पशु हैं। पशु अन्न हैं। बीच की चिति मध्यभाग (पेट) है। इस प्रकार अन्न को मध्यभाग (पेट) में रखता है। इनको स्वयमातृण्णा से चिपटाकर रखता है। स्वयमातृण्णा प्राण है अर्थात् अन्न को प्राण से चिपटाकर रखता है—पीछे से, अर्थात् प्राण से पीछे अन्न को रखता है, रेत:सिचों की वेला में। रेत:सिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं, अर्थात् इसके मध्य में अन्न को रखता है। सब ओर रखता है, अर्थात् इसमें सब ओर अन्न की स्थापना करता है ॥१३॥

"राज्ञ्यसि प्राची दिक्, विराडसि दक्षिणा दिक्, सम्राडसि प्रतीची दिक्। स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक्" (यजु० १४।१३)—ये इनके नाम हैं। इनको नाम ले-लेकर रखता है (अर्थात् पूर्व दिशा की ईंट राज्ञी या रानी है दक्षिण की विराट्, पश्चिम की सम्राट्, उत्तर की स्वराट्, बृहती दिशा की अधिपत्नी, ये पाँच दिश्या ईंटें हुईं)। उनको अलग-अलग स्थापित करता है। अलग-अलग सूददोह पढ़ता है। क्योंकि दिशायें अलग-अलग हैं ॥१४॥

तृतीयायां चितौ विश्वज्योतिर्ऋतव्येष्टकोपधानम्

अध्याय ३—ब्राह्मण २

अब 'विश्वज्योति' ईंट को रखता है। वायु ही बीच की विश्वज्योति है। वायु ही अन्तरिक्षलोक में सब ज्योति है। इस प्रकार मानो वायु को ही स्थापित करता है। इसको दिश्या ईंटों से चिपटाकर रखता है, अर्थात् दिशाओं में वायु को स्थापित करता है। इसलिए वायु सब दिशाओं में विद्यमान है ॥१॥

विश्वज्योति ईंट को रखने का यह भी हेतु है कि प्रजा ही विश्वज्योति है। प्रजा ही सब ज्योति है। इस प्रकार मानो प्रजनन अर्थात् सन्तान-उत्पत्ति को ही उसमें स्थापित करता है।

र्ह्येतां दिश्याभ्य उपदधाति दिक्षु तत्प्रजा दधाति तस्मात्सर्वासु दिक्षु प्रजाः ॥२॥ विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति । विश्वकर्मा ह्येतां तृतीयां चितिमपश्यदन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीमित्यन्तरिक्षस्य ह्ययं पृष्ठे ज्योतिष्मान्वायुः ॥३॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्माऽउ वाऽएतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतद्वायुष्टेऽधिपतिरिति वायुमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥४॥ अथऽर्तव्या उपदधाति । ऋतव एते यदृतव्या ऋतूनेवैतदुपदधाति नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतूऽइति नामनीऽएनयोरेते नामभ्यामेवैनेऽएतदुपदधाति द्वेऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोत्यवकासूपदधात्यवकाभिः प्रच्छादयत्यापो वाऽअवका अपस्तदेतस्मिन्नृतौ दधाति तस्मादेतस्मिन्नृतौ भूयिष्ठं वर्षति ॥५॥ अथोत्तरे । इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽइति नामनीऽएनयोरेते नामभ्यामेवैनेऽएतदुपदधाति द्वेऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोत्यवकासूपदधात्यापो वाऽअवका अपस्तदेतस्यऽर्तोः पुरस्ताद्दधाति तस्मादेतस्यऽर्तोः पुरस्ताद्वर्षति नोपरिष्टात्प्रच्छादयति तस्मान्न तथेवोपरिष्टाद्वर्षति ॥६॥ तद्यदेता अत्रोपदधाति । संवत्सर एषोऽग्निरिमऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्यान्तरिक्षमेव मध्यमा चितिरन्तरिक्षमस्य वर्षाशरदावृतू तद्यदेता अत्रोपदधाति यदेवास्यैता आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति ॥७॥ यद्वेवैता अत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य मध्यमेव मध्यमा चितिर्मध्यमस्य वर्षाशरदावृतू तद्यदेता अत्रोपदधाति यदेवास्यैता आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति ॥८॥ ता वाऽएताः । चतस्र ऋतव्या मध्यमायां चिताऽउपदधाति द्वे-द्वेऽइतरासु चितिषु चतुष्पादा वै पशवोऽन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशून्दधाति तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः ॥९॥ यद्वेव चतस्रः

उसको दिश्या ईंटों से चिपटाकर रखता है, अर्थात् दिशाओं में प्रजा या सन्तति को स्थापित करता है। इसीलिए प्रजा सब दिशाओं में है ॥२॥

इस मन्त्र से—"विश्वकर्मा त्वा सादयतु" (यजु० १४।१४)—क्योंकि विश्वकर्मा ने ही इस तीसरी चिति को खोजा था। "अन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्" (यजु० १४।१४)—क्योंकि यह ज्योतिर्मय वायु अन्तरिक्ष की पीठ पर है ॥३॥

"विश्वस्मै प्राणायाऽपानाय व्यानाय" (यजु० १४।१४)—क्योंकि प्राण सबकी ज्योति हैं, या प्राण सबके लिए हैं। "विश्वं ज्योतिर्यच्छ" (यजु० १४।१४)—"सब ज्योति को दे।" "वायुष्टेऽधिपतिः" (यजु० १४।१४)—अर्थात् वायु को ही इसका अधिपति ठहराता है। इसको जमाकर सूददोह का पाठ करता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥४॥

अब ऋतव्या ईंटों को रखता है। ये ऋतव्या ईंटें मानों ऋतुयें हैं, अर्थात ऋतुओं को स्थापित करता है। 'नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू" (यजु० १४।१५)–(यहाँ पूरा मन्त्र होना चाहिए। ब्राह्मण में केवल प्रतीक दी हुई है) "नभ और नभस्य तो वर्षा ऋतु के मास हैं।" ये दोनों ईंटों के नाम हैं। उनको वह इन नामों से रखता है। ये दो ईंटें होती हैं। ऋतु में दो मास होते हैं। दोनों को एकसाथ जमाता है। मानो उन दोनों को एक ऋतु कर देता है। इनको अवका (वनस्पतिविशेष) पर रखता है और अवका से ढक देता है। अवका जल है, अर्थात् इस ऋतु में जल को रखता है। इसीलिए इस ऋतु में जल बहुत बरसता है ॥५॥

इनके ऊपर की दो ईंटें इस मन्त्र से—"इषश्चोर्जश्च शारदावृतू" (यजु० १४।१६)—(यहाँ भी पूरा मन्त्र होना चाहिए। ब्राह्मण में केवल प्रतीक दी हुई है) "इषः और ऊर्ज दो शरद् ऋतु के महीने हैं।" ये 'इष' और 'ऊर्ज' ईंटों के नाम हैं। इन्हीं नामों से उनको रखता है। दो ईंटें होती हैं। ऋतु में महीने भी दो होते हैं। उनको एकसाथ रखता है, अर्थात् उस ऋतु को एक कर देता है। अवका पर रखता है। अवका जल है अर्थात् जल को इस ऋतु के पूर्व रखता है। इसलिए इस ऋतु के पहले ही बरस जाता है। इनको ऊपर से नहीं ढकता, क्योंकि इस ऋतु के पीछे वर्षा नहीं होती ॥६॥

इन (चार) ईंटों को यह इसलिए रखता है कि यह अग्नि अर्थात् वेदी संवत्सर है। ये लोक भी संवत्सर हैं। अन्तरिक्ष इनकी बीचकी चिति है। वर्षा और शरद् ऋतुयें इस (संवत्सर) का अन्तरिक्ष है। इसीलिए जब वह इनको इस चिति में रखता है तो मानो वह (अग्नि प्रजापति) के शरीर के उस भाग की पूर्ति करता है, जो भाग उसका ये ईंटें हैं। इसलिए (इस चिति में) इन ईंटों को रखता है ॥७॥

इनको रखने का यह भी हेतु है कि यह अग्नि (वेदी) प्रजापति है। संवत्सर प्रजापति है। मध्यमा चिति इसका बीच है; वर्षा और शरद् ऋतुयें इस (संवत्सर) का मध्यभाग हैं। इनको वह यहाँ रखता है मानो वह उसके शरीर के उस भाग की पूर्ति करता है जो भाग इन ईंटों से बनता है। इसलिए इन ईंटों को रखता है ॥८॥

ये ऋतव्या ईंटें चार होती हैं जिनको बीच की चिति में चिनता है, दो-दो अन्य चितियों में। पशु चौपाये होते हैं। अन्तरिक्ष मध्य की चिति है, अर्थात् पशुओं को अन्तरिक्ष में रखता है। इसीलिए पशुओं का घर अन्तरिक्ष है ॥९॥

ये चार क्यों होती हैं?

चतुष्पादा वै पशवोऽन्नं पशवो मध्यं मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ॥१०॥ यद्वेव चतस्रः । चतुरक्षरं वाऽअन्तरिक्षं द्व्यक्षरा इतराश्चितयस्तद्यावदन्तरिक्षं तावत्तत्कृत्वोपदधाति ॥११॥ यद्वेव चतस्रः । पशुरेष यदग्निर्मध्यं तत्प्रति पशुं वरिष्ठं करोति तस्मान्मध्यं प्रति पशुर्वरिष्ठः ॥१२॥ ता वाऽएताः । चतस्र ऋतव्यास्तासां विश्वज्योतिः पञ्चमी पञ्च दिश्यास्तद्दश दशाक्षरा विराडन्नं विराण्मध्यं मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधाति प्राणो वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितं तत्प्राणादन्नं दधात्युत्तरा उत्तरं तत्प्राणादन्नं दधाति ॥१३॥ अथ प्राणभृत उपदधाति । प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति ता दश भवन्ति दश वै प्राणाः पूर्वार्धऽउपदधाति पुरस्ताद्धीमे प्राणा आयुर्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छेति प्राणो वै ज्योतिः प्राणं मे यच्छेत्येवैतदाह ता अनन्तर्हिता ऋतव्याभ्य उपदधाति प्राणो वै वायुर्ऋतुषु तद्वायुं प्रतिष्ठापयति ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [३. २.] ॥ ॥

अथ छन्दस्या उपदधाति । पशवो वै छन्दांस्यन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशुं दधाति तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः ॥१॥ यद्वेव छन्दस्या उपदधाति । पशवो वै छन्दांस्यन्नं पशवो मध्यं मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ॥२॥ ता द्वादश-द्वादशोपदधाति । द्वादशाक्षरा वै जगती पशवो जगत्यन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशून्दधाति तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः ॥३॥ यद्वेव द्वादश-द्वादश । द्वादशाक्षरा वै जगती पशवो वै जगत्यन्नं पशवो मध्यं मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ता अनन्तर्हिताः प्राणभृद्भ्य उपदधात्यनन्तर्हितं तत्प्राणेभ्योऽन्नं दधात्युत्तरा उत्तरं तत्प्राणेभ्योऽन्नं दधाति ॥४॥ मा छन्द इति । अयं वै लोको मायं हि लोको मित-इव प्रमा छन्द इत्यन्तरिक्षलोको वै प्रमान्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात्प्रमित-इव प्रतिमा छन्द इत्यसौ वै लोकः प्रतिमेष ह्यन्तरिक्षलो-

पशुओं के चार पैर होते हैं। पशु अन्न हैं। मध्यमा चिति बीच की है, अर्थात् अन्न को बीच में रखता है ॥१०॥

ये चार इसलिए भी हैं कि 'अन्तरिक्ष' में चार अक्षर होते हैं। अन्य 'चिति' में दो अक्षर। 'अन्तरिक्ष' जितना है उतना उसको करके रखता है (अर्थात् 'ईंटों की संख्या 'अन्तरिक्ष' के अक्षरों के बराबर कर देता है) ॥११॥

चार होने का यह भी हेतु है। यह अग्नि (वेदी) पशु है। इस प्रकार पशु के बीच के भाग को मोटा कर देता है। इसीलिए पशु बीच में मोटा होता है ॥१२॥

चार ऋतव्या होती हैं। विश्वज्योति पाँचवीं हुई, और पाँच दिश्या ईंटें हुईं। इस प्रकार दस की संख्या पूरी हो गई। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। विराट् अन्न है। मध्यमा चिति बीच की है। इस प्रकार अन्न को बीच में रखता है। इनको स्वयमातृण्णा से चिपटाकर रखता है। स्वयमातृण्णा प्राण है। मानो अन्न को प्राणों से चिपटाकर रखता है। उनको पीछे से रखता है, मानो अन्न को प्राण के पीछे से रखता है ॥१३॥

अब प्राणभृतों को रखता है। प्राणभृत् ईंटें प्राण हैं, अर्थात् प्राणों को रखता है। वे दस होती हैं। प्राण भी दस होते हैं। उनको आगे की ओर रखता है, क्योंकि प्राण आगे की ओर हैं। इस मन्त्र से—"आयुर्मे पाहि···ज्योतिर्मे यच्छ" (यजु० १४।१७)—"इनको ऋतव्या ईंटों से चिपटाकर रखता है। प्राण वायु है। इस प्रकार ऋतुओं में वायु की स्थापना करता है ॥१४॥

तृतीयायां चितौ छन्दस्येष्टकोपधानम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

अब छन्दस्या ईंटों को रखता है। छन्द पशु हैं। अन्तरिक्ष मध्य चिति है। अन्तरिक्ष में पशु को रखता है, इसलिए अन्तरिक्ष में पशुओं का घर है ॥१॥

छन्दस्य ईंटों को इसलिए भी रखता है कि छन्द पशु हैं। पशु अन्न है। बीच की चिति बीचोंबीच में हैं। इस प्रकार अन्न को बीच भाग में (पेट में) रखता है ॥२॥

ये बारह ईंटें होती हैं। जगती छन्द में बारह अक्षर होते हैं। पशु जगती हैं। बीच की चिति बीचोंबीच में है। इस प्रकार अन्न को मध्यभाग में रखता है। अन्तरिक्ष बीच की चिति है और उसी में पशु रखता है। इसलिए पशु अन्तरिक्ष (खुले स्थान) में रहते हैं ॥३॥

वह बारह-बारह रखता है। जगती छन्द भी बारह अक्षरों का है। पशु जगती हैं, पशु अन्न हैं, बीच की चिति बीचोंबीच में है। इस प्रकार अन्न को मध्यभाग में रखता है। उनको प्राण-भृत् से चिपटाकर रखता है, अर्थात् प्राणों में चिपटाकर अन्न को रखता है, पीछे से। इस प्रकार अन्न को प्राण से पीछे रखता है ॥४॥

इस मन्त्र से—"मा च्छन्दः" (यजु० १४।१८)—"छन्द माप है।" यह लोक 'मा' है, क्योंकि मापा-सा गया है। "प्रमा च्छन्दः" (यजु० १४।१८)—अन्तरिक्ष प्रमा है, क्योंकि अन्तरिक्ष इस लोक से मापा जाता है। "प्रतिमा छन्दः" (यजु० १४।१८)—"वह (द्यौ) लोक प्रतिमा है,

के प्रतिमित-इवासीवयश्छन्द इत्यन्नमासीवयस्तद्यदेषु लोकेष्वन्नं तदासीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नꣳ स्रवति तदासीवयोऽथातो निरुक्तान्येव छन्दाꣳस्युपदधाति ॥५॥ पङ्क्तिश्छन्दः । उष्णिक्छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप्छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगती छन्द इत्येतानि निरुक्तानि विराडष्टमानि छन्दाꣳस्युपदधाति पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इति यान्येतद्देवत्यानि छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधात्यग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधाति ॥६॥ स वै निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधाति । स यत्सर्वाणि निरुक्तान्युपादधास्यदन्तवद्धान्नमभविष्यदक्षेष्यत ह्याथ यत्सर्वाण्यनिरुक्तानि परोऽक्षꣳ हान्नमभविष्यन्न हैनदद्धक्ष्यंश्चन निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधाति तस्मान्निरुक्तमन्नमद्यमानं न क्षीयते ॥७॥ तानि वा एतानि । त्रीणि द्वादशान्युपदधाति तत्षट्त्रिꣳशत्षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहत्येषा वै सा बृहती यां तद्देवा अन्तरिक्षं बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यंस्तस्या एतस्यै देवा उत्तमाः ॥८॥ यद्वेवैता इष्टका उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात्सर्वाणि भूतानि सर्वा दिशोऽनु व्युदक्रामन् ॥९॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यान्यस्मात्तानि भूतानि व्युदक्रामन्नेतास्ता इष्टकास्तद्यदेता उपदधाति यान्येवास्मात्तानि भूतानि व्युदक्रामंस्तान्यस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति ॥१०॥ तद्या दश प्रथमा उपदधाति । स चन्द्रमास्ता दश भवन्ति दशाक्षरा विराडन्नं विराडन्नमु चन्द्रमा अथ या उत्तराः षट्त्रिꣳशदर्धमासाश्च ते मासाश्च चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासाश्चन्द्रमा वै संवत्सरः सर्वाणि भूतानि ॥११॥ तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतानि सर्वाणि भूतानि मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता ऋतव्याभ्य उपदधात्यृतुषु तत्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठापयति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥२ [३.३.] ॥॥

अथ वालखिल्या उपदधाति । प्राणा वै वालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति

क्योंकि वह अन्तरिक्षलोक द्वारा प्रतिमित-सा होता है। "अस्रीवयश्छन्दः" (यजु०१४।१८)—आस्रीवय अन्न है। इन लोकों में जो अन्न है वह अस्रीवय है, या जो अन्न इन लोकों से बहता है वह अस्रीवय है। अब वह केवल निरुक्त (निर्वाचित) छन्दों को रखता है ।।५।।

"पंक्तिश्छन्द ऽउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः" (यजु० १४।१८)—विराट् को मिलाकर इन आठ निरुक्त छन्दों को रखता है। "पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा च्छन्दोऽश्वश्छन्दः" (यजु० १४।१९)—जिन-जिन देवताओं के ये छन्द हैं उनको रखता है। "अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता" (यजु० १४।२०)—ये देवता वस्तुतः छन्द हैं, इनको रखता है ।।६।।

निरुक्त और अनिरुक्त दोनों छन्दों को रखता है। यदि केवल निरुक्त को ही रक्खे तो अन्न अन्तवाला हो और क्षीण हो जाय। यदि सब अनिरुक्तों को रक्खे तो अन्न परोक्ष हो जाय और कोई उसे न देखे। वह निरुक्त और अनिरुक्त दोनों को रखता है, इसलिए निरुक्त अन्न जो खाया जाता है, क्षीण नहीं होने पाता ।।७।।

ये सब बारह-बारह के तीन जगह रखता है, अर्थात् छत्तीस। बृहती में छत्तीस अक्षर होते हैं। यह वही बृहती है, जिसको देवों ने अन्तरिक्ष या तीसरी चिति के रूप में खोजा था। इनमें देव सबसे उत्तम हैं ।।८।।

इन ईंटों को इसलिए भी रखता है कि शिथिल हुए प्रजापति से सब भूत निकलकर सब दिशाओं में भाग गये ।।९।।

वह शिथिल प्रजापति यही अग्नि (वेदी) है, जो बनाई जा रही है। वे जो भूत इसमें से निकल भागे थे, यही ईंटें हैं। यह जो ईंटें रखता है, इसका तात्पर्य यह है कि जो भूत इसके शरीर से निकलकर भाग गये थे, उनको वह फिर उसके शरीर में रखता है ।।१०।।

जब वह पहली दस (प्राणभृतों) को रखता है तो ये चन्द्रमा हैं। ये दस होती हैं। विराट् में दस अक्षर होते हैं। विराट् अन्न है, चन्द्रमा अन्न है। फिर जो छत्तीस छन्दस्या ईंटों को रखता है, ये अर्द्धमास और मास हैं, चौबीस अर्द्धमास और बारह मास। वस्तुतः चन्द्रमा संवत्सर तथा सब भूत हैं ।।११।।

जब देवों ने उसको चंगा किया तो उसके बीच में सब भूतों को रक्खा। इसी प्रकार यह भी इनको रखता है। इनको ऋतव्या ईंटों से चिपटाकर रखता है, अर्थात् सब प्राणियों को ऋतुओं में स्थापित करता है ।।१२।।

तृतीयस्यां चितौ वालखिल्योपधानम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

अब वालखिल्या ईंटों को रखता है। वालखिल्या प्राण हैं, अर्थात् इनको प्राण के रूप में रखता है।

ता यद्वालखिल्या नाम यद्वाऽउर्वर्योरसम्भिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते वालमात्राद्उ हेमे प्राणा असम्भिन्नास्ते यद्वालमात्रादसम्भिन्नास्तस्माद्वालखिल्याः ॥१॥ स वै सप्त पुरस्तादुपदधाति । सप्त पश्चात्सप्ता: सप्त पुरस्तादुपदधाति यऽएवेमे सप्त पुरस्तात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ॥२॥ अथ याः सप्त पश्चात् । एषामेवैतत्प्राणानामेतान्प्राणान्प्रतिप्रतीन्करोति तस्माद्यदेभिरन्नमत्ति तदेतैरत्येति ॥३॥ यद्वेव सप्त पुरस्तादुपदधाति । सप्त वाऽइमे पुरस्तात्प्राणाश्चत्वारि दोर्बाहवाणि शिरो ग्रीवा यदूर्ध्वं नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राण एते वै सप्त पुरस्तात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ॥४॥ अथ याः सप्त पश्चात् । सप्त वाऽइमे पश्चात्प्राणाश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राणा एते वै सप्त पश्चात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ॥५॥ मूर्धासि राट् । ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी यन्त्री राड्यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्रीत्येतानेवास्मिन्नेतद्ध्रुवान्प्राणान्यच्छति ॥६॥ यद्वेव वालखिल्या उपदधाति । एतद्वै देवा वालखिल्याभिरेवेमांल्लोकान्त्समयुरितश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचस्तथैवैतद्यजमानो वालखिल्याभिरेवेमांल्लोकान्त्समयातीतश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचः ॥७॥ मूर्धासि राडितीमं लोकमरोहन् । ध्रुवासि धरुणेत्यन्तरिक्षलोकं धर्त्र्यसि धरणीत्यमुं लोकमायुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादाः पशवोऽन्नं पशवस्तऽएतैश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनामुष्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठंस्तथैवैतद्यजमान एतैश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनामुष्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति ॥८॥ स स पराङिव रोहः । इयमु वै प्रतिष्ठा ते देवा इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यायंस्तथैवैतद्यजमान इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्येति ॥९॥ यन्त्री राडित्यमुं लोकमरोहन् । यन्त्र्यसि यमनीत्यन्तरिक्षलोकं ध्रुवासि धरित्रीतीमं लोकमिषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादाः पशवोऽन्नं पशवस्तऽएतैश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनास्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठंस्तथैवैतद्यजमान ए-

उनको वालखिल्या क्यों कहते हैं ? दो खेतों के बीच में जो बेजुती भूमि पड़ी रहती हैं उसको 'खिल' कहते हैं । ये प्राण भी बाल मात्र ही एक-दूसरे से पृथक् हैं (बाल का अर्थ है घोड़े के बाल)। इन ईंटों को वालखिल्य इसीलिए कहते हैं कि बालमात्र एक-दूसरे से अलग होती हैं ।।१।।

आगे की ओर सात ईंटें रखता है, और सात पीछे की ओर । ये जो सात आगे की ओर रखता है, इसका अर्थ हुआ कि आगे के जो सात प्राण हैं, उनको वह उसमें रखता है ।।२।।

और जो पीछे सात रखता है उनको उन पहले प्राणों का प्रतिद्वन्द्वी बनाता है। इसलिए इनके द्वारा जो अन्न खाता है, वह उन तक बढ़ा देता है ।।३।।

सात को आगे क्यों रखता है ? आगे के प्राण सात हैं । चार तो चार अगले पैर के ऊपर नीचे के भाग, या हाथ के कुहनी से ऊपर और कुहनी से नीचे के भाग, पाँचवाँ सिर, छठा गर्दन, ओर जो नाभि से ऊपर है वह सातवाँ । हर अंग में एक-एक प्राण होता है । ये सात आगे के प्राण हैं, जिनको उसमें रखता है ।।४।।

सात को पीछे इसलिए रखता है कि सात प्राण पीछे हैं । चार जाँघ और पिण्डली । दो पैर, सातवाँ नाभि से नीचे । हर अंग में प्राण है । ये सात पिछले प्राण हैं, जिनको उसमें रखता है ।।५।।

इन मन्त्रों से—"मूर्धासि राट् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी" (यजु० १४।२१)—"यंत्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री" (यजु० १४।२२) —"इस प्रकार वस्तुतः सुदृढ़ प्राणों को उसमें रखता है ।।६।।

वालखिल्या ईंटों को इसलिए रखता है कि वालखिल्यों की सहायता से ही देव इन लोकों को गये, यहाँ से ऊपर को और वहाँ से नीचे को । इसी प्रकार यह यजमान भी वालखिल्यों की सहायता से इन लोकों को प्राप्त होता है, यहाँ से ऊपर को और वहाँ से नीचे को ।।७।।

'मूर्धासि राट्' कहकर इस लोक को चढ़े, 'ध्रुवासि धरुणा' कहकर अन्तरिक्ष को, 'धर्त्र्यसि धरणी' कहकर स्वर्गलोक को । "आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा" (यजु० १४।२१)—ये चार चौपाये पशु हैं । पशु अन्न हैं । इन्हीं चार चौपाये पशुओं की सहायता से देवों ने उस लोक की प्राप्ति की । इसी प्रकार यह यजमान भी इन चार अन्नरूपी चौपाये पशुओं से उस लोक की प्राप्ति करता है ।।८।।

यह चढ़ाव इस लोक से परे था, परन्तु प्रतिष्ठा (पैर रखने का स्थान) तो पृथिवी ही थी । वे देव इस पृथिवी को लौटे । इसी प्रकार यजमान भी इस पृथिवी को लौटता है ।।९।।

'यंत्री राट्' कहकर उस लोक को चढ़े, 'यन्त्र्यसि यमनी' कहकर अन्तरिक्ष लोक को, 'ध्रुवासि धरित्री' कहकर इस लोक को । "इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा" (यजु० १४।२२ —ये चार चौपाये पशु हैं । पशु अन्न हैं । इन चार अन्नरूपी चौपाये पशुओं से देवों ने इस लोक को सुप्रतिष्ठित किया ।

तैश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति ॥१०॥ अथातः संस्कृतिरेव । या अमूरेकादशेष्टका उपदधाति योऽसौ प्रथमोऽनुवाकस्तदन्तरिक्षꣳ स आत्मा तद्यत्ता एकादश भवन्त्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रैष्टुभमन्तरिक्षमथ या उत्तराः षष्टिः स वायुः स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः ॥११॥ तद्याः पुरस्तादुपदधाति । शिरोऽस्य तास्ता दश भवन्ति दश वै प्राणाः प्राणा उ वै शिरः पूर्वार्ध ऽउपदधाति पुरस्ताद्धीदꣳ शिरः ॥१२॥ अथ या दक्षिणतः । यदूर्ध्वं मध्यादर्वाचीनꣳ शीर्ष्णस्तदस्य ता अथ याः पश्चाद्यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अर्वाचीनं मध्यात्तदस्य ताः प्रतिष्ठैवोत्तरतः ॥१३॥ तद्याः सप्त पुरस्ताद्वालखिल्या उपदधाति । य एवेमे सप्त पुरस्तात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता एताभ्यो दशभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तच्छीर्ष्णः प्राणान्दधाति ॥१४॥ अथ याः सप्त पश्चात् । य एवेमे सप्त पश्चात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता एताभ्यो द्वादशभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तदात्मनः प्राणान्दधाति स एष वायुः प्रजापतिरस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तस्तद्यत्तृतीयां चितिमुपदधाति वायुं चैव तदन्तरिक्षं च संस्कृत्योपधत्तेऽथ लोकम्पृणेऽउपदधात्यस्याꣳ स्रक्त्यां तयोरुपरि बन्धुः पुरीषं निवपति तस्योपरि बन्धुः ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥३ [३. ४.] ॥ तृतीयोऽध्यायः [५१.] ॥ ॥

चतुर्थीं चितिमुपदधाति । एतद्वै देवास्तृतीयां चितिं चित्वा समारोहन्नन्तरिक्षं वै तृतीया चितिरन्तरिक्षमेव तत्संस्कृत्य समारोहन् ॥१॥ तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्निति ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तेषामेष लोकोऽध्रुव-इवाप्रतिष्ठित-इव मनस्यासीत् ॥२॥ ते ब्रह्माब्रुवन् । त्वामिहोपदधामहा इति किं मे ततो भविष्यतीति त्वमेव नः श्रेष्ठं भविष्यसीति तथेति तेऽत्र ब्रह्मोपादधत तस्मादाहुर्ब्रह्मैव देवानाꣳ श्रेष्ठमिति तदेतया वै चतुर्थ्या चित्येमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे ब्रह्म

इसी प्रकार यह यजमान भी इन चार अन्नरूपी चौपाये पशुओं से इस लोक में प्रतिष्ठा पाता है ॥१०॥

(प्रजापति-अग्नि की) संस्कृति के विषय में यह बात है कि ये जो ग्यारह ईंटें रक्खी गईं, यह जो पहला अनुवाक हुआ, यह है अन्तरिक्ष अर्थात् उसका शरीर। ये ग्यारह इसलिए होती हैं कि त्रिष्टुप् ग्यारह अंगवाला है और अन्तरिक्ष त्रिष्टुप् है। ये जो पिछली साठ ईंटें हैं, ये वायु हैं, प्रजापति हैं, अग्नि हैं या यजमान हैं ॥११॥

ये जो पहले रक्खी गईं वे उस वेदी का सिर हैं। वे दस होती हैं। प्राण दस होते हैं और ये सिर में रहते हैं। उनको वह आगे रखता है, क्योंकि सिर आगे की ओर होता है ॥१२॥

ये जो दाहिनी ओर रक्खी जाती हैं, इनको उस भाग का स्थानीय समझना चाहिए जो सिर के नीचे और कमर के ऊपर है। और जो पश्चिम की ओर अर्थात् बाईं ओर हैं, वे उस भाग के स्थानीय हैं जो कमर के नीचे और पैरों के ऊपर हैं। बाईं ओर के तो पैरों के तुल्य हैं ही ॥१३॥

यह जो आगे सात वालखिल्यों को रखता है, ये उन सात प्राणों के स्थानीय हैं, जो आगे की ओर रहते हैं। इनको वह इन बारह प्राणभृत् ईंटों से चिपटाकर रखता है। इस प्रकार प्राणों को शरीर से चिपटाकर रखता है ॥१४॥

यह जो पीछे की ओर सात रखता है, ये सात प्राण हैं, जो पीछे की ओर होते हैं। उनको इन बारह (छन्दस्यों) से चिपटाकर रखता है। इस प्रकार प्राणों को शरीर से चिपटाकर रखता है। यह वायु प्रजापति है। यही वायु प्रजापति इस त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष में चारों ओर घूमती है। और यह जो तीसरी चिति रक्खी जाती है, यह मानो वायु और अन्तरिक्ष को संस्कार करके स्थापित करता है। दो लोकम्पृणों को उस कोने में रखता है। इसकी व्याख्या आगे आयेगी। अब इस पर मिट्टी बिछाता है, इसकी व्याख्या भी आगे आयेगी ॥१५॥

चतुर्थ्यां चितौ स्तोमेष्टकोपधानम्

अध्याय ४—ब्राह्मण १

अब वह चौथी चिति को रखता है। देव तीसरी चिति को चिनकर इस तक आये। तीसरी चिति अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष को ही बनाकर वे ऊपर चढ़े ॥१॥

वे बोले, 'चेतयध्वम्' अर्थात् 'चिति की इच्छा करो, यहाँ से ऊपर को चढ़ो।' विचार करते हुए उन्होंने चौथी चिति को खोजा, जो अन्तरिक्ष के ऊपर और द्यौ के नीचे है। उनके मन में यह लोक अध्रुव और अप्रतिष्ठित था ॥२॥

उन्होंने ब्रह्मा से कहा, 'हम यहाँ तेरी स्थापना करेंगे।' उसने कहा, 'इससे मेरा क्या बनेगा?' उत्तर दिया, 'तू हम सबमें श्रेष्ठ हो जायेगा।' 'अच्छा।' उन्होंने ब्रह्म को यहाँ स्थापित कर दिया। इसीलिए कहते हैं कि ब्रह्म देवों में श्रेष्ठ है। इस चौथी चिति से यह द्यौ और पृथिवी दोनों लोक ठहरे हुए हैं।

वै चतुर्थी चितिस्तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धेऽइति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै ब्रह्म ब्रह्मैवैतदुपदधाति ॥३॥ यद्वेव स्तोमानुपदधाति । एतद्वै देवाः प्रजापतिमब्रुवंस्त्वामिहोपदधामहाऽइति तथेति स वै नाब्रवीत्किं मे ततो भविष्यतीति यद्य ह किं च प्रजापतिर्देवेष्वीषे किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवोचुस्तस्माद्व हैतद्यत्पिता पुत्रेष्विच्छते किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवाहुरथ यत्पुत्राः पितरि तथेत्येवाहैव७ हि तदग्रे प्रजापतिश्च देवाश्च समवदन्त स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै प्रजापतिः प्रजापतिमेवैतदुपदधाति ॥४॥ यद्वेव स्तोमानुपदधाति । ये वै ते प्राणा ऋषय एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्ये तऽएतेन रसेनोपायंस्तऽएते तानेवैतदुपदधाति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वाऽऋषय ऋषीनेवैतदुपदधाति ॥५॥ यद्वेव स्तोमानुपदधाति । प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य यदूर्ध्वं मध्यादवाचीन७ शीर्ष्णस्तदस्य वायुरादायोत्क्रम्यातिष्ठद्देवताश्च भूत्वा संवत्सररूपाणि च ॥६॥ तमब्रवीत् । उप मेहि प्रति मऽएतद्धेहि येन मे त्वमुदक्रमीरिति किं मे ततो भविष्यतीति त्वद्देवत्यमेव मऽएतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतद्वायुः प्रत्यदधात् ॥७॥ तस्या एता अष्टादश प्रथमाः । एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेता अत्रोपदधाति यदेवास्यैता आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै वायुर्वायुमेवैतदुपदधाति ॥८॥ स पुरस्तादुपदधाति । आशुस्त्रिवृदिति य एव त्रिवृत्स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि स्तोमानामाशिष्ठोऽथो वायुर्वाऽआशुस्त्रिवृत्स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि सर्वेषां भूतानामाशिष्ठो वायुर्ह भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥९॥ भान्तः पञ्चदश इति । य एव पञ्चदश स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह भान्त इति वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदशोऽथो

ब्रह्म ही चौथी चिति है। इसलिए कहते हैं कि ब्रह्म से द्यौ और पृथिवी ठहरे हुए हैं। अब स्तोमों को रखता है। स्तोम प्राण हैं। ब्रह्म प्राण है। इस प्रकार वह ब्रह्म की स्थापना करता है ॥३॥

स्तोमों की स्थापना का यह भी तात्पर्य है कि देवों ने प्रजापति से कहा कि 'हम तेरी स्थापना करते हैं।' उसने कहा 'अच्छा।' उसने यह नहीं कहा कि 'इससे मुझको क्या लाभ होगा।' और जब प्रजापति देवों से कुछ चाहता है तो वे कहते हैं कि इससे हमको क्या लाभ होगा? इसीलिए जब पिता पुत्रों से कुछ चाहता है तो वे पूछते हैं कि इससे हमको क्या लाभ होगा? और जब पुत्र पिता से चाहते हैं तो वह कह देता है 'अच्छा', क्योंकि प्रजापति और देवों ने पहले इसी प्रकार संवाद किया था। वह स्तोमों की स्थापना करता है। प्राण स्तोम हैं। प्राण प्रजापति है। प्रजा की ही इस प्रकार स्थापना करता है ॥४॥

स्तोमों की स्थापना का यह भी प्रयोजन है कि जिन प्राणरूपी ऋषियों ने चौथी चिति को खोजा और जो इस रस के द्वारा पहुँचे, उन्हीं की यह स्थापना करता है। स्तोमों की स्थापना करता है। प्राण स्तोम हैं। प्राण ऋषि हैं। इस प्रकार ऋषियों की स्थापना करता है ॥५॥

स्तोमों की स्थापना इसलिए भी करता है। जब प्रजापति शिथिल हो गया तो देव उस (के भागों) को लेकर चलते बने। जो भाग कमर से ऊपर और सिर के नीचे था, उसको लेकर वायु देवताओं के रूप में और संवत्सर के रूप में चलता बना ॥६॥

वह उससे बोला, 'मेरे पास आ और जो मेरा भाग तू ले गया है उसे वापस दे।' उसने कहा, 'मुझको क्या लाभ होगा?' उसने कहा कि 'मेरे शरीर के उस भाग का देवता तू होगा।' उसने कहा, 'अच्छा' और उस भाग को वापस दे दिया ॥७॥

ये जो पहली अठारह ईंटें हैं, वे उसके शरीर का वही भाग हैं। और जब वह इनको उस वेदी में स्थापित करता है तो उस भाग को स्थापित करता है जो उसका है। स्तोमों की स्थापना करता है। प्राण स्तोम हैं। प्राण वायु हैं। वायु की ही इस प्रकार स्थापना करता है ॥८॥

वह इस मन्त्र से अगली ईंट की स्थापना करता है—"आशुस्त्रिवृत्" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार वह त्रिवृत् स्तोम को स्थापित करता है। इसको आशु क्यों कहा? इसलिए कि यह सब स्तोमों में तेज है। 'आशुस्त्रिवृत्' वायु है क्योंकि यह तीनों लोकों में विद्यमान है। इसलिए भी इसको आशु कहते हैं कि यह सब भूतों में सबसे तेज है। वायु होकर ही यह आगे रहा। इसके इसी रूप की वह यहाँ स्थापना करता है ॥९॥

इस मन्त्र से पिछली ईंट की—"भान्तः पंचदशः" (यजु० १४।२३)—यह जो पंचदश स्तोम है उसकी स्थापना करता है। इसको भान्त (प्रकाशवान्) क्यों कहा? वज्र भान्त है। वज्र पंचदश है।

चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्चदशाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद्यत्त-
माह भान्त इति भाति हि चन्द्रमाश्चन्द्रमा ह भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रू-
पमुपदधाति ॥१०॥ व्योमा सप्तदश इति । य एव सप्तदश स्तोमस्तं तदुपदधाति
तद्यत्तमाह व्योमेति प्रजापतिर्वै व्योमा प्रजापतिः सप्तदशोऽथो संवत्सरो वाव
व्योमा सप्तदशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्तद्यत्तमाह व्योमेति व्योमा हि
संवत्सरः संवत्सरो ह भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥११॥ धरुण ए-
कविꣳश इति । य एवैकविꣳश स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धरुण इति
प्रतिष्ठा वै धरुणः प्रतिष्ठैकविꣳशोऽथोऽअसौ वाऽआदित्यो धरुण एकविꣳशस्त-
स्य द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका असावेवादित्यो धरुण एकविꣳशस्त-
द्यत्तमाह धरुण इति यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेदꣳ सर्वं ध्रियतऽआदित्यो ह भूत्वा
पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधात्यथ संवत्सरस्य रूपाण्युपदधाति ॥१२॥ प्रतूर्तिरष्टादश
इति । य एवाष्टादश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशस्त-
स्य द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिरष्टादशस्तद्यत्तमाह प्रतूर्तिरिति
संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१३॥ तपो नव-
दश इति । य एव नवदश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव तपो नव-
दशस्तस्य द्वादश मासाः षडृतवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद्यत्तमाह तप
इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१४॥ अभी-
वर्तः सविꣳश इति । य एव सविꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वा
ऽअभीवर्तः सविꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तऽर्तवः संवत्सर एवाभीवर्तः सविꣳ-
शस्तद्यत्तमाहाभीवर्त इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते तदेव तद्रूप-
मुपदधाति ॥१५॥ वर्चो द्वाविꣳश इति । य एव द्वाविꣳश स्तोमस्तं तदुपदधा-
त्यथो संवत्सरो वाव वर्चो द्वाविꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तऽर्तवो द्वेऽअहोरात्रे

अथवा, चन्द्रमा ही भान्त है और पंचदश है। वह पन्द्रह दिन में पूरा होता है और पन्द्रह दिन में क्षीण होता है। इसलिए भी इसको भान्त कहा कि वह 'भाति' अर्थात् चमकता है। चन्द्रमा होकर ही वह दक्षिण की ओर ठहरता है। इसी रूप की वह यहाँ स्थापना करता है ॥१०॥

उत्तरी ईंट को इस मन्त्र से—"व्योमा सप्तदशः" (यजु० १४।२३)—यह जो सप्तदश स्तोम है उसकी वह इस प्रकार स्थापना करता है। उसको व्योम क्यों कहा ? प्रजापति ही व्योम है। प्रजापति सप्तदश है। संवत्सर ही व्योम सप्तदश है–बारह महीने और पाँच ऋतु। इसलिए भी व्योम कहा कि संवत्सर व्योम है। संवत्सर के रूप में ही वह वहाँ स्थित हुआ। उसके उसी रूप की स्थापना करता है ॥११॥

दक्षिणी ईंट को इस मन्त्र से—"धरुण ऽ एकविंशः" (यजु० १४।२३)—यहाँ एकविंश स्तोम की स्थापना करता है। उसको धरुण क्यों कहा ? धरुण का अर्थ है प्रतिष्ठा। प्रतिष्ठा एकविंश होती है। यह आदित्य धरुण एकविंश है। बारह महीने, पाँच ऋतुयें, ये तीन लोक और एक आदित्य। यह हुआ धरुण एकविंश। धरुण इसलिए भी कहा कि जब यह (आदित्य) अस्त हो जाता है तो यह सब सुनसान हो जाता है। यह आदित्य के रूप में ही पश्चिम में ठहरता है। उसके उसी रूप की स्थापना करता है। संवत्सर के रूपों की स्थापना करता है ॥१२॥

"प्रतूर्तिरष्टादशः" (यजु० १४।२३)—इससे वह अष्टादश स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर प्रतूर्ति अष्टादश है। १२ महीने, ५ ऋतुयें, और संवत्सर ही प्रतूर्ति है। संवत्सर को प्रतूर्ति इसलिए कहा कि यह सब भूतों को तेजी से भगा ले जाता है। उसके उसी रूप की स्थापना करता है ॥१३॥

"तपो नवदशः" (यजु० १४।२३)—इससे नवदश स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही तप नवदश है—बारह मास, छः ऋतुयें और संवत्सर स्वयं तप। इसको तप इसलिए कहा कि यह संवत्सर सब भूतों को तपाता है। उसके इसी रूप की यहाँ स्थापना करता है ॥१४॥

"अभीवर्तः सविँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार सविंश (बीस अंगवाले) स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही अभीवर्त सविंश है—बारह महीने, सात ऋतुयें, बीसवाँ स्वयं संवत्सर अभीवर्त। अभीवर्त इसलिए कहा कि संवत्सर सब भूतों को जीतता है। उसके इसी रूप की यहाँ स्थापना करता है ॥१५॥

"वर्चो द्वाविँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार द्वाविंश स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही वर्चः द्वाविंश है—बारह महीने, सात ऋतुयें, दो रात-दिन, बाइसवाँ संवत्सर स्वयं

संवत्सर एव वर्चो द्वाविꣳशस्तद्यत्तमाह वर्च इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१६॥ सम्भरणस्त्रयोविꣳश इति य एव त्रयोविꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव सम्भरणस्त्रयोविꣳसस्तस्य त्रयोदश मासा सप्तऽर्तवो द्वेऽअहोरात्रे संवत्सर एव सम्भरणस्त्रयोविꣳशस्तद्यत्तमाह सम्भरण इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भृतस्तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१७॥ योनिश्चतुर्विꣳश इति । य एव चतुर्विꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव योनिश्चतुर्विꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासास्तद्यत्तमाह योनिरिति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिस्तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१८॥ गर्भाः पञ्चविꣳश इति । य एव पञ्चविꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चविꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः संवत्सर एव गर्भाः पञ्चविꣳशस्तद्यत्तमाह गर्भा इति संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भो भूत्वऽर्तून्प्रविशति तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥१९॥ ओजस्त्रिणव इति । य एव त्रिणव स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहौज इति वज्रो वाऽओजो वज्रस्त्रिणवोऽथो संवत्सरो वाऽओजस्त्रिणवस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वेऽअहोरात्रे संवत्सर एवौजस्त्रिणवस्तद्यत्तमाहौज इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानामोजस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥२०॥ क्रतुरेकत्रिꣳश इति । य एवैकत्रिꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव क्रतुरेकत्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः षडृतवः संवत्सर एव क्रतुरेकत्रिꣳशस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥२१॥ प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳश इति । य एव त्रयस्त्रिꣳश स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति प्रतिष्ठा हि त्रयस्त्रिꣳशोऽथो संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः षडृतवो द्वेऽअहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशस्तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥२२॥

वर्चः-रूप। इसको 'वर्चः' इसलिए कहा कि संवत्सर सब भूतों में अधिक वर्चस्वी है। उसके इसी रूप की यहाँ स्थापना करता है ।।१६।।

"संभरणस्त्रयोवि ँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार त्रयोविंश स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही त्रयोविंश संभरण है। १३ महीने, सात ऋतुयें, दो रात-दिन, और तेईसवाँ स्वयं संवत्सर संभरण। इसको संभरण इसलिए कहा कि संवत्सर ही सब भूतों को भरता है। उसके इसी रूप की स्थापना करता है ।।१७।।

"योनिश्चतुर्वि ँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार जो चतुर्विंश स्तोम है, उसकी स्थापना करता है। संवत्सर ही चतुर्विंश योनि है, क्योंकि इसमें चौबीस पक्ष हैं। योनि इसलिए कहा कि संवत्सर सब भूतों की योनि है। इसके इसी रूप की स्थापना करता है ।।१८।।

"गर्भाः पंचवि ँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार पंचविंश स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही पंचविंश गर्भ है। चौबीस पक्ष हुए और पच्चीसवाँ संवत्सर स्वयं। गर्भ इसलिए कहा कि संवत्सर तेरहवें मास के गर्भ के रूप में ऋतुओं में प्रविष्ट होता है। उसके इसी रूप की स्थापना करता है ।।१९।।

"ओजस्त्रिणवः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार त्रिणव (सत्ताईस) स्तोम को रखता है। इसको 'ओज' इसलिए कहा कि वज्र ओज है, वज्र त्रिणव है। संवत्सर ही 'ओज त्रिणव' है—चौबीस पक्ष, दो रात-दिन, और संवत्सर स्वयं। इसको ओज इसलिए कहा कि संवत्सर सब भूतों में अधिक ओजस्वी है। उसके इसी रूप की स्थापना करता है ।।२०।।

"क्रतुः एकत्रि ँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार एकत्रिंश (इकतीस) स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही क्रतु एकत्रिंश है—चौबीस पक्ष, छः ऋतुयें और इकतीसवाँ संवत्सर स्वयं। क्रतु इसलिए कहा कि संवत्सर ही सब भूतों को 'करता' या बनाता है। इसके इसी रूप की स्थापना करता है ।।२१।।

"प्रतिष्ठा त्रयस्त्रि ँ्शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार त्रयस्त्रिंश (तेतीस) स्तोम की स्थापना करता है। उसको प्रतिष्ठा इसलिए कहा कि प्रतिष्ठा तेतीस अंगवाली है। संवत्सर ही त्रयस्त्रिंश प्रतिष्ठा है। इसको प्रतिष्ठा इसलिए कहा कि संवत्सर सब भूतों की प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है। उसके इसी रूप की स्थापना करता है ।।२२।।

ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳश इति । य एत चतुस्त्रिꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः सप्तऽर्तवो द्वेऽअहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशस्तद्यत्तमाह ब्रध्नस्य विष्टपमिति स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वाराज्य चतुस्त्रिꣳशस्तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥२३॥ नाकः षट्त्रिꣳश इति । य एव षट्त्रिꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि तत्र गताय कस्मै चनाकं भवत्यथो संवत्सरो वाव नाकः संवत्सरः स्वर्गो लोकस्तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥२४॥ विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳश इति । य एवाष्टाचत्वरिꣳश स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳशस्तस्य षड्विꣳशतिरर्धमासास्त्रयोदश मासाः सप्तऽर्तवो द्वेऽअहोरात्रे तद्यत्तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते तदेव तद्रूपमुपदधाति ॥२५॥ धर्त्रं चतुष्टोम इति । य एव चतुष्टोम स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोमोऽथो वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः स आभिश्चतसृभिर्दिग्भि स्तुते तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं वायुरु सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनेव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति ॥२६॥ ता वाऽएताः । अष्टादशेष्टका उपदधाति । तौ द्वौ त्रिवृतौ प्राणो वै त्रिवृद्वायुरु प्राणो वायुरेषा चितिः ॥२७॥ यद्वेवाष्टादश । अष्टादशो वै संवत्सरो द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवः संवत्सर एव प्रजापतिरष्टादशः प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तत्कृत्वोपदधाति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४. १.] ॥ ॥

अथ स्पृत उपदधाति । एतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्तान्यस्य गर्भेऽएव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्णात् ॥१॥ स देवानब्रवीत्

"ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिँ॒शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार चतुस्त्रिंश (चौंतीसवें) स्तोम को रखता है। संवत्सर ही ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंश है—चौबीस पक्ष, सात ऋतुयें, दो रात-दिन और चौंतीसवां स्वयं संवत्सर। 'ब्रध्नस्य विष्टपं' इसलिए कहा कि 'ब्रध्नस्य विष्टपम्' का अर्थ है स्वाराज्य (चमक), और चतुर्विंश का अर्थ भी है स्वाराज्य। इसके इसी रूप की स्थापना करता है ॥२३॥

"नाकः षट्त्रिँ॒शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार षट्त्रिंश (छत्तीसवाले) स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही 'षट्त्रिंश नाक' है—चौबीस पक्ष और बारह मास। 'नाक' इसलिए कहा कि जो वहाँ जाता है उसको दुःख नहीं होता। संवत्सर नाक है, संवत्सर स्वर्ग है। उसके इसी रूप की स्थापना करता है ॥२४॥

"विवर्तोऽष्टाचत्वारिँ॒शः" (यजु० १४।२३)—इस प्रकार अष्टाचत्वारिंश स्तोम की स्थापना करता है। संवत्सर ही विवर्त अष्टाचत्वारिंश है। छब्बीस पक्ष हुए-तेरह महीने, सात ऋतुयें, दो रात-दिन। विवर्त इसलिए कहा कि संवत्सर से ही सब भूत निकलते (विकसित होते) हैं। उसके इसी रूप की स्थापना करता है ॥२५॥

"धर्त्रं चतुष्टोमः" (यजु० १४।२३)—चतुष्टोम स्तोम को स्थापित करता है। 'धर्त्रं' क्यों कहा ? 'धर्त्रं' का अर्थ है प्रतिष्ठा। 'धर्त्रं' है वायु। वायु सब भूतों की प्रतिष्ठा है। उसी के रूप को स्थापित करता है। वह वायु को ही पहले स्थापित करता है, वायु को ही पीछे। वायु के द्वारा ही सब भूतों को चारों ओर से ग्रहण करता है ॥२६॥

इन अठारह ईंटों को रखता है। ये दो त्रिवृत् हुए। त्रिवृत् है प्राण। प्राण है वायु। यह चिति है वायु ॥२७॥

अठारह क्यों ? संवत्सर भी तो अठारहवाला है—बारह महीने, पाँच ऋतुयें, संवत्सर प्रजापति अठारहवाँ। प्रजापति अग्नि (वेदी) है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसको बनाता है ॥२८॥

चतुर्थ्यां चितौ स्पृतेष्टकोपधानम्

अध्याय ४—ब्राह्मण २

अब ईंटों को रखता है। जब प्रजापति के शरीर का वह भाग सम्पुष्ट हो चुका तो प्रजापति ने सब भूतों को अपने गर्भ में धारण कर लिया। जब वे सब उसके गर्भ में थे तो पाप और मृत्यु ने उनको घेर लिया ॥१॥

उसने देवों से कहा—

। युष्माभिः सहेमानि सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्यो स्पृणवानीति किं नस्ततो भविष्यतीति वृणीध्वमित्यब्रवीत्तं भागी नोऽस्त्वित्येकेऽब्रुवन्नाधिपत्यं नोऽस्त्वित्येके स भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद्यदस्पृणोत्तस्मात्स्पृतस्तथैवैतद्यजमानो भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्यो स्पृणोति तस्माद्व सर्वास्वेव स्पृतꣳ-स्पृतमित्यनुवर्तते ॥२॥ अग्नेर्भागोऽसि । दीक्षाया आधिपत्यमिति वाग्वै दीक्षाग्नये भागं कृत्वा वाचऽआधिपत्यमकरोद्ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम इति ब्रह्म प्रजानां त्रिवृता स्तोमेन पाप्मना मृत्योरस्पृणोत् ॥३॥ इन्द्रस्य भागोऽसि । विष्णोराधिपत्यमितीन्द्राय भागं कृत्वा विष्णवऽआधिपत्यमकरोत्क्षत्रꣳ स्पृतं पञ्चदश स्तोम इति क्षत्रं प्रजानां पञ्चदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥४॥ नृचक्षसां भागोऽसि । धातुराधिपत्यमिति देवा वै नृचक्षसो देवेभ्यो भागं कृत्वा धात्रऽआधिपत्यमकरोज्जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोम इति विड्वै जनित्रं विशं प्रजानाꣳ सप्तदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥५॥ मित्रस्य भागोऽसि । वरुणस्याधिपत्यमिति प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः प्राणाय भागं कृत्वापानायाधिपत्यमकरोद्दिवो वृष्टिर्वात स्पृत एकविꣳश स्तोम इति वृष्टिं च वातं च प्रजानामेकविꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥६॥ वसूनां भागोऽसि । रुद्राणामाधिपत्यमिति वसुभ्यो भागं कृत्वा रुद्रेभ्य आधिपत्यमकरोच्चतुष्पात्स्पृतं चतुर्विꣳश स्तोम इति चतुष्पात्प्रजानां चतुर्विꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥७॥ आदित्यानां भागोऽसि । मरुतामाधिपत्यमित्यादित्येभ्यो भागं कृत्वा मरुद्भ्य आधिपत्यमकरोद्गर्भा स्पृताः पञ्चविꣳश स्तोम इति गर्भान्प्रजानां पञ्चविꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥८॥ अदित्यै भागोऽसि । पूष्ण आधिपत्यमितीयं वाऽअदितिरस्यै भागं कृत्वा पूष्णऽआधिपत्यमकरोदोज स्पृतं त्रिणव स्तोम इत्योजः प्रजानां त्रि-

'आप लोगों की सहायता से इन सब भूतों को पाप और मृत्यु से बचाऊँ।' वे बोले, 'हमको इससे क्या लाभ होगा?' उसने उत्तर दिया, 'तुम ही माँग लो।' कुछ ने उससे कहा, 'हमारा भी भाग होना चाहिए।' कुछ ने कहा, 'हमारा आधिपत्य हो।' कुछ को भाग और कुछ को आधिपत्य देकर उसने सब भूतों को पाप और मृत्यु से बचा दिया। चूँकि उसने बचाया (अस्पृणोत्) इसलिए इन ईंटों का नाम पड़ा 'स्पृत'। इसी प्रकार यह यजमान भी किसी को भाग और किसी को आधिपत्य देकर सब भूतों को पाप तथा मृत्यु से बचाता है, इसलिए 'स्पृत' शब्द की अनुवृत्ति होती है ॥२॥

वह इन ईंटों को यह मन्त्र पढ़कर रखता है—"अग्नेर्भागोऽसि दीक्षायाऽआधिपत्यम्" (यजु० १४।२४)—वाक् दीक्षा है। अग्नि के लिए भाग देकर वाक् का आधिपत्य करता है। "ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत् स्तोम" (यजु० १४।२४)—इस प्रकार उसने त्रिवृत् स्तोम के द्वारा ब्रह्म (पुरोहित) को प्रजाओं के पाप और मृत्यु से बचाया ॥३॥

"इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यम्" (यजु० १४।२४)—इस प्रकार इन्द्र के लिए भाग देकर विष्णु को आधिपत्य देता है। "क्षत्रं स्पृतं पञ्चदश स्तोमः" (यजु० १४।२४)—इस प्रकार क्षत्रिय को १५ स्तोम से प्रजाओं के पाप और मृत्यु से बचाता है ॥४॥

"नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यम्" (यजु० १४।२४)—नृचक्षस हैं देव। देवों को भाग देकर धाता के लिए आधिपत्य देता है। "जनित्रँ स्पृतँ सप्तदश स्तोमः" (यजु० १४।२४)—वैश्य है जनित्र। सप्तदश स्तोम से वैश्य को प्रजाओं के पाप और मृत्यु से मुक्त करता है ॥५॥

"मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यम्" (यजु० १४।२४)—मित्र है प्राण और वरुण है अपान। प्राण को भाग देकर अपान को आधिपत्य देता है। "दिवो वृष्टिर्वात स्पृत ऽ एकविँश स्तोमः" (यजु० १४।२४)—एकविंश स्तोम से प्रजाओं के पाप और मृत्यु से वृष्टि और वायु को छुड़ाता है ॥६॥

"वसूनां भागोऽसि रुद्राणामधिपत्यम्" (यजु० १४।२५)—इस प्रकार वसुओं को भाग देकर रुद्रों को आधिपत्य देता है। "चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विꣳश स्तोमः" (यजु० १४।२५)—इस प्रकार चतुर्विंश स्तोम से प्रजाओं के पाप तथा मृत्यु से चतुष्पात् को बचाता है ॥७॥

"आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यम्" (यजु० १४।२५)—इस प्रकार आदित्यों को भाग देकर मरुतों को आधिपत्य देता है। "गर्भाः स्पृताः पंचविꣳश स्तोमः" (यजु० १४।२५)—इस प्रकार पंचविंश स्तोम के द्वारा प्रजाओं के पाप तथा मृत्यु से गर्भों को छुड़ाता है ॥८॥

"आदित्यै भागोऽसि पूष्ण ऽ आधिपत्यम्" (यजु० १४।२५)—यह पृथिवी अदिति है। इसको भाग देकर पूषा को आधिपत्य देता है। "ओज स्पृतं त्रिणव स्तोमः" (यजु० १४।२५)—इस

पावेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥९॥ देवस्य सवितुर्भागोऽसि । बृहस्पतेराधिपत्यमिति देवाय सवित्रे भागं कृत्वा बृहस्पतयऽआधिपत्यमकरोत्समीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोम इति सर्वा दिशः प्रज्ञानां चतुष्टोमेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥१०॥ यवानां भागोऽसि । अयवानामाधिपत्यमिति पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवास्ते हीदꣳ सर्वं युवते चायुवते च पूर्वपक्षेभ्यो भागं कृत्वापरपक्षेभ्य आधिपत्यमकरोत्प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिꣳश स्तोम इति सर्वाः प्रजाश्चतुश्चत्वारिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥११॥ ऋभूणां भागोऽसि । विश्वेषां देवानामाधिपत्यमित्यृभुभ्यो भागं कृत्वा विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोद्भूतꣳ स्पृतं त्रयस्त्रिꣳश स्तोम इति सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्तथैवैतद्यजमानः सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्यो स्पृणोति ॥१२॥ ता वाऽएता दशेष्टका उपदधाति । दशाक्षरा विराड्विराडग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तदेतानि सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्यो स्पृणोति ॥१३॥ अथऽर्तव्ये ऽउपदधाति । ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतूऽइति नामनीऽएनयोरेते नामभ्यामेवैनेऽएतदुपदधाति द्वेऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येक तदृतुं करोति ॥१४॥ तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषोऽग्निरिमऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्य यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तदस्यैषा चतुर्थी चितिस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥१५॥ यद्वेवैतेऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तदस्यैषा चतुर्थी चितिस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥५[४.२.]॥॥

प्रकार त्रिणव (सत्ताईस) स्तोम से प्रजाओं के पाप और मृत्यु से ओज को छुड़ाता है ॥९॥

"देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यम्" (यजु० १४।२५) — इस प्रकार सविता देव को भाग देकर बृहस्पति को आधिपत्य देता है। "समीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः (यजु० १४।२५) इस प्रकार चतुष्टोम स्तोम से प्रजाओं के पाप और मृत्यु से सब दिशाओं को छुड़ाता है ॥१०॥

"यवानां भागोऽसि अयवानामाधिपत्यम्" (यजु० १४।२६) — 'यव' हैं पूर्व पक्ष, अयव हैं अपर पक्ष। क्योंकि यह इस सबको (युवते या आयुवते) प्राप्त करते हैं। पूर्व पक्ष (कृष्ण पक्ष) को भाग देकर अपर पक्ष (शुक्ल पक्ष) को आधिपत्य देता है। "प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिँ्श स्तोमः" (यजु० १४।२६) — चवालीस स्तोम से सब प्रजाओं को पाप और मृत्यु से छुड़ाता है ॥११॥

"ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यम्" (यजु० १४।२६) — ऋभुओं को भाग देकर सब देवों को आधिपत्य देता है। "भूतँ् स्पृतं त्रयस्त्रिँ्श स्तोमः" (यजु० १४।२६) — तेतीस स्तोम से सब भूतों को पाप और मृत्यु से छुड़ाता है। इसी प्रकार यजमान भी तेतीस स्तोम से सब भूतों को पाप और मृत्यु से छुड़ाता है ॥१२॥

इस प्रकार इन दस ईंटों को रखता है। विराट् में दस अक्षर होते हैं। विराट् अग्नि है। दिशायें दस हैं। दिशा अग्नि है। दस प्राण हैं। प्राण अग्नि है। जितना अग्नि (वेदी) है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने से ही इन सब भूतों को पाप और मृत्यु से छुड़ाता है ॥१३॥

अब दो ऋतव्य ईंटों को रखता है। ये जो ऋतुयें हैं वही ऋतव्य हैं। इस प्रकार ऋतुओं की स्थापना करता है। "सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू" (यजु० १४।२७) — इन दोनों के ये नाम हैं, इस प्रकार इन नामों को लेकर उनकी स्थापना करता है। दो ईंटें होती हैं। एक ऋतु में दो मास होते हैं। उनको एकसाथ रखता है। इस प्रकार (इन दो महीनों की) एक ऋतु बना देता है ॥१४॥

इस चिति में इन दो ईंटों को क्यों रखता है? यह अग्नि संवत्सर है। यह लोक संवत्सर है। जो अन्तरिक्ष से ऊपर है और द्यौ से नीचे, वह चौथी चिति है। यही उसका हेमन्त है। ये जो दो ईंटें यहाँ रखता है उससे वह उसके शरीर के उस भाग की पूर्ति करता है जिसको ये दो ईंटें बनाती हैं। इसलिए वह इन दो ईंटों को रखता है ॥१५॥

इन दो ईंटों के इस चिति में रखने का यह भी हेतु है कि यह अग्नि प्रजापति है। संवत्सर प्रजापति है। यह जो मध्यभाग के ऊपर और सिर के नीचे है, यह चौथी चिति है। यही उसका हेमन्त है। जब वह इन दो ईंटों को रखता है, तो उसके शरीर के उस भाग की पूर्ति कर देता है जो इन ईंटों से बनता है। इसलिए वह इस (चिति) में इन ईंटों को रखता है ॥१६॥

अथ सृष्टीरुपदधाति । एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति ॥१॥ स प्राणानब्रवीत् । युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति ते वै केन स्तोष्यामहऽइति मया चैव युष्माभिश्चेति तथेति ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुवत यद्वै किं च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैव तत्कुर्वते तस्माद् सर्वास्वेवास्तुवतास्तुवतेत्यनुवर्तते ॥२॥ एकयास्तुवतेति । वाग्वाऽएका वाचैव तदस्तुवत प्रजा अधीयन्तेति प्रजा अत्राधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीदिति प्रजापतिरत्राधिपतिरासीत् ॥३॥ तिसृभिरस्तुवतेति । त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेव तदस्तुवत ब्रह्मासृज्यतेति ब्रह्मात्रासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीदिति ब्रह्मणस्पतिरत्राधिपतिरासीत् ॥४॥ पञ्चभिरस्तुवतेति । यऽएवेमे मनःपञ्चमाः प्राणास्तैरेव तदस्तुवत भूतान्यसृज्यन्तेति भूतान्यत्रासृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीदिति भूतानां पतिरत्राधिपतिरासीत् ॥५॥ सप्तभिरस्तुवतेति । यऽएवेमे सप्त शीर्षन्प्राणास्तैरेव तदस्तुवत सप्तऽऋषयोऽसृज्यन्तेति सप्तऽर्षयोऽत्रासृज्यन्त धाताधिपतिरासीदिति धातात्राधिपतिरासीत् ॥६॥ नवभिरस्तुवतेति । नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तेति पितरोऽत्रासृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदित्यदितिरत्राधिपत्न्यासीत् ॥७॥ ॥ शतम्४५०० ॥ ॥ एकादशभिरस्तुवतेति । दश प्राणा आत्मैकादशस्तेनैव तदस्तुवतऽऋतवोऽसृज्यन्तेत्यृतवोऽत्रासृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसन्नित्यार्तवा अत्राधिपतय आसन् ॥८॥ त्रयोदशभिरस्तुवतेति । दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठेऽआत्मा त्रयोदशस्तेनैव तदस्तुवत मासा असृज्यन्तेति मासा अत्रासृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीदिति संवत्सरोऽत्राधिपतिरासीत् ॥९॥ पञ्चदशभिरस्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशं तेनैव तदस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेति क्षत्रमत्रासृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीदितीन्द्रोऽत्रा-

चतुर्थ्यां चितौ सृष्टीष्टकोपधानम्

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

अब वह सृष्टि ईंटों को रखता है। प्रजापति जब सब भूतों को पाप और मृत्यु से मुक्त कर चुका तो उसने चाहा कि प्रजा को सृजूँ। मेरे प्रजा (सन्तान) होवे ॥१॥

उसने प्राणों से कहा, 'तुम्हारी सहायता से मैं इन प्रजाओं को उत्पन्न करूँ।' उन्होंने पूछा, 'हम किसके साथ स्तुति करेंगे?' 'मेरे साथ और अपने साथ।' उन्होंने कहा 'अच्छा।' वे प्राणों के साथ और प्रजापति के साथ स्तुति करने लगे। देव जो कुछ करते हैं स्तोम के साथ करते हैं। यज्ञ ही स्तोम है। इसलिए यज्ञ के साथ ही करते हैं। इसलिए सब ईंटों के साथ बार-बार 'अस्तुवत' शब्द आया है ॥२॥

इस मन्त्र से—"एकयास्तुवत" (यजु० १४।२८)—'एका' है वाक्। वाक् से उन्होंने स्तुति की। "प्रजा ऽ अधीयन्त" (यजु०१४।२८)—"प्रजा गर्भ में आई।" "प्रजापतिरधिपति-रासीत्" (यजु० १४।२८)—"प्रजापति अधिपति था" ॥३॥

"तिसृभिरस्तुवत" (यजु० १४।२८)—प्राण तीन हैं—प्राण, उदान और व्यान। उन्होंने तीनों से उसने स्तुति की। "ब्रह्मासृज्यत" (यजु० १४।२८)—"ब्रह्म अर्थात् पुरोहित उत्पन्न हुआ।" "ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्" (यजु० १४।२८)—"ब्रह्मणस्पति अधिपति था" ॥४॥

"पंचभिरस्तुवत" (यजु० १४।२८)—चार प्राण और एक मन, इन पाँचों से स्तुति की। "भूतान्यसृज्यन्त" (यजु० १४।२८)—"भूत बनाये गये।" "भूतानां पतिरधिपतिरासीत्" (यजु० १४।२८)—अर्थात् "भूतों का पति अधिपति था" ॥५॥

"सप्तभिरस्तुवत" (यजु० १४।२८)—सिर में जो सात प्राण हैं, उनके द्वारा स्तुति की। "सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।२८)—"सात ऋषि उत्पन्न हुए।" "धाताधिपतिरासीत्" (यजु० १४।२८)—अर्थात् "धाता अधिपति था" ॥६॥

"नवभिरस्तुवत" (यजु० १४।२९)—नौ प्राण हैं, सात सिर में और दो नीचे, उनसे स्तुति की। "पितरोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।२९)—"पितर उत्पन्न हुए।" "अदितिरधिपत्न्यासीत्" (यजु० १४।२९)—"अदिति अधिपत्नी थी" ॥७॥

"एकादशभिरस्तुवत" (यजु० १४।२९)—दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा, इनसे स्तुति की। "ऋतवोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।२९)—"ऋतु उत्पन्न हुए।" "आर्तवा ऽ अधिपतय ऽ आसन्" (यजु० १४।२९)—"आर्तव अधिपति थे" ॥८॥

"त्रयोदशभिरस्तुवत" (यजु० १४।२९)—दस प्राण, दो पैर, और तेरहवाँ धड़, इनसे स्तुति की। "मासा ऽ असृज्यन्त" (यजु० १४।२९)—"मास उत्पन्न हुए।" "संवत्सरोऽधिपति-रासीत्" (यजु० १४।२९)—"संवत्सर अधिपति था" ॥९॥

"पञ्चदशभिरस्तुवत" (यजु० १४।२९)—हाथ की अँगुलियाँ, चार भुजाओं के निचले और ऊपर के भाग और पन्द्रहवाँ नाभि से ऊपर का भाग, इनसे स्तुति की। "क्षत्रमसृज्यत" (यजु० १४।२९)—"क्षत्रिय उत्पन्न हुए।" "इन्द्रोऽधिपतिरासीत्" (यजु० १४।२९)—"इन्द्र

धिपतिरासीत् ॥ १० ॥ सप्तदशभिरस्तुवतेति । दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तदशं तेनैव तदस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्तेति ग्राम्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीदिति बृहस्पतिरत्राधिपतिरासीत् ॥ ११ ॥ नवदशभिरस्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामिति शूद्रार्यावत्रासृज्येतामहोरात्रेऽअधिपत्नीऽआस्तामित्यहोरात्रेऽअत्राधिपत्नीऽआस्ताम् ॥ १२ ॥ एकविंशत्यास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशस्तेनैव तदस्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्तेत्येकशफाः पशवोऽत्रासृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीदिति वरुणोऽत्राधिपतिरासीत् ॥ १३ ॥ त्रयोविंशत्यास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठेऽआत्मा त्रयोविंशस्तेनैव तदस्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्तेति क्षुद्राः पशवोऽत्रासृज्यन्त पूषाधिपतिरासीदिति पूषात्राधिपतिरासीत् ॥ १४ ॥ पञ्चविंशत्यास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चविंशस्तेनैव तदस्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्तेत्यारण्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त वायुरधिपतिरासीदिति वायुरत्राधिपतिरासीत् ॥ १५ ॥ सप्तविंशत्यास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठेऽआत्मा सप्तविंशस्तेनैव तदस्तुवत द्यावापृथिवी व्येतामिति द्यावापृथिवीऽअत्र व्येतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन्निति वसवो रुद्रा आदित्या अत्रानुव्यायंस्तऽएवाधिपतय आसन्निति तऽउऽएवात्राधिपतय आसन् ॥ १६ ॥ नवविंशत्यास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्तेति वनस्पतयोऽत्रासृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदिति सोमोऽत्राधिपतिरासीत् ॥ १७ ॥ एकत्रिंशतास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिंशस्तेनैव तदस्तुवत प्रजा असृज्यन्तेति प्रजा अत्रासृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्निति पूर्वपक्षापरपक्षा एवात्राधि-

अधिपति था" ॥१०॥

"सप्तदशभिरस्तुवत" (यजु० १४।२९)—पैरों की अँगुलियाँ दस, चार पैरों के घुटनों से नीचे के और ऊपर के जोड़, दो पैर, सत्रहवाँ नाभि से नीचे का प्रदेश, इनसे स्तुति की। "ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।२९)—"गाँव के पशु बनाये गये।" "बृहस्पतिरधिपतिरासीत्" (यजु० १४।२९)—"बृहस्पति अधिपति था" ॥११॥

"नवदशभिरस्तुवत" (यजु० १४।३०)—हाथ की अँगुलियाँ दस और नौ प्राण, उन्हीं से स्तुति की। "शूद्रार्यावसृज्येताम्" (यजु०१४।३०)—"शूद्र और आर्य उत्पन्न हुए।" "अहोरात्रे ऽ अधिपत्नी ऽ आस्ताम्" (यजु० १४।३०)—"दिन-रात अधिपत्नी थे" ॥१२॥

"एकवि ँ्शत्याऽस्तुवत" (यजु० १४।३०)—दस पैर की अँगुलियाँ और दस हाथ की, इक्कीसवाँ शरीर, इनसे स्तुति की। "एकशफाः पशवोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।३०)—"एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए।" "वरुणो ऽ धिपतिरासीत्" (यजु० १४।३०)—"वरुण अधिपति था" ॥१३॥

"त्रयोवि ँ्शत्यास्तुवत" (यजु० १४।३०)—दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, दो पैर और एक धड़, इन तेईस से स्तुति की। "क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।३०)—"क्षुद्र पशु उत्पन्न हुए।" "पूषाधिपतिरासीत्" (यजु० १४।३०)—"पूषा अधिपति था" ॥१४॥

"पञ्चवि ँ्शत्यास्तुवत" (यजु० १४।३०)—दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, चार हाथ-पैर, और पाँचवाँ धड़, इनसे स्तुति की। "अरण्याः पशवोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।३०)—"जंगली पशु उत्पन्न हुए।" "वायुरधिपतिरासीत्" (यजु० १४।३०)—"वायु अधिपति था" ॥१५॥

"सप्तवि ँ्शत्यास्तुवत" (यजु० १४।३०)—दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, चार अङ्ग, दो पैर और एक धड़, इन सत्ताईस से स्तुति की। "द्यावापृथिवी व्यैताम्" (यजु० १४।३०)—"द्यौ और पृथिवी अलग हो गये।" "वसवो रुद्रा ऽ आदित्या अनुव्यायन्" (यजु० १४।३०)—"वसु, रुद्र और आदित्य उनके साथ-साथ अलग हो गये।" "त एवाधिपतय आसन्" (यजु० १४।३०)—"वे ही अधिपति थे" ॥१६॥

"नववि ँ्शत्यास्तुवत" (यजु० १४।३१)—दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, नौ प्राण, उन्हीं से स्तुति की। "वनस्पतयोऽसृज्यन्त" (यजु० १४।३१)—"वनस्पति उत्पन्न हुए।" "सोमोऽधिपतिरासीत्" (यजु० १४।३१)—"सोम अधिपति था" ॥१७॥

"एकत्रि ँ्शतास्तुवत" (यजु० १४।३१)—दस हाथ की अँगुलियाँ, दस पैर की, दस प्राण और एक शरीर, इन इकतीस से स्तुति की। "प्रजा ऽ असृज्यन्त" (यजु० १४।३१)—"प्रजा उत्पन्न हुई।" "यवाश्चायवाश्चाधिपतय ऽ आसन्" (यजु०१४।३१)—"यव (शुक्ल पक्ष) अयव (कृष्ण

पतय आसन् ॥१८॥ त्रयस्त्रिंशतास्तुवतेति । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिंशस्तेनैव तदस्तुवत भूतान्यशाम्यन्निति सर्वाणि भूतान्यत्राशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीदिति प्रजापतिः परमेष्ठ्यत्राधिपतिरासीत् ॥१६॥ ता वा एताः । सप्तदशेष्टका उपदधाति सप्तदशो वै संवत्सरः प्रजापतिः स प्रजनयिता तदेतेन वै सप्तदशेन संवत्सरेण प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्रजाः प्राजनयद्यत्प्राजनयदसृजत तद्यदसृजत तस्मात्सृष्टयस्ताः सृष्टात्मन्प्रापादयत तथैवैतद्यजमान एतेन सप्तदशेन संवत्सरेण प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्रजाः प्रजनयति ताः सृष्टात्मन्प्रपादयते रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [४. ३.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०५ ॥ ॥

अथातोऽन्वावृतम् । त्रिवृद्वतीं पुरस्तादुपदधात्येकविंशवतीं पश्चात्पञ्चदशवतीं दक्षिणतः सप्तदशवतीमुत्तरतः ॥१॥ एतद्वै प्रजापतिम् । त्रिवृद्वत्यामुपहितायां पञ्चदशवत्यां मृत्युरसीददिमामत उपधास्यते तमत्र ग्रहीष्यामीति तं प्रापश्यत्तं प्रख्याय परिक्रम्यैकविंशवतीमुपाधत्तैकविंशवतीं मृत्युरागच्छत्पञ्चदशवतीमुपाधत्त पञ्चदशवतीं मृत्युरागच्छत्सप्तदशवतीमुपाधत्त सोऽत्रैव मृत्युं न्यकरोदत्रामोहयत्तथैवैतद्यजमानोऽत्रैव सर्वान्पाप्मनो निकरोत्यत्र मोहयति ॥२॥ अथोत्तराः । त्रिवृद्वत्यामेव त्रिवृद्वतीमनूपदधात्येकविंशवत्यामेकविंशवतीं पञ्चदशवत्यां सप्तदशवतीं सप्तदशवत्यां पञ्चदशवतीं ता यदेवं व्यतिहारमुपदधाति तस्मादन्नायास्तोमीया अथो यदेते स्तोमा अतोऽन्यथानुपूर्वं तस्माद्वेवान्नायास्तोमीया अथोऽएवं देवा उपादधतेतरथासुरास्ततो देवा अभवन्परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥३॥ स एष पशुर्यदग्निः । सोऽत्रैव

पक्ष) अब अधिपति हुए" ॥१८॥

"त्रयस्त्रिँ्शतास्तुवत" (यजु० १४।३१)—दस पैर की अँगुलियाँ, दस प्राण, दो पैर तथा धड़, इन तेतीस से स्तुति की। "भूतान्यशाम्यन्" (यजु० १४।३१)—"भूत शान्त हुए।" "प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्" (यजु० १४।३१)—"प्रजापति परमेष्ठी अधिपति था" ॥१९॥

इन सत्रह ईंटों को रखता है। संवत्सर प्रजापति भी सत्रह अंगवाला है। वह प्रजा का उत्पादक है। इसी सत्रह अंगवाले संवत्सर प्रजापति उत्पादक द्वारा यह प्रजा उत्पन्न होती है। जिसको उसने उत्पन्न किया उसको सृजा, इसलिए इनको सृष्टि कहते हैं। उनको उत्पन्न करके शरीर में प्रविष्ट किया। इसी प्रकार यजमान भी इस सत्रह-अंगवाले संवत्सर प्रजापति उत्पादक द्वारा प्रजा को उत्पन्न करता है, और उत्पन्न कराके अपने में प्रविष्ठ कराता है। इनको रेतः-सिचों से मिलाकर रखता है। रेतःसिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं। इन प्रजाओं को बीच में ही उत्पन्न करता है। चारों ओर स्थापित करता है। इस प्रकार प्रजा को सब ओर स्थापित कराता है ॥२०॥

स्तोमचित्यर्थवादः

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

अब अनवृति की व्याख्या करते हैं। त्रिवृत्वाली को आगे रखता है, इक्कीसवाली को पीछे, पन्द्रहवाली को दाहिनी ओर, सत्रहवाली बाईं ओर ॥१॥

जब त्रिवृत्वाली को रख चुके तो पन्द्रहवाली में मृत्यु इस प्रतीक्षा में बैठा रहा कि जब वह प्रजापति इसको रख चुकेगा तो मैं उसे पकड़ लूँगा। प्रजापति समझ गया और उसे देखकर पीछे घूमा तथा इक्कीस स्तोमवाली ईंट को पीछे की ओर रख दिया। मृत्यु वहाँ पहुँचा और प्रजापति ने पन्द्रह स्तोमवाली को दक्षिण में रख दिया। मृत्यु वहाँ भी जा पहुँचा और प्रजापति ने सत्रह स्तोमवाली को रक्खा। इसी स्थान पर उसने मृत्यु को शान्त और दमन किया, इसी प्रकार यजमान भी सब पापों और बुराइयों का दमन करता है ॥२॥

अब पिछली ईंटें इस प्रकार—त्रिवृद्वती के पीछे त्रिवृद्वती, इक्कीसवाली के पीछे इक्कीसवाली, पन्द्रहवाली के पीछे सत्रहवाली, सत्रहवाली के पीछे पन्द्रहवाली। इनको बदल-कर रखता है, इसलिए यह भिन्न-भिन्न स्तोमवाली होती है। चूँकि पहले के स्तोम भिन्न थे, इसलिए यह भिन्न-भिन्न स्तोमवाली होती है। देवों ने इस प्रकार रक्खा, असुरों ने भिन्न प्रकार से। देव जीत गये और असुर हार गये। जो इस रहस्य को समझता है वह जीत जाता है और उसके विरोधी शत्रु हार जाते हैं ॥३॥

यह अग्नि (वेदी) जो है सो पशु है।

सर्वः कृत्स्नः संस्कृतस्तस्य त्रिवृद्वत्यावेव शिरस्ते यत्त्रिवृद्वत्यौ भवतस्त्रिवृद्धि शिरो द्वे भवतो द्विकपालꣳ ह्रि शिरः पूर्वार्धऽउपदधाति पुरस्ताद्धीदꣳ शिरः ॥४॥ प्रतिष्ठैकविꣳशवत्यौ । ते यदेकविꣳशवत्यौ भवतः प्रतिष्ठा ह्येकविꣳशो द्वे भवतो द्वन्द्वꣳ हि प्रतिष्ठा पश्चादुपदधाति पश्चाद्धीयं प्रतिष्ठा ॥५॥ बाहू पञ्चदशवत्यौ । ते यत्पञ्चदशवत्यौ भवतः पञ्चदशौ हि बाहू द्वे भवतो द्वौ हीमौ बाहू पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो हीमौ बाहू ॥६॥ अन्नꣳ सप्तदशवत्यौ । ते यत्सप्तदशवत्यौ भवतः सप्तदशꣳ ह्यन्नं द्वे भवतो द्व्यक्षरꣳ ह्यन्नं तेऽअनन्तर्हिते पञ्चदशवतीभ्यामुपदधात्यनन्तर्हितं तद्बाहुभ्यामन्नं दधाति बाह्ये पञ्चदशवत्यौ भवतोऽन्तरे सप्तदशवत्यौ बाहुभ्यां तदुभयतोऽन्नं परिगृह्णाति ॥७॥ अथ या मध्यऽउपदधाति । स आत्मा ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधाति पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यतो ह्ययमात्मा सर्वत उपदधाति सर्वतो ह्ययमात्माथ यदतोऽन्यदतिरिक्तं तद्यद्वै देवानामतिरिक्तं छन्दाꣳसि तानि तद्यानि तानि छन्दाꣳसि पशवस्ते तद्ये ते पशवः पुण्यास्ता लक्ष्म्यस्तद्यास्ताः पुण्या लक्ष्म्योऽसौ स आदित्यः स आत्मा-मेष दक्षिणतः ॥८॥ ता हैकेऽनन्तर्हितास्त्रिवृद्वतीभ्यामुपदधति । जिह्वाहनूऽइति वदन्तो याश्चतुर्दश ते हनू याः षट् सा जिह्वेति न तथा कुर्यादति ते रेचयन्ति यथा पूर्वयोर्हन्वोरपरे हनूऽअनूपदध्याद्यथा पूर्वस्यां जिह्वायामपरां जिह्वामनूपदध्यात्तादृक्तद्यत्रो ह्येव शिरस्तदेव हनू तज्जिह्वा ॥९॥ अस्मिन्नु हैकेऽवान्तरदेशऽउपदधति । असौ वाऽआदित्य एता अमुं तदादित्यमेतस्यां दिशि दध्म इति न तथा कुर्यादन्यानि वाव तानि कर्माणि यैरेतमत्र दधाति ॥१०॥ दक्षिणत उ हैकऽउपदधति । तदेताः पुण्या लक्ष्मीर्दक्षिणतो दध्महऽइति तस्माद्यस्य दक्षिणतो लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षतऽउत्तरत स्त्रिया उत्तरतआयतना हि स्त्री तत्तत्कृतमेव पुरस्ताद्विवेनाऽउपदध्याद्यत्रो ह्येव शिरस्तदेव हनू तज्जिह्वा-

यहाँ यह पूर्ण की जाती है। त्रिवृद्वती दो ईंटें इसका सिर हैं। ये दो त्रिवृद्वती क्यों हैं ? इसलिए कि सिर के तीन भाग होते हैं। दो इसलिए कि सिर के दो कपाल होते हैं। इनको आगे रखता है, क्योंकि सिर भी तो आगे ही होता है।४॥

इक्कीसवाली दो ईंटें पैर हैं। यह इक्कीसवाली इसलिए है कि पैर इक्कीस अङ्गवाले हैं, दो इसलिए कि पैर दो होते हैं। पीछे को रखता है, क्योंकि पैर पीछे को होते हैं॥५॥

पन्द्रहवाली दो ईंटें बाहु हैं। पन्द्रहवाली इसलिए कि बाहु पन्द्रहवाले हैं। दो इसलिए कि बाहु दो होते हैं। बगल में रखता है, क्योंकि बाहु बगल में होते हैं॥६॥

सत्रह (स्तोम) वाली ईंटें अन्न है। सत्रह इसलिए कि अन्न सत्रहवाला है। दो इसलिए कि 'अन्न' में दो अक्षर हैं। उनको पन्द्रहवालियों से चिपटाकर इसलिए रखता है कि भुजाओं को अन्न से मिलाता है। पन्द्रहवाली बाहर होती है और सत्रहवाली भीतर। इस प्रकार बाहुओं के दोनों ओर अन्न को रखता है॥७॥

जिसको बीच में रखता है वह धड़ है। इनको रेतःसिचों की सीमा में रखता है। रेतःसिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ बीच में होती हैं, बीच में धड़ होता है। चारों ओर रखता है, क्योंकि यह धड़ चारों ओर है। जो स्थान रिक्त बच गया उसे छोड़ देता है। जो देवों के लिए रिक्त रहे वह छन्द है। ये छन्द पशु हैं। ये जो पशु होते हैं वे पुण्य होते हैं, लक्ष्मीयुक्त होते हैं। यह जो सूर्य चमकता है वह भी पुण्य है। यह इनके दक्षिण की ओर होता है॥८॥

कुछ लोग इनको त्रिवृद्वती ईंटों से मिलाकर रखते हैं। उनका कहना है कि यह जीभ और हनु हैं। जो चौदह हैं वे हनु हैं, जो छः हैं वे जीभ हैं। ऐसा न करना चाहिए। वे व्यर्थ हैं। मानो पहले हनु था, उस पर हनु बढ़ा दिया; पहले जीभ थी, उस पर जीभ बढ़ा दी। वस्तुतः जो ईंट सिर है उसमें हनु भी आ गया और जीभ भी॥९॥

कुछ इनको बीच की छूटी जगह में रख देते हैं, यह समझकर कि 'यह आदित्य है, हम उस आदित्य को इधर रखते हैं।' ऐसा भी न करना चाहिए। अन्य भी तो कर्म हैं जिनके द्वारा इनको वहाँ रखता है॥१०॥

कुछ दक्षिण की ओर रखते हैं। उनका कहना है कि 'इस प्रकार हम इन पुण्य लक्ष्मियों को दक्षिण की ओर रखते हैं। जो दक्षिण की ओर चिह्न रखता है, वह पुण्य-भाग होता है। स्त्रियाँ बाईं ओर, क्योंकि स्त्री का स्थान पुरुष की बाईं ओर है।' इसलिए ऐसा किया जाता है। परन्तु उसको चाहिए कि आगे की ओर ही रक्खे, क्योंकि जहाँ सिर होता है वहाँ हनु भी होता है

थैताः पुण्या लक्ष्मीर्मुखतो धत्ते तस्माद्यस्य मुखे लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते ॥११॥ सैषा ब्रह्मचितिः । यद्ब्रह्मोपादधत तस्माद्ब्रह्मचितिः सा प्रजापतिचितिर्यत्प्रजापतिमुपादधत तस्मात्प्रजापतिचितिः सऽर्षिचितिर्यदृषीनुपादधत तस्मादृषिचितिः सा वायुचितिर्यद्वायुमुपादधत तस्माद्वायुचितिः सा स्तोमचितिर्यत्स्तोमानुपादधत तस्मात्स्तोमचितिः सा प्राणचितिर्यत्प्राणानुपादधत तस्मात्प्राणचितिरतो यतमदेव कतमच्च विद्यात्तेन हैवास्यैषार्षेयवती बन्धुमती चितिर्भवत्यथ लोकम्पृणेऽउपदधात्यस्याऽ स्रक्त्यां तयोरुपरि बन्धुः पुरीषं निवपति तस्योपरि बन्धुः ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४. ४.] । चतुर्थोऽध्यायः [५९.] ॥॥

पञ्चमीं चितिमुपदधाति । एतद्वै देवाश्चतुर्थीं चितिं चित्वा समारोहन्यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तदेव तत्संस्कृत्य समारोहन् ॥१॥ तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यंस्तेभ्य एष लोकोऽच्छन्दयत् ॥२॥ तेऽकामयन्त । असपत्नमिमं लोकमनुपबाधं कुर्वीमहीति तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथेमं लोकमसपत्नमनुपबाधं करवामहाऽइति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेमं लोकमसपत्नमनुपबाधं करवामहाऽइति ॥३॥ ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्नसपत्नास्ता उपादधत ताभिरेतं लोकमसपत्नमनुपबाधमकुर्वत तद्यदेताभिरिमं लोकमसपत्नमनुपबाधमकुर्वत तस्मादेता असपत्नास्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतमेवैतल्लोकमसपत्नमनुपबाधं कुरुते सर्वत उपदधाति सर्वत एवैतदेतं लोकमसपत्नमनुपबाधं कुरुते परार्धऽउपदधाति सर्वमेवैतदेतं लोकमसपत्नमनुपबाधं कुरुते ॥४॥ अथ विराज उपदधाति । एषा वै सा विराड्यां तद्देवा विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यंस्ता दश-दशोपदधाति दशाक्षरा विराड्विराडेषा चितिः सर्वत उपदधाति यो वाऽएकस्यां दिशि विराजति न वै स विराजति यो वाव

और जीभ भी। इस प्रकार वह पुण्य लक्षण को सिर में रखता है। इसलिए लोग कहते हैं कि जिसके सिर में चिह्न (लहसन) हो वह पुण्य होता है ॥११॥

यह ब्रह्म की चिति है। ब्रह्मा ने रक्खा इसलिए ब्रह्मचिति नाम हुआ। प्रजापतिचिति है क्योंकि इसे प्रजापति ने रक्खा। यह ऋषिचिति है क्योंकि ऋषियों को रक्खा। यह वायुचिति है क्योंकि वायु को यहाँ रक्खा। स्तोमचिति है क्योंकि स्तोमों को रक्खा। यह प्राणचिति है क्योंकि प्राणों को रक्खा। जिस किसी रीति को हम जानते हैं वह सब इसी चिति के अन्तर्गत आ जाती है। अब दो लोकम्पृणों को रखता है। इसकी व्याख्या आगे होगी। उस पर ढीली मिट्टी डालता है। इसकी व्याख्या आगे आयेगी ॥१२॥

पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टकोपधानम्

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब पाँचवीं चिति को रखता है। देव चौथी चिति को चिनकर इस चिति पर चढ़ने लगे जो अन्तरिक्ष से ऊपर है और द्यौलोक के नीचे। उसको पूरा करके चढ़े ॥१॥

वे बोले, 'चेतयध्वम्' अर्थात् चिति की इच्छा करो, अर्थात् इससे ऊँचा चढ़ने का विचार करो। उन्होंने विचार करके इस चमकदार द्यौ या पाँचवीं चिति को देखा। यह लोक इनको पसन्द आया ॥२॥

उन्होंने चाहा कि इस लोक को शान्त और शत्रुरहित कर दें। वे बोले, 'ऐसा विचार करो कि इस लोक को शत्रुरहित और विघ्नरहित कैसे बनावें?' उन्होंने कहा 'चेतयध्वम्' अर्थात् चिति की इच्छा करो। इसका अर्थ यह निकला कि चिति की इच्छा करके हम इस संसार को विघ्नरहित और शत्रुरहित कर देंगे ॥३॥

उन्होंने विचार करके इन ईंटों को देखा जिनका नाम 'असपत्न' है। उनको रख दिया और उनके द्वारा इस लोक को विघ्नरहित और शत्रुरहित कर दिया। इसीलिए इनका नाम है 'असपत्न'। इसी प्रकार यह यजमान भी इनको रखकर इस लोक को विघ्नरहित और शत्रुरहित कर देता है। चारों ओर रखता है। इस प्रकार चारों ओर लोक को विघ्नरहित और शत्रुरहित करता है। इनको दूसरी ओर रखता है। इस प्रकार समस्त लोक को विघ्नरहित और शत्रुरहित करता है ॥४॥

अब विराज ईंटों को रखता है। विराट् वही पाँचवीं चमकती हुई चिति है, जिसको देवों ने खोजा था। इनको दस-दस करके रखता है। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। विराट् यह चिति है। सब ओर रखता है। जो एक दिशा में ही चमके उसको 'चमका' नहीं कहते। जो सब

सर्वासु दिक्षु विराजति स एव विराजति ॥५॥ यद्वेवैता असपत्ना उपदधाति ।
एतद्धि प्रजापतिमेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वतः पाप्मोपायतत स एता इष्टका
अपश्यदसपत्नास्ता उपाधत्त ताभिस्तं पाप्मानमपाहत पाप्मा वै सपत्नस्तद्यदेता-
भिः पाप्मानं सपत्नमपाहत तस्मादेता असपत्नाः ॥६॥ तद्वाऽएतत्क्रियते । यद्दे-
वा अकुर्वन्निदं न्विमं स पाप्मा नोपयतते यद्वेतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्कर-
वाणीत्यथो य एव पाप्मा यः सपत्नस्तमेताभिरपहते तद्यदेताभिः पाप्मानं स-
पत्नमपहते तस्मादेता असपत्नाः सर्वत उपदधाति सर्वत एवैतत्पाप्मानं सपत्न-
मपहते परार्धऽउपदधाति सर्वस्मादेवैतदात्मनः पाप्मानं सपत्नमपहते ॥७॥ स
पुरस्तादुपदधाति । अग्ने जातान्प्रणुदा नः सपत्नानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुरथ
पश्चात्सहसा जातान्प्रणुदा नः सपत्नानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥८॥ सा या
पुरस्तादग्निः सा । या पश्चादग्निः साग्निनैव तत्पुरस्तात्पाप्मानमपाहताग्निना प-
श्चात्तथैवैतद्यजमानोऽग्निनैव पुरस्तात्पाप्मानमपहतेऽग्निना पश्चात् ॥९॥ अथ द-
क्षिणतः । षोडशी स्तोम ओजो द्रविणमित्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रैष्टुभमन्तरिक्षं
चतस्रो दिश एष एव वज्रः पञ्चदशस्तस्यासावेवादित्यः षोडशी वज्रस्य भर्ता स
एतेन पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा दक्षिणतः पाप्मानमपाहत तथैवैतद्यजमान
एतेन पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा दक्षिणतः पाप्मानमपहते ॥१०॥ अथोत्तर-
तः । चतुश्चत्वारिंश स्तोमो वर्चो द्रविणमिति चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रै-
ष्टुभो वज्रः स एतेन चतुश्चत्वारिंशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभोत्तरतः पाप्मानमपाहत
तथैवैतद्यजमान एतेन चतुश्चत्वारिंशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभोत्तरतः पाप्मानमपहते
॥११॥ अथ मध्ये । अग्नेः पुरीषमसीति ब्रह्म वै चतुर्थी चितिरग्निरु वै ब्रह्म त-
स्या एतत्पुरीषमिव यत्पञ्चम्यप्सो नामेति तस्योक्तो बन्धुः ॥१२॥ तां प्राचीं ति-
रश्चीमुपदधाति । एतद्वैतया प्रजापतिः पाप्मनो मूलमवृश्चत्तथैवैनयायमेतत्पाप्मनो

दिशाओं में चमके वह 'चमका' कहलाता है ॥५॥

इन असपत्नों को क्यों रखता है ? जब प्रजापति का शरीर स्वस्थ हो गया, तो चारों ओर से पाप ने आ घेरा। उसने इन ईंटों को खोज निकाला जो 'असपत्ना' हैं। इनको रक्खा। उनके द्वारा पाप को दूर कर दिया। सपत्न वैरी पाप है। चूंकि इनके द्वारा पापी सपत्न या शत्रु को दूर किया, इसलिए इनका नाम हुआ 'असपत्न' ॥६॥

यह क्रिया इसलिए भी की जाती है कि देवों ने की थी। उस (यजमान) के पास पाप नहीं आता, क्योंकि वह वही करना चाहता है जो देवों ने किया था। इस प्रकार वह जो कुछ विघ्न या जो कोई शत्रु हो उसका निवारण कर देता है, चूंकि इन ईंटों के द्वारा शत्रु को या पाप को भगाता है। इसलिए इनको 'असपत्ना' कहते हैं। वह इनको चारों ओर रखता है, क्योंकि चारों ओर शत्रुरहित करना चाहता है। उनको दूसरी ओर रखता है। इस प्रकार अपने समस्त आत्मा से बुराईरूपी शत्रु को दूर करता है ॥७॥

वह सामने रखता है, इस मन्त्र से—"अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् पृत्यजातान्नुद जातवेदः। अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मंस्त्रिवरूथ ऽ उद्भौ" (यजु० १५।१)—"हे अग्नि, हमारे उत्पन्न हुए शत्रुओं का नाश कर और न उत्पन्न हुओं का। हमारे प्रति प्रसन्न हो, हम तेरी त्रिवृत् शरण में रहें।" मन्त्र स्पष्ट है। वह पीछे रखता है इस मन्त्र से—"सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नात् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व। अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयँ स्याम प्रणुदा नः सपत्नान्" (यजु० १५।२)—इसका अर्थ भी स्पष्ट है (वही है जो पहले मन्त्र का) ॥८॥

जो आगे है वह अग्नि है, जो पीछे है वह अग्नि है। अग्नि से ही (प्रजापति ने) सामने पाप को हटाया और अग्नि से ही पीछे। इसी प्रकार यह यजमान भी अग्नि द्वारा ही सामने के पाप को हटाता है और अग्नि के द्वारा ही पीछे ॥९॥

दक्षिण की ओर इस मन्त्र से—"षोडशी स्तोम ओजो द्रविणम्" (यजु० १५।३)—ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुप् होता है। त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष है। दिशायें चार हैं। वज्र पन्द्रहवाला है। यह आदित्य सोलहवां है जो वज्र को धारण करता है। वह इस पन्द्रहवाले वज्र से, इस त्रिष्टुप् से दक्षिण की ओर पाप को दूर करता है ॥१०॥

उत्तर की ओर इस मन्त्र से—"चतुश्चत्वारिँश स्तोमो वर्चो द्रविणम्" (यजु० १५।३)—"त्रिष्टुप् में चवालीस अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है। प्रजापति ने इस चवालीसवाले त्रिष्टुप् वज्र से उत्तर की ओर पाप को दूर किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इस चवालीस अक्षर वाले वज्र से, इस त्रिष्टुप् से पाप को उत्तर की ओर दूर करता है ॥११॥

अब बीच में इस मन्त्र से—"अग्नेः पुरीषमसि" (यजु० १५।३)—ब्रह्म चौथी चिति है। अग्नि ब्रह्म है। यह जो पांचवीं चिति है, वह उसका पुरीष है। "अप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व" (यजु० १५।३)—"रस नाम उस तेरी सब देव प्रशंसा करें। स्तोम से लदा हुआ और घृतयुक्त, यह बैठ। यज्ञ से धन और सन्तान इसके लिए प्राप्त करें" ॥१२॥

उसको इस प्रकार रखता है कि उसकी रेखायें पूर्व की ओर तिरछी रहती हैं। इसके द्वारा प्रजापति ने पाप को जड़ से काट दिया। इसी प्रकार यजमान भी इसके द्वारा पाप को जड़

मूलं वृश्चति दक्षिणतो दक्षिणतउद्यामो हि वज्रोऽन्तरेण दक्षिणां दिश्यामुष्या-
माय ह तमवकाशं करोति ॥१३॥ सा या पुरस्तात्प्राणः सा । या पश्चादपानः
सा प्राणेनैव तत्पुरस्तात्पाप्मानमपाहतापानेन पश्चात्तथैवैतद्यजमानः प्राणेनैव
पुरस्तात्पाप्मानमपहतेऽपानेन पश्चात् ॥१४॥ अथ येऽभितः । तौ बाहू स यो
ऽस्याभितः पाप्मासीद्बाहुभ्यां तमपाहत तथैवैतद्यजमानो योऽस्याभितः पाप्मा
भवति बाहुभ्यामेव तमपहते ॥१५॥ अन्नं पुरीषवती । स योऽस्योपरिष्टात्पा-
प्मासीदन्नेन तमपाहत तथैवैतद्यजमानो योऽस्योपरिष्टात्पाप्मा भवत्यन्नेनैव त-
मपहते ॥१६॥ स यद्ध वाऽएवंवित्प्राणिति । योऽस्य पुरस्तात्पाप्मा भवति तं
तेनापहतेऽथ यदपानिति तेन तं यः पश्चादथ यद्बाहुभ्यां कर्म कुरुते तेन तं यो
ऽभितोऽथ यदन्नमत्ति तेन तं य उपरिष्टात्सर्वदा ह वाऽएवंवित्पाप्मानमपहते
ऽपि स्वपंस्तस्मादेवं विदुषः पापं न कीर्तयेन्नेदस्य पाप्मासानीति ॥१७॥ ब्राह्म-
णम् ॥२ [५. १.] ॥॥

अथ छन्दस्या उपदधाति । एतद्वै प्रजापतिः पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वान्नमैच्छत्तस्माद्
हैतदुपतापी वसीयान्भूत्वान्नमिच्छति तस्मिन्नाशꣳसन्तेऽन्नमिच्छति जीविष्यतीति त-
स्मै देवा एतदन्नं प्रायच्छन्नेताश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दाꣳस्यन्नं पशवस्तान्यस्मा
ऽअच्छदयंस्तानि यदस्माऽअच्छदयंस्तस्माच्छन्दाꣳसि ॥१॥ ता दश-दशोपदधाति ।
दशाक्षरा विराड्विराडु कृत्स्नमन्नꣳ सर्वमेवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति सर्वत उप-
दधाति सर्वत एवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति ॥२॥ एवश्छन्द इति । अयं वै लो-
क एवश्छन्दो वरिवश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्द इति द्यौर्वै
शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द इति दिशो वै परिभूश्छन्द आच्छच्छन्द इत्यन्नं वाऽआ-
च्छच्छन्दो मनश्छन्द इति प्रजापतिर्वै मनश्छन्दो व्यचश्छन्द इत्यसौ वाऽआदित्यो
व्यचश्छन्दः ॥३॥ सिन्धुश्छन्द इति । प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्द इति मनो

से काट देता है दक्षिण की ओर, क्योंकि वज्र की दाहिनी ओर प्रत्यंचा होती है। दाहिनी ओर एक में, क्योंकि वह प्रत्यंचा के लिए स्थान छोड़ देता है ।।१३।।

जो आगे है वह प्राण है, जो पीछे है वह अपान है। प्रजापति ने प्राण के द्वारा ही आगे के पाप को दूर किया और अपना द्वारा पीछे के पाप को। इसी प्रकार यजमान भी प्राण से आगे के और अपान से पीछे के पाप को दूर करता है ।।१४।।

जो दो दोनों बगलों से हैं वे बाहु हैं। जो पाप इसका बगलों से था उसको उसने बाहुओं से दूर किया। इसी प्रकार यजमान भी बाहुओं से उस पाप को दूर करता है, जो उससे तिरछी पड़ती हैं ।।१५।।

पुरीषवती का अर्थ है अन्न। जो उसका ऊपरला पाप था उसको प्रजापति ने अन्न से दूर किया। इसी प्रकार यजमान भी अपने ऊपर से पाप को अन्न से दूर करता है ।।१६।।

वस्तुत: जब वह प्राण खींचता है तो उसके सामने जो बुराई है उससे छूट जाता है। जब अपान खींचता है तो जो पीछे बुराई है उसे दूर करता है। जब अपनी भुजाओं से काम करता है तो अपने अगल-बगल के पाप को दूर करता है। जब अन्न खाता है तो उस पाप को दूर करता है, जो ऊपर है। सदा सोते हुए भी, इस रहस्य का जाननेवाला बुराई को दूर करता है, इसलिए विद्वान् को चाहिए कि उसके विरुद्ध न बोले जिससे कहीं उसका शत्रु न बन जाय ।।१७।।

अध्याय ५—ब्राह्मण २

अब छन्दस्य ईंटों को रखता है। प्रजापति ने जब पापरूपी मृत्यु से छुटकारा पा लिया तो अन्न की इच्छा की। इसीलिए जब कोई रोग से हटता है तो खाना माँगता है। उस समय लोग आशा करते हैं कि अन्न माँगता है तो बच जायगा। तब देवों ने उसको छान्दस्य ईंटरूपी अन्न दिया। पशु छन्द हैं। पशु अन्न है। छन्द उसको अच्छे लगे। अच्छे लगे इसलिए उनका नाम छन्द हुआ ।।१।।

उनको दस-दस करके रखता है। विराट् में दस अक्षर होते हैं। अन्न विराट् है। इस प्रकार सब अन्न उसको देता है। सब ओर रखता है अर्थात् सब ओर उसको अन्न से युक्त करता है ।।२।।

इस मन्त्र को पढ़कर रखता है—"एवश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"यह लोक है एवश्छन्द।" "वरिवश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"अन्तरिक्ष वरिवश्छन्द है।" "शम्भूश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"द्यौ शम्भूश्छन्द है।" "परिभूश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"दिशा परिभूश्छन्द है।" "आच्छच्छन्दः" (यजु० १५।४)—"अन्न आच्छच्छन्द है।" "मनश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"प्रजापति मनश्छन्द है।" "व्यचश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"यह आदित्य व्यचश्छन्द है" ।।३।।

"सिन्धुश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"प्राण सिन्धुश्छन्द है।" "समुद्रश्छन्दः" (यजु०

वै समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्द इति वाग्वै सरिरं छन्दः ककुप्छन्द इति प्राणो वै ककुप्छन्दस्त्रिककुप्छन्द इत्युदानो वै त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्द इति त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्द इत्यापो वाऽअङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्द इत्यसौ वै लोकोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्द इत्ययं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्द इति दिशो वै विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरो भ्रजश्छन्द इत्यसौ वाऽआदित्यः क्षुरो भ्रजश्छन्द आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्द इत्यन्नं वाऽआच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः ॥४॥ संयच्छन्द इति । रात्रिर्वै संयच्छन्दो वियच्छन्द इत्यहर्वै वियच्छन्दो बृहच्छन्द इत्यसौ वै लोको बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्द इत्ययं वै लोको रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्द इति वायुर्वै निकायश्छन्दो विवधश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दो गिरश्छन्द इत्यन्नं वै गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्द इत्यग्निर्वै भ्रजश्छन्दः सꣳस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्द इति वागेव सꣳस्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्द इति तस्योक्तो बन्धुः ॥५॥ वयश्छन्द इति । अन्नं वै वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्द इत्यग्निर्वै वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्द इत्यसौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्द इत्ययं वै लोको विशालं छन्दश्छदिश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्द इत्यसौ वाऽआदित्यो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्द इति पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्द इत्यापो वाऽअङ्काङ्कं छन्दः ॥६॥ तस्याः पुरस्तादुपदधाति । प्राणस्तासां प्रथमा व्यानो द्वितीयोदानस्तृतीयोदानश्चतुर्थी व्यानः पञ्चमी प्राणः षष्ठी प्राणः सप्तमी व्यानोऽष्टम्युदानो नवमी यजमान एवात्र दशमी स एष यजमान एतस्यां विराज्यध्यूढः प्रतिष्ठितः प्राणमय्यामर्वाचीश्च पराचीश्चोपदधाति तस्मादिमे प्राणा अर्वाञ्चश्च पराञ्चश्च ॥७॥ अथ या दक्षिणतो । ऽग्निस्तासां प्रथमा वायुर्द्वितीयादित्यस्तृतीयादित्यश्चतुर्थी वायुः पञ्चम्यग्निः षष्ठ्यग्निः सप्तमी वायुरष्टम्यादित्यो नवमी यजमान एवात्र दशमी स एष यजमान एतस्यां विराज्यध्यूढः प्रतिष्ठितो देवता

१५।४)—"मन समुद्रश्छन्द है।" "सरिरं छन्दः" (यजु० १५।४)—"वाणी सरिरं छन्द है।" "ककुप्छन्दः" (य० १५।४)—"प्राण ककुप्छन्द हैं।" "त्रिककुप्छन्दः" (यजु० १५।४)—"उदान त्रिककुप् छन्द है।" "काव्यं छन्दः" (यजु० १५।४)—"त्रयीविद्या काव्य छन्द है।" "अङ्कुपं छन्दः" (य० १५।४)—"जल अङ्कुपं छन्द है।" "अक्षरपङ्क्तिश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"वह लोक अक्षरपङ्क्ति छन्द है।" "पदपङ्क्तिश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"यह लोक पदपङ्क्ति छन्द है।" "विष्टारपंक्तिश्छन्दः" (यजु० १५।४)—"दिशा विष्टारपंक्ति छन्द है।" "क्षुरो भ्रजश्छन्दः"(यजु० १५।४)—"वह आदि क्षुरः भ्रजश्छन्द है।" "आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः" (यजु० १५।५)—"अन्न आच्छच्छन्द है। अन्न प्रच्छच्छन्द है" ॥४॥

"संयच्छन्दः" (यजु० १५।५)—"रात्रि संयच्छन्द है।" "वियच्छन्दः" (यजु० १५।५)—"दिन वियच्छन्द है।" "बृहच्छन्दः" (यजु० १५।५)—"यह लोक बृहच्छन्द है।" "रथन्तरं छन्दः" (यजु० १५।५)—"यह लोक रथन्तर छन्द है।" "निकायश्छन्दः" (यजु० १५।५)—"वायु निकायश्छन्द है।" "विवधश्छन्दः" (यजु० १५।५)—"अन्तरिक्ष विवधश्छन्द है।" "गिरश्छन्दः (यजु० १५।५)—"अन्न गिरश्छन्द है।" "भ्रजश्छन्दः" (यजु० १५।५)—"अग्नि भ्रजश्छन्द है।" "सँस्तुप् छन्दः" (यजु० १५।५)—"वाणी संस्तुप् छन्द है।" "अनुष्टुप् छन्द ऽ एवश्छन्दः वरिवश्छन्दः" (यजु० १५।५)—यह हो चुका ॥५॥

"वयश्छन्दः"(यजु० १५।५)—"अन्न वयश्छन्द है।" "वयस्कृच्छन्दः"(यजु० १५।५)—"अग्नि वयस्कृच्छन्द है।" "विष्पर्धाश्छन्दः" (यजु० १५।५)—"यह लोक विष्पर्धाश्छन्द है।" "विशालं छन्दः"(यजु० १५।५)—"यह लोक विशाल छन्द है।" "छदिश्छन्दः"(यजु० १५।५)—"अन्तरिक्ष छदिश्छन्द है।" "दूरोहणं छन्दः" (यजु० १५।५)—"यह आदित्य दूरोहण छन्द है।" "तन्द्रं छन्दः" (यजु० १५।५)—"पाक्ति तन्द्रं छन्द है।" "अङ्काङ्कं छन्दः (यजु० १५।५)—"जल अङ्काङ्क छन्द है ॥६॥

जो आगे की ओर रखता है उनमें से पहली प्राण है, दूसरी व्यान, तीसरी उदान, चौथी व्यान, पाँचवीं प्राण, छठी प्राण, सातवीं व्यान, आठवीं उदान, नवीं यजमान, दशमी यजमान, इस प्रकार यजमान प्राणमय विराट् में आरूढ़ होकर ईंटों को आगे और पीछे को बढ़ाकर रखता है, क्योंकि प्राण भी तो आगे-पीछे को बढ़ते हैं ॥७॥

जिनको दाहिनी ओर रखता है, उनमें पहली अग्नि, दूसरी वायु, तीसरी आदित्य, चौथी आदित्य, पाँचवीं वायु, छठी अग्नि, सातवीं अग्नि, आठवीं वायु, नवीं आदित्य, दसवीं यजमान, इस प्रकार यह यजमान देवतामय विराट् ईंट पर आरूढ़ होकर ईंटों को आगे-पीछे को बढ़ाकर

मध्यामर्वाचीश्च पराचीश्चोपदधाति तस्मादेते देवा अर्वाञ्चश्च पराञ्चश्च ॥८॥ अथ याः पश्चात् । अयं लोकस्तासां प्रथमान्तरिक्षं द्वितीया द्यौस्तृतीया द्यौश्चतुर्थ्यन्तरिक्षं पञ्चम्ययं लोकः षष्ठ्ययं लोकः सप्तम्यन्तरिक्षमष्टमी द्यौर्नवमी यजमान एवात्र दशमी स एष यजमान एतस्यां विराड्यध्यूढः प्रतिष्ठितो लोकमध्यामर्वाचीश्च पराचीश्चोपदधाति तस्मादिमे लोका अर्वाञ्चश्च पराञ्चश्च ॥९॥ अथ या उत्तरतः । ग्रीष्मस्तासां प्रथमा वर्षा द्वितीया हेमन्तस्तृतीया हेमन्तश्चतुर्थी वर्षाः पञ्चमी ग्रीष्मः षष्ठी ग्रीष्मः सप्तमी वर्षा अष्टमी हेमन्तो नवमी यजमान एवात्र दशमी स एष यजमान एतस्यां विराड्यध्यूढः प्रतिष्ठित ऋतुमध्यामर्वाचीश्च पराचीश्चोपदधाति तस्मादेतऽऋतवोऽर्वाञ्चश्च पराञ्चश्च ॥१०॥ अथ पुनरेव । याः पुरस्तादुपदधाति प्राणास्ते ता दश भवन्ति दश वै प्राणाः पूर्वार्धऽउपदधाति पुरस्ताद्धीमे प्राणाः ॥११॥ अथ या दक्षिणतः । एतास्ता देवता अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चान्नं चापश्च ॥१२॥ अथ याः पश्चात् । दिशस्ताश्चतस्रो दिशश्चतस्रोऽवान्तरदिश ऊर्ध्वा चेयं च ॥१३॥ अथ या उत्तरतः । मासास्ते वासन्तिकौ द्वौ ग्रैष्मौ द्वौ वार्षिकौ द्वौ शारदौ द्वौ हैमन्तिकौ द्वौ ॥१४॥ अथ पुनरेव । या प्रथमा दशदयꣳ स लोको या द्वितीयान्तरिक्षं तद्या तृतीया द्यौः सेममेव लोकं प्रथमया दशतारोहन्नन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया तथैवैतद्यजमान इममेव लोकं प्रथमया दशता रोहत्यन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया ॥१५॥ स स पराङिव रोहः । इयमु वै प्रतिष्ठा ते देवा इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यायंस्तथैवैतद्यजमान इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्येत्यथ योत्तमा दशदयꣳ स लोकस्तस्माद्यथैव प्रथमायै दशतः प्रभृतिरेवमुत्तमायै समानꣳ ह्येतद्यदेते दशतावयमेव लोकः ॥१६॥ ता वाऽएताः । चत्वारिꣳशदिष्टकाश्चत्वारिꣳशदक्षराऽनुष्टुप् तदशीतिरन्नमशीतिस्तद्यद्देतदाह तदस्माऽअन्नमशीतिं कृत्वा प्रयच्छति

रखता है, क्योंकि देवता भी तो आगे-पीछे को चलते हैं ।।८।।

जो पीछे की ओर रखता है, उनमें पहली यह लोक, दूसरी अन्तरिक्ष, तीसरी द्यौ, चौथी द्यौ, पाँचवीं अन्तरिक्ष, छठी यह लोक, सातवीं यह लोक, आठवीं अन्तरिक्ष, नवीं द्यौ, दसवीं यजमान' इस प्रकार यह यजमान लोकमय विराट् पर आरूढ़ होकर ईंटों को आगे-पीछे को बढ़ाकर रखता है, इसीलिए ये लोक आगे-पीछे को चलते हैं ।।९।।

जो बाईं ओर को रखता है, उनमें पहली ग्रीष्म, दूसरी वर्षा, तीसरी हेमन्त, चौथी हेमन्त, पाँचवीं वर्षा, छठी ग्रीष्म, सातवीं ग्रीष्म, आठवीं वर्षा, नवीं हेमन्त, दसवीं यजमान, इस प्रकार यह यजमान ऋतुमय विराट् ईंट पर आरूढ़ होकर ईंटों को आगे-पीछे को बढ़ाकर रखता है, इसीलिए ऋतु आगे-पीछे को चलते हैं ।।१०।।

जिनको आगे की ओर रखता है वे प्राण हैं। ये दस होती हैं, प्राण दस होते हैं। आगे की ओर रखता है, प्राण भी तो आगे की ओर हैं ।।११।।

जो दाहिनी ओर रक्खी जाती है, वे देवता हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र, अन्न और जल ।।१२।।

जो पीछे की ओर रक्खी जाती हैं, वे दिशायें हैं—चार दिशायें, चार अन्तर्दिशायें, ऊपर का लोक और यह (पृथिवी) ।।१३।।

जो बाईं ओर रक्खी जाती हैं, वे मास हैं—दो वसन्त के, दो ग्रीष्म के, दो वर्षा के, दो शरद् के, दो हेमन्त के ।।१४।।

फिर पहली दस यह लोक हुईं, दूसरी अन्तरिक्ष, तीसरी द्यौ। पहली दस से इस लोक पर चढ़ते हैं, दूसरी से अन्तरिक्ष पर, तीसरी से द्यौ पर। इसी प्रकार यजमान भी पहली से इस पृथिवी को, दूसरी से अन्तरिक्ष को और तीसरी से द्यौ को पार करता है ।।१५।।

इस प्रकार चढ़ाई यहाँ से आरम्भ होती है। पृथिवी प्रतिष्ठा (नींव) है। देव इसी पृथिवी रूपी प्रतिष्ठा तक आए। इस प्रकार यजमान भी इसी पृथिवी-रूपी प्रतिष्ठा पर आता है। पिछली ईंटें यह लोक हैं। इस प्रकार जैसे पहली ईंटों से आरम्भ हुआ, उसी प्रकार पिछली से भी, बात एक ही है। दस-दस ईंटों के दो गण हुए। यह पृथिवी लोक पहला और पिछला है ।।१६।।

ये चालीस ईंटें हुईं और चालीस यजु।

यह अस्सी (अशीति) का अर्थ है अन्न। इस प्रकार जो कुछ वह कहता है उसको अन्न

तेनैनं प्रीणाति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५. २.] ॥ ॥

अथ स्तोमभागा उपदधाति । एतद्वै प्रजापतेरेतदन्नमिन्द्रोऽभ्यध्यायत्सोऽस्मादुदचिक्रमिषत्तमब्रवीत्कथोत्क्रामसि कथा मा जहासीति स वै मेऽस्यान्नस्य रसं प्रयच्छेति तेन वै मा सह प्रपद्यस्वेति तथेति तस्मा एतस्यान्नस्य रसं प्रायच्छत्तेनैनꣳ सह प्रापद्यत ॥१॥ स यः स प्रजापतिः । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यत्तदन्नमेतास्ताश्छन्दस्या अथ यः सोऽन्नस्य रस एतास्ता स्तोमभागा अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः स एष एव स्तोमो यद्धि किं च स्तुवत एतमेव तेन स्तुवन्ति तस्मा एतस्मै स्तोमायैतं भागं प्रायच्छत्तद्यदेतस्मै स्तोमायैतं भागं प्रायच्छत्तस्मात्स्तोमभागाः ॥२॥ रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्वेति । एष वै रश्मिरन्नꣳ रश्मिरेतं च तद्रसं च संधायात्मन्प्रपादयते प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वेत्येष वै प्रेतिरन्नं प्रेतिरेतं च तद्रसं च संधायात्मन्प्रपादयतेऽन्वित्या दिवा दिवं जिन्वेत्येष वा अन्वितिरन्नमन्वितिरेतं च तद्रसं च संधायात्मन्प्रपादयते तद्यद्देतदाह तच्च तद्रसं च संधायात्मन्प्रपादयतेऽमुनादो जिन्वादोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति त्रेधाविहितास्त्रेधाविहितꣳ ह्यन्नम् ॥३॥ यद्वेव स्तोमभागा उपदधाति । एतद्वै देवा विराजं चितिं चित्वा समारोहंस्तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना नाकमेव स्वर्गं लोकमपश्यंस्तमुपादधत स यः स नाकः स्वर्गो लोक एतास्ता स्तोमभागास्तद्यदेता उपदधाति नाकमेवैतत्स्वर्गं लोकमुपधत्ते ॥४॥ तद्यास्तिस्रः प्रथमाः । अयꣳ स लोको या द्वितीया अन्तरिक्षं तद्यास्तृतीया द्यौः सा याश्चतुर्थ्यः प्राची सा दिग्याः पञ्चम्यो दक्षिणा सा याः षष्ठ्यः प्रतीची सा याः सप्तम्य उदीची सा ॥५॥ ता वा एताः । एकविꣳशतिरिष्टका इमे च लोका दिशश्चेमे च वै लोका दिशश्च प्रतिष्ठेमे च लोका दिशश्चैकविꣳशस्तस्मादाहुः प्रतिष्ठैकविꣳश इति ॥६॥ अथ या अष्टाविष्टका अतियन्ति । सा-

या अशीति बनाकर देता है और अग्नि को प्रसन्न करता है ॥१७॥

पञ्चम्यां चितौ स्तोमभागेष्टकोपधानम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

अब स्तोमभाग ईंटों को चिनता है। उस समय प्रजापति के इस अन्न का इन्द्र ने ध्यान किया और उस समय वह उससे निकलकर भाग गया। वह बोला, 'तू क्यों जाता है? मुझे क्यों छोड़ता है?' उसने कहा—'मुझे इस अन्न का रस दे। मुझे इससे युक्त कर।' उसने कहा—'अच्छा।' उसने उस अन्न का रस उसको दे दिया। उससे उसको युक्त कर दिया ॥१॥

यह जो अग्नि (वेदी) चिनी जाती है, यही तो वह प्रजापति है। उसका अन्न है 'छन्दस्य'-ईंटें और अन्न का रस है स्तोमभाग ईंटें। यह जो आदित्य है वही इन्द्र है, वही स्तोम है, क्योंकि जो कुछ स्तुति की जाती है, उसी के लिए की जाती है। इस स्तोम को तो उसने भाग दिया था; और चूँकि उसने स्तोम को भाग दिया, इसलिए इन ईंटों का नाम स्तोमभाग हुआ ॥२॥

इस मन्त्र से—"रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व" (यजु० १५।६)—"रश्मि से सत्य के लिए सत्य को खोज।" यह आदित्य ही रश्मि है। रश्मि अन्न है। इस आदित्य और इसके रस को मिलाकर वह अपने आत्मा में धारण करता है। "प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व" (यजु० १५।६)—"प्रेरक धर्म से धर्म को खोज।" यह आदित्य 'प्रेति' है। प्रेति अन्न है। इस आदित्य और उसके रस को मिलाकर वह अपने में धारण करता है। "आन्वित्या दिवा दिवं जिन्व" (यजु० १५।६)—"अनुसरण करनेवाले द्यौ से द्यौ की खोज कर।" यह आदित्य 'अन्विति' है। अन्विति अन्न है। इस आदित्य और उसके रस को मिलाकर वह अपने में धारण करता है। इस प्रकार जो कुछ वह कहता है और उसका रस, इनको मिलाकर वह अपने आत्मा में धारण करता है। 'अमुक-अमुक से अमुक-अमुक की खोज कर!' 'तू अमुक-अमुक है, अमुक अमुक के लिए।' "अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व"—"अधिपति से ऊर्ज-से-ऊर्ज को खोज।" इस प्रकार ये तीन तरह की ईंटें हुईं, क्योंकि अन्न तीन प्रकार का होता है ॥३॥

स्तोमभागों को क्यों रखता है? देव विराज चिति को चिनकर उस पर चढ़े। उन्होंने कहा 'चेतयध्वम्' (विचार करो)। इसका अर्थ हुआ 'चिति की इच्छा करो।' विचार करके उन्होंने 'नाक' या 'स्वर्ग' को खोज निकाला। उसको रक्खा। यह नाक या स्वर्ग ही ये स्तोम-भाग ईंटें हैं। इस प्रकार इनको रखकर मानो वह नाक या स्वर्ग को रखता है ॥४॥

पहली तीन हैं यह लोक, दूसरी तीन अन्तरिक्ष, तीसरी तीन द्यौलोक, चौथी प्राची, पाँचवीं दक्षिणा, छठी प्रतीची, सातवीं उदीची ॥५॥

इस प्रकार ये इक्कीस ईंटें हुईं ये लोक और दिशायें। और ये लोक और दिशायें हैं प्रतिष्ठा। ये लोक और दिशायें हैं इक्कीस। इसलिए कहते हैं कि प्रतिष्ठा (नींव) इक्कीस अंग वाली होती है ॥६॥

अब जो आठ ईंटें बचीं, वह आठ अक्षर की गायत्री है।

ष्टाक्षरा गायत्री ब्रह्म गायत्री तद्यत्तद्ब्रह्मैतत्तद्यदेतन्मण्डलं तपति तदेतस्मिन्नेक-
विꣳशे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितं तपति तस्मान्नावपद्यते ॥७॥ तद्धैके । वेषश्रीः क्ष-
त्राय क्षत्रं जिन्वेति त्रिꣳशत्तमीमुपदधति त्रिꣳशदक्षरा विराड्विराडेषा चितिरिति
न तथा कुर्यादिति ते रेचयन्त्येकविꣳशसम्पदमथो गायत्रीसम्पदमथोऽइन्द्रलोको
ह्येष यैषान्यूना विराडिन्द्राय ह तऽइन्द्रलोके द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कु-
र्वन्तीन्द्रमिन्द्रलोकान्नुदन्ते यजमानो वै स्वे यज्ञऽइन्द्रो यजमानाय ह ते यजमा-
नलोके द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्वन्ति यजमानं यजमानलोकान्नुदन्ते यं वा
ऽएतमग्निमाहरन्त्येष एव यजमान आयतनेनैष उऽएवात्र त्रिꣳशत्तमी ॥८॥
ब्राह्मणम् ॥४ [५. ३.] ॥ ॥

ता अषाढये वेलयोपदधाति । वाग्वाऽअषाढा रस एष वाचि तद्रसं दधाति
तस्मात्सर्वेषामङ्गानां वाचैवान्नस्य रसं विजानाति ॥१॥ यद्वेवाषाढये । इयं वा
ऽअषाढासावादित्य स्तोमभागा अमुं तदादित्यमस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥२॥
यद्वेवाषाढये । इयं वाऽअषाढा हृदयꣳ स्तोमभागा अस्यां तद्धृदयं मनो दधाति
तस्मादस्याꣳ हृदयेन मनसा चेतयते सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्धृदयं मनो दधाति
तस्मादस्याꣳ सर्वतो हृदयेन मनसा चेतयतेऽथो पुण्या हैता लक्ष्म्यस्ता एतत्स-
र्वतो धत्ते तस्माद्यस्य सर्वतो लक्ष्म भवति तं पुण्यलक्ष्मीक इत्याचक्षते ॥३॥
अथैनाः पुरीषेण प्रच्छादयति । अन्नं वै पुरीषꣳ रस एष तमेतत्तिरः करोति त-
स्मात्तिर-इवान्नस्य रसः ॥४॥ यद्वेव पुरीषेण । अन्नं वै पुरीषꣳ रस एषोऽन्नं च
तद्रसं च संतनोति संदधाति ॥५॥ यद्वेव पुरीषेण । हृदयं वै स्तोमभागाः पुरी-
तत्पुरीषꣳ हृदयं तत्पुरीतता प्रच्छादयति ॥६॥ यद्वेव पुरीषेण । संवत्सर एषो
ऽग्निस्तमेतच्चितिपुरीषैर्व्यावर्तयति तद्याश्चतस्रः प्रथमाश्चितयस्ते चत्वार ऋतवोऽथ
स्तोमभागा उपधाय पुरीषं निवपति सा पञ्चमी चितिः स पञ्चम ऋतुः ॥७॥

गायत्री ब्रह्म है। यह जो मण्डल (सूर्य) तपता है वह ब्रह्म है। इस इक्कीसवाली प्रतिष्ठा पर ही स्थित हुआ यह तपता है और इसीलिए गिरता नहीं ॥७॥

कुछ लोग तीसवीं स्तोमभाग ईंट को भी इस मन्त्र से रखते हैं—"वेषश्रीः क्षत्राय क्षत्रं जिन्व"—"श्रीयुक्त तू क्षत्र से क्षत्र को खोज।" तीस अक्षर का विराट् छन्द है। यह चिति भी विराट् है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से इक्कीस अंगवाली नींव और गायत्री से बढ़ जाते हैं। यह जो न्यून विराट् है वह इन्द्रलोक है। इस इन्द्रलोक में ही इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी शत्रु को खड़ा करके इन्द्र को इन्द्रलोक से निकाल देते हैं। इस यज्ञ में यजमान स्वयं इन्द्र है। इस यजमान के लोक में वे यजमान का प्रतिद्वन्द्वी खड़ा कर देते हैं और यजमान को उसी के लोक से बाहर कर देते हैं। यह जो अग्नि लाई जाती है यही यजमान है। अपने आयतन (विस्तार) से ही यह स्वयं इस चिति में तीसवाँ हो जाता है ॥८॥

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

इनको अषाढ़ा ईंटों की वेला में रखता है। अषाढ़ा वाणी है। यह अन्न का रस है। इस प्रकार वह वाणी में अन्न के रस को रखता है। इसलिए वाणी के द्वारा ही मनुष्य सब अंगों के अन्न के रस को जानता है ॥१॥

अषाढ़ा की वेला में क्यों? इसलिए कि यह पृथिवी अषाढ़ा है और आदित्य स्तोमभाग है। इस प्रकार वह उस आदित्य को इस पृथिवीरूपी प्रतिष्ठा में स्थापित करता है ॥२॥

अषाढ़ा की वेला में इसलिए भी कि यह पृथिवी अषाढ़ा है और हृदय स्तोमभाग है। इस प्रकार वह इस पृथिवी को हृदय या मान से युक्त करता है। इसलिए इस पृथिवी पर लोग हृदय या मन के द्वारा सोचते हैं। सब ओर रखता है अर्थात् सब ओर हृदय और मन की स्थापना करता है। इसलिए सब ओर इस पृथिवी पर लोग हृदय या मन के द्वारा सोचते हैं। ये ईंटें पुण्य तथा लक्ष्मीयुक्त हैं। इनको सब ओर रखता है। इसीलिए जिसके भाग्य चारों ओर अच्छे होते हैं, उसको पुण्यलक्ष्मीक कहते हैं ॥३॥

इनको मिट्टी से ढकता है। अन्न ही पुरीष है। ये ईंटें रस हैं। इनको छिपा देता है, क्योंकि अन्न का रस भी तो छिपा रहता है ॥४॥

इनको मिट्टी से क्यों छिपाता है? अन्न पुरीष है। ये ईंटें रस है। इस प्रकार वह अन्न और उसके रस को संयुक्त करता है ॥५॥

इनको मिट्टी से इसलिए भी छिपाता है कि स्तोमभाग ईंटें हृदय है। पुरीष पुरीतत् है। इस प्रकार हृदय को पुरीतत् से आच्छादित करता है ॥६॥

पुरीष से इसलिए भी कि यह अग्नि (वेदी) संवत्सर है, इसको चिति-पुरीष द्वारा विभाजित करता है। ये जो पहली चार चिति थीं वे ऋतुयें थीं। स्तोमभागों को रखकर उन पर मिट्टी डालता है। यह पाँचवीं चिति है, यह पाँचवीं ऋतु है ॥७॥

तदाहुः । यल्लोकम्पृणान्ता अन्याश्चितयो भवन्ति नात्र लोकम्पृणामुपदधाति कात्र लोकम्पृणेत्यसौ वाऽआदित्यो लोकम्पृणैष उऽएषा चितिः सैषा स्वयं लोकम्पृणा चितिरथ यदत ऊर्ध्वमा पुरीषात्सा षष्ठी चितिः स षष्ठ ऋतुः ॥८॥ अथ पुरीषं निवपति । तत्र विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति हिरण्यशकलैः प्रोक्षत्यग्निमभ्यादधाति सा सप्तमी चितिः स सप्तम ऋतुः ॥९॥ ता उ वै षडेव । यद्धि विकर्णी च स्वयमातृण्णा च षष्ठ्या एव तच्चितेः ॥१०॥ ता उ वै पञ्चैव । यजुषान्यासु पुरीषं निवपति तूष्णीमत्र तेनैषा न चितिरथो लोकम्पृणान्ता अन्याश्चितयो भवन्ति नात्र लोकम्पृणामुपदधाति तेनोऽएवैषा न चितिः ॥११॥ ता उ वै तिस्र एव । अयमेव लोकः प्रथमा चितिर्द्यौरुत्तमाथ या एतास्तिस्रस्तदन्तरिक्षं तद्धाऽइदमेकमिवैवान्तरिक्षं ता एवं तिस्र एवं पञ्चैव षडेव सप्त ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥५ [५. ४.] ॥ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [५३.] ॥ ॥

नाकसद उपदधाति । देवा वै नाकसदोऽत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र नाकः स्वर्गो लोकस्तस्मिन्देवा असीदंस्तद्यदेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके देवा असीदंस्तस्माद्देवा नाकसदस्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति ॥१॥ यद्वेव नाकसद उपदधाति । एतद्वै देवा एतं नाकꣳ स्वर्गं लोकमपश्यन्नेता स्तोमभागास्तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथास्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदामेति ॥२॥ ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्नाकसदस्ता उपादधत ताभिरेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तद्यदेताभिरेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तस्मादेता नाकसदस्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति ॥३॥ दिक्षूपदधाति । दिशो वै स नाकः स्वर्गो लोकः स्वर्गऽएवैना एतल्लोके सादयत्यृतव्यानां वेलया संवत्सरो वाऽऋतव्याः संवत्स-

इस पर कुछ लोग शंका करते हैं कि अन्य चितियों के अन्त में तो लोकम्पृणा ईंटें रखते हैं। इस (पाँचवीं) चिति में तो लोकम्पृणा रक्खी नहीं जातीं। फिर यहाँ लोकम्पृणा का काम कौन करेगा ? यह आदित्य ही लोकम्पृणा है। यह चिति भी आदित्य ही है। यह चिति स्वयं लोकम्पृणा है। यह जो इस चिति के ऊपर मिट्टी की तह तक है यह छठी चिति है। यह छठी ऋतु हुई ॥८॥

अब पुरीष को बिछाता है। इस पर विकर्णी और स्वयमातृण्णा को रखता है। उन पर स्वर्ण के टुकड़े डालता है। उस पर अग्नि रखता है। यह सातवीं चिति हुई, यह सातवीं ऋतु हुई ॥९॥

परन्तु ये तो छः ही हुईं। विकर्णी और स्वयमातृण्णा तो छठी चिति में शामिल है ॥१०॥

वस्तुतः ये पाँच ही हैं। अन्य ईंटों पर भी यजु-मन्त्र पढ़कर पुरीष डालता है, चुपचाप। इस प्रकार यह चिति में शामिल नहीं है। अन्य चिति के अन्त में लोकम्पृणा ईंटें होती हैं। यहाँ लोकम्पृणा नहीं रक्खी जाती। इसलिए भी इसकी गणना चिति में नहीं हुई ॥११॥

वस्तुतः ये तीन ही हुईं। यह पृथिवीलोक प्रथम चिति है। दूसरी चिति द्यौ है। ये जो तीन हैं वे अन्तरिक्ष हैं। क्योंकि अन्तरिक्ष तो एक ही है। इस प्रकार ये तीन हुईं या पाँच, या छः या सात ॥१२॥

नाकसत्पञ्चचूडेष्टकोपधानम्

अध्याय ६—ब्राह्मण १

अब नाकसद ईंटों को रखता है। देव ही नाकसद हैं। इस चिति से समस्त अग्नि (वेदी) पूरी हो जाती है। यहाँ ये ईंटें नाक या स्वर्गलोक हैं। इसमें देव बैठे हैं (असीदन्)। चूंकि इस स्वर्गलोक में देव बैठे, इसलिए देव नाकसद हुए। इसी प्रकार यह यजमान भी इन ईंटों को रखता है, अर्थात् इस नाक या स्वर्गलोक में बैठता है ॥१॥

नाकसद ईंटों के रखने का प्रयोजन यह है कि देवों ने इस नाक या स्वर्गलोक या स्तोम-भागों को देखा। वे बोले, 'इस नाक या स्वर्गलोक में कैसे बैठें, इस बात को जानो।' वे बोले, 'विचार करो' अर्थात् चिति की इच्छा करो। इसका तात्पर्य यह था कि यह विचारो कि किस प्रकार हम इस नाक अर्थात् स्वर्गलोक में बैठें ॥२॥

विचार करते हुए उन्होंने इन नाकसद ईंटों को देखा, और उनको रख दिया। उनके द्वारा इस नाक या स्वर्गलोक में बैठे। चूंकि इनके द्वारा नाक या स्वर्गलोक में बैठे, इसलिए इनका नाम नामसद हुआ। इसी प्रकार यह यजमान भी इनको रखता है, मानो इनके द्वारा नाक या स्वर्गलोक में बैठता है ॥३॥

इनको चार दिशाओं में रखता है। ये दिशाएँ ही नाक या स्वर्गलोक हैं। इनको स्वर्ग-लोक में ही रखता है, ऋतव्य ईंटों की वेला में।

रः स्वर्गो लोकः स्वर्गऽएवैना एतल्लोके सादयत्यन्तस्तोमभागमेष वै स नाकः स्वर्गो लोकस्तस्मिन्नेवैना एतत्प्रतिष्ठापयति ॥४॥ स पुरस्तादुपदधाति । राज्ञ्यसि प्राची दिगिति राज्ञी ह नामैषा प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतय इति वसवो ह्येतस्यै दिशो देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्तेत्यग्निर्ह्येवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयत्विति त्रिवृता ह्येषा स्तोमेन पृथिव्याᳬ श्रिताऽऽज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नात्वित्याज्येन ह्येषोक्थेनाव्यथायै पृथिव्याᳬ स्तब्धा रथन्तरᳬ साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽइति रथन्तरेण ह्येषा साम्ना प्रतिष्ठितान्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति प्राणा वाऽऋषयः प्रथमजास्तद्धि ब्रह्म प्रथमजं दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्त्विति यावती द्यौस्तावतीं वरिम्णा प्रथन्त्वित्येतद्विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाक्च तौ मनश्च तौ हीदᳬ सर्वं विधारयतस्ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्त्विति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥५॥ अथ दक्षिणतः । विराडसि दक्षिणा दिगिति विराड् नामैषा दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इति रुद्रा ह्येतस्यै दिशो देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्तेतीन्द्रो ह्येवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयत्विति पञ्चदशेन ह्येषा स्तोमेन पृथिव्याᳬ श्रिता प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नात्विति प्रउगेण ह्येषोक्थेनाव्यथायै पृथिव्याᳬ स्तब्धा बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽइति बृहता ह्येषा साम्ना प्रतिष्ठितान्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥६॥ अथ पश्चात् । सम्राडसि प्रतीची दिगिति सम्राड् नामैषा प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतय इत्यादित्या ह्येतस्यै दिशो देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्तेति वरुणो ह्येवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयत्विति सप्तदशेन ह्येषा स्तोमेन पृथिव्याᳬ श्रिता मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नात्विति मरुत्वतीयेन ह्येषोक्थेनाव्यथायै पृथिव्याᳬ स्तब्धा वैरूपᳬ साम प्रति-

ऋतव्य संवत्सर हैं, संवत्सर स्वर्गलोक है। इनको स्वर्गलोक में ही रखता है, स्तोमभागों के भीतर। क्योंकि यह नाक या स्वर्गलोक है, इसी में वह इसकी स्थापना करता है ॥४॥

वह आगे को रखता है, इस मन्त्र से—"राज्ञ्यसि प्राची दिक्" (यजु० १५।१०)—क्योंकि "पूर्व दिशा रानी है।" "वसवस्ते देवा ऽ अधिपतयः" (यजु० १५।१०)—"वसु देव तेरे अधिपति हैं।" "अग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता" (यजु० १५।१०) —"अग्नि इन बाणों का धारक है।" "त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याँ श्रयतु" (यजु० १५।१०) —"त्रिवृत् स्तोम तुझको पृथिवी में आश्रय देवे।" क्योंकि यह पृथिवी पर त्रिवृत् स्तोम द्वारा ही आश्रित है। "आज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु" (यजु० १५।१०)—क्योंकि यह पृथिवी पर आज्य-शस्त्र द्वारा स्थापित है। "रथन्तरँ साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षे" (यजु० १५।१०) —"प्रतिष्ठा के लिए अन्तरिक्ष में रथन्तर साम" क्योंकि यह अन्तरिक्ष में रथन्तर साम द्वारा स्थित है। "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" (यजु० १५।१०)—'प्रथमा ऋषि' (पहले उत्पन्न हुए ऋषि) प्राण हैं, क्योंकि ये प्रथमज ब्रह्म हैं। "दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु" (यजु० १५.१०)—अर्थात् जितना विस्तार में द्यौ है, उतना ही विस्तार तेरा रक्खें। "विधर्ता चायमधिपतिश्च" (यजु० १५।१०)— वाणी और मन ये दोनों सबको धारण करते हैं, इसलिए "ये विधर्ता और अधिपति हैं।" "ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु" (यजु० १५।१०)—"ये सब एकमन होकर तुझको और यजमान को नाक की पीठ पर स्वर्गलोक में स्थापित करें।" यजु का अर्थ स्पष्ट है ॥५॥

अब दक्षिण की ओर. इस मन्त्र से—"विराडसि दक्षिणा दिक्" (यजु० १५।११)—यह दक्षिण दिशा है ही विशाल। "रुद्रास्ते देवा ऽ अधिपतयः" (यजु० १५।११)—इस दिशा के अधिपति देव रुद्र हैं। "इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता" (यजु० १५।११)—"इन्द्र शस्त्रों को धारण करने वाला है।" "पंचदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याँ श्रयतु" (यजु० १५।११)—वस्तुतः यह पृथिवी पर पंचदश स्तोम द्वारा स्थापित है। "प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु" (यजु० १५।११)—वस्तुतः प्रउग-शस्त्र द्वारा यह पृथिवी में स्थापित है। "बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षे" (यजु० १५।११) —"अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठिति के लिए बृहत्साम है।" "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" (यजु० १५।११)—इसका अर्थ स्पष्ट है ॥६॥

अब पश्चिम की ओर इस मन्त्र से—"सम्राडसि प्रतीची दिक्" (यजु० १५।१२)—क्योंकि पश्चिम दिशा सम्राट् है। "आदित्यास्ते देवा अधिपतयः" (यजु० १५।१२)—क्योंकि इस दिशा के अधिपति देव आदित्य हैं। "वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता" (यजु० १५।१२)—वरुण शस्त्रों का प्रतिधर्ता है। "सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याँ श्रयतु" (यजु० १५।१२)—क्योंकि इस पृथिवी पर सप्तदश स्तोम द्वारा यह स्थित है। "मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु" (यजु० १५।१२)—क्योंकि मरुत्वतीय उक्थ द्वारा यह पृथिवी में स्थापित है। "वैरूपँ साम प्रतिष्ठित्या-

ष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽइति वैरूपेण ह्येषा साम्ना प्रतिष्ठितान्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥ अथोत्तरतः स्वराडस्युदीची दिगिति स्वराड् नामैषोदीची दिङ्मरुतस्ते देवा अधिपतय इति मरुतो ह्येतस्यै दिशो देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्तेति सोमो ह्येवात्र हेतीनां प्रतिधर्तैकविꣳशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयत्वित्येकविꣳशेन ह्येषा स्तोमेन पृथिव्याꣳ श्रिता निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नात्विति निष्केवल्येन ह्येषोक्थेनाव्यथायै पृथिव्याꣳ स्तब्धा वैराजꣳ साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽइति वैराजेन ह्येषा साम्ना प्रतिष्ठितान्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥८॥ अथ मध्ये । अधिपत्न्यसि बृहती दिगित्यधिपत्नी ह नामैषा बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतय इति विश्वे ह्येतस्यै दिशो देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्तेति बृहस्पतिर्ह्येवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतामिति त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ ह्येषा स्तोमाभ्यां पृथिव्याꣳ श्रिता वैश्वदेवाग्निमारुतेऽउक्थेऽअव्यथायै स्तभ्नीतामिति वैश्वदेवाग्निमारुताभ्याꣳ ह्येषोक्थाभ्यामव्यथायै पृथिव्याꣳ स्तब्धा शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽइति शाक्वररैवताभ्याꣳ ह्येषा सामभ्यां प्रतिष्ठितान्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥९॥ एतावान्वै सर्वो यज्ञः । यज्ञ उ देवानामात्मा यज्ञमेव तद्देवा आत्मानं कृत्वैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तथैवैतद्यजमानो यज्ञमेवात्मानं कृत्वैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदति ॥१०॥ अथ पञ्चचूडा उपदधाति । यज्ञो वै नाकसदो यज्ञ उऽएव पञ्चचूडास्तद्यऽइमे चत्वार ऋत्विजो गृहपतिपञ्चमास्ते नाकसदो होत्राः पञ्चचूडा अतिरिक्तं वै तद्यद्धोत्रा यद्व वाऽअतिरिक्तं चूडः स तद्यत्पञ्चातिरिक्ता तस्मात्पञ्चचूडाः ॥११॥ यद्वेव नाकसत्पञ्चचूडा उपदधाति । आत्मा वै नाकसदो मिथुनं पञ्चचूडा अर्धमु ह्येतदात्मनो यन्मिथुनं यदा वै सह मिथुनेनाथ सर्वोऽथ कृत्स्नः

ऽअन्तरिक्षे" (यजु० १५।१२) –वैरूप साम द्वारा ही अन्तरिक्ष में इसकी प्रतिष्ठा है। "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" (यजु० १५।१२) —इसका अर्थ स्पष्ट है ।।७।।

अब उत्तर की ओर इस मन्त्र से—"स्वराडस्युदीची दिक्" (यजु० (१५।१३) —उत्तर की दिशा स्वराट् है। "मरुतस्ते देवा ऽ अधिपतयः (यजु० १५।१३) –इस दिशा के देव मरुत् हैं। "सोमो हेतीनां प्रतिधर्ता" (यजु० १५।१३) –सोम शस्त्रों का प्रतिधर्ता है। "एकवि ँ शस्त्वा स्तोमः पृथिव्या ँ श्रयतु" (यजु० १५।१३) –इक्कीस-स्तोम इसको पृथिवी में स्थापित करता है। "निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु" (यजु० १५।१३) — निष्केवल्यउक्थ द्वारा यह स्थित है। "वैराज ँ साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षे" (यजु० १५।१३) –वैराज साम द्वारा इसकी अन्तरिक्ष में स्थिति है। "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" (यजु० १५।१३) –यह स्पष्ट है ।।८।।

इस मन्त्र से बीच में —"अधिपत्न्यसि बृहती दिक्" (यजु० १५।१४) —"यह बृहती दिशा वस्तुतः अधिपत्नी है।" "विश्वे ते देवा ऽ अधिपतयः" (१५।१४) –"इस दिशा के अधिपति विश्वेदेव हैं।" "बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता" (यजु० १५।१४) —"बृहस्पति ही शस्त्रों का प्रतिधर्ता है।" "त्रिणवत्रयस्त्रि ँ शौ त्वा स्तोमौ पृथिव्या ँ श्रयताम्" (यजु० १५।१४) –"सत्ताईस और तेतीसवाले स्तोम पृथिवी में इसको स्थापित किये हुए हैं।" "वैश्वदेवाग्निमारुते ऽ उक्थे ऽ अव्यथायै स्तभ्नीताम्" (यजु० १५।१४) —"वैश्वदेव-अग्नि-मारुत शस्त्र इसको पृथिवी में दृढ़ किये हुए हैं।" "शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षे" (यजु० १५।१४) –"अन्तरिक्ष में शाक्वर-रैवत सामों द्वारा इसकी प्रतिष्ठा है।" "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" (यजु० १५।१४) —यह तो स्पष्ट है ।।९।।

सब यज्ञ इतना ही है। यज्ञ देवों का आत्मा है। यज्ञ को आत्मा मानकर ही देव इस नाक अर्थात् स्वर्गलोक में बैठे थे। इसी प्रकार यह यजमान भी यज्ञ की आत्मा मानकर इस नाक अर्थात् स्वर्गलोक में बैठता है ।।१०।।

अब 'पंचचूड' ईंटों को रखता है। यज्ञ ही नाकसद है, पंचचूड ईंटें यज्ञ हैं। नाकसद हैं चार ऋत्विज और पाँचवाँ गृहपति। पंचचूड हैं होत्र। होत्र फाजिल (अतिरिक्त) है। फाजिल या अतिरिक्त को कहते हैं चूड। ये पाँचों ईंटें फाजिल होती हैं, इसलिए ये पंचचूड कहलाती हैं ।।११।।

नाकसत्-पंचचूड रखने का प्रयोजन यह है कि नाकसद आत्मा हैं। और पंचचूड़ मिथुन (जोड़ा) है। मिथुन आत्मा का आधा होता है। जब मनुष्य अपने जोड़े के साथ होता है तब

कृत्स्नतायै ॥१२॥ यद्वेव नाकसत्पञ्चचूडा उपदधाति । आत्मा वै नाकसदः प्रजा पञ्चचूडा अतिरिक्तं वै तदात्मनो यत्प्रजा यद्व वाऽअतिरिक्तं चूडः स तद्यत्पञ्चातिरिक्तास्तस्मात्पञ्चचूडाः ॥१३॥ यद्वेव नाकसत्पञ्चचूडा उपदधाति । दिशो वै नाकसदो दिश उऽएव पञ्चचूडास्तद्या अमुष्मादादित्यादर्वाच्यः पञ्च दिशस्ता नाकसदो याः पराच्यस्ताः पञ्चचूडा अतिरिक्ता वै ता दिशो या अमुष्मादादित्यात्पराच्यो यद्व वाऽअतिरिक्तं चूडः स तद्यत्पञ्चातिरिक्तास्तस्मात्पञ्चचूडाः ॥१४॥ यद्वेव पञ्चचूडा उपदधाति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इमांलोकानुपरिष्टाद्रक्षाᳪसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतानेषां लोकानामुपरिष्टाद्गोप्तॄनकुर्वत यऽएते हेतयश्च प्रहेतयश्च तथैवैतद्यजमान एतानेषां लोकानामुपरिष्टाद्गोप्तॄन्कुरुते यऽएते हेतयश्च प्रहेतयश्च ॥१५॥ स पुरस्तादुपदधाति । अयं पुरो हरिकेश इत्यग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चᳪ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्धरिकेश इत्याह हरिरिव ह्यग्निः सूर्यरश्मिरिति सूर्यस्येव ह्यग्ने रश्मयस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्याविति वासन्तिकौ तावृतू पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसाविति दिक्चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः सेना च तु ते समितिश्च दङ्क्ष्णावः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिति यद्वै सेनायां च समितौ चऽर्तीयन्ते ते दङ्क्ष्णावः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिति यदन्योऽन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्त्विति तेभ्य एव नमस्करोति ते नो मृडयन्त्विति तऽएवास्मै मृडयन्ति ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति यमेव द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधात्यमुमेषां जम्भे दधामीति ह ब्रूयाद्यं द्विष्यात्ततोऽह नास्मिन्न पुनरस्त्यपि तन्नाद्रियेत स्वयंनिर्दिष्टो ह्येव स यमेवंविद्द्वेष्टि ॥१६॥ अथ दक्षिणतः । अयं दक्षिणा विश्वकर्मेत्ययं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवतऽएष हीदᳪ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं

पूरा होता है ॥१२॥

नाकसत्-पंचचूड रखने का यह भी हेतु है कि नाकसद आत्मा है और पंचचूड प्रजा। प्रजा आत्मा से अतिरिक्त होती है। जो अतिरिक्त है वह चूड है। ये पंचचूड ईंटें अतिरिक्त हैं, अतः ये पंचचूड कहलाईं ॥१३॥

नाकसत्-पंचचूड को रखने का यह भी तात्पर्य है कि दिशायें नाक हैं। दिशायें पंचचूड हैं। उस आदित्य से इधर की जो पाँच दिशायें हैं, वे नाकसद हैं, जो उस ओर हैं वे पंचचूड हैं। जो दिशायें आदित्य के उधर हैं वे अतिरिक्त हैं, अतिरिक्त को कहते हैं चूड। चूँकि ये पाँच ईंटें अतिरिक्त हैं इसलिए इनका नाम है पंचचूड ॥१४॥

पंचचूडों के रखने का यह भी कारण है कि देवों को भय हुआ कि दुष्ट राक्षस इन लोकों का ऊपर की ओर से नाश न कर दें। उन्होंने इन लोकों के ऊपर इनको रक्षक बनाया, अर्थात् शस्त्र और प्रतिशस्त्र (हथियार के रूप में)। इसी प्रकार यह यजमान भी इन लोकों के ऊपर इनको शस्त्र-प्रतिशस्त्र के रूप में रक्षक बनाता है ॥१५॥

एक ईंट को इस मन्त्र से आगे रखता है—"अयं पुरो हरिकेशः" (यजु० १५।१५)—अग्नि को कहा है 'पुर'। पुर इसलिए कि अग्नि को गार्हपत्य से निकालकर आगे ले चलते हैं। हरिकेश इसलिए कहा कि अग्नि हरि (हरितवर्ण) है। "सूर्यरश्मिः" (यजु० १५।१५)—"क्योंकि अग्नि की किरणें सूर्य की किरणों के समान हैं।" "तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ" (यजु० १५।१५)—"ये रथगृत्स और रथौजा दो वसन्त के मास हैं।" "पुंजिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ" (यजु० १५।१५)—पुंजिकस्थला और क्रतुस्थला माहित्थि के कथनानुसार दिशाओं और उपदिशाओं के नाम हैं। परन्तु वस्तुतः ये सेना और युद्ध हैं।" "दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिः" (यजु० १५।१५)—"सेना और युद्ध में जो मारते हैं उनका नाम है 'दङ्क्ष्णु पशु' और वे प्रहेति या शस्त्र हैं।" "पौरुषेयो वधः प्रहेतिः" (१५।१५)—जो एक-दूसरे को मारते हैं, इसलिए ये पुरुषों का वधरूपी शस्त्र है। "तेभ्यो नमो ऽस्तु" (यजु० १५।१५)—उनको नमस्कार करता है। "ते नो मृडयन्तु" (यजु० १५।१५)—"वे उस पर अवश्य ही कृपा करते हैं।" "ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः" (यजु० १५।१५)—"जिससे वे द्वेष करते हैं या जो उनसे द्वेष करता है, उसको वे उनके जबड़े में रखते हैं।" जिससे वह द्वेष करे उसका नाम लेवे, और वह न रहेगा। या ऐसा न करे, क्योंकि जिससे वह द्वेष करता है वह तो निर्दिष्ट हो ही जाता है ॥१६॥

अब दक्षिण की ओर इस मन्त्र से—"अयं दक्षिणा विश्वकर्मा" (यजु० १५।१६)—"यह बहनेवाला वायु विश्वकर्मा है, क्योंकि यह सबको बनाता है। इसको दक्षिणवाला कहा गया, क्योंकि यह दक्षिण की ओर ही अधिक बहता है।

वाति तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविति ग्रैष्मौ तावृतू मेनका च सहजन्या चाप्सरसाविति दिक्चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरिमे तु ते द्यावापृथिवी यातुधाना हेती रक्षाᳬसि प्रहेतिरिति यातुधाना हैवात्र हेती रक्षाᳬसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥१७॥ अथ पश्चात् । अयं पश्चाद्विश्वव्यचा इत्यसौ वाऽआदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदᳬ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्याविति वार्षिकौ तावृतू प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसाविति दिक्चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरहोरात्रे तु ते ते हि प्र च म्लोचतोऽनु च म्लोचतो व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिरिति व्याघ्रा हैवात्र हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥१८॥ अथोत्तरतः । अयमुत्तरात्संयद्वसुरिति यज्ञो वाऽउत्तरात्तद्यत्तमाहोत्तरादित्युत्तरतऽउपचारो हि यज्ञोऽथ यत्संयद्वसुरित्याह यज्ञᳬ हि संयन्तीतीदं वस्विति तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति शारदौ तावृतू विश्वाची च घृताची चाप्सरसाविति दिक्चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिर्वेदिश्च तु ते स्रुक्च वेदिरेव विश्वाची स्रुग्घृताच्यापो हेतिर्वातः प्रहेतिरित्यापो हैवात्र हेतिर्वातः प्रहेतिरतो ह्येवोष्णो वात्यतः शीतस्तेभ्यो नमोऽअस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥१९॥ अथ मध्ये । अयमुपर्यर्वाग्वसुरिति पर्जन्यो वाऽउपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि पर्जन्योऽथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतूऽउर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाविति दिक्चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिराहुतिश्च तु ते दक्षिणा चावस्फूर्जन्हेतिर्विद्युत्प्रहेतिरित्यवस्फूर्जन्हैवात्र हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥२०॥ एते वै ते हेतयश्च प्रहेतयश्च । यांस्तद्देवा एषां लोकानामुप-

"तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ" (यजु० १५।१६)— ये रथस्वन और रथेचित्र ग्रीष्म ऋतु के दो मास हैं। "मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ" (यजु० १५।१६)—ये मेनका और सहजन्या तो दिशा और उपदिशा हैं, ऐसी माहित्थि की सम्मति है। परन्तु हैं वस्तुतः ये द्यौ और पृथिवी। "यातुधाना हेती रक्षाᳫँसि प्रहेतिः" (यजु० १५।१६)— "यातुधान हेति हैं और राक्षस प्रहेति।" "तेभ्यो नमो ऽ अस्तु" (यजु० १५।१६)—यह स्पष्ट है ॥१७॥

पश्चिम की ओर इस मन्त्र से—"अयं पश्चाद् विश्वव्यचाः" (यजु० १५।१७)—"यह आदित्य 'विश्वव्यच' है, क्योंकि जब यह चमकता है तो सब चीजें व्यक्त हो जाती हैं। चूंकि उसको 'पश्चाद्' कहा गया, इसलिए जब वह पश्चिम की ओर चलता है तभी दीखता है। "रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ" (यजु० १५।१७)—रथप्रोत और असमरथ वर्षा ऋतु के दो महीने हैं। "प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ" (यजु० १५।१७)—माहित्थि की राय में यह दिशा-उपदिशा है। परन्तु हैं ये दिन-रात, क्योंकि ये उदय और अस्त होते हैं। "व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिः" (यजु० १५।१७)—"व्याघ्र हेति हैं और सर्प प्रहेति।" "तेभ्यो नमो ऽ अस्तु" (यजु० १५।१७)—यह तो स्पष्ट है ॥१८॥

अब उत्तर की ओर इस मन्त्र से—"अयमुत्तरात् संयद् वसुः" (यजु० १५।१८)—उत्तर में यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ उत्तर की ओर से किया जाता है। इसको संयद्-वसु इसलिए कहा कि वसु समझकर वे उसको प्राप्त होते हैं। "तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ" (यजु० १५।१८)—तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि शरद् ऋतु के दो मास हैं। "विश्वाची च घृताची चाऽप्सरसौ" (यजु० १५।१८)—माहित्थि की सम्मति में ये दिशा और उपदिशा हैं। परन्तु हैं ये वेदि और स्रुक्। "आपो हेतिर्वातः प्रहेतिः" (यजु० १५।१८)—"जल हेति है और वायु प्रहेति" क्योंकि इधर से ठण्डा बहता है, उधर से गर्म। "तेभ्यो नमो ऽ अस्तु" (यजु० १५।१८)—यह तो स्पष्ट ही है ॥१९॥

अब मध्य में इस मन्त्र से—"अयमुपर्यर्वाग् वसुः" (यजु० १५।१९)—उपरि कहते हैं पर्जन्य या मेघ को, क्योंकि यह ऊपर है। इसको अर्वाग्-वसु इसलिए कहा कि वहीं से प्रजाओं के लिए वर्षा और अन्न आता है। "तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ" (यजु० १५।१९)—"सेनजित् और सुषेण हेमन्त ऋतु के दो मास हैं।" "उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाऽप्सरसौ" (यजु० १५।१९)—माहित्थि के मत में उर्वशी और पूर्वचित्ति दिशायें और उपदिशायें हैं, परन्तु हैं ये आहुति और दक्षिणा। "अवस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिः" (यजु० १५।१९)—"गर्जना हेति है, बिजली चमकना प्रहेति।" "तेभ्यो नमो ऽ अस्तु" (यजु० १५।१९)—यह स्पष्ट है ॥२०॥

ये हेति और प्रहेति हैं जिनको देवों ने इन लोकों के ऊपर रक्षक की भाँति रक्खा। जो

रिष्टाद्गोपनकुर्वताथ यास्ताः प्रजा एते ते सेनानीग्रामण्योऽथ यत्तन्मिथुनमेतास्ता अप्सरसः सर्वऽएव तद्देवाः कृत्स्ना भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तथैवैतद्यजमानः सर्व एव कृत्स्नो भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदति ॥२१॥ ॥ शतम्४६०० ॥॥ ता वाऽएताः । दशेष्टका उपदधाति दशाक्षरा विराड्विराडेषा चितिस्ता उ वै पञ्चैव द्वे-द्वे ह्युपदधाति ता हैता अग्नेराशिषस्ता उत्तमायां चिताऽउपदधात्यन्त एषोऽग्नेर्यदुत्तमा चितिरन्ततस्तदग्नेराशिषो निराह पञ्च भवन्ति पञ्च हि यज्ञऽआशिषोऽथैनेऽअन्तरा पुरीषं निवपत्यग्नी हैतौ यदेतेऽइष्टके नेदिमावग्नी सन्छोचात इत्यथोऽअन्नं वै पुरीषमन्नेनैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोति ॥२२॥ अथातोऽन्वावृतम् । पुरस्तादुपधाय दक्षिणतः पश्चादुत्तरतो मध्यऽउपदधात्यथोत्तराः पुरस्तादेवायऽउपधाय दक्षिणत उत्तरतो मध्ये पश्चादुपदधात्यवस्तात्प्रपदनो ह स्वर्गो लोक एतद्वै देवा इमांलोकान्त्सर्वतः समपिधायावस्तात्स्वर्गं लोकं प्रापद्यन्त तथैवैतद्यजमान इमांलोकान्त्सर्वतः समपिधायावस्तात्स्वर्गं लोकं प्रपद्यते ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [६. १.] ॥॥

छन्दस्या उपदधाति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र श्रियमैच्छन्तो हैषोऽतः पुरा तस्माऽअलमास यच्छ्रियमधारयिष्यत्तस्मादिदमप्येतर्ह्याहुर्न वाऽएषोऽलंश्रियै धारणाय राज्याय वा ग्रामणीथ्याय वेति तस्मै देवा एतांश्रियं प्रायच्छन्नेताश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दांस्यन्नं पशवोऽन्नमु श्रीः ॥१॥ त्रिचान्युपदधाति । त्रिवृद्धै पशुः पिता माता पुत्रोऽथो गर्भ उल्वं जराय्वथो त्रिवृद्वाऽअन्नं कृषिर्वृष्टिर्बीजमेकैवातिच्छन्दा भवत्येका ह्येव सा सर्वाणि छन्दांस्यति सा या सा श्रीर्महत्तदुक्थं तद्यत्तन्महदुक्थमेतास्ताश्छन्दस्याः ॥२॥ तस्य शिरो गायत्र्यः । आत्मा त्रिष्टुभोऽनूकं जगत्यः पक्षौ पङ्क्तयोऽथैतासां ककुभां चत्वारि-चत्वार्यक्षराण्या-

प्रजा हैं वे हैं सेनानीग्रामण्यौ (सैनिक तथा नेता)। जो जोड़े हैं वे अप्सरा हैं। इस प्रकार प्रजा और मिथुन से युक्त होकर देव नाक अर्थात् स्वर्गलोक में बैठे। इसी प्रकार यजमान भी इनसे पूर्ण होकर प्रजा और मिथुन के साथ नाक या स्वर्गलोक में बैठता है ॥२१॥

ये नाकसद-पंचचूड ईंटें दस होती हैं। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं और यह चिति भी विराट् है। वस्तुतः ये पाँच ही हुईं क्योंकि दो-दो करके रक्खी गईं। यह अग्नि के लिए आशीर्वाद हैं। इनको यह पिछली चिति में रखता है, क्योंकि यह पिछली चिति अग्नि का अन्त है। इसीलिए अग्नि के लिए आशीर्वाद पीछे आया। ये पाँच होती हैं क्योंकि यज्ञ में आशीर्वाद भी तो पाँच ही होते हैं। इन दोनों के बीच में पुरीष या मिट्टी रखता है। ये दोनों ईंटें अग्नि हैं; कहीं जल न उठें। इसके अतिरिक्त पुरीष अन्न है। इस प्रकार अन्न के द्वारा ही वह इन दोनों में मेल कराता है ॥२२॥

इनकी अनुवृति इस प्रकार है—पहले आगे की ओर रखता है, फिर दाहिनी ओर, फिर पीछे की ओर, फिर बाईं ओर, फिर मध्य में। अब ऊपर की तह इस प्रकार—पहले आगे रखकर, फिर दक्षिण की ओर, फिर उत्तर की ओर, फिर बीच में, फिर पश्चिम को ओर। स्वर्गलोक को नीचे की ओर से प्राप्त होते हैं, क्योंकि देवों ने इन लोकों को चारों ओर से घेरकर स्वर्गलोक को नीचे की ओर से प्राप्त किया। इसी प्रकार यजमान भी इन लोकों को चारों ओर से घेरकर स्वर्गलोक को नीचे की ओर से चढ़ता है ॥२३॥

छन्दस्येष्टकोपधानम्

अध्याय ६—ब्राह्मण २

अब छन्दस्य ईंटों को रखता है। अब यह अग्नि (वेदी) पूर्ण हो चुकी। अब इसकी इच्छा हुई कि मुझे श्री (श्रेष्ठता) मिले। इससे पहले यह वेदी अपूर्ण थी और श्री धारण करने के योग्य न थी। इसीलिए तो यह कहने की प्रथा है कि अमुक पुरुष राज्य या ग्राम-नेतृत्व के विषय में श्री धारण करने के योग्य नहीं है। देवों ने वेदी को 'श्री' प्रदान करने के लिए इन 'छन्दस्य' ईंटों को दिया। छन्दस्य पशु हैं। छन्दस्य अन्न है। पशु तथा अन्न ही 'श्री' है ॥१॥

तीन-तीन करके रखता है। पशु त्रिवृत् होता है अर्थात् पिता, माता तथा पुत्र; या गर्भ, उल्ब और जरायु। अन्न भी त्रिवृत् है अर्थात् कृषि, वृष्टि और बीज। इनमें से एक अतिछन्द होती है, क्योंकि यद्यपि एक है परन्तु और छन्दों से बड़ी है। यह जो श्री है वह उक्थ है और यह जो उक्थ है वह छन्दस्य है ॥२॥

इसका सिर गायत्री छन्द है, आत्मा त्रिष्टुभ्, रीढ़ जगती है, बाजू पंक्ति है। ककुभों में

द्रायातिच्छन्दस्युपदधाति सा सातिच्छन्दा एव भवति गायत्र्य इतराः सम्पद्यन्ते सैव गायत्र्यशीतिर्या बृहत्यः सा बार्हती या उष्णिहः सौष्णिह्यथ यद्दशो यदृर्चो य- दैन्द्राग्नं यदावपनं तदतिच्छन्दा अथ यन्नदो यत्सूददोहा यत्पदनुषङ्गा यत्किंचात्रा- नुष्टुप्कर्मीणं तदनुष्टुभः ॥३॥ प्रतिष्ठा द्विपदाः । एतावद्वै महदुक्थं महदुक्थ७ श्रीः सर्वामिवास्मा ऽ एतां देवाः श्रियं प्रायच्छंस्तथैवास्मा ऽ अयमेता७ सर्वा७ श्रियं प्र- यच्छति ॥४॥ यद्वेव छन्दस्या उपदधाति । एतद्वै देवा एतं नाक७ स्वर्गं लोकम- पश्यन्नेता स्तोमभागास्तस्मिन्नविशंस्तेषां विशतां प्रजापतिरुत्तमो ऽ विशत्स यः स प्रजापतिरेनास्ताश्छन्दस्याः ॥५॥ तस्य शिरो गायत्र्यः । ता यद्गायत्र्यो भवन्ति गायत्र७ हि शिरस्तिस्रो भवन्ति त्रिवृद्धि शिरः पूर्वार्ध ऽ उपदधाति पुरस्ताद्धीद७ शि- रः ॥६॥ उरस्त्रिष्टुभः । ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधाति पृष्टयो वै रेतःसिचा ऽ उरो वै प्रति पृष्टयः ॥७॥ श्रोणी जगत्यः । स यावति पुरस्तात्स्वयमातृण्णायै त्रिष्टुभ उपदधाति तावति पश्चाज्जगतीर्यो वा ऽ अयं मध्ये प्राणस्तदेषा स्वयमातृण्णा या- वत्यु वा ऽ एतस्मात्प्राणात्पुरस्तादुरस्तावति पश्चाच्छ्रोणी ॥८॥ सक्थ्यावनुष्टुभः । ता अनन्तर्हिता जगतीभ्य उपदधात्यनन्तर्हिते तच्छ्रोणिभ्य७ सक्थ्यौ दधाति ॥९॥ पर्शवो बृहत्यः । कीकसाः ककुभः सो ऽ न्तरेणा त्रिष्टुभश्च ककुभश्च बृहतीरुपदधा- ति तस्मादिमा उभयत्र पर्शवो बद्धाः कीकसासु च जत्रुषु च ॥१०॥ ग्रीवा उष्णि- हः । ता अनन्तर्हिता गायत्रीभ्य उपदधात्यनन्तर्हितास्तच्छीर्ष्णो ग्रीवा दधाति ॥११॥ पक्षौ पङ्क्तयः । ता यत्पङ्क्तयो भवन्ति पाङ्क्तौ हि पक्षौ पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो ह्रीमौ पक्षौ यद्वर्षीयश्छन्दस्तद्दक्षिणात उपदधाति दक्षिणं तदर्धं पशोर्वीर्यवत्तरं करोति तस्माद्दक्षिणो ऽ र्धः पशोर्वीर्यवत्तरः ॥१२॥ उदरमतिच्छन्दाः । पशवो वै छन्दा७स्यन्नं पशव उदरं वा ऽ अन्नमत्त्युदर७ हि वा ऽ अन्नमत्ति तस्माद्यदोदरमन्नं प्राप्नोत्यथ तज्जग्धं यातयामद्रूपं भवति तद्यदेषा पशूंश्छन्दा७स्यत्ति तस्मादत्तिच्छन्दा

से चार-चार अक्षर लेता है और अतिछन्दों में जोड़ता है। वह अतिछन्द हो जाता है। शेष गायत्री छन्द रह जाते हैं। नीचे के तीन मन्त्र ककुभ हैं—"भद्रो नो ऽ अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो ऽ अध्वरः। भद्रा ऽ उत प्रशस्तयः" (यजु० १५।३८)—"भद्रा ऽ उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः" (यजु० १५।३९)—"येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम्। वनेमा ऽ ते अभिष्टिभिः" (यजु० १५।४०)—इनमें से हर एक में तीन पाद हैं—पहले में आठ अक्षर, दूसरे में बारह, तीसरे में आठ, अर्थात् कुल २८। यदि चार अक्षर निकाल दिये जायँ तो शेष २४ अक्षर का गायत्री छन्द हो जाय। इसलिए बीच से ये अक्षर निकाल दिये जाते हैं—भद्रा रातिः, भद्रं मनः, अव स्थिरा। ये अक्षर यजु० १५।४७ में जोड़ने से अतिछन्द हो जाता है। ये हुईं अस्सी गायत्री। बृहती छन्द से बार्हत बना और उष्णिक् से औष्णिह। जो दो आधी ऋचायें हैं, वह वशा। जो ऐद्राग्नी और बीच की जुड़ी हुई है, वह अतिछन्द। जो नद, जो सूददोह, जो पदनुषङ्ग, और जो कुछ अनुष्टुम् हैं, वे सब मिलकर अनुष्टुम् होते हैं ॥३॥

द्विपद-मन्त्री प्रतिष्ठा (पादस्थानीय) हैं। यह हुआ महदुक्थ। महदुक्थ का अर्थ है श्री। इसको देवों ने समस्त श्री प्रदान की। यजमान भी इसको इसी प्रकार सब श्री प्रदान करता है ॥४॥

छन्दस्य ईंटों के रखने का यह भी हेतु है—देवों ने स्तोमभागरूपी स्वर्गलोक या नाक को देखा, और वे उसमें प्रविष्ट हो गये। इन सब प्रवेश करनेवालों में प्रजापति सबसे अन्तिम था। ये जो छन्दस्या हैं, यही प्रजापति है ॥५॥

गायत्री उसका सिर है। गायत्री इसलिए कि सिर गायत्र है। वे तीन होती हैं, क्योंकि सिर के तीन भाग होते हैं। वह इनको आगे की ओर रखता है, क्योंकि सिर आगे की ओर होता है ॥६॥

त्रिष्टुम् छाती हैं। इनको वह रेतःसिच् के पास रखता है, क्योंकि रेतःसिच् पसलियाँ हैं। पसलियाँ छाती से मिली होती हैं ॥७॥

जगती श्रोणी हैं। त्रिष्टुभों को वह स्वयमातृण्णा ईंटों से जितना आगे रखता है, जगतियों को उतना ही पीछे रखता है, क्योंकि स्वयमातृण्णा मध्य का प्राण है। छाती मध्य प्राण से इतनी ही आगे है जितनी श्रोणी पीछे ॥८॥

अनुष्टुम् जाँघें हैं। वह उनको जगतियों के पास रखता है, अर्थात् जाँघों को श्रोणियों के पास रखता है ॥९॥

बृहती पसलियाँ हैं। ककुभ छाती की हड्डियाँ। बृहतियों को त्रिष्टुम् और ककुभों के बीच में रखता है, जिससे ये पसलियाँ कीकस और जत्रु से मिली रहती हैं ॥१०॥

उष्णिक् ईंटें गर्दन हैं। इनको वह गायत्री ईंटों के पास रखता है। इस प्रकार गर्दन को सिर से मिलाकर रखता है ॥११॥

पंक्ति पक्ष (बाजू) हैं। पंक्ति इसलिए कि पक्ष में पंचत्व (पाँच भाग) होता है। इनको तिरछा रखता है, क्योंकि पक्ष (पंख) तिरछे रक्खे जाते हैं। जो छन्द बड़ा होता है उसे दाहिनी ओर रखता है। इस प्रकार पशु का दाहिना भाग अधिक बलवान् कर देता है। इसीलिए पशु का दाहिना भाग अधिक बलवान् होता है ॥१२॥

उदर (पेट) अतिछन्द है। छन्द पशु हैं। पशु अन्न हैं, अन्न उदर। उदर ही तो अन्न खाता है। जब अन्न उदर में जाता है, तब खाया हुआ और पचा हुआ समझा जाता है। यह ईंट पशुओं या छन्दों को खाती है (अत्ति) इसलिए यह अतिछन्द कहलाती है।

अतिछन्दा ह वै तामतिछन्दा इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः ॥१३॥ योनिः पुरीषवती । ते सꣳस्पृष्टेऽउपदधाति सꣳस्पृष्टे ह्युदरं च योनिश्च पुरीषसꣳहिते भवतो माꣳसं वै पुरीषं माꣳसेन वाऽउदरं च योनिश्च सꣳहिते पूर्वातिछन्दा भवत्यपरा पुरीषवत्युत्तरꣳ ह्युदरमधरा योनिः ॥१४॥ ते प्राच्याऽउपदधाति । प्राङ् ह्येषोऽग्निश्चीयतेऽथो प्राग्वै प्राच उदरं प्राची योनिर्बहिस्तोमभागꣳ हृदयं वै स्तोमभागा हृदयमु वाऽउत्तममथोदरमथ योनिः ॥१५॥ ते दक्षिणतः स्वयमातृण्णायाऽउपदधाति । अथ प्रथमायां चिताऽउत्तरतः स्वयमातृण्णाया ऽउदरं च योनिं चोपदधाति यो वाऽअयं मध्ये प्राणस्तदेषा स्वयमातृण्णैतस्य तत्प्राणस्योभयत उदरं च योनिं च दधाति तस्मादेतस्य प्राणस्योभयत उदरं च योनिश्च ॥१६॥ प्रतिष्ठा द्विपदाः । ता यद्द्विपदा भवन्ति द्वन्द्वꣳ हि प्रतिष्ठा तिस्रो भवन्ति त्रिवृद्धि प्रतिष्ठा पश्चादुपदधाति पश्चाद्धीयं प्रतिष्ठा ॥१७॥ सोऽस्यैष सुकृत आत्मा । तद्यस्य हैतमेवꣳ सुकृतमात्मानं कुर्वन्त्येतꣳ ह स सुकृतमात्मानमभिसम्भवत्यथ यस्य हैतमतोऽन्यथा कुर्वन्ति दुष्कृतꣳ ह तस्यात्मानं कुर्वन्ति स ह स दुष्कृतमेवात्मानमभिसम्भवति ॥१८॥ तदेते सामनिधनेऽअभ्युक्ते । अर्को देवानां परमे व्योमन्नर्कस्य देवाः परमे व्योमन्नित्येतद्धै देवानां विशतां प्रजापतिरुत्तमोऽविशत्तस्मादाहार्को देवानां परमे व्योमन्नित्यथ यदाहार्कस्य देवाः परमे व्योमन्नित्ययं वाऽअग्निरर्कस्तस्यैतदुत्तमायां चितौ सर्वे देवा विष्टास्तस्मादाहार्कस्य देवाः परमे व्योमन्निति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥७ [६. २.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०८ ॥ ॥

गार्हपत्यमुपदधाति । एतद्वै देवाः प्राप्य राद्ध्वेवामन्यन्त तेऽब्रुवन्केनेदमरात्स्मेति गार्हपत्येनैवेत्यब्रुवन्गार्हपत्यं वै चित्वा समारुह्य प्रथमां चितिमपश्याम प्रथमायै द्वितीयां द्वितीयायै तृतीयां तृतीयायै चतुर्थीं चतुर्थ्यै पञ्चमीं पञ्चम्या इदमिति

'अत्ति छन्द' का अतिछन्द होता है, क्योंकि देव परोक्षकाम होते हैं ।।१३।।

पुरीषवती अर्थात् मिट्टी से ढकी हुई ईंट योनि है। इन दोनों को मिलाकर रखता है, क्योंकि उदर और योनि पास-पास होते हैं। वे दोनों पुरीष या मिट्टी से मिले होते हैं। पुरीष मांस के तुल्य है, क्योंकि उदर और योनि मांस से मिले हैं। पहली अतिछन्दा है और दूसरी पुरीषवती। ऊपर उदर है, नीचे योनि ।।१४।।

इनको पूर्व की ओर रखता है क्योंकि अग्नि (वेदी) पूर्व की ओर ही चिनी जाती है। जो आगे की ओर चलता है उसका उदर और योनि दोनों चलते हैं। इनको स्तोमभाग से बाहर रखता है। स्तोमभाग हृदय है। सबसे ऊपर हृदय है, तब पेट, तब योनि ।।१५।।

वह स्वयमातृण्णा को दक्षिण की ओर रखता है। पहली चिति में उदर और योनि को स्वयमातृण्णा के उत्तर की ओर रखता है। यह स्वयमातृण्णा ईंट ऐसी ही समझनी चाहिए, जैसे बीच का प्राण। इस प्राण के दोनों ओर योनि को रखता है। इसीलिए इस प्राण के दोनों ओर उदर और योनि है ।।१६।।

द्विपद प्रतिष्ठा या पैर हैं। द्विपद इसलिए कि पैर दो होते हैं। ये तीन ऋचाएँ होती हैं, क्योंकि तिपाई के तीन पैर होते हैं। पीछे को रखता है, क्योंकि पैर पीछे होते हैं ।।१७।।

अब यह पूरी वेदी तैयार हो गई। जिसके शरीर को वे पूर्ण कर देते हैं, उसी का शरीर पूर्ण हो जाता है और जिसको वे अन्यथा करते हैं, उसका शरीर अपूर्ण रह जाता है ।।१८।।

ये दो सामनिधन इसी विचार से गाये जाते हैं। अर्क या सूर्य देवों के परम व्योम में है और देव सूर्य के परम व्योम में हैं। जब देवों ने प्रवेश किया तो प्रजापति सबसे पीछे प्रविष्ट हुआ। इसलिए कहा कि देवों के परम व्योम में अर्क प्रविष्ट हुआ। यह जो कहा कि देव सूर्य के परम व्योम में प्रविष्ट हुए, सूर्य या अर्क अग्नि (वेदी) है, और इसकी सबसे ऊपर की चिति में देव प्रविष्ट हुए हैं, इसीलिए कहा कि देव अर्क के परम व्योम में प्रविष्ट हुए ।।१९।।

गार्हपत्येष्टकोपधानम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

अब गार्हपत्य को बनाता है। देवों ने इसको प्राप्त करके अपने को सफल समझा। वे कहने लगे, 'हम किसके द्वारा सफल हुए?' उन्होंने कहा 'गार्हपत्य के द्वारा।' गार्हपत्य को चिनकर ही उस पर चढ़कर पहली चिति को हमने देखा, पहली से दूसरी को, दूसरी से तीसरी को, तीसरी से चौथी को, चौथी से पांचवीं को और पांचवीं से इसको ।।१।।

॥१॥ तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेयमस्मास्वेव राद्धिरसदिति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेयमस्मास्वेव राद्धिरसदिति ॥२॥ ते चेतयमानाः । एतदपश्यन्निहैममाहृत्योपदधामहाऽइति तमिहाहृत्योपादधत तस्मिन्व्यवदन्त वसवः पुरस्ताद्रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चान्मरुत उत्तरतो विश्वे देवा उपरिष्टादिहोपदधामेहोपदधामेति ॥३॥ तेऽब्रुवन् । मध्यऽएवोपदधामहै स नो मध्यऽउपहितः सर्वेषां भविष्यतीति तं मध्यऽउपादधत तदेताᳬराद्धिमात्मन्नदधत मध्यतो मध्यत एवैतदेताᳬराद्धिमात्मन्नदधत तथैवैतद्यजमानो यद्गार्हपत्यमुपदधात्येतामेवैतद्राद्धिमात्मन्धत्ते मध्यतो मध्यत एवैतदेताᳬराद्धिमात्मन्धत्ते ॥४॥ यद्वेव गार्हपत्यमुपदधाति । अन्नं वै गार्हपत्योऽत्तायमग्निश्चितोऽन्नऽएवैतदन्नमपिदधाति मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥५॥ यद्वेव गार्हपत्यमुपदधाति । वेदिर्वै देवलोकोऽथ वाऽएष बहिर्वेदि चितो भवति तं यदिहाहृत्योपदधाति तदेनं वेदौ देवलोके प्रतिष्ठापयति ॥६॥ यद्वेव गार्हपत्यमुपदधाति । योनिर्वै पुष्करपर्णमथ वाऽएष बहिर्योनि चितो भवति बहिर्धा वाऽएतस्यो-नेरग्निकर्म यत्पुरा पुष्करपर्णात्तं यदिहाहृत्योपदधाति तदेनं योनौ पुष्करपर्णे प्रतिष्ठापयति तथो हैषोऽबहिर्धा भवत्यष्टाविष्टका उपदधाति तस्योक्तो बन्धुस्तं वाऽएतैरेव यजुर्भिरेतयावृता चिनोति यो ह्येवासौ स एवायं तमेवैतदाहृत्येहोपदधाति ॥७॥ अथ पुनश्चितिमुपदधाति । एतद्वै देवा गार्हपत्यं चित्वा तस्मिन्राद्धिं नापश्यन्योनिर्वै गार्हपत्या चितिरेषो वै योनि राद्धिर्यद्रेतः प्रजातिस्तस्यामेतस्यां योनौ रेतः प्रजातिं नापश्यन् ॥८॥ तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्यां योनौ रेतः प्रजातिं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्यां योनौ रेतः प्रजातिं दधामेति ॥९॥ ते चेतयमानाः । एतां पुनश्चितिमपश्यंस्तामुपादधत तदेतस्यां योनौ रेतः प्रजातिमदधुर्मध्यतो मध्यत एवै-

उन्होंने कहा, 'ऐसा विचार करो कि यहाँ हमको सफलता कैसे हो ?' उन्होंने कहा 'चेतयध्वम्' (विचार करो) । इसका अर्थ हुआ चिति की इच्छा करो, अर्थात् ऐसी इच्छा करो कि यहाँ हमको सफलता हो ।।२।।

विचार करते हुए उन्होंने कहा कि 'इसको लाना चाहिए और यहाँ (अर्थात् वेदी पर) रखना चाहिए ।' उसको यहाँ लाकर उसकी स्थापना की । अब इस बात पर विवाद हुआ कि कहाँ रक्खें ? वसुओं ने कहा 'आगे की ओर ।' रुद्रों ने कहा 'दक्षिण की ओर', आदित्यों ने 'पश्चिम की ओर', मरुतों ने 'उत्तर की ओर', विश्वेदेवों ने 'ऊपर की ओर ।' यहाँ रक्खें, यहाँ रक्खें, इत्यादि ।।३।।

उन्होंने कहा, 'हम बीचों-बीच में रक्खें; बीच में रहने से यह हम सबका होगा ।' उन्होंने इसको बीच में स्थापित कर दिया । इस प्रकार उन्होंने सफलता को अपने बीच में स्थापित किया । इसी प्रकार यजमान भी गार्हपत्य की स्थापना से अपने-आप में सफलता की स्थापना करता है, और बीच में स्थापना करके मानो अपने बीच में सफलता को स्थापित करता है ।।४।।

गार्हपत्य की स्थापना का यह भी कारण है कि गार्हपत्य अन्न है । चिनी हुई अग्नि या वेदी अन्न को खानेवाली है । यहाँ इसी को अन्न देता है, मध्य में, अर्थात् मध्य में इसको अन्न देता है ।।५।।

गार्हपत्य की स्थापना इसलिए भी है कि वेदी देवलोक है । परन्तु गार्हपत्य वेदी के बाहर बनती है । इसलिए जब वह इसको यहाँ लाता है और वेदी पर रख देता है तो मानो उसको वेदी में देवलोक में स्थापित करता है ।।६।।

गार्हपत्य की स्थापना का हेतु यह भी है कि पुष्करपर्ण योनि है । यह गार्हपत्य योनि के बाहर बनाई जाती है । पुष्करपर्ण से पहले जो अग्निकर्म किया जाता है वह कर्म वेदी से बाहर किया जाता है । जब यह गार्हपत्य को लाकर यहाँ स्थापित करता है तो मानो वह पुष्करपर्ण पर योनि में उसको स्थापित करता है । इस प्रकार यह बाहर नहीं समझा जाता । आठ ईंटें रखता है, इसकी व्याख्या हो चुकी । इसको इन्हीं यजुओं से इसी आवृति से चिनता है । जैसा वह वैसा यह । इस प्रकार वह इसको यहाँ लाकर स्थापित करता है ।।७।।

अब पुनश्चिति की स्थापना करता है । जब देवों ने गार्हपत्य को बना लिया तो उसमें उनको सफलता न मिली, क्योंकि गार्हपत्य चिति योनि है । योनि की सफलता रेत या वीर्य या प्रजाति (उत्पन्न करने की शक्ति) है । इस योनि में उनको रेत या प्रजाति दिखाई नहीं पड़ी ।।८।।

वे बोले—ऐसा उपाय सोचो कि इस योनि में रेत या प्रजाति की स्थापना कर सकें । वे बोले 'विचार करो' (चेतयध्वम्) अर्थात् चिति की इच्छा करो कि इस योनि में रेत या प्रजाति को स्थापित कर सकें ।।९।।

उन्होंने विचार करके इस पुनश्चिति को देखा । इसकी स्थापना की और योनि में रेत या प्रजाति को रक्खा, बीच में, क्योंकि बीच में ही रेत या प्रजाति की स्थापना की । इस प्रकार

तदेतस्यां योनौ रेतः प्रजातिमदधुस्तथैवैतद्यजमानो यत्पुनश्चितिमुपदधात्येतस्यामेवैतद्योनौ रेतः प्रजातिं दधाति मध्यतो मध्यत एवैतदेतस्यां योनौ रेतः प्रजातिं दधाति ॥१०॥ ताᳪ हैके जघनार्धऽउपदधति । जघनार्धाद्धि रेतः सिच्यते पुच्छसंधौ पुच्छाद्धि रेतः सिच्यतऽइति न तथा कुर्याद्बहिर्धा ह ते योने रेतः प्रजातिं दधति ये तथा कुर्वन्ति मध्यऽएवोपदध्यात्तत्सम्प्रति योनौ रेतः प्रजातिं दधाति ॥११॥ अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतो भूतᳪ सिञ्चति पञ्च कृत्वः सादयति पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतो भूतᳪ सिञ्चत्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तत्त्रयोदश त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥१२॥ यद्वेव पुनश्चितिमुपदधाति । एतद्वाऽएतद्यथायथ करोति यदाहवनीयाद्गार्हपत्यमुत्तरं चिनोति तस्मात्पुनश्चितिमुपदधाति य एवायमग्निश्चितस्तमेवैतदाहुत्यास्योपरिष्टात्पुनश्चिनोति तस्माच्चितᳪ सन्तं पुनश्चिनोति तस्मात्पुनश्चितिः ॥१३॥ तद्धैके । जघनार्धे गार्हपत्यमुपदधति पूर्वार्धे पुनश्चितिमाहवनीयश्च वाऽएतौ गार्हपत्यश्चैवं वाऽएतावग्नीऽइति न तथा कुर्यादयं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीय उत्तरो वाऽअसावस्यै तस्मादेनामुत्तरामेवोपदध्यात् ॥१४॥ यद्वेव गार्हपत्यं च पुनश्चितिं चोपदधाति । वेदिश्च हैतेऽअग्नेरुत्तरवेदिश्चाथ येऽअमू पूर्वे निवपत्यधरस्य तेऽअथ हैतेऽअग्नेस्तद्यदेतेऽउपधायाग्निं निदधाति वेदौ चैवैनमेतदुत्तरवेदौ च प्रतिष्ठापयति ॥१५॥ यद्वेव पुनश्चितिमुपदधाति । पुनर्यज्ञो हैष उत्तरा हैषा देवयज्या पुनर्यज्ञमेवैतदुपधत्तऽउत्तरामेव देवयज्यामुप हैनं पुनर्यज्ञो नमति ॥१६॥ यद्वेव पुनश्चितिमुपदधाति । यं वै तं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निᳪ समस्कुर्वᳪस्स एष तमेवैतत्पुनश्चिनोति तस्माच्चितᳪ सन्तं पुनश्चिनोति तस्माद्वेव पुनश्चितिः ॥१७॥

यजमान भी पुनश्चिति की स्थापना करके मानो गार्हपत्यरूपी योनि में रेत या प्रजाति की स्थापना करता है, बीच में, क्योंकि योनि के बीच में ही रेत या प्रजाति की स्थापना की जाती है ॥१०॥

कुछ लोग इसको पीछे की ओर रखते हैं, क्योंकि पिछले भाग से ही रेत सींचा जाता है पुच्छ सन्धि में (जहाँ पूँछ और धड़ मिलते हैं), क्योंकि पुच्छ से ही रेत सींचा जाता है। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं वे मानो योनि के बाहर रेत को सींचते हैं। बीचों-बीच में रखना चाहिए, क्योंकि योनि के बीचों-बीच में ही रेत सींचा जाता है ॥११॥

आठ ईंटें रखता है। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसमें रेत सींचता है। पाँच बार रखता है। अग्नि (वेदी) में पाँच चितियाँ होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उसमें रेत का सिंचन करता है। आठ ईंटों को पाँच-पाँच करके रखता है। ये तेरह हुए। संवत्सर के तेरह मास होते हैं। वेदी में भी तेरह चितियाँ होती है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही यह भी हो जाता है ॥१२॥

पुनश्चिति को इसलिए रखता है कि आहवनीय के ऊपर गार्हपत्य को रखना अनुचित है। यह जो पुनश्चिति को रक्खा, मानो इसको यहाँ पूरा करके फिर चिनना (पुनिश्चिति) आरम्भ किया। यह जो चिनकर फिर चिना गया, इसलिए इसका नाम पुनश्चिति हुआ ॥१३॥

कुछ लोग पिछले आधे में गार्हपत्य को रखते हैं और अगले आधे में पुनश्चिति और आहवनीय को। या यों कहना चाहिए कि यह गार्हपत्य और आहवनीय, ये दो अग्नियाँ हुईं। परन्तु ऐसा न करे। यह लोक गार्हपत्य है। आहवनीय द्यौलोक है। वह इसके ऊपर है। इसलिए इसको ऊपर ही रखना चाहिए ॥१४॥

गार्हपत्य और पुनश्चिति के रखने का यह भी प्रयोजन है कि ये दोनों अग्नि की वेदी और उत्तरवेदी हैं। जो पहले रक्खी गईं वे अध्वर या सोमयाग की थीं, और ये वेदी की। जब इनको रखकर उनमें अग्न्याधान करता है, तब वह मानो उसको वेदी और उत्तरवेदी दोनों में स्थापित कर देता है ॥१५॥

पुनश्चिति को क्यों रखता है? इसलिए कि यह पुनर्यज्ञ है। दूसरी देव-यज्या। इस प्रकार वह पुनर्यज्ञ को रखता है और उसके ऊपर देवयज्या को भी। पुनर्यज्ञ इसको नमता है ॥१६॥

पुनश्चिति को इसलिए भी रखता है कि प्राणरूप ऋषियों ने पहले जिस अग्नि का संस्कार किया वही यह पुनश्चिति है। पहली चिति पर फिर दूसरी चिनी जाती है, इसलिए इसका नाम पुनश्चिति है ॥१७॥

येनऽऋषयस्तपसा सत्रमायन्निति । अमूनेतदृषीनाहेन्धाना अग्निꣳ स्वराभरन्त इ-
तीन्धाना अग्निꣳ स्वर्गं लोकमाहरन्त इत्येतत्तस्मिन्नहं निदधे नाकेऽअग्निमिति
स्वर्गो वै लोको नाको यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषमिति ये विद्वाꣳसस्ते मनव
स्तीर्णबर्हिषमिति सर्वदा ह्येव स स्तीर्णबर्हिः ॥१८॥ तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः
। पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैरित्येतेनैनꣳ सर्वेणानुगच्छेमेत्येतन्नाकं गृभ्णानाः सुकृ-
तस्य लोकऽइति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गं लोकं गृह्णानाः सुकृतस्य लोक
ऽइत्येतत्तृतीये पृष्ठेऽअधि रोचने दिव इत्येतद्ध तृतीयं पृष्ठं रोचनं दिवो यत्रैष
एतत्तपति ॥१९॥ आ वाचो मध्यमरुहद्भुरण्युरिति । एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष
एतच्चीयते भुरण्युरिति भर्तेत्येतदयमग्निः सत्पतिश्चेकितान इत्ययमग्निः सतां पति-
श्चेतयमान इत्येतत्पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदिति पृष्ठे पृथिव्या निहितो
दीप्यमान इत्येतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यव इत्यधस्पदं कुरुताꣳ सर्वान्पाप्मन
इत्येतत् ॥२०॥ अयमग्निर्वीरतमो वयोधा इति । अयमग्निर्वीर्यवत्तमो वयोधा
इत्येतत्सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्निति सहस्रियो दीप्यतामप्रमत्त इत्येतद्विभ्राज-
मानः सरिरस्य मध्यऽइतीमे वै लोकाः सरिरं दीप्यमान एषु लोकेष्वित्येतदुप
प्रयाहि दिव्यानि धामेत्युप प्रयाहि स्वर्गं लोकमित्येतत् ॥२१॥ सम्प्रच्यवध्वमुप
सम्प्रयातेति । अमूनेतदृषीनाह समेनं प्रच्यवध्वमुप चैनꣳ सम्प्रयातेत्यग्ने पथो दे-
वयानान्कृणुध्वमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पुनः कृण्वाना पितरा युवानेति वा-
क्च वै मनश्च पितरा युवाना वाक्च मनश्चैतावग्नौऽअन्वाताꣳसीत्त्वयि तन्तुमेत-
मिति योऽसावृषिभिस्तन्तुस्ततस्तमेतदाह ॥२२॥ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमि-
ति । इममेतदग्निमाहोच्चैनं बुध्यस्व प्रति चैनं जागृहीतीष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं चेति
यथैव यजुस्तथा बन्धुरस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन्निति द्यौर्वाऽउत्तरꣳ सधस्थं विश्वे
देवा यजमानश्च सीदतेति तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानꣳ सादयति ॥२३॥ येन व-

पहली ईंट इस मन्त्र से—"येन ऽ ऋषयस्तपसा सत्रमायन्" (यजु० १५।४९)—"ऋषि जिस तप से इस सत्र में प्रविष्ट हुए।" यहाँ प्राणरूप ऋषियों से तात्पर्य है। "इन्धाना ऽ अग्निँ स्वराभरन्तः" (यजु० १५।४९)—अर्थात् "अग्नि को जलाते हुए स्वर्गलोक को ले गये।" "तस्मिन्नहं निदधे नाके ऽ अग्निम्" (यजु० १५।४९)—यहाँ नाक का अर्थ है स्वर्ग, अर्थात् "मैंने उस स्वर्ग-लोक में अग्नि का आधान किया।" "यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम्" (यजु० १५।४९)—"जिस अग्नि को बुद्धिमान् लोग 'स्तीर्णबर्हिष' कहते हैं।" जो विद्वान् हैं वही मनु कहलाते हैं। अग्नि का नाम स्तीर्णबर्हि है, (क्योंकि कुश यज्ञ में बिछाये जाते हैं) ॥१८॥

दूसरी ईंट इस मन्त्र से—"तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः" (यजु० १५।५०)—अर्थात् "इस अग्नि की हम सब स्त्रियों, पुत्रों, भाइयों तथा धनसहित उपासना करें।" "नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके" (यजु० १५।५०)—'नाक' है स्वर्ग। "सुकृत के लोक में स्वर्ग को ग्रहण करते हुए।" "तृतीये पृष्ठे ऽ अधि रोचने दिवः" (यजु० १५।५०)—"द्यौलोक के तीसरे पृष्ठ पर।" क्योंकि जहाँ यह अग्नि तपता है वह द्यौलोक का तीसरा पृष्ठ है ॥१९॥

तीसरी ईंट इस मन्त्र से—"आ वाचो मध्यमरुहद्भुरण्युः" (यजु० १५।५१)—"वह तीव्र-गामी वाणी के मध्य में चढ़ गया।" यह अग्नि जहाँ चिना जाता है वह वस्तुतः वाणी का मध्य है। भुरण्यु का अर्थ है भर्ता (भरनेवाला या पालनेवाला)। "अयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः" (यजु० १५।५१)—अर्थात् "यह अग्नि ज्ञानवान् और सतों का पति है।" "पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतत्" (यजु० १५।५१)—अर्थात् "यह प्रकाशकस्वरूप पृथिवी की पीठ पर स्थित है।" "अधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः" (यजु० १५।५१)—"जो पापी या विरोधी हैं उनको नीचा दिखावें" ॥२०॥

चौथी ईंट इस मन्त्र से—"अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्। विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य ऽ उप प्र याहि दिव्यानि धाम" (यजु० १५।५२)—अर्थात् "यह बलवान् अग्नि सहस्र प्रकार से चमके, समुद्र अर्थात् इस लोक के बीच में चमकते हुए। दिव्य धामों को जा" ॥२१॥

पाँचवीं ईंट इस मन्त्र से—"सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्। पुनः कृण्वाना पितरा युवानाऽन्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम्" (यजु० १५।५३)—"तुम सब पास-पास आओ (अर्थात् ऋषि)। अग्नि देव-पथ पर ले जाये। पितरों को फिर युवा बनाते हुए (वाणी और मन युवा पितर हैं, ये दो अग्नियाँ भी वाणी और मन हैं), यह तन्तु तुझमें पिरोया गया है।" 'यह तन्तु' से तात्पर्य है ऋषियों के चलाये हुए 'यज्ञ' से ॥२२॥

छठी ईंट इस मन्त्र से—"उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सँसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत" (यजु० १५।५४)—"हे अग्नि, उठ और जाग (अर्थात् अग्नि उसकी देखभाल करे)। तुझको और इसको दोनों की इष्टा-पूर्ति हो। इस यज्ञ में और आनेवाले यज्ञ में सब देव और यजमान बैठें।" यहाँ यजमान देवताओं के साथ बैठता है ॥२३॥

हसि सहस्रम् । येनाग्ने सर्ववेदसमित्येतद्धास्य प्रतिज्ञाततमं धाम येन सहस्रं वहसि येन सर्ववेदसं तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवऽइति तेन न इमं यज्ञं नय स्वर्गं लोकं देवेषु गन्तवऽइत्येतदयं ते योनिर्ऋत्विय इति तस्योक्तो बन्धुरष्टाविष्टका उपदधाति तस्योऽएवोक्तः ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [६. ३.] ॥ षष्ठोऽध्यायः [५४.] ॥ ॥

ऋतव्या उपदधाति । ऋतव एते यदृतव्या ऋतूनेवैतदुपदधाति तदेतत्सर्वं यदृतव्याः संवत्सरो वाऽऋतव्याः संवत्सर इदꣳ सर्वमिदमेवैतत्सर्वमुपदधात्यथो प्रजननमेतत्संवत्सरो वाऽऋतव्याः संवत्सरः प्रजननं प्रजननमेवैतदुपदधाति ॥१॥ यद्वेवऽर्तव्या उपदधाति । क्षत्त्रं वाऽऋतव्या विश इमा इतरा इष्टकाः क्षत्त्रं तद्विश्यत्तारं दधाति ताः सर्वासु चितिषूपदधाति सर्वस्यां तद्विशि क्षत्त्रमत्तारं दधाति ॥२॥ यद्वेवऽर्तव्या उपदधाति । संवत्सर एषोऽग्निः स ऋतव्याभिः सꣳहितः संवत्सरमेवैतदृतुभिः संतनोति संदधाति ता वै नानाप्रभृतयः समानोदर्का ऋतवो वाऽअसृज्यन्त ते सृष्टा नानेवासन् ॥३॥ तेऽब्रुवन् । न वाऽइत्थꣳ सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुꣳ रूपैः समायामेति तऽएकैकमृतुꣳ रूपैः समायंस्तस्मादेकैकस्मिन्नृतौ सर्वेषामृतूनाꣳ रूपं ता यन्नानाप्रभृतयो नाना ह्यसृज्यन्ताथ यत्समानोदर्का रूपैर्हि समायन् ॥४॥ स उपदधाति । तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतूऽइति नामनीऽएनयोरेते नामभ्यामेवैनेऽएतदुपदधात्यसौ वाऽआदित्यस्तपस्तस्मादेतावृतूऽअनन्तर्हितौ तद्यदेतस्मादेतावृतूऽअनन्तर्हितौ तस्मादेतौ तपश्च तपस्यश्च ॥५॥ अग्नेरन्तःश्लेषोऽसीति । संवत्सर एषोऽग्निः स ऋतव्याभिः सꣳहितः संवत्सरमेवैतदृतुभिः संतनोति संदधाति कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधय इतीदमेवैतत्सर्वमृतुभिः कल्पयति कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रता इत्यग्नयो ह्येते पृथग्यदेता इष्टकास्ते यथानयोर्ऋत्वोर्ज्यैष्ठ्याय कल्पेरन्नेवमेतदाह येऽअग्नयः समन-

सातवीं ईंट इस मन्त्र से—"येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् । तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे" (यजु० १५।५५)—"हे अग्नि, जिस शक्ति से तू हजारों धनों को ढोता है, उसी शक्ति से हमारे इस यज्ञ को जानेवाले के लिए स्वर्ग में ले जा।" इस मन्त्र से आठवीं ईंट—"अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽ अरोचथाः । तं जानन्नग्न ऽ आ रोहाथा नो वर्धया रयिम्" (यजु० १५।५६)—वह आठ ईंटें रखता है। इसका अर्थ स्पष्ट है ॥२४॥

ऋतव्या-स्वयमातृण्णा-विकर्ण्यर्थवादः

अध्याय ७—ब्राह्मण १

ऋतव्य ईंटों को रखता है। जो ऋतव्य हैं वही ऋतु हैं। इस प्रकार वह ऋतुओं को रखता है। यहाँ ऋतव्य ही सब-कुछ हैं, क्योंकि ऋतव्य संवत्सर है और संवत्सर यहाँ सब-कुछ है। इस प्रकार वह 'सब कुछ' को रखता है। यह प्रजनन भी है, क्योंकि ऋतव्य संवत्सर हैं और संवत्सर प्रजनन है। इस प्रकार वह प्रजनन को ही रखता है ॥१॥

ऋतव्यों को इसलिए भी रखता है कि ऋतव्य क्षत्रिय हैं, अन्य ईंटें वैश्य हैं। इस प्रकार वैश्यों में क्षत्रिय को खानेवाला बनाता है। इनको सब चितियों में रखता है। इस प्रकार सब वैश्यों में क्षत्रिय को खानेवाला बनाता है ॥२॥

ऋतव्यों को इसलिए भी रखता है कि यह अग्नि संवत्सर है। वह ऋतव्यों के साथ मिला हुआ है। इस प्रकार ऋतुओं के साथ संवत्सर को तानता है या रखता है। ये आरम्भ में नाना प्रकार के हैं और अन्त में एक-से। जब ऋतु बनाये गये तो आरम्भ में नाना प्रकार के थे ॥३॥

वे बोले, 'इस प्रकार हम उत्पत्ति करने में समर्थ न हो सकेंगे। हमको चाहिए कि सब ऋतुओं के रूपों का हममें समावेश हो जाय।' इस प्रकार एक-एक ऋतु का अन्य ऋतुओं के रूप में समावेश हो गया। इस प्रकार प्रत्येक ऋतु में अन्य ऋतुओं का अंश रहता है। इस प्रकार यद्यपि आरम्भ में ऋतुओं का भिन्न-भिन्न रूप था, अन्त में उनमें समानता आ गई ॥४॥

वह इस मन्त्र से रखता है—"तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू" (यजु० १५।५७)—"तप और तपस्य ये शिशिर ऋतु के दो महीने हैं।" इन्हीं दोनों नामों से इनको रखता है। यह आदित्य तप है। ये दोनों ऋतु इससे मिले हुए हैं। अतः ये दोनों इससे मिले हुए हैं, इसलिए इनका तप और तपस्य नाम है ॥५॥

"अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि" (यजु० १५।५७)—"तू अग्नि के बीच का जोड़ है।" यह अग्नि या वेदी संवत्सर है। वह ऋतव्यों से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार ऋतुओं द्वारा संवत्सर को तानता है या रखता है। "कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽ ओषधयः" (यजु० १५।५७)—इस प्रकार इस सबको ऋतुओं से बनाता है। "कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः" (यजु० १५।५७)—"व्रतसहित अग्नियाँ अलग-अलग मेरे बड़प्पन के लिए बनाई जायें।" ये जो अलग-अलग ईंटें हैं वे अग्नियाँ ही हैं। वह ऐसा इसलिए कहता है कि ये ईंटें इन दोनों ऋतुओं के

सोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमेऽइति यथैव यजुस्तथा बन्धुः शैशिरावृतूऽअभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्त्विति यथेन्द्रं देवा अभिसंविष्टा एवमिमावृतूऽऐष्ठ्यायाभिसंविशन्त्वित्येतद्द्वेऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति ॥६॥ तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषोऽग्निरिमऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्य द्यौरेव पञ्चमी चितिर्द्यौरस्य शिशिर ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥७॥ यद्वेवैतेऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य शिर एव पञ्चमी चितिः शिरोऽस्य शिशिर ऋतुस्तद्यदेतेऽअत्रोपदधाति यदेवास्यैतेऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतेऽअत्रोपदधाति ॥८॥ स पुरस्तात्स्वयमातृण्णाये च विश्वज्योतिषश्चऽर्तव्येऽउपदधाति । द्यौर्वाऽउत्तमा स्वयमातृण्णादित्य उत्तमा विश्वज्योतिरर्वाचीनं तद्दिवश्चादित्याच्चऽर्तून्दधाति तस्मादर्वाचीनमेवात ऋतवोऽथो प्रजननमेतदर्वाचीनं तद्दिवश्चादित्याच्च प्रजननं दधाति तस्मादर्वाचीनमेवातः प्रजायते स्थितौ हैवातः पराक्प्रजननं यावन्तो ह्येव सनाग्रे देवास्तावन्तो देवाः ॥९॥ अथ प्रथमायै स्वयमातृण्णायै प्रथमायै च विश्वज्योतिष उपरिष्टादृतव्येऽउपदधाति । इयं वै प्रथमा स्वयमातृण्णाग्निः प्रथमा विश्वज्योतिस्तदूर्ध्वानृतून्दधाति तस्मादित ऊर्ध्वा ऋतवोऽथो प्रजननमेतदितस्तदूर्ध्वं प्रजननं दधाति तस्मादित ऊर्ध्वमेव प्रजायते ॥१०॥ ता न व्यूहेत् । नेदृतून्व्यूहानीति यो वै म्रियतऽऋतवो ह तस्मै व्युच्यन्ते तस्माद्यत्रैव प्रथमेऽउपदधाति तत्सर्वा उपदध्यात् ॥११॥ अथोऽइमे वै लोका ऋतव्याः । इमांस्तल्लोकानूर्ध्वांश्चितिभिश्चिनोत्यथो क्षत्रं वा ऋतव्याः क्षत्रं तदूर्ध्वं चितिभिश्चिनोत्यथो संवत्सरो वाऽऋतव्याः संवत्सरं तदूर्ध्वं चितिभिश्चिनोति ता नान्यया यजुष्मत्येष्टकयोपरिष्टादभ्युपदध्यान्नेत्क्षत्रं विशाभ्युपदधानीति ॥१२॥ ता हैता एव सयान्यः । एतद्धै देवा ऋतव्याभिरेवेमांल्लो-

बड़प्पन के लिए मिल जावें। "ये ऽ अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽ इमे" (यजु० १५।५७)—"द्यौ और पृथिवी के बीच में जो अनुकूल अग्नियाँ हैं।" यजु स्पष्ट हैं। "शैशिरावृतू ऽ अभि-कल्पमाना ऽ इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु" (यजु० १५।५७)—"जैसे देव इन्द्र में प्रविष्ट हो गये, इसी प्रकार यह भी इन दो ऋतुओं में प्रविष्ट हो जाय।" ये दो ईंटें होती हैं, क्योंकि ऋतु में भी दो ही महीने होते हैं। इनको एकसाथ रखता है। इस प्रकार ऋतु को एक कर देता है ॥६॥

इन दोनों को क्यों रखता है? यह अग्नि अर्थात् वेदी संवत्सर है। यह लोक भी संवत्सर हैं। इसकी पाँचवीं चिति द्यौ है। इसका शिशिर ऋतु द्यौ है। जब वह इन दोनों ईंटों को रखता है तो मानो उस वेदी के शरीर को उस भाग से पूर्ण कर देता है, जो भाग इन दोनों ईंटों द्वारा बनता। इसलिए इन दोनों ईंटों को रखता है ॥७॥

इन दोनों के रखने का यह भी प्रयोजन है कि यह अग्नि (वेदी) प्रजापति है। प्रजापति संवत्सर है। पाँचवीं चिति उस वेदी का सिर है और शिशिर संवत्सर का सिर है। जब वह इन दोनों ईंटों को रखता है तो वह उस भाग की पूर्ति कर देता है जो भाग उन ईंटों द्वारा पूरा होना चाहिए था। इसीलिए इन दोनों ईंटों को रखता है ॥८॥

वह इन ऋतव्यों को स्वयमातृण्णा और विश्वज्योति के आगे रखता है। अन्तिम स्वयमा-तृण्णा द्यौ है और अन्तिम विश्वज्योति सूर्य है। इस प्रकार वह ऋतुओं को द्यौ और सूर्य के इधर रख देता है। इसीलिए ऋतु इनके इस ओर है। इनमें प्रजनन-शक्ति भी है। इस प्रकार प्रजनन-शक्ति को, द्यौ और आदित्य को इस ओर रखता है। इसलिए इनके इस ओर ही प्रजनन होता है। परन्तु इनका उस ओर प्रजनन बन्द है क्योंकि जितने देव पहले थे उतने ही अब हैं ॥९॥

ऋतव्य ईंटों को पहली स्वयमातृण्णा और पहली विश्वज्योति के ऊपर रखता है, क्योंकि पहली स्वयमातृण्णा पृथिवी है और पहली विश्वज्योति अग्नि है। उनके ऊपर ऋतुओं को रखता है, क्योंकि ऋतु इस पृथिवी से ऊपर हैं। इसमें प्रजनन-शक्ति भी है। इस प्रकार प्रजनन-शक्ति को इस पृथिवी के ऊपर रखता है। इसलिए पृथिवी के ऊपर ही प्रजनन (उत्पत्ति) होता है ॥१०॥

इनके क्रम को न तोड़े कि कहीं ऋतुओं का क्रम न टूट न जाय। ऋतुओं का व्यतिक्रम उसी के लिए होता है जो मरता है। इसलिए जहाँ वह पहली दो को रक्खे वहीं सबको रक्खे ॥११॥

ये ऋतव्य ईंटें ही (तीन) लोक हैं। भिन्न-भिन्न चितियों द्वारा वह एक-दूसरे के ऊपर इन तीनों लोकों को चिनता है। ऋतव्य क्षत्रिय भी हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न चितियों द्वारा क्षत्रियत्व को चिनता है। ऋतव्य ईंटें संवत्सर भी हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न चितियों द्वारा वह संवत्सर को बनाता है। इनके ऊपर किसी यजु से और ईंटें न चिननी चाहिएँ कि कहीं क्षत्रिय के ऊपर वैश्य न हो जायें ॥१२॥

ये ऋतव्य ईंटें सीढ़ियाँ हैं। इन्हीं पर होकर देव उन ऊपर के लोकों को चढ़े थे। यहाँ से

कान्त्समयुरितश्चोर्धानमुतश्चार्वाचस्तथैवैतद्यजमान अनव्याभिरेवेमांल्लोकान्त्संयातीतश्चोर्धानमुतश्चार्वाचः ॥१३॥ तदु ह चरकाध्वर्यवः । अन्या एव संयानीरित्युपदधाति न तथा कुर्यादत्यहैव रेचयन्त्येता उ एव संयान्यः ॥१४॥ अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति । आदित्यो वाऽउत्तमा विश्वज्योतिरादित्यो ह्येवामुष्मिंल्लोके विश्वज्योतिरादित्यमेवैतदुपदधाति ॥१५॥ यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति । प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति ॥१६॥ स पुरस्तात्स्वयमातृण्णायै विश्वज्योतिषमुपदधाति । द्यौर्वाऽउत्तमा स्वयमातृण्णादित्य उत्तमा विश्वज्योतिरर्वाचीनं तद्दिव आदित्यं दधाति तस्मादेषोऽर्वाचीनमेवातस्तपत्यथो प्रजननमेतदर्वाचीनं तद्दिवः प्रजननं दधाति तस्मादर्वाचीनमेवातः प्रजायते ॥१७॥ अथ प्रथमायै स्वयमातृण्णायै । उपरिष्टाद्विश्वज्योतिषमुपदधातीयं वै प्रथमा स्वयमातृण्णाग्निः प्रथमा विश्वज्योतिरितस्तदूर्ध्वमग्निं दधाति तस्मादित ऊर्ध्वो ऽग्निर्दीप्यतेऽथो प्रजननमेतदितस्तदूर्ध्वं प्रजननं दधाति तस्मादित ऊर्ध्वमेव प्रजायते ॥१८॥ अथ मध्यमायै स्वयमातृण्णायै । उपरिष्टाद्विश्वज्योतिषमुपदधात्यन्तरिक्षं वै मध्यमा स्वयमातृण्णा वायुर्मध्यमा विश्वज्योतिरन्तरिक्षे तद्वायुं दधाति तस्मादयमन्तरिक्षे वायुः ॥१९॥ तान्येतानि ज्योतीꣳषि । तद्यदेता एवमुपदधात्येतान्येवैतज्ज्योतीꣳषि सम्यञ्चि दधाति तस्मादित ऊर्ध्वोऽग्निर्दीप्यतेऽर्वागसावादित्यस्तपत्यन्तरिक्षेऽयं तिर्यङ् वायुः पवते ॥२०॥ परमेष्ठी त्वा सादयत्विति । परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं चितिमपश्यद्दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति दिवो ह्यसौ पृष्ठे ज्योतिष्मानादित्यः ॥२१॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्माऽउ वाऽएतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतत्सूर्यस्ते ऽधिपतिरिति सूर्यमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥२२॥ ता हैता एव संयान्यः । एतद्वै देवा विश्वज्योतिर्भिरेवे-

ऊपर को और वहाँ से नीचे को। इन्हीं ऋतव्य ईंटों के द्वारा यजमान इन लोकों को चढ़ता है, यहाँ से ऊपर को और वहाँ से नीचे को ॥१३॥

चरकाध्वर्यु और सीढ़ियाँ भी रखते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। ये भी तो सीढ़ियाँ ही हैं ॥१४॥

अब विश्वज्योति को रखता है। आदित्य ही अन्तिम विश्वज्योति है, क्योंकि उस लोक में आदित्य ही विश्वज्योति है। इस (विश्वज्योति के) रूप में मानो आदित्य को ही स्थापित करता है ॥१५॥

विश्वज्योति को इसलिए रखता है कि विश्वज्योति का अर्थ है प्रजा। इस प्रकार प्रजा, विश्वज्योति या प्रजनन-शक्ति को उसमें रखता है ॥१६॥

वह स्वयमातृण्णा से पहले विश्वज्योति को रखता है। अन्तिम स्वयमातृण्णा द्यौ है। अन्तिम विश्वज्योति आदित्य है। इस प्रकार द्यौ से इस ओर आदित्य को रखता है। इसलिए आदित्य इसी ओर चमकता है। परन्तु इसमें प्रजनन-शक्ति भी है। इसलिए वह प्रजनन-शक्ति को द्यौ के इस ओर रखता है। इसलिए द्यौ के इसी ओर प्रजा उत्पन्न होती है ॥१७॥

पहली स्वयमातृण्णा के ऊपर पहली विश्वज्योति को रखता है। यह पृथिवी पहली स्वयमातृण्णा है। अग्नि पहली विश्वज्योति है। इसके ऊपर अग्नि को रखता है। इसलिए अग्नि इसके ऊपर चमकता है। इसमें प्रजनन-शक्ति भी तो है। इस प्रकार प्रजनन पृथिवी के ऊपर ही होता है ॥१८॥

बीच की स्वयमातृण्णा के ऊपर बीच की विश्वज्योति को रखता है। बीच की स्वयमातृण्णा अन्तरिक्ष है। बीच की विश्वज्योति वायु है। इस प्रकार अन्तरिक्ष में वायु को रखता है। इसलिए अन्तरिक्ष में वायु है ॥१९॥

ये तीन ज्योतियाँ हैं। जब इन ज्योतियों को इस प्रकार रख लेता है तो मानो वह उन ज्योतियों को एक-दूसरे के समक्ष रख देता है। इसलिए आग पृथिवी से ऊपर की ओर ही जलती है, आदित्य नीचे की ओर चमकता है और हवा तिरछी अन्तरिक्ष में बहती है ॥२०॥

इस मन्त्र से—"परमेष्ठी त्वा सादयतु" (यजु० १५।५८)—परमेष्ठी ने ही इस पाँचवीं चिति को देखा। "दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्" (यजु० १५।५८)—द्यौलोक की पीठ पर ही तो यह ज्योतिवाला आदित्य है ॥२१॥

"विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय" (यजु० १५।५८)—प्राण ही विश्वज्योति है। इस सबके लिए प्राण है। "विश्वं ज्योतिर्यच्छ" (यजु० १५।५८)—अर्थात् सब ज्योति को दे। "सूर्यस्तेऽधिपतिः" (यजु० १५।५८)—"सूर्य तेरा अधिपति है।" सूर्य को ही इसका अधिपति बनाता है। रखकर सूददोह पढ़ता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥२२॥

यही सब सीढ़ियाँ हैं क्योंकि देव इन्हीं विश्वज्योतियों के सहारे ऊपर को चढ़े और उस

मांल्लोकान्त्समगुरितश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचस्तथैवैतद्यजमानो विश्वज्योतिर्भिरेवेमां-ल्लोकान्त्संयातीतश्चोर्ध्वानमुतुश्चार्वाचः ॥२३॥ तद्ध ह चरकाध्वर्यवो । ऽन्या एव संयानीरित्युपदधति न तथा कुर्यादत्यद्वैव रेचयन्त्येता उऽएव संयान्यः ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥२ [७. १.] ॥ ॥

अथ लोकम्पृणामुपदधाति । असौ वाऽआदित्यो लोकम्पृणैष हीमांल्लोकान्पूरयत्यमुमेवैतदादित्यमुपदधाति ताः सर्वासु चितिषूपदधातीमे वै लोका एताश्चितयोऽमुं तदादित्यमेषु लोकेषु दधाति तस्मादेष सर्वेभ्य एवेभ्यो लोकेभ्यस्तपति ॥१॥ यद्वेव लोकम्पृणामुपदधाति । क्षत्रं वै लोकम्पृणा विश इमा इतरा इष्टकाः क्षत्रं तद्विश्यत्तारं दधाति ताः सर्वासु चितिषूपदधाति सर्वस्यां तद्विशि क्षत्रमत्तारं दधाति ॥२॥ सैषैकैव भवति । एकस्थं तत्क्षत्रमेकस्थां श्रियं करोत्यथ या द्वितीया मिथुनं तदर्धमु हैतदात्मनो यन्मिथुनं यदा वै सह मिथुनेनाथ सर्वो ऽथ कृत्स्नः कृत्स्नतायाऽएकेन यजुषा बह्वीरिष्टका उपदधाति क्षत्रं तद्वीर्येणात्यादधाति क्षत्रं विशो वीर्यवत्तरं करोत्यथेतराः पृथङ्नाना यजुर्भिरुपदधाति विशं तत्क्षत्रादवीर्यतरां करोति पृथग्वादिनीं नानाचितसम् ॥३॥ स वाऽअस्याः स्त्रक्त्यां प्रथमेऽउपदधाति । अमुं तदादित्यमेतस्यां दिशि दधात्यथेतस्तस्मादतोऽनुपर्यैत्यथेतस्तस्मादतोऽनुपर्यैत्यथेतस्तस्मादतोऽनुपर्यैत्यथातस्तस्मादतोऽनुपर्यैति ॥ ४ ॥ स यत्रैव प्रथमेऽउपदधाति । तदुत्तमे अनूपदध्यात्सकृद्धैवासावादित्य इमांल्लोकान्पर्येत्य नातिप्रच्यवेतातिहृत्य पूर्वेऽउत्तमेऽअनूपदधात्यमुं तदादित्यमिमांल्लोकाननतिप्रच्यावयति तस्मादसावादित्य इमांल्लोकानसःस्थितो दक्षिणावृत्पुनः-पुनरनुपर्यैति ॥५॥ लोकं पृण छिद्रं पृणेति । लोकं च पूरय छिद्रं च पूरयेत्येतदथो सीद ध्रुवा त्वमित्यथो सीद स्थिरा त्वं प्रतिष्ठितेत्येतदिन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन्नितीन्द्राग्नी च त्वा बृहस्पतिश्चास्मिन्योनौ प्रत्यतिष्ठिपन्नित्ये-

लोक से इस लोक को उतरे। इस प्रकार यजमान भी इन्हीं विश्वज्योति ईंटों के सहारे ऊपर को चढ़ता है और वहाँ से नीचे को उतरता है ॥२३॥

चरकाध्वर्यु और सीढ़ियाँ भी रखते हैं। ऐसा न करना चाहिए, यह व्यर्थ है। वास्तविक सीढ़ियाँ यही हैं ॥२४॥

लोकम्पृणेष्टकोपधानम्, इष्टकाप्रमाणं च

अध्याय ७—ब्राह्मण २

अब वह लोकम्पृणा ईंट को रखता है। यह आदित्य ही लोकम्पृणा है क्योंकि यह इन लोकों को भरता है या पूरा करता है। इस प्रकार वह उस आदित्य की ही स्थापना करता है। इसको इन सब (पाँचों) चितियों में रखता है, क्योंकि ये पाँचों चितियाँ ही ये तीन लोक हैं। इस प्रकार वह इन लोकों में उस आदित्य की स्थापना करता है। इसलिए यह आदित्य इन लोकों में चमकता है ॥१॥

लोकम्पृणा को इसलिए रखता है कि लोकम्पृणा क्षत्रिय है और छोटी ईंटें वैश्य हैं। इस प्रकार क्षत्रिय को वैश्यों में खानेवाला बनाता है। इसको सब चितियों में रखता है अर्थात् सब वैश्यों में क्षत्रियों को खानेवाला बनाता है ॥२॥

यह लोकम्पृणा ईंट एक ही होती है। इस प्रकार क्षत्रियत्व और श्री का आधार एक ही को बनाता है। अब इसका जोड़ा क्या है? इसका आधा इसके दूसरे आधे का जोड़ा हुआ। जब जोड़े आपस में मिलते हैं तो पूर्ण कहलाते हैं। एक मन्त्र से बहुत-सी ईंटें रखता है, अर्थात् क्षत्रिय को वीर्यवान् बनाता है। क्षत्रिय को वैश्य की अपेक्षा बलवान् करता है। दूसरी ईंटों को पृथक्-पृथक् कई यजुओं से रखता है। इस प्रकार वैश्यों को क्षत्रियों से कम वीर्यवान् करता है, जिनकी भाषा अलग-अलग और विचार अलग-अलग हैं ॥३॥

वह पहली दो लोकम्पृणा ईंटों को इस कोने में (दक्षिण-पूर्व कोने में) रखता है, अर्थात् उस आदित्य को इस दिशा में रखता है, इधर (पृथिवी) से उस सूर्य्य का अनुकरण करता है। उधर से इस सूर्य्य का, इधर से उस सूर्य्य का, अर्थात् जिस-जिस दिशा में आकाश में सूर्य्य चलता है उस-उस दिशा में यह भी चलता है ॥४॥

जहाँ पहली दो ईंटों को रखता है वहीं पिछली दो को भी रक्खे, क्योंकि एक बार जब सूर्य्य इन लोकों का चक्कर लगा आता है तो फिर उन्हीं का चक्कर नहीं लगाता। पहली दो के पास पहुँचकर पिछली दो को रक्खे। इस प्रकार वह सूर्य्य से इन लोकों की परिक्रमा कराता है। इसीलिए सूर्य्य इन्हीं लोकों के चारों ओर दाहिनी ओर को घूमता है ॥५॥

इस मन्त्र से—"लोकं पृण छिद्रं पृण" (यजु० १५।५९)—"स्थान को भरो, छिद्र को भरो।" "अथो सीद ध्रुवा त्वम्" (यजु० १५।५९)—अर्थात् स्थिर बैठो। "इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पति-रस्मिन् योनावसीषदन्" (यजु० १५।५९)—"इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति ने तुझे इस योनि में

तदनुष्टुभा वाग्वाऽअनुष्टुब्वागिन्द्र इन्द्रो लोकम्पृणा न सादयत्यसन्नो ह्येष सूददोहसा वदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणेनैवैनमेतत्संतनोति संदधाति ॥६॥ तदाहुः । कथमेषा लोकम्पृणायातयाम्नी भवतीत्यसौ वाऽआदित्यो लोकम्पृणायातयामा वाऽएषोऽथो वाग्वै लोकम्पृणायातयाम्न्यु वै वाक् ॥७॥ स वै यजुष्मतीरुपधाय । लोकम्पृणाया प्रच्छादयत्यन्नं वै यजुष्मत्य इष्टका आत्मा लोकम्पृणान्नं तदात्मना परिदधाति तस्मादन्नमात्मना परिह्वितमात्मैव भवति ॥८॥ स वाऽआत्मन्नेव । यजुष्मतीरुपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मंस्तदन्नं दधाति यद्वु वाऽआत्मन्नन्नं धीयते तदात्मानमवति तत्पक्षपुच्छान्यथ यत्पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानमवति न पक्षपुच्छानि ॥९॥ उभयीर्यजुष्मतीश्च लोकम्पृणाश्चात्मन्नुपदधाति । तस्मादयमात्मा द्विगुणो बहुलतर-इव लोकम्पृणा एव पक्षपुच्छेषु तस्मात्पक्षपुच्छानि तनीयाꣳसीवानूचीश्च तिरश्चीश्चात्मन्नुपदधात्यस्थीनि वाऽइष्टकास्तस्मादिमान्यन्वञ्चि च तिर्यञ्चि चात्मन्नस्थीनि पराचीरेव पक्षपुच्छेषु न हि किं चन पक्षपुच्छेषु तिर्यगस्थ्यस्ति तद्धैतदेव चितस्य चाचितस्य च विज्ञानमेवमेव चित इतरथाचितः ॥१०॥ स वै स्वयमातृण्णां लोकम्पृणाया प्रच्छादयति । प्राणो वै स्वयमातृण्णादित्यो लोकम्पृणा प्राणं तदादित्येन समिन्द्धे तस्मादयमुष्णः प्राणास्तया सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वं तदात्मानमादित्येन समिन्द्धे तस्मादयꣳ सर्व एवात्मोष्णस्तद्धैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानमुष्ण एव जीविष्यञ्छीतो मरिष्यन् ॥११॥ स अस्याꣳ स्रक्त्यां प्रथमेऽउपदधाति । ततो दशभिर्दशभिः संछादयन्नेत्या स्वयमातृण्णाये स तेनैव दक्षिणावृज्जघनेन स्वयमातृण्णाꣳ संछादयन्नेत्यानूकायायाऽअथ पुनरेत्य तमवधिꣳ संछादयति ॥१२॥ आत्मानमग्रे संछादयति । आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवत्यथ दक्षिणं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरं तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्राथोऽएवं वाऽअसावादित्य इमांल्लोकान्दक्षिणावृदनुपर्यैति ॥१३॥ स एष प्राण एव यल्लोकम्पृ·

रक्खा है" यह अनुष्टुभ् छन्द से। वाणी ही अनुष्टुभ् है। इन्द्र वाणी है। इन्द्र लोकम्पृण है। वह इसको स्थिर नहीं करता, क्योंकि आदित्य भी तो स्थिर नहीं है। वह सूददोह पढ़ता है, क्योंकि सूददोह प्राण है; प्राण से ही इसको जारी रखता है, इसको स्थापित करता है।।६।।

इस पर शका करते हैं कि लोकम्पृणा ईंट शक्तिशालिनी कैसे हो जाती है ? यह आदित्य ही तो लोकम्पृणा है। वह शक्तिशाली है। वाणी भी लोकम्पृणा है। यह भी शक्तिशाली है ।।७।।

यजुष्मती ईंटों को रखकर लोकम्पृणा से वेदी को ढक देता है। यजुष्मती ईंटें अन्न हैं। लोकम्पृणा आत्मा है। अन्न को शरीर से ढकता है। इसलिए शरीर में गया हुआ अन्न शरीर ही बन जाता है ।।८।।

यजुष्मती ईंटों को वेदी के शरीर पर ही रखता है, न कि बाजू की ओर या पूंछ की ओर। इस प्रकार अन्न को शरीर में रखता है। जो अन्न शरीर में रक्खा जाता है, वह शरीर की रक्षा करता है, और बाजू की भी और पूंछ की भी। जो अन्न बाजू या पूंछ में रक्खा जाता है, वह शरीर की रक्षा नहीं करता, और न पूंछ या बाजू की ।।६।।

यजुष्मती और लोकम्पृणा दोनों को (वेदी के) शरीर में रखता है। इसलिए यह शरीर दुगुना बड़ा-सा हो जाता है। बाजू और पूंछ पर केवल लोकम्पृणा को, इसलिए बाजू और पूंछ पतले रहते हैं। शरीर पर उन ईंटों को सीधी और तिरछी रखता है, इसीलिए शरीर की हड्डियाँ सीधी और तिरछी होती हैं। बाजू और पूंछ पर आड़ी, क्योंकि बाजू और पूंछ पर कोई तिरछी हड्डी नहीं होती। चिनी हुई वेदी और बे-चिनी हुई वेदी में यही भेद हैं। चिनी हुई ऐसी होती है और बे-चिनी हुई इसके विरुद्ध ।।१०।।

स्वयमातृण्णा को लोकम्पृणा से ढक देता है। स्वयमातृण्णा प्राण है। लोकम्पृणा आदित्य है। इस प्रकार प्राण को आदित्य से उद्दीप्त करता है। इसीलिए प्राण में गर्मी होती है। उस (ईंट) से समस्त शरीर को आच्छादित कर देता है। इस प्रकार समस्त शरीर को आदित्य से उद्दीप्त करता है। इसीलिए इस समस्त शरीर में गर्मी होती है। यही भेद है जीनेवाले में और मरनेवाले में। जीनेवाला शरीर गर्म होता है और मरनेवाला ठण्डा ।।११।।

जिस कोने में पहली दो लोकम्पृणा ईंटों को रखता है, वहाँ से स्वयमातृण्णा तक दस-दस करके भरता जाता है। इसी प्रकार वह बायें से दायें तक स्वयमातृण्णा के पीछे अनूक्या तक भर देता है, और उस अवधि तक पहुँचकर बिलकुल आच्छादित कर देता है ।।१२।।

पहले धड़ को भरता है। क्यों जो पक्षी उत्पन्न होता है, उसका पहले धड़ बनता है, फिर दाहिना बाजू, फिर पूंछ, फिर बायाँ, अर्थात् दाहिनी ओर की चाल में। देवों की यही चाल है। इसी प्रकार आदित्य भी इन लोकों में बाईं ओर से दाहिनी ओर को घूमता है।।१३।।

यह जो लोकम्पृणा है वह प्राण ही है।

णा । तया सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वस्मिंस्तदात्मन्प्राणं दधाति तद्यद्धास्यैषाङ्गं नाभिप्राप्नुयात्प्राणो हास्य तदङ्गं नाभिप्राप्नुयाद्यद्वै प्राणोऽङ्गं नाभिप्राप्नोति शुष्यति वा वै तन्म्लायति वा तस्मादेनꣳ सर्वमेवैतया प्रच्छादयेत् ॥१४॥ स वा ऽआत्मन एवाधि पक्षपुच्छानि चिनोति । आत्मनो ह्येवाध्यङ्गानि प्ररोहन्त्यथ यत्पुरस्तादर्वाचीरुपदध्याद्यथान्यत आहृत्याङ्गं प्रतिदध्यात्तादृक्तत् ॥१५॥ न भिन्नां न कृष्णामुपदध्यात् । आर्छति वा ऽएषा या भिद्यत ऽआर्तम्वेतद्रूपं यत्कृष्णं नेदार्तमात्मानमभिसंस्करवा ऽइति नाभिन्नां परास्येन्नेदनार्तमात्मनो बहिर्धा करवाणीति धिष्ण्येभ्यः प्रतिसंख्याय या विराजमतिरिच्येरन्नोत्तरामुद्ववेयुस्तद्धै खलु ता आर्छन्ति ता भित्त्वोत्कर ऽउत्किरेदुत्करो वा ऽअतिरिक्तस्य प्रतिष्ठा तद्यत्रातिरिक्तस्य प्रतिष्ठा तदेवैना एतत्प्रतिष्ठापयति ॥१६॥ अथात इष्टकामात्राणामेव । पादमात्रीः प्रथमायां चोत्तमायां च चित्योरुपदध्यात्प्रतिष्ठा वै पादो यो वै पादः स ह्रस्त ऊर्ध्वस्यमात्र्यो वर्षिष्ठाः स्युर्न ह्यूर्ध्वस्यात्किं चन वर्षीयोऽस्त्यस्ति त्र्यालिखितवत्यस्त्यलिखितयः स्युस्त्रिवृतो हीमे लोका अपरिमितालिखिते द्वे रसो ह्येते चिती ऽअपरिमित उ वै रसः सर्वास्त्वेव त्र्यालिखितवत्यः स्युः सर्वे ह्येवेमे लोकास्त्रिवृतः ॥१७॥ अथात इष्टकानामेवावपनस्य । यां कां च यजुष्मतीमिष्टकां विद्यात्तां मध्यमायां चिता ऽउपदध्यादन्तरिक्षं वै मध्यमा चितिरन्तरिक्षमु वै सर्वेषां भूतानामावपनमथो ऽअन्नं वै यजुष्मत्य इष्टका उदरं मध्यमा चितिरुदरे तदन्नं दधाति ॥१८॥ तदाहुः । नोपदध्यान्नेदतिरेचयानीति स वा ऽउपैव दध्यात्कामेभ्यो वा ऽएता इष्टका उपधीयन्ते न वै कामानामतिरिक्तमस्ति स वै नैवोपदध्यादेतावद्वा ऽएतद्देवा अकुर्वन् ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥३ [७. २.] ॥ ॥

अथ पुरीषं निवपति । माꣳसं वै पुरीषं माꣳसेनैवैनमेतत्प्रच्छादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्माꣳसैः संच्छादयति ॥१॥ स वै स्वयमातृण्णायामावपति ।

समस्त शरीर को इससे आच्छादित करता है। मानो समस्त शरीर को प्राणयुक्त करता है। यदि वह उसके किसी अंग तक नहीं पहुँचेगा तो प्राण भी उस अंग तक नहीं पहुँच सकता। प्राण जिस अंग तक नहीं पहुँचता, वह सूख जाता या मुरझा जाता है। इसलिए समस्त शरीर को ही आच्छादित कर देना चाहिए ॥१४॥

वह धड़ में पक्ष और पूँछ भी बनाता है क्योंकि पक्ष ओर पूँछ तो धड़ में से ही निकलते हैं। यदि वह इन ईंटों को इस प्रकार से रखता है कि वे धड़ से अलग होते, तो मानो वह किसी अंग को अन्यत्र से उठा लाया और शरीर में चिपका दिया ॥१५॥

टूटी या काली ईंट को न रक्खे। जो टूटी हुई रक्खी जाती है वह असफलतासूचक है। जो काली है वह रोगी के समान है। वह सोचता है कि मैं कहीं रोगी शरीर न बना दूं। जो ईंट टूटी नहीं है उसको फेंकना नहीं चाहिए कि कहीं रोगरहित (स्वस्थ) अंश को शरीर से बाहर न फेंक बैठे। धिष्ण्या से लेकर गिनने में जो ईंट विराज से बढ़े और दूसरा विराज न बना सके, ऐसी ईंट असफलतासूचक है। उसको तोड़कर उत्कर (कूड़ाघर) में फेंक देवे, क्योंकि उत्कर ही ऐसी चीजों का स्थान है जो व्यर्थ है। इस प्रकार वह इनको उस स्थान पर पहुँचा देता है जो व्यर्थ चीजों के लिए उपयुक्त है ॥१६॥

अब ईंटों की नाप के विषय में। पहली और पिछली चिति में पादमात्री (फुट-भर की) होनी चाहियें। पाद ही तो प्रतिष्ठा है। जो पाद (पैर) है वही हाथ है। बससे बड़ी ईंट जंघा की हड्डी के समान होनी चाहिए, क्योंकि जंघा की हड्डी से बड़ी तो कोई और हड्डी होती नहीं। तीनों चितियों की ईंटों पर तीन-तीन लकीरें होनी चाहियें, क्योंकि ये लोक तिहरे हैं। और दो चितियों की ईंटों में अनगिनत लकीरें होनी चाहियें, क्योंकि ये चितियाँ रस हैं। रस अनगिनत होता है। सब चितियों की ईंटों में भी तीन लकीरें हों तो अच्छा है, क्योंकि ये सभी लोक तिहरे हैं ॥१७॥

अब ईंटों के आवपन (स्थापना) के विषय में। जिस किसी यजुष्मती ईंट को जाने, उसको बीच की चिति में रख दे। बीच की चिति अन्तरिक्ष है। इसी में सब भूतों की स्थापना है। या यजुष्मती ईंट अन्न है और बीच की चिति उदर है। इस प्रकार मानो उदर में अन्न रखता है ॥१८॥

कुछ का कहना है कि ऐसी ईंटों को न रक्खे, क्योंकि ये फाज़िल हैं। परन्तु उसको रख ही देना चाहिए, कामना के लिए। क्योंकि कामना में तो कोई फाजिल होने का प्रश्न नहीं उठता। या इनको न रक्खे तो भी अच्छा है, क्योंकि देवों ने तो ऐसा किया नहीं था ॥१६॥

इष्टकासु पुरीषनिवापः, स्वयमातृण्णा-विकर्ण्युपधानं च

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

अब उस पर पुरीष (मिट्टी या गारा) बिछाता है। पुरीष मांस का स्थानीय है। मानो ईंट रखने के पीछे मांस से उसको आच्छादित करता है। ईंट हड्डियाँ हैं। इस प्रकार हड्डियों को मांस से आच्छादित करता है ॥१॥

स्वयमातृण्णा पर भी (पुरीष) बिछाता है।

प्राणो वै स्वयमातृण्णान्नं पुरीषं प्राणे तदन्नं दधाति तेन सर्वमात्मानं प्रच्छादयति
तस्माद्यत्प्राणेऽन्नं धीयते सर्वमात्मानमवति सर्वमात्मानमनुव्येति ॥२॥ न स्व-
यमातृण्णायामावपेदित्यु हैकऽआहुः । प्राणाः स्वयमातृण्णा नेत्प्राणानपिदधानीति
स वाऽएव वपेदन्नेन वै प्राणा विष्टब्धा यो वाऽअन्नं नात्ति सं वै तस्य प्राणा
रोहन्ति तद्यस्य ह तथा कुर्वन्ति यथा शुष्का सूर्मी सुषिरैवꣳ ह सोऽमुष्मिंलोके
सम्भवति तस्मात्स्वयमातृण्णायामेव वपेत् ॥३॥ स्वयमातृण्णायामोप्य । अनूक्यया
संछादयन्नेत्या परिश्रिद्भ्यः स तेनैव दक्षिणावृज्जघनेन स्वयमातृण्णाꣳ संछादयन्ने-
त्या पुनरनूक्यायै ॥४॥ आत्मानमग्रे संछादयति । आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भ-
वत्यथ दक्षिणं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरं तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रा ॥५॥ स एष प्राण
एव यत्पुरीषम् । तेन सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वस्मिंस्तदात्मन्प्राणं दधाति त-
द्यद्धास्यैतदङ्गं नाभिप्राप्नुयात्प्राणो हास्य तदङ्गं नाभिप्राप्नुयाद्यदु वै प्राणोऽङ्गं ना-
भिप्राप्नोति शुष्यति वा वै तन्म्लायति वा तस्मादेनꣳ सर्वमेवैतेन प्रच्छादयेत् ॥६॥
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति । इन्द्रꣳ हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्ति समुद्रव्यचसं
गिर इति महिमानमस्यैतदाह रथीतमꣳ रथीनामिति रथितमो ह्येष रथिनां वा-
जानाꣳ सत्पतिं पतिमित्यन्नं वै वाजा अन्नानाꣳ सत्पतिं पतिमित्येतदैन्द्र्यानुष्टुभा
निवपत्यैन्द्रꣳ हि पुरीषं तदेतदर्धमग्नेर्यत्पुरीषमर्धमिष्टकम् ॥७॥ तदाहुः । यत्सर्वै-
श्छन्दोभिः सर्वाभिर्देवताभिरिष्टका उपदधात्यथैतदेकयैकदेवत्यया निवपति कथमे-
तदर्धमग्नेरितीन्द्रो वै सर्वान्देवान्प्रतिप्रतिस्तद्यदैन्द्र्या निवपति तेनैतदर्धमग्नेरथ य-
दनुष्टुभा वाग्वाऽअनुष्टुब्वागु सर्वाणि छन्दाꣳसि तेनोऽएवार्धम् ॥८॥ अथ वि-
कर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति । वायुर्वै विकर्णी द्यौरुत्तमा स्वयमातृण्णा वा-
युं च तद्दिवं चोपदधात्युत्तमेऽउपदधात्युत्तमे हि वायुश्च द्यौश्च सꣳस्पृष्टे सꣳस्पृष्टे
हि वायुश्च द्यौश्च पूर्वां विकर्णीमुपदधात्यर्वाचीनं तद्दिवो वायुं दधाति तस्मादे-

स्वयमातृण्णा प्राण है। पुरीष अन्न है। इस प्रकार प्राण में अन्न को रखता है। उससे सब शरीर (समस्त वेदी) को ढकता है। इसलिए प्राण में जो अन्न रक्खा जाता है, वह सब शरीर की रक्षा करता है, समस्त शरीर में प्रवेश कर जाता है ॥२॥

कुछ लोग कहते हैं कि स्वयमातृण्णा पर (पुरीष) न बिछावे। स्वयमातृण्णा प्राण है, कहीं प्राण छिप न जाये। परन्तु बिछाना अवश्य चाहिए। अन्न से प्राण ठीक रहते हैं। जो अन्न नहीं खाता उसके प्राण बढ़ (रुक) जाते हैं और उनकी गति ऐसी हो जाती है मानो दूसरे लोक में सूखी, खुखली नलिका-से हों। इसलिए स्वयमातृण्णा पर अवश्य ही पुरीष बिछाया जाना चाहिए ॥३॥

स्वयमातृण्णा पर पुरीष बिछाकर अनूक्या से आरम्भ करके परिश्रित् तक बिछाता चला जाता है। वह दक्षिणावृत् क्रम से (अर्थात् बायें से दायें को) चलता जाता है, स्वयमातृण्णा से पीछे-पीछे बिछाता हुआ अनूक्या तक ॥४॥

धड़ के ऊपर पहले बिछाता है। उत्पन्न होनेवाले का धड़ ही पहले बनता है, फिर दायाँ बाजू, फिर पूँछ, फिर बायाँ बाजू। देवों की चाल ही दक्षिणावृत् है, अर्थात् ये बायें से दायें को चलते हैं ॥५॥

यह जो पुरीष है, वह प्राण ही है। इस प्राण से समस्त शरीर को आच्छादित करता है, अर्थात् समस्त शरीर में प्राण को धारण कराता है। जिस अंग को छोड़ जायगा उसमें प्राण न जा सकेगा। जिस अंग में प्राण न पहुँचेगा वह अंग या तो सूख जायगा या मुरझा जायगा। इस-लिए इस सबको अच्छादित करता है—॥६॥

इस मन्त्र से—"इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्" (यजु० १५।६१)—"सबने इन्द्र के यश को बढ़ाया।" सब भूत इन्द्र के यश को ही तो बढ़ाते हैं। "समुद्रव्यचसं गिरः" (यजु० १५।६१)—"वाणियाँ समुद्र के समान विशाल के पक्ष को।" यह उसकी महिमा वर्णन की गई है। "रथीतमँ रथीनाम्" (यजु० १५।६१)—"सब रथियों में बड़ा रथी।" "वाजानाँ सत्पतिं पतिम्" (यजु० १५।६१)—'वाज' कहते हैं अन्न को, "वह अन्नों का सत्पति है।" इन्द्रवाले अनुष्टुम् से बिछाता है। 'पुरीष' इन्द्र का है। यह जो पुरीष की तह है, वह अग्नि अर्थात् बेदी की आधी है। दूसरी आधी ईंटें हैं ॥७॥

इस पर आक्षेप करते हैं कि जब सब छन्दों से, सब देवताओं से ईंटें रखता है और एक छन्द से, एक देवता से ही पुरीष बिछाता है, तो पुरीष सब वेदी का आधा क्यों हुआ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्र तो सब देवों के बराबर है। यह जो इन्द्रवाले मन्त्र से बिछाया तो पुरीष वेदी का आधा हो गया। अनुष्टुम् से इसलिए कि अनुष्टुम् वाणी है। सब छन्द वाणी है। इस-लिए यह आधा हो गया ॥८॥

अब विकर्णी और स्वयमातृण्णा को रखता है। विकर्णी वायु है और पिछली स्वयमातृण्णा द्यौ। इस प्रकार वायु और द्यौ को रखता है। इनको अन्तिम के रूप में रखता है, क्योंकि वायु और द्यौ सबसे ऊपर अन्त में हैं; चिपटाकर, क्योंकि वायु और द्यौ चिपटे हुए हैं। पहले विकर्णी को रखता है। इस प्रकार द्यौ के इस ओर वायु को रखता है।

षोऽर्वाचीनमेव वातः पवते ॥९॥ यद्वेव विकर्णीमुपदधाति । यत्र वाऽग्रदोऽश्वं चितिमवघ्रापयन्ति तदसावादित्य इमांल्लोकान्त्सूत्रे समावयते तद्यत्तत्सूत्रं वायुः स स यः स वायुरेषा सा विकर्णी तद्यदेतामुपदधात्यसावेव तदादित्य इमांल्लोकान्त्सूत्रे समावयते ॥१०॥ यद्वेव विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति । आयुर्वै विकर्णी प्राणः स्वयमातृण्णायुश्च तत्प्राणं चोपदधात्युत्तमेऽउपदधात्युत्तमे ह्यायुश्च प्राणश्च सꣳस्पृष्टे सꣳस्पृष्टे ह्यायुश्च प्राणश्च पूर्वामुत्तरां विकर्णीमुपदधात्यायुषा तत्प्राणमुभयतः परिगृह्णाति ॥११॥ प्रोथदश्वो न यवसे । ऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् आदस्य वातोऽअनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्तीति यदा वाऽएतस्य वातोऽनुवाति शोचिरथैतस्य व्रजनं कृष्णं भवति त्रिष्टुभोपदधाति त्रैष्टुभो हि वायुराग्नेय्याग्निकर्म ह्यनिरुक्तयानिरुक्तो हि वायुरथ यद्वात इत्याह वातो हि वायुः ॥१२॥ ॥शतम् ४७०० ॥ ॥ अथ स्वयमातृण्णामुपदधाति । आयोष्ट्वा सदने सादयामीत्येष वाऽआयुस्तस्यैतत्सदनमवत इत्येष हीदꣳ सर्वमवति छायायामित्येतस्य हीदꣳ सर्वं छायायाꣳ समुद्रस्य हृदयऽइति समुद्रस्य ह्येतद्धृदयꣳ रश्मीवतीं भास्वतीमिति रश्मीवती हि द्यौर्भास्वत्या या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षमित्येवꣳ ह्येष इमांल्लोकानाभाति ॥१३॥ परमेष्ठी त्वा सादयत्विति । परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं चितिमपश्यत् ॥१४॥ यद्वेव परमेष्ठिनोपदधाति । प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य परमेष्ठी शिर आदायोत्क्रम्यातिष्ठत् ॥१५॥ तमब्रवीत् । उप मेहि प्रति मऽएतद्धेहि येन मे त्वमुदक्रमीरिति किं मे ततो भविष्यतीति त्वद्देवत्यमेव मऽएतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतत्परमेष्ठी प्रत्यदधात् ॥१६॥ तद्यैषोत्तमा स्वयमातृण्णा । एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेताम्त्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति ॥१७॥ दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमिति । दिवो ह्येतत्पृष्ठं व्यचस्वत्प्रथस्तद्दिवं यच्छ

इसलिए वायु द्यौ के इसी ओर बहा करता है ।।९।।

विकर्णी को इसलिए रखता है कि जब वे घोड़े को चिति सुँघवाते हैं (देखो शतपथ ७।३।२।१३) तो आदित्य इन लोकों को सूत्र में बाँध लेता है। यह सूत्र वायु है। यह जो विकर्णी है वही वायु है। इसलिए जब वह विकर्णी को रखता है तो वह आदित्य इन लोकों को सूत्र में बाँध लेता है ।।१०।।

विकर्णी और स्वयमातृण्णा को रखने का यह भी प्रयोजन है कि विकर्णी आयु है और स्वयमातृण्णा प्राण। इस प्रकार आयु और प्राण को स्थापित करता है। सबसे अन्त में रखता है; आयु और प्राण अन्त की वस्तु है। चिपटाकर रखता है, क्योंकि आयु और प्राण चिपटे हुए हैं। ऊपर की विकर्णी को पहले रखता है। इस प्रकार आयु से प्राण को दोनों ओर से घेर लेता है ।।११।।

विकर्णी को इस मन्त्र से—"प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्। आदस्य वातोऽअनुवाति शोचिरध स्मते व्रजनं कृष्णमस्ति" (यजु० १५।६२)—"जब नाक फुलाते हुए घोड़े के समान, जो घास खाने को जाना चाहता है, वह अपने बड़े बाड़े से निकला, तो वायु ने इसकी ज्वाला को प्रज्वलित किया। तब तेरा मार्ग काला हो गया।" जब वायु इसकी ज्वाला को बढ़ाती है तो इसका मार्ग काला हो जाता है। त्रिष्टुम् छन्द के द्वारा रखता है; वायु त्रिष्टुभ् वाला है। अग्निवाले मन्त्र से, क्योंकि यह अग्नि का कर्म है। अनिरुक्त पद से, क्योंकि वायु अनिरुक्त है। 'वात' क्यों कहा ? इसलिए कि वात और वायु तो एक ही बात है ।।१२।।

अब स्वयमातृण्णा को रखता है, इस मन्त्र से—"आयोष्ट्वा सदने सादयामि" (यजु० १५।६३)—"तुझको आयु के सदन में रखता हूँ।" "अवतः" (यजु० १५।६३)—क्योंकि "वह सबकी रक्षा करता है।" "छायायाम्" (यजु० १५।६३)—क्योंकि "इसकी छाया में सब जगत् है।" "समुद्रस्य हृदये" (यजु० १५।६३)—क्योंकि "यह समुद्र का हृदय है।" "रश्मीवतीं भास्वतीम्" (यजु० १५।६३)—क्योंकि "द्यौ रश्मीवती और प्रकाशवती है।" "आ या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्" (यजु० १५।६३)—"जो तू द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है।" वस्तुतः यह आदित्य इन लोकों को प्रकाशित करता है ।।१३।।

"परमेष्ठी त्वा सादयतु" (यजु० १५।६४)—क्योंकि इसे पाँचवी चिति को परमेष्ठी ने ही निकाला था ।।१४।।

परमेष्ठीवाले मन्त्र से क्यों रखता है ? जब प्रजापति अस्वस्थ हो गया तो देवता इसके अंगों को लेकर इधर-उधर चले गये। परमेष्ठी उसका सिर ले गया और दूर चला गया ।।१५।।

उसने उससे कहा, 'यहाँ आ और मेरा जो भाग तू ले गया है उसको मुझे दे दो।' उसने पूछा, 'मुझे क्या लाभ ?' 'मेरे शरीर के उस भाग का तू देवता हो जायेगा।' 'अच्छा।' परमेष्ठी ने वह भाग उसको लौटा दिया ।।१६।।

यह अन्तिम स्वयमातृण्णा उसका यही भाग है। जब वह इसको यहाँ रखता है, तो मानो उस भाग की स्थापना करता है जिसको वह उठा ले गया था। इसीलिए वह इसकी स्थापना करता है ।।१७।।

"दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीम्" (यजु० १५।६४)—"वेदी का यह भाग द्यौ की प्रकाशयुक्त और चौड़ी-चकली पीठ है।"

दिवं दृ७ह दिवं मा हि७सीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृ७हात्मानं मा हि७सीरित्ये-तत् ॥१८॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायोदानायेति प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्माऽउ वाऽएतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इमऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्र७ सूर्यस्त्वाभिपात्विति सूर्यस्त्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शंतमेनेति यच्छर्दिः शंतमं तेनेत्येतत् ॥१९॥ नानोपदधाति । नाना हि वायुश्च द्यौश्च सकृत्सादयति समानं तत्करोति समान७ ह्यायुश्च प्राणश्च ते वाऽउभेऽएव शर्करे भवत उभे स्वयमातृण्णे समान७ ह्येवायुश्च प्राणश्चाथैने सूददोहसाधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणेनैवैनेऽएतत्संतनोति संदधाति ॥२०॥ ता अस्य सूददोहस इति । आपो वै सूदोऽन्नं दोहः सोम७ श्रीणन्ति पृश्नय इत्यन्नं वै पृश्नि जन्मन्देवानामिति संवत्सरो वै देवानां जन्म विश इति यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि त्रिष्वा रोचने दिव इति सवनानि वै त्रीणि रोचनानि सवनान्येतदाहानुष्टुभा वाग्वाऽअनुष्टुब्वागु सर्वे प्राणा वाचा चैवैनेऽएतत्प्राणेन च संतनोति संदधाति सा वाऽएषैका सती सूददोहाः सर्वा इष्टका अनुसंचरति प्राणो वै सूददोहास्तस्मादयमेक एव प्राणः सन्त्सर्वाण्यङ्गानि सर्वमात्मानमनुसंचरति ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥४ [७. ३.] ॥ ॥

अथ स्वयमातृण्णासु सामानि गायति । इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णास्ता एताः शर्करास्ता देवा उपधायैनादृशीरेवापश्यन्यथैताः शुष्काः शर्कराः ॥१॥ तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथैषु लोकेषु रसमुपजीवनं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथैषु लोकेषु रसमुपजीवनं दधामेति ॥२॥ ते चेतयमानाः । एतानि सामान्यपश्यंस्तान्यगायंस्तैरेषु लोकेषु रसमुपजीवनमदधुस्तथैवैतद्यजमानो यदेतानि सामानि गायत्येष्वेवैतल्लोकेषु रसमुपजीवनं दधा-

"दिवं यच्छ दिवं दृँह दिवं मा हिँसीः" (यजु० १५।६४)—अर्थात् अपने शरीर को प्राप्त हो। इस शरीर को दृढ़ कर। इसको हानि मत पहुँचा ।।१८।।

"विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय" (यजु० १५।६४)—स्वयमातृण्णा प्राण है, और प्राण तो इस सभी चीज का हितकर है। "प्रतिष्ठायै चरित्राय" (यजु० १५।६४)–स्वयमातृण्णा यह लोक है, लोक प्रतिष्ठा है और चरित्र है (अर्थात् यहाँ चीजें चलती हैं)। "सूर्यस्त्वाभिपातु" (यजु० १५।६४)–अर्थात् "सूर्य्य तेरी रक्षा करे।" "मह्या स्वस्त्या" (यजु० १५।६४)–अर्थात् "बड़ी स्वस्ति के द्वारा।" "छर्दिषा शन्तमेन" (यजु० १५।६४)—"शान्तिदायक छर्दिया छत या घर के द्वार" १९।।

अलग-अलग रखता है। वायु और द्यौ अलग-अलग हैं। एक बार में रखता है। इससे उनको एक कर देता है। आयु और प्राण समान हैं। दोनों कंकड़ हैं और दोनों स्वयमातृण्णा। आयु और प्राण तुल्य ही तो हैं। इन पर सूददोह का पाठ करता है। सूददोह प्राण है। इस प्रकार प्राण से ही इसको तानता है, इसी से इसको स्थापित करता है ।।२०।।

"ता अस्य सूददोहसः"—सूद कहते हैं जल को और दोह अन्न को। "सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः"—पृश्नि अन्न है। "जन्मन्देवानाम्"—"संवत्सर देवों का जन्म है।" यज्ञ ही विशः है, क्योंकि यज्ञ में ही सब भूत व्याप्त हैं। "त्रिष्वा रोचने दिवः"—रोचन कहते हैं तीन सवनों को। अनुष्टुभ् छन्द से, क्योंकि वाणी ही अनुष्टुभ् है। वाणी सब प्राण हैं, वाणी या प्राण के द्वारा वह इनको तानता या स्थापित करता है। यह सूददोह एक होता हुआ भी सब ईंटों पर लाग होता है। सूददोह प्राण है। इसलिए एक प्राण सब अंगों को और समस्त शरीर को संचालित करता है ।।२१।।

पञ्चम्याश्चितः सुवर्णशकलसहस्रेण प्रोक्षणम्, पुरीषेणाच्छादनं च

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

अब स्वयमातृण्णा ईंटों पर सामगान करता है। ये लोक स्वयमातृण्णा हैं। ये कंकड़ हैं। देवों ने इनको रखकर इसी प्रकार से देखा कि ये तो सूखे कंकड़ हैं ।।१।।

वे बोले, 'ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि इन लोकों में कुछ रस उत्पन्न करें।' उन्होंने कहा विचार करो, अर्थात् चिति की इच्छा करो, अर्थात् सोचो कि इन लोकों में रस या जीवन कैसे रख सकें ।।२।।

उन्होंने विचार करते-करते इन सामों को खोजा, उनको गाया, इनके द्वारा इन लोकों में रस या जीवन स्थापित किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन सामों को गाकर इन लोकों में रस या जीवन धारण कराता है ।।३।।

ति ॥३॥ स्वयमातृण्णासु गायति । इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा एष्वेवैतल्लोकेषु रसमुपजीवनं दधाति ॥४॥ स वै भूर्भुवः स्वरिति । एतासु व्याहृतिषु गायति भूरिति वाऽअयं लोको भुव इत्यन्तरिक्षलोकः स्वरित्यसौ लोक एष्वेवैतल्लोकेषु रसमुपजीवनं दधाति ॥५॥ तानि वै नानाप्रस्तावानि । समाननिधनानि तानि यन्नानाप्रस्तावानि नाना ह्यपश्यन्नथ यत्समाननिधनान्येका ह्येव यज्ञस्य प्रतिष्ठैकं निधनꣳ स्वर्ग एव लोकस्तस्मात्स्वर्ग्योतिर्निधनानि ॥६॥ अथैनꣳ हिरण्यशकलैः प्रोक्षति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन्देवा एतदमृतꣳ रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति ॥७॥ यद्वेवैनꣳ हिरण्यशकलैः प्रोक्षति । एतद्वाऽअस्मिन्नदोऽमूं पुरस्ताद्रुक्म्यां तनूं मध्यतो दधाति रुक्मं च पुरुषं चाथैनमेतत्सर्वमेवोपरिष्टाद्रुक्म्यया तन्वा प्रच्छादयति ॥८॥ द्वाभ्यां-द्वाभ्याꣳ शताभ्याम् । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति पञ्च कृत्वः पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति सहस्रेण सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वेणैवास्मिन्नेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति ॥९॥ पश्चादग्रे प्राङ् तिष्ठन् । अथोत्तरतो दक्षिणाथ पुरस्तात्प्रत्यङ्ङथ जघनेन परीत्य दक्षिणात उदङ् तिष्ठंस्तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्राथानुपरीत्य पश्चात्प्राङ् तिष्ठंस्तथो ह्यस्यैतत्प्रागेव कर्म कृतं भवति ॥१०॥ सहस्रस्य प्रमासि । सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वमसि सर्वस्मै त्वेत्येतत् ॥११॥ अथातश्चितिपुरीषाणामेव मीमाꣳसा । अयमेव लोकः प्रथमा चितिः पशवः पुरीषं यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयतीमं तल्लोकं पशुभिः प्रच्छादयति ॥१२॥ अन्तरिक्षमेव द्वितीया चितिः । वयाꣳसि पुरीषं यद्द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्यन्तरिक्षं तद्वयोभिः प्रच्छादयति ॥१३॥ द्यौरेव तृतीया चितिः । नक्षत्राणि पु-

स्वयमातृण्णा ईंटों पर साम गाता है। ये लोक स्वयमातृण्णा हैं। इन्हीं लोकों में रस या जीवन स्थापित करता है ॥४॥

वह भूः-भुवः-स्वः इन व्याहृतियों को गाता है। भूः यह लोक है, भुवः अन्तरिक्ष, और स्वः वह लोक है। इन्हीं लोकों में रस या जीवन स्थापित करता है ॥५॥

उनके प्रस्ताव (आरम्भ) अलग-अलग हैं और निधन (अन्त) एक हैं। प्रस्ताव अनेक इसलिए हैं कि उनको अलग-अलग देखा। निधन एक इसलिए है कि यज्ञ की प्रतिष्ठा या अन्त एक ही है, अर्थात् स्वर्ग। इसलिए स्वर्ज्योति को ही अन्त कहते हैं ॥६॥

इन पर सोने के टुकड़े डालता है। जब यह सब वेदी तैयार हो गई थी तो देवों ने इसमें इस अमृतरूप की स्थापना की थी। इसी प्रकार यहाँ भी वह इसको अमृतरूप देता है ॥७॥

सोने के टुकड़े डालने का प्रयोजन यह भी है कि पहले भी इसने उसको मनोहर शरीर दिया था, अर्थात् स्वर्ण का टुकड़ा या स्वर्ण-पुरुष। यहाँ भी वह इसको मनोहर शरीर देता है ॥८॥

दो-दो सौ करके। यजमान द्विपात् है। अग्नि यजमान है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही अमृतरूप उसको धारण कराता है; पाँच-पाँच बार, वेदी में पांच चितियाँ होती हैं, संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। संवत्सर वेदी है। जितना अग्नि (वेदी) है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही अमृतरूप वह उसको देता है। हजार टुकड़े डालता है (पाँच बार दो-दो सौ)। हजार का अर्थ है सब। सबके द्वारा ही इस उत्तम अमृतरूप को धारण कराता है ॥९॥

पूर्वाभिमुख खड़ा होकर पहले पिछली ओर, फिर बाईं ओर दक्षिण की तरफ, फिर पश्चिमाभिमुख आगे की ओर, फिर पीछे मुड़कर उत्तराभिमुख दक्षिण की ओर से। यह है बायें से दायें की तरफ, क्योंकि देवों की यही चाल है। फिर पीछे मुड़कर पूर्वाभिमुख होकर, क्योंकि पहले भी इसका निर्णय इसी प्रकार हुआ था ॥१०॥

इस मन्त्र से––"सहस्रस्य प्रमाऽसि, सहस्रस्य प्रतिमाऽसि, सहस्रयोन्माऽसि, साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा" (यजु० १५।६५)—सहस्र का अर्थ है 'सब'। "तू सब है। सबके लिए तुझको" ॥११॥

अब चिति के भरने की मीमांसा। यह लोक पहली चिति है। पशु पुरीष हैं। पहली चिति पर पुरीष बिछाना मानो इस लोक को पशुओं से भरना है ॥१२॥

अन्तरिक्ष दूसरी चिति है। पक्षी पुरीष हैं। दूसरी चिति में पुरीष भरना मानो अन्तरिक्ष को पक्षियों से भरना है ॥१३॥

द्यौ तीसरी चिति है। नक्षत्र पुरीष हैं।

रीषं यत्तृतीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति दिवं तन्नक्षत्रैः प्रच्छादयति ॥१४॥ यज्ञ एव चतुर्थी चितिः । दक्षिणाः पुरीषं यच्चतुर्थीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति यज्ञं तद्दक्षिणाभिः प्रच्छादयति ॥१५॥ यजमान एव पञ्चमी चितिः । प्रजा पुरीषं यत्पञ्चमीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति यजमानं तत्प्रजया प्रच्छादयति ॥१६॥ स्वर्ग एव लोकः षष्ठी चितिः । देवाः पुरीषं यत्षष्ठीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति स्वर्गं तल्लोकं देवैः प्रच्छादयति ॥१७॥ अमृतमेव सप्तमी चितिः । तामुत्तमामुपदधात्यमृतं तदस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादस्य सर्वस्यामृतमुत्तमं तस्माद्देवा अनन्तर्हितास्तस्मादु तेऽमृता इत्यधिदेवतम् ॥१८॥ अथाध्यात्मम् । येवेयं प्रतिष्ठा यश्चायमवाङ् प्राणस्तत्प्रथमा चितिर्माᳬसं पुरीषं यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येतस्य तदात्मनो माᳬसैः संछादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्माᳬसैः संछादयति नाधस्तात्संछादयति तस्मादिमे प्राणा अधस्तादसंछन्ना उपरिष्टात्तु प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन उपरिष्टान्माᳬसैः संछादयति तस्मादस्यैतदात्मन उपरिष्टान्माᳬसैः संछन्नं नावकाशते ॥१९॥ यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अर्वाचीनं मध्यात् । तद्द्वितीया चितिर्माᳬसं पुरीषं यद्द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मनो माᳬसैः संछादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्माᳬसैः संछादयति पुरीष उपदधाति पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन उभयतो माᳬसैः संछादयति तस्मादस्यैतदात्मन उभयतो माᳬसैः संछन्नं नावकाशते ॥२०॥ मध्यमेव तृतीया चितिः । यदूर्ध्वं मध्यादर्वाचीनं ग्रीवाभ्यस्तच्चतुर्थी चितिर्ग्रीवा एव पञ्चमी चितिः शिर एव षष्ठी चितिः प्राणा एव सप्तमी चितिस्तामुत्तमामुपदधाति प्राणांस्तदस्य सर्वस्योत्तमान्दधाति तस्मादस्य सर्वस्य प्राणा उत्तमाः पुरीष उपदधाति माᳬसं वै पुरीषं माᳬसेन तत्प्राणान्प्रतिष्ठापयति नोपरिष्टात्प्रच्छादयति तस्मादिमे प्राणा उपरिष्टादसंछन्नाः ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥५ [७. ४.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०१

। सप्तमोऽध्यायः [५५.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या४३७ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे चितिनामाष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥८॥ ॥

तीसरी चिति को पुरीष से भरना मानो द्यौ को नक्षत्रों से भरना है ॥१४॥

यज्ञ चौथी चिति है। दक्षिणा पुरीष है। चौथी चिति में पुरीष भरना मानो यज्ञ में दक्षिणा भरना है ॥१५॥

यजमान पाँचवीं चिति है। प्रजा पुरीष है। पाँचवीं चिति में पुरीष भरना मानो यजमान को प्रजा से भरना है ॥१६॥

स्वर्गलोक छठी चिति है। देव पुरीष हैं। छठी चिति को पुरीष से भरना मानो स्वर्ग-लोक को देवों से भरना है ॥१७॥

अमृत सातवीं चिति है। यह अन्तिम चिति है। इस सब संसार का अन्तिम पदार्थ अमृत है। इस प्रकार जगत् में अमृत धारण कराता है। इसलिए देव वहाँ से अलग नहीं होते। देव अमृत हैं। यह आधिदैवत हुआ ॥१८॥

अब अध्यात्म सुनिये—यह जो प्रतिष्ठा (पादस्थानीय पृथिवी) है और यह जो निचला प्राण है वह प्रथम चिति है। मांस पुरीष है। पहली चिति को पुरीष से भरना मानो शरीर को मांस से भरना है। ईंटों को रखकर; ईंटें हड्डियाँ हैं। पुरीष मांस है, मानो हड्डियों पर मांस रखता है। नीचे की ओर नहीं ढकता, इसलिए प्राण नीचे की ओर ढके नहीं हैं। ऊपर से ढकता है, अर्थात् शरीर के उस भाग को मांस से ढकता है। इसलिए ऊपर का वह भाग मांस से ढका हुआ दिखाई नहीं पड़ता ॥१९॥

पैरों से ऊपर और कमर से नीचे दूसरी चिति हुई। पुरीष मांस है। दूसरी चिति को पुरीष से भरना मानो शरीर को मांस से भरना है। ईंटों को रखकर; ईंटें हड्डियाँ हैं। पुरीष मांस है अर्थात् हड्डियों पर मांस का लेपन करता है। पुरीष रखता है, पुरीष से ढकता है, अर्थात् इस शरीर के दोनों ओर मांस चढ़ाता है। इसीलिए यह शरीर दोनों ओर मांस से ढका हुआ होता है और दिखाई नहीं पड़ता ॥२०॥

कमर तीसरी चिति है। कमर से ऊपर और गर्दन से नीचे चौथी चिति है। गर्दन पाँचवीं चिति है, शिर छठी है, प्राण सातवीं चिति है, उसको सबसे अन्त में रखता है। प्राण सबसे ऊपर हैं, इसलिए प्राण सब चीजों में हैं। पुरीष रखता है, पुरीष मांस है। मांस के द्वारा प्राणों को स्थापित करता है। ऊपर की ओर से नहीं ढकता, इसलिए यह प्राण (नथने आदि) ऊपर की ओर ढके नहीं होते ॥२१॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत
"रत्नकुमारी दीपिका" भाषा व्याख्या का चितिनाम
अष्टम काण्ड समाप्त हुआ।

अष्टम काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [८.३.१]	११५
द्वितीय [८.४.३]	१०५
तृतीय [८.६.२.]	१०८
चतुर्थ [८.७.४]	१०९
	४३७
पूर्व के काण्डों का योग	४२९३
पूर्ण योग	४७३०

ओम् । अथातः शतरुद्रियं जुहोति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र
रुद्रो देवता तस्मिन्देवा एतदमृतँ रूपमुत्तममदधुः स एषोऽत्र दीप्यमानोऽति-
ष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद्देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिँस्यादिति ॥१॥ तेऽब्रुवन्
। अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनँ शमयामेति तस्मा एतदन्नँ समभरञ्छान्तदेवत्यं ते-
नैनमशमयंस्तद्यदेतं देवमेतेनाशमयंस्तस्माच्छान्तदेवत्यँ शान्तदेवत्यँ ह वै तच्छ-
तरुद्रियमित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतँ रू-
पमुत्तमं दधाति स एषोऽत्र दीप्यमानस्तिष्ठत्यन्नमिच्छमानस्तस्मा एतदन्नँ सम्भर-
ति शान्तदेवत्यं तेनैनँ शमयति ॥२॥ जर्तिलैर्जुहोति । जायत एष एतद्यच्ची-
यते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत उभयम्वेतदन्नं यज्जर्तिला यच्च ग्राम्यं यच्चा-
रण्यं यद्ध तिलास्तेन ग्राम्यं यदकृष्टे पच्यन्ते तेनारण्यमुभयेनैवैनमेतदन्नेन प्री-
णाति ग्राम्येण चारण्येन च ॥३॥ अर्कपर्णेन जुहोति । अन्नमर्कोऽन्नेनैवैनमेत-
त्प्रीणाति ॥४॥ परिश्रित्सु जुहोति । अग्नय एते यत्परिश्रितस्तथो हास्यैता अ-
ग्निमत्येवाहुतयो हुता भवन्ति ॥५॥ यद्वेवैतच्छतरुद्रियं जुहोति । प्रजापतेर्विस्र-
स्ताद्देवता उदक्रामंस्तमेक एव देवो नाजहान्मन्युरेव सोऽस्मिन्नन्तर्विततोऽति-
ष्ठत्सोऽरोदीत्तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दंस्तान्यस्मिन्मन्यौ प्रत्यतिष्ठन्त्स एव शत-
शीर्षा रुद्रः समभवत्सहस्राक्षः शतेषुधिरथ या अन्या विप्रुषोऽपतंस्ता असंख्याता
सहस्राणीमांल्लोकाननुप्राविशंस्तद्यद्रुदितात्समभवंस्तस्माद्रुद्राः सोऽयँ शतशीर्षा
रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा प्रतिहितायी भीषयमाणोऽतिष्ठदन्नमिच्छमा-

नवम काण्ड

अथ सञ्चितिनामनवमं काण्डम्

शतरुद्रियहोमः

अध्याय १—ब्राह्मण १

अब शतरुद्रिय आहुतियाँ देता है। जब समस्त अग्नि (वेदी) बन चुकी, तो यह देवता "रुद्र" हो गया। उसको देवों ने उत्तम अमृतरूप प्रदान किया। वह देदीप्यमान होकर अन्न की इच्छा करने लगा। देवों को डर लगा कि कहीं यह हमको हानि न पहुंचावे ॥१॥

वे बोले, 'इसके लिए अन्न को इकट्ठा करें और इसको शान्त करें।' उन्होंने 'शान्त देवत्य' रूप अन्न को इकट्ठा किया और उसको शान्त किया। यतः इससे देवता को शान्त किया, इसलिए इसका नाम 'शान्त देवत्य' हुआ। इसी को परोक्ष में 'शतरुद्रिय' कहते हैं; देवों को परोक्ष प्रिय होता है। इसी प्रकार यजमान भी उसको उत्तम अमृतरूप देता है और वह देदीप्यमान होकर अन्न की इच्छा करने लगता है। यजमान उसके लिए शान्त-देवत्य अन्न देता है और उसे शान्त करता है ॥२॥

जर्तिल (जंगली तिल) की आहुति देता है। जब वेदी चिनी जाती है, तो मानो उत्पन्न होती है। उत्पन्न होती है सब प्रकार के अन्न के लिए। जर्तिल दोनों प्रकार का अन्न है, ग्राम्य भी, जंगली भी। तिल हैं इसलिए तो ग्राम्य हुए, और आकृष्ट अर्थात् बिना जुती भूमि में उपजते हैं इसलिए जंगली हुए। उसको दोनों प्रकार के अन्न से सन्तुष्ट करता है, ग्राम्य से भी और जंगली से भी ॥३॥

अर्कपर्ण (आक के पत्ते) की आहुति देता है। अर्क अन्न है। अन्न से उसको शान्त करता है ॥४॥

परिश्रित् पर आहुति देता है। यह जो परिश्रित् है, ये तीन अग्नियाँ हैं; इस प्रकार ये आहुतियाँ अग्नि में दी हुई ही समझी जाती हैं ॥५॥

शतरुद्रिय आहुतियों का प्रयोजन यह है—थके हुए प्रजापति से देवता भाग गये। उसको केवल एक देव ने न छोड़ा। उसका नाम था मन्यु। वह इससे मिलकर ठहरा रहा। वह रोया। उसके जो आँसू आये, वे इस मन्यु में प्रविष्ट हो गये। वह शतशीर्ष रुद्र हो गया। सहस्राक्ष, या शतेषुधि (सौ तरकशवाला)। जो आँसू गिर गये, वे अनगिनत संख्या में जगत् में फैल गये। यतः उनका जन्म रोदन (रोने) से हुआ, इसलिए इन्द्र को रुद्र कहते हैं। यह शतशीर्ष, सहस्राक्ष और शतेषुधि रुद्र कमान तानकर भयानक रूप धारण करके अन्न की इच्छा करने लगा।

नस्तस्माद्विवा अबिभयुः ॥६॥ ते प्रजापतिमब्रुवन् । अस्माद्वै बिभीमो यद्वै नोऽयं न हिᳫंस्यादिति सोऽब्रवीदन्नमस्मै सम्भरत तेनैनᳫं शमयतेति तस्माऽएतदन्नᳫं समभरञ्छतरुद्रियं तेनैनमशमयंस्तद्यदेतᳫं शतशीर्षाणᳫं रुद्रमेतेनाशमयंस्तस्माच्छतशीर्षरुद्रशमनीयᳫं शतशीर्षरुद्रशमनीयᳫं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्माऽअयमेतदन्नᳫं सम्भरति शतरुद्रियं तेनैनᳫं शमयति ॥७॥ गवेधुकासक्तुभिर्जुहोति । यत्र वै सा देवता विस्रस्ताशयत्ततो गवेधुकाः समभवन्त्स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥८॥ अर्कपर्णेन जुहोति । एतस्य वै देवस्याशयादर्कः समभवत्स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥९॥ परिश्रित्सु जुहोति । लोमानि वै परिश्रितो न वै लोमसु विषं न किं चन हिनस्त्युत्तरार्धेऽग्नेरुदङ् तिष्ठञ्जुहोत्येतस्याᳫं ह दिश्येतस्य देवस्य गृहाः स्वायामेवैनमेतद्दिशि प्रीणाति स्वायां दिश्यवयजते ॥१०॥ स वै जानुदघ्ने प्रथमᳫं स्वाहाकरोति । अध-इव वै तद्यज्जानुदघ्नमध-इव तद्यदयं लोकस्तद्येऽइमं लोकᳫं रुद्राः प्राविशंस्तांस्तत्प्रीणाति ॥११॥ अथ नाभिदघ्ने । मध्यमिव वै तद्यन्नाभिदघ्नं मध्यमिवान्तरिक्षलोकस्तद्येऽन्तरिक्षलोकᳫं रुद्राः प्राविशंस्तांस्तत्प्रीणाति ॥१२॥ अथ मुखदघ्ने । उपरीव वै तद्यन्मुखदघ्नमुपरीव तद्यदसौ लोकस्तद्येऽमुं लोकᳫं रुद्राः प्राविशंस्तांस्तत्प्रीणाति स्वाहाकारेणान्नं वै स्वाहाकारोऽन्नेनैवैनानेतत्प्रीणाति ॥१३॥ नमस्ते रुद्र मन्यवऽइति । य एवास्मिन्त्सोऽन्तर्मन्युर्वितताऽतिष्ठत्तस्माऽएतन्नमस्करोत्युतो तऽइषवे नमो बाहुभ्यामुत ते नम इतीषा च हि बाहुभ्यां च भीषयमाणोऽतिष्ठत् ॥१४॥ स एष क्षत्रं देवः । यः स शतशीर्षा समभवद्विश इमऽइतरे ये विप्रुड्भ्यः समभवंस्तस्माऽएतस्मै क्षत्रायैता विश एतं पुरस्तादुद्धारमुदहरन्य एष प्रथमोऽनुवाकस्तेनैनमप्रीणंस्तथैवास्माऽअयमेतं पुरस्तादुद्धारमुद्धरति तेनैनं प्रीणाति तस्मादेष एकदेवत्यो भवति रौद्र

देव उससे डर गये ।।६।।

उन्होंने प्रजापति से कहा, 'इससे हमको डर है कि कहीं यह हमको पीड़ा न दे।' उसने कहा 'इसके लिए अन्न इकट्ठा करो कि यह शान्त हो जाय।' उसके लिए यह शतरुद्रिय अन्न इकट्ठा किया और उससे उसको शान्त किया। चूंकि इससे शतशीर्ष (सौ सिरवाले) रुद्र को शान्त किया, इसलिए इसका नाम शतशीर्ष रुद्रशमनीय, शतशीर्ष रुद्रदमनीय, शतरुद्रिय नाम पड़ा। यह परोक्ष है, परोक्ष देवों को प्रिय है। इसी प्रकार यह यजमान भी इसके लिए शतरुद्रिय-रूपी अन्न को इकट्ठा करता है और उसको शान्त करता है ।।७।।

गवेधुका के सत्तुओं की आहुति देता है। जहाँ वह थका हुआ देव पड़ा था वहीं गवेधुक-वृक्ष उग खड़े हुए। इस प्रकार वह उसको उसी के भागरूप से प्रसन्न करता है ।।८।।

अर्कपर्ण की आहुति इसलिए देता है कि इसी देव के विश्राम के स्थान से अर्क उत्पन्न हुआ, इस प्रकार वह इसी के भागरूप से इसको प्रसन्न करता है ।।९।।

परिश्रितों पर आहुति देने का तात्पर्य यह है कि परिश्रित् लोम हैं। लोम या बालों में किसी को न तो विष से हानि पहुँचती है न अन्यथा। वेदी के उत्तरार्द्ध में उत्तराभिमुख होकर आहुति देता है। उसी दिशा में इस देव का घर है। इसको इसी की अपनी दिशा में प्रसन्न करता है, इसी दिशा में आहुति देता है ।।१०।।

पहला 'स्वाहा' घुटना टेककर करता है। घुटना टेकने का अर्थ है 'नीचे'। नीचे का अर्थ है यह लोक। इस प्रकार वह उन रुद्रों को प्रसन्न करता है, जो इस लोक में प्रविष्ट हुए ।।११।।

अब नाभि तक झुककर स्वाहा करता है। 'नाभि' का अर्थ है मध्य। मध्य है अन्तरिक्ष। इस प्रकार अन्तरिक्षलोक में जो रुद्र प्रविष्ट हुए, उनको प्रसन्न करता है ।।१२।।

अब मुँह तक खड़े होकर स्वाहा करता है। मुख का अर्थ है ऊपर। ऊपर का अर्थ है वह (ऊपर का) लोक। इस प्रकार उन लोकों में जो रुद्र प्रविष्ट हुए, उनको प्रसन्न करता है, स्वाहाकार से। स्वाहाकार का अर्थ है अन्न। अन्न से इसको प्रसन्न करता है ।।१३।।

इस मन्त्र से—"नमस्ते रुद्र मन्यवे" (यजु० १६।१) —इसमें जो मन्यु प्रविष्ट था उसको नमस्कार करता है। "उतो त ऽ इषवे नमो बाहुभ्यामुत ते नमः" (यजु० १६।१) — क्योंकि बाण और बाहुओं से ही तो वह भय उत्पन्न करता था ।।१४।।

यह जो शतशीर्ष (सौ सिरवाला) हो गया वह देव क्षत्रिय था और अन्य जो बूंदों से उत्पन्न हुए वे वैश्य। इस प्रकार वैश्यों ने इस क्षत्रिय को पहले स्वाहाकार से प्रसन्न किया। पहले अनुवाक से इसको प्रसन्न किया। इसी प्रकार यह यजमान भी पहले स्वाहाकार से इसको प्रसन्न करता है। इसमें एक ही देवता का उल्लेख है।

एतꣳ ह्येनेन प्रीणाति ॥१५॥ चतुर्दशैतानि यजूꣳषि भवन्ति । त्रयोदश मासाः संवत्सरः प्रजापतिश्चतुर्दशः प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति नमो नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति तस्माद्ध नायज्ञियं ब्रूयान्नमस्तऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्तऽइति तादृक्तत् ॥१६॥ अथ द्वन्द्विभ्यो जुहोति । नमोऽमुष्मै चामुष्मै चेति तद्यथा वै ब्रूयादसौ त्वं च न एष च मा हिꣳसिष्टमित्येवमेतदाह नतराꣳ हि विदित आमन्त्रितो हिनस्ति ॥१७॥ नमो हिरण्यबाहवे । सेनान्ये दिशां च पतये नम इत्येष एव हिरण्यबाहुः सेनानीरेष दिशां पतिस्तद्यत्किं चात्रैकदेवत्यमेतमेव तेन प्रीणाति क्षत्रमेव तद्विश्यपिभागं करोति तस्माद्यद्विशस्तस्मिन्क्षत्रियोऽपिभागोऽथ या असंख्याता सहस्राणीमाँल्लोकाननुप्राविशन्नेतास्ता देवता याभ्य एतज्जुहोति ॥१८॥ अथ जातिभ्यो जुहोति । एतानि ह जातान्येते रुद्रा अनुप्रविविशुर्यत्र-यत्रैते तद्देवैनानेतत्प्रीणात्यथोऽएवꣳ हैतानि रुद्राणां जातानि देवानां वै विधामनु मनुष्यास्तस्माद्ध हेमानि मनुष्याणां जातानि यथाजातमेवैनानेतत्प्रीणाति ॥१९॥ तेषां वाऽउभयतोनमस्कारा अन्ये । ऽन्यतरतोनमस्कारा अन्ये ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा यऽउभयतोनमस्कारा उभयत एवैनानेतद्यज्ञेन नमस्कारेण शमयति ॥२०॥ स वाऽअशीत्यां च स्वाहाकरोति । प्रथमे चानुवाकेऽथाशीत्यामथाशीत्यां च यानि चोर्ध्वानि यजूꣳष्यावतानेभ्योऽन्नमशीतयोऽन्नेनैवैनानेतत्प्रीणाति ॥२१॥ अथैतानि यजूꣳषि जपति । नमो वः किरिकेभ्य इत्येतद्धास्य प्रतिज्ञाततमं धाम यथा प्रियो वा पुत्रो हृदयं वा तस्माद्यत्रैतस्माद्देवाद्बिभ्येत तदेताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयादुप हैवैतस्य देवस्य प्रियं धाम गच्छति तथो हैनमेष देवो न हिनस्ति ॥२२॥ नमो वः किरिकेभ्य इति । एते हीदꣳ सर्वं कुर्वन्ति देवानाꣳ हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानाꣳ हृदयानि नमो विचिन्वत्केभ्य

एक रुद्र को ही इससे प्रसन्न करता है ।।१५।।

ये यजु चौदह हैं। संवत्सर के तेरह महीने और चौदहवाँ प्रजापति। प्रजापति अग्नि या वेदी है। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतना ही उनसे उसको प्रसन्न करता है। 'नमः-नमः' बार-बार आता है। नम नाम है यज्ञ का। यज्ञ के द्वारा ही नमस्कार करता है। किसी यज्ञ-शून्य को 'नमस्ते' न करे। इसका यही अर्थ होगा कि 'तेरे लिए यज्ञ हो' ।।१६।।

दो-दो के लिए आहुति देता है। अमुक को नमस्ते और अमुक को नमस्ते। मानो ऐसा कहता है कि अमुक तू और अमुक वह मुझको न सतावें। क्योंकि जो जानकार है या जिससे प्रार्थना करते हैं वह किसी को सताता नहीं ।।१७।।

"नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमः" (यजु० १६।१७)—"यही सोने की भुजावाला सेनापति है, यही दिशाओं का पति है।" यहाँ जो एक देवता मानकर ही उसको प्रसन्न किया है इससे वैश्यों में क्षत्रिय को हिस्सा दिलाता है। इसलिए जो वैश्य है उसमें क्षत्रिय भी हिस्सेदार है। इन लोकों में जो अनगिनत हजारों प्रवेश हो गये हैं, उन देवताओं को इन यजुओं द्वारा आहुति देता है ।।१८।।

अब रुद्र के जात अर्थात् समूहों के लिए आहुति देता है। इन समूहों में ही ये रुद्र प्रविष्ट हुए। जहाँ-जहाँ ये हैं वहाँ-वहाँ इनको प्रसन्न करता है; इस प्रकार रुद्रों के समूहों को। मनुष्य देवों का अनुकरण करते हैं। इसीलिए मनुष्यों के भी समूह हैं। समूह-समूह में उनको प्रसन्न करता है ।।१९।।

इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनके दोनों ओर नमस्कार हैं और कुछ के एक ओर। जिनके दोनों ओर नमस्कार हैं वे घोरतर और अशान्ततर हैं। इनको दोनों ओर यज्ञ के द्वारा शान्त करता है ।।२०।।

अस्सी-अस्सी के पीछे स्वाहा बोलता है, पहले अनुवाक और अस्सी के पीछे ('अस्सी के पीछे' से तात्पर्य यह है कि वेद-मन्त्रों—यजुर्वेद, अध्याय १६— के अस्सी-अस्सी टुकड़ों के पीछे स्वाहा कहना होता है, ६३वें मन्त्र तक—प्रवतानेभ्यः)। अशीति या अस्सी का तात्पर्य है भोजन या खाना। अन्न से ही इनको प्रसन्न करता है। (संस्कृत में अस्सी को अशीति कहते हैं। अशीति अश धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'खाना'। इसलिए अस्सी-अस्सी वाक्यों के पश्चात् स्वाहा कहना मानो भोजन द्वारा देवता को प्रसन्न करना है) ।।२१।।

अब इन यजुओं का जाप करता है—"नमो वः किरिकेभ्यः" (यजु० १६।४६)—"तुम्हारे सूर्य आदि धामों के लिए नमस्कार।" ये रुद्र देवता के प्यारे धाम हैं, जैसे प्रिय पुत्र या हृदय। इसलिए जब इस देव से हानि की शंका हो तो इन व्याहृतियों से आहुति दे। इस प्रकार इस देव के प्रिय धाम को प्राप्त हो जाता है और यह देव (रुद्र) हानि नहीं पहुँचाता ।।२२।।

"नमो वः किरिकेभ्यः" (यजु० १६।४६)—यही तो सब-कुछ करते हैं। "देवानाँ हृदयेभ्यः" (यजु० १६।४६)—अग्नि, वायु और आदित्य उन देवों के हृदय हैं। "नमो विचि-

इत्येते ह्यीद७ सर्वं विचिन्वन्ति नमो विक्षिणत्केभ्य इत्येते वै तं विक्षिणन्ति यं विचिक्षीषन्ति नम आनिर्हतेभ्य इत्येते ह्येभ्यो लोकेभ्योऽनिर्हताः ॥२३॥ अथोत्तराणि जपति । द्रापेऽअन्धसस्पतऽइत्येष वै द्रापिरेष वै तं द्रापयति यं दिद्रापयिषत्यन्धसस्पतऽइति सोमस्य पतऽइत्येतद्दरिद्र नीललोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च नामग्राहमेवैनमेतत्प्रीणात्यासां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किं चनाममदिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२४॥ स एष क्षत्रं देवः । तस्माऽएतस्मै क्षत्रायैता विशोऽमुं पुरस्ताद्बलिहारमुदहरन्योऽसौ प्रथमोऽनुवाकोऽथास्माऽएतमुपरिष्टाद्बलिहारमुदहरंस्तेनैनमप्रीणंस्तथैवास्माऽअयमेतमुपरिष्टाद्बलिहारमुद्धरति तेनैनं प्रीणाति तस्माद्ध्येष एकदेवत्यो भवति रौद्र एवैतद्ध्येवैतेन प्रीणाति ॥२५॥ सप्तैतानि यजू७षि भवन्ति । सप्तचितिकोऽग्निः सप्तऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति तान्युभयान्येकवि७शतिः सम्पद्यन्ते द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकवि७श एतामभिसम्पदम् ॥२६॥ अथावतानान्जुहोति । एतद्वाऽएनान्देवा एतेनान्नेन प्रीत्वाथैषामेतैरवतानैर्धनू७ष्यवातन्वंस्तथैवैनानयमेतदेतेनान्नेन प्रीत्वाथैषामेतैरवतानैर्धनू७ष्यवतनोति न ह्यवततेन धनुषा कं चन हिनस्ति ॥२७॥ तद्वै सहस्रयोजनऽइति । एतद्ध परमं दूरं यत्सहस्रयोजनं तस्मादेव परमं दूरं तदेवैषामेतद्धनू७ष्यवतनोति ॥२८॥ यद्वेवाह सहस्रयोजनऽइति । अयमग्निः सहस्रयोजनं न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति तस्मादग्नौ जुहोति तदेवैषा७ सहस्रयोजने धनू७ष्यवतनोति ॥२९॥ असंख्याता सहस्राणि । अस्मिन्महत्यर्णवऽइति यत्र-यत्र ते तदेवैषामेतद्धनू७ष्यवतनोति ॥३०॥ दशैतानवतानान्जुहोति । दशाक्षरा विराड्विराडग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैषामेतद्धनू७ष्यवतनोति ॥३१॥ अथ प्रत्यवरो-

न्वत्केभ्यः" (यजु० १६।४६)—ये इस सब जगत् को पहचानते (चुनते) हैं। "नमो विक्षिणत्केभ्यः" (यजु० १६।४६)—ये जिसको चाहते हैं उनका नाश करते हैं। "नम ऽ आनिर्हतेभ्यः" (यजु० १६।४६)—ये इन लोकों से अलग हैं ॥२३॥

अब आगे की व्याहृतियों का जाप करता है—"द्रापे ऽ अन्धसस्पते" (यजु० (१६।४७)—यह देव (रुद्र) द्रापि है अर्थात् जिसको निकालना चाहता है उसको निकाल देता है। 'अन्धसस्पते' का अर्थ है सोम-पति। "दरिद्र नीललोहित" (यजु० १६।४७)—ये इसके नाम और रूप हैं। इस प्रकार नाम ले-लेकर उसको प्रसन्न करता है। "आसां प्रजानानेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किं चनाममत्" (यजु० १६।४७)—"इन प्रजाओं और पशुओं को मत डरा, न हानि पहुँचा। हम रोगी न हों।" इस यजु का अर्थ स्पष्ट है ॥२४॥

यह देव क्षत्रिय है। इस क्षत्रिय के लिए ये वैश्य अपना भाग निकाल देते हैं, अर्थात् पहला अनुवाक। अब यजमान उसके लिए पिछला भाग भी निकाल देता है और इस प्रकार उसको प्रसन्न कर देता है। यह अनुवाक भी एक ही देवता के हैं अर्थात् रुद्र के। रुद्र को ही इनसे प्रसन्न करता है ॥२५॥

ये यजु सात होते हैं। अग्नि (वेदी) में सात चितियाँ होती हैं। संवत्सर में सात ऋतु होते हैं। जितनी अग्नि (वेदी) है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से उसको प्रसन्न करता है। ये दोनों इक्कीस हो जाती हैं। बारह महीने, पाँच ऋतु, तीन ये लोक और एक यह आदित्य, इक्कीस हो गये ॥२६॥

अब अवतानों की आहुति देता है। देवों ने इन रुद्रों को इस अन्न से प्रसन्न करके इन अवतानों द्वारा अपने धनुओं को ताना था। इसी प्रकार यह यजमान भी इन रुद्रों को इस अन्न से प्रसन्न करके इन अवतानों द्वारा अपने धनुओं को तानता है। बिना ताने हुए धनु से तो कोई किसी को मार नहीं सकता ॥२७॥

यहाँ वह कहता है—"सहस्रयोजने" (यजु० १६।५४)—सहस्र योजन का अर्थ है बहुत दूर, अर्थात् वह अपने धनुओं को बहुत दूर तक तानता है ॥२८॥

सहस्रयोजन कहने का यह भी प्रयोजन है कि यह अग्नि 'सहस्रयोजन' है, क्योंकि न इधर कोई इससे बढ़ा है न उधर। अग्नि में जो आहुति देता है मानो सहस्रयोजन में अपने धनुओं को तानता है ॥२९॥

"असंख्याता सहस्राणि" (यजु० १६।५४)—अर्थात् इस महान् अर्णव (समुद्र) में इस प्रकार जहाँ-जहाँ वे हों वहाँ-वहाँ वह धनुओं को तानता है ॥३०॥

इन दस अवतानों की आहुति देता है। विराड् में दस अक्षर होते हैं। विराट् अग्नि है। दिशायें दस होती हैं। दिशायें अग्नि हैं। दस प्राण होते हैं। प्राण अग्नि हैं। जितनी अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतनी ही बार धनुओं को तानता है ॥३१॥

हान्जुहोति । एतद्वाऽएतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो रोहति स स पराङिव रोह इ-
यमु वै प्रतिष्ठा ते देवा इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यायंस्तथैवैतद्यजमान इमां प्रतिष्ठाम-
भिप्रत्यैति ॥३२॥ यद्वेव प्रत्यवरोहति । एतद्वाऽएनानेतत्प्रीणन्नन्ववैति तत ए-
वैतदात्मानमपोद्धरते ज्ञावावै तथा ह्यनेनात्मना सर्वमायुरेति ॥३३॥ यद्वेव प्र-
त्यवरोहति । एतद्वाऽएतदेतान्रुद्रानित ऊर्ध्वान्प्रीणाति तान्पुनरमुतोऽर्वाचः ॥३४॥
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवीति । तद्येऽमुष्मिंल्लोके रुद्रास्तेभ्य एतन्नमस्करोति ये-
षां वर्षमिषव इति वर्षꣳ ह तेषामिषवा वर्षेण ह ते हिꣳसन्ति यं जिहिꣳसि-
षन्ति ॥३५॥ नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षऽइति । तद्येऽन्तरिक्षलोके रुद्रास्तेभ्य
एतन्नमस्करोति येषां वात इषव इति वातो ह तेषामिषवो वातेन ह ते हिꣳ-
सन्ति यं जिहिꣳसिषन्ति ॥३६॥ नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यामिति । तद्येऽस्मिं-
ल्लोके रुद्रास्तेभ्य एतन्नमस्करोति येषामन्नमिषव इत्यन्नꣳ ह तेषामिषवोऽन्नेन ह
ते हिꣳसन्ति यं जिहिꣳसिषन्ति ॥३७॥ तेभ्यो दश प्राचीः । दश दक्षिणा दश
प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा इति दशाक्षरा विराड्विराडग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश
प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनानेतदन्नेन प्रीणाति ॥३८॥
यद्वेवाह दश-दशेति । दश वाऽअञ्जलेरङ्गुलयो दिशि-दिश्येवैभ्य एतदञ्जलिं क-
रोति तस्मादु हैतद्भीतोऽञ्जलिं करोति तेभ्यो नमोऽअस्त्विति तेभ्य एव नमस्क-
रोति ते नो मृडयन्त्विति तऽएवास्मै मृडयन्ति ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमे-
षां जम्भे दध्म इति यमेव द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधात्यमुमेषां जम्भे द-
धामीति ह ब्रूयाद्यं द्विष्यात्ततोऽह तस्मिन्न पुनरस्त्यपि तन्नाद्रियेत स्वयंनिर्दिष्टो
ह्येव स यमेवंविद्द्वेष्टि ॥३९॥ त्रिष्कृत्वः प्रत्यवरोहति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्याव-
त्यस्य मात्रा तावतैवैनानेतदन्नेन प्रीणाति स्वाहाकारेणान्नं वै स्वाहाकारोऽन्ने-
नैवैनानेतत्प्रीणाति त्रिरित ऊर्ध्वो रोहति तत्षट् तस्योक्तो बन्धुः ॥४०॥ यद्वेव

अब वह प्रति-अवरोह (उतरने की) नामक आहुतियाँ देता है। पिछली आहुतियों में वह इन लोकों से ऊपर को चढ़ा था; यह चढ़ाव था। यह पृथिवी प्रतिष्ठा है। देव इसी प्रतिष्ठा को लौट आये। इसी प्रकार यजमान भी इसी प्रतिष्ठा को लौट आता है ॥३२॥

उतरता क्यों है? पहली आहुतियों से वह देवों को प्रसन्न करता हुआ पीछे गया था। अब वह अपने जीवन के लिए लौटा है औरअपने इस रूप से आयु को प्राप्त होता है ॥३३॥

उतरने का एक हेतु यह भी है कि पहले उन रुद्रों को यहाँ से जाते हुए प्रसन्न किया था, अब उन रुद्रों को वहाँ से इस ओर उतरते हुए प्रसन्न करता है ॥३४॥

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि" (यजु० १६।६४)–उन लोकों में जो रुद्र हैं, उनको नमस्कार करता है। "येषां वर्षमिषव:" (यजु० १६।६४)–वर्षा उनके बाण हैं, क्योंकि जिनको वे मारना चाहते हैं, वर्षा के द्वारा ही मारते हैं ॥३५॥

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे" (यजु० १६।६५)–जो रुद्र अन्तरिक्ष में हैं उनको नमस्कार करता है। "येषां वात ऽ इषव:" (यजु० १६।६५)–वायु उनके बाण हैं, क्योंकि जिनको ये मारना चाहते हैं वायु के द्वारा मारते हैं ॥३६॥

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्" (यजु० १६।६६)–इस लोक में जो रुद्र हैं उनको नमस्कार करता है। "येषामन्नमिषव:" (यजु० १६।६६)–अन्न इनके बाण हैं क्योंकि जिनको ये मारना चाहते हैं अन्न द्वारा मारते हैं ॥३७॥

"तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा" (यजु० १६।६४, ६५, ६६)—विराट् में दस अक्षर होते हैं। विराट् अग्नि है। दस दिशायें हैं। दिशायें अग्नि हैं। दस प्राण हैं। प्राण अग्नि हैं। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से उनको प्रसन्न करता है ॥३८॥

दस-दस गिनती का यह भी हेतु है कि अंजलि में दस अँगुलियाँ होती हैं। इस प्रकार हर दिशा में हाथ जोड़ता है। इसलिए जो डर जाता है वह हाथ जोड़ा करता है। "तेभ्यो नमोऽस्तु" (यजु० १६।६४, ६५, ६६)—उनको नमस्कार करता है। "ते नो मृडयन्तु" (यजु० १६।६४, ६५, ६६)—वे उस पर कृपा करते हैं। "यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म:" (यजु० १६।६४, ६५, ६६)—जिससे वह द्वेष करता है या जो उससे द्वेष करता है, उसको वह उन रुद्रों की दाढ़ में रखता है। वह अमुक पुरुष का नाम भी ले सकता था कि इसको मैं उनकी दाढ़ में रखता हूँ। फिर उसका उस पर वश न चलता। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। जो इस रहस्य को समझकर किसी से द्वेष करता है, वह पुरुष तो निर्दिष्ट हो ही गया ॥३९॥

वह तीन बार उतरता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही बार उनको अन्न से प्रसन्न करता है, स्वाहाकार से। स्वाहाकार अन्न है, अन्न से ही इनको प्रसन्न करता है। तीन बार में ऊपर चढ़ता है। ये हुए छ:। यह स्पष्ट है ॥४०॥

त्रिष्कृत्वः प्रत्यवरोहति । त्रिर्हि कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तद्यावत्कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तावत्कृत्वः प्रत्यवरोहति ॥४१॥ अथ तदर्कपर्णं चात्वाले प्रास्यति । एतद्वाऽएनेनैतद्रौद्रं कर्म करोति तदेतदशान्तं तदेतत्तिरः करोति नेदिदमशान्तं कश्चिदभितिष्ठात्तन्नेद्धिनसदिति तस्माच्चात्वाले यद्वेव चात्वालेऽग्निरेष यच्चात्वालस्तथो हैनदेषोऽग्निः संदहत्यथातः सम्पदेव ॥४२॥ तदाहुः । कथमस्यैतच्छतरुद्रियꣳ संवत्सरमग्निमाप्नोति कथꣳ संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यतऽइति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्येतच्छतरुद्रियमथ त्रिꣳशदथ पञ्चत्रिꣳशत्ततो यानि षष्टिश्च त्रीणि च शतानि तावन्ति संवत्सरस्याहानि तत्संवत्सरस्याहान्याप्नोत्यथ यानि त्रिꣳशत्त्रिꣳशन्मासस्य रात्रयस्तन्मासस्य रात्रीराप्नोति तदुभयानि संवत्सरस्याहोरात्राण्याप्नोत्यथ यानि पञ्चत्रिꣳशत्स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिꣳशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव पञ्चत्रिꣳशमेतावान्वै संवत्सर एवमु हास्यैतच्छतरुद्रियꣳ संवत्सरमग्निमाप्नोत्येवꣳ संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यतऽएतावत्य उ वै शाण्डिलेऽग्नौ मध्यतो यजुष्मत्य इष्टका उपधीयन्तेऽग्नयो हैते पृथग्यदेता इष्टका एवमु हास्यैतेऽग्नयः पृथक्शतरुद्रियेणाभिहुता भवन्ति ॥४३॥ तदाहुः । कथमस्यैतच्छतरुद्रियं महदुक्थमाप्नोति कथं महतोक्थेन सम्पद्यतऽइति यान्यमूनि पञ्चविꣳशतिर्यजूꣳष्यभितोऽशीतीः स पञ्चविꣳश आत्मा यत्र वाऽआत्मा तदेव शिरस्तत्पक्षपुच्छान्यथ या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिरशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायतेऽथ यदूर्ध्वमशीतिभ्यो यदेवादो महत उक्थस्योर्ध्वमशीतिभ्य एतदस्य तदेवमु हास्यैतच्छतरुद्रियं महदुक्थमाप्नोत्येवं महतोक्थेन सम्पद्यते ॥४४॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

अथैनमतः परिषिञ्चति । एतद्वाऽएनं देवाः शतरुद्रियेण शमयित्वाथैनमेतद्भूय एवाशमयꣳस्तथैवैनमेवमेतच्छतरुद्रियेण शमयित्वाथैनमेतद्भूय एव शमयति ॥१॥ अद्भिः परिषिञ्चति । शान्तिर्वाऽआपः शमयत्येवैनमेतत्सर्वतः परिषिञ्चति सर्वत

तीन बार में इसलिए उतरता है कि तीन बार में ही चढ़ा था। जितनी बार में चढ़ा था उतनी ही बार में उतरता है ॥४१॥

अब उस अर्कपर्ण (आक के पत्ते) को चात्वाल में फेंक देता है। इसी से रौद्र कर्म किया था। यह अर्कपर्ण अशान्त (अशुभ) है। इसलिए इसको फेंक देता है कि कहीं इस पर पैर रख दे और इससे उसको हानि पहुँच जावे। इसलिए वह उसको चात्वाल में फेंक देता है। चात्वाल में क्यों? इसलिए कि यह चात्वाल अग्नि है। अग्नि उसको जला देगा। अब सम्पद् अर्थात् तुल्यता के विषय में—॥४२॥

इस पर प्रश्न उठता है कि 'यह शतरुद्रिय संवत्सर या अग्नि से किस प्रकार टक्कर खाता है? अर्थात् संवत्सर या अग्नि के तुल्य कैसे होता है? यह शतरुद्रिय तीन सौ साठ होती हैं, या तीस या पैंतीस। तीन सौ साठ के विषय में यह है कि संवत्सर के दिन भी इतने ही होते हैं। इस प्रकार संवत्सर के दिनों की बराबरी हो गई। तीस के विषय में यह है कि महीने की तीस रातें हो गईं। इससे महीने की रातों की तुलना हो गई। इस प्रकार संवत्सर की रातें भी हो गईं और दिन भी। पैंतीस के विषय में यह है कि यह है तेरहवाँ महीना, वह धड़ है। धड़ में होते हैं तीस भाग; दो पैर, दो प्राण, सिर, ये हो गये पैंतीस। इतना ही संवत्सर है। इस प्रकार शतरुद्रिय संवत्सर या अग्नि के तुल्य हो जाता है या इससे टक्कर खा जाता है। शाण्डिले वेदी में मध्य में इतनी ही यजुष्मती ईंटें रक्खी जाती हैं। ये जो अलग-अलग ईंटें हैं यही अग्नियाँ हैं, और शतरुद्रिय के द्वारा इन सब अग्नियों में अलग-अलग आहुति लग जाती है ॥४३॥

अब प्रश्न होता है कि यह शतरुद्रिय बड़े उक्थ के तुल्य कैसे होता है? कैसे उससे टक्कर खाता है? इसका उत्तर यह है कि पच्चीस यजु जो अस्सियों के दोनों ओर हैं यह पच्चीसवाला शरीर है। जहाँ शरीर है वहीं शिर, पक्ष और पूँछ। और जो अस्सी हैं उनसे बड़े उक्थ के अस्सी अंक का मिलान हो जाता है क्योंकि बड़ा उक्थ अस्सियों के द्वारा कहा जाता है। अस्सी के ऊपर जो यहाँ हुआ वह महदुक्थ के अस्सी के ऊपर तुल्य है। इस प्रकार शतरुद्रिय की महदुक्थ से बराबरी हो गई, महदुक्थ से टक्कर मिल गई ॥४४॥

चित्यग्निः परिषेकादिविधिः

अध्याय १—ब्राह्मण २

अब इस पर जल-सिंचन करता है। देवों ने इसको शतरुद्रिय के द्वारा शमन करके फिर से इसका शमन किया था। इसी प्रकार यह यजमान भी शतरुद्रिय द्वारा इसका शमन करके फिर दुबारा इसको शान्त करता है ॥१॥

जल से सींचता है। जल शान्ति है। इसको शान्त करता है। चारों ओर सींचता है।

एवैनमेतच्छमयति त्रिष्कृत्वः परिषिञ्चति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतच्छमयति ॥२॥ यद्वेवैनं परिषिञ्चति । इमे वै लोका एषोऽग्निरिमांस्तल्लोकानद्भिः परितनोति समुद्रेण हैनांस्तत्परितनोति सर्वतस्तस्मादिमांल्लोकान्त्सर्वतः समुद्रः पर्येति दक्षिणावृत्तस्मादिमांल्लोकान्दक्षिणावृत्समुद्रः पर्येति ॥३॥ अग्नीत्परिषिञ्चति । अग्निरेष यदाग्नीध्रो नो वाऽआत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायाऽअश्मनोऽध्यश्मनो ह्यापः प्रभवन्ति निकक्षान्निकक्षाद्ध्यापः प्रभवन्ति दक्षिणान्निकक्षाद्दक्षिणाद्धि निकक्षादापः प्रभवन्ति ॥४॥ अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामिति । अश्मनि वाऽएषोर्क्पर्वतेषु श्रिता यदापोऽद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि सम्भृतं पय इत्येतस्माद्धीतत्सर्वस्मादधि सम्भृतं पयस्तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणा इति मरुतो वै वर्षस्येशतेऽश्मंस्ते क्षुदिति निदधाति तदश्मनि क्षुधं दधाति तस्मादश्मानाद्योऽथो स्थिरो वाऽअश्मा स्थिरा क्षुत्स्थिरऽएव तत्स्थिरं दधाति मयि तऽऊर्गित्यपादत्ते तदात्मन्नूर्जं धत्ते तथा द्वितीयं तथा तृतीयम् ॥५॥ निधायोदकुम्भं त्रिर्विपल्ययते । एतद्वाऽएनमेतच्छघूयतीव यदेनꣳ समन्तं पर्येति तस्माऽएवैतन्निह्नुतेऽहिꣳसायै ॥६॥ यद्वेव विपल्ययते । एतद्वाऽएनमेतदन्ववैति तत एवैतदात्मानमपोद्धरते जीवावै तथो हानेनात्मना सर्वमायुरेति ॥७॥ त्रिस्त्रिर्विपल्ययते । त्रिर्हि कृत्वः पर्येति तद्यावत्कृत्वः पर्येति तावत्कृत्वो विपल्ययते ॥८॥ अथ तमश्मानमुदकुम्भेऽवधाय । एतां दिशꣳ हरत्येषा वै नैर्ऋती दिङ्नैर्ऋत्यामेव तद्दिशि शुचं दधाति ॥९॥ एतद्वाऽएनं देवाः । शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वाथास्यैतेन शुचं पाप्मानमपाघ्नंस्तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वाथास्यैतेन शुचं पाप्मानमपहन्ति ॥१०॥ बाह्येनाग्निꣳ हरति । इमे वै लोकाऽएषोऽग्निरेभ्यस्तल्लोकेभ्यो बहिर्धा शुचं दधाति वहिर्वेदीयं वै वेदिरस्यै तद्बहिर्धा शुचं दधाति ॥११॥ स वेदेर्दक्षिणायाꣳ श्रोणौ । प्राङ् तिष्ठन्दक्षिणा निरस्यति

चारों ओर इसको शान्त करता है। तीन बार सींचता है; अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इसको शान्त करता है ॥२॥

इसको इसलिए भी सींचता है कि यह अग्नि या वेदी तो ये लोक ही हुए। जल से चारों ओर से घेरता है मानो इन लोकों को समुद्र से घेरता है, चारों ओर से। इसीलिए इन लोकों के चारों ओर समुद्र हैं। बाईं ओर से दाईं ओर, क्योंकि समुद्र इन लोकों के चारों ओर बाईं ओर से दाईं ओर बहता है ॥३॥

अग्नीध्र सींचता है, क्योंकि जो अग्नि है वही अग्नीध्र है। कोई स्वयं अपने को हानि नहीं पहुँचाया करता। पत्थर से, क्योंकि जल पत्थर से निकलते हैं। बगल से, क्योंकि जल बगल से निकलते हैं। दाहिनी बगल से, क्योंकि जल दाहिनी बगल से निकलते हैं ॥४॥

इस मन्त्र से—"अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणाम्" (यजु० १७।१)—"क्योंकि वह ऊर्ज या जल पत्थर में या पर्वत में है।" "अद्भ्य ऽ ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽधि संभृतं पयः" (यजु० १७।१)—क्योंकि यह जल (पीने की चीज) इन सबसे लिया जाता है। "तां न ऽ इषमूर्जं धत्त मरुतः सँ्रराणा" (यजु० १७।१)—"मरुत् ही वर्षा पर शासन करते हैं।" "अश्मंस्ते क्षुत्" "तेरी भूख पत्थर में है।" ऐसा कहकर (घड़े को) पत्थर पर (रख देता है)। इस प्रकार भूख को पत्थर में रखता है। इसलिए पत्थर खाने के योग्य नहीं होता। पत्थर स्थिर (कड़ा) होता है, भूख भी स्थिर (कड़ी) होती है, इस प्रकार स्थिर में स्थिर को रखता है। "मयि त ऊर्क्" (यजु० १७।१)—यह कहकर घड़े को उठाता है। मानो भूख (ऊर्क्) को अपने में धारण करता है। इसी प्रकार दुबारा और तिबारा ॥५॥

घड़े को रखकर तीन बार परिक्रमा करता है। परिक्रमा करता है, तो मानो उसको छोटा सिद्ध करता है। इसलिए हानि से बचने के लिए इसका प्रतिकार करता है ॥६॥

परिक्रमा क्यों करता है? जल छिड़कने पर उसने वेदी का अनुकरण किया (अर्थात् वह वेदी का ही रूप हो गया)। अब वह अपने आपे में वापस आता है जीवन के लिए। इस प्रकार स्वयं सब आयु को प्राप्त होता है ॥७॥

तीन परिक्रमायें होती हैं, क्योंकि तीन बार चारों ओर फिरता है। जितनी बार फिरा, उतनी ही परिक्रमायें हुईं ॥८॥

इस पत्थर को घड़े में रखकर उस दिशा में फेंक देता है। वह दिशा निर्ऋति है। इस प्रकार शोक को निर्ऋति दिशा में फेंक देता है ॥९॥

देवों ने पहले शतरुद्रिय और जल से उसको शान्त करके उसका शोक या पाप दूर भगा दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इसको शतरुद्रिय और जल से शान्त करके इसके शोक या पाप को दूर कर देता है ॥१०॥

अग्नि के बाहर छोड़ता है। यह लोक ही यह अग्नि (वेदी) है। इस प्रकार इन लोकों से शोक को दूर करता है। वेदी के बाहर, यह वेदी है। इस वेदी के बाहर रोग को रखता है ॥११॥

वेदी के दक्षिण श्रोणि में पूर्वाभिमुख होकर दक्षिण की ओर फेंकता है, यह कहकर कि

यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति यमेव द्वेष्टि तमस्य शुगृच्छत्यमुं ते शुगृच्छत्विति ह ब्रूयाद्यं द्विष्यात्ततो ह तस्मिन्न पुनरस्त्यपि तन्नाद्रियेत स्वयंनिर्दिष्टो ह्येव स यमेवंविद्द्वेष्टि यदि न विद्येत भेत्तवै ब्रूयाद्यदा ह्येव स भिद्यतेऽथ तꣳ शुगृच्छति यं द्वेष्ट्यप्रतीक्षमायन्त्यप्रतीक्षमेव तच्छुचं पाप्मानं जहाति ॥१२॥ प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुरुते । एतद्वाऽएनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य प्रत्येत्येष्टका धेनूरकुर्वत तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुरुते ॥१३॥ आसीनः कुर्वीतेत्यु हैक ऽआहुः । आसीनो वै धेनुं दोग्धीति तिष्ठंस्त्वेव कुर्वीतेमे वै लोका एषोऽग्निस्तिष्ठन्तीव वाऽइमे लोका अथो तिष्ठन्वै वीर्यवत्तरः ॥१४॥ उदङ् प्राङ् तिष्ठन् । पुरस्ताद्वाऽएषा प्रतीची यजमानं धेनुरुपतिष्ठते दक्षिणतो वै प्रतीचीं धेनुं तिष्ठन्तीमुपसीदन्ति ॥१५॥ स यत्राभ्याप्नोति । तदभिमृश्यैतद्यजुर्जपतीमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वित्यग्निर्ह्येतासां धेनुकरणस्येष्टे तस्मादेतावतीनां देवतानामग्निमेवामन्त्रयतऽएका च दश चान्तश्च परार्धश्चेत्येष ह्यवरार्ध्यो भूमा यदेका च दश चाथ ह्येष परार्ध्यो भूमा यदन्तश्च परार्धश्चावरार्धतश्चैवैना एतत्परार्धतश्च परिगृह्य देवा धेनूरकुर्वत तथैवैना अयमेतदवरार्धतश्चैव परार्धतश्च परिगृह्य धेनूः कुरुते तस्मादपि नाद्रियेत बह्वीः कर्तुममुत्र वाऽएष एता ब्रह्मणा यजुषा बह्वीः कुरुतेऽथ यत्संतनोति कामानेव तत्संतनोति ॥१६॥ यद्वेवेष्टका धेनूः कुरुते । वाग्वाऽअयमग्निर्वाचा हि चितः स यदाहैका च दश चान्तश्च परार्धश्चेति वाग्वाऽएका वाग्दश वागन्तो वाक्परार्धो वाचमेव तद्देवा धेनुमकुर्वत तथैवैतद्यजमानो वाचमेव धेनुं कुरुतेऽथ यत्संतनोति वाचमेव तत्संतनोत्येता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोकऽइत्येतद्वाऽएना अस्मिंल्लोके धेनूः कुरुतेऽथैना एतदमुष्मिंल्लोके धेनूः कुरुते तथो हैनमेता उभयोर्लोकयोर्भुञ्जन्त्यस्मिंश्चामुष्मिंश्च ॥१७॥

जिससे हम द्वेष करते हैं 'उसको यह शोक पहुँचे।' इस प्रकार जिससे वह द्वेष करता है उसको यह शोक पहुँचता है। ऐसा भी कह सकता था कि अमुक को यह शोक पहुँचे जिससे कि वह द्वेष करता होता; उसको वह शोक पहुँच जाता। परन्तु ऐसा न करे। जो पुरुष इस रहस्य को समझकर कहता है वह अपने द्वेषी को निर्दिष्ट तो कर ही देता है। यदि घड़ा (फेंकने में) टूटे न तो (प्रतिप्रस्थातृ से) कहकर तुड़वा देना चाहिए, क्योंकि जब घड़ा टूटेगा तभी शोक उसमें से उसमें पहुँचेगा, जिससे वह द्वेष करता है। फिरकर देखते नहीं, क्योंकि बिना फिरकर देखते हुए ही शोक और पाप को छोड़ आते हैं ॥१२॥

लौटकर ईंटों को कामधेनु बनाता है, क्योंकि देवों ने शतरुद्रिय तथा जल से उसको शान्त करके शोक और पाप को दूर करके इन ईंटों को ही कामधेनु बनाया था। इसी प्रकार यह यजमान भी शतरुद्रिय तथा जल से इसको शान्त करके शोक तथा पाप को दूर करके इन ईंटों को कामधेनु बनाता है ॥१३॥

कुछ लोग कहते हैं कि बैठकर बनाना चाहिए, क्योंकि गायें बैठकर दुही जाती हैं। परन्तु खड़े होकर ही बनाना चाहिए। क्योंकि यह लोक तथा यह वेदी खड़े-से ही हैं। खड़ा आदमी ही प्रबल होता है ॥१४॥

उत्तर-पूर्वाभिमुख खड़ा होकर; यजमान के आगे—धेनु पश्चिमाभिमुख खड़ी होती है। जो गाय पश्चिमाभिमुख खड़ी होती है, उसकी दाहिनी ओर मुड़कर गाय तक पहुँचते हैं ॥१५॥

जब गाय के पास जाता है तो उसको छूकर यह मन्त्र जपता है—"इमा मे अग्न ऽ इष्टका धेनवः सन्तु" (यजु० १७।२)—"हे अग्नि, ये ईंटें मेरी धेनु बन जायें।" इस धेनु-करण का शासक है अग्नि, इसलिए इन सब देवताओं में केवल अग्नि को ही बुलाता है। "एका च दश चान्तश्च परार्धश्च" (यजु० १७।२)—"ये जो एक और दस हैं वे छोटी-से-छोटी संख्या हैं। और जो अन्त और परार्ध हैं वे बड़ी-से-बड़ी संख्या हैं। इस प्रकार छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी संख्या से देवों ने ईंटों को धेनु बनाया। इसी प्रकार यह यजमान भी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी संख्या से धेनु-करण करता है। कई बार न करना चाहिए (अर्थात् कई बार वेदी को न छुये) क्योंकि उस लोक में यजुरूपी ब्रह्म के द्वारा बहुत-सी धेनुयें बना सकेगा। लगातार संख्या को कहता जाता है। इस प्रकार अपनी कामनाओं को भी लगातार कहता है ॥१६॥

ईंटों को धेनु क्यों बनाता है? यह अग्नि या वेदी वाणी है, वाणी से ही चिनी गई है। जब वह कहता है 'एका च दश च अन्तश्च परार्धश्च' तो एक भी वाक् है, दस भी वाक् है, अन्त भी वाक् है, परार्ध भी वाक् है। इसी वाणी के द्वारा देवों ने धेनुओं को बनाया। इसी प्रकार यह यजमान भी वाणी को ही धेनु बनाता है। लगातार कहता है तो मानो वाणी को लगातार कहता है। वाणी से ही तो कहता है कि हे अग्नि, ये ईंटें मेरी धेनु हो जायें। इस प्रकार इस लोक में भी उनको धेनु बनाता है और परलोक में भी। इस प्रकार यह इसको इस लोक और परलोक दोनों में लाभ देती हैं ॥१७॥

ऋतव स्थेति । ऋतवो ह्येता ऋतावृध इति सत्यवृध इत्येतदृतुधा स्थ ऋतावृध इत्यहोरात्राणि वाऽइष्टका ऋतुषु वाऽअहोरात्राणि तिष्ठन्ति घृतश्चुतो मधुश्चुत इति तदेना घृतश्चुतश्च मधुश्चुतश्च कुरुते ॥१८॥ विराजो नामेति । एतद्वै देवा एता इष्टका नामभिरुपाह्वयन्त यथा-यथैना एतदाचक्षते ता एनानभ्युपावर्तन्ताथ लोकम्पृणा एव पराच्यस्तस्थुरहितनाम्न्यो निमेमिरुत्यस्ता विराजो नामाकुर्वत ता एनानभ्युपावर्तन्त तस्माद्दश-दशेष्टका उपधाय लोकम्पृणयाभिमन्त्रयते तदेना विराजः कुरुते दशाक्षरा हि विराट् कामदुघा अक्षीयमाणा इति तदेनाः कामदुघा अक्षीयमाणाः कुरुते ॥१९॥ अथैनं विकर्षति । मण्डूकेनावकया वेतसशाखयैतद्वाऽएनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्याथैनमेतद्भूय एवाशमयंस्तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमहत्याथैनमेतद्भूय एव शमयति सर्वतो विकर्षति सर्वत एवैनमेतच्छमयति ॥२०॥ यद्वेवैनं विकर्षति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षंस्ता आपः समस्कन्दंस्ते मण्डूका अभवन् ॥२१॥ ताः प्रजापतिमब्रुवन् । यद्वै नः कमभूदवाक्तदगादिति सोऽब्रवीदेष व एतस्य वनस्पतिर्वेत्स्विति वेत्तु संवेत्तु सोऽह वै तं वेतस इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यदब्रुवन्नवाङ्नः कमगादिति ता अवाका अभवन्नवाका ह वै ता अवका इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्ता हैतास्वप्य आपो यन्मण्डूकोऽवका वेतसशाखैताभिरेवैनमेतत्त्रयीभिरद्भिः शमयति ॥२२॥ यद्वेवैनं विकर्षति । जायतऽएष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायते सर्वम्वेतदन्नं यन्मण्डूकोऽवका वेतसशाखा पशवश्च ह्येता आपश्च वनस्पतयश्च सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥२३॥ मण्डूकेन पशूनाम् । तस्मान्मण्डूकः पशूनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सोऽवकाभिरपां तस्मादवका अपामनुपजीवनीयतमा यातयाम्न्यो हि ता वै

"ऋतव स्थ" (यजु० १७।३)— ये ऋतुयें तो हैं ही। "ऋतावृधः" (यजु० १७।३)— ऋत या सत्य को बढ़ानेवाली। ये ईंटें दिन-रात हैं। ऋतुओं में ही रात-दिन ठहरते हैं। "घृतश्च्युतो मधुश्च्युतः" (यजु० १७।३)—इस प्रकार वह इनको घृत और मधु चुआनेवाली बनाता है ॥१८॥

"विराजो नाम" (यजु० १७।३)—देवों ने ईंटों को इन नामों से पुकारा, और जिस-जिस प्रकार से पुकारा उस-उस प्रकार से वे उनके सामने आईं। केवल लोकम्पृणा ईंटें बिना नाम के उल्टे मुँह थीं। उनको विराज नाम दे दिया और वे उनके सामने आईं। इसलिए दस-दस ईंटों को रखकर लोकम्पृणा-सम्बन्धी मन्त्रों से उनको सम्बोधित करता है। इस प्रकार वह इनको विराट् बनाता है क्योंकि विराट् दस अक्षरवाला है। "कामदुघा ऽ अक्षीयमाणाः" (यजु० १७।३) —इस प्रकार वह इनको कामधेनु और अक्षय बनाता है ॥१९॥

अब वेदी के मध्य में एक मेंढक, एक कमल का फूल और एक बांस की शाखा लाता है। देवों ने इसको शतरुद्रिय, और जल से शान्त करके एवं शोक तथा पाप को निकालकर फिर उसको इन चीजों से शान्त किया था। इसी प्रकार यह यजमान भी पहले शतरुद्रिय तथा जल से इसको शान्त करके, शोक तथा पाप को उससे निकालकर फिर उसको इन चीजों से शान्त करता है। इनको सब ओर घसीटता है, अर्थात् सब ओर शान्त करता है ॥२०॥

इनको घसीटता क्यों है ? आरम्भ में जब ऋषि, अर्थात् प्राणों ने अग्नि (वेदी) बनाई तो उस पर जल छिड़का, जल बह गया और मेंढक बन गया ॥२१॥

वे जल प्रजापति से बोले, 'हममें जो नमी थी वह जाती रही।' उसने उत्तर दिया, 'इसको यह वनस्पति जाने (वेत्तु), चक्खे (संवेत्तु)।' उसको उन्होंने वेतस (बाँस) कहा, क्योंकि देवता परोक्ष-प्रिय होते हैं। उन्होंने कहा अवाक् कमागात् (अवाक्=नीचे, कं=नमी, अगात्= चली गई)।' इसका हो गया 'अवाक्का।' इसको अवका (कमल का फूल) कहते हैं, क्योंकि देवता परोक्षप्रिय होते हैं। ये तीन हुए जल के रूप —मेंढक, कमल का फूल, और बाँस। उसको जलों के इन तीन रूपों से शान्त करता है ॥२२॥

वह इनको क्यों घसीटता है ? जब वेदी चिनी जाती है तो यह उत्पन्न होती है। 'सब अन्न' के लिए उत्पन्न होती हैं। ये तीनों —मेंढक, अवका और वेतस 'सब अन्न' हैं क्योंकि ये पशु भी हैं, जल भी और वनस्पति भी। इस प्रकार इसको 'सब अन्न' के द्वारा प्रसन्न करता है ॥२३॥

पशुओं में मेंढक से, इसलिए पशुओं में मेंढक सबसे कम जीवट रखता है। इसका जीवट नष्ट हो चुका। जलों में अवका से, अवका जलों में सबसे कम जीवटवाला है। इसका जीवट

तत्तेन वनस्पतीनां तस्माद्वेतसो वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः
॥२४॥ तानि वꣳशे प्रबध्य । दक्षिणार्धेनाग्नेरुत्तरेण परिश्रितः प्रागग्रे विकर्षति
समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परिव्ययामसि पावकोऽअस्मभ्यꣳ शिवो भवेति समु-
द्रियाभिस्त्वाद्भिः शमयाम इत्येतत् ॥२५॥ अथ जघनार्धेनोदक् । हिमस्य त्वा जरा-
युणाग्ने परिव्ययामसि पावकोऽअस्मभ्यꣳ शिवो भवेति यद्वै शीतस्य प्रशीतं
तद्धिमस्य जरायु शीतस्य त्वा प्रशीतेन शमयाम इत्येतत् ॥२६॥ ॥ शतम् ४८००
॥ ॥ अथोत्तरार्धेन प्राक् । उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा अग्ने पित्तमपा-
मसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधीति यथैव यजु-
स्तथा बन्धुः ॥२७॥ अथ पूर्वार्धेन दक्षिणा । अपामिदं न्ययनꣳ समुद्रस्य निवेश-
नम् अन्यांस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳ शिवो भवेति यथैव
यजुस्तथा बन्धुरित्यग्रे विकर्षत्यथेति अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्धि देव-
त्रा ॥२८॥ आत्मानमग्रे विकर्षति । आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवत्यथ दक्षि-
णं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरं तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रा ॥२९॥ अभ्यात्मं पक्षपुच्छानि
विकर्षति । अभ्यात्ममेव तच्छान्तिं धत्ते परस्तादर्वाक्परस्तादेव तदर्वाचीꣳ शान्तिं
धत्तेऽग्ने पावक रोचिषेति दक्षिणं पक्षꣳ स नः पावक दीदिव इति पुच्छं पाव-
कया यश्चितयन्त्या कृपेत्युत्तरं पावकं पावकमिति यद्वै शिवꣳ शान्तं तत्पावकꣳ
शमयत्येवैनमेतत् ॥३०॥ सप्तभिर्विकर्षति । सप्तचितिकोऽग्निः सप्तऽर्तवः संवत्सरः
संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्विकर्षति तं वꣳशमुत्करे
न्यस्य ॥३१॥ अथैनꣳ सामभिः परिगायति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन्देवा
एतदमृतꣳ रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति सामानि भ-
वन्ति प्राणा वै सामान्यमृतमु वै प्राणा अमृतमेवास्मिन्नेतद्रूपमुत्तमं दधाति सर्वतः
परिगायति सर्वत एवास्मिन्नेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति ॥३२॥ यद्वेवैनꣳ सामभिः

समाप्त हो चुका। वनस्पतियों में बाँस से; बाँस वनस्पतियों में सबसे कम जीवटवाला है। इसका जीवट नष्ट हो चुका ॥२४॥

इनको एक बाँस में बाँधकर वेदी के दक्षिणार्द्ध में परिश्रित् के भीतर पूर्व की ओर घसीटता है। "समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परिव्ययामसि। पावको ऽ अस्मभ्य ँ् शिवो भव" (यजु० १७।४)—अर्थात् "हे अग्नि, समुद्र की अवका से, अर्थात् समुद्र के जल से तुझे घेरता हूँ। तू मेरे लिए पवित्र करनेवाली तथा कल्याणप्रद हो" ॥२५॥

पिछले आधे भाग में उत्तर की ओर इस मन्त्र से—"हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परिव्ययामसि। पावको ऽ अस्मभ्य ँ् शिवो भव" (यजु० १७।५)—जो ठण्डे से भी ठण्डा जमा हुआ भाग है उसको कहते हैं हिमस्य जरायु। इस अत्यन्त ठण्डी वस्तु से उसको प्रशान्त करता है ॥२६॥

अब उत्तरार्ध में पूर्व की ओर इस मन्त्र से—"उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्ण ँ् शिवं कृधि" (यजु० १७।६)—(ज्मा=पृथिवी, उपज्मन्=पृथिवी में) "पृथिवी में, बाँस में, नदी में उतर हे अग्नि, तू जलों का पित्त है। उनके साथ मेंढक, तू आ। हमारे यज्ञ को पवित्र और कल्याणप्रद कर।" मन्त्र स्पष्ट है ॥२७॥

पूर्वार्द्ध में दक्षिण की ओर इस मन्त्र से—"अपामिदं न्ययन ँ् समुद्रस्य निवेशनम्। अन्याँस्ते ऽ अस्मत्तपन्तु हेतय: पावको ऽ अस्मभ्य ँ् शिवो भव" (यजु० १७।७)—"तू जलों का घर और समुद्र का स्थान है। हमको छोड़कर अन्यों को तेरे बाण तपावें। हमारे लिए पवित्र और कल्याणप्रद हो।" मन्त्र स्पष्ट है। वह इसको पहले यों घसीटता है, फिर यों, फिर यों, फिर यों, दक्षिणावृत्, अर्थात् बायें से दायें को। यही देवों की प्रणाली है ॥२८॥

पहले धड़ पर घसीटता है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसका पहले धड़ उत्पन्न होता है, फिर दायाँ बाजू, फिर पूँछ, फिर बायाँ बाजू। बायें से दायें को, यह देवों की प्रणाली है ॥२९॥

(वेदी के) पक्ष और पूँछ पर धड़ की ओर घसीटता है। धड़ की ओर ही उस शान्ति को धारण करता है, उधर से इधर को। इस प्रकार उधर से इधर को शान्ति को धारण कराता है। इस मन्त्र से दायाँ बाजू—"अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान् वक्षि यक्षि च" (यजु० १७।८)—"हे पावक, देव अग्नि! अपनी प्रकाशमय, अच्छी जीभ से देवों को यहाँ बुला और उनकी पूजा कर।" इस मन्त्र से पूँछ—"स न: पावक दीदिवोऽग्ने देवा ँ२। इहावह। "उप यज्ञ ँ् हविश्च न:"(यजु० १७।९)। इस मन्त्र से बायाँ बाजू—"पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुच ऽ उषसो न भानुना। तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण आ ऽ यो घृणे न ततृषाणो अजर:" (यजु० १७।१०)—"जो तेज और चमकीले प्रकाश से पृथिवी पर चमकता है, जैसे चमकदार उषा, जो अजर, शीघ्रगामी आज्य की चमक में प्यासा नहीं है, अर्थात् सन्तुष्ट है।" कई बार 'पावक' कहा है, क्योंकि जो शान्त और शिव है वह पावक है। इसी से उसको शान्त करता है ॥३०॥

सात मन्त्रों से घसीटता है। अग्नि में सात चितियाँ हैं, संवत्सर में सात ऋतु हैं, संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी से उसको घसीटता है, उस बाँस को उत्कर या कूड़ाघर में फेंककर ॥३१॥

इस वेदी के चारों ओर सामगान करता है। जब यह सब अग्नि या वेदी बन चुकी तब देवों ने इसमें उत्तम अमृतरूप रख दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इसमें इस उत्तम अमृतरूप को रखता है। सामगान होता है क्योंकि साम प्राण है, प्राण अमृत है। इस प्रकार इसमें उत्तम अमृतरूप रखता है। सामगान चारों ओर करता है। इस प्रकार हममें चारों ओर उत्तम अमृतरूप रखता है ॥३२॥

सामगान क्यों करता है?

परिगायति । एतद्धै देवा अकामयन्तानस्थिकमिमममृतमात्मानं कुर्वीमहीति तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथेममात्मानमनस्थिकममृतं करवामहाऽइति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेममात्मानमनस्थिकममृतं करवामहाऽइति ॥३३॥ ते चेतयमानाः । एतानि सामान्यपश्यंस्तैरेनं पर्यगायंस्तैरेतमात्मानमनस्थिकममृतमकुर्वत तथैवैतद्यजमानो यदेनꣳ सामभिः परिगायत्येतमेवैतदात्मानमनस्थिकममृतं कुरुते सर्वतः परिगायति सर्वत एवैतदेतमात्मानमनस्थिकममृतं कुरुते तिष्ठन्गायति तिष्ठन्तीव वाऽइमे लोका अथो तिष्ठन्वै वीर्यवत्तरो हिङ्कृत्य गायति तत्र हि सर्वं कृत्स्नꣳ साम भवति ॥३४॥ गायत्रं पुरस्ताद्गायति । अग्निर्वै गायत्रमग्निमेवास्यैतच्छिरः करोत्यथो शिर एवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति ॥३५॥ रथन्तरं दक्षिणे पक्षे । इयं वै रथन्तरमियमु वाऽएषां लोकानाꣳ रसतमोऽस्याꣳ हीमे सर्वे रसा रसंतमꣳ ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा इमामेवास्यैतद्दक्षिणं पक्षं करोत्यथो दक्षिणमेवास्यैतत्पक्षमनस्थिकममृतं करोति ॥३६॥ बृहदुत्तरे पक्षे । द्यौर्वै बृहद्द्यौर्हि बर्हिष्ठा दिवमेवास्यैतदुत्तरं पक्षं करोत्यथोऽउत्तरमेवास्यैतत्पक्षमनस्थिकममृतं करोति ॥३७॥ वामदेव्यमात्मन् । प्राणो वै वामदेव्यं वायुरु प्राणः सर्वेषामु ह्येष देवानामात्मा यद्वायुर्वायुमेवास्यैतदात्मानं करोत्यथोऽआत्मानमेवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति ॥३८॥ यज्ञायज्ञियं पुच्छम् । चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञियं यो हि कश्च यज्ञः संतिष्ठतऽएतमेव तस्याहुतीनाꣳ रसोऽप्येति तद्यदेतं यज्ञो-यज्ञोऽप्येति तस्माच्चन्द्रमा यज्ञायज्ञियं चन्द्रमसमेवास्यैतत्पुच्छं करोत्यथो पुच्छमेवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति ॥३९॥ अथ प्रजापतेर्हृदयं गायति । असौ वाऽआदित्यो हृदयꣳ श्लक्ष्णा एष श्लक्ष्णꣳ हृदयं परिमण्डल एष परिमण्डलꣳ हृदयमात्मन्गायत्यात्मन्हि हृदयं निकक्षे निकक्षे हि हृदयं दक्षिणे निकक्षेऽतो हि हृदयं नेदीय आदित्य-

देवों ने चाहा कि हम अपने इस शरीर को हड्डीशून्य और अमर कैसे करें ? उन्होंने कहा, कुछ ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि हम अपने इस शरीर को हड्डीशून्य तथा अमर कर सकें। उन्होंने कहा सोचो (चेतयध्वम्), अर्थात् चिति की इच्छा करो, या सोचो कि हम अपने इस शरीर को हड्डी-शून्य तथा अमर कैसे करें ॥३३॥

उन्होंने सोचकर ये साम तलाश किये। इन्हीं का गान किया और इससे अपने शरीर को हड्डी-शून्य और अमृत कर लिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इस पर सामगान करता है और अपने शरीर को हड्डी-शून्य और अमर कर लेता है। चारों ओर गाता है, क्योंकि चारों ओर शरीर को हड्डी-शून्य तथा अमर बनाता है। खड़े-खड़े गाता है; ये लोक भी तो खड़े ही हैं। खड़े-खड़े ही मनुष्य में बल अधिक होता है। हिंकार से गाता है, क्योंकि इसी में तो सब सामपूर्ण बन जाता है ॥३४॥

अगले गायत्र गाता है। अग्नि गायत्र है। अग्नि को ही इसका सिर करता है। इस प्रकार सिर को ही हड्डी-शून्य और अमर करता है ॥३५॥

दक्षिण बाजू में रथन्तर गाता है। यह पृथिवी ही रथन्तर है। यही सब लोकों में रसतम है। इसी में ये सब रस हैं। 'रसतम' ही रथन्तर हो जाता है, क्योंकि देव परोक्ष-प्रिय हैं। इसी पृथिवी को वह दक्षिण पक्ष बनाता है। इसी दक्षिण पक्ष को हड्डी-शून्य और अमर बनाता है ॥३६॥

बायें बाजू में बृहत् गाता है। द्यौ ही बृहत् है। द्यौ बड़ा है। इस प्रकार द्यौ को इसका बायाँ बाजू बनाता है। इस प्रकार बायें बाजू को हड्डी-शून्य और अमर बनाता है ॥३७॥

धड़ पर वामदेव्य गान करता है। वामदेव्य प्राण है। वायु प्राण है। यह जो वायु है वह सब देवों का आत्मा (शरीर) है। इस प्रकार वायु को इसका शरीर बनाता है। इस प्रकार शरीर को हड्डी-शून्य तथा अमर बनाता है ॥३८॥

पूंछ पर यज्ञायज्ञिय साम का गान करता है। चन्द्रमा यज्ञायज्ञिय है, क्योंकि जब यज्ञ पूरा हो जाता है तो इसकी आहुतियों का रस चन्द्रमा तक जाता है। यज्ञ पर यज्ञ होता है, यह सब चन्द्रमा को जाता है। इसलिए चन्द्रमा यज्ञायज्ञिय है। इस प्रकार चन्द्रमा को इसकी पूंछ बनाता है। इस प्रकार इसकी पूंछ को हड्डी-शून्य और अमर बनाता है ॥३९॥

अब प्रजापति के हृदय का गान करता है। यह आदित्य हृदय है, क्योंकि आदित्य चिकना है। हृदय चिकना है। यह गोल है। हृदय गीला है। शरीर पर गाता है क्योंकि शरीर में हृदय है। बग़ल में, क्योंकि बग़ल में हृदय है। दाहिनी बग़ल में, क्योंकि इसके पास हृदय है। इस

मेवास्यैतद्धृदयं करोत्यथो हृदयमेवास्यैतदनस्थिकममृतं करोति ॥४०॥ प्रजासु च प्रजापतौ च गायति । तद्यत्प्रजासु गायति तत्प्रजासु हृदये दधात्यथ यत्प्रजापतौ गायति तदग्नौ हृदयं दधाति ॥४१॥ यद्वेव प्रजासु च प्रजापतौ च गायति । अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च तद्यदग्नौ गायति तदेव प्रजासु च प्रजापतौ च हृदयं दधाति ॥४२॥ ता हैता अमृतेष्टकाः । ता उत्तमा उपदधात्यमृतं तदस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादस्य सर्वस्यामृतमुत्तमं नान्योऽध्वर्योर्गायेदिष्टका वाऽएता विचितो ह स्याद्यदन्योऽध्वर्योर्गायेत् ॥४३॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ प्रथमोऽध्यायः [५६.] ॥ ॥

उपवसथीयेऽहन्प्रातरुदितऽआदित्ये । वाचं विसृजते वाचं विसृज्य पञ्चगृहीतमाज्यं गृह्णीते तत्र पञ्च हिरण्यशकलान्प्रास्यत्यथैतत्त्रयꣳ समासिक्तं भवति दधि मधु घृतं पात्र्यां वा स्थाल्यां वोरुबिल्यां तदुपरिष्टाद्दर्भमुष्टिं निदधाति ॥१॥ अथाग्निमारोहति । नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषऽइत्यत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र तस्माऽअलं यद्धिꣳस्यात्तं जिहिꣳसिषेद्यमु वाऽएष हिनस्ति हरसा वैनꣳ शोचिषा वार्चिषा वा हिनस्ति तथो हैनमेष एतैर्न हिनस्त्यन्यांस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳ शिवो भवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२॥ आरुह्याग्निꣳ स्वयमातृण्णां व्याघारयति । आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः ॥३॥ स्वयमातृण्णां व्याघारयति । प्राणः स्वयमातृण्णा प्राणे तदन्नं दधाति ॥४॥ यद्वेव स्वयमातृण्णां व्याघारयति । उत्तरवेदिर्हैषाग्नेरथ याममूं पूर्वां व्याघारयत्यधरस्य साथ हैषाग्निस्तामेतद्व्याघारयति ॥५॥ पश्यंस्तत्र हिरण्यं व्याघारयति । प्रत्यक्षं वै तद्यत्पश्यति प्रत्यक्षꣳ सोत्तरवेदिः प्रास्ता एवेह भवन्ति परोऽक्षं वै तद्यत्प्रास्ताः परोऽक्षमियमुत्तरवेदिः ॥६॥ स्वाहाकारेण तां व्याघारयति । प्रत्यक्षं वै तद्यत्स्वाहाकारः प्रत्यक्षꣳ सोत्तरवेदिर्वैट्कारेणेमां परोऽक्षं वै तद्यद्वैट्कारः

प्रकार आदित्य को इस वेदी का हृदय बनाता है। इस प्रकार हृदय को हड्डी-शून्य और अमर करता है ॥४०॥

प्रजाओं और प्रजापति के विषय में गाता है। यह जो प्रजाओं के विषय में गाता है, प्रजाओं में हृदय को रखता है। यह जो प्रजापति के विषय में गाता है, अग्नि (वेदी) में हृदय को रखता है ॥४१॥

प्रजा और प्रजापति के विषय में क्यों गाता है? यह अग्नि (वेदी) प्रजा भी है और प्रजापति भी। यह जो अग्नि (वेदी) के विषय में गाता है, यही प्रजाओं और प्रजापति में हृदय रखता है ॥४२॥

ये साम अमर ईंटें हैं। इनको सबसे पीछे रखता है। इससे अमरत्व को सर्वोपरि बनाता है। इसलिए अमरत्व संसार में सर्वोपरि है। अध्वर्यु के सिवाय और कोई न गावे क्योंकि ये साम ईंटें हैं और कोई गायेगा तो यह वेदी विचित, अर्थात् बेठीक हो जायेगी। इसलिए अध्वर्यु के सिवाय और कोई न गावे ॥४३॥

चित्यारोहणम, तत्र होमादिविधिः, प्रवर्ग्योत्सादनं च

अध्याय २—ब्राह्मण १

तैयारी के दिन सूर्य के उदय होने पर वाणी को छोड़ता है। वाणी को छोड़कर (मौन के बाद बोलकर) पांच चम्मच घी लेता है। उसमें पांच स्वर्ण के टुकड़ों को डालता है। फिर ये तीन, अर्थात् दही, शहद और घी मिलाये जाते हैं—या तो किसी कटोरी में या चौड़े मुँह की देगची में। उसके ऊपर एक मुट्ठी दूध डालता है ॥१॥

अब अग्नि या वेदी पर चढ़ता है, इस मन्त्र से—"नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे" (यजु० १७।११)—अब सब वेदी बन चुकी। अब यह जिसको मारना चाहे मार सकती है। जिसको वह मारती है अपने तेज से (हरसा), अग्नि से (शोचिषा), लपट से (अर्चिषा)। इस मन्त्र को पढ़कर वह इनमें से किसी से हानि नहीं पहुँचाता ॥२॥

"अन्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यँ शिवो भव" (यजु० १७।११)—यह स्पष्ट है। वेदी पर चढ़कर स्वयमातृण्णा पर घी की पाँच आहुति देता है। यह स्पष्ट है ॥३॥

स्वयमातृण्णा पर आहुति देता है। स्वयमातृण्णा प्राण है, इस प्रकार प्राण में अन्न रखता है ॥४॥

स्वयमातृण्णा पर आहुतियाँ क्यों देता है? क्योंकि यह अग्नि की उत्तर वेदी है। यह जो पहली आहुति दी थी वह अध्वर या सोमयाग की थी, परन्तु यह आहुति अग्नि या वेदी की है। इसी को देता है ॥५॥

स्वर्ण की ओर देखकर आहुति देता है। जो दीखता है वह प्रत्यक्ष है। जो प्रत्यक्ष है वह उत्तरवेदी है। जो फेंक दिये गये, वे परोक्ष हो गये। जो फिर गये वे परोक्ष हैं। यह उत्तरवेदी परोक्ष है ॥६॥

इस आहुति को स्वाहाकार से देता है। जो स्वाहाकार है वह प्रत्यक्ष है। उत्तरवेदी प्रत्यक्ष है। परन्तु वेट्कार से इस ईंट को। जो वेट्कार है वह परोक्ष है। यह जो उत्तरवेदी है

परोऽक्षमियमुत्तरवेदिराज्येनाज्येन ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति पञ्चगृहीतेन पञ्चगृहीतेन ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति व्यतिहारं व्यतिहारꣳ ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति ॥७॥ नृषदे वेडिति । प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतत्प्रीणात्यप्सुषदे वेडिति योऽप्स्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति बर्हिषदे वेडिति य ओषधिष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति वनसदे वेडिति यो वनस्पतिष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति स्वर्विदे वेडित्ययमग्निः स्वर्विदिममेवैतदग्निं प्रीणाति ॥८॥ यद्वेवाह । नृषदे वेऽप्सुषदे वेडित्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि तान्येतत्प्रीणाति तानि हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यतेऽथोऽएतानेवैतदग्नीनस्मिन्नग्नौ नामग्राहं दधाति ॥९॥ पञ्चैता आहुतीर्जुहोति । पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तव संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥१०॥ अथैनꣳ समुक्षति । दध्ना मधुना घृतेन जायतऽएष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायते सर्वम्वेतदन्नं यद्दधि मधु घृतꣳ सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति सर्वतः समुक्षति सर्वत एवैनमेतत्सर्वेणान्नेन प्रीणाति ॥११॥ यद्वेवैनꣳ समुक्षति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन्देवा एतद्रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्रूपमुत्तमं दधात्यन्नं वै रूपमेतदु परममन्नं यद्दधि मधु घृतं तस्माद्देव परमꣳ रूपं तदस्मिन्नेतदुत्तमं दधाति सर्वतः समुक्षत्यपि बाह्येन परिश्रितः सर्वत एवास्मिन्नेतद्रूपमुत्तमं दधाति दर्भैस्ते हि शुद्धा मेध्या अग्रैरग्रꣳ हि देवानाम् ॥१२॥ यद्वेवैनꣳ समुक्षति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निꣳ समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नदोऽमुं पुरस्ताद्भागमकुर्वतादः सन्नूरब्दीयमथास्मिन्नेतꣳ संचितऽउपरिष्टाद्भागमकुर्वत तस्यत्समुक्षति यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः सचितऽउपरिष्टाद्भागमकुर्वत तानेवैतत्प्रीणाति दध्ना मधुना घृतेन तस्योक्तो बन्धुः ॥१३॥ ये देवा देवानाम् । यज्ञिया यज्ञियानामिति देवा ह्येते देवानां यज्ञिया उ यज्ञियानाꣳ

वह परोक्ष है। घी से, क्योंकि उत्तरवेदी में घी की ही आहुति दिया करते हैं। पाँच चम्मच घी से, क्योंकि पाँच चम्मच घी से ही उत्तरवेदी में आहुति दी जाती है। बारी-बारी से, क्योंकि बारी-बारी से ही उत्तरवेदी में आहुतियाँ दी जाती हैं ॥७॥

"नृषदे वेट्" (यजु० १७।१२)—नृषद् का अर्थ है प्राण। नर का अर्थ है मनुष्य। यह जो मनुष्यों में प्राण है वही अग्नि है। उसको वह प्रसन्न करता है।" "अप्सुषदे वेट्" (यजु० १७।१२)—जो जलों में अग्नि है उसी को प्रसन्न करता है। "बर्हिषदे वेट्" (यजु० १७।१२) —"ओषधियों में जो अग्नि है उसको प्रसन्न करता है।" "वनसदे वेट्" (यजु० १७।१२)— जो वनस्पतियों में अग्नि है उसको प्रसन्न करता है। "स्वर्विदे वेट्" (यजु० १७।१२)—यह स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला अग्नि है। इस अग्नि को ही वह प्रसन्न करता है ॥८॥

यह जो कहा 'नृषदे वेट् अप्सुषदे वेट्' ये सब अग्नि के नाम हैं। इसी अग्नि को इन नामों द्वारा प्रसन्न करता है। हवियों के द्वारा उसको देवता बना लेता है। जिस देवता के लिए हवि ग्रहण की जाती है वह देवता है। वह देवता नहीं है जिसके लिए हवि ग्रहण नहीं की जाती। इन अग्नियों को इनके नामों से पुकारकर उनको इस अग्नि के साथ कर लेता है ॥९॥

इन पाँच आहुतियों को देता है। अग्नि (वेदी) में पाँच चितियाँ होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से इसको प्रसन्न करता है ॥१०॥

अब वह इस वेदी पर दही, शहद, और घी के छींटे देता है। जब वेदी चिनी जाती है तो उत्पन्न होती है और सब अन्न के लिए उत्पन्न होती है। यह जो दही, शहद और घी है यह सब 'अन्न' है। इस प्रकार सब अन्न से प्रसन्न करता है। सब ओर छींटे देता है; सब अन्न से प्रसन्न करता है ॥११॥

छींटे क्यों देता है? जब सब अग्नि या वेदी बन चुकी तो देवों ने उसको यह अन्तिम रूप दिया। इसी प्रकार यह भी इस वेदी को यह अन्तिम रूप देता है। यह जो दही, मधु और घी है यह परम अन्न है। इस प्रकार यह जो अन्तिम तथा परम रूप है यह उसमें धारण कराता है। सब ओर छींटे देता है, परिश्रित् के बाहर भी। इस प्रकार इसको सब ओर से उत्तम अन्तिम रूप देता है। दर्भों से, क्योंकि दर्भ शुद्ध और पवित्र होते हैं। अगले भाग से, क्योंकि दर्भों का अगला भाग देवों को प्यारा है ॥१२॥

छींटे देने का यह भी प्रयोजन है कि जब प्राणरूप ऋषियों ने पहले इस अग्नि या वेदी को बनाया तो 'सजूरब्दीय' भाग को सबसे पहले इसके लिए रक्खा और जब यह बन गया तो छींटे देने का इसका पिछला भाग रक्खा। यह जो छींटे देता है मानो प्राणरूप उन ऋषियों को प्रसन्न करता है, जिन्होंने छींटे देने को इसका पिछला भाग नियत किया था। दही, शहद और घी से, इसकी व्याख्या हो चुकी ॥१३॥

इस मन्त्र से—"ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानां" (यजु० १७।१३)— "यह देवों में देव हैं और यज्ञियों में यज्ञिय।"

संवत्सरीणामुप भागमासतऽइति संवत्सरीणाᳬ ह्येतऽएतं भागमुपासतेऽहुतादः हविषो यज्ञेऽअस्मिन्नित्यहुतादो हि प्राणाः स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्येति स्वयमस्य पिबन्तु मधुनश्च घृतस्य चेत्येतत् ॥१४॥ ये देवा देवेषु । अधि देवत्वमायन्निति देवा ह्येते देवेष्वधि देवत्वमायन्ये ब्रह्मणः पुरएतारोऽअस्येत्ययमग्निर्ब्रह्म तस्यैते पुरएतारो येभ्यो नऽऋते पवते धाम किं चनेति न हि प्राणेभ्य ऋते पवते धाम किं चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषिति नैव ते दिवि न पृथिव्यां यदेव प्राणभृत्तस्मिंस्तऽइत्येतत् ॥१५॥ द्वाभ्याᳬ समुद्वति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्समुद्वति ॥१६॥ अथ प्रत्यवरोहति । प्राणदा अपानदा इति सर्वे ह्येते प्राणा योऽयमग्निश्चितः स यदेतामत्रात्मनः परिदां न वदेतात्र हैवास्यैष प्राणान्वृञ्जीताथ यदेतामत्रात्मनः परिदां वदते तथो हास्यैष प्राणान्न वृङ्क्ते प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदा इत्येतद्दा मेऽसीत्येवैतदाहान्यांस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यᳬ शिवो भवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥१७॥ प्रत्येत्य प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचरति । प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचर्याथास्मै व्रतं वार्धव्रतं वा प्रयच्छत्यथ प्रवर्ग्योपसद्भ्यामथ प्रवर्ग्यमुत्सादयत्याप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं प्रवृणक्ति ॥१८॥ तं वै परिष्यन्दऽउत्सादयेत् । तप्तो वाऽएष शुशुचानो भवति तं यदस्यामुत्सादयेदिमामस्य शुगृच्छेद्यद्प्सूत्सादयेदपोऽस्य शुगृच्छेदथ यत्परिष्यन्दऽउत्सादयति तथो ह नैवापो हिनस्ति नेमां यद्धाप्सु न प्रास्यति तेनापो न हिनस्त्यथ यत्समन्तमापः परियन्ति शान्तिर्वाऽआपस्तेनोऽइमां न हिनस्ति तस्मात्परिष्यन्दऽउत्सादयेत् ॥१९॥ अग्नौ त्वेवोत्सादयेत् । इमे वै लोका एषोऽग्निरापः परिश्रितस्तं यदग्नाऽउत्सादयति तद्देवैनं परिष्यन्दऽउत्सादयति ॥२०॥ यद्वेवाग्नाऽउत्सादयति । इमे वै लोका एषोऽग्निरग्निर्वायुरादित्यस्तदेते प्रवर्ग्याः स यदन्यत्राग्नेरुत्सादयेदेतांस्तद्देवान्बहिर्धाभ्यो

"संवत्सरीणमुप भागमासते" (यजु० १७।१३) —"ये वार्षिक भाग को प्राप्त होते हैं।" "अहुतादो हविषो यज्ञे ऽ अस्मिन्" (यजु० १७।१३) —"इस यज्ञ में हवियों को न खानेवाले प्राण अहुताद हैं।" "स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य" (यजु० १७।१३)—"ये मधु और घी स्वयं पीवें" ॥१४॥

"ये देवा देवेषु अधिदेवत्वमायन्" (यजु० १७।१४)—इन्होंने अवश्य ही देवों में अधिदेवत्व प्राप्त किया है। "अन्ये ब्रह्मणः पुर ऽ एतारो ऽ अस्य" (यजु० १७।१४)—यह अग्नि ब्रह्म है, "ये इसके आगे चलनेवाले (Fore runner) हैं।" "येभ्यो न ऽ ऋते पवते धाम किं चन" (यजु० १७।१४)—"जिनके बिना कोई घर पवित्र नहीं होता" क्योंकि प्राणों के बिना कोई घर पवित्र नहीं होता। "न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु" (यजु० १७।१४)—"वे न पृथिवी की पीठ पर हैं न द्यौ की।" जो प्राणभृत् (प्राणधारी) हैं उसी में वे हैं ॥१५॥

दो ऋचाओं से छींटे देता है; यजमान के दो पैर हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है, जिसकी उसकी मात्रा है, उतने ही से छींटे देता है ॥१६॥

यह मन्त्र पढ़कर नीचे उतरता है—"प्राणदा ऽ अपानदा" (यजु० १७।१५)—यह जो चिनी हुई वेदी है यह 'सब प्राण' है। यदि वह यह आत्म-समर्पण के शब्द न कहे तो यह वेदी उसके प्राणों को हर ले। जब यह आत्म-समर्पण करता है तो यह वेदी उसके प्राणों को हरती नहीं। "प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः" (यजु० १७।१५)—अर्थात् यजमान कहता है कि तू मेरे लिए प्राण आदि देता है। "अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽ अस्मभ्यँ शिवो भव" (यजु० १७।१५)—"तेरे बाण हमसे अन्यों को जलावें; हमारे लिए पवित्र तथा कल्याण करनेवाले हों।" मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है ॥१७॥

लौटकर (पूर्वाह्ण-सम्बन्धी) प्रवर्ग्य और उपसत्कृत्य करता है। प्रवर्ग्य और उपसद् करे, क्योंकि वह यजमान को व्रत या अर्धव्रत देती है। फिर (अपराह्ण-सम्बन्धी) प्रवर्ग्य और उपसद् की तैयारी करता है और उस कामना को प्राप्त करके, जिसके लिए इसको रक्खा था, प्रवर्ग्य के पात्र को (अग्नि पर) रखता है ॥१८॥

इसको द्वीप में (ऐसे स्थान में जिसके चारों ओर पानी हो) रखना चाहिए। यह गर्म करने पर पीड़ित हो जाता है। यदि इसको पृथिवी में रक्खेगा, तो इसकी पीड़ा पृथिवी में घुस जायगी। यदि जलों पर रक्खेगा तो इसकी पीड़ा जलों में घुसेगी। यदि द्वीप में रखेगा तो न जलों को हानि होगी न पृथिवी को। जल को छुएगा, इसलिए जल को हानि न करेगा और चारों ओर जल के कारण, जल शान्त होने के कारण, पृथिवी को हानि न हो सकेगी। इसलिए द्वीप में रखता है ॥१९॥

अग्नि (वेदी) पर रखना ही चाहिए। वेदी ये लोक हैं। परिश्रित् जल हैं। इसलिए अग्नि (वेदी) पर रखना मानो द्वीप में रखना है ॥२०॥

अग्नि (वेदी) पर इसलिए भी रखता है कि यह अग्नि (वेदी) ये लोक हैं। अग्नि, वायु और आदित्य प्रवर्ग्य हैं। यदि अग्नि के बाहर रक्खे तो इन देवों को इन लोकों से बाहर कर देवे।

लोकेभ्यो दध्यादथ यदग्नाऽउत्सादयत्येतानेवैनद्देवानेषु लोकेषु दधाति ॥२१॥ यद्वेवाग्नाऽउत्सादयति । शिर एतद्यज्ञस्य यत्प्रवर्ग्य आत्मायमग्निश्चितः स यदन्यत्राग्नेरुत्सादयेद्यद्वह्निर्धास्माच्छिरो दध्यादथ यदग्नाऽउत्सादयत्यात्मानमेवास्यैतत्संस्कृत्य शिरः प्रतिदधाति ॥२२॥ स्वयमातृण्णया सᳫंस्पृष्टं प्रथमं प्रवर्ग्यमुत्सादयति । प्राणः स्वयमातृण्णा शिरः प्रवर्ग्य आत्मायमग्निश्चितः शिरश्च तदात्मानं च प्राणेन संतनोति संदधात्युत्साद्य प्रवर्ग्यं यथा तस्योत्सादनम् ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [२. १.] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या११० ॥ ॥

प्रत्येत्याग्निं प्रहरिष्यन् । आहुतीश्च जुहोति समिधश्चादधात्येतद्वाऽएनं देवा एष्यन्तं पुरस्तादन्नेनाप्रीणन्नाहुतिभिश्च समिद्भिश्च तथैवैनमयमेतदेष्यन्तं पुरस्तादन्नेन प्रीणात्याहुतिभिश्च समिद्भिश्च स वै पञ्चगृहीतं गृह्णीते तस्योक्तो बन्धुः ॥१॥ अथ षोडशगृहीतं गृह्णीते । षोडशकलः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसंमितेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यद्व वाऽआत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति समान्याᳫं स्रुचि गृह्णीते समानो हि स यमेतत्प्रीणाति वैश्वकर्मणाभ्यां जुहोति विश्वकर्मायमग्निस्तमेवैतत्प्रीणाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥२॥ अथ समिध आदधाति । यथा तर्पयित्वा परिवेविष्यात्तादृक्तदौदुम्बर्यो भवन्त्यूर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन प्रीणात्यार्द्रा भवन्त्येतद्वै वनस्पतीनामनार्तं जीवं यदार्द्रं तद्यदेव वनस्पतीनामनार्तं जीवं तेनैनमेतत्प्रीणाति घृते न्युत्ता भवन्त्याग्नेयं वै घृतᳫं स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति सर्वाᳫं रात्रिं वसन्ति तत्र हि ता रसेन सम्पद्यन्ते तिस्रः समिध आदधाति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥३॥ यद्वेवैता आहुतीर्जुहोति । एतद्वाऽएनं देवा एष्यन्तं पुरस्तादन्नेन समस्कुर्वन्नेताभिराहुतिभिस्तथैवैनमयमेतदेष्यन्तं पुरस्ता-

यदि वेदी पर रक्खे तो इन देवताओं को इन लोकों में स्थापित करे ॥२१॥

अग्नि (वेदी) पर इसलिए भी रखता है कि प्रवर्ग्य इस यज्ञ का सिर है। चिनी हुई अग्नि शरीर है। यदि अग्नि के बाहर रक्खे तो इसके सिर को अन्यत्र रख दे। यदि अग्नि में रक्खे तो मानो इसको शरीर को बनाकर इस पर सिर रखता है ॥२२॥

स्वयमातृण्णा से चिपटाकर पहले प्रवर्ग्य को रखता है। स्वयमातृण्णा प्राण है। प्रवर्ग्य सिर है। यह चिनी हुई वेदी शरीर है। इस शरीर और सिर में प्राण डालता है, प्रवर्ग्य को रखकर, जैसे कि रखने की विधि है ॥२३॥

प्रवर्ग्योत्सादनविधिः

अध्याय २—ब्राह्मण २

अग्नि लेने के लिए गार्हपत्य पर आकर आहुतियाँ देता है और समिधायें रखता है। देवों ने इस अग्नि को, जो वेदी तक जाने को था, आहुति और समिधारूपी अन्न से प्रसन्न किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इस वेदी तक ले-जानेवाले अग्नि को आहुतियों और समिधाओं से प्रसन्न करता है। पाँच चम्मच घी लेता है। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥१॥

अब सोलह चम्मच घी लेता है। प्रजापति में सोलह कलायें हैं। प्रजापति अग्नि है। इसके समान अन्न से ही इसको प्रसन्न करता है। जो इसके अनुकूल अन्न है वह इसको हानि नहीं करता। जो अधिक होता है वह हानि पहुँचाता है, जो कम होता है वह रक्षा नहीं कर पाता। एक ही स्रुच में घी लेता है। एक ही तो अग्नि है जिसको प्रसन्न करना है। विश्वकर्मावाली ऋचाओं से आहुति देता है। यह अग्नि विश्वकर्मा है, उसी को प्रसन्न करता है। तीन आहुतियाँ देता है, अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से उसको प्रसन्न करता है ॥२॥

अब समिधायें रखता है, मानो तृप्ति करने के पश्चात् उसकी सेवा करे। ये समिधायें उदुम्बर की होती हैं। उदुम्बर ऊर्ज और रस है। मानो ऊर्ज और रस से उसको प्रसन्न करता है। ये गीली होती हैं। वनस्पतियों का जो भाग गीला है वह जीवित और स्वस्थ है। इस प्रकार वनस्पतियों के जीवित और स्वस्थ रस से उसको प्रसन्न करता है। घी में डूबी होती है। घृत अग्नि-सम्बन्धी है। इस पर इसको इसके अपने भाग या रस से प्रसन्न करता है। वे वहाँ रातभर रहती हैं क्योंकि रसों से युक्त होती हैं। तीन समिधायें रखता है, अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से उसको प्रसन्न करता है ॥३॥

इन आहुतियों को इसलिए भी देता है कि जब यह अग्नि जाने लगा तो देवों ने पहले इन आहुतियों से अर्थात् अन्न से इसको प्रसन्न किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इस जानेवाले

दन्नेन संस्करोत्येताभिराहुतिभिः ॥४॥ स वै पञ्चगृहीतं गृह्णीते । पञ्चधाविहितो वाऽअयꣳ शीर्षन्प्राणो मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमेतमेवास्मिन्नेतत्पञ्चधाविहितꣳ शीर्षन्प्राणं दधात्यग्निस्तिग्मेन शोचिषेति तिग्मवत्या शिर एवास्यैतया सꣳश्यति तिग्मतायै ॥५॥ अथ षोडशगृहीतं गृह्णीते । अष्टौ प्राणा अष्टावङ्गान्येतामभि-सम्पदꣳ समान्याꣳ स्रुचि गृह्णीते समाने ह्येवात्मन्नङ्गानि च प्राणाश्च भवन्ति नाना जुहोत्यङ्गेभ्यश्च तत्प्राणेभ्यश्च विधृतिं करोति वैश्वकर्मणाभ्यां जुहोति विश्व-कर्मायमग्निस्तमेवैतत्संस्करोति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन संस्करोति सप्तदशभिर्ऋग्भिः सप्तदशः प्रजापतिः प्रजाप-तिरग्निर्यावानाग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्संस्करोत्येकविꣳशतिगृहीतेन द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳश एतामभिसम्प-दम् ॥६॥ यद्वेवैताः समिध आदधाति । एतद्वाऽएनं देवाः सर्वं कृत्स्नꣳ संस्कृत्या-थैनमेतेनान्नेनाप्रीणन्नेताभिः समिद्भिस्तथैवैनमयमेतत्सर्वं कृत्स्नꣳ संस्कृत्याथैनमेते-नान्नेन प्रीणात्येताभिः समिद्भिरौदुम्बर्यो भवन्त्यार्द्रा घृते न्युत्ताः सर्वाꣳ रात्रिं व-सन्ति तस्योक्तो बन्धुरुदेनमुत्तरां नयेन्द्रेमं प्रतरां नय यस्य कुर्मो गृहे हविरिति यथा यजुस्तथा बन्धुस्तिस्रः समिध आदधाति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति तिस्र आहुतीर्जुहोति तत्षट् तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥

ब्राह्मणम् ॥१ [२. २.] ॥ ॥

अथातः सम्प्रेष्यति । उद्यच्छेध्ममुपयच्छोपयमनीरग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूह्यग्नी-देकस्फ्ययानूदेहि ब्रह्मन्नप्रतिरथं जपेति ॥१॥ एतद्वै देवानुपप्रैष्यतः । एतं यज्ञं तꣳस्यमानान्दक्षिणतोऽसुरा रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अजिघाꣳसन्न यक्ष्यध्वे न यज्ञं तꣳस्यध्व ऽइति ॥२॥ ते देवा इन्द्रमब्रुवन् । त्वं वै नः श्रेष्ठो बलिष्ठो वीर्यवत्तमोऽसि त्वमिमानि रक्षाꣳसि प्रतियतस्वेति तस्य वै मे ब्रह्म द्वितीयमस्त्विति तथेति तस्मै

अग्नि को पहले इन आहुतियोंरूपी अन्न से तृप्त करता है ।।४।।

पाँच चम्मच घी लेता है । सिर में प्राण पांच प्रकार का है अर्थात् मन, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र । इस प्रकार इसके सिर में यह पांच प्रकार का प्राण रखता है, इस मन्त्र से—"अग्निस्तिग्मेन शोचिषा" (यजु० १७।१६) —'इस प्रकार तिग्म' (तेज) शब्दवाले मन्त्र से इसके सिर को तेज करता है, तेजी के लिए ।।५।।

अब सोलह चम्मच घी लेता है । आठ प्राण होते हैं और आठ अंग— ये सोलह हुए । एक ही स्रुच लेता है, क्योंकि अंग और प्राण सब एक ही में तो होते हैं । अलग-अलग आहुतियाँ देता है, इस प्रकार अङ्गों और प्राणों में भेद करता है । विश्वकर्मावाले मन्त्रों से आहुति देता है । अग्नि विश्वकर्मा है, उसी का संस्कार करता है, सत्रह ऋचाओं से । प्रजापति सत्रह अंकवाला है । प्रजापति अग्नि है । जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इसका संस्कार करता है । इक्कीस चम्मच घी से । बारह मास होते हैं, पाँच ऋतु, तीन ये लोक और वह आदित्य, ये इक्कीस हो गये ।।६।।

ये समिधायें इसलिए भी रखता है कि देवों ने जब इस सब वेदी को पूरा कर लिया तो इन समिधाओंरूपी अन्न से उसको तृप्त किया । इसी प्रकार यह भी इस सब वेदी को पूरा करके इसको इन समिधाओंरूपी अन्न से तृप्त करता है । ये उदुम्बर की होती हैं, गीली, घी में भीगी । रात-भर रहती हैं, इसकी व्याख्या हो चुकी । इन मन्त्रों से—"उदेनमुत्तरां नय" (यजु० १७।५०) —"इन्द्रेमं प्रतरां नय" (यजु० १७।५१)–"यस्य कुर्मो गृहे हविः" (यजु० १७।५२)–मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट है । तीन समिधायें रखता है । अग्नि तिहरा है । जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से इसको प्रसन्न करता है । तीन आहुतियाँ देता है । ये हो गये छः । इसकी व्याख्या हो चुकी ।।७।।

अप्रतिरथजपादि

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अब (अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को) आदेश देता है, 'लकड़ी को उठा ! अंगारे को पकड़ !' (होता से कहता है) 'जिस अग्नि को ले जा रहे हैं उसके लिए अनुवाक पढ़ !' 'अग्नीध्र, स्फ्या लेकर चल !' 'ब्रह्मा ! अप्रतिरथ का जप कर' ।।१।।

हुआ यह कि जब देव इस यज्ञ को करने की तैयारी के लिए आने लगे तो दक्षिण की ओर से असुर, दुष्ट राक्षस उनको मारने लगे, 'तुम यज्ञ नहीं कर सकते, तुम यज्ञ नहीं कर सकते' ।।२।।

उन देवों ने इन्द्र से कहा, 'तू हममें सबसे श्रेष्ठ और बलिष्ठ और शक्तिशाली है । तू इन राक्षसों को रोक ।' उसने कहा कि 'ब्रह्मा मेरा दूसरा अर्थात् साथी हो जाय ।' उन्होंने कहा 'अच्छा ।'

वै बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन्ब्रह्म वै बृहस्पतिस्तऽइन्द्रेण चैव बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञमतन्वत ॥३॥ तद्वा ऽएतत्क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु तानि रक्षाꣳसि देवैरेवापहतानि यत्त्वेतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथोऽइन्द्रेण चैवैतद्बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञं तनुते ॥४॥ स यः स इन्द्रः । एष सोऽप्रतिरथोऽथ यः स बृहस्पतिरेष स ब्रह्मा तद्यद्ब्रह्माप्रतिरथं जपतीन्द्रेण चैवैतद्बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रऽएतं यज्ञं तनुते तस्माद्ब्रह्माप्रतिरथं जपति ॥५॥ आशुः शिशानो वृषभो न भीम इति । ऐन्द्र्योऽभिरूपा द्वादश भवन्ति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्दक्षिणतोऽसुरान्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्दक्षिणतोऽसुरान्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति ता द्वाविꣳशतिर्गायत्र्यः सम्पद्यन्ते तदाग्नेय्यो भवन्त्यग्निकर्म हि ॥६॥ अथैनमुद्यच्छति । उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिरिति तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥ अथाभिप्रयन्ति । पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरिति देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुराणां दिशोऽवृञ्जत तथैवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य दिशो वृङ्क्ते देवीरिति तदेना देवीः कुरुते यज्ञमवन्तु देवीरिति यज्ञमिममवन्तु देवीरित्येतदपामतिं दुर्मतिं बाधमाना इत्यशनाया वाऽअमतिरशनायामपबाधमाना इत्येतद्रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्तीरिति रय्यां च पोषे च यज्ञपतिमाभजन्तीरित्येतद्रायस्पोषेऽअधि यज्ञोऽअस्थादिति रय्यां च पोषे चाधि यज्ञोऽस्थादित्येतत् ॥८॥ समिद्धेऽअग्नावधि मामहान इति । यजमानो वै मामहान उक्थपत्र इत्युक्थानि ह्येतस्य पत्राणीड्य इति यज्ञियं इत्येतद्गृभीत इति धारित इत्येतत्तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तेति तप्तꣳ ह्येतं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवा इत्यूर्जा

उन्होंने बृहस्पति को उसका साथी बना दिया। ब्रह्म ही बृहस्पति है। इस प्रकार बृहस्पति और इन्द्र द्वारा दक्षिण की ओर से असुर, दुष्ट राक्षसों को मारके, अभय और हानि-शून्य होकर उन्होंने इस यज्ञ को रोपा ॥३॥

जैसा देवों ने किया था वैसा ही यह भी करता है। वे राक्षस तो देवों द्वारा भगा दिये गये। परन्तु वह यह सोचकर करता है कि जैसा देवों ने किया वैसा मैं भी करूँ, अर्थात् इन्द्र और बृहस्पति द्वारा दक्षिण की ओर से असुर-राक्षसों को मारकर अभय और हानि-शून्य होकर यज्ञ को रोपता है ॥४॥

यह जो अप्रतिरथ है वही इन्द्र है। यह जो ब्रह्मा है वही बृहस्पति है। यह जो ब्रह्मा अप्रतिरथ का जाप करता है इससे मानो इन्द्र और बृहस्पति द्वारा दक्षिण की ओर से दुष्ट राक्षसों को मारकर भय और हानि से रहित होकर यज्ञ रोपता है। इसलिए ब्रह्मा अप्रतिरथ का जाप करता है ॥५॥

इस मन्त्र से—"आशुः शिशानो वृषभो न भीमो···" (यजु० १७।३३) इत्यादि। ये इन्द्र-सम्बन्धी बारह मन्त्र हैं। संवत्सर में बारह मास होते हैं। अग्नि (वेदी) संवत्सर है। जितना अग्नि है; जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही मन्त्रों से दक्षिण से असुर, दुष्ट राक्षसों को मारता है, त्रिष्टुम् छन्द से। त्रिष्टुम् वज्र है। त्रिष्टुभ्रूप वज्र से ही दक्षिण की ओर से इन असुर, दुष्ट राक्षसों को मारता है। यह बाईस गायत्रियों के बराबर है (त्रिष्टुम् के ४४ अक्षर। १२ त्रिष्टुभों के ५२८ अक्षर हुए। गायत्री के २४ अक्षर। बाईस गायत्रियाँ हो गईं)। ये अग्नि-सम्बन्धी मन्त्र हैं। अग्नि का तो काम ही है ॥६॥

अब वह (जलती लकड़ी को) उठाता है—"उदु त्वा विश्वे देवा ऽ अग्ने भरन्तु चित्तिभिः" (यजु० १७।५३)—"हे अग्नि, सब देव अपने चित्तों से तुझको उठावें।" यह तो स्पष्ट है ॥७॥

अब ले चलते हैं इन मन्त्रों से—"पंच दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीः" (यजु० १७।५४)—प्रजापति की सन्तान देव और असुर दिशाओं के लिए लड़ पड़े। उन देवों ने असुरों को दिशाओं से निकाल दिया। इसी प्रकार यजमान भी अपने शत्रु द्वेषियों को दिशा से निकाल देता है। 'दैवीः' शब्द से इसको दैवी बनाता है, अर्थात् इस यज्ञ की देवियाँ रक्षा करें। "अपामतिं दुर्मतिं बाधमानः" (यजु० १७।५४)—अमति का अर्थ है भूख, इसको दूर करें। "रायस्पोषे यज्ञपतिमा-भजन्ती" (यजु० १७।५४) —अर्थात् "यज्ञपति को धन में भाग देती हुई।" "रायस्पोषे ऽ अधि यज्ञो अस्थात्" (यजु० १७।५४) —अर्थात् "यज्ञ धन और सम्पत्ति के ऊपर दृढ़ हो" ॥८॥

"समिद्धे ऽ अग्नावधि मामहानः" (यजु० १७।५४)—मामहान का अर्थ है यजमान। "उक्थपत्रः" (यजु० १७।५५)—अर्थात् उसके पत्र या पंख उक्थ हैं। "ईड्यः" (यजु० १७।५५)—अर्थात् यज्ञ के योग्य। "गृभीतः" (यजु० १७।५५)—अर्थात् धारण किया हुआ। "तप्तं घर्म्मं परिगृह्यायजन्त ऊर्जा यद् यज्ञमयजन्त देवाः" (यजु० १७।५५)—जब देवों ने यज्ञ किया तो

ह्येतं यज्ञमयजन्त देवाः ॥९॥ दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रऽइति । दैवो ह्येष धर्ता जोषयि-
तृतमो देवश्रीः श्रीमनाः शतपया इति देवश्रीर्ह्येष श्रीमनाः शतपयाः परिगृह्य
देवा यज्ञमायन्निति परिगृह्य ह्येतं देवा यज्ञमायन्देवा देवेभ्योऽअध्वर्यन्तो अस्थु-
रित्यध्वरो वै यज्ञो देवा देवेभ्यो यज्ञियन्तोऽस्थुरित्येतत् ॥१०॥ वीतꣳ हविः श-
मितꣳ शमिता यजध्याऽइति । इष्टꣳ स्विष्टमित्येतत्तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेती-
त्यध्वर्युः पुरस्ताद्यजूꣳषि जपति होता पश्चादृचोऽन्वाह ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं
जपत्येष एव तुरीयो यज्ञस्ततो वाका आशिषो नो जुषन्तामिति ततो नो वा-
काश्चाशिषश्च जुषन्तामित्येतत् ॥११॥ सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् । सविता ज्यो-
तिरुदयां अजस्रमित्यसौ वाऽआदित्य एषोऽग्निः स एष सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुर-
स्तात्सवितैतज्ज्योतिरुद्यच्छत्यजस्रं तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वानिति पशवो वै
पूषा तऽएतस्य प्रसवे प्रेरते सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपा इत्येष वाऽइदꣳ
सर्वꣳ सम्पश्यत्येष उऽएवास्य सर्वस्य भुवनस्य गोप्ता ॥१२॥ तद्वा अमुष्मादादि-
त्यादर्वाच्यः पञ्च दिशः । ता एतद्देवा असुराणामवृञ्जताथो ता एवैतत्समारोह-
न्ता उऽएवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य वृङ्क्तेऽथो ता एवैतत्समारोहत्यथोऽए-
तद्वाऽएताभिर्देवा आतः सम्प्राप्नुवंस्तथैवाभिरयमेतदातः सम्प्राप्नोति ॥१३॥ अ-
थाश्मानं पृश्निमुपदधाति । असौ वाऽआदित्योऽश्मा पृश्निरमुमेवैतदादित्यमुपद-
धाति पृश्निर्भवति रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि तमन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं चो-
पदधात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीय एतं तदिमौ लोकावन्तरेण दधा-
ति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण तपति ॥१४॥ आग्नीध्रवेलायाम् । अन्तरिक्षं
वाऽआग्नीध्रमेतं तदन्तरिक्षे दधाति तस्मादेषोऽन्तरिक्षायतनो व्यध्वे व्यध्वे ह्येष
इतः ॥१५॥ स एष प्राणः । प्राणमेवैतदात्मन्धत्ते तदेतदायुरायुरेवैतदात्मन्धत्ते
तदेतदन्नमायुर्ह्येतदन्नमु वाऽआयुरश्मा भवति स्थिरो वाऽअश्मा स्थिरं तदायुः

इस गर्भपात्र को पकड़ा ॥६॥

"दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे" (यजु० १७।५६)—"दैवी धर्ता और पालनकर्त्ता के लिए।" "देवश्री: श्रीमनाः शतपयाः। परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो ऽअध्वर्यन्तो ऽ अस्थुः" (यजु० १७।५३)—वस्तुत: वह अग्नि देवश्री, श्रीमान् और सौ घूंट आहुतियां पीनेवाला है। उसको घेरकर ही देवों ने यज्ञ की प्राप्ति की, देव यज्ञ को करते रहे ॥१०॥

"वीतꣳ हवि: शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति" (यजु० १७।५७)—"हवि यज्ञ के लिए संस्कृत की गई। चौथा यज्ञ जहाँ हव्य को प्राप्त होता है।" 'वीत' का अर्थ है 'इष्ट'। पहले अध्वर्यु ने यजुओं को जपा, फिर होता ने ऋचाओं को, फिर ब्रह्मा दक्षिण में अप्रतिरथ को जपता है। अब यह यज्ञ चौथा हो गया। "ततो वाका ऽ आशिषो नो जुषन्ताम्" (यजु० १७।५७)—"तब प्रार्थनायें और आशीर्वाद हमको मिले" ॥११॥

"सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ२ ऽ अजस्रम्। तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् संपश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः" (यजु० १७।५८)—यह अग्नि ही आदित्य है। यही सविता सूर्यरश्मि और हरिकेश होकर अपनी ज्योति से चमकता है। पशु ही पूषा हैं। ये (पशु) उस (सूर्य के) आदेश पर चलते हैं। वही इन सबको देखता और इनकी रक्षा करता है ॥१२॥

उस सूर्य के इधर जो पाँच दिशायें हैं उनको देवों ने असुरों से छीन लिया और वे देव उन दिशाओं पर चढ़ गये। यह यजमान भी अपने शत्रुओं से इन दिशाओं को छीन लेता और उन पर चढ़ जाता है। इन्हीं के द्वारा देव यहाँ तक आ पहुँचे। इसी प्रकार यजमान भी इनके द्वारा यहाँ तक आ पहुँचता है ॥१३॥

अब एक चमकदार पत्थर रखता है। वह आदित्य ही चमकदार पत्थर है। इस प्रकार इसके द्वारा उस आदित्य की स्थापना करता है। चमकदार है किरणों के कारण। इसको आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में रखता है। यह लोक गार्हपत्य है और द्यौलोक आहवनीय। इस प्रकार इसको इन लोकों के बीच में रखता है। इसलिए यह सूर्य इन दोनों लोकों के बीच में तपता है— ॥१४॥

अग्नीध्र की वेला में (उसके हद के भीतर)। अग्नीध्र अन्तरिक्ष है। उसको अन्तरिक्ष में रखता है। इसलिए इस (सूर्य) का घर अन्तरिक्ष में है। आधी दूरी पर, क्योंकि सूर्य आधी दूरी पर है ॥१५॥

यह (पत्थर) प्राण है, इस प्रकार शरीर में प्राण को रखता है। यह आयु है। इस प्रकार शरीर में आयु रखता है। यह अन्न है। अन्न ही आयु है। आयु पत्थर है। पत्थर स्थिर है। आयु

कुरुते पृश्निर्भवति पृश्नीव ह्यन्नम् ॥१६॥ स उपदधाति । विमान एष दिवो मध्य ऽआस्तऽइति विमानो ह्येष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षमित्यु- द्यन्वाऽएष इमांल्लोकानापूरयति स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरिति स्रुचश्चैतद्वेदी- श्चाहान्तरा पूर्वमपरं च केतुमित्यन्तरेमं च लोकममुं चेत्येतदथो यच्चेदमेतर्हि ची- यते यच्चादः पूर्वमचीयतेति ॥१७॥ उक्षा समुद्रोऽअरुणः सुपर्ण इति । उक्षा ह्ये- ष समुद्रोऽरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेशेति पूर्वस्य ह्येष एतं योनिं पितुराविशति मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मेति मध्ये ह्येष दिवो निहितः पृश्नि- रश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्ताविति विक्रममाणो वाऽएष एषां लोकानामन्ता- न्पाति ॥१८॥ द्वाभ्यामुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपदधाति त्रिष्टुब्भ्यां त्रैष्टुभो ह्येष न सादयत्यसन्नो ह्येष न सूददोहसाधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राण एष किं प्राणे प्राणं दध्यामिति तं निधाय यथा न नश्येत् ॥१९॥ अथोपायन्ति । इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति तस्यो- क्तो बन्धुर्देवहूर्यज्ञ आ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञ आ च वक्षदिति देवहूश्चैव यज्ञः सुम्न- हूश्च यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ऽआ च वक्षदिति यक्षच्चैवाग्निर्देवो देवाना च वक्ष- दित्येतत् ॥२०॥ वाजस्य मा प्रसवः । उद्ग्राभेणोदग्रभीत् अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ऽअकरिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२१॥ उद्ग्राभं च निग्राभं च । ब्रह्म देवा अवीवृधन् अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यतामिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥२२॥ तद्वा अमुष्मादादित्यादूर्ध्वाश्चतस्रो दिशः । ता ए- तद्देवा असुराणामवृञ्जताथो ता एवैतत्समारोहंस्ता उऽएवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य वृङ्क्तेऽथो ता एवैतत्समारोहत्यथोऽएतद्वाऽएताभिर्देवा आप्तः सम्प्रा- प्नुवंस्तथैवाभिरयमेतदाप्तः सम्प्राप्नोति ॥२३॥ अथाग्निमारोहन्ति । क्रमध्वमग्निना नाकमिति स्वर्गो वै लोको नाकः क्रमध्वमनेनाग्निनेत७ स्वर्गं लोकमित्येतदुख्य७

को स्थिर करता है। चमकदार है। अन्न चमकदार-सा है ॥१६॥

वह इस मन्त्र से रखता है—"विमान ऽ एष दिवो मध्य ऽ आस्त ऽ आपप्रिवान् रोदसी अंतरिक्षम्। स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्" (यजु० १७।५९)—यह सूर्य विमान है, द्यौ के मध्य में है। उदय होता है तो दोनों लोकों को भरता है। इसलिए आपप्रिवान् हैं। विश्वाची का अर्थ है स्रुच और घृताची का वेदी। पूर्व और अपर का अर्थ है वह वेदी जो बन रही है और वह जो पहले बनी थी ॥१७॥

"उक्षा समुद्रो ऽ अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश। मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ" (यजु० १७।६०)—यह सूर्य ही उक्षा, समुद्र, अरुण और सुपर्ण है। यह अपने पूर्व पिता (आहवनीय या अंतरिक्ष) की योनि में प्रवेश करता है। यह चमकीला पत्थर बीच में रक्खा गया है। यह जब चलता है तो दोनों लोकों के अंतों की रक्षा करता है ॥१८॥

दो मन्त्रों को पढ़कर रखता है। यजमान के दो पैर होते हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही से इसको रखता है। दो त्रिष्टुभों से, क्योंकि सूर्य त्रिष्टुम्वाला है। वह इस पत्थर को रखता नहीं, क्योंकि सूर्य भी ठहरा नहीं है। इस पर सूददोह का पाठ भी नहीं करता। सूददोह प्राण है, यह भी प्राण है। वह सोचता है कि प्राण पर प्राण को कैसे धरूँ? इस प्रकार रखकर कि नष्ट न हो जाय—अब वे वेदी तक आते हैं—"इन्द्रं विश्वा ऽ अवीवृधन्" (यजु० १७।६१)—व्याख्या हो चुकी ॥१९॥

"देवहूर्यज्ञ ऽ आ च वक्षत् सुम्नहूर्यज्ञ ऽ आ च वक्षत्। यक्षदग्निर्देवो देवाँ२ ऽ आ च वक्षत्" (यजु० १७।६२)—यज्ञ 'देवहूः' अर्थात् देवों को बुलानेवाला और 'सुम्नहूः' अर्थात् कल्याण को लानेवाला है ॥२०॥

"वाजस्य मा प्रसव उद्ग्राभेणोदग्रभीत्। अथा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२ ऽ अकः" (यजु० १७।६३)—"शक्ति की उत्पत्ति ने मुझे बढ़ा दिया। इन्द्र ने मेरे शत्रुओं का दमन कर दिया।" स्पष्ट है ॥२१॥

"उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन्। अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम्" (यजु० १७।६४)—स्पष्ट है। देव ब्रह्मा को उन्नति से बढ़ावें। इन्द्र और अग्नि मेरे शत्रुओं का दमन करें ॥२२॥

उस आदित्य की उस ओर जो चार दिशायें हैं, उनको देवों ने इन मन्त्रों द्वारा असुरों से खाली करा लिया और उन पर चढ़ गये। इसी प्रकार यजमान भी अपने शत्रुओं से इन दिशाओं को खाली कराता है और उन पर चढ़ता है। इन मन्त्रों से देव यहाँ तक आये थे। इसी प्रकार यजमान भी इनके द्वारा यहाँ तक आता है ॥२३॥

अब वेदी पर चढ़ते हैं, इस मन्त्र से—"क्रमध्वमग्निना नाकम्" (यजु० १७।६५)—नाक कहते हैं स्वर्गलोक को, अर्थात् इस वेदी के द्वारा स्वर्गलोक को चढ़ें। "उख्यँ हस्तेषु

हस्तेषु बिभ्रत इत्युच्यꣳ ह्येत ऽ एतꣳ हस्तेषु बिभ्रति दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराधमिति दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गं लोकं गत्वा मिश्रा देवेभिराधमित्येतत् ॥२४॥ प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानिति । प्राची वै दिगग्नेः स्वामनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानित्येतदग्नेरग्ने पुरो ऽ अग्निर्भवेहेत्यस्य त्वमग्नेरग्ने पुरो ऽ ग्निर्भवेहेत्येतद्विश्वा आशा दीद्यानो विभाहीति सर्वा आशा दीप्यमानो विभाहीत्येतदूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पद ऽ इत्याशिषमाशास्ते ॥२५॥ पृथिव्या अहम् । उदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहमिति गार्हपत्यादाग्नीध्रीयमागहत्याग्नीध्रीयादाहवनीयं दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहमिति दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्गं लोकमगामहमित्येतत् ॥२६॥ स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते । आ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी ऽ इति न हैव ते ऽ पेक्षन्ते ये स्वर्गं लोकं यन्ति यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिर ऽ इत्येष एव यज्ञो विश्वतोधार एत ऽ उ ऽ एव सुविद्वाꣳसो य ऽ एतं वितन्वते ॥२७॥ अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतामिति । इममेतदग्निमाह त्वमेषां प्रेहि प्रथमो देवयतामिति चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानामित्युभयेषाꣳ ह्येतद्देवमनुष्याणां चक्षुरियक्षमाणा भृगुभिः सजोषा इति यजमाना भृगुभिः सजोषा इत्येतत्स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्तीति स्वर्गं लोकं यन्तु यजमानाः स्वस्तीत्येतत् ॥२८॥ तस्या अमुष्मिंल्लोके पञ्च दिशः । ता एतद्देवा असुराणामवृञ्जताथो ता एवैतत्समारोहंस्ता उ ऽ एवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते ऽ थो ता एवैतत्समारोहत्यथो ऽ एतद्वा ऽ एताभिर्देवा आतः सम्प्राप्नुवंस्तथैवाभिरयमेतदातः सम्प्राप्नोति ॥२९॥ अथैनमभिजुहोति । एतद्वा ऽ एनं देवा ईयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन्नेतयाहुत्या तथैवैनमयमेतदीयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणात्येतयाहुत्या कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणात्युपरि धार्यमाण उपरि हि स यमेतत्प्रीणाति दोहनेन दोहनेन हि पयः प्रदीयते ॥३०॥ यद्वेवैनमभि-

बिभ्रतः" (यजु० १७।६५)–उख्य नाम है अग्नि का। वे हाथ में अग्नि ले जाते हैं। "दिवस्पृष्ठ॑ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्" (यजु० १७।६५)—"द्यौलोक की पीठ पर स्वर्ग में जाकर देवों के साथ-साथ रहो।" अर्थात् उनके साथ मिलते-जुलते रहो ॥२४॥

"प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वान् अग्नेरग्ने पुरो ऽ अग्निर्भवेह विश्वा ऽ आशा दीद्यानो विभाहि, ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे" (यजु० १७।६६)–अग्नि की निज दिशा पूर्व है। तात्पर्य यह है कि अग्नि अपनी पूर्व दिशा में जावे, वेदी में सबसे आगे रहे, सब दिशाओं को प्रकाशित करे, दुपायों और चौपायों को भोजन दे। यह अन्त का आशीर्वाद है ॥२५॥

"पृथिव्या ऽ अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् दिवो। नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्" (यजु० १७।६७)—"मैं पृथिवी से अंतरिक्ष को चढ़ा, अंतरिक्ष से द्यौलोक को, द्यौलोक में स्वर्ग की पीठ से मैंने ज्योति प्राप्त की।" स्पष्ट है ॥२६॥

"स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्या॑ रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधार॑ सुविद्वा॑ सो वितेनिरे" (यजु० १७।६८)—"स्वर्ग को ले-जानेवाले इधर-उधर नहीं देखते। दोनों लोकों को चढ़ते हैं। जिन विद्वानों ने समस्त विश्व को धारण करनेवाले यज्ञ को किया था" ॥२७॥

"अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्। इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति" (यजु० १७।६९)—वह इस अग्नि से कहता है कि "देवों की ओर चलनेवालों में तू सबसे प्रथम जा। तू देवों और मनुष्यों का चक्षु है। भृगुओं के साथ यज्ञ की इच्छा करनेवाले यजमान स्वर्ग को जाकर कल्याण प्राप्त करें" ॥२८॥

इस लोक में जो पाँच दिशायें हैं उनको देवों ने असुरों से छीन लिया और उन पर चढ़ गये। इसी प्रकार यह यजमान भी अपने वैरियों से इन दिशाओं को छीनकर इन पर चढ़ता है। इन्हीं दिशाओं की सहायता से देव यहाँ तक पहुँचे थे। यजमान भी इन्हीं दिशाओं की सहायता से यहाँ तक पहुँचता है ॥२९॥

इस अग्नि के लक्कड़ पर आहुति देता है। इस आई हुई अग्नि को देवों ने आहुतिरूपी अन्न से सन्तुष्ट किया था। इसी प्रकार यह यजमान भी इस आहुतिरूपी अन्न से अग्नि को सन्तुष्ट करता है, सफेद बछड़ेवाली काली गाय के दूध से। यह काली गाय रात है जिसका सफेद बछड़ा सूर्य है। इसको इसी के निज रस से तृप्त करता है, ऊपर को उठाकर, क्योंकि जिसको प्रसन्न करता है वह ऊपर को उठी हुई है। दोहन (दुहने का पात्र) से, क्योंकि दूध दोहन से ही दिया जाता है ॥३०॥

इस पर आहुति क्यों देता है ?

जुह्वोति । शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः प्राणाः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधाति यथा स्वय-
मातृण्णामभिप्रह्वरे देवमभिजुहुयात्प्राणाः स्वयमातृण्णा रस एष शिरश्च तत्प्राणं च
रसेन संतनोति संदधाति नक्तोषासा समनसा विरूपेऽइति तस्योक्तो बन्धुः
॥३१॥ अग्ने सहस्राक्षेति । हिरण्यशकलैर्वाऽएष सहस्राक्षः शतमूर्धन्निति यद्दः
शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना इति शतꣳ ह्येव तस्य प्रा-
णाः सहस्रं व्याना यः शतशीर्षा त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषऽइति त्वꣳ सर्वस्यै
रय्याऽईशिषऽइत्येतत्तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहेत्येष वै वाजस्तमेतत्प्रीणाति
॥३२॥ द्वाभ्यामभिजुह्वोति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मा-
त्रा तावतैवैनमेतदभिजुह्वोति ॥३३॥ अथैनं निदधाति । सुपर्णोऽसि गरुत्मानि-
त्येतद्वाऽएनमदो विकृत्या सुपर्णं गरुत्मन्तं विकरोति तꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं चि-
नोति तꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा ततो निदधाति पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्त-
रिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद्दृꣳहेत्येवꣳ ह्येष एतत्सर्वं क-
रोति ॥३४॥ आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादिति । आजुह्वानो नः सुप्रतीकः पुर-
स्तादित्येतदग्ने त्वं योनिमासीद साधुयेत्येष वाऽअस्य स्वो योनिस्तꣳ साध्वासी-
देत्येतदस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन्निति द्यौर्वाऽउत्तरꣳ सधस्थं विश्वे देवा यजमा-
नश्च सीदतेति तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानꣳ सादयति द्वाभ्यां निदधाति तस्योक्तो
बन्धुर्वषट्कारेण तस्योपरि बन्धुः ॥३५॥ अथास्मिन्त्समिध आदधाति । एतद्वाऽएनं
देवा ईयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणान्त्समिद्भिश्चाहुतिभिश्च तथैवैनमयमेतदीयिवाꣳ-
समुपरिष्टादन्नेन प्रीणाति समिद्भिश्चाहुतिभिश्च ॥३६॥ स वै शमीमयीं प्रथमामा-
दधाति । एतद्वाऽएष एतस्यामाहुत्याꣳ हुतायां प्रादीप्यतोदज्वलत्तस्माद्देवा अबि-
भयुर्यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति तऽएताꣳ शमीमपश्यꣳस्तयैनमशमयꣳस्तद्यदेतꣳ श-
म्याशमयꣳस्तस्माच्छमी तथैवैनमयमेतच्छम्या शमयति शान्त्याऽएव न जग्ध्यै ॥३७॥

यह अग्नि यज्ञ का सिर है। दूध प्राण है, इस प्रकार सिर में प्राण रखता है। आहुति इस प्रकार देनी चाहिए कि दूध स्वयमातृण्णा तक बह जाय। स्वयमातृण्णा प्राण है। यह दूध रस है। इस प्रकार प्राण और सिर को रस से युक्त करता है, इस मन्त्र से—"नक्तोषासा समनसा विरूपे" (यजु० १७।७०)—"रात और उषा भिन्न रूपवाले, परन्तु एक मनवाले।" अर्थ स्पष्ट है ॥३१॥

"अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः। त्वँ् साहस्रस्य राय ऽ ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा" (यजु० १७।७१) —"अग्नि हजार आँखवाला है, स्वर्ण के टुकड़ों द्वारा शतमूर्ध है, क्योंकि इसको सौ मुखवाले रुद्र ने बनाया था जो हजार आँख और सौ सिर वाला है। उसके प्राण भी हजार हैं और व्यान भी हजार। अग्नि शक्तिवाला है।" उसको सन्तुष्ट करता है ॥३२॥

दो मन्त्रों से आहुति देता है। यजमान के दो पैर होते हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही से इसकी आहुति देता है ॥३३॥

अब वह आग के उस लक्कड़ को इस मन्त्र से रख देता है। "सुपर्णोसि गरुत्मान्" (यजु० १७।७२)—इससे पहले विकृति से उसने उसको सुपर्ण गरुत्मान् बनाया था। उसको सुपर्ण गरुत्मान् बनाता है। उसको सुपर्ण गरुत्मान् करके रख देता है। "पृष्ठे पृथिव्याः सीद। भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उदृदृँ्ह" (यजु० १७।७२)—"पृथिवी की पीठ पर बैठ। अन्तरिक्ष को प्रकाश से भर। द्यौ को ज्योति से और दिशाओं को प्रकाश से युक्त कर।" वस्तुतः अग्नि यह सब-कुछ करता है ॥३४॥

"आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत" (यजु० १७।७३)— सुप्रतीकः=दयालु। हम पर दयालु हो। अपने घर में बैठ। यह वेदी अग्नि का घर है। दूसरे घर में अर्थात् द्यौ में 'यजमान और देव बैठें।' इसी प्रकार यजमान को देवों का साक्षी बनाता है, दो मन्त्रों से। इसकी व्याख्या हो चुकी। वषट्कार से, इसकी भी व्याख्या हो चुकी ॥३५॥

अब उस पर समिधायें रखता है। जब अग्नि आ गया तो देवों ने उसको लकड़ी और आहुतियों दोनों से तृप्त किया था। इसी प्रकार जब अग्नि आ गया तो यजमान भी समिधा और आहुतियों से उसको तृप्त करता है ॥३६॥

पहले शमी की समिधा रखता है। क्योंकि जब आहुति दी जा चुकी, तो अग्नि प्रदीप्त होकर जल उठा। देव उससे डर गये कि कहीं उससे पीड़ा न पहुँच जाय। उन्होंने इस शमी को देखा और इससे उसको शान्त किया। इससे शमन किया, इसलिए इसका नाम शमी हुआ। इसी प्रकार यह यजमान भी शमी से इसको शान्त करता है शान्ति के लिए और पीड़ा से बचने के लिए ॥३७॥

नाऽ सवितुर्वरेण्यस्य । चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् यामस्य कण्वो ऽअदुहत्प्रपीनाऽ सहस्रधारां पयसा महीं गामिति कण्वो हैनां ददर्श सा हास्मै सहस्रधारा सर्वान्कामान्दुदुहे तथैवैतद्यजमानाय सहस्रधारा सर्वान्कामान्दुहे ॥३८॥ अथ वैकङ्कतीमादधाति । तस्या उक्तो बन्धुर्विधेम ते परमे जन्मन्नग्नऽइ-ति द्यौर्वाऽअस्य परमं जन्म विधेम स्तोमैरवरे सधस्थ इत्यन्तरिक्षं वाऽअवरऽ सधस्थं यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तमित्येष वाऽअस्य स्वो योनिस्तं यजऽइत्येतत्प्र त्वे हवीऽषि जुहुरे समिद्धऽइति यदा वाऽएष समिध्यतेऽथैतस्मिन्हवीऽषि प्रजु-ह्वति ॥३९॥ अथौदुम्बरीमादधाति । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन प्रीणा-ति कर्णकवती भवति पशवो वै कर्णकाः पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यदि कर्णकवतीं न विन्देद्दधिद्रप्समुपहत्यादध्यात्तद्दधिद्रप्स उपतिष्ठते तदेव पशुरूपं प्रेद्धोऽअग्ने दीदिहि पुरो न इति विराजादधात्यन्नं विराडन्नेनैवैनमेतत्प्रीणाति तिस्रः समिध आदधाति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥४०॥ अथाहुतीर्जुहोति । यथा परिविष्यानुपाययेत्तादृक्तत्स्रुवेण पूर्वे स्रुचोत्तरामग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रऽ हृदिस्पृशम् ऋध्यामा तऽओ-हैरिति यस्ते हृदिस्पृक्स्तोमस्तं तऽऋध्यासमित्येतत्पङ्क्त्या जुहोति पञ्चपदा पङ्क्तिः पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥४१॥ अथ वैश्वकर्मणीं जुहोति । विश्वकर्मा-यमग्निस्तमेवैतत्प्रीणाति चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेनेति चित्तमेषां जुहोमि मन-सा च घृतेन चेत्येतद्यथा देवा इहागमन्निति यथा देवा इहागच्छानित्येतद्वीति-होत्रा ऋतावृध इति सत्यवृध इत्येतत्पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मण ऽइति योऽस्य सर्वस्य भूतस्य पतिस्तस्मै जुहोमि विश्वकर्मणऽइत्येतद्विश्वाहादा-भ्यऽ हविरिति सर्वदेवाहितऽ हविरित्येतत् ॥४२॥ अथ पूर्णाहुतिं जुहोति ।

"तᳬ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् । यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनाᳬ सहस्रधारां पयसा महीं गाम्" (यजु० १७।७४)—"श्रेष्ठ सविता की प्रकट सुमति को चाहता हूँ, जो सबको प्राप्त है, जिस बड़ी सहस्रधारा और पूर्ण गाय को कण्व ने दुहा।" इसका द्रष्टा कण्व है। कण्व को सब कामनायें इसने दीं। इसी प्रकार इस सहस्रधारा को यजमान भी दुहता है ॥३८॥

अब विकंकत वृक्ष की समिधा रखता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। इस मन्त्र से—"विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे। यस्माद् योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवीᳬषि जुहुरे समिद्धे" (यजु० १७।७५) —"हे अग्नि, तेरे परम स्थान में और अवर स्थान में स्तोमों द्वारा तेरी पूजा करते हैं। जिस योनि से तू पैदा हुआ उसकी पूजा करते हैं। तुझ जले हुए पर हवियाँ डालते है।" परम जन्म का अर्थ है द्यौ, अपर सधस्थ का अन्तरिक्ष। अन्य सब स्पष्ट है ॥३९॥

अब उदुम्बर की समिधा रखता है। उदुम्बर ऊर्ज और रस है। इसे ऊर्ज और रस से प्रसन्न करता है। उदुम्बर कर्णकवती (इसकी शाखायें कटियादार होती हैं) होती है। कर्णक पशुओं को भी कहते हैं। इस प्रकार इस पशुरूपी अन्न से इसको तृप्त करता है। यदि कर्णकवती लकड़ी न मिले तो उस पर दही का एक गोला-सा बनाकर रख दे। यह ऊपर रक्खा हुआ दही का गोला पशुरूप है। इस मन्त्र से—"प्रेद्धो ऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ। त्वाᳬ शश्वन्त उपयन्ति वाजाः (यजु० १७।७६)—"जला हुआ अग्नि हमारे सामने निरन्तर रहनेवाले तेज के साथ जले। हे युवा अग्नि, अन्न सदा तुमको प्राप्त होते हैं।" विराट् छन्द से; विराट् अन्न हैं। इस प्रकार इसको अन्न से तृप्त करता है। तीन समिधायें रखता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही अन्न से उसको तृप्त करता है ॥४०॥

अब आहुतियाँ देता है, जैसे कोई खिलाकर कुछ पिलावे। पहली दो आहुतियाँ स्रुवे से और अन्तिम स्रुच से। इस मन्त्र से —"अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रᳪं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ऽओहै॥" (यजु० १७।७७)—"हे अग्नि ! आज हम उस यज्ञ को तेरे सफलतायुक्त व्याख्यानों के साथ करें जैसे स्तोमों से अश्व को या हृदय-ग्राही कल्याण-कारक कृत्य को।" जो तेरा हृदय-स्पर्शी स्तोम है उसको करें। पंक्ति छन्द से आहुति देता है। पंक्ति में पाँच पद होते हैं, अग्नि (वेदी) में पाँच चितियाँ होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से इसको तृप्त करता है ॥४१॥

अब विश्वकर्मा-सम्बन्धी आहुति देता है। यह अग्नि विश्वकर्मा है। उसी को इस प्रकार करता है—"चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा ऽइहागमन् वीतिहोत्रा ऽऋतावृधः। पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यᳪं हविः" (यजु० १७।७८)—"मन और घी से विचार की आहुति देता हूँ कि देव यहाँ आवें। आहुति लेनेवाले और सच धारण करनेवाले, समस्त जगत् के पति विश्वकर्मा के लिए आहुति देता हूँ, सदा मीठी हवि से" ॥४२॥

अब पूर्ण आहुति देता है।

सर्वमेतद्यत्पूर्णꣳ सर्वेणैवैनमेतत्प्रीणाति ॥४३॥ सप्त तेऽअग्ने समिध इति । प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येतꣳ समिन्धते सप्त जिह्वा इति यानमून्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वꣳस्तेषामेतदाह सप्तऽऋषय इति सप्त हि तऽऋषय आसन्त्सप्त धाम प्रियाणीति छन्दाꣳस्येतदाह छन्दाꣳसि वाऽअस्य सप्त धाम प्रियाणि सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्तीति सप्त ह्येतꣳ होत्राः सप्तधा यजन्ति सप्त योनीरिति चितीरेतदाहापृणस्वेत्या प्रजायस्वेत्येतद्घृतेनेति रेतो वै घृतꣳ रेत एवैतदेषु लोकेषु दधाति स्वाहेति यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञियमेवैतदिदꣳ सकृत्सर्वं करोति ॥४४॥ सप्त सप्तेति । सप्तचितिकोऽग्निः सप्तऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्प्रीणाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति तिस्रः समिध आदधाति तत्षट् तस्योक्तो बन्धुः ॥४५॥ तिष्ठन्त्समिध आदधाति । अस्थीनि वै समिधस्तिष्ठन्तीव वाऽअस्थीन्यासीन आहुतीर्जुहोति माꣳसानि वाऽआहुतय आसतऽइव वै माꣳसान्यन्तराः समिधो भवन्ति बाह्या आहुतयोऽन्तराणि ह्यस्थीनि बाह्यानि माꣳसानि ॥४६॥ अथातः सम्पदेव । षट् पुरस्ताज्जुहोति षडुपरिष्टात्षड्भिराश्मनः पृश्नेर्यन्ति द्वाभ्यामश्मानं पृश्निमुपदधाति चतुर्भिराग्नेर्यन्ति पञ्चभिरग्निमारोहन्ति तदेकान्न त्रिꣳशदाहुतिरेव त्रिꣳशत्तमी द्वाभ्यामग्निं निदधाति तद्द्वात्रिꣳशद्द्वात्रिꣳशदक्षरानुष्टुप्सैषानुष्टुप् ॥४७॥ नद्या अमूस्तिस्रोऽनुष्टुभः । गार्हपत्ये सम्पादयन्ति तासामेतामत्रैकामाहरन्ति तद्यदेतामत्राहरन्त्यत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र तस्मै नालमासीद्यदन्नमात्स्यत् ॥४८॥ सोऽग्निमब्रवीत् । त्वयान्नमदानीति तथेति तस्माद्यदेवैतमत्राहरन्त्यथैषोऽलमन्नायालमाहुतिभ्यो भवति ॥४९॥ अथोऽआहुः । प्रजापतिरेवैतं प्रियं पुत्रमुरस्याधत्तऽइति स यो हैतदेवं वेदा हैवं प्रियं पुत्रमुरसि धत्ते ॥५०॥ यद्वेवैतमत्राहरन्ति । यान्वै तान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्नयमेव स

पूर्ण का अर्थ है सब । इस प्रकार इसको सबसे तृप्त करता है ।।४३।।

"सप्त ते ऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि । सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ।।" (यजु० १७।७९)— "हे अग्नि, तेरी सात समिधायें हैं ।" समिधा प्राण हैं, इस प्रकार प्राणों को प्रदीप्त करता है । "सात जीभें हैं ।" यह उनके लिए कहा जिन सात पुरुषों को एक बनाया । सात ऋषि थे "सात प्यारे धाम ।" ये छन्द हैं । छन्द ही इसके प्यारे 'सात धाम' हैं । "सात होता हैं, सात प्रकार से तुझमें यज्ञ करते हैं ।" 'सप्त योनि' का अर्थ है सात चितियाँ । "घी से भर जा ।" अर्थात् घी से उत्पत्ति कर । वीर्य ही घी है । इस प्रकार इन लोकों में वीर्य स्थापित करता है । "स्वाहा ।" यह यज्ञ स्वाहाकार से होता है । इस प्रकार इन सबको यज्ञ के योग्य बनाता है ।।४४।।

'सात-सात' कहता है क्योंकि अग्नि (वेदी) में सात चितियाँ होती हैं, संवत्सर में सात ऋतु । संवत्सर अग्नि है । जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही से उसको तृप्त करता है । तीन आहुतियाँ देता है । अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही अन्न से उसको तृप्त करता है ।तीन समिधायें रखता है । ये छः हो गईं । इसकी व्याख्या हो चुकी ।।४५।।

समिधायें खड़े होकर रखता है । समिधायें हड्डियाँ हैं । हड्डियाँ खड़ी होती है । आहुतियाँ बैठकर देता है । आहुतियाँ मांस है । मांस बैठा जैसा होता है । भीतर समिधायें होती हैं, बाहर आहुतियाँ, क्योंकि हड्डियाँ भीतर होती हैं और मांस बाहर ।।४६।।

अब संख्या की अनुकूलता के विषय में पहले छः आहुतियाँ देता है, फिर छः आहुतियाँ । छः से चमकदार पत्थर तक जाते हैं । दो से चमकदार पत्थर को रखते हैं । चार से अग्नि के पास जाते हैं । पाँच से अग्नि या वेदी पर चढ़ते हैं । ये हुईं उन्तीस । तीसवीं हुई यह आहुति । दो से अग्नि का आधान । ये हुईं बत्तीस । अनुष्टुप् में बत्तीस अक्षर होते हैं । यह अनुष्टुप् है ।।४७।।

जिन तीन अनुष्टुपों से गार्हपत्य बनाते हैं, उनमें से एक को यहाँ ले आते हैं । जब उसको यहाँ ले आये तो वह पूरी वेदी हो गई । परन्तु अभी यह इस योग्य नहीं हुई कि अन्न खा सके ।।४८।।

उसने अग्नि से कहा—'तेरे साथ अन्न खाऊँगी ।' उसने कहा 'अच्छा ।' इसलिए जब वे उसको यहाँ ले आते हैं तभी यह आहुति खाने के योग्य होती है ।।४९।।

कहते भी हैं कि प्रजापति अपने इस प्रिय पुत्र को अपनी गोद में रखता है।जो इस रहस्य को समझता है, वह अपने प्रिय पुत्र को अपनी गोद में रखता है ।।५०।।

इसको यहाँ क्यों लाते हैं ? जिन सात पुरुषों को एक पुरुष किया था, यह वही अग्नि है

योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यामेषां तामूर्ध्वाꣳ श्रियꣳ रसꣳ समुदौहन्नेष स यमेतमत्राग्नि-
माहरन्ति तद्यदेतमत्राहरन्ति यैवैतेषाꣳ सतानां पुरुषाणाꣳ श्रीर्या रसस्तमेतदूर्ध्वꣳ
समुदूहन्ति तदस्यैतच्छिर आत्मायमग्निश्चित आत्मानमेवास्यैतत्संस्कृत्य शिरः प्रति-
दधाति ॥५१॥ ब्राह्मणम् ॥२ [२. ३.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [५७.] ॥ ॥

अथातो वैश्वानरं जुहोति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र वैश्वानरो
देवता तस्मा एतद्धविर्जुहोति तदेनꣳ हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै
हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते द्वादशकपालो द्वादश मासाः सं-
वत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः ॥१॥ यद्वेवैतं वैश्वानरं जुहोति । वैश्वानरं वा एत-
मग्निं जनयिष्यन्भवति तमदः पुरस्ताद्दीक्षणीयायाꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति यादृग्वै
योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यत्तत्र वैश्वानरꣳ रेतो भूतꣳ सिञ्चति तस्माद्-
यमिह वैश्वानरो जायत उपाꣳशु तत्र भवति रेतो वै तत्र यज्ञ उपाꣳशु वै रेतः
सिच्यते निरुक्त इह निरुक्तꣳ हि रेतो जातं भवति ॥२॥ ॥ शतम् ४१०० ॥ ॥ स
यः स वैश्वानरः । इमे स लोका इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षमेव विश्वं
वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः ॥३॥ ते ये त इमे लोकाः । इदं तच्छिर
इदमेव पृथिव्योषधयः श्मश्रूणि तदेतद्विश्वं वागेवाग्निः स नरः सोपरिष्टादस्य भ-
वत्युपरिष्टाद्ध्यस्या अग्निः ॥४॥ इदमेवान्तरिक्षम् । तस्मादेतदलोमकमलोमकमिव
ह्यन्तरिक्षं तदेतद्विश्वं प्राण एव वायुः स नरः स मध्येनास्य भवति मध्येन ह्यन्त-
रिक्षस्य वायुः ॥५॥ शिर एव द्यौः । नक्षत्राणि केशास्तदेतद्विश्वं चक्षुरेवादित्यः
स नरस्तदवस्ताच्छीर्ष्णो भवत्यवस्ताद्धि दिव आदित्यस्तदस्यैतच्छिरो वैश्वानर आ-
त्मायमग्निश्चित आत्मानमेवास्यैतत्संस्कृत्य शिरः प्रतिदधाति ॥६॥ अथ मारुता-
न्जुहोति । प्राणा वै मारुताः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति वैश्वानरꣳ हुत्वा शिरो
वै वैश्वानरः शीर्षंस्तत्प्राणान्दधाति ॥७॥ एक एष भवति । एकमिव हि शिरः

जो चिनी जाती है। और जो श्री और रस है यह वह अग्नि है जो लाई जाती है। इसलिए जब वे इसको यहाँ लाते हैं मानो उन सातों पुरुषों की श्री और रस को इकट्ठा करते हैं। वह इसका सिर है और चिनी हुई वेदी शरीर। इस प्रकार शरीर को पूरा करके उस पर सिर रखता है ॥५१॥

वैश्वानरमारुतयोर्होमविध्यादि

अध्याय ३—ब्राह्मण १

अब वैश्वानर की आहुति देता है। अब यह सम्पूर्ण अग्नि या वेदी पूरी हो चुकी। अब यह वैश्वानर देवता हो गई। इसलिए इसके लिए आहुति दी जाती है। हवि से इसको देवता बनाया जाता है। जिसके लिए हवि देते हैं वह देवता है। जिसके लिए आहुति नहीं देते वह देवता नहीं है। बारह कपाल होते हैं, क्योंकि वर्ष में बारह मास होते हैं। संवत्सर वैश्वानर है ॥१॥

वैश्वानर आहुति क्यों दी जाती है? इसको वैश्वानर अग्नि ही तो बनाना है। इससे पहले दक्षिणीय अग्नि में वीर्य के रूप से इसको सींचता है। योनि में जैसा वीर्य जाता है वैसा बच्चा उत्पन्न होता है। यह जो वैश्वानर को वीर्यरूप से सींचता है, इसलिए वैश्वानर उत्पन्न होता है। उसको चुपके-चुपके सींचता है, क्योंकि वीर्य चुपके-चुपके सींचा जाता है। यह निरुक्त है, क्योंकि वीर्य जब उत्पन्न होता है तो निरुक्त होता है ॥२॥

ये लोक वैश्वानर हैं। यह पृथिवी विश्व है, अग्नि नर है। अन्तरिक्ष विश्व है, वायु नर है। द्यौ विश्व है, आदित्य नर है ॥३॥

ये लोक वही हैं जो सिर। इसका निचला भाग पृथिवी है, ओषधियाँ इसकी दाढ़ी। यह विश्व है। अग्नि वाक् है। वह नर है। यह वाणी ऊपर होती है। अग्नि पृथिवी के ऊपर है ॥४॥

यह मुँह का बीच का भाग अन्तरिक्ष है। इस पर बाल नहीं होते, क्योंकि अन्तरिक्ष में भी बाल नहीं होते। यह विश्व है, प्राण ही वायु है, वह नर है। वह बीच में है, क्योंकि अन्तरिक्ष के बीच में वायु होता है ॥५॥

द्यौ सिर है। नक्षत्र केश हैं। यह विश्व है। चक्षु आदित्य है, यह नर है। यह सिर के निचले भाग में है, क्योंकि सूर्य द्यौलोक के निचले भाग में है। वैश्वानर इसका सिर है। यह चिनी हुई वेदी शरीर है। इस प्रकार शरीर बनाकर उस पर सिर रखता है ॥६॥

अब मारुतों के लिए आहुति देता है। प्राण ही मारुत हैं। इस प्रकार इसमें प्राणों को रखता है, वैश्वानर की आहुति देकर। वैश्वानर सिर है। इस प्रकार सिर में प्राण रखता है ॥७॥

यह (वैश्वानर आहुति) एक ही होती है। सिर एक ही है।

सप्तेतरे सप्तकपाला यद्व वाऽअपि बहु कृत्वः सप्त-सप्त सप्तैव तच्छीर्षण्येव तत्सप्त प्राणान्दधाति ॥८॥ निरुक्त एष भवति । निरुक्तमिव हि शिरोऽनिरुक्ता इतरेऽनिरुक्ता-इव हि प्राणास्तिष्ठन्नेतं जुहोति तिष्ठतीव हि शिर आसीन इतराना-सत-इव हि प्राणाः ॥९॥ तद्यौ प्रथमौ मारुतौ जुहोति । इमौ तौ प्राणौ तौ मध्ये वैश्वानरस्य जुहोति मध्ये ह्रीमौ शीर्ष्णः प्राणौ ॥१०॥ अथ यौ द्वितीयौ । इमौ तौ तौ समन्तिकतरं जुहोति समन्तिकतरमिव ह्रीमौ प्राणौ ॥११॥ अथ यौ तृतीयौ । इमौ तौ तौ समन्तिकतरं जुहोति समन्तिकतरमिव ह्रीमौ प्राणौ वागेवारण्येऽनूच्यः सोऽरण्येऽनूच्यो भवति बहु हि वाचा घोरं निगच्छति ॥१२॥ यद्वेव वैश्वानरमारुतान्जुहोति । क्षत्रं वै वैश्वानरो विण्मारुताः क्षत्रं च तद्विशं च करोति वैश्वानरं पूर्वं जुहोति क्षत्रं तत्कृत्वा विशं करोति ॥१३॥ एक एष भवति । एकस्थं तत्क्षत्रमेकस्याॅ श्रियं करोति बहव इतरे विशि तद्भूमानं द-धाति ॥१४॥ निरुक्त एष भवति । निरुक्तमिव हि क्षत्रमनिरुक्ता इतरेऽनिरु-क्तेव हि विट् तिष्ठन्नेतं जुहोति तिष्ठतीव हि क्षत्रमासीन इतरानास्तऽइव हि विट् ॥१५॥ तं वाऽएतम् । पुरोऽनुवाक्यवन्तं याज्यवन्तं वषट्कृते स्रुचा जुहो-ति हस्तेनैवेतरानासीनः स्वाहाकारेण क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति ॥१६॥ तदाहुः । कथमस्यैते पुरोऽनुवाक्यवन्तो याज्यवन्तो वषट्कृते स्रुचा हुता भवन्तीत्येतेषां वै सप्तपदानां मारुतानां यानि त्रीणि प्रथमानि पदा-नि सा त्रिपदा गायत्री पुरोऽनुवाक्याथ यानि चत्वार्युत्तमानि सा चतुष्पदा त्रिष्टु-ब्याज्येदमेव कपुच्छलमयं दण्डः स्वाहाकारो वषट्कार एवमु हास्यैते पुरोऽनुवा-क्यवन्तो याज्यवन्तो वषट्कृते स्रुचा हुता भवन्ति ॥१७॥ तद्यं प्रथमं दक्षिणतो मारुतं जुहोति । याः सप्त प्राच्यः स्रवन्ति ताः स स सप्तकपालो भवति सप्त हि ता याः प्राच्यः स्रवन्ति ॥१८॥ अथ यं प्रथममुत्तरतो जुहोति । ऋतवः स स स-

अन्य (मारुतों की आहुतियाँ) सात होती हैं, सात कपालोंवाली। यद्यपि सात का अर्थ बहुत भी है, परन्तु यहाँ सात ही है। इस प्रकार सिर में सात प्राण रखता है ॥८॥

यह आहुति निरुक्त होती है (अर्थात् स्पष्ट रीति से पढ़कर दी जाती है), क्योंकि सिर निरुक्त है। अन्य आहुतियाँ अनिरुक्त होती हैं क्योंकि प्राण अनिरुक्त होते हैं। इसको खड़े होकर देता है क्योंकि सिर खड़ा है। अन्य आहुतियाँ बैठकर, क्योंकि प्राण बैठे-से हैं ॥६॥

ये जो दो पहली मारुतों के लिए देता है, ये दोनों प्राण हैं। मध्य में वैश्वानर की आहुति देता है। सिर के मध्य में वे दोनों प्राण हैं ॥१०॥

ये जो दो दूसरे हैं, इनको मिलाकर देता है क्योंकि वे दोनों प्राण मिले हुए-से हैं ॥११॥

ये जो दो तीसरे हैं, इनको भी मिलाकर देता है। ये प्राण मिले-से हैं। वाणी आरण्य में बोलने योग्य है। यह अरण्य में ही बोली जाती है, क्योंकि वाणी से घोर विरोध होता है ॥१२॥

वैश्वानर और मारुतों की आहुति इसलिए भी दी जाती है कि वैश्वानर क्षत्रिय है और मारुत हैं वैश्य। इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को मिलाता है। वैश्वानर आहुति पहले देता है। पहले क्षत्रिय को देकर तब वैश्य को देता है ॥१३॥

यह आहुति एक ही होती है, क्योंकि क्षत्रिय को एक श्रीवाला करता है। वैश्य बहुत-से होते हैं, इसलिए मारुत आहुतियाँ बहुत होती हैं ॥१४॥

यह आहुति निरुक्त (स्पष्ट) होती है, क्योंकि क्षत्रिय स्पष्ट होता है। अन्य आहुतियाँ अनिरुक्त होती हैं, क्योंकि वैश्य अनिरुक्त होते हैं। वैश्वानर की आहुति खड़े-खड़े देता है, क्योंकि क्षत्रिय खड़ा होता है। अन्य बैठकर, क्योंकि वैश्य बैठे-से होते हैं ॥१५॥

पहली (वैश्वानर) आहुति अनुवाक्य और याज्य के साथ वषट्कार कहकर स्रुच से देता है, अन्य आहुतियों को हाथ से बैठकर स्वाहाकार से। इस प्रकार वैश्यों को क्षत्रिय का अनुगामी और अधीन बनाता है ॥१६॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि ये आहुतियाँ अनुवाक्य और याज्य के साथ वषट्कार कहकर स्रुच से दी हुई कैसे समझ ली गईं ? मारुत ऋचाओं के सात पदों में से पहले तीन गायत्री हैं और अनुवाक्य हैं। जो चार पिछले हैं वे चार पादवाले त्रिष्टुप् और याज्य हैं। एक प्याला है और दूसरा दस्ता। स्वाहाकार वषट्कार है। इस प्रकार वे आहुतियाँ अनुवाक्य हैं। याज्य के साथ वषट्कार कहकर स्रुच से दी हुई मान ली गईं ॥१७॥

यह जो पहली दक्षिण की ओर से मारुत आहुति दी जाती है, ये सात नदियाँ हैं जो पूर्व की ओर बहती हैं। यह सात कपालोंवाली है। ये सात ही नदियाँ हैं जो पूर्व को बहती हैं ॥१८॥

यह जो पहली उत्तर की ओर से दी जाती है, ये ऋतुयें हैं।

प्तकपालो भवति सप्त ह्यृतवः ॥१९॥ अथ यं द्वितीयं दक्षिणतो जुहोति । पशवः स स सप्तकपालो भवति सप्त हि ग्राम्याः पशवस्तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोत्यप्सु तत्पशून्प्रतिष्ठापयति ॥२०॥ अथ यं द्वितीयमुत्तरतो जुहोति । सप्तऽऋषयः स स सप्तकपालो भवति सप्त हि सप्तऽर्षयस्तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोत्यृतुषु तदृषीन्प्रतिष्ठापयति ॥२१॥ अथ यं तृतीय दक्षिणतो जुहोति । प्राणाः स स सप्तकपालो भवति सप्त हि शीर्षन्प्राणास्तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोत्यनन्तर्हितांस्तच्छीर्षः प्राणान्दधाति ॥२२॥ अथ यं तृतीयमुत्तरतो जुहोति । छन्दाᳬसि स स सप्तकपालो भवति सप्त हि चतुरुत्तराणि छन्दाᳬसि तमनन्तर्हितं पूर्वस्माज्जुहोत्यनन्तर्हितानि तदृषिभ्यश्छन्दाᳬसि दधाति ॥२३॥ अथ याः सप्त प्रतीच्यः स्रवन्ति । सोऽरण्येऽनूच्यः स सप्तकपालो भवति सप्त हि ता याः प्रतीच्यः स्रवन्ति सो ऽस्यैषोऽवाङ् प्राण एतस्य प्रजापतेः सोऽरण्येऽनूच्यो भवति तिर-इव तद्यदरण्यं तिर-इवं तद्यदवाङ् प्राणास्तस्माद्यऽएतासां नदीनां पिबन्ति रिप्रतराः शपनतरा आहनस्यवादितरा भवन्ति तद्यद्यदेतदाहेदं मारुता इति तदस्माऽअन्नं कृत्वापिदधाति तेनैनं प्रीणाति ॥२४॥ स यः स वैश्वानरो । ऽसौ स आदित्योऽथ ये ते मारुता रश्मयस्ते ते सप्त सप्तकपाला भवन्ति सप्त-सप्त हि मारुता गणाः ॥२५॥ स जुहोति । शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्मांश्चेति नामान्येषामेतानि मण्डलमेवैतत्संस्कृत्याथास्मिन्नेतान्रश्मीन्नामग्राहं प्रतिदधाति ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [३. १.] ॥ ॥

अथातो वसोर्धारां जुहोति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र वसुस्तस्मै देवा एतां धारां प्रागृह्णंस्तयैनमप्रीणांस्तद्यदेतस्मै वसवऽएतां धारां प्रागृह्णंस्तस्मादेनां वसोर्धारेत्याचक्षते तथैवास्माऽअयमेतां धारां प्रगृह्णाति तयैनं प्रीणाति ॥१॥ यद्वेवैतां वसोर्धारां जुहोति । अभिषेक एवास्यैष एतद्वाऽएनं देवाः सर्व

ये भी सात कपालोंवाली हैं क्योंकि ऋतुयें सात हैं ॥१६॥

यह जो दूसरी दक्षिण की ओर दी जाती है, वे पशु हैं। वह सात कपालोंवाली है। गाँव के पशु सात होते हैं। उसको पहली से मिलाकर देता है, इस प्रकार जलों में पशुओं की स्थापना करता है ॥२०॥

यह जो दूसरी उत्तर में देता है, ये सप्त ऋषि हैं। यह सात कपालोंवाली है। सप्तर्षि सात होते हैं। इसको पहली से मिलाकर देता है। इस प्रकार ऋतुओं में ऋषियों की स्थापना करता है ॥२१॥

यह जो तीसरी दक्षिण की ओर देता है, वे प्राण हैं। वह सात कपालोंवाली है। सिर में सात ही प्राण होते हैं। इसको पहलों से मिलाकर देता है। इस प्रकार सिर में प्राणों को रखता है ॥२२॥

यह जो तीसरी उत्तर में देता है। ये छन्द हैं। वह सात कपालोंवाली है। चार अक्षर अधिक वाले सात छन्द हैं। उसको पहलों से मिलाकर देता है। इस प्रकार ऋषियों से छन्दों को मिलाता है ॥२३॥

'अरण्येऽनूच्य' आहुति वे सात नदियाँ हैं, जो पश्चिम की ओर बहती हैं। इसमें सात कपाल होते हैं। सात ही नदियाँ हैं, जो पश्चिम की ओर बहती हैं। यह उसका नीचे का प्राण है। यह 'अरण्येऽनूच्य।' प्रजापति की है। 'अरण्य' गुप्त है। नीचे प्राण भी गुप्त है। जो इन नदियों का जल पीते हैं वे अधर्मी, अपराधी और वाणी के दुष्ट हो जाते हैं। जब वह कहता है कि यह मरुत्-सम्बन्धी हैं तो वह उनको अग्नि के लिए अन्न बना देता है और उससे उसको सन्तुष्ट कर देता है ॥२४॥

यह आदित्य वैश्वानर है और ये किरणें मरुत् हैं। इन सातों में सात-सात कपाल होते हैं, क्योंकि मरुद्-गण सात-सात होते हैं ॥२५॥

इस मन्त्र से आहुति देता है "शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिश्मांश्च। शुक्रश्च ऽ ऋतपाश्चात्यँ्हाः" (यजु० १७।८०)—"ये इनके नाम हैं। इसी सूर्य्य के मण्डल को पूरा करके नाम ले-लेकर इसमें रश्मि या किरणों को रखता है ॥२६॥

वसोर्धाराहोमः

अध्याय ३—ब्राह्मण २

अब 'वसोर्धारा' आहुति देता है। अब यह सब अग्नि बन चुकी। अब यह वसु है। देवों ने वसु के लिए यह धारा दी। इसलिए इसका नाम 'वसोर्धारा' हुआ। इसी से उन्होंने उसको तृप्त किया। इसी प्रकार यजमान भी इस धारा को लेकर इससे इसकी तृप्ति करता है ॥१॥

'वसोर्धारा' की आहुति क्यों देता है? यह इसका अभिषेक है। जब देवों ने इस पूरी

कृत्स्नꣳ संस्कृत्याथैनमेतैः कामैरभ्यषिञ्चन्नेतया वसोर्धारया तथैवैनमयमेतत्सर्वं कृत्स्नꣳ संस्कृत्याथैनमेतैः कामैरभिषिञ्चत्येतया वसोर्धारयाज्येन पञ्चगृहीतेनौदुम्बर्या स्रुचा तस्योक्तो बन्धुः ॥२॥ वैश्वानरꣳ हुत्वा । शिरो वै वैश्वानरः शीर्ष्णो वाऽअन्नमद्यतेऽथो शीर्षतो वाऽअभिषिच्यमानोऽभिषिच्यते मारुतान्हुत्वा प्राणा वै मारुताः प्राणैर्वाऽअन्नमद्यतेऽथो प्राणेषु वाऽअभिषिच्यमानोऽभिषिच्यते ॥३॥ तद्वाऽअरण्येऽनूच्यं । वाग्वाऽअरण्येऽनूच्यं वाचो वाऽअन्नमद्यतेऽथो वाचा वाऽअभिषिच्यमानोऽभिषिच्यते तदेतत्सर्वं वसु सर्वे ह्येते कामाः सैषा वसुमयी धारा यथा क्षीरस्य वा सर्पिषो वैवमारम्भायैवेयमाज्याहुतिर्हूयते तद्यदेषा वसुमयी धारा तस्मादेनां वसोर्धारेत्याचक्षते ॥४॥ स आह । इदं च मऽइदं च मऽइत्यनेन च त्वा प्रीणाम्यनेन चानेन च त्वाभिषिञ्चाम्यनेन चेत्येतदथोऽइदं च मे देहीदं च मऽइति सा यद्वैषा धाराग्निं प्राप्नुयादथैतद्यजुः प्रतिपद्येत ॥५॥ एतद्वाऽएनं देवाः । एतेनान्नेन प्रीत्वैतैः कामैरभिषिच्यैतया वसोर्धारयाथैनमेतान्कामानयाचन्त तेभ्य इष्टः प्रीतोऽभिषिक्त एतान्कामान्प्रायच्छत्तथैवैनमयमेतदेतेनान्नेन प्रीत्वैतैः कामैरभिषिच्यैतया वसोर्धारयाथैनमेतान्कामान्याचते तस्माऽइष्टः प्रीतोऽभिषिक्त एतान्कामान्प्रयच्छति द्वौ-द्वौ कामौ संयुनक्त्यव्यवच्छेदाय यथा व्योकसौ संयुञ्ज्यादेवं यज्ञेन कल्पन्तामिति ॥६॥ एतद्वै देवा अब्रुवन् । केनेमान्कामान्प्रतिग्रहीष्याम इत्यात्मनैवेत्यब्रुवन्यज्ञो वै देवानामात्मा यज्ञ उऽएव यजमानस्य स यदाह यज्ञेन कल्पन्तामित्यात्मना मे कल्पन्तामित्येवैतदाह ॥७॥ द्वादशसु कल्पयति । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो तावतैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति चतुर्दशसु कल्पयत्यष्टासु कल्पयति दशसु कल्पयति त्रयोदशसु कल्पयति ॥८॥ अथार्धेन्द्राणि जुहोति । सर्वमेतद्यदर्धेन्द्राणि सर्वेणैवैनमेतत्प्रीणात्यथो सर्वेणैवैनमेतदभि-

वेदी को बना लिया, तो इसको उन्होंने इन कामनाओं से सींचा, इस 'वसोर्धारा' से। इसी प्रकार यह यजमान भी इस वेदी को पूरी बनाकर इस 'वसोर्धारा' रूपी इन कामनाओं से इसको तृप्त करता है—पांच चम्मच घी से, उदुम्बर लकड़ी से, स्रुच से। यह स्पष्ट है ॥२॥

वैश्वानर के बाद। वैश्वानर शिर है। खाना सिर से ही चलकर नीचे को जाता है। जिसका अभिषेक करते हैं सिर से ही नीचे की ओर करते हैं। मारुतों की आहुति देने के पश्चात्। मारुत प्राण हैं। प्राणों से ही अन्न खाया जाता है। जिसका अभिषेक होता है वह भी प्राणों से ही किया जाता है ॥३॥

'अरण्येऽनूच्य' पर। 'अरण्येऽनूच्य' वाणी है। वाणी से ही अन्न खाया जाता है। जिसका अभिषेक होता है वाणी से ही होता है। ये सब कामनायें वसु हैं। यह वसुमयी धारा है। यह दूध की हो या घी की। यह आहुति आरम्भ में दी जाती है। यह वसुमयी धारा है, इसलिए इसको वसोर्धारा कहते हैं ॥४॥

वह कहता है—'यह मेरा, यह मेरा। इससे तुझको तृप्त करता हूँ। इससे तेरा अभिषेक करता हूँ। यह मेरा है, यह मेरा है।' जब यह धारा अग्नि में पहुँच जाय तभी यह यजु पूरा हो जाय ॥५॥

जब देवों ने अग्नि को इस अन्न से तृप्त कर लिया, और इन कामनाओं से और इस वसोर्धारा से इसका अभिषेक कर लिया, तो उससे कामनाओं की प्रार्थना की। आहुतियां पाकर, तृप्त होकर और अभिषेक प्राप्त कराके उसने इन कामनाओं को उनको प्रदान कर दिया। इसी प्रकार यजमान भी इस अन्न से कामनाओं से, इसको तृप्त करके और वसोर्धारा से इसका अभिषेक करके इससे कामनाओं की याचना करता है। और यह अग्नि आहुतियों को पाकर, तृप्त होकर और अभिषेक पाकर इन कामनाओं को इसको देता है। दो-दो कामनाओं को साथ जोड़ता है कि व्यवच्छेद न हो जाय। यह सोचकर कि इस प्रकार यज्ञ पूर्ण होगा ॥६॥

देवों ने कहा—'इन कामनाओं को किससे प्राप्त करेंगे?' उन्होंने कहा—'अपने ही आत्मा से।' यह यज्ञ देवों का आत्मा है, और यह यज्ञ यजमान का भी आत्मा है। जब वह कहता है कि ये कामनाये यज्ञ से पूरी हों तो इसका अर्थ यह है कि स्वयं आत्मा से ॥७॥

बारह बातों में कल्पना करता है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से इसको तृप्त करता है, उतने ही अन्न से इसका अभिषेक करता है। चौदह बातों में कल्पना करता है, दस बातों में कल्पना करता है, तेरह बातों में कल्पना करता है ॥८॥

अब अर्धेन्द्र आहुतियां देता है। यह जो अर्धेन्द्र है यही सब-कुछ है। इस प्रकार इसको 'सब' से तृप्त करता है।

षिञ्चति ॥९॥ अथ ग्रहान्जुहोति । यज्ञो वै ग्रहा यज्ञेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो यज्ञेनैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति । १०॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.२.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१४ ॥ ॥

अथैतान्यज्ञक्रतूञ्जुहोति । अग्निश्च मे घर्मश्च मऽइत्येतैरेवैनमेतद्यज्ञक्रतुभिः प्रीणात्यथोऽएतैरेवैनमेतद्यज्ञक्रतुभिरभिषिञ्चति ॥१॥ अथायुज स्तोमाञ्जुहोति । एतद्वै देवाः सर्वान्कामानाप्त्वायुग्भि स्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वायुग्भि स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति ॥२॥ तद्वै त्रयस्त्रिꣳशादिति । अन्तो वै त्रयस्त्रिꣳशोऽयुजाꣳ स्तोमानामन्तत एव तद्देवाः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानोऽन्तत एव स्वर्गं लोकमेति ॥३॥ अथ युग्मतो जुहोति । एतद्वै छन्दाꣳस्यब्रुवन्यातयामा वाऽअयुज स्तोमा युग्मभिर्वयꣳ स्तोमैः स्वर्गं लोकमयामेति तानि युग्मभि स्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानो युग्मभि स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति ॥४॥ तद्वाऽअष्टाचत्वारिꣳशादिति । अन्तो वाऽअष्टाचत्वारिꣳशो युग्मताꣳ स्तोमानामन्तत एव तच्छन्दाꣳसि स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानोऽन्तत एव स्वर्गं लोकमेति ॥५॥ स आह । एका च मे तिस्रश्च मे चतस्रश्च मेऽष्टौ च मऽइति यथा वृक्षꣳ रोहन्नुत्तरामुत्तराꣳ शाखाꣳ समालम्भꣳ रोहेत्तादृक्तद्धैव स्तोमाञ्जुहोत्यन्नं वै स्तोमा अन्नेनैवैनमेतदभिषिञ्चति ॥६॥ अथ वयाꣳसि जुहोति । पशवो वै वयाꣳसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति ॥७॥ अथ नामग्राहं जुहोति । एतद्वै देवाः सर्वान्कामानाप्त्वाथैतमेव प्रत्यक्षमप्रीणंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वाथैतमेव प्रत्यक्षं प्रीणाति वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहेति नामान्यस्यैतानि नामग्राहमेवैनमेतत्प्रीणाति ॥८॥ त्रयोदशैतानि नामानि भवन्ति । त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्प्रीणाति यद्वेव नामग्राहं

सबसे इसका अभिषेक करता है ॥६॥

अब ग्रहों की आहुति देता है। यज्ञ ही ग्रह है। इस प्रकार यज्ञरूपी इस अन्न से ही इसको तृप्त करता है। यज्ञरूपी इस अन्न से ही इसका अभिषेक करता है ॥१०॥

वसोर्धाराहोमस्यार्थवादः

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

अब यज्ञ-क्रतुओं की आहुति देता है—"अग्निश्च मे घर्मश्च मे" (यजु० १८।२२)—इन यज्ञ-क्रतुओं से उसको तृप्त करता है। इन्हीं यज्ञ-क्रतुओं से उसका अभिषेक करता है ॥१॥

अब अयुज स्तोमों की आहुति देता है (अयुज—जिसके जोड़े न हों जैसे ३, ५, ७, ६ इत्यादि)। देव सब कामनाओं को प्राप्त करके अयुज स्तोमों द्वारा स्वर्गलोक को गये। इसी प्रकार यह यजमान भी सब कामनाओं को प्राप्त करके अयुज स्तोमों से स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥२॥

यह नम्बर तेंतीस तक जाता है। अयुज स्तोमों की अन्त की संख्या तेंतीस है। इस अन्त से ही देव लोगों ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया। इसी प्रकार यह यजमान भी अन्त से स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥३॥

अब युग्म (अयुज का उल्टा जैसे २, ४, ६, ८, १०) स्तोमों की आहुतियाँ देता है। छन्द बोले कि अयुज स्तोमों की शक्ति समाप्त हो चुकी। हम युग्म स्तोमों से स्वर्गलोक को प्राप्त करें। उन युग्म स्तोमों से स्वर्गलोक को प्राप्त किया। इसी प्रकार यह यजमान भी युग्म स्तोमों से स्वर्गलोक को जाता है ॥४॥

ये अड़तालीस तक जाते हैं। युग्म स्तोमों में अन्त का अड़तालीसवाँ है। अन्त के छन्दों से ही यह स्वर्गलोक को प्राप्त किया था। इसी प्रकार यह यजमान भी अन्त के छन्दों से स्वर्ग की प्राप्ति करता है ॥५॥

उसने कहा—"एका च मे तिस्रश्च मे" (यजु० १८।२४)—"चतस्रश्च मे ऽष्टौ च मे" (यजु० १८।२५)—जैसे वृक्ष पर चढ़ने में एक डाली को पकड़कर दूसरी डाली पर जाते हैं, इसी प्रकार इन स्तोमों की आहुति देता है। स्तोम अन्न हैं, इस प्रकार अन्न के द्वारा इसका अभिषेक करता है ॥६॥

अब वयों (उम्र) के लिए आहुति देता है। पशु आयु हैं। इस प्रकार पशुरूपी इस अन्न से इसको तृप्त करता है। पशुरूपी इस अन्न से उसका अभिषेक करता है ॥७॥

अब नामग्रह की आहुति देता है। देवों ने सब कामनाओं को प्राप्त करके उसी को प्रत्यक्ष रूप से तृप्त किया। इसी प्रकार यजमान भी सब कामनाओं को प्राप्त करके इसको प्रत्यक्ष रूप से आनन्द देता है। "वाजाय स्वाहा। प्रसवाय स्वाहा" (यजु० १८।२८) कहकर। ये उसके नाम हैं। इन नामग्रहों से ही उसको तृप्त करता है ॥८॥

ये नाम तेरह होते हैं। संवत्सर में तेरह मास होते हैं; अग्नि (वेदी) की चितियाँ और पुरीष मिलकर तेरह होते हैं। जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा, उतने ही से इसको तृप्त करता

जुहोति नामग्राहमेवैनमेतदभिषिञ्चति ॥ ९ ॥ अथाह । इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेत्यन्नं वा ऽऊर्गन्नं वृष्टिरन्नेनैवैनमेतत्प्रीणाति ॥ १० ॥ यद्वेवाह । इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेतीदं ते राज्यमभिषिक्तो ऽसीत्येतन्मित्रस्य त्वं यन्तासि यमन ऊर्जे च नो ऽसि वृष्ट्यै च नो ऽसि प्रजानां च न आधिपत्यायासीत्युपब्रुवत ऽएवैनमेतदेतस्मै नः सर्वस्मा ऽअस्येतस्मै त्वा सर्वस्मा ऽअभ्यषिचामहीति तस्मादु हेदं मानुषꣳ राजानमभिषिक्तमुपब्रुवते ॥ ११ ॥ अथ कल्पाञ्जुहोति । प्राणा वै कल्पाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधात्यायुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामित्येतानेवास्मिन्नेतत्क्लृप्तान्प्राणान्दधाति ॥ १२ ॥ द्वादश कल्पाञ्जुहोति । द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतत्क्लृप्तान्प्राणान्दधाति यद्वेव कल्पाञ्जुहोति प्राणा वै कल्पा अमृतमु वै प्राणा अमृतेनैवैनमेतदभिषिञ्चति ॥ १३ ॥ अथाह । स्तोमश्च यजुश्च ऽऋक्च साम च बृहच्च रथन्तरं चेति त्रयी ह्येषा विद्यान्नं वै त्रयी विद्यान्नेनैवैनमेतत्प्रीणात्यथो ऽअन्नेनैवैनमेतदभिषिञ्चति स्वर्देवा अगन्मामृता अभूमेति स्वर्हि गच्छत्यमृतो हि भवति प्रजापतेः प्रजा अभूमेति प्रजापतेर्हि प्रजा भवति वेट् स्वाहेति वषट्कारो ह्येष परोऽक्षं यद्वेट्कारो वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्यो ऽन्नं प्रदीयते तदेनमेताभ्यामुभाभ्यां प्रीणाति वषट्कारेण च स्वाहाकारेण चाथो ऽएताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यामभिषिञ्चत्यत्र ताꣳ स्रुचमनुप्रास्यति यदत्राज्यलिप्तं तन्नेद्बहिर्धाग्नेरसदिति ॥ १४ ॥ तस्यै वा ऽएतस्यै वसोर्धारायै । द्यौरेवात्माभ्रमूधो विद्युत्स्तनो धारैव धारा दिवो ऽधि गामागच्छति ॥ १५ ॥ तस्यै गौरेवात्मा । ऊध एवोध स्तन स्तनो धारैव धारा गोरधि यजमानम् ॥ १६ ॥ तस्यै यजमान एवात्मा । बाहुरूधः स्रुक्स्तनो धारैव धारा यजमानादधि देवान्देवेभ्यो ऽधि गां गोरधि यजमानं तदेतदनन्तमक्षय्यं देवा-

है। यह जो नामग्रह की आहुति देता है इसी से उसका अभिषेक करता है ॥६॥

अब कहता है—"इयं ते राण् मित्राय यन्तासि यमन ऽ ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय" (यजु० १८।२८)—"अन्न ऊर्ज है। अन्न वृष्टि है।" इसको इस प्रकार अन्न से सन्तुष्ट करता है ॥१०॥

ऐसा क्यों कहा—"इयं ते राण् मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय" (यजु० १८।२८)—इसका तात्पर्य है कि "यह तू राज्य-अभिषिक्त है। तू अपने मित्र का पोषक है। तू हमारे पोषण के लिए है। तू हमारी वृष्टि के लिए है। तू प्रजाओं पर हमारे आधिपत्य के लिए है।" ऐसा कहकर वे इसकी प्रार्थना करते हैं कि तू हमारे इतने हित का है। इस सबके लिए हमने तेरा अभिषेक किया है। इसीलिए जब किसी मनुष्य राजा का अभिषेक होता है तो लोग इसी प्रकार उसकी प्रार्थना किया करते हैं ॥११॥

अब कल्पों की आहुति देता है। कल्प प्राण हैं, इस प्रकार इसमें प्राण धारण कराता है। "आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पताम्" (यजु० १८।२९)—इसमें इन उपर्युक्त प्राणों को रखता है ॥१२॥

बारह कल्पों की आहुति देता है। संवत्सर में बारह महीने होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही से इन उपर्युक्त प्राणों को उसमें धारण कराता है। कल्पों की आहुति क्यों देता है? कल्प प्राण हैं। प्राण अमृत है। इस प्रकार इस अमृत से इसका अभिषेक करता ॥१३॥

अब कहता है—"स्तोमश्च यजुश्च ऽ ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च" (यजु० १८।२९)—यह विद्या त्रयी है। त्रयी विद्या अन्न है। इस अन्न से उसे तृप्त करता है। इसी अन्न से उसका अभिषेक करता है। "स्वर्देवा ऽ अगन्मामृता ऽ अभूम प्रजापतेः प्रजा ऽ अभूम वेट् स्वाहा" (यजु० १८।२९)—यह वषट्कार है। वेट्कार परोक्ष है। वषट्कार और स्वाहाकार से देवों को अन्न दिया जाता है। इस प्रकार इसको वषट्कार और स्वाहाकार दोनों से तृप्त करता है। इन्हीं दोनों से उसका अभिषेक करता है। अब पीछे से स्रुच को भी आग में डाल देता है कि जिसका घी से अभिषेक हो गया, वह अग्नि से बाहर न रहने पावे ॥१४॥

अब उस 'वसोर्धारा' के विषय में—द्यौ शरीर है, बादल छाती हैं, बिजली स्तन है और घी की धारा धारा है। द्यौलोक से ये गाय तक आते हैं ॥१५॥

इसका शरीर गौ है। छाती छाती है। स्तन स्तन हैं। धारा धारा है। गाय से ये यजमान तक आते हैं ॥१६॥

यजमान शरीर है। बाहु छाती हैं। स्रुक् स्तन है। धारा धारा है। यजमान से देवों तक, देवों से गौ तक, गौ से यजमान तक, इस प्रकार यह देवों का अनन्त अक्षय्य अन्न चलता रहता है।

नामन्नं परिप्लवते स यो हैतदेवं वेदैवꣳ हैवास्यैतदनन्तमक्षय्यमन्नं भवत्यथातः सम्पदेव ॥१७॥ तदाहुः । कथमस्यैषा वसोर्धारा संवत्सरमग्निमाप्नोति कथꣳ संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यतऽइति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्येषा वसोर्धाराथ षडथ पञ्चत्रिꣳशत्ततो यानि षष्टिश्च त्रीणि च शतानि तावन्ति संवत्सरस्याहानि तत्संवत्सरस्याहान्याप्नोत्यथ यानि षट् षड्वाऽऋतवस्तदृतूनाꣳ रात्रीराप्नोति तदुभयानि संवत्सरस्याहोरात्राण्याप्नोत्यथ यानि पञ्चत्रिꣳशत्स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिꣳशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव पञ्चत्रिꣳशमेतावान्वै संवत्सर एवमु हास्यैषा वसोर्धारा संवत्सरमग्निमाप्नोत्येवꣳ संवत्सरेणाग्निना सम्पद्यतऽएतावत्य उ वै शाण्डिलेऽग्नौ मध्यतो यजुष्मत्य इष्टका उपधीयन्तेऽग्नयो हैते पृथग्यदेता इष्टका एवमु हास्यैतेऽग्नयः पृथग्वसोर्धारयाभिहुता भवन्ति ॥१८॥ तदाहुः । कथमस्यैषा वसोर्धारा महदुक्थमाप्नोति कथं महतोक्थेन सम्पद्यतऽइत्येतस्याऽएव वसोर्धाराये यानि नव प्रथमानि यजूꣳषि तत्त्रिवृच्छिरोऽथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशत्तौ चतुर्विꣳशौ पक्षावथ यानि पञ्चविꣳशतिः स पञ्चविꣳश आत्माथ यान्येकविꣳशतिस्तदेकविꣳशं पुच्छमथ यानि त्रयस्त्रिꣳशत्स वशोऽथ या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिरशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायतेऽथ यदूर्ध्वमशीतिभ्यो यदेवादो महत उक्थस्योर्ध्वमशीतिभ्य एतदस्य तदेवमु हास्यैषा वसोर्धारा महदुक्थमाप्नोत्येवं महतोक्थेन सम्पद्यते ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३. ३.] ॥ ॥

अथातो वाजप्रसवीयं जुहोति । अन्नं वै वाजोऽन्नप्रसवीयꣳ हास्यैतदन्नमेवास्माऽएतेन प्रसौति ॥१॥ एतद्वाऽएनं देवाः । एतेनान्नेन प्रीतैः कामैरभिषिच्यैतया वसोर्धारयाथैनमेतद्रूप एवाप्रीणंस्तथैवैनमयमेतदेतेनान्नेन प्रीतैः कामैरभिषिच्यैतया वसोर्धारयाथैनमेतद्रूप एव प्रीणाति ॥२॥ यद्वेवैतद्वाजप्रसवीयं जुहोति । अभिषेक एवास्यैष एतद्वाऽएनं देवा एतेनान्नेन प्रीतैः कामैरभिषिच्यैतया व-

जो इस रहस्य को समझता है, उसके लिए भी यह अनन्त-अक्षय्य अन्न चलता है।।१७।।

अब प्रश्न करते हैं कि यह वसोर्धारा संवत्सर और अग्नि को कैसे प्राप्त होती है अर्थात् कैसे उससे टक्कर खाती है ? इस वसोर्धारा में तीन सौ साठ आहुतियाँ होती हैं, या छः या पैंतीस। ये तीन सौ साठ तो वर्ष के तीन सौ साठ दिनों से मेल खाती हैं। ये जो छः हैं वे छः ऋतु होती हैं। ये ऋतुओं की रातों से मेल खाती हैं। इस प्रकार दोनों संवत्सर के रात और दिन दोनों से मेल खाती हैं। ये जो पैंतीस हैं, उनका हिसाब यों है कि यह तेरहवाँ महीना (लौंद का) यही शरीर है। शरीर के हुए तीस अवयव, दो पैर, दो प्राण और एक सिर, ये हुए पैंतीस। इतना है संवत्सर। इतनी हुई इसकी 'वसोर्धारा'। यह संवत्सर-अग्नि के अनुकूल हुई। संवत्सर और अग्नि से मेल खा गई। शाण्डिल-अग्नि (वेदी) के मध्य में इतनी ही यजुष्मती ईंटों को रखते हैं। ये जो अलग-अलग ईंटें हैं यही अग्नियाँ हैं। इस प्रकार वसोर्धारा से इन सब ईंटों पर अलग-अलग आहुतियाँ दी जाती हैं।।१८।।

अब प्रश्न होता है कि यह वसोर्धारा महत्-उक्थ के अनुकूल कैसे होती है ? इसके साथ कैसे टक्कर खाती है ? इस वसोर्धारा के जो पहले नौ यजु हैं ये हैं तिहरा सिर। ये जो इसके पीछे अड़तालीस हैं ये चौबीस पंखों के जोड़े हुए। ये जो पच्चीस हैं यह पच्चीस अंगवाला शरीर हुआ। ये जो इक्कीस हैं वह इक्कीस अवयववाली पूँछ हुई। ये जो तेतीस हैं वे हैं वश अस्सी से (महदुक्थ के) अस्सी प्राप्त हुए। क्योंकि महत्-उक्थ अस्सी-अस्सी करके गिना जाता है। यह जो अस्सी से अधिक हुआ वह महत्-उक्थ के उस भाग के बराबर है जो अस्सी से अधिक है। इस प्रकार इसकी वसोर्धारा महत्-उक्थ से मिल जाती है, उससे टक्कर खा जाती है।।१६।।

वाजप्रसवीयहोमः, पार्थहोमः, यजमानाभिषेकश्च

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

अब वाज-प्रसवीय आहुति देता है। वाज का अर्थ है अन्न अर्थात् अन्न प्रसवीय। अन्न ही शरीर है। इसी से उत्पत्ति होती है।।१।।

देवों ने इसको अन्न से तथा कामनाओं से अभिषेक करके इस वसोर्धारा से उसको तृप्त करके फिर अधिक तृप्त किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इसको इन आहुतियों, कामनाओं से अभिषेक करके वसोर्धारा से इसको तृप्त करके फिर अधिक तृप्त करता है।।२।।

वाज-प्रसवीय क्यों देता है ? यह इसका अभिषेक है। देवों ने इसको इस अन्न से तृप्त करके, कामनाओं से अभिषेक करके, वसोर्धारा से फिर इसका अधिक अभिषेक किया

सोर्धारयैवेनमेतद्धूय एवाभ्यषिञ्चंस्तथैवैनमयमेतदेतेनान्नेन प्रीतैः कामैरभिषि-
ञ्चत्येतया वसोर्धारयैवेनमेतद्धूय एवाभिषिञ्चति ॥३॥ सर्वौषधं भवति । सर्वमेत-
दन्नं यत्सर्वौषधꣳ सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो सर्वेणैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति
तेषामेकमन्नमुद्धरेत्तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवमौदुम्बरेण चमसेनौदुम्बरेण स्रुवेण
तयोरुक्तो बन्धुश्चतुःस्रक्ती भवतश्चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेन
प्रीणात्यथो सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेनाभिषिञ्चति ॥४॥ यद्वेवैतद्वाजप्रसवीयं
जुहोति । एता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत्सोष्यमाणो भवति ता ए-
वैतत्प्रीणाति ताऽअस्माऽइष्टाः प्रीता एतꣳ सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते
यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न तद्यदग्नौ जुहोति
तदग्निमभिषिञ्चत्यथ यदेताभ्यो देवताभ्यो जुहोति तद्उ तान्देवान्प्रीणाति यऽए-
तस्य सवस्येशते ॥५॥ अथ वाऽएतत्पार्थान्यपि जुहोति । एतद्धै देवा अकामय-
न्तात्रैव सर्वैः सवैः सूयेमहीति तेऽत्रैव सर्वैः सवैरसूयन्त तथैवैतद्यजमानोऽत्रैव
सर्वैः सवैः सूयते ॥६॥ तद्यानि पार्थानि । तानि राजसूयस्य वाजप्रसवीयं तद्य-
त्तानि जुहोति तद्राजसूयेन सूयतेऽथ यानि चतुर्दशोत्तराणि ततो यानि सप्त पू-
र्वाणि तानि वाजपेयस्य वाजप्रसवीयं तद्यत्तानि जुहोति तद्वाजपेयेन सूयतेऽथ
यानि सप्तोत्तराणि तान्यग्नेस्तद्यत्तानि जुहोति तदग्निसवेन सूयते ॥७॥ स वै
राजसूयस्य पूर्वाणि जुहोति । अथ वाजपेयस्य राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्रा-
ड्वाजपेयेन राज्यमु वाऽअग्रेऽथ साम्राज्यं तस्माद्वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत
प्रत्यवरोहः स यथा सम्राट् सन्राजा स्यात्तादृक्तत् ॥८॥ अग्नेरुत्तमानि जुहोति ।
सर्वं ह्येते सवा यदग्निसवः सर्वꣳ ह्येतदग्निसवेन सुतो भवति राजा च सम्राट् त-
स्मादग्नेरुत्तमानि जुहोति ॥९॥ अथैनं कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चति । यज्ञो वै कृष्णाजिनं
यज्ञऽएवैनमेतदभिषिञ्चति लोमतश्छन्दाꣳसि वै लोमानि छन्दःस्वेवैनमेतदभि-

इसी प्रकार यह यजमान भी इस अन्न से इसको तृप्त करके, कामनाओं से इसका अभिषेक करके वसोर्धारा से इसका फिर अभिषेक करता है ।।३।।

इसमें सब ओषधियाँ होती हैं। जो सर्वौषध है वह अन्न है। इसको इस सब अन्न से तृप्त करता है। सब अन्न से इसका अभिषेक करता है। इन अन्नों में से किसी एक अन्न (खाद्य वस्तु) को छोड़ देवे और आयुपर्यन्त न खाय। उदुम्बर के चमचे से। उदुम्बर के स्रुवे से। इसकी व्याख्या हो चुकी। इन दोनों में चार कोने होते हैं। दिशायें चार होती हैं। इन सब दिशाओं को अन्न से सन्तुष्ट करता है। इन सब दिशाओं का अन्न से अभिषेक करता है ।।४।।

वाज-प्रसवीय यज्ञ क्यों करता है ? जिस सवन को यह स्वयं करना चाहता है, उस सवन को जिन देवों ने किया था उन्हीं देवों को यह तृप्त करता है जिससे ये प्रसन्न हो जायँ और इसको इस सवन की आज्ञा दे देवें। जिन राजाओं का अभिषेक हो जाता है वही राजा जिसको राजा बनाते हैं वही राजा होता है, वह नहीं जिसको ये राजा अनुमति नहीं देते। यह जो अग्नि में आहुति देता है तो अग्नि का अभिषेक करता है। जब देवताओं के लिए आहुति देता है तो उन देवों को तृप्त करता है जो इस सवन के अधिष्ठाता हैं ।।५।।

यहाँ पार्थ आहुतियों को भी देता है। देवों ने चाहा कि हम यहाँ समस्त सवनों द्वारा दीक्षित किये जायें। वे यहाँ सब सवनों द्वारा दीक्षित किये गये। इसी प्रकार यजमान भी यहाँ सब सवनों द्वारा दीक्षित होता है ।।६।।

ये जो पार्थ आहुतियाँ हैं यही राजसूय की वाजप्रसवीय हैं। जो इनको देता है वह राजसूय करता है। पिछली चौदह आहुतियों में से पहली सात वाजपेय की राजप्रसवीय हैं। इनको देना मानो वाजपेय करना है। जो पिछली सात हैं वे अग्नि की हैं। जो इन आहुतियों को देता है वह अग्निसव करता है ।।७।।

पहले वह राजसूय की पहली आहुतियाँ देता है, फिर वाजपेय की। राजसूय करके राजा होता है और वाजपेय करके सम्राट्। पहले राजा होता है, फिर समाट्। इसलिए वाजपेय करके राजसूय न करे। यह उल्टा हो जायगा अर्थात् सम्राट् होकर फिर राजा होना ।।८।।

अग्नि की (वाजप्रसवीय) आहुतियों को पीछे से देता है, क्योंकि अग्निसव सब सवों के तुल्य है। जो अग्निसव करता है वह मानो सब "सवों" को करता है, राजा भी और सम्राट् भी। इसलिए वह अग्नि की आहुतियों को अन्त में देता है ।।९।।

अब कृष्णाजिन (हिरन के चमड़े) पर उसका अभिषेक करता है। कृष्णाजिन यज्ञ है। इस प्रकार इसका यज्ञ पर ही अभिषेक करता है। चमड़े की उस ओर जिधर लोम होते हैं। लोम

षिञ्चत्युत्तरतस्तस्योपरि बन्धुः प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा ॥१०॥ तᳪ हैके दक्षिणतोऽग्नेरभिषिञ्चन्ति । दक्षिणतो वाऽअन्नस्योपचारस्तदेनमन्नस्याद्यादभिषिञ्चाम इति न तथा कुर्याद्देषा वै दिक्पितॄणां क्षिप्रे हैतां दिशं प्रैति यं तथाभिषिञ्चन्ति ॥११॥ आहवनीयऽउ हैकेऽभिषिञ्चन्ति । स्वर्गो वै लोक आहवनीयस्तदेनᳪ स्वर्गे लोकेऽभिषिञ्चाम इति न तथा कुर्याद्दैवो वाऽअस्यैष आत्मा मानुषोऽयमनेन ह्यास्य ते मर्त्येनात्मनैतं दैवमात्मानमनुप्रसजन्ति यं तथाभिषिञ्चन्ति ॥१२॥ उत्तरत एवैनमभिषिञ्चेत् । एषा ह्युभयेषां देवमनुष्याणां दिग्यदुदीची प्राची स्वायामेवैनमेतद्दिश्यायत्तं प्रतिष्ठितमभिषिञ्चति न वै स्वऽआयतने प्रतिष्ठितो रिष्यति ॥१३॥ आसीनं भूतमभिषिञ्चेत् । आस्तऽइव वै भूतस्तिष्ठन्तं बुभूषन्तं तिष्ठतीव वै बुभूषन्बस्ताजिने पुष्टिकाममभिषिञ्चेत्कृष्णाजिने ब्रह्मवर्चसकाममुभयोरुभयकामं तदुत्तरतः पुच्छस्योत्तरलोम प्राचीनग्रीवमुपस्तृणाति ॥१४॥ आस्पृष्टं परिश्रितः । तद्यत्कृष्णाजिनमास्पृष्टं परिश्रितो भवति तथो ह्यस्यैष दैव आत्मा कृष्णाजिनेऽभिषिक्तो भवत्यथ यदेनमन्वारब्धमग्निं तिष्ठन्तमभिषिञ्चति तथा हैतस्माद्देवादभिषेकान्न व्यवछिद्यते ॥१५॥ अग्नौ हुत्वाथैनमभिषिञ्चति । दैवो वाऽअस्यैष आत्मा मानुषोऽयं देवा उ वाऽअग्रेऽथ मनुष्यास्तस्मादग्नौ हुत्वाथैनं तस्यैव परिशिष्टेनाभिषिञ्चत्यत्र तᳪ स्रुवमनुप्रास्यति ॥१६॥ अथैनं दक्षिणं बाहुमनुपर्यावृत्याभिषिञ्चति । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याᳪ सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामीति वाग्वै सरस्वती तस्या इदᳪ सर्वं यन्तᳪ सवितृप्रसूत एवैनमेतदनेन सर्वेणा सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चत्यत्र तं चमसमनुप्रास्यति यदत्र विलिप्तं तन्नेद्बहिर्धाग्निरसदिति ॥१७॥ त वै मध्ये पार्थानामभिषिञ्चति । संवत्सरो वै पार्थानि संवत्सरस्यैवैनमेतन्मध्यत आदधाति षट् पुरस्ताज्जुहोति षडुपरिष्टात्षड्वाऽऋतव ऋतुभिरेवैन-

छन्द हैं, मानो छन्द पर अभिषेक करता है, उत्तर की ओर। इसकी व्याख्या हो चुकी। गर्दन-वाला भाग आगे की ओर करके। यही देवों की विधि है ॥१०॥

कुछ लोग वेदी के दक्षिण को अभिषेक करते हैं, क्योंकि अन्न दाहिनी ओर से परोसा जाता है। इस प्रकार वे अन्न की ओर से अभिषेक करते हैं। ऐसा न करना चाहिए। यह पितरों की दिशा है। जिसका अभिषेक इस प्रकार करेंगे वह शीघ्र ही इस दिशा में चला जायगा अर्थात् मर जायगा ॥११॥

कुछ लोग इसका अभिषेक आहवनीय पर करते हैं। आहवनीय स्वर्गलोक है। मानो वे उसका स्वर्गलोक में अभिषेक करते हैं। ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि आहवनीय उसका दैवी शरीर है और यह असली शरीर उसका मानुषी शरीर। यदि वे इस प्रकार उसका अभिषेक करेंगे तो इसके दैवी शरीर को मानुषी शरीर से जोड़ देंगे ॥१२॥

उत्तर की ओर ही अभिषेक करे। यह जो उत्तर-पूर्व है वह देवों की भी दिशा है और मनुष्यों की भी। इस प्रकार उसको उसी की दिशा में और उसी के स्थान में बिठाकर अभिषेक करते हैं। जो अपने ही स्थान में बैठता है उसकी हानि नहीं होती ॥१३॥

जो भूत है अर्थात् जिसकी संसार में कोई स्थिति है उसको बैठाकर अभिषेक कराना चाहिए। जिसकी स्थिति है वह बैठा ही समझा जाना चाहिए। जो स्थिति बनाना चाहता है, उसको खड़े होकर, क्योंकि जो स्थिति बनाना चाहता है वह खड़े के समान है। जो पुष्टि की इच्छा करे वह बकरे के चमड़े पर, जो ब्रह्मवर्चस् की वह मृग-चर्म पर। जो दोनों की इच्छा करे वह दोनों पर अभिषेक करावे। उसको वेदी की पूँछ के बाईं ओर बिछावे, लोम ऊपर को रहें और गर्दन का भाग पूर्व की ओर ॥१४॥

परिश्रित् से चिपटाकर। कृष्णाजिन परिश्रित् से चिपटा होता है। इस प्रकार उसका दैवी शरीर कृष्णाजिन से चिपटा होवे। चूँकि वह वेदी से संयुक्त होकर अभिषेक कराता है, इसलिए वह दैवी अभिषेक से वंचित नहीं होता ॥१५॥

अग्नि में आहुति देकर इसका अभिषेक करता है। उसका वह शरीर दैवी है और यह मानुषी। देव पहले होते हैं मनुष्य पीछे। इसलिए अग्नि में आहुति देकर उसमें से जो अवशेष रह जाता है उसी से अभिषेक कराता है। अब पीछे से स्रुवा को भी अग्नि में छोड़ देता है ॥१६॥

यजमान की दाहिनी भुजा के पास खड़ा होकर अभिषेक करता है इस मन्त्र से—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि" (यजु० १८।३७)—"देव सविता की प्रेरणा पर अश्विन के बाहुओं से, पूषा के हाथों से, सरस्वती की वाणी से, अग्नि के साम्राज्य से, तेरा अभिषेक करता हूँ।" वाणी ही सरस्वती है। उसी के ये सब सहारे हैं। सविता की प्रेरणा से, सरस्वती की वाणी की सहायता से और अग्नि के साम्राज्य से उसका अभिषेक करता है। स्रुवा को अग्नि में इसलिए छोड़ देता है कि जिसका अभिषेक हो गया हो वह वेदी से बाहर न रहने पावे ॥१७॥

पार्थ आहुतियों के मध्य में अभिषेक करता है। पार्थ संवत्सर हैं। इस प्रकार वह उसको संवत्सर के मध्य में रख देता है। छः आहुतियाँ पहले देता है, छः पीछे से। ऋतुयें छः होती हैं।

मेतत्सुषुवाणमुभयतः परिगृह्णाति बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवतीन्द्र उत्तरेषां प्रथमो ब्रह्म वै बृहस्पतिः क्षत्रमिन्द्रो ब्रह्मणा चैवैनमेतत्क्षत्रेण च सुषुवाणमुभयतः परिगृह्णाति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥२ [३. ४.] ॥ तृतीयोऽध्यायः [५८.] ॥ ॥

अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति । राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रत्येता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैनतत्सोष्यमाणो भवति ता एवैतत्प्रीणाति ताऽअस्माऽइष्टाः प्रीता एतꣳ सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न तद्यद्राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति राजान उऽएते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृतः ॥१॥ यद्वेवैता राष्ट्रभृतो जुहोति । प्रजापतेर्विस्रस्तान्मिथुनान्युदक्रामन्गन्धर्वाप्सरसो भूत्वा तानि रथो भूत्वा पर्यगच्छत्तानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत तथैवैनान्ययमेतत्परिगत्यात्मन्धत्तऽआत्मन्कुरुते ॥२॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यान्यस्मात्तानि मिथुनान्युदक्रामन्नेतास्ता देवता याभ्य एतज्जुहोति ॥३॥ गन्धर्वाप्सरोभ्यो जुहोति । गन्धर्वाप्सरसो हि भूत्वोदक्रामन्नथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति तस्माद्यः कश्च मिथुनमुपप्रैति गन्धं चैव स रूपं च कामयते ॥४॥ मिथुनानि जुहोति । मिथुनाद्वाऽअधि प्रजातिर्यो वै प्रजायते स राष्ट्रं भवत्यराष्ट्रं वै स भवति यो न प्रजायते तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति मिथुना उऽएते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृत आज्येन द्वादशगृहीतेन ता उ द्वादशैवाहुतयो भवन्ति तस्योक्तो बन्धुः ॥५॥ पुꣳसे पूर्वस्मै जुहोति । अथ स्त्रीभ्यः पुमाꣳसं तद्वीर्येणात्यादधात्येकस्माऽइव पुꣳसे जुहोति बह्वीभ्य इव स्त्रीभ्यस्तस्मादप्येकस्य पुꣳसो बह्व्यो जाया भवन्त्युभाभ्यां वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुꣳसे जुहोति स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः पुमाꣳसमेव तद्वीर्येणात्यादधाति ॥६॥ ऋताषाड़ृतधामेति । सत्यसाट् सत्यधामेत्येतदग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरस इत्यग्निर्ह गन्धर्व ओषधिभिरप्सरो-

इस प्रकार जिसका दोनों ओर को अभिषेक हो चुका, उसको ऋतुओं से सुरक्षित कर देता है। पहली छहों में से पिछली बृहस्पति की है और पिछली छहों में से पहली इन्द्र की। बृहस्पति ब्राह्मण है और इन्द्र क्षत्रिय। इस प्रकार जिसका दोनों ओर अभिषेक हो गया उसको ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों से संयुक्त कर देता है ॥१८॥

राष्ट्रभृद्धोमः

अध्याय ४—ब्राह्मण १

अब राष्ट्रभृत आहुतियों को देता है। राजा राष्ट्रभृत होते हैं कि वे राष्ट्र को पालते हैं। जिस 'सव' से यह यजमान दीक्षित होगा, इसी से ये देवता दीक्षित हो चुके। यह इन्हीं को तृप्त करता है। वे इस प्रकार प्रसन्न होकर उसको इस 'सव' के करने की अनुमति दे देते हैं। जिसको राजा लोग अनुमति दे देते हैं वही राजा होता है, जिसको नहीं देते वह नहीं होता। राजा लोग राष्ट्रभृत होते हैं, ये देवता राजा हैं, इसलिए ये भी राष्ट्रभृत हुए ॥१॥

राष्ट्रभृत आहुतियाँ क्यों देता है? थके हुए प्रजापति से जोड़े भाग गये, गन्धर्व और अप्सरा बनकर। उसने रथ बनकर उनको घेर लिया और उन घिरे हुओं को अपने में धारण कर लिया। अपना बना लिया, इसी प्रकार यह यजमान भी इनको घेरकर अपने में धारण करता है या अपना बना लेता है ॥२॥

यह थका हुआ प्रजापति यह अग्नि (वेदी) है जो चिनी जाती है। इसमें से जो जोड़े भाग गये थे, ये वही देवता हैं जिनको वह आहुतियाँ देता है ॥३॥

गन्धर्व और अप्सराओं की आहुति देता है। गन्धर्व और अप्सरा होकर जोड़े भागे थे। गन्ध और रूप को गन्धर्व और अप्सरा पसन्द करते हैं। इसलिए जब कोई मैथुन करता है, तो गन्ध और रूप को चाहता है ॥४॥

जोड़ों में आहुति देता है, क्योंकि जो उत्पत्ति होती है जोड़े से होती है। जो उत्पन्न करता है वह राष्ट्र है; जो नहीं करता वह अराष्ट्र है। जोड़े राष्ट्र को चलाते हैं। ये देवता जोड़े हैं, इसलिए ये राष्ट्रभृत हैं। बारह चम्मच घी से। ये बारह आहुतियाँ होती हैं। इनकी व्याख्या हो चुकी ॥५॥

पहले नर देवता की आहुति देता है, फिर स्त्रियों की। इस प्रकार नर को शक्तिशाली बनाता है। एक पुरुष के लिए आहुति देता है और कई स्त्रियों के लिए। इसलिए एक पुरुष की कई स्त्रियाँ होती हैं। पुरुष के लिए वषट्कार और स्वाहाकार दोनों से, परन्तु स्त्रियों को केवल स्वाहाकार से। इस प्रकार पुरुष को बलवान् बनाता है ॥६॥

इस मन्त्र से—"ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। स न ऽ इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा" (यजु० १८।३८)—"ऋत अर्थात् सत्य को सहन करनेवाला और सत्य धामवाला अग्नि गन्धर्व है और ओषधियाँ उसकी अप्सरा हैं। यह प्रसन्नता-

भिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम मुदो नामेत्योषधयो वै मुद ओषधिभिर्हीदꣳ सर्वं मोदते
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेति तस्योक्तो बन्धुः
॥७॥ सꣳहित इति । असौ वाऽआदित्यः सꣳहित एष ह्यहोरात्रे संदधाति वि-
श्वसामेत्येष ह्येव सर्वꣳ साम सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस इति सूर्यो ह
गन्धर्वो मरीचिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामायुवो नामेत्यायुवाना-इव हि
मरीचयः प्लवन्ते स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥८॥ सुषुम्णा
इति । सुयज्ञिय इत्येतत्सूर्यरश्मिरिति सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयश्चन्द्रमा गन्ध-
र्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरस इति चन्द्रमा ह गन्धर्वो नक्षत्रैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहो-
च्चक्राम भेकुरयो नामेति भाकुरयो ह नामैते भाꣳ हि नक्षत्राणि कुर्वन्ति स न
इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥९॥ इषिर इति । क्षिप्र इत्येतद्विश्व-
व्यचा इत्येष हीदꣳ सर्वं व्यचः करोति वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽअप्सरस इति
वातो ह गन्धर्वोऽद्भिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामोर्जो नामेत्यापो वाऽऊर्जो
ऽद्भ्यो ह्यूर्ज्जायते स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥१०॥ भुज्युः
सुपर्ण इति । यज्ञो वै भुज्युर्यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति यज्ञो गन्धर्वस्तस्य
दक्षिणा अप्सरस इति यज्ञो ह गन्धर्वो दक्षिणाभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम
स्तावा नामेति दक्षिणा वै स्तावा दक्षिणाभिर्हि यज्ञ स्तूयतेऽथो यो वै कश्च द-
क्षिणां ददाति स्तूयतऽएव स स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः
॥११॥ प्रजापतिर्विश्वकर्मेति । प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स हीदꣳ सर्वमकरोन्मनो
गन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरस इति मनो ह गन्धर्व ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन
सहोच्चक्रामेष्टयो नामेत्यृक्सामानि वाऽएष्टय ऋक्सामैर्ह्याशासतऽइति नोऽस्त्वि-
त्थं नोऽस्त्विति स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः ॥१२॥ अथ र-
थशीर्षे जुहोति । एष वै स सव एतद्वै तत्सूयते यमस्मै नमिता देवताः सवम-

युक्त है। यह हमारे ब्राह्मण और क्षत्रियों की रक्षा करे। उनके लिए स्वाहा।" ओषधियों को 'मुद' इसलिए कहा कि सब इनसे प्रसन्न रहते हैं। शेष की व्याख्या हो चुकी ॥७॥

"सँहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस ऽ आयुवो नाम। स न ऽ इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा" (यजु० १८।३९)—"सूर्य 'संहित' है, क्योंकि वह दिन और रात की सन्धि कराता है। वह विश्वसाभा है क्योंकि उसमें सब प्रकार के धन हैं। वह गन्धर्व है, उसकी किरणें अपप्सरायें हैं, क्योंकि वह उनके साथ रहता है। आयु (या चलनेवाला) उनका नाम है, क्योंकि किरणें चलती हैं। वह हमारे ब्राह्मण और क्षत्रिय की रक्षा करे।" अर्थ स्पष्ट है ॥८॥

"सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यपसरसो भेकुरयो नाम। स न ऽ इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा" (यजु० १८।४०)—'सुषुम्णः' का अर्थ है सुयज्ञिय। चन्द्रमा को सूर्यारश्मि कहा गया है क्योंकि सूर्य के समान चन्द्रमा की किरणें हैं। चन्द्रमा गन्धर्व है। नक्षत्र उसकी अप्सरायें हैं क्योंकि साथ रहते हैं। उनका नाम भेकुरि है, अर्थात् वे प्रकाश करते हैं। यह हमारे ब्राह्मण और क्षत्रिय की रक्षा करे, आदि। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥९॥

"इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो ऽ अप्सरस ऽ ऊर्जो नाम। स न ऽ इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा" (यजु०१८।४१)—'इषिर' का अर्थ है तेज। यह है 'विश्व-व्यचा' अर्थात् सबको विस्तृत करता है। यह वायु गन्धर्व है और जल अप्सरायें हैं, क्योंकि ये दोनों मिलते हैं। यह जल ऊर्ज है, क्योंकि इससे ही शक्ति उत्पन्न होती है। यह हमारे ब्राह्मण और क्षत्रिय की रक्षा करे। इसकी व्याख्या हो गई ॥१०॥

"भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा ऽ अप्सरस स्तावा नाम। स न ऽ इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा" (यजु० १८।४२)—"यज्ञ भुज्य है क्योंकि यह सब भूतों को लाभ पहुँचाता है। यज्ञ गन्धर्व है, दक्षिणा उसकी अप्सरायें हैं, क्योंकि इनका मेल होता है। दक्षिणा का नाम है स्तावा, क्योंकि दक्षिणाओं द्वारा ही यज्ञ की स्तुति होती है। जो कोई दक्षिणा देता है, उसकी स्तुति होती है। वह हमारे ब्राह्मण-क्षत्रिय की रक्षा करे। स्पष्ट है ॥११॥

"प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऽ ऋक् सामान्यप्सरस ऽ एष्टयो नाम। स न ऽ इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा" (यजु० १८।४३)—प्रजापति ही विश्वकर्मा है, क्योंकि इसने सबको बनाया। मन गन्धर्व है। ऋक्-साम इसकी अप्सरायें हैं, क्योंकि इनका मेल होता है। ऋक्-साम को एष्टि कहते हैं, क्योंकि ऋक् और साम के द्वारा ही लोग प्रार्थना करते हैं कि हमारे लिए यह हो, हमारे लिए वह हो। वह हमारे ब्राह्मण की रक्षा करे ॥१२॥

अब रथ के सिर पर आहुति देता है। यह वह 'सव' है जिससे उसकी दीक्षा होती है,

नुमन्यन्ते याभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै नान्येन पञ्चगृहीतेन ता उ पञ्चैवाहुतयो हुता भवन्ति तस्योक्तो बन्धुः ॥१३॥ शीर्षतः । शीर्षतो वाऽअभिषिच्यमानोऽभिषिच्यतऽउपरि धार्यमाणाऽउपरि हि स यमेतदभिषिञ्चति समानेन मन्त्रेण समानो हि स यमेतदभिषिञ्चति सर्वतः परिहारऽ सर्वत एवैनमेतदभिषिञ्चति ॥१४॥ यद्वेव रथशीर्षे जुहोति । असौ वाऽआदित्य एष रथ एतद्वै तद्रूपं कृत्वा प्रजापतिरेतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत तथैवैनान्ययमेतत्परिगत्यात्मन्धत्तऽआत्मन्कुरुतऽउपरि धार्यमाणाऽउपरि हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत समानेन मन्त्रेण समानो हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत सर्वतः परिहारऽ सर्वतो हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत ॥१५॥ स नो भुवनस्य पते प्रजापतऽइति । भुवनस्य ह्येष पतिः प्रजापतिर्यस्य तऽउपरि गृहा यस्य वेहेत्युपरि च ह्येतस्य गृहा इह चास्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेत्ययं वाऽअग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च महि शर्म यच्छ स्वाहेति महच्छर्म यच्छ स्वाहेत्येतत् ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४. १.] ॥ ॥

अथ वातहोमाञ्जुहोति । इमे वै लोका एषोऽग्निर्वायुर्वातहोमा एषु तल्लोकेषु वायुं दधाति तस्मादयमेषु लोकेषु वायुः ॥१॥ बाह्येनाग्निमाहरति । आप्तो वाऽअस्य स वायुर्य एषु लोकेष्वथ य इमांल्लोकान्परेण वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति ॥२॥ बहिर्वेदेरियं वै वेदिः । आप्तो वाऽअस्य स वायुर्योऽस्यामथ य इमां परेण वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति ॥३॥ अञ्जलिना । न ह्येतस्येतीवाभिपत्तिरस्ति स्वाहाकारेण जुहोति ह्यधोऽधो धुरमसौ वाऽआदित्य एष रथोऽर्वाचीनं तदादित्याद्वायुं दधाति तस्मादेषोऽर्वाचीनमेवातः पवते ॥४॥ समुद्रोऽसि नभस्वानिति । असौ वै लोकः समुद्रो नभस्वानार्द्रदानुरित्येष ह्यार्द्रं ददाति तस्योऽमु-

जिसको 'सव' करने की देवता अनुमति देते हैं और जिनसे अनुमति प्राप्त करके 'सव' किया जाता है। जिसके लिए राजा लोग अनुमति देते हैं, वही राजा होता है अन्य नहीं। पाँच चम्मच घी से। ये पाँच आहुतियाँ हो जाती हैं। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥१३॥

सिर के ऊपर से, क्योंकि सिर से ही अभिषेक हो तो अभिषेक माना जाता है। ऊपर को उठाकर, क्योंकि जिसका अभिषेक करना है वह ऊपर को ही है। एक ही मन्त्र से, क्योंकि जिसका अभिषेक करना है वह एक ही है। चारों ओर घुमाकर, क्योंकि चारों ओर ही इसका अभिषेक हो जाता है ॥१४॥

रथ के सिर पर अभिषेक क्यों कराता है? यह जो आदित्य है वही रथ है। इसी का रूप धारण करके प्रजापति ने जोड़ों को घेरकर अपने में धारण किया, अपना कर लिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन जोड़ों को घेरके अपने में धारण करता है, अपना कर लेता है। एक ही मन्त्र से, क्योंकि यह एक ही है, जिसने इन जोड़ों को घेरकर अपने में धारण किया या अपना कर लिया। सब ओर घुमाकर, क्योंकि सभी ओर इन जोड़ों को घेरकर अपने में धारण किया, अपना कर लिया ॥१५॥

"स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त ऽ उपरि गृहा यस्य वेह। अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा" (यजु० १८।४४)—"यह प्रजापति संसार का पति है। उनका भी जिनके घर ऊपर हैं और उनका भी जिनके घर नीचे हैं। इस ब्रह्म के लिए, इस क्षत्र के लिए। (क्योंकि यह अग्नि ब्रह्म भी है और क्षत्र भी) तू कल्याण दे" ॥१६॥

वातहोमादि

अध्याय ४—ब्राह्मण २

अब **वातहोम** की आहुतियाँ देता है। यह लोक ही अग्नि या वेदी है और वायु ही वातहोम है। इस प्रकार इन लोकों में वायु को रखता है। इसलिए इन लोकों में वायु है ॥१॥

वेदी के बाहर से वायु को लाता है। जो वायु इन लोकों में है वह तो इस वेदी में है ही, जो वायु इन लोकों के परे है, उसी को इसमें रखता है—॥२॥

वेदी के बाहर से, क्योंकि यह पृथिवी वेदी है। जो वायु इसमें है वह तो है ही, इससे बाहर जो वायु है उसको उसमें रखता है—॥३॥

अंजलि से, क्योंकि इसी प्रकार वायु पकड़ी जाती है। स्वाहाकार से आहुति देता है। धुरे के नीचे-नीचे। यह रथ वह आदित्य है। इस प्रकार आदित्य के नीचे-नीचे ही वायु को रखता है। इसलिए यह वायु आदित्य के नीचे-नीचे ही बहता है ॥४॥

इस मन्त्र से—"समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शंभूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा" (यजु० १८।४५)—"वह लोक (द्यौ लोक) समुद्र नभस्वान् है। आर्द्रदानु है क्योंकि नमी देता है।

ष्मिंलोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत् ॥५॥ मारुतोऽसि मरुतां गण इति । अन्तरिक्षलोको वै मारुतो मरुतां गणस्तस्योऽन्तरिक्षलोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत् ॥६॥ अवस्यूरसि दुवस्वानिति । अयं वै लोकोऽवस्यूर्दुवस्वांस्तस्योऽस्मिंलोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्धाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत् ॥७॥ त्रिभिर्जुहोति । त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तदेषु लोकेषु वायुं दधाति ॥८॥ यद्वेव वातहोमाञ्जुहोति । एतमेवैतदश्वं युनक्त्येतद्धि देवा एतꣳ रथꣳ सर्वेभ्यः कामेभ्योऽयुञ्जत युक्तेन समश्नवामहा ऽइति तेन युक्तेन सर्वान्कामान्त्समाश्नुवत तथैवैतद्यजमान एतꣳ रथꣳ सर्वेभ्यः कामेभ्यो युङ्क्ते युक्तेन समश्नवाऽइति तेन युक्तेन सर्वान्कामान्त्समश्नुते ॥९॥ वातहोमैर्युनक्ति । प्राणा वै वातहोमाः प्राणैरेवैनमेतद्युनक्ति त्रिभिर्युनक्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेवैनमेतद्युनक्त्यधोऽधो धुरमधोऽधो हि धुरं योग्यं युञ्जन्ति हस्ताभ्याꣳ हस्ताभ्याꣳ हि योग्यं युञ्जन्ति विपरिक्रामं विपरिक्रामꣳ हि योग्यं युञ्जन्ति ॥१०॥ स दक्षिणायुग्यमेवाग्रे युनक्ति । अथ सव्यायुग्यमथ दक्षिणाप्रष्टिमेवं देवत्रेतरथा मानुषे तं नाभियुञ्ज्यान्नेद्युक्तमभियुनजानीति वाहनं तु दद्याद्युक्तेन भुनजाऽइति तमुपर्येव हरत्याधर्योरावसथादुपरि ह्येष तमध्वर्यवे ददाति स हि तेन करोति तं तु दक्षिणानां कालेऽनुदिशेत् ॥११॥ अथ रुक्मतीर्जुहोति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुचमैच्छत्तस्मिन्देवा एताभी रुक्मतीभी रुचमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥१२॥ यद्वेव रुक्मतीर्जुहोति । प्रजापतेर्विस्रस्ताद्रुगुदक्रामत्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेताभी रुक्मतीभी रुचमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥१३॥ ॥ शतम्५००० ॥ ॥ यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचः । या

इस प्रकार जो उस लोक में वायु है उसको इसमें रखता है। हमारे लिए यह कल्याणकारी हो ॥५॥

"मारुतोऽसि मरुतां गणः शंभूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा" (यजु० १८।४५)—अंतरिक्ष लोक मारुत या मारुतों का गण है। जो वायु अन्तरिक्षलोक में है उसको इसमें रखता है। वह हमारे लिए कल्याणकारी हो ॥६॥

"अवस्यूरसि दुवस्वाञ्छंभूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा" (यजु० १८।४५)—यह लोक ही अवस्यूः या रक्षक और दुवस्वान् या पूजा का पात्र है। इस लोक में जो वायु है उसको इस (वेदी) में रखता है। वह हमारे लिए कल्याणकारी हो ॥७॥

तीन मन्त्रों से आहुति देता है। ये लोक तीन हैं। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इन लोकों में वायु रखता है ॥८॥

वातहोम की आहुतियाँ क्यों देता है? इससे ही रथ को जोतता है। देवों ने इस रथ को सब कामनाओं के लिए जोता। जोतकर उन्होंने सब कामनाओं को पूरा किया। इस प्रकार यह यजमान भी इस रथ को सब कामनाओं से युक्त करता है। युक्त करके प्राप्त करता है। उसको जोतने से सब कामनायें पूरी हो जाती हैं ॥९॥

वातहोमों से युक्त करता है। प्राण ही वातहोम हैं। इस प्रकार इसको प्राणों से युक्त करता है। तीन से, क्योंकि तीन प्राण होते हैं—प्राण, उदान, व्यान। इन्हीं तीनों से युक्त करता है। धुरे के नीचे-नीचे, क्योंकि धुरा के नीचे ही जोतते हैं। दोनों हाथों से, क्योंकि दोनों हाथों से ही जोतते हैं। घूमकर, क्योंकि घूमकर ही जोतते हैं ॥१०॥

दायें जुए को पहले जोतता है। फिर बायें जुए को। फिर दायें घोड़े को। देवों की यही प्रथा है, मनुष्यों की इससे इतर। फिर रथ को जोते नहीं, क्योंकि जोते को फिर नहीं जोतते। रथ को दान दे डाले (अर्थात् इसको अध्वर्यु को दे डाले। अपने लिए न जोते), यह सोचकर कि इसके जोतने का मुझे फल मिल जायगा। उसको अध्वर्यु के घर तक ले जाते हैं ऊपर पकड़-कर। अग्नि ऊपर तो है ही। उसको अध्वर्यु को दान कर देता है, क्योंकि अध्वर्यु ही उससे यज्ञ करता है। परन्तु दक्षिणाकाल से पहले इसका अनुदेश नहीं करना चाहिए ॥११॥

अब रुङ्मती आहुतियाँ देता है। जब यह सब अग्नि या वेदी पूर्ण हो चुकी, तो उसको रुक् या प्रकाश की इच्छा हुई, और देवों ने इन 'रुङ्मती' आहुतियों द्वारा उसको प्रकाश दिया। इसी प्रकार यजमान भी इससे इसको रखता है ॥१२॥

'रुङ्मती' आहुतियाँ क्यों देता है? जब प्रजापति शिथिल हो गया तो उसमें से रुक् या प्रकाश चला गया। देवों ने उसको पूरा किया और 'रुङ्मती' आहुतियों द्वारा इसमें प्रकाश को रक्खा। यह यजमान भी इसमें यही करता है—॥१३॥

इन मन्त्रों से—(१) "यास्ते ऽ अग्ने सूर्ये रुचो दिनमातन्वन्ति रश्मिभिः" (यजु०१८।४६)

वो देवाः सूर्ये रुचो रुचं नो धेहि ब्राह्मणेष्विति रुच७ रुचमित्यमृतत्वं वै रुग-मृतत्वमेवास्मिन्नेतद्दधाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्रुचं दधाति ॥१४॥ अथ वारुणीं जुहोति । अग्निरेष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र वरुणो देवता तस्माऽएतद्धविर्जुहोति तदेन७ हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते वारुण्यर्चा स्वेनैवैनमेतदात्मना स्वया देवतया प्रीणाति ॥१५॥ यद्वेव वारुणीं जुहोति । प्रजापतेर्विस्रस्ताद्वीर्यमुदक्रामत्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतया वीर्यमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति वारुण्यर्चा क्षत्रं वै वरुणो वीर्यं वै क्षत्रं वीर्येणैवास्मिन्नेतद्वीर्यं दधाति ॥१६॥ तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति । तत्त्वा याचे ब्रह्मणा वन्दमान इत्येतत्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिरिति तदयमाशास्ते यजमानो हविर्भिरित्येतदहेडमानो वरुणेह बोधीत्यक्रुध्यन्नो वरुणेह बोधीत्येतदुरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीरित्यात्मनः परिदां वदते ॥१७॥ अथार्काश्वमेधयोः संततीर्जुहोति । अयं वाऽअग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानेवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन्त्समदधुस्तथैवैनावयमेतदेताभिराहुतिभिः संतनोति संदधाति ॥१८॥ स्वर्ण घर्मः स्वाहेति । असौ वाऽआदित्यो घर्मोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति ॥१९॥ स्वर्णार्कः स्वाहेति । अयमग्निरर्क इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति ॥२०॥ स्वर्ण शुक्रः स्वाहेति । असौ वाऽआदित्यः शुक्रस्तं पुनरमुत्र दधाति ॥२१॥ स्वर्ण ज्योतिः स्वाहेति । अयमग्निर्ज्योतिस्तं पुनरिह दधाति ॥२२॥ स्वर्ण सूर्यः स्वाहेति । असौ वाऽआदित्यः सूर्योऽमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादेषोऽस्य सर्वस्योत्तमः ॥२३॥ पञ्चैता आहुतीर्जुहोति । पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनावेतत्संतनोति संदधाति ॥२४॥ यद्वेवाह । स्वर्ण

—(२) "या वो देवाः सूर्ये रुचो" (यजु० १८।४७)—(३) "रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु" (यजु० १८।४८)—'रुचं' का अर्थ है अमृतत्व। इस प्रकार इसमें अमृतत्व को रखता है। तीन आहुतियाँ देता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा, उतने ही से इसमें रुक् या प्रकाश रखता है ॥१४॥

अब वारुणी आहुति देता है। यह जो अग्नि या वेदी पूरी हो गई तो यह वरुण देवता का रूप हो गया। उसके लिए यह आहुति देता है। मानो उससे इसको वरुण देवता का रूप देता है। जिस देवता के लिए हवि दी जाती है वही देवता होता है, न कि वह जिसके लिए हवि नहीं दी जाती। वरुण-सम्बन्धी ऋचा से। इस प्रकार इसी के शरीर से, इसी के देवता से इसको प्रसन्न करता है ॥१५॥

वारुणी आहुति क्यों देता है? जब प्रजापति शिथिल हो गया तो उससे वीर्य (शक्ति) निकल भागा। जब देवों ने इसको पूरा किया तो इस आहुति के द्वारा ही वीर्य रक्खा। इसी प्रकार यह यजमान भी इसमें इसको रखता है, वारुणी ऋचा से। वरुण क्षत्र है। क्षत्र वीर्य है। इस प्रकार वीर्य के द्वारा ही इसमें वीर्य धारण कराता है ॥१६॥

"तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशँ स मा न ऽ आयुः प्रमोषीः" (यजु० १८।४९)—"प्रार्थना द्वारा प्रार्थित तुझसे याचना करता हूँ। यजमान हवियों से तेरी प्रार्थना करता है। हे वरुण! तू क्रोध न कर। तू हमारी आयु को मत छीन!" इस प्रकार वह आत्मसमर्पण करता है ॥१७॥

अब 'अर्काश्वमेध सन्तति' आहुतियाँ देता है। यह अग्नि ही अर्क है। यह आदित्य अश्वमेध है। जब बने थे तो ये अलग-अलग थे। इन दोनों को देवों ने आहुतियों द्वारा पास-पास कर दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन आहुतियों द्वारा इनको पास-पास कर देता है ॥१८॥

"स्वर्ण धर्मः स्वाहा" (यजु० १८।५०)—यह आदित्य धर्म है। इस आदित्य को इस अग्नि में स्थापित करता है ॥१९॥

"स्वर्णार्कः स्वाहा" (यजु० १८।५०)—यह अग्नि अर्क है। इस प्रकार इस अग्नि को उस आदित्य में स्थापित करता है ॥२०॥

"स्वर्ण शुक्रः स्वाहा" (यजु० १८।५०)—यह आदित्य शुक्र है। उसको फिर उसमे स्थापित करता है ॥२१॥

"स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा" (यजु० १८।५०)—यह अग्नि ज्योति है। इसको फिर इसमें स्थापित करता है ॥२२॥

"स्वर्ण सूर्यः स्वाहा" (यजु० १८।५०)—यह आदित्य सूर्य है। इस आदित्य को सबसे उत्तम बनाता है। इसलिए यह सबसे उत्तम है ॥२३॥

ये पाँच आहुतियाँ देता है। वेदी में पाँच चिति होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतु। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतनी ही बार इनको तानता है या रखता है ॥२४॥

घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहेत्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि तान्येतत्प्रीणाति तानि हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यतेऽथोऽएतानेवैतदग्नीनस्मिन्नग्नौ नामग्राहं दधाति ॥२५॥ पञ्चैता आहुतीर्जुहोति । पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥२६॥ अथात आहुतीनामेवावपनस्य । यां कां च ब्राह्मणवतीमाहुतिं विद्यात्तामेतस्मिन्काले जुहुयात्कामेभ्यो वाऽएतꣳ रथं युङ्क्ते तस्यां कां चात्राहुतिं जुहोत्याप्तां ताꣳ सतीं जुहोति ॥२७॥ तदाहुः । न जुहुयान्नेदतिरेचयानीति स वै जुहुयादेव कामेभ्यो वाऽएता आहुतयो हूयन्ते न वै कामानामतिरिक्तमस्ति ॥२८॥ ब्राह्मणम्॥ ४ [४. २.] ॥ ॥

अथ प्रत्येत्य धिष्ण्यानां काले धिष्ण्यान्निवपति । अग्नय एते यद्धिष्ण्या अग्नीनेवैतच्चिनोति ता एता विशः क्षत्रमयमग्निश्चितः क्षत्रं च तद्विशं च करोत्यमुं पूर्वं चिनोत्यथेमान्क्षत्रं तत्कृत्वा विशं करोति ॥१॥ एक एष भवति । एकस्थं तत्क्षत्रमेकस्थाꣳ श्रियं करोति बहव इतरे विशि तद्भूमानं दधाति ॥२॥ पञ्चचितिक एष भवति । एकचितिका इतरे क्षत्रं तद्वीर्येणात्याद्धाति क्षत्रं विशो वीर्यवत्तरं करोत्यूर्ध्वमेतं चिनोति क्षत्रं तदूर्ध्वं चितिभिश्चिनोति तिरश्च इतरान्क्षत्राय तद्विशमधस्तादुपनिषादिनीं करोति ॥३॥ उभाभ्यां यजुष्मत्या च लोकम्पृणया चैतं चिनोति । लोकम्पृणयैवेमान्क्षत्रमेव तद्वीर्येणात्याद्धाति क्षत्रं विशो वीर्यवत्तरं करोति विशं क्षत्रादवीर्यतराम् ॥४॥ स यदिमांल्लोकम्पृणयैव चिनोति क्षत्रं वै लोकम्पृणा क्षत्रं तद्विश्यत्तारं दधात्युभयांश्चिनोत्यधरस्य चाग्नेश्चाधरस्य पूर्वानथाग्नेस्तस्योक्तो बन्धुर्य-यमेवाधरधिष्ण्यं निवपति तं-तं चिनोत्याग्नीध्रीयं प्रथमं चिनोति तꣳ हि प्रथमं निवपति दक्षिणात उदङ्ङासीनस्तस्योक्तो बन्धुः ॥५॥ तस्मिन्नष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य

यह क्यों कहा कि 'स्वर्ण धर्मः स्वाहा, स्वार्णर्कः स्वाहा ?' ये सब अग्नि के नाम हैं। उनको प्रसन्न करता है। हवि के द्वारा उनको देवता बनाता है। जिस देवता के लिए हवि दी जाती है वही देवता है। जिसके लिए हवि नहीं दी जाती है वह देवता नहीं। इस प्रकार इन अग्नियों के नाम ले-लेकर इस अग्नि में रखता है ॥२५॥

ये पाच आहुतियाँ दी जाती हैं। अग्नि (वेदी) में पाँच चितियाँ होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। संवत्सर अग्नि है, जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा, उतने ही अन्न से इसको प्रसन्न करता है ॥२६॥

अब इससे अधिक आहुतियों को देना—जिस किसी ब्राह्मणवती आहुति को जानता हो उसी समय दे देवे। कामनाओं के लिए यह रथ जोता जाता है। इस सम्बन्ध में जिस किसी आहुति को देता है वह सफल समझी जाती है ॥२७॥

कुछ आक्षेप करते हैं कि यह अधिक आहुतियाँ न दे, क्योंकि यह 'अति' हो जायगी, परन्तु दे देनी चाहिएँ। ये आहुतियाँ कामनाओं के लिए दी जाती हैं। कामनाओं में 'अति' का प्रश्न नहीं उठता ॥२८॥

धिष्ण्यनिवापः

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

अब लौटकर धिष्ण्या के समय धिष्णियाँ बनाता है। ये जो धिष्णियाँ हैं, ये भी अग्नि की वेदियाँ हैं। इस प्रकार वह वेदियाँ चिनता है, ये वैश्य हैं; और अग्नि की जो वेदी थी वह क्षत्रिय। इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्य दोनों की स्थापना करता है। पहले वेदी बनाता है, फिर धिष्ण्या। पहले क्षत्रिय को बनाकर फिर वैश्य बनाता है ॥१॥

वह वेदी तो एक ही होती है। इस प्रकार क्षत्रियत्व एक में ही स्थापित करता है, एक में ही श्री। धिष्णियाँ कई हैं, इस प्रकार वैश्य बहुत-से होते हैं ॥२॥

इस वेदी में पाँच चितियाँ होती हैं। धिष्णियों में एक ही चिति होती है। इस प्रकार क्षत्रिय में वीर्य रखता है; क्षत्रिय को वैश्यों से अधिक बलवान् करता है। इस वेदी को ऊँचा-ऊँचा बनाता है। इस प्रकार क्षत्रिय को ऊँचा-ऊँचा बनाता है। इन धिष्णियों को तिरछा, इस प्रकार क्षत्रिय से वैश्य को उसके नीचे या अधीन करता है ॥३॥

इस वेदी को यजुष्मती और लोकम्पृणा दोनों प्रकार की ईंटों द्वारा चिनता है, परन्तु धिष्णियों को केवल लोकम्पृणों से। इस प्रकार क्षत्रिय में वीर्य रखता है। क्षत्रिय को वैश्य से बलवान् और वैश्य को क्षत्रिय से कमजोर बनाता है ॥४॥

वह जो इन धिष्णियों को लोकम्पृणा ईंट से ही बनाता है तो इसलिए कि लोकम्पृणा क्षत्र है। इस प्रकार क्षत्रिय को वैश्य का भोक्ता (अत्ता) बनाता है। दोनों प्रकार की धिष्णियाँ बनाता है–अध्वर की भी और अग्नि (वेदी) की भी। पहले अध्वर की, फिर अग्नि (वेदी) की। इसकी व्याख्या हो चुकी। जिस-जिस अध्वरधिष्णि को पहले बनाया मात्र था, उसको अब चिन भी देता है। अग्नीध्रीय धिष्णि को पहले चिनता है। इसी को पहले बनाया था, इसके दायें ओर बैठकर। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥५॥

इस (अग्नीध्रीय धिष्णि) में आठ ईंटें रखता है। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है।

मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोति तासामश्मा पृश्निर्नवमो नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्न्-
वाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद्दधाति यश्चितेऽग्निर्निधीयते स दशमो दश वै प्राणा
मध्यमाग्नीध्रं मध्यतस्तत्प्राणान्दधाति मध्ये ह्य वाऽएतत्प्राणाः सन्त इति चेति चा-
त्मानमनुव्युच्चरन्ति ॥६॥ एकविꣳशतिꣳ होत्रीयऽउपदधाति । एकविꣳशतिर्वैव
परिश्रितस्तस्योक्तो बन्धुरेकादश ब्राह्मणाच्छꣳस्यऽएकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रिष्टुभ
इन्द्र ऐन्द्रो ब्राह्मणाच्छꣳस्यष्टावष्टावितरेषु तस्योक्तो बन्धुः ॥७॥ षण्मार्जालीये
। षड्वाऽऋतवः पितरस्तꣳ ह्येतमृतवः पितरो दक्षिणतः पर्यूहिरे स एषामेष द-
क्षिणतः स वाऽइतीममुपदधातीतीमानित्यमुं विशं तत्क्षत्रमभिसंमुखां करोति
॥८॥ अथैनान्परिश्रिद्भिः परिश्रयति । आपो वै परिश्रितोऽद्भिरेवैनांस्तत्परितनो-
ति स वै पर्यैव निदधाति क्षत्रꣳ ह्येता अपां याः खातेन यन्त्यथ ह्येता विशो या-
नीमानि वृथोदकानि स यदमुं खातेन परिश्रयति क्षत्रे तत्क्षत्रं दधाति क्षत्रं क्ष-
त्रेण परिश्रयत्यथ यदिमान्पर्यैव निदधाति विशि तद्विशं दधाति विशा विशं प-
रिश्रयति तेषां वै यावत्य एव यजुष्मत्यस्तावत्यः परिश्रितो यावत्यो ह्येवामुष्य
यजुष्मत्यस्तावत्यः परिश्रितः क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति ॥९॥
अथैषु पुरीषं निवपति । तस्योक्तो बन्धुस्तूष्णीमनिरुक्ता हि विडथाग्नीषोमीयस्य
पशुपुरोडाशमनु दिशामवेष्टीर्निर्वपति दिश एषोऽग्निस्ताभ्य एतानि हवीꣳषि
निर्वपति तदेना हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता
न सा यस्यै न गृह्यते पञ्च भवन्ति पञ्च हि दिशः ॥१०॥ तदाहुः । दशहविष-
मेवैतामिष्टिं निर्वपेत्सा सर्वस्तोमा सर्वपृष्ठा सर्वाणि छन्दाꣳसि सर्वा दिशः सर्व
ऽऋतवः सर्वम्वेतदयमग्निस्तदेनꣳ हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै ह-
विर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते दश भवन्ति दशाक्षरा विराड्विराड-
ग्निर्दश दिशो दिशोऽग्निर्दश प्राणाः प्राणा अग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा ताव-

जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इसको चिनता है। चमकदार पत्थर इनमें नवाँ है। प्राण नौ हैं—सात सिर में और दो नीचे। उन्हीं को इसमें रखता है। चिनी हुई वेदी में जो अग्नि रक्खी जाती है वह दसवीं है। प्राण दस होते हैं। (आहवनीय और गार्हपत्य के) बीच की अग्नीध्र है। इस प्रकार बीच में प्राण रखता है। मध्य में ही तो प्राण होते हैं और इधर-उधर चलते रहते हैं ॥६॥

होत्रीय धिष्णि में इक्कीस ईंटें रखता है। परिश्रित् इक्कीस होती हैं। इनकी व्याख्या हो चुकी। ब्राह्मणच्छंसी में ग्यारह। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् इन्द्र है। ब्राह्मणच्छंसी इन्द्र की है। आठ-आठ दूसरों में। इसकी व्याख्या हो चुकी ॥७॥

मार्जालीय धिष्णि में छः। पितर-ऋतु छः हैं। उस इसको ऋतु पितरों ने दक्षिण की ओर से घेर लिया। यह धिष्णि भी अन्य सब धिष्णियों की दक्षिण की ओर है। इस (अग्नीध्रीय) को इस ओर बनाता है और दूसरों को उस ओर, और वेदी को इस ओर (दिशाएँ अँगुली से बताकर)। इस प्रकार वैश्यों को क्षत्रियों के अभिमुख करता है ॥८॥

अब इनको परिश्रितों से घेरता है। परिश्रित् जल हैं। इस प्रकार जलों से इनको घेरता है। वह केवल रख देता है। जो जल खुदी हुई नालियों में बहते हैं वे क्षत्रिय हैं, और जो साधारणतया बहते हैं वे वैश्य। खुदी हुई नालियों से घेरना मानो क्षत्रिय में क्षत्रिय को बढ़ाना या क्षत्रिय को क्षत्रिय से सुरक्षित करना है। और यह जो साधारणतया रक्खे जाते हैं, इसका अर्थ यह है कि वैश्यों में वैश्य की स्थापना करना या वैश्यों को वैश्यों द्वारा सुरक्षित करना। हर एक धिष्णि में जितनी ज्योतिष्मती ईंटें होती हैं, उतनी-उतनी ही परिश्रितियाँ होती हैं। इस प्रकार वह वैश्यों को क्षत्रियों के अनुयायी बनाता है ॥९॥

अब इनमें पुरीष डालता है। इसकी व्याख्या हो चुकी। चुपके-चुपके, वैश्य अनिरुक्त या अनिश्चित होते हैं। अग्नीषोमीय पशु पुरोडाश के पीछे दिशाओं की इष्टियों को करता है। यह अग्नि (वेदी) दिशाएँ हैं। उनके लिए ये हवियाँ दी जाती हैं। इस हवि से उनको देवता बनाता है। जिसके लिए हवि दी जाती है वह देवता होता है। जिसके लिए हवि नहीं दी जाती, वह देवता नहीं होता। ये आहुतियाँ पाँच होती हैं, क्योंकि दिशाएँ पाँच हैं ॥१०॥

इसपर कहते हैं कि इस इष्टि में दस आहुतियाँ देवे। ये सब स्तोमों और सब पृष्ठों (सामों) से दी जाती हैं और सब छन्द, सब दिशाएँ, सब ऋतु प्रयुक्त होते हैं। यह अग्नि सब है, इस प्रकार इनको हवि से देवता बनाता है। जिसके लिए हवि निकाली जाती है, वह देवता होता है। जिसके लिए हवि नहीं निकाली जाती वह देवता नहीं होता। ये आहुतियाँ दस होती हैं। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। विराट् अग्नि है। दस दिशाएँ होती हैं। दिशा अग्नि है। दस प्राण होते हैं। प्राण अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसको उतने ही अन्न से

तैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥११॥ तद्वै देवस्वामेव । एतानि हवीꣳषि निर्वपेदे-ता ह देवताः सुता एतेन सवेन यैनैतत्सोष्यमाणो भवति ता एवैतत्प्रीणाति ताऽअस्माऽइष्टाः प्रीता एतꣳ सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजा-नो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न तद्यदेता देवताः सुता एतेन सवेन यद्वैनमेता देवता एतस्मै सवाय सुवते तस्मादेता देवस्वः ॥१२॥ ता वै द्विनाम्न्यो भवन्ति । द्विनामा वै सवेन सुतो भवति यस्मै वै सवाय सूयते येन वा सवेन सूयते तदस्य द्वितीयं नाम ॥१३॥ अष्टौ भवन्ति । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥१४॥ तदा-हुः । नैतानि हवीꣳषि निर्वपेन्नेदतिरेचयानीति तानि वै निर्वपेदेव कामेभ्यो वाऽएतानि हवीꣳषि निरुप्यन्ते न वै कामानामतिरिक्तमस्ति यद्वै किं च पशुपु रोडाशमनु हविर्निरुप्यते पशावेव स मध्यतो मेधो धीयतऽउभयानि निर्वपत्य-धरस्य चाग्नेश्चाधरस्य पूर्वमथाग्नेस्तस्योक्तो बन्धुरुद्वैः पशुपुरोडाशो भवत्युपाꣳश्वे-तानीष्टिर्ह्यनुब्रूहि प्रेष्येति पशुपुरोडाशस्याह्वानुब्रूहि यजेत्येतेषामिष्टिर्हि समानः स्विष्टकृत्समानीडेष्टा देवता भवन्त्यसमवह्वितꣳ स्विष्टकृते ॥१५॥ अथैन पूर्वा-भिषेकेणाभिमृशति । सविता त्वा सवानाꣳ सुवतामिष वोऽमी राजा सोमोऽस्मा-कं ब्राह्मणानाꣳ राजेति ब्राह्मणानेवापोद्धरत्यनाद्यान्करोति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [४. ३.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१७ ॥ ॥

अथ प्रातः प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन् । अग्निं युनक्ति युक्तेन समश्नवाऽइति तेन युक्तेन सर्वान्कामान्त्समश्नुते तं वै पुरस्तात्सर्वस्य कर्मणो युनक्ति तद्यत्किं चात्र ऊर्ध्वं क्रियते युक्ते तत्सर्वꣳ समाधीयते ॥१॥ परिधिषु युनक्ति । अग्नय एते यत्परिधयोऽग्निभिरेव तदग्निं युनक्ति ॥२॥ स मध्यमं परिधिमुपस्पृश्य । एतद्य-जुर्जपत्यग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति बलं वै शवोऽग्निं युनज्मि बलेन च घृतेन

प्रसन्न करता है ॥११॥

इन हवियों को देवस्व के लिए भी देवें। यह वही देवता हैं जो उस कृत्य से दीक्षित होते हैं, जिससे यह स्वयं होना चाहता है। उसी को यह प्रसन्न करता है। इस हवि से प्रसन्न होकर वे उसको दीक्षित होने की अनुमति दे देते हैं, और उनकी अनुमति से वह दीक्षित हो जाता है। जिसको राजा बनने के लिए राजा लोग अनुमति देते हैं, वही राजा बन जाता है, अन्य नहीं। यह देवता इसी 'सब' से दीक्षित हुए और इस सबके लिए यजमान को प्रेरित करते हैं। इसलिए इनका नाम है 'देवस्य' ॥१२॥

इसके दो नाम होते हैं। जो 'सव' से दीक्षित होता है, उसके भी दो नाम होते हैं। जिस 'सव' से उसकी दीक्षा होती है वही दूसरा नाम होता है ॥१३॥

ये आहुतियाँ आठ होती हैं। आठ अक्षर की गायत्री होती है। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही अन्न से इसको प्रसन्न करता है ॥१४॥

इसपर कहते हैं कि इन आहुतियों को न देवे। वे 'अति' होती हैं। परन्तु इनको देना चाहिए कामनाओं के लिए। कामनाओं में तो 'अति' का प्रश्न उठता ही नहीं। जो हवि पशु-पुरोडाश के पीछे दी जाती है, वह पशु के बीच में ही रक्खी जाती है। दोनों प्रकार की आहुतियाँ देता है, अध्वर की भी और अग्नि की भी। पहले अध्वर की, फिर अग्नि की। इसकी व्याख्या हो चुकी। पशुपुरोडाश ऊँची आवाज़ से और दूसरी इष्टियाँ चुपके से, क्योंकि ये इष्टियाँ हैं। पशु-पुरोडाश के साथ अध्वर्यु कहता है 'अनुवाक कहो, प्रेरणा करो।' और इन इष्टियों के साथ कहता है 'अनुवाक कह, यज्ञ कर।' क्योंकि ये इष्टियाँ हैं। स्विष्टकृत् और इडा एक ही होती है। देवताओं की इष्टि हो चुकी। स्विष्टकृत् अभी नहीं हुई ॥१५॥

अब इसको पूर्व-अभिषेक से छूता है, इस मन्त्र से—"सविता त्वा सवाना॑ँ सुवताम्..." (यजु० ९।३९) "एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना॑ँ राजा" (यजु० ९।४०)—इस प्रकार ब्राह्मणों को बहिष्कृत कर देता है और राजा से खिलाये जाने के योग्य नहीं रखता ॥१६॥

अग्नियोजनं कर्म, अग्निविमोचनञ्च

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

प्रात:काल प्रातरनुवाक कहते हुए अग्नि को जोतता है। इसलिए कि अग्नि के जोतने से मैं कामनाओं की पूर्ति करूँगा। उसको जोतकर सब इच्छाओं की पूर्ति करता है। सब कर्म से जोतता है कि जो कुछ किया जाये, इस जुते हुए में किया जाए। (यहाँ वेदी को रथ माना गया है। जैसे जुते हुए रथ में ही बैठते हैं, इसी प्रकार जुती हुई वेदी में ही कृत्य करते हैं) ॥१॥

परिधियों में जोड़ता है। ये परिधियाँ अग्नियाँ हैं। इस प्रकार अग्नि (वेदी) को अग्नियों से जोड़ता है ॥२॥

बीच की परिधि को छूकर इस यजु का जाप करता है—"अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन

चेत्येतद्दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तमिति दिव्यो वाऽएष सुपर्णो वयसो बृहन्धूमेन तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तममिति स्वर्गो वै लोको नाकस्तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वर्गं लोकꣳ रोहन्तोऽधि नाकमुत्तममित्येतत् ॥३॥ अथ दक्षिणे । इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याꣳ रक्षाꣳस्यपहꣳस्यग्ने ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इत्यमूनेतदृषीनाह ॥४॥ अथोत्तरे । इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युरित्यमृतं वै हिरण्यममृतपक्षः शकुनो भर्तेत्येतन्महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीरित्यात्मनः परिदां वदते ॥५॥ तद्यन्मध्यमं यजुः । स आत्माथ येऽअभितस्तौ पक्षौ तस्मात्ते पक्षवती भवतः पक्षौ हि तौ ॥६॥ त्रिभिर्युनक्ति । त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्युनक्ति ॥७॥ अथ राजानमभिषुत्याग्नौ जुहोति । एष वै स सव एतद्धि तत्सूयते यमस्मै तमेता देवताः सवमनुमन्यन्ते याभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न तद्यदग्नौ जुहोति तदग्निमभिषिञ्चति सोऽस्यैष दैव आत्मा सोमाभिषिक्तो भवत्यमृताभिषिक्तोऽथ भक्षयति तदात्मानमभिषिञ्चति सोऽस्यायमात्मा सोमाभिषिक्तो भवत्यमृताभिषिक्तः ॥८॥ अग्नौ हुत्वाथ भक्षयति । दैवो वाऽअस्यैष आत्मा मानुषोऽयं देवा उ वाऽअग्रेऽथ मनुष्यास्तस्मादग्नौ हुत्वाथ भक्षयति ॥९॥ अथैनं विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं युङ्क्ते यज्ञायज्ञियꣳ स्तोत्रमुपाकरिष्यन्त्स्वर्गो वै लोको यज्ञायज्ञियमेतस्य वै गत्याऽएनं युङ्क्ते तदाप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं युङ्क्ते ॥१०॥ तं वै पुरस्तात्स्तोत्रस्य विमुञ्चति । स यदुपरिष्टात्स्तोत्रस्य विमुञ्चेत्पराङ् हैतꣳ स्वर्गं लोकमतिप्रणश्येदथ यत्पुरस्तात्स्तोत्रस्य विमुञ्चति तत्सम्प्रति स्वर्गं लोकमाप्त्वा विमुञ्चति ॥११॥ परिधिषु विमुञ्चति । परिधिषु ह्येनं युनक्ति यत्र वाव योग्यं युञ्जन्ति तदेव

दिव्य ँ सुपर्णं वयसा बृहन्तम् । तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टप ँ स्वो रुहाणा ऽ अधि नाकमुत्तमम्" (यजु० १८।५१)—'शव' का अर्थ है बल, "अग्नि को बल औरघृत से जोतता हूँ। दिव्य सुन्दर और बड़ी धुएँ से। 'ब्रध्नस्य विष्टं' चमकदार धाम को, अर्थात् इस अग्नि को जोतकर (यज्ञ करके) हम स्वर्गलोक को प्राप्त हों" ।।३।।

दाईं ओर—"इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्या ँ रक्षा ँ स्यपह ँ स्यग्ने । ताभ्यांपतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऽ ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः" (यजु० १८।५२)—"हे अग्नि, ये तेरे अजर पंख हैं, जिनसे तू राक्षसों को मारता है। उन्हीं के द्वारा हम सुकृत लोक को प्राप्त हों, जहाँ प्रथमज पुराने ऋषि गये थे।" इन ऋषियों की ओर संकेत है ।।४।।

अब बाईं ओर—"इन्दुर्दक्षः श्येन ऽ ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः । महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते ऽ अस्तु मा मा हि ँ सीः" (यजु० १६।५३)—'हिरण्यपक्ष का' अर्थ है अमर। इससे आत्मसमर्पण करता है ।।५।।

बीज का यजु शरीर है और दो इधर-उधर के पंख। इससे इन दोनों यजुओं में 'पक्ष' शब्द आता है, क्योंकि ये दोनों पक्ष हैं ।।६।।

इन तीनों से जोतता है। अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा, उतने ही से जोतता है ।।७।।

अब सोम राजा को निचोड़कर अग्नि में आहुति देता है। यह वही सब है जिससे दीक्षा होती है उसकी, जिसकी दीक्षा के लिए देवता अनुमति देते हैं। जिसके लिए अनुमति दी जाती है, उसी की दीक्षा होती है, अन्य की नहीं। जैसे जिसके लिए राजा लोग अनुमति देते हैं वही राजा होता है, अन्य नहीं। यह जो अग्नि में आहुति देता है, यह अग्नि का अभिषेक है। इस प्रकार इसका दैवी शरीर सोम का अभिषिक्त होता है, अर्थात् अमृत से। अब इसको पीता है अर्थात् इससे अपने आत्मा का अभिषेक करता है। इस प्रकार इसका आत्मा सोम से अभिषिक्त होकर मानो अमृत से अभिषिक्त हो जाता है ।।८।।

अग्नि में आहुति देने के बाद पीता है। अग्नि का शरीर दैवी है और यजमान का मानुषी। पहले देवों को दिया जाता है, फिर मनुष्यों को। इसलिए अग्नि में आहुति देने के पीछे पीता है ।।९।।

जिस कामना के लिए इसने जोता था उसके प्राप्त होने पर इस (रथरूपी वेदी) को खोल देता है, यज्ञायज्ञिय स्तोत्र को पढ़ते हुए। यज्ञायज्ञिय स्वर्गलोक है। इसकी कामना के लिए तो जोता था। इसलिए जिस कामना के लिए जोता था उसकी प्राप्ति के पश्चात् इसको खोल देता है ।।१०।।

स्तोत्र के पहले ही खोलता है। यदि स्तोत्र के पीछे खोले तो आगे बढ़ जाय और स्वर्ग-लोक भी हाथ से जाता रहे। इसलिए पहले खोलता है अर्थात् स्वर्गलोक को प्राप्त करते ही खोलता है ।।११।।

परिधियों पर खोलता है। इसे परिधियों पर ही तो जोता था। जहाँ इसे जोतते हैं वहीं

तद्विमुञ्चन्ति ॥१२॥ स संध्योरुपस्पृश्य । एते यजुषी जपति तथा द्वे यजुषी त्रीन्प-
रिधीननुविभवतो दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरिति दक्षिणे विश्वस्य मूर्धन्नधि
तिष्ठसि श्रित इत्युत्तरे मूर्धवतीभ्यां मूर्धा ह्यस्यैषोऽप्सुमतीभ्यामग्नेरेतद्वैश्वानरस्य
स्तोत्रं यद्यज्ञायज्ञियꣳ शान्तिर्वाऽआपस्तस्मादप्सुमतीभ्याम् ॥१३॥ द्वाभ्यां विमुञ्च-
ति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्विमु-
ञ्चति त्रिभिर्युनक्ति तत्पञ्च पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥१४॥ तꣳ हैके । प्रायणीयऽएवातिरात्रे
युञ्जन्त्युदयनीये विमुञ्चन्ति सꣳस्थारूपं वाऽएतद्यद्विमोचनं किं पुरा सꣳस्थायै सꣳ-
स्थारूपं कुर्यामेति न तथा कुर्यादहरहर्वाऽएष यज्ञस्तायतेऽहरहः संतिष्ठतेऽह-
रहरेनꣳ स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्तेऽहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति तस्मादह-
रहरेव युञ्ज्यादहरहर्विमुञ्चेत् ॥१५॥ अथो यथा प्रायणीयेऽतिरात्रे । सामिधेनी-
रनूच्य ब्रूयादुदयनीयऽएवातोऽनुवक्तास्मीति तादृक्तत्तस्मादहरहरेव युञ्ज्यादहर-
हर्विमुञ्चेत् ॥१६॥ तद्धैतच्छाण्डिल्यः । कङ्कतीयेभ्योऽहरहःकर्म प्रदिश्य प्रवव्राजा-
हरहरेव वो युनजानहरहर्विमुञ्चानिति तस्मादहरहरेव युञ्ज्यादहरहर्विमुञ्चेत्
॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४. ४.] ॥ चतुर्थोऽध्यायः [५१.] ॥ ॥

अथातः पयोव्रततायै । पयोव्रतो दीक्षितः स्याद्देवेभ्यो ह वाऽअमृतमपचक्रा-
म ॥१॥ ते होचुः । श्रमेण तपसेदमन्विच्छामेति तच्छ्रमेण तपसान्वैच्छꣳस्ते दीक्षित्वा
पयोव्रता अभवन्नेतद्वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत्तस्य घोषमाशुश्रुवुः ॥२॥
ते होचुः । नेदीयो वै भवति भूयस्तप उपायामेति ते त्रीन्स्तनानुपेयुस्तत्पराद-
दृशुः ॥३॥ ते होचुः । नेदीयो वै भवति भूयस्तप उपायामेति ते द्वौ स्तनाऽउ-
पेयुस्तन्नेदीयसः पराददृशुः ॥४॥ ते होचुः । नेदीयो वै भवति भूयस्तप उपाया-
मेति तऽएकꣳ स्तनमुपेयुस्तदधिजगाम न त्वभिपत्तुꣳ शेकुः ॥५॥ ते होचुः ।

खोलते हैं ।।१२।।

सन्धियों में (अग्नि को) छूकर इन दोनों यजुओं का जाप करता है, क्योंकि ये दो यजु तीन परिधियों के बराबर हैं—"दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् । विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे" (यजु० १८।५४)—इससे दक्षिण की ओर। "विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रित···" (यजु० १८।५५)—से उत्तर की ओर। इन यजुओं में मूर्धा और अप्सु शब्द आते हैं। यह मूर्द्धा तो है ही । यह यज्ञायज्ञिय अग्नि वैश्वानर का स्तोत्र है। और जल शान्ति है, इसलिए अप्सु शब्द आया है ।।१३।।

दो यजुओं से खोलता है। यजमान के दो पैर होते हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने ही से इसको खोलता है। तीन से जोता था। ये पाँच हुईं। अग्नि में पाँच चितियाँ होती हैं। संवत्सर में पाँच ऋतुयें होती हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतना ही यह होता है ।।१४।।

कुछ लोग प्रायणीय अतिरात्र में जोतते हैं और उदयनीय में खोलते हैं। यह खोलना समाप्ति है। समाप्ति के कृत्य को समाप्ति के पूर्व क्यों किया जाय ? परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। यह यज्ञ तो दिन-प्रतिदिन होता है और दिन-प्रतिदिन समाप्त होता है। दिन-प्रतिदिन स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए जोतता है और दिन-प्रतिदिन स्वर्ग की प्राप्ति करता है। इसलिए रोज जोतना चाहिए और रोज खोलना ।।१५।।

यह तो ऐसा ही होगा कि सामिधेनियों के पश्चात् प्रायणीय अतिरात्र में कहे कि इसके पश्चात् उदयनीय में पढ़ूंगा। इसलिए रोज जोतना चाहिए और रोज खोलना ।।१६।।

इस विषय में शाण्डिल्य ने कङ्कतीयों के लिए दिन-प्रतिदिन के यज्ञ का आदेश देते हुए कहा था कि रोज जोतो, रोज खोलो। इसलिए रोज जोतना चाहिए और रोज खोलना ।।१७।।

पयोव्रतादिमीमांसा

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अब दूध पीने के व्रत के विषय में। दीक्षित को दूध पीने का व्रत धारण करना चाहिए। एक बार अमृत देवों से भाग गया ।।१।।

वे बोले, 'श्रम और तप से इसे खोजें।' उन्होंने उसे श्रम और तप से खोजा। दीक्षित होकर वे दूध पर रहने लगे। दीक्षित होकर पयोव्रत होना तप है। उसके (अमृत के) घोष को उन्होंने सुना ।।२।।

उन्होंने कहा, 'यह तो निकट आ रहा है। और तप करें।' उन्होंने तीन स्तन पिये। उन्होंने उसे देखा ।।३।।

वे बोले, 'यह अधिक निकट आ रहा है। और तप करें।' उन्होंने दो स्तन पिये। वह और दिखाई पड़ने लगा ।।४।।

वे बोले, 'यह और निकट आ रहा है। अधिक तप करें।' उन्होंने एक स्तन पिया। वह और निकट आ गया। परन्तु वे इसको पकड़ न सके ।।५।।

वे बोले—

अथि वाऽअगन्न त्वभिपत्तुꣳ शक्नुमः सर्वं तप उपायामेति तऽउपवसथेऽनाशक-मुपेयुरेतद्वै सर्वं तपो यदनाशकस्तस्मादुपवसथे नाश्नीयात् ॥६॥ तत्प्रातरभिपद्य । अभिषुत्याग्नावजुहवुस्तदग्नावमृतमदधुः सर्वेषामु ह्येष देवानामात्मा यदग्निस्तस्य-दग्नावमृतमदधुस्तदात्मन्नमृतमदधत ततो देवा अमृता अभवन् ॥७॥ तद्यत्तदमृ-तꣳ सोमः सः । तद्यापि यजमानः श्रमेण तपसान्विच्छति स दीक्षित्वा पयोव्रतो भवत्येतद्वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत्तस्य घोषमाशृणोतीत्यह्ने क्रय इति ॥८॥ स त्रीन्स्तनानुपैति । तत्परापश्यति स द्वौ स्तनाऽउपैति तन्नेदीयसः परा-पश्यति सऽएकꣳ स्तनमुपैति तदधिगच्छति न त्वभिपत्तुꣳ शक्नोति स उपवसथे ऽनाशकमुपैत्येतद्वै सर्वं तपो यदनाशकस्तस्मादुपवसथे नाश्नीयात् ॥९॥ तत्प्रा-तरभिपद्य । अभिषुत्याग्नौ जुहोति तदग्नावमृतं दधात्यथ भक्षयति तदात्मन्नमृतं धत्ते सोऽमृतो भवत्येतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति तथो ह्यनेनात्मना सर्वमायुरेति ॥१०॥ अग्नौ हुत्वाथ भक्षयति । दैवो वाऽअस्यैष आत्मा मानुषो ऽयं देवा उ वाऽअग्रेऽथ मनुष्यास्तस्मादग्नौ हुत्वाथ भक्षयति ॥११॥ अथातः स-मिष्टयजुषामेव मीमाꣳसा । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपे-युर्वाचमेव सत्यानृते सत्यं चैवानृतं च तऽउभयऽएव सत्यमवदन्नुभयेऽनृतं ते ह सदृशं वदन्तः सदृशा एवासुः ॥१२॥ ते देवा उत्सृज्यानृतम् । सत्यमन्वालेभिरे ऽसुरा उ होत्सृज्य सत्यमनृतमन्वालेभिरे ॥१३॥ तद्धेदꣳ सत्यमीक्षां चक्रे । यद-सुरेष्वास देवा वाऽउत्सृज्यानृतꣳ सत्यमन्वालप्सत हन्त तद्यानीति तद्देवाना-जगाम ॥१४॥ अनृतमु हेक्षां चक्रे । यद्देवेष्वासासुरा वाऽउत्सृज्य सत्यमनृतमन्वा-लप्सत हन्त तद्यानीति तदसुरानाजगाम ॥१५॥ ते देवाः । सर्वꣳ सत्यमवदन्त्स-र्वमसुरा अनृतं ते देवा आसक्ति सत्यं वदन्त ऐषावीरतरा-इवासुरनाढ्यतरा-इव तस्मादु हैतद्य आसक्ति सत्यं वदत्यैषावीरतर-इवैव भवत्यनाढ्यतर-इव स ह

'वह निकट तो आ गया परन्तु पकड़ाई नहीं देता। पूरा तप करें।' वे उपवास के दिन बिना खाये रह गये। न खाना पूरा तप है। इसलिए उपवास (यज्ञ की तैयारी) के दिन कुछ न खावे ॥६॥

उन्होंने प्रातःकाल (दूसरे दिन) सोम को लेकर कुचलकर और निचोड़कर अग्नि में आहुति दी। इस प्रकार अग्नि में अमृत को रक्खा। यह अग्नि सब देवों का शरीर है। अग्नि में अमृत को रखने का अर्थ हुआ शरीर में अमृत रखना। इससे देवता अमर हो गये ॥७॥

यह जो अमृत है वही सोम है। उसी को आज भी यजमान श्रम और तप से खोजता है। वह दीक्षित होकर पयोव्रत होता है। दीक्षित होकर पयोव्रत होना तप है। उसके घोष को सुनता है 'कि अमुक दिन खरीद होगी' ॥८॥

वह तीन स्तनों को पीता है, उसे दिखाई पड़ता है। वह दो स्तनों को पीता है, उसे निकट दीखता है। वह एक स्तन को पीता है, उसको मिल जाता है; परन्तु पकड़ाई नहीं देता। वह उपवास के दिन बिना खाये रहता है। यही पूरा तप है कि बिना खाये रहे। इसलिए उपवास के दिन न खावे ॥९॥

दूसरे दिन प्रातःकाल सोम को कुचलकर निचोड़कर अग्नि में आहुति देता है। इस प्रकार अग्नि में अमृत रखता है। फिर पीता है। इस प्रकार शरीर में अमृत रखता है। यही अमृत है। वही मनुष्य का अमृतत्व है। वह पूरी आयु पाता है। इस प्रकार इसी शरीर में पूरी आयु पाता है ॥१०॥

अग्नि में आहुति देकर पीता है। वह अग्नि इसका दैवी शरीर है और यह शरीर मानुषी। पहले देवों को दिया जाता है, फिर मनुष्यों को। इसलिए पहले अग्नि में आहुति देकर तब पीता है ॥११॥

अब समिष्ट यजुष आहुतियों की मीमांसा करते हैं। प्रजापति के पुत्र देव और असुरों ने पिता प्रजापति के दायें भाग को लिया, सत्य और अमृत को। दोनों सत्य बोलने लगे, दोनों अमृत। वे एक-सा बोलते थे और एक-से थे ॥१२॥

देवों ने अनृत को छोड़कर सत्य बोलना आरम्भ किया। असुरों ने सत्य को छोड़कर अनृत बोलना आरम्भ किया ॥१३॥

असुरों में जो सत्य था उसने देखा कि देवों ने अनृत त्याग दिया, सत्य को पकड़ा; मैं इनके पास चलूं। सत्य उन देवों के पास आ गया ॥१४॥

देवों में जो अनृत था उसने देखा कि असुरों ने सत्य को त्याग दिया, अनृत को पकड़ा है; मैं इनके पास चलूं। अनृत उन असुरों के पास आ गया ॥१५॥

देव सब सच बोलने लगे, असुर सब झूठ। देव परिश्रम से सत्य बोलकर बहुत निन्दित और दरिद्र हो गये। इसलिए जो सच बोलता है, वह बहुत निन्दित और दरिद्र हो जाता है।

ह्वैवात्ततो भवति देवा ह्यैवात्ततोऽभवन् ॥१६॥ अथ हासुराः । आसन्नृतं व- दन्त ऊष-इव पिपिसुराढ्या-इवासुस्तस्मादु हैतद्य आसन्नृतं वदत्यूषऽइवैव पिस्यत्याढ्य-इव भवति परा ह वैवात्ततो भवति परा ह्यसुरा अभवन् ॥१७॥ तद्यत्तत्सत्यम् । त्रयी सा विद्या ते देवा अब्रुवन्यज्ञं कृत्वेदᳪ सत्यं तनवामहा ऽइति ॥१८॥ ते दीक्षणीयां निरवपन् । तदु हासुरा अनुबुबुधिरे यज्ञं वै कृत्वा तद्देवाः सत्यं तन्वते प्रेत तदाहरिष्यामो यदस्माकं तत्रेति तस्य समिष्टयजुरकृत- मासाथाजग्मुस्तस्मात्तस्य यज्ञस्य समिष्टयजुर्न जुह्वति ते देवा असुरान्प्रतिदृश्य स- मुत्सृज्य यज्ञमन्यत्कर्तुं दध्रिरेऽन्यद्धि कुर्वन्तीति पुनः प्रेयुः ॥१९॥ तेषु प्रेतेषु । प्रा- यणीयं निरवपंस्तदु हासुरा अन्वेव बुबुधिरे तस्य शम्य्वोरकृतमासाथाजग्मुस्तस्मा- त्स यज्ञः शम्य्वन्तस्ते देवा असुरान्प्रतिदृश्य समुत्सृज्य यज्ञमन्यदेव कर्तुं दध्रिरेऽन्य- द्धि कुर्वन्तीति पुनरेव प्रेयुः ॥२०॥ तेषु प्रेतेषु । राजानं क्रीत्वा पर्युह्याथास्मा ऽआतिथ्यᳪ हविर्निरवपंस्तदु हासुरा अन्वेव बुबुधिरे तस्येडोपहूतासाथाजग्मु- स्तस्मात्स यज्ञ इडान्तस्ते देवा असुरान्प्रतिदृश्य समुत्सृज्य यज्ञमन्यदेव कर्तुं दध्रिरे ऽन्यद्धि कुर्वन्तीति पुनरेव प्रेयुः ॥२१॥ तेषु प्रेतेषु । उपसदोऽतन्वत ते तिस्र एव सामिधेनीरनूच्य देवता एवायजन्न प्रयाजान्नानुयाजानुभयतो यज्ञस्योदसाद- यन्भूयिष्ठᳪ हि तत्रावरन्त तस्मादुपसत्सु तिस्र एव सामिधेनीरनूच्य देवता एव यजति न प्रयाजान्नानुयाजानुभयतो यज्ञस्योत्सादयति ॥२२॥ तऽउपवसथेऽग्नीषो- मीयं पशुमालेभिरे । तदु हासुरा अन्वेव बुबुधिरे तस्य समिष्टयजूᳪष्यहुतान्या- सुरथाजग्मुस्तस्मात्तस्य पशोः समिष्टयजूᳪषि न जुह्वति ते देवा असुरान्प्र° ॥२३॥ तेषु प्रेतेषु । प्रातः प्रातःसवनमतन्वत तदु हासुरा अन्वेव बुबुधिरे तस्यैताव- त्कृतमास यावत्प्रातःसवनमथाजग्मुस्ते देवा असुरान्प्र° ॥२४॥ तेषु प्रेतेषु । माध्य- न्दिनᳪ सवनमतन्वत तदु हासुरा अन्वेव बुबुधिरे तस्यैतावत्कृतमास यावन्मा-

परन्तु वह अन्त में अच्छा फल पाता है। देवों ने अन्त में अच्छा फल पाया। ॥१६॥

असुर परिश्रम करके झूठ बोलने लगे। वे ऊसर-समान बढ़ गये। बहुत उन्नत हो गये। इसलिए जो परिश्रम करके झूठ बोलता है वह ऊसर के समान बढ़ता है और बहुत उन्नत हो जाता है। परन्तु अन्त में उसका पराभव होता है। अन्त में असुरों का पराभव हुआ था ॥१७॥

यह सत्य ही त्रयी विद्या है। देव बोले, 'हम यज्ञ कर चुके, अब सत्य का प्रसार करें' ॥१८॥

उन्होंने दीक्षणीय आहुति निकाली। असुरों को मालूम हो गया। वे बोले, 'देव यज्ञ को करके अब सत्य को फैला रहे हैं। जो हमारा भाग था उसको अब हम उड़ा लावें।' जब वे पहुँचे तो समिष्ट यजु आहुति नहीं होने पाई थी। इसलिए यज्ञ में समिष्ट यजु नहीं दी जाती हैं। देवों ने असुरों को देखा तो यज्ञ को छिपा लिया और अन्य कुछ करने लगे। वे यह देखकर कि ये तो कुछ और कर रहे हैं, चले गये ॥१९॥

उनके जाने पर देवों ने प्रायणीय आहुति निकाली, असुरों को यह भी मालूम हो गया। उस यज्ञ का 'शम्योस्' होने पाया था जब असुर पहुँचे। इसलिए यह यज्ञ 'शम्योस्' तक हो पाता है। असुरों को देखकर देवों ने 'शं यज्ञ' को छिपा लिया और अन्य कुछ करने लगे। असुरों ने यह समझा कि ये तो कुछ और कर रहे हैं और वे चले गये ॥२०॥

उनके चले जाने पर सोम राजा को मोल लेकर और उसको लाकर उसके आतिथ्य हवि करने लगे। असुरों ने उसे जान लिया। जब वे पहुँचे तो इडा हो चुकी थी। इसलिए यह यज्ञ इडा तक होता है। देवों ने असुरों को आता देखकर यज्ञ को छिपा लिया और अन्य कुछ करने लगे। असुर यह समझकर चले गये कि ये तो और कुछ करते हैं ॥२१॥

उनके जाने पर देवों ने उपसद ताना। उन्होंने तीन सामिधेनियों को कहकर बिना प्रयाज-अनुयाज कहे हुए यज्ञ को किया, क्योंकि वे बड़ी जल्दी में थे। इसलिए उपसदों में तीन ही सामिधेनियों को पढ़कर देवता की आहुति मात्र दी जाती है। यज्ञ के आगे-पीछे अनुयाज-प्रयाज नहीं कहते ॥२२॥

उपवसथ के दिन अग्नीषोमीय पशु को मारा। असुरों को यह भी मालूम हो गया। जब वे पहुँचे तो समिष्ट-यजु आहुति न होने पाई थी। इसलिए लोग पशु-यज्ञ में समिष्ट-यजु आहुति नहीं देते। देवों ने असुरों को आते देखकर यज्ञ को छिपा लिया और अन्य कार्य करने लगे। असुर चले गये यह कहकर कि ये तो और काम करते हैं ॥२३॥

दूसरे दिन जब वे चले गये तो देवों ने 'प्रात:सवन' की तैयारी की। असुरों को वह भी मालूम हो गया। जब वे वहाँ पहुंचे तो प्रात:सवन ही हो पाया था। देवों···॥२४॥

उनके चले जाने पर देवों ने माध्यन्दिन सवन आरम्भ किया। असुरों को यह भी मालूम हो गया।

ध्यन्दिनमथाजग्मुस्ते देवा असुरान्प्र° ॥२५॥ तेषु प्रेतेषु । सवनीयेन पशुनाचरंस्तद्ध हासुरा अन्वेव बुबुधिरे तस्यैतावत्कृतमास यावदेतस्य पशोः क्रियतेऽथाजग्मुस्ते देवा असुरान्प्र° ॥२६॥ तेषु प्रेतेषु । तृतीयसवनमतन्वत तत्समस्थापयन्यत्समस्थापयंस्तत्सर्वꣳ सत्यमाप्नुवंस्ततोऽसुरा अपपुप्लुविरे ततो देवा अभवन्परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥२७॥ ते देवा अब्रुवन् । ये न इमे यज्ञाः सामिसꣳस्थिता यानिमान्विजह्नतोऽगामोप तज्जानीत यथेमान्त्सꣳस्थापयामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेमान्यज्ञान्त्सꣳस्थापयामेति ॥२८॥ ते चेतयमानाः । एतानि समिष्टयजूꣳष्यपश्यंस्तान्यजुहवुस्तैरेतान्यज्ञान्त्समस्थापयन्यत्समस्थापयंस्तस्मात्सꣳस्थितयजूꣳष्यथ यत्समयजंस्तस्मात्समिष्टयजूꣳषि ॥२९॥ ते वाऽएते नव यज्ञाः । नवैतानि समिष्टयजूꣳषि तद्यदेतानि जुहोत्येतानेवैतद्यज्ञान्त्सꣳस्थापयत्युभयानि जुहोत्यधरस्य चाग्नेश्चाधरस्य पूर्वाण्यथाग्नेस्तस्योक्तो बन्धुः ॥३०॥ द्वेऽअग्नेर्जुहोति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्यज्ञꣳ सꣳस्थापयतीष्टो यज्ञो भृगुभिरिष्टोऽअग्निराहुतः पिपर्तु न इति ॥३१॥ तान्युभयान्येकादश सम्पद्यन्ते । एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वीर्यमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयन्ति ॥३२॥ यद्वेवैकादश । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्त्रैष्टुभ इन्द्र इन्द्रो यज्ञस्यात्मेन्द्रो देवता तद्य एव यज्ञस्यात्मा या देवता तस्मिन्नेवैतद्यज्ञमन्ततः प्रतिष्ठापयति ॥३३॥ समिष्टयजूꣳषि हुत्वावभृथं यन्ति । अवभृथादुदेत्योदयनीयेन चरित्वानूबन्ध्यस्य पशुपुरोडाशमनु देविकानाꣳ हवीꣳषि निर्वपति ॥३३॥ एतद्वै प्रजापतिः । प्राप्य राद्धेवामन्यत स दिक्षु प्रतिष्ठायेदꣳ सर्वं दधद्विदधदतिष्ठद्यद्दधद्विदधदतिष्ठत्तस्माद्धाता तथैवैतद्यजमानो दिक्षु प्रतिष्ठायेदꣳ सर्वं दधद्विदधत्तिष्ठति ॥३५॥ यद्वेवैतानि हवीꣳषि निर्वपति । दिश एषोऽग्निस्ताऽउ एवामूः पुरस्ताद्दर्भस्तम्बं च लोगेष्टकाश्चोपदधाति

जब वे वहाँ पहुँचे तो माध्यन्दिन सवन तक हो पाया था। देवों···॥२५॥

उसके चले जाने पर सवनीय पशु की तैयारी की। असुरों ने उसको जान लिया। जब वे पहुँचे तो उतना ही हो पाया जितना पशु के यज्ञ में होता है। देवों ने असुरों को···॥२६॥

उनके चले जाने पर देवों ने तृतीय सवन की तैयारी की और उसे समाप्त किया। उसको समाप्त करके उन्होंने सब सत्य को जान लिया। तब असुर परास्त हो गये। देव जीत गये और असुर हार गये। जो इस रहस्य को समझता है वह जीत जाता है और उसका शत्रु हार जाता है॥२७॥

वे देव बोले कि जो यज्ञ हम समाप्त नहीं करने पाये और जिनको अधूरा छोड़कर हम चले गये, उनको पूरा करने का उपाय सोचना चाहिये। उन्होंने कहा, 'विचार करो' अर्थात् चिति की इच्छा करो, अर्थात् इनको पूरा करने का उपाय सोचो॥२८॥

उन्होंने विचार करके इन समिष्ट-यजुओं को खोजा और उनकी आहुति दी। उनसे इन यज्ञों की समाप्ति की। समाप्ति की, अतः यह सितयजु हुए। और यज्ञ की समाप्ति की, इसलिये समिष्ट-यजु हुए॥२९॥

ये (अपूर्ण) यज्ञ नौ हैं। नौ ही यह समिष्ट-यजु हैं। इन आहुतियों को देने का अर्थ ही यह है कि यह यज्ञ पूर्ण होते हैं। दोनों आहुतियों को देता है–अध्वर को भी और अग्नि की भी। पहले अध्वर की, फिर अग्नि की। इसकी व्याख्या हो चुकी॥३०॥

अग्नि की दो आहुतियाँ दी जाती हैं। यजमान के दो पैर होते हैं। यजमान अग्नि है। जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा, उतने ही से यज्ञ की समाप्ति करता है, इन मन्त्रों से—(१) "इष्टो यज्ञो भृगुभिः···" (यजु० १८।५६); (२) "इष्टो अग्निराहुतः···" (यजु० १८।५७)॥३१॥

ये दो ग्यारह के बराबर हैं। ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुप् होता है। त्रिष्टुप् का अर्थ है पराक्रम। इस प्रकार यजमान में पराक्रम रखता है॥३२॥

ये ग्यारह कैसे हुए? ग्यारह अक्षर का त्रिष्टुप् होता है। त्रिष्टुप्वाला इन्द्र है। यज्ञ का शरीर इन्द्र है। इन्द्र देवता है। जो यज्ञ का शरीर है, जो देवता है, उसी में यज्ञ की अन्त को स्थापना करता है॥३३॥

समिष्ट यजुओं की आहुति देकर अवभृथ (स्नान) को जाते हैं। अवभृथ से लौटकर उदयनीय को करके बन्ध्या के पशुपुरोडाश के पीछे देविकाओं की हवियाँ निकालता है॥३४॥

अब प्रजापति ने अपना उद्देश्य प्राप्त करके अपने को पूर्ण माना। दिशाओं में ठहरकर इस सबको धारण किया, इसका विधान किया। धारण करने और विधान करने से इसका नाम धाता हुआ। इसी प्रकार यह यजमान भी दिशाओं में स्थापित होकर धारण तथा विधान करता है॥३५॥

यह हवियाँ क्यों निकालता है? यह अग्नि है दिशायें। इनको वह दर्भ-स्तम्भ और लोगेष्टिका के रूप में पहले ही स्थापित करता है।

ताः प्राणभृतः प्रथमायां चितौ सर्वैव द्वितीया सर्वा तृतीया सर्वा चतुर्थ्यथ पञ्चम्यै चितेरसपत्ना नाकसदः पञ्चचूडास्ता ऊर्ध्वा उत्क्रामन्त्य आयंस्ताभ्यः प्रजापतिरबिभेत्सर्वं वा ऽइदमिमाः पराच्यो ऽत्येष्यन्तीति ता धाता भूत्वा पर्यगच्छत्तासु प्रत्यतिष्ठत् ॥३६॥ स यः स धातासौ स आदित्यः । अथ यत्तद्दिशां परमं क्रान्तमेतत्तद्यस्मिन्नेष एतत्प्रतिष्ठितस्तपति ॥३७॥ स यः स धातायमेव स धात्रः । द्वादशकपालः पुरोडाशो द्वादशकपालो द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्धाताथ यत्तद्दिशां परमं क्रान्तमेतानि तानि पूर्वाणि हवीꣳष्यनुमत्यै चरू राकायै चरुः सिनीवाल्यै चरुः कुह्वै चरुस्तद्यदेतानि निर्वपति यदेव तद्दिशां परमं क्रान्तं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति तꣳ सर्वं जुहोत्येतस्यैव कृत्स्नतायै ॥३८॥ ता वा ऽएता देव्यः । दिशो ह्येताश्छन्दाꣳसि वै दिशश्छन्दाꣳसि देव्यो ऽथैष कः प्रजापतिस्तद्यद्देव्यश्च कश्च तस्माद्देविकाः पञ्च भवन्ति पञ्च हि दिशः ॥३९॥ तदाहुः । नैतानि हवीꣳषि निर्वपेन्नेदतिरेचयानीति तानि वै निर्वपेदेव कामेभ्यो वा ऽएतानि हवीꣳषि निरुप्यन्ते न वै कामानामतिरिक्तमस्ति यद्वै किं च पशुपुरोडाशमनु हविर्निरुप्यते पशावेव स मध्यतो मेधो धीयत ऽउभयानि निर्वपत्यधरस्य चाग्नेश्चाधरस्य पूर्वमथाग्नेस्तस्योक्तो बन्धुरुच्चैः पशुपुरोडाशो भवत्युपाꣳश्वेतानीष्टिर्ह्यनुब्रूहि प्रेष्येति पशुपुरोडाशस्याहानुब्रूहि यजेत्येतेषामिष्टिर्हि समानः स्विष्टकृत्समानीडा ॥४०॥ तस्य वा ऽएतस्य पशोः । जुह्वति समिष्टयजूꣳष्यभ्यवयन्ति हृदयशूलेनावभृथꣳ सꣳस्था ह्येष पशुर्हृदयशूलेन चरित्वा ॥४१॥ प्रत्येत्य वैश्वकर्मणानि जुहोति । विश्वानि कर्माण्ययमग्निस्तान्यस्यात्र सर्वाणि कर्माणि कृतानि भवन्ति तान्येतत्प्रीणाति तानि हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते ऽथो विश्वकर्मायमग्निस्तमेवैतत्प्रीणाति ॥४२॥ यद्वेव वैश्वकर्मणानि जुहोति । प्रायणं च ह्यग्नेरुदयनं च

पहली चिति में प्राणभृतों को, पूरी दूसरी चिति को, पूरी तीसरी व चौथी को तथा पाँचवीं में असपत्न नाकसद, और पंचचूड। ये ऊपर को चढ़ती रहीं। प्रजापति इनसे डरा। उसने सोचा कि ये तो चलते-चलते इस संसार से ऊपर निकल जायेंगी। वह धाता बनकर उनके चारों ओर फिरा और अपने को उनमें स्थापित किया ॥३६॥

यह जो धाता है सो यह सूर्य है। जिस दिशा में यह सबसे दूर गया, यह वही दिशा है जिसमें यह चमकता है ॥३७॥

धाता भी वही है और धाता के लिए जो बारह कपालों का पुरोडाश है वह भी वही है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति धाता है। अब जिस दिशा में बहुत दूर गया, ये वे पहली हवियाँ है। अनुमति के लिए चरु, राका के लिए चरु, सिनीवाली के लिए चरु, कुहू के लिए चरु, यह जो इनको निकालता है। जिस दिशा में वह बहुत दूर तक जाता है, उसी में इसकी स्थापना करता है। इस सबको आहुति देता है इसकी पूर्ति के लिए। ॥३८॥

ये देवियाँ हैं। ये दिशायें हैं। दिशायें छन्द हैं। छन्द देवी है। यह प्रजापति 'क:' है। देवी और क: से 'देविका' हुआ। ये पाँच होती हैं। पाँच ही दिशायें हैं ॥३९॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि इन हवियों को न निकाले, क्योंकि अति हो जायगी। परन्तु इनको अवश्य निकाले। कामनाओं के लिए ये हवियाँ निकाली जाती हैं। कामनाओं में 'अति' का प्रश्न ही नहीं उठता। जो हवि पशुपुरोडाश के पीछे निकाली जाती है वह पशु के ही मध्य में रक्खी जाती है। दोनों हवियों को निकालता है, अध्वर की भी और अग्नि की भी। पहले अध्वर की, फिर अग्नि की। इसकी व्याख्या हो चुकी। पशुपुरोडाश ऊँची आवाज से होता है; यह चुपचाप, क्योंकि ये इष्टियाँ हैं। पशुपुरोडाश पर (अध्वर्यु) कहता है, 'अनुवाक कह। प्रेरणा कर' और इष्टियों पर कहता है, 'अनुवाक कह, यज्ञ कर।' स्विष्टकृत् और ईडा भी समान ही है ॥४०॥

उसी पशु की समिष्ट-यजु आहुतियाँ देते हैं। हृदयशूल से अवभृथ करते हैं। यह पशु-यज्ञ अंतिम है। हृदय-शूल करके ॥४१॥

और वेदी पर लौटकर वैश्वकर्म आहुतियाँ देता है। यह अग्नि (वेदी) ही विश्वकर्मा है। इस अग्नि-चयन में सब कर्म आ जाते हैं। वह इनको प्रसन्न करता है और हवि से उनको देवता बनाता है। जिस देवता के लिए हवि निकाली जाती है, वही देवता होता है, वह नहीं जिसके लिए हवि नहीं निकाली जाती। यह अग्नि विश्वकर्मा है, उसी को प्रसन्न करता है ॥४२॥

वैश्वकर्म आहुतियाँ क्यों देता है ? अग्नि के लिए प्रायण और उपनयन दोनों होते हैं।

सावित्राणि प्रायणं वैश्वकर्मणान्युदयनꣳ स यत्सावित्राण्येव जुहुयान्न वैश्वकर्मणानि यथा प्रायणमेव कुर्यान्नोदयनं तादृक्तदथ यद्वैश्वकर्मणान्येव जुहुयान्न सावित्राणि यथोदयनमेव कुर्यान्न प्रायणं तादृक्तदुभयानि जुहोति प्रायणं च तदुदयनं च करोति ॥४३॥ अष्टावमूनि भवन्ति । एवमिमानि तद्यथा प्रायणं तथोदयनं करोति स्वाहाकारोऽमीषां नवमो भवत्येवमेषां तद्यथा प्रायणं तथोदयनं करोत्याहुतिरमीषां दशमी भवत्येवमेषां तद्यथा प्रायणं तथोदयनं करोति संततां तत्राहुतिं जुहोति रेतो वै तत्र यज्ञो रेतसोऽविच्छेदाय स्रुवेणेद् स्वाहाकारं निरुक्तꣳ हि रेतो जातं भवति ॥४४॥ यदाकूतात् । समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वेत्येतस्माद्ध्येतत्सर्वस्मादग्रे कर्म समभवत्तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इत्यमूनेतदृषीनाह ॥४५॥ एतꣳ सधस्थ । परि ते ददामीति स्वर्गो वै लोकः सधस्थस्तदेनꣳ स्वर्गाय लोकाय परिददाति यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः　अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वोऽअत्र तꣳ स्म जानीत परमे व्योमन्निति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥४६॥ एतं जानाथ । परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद रूपमस्य　यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवथाविरस्माऽइति यथैव यजुस्तथा बन्धुरुद्बुध्यस्वाग्ने येन वहसीति तयोरुक्तो बन्धुः ॥४७॥ प्रस्तरेण परिधिना । स्रुचा वेद्या च बर्हिषा　ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवऽइत्येतैर्नो यज्ञस्य रूपैः स्वर्गं लोकं गमयेत्येतत् ॥४८॥ यद्दत्तं यत्परादानम् । यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः　तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधदिति यच्चैव सम्प्रति दद्मो यच्चासम्प्रति तन्नोऽयमग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्गे लोके दधात्वित्येतत् ॥४९॥ यत्र धारा अनपेताः । मधोर्घृतस्य च याः　तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु णो दधदिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥५०॥ अष्टौ वैश्वकर्मणानि जुहोति । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ॥५१॥ वैश्व-

सावित्र प्रायण हैं और वैश्वकर्म उदयन। यदि सावित्र करे, वैश्वकर्म न करे तो मानो प्रायण किया, उदयन न किया। इसी प्रकार यदि वैश्वकर्म किया, सावित्र न किया, तो मानो प्रायण न किया उदयन किया। इसलिए दोनों आहुतियाँ देता है, प्रायण भी और उदयन भी ॥४३॥

वे (सावित्र) आठ होती हैं, और ये (वैश्वकर्म) भी आठ। इस प्रकार जितने प्रायण उतने उदयन। इनमें स्वाहाकार नवाँ होता है। जैसे प्रायण में, वैसे उदयन में। इनमें आहुति दसवीं होती है। जैसे प्रायण वैसे उदयन। उस समय आहुति को निरन्तर देता है। यज्ञ रेत है। रेत का विच्छेद नहीं, इसलिए यहाँ स्रुव से। स्वाहाकार से। इस प्रकार रेत (वीर्य) निश्चित हो जाता है ॥४४॥

इस मन्त्र से—"यदाकूतात् समसुस्रोद् धृदो वा मनसो या संभृतं चक्षुषो वा। तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऽ ऋषयो जग्मुः प्र प्रथमजाः पुराणाः" (यजु० १८।५८)—"जो विचार से, हृदय से, मन से, चक्षु से निकला उसी के पीछे-पीछे चलकर सुकृतलोक को प्राप्त करो, जहाँ पहले ऋषि गये थे।" यह ऋषियों की ओर संकेत है। ॥४५॥

"एतँ सधस्थं परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः। अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो ऽ अत्र तँ स्म जानीत परमे व्योमन्" (यजु० १८।५९)—"जातवेद जिस कोश को लाया है उसको मैं तुझे देता हूँ। हे सधस्थ ! यज्ञपति तेरे पीछे जायगा। इसको परम धाम में पहचान।" ॥४६॥

"एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य। यदागच्छात् पथिभिर्देवया-नैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै" (यजु० १८।६०)—"हे देवो ! इसको परम धाम में जानो और इसका रूप पहचानो। जब देवयान मार्ग से आवे तो अपनी इच्छाओं को प्रकट करो।" अर्थ स्पष्ट है। "उद्बुध्यस्वाग्ने···"(यजु० १८।६१)—"येन वहसि···" (यजु० १८।६२)—इसकी व्याख्या हो चुकी ॥४७॥

"प्रस्तरेण परिधिना स्रुवा वेद्या च बर्हिषा। ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे" (यजु० १८।६३)—यज्ञ के इन रूपों से स्वर्ग को ले जा ॥४८॥

"यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्" (यजु० १८।६४)—"जो दान दिया, जो भेंट की, जो दक्षिणा दी, उसको वैश्वकर्मा अग्नि स्वर्ग में हमारे लिए रक्खे।" ॥४९॥

"यत्र धारा ऽ अनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्" (यजु० १८।६५)—"जहाँ मधु और घी की धारायें समाप्त नहीं होतीं, अग्नि वैश्वकर्मा हमको उन स्वर्गों में रक्खे" ॥५०॥

वैश्वकर्मा आहुतियाँ आठ होती हैं। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है जितना अग्नि है और जितनी उसकी मात्रा, उतने ही अन्न से उसको प्रसन्न करता है ॥५१॥

कर्मणानि कृत्वा नाम करोति । यदा वै सर्वः कृत्स्नो जातो भवत्यथ नाम कुर्व-न्त्यत्र वाऽएष सर्वः कृत्स्नो जातो भवति ॥५२॥ ॥ शतम्५१०० ॥ ॥ नाम कृत्वा-थैनमुपतिष्ठते । सर्वेण वाऽएष एतमात्मना चिनोति स यदेतामत्रात्मनः परिदां न वदेतात्र हैवास्यैष आत्मानं वृञ्जीताथ यदेतामत्रात्मनः परिदां वदते तथो हास्यैष आत्मानं न वृङ्क्ते येऽअग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुवेति ये के चाग्नयः पञ्चचितिका अस्यां पृथिव्यामधि तेषामसि त्वᳪ सत्तमः प्रोऽअस्माञ्जीवनाय सुवेत्येतदनुष्टुभा वाग्वाऽअनुष्टुब्वागु सर्वाणि छन्दाᳪसि सर्वै रेवास्माऽएतच्छन्दोभिर्निह्नुतऽउपस्थायाग्निᳪ समारोह्य निर्मथ्योदवसानीयया यजते ॥५३॥ अथ मैत्रावरुण्या पयस्यया यजते । देवत्रा वाऽएष भवति य एतत्कर्म करोति देवम्वेतन्मिथुनं यन्मित्रावरुणौ स यदेतयानिष्ट्वा मानुष्यां चरेत्प्रत्यवरोहः स यथा देवः सन्मानुषः स्यात्तादृक्तदथ यदेतया मैत्रावरुण्या पयस्यया यजते देवमेवैतन्मिथुनमुपैत्येतयेष्ट्वा कामं यथाप्रतिरूपं चरेत् ॥५४॥ यद्वेवैतया मैत्रावरुण्या पयस्यया यजते । प्रजापतेर्विस्रस्ताद्रेतः परापतत्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतया मैत्रावरुण्या पयस्यया रेतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ॥५५॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रᳪसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यदस्मात्तद्रेतः परापतदेषा सा पयस्या मैत्रावरुणी भवति प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ प्राणोदानाऽउ वै रेतः सिक्तं विकुरुतः पयस्या भवति पयो हि रेतो यज्ञो भवति यज्ञो ह्येव यज्ञस्य रेत उपाᳪशु भवत्युपाᳪशु हि रेतः सिच्यतेऽनन्तो भवत्यनन्तो हि रेतो धीयते ॥५६॥ तस्यै वाजिनेन चरन्ति । तस्मिन्दक्षिणां दधाति तूपरौ मिथुनौ दद्यादित्यप्याज्ञायेनैव मन्यऽइति ह स्माह माहित्थिः स-वत्यु हैषाग्निचित आहुतिः सोमाहुतिर्यामनिष्टके जुहोति ॥५७॥ स स्वयमातृण्णा एवोपदधीत । इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इमऽउ लोका एषोऽग्निश्चितः ॥५८॥

वैश्वकर्म आहुतियाँ देकर नाम रखता है। जैसे जब मनुष्य पूरा उत्पन्न हो जाता है, तो उसका नाम रखते हैं, इसी प्रकार यह भी पूर्ण उत्पन्न हो जाता है ॥५२॥

नाम रखकर उसकी उपासना करता है, क्योंकि यह (यजमान) उस वेदी को अपने शरीर से ही बनाता है। यदि वह आत्म-समर्पण न करे तो अग्नि उस यजमान के शरीर को ले लेवे। परन्तु जब वह आत्म-समर्पण कर देता है तो अग्नि उसके शरीर को नहीं लेता। इस मन्त्र से—"ये ऽ अग्नयः पाञ्चजन्या ऽ अस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव" (यजु० १८।६७)—"इस पृथिवी में जो पाँचजन्य अग्नियाँ हैं, तू उनमें सबसे उत्तम है। तू हमको जीवन दे।" यह अनुष्टुम् से। वाणी अनुष्टुप् है। सब छन्द वाणी हैं। इस प्रकार सब छन्दों द्वारा इसकी पूर्ति करता है। अग्नि की उपासना करके, उठा के, मथ के वह समाप्ति की आहुति देता है ॥५३॥

अब मित्र और वरुण के लिए दही की आहुति देता है। जो यह कर्म करता है वह देवों का-सा कर्म करता है। यह जो मित्रावरुण है वे देवों के जोड़े हैं। जो इस इष्टि को न करके मानुषी करे वह उल्टा करेगा। मानो पहले देवता होकर फिर मनुष्य होगा। यह जो मित्र-वरुण के लिए दही की आहुति देता है तो इस दैवी जोड़े को प्राप्त होता है। इसको करके फिर जिसको चाहे करे ॥५४॥

मित्र-वरुण के लिए यह दही की आहुति क्यों देता है? शिथिल प्रजापति का वीर्य चला गया। जब देवों ने इसकी पूर्ति की तो इस मित्र-वरुण-सम्बन्धी दही की आहुति से वीर्य स्थापित किया। इसी प्रकार यह यजमान भी इसमें इस कृत्य को करता है ॥५५॥

यह जो प्रजापति शिथिल हुआ था, यह यही अग्नि या वेदी है जो चिनी जाती है। यह जो वीर्य निकल गया यह मित्र-वरुण-सम्बन्धी दही है। मित्र और वरुण, प्राण और उदान हैं। प्राण-उदान ही वीर्य को बनाते हैं। यह पयस्या है, क्योंकि रेतः (वीर्य) दूध है। यह यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ का वीर्य यज्ञ है। चुपके-चुपके, क्योंकि वीर्य चुपके-चुपके ही सींचा जाता है। अन्त में होता है, क्योंकि वीर्य अन्त में ही धारण किया जाता है ॥५६॥

उस दही के मट्ठे की आहुति देते हैं। उसमें दक्षिणा भी दी जाती है। तूपरों (बिना सींग के बकरों) का एक जोड़ा देना चाहिए। माहित्थि का कहना है कि इस दान की केवल कल्पना कर लेनी चाहिए। यह आहुति वस्तुतः बह ही जाती है, अग्नि की चिति से जैसे बिना ईंट की वेदी में सोम यज्ञ करने से ॥५७॥

स्वयमातृण्णा को ही रख लेवे। यह लोक स्वयमातृण्णा हैं। यह लोक ही यह चिनी हुई वेदी है ॥५८॥

ऋतव्या एवोपदधीत । संवत्सरो वाऽऋतव्याः संवत्सर एषोऽग्निश्चितः ॥५९॥ विश्वज्योतिष एवोपदधीत । एता वै देवता विश्वज्योतिष एता उ देवता एषोऽग्निश्चितः ॥६०॥ पुनश्चितिमेवोपदधीत । पुनर्यज्ञो ह्येष उत्तरा ह्येषा देवयज्या पुनर्यज्ञमेवैतदुपधत्तऽउत्तरामेव देवयज्यामुप ह्येनं पुनर्यज्ञो नमतीति न तथा कुर्याद्यो वाव चितेऽग्निर्निधीयते तामेवेष्टकामेष सर्वोऽग्निरभिसम्पद्यते तद्यदग्नौ जुहोति तदेवास्य यथा सर्वस्मिञ्छाण्डिलेऽग्नौ संचिते पक्षपुच्छवत्याहुतयो हुताः स्युरेवमस्यैता आहुतयो हुता भवन्ति ॥६१॥ सर्वाणि वाऽएष भूतानि । सर्वान्देवान्गर्भी भवति योऽग्निं बिभर्ति स योऽसंवत्सरभृतं चिनुतऽएतानि ह स सर्वाणि भूतानि गर्भं भूतं निर्हते यो न्वेव मानुषं गर्भं निर्हन्ति तन्न्वेव परिचक्षतेऽथ किं य एतं देवो ह्येष नासंवत्सरभृतस्यऽर्त्विजा भवितव्यमिति ह स्माह वात्स्यो नेदस्य देवरेतसस्य निर्हण्यमानस्य मेद्यसानीति ॥६२॥ षण्मास्यमन्तमं चिन्वीतेत्याहुः । षण्मास्या वाऽअन्तमा गर्भा जाता जीवन्तीति स यद्यसंवत्सरभृते महदुक्थꣳ शꣳसेदृगशीतीः शꣳसेदसर्वं वै तद्यदसंवत्सरभृतोऽसर्वं तद्यदृगशीतयो विकृष्टं ह्येनꣳ स भूयो विकर्षेद्यदि चैव संवत्सरभृतः स्याद्यदि चासंवत्सरभृतः सर्वमेव महदुक्थꣳ शꣳसेत् ॥६३॥ अथ ह शाण्डिल्यायनः प्राच्यां जगाम । तꣳ ह दैयाम्पातिरुवाच शाण्डिल्यायन कथमग्निश्चेतव्यो ग्लायामोऽह संवत्सरभृतायाग्निमु चिकीषामहऽइति ॥६४॥ स होवाच । कामं न्वाऽएनꣳ स चिन्वीत येन पुरा संवत्सरं भृतः स्यात्तꣳ ह्येव तं भृतꣳ सन्तं चिनुतऽइति ॥६५॥ कामम्न्वेवैनꣳ स चिन्वीत । यः संवत्सरमभिषविष्यन्त्स्यादेष वाऽएनं प्रत्यक्षमन्नेन बिभर्त्येताभिराहुतिभिः ॥६६॥ कामम्न्वेवैनꣳ स चिन्वीत । यः संवत्सरमग्निहोत्रं जुहुयाद्बिभर्ति वाऽएनमेष योऽग्निहोत्रं जुहोति ॥६७॥ कामम्न्वेवैनꣳ स चिन्वीत । यः संवत्सरं जातः स्यात्प्राणो वाऽअग्निस्तमेतद्बिभर्त्यथ ह वै रेतः

ऋतव्या इंट को ही रख लेवे। संवत्सर ऋतव्या है। संवत्सर ही यह चिनी हुई अग्नि है ॥५६॥

विश्वज्योति को ही रख लेवे। यह विश्वज्योति ही ये देवता हैं और यह चिनी हुई अग्नि (वेदी) ही ये देवता हैं ॥६०॥

पुनश्चिति को ही रख लेवे, क्योंकि यह पुनर्यज्ञ है (दुबारा किया हुआ यज्ञ) है। यह पिछला (या उत्कृष्ट) है। इस प्रकार वह देवों के लिए पुनर्यज्ञ को रचता है। उत्तम को देवों के लिए। परन्तु ऐसा न करे। चिनी हुई वेदी में जो अग्नि रक्खी जाती है, वह अग्नि उस सब इंट में प्रविष्ट हो जाती है। जो इस अग्नि में आहुति देता है तो वे आहुतियाँ उसी प्रकार दी हुई समझी जाती हैं जैसे पक्ष-पुच्छ-सहित चिनी हुई शाण्डिल वेदी में दी हुई आहुतियाँ ॥६१॥

जो अग्नि को ले जाता है, वह सब भूतों और सब देवताओं से गर्भी (गर्भवाला, धारण करनेवाला) समझा जाता है। और जो असंवत्सरभृत (बिना सालभर तक अग्नि लाये हुए) को चुनता है, वह इन सब भूतों को गर्भ में ही मार डालता है। जो मनुष्य के गर्भ को मारता है, वह तिरस्कृत होता है, फिर जो अग्नि को मार डाले, जो देव है, वह कितना अपस्कृत न होगा ! वात्स्य का कहना है कि जो असंवत्सरभृत है उसका किसी को ऋत्विज नहीं बनना चाहिए कि कहीं यह देव के वीर्य को मारने का दोषी न हो जाय ॥६२॥

ऐसा कहते हैं कि छः मास की चिनी हुई अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि छः मास से कम का गर्भ जीता नहीं। अगर असंवत्सरभृत में महदुक्थ कहे तो उसको अस्सी मन्त्र पढ़ने चाहिएँ। यह जो संवत्सरभृत है वह अपूर्ण है। जो अस्सी मन्त्र हैं वे भी अपूर्ण हैं। परन्तु इसका अर्थ तो यह है कि बिगड़े हुए को और बिगाड़ना। चाहे संवत्सरभृत हो चाहे असंवत्सरभृत, महदुक्थ को पूरा पढ़ना चाहिए (अधूरा न पढ़े) ॥६३॥

एक बार शाण्डिल्यायन पूर्वी देश में गया। दैयाम्पाति ने उससे कहा, 'शाण्डिल्यायन ! वेदी कैसे बनावें ? बनाना तो चाहते हैं परन्तु संवत्सरभृत नहीं करना चाहते, अर्थात् सालभर तक नहीं ले जाना चाहते' ॥६४॥

उसने उत्तर दिया, 'इसको वह मनुष्य प्रसन्नता से चिने, जिसने पहले सालभर तक अग्नि को रक्खा हो।' उसको वह उसी प्रकार चिनता है (जैसे गर्भ में बच्चे को रखने-वाला) ॥६५॥

या वह प्रसन्नतापूर्वक चुने जो सालभर तक सोम के निचोड़ने का विचार रखता है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से इन आहुतियों रूपी अन्न से उसका पालन करता है ॥६६॥

या वह प्रसन्नतापूर्वक चुने जो सालभर तक अग्निहोत्र करे। जो अग्निहोत्र करता है वह अवश्य ही इसका पालन करता है ॥६७॥

या वह प्रसन्नता से चुने जो (माँ के गर्भ से) सालभर में पैदा हुआ हो। अग्नि प्राण है। इस प्रकार वह उसको धारण करता है। वह प्राणरूप से वीर्य में चला जाता है और उस

सिक्तं प्राणोऽन्ववरोहति तद्विन्दते तद्यज्जातं-जातं विन्दते तस्माज्जातवेदास्त-स्मादप्येवंवित्कामᳲ सद्योभृतं चिन्वीत यद्व ह वाऽएवंवित्पिबति वा पाययति वा तदेवास्य यथा सर्वस्मिञ्छाण्डिलेऽग्नौ संचिते पद्मपुष्कवत्याहुतयो हुताः स्यु-रेवमस्यैता आहुतयो हुता भवन्ति ॥६८॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [५. १.] ॥ ॥

इन्द्र एतत्सप्तर्चमपश्यत् । न्यूनस्याप्त्याऽअतिरिक्तस्यानतिरिक्त्यै व्यृद्धस्य समृ-द्ध्याऽअथ ह वाऽईश्वरोऽग्निं चित्वा किंचिद्दौरितमापत्तोर्वि वा ह्वलितोर्यद्वा यद्वा ह वा एतच्छ्यापर्णः सायकायनः शुश्रावाथ हैतत्कर्मोपदधर्ष ॥१॥ सैषा त्र्यस्य समृद्धिः । अग्नेः समृद्धिर्योऽग्निं चिनुते तस्य समृद्धिर्योऽग्निं चिनोति तस्य समृद्धिः ॥२॥ तद्यदेतेनोपतिष्ठते । यदेवास्यात्र विद्वान्वाविद्वान्वाति वा रेचयति न वाप्याययति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति यदस्य किं चानाप्तं य उ तस्यामनु-ष्टुभ्यृचि कामोऽत्रैव तमाप्नोत्यथाऽएतस्मादेवैतत्कर्मणो रक्षाᳲसि नाष्ट्रा अपहन्ति नो हैनमनुव्याहारिण स्तृण्वते तस्मादप्येवंवित्कामं परस्माऽअग्निं चिनुयादीश्वरो ह श्रेयान्भवितोः ॥३॥ वार्त्रहत्याय शवसे । सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमिति वा-र्त्रघ्नीभ्यां प्रथमाभ्यामुपतिष्ठतऽएतद्वै देवा वृत्रं पाप्मानᳲ हत्वापहतपाप्मान एत-त्कर्माकुर्वत तथैवैतद्यजमानो वृत्रं पाप्मानᳲ हत्वापहतपाप्मैतत्कर्म कुरुते ॥४॥ वि न इन्द्र मृधो जहि । मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा इति वैमृधीभ्यां द्वितीयाभ्यामेतद्वै देवा मृधः पाप्मानᳲ हत्वापहतपाप्मान एतत्कर्माकुर्वत तथैवैतद्य-जमानो मृधः पाप्मानᳲ हत्वापहतपाप्मैतत्कर्म कुरुते ॥५॥ वैश्वानरो न ऊतये । पृष्टो दिवि पृष्टोऽअग्निः पृथिव्यामिति वैश्वानरीभ्यां तृतीयाभ्यामेतद्वै देवा वै-श्वानरेण पाप्मानं दग्ध्वापहतपाप्मान एतत्कर्माकुर्वत तथैवैतद्यजमानो वैश्वान-रेण पाप्मानं दग्ध्वापहतपाप्मैतत्कर्म कुरुते ॥६॥ अश्याम त काममग्ने तवोती-ति । एकया कामवत्यैतद्वै देवाः षडृचेन पाप्मानमपहत्यैकया कामवत्यैकधात्ततः

पर स्वत्व कर लेता है। चूँकि वह प्रत्येक उत्पन्न हुए पर स्वत्व करता है इसलिए इसका नाम जातवेद है। इसलिए हर एक जो यह समझता है कि मैं इसको अपने में धारण किये हुए हूँ उसको चिन लेना चाहिए। ऐसा पुरुष यदि सोम को पीयेगा या किसी को पिलायेगा तो उसी प्रकार समझा जायगा जैसे पक्ष-पुच्छसहित बनी हुई शाण्डिल वेदी में आहुति देनेवाले हों। (तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पुरुष के भीतर अग्नि जातवेद है, जो उसके शरीर में गर्भ के साथ आई है। इसलिए उसको समझ लेना चाहिए कि मैं अग्नि-सम्पन्न हूँ) ॥६८॥

चित्युपस्थानम्

अध्याय ५—ब्राह्मण २

इन्द्र ने इन सात ऋचाओं (सप्तर्चि) को देखा, कमी को पूरा करने के लिए, अधिक का उपचार करने के लिए और अपूर्ण को पूर्ण करने के लिए। अग्नि (वेदी) के चिनने के पश्चात् सम्भव है कि मनुष्य आपत्ति में फँस जाय, भूल कर जाय; या इसी प्रकार की अन्य अनिष्ट बात हो जाय। जब श्यापर्ण सायकायन ने सुना तो उसने इस कृत्य के करने का विचार किया ॥१॥

अब तीन की समृद्धि का प्रश्न है—पहले अग्नि या वेदी की समृद्धि, दूसरे जो अग्नि को चिनवावे उसकी, तीसरे जो अग्नि चिने उसकी ॥२॥

जब वह इस (सप्तर्चि) से उपासना करता है तो चाहे जाने हुए चाहे बेजाने, जो छोड़ जाय या न प्राप्त करे उस सबकी पूर्ति हो जाती है, अर्थात् सब भूल-चूक का प्रतिकार हो जाता है। इस अनुष्टुम् ऋचा में जो कुछ कामना है उसको प्राप्त कर लेता है। इस कर्म से दुष्ट राक्षसों को मार भगाता है और वे उसको सता नहीं सकते। इसलिए जो इस रहस्य को जानता है उसे स्वयं यह वेदी बनानी चाहिए, चाहे शत्रु के लिए ही क्यों न हो, क्योंकि इस प्रकार कल्याण होता है ॥३॥

वेदी की उपासना इन सात मन्त्रों से–(१) "वार्त्रहत्याय शवसे···" (यजु० १८।६८)—(२) "सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तम्···" (यजु० १८।६९)—इन दो वृत्रहत्या-सम्बन्धी ऋचाओं से उपासना करता है। देवों ने पापी वृत्र को मारकर, पापरहित होकर यह कर्म किया था। यह यजमान भी पापी वृत्र को मारकर, पाप से मुक्त होकर ऐसा ही करता है ॥४॥

(३) "वि न ऽ इन्द्र मृधो जहि" (यजु० १८।७०)—(४) "मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः" (यजु० १८।७१)—इन दो 'वि-मृध्' सम्बन्धी दो मन्त्रों से उपासना करता है। देवों ने पापी 'मृधों' को मारकर निष्पाप होकर यह कर्म किया था, इसी प्रकार यजमान भी पापी 'मृधों' (नाश करनेवालों) को मारकर यह कृत्य करता है ॥५॥

(५) 'वैश्वानरो न ऽ ऊतये" (यजु० १८।७२)—(६) "पृष्टो दिवि पृष्टो ऽ अग्निः पृथिव्याम्" (यजु० १८।७३)—इन दो वैश्वानरी मन्त्रों से। देवों ने वैश्वानर मन्त्र से पापियों को जला दिया और निष्पाप होकर यह कृत्य किया, इसी प्रकार यजमान भी वैश्वानर मन्त्रों से पापी को जलाकर पापशून्य होकर यह काम करता है ॥६॥

"अश्याम तं काममग्ने तवोती" (यजु० १८।७४)—इस एक 'कामवती' ऋचा से उपासना करता है। देवों ने छः ऋचाओं से पापी को मारा। एक कामवती ऋचा से अपना

सर्वान्कामानात्मन्नकुर्वत तथैवैतद्यजमानः षडृचेन पाप्मानमपहत्यैकया कामव-
त्यैकधात्ततः सर्वान्कामानात्मन्कुरुते ॥७॥ सप्तर्चं भवति । सप्तचितिकोऽग्निः सप्त
ऽर्तवः सप्त दिशः सप्त देवलोकाः सप्त स्तोमाः सप्त पृष्ठानि सप्त छन्दाꣳसि सप्त
ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः सप्त शीर्षन्प्राणा यत्किं च सप्तविधमधिदेवतमध्यात्मं
तदेनेन सर्वमाप्नोति ता अनुष्टुभमभिसम्पद्यन्ते वाग्वाऽअनुष्टुब्वाचैवास्य तदा-
प्नोति यदस्य किं चानाप्तम् ॥८॥ अष्टर्चेनोपतिष्ठेतेत्यु हैकऽआहुः । वयं तेऽअ-
द्य ररिमा हि काममिति द्वितीयया कामवत्या सप्त पूर्वास्तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री
गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्य तदाप्नोति यदस्य किं चानाप्त-
मथोऽएवꣳ समं देवते भजतेऽइति न तथा कुर्यादेता वाव सप्ताष्टावनुष्टुभो भ-
वन्ति स योऽष्टर्चे कामोऽत्रैव तमाप्नोति ॥९॥ ऐन्द्राग्नीभिरुपतिष्ठते । ऐन्द्राग्नो
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्य तदाप्नोति यदस्य किं चानाप्तमिन्द्रा-
ग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्य तदाप्नो-
ति यदस्य किं चानाप्तम् ॥१०॥ तद्धैके । कर्मणः-कर्मण एवैतां प्रतिपदं कुर्वते
ऽपहतपाप्मान एतत्कर्म करवामहाऽइति पुरीषवतीं चितिं कृत्वोपतिष्ठेतेत्यु है-
कऽआहुस्तत्र हि सा सर्वा कृत्स्ना भवतीति स यथा कामयेत तथा कुर्यादिति
नु चयनस्याथातोऽचयनस्य ॥११॥ त्रयो ह वै समुद्राः । अग्निर्यजुषां महाव्रतꣳ
साम्नां महदुक्थमृचाꣳ स य एतानि परस्मै करोत्येतान्ह स समुद्राञ्छोषयते
ताञ्छुष्यतोऽन्वस्य छन्दाꣳसि शुष्यन्ति छन्दाꣳस्यनु लोको लोकमन्वात्मात्मान-
मनु प्रजा पशवः स ह श्वः-श्व एव पापीयान्भवति य एतानि परस्मै करोति
॥१२॥ अथ य एतान्यकृत्वा । परस्माऽअपि सर्वैरन्यैर्यज्ञक्रतुभिर्याजयेदेतेभ्यो है-
वास्य समुद्रेभ्यश्छन्दाꣳसि पुनराप्यायन्ते छन्दाꣳस्यनु लोको लोकमन्वात्मात्मान-
मनु प्रजा पशवः स ह श्वः-श्व एव श्रेयान्भवति य एतानि परस्मै न करोत्यथैष

मनोरथ पूरा किया। इसी प्रकार यह यजमान भी छः ऋचाओं से पापी को मारकर एक ऋचा से सब कामनाओं को पूरा करता है ॥७॥

ये सात ऋचायें होती हैं। वेदी में सात चितियाँ होती हैं। सात ऋतुयें, सात दिशायें, सात अरण्य, सिर में सात प्राण; जो कुछ आधिदैव या आध्यात्मरूपी सात हैं वे सब इससे प्राप्त होते हैं। यह अनुष्टुम् हैं। वाक् अनुष्टुभ् है। जो कुछ प्राप्त नहीं होता वह वाणी से ही प्राप्त किया जाता है ॥८॥

कुछ लोग कहते हैं कि आठ ऋचाओं से उपासना करे। आठवीं कामवती ऋचा यह है— "वयं ते अद्य ररिमा हि कामम्" (यजु० १८।७५) —सात पहले हुईं। यह आठवी हुई। गायत्री के आठ अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने से ही उस सबकी प्राप्ति करता है जो प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त ये दोनों देवता भी दूसरों के समान भाग पा लेते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। सात अनुष्टुम् मन्त्र ही आठ के बराबर हो जाते हैं और इनसे वही फल मिल जाता है जो आठ से मिलना चाहिए था ॥६॥

इन्द्र और अग्निवाले मन्त्रों से उपासना करता है। यह वेदी इन्द्र और अग्नि की है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसके अनुकूल ही वह उसकी प्राप्ति करता है जो प्राप्त नहीं है। इन्द्र-अग्नि ही सब देव है। अग्नि भी सब देवों का है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से उस सबकी प्राप्ति करता है जो प्राप्त नहीं है ॥१०॥

कुछ लोग इन मन्त्रों से सब काम आरम्भ करते हैं, अर्थात् पाप से छूटकर हम इस कृत्य को करें। दूसरे कहते हैं कि हर चिति को पुरीष से युक्त करके ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह पूरा तभी होता है। जैसा चाहे करे। इतना चयन के विषय में। अब अचयन के विषय में—॥११॥

समुद्र तीन हैं—यजुओं का अग्नि, सामों का महाव्रत, ऋगों का महदुक्थ। जो इन तीनों को किसी शत्रु के लिए करता है वह इन (समुद्रों) को अपने लिए सुखा देता है। इनके सूखने पर सूख जाते हैं। छन्दों के पीछे लोक और लोकों के पीछे वह स्वयं, उसके पीछे प्रजा और पशु। जो इनको दूसरों के लिए करता है वह दिन-प्रतिदिन सूखता जाता है ॥१२॥

वह जो इनको दूसरे के लिए न करके अन्य ऋतुओं या यज्ञों में भाग ले तो इन समुद्रों से ही छन्द-पूर्ति कर देते हैं। छन्दों के पीछे लोक, लोक के पीछे वह स्वयं, प्रजा, पशु। जो इनको दूसरों के लिए नहीं करता वह प्रतिदिन सुखी हो जाता है।

ह वाऽग्रस्य दैवोऽमृत ग्रात्मा स य एतानि परस्मै करोत्येतᳬ ह स दैवमात्मानं परस्मै प्रयच्छत्यथ शुष्क एव स्थाणुः परिशिष्यते ॥१३॥ तद्धैके । कृत्वा कुर्वते वा प्रति वा कारयन्तऽएषा प्रायश्चित्तिरिति न तथा कुर्याद्यथा शुष्कᳬ स्थाणुमुदकेनाभिषिञ्चेत्तादृक्तत्पूयेद्वा वै स वि वा म्रियेतैतस्य प्रायश्चित्तिरस्तीत्येव विद्यात् ॥१४॥ ग्रथ ह स्माह शाण्डिल्यः । तुरो ह कावषेयः कारोत्यां देवेभ्योऽग्निं चिकाय तᳬ ह देवाः पप्रच्छुर्मुने यदलोक्यामग्निचित्यामाहुरथ कस्माद्चेषीरिति ॥१५॥ स होवाच । किं नु लोक्यं किमलोक्यमात्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजो यत्र वाऽग्रात्मा तदङ्गानि यत्रोऽग्रङ्गानि तदात्मा यदि वाऽग्रत्विजोऽलोका भवन्त्यलोक उ तर्हि यजमान उभये हि समानलोका भवन्ति दक्षिणासु त्वेव न संवदितव्यᳬ संवादेनैवऽर्त्विजोऽलोका इति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५. २.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०७ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [६०] ॥ ॥ ग्रस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या४०२ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे संचितिनाम नवमं काण्डं समाप्तम् ॥१॥ ।

यह इसका अमर शरीर है। जो इनको दूसरों के लिए करता है वह अपने आत्मा को दूसरों के सुपुर्द कर देता है और उसका धड़मात्र शेष रह जाता है ॥१३॥

कुछ लोग कहते हैं कि किसी दूसरे के लिए करके फिर अपने लिए करा ले या दुबारा करे। यही प्रायश्चित्त है। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए; मानो सूखे तने को पानी देना। यह सड़ेगा या मरेगा। जानना चाहिए कि इसके लिए कोई प्रायश्चित्त है ही नहीं ॥१४॥

और शाण्डिल्य ने एक बार कहा था कि कावषेयतुर ने एक बार 'कारोती' में देवों के लिए वेदी रचाई। देवों ने पूछा, 'मुनि ! यदि कहते हैं कि अग्नि के चयन से स्वर्गलोक नहीं मिलता तो क्यों इसको चिना है ?' ॥१५॥

उसने उत्तर दिया—स्वर्ग मिले या न मिले। यजमान यज्ञ का आत्मा है। ऋत्विज अंग हैं। जहाँ आत्मा है वहाँ अंग हैं। जहाँ अंग हैं वहाँ आत्मा है। यदि ऋत्विजों को स्वर्ग नहीं तो यजमान को भी नहीं। क्योंकि ये दोनों एक ही लोक के हैं। परन्तु दक्षिणाओं का मोल-तोल नहीं होना चाहिए। ऐसा करने से ऋत्विज स्वर्ग से वंचित हो जाते हैं ॥१६॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत
"रत्नकुमारी दीपिका" भाषा व्याख्या का सञ्चितिनाम
नवम काण्ड समाप्त हुआ।

ओम् । अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते । संवत्सर उपरिष्टान्महदुक्थꣳ शस्यते प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्रꣳ रसोऽगच्छत् ॥१॥ स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । संवत्सरः सोऽथ यान्यस्य तानि पर्वाणि व्यस्रꣳसन्ताहोरात्राणि तानि ॥२॥ स यः स संवत्सरः प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यान्यस्य तान्यहोरात्राणि पर्वाणि व्यस्रꣳसन्तेष्टका एव तास्तद्यदेता उपदधाति यान्येवास्य तान्यहोरात्राणि पर्वाणि व्यस्रꣳसन्त तान्यस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तदेतदत्रैव यजुश्चितमाप्तम् ॥३॥ अथ योऽस्य सोऽग्रꣳ रसोऽगच्छत् । महत्तदुक्थं तमस्य तꣳ रसमृक्सामाभ्यामनुयन्ति तद्यत्तत्र यजुः पुरस्तादेत्यभिनेतेव तदेति यथादो मेऽमुत्रैकं तदाहरिष्यामीत्येवं तद्यजुः पुरस्तादेति तꣳ संवत्सरऽआप्नुवन्ति ॥४॥ तमध्वर्युर्ग्रहेण गृह्णाति । यद्गृह्णाति तस्माद्ग्रहस्तस्मिन्नुद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति सर्वाणि हैतानि सामानि यन्महाव्रतं तदस्मिन्त्सर्वैः सामभी रसं दधाति तस्मिन्होता महतोक्थेन रसं दधाति सर्वा हैता ऋचो यन्महदुक्थं तदस्मिन्त्सर्वाभिर्ऋग्भी रसं दधाति ॥५॥ ते यदा स्तुवते यदानुशꣳसति । अथास्मिन्नेतं वषट्कृते जुहोति तदेनमेष रसोऽप्येति न वै महाव्रतमिदꣳ स्तुतꣳ शेतऽइति पश्यन्ति नो महदिदमुक्थमित्यग्निमेव पश्यन्त्यात्मा ह्यग्निस्तदेनमेतेऽउभे रसो भूत्वापीत ऋक्च साम च तदुभेऽऋक्सामे यजुरपीतः ॥६॥ स एष मिथुनोऽग्निः । प्रथमा च चितिर्द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी चाथ पञ्चम्यै चितेर्यश्चितेऽग्निर्निधीयते तन्मिथुनं मिथुन उऽएवायमात्मा ॥७॥ अङ्गुष्ठा इति पुमाꣳसः । अङ्गुलय इति स्त्रियः कर्णाविति

दशम काण्ड

अथाऽग्निरहस्यं नाम दशमं काण्डम्

चित्याग्नेः सम्वत्सररूपत्वम्, तस्य प्राजापत्यात्मना स्तुतिः, स्तोत्रशस्त्रस्तुतिश्च

अध्याय १—ब्राह्मण १

ओ३म् । यह संवत्सर या अग्नि (वेदी) पहले चिनी जाती है । तत्पश्चात् महदुक्थ कहा जाता है । जब प्रजापति शिथिल हो गया तो उसका उत्कृष्ट रस चला गया ॥१॥

यह जो शिथिल हुआ था यह प्रजापति संवत्सर है । और इसके जो शिथिल पर्व या अंग हैं वे दिन-रात हैं ॥२॥

यह जो शिथिल हुआ संवत्सर प्रजापति है यह वही अग्नि या वेदी है जो चिनी जाती है । ये जो इसके पूर्व दिन-रात शिथिल हो गये थे ये ईंटें हैं । यह जो इन ईंटों को रखता है मानो उन दिन-रातरूपी पर्वों को फिर स्थापित करता है जो शिथिल हो चुके थे । इस प्रकार यह यजु यहाँ चिन गया और सफल हुआ (अर्थात् इस वेदी का चिनना मानो यजु का कृतार्थ होना है) ॥३॥

यह जो उसका उत्कृष्ट रस चला गया वह महदुक्थ है । उस रस की ऋक् और साम के द्वारा खोज करते हैं । यह जो यजु आगे-आगे जाता है वह नेता के समान जाता है, जैसे कोई कहे कि वह मेरी चीज है मैं उसको ले आऊँगा । यह यजु जो आगे जाता है उसको संवत्सर में प्राप्त करते हैं ॥४॥

अध्वर्यु उसको ग्रह के रूप में ग्रहण करता है । ग्रहण करने से इसका नाम 'ग्रह' हुआ । उद्गाता उसमें महाव्रत के नाम से रस रखता है । यह जो महाव्रत है यह सब साम है । मानो इसमें सब सामों के द्वारा रस रखता है । होता उसमें महदुक्थ से रस रखता है । यह जो महदुक्थ है ये सब ऋचायें हैं, अर्थात् इस प्रकार वह सब ऋचाओं के द्वारा रस रखता है ॥५॥

जब उद्गाता स्तोत्र पढ़ते हैं और होता शास्त्र पढ़ते हैं तब वह वषट्कार से आहुति देता है । इस प्रकार इसको इस रस से चंगा कर देता है । वे यह नहीं देखते कि यहाँ यह महाव्रत, जिसकी स्तुति की जाती है पड़ा हुआ है, न यह देखते हैं कि यह महदुक्थ है । वे तो केवल इतना देखते हैं किय ह अग्नि या वेदी मात्र है । यह अग्नि तो शरीर है । ये दोनों (ऋक् और साम) उसमें रस होकर प्रविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार ये ऋक् और साम यजु में प्रविष्ट हो जाते ह ॥६॥

यह वेदी जोड़ों में है । पहली चिति और दूसरी चिति एक जोड़ा हुई, तीसरी और चौथी चिति दूसरा जोड़ा । पाँचवीं चिति का जोड़ा वह अग्नि है जो उस पर रक्खी जाती है । इस प्रकार यह वेदी का शरीर कई जोड़ों से युक्त है ॥७॥

अँगूठे नर हैं, अंगुलियाँ नारी; कान नर हैं, भौहें नारी; होठ नर हैं, नाक नारी; दाँत नर

पुमाᳬसौ भ्रुवाविति स्त्रियाऽओष्ठाविति पुमाᳬसौ नासिकेऽइति स्त्रियौ दन्ता इति पुमाᳬसो जिह्वेति स्त्री सर्वं एव मिथुनः सोऽनेन मिथुनेनात्मनैतं मिथुनमग्निमप्येति ॥८॥ एषात्रापीतिः। अप्यहैतं मिथुन इत्यᳬ ह त्वेवापि मिथुनो वागेवेयं योऽयमग्निश्चितो वाचा हि चीयतेऽथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते स प्राणः प्राणो वै वाचो वृषा प्राणो मिथुनं वाग्वेवायमात्माथ य आत्मन्प्राणस्तन्मिथुनᳬ सोऽनेन मिथुनेनात्मनैतं मिथुनमग्निमप्येति ॥९॥ एषोऽअत्रापीतिः। न ह वाऽअस्यापुत्रतायै का चन शङ्का भवति य एवमेतौ मिथुनावात्मानं चाग्निं च वेदान्नᳬ ह त्वेवायमात्मा दक्षिणान्न वनुते यो न आत्मेति ह्यप्यृषिणाभ्युक्तम् ॥१०॥ तदिदमन्नं जग्धं द्वेधा भवति। यदस्यामृतमूर्ध्वं तन्नाभेरूर्ध्वैः प्राणैरुच्चरति तद्वायुमप्येत्यथ यन्मर्त्यं पराक् तन्नाभिमत्येति तद्धयं भूत्वेमामप्येति मूत्रं च पुरीषं च तद्यदिमामप्येति योऽयमग्निश्चितस्तं तदप्येत्यथ यद्वायुमप्येति यश्चितेऽग्निर्निधीयते तं तदप्येत्येषोऽएवात्रापीतिः ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१॥

प्रजापतिरिमाँल्लोकानिप्सत्। स एतं वयोविधमात्मानमपश्यदग्निं तं व्यधत्त तेनेम लोकमाप्नोत्स द्वितीयं वयोविधमात्मानमपश्यन्महाव्रतं तद्व्यधत्त तेनान्तरिक्षमाप्नोत्स तृतीयं वयोविधमात्मानमपश्यन्महदुक्थं तद्व्यधत्त तेन दिवमाप्नोत् ॥१॥ अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। अन्तरिक्षं महाव्रतं द्यौर्महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयादग्निं महाव्रतं महदुक्थᳬ सह ह्येमे लोका असृज्यन्त तद्यदग्निः प्रथमश्चीयतेऽयᳬ ह्येषां लोकानां प्रथमोऽसृज्यतेत्यधिदेवतम् ॥२॥ अथाध्यात्मम्। मन एवाग्निः प्राणो महाव्रतं वाग्महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयात्सह हि मनः प्राणो वाक्तद्यदग्निः प्रथमश्चीयते मनो हि प्रथमं प्राणानाम् ॥३॥ आत्मैवाग्निः। प्राणो महाव्रतं वाङ् महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयात्सह ह्यात्मा प्राणो वाक्तद्यदग्निः प्रथमश्चीयतऽआत्मा हि प्रथमः सम्भ-

हैं और जीभ नारी। ये सब जोड़े हैं। इस प्रकार इन जोड़ों से रस उस वेदी में प्रविष्ट होता है जिसमें भी जोड़े हैं ॥८॥

अपीति (चंगा होना या रस का प्रवेश) यह है—यह वेदी जोड़ों में है। इस प्रकार भी जोड़े समझे जा सकते हैं। यह जो चिनी हुई अग्नि या वेदी है यह वाणी है, क्योंकि वाणी के द्वारा ही यह चिनी जाती है। इस चिनी हुई वेदी में जो अग्नि रक्खी जाती है वह प्राण है। प्राण वाणी का नर जोड़ा है। प्राण जोड़ा है। यह शरीर वाणी है। और शरीर में जो प्राण है वह इसका नर हैं। इस प्रकार इस आत्मारूपी जोड़े से इस जोड़े अग्नि (वेदी) को चंगा करते हैं ॥९॥

अपीति इस प्रकार भी है–जो पुरुष इस प्रकार जोड़े अर्थात् शरीर और अग्नि के रहस्य को समझता है उसके निस्सन्तान होने की आशंका नहीं रहती। यह शरीर अन्न है ऐसा ऋषि ने कहा था—"दक्षिणाऽन्नं वनुते यो न आत्मा" (ऋ० १०।१०७।७)—"दक्षिणा उस अन्न को प्राप्त करती है जो हमारा शरीर है" ॥१०॥

यह खाया हुआ दो भागों में बँट जाता है। जो इसका अमृत रूप है वह नाभि के ऊपर प्राणों द्वारा चढ़कर वायु में मिल जाता है और जो मुर्दा रूप है वह मूत्र और मलरूपी दो भागों में बँटकर नाभि के नीचे पृथिवी में चला जाता है। यह जो पृथिवी में जाता है वह है जो इस चिनी हुई अग्नि या वेदी में जाता है। यह जो वायु में जाता है यह वह अग्नि है जो वेदी में रक्खी जाती है। यही अपीति है ॥११॥

चितिसम्पत्तयः

अध्याय १—ब्राह्मण २

प्रजापति ने इन लोकों को प्राप्त करना चाहा। उसने इस पक्षीरूप शरीर अर्थात् वेदी को देखा। उसने उसको धारण कर लिया। इससे इस लोक को प्राप्त कर लिया। उसने दूसरे पक्षीरूप शरीर अर्थात् महाव्रत को देखा और उसको धारण कर लिया। उससे अन्तरिक्ष को प्राप्त कर लिया। उसने तीसरे पक्षीरूप शरीर अर्थात् महदुक्थ को देखा और उसको धारण कर लिया। उससे द्योलोक को प्राप्त किया ॥१॥

यह जो चिनी हुई अग्नि या वेदी है वह यह लोक है। महाव्रत अन्तरिक्ष है। महदुक्थ द्यौ है। इसलिए इन सबको एकसाथ प्राप्त करे, अग्नि या वेदी को, महाव्रत को और महदुक्थ को। ये सब लोक साथ बनाये गये। यह जो अग्नि (वेदी) पहले चिनी जाती है, इसको इन लोकों में पहले चिना था। यह अधिदैवत हुआ ॥२॥

अब आध्यात्म लीजिये—यह अग्नि या वेदी मन है। प्राण महाव्रत है। वाणी महदुक्थ है। इसलिए इन सबको साथ प्राप्त करे—मन को, प्राण को, वाणी को। वेदी पहले चिनी जाती है। प्राणों में मन पहला है ॥३॥

अग्नि या वेदी शरीर है। महाव्रत प्राण है, महदुक्थ वाणी है। इन सबको साथ प्राप्त करे अर्थात् आत्मा, प्राण, वाणी। वेदी पहले क्यों चिनी जाती है ? इसलिए कि जन्मनेवाले

वतः सम्भवति ॥४॥ शिर एवाग्निः । प्राणो महाव्रतमात्मा महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सहोपेयात्सह हि शिरः प्राण आत्मा तद्यदग्निः प्रथमश्चीयते शिरो हि प्रथमं जायमानस्य जायते तस्माद्यत्रैतानि सर्वाणि सह क्रियन्ते महद्देवोक्थमात्मानं व्यायतऽआत्मा हि महदुक्थम् ॥५॥ तदाहुः । यदेतानि सर्वाणि सह दुरुपापानि कैतेषामुपाप्तिरिति ज्योतिष्टोमऽएवाग्निष्टोमे ज्योतिष्टोमेनैवाग्निष्टोमेन यजेत ॥६॥ तस्य वाऽएतस्य ज्योतिष्टोमस्याग्निष्टोमस्य । त्रिवृद्बहिष्पवमानं तद्धतस्य शिरः पञ्चदशसप्तदशाऽउत्तरौ पवमानौ तौ पक्षौ पञ्चदशꣳ होतुराज्यꣳ सप्तदशं पृष्ठमेकविꣳशं यज्ञायज्ञियं तत्पुच्छम् ॥७॥ तयोर्वाऽएतयोः । पञ्चदशसप्तदशयोर्द्वात्रिꣳशत्स्तोत्रियास्ततो याः पञ्चविꣳशतिः स पञ्चविꣳश आत्माथ याः सप्तातियन्ति ताः परिमादः पशवो हैताः पशवः परिमाद एतावद्वै महाव्रतं तदेतदत्रैव महाव्रतमाप्नोति ॥८॥ अथ होता सप्त छन्दाꣳसि शꣳसति । चतुरुत्तराण्येकर्चानि विराडष्टमानि तेषां तिस्रश्चाशीतयोऽक्षराणि पञ्चचत्वारिꣳशच्च ततो या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिरशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायतेऽथ यानि पञ्चचत्वारिꣳशत्ततो यानि पञ्चविꣳशतिः स पञ्चविꣳश आत्मा यत्र वाऽआत्मा तदेव शिरस्तत्पक्षपुच्छान्यथ यानि विꣳशतिस्तदावपनमेतावद्वै महदुक्थं तदेतदत्रैव महदुक्थमाप्नोति तानि वाऽएतानि सर्वाणि ज्योतिष्टोमऽएवाग्निष्टोमऽआप्यन्ते तस्माद्व ज्योतिष्टोमेनैवाग्निष्टोमेन यजेत ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

प्रजापतिः प्रजा असृजत । स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजा अथोर्ध्वमेव मृत्युं प्रजाभ्योऽत्तारमसृजत ॥१॥ तस्य ह प्रजापतेः । अर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतं तद्यदस्य मर्त्यमासीत्तेन मृत्योरबिभेत्स बिभ्यदिमां प्राविशद्द्वयं भूत्वा मृच्चापश्च ॥२॥ स मृत्युर्देवानब्रवीत् । क्व नु सोऽभूद्यो नोऽसृष्टेति त्वद्बिभ्यदिमां प्राविक्षदिति सोऽब्रवीत्तं वाऽअन्विच्छाम तꣳ सम्भ

का सबसे पहले शरीर पैदा होता है ॥४॥

अग्नि सिर है, महाव्रत प्राण, महदुक्थ शरीर, इसलिए इन सबको साथ प्राप्त करे—सिर को, प्राण को तथा शरीर को। अग्नि (वेदी) पहले चिनी जाती है क्योंकि जन्मनेवाले का सिर पहले जन्मता है। इसलिए जहाँ ये सब साथ किये जाते हैं वहाँ महदुक्थ को आतमा (श्रेष्ठतम) समझा जाता है क्योंकि वह आत्मा है ॥५॥

इसपर शंका करते हैं कि यदि यह सब साथ प्राप्त करना कठिन है तो इनकी प्राप्ति कैसे हो? इसका इलाज है अग्निष्टोम में ज्योतिष्टोम। अग्निष्टोम में ज्योतिष्टोम करना चाहिए ॥६॥

इस अग्निष्टोम-ज्योतिष्टोम का बहिष्पवमान त्रिवृत् है। वह व्रत का सिर है। पिछले दो पवमान हैं पंचदश तथा सप्तदश। वे दो पक्ष हैं। पंचदश में होता का आज्य और सप्तदश में पृष्ठ। एकविंश में यज्ञायज्ञिय पुच्छ है ॥७॥

इन दोनों पंचदश-सप्तदशों में बत्तीस स्तोत्रिय हैं। इनमें जो पच्चीस हैं वह पच्चीसवाला शरीर है। ये जो सात शेष रहे वे परिमाद हैं। ये पशु हैं, परिमाद पशु होते हैं। महाव्रत इतना है। यह इतना है, यही महाव्रत को प्राप्त करता है ॥८॥

अब होता सात छन्दों को कहता है। हर पिछले-पिछले छन्द में चार अक्षर होते हैं। विराट् आठवाँ है। इनमें अस्सी के तिगुने और पैंतालीस (२८५) अक्षर हुए। अस्सियों से तो महदुक्थ के अस्सियों की प्राप्ति होती है, क्योंकि महदुक्थ को तो अस्सी-अस्सी करके नापा जाता है। पैंतालीस अक्षर में पच्चीस तो इस पच्चीस अंगवाले शरीर के हुए। जहाँ धड़ है वहाँ सिर है और पक्ष है, तथा अन्य अंग। और जो बीस अक्षर शेष रहे वे हैं आवयन (मिलावट)। यह हुआ महदुक्थ। इस प्रकार वह यहाँ (अग्निष्टोम में) भी महदुक्थ की प्राप्ति कर देता है। ये सब अग्निष्टोम-ज्योतिष्टोम में प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए अग्निष्टोम-ज्योतिष्टोम को करना चाहिए ॥९॥

प्रजापतेर्मर्त्यामृतादि-कृत्स्नशरीरसम्पादकत्वेन स्तुतिः

अध्याय १—ब्राह्मण ३

प्रजापति ने प्रजाओं को सृजा। उसने ऊपर के प्राणों से देवों को सृजा, जो नीचे के प्राण हैं उनसे मर्त्य या मनुष्यों को। इनके ऊपर प्रजाओं के लिए खानेवाले मृत्यु को सृजा ॥१॥

इस प्रजापति का आधा भाग मर्त्य था, और आधा अमृत। यह जो इसका मर्त्य भाग था उसके कारण वह मृत्यु से डरा और डरकर पृथिवी में घुस गया दो रूपों में अर्थात् मिट्टी के और जल के ॥२॥

उस मृत्यु ने देवों से कहा, 'वह क्या हुआ जिसने हमको उत्पन्न किया?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'तेरे डर से वह पृथिवी में घुस गया है।' उसने कहा, 'चलो उसे खोजें, उसको बटोरें, मैं

राम न वाऽग्रहं तᳪ हिᳪसिष्यामीति तं देवा ग्रस्याऽग्रधि समभरन्यदस्यास्वा-सीत्ता ग्रपः समभरन्नथ यदस्यां तां मृदं तदुभयᳪ सम्भृत्य मृदं चापश्चेष्टकामकुर्व-स्तस्मादेतदुभयमिष्टका भवति मृच्चापश्च ॥३॥ तदेता वाऽग्रस्य ताः। पञ्च मर्त्या-स्तन्व ग्रासंलोम त्वङ्माᳪसमस्थि मज्जाथैता ग्रमृता मनो वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम् ॥४॥ स यः स प्रजापतिः । ग्रयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या ग्रस्य ताः पञ्च मर्त्यास्तन्व ग्रासन्नेतास्ताः पुरीषचितयोऽथ या ग्रमृता एतास्ता इष्टकाचितयः ॥५॥ ते देवा ग्रब्रुवन् । ग्रमृतमिमं करवामेति तस्यैताभ्याममृताभ्यां तनूभ्यामे-तां मर्त्यां तनूं परिगृह्यामृतामकुर्वन्निष्टकाचितिभ्यां पुरीषचितिं तथा द्वितीयां त-था तृतीयां तथा चतुर्थीम् ॥६॥ ग्रथ पञ्चमीं चितिमुपधाय । पुरीषं निवपति तत्र विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति हिरण्यशकलैः प्रोक्षत्यग्निमभ्यादधाति सा सप्तमी चितिस्तदमृतमेवमस्यैताभ्याममृताभ्यां तनूभ्यामेता मर्त्यां तनूं परिगृह्या-मृतामकुर्वन्निष्टकाचितिभ्यां पुरीषचितिं ततो वै प्रजापतिरमृतोऽभवत्तथैवैतद्यज-मान एतममृतमात्मानं कृत्वा सोऽमृतो भवति ॥७॥ ते वै देवास्तं नाविदुः । यद्येनᳪ सर्वं वाकुर्वन्न वा सर्वं यद्यति वारेचयन्न वाभ्यापयंस्तऽएतामृचमपश्य-न्धामछदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभऽइति ॥८॥ तस्या ग्रस्त्येवाग्नेयम् । ग्रस्त्यैन्द्रमस्ति वैश्वदेवं तद्यदस्या ग्राग्नेयं यद्दैवतस्याग्नेराग्नेयं तदस्य तेन समस्कुर्वन्यदैन्द्रं तदैन्द्रेण यद्वैश्वदेवं तद्वैश्वदेवेन त-मत्रैव सर्वं कृत्स्नᳪ समस्कुर्वन् ॥९॥ तद्यदेतयोपतिष्ठते । यदेवास्यात्र विद्वान्वा-विद्वान्वाति वा रेचयति न वाभ्यापयति तदेवास्यैतया सर्वमाप्नोति यदस्य किं चानाप्तमनुष्टुब्धामछद्भवति वाग्वाऽग्रनुष्टुब्वाग्धामछद्वाचैवास्य तदाप्नोति यदस्य किं चानाप्तं पुरीषवतीं चितिं कृत्वोपतिष्ठेतेत्यु हैकऽग्राहुस्तत्र हि सा सर्वा कृ-त्स्ना भवतीति ॥१०॥ तदु वाऽग्राहुः । यविष्ठवत्यैवोपतिष्ठेतैतद्धास्य प्रियं धाम

उसको हानि न पहुँचाऊँगा।' देवों ने उसको भूमि में से बटोरा, जो जल था उसको जल के रूप में, और जो मिट्टी था उसको मिट्टी के रूप में। मिट्टी और जल दोनों को बटोरकर ईंट बनाई। इसलिए यह मिट्टी और पानी दोनों मिलकर इष्टका बनती है ॥३॥

इसके पाँच अंग मर्त्य (मरनेवाले) थे—लोम, त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा। और इतने अमर थे—मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र ॥४॥

यह वही प्रजापति है जो यह वेदी है जो चिनी जाती है। इसके जो पाँच मर्त्य भाग हैं, वे पुरीष-रहित (मिट्टी की) चितियाँ हैं और जो अमर भाग हैं वे ईंटों की चितियाँ हैं ॥५॥

देवों ने कहा, 'इसको भी अमृत बना लें।' उसके इन दोनों अमृत शरीरों के द्वारा इस मर्त्य शरीर को घेरकर अमर बना लिया। ईंट की दो चितियों से पुरीष-चिति को, ऐसे ही दूसरी को, तीसरी को, चौथी को। (तात्पर्य यह है कि कच्ची मिट्टी की तह दो ईंटों के बीच में आने से वह भी पक्की हो जाती है) ॥६॥

अब पाँचवीं चिति को रखकर पुरीष फैलाता है। वह विकर्णी और स्वयमातृण्णा को रखता है, स्वर्ण के टुकड़ों को बिखेरता है, अग्नि का आधान करना है। यह सातवीं चिति है। वह अमर है। इस प्रकार इसके इन दो अमर शरीरों के द्वारा मर्त्य शरीर को घेरकर अमर बनाया दो ईंटों की चितियों द्वारा पुरीष-चिति को। तब प्रजापति अमर हो गया। उसी प्रकार यह यजमान इस आत्मा को अमर करके अमर हो जाता है ॥७॥

वे देव नहीं जानते थे कि यह पूरा हो गया या नहीं। अधिक तो नहीं बन गया या त्रुटि तो नहीं रह गई? उन्होंने इस ऋचा को देखा—"धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः। सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे" (यजु० १८।७६)—"धाम में बैठनेवाले अग्नि, इन्द्र, देव ब्रह्मा, बृहस्पति, बुद्धिमान् विश्वेदेव हमारे यज्ञ को शुभ काम में प्रेरित करें" ॥८॥

इस ऋचा का एक भाग अग्नि का है, एक इन्द्र का, एक विश्वेदेवा का। जो अग्नि का भाग है उससे तो वेदी का अग्नि-सम्बन्धी भाग पूरा किया, जो इन्द्र का है उससे इन्द्र का भाग। जो विश्वेदेवा का है उससे वैश्वदेव भाग। इस प्रकार इस वेदी को पूर्ण कर दिया ॥९॥

इस मन्त्र से उपासना करने का फल यह है कि इससे वह जिस भाग को जानता है या जिसको नहीं जानता, जिसको अधिक किया और जिसको न्यून किया, इस सबको जो अप्राप्त था, प्राप्त कर लेता है। यह 'धामच्छद' मन्त्र अनुष्टुप् है। अनुष्टुप् वाणी है। वाणी ही धामच्छद या धाम में बैठनेवाली है। वाणी के द्वारा ही जो कुछ अप्राप्त है उसको प्राप्त करता है। कुछ लोगों का मत है कि चिति को पुरीषवती बनाकर उपासना करे, ऐसा करने से वह पूर्ण हो जायगी ॥१०॥

यह भी कहते हैं कि यविष्ठवती ऋचा से उपासना करे; वह ऋचा यह है—"त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँ: पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना" (यजु० १८।७७ या यजु० १३।५२)—"हे शक्तिशाली! तू यजमान की हवियों और नरों की रक्षा कर। स्तुति सुन! सन्तान तथा

यद्यविष्ठ इति तद्यदस्य प्रियं धाम तेनास्य तदाप्नोति यदस्य किं चानाप्तमाग्नेय्याग्निकर्म हि गायत्र्या गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्य तदाप्नोति यदस्य किं चानाप्तमनिरुक्तया सर्वं वाऽअनिरुक्तꣳ सर्वेणैवास्य तदाप्नोति यदस्य किं चानाप्तं त्वं यविष्ठ दाशुष इति तस्योक्तो बन्धुः पुरीषवतीं चितिं कृत्वोपतिष्ठेत तत्र हि सा सर्वा कृत्स्ना भवति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

उभयꣳ हैतदग्रे प्रजापतिरास । मर्त्यं चैवामृतं च तस्य प्राणा एवामृता आसुः शरीरं मर्त्यꣳ स एतेन कर्मणैतयावृतैकधाजरममृतमात्मानमकुरुत तथैवैतद्यजमान उभयमेव भवति मर्त्यं चैवामृतं च तस्य प्राणा एवामृता भवन्ति शरीरं मर्त्यꣳ स एतेन कर्मणैतयावृतैकधाजरममृतमात्मानं कुरुते ॥१॥ स प्रथमां चितिं चिनोति । सा हास्यैषा प्राण एव तद्धि तदमृतममृतꣳ हि प्राणः सैषामृतचितिरथ पुरीषं निवपति तद्धास्यैतन्मज्जैव तद्धि तन्मर्त्यं मर्त्या हि मज्जा तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति तेनास्यैतदमृतं भवति ॥२॥ द्वितीयां चितिं चिनोति । सा हास्यैषापान एव तद्धि तदमृतममृतꣳ ह्यपानः सैषामृतचितिस्तदेतन्मर्त्यमुभयतोऽमृतेन परिगृह्णाति तेनास्यैतदमृतं भवत्यथ पुरीषं निवपति तद्धास्यैतदस्थ्येव तद्धि तन्मर्त्यं मर्त्यꣳ ह्यस्थि तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति तेनास्यैतदमृतं भवति ॥३॥ तृतीयां चितिं चिनोति । सा हास्यैषा व्यान एव तद्धि तदमृतममृतꣳ हि व्यानः सैषामृतचितिस्तदेतन्मर्त्यमुभयतोऽमृतेन परिगृह्णाति तेनास्यैतदमृतं भवत्यथ पुरीषं निवपति तद्धास्यैतत्स्नावैव तद्धि तन्मर्त्यं मर्त्यꣳ हि स्नाव तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति तेनास्यैतदमृतं भवति ॥४॥ चतुर्थीं चितिं चिनोति । सा हास्यैषोदान एव तद्धि तदमृतममृतꣳ ह्युदानः सैषामृतचितिस्तदेतन्मर्त्यमुभयतोऽमृतेन परिगृह्णाति तेनास्यैतदमृतं भवत्यथ पुरीषं निवपति तद्धास्यैतन्माꣳसमेव तद्धि तन्मर्त्यं मर्त्यꣳ हि माꣳसं तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति तेनास्यैतदमृतं भवति

आत्मा की रक्षा कर !" यविष्ठ इसका प्रिय धाम है। जो इसका प्रियधाम है, उससे वह अप्राप्त को प्राप्त कर लेता है। यह आग्नेय ऋचा है, क्योंकि यह अग्नि के कर्मवाली है। गायत्री छन्द से। अग्नि गायत्री है, जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उसी से वह जो कुछ अप्राप्त है उसको प्राप्त करता है। अनिरुक्त से, क्योंकि 'सब' अनिरुक्त (indefinite) है। इससे जो कुछ अप्राप्त है, वह प्राप्त हो जाता है। मन्त्र का अर्थ हो चुका। पुरीषवती चिति को बनाकर ही उपासना करे। इससे यह सब पूरी हो जाती है ॥११॥

प्रजापतेर्मरणधर्मकस्थूलशरीरगतमज्जादिरूपत्वेन हिरण्यरूपत्वेन देवानामन्नरूपत्वेन च स्तुतिः, पक्षिभक्षणवर्जनं व्रतञ्च

अध्याय १—ब्राह्मण ४

यह प्रजापति पहले अमर और मर्त्य दोनों था। उसके प्राण ही केवल अमृत थे और शरीर मर्त्य। उसने इस कर्म से, इस व्रत से एक-एक करके उस शरीर को अजर और अमर बना लिया। इसी प्रकार यह यजमान भी दोनों होता है, मर्त्य भी और अमृत भी। उसके प्राण ही अमर होते हैं, और शरीर मर्त्य। वह इसी कर्म से, इसी व्रत से एक-एक करके उस शरीर को अजर और अमर बना लेता है ॥१॥

वह पहली चिति को चिनता है। यह उसका प्राण ही है जो अमर है। प्राण अमृत है। यह चिति अमृत है। अब उस पर पुरीष डालता है। यह इसका मज्जा है। वह इसका मर्त्य भाग भाग है। मज्जा मर्त्य है। वह इसकी इस अमृत में स्थापना करता है। उससे वह अमृत हो जाता है ॥२॥

दूसरी चिति को चिनता है। वह इसका अपान है। वह अपान अमृत है। यह जो चिति है, वह अमर अपान ही है। इस मर्त्य को दोनों ओर से अमृत से घेरता है। इससे इसका यह भाग भी अमृत हो जाता है। अब पुरीष डालता है, यह उसकी हड्डी ही है। वह मर्त्य है। इस मर्त्य हड्डी की वह अमृत में स्थापना करता है। इस प्रकार वह अमर हो जाता है ॥३॥

तीसरी चिति को चिनता है। यह उसका व्यान है जो अमर भाग है। व्यान अमर है। यह अमर चिति है। इस मर्त्य शरीर को दो अमरों से घेरता है, इसलिए यह अमर हो जाता है। अब पुरीष डाल देते हैं। ये उसकी नसें है जो मर्त्य हैं। इस प्रकार वह अमृत में इसकी स्थापना करता है। वह अमर हो जाता है ॥४॥

चौथी चिति को चिनता है। यह उसका उदान है, जो अमृत है। उदान अमृत है, यह अमृत चिति है। इसको दोनों ओर से अमृत से घेरता है। इससे यह अमृत हो जाता है। अब पुरीष डालता है, यह उसका मांस है। वह मर्त्य है। मांस मर्त्य होता है। उसकी अमृत में स्थापना करता है। उससे यह अमृत हो जाता है ॥५॥

॥५॥ पञ्चमीं चितिं चिनोति । सा हास्यैषा समान एव तद्वै तदमृतममृतᳬ हि समानः सैषामृतचितिस्तदेतन्मर्त्यमुभयतोऽमृतेन परिगृह्णाति तेनास्यैतदमृतं भवत्यथ पुरीषं निवपति तद्धास्यैतन्मेद एव तद्वै तन्मर्त्यं मर्त्यᳬ हि मेदस्तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति तेनास्यैतदमृतं भवति ॥६॥ षष्ठीं चितिं चिनोति । सा हास्यैषा वागेव तद्वै तदमृतममृतᳬ हि वाक्सैषामृतचितिस्तदेतन्मर्त्यमुभयतोऽमृतेन परिगृह्णाति तेनास्यैतदमृतं भवत्यथ पुरीषं निवपति तद्धास्यैतदसृगेव त्वगेव तद्वै तन्मर्त्यं मर्त्यᳬ ह्यसृक्त्वक्तदेतस्मिन्नमृते प्रतिष्ठापयति तेनास्यैतदमृतं भवति ॥७॥ ता वा एताः । षडिष्टकाचितयः षट् पुरीषचितयस्तद्द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत्प्रजापतिरेकधाजरममृतमात्मानमकुरुत तथैवैतद्यजमान एकधाजरममृतमात्मानं कुरुते ॥८॥ अथ विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपधाय । हिरण्यशकलैः प्रोक्षत्यग्निमभ्यादधाति रूपमेव तत्प्रजापतिर्हिरण्मयमन्तत आत्मनोऽकुरुत तद्यदन्ततस्तस्मादिदमन्त्यमात्मनो रूपं तस्मादाहुर्हिरण्मयः प्रजापतिरिति तथैवैतद्यजमानो रूपमेव हिरण्मयमन्तत आत्मनः कुरुते तद्यदन्ततस्तस्मादिदमन्त्यमात्मनो रूपं तस्माद्ये चैतद्विदुर्ये च न हिरण्मयोऽग्निचिदमुष्मिंलोके सम्भवतीत्येवाहुः ॥९॥ तद्धैतच्छाण्डिल्यश्च साप्तरथवाहनिश्च । आचार्यान्तेवासिनौ व्यूदाते रूपमेवास्यैतदिति ह स्माह शाण्डिल्यो लोमानीति साप्तरथवाहनिः ॥१०॥ स होवाच शाण्डिल्यः । रूपं वाव लोमवद्रूपमलोमकᳬ रूपमेवास्यैतदिति तद्वै तत्तथा यथा तच्छाण्डिल्य उवाच संचितेऽग्निः प्रणीयते प्रणीतादूर्ध्वᳬ समिध आहुतय इति हूयन्ते ॥११॥ प्राणेन वै देवा अन्नमदन्ति । अग्निर्हि देवानां प्राणास्तस्मात्प्राग्देवेभ्यो जुह्वति प्राणेन हि देवा अन्नमदन्त्यपानेन मनुष्या अन्नमदन्ति तस्मात्प्रत्यङ्मनुष्येष्वन्नं धीयतेऽपानेन हि मनुष्या अन्नमदन्ति ॥१२॥ तदाहुः । न वयसोऽग्निचिदश्नीयाद्वयो वा एष

अब पाँचवीं चिति को चिनता है। यह समान है, जो अमृत है। समान अमृत है। यह अमृत चिति है। इसको दोनों ओर से घेरकर अमृत बनाता है। इससे यह अमर हो जाता है। अब पुरीष डालता है। यह उसका मेद है। यह मर्त्य है। मेद मर्त्य होता है। उसकी इस अमृत में स्थापना करता है। इससे यह अमृत हो जाता है ॥६॥

अब छठी चिति को चिनता है। यह वाणी है जो अमृत है। वाणी अमृत है। यह अमृत-चिति है। इसको दोनों ओर से अमृत से घेरता है, वह अमृत हो जाता है। अब उस पर पुरीष डालता है, यह उसका रुधिर है। जो त्वचा है वह मर्त्य है। रुधिर मर्त्य है, त्वचा मर्त्य है। उसकी अमृत में स्थापना करता है। उससे यह अमृत हो जाता है ॥७॥

ये छः ईंट की चितियाँ हैं। छः पुरीष की चितियाँ हैं। ये बारह हो गईं। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर अग्नि है। जितना अग्नि है, जितनी इसकी मात्रा है, उतने से ही प्रजापति ने एक-एक करके अपने शरीर को अजर-अमर किया। इसी प्रकार यजमान भी एक-एक करके अपने शरीर को अजर-अमर बनाता है ॥८॥

अब विकर्णी और स्वयमातृण्णा को रखकर स्वर्ण के टुकड़ों को बिखेरता है। अग्नि का आधान करता है। इस प्रकार अन्त में अपने शरीर को स्वर्णमय करता है, इसलिए प्रजापति स्वर्णमय है। इसी प्रकार यजमान भी अन्त में अपने शरीर को स्वर्णमय करता है, इसलिए यह उसके शरीर का अन्तिम रूप है। इसलिए जो जानते हैं या जो नहीं जानते, 'अग्नि का चिननेवाला उस लोक में स्वर्णमय हो जाता है' ऐसा कथन करते हैं ॥९॥

इस पर शाण्डिल्य आचार्य और उसके शिष्य साप्तरथ वाहनि में झगड़ा था। शाण्डिल्य कहता था कि यह उसका रूप है। साप्तरथ वाहनि कहता था कि ये उसके लोम हैं ॥१०॥

शाण्डिल्य का कहना था कि रूप लोमवाला भी होता है और बिना लोम का भी। यह है भी ऐसा ही जैसा शाण्डिल्य ने कहा। जब अग्नि (वेदी) चिन लिया जाता है, तो उसका प्रणय होता है। प्रणय के पश्चात् समिधाओं की आहुतियाँ डालते हैं ॥११॥

देव प्राण के द्वारा अन्न खाते हैं। अग्नि देवों का प्राण है। इसलिए देवों के लिए पहले आहुतियाँ देते हैं। प्राण से देव अन्न खाते हैं, अपान से मनुष्य। इसलिए मनुष्यों में अन्न नीचे को जाता है। मनुष्य अपान के द्वारा ही अन्न खाते हैं ॥१२॥

इस पर कहते हैं कि अग्नि को चिननेवाला पक्षी को न खावे। जो अग्नि को चिनता है

रूपं भवति योऽग्निं चिनुतऽईश्वर आर्तिमार्तोस्तस्मान्न वयसोऽग्निचिदश्नीयादिति तद्वै काममेवैवंविदश्नीयादग्नेर्वाऽएष रूपं भवति योऽग्निं चिनुते सर्वं वाऽइदमग्नेरन्नꣳ सर्वं मऽइदमन्नमित्येवैवंविद्विद्यादिति ॥१३॥ तदाहुः । किं तदग्नौ क्रियते येन यजमानः पुनर्मृत्युमपजयतीत्यग्निर्वाऽएष देवता भवति योऽग्निं चिनुतेऽमृतमु वाऽअग्निः श्रीर्देवाः श्रियं गच्छति यशो देवा यशो ह भवति य एवं वेद ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ ॥

सर्वे हैते यज्ञा योऽयमग्निश्चितः । स यत्पशूनालभते तदग्न्याधेयमथ यदुखाꣳ सम्भरति तान्यग्न्याधेयहवीꣳष्यथ यद्दीक्षते तदग्निहोत्रमथ यद्दीक्षितः समिधावादधाति तेऽअग्निहोत्राहुती ॥१॥ ते वै सायंप्रातरादधाति । सायंप्रातर्ह्यग्निहोत्राहुती जुहोति समानेन मन्त्रेण समानेन हि मन्त्रेणाग्निहोत्राहुती जुहोत्यथ यद्वनीवाहनं च भस्मनश्चाभ्यवहरणं तौ दर्शपूर्णमासावथ यद्गार्हपत्यं चिनोति तानि चातुर्मास्यान्यथ यदूर्ध्वं गार्हपत्यादा सर्वौषधात्ता इष्टयोऽथ यदूर्ध्वꣳ सर्वौषधात्प्राचीनं चितिभ्यस्ते पशुबन्धा यऽएवैतेषु यज्ञेषु विष्णुक्रमास्ते विष्णुक्रमा यज्जप्यं तद्वात्सप्रम् ॥२॥ सौम्योऽध्वरः प्रथमा चितिः । यत्प्राचीनꣳ सर्वेभ्यो राजसूयो द्वितीया वाजपेयस्तृतीयाश्वमेधश्चतुर्थ्यग्निसवः पञ्चमी येश्चितꣳ सामभिः परिगायति तन्महाव्रतमथ यत्तत्रोद्गातुः पुरस्ताज्जप्यं तच्छतरुद्रियं वसोर्धारा महदुक्थमथ यदूर्ध्वꣳ सामभ्यः प्राचीनं वसोर्धारायै यदेव तत्र होतुः पुरस्ताज्जप्यं तत्तदथ यदूर्ध्वं वसोर्धारायै ते गृहमेधा एतावन्तो वै सर्वे यज्ञास्तानग्निनाप्नोति ॥३॥ अथातो यज्ञवीर्याणामेव । सायंप्रातर्ह वाऽअमुष्मिंलोकेऽग्निहोत्रहुदश्नाति तावती ह तस्मिन्यज्ञऽऊर्गर्धमासेऽर्धमासे दर्शपूर्णमासयाजी चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु चातुर्मास्ययाजी षट्सु-षट्सु पशुबन्धयाजी संवत्सरे-संवत्सरे सोमयाजी शते-शते संवत्सरेष्वग्निचित्काममश्नाति कामं न तद्धैतस्यावन्तꣳ संवत्सरास्तावदमृतमनन्तमपर्यन्तꣳ स

वह पक्षी का रूप हो जाता है। इससे उसको हानि होगी। इसलिए पक्षी को न खावे। परन्तु इच्छा हो तो खा लेना चाहिए। जो अग्नि को चिनता है वह अग्नि का ही रूप हो जाता है। यह सब अग्नि का ही अन्न है। यह सब अन्न ही है उसके लिए जो इस रहस्य को समझता है ॥१३॥

इस पर कहते हैं कि यजमान क्या करे कि फिर मृत्यु को जीत ले? जो अग्नि को चिनता है वह देवता हो जाता है। अग्नि अमृत है, श्री है। जो इस रहस्य को समझता है, वह देवों की श्री को, देवों के यश को प्राप्त होता है, यश ही हो जाता है ॥१४॥

अग्निचयनस्य अग्न्याधेयादिसर्वयज्ञात्मकत्वम्

अध्याय १—ब्राह्मण ५

यह चिनी हुई अग्नि सब यज्ञों (के तुल्य) है। यह जो अग्नि का आधान है यह पशु का आलभन है। ये जो हवियाँ हैं यह उखा की सामग्री है। यह जो दीक्षा है यह अग्निहोत्र है। यह जो दीक्षित समिधायें रखता है ये अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं ॥१॥

इनको सायं और प्रातः देता है। सायं-प्रातः ही अग्निहोत्र की आहुतियाँ दी जाती हैं। एक ही मन्त्र से, क्योंकि एक ही मन्त्र से अग्निहोत्र की आहुतियाँ दी जाती हैं। यह जो आग का ले जाना और भस्म का (जल में) डालना है, ये दर्श और पूर्ण मास हैं। यह जो गार्हपत्य का चिनना है, यह चातुर्मास्य है। यह जो गार्हपत्य से ऊपर औषध तक है ये इष्टियाँ हुईं। यह जो औषधों से ऊपर और चितियों से पहले है, यह पशुबन्ध है। इन यज्ञों में जो विष्णु का चलना है यह विष्णु-क्रम है। जो जपना है वह वात्सप्र ॥२॥

पहली चिति सोम-भाग है, दूसरी वह राजसूय का भाग जो 'सवों' से पहले है। तीसरी वाजपेय, चौथी अश्वमेध, और पाँचवीं अग्नि-सव। जिन सामों को वेदी पर गाते हैं, वह महाव्रत, इसके पीछे जो उद्गाता जपता है वह शतरुद्रिय, वसोर्धारा महदुक्थ। जो सामों से ऊपर और वसोर्धारा से पहले है, वह होता का जाप है। जो वसोर्धारा से बाद का है वह गृहमेध है। ये सब यज्ञ हैं जो कि अग्नि के चिनने से प्राप्त होते हैं ॥३॥

अब यज्ञ के पराक्रमों के विषय में। जो अग्निहोत्र करता है वह उस लोक में सायं-प्रातः अन्न खाता है। इस यज्ञ में इतनी शक्ति है। जो दर्श-पूर्णमास करता है, वह अर्द्धमास में और जो चातुर्मास्य करता है वह चौथे-चौथे मास में, पशुबन्धवाला छः-छः मास में, संवत्सर में सोमयाज करनेवाला साल-साल भर में, और जो इच्छानुसार अग्नि चिनता है, वह हर सौ वर्ष पीछे, या इच्छा के अनुसार नहीं खाता, क्योंकि सौ वर्ष का जो है, वह अनन्त और अपर्यन्त

यो हैतदेवं वेदैवꣳ हैवास्यैतदमृतमनन्तमपर्यन्तं भवति तस्य यद्पीषीकयवोपहन्यात्तदेवास्यामृतमनन्तमपर्यन्तं भवति ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ प्रथमोऽध्यायः [६१.] ॥ ॥

प्रजापतिः स्वर्गं लोकमजिगाꣳसत् । सर्वे वै पशवः प्रजापतिः पुरुषोऽश्वो गौरविरजः स एतै रूपैर्नाशक्नोत्स एतं वयोविधमात्मानमपश्यदग्निं तं व्यधत्त सोऽनुपसमुह्यानुपाधायोदपिपतिषत्स नाशक्नोत्स उपसमुह्योपाधायोदपतत्तस्माद्प्येतर्हि वयाꣳसि यदेव पक्षाऽउपसमूहन्ते यदा पत्राणि विसृजन्तेऽथोत्पतितुꣳ शक्नुवन्ति ॥१॥ तं वाऽअङ्गुलिभिर्मिमीते । पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदꣳ सर्वं मितं तस्यैषावमा मात्रा यदङ्गुलयस्तयास्यावमा मात्रा तामस्य तदाप्नोति तयैनं तन्मिमीते ॥२॥ चतुर्विꣳशत्याङ्गुलिभिर्मिमीते । चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनं तन्मिमीते ॥३॥ स चतुरङ्गुलमेवोभयतोऽन्तरत उपसमूहति । चतुरङ्गुलमुभयतो बाह्यतो व्युदूहति तद्यावदेवोपसमूहति तावद्व्युदूहति तन्नाहैवातिरेचयति नो कनीयः करोति तथा पुच्छस्य तथोत्तरस्य पक्षस्य ॥४॥ अथ निर्णामौ पक्षयोः करोति । निर्णामौ हि वयसः पक्षयोर्भवतो वितृतीये वितृतीये हि वयसः पक्षयोर्निर्णामौ भवतोऽन्तरे वितृतीयेऽन्तरे हि वितृतीये वयसः पक्षयोर्निर्णामौ भवतः स चतुरङ्गुलमेव पुरस्तादुदूहति चतुरङ्गुलं पश्चादुपसमूहति तद्यावदेवोदूहति तावदुपसमूहति तन्नाहैवातिरेचयति नो कनीयः करोति ॥५॥ स तस्मिन्निर्णामे । एकामिष्टकामुपदधाति तद्येयं वयसः पततो निर्णानादिका नाड्युपशेते तां तत्करोत्ययोऽइदम् ॥६॥ अथ वक्रौ पक्षौ करोति । वक्रौ हि वयसः पक्षौ भवतः स चतुरङ्गुलमेव पश्चादुदूहति चतुरङ्गुलं पुरस्तादुपसमूहति तद्यावदेवोदूहति तावदुपसमूहति तन्नाहैवातिरेचयति नो कनीयः करोति ॥७॥ अथ रूपमुत्तमं करोति । अत्रैष

अमृत है। जो इस भेद को समझता है, उसके लिए अनन्त और अपर्यन्त अमरत्व है। और जिस किसी को वह लकड़ी से भी छू देगा, वह भी अनन्त और अपर्यन्त अमरत्व को प्राप्त हो जायेगा ॥४॥

चित्याग्नेः पक्षिरूपत्वम्, तत्पक्षपुच्छयोः प्रमाणं च

अध्याय २—ब्राह्मण १

प्रजापति ने स्वर्गलोक को जाना चाहा। सब पशु प्रजापति हैं। पुरुष, अश्व, गौ, भेड़, बकरी, वह इन रूपों से न जा सका। उसने इस पक्षीरूपी शरीर को देखा जो अग्नि है। उसका आधान किया। वह (पंखों को) फैलाये या सिकोड़े बिना न उड़ सका। वह फैलाकर और सिकोड़ कर उड़ सका। इसलिए आजकल भी पक्षी तभी उड़ सकते हैं जब अपने परों को फैलाते और सिकोड़ते हैं ॥१॥

उसको अँगुलियों से नापता है। यज्ञ पुरुष है इसलिए पुरुष से ही यह सब नापा जाता है। ये अँगुलियाँ इसका छोटे-से-छोटा नपना है। इस प्रकार वह उसके लिए छोटे-से-छोटा नपना प्राप्त करता है। उसी से उसको नापता हैं ॥२॥

चौबीस अंगुल नापता है। गायत्री में चौबीस अक्षर होते हैं। अग्नि गायत्र है। जितना अग्नि है, जितनी उसकी मात्रा है, उतने ही से इसको नापता है ॥३॥

उसको चार अंगुल भीतर से सिकोड़ देता है, और चार अंगुल बाहर से फैला देता है, अर्थात् जितना सिकोड़ता है, उतना ही फैलाता है। इस प्रकार न अधिक होता है, न न्यून। यह हुआ दायें पक्ष का। बायें पक्ष का भी यही हाल है ॥४॥

अब पक्ष या पंखों में निर्णाम बनाता है (निर्णाम एक प्रकार का झुकाव होता है, जो चिड़ियों के पंखों में होता है)। पंखों की तिहाई-तिहाई में निर्णाम बनाता है, क्योंकि चिड़ियों के पंखों की तिहाई-तिहाई में ये निर्णाम होते हैं। वह चार अंगुल सिकोड़ता है, चार अंगुल फैलाता है। जितना सिकोड़ता है उतना ही फैलाता है। इससे न अधिक होता है, न न्यून ॥५॥

वह उस निर्णाम में एक ईंट रखता है। यह वही नलिका है जो उड़ते पक्षी के पंख के निर्णाम को उसके शरीर से मिलाती है। इसी प्रकार (बायें पंख में भी) ॥६॥

अब पंखों को टेढ़ा करता है। पक्षी के पंख टेढ़े होते हैं। वह चार अंगुल सिकोड़ देता है और चार अंगुल फैला देता है। जितना सिकोड़ता है, उतना ही फैलाता है। इससे न अधिक होता है न न्यून ॥७॥

अब इसको अन्तिम रूप देता है।

सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन्देवा एतद्रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्रूपमुत्तमं दधाति स सहस्रमृज्वालिखिता इष्टकाः करोति सहस्रमित्यालिखिताः सहस्रमित्यालिखिताः ॥८॥ अथ पञ्चमी चितिमुपधाय । त्रेधाग्निं विमिमीते स मध्यमे वितृतीये सहस्रमृज्वालिखिता इष्टका उपदधाति तद्यानीमानि वयसः प्रत्यञ्चि शीर्ष्ण आ पुच्छाद्रूनि लोमानि तानि तत्करोति ॥९॥ अथ सहस्रमित्यालिखिता दक्षिणत उपदधाति । तद्यानीमानि वयसो दक्षिणतो वक्राणि लोमानि तानि तत्करोति ॥१०॥ अथ सहस्रमित्यालिखिता उत्तरत उपदधाति । तद्यानीमानि वयस उत्तरतो वक्राणि लोमानि तानि तत्करोति सहस्रेण सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वेणैवास्मिन्नेतद्रूपमुत्तमं दधाति त्रिभिः सहस्रैस्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्रूपमुत्तमं दधाति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥६ [२. १.] ॥ ॥

यान्वै तान्त्सप्त पुरुषान् । एकं पुरुषमकुर्वन्त्स प्रजापतिरभवत्स प्रजा असृजत स प्रजाः सृष्ट्वोर्ध्व उदक्रामत्स एतं लोकमगच्छद्यत्रैष एतत्तपति नो ह तर्ह्यन्य एतस्मादत्र यज्ञिय आस तं देवा यज्ञेनैव यष्टुमध्रियन्त ॥१॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इति यज्ञेन ह्नि तं यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति ते ह्नि धर्माः प्रथमेऽक्रियन्त ते ह नाकं महिमानः सचन्तेति स्वर्गो वै लोको नाको देवा महिमानस्ते देवाः स्वर्गं लोकꣳ सचन्त ये तं यज्ञमयजन्नित्येतत् ॥२॥ यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति । प्राणा वै साध्या देवास्तऽएतमग्रऽएवमसाधयन्नेतदेव बुभूषन्तस्तऽउऽएवाप्येतर्हि साधयन्ति यद्वेदन्यदभवद्यज्ञत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूनेति यन्नाल्पेवेदमन्यद्यज्ञियमास यत्किं चामृतम् ॥३॥ सुपर्णोऽअङ्ग सवितुर्गरुत्मान् । पूर्वो जातः स उऽअस्यानु धर्मेति प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सवितैतस्य प्रजापतिरनु धर्ममित्येतत् ॥४॥ स वै सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि च-

अब यह सब वेदी बन चुकी। उसको देवों ने यह अन्तिम रूप दिया। इसी प्रकार यह (यजमान) भी इसको यह अन्तिम रूप देता है। वह हजार ईंटों में सीधी रेखाएँ करता है। हजार में इस प्रकार की (बायें से दायें को) और हजार में इस प्रकार (दायें से बायें को) ॥८॥

अब पाँचवीं चिति का आधान करके वेदी को तीन भागों में नापता है। बीच की तिहाई में सीधी लकीरोंवाली ईंटों को रखता है। इस प्रकार वह इसको पक्षी के वे सीधे लोम देता है, जो सिर के पीछे पूंछ तक पीछे को होते हैं ॥६॥

अब इस प्रकार की रेखावाली हजार ईंटों को दाईं ओर रखता है। वे ये पक्षी के दाईं ओर के टेढ़े लोम हैं। उनको बनाता है ॥१०॥

अब इस प्रकार की रेखावाली हजार ईंटें बाईं ओर को रखता है। ये पक्षी के बाईं ओर के टेढ़े लोम हैं, उनको बनाता है। हजार-हजार से, क्योंकि सहस्र का अर्थ है 'सब'। इस प्रकार 'सब' के द्वारा इसको अन्तिम रूप देता है। तीन हजार से, क्योंकि अग्नि तिहरा है। जितना अग्नि है और जितनी इसकी मात्रा, उतने ही से इसको अन्तिम रूप देता है ॥११॥

चित्याग्नेः सप्तपुरुषप्रमाणत्वम्, पक्षपुच्छयोश्चारत्निवितस्तिप्रमाणत्वम

अध्याय २—ब्राह्मण २

जिन सात पुरुषों को उन्होंने एक पुरुष कर दिया, वह प्रजापति हो गया। उसने प्रजाओं को सृजा। वह प्रजाओं को सृजकर ऊपर उठा। वह उस लोक को पहुँचा, जहाँ सूर्य तपता है। उस समय उसके सिवाय (प्रजापति को छोड़कर) और कोई यज्ञिय (यज्ञ के योग्य) नहीं था। देवों ने उसको यज्ञ करने के लिए पकड़ लिया ॥१॥

इसलिए तो ऋषि ने कहा है—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त" (यजु० ३१।१६; ऋ० १०।६०।१६)—'नाक' का अर्थ है 'स्वर्ग'। 'महिमानः' का देव, अर्थात् देवों ने यज्ञ से यज्ञ किया, वे धर्म पहले थे। वे देव स्वर्ग को पहुँचे ॥२॥

"यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६)—प्राण ही साध्य देव हैं, क्योंकि इन्होंने पहले उसको पूर्ण किया। तब वे प्रजापति का शरीर बनना चाहते थे, और अब भी यही इसको पूर्ण करते हैं। "पश्चेदमन्यदभवद्यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूना" (ऋ० १०।१४६।३)—"पीछे से यह दूसरा भी अमर संसार की पुष्कलता के कारण यज्ञ के योग्य हो गया" ॥३॥

"सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान् पूर्वो जातः स उ अस्यानु धर्म" (ऋ० १०।१४६।३)—"सविता का गरुत्मान् सुपर्ण पहले उत्पन्न हुआ, उसके अनुधर्म के अनुकूल।" अर्थात् यह सविता उस प्रजापति का अनुधर्मा है ॥४॥

वह सप्त-पुरुष हो जाता है। यह पुरुष भी सप्तपुरुष है—चार तो धड़ और तीन पंख तथा पूंछ।

त्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छानि ॥५॥ तं वाऽउद्बाहुना पुरुषेण मिमीते । पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदꣳ सर्वं मितं तस्यैषा परमा मात्रा यदुद्बाहुस्तद्यास्य परमा मात्रा तामस्य तदाप्नोति तयैनं तन्मिमीते तत्रोप यत्प्रपदेनाभ्युच्छ्रितो भवति तत्परिश्रिद्भिराप्नोति तस्मादु बाह्येनैव लेखां परिश्रिद्भ्यः खनेत् ॥६॥ अथ पक्षयोररत्नीऽउपादधाति । पक्षयोस्तद्वीर्यं दधाति बाहू वै पक्षौ बाहुभ्यामु वाऽअन्नमद्यतेऽन्नायैव तमवकाशं करोति तद्यत्पक्षयोररत्नीऽउपादधात्यरत्निमात्राद्ध्यन्नमद्यते ॥७॥ अथ पुच्छे वितस्तिमुपादधाति । प्रतिष्ठायां तद्वीर्यं दधाति प्रतिष्ठा वै पुच्छꣳ हस्ती वितस्तिर्हस्तेन वाऽअन्नमद्यतेऽन्नायैव तमवकाशं करोति तद्यत्पुच्छे वितस्तिमुपादधात्यन्नऽएवैनं तत्प्रतिष्ठापयति तद्यत्तत्र कनीय उपादधात्यन्ने ह्येवैनं तत्प्रतिष्ठापयत्यथोऽएतावद्वाऽइदं मितं भवत्येतावदिदं तद्यदेवं मिमीतऽएतस्यैवाप्त्यै ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥७ [२. २.] ॥ ॥

या वाऽइयं वेदिः सप्तविधस्य । एषा वेदेर्मात्रा स देवयजनमध्यवसाय पूर्वया द्वारा पत्नीशालं प्रपद्य गार्हपत्यायोद्धत्यावोक्षति गार्हपत्यस्योद्धतात्सप्त प्राचः प्रक्रमान्प्रक्रामति ततः प्राञ्चं व्यामं विमिमीते तस्य मध्यऽआहवनीयायोद्धत्यावोक्षति पूर्वार्धाद्व्यामस्य त्रीन्प्राचः प्रक्रमान्प्रक्रामति स वेद्यन्तः ॥१॥ ॥ शतम् ५२०० ॥॥ ते वाऽएते । व्यामैकादशाः प्रक्रमा अन्तरा वेद्यन्तं च गार्हपत्यं चैकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्ताद्यज्ञमुखाद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति ॥२॥ सैषा वेदेर्योनिः । एतस्यै वै योनेर्देवा वेदिं प्राजनयन्नथ य एष व्यामः सा गार्हपत्यस्य योनिरेतस्यै वै योनेर्देवा गार्हपत्य प्राजनयन्गार्हपत्यादाहवनीयम् ॥३॥ स वेद्यन्तात् । षट्त्रिꣳशत्प्रक्रमां प्राचीं वेदिं विमिमीते त्रिꣳशतं पश्चात्तिरश्चीं चतुर्विꣳशतिं पुरस्तात्तन्नवतिः सैषा नवतिप्रक्रमा वेदिस्तस्याꣳ सप्तविधमग्निं विदधाति ॥४॥ तदाहुः । कथमेष सप्तविध एतया वेद्या सम्प-

उस पुरुष के भी चार भाग धड़ के हैं, तीन पंख तथा पूँछ के ॥५॥

उसको बाहें ऊपर को फैलाकर समस्त शरीर से नापते हैं। पुरुष यज्ञ है। उसी से यह सब नापा जाता है। यह इसकी सबसे बड़ी माप है। इस प्रकार जो इसकी सबसे बड़ी मात्रा है, उससे उसको मापता है। जब पैर की अँगुलियों के अगले भाग को टेककर खड़े हों, तो कुछ जगह अधिक घिरती है, इसको वह परिश्रितों से प्राप्त करता है। इसलिए परिश्रितों के लिए बाहर रेखा खींचनी चाहिए ॥६॥

दो-दो हाथ पक्षों के लिए देता है। इस प्रकार पक्षों को बल देता है। भुजायें ही पक्ष हैं। भुजाओं से ही अन्न खाया जाता है। इस प्रकार अन्न के लिए अवकाश करता है जब वह पक्षों के लिए दो-दो हाथ छोड़ता है। हाथ-भर की दूरी से ही अन्न खाया जाता है (अर्थात् अन्न को वहीं से खा सकते हैं जहाँ तक हाथ पहुँच सके) ॥७॥

बीता (बालिश्त) भर पूँछ को देता है। इस प्रकार नींव (बुनियाद) को बल पहुँचाता है, क्योंकि पूँछ बुनियाद है। हाथ ही 'बीता' है। हाथ से ही अन्न खाया जाता है। अन्न के ही लिए जगह करता है; यह जो पूँछ के लिए 'बीता भर' छोड़ता है, अन्न की ही बुनियाद कायम करता है। जब बीता-भर से कम छोड़ता है, तो मानो उसको थोड़े-से स्थान में रखकर उसको अन्न से घेर देता है। (पंख की) नाप इतनी होती है, और (पूँछ की) इतनी। यह सब इसलिए है कि इसकी नाप स्वाभाविक पुरुष की नाप के समान हो जाय ॥८॥

प्राकृतस्य सप्तविधाग्नेर्वैकृतस्यैकशतविधाग्नेश्च वेदिमानम्

अध्याय २—ब्राह्मण ३

यह जो सप्तविधा वेदी है, उसकी यही माप है। वह देवयजन के लिए स्थान नियत करके पूर्व-द्वार से पत्नीशाला को पहुँचकर और गार्हपत्य के लिए भूमि को खोदकर जल-सिंचन करता है। गार्हपत्य के लिए जो भूमि है उससे पूर्व को सात पग चलकर व्याम-भर भूमि नापता है, (यदि मनुष्य हाथ फैलाकर खड़ा हो जाय तो उसके हाथ की बीच की अँगुलियों के मध्य में जितनी दूरी है, उसे व्याम कहते हैं। मनुष्य की ऊँचाई भी इतनी ही मानी जाती है) और उसके बीच में आहवनीय के लिए भूमि खोदकर उस पर जल-सिंचन करता है। व्याम के अगले भाग से तीन पग पूर्व को चलता है, यही वेदी का अन्त है ॥१॥

अब वेदी के अन्त और गार्हपत्य के बीच में व्याम को मिलाकर ग्यारह पग हुए। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है, त्रिष्टुप् वीर्य है। इसी वीर्यरूप वज्र से यजमान पहले से ही यज्ञ के मुख से दुष्ट राक्षसों को हटाता है ॥२॥

यह वेदी की योनि है, क्योंकि यहीं से तो देवों ने वेदी को उत्पन्न किया था। यह जो व्याम है, वह गार्हपत्य की योनि है। इसी योनि से देवों ने गार्हपत्य को उत्पन्न किया, गार्हपत्य से आहवनीय को ॥३॥

वह वेदी के अन्त से छत्तीस पग पूर्व की ओर नापता है। तीस पग पीछे तिरछा, चौबीस पग आगे, ये हुए नव्वे पग। यह ९० पग की वेदी हुई। उसमें सप्तविधा अग्नि (वेदी) को बनाता है ॥४॥

इसपर कहते हैं कि यह सप्तविधा वेदी नव्वे पगवाली वेदी से कैसे मेल खाती है? इस

द्यतऽइति दश वाऽइमे पुरुषे प्राणाश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चदश एवं द्वितीयऽएवं
तृतीये षट्सु पुरुषेषु नवतिरथैकः पुरुषोऽत्येति पाङ्क्तो वै पुरुषो लोम त्वङ्माꣳ-
समस्थि मज्जा पाङ्क्तोऽइयं वेदिश्चतस्रो दिश आत्मा पञ्चम्येवमेष सप्तविध एतया
वेद्या सम्पद्यते ॥५॥ तद्धैके । उत्तरा विधा विधास्यन्त एतांश्च प्रक्रमानेतं च
व्याममनुवर्धयन्ति योनिमनुवर्धयाम इति न तथा कुर्यान्न वै जातं गर्भं योनिरनु-
वर्धते यावद्वाव योनावन्तर्गर्भो भवति तावदेव योनिर्वर्धतऽएतावत्यु वाऽअत्र
गर्भस्य वृद्धिः ॥६॥ ते ये ह तथा कुर्वन्ति । एतꣳ ह ते पितरं प्रजापतिꣳ सम्प-
दश्च्यावयन्ति तऽइष्ट्वा पापीयाꣳसो भवन्ति पितरꣳ हि प्रजापतिꣳ सम्पदश्च्याव-
यन्ति सा यावत्येषा सप्तविधस्य वेदिस्तावतीं चतुर्दश कृत्वऽएकशतविधस्य वेदिं
विमिमीते ॥७॥ अथ षट्त्रिꣳशत्प्रक्रमाꣳ रज्जुं मिमीते । ताꣳ सप्तधा समस्यति
तस्यै त्रीन्भागान्प्राच उपदधाति निःसृजति चतुरः ॥८॥ अथ त्रिꣳशत्प्रक्रमां मि-
मीते । ताꣳ सप्तधा समस्यति तस्यै त्रीन्भागान्पश्चादुपदधाति निःसृजति चतुरः
॥९॥ अथ चतुर्विꣳशतिप्रक्रमां मिमीते । ताꣳ सप्तधा समस्यति तस्यै त्रीन्भागा-
न्पुरस्तादुपदधाति निःसृजति चतुर इति नु वेदिविमानम् ॥१०॥ अथाग्नेर्विधाः ।
अष्टाविꣳशतिः प्राञ्चः पुरुषा अष्टाविꣳशतिस्तिर्यञ्चः स आत्मा चतुर्दश पुरुषा द-
क्षिणः पक्षश्चतुर्दशोत्तरश्चतुर्दश पुच्छं चतुर्दशारत्नीन्दक्षिणे पक्षऽउपदधाति चतुर्द-
शोत्तरे चतुर्दश वितस्तीः पुच्छऽइति न्वष्टानवतेः पुरुषाणां मात्रा साधिमाना-
नाम् ॥११॥ अथ त्रिपुरुषाꣳ रज्जुं मिमीते । ताꣳ सप्तधा समस्यति तस्यै चतुरो
भागानात्मन्नुपदधाति त्रीन्पक्षपुच्छेषु ॥१२॥ अथारत्निमात्रीं मिमीते । ताꣳ स-
प्तधा समस्यति तस्यै त्रीन्भागान्दक्षिणे पक्षऽउपदधाति त्रीनेवोत्तरे निःसृजति
चतुरः ॥१३॥ अथ वितस्तिमात्रीं मिमीते । ताꣳ सप्तधा समस्यति तस्यै त्रीन्भा-
गान्पुच्छऽउपदधाति निःसृजति चतुर एवमेष एकशतविध एतया वेद्या सम्पद्यते

पुरुष में दस तो प्राण हैं, चार अंग (हाथ, पैर और शरीर), ये हुए पन्द्रह, ऐसे ही दूसरे में और ऐसे ही तीसरे में। इस प्रकार छः पुरुषों में नव्वे हो गये। एक पुरुष शेष रह गया। इसके हुए पाँच भाग—लोम, त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा। वेदी के भी पाँच भाग हुए— चार दिशायें और पाँचवीं वेदी। इस प्रकार यह सप्तविधा वेदी इस वेदी से मेल खाती है ॥५॥

कुछ लोग उत्तम विधि करने की इच्छा से इन पगों को अधिक कर देते हैं कि हम योनि को बढ़ा दें। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उत्पन्न हुए बच्चे के अनुकूल योनि थोड़ा ही बढ़ती है। योनि उतनी ही बढ़ती है, जितना भीतर गर्भ होता है, या जितना गर्भ भीतर बढ़ता है ॥६॥

जो ऐसा करते हैं वे प्रजापति पिता को उस मात्रा से वंचित कर देते हैं और यज्ञ करके पाप कमाते हैं, क्योंकि पिता प्रजापति को मात्रा से वंचित कर दिया। यह जो सप्तविधा वेदी है, उसकी चौदह बार नापकर एक सौ एक की वेदी बना देते हैं ॥७॥

अब छत्तीस पग लम्बी रस्सी नापता है। उसको सात बराबर भागों में मोड़ता है। इसके तीन अगले भागों को ईंटों से ढक देता है, और चार को खाली छोड़ देता है। यह है वेदी की नाप ॥८॥

अब एक तीस पग की रस्सी लेता है। उसके सात बराबर टुकड़े मोड़ता है। इसके आगे के तीन भागों को ईंटों से ढक देता है, चार को छोड़ देता है ॥९॥

अब चौबीस पग नापता है, उसके सात भाग करता है। उसके अगले तीन भागों को ईंटों से ढक देता है, पिछले चार को छोड़ देता है ॥१०॥

अब वेदी की अन्य विधियाँ—अट्ठाइस पुरुष लम्बी पश्चिम से पूर्व को और अट्ठाइस पुरुष चौड़ी वेदी होती है। चौदह पुरुष लम्बा दायाँ बाजू, चौदह पुरुष लम्बा बायाँ, और चौदह पुरुष पूंछ। चौदह हाथ दायीं ओर ईंटों से ढकता है, और चौदह हाथ बायीं ओर, और चौदह बीता पूंछ। यह अट्ठानवे पुरुष लम्बी वेदी हुई। कुछ भाग (पक्ष और पूंछ के लिए) बच रहा ॥११॥

अब तीन पुरुषों के बराबर रस्सी नापता है। उसके सात भाग करता है। उसके चार भागों को धड़ के लिए रखता है, तीन को पक्ष और पूंछ के लिए ॥१२॥

अब अरत्नी के बराबर लेता है, उसके सात भाग करता है। उसके तीन भागों को दाहिने पक्ष में रखता है, और तीन बाईं ओर के पक्ष में, चार छोड़ देता है ॥१३॥

अब बीता-भर लेता है। उसके सात बराबर भाग करता है। उसके तीन भागों को पुच्छ के लिए रखता है, चार को छोड़ देता है। इस प्रकार यह एक सौ एक अंगवाली वेदी हो जाता है ॥१४॥

॥१४॥ तदाहुः । यत्त्रयोदश पुरुषा अतियन्ति कथमेते सम्पदो न च्यवन्तऽइति या वाऽएतस्य सप्तमस्य पुरुषस्य सम्पत्सैवैतेषाꣳ सर्वेषाꣳ सम्पत् ॥१५॥ अथो ऽआहुः । प्रजापतिरेवात्मानं विधाय तस्य यत्र-यत्र न्यूनमासीत्तदेतैः समापूरयत तेनोऽएवापि सम्पन्न इति ॥१६॥ तद्धैके । एकविधं प्रथमं विदधत्यथैकोत्तरमापरिमितविधान्न तथा कुर्यात् ॥१७॥ सप्तविधो वाऽअग्रे प्रजापतिरसृज्यत । स आत्मानं विदधान ऐत्स एकशतविधेऽतिष्ठत स योऽर्वाचीनꣳ सप्तविधाद्विधत्तऽएतꣳ ह स पितरं प्रजापतिं विच्छिनत्ति स इष्ट्वा पापीयान्भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वाथ य एकशतविधमतिविधत्तेऽस्मात्स सर्वस्माद्बहिर्धा निष्पद्यते सर्वमु हीदं प्रजापतिस्तस्मादु सप्तविधमेव प्रथमं विदधीताथैकोत्तरमैकशतविधादेकशतविधं तु नातिविदधीत नाह्येतं पितरं प्रजापतिं विच्छिनत्ति नोऽअस्मात्सर्वस्माद्बहिर्धा निष्पद्यते ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ८ [२. ३.] ॥ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिः । अग्निरु सर्वे कामाः सोऽयꣳ संवत्सरः प्रजापतिरकामयताग्निꣳ सर्वान्कामानात्मानमभिसंचिन्वीयेति स एकशतधात्मानं व्यधत्त स एकशतधात्मानं विधायाग्निꣳ सर्वान्कामानात्मानमभिसमचिनुत स सर्वे कामा अभवत्तस्मान्न कश्चन बहिर्धा कामोऽभवत्तस्मादाहुः संवत्सरः सर्वे कामा इति न ह संवत्सरात्कश्चन बहिर्धा कामोऽस्ति ॥१॥ तथैवैतद्यजमानः । एकशतधात्मानं विधायाग्निꣳ सर्वान्कामानात्मानमभिसंचिनुते स सर्वे कामा भवति तस्मान्न कश्चन बहिर्धा कामो भवति ॥२॥ स यः स संवत्सरोऽसौ स आदित्यः । स एष एकशतविधस्तस्य रश्मयः शतं विधा एष एवैकशततमो य एष तपत्यस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्रतिष्ठितस्तथैवैतद्यजमान एकशतधात्मानं विधायास्मिन्त्सर्वस्मिन्प्रतितिष्ठति ॥३॥ अथ वाऽएकशतविधः । सप्तविधमभिसम्पद्यतऽएकशतधा वाऽअसावादित्यो विहितः सप्तसु देवलोकेषु प्रतिष्ठितः सप्त वै देवलोकाश्चतस्रो दिशस्त्रय

इसपर आक्षेप करते हैं कि जब तेरह पुरुष अधिक रह गये तो इसका मेल कैसे न बिगड़ा ? इसका उत्तर यह है कि जैसा सातवें पुरुष का मेल है वैसा ही इसका भी, या और सबों का ।।१५।।

यह भी कहते हैं कि जब प्रजापति शरीर बना चुका तो उसने जहाँ-जहाँ कमी थी उसको इनसे पूरा किया । इससे मेल खा गया ।।१६।।

कुछ की राय है कि पहले सादा बनायें, फिर उससे ऊँचा, फिर अपरिमित । ऐसा न करें ।।१७।।

प्रजापति पहले सप्तविध बनाया गया था । वह शरीर को बढ़ाता गया और एक सौ एक पर रुक गया । जो सप्तविध से कम बनाता है, वह पिता प्रजापति के टुकड़े कर देता है, वह यज्ञ करके पापी ठहरता है और अपने को हानि पहुँचाता है । जो एक सौ एक से बढ़ जाता है, वह संसार से बाहर निकल जाता है, क्योंकि प्रजापति संसार है । इसलिए पहले सप्तविध बनाना चाहिए । फिर बढ़ाता जाय एक सौ एक तक । परन्तु एक सौ एक से आगे न बढ़े । इससे न तो पिता प्रजापति के टुकड़े होंगे, न संसार से बहिष्कार होगा ।।१८।।

एकशतविधस्याग्नेरादित्यात्मना स्तुतिः, तस्य प्राकृत्याग्निसङ्ख्यया सम्पत्तिप्रकारादिश्च

अध्याय २—ब्राह्मण ४

संवत्सर प्रजापति है । अग्नि सब कामनाएँ हैं । संवत्सर प्रजापति ने चाहा कि मैं अपने लिए ऐसा शरीर बनाऊँ, जिसमें सब कामनाओं का प्रतिरूप अग्नि हो । उसने एक सौ एक रूप का शरीर बनाया । उसने एक सौ एक रूप का शरीर बनाकर अग्निरूप सब कामनाओंवाले शरीर को बनाया । यह सब कामनाओंवाला हो गया । उससे बाहर एक भी कामना नहीं थी । इसीलिए कहते हैं कि संवत्सर सब कामनाओं से युक्त है । संवत्सर से बाहर कोई भी कामना नहीं है ।।१।।

इसी प्रकार यजमान भी एक सौ एक विधि का शरीर बनाकर अग्निरूपी सब कामनाओं से युक्त शरीर को बनाता है । वह सब कामनाओं से युक्त हो जाता है । कोई कामना भी उससे बाहर नहीं रहती ।।२।।

यह संवत्सर ही आदित्य है । वह एक सौ एक विधि का है । उसकी सौ प्रकार की किरणें हैं, और एक वह स्वयं है जो तपता है । वह इस संसार में प्रतिष्ठित है । इसी प्रकार यजमान भी अपने लिए एक सौ एक विधि का शरीर बनाकर अपने को इस संसार में प्रतिष्ठित करता है ।।३।।

यह एक सौ एक विधि का सप्तविधि में परिणत हो जाता है । यह एक सौ एक विधि का आदित्य सात देवलोकों में प्रतिष्ठित है । देवलोक सात हैं । चार दिशायें हैं । तीन ये लोक

इमे लोका एते वै सप्त देवलोकास्तेष्वेष प्रतिष्ठितस्तथैवैतद्यजमान एकशतधात्मानं विधाय सप्तसु देवलोकेषु प्रतितिष्ठति ॥४॥ यद्वेवैकशतविधः । सप्तविधमभिसम्पद्यतऽएकशतधा वाऽअसावादित्यो विहितः सप्तस्वृतुषु सप्तसु स्तोमेषु सप्तसु पृष्ठेषु सप्तसु छन्दःसु सप्तसु प्राणेषु सप्तसु दिक्षु प्रतिष्ठितस्तथैवैतद्यजमान एकशतधात्मानं विधायैतस्मिन्त्सर्वस्मिन्प्रतितिष्ठति ॥५॥ यद्वेवैकशतविधः । सप्तविधमभिसम्पद्यतऽएकशतधा वाऽअसावादित्यो विहितः सप्ताक्षरे ब्रह्मन्प्रतिष्ठितः सप्ताक्षरं वै ब्रह्मऽर्गित्येकमक्षरं यजुरिति द्वे सामेति द्वेऽअथ यदतोऽन्यद्ब्रह्मैव तद्द्व्यक्षरं वै ब्रह्म तदेतत्सर्वꣳ सप्ताक्षरं ब्रह्म तस्मिन्नेष प्रतिष्ठितस्तथैवैतद्यजमान एकशतधात्मानं विधाय सप्ताक्षरे ब्रह्मन्प्रतितिष्ठति ॥६॥ तस्माद्ध सप्तभिः-सप्तभिः परिश्रयन्ति । तस्मादेकशतविधः सप्तविधमभिसम्पद्यतेऽथ वै सप्तविध एकशतविधमभिसम्पद्यते ॥७॥ सप्तविधो वाऽअग्रे प्रजापतिरसृज्यत । स एतमेकशतधात्मानं विहितमपश्यत्प्राणभृत्सु पञ्चाशदिष्टकाः पञ्चाशद्यजूꣳषि तद्धतꣳ सादनं च सूददोहाश्चैकशततमे तत्समानꣳ सादयित्वा हि सूददोहसाधिवदति स एतेनैकशतविधेनात्मनेमां जितिमजयदिमां व्यष्टिं व्याश्नुत तथैवैतद्यजमान एतेनैकशतविधेनात्मनेमां जितिं जयतीमां व्यष्टिं व्यश्नुतऽएवमु सप्तविध एकशतविधमभिसम्पद्यते स य एवैकशतविधः स सप्तविधो यः सप्तविधः स एकशतविध इति नु विधानाम् ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२. ४.] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १४ ॥

अथातश्चयनस्यैव । अन्तरोपसदौ चिनोत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएताः पुरोऽपश्यन्नुपसद इमानेव लोकानिमे वै लोकाः पुरस्ताः प्रापद्यन्त ताः प्रपद्याभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानꣳ समस्कुर्वत तथैवैतद्यजमान एताः पुरः प्रपद्याभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानꣳ संस्कुरुते ॥१॥ यद्वेवान्तरो-

हैं। ये सात देवलोक हुए। उनमें यह प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार यह यजमान भी एक सौ एक विधि के शरीर को बनाकर सात देवलोकों में प्रतिष्ठित होता है ॥४॥

एक सौ एक विधि का सात विधियों में कैसे परिणत होता है ? यह आदित्य एक सौ एक विधि का है—सात ऋतुओं में, सात स्तोमों में, सात पृष्ठों में, सात छन्दों में, सात प्राणों में, सात दिशाओं में प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार यह यजमान भी एक सौ एक विधि का शरीर बनाकर इस सब संसार में प्रतिष्ठा पाता है ॥५॥

एक सौ एक विधि की सात विधियाँ भी हो जाती हैं। यह आदित्य एक सौ एक विधि का है। यह सात-अक्षरी ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म सात अक्षर का है, ऋक् एक अक्षर है, यजु दो अक्षर, साम दो अक्षर, इसके अतिरिक्त ब्रह्म स्वयं दो अक्षर का। यह सब सात-अक्षर का ब्रह्म हुआ। इसी प्रकार यह यजमान भी एक सौ एक विधि का शरीर बनाकर सात अक्षरवाले ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है ॥६॥

इसलिए भी वेदी के चारों ओर सात-सात ईंट की परिश्रितियाँ बनाते हैं। इस प्रकार एक सौ एक विधि का सात-विधि में बदल जाता है और सात-विधि का एक सौ एक विधि में ॥७॥

प्रजापति पहले सात विधि का ही सजा गया था। उसने इस एक सौ एक विधि में परिणत हुए शरीर को देखा। प्राणभृतों में पचास ईंटें, पचास यजु, ये सौ हुए। स्थापना और सूददोहे मिलाकर एक सौ एकवाँ। यह स्थापना और सूददोह एक ही गिनती में हैं, क्योंकि पहला रखता है, फिर सूददोह पढ़ता है। उसने एक सौ एक विधिवाले शरीर से यह विजय प्राप्त की और सफलता पाई। इसी प्रकार यह यजमान भी एक सौ एक विधि के शरीर से इस विजय और सफलता को पाता है। इस प्रकार सप्त-विधि का एक सौ एक विधि का हो जाता है, और एक सौ एक विधि का सप्तविध। जो सप्तविध है, वही एक सौ एक विधि का ॥८॥

चित्याग्नेः कालविध्यादि

अध्याय २—ब्राह्मण ५

अब चयन के विषय में। वह दो उपसदों के बीच में चिनता है। देवों को भय लगा कि इस वेदी को दुष्ट राक्षस न बिगाड़ दें। उन्होंने आगे इन उपसदों को देखा अर्थात् इन लोकों को। वे इन लोकों में प्रविष्ट हो गये और भय तथा दुष्टतारहित स्थान में इस शरीर को बनाया। इसी प्रकार यह यजमान भी इन लोकों में प्रविष्ट होकर भयरहित तथा दुष्टता-रहित स्थान में अपने इस शरीर को बनाता है ॥१॥

उपसदों के बीच में क्यों चिनता है ?

पसदो चिनोति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतान्वज्रानपश्यन्नुपसदो वज्रा वाऽउपसदस्तान्प्रापद्यन्त तान्प्रपद्याभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानᳬ समस्कुर्वत तथैवैतद्यजमान एतान्वज्रान्प्रपद्याभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानᳬ संस्कुरुते ॥२॥ एतद्व ह यज्ञे तपः । यदुपसदस्तपो वाऽउपसदस्तद्यत्तपसि चीयते तस्मात्तापश्चितस्तद्वै यावदेवोपसद्भिश्चरन्ति तावत्प्रवर्ग्येण संवत्सरमेवोपसद्भिश्चरन्ति संवत्सरं प्रवर्ग्येण ॥३॥ अहोरात्राणि वाऽउपसदः । आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमहोरात्रेषु प्रतिष्ठापयति तस्मादेषोऽहोरात्रेषु प्रतिष्ठितः ॥४॥ अथ यदि चतुर्विᳬशतिः । चतुर्विᳬशतिर्वाऽअर्धमासा अर्धमासा उपसद आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमर्धमासेषु प्रतिष्ठापयति तस्मादेषोऽर्धमासेषु प्रतिष्ठितः ॥५॥ अथ यदि द्वादश । द्वादश वै मासा मासा उपसद आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यं मासेषु प्रतिष्ठापयति तस्मादेष मासेषु प्रतिष्ठितः ॥६॥ अथ यदि षट् । षड्वाऽऋतव ऋतव उपसद आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमृतुषु प्रतिष्ठापयति तस्मादेष ऋतुषु प्रतिष्ठितः ॥७॥ अथ यदि तिस्रः । त्रयो वाऽइमे लोका इमे लोका उपसद आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमेषु लोकेषु प्रतिष्ठापयति तस्मादेष एषु लोकेषु प्रतिष्ठितः ॥८॥ अथातश्चितिपुरीषाणामिव मीमाᳬसा । मासं प्रथमा चितिर्मासं पुरीषमेतावान्वासन्तिकऽऋतौ कामस्तद्यावान्वासन्तिकऽऋतौ कामस्तं तत्सर्वमात्मानमभिसंचिनुते ॥९॥ मासं द्वितीया । मासं पुरीषमेतावान्ग्रैष्मऽऋतौ कामस्तद्यावान्ग्रैष्मऽऋतौ कामस्तं तत्सर्वमात्मानमभिसंचिनुते ॥१०॥ मासं तृतीया । मासं पुरीषमेतावान्वार्षिकऽऋतौ कामस्तद्यावान्वार्षिकऽऋतौ कामस्तं तत्सर्वमात्मानमभिसंचिनुते ॥११॥ मासं चतुर्थी । मासं पुरीषमेतावाञ्छारदऽऋतौ कामस्तद्यावाञ्छारदऽऋतौ कामस्तं तत्सर्वमात्मानमभिसंचिनुते ॥१२॥ अथ पञ्चम्यै चितेः । असपत्ना विराजश्च प्रथमाहमुपदधाति स्तोमभागा एकैकामन्वहं

देवों को डर लगा कि इसका दुष्ट राक्षस विध्वंस न कर डालें। उन्होंने इन उपसदरूपी वज्रों को देखा। उपसद वज्र हैं, उनमें प्रविष्ट हो गये, प्रविष्ट होकर भय और दुष्टता-शून्य स्थान में अपने शरीर को बनाया। इसी प्रकार यजमान भी इन वज्रों में प्रविष्ट होकर अपने शरीर को भय-शून्य और दुष्टता-शून्य कर देता है ॥२॥

ये उपसद यज्ञ में तप हैं। ये उपसद तप तो हैं ही, ये तप में चिनी जाती हैं, इसीलिए इसका नाम तापश्चित् है। जितनी देर उपसद होता है, उतनी देर प्रवर्ग्य। सालभर उपसद हो तो सालभर प्रवर्ग्य भी ॥३॥

दिन-रात भी उपसद हैं। आदित्य प्रवर्ग्य है, इस प्रकार इस आदित्य को दिन-रात में प्रतिष्ठित करते हैं। इसलिए यह दिन-रात में प्रतिष्ठित होता है ॥४॥

उपसदों के दिन यदि चौबीस हों तो चौबीस अर्धमास उपसद हैं। आदित्य प्रवर्ग्य है। इस प्रकार इस आदित्य को अर्द्धमासों में प्रतिष्ठित करता है, इसलिए यह अर्धमासों में प्रतिष्ठित है ॥५॥

अगर बारह हों तो बारह मास उपसद हुए। आदित्य प्रवर्ग्य हुआ। इस आदित्य को मासों में प्रतिष्ठित करता है, इसलिए यह मासों में प्रतिष्ठित है ॥६॥

यदि छः हों तो छः ऋतुएँ हैं। ऋतुएँ उपसद हैं, आदित्य प्रवर्ग्य है। इस प्रकार ऋतुओं में आदित्य को स्थापित करता है, इसलिए वह ऋतुओं में स्थापित है ॥७॥

यदि तीन हुए तो ये तीन लोक हैं। ये लोक उपसद हैं, आदित्य प्रवर्ग्य है। उस आदित्य को इन लोकों में स्थापित करता है, इसलिए यह इन लोकों में प्रतिष्ठित है ॥८॥

अब चितियों के पुरीषों की मीमांसा करते हैं। एक मास में पहली चिति। एक मास में पुरीष। इतनी वसन्त ऋतु की कामना है। इस प्रकार जितनी वसन्त ऋतु की कामना है, उतने ही शरीर को बनाता है ॥९॥

दूसरी चिति में एक मास। पुरीष भी एक मास में। यह ग्रीष्म ऋतु की कामना है। जितनी ग्रीष्म ऋतु की कामना, उतना ही शरीर को बनाता है ॥१०॥

तीसरी चिति में एक मास। पुरीष में एक मास। यह वर्षा ऋतु की कामना है। जितनी वर्षा ऋतु की कामना है, उतना ही शरीर बनाता है ॥११॥

चौथी चिति में एक मास। पुरीष में एक मास। यह शरद् ऋतु की कामना है। जितनी शरद् ऋतु की कामना है, उतना ही शरीर बनाता है ॥१२॥

पाँचवीं चिति इस प्रकार है—पहले दिन असपत्न और विराज ईंट को रखता है, स्तोम भागों में से हर एक दिन एक।

ताः सकृत्सादयति सकृत्सूददोहसाधिवदति तूष्णीं मासꣳ स्तोमभागापुरीषमभिह्र-रत्येतावान्हैमन्तिकऽऋतौ कामस्तद्यावान्हैमन्तिकऽऋतौ कामस्तं तत्सर्वमात्मा-नमभिसंचिनुते ॥१३॥ मासꣳ षष्ठो । मासं पुरीषमेतावाञ्छैशिरऽऋतौ कामस्त-द्यावाञ्छैशिरऽऋतौ कामस्तं तत्सर्वमात्मानमभिसंचिनुतऽएतावान्वै द्वादशसु मासेषु कामः षट्स्वृतुषु तद्यावान्द्वादशसु मासेषु कामः षट्स्वृतुषु तं तत्सर्वमा-त्मानमभिसंचिनुते ॥१४॥ अथ त्रीण्यहान्युपातियन्ति । यदहः शतरुद्रियं जुहोति यदहरुपवसथो यदहः प्रसुतस्तद्यत्तेष्वहःसूपसदा चरन्ति तानि तस्य मासस्याहो-रात्राण्यथ यत्प्रवर्ग्येण तद्ध तस्मिन्नृतावादित्यं प्रतिष्ठापयत्येतावान्वै त्रयोदशसु मासेषु कामः सप्तस्वृतुषु तद्यावांस्त्रयोदशसु मासेषु कामः सप्तस्वृतुषु तं तत्सर्व-मात्मानमभिसंचिनुते ॥१५॥ स संवत्सरं प्रसुतः स्यात् । सर्वं वै संवत्सरः सर्व-मेकशतविधः सर्वेणैव तत्सर्वमाप्नोति यदि संवत्सरं न शक्नुयाद्विश्वजिता सर्वपृ-ष्ठेनातिरात्रेण यजेत तस्मिन्त्सर्ववेदसं दद्यात्सर्वं वै विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः सर्वꣳ सर्ववेदसꣳ सर्वमेकशतविधः सर्वेणैव तत्सर्वमाप्नोति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२.५.] ॥ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः । तस्याहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः षष्टिर्मासस्याहोरात्राणि मासि वै संवत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्ते चतुर्विꣳशतिरर्धमा-सास्त्रयोदश मासास्त्रय ऋतवस्ताः शत विधाः संवत्सर एवैकशततमी विधा ॥१॥ स ऋतुभिरेव सप्तविधः । षडृतवः संवत्सर एव सप्तमी विधा तस्यैतस्य संवत्स-रस्यैतत्तेजो य एष तपति तस्य रश्मयः शतं विधा मण्डलमेवैकशततमी विधा ॥२॥ स दिग्भिरेव सप्तविधः । ये प्राच्यां दिशि रश्मयः सैका विधा ये दक्षिणा-याꣳ सैका ये प्रतीच्याꣳ सैका यऽउदीच्याꣳ सैका यऽऊर्ध्वायाꣳ सैका येऽवाच्याꣳ सैका मण्डलमेव सप्तमी विधा ॥३॥ तस्यैतस्य परस्तात्कामप्रो लोकः । अमृतं

इनको वह एकसाथ रखता है, और एकसाथ सूददोह पढ़ता है। एक मास तक वे चुपके-चुपके स्तोमभागों पर पुरीष डालते हैं, क्योंकि हेमन्त ऋतु की कामना इतनी ही होती है। जितनी हेमन्त ऋतु की कामना होती है, उतना ही शरीर बनाता है ॥१३॥

एक मास में छठी चिति और एक मास में उसपर पुरीष। यह शिशिर ऋतु की कामना हुई। जितनी शिशिर ऋतु की कामना होती है, उतना ही शरीर बनाता है। जितनी बारह महीनों की कामना, छः ऋतुओं की कामना, उतना ही शरीर बनाता है ॥१४॥

अब तीन दिन और होते हैं : जिस दिन शतरुद्रिय यज्ञ हो, जिस दिन उपवास हो, जिस दिन सोम निचोड़ा जाय। जब इन दिनों में उपसद करते हैं, तो यह लौंद के महीने के दिन-रात होते हैं। जब प्रवर्ग्य करते हैं, तो वह सातवीं ऋतु में उस आदित्य को स्थापित करता है। जितनी तेरह मास और सात ऋतुओं में कामना होती है, उतना ही वह शरीर बनाता है, जिससे तेरह मास और सात ऋतुओं की कामनाएँ प्राप्त हो जायें ॥१५॥

सोम सालभर निचोड़ना चाहिए। संवत्सर 'सब-कुछ' है। एक सौ एक भी 'सब-कुछ' है। इस प्रकार 'सब-कुछ' से सब-कुछ की प्राप्ति करता है। यदि सालभर न कर सके तो सर्वपृष्ठ विश्वजित् अतिरात्र यज्ञ करे और उसमें सब-कुछ दान दे दे। सर्वपृष्ठ विश्वजित् अतिरात्र 'सब-कुछ' है। 'सर्ववेदस' या सर्वस्व भी 'सब-कुछ' है। 'एक सौ एक' भी 'सब-कुछ' है। इस प्रकार सब-कुछ से सब-कुछ की प्राप्ति करता है ॥१६॥

प्रजापतेः प्रकारान्तरेणैकशतसंख्याकत्वादिविधानम्

अध्याय २—ब्राह्मण ६

संवत्सर प्रजापति एक-सौ-एक विधि का है। उसमें दिन-रात होते हैं; अर्द्धमास, मास और ऋतुएँ होती हैं। एक मास में साठ दिन-रात हुए, चौबीस अर्द्धमास हुए, तेरह मास हुए, तीन ऋतु हुए। ये सब हुए सौ। संवत्सर स्वयं हुआ एक सौ एकवाँ ॥१॥

वह ऋतुओं के हिसाब से सात-विधि का है। छः ऋतु हुए और सातवाँ संवत्सर हुआ। इस संवत्सर का तेज है जो यह आदित्य चमकता है। उसकी किरणें सौ प्रकार की होती हैं। उसका मण्डल एक सौ एकवाँ है ॥२॥

वह दिशाओं के हिसाब से भी सात विधि का है। पूर्व दिशा की किरणें एक हुईं, दक्षिण की एक, पश्चिम की एक और उत्तर की एक, ऊपर की एक, नीचे की एक, सातवाँ मण्डल ॥३॥

इस (संवत्सर) के उस ओर कामप्र लोक है।

वै कामप्रममृतमेवास्य तत्परस्तात्तस्मात्तदमृतमेतत्तद्यदेतदर्चिर्दीप्यते ॥४॥ तदेतद्व-
सुचित्रꣳ राधः । तदेष सविता विभक्ताभ्यः प्रजाभ्यो विभजत्यप्योषधिभ्योऽपि व-
नस्पतिभ्यो भूय-इव ह त्वेकाभ्यः प्रयच्छति कनीय-इवैकाभ्यस्तद्याभ्यो भूयः प्रयच्छ-
ति ता ज्योक्तमां जीवन्ति याभ्यः कनीयः कनीयस्ताः ॥५॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् ।
विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः सवितारं नृचक्षसमिति तदेतत्सर्व-
मायुर्दीर्घमनन्तꣳ हि तद्यदिदमाहुर्दीर्घं तऽआयुरस्तु सर्वमायुरिहीत्येष ते लोक
एतत्तेऽस्त्विति हैवैतत् ॥६॥ पश्यन्ती वाग्वदति । तदेतदेकशतविधेन नैवाप्त-
व्यꣳ शतायुतया वा य एवैकशतविधं विधत्ते यो वा शतं वर्षाणि जीवति स
हैवैतदमृतमाप्नोति तस्माद्ये चैतद्विदुर्ये च न लोक्या शतायुतेत्येवाहुस्तस्मादु ह
न पुरायुषः स्वकामी प्रेयादलोक्यꣳ हैतऽउ वाव लोका यदहोरात्राण्यर्धमासा
मासा ऋतवः संवत्सरः ॥७॥ तय्येऽर्वाग्विꣳशेषु वर्षेषु प्रयन्ति । अहोरात्रेषु ते
लोकेषु सज्यन्तेऽथ ये परोविꣳशेभ्यर्वाक्चत्वारिꣳशेभ्यर्धमासेषु तेऽथ ये परश्चत्वारिꣳ-
शेभ्यर्वाक्षष्टेषु मासेषु तेऽथ ये परःषष्टेभ्यर्वागशीतिभ्यृतुषु तेऽथ ये परोऽशीतिभ्य-
र्वाक्शतेषु संवत्सरे तेऽथ य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयाꣳसि जीवति स है-
वैतदमृतमाप्नोति ॥८॥ बहुभिर्ह वै यज्ञैः । एकमहरेका रात्रिर्मिता स य एवैक-
शतविधं विधत्ते यो वा शतं वर्षाणि जीवति स हैवैनदह्नातमामाप्नोत्येष वा
ऽएकशतविधं विधत्ते य एनꣳ संवत्सरं बिभर्ति तस्मादेनꣳ संवत्सरभृतमेव चि-
न्वीतेत्यधिदेवतम् ॥९॥ अथाधियज्ञम् । यानमूनेकशतमुद्बाहून्पुरुषान्मिमीते स
विधैकशतविधः स चितिभिरेव सप्तविधः षडृतव्यवत्याश्चितयोऽग्निरेव सप्तमी वि
धा ॥१०॥ सऽउ.वाऽइष्टकैकशतविधः । याः पञ्चाशत्प्रथमा इष्टका याश्चोत्तमा-
स्ताः शतं विधा अथ या एतदन्तरेणेष्टका उपधीयन्ते सैवैकशततमी विधा ॥११॥
स उ एव यजुस्तेजाः । यजुरेकशतविधो यानि पञ्चाशत्प्रथमानि यजूꣳषि यानि

कामप्र अमृत है। इसके उस ओर अमृत है। यह अमृत वह प्रकाश है जो चमकता है ।।४।।

यह धन से युक्त दान (राधः) यह सविता विभक्त प्रजाओं में बाँटता है, ओषधियों को भी और वनस्पतियों को भी। कुछ के लिए अधिक, कुछ के लिए न्यून। जिनको अधिक देता है वे अधिक जीते हैं। जिनको कम देता है, वे कम जीते हैं ।।५।।

ऋचा में यही कहा है—"विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्" (ऋ० १।२२।७, यजु० ३०।४)—"अनेक प्रकार के दानों के बाँटनेवाले, मनुष्यों के देखनेवाले सविता की स्तुति करते हैं।" यह आयु है दीर्घ और अनन्त। जब कहते हैं कि 'तेरी दीर्घ आयु हो, तेरी पूरी आयु हो' तो इससे तात्पर्य यह है कि 'वह लोक तेरा हो' ।।६।।

यह वाणी ही है जो देखकर ऐसा कहती है। यही जीवन एक सौ एक विधि की वेदी से या सौ वर्ष की आयु से प्राप्त होता है। जो एक-सौ-एक विधिवाली वेदी बनाता है, या सौ वर्ष जीता है वह इस अमृत को पा लेता है। चाहे लोग जानें या न जानें, यही कहते हैं कि सौ वर्ष की आयुवाला इस अमृत को पावे। इसलिए अपनी कामना का शिकार होकर आयु से पहले न मरे। क्योंकि यह अलोक्य है, अर्थात् इससे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। ये भी तो लोक ही हैं जो दिन-रात, मास, अर्द्धमास, ऋतु और संवत्सर हैं ।।७।।

जो बीस वर्ष से पहले मर जाते हैं, वे दिन-रातवाले लोकों में जाते हैं; जो बीस वर्ष से पीछे और चालीस वर्ष के पहले, वे अर्द्धमास के लोक में; जो चालीस वर्ष के पीछे और साठ के पहले, वे मास के लोक में; जो साठ से ऊपर और अस्सी के नीचे, वे ऋतुओं के लोक में; जो अस्सी से ऊपर, सौ के नीचे, वे संवत्सर के लोक में; जो सौ या अधिक वर्ष तक जीता है वह इस अमृतत्व को प्राप्त होता है ।।८।।

कई यज्ञों से एक दिन और एक रात मिलती है। जो एक-सौ-एक विधि की वेदी बनाता या सौ वर्ष जीता है वह इस अमृत को पाता है। एक-सौ-एक विधि की विधि वही बनाता है, जो अग्नि का सालभर तक आधान करता है, या जो सालभर तक उसको ले जाता है। इसलिए सालभर तक ले जानेवाली अग्नि के लिए वेदी चिननी चाहिए। यह अधिदेवत हुआ ।।९।।

अब आधियज्ञ कहते हैं जो बाहों को फैलाकर एक सौ एक पुरुष के बराबर नापता है। यह उस वेदी का एक-सौ-एक विधि का रूप है; चितियों के हिसाब से सात विधि का। चितियों में छः ऋतव्यती ईंटें होती हैं। वेदी सातवाँ हुआ ।।१०।।

ईंटों के हिसाब से वह एक-सौ-एक विधि का। पहली पचास ईंटें, पिछली पचास, ये हुई सौ, बीच की एक ईंट मिलकर एक-सौ-एक ईंटें हो गईं। यह हुई एक-सौ-एक विधि ।।११।।

यह यजुओं से तेज प्राप्त करनेवाली है। यजु के हिसाब से भी वह एक-सौ-एक विधि की

चोत्तमानि ताः शतं विधा अथ यान्येतदन्तरेण यजूंषि क्रियन्ते सैवैकशततमी विधिवमु सप्तविध एकशतविधो भवति स यः शतायुतायां कामो य एकशतविधे सप्तविधेन हैव तमेवंविदाप्नोति ॥१२॥ एवं वाव सर्वे यज्ञाः । एकशतविधा अग्निहोत्रादग्निर्यजुर्भिः पदैरक्षरैः कर्मभिः सामभिः स यः शतायुतायां कामो य एकशतविधे यः सप्तविधे यज्ञेन यज्ञेन हैव तमेवंविदाप्नोतीत्यु एवाधियज्ञम् ॥१३॥ अथाध्यात्मम् । पञ्चेमाश्चतुर्विधा अङ्गुलयो द्वे कल्कुषी दोरंसफलकं चाक्षश्च तत्पञ्चविंशतिरेवमिमानीतराण्यङ्गानि ताः शतं विधा आत्मैवैकशततमी विधोऽक्षं सप्तविधतायै ॥१४॥ स उ एव प्राणतिन्नाः । प्राणैकशतविधोऽन्वङ्गमङ्गेऽङ्गे हि प्राणः स यः शतायुतायां कामो य एकशतविधे यः सप्तविधे यः सर्वेषु यज्ञेषु विद्यया हैव तमेवंविदाप्नोति सर्वैर्हि यज्ञैरात्मानं सम्पन्नं विदे ॥१५॥ त्रीणि वाऽइमानि पञ्चविधानि । संवत्सरोऽग्निः पुरुषस्तेषां पञ्च विधा अन्नं पानं श्रीर्ज्योतिरमृतं यदेव संवत्सरेऽन्नं तदन्नं या आपस्तत्पानं रात्रिरेव श्रीः श्रियां हैतद्रात्र्यां सर्वाणि भूतानि संवसन्त्यहर्ज्योतिरादित्योऽमृतमित्यधिदेवतम् ॥१६॥ अथाधियज्ञम् । यदेवाग्नावन्नमुपधीयते तदन्नं या आपस्तत्पानं परिश्रित एव श्रीस्तद्धि रात्रीणां रूपं यजुष्मत्यो ज्योतिस्तद्ध्यह्नां रूपमग्निरमृतं तद्ध्यादित्यस्य रूपमित्युऽएवाधियज्ञम् ॥१७॥ अथाध्यात्मम् । यदेव पुरुषेऽन्नं तदन्नं या आपस्तत्पानमस्थीन्येव श्रीस्तद्धि परिश्रितां रूपं मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपं प्राणोऽमृतं तद्ध्यग्ने रूपं प्राणोऽग्निः प्राणोऽमृतमित्यु वाऽआहुः ॥१८॥ अन्नाद्वाऽअशनाया निवर्तते । पानात्पिपासा श्रियै पाप्मा ज्योतिषस्तमोऽमृतान्मृत्युर्नि ह वाऽअस्मादेतानि सर्वाणि वर्तन्तेऽप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति य एवं वेद तदेतदमृतमित्येवामुत्रोपासीतायुरितीह प्राण इति हैकऽउपासते प्राणोऽग्निः प्राणोऽमृतमिति वदन्तो न तथा विद्याद्ध्रुवं वै तद्यत्प्राणास्तं ते विष्याम्यायुषो

है। पचास पहले यजु, पचास पिछले, ये हुए सौ। इनके बीच में जो यजु नियत किये गये, वे हुए एक-सौ-एकवें। इस प्रकार सप्त-विध एक-सौ-एक विधि का हो जाता है। जो इस भेद को को समझता है वह सप्त-विध यज्ञ से भी वही फल पा लेता है, जो एक-सौ-एक-विध यज्ञ से या सौ वर्ष के जीवन से ॥१२॥

इस प्रकार अग्निहोत्र तक सब यज्ञ ऋचाओं के हिसाब से, यजुओं के हिसाब से, पदों, अक्षरों, कर्मों, सामों के हिसाब से एक-सौ-एक विधि का होता है, और जो इस रहस्य को जानता है, उसको वही फल मिलता है, जो सौ साल की आयु से, एक-सौ-एक विधि या सप्त-विधि के यज्ञ से। यह आधियज्ञ हुआ ॥१३॥

अब आध्यात्मिक लीजिए—पाँच-पाँच अँगुलियों के चार-चार पोरे (अर्थात् बीस), दो कलाई और कुहनी, दो कन्धे और भुजा, और गर्दन की हड्डी, ये हुए पच्चीस। इस प्रकार चार के सौ हुए। एक धड़। ये हो गये एक-सौ-एक। सप्त-विध की व्याख्या हो चुकी ॥१४॥

यह प्राण तेजवाला भी है। अंग-अंग का हिसाब करके प्राण एक-सौ-एक विधि का है। जो इस रहस्य को समझता है वह सौ वर्ष की आयु की कामना, एक-सौ-एक-विध, सप्त-विध, जो सब यज्ञों में विद्या है, इससे जो फल होता है, उसको पा लेता है, क्योंकि उसका शरीर सब यज्ञों से परिपूर्ण हो जाता है ॥१५॥

ये पाँच विधिवाले तीन होते हैं—संवत्सर, अग्नि, पुरुष। इनके पाँच रूप हैं—अन्न, पान, श्री, ज्योति और अमृत। संवत्सर में जो अन्न है वह अन्न, जो जल है वह पान, रात है श्री, इसी श्रीरूपी रात्रि में सब भूत बसते हैं। दिन ज्योति है, और आदित्य अमृत है। यह आधिदेवत हुआ ॥१६॥

अब आधियज्ञ लीजिये। जो अग्नि में अन्न डाला जाता है वह अन्न, जो जल है वह पान, जो परिश्रित् है वह श्री, क्योंकि यह रात्रियों का रूप है, यजुष्मती ईंटें ज्योति क्योंकि ये दिन का रूप हैं, अग्नि अमृत है, क्योंकि वह आदित्य का रूप है। यह हुआ आधियज्ञ ॥१७॥

अब आध्यात्म लीजिए—पुरुष में जो अन्न है वह अन्न, जो पानी है वह पानी है। हड्डियाँ श्री हैं, क्योंकि ये परिश्रितों का रूप हैं। मज्जा ज्योति है, क्योंकि यह यजुष्मतियों का रूप है। प्राण अमृत है, क्योंकि यह अग्नि का रूप है। 'प्राण अग्नि है, प्राण अमृत है' ऐसा लोगों का कथन है ॥१८॥

अन्न से भूख निवृत्त होती है, जल से प्यास, श्री से खोट, ज्योति से अन्धकार, अमृत से मृत्यु। इस प्रकार इससे सब निवृत्त होते हैं। जो ऐसा जानता है, वह बार-बार की मृत्यु को जीत लेता है, पूरी आयु पाता है। इसको मनुष्य परलोक का अमृतत्व और इस लोक का जीवन समझे। कुछ लोग इसको प्राण मानते हैं क्योंकि प्राण अग्नि है। प्राण अमृत है। परन्तु ऐसा न समझे। जो प्राण है, वह अध्रुव है। यजु में भी कहा है कि—"तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यात्।"—"तेरे

न मध्यादिति ह्यपि यजुषाभ्युक्तं तस्मादिदममृतमित्येवामुत्रोपासीतायुरितीह तद्धो ह सर्वमायुरेति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥२ [२. ६.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [६२.] ॥ ॥

प्राणो गायत्री । चक्षुरुष्णिग्वागनुष्टुम्मनो बृहती श्रोत्रं पङ्क्तिर्य ऽएवायं प्रजननः प्राण एष त्रिष्टुबथ योऽयमवाङ् प्राण एष जगती तानि वाऽएतानि सप्त छन्दाᳬसि चतुरुत्तराण्यग्नौ क्रियन्ते ॥१॥ प्राणो गायत्रीति । तस्य एव प्राणस्य महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रं प्राणस्यैवैतद्वीर्यं यद्यस्य चिन्वतः प्राण उत्क्रामेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेष गायत्रीः संचितो भवति ॥२॥ चक्षुरुष्णिगिति । तस्य एव चक्षुषो महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रं चक्षुष एवैतद्वीर्यं यद्यस्य चिन्वतश्चक्षुरुत्क्रामेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेष उष्णिहः संचितो भवति ॥३॥ वागनुष्टुबिति । तस्य एव वाचो महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रं वाच एवैतद्वीर्यं यद्यस्य चिन्वतो वागुत्क्रामेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेषोऽनुष्टुभः संचितो भवति ॥४॥ मनो बृहतीति । तस्य एव मनसो महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रं मनस एवैतद्वीर्यं यद्यस्य चिन्वतो मन उत्क्रामेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेष बृहतीः संचितो भवति ॥५॥ श्रोत्रं पङ्क्तिरिति । तस्य एव श्रोत्रस्य महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रᳬ श्रोत्रस्यैवैतद्वीर्यं यद्यस्य चिन्वतः श्रोत्रमुत्क्रामेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेष पङ्क्तीः संचितो भवति ॥६॥ य ऽएवायं प्रजननः प्राणः । एष त्रिष्टुबिति तस्य एवैतस्य प्राणस्य महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रमेतस्यैवैतत्प्राणस्य वीर्यं यद्यस्य चिन्वत एष प्राण आलुम्पेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेष त्रिष्टुभः संचितो भवति ॥७॥ अथ योऽयमवाङ् प्राणः । एष जगतीति तस्य एवैतस्य प्राणस्य महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रमेतस्यैवैतत्प्राणस्य वीर्यं यद्यस्य चिन्वत एष प्राण आलुम्पेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवा-

जीवन के बीच से ही बन्धन को तोड़ता हूँ।" इसको वह परलोक में अमृत और इस लोक में जीवन समझे। इस प्रकार पूरी आयु पाता है ॥१९॥

गायत्र्यादि-सप्तछन्दसां वीर्यरूपत्वेन स्तुतिः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

प्राण गायत्री है, चक्षु उष्णिक्, वाक् अनुष्टुप्, मन बृहती, श्रोत्र पंक्ति, उत्पन्न करने-वाला प्राण त्रिष्टुप है, और जो नीचे की ओर का प्राण है वह जगती। ये सात छन्द हैं जो चार-चार करके आगे बढ़ते जाते हैं, जो अग्नि या वेदी में उत्पन्न किये जाते हैं ॥१॥

प्राण गायत्री है। प्राण की जो महिमा या शक्ति है वह 'सहस्र' है। प्राण का ही यह सब पराक्रम है। वेदी चिननेवाले का प्राण निकल जाये तो वेदी चिनी ही न जा सके। यह इस रूप से 'सहस्र' गायत्री संचित होती है ॥२॥

चक्षु उष्णिक् है। चक्षु की जो महिमा तथा शक्ति है वह 'सहस्र' है। चक्षु का ही यह सब पराक्रम है। यदि वेदी चिननेवाले की चक्षु जाती रहे तो वेदी न चिनी जाय। इस प्रकार इस रूप से सहस्र उष्णिक् की प्राप्ति होती है ॥३॥

वाक् अनुष्टुप् है। यह वाक् की महिमा और शक्ति है। यह सब वाक् का ही पराक्रम है। यदि वेदी चुननेवाले की वाणी निकल जाय तो वेदी न चिनी जा सके। इस प्रकार इस रूप से सहस्र अनुष्टुप् की प्राप्ति करता है ॥४॥

मन बृहती है। यह मन की महिमा तथा शक्ति है। यह जो सब-कुछ पराक्रम है, वह मन का ही है। जिस वेदी चिननेवाले का मन निकल जाय वह वेदी न चिन सकेगा। इस प्रकार इस रूप से सहस्र रूपवाली बृहती संचित होती है ॥५॥

श्रोत्र पंक्ति है, यह श्रोत्र की महिमा या शक्ति है। यह सहस्र है जो श्रोत्र का पराक्रम है। यदि वेदी चिननेवाले का श्रोत्र निकल जाय तो वेदी ही न चिनी जा सके। इस रूप से सहस्र रूपवाली पंक्ति संचित होती है ॥६॥

यह जो उत्पन्न करनेवाला प्राण है, यह त्रिष्टुप् है। यह इस प्राण की महिमा और शक्ति है। यह सब इसी प्राण का पराक्रम है। यदि वेदी चिननेवाले का यह प्राण निकल जाय तो वेदी न चिनी जा सके। इस प्रकार इस रूप से त्रिष्टुम् का सहस्र रूप संचित होता है ॥७॥

यह जो नीचे का प्राण है, यह जगती है। यह इसी प्राण की महिमा और शक्ति है, इस प्राण का सब-कुछ है। यदि वेदी चिननेवाले का यह प्राण निकल जाय तो वेदी ही न चिनी जा सके।

स्य रूपेण सहस्रमेष जगतीः संचितो भवति ॥८॥ तानि वाऽएतानि । सप्त छन्दाꣳसि चतुरुत्तराण्यन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितानि सप्तेमे पुरुषे प्राणा अन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितास्तद्यावत्तमेवंविच्छन्दसां गणमन्वाह छन्दसश्छन्दसो हैवास्य सोऽनूक्तो भवति स्तुतो वा शस्तो वोपहितो वा ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥३ [३. १.] ॥ ॥

तदाहुः । किं छन्दः का देवताग्निः शिर इति गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शिरः ॥१॥ किं छन्दः । का देवता ग्रीवा इत्युष्णिक्छन्दः सविता देवता ग्रीवाः ॥२॥ किं छन्दः । का देवतानूकमिति बृहती छन्दो बृहस्पतिर्देवतानूकम् ॥३॥ किं छन्दः । का देवता पक्षाविति बृहद्रथन्तरे छन्दो द्यावापृथिवी देवते पक्षौ ॥४॥ किं छन्दः । का देवता मध्यमिति त्रिष्टुप्छन्द इन्द्रो देवता मध्यम् ॥५॥ किं छन्दः । का देवता श्रोणी इति जगती छन्द आदित्यो देवता श्रोणी ॥६॥ किं छन्दः । का देवता यस्मादिदं प्राणादितः सिच्यतऽइत्यतिछन्दाश्छन्दः प्रजापतिर्देवता ॥७॥ किं छन्दः । का देवता योऽयमवाङ् प्राण इति यज्ञायज्ञियं छन्दो वैश्वानरो देवता ॥८॥ किं छन्दः । का देवतोरूऽइत्यनुष्टुप्छन्दो विश्वे देवा देवतोरू ॥९॥ किं छन्दः । का देवताष्ठीवन्ताविति पङ्क्तिश्छन्दो मरुतो देवताष्ठीवन्तौ ॥१०॥ किं छन्दः । का देवता प्रतिष्ठेऽइति द्विपदा छन्दो विष्णुर्देवता प्रतिष्ठे ॥११॥ किं छन्दः । का देवता प्राणा इति विछन्दाश्छन्दो वायुर्देवता प्राणाः ॥१२॥ किं छन्दः । का देवतोनातिरिक्तानीति न्यूनाक्षरा छन्द आपो देवतोनातिरिक्तानि सैषात्मविद्यैवैतन्मयो हैवैता देवता एतमात्मानमभिसम्भवति न हास्यान्या लोक्यतायाऽआशीरस्ति ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३. २.] ॥ ॥

धीरो ह शातपर्णेयः । महाशालं जाबालमुपोत्ससाद तꣳ होवाच किं मा विद्वानुपोदसद इत्यग्निं वेदेति कमग्निं वेत्थेति वाचमिति यस्तमग्निं वेद किꣳ स भवतीति वाग्मी भवतीति होवाच नैनं वाग्जहातीति ॥१॥ वेत्थाग्निमिति हो-

इस प्रकार से जगती को सहस्र रूप प्राप्त होता है ॥८॥

ये सात छन्द जो चार-चार करके बढ़ते हैं, और एक-दूसरे में प्रतिष्ठित हैं, पुरुष के सात प्राण हैं। ये एक-दूसरे में प्रतिष्ठित होते हैं। जो इस रहस्य को समझता है, वह जितने छन्दों से स्तुति करता है, उतने ही से वेदी की प्राप्ति होती है—स्तुति, शस्त्र या ईंटों की स्थापना से ॥६॥

वेदवादिप्रश्नोत्तराभ्यां शिरोग्रीवादीनां छन्दोमयत्वनिरूपणम्

अध्याय ३—ब्राह्मण २

प्रश्न होता है कि अग्नि या वेदी के सिर का क्या छन्द है? क्या देवता है? गायत्री छन्द और अग्नि देवता है, इसके सिर का ॥१॥

गर्दन का क्या छन्द और क्या देवता है? गर्दन का उष्णिक् छन्द और सविता देवता है ॥२॥

अनूक् या रीढ़ का क्या छन्द और क्या देवता है? रीढ़ का बृहती छन्द और बृहस्पति देवता है ॥३॥

दोनों पक्षों का क्या छन्द और क्या देवता है? दोनों पक्षों के दो छन्द हैं, बृहद्रथन्तर और द्यावा-पृथिवी देवता हैं ॥४॥

मध्य भाग का क्या छन्द और क्या देवता है? मध्य भाग का त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता हैं ॥५॥

श्रोणी का क्या छन्द और क्या देवता है? श्रोणी का जगती छन्द और आदित्य देवता है ॥६॥

जिस प्राण से वीर्य सींचा जाता है उसका क्या छन्द है, और क्या देवता? अतिछन्दा छन्द है, और प्रजापति देवता ॥७॥

यह जो नीचे का प्राण है, उसका क्या छन्द है, और क्या देवता? यज्ञायज्ञिय छन्द और वैश्वानर देवता ॥८॥

जंघाओं का क्या छन्द है, और क्या देवता? उरु का अनुष्टुप् छन्द है, और विश्वे देवा देवता ॥६॥

घुटनों का क्या छन्द है, और क्या देवता? घुटनों का पंक्ति छन्द है, और मरुत् देवता ॥१०॥

प्रतिष्ठा अर्थात् पैरों का क्या छन्द है, और क्या देवता? द्विपद छन्द है, और विष्णु देवता ॥११॥

प्राणों का क्या छन्द है, और क्या देवता? प्राणों का छन्द है विच्छन्दा और वायु है देवता ॥१२॥

ऊन और अधिक भागों का क्या छन्द है, और क्या देवता? न्यून और अधिक अंगों का छन्द है न्यूनाक्षरा और आपः (जल) देवता है। यह है वेदी के शरीर का ज्ञान, और ऐसा ही है देवता जो उसमें प्रवेश करता है। इससे भिन्न उस लोक की प्राप्ति के लिए आशीर्वाद नहीं है ॥१३॥

धीरमहाशालनाम्नोर्महर्ष्योः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामग्ने सर्वदेवतासमष्टिरूपप्राण-वाय्वात्मकत्वप्रतिपादनम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

धीर शातपर्णेय, महाशाल जाबाल के पास आया। उसने कहा, 'तू क्या जानकर आया है, अर्थात् तू क्या जानता है।' उसने कहा—'मैं अग्नि को जानता हूँ।' उसने पूछा कि 'तू किस अग्नि को जानता है?' उसने उत्तर दिया, 'मैं वाणी को जानता हूँ।' 'जो उस अग्नि को जानता है वह क्या हो जाता है?' 'वह वाग्मी (अच्छा बोलनेवाला) हो जाता है। वाणी उसको छोड़ती नहीं' ॥१॥

उसने पूछा, 'तू अग्नि को जानता है?'

वाच । किमेव मा विद्वानुपोदसद इत्यग्निं वेदेति कमग्निं वेत्थेति चक्षुरिति य-स्तमग्निं वेद किᳯ स भवतीति चक्षुष्मान्भवतीति होवाच नैनं चक्षुर्जहातीति ॥२॥ वेत्थाग्निमिति होवाच । किमेव मा विद्वानुपोदसद इत्यग्निं वेदेति कमग्निं वेत्थेति मन इति यस्तमग्निं वेद किᳯ स भवतीति मनस्वी भवतीति होवाच नैनं मनो जहातीति ॥३॥ वेत्थाग्निमिति होवाच । किमेव मा विद्वानुपोदसद इत्यग्निं वेदेति कमग्निं वेत्थेति श्रोत्रमिति यस्तमग्निं वेद किᳯ स भवतीति श्रो-त्रवान्भवतीति होवाच नैनᳯ श्रोत्रं जहातीति ॥४॥ वेत्थाग्निमिति होवाच । किमेव मा विद्वानुपोदसद इत्यग्निं वेदेति कमग्निं वेत्थेति य एतत्सर्वमग्निस्तं वे-देति तस्मिन्होक्त उपावरुरोहाधीहि भोस्तमग्निमिति ॥५॥ स होवाच । प्रा-णो वाव सोऽग्निर्यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणᳯ श्रोत्रं यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्त इत्यध्यात्मम् ॥६॥ अ-थाधिदेवतम् । या वै सा वागग्निरेव स यत्तच्चक्षुरसौ स आदित्यो यत्तन्मन एष स चन्द्रमा यत्तच्छ्रोत्रं दिश एव तदथ यः स प्राणोऽयमेव स वायुर्योऽयं पवते ॥७॥ यदा वाऽअग्निरनुगच्छति । वायुं तर्ह्यनूद्वाति तस्मादेनमुदवासीदित्याहुर्वा-युᳯ ह्यनूद्वाति यदादित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायौ दि-शः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते स यदेवंविदस्माल्लोकात्प्रैति वाचैवाग्नि-मप्येति चक्षुषादित्यं मनसा चन्द्रᳯ श्रोत्रेण दिशः प्राणेन वायुᳯ स एतन्मय एव भूत्वैतासां देवतानां यां-यां कामयते सा भूत्वेलयति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३.३.] ॥

श्वेतकेतुर्हारुणेयः । यक्ष्यमाण आस तᳯ ह पितोवाच कानृत्विजोऽवृथा इति स होवाचायं न्वेव मे वैश्वावसव्यो होतेति तᳯ ह पप्रच्छ वेत्थ ब्राह्मण वैश्वा-वसव्य ॥१॥ चत्वारि महान्ती३ऽइति । वेद भो३ऽइति होवाच वेत्थ चत्वारि म-हतां महान्ती३ऽइति वेद भो३ऽइति होवाच वेत्थ चत्वारि व्रतानी३ऽइति वेद

साथ ही यह उससे पूछा—'तू क्या जानकर आया है ?' 'मैं अग्नि को जानता हूँ ।' 'तू किस अग्नि को जानता है ?' 'चक्षु को ।' 'चक्षु अग्नि के जानने से क्या होता है ?' 'चक्षुवाला हो जाता है। चक्षु उसको छोड़ता नहीं' ॥२॥

उसने कहा, 'तू अग्नि को जानता है ? तू क्या जानकर आया है ?' 'मैं अग्नि को जानता हूँ ।' 'तू किस अग्नि को जानता है ?' 'मन को ।' 'उस अग्नि को जानकर क्या होता है ?' 'मनस्वी हो जाता है । मन उसको नहीं छोड़ता' ॥३॥

उसने कहा, 'तू अग्नि को जानता है ? तू क्या जानकर यहाँ आया है ?' 'मैं अग्नि को जानता हूँ ।' 'तू किस अग्नि को जानता है ?' 'श्रोत्र को ।' 'इस अग्नि के जानने से क्या हो जाता है ?' 'श्रोत्रवान् हो जाता है । उसको श्रोत्र छोड़ता नहीं' ॥४॥

उसने कहा, 'तू अग्नि को जानता है ? तू क्या जानकर यहाँ आया है ?' 'मैं अग्नि को जानता हूँ ।' 'किस अग्नि को जानता है ?' 'यह जो सब अग्नि है, उसे जानता हूँ ।' ऐसा कहे जाने पर वह उठ बैठा और कहा, 'भगवन् ! उस अग्नि का मुझे उपदेश करें' ॥५॥

वह बोला, 'यह अग्नि प्राण है । जब पुरुष सोता है, तब प्राण में वाणी प्रविष्ट हो जाती है, प्राण में चक्षु, प्राण में मन, प्राण में श्रोत्र । जब जागता है, प्राण से ही ये सब उत्पन्न हो जाते हैं । यह है अध्यात्म ॥६॥

अब आधिदेवत । यह जो वाणी है, वह अग्नि ही है; यह जो चक्षु है, वह आदित्य है, जो मन है वह चन्द्रमा है, जो श्रोत्र है वे दिशायें हैं, यह जो प्राण है, वह वायु है, जो बहता है ॥७॥

जब वह अग्नि निकल जाती है, तो वह वायु में मिल जाती है, इसीलिए कहते हैं कि यह समाप्त हो गई । जब आदित्य अस्त होता है, तो वायु में मिलता है। वायु में ही चन्द्रमा, वायु में दिशायें, प्रतिष्ठा, वायु के सहारे ही फिर उत्पन्न होते हैं । जब इस रहस्य का जानने-वाला इस लोक से जाता है, वाणी के द्वारा अग्नि में मिलता है, आँख के द्वारा सूरज में, मन से चन्द्र में, श्रोत्र से दिशाओं में, प्राण से वायु में । ऐसा होकर जिस-जिस देवता की कामना करता है, उस-उसको प्राप्त हो जाता है ॥८॥

अनेकैः प्रश्नप्रतिवचनैः पुरुषस्यार्करूपत्वेन स्तुतिः

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

श्वेतकेतु आरुणेय ने यज्ञ करना चाहा । पिता ने उससे कहा, 'किनको ऋत्विज बनाया है ?' उसने कहा, 'यह वैश्वावसव्य मेरा होता है ।' तब उसने उससे पूछा, 'हे ब्राह्मण वैश्वावसव्य, क्या तू जानता है ?—॥१॥

'चार बड़ी बातों को ?' उसने कहा, 'हाँ, मैं जानता हूँ ।' 'क्या तू चार बड़ी से भी बड़ी बातों को जानता है ?' उसने कहा, 'हाँ मैं जानता हूँ ।' 'क्या तू चार व्रतों को जानता है ?'

भो३ऽइति होवाच वेत्थ चत्वारि व्रतानां व्रतानी३ऽइति वेद भो३ऽइति होवाच वेत्थ चत्वारि वयानी३ऽइति वेद भो३ऽइति होवाच वेत्थ चत्वारि वयानां वया-नी३ऽइति वेद भो३ऽइति होवाच वेत्थ चतुरोऽर्का३निति वेद भो३ऽइति हो-वाच वेत्थ चतुरोऽर्काणामर्का३निति वेद भो३ऽइति होवाच ॥२॥ वेत्थार्कमि-ति । अथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति वेत्थार्कपर्णेऽइत्यथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति वेत्थार्कपुष्पेऽइत्यथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति वेत्थार्ककोश्यावित्यथ वै नो भवा-न्वक्ष्यतीति वेत्थार्कसमुद्गावित्यथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति वेत्थार्कधाना इत्यथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति वेत्थार्काष्ठीलामित्यथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति वेत्थार्क-मूलमित्यथ वै नो भवान्वक्ष्यतीति ॥३॥ स ह वै यत्तदुवाच । वेत्थ चत्वारि महान्ति वेत्थ चत्वारि महतां महान्तीत्यग्निर्महांस्तस्य महतो महदोषधयश्च वन-स्पतयश्च तद्ध्यस्यान्नं वायुर्महांस्तस्य महतो महदापस्तद्ध्यस्यान्नमादित्यो महांस्त-स्य महतो महच्चन्द्रमास्तद्ध्यस्यान्नं पुरुषो महांस्तस्य महतो महत्पशवस्तद्ध्यस्यान्न-मेतान्येव चत्वारि महान्त्येतानि चत्वारि महतां महान्त्येतान्येव चत्वारि व्रतान्ये-तानि चत्वारि व्रतानां व्रतान्येतान्येव चत्वारि वयान्येतानि चत्वारि वयानां वया-न्येतऽएव चत्वारोऽर्का एते चत्वारोऽर्काणामर्काः ॥४॥ अथ ह वै यत्तदुवाच । वेत्थार्कमिति पुरुषꣳ हैव तदुवाच । वेत्थार्कपर्णेऽइति कर्णौ हैव तदुवाच वे-त्थार्कपुष्पेऽइत्यक्षिणी हैव तदुवाच वेत्थार्ककोश्याविति नासिके हैव तदुवाच वेत्थार्कसमुद्गावित्योष्ठौ हैव तदुवाच वेत्थार्कधाना इति दन्तान्हैव तदुवाच वे-त्थार्काष्ठीलामिति जिह्वाꣳ हैव तदुवाच वेत्थार्कमूलमित्यन्नꣳ हैव तदुवाच स एषोऽग्निरर्को यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निमर्कं पुरुषमुपास्तेऽयमहमग्निरर्कोऽस्मी-ति विद्यया हैवास्यैष आत्मन्नग्निरर्कश्चितो भवति ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३.४.] ॥ ॥

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते । एष हि यन्नेवेदꣳ सर्वं जनयत्येतं यन्तमिदमनु

'हाँ, मैं जानता हूँ।' 'क्या तू चार व्रतों के व्रतों को जानता है?' 'हाँ, मैं जानता हूँ।' 'क्या तू चार 'क्य'-'क' (अर्थात् प्रजापति-सम्बन्धी बातों) को जानता है?' 'हाँ, मैं जानता हूँ।' 'क्या तू चार 'क्य' के 'क्य' को जानता है? 'हाँ, मैं जानता हूँ।' 'क्या तू चार अर्कों को जानता है?' 'हाँ, मैं जानता हूँ।' 'क्या तू चार अर्कों के अर्कों को जानता है?' 'हाँ, मैं जानता हूँ' ॥२॥

'क्या तू अर्क को जानता है?' 'नहीं। आप सिखलायेंगे।' 'क्या अर्क-पर्ण को जानता है?' 'नहीं। आप सिखलायेंगे।' 'क्या अर्कपुष्प को जानता है?' 'नहीं, आप बतायेंगे।' 'अर्ककोश्यों को जानता है?' 'नहीं, आप सिखायेंगे।' 'क्या अर्क-समुद्गो को जानता है?' 'नहीं। आप सिखायेंगे।' 'क्या अर्क के धान को जानता है?' 'नहीं। आप सिखायेंगे।' 'क्या अर्काष्ठीला को जानता है?' 'नहीं आप सिखायेंगे।' 'क्या अर्क के मूल को जानता है?' 'नहीं, आप सिखायेंगे' ॥३॥

जब उसने पूछा कि चार बड़ी बातों को जानता है, या चार बड़ी-से-बड़ी बातों को जानता है? तो वहाँ बड़ी का अर्थ है अग्नि और बड़ी-से-बड़ी का ओषधियाँ और वनस्पतियाँ। क्योंकि यह इसका अन्न है। 'बड़ी' है वायु और बड़ी-से-बड़ी जल, क्योंकि वह उसका अन्न है। बड़ी है आदित्य और बड़ी-से-बड़ी है चन्द्रमा, वह उसका अन्न है। बड़ी है पुरुष और बड़ी-से-बड़ी है पशु, वह उसका अन्न है। ये चार हैं बड़ी बातें। ये चार हैं बड़ी-से-बड़ी बातें। यह चार हैं व्रत, ये चार हैं व्रतों के व्रत। ये चार 'क्य' हैं, और ये चार 'क्यों' के 'क्य।' ये चार अर्क हैं, और ये चार अर्कों के अर्क ॥४॥

जब उसने पूछा 'क्या तू अर्क को जानता है?' तो उससे तात्पर्य है, पुरुष से। 'क्या तू अर्कपर्ण को जानता है' इसका अर्थ है दो कान। 'क्या अर्कपुरुष को जानता है?' इसका अर्थ है, दो आँखें। 'क्या तू अर्क-कोश्य को जानता है?' इसका अर्थ है नाक। 'क्या तू अर्क-समुद्गो को जानता है अर्थात् होंठों को। 'क्या तू अर्क-धान को जानता है?' अर्थात् दाँतों को। 'क्या तू अर्कोष्ठीला को जानता है?' अर्थात् जीभ को। 'क्या तू अर्क-मूल को जानता है?' अर्थात् अन्न को। उसने कहा कि यह अर्क या पुरुष अग्नि है। जो इस अग्नि, अर्क या पुरुष की उपासना करता है, यह समझकर कि मैं 'अर्क हूँ, या अग्नि' वह अग्नि या अर्क को बना लेगा ॥५॥

यजुषोविधायकब्राह्मणयोर्निर्वचनम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ५

यह जो बहता है अर्थात् पवन, यह यजु ही है। यह बहता हुआ ही सबको उत्पन्न करता

प्रजायते तस्माद्वायुरेव यजुः ॥१॥ अयमेवाकाशो जूः । यदिदमन्तरिक्षमेतꣳ ह्या-
काशमनु जवते तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च जूश्च तस्माद्यजुरेष एव यदेष ह्ये-
ति तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितमृक्सामे वहतस्तस्मात्समानेऽत्राध्वर्युर्ग्रहैः कर्म
करोत्यन्यान्यन्यानि स्तुतशस्त्राणि भवन्ति यथा पूर्वाभ्याꣳ स्यन्त्वापराभ्यां धावये-
त्तादृक्तत् ॥२॥ अग्निरेव पुरः । अग्निꣳ हि पुरस्कृत्येमाः प्रजा उपासतऽआदित्य
एव चरणं यदा ह्येवैष उदेत्यथेदꣳ सर्वं चरति तदेतद्यजुः सपुरश्चरणमधिदेवतम्
॥३॥ अथाध्यात्मम् । प्राण एव यजुः प्राणो हि यन्नेवेदꣳ सर्वं जनयति प्राणं य-
न्तमिदमनु प्रजायते तस्मात्प्राण एव यजुः ॥४॥ अयमेवाकाशो जूः । योऽयमन्त-
रात्मन्नाकाश एतꣳ ह्याकाशमनु जवते तदेतद्यजुः प्राणश्चाकाशश्च यच्च जूश्च त-
स्माद्यजुः प्राण एव यत्प्राणो ह्येति ॥५॥ ॥ शतम् ५३०० ॥ ॥ अन्नमेव यजुः । अ-
न्नेन हि जायतेऽन्नेन जवते तदेतद्यजुरन्ने प्रतिष्ठितमन्नं वहति तस्मात्समानऽएव
प्राणेऽन्यदन्यदन्नं धीयते ॥६॥ मन एव पुरः । मनो हि प्रथमं प्राणानां चक्षुरेव
चरणं चक्षुषा ह्ययमात्मा चरति तदेतद्यजुः सपुरश्चरणमधिदेवतं चाध्यात्मं च प्र-
तिष्ठितꣳ स यो हैतदेवं यजुः सपुरश्चरणमधिदेवतं चाध्यात्मं च प्रतिष्ठितं वेद
॥७॥ अरिष्टो हैवानार्तः । स्वस्ति यज्ञस्योदृचमश्नुते स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुरएता भव-
त्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद ॥८॥ य उ हैवंविदꣳ । स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न
हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान्बुभूर्षति स है-
वालं भार्येभ्यो भवति ॥९॥ तदेतज्ज्येष्ठं ब्रह्म । न ह्येतस्मात्किं चन ज्यायोऽस्ति
ज्येष्ठो ह वै श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद ॥१०॥ तदेतद्ब्रह्मापूर्वमपरवत् ।
स यो हैतदेवं ब्रह्मापूर्वमपरवद्वेद न हास्मात्कश्चन श्रेयान्त्समानेषु भवति श्रे-
याꣳसः-श्रेयाꣳसो हैवास्मादपरपुरुषा जायन्ते तस्माद्योऽस्माज्ज्यायान्त्स्याद्दिशोऽस्मा-
त्पूर्वा इत्युपासीत तथो हैनं न हिनस्ति ॥११॥ तस्य वाऽएतस्य यजुषः । रस

है। इसके बहने पर ही सब चीज उत्पन्न होती है। इसलिए वायु ही यजु है ॥१॥

यह आकाश 'जू' है। इस अन्तरिक्ष या आकाश में ही यह वायु चलता है। इसलिए यह यजु है। रस अध्वर्यु का नाम है, 'य' या 'यत्' क्योंकि यह ले जाता है। इसलिए यह यजु है। यह ऋक् और साम में प्रतिष्ठित है, ऋक् और साम में बहता है। इसलिए अध्वर्यु एक ही ग्रहों से काम करता है, चाहे स्तुति और शस्त्र अलग-अलग हों। यह ऐसा ही है जैसे घोड़ों के पहले जोड़े को हांककर फिर दूसरे को हांके ॥२॥

अग्नि 'पुर' है, क्योंकि इसको 'पुर' या आगे करके ही लोग इसकी उपासना करते हैं; आदित्य 'चरण' है, क्योंकि जब यह उदय होता है, तब सब चलते हैं; इसलिए यजु हुआ 'पुरश्चरण'। यह हुआ अधिदेवत ॥३॥

अब अध्यात्म लीजिए—प्राण है यजु, क्योंकि प्राण चलता हुआ ही सबको उत्पन्न करता है। जब प्राण चलता है, तो सब प्रजा उत्पन्न होती है। इसलिए प्राण यजु है ॥४॥

यह आकाश 'जू' है, यह जो शरीर के भीतर आकाश है, क्योंकि आकाश में ही यह प्राण चलता है। इसलिए प्राण और आकाश मिलकर 'यजु' हुआ (यत्+जु=यजु)। इसलिए यजु प्राण है। यत् है प्राण, जो बहता है ॥५॥

अन्न यजु है। अन्न से उत्पन्न होता है। अन्न से ही चलता है। अन्न में प्रतिष्ठित हुए यजु को ही अन्न ले जाता है। इसलिए एक ही प्राण में अन्य-अन्य अन्न रक्खा जाता है ॥६॥

मन 'पुर' है, क्योंकि प्राणों में मन ही पहले है। चक्षु चरण है, चक्षु से ही यह शरीर चलता है। ऐसा है यजु पुरश्चरण (पुर+चरण) के साथ, अधिदेवत और अध्यात्म में प्रतिष्ठित। और वस्तुतः जो कोई यजु को पुरश्चरण के साथ अधिदेवत और अध्यात्म में प्रतिष्ठित इस प्रकार जानता है वह—॥७॥

यज्ञ के उद्देश्य को बिना कष्ट या हानि के पहुँच जाता है। जो इस रहस्य को समझता है, वह अपने लोगों में श्रेष्ठ और नेता (पुरएतृ–आगे चलनेवाला) तथा अन्न को भोगनेवाला और स्वामी हो जाता है ॥८॥

यदि इस रहस्य के समझनेवाले के साथ उसी के स्वजनों में से कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी होना चाहता है तो वह अपने अधीनों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। जो उसके अनुकूल चलता है और अपने अधीनों को सन्तुष्ट करने का यत्न करता है वही उनको सन्तुष्ट कर सकता है ॥९॥

यह ज्येष्ठ ब्रह्मविद्या है। इससे बड़ी कोई नहीं। जो इस रहस्य को समझता है, वह अपने लोगों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है ॥१०॥

यह ब्रह्मविद्या ऐसी है, जिसका न कोई पूर्व है न पर। जो इस रहस्य को समझता है कि इस ब्रह्मविद्या का न पूर्व है न पर, उससे कोई बड़ा नहीं होता, वह समान लोगों में श्रेष्ठ होता है। उसकी सन्तान भी श्रेष्ठ उत्पन्न होती है। इसलिए यदि कोई उससे बड़ा होना चाहे, उसको चाहिए कि इससे पूर्व की दिशा में उपासना करे। उससे कोई हानि न पहुँचेगी ॥११॥

इसी यजु का रस उपनिषद् है।

एवोपनिषत्तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषाध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति स उभे स्तुतशस्त्रेऽअनुविभवत्युभे स्तुतशस्त्रेऽअनुव्यश्नुते तस्माद्यावन्मात्रऽइवान्नस्य रसः सर्वमन्नमवति सर्वमन्नमनुव्येति ॥१२॥ तृप्तिरेवास्य गतिः । तस्माद्यदान्नस्य तृप्यत्यथ स गतऽइव मन्यतऽआनन्द एवास्य विज्ञानमात्मानन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः सा हैषैव देवानामद्धाविद्या स ह स न मनुष्यो य एवंविद्देवानाᳬ हैव स एकः ॥१३॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वान्प्रियव्रतो रौहिणायन आह । वायुं वात्मानन्दस्तऽआत्मेतो वा वाहीतो वेति स ह स्म तथैव वाति तस्माद्यां देवेष्वाशिषमिच्छेदेतेनैवोपतिष्ठेतानन्दो व आत्मासौ मे कामः स मे समृध्यतामिति सᳬ हैवास्मै स काम ऋध्यते यत्कामो भवत्येताᳬ ह वै तृप्तिमेतां गतिमेतमानन्दमेतमात्मानमभिसम्भवति य एवं वेद ॥१४॥ तदेतद्यजुरुपाᳬश्वनिरुक्तम् । प्राणो वै यजुरुपाᳬश्वायतनो वै प्राणस्तस्य एनं निर्ब्रुवन्तं ब्रूयादनिरुक्तां देवतां निरवोचत्प्राण एनᳬ हास्यतीति तथा हैव स्यात् ॥१५॥ तस्य ह यो निरुक्तमाविर्भावं वेद । आविर्भवति कीर्त्या यशसोपाᳬशु यजुषाध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति गृहीतः सन्न आविर्भवत्युपाᳬशु यजुषाग्निं चिनोति चितः संचित आविर्भवत्युपाᳬशु यजुषा हविर्निर्वपति शृतं निष्ठितमाविर्भवत्येवं यत्किं चोपाᳬशु करोति कृतं निष्ठितमाविर्भवति तस्य ह य एतमेवं निरुक्तमाविर्भावं वेदाविर्भवति कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन क्षिप्रऽउ हैवाविदं गच्छति स ह यजुरेव भवति यजुषैनमाचक्षते ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३. ५.] ॥ तृतीयोऽध्यायः [६३.] ॥ ॥

प्रजापतिं विस्रस्तम् । यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतो भूतमसिञ्चन्योनिर्वाऽउखा तस्माऽएतत्संवत्सरेऽन्नᳬ समस्कुर्वन्योऽयमग्निश्चितस्तदात्मना यद्दधुस्तदात्मना परिह्वितमात्मैवाभवत्तस्मादन्नमात्मना परिह्वितमात्मैव भवति ॥१॥ तथैवैतद्यजमानः । आत्मानमुखायां योनौ रेतो भूतᳬ सिञ्चति योनिर्वा

इसलिए जिस मात्रा में यजु से अध्वर्यु सोमग्रह लेता है वे दोनों अर्थात् स्तोत्र और शस्त्र के बराबर हैं, और स्तोत्र तथा शस्त्र के बराबर हो जाता है। इसलिए जितनी मात्रा में अन्न का रस होता है, वह सब अन्न की रक्षा करता है, और सब अन्न में व्यापक होता है ॥१२॥

तृप्ति ही इसका उद्देश्य है। जो अन्न से तृप्त हो जाता है, वह पहुँचा हुआ समझता है, अर्थात् वह समझता है कि मेरा उद्देश्य पूरा हो गया। आनन्द, विज्ञान ही इसका आत्मा है। सब देव आनन्द-आत्मावाले हैं। वह देवों की विद्या ही है। जो इस रहस्य को समझता है, वह मनुष्य नहीं है, वह देवों में से ही एक है ॥१३॥

इस रहस्य को समझनेवाले प्रियव्रत रौहिणायन ने एक बार बहती हुई हवा (वायु) से कहा —'तेरा आत्मा आनन्द है, चाहे इधर बह, चाहे उधर।' वह इसी प्रकार बहता है। इसलिए जब देवों से कोई आशीर्वाद लेना चाहे तो उसको इस प्रकार उपासना करनी चाहिए, 'आपका आत्मा-आनन्द है। मेरी यह कामना है। वह मेरी कामना पूरी हो।' उसकी जो कोई कामना होती है, वह पूरी हो जाती है। जो इस रहस्य को समझता है, वह इस तृप्ति को, इस गति को, इस आनन्द को, इस आत्मा को प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

यह यजु चुपचाप है, और अनिरुक्त। यजु प्राण है। प्राण चुपचाप आयतन वाला है। यदि कोई उस (अध्वर्यु) के विषय में कहे कि 'इसने अनिरुक्त देवता को निरुक्त कहा, इसका प्राण इसका साथ न देगा' तो ऐसा ही हो जायगा ॥१५॥

जो इस यजु के अनिरुक्त आविर्भाव को जानता है, उसकी कीर्ति और यश का आविर्भाव हो जाता है। अध्वर्यु सोम ग्रह को यजु का चुपचुप जप करके लेता है। जब उसे ले लेता है, तो उसका आविर्भाव हो जाता है। चुपके-चुपके यजु से वेदी बनाता है। जब वेदी बन जाती है, तो उसका आविर्भाव हो जाता है। चुपके-चुपके यजु से हवि निकालता है। जब हवि निकल आती है और पक जाती है, तो इसका आविर्भाव हो जाता है। इसलिए जो-जो काम चुपके से किया जाता है, वह जब पूर्ण हो जाता है तो उसका आविर्भाव हो जाता है। जो इस अनिरुक्त के आविर्भूत होने के रहस्य को समझता है, उसकी कीर्ति, यश, ब्रह्मवर्चस् बढ़ जाते हैं। वह ज्ञात हो जाता है। वह यजु ही हो जाता है। लोग उसको यजु ही के नाम से पुकारते हैं ॥१६॥

प्रजापतेर्भोक्तृत्वमाहवनीयरूपत्वम् रुक्मपुरुषयोरिन्द्राग्न्यात्मना स्तुत्यादिकञ्च

अध्याय ४—ब्राह्मण १

शिथिल प्रजापति को जब देवताओं ने पूर्ण किया तो उसको उखा योनि में वीर्य के रूप में सींचा। उखा योनि है। उसके लिए जब संवत्सर में अन्न को पूर्ण किया तो यह जो वेदी बनाई उसको शरीर बनाया। उसे शरीर से घेरा। वह शरीर ही हो गया। इसलिए जो अन्न शरीर में पहुँच जाता है, वह शरीर ही हो जाता है ॥१॥

इसी प्रकार यह यजमान उखा योनि में आत्मारूपी वीर्य को सींचता है। यह उखा

ऽउखा तस्माऽएतत्संवत्सरेऽन्नꣳ संस्करोति योऽयमग्निश्चितस्तदात्मना परिदधाति तदात्मना परिहितमात्मेव भवति तस्मादन्नमात्मना परिहितमात्मेव भवति ॥२॥ तं निदधाति । वौषडिति वौगिति वाऽएष षडितीदꣳ षड्विति कमन्नं कृत्वास्माऽअपिदधात्यात्मसंमितं यद्वु वाऽआत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति ॥३॥ स एष एवार्कः । यमेतमत्राग्निमाहरन्ति तस्यैतदन्नं कं योऽयमग्निश्चितस्तदर्क्यं यजुष्ट एष एव महांस्तस्यैतदन्नं व्रतं तन्महाव्रतꣳ सामत एष उऽएवोक्तस्यैतदन्नं थं तदुक्थमृक्तस्तदेतदेकꣳ सत्त्रेधाख्यायते ॥४॥ अथेन्द्राग्नी वाऽअसृज्येताम् । ब्रह्म च क्षत्रं चाग्निरेव ब्रह्मेन्द्रः क्षत्रं तौ सृष्टौ नानैवास्तां तावब्रूतां न वाऽइत्थꣳ सन्तौ शक्ष्यावः प्रजाः प्रजनयितुमेकꣳ रूपमुभावसावेति ताविकꣳ रूपमुभावभवताम् ॥५॥ तौ यौ ताविन्द्राग्नी । एतौ तौ रुक्मश्च पुरुषश्च रुक्म एवेन्द्रः पुरुषोऽग्निस्तौ हिरण्मयौ भवतो ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरिन्द्राग्नीऽअमृतꣳ हिरण्यममृतमिन्द्राग्नी ॥६॥ तावेताविन्द्राग्नीऽएव चिन्वन्ति । यद्धि किं चेष्टकमग्निरेव तत्तस्मात्तदग्निना पचन्ति यद्धि किं चाग्निना पचन्त्यग्निरेव तदथ यत्पुरीषꣳ स इन्द्रस्तस्मात्तदग्निना न पचन्ति नेदग्निरेवासन्नेन्द्र इति तस्मादेताविन्द्राग्नीऽएव चितौ ॥७॥ अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते । तदेकꣳ रूपमुभौ भवतस्तस्मात्तावेतेनैव रूपेणेमाः प्रजाः प्रजनयतः सैषैकेवेष्टकाग्निरेव तामेव सर्वोऽग्निरभिसम्पद्यते सैवेष्टकासम्पत्तदेतदेकमेवाक्षरं वौगिति तदेष सर्वोऽग्निरभिसम्पद्यते सैवाक्षरसम्पत् ॥८॥ तद्धैतत्पश्यन्नृषिरभ्यनूवाद । भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरं बहु ब्रह्मैकमक्षरमित्येतद्ध्येवाक्षरꣳ सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यन्ते तदेतद्ब्रह्म च क्षत्रं चाग्निरेव ब्रह्मेन्द्रः क्षत्रमिन्द्राग्नी वै विश्वे देवा विड् विश्वे देवास्तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् ॥९॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वाञ्छ्यापर्णः सायकायन आह । यद्वै मऽइदं कर्म समाप्स्यत ममैव प्रजा

योनि है। उसके लिए संवत्सर में यह अन्न का संस्कार करता है। यह जो वेदी चिनी जाती है, उसको शरीर से घेरता है। शरीरसे घिरकर वह शरीर हो जाता है। इसलिए शरीर में पहुँचकर अन्न शरीर ही हो जाता है ॥२॥

वह (उख्य अग्नि को वेदी में) वौषट् कहकर रखता है। (वौषट् का अर्थ यह है कि) वौक् है यह अग्नि, षट् है यह छः चितियों की वेदी या अन्न। इसको बनाकर इसके शरीर के अनुसार इसे अर्पण करता है। जो अन्न शरीर के अनुपात से दिया जाता है, वह रक्षा करता है, हानि नहीं करता। अधिक खा जाने से हानि होती है, और कम खाने से रक्षा नहीं हो सकती ॥३॥

जिस अग्नि को यहाँ लाते हैं, वही 'अर्क' है, और इसका यह अन्न अर्थात् बनी हुई वेदी 'क्य' है। यजु के हिसाब से यह 'अर्क्य' हुआ। यह अग्नि महान् है। यह अन्न (वेदी) व्रत है। इसलिए साम के हिसाब से यह महाव्रत हुआ। यह अग्नि उक् है, और यह अन्न (वेदी) 'थ' है। इस प्रकार ऋक् के हिसाब से यह उक्थ हुआ। इस प्रकार एक है, परन्तु उसकी तीन प्रकार से व्याख्या हो गई ॥४॥

इन्द्र और अग्नि ब्राह्मण और क्षत्रिय के रूप में बनाये गये। अग्नि है ब्रह्म, इन्द्र है क्षत्रिय। जब वे बने तो नाना (अलग-अलग) थे। वे बोले, 'इस प्रकार रहकर तो हम प्रजा को नहीं बना सकते। हम एकरूप हो जायें।' इस प्रकार वे दोनों एकरूप हो गये ॥५॥

ये दो इन्द्र और अग्नि वही हैं, जो स्वर्ण और स्वर्णपुरुष। इन्द्र स्वर्ण है, अग्नि पुरुष। वे स्वर्णमय हैं। हिरण्य नाम है ज्योति का। इन्द्र और अग्नि ज्योति हैं। स्वर्ण अमृत है। इन्द्र और अग्नि अमृत है ॥६॥

वे इन इन्द्र और अग्नि को ही चिनते हैं। जो कुछ ईंटों का है, वह अग्नि ही है, क्योंकि उसको अग्नि से पकाते हैं; जो कुछ अग्नि से पकाया जाता है, वह अग्नि ही है। जो पुरीष है, वह इन्द्र है। उसको अग्नि से नहीं पकाते कि कहीं इन्द्र न होकर अग्नि हो जाय। इस प्रकार इन्द्र और अग्नि को चिनते हैं ॥७॥

जो अग्नि वेदी पर रक्खी जाती है, वह दोनों रूप मिलकर एक हो जाती है। इस प्रकार ये दोनों एकरूप होकर प्रजा को सृजते हैं। यह एक ईंट ही अग्नि है, इसमें सब अग्नि प्रविष्ट हो जाती है। यह ईंटों का सम्पादन हो गया। यह एक अक्षर है 'वौक्।' इसमें सब अग्नि प्रविष्ट होता है। यह है अक्षर का सम्पादन ॥८॥

ऋषि ने यही देखकर तो कहा था—"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरं बहु ब्रह्मैकमक्षरम्।"—"मैं स्तुति करता हूँ, भूत और भविष्यत् की, महद्ब्रह्म एकाक्षर की, बहुब्रह्म एक अक्षर की।" इसी अक्षर में सब देव तथा सब भूत प्रविष्ट हैं। यह ब्रह्म और क्षत्र हैं। अग्नि ब्रह्म है, इन्द्र क्षत्र। विश्वेदेव हैं इन्द्राग्नि। परन्तु विश्वेदेवा वैश्य हैं। इसलिए विश्वेदेवा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हुए ॥९॥

इसी रहस्य को समझकर श्यापर्ण सायकायन ने कहा, 'यदि मेरा यह कर्म समाप्त हो

सत्वानाᳪ राजानोऽभविष्यन्मम ब्राह्मणा मम वैश्या यत्तु मऽएतावत्कर्मणः समापि तेन मऽउभयथा सत्वान्प्रजातिरेक्ष्यतऽइति स एष एव श्रीरेष यश एषो ऽन्नादः ॥१०॥ एतद्ध वै तच्छाण्डिल्यः । वामकक्षायणाय प्रोच्योवाच श्रीमान्यशस्व्यन्नादो भविष्यसीति श्रीमान्ह वै यशस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥११॥ स एषोऽग्निः प्रजापतिरेव । तं देवा एतमग्निं प्रजापतिᳪ संस्कृत्याथास्माऽएतत्संवत्सरेऽन्नᳪ समस्कुर्वन्य एष महाव्रतीयो ग्रहः ॥१२॥ तमध्वर्युर्ग्रहेण गृह्णाति । यद्गृह्णाति तस्माद्ग्रहस्तस्मिन्नुद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति सर्वाणि हैतानि सामानि यन्महाव्रतं तदस्मिन्त्सर्वैः सामभी रसं दधाति तस्मिन्होता महतोक्थेन रसं दधाति सर्वा हैता ऋचो यन्महदुक्थं तदस्मिन्त्सर्वाभिर्ऋग्भी रसं दधाति ॥१३॥ तं यदा स्तुवते यदानुशᳪसति । अथास्मिन्नेतं वषट्कृते जुहोति वौगिति वाऽएष षडितीदᳪ षड्विधमन्नं कृत्वास्माऽअपिदधात्यात्मसमितं यद्व वाऽआत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति ॥१४॥ स एष एवार्कः । योऽयमग्निश्चितस्तस्यैतदन्नं क्यमेष महाव्रतीयो ग्रहस्तदर्क्यं यजुष्ट एष एव महांस्तस्यैतदन्नं व्रतं तन्महाव्रतᳪ सामत एष उऽएवोक्तस्तदन्नं थं तदुक्थमृक्तस्तदेतदेकᳪ सत्त्रेधाख्यायते ॥१५॥ स एष संवत्सरः प्रजापतिरग्निः । तस्यार्धमेव सावित्राण्यर्धं वैश्वकर्मणान्यष्टाविवास्य कलाः सावित्राण्यष्टौ वैश्वकर्मणान्यथ यदेतदन्तरेण कर्म क्रियते स एव सप्तदशः प्रजापतिर्यो वै कला मनुष्याणामक्षरं तद्देवानाम् ॥१६॥ तद्वै लोमेति द्वेऽअक्षरे । त्वगिति द्वेऽअसृगिति द्वे मेद इति द्वे माᳪसमिति द्वे स्नावेति द्वेऽअस्थीति द्वे मज्जेति द्वे ताः षोडश कला अथ य एतदन्तरेण प्राणः संचरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः ॥१७॥ तस्माऽएतस्मै प्राणाय । एताः षोडश कला अन्नमभिहरन्ति ता यदानभिहर्तुं ध्रियन्तेऽथैना एव लब्धोत्क्रामति तस्माद्ध हैतदशिशिषतस्तृप्रमिव भवति प्राणैरद्यमानस्य तस्माद्

जाय तो मेरी ही प्रजा सत्वों पर राजा हो जायगी, मेरी ही ब्राह्मण, मेरी ही वैश्य। मेरा जितना कर्म समाप्त हो गया है, उतने ही से मेरी प्रजा सत्वों से दोनों प्रकार से बढ़कर है। क्योंकि यह अग्नि ही श्री है, यश है, और अन्न का खानेवाला है ॥१०॥

इसी सम्बन्ध में शाण्डिल्य ने वामकक्षायण को आदेश देकर कहा, 'तू श्रीमान्, यशस्वी और अन्न का भोक्ता होगा।' जो इस रहस्य को समझता है, वह श्रीमान्, यशस्वी और अन्नाद होता है ॥११॥

यह अग्नि प्रजापति ही है। देवों ने अग्नि-प्रजापति को बनाकर सालभर में 'महाव्रतीय ग्रह' नामी अन्न बनाया ॥१२॥

इसको अध्वर्यु ग्रहों में लेता है। जिसमें ग्रहण किया जाय, उसे 'ग्रह' कहते हैं। उद्गाता इसमें महाव्रत से रस डालता है। ये सब साम महाव्रत हैं। इस प्रकार इसमें सब सामों से रस डालता है। इसमें होता महदुक्थ से रस डालता है। ये सब ऋक् महदुक्थ हैं, इस प्रकार इसमें सब ऋचाओं से रस डालता है ॥१३॥

जब वे स्तोत्र पढ़ते हैं, और होता शस्त्र पढ़ता है, उस समय अध्वर्यु वषट्कार से आहुति देता है। वौक् यह अग्नि है, और षट् अर्थात् छः चितियों वाली वेदी या अन्न। इसको बनाकर वह इसके शरीर के अनुपात से इसको अन्न देता है। जो अन्न शरीर के अनुपात से दिया जाता है, वह रक्षा करता है, और हानि नहीं करता। अधिक हो तो हानि करता है, न्यून हो तो रक्षा नहीं करता ॥१४॥

यह जो चिनी हुई अग्नि या वेदी है, वह अर्क है। यह जो महाव्रतीय ग्रह है, वह इसका अन्न है या 'क्य'। यह मिलकर यजु के हिसाब से अर्क्य हुआ। यह अग्नि है महान्, यह वेदी या अन्न हुआ व्रत। साम के हिसाब से यह हुआ महाव्रत। यह अग्नि है 'उक्', यह वेदीरूपी अन्न हुआ 'थ'। यह ऋक् के हिसाब से हुआ 'उक्थ'। यह है तो एक, परन्तु तीन प्रकार से इसकी व्याख्या हो गई ॥१५॥

यह अग्नि है संवत्सर प्रजापति। इसका आधा हुई सावित्र आहुतियाँ, और आधी वैश्वकर्म आहुतियाँ। इसकी आठ कला हैं सावित्र, और आठ कला हैं वैश्वकर्म। इनके बीच में जा कृत्य किया जाता है, वह है सत्रहवाँ प्रजापति। जो मनुष्यों के लिए कला है, वह देवों के लिए अक्षर ॥१६॥

लोम में दो अक्षर है, त्वग् में दो, असृक् (रुधिर) में दो, 'मेद' में दो, मांस में दो, स्नायु में दो, अस्थि में दो, मज्जा में दो, ये हुई सोलह कलाएँ। इनके बीच में जो प्राण चलता है, यह सत्रहवाँ प्रजापति हुआ ॥१७॥

इस प्राण के लिए ये सोलह कलाएँ अन्न लाती हैं। जब ये नहीं लातीं तो प्राण इन्हीं को खाता है, और खाकर निकल जाता है। इसलिए भूखा मनुष्य समझता है कि मुझे मेरा प्राण खाये जा रहा है।

हैतदुपतापी कृश-इव भवति प्राणैर्हि जग्धो भवति ॥१८॥ तस्माऽएतस्मै सप्तदशाय प्रजापतये । एतत्सप्तदशमन्नꣳ समस्कुर्वन्य एष सौम्योऽध्वरोऽथ या अस्य ताः षोडश कला एते ते षोडशऽर्त्विजस्तस्मान्न सप्तदशमृत्विजं कुर्वीत नेदतिरेचयानीत्यथ य एवात्र रसो या आहुतयो हूयन्ते तदेव सप्तदशमन्नम् ॥१९॥ ते यदा स्तुवते यदानुशꣳसति । अथास्मिन्नेतं वषट्कृते जुहोति वौगिति वाऽएष षडितीदꣳ षड्विधमन्नं कृत्वास्माऽअपिदधात्यात्मसंमितं यद्वु वाऽआत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति ॥२०॥ स एष एवार्कः । योऽयमग्निश्चितस्तस्यैतदन्नं कमेष सौम्योऽध्वरस्तदर्क्यं यजुष्ट एष एव महांस्तस्यैतदन्नं व्रतं तन्महाव्रतꣳ सामत एष उऽएवोक्तस्यैतदन्नं थं तदुक्थमृक्तस्तदेतदेकꣳ सत्त्रेधाख्यायते स एतेनान्नेन सहोर्ध्व उदक्रामत्स यः स उदक्रामदसौ स आदित्योऽथ येन तेनान्नेन सहोदक्रामदेष स चन्द्रमाः ॥२१॥ स एष एवार्को य एष तपति । तस्यैतदन्नं कमेष चन्द्रमास्तदर्क्यं यजुष्ट एष एव महांस्तस्यैतदन्नं व्रतं तन्महाव्रतꣳ सामत एष उऽएवोक्तस्यैतदन्नं थं तदुक्थमृक्तस्तदेतदेकꣳ सत्त्रेधाख्यायतऽइत्यधिदेवतम् ॥२२॥ अथाध्यात्मम् । प्राणो वाऽअर्कस्तस्यान्नमेव कं तदर्क्यं यजुष्टः प्राण एव महांस्तस्यान्नमेव व्रतं तन्महाव्रतꣳ सामतः प्राण उऽएवोक्तस्यान्नमेव थं तदुक्थमृक्तस्तदेतदेकꣳ सत्त्रेधाख्यायते स एष एवैषोऽधिदेवतमयमध्यात्मम् ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥७ [४. १.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०१ ॥ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः । सोमो राजा चन्द्रमाः स ह स्वयमेवात्मानं प्रोचे यज्ञवचसे राजस्तम्बायनाय यावन्ति वाव मे ज्योतीꣳषि तावत्यो मऽइष्टका इति ॥१॥ तस्य वाऽएतस्य संवत्सरस्य प्रजापतेः । सप्त च शतानि विꣳशतिश्चाहोरात्राणि ज्योतीꣳषि ता इष्टकाः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः षष्टिश्च

जिसको ज्वर आता है, वह दुबला हो जाता है। प्राण उसको खा लेता है।।१८।।

यह जो सोम याग है, यह देवों ने सप्तदश प्रजापति के लिए सप्तदश अन्न तैयार किया था। इसके सोलह ऋत्विज इसकी सोलह कला हैं। इसलिए सत्रह ऋत्विज न बनावे कि कहीं अधिक न हो जाय। यह जो आहुतियाँ दी जाती हैं, यह रस है। यह सप्तदश अन्न है।।१९।।

जब स्तोत्र पढ़ते हैं, जब होता शस्त्र पड़ता है, तब अध्वर्यु वषट्कार से इसमें आहुति देता है। यह अग्नि 'वौक्' है और यह छः चितियोंवाली वेदी या अन्न 'षट्' है। वेदी को बनाकर शरीर के अनुपात से अन्न देता है। जो अन्न शरीर के अनुपात से दिया जाता है, वह रक्षा करता है, हानि नहीं करता। अधिक होता है तो हानि पहुँचाता है, कम होता है तो रक्षा नहीं करता।।२०।।

यह जो चिनी हुई वेदी है, वह अर्क है और यह जो सोम है वह है 'क्य।' इस प्रकार यजु के हिसाब से यह हुआ 'अर्क्य'। यह अग्नि है महान्। यह अन्न है व्रत। इसलिए साम के हिसाब से यह हुआ 'महाव्रत'। यह अग्नि है 'उक्', और यह अन्न है 'थ'। इसलिए ऋक् के हिसाब से यह हुआ 'उक्थ'। यह एक है, परन्तु इसकी तीन प्रकार की व्याख्या हो गई। इस अन्न से यह ऊपर को चढ़ा। यह जो ऊपर को चढ़ा वह है यह आदित्य। जिस अन्न के साथ वह ऊपर को चढ़ा वह है चन्द्रमा।।२१।।

यह जो तपता है (सूर्य) वह है अर्क। इसका 'क्य' या अन्न है चन्द्रमा। यह यजु के हिसाब से हुआ 'अर्क्य। यह है महान्। इसका अन्न है व्रत। साम के हिसाब से यह हुआ महाव्रत। यह है 'उक्'। इसका अन्न है 'थ'। ऋक् के हिसाब से यह हुआ 'उक्थ।' यह एक है। तीन तरह से इसकी व्याख्या हुई। यह है अधिदेवत।।२२।।

अब अध्यात्म लीजिए। प्राण है अर्क। उसका अन्न है 'क्य'। यह यजु के हिसाब से हुआ अर्क्य। प्राण है महान्, उसका अन्न है व्रत। साम के हिसाब से यह हुआ महाव्रत। प्राण है 'उक्', इसका अन्न है 'थ', यह हुआ ऋक् के हिसाब से 'उक्थ'। यह है एक, इसकी व्याख्या हुई तीन प्रकार की। यह है अधिदैवत, यह है आध्यात्म।।२३।।

अध्याय ४—ब्राह्मण २

अग्नि है संवत्सर प्रजापति। राजा सोम है चन्द्रमा। उसने स्वयं यज्ञवचस राजस्तम्बायन से कहा, 'जितनी मेरी ज्योतियाँ हैं, उतनी मेरी ईंटें हैं'।।१।।

इस संवत्सर प्रजापति की ज्योतियाँ सात सौ बीस रात-दिन हैं। इसकी इतनी ही ईंटें

त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः सोऽयᳪ संवत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे यच्च प्राणि यच्चाप्राणमुभयान्देवमनुष्यान्त्स सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान-इव मेने स मृत्योर्बिभयां चकार ॥२॥ स हेक्षां चक्रे । कथं न्वहमिमानि सर्वाणि भूतानि पुनरात्मन्नावपेय पुनरात्मन्दधीय कथं न्वहमेवैषाᳪ सर्वेषां भूतानां पुनरात्मा स्यामिति ॥३॥ स द्वेधात्मानं व्यौहत् । षष्टिश्च त्रीणि च शतान्यन्यतरस्येष्टका अभवन्नेवमन्यतरस्य स न व्याप्नोत् ॥४॥ त्रीनात्मनोऽकुरुत । तिस्रस्तिस्रोऽशीतय एकैकस्येष्टका अभवन्त्स नैव व्याप्नोत् ॥५॥ चतुर आत्मनोऽकुरुत । अशीतिशतेनेष्टकान्त्स नैव व्याप्नोत् ॥६॥ पञ्चात्मनोऽकुरुत । चतुश्चत्वारिᳪशᳪ शतमेकैकस्येष्टका अभवन्त्स नैव व्याप्नोत् ॥७॥ षडात्मनोऽकुरुत । विᳪशतिशतेष्टकान्त्स नैव व्याप्नोन्न सप्तधा व्यभवत् ॥८॥ अष्टावात्मनोऽकुरुत । नवतीष्टकान्त्स नैव व्याप्नोत् ॥९॥ नवात्मनोऽकुरुत । अशीतीष्टकान्त्स नैव व्याप्नोत् ॥१०॥ दशात्मनोऽकुरुत । द्वासप्ततीष्टकान्त्स नैव व्याप्नोन्नैकादशधा व्यभवत् ॥११॥ द्वादशात्मनोऽकुरुत । षष्टीष्टकान्त्स नैव व्याप्नोन्न त्रयोदशधा व्यभवन्न चतुर्दशधा ॥१२॥ पञ्चदशात्मनोऽकुरुत । अष्टाचत्वारिᳪशदिष्टकान्त्स नैव व्याप्नोत् ॥१३॥ षोडशात्मनोऽकुरुत । पञ्चचत्वारिᳪशदिष्टकान्त्स नैव व्याप्नोन्न सप्तदशधा व्यभवत् ॥१४॥ अष्टादशात्मनोऽकुरुत । चत्वारिᳪशदिष्टकान्त्स नैव व्याप्नोन्नैकान्नविᳪशतिधा व्यभवत् ॥१५॥ विᳪशतिमात्मनोऽकुरुत । षट्त्रिᳪशदिष्टकान्त्स नैव व्याप्नोन्नैकविᳪशतिधा व्यभवन्न द्वाविᳪशतिधा न त्रयोविᳪशतिधा ॥१६॥ चतुर्विᳪशतिमात्मनोऽकुरुत । त्रिᳪशदिष्टकान्त्सोऽत्रातिष्ठत पञ्चदशे व्यूहे तद्यत्पञ्चदशे व्यूहेऽतिष्ठत तस्मात्पञ्चदशापूर्यमाणस्य रूपाणि पञ्चदशापक्षीयमाणस्य ॥१७॥ अथ यच्चतुर्विᳪशतिमात्मनोऽकुरुत । तस्माच्चतुर्विᳪशत्यर्धमासः संवत्सरः स एतैश्चतुर्विᳪशत्या त्रिᳪशदिष्टकैरात्मभिर्न व्यभवत्स पञ्चदशाङ्गी रूपा-

हैं, अर्थात् ३६० परिश्रित् और तीन सौ साठ ज्योतिष्मती। इस संवत्सर प्रजापति ने सब भूतों को सृजा—प्राणियों को और प्राणरहितों को, देवों को और मनुष्यों को। सबको बनाकर उसे अनुभव हुआ कि मैं तो खाली हो गया। वह मृत्यु से डरा ॥२॥

उसने चाहा कि 'इन सब भूतों को मैं फिर अपने में कैसे वापस ले लूं ? कैसे अपने में मिला लूं ? इन सबका कैसे आत्मा हो जाऊँ ?' ॥३॥

उसने अपने शरीर के दो भाग किये। एक में ३६० ईंटें थीं, दूसरे में ३६०। वह सफल न हुआ ॥४॥

अपने शरीर के तीन भाग किये। हर एक में ३ × ८० ईंटें थीं। वह सफल न हुआ ॥५॥

अपने शरीर के चार भाग किये। हर भाग में १८० ईंटे हुईं। वह सफल न हुआ ॥६॥

अपने पाँच भाग किये। हर एक में १४४ ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ ॥७॥

अपने छः भाग किये। हर एक में एक सौ बीस ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ। उसने सात भाग न किये ॥८॥

अपने आठ भाग किये। नव्वे ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ ॥९॥

अपने नौ भाग किये। अस्सी ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ ॥१०॥

दस भाग किये। ७२ ईंटें हुईं। यह सफल न हुआ। ग्यारह भाग नहीं किये ॥११॥

बारह भाग किये। ६० ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ। न तेरह भाग किये न चौदह ॥१२॥

पन्द्रह भाग किये। ४८ ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ ॥१३॥

सोलह भाग किये। ४५ ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ। सत्रह भाग नहीं किये ॥१४॥

अपने शरीर के अठारह भाग किये। हर एक में चालीस ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ। १९ भाग नहीं किये ॥१५॥

अपने शरीर के बीस भाग किये। ३६ ईंटें हुईं। वह सफल न हुआ। इक्कीस भाग न किये, न बाईस, न तेईस ॥१६॥

अपने शरीर के चौबीस भाग किये। तीस ईंटें हुईं। अब यहाँ वह ठहर गया। पन्द्रह-पन्द्रह के दो व्यूह हो गये। पन्द्रह-पन्द्रह के व्यूह पर ठहरा, इसलिए पन्द्रह दिन चाँद के बढ़ने के हैं और पन्द्रह घटने के ॥१७॥

यह जो अपने शरीर के २४ भाग किये, इसलिए संवत्सर में २४ अर्द्धमास होते हैं। वह इन तीस-तीस ईंटों के चौबीस-चौबीस भागों से पूर्णतया सफल न हो सका। इसलिए उसने दिन

एवपश्यदान्नस्तन्वो मुहूर्तीलोकम्पृणाः पञ्चदशैव रात्रिस्तथ्यन्मुहु त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्ती ग्रथ यत्क्षुद्राः सन्त इमांलोकानापूरयन्ति तस्माल्लोकम्पृणाः ॥१८॥ एष वाऽइद७ सर्व पचति । ग्रहोरात्रैरर्धमासैर्मासैर्ऋतुभिः संवत्सरेण तदमुना पक्कमयं पचति पक्कस्य पक्तेति ह स्माह भारद्वाजोऽग्निममुना हि पक्कमयं पचतीति ॥१९॥ नानि संवत्सरे । दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि समपद्यन्त सोऽत्रातिष्ठत दशसु च सहस्रेष्वष्टासु च शतेषु ॥२०॥ ग्रथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत् । स त्रय्यामेव विद्याया७ सर्वाणि भूतान्यपश्यदत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा सर्वेषा७ स्तोमाना७ सर्वेषां प्राणाना७ सर्वेषां देवानामेतद्वाऽग्रस्त्येतद्ध्यमृतं यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्त्येतदु तद्यन्मर्त्यम् ॥२१॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । त्रय्यां वाव विद्याया७ सर्वाणि भूतानि हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवाऽइति ॥२२॥ स ऋचो व्यौहत् । द्वादश बृहतीसहस्राण्येतावत्यो हर्ऽचो याः प्रजापतिसृष्टास्तास्त्रि७शत्तमे व्यूहे पङ्क्तिष्वतिष्ठन्त ता यत्त्रि७शत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त तस्मात्त्रि७शन्मासस्य रात्रयोऽथ यत्पङ्क्तिषु तस्मात्पाङ्क्तः प्रजापतिस्ता ग्रष्टाशत७ शतानि पङ्क्तयोऽभवन् ॥२३॥ ग्रथेतरौ वेदौ व्यौहत् । द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषां चत्वारि साम्नामेतावद्धैतयोर्वेदयोर्यत्प्रजापतिसृष्टं तौ त्रि७शत्तमे व्यूहे पङ्क्तिष्वतिष्ठेतां तौ यत्त्रि७शत्तमे व्यूहेऽतिष्ठेतां तस्मात्त्रि७शन्मासस्य रात्रयोऽथ यत्पङ्क्तिषु तस्मात्पाङ्क्तः प्रजापतिस्ता ग्रष्टाशतमेव शतानि पङ्क्तयोऽभवन् ॥२४॥ ते सर्वे त्रयो वेदाः । दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतीनामभवन्त्स मुहूर्तेन-मुहूर्तेनाशीतिमाप्नोन्मुहूर्तेन-मुहूर्तेनाशीतिः समपद्यत ॥२५॥ स एषु त्रिषु लोकेषूखायाम् । योनौ रेतो भूतमात्मानमसिञ्चच्छन्दोमय७ स्तोममयं प्राणमयं देवतामयं तस्यार्धमासे प्रथम ग्रात्मा समस्क्रियत द्वीयसि परो द्वीयसि परः संवत्सरऽएव सर्व कृत्स्नः समस्क्रियत ॥२६॥ तद्यत्परिश्रितमुपाधत्त । तद्रात्रिमुपाधत्त तदनु पञ्चदश मुहूर्तान्मुहूर्तानन्

के १५ भागों या मुहूर्तों को देखा, लोकम्पृणों के रूप में, और १५ रात के। ये सीधे रक्षित होते हैं, इसलिए इनका नाम मुहूर्त (मुहु+त्रायन्ते) है। छोटी होने से लोक (स्थान) को पूरती हैं, इसलिए 'लोकम्पृणा' नाम हुआ ॥१८॥

यह सूर्य इस सब (संसार) को दिन-रात के द्वारा अर्धमासों, मासों, ऋतुओं, संवत्सर के द्वारा पकाता है। यह अग्नि उस पके को पकाता है। भारद्वाज ने इसीलिए कहा था कि अग्नि पके हुए को पकानेवाला है, क्योंकि वह पके को पकाता है ॥१९॥

साल में १०८०० मुहूर्त होते हैं। वह १०८०० पर ठहर गया ॥२०॥

उसने सब भूतों को इधर-उधर देखा। उसने त्रयी विद्या में सब भूतों को देखा। यही था शरीर सब छन्दों का, सब स्तोमों का, सब प्राणों का, सब देवों का यही है। यही अमृत है, जो अमृत है वही है। इसमें वह भी है जो अमृत नहीं अर्थात् जो मर्त्य है ॥२१॥

प्रजापति ने इच्छा की कि त्रयी विद्या में सब भूत हैं। त्रयी विद्या को ही मैं अपना शरीर बनाऊँ ॥२२॥

उसने ऋचाओं को १२००० बृहती में विभाजित किया, क्योंकि प्रजापति ने इतनी ऋचायें बनाईं। वे तीसवें व्यूह में पंक्तियों में ठहर गये। चूँकि वे तीसवें व्यूह में ठहरे, इसलिए मास में तीस रातें होती हैं। चूँकि पंक्तियों में, इसलिए प्रजापति पांक्त है (पाँचवाला)। १०८०० पक्तियाँ हैं ॥२३॥

उसने दो और वेदों के विभाग किये। १२००० बृहतियों में ८००० यजु, ४००० साम। प्रजापति ने इन दो वेदों में इतना ही बनाया। ये दोनों तीसवें व्यूह में पंक्तियों पर ठहर गये। चूँकि तीसवें व्यूह में ठहरे, इसलिए महीने में तीस रातें होती हैं। पंक्तियों में, इसलिए प्रजापति पांक्त (पाँचवाला) है। १०८०० पंक्तियाँ हुईं ॥२४॥

इन सब तीन वेदों में हुए १०८०० × ८० अक्षर। मुहूर्त-मुहूर्त करके ८० अक्षर प्राप्त हुए। अस्सी करके मुहूर्त ॥२५॥

इन तीन लोकों में उखारूपी योनि में प्रजापति ने अपने वीर्यरूपी शरीर को सींचा, जो छन्दोमय, स्तोममय, प्राणमय, देवतामय था। इसके आधे मास में पहला शरीर बना, दूसरे अर्ध-मास में दूसरा, फिर अगले अर्धमास में अगला। इस प्रकार सालभर में वह पूरा बन गया ॥२६॥

जब उसने परिश्रित् रक्खा मानो रात्रि को रक्खा। इसके साथ १५ मुहूर्त, मुहूर्तों के साथ

पञ्चदशाशीतीरथ यद्यजुष्मतीमुपाधत्त तदह्नरूपाधत्त तदनु पञ्चदश मुहूर्त्तान्मुहूर्त्ता-
ननु पञ्चदशाशीतीरेवमेतां त्रयीं विद्यामात्मन्नावपतात्मन्नकुरुत सोऽत्रैव सर्वे-
षां भूतानामात्माभवच्छन्दोमय स्तोममयः प्राणमयो देवतामयः स एतन्मय एव
भूत्वोर्ध्व उदक्रामत्स यः स उदक्रामदेष स चन्द्रमाः ॥२७॥ तस्यैषा प्रतिष्ठा । य
एष तपत्येतस्मादेवाध्यचीयतैतस्मिन्नध्यचीयतात्मन एवैनं तन्निरमिमीतात्मनः प्रा-
जनयत् ॥२८॥ स यदग्निं चेष्यमाणो दीक्षते । यथैव तत्प्रजापतिरेषु त्रिषु लोके-
षूखायां योनौ रेतो भूतमात्मानमसिञ्चदेवमेवैष एतदात्मानमुखायां योनौ रेतो
भूतꣳ सिञ्चति छन्दोमयꣳ स्तोममयं प्राणमयं देवतामयं तस्यार्धमासे प्रथम आत्मा
संस्क्रियते द्वीयसि परो द्वीयसि परः संवत्सरऽएव सर्वः कृत्स्नः संस्क्रियते
॥२९॥ तद्यत्परिश्रितमुपधत्ते । तद्रात्रिमुपधत्ते तदनु पञ्चदश मुहूर्त्तान्मुहूर्त्ताननु
पञ्चदशाशीतीरथ यद्यजुष्मतीमुपधत्ते तदह्नरूपधत्ते तदनु पञ्चदश मुहूर्त्तान्मुहूर्त्ता-
ननु पञ्चदशाशीतीरेवमेतां त्रयीं विद्यामात्मन्नावपतऽआत्मन्कुरुते सोऽत्रैव स-
र्वेषां भूतानामात्मा भवति छन्दोमय स्तोममयः प्राणमयो देवतामयः स एतन्मय
एव भूत्वोर्ध्व उत्क्रामति ॥३०॥ तस्यैषा प्रतिष्ठा । य एष तपत्येतस्माद्वेवाधिची-
यतऽएतस्मिन्नधिचीयतऽआत्मन एवैनं तन्निर्मितीतऽआत्मनः प्रजनयति स यदे-
वंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैतमेवात्मानमभिसम्भवति छन्दोमयꣳ स्तोममयं प्राणमयं
देवतामयꣳ स एतन्मय एव भूत्वोर्ध्व उत्क्रामति य एवं विद्वानेतत्कर्म कुरुते यो
वैतदेवं वेद ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४. २.] ॥ ॥

एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः । एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोत्यथ म्रि-
यन्ते तस्मादेष एव मृत्युः स यो हैतं मृत्युꣳ संवत्सरं वेद न हास्यैष पुरा जर-
सोऽहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति सर्वꣳ हैवायुरेति ॥१॥ एष उऽएवान्तकः । एष
हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छत्यथ म्रियन्ते तस्मादेष एवान्तकः स यो

१५ अस्सी-अस्सी के (१५ × ८०)। इस प्रकार यह इस त्रयी विद्या को अपने शरीर में रखता है, या अपना बना लेता है। इस प्रकार वह सब भूतों का शरीर बन जाता है जिसमें छन्द, स्तोम, प्राण और देवता सब शामिल हैं। ऐसा होकर वह ऊपर को चढ़ा। जो ऊपर को चढ़ा वह चन्द्रमा है ॥२७॥

यह जो तपता है (सूर्य), वह इसकी प्रतिष्ठा (बुनियाद) है, क्योंकि इसी से चिना गया है, इसी पर चिना गया है। इसी के शरीरसे इसको बनाया, इसी के शरीरसे उसको उत्पन्न किया (चन्द्रमा को) ॥२८॥

जब यजमान वेदी के बनाने की इच्छा से दीक्षित होता है, तो जैसे प्रजापति ने इन तीन लोकों में उखा योनि में वीर्यरूप अपने आत्मा को सींचा था, इसी प्रकार यह यजमान भी उखा-योनि में वीर्यरूप होकर अपने आत्मा को सींचता है, छन्दोमय, स्तोममय, प्राणमय और देवता-मय आत्मा को। पहले अर्ध-मास में इसका पहला शरीर बनता है, दूसरे में दूसरा, तीसरे में तीसरा, यहाँ तक कि वर्षभर में यह पूर्णतया तैयार हो जाता है ॥२९॥

जब वह परिश्रित् रखता है, तो मानो रात को रखता है। इसके साथ ही पन्द्रह मुहूर्तों को और इन मुहूर्तों के साथ-साथ १५ × ८० अक्षरों को। इस प्रकार वह इस त्रयीविद्या को अपने आत्मा में रखता है, और इसको अपना बनाता है। यह यहाँ ही सब भूतों का आत्मा हो जाता है, छन्दोमय, स्तोममय, प्राणमय और देवतामय। यह ऐसा ही होकर ऊँचा उठ जाता है ॥३०॥

यह जो (सूर्य) तपता है, यही उसकी प्रतिष्ठा है। क्योंकि इसी से चिना जाता है, इसी पर चिना जाता है। आत्मा से ही इसको बनाते हैं, आत्मा से ही इसको उत्पन्न करते हैं। इस रहस्य को जाननेवाला जब इस लोक को छोड़ता है, तो उसी शरीर में, जो छन्दोमय, स्तोममय, प्राणमय और देवतामय है, प्रविष्ट हो जाता है। जो इस रहस्य को समझकर यज्ञ करता है, या कम-से-कम समझता ही है, वह इस प्रकार यहाँ से उठता है ॥३१॥

सम्वत्सररूपप्रजापतेर्मृत्य्वन्तकरूपपत्वम्, तद्रूपोपासनस्य फलम्, अग्निचयन-स्यामृतत्वलक्षणं फलम्, परिश्रिद्यजुष्मतीलोकम्पृणेष्टकानां संख्या च

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

यह जो संवत्सर है वह मृत्यु ही है। क्योंकि यह दिन और रात के द्वारा मर्त्यों की आयु को क्षीण करता है और वे मर जाते हैं, इसलिए यह मृत्यु है। जो इस मृत्युरूपी संवत्सर को समझता है उसकी आयु को यह बुढ़ापे या रात-दिन के द्वारा क्षीण नहीं करता। वह सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है ॥१॥

यह अन्तक (अन्त करनेवाला) भी है क्योंकि यह मर्त्यों की आयु का रात-दिन द्वारा अन्त करता है। वे मर जाते हैं। इसलिए यह अन्तक है।

हैतमन्तकं मृत्युꣳ संवत्सरं वेद न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति सर्वꣳ हैवायुरेति ॥२॥ ते देवाः । एतस्मादन्तकान्मृत्योः संवत्सरात्प्रजापतेर्बिभयां चक्रुर्यद्वै नोऽयमहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं न गच्छेदिति ॥३॥ तऽएतान्यज्ञक्रतूंस्तेनिरे । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुबन्धꣳ सौम्यमध्वरं तऽएतैर्यज्ञक्रतुभिर्यजमाना नामृतत्वमानशिरे ॥४॥ ते हाप्यग्निं चिक्यिरे । तेऽपरिमिता एव परिश्रित उपदधुरपरिमिता यजुष्मतीरपरिमिता लोकम्पृणा यथेदमप्येतर्ह्येकऽउपदधतीति देवा अकुर्वन्निति ते ह नैवामृतत्वमानशिरे ॥५॥ तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । अमृतत्वमवरुरुत्समानास्तान्ह प्रजापतिरुवाच न वै मे सर्वाणि रूपाण्युपधत्थाति वैव रेचयथ न वाभ्यापयथ तस्मान्नामृता भवथेति ॥६॥ ते होचुः । तेभ्यो वै नस्त्वमेव तद्ब्रूहि यथा ते सर्वाणि रूपाण्युपदधामेति ॥७॥ स होवाच । षष्टिं च त्रीणि च शतानि परिश्रित उपधत्त षष्टिं च त्रीणि च शतानि यजुष्मतीरधि षट्त्रिꣳशतमथ लोकम्पृणा दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्युपधत्ताथ मे सर्वाणि रूपाण्युपधास्यथाथामृता भविष्यथेति ते ह तथा देवा उपदधुस्ततो देवा अमृता आसुः ॥८॥ स मृत्युर्देवानब्रवीत् । इत्थमेव सर्वे मनुष्या अमृता भविष्यन्त्यथ को मह्यं भागो भविष्यतीति ते होचुर्नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसद्यदैव त्वमेतं भागꣳ हरासाऽअथ व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसद्यो ऽमृतोऽसद्विद्यया वा कर्मणा वेति यद्वै तदब्रुवन्विद्यया वा कर्मणा वेत्येषा हैव सा विद्या यदग्निरेतदु हैव तत्कर्म यदग्निः ॥९॥ ते यऽएवमेतद्विदुः । ये वैतत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभिसम्भवन्त्यथ यऽएवं न विदुर्ये वैतत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति तऽएतस्यैवान्नं पुनः-पुनर्भवन्ति ॥१०॥ स यदग्निं चिनुते । एतमेव तदन्तकं मृत्युꣳ संवत्सरं प्रजापतिमग्निमाप्नोति यं देवा आप्नुवन्नेतमुपधत्ते यथैवैनमदो देवा उपादधत ॥११॥ परिश्रिद्भिरे-

जो इस अन्तक या मृत्युरूपी संवत्सर को जानता है उसकी आयु का यह बुढ़ापे या रात-दिन के द्वारा अन्त नहीं करता। उसकी पूरी आयु होती है ॥२॥

देव लोग इस अन्तक, मृत्यु, संवत्सर, प्रजापति से डर गये कि यह हमारी आयु का रात-दिन के द्वारा अन्त न कर दे ॥३॥

तब उन्होंने ये यज्ञ-क्रतु किये—अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, सोम-याग। उन्होंने इन यज्ञ-क्रतुओं के द्वारा यज्ञ करते हुए अमृतत्व न पाया ॥४॥

उन्होंने एक वेदी चिनी। उन्होंने अपरिमित परिश्रितियों को रक्खा, अपरिमित यजुष्मतियों को और अपरिमित लोकम्पृणों को, उसी प्रकार जैसे आजकल भी लोग करते हैं कि देवों ने ऐसा किया था। परन्तु उनको अमृतत्व न मिला ॥५॥

वे अमृत की कामना करते हुए अर्चना करते और श्रम करते रहे। प्रजापति ने उनसे कहा, 'तुम मेरे सब रूपों को नहीं रखते। या तो अधिक कर देते हो या कमी कर देते हो, इसीलिए अमृतत्व की तुमको प्राप्ति नहीं होती' ॥६॥

वे बोले, 'आप ही हमको बताइये कि हम आपके सब रूपों को कैसे रख सकें' ॥७॥

उसने कहा, 'तीन सौ साठ परिश्रितियों को रक्खो, ३६० यजुष्मतियों को, और ३६ और। १०८०० लोकम्पृणों को। जब मेरे पूरे रूपों को रक्खोगे तो अमृत हो जाओगे।' देवों ने ऐसा ही किया और वे अमर हो गये ॥८॥

उस मृत्यु ने देवों से कहा, 'ऐसे तो सब मनुष्य अमृत हो जायेंगे तो मेरा भाग क्या रहेगा?' उन्होंने कहा, 'इससे पीछे कोई सशरीर अमर नहीं होने का। जब तू इस भाग को ले चुकेगा और वह शरीर से अलग हो जायगा तो वे अपने ज्ञान या कर्म से अमृत होंगे।' विद्या और कर्म से कैसे? विद्या वही है जो यह अग्नि है। धर्म वही है जो यह अग्नि है ॥९॥

जो इस रहस्य को जानते हैं या इस कर्म को करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् फिर जन्म लेते हैं और अमर हो जाते हैं। जो नहीं जानते या नहीं करते, वे मृत्यु के पश्चात् फिर जन्म लेते हैं; अमर नहीं होते और इस मृत्यु का ही भोजन बने रहते हैं ॥१०॥

जब वह वेदी को चिनता है तो अन्तक, मृत्यु, संवत्सर, प्रजापति, अग्नि को प्राप्त होता है, जिसको देवों ने प्राप्त किया था। वह वेदी को ऐसे ही बनाता है जैसे देवों ने बनाया था ॥११॥

त्रास्य रात्रीराप्नोति । यजुष्मतीभिरह्नान्यर्धमासान्मासानृतूंल्लोकम्पृणाभिर्मुहूर्तान् ॥१२॥ तद्याः परिश्रितः । रात्रिलोकास्ता रात्रीणामेव साप्तिः क्रियते रात्रीणां प्रतिमा ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि सवत्सरस्य रात्रयस्तासामेकविꣳशतिं गार्हपत्ये परिश्रयति द्वाभ्यां नाशीतिं धिष्ण्येषु द्वेऽएकषष्टे शतेऽआह्वनीये ॥१३॥ अथ यजुष्मत्यः । दर्भस्तम्बो लोगेष्टकाः पुष्करपर्णꣳ रुक्मपुरुषौ स्रुचौ स्वयमातृण्णा दूर्वेष्टका द्वियजू रेतःसिचौ विश्वज्योतिर्ऋतव्येऽअषाढा कूर्म उलूखलमुसलेऽउखा पञ्च पशुशीर्षाणि पञ्चदशापस्याः पञ्च छन्दस्याः पञ्चाशत्प्राणभृतस्ता द्वाभ्यां न शतं प्रथमा चितिः ॥१४॥ अथ द्वितीया । पञ्चाश्विन्यो द्वेऽऋतव्ये पञ्च वैश्वदेव्यः पञ्च प्राणभृतः पञ्चापस्या एकया न विꣳशतिर्वयस्यास्ता एकचत्वारिꣳशद्द्वितीया चितिः ॥१५॥ अथ तृतीया । स्वयमातृण्णा पञ्च दिश्या विश्वज्योतिश्चतस्र ऋतव्या दश प्राणभृतः षट्त्रिꣳशच्छन्दस्याश्चतुर्दश वालखिल्यास्ता एकसप्ततिस्तृतीया चितिः ॥१६॥ अथ चतुर्थी । अष्टादश प्रथमा अथ द्वादशाथ सप्तदश ताः सप्तचत्वारिꣳशच्चतुर्थी चितिः ॥१७॥ अथ पञ्चमी । पञ्चासपत्नाश्चत्वारिꣳशद्विराज एकया न त्रिꣳशत्स्तोमभागाः पञ्च नाकसदः पञ्च पञ्चचूडा एकत्रिꣳशच्छन्दस्या अष्टौ गार्हपत्या चितिरष्टौ पुनश्चितिर्ऋतव्ये विश्वज्योतिर्विकर्णी च स्वयमातृण्णा चाश्मा पृश्निर्यश्चितेऽग्निर्निधीयते ता अष्टात्रिꣳशꣳ शतं पञ्चमी चितिः ॥१८॥ ताः सर्वाः पञ्चभिर्न चत्वारि शतानि । ततो याः षष्टिश्च त्रीणि च शतान्यहर्लोकास्ता अह्नामेव साप्तिः क्रियतेऽह्नां प्रतिमा ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याह्नान्यथ याः षट्त्रिꣳशत्पुरीषं तासाꣳ षट्त्रिꣳशी ततो याश्चतुर्विꣳशतिरर्धमासलोकास्ता अर्धमासानामेव साप्तिः क्रियतेऽर्धमासानां प्रतिमाथ या द्वादश मासलोकास्ता मासानामेव साप्तिः क्रियते मासानां प्रतिमा ता उ द्वे-द्वे सहर्तु-

परिश्रितियों के द्वारा वह रात्रियों को पाता है, यजुष्मतियों से दिन, अर्धमास, मास व ऋतुओं को, लोकपृम्णों से मुहूर्तों को ।।१२।।

ये जो परिश्रितियाँ हैं, ये रात्रि-लोक हैं; रात्रियों की पूर्ति करती हैं; रात्रियों की प्रतिच्छाया हैं। ये तीन सौ साठ होती हैं, क्योंकि संवत्सर में ३६० रातें होती हैं। उनमें से २१ गार्हपत्य में रखता है, दो कम अस्सी (७८) धिष्ण्यों में, २६१ आहवनीय में ।।१३।।

अब यजुष्मतियों का हिसाब लीजिए। दर्भ, चार लोगेष्टक, पुष्करपर्ण, दो स्वर्णपुरुष, दो स्रुच, स्वयमातृण्णा, दूर्व-ईंट, एक द्वियजू, दो रेतःसिच्, विश्वज्योति, ऋतव्य, अषाढ़ा, कूर्म, उलूखल-मूसल, उखा, पाँच पशुओं के सिर, १५अपस्या, पाँच छन्दस्य, ५० प्राणभृत्, यह दो कम सौ (९८) पहली चिति हुई ।।१४।।

अब दूसरी—पाँच अश्विन्य, दो ऋतव्य, पाँच वैश्यदेव्य, पाँच प्राणभृत्, ५ अपस्या, १९ वयस्य, यह ४१ दूसरी चिति ।।१५।।

अब तीसरी—एक स्वयमातृण्णा, ५ दिश्या, एक विश्वज्योति, चार ऋतव्या, दस प्राणभृत्, ३६ छन्दस्य, ५४ बालखिल्य, यह ७१ की तीसरी चिति ।।१६।।

अब चौथी—पहले १८, फिर १२, फिर १७, यह ४७ की चौथी चिति ।।१७।।

अब पाँचवीं चिति—५ असपत्न, ४० विराज, २९ स्तोमभाग, ५ नाकसद, पाँच पंचचूड, ३१ छन्दस्य, आठ गार्हपत्य चिति की, आठ पुनश्चिति की, दो ऋतव्य, एक विश्वज्योति, एक विकर्णी, एक स्वयमातृण्णा, विचित्र पत्थर (अश्मापृश्निः) और अग्नि जो वेदी में रक्खी जाती है, यह १३८ की पाँचवीं चिति हुई ।।१८।।

ये सब पाँच कम चार सौ (३९५) हुईं। इनमें से जो तीन सौ साठ हैं वे अहर्लोक हैं, क्योंकि ये दिनों की पूर्ति करती हैं। ये दिनों की छायारूप हैं। ये ३६० होती हैं, क्योंकि वर्ष में ३६० दिन होते हैं। ये जो ३६वाँ पुरीष है वह छत्तीस अधिक दिनों के हिसाब से है। ये जो २४ अर्धमास लोक हैं वे अर्धमासों की पूर्ति के लिए हैं। वे अर्धमासों की प्रतिच्छाया हैं। ये जो १२ मासलोक हैं ?—

लोका ऋतूनामशून्यतायै ॥१९॥ अथ या लोकम्पृणाः । मुहूर्तलोकास्ता मुहूर्तानामेव साप्तिः क्रियते मुहूर्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्तास्तासामेकविᳪशतिं गार्हपत्यऽउपदधाति द्वाभ्यां नाशीतिं धिष्ण्येष्वाहवनीयऽइतरा एतावन्ति वै संवत्सरस्य रूपाणि तान्यस्यात्रासान्युपहितानि भवन्ति ॥२०॥ तद्धैके । आहवनीयऽएवैनाᳪ सम्पदमापिपयिषन्त्यन्ये वाऽएतेऽग्नयश्चिताः किमन्यत्रोपहिता इह सम्पश्येमेति न तथा कुर्याद्दश वाऽएतानग्नींश्चिनुतेऽष्टौ धिष्ण्यानाहवनीयं च गार्हपत्यं च तस्मादाहुर्विराडग्निरिति दशाक्षरा हि विराट् तान्नु सर्वानेकमिवैवाचक्षतेऽग्निरित्येतस्य ह्येवैतानि सर्वाणि रूपाणि यथा संवत्सरस्याहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतव एवमस्यैतानि सर्वाणि रूपाणि ॥२१॥ ते ये ह तथा कुर्वन्ति । एतानि हास्य ते रूपाणि बहिर्धा कुर्वन्त्यथो पापवस्यसं कुर्वन्ति क्षत्राय विशं प्रतिप्रतिनीं प्रत्युद्यामिनीमाग्नीध्रीये वाऽअश्मानं पृश्निमुपदधात्यथ तᳪ सम्पश्यति किमु तᳪ सम्पश्यन्नितरा न सम्पश्येद्येनैव निर्ऋतिं पाप्मानमपहते स एकादशः ॥२२॥ तदाहुः । कथमु ता अत्र न सम्पश्यतीति न ह्येना अभिजुहोत्याहुत्या वाऽइष्टका सर्वा कृत्स्ना भवतीति ॥२३॥ तदाहुः । कथमस्यैता अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीति वीर्यं वाऽअस्यैता अनतिरिक्तं वै पुरुषं वीर्यᳪ स ह वाऽएतᳪ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिᳪ संस्करोति य एवं विद्वानेतत्कर्म कुरुते यो वैतदेवं वेद ॥२४॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [४. ३.] ॥ ॥

प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानम् । पाप्मा मृत्युरभिपरिजघान स तपोऽतप्यत सहस्रᳪ संवत्सरान्पाप्मानं विजिहासन् ॥१॥ तस्य तपस्तेपानस्य । एभ्यो लोमगर्तेभ्य ऊर्ध्वानि ज्योतीᳪष्यायंस्तद्यानि तानि ज्योतीᳪष्येतानि तानि नक्षत्राणि यावन्त्येतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ता यावन्तो लोमगर्तास्तावन्तः सहस्रसं-

वे मासों की पूर्ति करते हैं, मासों की प्रतिच्छाया हैं। ऋतु छूट न जाय, इसलिए १२ दो-दो करके ऋतुओं की स्थानपूर्त्ति करते हैं ॥१९॥

अब जो लोकम्पृणा हैं, ये मूहूर्तों की स्थानपूर्ति करती हैं, मूहूर्तों की प्राप्ति कराती हैं। ये मूहूर्तों की प्रतिच्छाया हैं। वे १०८०० हैं क्योंकि वर्ष में १०८०० मूहूर्त होते हैं। इनमें से २१ गार्हपत्य रखता है, दो कम अस्सी (७८) धिष्ण्यों में, शेष आहवनीय में। संवत्सर के इतने रूप हैं। यहाँ इस (प्रजापति) के इतने रूप उपलब्ध किये जाते हैं और उस (प्रजापति) पर रक्खे जाते हैं ॥२०॥

कुछ लोग इस संख्या को आहवनीय में ही पूरा करना चाहते हैं, क्योंकि 'आहवनीय-वेदी तो भिन्न है। उसमें गार्हपत्य और धिष्ण्यों को क्यों जोड़ें?' परन्तु ऐसा न करे। वह वस्तुतः दस वेदियाँ बनाता है—आठ धिष्ण्या, आहवनीय और गार्हपत्य। इसीलिए कहते हैं कि अग्नि विराट् है, क्योंकि विराट् में दस अक्षर होते हैं। परन्तु यह सब मिलकर एक ही वेदी मानी जाती है। ये सब तो उसके रूप हैं, जैसे संवत्सर एक है पर उसके कई रूप हैं—दिन-रात, अर्धमास, मास, ऋतु, इसी प्रकार ये भी इसके रूप हैं ॥२१॥

जो ऐसा करते हैं वे इसके रूपों को इससे बाहर कर देते हैं और इसको पापमय कर देते हैं। वे वैश्यों को क्षत्रिय के बराबर और उसका प्रतिद्वन्द्वी बना देते हैं। अग्नीध्रीय पर वह विचित्र पत्थर (अश्मा पृश्नि) रखता है और इसको शुमार कर लेता है। इसको शुमार करे, औरों को शुमार न करे। यह क्या? जिससे निर्ऋति, विपत्ति को दूर करते हैं वह ग्यारहवीं वेदी है ॥२२॥

इस पर प्रश्न होता है कि 'यहाँ निर्ऋति की वेदी का शुमार क्यों नहीं करते?' इस पर आहुति नहीं देते। आहुति से ही तो ईंटें पूर्ण होती हैं ॥२३॥

इस पर वे कहते हैं, 'ये ईंटें ऐसी कैसे रक्खी जायें जो अधिक न हों?' ये ईंटें अग्नि का वीर्य हैं। वीर्य में आधिक्य का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मनुष्य का वीर्य अधिक होता है। जो इस रहस्य को समझकर यह शुभ कर्म करता है या केवल जानता है, वह इस सब प्रजापति को सम्पूर्ण बनाता है ॥२४॥

सम्वत्सररूपाग्निः तदवयवानाञ्च सहस्ररूपत्वेनोपासनम्, तत्फलञ्च

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

जब प्रजापति प्रजा बना रहा था तो पापी मौत ने उसे आ घेरा। उसने उस पाप को मारने की इच्छा से हजार वर्ष तप तपा ॥१॥

जब वह तप तप रहा था, उस समय उसके लोमों (रोंगटों) की जड़ से ज्योतियाँ निकल-कर ऊपर को गईं। ये जो ज्योतियाँ थीं यही नक्षत्र हैं। जितने रोंगटे हैं उतने ही नक्षत्र हैं। इतने

वत्सरस्य मुहूर्ताः ॥२॥ स सहस्रतमे संवत्सरे । सर्वोऽत्यपवत स यः सोऽत्य-पवतायमेव स वायुर्योऽयं पवतेऽथ यं तं पाप्मानमत्यपवतेदं तच्छरीरं क उ त-स्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरमवरुन्धीत विद्यया ह वाऽएवंवित्सहस्रसंवत्सर-मवरुन्द्धे ॥३॥ सर्वा एवैता इष्टकाः साहस्रीरुपासीत । रात्रिसहस्रेण-रात्रिसह-स्रेणैकैकां परिश्रितꣳ सम्पन्नामुपासीताहःसहस्रेणाहःसहस्रेणैकैकामहर्भाजमर्धमा-ससहस्रेणार्धमाससहस्रेणैकैकामर्धमासभाजं माससहस्रेण-माससहस्रेणैकैकां मास-भाजमृतुसहस्रेणाऽर्तुसहस्रेणैकैकामृतुभाजं मुहूर्तसहस्रेण-मुहूर्तसहस्रेणैकैकां मुहू-र्तभाजꣳ संवत्सरसहस्रेण संवत्सरं ते यऽएतमेवमग्निꣳ संवत्सरेण सम्पन्नं विदुः सहस्रतमीꣳ हास्य ते कलां विदुरथ यऽएनमेवं न विदुर्न हास्य ते सहस्रतमीं चन कलां विदुरथ य एवैवं वेद यो वैतत्कर्म कुरुते स हैवैतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रा-जापत्यमग्निमाप्नोति यं प्रजापतिराप्नोत्तस्मादेवंवित्तप एव तप्येत यद्व ह वाऽए-वंवित्तप तप्यतऽआ मैथुनात्सर्वꣳ हास्य तत्स्वर्ग्यं लोकमभिसम्भवति ॥४॥ त-देतदृचाभ्युक्तम् । न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा इति न हैवैवं विदुषः किं चन मृषा श्रान्तं भवति तथो हास्यैतत्सर्वं देवा अवन्ति ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.४.] ॥॥

अथादेशा उपनिषदाम् । वायुरग्निरिति ह शाकायनिन उपासतऽआदित्यो ऽग्निरित्यु हैकऽआहुरथ ह स्माह श्रौमत्यो वा हालिङ्गवो वा वायुरेवाग्निस्त स्माद्यद्विवाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येतीति ॥१॥ शाण्डिल्यायनिरु ह स्माह । संवत्सर एवाग्निस्तस्य वसन्तः शिरो ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षो वर्षा उत्तरः शरद-तुर्मध्यमात्मा हेमन्तशिशिरावृतू पुच्छं प्रतिष्ठा वागग्निः प्राणो वायुश्चक्षुरादित्यो म-नश्चन्द्रमाः श्रोत्रं दिश आपो मिथुनं तपः प्रतिष्ठा मासाः पर्वाण्यर्धमासा नाड्यो ऽहोरात्राणि रजतसुवर्णानि पत्राणि स एवं देवानप्येतीति संवत्सरोऽग्निरित्यु हैव विद्यादेतन्मयो भवतीति ह्येव विद्यात् ॥२॥ चेलक उ ह स्माह शाण्डि-

ही हजार वर्ष के मुहूर्त्त हैं ॥२॥

हजारवें साल वह बिल्कुल पवित्र हो गया। यह जो पवित्र हो गया यही वायु है जो बहता है। जिसको उसने पवित्र किया वह यह शरीर है। वह कौन मनुष्य है जिसके लिए एक हजार साल का जीवन मिल सके? जो इस रहस्य को समझता है वह विद्या से एक सहस्र वर्ष का जीवन पा सकता है ॥३॥

इन सब ईंटों को हजार समझो। एक-एक परिश्रित् को एक सहस्र रातवाला, एक दिन-स्थानवाली ईंट को एक-एक हजार दिनवाला, एक अर्धमास-स्थानवाली को एक हजार अर्धमासवाला, एक मास-स्थानवाली को एक हजारवाला, एक हजार ऋतु-स्थानवाली को एक हजार ऋतुवाला, एक मुहूर्त्तवाली को एक हजार मुहूर्त्तवाला, संवत्सर को हजार संवत्सर वाला। जो इस वेदी (संवत्सर) को हजारवाला समझते हैं वे हजारवीं कला को जानते हैं। जो इसको ऐसा नहीं जानते वे हजारवीं कला को नहीं समझते। जो इस रहस्य को जानता है और उस कर्म को करता है वह सम्पूर्ण प्राजापत्य अग्नि को प्राप्त होता है, जिसको प्रजापति ने प्राप्त किया था। इसलिए इस रहस्य को जाननेवाला तप तपे। जो इस रहस्य का जाननेवाला तप तपता है और मैथुन नहीं करता, उसका प्रत्येक अंग स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥४॥

ऋचा में यही लिखा है—"न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा" (ऋ० १।१७९।३)—अर्थात् जिसकी रक्षा देव करते हैं उसका तप व्यर्थ नहीं होता ॥५॥

व्यष्टिरूपाग्निविषयोपासना

अध्याय ४—ब्राह्मण ५

अब उपनिषदों के आदेश कहते हैं। शाकायनी लोग कहते हैं कि अग्नि वायु है। कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि आदित्य है। श्रौमत्य या हार्लिगव का कहना है अग्नि वायु ही है। इसलिए जब अध्वर्यु अन्तिम कर्म करता है तो वायु ही हो जाता है ॥१॥

शाट्यायनि ने कहा था कि अग्नि संवत्सर ही है; उसका सिर वसन्त है, ग्रीष्म दायाँ बाजू, वर्षा बायाँ बाजू, शरद् ऋतु मध्यम शरीर, हेमन्त और शिशिर पूंछ और पैर। अग्नि वाणी है, प्राण वायु है, चक्षु आदित्य है, मन चन्द्रमा है, श्रोत्र दिशायें हैं। जल मैथुन इन्द्रियाँ हैं, तप पैर हैं, मास जोड़ हैं, अर्धमास नाड़ियाँ हैं। रूपहले-सुनहरे पंख रात-दिन हैं। इस प्रकार वह देवों में जा मिलता है। उसको जानना चाहिए कि अग्नि संवत्सर ही है। उसको जानना चाहिए कि यह ऐसा ही है ॥२॥

चेलक शाण्डिल्यायन ने कहा था—

ल्यायनः । इम ऽ एव लोकास्त्रिस्रः स्वयमातृण्णवत्यश्विनयो यजमानश्चतुर्थो सर्वे कामाः पञ्चमीमांश्च लोकान्त्संस्कुर्व ऽ आत्मानं च सर्वांश्च कामानित्येव विद्यादिति ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४. ५.] ॥ चतुर्थोऽध्यायः [६४.] ॥ ॥

तस्य वा ऽ एतस्याग्नेः । वागेवोपनिषद्वाचा हि चीयत ऽ ऋचा यजुषा साम्नेति नु दैव्याथ यन्मानुष्या वाचाहेतीदं कुरुतेतीदं कुरुतेति तद्व ह तया चीयते ॥१॥ सा वा ऽ एषा वाक्त्रेधाविहिता । ऋचो यजूꣳषि सामानि तेनाग्निस्त्रेधाविहित एतेन हि त्रयेण चीयते ऽ प्यहैवं त्रेधाविहित इत्यꣳ ह वेवापि त्रेधाविहितो य-दस्मिंस्त्रेधाविहिता इष्टका उपधीयन्ते पुंनाम्न्यः स्त्रीनाम्न्यो नपुꣳसकनाम्न्यस्त्रेधावि-हितान्यु ऽ एवेमानि पुरुषस्याङ्गानि पुंनामानि स्त्रीनामानि नपुꣳसकनामानि ॥२॥ ॥ शतत्॥४०० ॥ ॥ सो ऽ यमात्मा त्रेधाविहित एव । सो ऽ नेन त्रेधाविहितेनात्म-नैनं त्रेधाविहितं दैवममृतमाप्नोति ता उ सर्वा इष्टका इत्येवाचक्षते नेष्टक इति नेष्टकमिति वाचो रूपेण वाग्घ्येवैतत्सर्वं यत्स्त्री पुमान्नपुꣳसकं वाचा ह्येवैत-त्सर्वमाप्तं तस्मादेना अङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीदेत्येव सर्वाः सादयति नाङ्गिरस्वद्ध्रुवः सीदेति नाङ्गिरस्वद्ध्रुवꣳ सीदेति वाचꣳ ह्येवैताꣳ संस्कुरुते ॥३॥ सा या सा वागसौ स आदित्यः । स एष मृत्युस्तद्यत्किं चार्वाचीनमादित्यात्सर्वं तन्मृत्युना-प्तꣳ स यो हैनमतो ऽ र्वाचीनं चिनुते मृत्युना हैनꣳ स आप्तं चिनुते मृत्यवे ह स आत्मानमपिदधात्यथ य एनमत ऊर्ध्वं चिनुते स पुनर्मृत्युमपजयति विद्यया ह वा ऽ अस्यैषो ऽ त ऊर्ध्वं चितो भवति ॥४॥ सा वा ऽ एषा वाक्त्रेधाविहिता । ऋ-चो यजूꣳषि सामानि मण्डलमेवर्चो ऽ र्चिः सामानि पुरुषो यजूꣳष्यथैतदमृतं यदे-तदर्चिर्दीप्यत ऽ इदं तत्पुष्करपर्णं तद्यत्पुष्करपर्णमुपधायाग्निं चिनोत्येतस्मिन्नेवैतद-मृत ऽ ऋङ्मयं यजुर्मयꣳ साममयमात्मानꣳ संस्कुरुते सो ऽ मृतो भवति ॥५॥ ब्राह्म-णम् ॥५ [५. १.] ॥ ॥

'यह समझना चाहिए कि तीन स्वयमातृण्णावाली चितियाँ ये तीन लोक हैं, चौथी चिति यजमान है, और सब कामनायें पाँचवीं चिति।' जो यह जानता है वह इन लोकों को, सब कामनाओं को और आत्मा को प्राप्त करता है ॥३॥

त्रयीमयादित्येऽग्न्युपासना

अध्याय ५—ब्राह्मण १

इस अग्नि (वेदी) की वाणी ही उपनिषत् है क्योंकि वाणी से ही यह वेदी चिनी जाती है, ऋक् से, यजु से, साम से; यह दैवी वाणी है। अध्वर्यु जब मानुषी वाणी से कहता है कि 'यह करो वह करो' तब भी वाणी से ही वेदी चिनी जाती है ॥१॥

यह वाणी तीन प्रकार की है—ऋक्, यजु, साम। इसलिए यह वेदी भी त्रेधा हो जाती है क्योंकि तीन प्रकार की वाणियों से चिनी जाती है। इस प्रकार से वेदी त्रिधा है। वेदी एक और प्रकार से भी त्रेधा है कि इसमें तीन प्रकार की ईंटें होती हैं—पुरुष नाम की, स्त्री नाम की और नपुंसक नाम की। मनुष्य के शरीर के अंग भी तीन प्रकार के नामवाले होते हैं—पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग ॥२॥

वेदी का यह शरीर त्रेधा है। इस त्रेधा शरीर से वह त्रेधा दैवी अमृत पाता है। इन सब ईंटों को इष्टका (स्त्रीलिंग) कहते हैं—'ईष्टकः' (पुंल्लिग) या 'इष्टकम्' (नपुंसकलिंग) नहीं कहते। यही वाणी का रूप है जो पुमान्, स्त्री या नपुंसक है। वाणी से ही यह सब प्राप्त होता है। जब वह (ईंटों को) रखता है तो कहता है 'अंगिरस्वत् ध्रुवा सीद' (अंगिरा के समान निश्चल बैठ)। यहाँ 'ध्रुवा' (स्त्रीलिंग) कहता है। ध्रुवः (पुंल्लिग) या ध्रुवं (नपुंसक) नहीं कहता। क्योंकि वह वाणी का संस्कार करता है ॥३॥

वह जो वाक् है वह यह आदित्य ही है। जो यह अग्नि या वेदी है वह मृत्यु है। जो आदित्य के इस ओर है, वह मृत्यु से प्राप्त है। जो आदित्य के इस ओर चिनता है वह मृत्यु से प्राप्त को चिनता है, वह मृत्यु के लिए अपने आत्मा को दे देता है। जो इससे ऊपर चिनता है, वह पुनर्जन्म को जीत लेता है, क्योंकि उसकी विद्या से यह वेदी उसके ऊपर बन जाती है (अर्थात् विद्या ही अमृतत्व का हेतु है) ॥४॥

वह यह वाणी तीन प्रकार की है। ऋक्, यजु, साम-ऋचायें मण्डल हैं। साम ज्योति, यजु पुरुष, यह जो अमृत या ज्योति जो चमकती है वह है पुष्करपर्ण। जो पुष्करपर्ण को रखकर वेदी को चिनता है तो वह इस अमृत पर ऋक्मय, यजुर्मय, साममय शरीर को बनाता है। वह अमर हो जाता है ॥५॥

यदेतन्मण्डलं तपति । तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चि-
र्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष एतस्मिन्मण्डले
पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूꣳषि स यजुषां लोकः ॥१॥ सैषा त्रय्येव विद्या तपति
। तद्धैतदप्यविद्वाꣳस आहुस्त्रयी वाऽएषा विद्या तपतीति वाग्घैव तत्पश्यन्ती
वदति ॥२॥ स एष एव मृत्युः । य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषोऽथैतदमृतं यदे-
तदर्चिर्दीप्यते तस्मान्मृत्युर्न म्रियतेऽमृते ह्यन्तस्तस्मादु न दृश्यतेऽमृते ह्यन्तः ॥३॥
तदेष श्लोको भवति । अन्तरं मृत्योरमृतमित्यवरꣳ ह्येतन्मृत्योरमृतं मृत्यावमृत-
माहितमित्येतस्मिन्हि पुरुषऽएतन्मण्डलं प्रतिष्ठितं तपति मृत्युर्विवस्वन्तं वस्त
ऽइत्यसौ वाऽआदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते तमेष वस्ते सर्वतो ह्ये-
नेन परिवृतो मृत्योरात्मा विवस्वतीत्येतस्मिन्हि मण्डलऽएतस्य पुरुषस्यात्मैत-
देष श्लोको भवति ॥४॥ तयोर्वाऽएतयोः । उभयोरेतस्य चार्चिष एतस्य च पु-
रुषस्यैतन्मण्डलं प्रतिष्ठा तस्मान्महदुक्थं परस्मै न शꣳसेन्नेदेतां प्रतिष्ठां छिनदा
ऽइत्येताꣳ ह स प्रतिष्ठां छिन्त्ते यो महदुक्थं परस्मै शꣳसति तस्मादुक्थशसं भू-
यिष्ठं परिचक्षते प्रतिष्ठाछिन्नो हि भवतीत्यधिदेवतम् ॥५॥ अथाधियज्ञम् । यदे-
तन्मण्डलं तपत्ययꣳ स रुक्मोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यतऽइदं तत्पुष्करपर्णमापो ह्येता
आपः पुष्करपर्णमथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषोऽयमेव स योऽयꣳ हिरण्मयः
पुरुषस्तदेतदेवैतत्त्रयꣳ संस्कृत्येहोपधत्ते तद्यज्ञस्यैवानु सꣳस्थामूर्ध्वमुत्क्रामति तदे-
तमप्येति य एष तपति तस्मादग्निं नाद्रियेत परिहृतुममुत्र ह्येष तदा भवतीत्यु
ऽएवाधियज्ञम् ॥६॥ अथाध्यात्मम् । यदेतन्मण्डलं तपति यश्चैष रुक्म इदं तच्छु-
क्लमक्षन्नथ यदेतदर्चिर्दीप्यते यश्चैतत्पुष्करपर्णमिदं तत्कृष्णमक्षन्नथ य एष एतस्मि-
न्मण्डले पुरुषो यश्चैष हिरण्मयः पुरुषोऽयमेव स योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः ॥७॥
स एष एव लोकम्पृणा । तामेष सर्वोऽग्निरभिसम्पद्यते तस्यैतन्मिथुनं योऽयꣳ

सूर्यमण्डलार्चिः पुरुषत्रयस्याधिदैवाधियज्ञाध्यात्मपरत्वेनार्थप्रतिपादनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण २

यह जो मण्डल तपता है वह महदुक्थ है, ऋक् है, यह ऋक् का लोक है। यह जो प्रकाश चमकता है यह महाव्रत है, ये साम हैं, यह साम का लोक है। और यह जो इस मण्डल में पुरुष है वह अग्नि (वेदी) है। वे यजु हैं, यह यजु का लोक है ॥१॥

यह त्रयी विद्या ही तपती है। जो नहीं जानते वे भी कहते हैं कि यह त्रयी विद्या तप रही है। वाणी ही इसको देखती हुई बोलती है ॥२॥

यह जो इस मण्डल में पुरुष है वह मृत्यु ही है। यह जो प्रकाश दिखाई देता है वह अमृत है। इसलिए मृत्यु मरता नहीं, क्योंकि वह भीतर अमर है। इसीलिए वह दीखता नहीं, क्योंकि अमर है ॥३॥

इसके विषय में यह मन्त्र है—"अन्तरं मृत्योरमृतम्" अर्थात् मृत्यु से नीचे अमृत है। "मृत्यावमृतमाहितम्" क्योंकि अमृत इसी पुरुष में प्रतिष्ठित होकर चमकता है। "मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते" अर्थात् मृत्यु विव्स्वान् में बसता है। यह आदित्य ही विवस्वान् है क्योंकि यह रात-दिन को चमकाता है (विवस्ते)। यह मृत्यु उसी में बसता है। यह चारों ओर से इससे घिरा हुआ है। "मृत्योरात्मा विवस्वति" अर्थात् 'मृत्यु का आत्मा विवस्वान् में है, क्योंकि उस पुरुष का आत्मा उस मण्डल में है। यह श्लोक ऐसा ही है ॥४॥

इस प्रकाश और इस पुरुष, दोनों का यह मण्डल प्रतिष्ठा है। इसलिए महदुक्थ को दूसरे के लिए नहीं कहना चाहिए कि कहीं अपने नीचे से अपनी प्रतिष्ठा को ही न छेद डाले। जो दूसरे के लिए महदुक्थ को कहता है वह अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट कर देता है। इसीलिए उक्थ का कहने वाला अनादर की दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि वह अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट कर देता है। यह है अधिदेवत ॥५॥

अब अधियज्ञ लीजिये—यह जो मण्डल तप रहा है यह वही है जो वेदी का रुक्म (स्वर्ण), और यह जो प्रकाश चमकता है वह पुष्करपर्ण है, क्योंकि ये आपः या जल हैं। पुष्करपर्ण भी जल है। इसलिए इस मण्डल में जो पुरुष है वह यही स्वर्णपुरुष है। इसलिए इन तीनों को वेदी में रखना मानो दैवी त्रय को बनाना है। यज्ञ के पश्चात् वह ऊपर उठता है और इस (सूर्य) में मिल जाता है जो कि तपता है। इसलिए अग्नि को नष्ट करने पर खेद न करे, क्योंकि अग्नि उस लोक में उपस्थित रहता है। यह है अधियज्ञ ॥६॥

अब अध्यात्म—यह जो मण्डल तपता है और यह स्वर्ण, यह आँख की सफेदी मात्र है। यह जो प्रकाश है और यह जो पुष्करपर्ण, यह आँख का काला भाग है। यह जो मण्डल में पुरुष है और यह जो स्वर्णपुरुष है यह वही है, जो दाहिनी आँख में पुरुष है ॥७॥

यह स्वर्णपुरुष ही लोकम्पृण है। यह सब अग्नि इसी से मेल खाती है। यह जो बाईं

सव्येऽक्षन्पुरुषोऽर्धम् हैतदात्मनो यन्मिथुनं यदा वै सह मिथुनेनाथ सर्वोऽथ कृत्स्नः कृत्स्नतायै तस्मात्ते द्वे भवतो द्वन्द्वᳬ हि मिथुनं प्रजननं तस्माद्धे-द्वे लोकम्पृणेऽउपधीयेते तस्माद्द्वाभ्यां चितिं प्रणयन्ति ॥८॥ स एष एवेन्द्रः । योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषोऽथेयमिन्द्राणी ताभ्यां देवा एतां विधृतिमकुर्वन्नासिकां तस्माज्जायाया अन्ते नाश्नीयाद्वीर्यवान्हास्माज्जायते वीर्यवन्तमु ह सा जनयति यस्या अन्ते नाश्नाति ॥९॥ तदेतद्देवव्रतᳬ । राजन्यबन्धवो मनुष्याणामनुतमां गोपायन्ति तस्मादु तेषु वीर्यवाञ्जायतेऽमृतवाका वयसाᳬ सा क्षिप्रश्येनं जनयति ॥१०॥ तौ हृदयस्याकाशं प्रत्यवेत्य । मिथुनीभवतस्तौ यदा मिथुनस्यान्तं गच्छतोऽथ हैतत्पुरुषः स्वपिति तद्यथा हैवेदं मानुषस्य मिथुनस्यान्तं गत्वासंविद्-इव भवत्येवᳬ हैवैतदसंविद्-इव भवति दैवᳬ ह्येतन्मिथुनं परमो ह्येष आनन्दः ॥११॥ तस्मादेवंवित्स्वप्यात् । लोक्यᳬ हैतेऽएव तद्देवते मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति तस्मादु ह स्वपन्तं धुरेव न बोधयेन्नेद्देते देवते मिथुनीभवन्त्यौ हिनसानीति तस्मादु हैतत्सुषुपुषः श्लेष्मणामिव मुखं भवत्येतेऽएव तद्देवते रेतः सिञ्चतस्तस्माद्रेतस इदᳬ सर्वᳬ सम्भवति यदिदं किं च ॥१२॥ स एष एव मृत्युः । य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य हैतस्य हृदये पादावतिहतौ तौ हैतदाच्छिद्योत्क्रामति स यदोत्क्रामत्यथ हैतत्पुरुषो म्रियते तस्मादु हैतत्प्रेतमाहुराच्छेद्यस्येति ॥१३॥ एष उऽएव प्राणः । एष हीमाः सर्वाः प्रजा प्रणयति तस्यैते प्राणाः स्वाः स यदा स्वपित्यथैनमेते प्राणाः स्वा अपियन्ति तस्मात्स्वाप्ययः स्वाप्ययो ह वै तᳬ स्वप्न इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः ॥१४॥ स एतैः सुप्तः । न कस्य चन वेद न मनसा संकल्पयति न वाचान्नस्य रसं विजानाति न प्राणेन गन्धं विजानाति न चक्षुषा पश्यति न श्रोत्रेण शृणोत्येतᳬ ह्येते तदापीता भवन्ति स एष एकः सन्प्रजासु बहुधा व्यावि-

आँख में पुरुष है वह दाहिनी आँख के पुरुष का जोड़ा है। यह जो जोड़ा होता है वह एक-दूसरे का आधा होता है। जब जोड़ा जोड़े से मिलता है तब पूर्ण कहलाता है। इसलिए यह जोड़ा पूर्णता के लिए है। आँख में दो पुरुष क्यों हैं? उत्पत्ति के लिए। उत्पत्ति जोड़े से होती है। इसलिए हर बार दो-दो लोकम्पृणा रक्खी जाती हैं। इसलिए चिति में दो प्रकार की ईंटें लगाते हैं ॥८॥

दाहिनी आँख में जो पुरुष है वह इन्द्र है और दूसरी आँख का इन्द्राणी। इन दोनों के अलग करने के लिए देवों ने नाक बनाई, इसलिए स्त्री के साथ न खावे। इससे वीर्यवान् (सन्तान) उत्पन्न होती है। जिस स्त्री के साथ उसका पति नहीं खाता वह वीर्यवान् पुत्र जनती है ॥९॥

यह देवव्रत है। मनुष्यों में राजा लोग अधिक अलग रहते हैं, इसलिए उनके वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न होते हैं। पक्षियों में अमृतवाका अलग रहती है इसलिए 'क्षिप्रश्येन' को जनती है ॥१०॥

ये (आँख के दो पुरुष) हृदय-आकाश में उतरते हैं। जब इनका जोड़ा मिलता है और इस मिलाप का अन्त होता है तब मनुष्य सोता है। जैसे यहाँ भी मनुष्य मैथुन के अन्त में बेसुध-सा हो जाता है, वैसे ही वह भी बेसुध हो जाता है, क्योंकि यह दैवी मैथुन है। वह परम आनन्द है ॥११॥

इसलिए जो इस रहस्य को समझता है वह सो जाये, क्योंकि ऐसी लोक-प्रथा है। वह इस प्रकार इन दो देवताओं को मैथुन का अवसर देता है जो इनके लिए प्रिय वस्तु है। इसलिए जो सोता हो उसे जोर से न जगावे, क्योंकि ये जो दो देवता मैथुन करते हैं उनको हानि पहुँचती है। जो सोता है उनका मुख लेसदार होता है क्योंकि ये दोनों देवता मैथुन करके वीर्य छोड़ते हैं। इस-लिए वीर्य से ही सब-कुछ उत्पन्न होता है ॥१२॥

यह मृत्यु ही है जो उस मण्डल में पुरुष, और जो यह दाहिनी आँख में पुरुष है उसके पैर उसके हृदय में गड़े हुए हैं। उनको खींचकर वह निकालता है। जब वह निकल आता है तो मनुष्य मर जाता है। इसलिए जो मर जाता है उसको कहते हैं कि उसका छेदन हो गया ॥१३॥

यह आँख का पुरुष प्राण है, क्योंकि यह इन सब प्रजाओं को चलाता है। ये प्राण उसके ही हैं (स्व)। जब वे प्राण उस पर स्वत्व जमा लेते हैं तो वह सो जाता है (स्वा+अपि+यन्ति) इसी से स्वाप्य शब्द निकला है, इसी को स्वप्न कहते हैं। यह परोक्ष रूप है। देवों को परोक्ष प्रिय है ॥१४॥

जो सोया हुआ है वह न कुछ जानता है, न मन से कल्पना करता है, न वाणी से अन्न का रस जानता है, न प्राण से गन्ध जानता है, न आँख से देखता है, न कान से सुनता है। वे सब उसी में मिल जाते हैं (अपीता भवन्ति)। वह एक होता हुआ भी प्रजाओं में अनेक प्रकार

ष्टस्तस्मादेका सती लोकम्पृणा सर्वमग्निमनुविभवत्यथ यदेक एव तस्मादेका ॥१५॥ तदाहुः । एको मृत्युर्बहवा३इत्येकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयाद्यदहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः ॥१६॥ तदाहुः । अन्तिके मृत्युर्दूरा३इत्यन्तिके च दूरे चेति ह ब्रूयाद्यदहायमिहाध्यात्मं तेनान्तिकेऽथ यदसावमुत्र तेनो दूरे ॥१७॥ तदेष श्लोको भवति । अन्ने भात्यपश्रितो रसानाᳬ संक्षरेऽमृत इति यदेतन्मण्डलं तपति तदन्नमथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽत्ता स एतस्मिन्नन्नेऽपश्रितो भातीत्यधिदेवतम् ॥१८॥ अथाध्यात्मम् । इदमेव शरीरमन्नमथ योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः सोऽत्ता स एतस्मिन्नन्नेऽपश्रितो भाति ॥१९॥ तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते । यजुरित्येष हीदᳬ सर्वं युनक्ति सामेति छन्दोगा एतस्मिन्हीदᳬ सर्वᳬ समानमुक्थमिति बह्वृचा एष हीदᳬ सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविद एतेन हीदᳬ सर्वं यतं विषमिति सर्पाः सर्प इति सर्पविद ऊर्गिति देवा रयिरिति मनुष्या मायेत्यसुराः स्वधेति पितरो देवजन इति देवजनविदो रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसस्तं यथा-यथोपासते तदेव भवति तद्धैनान्भूत्वावति तस्मादेतमेवंवित्सर्वैरेवैतैरुपासीत सर्वᳬ हैतद्भवति सर्वᳬ हैनमेतद्भूत्वावति ॥२०॥ स एष त्र्यीष्टकोऽग्निः । ऋगेका यजुरेका सामैका तद्यां काचात्रर्चोपदधाति रुक्म एव तस्या आयतनमथ यां यजुषा पुरुष एव तस्या आयतनमथ याᳬ साम्ना पुष्करपर्णमेव तस्या आयतनमेवं त्र्यीष्टकः ॥२१॥ ते वा एते । उभे एष च रुक्म एतच्च पुष्करपर्णमेतं पुरुषमपीत उभे ह्यृक्सामे यजुरपीत एवम्वेकेष्टकः ॥२२॥ स एष एव मृत्युः । य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः स एष एवंविद आत्मा भवति स यदेवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैतमेवात्मानमभिसम्भवति सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति ॥२३॥

ब्राह्मणम् ॥ ६ [५. २.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११ ॥ ॥

से व्यवहार करता है। इसलिए लोकम्पृणा ईंट एक होते हुए भी समस्त वेदी में पहुँचती है। यह पुरुष एक ही है। इसलिए लोकम्पृणा भी एक ही है ॥१५॥

लोग पूछते हैं कि मृत्यु एक है या कई? एक भी है और कई भी। उस लोक में तो एक ही है, और चूँकि वह प्राणियों में बँटा हुआ है इसलिये 'बहुत' ॥१६॥

इसपर प्रश्न करते हैं कि मृत्यु निकट है या दूर? पास भी है और दूर भी। यह जो इसी शरीर में है इसलिए निकट, और उस लोक में है इसलिए दूर ॥१७॥

इसके बारे में एक श्लोक है "अन्ने भात्यपश्रितो रसानाँ संक्षरेऽमृतः"—"यह अमृत अन्न में छिपा हुआ रसों के बहावों में चमकता है।" यह जो मण्डल तपता है वह अन्न, इस मण्डल में जो पुरुष है वह खानेवाला (अत्ता)। वह इस अन्न में छिपा हुआ चमकता है। यह है अधि-देवत ॥१८॥

अब अध्यात्म—यह शरीर अन्न है। यह जो दायें नेत्र में पुरुष है वह अत्ता है। वह इस अन्न में छिपा हुआ चमकता है ॥१९॥

अध्वर्यु इस पुरुष की अग्नि मानकर उपासना करते हैं। इसी को यजु करके, क्योंकि यह सब संसार को जोड़ता है (यज्); छन्दोगण इसको साम मानकर, क्योंकि इसमें सब संसार एक है (समान से साम); बह्वृचा लोक 'उक्थ' करके, क्योंकि यह सब चीजों को उठाता है; यातुविद् इसको यातु' मानकर, क्योंकि यह सबको 'यत' वश में रखता है; सर्पविद् सर्प मानकर; ऊर्ज करके देव, रयि करके मनुष्य, माया करके असुर, स्वधा करके पितर, देवजन करके देवजनविद्, रूप करके गन्धर्व, गन्ध करके अप्सरायें। उसकी जैसे उपासना करते हैं वैसा ही हो जाता है और उसी प्रकार से उनकी रक्षा करता है ॥२०॥

इस वेदी में तीन ईंटें होती हैं—एक ऋक्, एक यजु, एक साम। जो ईंट ऋक् से रक्खी जाती है उसका आयतन स्वर्ण है। जिसको यजु से रखते हैं उसका आयतन स्वर्णपुरुष है। जो साम से रक्खी जाती है उसका आयतन पुष्करपर्ण। इस प्रकार उसमें तीन ईंटें होती हैं ॥२१॥

ये स्वर्ण और पुष्करपर्ण उस स्वर्णपुरुष में मिले होते हैं, क्योंकि ऋक् और साम यजु में सम्मिलित हैं। इसलिए यह भी एक ईंट का है ॥२२॥

यह उस मण्डल का पुरुष और दाहिनी आँख का पुरुष, ये मृत्यु ही हैं। जो यह रहस्य समझता है उसका यह आत्मा हो जाता है। जब वह इस लोक से चलता है तो उसके आत्मा में मिल जाता है और अमर हो जाता है, क्योंकि मृत्यु उसका आत्मा ही है ॥२३॥

नेव वाऽइदमग्रेऽसदासीन्नेव सदासीत् । आसीदिव वाऽइदमग्रे नेवासीत्तद्ध तन्मन एवास ॥ १ ॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति नेव हि सन्मनो नेवासत् ॥२॥ तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत् । निरुक्ततरं मूर्त्ततरं तदात्मानमन्वैच्छत्तत्तपोऽतप्यत तत्प्रामूर्च्छत्तत्षट्त्रिᳬशतᳬ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितस्ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवत मनसाशᳬसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत तद्यत्किं चेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिस्तानेवादधति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शᳬसन्त्येतावती वै मनसो विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावन्मनः षट्त्रिᳬशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः ॥३॥ तन्मनो वाचमसृजत । सेयं वाक्सृष्टाविरबुभूषन्निरुक्ततरा मूर्त्ततरा सात्मानमन्वैच्छत्सा तपोऽतप्यत सा प्रामूर्च्छत्सा षट्त्रिᳬशतᳬ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्वाङ्मयान्वाक्चितस्ते वाचैवाधीयन्त वाचाचीयन्त वाचैषु ग्रहा अगृह्यन्त वाचास्तुवत वाचाशᳬसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म वाचैव तेषु तद्वाङ्मयेषु वाक्चित्सु वाङ्मयमक्रियत तद्यत्किं चेमानि भूतानि वाचा वदन्ति तेषामेव सा कृतिस्तानेवादधति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शᳬसन्त्येतावती वै वाचो विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावती वाक्षट्त्रिᳬशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः ॥४॥ सा वाक्प्राणमसृजत । सोऽयं प्राणः सृष्ट आविरबुभूषन्निरुक्ततरो मूर्त्ततरः स आत्मानमन्वैच्छत्स तपोऽतप्यत स प्रामूर्च्छत्स षट्त्रिᳬशतᳬ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्प्राणमयान्प्राणचितस्ते प्राणेनैवाधीयन्त प्राणेनाचीयन्त प्राणेनैषु ग्रहा अगृह्यन्त प्राणेनास्तुवत प्राणेनाशᳬसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं

सकलपुरुषवर्त्तिमनोवाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रकर्माग्निदृत्तिसम्पाद्यचित्याग्नि-विषयोपासनाकथनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

पहले यह जगत् न असत्-सा ही था न सत्-सा। यह जगत् पहले था-सा भी और न था-सा भी। तब केवल मन था ।।१।।

इसी से ऋग्वेद में कहा है—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्"—(ऋ० १०।१२९।१)—"तब न असत् था न सत्।" मन 'न' था ही, न 'न था' ही ।।२।।

इस मन ने स्रजा जाकर आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् निरुक्ततर और मूर्ततर (अधिक स्पष्ट और अधिक स्थूल)। उसने शरीरवाला होना चाहा। उसने तप तपा। वह मूर्तमान् हो गया। तब उसने अपनी ही ३६००० (छत्तीस हजार) मनोमय और मनश्चित (मन में चिनी गई) अग्नियों को देखा। वे मन के द्वारा ही रक्खी थीं, मन के द्वारा ही चिनी गई थीं। इनमें मन के द्वारा ही ग्रह लिये गये थे, मन के द्वारा ही स्तोत्र पढ़े गये, मन के द्वारा ही शस्त्र पढ़े गये। जो कुछ यज्ञ में कर्म किया जाता है, जो कुछ यज्ञिय कर्म होता है, वह सब इन मनोमय, मनश्चित अग्नियों (वेदियों) में मन के द्वारा ही किया गया। जो कुछ ये प्राणी मन से संकल्प करते हैं, वह उन्हीं की कृति है। उनका आधान किया जाता है, उनको चिना जाता है, उनमें से सोम ग्रह लिये जाते हैं, उन पर स्तोत्र पढ़े जाते हैं, उन पर शस्त्र पढ़े जाते हैं, इतनी है मन की विभूति, इतनी सृष्टि। इतना है मन—३६००० अर्क, अग्नि। हर एक इनमें से इतना जितनी पूर्व-वेदी ।।३।।

उस मन ने वाणी बनाई। इस वाणी ने स्रजा जाकर आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् निरुक्ततर और मूर्ततर (स्पष्ट तथा स्थूल)। उसने शरीरवाला होना चाहा। उसने तप तपा। वह स्थूल हो गई। उसने ३६००० अपनी अग्नियों को, अर्कों को, वाङ्मय, वाक्, चित (वाणी से चिना हुआ) देखा। वाणी द्वारा ही उनका आधान हुआ था। वाणी द्वारा ही वे चिनी गई थीं। वाणी द्वारा ही सोमग्रह ग्रहण किये गए थे। वाणी के द्वारा ही स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े गए। जो कुछ यज्ञ में कर्म किया जाता है, जो कुछ यज्ञिय कर्म होता है, वह सब वाणी के द्वारा ही उन वाङ्मय, वाक्चित वेदियों में वाणी से ही किया गया। जो कुछ ये प्राणी वाणी से बोलते हैं, वह सब उन्हीं की कृति है। उनका आधान किया जाता है, उनको चिना जाता है, उनसे ग्रह निकाले जाते हैं, उनके लिए स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े जाते हैं। वाणी की इतनी विभूति है, इतनी विसृष्टि। वाणी इतनी है। ३६००० अग्नियाँ या अर्क हैं। उनमें से हर एक इतनी है जितनी वह पहले की (अर्थात् वेदी) ।।४।।

उस वाणी ने प्राण स्रजा। इस स्रजे हुए प्राण ने आविर्भूत होना चाहा अर्थात् निरुक्त-तर और मूर्ततर (अधिक स्पष्ट और अधिक स्थूल)। उसने शरीर की इच्छा की। उसने तप तपा। वह स्थूल हो गया। उसने ३६००० अपनी अग्नियों या अर्कों को देखा, जो प्राणमय और प्राणचित थे। प्राण द्वारा ही उनका आधान हुआ, प्राणों द्वारा ही वे चिने गए, प्राण द्वारा ही इनमें से ग्रह लिये गए, प्राण द्वारा ही स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े गए। यज्ञ में जो कुछ कर्म किया

कर्म प्राणेनैव तेषु तत्प्राणमयेषु प्राणचित्सु प्राणमयमक्रियत तद्यत्किं चेमानि भूतानि प्राणेन प्राणन्ति तेषामेव सा कृतिस्तानेवादधति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शꣳसन्त्येतावती वै प्राणस्य विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावान्प्राणः षट्त्रिꣳशः ॥५॥ स प्राणश्चक्षुरसृजत । तदिदं चक्षुः सृष्टमाविरबुभूषन्निरुक्ततरं मूर्ततरं तदात्मानमन्वैच्छत्तत्तपोऽतप्यत तत्प्रामूर्च्छत्तत्षट्त्रिꣳशतꣳ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कांश्चक्षुर्मयांश्चक्षुश्चितस्ते चक्षुषैवाधीयन्त चक्षुषाचीयन्त चक्षुषैषु ग्रहा अगृह्यन्त चक्षुषास्तुवत चक्षुषाशꣳसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म चक्षुषैव तेषु तच्चक्षुर्मयेषु चक्षुश्चित्सु चक्षुर्मयमक्रियत तद्यत्किं चेमानि भूतानि चक्षुषा पश्यन्ति तेषामेव सा कृतिस्तानेवादधति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शꣳसन्त्येतावती वै चक्षुषो विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावच्चक्षुः षट्त्रिꣳशः ॥६॥ तच्चक्षुः श्रोत्रमसृजत । तदिदꣳ श्रोत्रꣳ सृष्टमाविरबुभूषन्निरुक्ततरं मूर्ततरं तदात्मानमन्वैच्छत्तत्तपोऽतप्यत तत्प्रामूर्च्छत्तत्षट्त्रिꣳशतꣳ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्काञ्छ्रोत्रमयाञ्छ्रोत्रचितस्ते श्रोत्रेणैवाधीयन्त श्रोत्रेणाचीयन्त श्रोत्रेणैषु ग्रहा अगृह्यन्त श्रोत्रेणास्तुवत श्रोत्रेणाशꣳसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म श्रोत्रेणैव तेषु तच्छ्रोत्रमयेषु श्रोत्रचित्सु श्रोत्रमयमक्रियत तद्यत्किं चेमानि भूतानि श्रोत्रेण शृण्वन्ति तेषामेव सा कृतिस्तानेवादधति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शꣳसन्त्येतावती वै श्रोत्रस्य विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावच्छ्रोत्रꣳ षट्त्रिꣳशः ॥७॥ तच्छ्रोत्रं कर्मासृजत । तत्प्राणानभिसममूर्च्छदिमꣳ संदेहमन्नसंदेहमकृत्स्नं वै कर्मर्ते प्राणेभ्योऽकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मणः ॥८॥ तदिदं कर्म सृष्टमाविरबुभूषत् । निरुक्ततरं मूर्ततरं तदात्मानमन्वैच्छत्तत्तपोऽतप्यत तत्प्रामूर्च्छत्तत्षट्त्रिꣳशतꣳ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्कर्ममयान्कर्मचितस्ते कर्मणैवाधीयन्त कर्म

जाता है, जो कुछ यज्ञिय कर्म है, यह इन प्राणमय प्राणचित वेदियों में प्राण के द्वारा ही किया गया। वे प्राणी प्राण द्वारा जो कुछ प्राण-क्रिया करते हैं वह सब उन्हीं की कृति है। उन्हीं का आधान किया जाता है। वे ही चितियाँ बनाई जाती हैं। उन्हीं में से सोम ग्रहों को निकालते हैं। उन्हीं पर स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़ते हैं। प्राण की इतनी विभूति है, इतनी सृष्टि। इतनी प्राण की ३६००० अग्नियाँ या अर्क हैं। इनमें से एक-एक इतनी है जितनी पहले कही हुई वेदी ॥५॥

उस प्राण ने चक्षु बनाई। इस बनी हुई चक्षु ने आविर्भूत होने की इच्छा की, अर्थात् निरुक्ततर और मूर्ततर (अधिक स्पष्ट और अधिक स्थूल) होने की। उसने शरीरवाला होना चाहा। उसने तप तपा। वह स्थूल हो गई। उसने अपनी ३६००० अग्नियों या अर्कों को देखा, चक्षुमय और चक्षुचित को। चक्षु द्वारा ही उनका आधान हुआ, चक्षु द्वारा ही चितियाँ चिनी गईं, चक्षु द्वारा ही ग्रह निकाले गए, चक्षु द्वारा स्तोत्र, शस्त्र पढ़े गए। जो कुछ यज्ञ में कर्म किया जाता है, जो कुछ यज्ञिय कर्म है, वह सब कर्म उन चक्षुमन, चक्षुचित चितियों में चक्षु द्वारा किया गया। जो कुछ ये प्राणी आँख से देखते हैं वह सब उन्हीं की कृति है। उन्हीं का आधान करते हैं। उन्हीं चितियों को चिनते हैं। उन्हीं से सोम ग्रहों को निकालते हैं। उन्हीं पर स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़ते हैं। इतनी आँख की विभूति है, इतनी सृष्टि, इतनी आँख है, इतनी इसकी ३६००० अग्नियाँ या अर्क हैं। इनमें एक-एक इतनी है जितनी पहली कही हुई वेदी ॥६॥

उस चक्षु ने श्रोत्र बनाया। इस बने हुए श्रोत्र ने आविर्भूत होने की इच्छा की, अर्थात् निरुक्ततर और मूर्ततर होने की। उसने शरीरवाला होना चाहा। उसने तप तपा। वह मूर्तमान् हो गया। उसने अपनी ३६००० अग्नियों-अर्कों को देखा जो श्रोत्रमय और श्रोत्रचित थे। श्रोत्र द्वारा ही उनका आधान हुआ था। श्रोत्र द्वारा ही वे चिने गये थे। श्रोत्र द्वारा ही इनमें से सोम ग्रह निकाले गये थे। श्रोत्र द्वारा ही स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े गए थे। जो कुछ कर्म यज्ञ में किया जाता है, जो कुछ यज्ञिय, कर्म है वह सब उन श्रोत्रमय श्रोत्रचित चितियों में श्रोत्र के द्वारा ही किया गया। जो कुछ ये प्राणी श्रोत्र द्वारा सुनते हैं वह उनकी ही कृति है। उन्हीं का आधान करते हैं। उन्हीं को चिनते हैं। उन्हीं में से सोम ग्रह निकलते हैं। उन्हीं पर स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़ते हैं। श्रोत्र की इतनी ही विभूति है, इतनी ही सृष्टि, इतना ही श्रोत्र है, इतनी इसकी ३६००० अग्नियाँ या अर्क हैं। इनमें से एक-एक इतनी है जितनी पूर्व कथित वेदी ॥७॥

उस श्रोत्र ने कर्म बनाया। वह जमकर प्राणरूप हो गया। यह समूह या अन्न। प्राण के बिना कर्म अपूर्ण है, और कर्म के बिना प्राण अपूर्ण है ॥८॥

इस कर्म ने स्रजा जाकर आविर्भूत होना चाहा, निरुक्ततर और मूर्त्ततर। उसने शरीर-वाला होना चाहा। उसने तप तपा। वह मूर्त्तिमान् हो गया। उसने अपने ३६००० आत्मा, अग्नियों, अर्कों को देखा जो कर्ममय और कर्मचित थे। कर्म द्वारा ही उनका आधान किया गया।

णाचीयन्त कर्मणैषु ग्रहा अगृह्यन्त कर्मणास्तुवत कर्मणाशᳬसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म कर्मणैव तेषु तत्कर्ममयेषु कर्मचित्सु कर्ममयमक्रियन तद्यत्किं चेमानि भूतानि कर्म कुर्वते तेषामेव सा कृतिस्तानेवाद्धति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शᳬसन्त्येतावती वै कर्मणो विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावत्कर्म षट्त्रिᳬशं ॥ ९॥ तत्कर्माग्निमसृजत । आविस्तरां वाऽअग्निः कर्मणः कर्मणा ह्येनं जनयन्ति कर्मणेन्धते ॥१०॥ सोऽयमग्निः सृष्ट आविरबुभूषत् । निरुक्ततरो मूर्ततरः स आत्मानमन्वैच्छत्स तपोऽतप्यत स प्रामूर्च्छत्स षट्त्रिᳬशतᳬ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कानग्निमयानग्निचितस्तेऽग्निनैवाधीयन्ताग्निनाचीयन्ताग्निनैषु ग्रहा अगृह्यन्ताग्निनास्तुवताग्निनाशᳬसन्यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्माग्निनैव तेषु तदग्निमयेष्वग्निचित्स्वग्निमयमक्रियत तद्यत्किं चेमानि भूतान्यग्निमिन्धते तेषामेव सा कृतिस्तानेवाद्धति तांश्चिन्वन्ति तेषु ग्रहान्गृह्णन्ति तेषु स्तुवते तेषु शᳬसन्त्येतावती वाऽअग्नेर्विभूतिरेतावती विसृष्टिरेतावानग्निः षट्त्रिᳬशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः ॥११॥ ते हैते विद्याचित एव । तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते विद्यया हैवैतऽएवंविदश्चिता भवन्ति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [५. ३.] ॥ ॥

अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः । तस्याप एव परिश्रितो मनुष्या यजुष्मत्य इष्टकाः सूददोहा ओषधयश्च वनस्पतयश्च पुरीषमाहुतयः समिधोऽग्निर्लोकम्पृणा तद्वाऽएतत्सर्वमग्निमेवाभिसम्पद्यते तत्सर्वोऽग्निर्लोकम्पृणामभिसम्पद्यते स यो हैतदेवं वेद लोकम्पृणामेनं भूतमेतत्सर्वमभिसम्पद्यते ॥१॥ अन्तरिक्षᳬ ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तस्य द्यावापृथिव्योरेव संधिः परिश्रितः परेण ह्यन्तरिक्षं द्यावापृथिवी संधत्तस्ताः परिश्रितो वयाᳬसि यजुष्मत्य इष्टका वर्षᳬ सूददोहा मरीचयः

कर्म द्वारा ही चितियाँ चिनी गईं। कर्म से ही ग्रह निकाले गये। कर्म द्वारा ही स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े गए। जो कुछ यज्ञ में कर्म किया जाता है, जो कुछ यज्ञिय कर्म है, वह कर्म द्वारा ही कर्ममय और कर्मचित वेदियों में किया गया। ये प्राणी जो कर्म करते हैं वह इनकी ही कृति है। उन्हीं का आधान होता है, उनका ही चयन। उन्हीं से सोम ग्रह निकाले जाते हैं। उन्हीं पर स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े जाते हैं। इतनी कर्म की विभूति है, इतनी कर्म की सृष्टि, इतना कर्म है। ३६००० कर्म की अग्नियाँ या अर्क हैं। इनमें से एक-एक इतनी है जितनी पूर्वकथित वेदी ॥९॥

कर्म ने अग्नि को सृजा। अग्नि कर्म से अधिक स्पष्ट है। कर्म द्वारा ही इसको उत्पन्न करते हैं। कर्म से ही प्रज्वलित करते हैं ॥१०॥

इस सृजे हुए अग्नि ने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् निरुक्ततर और मूर्ततर। उसने शरीर की इच्छा की। उसने तप तपा। वह मूर्तिमान् हो गया। उसने अपने ३६००० अग्नियों या अर्कों को देखा जो अग्नि-मय और अग्नि-चित थे। उनका अग्नि द्वारा ही आधान हुआ था, अग्नि द्वारा ही चयन। अग्नि द्वारा ही इन अग्नियों में से ग्रह निकाले गए थे। अग्नि द्वारा ही स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़े गए थे। जो कुछ कर्म यज्ञ द्वारा किया जाता है, जो कुछ यज्ञिय कर्म है, वह सब उन अग्नि-मय अग्नि-चित वेदियों में अग्नि के द्वारा ही किया गया। ये प्राणी जो कुछ अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, सब इन्हीं की कृति है। उन्हीं का आधान करते हैं, उन्हीं का चयन, उन्हीं में से सोम ग्रह निकालते हैं, उन्हीं पर स्तोत्र तथा शस्त्र पढ़ते हैं। अग्नि की इतनी ही विभूति है, इतनी ही सृष्टि, इतनी अग्नि है। अग्नि की ३६००० अग्नियाँ या अर्क हैं। इनमें से एक-एक उतनी है जितनी पहली वेदी ॥११॥

ये वेदियाँ वस्तुतः विद्याचित हैं। इसको समझनेवाले के लिए सब प्राणी सदा चिना करते हैं, चाहे वह सोता ही क्यों न रहे। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए वेदियाँ विद्या द्वारा ही चिनी जाती हैं ॥१२॥

भूम्यादिलोकत्रयादित्यनक्षत्रछन्दः संवत्सरात्माचित्याग्निविषयोपासनाप्रतिपादनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

यह लोक चिनी हुई वेदी है। जल (पृथिवी के चारों ओर समुद्र) इसके परिश्रित हैं। मनुष्य यजुष्मती ईंटें हैं। पशु सूददोह हैं। ओषधि और वनस्पति पुरीष, आहुति तथा समिधा हैं। इस प्रकार यह सब लोक वेदी के तुल्य है। इस प्रकार यह पूरी वेदी हो गई। वेदी लोकम्पृणा है। जो इस रहस्य को समझता है वह पूरी लोकम्पृणा वेदी के समान हो जाता है ॥१॥

अन्तरिक्ष भी यह चिनी हुई वेदी है। द्यौ और पृथिवी की जो सन्धि है, वह परिश्रित है क्योंकि अन्तरिक्ष के परे ही द्यौ और पृथिवी मिलते हैं। वे ही परिश्रित हैं। पक्षी यजुष्मती ईंटें हैं। वर्षा सूददोह है।

पुरीषमाहुतयः समिधो वायुर्लोकम्पृणा तद्वा एतत्सर्वं वायुमेवाभिसम्पद्यते तत्सर्वोऽग्निर्लो॰ ॥२॥ द्यौर्ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तस्याप एव परिश्रितो यथा ह वा इदं कोशः समुब्जित एवमिमे लोका अप्स्वन्तस्तद्या इमांल्लोकान्परेणापस्ताः परिश्रितो देवा यजुष्मत्य इष्टका यदेवैतस्मिंल्लोकेऽन्नं तत्सूददोहा नक्षत्राणि पुरीषमाहुतयः समिध आदित्यो लोकम्पृणा तद्वा एतत्सर्वमादित्यमेवाभिसम्पद्यते तत्सर्वोऽग्निर्लो॰ ॥३॥ आदित्यो ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तस्य दिश एव परिश्रितस्ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं दिशः समन्तं परियन्ति रश्मयो यजुष्मत्य इष्टकास्ताः षष्टिश्चैव त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यस्य रश्मयस्तद्यत्परिश्रित्सु यजुष्मतीः प्रत्यर्पयति रश्मींस्तद्दिक्षु प्रत्यर्पयत्यथ यदन्तरा दिशश्च रश्मींश्च तत्सूददोहा अथ यद्दिक्षु च रश्मिषु चान्नं तत्पुरीषं ता आहुतयस्ताः समिधोऽथ यद्दिश इति च रश्मय इति चाख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वा एतत्सर्वं दिश इति चैव रश्मय इति चाख्यायते तत्सर्वोऽग्निर्लो॰ ॥४॥ नक्षत्राणि ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तानि वा एतानि सप्तविꣳशतिर्नक्षत्राणि सप्तविꣳशतिः-सप्तविꣳशतिर्होपनक्षत्राण्येकैकं नक्षत्रमनूपतिष्ठन्ते तानि सप्त च शतानि विꣳशतिश्चाधि षट्त्रिꣳशत्ततो यानि सप्त च शतानि विꣳशतिश्चेष्टका एव ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि यजुष्मत्योऽथ यान्यधि षट्त्रिꣳशत्स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिꣳशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव षट्त्रिꣳश्यौ तद्यत्ते द्वे भवतो द्व्यक्षरꣳ हि शिरोऽथ यदन्तरा नक्षत्रे तत्सूददोहा अथ यन्नक्षत्रेष्वन्नं तत्पुरीषं ता आहुतयस्ताः समिधोऽथ यन्नक्षत्राणीत्याख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वा एतत्सर्वं नक्षत्राणीत्येवाख्यायते तत्सर्वोऽग्निर्लो॰ ॥५॥ ता वा एताः । एकविꣳशतिर्बृहत्य एकविꣳशो वै स्वर्गो लोको बृहती स्वर्गो लोकस्तदेष स्वर्गं लोकमभिसम्प-

किरणें पुरीष, आहुति तथा समिधायें हैं। वायु लोकम्पृण है। इस प्रकार यह सब वायु के समान होता है। यह सब वेदी लोकम्पृण है। जो इस रहस्य को समझता है वह पूरी लोकम्पृणा वेदी के समान हो जाता है ॥२॥

द्यौ ही यह चिनी हुइ वेदी है। आप या जल इसके परिश्रित हैं। जैसे यह सन्दूक चारों ओर से घिरा है, ऐसे ही जलों (द्यौ-सम्बन्धी) से यह लोक घिरा हुआ है। यह जो इन लोकों के परे जल है वही परिश्रित है। देव यजुष्मती ईंटें हैं। इस लोक में जो अन्न है वह सूददोह है। नक्षत्र पुरीष, आहुति तथा समिधा हैं। आदित्य लोकम्पृण है। यह सब आदित्य के समान हो जाता है। यह सब वेदी लोकम्पृणा है। जो इस रहस्य को समझता है वह पूरी लोकम्पृणा वेदी के समान हो जाता है ॥३॥

आदित्य ही यह चिनी हुई वेदी है। दिशायें ही परिश्रित हैं। ये तीन सौ साठ हैं। तीन सौ साठ दिशायें आदित्य के चारों ओर हैं। किरणें यजुष्मती ईंटें हैं। वे ३६० हैं। आदित्य की किरणें ३६० होती हैं। यजुष ातियों को परिश्रितों के भीतर रखना मानो किरणों को दिशाओं के भीतर रखना है। दिशाओं और किरणों के बीच में जो कुछ है वह सूददोह है। दिशाओं और किरणों में जो अन्न है वह पुरीष, आहुति तथा समिधा हैं। जिसको दिशा या रश्मि कहते हैं वह लोकम्पृण है। इस प्रकार यह सब वेदी है। वेदी लोकम्पृणा है। जो इस रहस्य को समझता है, वह पूर्ण वेदी या लोकम्पृण हो जाता है ॥४॥

नक्षत्र यह चिनी हुई वेदी हैं। २७ नक्षत्र हैं और प्रति नक्षत्र के २७ उपनक्षत्र। एक-एक नक्षत्र के साथ सत्ताईस-सत्ताईस उपनक्षत्र हैं। इस प्रकार ७३० और छत्तीस हो जाते हैं (अर्थात् २७ नक्षत्र और ७२९ उपनक्षत्र)। ये जो सात सौ बीस ईंटें हैं इनमें ३६० परिश्रित हैं और ३६० यजुष्मती। ये जो ३६० और रहीं इनमें ३० तो हुआ तेरहवीं (लौंद) का महीना (क्योंकि उसमें ३० दिन होते हैं), दो पैर, दो प्राण, सिर है पैंतीसवां और छत्तीसवां, क्योंकि शिर में दो अक्षर होते हैं। दो नक्षत्रों के बीच में जो जगह है वह है सूददोह। नक्षत्रों में जो अन्न हैं वे पुरीष, आहुति और समिधा हैं। जिनको नक्षत्र कहते हैं वे लोकम्पृण हैं। ये सब जो नक्षत्र कहलाते हैं लोकम्पृण हैं। यह सब पूरी वेदी है। पूरी वेदी लोकम्पृणा है। जो इस रहस्य को समझता है वह पूर्ण वेदी या लोकम्पृण हो जाता है ॥५॥

इक्कीस बृहतियां ये हैं। इक्कीसवाला स्वर्गलोक है। बृहती स्वर्गलोक है। इस प्रकार

द्यतऽएकविꣳशं च स्तोम बृहतीं च छन्दः ॥६॥ छन्दाꣳसि ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तानि वाऽएतानि सप्त छन्दाꣳसि चतुरुत्तराणि त्रिचानि तेषाꣳ सप्त च शतानि विꣳशतिश्चाक्षराण्यधि षट्त्रिꣳशत्ततो यानि सप्त च शतानि विꣳशतिश्चेष्टका एव ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यो ऽथ यान्यधि षट्त्रिꣳशन्स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिꣳशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव षट्त्रिꣳश्यौ तद्यत्ते द्वे भवतो द्व्यक्षरꣳ हि शिरः ॥७॥ तस्यै वाऽएतस्यै षट्त्रिꣳशदक्षरायै बृहत्यै । यानि दश प्रथमान्यक्षराणि सा दशाक्षरैकपदाथ यानि विꣳशतिः सा विꣳशत्यक्षरा द्विपदाथ यानि त्रिꣳशत्सा त्रिꣳशदक्षरा विराडथ यानि त्रयस्त्रिꣳशत्सा त्रयस्त्रिꣳशदक्षराथ यानि चतुस्त्रिꣳशत्सा चतुस्त्रिꣳशदक्षरा स्वराडथ यत्सर्वैश्छन्दोभिरयमग्निश्चितस्तदतिछन्दास्ता उ सर्वा इष्टका एवेष्टकेति त्रीण्यक्षराणि त्रिपदा गायत्री तेनैष गायत्रोऽग्निर्मृदाप इति त्रीण्यक्षराणि त्रिपदा गायत्री तेनोऽएवैष गायत्रोऽथ यदक्षरा छन्दसी तत्सूददोहा अथ यच्छन्दःस्वन्नं तत्पुरीषं ता आहुतयस्ताः समिधोऽथ यच्छन्दाꣳसीत्याख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वाऽएतत्सर्वं छन्दाꣳसीत्येवाख्यायते तत्सर्वोऽग्निर्लो° ॥८॥ ता वाऽएताः । एकविꣳशतिर्बृहत्य एकविꣳशो वै स्वर्गो लोको बृहती स्वर्गो लोकस्तदेष स्वर्गं लोकमभिसम्पद्यतऽएकविꣳशं च स्तोमं बृहतीं च छन्दः ॥९॥ संवत्सरो ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तस्य रात्रय एव परिश्रितस्ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्य रात्रयोऽहानि यजुष्मत्य इष्टकास्ताः षष्टिश्चैव त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहान्यथ या अमूः षट्त्रिꣳशदिष्टका अतियन्ति यः स त्रयोदशो मास आत्मार्धमासाश्च ते मासाश्च चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासा अथ यदन्तराहोरात्रे तत्सूददोहा अथ यदहोरात्रेष्वन्नं तत्पुरीषं ता आहुतयस्ताः समिधोऽथ

यह स्वर्गलोक के समान है और इक्कीस स्तोम के भी तथा बृहती छन्द के भी ।।६।।

छन्द भी चिनी हुई वेदी हैं । छन्द सात हैं । चार-चार अक्षर बढ़ते जाते हैं । इनके तीन-तीन करके ७२० अक्षर तथा छत्तीस अधिक (७५६) होते हैं । इनमें ७२० ईंटें हैं, ३६० परिश्रित और तीन सौ साठ यजुष्मती । ये जो ३६ अधिक रहीं, यह हुआ तेरहवाँ मास (मलमास) जिसके ३० अंग हैं (अर्थात् ३० दिन), दो पैर, दो प्राण और दो शिर । शिर का दो में इसलिए शुमार है कि उसमें दो अक्षर हैं ।।७।।

इस ३६ अक्षर की बृहती के पहले दश अक्षर का एक पद होता है । पहले बीस अक्षर का बीस-अक्षरी द्विपद और पहले तीस अक्षर का तीस-अक्षरी विराट्, पहले तेंतीस का तेंतीस-अक्षरी विराट्, पहले ३४ अक्षर का चौंतीस-अक्षरी स्वराट् । यह वेदी सब छन्दों से बनती है इसलिए यह है अतिछन्द । ये ईंटें (इष्टका) भी ऐसी ही हैं । 'इष्टका' में तीन अक्षर हैं । गायत्री में तीन पद होते हैं । इसलिए अग्नि को गायत्र कहते हैं । वृत् (मिट्टी) आपः (जल) यह मिलकर तीन अक्षर हुए । गायत्री में तीन पद होते हैं, इसलिए यह अग्नि गायत्र है । दो छन्दों के बीच का सूददोह हुआ । छन्दों में जो अन्न है वह पुरीष, आहुतियाँ तथा समिधा हैं । जिनको छन्द कहते हैं वे लोकम्पृण हैं । ये सब छन्द हैं । यह सब अग्नि (वेदी) है । अग्नि (वेदी) लोकम्पृण है । जो इस रहस्य को जानता है वह पूर्ण वेदी या लोकम्पृण हो जाता है ।।८।।

ये इक्कीस बृहतियाँ हुईं । स्वर्गलोक भी इक्कीसवाला है । बृहती स्वर्गलोक है, इसलिए यह वेदी में स्वर्गलोक के बराबर है, और इक्कीस स्तोम तथा बृहती छन्द के बराबर ।।९।।

संवत्सर ही यह चिनी हुई वेदी है । रात्रियाँ इसकी परिश्रित हैं । ये ३६० होती हैं । वर्ष की रात्रियाँ ३६० होती हैं । दिन यजुष्मती ईंटें हैं । ये भी ३६० होती हैं । संवत्सर के दिन ३६० होते हैं । ये जो ३६ ईंटें बच रहीं, ये मास (वेदी का) आत्मा अर्द्धमास और मास, अर्थात् २४ अर्द्धमास और १२ मास । जो रात्र-दिन के बीच में है वह सूददोह है । जो दिन-रात में अन्न है वह पुरीष, आहुतियाँ और समिधायें हैं ।

यदहोरात्राणीत्याख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वाऽएतत्सर्वमहोरात्राणीत्येवाख्यायते तत्सर्वोऽग्निर्लो° ॥१०॥ ता वाऽएताः । एकविᳪशतिर्बृहत्य एकविᳪशो वै स्वर्गो लोको बृहती स्वर्गो लोकस्तदेष स्वर्गं लोकमभिसम्पद्यत एकविᳪशं च स्तोमं बृहतीं च छन्दः ॥११॥ आत्मा ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः । तस्यास्थीन्येव परिश्रितस्ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्यास्थीनि मज्जानो यजुष्मत्य इष्टकास्ताः षष्टिश्चैव त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्य मज्जानोऽथ या अमूः षट्त्रिᳪशदिष्टका अतियन्ति यः स त्रयोदशो मास आत्मा प्राणाः स तस्य त्रिᳪशदात्मन्विधाः प्रतिष्ठायां द्वे प्राणेषु द्वे शीर्षन्द्वे तद्यत्ते द्वे भवतो द्विकपालᳪ ह्वि शिरोऽथ येनेमानि पर्वाणि संततानि तत्सूददोहा अथैतन्नयं येनायमात्मा प्रच्छन्नो लोम तस्माᳪसमिति तत्पुरीषं यत्पिबति ता आहुतयो यदश्नाति ताः समिधोऽथ यदात्मेत्याख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वाऽएतत्सर्वमात्मेत्येवाख्यायते तत्सर्वोऽग्निर्लो° ॥१२॥ ता वाऽएताः । एकविᳪशतिर्बृह° ॥१३॥ सर्वाणि ह त्वेव भूतानि । सर्वे देवा एषोऽग्निश्चित आपो वै सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि ता ह्येता आप एवैषोऽग्निश्चितस्तस्य नाव्या एव परिश्रितस्ताः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्याः समन्तं परियन्ति नाव्या उऽएव यजुष्मत्य इष्टकास्ताः षष्टिश्चैव त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्त्यथ यदन्तरा नाव्ये तत्सूददोहा अथ या अमूः षट्त्रिᳪशदिष्टका अतियन्ति यः स त्रयोदशो मास आत्मायमेव स योऽयᳪ हिरण्मयः पुरुषः ॥१४॥ तस्यैते प्रतिष्ठे । रुक्मश्च पुष्करपर्णं चापश्चादित्यमण्डलं च स्रुचौ बाहू ताविन्द्राग्नी द्वे स्वयमातृण्णेऽइयं चान्तरिक्षं च तिस्रो विश्वज्योतिष एता देवता अग्निर्वायुरादित्य एता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिर्द्वादशऽर्तव्याः स

जिनको दिन-रात कहते हैं वे लोकम्पृण हैं। यह सब दिन-रात है। यह सब अग्नि है। जो इस रहस्य को जानता है वह सम्पूर्ण अग्नि तथा लोकम्पृण हो जाता है ।।१०।।

ये इक्कीस बृहती हैं। स्वर्ग भी इक्कीसवाला है। बृहती स्वर्ग है। इस प्रकार यह वेदी स्वर्गलोक के बराबर है। इक्कीस स्तोम तथा बृहती छन्द के भी बराबर है ।।११।।

शरीर ही यह चिना हुआ अग्नि (वेदी) है। हड्डियाँ परिश्रित हैं। ये ३६० हैं। पुरुष की हड्डियाँ ३६० होती हैं। मज्जा यजुष्मती ईंटें हैं। ये भी ३६० होती हैं। पुरुष के मज्जा भी ३६० होती हैं। ये जो ३६ ईंटें अधिक रहीं, यह तेरहवाँ मास आत्मा प्राण है। उसमें ३० भाग हैं। दो पैर, दो प्राण, दो सिर। इसका दो में इसलिए शुमार है कि सिर में कपाल दो हैं। जिस चीज से ये पोरे (जोड़) जुड़े रहते हैं वे सूददोह हैं। तीन चीजों से यह शरीर ढका है—लोम, त्वचा और मांस। जो पीता है वह पुरीष, जो खाता है वह आहुतियाँ, जो शरीर है वह समिधा। जिसको आत्मा कहते हैं वह लोकम्पृण है। यह सब शरीर है। यह सब अग्नि लोकम्पृण है। जो मनुष्य इस रहस्य को जानता है वह पूर्ण वेदी तथा लोकम्पृण हो जाता है ।।१२।।

ये इक्कीस बृहतियाँ हैं। स्वर्ग भी इक्कीसवाला है। बृहती स्वर्ग है। इस प्रकार यह स्वर्गलोक के बराबर है, इक्कीस स्तोम तथा बृहती छन्दों के भी बराबर ।।१३।।

सब भूत और सब देव चिनी हुई वेदी हैं। ये सब देव और भूत 'आपः' (जल) हैं। ये जल चिनी हुई वेदी हैं। नाव्य (नदियाँ जिनमें नावें चला सकें) परिश्रित हैं। ये ३६० होती हैं। ३६० ही नाव्य आदित्य को चारों ओर से घेरे हुए हैं। नाव्य ही यजुष्मती ईंटें हैं। वे ३६० हैं। ३६० नाव्य ही आदित्य में गिरती हैं। जो नाव्यों के बीच में है वह सूददोह है। वे जो ३६ ईंटें अधिक रहीं, यह तेरहवाँ मास। इस वेदी शरीर का आत्मा हिरण्मय पुरुष है ।।१४।।

स्वर्ण और पुष्करपर्ण इसके दो पैर हैं अर्थात् जल और आदित्य-मण्डल। दो स्रुचें बाहु हैं अर्थात् इन्द्र और अग्नि। ये पृथिवी और अन्तरिक्ष दो स्वयमातृण्णा हैं। तीन देव अग्नि, वायु, आदित्य तीन विश्वज्योति हैं, क्योंकि ये विश्व की ज्योति हैं। संवत्सर बारह ऋतव्य या मुख्य

संवत्सरः स आत्मा पञ्च नाकसदः पञ्च पञ्चचूडाः स यज्ञस्ते देवा अथ यद्विकर्णी च स्वयमातृण्णा चाश्मा पृश्निर्यश्चितेऽग्निर्निधीयते सा पञ्चत्रिंशी लोकम्पृणाणि यजुः षट्त्रिंशी सोऽस्यैष सर्वस्यात्मैवात्मा स एष सर्वासामपां मध्ये स एष सर्वैः कामैः सम्पन्न आपो वै सर्वे कामाः स एषोऽकामः सर्वकामो न ह्येतं कस्य चन कामः ॥१५॥ तदेष श्लोको भवति । विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विन इति न हैव तं लोकं दक्षिणाभिर्न तपसानेवंविदश्नुतऽएवंविदां हैव स लोकः ॥१६॥ अन्नं पुरीषम् । चन्द्रमा आहुतयो नक्षत्राणि समिधो यच्चन्द्रमा नक्षत्रे वसत्याहुतिस्तत्समिधि वसत्येतद्वा आहुतेरन्नमेषा प्रतिष्ठा तस्मादाहुतिर्न क्षीयतऽएतद्ध्यस्या अन्नमेषा प्रतिष्ठाथ यद्देवा इत्याख्यायते तल्लोकम्पृणा तद्वाऽएतत्सर्वं देवा इत्येवाख्यायते ॥१७॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् । विश्वे देवा अनु तत्ते यजुर्गुरिति सर्वाणि ह्यत्र भूतानि सर्वे देवा यजुरेव भवन्ति तत्सर्वोऽग्निर्लोकम्पृणामभिसम्पद्यते स यो हैतदेवं वेद लोकम्पृणामेनं भूतमेतत्सर्वमभिसम्पद्यते ॥१८॥ ता वाऽएताः । एकविंशतिर्बृहत्य एकविंशो वै स्वर्गो लोको बृहती स्वर्गो लोकस्तदेष स्वर्गं लोकमभिसम्पद्यतऽएकविंशं च स्तोमं बृहतीं च छन्दः ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [५.४.] ॥ ॥

कुश्रिर्ह वाजश्रवसोऽग्निं चिक्ये । तं ह सुश्रवाः कौष्यो गौतम यदग्निमचैषीः प्राञ्चमेनमचैषीः प्रत्यञ्चमेनमचैषीर्न्यञ्चमेनमचैषीरुत्तानमेनमचैषीः ॥१॥ यद्यहैनं प्राञ्चमचैषीः । यथा पराचऽआसीनाय पृष्ठतोऽन्नाद्यमुपाहरेत्तादृक्तन्न ते हविः प्रतिग्रहीष्यति ॥२॥ यद्यु वाऽएनं प्रत्यञ्चमचैषीः। कस्मादस्य तर्हि पश्चात्पुच्छमकार्षीः ॥३॥ यद्यु वाऽएनं न्यञ्चमचैषीः । यथा नीचः शयानस्य पृष्ठेऽन्नाद्यं प्रतिष्ठापयेत्तादृक्तन्नैव ते हविः प्रतिग्रहीष्यति ॥४॥ यद्यु वाऽएनमुत्तानमचैषीः । न वाऽउत्तानं वयः स्वर्गं लोकमभिवहति न त्वा स्वर्गं लोकमभिवक्ष्यत्यस्वर्ग्य

शरीर है। पांच नाकसद और पांच चूड हैं यज्ञ और देव। विकर्णी स्वयमातृण्णा और विचित्र पत्थर (अश्मा पृश्नि)। जो अग्नि रक्खी जाती है वह पेंतीसवीं है। लोकम्पृण-सम्बन्धी यजु छत्तीसवां है। यह हिरण्मय पुरुष यह आत्मा सबका अन्त है। वह सब जलों के मध्य में है, सब कामनाओं से सम्पन्न है। जल ही सब कामनायें हैं। सब कामनाओं से सम्पन्न हुआ भी वह कामना-शून्य है, क्योंकि उसकी कोई कामना रहती ही नहीं ॥१५॥

इसी सम्बन्ध में यह मन्त्र है —"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः"—"ज्ञान से उस पद पर पहुँच जाते हैं जहां कामनायें नहीं रहतीं। वहाँ दक्षिणा (यज्ञ) से नहीं पहुँच सकते। अज्ञानी तपस्वी नहीं होते।" जो इस रहस्य को नहीं समझते वे उस लोक को दक्षिणा या यज्ञ से नहीं पहुँच सकते ॥१६॥

अभ्र पुरीष है, चन्द्रमा आहुतियाँ, नक्षत्र समिधायें। नक्षत्र के साथ चन्द्रमा रहता है, इसी प्रकार समिधा के साथ आहुति। यह आहुति का अन्न है। यह प्रतिष्ठा है। इसलिए आहुति का क्षय नहीं होता, क्योंकि यह उसका अन्न है, उसकी प्रतिष्ठा है। जिनको देव कहते हैं वे लोकम्पृण हैं, क्योंकि देवों के नाम में सबका नाम आ जाता है ॥१७॥

यही ऋचा कहती है—"विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुः" (ऋ० १०।१२।३)—"तेरे इस यजु के पीछे विश्वेदेव चलते हैं।" क्योंकि यहाँ सब भूत, सब देव यजु ही हो जाते है। यह सब वही लोकम्पृण है। जो इस रहस्य को जानता है वह सम्पूर्ण अग्नि या लोकम्पृण हो जाता है ॥१८॥

ये २१ बृहतियाँ हुईं। स्वर्गलोक इक्कीसवाला है। बृहती स्वर्गलोक है। इस प्रकार यह वेदी स्वर्गलोक के बराबर है, इक्कीस स्तोम और बृहती छन्द के ॥१९॥

चित्याग्नेः सर्वदिगभिमुखत्वम्, पृथक् शिरसो निरूहणाभावश्च

अध्याय ५—ब्राह्मण ५

कुश्रि वाजश्रवस ने एक वेदी बनाई थी। सुश्रवाः कौष्य ने उससे कहा, 'गौतम! जब तुमने वेदी चिनी, तो इसका मुँह आगे को बनाया या पीछे को? नीचे को बनाया या ऊपर को' ॥१॥

'यदि आगे को बनाया है तो ऐसा ही है जैसे किसी को कोई पीछे की ओर से खाना दे और उसका मुँह दूसरी ओर को हो। अग्नि तेरी आहुति न लेगी" ॥२॥

'यदि पीछे को बनाया है तो तूने उसके पीछे पूँछ क्यों बनाई?' ॥३॥

'यदि नीचे को बनाया तो ऐसा है जैसे कोई नीचे की ओर मुँह करके लेटा हो और ऊपर पीठ पर कोई खाना रख दे। वह तेरी आहुति कैसे लेगी?' ॥४॥

'यदि ऊपर को बनाया है तो कोई चिड़िया ऊपर को मुख करके स्वर्ग की ओर नहीं उड़ती। वह अग्नि तुझे स्वर्ग को न ले जायगी।...

उ ते भविष्यतीति ॥५॥ स होवाच । प्राञ्चमेनमचैषं प्रत्यञ्चमेनमचैषं न्यञ्चमेनमचैषमुत्तानमेनमचैषꣳ सर्वा अनु दिश एनमचैषमिति ॥६॥ स यत्प्राञ्चं पुरुषमुपदधाति । प्राच्यौ स्रुचौ तत्प्राङ् चीयतेऽथ यत्प्रत्यञ्चं कूर्ममुपदधाति प्रत्यञ्चि पशुशीर्षाणि तत्प्रत्यङ् चीयतेऽथ यन्न्यञ्चं कूर्ममुपदधाति न्यञ्चि पशुशीर्षाणि नीचीरिष्टकास्तन्न्यङ् चीयतेऽथ यदुत्तानं पुरुषमुपदधात्युत्ताने स्रुचाऽउत्तानमुलूखलमुत्तानामुखां तदुत्तानश्चीयतेऽथ यत्सर्वा अनु दिशः परिसर्पमिष्टका उपदधाति तत्सर्वतश्चीयते ॥७॥ अथ ह कोषा धावयन्तः । निर्ह्रतशिरसमग्निमुपाधावयां चक्रुस्तेषाꣳ हैक उवाच ग्रीवैं शिरः श्रियमस्य निरौहीत्सर्वहन्यानिं ह्यास्यतऽइति स ह तथैवास ॥८॥ अथ हैक उवाच । प्राणा वै शिरः प्राणानस्य निरौहीत्क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यतीति स उ ह तथैवास ॥९॥ ऊर्ध्वो वाऽएष एतच्चीयते । यद्दर्भस्तम्बो लोगेष्टकाः पुष्करपर्णꣳ रुक्मपुरुषौ स्रुचौ स्वयमातृण्णा दूर्वेष्टका द्वियजू रेतःसिचौ विश्वज्योतिर्ऋतव्येऽअषाढा कूर्मोऽथ हास्यैतदेव प्रत्यक्षतमाꣳ शिरो यश्चितेऽग्निर्निधीयते तस्मान्न निर्ह्रहेत् ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५.५.] ॥ पञ्चमोऽध्यायः [६५] ॥ ॥

अथ हैतेऽरुणे । औपवेशी समाजग्मुः सत्ययज्ञः पौलुषिर्महाशालो जाबालो बुडिल आश्वतराश्विरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यस्ते ह वैश्वानरे समासत तेषाꣳ ह वैश्वानरे न समियाय ॥१॥ ते होचुः । अश्वपतिर्वाऽअयं कैकेयः सम्प्रति वैश्वानरं वेद तं गच्छामेति ते हाश्वपतिं कैकेयमाजग्मुस्तेभ्यो ह पृथगावसथान्पृथगपचितीः पृथक्साहस्रान्सोमान्प्रोवाच ते ह प्रातरसंविदाना एव समित्पाणयः प्रतिचक्रमिरऽउप त्वायमेति ॥२॥ स होवाच । यन्नु भगवन्तोऽनूचाना अनूचानपुत्राः किमिदमिति ते होचुर्वैश्वानरꣳ ह भगवान्सम्प्रति वेद तं नो ब्रूहीति स होवाच सम्प्रति खलु न्वाऽअहं वैश्वानरं वेदाभ्याधत्त समिध

वह तेरे स्वर्ग के लिए काम न देगी' ॥५॥

उसने उत्तर दिया, 'मैंने उसका आगे की ओर मुख करके बनाया, पीछे की ओर, नीचे की ओर, ऊपर की ओर। मैंने इसको चारों दिशाओं में बनाया है' ॥६॥

जब वह स्वर्णपुरुष को आगे की ओर रखता है और स्रुचों को आगे या पूर्व की ओर, तब मानो वह आगे को मुंह करके वेदी बनाता है। जब वह कूर्म को पीछे रखता है, पशु के सिर को पीछे, तब मानो पीछे की ओर मुंह करके बनाता है। जब कूर्म को नीचे की ओर मुँह करके बनाता है और पशु-सिरों को नीचे की ओर, और नीचे की ओर ईंटें, तो मानो नीचे की ओर मुंह करके वेदी को बनाता है। जब पुरुष (स्वर्ण-पुरुष) को ऊपर की ओर मुंह करके, स्रुचों को ऊपर को, उलूखल को ऊपर की ओर, उखा को ऊपर की ओर, तब मानो वेदी को ऊपर की ओर मुख करके बनाता है। जब चारों ओर फिर-फिरकर ईंटें रखता है तो वेदी को चारों ओर मुंह करके बनाता हैं ॥७॥

एक बार कोष लोगों ने घूमते हुए ऐसी वेदी देखी जिसका सिर आगे को निकला हुआ था। उनमें से एक बोला, 'श्री ही शिर है। इसने श्री को निकाल डाला, इसको श्री न मिलेगी।' ऐसा ही हुआ ॥८॥

एक ने कहा, 'प्राण ही सिर है, इसने प्राण को निकाल डाला। वह शीघ्र ही परलोक को चला जायगा।' ऐसा ही हुआ ॥९॥

वेदी ऊपर की ओर ही चिनी जाती है। दर्भ, लोगेष्टक, पुष्करपर्ण, स्वर्णपुरुष, दो स्रुच, स्वयमातृण्णा, दूर्वेष्टक, द्वियजु, दो रेतःसिच्, विश्वज्योति, ऋतव्य, अषाढ़ा, कर्म के रूप में। चिनी हुई वेदी में जो अग्नि रक्खी जाती है वह वस्तुतः सिर है। इसलिए सिर को निकाल नहीं डालना चाहिए ॥१०॥

वैश्वानरविद्या

अध्याय ६—ब्राह्मण १

एक बार अरुण औपवेशि के घर पर ये लोग आये—सत्ययज्ञ पौलुषिः, महाशाल जाबाल, बुडिल आश्वतराश्विः, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य। वे वैश्वानर के विषय में बात करने लगे, परन्तु वैश्वानर के बारे में कुछ निश्चय न कर सके ॥१॥

उन्होंने कहा कि अश्वपति कैकेय इस समय वैश्वानर को जानता है, उसके पास चलें। वे अश्वपति कैकेय के पास गये। उसने उनके लिए अलग-अलग निवासस्थान, अलग-अलग वेदियाँ, अलग-अलग सहस्र दक्षिणावाले सोमों के लिए प्रबन्ध कर दिया। प्रातःकाल वे सब न जानते हुए, हाथ में समिधा लिये हुए उसके पास आकर बोले, 'आप हमको अपना शिष्य बनाइये' ॥२॥

उसने कहा, 'आप तो वेदज्ञ हैं। वेदज्ञों के पुत्र हैं। फिर यह कैसे ?' उन्होंने कहा, 'आजकल आप ही वैश्वानर को जानते हैं। आप उसकी हमको शिक्षा दीजिये।' उसने कहा, 'अवश्य मैं वैश्वानर को जानता हूँ। समिधा चढ़ाओ !

उपेता स्थेति ॥३॥ स होवाचारुणमौपवेशिम् । गौतम कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति पृथिवीमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर एतᳯ हि वै त्वं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितः प्रजया पशुभिरसि यो वाऽएतं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति पादौ त्वाऽएतौ वैश्वानरस्य पादौ तेऽम्लास्यतां यदि ह नागमिष्य इति पादौ तेऽविदितावभविष्यतां यदि ह नागमिष्य इति वा ॥४॥ अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम् । प्राचीनयोग्य कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्यप एव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै रयिर्वैश्वानर एतᳯ हि वै त्वᳯ रयिं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वᳯ रयिमान्पुष्टिमानसि यो वाऽएतᳯ रयिं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति बस्तिस्त्वाऽएष वैश्वानरस्य बस्तिस्त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति बस्तिस्तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥५॥ अथ होवाच महाशालं जाबालम् । औपमन्यव कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्याकाशमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै बहुलो वैश्वानर एतᳯ हि वै त्वं बहुलं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं बहुः प्रजया पशुभिरसि यो वाऽएतं बहुलं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेत्यात्मा त्वाऽएष वैश्वानरस्यात्मा त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इत्यात्मा तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥६॥ अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति वायुमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर एतᳯ हि वै त्वं पृथग्वर्त्मानं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वां पृथग्रथश्रेणयोऽनुयान्ति यो वाऽएतं पृथग्वर्त्मानं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति प्राणस्त्वाऽएष वैश्वानरस्य प्राणस्त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति प्राणस्तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥७॥ अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम् । वैयाघ्रपद्य कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्यादित्यमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष

आप मेरे शिष्य हो गये' ॥३॥

उसने अरुण औपवेशि से कहा, 'गौतम! तुम वैश्वानर से क्या समझते हो?' 'हे राजन्! पृथिवी।' 'हाँ। यह तो वैश्वानर है। प्रतिष्ठा है। तुम वैश्वानर को प्रतिष्ठा के रूप में जानते हो, इसलिए प्रतिष्ठित हो प्रजा से, पशुओं से। जो इस वैश्वानर को प्रतिष्ठा के रूप में जानता है वह आवागमन को जीत लेता है, पूर्ण आयु पाता है। परन्तु ये तो वैश्वानर के पैर हैं। तुम्हारे पैर सूख जाते यदि तुम यहाँ न आते। यदि तुम यहाँ न आते तो तुम पैरों से परिचित न होते' ॥४॥

उसने सत्ययज्ञ पौलुष से कहा, 'प्राचीन योग्य! तुम वैश्वानर को क्या समझते हो?' 'हे राजन्। जल।' 'ठीक! यह वैश्वानर रयि (धन) है। तुम वैश्वानर को रयि (धन) रूप से जानते हो, इसलिए तुम धनवान् और पुष्टिमान् हो। जो इस धनरूप वैश्वानर को समझता है, वह मृत्यु को जीत लेता है, पूरी आयु को प्राप्त करता है। परन्तु यह तो वैश्वानर की बस्ति (चूतड़) है। तुम्हारी बस्ति काम न देती, यदि तुम यहाँ न आते। तुम बस्ति को न जान पाते यदि तुम यहाँ न आते' ॥५॥

उसने महाशाल जाबाल से कहा, 'हे औपमन्यव! आप वैश्वानर से क्या समझते हैं?' 'हे राजन्! आकाश।' 'ठीक। यह बहुल वैश्वानर है इसलिए आपकी सन्तान तथा पशु बहुत हैं। जो बहुल वैश्वानर को समझता है वह मृत्यु को जीत लेता है, पूर्ण आयु पाता है। परन्तु यह तो वैश्वानर का आत्मा (शरीर) है। आपका शरीर काम न देता यदि आप यहाँ न आते। आप अपने शरीर को न जानते यदि आप यहाँ न आते' ॥६॥

अब बुडिल आश्वतराश्वि से कहा, 'हे वैयाघ्रपद्य! आप वैश्वानर को क्या समझते हैं?' 'हे राजन्। वायु।' 'ठीक। यह कई मार्गों वाला वैश्वानर है। आप चूँकि वैश्वानर को कई मार्गों वाला समझते हैं, इसलिए आपके साथ बहुत-से रथ चलते हैं। जो इस अनेक मार्गों वाले वैश्वानर को जानता है वह आवागमन को जीत लेता है, पूर्ण आयु पाता है। परन्तु यह तो वैश्वानर का प्राण है। आपके प्राण काम न देते, यदि आप यहाँ न आते। आप प्राण को न जान सकते यदि आप यहाँ न आते' ॥७॥

अब इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय से पूछा, 'हे वैयाघ्रपद्य! आप वैश्वानर को क्या समझते हैं?' 'हे राजन्! आदित्य।'

वै सुततेजा वैश्वानर् एतꣳ हि वै त्वꣳ सुततेजसं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्तवैष सु-
तोऽसमानः पच्यमानोऽक्षीयमाणो गृहेषु तिष्ठति यो वाऽएतꣳ सुततेजसं वै-
श्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति चक्षुस्त्वाऽएतद्वैश्वानरस्य चक्षुस्त्वाहा-
स्यद्यदि ह नागमिष्य इति चक्षुस्तेऽविदितमभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा
॥८॥ अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्यम् । सायवस कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति दिव-
मेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वाऽअतिष्ठा वैश्वानर् एतꣳ हि वै त्व-
मतिष्ठां वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वꣳ समानानतितिष्ठसि यो वाऽएतमतिष्ठां वैश्वा-
नरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति मूर्धा त्वाऽएष वैश्वानरस्य मूर्धा त्वाहा-
स्यद्यदि ह नागमिष्य इति मूर्धा तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा
॥९॥ तान्होवाच । एते वै यूयं पृथग्वैश्वानरान्विद्वाꣳसः पृथगन्नमघस्त प्रादेश-
मात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु व एनान्वक्ष्यामि यथा प्रा-
देशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति ॥१०॥ स होवाच । मूर्धानमुपदिशन्नेष वा
ऽअतिष्ठा वैश्वानर इति चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुततेजा वैश्वानर इति ना-
सिकेऽउपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर इति मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष
वै बहुलो वैश्वानर इति मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति चु-
बुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स
यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति
सर्वमायुरेति न हास्य ब्रुवाणं चन वैश्वानरो हिनस्ति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥४[६.१.]॥

द्वयं वाऽइदमत्ता चैवाद्यं च । तद्यदोभयꣳ समागच्छत्यत्तैवाख्यायते नाद्यम्
॥१॥ स वै यः सोऽत्ताग्निरेव सः । तस्मिन्यत्किं चाभ्यादधत्याहितय एवास्य ता
अहितयो ह वै ता आहुतय इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः
॥२॥ आदित्यो वाऽअत्ता । तस्य चन्द्रमा एवाहितयश्चन्द्रमसꣳ ह्यादित्यऽआद-

'ठीक। यह सुततेजा वैश्वानर है। इसको आप सुततेज वैश्वानर समझते हैं। इसलिए आपका यह सोम, खाया हुआ, पचाया हुआ, न क्षीण होनेवाला, ग्रहों में रक्खा है। जो इस सुततेज वैश्वानर को जानता है वह आवागमन को जीत लेता है, पूर्ण आयु पाता है। परन्तु यह तो वैश्वानर का चक्षु है। आपकी आँख काम न करती यदि आप यहाँ न आते। आप आँख को न जान सकते यदि आप यहाँ न आते' ॥८॥

अब उसने जन शार्कराक्ष्य से कहा, 'हे सायवस! आप वैश्वानर से क्या समझते हैं?' 'हे राजन्! द्यौ।' 'ठीक। यह श्रेष्ठ वैश्वानर है। जब आप वैश्वानर को श्रेष्ठ समझते हैं, तभी अपने बराबरवालों में बहुत श्रेष्ठ हैं। जो वैश्वानर को इस प्रकार समझता है, वह आवागमन से छूट जाता है, पूर्ण आयु पाता है। परन्तु यह तो वैश्वानर का सिर है। आपका सिर काम न करता यदि आप यहाँ न आते। आप सिर को न जानते यदि आप यहाँ न आते' ॥९॥

उन सबसे कहा, 'ये आप लोग वैश्वानर को अलग-अलग समझकर अलग-अलग अन्न खाते हैं। लेकिन देवों ने प्रादेश मात्र को समझा है, इसलिए मैं ऐसा अनुदेश करूँगा कि प्रादेश मात्र ही समझा सकूँ' ॥१०॥

उसने सिर की ओर संकेत करके कहा, 'यह श्रेष्ठ वैश्वानर है।' आँखों की ओर संकेत करके कहा, 'यह सुततेजा वैश्वानर है।' नाक की ओर संकेत करके कहा, 'यह अनेक मार्ग वाला वैश्वानर है।' मुख्य आकाश की (मुँह में जो आकाश है उसकी) ओर संकेत करके कहा, 'यह बहुल वैश्वानर है।' मुँह के जलों की ओर संकेत करके कहा, 'यह वैश्वानर रयि (धन) है।' ठुड्डी की ओर संकेत करके कहा, 'यह प्रतिष्ठा वैश्वानर है। यह जो पुरुष है वह अग्नि वैश्वानर है। जो इस वैश्वानर अग्नि को पुरुष के रूप में पुरुष में स्थित जानता है वह आवागमन को जीत लेता है, पूर्ण आयु पाता है। इस प्रकार बोलते हुए को वैश्वानर हानि नहीं पहुँचाता' ॥११॥

पुरुषस्याग्निविधार्कवधोक्यविधत्वनिरूपणम्

अध्याय ६—ब्राह्मण २

दो चीजें होती हैं, खानेवाला और खाद्य। जब ये दोनों मिलते हैं तो खानेवाला ही पुकारा जाता है, खाद्य नहीं ॥१॥

यह जो खानेवाला है वह अग्नि ही है। जो कुछ उसमें रखते हैं यह इसकी आहिति है। 'आहिति' ही 'आहुति' परोक्ष हो गया, क्योंकि देव परोक्ष-प्रिय होते हैं ॥२॥

आदित्य ही खानेवाला है। इसकी आहिति चन्द्रमा है। चन्द्रमा को ही आदित्य के सहारे

धतीत्यधिदैवतम् ॥३॥ अथाध्यात्मम् । प्राणो वाऽअत्ता तस्यान्नमेवाहितयोऽन्नᳫं हि प्राणऽआदधतीति न्वग्नेः ॥४॥ अथार्कस्य । अग्निर्वाऽअर्कस्तस्याहुतय एव कमाहुतयो ह्यग्नये कम् ॥५॥ आदित्यो वाऽअर्कः । तस्य चन्द्रमा एव कं चन्द्रमा ह्यादित्याय कमित्यधिदैवतम् ॥६॥ अथाध्यात्मम् । प्राणो वाऽअर्कस्तस्यान्नमेव कमन्नᳫं हि प्राणाय कमिति न्वेवार्कस्य ॥७॥ अथोक्थस्य । अग्निर्वाऽउक्तस्याहुतय एव थमाहुतिभिर्ह्यग्निरुत्तिष्ठति ॥८॥ आदित्यो वाऽउक् । तस्य चन्द्रमा एव थं चन्द्रमसा ह्यादित्य उत्तिष्ठतीत्यधिदैवतम् ॥९॥ अथाध्यात्मम् । प्राणो वाऽउक्तस्यान्नमेव थमन्नेन हि प्राण उत्तिष्ठतीति न्वेवोक्थस्य स एषोऽग्निविधोऽर्कविध उक्थविधो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निविधमर्कविधमुक्थविधं पुरुषमुपास्ते विदुषो हैवास्यैवं भ्रातृव्यो म्लायति ॥१०॥ प्राणेन वाऽअग्निर्दीप्यते । अग्निना वायुर्वायुनादित्य आदित्येन चन्द्रमाश्चन्द्रमसा नक्षत्राणि नक्षत्रैर्विद्युदेतावती वै दीप्तिरस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च सर्वाᳫं हैतां दीप्तिं दीप्यतेऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एवं वेद ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [६. २.] ॥ ॥

सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत । अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैत्येवंक्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति ॥१॥ स आत्मानमुपासीत । मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणं मनोजवसं सत्यसंकल्पᳫं सत्यधृतिᳫं सर्वगन्धᳫं सर्वरसᳫं सर्वा अनु दिशः प्रभूतᳫं सर्वमिदमभ्याप्तमवाकमनादरं यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूममेवं ज्यायान्दिवो ज्यायानाकाशाज्ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्यायान्त्सर्वेभ्यो भूतेभ्यः स प्राणस्यात्मैष मऽआत्मैतमित आत्मानं प्रेत्याभिसम्भविष्यामीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्य एवमेतदिति ॥२॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [६.३.] ॥ ॥

रखते हैं। यह है अधिदेवत ॥३॥

अब अध्यात्म कहते हैं—प्राण खानेवाला है। अन्न उसकी आहिति है, अन्न को ही प्राण में रखते हैं। इतना अग्नि के सम्बन्ध में ॥४॥

अब अर्क (लौ) के सम्बन्ध में—अग्नि ही अर्क है। आहुतियाँ उसकी 'क' या 'प्रसन्नता' हैं, क्योंकि आहुतियाँ अग्नि के लिए प्रसन्नता हैं ॥५॥

आदित्य ही अर्क है। चन्द्रमा उसकी प्रसन्नता है। चन्द्रमा से आदित्य को प्रसन्नता होती है। यह अधिदेवत हुआ ॥६॥

अब अध्यात्म कहते हैं—प्राण अर्क है। अन्न उसकी प्रसन्नता है। अन्न से प्राण को प्रसन्नता होती है। इतना अर्क के विषय में ॥७॥

अब उक्थ के विषय में—अग्नि 'उक्' है और आहुतियाँ 'थ'। अग्नि आहुतियों से ही उठती है ॥८॥

आदित्य ही 'उक्' है, चन्द्रमा है 'थ'। चन्द्रमा से ही आदित्य उठता है। यह है अधि-देवत ॥९॥

अब अध्यात्म—प्राण है उक्, अन्न है उसका 'थ'। अन्न से ही प्राण उठता है, इतना उक्थ के विषय में। यह पुरुष अग्निविध, अर्कविध और उक्थविध है। जो इस अग्निविध, अर्कविध और उक्थविध पुरुष की उपासना करता है, उसका शत्रु मुरझा जाता है ॥१०॥

प्राण से ही अग्नि चमकती है, अग्नि से वायु, वायु से आदित्य, आदित्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से नक्षत्र, नक्षत्रों से विद्युत्। इस लोक में और परलोक में इतनी ही दीप्ति (चमक) है। जो इस रहस्य को समझता है, उसकी दीप्ति इस लोक में भी चमकती है और उस लोक में भी ॥११॥

शाण्डिल्यविद्याप्रतिपादनम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

सत्य ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। यह पुरुष क्रतुमय (इच्छाशक्तिवाला) है। जितनी इच्छाशक्ति के साथ इस लोक से जाता है, उतनी ही इच्छाशक्तिवाला मरने के पश्चात् दूसरे लोक में होता है ॥१॥

'आत्मा का ध्यान करो जो मनोमय, प्राणमय, प्रकाशरूप, आकाशरूप, जो इच्छा-अनुसार बढ़नेवाला, मन के समान तीव्र गतिवाला, सत्यसंकल्प, सत्यधृति, सर्वगन्ध, सर्वरस, सब दिशाओं में गतिवाला, सबमें व्यापक, वाक्रहित, आदर रहित है। चावल, जौ, ज्वार, बाजरा जैसे छोटा है, ऐसे ही यह ज्योतिर्मय पुरुष भी आत्मा में है। धूम-शून्य अग्नि के समान द्यौ से बड़ा, आकाश से बड़ा, इस पृथिवी से बड़ा, सब भूतों से बड़ा, वह प्राण का आत्मा है, वह मेरा आत्मा है। यहाँ से जाकर इसी आत्मा को प्राप्त हो जाऊँगा। जिसकी ऐसी श्रद्धा है वह शोक को प्राप्त नहीं होता।'—शाण्डिल्य ने ऐसा कहा था। ऐसा ही है भी ॥२॥

उषा वाऽअश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य द्यौष्पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे ऽअवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसान्यूवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाग्रहर्वाऽअश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वाऽअश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुर्हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वासुरानश्वो मनुष्यान्त्समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥७ [६. ४.]

नैवेह किं चनाग्रऽआसीत् । मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्क्यस्यार्कत्वं कꣳ ह वाऽअस्मै भवति य एवमेतदर्क्यस्यार्कत्वं वेद ॥१॥ आपो वाऽअर्कः । तद्यदपाꣳ शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः ॥२॥ स त्रेधात्मानं व्यकुरुत । आदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयꣳ स एष प्राणस्त्रेधाविहितस्तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मावथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौष्पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥३॥ सोऽकामयत । द्वितीयो मऽआत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनायां मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवन्न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभर्यावान्त्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव

अश्वस्योपासनम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

इस मेध्य अश्व का सिर उषा है। सूर्य चक्षु, वायु प्राण, अग्नि वैश्वानर खुला हुआ मुख (व्यात्तम्), संवत्सर आत्मा है, मेध्य अश्व का, द्यौ पीठ, अन्तरिक्ष उदर, पृथिवी पात्र (उदर का नीचे का भाग), दिशायें बगलें, उपदिशायें पसलियाँ, ऋतु अंग, मास तथा अर्द्धमास जोड़, दिन-रात प्रतिष्ठा (पैर), नक्षत्र हड्डियाँ, नभ मांस, रेत उसकी अन्तड़ियों का अन्न, नदियाँ गुदा, पहाड़ यकृत् और क्लोम, ओषधि और वनस्पति लोम, उदय होता हुआ सूर्य इसके शरीर का अगला भाग और अस्त होता हुआ सूर्य पिछला भाग; बिजली की चमक जंभाई है, गरज कड़क है, वर्षा मूत्र है और वाणी इसका शब्द है। दिन को अश्व का अगला महिम बनाया। इसकी योनि पूर्व-समुद्र है। रात्रि को अश्व का पिछला महिम बनाया। पश्चिमी समुद्र इसकी योनि है। अश्व के दोनों ओर यह महिम (अश्वमेध-सम्बन्धी पात्र) हुए। हय होकर यह देवों को ले गया, वाजी होकर गंधर्वों को, अर्वान् होकर असुरों को, अश्व होकर आदमियों को। समुद्र इसका बन्धु है। समुद्र इसकी योनि है ॥१॥

अर्काश्वमेधोपासना, विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकमुनिवंशकथनञ्च

अध्याय ६—ब्राह्मण ५

पहले कुछ न था। मृत्यु से यह सब आवृत था, भूख से। मृत्यु भूख है। उसने अपने लिए मन बनाया—'मैं मनवाला हो जाऊँ।' उसने अर्चना (पूजा) की। पूजा करते हुए जल उत्पन्न हुए। उसने कहा कि 'अर्चना करते हुए मेरे लिए 'क' उत्पन्न हो गया।' यही अर्क का अर्कत्व है। जो इस अर्क के अर्कत्व को समझता है उसको आनन्द होता है ॥१॥

जल अर्क हैं। जलों का जो फेन था वह जम गया और पृथिवी हो गया। अब वह थक गया। उस थके हुए और तपे हुए का जो तेज या रस था वह अग्नि हो गया ॥२॥

उसने अपने को त्रेधा किया (तीन भागों में बाँटा)—(एक-तिहाई अग्नि) एक-तिहाई आदित्य, एक-तिहाई वायु। यह प्राण त्रेधा हो गया। पूर्वी दिशा का भाग सिर हुआ, पूर्वी दिशा और उपदिशा मिलकर अगले पैर, पश्चिमी दिशा पूंछ, पश्चिमी दिशा और उपदिशा जाँघें, दक्षिण और उत्तर बगल, द्यौ पीठ, अन्तरिक्ष उदर, यह पृथिवी छाती। यह जलों पर यहाँ-वहाँ सर्वत्र प्रतिष्ठित हुआ। जो इस रहस्य को जानता है वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है ॥३॥

उसने इच्छा की कि मेरा दूसरा आत्मा हो जाय। मन द्वारा उसने वाणी में समागम किया, मृत्यु ने भूख के साथ। जो वीर्य था वह संवत्सर हो गया। इससे पहले संवत्सर न था। उतने काल तक वह उसको लिये रहा, इसके अन्त में उसने इसे उत्पन्न किया। अब उत्पन्न हुए बच्चे ने मुँह खोला (खाने के लिए) और 'भाण्' कहा।

वागभवत् ॥४॥ स ऐक्षत । यदि वाऽइममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्यऽइति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किं चऽर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजां पशून्स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वाऽअत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥ सोऽकामयत । भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीरऽएव मन आसीत् ॥६॥ सोऽकामयत । मेध्यं म ऽइदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वमेष ह वाऽअश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद ॥७॥ तमनवरुध्यैवामन्यत । तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मनऽआलभत पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्तऽएष वाऽअश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मायमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवति सर्वमायुरेत्येतासां देवतानामेको भवति य एवं वेद ॥८॥ ॥ शतम् ५५०० ॥ ॥ अथ वꣳशः । समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥ ८ [६.५.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या७५ ॥ षष्ठोऽध्यायः [६६.] ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या३६१ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणेऽग्निरहस्यनाम दशम काण्ड समाप्तम् ॥१०॥ ॥

यही वाणी हो गया ॥४॥

उसने सोचा —"यदि मैं इसे मार डालूँ तो मुझे बहुत कम अन्न मिलेगा।' उसने उस वाणी और उस आत्मा द्वारा वह सब-कुछ उत्पन्न किया जो इस जगत् में है—ऋक्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा, पशु जिस-जिसको उसने उत्पन्न किया उस-उसको खाने लगा। यह जो सब-कुछ खाता है इसलिए मृत्यु का नाम अदिति है। जो अदिति के इस अदितित्व को जानता है, वह सबका खानेवाला होता है। सब अन्न उसका होता है ॥५॥

उसने चाहा—'दूसरे यज्ञ द्वारा दूसरा यज्ञ करूँ।' उसने श्रम किया। तप तपा। उस थके और तपे हुए से यश तथा वीर्य निकल भागा। यश और वीर्य प्राण ही हैं। प्राणों के निकल जाने पर उसका शरीर फूलने लगा। मन उसके शरीर में ही था ॥६॥

उसने चाहा कि यह मेरा आत्मा मेध्य हो जाय, मैं आत्मावाला हो जाऊँ। तब अश्व हुआ। चूँकि 'अश्वत्' अर्थात् फूला हुआ मेध्य (यज्ञ के योग्य) हो गया, यही अश्वमेध का अश्व-मेधत्व है। जो यह जानता है, वह अश्वमेध को जानता है ॥७॥

उसने उसको स्वतन्त्र छोड़ना चाहा। संवत्सर के पीछे उसने उसको मार डाला (बलि चढ़ा दिया) अपने लिए, और पशुओं को देवों के अर्पण कर दिया। इसलिए लोग सब देवताओं के लिए प्रोक्षित प्रजापति को मानकर ही पशु की बलि देते हैं। यह जो सूर्य तपता है वही अश्व-मेध है। संवत्सर उसका आत्मा है। अर्क यह अग्नि है। ये लोक इसके शरीर हैं, ये दो हैं—अर्क और अश्वमेध। परन्तु ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं अर्थात् मृत्यु। वस्तुतः जो कोई इस रहस्य को जानता है वह आवागमन को जीत लेता है और उसको मौत नहीं ले सकती। मृत्यु उसका शरीर हो जाती है, वह पूर्ण आयु पाता है और देवताओं में से एक हो जाता है ॥८॥

अब (आचार्यों की) वंशावली कहते हैं सांजीवी पुत्र तक—सांजीवीपुत्र ने माण्डूकायनि से, माण्डूकायनि ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचस् राजस्तम्बायन से, यज्ञवचस् राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से, प्रजापति ने ब्रह्म से। ब्रह्म स्वयंभु है। ब्रह्म को नमस्कार हो ॥९॥

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण की श्रीमत् गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत "रत्नकुमारीदीपिका" भाषाव्याख्या का अग्निरहस्य नाम दशम काण्ड समाप्त हुआ।

दशम काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [१०.२.४]	९४
द्वितीय [१०.४.१]	१०९
तृतीय [१०.५.२]	९१
चतुर्थ [१०.६.५]	७५
	३६९
पूर्व काण्डों का योग	५१३२
पूर्ण योग	५५०१

ओ३म्

श्री शुक्लयजुर्वेदीय

शतपथब्राह्मण

तृतीय भाग

माध्यन्दिनी शाखा

मूल संस्करण

डॉ० अल्बेर्त वेबेर

हिन्दी अनुवाद

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

(रत्नदीपिका भाष्य)

सम्पादक

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

ISBN 81-7077-016-5 (Set)
ISBN 81-7077-019-X (Volume III)

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली-110 006
दूरभाष : 23977216, 65360255
e-mail : ajayarya16@gmail.com
Website : www.vedicbooks.com

वैदिक-ज्ञान-प्रकाश का गरिमापूर्ण 89वाँ वर्ष (1925-2014)

संस्करण : 2014

मूल्य : ₹ 1500.00 (तीनों भाग)

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

शतपथ ब्राह्मण

विषय-सूची

शतपथब्राह्मण

तृतीय भाग

ओम् । संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः । तस्यैतद्द्वारं यदमावास्या चन्द्रमा एव द्वारपिधानः ॥१॥ स योऽमावास्यायामग्नीऽआधत्ते । यथा विवृतायां द्वारि द्वारा पुरं प्रपद्येत स तत एव स्वर्गं लोकमियादेवं तद्योऽमावास्यायामाधत्ते ॥२॥ अथ यो नक्षत्रऽआधत्ते । यथापिहितायां द्वार्यद्वारा पुरं प्रपित्सेत्स जिह्मः पुरः स्यादेवं तद्यो नक्षत्रऽआधत्ते तस्मान्न नक्षत्रऽआदधीत ॥३॥ यदहरेवैषः । न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृश्येत तदहरुपवसेत्तर्हि ह्येष इमं लोकमागच्छति तस्मिन्निह वसति ॥४॥ सर्वे देवा वसन्ति । सर्वाणि भूतानि सर्वा देवताः सर्वऽऋतवः सर्वे स्तोमाः सर्वाणि पृष्ठानि सर्वाणि छन्दाꣳसि ॥५॥ सर्वेषु ह वाऽअस्य देवेषु । सर्वेषु भूतेषु सर्वासु देवतासु सर्वेष्वृतुषु सर्वेषु स्तोमेषु सर्वेषु पृष्ठेषु सर्वेषु छन्दःस्वग्नीऽआहितौ भवतो योऽमावास्यायामाधत्ते तस्मादमावास्यायामेवाग्नीऽआदधीत ॥६॥ योऽसौ वैशाखस्यामावास्या तस्यामादधीत सा रोहिण्या सम्पद्यतऽआत्मा वै प्रजा पशवो रोहिण्यात्मन्येवैतत्प्रजायां पशुषु प्रतितिष्ठत्यमावास्या वाऽअग्न्याधेयद्रूपं तस्मादमावास्यायामेवाग्नीऽआदधीत पौर्णमास्यामन्वारभेतामावास्यायां दीक्षेत ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञम् । यदेनं तन्वते यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति यत्पशुꣳ संज्ञपयन्ति विशासति तत्तं घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥१॥ तꣳ हत्वा यज्ञम् । अग्नावेव योनौ रेतो भूतꣳ सिञ्चत्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते तद्दश ता आहुतीः सम्पादयेद्याभ्यो वषट्क्रियते ॥२॥ अयं वै यज्ञो योऽयं पवते । सोऽयमेक-इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टो

एकादश काण्ड

अथाष्टाध्यायी नामैकादशं काण्डम्

यज्ञादीनां संवत्सराद्यात्मना निरूपणम्

अध्याय १—ब्राह्मण १

संवत्सर ही यज्ञ प्रजापति है। अमावस्या इसका द्वार है। चन्द्रमा द्वार की चटखनी है ॥१॥

यह जो अमावस्या में दो अग्नियों का आधान करता है, वह जैसे खुले द्वार से पुर में प्रविष्ट हो जाय और वहाँ से स्वर्ग चला जाय, वैसा ही है जो अमावस्या में अग्नि-आधान करता है ॥२॥

और जो नक्षत्रविशेष में अग्न्याधान करता है वह ऐसा है जैसे द्वार बन्द हो, अन्य मार्ग से पुर में जाना चाहे और घुस न सके, ऐसा है जो नक्षत्र में अग्न्याधान करता है। इसलिए नक्षत्र में अग्न्याधान न करे ॥३॥

जिस दिन ग्रह (चन्द्रमा) न पूर्व में दिखाई दे न पश्चिम में, उसी दिन उपवास (यज्ञ की तैयारी) करे। उसी दिन यह चन्द्रमा इस लोक में आता है और इस (यज्ञशाला) में रहता है ॥४॥

सब देव भी रहते हैं, सब भूत, सब देवता, सब ऋतु, सब स्तोम, सब पृष्ठ, सब छन्द ॥५॥

सब देवों में, सब भूतों में, सब देवताओं में, सब ऋतुओं में, सब स्तोमों में, सब पृष्ठों में, सब छन्दों में ये दोनों अग्नियाँ रक्खी हुई होती हैं, उस पुरुष के लिए जो अमावस्या में अग्न्याधान करता है। इसलिए अमावस्या में इन दोनों अग्नियों का आधान करे ॥६॥

वैशाख की अमावस्या में आधान करे। वह रोहिणी नक्षत्र होता है। रोहिणी है आत्मा, प्रजा तथा पशु। इस प्रकार वह आत्मा, प्रजा और पशुओं में प्रतिष्ठित हो जाता है। अमावस्या अग्नि के आधान का ही एक रूप है। इसलिए अमावस्या में ही दोनों अग्नियों का आधान करे। पूर्णमासी को आरम्भ करे और अमावस्या को दीक्षित होवे ॥७॥

दर्शपूर्णमासाहुतिसंख्याविशेषकथनम्

अध्याय १—ब्राह्मण २

जब वे यज्ञ रचाते हैं तो उसको 'मारते हैं' (घ्नन्ति)। जब सोम को निचोड़ते हैं तो उसको 'मारते हैं'। जब पशु को चुप करते हैं और काटते हैं तब उसको 'मारते हैं'। उलूखल-मूसल से या चक्की के दो पाटों से हविर्यज्ञ को 'मारते हैं' ॥१॥

उस यज्ञ को मारकर अग्नि-योनि में वीर्य के समान सींचते हैं। यज्ञ की योनि अग्नि है। वहीं से पैदा होता है। वषट्कार से इसे आहुतियाँ देवे ॥२॥

यह जो पवन बहता है वह यज्ञ है। यह जब बाहर बहता है तो एक ही होता है, परन्तु

दशधाविहितः स एवं कृत्स्नैः प्राणैरङ्गैर्योनेरधि।।यते सैषा दशाक्षरा विराट् सैषा सम्पत्स यज्ञः ॥३॥ अथोऽअपि नव स्युः । तन्न्यूनां विराजं करोति प्रजननाय न्यूनाद्वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते सैषा सम्पत्स यज्ञः ॥४॥ अथोऽअप्येकातिरिक्ता स्यात् । सा प्रजापतिमभ्यतिरिच्यते सैषा सम्पत्स यज्ञः ॥५॥ अथोऽअपि द्वेऽअतिरिक्ते स्याताम् । द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते सैषा सम्पत्स यज्ञः ॥६॥ अथोऽअपि तिस्रोऽतिरिक्ताः स्युः । द्वन्द्वमह मिथुनं प्रजननमथ यज्जायते तत्तृतीयꣳ सैषा सम्पत्स यज्ञः ॥७॥ अथोऽअपि चतस्रोऽतिरिक्ताः स्युः । तद्यथैवैवं चतस्रस्त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्तिसृभिराप्नोति प्रजापतिर्वाऽअतीमांल्लोकांश्चतुर्थस्तत्प्रजापतिमेव चतुर्थ्याप्नोति सैषा सम्पत्स यज्ञः ॥८॥ स यद्द्वाभ्यामूनं तदूनꣳ । सोऽयज्ञो यत्पञ्चभिरतिरिक्तं तदतिरिक्तꣳ सोऽयज्ञः सैषैव दशत्यधि सम्पदेषा विꣳशत्यामेषा सहस्रात् ॥९॥ आजिं वाऽएते धावन्ति । ये दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते स वै पञ्चदश वर्षाणि यजेत तेषां पञ्चदशानां वर्षाणां त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पौर्णमास्यश्चामावास्याश्च त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्य रात्रयस्तद्रात्रीराप्नोति ॥१०॥ अथापराणि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत । तेषां पञ्चदशानां वर्षाणां त्रीणि चैव शतानि षष्टिश्च पौर्णमास्यश्चामावास्याश्च त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि तदहान्याप्नोति तद्देव संवत्सरमाप्नोति ॥११॥ मर्त्या ह वाऽअग्रे देवा आसुः । स यदैव ते संवत्सरमापुरथामृता आसुः सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेनो हास्याक्षय्यꣳ सुकृतं भवत्यक्षय्यो लोकः ॥१२॥ स आजिसृतामेकः । य एवं विद्वांस्त्रिꣳशतं वर्षाणि यजते तस्माद्व त्रिꣳशतमेव वर्षाणि यजेत यद्यु दाक्षायणयज्ञी स्यादथोऽअपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेतात्र ह्येव सा सम्पत्सम्पद्यते द्वे हि पौर्णमास्यौ यजते द्वेऽअमावास्येऽअत्रोऽएव खलु सा सम्पद्भवति ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

जब पुरुष के भीतर प्रविष्ट होता है तो दस प्रकार का हो जाता है। वह इन प्राणों के रूप में अपनी योनि अर्थात् अग्नि से उत्पन्न होता है। यह दस अक्षर का विराट् है। यह है सम्पूर्णता या यज्ञ ।।३।।

नौ आहुतियाँ हों। इस प्रकार विराट् को न्यून करता है, सन्तान-उत्पत्ति के लिए। क्योंकि यह प्रजा न्यून (शरीर के नीचे के भाग से ?) से ही उत्पन्न होती है। यह सम्पूर्णता है, यह यज्ञ है ।।४।।

एक और भी आहुति हो। यह प्रजापति के लिए होती है। यह सम्पूर्णता है, यह यज्ञ है ।।५।।

अब दो अधिक आहुतियाँ हों। दो का जोड़ा होता है। दो से ही प्रजनन होता है। यह पूर्णता है। यह यज्ञ है ।।६।।

अब तीन अधिक आहुतियाँ हों। दो का जोड़ा होता है। जो उत्पन्न होता है वह तीसरा। यह पूर्णता है, यह यज्ञ है ।।७।।

अब चार अधिक आहुतियाँ हों। जैसे एक तैसे चार। तीन ये लोक हैं। तीन से इन लोकों को प्राप्त होता है। प्रजापति बच रहा। इस चौथी आहुति से प्रजापति को प्राप्त करता है। यह पूर्णता है, यह यज्ञ है ।।८।।

जो दो आहुतियों से कम है वह कम है; वह यज्ञ नहीं। जो पाँच से अधिक है वह अधिक है; वह यज्ञ नहीं। यही दश के लिए; यही बीस के लिए, यही हजार के लिए पूर्णता का नियम है ।।९।।

जो दर्शपूर्णमास यज्ञ करते हैं वे 'आजि' या दौड़ दौड़ते हैं। १५ वर्ष तक करे। पन्द्रह वर्षों में ३६० पूर्णमासियाँ और ३६० अमावस्याएँ हुईं। वर्ष की ३६० रात्रियाँ। इस प्रकार रात्रियों की प्राप्ति करता है ।।१०।।

१५ वर्ष और यज्ञ करे। इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णमासियाँ और अमावस्याएँ हुईं। साल के ३६० दिन हुए। इस प्रकार दिनों को प्राप्त करता है। इस प्रकार वर्ष को प्राप्त करता है ।।११।।

देव पहले मर्त्य थे। जब उन्होंने संवत्सर को प्राप्त कर लिया तो अमृत हो गए। संवत्सर 'सब' है। सब 'अक्षम्य' है। इससे इसको अक्षम्य सुकृत (पुण्य) मिलता है और अक्षम्य लोक ।।१२।।

जो इस रहस्य को समझकर तीस वर्ष यज्ञ करता है वह दौड़ को जीत लेता है। इसलिए तीस वर्ष यज्ञ करे। परन्तु यदि दाक्षायण यज्ञ करे तो पन्द्रह वर्ष ही करे। इसमें भी पूर्णता हो जाती है। दो आहुतियाँ पूर्णमासी को और दो अमावस्या को। इस प्रकार पूर्णता हो गई ।।१३।।

पौर्णमासेनेष्ट्वा । इन्द्राय विमृधेऽनुनिर्वपति तेन यथेष्ट्यैवं यजतेऽमावास्येनेष्ट्वादित्यै चरुमनुनिर्वपति तेन यथेष्ट्यैवं यजते ॥१॥ स यत्पौर्णमासेनेष्ट्वा । इन्द्राय विमृधेऽनुनिर्वपतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवताग्नीषोमीयं पौर्णमासꣳ हविर्भवति तत्र नेन्द्राय चेति किं चन क्रियतऽएतेनो हास्यैतत्सेन्द्रꣳ हविर्भवत्येतेन सेन्द्रो यज्ञोऽथ यद्विमृधे चेति सर्वा उ हि मृधो नाष्ट्राः पौर्णमासेन हन्ति ॥२॥ अथ यदामावास्येनेष्ट्वा । अदित्यै चरुमनुनिर्वपत्येष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एतांꣳ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तेनैतदनड्वेव हविर्भवति तेनाप्रतिष्ठितमियं वै पृथिव्यदितिः सेयमद्धा सेयं प्रतिष्ठितैतेनो हास्यैतदद्धेव हविर्भवत्येतेन प्रतिष्ठितमेतन्नु तद्यस्मादनुनिर्वपत्यथ यस्मान्नानुनिर्वपेत् ॥३॥ स यत्पौर्णमासेनेष्ट्वा । इन्द्राय विमृधेऽनुनिर्वपति सेन्द्रो मे यज्ञोऽसदिति सर्वो वै यज्ञ इन्द्रस्यैव स यत्सर्वो यज्ञ इन्द्रस्यैवैतेनो हास्यैतत्सेन्द्रꣳ हविर्भवत्येतेन सेन्द्रो यज्ञः ॥४॥ अथ यदामावास्येनेष्ट्वा । अदित्यै चरुमनुनिर्वपत्यामावास्यं वाऽअनुनिर्वाप्यं पौर्णमासेन वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तस्माऽएतद्वृत्रं जघ्नुषे देवा एतद्धविरनुनिरवपन्यदामावास्यं किमनुनिर्वाप्येऽनुनिर्वपेदिति तस्मान्नानुनिर्वपेत् ॥५॥ स यत्पौर्णमासेनेष्ट्वा । अथान्यद्धविरनुनिर्वपत्यामावास्येनेष्ट्वाथान्यद्धविरनुनिर्वपति द्विषन्तꣳ ह स भ्रातृव्यं प्रत्युच्छ्रयतेऽथ यः पौर्णमासेनैव पौर्णमासीं यजतऽआमावास्येनामावास्यामसपत्ना हैवास्यानुपबाधा श्रीर्भवति ॥६॥ पौर्णमासेन वै देवाः । पौर्णमासीं यजमाना आमावास्येनामावास्यां क्षिप्रऽएव पाप्मानमपाघ्नत क्षिप्रे प्राजायन्त स यो हैवं विद्वान्पौर्णमासेनैव पौर्णमासीं यजतऽआमावास्येनामावास्यां क्षिप्रऽएव पाप्मानमपहते क्षिप्रे प्रजायते स यद्यनुनिर्वपेद्याद्दक्षिणां नादक्षिणꣳ हविः स्यादिति ह्याहुर्दर्शपूर्णमासयोर्ह्येवैषा दक्षिणा यदन्वाहार्य इति न्वनुनिर्वाप्यस्याथाभ्युदितस्य ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥३॥

पौर्णमासयागे दर्शयागे च हविषो विधानम्

अध्याय १—ब्राह्मण ३

पूर्णमास-इष्टि को करके 'इन्द्र विमृध' के लिए हवि निकालता है और इष्टि के समान देता है। अमावस्या की इष्टि करके अदिति के लिए चरु निकालता है और उसे भी इष्टि की भाँति देता है ।।१।।

पूर्णमासी की इष्टि के पीछे 'इन्द्र विमृध' के लिए इसलिए हवि निकालता है कि यज्ञ का देवता 'इन्द्र' है। पूर्णमासी की हवि अग्नीषोमीय होती है। कोई आहुति इस प्रकार नहीं दी जाती कि 'इन्द्र तेरे लिए'। इस हवि में इन्द्र का भाग हो जाता है। इस यज्ञ में इन्द्र का भाग रहता है। 'विमृध के लिए' क्यों? इसलिए कि पूर्णमास-इष्टि से शत्रु 'मृध' या नष्ट हो जाते हैं ।।२।।

अमावस्या-इष्टि के पीछे अदिति के लिए चरु इसलिए देता है कि यह जो चन्द्रमा है वह देवों का अन्न सोम है। यह रात को न पूर्व में चमकता है न पश्चिम में, इसलिए हवि अनिश्चित और अप्रतिष्ठित हो जाती है। यह पृथिवी अदिति है; यह निश्चित है, प्रतिष्ठित है। इससे हवि निश्चित और प्रतिष्ठित हो जाती है। इसलिए अतिरिक्त आहुतियाँ देनी चाहिएँ। अतिरिक्त के पीछे और अतिरिक्त आहुतियाँ क्यों नहीं देनी चाहिएँ?—।।३।।

यह जो पूर्णमासी की इष्टि के पश्चात् 'इन्द्र विमृध' के लिए हवि निकालता है वह इस-लिए कि उसके यज्ञ में इन्द्र का भाग हो जाय, क्योंकि सब यज्ञ इन्द्र का है। इससे इन्द्र का भाग हवि में हो जाता है; इन्द्र का यज्ञ में ।।४।।

अमावस्या की इष्टि देकर अदिति के लिए चरु इसलिये देता है कि अमावस्या की आहुति अतिरिक्त आहुति ही है, क्योंकि इन्द्र ने पूर्णमास इष्टि करके ही वृत्र को हना था। इस वृत्र को मारनेवाले इन्द्र के लिए देवों ने अमावस्या-इष्टिरूपी अतिरिक्त आहुति दी थी। अतिरिक्त आहुति के पीछे फिर अतिरिक्त आहुति क्यों दे? इसलिए कि इसके पीछे अतिरिक्त आहुति न देनी चाहिए ।।५।।

जब पूर्णमास-इष्टि करके एक अतिरिक्त आहुति देता है और अमावस्या-इष्टि करके एक अतिरिक्त आहुति देता है तो इससे वह शत्रु का सामना करता है। जो पौर्णमास और आमावास्य इष्टियाँ करता है उसकी श्री शत्रु-रहित और निर्विघ्न होती है ।।६।।

पूर्णमासी को पूर्णमासी की इष्टि और अमावस्या को अमावस्या की इष्टि करके देवों ने शीघ्र ही पापी शत्रुओं को नष्ट कर डाला और प्रजावान् हो गए। इसी प्रकार जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर पूर्णमासी को पौर्णमास-इष्टि और अमावस्या को अमावस्या की इष्टि करता है, वह शीघ्र ही शत्रु को नष्ट कर देता है और प्रजावान् हो जाता है। यदि आहुति दे तो दक्षिणा भी दे। बिना दक्षिणा के हवि ठीक नहीं होती। पौर्णमास और दर्श की दक्षिणा तो अन्वाहार्य स्वयं हैं। इतना तो हुआ अतिरिक्त आहुतियों के विषय में। अब सूर्योदय के विषय में (आगे आवेगा) ।।७।।

तद्धैके दृष्ट्वोपवसन्ति । श्वो नोदेतेत्यभ्रस्य वा हेतोरनिर्ज्ञाय वाथोतोपवसन्त्यथैनमुताभ्युदेति स यद्यगृहीतꣳ हविरभ्युदियात्प्रज्ञातमेव तदेषैव व्रतचर्या यत्पूर्वेद्युर्दुग्धं दधि हविरातञ्चनं तत्कुर्वन्ति प्रतिप्रमुञ्चन्ति वत्सांस्तान्पुनरपाकुर्वन्ति ॥१॥ तानपराह्णे पर्णशाखयापाकरोति । सद्यथैवादः प्रज्ञातमामावास्यꣳ हविरेवमेव तद्यद्यु व्रतचर्यां वा नोदाशꣳसेत गृहीतं वा हविरभ्युदियादितरथो तर्हि कुर्यादेतानेव तण्डुलान्त्सुफलीकृतान्कृत्वा स येऽणीयाꣳसस्तानग्नये दात्रेऽष्टाकपालं पुरोडाशꣳ श्रपयति ॥२॥ अथ यत्पूर्वेद्युः । -र्दुग्धं दधि तदिन्द्राय प्रदात्रेऽथ तदानींदुग्धे विष्णवे शिपिविष्टायैतांस्तण्डुलान्त्स्थूले चरुꣳ श्रपयति चरुरु ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानावपन्ति ॥३॥ तद्यदेवं भवति । एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमास्तमेतदुपेत्सीत्तमपारात्सीत्तमस्माऽअग्निर्दाता ददातीन्द्रः प्रदाता प्रयच्छति तमस्माऽइन्द्राग्नी यज्ञं दत्तस्तेनेन्द्राग्निभ्यां दत्तेन यज्ञेन यजतेऽथ यद्विष्णवे शिपिविष्टायेति यज्ञो वै विष्णुरथ यच्छिपिविष्टायेति यमुपैत्सीत्तमपारात्सीत्तच्छिपितमिव यज्ञस्य भवति तस्माच्छिपिविष्टायेति तत्रो यद्यक्कुर्यात्तद्ध्यान्नादक्षिणꣳ हविः स्यादिति ह्याहुरथ यदेव नोदियादथोपवसेत् ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ ॥

अद्यामावास्येति मन्यमान उपवसति । अथैष पश्चाद्ददृशे स हैष दिव्यः श्वा स यजमानस्य पशूनभ्यवेक्षते तदपशव्यꣳ स्यादप्रायश्चित्तिकृत एतस्माद्ध हैतद्भीषा-वचन्द्रमसादिति ॥१॥ छायामुपसर्पन्ति । एतेनो हैतदुपतपदाचक्षते श्वलुचितमित्येतमु हैवैतदाचक्षते ॥२॥ शशश्चान्द्रमस इति । चन्द्रमा वै सोमो देवानामन्नं तं पौर्णमास्यामभिषुण्वन्ति सोऽपरपक्षेऽप ओषधीः प्रविशति पशवो वाऽअप ओषधीरदन्ति तदेनमेताꣳ रात्रिं पशुभ्यः संनयति ॥३॥ सोऽद्यामावास्येति मन्यमान उपवसति । अथैष पश्चाद्ददृशे तद्यजमानो यज्ञपथादेति तदाहुः कथं कुर्यादिवा यज्ञपथाद्यजेता३ न यजेता३ इति यजेत हैव न ह्यन्यदपक्रमणं भवति श्वः-श्व

दर्शयागे पुरस्ताच्चन्द्रदर्शनप्रायश्चित्तेष्टिः

अध्याय १—ब्राह्मण ४

कुछ लोग (चाँद को चतुर्दशी को) देखकर ही उपवास (यज्ञ की तैयारी) कर लेते हैं। वे समझते हैं कि अब कल चाँद न निकलेगा। इनके उपवास पर यदि बदली के कारण या देखने में भूल के कारण चाँद निकल आवे और हवि न निकाली गई होवे तो वही प्रज्ञात व्रतचर्या करनी चाहिए। पहले दिन के दूध का दही हवि को गाढ़ा करने के काम में लाते हैं। बछड़ों को उनकी माओं का दूध पीने के लिए छोड़ देते हैं और फिर हटा लेते हैं ।।१।।

अपराह्न में उन बछड़ों को पर्णशाखा से हटाते हैं। जैसे अमावस्या की वह हवि प्रज्ञात विधि से दी गई थी वैसी ही यहाँ भी। परन्तु यदि फिर व्रतचर्या न करना चाहे या हवि लेने के पश्चात् चाँद निकल आवे तो अन्य प्रकार से करना चाहिए। इन तण्डुलों की भूसी छुड़ाकर और साफ करके छोटे दानों से 'दाता अग्नि' के लिए आठ कपाल का पुरोडाश पकाता है ।।२।।

पूर्व-दिन के दूध का जो दही 'इन्द्र प्रदाता' के लिए था उसे और बड़े तण्डुलों को 'विष्णु-शिपिविष्ट' के लिए दूध में पकाकर चरु बनाता है। तण्डुल जो (दूध या दही में) पकाये जाते हैं वही 'चरु' है ।।३।।

यह इसलिए है कि यह जो चन्द्रमा है वह देवों के लिए सोम-अन्न है। यजमान ने उसको लेना चाहा। वह न ले सका। 'अग्नि दाता' यजमान को इसको देता है। इन्द्र प्रदाता देता है। इन्द्र और अग्नि उसको यज्ञ में देते हैं। उस इन्द्र और अग्नि द्वारा प्रदत्त यज्ञ से यज्ञ करता है। 'विष्णु शिपिविष्ट' के लिए इसलिए कि यज्ञ विष्णु है। 'शिपिविष्ट के लिए' इसलिए कि जिसको खोजा और न पाया वह यज्ञ का 'शिपित' (गंजा) भाग है, इसलिए शिपिविष्ट के लिए। इस समय जितनी दक्षिणा हो सके देवे, क्योंकि बिना दक्षिणा के हवि नहीं होती। जिस दिन चाँद न दिखाई दे उस दिन उपवास करे ।।४।।

पश्चाच्चन्द्रदर्शने नैमित्तिकेष्टिः

अध्याय १—ब्राह्मण ५

'आज अमावस्या है' यह मानकर उपवास करता है। अब वह पश्चिम में दिखाई देता है। यह दिव्य श्वा (देवों का कुत्ता) है। यह यजमान के पशुओं को तकता है (खाने के लिए)। यदि इसका प्रायश्चित्त न हो तो पशुओं के लिए हितकर न हो। वह (पशु) इस उतरनेवाले चन्द्रमा से डर करे।।१।।

छाया में चले जाते हैं। इसीलिए लोगों ने जलन का नाम श्वलुचित (कुत्ते की पीड़ा) रख छोड़ा है और इसीलिए—।।२।।

लोग 'चन्द्रमा का शश' (खरगोश) कहते हैं। चन्द्रमा देवों का सोम-अन्न है। उसको पूर्णमासी के दिन निचोड़ते हैं। वह दूसरे पक्ष में जलों में और ओषधियों में प्रविष्ट हो जाता है। पशु ओषधि और जल को खाते हैं। अमावस्या की रात को वह इस चन्द्रमा को पशुओं में से इकट्ठा करता है (तात्पर्य यह है कि पूर्णमासी का चाँद सोम है। यह सोम ओषधियों और जल में गया। वहाँ से पशुओं में आया। अब पशुओं से दूध निकाला गया। इस प्रकार अमावस्या के दिन जो हवि बना वह उसी चन्द्रमा का रूप है) ।।३।।

'आज अमावस्या है' यह मानकर वह उपवास करता है। यह जो पश्चिम की ओर दिखाई देता है; इससे यजमान यज्ञ के पथ से हट जाता है। इस पर लोग पूछते हैं कि जब पथ से हट जाय तो क्या करे, यज्ञ करे या न करे? यज्ञ अवश्य करे, और तो कोई मार्ग ही नहीं है। चन्द्रमा दिन-प्रति-

एवैष ज्यायानुदेति स आमावास्यविधेनैवेष्ट्वाथैष्टिमनुनिर्वपति तदह्वैव श्वो वा ॥४॥ तस्य त्रीणि हवीꣳषि भवन्ति । अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं पुरोडाशमिन्द्राय वृत्रघ्नऽएकादशकपालमग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं पुरोडाशꣳ ॥५॥ स यदग्नये पथिकृते निर्वपति । अग्निर्वै पथः कर्ता स यस्माद्देवादो यजमानो यज्ञपथादेति तमेनमग्निः पन्थानमापादयति ॥६॥ अथ यदिन्द्राय वृत्रघ्ने । पाप्मा वै वृत्रो यो भूतेर्वारयित्वा तिष्ठति कल्याणात्कर्मणः साधोस्तमेतदिन्द्रेणैव वृत्रघ्ना पाप्मानं वृत्रꣳ हन्ति तस्मादिन्द्राय वृत्रघ्ने ॥७॥ अथ यदग्नये वैश्वानराय । द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तमग्निना वैश्वानरेण समदहत्तदस्य सर्वं पाप्मानꣳ समदहत्तथोऽएवैष एतदिन्द्रेणैव वृत्रघ्ना पाप्मानं वृत्रꣳ हत्वा तमग्निना वैश्वानरेण संदहति तदस्य सर्वं पाप्मानꣳ संदहति स यो हैवं विद्वानेतयेष्ट्या यजते न हास्याल्पश्चन पाप्मा परिशिष्यते ॥८॥ तस्यै सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति । उपाꣳशु देवता यजति याः कामयते ता याज्यानुवाक्याः करोत्येवमाज्यभागाविवꣳ संयाज्ये ॥९॥ तिसृधन्वं दक्षिणां ददाति । धन्वना वै श्वानं बाधन्ते तदेतमेवैतद्बाधते यत्तिसृधन्वं दक्षिणां ददाति ॥१०॥ दण्डं दक्षिणां ददाति । दण्डेन वै श्वानं बाधन्ते तदेतमेवैतद्बाधते यद्दण्डं दक्षिणां ददात्येषा न्वादिष्टा दक्षिणा दद्यात्त्वेवास्यामप्यन्यद्याऽइतरा दक्षिणास्तासां यत्सम्पद्येत सा ह्येषा पशव्येष्टिस्तयाप्यनभ्युदृष्टो यजेतैव ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ ॥

आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यंस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डꣳ सम्बभूवाजातो ह तर्हि संवत्सर आस तदिदꣳ हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत ॥१॥ ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । स प्रजापतिस्तस्माडु संवत्सरऽएव स्त्री वा गौर्वा वडबा वा विजायते संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदꣳ

दिन बढ़ता है। अमावस्यावाली इष्टि के समान इष्टि करके अतिरिक्त आहुति के लिए निकालता है उसी दिन या दूसरे दिन ॥४॥

उसकी तीन हवियाँ होती हैं। 'अग्नि पथिकृत्' के लिए आठ कपालों का पुरोडाश, 'इन्द्र वृत्रघ्न' के लिए ग्यारह कपाल, 'अग्नि वैश्वानर' के लिए बारह कपालों का पुरोडाश ॥५॥

'अग्नि पथिकृत्' के लिए क्यों आहुति निकालता है? अग्नि ही पथ-प्रदर्शक है। यजमान इस यज्ञ-मार्ग से हट गया हो, इसलिए यह अग्नि उसको मार्ग पर लगा देता है ॥६॥

'इन्द्र वृत्रघ्न' के लिए इसलिए कि वृत्र नाम है पाप का, जो प्राणियों को कल्याण-मार्ग तथा शुभ कर्म से रोकता है। इस वृत्रघ्न इन्द्र के द्वारा पापरूपी वृत्र का वध करता है, इसलिए 'इन्द्र वृत्रघ्न' के लिए ॥७॥

'अग्नि वैश्वानर के लिए' बारह कपाल का पुरोडाश क्यों निकालता है? जब इन्द्र ने वृत्र को मारा तो अग्नि वैश्वानर के द्वारा उसे जलाया और उस वृत्र के पाप को भी जला दिया। इसी प्रकार यह यजमान भी 'अग्नि वैश्वानर' की सहायता से पापी वृत्र को जला देता है, उसके पाप को भस्मीभूत कर देता है। जो इस रहस्य को समझकर यज्ञ करता है उसका लेश-मात्र भी पाप नहीं रह जाता ॥८॥

इसके लिए सत्रह सामिधेनियाँ होती हैं। वह देवताओं के लिए धीरे-धीरे आहुति देता है। जिन मंत्रों को चाहता है उन्हीं को याज्या और अनुवाक्या बना लेता है। इसी प्रकार दो आज्य-भाग और दो संयाज्य ॥९॥

दक्षिणा में तीन तीरवाला धनुष देता है। धनुष से कुत्ते को रोकते हैं। तीन तीरवाले धनुष को देकर वह इस चन्द्रमारूपी कुत्ते को रोकता है ॥१०॥

दक्षिणा में एक डंडा देता है। डंडे से कुत्ते को मारते हैं। डंडे को दक्षिणा में देता है, इस-लिये कि चन्द्रमारूपी कुत्ते को मारे। यह तो नियत दक्षिणा है; और भी जो दक्षिणा हो सके देवे। यह पशु-सम्बन्धी इष्टि है। चाँद न दिखाई दे तब भी इष्टि करे ही ॥११॥

आख्यायिकया सृष्टिप्रतिपादनम्

अध्याय १—ब्राह्मण ६

पहले जल 'सलिल' ही थे। उन्होंने चाहा कि कैसे प्रजा उत्पन्न करें? उन्होंने श्रम किया, तप किया। उनके तप करने पर हिरण्मय अण्डा उत्पन्न हुआ। उस समय संवत्सर न था। यह हिरण्मय अंडा संवत्सर तक तैरता रहा ॥१॥

तब संवत्सर में पुरुष उत्पन्न हुआ। वह प्रजापति था। इसलिए स्त्री या गौ या घोड़ी साल-भर में बच्चा देती है, क्योंकि प्रजापति साल-भर में हुआ था। उसने इस हिरण्मय अंडे को

हिरण्मयमाण्डं व्यरुजन्नाह तर्हि का चन प्रतिष्ठास तदेनमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलासीत्तावद्बिभ्रत्पर्यप्लवत ॥२॥ स संवत्सरे व्याजिहीर्षत् । स भूरिति व्याहरत्सेयं पृथिव्यभवद्भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत्स्वरिति सासौ द्यौरभवत्तस्माद्उ संवत्सरऽएव कुमारो व्याजिहीर्षति संवत्सरे हि प्रजापतिर्व्याहरत् ॥३॥ स वाऽएकाक्षरद्व्यक्षराण्येव । प्रथमं वदन्प्रजापतिरवदत्तस्मादेकाक्षरद्व्यक्षराण्येव प्रथमं वदन्कुमारो वदति ॥४॥ तानि वाऽएतानि । पञ्चाक्षराणि तान्पञ्चऽर्तूनकुरुत तऽइमे पञ्चऽर्तवः स एवमिमाँल्लोकाञ्जातान्त्संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत्तस्माद्उ संवत्सरऽएव कुमार उत्तिष्ठासति संवत्सरे हि प्रजापतिरुदतिष्ठत् ॥५॥ स सहस्रायुर्जज्ञे । स यथा नद्यै पारं परापश्येदेवꣳ स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ ॥६॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त स आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास ॥७॥ अथ योऽयमवाङ् प्राणः । तेनासुरानसृजत तऽइमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तम-इवास ॥८॥ सोऽवेत् । पाप्मानं वाऽअसृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम-इवाभूदिति तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यतऽइतिहासे त्वत्ततो ह्येव तान्प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति ॥९॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्सऽइति ॥१०॥ स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय । दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम-इवास ताꣳ रात्रिमकुरुत तेऽअहोरात्रे ॥११॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । सर्वं वाऽअत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत्सर्वत्सरो ह वै ना-

तोड़ा। तब कोई प्रतिष्ठा (सहारा या ठहरने का स्थान) न थी। यह हिरण्मय अंडा वर्ष-भर तक तैरता रहा ॥२॥

साल-भर पीछे उसने बोलने की इच्छा की। उसने कहा 'भूः', वह पृथिवी हो गई। उसने कहा 'भुवः', वह अन्तरिक्ष हो गया। उसने कहा 'स्वः', वह द्यौलोक हो गया। इसलिए बच्चा साल-भर में बोलने की इच्छा करता है क्योंकि प्रजापति ने साल-भर में बोलने की इच्छा की थी ॥३॥

उस प्रजापति ने पहले एकाक्षरी या दो अक्षरी शब्द कहे थे। इसलिए बच्चा जब पहले बोलता है तो एक या दो अक्षर ही बोलता है ॥४॥

ये पाँच अक्षर हुए (भूः भुवः स्वः); इनके उसने पाँच ऋतु बनाये। इसलिए वर्ष में पाँच ऋतु होते हैं। इन उत्पन्न लोकों के ऊपर प्रजापति साल-भर में खड़ा हुआ। इसलिए बच्चा साल-भर में खड़ा होने लगता है। क्योंकि साल-भर में ही प्रजापति खड़ा हुआ था ॥५॥

वह हजार वर्ष की आयुवाला बनाया गया। जैसे कोई नदी के उस पार देखता है इसी तरह उसने अपनी आयु के उस पार देखा ॥६॥

वह सन्तान की इच्छा से अर्चना तथा श्रम करता रहा। उसने अपने में प्रजा-उत्पत्ति की, शक्ति धारण की। उसने मुख से देव उत्पन्न किये। वे देव द्यौलोक में प्रवेश होते समय उत्पन्न हुए। द्यौलोक में प्रवेश होते समय उत्पन्न हुए, यही देवों का देवत्व है। उनके उत्पन्न होने पर दिन हुआ। देवों का यही देवत्व है कि उनके उत्पन्न होने पर दिन हुआ ॥७॥

जो उसका नीचे का प्राण है उससे उसने असुर उत्पन्न किये। वे इस पृथिवी में प्रवेश करने पर उत्पन्न हुए। उनके उत्पन्न करने पर उसके लिए अन्धकार-सा हो गया ॥८॥

उसने जाना कि मैंने पाप को उत्पन्न कर दिया क्योंकि तब से मेरे लिए अन्धकार-सा है। तब उसने उनको पाप से बींध दिया। तब वे पराजित हो गये। इसी पर लोग कहते हैं कि देवासुर-संग्राम के विषय में जो आख्यान में है या इतिहास में, वह ठीक नहीं है। प्रजापति ने उनको पाप से बींधा, तब वे पराजित हुए ॥९॥

इसलिए ऋग्वेद में कहा है—"न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्री मघवन्कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रून्ननु पुरा युयुत्से"—"हे मघवन्! तू एक दिन भी नहीं लड़ा। न तेरा कोई शत्रु है। जो तेरे युद्ध हैं वे माया ही हैं। तू किसी शत्रु से न आज लड़ा, न पहले" ॥१०॥

देवों को सृजकर जो उसके लिए प्रकाश हो गया उससे उसने दिन उत्पन्न किया। असुरों को उत्पन्न करके जो उसे अन्धेरा मिला उससे उसने रात उत्पन्न की। इस प्रकार दिन और रात हुए ॥११॥

प्रजापति ने सोचा, 'ये जो मैंने देवता बनाये, यह सब मैंने चुरा लिया।' इसका सर्व+त्सर या सर्वत्सर हो गया। सर्वत्सर का ही नाम संवत्सर है। जो संवत्सर के सर्वत्सर को

मेतद्यत्संवत्सर इति स यो हैवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद यो हैनं पाप्मा मायया त्सरति न हैन७ सोऽभिभवत्यथ यमभिचरत्यभि हैवैनं भवति य एवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद ॥१२॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनो हैवास्यैष प्रतिमा ॥१३॥ ता वाऽएताः । प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः ॥१४॥ ताः सहस्रायुषो जज्ञिरे । ता यथा नद्यै पारं परापश्येदेव७ स्वस्यायुषः पारं पराचख्युः ॥१५॥ ता अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चेरुः । तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपूर्णमासौ ताभ्यामयजत ताभ्यामिष्ट्वाकामयताह७मेवेद७ सर्व७ स्यामिति स आपोऽभवदापो वाऽइद७ सर्वं ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति यो हीहाभिखनेदप एवाभिविन्देत्परमाद्धाऽएतत्स्थानाद्वर्षति यद्दिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम ॥१६॥ स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत् । कामप्रं वाऽअहं यज्ञमदर्शं तेन त्वा याजयानीति तथेति तमयाजयत्स इष्ट्वाकामयताह७मेवेद७ सर्व७ स्यामिति स प्राणोऽभवत्प्राणो वाऽइद७ सर्वमयं वै प्राणो योऽयं पवते स प्रजापतिस्तस्य दृष्टिर्यद्वेव वेदेत्याद्धातीति यद्वै किं च प्राणि स प्रजापतिः स यो हैवमेतां प्रजापतेर्दृष्टिं वेदाविरिव हैव भवति ॥१७॥ स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत् । अनेन त्वा कामप्रेण यज्ञेन याजयानि येन मामिदं परमेष्ठ्ययीयजदिति तथेति तमयाजयत्स इष्ट्वाकामयताह७मेवेद७ सर्व७ स्यामिति स वागभवद्वाग्वाऽइद७ सर्वं तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति ॥१८॥ स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत् । अनेन वां कामप्रेण यज्ञेन याजयानि येन मामिदं पिता प्रजापतिरयीयजदिति तथेति तावयाजयत्ताविष्ट्वाकामयेतामावमेवेद७ सर्व७ स्यावेति तयोरन्नाद एवान्यतरोऽभवदन्नमन्यतरोऽन्नाद एवाग्निरभवदन्न७ सोमोऽन्नादश्च वाऽइद७ सर्वमन्नं च ॥१९॥

जानता है, उसको यदि कोई पाप या माया से छलता है तो उसका पराजय नहीं होता। जो संवत्सर के सर्वत्सर को जानता है उसको कोई धोखा नहीं दे सकता। (शायद तात्पर्य यह है कि संवत्सर छल से संसार की आयु को चुरा ले जाता है) ॥१२॥

उसने सोचा कि मैंने अपनी निज की प्रतिमा बनाई है यह जो संवत्सर बनाया है। इस-लिए कहते हैं कि संवत्सर प्रजापति ही है, क्योंकि उसने वह अपनी प्रतिमा बनाई है। संवत्सर में चार अक्षर हैं। प्रजापति में चार अक्षर हैं, इसलिए संवत्सर प्रजापति की प्रतिमा है ॥१३॥

प्रजापति से इतने देवता उत्पन्न हुए—अग्नि, इन्द्र, सोम, परमेष्ठी प्राजापत्य ॥१४॥

वे सहस्र वर्ष की आयुवाले बनाये गए। उन्होंने अपनी आयु के पार देखा जैसे कोई नदी के उस पार देखे ॥१५॥

वे अर्चना और श्रम करते रहे। वहाँ परमेष्ठी प्राजापत्य ने इस यज्ञ को देखा जो दर्श-पौर्णमास यज्ञ है। उन दोनों यज्ञों को किया। इन इष्टियों को करके कामना की कि मैं यहाँ 'सब-कुछ' हो जाऊँ। वह जल (आपः) हो गया क्योंकि यहाँ जल 'सब-कुछ' हैं, क्योंकि वे परम स्थान (दूर देश) में रहते हैं। जो इनको खोदकर निकालता है वही पाता है। दूर स्थान (परम स्थान) से बरसता है, इसलिए इसका नाम परमेष्ठी है ॥१६॥

उस परमेष्ठी ने पिता प्रजापति से कहा, 'मैंने एक कामना देनेवाला यज्ञ देखा है। उससे तेरी पूजा करूँगा।' उसने कहा, 'अच्छा।' उसके लिए यज्ञ किया। उसने इच्छा करके चाहा कि मैं यहाँ सब-कुछ हो जाऊँ। वह प्राण हो गया। प्राण यहाँ सब-कुछ है, क्योंकि यह जो बहता है (वायु) वह प्राण ही है। वह प्रजापति है। जो कोई जानता है कि यह जो बहता है वह प्रजापति की आँख है और प्राणि प्रजापति है और जो प्रजापति की इस दृष्टि को समझता है, वह आविर्भूत ही हो जाता है ॥१७॥

उस प्रजापति ने पुत्र इन्द्र से कहा, 'जो यज्ञ मेरे लिए परमेष्ठी ने किया है उसी कामप्र अर्थात् कामनाओं के पूर्ण करनेवाले यज्ञ को मैं तुम्हारे लिए करना चाहता हूँ।' उसने कहा, 'अच्छा।' उसने यज्ञ किया। उसने यज्ञ करके चाहा कि मैं सब-कुछ हो जाऊँ। वह वाणी हो गया। वाणी ही सब-कुछ है। इसलिए कहते हैं 'इन्द्र वाक्' है ॥१८॥

उस इन्द्र ने अग्नि और सोम दोनों भाइयों से कहा, 'जिस यज्ञ को मेरे पिता प्रजापति ने मेरे लिए किया, उसी 'कामप्र' यज्ञ को मैं आप दोनों के लिए करना चाहता हूँ।' उन्होंने कहा, 'अच्छा।' उसने उन दोनों के लिए यज्ञ किया। यज्ञ करके उन दोनों ने चाहा कि हम यहाँ सब-कुछ हो जाएँ। उनमें से एक अन्न का खानेवाला हो गया और दूसरा अन्न हो गया। अग्नि अन्नाद हो गया और सोम अन्न। ये सब जगत् दो ही हैं—अन्नाद और अन्न ॥१९॥

ता वाऽएताः । पञ्च देवता एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त ता यत्कामा अयजन्त स आभ्यः कामः समार्ध्यत यत्कामो ह वाऽएतेन यज्ञेन यजते सोऽस्मै कामः समृध्यते ॥२०॥ तऽइष्ट्वा प्राचीं दिशमपश्यन् । तां प्राचीमेवाकुर्वत सेयं प्राच्येव दिक्तस्मादिमाः प्रजाः प्राच्यः सर्पन्ति प्राचीᳪ ह्येतामकुर्वतोपैनामितः कुर्वीमहीति तामूर्ध्वमकुर्वतेमां खलूर्ध्वं पश्येमेति सासौ द्यौरभवत् ॥२१॥ अथ दक्षिणां दिशमपश्यन् । तां दक्षिणामेवाकुर्वत सेयं दक्षिणैव दिक्तस्माद्ध दक्षिणत एव दक्षिणा उपतिष्ठन्ते दक्षिणतोऽभ्यवाजन्ति दक्षिणाᳪ ह्येतामकुर्वतोपैनामितः कुर्वीमहीति तं लोकमकुर्वतेमं खलु लोकं पश्येमेति तदिदमन्तरिक्षमभवदेष वै लोकः स यथा हैवेयं प्रतिष्ठाविरस्मिंलोके पृथिव्येवमु हैवैषा प्रतिष्ठाविरमुष्मिंलोकऽइदमन्तरिक्षᳪ स यदिह सन्नमुं लोकं न पश्यति तस्मादाहुः परोऽक्षमसौ लोक इति ॥२२॥ अथ प्रतीचीं दिशमपश्यन् । तामाशामकुर्वत तस्माद्यत्प्राङ् सृत्वा विन्दतऽएतामेव तेन दिशमेत्याशाᳪ ह्येतामकुर्वतोपैनामितः कुर्वीमहीति ताᳪ श्रियमकुर्वतेमां खलु श्रियं पश्येमेति सेयं पृथिव्यभवच्छ्रीर्वाऽइयं तस्माद्यो ऽस्यै भूयिष्ठं विन्दते स एव श्रेष्ठो भवति ॥२३॥ अथोदीचीं दिशमपश्यन् । तामपोऽकुर्वतोपैनामितः कुर्वीमहीति तं धर्ममकुर्वत धर्मो वाऽआपस्तस्माद्यदेमं लोकमाप आगच्छन्ति सर्वमेवेदं यथाधर्मं भवत्यथ यदावृष्टिर्भवति बलीयानेव तर्ह्यबलीयस आदत्ते धर्मो ह्यापः ॥२४॥ ता वाऽएताः । एकादश देवताः पञ्च प्रयाजा द्वावाज्यभागौ स्विष्टकृत्त्रयोऽनुयाजाः ॥२५॥ ता एकादशाहुतयः । एताभिर्वाऽआहुतिभिर्देवा इमांलोकानजयन्नेता दिशस्तथोऽएवैष एताभिराहुतिभिरिमांलोकाञ्जयत्येता दिशः ॥२६॥ चतस्रोऽवान्तरदिशः । तऽएव चत्वारः पत्नीसंयाजा अवान्तरदिशो वै देवाश्चतुर्भिः पत्नीसंयाजैरजयन्नवान्तरदिश उऽएवैष एतैर्जयति ॥२७॥ अथेडा । अन्नाद्यमेवैतया देवा अजयंस्तथोऽएवैष एतयान्नाद्यमेव

इन पाँच देवताओं ने कामप्र यज्ञ किया। इन्होंने जिस कामना से यज्ञ किया वह कामना इनकी पूरी हो गई। जो कोई इस यज्ञ को जिस कामना से करता है, उसकी वह कामना पूरी हो जाती है ।।२०।।

उन्होंने यज्ञ करके पूर्व दिशा को देखा। उन्होंने उसको सामने की दिशा बना लिया। यह प्राची दिशा है। इसलिए ये सब प्राणी आगे को ही चलते हैं। इसको प्राची अर्थात् सामने की दिशा बनाकर उन्होंने कहा कि इसको ऊर्ज या शक्तिवाली दिशा बनावें, ऊपर को देखें। इससे द्यौ हो गया ।।२१।।

अब दक्षिण दिशा को देखा; उसको दाहिनी दिशा बना लिया। इसलिए दक्षिणा या गौ वेदी की दाहिनी ओर खड़ी होती है और दक्षिण की ओर से ही हाँकी जाती है। इस दिशा को दाहिनी दिशा बनाते हुए उन्होंने इसको अच्छा बनाना चाहा। उन्होंने इसको लोक बनाया कि 'लोक को देखें।' यह अन्तरिक्ष हो गया। यह अन्तरिक्ष लोक है। जैसे इस लोक में पृथिवी सब चीजों का आधार है, वैसे ही उस लोक में अन्तरिक्ष। लोग यहाँ बैठे हुए उस लोक को नहीं देख सकते, इसलिए कहते हैं कि वह लोक परोक्ष है ।।२२।।

अब पश्चिम दिशा को देखकर उसको आशा बनाया। इसलिए जब आगे या पूर्व दिशा में चलकर कामना का लाभ करता है तो फिर इसी दिशा को आता है, क्योंकि इसको आशा बनाया था। 'मैं इसको सुधारूँ' इससे वह श्री हो गई। 'इसको श्री के रूप में देखूँ।' इससे वह पृथिवी हो गई। यह पृथिवी श्री है। इसलिए जिसके पास बहुत पृथिवी होती है वह श्रेष्ठ होता है ।।२३।।

अब उत्तर की दिशा को देखकर उसको 'जल' बनाया। 'इसको सुधारूँ', इस प्रकार उस को धर्म बनाया, क्योंकि 'जल' धर्म है। इसलिए जब जल इस लोक में आते है तो यह सब संसार यथाधर्म (धर्म के अनुकूल) हो जाता है। जब वर्षा नहीं होती है, तो शक्तिशाली कमजोर से छीन लेता है, क्योंकि आप (जल) धर्म है ।।२४।।

ये ग्यारह देवता हैं—पाँच प्रयाज, दो आज्यभाग, स्विष्टकृत् और तीन अनुयाज्य ।।२५।।

ग्यारह आहुतियाँ हैं। इन्हीं आहुतियों द्वारा देवों ने इन लोकों को जीता, और इन दिशाओं को भी। इसी प्रकार यजमान भी इन आहुतियों द्वारा इन लोकों और इन दिशाओं को जीत लेता है ।।२६।।

अन्तर्-दिशाएँ चार हैं। यही चार पत्नीसंयाज हैं। इन पत्नीसंयाजों से ही देवों ने अन्तर्-दिशाओं को जीता था। इन्हीं के द्वारा यह यजमान भी अन्तर्दिशाओं को जीतता है ।।२७।।

अब इडा के विषय में। इडा द्वारा ही देवों ने भोजन पाया था। इसी प्रकार यजमान भी

नयत्येषा नु देवत्रा दर्शपूर्णमासयोः सम्पत् ॥२८॥ अथाध्यात्मम् । पञ्चेमे पुरुषे प्राणा ऋते चक्षुर्भ्यां त एव पञ्च प्रयाजा चक्षुषीऽआज्यभागौ ॥२१॥ अयमेवावाङ् प्राणः स्विष्टकृत् । स यत्तमभ्यर्ध-इवेतराभ्य आहुतिभ्यो जुहोति तस्मादेतस्मात्प्राणात्सर्वे प्राणा बीभत्सन्तेऽथ यत्स्विष्टकृते सर्वेषाᳬ हविषामवद्यति तस्माद्यत्किं चेमान्प्राणानापद्यतऽएतमेव तत्सर्वᳬ समवैति ॥३०॥ त्रीणि शिश्नानि । तऽएव त्रयोऽनुयाजाः स योऽयं वर्षिष्ठोऽनुयाजस्तदिदं वर्षिष्ठमिव शिश्नं तं वाऽअनवानन्यजेदित्याहुस्तथो हास्यैतदमृध्रं भवतीति ॥३१॥ स वै सकृदवान्यात् । एकᳬ ह्येतस्य पर्वाथ यदपर्वकᳬ स्यात्प्रतृषं वैव तिष्ठेल्लम्बेत वा तस्मादेतद्दृढं तिष्ठति पद्यते च तस्मात्सकृदवान्यात् ॥३२॥ द्वौ बाहू द्वाऽऊरू । तऽएव चत्वारः पत्नीसंयाजाः प्रतिष्ठायमेव प्राणा इडा यत्तां नाग्नौ जुहोति यस्मात्प्रदग्धेव तस्मादयमनवतृषः प्राणः ॥३३॥ अस्थ्येव याज्यानुवाक्याः । माᳬसᳬ हविस्तन्मितं छन्दो यद्याज्यानुवाक्यास्तस्मात् समावन्त्येवास्थीनि मेद्यतश्च कृश्यतश्च भवन्त्यथ यद्भूय-इव च हविर्गृह्णाति कनीय-इव च तस्मात् माᳬसान्येव मेद्यतो मेद्यन्ति माᳬसानि कृश्यतः कृश्यन्ति तेनैतेन यज्ञेन यां कामयते देवतां तां यजति यस्यै हविर्भवति ॥३४॥ ता वाऽएताः । अनपोद्धार्या आहुतयो भवन्ति स यद्धैतासामपोद्धरेद्यथैकमङ्गᳬ शृणीयात्प्राणं वा निर्हण्यादेवं तदन्यान्येव हवीᳬष्युप चाह्रियन्तेऽप च ह्रियन्ते ॥३५॥ ता वाऽएताः । षोडशाहुतयो भवन्ति षोडशकलो वै पुरुषः पुरुषो यज्ञस्तस्मात्षोडशाहुतयो भवन्ति ॥३६॥ ब्राह्मणम् ॥६॥ ॥

तद्धाऽअतो व्रतोपायनऽउच्यते । यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति यद्युऽअश्नाति देवानत्यश्नातीति तदारण्यमश्नीयादिति तत्र स्थापयन्ति ॥१॥ स यदि ग्राम्या ओषधीरश्नाति । पुरोडाशस्य मेधमश्नाति यद्यारण्या ओषधीरश्नाति बर्हिषो मेधमश्नाति यदि वानस्पत्यमश्नातीध्मस्य मेधमश्नाति यदि पयः पिबति सांनाय्यस्य

इडा द्वारा ही भोजन प्राप्त करता है। दर्श और पौर्णमास इष्टियों की यह देवों-सम्बन्धी पूर्णता हुई ।।२८।।

अब अध्यात्म—पुरुष में पाँच प्राण हैं, आँखों को छोड़कर। ये पाँच प्रयाज़ हैं। दो आज्य-भाग दो आँखें हैं ।।२९।।

यह नीचे का प्राण स्विष्टकृत् है। इस आहुति को अन्य आहुतियों से अलग देता है। इस-लिए सब प्राण इस प्राण से डरकर अलग हो जाते हैं। स्विष्टकृत् के लिए सब हवियों में से काट-काटकर निकालता है, इसलिए जो कुछ चीज इन प्राणों में प्रविष्ट होती है, वह इस प्राण में भी जाती है ।।३०।।

तीन अनुयाज तीन शिश्न हैं। इनमें जो सबसे मुख्य अनुयाज है वह मुख्य शिश्न है। लोगों का कहना है कि इस आहुति को बिना साँस लिये (अर्थात् साँस रोककर) दे, तभी यह सफल होगी।।३१।।

परन्तु एक बार साँस ले लेवे, क्योंकि इस (शिश्न) में एक जोड़ होता है। यदि कोई जोड़ न होता तो या तो लटका रहता, या सीधा खड़ा रहता। परन्तु वह लटका भी रहता है और खड़ा भी, इसलिए एक बार साँस लेनी चाहिए ।।३२।।

चार पत्नीसंयाज दो बाहु हैं और दो जंघा। यह प्राण प्रतिष्ठा भी है और इडा भी। इडा की अग्नि में आहुति नहीं दी जाती। वह बिना जली रहती है। इसलिए यह प्राण विभाजित नहीं होता ।।३३।।

याज्य तथा अनुवाक्य हड्डियाँ हैं। हवि मांस हैं। याज्य और अनुवाक्य नपे-नपाए छन्द हैं, इसलिए मोटे और पतले आदमी की हड्डियाँ एक-सी होती हैं। हवि चूँकि कभी कम ली जाती है कभी अधिक, इसलिए मोटे आदमी का मांस बहुत होता है, पतले का कम। इस यज्ञ से जिस देवता की कामना करता है और जिसके लिए आहुति होती है उसी देवता के लिए आहुति देता है ।।३४।।

ये आहुतियाँ अत्यन्त आवश्यक होती हैं। यदि इनमें से कोई आहुति छूट जाय तो या तो कोई अंग भंग हो जाय या प्राण में गड़बड़ हो जाय। अन्य आहुतियाँ बढ़-घट सकती हैं ।।३५।।

ये सोलह आहुतियाँ होती हैं। पुरुष में सोलह कला होती हैं। पुरुष यज्ञ है। इसलिए १६ आहुतियाँ होती हैं ।।३६।।

व्रतोपायन-मीमांसा

अध्याय १—ब्राह्मण ७

व्रत की तैयारी करने पर प्रश्न यह है कि यदि नहीं खाता तो पितृदेवत्य हो जाता है, यदि खाता है तो देवों को छोड़कर खाता है। इसलिए यह व्यवस्था कर दी कि वन में उपजी वस्तुएँ खावें ।।१।।

यदि वह गाँव में उत्पन्न हुई ओषधियाँ खाएगा तो पुरोडाश के मेध को खायेगा। यदि वन की ओषधियों को खायेगा तो बर्हियों के मेध (रस) को खायेगा। यदि वनस्पति खायेगा तो समिधा के मेध को खायेगा। यदि घी पियेगा तो सांनाय्य और आज्य के मेध को पियेगा। यदि जल

चान्यस्य च मेधमश्नाति यच्चापः पिबति प्रणीतानां मेधमश्नाति यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति ॥२॥ तदाहुः । किमयनमिति स्वयꣳ हैवैते रात्रीऽअग्निहोत्रं जुहुयात्स यद्धुत्वा प्राश्नाति तेनापितृदेवत्यो भवत्याहुतिर्वाऽएषा स यद्देवतामात्मन्नाहुतिं जुहोति तेनोऽएतेषां मेधानां नाश्नाति ॥३॥ एते ह वै रात्री । सर्वा रात्रयः समवयन्ति या आपूर्यमाणपक्षस्य रात्रयस्ताः सर्वाः पौर्णमासीꣳ समवयन्ति या अपक्षीयमाणपक्षस्य रात्रयस्ताः सर्वा अमावास्याꣳ समवयन्ति स यो हैवं विद्वान्त्स्वयमुपवसथे जुहोति सर्वदा हैवास्य स्वयꣳ हुतं भवति ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥७॥

देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभूवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः ॥१॥ अथ देवाः । अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो हैषामास यज्ञो हि देवानामन्नꣳ ॥२॥ स देवेभ्य आत्मानं प्रदाय । अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत ॥३॥ स एतेन यज्ञेन । देवेभ्य आत्मानं निरक्रीणीत स यद्व्रतमुपैति यथैव तत्प्रजापतिर्देवेभ्य आत्मानं प्रायच्छदेवमेवैष एतद्देवेभ्य आत्मानं प्रयच्छति तस्मादु संयत एवैताꣳ रात्रिं चिचरिषेद्यथा हविषा चरेदेवꣳ हविर्ह्येष देवानां भवति ॥४॥ अथ यद्यज्ञं तनुते । यज्ञेनैवैतद्देवेभ्य आत्मानं निष्क्रीणीते यथैव तत्प्रजापतिर्निरक्रीणीतैवमथ यद्धविर्निर्वपति हविषैवैतद्यज्ञं निष्क्रीणाति हविरनुवाक्ययानुवाक्यामवदानेनावदानं याज्यया याज्यां वषट्कारेण वषट्कारमाहुत्या तस्याहुतिरेवानिष्क्रीता भवति ॥५॥ स यथाग्रप्रशीर्णो वृक्षः । एवमस्यैष यज्ञो भवत्याहुतिमेवान्वाहार्येण निष्क्रीणाति तद्यदेतद्धीनं यज्ञस्यान्वाहरति तस्मादन्वाहार्यो नामैवमु हास्यैष सर्व

पियेगा तो प्रणीतों के मेध को पियेगा। यदि कुछ न खायेगा तो पितृदेवत्य होगा (पितृदेवत्य का अर्थ है कि पितरों के अर्पण हो जाएगा अर्थात् मर जाएगा) ।।२।।

इस पर कहते हैं कि क्या करना चाहिए? इन दोनों रात्रियों (दर्श और पूर्णमासी) में स्वयं अग्निहोत्र करे। यदि आहुति के पीछे खायेगा तो पितृदेवत्य न होगा। यह आहुति है। चूँकि स्वयं अपने में ही आहुति देता है, इसलिए उन मेधों का भाग नहीं खाता ।।३।।

इन दो रातों में अन्य रात्रियों का समवाय हो जाता है—जो बढ़ते हुए चाँद की (शुक्ल पक्ष की) रातें हैं वे पूर्णमासी में, और जो घटते हुए चाँद (कृष्ण पक्ष) की वे अमावस्या में। जो इस रहस्य को समझकर उपवास के दिन स्वयं अग्निहोत्र करता है उसकी आहुतियाँ सर्वदा स्वयं-हुत (अपने में आहुत की हुई) होती हैं ।।४।।

आख्यायिकया यज्ञोत्पत्तिकथनम्

अध्याय १—ब्राह्मण ८

देव और असुर दोनों में झगड़ा हुआ। तब असुरों ने अभिमान से कहा कि हम किसके लिए आहुति दें? वे अपने ही मुँह में आहुति देते रहे। वे अभिमान से पराजित हो गए। इसलिए अभिमान न करे। अभिमान पराजय का मुख है ।।१।।

देव एक-दूसरे के लिए आहुति देते रहे। प्रजापति ने उनको अपना आत्मा दे दिया; यज्ञ उनका ही हुआ। यज्ञ देवों का अन्न है ।।२।।

उस (प्रजापति) ने देवों को अपना आत्मा देकर यज्ञ को अपनी प्रतिमा बनाया। इसलिए कहते हैं कि यज्ञ प्रजापति है, क्योंकि उसने यज्ञ को अपनी प्रतिमा बनाया था ।।३।।

इस (दर्शपूर्णमास) यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने देवों से अपने आत्मा को छुड़ा लिया। जब यजमान दर्शपूर्णमास यज्ञ के लिए व्रत करता है तो जिस प्रकार प्रजापति ने देवों से अपने-आपको छुड़ाया था, इसी प्रकार यजमान भी देवों से अपने-आपको छुड़ाता है। इसलिए उस रात को संयम से रहे, जैसे कि हवि देते समय। क्योंकि यह यजमान स्वयं ही देवों की हवि हो जाता है ।।४।।

जब यज्ञ करता है तो यज्ञ करके अपने को देवों से छुड़ा लेता है जैसे प्रजापति ने यज्ञ द्वारा देवों से अपने को छुड़ाया था। जब हवि निकालता है तो हवि के द्वारा यज्ञ को छुड़ाता है—हवि को अनुवाक्य से, अनुवाक्य को अवदान से, अवदान को याज्य से, याज्य को वषट्कार से, वषट्-कार को आहुति से। आहुति का अभी छुटकारा नहीं हुआ ।।५।।

यह आहुति ऐसी है जैसे सिर-कटा वृक्ष। वह आहुति को अन्वाहार्य के द्वारा छुड़ाता है। चूँकि इससे वह यज्ञ की त्रुटि की पूर्ति करता है, इसलिए इसका नाम अन्वाहार्य है। इस प्रकार

एव यज्ञो निष्क्रीतो भवत्येष ह वै यजमानस्यामुष्मिंलोकऽआत्मा भवति यद्यज्ञ स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंलोके सम्भवति य एवं विद्वान्निष्क्रीत्या यजते ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥८॥ प्रथमोऽध्याय [६७.] ॥ ॥

त्रिर्ह वै पुरुषो जायते । एतन्न्वेव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायतेऽथ यं यज्ञ उपनमति स यद्यजते तद्द्वितीयं जायतेऽथ यत्र म्रियते यत्रैनमग्नावभ्यादधति स यत्ततः सम्भवति तत्तृतीयं जायते तस्मात्त्रिः पुरुषो जायतऽइत्याहुः ॥१॥ ता वाऽएताः । एकादश सामिधेनीरन्वाह दश वाऽइमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान्वै पुरुषस्तदेनं कृत्स्नं जनयत्यथ यदूर्ध्वं सामिधेनीभ्यः सा प्रतिष्ठा तदेनं जनयित्वा प्रतिष्ठापयति ॥२॥ नव प्रसवस्य व्याहृतयः । नवेमे पुरुषे प्राणास्तदेनं द्वितीयं जनयत्याश्रावणं प्रत्याश्रावणं सा प्रतिष्ठाथ यदेवादः सृष्टौ जन्मोच्यते तदेनं तृतीयं जनयति पत्नीसंयाजा एव तत्र प्रतिष्ठा ॥३॥ त्रिर्हि वै पुरुषो जायते । एवमेवैनमेतद्यज्ञात्त्रिर्जनयति तासामेकादशानां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् ॥४॥ ताः पञ्चदश सामिधेन्यः । द्वावाघारौ पञ्च प्रयाजा इडा त्रयोऽनुयाजाः सूक्तवाकश्च शम्योर्वाकश्च तास्त्रयोदशाहुतयोऽथ यदेवादः पत्नीसंयाजेषु सम्प्रगृह्णाति समिष्टयजुश्च ॥५॥ ताः पञ्चदशाहुतयः । तासां पञ्चदशानामाहुतीनामेता अनुवाक्या एताः पञ्चदश सामिधेन्य एतासामनुवाक्यानामेता याज्या य एवात्र मन्त्रो यो निगदस्तद्याज्यारूपमेतेनो हास्यैता आहुतयोऽनुवाक्यवत्यो भवन्त्येताभिः सामिधेनीभिरेताभिराहुतिभिरेता अनुवाक्या याज्यवत्यश्चाहुतिवत्यश्च भवन्ति ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [२. १.] ॥ ॥

गायत्रीमनुवाक्यामन्वाह । त्रिपदा वै गायत्री त्रय इमे लोका इमानेवैतल्लोकान्देवाः प्रत्यष्ठापयन् ॥१॥ अथ त्रिष्टुभा यजति । चतुष्पदा वै त्रिष्टुप्चतुष्पादाः पशवस्तत्पशूनेवैतदेषु लोकेषु प्रतिष्ठितेषु देवाः प्रत्यष्ठापयन् ॥२॥ द्य-

उसके सम्पूर्ण यज्ञ का छुटकारा हो जाता है और यजमान का उस लोक में आत्मा बन जाता है। जो यजमान इस भेद को समझकर इस छुटकारे की आहुति देता है वह दूसरे लोक में 'सर्वतनू'(पूर्ण शरीर से) उत्पन्न होता है ॥६॥

पुरुषजन्मत्रयप्रतिपादनम्, सामिधेनीप्रशंसा च

अध्याय २—ब्राह्मण १

मनुष्य के तीन जन्म होते हैं—पहला माता-पिता से, दूसरा जब मनुष्य यज्ञ की ओर आकर्षित होकर यज्ञ करता है, और तीसरा जब मरता है और लोग उसे अग्नि में रख देते हैं और तब उत्पन्न होता है। इसलिए कहते हैं कि मनुष्य के तीन जन्म होते हैं ॥१॥

होता ११ सामिधेनी ऋचाओं को पढ़ता है। पुरुष में दस प्राण होते हैं और ग्यारहवाँ आत्मा, जिसमें वे प्राण प्रतिष्ठित होते हैं। इतना पुरुष होता है। इस यज्ञ से वह पूर्ण उत्पन्न होता है। सामिधेनियों के पीछे जो कुछ होता है वह प्रतिष्ठा है। इसको उत्पन्न करके फिर उसको प्रतिष्ठित करता है ॥२॥

प्रसव की नौ व्याहृतियाँ हैं। पुरुष में नौ प्राण होते हैं, इस प्रकार इसको दुबारा जन्म देता है। अध्वर्यु का श्रौषट् और अग्नीध्र का प्रति-श्रौषट् ये प्रतिष्ठा हैं। और जब आग में प्रस्तर छोड़ने के समय जन्म के विषय में कहते हैं, यह उसका तीसरा जन्म है। वहाँ पत्नीसंयाज प्रतिष्ठा है ॥३॥

मनुष्य के तीन जन्म होते हैं। यहाँ यज्ञ से भी तीन जन्म दिखाये गए हैं। ग्यारह सामिधेनियों में से पहली और पिछली तीन-तीन बार पढ़ी जाती हैं ॥४॥

इस प्रकार पन्द्रह सामिधेनियाँ हो जाती हैं—दो आघार, पाँच प्रयाज, इडा, तीन अनुयाज, सूक्तवाक् और शम्योर्वाक्, ये हुईं तेरह; अब पत्नीसंयाजों में वह लेता है और समिष्ट-यजु। ये पन्द्रह आहुतियाँ हुईं ॥५॥

ये हुईं पन्द्रह आहुतियाँ। इन पन्द्रह आहुतियों के लिए १५ सामिधेनियाँ अनुवाक्य होती हैं। इन अनुवाक्यों में जो याज्य हैं और जो मन्त्र निगद है वह याज्यों का रूप है। इस प्रकार ये आहुतियाँ अनुवाक्यवाली होती हैं। इन सामिधेनियों और इन आहुतियों द्वारा ये अनुवाक्य याज्य-वती और आहुतिवती होते हैं ॥६॥

याज्यानुवाक्ययोश्छन्दोविशेषत्वविधानपूर्वकं स्तवनम्

अध्याय २—ब्राह्मण २

गायत्री-अनुवाक्य को पढ़ता है। गायत्री में तीन पद होते हैं। ये लोक भी तीन हैं। देवों ने इन्हीं तीन लोकों को स्थापित किया था ॥१॥

अब त्रिष्टुप् से यज्ञ करता है। त्रिष्टुप् में चार पद होते हैं। पशुओं के चार पद होते हैं। इन स्थापित लोकों में देवों ने मनुष्यों को स्थापित किया ॥२॥

त्वारो वषट्कारः । द्विपाद्वै पुरुषस्तत्पुरुषमेवैतद्द्विपादमेषु पशुषु प्रतिष्ठितेषु प्रत्यष्ठापयन् ॥३॥ सोऽयं द्विपात्पुरुषः । पशुषु प्रतिष्ठित एवमेवैष एतल्लोकान्प्रतिष्ठापयति लोकेषु प्रतिष्ठितेषु पशून्प्रतिष्ठापयति पशुषु प्रतिष्ठितेष्वात्मानं प्रतिष्ठापयत्येवमेष पुरुषः पशुषु प्रतिष्ठितो यऽएवं विद्वान्यजते ॥४॥ अथ यद्वषट्कृते जुहोति । एष वै वषट्कारो य एष तपति स एष मृत्युस्तदेनमुपरिष्टान्मृत्योः संस्करोति तदेनमतो जनयति स एतं मृत्युमतिमुच्यते यज्ञो वाऽअस्यात्मा भवति तद्यज्ञ एव भूत्वैतन्मृत्युमतिमुच्यतऽएतेनो हास्य सर्वे यज्ञक्रतव एतं मृत्युमतिमुक्ताः ॥५॥ ॥शतम्५६०० ॥ ॥ अथ यामेतामाहुतिं जुहोति । एषा ह वाऽअस्याहुतिरमुष्मिंलोकऽआत्मा भवति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैनमेषाहुतिरेतस्य पृष्ठे सत्याह्वयत्येहसौ वै तऽइहात्मास्मीति तद्यदाह्वयति तस्मादाहुतिर्नाम ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥१० [२. २.] ॥ ॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् । तद्देवानसृजत तद्देवान्त्सृष्ट्वैषु लोकेषु व्यारोहयदस्मिन्नेव लोकेऽग्निं वायुमन्तरिक्षे दिव्येव सूर्यम् ॥१॥ अथ येऽत ऊर्ध्वा लोकाः । तद्या अत ऊर्ध्वा देवतास्तेषु ता देवता व्यारोहयत्स यथा हैवेमऽआविर्लोका इमाश्च देवता एवमु हैव तऽआविर्लोकास्ताश्च देवता येषु ता देवता व्यारोहयत् ॥२॥ अथ ब्रह्मैव परार्धमगच्छत् । तत्परार्धं गत्वैक्षत कथं न्विमांलोकान्प्रत्यवेयामिति तद्द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रूपेण चैव नाम्ना च स यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम यस्योऽअपि नाम नास्ति यद्वेद रूपेणेदꣳ रूपमिति तद्रूपमेतावद्वाऽइदं यावद्रूपं चैव नाम च ॥३॥ ते हैते ब्रह्मणो महतीऽअभ्वे । स यो हैते ब्रह्मणो महतीऽअभ्वे वेद महद्धैवाभ्वं भवति ॥४॥ ते हैते ब्रह्मणो महती यक्षे । स यो हैते ब्रह्मणो महती यक्षे वेद महद्धैव यक्षं भवति तयोरन्यतरज्ज्यायो रूपमेव यद्ध्यपि नाम रूपमेव तत्स यो हैतयोर्ज्यायो वेद ज्यायान्ह तस्माद्भवति

वषट्कार में दो अक्षर होते हैं। पुरुष के दो पैर होते हैं। इन स्थापित पशुओं में दुपाये पुरुषों को स्थापित किया ।।३।।

यह दुपाया पुरुष पशुओं में स्थापित है । इसी प्रकार यह यजमान इन लोकों की स्थापना करता है, स्थापित लोकों में पशुओं की, स्थापित पशुओं में आत्मा की । जो इस रहस्य को समझ-कर यज्ञ करता है वह पुरुष पशुओं में स्थापित होता है ।।४।।

वषट्कार को जो आहुति देता है, वह यही वषट्कार है जो सूर्य तपता है। यही मृत्यु है। इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् इसका संस्कार करता है। फिर वहाँ से उसे उत्पन्न करता है। वह इस मृत्यु से पार हो जाता है । यज्ञ ही इसका आत्मा होता है। यज्ञ होकर वह मृत्यु से छूट जाता है और उसके यज्ञ-ऋतु भी मृत्यु से छूट जाते हैं ।।५।।

जो आहुति देता है, वह उस लोक में उसका शरीर बन जाती है। ऐसा जाननेवाला जब इस लोक से जाता है तब वह आहुति पीछे से उसे पुकारती हैं—'यहाँ आ। तेरा शरीर मैं यह हूँ।' चूँकि यह पुकारती है इसलिए इसका नाम आहुति है ।।६।।

आघारौ स्तोतुमाख्यायिकया तत्सृष्टिप्रतिपादनम्

अध्याय २—ब्राह्मण ३

पहले यह संसार ब्रह्म ही था। उसने देव बनाए। देवों को बनाकर इन तीन लोकों पर चढ़ाया—अग्नि को भूलोक में, वायु को अन्तरिक्ष में और सूर्य को द्यौलोक में ।।१।।

इनसे जो ऊपर लोक हैं, उन पर उन देवताओं को चढ़ाया जो इन देवताओं से ऊपर हैं। जैसे ये लोक और ये देवता आविर्भूत (स्पष्ट) हैं उसी प्रकार वे लोक भी और वे देवता भी जो उन पर चढ़े, आविर्भूत (स्पष्ट) हैं ।।२।।

अब ब्रह्म परार्ध (इन लोकों से आगे) में गया। उसने पार जाकर सोचा कि मैं इन लोकों में कैसे उतरूँ ? तब वह दो के द्वारा नीचे उतरा—नाम के द्वारा और रूप के द्वारा। जिस किसी का नाम है उसको नाम से और जिसका नाम नहीं है उसे रूप से पहचानते हैं कि इसका ऐसा रूप है, उसी को रूप कहते हैं। यह संसार वहीं तक है जहाँ तक नाम-रूप है ।।३।।

ये दो (नाम और रूप) ब्रह्म की बड़ी शक्तियाँ हैं। जो ब्रह्म की इन बड़ी शक्तियों को जानता है, वह बड़ी शक्तिवाला हो जाता है ।।४।।

यह दो ब्रह्म बड़े पक्ष या आविर्भाव हैं। जो ब्रह्म के इन दो बड़े आविर्भावों को जानता है वह स्वयं बड़ा यज्ञ हो जाता है। इनमें से जो रूप है, वह बड़ा है, जो नाम है वह रूप है। जो इनमें से बड़े को जानता है वह बड़ा हो जाता है, उससे—

यस्माज्ज्यायान्बुभूषति ॥५॥ मर्त्या ह वाऽअग्रे देवा आसुः । स यदैव ते ब्रह्मणापुरथामृता आसुः स यं मनसऽआघारयति मनो वै रूपं मनसा हि वेदेद७ रूपमिति तेन रूपमाप्नोत्यथ यं वाचऽआघारयति वाग्वै नाम वाचा हि नाम गृह्णाति तेनो नामाप्नोत्येतावद्वाऽइद७ सर्वं यावद्रूपं चैव नाम च तत्सर्वमाप्नोति सर्वं वाऽअक्षय्यमेतेनो हास्याक्षय्य७ सुकृतं भवत्यक्षय्यो लोकः ॥६॥ तद्वाऽअद् आग्नेय्यामिष्टाऽउच्यते । यथा तदृषिभ्यो यज्ञः प्रारोचत तं यथातन्वत तद्यज्ञं तन्वानानृषीन्गन्धर्वा उपनिषेदुस्ते ह स्म संनिदधतीदं वाऽअत्यरीरिचन्निदमून-मक्रन्निति स यदेषां यज्ञः संतस्थेऽथैनांस्तद्दर्शयां चक्रुरिदं वाऽअत्यरीरिचतेदमून-मकर्तेति ॥७॥ स यदतिरेचयां चक्रुः । यथा गिरिरेवं तदासाथ यदूनं चक्रुर्यथा श्वभ्राः प्रदरा एवं तदास ॥८॥ स यत्र शम्योराह । तदभिमृशति यज्ञ नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्वेति स यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयत्यथ यदूनं करोत्युप चेति तेन तदन्यूनं भवति यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्वेति यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवं तेन तदुभय७ शमयति स्विष्टे मे संतिष्ठस्वेति यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तत्स्विष्टं तेनो तदुभय७ शमयत्येवमु हास्यैतेन यज्ञेनान्यूनातिरिक्तेनैवेष्टं भवति य एवं विद्वानेवमभिमृशति तस्मादेवमेवाभिमृशेत्ते ह ते गन्धर्वा आसुः शूर्पं यवमान्कृषिरुद्दालवान्धानान्त्सर्वान् ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥११ [२. ३.] ॥ ॥

एष वै पूर्णमाः । य एष तपत्यहरहर्ह्येवैष पूर्णोऽथैष एव दर्शो यच्चन्द्रमा ददृशऽइव ह्येषः ॥१॥ अथोऽइतरथाहुः । एष एव पूर्णमा यच्चन्द्रमा एतस्य ह्यनु पूरणं पौर्णमासीत्याचक्षतेऽथैष एव दर्शो य एष तपति ददृशऽइव ह्येषः ॥२॥ इयमेव पूर्णमाः । पूर्णेव हीयमसावेव द्यौर्दर्शो ददृशऽइव ह्यसौ द्यौः ॥३॥ रात्रिरेव पूर्णमाः । पूर्णेव हीय७ रात्रिरहरेव दर्शो ददृश इव हीदमहरेषा

जिससे बड़ा होना चाहता है ॥५॥

देव पहले मर्त्य थे। जब ब्रह्म से व्याप्त हो गए तो अमर हो गए। मन ही रूप है। मन से ही तो जानते हैं कि यह रूप है। इसलिए जो मन से आघार-आहुति देता है वह रूपवाला हो जाता है। वाक् नाम है, वाक् से ही नाम ग्रहण करते हैं। इसलिए जो वाणी से आघार-आहुति देता है वह नाम को प्राप्त होता है। यह जो नाम और रूप है वह 'सब-कुछ' है। 'सब-कुछ' 'अक्षय्य' है। इसमें अक्षय्य सुकृत होता है, अक्षय्य लोक ॥६॥

आग्नेयी इष्टि के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि कैसे ऋषियों को यज्ञ रुचा और कैसे उन्होंने यज्ञ को रचा। यज्ञ को रचनेवाले ऋषियों के पास गंधर्व गए और देखकर सोचने लगे कि 'यहाँ इन्होंने अधिक कर दिया, वहाँ कम कर दिया।' जब इनका यज्ञ पूरा हो गया तो वे दिखाने लगे कि 'देखो, यहाँ यह अधिक हो गया, वहाँ यह कम' ॥७॥

जहाँ अधिक हो गया था वह पर्वत के समान था। जहाँ न्यून हो गया था वहाँ गड्ढे के समान था ॥८॥

जब वह 'शम्योः' कहता है तो इस मन्त्र से पृथिवी को छूता है—"यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्व" (यजु० २।१९)—"हे यज्ञ, तुझे नमस्कार हो। तू यज्ञ के लिए कल्याणकारी हो और मेरे लिए कल्याणकारी हो।" जो अधिक हो जाता है, उसको नमस्कार करके प्रतिकार करता है और जो कम हो जाता है उसका भी 'उप च' शब्द से। 'यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व' से वह न्यूनाधिक का प्रतिकार करता है, क्योंकि न्यून या अधिक जिसमें न हो वही तो पूर्ण है। 'स्विष्टे मे संतिष्ठस्व' से जो आहुतियों में कमी या बढ़ती हो गई हो उसकी पूर्ति करता है। इस प्रकार जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए यज्ञ बिना त्रुटि या आधिक्य के पूरा हो जाता है। वह यह समझकर स्पर्श करता है। इसी प्रकार इसको भूमि का स्पर्श करना चाहिए। वे गन्धर्व ये थे : शूर्प—यवमान्; कृषि—उद्दालवान् और धान—अन्तर्वान् ॥९॥

दर्शपूर्णमासनामात्मना आघारस्तुतिः, अधिदेवाध्यात्मभेदेन दर्शपूर्णमासप्रतिपादनञ्च

अध्याय २—ब्राह्मण ४

यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, यही पूर्णमा है, क्योंकि यह दिन प्रतिदिन पूर्ण रहता है। जो चन्द्रमा है वह दर्श है, क्योंकि वह केवल दिखाई-सा देता है ॥१॥

अन्यथा भी कहते हैं, अर्थात् यह जो चन्द्रमा है वह पूर्णमा है, क्योंकि इसीका पूर्ण रूप पौर्णमासी है। और यह जो तपता है (अर्थात् सूर्य) वह दर्श है, क्योंकि वह दिखाई देता है ॥२॥

यह पृथिवी पूर्णमा है, क्योंकि यह पूर्ण है। द्यौ दर्श है, क्योंकि यह दीखता ही है ॥३॥

रात्रि ही पूर्णमा है। यह रात्रि पूर्ण ही है। दिन दर्श है, क्योंकि यह दीखता ही है। यह

नु देवत्रा दर्शपूर्णमासयोर्मीमाꣳसा ॥४॥ अथाध्यात्मम् । उदान एव पूर्णमा उदा-
नेन ह्ययं पुरुषः पूर्यतऽइव प्राण एव दर्शो ददृशऽइव ह्ययं प्राणस्तदेतावन्ना-
दश्चान्नप्रदश्च दर्शपूर्णमासौ ॥५॥ प्राण एवान्नादः । प्राणेन ह्यीदमन्नमद्यतऽउदान
एवान्नप्रद उदानेन ह्यीदमन्नं प्रदीयते स यो हैतावन्नादं चान्नप्रदं च दर्शपूर्णमा-
सौ वेदान्नादो हैव भवति प्र हास्माऽअन्नाद्यं दीयते ॥६॥ मन एव पूर्णमाः ।
पूर्णमिव ह्यीदं मनो वागेव दर्शो ददृशऽइव ह्यीयं वाक्तदेतावध्यात्मं प्रत्यक्षं द-
र्शपूर्णमासौ स यदुपवसथे व्रतोपायनीयमश्नाति तेनैनावध्यात्मं प्रत्यक्षं दर्शपूर्ण-
मासौ प्रीणाति यज्ञेन प्रातर्दैवौ ॥७॥ तदाहुः । यन्न पूर्णमासायेति हविर्गृह्यते
न दर्शायेति हविर्गृह्यते न पूर्णमासायानुब्रूहि न दर्शायानुब्रूहि न पूर्णमासं यज
न दर्शं यजेत्यथ केनास्य दर्शपूर्णमासाविष्टौ भवत इति स यं मनसऽआघारयति
मनो वै पूर्णमास्तेन पूर्णमासं यजत्यथ यं वाचऽआघारयति वाग्वै दर्शस्तेनो
दर्शं यजत्येतेनो हास्य दर्शपूर्णमासाविष्टौ भवतः ॥८॥ तदेके । चरू निर्वपन्ति
पौर्णमास्याꣳ सरस्वतेऽमावास्यायाꣳ सरस्वत्याऽएतत्प्रत्यक्षं दर्शपूर्णमासौ यजामह
ऽइति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्मनो वै सरस्वान्वाक्सरस्वती स यदेवैतावा-
घारावाघारयति तदेवास्य दर्शपूर्णमासाविष्टौ भवतस्तस्मादेतौ चरू न निर्वपेत्
॥९॥ तदाहुः आगूर्ती वाऽएष भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते पौर्णमासेन
हीष्ट्वा वेदामावास्येन यक्ष्यऽइत्यामावास्येनेष्ट्वा वेद पुनः पौर्णमासेन यक्ष्यऽइति
स आगूर्त्येवामुं लोकमेति यदामुं लोकमेति कथमनागूर्ती भवतीति स यदेवैता
ऽउभयत्राघारावाघारयति तदेवास्य दर्शपूर्णमासौ संतिष्ठेते स सꣳस्थितयोरेव
दर्शपूर्णमासयोरथामुं लोकमेति तथानागूर्ती भवति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥ १२ [२.४.]
॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या ११९ ॥ ॥

अपि ह वाऽएतर्हि । देवेभ्योऽश्वमेधमालभन्ते तदाहुः प्राकृतोऽश्वमेध इती-

देव-सम्बन्धी दर्शपूर्णमास की व्याख्या हुई ।।४।।

अब अध्यात्म लीजिये—उदान पूर्णमा है। उदान द्वारा ही यह पुरुष पूर्ण होता है। प्राण दर्श है क्योंकि यह प्राण दीखता ही है। इसलिए पूर्णमास और दर्श, ये दो हैं—अन्नाद और अन्नप्रद। ।।५।।

प्राण अन्नाद (अन्न का खानेवाला)है। प्राण से ही यह अन्न खाया जाता है। उदान अन्न-प्रद है। उदान द्वारा ही यह अन्न दिया जाता है। ये अन्नाद और अन्नप्रद दर्शपूर्णमास हैं। इस रहस्य को जो समझता है वह अन्नाद हो जाता है, अन्न उसके लिए दिया जाता है ।।६।।

मन ही पूर्णमा है, क्योंकि यह मन पूर्ण है। वाक् दर्श है, क्योंकि यह दिखाई-सी देती है। ये हैं अध्यात्म के हिसाब से प्रत्यक्ष दर्श और पौर्णमास। उपवास के दिन जब वह व्रत के अनुकूल वस्तु खाता है उससे अध्यात्म के हिसाब से प्रत्यक्ष रूप में दर्शपूर्णमास को प्रसन्न करता है, और दूसरे दिन (प्रातःकाल) यज्ञ के द्वारा दो देवों को ।।७।।

इस पर कहते हैं कि जब पूर्णमास के लिए हवि न ली गई और न दर्श के लिए हवि ली गई, न पूर्णमास के लिए अनुवाक् पढ़ा गया न दर्श के लिए, न 'पूर्णमास के लिए यज्ञ कर' ऐसा कहा गया न दर्श के लिए, तो फिर किस प्रकार दर्श और पूर्णमास इष्टियाँ हो गईं? यह जो मन से आघार-आहुति देता है तो पूर्णमास का यज्ञ ही करता है, क्योंकि मन ही पूर्णमा है। जो वाक् से यज्ञ करता है, वह दर्श का यज्ञ है क्योंकि वाक् ही दर्श है। इस प्रकार दर्श और पूर्णमास की इष्टियाँ हो जाती हैं ।।८।।

कुछ लोग दो चरु बनाते हैं—सरस्वत के लिए पूर्णमासी को और सरस्वती के लिए अमा-वस्या के दिन। वे समझते हैं कि हमने प्रत्यक्ष रूप से दर्श और पूर्णमास की इष्टियाँ कर लीं। परन्तु ऐसा न करे। क्योंकि मन सरस्वान् है, वाक् सरस्वती। जब इन दो के लिए आघार-आहुतियाँ (घी की) दी गईं तो दर्श और पूर्णमास की इष्टियाँ पूरी हो गईं। इसलिए चरु न बनावे ।।९।।

कुछ लोगों का कहना है, 'जो दर्श और पूर्णमास यज्ञ करता है वह केवल आगूर् कहता है अर्थात् संकल्प मात्र। क्योंकि जब पूर्णमासी को इष्टि करता है तो प्रतिज्ञा करता है कि दर्श को यज्ञ करूँगा। जब दर्श को यज्ञ करता है तो प्रतिज्ञा करता है कि पूर्णमासी को यज्ञ करूँगा। यह तो प्रतिज्ञा हुई जो कभी पूरी न होगी और जन परलोक को जायगा तो बिना यज्ञ को पूरा किये ही जाएगा। फिर प्रतिज्ञा न पालने का प्रतीकार कैसे होगा?' इसका उत्तर यह है कि पूर्णमासी और अमावस्या को जो दो आघार-आहुतियाँ देता है वह दर्श और पूर्णमास इष्टियों की पूर्ति है, और जब ये इष्टियाँ पूरी हो गईं तो मरने पर उस लोक में प्रतिज्ञा न पालन की त्रुटि नहीं रहती ।।१०।।

दर्शपूर्णमासयोरश्वमेधात्मना स्तुतिः

अध्याय २—ब्राह्मण ५

यहाँ (दर्शपूर्णमास के समय भी) देवों के लिए अश्वमेध करते हैं। इसके विषय में कहते हैं कि यही तो प्राकृत अश्वमेध (असली) है।

तर इन्नून७ स तद्वाऽएष एवाश्वमेधो यच्चन्द्रमाः ॥१॥ तदाहुः । पदे-पदेऽश्वस्य मेध्यस्याहुतिं जुहुतीति स यत्सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहोति द्वे सायमाहुती जुहोति द्वे प्रातस्ताश्चतस्र आहुतयश्चतुष्पाद्वाऽअश्वस्तदस्य पदे-पदऽएवाहुतिर्हुता भवति ॥२॥ तदाहुः । विवृत्तेऽश्वस्येष्टिं निर्वपतीत्येष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एता७ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति सोऽस्मिंल्लोके विवर्तते ॥३॥ स यदामावास्येन यजते । विवृत्तऽएवास्यैतदिष्टिं निर्वपत्यथ यत्पौर्णमासेन यजतेऽश्वमेधमेवैतदालभते तमालभ्य देवेभ्यः प्रयच्छति संवत्सरे वाऽइतरमश्वमेधमालभन्तऽएष वै मासः परिप्लवमानः संवत्सरं करोति तदस्य संवत्सरे-संवत्सरऽएवाश्वमेध आलब्धो भवति ॥४॥ तं वाऽएतम् । मासि-मास्येवाश्वमेधमालभन्ते स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं च जुहोति दर्शपूर्णमासाभ्यां च यजते मासि-मासि हैवास्याश्वमेधेनेष्टं भवत्येतदु हास्याग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ चाश्वमेधमभिसम्पद्येते ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२.५] ॥ ॥

शिरो ह वाऽएतद्यज्ञस्य यत्प्रणीताः । स यत्प्रणीताः प्रणयति शिर एवैतद्यज्ञस्य संस्करोति स विद्याच्छिर एव मऽएतत्संस्क्रियतऽइति ॥१॥ प्राण एवास्येध्मः । प्राणेन हीद७ सर्वमिद्धं यत्प्राणभृन्निमिषद्यदेजति स विद्यादहमेवैष इध्म इति ॥२॥ अनूकमेवास्य सामिधेन्यः । तस्मात्ता ब्रूयात्संतन्वन्निव मेऽनुब्रूहीति संततमिव हीदमनूकं मनश्चैवास्य वाक्चाघारौ सरस्वांश्च सरस्वती च स विद्यान्मनश्चैव मे वाक्चाघारौ सरस्वांश्च सरस्वती चेति ॥३॥ पञ्च प्रयाजाः । इमऽएवास्य ते शीर्षण्याः पञ्च प्राणा मुखमेवास्य प्रथमः प्रयाजो दक्षिणा नासिका द्वितीयः सव्या नासिका तृतीयो दक्षिणः कर्णश्चतुर्थः सव्यः कर्णः पञ्चमोऽथ यच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति तस्मादिद७ श्रोत्रमन्तरतः संतृणं चक्षुषीऽआज्यभागौ स विद्याच्चक्षुषीऽएव मऽएताविति ॥४॥ अथ य आग्नेयः पुरोडाशः । अयमेवास्य स

दूसरा अश्वमेध और है। यह चन्द्रमा ही अश्वमेध है ॥१॥

कहा है कि मेध्य अश्व के पद-पद पर आहुति देवे। यह जो सायं और प्रातः अग्निहोत्र करता है तो दो आहुतियाँ शाम को देता है और दो सवेरे। ये चार आहुतियाँ हो गईं। अश्व के भी चार पैर होते हैं। इस प्रकार अश्व के पद-पद पर आहुति देता है ॥२॥

कहा है कि अश्व के प्रस्थान करते ही इष्टि करे। यह जो चन्द्रमा है वह देवों का अन्न सोम राजा है। वह इस रात को न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में। वह इस लोक के लिए आता है, इस लोक के लिए प्रस्थान करता है ॥३॥

यह जो अमावस्या को यज्ञ करता है वह मानो इस (अश्व) के प्रस्थान पर ही यज्ञ करता है। यह जो पूर्णमासी को यज्ञ करता है वह मानो अश्वमेध को करता है और उसको देवों की भेंट करता है। कहते हैं कि अश्वमेध संवत्सर में करे। यह महीना ही चल चलकर संवत्सर बनाता है। इस प्रकार अश्वमेध का आलभन संवत्सर में ही हो जाता है ॥४॥

जो इस रहस्य को समझकर अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास करता है, उसके लिए मास-मास में अश्वमेध का आलभन हो जाता है। उसके लिए मास-मास में अश्वमेध पूरा हो जाता है। उसके दर्शपूर्णमास अश्वमेध में मिल जाते हैं (अर्थात् उसको अश्वमेध का फल मिलता है) ॥५॥

प्रणीतादीनां यज्ञशरीरावयवत्वेन सम्पत्तिकथनम्

अध्याय २—ब्राह्मण ६

ये जो प्रणीता जल हैं वे यज्ञ का सिर हैं। यह जो प्रणीता को ले जाता है वह यज्ञ का सिर ही बनाता है। उसको समझना चाहिए कि यह मेरा सिर ही बन रहा है ॥१॥

ईंधन (समिधा) इसका प्राण है। ये जो प्राणी हैं या निमेष करते हैं वे सब प्राण के द्वारा ही उद्दीप्त होते हैं। उसको जानना चाहिए कि मैं ही ईंधन हूँ ॥२॥

सामिधेनियाँ इसकी रीढ़ हैं। इसलिए उसको होता से कहना चाहिए कि 'मेरे लिए अनुवाक पढ़ सिलसिले में।' क्योंकि यही रीढ़ तो सिलसिले में है (संततम्)। मन और वाक् इसके आधार हैं अर्थात् सरस्वान् और सरस्वती। उसको जानना चाहिए कि आधार (दो घी की आहुतियाँ) मन और वाक् या सरस्वान् हैं ॥३॥

पाँच प्रयाज इसके सिर के पाँच प्राण हैं। मुख है पहला प्रयाज, दायाँ नथना दूसरा, बायाँ नथना तीसरा, दायाँ कान चौथा, बायाँ कान पाँचवाँ। चूँकि चौथे प्रयाज में एकसाथ ही घी छोड़ता है इसलिए कान भीतर की ओर नली से जुड़ा है। आज्यभाग की दो आहुतियाँ आँखें हैं। यजमान को जानना चाहिए कि ये दोनों मेरी आँखें हैं ॥४॥

यह जो अग्नि-सम्बन्धी पुरोडाश है वही दायाँ बाजू है।

दक्षिणोऽर्धो हृदयमेवास्योपाᳫंशुयाजः स यत्तेनोपाᳫंशु चरन्ति तस्मादिदं गुहेव हृदयम् ॥५॥ अथ योऽग्नीषोमीयः पुरोडाशः । अयमेवास्य स उत्तरोऽर्ध ऐन्द्रं वा सांनाय्यमन्तराᳫंसमेवास्य स्विष्टकृद्धविः प्राशित्रᳫं ॥६॥ स यत्प्राशित्रमवद्यति । यथैव तत्प्रजापतेराविद्धं निरकृन्तन्नेवमेवैतस्यैतद्यद्वेष्टितं यद्ग्रथितं यद्विरूपं तन्निष्कृन्तन्ति स विद्यायथैव तत्प्रजापतेराविद्धं निरकृन्तन्नेवमेव मऽइदं यद्वेष्टितं यद्ग्रथितं यद्विरूपं तन्निष्कृन्तन्तीति ॥७॥ उदरमेवास्येडा । तद्यथैवाद इडायाᳫं समवद्यन्त्येवमेवेदं विश्वरूपमन्नमुदरे समवधीयते ॥८॥ त्रयोऽनुयाजाः । इमऽएवास्य तेऽवाञ्चस्त्रयः प्राणा बाहूऽएवास्य सूक्तवाकश्च शम्योर्वाकश्च चत्वारः पत्नीसंयाजाश्चतस्रो वै प्रतिष्ठा ऊरू द्वावष्ठीवन्तौ द्वौ पादाविवास्य समिष्टयजुः ॥९॥ ता एकविᳫंशतिराहुतयः । द्वावाघारौ पञ्च प्रयाजा द्वावाज्यभागावाग्नेयः पुरोडाशस्तद्दशाग्नीषोमीय उपाᳫंशुयाजोऽग्नीषोमीयः पुरोडाशोऽग्निः स्विष्टकृदिडा त्रयोऽनुयाजाः सूक्तवाकश्च शम्योर्वाकश्चाथ यदेवादः पत्नीसंयाजेषु सम्प्रगृह्णाति समिष्टयजुश्च ॥१०॥ ता एकविᳫंशतिराहुतयः । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चऽर्तवस्त्रयो लोकास्तद्विᳫंशतिरेष एवैकविᳫंशो य एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति ॥११॥ तद्ध स्मैतदारुणिराह । अर्धमासशो वाऽअहममुनादित्येन सलोको भवामि तामहं दर्शपूर्णमासयोः सम्पदं वेदेति ॥१२॥ तदाहुः । आत्मयाजी श्रेया३न्देवयाजी३ऽइत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स ह वाऽआत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गᳫं संस्क्रियतऽइदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयतऽइति स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवमस्मान्मर्त्याच्छरीरात्पाप्मनो निर्मुच्यते स ऋङ्मयो यजुर्मयः साममय आहुतिमयः स्वर्गं लोकमभिसम्भवति ॥१३॥ अथ ह स देवयाजी यो वेद । देवानेवाहमिदं यजे देवान्त्सपर्यामीति स यथा श्रेयसे पापीयान्बलिᳫं हरेद्वैश्यो वा राज्ञे बलिᳫं हरेदेवᳫं स स ह न तावन्तं लोकं जयति या-

जो चुपके-चुपके 'याज' करता है वह हृदय है। इसको चुपके-चुपके करते हैं, इसलिए हृदय भीतर छिपा हुआ है ।।५।।

यह जो अग्नि-सोम का पुरोडाश है यह बायाँ बाजू है या इन्द्र का सांनाय्य भी। स्विष्ट-कृत् वह भाग है जो दोनों कन्धों के बीच में है। प्राशित्र या अगला भाग विष है ।।६।।

जब प्राशित्र को काटता है तो इसका अर्थ यह है कि वह यजमान के उस भाग को काटता है जो वेष्टित, ग्रथित और वरुण्य है अर्थात् जो भाग ठीक नहीं है, पाप से सना हुआ है। जैसे कि देवों ने प्रजापति के पापमय भाग को काटा था। उसको जानना चाहिए कि प्रजापति के दोष-युक्त भाग को काटा था, इसी प्रकार मेरे दोष-युक्त भाग को काटते हैं ।।७।।

इडा उसका उदर है। जैसे इडा के समय टुकड़े काटे थे और उनको जोड़ दिया था, इसी प्रकार उदर में जाकर भोजन जुड़ जाता है ।।८।।

तीन अनुयाज नीचे के प्राण हैं। सूक्तवाक् और शम्योर्वाक् इसके बाहु हैं। चार पत्नी-संयाज चार प्रतिष्ठा हो गईं, अर्थात् दो जाँघें और दो पिंडलियाँ। समिष्टयजु इसके दो पैर हैं ।।९।।

ये इक्कीस आहुतियाँ हुईं—दो आघार, पाँच प्रयाज, दो आज्यभाग, अग्नि का पुरोडाश, ये हुईं दस; अग्नि-सोम का उपांशुयाज, अग्नि-सोम का पुरोडाश, अग्नि-स्विष्टकृत्, इडा, तीन अनुयाज, सूक्तवाक्, शम्योर्वाक्, वह जिसको पत्नीसंयाज से लेते हैं और समिष्ट यजु ।।१०।।

ये हुईं इक्कीस आहुतियाँ। संवत्सर के बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक, ये हुए बीस, इक्कीसवाँ सूर्य जो तपता है। यह है गति, यह है प्रतिष्ठा। इससे इस गति या इस प्रतिष्ठा को पाता है ।।११।।

आरुणि ने इस सम्बन्ध में कहा है—'हर अर्धमास में मैं उस आदित्य के साथ सलोकता प्राप्त कर लेता हूँ। यह दर्शपूर्णमास की पूर्णता है। इसे मैं जानता हूँ' ।।१२।।

इस पर प्रश्न होता है कि आत्मयाजी बड़ा है या देवयाजी? इसका उत्तर है कि आत्म-याजी बड़ा है, क्योंकि वह जानता है कि इस यज्ञ से मेरा नया शरीर बन रहा है तथा शरीर प्राप्त हो रहा है। जैसे साँप केंचुल छोड़ता है, इसी प्रकार नाशवान् शरीर और पाप से वह मुक्त हो जाता है। ऋक्मय, यजुमय, साममय, आहुतिमय होकर वह स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है ।।१३।।

देवयाजी वह है, जो जानता है कि मैं देवों के लिए यज्ञ करता हूँ, देवों को अर्पण करता हूँ। यह उस छोटे आदमी के समान है जो बड़े के लिए बलि लाता है या जैसे वैश्य राजा के लिए बलि लाते हैं। वस्तुतः यह उस पद को नहीं पाता जो दूसरा (आत्मयाजी) पाता है ।।१४।।

वन्तमितरः ॥ १४ ॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [२. ६.] ॥ ॥

संवत्सरो यज्ञः । स यो ह वै संवत्सरो यज्ञ इति वेदान्ते हैवास्य संवत्सरस्येष्टं भवत्यथो यत्किं च संवत्सरे क्रियते सर्वꣳ हैवास्य तदाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति ॥१॥ ऋतव ऋत्विजः । स यो ह वाऽऋतव ऋत्विज इति वेदान्ते हैवास्य ऽर्तूनामिष्टं भवत्यथो यत्किं चऽर्तुषु क्रियते सर्वꣳ हैवास्य तदाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति ॥२॥ मासा हवीꣳषि । स यो ह वै मासा हवीꣳषीति वेदान्ते हैवास्य मासानामिष्टं भवत्यथो यत्किं च मासेषु क्रियते सर्वꣳ हैवास्य तदाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति ॥३॥ अर्धमासा हविष्पात्राणि । स यो ह वाऽअर्धमासा हविष्पात्राणीति वेदान्ते हैवास्यार्धमासानामिष्टं भवत्यथो यत्किं चार्धमासेषु क्रियते सर्वꣳ हैवास्य तदाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति ॥४॥ अहोरात्रे परिवेष्ट्री । स यो ह वा ऽअहोरात्रे परिवेष्ट्रीऽइति वेदान्ते हैवास्याहोरात्रयोरिष्टं भवत्यथो यत्किं चाहोरात्रयोः क्रियते सर्वꣳ हैवास्य तदाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति ॥५॥ इयमेव प्रथमा सामिधेनी । अग्निर्द्वितीया वायुस्तृतीयान्तरिक्षं चतुर्थी द्यौष्पञ्चम्यादित्यः षष्ठी चन्द्रमाः सप्तमी मनोऽष्टमी वाङ्नवमी तपो दशमी ब्रह्मैकादश्येता हि वाऽइदꣳ सर्वꣳ समिन्धतऽएताभिरिदꣳ सर्वꣳ समिद्धं तस्मात्सामिधेन्यो नाम ॥६॥ स वै त्रिः प्रथमामन्वाह । स यत्प्रथममन्वाह प्राचीं तेन दिशं जयति यद्द्वितीयं दक्षिणां तेन दिशं जयति यत्तृतीयमूर्ध्वामेव तेन दिशं जयति ॥७॥ त्रिर्वेवोत्तमामन्वाह । स यत्प्रथममन्वाह प्रतीचीं तेन दिशं जयति यद्द्वितीयमुदीचीं तेन दिशं जयति यत्तृतीयमिमामेव तेन प्रतिष्ठां जयत्येवमु हाभिरिमाँल्लोकाञ्जयत्येता दिशः ॥८॥ ऋतमेव पूर्व आघारः । सत्यमुत्तरोऽव ह वाऽऋतसत्ये रुन्द्धेऽथो यत्किं चऽर्तसत्याभ्यां जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति ॥९॥ त्विषिरेव प्रथमः प्रयाजः । अपचितिर्द्वितीयो यशस्तृतीयो ब्रह्मवर्चसं चतुर्थोऽन्नाद्यं पञ्चमः ॥१०॥ स प्रथमं प्र-

दर्शपूर्णमासयागस्य विशिष्टफलसाधनताप्रतिपादनम्

अध्याय २—ब्राह्मण ७

संवत्सर यज्ञ है। जो यह जानता है कि संवत्सर यज्ञ है उसकी संवत्सर की इष्टि पूरी होती है। जो कुछ वह संवत्सर में करता है वह सब उसका सफ़ल, निर्विघ्न तथा जययुक्त हो जाता है ॥१॥

ऋतु ऋत्विज हैं। जो यह जानता है कि ऋतु ऋत्विज हैं, उनकी ऋतुओं की इष्टियाँ पूर्ण हो जाती हैं। और जो कुछ वह ऋतुओं में करता है वह सब उसका सफल, निर्विघ्न तथा जय-युक्त हो जाता है ॥२॥

मास हवियाँ हैं। जो यह जानता है कि मास हवि हैं, उनकी मासों की इष्टि पूर्ण हो जाती है, और जो कुछ मासों में करता है वह सब सफल, निर्विघ्न तथा जययुक्त हो जाता है ॥३॥

अर्धमास हवि के पात्र हैं। जो जानता है कि अर्धमास पात्र हैं, उसकी अर्धमासों की इष्टि पूर्ण हो जाती है। जो कुछ वह अर्धमासों में करता है, वह सफल, निर्विघ्न तथा जययुक्त हो जाता है ॥४॥

दिन-रात परिवेष्टि हैं। जो यह जानता है कि दिन-रात परिवेष्टि हैं, उसकी दिन-रात की इष्टि पूर्ण हो जाती है। जो कुछ वह दिन-रात में करता है, वह सफल, निर्विघ्न तथा जययुक्त हो जाता है ॥५॥

यह पृथिवी पहली सामिधेनी है, अग्नि दूसरी, वायु तीसरी, अन्तरिक्ष चौथी, द्यौ पंचमी, आदित्य छठी, चन्द्रमा सातवीं, मन आठवीं, वाक् नवमी, तप दशमी, ब्रह्म ग्यारहवीं। यह सब संसार इनको प्रदीप्त करता है या इनके द्वारा यह संसार प्रदीप्त होता है, इसलिए इनका नाम सामिधेनी है ॥६॥

वह पहली को तीन बार पढ़ता है। पहली बार पढ़कर पूर्व दिशा को जीत लेता है, दूसरी बार पढ़कर दक्षिण दिशा को जीत लेता है और तीसरी बार ऊपर की दिशा को जीत लेता है ॥७॥

अन्तिम सामिधेनी को तीन बार पढ़ता है। पहली से पश्चिम दिशा को जीत लेता है, दूसरी से उत्तर दिशा को जीतता है और तीसरी से इस पृथिवी अर्थात् प्रतिष्ठा को जीतता है। इस प्रकार इनसे इन लोकों, इन दिशाओं को जीतता है ॥८॥

पहली आघार ऋत है, पिछली सत्य। इस प्रकार ऋत और सत्य दोनों निर्विघ्न हो जाते और वह सब-कुछ जीत लेता है जो ऋत तथा सत्य से जीतने योग्य है ॥९॥

पहला प्रयाज प्रकाश है, दूसरा अपचिति (कीर्ति), तीसरा यश, चौथा ब्रह्मवर्चस्, पाँचवाँ अन्न ॥ १०॥

याज्ञमनुमन्त्रयेत । त्विषिमान्भूयासमित्यपचितिमान्भूयासमिति द्वितीयं यशस्वी भू-
यासमिति तृतीयं ब्रह्मवर्चसी भूयासमिति चतुर्थमन्नादो भूयासमिति पञ्चमं त्वि-
षिमान्ह वाऽअपचितिमान्यशस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवमेतद्वेद ॥११॥
एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह । श्वेतकेतुरारुणेयः कꣳस्विदेवापरीषु महानागमिवाभि-
सꣳसारं दिदृक्षितारो य एवमेतत्प्रयाजानां यशो वेदितेति ॥१२॥ भूतमेव पूर्व
आज्यभागः । भविष्यदुत्तरोऽव ह वै भूतं च भविष्यच्च रुन्द्धेऽथो यत्किं च भूतेन
च भविष्यता च जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति ॥१३॥ ब्रह्माग्नेयः पुरोडाशः । स
यो ह वै ब्रह्माग्नेयः पुरोडाश इति वेदाव ह ब्रह्म रुन्द्धेऽथो यत्किं च ब्रह्मणा
जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति ॥१४॥ क्षत्रमुपाꣳशुयाजः । स यो ह वै क्षत्रमुपाꣳशु-
याज इति वेदाव ह क्षत्रꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं च क्षत्रेण जय्यꣳ सर्वं हैव तज्जयति
तद्यदुपाꣳशुयाजं कुर्वन्त्येके नैके तस्मादुच्चैश्चोपाꣳशु च क्षत्रायाचक्षते ॥१५॥ वि-
डुत्तरः पुरोडाशः । स यो ह वै विडुत्तरः पुरोडाश इति वेदाव ह विशꣳ रुन्द्धे
ऽथो यत्किं च विशा जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति तद्यदाग्नेयश्च पुरोडाश उपाꣳ-
शुयाजश्च पूर्वौ भवतस्तस्मादुभे ब्रह्म च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते ॥१६॥ राष्ट्रꣳ
सांनाय्यꣳ । स यो ह वै राष्ट्रꣳ सांनाय्यमिति वेदाव ह राष्ट्रꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं
च राष्ट्रेण जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति तद्यत्संनयन्त्येके नैके तस्माद्राष्ट्रꣳ सं चैति
वि च ॥१७॥ तपः स्विष्टकृत् । स यो ह वै तपः स्विष्टकृदिति वेदाव ह तपो
रुन्द्धेऽथो यत्किं च तपसा जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति ॥१८॥ लोकः प्राशित्रꣳ ।
स यो ह वै लोकः प्राशित्रमिति वेदाव ह लोकꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं च लोकेन
जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति नो ह लवेन लोकाद्व्यथते लवेन ह वाऽअमुष्मिं-
ल्लोके लोकाद्व्यथन्तेऽथ य एवं वेद न ह बहु चन पापं कृत्वा लोकाद्व्यथते ॥१९॥
श्रद्धेडा । स यो ह वै श्रद्धेडेति वेदाव ह श्रद्धाꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं च श्रद्धया

पहले प्रयाज के साथ वह कहे कि 'मैं संतोषी हो जाऊँ', दूसरे के साथ 'मैं अपचितिवाला हो जाऊँ', तीसरे से 'मैं यशस्वी हो जाऊँ', चौथे से मैं 'ब्रह्मवर्चसी हो जाऊँ', पाँचवें से 'मैं अन्न को खानेवाला हो जाऊँ'। जो इस रहस्य को समझता है वह त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी, ब्रह्मवर्चसी तथा अन्नाद हो जाता है ॥११॥

श्वेतकेतु आरुणेय ने यही समझकर कहा था कि जो कोई इन प्रयाजों के यश को समझेगा लोग उसको देखने के लिए महासर्प की भाँति चारों ओर से घिर आएँगे ॥१२॥

पहला आज्यभाग भूत है, पिछला भविष्यत्। भूत और भविष्यत् दोनों उसके निर्विघ्न हो जाते हैं और वह सब-कुछ जीत लेता है जो भूत या भविष्यत् के द्वारा जीतने के योग्य है ॥१३॥

अग्नि का पुरोडाश ब्रह्म है। जो यह जानता है कि आग्नेय पुरोडाश ब्रह्म है, वह ब्रह्म को पा लेता है और जो कुछ ब्रह्म से जीता जा सकता है उस सबको जीत लेता है ॥१४॥

उपांशुयाज क्षत्र है। जो यह जानता है कि उपांशुयाज क्षत्र है, वह क्षत्र को प्राप्त कर लेता है और उस सबको जीत लेता है जो क्षत्र के द्वारा जीतने के योग्य है ॥१५॥

अगला पुरोडाश वैश्य है। जो जानता है कि अगला पुरोडाश वैश्य है, उसको वैश्य की प्राप्ति होती है और वैश्य द्वारा जो कुछ जीता जा सकता है उसको वह जीत लेता है। आग्नेय पुरोडाश और उपांशुयाज पहले होते हैं, इसलिए ब्रह्म और क्षत्र दोनों वैश्य में प्रतिष्ठित हैं ॥१६॥

सांनाय्य राष्ट्र है। जो जानता है कि सांनाय्य राष्ट्र है, वह राष्ट्र को पा लेता है और जो कुछ राष्ट्र द्वारा विजित हो सकता है उस सबको जीत लेता है। कुछ लोग सांनाय्य (दही तथा दूध) को एकसाथ डालते हैं, कुछ नहीं। इसी प्रकार कभी तो राष्ट्र मिल जाते हैं, कभी अलग-अलग रहते हैं ॥१७॥

तप स्विष्टकृत् है। जो जानता है कि तप स्विष्टकृत् है वह तप को पाता है और उस सब-कुछ को जीत लेता है, जो तप के द्वारा पाने योग्य है ॥१८॥

प्राशित्र (अगला भाग) स्वर्गलोक है। जो यह जानता है कि प्राशित्र स्वर्गलोक है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है और जो कुछ इस लोक के द्वारा जीतने योग्य है उसको जीत लेता है। वह अपने स्थान से थोड़ा भी नहीं डिगता, क्योंकि स्वर्गलोक में लोग अपने स्थान से किंचित् भी डिगते नहीं। जो इसको जानता है, वह पाप करके भी स्वर्गलोक से डिगता नहीं ॥१९॥

इडा श्रद्धा है। जो जानता है कि इडा श्रद्धा है, वह श्रद्धा को पा लेता है और उस सबको

जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति ॥२०॥ अशनिरेव प्रथमोऽनुयाजः । ह्रादुनिर्द्वितीय
उल्कुषी तृतीयः ॥२१॥ स प्रथममनुयाजमनुमन्त्रयेत । अशन्यमुं जहीति यं द्वि-
ष्याद्ध्रादुन्यमुं जहीति द्वितीयमुल्कुष्यमुं जहीति तृतीयम् ॥२२॥ स य एष क्षिप्रं
म्रियते । अशनिर्ह तमनुयाजो हन्त्यथ यो विस्रवन्मिश्र ऽइव ह्रादुनिर्ह तमनुया-
जो हन्त्यथ योऽभ्युष्टमिश्र ऽइवोल्कुषी ह तमनुयाजो हन्ति ॥२३॥ सैषा यज्ञमे-
निः । एतया वै मेन्या देवा असुरान्पराभावयां चक्रुस्तथो ऽएवैवंविद्यजमानः पा-
प्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं पराभावयति ॥२४॥ स यदनुयाजान्तो यज्ञः स्यात् । अश-
न्यन्तः स्याद्ध्रादुन्यन्त उल्कुष्यन्तस्तस्माद्धि देवानां यज्ञ इडान्तो वैव शम्य्वन्तो वा
॥२५॥ प्रयाजैर्वै देवाः । स्वर्गं लोकमायंस्तानसुरा अन्वाजिगाꣳसंस्ताननुयाजैः प्र-
त्यौहंस्तद्यदनुयाजा इज्यन्ते पाप्मानमेव तद्द्विषन्तं भ्रातृव्यं यजमानः प्रत्यूहति
॥२६॥ प्राणा वै प्रयाजाः । अपाना अनुयाजास्तस्मात्प्रयाजाः प्राञ्चो हूयन्ते तद्धि
प्राणरूपं प्रत्यञ्चोऽनुयाजास्तदपानरूपमेता ह वै दर्शपूर्णमासयोरुपसदो यदनुया-
जास्तस्मात्त ऽउपसद्रूपेण प्रत्यञ्चो हूयन्ते ॥२७॥ सꣳस्था सूक्तवाकः । स यो ह वै
सꣳस्था सूक्तवाक इति वेदाव ह सꣳस्थाꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं च सꣳस्थया जय्यꣳ
सर्वꣳ हैव तज्जयति गच्छति वयसः सꣳस्थाम् ॥२८॥ प्रतिष्ठा शम्योर्वाकः । स
यो ह वै प्रतिष्ठा शम्योर्वाक इति वेदाव ह प्रतिष्ठाꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं च प्र-
तिष्ठया जय्यꣳ सर्वꣳ हैव तज्जयति गच्छति प्रतिष्ठाम् ॥२९॥ ते देवाः । एतान्प-
त्नीसंयाजान्पश्चात्पर्यौहन्त मिथुनमेवैतदुपरिष्टाद्दधत प्रजात्यै तद्यत्पत्नीसंयाजा इ-
ज्यन्ते मिथुनमेवैतदुपरिष्टाद्धत्ते प्रजात्यै देवानाꣳ ह वै प्रजातिमनु प्रजायते मिथु-
नेन-मिथुनेन ह प्रजायते य एवमेतद्वेद ॥३०॥ अन्नꣳ समिष्टयजुः । स यो ह वा
ऽअन्नꣳ समिष्टयजुरिति वेदाव हान्नꣳ रुन्द्धेऽथो यत्किं चान्नेन जय्यꣳ सर्वꣳ हैव
तज्जयति ॥३१॥ संवत्सरो यजमानः । तमृतवो याजयन्ति वसन्त आग्नीध्रस्तस्मा-

जीत लेता है जो श्रद्धा से जीता जा सकता है ॥२०॥

पहला अनुयाज बिजली है, दूसरा ओला, तीसरा उल्कुषी या उल्कापात ॥२१॥

पहले अनुयाज पर कहना चाहिए—'बिजली ! अमुक (शत्रु) को मार डाल', दूसरे पर 'हे ओला, अमुक को मार', तीसरे पर 'हे उल्का ! अमुक को मार ।' ॥२२॥

यदि ऐसा पुरुष शीघ्र मर जाय तो समझना चाहिए बिजली-अनुयाज ने उसे मार डाला; यदि रुधिर से लदा हुआ हो तो ओले ने और यदि शरीर झुलसा हो तो उल्कापात ने ॥२३॥

यज्ञ का 'मेनि' या वज्र यह है । इसी मेनि द्वारा देवों ने असुरों को हराया था और इसी प्रकार इस रहस्य को समझनेवाला यजमान अपने दुष्ट शत्रु का नाश कर देता है ॥२४॥

यदि यज्ञ अनुयाज से समाप्त हो तो वह बिजली, ओला या उल्कापात से समाप्त होगा । इसलिए यज्ञ को इडा तथा शाम्योः से समाप्त किया जाए ॥२५॥

देवों ने प्रयाजों के द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया । असुर उनके पीछे जाने लगे तो अनुयाजों द्वारा उन्होंने उनको वापस भगाया । इसलिए जब अनुयाज करते हैं तो यजमान अपने दुष्ट पापी शत्रु को मार भगाता है ॥२६॥

प्राण प्रयाज हैं और अपान 'अनुयाज' । इसलिए प्रयाज आगे की ओर बोले जाते हैं, क्योंकि यही प्राणों का रूप है; अनुयाज पीछे को, क्योंकि यह अपान का रूप है । ये जो अनुयाज हैं वे दर्शपूर्णमास के उपसद हैं । इसीलिए उपसद की भाँति आगे को बोले जाते हैं ।२७॥

सूक्तवाक् संस्था या पूर्ति हैं । जो यह जानता है कि सूक्तवाक् पूर्ति हैं वह पूर्ति को प्राप्त करता है और जो कुछ पूर्ति के द्वारा जीता जा सकता है वह सब उसको मिल जाता है और आयु की पूर्ति को प्राप्त करता है ॥२८॥

शम्योर्वाक् प्रतिष्ठा है । जो जानता है कि शम्योर्वाक् प्रतिष्ठा है वह प्रतिष्ठा को पाता है, और सब-कुछ जीत लेता है जो प्रतिष्ठा से जीता जा सकता है । वह प्रतिष्ठा को पा लेता है ॥२९॥

देवों ने पत्नीसंयाजों के पीछे बाँध लगा दिया और उनके ऊपर एक जोड़े को संतानोत्पत्ति के लिए रख दिया । जो पत्नीसंयाज किये जाते हैं तो जोड़े को उन पर रख देते हैं, सन्तानोत्पत्ति के लिए । देवों की उत्पत्ति के पश्चात् सन्तानोत्पत्ति होती है जोड़े से । जो इस बात को जानता है उसके जोड़े से सन्तान होती है ॥३०॥

समिष्ट यजु अन्न है । जो जानता है कि समिष्ट यजु अन्न है, वह अन्न को प्राप्त करता है, और जो कुछ अन्न द्वारा जीतने योग्य है उसको जीत लेता है ॥३१॥

संवत्सर यजमान है, उसका ऋतुऐं यज्ञ करती हैं । वसन्त आग्नीध्र है, इसलिए वसन्त में

हसन्ते दावाश्चरन्ति तद्ध्यग्निरूपं ग्रीष्मोऽध्वर्युस्तप्त-इव वै ग्रीष्मस्तप्तमिवाध्वर्युर्निष्क्रामति वर्षा उद्गाता तस्माद्यदा बलवद्वर्षति साम्न-इवोपब्दिः क्रियते शरद्ब्रह्मा तस्माद्यदा सस्यं पच्यते ब्रह्मण्वत्यः प्रजा इत्याहुर्हेमन्तो होता तस्माद्धेमन्वषट्कृताः पशवः सीदन्त्येता ह वाऽएनं देवता याजयन्ति स यद्येनमेषावीरा याजयेयुरेता एव देवता मनसा ध्यायेदेता हैवैनं देवता याजयन्ति ॥३२॥ अथ हैषेव तुला । यद्दक्षिणो वेद्यन्तः स यत्साधु करोति तदन्तर्वेद्यथ यदसाधु तद्बहिर्वेदि तस्माद्दक्षिणं वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीत तुलायाꣳ ह वाऽअमुष्मिंल्लोकऽआदधति यतरद्यꣳस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वासाधु वेत्यथ य एवं वेदास्मिन्हैव लोके तुलामारोहत्यत्यमुष्मिंल्लोके तुलाधानं मुच्यते साधुकृत्या हैवास्य यच्छति न पापकृत्या ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥३ [२. ७.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [६८.] ॥ ॥

वाग्घ वाऽएतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री । मन एव वत्सस्तदिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव तस्मात्समान्या रज्ज्वा वत्सं च मातरं चाभिदधति तेज एव श्रद्धा सत्यमाज्यम् ॥१॥ तद्धैतज्जनको वैदेहः । याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या३ऽइति वेद सम्राडिति किमिति पय एवेति ॥२॥ यत्पयो न स्यात् । केन जुहुया इति व्रीहियवाभ्यामिति यद्व्रीहियवौ न स्यातां केन जुहुया इति या अन्या ओषधय इति यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति या आरण्या ओषधय इति यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति वानस्पत्येनेति यद्वानस्पत्यं न स्यात्केन जुहुया इत्यद्भिरिति यदापो न स्युः केन जुहुया इति ॥३॥ स होवाच । न वाऽइह तर्हि किं चनासीदथैतदहूयतैव सत्यꣳ श्रद्धायामिति वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य धेनुशतं ददामीति होवाच ॥४॥ तदप्येते श्लोकाः । किꣳ स्विद्विद्वान्प्रवसत्यग्निहोत्री गृहेभ्यः　कथꣳ स्विदस्य काव्यं कथꣳ संततोऽग्निभिरिति कथꣳ स्विदस्यानपप्रोषितं भवतीत्येवैतदाह ॥५॥ यो जविष्ठो भु-

दावानल होते हैं, क्योंकि यह अग्नि का रूप है। ग्रीष्म अध्वर्यु है। ग्रीष्म तपता है। अध्वर्यु भी तप्त-सा मालूम होता है। वर्षा उद्गाता है। जब बहुत बरसता है तो सामगान की-सी आवाज सुनाई देती है। शरद् ब्रह्मा है। जब धान पकते हैं तो कहते हैं कि लोग 'ब्रह्मण्वत्' हैं। हेमन्त 'होता' है, इसलिए हेमन्त में पशु क्षीण हो जाते हैं, और उन पर वषट् पढ़ा जाता है। ये देवता उसके लिए यज्ञ करते हैं। यदि ऐषावीर भी यज्ञ करते हों (ऐषावीर शायद कोई निन्दित ब्राह्मण-वंश है) तो भी समझना चाहिए कि वेद ही यज्ञ कर रहे हैं, क्योंकि ये देवता यज्ञ कराते ही हैं ।।३२।।

अब वेदी के दक्षिण भाग की तुला। मनुष्य जो कुछ शुभ करता है, वेदी के भीतर करता है। जो अशुभ करता है वह वेदी के बाहर। इसलिए वेदी का दक्षिण भाग छूकर बैठ जाय। क्योंकि वे उसको उस लोक में तराजू पर रखते हैं, और जो पल्ला भारी होगा उसी को प्राप्त होगा, साधु का या असाधु का। जो इस रहस्य को समझता है, वह इस लोक में भी उठ जाता है, और उस लोक में तुला से बच जाता है, क्योंकि इसका पुण्य प्रबल होता है, पाप नहीं ।।३३।।

अग्निहोत्रावयवोपासनाप्रकारः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

वाक् इस अग्निहोत्र की अग्निहोत्री गौ है। मन बछड़ा है। मन और वाक् समान होते हुए भी नाना हैं। इसलिए बछड़े को और माँ को एक ही रस्सी से बाँधते हैं। श्रद्धा तेज या अग्नि है। सत्य आज्य या घी है ।।१।।

जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो ?' 'हाँ सम्राट्, जानता हूँ।' 'क्या है ?' 'दूध ही है।' ।।२।।

'यदि दूध न हो तो किसकी आहुति दोगे ?' 'चावल या जौ की।' 'अगर चावल या जौ न हों तो किसकी आहुति दोगे ?' 'अन्य ओषधियों की।' 'यदि अन्य ओषधियाँ न हों तो किस की आहुति दोगे ?' 'जंगली ओषधियों की।' ''यदि जंगल की ओषधियाँ न हों तो किसकी आहुति दोगे ?' 'वनस्पति की।' 'यदि वनस्पति न हों तो किसकी आहुति दोगे ?' 'जल की।' 'यदि जल न हो तो किसकी आहुति दोगे ?' ।।३।।

उसने कहा—'अगर कुछ न होगा तो सत्य की श्रद्धा में।' तब राजा ने कहा—'याज्ञवल्क्य ! तुम अग्निहोत्र को जानते हो। मैं तुमको सौ गायें दान देता हूँ' ।।४।।

इसी विषय में यह श्लोक है—''किं स्विद् विद्वान् प्रवसति अग्निहोत्री गृहेभ्यः। कथं स्विदस्य काव्यं कथँ्ँ संततो ऽग्निभिः''—''अग्निहोत्री क्या जानकर परदेश जाता है ? उसकी बुद्धि कैसी है ? उसका अग्निहोत्र का सिलसिला कैसे रहता है ?'' इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई परदेश में जावे और उसका गृहस्थ दैनिक कर्म अग्निहोत्र छूट जाय तो उसको किस प्रकार इस दोष से बचना चाहिए ? ।।५।।

(इसका उत्तर देते हैं)—

वनेषु । स विद्वान्प्रवसन्विदे तथा तदस्य काव्यं तथा संततोऽग्निभिरिति मन एवैतदाह मनसैवास्यानपप्रोषितं भवतीति ॥६॥ यत्स दूरं परेत्य । अथ तत्र प्रमाद्यति कस्मिंस्तास्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वतीति यत्स दूरं परेत्याथ तत्र प्रमाद्यति कस्मिन्नस्य साहुतिर्हुता भवतीत्येवैतदाह ॥७॥ यो जागार भुवनेषु । विश्वा जातानि योऽबिभः तस्मिंस्तास्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वतीति प्राणमेवैतदाह तस्मादाहुः प्राण एवाग्निहोत्रमिति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥४ [३.१.] ॥॥

यो ह वाऽअग्निहोत्रे । षण्मिथुनानि वेद मिथुनेन-मिथुनेन ह प्रजायते सर्वाभिः प्रजातिभिर्यजमानश्च पत्नी च तदेकं मिथुनं तस्मादस्य पत्नीवदग्निहोत्रꣳ स्यादेतन्मिथुनमुपाप्नवानीति वत्सश्चाग्निहोत्री च तदेकं मिथुनं तस्मादस्य पुंवत्साग्निहोत्री स्यादेतन्मिथुनमुपाप्नवानीति स्थाली चाङ्गाराश्च तदेकं मिथुनꣳ स्रुक्च स्रुवश्च तदेकं मिथुनमाहवनीयश्च समिच्च तदेकं मिथुनमाहुतिश्च स्वाहाकारश्च तदेकं मिथुनमेतानि ह वाऽअग्निहोत्रे षण्मिथुनानि तानि य एवं वेद मिथुनेन-मिथुनेन ह प्रजायते सर्वाभिः प्रजातिभिः ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥५ [३.२.] ॥॥

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् । तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन्भाग इति यामेव रात्रिꣳ समिधं नाहराताऽइति तस्माद्याꣳ रात्रिं ब्रह्मचारी समिधं नाहरत्यायुष एव तामवदाय वसति तस्माद्ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति ॥१॥ दीर्घसत्त्रं वाऽएष उपैति । यो ब्रह्मचर्यमुपैति स यामुपयन्त्समिधमादधाति सा प्रायणीया याꣳ स्नास्यन्त्सोदयनीयाथ या अन्तरेण सत्त्या एवास्य ता ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यमुपयन् ॥२॥ चतुर्धा भूतानि प्रविशति । अग्निं पदा मृत्युं पदाचार्यं पदात्मन्येवास्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते ॥३॥ स यदग्नये समिधमाहरति । य एवास्याग्नौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तꣳ संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति ॥४॥ अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येव । अह्रीर्भूत्वा

"यो जविष्ठो भुवनेषु स विद्वान् प्रवसन् विदे । तथा तदस्य काव्यं संततो ऽ अग्निभिः" —"जो भुवनों में सबसे तेज है वही विद्वान् परदेश में रह सकता है। इसी प्रकार उसकी बुद्धि प्रकट हो सकती है। अग्निहोत्र का सिलसिला इसी प्रकार रह सकता है।" इसका तात्पर्य है कि मन ही ऐसी चीज है। मन से ही अग्निहोत्र हो सकता है ॥६॥

"यत्स दूरं परेत्य अथ तत्र प्र प्रमाद्यति कस्मिन्त्सास्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वति"—अर्थात् "यदि परदेश जाकर प्रमाद करे, अग्निहोत्र न करे तो उसका अग्निहोत्र कैसे पूरा होगा?" ॥७॥

"यो जागार भुवनेषु विश्वा जातानि योऽबिभः तस्मिन्त्सास्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वति"—"जो संसार में सदा जागता है, और जो सब प्राणियों का पालन करता है उसमें वह आहुति देता है।" घर में उसी को आहुति दी जाती है। प्राण के विषय में यह कहा गया है, इस लिए कहते हैं कि प्राण ही अग्निहोत्र है ॥८॥

अग्निहोत्रे मिथुनत्वदर्शनम्

अध्याय ३—ब्राह्मण २

जो अग्निहोत्र के छः जोड़ों को जानता है उसको जोड़ा-जोड़ा करके सन्तान होती है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी। यजमान और पत्नी एक जोड़ा है। इससे इसका अग्निहोत्र पत्नीवाला हो जाता है। वह समझता है कि मुझे जोड़ा मिल जाय। अग्निहोत्री गाय और उसका बछड़ा दूसरा जोड़ा है। इससे वह अग्निहोत्री गाय बछड़ेवाली हो जाती है। वह समझती है कि मुझे मेरा जोड़ा मिल जाय। स्थाली और अंगार एक जोड़ा है। स्रुक और स्रुवा दूसरा जोड़ा है। आहवनीय और समिधा एक और जोड़ा है। आहुति और स्वाहाकार एक और जोड़ा है। अग्निहोत्र में ये छः जोड़े हैं। जो इनको जानता है, उसके जोड़ा-जोड़ा करके सन्तान होती है पीढ़ी-दर-पीढ़ी ॥१॥

प्रसङ्गतः आख्यायिकया ब्रह्मचारिधर्मप्रतिपादनम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

ब्रह्म ने प्रजाओं को मृत्यु को अर्पण कर दिया। ब्रह्मचारी को उसके हवाले न किया। वह (मृत्यु) बोला, 'इस ब्रह्मचारी में भी मेरा भाग होना चाहिए।' ब्रह्मा ने कहा, 'जिस रात्रि को ब्रह्मचारी समिधा न लावे अर्थात् अग्निहोत्र न करे, उस रात को उसमें तुम्हारा भाग होगा।' जिस रात को ब्रह्मचारी समिधा नहीं लाता, उस रात को उसका उतना ही भाग उसकी आयु से कट जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी को समिधा अवश्य लानी चाहिए, जिससे उसके जीवन से उतना भाग न कट सके ॥१॥

जो ब्रह्मचर्य धारण करता है, वह दीर्घसूत्र (बड़ा भारी यज्ञ) रचता है। जो समिधा पहले दिन रखता है वह प्रायणीय है; जो समिधा स्नातक होने के दिन रखता है वह उदयनीया है। जो इनके बीच में है वह सत्र है, जब ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का व्रत करे ॥२॥

वह चार प्रकार से भूतों में प्रवेश करता है। एक पद से अग्नि में, एक से मृत्यु में, एक से आचार्य में और चौथा भाग उसका उसमें ही रह जाता है ॥३॥

जब अग्नि के लिए समिधा लाता है तो उसका जो पाद अग्नि में था उसको वापस लेता है, उसका संस्कार करके आत्मा में धारण करता है। वह उसमें प्रवेश करता है ॥४॥

अपने को दरिद्री करके लज्जा छोड़कर जो भिक्षा माँगता है, उससे जो पाद कि मृत्यु को

भिक्षते य एवास्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तꣳ संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति ॥५॥ अथ यदाचार्यवचसं करोति । यदाचार्याय कर्म करोति य एवास्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तꣳ संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविशति ॥६॥ न ह वै स्नात्वा भिक्षेत । अप ह वै स्नात्वा भिक्षां जयत्यप ज्ञातीनामशनायामप पितॄणाꣳ स एवं विद्वान्यस्या एव भूयिष्ठꣳ श्लाघेत तां भिक्षेतेत्याहुस्तल्लोक्यमिति स यद्यन्यां भिक्षितव्यां न विन्देदपि स्वामेवाचार्यजायां भिक्षेताथो स्वां मातरं नैनꣳ सप्तम्यभिक्षितातीयात्तमेवं विद्वाꣳसमेवं चरन्तꣳ सर्वे वेदा आविशन्ति यथा ह वाऽअग्निः समिद्धो रोचतऽएवꣳ ह वै स स्नात्वा रोचते य एवं विद्वान्ब्रह्मचर्यं चरति ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३. ३.] ॥ तृतीयोऽध्यायः [६१.] ॥ ॥

उद्दालको हारुणिः । उदीच्यान्वृतो धावयां चकार तस्य निष्क उपाहित आसैतद्ध स्म वै तत्पूर्वेषां वृतानां धावयतामेकधनमुपाहितं भवत्युपवल्हाय बिभ्यतां तान्होदीच्यानां ब्राह्मणान्भीर्विवेद ॥१॥ कौरुपञ्चालो वाऽअयं ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रः । यद्वै नोऽयमध न पर्याददीत कृत्तैनं ब्रह्मोद्यमाह्वयामहाऽइति केन वीरेणेति स्वैदायनेनेति शौनको ह स्वैदायन आस ॥२॥ ते होचुः । स्वैदायन त्वया वीरेणेमं प्रतिसंयतामहाऽइति स होवाचोपात्र खलु रमताहं न्वेनं वेदानीति तꣳ हाभिप्रपेदे तꣳ हाभिप्रपन्नमभ्युवाद स्वैदायनाꣳऽइति हो३ गौतमस्य पुत्रेतीतरः प्रतिशुश्राव तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे ॥३॥ स वै गौतमस्य पुत्र वृतो जनं धावयेत् । यो दर्शपूर्णमासयोरष्टौ पुरस्तादाज्यभागान्विद्यात्पञ्च मध्यतो हविर्भागान्षट् प्राजापत्यानष्टाऽउपरिष्टादाज्यभागान् ॥४॥ स वै गौतमस्य पुत्र वृतो जनं धावयेत् । यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्यस्मादिमाः प्रजा अदन्तका जायन्ते यस्मादासां जायन्ते यस्मादासां प्रभिद्यन्ते यस्मादासाꣳ संतिष्ठन्ते यस्मादासां पुनरुत्तमे

दिया था उसे वापस लेता है, उसका संस्कार करके उसे आत्मा में धारण करता है, उसमें प्रवेश करता है ।।५।।

जब आचार्य के वचन का पालन करता है, या उसके लिए करता है तो जो पाद आचार्य को दिया था वह वापस लेता है । उसका संस्कार करता है, उसे आत्मा में धारण करता है, उसमें प्रवेश करता है ।।६।।

स्नातक होकर भिक्षा न माँगे। स्नातक होकर भिक्षा को पराजित कर देता है। अपने वंश-वालों और पितरों से भूख को दूर भगा देता है। कहते हैं कि ब्रह्मचारी को उसी से भिक्षा माँगनी चाहिए जिससे मिलने की पूरी आशा है। यदि ऐसी कोई स्त्री न मिले तो आचार्य की पत्नी से माँगे या अपनी माँ से ही। सात रातें बिना भिक्षा के न जानी चाहिएँ। जो इस बात को जानता है और इस पर कार्य करता है, सब वेद उसी में प्रवेश होते हैं। जो इस रहस्य को समझकर ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करता है वह स्नातक होकर ऐसा चमकता है जैसे प्रज्वलित अग्नि ।।७।।

आख्यायिकया दर्शपूर्णमासयोः सर्वोत्पत्तिहेतुत्वकथनम्

अध्याय ४—ब्राह्मण १

आरुणि उद्दालक उत्तर के लोगों में प्रतिष्ठित होकर विचर रहा था। उसने एक निष्क उपहार की विज्ञप्ति कर दी। उस समय पूर्व-यात्रियों में यह प्रथा थी कि नियत धन का उपहार विज्ञप्त कर देते थे (कि यदि कोई विद्वान् हमको अमुक बात में हरा देगा तो हम उसको इनना धन देंगे) जिससे डरपोक लोगों को साहस हो और वे शास्त्रार्थ के लिए आवें। उत्तरदेशीय ब्राह्मण डर गये ।।१।।

'यह कुरु पंचाल देश का ब्राह्मण और ब्राह्मण का पुत्र है। कहीं ऐसा न हो कि यह हमारा आधिपत्य छीन ले। इसलिए ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी शास्त्रार्थ के लिए इसे बुलावें।' 'किस वीर के द्वारा ?' 'स्वैदायन के द्वारा।' स्वैदायन शौनक एक पुरुष था ।।२।।

वे बोले, 'हे स्वैदायन ! हम तुझ वीर के द्वारा इसका सामना करना चाहते हैं।' उसने कहा, 'ठहरो। मैं जान लूँ।' वह उसके पास गया। जब वह वहाँ गया तो उद्दालक ने उससे कहा, 'स्वैदायन ?' उसने कहा, 'हाँ, गौतम का पुत्र।' और सीधी प्रश्नों की झड़ी लगा दी—।।३।।

'हे गौतम के पुत्र ! वही प्रतिष्ठित होकर विचर सकता है जो दर्शपूर्णमास इष्टियों में पहले आठ आज्यभागों को जानता है, पाँच बीच के हविर्भागों को, छः प्राजापत्यों को और पिछले आठ आज्यभागों को ।।४।।

हे गौतम के पुत्र ! वही श्रेष्ठता पा सकता है जो दर्शपूर्णमास इष्टियों में जानता है कि किस से ये प्राणी बिना दाँत के उत्पन्न होते हैं किससे दाँतवाले। किससे वे नष्ट हो जाते हैं और किससे वे बराबर बने रहते हैं।

वयसि सर्वऽएव प्रभिद्यन्ते यस्मादधरऽएवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरे यस्मादणीयाꣳस एवाधरे प्रथीयाꣳस उत्तरे यस्माद्दꣳष्ट्रा वर्षीयाꣳसो यस्मात्समा एव जम्भ्याः ॥५॥ स वै गौतमस्य पुत्र वृतो जनं धावयेत् । यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्यस्मादिमाः प्रजा लोमशा जायन्ते यस्मादासां पुनरिव श्मश्रूण्यौपपक्ष्याणि दुर्बीरिणानि जायन्ते यस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवत्यथ पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव पलितो भवति ॥६॥ स वै गौतमस्य पुत्र वृतो जनं धावयेत् । यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्यस्मात्कुमारस्य रेतः सिक्तं न सम्भवति यस्मादस्य मध्यमे वयसि सम्भवति यस्मादस्य पुनरुत्तमे वयसि न सम्भवति ॥७॥ यो गायत्रीꣳ हरिणीम् । ज्योतिष्पक्षां यजमानꣳ स्वर्गं लोकमभिवहन्तीं विद्यादिति तस्मै ह निष्कं प्रददावनूचानः स्वैदायनासि सुवर्णं वाव सुवर्णविदे ददतीति तꣳ होपगुह्य निश्चक्राम तꣳ ह पप्रच्छुः किमिवैष गौतमस्य पुत्रोऽभूदिति ॥८॥ स होवाच । यथा ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रो मूर्धास्य विपतेद्य एनमुपवल्हेतेति ते ह तत एव विप्रेयुस्तꣳ ह तत एव समित्पाणिः प्रतिचक्रमऽउप त्वायानीति किमध्येष्यमाण इति यानेव मा प्रश्नानप्राक्षीस्तानेव मे विब्रूहीति स होवाचानुपेतायैव तऽएनान्ब्रवाणीति ॥९॥ तस्माऽउ हैतदुवाच । द्वावाघारौ पञ्च प्रयाजा आग्नेय आज्यभागोऽष्टम एतेऽष्टौ पुरस्तादाज्यभागाः सौम्य आज्यभागो हविर्भागाणां प्रथमो हविर्हि सोम आग्नेयः पुरोडाशोऽग्नीषोमीय उपाꣳशुयाजोऽग्नीषोमीयः पुरोडाशोऽग्निः स्विष्टकृदेते पञ्च मध्यतो हविर्भागाः ॥१०॥ प्राशित्रं चेडा च । यच्चाग्नीधऽआदधाति ब्रह्मभागो यजमानभागोऽन्वाहार्य एते षट् प्राजापत्यास्त्रयोऽनुयाजाश्चत्वारः पत्नीसंयाजाः समिष्टयजुरष्टममेतेऽष्टाऽउपरिष्टादाज्यभागाः ॥११॥ अथ यदपुरोऽनुवाक्यकाः प्रयाजा भवन्ति । तस्मादिमाः प्रजा अदन्तका जायन्तेऽथ यत्पुरोऽनुवाक्यवन्ति हवीꣳषि भवन्ति तस्मादासां जायन्तेऽथ यदपुरोऽनुवाक्यका अनुयाजा भवन्ति तस्मादा-

किससे अन्त आयु में वे उनके साथ नष्ट हो जाते हैं। किससे नीचे के दाँत पहले निकलते हैं फिर ऊपर के। किससे नीचे के छोटे होते हैं ऊपर के बड़े। किससे दंष्ट्र बड़े होते हैं और जम्भ्य बराबर ॥५॥

हे गौतम के पुत्र ! वही पुरुष श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है जो दर्शपूर्णमास इष्टियों में यह बात जानता है कि किससे प्राणी बालों के बिना उत्पन्न होते हैं, किससे बालोंवाले। किससे फिर दुबारा दाढ़ी-मूँछ के बाल, काँख के बाल और अन्य स्थान के बाल उत्पन्न होते हैं। पहले सिर के बाल क्यों सफेद होते हैं और इसके पश्चात् समस्त शरीर के ॥६॥

हे गौतम के पुत्र ! वही पुरुष श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है जो दर्शपूर्णमास इष्टियों में जानता है कि किससे बालक का वीर्य सींचने के योग्य नहीं होता; युवा का होता है, वृद्ध का नहीं होता। तथा—॥७॥

जो चमकदार परोंवाली गायत्री को जानता है, जो यजमान को स्वर्गलोक को ले जाती है।' उद्दालक ने उसको निष्क दे दिया और कहा 'हे स्वैदायन, तू विद्वान् है।' वस्तुतः जो सोने को जानता है उसी को सोना मिलता है। वह सोने को छिपाकर चला गया। लोगों ने पूछा, 'गौतम के पुत्र ने कैसा व्यवहार किया ?' ॥८॥

उसने कहा, 'जैसे ब्राह्मण, ब्राह्मण का पुत्र करता है। जो कोई उससे झगड़ा करेगा उसका सिर गिर जायगा।' वे लोग इधर-उधर हो गए। तब उद्दालक हाथ में समिधा लेकर उसके पास आया, 'महाराज ! मुझे अपना शिष्य बना लीजिए।' उसने पूछा, 'क्या सीखना चाहते हो ?' उसने कहा 'जो आपने प्रश्न पूछे थे उनका उत्तर बताइये।' उसने कहा, 'बिना शिष्य हुए ही मैं तुमको बताता हूँ।' ॥९॥

उसने उसको कहा, 'दो आघार, पाँच प्रयाज, आठवाँ अग्नि का आज्यभाग—ये आठ पहले आज्यभाग हैं। सोम हवि है। हवियों में पहला सोम का आज्यभाग है, अग्नि का पुरोडाश, अग्नि-सोम का उपांशु याज, अग्नि-सोम का पुरोडाश, और अग्निस्विष्टकृत् की आहुति, ये पाँच बीच के हविर्भाग हुए ॥१०॥

प्राशित्र और इडा, जो अग्नीध्र को देता है, ब्रह्मभाग, यजमानभाग, अन्वाहार्य, ये छः प्राजापत्य आहुतियाँ हुईं। तीन अनुयाज, चार पत्नीसंयाज, आठवाँ समिष्टयजु, ये आठ पिछले आज्यभाग हुए ॥११॥

प्रयाजों के पहले अनुवाक्य नहीं होते। इसलिए प्राणी बिना दाँत के उत्पन्न होते हैं। प्रधान हवियों में अनुवाक्य होते हैं, इसलिए प्राणियों के भी दाँत निकल आते हैं। अनुयाजों के

सां प्रभिद्यन्तेऽथ यत्पुरोऽनुवाक्यवन्तः पत्नीसंयाजा भवन्ति तस्मादासाᳮ संतिष्ठन्ते ऽथ यदपुरोऽनुवाक्यकᳮ समिष्टयजुर्भवति तस्मादासां पुनरुत्तमे वयसि सर्वऽएव प्रभिद्यन्ते ॥१२॥ ॥ शमम्५७०० ॥ ॥ अथ यदनुवाक्यामनूच्य । याज्यया यजति तस्मादधरऽएवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरेऽथ यद्गायत्रीमनूच्य त्रिष्टुभा यजति तस्मादणीयाᳮस एवाधरे प्रथीयाᳮस उत्तरेऽथ यत्प्राञ्चावाघारावाघारयति तस्माद्ᳮष्ट्रा वर्षीयाᳮसोऽथ यत्सच्छन्दसावेव संयाज्ये भवतस्तस्मात्समा एव जम्भ्याः ॥१३॥ अथ यद्बर्हि स्तृणाति । तस्मादिमाः प्रजा लोमशा जायन्तेऽथ यत्पुनरिव प्रस्तरᳮ स्तृणाति तस्मादासां पुनरिव श्मश्रूण्यौपपक्ष्याणि दुर्बीरिणानि जायन्तेऽथ यत्केवलमेवाग्रे प्रस्तरमनुप्रहरति तस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवत्यथ यत्सर्वमेव बर्हिरनुप्रहरति तस्मात्पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव पलितो भवति ॥१४॥ अथ यदाज्यहविषः प्रयाजा भवन्ति । तस्मात्कुमारस्य रेतः सिक्तं न सम्भवत्युदकमिवैव भवत्युदकमिव ह्याज्यमथ यन्मध्ये यज्ञस्य दध्ना पुरोडाशेनेति यजन्ति तस्मादस्य मध्यमे वयसि सम्भवति द्रप्सीवैव भवति द्रप्सीव हि रेतोऽथ यदाज्यहविष एवानुयाजा भवन्ति तस्मादस्य पुनरुत्तमे वयसि न सम्भवत्युदकमिवैव भवत्युदकमिव ह्याज्यम् ॥१५॥ वेदिरेव गायत्री । तस्यै येऽष्टौ पुरस्तादाज्यभागाः स दक्षिणः पक्षो येऽष्टाऽउपरिष्टादाज्यभागाः स उत्तरः पक्षः सैषा गायत्री हरिणी ज्योतिष्पक्षा यजमानᳮ स्वर्गं लोकमभिवहति य एवमेतद्वेद ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [४. १.] ॥ ॥

अथातः स्रुचोरादानस्य । तद्धैतदेके कुशला मन्यमाना दक्षिणेनैव जुह्वमाददते सव्येनोपभृतं न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयात्प्रतिप्रतिं न्वाऽअयमध्वर्युर्यजमानस्य द्विषन्तं भ्रातृव्यमकत्प्रत्युद्यामिनमितीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥१॥ इत्यमेव कुर्यात् । उभाभ्यामेव पाणिभ्यां जुह्वं परिगृह्योपभृत्यधिनिदध्यात्तस्य नोपमीमाᳮसास्ति

पहले अनुवाक्य नहीं होते, इसलिए प्राणियों के (दूध के) दाँत गिर जाते हैं। पत्नीसंयाजों में अनु-वाक्य होते हैं, इसलिए दुबारा निकले दाँत बने रहते हैं। समिष्ट-यजु में अनुवाक्य नहीं होते, इस लिए दाँत वृद्धावस्था में गिर जाते हैं ॥१२॥

अनुवाक्य कहकर तब याज्यों से आहुति देता है, इसलिए नीचे के दाँत पहले निकलते हैं, फिर ऊपर के। गायत्री पढ़कर फिर त्रिष्टुप् से आहुति देता है, इसलिए नीचे के दाँत छोटे होते हैं, ऊपर के बड़े। दो आघार आहुतियाँ आगे को देता है, इसलिए दंष्ट्र बड़े होते हैं। दो संयाज एक ही छन्द में होते हैं, इसलिए जम्भ्य-दाँत बराबर होते हैं ॥१३॥

चूँकि कुश बिछाता है, इसलिए ये प्राणी बालवाले होते हैं। फिर भी कुश बिछाता है, इसलिए प्राणियों के दाढ़ी, काँख, तथा अन्य स्थान के बाल फिर निकल आते हैं। प्रस्तर को डालता है इसलिए बुढ़ापे में सब बाल सफेद हो जाते हैं ॥१४॥

प्रयाज घी के होते हैं, इसलिए कुमार का वीर्य सींचने के योग्य नहीं होता; केवल पानी-सा होता है। घी भी तो पानी-सा होता है। यज्ञ के मध्य में दही और पुरोडाश की आहुति देते हैं, इसलिए युवावस्था में वीर्य सींचने के योग्य होता है, वीर्य गाढ़ा हो जाता है। अनुयाज घी के होते हैं, इसलिए अन्तिम अवस्था में वीर्य सींचने के योग्य नहीं रहता, पानी-सा हो जाता है। घी भी तो पानी-सा होता है ॥१५॥

वेदी गायत्री है। आठ पहले आज्यभाग इसका दाहिना बाजू है। आठ ऊपर के आज्य-भाग बायाँ बाजू। जो इस रहस्य को समझता है उस यजमान को यह चमकीले पंखवाली गायत्री स्वर्गलोक को ले जाती है ॥१६॥

स्रुगादानप्रकारः

अध्याय ४—ब्राह्मण २

दोनों स्रुचों को लेने के विषय में। कुछ लोग अपने को चतुर समझकर दायें हाथ में जुहू लेते हैं और बायें में उपभृत्। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यदि कोई कहने लगे कि अध्वर्यु ने यजमान के दुष्ट शत्रु को उसके बराबर और उसका सामना करने के योग्य बना दिया तो ऐसा ही हो जायगा ॥१॥

ऐसा करे कि दोनों हाथों से जुहू को पकड़े और उसको उपभृत् के ऊपर रख दे। इसमें कोई

तत्पशव्यमायुष्यं तेऽअस्तऽशिक्षयन्नाददीत यत्सऽशिक्षयेद्योगक्षेमो यजमानमृच्छेत्त-स्मादसऽशिक्षयन्नाददीत ॥२॥ अथातोऽतिक्रमणस्य । वज्रेण ह वाऽअन्योऽध्वर्यु-र्यजमानस्य पशून्विधमति वज्रेण ह्यस्माऽअन्य उपसमूहत्येष ह वाऽअध्वर्युर्वज्रेण यजमानस्य पशून्विधमति य आश्रावयिष्यन्दक्षिणेनातिक्रामति सव्येनाश्राव्याथ ह्यस्माऽएष उपसमूहति य आश्रावयिष्यन्त्सव्येनातिक्रामति दक्षिणेनाश्राव्यैष ह्यस्माऽउपसमूहति ॥३॥ अथातो धारणस्य । तद्धैतदेके कुशला मन्यमानाः प्र-गृह्य बाहू स्रुचौ धारयन्ति न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाच्छूलौ न्वाऽअयमध्वर्यु-र्बाहूऽअकृत शूलबाहुर्भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादथ ह्येष मध्यमः प्राणस्त-स्मादु तमुपन्यच्यैवैव धारयेत् ॥४॥ अथात आश्रावणस्य । षड् वाऽआश्राविता-नि न्यक्तिर्यगूर्ध्वं कृपणं बहिःश्चन्तःश्रि ॥५॥ एतद्ध वै न्यक् । योऽयमुच्चैरादाय शनैर्निदधाति स यमिच्छेत्पापीयान्त्स्यादिति तस्योच्चैरादाय शनैर्निदध्यात्तेन स पा-पीयान्भवति ॥६॥ अथ हैतत्तिर्यक् । योऽयं यावतैवादत्ते तावता निदधाति स यमिच्छेन्नैव श्रेयान्त्स्यान्न पापीयानिति तस्य यावतैवाददीत तावता निदध्यात्तेन स नैव श्रेयान्न पापीयान्भवति ॥७॥ अथ हैतदूर्ध्वम् । योऽयꣳ शनैरादायोच्चैर्नि-दधाति स यमिच्छेच्छ्रेयान्त्स्यादिति तस्य शनैरादायोच्चैर्निदध्यात्तेन स श्रेयान्भवति ॥८॥ अथ हैतत्कृपणम् । योऽयमणु दीर्घमस्वरमाश्रावयति यो हैनं तत्र ब्रूया-त्कृपणं न्वाऽअयमध्वर्युर्यजमानमकद्विषतो भ्रातृव्यस्योपावसायिनमितीश्वरो ह त-थैव स्यात् ॥९॥ अथ हैतद्बहिःश्रि । योऽयमपव्यादायोष्ठाऽउच्चैरस्वरमाश्रावयति श्रीर्वै स्वरो बाह्यत एव तच्छ्रियं धत्तेऽशनायुको भवति ॥१०॥ अथ हैतदन्तःश्रि । योऽयꣳ संधायोष्ठाऽउच्चैः स्वरवदाश्रावयति श्रीर्वै स्वरोऽन्तरत एव तच्छ्रियं धत्ते ऽन्नादो भवति ॥११॥ स वै मन्द्रमिवोरसि । परास्तभ्योभयतोबार्हतमुच्चैरन्ततो निदध्यात्तस्य नोपमीमाꣳसास्ति तत्पशव्यमायुष्यम् ॥१२॥ अथातो होमस्य । तद्धै-

अनुचित बात नहीं है। यह पशु और आयु के लिए अच्छा है। उनको ऐसा उठावे कि टकराकर शब्द न करें। यदि टकरा जावें तो यजमान के लिए अशुभ हो जाय। इसलिए इस प्रकार उठावे कि टकरावें नहीं ॥२॥

अतिक्रमण के विषय में यह बात है कि एक अध्वर्यु तो वज्र से यजमान के पशुओं को तितर-बितर कर देता है और एक अध्वर्यु वज्र से ही यजमान के पशुओं को इकट्ठा कर देता है। जो अध्वर्यु श्रौषट् के लिए अग्नीध्र को कहने के पहले दायाँ पैर बाहर रखता है और श्रौषट् कहने पर बायाँ, वह यजमान के पशुओं को वज्र से तितर-बितर कर देता है, परन्तु जो श्रौषट् कहलवाने के पहले बायाँ पैर आगे रखता है और श्रौषट् के पीछे दायाँ, वह वज्र से यजमान के पशुओं को इकट्ठा करता है ॥३॥

अब इनको पकड़ने के विषय में। कुछ लोग अपने को चतुर समझकर हाथों को आगे फैलाकर स्रुचों को पकड़ते हैं। ऐसा न करना चाहिए। यदि कोई कहने लगे कि 'इस अध्वर्यु ने तो अपने बाहुओं को शूलों (बर्छी ?) के समान बना दिया तो वह शूलबाहु ही हो जाएगा।' तो ऐसा ही हो भी जायगा। नाभि मध्यम प्राण का स्थान है। उसी से लगकर स्रुचों को पकड़ना चाहिए ॥४॥

आश्रावणा या श्रौषट् की छः रीतियाँ हैं—

(१) न्यक् (उतार), (२) तिर्यक् (तिरछा), (३) ऊर्ध्व (चढ़ाव), (४) कृपण (धीरे-धीरे), (५) बहिःश्रि, (६) अन्तःश्रि ॥५॥

ऊँचे स्वर से आरम्भ करके नीचे स्वर से अन्त करना न्यक् है। जो कोई पापी होना चाहे वह ऊँचे स्वर से आरम्भ करके धीरे से समाप्त करे। वह पापी हो जायगा ॥६॥

तिर्यक् यह है कि जैसा आरम्भ करे वैसा ही अन्त करे। जो चाहे कि न श्रेयवाला होऊँ न पापी, वह जैसा आरम्भ करे वैसा ही अन्त करे। वह न श्रेयवाला होगा न पापी ॥७॥

ऊर्ध्व यह है कि धीरे से आरम्भ करे और उच्च स्वर से अन्त करे। जो श्रेयवाला होना चाहे वह धीरे से आरम्भ करके उच्च स्वर से अन्त करे। वह श्रेयवाला हो जायगा ॥८॥

कृपण वह है जो पतली-लम्बी और बेसुरी आवाज में श्रौषट् कहे। यदि कोई कहे कि 'इस अध्वर्यु ने यजमान को कृपण और शत्रु के अधीन कर दिया' तो ऐसा ही हो भी जायगा ॥९॥

बहिःश्रि वह है जो मुँह फाड़कर बेसुरी आवाज में चीखे, क्योंकि वह श्री को अपने में से बाहर निकाल देता है और भूखा रहता है ॥१०॥

अन्तःश्रि यह है कि जब होंठों को जोड़कर स्वर-सहित उच्च ध्वनि से श्रौषट् कहता है। श्री स्वर है। वह अपने भीतर श्री रखता है और अन्न से भरपूर होता है ॥११॥

छाती में साँस को गहरा रोककर दोनों शब्दों ('ओ३म् श्रावय') पर बृहत् साम का-सा बल देकर उच्च स्वर में समाप्त करे। यह अनुचित नहीं है। यह पशु और आयु दोनों के लिए शुभ है ॥१२॥

अब होन के विषय में—

तदेके कुशला मन्यमानाः प्राचीꣳ स्रुचमुपावहृत्य जुह्वा पर्याहृत्योपभृत्यधिनिद-
धति न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयादनुयुवं न्वाऽअयमध्वर्युर्यजमानमकद्विषतो
भ्रातृव्यस्यान्ववसायिनमितीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥१३॥ पार्श्वत उ हैके । स्रुच-
मुपावहृत्य जुह्वा पर्याहृत्योपभृत्यधिनिदधति न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाद-
तीर्थेन न्वाऽअयमध्वर्युराहुतीः प्रारौत्सीत्सं वा शरिष्यते घूर्णिर्वा भविष्यतीतीश्व-
रो ह तथैव स्यात् ॥१४॥ इत्थमेव कुर्यात् । प्राचीमेव स्रुचमुपावहृत्य जुह्वा
तेनैवाधिहृत्योपभृत्यधिनिदध्यात्तस्य नोपमीमाꣳसास्ति तत्पशव्यमायुष्यम् ॥१५॥
प्रदग्धाहुतिर्ह वाऽअन्योऽध्वर्युः । आहुतीर्हान्यः संतर्पयत्येष ह वै प्रदग्धाहुतिर-
ध्वर्युर्योऽयमाज्यꣳ जुह्वावदानानि जुहोत्येतꣳ ह वै तददृश्यमाना वागभ्युवाद प्रद-
ग्धाहुतिर्न्वाऽअयमध्वर्युरित्यथ हैना एष संतर्पयति योऽयमाज्यं जुह्वावदानानि
जुहोत्यथ पुनरन्तत आज्येनाभिजुहोत्येष हैनाः संतर्पयति तासाꣳ संतृप्तानां देवा
हिरण्मयांश्चमसान्पूरयन्ते ॥१६॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । यद्वाऽउपस्तीर्यावदा-
याभिघारयति तदेवैनाः संतर्पयति तासाꣳ संतृप्तानां देवा हिरण्मयांश्चमसान्पूर-
यन्तेऽयस्थूणागृहपतीनां वै शौल्बायनोऽध्वर्युरास ॥१७॥ स होवाच । इदमहेदꣳ
सत्रं कृशपश्वल्पाज्यमथायं गृहपतिरस्मीति मन्यतऽइति ॥१८॥ स होवाच । अ-
ध्वर्यवा वै नोऽकुत्र एते वै ते स्रुचौ ये त्वꣳ संवत्सरं नाशक आदातुं यद्वै त्वाह-
मेतयोरनुशिष्यां प्र प्रजया पशुभिर्जायेथा अभि स्वर्गं लोकं वहेरिति ॥१९॥ स
होवाच । उप त्वायानीति स होवाचात्र वाव खल्वर्हसि यो नः संवत्सरेऽध्व-
र्युर्भूरनुपेतायेव तऽएतद्ब्रवाणीति तस्माऽउ हैतदेव स्रुचोरादानमुवाच यदेतद्व्या-
ख्याम तस्मादेवंविदमेवाध्वर्युं कुर्वीत नानेवंविदम् ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥८ [४. २.]
॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०४ ॥ ॥

प्रजापतिर्वै प्रजाः सृजमानोऽतप्यत । तस्माच्छ्रान्तात्तपानाच्छ्रीरुदक्रामत्सा दीप्य-

कुछ लोग अपने को चतुर समझकर स्रुच को पूर्व की ओर मोड़कर आहुति देने के पश्चात् घुमाकर उसको उपभृत् पर रख देते हैं। ऐसा न करना चाहिए। यदि कोई कहने लगे कि 'इस अध्वर्यु ने यजमान को इसके दुष्ट शत्रु के अधीन कर दिया' तो वैसा ही हो जायगा ॥१३॥

कुछ लोग स्रुच को बगल से ले-जाकर आहुति देते हैं, उसके पश्चात् घुमाकर उसको उपभृत् के पास रख देते हैं। ऐसा न करे। यदि कोई कहने लगे कि 'इस अध्वर्यु ने अनुचित रीति का अवलम्बन करके आहुतियों को नष्ट कर दिया, तो यजमान नष्ट हो जायगा या उसे कीड़े खा जायँगे' तो ऐसा ही होगा ॥१४॥

ऐसा करना चाहिए—पूर्व की ओर स्रुच को ले-जाकर आहुति देवे। वहाँ से उसी प्रकार लाकर उपभृत् पर रख देवे। इसमें कोई अनुचित काम नहीं है। यह पशु और आयु के लिए शुभ है ॥१५॥

कोई अध्वर्यु तो ऐसा है जो आहुति को जला देता है (प्रदग्धाहुतिः) और कोई आहुतियों को तृप्त करता है। प्रदग्धाहुति अध्वर्यु वह है जो आज्य की आहुति देकर अवदान (काटे हुए टुकड़ों) की आहुति देता है। ऐसे के लिए ही लोग चुपके से कहते हैं कि यह अध्वर्यु प्रदग्धाहुति है। परन्तु जो घी की आहुति देकर फिर अवदानों की आहुति देता है और फिर उस पर घी की आहुति देता है वह आहुतियों को तृप्त करता है। इन आहुतियों के तृप्त होने पर देवता चमसों को सोने से भर देते हैं ॥१६॥

इस पर याज्ञवल्क्य का कथन है कि पहले घी की तह लगाकर उसपर अवदान रखकर फिर आघार डालते हैं, तो आहुतियाँ तृप्त हो जाती हैं और देवता चमसों को सोने से भर देते हैं। जिन लोगों का गृहपति अयस्थूण था उनका अध्वर्यु शौल्बायन था ॥१७॥

उसने कहा, 'यह सत्र (यज्ञ) दुबले पशुओंवाला (कृश पशु) और थोड़े घीवाला (अल्पाज्य) है और फिर भी यह पुरुष अपने को गृहपति मानता है' ॥१८॥

उसने उत्तर दिया, 'अध्वर्यु ! तूने हमारा अपमान किया। ये दो स्रुच हैं जिनको तू साल-भर तक पकड़ना भी नहीं सीखा। यदि मैं तुझे इनका प्रयोग सिखाता तो तू प्रजा और पशुवाला हो जाता और यजमान को स्वर्ग में ले जाता' ॥१९॥

उस (अध्वर्यु) ने उत्तर दिया—'मैं तेरा शिष्य हो जाऊँ।' उसने उत्तर दिया, 'तू हमारा साल-भर तक अध्वर्यु रहा, इसलिए अब भी सीख सकता है। तू मेरा शिष्य न भी होवे तो भी मैं तुझे यह सिखला दूँगा।' उसने उसको इस प्रकार चमसा पकड़ना सिखाया, जैसे हमने ऊपर वर्णन किया। इसलिए ऐसे को अध्वर्यु बनाना चाहिए जो इस सबको समझता है, और ऐसे को न बनाना चाहिए जो समझता न हो ॥२०॥

मित्रविन्देष्टिः

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

प्रजापति ने प्रजाओं को सृजने के उद्देश्य से तप किया। उस थके हुए और तपे हुए से श्री

माना भ्राजमाना लेलायन्त्यतिष्ठत्तां दीप्यमानां भ्राजमानां लेलायन्तीं देवा अभ्यध्यायन् ॥१॥ ते प्रजापतिमब्रुवन् । हनामेमामिदमस्या ददामहाऽइति स होवाच स्त्री वाऽएषा यच्छ्रीर्न वै स्त्रियं घ्नन्त्युत त्वाऽअस्या जीवन्त्याऽएवाददतऽइति ॥२॥ तस्या अग्निरन्नाद्यमादत्त । सोमो राज्यं वरुणः साम्राज्यं मित्रः क्षत्रमिन्द्रो बलं बृहस्पतिर्ब्रह्मवर्चसꣳ सविता राष्ट्रं पूषा भगꣳ सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि ॥३॥ सा प्रजापतिमब्रवीत् । आ वै मऽइदमदिषतेति स होवाच यज्ञेनैनान्पुनर्याचस्वेति ॥४॥ सैतां दशहविषमिष्टिमपश्यत् । आग्नेयमष्टाकपालं पुरोडाशꣳ सौम्यं चरुं वारुणं दशकपालं पुरोडाशं मैत्रं चरुमैन्द्रमेकादशकपालं पुरोडाशं बार्हस्पत्यं चरुꣳ सावित्रं द्वादशकपालं वाष्टाकपालं वा पुरोडाशं पौष्णं चरुꣳ सारस्वतं चरुं त्वाष्ट्रं दशकपालं पुरोडाशम् ॥५॥ तानेतयानुवाक्ययान्ववदत् । अग्निः सोमो वरुणो मित्र इन्द्रो बृहस्पतिः सविता यः सहस्री पूषा नो गोभिरवसा सरस्वती त्वष्टा रूपाणि समनक्तु यज्ञैरिति ते प्रत्युपातिष्ठन्त ॥६॥ तानेतया याज्यया । परस्तात्प्रतिलोमं प्रत्यैत्त्वष्टा रूपाणि ददती सरस्वती पूषा भगꣳ सविता मे ददातु बृहस्पतिर्ददिन्द्रो बलं मे मित्रः क्षत्रं वरुणः सोमोऽअग्निरिति ते पुनर्दानायाध्रियन्त ॥७॥ सैतानुपहोमानपश्यत् । अग्निरन्नादोऽन्नपतिरन्नाद्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादायाग्निरुदक्रामत्पुनरस्याऽअन्नाद्यमददात् ॥८॥ सोमो राजा राजपतिः । राज्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादाय सोम उदक्रामत्पुनरस्यै राज्यमददात् ॥९॥ वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः । साम्राज्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादाय वरुण उदक्रामत्पुनरस्यै साम्राज्यमददात् ॥१०॥ मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिः । क्षत्रमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादाय मित्र उदक्रामत्पुनरस्यै क्षत्रमददात् ॥११॥ इन्द्रो बलं बलपतिः । बलमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादायेन्द्र उदक्रामत्पुनरस्यै बलमददात् ॥१२॥ बृह-

निकली। वह ज्योतिर्मयी चमकती हुई और काँपती हुई खड़ी हुई। उस ज्योतिर्मयी, चमकती हुई तथा काँपती हुई पर देवों का ध्यान गया ।।१।।

उन्होंने प्रजापति से कहा, 'इसको मार डालें और इसका सब-कुछ छीन लें।' उसने कहा, 'यह श्री स्त्री है। स्त्री को मारते नहीं। उसको जीवित छोड़ देते हैं और माल छीन लेते हैं'।।२।।

अग्नि ने इसका अन्न ले लिया, सोम ने राज्य, वरुण ने साम्राज्य, मित्र ने क्षत्र, इन्द्र ने बल, बृहस्पति ने ब्रह्मवर्चस्, सविता ने राष्ट्र, पूषा ने धन, सरस्वती ने पुष्टि, त्वष्टा ने रूप ।।३।।

वह प्रजापति से बोली, 'इन्होंने मेरा सब-कुछ ले लिया।' प्रजापति ने कहा, 'यज्ञ के द्वारा फिर इनसे यही चीजें माँग ले' ।।४।।

उसने इस दस हवियोंवाली इष्टि को देखा। अग्नि का आठ कपालों का पुरोडाश, सोम का चरु, वरुण का दस कपाल का पुरोडाश, मित्र का चरु, इन्द्र का ग्यारह कपालों का पुरोडाश, बृहस्पति का चरु, सविता का बारह कपालों का या आठ कपालों का पुरोडाश, पूषा का चरु, सरस्वती का चरु, त्वष्टा का दस कपाल का पुरोडाश ।।५।।

उसने इनको इन अनुवाक्यों द्वारा बुलाया—अग्नि, सोम, वरुण, मित्र, इन्द्र, बृहस्पति, सहस्री सविता, पूषा, (पूषा हमको पशुओं से मिलावे), सरस्वती त्वष्टा रूपों से संयुक्त करे। वे उसके पास फिर आए ।।६।।

उसने अब इनको उल्टे क्रम से याज्यों के द्वारा बुलाया, 'त्वष्टा रूप दे, सरस्वती और पूषा श्री दे, सविता धन दे, इन्द्र बल दे, मित्र क्षत्र दे, वरुण, सोम और अग्नि।' उन्होंने उसका ये चीजें देनी चाहीं ।।७।।

उसने इन 'उपहोमों' को देखा।
"अग्निरन्नादोऽन्नपतिरन्नाद्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा।"
—अग्नि यह आहुति लेकर चला गया और अन्न दे गया ।।८।।

"सोमो राजा राजपतिः राज्यमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहा।"
—सोम आहुति लेकर चला गया और राज्य दे गया ।।९।।

"वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः साम्राज्यमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहा।"
—वरुण आहुति लेकर चला गया और उसको साम्राज्य दे गया ।।१०।।

"मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिः क्षत्रमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा।"
—मित्र आहुति लेकर चला गया और उसको क्षत्र दे गया ।।११।।

"इन्द्रो बलं बलपतिः बलमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा।"
—इन्द्र आहुति लेकर चला गया और उसको उसका बल लौटा गया ।।१२।।

स्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः । ब्रह्मवर्चसमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याकूतिमेवादाय बृहस्पतिरुदक्रामत्पुनरस्यै ब्रह्मवर्चसमददात् ॥१३॥ सविता राष्ट्रꣳ राष्ट्रपतिः । राष्ट्रमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याकूतिमेवादाय सवितोदक्रामत्पुनरस्यै राष्ट्रमददात् ॥१४॥ पूषा भगं भगपतिः । भगमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याकूतिमेवादाय पूषोदक्रामत्पुनरस्यै भगमददात् ॥१५॥ सरस्वती पुष्टिं पुष्टिपतिः । पुष्टिमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याकूतिमेवादाय सरस्वत्युदक्रामत्पुनरस्यै पुष्टिमददात् ॥१६॥ त्वष्टा रूपाणां रूपकृद्रूपपतिः । रूपेण पशूनस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याकूतिमेवादाय त्वष्टोदक्रामत्पुनरस्यै रूपेण पशूनददात् ॥१७॥ ता वा ऽएताः । दश देवता दश हवीꣳषि दशाकूतयो दश दक्षिणा दशंदशिनी विराट् श्रीर्विराट् श्रियाꣳ हैतद्विराज्यन्नाद्ये प्रतितिष्ठति ॥१८॥ तस्यै पञ्चदश सामिधेन्यो भवन्ति । उपाꣳशु देवता यजति पञ्च प्रयाजा भवन्ति त्रयो ऽनुयाजा एकꣳ समिष्टयजुः पुष्टिमन्तावाज्यभागावग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे-दिवे यशसं वीरवत्तमम् ॥ गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः सुमित्रः सोम नो भवेति ॥ सहस्रवत्यौ संयाज्ये नू नो रास्व सहस्रवत्तोकवत्पुष्टिमद्वसु द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम् ॥ उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः शं नः शोचा मरुद्वृधो ऽग्ने सहस्रसातम इति ॥१९॥ ताꣳ हैतां गोतमो राहूगणः । विदां चकार सा ह जनकं वैदेहं प्रत्युत्ससाद ताꣳ हाङ्गिरिब्राह्मणोक्तेष्वन्विवेष तामु ह याज्ञवल्क्यो विवेद स होवाच सहस्रं भो याज्ञवल्क्य दद्मो यस्मिन्वयं त्वयि मित्रविन्दामन्वविदामेति विन्दते मित्रꣳ राष्ट्रमस्य भवत्यप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति य एवं विद्वानेतयेष्ट्या यजते यो वैतदेवं वेद ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [४.३.] ॥॥

अथातो हविषः समृद्धिः । षड् वै ब्रह्मणो द्वारोऽग्निर्वायुरापश्चन्द्रमा विद्युदादित्यः ॥१॥ स य उपदग्धेन हविषा यजते । अग्निना ह स ब्रह्मणो द्वारेण

"बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः ब्रह्मवर्चसमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहा ।"
—बृहस्पति आहुति लेकर चला गया और उसको उसका ब्रह्मवर्चस् लौटा गया ।।१३।।

"सविता राष्ट्रँ राष्ट्रपतिः राष्ट्रमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा ।"
—सविता आहुति लेकर चला गया और उसका राष्ट्र उसको लौटा गया ।।१४।।

"पूषा भागं भगपतिः भगमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा ।"
—पूषा आहुति लेकर चला गया और उसको उसका धन लौटा गया ।।१५।।

"सरस्वती पुष्टिं पुष्टिपतिः पुष्टिमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहा ।"
—सरस्वती आहुति लेकर चली गई और उसको उसकी पुष्टि लौटा गई ।।१६।।

"त्वष्टा रूपाणां रूपकृद् रूपपतिः रूपेण पशूनस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहा ।"
—त्वष्टा आहुति लेकर चला गया और रूप के द्वारा पशुओं को लौटा गया ।।१७।।

ये दस देवता हैं, दस हवियाँ, दस आहुतियाँ। दस दक्षिणा, दस-दस अक्षर का विराट् होता है। विराट् श्री है। इस विराट् श्री में अन्न ठहरता है ।।१८।।

ये पन्द्रह सामिधेनियाँ होती हैं। चुपके से देवताओं के लिए यज्ञ करता है। पाँच प्रयाज होते हैं, तीन अनुयाज, एक समष्टि यजु। पीछे के आज्य-भागों में पुष्टि शब्द आता है—"अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्" (ऋ० १।१।३)—"अग्नि के द्वारा हम दिन-प्रतिदिन पुष्टि, यश, और वीरयुक्त धन पावें।" "गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः सुमित्रः सोम नो भव" (ऋ० १।९१।१२)—"हे सोम ! तू हमारे घर का बढ़ानेवाला, रोग का मारनेवाला, वसु का दिलानेवाला, पुष्टि का वर्धक, सुमित्र हो।" दो संयाजों में सहस्र शब्द आता है। "नूनो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमत्, वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्" (ऋ० ३।१३।७)—"हे अग्नि ! तू हमको बहुतायत से धन, पुष्टि, वसु, बहुल और अक्षय वीर्य दे।" "उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः। शं नः शोचा मरुद् वृधोऽग्ने सहस्रसातमः" (ऋ० ३।१३।६)—"हे हजारों चीजों के देनेवाले अग्नि ! प्रार्थनाओं में देवों से बुलाया तू हमारी प्रार्थना सुन। हे वायु से बढ़नेवाले तेज ! तू हमारे लिए कल्याणकारी हो" ।।१९।।

इस इष्टि को गोतम राहूगण ने देखा था। वह जनक वैदेह के पास चली गई। उसने इसे अंग (वेदांग) जाननेवाले ब्राह्मणों में तलाश किया। वह याज्ञवल्क्य में मिली। उसने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! तुझमें हमको यह मित्र विन्दा मिली है। हम तुझको हजार दान करते हैं। जो इस रहस्य को समझकर यह इष्टि करता है या इतना जानता है वह मित्र का लाभ करता है। इसका राष्ट्र इसका होता है, मृत्यु के चक्र को जीत लेता है, पूर्ण आयु को पाता है ।।२०।।

हविषः संवृद्धिः

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

अब हवि की समृद्धि के विषय में कहते हैं। ब्रह्म के छः द्वार हैं—अग्नि, वायु, जल, चन्द्रमा, विद्युत् और आदित्य ।।१।।

जो उपदग्ध (थोड़ी जली हुई) हवि से यज्ञ करता है वह ब्रह्म के अग्निद्वार से प्रवेश

प्रतिपद्यते सोऽग्निना ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकता जयति ॥२॥ अथ यो विपनितेन हविषा यजते । वायुना ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते स वायुना ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति ॥३॥ अथ योऽशृतेन हविषा यजते । अद्भिर्ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते सोऽद्भिर्ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिप॰ ॥४॥ अथ य उपरक्तेन हविषा यजते । चन्द्रमसा ह स ब्राह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते स चन्द्रमसा ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिप ॥५॥ अथ यो लोहितेन हविषा यजते । विद्युता ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते स विद्युता ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिप॰ ॥६॥ अथ यः सुशृतेन हविषा यजते । आदित्येन ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते स आदित्येन ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति सैषा हविषः समृद्धिः स यो हैवमेताꣳ हविषः समृद्धिं वेद सर्वसमृद्धेन हैवास्य हविषेष्टं भवति ॥७॥ अथातो यज्ञस्य समृद्धिः । यद्वै यज्ञस्य न्यूनं प्रजननमस्य तदथ यदतिरिक्तं पशव्यमस्य तदथ यत्संकसुकꣳ श्रियाऽअस्य तदथ यत्सम्पन्नꣳ स्वर्ग्यमस्य तत् ॥८॥ स यदि मन्येत । न्यूनं मे यज्ञोऽभूदिति प्रजननं मऽएतत्प्रजनिष्यऽइत्येव तदुपासीत ॥९॥ अथ यदि मन्येत । अतिरिक्तं मे यज्ञोऽभूदिति पशव्यं मऽएतत्पशुमान्भविष्यामीत्येव तदुपासीत ॥१०॥ अथ यदि मन्येत । संकसुकं मे यज्ञोऽभूदिति श्रियै मऽएतदा मा श्रीस्तेजसा यशसा ब्रह्मवर्चसेन परिवृता गमिष्यतीत्येव तदुपासीत ॥११॥ अथ यदि मन्येत । सम्पन्नं मे यज्ञोऽभूदिति स्वर्ग्यं मऽएतत्स्वर्गलोको भविष्यामीत्येव तदुपासीत सैषा यज्ञस्य समृद्धिः स यो हैवमेतां यज्ञस्य समृद्धिं वेद सर्वसमृद्धेन हैवास्य यज्ञेनेष्टं भवति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥२ [४. ४] ॥ चतुर्थोऽध्यायः [७०.] ॥ ॥

उर्वशी हाप्सराः । पुरूरवसमैडं चकमे तꣳ ह विन्दमानोवाच त्रिः स्म माह्नो

करता है। ब्रह्म के अग्निद्वार से प्रविष्ट होकर ब्रह्म के सायुज्य और सालोक्य को जीतता है ॥२॥

जो गिरी हुई हवि से यज्ञ करता है वह ब्रह्म के वायुद्वार से प्रविष्ट होता है। वह ब्रह्म के वायुद्वार से प्रवेश करके ब्रह्म के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है ॥३॥

जो बिना पकी हवि से यज्ञ करता है वह ब्रह्म के जलद्वार से प्रविष्ट होता है और जलद्वार से प्रविष्ट······॥४॥

जो कुछ-कुछ रक्तहवि से यज्ञ करता है, वह ब्रह्म के चन्द्रद्वार से प्रविष्ट होता है और चन्द्र द्वार से प्रविष्ट होकर······॥५॥

जो लाल (लोहित) हवि से यज्ञ करता है वह ब्रह्म के विद्युत्द्वार से घुसता है और विद्युत्-द्वार से घुसकर······॥६॥

जो भली-भाँति पकी हुई हवि से यज्ञ करता है वह ब्रह्म के आदित्यद्वार से घुसता है और ब्रह्म के आदित्यद्वार से घुसकर ब्रह्म के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है। जो हवि की इस समृद्धि या सफलता को जानता है उसकी इष्टि पूर्णतया सफल हो जाती है ॥७॥

अब यज्ञ की समृद्धि के विषय में कहते हैं। यज्ञ में जो कुछ न्यून रह जाता है, वह प्रजनन या संतानोत्पत्ति का दाता है। जो अतिरिक्त है वह पशु का दाता है। जो संकसुक अर्थात् बीच में गड़बड़ हो जाती है वह श्री का दाता है और जो सब प्रकार से पूर्ण हो जाता है वह स्वर्ग का दाता है ॥८॥

यदि उसे जान पड़े कि कुछ कमी रह गई तो समझ ले कि यह प्रजनन का दाता है, मेरे सन्तान होगी ॥९॥

यदि उसे जान पड़े कि कुछ अतिरिक्त (आधिक्य) हो गया है तो समझ लेना चाहिए कि यह पशुओं का दाता है, मैं पशुवाला हो जाऊँगा ॥१०॥

यदि उसे जान पड़े कि बीच में कुछ गड़बड़ हो गई है तो समझ लेना चाहिए कि यह श्री का दाता है। श्री तेज, यश और ब्रह्मवर्चस् से युक्त होगी ॥११॥

यदि जान पड़े कि यज्ञ सब प्रकार से ठीक हुआ तो समझ ले कि यह स्वर्ग का दाता है, मुझे स्वर्ग मिलेगा। यह है यज्ञ की समृद्धि। जो यज्ञ की इस समृद्धि को समझता है उसका यज्ञ सफल हो जाता है ॥१२॥

अरण्योरश्वत्थविकृतित्वविधानमाख्यायिकया

अध्याय ५—ब्राह्मण १

अप्सरा उर्वशी इडा के पुत्र पुरुरवा से प्रेम करने लगी और उसको विवाहने पर कहा कि

वैतसेन दण्डेन हतादकामाꣳ स्म मा निपद्यासै मो स्म त्वा नग्नं दर्शमेष वै न स्त्रीणामुपचार इति ॥१॥ सा हास्मिन्ज्योगुवास । अपि हास्माद्गर्भिण्यास तावज्ज्योग्घास्मिन्नुवास ततो ह गन्धर्वाः समूदिरे ज्योग्वाऽइयमुर्वशी मनुष्येष्ववात्सीदुपजानीत यथेयं पुनरागच्छेदिति तस्यै हाविर्द्व्युरणा शयनऽउपबद्धास ततो ह गन्धर्वा अन्यतरमुरणं प्रमेथुः ॥२॥ सा होवाच । अवीरऽइव बत मेऽजनऽइव पुत्रꣳ हरन्तीति द्वितीयं प्रमेथुः सा ह तथैवोवाच ॥३॥ अथ हायमीक्षां चक्रे । कथं नु तदवीरं कथमजनꣳ स्याद्यत्राहꣳ स्यामिति स नग्न एवानूत्पपात चिरं तन्मेने यद्वासः पर्यधास्यत ततो ह गन्धर्वा विद्युतं जनयां चक्रुस्तं यथा दिवैवं नग्नं ददर्श ततो हैवेयं तिरोबभूव पुनरैमीत्येत्तिरोभूताꣳ स आध्या जल्पन्कुरुक्षेत्रꣳ समया चचारान्यतःप्लक्षेति बिसवती तस्यै हाध्यन्तेन वव्राज तद्ध ता अप्सरस आतयो भूत्वा परिपुप्लुविरे ॥४॥ तꣳ हेयं ज्ञात्वोवाच । अयं वै स मनुष्यो यस्मिन्नहमवात्समिति ता होचुस्तस्मै वाऽआविरसामेति तथेति तस्मै हाविरासुः ॥५॥ ताꣳ हायं ज्ञात्वाभिपरोवाद । हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचाꣳसि मिश्रा कृणवावहै नु न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन्नित्युप नु रम सं नु वदावहाऽइति हैवैनां तदुवाच ॥६॥ तꣳ हेतरा प्रत्युवाच । किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वातऽइवाहमस्मीति न वै त्वं तदकरोर्यदहमब्रवं दुरापा वाऽअहं त्वयैतर्ह्यस्मि पुनर्गृहानिहीति हैवैनं तदुवाच ॥७॥ अथ हायं परिद्यून उवाच । सुदेवोऽअद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवाऽउ अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासोऽअद्युरिति सुदेवोऽद्योद्बध्नीत प्र वा पतेत्तदेनं वृका वा श्वानो वाद्युरिति हैव तदुवाच ॥८॥ तꣳ हेतरा प्रत्युवाच । पुरूरवो मा मृथा मा प्रपतो मा त्वा वृकासोऽअशिवास उ क्षन् न वै स्त्रैणानि सख्यानि

तीन बार से अधिक मेरा आलिंगन न करना, मेरी इच्छा के विरुद्ध न करना और मैं तुमको नंगा न देखूँ। यही स्त्रियों का उपचार है ।।१।।

वह बहुत दिनों उसके साथ रही। उससे उसको गर्भ भी रह गया जब वह उसके पास थी। तब गन्धर्वों ने कहा कि यह उर्वशी बहुत दिनों तक मनुष्यों में रही है। कोई ऐसा उपाय करो कि यह फिर हमारे बीच में वापस आ जाय। उसकी चारपाई से एक भेड़ दो बच्चों सहित बँधी रहा करती थी। गन्धर्व उनमें से एक मैंमने को चुरा ले गये ।।२।।

उसने कहा ये मेरे पुत्र को लिये जा रहे हैं, मानो यह स्थान अवीर या अजन है अर्थात् यहाँ कोई वीर या मनुष्य है ही नहीं। वे दूसरे मैंमने को भी ले गये। उसने तब भी यही कहा ।।३।।

तब उस (पुरुरवा) ने सोचा कि जहाँ मैं हूँ वह स्थान वीररहित और जनरहित कैसे हो सकता है? वह नंगा होने पर भी उनके पीछे दौड़ा। बहुत देर तक सोचता रहा कि कपड़े पहन लूँ। उस समय गन्धर्वों ने बिजली उत्पन्न कर दी और उर्वशी ने उसको दिन-समान नंगा देख लिया। वह उर्वशी झट लुप्त हो गई। वह यही कहने पाया था कि मैं आ रहा हूँ कि वह तिरोभूत हो गई। वह विलाप करता हुआ कुरुक्षेत्र में फिरता रहा। वहाँ एक झील है 'अन्यतः प्लक्षा'। वह इसके किनारे पर टहलता रहा। वहाँ अप्सरायें हंस के रूप में तैर रही थीं ।।४।।

उर्वशी उसको पहचानकर बोली, 'यह वही मनुष्य है जिसके साथ मैं रही थी।' वे कहने लगीं, 'अच्छा। हम इसके सामने प्रकट हो जायें।' उसने कहा, 'अच्छा' और वे प्रकट हो गईं ।।५।।

पुरुरवा ने उसको पहचान लिया और प्रार्थना की—"हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु। न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन्" (ऋ०१०।९५।१)—"हे क्रूर मनवाली पत्नी! तू ठहर, हम कुछ बातें कर लें। ये हमारी गुप्त बातें जब तब कही न जायँगी उस समय तक भविष्य में सुखकर न होंगी" अर्थात् ठहर, हम बातें कर लें ।।६।।

उर्वशी ने उत्तर दिया—"किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव। पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि" (ऋ० १०।९५।२)—"तुझसे ऐसी बातें करने से क्या? मैं पहली उषा के समान चली आई। हे पुरूरव! अब घर जा। मैं उस हवा के समान हूँ जो पकड़ी नहीं जा सकती।" उसका तात्पर्य यह था कि जो कुछ मैंने तुझसे कहा था वह तूने नहीं किया। अब मैं दुष्प्राप्य हवा के समान हूँ, तू घर जा ।।७।।

उसने खेद से कहा—"सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ। अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो ऽ अद्युः" (ऋ० १०।९५।१४)—"तेरा मित्र (अर्थात् मैं) बिना लौटे हुए चला जायेगा, दूरस्थ स्थान में। या निर्ऋति (मृत्यु) की गोद में बैठूँगा या भेड़िये मुझे खा लेंगे।" अर्थात् मैं आत्मघात कर लूँगा, मुझे भेड़िये या कुत्ते खा लेंगे ।।८।।

उर्वशी ने उसको प्रत्युत्तर दिया—"पुरूरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासोऽ अशिवास उ क्षन्। न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणाँ हृदयान्येता" (ऋ० १०।९५।१५)—"हे पुरूरव! मरो मत, मत भागो! तुमको भेड़िये न खावें। स्त्रियों की मैत्री ठीक नहीं होती। उनके

सन्ति सालावृकाणांं हृदयान्येतेति मैतदादृथा न वै स्त्रैणंं सख्यमस्ति पुनर्गृ-
हानिहीति हैवैनं तदुवाच ॥९॥ यद्विरूपाचरम् । मर्त्येष्ववसंं रात्रीः शरदश्च-
तस्रः घृतस्य स्तोकंं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामीति तदेतदु-
क्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुस्तस्यै ह हृदयमाव्ययां चकार ॥१०॥ सा हो-
वाच । संवत्सरतमींं रात्रिमागच्छतात्तन्म एकांं रात्रिमन्ते शयितासे जात उ ते
ऽयं तर्हि पुत्रो भवितेति स ह संवत्सरतमींं रात्रिमाजगामेद्धिरण्यविमितानि
ततो हैनमेकमूचुरेतत्प्रपद्यस्वेति तद्धास्मै तामुपप्रजिघ्युः ॥११॥ सा होवाच ।
गन्धर्वा वै ते प्रातर्वरं दातारस्तं वृणासा इति तं वै मे त्वमेव वृणीष्वेति यु-
ष्माकमेवैकोऽसानीति ब्रूतादिति तस्मै ह प्रातर्गन्धर्वा वरं ददुः स होवाच यु-
ष्माकमेवैकोऽसानीति ॥१२॥ ते होचुः । न वै सा मनुष्येष्वग्नेर्यज्ञिया तनूरस्ति
ययेष्ट्वास्माकमेकः स्यादिति तस्मै ह स्थाल्यामोप्याग्निं प्रददुरनेनेष्ट्वास्माकमेको भ-
विष्यसीति तं च ह कुमारं चादायावव्राज सोऽरण्य एवाग्निं निधाय कुमारेणैव
ग्राममेयाय पुनरैमीत्येत्तिरोभूतं योऽग्निरश्वत्थं तं या स्थाली शमींं तांं स ह पु-
नर्गन्धर्वानेयाय ॥१३॥ ते होचुः । संवत्सरं चातुष्प्राश्यमोदनं पच स एतस्यैवा-
श्वत्थस्य तिस्रस्तिस्रः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भिरभ्याधत्तात्स
यस्ततोऽग्निर्जनिता स एव स भवितेति ॥१४॥ ते होचुः । परोऽक्षमिव वा ए-
तदाश्वत्थीमेवोत्तरारणिं कुरुष्व शमीमयीमधरारणिंं स यस्ततोऽग्निर्जनिता स एव
स भवितेति ॥१५॥ ते होचुः । परोऽक्षमिव वा एतदाश्वत्थीमेवोत्तरारणिं कु-
रुष्वाश्वत्थीमधरारणिंं स यस्ततोऽग्निर्जनिता स एव स भवितेति ॥१६॥ स आ-
श्वत्थीमेवोत्तरारणिं चक्रे । आश्वत्थीमधरारणिंं स यस्ततोऽग्निर्जज्ञे स एव स
आस तेनेष्ट्वा गन्धर्वाणामेक आस तस्मादाश्वत्थीमेवोत्तरारणिं कुर्वीताश्वत्थीमध-
रारणिंं स यस्ततोऽग्निर्जायते स एव स भवति तेनेष्ट्वा गन्धर्वाणामेको भवति

हृदय भेड़ियों के-से होते हैं।'' अर्थात् तू इसकी परवाह न कर। स्त्रियों की मित्रता ठीक नहीं है, तू घर लौट जा ॥९॥

''यद् विरूपाचरम्, मर्त्येष्ववसꣳ रात्रीः शरदश्चतस्रः। घृतस्य स्तोकं सकृद् अह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि'' (ऋ० १०।९५।१६)—''जब रूप बदलकर मैं चार शरद् ऋतुओं की रातों में मनुष्यों में रही, तो रोज थोड़ा-सा घी खाती थी। उसीसे मैं संतुष्ट रही हूँ।'' यह पन्द्रह मन्त्रोंवाला वार्तालाप 'बह्वृचाः' लोग कहते आये हैं। उसका हृदय पिघल गया ॥१०॥

उस उर्वशी ने कहा—'आज से साल-भर पीछे अन्तिम रात्रि में मेरे पास आना और मेरे साथ सोना तो तेरा पुत्र होगा।' वह साल पीछे अन्तिम रात्रि को आया। देखा तो एक सोने का महल है। वहाँ लोगों ने केवल इतना कहा, 'चला आ।' फिर उर्वशी को उसके पास जाने दिया ॥११॥

उर्वशी बोली, कल प्रातः गन्धर्व तुझको वर देंगे। सो तू माँग लेना।' पुरुरवा ने कहा, 'तू ही बता कि क्या माँगूँ?' उसने कहा, 'यह वर माँग कि मैं तुममें से एक हो जाऊँ।' गन्धर्वों ने दूसरे दिन उसको वर माँगने को कहा। उसने माँगा कि 'मैं आप जैसा हो जाऊँ' ॥१२॥

वे बोले, 'मनुष्यों में अग्नि का वह यज्ञ के योग्य तनू (रूप) नहीं है, जिसमें यज्ञ करके हममें से एक हो सके।' उन्होंने थाली में अग्नि रखकर दी और कहा कि 'इसमें यज्ञ कर, हम-सा हो जायगा।' उसने वह आग और अपना पुत्र ले लिया और चला आया। उसने वन में अग्नि को रख दिया और केवल पुत्र को लेकर गाँव में आ गया। उसने कहा ही था कि 'मैं अभी आया', इतने में ही वह अग्नि लुप्त हो गई। जो अग्नि थी, उसका अश्वत्थ वृक्ष बन गया। जो थाली (कड़ाही) थी वह शमी बन गई। वह फिर उन गन्धर्वों के पास आया ॥१३॥

वे बोले, 'साल-भर तक चार आदमियों के योग्य भात पका। इस अश्वत्थ की तीन-तीन समिधायें घृत में डुबो, और उन मन्त्रों को पढ़कर जिनमें 'समिद्' और 'घृत' शब्द आवे, समिधा रख दो। जब वह अग्नि जलेगी, तो यह वही अग्नि होगी, जिसकी तुझको आवश्यकता है' ॥१४॥

वे बोले, 'परन्तु यह तो परोक्ष कृत्य है। अश्वत्थ की उत्तरारणि बना और शमी की अरणि। मथने से जो अग्नि उत्पन्न होगी वह वही अग्नि होगी' ॥१५॥

वे बोले, 'यह भी परोक्ष ही है। अश्वत्थ की ही अरणि बना और अश्वत्थ की ही उत्तरा-रणि। इनके मथने से जो अग्नि उत्पन्न होगी वह वही अग्नि होगी' ॥१६॥

उसने अश्वत्थ की ही उत्तरारणि बनाई, अश्वत्थ की ही अधरारणि। जो अग्नि उत्पन्न हुई वह वही अग्नि थी। वह यज्ञ करके गन्धर्वों में से एक हो गया। इसलिए अश्वत्थ की ही उत्तरा-रणि बनावे, अश्वत्थ की ही अधरारणि। इनसे जो अग्नि उत्पन्न होती है वह वही अग्नि है। इसमें यज्ञ करके गन्धर्व बन जाता है ॥१७॥

॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५.२.] ॥ ॥

प्रजापतिर्ह चातुर्मास्यैरात्मानं विदधे । स इममेव दक्षिणं बाहुं वैश्वदेवꣳ हविरकुरुत तस्यायमेवाङ्गुष्ठ आग्नेयꣳ हविरिदꣳ सौम्यमिदꣳ सावित्रꣳ ॥१॥ स वै वर्षिष्ठः पुरोडाशो भवति । तस्मादियमासां वर्षिष्ठेदꣳ सारस्वतमिदं पौष्णमथ य एष उपरिष्टाद्धस्तस्य संधिस्तन्मारुतमिदं वैश्वदेवं द्यावापृथिवीयं तद्वा ऽअनिरुक्तं भवति तस्मात्तदनिरुक्तम् ॥२॥ अयमेव दक्षिण ऊरुर्वरुणप्रघासाः । तस्य यानि पञ्च हवीꣳषि समायीनि ता इमाः पञ्चाङ्गुलयः कुल्फावेवैन्द्राग्नꣳ हविस्तद्धि द्विदेवत्यं भवति तस्मादिमौ द्वौ कुल्फाविदं वारुणमिदं मारुतमनूकं कायस्तद्वा ऽअनिरुक्तं भवति तस्मात्तदनिरुक्तम् ॥३॥ मुखमेवास्यानीकवतीष्टिः । मुखꣳ हि प्राणानामनीकमुरः सांतपनीयोरसा हि समिव तप्यत ऽउदरं गृहमेधीया प्रतिष्ठा वा ऽउदरं प्रतिष्ठित्या ऽएव शिश्नान्येवास्य क्रैडिनꣳ हविः शिश्नैर्हि क्रीडतीवायमेवावाङ् प्राण आदित्येष्टिः ॥४॥ अयमेवोत्तर ऊरुर्महाहविः । तस्य यानि पञ्च हवीꣳषि समायीनि ता इमाः पञ्चाङ्गुलयः कुल्फावेवैन्द्राग्नꣳ हविस्तद्धि द्विदेवत्यं भवति तस्मादिमौ द्वौ कुल्फाविदं माहेन्द्रमिदं वैश्वकर्मणं तद्वा ऽअनिरुक्तं भवति तस्मात्तदनिरुक्तमथ यदिदमन्तरुदरे तत्पितृयज्ञस्तद्वा ऽअनिरुक्तं भवति तस्मात्तदनिरुक्तम् ॥५॥ अयमेवोत्तरो बाहुः शुनासीरीयम् । तस्य यानि पञ्च हवीꣳषि समायीनि ता इमाः पञ्चाङ्गुलयोऽथ य एष उपरिष्टाद्धस्तस्य संधिस्तच्छुनासीरीयमिदं वायव्यं दोः सौर्यं तद्वा ऽअनिरुक्तं भवति तस्मात्तदनिरुक्तम् ॥६॥ तानि वा ऽएतानि । चातुर्मास्यानि त्रिषंधीनि द्विसमस्तानि तस्मादिमानि पुरुषस्याङ्गानि त्रिषंधीनि द्विसमस्तानि तेषां वै चतुर्णां द्वयोस्त्रीणि-त्रीणि हवीꣳष्यनिरुक्तानि भवन्ति द्वे-द्वे द्वयोः ॥७॥ तेषां वै चतुर्थमग्निं मन्थन्ति । तस्माच्चतुर्भिरङ्गैरायुते द्वयोः प्रणयन्ति तस्माद्द्वाभ्यामेत्येवमु ह प्रजापतिश्चातुर्मास्यैरात्मानं विदधे

चातुर्मास्ययाजिनो द्वैविध्यं दर्शयितुं तत्रत्यैर्यागैः शरीरावयवकल्पनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण २

प्रजापति ने चातुर्मास्य यज्ञ करके अपने लिए एक शरीर बनाया। वैश्वदेव हवि को दाहिनी बाहु बनाया, अग्नि की हवि को यह अंगूठा, सोम की हवि को बड़ी अँगुली, सविता की हवि को बीच की अँगुली ।।१।।

सविता का पुरोडाश बड़ा होता है इसलिए यह बीच की अँगुली भी बड़ी होती है। सरस्वती की हवि चौथी अँगुली है और पूषा की हवि सबसे छोटी अँगुली। मरुत् की हवि हाथ के ऊपर का जोड़ (कलाई) है और विश्वेदेवों की हवि कुहनी। द्यावापृथिवी की हवि यह भुजा है। यह हवि अनिरुक्त है, इसलिए यह अंग भी अनिरुक्त है ।।२।।

वरुणप्रघास दाहिनी जंघा है। पाँच वे आहुतियाँ जो औरों के समान हैं, पैर की अँगुलियाँ हैं। इन्द्र और अग्नि की हवियाँ कुल्फ (अँगुलियों के बीच के जोड़?) हैं। यह हवि दो देवताओं की होती है इसलिए कुल्फ भी दो होते हैं। वरुण की हवि पिंडली है, मरुत् की जाँघ। 'काय' की हवि रीढ़ है। यह आहुति अनिरुक्त है। इसलिए रीढ़ भी अनिरुक्त होती है ।।३।।

अग्नि अनीकवत् की इष्टि प्रजापति का मुख है। मुख प्राणों का अनीक या सिरा है। सांतपनीय हवि उर (छाती) है, क्योंकि छाती से ही मनुष्य घिरा हुआ है। गृहमेधीया हवि उदर है, प्रतिष्ठा के लिए, क्योंकि उदर प्रतिष्ठा है। क्रैडिन हवि शिश्न है, क्योंकि मनुष्य शिश्न से ही खेलता है। अदिति की हवि नीचे का प्राण है ।।४।।

महाहवि बाईं जाँघ है। जो पाँच एक-सी हवियाँ हैं वे पैर की अँगुलियाँ हैं। इन्द्र और अग्नि की हवि कुल्फ है। यह दो देवताओं की है इसलिए कुल्फ दो होते हैं। माहेन्द्र हवि यह पिंडली है। विश्वकर्मा की हवि जाँघ है। यह हवि अनिरुक्त है, अतः यह जाँघ भी अनिरुक्त है ।।५।।

शुनासीरीय बायाँ बाहु है। उसकी जो पाँच समान हवियाँ हैं वे पाँच अँगुलियाँ हैं। हाथ के ऊपर का जोड़ शुनासीरीय है। वायु की हवि कुहनी है। सूर्य की यह बाहु; यह हवि अनिरुक्त है, अतः यह अंग भी अनिरुक्त है ।।६।।

ये चातुर्मास्य हवियाँ तिहरी (तीन सन्धियों वाली) हैं और उनमें दो-दो जोड़ हैं। इसलिए पुरुष के ये अंग तीन संधिवाले हैं और उनमें दो-दो जोड़ हैं। इन चार में से दो हवियों की फिर तीन-तीन अनिरुक्त हवियाँ होती हैं और दो की दो-दो ।।७।।

इन चारों में अग्नि-मन्थन करते हैं। इसीलिए बैल चारों अंगों (चारों पैरों) से ढोते हैं। दो से अग्नि का प्रणयन (आगे को ले जाना) करते हैं। इसलिए बैल दो पैर एकसाथ रखकर चलता है। प्रजापति ने चातुर्मास्य हवियों द्वारा इस प्रकार अपना शरीर बनाया था। इसी प्रकार

तथोऽएवैवंविद्यजमानश्चातुर्मास्यैरात्मानं विधत्ते ॥८॥ तदाहुः । सर्वंगायत्रं वैश्वदेवꣳ हविः स्यात्सर्वंत्रैष्टुभं वरुणप्रघासाः सर्वंजागतं महाहविः सर्वानुष्टुभꣳ शुनासीरीयं चतुष्टोमस्यास्याऽइति तद्व तथा न कुर्याद्यद्वाऽएतान्यभिसम्पद्यन्ते तेनैवास्य स काम उपाप्तो भवति ॥९॥ तानि वाऽएतानि । चातुर्मास्यानि द्वाषष्टानि त्रीणि शतानि बृहत्यः सम्पद्यन्ते तदेभिः संवत्सरं च महाव्रतं चाप्नोत्यथो द्विप्रतिष्ठो वाऽअयं यजमानो यजमानमेवैतत्स्वर्गे लोकऽआयातयति प्रतिष्ठापयति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५. २.] ॥ ॥

शौचेयो ह प्राचीनयोग्यः । उद्दालकमारुणिमाजगाम ब्रह्मोद्यमग्निहोत्रं विविदिषामीति ॥१॥ स होवाच । गौतम का तेऽग्निहोत्री को वत्सः किमुपसृष्टा किꣳ संयोजनं किं दुह्यमानं किं दुग्धं किमाह्रियमाणं किमधिश्रितं किमवज्योत्यमानं किमद्भिः प्रत्यानीतं किमुद्वास्यमानं किमुद्वासितं किमुन्नीयमानं किमुन्नीतं किमुद्यतं किꣳ ह्रियमाणं किं निगृहीतम् ॥२॥ काꣳ समिधमादधासि का पूर्वाहुतिः किमुपासीषदः किमपैदिष्ठाः कोत्तराहुतिः ॥३॥ किꣳ हुत्वा प्रकम्पयसि । किꣳ स्रुचं परिमृज्य कूर्चे न्यमार्जीः किं द्वितीयं परिमृज्य दक्षिणातो हस्तमुपासीषदः किं पूर्वं प्राशीः किं द्वितीयं किमुत्सृप्यापाः किꣳ स्रुच्यप आनीय निरौक्षीः किं द्वितीयं किं तृतीयमेतां दिशमुदौक्षीः किं जघनेनाहवनीयमपो न्यनैषीः किꣳ समतिष्ठिपो यदि वाऽएतद्विद्वानग्निहोत्रमहौषीरथ ते हुतं यद्यु वाऽअविद्वानहुतमेव तऽइति ॥४॥ स होवाच । इडैव मे मानव्यग्निहोत्री वायव्यो वत्सः सजूरुपसृष्टा विराट् संयोजनमाश्विनं दुह्यमानं वैश्वदेवं दुग्धं वायव्यमाह्रियमाणमाग्नेयमधिश्रितमैन्द्राग्नमवज्योत्यमानं वारुणमद्भिः प्रत्यानीतं वायव्यमुद्वास्यमानं द्यावापृथिव्यमुद्वासितमाश्विनमुन्नीयमानं वैश्वदेवमुन्नीतं महादेवायोद्यतं वायव्यꣳ ह्रियमाणं वैष्णवं निगृहीतम् ॥५॥ अथ याꣳ समिधमादधामि । आहुतीनाꣳ सा प्र-

इस रहस्य को समझनेवाला यजमान चातुर्मास्य हवियों द्वारा अपना शरीर बनाता है ॥८॥

इस पर लोग कहते हैं कि वैश्वदेव हवि बिल्कुल गायत्री में ही होनी चाहिए, वरुणप्रघास त्रिष्टुप् में, महाहवि जगती में, शुनासीरीय अनुष्टुभ् में, जिससे चतुष्टोम की पूर्ति हो सके। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि ये हवियाँ भी इन छन्दों के बराबर हैं, इस प्रकार पूर्ति हो जाती है ॥९॥

ये चतुर्मास्य हवियाँ तीन सौ बासठ बृहती हैं। इनसे संवत्सर और महाव्रत दोनों की पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार यजमान के लिए भी दो प्रतिष्ठाएँ हो जाती हैं। वह इस प्रकार यजमान को स्वर्गलोक को ले जाता है और उसे वहाँ प्रतिष्ठित कर देता है ॥१०॥

प्रश्नप्रतिवचनैरग्निहोत्रहोमस्य सर्वदेवतृप्तिकरत्वप्रतिपादनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

'शौचेय प्राचीनयोग्य' उद्दालक आरुणि के पास ब्रह्मविद्या सीखने आया कि 'मैं अग्निहोत्र सीखना चाहता हूँ' ॥१॥

वह बोला, 'हे गौतम, अग्निहोत्री गाय क्या है, बछड़ा क्या है? उपसृष्टा (गाय का बछड़े से मिलाना) क्या है? संयोजन (बछड़े का गाय के दूध को मुँह में लेना) क्या है? दुहना क्या है? दूध क्या है? दूध का लाना क्या है? पकाना क्या है? उसको प्रकाश की सहायता से देखना क्या है? पानी डालना क्या है? आग पर से उठाकर ले चलना क्या है? ले-जा चुकना क्या है? पात्र में निकालना क्या है? निकाल चुकना क्या है? (आहवनीय में ले जाने के लिए) उठाना क्या है? ले चलना क्या है? रख देना क्या है? ॥२॥

किस समिधा को रखता है? पूर्व आहुति क्या है? इसको तुमने क्यों रख दिया? क्यों गार्हपत्य की ओर देखा? दूसरी आहुति क्या है? ॥३॥

आहुति देकर चम्मच को हिलाते क्यों हो? स्रुच को साफ करके कूची से क्यों माँजते हो? इसको दुबारा माँजकर वेदी के दक्षिण भाग में हाथ क्यों रखते हो? पहली बार दूध क्यों पिया? दूसरी बार क्यों? वेदी से हटकर जल क्यों पिया? स्रुच में पानी डालकर क्यों छिड़का? क्यों दुबारा? क्यों (उत्तर) दिशा में तिबारा? आहवनीय के पीछे जल क्यों छिड़का? समाप्ति क्यों की? यदि तुमने अग्निहोत्र समझकर किया है तब तो वस्तुतः अग्निहोत्र किया है। यदि बेजाने किया है तो न करने के तुल्य है' ॥४॥

उसने उत्तर दिया, 'मेरी अग्निहोत्री गाय है इडा मानवी। बछड़ा वायव्य (वायु सम्बन्धी) है। वायु का मेल उपसृष्टा है। संयोजन विराट् है, दूध दुहना अश्विन का है और दुह चुकना विश्वेदेवों का। लाना वायु का है और आग पर रखना अग्नि का। उस पर प्रकाश डालना इन्द्र-अग्नि का, जल छिड़कना वरुण का, आग से उठाना वायु का, ले चलना द्यौ और पृथिवी का, चमसे में निकालना अश्विनों का, निकाल चुकना विश्वेदेवों का, उठाना महादेव का, आहवनीय तक ले जाना वायु का, रख देना विष्णु का ॥५॥

जो समिधा मैंने रक्खी वह आहुतियों की प्रतिष्ठा है।

तिष्ठा या पूर्वाहुतिर्देवांस्तयाप्रैषं यद्दुपासीषदं बार्हस्पत्यं तस्माद्वैदिक्षीमं चामुं च लोकौ तेन समधां योत्तराहुतिर्मा तया स्वर्गे लोकेऽधाम् ॥६॥ अथ यद्धुत्वा प्रकम्पयामि । वायव्यं तस्मात्स्रुचं परिमृज्य कूर्चे न्यमार्क्षिषमोषधिवनस्पतींस्तेनाप्रैषं यद्द्वितीयं परिमृज्य दक्षिणातो हस्तमुपासीषदं पितृंस्तेनाप्रैषं यत्पूर्वं प्राशिषं मां तेनाप्रैषं यद्द्वितीयं प्रजां तेनाथ यद्दुत्सृप्यापां पशूंस्तेनाप्रैषं यत्स्रुच्यप आनीय निरौक्षिषᳫ सर्पदेवजनांस्तेनाप्रैषं यद्द्वितीयं गन्धर्वाप्सरसस्तेनाथ यत्तृतीयमेतां दिशमुदौक्षिषᳫ स्वर्गस्य लोकस्य तेन द्वारं व्यवारिषं यत्प्राघनेनाहवनीयमपो न्यनैषमस्मै लोकाय तेन वृष्टिमदां यत्समतिष्ठिपं यत्पृथिव्या ऊनं तत्तेनापूपुरमित्येतन्नौ भगवत्सहेति होवाच ॥७॥ शौचेयो ह्यतः । प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छेव प्राचीनयोग्येति स होवाच यस्मिन्कालऽउद्धृतास्तेऽग्नयः स्युरुपावहृतानि पात्राणि होष्यन्त्स्या अथ तऽआहवनीयोऽनुगच्छेदित्थ तद्भयं यदत्र जुह्वतो भवतीति वेदेति होवाच पुरा चिरादस्य ज्येष्ठः पुत्रो म्रियेत यस्यैतदविदितᳫ स्याद्विद्याभिस्त्वेवाहमतारिषमिति किं विदितं का प्रायश्चित्तिरिति प्राण उदानमप्यगादिति गार्हपत्यऽआहुतिं जुहुयाᳫ सैव प्रायश्चित्तिर्न तदागः कुर्वीयेत्येतन्नौ भगवन्त्सहेति होवाच ॥८॥ शौचेयो ह्यतः । प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छेव प्राचीनयोग्येति स होवाच यत्र तऽएतस्मिन्नेव काले गार्हपत्योऽनुगच्छेदित्थ तद्भयं यदत्र जुह्वतो भवतीति वेदेति होवाच पुरा चिरादस्य गृहपतिर्म्रियेत यस्यैतदविदितᳫ स्याद्विद्याभिस्त्वेवाहमतारिषमिति किं विदितं का प्रायश्चित्तिरित्युदानः प्राणमप्यगादित्याहवनीयऽआहुतिं जुहुयाᳫ सैव प्रायश्चित्तिर्न तदागः कुर्वीयेत्येतन्नौ भगवत्सहेति होवाच ॥९॥ शौचेयो ह्यतः । प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छेव प्राचीनयोग्येति स होवाच यत्र तऽएतस्मिन्नेव कालेऽन्वाहार्यपचनोऽनुगच्छेदित्थ तद्भयं यदत्र जुह्वतो भवतीति वेदेति होवाच पुरा चिरादस्य सर्वे पशवो

पहली आहुति से मैंने देवों को प्रसन्न किया। जब रख दिया तो बृहस्पति को। जब मैंने उधर को देखा तो इस लोक और परलोक को मिला दिया। दूसरी आहुति से मैंने अपने को स्वर्ग में रख दिया ॥६॥

आहुति देकर हिलाता हूँ, यह वायु का है। स्रुच को माँजकर कूची से साफ करता हूँ, इससे वनस्पति-ओषधियों को प्रसन्न करता हूँ। जब दुबारा साफ करके वेदी के दक्षिण भाग में हाथ रक्खा तो पितरों को तृप्त किया। पहले दूध पिया तो अपने को तृप्त किया। दुबारा पिया तो सन्तान को तृप्त किया। जब वेदी से हटकर जल पिया तो पशुओं को तृप्त किया। जब स्रुच में जल डालकर फैंका तो सर्पदेव जनों को तृप्त किया। दुबारा फैंका तो गन्धर्व अप्सराओं को, तीसरी बार जो फैंका तो स्वर्ग का द्वार खोल दिया। जब वेदी के पीछे पानी डाला तो इस लोक में वर्षा कराई। समाप्ति की तो पृथिवी में जो कमी थी उसकी पूर्ति की।' शौचेय बोला, 'इतना हम दोनों बराबर जानते हैं।' ॥७॥

इतना सुनकर शौचेय बोला, 'भगवन्! मैं एक प्रश्न और करूँगा।' उसने कहा, 'हे प्राचीनयोग्य, करो।' वह बोला, 'जब तुम्हारी अग्नियाँ निकाली गईं, और हवन के पात्र लाये गये, और तुम आहुति देने चले, उस समय यदि आहवनीय आग बुझ जाय तो जानते हो कि आहुति देनेवाले का क्या होगा?' उसने उत्तर दिया, 'हाँ, जानता हूँ। यदि उसको ज्ञान नहीं तो उसका ज्येष्ठ पुत्र मर जायगा। परन्तु मैं विद्याओं की सहायता से बच गया।' 'वह विद्या क्या है? और प्रायश्चित्त क्या?' 'प्राण उदान में चला गया। यह है वह विद्या। मैं गार्हपत्य में आहुति दे दूँगा—यही प्रायश्चित्त होगा। हम कोई पाप न करेंगे।' उसने कहा, 'इतना हम दोनों जानते हैं' ॥८॥

शौचेय ने इतना जानकर कहा, 'भगवन्! मैं एक प्रश्न और करना चाहता हूँ।' 'पूछो, प्राचीनयोग्य!' 'जब आहुति देते समय गार्हपत्य बुझ जाय तो जानते हो कि आहुति देनेवाले का क्या होगा?' 'हाँ, जानता हूँ। यदि उसे ज्ञान नहीं है तो गृहपति शीघ्र ही मर जायगा। मैं तो विद्याओं की सहायता से बच सका।' 'वह क्या विद्या है और प्रायश्चित्त क्या है?' 'उदान प्राण में मिल गया—यही विद्या है। आहवनीय में आहुति दूँगा—यही प्रायश्चित्त है। मुझे पाप न लगेगा।' वह बोला, 'इतना तो हम दोनों जानते हैं।' ॥९॥

शौचेय ने इतना जानकर कहा, 'भगवन्! मैं एक बात और पूछना चाहता हूँ।' 'पूछो प्राचीनयोग्य!' 'जब आहुति देते समय अन्वाहार्यपचन बुझ जाय तो आहुति देनेवाले का क्या होगा? क्या तुम जानते हो?' 'हाँ, जानता हूँ। यदि उसे ज्ञान नहीं है तो उसके सब पशु शीघ्र

म्निर्येरन्यस्यैतदविदितꣳ स्याद्विद्याभिस्त्वेवाहमतारिषमिति किं विदितं का प्रायश्चित्तिरिति व्यान उदानमप्यगादिति गार्हपत्यऽआहुतिं जुहुयाꣳ सैव प्रायश्चित्तिर्न तदागः कुर्वीयेत्येतन्नौ भगवन्त्सहेति होवाच ॥१०॥ शौचेयो ह्यसः । प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छेव प्राचीनयोग्येति स होवाच यत्र तऽएतस्मिन्नेव काले सर्वेऽग्नयोऽनुगच्छेयुर्वेत्थ तद्वयं यदत्र जुह्वतो भवतीति वेदेति होवाच पुरा चिरादस्यादायादं कुलꣳ स्याद्यस्यैतदविदितꣳ स्याद्विद्याभिस्त्वेवाहमतारिषमिति किं विदितं का प्रायश्चित्तिरिति पुरा चिरादग्निं मथित्वा यां दिशं वातो वायात्तां दिशमाहवनीयमुद्धृत्य वायव्यामाहुतिं जुहुयाꣳ स विद्याꣳ समृद्धं मेऽग्निहोत्रꣳ सर्वदेवत्यं वायुꣳ ह्येव सर्वाणि भूतान्यपियन्ति वायोः पुनर्विसृज्यन्ते सैव प्रायश्चित्तिर्न तदागः कुर्वीयेत्येतन्नौ भगवन्त्सहेति होवाच ॥११॥ शौचेयो ह्यसः । प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छेव प्राचीनयोग्येति स होवाच यत्र तऽएतस्मिन्नेव काले निवाते सर्वेऽग्नयोऽनुगच्छेयुर्वेत्थ तद्वयं यदत्र जुह्वती भवतीति वेदेति होवाचाप्रियमेवास्मिंल्लोके पश्येताप्रियममुष्मिन्यस्यैतदविदितꣳ स्याद्विद्याभिस्त्वेवाहमतारिषमिति किं विदितं का प्रायश्चित्तिरिति पुरा चिरादग्निं मथित्वा प्राञ्चमाहवनीयमुद्धृत्य जघनेनाहवनीयमुपविश्याहमेवैनत्पिबेयꣳ स विद्याꣳ समृद्धं मेऽग्निहोत्रꣳ सर्वदेवत्यं ब्राह्मणꣳ ह्येव सर्वाणि भूतान्यपियन्ति ब्राह्मणात्पुनर्विसृज्यन्ते सैव प्रायश्चित्तिर्न तदागः कुर्वीयेत्यथ वाऽअहमेतन्नावेदिषमिति होवाच ॥१२॥ शौचेयो ह्यसः । इमानि समित्काष्ठान्युपायानि भगवन्तमिति स होवाच यदेवं नावक्ष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यदेह्युपेहीति तथेति तꣳ होपनिन्ये तस्मै हैताꣳ शोकतरां व्याहृतिमुवाच यत्सत्यं तस्मादु सत्यमेव वदेत् ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥५
[५. ३.] ॥ ॥

ब्रह्मचर्यमागामित्याह । ब्रह्मणऽएवैतदात्मानं निवेदयति ब्रह्मचार्यसानीत्याह

मर जायेंगे। परन्तु मैं तो विद्याओं के सहारे बच सका हूँ।' 'वह विद्या क्या है और प्रायश्चित्त क्या है?' 'व्यान उदान में मिल गया, यही विद्या है। गार्हपत्य में आहुति दूँगा, यही प्रायश्चित्त है। इसमें पाप न होगा।' शौचेय बोला, 'इतना तो हम दोनों जानते हैं'॥१०॥

शौचेय ने इतना जानकर कहा, 'भगवन्! एक बात और पूछना चाहता हूँ।' 'पूछो प्राचीनयोग्य!' वह बोला, 'क्या तुम जानते हो कि यदि उस समय सब अग्नियाँ बुझ जायँ तो आहुति देनेवाले का क्या होगा?' 'हाँ, जानता हूँ। उसका कुल शीघ्र ही लावारिस (दायाद-रहित) हो जायगा, यदि उसको ज्ञान नहीं है तो। मैं तो विद्याओं की सहायता से बच सका हूँ।' 'वह विद्या क्या है और प्रायश्चित्त क्या है?' 'शीघ्र अग्नि को मथकर जिस दिशा में हवा बहती हो उसी दिशा में आहवनीय को ले-जाकर वायु के लिए आहुति दूँगा। मैं समझ लूँगा कि मेरा अग्निहोत्र सम्पूर्ण हो गया, क्योंकि यह सब देवताओं के लिए हो गया। सब भूत वायु में ही मिल जाते हैं और वायु से ही फिर निकलते हैं। यही प्रायश्चित्त है, इससे पाप नहीं लगता।' शौचेय बोला 'इतना हम दोनों जानते हैं'॥११॥

शौचेय इतना जानकर बोला, 'भगवन्! एक बात और पूछूँ?' 'हाँ पूछो, प्राचीन-योग्य!' उसने पूछा, 'उसी समय यदि वायु न चलता हो और सब अग्नियाँ बुझ जायँ तो क्या जानते हो कि आहुति देनेवाले का क्या होगा?' 'यदि उसे ज्ञान नहीं है तो इस लोक में इसका अप्रिय होगा और उस लोक में भी। परन्तु मैं तो विद्याओं के सहारे बच सका हूँ।' 'क्या विद्या है? क्या प्रायश्चित?' 'तुरन्त अग्नि को मथकर, आहवनीय को पूर्व को ले-जाकर, उसके पीछे बैठकर मैं स्वयं हवि के दूध को पी लूँगा और समझ लूँगा कि मेरा अग्निहोत्र पूर्ण हो गया। यह सब देवों के लिए है। ब्राह्मण में ही सब भूत मिल जाते हैं और ब्राह्मण से ही निकलते हैं। यही प्रायश्चित्ति है। इससे पाप नहीं लगेगा।' शौचेय बोला, 'यह बात मुझे ज्ञात न थी'॥१२॥

इतना जानकर शौचेय बोला, 'भगवन्! ये हैं समिधा। मैं आपका शिष्य होता हूँ।' 'यदि ऐसा न कहते तो तुम्हारा सिर गिर जाता। आओ! शिष्य बनो।' उसने उसको शिष्य बना लिया और उसको यह शोक दूर करनेवाला सत्य बताया। अतः सत्य ही बोलना चाहिए॥१३॥

उपनयनधर्मनिरूपणम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

"ब्रह्मचर्यमागाम्" (ब्रह्मचर्य को प्राप्त होऊँ)—अपने को ब्रह्म के सामने लाता है।

ब्राह्मण ऽएवैतदात्मानं परिददात्यथैनमाह को नामासीति प्रजापतिर्वै कः प्राजा
पत्यमेवैनं तत्कृत्वोपनयते ॥१॥ अथास्य हस्तं गृह्णाति । इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्नि-
राचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासावित्येते वै श्रेष्ठे बलिष्ठे देवते एताभ्यामेवैनꣳ श्रे-
ष्ठाभ्यां बलिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्ति-
मार्छति न स य एवं वेद ॥२॥ अथैनं भूतेभ्यः परिददाति । प्रजापतये त्वा परि-
ददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामीत्येते वै श्रेष्ठे वर्षिष्ठे देवते ऽएताभ्यामेवैनꣳ
श्रेष्ठाभ्यां वर्षिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चना-
र्तिमार्छति न स य एवं वेद ॥३॥ अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामीति । तदेनमद्भ्य-
श्चौषधिभ्यश्च परिददाति द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामीति तदेनमाभ्यां द्यावा-
पृथिवीभ्यां परिददाति ययोरिदꣳ सर्वमधि विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः पारददाम्यरिष्ट्या
ऽइति तदेनꣳ सर्वेभ्यो भूतेभ्यः परिददात्यरिष्ट्यै तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां च-
नार्तिमार्छति न स य एवं वेद ॥४॥ ॥ शतम्५८०० ॥ ॥ ब्रह्मचार्यसीत्याह ।
ब्राह्मण ऽएवैनं तत्परिददात्यपोऽशानेत्यमृतं वाऽआपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदा-
ह कर्म कुर्विति वीर्यं वै कर्म वीर्यं कुर्वित्येवैनं तदाह समिधमाधेहीति समि-
त्स्वात्मानं तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेत्येवैनं तदाह मा सुषुप्था इति मा मृथा इत्ये-
वैनं तदाहापोऽशानेत्यमृतं वाऽआपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदाह तदेनमुभयतो
ऽमृतेन परिगृह्णाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति न स य एवं
वेद ॥५॥ अथास्मै सावित्रीमन्वाह । ताꣳ ह स्मैतां पुरा संवत्सरेऽन्वाहुः सं-
वत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्म इति ॥६॥ अथ षट्-
सु मासेषु । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽए-
वास्मिंस्तद्वाचं दध्म इति ॥७॥ अथ चतुर्विꣳशत्यहे । चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सर-
स्यार्धमासाः संवत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्म इति

"ब्रह्मचार्यसानि" (मैं ब्रह्मचारी बनूं)—अपने को ब्रह्म के अर्पण करता है। "को नामासि?" 'क' है प्रजापति, इस प्रकार प्रजापति का बनाकर उनको ब्रह्मचारी बनाता है ।।१।।

अब इसका हाथ पकड़ता है "इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ" (इन्द्र का ब्रह्मचारी है तू। अग्नि तेरा आचार्य है। मैं तेरा आचार्य हूँ। तू अमुक नाम वाला)। ये दो देवता सबसे बली और सबसे श्रेष्ठ हैं। इन्हीं बलिष्ठ और श्रेष्ठ देवताओं के लिए अपने को अर्पण करता है। और इसका ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं फसता। न वह जो इसको जानता है ।।२।।

"प्रजापतये त्वा परिददामि।" इससे उसे प्राणियों के अर्पण करता है। "देवाय त्वा सवित्रे परिददामि।" ये देवता श्रेष्ठ और ज्येष्ठ हैं और इन्हीं के लिए स्वयं को अर्पण करता है। इसका ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं फँसता, न वह जो इसको जानता है ।।३।।

"अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि।" इससे उससे जलों और ओषधियों के अर्पण करता है। "द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि।" इससे उसको द्यौ और पृथिवी के अर्पण करता है, क्योंकि संसार इन्हीं दो के मध्य में है। "विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै।"—इससे वह उसको कल्याण के लिए सब भूतों के अर्पण करता है, इस प्रकार उसका ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं पड़ता, न वह जो इस रहस्य को समझता है ।।४।।

"ब्रह्मचार्यसि" (तू ब्रह्मचारी है) ऐसा कहकर वह उसको ब्रह्म के हवाले करता है। "अपोऽशान"—'आपः' अर्थात् जल अमृत हैं, इसलिए उसका तात्पर्य है कि "अमृत का पान कर।" "कर्म कुरु"—'कर्म' का अर्थ है वीर्य, तात्पर्य यह है कि "वीर्य का उपार्जन कर।" "समिधमाधेहि"—इससे तात्पर्य है कि "अपने आत्मा के तेज और ब्रह्मवर्चस् से प्रज्वलित कर।" "मा सुषुप्था"—इससे तात्पर्य है कि "मरे मत।" "अपोऽशान"—जल अमृत हैं, अर्थात् "अमृत पान कर।" इस प्रकार वह अमृत से उसको दोनों ओर से घेरता है। इससे इसका ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं फँसता, न वह जो इस रहस्य को जानता है ।।५।।

अब वह उसको सावित्री का उपदेश करता है। पहले सावित्री का उपदेश (उपनयन से) वर्ष-भर पीछे किया करते थे, क्योंकि गर्भ एक साल में उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने पर इसका उपदेश करें (तात्पर्य यह है कि यह (उपनयन) संस्कार द्वितीय गर्भस्थापना के समान है, इसलिए वर्षभर पीछे उत्पत्ति होगी और तभी सावित्री सिखाई जायगी) ।।६।।

या छः मास पीछे। संवत्सर में छः ऋतुएं हैं। संवत्सर में ही गर्भ जन्म लेते हैं। जब जन्म ले ले, तभी वाणी सिखाई जाय ।।७।।

या चौबीस दिन में। संवत्सर में चौबीस अर्द्ध-मास होते हैं। संवत्सर में ही गर्भ जन्म लेते हैं। जब जन्म ले-ले तब वाणी सिखाई जाय ।।८।।

॥८॥ अथ द्वादशाहे । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरसं° ॥९॥ अथ षडहे । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरसं° ॥१०॥ अथ त्र्यहे । त्रयो वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरसं° ॥११॥ तदपि श्लोकं गायन्ति । आचार्यो गर्भी भवति हस्तमाधाय दक्षिणम् तृतीयस्याᳬं स जायते सावित्र्या सह ब्राह्मण इति सद्यो ह त्वाव ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मणः सद्यो वाऽअग्निर्जायते तस्मात्सद्य एव ब्राह्मणायानुब्रूयात् ॥१२॥ ताᳬं हैतामेके । सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वाग्वाऽअनुष्टुप्तदस्मिन्वाचं दध्म इति न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयादा न्वाऽअयमस्य वाचमदित मूको भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात्तस्मादेतां गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात् ॥१३॥ अथ हैके दक्षिणतः । तिष्ठते वासीनाय वान्वाहुर्न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाद्बुल्बं न्वाऽअयमिममजीजनत बुल्बो भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात्तस्मात्पुरस्तादेव प्रतीचे समीक्षमाणायानुब्रूयात् ॥१४॥ तां वै पच्छोऽन्वाह । त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिंस्तद्दधात्यथार्धर्चशो द्वौ वाऽइमौ प्राणौ प्राणोदानाविव प्राणोदानावेवास्मिंस्तद्दधात्यथ कृत्स्नामेको वाऽअयं प्राणः कृत्स्न एव प्राणमेवास्मिंस्तत्कृत्स्नं दधाति ॥१५॥ तदाहुः । न ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यमुपनीय मिथुनं चरेद्गर्भो वाऽएष भवति यो ब्रह्मचर्यमुपैति नेदिमं ब्राह्मणं विषिक्ताद्रेतसो जनयानीति ॥१६॥ तदु वाऽआहुः । काममेव चरेद्द्वय्यो वाऽइमाः प्रजा दैव्यश्चैव मानुष्यश्च ता वाऽइमा मानुष्यः प्रजाः प्रजननात्प्रजायन्ते छन्दाᳬंसि वै दैव्यः प्रजास्तानि मुखतो जनयते तत एतं जनयते तस्मादु काममेव चरेत् ॥१७॥ तदाहुः । न ब्रह्मचारी सन्मध्वश्नीयादोषधीनां वाऽएष परमो रसो यन्मधु नेदन्नाद्यस्यान्तं गच्छानीत्यथ ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयो ब्रह्मचारी सन्मध्वश्नंस्त्रय्यै वाऽएतद्विद्यायै शिष्टं यन्मधु स तु रसो यस्येदृक्शिष्टमिति यथा ह वाऽऋचं वा यजुर्वा साम वाभिव्याहरेत्तादृक्तद्य एवं विद्वान्ब्रह्मचारी स-

या बारह दिन में। संवत्सर में बारह मास होते हैं—इत्यादि ॥९॥

या छः दिन में। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं—इत्यादि ॥१०॥

या तीन दिन में। संवत्सर में तीन ऋतुएँ होती हैं—इत्यादि ॥११॥

इस विषय में श्लोक गाते हैं—"आचार्यो गर्भी भवति हस्तमाधाय दक्षिणम्। तृतीयस्यां स जायते सावित्र्या सह ब्राह्मणः।"—"आचार्य दाहिना हाथ शिष्य के ऊपर रखने से गर्भी हो जाता है। वह ब्राह्मण सावित्री के साथ तीसरी रात को जन्म लेता है।" ब्राह्मण को तभी उपदेश कर दे, क्योंकि ब्राह्मण अग्नि का है। अग्नि तो क्षणभर में उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ब्राह्मण को (सावित्री का) उपदेश तभी कर दे ॥१२॥

कुछ लोग अनुष्टुभ् सावित्री को सिखाते हैं—'वाणी अनुष्टुप् है। इसमें वाणी की स्थापना कर दे।' परन्तु ऐसा न करे। इसे यदि कोई कहने लगे कि 'इसने आचार्य की वाणी ले ली, वह गूँगा हो जायगा' तो अवश्य ही ऐसा ही हो जायगा। इसलिए गायत्री सावित्री का ही उपदेश करना चाहिए ॥१३॥

कुछ लोग उस समय उपदेश करते हैं जब यह (ब्रह्मचारी) गुरु के दक्षिण की ओर खड़ा या बैठा हो। परन्तु ऐसा न करे। यदि कोई कहे कि 'आचार्य ने इस ब्रह्मचारी को तिरछा जाना, वह उसके विरुद्ध हो जाएगा' तो ऐसा ही होगा। इसलिए इस प्रकार उपदेश करना चाहिए कि आचार्य पूर्वाभिमुख हो और ब्रह्मचारी पश्चिमाभिमुख उसकी ओर देख रहा हो ॥१४॥

पहले वह पद-पद करके उपदेश करे। प्राण तीन हैं—प्राण, उदान, व्यान। इस प्रकार उन तीनों प्राणों को उसमें रखता है। फिर आधा-आधा मन्त्र। प्राण दो हैं—प्राण और उदान। प्राण और उदान को इस प्रकार इसमें रखता है। फिर पूरी सावित्री को। प्राण पूरा है। इस प्रकार पूरा प्राण इसमें रखता है ॥१५॥

इसके विषय में कहते हैं कि ब्राह्मण को ब्रह्मचारी बनाकर स्त्री-प्रसंग न करे। जो ब्रह्मचर्य धारण करता है वह गर्भ ही होता है। 'ऐसा न हो कि सिंचे हुए वीर्य से ब्रह्मचारी को उत्पन्न करूँ ऐसा समझ कर' ॥१६॥

इसपर कहते हैं कि यदि चाहे तो कर सकता है। प्रजा दो प्रकार की होती है—एक दैवी, दूसरी मानुषी। जो गर्भ से उत्पन्न होती है वह मानुषी प्रजा है। दैवी प्रजा छन्द हैं, ये मुख से उत्पन्न होते हैं। उसी से उस ब्रह्मचारी को उत्पन्न करता है। इसलिए यदि इच्छा हो तो स्त्री-प्रसंग करे ॥१७॥

इस पर कहते हैं कि ब्रह्मचारी शहद (मधु) न खावे। मधु अन्न का रस या अन्त है। ऐसा न हो कि वह अन्न के अन्त तक पहुँच जाए। परन्तु श्वेतकेतु आरुणेय ने ब्रह्मचारी होते हुए भी मधु खाया था। वह कहता था कि मधु त्रयी विद्या का शिष्ट (बचा भाग) है। जिसके पास यह शिष्ट भाग है वह स्वयं रस है।

यदि इस रहस्य को समझकर ब्रह्मचारी होता हुआ मधु खाता है तो वह ऋक्, यजु या

न्मधश्नाति तस्माद्व काममेवाश्नीयात् ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [५. ४.] ॥ ॥

देवान्वाऽऊर्ध्वान्त्स्वर्गं लोकं यतः । असुरास्तमसान्तरदधुस्ते होचुर्न वाऽअ-स्यान्येन सत्त्रादपघातोऽस्ति हन्त सत्त्रमासामहाऽइति ॥१॥ ते शताग्निष्टोमꣳ सत्त्रमुपेयुः । ते यावदासीनः परापश्येत्तावतस्तमोऽपाघ्नंस्तेवमेव शतोक्थ्येन या-वत्तिष्ठन्परापश्येत्तावतस्तमोऽपाघ्नत ॥२॥ ते होचुः । अप वाव तमो हन्महे न त्वेव सर्वमिव हन्त प्रजापतिं पितरं प्रत्ययामेति ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्यो-चुरसुरा वै नो भगव ऊर्ध्वान्त्स्वर्गं लोकं यतस्तमसान्तरदधुः ॥३॥ ते शताग्निष्टो-मꣳ सत्त्रमुपेम । ते यावदासीनः परापश्येत्तावतस्तमोऽपाहन्मह्येवमेव शतो-क्थ्येन यावत्तिष्ठन्परापश्येत्तावतस्तमोऽपाहन्महि प्र नो भगवञ्छाधि यथासुरां-स्तमोऽपहत्य सर्वं पाप्मानमपहत्य स्वर्गं लोकं प्रज्ञास्याम इति ॥४॥ स हो-वाच । असर्वक्रतुभ्यां वै यज्ञाभ्यामगन्त यदग्निष्टोमेन चोक्थ्येन च शतातिरात्रꣳ सत्त्रमुपेत तेनासुरांस्तमोऽपहत्य सर्वं पाप्मानमपहत्य स्वर्गं लोकं प्रज्ञास्यथेति ॥५॥ ते शतातिरात्रꣳ सत्त्रमुपेयुः । तेनासुरांस्तमोऽपहत्य सर्वं पाप्मानमपहत्य स्वर्गं लोकं प्रजज्ञुस्तेषामर्वाक्पश्वाशेषेवाहःस्वहरभि रात्रिसामानि परीयू रात्रि-मभ्यहःसामानि ॥६॥ ते होचुः । अमुह्याम वै न प्रजानीमो हन्त प्रजापतिमेव पितरं प्रत्ययामेति ते प्रजापतिमेव पितरं प्रतीत्योचुरहनो रात्रिसामानि रात्र्या-मह्नो भवन्ति नः विपश्चिद्यज्ञान्मुग्धान्विद्वान्धीरोऽनुशाधि न इति ॥७॥ ता-न्हैतदुपजगौ । महाह्निमिव वै ह्रदाद्बलीयानन्ववेत्य अनुत्त स्वादास्थानात्ततः सत्त्रं न तायतऽइति ॥८॥ आश्विनं वै वः शस्यमानम् । प्रातरनुवाकमास्थाना-दनुत्त यमास्थानादनुङ्क्ष्व धीराः सत्तोऽअधीरवत् प्रशास्त्रा तमुपेत शनैरप्रतिशꣳ-सतेति ॥९॥ ते होचुः । कथं नु भगवः शस्तं कथमप्रतिशस्तमिति स होवाच यत्र होताश्विनꣳ शꣳसन्नाग्नेयस्य क्रतोर्गायत्रस्य छन्दसः पारं गछात्तत्प्रतिप्रस्थाता

साम का पाठ करता है। इसलिए स्वच्छन्दता से खा सकता है ॥१८॥

शतातिरात्राख्यसत्रविधानमाख्यायिकया

अध्याय ५—ब्राह्मण ५

ऊपर स्वर्गलोक को जाते हुए देवों को असुरों ने अन्धकार से घेर लिया। देव कहने लगे कि सत्र से भिन्न इसका कोई इलाज नहीं है। इसलिए सत्र करें ॥१॥

उन्होंने सौ दिन के अग्निष्टोम का सत्र रचा और जितना बैठा हुआ आदमी देख सके उतनी दूर तक का अँधेरा दूर कर दिया। इसी प्रकार सौ उक्थ्यों के द्वारा उतना अँधेरा दूर कर दिया जितना आदमी खड़ा होकर देख सके ॥२॥

वे बोले, 'हमने अन्धकार तो दूर कर दिया परन्तु सम्पूर्ण नहीं। चलो, पिता प्रजापति के पास चलें।' वे पिता प्रजापति के पास गए और कहा, 'भगवन्! असुरों ने हमको ऊपर स्वर्ग जाते हुए अन्धकार से घेर लिया ॥३॥

हमने सौ दिन के अग्निष्टोम का सत्र रचा। इससे उतनी दूर का अन्धकार दूर भगा दिया, जितनी दूर मनुष्य बैठा हुआ देख सकता है। इसी प्रकार सौ उक्थ्यों द्वारा उतनी दूर का अन्धकार दूर कर दिया जितना खड़ा हुआ मनुष्य देख सकता है। श्रीमन्, कोई ऐसा उपाय बतावें कि असुरों और अन्धकार तथा सब पाप को दूर करके हम स्वर्गलोक जा सकें' ॥४॥

प्रजापति ने कहा, 'यह जो तुमने अग्निष्टोम और उक्थ्य से दो यज्ञ रचाये, ये तो पूर्ण सोम यज्ञ थे नहीं। सौ अतिरात्र का सत्र करो। उससे असुरों को और पापयुक्त अन्धकार को दूर करके स्वर्गलोक को जा सकोगे' ॥५॥

उन्होंने सौ अतिरात्र का सत्र रचा। उससे असुरों और पापयुक्त अन्धकार को दूर करके स्वर्गलोक को चले गए। इनमें से पहले पचास दिनों में रात के साम दिन में मिल गए और दिन के साम रात में ॥६॥

बोले, 'हमसे भूल हो गई। समझ में नहीं आया। चलो प्रजापति पिता के पास चलें।' वे पिता प्रजापति के पास जाकर बोले, 'हमारे रात के साम दिन में और दिन के साम रात में आ जाते हैं। आप विद्वान्, बुद्धिमान् हैं। हम मूढ़ हैं। हमको यज्ञों की विधि बताइए' ॥७॥

प्रजापति ने उनके सामने यह गाया, 'अपने स्थान अर्थात् तालाब से एक बड़ा साँप अत्यन्त पीछा करने के कारण चला गया है।'इसलिए सत्र हो नहीं रहा ॥८॥

तुम्हारे अश्विन के लिए स्तोत्र पढ़ने के कारण प्रातः-अनुवाक अपने स्थान से हट गए, धीर होते हुए तुमने अधीरों के समान जिसको अपने स्थान से हटा दिया। प्रशास्ता को चाहिए कि शनैः-शनैः बिना होता के काम में विघ्न डाले इनको पढ़ें' ॥९॥

वे बोले, 'भगवन्! शस्त्र कैसे पढ़ा जाए और बिना विघ्न डाले कैसे?' प्रजापति ने कहा, 'जब होता अश्विनों के लिए शस्त्र पढ़ता हुआ अग्नि के ऋतु या यज्ञ के गायत्र छन्द के अन्त

वसतीवरीः परिहृत्य मैत्रावरुणस्य हविर्धानयोः प्रातरनुवाकमुपाकुरुताद्धवैर्होता शꣳसति शनैरितरो जञ्जप्यमान-इवान्वाह तन्न वाचा वाचं प्रत्येति न छन्दसा छन्दः ॥१०॥ परिहिते प्रातरनुवाके । यथायतनमेवोपाꣳश्वन्तर्यामौ हुत्वा द्रोणकलशे पवित्रं प्रपीड्य निदधाति तिरोऽह्न्यैश्चरित्वा प्रत्यञ्चः प्रतिपरेत्य तिरोह्न्यानेव भक्षयाधाऽअथानुपूर्वं यज्ञपुच्छꣳ सꣳस्थाप्य यऽऊर्ध्वा अन्तर्यामाद्ग्रहास्तान्गृहीत्वा विप्रुषाꣳ होमꣳ हुत्वा संतनिं च बहिष्पवमानेन स्तुत्वाहरेव प्रतिपद्याधाऽइति ॥११॥ तदेतेऽभि श्लोकाः । चतुर्भिः सैन्धवैर्युक्तैर्धीरा व्यजहुस्तमः विद्वाꣳसो ये शतक्रतु देवाः सत्त्रमतन्वतेति ॥१२॥ चत्वारो ह्यत्र युक्ता भवन्ति । द्वौ होतारौ द्वावध्वर्यू पर्वैर्नु शक्रेव हूनूनि कल्पयन्नह्नोरन्तौ व्यतिषजन्त धीराः न दानवा यज्ञियं तन्तुमेषां विजानीमो विततं मोहयन्ति नः ॥ पूर्वस्याह्नः परिशिꣳषन्ति कर्म तदुत्तरेणाभिवितन्वतेऽह्ना दुर्विज्ञानं काव्यं देवतानाꣳ सोमाः सामैर्व्यतिषक्ताः प्रवन्ते ॥ समानात्सदमुज्जन्ति हयान्काष्ठभृतो यथा पूर्णान्यरिप्लुतः कुम्भान्जनमेजयसादनऽइत्यसुररक्षसान्यपेयुः ॥ १३ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ७ [५. ५.] ॥ ॥

पञ्चैव महायज्ञाः । तान्येव महासत्त्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ॥१॥ अहरहर्भूतेभ्यो बलिꣳ हरेत् । तथैतं भूतयज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहर्दद्यादोदपात्रात्तथैतं मनुष्ययज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहः स्वधाकुर्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहः स्वाहाकुर्यादा काष्ठात्तथैतं देवयज्ञꣳ समाप्नोति ॥२॥ अथ ब्रह्मयज्ञः । स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तꣳ ह वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददँल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयाꣳसं चाक्षय्यं य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥

तक पहुँचे तब प्रतिप्रस्थाता वसतीवरी को लेकर मित्र-वरुण के लिए हविर्धानों के बीच में प्रातः-अनुवाक को पढ़े। होता (अश्विन शस्त्र को) ऊँची आवाज में पढ़ता है और मैत्रावरुण प्रातरनुवाक् को धीरे-धीरे मुँह में पढ़ता है। इस प्रकार वह होता की वाणी का वाणी से या छन्द का छन्द से विरोध नहीं करता।।१०।।

प्रातरनुवाक पूरा होने पर प्रतिप्रस्थाता उपांशु और अन्तर्याम की यथासमय आहुति देकर पवित्रे को निचोड़कर द्रोणकलश में रख देता है, पके हुए सोम की आहुति देकर। सदस को लौटकर, पके हुए सोम के बचे भाग को पी ले। तब यज्ञ की पूँछ को नियमानुसार करके अन्तर्याम के पीछे के ग्रहों को लेकर बूँदों से होम करके संतनी और बहिष्पवमान से स्तुति करके दिन का कृत्य करे।।११।।

इस सम्बन्ध में ये श्लोक हैं—"चतुर्भिः सैन्धवैर्युक्तैर्धीरा व्यजहुस्तमः। विद्वाᳬंसो ये शतक्रतुदेवाः सत्रमतन्वत।"—"जिन विद्वान् देवों ने शतक्रतु यज्ञ कराया, उन्होंने चार जुते हुए घोड़ों के द्वारा अन्धकार को दूर भगा दिया" ।।१२।।

इस सत्र में चार घोड़े जुते हुए हैं—दो होता और दो अध्वर्यु। "पवेर्नु शक्वेव हनूनिकल्पयन्नह्नोरन्तौ व्यतिषजन्त धीराः। न दानवा यज्ञिये तन्तुमेषां विजानीमो वितते मोहयन्ति नः।" जैसे सिपाही बर्छी में भाला लगाता है, इसी प्रकार बुद्धिमानों ने दिनों के सिरों को मिला दिया है। अब हम जानते हैं कि हमारा रचाया हुआ यज्ञ का तन्तु दानव लोग बिगाड़ न सकेंगे। पहले दिन का काम छोड़ देते हैं और उसे दूसरे दिन पूरा करते हैं। देवों की बातें कठिनता से समझ में आती हैं। सोम, सोम से मिलकर बहता है। जैसे काम करनेवाले घोड़ों को पेट-भर पिलाते हैं इसी प्रकार जनमेजय के महल में वे सोम के घड़ों को देते हैं। तब असुर राक्षस भाग गए।।१३।।

पञ्चमहायज्ञानां महासत्रत्वप्रतिपादनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ६

पाँच महायज्ञ ही महासत्र हैं—भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ।।१।।

प्रतिदिन प्राणियों को भोजन (बलि) दे। इस प्रकार भूतयज्ञ होता है। दिन-प्रतिदिन जलपात्र तक मनुष्यों को दे। यह मनुष्ययज्ञ है। दिन-प्रतिदिन स्वधा करे जलपात्र तक। यह पितृयज्ञ है। दिन-प्रतिदिन स्वाहा करे काष्ठ तक। यह देवयज्ञ है।।२।।

अब ब्रह्मयज्ञ। स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ की जुहू वाणी है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, मेधा स्रुवा, सत्य अवभृथ स्नान है। स्वर्गलोक इसका अन्त है। इस पृथिवी को कितना ही धन से भरकर दक्षिणा में देकर इस लोक को जीते, उतने से तिगुना या इससे भी अधिक अक्षय्यलोक को वह विद्वान् प्राप्त होता है जो स्वाध्याय करता है। इसलिए स्वाध्याय अवश्य करे।।३।।

पयस्राहुतयो ह वाऽएता देवानाम् । यदृचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते पयस्राहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिर्घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन्स्वधा अभिवहन्ति ॥४॥ आज्याहुतयो ह वाऽएता देवानाम् । यद्यजूꣳषि स य एवं विद्वान्यजूꣳष्यहरहः स्वाध्यायमधीतऽआज्याहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति त ऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रे° ॥५॥ सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानाम् । यत्सामानि स य एवं विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते सोमाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन र° ॥६॥ मेदस्राहुतयो ह वा एता देवानाम् । यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसो ऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेदस्राहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रे° ॥७॥ मध्वाहुतयो ह वाऽएता देवानाम् । यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशꣳस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशꣳसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रे° ॥८॥ तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य । चत्वारो वषट्कारा यद्वातो वाति यद्विद्योतते यत्स्तनयति यदवस्फूर्जति तस्मादेवंविद्वाते वाति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्जत्यधीयीतैव वषट्काराणामच्छम्बट्कारायाति ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते गच्छति ब्रह्मणः सात्मताꣳ स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयादप्येकं देवपदमधीयीतैव तथा भूतेभ्यो न हीयते ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥ ८ [५. ६.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१११ ॥ ॥

अथातः स्वाध्यायप्रशꣳसा । प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान्त्साधयते सुखꣳ स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रि-

ऋचाएँ देवों की दूध की आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह दूध की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है। और वे तृप्त होकर इसको योगक्षेम, प्राण, वीर्य, सब आत्मा, सब पुण्यों, सम्पत्ति से तृप्त करते हैं। और पितरों को घी और मधु की नदियाँ बहती हैं सुधा के रूप में ॥४॥

ये जो यजु हैं वे देवों की आज्य-आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को जानकर प्रतिदिन यजुर्वेद पढ़ता है वह देवों को आज्य की आहुतियों से तृप्त करता है और वे तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण······इत्यादि ॥५॥

जो साम हैं वे देवों की सोम-आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर प्रतिदिन साम का स्वाध्याय करता है वह देवों को सोम-आहुतियों से तृप्त करता है और देव तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण···इत्यादि ॥६॥

जो अथर्ववेद है वह देवों के लिए मेद की आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर प्रतिदिन अथर्ववेद का स्वाध्याय करता है वह मेद की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है और वे तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण···इत्यादि ॥७॥

अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी ये देवों के लिए शहद की आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है वह देवों को शहद की आहुतियों से तृप्त करता है और ये तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण···इत्यादि ॥८॥

इस ब्रह्मयज्ञ के चार वषट्कार हैं—जो वायु चलता है, जो विद्युत् चमकती है, जो गर्जता है, जो ओले पड़ते हैं। इसलिए जब वायु चले, बिजली चमके, गर्जे या ओले पड़ें, स्वाध्याय अवश्य करे जिससे वषट्कार पूरे हो जाएँ। वह पुनर्जन्म से छूट जाता है, ब्रह्म की समानता को प्राप्त करता है जो ऐसा करता है। यदि किसी प्रबल कारण से स्वाध्याय न कर सके तो एक देवपद (वेद-वाक्य) को तो अवश्य ही पढ़ लेवे, तब वह प्राणियों में हीन नहीं समझा जाता ॥९॥

स्वाध्यायप्रशंसा

अध्याय ५—ब्राह्मण ७

स्वाध्याय की प्रशंसा—स्वाध्याय और प्रवचन (पढ़ाना) प्रिय होते हैं। वह मननशील, स्वाधीन हो जाता है, प्रतिदिन धन कमाता है, सुख से सोता है, अपना परम चिकित्सक है। उसकी

यसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान्ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिं लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ॥१॥ ये ह वै के च श्रमाः । इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥२॥ यद्यद्ध वाऽअयं छन्दसः । स्वाध्यायमधीते तेन-तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टं भवति य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥ यदि ह वा अप्यभ्यक्तः । अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीतऽआ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥४॥ मधु ह वाऽऋचः । घृतꣳ ह सामान्यमृतं यजूꣳषि यद्ध वाऽअयं वाकोवाक्यमधीते क्षीरौदनमाꣳसौदनौ हैव तौ ॥५॥ मधुना ह वाऽएष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः ॥६॥ घृतेन ह वाऽएष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ता° ॥७॥ अमृतेन ह वाऽएष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान्यजूꣳष्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ता° ॥८॥ क्षीरौदनमाꣳसौदनाभ्याꣳ ह वाऽएष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान्वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ता° ॥९॥ यन्ति वाऽआपः । एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वाऽएता देवता नेयुर्न कुर्युरेवꣳ हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंव्यां वाभिव्याहरेद्व्रतस्याव्यवच्छेदाय ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥१ [५.७.] ॥॥

प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत् । एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात्त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं

इन्द्रियाँ संयम में रहती हैं, एकरस रहता है, उसकी प्रज्ञा बढ़ती है, यश बढ़ता है और उसके लोग उन्नति करते हैं। प्रज्ञा के बढ़ने से ब्राह्मण-सम्बन्धी चार धर्मों को जानता है अर्थात् ब्रह्मकुल की नीति, अनुकूल आचरण, यश और स्वजन-वृद्धि। स्वजनवृद्ध होकर ब्राह्मण को चार धर्मों से युक्त करते हैं अर्थात् सत्कार, दान, कोई उसको सताता नहीं, कोई उसको मारता नहीं ॥१॥

इस द्यौ और पृथिवी के बीच में जो कुछ श्रम हैं, स्वाध्याय ही उनका अन्त है। जो इस रहस्य को जानकर स्वाध्याय करता है उसका यही अन्त है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥२॥

छन्द के जिस-जिस भाग का स्वाध्याय करता है, उस-उस इष्टि का उसको फल मिलता है जो इस रहस्य को जानकर यज्ञ करता है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥३॥

चाहे तेल लगाकर, अलंकृत होकर, मुलायम शय्या पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, वह नखों के अग्रभाग तक तप करता है, यदि वह यह रहस्य जानकर स्वाध्याय करता है। इस-लिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥४॥

ऋचाएँ मधु हैं, साम घी, यजु अमृत। जो वाकोवाक्य को पढ़ता है वह क्षीरौदन और मांसौदन के तुल्य है ॥५॥

जो इसको जानकर ऋग्वेद पढ़ता है, वह देवों को मधु से तृप्त करता है। वे इस प्रकार तृप्त होकर उसको सब कामनाओं और सब सुखों से तृप्त करते हैं ॥६॥

जो इसको जानकर प्रतिदिन सामवेद का स्वाध्याय करता है वह घृत से देवों को तृप्त करता है। इस प्रकार तृप्त होकर देव......इत्यादि ॥७॥

जो यह समझकर प्रतिदिन यजु का स्वाध्याय करता है, वह अमृत से देवों को तृप्त करता है और तृप्त होकर देव......इत्यादि ॥८॥

जो यह समझकर वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह देवों को क्षीरौदन और मांसौदन से तृप्त करता है और तृप्त होकर देव......इत्यादि ॥९॥

जल चलते हैं, आदित्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं। यदि एक ब्राह्मण किसी दिन स्वाध्याय न करे तो वह दिन ऐसा है जैसे उस दिन ये चलनेवाले पदार्थ अचल हो जायँ। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए। व्रत को जारी रखने के लिए एक ऋचा, एक यजु, एक साम या एक गाथा, एक कुंब्या (ब्राह्मणवाक्य) ही पढ़ लेनी चाहिए ॥१०॥

आख्यायिकया व्याहृत्युत्पत्तिकथनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ८

पहले अकेला प्रजापति था। उसने चाहा कि मैं सन्तानवाला हो जाऊँ। उसने श्रम किया, तप किया। उसके श्रम और तप से तीन लोक उत्पन्न हुए—पृथिवी, अन्तरिक्ष और

द्यौः ॥१॥ स इमांस्त्रींलोकानभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतीꣳष्यजायन्ता-ग्निर्योऽयं पवते सूर्यः ॥२॥ स इमानि त्रीणि ज्योतीꣳष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्य-स्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥३॥ स इमांस्त्रीन्वे-दानभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद्भुव इति यजुर्वेदा-त्स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यवꣳ सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम ॥४॥ ते देवाः प्रजापतिमब्रुवन् । यदि न ऋक्तो वा यजुष्टो वा सामतो वा यज्ञो ह्वलेत्केनैनं भिषज्येमेति ॥५॥ स होवाच । यद्यृक्तो भूरिति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा गार्हपत्ये जुहवथ यदि यजुष्टो भुव इति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाग्नीध्रीये जुहवथान्वाहार्यपचने वा ह-विर्यज्ञे यदि सामतः स्वरिति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाहवनीये जुहवथ यद्यु अ-विज्ञातमसत्सर्वाण्यनुद्रुत्याहवनीये जुहवथ तदृग्वेदेनैवऽर्ग्वेदं भिषज्यति यजुर्वे-देन यजुर्वेदꣳ सामवेदेन सामवेदꣳ स यथा पर्वणा पर्व संदध्यादेवꣳ हैव म सं-दधाति य एताभिर्भिषज्यत्यथ यो हातोऽन्येन भिषज्यति यथा शीर्णेन शीर्णꣳ संधित्सेद्यथा वा शीर्णे गरमभिनिदध्यादेवं तत्तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदम् ॥६॥ तदाहुः । यदृचा होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवꣳ साम्नोद्गीथोऽथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात् ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५.८.] ॥ ॥

प्रजापतिर्ह वाऽएष यदꣳशुः । सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्ययं प्रजापतिर्वागेवा-दाभ्यः स यदꣳशुं गृहीत्वादाभ्यं गृह्णात्यात्मानमेवास्यैतत्संस्कृत्य तस्मिन्नेतां वाचं प्रतिष्ठापयति ॥१॥ अथ मनो ह वाऽअꣳशुः । वागदाभ्यः प्राण एवाꣳशुरुदानो ऽदाभ्यश्चक्षुरेवाꣳशुः श्रोत्रमदाभ्यस्तद्यदेतौ ग्रहौ गृह्णन्ति सर्वत्वायैव कृत्स्नतायै ॥२॥ अथ देवाश्च ह वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त तऽएतस्मिन्नेव यज्ञे प्रजापतावस्पर्धन्तास्माकमयꣳ स्यादस्माकमयꣳ स्यादिति ॥३॥ ततो देवाः ।

द्यौ ॥१॥

उसने इन तीनों लोकों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं—पहली अग्नि, दूसरी वह जो बहती है अर्थात् वायु और तीसरी सूर्य ॥२॥

उसने इन तीन ज्योतियों को तपाया। उन तपी हुई से तीन वेद उत्पन्न हुए—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद ॥३॥

उसने इन तीनों वेदों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः। ऋग्वेद से होत्र को बनाया, यजुर्वेद से अध्वर्यव को, सामवेद से उद्गीथ को। त्रयी विद्या में जो शुक्र था उससे ब्रह्मत्व निकला ॥४॥

उन देवों ने प्रजापति को कहा, 'यदि हमारा यज्ञ ऋक् से, यजु से, साम से विफल हो जाय तो इसका क्या इलाज करें?' (अर्थात् यदि इन वेदों-सम्बन्धी कृत्य छूट जाय तो क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए?) ॥५॥

वह बोला, 'यदि ऋक् से विफल हो तो चार चम्मच घी लेकर गार्हपत्य अग्नि में 'भूः' से आहुति दे दो; अगर यजु से, तो 'भुवः' से चार चम्मच घी लेकर आग्नीध्रीय में आहुति दे दो, या हविर्यज्ञ करते हुए अन्वाहार्य पचन में; यदि साम से, तो 'स्वः' से चार चम्मच घी लेकर आहवनीय में आहुति देवे। यदि यह न जान पड़े कि कहाँ भूल हुई हो तो तीनों शब्द (भूः, भुवः, स्वः) जल्दी-जल्दी कहकर आहवनीय में आहुति देवे। इस प्रकार ऋग्वेद का ऋग्वेद से, यजुर्वेद का यजुर्वेद से, सामवेद का सामवेद से इलाज हो जाता है। जैसे कोई जोड़ पर जोड़ रख दे, वैसे ही यज्ञ के टूटे हुए भागों को जोड़ देता है जो इस प्रकार इलाज करता है। यदि अन्यथा करेगा तो ऐसा होगा जैसे टूटे हुए भाग से जोड़ना या टूटे हुए भाग पर विष रख देना। इसलिए ऐसे को ब्राह्मण बनाना चाहिए जो यह जानता हो; न जाननेवाले को नहीं ॥६॥

इसपर कहते हैं कि ऋग्वेद से होत्र (होता का काम) होता है, यजु से आध्वर्यव (अध्वर्यु का काम) और साम से उद्गीथ। फिर ब्रह्मत्व किससे? इसका उत्तर देना चाहिए कि इस त्रयी विद्या से ब्रह्मत्व ॥७॥

अंशवदाभ्ययोर्ग्रहयोरात्मवागादिरूपतया समुच्चित्यानुष्ठानम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ९

यह जो अंशु ग्रह है वह प्रजापति ही है। वह इसका आत्मा (शरीर) है। यह प्रजापति ही आत्मा है। अदाभ्य ग्रह वाक् है। अंशु ग्रह को लेकर तब अदाभ्य ग्रह को लेते हैं, अर्थात् शरीर का पहले संस्कार करके फिर उसमें वाणी की स्थापना करते हैं ॥१॥

मन अंशु है, वाक् अदाभ्य। अंशु प्राण है, अदाभ्य उदान। अंशु चक्षु है, अदाभ्य श्रोत्र। ये दोनों ग्रह सर्वत्व और पूर्णता के लिए ग्रहण किये जाते हैं ॥२॥

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान लड़ पड़े। वे यज्ञ या प्रजापति के विषय में लड़ पड़े, 'यह हमारा होगा' 'यह हमारा होगा' ॥३॥

तब देव लोग—

अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्त ऽएतं ग्रहं ददृशुरेतमदाभ्य तमगृह्णत ते सवनानि प्रावृह्णन्त ते सर्वं यज्ञँ समवृञ्जतान्तरायन्नसुरान्यज्ञात् ॥४॥ ते होचुः । अदभाम वा ऽएनानिति तस्माद्दाभ्यो न वै नोऽदभन्निति तस्माद्दाभ्यो वाग्वाऽअदाभ्यः सेयमदब्धा वाक्तस्माद्वेवादाभ्य एवँ ह वै द्विषतो भ्रातृव्यस्य सर्वं यज्ञँ संवृङ्क्ऽएवं द्विषन्तं भ्रातृव्यँ सर्वस्माद्यज्ञान्निर्भजति बहिर्धा करोति य ऽएवमेतद्वेद ॥५॥ स येनैव पात्रेणाँशुं गृह्णाति । तस्मिन्नेव पात्रे निग्राभ्याभ्योऽप आनीय तस्मिन्नेतानँशून्गृह्णाति ॥६॥ उपयामगृहीतोऽसि । अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीति गायत्रं प्रातःसवनं तत्प्रातःसवनं प्रवृह्णतीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामीति त्रैष्टुभं माध्यन्दिनँ सवनं तन्माध्यन्दिनँ सवनं प्रवृह्णति विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णामीति जागतं तृतीयसवनं तत्तृतीयसवनं प्रवृह्णत्यनुष्टुप्तेऽभिगर इति यद्वाऽऊर्ध्वँ सवनेभ्यस्तदानुष्टुभं तदेवैतत्प्रवृह्णति तन्नाभिषुणोति वज्रो वै ग्रावा वागदाभ्यो नेद्वज्रेणा वाचँ हिनसानीति ॥७॥ अँशूनेवाधूनोति । व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोम मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमीत्येता वै देवीरापस्तद्याश्चैव देवीरापो याश्चेमा मानुष्यस्ताभिरेवास्मिन्नेतदुभयीभी रसं दधाति ॥८॥ शुक्रं त्वा शुक्रऽआधूनोमीति । शुक्रँ ह्येतच्छुक्रऽआधूनोत्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिष्विति तदह्नश्चैवैनमेतद्रूपे सूर्यस्य च रश्मिष्वाधूनोति ॥९॥ ककुभँ रूपं वृषभस्य रोचते-बृहदिति । एतद्वै ककुभँ रूपं वृषभस्य रोचते बृहद्य एष तपति शुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगा इति तच्छुक्रमेवैतच्छुक्रस्य पुरोगां करोति सोमँ सोमस्य पुरोगां यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामीत्येतद्ध वाऽअस्यादाभ्यं नाम जागृवि यद्वाक्तद्वाचमेवैतद्वाचे गृह्णाति ॥१०॥ अथोपनिष्क्रम्य जुहोति । तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तत्सोममेवैतत्सोमाय जु-

पूजा और श्रम करते रहे। तब उन्होंने इस 'अदभ्य ग्रह' को देखा। उन्होंने उसको ग्रहण कर लिया। उन्होंने (तीनों) सवनों पर स्वत्व कर लिया। वह सब यज्ञ उसका हो गया और यज्ञ से असुरों को निकाल दिया ॥४॥

उन्होंने कहा, 'अदभाम' (हमने इनका नाश कर दिया), इसलिए इसका 'अदाभ्य' नाम हुआ, या 'अदभन्' (इन्होंने हमारा नाम नहीं लिया) इसलिए नाम हुआ 'अदाभ्य'। वाक् 'अदाभ्य' है। यह वाक् अदब्धा अर्थात् अक्षय्य है इसलिए इसका नाम 'अदाभ्य' हुआ। जो इसका ज्ञान रखता है, वह अपने शत्रु के समस्त यज्ञ पर स्वत्व कर लेता है और उस शत्रु को यज्ञ से निकाल देता है ॥५॥

जिस पात्र से अंशु ग्रह को लेता है, उसी पात्र में निग्राभ्यों से जल डालता है और उसी में इन अंशुओं अर्थात् सोमलता के टुकड़ों को रखता है—॥६॥

इस मन्त्र से—

"उपयाम गृहीतोऽसि। अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामि" (यजु० ८।४७)—"तू उपयाम नामक पात्र में लिखा गया है। अग्नि के लिए तुझ गायत्री छन्दवाले को लेता हूँ।" प्रातःसवन गायत्र है। इस प्रातःसवन पर स्वत्व करता है—"इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि" (यजु० ८।४७)—"इन्द्र के लिए तुझ त्रिष्टुप् छन्दवाले को लेता हूँ।" माध्यदिन का सवन त्रिष्टुप्वाला है। इस प्रकार मध्यदिन के सवन पर स्वत्व करता है—"विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णामि" (यजु० ८।४३)—"विश्वेदेवों के लिए तुझ जगती छन्दवाले को ग्रहण करता हूँ।" तृतीय सवन जगती छन्द का है। इस प्रकार तृतीय सवन पर स्वत्व करता है—"अनुष्टुप्ते ऽभिगरः" (यजु० ८।४७)—"अनुष्टुप् तेरी प्रशंसा है।" जो सवनों से ऊपर है वह अनुष्टुप् का है। उस पर भी स्वत्व कर लेता है। इन सोम के अंशों को कुचलता नहीं, क्योंकि पत्थर वज्र है और अदाभ्य वाक् है, कहीं वज्र से वाक् को हानि न पहुँचे ॥७॥

केवल उन टुकड़ों को हिलाता है, इस मन्त्र से—"व्रशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि, कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि, भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि, मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मधुन्तमानां त्वा पत्माधूनोमि (यजु० ८।४८)—"बहते हुए जलों के प्रवाह में मैं तुझको हिलाता हूँ। शब्द करते हुए जलों के प्रवाह में मैं तुझको हिलाता हूँ। कल्याणकारी जलों के प्रवाह में मैं तुझको हिलाता हूँ। प्रसन्नता करनेवाले जलों के प्रवाह में मैं तुझको हिलाता हूँ। मीठे जलों के प्रवाह में मैं तुझको हिलाता हूँ।" ये दैवी जल हैं। इस प्रकार जो दैवी जल हैं और जो मानुषी, उन दोनों के द्वारा उसमें रस स्थापित करता है ॥८॥

"शुक्रं त्वा शुक्रऽआधूनोमि" (यजु० ८।४८)—"तुझ चमकीले को चमकीले में हिलाता हूँ।" इस चमकीले को चमकीले में हिलाता है। "अह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु" (यजु० ८४८)—"दिन के रूप में, सूर्य की किरणों में।" वह इसको दिन के रूप में भी और सूर्य की किरणों में भी हिलाता है ॥९॥

"ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहत्" (यजु०८।४९)—"यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, उसका बड़ा चमकीला रूप चमकता है।" "शुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः" (यजु० ८।४९)—इस प्रकार वह चमकनेवाले सोम का चमकनेवाले सूर्य को अगुआ बनाता है, सोम को सोम का। "यत् ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि" (यजु० ८।४९)—"यह जो तेरा अदाभ्य (अक्षय्य) और जागृवि (जागरूक) नाम है उसके लिए मैं तुझको लेता हूँ।" वस्तुतः यह वाक् इसका अक्षय्य और जागरूक नाम है। इस प्रकार वाक् को वाक् के लिए लेता है ॥१०॥

(हविर्धान से आहवनीय तक) जाकर आहुति देता है—"तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा" (यजु० ८।४९)—इस प्रकार सोम के लिए सोम की आहुति देता है। अग्नि में वाणी को नहीं

ह्योति तथो वाचमग्नौ न प्रवृणक्त्यथ हिरण्यमभिव्यनित्यसाविव बन्धुस्तस्य तावतीरेव दक्षिणा यावतीरंशोः ॥११॥ अथांशून्पुनरप्यर्जति । उशिक्त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीह्येति सवनानि वाऽअदः प्रवृह्णति तान्येवैतत्पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५. १.] ॥ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [७१.] ॥ ॥

भृगुर्ह वै वारुणिः । वरुणं पितरं विद्ययातिमेने तद्ध वरुणो विदां चकाराति वै मा विद्यया मन्यतऽइति ॥१॥ स होवाच । प्राङ् पुत्रक व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वा दक्षिणा व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वा प्रत्यग्व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वोदग्व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वैतयोः पूर्वयोरुत्तरमन्ववान्तरदेशं व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तन्मऽआचक्षीथा इति ॥२॥ स ह तत एव प्राङ् प्रवव्राज । एड पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संवृश्च्य पर्वशो विभजमानानिदं तवेदं ममेति स होवाच भीष्मं बत भोः पुरुषान्वाऽएतत्पुरुषाः पर्वाण्येषां पर्वशः संवृश्च्य पर्वशो व्यभक्षतेति ते होचुरित्थं वाऽइमेऽस्मानमुष्मिंल्लोकेऽसचन्त तान्वयमिदमिह प्रतिसचामहाऽइति स होवाचास्तीह प्रायश्चित्तीश्रित्यस्तीति का-ति पिता ते वेदेति ॥३॥ स ह तत एव दक्षिणा प्रवव्राज । एड पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संकर्त पर्वशो विभजमानानिदं तवेदं ममेति स होवाच भीष्मं बत भोः पुरुषान्वाऽएतत्पुरुषाः पर्वाण्येषां पर्वशः संकर्त पर्वशो व्यभक्षतेति ते होचुरित्थं वा इमेऽस्मानमुष्मिंल्लोकेऽसचन्त तान्वयमिदमिह प्रतिसचामहाऽइति स होवाचास्तीह प्रायश्चित्तीश्रित्यस्तीति का-ति पितैव ते वेदेति ॥४॥ स ह तत एव प्रत्यङ् प्रवव्राज । एड पुरुषैः पुरुषांस्तूष्णीमासीनांस्तूष्णीमासीनैरद्यमानान्स होवाच भीष्मं बत भोः पुरुषान्वाऽएतत्पुरुषास्तूष्णीमासीनांस्तूष्णीमासीना अदन्तीति ते होचुरित्थं

फेंकता। स्वर्ण के ऊपर फूंकता है। इसका वही तात्पर्य है। उतनी ही दक्षिणा देता है जितनी अंशु पर दी थी ॥११॥

अब सोम के टुकड़ों को फिर हविर्धान में फेंक देता है, इस मन्त्र से—"उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत् सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रिय पाथोऽपीहि" (यजु० ८।५०)—"हे देव सोम, तू प्रसन्नता से अग्नि के अन्न में प्रवेश कर। हे देव सोम, तू इन्द्र के प्रिय अन्न में प्रवेश कर। हे देव सोम, तू हमारा सखा होकर विश्वेदेवों के प्रिय अन्न में प्रवेश कर।" पहले जो सवनों पर स्वत्व कर लिया था, उनको फिर वापस देता है। उनको 'अयातयाम' (जारी रहते हुए, जिनका अभी अन्त नहीं हुआ ऐसे) बनाता है। इन्हीं से यज्ञ रचता है ॥१२॥

आख्यायिकया समिदाधानादीनां वनस्पत्यादिरूपफलप्राप्तिसाधनताकथनम्

अध्याय ६—ब्राह्मण १

वरुण का पुत्र भृगु अपने को विद्या में अपने बाप वरुण से अधिक मानता था। वरुण को मालूम हो गया कि यह अपने को विद्या में मुझसे अधिक मानता है ॥१॥

उसने कहा, 'हे पुत्र, तू पूर्व को जा। वहाँ जो देखे उसको देखकर दक्षिण को जाना। वहाँ जो देखे उसको देखकर पश्चिम को जाना। वहाँ जो देखे उसको देखकर उत्तर को जाना। वहाँ जो देखे उसको देखकर सामने इन दिशाओं के बीच के उत्तर को (उत्तर-पूर्व दिशा में ?) जाना। वहाँ जो देखे उसको देखकर मुझे बताना' ॥२॥

वह वहाँ से पूर्व को गया। वहाँ उसने देखा कि पुरुष, पुरुषों के टुकड़े-टुकड़े करके कह रहे हैं कि 'यह तेरा, यह मेरा'। वह बोला, 'यह तो बड़ी भयंकर बात है कि पुरुष, पुरुष के टुकड़े कर काटते हैं!' वे बोले, 'उन्होंने हमारे साथ उस जन्म में ऐसा ही किया था। हम भी उसके बदले में इनके साथ ऐसा ही कर रहे हैं।' उसने कहा, 'कुछ इसका प्रायश्चित्त भी है?' वे बोले, 'तेरा बाप इसको जानता है' ॥३॥

वहाँ से वह दक्षिण को गया। वहाँ भी उसने देखा कि पुरुष, पुरुष के टुकड़े करके काट रहे हैं और कहते हैं कि यह तेरा, यह मेरा। वह बोला, 'यह तो बड़ी भयंकर बात है कि पुरुष, पुरुषों के टुकड़े-टुकड़े करके इस प्रकार बाँट रहे हैं!' वे बोले, 'इन लोगों ने उस जन्म में हमारे साथ ऐसा ही किया था। हम भी बदले में उनके साथ वैसा ही कर रहे हैं।' उसने पूछा, 'क्या इसका कोई प्रायश्चित्त भी है?' उन्होंने कहा, 'है।' 'क्या?' 'तेरा बाप जानता है' ॥४॥

अब वह वहाँ से पश्चिम को चला। वहाँ चुपचाप बैठे लोग चुपचाप बैठे लोगों को खा रहे थे। उसने कहा, 'कितनी भयंकर बात है! चुपचाप बैठे हुए लोग चुपचाप बैठे हुए लोगों को

वाऽइमेऽस्मानमुष्मिंल्लोकऽसचन्त तान्वयमिदमिह प्रतिसचामहाऽइति स होवा-चास्तीह प्रायश्चित्तीः३रित्यस्तीति का-ति पितैव ते वेदेति ॥५॥ स ह तत ए-वोदङ् प्रवव्राज । एतु पुरुषैः पुरुषानाक्रन्दयत आक्रन्दयद्भिरद्यमानान्त्स होवाच भीष्मं बत भोः पुरुषान्वा एतत्पुरुषा आक्रन्दयत आक्रन्दयन्तोऽदन्तीति ते हो-चुरित्थं वाऽइमेऽस्मानमु° ॥६॥ स ह तत एवैतयोः पूर्वयोः । उत्तरमन्ववान्तर-देशं प्रवव्राजेतु स्त्रियौ कल्याणी चातिकल्याणीं च तेऽअन्तरेण पुरुषः कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिस्तस्थौ त७ हैनं दृष्ट्वा भीर्विवेद स हेत्य संविवेश त७ ह पितोवाचाधीष्व स्वाध्यायं कस्मान्नु स्वाध्यायं नाधीषऽइति स होवाच किमध्येष्ये न किं चनास्तीति तद्ध वरुणो विदां चकाराद्यागवाऽइति ॥७॥ स होवाच । यान्वै तत्प्राच्यां दिश्यद्राक्षीः पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संवृश्च्य पर्वशो वि-भजमानानिदं तवेदं ममेति वनस्पतयो वै तेऽअभूवन्त्स यद्वनस्पतीना७ समिध-मादधाति तेन वनस्पतीनवरुन्द्धे तेन वनस्पतीनां लोकं जयति ॥८॥ अथ या-नेतद्दक्षिणायां दिश्यद्राक्षीः । पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संकर्त पर्वशो वि-भजमानानिदं तवेदं ममेति पशवो वै तेऽअभूवन्त्स यत्पयसा जुहोति तेन पशू-नवरुन्द्धे तेन पशूनां लोकं जयति ॥९॥ अथ यानेतत्प्रतीच्यां दिश्यद्राचीः । पु-रुषैः पुरुषांस्तूष्णीमासीनांस्तूष्णीमासीनैरद्यमानानोषधयो वै ता अभूवन्त्स यत्तृणे-नावज्योतयति तेनौषधीरवरुन्द्धे तेनौषधीनां लोकं जयति ॥१०॥ अथ यानेत-दुदीच्यां दिश्यद्राक्षीः । पुरुषैः पुरुषानाक्रन्दयत आक्रन्दयद्भिरद्यमानानापो वै ता अभूवन्त्स यदपः प्रत्यानयति तेनापोऽवरुन्द्धे तेनापां लोकं जयति ॥११॥ अथ येऽएते । स्त्रियावद्राक्षीः कल्याणीं चातिकल्याणीं च सा या कल्याणी सा श्रद्धा स यत्पूर्वामाहुतिं जुहोति तेन श्रद्धामवरुन्द्धे तेन श्रद्धां जयत्यथ यातिकल्याणी साश्रद्धा स यदुत्तरामाहुतिं जुहोति तेनाश्रद्धामवरुन्द्धे तेनाश्रद्धां जयति ॥१२॥

खा रहे हैं !' उन्होंने कहा, 'इन्होंने उस जन्म में हमारे साथ ऐसा ही किया था। हम भी इनके साथ बदले में ऐसा ही करते हैं। उसने पूछा, 'क्या इसका कोई प्रायश्चित्त भी है ?' 'है।' 'क्या है ?' 'तेरा पिता जानता है।' ॥५॥

वहाँ से वह उत्तर को गया। वहाँ चिल्लाते हुए लोग चिल्लाते हुए लोगों को खा रहे थे। उसने कहा, 'बड़ी भयंकर बात है कि चिल्लाते हुए लोग चिल्लाते हुए लोगों को खा रहे हैं !' वे बोले, 'इन्होंने हमारे······इत्यादि' ॥६॥

वहाँ से वह इन दो पूर्व की दिशाओं के उत्तर में गया। वहाँ दो स्त्रियाँ थीं—एक सुन्दर और दूसरी अति सुन्दर। उनके बीच में एक काला, पीली आँखोंवाला और हाथ में डंडा लिये आदमी था। उसको देखकर उसे डर लगा। वह घर गया और बैठ गया। पिता बोला, 'स्वाध्याय कर। स्वाध्याय क्यों नहीं करता ?' वह बोला, 'क्या पढ़ूँ ? कुछ तो है नहीं।' तब वरुण ने जाना कि इसने देख लिया ॥७॥

पिता ने कहा, 'यह जो तूने पूर्व दिशा में देखा कि पुरुष पुरुष के टुकड़े करके बाँट रहे हैं कि यह तेरा, यह मेरा, ये वनस्पतियाँ थीं। जब मनुष्य वनस्पतियों से समिधा लेकर रखता है तो उससे वनस्पतियों को अधीन करता है, उससे वनस्पतियों के लोक को जीतता है ॥८॥

यह जो दक्षिण दिशा में देखा कि पुरुष पुरुष के पोरे काट-काटकर बाँट रहे हैं, यह तेरा है यह मेरा, ये सब पशु थे। जब वह दूध की आहुति देता है तो पशुओं पर स्वत्व करता है, पशुओं के लोक को जीतता है ॥९॥

यह जो तूने पश्चिम दिशा में देखा कि पुरुष पुरुषों को चुपचाप बैठे खा रहे हैं, वे ओषधियाँ थीं। जब वह तृण के प्रकाश से अग्निहोत्र के दूध को देखता है तो ओषधियों पर स्वत्व करता है, ओषधियों के लोक को जीतता है ॥१०॥

यह जो तूने उत्तर की दिशा में देखा कि चिल्लाते हुए पुरुष चिल्लाते हुए पुरुषों को खा रहे हैं वे जल थे। जब वह जल को अग्निहोत्र के दूध में डालता है तो जलों पर स्वत्व प्राप्त करता है, जलों के लोक को जीतता है ॥११॥

ये जो तूने दो स्त्रियाँ देखीं, एक सुन्दरी और दूसरी अति सुन्दरी। सुन्दरी श्रद्धा थी। जो पहली आहुति को देता है वह श्रद्धा पर स्वत्व करता है, उससे श्रद्धा को जीतता है। जो अति सुन्दरी थी वह अश्रद्धा है। जो अन्तिम आहुति को देता है वह अश्रद्धा पर स्वत्व करता है, अश्रद्धा को जीत लेता है ॥१२॥

अथ य एने सोऽन्तरेण पुरुषः । कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिरस्थात्क्रोधो वै सोऽभूत्स यत्स्रुच्यप आनीय निनयति तेन क्रोधमवरुन्द्धे तेन क्रोधं जयति स य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तेन सर्वं जयति सर्वमवरुन्द्धे ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥४ [६. १.] ॥ ॥

जनको ह वै वैदेहो । ब्राह्मणैर्धावयद्भिः समाजगाम श्वेतकेतुनारुणेयेन सोमशुष्मेण सात्ययज्ञिना याज्ञवल्क्येन तान्होवाच कथं-कथमग्निहोत्रं जुहुथेति ॥१॥ स होवाच । श्वेतकेतुरारुणेयो घर्मावेव सम्राडहमजस्रौ यशसा विष्यन्दमानावन्योऽन्यस्मिञ्जुहोमीति कथं तदित्यादित्यो वै घर्मस्तꣳ सायमग्नौ जुहोम्यग्निर्वै घर्मस्तं प्रातरादित्ये जुहोमीति किꣳ स भवति य एवं जुहोत्यजस्र एव श्रिया यशसा भवत्येतयोश्च देवतयोः सायुज्यꣳ सलोकतां जयतीति ॥२॥ अथ होवाच सोमशुष्मः सात्ययज्ञिः । तेज एव सम्राडहं तेजसि जुहोमीति कथं तदित्यादित्यो वै तेजस्तꣳ सायमग्नौ जुहोम्यग्निर्वै तेजस्तं प्रातरादित्ये जुहोमीति किꣳ स भवति य एवं जुहोतीति तेजस्वी यशस्व्यन्नादो भवत्येतयोश्चैव देवतयोः सायुज्यꣳ सलोकतां जयतीति ॥३॥ अथ होवाच याज्ञवल्क्यः । यदहमग्निमुद्धराम्यग्निहोत्रमेव तदुद्यच्छाम्यादित्यं वाऽअस्तं यन्तꣳ सर्वे देवा अनुयन्ति ते मऽएतमग्निमुद्धृतं दृष्ट्वोपावर्तन्तेऽथाहं पात्राणि निर्णिज्योपवाप्याग्निहोत्रीं दोहयित्वा पश्यन्पश्यतस्तर्पयामीति त्वं नेदिष्ठं याज्ञवल्क्याग्निहोत्रस्यामीमाꣳसिष्ठा धेनुशतं ददामीति होवाच न त्वेवैनयोस्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनमित्युक्त्वा रथमास्थाय प्रधावयां चकार ॥४॥ ते होचुः । अति वै नोऽयꣳ राजन्यबन्धुरवादीद्धन्तेनं ब्रह्मोद्यमाह्वयामहाऽइति स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्राह्मणा वै वयꣳ स्मो राजन्यबन्धुरसौ यद्यमुं वयं जयेम कमजैष्मेति ब्रूयामाथ यद्यसावस्माञ्जयेद्ब्राह्मणान्राजन्यबन्धुरजैषीदिति नो ब्रूयुर्मेदमाद्रि-

इन दोनों के बीच में जो काला, पीली आँखोंवाला और हाथ में डंडेवाला पुरुष था, वह क्रोध है। यह जो स्रुच में जल डालकर आहुति देता है उससे क्रोध पर स्वत्व करता है, उससे क्रोध को जीतता है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके जो अग्निहोत्र करता है वह सबको जीत लेता है, सबपर स्वत्व कर लेता है' ।।१३।।

आख्यायिकयाऽग्निहोत्राहुतिप्राशस्त्यप्रतिपादनम्

अध्याय ६—ब्राह्मण २

कुछ ब्राह्मण घूम रहे थे। जनक वैदेह उनको मिला। वे ब्राह्मण थे श्वेतकेतु, आरुणेय, सोमशुष्म सात्ययज्ञि, याज्ञवल्क्य। उसने उनसे पूछा, 'आप लोग किस-किस प्रकार से अग्निहोत्र करते हैं?' ।।१।।

श्वेतकेतु आरुणेय बोला, 'हे सम्राट्! मैं दो घामों में एक-दूसरे में सफल तथा यश से भरी आहुति देता हूँ।' जनक ने पूछा, 'कैसे?' 'आदित्य एक घाम है, उसकी सायंकाल को अग्नि में आहुति देता हूँ। अग्नि घाम है, उसकी प्रातःकाल आदित्य में आहुति देता हूँ।' जनक ने पूछा, 'इससे क्या होता है उसका जो इस प्रकार आहुति देता है?' 'वह सफल और यश तथा श्री से युक्त होता है। इन दोनों देवताओं के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है' ।।२।।

सोमशुष्म सात्ययज्ञि ने कहा, 'हे सम्राट्! मैं तेज की तेज में आहुति देता हूँ।' 'कैसे?' 'आदित्य तेज है, उसकी सायंकाल अग्नि में आहुति देता हूँ। अग्नि तेज है, उसकी प्रातःकाल आदित्य में आहुति देता हूँ।' 'जो इस प्रकार आहुति देता है उसका क्या होता है?' 'तेजस्वी, यशस्वी, अन्नाद हो जाता है। इन दोनों देवताओं के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है' ।।३।।

अब याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैं जब (गार्हपत्य से) अग्नि निकालता हूँ, तो यह अग्निहोत्र ही है, जिसको उठाता हूँ। जब सूर्य अस्त होता है, तो सब देवता उसका अनुसरण करते हैं। जब वे मुझे अग्नि निकालते देखते हैं, तो लौट आते हैं। हवनपात्रों को माँजकर वेदी पर रखकर अग्निहोत्री गाय को दुहकर उनको तृप्त करता हूँ, जब मैं उनको देखता हूँ या वे मुझको देखते हैं।' 'हे याज्ञवल्क्य! तूने अग्निहोत्र की ठीक-ठीक मीमांसा की है। मैं तुझको सौ गौएँ दान देता हूँ। परन्तु तू भी इन दो (अग्निहोत्र की आहुतियों) की उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति, या प्रत्युत्थायी लोक को नहीं जानता।' यह कहकर वह रथ पर बैठकर चला गया ।।४।।

उन्होंने कहा, 'ओ हो! यह क्षत्रिय तो हमको हरा गया। चलो, इससे ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ करें।' याज्ञवल्क्य बोला, 'ब्राह्मणो! हम ब्राह्मण हैं, वह क्षत्रिय है। यदि हम उसको जीत लें तो क्या कहेंगे कि किसको जीत लिया? यदि उसने हमको जीत लिया तो लोग कहेंगे कि एक क्षत्रिय ने ब्राह्मण को जीत लिया। ऐसा मत कहो।' वे मान गये।

मिति तद्धास्य जनुरथ ह याज्ञवल्क्यो रथमास्थायानुप्रधावयां चकार तꣳ हान्वाजगाम स होवाचाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य वेदितूꣳमित्यग्निहोत्रꣳ सम्राडिति ॥५॥ ते वाऽएते । आहुती हुतेऽउत्क्रामतः तेऽअन्तरिक्षमाविशतस्तेऽअन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वाते वायुꣳ समिधं मरीचीरेव शुक्रामाहुतिं तेऽअन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रामतः ॥६॥ ते दिवमाविशतः । ते दिवमेवाहवनीयं कुर्वातेऽआदित्यꣳ समिधं चन्द्रमसमेव शुक्रामाहुतिं ते दिवं तर्पयतस्ते तत आवर्तेते ॥७॥ तेऽइमामाविशतः । तेऽइमामेवाहवनीयं कुर्वातेऽअग्निꣳ समिधमोषधीरेव शुक्रामाहुतिं तेऽइमां तर्पयतस्ते तत उत्क्रामतः ॥८॥ ते पुरुषमाविशतः । तस्य मुखमेवाहवनीयं कुर्वाते जिह्वाꣳ समिधमन्नमेव शुक्रामाहुतिं ते पुरुषं तर्पयतः स य एवं विद्वानश्नात्यग्निहोत्रमेवास्य हुतं भवति ते तत उत्क्रामतः ॥९॥ ते स्त्रियमाविशतः । तस्या उपस्थमेवाहवनीयं कुर्वाते धारकाꣳ समिधं धारका ह वै नामैषैतया ह वै प्रजापतिः प्रजा धारयां चकार रेत एव शुक्रामाहुतिं ते स्त्रियं तर्पयतः स य एवं विद्वान्मिथुनमुपैत्यग्निहोत्रमेवास्य हुतं भवति यस्ततः पुत्रो जायते स लोकः प्रत्युत्थाय्येतदग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य नातः परमस्तीति होवाच तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स होवाच कामप्रश्न एव मे त्वयि याज्ञवल्क्यासदिति ततो ब्रह्मा जनक आस ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥५ [६. २.] ॥ ॥

जनको ह वैदेहो । बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे स ह गवाꣳ सहस्रमवरुन्धन्नुवाचैता वो ब्राह्मणा यो ब्रह्मिष्ठः स उदजतामिति ॥१॥ स होवाच याज्ञवल्क्यो । ऽर्वाचीरेता इति ते होचुस्त्वꣳ स्विन्नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३इति स होवाच नमोऽस्तु ब्रह्मिष्ठाय गोकामा एव वयꣳ स्म इति ॥२॥ ते होचुः । को न इमं प्रक्ष्यतीति स होवाच विदग्धः शाकल्योऽहमिति तꣳ ह प्रतिख्यायोवाच त्वाꣳ स्विच्छाकल्य ब्राह्मणा उल्मुकावक्षयणमक्रता३इति ॥३॥ स होवाच । कति

।परन्तु याज्ञवल्क्य रथ पर चढ़कर राजा के पीछे गया। उसने उसको जा पकड़ा। जनक बोला, 'क्या अग्निहोत्र सीखने के लिए, याज्ञवल्क्य ?' 'हाँ सम्राट्! अग्निहोत्र सीखने के लिए' ॥५॥

'ये दो आहुतियाँ दी जाकर उठती हैं और अन्तरिक्ष में पहुँचती हैं। वे अन्तरिक्ष को ही आहवनीय बनाती हैं—वायु को समिधा, किरणों को शुक्र-आहुति। इस प्रकार वे अन्तरिक्ष को तृप्त करके ऊपर को उठती हैं ॥६॥

वे द्यौलोक में पहुँचती हैं। वे द्यौलोक को ही आहवनीय करती हैं—आदित्य को समिधा, चन्द्रमा को शुक्र-आहुति। वे द्यौ को तृप्त करके लौटती हैं ॥७॥

वे पृथिवी में आती हैं। वे इसको ही आहवनीय करती हैं—अग्नि को समिधा, ओषधियों को शुक्र-आहुति। वे इस पृथिवी को तृप्त करके उठती हैं ॥८॥

वे पुरुष में प्रवेश करती हैं। वे उसके मुख को आहवनीय करती हैं—जीभ को समिधा, अन्न को शुक्र-आहुति। वे पुरुष को तृप्त करती हैं। जो इस बात को जानकर खाता है उसका अग्निहोत्र पूरा होता है। वे दो आहुतियाँ वहाँ से उठती हैं ॥९॥

वे स्त्री में प्रवेश करती हैं। उसकी गोद को आहवनीय बनाती हैं, धारका को समिधा। योनि को धारका इसलिए कहते हैं कि प्रजापति ने इसी से प्रजा को बनाया था, वीर्य को शुक्र-आहुति। वे स्त्री को तृप्त करती हैं। जो इसको समझकर मैथुन करता है, उसका अग्निहोत्र पूरा होता है। उससे जो पुत्र होता है, वही प्रत्युत्थायी लोक है। हे याज्ञवल्क्य! यही अग्निहोत्र है। इससे परम कुछ नहीं।' उसने यह कहा और याज्ञवल्क्य ने उसे वर दिया। उसने कहा, 'याज्ञवल्क्य! जब मैं चाहूँ तुमसे प्रश्न कर सकूँ।' तब से जनक ब्राह्मण हो गया ॥१०॥

आख्यायिकयाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादियागदेवतानां तत्त्वतः प्राणशब्दाभिधेय-परमात्मरूपताप्रतिपादनम्

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

जनक वैदेह ने बहुत दक्षिणावाला यज्ञ रचाया और हजार गायें बाँधकर कहा, 'हे ब्राह्मणगण! आपमें से जो सबसे अधिक ब्रह्मिष्ठ हो वह इनको खोल ले जाय' ॥१॥

याज्ञवल्क्य बोला, 'इनको इधर हाँक लो।' वे ब्राह्मण बोले, 'हे याज्ञवल्क्य! क्या हम में तुम्हीं सबसे अधिक ब्रह्मिष्ठ हो?' उसने उत्तर दिया, 'नमस्कार हो ब्रह्मिष्ठ के लिए। हम तो गायों के इच्छुक हैं' ॥२॥

वे एक-दूसरे से कहने लगे, 'हममें से कौन ऐसा है जो इससे प्रश्न करे?' चतुर शाकल्य ने कहा, 'मैं।' याज्ञवल्क्य ने उसकी ओर देखकर कहा, 'हे शाकल्य, तुमको ब्राह्मणों ने आग बुझाने का साधन बना लिया' ॥३॥

देवा याज्ञवल्क्येति त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच
कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
ल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति हो-
वाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
ल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सह-
स्रेति ॥४॥ स होवाच । महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे
ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्तऽएकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव
प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥५॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वा-
युश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एते हीदꣳ सर्वं
वासयन्ते ते यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥६॥ कतमे रुद्रा इति । द-
शेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति त-
द्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥७॥ कतमऽआदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्स-
रस्यैतऽआदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति
तस्मादादित्या इति ॥८॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो
यज्ञः प्रजापतिरिति कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति
॥९॥ कतमे ते त्रयो देवा इति । इमऽएव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा
इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत
ऽइति कतम एको देव इति प्राण इति ॥१०॥ स होवाच । अनतिप्रश्न्यां मा
देवतामत्यप्राक्षीः पुरेतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्थीनि चन गृहान्प्राप्स्यन्तीति स ह
तथैव ममार तस्य हाप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुस्तस्मान्नोपवादी
स्यादुत ह्येवंवित्परो भवति ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [६. ३.] ॥ षष्ठोऽध्यायः

उसने पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! देव कै हैं ?' उसने कहा, 'तीन सौ तीन और तीन हजार तीन ।' 'ठीक ! अच्छा याज्ञवल्क्य ! वास्तव में कितने देव हैं ?' 'तेंतीस ।' उसने कहा, 'ठीक ! याज्ञवल्क्य, ठीक-ठीक कितने देव हैं ?' 'तीन ।' उसने कहा, 'ठीक ! याज्ञवल्क्य, निश्चित बताओ कि कितने देव हैं ?' 'दो ।' उसने कहा 'ठीक ! यथार्थ में कितने देव हैं याज्ञवल्क्य ?' 'डेढ़ ।' उसने कहा, 'ठीक है ! मुख्यतया कितने हैं, याज्ञवल्क्य ?' 'एक ।' उसने कहा 'ठीक है ! ये तीन सौ तीन और तीन हजार तीन कौन हैं ?' ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'ये तो इसकी शक्तियाँ (महिमा) हैं । वस्तुतः देव तो तेंतीस हैं ।' 'वे तेंतीस कौन हैं ?' 'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, ये हुए इकतीस, इन्द्र और प्रजापति' ॥५॥

'वसु कौन-कौन हैं ?' 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र, ये वसु हैं । इनमें यह सब संसार बसता है । इनमें सब संसार बसता है, इसलिए इनका नाम वसु है' ॥६॥

'रुद्र कौन-कौन हैं ?' 'पुरुष के दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा । ये जब हमको मर्त्य शरीर से निकालते हैं, तब रुलाते हैं । रुलाते हैं इसलिए इनका नाम रुद्र है' ॥७॥

'आदित्य कौन-कौन है ?' संवत्सर के बारह मास आदित्य हैं । ये सबको लेते हुए चलते हैं, इसलिए इनका नाम आदित्य हैं ॥८॥

'इन्द्र कौन है ? प्रजापति कौन ?' 'गर्जनेवाला (स्तनयित्नु) इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है ।' 'स्तनयित्नु (गर्जनेवाला) कौन है ?' 'अशनि (बिजली) ।' 'यज्ञ क्या है ?' 'पशु' ॥९॥

'ये तीन देव कौन हैं ?' 'ये तीन लोक, क्योंकि इनमें सब देव स्थित हैं ।' 'वे दो देव कौन हैं ?' ''अन्न और प्राण ।' 'डेढ़ देव कौन है ?' 'यह जो बहता है (वायु) ।' 'एक देव कौन है ?' 'प्राण' ॥१०॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तूने तो देवता के भी पार की बात पूछ ली । अमुक तिथि के पहले मर जायगा । तेरी हड्डियाँ भी घर तक न पहुँच सकेंगी ।' वह शाकल्य वस्तुतः मर गया और उसकी हड्डियों को लोग कुछ और समझकर चुरा ले गए । इसलिए उपवाद (दोष निकालना) नहीं करना चाहिए । इस रहस्य को समझनेवाला तर जाता है ॥११॥

३

पशुबन्धेन यजते । पशवो वै पशुबन्धः स यत्पशुबन्धेन यजते पशुमानसानीति तेन गृहेषु यजेत गृहेषु पशून्बध्ना इति तेन सुयवसे यजेत सुयवसे पशून्बध्ना इति जीर्यन्ति ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयोऽग्नीञ्जीर्यतोऽनु यजमानो यजमानमनु गृहाश्च पशवश्च ॥१॥ ॥ शतम् ५१०० ॥ ॥ स यत्पशुबन्धेन यजते । अग्नीनेवैतत्पुनर्णवान्कुरुतेऽग्नीनां पुनर्णवतामनु यजमानो यजमानमनु गृहाश्च पशवश्चायुष्यो ह वा अस्यैष आत्मनिष्क्रयणो भवति माꣳसीयन्ति ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयस्ते यजमानमेव ध्यायन्ति यजमानꣳ संकल्पयन्ति पचन्ति वा अन्येष्वग्निषु वृथामाꣳसमथैतेषां नातोऽन्या माꣳसाशा विद्यते यस्यो चैते भवन्ति ॥२॥ स यत्पशुबन्धेन यजते । आत्मानमेवैतन्निष्क्रीणीते वीरेण वीरं वीरो हि पशुर्वीरो यजमान एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्माꣳसꣳ स परमस्यैवान्नाद्यस्यात्ता भवति तं वै संवत्सरो नानीजानमतीयादायुर्वै संवत्सर आयुरेवैतदमृतमात्मन्धत्ते ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥७ [७. १.] ॥ ॥

हविर्यज्ञविधो ह वा अन्यः पशुबन्धः । सवविधोऽन्यः स हैष हविर्यज्ञविधो यस्मिन्व्रतमुपनयति यस्मिन्नपः प्रणयति यस्मिन्पूर्णपात्रं निनयति यस्मिन्विष्णुक्रमान्क्रमयत्यथ हैष सवविधो यस्मिन्नेतानि न क्रियन्ते ॥१॥ तदाहुः । इष्टिः पशुबन्धा३ महायज्ञा३ इति महायज्ञ इति ह ब्रूयादिष्टिं वै तर्हि पशुबन्धमकर्व्यैनमकृत्तथा इत्येनं ब्रूयात् ॥२॥ तस्य प्रयाजा एव प्रातःसवनम् । अनुयाजास्तृतीयसवनं पुरोडाश एव माध्यन्दिनꣳ सवनम् ॥३॥ तद्धैके । वपायाꣳ हुतायां दक्षिणा नयन्ति तदु तथा न कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाद्दक्षिणां न्वा अयं प्राणेभ्यो दक्षिणा अनैषीन्न प्राणानदत्तदन्धो वा स्रामो वा बधिरो वा पक्षहतो वा भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥४॥ इत्थमेव कुर्यात् । पुरोडाशेडायामेवोपहूतायां दक्षिणा नयेदिन्द्रो वा अयं मध्यतः प्राण इममेवैतदिन्द्रं मध्यतः प्राणं द-

पशुबन्धप्रशंसा

अध्याय ७—ब्राह्मण १

पशुबन्ध यज्ञ करता है। पशु ही पशुबन्ध हैं। पशुबन्ध यज्ञ इसलिए किया जाता है कि पशुओं की प्राप्ति हो। वह यज्ञ घर में होता है, अर्थात् घर में पशु बँध जायँ। अच्छी फसल में यज्ञ करता है, अर्थात् अच्छी फसल में पशु बँध सकें। जब यज्ञ कर चुकते हैं तो अग्नियाँ बुझ जाती हैं। अग्नियों के साथ-साथ यजमान भी थक जाता है; यजमान के साथ-साथ घर के लोग और पशु भी ।।१।।

पशुबन्ध यज्ञ करने से अग्नियाँ फिर नई हो जाती हैं और अग्नियों के नया हो जाने से यजमान नया हो जाता है; यजमान के नये होने से उसके घरवाले तथा पशु भी। आत्मनिष्क्रयण आयु का बढ़ानेवाला होता है। आहुति देते हुए यजमान की अग्नियाँ मांस (हवि ?) चाहती हैं, यजमान का ही ध्यान करती हैं, यजमान की ही कल्पना करती हैं। अन्य अग्नियों में तो और मांस भी पकाते हैं, परन्तु इन अग्नियों की आशा तो इन्हीं मांसों पर है या उसपर जिसके ये हैं ।।२।।

पशुबन्ध यज्ञ के द्वारा यह आत्मनिष्क्रयण करता है, वीर का वीर से। पशु वीर है, यजमान वीर है। मांस परम अन्न है। इस प्रकार वह परम अन्न खानेवाला हो जाता है। इस यज्ञ के बिना एक वर्ष नहीं बीतना चाहिए। क्योंकि वर्ष का अर्थ है आयु। इस प्रकार यह अपने को अमृतमान् बनाता है ।।३।।

पशुबन्धस्येष्टिविधत्वम्, सोमविधत्वञ्च

अध्याय ७—ब्राह्मण २

पशुबन्ध दो प्रकार के होते हैं—एक हविर्यज्ञविध, दूसरा सवविध। 'हविर्यज्ञविध' में ये कृत्य किये जाते हैं—(अध्वर्यु का) व्रत (अर्थात् व्रतदुघा गाय से दूध) लाना, जलों का प्रणीता में लाना, पूर्णपात्र से जल डालना, (यजमान का) विष्णु पगों को चलना। 'सवविध' वे हैं जिनमें ये कृत्य नहीं होते ।।१।।

इसपर प्रश्न होता है कि 'पशुबन्ध इष्टि है या महायज्ञ ?' इसका उत्तर है 'महायज्ञ', क्योंकि यदि पशुबन्ध इष्टि मानी जायगी तो मानो 'तुमने इसको क्षीण कर दिया' ऐसा कहना चाहिए ।।२।।

इसके प्रयाज प्रातःसवन हैं, अनुयाज तृतीयसवन; पुरोडाश ही बीच का सवन ।।३।।

कुछ लोग वपा की आहुति दिये जाने पर दक्षिणा लाते हैं। ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर यदि कोई कह बैठे कि 'इस यजमान ने दक्षिणा को प्राणों के बाहर कर दिया, उसने अपने प्राणों को बलवान् नहीं किया, वह अन्धा, लंगड़ा, बहिरा हो जायगा या उसका एक पक्ष मारा जायगा' तो वैसा ही हो जायगा ।।४।।

इस प्रकार करे—पुरोडाश की इडा की आहुति होने पर दक्षिणा लावे। यह मध्य का प्राण इन्द्र-सम्बन्धी है।

क्षिणाभिर्दक्षयत्यैन्द्रं वै माध्यन्दिनꣳ सवनं माध्यन्दिने वै सवने दक्षिणा नीयन्ते
तस्मात्पुरोडाशेडायामेवोपहूतायां दक्षिणा नयेत् ॥५॥ तदाहुः । अध्वर्यो यद्दी-
क्षितस्य नानवभृथोऽवकल्पते क्वैनमदिदीक्ष इत्यावभृथादनूद्दृꣳहेयुरध्वर्युश्च प्रति-
प्रस्थाता च होता च मैत्रावरुणश्च ब्रह्मा चाग्नीध्रश्चैतैर्वाऽएष षड्ढोता तमनुद्रुत्य
षड्ढोतारं जुहोत्येकामाहुतिं कृत्वा पञ्च वान्या द्यौष्पृष्ठमन्तरिक्षमात्माङ्गैर्यज्ञं
पृथिवीꣳ शरीरैः वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचाच्छिद्रया जुह्वा दिवि देवावृधꣳ होत्रा-
मेरयस्वाहेति सैव दीक्षा ॥६॥ तदाहुः । अध्वर्यो यद्दीक्षितस्य नानवभृथोऽव-
कल्पते क्वैनमवभृथमवनेष्यसीति स यद्धृदयशूलेन चरन्ति स हैवैतस्यावभृथः
॥७॥ मधुको ह स्माह पैङ्ग्यः । विसोमेन वाऽएके पशुबन्धेन यजन्ते ससोमे-
नैके दिवि वै सोम आसीत्तं गायत्री वयो भूत्वाहरत्तस्य यत्पर्णमच्छिद्यत तत्पर्णस्य
पर्णत्वमिति न्वाऽएतद्ब्राह्मणमुच्यते विसोमेन वाऽएके पशुबन्धेन यजन्ते ससो-
मेनैके स हैष विसोमेन पशुबन्धेन यजते योऽन्यं पालाशाद्यूपं कुरुतेऽथ हैष
ससोमेन पशुबन्धेन यजते यः पालाशं यूपं कुरुते तस्मात्पालाशमेव यूप कुर्वीत
॥८॥ ब्राह्मणम् ॥८ [७. २.] ॥ ॥

स य एष बहुसारः । स हापशव्यस्तस्मात्तादृशं पशुकामो यूपं न कुर्वीताथ
य एष फल्गुप्रासहः स ह पशव्यस्तस्मात्तादृशं पशुकामो यूपं कुर्वीत ॥१॥ अथ
यस्यैतद्वक्रस्य सतः । शूल-इवाग्रं भवति स ह कपोती नाम स यो ह तादृशं
यूपं कुरुते पुरा हायुषोऽमुं लोकमेति तस्मात्तादृशमायुष्कामो यूपं न कुर्वीत
॥२॥ अथ य एष आनतः । उपरिष्टादपनतो मध्ये सोऽशनायै रूपꣳ स यो ह
तादृशं यूपं कुरुतेऽशनायुका हास्य भार्या भवन्ति तस्मात्तादृशमन्नाद्यकामो यूपं
न कुर्वीताथ य एष आनत उपरिष्टादुपनतो मध्ये सोऽन्नाद्यस्य रूपं तस्मात्तादृ-
शमन्नाद्यकामो यूपं कुर्वीत ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥१ [७. ३.] ॥ ॥

इस इन्द्र-सम्बन्धी मध्य प्राण को दक्षिणा से प्रबल करता है। माध्यन्दिन सवन भी इन्द्र-सम्बन्धी है। माध्यन्दिन सवन में ही दक्षिणा लाई जाती हैं। इसलिए पुरोडाश की इडा की आहुति हो जाय तब दक्षिणा लावे ॥५॥

इसपर कहते हैं, 'अध्वर्यु! दीक्षित के लिए अवभृथ स्नान न होना ठीक नहीं है, फिर तूने उसको दीक्षित कब किया?' 'अच्छा।' अवभृथ स्नान तक दृढ़ रखना चाहिए। अध्वर्यु, प्रति-प्रस्थाता, होता, मैत्रावरुण, ब्रह्मा, अग्नीध्र इनके द्वारा, क्योंकि ये षड्ढोतृ (छः होता) कहलाते हैं (और इसे षड्ढोतृ-कृत्य कहते हैं)। शीघ्र-शीघ्र पढ़ते हुए षड्ढोतृ-आहुति देता है; चाहे एक आहुति या पाँच आहुतियाँ, इस मंत्र से—"द्यौष्पृष्ठमन्तरिक्षमात्माङ्‌गैर्यज्ञं पृथिवी ँ शरीरैः। वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचाऽच्छिद्रया जुह्वा दिवि देवावृध ँ होत्रामैरयत स्वाहा"—"द्यौ इसकी पीठ है, अन्तरिक्ष आत्मा है, हे बृहस्पति! अंगों से इसने यज्ञ को, शरीरों से पृथिवी को, दोषरहित वाणी से, दोषरहित जीभ से देवों को प्रसन्न करनेवाली होत्रा को उत्पन्न किया है, स्वाहा" ॥६॥

इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं, 'अध्वर्यु! जब दीक्षित के लिए अवभृथ स्नान न होना अनुचित है तो तूने अवभृथ स्नान कब कराया?' इसका उत्तर यह है कि हृदयशूल का कृत्य ही अवभृथ स्नान है ॥७॥

मधुक पैङ्ग्य ने एक बार कहा था, 'कुछ लोग पशुबन्ध सोम के बिना करते हैं, कुछ सोम के साथ। सोम द्यौलोक में था। गायत्री पक्षी बनकर उसको ले आई। उसका एक पर्ण (पंख) कट गया। यह पर्ण का पर्णत्व है। यह है ब्राह्मण (गाथा) जो गाई जाती है। कुछ अवश्य बिना सोम के पशुबन्ध करते हैं और कुछ सोम के साथ। जो पलाश के सिवाय किसी अन्य लकड़ी का यूप बनाते हैं वे बिना सोम के पशुबन्ध करते हैं। जो पलाश का यूप बनाते हैं वे सोम-सहित पशुबन्ध करते हैं। इसलिए पलाश का ही पशुबन्ध होना चाहिए ॥८॥

बहुसारस्य यूपस्य पशुविरोधित्वम्, अल्पसारस्य पशुसमृद्धिकरत्वञ्च

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

जो यूप की लकड़ी का (बहुसार) हो वह पशुओं के लिए अच्छा नहीं होता, इसलिए पशुओं की इच्छा करनेवाला ऐसा यूप न बनावे। नरम लकड़ी का (फल्गुप्रासह) पशुओं के लिए अच्छा होता है, इसलिए पशुओं को चाहनेवाला वैसी ही लकड़ी का बनावे ॥१॥

जो लकड़ी टेढ़ी होकर आगे को शूल (काँटे) की भाँति होती है, वह कपोती (कबूतर के समान?) कहलाती है। जो ऐसा यूप बनाता है वह आयु से पहले ही परलोक को जाता है। इस-लिए दीर्घ आयु चाहनेवाला वैसा यूप न बनावे ॥२॥

वह जो ऊपर झुका हुआ (आनत) और बीच में उभरा हुआ (अपनत) हो वह भूख का रूप है। जो ऐसा यूप बनाता है उसके घर के लोग भूखे रहते हैं। इसलिए सुकाल का इच्छुक ऐसा न करे। जो ऊपर को झुका हुआ (आनत) और बीच में (उपनत) भीतर को भिचा हुआ हो वह सुकाल का रूप है। इसलिए सुकाल का इच्छुक ऐसा ही यूप बनावे ॥३॥

स यत्पशुना यक्ष्यमाणः । एकारत्निं यूपं कुरुत ऽइममेव तेन लोकं जयत्यथ यद्द्व्यरत्निमन्तरिक्षलोकमेव तेन जयत्यथ यत्त्र्यरत्निं दिवमेव तेन जयत्यथ यच्चतुररत्निं दिश एव तेन जयति स वा ऽएष त्र्यरत्निर्वैव चतुररत्निर्वा पशुबन्धयूपो भवत्यथ यो ऽत ऊर्ध्वः सौम्यस्यैव सो ऽध्वरस्य ॥१॥ तदाहुः । यजेदाज्यभागौ ना३ इति यजेदित्याहुश्चक्षुषी वा ऽएते यज्ञस्य यदाज्यभागौ किमृते पुरुषश्चक्षुर्भ्यां स्यादिति यावद्वै भागिनं स्वेन भागधेयेन न निर्भजन्त्यनिर्भक्तो वै स तावन्मन्यते ऽथ यदेव तं स्वेन भागधेयेन निर्भजन्त्यथैव स निर्भक्तो मन्यते स यत्रैतद्धोतान्वाहाग्ना रक्षः सꣳसृजतादिति तदेनं स्वेन भागधेयेन निर्भजति ॥२॥ एतद्वै पशोः संज्ञप्यमानस्य । हृदयꣳ शुक्समवैति हृदयाच्छूलं तद्यो सह हृदयेन पशुꣳ श्रपयन्ति पुनः पशुꣳ शुगनुविष्यन्देत पार्श्वत एवैनत्काष्ठे प्रतृद्य श्रपयेत् ॥३॥ उपस्तृणीत ऽआज्यम् । तत्पृथिव्यै रूपं करोति हिरण्यशकलमवदधाति तदग्नेरूपं करोति वपामवदधाति तदन्तरिक्षस्य रूपं करोति हिरण्यशकलमवदधाति तदादित्यस्य रूपं करोत्यथ यदुपरिष्टादभिघारयति तद्दिवो रूपं करोति सा वा ऽएषा पञ्चावत्ता वपा भवति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्च ऽर्तवः संवत्सरस्य तस्मात्पञ्चावत्ता वपा भवति ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥१० [७. ४.] ॥ सप्तमो ऽध्यायः [७. ३.] ॥ ॥

तद्यथा ह वै । इदꣳ रथचक्रं वा कौलालचक्रं वाप्रतिष्ठितं क्रन्देदेवꣳ हैवेमे लोका अध्रुवा अप्रतिष्ठिता आसुः ॥१॥ स ह प्रजापतिरीक्षां चक्रे । कथं न्विमे लोका ध्रुवाः प्रतिष्ठिताः स्युरिति स एभिश्चैव पर्वतैर्नदीभिश्चेमामदृꣳहद्वयोभिश्च मरीचिभिश्चान्तरिक्षं जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम् ॥२॥ स मह इति व्याहरत् । पशवो वै महस्तस्माद्यस्यैते बहवो भवन्ति भूयिष्ठमस्य कुले महीयन्ते बहवो ह वा ऽअस्यैते भवन्ति भूयिष्ठꣳ हास्य कुले महीयन्ते तस्माद्यएनमायतनाद्धाधेरन्वा प्र वा वापयेयुरग्निहोत्रꣳ हुत्वा मह इत्युपतिष्ठेत प्रति प्रजया

यूपप्रमाणम्

अध्याय ७—ब्राह्मण ४

पशुबन्ध यज्ञ करने की इच्छावाला यदि एक हाथ लम्बा यूप बनावे तो इस लोक को उसके द्वारा जीत लेता है। यदि दो हाथ, तो अन्तरिक्षलोक को उसके द्वारा जीतता है। यदि तीन हाथ तो उसके द्वारा तीन लोकों को जीतता है। यदि चार हाथ तो उससे दिशाओं को जीतता है। प्रायः पशुबन्ध का यूप तीन या चार हाथ लम्बा होता है। जो इससे लम्बा हो वह सोम अध्वर का ॥१॥

इसपर प्रश्न करते हैं कि आज्यभागों की आहुतियाँ दी जायें या नहीं? लोग कहते हैं कि अवश्य दी जायें। आज्यभाग आहुतियाँ तो यज्ञ की दो आँखें हैं। क्या दो आँखों के बिना भी कोई पुरुष होता है? जबतक हिस्सेदार को उसका हिस्सा नहीं मिलता वह टलता नहीं। जब उसको हिस्सा मिल जाता है तभी वह टलता है (क्योंकि उसका हिस्सा उसको मिल गया। अब उसका हिस्सा उसमें नहीं है)। जब कहता है कि 'राक्षस को रुधिर दे दो' तो उसको उसका भाग देकर हटाता है ॥२॥

जब पशु मारा जा रहा है तो उसका शोक हृदय में केन्द्रित हो जाता है और हृदय से शूल में। जो हृदयसहित पशु को पकाते हैं, फिर पशु-भर में शोक फैल जाएगा। इसलिए एक बगल से काष्ठ पर लेकर पकावे ॥३॥

नीचे घी से चुपड़ दे। उससे वह उसको पृथिवी का रूप देता है। सोने के टुकड़े को रखता है। वह अग्नि का रूप देता है। वपा को रखता है, यह अन्तरिक्ष का रूप देता है। सोने के टुकड़े को रखता है, यह आदित्य का रूप देता है। ऊपर से घी छोड़ता है, यह द्यौ का रूप देता है। यह पाँच भागवाली वपा होती है। यज्ञ पाँचवाला है। पशु भी पाँचवाला है। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। इसलिए वपा पाँच भागवाली होती है ॥४॥

अग्निहोत्रे महइत्युपस्थानं कर्त्तव्यनिमित्तं विधातुमाख्यायिका

अध्याय ८—ब्राह्मण १

जैसे यह रथचक्र या कुम्हार का चक्र बिना ठहराए हिलता है, वैसे ही ये लोक चलायमान और प्रतिष्ठारहित थे अर्थात् ठहरे हुए न थे ॥१॥

प्रजापति ने सोचा कि ये लोक निश्चित और प्रतिष्ठित कैसे हों? उसने इन पर्वतों और नदियों द्वारा इस पृथिवी को ठहराया। पक्षियों और किरणों द्वारा अन्तरिक्ष को, बादलों और नक्षत्रों द्वारा द्यौलोक को ॥२॥

उसने कहा, 'महः!' 'महः' पशु है। इसलिए जिसके घर में बहुत होते हैं, उसका कुल बहुत बढ़ जाता है। यजमान के घर में ये पशु बहुत हो जाते हैं। इस कारण उसका कुल बहुत बढ़ जाता है। इसलिए इसको यदि बलात्कार करके घर से निकालने लगें या जाने को कहें तो अग्निहोत्र करके 'महः' कहे। प्रजा और पशु के द्वारा वह प्रतिष्ठित होगा और अपने घर से

पशुभिस्तिष्ठति नायतनाच्च्यवते ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥ ११ [८. १.] ॥ ॥

चत्वारो ह वाऽअग्नयः । आहित उद्धृतः प्रहृतो विहृतोऽयमेव लोक आहितोऽन्तरिक्षलोक उद्धृतो द्यौष्प्रहृतो दिशो विहृतोऽग्निरेवाहितो वायुरुद्धृत आदित्यः प्रहृतश्चन्द्रमा विहृता गार्हपत्य एवाहित आहवनीय उद्धृतोऽथ यमेतमाहवनीयात्प्राञ्चं प्रणयन्ति स प्रहृतोऽथ यमेतमुदञ्चं पशुश्रपणायाहरन्ति यं चोपयड्भ्यः स विहृतस्तस्मात्प्रहार्येऽग्नौ पशुबन्धेन यजेत ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥ १२ [८. २.] ॥ ॥

तदाहुः । किंदेवत्य एष पशुः स्यादिति प्राजापत्यः स्यादित्याहुः प्रजापतिर्वाऽएतमग्रेऽभ्यपश्यत्तस्मात्प्राजापत्य एवैष पशुः स्यादिति ॥१॥ अथोऽअप्याहुः । सौर्य एवैष पशुः स्यादिति तस्मादेतस्मिन्नस्तमिते पशवो बध्यन्ते बध्नन्त्येकान्यथा-गोष्ठमेकऽउपसमायन्ति तस्मात्सौर्य एवैष पशुः स्यादिति ॥२॥ अथोऽअप्याहुः । ऐन्द्राग्न एवैष पशुः स्यादित्येते वै देवतेऽअन्वन्ये देवा यद्यार्तो यजते पारयतऽएव यदि महसा यजते पारयतऽएव तस्मादैन्द्राग्न एवैष पशुः स्यादिति ॥३॥ प्राण एव पशुबन्धः । तस्माद्यावज्जीवति नास्यान्यः पशूनामीष्टे बद्धा ह्यस्मिन्नेते भवन्ति ॥४॥ स ह प्रजापतिरग्निमुवाच । यजे त्वया त्वा लभाऽइति नेति होवाच वायुं ब्रूहीति स ह वायुमुवाच यजे त्वया त्वा लभाऽइति नेति होवाच पुरुषं ब्रूहीति स ह पुरुषमुवाच यजे त्वया त्वा लभा इति नेति होवाच पशून्ब्रूहीति स ह पशूनुवाच यजे युष्माभिरा वो लभाऽइति नेति होचुश्चन्द्रमसं ब्रूहीति स ह चन्द्रमसमुवाच यजे त्वया त्वा लभाऽइति नेति होवाचादित्यं ब्रूहीति स हादित्यमुवाच यजे त्वया त्वा लभाऽइति तथेति होवाच यऽउ तऽएते नाचीकमन्त किमु मऽएतेषु स्यादिति यद्यत्कामयेथा इति तथेति तमालभत सोऽस्यायं पशुरालब्धः संज्ञप्तोऽश्रयत्तमेताभिराप्रीभिराप्रीणात्तद्यदेनमेताभिराप्रीभिराप्रीणात्त-

चयुत न होगा ॥३॥

आहितादिभेदेनाग्नेश्चातुर्विध्यम्

अध्याय ८—ब्राह्मण २

अग्नियाँ चार हैं—(१) आहित, (२) उद्धृत, (३) प्रहृत, (४) विहृत। यह लोक आहित है, अन्तरिक्षलोक उद्धृत है, द्यौ प्रहृत है और दिशाएँ विहृत हैं। अग्नि आहृत है, वायु उद्धृत है, आदित्य प्रहृत है और चन्द्रमा विहृत है। गार्हपत्य आहित है, आहवनीय उद्धृत है, जिसको आहवनीय से लेकर पूर्व को ले जाते हैं वह प्रहृत है, जिसको उत्तर को पशु पकाने के लिए ले जाते हैं और जो छोटी आहुतियों के लिए होती है वह विहृत है। इसलिए पशुबन्ध-यज्ञ प्रहृत अग्नि में करना चाहिए ॥१॥

पशोः प्रजापतिः सूर्यइन्द्राग्नीति देवतात्रयप्रतिपादनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

प्रश्न होता है कि 'पशु किस देवता का होता है?' 'प्रजापति का।' प्रजापति ने ही पहले इसको देखा था। इसलिए यह पशु प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति का ही होता है ॥१॥

ऐसा भी कहते हैं कि यह पशु सौर्य (अर्थात् सूर्य का) होता है, इसलिए सूर्य के अस्त होने पर ही पशु बाँधे जाते हैं—कुछ अपने गोष्ठ या अस्तबल में, कुछ झुण्ड में फिरते रहते हैं, इसलिए पशु सौर्य होते हैं ॥२॥

ऐसा भी कहते हैं कि पशु इन्द्र और अग्नि के होते हैं, क्योंकि इन्हीं दो देवताओं के पीछे अन्य देवता हैं। यदि कोई दुःखी यज्ञ करता है तो ये देवता उसका दुःख दूर कर देते हैं। यदि वह सम्पत्ति की बहुतायत के लिए यज्ञ करता है तो भी वे उसकी सहायता करते हैं। इसलिए यह पशु इन्द्र और अग्नि दोनों का होना चाहिए ॥३॥

प्राण ही पशुबन्ध है, क्योंकि जब तक जीवन है कोई पशुओं पर स्वत्व नहीं कर सकता। वे इसी में बँधे रहते हैं ॥४॥

प्रजापति ने अग्नि से कहा 'मैं तुझसे यज्ञ करूँगा। तेरे ऊपर हाथ डालूँगा।' उसने कहा, 'नहीं, वायु से कह।' उसने वायु से कहा, 'तुझसे यज्ञ करूँगा। तुझ पर हाथ डालूँगा।' उसने कहा, 'नहीं, पुरुष से कह।' उसने पुरुष से कहा, 'मैं तुझसे यज्ञ करूँगा। तेरे ऊपर हाथ डालूँगा।' उसने कहा, 'नहीं, पशुओं से कह।' उसने पशुओं से कहा, 'तुमसे यज्ञ करूँगा। तुझ पर हाथ डालूँगा।' उन्होंने कहा, 'नहीं, चन्द्रमा से कह।' उसने चन्द्रमा से कहा, 'तुझसे यज्ञ करूँगा, तुझ पर हाथ डालूँगा।' उसने कहा, 'नहीं। आदित्य से कह।' उसने आदित्य से कहा, 'तुझसे यज्ञ करूँगा। तुझ पर हाथ डालूँगा।' उसने कहा, 'अच्छा; परन्तु जिन्होंने अपनी अनुमति नहीं दी, उनमें मेरा क्या भाग होगा?' 'जो तू चाहे।' उसने कहा, 'अच्छा।' उसका आलभन किया। वह आलभन किया हुआ पशु यही है। संज्ञापन से वह फूल गया। उसको अप्रि मन्त्रों से शांत किया।

स्मादाप्रियो नाम तस्माद्ध पशुᳬ संज्ञप्त ब्रूयाद्धितां नु मुहूर्तमिति स यावत्तमश्वमे-धेनेष्ट्वा लोकं जयति तावत्तमेतेन जयति ॥५॥ तं प्राची दिक् । प्राणेत्यनुप्राण-त्प्राणमेवास्मिंस्तद्दधात्तं दक्षिणा दिग्व्यानेत्यनुप्राणद्व्यानमेवास्मिंस्तद्दधात्तं प्रती-ची दिगपानेत्यनुप्राणदपानमेवास्मिंस्तद्दधात्तमुदीची दिगुदानेत्यनुप्राणदुदानमेवा-स्मिंस्तद्दधात्तमूर्ध्वा दिक्समानेत्यनुप्राणत्समानमेवास्मिंस्तद्दधात्तस्माद्ध पुत्रं जात-मकृत्तनाभिं पश्च ब्राह्मणान्ब्रूयादित्येनमनुप्राणितेति यद्यु तान्न विन्देदपि स्वय-मेवानुपरिक्रामन्ननुप्राण्यात्स सर्वमायुरेत्या हैव जरायै जीवति ॥६॥ स प्राणमे-वाग्नेरादत्त । तस्मादेष नानुपध्मातो नानुपज्वलितो ज्वलत्यात्तो ह्यस्य प्राण आ ह वै द्विषतो भ्रातृव्यस्य प्राणं दत्ते य एवं वेद ॥७॥ रूपमेव वायोरादत्त । त-स्मादेतस्य लेलयत-इवैवोपशृण्वन्ति न त्वेनं पश्यन्त्यात्तᳬ ह्यस्य रूपमा ह वै द्विषतो भ्रातृव्यस्य रूपं दत्ते य एवं वेद ॥८॥ चित्तमेव पुरुषस्यादत्त । तस्माद-हुर्देवचित्तं त्वावतु मा मनुष्यᳬचित्तमित्यात्तᳬ ह्यस्य चित्तमा ह वै द्विषतो भ्रातृ-व्यस्य चित्तं दत्ते य एवं वेद ॥९॥ चक्षुरेव पशूनामादत्त । तस्मादेते चाकश्य-माना-इवैव न जानन्त्यथ यद्वेवोपजिघ्रन्त्यथ जानन्त्यात्तᳬ ह्येषां चक्षुरा ह वै द्वि-षतो भ्रातृव्यस्य चक्षुर्दत्ते य एवं वेद ॥१०॥ भामेव चन्द्रमस आदत्त । तस्माद-तयोः सदृशयोः सतोर्नितरां चन्द्रमा भात्यात्ता ह्यस्य भा आ ह वै द्विषतो भ्रा-तृव्यस्य भां दत्ते य एवं वेद तद्यदादत्त तस्मादादित्यः ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१३ [८. ३.] ॥ ॥

केशिगृहपतीनामु ह । सम्राड्डुघाᳬ शार्दूलो जघान स ह सत्त्रिण आ-मन्त्रयां चक्रे केह प्रायश्चित्तिरिति ते होचुर्नेह प्रायश्चित्तिरस्ति खण्डिक एवौ-द्भारिरस्य प्रायश्चित्तिं वेद स उ तᳬएतादृक्चैव कामयतेᳬतश्च पापीय इति ॥१॥ स होवाच । संग्रहीतर्युङ्ग्धि मे स्यन्त्स्यामि स यद्यह मे वक्ष्यति समाप्स्यामि यद्यु

चूँकि अप्रि मन्त्रों से उसे शांत किया, इसलिए उसका नाम 'अप्रिय' हो गया। इसलिए सञ्ज्ञापनवाले पशु से कहे, 'थोड़ी देर लेटा रह।' जितना अश्वमेध से लोक को जीतता है उतना ही पशुबन्ध से भी ॥५॥

प्राची दिशा (की वायु) उसपर चली और उस पशु में उसने प्राण धारण किया। उस पर दक्षिण दिशा की वायु चली। उसने व्यान को उसमें धारण किया। पश्चिम दिशा की वायु उसपर चली और उसने उसमें अपान को धारण किया। उत्तर दिशा की वायु उस पर चली और उसने उसमें उदान धारण कराया। ऊपर की दिशा उसपर चली और उसने उसमें 'समान' धारण कराया। इसलिए नवजात पुत्र के ऊपर, जिसका अभी नाल नहीं गिरा, पाँच ब्राह्मणों से कहे, 'इसके ऊपर इस प्रकार फूँको।' यदि वे न मिल सकें तो स्वयं ही परिश्रम करके फूँके। वह सम्पूर्ण आयु का होता है और वृद्धावस्था तक जीता है ॥६॥

उस (सूर्य) ने अग्नि का प्राण ले लिया, इसलिए आग जलती ही नहीं; जब तक पंखा न किया जाय या प्रज्वलित न की जाय अग्नि जलता नहीं। क्योंकि इसमें से प्राण निकाल लिया गया। जो इस रहस्य को समझता है वह अपने शत्रु में से प्राण खींच लेता है ॥७॥

उसने वायु का रूप ले लिया। इसलिए लोग इनको हिलते सुनते हैं, देखते नहीं, क्योंकि इसका रूप तो ले लिया गया। इसलिए जो इस रहस्य को समझता है वह अपने शत्रु का रूप ले लेता है ॥८॥

उसने पुरुष का चित्त ले लिया। इसलिए लोग कहते हैं 'देव-चित्त तेरी रक्षा करे, मनुष्यचित्त मेरी।' क्योंकि उसका चित्त तो उससे ले लिया गया। जो इस रहस्य को समझता है वह अपने शत्रु का चित्त ले लेता है ॥९॥

उसने पशुओं की आँख छीन ली, इसलिए वे देखकर किसी चीज को नहीं पहचान सकते; सूँघकर पहचानते हैं क्योंकि उनसे आँख तो ले ली गई। जो इस रहस्य को समझता है वह अपने शत्रु की आँख छीन लेता है ॥१०॥

उसने चन्द्रमा की आभा ले ली, इसलिए सूर्यचन्द्र इन दोनों समान रूपवालों में चन्द्रमा कम चमकता है, क्योंकि इसकी आभा ले ली गई है। इसलिए जो इस रहस्य को समझता है वह अपने शत्रु से आभा ले लेता है। चूँकि उसने इन सबको लिया, इसलिए इसका नाम 'आ+दा' से आदित्य पड़ गया ॥११॥

पशुप्रायश्चित्ततया स्पृत्याख्यहोमविधानम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ४

केशिगृहपतियों की सम्राट्-दुघा गाय को शेर खा गया। (जिस गाय के दूध को पकाकर प्रवर्ग्य बनाते हैं उसका नाम सम्राट्-दुघा है। गर्म दूध को घर्म या सम्राट् कहते हैं)। वह अपने सत्रवाले साथियों से बोला, 'इसका क्या प्रायश्चित्त है?' वे बोले, 'कुछ प्रायश्चित्त नहीं है। परन्तु केवल खण्डिक उद्भारि इसका प्रायश्चित्त जानता है। परन्तु वह तो ऐसा ही चाहता है। इससे भी बुरा' ॥१॥

उसने कहा, 'रथवान, मेरे घोड़े जोत, मैं जाऊँगा। यदि वह बता देगा तो मैं सफल हो

मा मारयिष्यति यन्नं विकृष्टमनु विक्रन्त्यऽइति ॥२॥ स ह युक्ता ययावाजगाम । तꣳ ह प्रतिख्यायोवाच यन्वेतान्येवाजिनानि मृगेषु भवन्त्यथैषां पृष्टीरपिशीर्य पचामहे कृष्णाजिनं मे ग्रीवास्वाबद्धमित्येव नेदमधृषोऽभ्यवस्यन्तू३मिति ॥३॥ नेति होवाच । सम्राड्डुघां वै मे भगवः शार्दूलोऽवधीत्स यद्यह मे वक्ष्यसि समास्यामि यद्यु मा मारयिष्यसि यन्नं विकृष्टमनु विक्रन्त्यऽइति ॥४॥ स होवाच । श्रामन्त्रणीयान्वामन्त्रयाऽइति तान्हामन्त्र्योवाच यद्यस्मै वक्ष्याम्यमुष्यैवेदं प्रजा भविष्यति न मम लोको वहं भविष्यामि यद्यु वाऽअस्मै नं वक्ष्यामि ममैवेदं प्रजा भविष्यति नामुष्य लोको वसौ भविष्यतीति ते होचुर्मा भगवो वोचोऽयं वाव क्षत्रियस्य लोक इति स होवाच वक्ष्याम्येवामूर्वै रात्रयो भूयस्य इति ॥५॥ तस्माऽउ हैतदुवाच । स्पृतीर्हुत्वान्यामाजतेति ब्रूतात्सा ते सम्राड्डुघा स्यादिति चन्द्रात्ते मन स्पृणोमि स्वाहा सूर्यात्ते चक्षु स्पृणोमि स्वाहा वातात्ते प्राणान्स्पृणोमि स्वाहा दिग्भ्यस्ते श्रोत्रꣳ स्पृणोमि स्वाहाद्भ्यस्ते लोहितꣳ स्पृणोमि स्वाहा पृथिव्यै ते शरीरꣳ स्पृणोमि स्वाहेत्यथान्यामाजतेति ब्रूतात्सा ते सम्राड्डुघा स्यादिति ततो हैव स उत्ससाद कैशिनीरेवेमा अप्येतर्हि प्रजा जायन्ते ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥१४ [८.४.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०२ ॥ अष्टमोऽध्यायः [७४.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या४३७ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणेऽष्टाध्यायीनामैकादशं काण्डं समाप्तम् ॥११॥ ॥

जाऊँगा। यदि वह मुझे मारेगा तो मैं यज्ञ के विकृत होने पर स्वयं भी विकृत हो जाऊँगा' ।।२।।

वह रथ जुतवाकर चल दिया और वहाँ आया। जब (खण्डिक ने) उसे देखा तो कहा 'मृगों के ऊपर मृग-चर्म होते हैं। उनकी पसलियाँ काटकर हम पका लेते हैं। मेरी गर्दन से काले ृग का चर्म बँधा है। क्या ऐसे ही विचार से तू मेरे पास आया है?' (अर्थात् क्या मुझे मारने के लिए) ।।३।।

उसने कहा, 'नहीं, भगवन्! मेरी सम्राट्दुघा गाय को शेर खा गया। यदि आप बता देंगे तो मैं सफल हो जाऊँगा। यदि आप मुझे मारना ही चाहते हैं तो यज्ञ के नष्ट होने के साथ मैं भी नष्ट हो जाऊँगा' ।।४।।

वह बोला, 'मैं अपने मन्त्रियों से परामर्श करूँगा।' उनसे परामर्श करके बोला, 'यदि मैं बताऊँ तो इसकी सन्तान होगी, न कि मेरी। परन्तु मेरा परलोक बनेगा। यदि मैं नहीं बताता तो मेरी प्रजा होगी, न कि उसकी। परन्तु उसका परलोक बनेगा।' उन्होंने कहा, 'भगवन्! मत बताओ। यह लोक क्षत्रिय का है।' उसने कहा, 'नहीं-नहीं। मैं बताऊँगा। उस लोक में बहुत-सी रातें हैं (अर्थात् वहाँ भी आयु है)' ।।५।।

तब उसने बता दिया—स्पृती आहुतियों को देकर ऐसा कहे 'दूसरी गाय लाओ'। वही तेरी सम्राट्दुघा होगी। इन मन्त्रों से—"चन्द्रात् ते मनः स्पृणोमि स्वाहा" (चन्द्र से मैं तेरा मन लेता हूँ)—"सूर्यात् ते चक्षु स्पृणोमि स्वाहा" (सूर्य से आँख)—"वातात् ते प्राणान्त्स्पृणोमि स्वाहा" (वायु से प्राण)—"दिग्भ्यस्ते श्रोत्रँ स्पृणोमि स्वाहा" (दिशाओं से कान)—"अद्भ्यस्ते लोहितं स्पृणोमि स्वाहा" (जलों से रुधिर)—"पृथिव्यै ते शरीरँ स्पृणोमि स्वाहा"—(पृथिवी से शरीर)। तब वह कहे 'दूसरी गाय ला'। वह तेरी सम्राट्-दुघा होगी।' तब वह वहाँ से चला गया। केशि लोगों का वंश अबतक चलता है ।।६।।

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत "रत्नकुमारी दीपिका" भाषाव्याख्या का अष्टाध्यायी नाम एकादश काण्ड समाप्त हुआ।

एकादश काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [११.२.४	११६
द्वितीय [११.४.२]	१०४
तृतीय [११.५.६]	११२
चतुर्थ]११.८.४[	१०२
	४३७
पूर्व के काण्डों का योग	५५०१
पूर्णयोग	५९३८

ओम् । अयं वै यज्ञो योऽयं पवते । तमेतऽईप्सन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते तेषां गृहपतिः प्रथमो दीक्षतेऽयं वै लोको गृहपतिरस्मिन्वै लोकऽइदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं गृहपताऽउ वै सत्त्रिणः प्रतिष्ठिताः प्रतिष्ठायामेवैतत्प्रतिष्ठाय दीक्षन्ते ॥१॥ अथ ब्रह्माणं दीक्षयति । चन्द्रमा वै ब्रह्मा सोमो वै चन्द्रमाः सौम्या ओषधय ओषधीस्तदनेन लाकेन संदधाति तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत स यद्धैतावन्तरेणान्यो दीक्षेतौषधीस्तदनेन लोकेन नानाकुर्याडुक्षोधुका ह स्यस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥२॥ अथोद्गातारं दीक्षयति । पर्जन्यो वाऽउद्गाता पर्जन्याद्ध वै वृष्टिर्जायते वृष्टिं तदोषधिभ्यः संदधाति तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत स यद्धैतावन्तरेणान्यो दीक्षेत वृष्टिं तदोषधिभिर्नानाकुर्यादवर्षुको ह स्यात्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥३॥ अथ होतारं दीक्षयति । अग्निर्वै होताधिदेवतं वागध्यात्ममन्नं वृष्टिरग्निं च तद्वाचं चान्नेन संदधाति तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत स यद्धैतावन्तरेणान्यो दीक्षेताग्निं च तद्वाचं चान्नेन नानाकुर्यादशनायुका ह स्युस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेतैतांश्चतुरोऽध्वर्युर्दीक्षयति ॥४॥ अथाध्वर्युं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयति । मनो वाऽअध्वर्युर्वाग्घोता मनश्च तद्वाचं च संदधाति तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत स यद्धैतावन्तरेणान्यो दीक्षेत मनश्च तद्वाचं च नानाकुर्यात्प्रमायुका ह स्युस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥५॥ अथ ब्रह्मणे ब्राह्मणाच्छꣳसिनं दीक्षयति । तꣳ हि सोऽन्वथोद्गात्रे प्रस्तोतारं दीक्षयति तꣳ हि सोऽन्वथ होत्रे मैत्रावरुणं दीक्षयति तꣳ हि सोऽन्वेतांश्चतुरः प्रतिप्रस्था-

द्वादश काण्ड

अथ मध्यमं नाम द्वादशं काण्डम्

द्वादशाहे दीक्षाक्रमः

अध्याय १—ब्राह्मण १

वस्तुतः यह यज्ञ वही है जो बहता है, अर्थात् वायु। जो संवत्सर के लिए दीक्षा लेते हैं वे इसी की कामना करते हैं। उनमें से गृहपति पहले दीक्षित होता है। यह लोक गृहपति है। इसी लोक में सब प्रतिष्ठित हैं। गृहपति में ही सब सत्रवाले (याज्ञिक) प्रतिष्ठित हैं। प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही वे दीक्षित होते हैं (अर्थात् बुनियाद मजबूत करने के बाद) ॥१॥

अब (अध्वर्यु) ब्रह्मा को दीक्षित करता है। ब्रह्मा चन्द्रमा है, सोम चन्द्रमा है, ओषधियाँ सोम की हैं। इस प्रकार वे ओषधियों की इस लोक से सन्धि करता है। इसलिए इन दोनों के बीच में और कोई दीक्षित नहीं होता। यदि इन दोनों के बीच में किसी अन्य को दीक्षित करेगा तो ओषधियों को इस लोक से अलग कर देगा और वे सूख जाएँगी। इसलिए इन दोनों के बीच में किसी अन्य को दीक्षित न करे ॥२॥

अब उद्गाता को दीक्षित करता है। उद्गाता पर्जन्य या बादल है। पर्जन्य से ही वृष्टि होती है। इस प्रकार वृष्टि और ओषधियों में सन्धि करता है। इसलिए इन दोनों के बीच में किसी अन्य को दीक्षित न करे। यदि इन दोनों के बीच में किसी को दीक्षित करेगा तो वृष्टि को ओषधियों से अलग कर देगा और वर्षा न होगी। इसलिए इन दोनों के बीच में किसी को दीक्षित न करे ॥३॥

अब होता को दीक्षित करता है। होता अग्नि है देवता के विचार से, परन्तु होता वाणी है शरीर के विचार से। इस प्रकार अग्नि और वाणी की अन्न से सन्धि करता है। इन दोनों के बीच में किसी दूसरे को दीक्षित न करे। यदि इन दोनों के बीच में किसी अन्य को दीक्षित करेगा तो अग्नि और वृष्टि को अन्न से अलग कर देगा और दुर्भिक्ष हो जायगा, इसलिए इन दोनों के बीच में किसी अन्य को दीक्षित न करे। इन चार को अध्वर्यु दीक्षित करता है ॥४॥

अब अध्वर्यु को प्रतिप्रस्थाता दीक्षित करता है। अध्वर्यु मन है, होता वाक्। इस प्रकार मन और वाक् में सन्धि करता है। इसलिए इन दोनों के बीच में किसी अन्य को दीक्षित नहीं करते। यदि इनके बीच में किसी अन्य को दीक्षित करेगा तो मन और वाक् को अलग-अलग कर देगा और लोग मरने लगेंगे। इसलिए इन दोनों के बीच में किसी को दीक्षित न करे ॥५॥

अब ब्रह्मा के लिए ब्राह्मणाच्छंसी को दीक्षित करता है, क्योंकि वह उस (ब्रह्मा) के पीछे है। अब प्रस्तोता को उद्गाता के लिए दीक्षित करता है, क्योंकि प्रस्तोता उद्गाता के पीछे है। अब होता के लिए मैत्रावरुण को दीक्षित करता है, क्योंकि मैत्रावरुण होता के पीछे है। इन

ता दीक्षयति ॥ ६॥ अथाधर्य्वे प्रतिप्रस्थातारं नेष्टा दीक्षयति । तꣳ हि सोऽन्वे-तेषां वै नवानां कॢप्तिमन्वितरे कल्पन्ते नव वै प्राणाः प्राणानेवैष्वेतद्दधाति त-था सर्वमायुर्यन्ति तथो ह न पुरायुषोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति ॥ ७॥ अथ ब्रह्मणे पो-तारं दीक्षयति । तꣳ हि सोऽन्वथोद्गात्रे प्रतिहर्तारं दीक्षयति तꣳ हि सोऽन्वथ होत्रेऽच्छावाकं दीक्षयति तꣳ हि सोऽन्वेतांश्चतुरो नेष्टा दीक्षयति ॥ ८॥ अथा-धर्य्वे नेष्टारमुन्नेता दीक्षयति । तꣳ हि सोऽन्वथ ब्रह्मणऽआग्नीध्रं दीक्षयति तꣳ हि सोऽन्वथोद्गात्रे सुब्रह्मण्यं दीक्षयति तꣳ हि सोऽन्वथ होत्रे ग्रावस्तुतं दी-क्षयति तꣳ हि सोऽन्वेतांश्चतुर उन्नेता दीक्षयति ॥ ९॥ अथोन्नेतारꣳ । स्नातको वा ब्रह्मचारी वान्यो वादीक्षितो दीक्षयति न पूतः पावयेदिति ह्याहुः सैषानु-पूर्वदीक्षा स यत्र हैवं विद्वाꣳसो दीक्षन्ते दीक्षमाणा हैव ते यज्ञं कल्पयन्ति यज्ञ-स्य कॢप्तिमनु सत्त्रिणां योगक्षेमः कल्पते सत्त्रिणां योगक्षेमस्य कॢप्तिमन्वपि तस्या-र्धस्य योगक्षेमः कल्पते यस्मिन्नर्धे यजन्ते ॥ १०॥ तेषां वाऽउन्नेतोत्तमो दीक्षते । प्रथमोऽवभृथादुदायतामुदेति प्राणो वाऽउन्नेता प्राणमेवैष्वेतदुभयतो दधाति तथा सर्वमायुर्यन्ति तथो ह न पुरायुषोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति सैषानुपूर्वदीक्षा स यत्र हैवं विद्वाꣳसो दीक्षेरंस्तदेव दीक्षेत ॥ ११॥ ब्राह्मणम् ॥ १॥

श्रद्धाया वै देवाः । दीक्षां निरमिमतादित्यै प्रायणीयꣳ सोमात्क्रयं विष्णोराति-थ्यमादित्यात्प्रवर्ग्यꣳ स्वधाया उपसदोऽग्नीषोमाभ्यामुपवसथमस्माल्लोकात्प्रायणीय-मतिरात्रꣳ ॥ १॥ संवत्सराच्चतुर्विꣳशमहः । ब्रह्मणोऽभिप्लवं क्षत्रात्पृष्ठ्यमग्नेरभिजि-तमद्भ्यः स्वरसाम्न आदित्याद्विषुवन्तमुक्ताः स्वरसामान इन्द्राद्विश्वजितमुक्तौ पृष्ठ्या-भिप्लवौ मित्रावरुणाभ्यां गोऽआयुषी विश्वेभ्यो देवेभ्यो दशरात्रं दिग्भ्यो दाशरा-त्रिकं पृष्ठ्यꣳ षडहमेभ्यो लोकेभ्यश्छन्दोमान् ॥ २॥ संवत्सराद्दशममहः । प्रजापते-र्महाव्रतꣳ स्वर्गाल्लोकादुदयनीयमतिरात्रं तदेतत्संवत्सरस्य जन्म स यो हैवमेत-

चारों को प्रतिप्रस्थाता दीक्षित करता है ।।६।।

अब अध्वर्यु के लिए प्रतिप्रस्थाता को नेष्टा दीक्षित करता है, क्योंकि प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु के पीछे है। इन नौ को तैयार करके तब अन्यों को तैयार करते हैं। प्राण नौ हैं। इस प्रकार इनमें प्राण स्थापित करता है। इसलिए वे पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं। इसलिए वे इस लोक से पूर्ण आयु के पहले नहीं चलते ।।७।।

अब ब्रह्मा के लिए पोता (पोतृ) को दीक्षित करता है। वह उसके पीछे (अधीन) है। उद्गाता के लिए प्रतिहर्ता को दीक्षित करता है, क्योंकि प्रतिहर्ता उद्गाता के अधीन है। अब होता के लिए अच्छावाक् को दीक्षित करता है, क्योंकि वह होता के अधीन है। इन चारों को नेष्टा दीक्षित करता है ।।८।।

अब अध्वर्यु के लिए नेष्टा को उन्नेता दीक्षित करता है, क्योंकि वह उसके पीछे है। ब्रह्मा के लिए आग्नीध्र को दीक्षित करता है, क्योंकि वह उसके अधीन है। उद्गाता के लिए सुब्रह्मण्या को दीक्षित करता है, क्योंकि वह उसके पीछे है। होता के लिए ग्रावस्तुत को दीक्षित करता है, क्योंकि वह उसके पीछे है। इन चारों को उन्नेता दीक्षित करता है ।।९।।

अब उन्नेता को स्नातक या ब्रह्मचारी या कोई दूसरा दीक्षित करता है, जो स्वयं दीक्षित न हो। क्योंकि कहते हैं कि जो पवित्र हो वह दूसरे को पवित्र न करे (नहाया हुआ वे-नहाये को न नहलावे)। यह हुई क्रम से दीक्षा। जब इस रहस्य को समझकर ये लोग दीक्षित होते हैं, तभी दीक्षा के समय में भी यज्ञ को तैयार कर लेते हैं। क्योंकि यज्ञ को तैयारी के अधीन ही सत्रवालों का योगक्षेम है, और सत्रवालों के योगक्षेम के अधीन उसे अर्द्ध अर्थात् प्रान्त का योगक्षेम है जिसमें वह सत्र किया जाता है ।।१०।।

इनमें उन्नेता सबसे पीछे दीक्षित होता है। जब अवभृथ स्नान से बाहर आते हैं तो उन्नेता सबसे आगे आता है। उन्नेता प्राण है। इस प्रकार यह प्राण को उसमें दोनों ओर से स्थापित कर देता है। इससे ये लोग पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं और इस लोक से पूर्ण आयु के पहले नहीं जाते। यह दीक्षा का क्रम है। उसको वहीं दीक्षित होना चाहिए जहाँ इस बात को समझनेवाले दीक्षित होते हैं ।।११।।

द्वादशाहस्याहः क्लृप्तिः

अध्याय १—ब्राह्मण २

देवों ने दीक्षा को श्रद्धा में से बनाया। प्रायणीय को अदिति से (प्रायणीय=आरम्भ का कृत्य), क्रय को सोम से (क्रय=सोम का खरीदना), आतिथ्य को विष्णु से, प्रवर्ग्य को आदित्य से, उपसद को स्वधा से, उपवास को अग्नि-सोम से—प्रायणीय अतिरात्र को इस लोक से (प्रायणीय अतिरात्र='गवाँ अयनं' नामक सत्र का पहला दिन) ।।१।।

चौबीसों-दिन को संवत्सर से, अभिप्लव को ब्रह्मा से, पृष्ठ्य को क्षत्र से, अभिजित् को अग्नि से, स्वरसाम को जलों से (स्वरसाम की व्याख्या पूर्व हो चुकी), विषुवत् को आदित्य से, विश्वजित् को इन्द्र से (पृष्ठ्य और अभिप्लव हो चुके), गो और आयु को मित्रावरुण से, दशरात्र को विश्वेदेवा से, दशरात्रिक पृष्ठ्य षडह को दिशाओं से, छन्दोमान को इन लोकों से ।।२।।

दश-दिनी को संवत्सर से, महाव्रत को प्रजापति से, उदयनीय अतिरात्र को स्वर्गलोक से—यह है संवत्सर का जन्म।

त्संवत्सरस्य जन्म वेदा ह्यस्माच्छ्रेयाञ्जायते सात्मा भवति संवत्सरो भवति संवत्सरो भूत्वा देवानप्येति ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ ॥

यद्वै दीक्षन्ते । अग्नाविष्णूऽएव देवते यजन्तेऽग्नाविष्णू देवते भवन्त्यग्नाविष्ण्वोः सायुज्यꣳ सलोकतां जयन्ति ॥१॥ अथ यत्प्रायणीयेन यजन्ते । अदितिमेव देवतां यजन्तेऽदितिर्देवता भवन्त्यदितेः सायु° ॥२॥ अथ यत्क्रयेण चरन्ति । सोममेव देवतां यजन्ते सोमो देवता भवन्ति सोमस्य सायु° ॥३॥ अथ यदातिथ्येन यजन्ते । विष्णुमेव देवतां यजन्ते विष्णुर्देवता भवन्ति विष्णोः सायु° ॥४॥ अथ यत्प्रवर्ग्येण यजन्ते । आदित्यमेव देवतां यजन्तऽआदित्यो देवता भवन्त्यादित्यस्य सायु° ॥५॥ अथ यदुपसद उपयन्ति । एता एव देवता यजन्ते या एता उपसत्स्वेता देवता भवन्त्येतासां देवतानाꣳ सायु° ॥६॥ अथ यदग्नीषोमीयेण पशुना यजन्ते । अग्नीषोमावेव देवते यजन्तेऽग्नीषोमौ देवते भवन्त्यग्नीषोमयोः सायु° ॥७॥ अथ यत्प्रायणीयमतिरात्रमुपयन्ति । अहोरात्रेऽएव देवते यजन्तेऽहोरात्रे देवते भवन्त्यहोरात्रयोः सायु° ॥८॥ अथ यच्चतुर्विꣳशमहरुपयन्ति संवत्सरमेव देवतां यजन्ते संवत्सरो देवता भवन्ति संवत्सरस्य सायु° ॥९॥ अथ यदभिप्लवꣳ षडहमुपयन्ति । अर्धमासांश्च मासांश्च देवता यजन्तेऽर्धमासाश्च मासाश्च देवता भवन्त्यर्धमासानां च मासानां च सायु° ॥१०॥ अथ यत्पृष्ठ्यꣳ षडहमुपयन्ति । ऋतूनेव देवता यजन्तऽऋतवो देवता भवन्त्यृतूनाꣳ सायु° ॥११॥ अथ यदभिजितमुपयन्ति । अग्निमेव देवतां यजन्तेऽग्निर्देवता भवन्त्यग्नेः सायु° ॥१२॥ अथ यत्स्वरसाम्न उपयन्ति । अप एव देवतां यजन्तऽआपो देवता भवन्त्यपाꣳ सायु° ॥१३॥ अथ यद्विषुवन्तमुपयन्ति । आदित्यमेव देवतां यजन्तऽआदित्यो देवता भवन्त्यादित्यस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयन्त्युक्ताः स्वरसामानः ॥१४॥ अथ यद्विश्वजितमुपयन्ति । इन्द्रमेव देवतां यजन्तऽइन्द्रो देवता भवन्तीन्द्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयन्त्युक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ ॥१५॥

जो इस रहस्य को समझता है, उससे उसका श्रेय होता है। उसको नया आत्मा मिल जाता है। वह संवत्सर हो जाता है। संवत्सर होकर देवों में मिल जाता है ॥३॥

उक्ताहः क्लृप्त्यर्थवादः

अध्याय १—ब्राह्मण ३

जब वे दीक्षित होते हैं तो अग्नि और विष्णु दो देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। अग्नि और विष्णु हो जाते हैं। अग्नि और विष्णु के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेते हैं ॥१॥

जब प्रायणीय का यज्ञ करते हैं तो अदिति देवता का यज्ञ करते हैं। अदिति देवता हो जाते हैं। अदिति के सायुज्य···इत्यादि ॥२॥

जब सोम क्रय करते हैं तो सोम देवता का यज्ञ करते हैं। सोम हो जाते हैं। सोम के सायुज्य···इत्यादि ॥३॥

आतिथ्य का यज्ञ करते हैं तो विष्णु का यज्ञ करते हैं। विष्णु देवता हो जाते हैं। विष्णु के सायुज्य···इत्यादि ॥४॥

प्रवर्ग्य यज्ञ करते हैं तो आदित्य देवता का यज्ञ करते हैं। आदित्य देवता हो जाते हैं। आदित्य के सायुज्य···इत्यादि ॥५॥

जब उपसदों में प्रवेश करते हैं तो उन्हीं देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं, जो उपसदों में आहुतियाँ पाते हैं। वे यही देवता हो जाते हैं और इन्हीं देवताओं के सायुज्य···इत्यादि ॥६॥

जब अग्नि-सोम के पशु का यज्ञ करते हैं तो अग्नि और सोम का यज्ञ करते हैं। अग्नि और सोम हो जाते हैं। अग्नि-सोम के सायुज्य···इत्यादि ॥७॥

जब प्रायणीय अतिरात्र को जाते हैं तो दिन-रात नामी दो देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। दिन-रात देवता हो जाते हैं। दिन-रात के सायुज्य···इत्यादि ॥८॥

जब चौबीस-दिनी को लेते हैं, तो संवत्सर देवता के लिए ही यज्ञ करते हैं। संवत्सर देवता हो जाते हैं। संवत्सर के सायुज्य···इत्यादि ॥९॥

जब अभिप्लव छः-दिनी (षडाह) को प्राप्त करते हैं, तो अर्धमास और मास नामी देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। अर्धमास और मास हो जाते हैं। अर्धमास और मास के सायुज्य ···इत्यादि ॥१०॥

जब पृष्ठ्य छः-दिनी को मनाते हैं, तो ऋतु देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। ऋतु देवता हो जाते हैं। ऋतुओं के सायुज्य···इत्यादि ॥११॥

जब अभिजित् दिन मनाते हैं, तो अग्नि देवता के लिए यज्ञ करते हैं। अग्नि देवता हो जाते हैं। अग्नि के सायुज्य···इत्यादि ॥१२॥

जब स्वरसाम दिनों को मनाते हैं, तो जल देवता के लिए यज्ञ करते हैं। जल देवता हो जाते हैं। जल देवता के सायुज्य···इत्यादि ॥१३॥

जब विषुवत् दिवस मनाते हैं तो आदित्य देवता के लिए यज्ञ करते हैं। आदित्य देवता हो जाते हैं। आदित्य देवता के सायुज्य···इत्यादि ॥१४॥

जब विश्वजित् दिवस मनाते हैं, तो इन्द्र देवता के लिए यज्ञ करते हैं। इन्द्र देवता हो जाते हैं। इन्द्र के सायुज्य···इत्यादि ॥१५॥

अथ यद्गोऽआयुषी उपयन्ति । मित्रावरुणाविव देवते यजन्ते मित्रावरुणौ देवते भवन्ति मित्रावरुणयोः सायु° ॥१६॥ अथ यद्दशरात्रमुपयन्ति । विश्वानेव देवान्देवतां यजन्ते विश्वे देवा देवता भवन्ति विश्वेषां देवानाꣳ सायु° ॥१७॥ अथ यद्दाशरात्रिकं पृष्ठ्यꣳ षडहमुपयन्ति । दिश एव देवता यजन्ते दिशो देवता भवन्ति दिशाꣳ सायु° ॥१८॥ अथ यच्छन्दोमानुपयन्ति । इमानेव लोकान्देवता यजन्त ऽइमे लोका देवता भवन्त्येषां लोकानाꣳ सायु° ॥१९॥ अथ यद्दशममहरुपयन्ति । संवत्सरमेव देवतां यजन्ते संवत्सरो देवता भवन्ति संवत्सरस्य सायु° ॥२०॥ अथ यन्महाव्रतमुपयन्ति । प्रजापतिमेव देवतां यजन्ते प्रजापतिर्देवता भवन्ति प्रजापतेः सायु° ॥२१॥ अथ यदुदयनीयमतिरात्रमुपयन्ति । संवत्सरमेव तदाप्त्वा स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठन्ति तान्यदि पृच्छेयुः कामस्य देवतां यजध्वे का देवता स्थ कस्यां देवतायां वसथेत्यत एवैकतमां ब्रूयुर्यस्यै तु नेदिष्ठꣳ स्युरेते ह वै सन्ति सद एते हि सतीषु देवतासु सीदन्तो यन्ति सत्त्रसदो हैवेतरे स यो हैवं विदुषां दीक्षितानां पापकꣳ सत्त्रे कीर्तयेदेतेभ्यस्त्वा देवताभ्य आवृश्चाम इत्येनं ब्रूयुः स पापीयान्भवति श्रेयाꣳस आत्मना ॥२२॥ स एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतः । चतुर्विꣳशे महाव्रतं विषुवति महाव्रतं महाव्रतऽएव महाव्रतं तꣳ ह स्मैतं पूर्वऽउपयन्ति त्रिमहाव्रतं ते तेजस्विन आसुः सत्यवादिनः सꣳशितव्रता अथ यऽउ हैनमप्येतर्हि तथोपेयुर्यथामपात्रमुदकऽआसिक्तं विम्रित्येदेवꣳ हैव ते विम्रित्येयुरुपर्युपयन्ति तदेषाꣳ सत्येन श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिरवरुद्धं भवति ॥२३॥

ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

पुरुषो वै संवत्सरः । तस्य पादाविव प्रायणीयोऽतिरात्रः पादाभ्याꣳ हि प्रयन्ति तयोर्यच्छुक्लं तदह्नो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेर्नखान्येवौषधिवनस्पतीनाꣳ रूपमूरू चतुर्विꣳशमहरोऽभिप्लवः पृष्ठं पृष्ठ्यः ॥१॥ अयमेव दक्षिणो बाहुरभिजित् । इम

जब गो और आयुष्-स्तोमों को करते हैं तो मित्रा-वरुण देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। मित्रावरुण देवता हो जाते हैं। मित्रावरुण के सायुज्य···इत्यादि ।।१६।।

जब दश-दिनी को मनाते हैं, तो विश्वेदेवा नामी देवताओं का यज्ञ करते हैं। विश्वेदेव हो जाते हैं। विश्वेदेवों के सायुज्य···इत्यादि ।।१७।।

जब दशरात्रिक पृष्ठ्य-सम्बन्धी छः-दिनी (षडाह) को मनाते हैं, तो दिशा देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। दिशा देवता हो जाते हैं। दिशा देवताओं के सायुज्य···इत्यादि ।।१८।।

जब छन्दोमों को लेते हैं, तो इन लोकों नामी देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं। यही लोक नामी देवता हो जाते हैं। इन लोक नामी देवताओं के सायुज्य···इत्यादि ।।१९।।

जब दस-दिनी को मनाते हैं, तो संवत्सर देवता के लिए यज्ञ करते हैं। संवत्सर देवता हो हो जाते हैं। संवत्सर देवता के सायुज्य···इत्यादि ।।२०।।

जब महाव्रत मनाते हैं, तो प्रजापति देवता के लिए यज्ञ करते हैं। प्रजापति देवता हो जाते हैं। प्रजापति के सायुज्य को···इत्यादि ।।२१।।

जब उदयनीय अतिरात्र को लेते हैं, तो संवत्सर को प्राप्त करके स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होते हैं। यदि उनसे पूछा जाय कि आज किस देवता के लिए यज्ञ करते हो, कौन देवता हो, किस देवता में बसते हो, तो उसी एक देवता को बताना चाहिए, जिसके वे सत्र में निकटतम हों। वस्तुतः वे अच्छों में बैठते हैं, क्योंकि अच्छे देवताओं के मध्य में बैठते हैं। दूसरे तो केवल सत्र में भाग लेते हैं। यदि ऐसा ज्ञान रखनेवाले विद्वान् दीक्षितों के विषय में सत्र में कोई बुराई करे, तो वे उससे कहें कि 'हम तुमको देवताओं से अलग काट देंगे' तो वह पापी हो जायेगा और ये लोग उससे उत्कृष्ट ।।२२।।

एक वर्ष में तीन महाव्रत होते हैं—चतुर्विंश महाव्रत, विषुवत् महाव्रत, और महाव्रत स्वयं। पहले लोग इस तिहरे महाव्रत को किया करते थे। वे तेजस्वी, सत्यवादी, संशितव्रत थे। परन्तु यदि कोई आज इस प्रकार करने लगें, तो वे इस प्रकार नष्ट हो जायेंगे, जैसे कच्चा घड़ा पानी डालने से। जो ऐसा करते हैं वे अति करते हैं। सत्य, श्रम, तप, श्रद्धा, यज्ञ, आहुँतियाँ—इनसे भी यह उद्देश्य पूर्ण हो जाता है ।।२३।।

द्वादशाहस्य संवत्सरात्मना स्तुतिः

अध्याय १—ब्राह्मण ४

संवत्सर पुरुष है। प्रायणीय अतिरात्र उसके पैर हैं। पैरों से चला करते हैं। इनमें जो श्वेत है वह दिन है, जो काला है वह रात है। ओषधियाँ और वनस्पतियाँ नाखुन हैं। चौबीस-दिनी जंघा है। अभिप्लव छाती है। पृष्ठ्य पीठ है ।।१।।

अभिजित् दाहिनी भुजा है।

ऽएव दक्षिणे त्रयः प्राणाः स्वरसामानो मूर्धा विषुवानिमऽएवोत्तरे त्रयः प्राणाः स्वरसामानः ॥२॥ अयमेवोत्तरो बाहुर्विश्वजित् । उक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ यावन्याञ्चौ प्राणौ ते गोऽआयुषीऽअङ्गानि दशरात्रो मुखं महाव्रतꣳ हस्तावेवोदयनीयोऽतिरात्रो हस्ताभ्याꣳ ह्युत्यन्ति तयोर्यच्छुक्लं तदह्नो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेर्नखान्येव नक्षत्राणाꣳ रूपꣳ स एष संवत्सरोऽध्यात्मं प्रतिष्ठितः स यो हैवमेतꣳ संवत्सरमध्यात्मं प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिरस्मिंल्लोकेऽमृतत्वेनामुष्मिन् ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ प्रथमोऽध्यायः [७५.] ॥ ॥

समुद्रं वाऽएते प्रतरन्ति । ये संवत्सराय दीक्षन्ते तस्य तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति तद्यत्प्रायणीयमतिरात्रमुपयन्ति यथा तीर्थेन समुद्रं प्रस्नायुस्तादृक्तत् ॥१॥ गाधमेव प्रतिष्ठा चतुर्विꣳशमहः । यथोपपक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नान्ति प्रस्नेयोऽभिप्लवः प्रस्नेयः पृष्ठ्यः ॥२॥ गाधमेव प्रतिष्ठाभिजित् । यथोपपक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्योत्क्रामन्त्यूरुदघ्न एव प्रथमः स्वरसामा जानुदघ्नो द्वितीयः कुल्फदघ्नस्तृतीयो द्वीपः प्रतिष्ठा विषुवान्कुल्फदघ्न एव प्रथमोऽर्वाक्सामा जानुदघ्नो द्वितीय ऊरुदघ्नस्तृतीयः ॥३॥ गाधमेव प्रतिष्ठा विश्वजित् । यथोपपक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नान्ति प्रस्नेयः पृष्ठ्यः प्रस्नेयोऽभिप्लवः प्रस्नेये गोऽआयुषी प्रस्नेयो दशरात्रः ॥४॥ गाधमेव प्रतिष्ठा महाव्रतम् । यथोपपक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्योत्स्नान्ति तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति तद्यदुदयनीयमतिरात्रमुपयन्ति यथा तीर्थेन समुद्रं प्रस्नाय तीर्थेनोत्स्नायुस्तादृक्तत् ॥५॥ तदाहुः । कति संवत्सरस्यातिरात्राः कत्यग्निष्टोमाः कत्युक्थ्याः कति षोडशिनः कति षडहा इति द्वावतिरात्रौ षट्शतमग्निष्टोमा द्वे चत्वारिꣳशे शतेऽउक्थ्यानामिति नु यऽउक्थ्यान्स्वरसाम्न उपयन्ति ॥६॥ अथ येऽग्निष्टोमान् । द्वादशशतमग्निष्टोमा द्वे चतुस्त्रिꣳशे शतेऽउक्थ्या-

स्वरसाम दिन है। दाहिनी बगल के तीन प्राण हैं। विषुवत् मूर्धा है। दूसरे स्वरसाम बायीं ओर के तीन प्राण हैं ।।२।।

विश्वजित् बायीं भुजा है। पृष्ठ्य और अभिप्लव कहे जा चुके। गो और आयुष् नीचे के प्राण हैं। दशरात्र अंग हैं। महाव्रत मुख है। उदयनीय अतिरात्र हाथ हैं, क्योंकि हाथों से ही किसी चीज तक पहुँचते हैं। इनमें श्वेत दिन का रूप है और काला रात का। नक्षत्र नाखुन हैं। इस प्रकार शरीर की अपेक्षा से यह संवत्सर प्रतिष्ठित है। जो शरीर की अपेक्षा से इस संवत्सर को प्रतिष्ठित समझता है, वह प्रजा और पशुओं के द्वारा अपने को इस लोक में प्रतिष्ठित करता है और दूसरे लोक में अमर हो जाता है ।।३।।

संवत्सरसत्रस्याहः क्लृप्तिः

अध्याय २—ब्राह्मण १

जो संवत्सर के लिए दीक्षित होते हैं, वे समुद्र को पार करते हैं। प्रायणीय अतिरात्र उनके लिए तीर्थ (सीढ़ियाँ) हैं। जैसे सीढ़ियों द्वारा समुद्र में उतरते हैं, इसी प्रकार जो प्रायणीय अतिरात्र करते हैं, वे सीढ़ियों के द्वारा उतरते हैं ।।१।।

चतुर्विंश-दिन उथली पैड़ी है, अर्थात् वह स्थान जहाँ पानी बगल तक पहुँचे या कण्ठ तक, जहाँ विश्राम लेकर गहरे में उतरते हैं। अभिप्लव तैरने का स्थान है, पृष्ठ्य भी ।।२।।

अभिजित् एक उथली पैड़ी है, जहाँ पानी बगल तक या कण्ठ तक पहुँचे, जहाँ से विश्राम लेकर गहरे जावें। पहला स्वरसाम जाँघ-गहरा है, दूसरा घुटना, तीसरा एड़ी। विषुवत् द्वीप-प्रतिष्ठा है। पहला उल्टा साम एड़ी-गहरा है, दूसरा घुटना-गहरा, तीसरा जाँघ-गहरा ।।३।।

विश्वजित् उथली पैड़ी है, जैसे बगल तक या गर्दन तक जल पहुँचता है, जहाँ विश्राम करके तैरते हैं। इसी प्रकार पृष्ठ्य भी तैरने का स्थान है, अभिप्लव भी। गो और आयुष् भी और दशरात्र भी ।।४।।

महाव्रत भी एक उथली पैड़ी है, जैसे बगल तक या गर्दन तक पानी पहुँचता है, वहाँ ठहरकर आगे को तैरते हैं। उदयन अतिरात्र तीर्थ अर्थात् सीढ़ियाँ हैं। इन्हीं सीढ़ियों पर उतरकर तैरने के लिए प्रवेश करते हैं। यह जो उदयनीय अतिरात्र में प्रवेश करना है, सो ऐसा है जैसे सीढ़ियों से समुद्र में उतरकर फिर तैरना ।।५।।

इस पर प्रश्न होता है कि साल में कै अतिरात्र होते हैं, कै अग्निष्टोम, कै उक्थ्य, कै षोडशी, कै षडाह ? दो अतिरात्र, १०६ अग्निष्टोम, २४० उक्थ्य, ये उनके लिए जो स्वरसामों को उक्थ्य मानते हैं ।।६।।

जो अग्निष्टोमों को उक्थ्य मानते हैं—११२ (एक सौ बारह) अग्निष्टोम, २३४ उक्थ्य,

नां द्वादश षोडशिनः षष्टिः षडहा इति नु संवत्सरस्याप्तिः ॥७॥ द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य । तेषामेतत्तेन इन्द्रियं यत्पृष्ठानि तद्यन्मासि-मासि पृष्ठान्युपयन्ति मासश एव तत्संवत्सरस्य तेन आप्नुवन्त्यथ कथं त्रयोदशस्य मासस्य तेन आप्नुवन्तीत्युपरिष्टाद्विषुवतो विश्वजितꣳ सर्वपृष्ठमग्निष्टोममुपयन्त्येवमु त्रयोदशस्य मासस्य तेन आप्नुवन्ति ॥८॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह । श्वेतकेतुरारुणेयः संवत्सराय त्वाऽअहं दीक्षिष्यऽइति तꣳ ह पितोपेक्ष्योवाच वेत्थ त्वायुष्मन्त्संवत्सरस्य गाधप्रतिष्ठा इति वेदेति होवाचैतद्ध तद्विद्वानुवाच ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [२. १.] ॥

तदाहुः । कस्मादुभयतोज्योतिषोऽभिप्लवा भवन्त्यन्यतोज्योतिः पृष्ठ्य इतीमे वै लोका अभिप्लवा उभयतोज्योतिषो वाऽइमे लोका अग्निनेत आदित्येनामुत ऋतवः पृष्ठ्योऽन्यतोज्योतिषो वाऽऋतव एष एषां ज्योतिर्य एष तपति ॥१॥ देवचक्रे वाऽएते पृष्ठ्यप्रतिष्ठिते । यजमानस्य पाप्मानं तृꣳहतो परिप्लवेते स यो हैवं विदुषां दीक्षितानां पापकꣳ सत्त्रे कीर्तयत्येते हास्य देवचक्रे शिरश्छिन्त्तो दशरात्र उद्धिः पृष्ठ्याभिप्लवौ चक्रे ॥२॥ तदाहुः । यत्समेऽएव चक्रे भवतोऽथैते विषमा स्तोमाः कथमस्यैते समा स्तोमा-स्तोमा उपेता भवन्तीति यदेव षडन्यान्यहानि षडन्यानि तेनेति ब्रूयात् ॥३॥ पृष्ठ्याभिप्लवौ तन्त्रे कुर्वीतेति ह स्माह पैङ्ग्यः । तयो स्तोत्राणि च शस्त्राणि च संचारयेदिति स यत्संचारयति तस्मादिमे प्राणा नाना सन्त एकोतयः समानमूतिमनुसंचरन्त्यथ यन्न संचारयेत्प्रमायुको यजमानः स्याद्दिष ह वै प्रमायुको योऽन्धो वा बधिरो वा ॥४॥ नवाग्निष्टोमा मासि सम्पद्यन्ते । नव वै प्राणाः प्राणानेवैष्वेतद्दधाति तथा सर्वमायुर्यन्ति तथो ह न पुरायुषोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति ॥५॥ एकविꣳशतिरुक्थ्याः । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चऽर्तवस्त्रयो लोकास्तद्विꣳशतिरेष एवैकविꣳशो य एष तपत्येतामभिसम्पदꣳ स एतया सम्पदा मासि-मासि स्वर्गं लोकꣳ रोहति मासशः स्वर्गं

१२ षोडशी और ६० षडाह। इस प्रकार संवत्सर को प्राप्त करते हैं ॥७॥

संवत्सर के बारह महीने होते हैं। पृष्ठ उनके तेज और पराक्रम हैं। महीने-महीने पृष्ठ्यों को करके महीने-महीने संवत्सर के तेज को प्राप्त कर लेते हैं। तेरहवें मास के तेज को कैसे पाते हैं? विषुवत् के पीछे सब पृष्ठ्यों सहित विश्वजित्-अग्निष्टोम करते हैं। इस प्रकार तेरहवें मास के तेज को प्राप्त करते हैं ॥८॥

श्वेतकेतु आरुणेय ने यही जानकर इस विषय में कहा था, 'मैं एक संवत्सर के लिए दीक्षित होऊँगा।' उसके पिता ने उसकी ओर देखकर पूछा, 'हे आयुष्मन्, क्या तू संवत्सर की उथली पैड़ियों को जानता है?' उसने कहा, 'हाँ! जानता हूँ!' उसने जानकर ही ऐसा कहा था ॥९॥

संवत्सरसत्रस्याहः क्लृप्तिः

अध्याय २—ब्राह्मण २

अब प्रश्न करते हैं अभिप्लव दोनों ओर कहाँ से ज्योति लेते हैं और पृष्ठ्य एक ओर कहाँ से? ये लोक अभिप्लव हैं। ये लोक दोनों ओर से ज्योतियाँ लेते हैं—इधर अग्नि से और उधर आदित्य से। ऋतुएँ पृष्ठ्य हैं। ऋतुएँ एक ओर ज्योति लेती हैं। उनकी ज्योति वही है जो तपता है अर्थात् सूर्य ।।१॥

पृष्ठ्य-रूपी प्रतिष्ठा पर लगे हुए ये दो देवचक्र यजमान की बुराई का नाश करते हुए घूमा करते हैं। जो कोई इन विद्वान् दीक्षितों की सत्र में अपकीर्त्ति करता है, देवचक्र उसका सिर काट लेते हैं। दशरात्र रथ है और पृष्ठ्य तथा अभिप्लव पहिये ॥२॥

इसपर कहते हैं कि रथ के पहिये तो समान होते हैं। ये स्तोम समान नहीं हैं। फिर इसके ये स्तोम बराबर-बराबर कैसे होते हैं? इसका उत्तर यह है कि इसके भी छः हैं और उसके भी छः ॥३॥

पैङ्ग्य ने कहा कि पृष्ठ्य और अभिप्लव के दो तंत्र बना लेवे। उन दोनों के स्तोत्र तथा शस्त्र साथ-साथ चलें। इनको साथ चलाने में प्राण जो एक-दूसरे से अलग हैं, एक ही ताने में चलने लगते हैं। यह उनको साथ न चलायेगा तो यजमान नष्ट हो जायगा। अन्धा या बहिरा होना नष्ट होना ही है ॥४॥

एक मास में नौ अग्निष्टोम किये जाते हैं। नौ प्राण हैं। इस प्रकार यजमानों में नौ प्राण स्थापित करता है और इस प्रकार वे पूर्ण आयु पाते हैं। वे इस लोक से पूर्ण आयु से पहले नहीं जाते ॥५॥

इक्कीस उक्थ्य हैं। संवत्सर के बारह मास हैं, पाँच ऋतु, तीन लोक। ये हुए बीस। इक्कीसवाँ वह है जो तपता है (सूर्य)। वह इसकी पूर्ति करता है और इस पूर्ति से महीने-महीने

लोकᳮ समश्नुतऽएकविᳮंशं च स्तोमं बृहतीं च छन्दः ॥६॥ चतुस्त्रिᳮंशदग्निष्टो-मा माति सम्पद्यन्ते । त्रयस्त्रिᳮंशद्धि देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिᳮंशः सर्वासां देवताना-मात्याऽएक उक्थ्यः षोडशिमानन्नं वाऽउक्थ्यो वीर्यᳮ षोडशी ॥७॥ एतेन वै देवाः । वीर्येणान्नेन सर्वान्कामानाप्नुवन्त्सर्वान्कामानाश्नुवत तथोऽएवैष एतेन वीर्येणान्नेन सर्वान्कामानाप्नोति सर्वान्कामानश्नुते तस्मात्पृष्ठ्याभिप्लवाऽउपेवेया-त्संवत्सराय दीक्षित एतस्मै कामाय ॥८॥ अथादित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च । उ-भये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त वयं पूर्वे स्वर्गं लोकमेष्यामो वयं पूर्वऽइति ॥९॥ त ऽआदित्याः । चतुर्भि स्तोमैश्चतुर्भिः पृष्ठैर्लघुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त यदभ्यप्लवन्त तस्मादभिप्लवाः ॥१०॥ अन्वञ्च-इवाङ्गिरसः । सर्वै स्तोमैः सर्वैः पृ-ष्ठैर्गुरुभिः सामभि स्वर्गं लोकमस्पृशन्यदस्पृशंस्तस्मात्पृष्ठ्यः ॥११॥ अभिप्लवः षडहः । षडृ्यहानि भवन्त्यभिप्लवः पञ्चाहः पञ्च व्यहानि भवन्ति यद्येव प्रथममहस्त-दुत्तममभिप्लवश्चतुरहश्चत्वारो हि स्तोमा भवन्ति त्रिवृत्पञ्चदशः सप्तदश एकविᳮंश इत्यभिप्लवस्त्र्यहस्त्र्यावृद्धि ज्योतिर्गौरायुरभिप्लवो द्व्यहो द्वे ह्येव सामनी भवतो बृहद्रथन्तरेऽएवाभिप्लव एकाह एकाहस्यो हि स्तोमैस्तायते चतुर्णामुक्थ्यानां द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राण्यतियन्ति स सप्तमोऽग्निष्टोम एवमु सप्ताग्निष्टोमाः सम्पद्यन्ते ॥१२॥ प्रोतिर्ह कौशाम्बेयः । कौसुरुबिन्दिरुद्दालकऽआरुणौ ब्रह्मच-र्यमुवास तᳮ हाचार्यः पप्रच्छ कुमार कति ते पिता संवत्सरस्याहान्यमन्यतेति ॥१३॥ ॥शतम् ६००० ॥ ॥ दशेति होवाच । दश वाऽइनि होवाच दशाक्षरा विराड्वैराजो यज्ञः ॥१४॥ कति त्वेवेति । नवेति होवाच नव वाऽइति होवा-च नव वै प्राणाः प्राणैरु यज्ञस्तायते ॥१५॥ कति त्वेवेति । अष्टेति होवाचाष्टौ वाऽइति होवाचाष्टाक्षरा गायत्री गायत्रो यज्ञः ॥१६॥ कति त्वेवेति । सप्तेति होवाच सप्त वाऽइति होवाच सप्त छन्दाᳮसि चतुरुत्तराणि छन्दोभिरु यज्ञस्तायते

स्वर्ग को जाता है। और मासिक भागों में स्वर्गलोक, २१ स्तोम और बृहती छन्द को पा लेता है ॥६॥

महीने में ३४ अग्निष्टोम होते हैं। ३३ देव हैं, चौंतीसवाँ प्रजापति है। षोडशी स्तोत्र का एक उक्थ्य है। उक्थ्य का अर्थ है अन्न और षोडशी का वीर्य ॥७॥

इस अन्न और वीर्य से देवों ने सब इच्छाओं को पा लिया, सबको भोग लिया। इसी प्रकार यह यजमान भी इस अन्न और वीर्य से सब इच्छाओं को पा लेता है, सबको भोग लेता है। इस कामना की पूर्ति के लिए जो वर्ष-भर के लिए दीक्षित हुआ है, उसको पृष्ठ्य और अभिप्लव अवश्य करना चाहिए ॥८॥

प्रजापति की दो सन्तानें आदित्य और आंगिरस परस्पर लड़ पड़े कि हम पहले स्वर्गलोक को जाएँ, हम पहले जाएँ ॥९॥

आदित्य चार स्तोमों, चार पृष्ठ्यों, छोटे सामों से स्वर्गलोक को तैर गए। चूँकि तैर गए (अभ्यप्लवन्त) इसलिए इनका नाम अभिप्लव पड़ गया ॥१०॥

सब स्तोमों, सब पृष्ठों, भारी सामों द्वारा अंगिरों ने स्वर्गलोक को छू मात्र पाया। चूँकि छुआ (स्पर्श किया) इसलिए इनका नाम पृष्ठ्य हुआ ॥११॥

अभिप्लव छः दिन का होता है, क्योंकि इसमें छः दिन लगते हैं। या पाँच दिन का, क्योंकि इसमें पाँच दिन होते हैं; पहला तो शामिल ही है। या चार दिन का अभिप्लव, क्योंकि चार स्तोम होते हैं, त्रिवृत् (तिहरा), पन्द्रह ऋचा का, सत्रह ऋचा का और इक्कीस ऋचा का। या तीन दिन का अभिप्लव, क्योंकि यह तीन चीजों अर्थात् ज्योति, गो और आयुष् का दाता है, या दो दिन का अभिप्लव, क्योंकि बृहत् और रथन्तर दो साम होते हैं, या एक दिन का अभिप्लव, एक दिन के सोमयज्ञ के साथ एक दिन का अभिप्लव। चार उक्थ्यों के १२ स्तोत्र और बारह शस्त्र बच गये। यह हुआ सातवाँ अग्निष्टोम। इसलिए सात अग्निष्टोम होते हैं ॥१२॥

'प्रोति कौशाम्ब्रेय" कौसुरुबिन्दि उद्दालक आरुणि का ब्रह्मचारी था। आचार्य ने पूछा, 'कुमार ! तुम्हारे बाप संवत्सर में कितने दिन मानते हैं?' ॥१३॥

उसने कहा, 'दस।' आचार्य ने कहा, 'ठीक है। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। यज्ञ विराट् छन्द से सम्बन्ध रखता है' ॥१४॥

'परन्तु वस्तुतः कितने होते हैं?' उसने कहा, 'नौ।' 'हाँ ठीक है, नौ। नौ प्राण होते हैं। प्राणों से ही यज्ञ रचाया जाता है' ॥१५॥

'ठीक कितने?' उसने कहा, 'आठ।' 'हाँ ठीक है, आठ। गायत्री के आठ छन्द होते हैं। यज्ञ गायत्री से सम्बन्ध रखता है' ॥१६॥

'यथार्थ में कितने?' उसने कहा, 'सात।' 'सात ठीक है। छन्द सात होते हैं। अगला अगला छन्द चार-चार करके बढ़ता है। छन्दों द्वारा ही यज्ञ रचाया जाता है' ॥१७॥

॥१७॥ कति त्वेवेति । षडिति होवाच षड्वाऽइति होवाच षड्ऋतवः संवत्सरः संवत्सरो यज्ञः समानमेतदहर्यत्प्रायणीयोदयनीयौ ॥१८॥ कति त्वेवेति । पञ्चेति होवाच पञ्च वाऽइति होवाच पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः समानमेतदहर्यच्चतुर्विꣳशमहाव्रते ॥१९॥ कति त्वेवेति । चत्वारीति होवाच चत्वारि वाऽइति होवाच चतुष्पादाः पशवः पशवो यज्ञः समानमेतदहर्यत्पृष्ठ्याभिप्लवौ ॥२०॥ कति त्वेवेति । त्रीणीति होवाच त्रीणि वाऽइति होवाच त्रीणि छन्दाꣳसि त्रयो लोकास्त्रिसवनो यज्ञः समानमेतदहर्यदभिजिद्विश्वजितौ ॥२१॥ कति त्वेवेति । द्वेऽइति होवाच द्वे वाऽइति होवाच द्विपाद्वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः समानमेतदहर्यत्स्वरसामानः ॥२२॥ कति त्वेवेति । एकमिति होवाचाहरेवेति तदेतदहरहरिति सर्वꣳ संवत्सरꣳ सैषा संवत्सरस्योपनिषत्स यो हैवमेताꣳ संवत्सरस्योपनिषदं वेदा हास्माच्छ्रियान्जायते सात्मा भवति संवत्सरो भवति संवत्सरो भूत्वा देवानप्येति ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥६ [२. २.] ॥ ॥

स वाऽएष संवत्सरो बृहतीमभिसम्पन्नः । द्वावार्त्यतामहाꣳ षडहौ द्वौ पृष्ठ्याभिप्लवौ गोऽआयुषी दशरात्रस्तत्षट्त्रिꣳशत्षट्त्रिꣳशदक्षरा वै बृहती बृहत्या वै देवाः स्वर्गे लोकेऽयतन्त बृहत्या स्वर्गं लोकमाप्नुवंस्तथोऽएवैष एतद्बृहत्यैव स्वर्गे लोके यतते बृहत्या स्वर्गं लोकमाप्नोत्यथ यो बृहत्यां कामस्तमेवैतेनैवंविदवरुन्द्धे ॥१॥ यद्वै चतुर्विꣳशमहः । दशरात्रस्य वै तत्सप्तमं वा नवमं वाभिप्लवात्पृष्ठ्यो निर्मितः पृष्ठ्यादभिजिदभिजितः स्वरसामानः स्वरसामभ्यो विषुवान्विषुवतः स्वरसामानः स्वरसामभ्यो विश्वजिद्विश्वजितः पृष्ठ्यः पृष्ठ्यादभिप्लवोऽभिप्लवाद्गोऽआयुषी गोऽआयुर्भ्यां दशरात्रः ॥२॥ अथैतदहरार्त्यत् । यन्महाव्रतं पञ्चविꣳशो ह्येतस्य स्तोमो भवति नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्यां न स्तोत्रियया स्तोमः ॥३॥ अभिप्लवं पूर्वं पुरस्ताद्विषुवत उपयन्ति । पृष्ठ्यमुत्तरं पुत्रा वाऽअभि-

'मुख्यतः कितने ?' उसने कहा 'छः ।' 'हाँ ठीक है, छः । संवत्सर की छः ऋतुएँ होती हैं । संवत्सर यज्ञ है । प्रायणीय और उदयनीय अतिरात्र एक ही दिन होते हैं' ॥१८॥

'वस्तुतः कितने ?' उसने कहा 'पाँच ।' 'हाँ पाँच ही । यज्ञ पाँचवाला है । पशु पाँचवाले हैं । संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं । संवत्सर यज्ञ है । चतुर्विंश और महाव्रत दोनों एक दिन ही होते हैं' ॥१९॥

'ठीक कितने ?' उसने कहा, 'चार ।' 'चार ठीक हैं । पशुओं के चार पैर होते हैं । पशु यज्ञ हैं । पृष्ठ्य और अभिप्लव एक ही दिन होते हैं' ॥२०॥

'ठीक कितने ?' उसने कहा, 'तीन ।' 'हाँ तीन । तीन छन्द होते हैं । तीन लोक । यज्ञ में तीन सवन होते हैं । अभिजित् और विश्वजित् एक ही दिन होते हैं' ॥२१॥

'ठीक कितने ?' उसने कहा, 'दो ।' 'दो ठीक हैं । पुरुष दुपाया है । पुरुष यज्ञ है । स्वरसाम एक ही दिन पड़ते हैं' ॥२२॥

'ठीक-ठीक कितने ?' उसने कहा, 'एक ।' 'ठीक एक । दिन एक है । संवत्सर दिन-प्रतिदिन एक ही है । संवत्सर 'सब-कुछ' है । यही संवत्सर की उपनिषत् (रहस्य) है । जो संवत्सर की इस उपनिषत् को जानता है वह श्रेय को प्राप्त होता है । उसको नया शरीर मिलता है । वह संवत्सर हो जाता है । संवत्सर होकर देवताओं को पा लेता है' ॥२३॥

दशरात्रनिरूपणम्

अध्याय २—ब्राह्मण ३

यह संवत्सर बृहती के तुल्य है । उपार्जित दिनों के दो षडह (छः-दिनी) अर्थात् बारह दिन, पृष्ठ्य और अभिप्लव दो, गो और आयुष् और दशरात्र,—ये हुए ३६ । बृहती में दस अक्षर होते हैं । बृहती के द्वारा ही देव स्वर्गलोक में पहुँचे । बृहती से ही स्वर्गलोग को पाया, इसी प्रकार यह यजमान भी बृहती द्वारा ही स्वर्गलोक के लिए यत्न करता है । बृहती से ही स्वर्गलोक को पाता है । जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वह उन सब कामनाओं को पाता है, जो बृहती में है ॥१॥

चौबीसवाँ दिन वही है जो दशरात्र का सातवाँ या नवाँ । अभिप्लव से पृष्ठ्य बनाया गया, पृष्ठ्य से अभिजित्, अभिजित् से स्वरसाम, स्वरसामों से विषुवत्, विषुवत् से स्वरसाम, स्वरसामों से विश्वजित्, विश्वजित् से पृष्ठ्य, पृष्ठ्य से अभिप्लव, अभिप्लव से गो और आयु, गो और आयु से दशरात्र ॥२॥

उपार्जित दिन महाव्रत है । इसके पच्चीस स्तोम होते हैं । छन्द एक अक्षर भी कम या अधिक नहीं होता, न स्तोम एक स्तोत्रिया से भी ॥३॥

विषुवत् से पहले अभिप्लव को करते हैं, फिर पृष्ठ्य को । क्योंकि अभिप्लव पुत्र हैं,

प्लवः पिता पृष्ठ्यस्तस्मात्पूर्ववयसे पुत्राः पितरमुपजीवन्ति पृष्ठ्यमुपरिष्टाद्विषुवतः पूर्वमुपयन्त्यभिप्लवमुत्तरं तस्मादुत्तरवयसे पुत्रान्पितोपजीवत्युप ह वाऽएनं पूर्ववयसे पुत्रा जीवन्त्युपोत्तरवयसे पुत्रान्जीवति य एवमेतद्वेद ॥४॥ तदाहुः । पञ्चतुर्विᳯशमहरुपेत्य प्रेयात्कथमनागूर्ती भवतीति यद्वेवादः प्रायणीयमतिरात्रमुपयन्ति तेनेति ब्रूयात् ॥५॥ तदाहुः । यद्द्वादश मासाः संवत्सरस्याथैतदहरत्येति यद्विषुवतमवरेषामेतात्यरेषामित्यवरेषां चैव परेषां चेति ह ब्रूयादात्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासा यत्र वाऽआत्मा तदङ्गानि यत्रोऽअङ्गानि तदात्मा न वाऽआत्माङ्गान्यतिरिच्यते नात्मानमङ्गान्यतिरिच्यन्तऽएवमु हैतदवरेषां चैव परेषां च भवति ॥६॥ अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत्संवत्सरः । तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षोऽथ यान्षडुपरिष्टात्सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्यत्र वाऽआत्मा तत्पक्षौ यत्र वा पक्षौ तदात्मा न वाऽआत्मा पक्षावतिरिच्यते नात्मानं पक्षावतिरिच्येते एवमु हैतदवरेषां चैव परेषां च भवति ॥७॥ तदाहुः । यत्पुरस्ताद्विषुवत ऊर्ध्वास्तोमान्षण्मासानुपयन्ति षडुपरिष्टादावृत्तान्कथमस्यैतऽऊर्ध्वा स्तोमा उपेता भवन्तीति यमेवामुमूर्ध्वस्तोमं दशरात्रमुपयन्ति तेनेति ब्रूयाद्देवेभ्यो ह वै महाव्रतं न तस्थे कथमूर्ध्वैः स्तोमैर्विषुवन्तमुपागातावृत्तैर्मामिति ॥८॥ ते ह देवा ऊचुः । उप तं यज्ञक्रतुं जानीत य ऊर्ध्वस्तोमो येनेदमाप्नवामेति तऽएतमूर्ध्वस्तोमं दशरात्रमपश्यन्त्संवत्सरविधं तस्य यः पृष्ठ्यः षडहः ऋतवः स इमे लोकाश्छन्दोमाः संवत्सरो दशममहस्तेनैनदाप्नुवंस्तदेभ्योऽतिष्ठत तिष्ठते ह वाऽअस्मै महाव्रतं य एवमेतद्वेद ॥९॥ अथ वाऽअतोऽक्रामभ्यारोहः । प्रायणीयेनातिरात्रेणोदयनीयमतिरात्रमभ्यारोहन्ति चतुर्विᳯशेन महाव्रतमभिप्लवेन परमभिप्लवं पृष्ठ्येन परं पृष्ठ्यमभिजिता विश्वजितᳯ स्वरसामभिः परान्त्स्वरसाम्नोऽथैतदहरनभ्यारूढᳯ यद्विषुवतमभि ह वै श्रेयाᳯसᳯ रोहति नैन

पृष्ठ्य पिता। इसलिए पहली आयु में पुत्र पिता के सहारे जीते हैं। विषुवत् से पीछे पहले पृष्ठ्य को करते हैं, फिर अभिप्लव को। इसलिए अन्तिम आयु में पिता पुत्रों के सहारे रहता है। वस्तुत: जो इस रहस्य को समझता है, उसके पुत्र पूर्व-आयु में उसके सहारे जीते हैं और अन्तिम आयु में वह अपने पुत्रों के सहारे ॥४॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि यदि चौबीस-दिनों में प्रवेश होने के पीछे वह मर जाय तो अनागूर्ती कैसे होगा? (आगूर्ती उसको कहते हैं जो कथन मात्र के लिए ही मन्त्र पढ़े। अनागूर्ती वह है जिसका यज्ञ पूर्ण हो गया हो)।' इसका उत्तर यह है कि प्रायणीय अतिरात्र कर दें। उससे ठीक हो जायगा ॥५॥

एक और प्रश्न है—संवत्सर में बारह मास होते हैं। एक दिन अर्थात् विषुवत् अतिरिक्त है। तो यह दिन पहले बीते हुए मासों का है या आगे आनेवालों का? इसका उत्तर यह है कि 'पहले बीते हुओं का भी और आनेवालों का भी, दोनों का'। क्योंकि विषुवत् वर्ष का शरीर है और मास इसके अंग हैं। जहाँ अंग हैं, वहाँ शरीर है। जहाँ शरीर है, वहाँ अंग हैं। न शरीर अंगों से बाहर जाता है, न शरीर अंग से बाहर जाते हैं। इसलिए यह पहले बीते हुओं का भी है, आगे आने वालों का भी ॥६॥

यह संवत्सर एक बड़ी चील है। विषुवत् से पहले के छ: मास में जो यज्ञ होता है, वह उसका एक पंख है और अगले छ: मासों का दूसरा पंख। विषुवत् शरीर है। जहाँ शरीर वहाँ पंख, जहाँ पंख वहाँ शरीर; न शरीर पंख से बाहर होता है, न पंख शरीर से। इस प्रकार यह विषुवत् बीते हुओं का भी है और अगलों का भी ॥७॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि विषुवत् से पहले छ: मास तो ऊर्ध्वस्तोम पढ़ते हैं। पिछले छ: मासों में उल्टे। तो फिर उसको ऊर्ध्वस्तोमों का फल कैसे मिलेगा? इसका उत्तर यह है कि दशरात्र में जो ऊर्ध्वस्तोम होगा उससे। महाव्रत देवों को न मिला, उसने कहा कि विषुवत् को ऊर्ध्व-स्तोम से और मुझको उल्टे स्तोम से क्यों किया? ॥८॥

दव बोले, 'ऐसे यज्ञ को निकालो, जिसमें ऊर्ध्वस्तोम हों, जिससे हमको यह (महाव्रत) प्राप्त हो जाय।' तब उन्होंने इस ऊर्ध्वस्तोम दशरात्र को संवत्सर के समान निकाला। इसमें जो पृष्ठ्य षडह हैं वे ऋतु हैं, छन्दोम ये तीन लोक हैं और दसवाँ दिन संवत्सर है। इससे उन्होंने उसको पाया। वह (महाव्रत) उनको मिल गया। जो इस रहस्य को समझता है, उसको भी महा-व्रत की प्राप्ति हो जाती है ॥९॥

इस प्रकार है दिनों का चढ़ाव! प्रायणीय अतिरात्र से उदयनीय अतिरात्र को चढ़ते हैं—चतुर्विश से महाव्रत को, अभिप्लव से परमभिप्लव को, पृष्ठ्य से परपृष्ठ्य को, अभिजित् से विश्वजित् को, स्वरसामों से दूसरे स्वरसामों को। विषुवत् से ऊपर कुछ नहीं। जो इस रहस्य को समझता है उसको श्रेय मिलता है।

पापीयानभ्यारोहति य एवमेतद्वेद ॥१०॥ अथ वाऽअतोऽह्नां निवाहः । प्राय-
णीयोऽतिरात्रश्चतुर्विꣳशायाह्ने निवहति चतुर्विꣳशमहरभिप्लवायाभिप्लवः पृष्ठ्याय
पृष्ठ्योऽभिजितेऽभिजित्स्वरसामभ्यः स्वरसामानो विषुवते विषुवान्त्स्वरसामभ्यः
स्वरसामानो विश्वजिते विश्वजित्पृष्ठ्याय पृष्ठ्योऽभिप्लवायाभिप्लवो गोऽआयुर्भ्यां गो
ऽआयुषी दशरात्राय दशरात्रो महाव्रताय महाव्रतमुदयनीयायातिरात्रायोदयनीयो
ऽतिरात्रः स्वर्गाय लोकाय प्रतिष्ठायाऽअन्नाद्याय ॥११॥ तानि वाऽएतानि । य-
ज्ञारण्यानि यज्ञकृन्त्राणि तानि शतꣳ-शतꣳ रथाह्न्यान्यन्तरेण तानि येऽविद्वाꣳस
उपयन्ति यथारण्यान्यां मुग्धांश्चरतोऽशनाया वा पिपासा वा पाप्मानो रक्षाꣳसि
सचन्तेऽथ ये विद्वाꣳसो यथा प्रवाहात्प्रवाहमभयादभयमेवꣳ हैव ते देवताये दे-
वतामुपसंयन्ति ते स्वस्ति स्वर्गं लोकꣳ समश्नुवते ॥१२॥ तदाहुः । कति संवत्स-
रस्याहानि पराञ्चि कत्यर्वाञ्चीति स यानि सकृत्सकृदुपयन्ति तानि पराञ्च्यथ या-
नि पुनः-पुनस्तान्यर्वाञ्च्यर्वाञ्चीति ह त्वेवैनान्युपासीत षडहयोर्ह्यावृत्तिमन्वाव-
र्तते ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥७ [२. ३.] ॥

पुरुषो वै संवत्सरः । तस्य प्राण एव प्रायणीयोऽतिरात्रः प्राणेन हि प्रयन्ति
वागेवारम्भणीयमहर्वाचा ह्यारभन्ते यद्यदारभन्ते ॥१॥ अयमेव दक्षिणो हस्तो
ऽभिप्लवः षडहः । तस्येदमेव प्रथममहस्तस्येदमेव प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनꣳ स-
वनमिदं तृतीयसवनं गायत्र्या आयतने तस्मादियमासाꣳ ह्रसिष्ठा ॥२॥ इदमेव
द्वितीयमहः । तस्येदमेव प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनꣳ सवनमिदं तृतीयसवनं त्रि-
ष्टुभ आयतने तस्मादियमस्यै वर्षीयसी ॥३॥ इदमेव तृतीयमहः । तस्येदमेव प्रा-
तःसवनमिदं माध्यन्दिनꣳ सवनमिदं तृतीयसवनं जगत्या आयतने तस्मादियमा-
सां वर्षिष्ठा ॥४॥ इदमेव चतुर्थमहः । तस्येदमेव प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनꣳ
सवनमिदं तृतीयसवनं विराज आयतनेऽन्नं वै विराट्तस्मादियमासामन्नादितमा

उससे कम पुरुष उसके ऊपर कभी नहीं चढ़ सकता ।।१०।।

दिनों का उतार इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र चतुर्विंश दिन में उतरता है, चतुर्विंश-दिन अभिप्लव में, अभिप्लव पृष्ठ्य में, पृष्ठ्य अभिजित् में, अभिजित् स्वरसाम में, स्वरसाम विषुवत् में, विषुवत् स्वरसाम में, स्वरसाम विश्वजित् में, विश्वजित् पृष्ठ्य में, पृष्ठ्य अभिप्लव में, अभिप्लव गो और आयु में, गो-आयु दशरात्र में, दशरात्र महाव्रत में, महाव्रत उदयनीय अतिरात्र में, उदयनीय अतिरात्र स्वर्गलोक में, प्रतिष्ठा में, अन्न में ।।११।।

यह है यज्ञ का जंगल या यज्ञ की घाटियाँ, और इनमें सैकड़ों दिनों की रथों की यात्रा लग जाती है । जैसे किसी अज्ञानी को जो वनों में फिरता हो दुष्ट सताते हैं, इसी प्रकार यदि कोई अज्ञानी यज्ञ के वन में प्रवेश करे तो भूख, प्यास, पापी राक्षस उसको सताते हैं । जो इस रहस्य को समझकर यज्ञ करते हैं वे एक देवता से दूसरे देवता को प्राप्त होते हैं, जैसे वन में फिरनेवाले एक प्रवाह में दूसरे प्रवाह को और एक अभय स्थान से दूसरे अभय स्थान को । वे कल्याण और स्वर्ग-लोक को प्राप्त होते हैं ।।१२।।

इस पर पूछते हैं कि संवत्सर के अगले दिन कौन हैं और पिछले कौन ? जिनमें एक बार यज्ञ होता है वे अगले, जिनमें बराबर वे पिछले । इनको पिछले ही समझना चाहिए, क्योंकि वह षडह (छः-दिनी) के अनुकूल ही लौटता है ।।१३।।

संवत्सरस्याभिप्लवाद्यात्मना स्तुतिः

अध्याय २—ब्राह्मण ४

पुरुष संवत्सर है (अर्थात् पुरुष के भिन्न-भिन्न भाग संवत्सर-यज्ञ के भिन्न-भिन्न भागों से उपमित हो सकते हैं), इसका प्राण प्रायणीय अतिरात्र है । प्राण के द्वारा ही चलते-फिरते हैं । वाक् आरम्भणीय दिन है । जो कुछ आरम्भ करना होता है वाक् द्वारा ही आरम्भ करते हैं ।।१।।

दाहिना हाथ अभिप्लव षडह है । इस हाथ की कनिष्ठिका (छोटी अँगुली) प्रथम दिवस है । ऊपर का पोरा प्रातःसवन है, बीच का माध्यन्दिन सवन, नीचे का तृतीय सवन । यह गायत्री-स्थानी है, इसलिए सबसे छोटी है (गायत्री सब छन्दों में छोटा है) ।।२।।

अनामिका दूसरा दिन है । ऊपर का पोरा प्रातःसवन है, बीच का माध्यन्दिन सवन और नीचे का पोरा तीसरा सवन । त्रिष्टुभ् की स्थानी है, इसलिए कनिष्ठिका से बड़ी है ।।३।।

मध्यमा अँगुली तीसरा दिन है । ऊपर का पोरा प्रातःसवन है, बीच का पोरा माध्यन्दिन सवन और नीचे का पोरा तीसरा सवन । जगती छन्द की स्थानी होने से मध्यमा सब अँगुलियों में बड़ी है ।।४।।

तर्जनी चौथा दिन है । इसका ऊपर का पोरा प्रातःसवन है, बीच का माध्यन्दिन सवन, नीचे का तीसरा सवन । यह विराट् की स्थानी है । विराट् अन्न है । यह सब अँगुलियों से अधिक अन्नादि अर्थात् अन्न-सम्बन्धी है (खाने-पीने में यह अधिक काम देती है) ।।५।।

॥५॥ इदमेव पञ्चममहः । तस्येदमेव प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनꣳ सवनमिदं तृतीयसवनं पङ्क्तेरायतने पृथुरिव वै पङ्क्तिस्तस्मादयमासां प्रथिष्ठः ॥६॥ इदमेव षष्ठमहः । तस्येदमेव प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनꣳ सवनमिदं तृतीयसवनमतिछन्दस आयतने तस्मादयमासां वर्षिष्ठो गायत्रमेतदहर्भवति तस्मादिदं फलकꣳ ह्रसिष्ठꣳ स इतोऽभिप्लवः षडहः स इतः स इतः स इत आत्मा पृष्ठ्यः ॥७॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह पैङ्ग्यः । प्लवन्तऽइव वाऽअभिप्लवास्तिष्ठतीव पृष्ठ्य इति प्लवत ऽइव ह्ययमङ्गैस्तिष्ठतीवात्मनेति ॥८॥ शिर एवास्य त्रिवृत् । तस्मात्तत्त्रिविधं भवति त्वगस्थि मस्तिष्कः ॥९॥ ग्रीवाः पञ्चदशः । चतुर्दश वाऽएतासां करूकराणि वीर्यं पञ्चदशं तस्मादेताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुं भारꣳ हरति तस्माद्ग्रीवाः पञ्चदशः ॥१०॥ उरः सप्तदशः । अष्टावन्ये जत्रवोऽष्टावन्यऽउरः सप्तदशं तस्मादुरः सप्तदशः ॥११॥ उदरमेकविꣳशः । विꣳशतिर्वा अन्तरुदरे कुन्तापान्युदरमेकविꣳशं तस्मादुदरमेकविꣳशः ॥१२॥ पार्श्वे त्रिणवः । त्रयोदशान्याः पर्शवस्त्रयोदशान्याः पार्श्वे त्रिणवे तस्मात्पार्श्वे त्रिणवः ॥१३॥ अनूकं त्रयस्त्रिꣳशः । द्वात्रिꣳशद्वाऽएतस्य करूकराण्यनूकं त्रयस्त्रिꣳशं तस्मादनूकं त्रयस्त्रिꣳशः ॥१४॥ अयमेव दक्षिणः कर्णोऽभिजित् । यदिदमक्ष्णः शुक्लꣳ स प्रथमः स्वरसाना यत्कृष्णꣳ स द्वितीयो यन्मण्डलꣳ स तृतीयो नासिके विषुवान्यदिदमक्ष्णो मण्डलꣳ स प्रथमो ऽर्वाक्सामा यत्कृष्णꣳ स द्वितीयो यच्छुक्लꣳ स तृतीयः ॥१५॥ अयमेवोत्तरः कर्णो विश्वजित् । उक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ याववञ्चौ प्राणौ ते गोऽआयुषीऽअङ्गानि दशरात्रो मुखं महाव्रतमुदान एवोदयनीयोऽतिरात्र उदानेन ह्युद्यन्ति स एष संवत्सरो ऽध्यात्मं प्रतिष्ठितः स यो हैवमेतꣳ संवत्सरमध्यात्मं प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिरस्मिंलोकेऽमृतत्वेनामुष्मिन् ॥१६॥ ब्राह्मणम् । ८ [२. ४.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [७६.] ॥ ॥

अँगूठा पाँचवाँ दिन है। इसका ऊपर का पोरा प्रातःसवन है, बीच का मध्यसवन, नीचे का तीसरा सवन। यह पंक्ति छन्द का स्थानी है। पंक्ति छन्द भारी-सा है। यह अँगूठा भी सब अँगुलियों में सबसे भारी है ॥६॥

यह दाहिना हाथ छठा दिन है। अगला भाग प्रातःसवन है, पिछला भाग मध्यसवन, कंधा तीसरा सवन। यह अतिछन्द का स्थानी है, अतः यह इन सबमें बड़ा है। यह दिन गायत्री का होता है, इसलिए कंधा इन सबमें छोटा होता है। यह अभिप्लव षडह का उपमान इस पर (धड़-हाथ-पाँवों को बताकर कहता है कि दोनों हाथों और दोनों पैरों पर) लागू हो जाता है। धड़ पृष्ठ्य है ॥७॥

इसी को समझकर पैङ्ग्य ने कहा था कि अभिप्लव तो उछलते-फिरते हैं और पृष्ठ्य ठहरे रहते हैं। मनुष्य हाथ-पैर से उछलता है और धड़ से ठहरता है ॥८॥

सिर त्रिवृत् स्तोम है। इसलिए सिर के तीन भाग हैं—त्वचा, हड्डी, मस्तिष्क ॥९॥

गर्दन पंचदश स्तोम है। चौदह तो गर्दन की हड्डियाँ हैं, पन्द्रहवाँ वीर्य है, इसलिए गर्दन की हड्डियाँ छोटी होते हुए भी इन्हीं के सहारे बोझ ढोया जाता है। इसलिए गर्दन की उपमा पंचदश स्तोम से दी जा सकती है ॥१०॥

उर या छाती सप्तदश स्तोम है। आठ जत्रु एक ओर हैं और आठ दूसरी ओर; एक छाती। इस प्रकार ये सत्रह स्तोम हो गए। (जत्रु=पसलियों के सिरे) ॥११॥

उदर या पेट इक्कीस स्तोम। पेट के भीतर बीस कुन्ताप हैं, एक उदर। इक्कीस हो गए। इसलिए उदर इक्कीस स्तोम के बराबर हो गया ॥१२॥

दो बगलें त्रिणव (नौ-नौ स्तोत्रों के तीन समूह) हैं। तेरह पसलियाँ एक ओर हैं और तेरह पसलियाँ दूसरी ओर, और बगलें। ये सत्ताईस हो गए। इसलिए बगलें त्रिणव-स्तोम हो गए ॥१३॥

अनूक या रीढ़ तेतीस स्तोम हैं। बत्तीस तो इसकी हड्डियाँ और एक रीढ़। ये तेतीस हो गईं। इसलिए रीढ़ की हड्डी तेतीस स्तोम है ॥१४॥

दाहिना कान अभिजित् है। आँख की सफेदी पहला स्वरसाम है, कालापन दूसरा स्वर-साम और पुतली तीसरा। नाक विषुवत् है। आँख की पुतली पहला उल्टा साम, कालापन दूसरा, सफेदी तीसरा ॥१५॥

बायाँ कान विश्वजित् है। पृष्ठ्य और अभिप्लव कहे जा चुके हैं। दो नीचे के प्राण हैं गो और आयुष्। अंग दशरात्र, मुख महाव्रत। उदान, उदयनीय अतिरात्र। क्योंकि उदान से ही तो मनुष्य उठते हैं (उद्+यन्ति)। शरीर में प्रतिष्ठित संवत्सर यह है जो शरीर में प्रतिष्ठित इस संवत्सर का ज्ञान रखता है, वह इस लोक में प्रजा और पशु से सम्पन्न होता है और परलोक में अमर हो जाता है ॥१६॥

यद्वालाके । इदं त्रिवृदेति सर्वमन्योऽन्यमभिसम्पद्यमानम् । कथꣳ स्विद्यज्ञः
पुरुषः प्रजापतिरन्योऽन्यं नातिरिच्यन्तऽएते ॥१॥ यदूर्ध्वा स्तोमा अनुयन्ति । यज्ञ-
मभ्यावर्तꣳ सामभिः कल्पमानाः । कथꣳ स्वित्ते पुरुषमाविशन्ति कथं प्राणैः सयु-
जो भवन्ति ॥२॥ प्रायणीयोऽतिरात्रः । चतुर्विꣳशमहश्चत्वारोऽभिप्लवाः पृष्ठ्य इत्ये-
ते । कथꣳ स्वित्ते पु० ॥३॥ अभिजिता स्वरसामानः । अभिक्लृप्ता उभयतो विषुव-
न्तमुपयन्ति । कथꣳ स्वित्ते पु० ॥४॥ त्रिवृत्प्रायाः । सप्तदशाभिक्लृप्तास्त्रयस्त्रिꣳशान्ता-
श्चतुरुत्तरेण । कथꣳ स्वित्ते पुरुषमाविशन्ति कथं प्राणैः सयुजो भवन्तीति ॥५॥
शिरस्त्रिवृत् । पञ्चदशोऽस्य ग्रीवा उर आहुः सप्तदशाभिक्लृप्तम् । एकविꣳशमुदरं
कल्पयन्ति पार्श्वे पर्शूस्त्रिणवेनाभिक्लृप्ते ॥६॥ अभिप्लवा उभयतोऽस्य बाहू । पृष्ठं
पृष्ठ्य इति धीरा वदन्ति । अनूकमस्य चतुरुत्तरेण संवत्सरे ब्राह्मणाः कल्पयन्ति
॥७॥ कर्णावस्याभिजिद्विश्वजिच्च । अक्ष्यावाहुः स्वरसामाभिक्लृप्ते । नस्यं प्राणं वि-
षुवन्तमाहुर्गोऽआयुषी प्राणावेतावबाह्यौ ॥८॥ अङ्गान्यस्य दशरात्रमाहुः । मुखं
महाव्रतꣳ संवत्सरे ब्राह्मणाः कल्पयन्ति । सर्वस्तोमꣳ सर्वसामानमेतꣳ संवत्स-
रमध्यात्मं प्रविष्टम् । समं धीर आत्मना कल्पयित्वा ब्रध्नस्यास्ते विष्टपेऽजातशो-
कः ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३. १.] ॥

पुरुषो वै संवत्सरः । पुरुष इत्येकꣳ संवत्सर इत्येकमत्र तत्समं द्वे वै संव-
त्सरस्याहोरात्रे द्वाविमौ पुरुषे प्राणावत्र तत्समं त्रय ऋतवः संवत्सरस्य त्रय इमे
पुरुषे प्राणा अत्र तत्समं चतुरक्षरो वै संवत्सरश्चतुरक्षरोऽयं यजमानोऽत्र तत्समं
पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य पञ्चेमे पुरुषे प्राणा अत्र तत्समꣳ षडृतवः संवत्सरस्य ष-
डिमे पुरुषे प्राणा अत्र तत्समꣳ सप्तऽर्तवः संवत्सरस्य सप्तेमे पुरुषे प्राणा अत्र
तत्समम् ॥१॥ द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य । द्वादशेमे पुरुषे प्राणा अत्र तत्समं
त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य त्रयोदशेमे पुरुषे प्राणा नाभिस्त्रयोदश्यत्र तत्समं

संवत्सरस्याभिप्लवाद्यात्मना स्तुतिः

अध्याय ३—ब्राह्मण १

हे बालाकि ! ये तीनों लोक जो एक-दूसरे से उपमित होते हैं, तो ये तीनों अर्थात् यज्ञ, पुरुष और प्रजापति एक-दूसरे से बढ़ क्यों नहीं जाते ? ।।१।।

ये जो ऊर्ध्वस्तोम यज्ञ का अनुसरण करते हैं और बार-बार पाठ होने से सोमों के अनुकूल होते हैं, वे पुरुष कैसे प्रवेश करते हैं और प्राणों से सायुज्य कैसे प्राप्त करते हैं ? ।।२।।

प्रायणीय अतिरात्र, चतुर्विंश दिन, चार अभिप्लव, पृष्ठ्य, ये पुरुष में कैसे प्रवेश करते हैं और प्राणों से सायुज्य कैसे प्राप्त करते हैं ? ।।३।।

स्वरसाम अभिजित् से युक्त होकर विषुवत् से दोनों मिल जाते हैं। फिर वे पुरुष में कैसे प्रवेश करते हैं और प्राणों से सायुज्य कैसे प्राप्त करते हैं ? ।।४।।

त्रिवृत् से होकर, सप्तदश से युक्त होकर, और तेतीस पर समाप्त होकर चार-चार अक्षरों में बढ़े हुए स्तोमों के साथ ये पुरुष कैसे प्रविष्ट होते हैं और प्राणों की सायुज्यता कैसे प्राप्त करते हैं ? ।।५।।

त्रिवृत् सिर है। पंचदश गर्दन, सप्तदश छाती, एकविंश और त्रिणव उदर, दो बगलों में और पसलियों के तुल्य होते हैं ।।६।।

(विषुवत् के) दोनों ओर के अभिप्लव उसकी भुजाएँ हैं। पृष्ठ्य पीठ है। ऐसा ही लोग कहते हैं। ब्राह्मण लोग रीढ़ को चार-चार अक्षर से बढ़नेवाले लोगों से मिलाते हैं ।।७।।

अभिजित् और विश्वजित् कान हैं, स्वरसाम दो-दो आँखें हैं। नाक के प्राण को लोग विषु-वत् कहते हैं। गो और आयुष् नीचे के प्राण हैं ।।८।।

दशरात्र को अंग बताते हैं। ब्राह्मण लोग महाव्रत को संवत्सर का मुख बताते हैं। इस प्रकार आत्मा सब लोगों और सब सामोंवाले शरीर में प्रविष्ट हो गई। अपने शरीर के तुल्य (यज्ञ को) बनाकर धीर पुरुष दुःख से छूटकर शोकरहित शिखर पर पहुँच जाते हैं ।।९।।

अध्याय ३—ब्राह्मण २

पुरुष संवत्सर है। पुरुष एक है। संवत्सर एक है। ये दोनों एक और समान हैं। संवत्सर में दिन-रात दो होते हैं, पुरुष में दो प्राण होते हैं, ये एक-से हो गए। संवत्सर में तीन ऋतु होती हैं और पुरुष में तीन प्राण, यह भी समानता हो गई। संवत्सर में चार अक्षर, यजमान में भी चार अक्षर, यह भी समानता हो गई। संवत्सर में पाँच ऋतु, पुरुष में पाँच प्राण, यह भी समानता है। संवत्सर में छः ऋतुएँ हैं, पुरुष में छः प्राण, यह भी समानता है। संवत्सर में सात ऋतुएँ हैं, पुरुष में सात प्राण हैं, यह भी समानता है ।।१।।

संवत्सर में बारह महीने होते हैं, पुरुष में बारह प्राण होते हैं, यह भी समानता है। संवत्सर में तेरह मास होते हैं, पुरुष में बारह प्राण होते हैं, नाभि तेरहवाँ है, इस प्रकार भी समानता

चतुर्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाश्चतुर्विꣳशोऽयं पुरुषो विꣳशत्यङ्गुलिश्चतुरङ्गो ऽत्र तत्समꣳ षड्विꣳशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः षड्विꣳशोऽयं पुरुषः प्रतिष्ठे षड्विꣳश्यावत्र तत्समम् ॥२॥ त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च । संवत्सरस्य रात्रयस्त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्यास्थीन्यत्र तत्समं त्रीणि च शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्य मज्जानोऽत्र तत्समꣳ ॥३॥ सप्त च वै शतानि विꣳशतिश्च । संवत्सरस्याहोरात्राणि सप्त च शतानि विꣳशतिश्च पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्चात्र तत्समम् ॥४॥ दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि । संवत्सरस्य मुहूर्ता यावन्तो मुहूर्तास्तावन्ति पञ्चदश कृत्वः क्षिप्राणि यावन्ति क्षिप्राणि तावन्ति पञ्चदश कृत्व एतर्हीणि यावन्त्येतर्हीणि तावन्ति पञ्चदश कृत्व इदानीनि यावन्तीदानीनि तावन्तः पञ्चदश कृत्वः प्राणा यावन्तः प्राणास्तावन्तोऽना यावन्तोऽनास्तावन्तो निमेषा यावन्तो निमेषास्तावन्तो लोमगर्ता यावन्तो लोमगर्तास्तावन्ति स्वेदायनानि यावन्ति स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति ॥५॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह वार्कलिः । सार्वभौमं मेघं वर्षन्तं वेदाहमस्य वर्षस्य स्तोकानिति ॥६॥ तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः । अमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि । अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कति कृत्वः प्राणिति चाप चानितीति ॥७॥ तदेष श्लोकः प्रत्युक्तः । शतꣳ शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं तद्वदन्ति । अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चाप चानितीति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥१० [३. २.] ॥

देवा ह वै सहस्रसंवत्सराय दिदीक्षिरे । तेषां पञ्च शतानि संवत्सराणां पर्य्यवेतान्यासुरथेदꣳ सर्वमेव शश्राम ये स्तोमा यानि पृष्ठानि यानि छन्दाꣳसि ॥१॥ ततो देवाः । एतद्यज्ञस्यायातयामापश्यंस्तेनायातयाम्ना या वेदे व्यष्टिरासीत्तां व्याश्नुवतायातयामा वाऽअस्य वेदा अयातयाम्न्या हास्य त्रय्या विद्ययार्त्विज्यं कृतं भ-

हो गई। संवत्सर में चौबीस अर्धमास होते हैं, पुरुष में भी चौबीस भाग होते हैं, बीस अँगुलियाँ और चार हाथ-पाँव (अंग), यह भी समानता हो गई। संवत्सर में छब्बीस अर्द्धमास होते हैं और पुरुष में भी छब्बीस भाग होते हैं, दो पैरों को मिलाकर, यह भी समानता है ॥२॥

संवत्सर में ३६० रातें होती हैं, पुरुष में ३६० हड्डियाँ, इनमें समानता है। ३६० संवत्सर के दिन होते हैं और ३६० ही पुरुष के मज्जा, यह भी समानता है ॥३॥

संवत्सर में ७२० दिन-रात होते हैं, ७२० ही पुरुष में हड्डियाँ और मज्जा, यह भी समानता हो गई ॥४॥

वर्ष में १०८०० मुहूर्त्त होते हैं। जितने मुहुर्त्त होते हैं उनके १५ गुने क्षिप्र। जितने क्षिप्र हैं उनके पन्द्रह गुने 'एर्तर्हि'। जितने 'एर्तर्हि' हैं उनके पन्द्रह गुने 'इद'। जितने 'इद' हैं उनके पन्द्रह गुने प्राण। जितने प्राण हैं उतने अक्तन, जितने अक्तन हैं उतने निमेष, जितने निमेष हैं उतने लोमगर्त, जितने लोमगर्त हैं उतने स्वेदायन, जितने स्वेदायन हैं उतने स्तोक, या बूँदें जो बरसती हैं ॥५॥

इसी को समझकर वार्कलि ने कहा था 'मैं सब भूमि में बरसनेवाले मेघ को जानता हूँ, वर्षा की बूँदों को भी" ॥६॥

यह श्लोक इसी सम्बन्ध में है—"श्रमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि। अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कतिकृत्वः प्राणिति चापापानिति।"—"श्रम के अतिरिक्त भी पुरुष घूमता हुआ, खड़ा बैठा, या सोता हुआ भी दिन-रात में कितनी बार प्राण और अपान लेता है?" ॥७॥

इसके उत्तर में यह श्लोक है—"शतँ शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं तद् वदन्ति। अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चापापानिति"—"जिन सौ-सौ और आठ सौ (१०८००) बार पुरुष नापा जाय, उतनी बार वह दिन-रात में प्राण और अपान लेता है ॥८॥

संवत्सरादिदीक्षापक्षः

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

देवों ने सहस्र-संवत्सरी यज्ञ के लिए दीक्षा ली। जब पाँच सौ वर्ष बीत चुके तो सब चीज शिथिल (समाप्त) हो गई—स्तोम, पृष्ठ, छन्द ॥१॥

तब देवों ने यज्ञ के उस न समाप्त होनेवाले भाग को देखा और उस न समाप्त होनेवाले भाग से वेद में जो व्यष्टि (सफलता) थी उसे प्राप्त कर लिया।

उसके लिए वेद अनन्त हैं और अनन्त वेदत्रयी से ऋत्विज कृत्य हो जाता है

वति य एवमेतद्वेद ॥२॥ तदेतद्यज्ञस्यायातयाम । ओ श्रावयास्तु श्रौषड्यज ये य-
जामहे वौषडिति तासां वा एतासां पञ्चानां व्याहृतीनाᳪ सप्तदशाक्षराण्यो श्रा-
वयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं यजेति द्व्यक्षरं ये यजामह इति पञ्चा-
क्षरम् ॥३॥ द्व्यक्षरो वषट्कारः । स एष सप्तदशः प्रजापतिरधिदेवतं चाध्यात्मं च
प्रतिष्ठितः स यो हैवमेतᳪ सप्तदशं प्रजापतिमधिदेवतं चाध्यात्मं च प्रतिष्ठितं
वेद प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिरस्मिंल्लोकेऽमृतत्वेनामुष्मिन् ॥४॥ ते ह देवा ऊ-
चुः । उप तं यज्ञक्रतुं जानीत यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो
यः सहस्रसंवत्सरेण समाप्नुयादिति ॥५॥ ते विश्वजितमेव सर्वपृष्ठम् । पृष्ठ्यस्य ष-
डहस्याञ्जःसवमपश्यंस्ते हि स्तोमा भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि छन्दाᳪसि ॥६॥
पृष्ठ्यमेव षडहम् । द्वादशाहस्याञ्जःसवमपश्यंस्ते हि स्तोमा भ० ॥७॥ द्वादशाह-
मेव । संवत्सरस्याञ्जःसवमप० ॥८॥ संवत्सरमेव । तापश्चितस्याञ्जःसवमप० ॥९॥
तापश्चितमेव । सहस्रसंवत्सरस्याञ्जःसवमप० ॥१०॥ स वै संवत्सरं दीक्षाभिरेति
। संवत्सरमुपसद्भिः संवत्सरᳪ सुत्याभिः ॥११॥ स यत्संवत्सरं दीक्षाभिरेति । पू-
र्वार्धमेव तेन सहस्रसंवत्सरस्यावरुन्द्धेऽथ यत्संवत्सरमुपसद्भिर्मध्यमेव तेन सहस्र-
संवत्सरस्यावरुन्द्धेऽथ यत्संवत्सरᳪ सुत्याभिरुत्तमार्धमेव तेन सहस्रसंवत्सरस्या-
वरुन्द्धे ॥१२॥ स वै द्वादश मासान्दीक्षाभिरेति । द्वादशोपसद्भिर्द्वादश सुत्याभि-
स्तत्षट्त्रिᳪशत्षट्त्रिᳪशदक्षरा वै बृहती बृहत्या वै देवाः स्वर्गे लोकेऽयतन्त
बृहत्या स्वर्गं लोकमाप्नुवंस्तथो एवैष एतद्बृहत्यैव स्वर्गे लोके यतते बृहत्या
स्वर्गं लोकमाप्नोत्यथ यो बृहत्यां कामस्तमेवैतेनैवंविदवरुन्द्धे ॥१३॥ तद्वा ए-
तत् । त्रयᳪ सह क्रियतेऽग्निरर्कं महदुक्थᳪ स यत्संवत्सरं दीक्षाभिरेति संवत्स-
रमुपसद्भिस्तेनास्याग्न्यर्कावाप्तौ भवतोऽथ यत्संवत्सरᳪ सुत्याभिरेति तेनो एवास्य
महदुक्थमाप्तं भवति स वा एष एव सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा यत्तापश्चित एष

जो इस रहस्य को समझता है ।।२।।

वेद का अनन्त भाग यह है—ओ श्रावय, अस्तु श्रौषट्, यज, ये यजामहे, वौषट् । इन पाँच व्याहृतियों में सत्रह अक्षर हैं—ओ 'श्रावय' में चार, 'अस्तु श्रौषट्' में चार, 'यज' में दो, 'ये यजामहे' में पाँच ।।३।।

'वौषट्' में दो । यह सत्रहवाला प्रजापति अधिदेवत और अध्यात्म दोनों हिसाब से है । ये इस अधिदेबत और अध्यात्म में प्रतिष्ठित प्रजापति को जानता है, वह इस लोक में प्रजा और पशु से प्रतिष्ठित होता है और परलोक में अमर हो जाता है ।।४।।

वे देव बोले, कोई ऐसा यज्ञ निकालना चाहिए जो सहस्र-संवत्सर की प्रतिमा (प्रतिनिधि) हो, क्योंकि कौन ऐसा मनुष्य है जो सहस्र-संवत्सरी यज्ञ कर सके ? ।।५।।

उन्होंने देखा कि 'सब पृष्ठोंवाला विश्वजित्' 'पृष्ठ्य षडहों' का अच्छा प्रतिनिधि है, क्योंकि वही स्तोम हैं, वही पृष्ठ हैं, वही छन्द हैं ।।६।।

पृष्ठ्य षडह को द्वादशाह का प्रतिनिधि देखा, क्योंकि वही स्तोम हैं, वही पृष्ठ हैं, वही छन्द हैं ।।७।।

द्वादशाह को संवत्सर का प्रतिनिधि देखा, क्योंकि वही स्तोम हैं, वही पृष्ठ हैं, वही छन्द हैं ।।८।।

संवत्सर को तापश्चित का प्रतिनिधि देखा, क्योंकि वही स्तोम हैं, वही पृष्ठ हैं, और वही छन्द हैं ।।९।।

तापश्चित को सहस्र-संवत्सर का प्रतिनिधि देखा, क्योंकि वही स्तोम हैं, वही पृष्ठ हैं, वही छन्द हैं ।।१०।।

उसका एक साल दीक्षाओं में जाता है, एक उपसदों में और एक साल सोम निचोड़ने में ।।११।।

जब वह साल-भर दीक्षाओं में व्यतीत करता है तो सहस्र-संवत्सर के पूर्वार्ध का लाभ कर लेता है । जब वह उपसदों में साल-भर लगाता है तो सहस्र-संवत्सर का मध्य भाग लाभ कर लेता है । जब वह सोम निचोड़ने में लगाता है तो सहस्र-संवत्सर का अन्तिम भाग प्रदान करता है ।।१२।।

बारह मास दीक्षाओं में लगाता है, बारह उपसदों में और बारह सोम के निचोड़ने में । ये हुए ३६ । बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं । बृहती के सहारे देव स्वर्गलोक में चढ़े । बृहती से स्वर्गलोक का लाभ किया । वह यजमान भी इस प्रकार समझकर बृहती के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति कर लेता है और उस सबका जो बृहती में है ।।१३।।

यह त्रयी (तीन बातें) की जाती हैं—अग्नि, अर्क्य और महदुक्थ्य । जब वह एक साल दीक्षाओं में और एक साल उपसदों में लगाता है तो अग्नि, अर्क्य को ले जाता है । यह जो साल-भर सोम निचोड़ने में (सोम-सुति) लगता है, उससे महदुक्थ की प्राप्ति हो जाती है । इसलिए यह तापश्चित ही सहस्र-संवत्सरी यज्ञ का प्रतिनिधि है ।

प्रज्ञानां प्रज्ञात्यै यत्तापश्चितः ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥११ [३. ३.] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१३२ ॥ ॥

पुरुषꣳ ह नारायणं प्रजापतिरुवाच । यजस्व-यजस्वेति स होवाच यजस्व-यजस्वेति वाव त्वं मामात्थ त्रिरयज्ञि वसवः प्रातःसवनेनागू रुद्रा माध्यन्दिनेन सवनेनादित्यास्तृतीयसवनेनाथ मम यज्ञवास्त्वेव यज्ञवास्तावेवाहमास इति ॥१॥ स होवाच । यजस्वैवाहं वै ते तद्वक्ष्यामि यथा त उक्थानि मणिरिव सूत्रऽओतानि भविष्यन्ति सूत्रमिव वा मणाविति ॥२॥ तस्मा उ हैतदुवाच । प्रातःसवने बहिष्पवमान उद्गातारमन्वारभासि श्येनोऽसि गायत्रछन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥३॥ अथ माध्यन्दिने पवमाने । उद्गातारमन्वारभासि सुपर्णोऽसि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा स पारयेति ॥४॥ अथ तृतीयसवन आर्भवे पवमाने । उद्गातारमन्वारभासाऽऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥५॥ अथ सꣳस्थितेषु-सꣳस्थितेषु सवनेषु जपेः । मयि भर्गो मयि महो मयि यशो मयि सर्वमिति ॥६॥ अयं वै लोका भर्गः । अन्तरिक्षलोको महो द्यौर्यशो येऽन्ये लोकास्तत्सर्वम् ॥७॥ अग्निर्वै भर्गः । वायुर्मह आदित्यो यशो येऽन्ये देवास्तत्सर्वम् ॥८॥ ऋग्वेदो वै भर्गः । यजुर्वेदो महः सामवेदो यशो येऽन्ये वेदास्तत्सर्वम् ॥९॥ वाग्वै भर्गः । प्राणो महश्चक्षुर्यशो येऽन्ये प्राणास्तत्सर्वम् ॥१०॥ तद्विद्यात् । सर्वाँल्लोकानात्मन्नधिषि सर्वेषु लोकेष्वात्मानमधाꣳ सर्वान्देवानात्मन्नधिषि सर्वेषु देवेष्वात्मानमधाꣳ सर्वान्वेदानात्मन्नधिषि सर्वेषु वेदेष्वात्मानमधाꣳ सर्वान्प्राणानात्मन्नधिषि सर्वेषु प्राणेष्वात्मानमधामित्यक्षिता वै लोका अक्षिता देवा अक्षिता वेदा अक्षिताः प्राणा अक्षितꣳ सर्वमक्षिताद्ध वा अक्षितमुपसङ्क्रामत्यप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति य एवमेतद्वेद ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥१ [३. ४.] ॥

यह तापश्चित सन्तान-उत्पत्ति में सहायक होता है ॥१४॥

ज्योतिष्टोमे उद्गात्राद्यन्वारम्भः

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

प्रजापति ने एक बार पुरुष नारायण से कहा, 'यज्ञ कर, यज्ञ कर !' उसने उत्तर दिया, 'तू कहता है यज्ञ कर, मैंने तीन बार यज्ञ किया। प्रातःसवन में वसु निकल गए, मध्य-सवन से रुद्र निकल गए और तीसरे सवन से आदित्य निकल गए। अब मेरे पास केवल यज्ञ-वास्तु (यज्ञ-शाला मात्र) है। यज्ञशाला में ही बैठा हुआ हूँ' ॥१॥

प्रजापति बोला, 'यज्ञ कर तो सही ! मैं तुझे ऐसी बात बता दूँगा कि तेरे उक्थ सूत्र में मणियों के समान या मणियों में सूत्र के समान पिरो जाएँगे' ॥२॥

प्रजापति ने उससे यह कहा, 'प्रातःसवन में बहिष्पवमान में उद्गाता के पीछे खड़ा होकर कहना—'तू गायत्री-छन्दवाला श्येन है। मैं तुझे पकड़े हूँ। तू मुझे पार लगा दे' ॥३॥

और माध्यन्दिन पवमान में उद्गाता के पीछे खड़ा होकर कहना 'कि तू त्रिष्टुप् छन्द वाला सुपर्ण है। मैं तुझे पकड़े हूँ। तू मुझे पार लगा दे' ॥४॥

तीसरे सवन में आर्भव पवमान में उद्गाता के पीछे खड़ा होकर कहना—"तू जगती छन्द वाला ऋभु है। मैं तुझे पकड़े हूँ। तू मुझे पार लगा दे' ॥५॥'

हर सवन के अन्त में जपना—'मुझे भर्ग (प्रकाश) मिले, मुझे यह (शक्ति) मिले, मुझे यश मिले, मुझे सब-कुछ मिले' ॥६॥

यह लोक भर्ग है, अन्तरिक्ष लोक यह है। द्यौ यश है। अन्य लोक 'सब-कुछ' हैं ॥७॥

अग्नि भर्ग है, वायु यह है, आदित्य यश है, अन्य देव 'सब-कुछ' हैं ॥८॥

ऋग्वेद भर्ग है, यजुर्वेद यह है, सामवेद यश है, अन्य वेद 'सब-कुछ' हैं ॥९॥

वाक् भर्ग है, प्राण यह है, चक्षु यश है, अन्य प्राण 'सब-कुछ' हैं ॥१०॥

इसको जानना चाहिए, 'सब लोकों को मैंने अपने आत्मा में धारण किया और सब लोकों में अपने आत्मा को। सब देवों को आत्मा में धारण किया और सब देवों में आत्मा को। सब वेदों को अपने आत्मा में धारण किया और सब वेदों में अपने आत्मा को। सब प्राणों को अपने आत्मा में धारण किया और सब प्राणों में अपने आत्मा को। लोक अक्षय हैं, देव अक्षय हैं, वेद अक्षय हैं, प्राण अक्षय हैं, सब-कुछ अक्षय है।' जो इस रहस्य को समझता है वह अक्षय से अक्षय की ओर चलता है, पुनर्जन्म जीत लेता है और पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है ॥११॥

सावित्रꣳ ह स्मैतं पूर्वं पशुमालभन्ते । अथैतर्हि प्राजापत्यं यो ह्येव सविता स प्रजापतिरिति वदन्तस्तस्मात्संन्युप्याग्नींस्तेन यजेरन्गृहपतेरेवाग्निषु यथेदं जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति तस्यां नोऽप्यसदिति ते ततो यदानिकामं दीक्षन्ते ॥१॥ तदु वाऽआहुः । नानाधिष्ण्या एव स्युर्यदि दीक्षितस्योपतपेत्यार्श्वतोऽग्निहोत्रं जुहुवसेत्स यद्यगदो भवति सꣳसृज्यैनं पुनरुपह्वयन्ते यद्यु म्रियते स्वैरेव तमग्निभिर्दहन्त्यशवाग्निभिरितरे यजमाना आसतऽइति तदह्वैवाहिताग्नेः कर्म समानधिष्ण्यास्त्वेव भवन्ति तस्य तदेव ब्राह्मणं यत्पुरश्चरणे ॥२॥ तदाहुः । यत्संवत्सराय संवत्सरसदो दीक्षन्ते कथमेषामग्निहोत्रमनन्तरितं भवतीति व्रतेनेति ब्रूयात् ॥३॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषां पौर्णमासꣳ हविरनन्तर्हितं भवतीत्याज्येन च पुरोडाशेन चेति ब्रूयात् ॥४॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषां पितृयज्ञोऽनन्तरितो भवतीत्यौपासनैरिति ब्रूयात् ॥५॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषामामावास्यꣳ हविरनन्तरितं भवतीति दध्ना च पुरोडाशेन चेति ब्रूयात् ॥६॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषामाग्रयणेष्टिरनन्तरिता भवतीति सौम्येन चरुणेति ब्रूयात् ॥७॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषां चातुर्मास्यान्यनन्तरितानि भवन्तीति पयस्ययेति ब्रूयात् ॥८॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषां पशुबन्धोऽनन्तरितो भवतीति पशुना च पुरोडाशेन चेति ब्रूयात् ॥९॥ तदाहुः । यत्सं॰ कथमेषाꣳ सोमोऽनन्तरितो भवतीति सवनैरिति ब्रूयात् ॥१०॥ ते वाऽएवमेते यज्ञक्रतवः । संवत्सरमपियन्ति स यो हैवमेतां यज्ञक्रतूनाꣳ संवत्सरेऽपीतिं वेदाप्यस्य स्वर्गे लोके भवति ॥११॥ संवत्सरस्य समता वेदितव्या । एकं पुरस्ताद्विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्त्येकमुपरिष्टात्त्रयःपञ्चाशतं पुरस्ताद्विषुवतोऽग्निष्टोमानुपयन्ति त्रयःपञ्चाशतमुपरिष्टाद्विꣳशतिशतं पुरस्ताद्विषुवत उक्थ्यान्यहान्युपयन्ति विꣳशतिशतमुपरिष्टादिति नु यऽउक्थ्यास्त्वरसाम्न उपयन्ति ॥१२॥ अथ येऽग्निष्टोमान् । षट्पञ्चाशतं पुरस्ताद्विषुवतोऽग्निष्टोमानुपयन्ति षट्-

सोमादीनां नित्यत्वम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ५

पहले सावित्र पशु का आलभन करते थे, अब प्राजापत्य का। क्योंकि कहते हैं कि जो सविता है वही प्रजापति है। इसलिए सब अग्नियाँ जब फैंकी जा चुकें तब गृहपति को अग्नियों में यह पशु-बन्ध यज्ञ करना चाहिए कि जिस पूँछ से पत्नियों के लिए यज्ञ करते हैं उसमें हमारा भी भाग हो। फिर उसके बाद जब चाहें दीक्षा ले सकते हैं ॥१॥

इस पर कहते हैं—अग्नि-शालाएँ अलग-अलग हों। यदि एक दीक्षित बीमार हो जाय तो वह अलग अग्निहोत्र कर लेवे। यदि वह फिर चंगा हो जाय तो उन अग्नियों को इकट्ठा करके उसे फिर बुला सकते हैं। यदि मर जाय तो उसी की अग्नियों द्वारा उसको जलाते हैं। उसके लिए शव की अलग अग्नि नहीं होती। दूसरे यजमान (यज्ञ में) बैठे रहते हैं (अर्थात् सिलसिला चलता रहता है)। जो आहिताग्नि लोग हैं उनका यही कर्म है। उनकी धिष्णियाँ (अग्नि-शालाएँ) तो एक होती हैं। इसकी वही व्याख्या है जो पुरश्चरण की ॥२॥

इस पर प्रश्न होता है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनका अग्निहोत्र निरन्तर कैसे रहता है? उत्तर यह है कि व्रत के द्वारा ॥३॥

और प्रश्न है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनका पूर्णमास यज्ञ कैसे निरन्तर रहा है? उत्तर यह है कि आज्य और पुरोडाश द्वारा ॥४॥

और प्रश्न यह है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनका पितृयज्ञ कैसे निरन्तर चालू रहता है? उत्तर यह है कि औपासन कृत्यों द्वारा ॥५॥

और प्रश्न यह है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनकी अमावस्य-सम्बन्धी हवि कैसे चालू रहती है? उत्तर यह है कि दही और पुरोडाश से ॥६॥

और प्रश्न है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनकी आग्रयण-इष्टि कैसे चालू रहती है? उत्तर यह है कि सोम के चरु द्वारा ॥७॥

और प्रश्न है कि जब संवत्सर यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनके चातुर्मास्य यज्ञ कैसे चालू रहते हैं? इसका उत्तर यह है कि पयस्या द्वारा ॥८॥

और प्रश्न है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनका पशुबन्ध कैसे चालू रहता है? उत्तर यह है कि पशु तथा पुरोडाश द्वारा ॥९॥

और प्रश्न है कि जब संवत्सर-यज्ञ में बैठनेवाले संवत्सर-भर के लिए दीक्षित होते हैं तो इनका सोम यज्ञ कैसे चालू रहता है? उत्तर यह है कि सवनों द्वारा ॥१०॥

इस प्रकार से यज्ञ-क्रियाएँ संवत्सर में मिल जाती हैं। जो इस प्रकार ज्ञान रखता है कि संवत्सर में अन्य यज्ञ प्रविष्ट हो जाते हैं, उसको स्वर्गलोक प्राप्त होता है ॥११॥

संवत्सर की समता जाननी चाहिए। एक अतिरात्र विषुवत् के पहले करते हैं, दूसरा उसके बाद। त्रेपन अग्निष्टोम विषुवत् से पहले करते हैं और त्रेपन पीछे। १२० उक्थ्य दिन विषुवत् से पहले करते हैं और १२० पीछे। इतना उनके लिए जो उक्थ्यों को स्वरसाम बनाते हैं ॥१२॥

जो अग्निष्टोमों को बनाते हैं, उनके विषय में यह है कि वे ५६ अग्निष्टोमों को विषुवत से पहले करते हैं, ५६ को पीछे। ११७ उक्थ्य दिवसों को विषुवत् से पहले करते हैं, ११७ को

पञ्चाशतमुपरिष्टात्सप्तदशꣳ शतं पुरस्ताद्विषुवत उक्थ्यान्यहान्युपयन्ति सप्तदशमु-
परिष्टात्षट् पुरस्ताद्विषुवतः षोडशिन उपयन्ति षडुपरिष्टात्त्रिꣳशतं पुरस्ताद्विषुवतः
षडहानुपयन्ति त्रिꣳशतमुपरिष्टादेषा हास्य समता समेन ह वाऽअस्याव्यृद्धेना-
न्यूनेनानतिरिक्तेनायनेनेतं भवति य एवमेतद्वेद ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥२ [३.५.] ॥
तृतीयोऽध्यायः [७७.] ॥ ॥

दीर्घसत्त्रꣳ ह वाऽएतऽउपयन्ति । येऽग्निहोत्रं जुह्वत्येतद्वै जरामर्यꣳ सत्त्रं यद-
ग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यन्ते मृत्युना वा ॥१॥ तदाहुः । यदेतस्य दीर्घस-
त्त्रिणोऽग्निहोत्रं जुह्वतोऽन्तरेणाग्नी युक्तं वा वियायात्सं वा चरेयुः किं तत्र कर्म
का प्रायश्चित्तिरिति कुर्वीत हैव निष्कृतिमपीष्ट्या यजेत तदु तन्नाद्रियेतेमान्वा
ऽएष लोकाननुवितनुते योऽग्नीऽआधत्ते ॥२॥ तस्यायमेव लोको गार्हपत्यः ।
अन्तरिक्षलोकोऽन्वाहार्यपचनोऽसौ लोक आहवनीयः कामं न्वाऽएषु लोकेषु
वयाꣳसि युक्तं चायुक्तं च सं चरन्ति स यदि हास्याप्यन्तरेण ग्रामोऽग्नीन्वियायान्नै-
व मे का चनार्तिरस्ति न रिष्टिरिति हैव विद्यात् ॥३॥ त्रयो ह त्वाव पशवो
ऽमेध्याः । दुर्वराह ऐडकः श्वा तेषां यद्यधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽन्तरेण कश्चित्संचरेत्किं
तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तद्धैके गार्हपत्याद्भस्मोपहृत्याहवनीयान्निवपन्तो
यन्तीदं विष्णुर्विचक्रमऽइत्येतयऽर्चा यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञेनैव यज्ञमनुसंतन्मो भ-
स्मनास्य पदमपिवपाम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयादासान्वा
ऽअयं यजमानस्यावाप्सीत्क्षिप्रे परमासानावप्स्यते ज्येष्ठगृह्यꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह
तथैव स्यात् ॥४॥ इत्थमेव कुर्यात् । उदस्थालीं वैवोदकमण्डलुं वादाय गार्ह-
पत्यादग्रऽआहवनीयान्निनयन्नियादिदं विष्णुर्विचक्रमऽइत्येतयैवऽर्चा यज्ञो वै वि-
ष्णुस्तद्यज्ञेनैव यज्ञमनुसंतनोति यद्वै यज्ञस्य रिष्टं यदशान्तमापो वै तस्य सर्वस्य
शान्तिरद्भिरेवैनत्तच्छान्त्या शमयत्यतदेव तत्र कर्म ॥५॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रं

पीछे। छः षोडशी विषुवत् से पहले करते हैं, छः पीछे। तीस षडह विषुवत् से पहले करते हैं, तीस पीछे। यह इसकी समता है। जो इस रहस्य को समझता है वह सम यज्ञों को करता है जो हर प्रकार पूर्ण होते हैं। उनमें कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता ॥१३॥

अग्निहोत्रप्रायश्चित्तम्

अध्याय ४—ब्राह्मण १

जो अग्निहोत्र करते हैं वे दीर्घसत्र करते हैं। अग्निहोत्र जरामर्य सत्र है (अर्थात् इसके करने से बुढ़ापे में मृत्यु होती है)। इससे या तो बुढ़ापे में छुटकारा होता है या मृत्यु पर ॥१॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि इस दीर्घसत्री अर्थात् अग्निहोत्र करनेवाले की दो अग्नियों के बीच में यदि कोई जुता हुआ रथ निकल जाय या कोई चला जाय तो क्या कर्म करना है या क्या प्रायश्चित्त? प्रायश्चित्त भी करना चाहिए और इष्टि भी। या न करे क्योंकि जो दो अग्नियों का आधान करता है वह इन लोकों में व्याप्त हो जाता है ॥२॥

गार्हपत्य उसका यह लोक है, अन्वाहार्यपचन अन्तरिक्ष, आहवनीय द्यौ (वह) लोक। इन लोकों के बीच में दो जोड़े या अकेले पक्षी फिरा करते हैं। इसलिए इसकी दो अग्नियों के बीच में गाँव-भर भी चला जाय तो उसे सोचना चाहिए कि मेरी क्या हानि! मुझे क्या आपत्ति! ॥३॥

तीन पशु अमेध्य हैं—दुर्वराह (सूकर), एडक (मेंढ़ा) और श्वा (कुत्ता)। जब अग्निहोत्र हो रहा हो उस समय यदि इनमें से कोई चला जाय तो क्या कर्म करना चाहिए? क्या प्रायश्चित्त? कुछ लोग गार्हपत्य से भस्मों को लेकर आहवनीय से नीचे बिखेरते जाते हैं और यह मन्त्र पढ़ते जाते हैं—"इदं विष्णुर्विचक्रमे" (ऋ० १।२२।१७) इत्यादि। उनका तात्पर्य है कि विष्णु यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ से ही यज्ञ को करते हैं। इसकी भस्म को मार्ग में डालते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। यदि कोई कहने लगे कि 'उसने यजमान की राख को बिखेर दिया, वह उसकी अन्तिम राख को भी बिखेर देगा। उसके घरवाले रोवेंगे' तो वैसा ही हो जायगा ॥४॥

ऐसा करे—एक थाली में या कमण्डलु में पानी लेकर गार्हपत्य के सामने से आहवनीय तक जल छिड़कता जाय और इस मन्त्र को पढ़ता जाय "इदं विष्णुर्विचक्रमे" (ऋ० १।२२।१७) क्योंकि विष्णु यज्ञ है, इस प्रकार यज्ञ से यज्ञ को करता है। यज्ञ में जो कुछ रिष्ट या अशान्त हो उस सबकी जल से शान्ति हो जाती है। जल से ही इसको शान्त करता है। इस समय का यही कर्म है ॥५॥

यह भी कहते हैं—

दोह्यमानꣳ स्कन्देत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति स्कन्नप्रायश्चित्तेनाभिमृश्याद्भि-रुपनिनीय परिशिष्टेन जुहुयाद्यद्यु नीची स्थाली स्याद्यदि वा भिद्येत स्कन्नप्राय-श्चित्तेनैवाभिमृश्याद्भिरुपनिनीय यदन्यद्विन्देत्तेन जुहुयात् ॥६॥ ॥ शतम् ६१०० ॥॥

अथ यत्र स्कन्नꣳ स्यात् । तदभिमृशेदस्कन्नधित प्राजनीति यदा वै स्कन्दत्यथ धी-यते यदा धीयतेऽथ प्रजायते योनिर्वाऽइयꣳ रेतः पयस्तदस्यां योनौ रेतो दधा-त्यनुष्ठ्या ह्यस्य रेतः सिक्तं प्रजायते य एवमेतद्वेदामुतो वै दिवो वर्षतीह्यौषधयो वनस्पतयः प्रजायन्ते पुरुषाद्रेत स्कन्दति पशुभ्यस्तत इदꣳ सर्वं प्रजायते तद्विद्या-द्भूयसी मे प्रजातिरभूद्बहुः प्रजया पशुभिर्भविष्यामि श्रेयान्भविष्यामीति ॥७॥ अथ यत्रावभिन्नꣳ स्यात् । तदुदस्थालीं वैवोदकमण्डलुं वा निनयेद्यद्वै यज्ञस्य रिष्टं यदशान्तमापो वै तस्य सर्वस्य शान्तिरद्भिरेवैनत्तच्छान्त्या शमयति भूर्भुवः स्वरित्ये-ताभिर्व्याहृतिभिरेता वै व्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तीस्तदनेन सर्वेण प्रायश्चित्तिं कु-रुते तानि कपालानि संचित्य यत्र भस्मोद्धृतꣳ स्यात्तन्निवपेदेतदेव तत्र कर्म ॥८॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्री दोह्यमानोपविशेत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति ताꣳ हैके यजुषोत्थापयन्त्युदस्थाद्देव्यदितिरितीयं वाऽअदितिरिमामेवास्माऽएतदुत्थाप-याम इति वदन्त आयुर्यज्ञपतावधादित्यायुरेवास्मिंस्तद्दध्म इति वदन्त इन्द्राय कृ-ण्वती भागमितीन्द्रियमेवास्मिंस्तद्दध्म इति वदन्तो मित्राय वरुणाय चेति प्राणो-दानौ वै मित्रावरुणौ प्राणोदानावेवास्मिंस्तद्दध्म इति वदन्तस्तां तस्यामाहुत्यां ब्राह्मणाय दद्यान्मनभ्यागमिष्यन्मन्येतार्त्तिं वाऽएषा पाप्मानं यजमानस्य प्रति-दृश्योपाविक्षदार्त्तिमेवास्मिंस्तत्पाप्मानं प्रतिमुञ्चाम इति वदन्तः ॥९॥ तदु हो-वाच याज्ञवल्क्यः । अश्रद्दधानेभ्यो हैभ्यो गौरपक्रामत्यार्त्यै वाऽआहुतिं विध्य-न्तीत्थमेव कुर्याद्दण्डेनैवैनां विपिष्योत्थापयेदिति तद्यथैवादो धावयतोऽश्वो वा-श्वतरो वा गदयेत बलीवर्दो वा युक्तस्तेन दण्डप्रजितेन तोत्त्रप्रजितेन यमध्वानꣳ

यदि अग्निहोत्र के लिए दुहा हुआ दूध फैल जाय तो क्या कर्म है ? क्या प्रायश्चित्त ? फैलने के प्रायश्चित्त का जो मन्त्र है उससे फैले हुए दूध को छूकर उसपर पानी डालकर जो शेष दूध रहा हो सेउस आहुति देवे। यदि पात्र उलट जाय या पात्र टूट जाय तो फैलने के प्रायश्चित्त का मन्त्र पढ़कर उसपर पानी डालकर जो कुछ और दूध मिल सके उसकी आहुति देवे ॥६॥

यदि दूध फैल जाय तो इस मन्त्र से छुए—"अस्कन्नधित प्राजनि"—"फैल गया/ स्थापित हुआ। उत्पन्न हुआ।" वीर्य जब फैलता है तभी स्थापित होता है; जब स्थापित होता है तभी सन्तानोपत्ति होती है। यह पृथिवी योनि है, दूध वीर्य है—यह जो इस योनि में वीर्य स्थापित होता है। जो इस रहस्य को समझता है, उसका वीर्य सिंचकर सन्तान उत्पन्न होती है। द्यौ से पानी बरसता है, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। पुरुष और पशुओं से वीर्य निकलता है; उससे इस सबकी उत्पत्ति होती है। उसको जानना चाहिए कि मेरे लिए बहुत उत्पत्ति हो गई। मेरी प्रजा बहुत होगी, पशु बहुत होंगे और मेरा कल्याण होगा ॥७॥

जब बर्तन टूट जाय तो जल के पात्र या कमण्डलु को लेकर जो कुछ यज्ञ का विघ्न या अशान्ति है उस सबकी शान्ति जलों से होती है। इस शान्ति से वह उसको शान्त करता है "भूर्भुवः स्वः" इन तीन व्याहृतियों से। ये व्याहृतियाँ सब चीजों की प्रायश्चित्त हैं। इन सबसे प्रायश्चित्त करता है—उन कपालों (पात्र के टूटे अंशों) को लेकर; जहाँ भस्म जमा हो वहीं डाल देवो, यही कर्म है ॥८॥

इस पर प्रश्न है कि दुहते समय यदि अग्निहोत्री गाय बैठी जाय तो क्या कर्म, क्या प्राय-श्चित्त ? कुछ लोग इस यजु-मन्त्र को पढ़कर उठाते हैं—"उदस्थाद् देव्यदितिः" (देवी अदिति उठ खड़ी हुई)। अदिति यह पृथिवी है। उनका तात्पर्य है कि हम इसी पृथिवी को उठाते हैं। आयुर्यज्ञ पतावधात् (इसने यज्ञपति में जीवन स्थापित किया)। उनका तात्पर्य यह है कि हमने यज्ञपति को जीवन दिया। "इन्द्राय कृण्वतो भागम्" (इन्द्र को भाग देते हुए) अर्थात् उसमें हम इन्द्रिय या इन्द्र की शक्ति को देते हैं। "मित्राय वरुणाय च" (मित्र और वरुण के लिए) मित्रावरुण प्राण और उदान हैं, अर्थात् उस यज्ञपति में प्राण और उदान स्थापित करते हैं। फिर उस गाय को ऐसे ब्राह्मण को देवे जो फिर आनेवाला न हो (?)। वे कहते हैं कि यह गाय यजमान की विपत्ति या अनिष्ट को देखकर ही बैठ गई; हम इस अनिष्ट को इस ब्राह्मण की दिये देते हैं ॥९॥

इसपर याज्ञवल्क्य का कहना है कि 'गाय तो उनके पास से ऐसी चली गई जैसे अश्रद्धालुओं के पास से। आहुति तो बिगड़ गई!' इसलिए ऐसा करे—उसे डंडे से धक्का देकर उठा देवे। जैसे कोई घोड़े को, या खच्चर को या जोते हुए बैल को जो थक गया हो, डंडे से उठा-कर अपना मार्ग पूरा कर लेता है और जहाँ पहुँचना होता है पहुँच जाता है, उसी प्रकार वह गाय

समीप्सति तꣳ समश्नुतऽएवमेवैतया दण्डप्रजितया तोत्त्रप्रजितया यꣳ स्वर्गं लोकꣳ समीप्सति तꣳ समश्नुते ॥१०॥ अथ होवाचारुणिः । द्यौर्वाऽएतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्र्ययमेव वत्सो योऽयं पवतऽइयमेवाग्निहोत्रस्थाली न वाऽएवं विदुषोऽग्निहोत्री नश्यति ह्य ह्यसौ नश्येन्नैवं विदुषोऽग्निहोत्रीवत्सो नश्यति ह्य ह्येष नश्येन्नैवं विदुषोऽग्निहोत्रस्थाली भिद्यते ह्य हीयं भिद्येत श्रियो वै पर्जन्यो वर्षति तद्विद्याद्भेमाणं मे महिमानमधारयमाणोपाविवन्नच्छ्रियान्भविष्यामीति तामात्मन्येव कुर्वीतात्मन्येव तच्छ्रियं धत्तऽइति ह स्माहारुणिरेतदेव तत्र कर्म ॥११॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्री दोह्यमाना वाश्येत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति स्तम्बमाहृत्य ग्रासयेदेतदेव तत्र कर्म ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥३ [४.१.] ॥॥

तदाहुः । यस्याग्निहोत्री लोहितं दुहीत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति व्युत्क्रामतेत्युक्त्वा मेक्षणं कृत्वान्वाहार्यपचनं परिश्रयितवै ब्रूयात्तस्मिन्नेनच्छ्रपयित्वा तस्मिंस्तूष्णीं जुहुयादनिरुक्तमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्राजापत्यमग्निहोत्रꣳ सर्वं वाऽअनिरुक्तं तदनेन सर्वेण प्रायश्चित्तिं कुरुते तां तस्यामाहुत्यां ब्राह्मणाय दद्याद्यमनभ्यागमिष्यन्मन्येतार्तिं वाऽएषा पाप्मानं यजमानस्य प्रतिदृश्य दुहे या लोहितं दुहऽआर्तिमेवास्मिंस्तत्पाप्मानं प्रतिमुञ्चत्यथ यदन्यद्विन्देत्तेन जुहुयादनार्तेनैव तदार्तं यज्ञस्य निष्करोत्येतदेव तत्र कर्म ॥१॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रं दोह्यमानममेध्यमापद्येत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तद्धैके होतव्यं मन्यन्ते प्रयतमेतन्नैतस्याहोमोऽवकल्पते न वै देवाः कस्माच्चन बीभत्सन्ते बीभत्सन्ताऽइ तु देवा इत्यमेव कुर्याद्गार्हपत्यादुष्णं भस्म निरुह्य तस्मिन्नेनदुष्णे भस्मंस्तूष्णीं निनयेदद्भिरुपनिनयत्यद्भिरेनदाप्नोत्यथ यदन्यद्विन्देत्तेन जुहुयादेतदेव तत्र कर्म ॥२॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रं दोहितममेध्यमापद्येत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति यऽएवैतेऽङ्गारा निवृत्ता येष्वधिश्रयिष्यन्भवति तान्प्रत्युह्य तस्मिन्नेनदुष्णे भस्मंस्तूष्णीं

थककर बैठ गई। इस डंडे से उठाकर वह स्वर्गलोक को पहुँच जाता है जहाँ कि पहुँचना है ॥१०॥

आरुणि ने कहा था कि 'इस अग्निहोत्र की अग्निहोत्री गाय द्यौलोक है। यह जो बहता है अर्थात् वायु, वह उसका बछड़ा है। यह पृथिवी अग्निहोत्र का पात्र है। इस रहस्य को जाननेवाले की अग्निहोत्री गाय तो नष्ट होती ही नहीं, क्योंकि द्यौलोक कैसे नष्ट हो सकेगा? न इस रहस्य को जाननेवाले का बछड़ा नष्ट होता है क्योंकि यह कैसे नष्ट होगा? न इस रहस्य को समझनेवाले का अग्निहोत्र-पात्र टूटता है। यह पृथिवी कैसे टूट सकती है? बादल से श्री बरसती है। इसलिए उसे सोचना चाहिए कि मेरी महिमा को सहार सकने में असमर्थ होकर यह बैठ गई। मैं अधिक महिमावाला हो जाऊँगा!' उस गाय को अपने लिए रख लेवे। इस प्रकार अपने लिए श्री को रक्खेगा। यह था आरुणि का कथन। यही कर्म है ॥११॥

पूछते हैं कि यदि किसी की अग्निहोत्री गाय दुहते समय रंभा जाय तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? घास का एक मुट्ठा लेकर खिलावे। यही कर्म है ॥१२॥

अग्निहोत्र-प्रायश्चित्तम्

अध्याय ४—ब्राह्मण २

प्रश्न होता है कि यदि यजमान की अग्निहोत्री गाय दूध के स्थान में रुधिर दे तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? पहले कहे 'हट जाओ!' फिर अन्वाहार्यपचन को घेरने के लिए आज्ञा दे और मेक्षण या टालने के लिए चमचा बनवावे और अन्वाहार्यपचन में वह खून पकाकर उसमें चुपके से आहुति दे देवे, अनिरुक्त आहुति। प्रजापति अनिरुक्त है। अग्निहोत्र प्रजापति का है। 'सब' भी अनिरुक्त है। इसलिए इस सबके द्वारा प्रायश्चित्त करता है। आहुति देकर उस गाय को उस ब्राह्मण को दान कर दे जो वहाँ फिर आनेवाला न हो, क्योंकि गाय जो खून देती है वह यजमान को विपत्ति या अनिष्ट का भविष्य ज्ञान करके देती है। इस प्रकार वह यजमान की विपत्ति या अनिष्ट को उस ब्राह्मण को दे देता है। जब जो और दूध मिल जाय उससे आहुति देवे। इस प्रकार अनार्त्त (पूर्ण) के द्वारा यज्ञ के आर्त्त (अपूर्ण) को दूर करता है। इस सम्बन्ध में यही कर्म है ॥१॥

कहते हैं कि यदि किसी का दूध दुहने में अपवित्र हो जाय तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? कुछ कहते हैं कि आहुति दे देवे, क्योंकि आहुति तो तैयार ही है। तैयार आहुति न दी जाए तो ठीक नहीं। देवता किसी चीज से घृणा तो करते ही नहीं। परन्तु यह बात नहीं है; देवता घृणा करते हैं। इसलिए ऐसा करना चाहिए कि गार्हपत्य से गरम राख ले और उस गरम राख पर उस दूध को डाल दे। अब उसपर आपः (पानी) छोड़े। आपः (पानी) के द्वारा वह उस यज्ञ की आप्ति (प्राप्ति) करता है। और जो दूध मिले उसकी आहुति देवे। यही कर्म है ॥२॥

इसपर प्रश्न करते हैं कि जिसका अग्निहोत्र के लिए दुहा गया दूध अपवित्र हो जाय उसके लिए क्या कर्म है और क्या प्रायश्चित्त? वे अंगारे जिस पर दूध पकाया जानेवाला था और जो अग्नि से निकाले गए थे, उनको ले आवे और उस गरम राख पर दूध डाल दे।

निनयेदद्भिरुपनिनयत्यद्भिरेनदाप्नोत्यथ यदन्य° ॥३॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रमधिश्रितममेध्यमापद्येत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति य एवैतेऽङ्गारा निरूढा येष्वधिश्रितं भवति तेष्वेनत्तूष्णीं जुहुयात्तद्धुतमहुतं यद्ध्येनत्तेषु जुहोति तेन हुतं यद्वेनांस्तेनैवानुगमयति तेनाहुतमद्भिरुपनिनयत्यद्भिरेनदाप्नोत्यथ यदन्य° ॥४॥ तदाहुः । यदधिश्रितेऽग्निहोत्रे यजमानो म्रियेत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तदेवैनदभिपर्याधाय विष्यन्दयेदथो खल्वाहुरेतावती सर्वस्य हविर्यज्ञस्य प्रायश्चित्तिरित्येतदेव तत्र कर्म ॥५॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रꣳ स्रुच्युन्नीतꣳ स्कन्देत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति स्कन्नप्रायश्चित्तेनाभिमृश्याद्भिरुपनिनीय परिशिष्टेन जुहुयाद्यद्यु नीची स्रुक्स्याद्यदि वा भिद्येत स्कन्नप्रायश्चित्तेनैवाभिमृश्याद्भिरुपनिनीय यत्स्थाल्यां परिशिष्टꣳ स्यात्तेन जुहुयात् ॥६॥ तद्धैके । प्रतिपरेत्य यत्स्थाल्यां परिशिष्टं भवति तेन जुह्वति तदु तथा न कुर्यात्स्वर्ग्यं वाऽएतद्यदग्निहोत्रं यो हैनं तत्र ब्रूयात्प्रति न्वाऽअयꣳ स्वर्गाल्लोकादवारुक्षन्नास्येदꣳ स्वर्ग्यमिव भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥७॥ इत्यनेव कुर्यात् । तदेवोपविशेद्यत्स्थाल्यां परिशिष्टꣳ स्यात्तदस्माऽउन्नीयाहरेयुस्तद्धैकऽउपवल्हन्ते हुतोच्छिष्टं वाऽएतद्यातयाम वाऽएतन्नैतस्य होतव्यमिति तदु तन्नाद्रियेत यदा वाऽएतद्यातयामाथैनद्धविरातञ्चनं कुर्वते तस्माद्यत्स्थाल्यां परिशिष्टꣳ स्यात्तदस्माऽउन्नीयाहरेयुर्यद्यु तत्र न स्याद्यदन्यद्विन्देत्तदग्नावधिश्रित्यावज्योत्यापः प्रत्यानीयोद्वास्य तदद्रो हैवान्नेष्यामीत्युक्तं भवत्यथात्र यथोन्नीतमेवास्माऽउन्नीयाहरेयुस्तेन कामं जुहुयादेतदेव तत्र कर्म ॥८॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रꣳ स्रुच्युन्नीतममेध्यमापद्येत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तद्धैके होतव्यं मन्यन्ते प्रयतमेतन्नैतस्याहोमोऽवकल्पते न वै देवाः कस्माच्चन बीभत्सन्तऽइति तद्धैकऽउत्सिच्य हर्दयन्ति तदु तथा न कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयात्परासिञ्चत न्वाऽअयमग्निहोत्रं क्षिप्रेऽयं यजमानः परासि-

उसपर पानी छोड़ दे। इस प्रकार पानी के द्वारा यज्ञ का दोष दूर हो जाता है। अब जो और दूध मिले उसकी आहुति देवे। यही कर्म है ॥३॥

प्रश्न होता है कि जिसका दूध पकाते समय अपवित्र हो जाय उसका क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? जिन अंगारों पर वह दूध पक रहा है उनपर उसको चुपके से छोड़ देवे। यह हुत भी है और आहुत भी, अर्थात् इसकी आहुति में गिनती है भी और नहीं भी। उन अंगारों पर डाल दिया, इसलिए आहुति हो गई। इसको अंगारों के साथ बुझा दिया, इसलिए आहुति नहीं हुई। इस पर जल छोड़ दे। जल से यज्ञ का दोष दूर हो जाता है। और जो दूध मिल जाए उसकी आहुति देवे ॥४॥

यदि अग्निहोत्र दूध को आग पर रखने पर यजमान मर जाय तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? इनको चारों ओर से घेरकर फेंक दे। कहते हैं कि यह सब हविर्यज्ञ का प्रायश्चित्त है। यही इसका कर्म है ॥५॥

प्रश्न होता है कि यदि किसी का अग्निहोत्र का दूध स्रुच में उँडेलने के पश्चात् गिर जाय तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? गिर जाने के लिए जो प्रायश्चित्त का मन्त्र है उसको पढ़-कर उसे छुए। फिर उसपर पानी डाल दे। जो दूध बचा हो उसकी आहुति दे देवे। यदि स्रुच उलट जाय या टूट जाय तो गिरने के लिए जो प्रायश्चित्त-मन्त्र है उसको पढ़कर उसे छुए और उसपर पानी डाल दे, और जो दूध बर्तन में बच रहा हो उसकी आहुति देवे ॥६॥

कुछ लोग गार्हपत्य में लौटकर बर्तन के बचे दूध से आहुति देते हैं। परन्तु ऐसा न करे। यह अग्निहोत्र स्वर्ग को ले जानेवाला है। यदि कोई कहने लगे कि 'यह तो स्वर्ग से लौट आया और यह आहुति स्वर्ग को ले जानेवाली न होगी' तो ऐसा ही हो जायगा ॥७॥

ऐसा करना चाहिए—वहीं बैठ जाय, और पात्र में जो दूध बचा हो उसे स्रुच में डाल देवे। कुछ लोग आक्षेप करके इसको घबड़ा देते हैं 'यह तो उच्छिष्ट है! यह निस्सार हो गया! इसकी आहुति न होनी चाहिए।' परन्तु इसका विचार न करे। जब निस्सार न था तभी तो आहुति के लिए गाढ़ा किया जा रहा था। इसलिए बर्तन में जो बच रहे उसे ले आना चाहिए और यदि न रहे तो और दूध ले आवे और उसे आग पर पकाने रख दे। अब उसपर प्रकाश डाले, पानी डाले और आग पर से हटा ले। पहले कृत्य में तो अध्वर्यु कहता है कि 'मैं दूध निकालता हूँ', परन्तु यहाँ तो जैसे निकाला करते हैं वैसे ही निकाले और उसकी आहुति दे देवे। यही कर्म है ॥८॥

पूछते हैं कि यदि स्रुच में दूध निकालने के पश्चात् अपवित्र हो जाय तो क्या कर्म है और क्या प्रायश्चित्त? कुछ की राय है कि आहुति दे देवे, क्योंकि आहुति तैयार है। यदि आहुति तैयार हो और न दी जाय तो ठीक नहीं। देवता किसी चीज से घृणा नहीं करते। कुछ उसको ऊपर तक भर लेते हैं और फैल जाने देते हैं। परन्तु ऐसा न करना चाहिए।

द्यतऽइतीश्वरो ह तथैव स्यादित्थमेव कुर्यादाहवनीये समिधमभ्याधायाहवनी-
याद्वोष्णं भस्म निरुह्य तस्मिन्नेनदुप्त्वा भस्मस्तूष्णीं निनयेदद्भिरुपनिनयत्यद्भिरेन-
दाप्नोत्यथ यदन्यद्विन्देत्तेन जुहुयादेतदेव तत्र कर्म ॥९॥ तदाहुः । यस्याग्निहोत्रꣳ
स्रुच्युन्नीतमुपरिष्टादववर्षेत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तद्विद्यादुपरिष्टान्मा
शुक्रमागन्नुप मां देवाः प्राभूवञ्छ्रेयान्भविष्यामीति तेन कामं जुहुयादेतदेव तत्र
कर्म ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥४ [४. २.] ॥ ॥

तदाहुः । यत्पूर्वस्यामाहुत्याꣳ हुतायामथाग्निरनुगच्छेत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चि-
त्तिरिति यं प्रतिवेशꣳ शकलं विन्देत्तमभ्यस्याभिजुहुयाद्दारौ-दारावग्निरिति वद-
न्दारौ-दारौ ह्येवाग्निर्यद्युऽअस्य हृदयं व्येव लिखेद्धिरण्यमभिजुहुयादग्नेर्वाऽएतद्रे-
तो यद्धिरण्यं य उ वै पुत्रः स पिता यः पिता स पुत्रस्तस्माद्धिरण्यमभिजुहुयादे-
तदेव तत्र कर्म ॥१॥ तदाहुः । यस्याहवनीय उद्धृतः पुराग्निहोत्रादनुगच्छेत्किं तत्र
कर्म का प्रायश्चित्तिरिति गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चमुद्धृत्योपसमाधायाग्निहोत्रं जुहुयात्स
यद्यपि शतमेव कृत्वः पुनः पुनरुद्धृतोऽनुगच्छेद्गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चमुद्धृत्योपसमाधा-
याग्निहोत्रं जुहुयादेतदेव तत्र कर्म ॥२॥ तदाहुः । यस्य गार्हपत्योऽनुगच्छेत्किं
तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तꣳ हैकऽउल्मुकादेव निर्मन्थन्ति यतो वै पुरुष-
स्यार्त्तो नश्यति ततो वै स तस्य प्रायश्चित्तिमिच्छतऽइति वदन्तस्तदु तथा न
कुर्यादुल्मुकꣳ ह वै वादाय चरेयुरुल्मुकस्य वावव्रश्चमित्थमेव कुर्यादुल्मुकादङ्गा-
रमादाय तमरण्योरभिविमथ्नीयादुप ह तं काममाप्नोति य उल्मुकमथ्यऽउपो तं
योऽरण्योरेतदेव तत्र कर्म ॥३॥ तदाहुः । यस्याग्नावग्निमभ्युद्धरेयुः किं तत्र कर्म
का प्रायश्चित्तिरितीश्वरौ वाऽएतौ सम्पद्याशान्तौ यजमानस्य प्रजां च पशूंश्च निर्द-
हस्तादभिमन्त्रयेत समितꣳ संकल्पेथाꣳ सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ इषमूर्ज-
मभि संवसानौ ॥ सं वां मनाꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् अग्ने पुरीष्या-

कोई यदि कहने लगे कि 'इसने अग्निहोत्र को फैल जाने दिया। यह यजमान को भी फैल जाने देगा' तो ऐसा ही हो जायगा। ऐसा करना चाहिए कि आहवनीय में समिधाएँ रक्खे और आहवनीय से कुछ गरम राख को लेकर उस गरम राख पर चुपके से उसको उँडेल दे। तब वह उस पर जल डालता है और जल द्वारा यज्ञ का दोष दूर करता है। जो और दूध मिले उससे आहुति देवे। यही कर्म है ।।९।।

पूछते हैं कि यदि चमचे में दूध निकाल लेने के पश्चात् उसपर पानी बरस जाय तो क्या कर्म है और क्या प्रायश्चित्त ? तो समझना चाहिए कि 'ऊपर से मुझ पर शुक्र (प्रकाश) की वर्षा हो गई। देवों ने मेरी सहायता की। मैं यशस्वी हो जाऊँगा।' उससे आहुति दे ही देनी चाहिए। यही कर्म है ।।१०।।

गार्हपत्याद्यनुगमने प्रायश्चित्तम्

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

पूछते हैं कि यदि पहली आहुति देने पर ही अग्नि बुझ जाय तो क्या कर्म है ? क्या प्रायश्चित्त ? जो कोई लकड़ी निकट में मिले उसे कुण्ड में डालकर आहुति देवे, यह कहकर कि 'हर लकड़ी में अग्नि है', क्योंकि हर लकड़ी में अग्नि है। परन्तु यदि उसका हृदय उथल-पुथल करे तो सोने के टुकड़े पर आहुति देवे, क्योंकि सोना अग्नि का पुत्र है। पुत्र पिता है और पिता पुत्र है। इसलिए सोने पर आहुति देवे। यही कर्म है ।।१।।

और पूछते हैं कि यदि गार्हपत्य से लाने पर अग्निहोत्र से पहले आहवनीय बुझ जाय तो क्या कर्म करे ? क्या प्रायश्चित ? गार्हपत्य से फिर लाकर आहवनीय में रक्खे और अग्निहोत्र का आरम्भ करे। यदि वहाँ से लाने पर सौ बार भी बुझ जाय तो भी दुबारा गार्हपत्य से लाकर आहवनीय में रखकर अग्निहोत्र करना चाहिए। यही कर्म है ।२।।

प्रश्न होता है कि जिसकी गार्हपत्य अग्नि बुझ जाय उसके लिए क्या कर्म है ? क्या प्रायश्चित्त ? कुछ तो उल्मुक (लकड़ी) से ही मथते हैं। कहते हैं कि जिससे पुरुष का शरीर अन्त में जलाया जाता है उसी से इसका प्रायश्चित्त होना चाहिए। परन्तु ऐसा न करे। या तो उल्मुक ही ले आवे या उसका टुकड़ा। ऐसा करे—उल्मुक से एक अंगारा लेकर उसको अरणी और उत्तरारणी पर मन्थन करे। इससे उसको दोनों फल मिल जाते हैं—वह जो उल्मुक के मथने से होता है और वह जो अरुणी और उत्तरारणी के मंथन से। यही कर्म है ।।३।।

और प्रश्न करते हैं कि यदि किसी के लिए (गार्हपत्य से) अग्नि लेवें और उसे जलती हुई आहवनीय में रख दें तो क्या कर्म है ? क्या प्रायश्चित्त ? यदि ये दो अग्नियाँ मिलकर शांत न होंगी तो यजमान की सन्तान या पशुओं को जला देंगी। इसलिए इन यजुओं का पाठ करे—"समितं संकल्पेथाँ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ ।। सं वां मनाँसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्। अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न ऽ इषमूर्जं यजमानाय धेहि"(यजु० १२।५७,५८)—"दोनों प्रिय, प्रकाशस्वरूप, अच्छे मनवाले, अन्न और रस के लिए साथ रहनेवाले तुम दोनों मिल जाओ और साथ-साथ चलो ।। मैंने तुम दोनों के मनों को, व्रतों को और चित्तों को संयुक्त किया है। हे पुरीष्य अग्नि ! अधिपति हो। तू हमारे यजमान को अन्न और रस दे।"

धिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहीति शान्तिमेवाभ्यामेतद्ददाति यजमानस्य प्रजायै पशूनामहिꣳसायै ॥४॥ यद्युऽअस्य हृदयं व्येव लिखेत् । अग्नयेऽग्निमते ऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्तस्यावृत्सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयाद्वार्त्रघ्नावाज्यभागौ विराजौ संयाज्येऽअथैते याज्यानुवाक्येऽअग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा हव्यवाड्जुह्वास्य इत्यथ याज्या त्वꣳ ह्यग्नेऽअग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता सखा सख्या समिध्यसऽइति शान्तिमेवाभ्यामेतद्ददाति यजमानस्य प्रजायै पशूनामहिꣳसायाऽएतदेव तत्र कर्म ॥५॥ तदाहुः । यस्याहवनीयेऽननुगते गार्हपत्योऽनुगच्छेत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति तꣳ हैके तत एव प्राञ्चमुद्धरन्ति प्राणा वाऽअग्नयः प्राणानेवास्माऽएतदुद्धराम इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयात्प्राचो न्वाऽअयं यजमानस्य प्राणान्प्रारौत्सीन्मरिष्यत्ययं यजमान इतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥६॥ अथ हैके प्रत्यञ्चमाहरन्ति । प्राणोदानाविमाविति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात्स्वर्ग्यं वाऽएतद्यदग्निहोत्रं यो हैनं तत्र ब्रूयात्प्रति न्वाऽअयꣳ स्वर्गाल्लोकादवारुक्षन्नास्येदꣳ स्वर्ग्यमिव भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥७॥ अथ हैकेऽन्यं गार्हपत्यं मन्थन्ति । तदु तथा न कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाद्यग्नेर्वाऽअयमधि द्विषन्तं भ्रातृव्यमजीजनत क्षिप्रेऽस्य द्विषन्भ्रातृव्यो जनिष्यते प्रियतमꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥८॥ अथ हैकेऽनुगमय्यान्यं मन्थन्ति । तस्याशां नेयादपि यत्परिशिष्टमभूत्तदजीजसत नास्य दायादश्चन परिशेक्ष्यतऽइतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥९॥ इत्थमेव कुर्यात् । अरण्योरग्नी समारोह्योदङ्ङुदवसाय निर्मथ्य जुहुवदसेत्तथा ह न कां चन परिचक्षां करोति नवावसानऽउऽअस्याभितोरात्रꣳ हुतं भवति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [४. ३.] ॥ ॥

अथ प्रातर्भस्मान्युद्धृत्य । गोमयेनालिप्यारण्योरेवाग्नी समारोह्य प्रत्यवस्यति मथित्वा गार्हपत्यमुद्धृत्याहवनीयमाहृत्यान्वाहार्यपचनमग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं

इस प्रकार वह उनपर यजमान की प्रजा और पशुओं की रक्षा के लिए शान्ति स्थापित करता है ।।४।।

यदि उसका हृदय न माने तो 'अग्नि अग्निमत्' के लिए आठ कपालों का एक पुरोडाश तैयार करे। इसकी विधि यह है—१७ सामिधेनियों को पढ़े। दो आज्यभाग तो वृत्र के मारने के लिए हैं, दो विराट् संयाज है। याज्य और अनुवाक्य ये हैं—"अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृह-पतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः" (ऋ० १।१२।६)—"अग्नि द्वारा अग्नि प्रज्वलित होती है; कवि, गृहपति, युवा, हव्य का ले जानेवाला जिसके मुँह में आहुति डाली जाती है।" याज्य यह है—"त्वाꣳ ह्यग्ने ऽ अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता सखा सख्या समिध्यसे" (ऋ० ८।४३।१४) "हे अग्नि तू अग्नि से अर्थात् विप्र विप्र से, सखा सखा से, प्रज्वलित हुआ है।" इस प्रकार वह इनकी ओर से यजमान की प्रजा और पशुओं की रक्षा के लिए शांति स्थापित करता है। इस सम्बन्ध में यही कर्म है ।।५।।

प्रश्न करते हैं कि यदि किसी की आहवनीय न बुझे परन्तु गार्हपत्य बुझ जाय तो क्या कर्म, क्या प्रायश्चित्त ? कुछ तो आहवनीय को ही गार्हपत्य मानकर उसमें से अग्नि लेकर अलग आह-वनीय बना लेते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि अग्नियाँ प्राण हैं, हम उसके लिए प्राण ही तो उद्धृत करते हैं। ऐसा न करे। यदि कोई कहने लगे कि 'इसने तो बढ़ते हुए प्राणों को रोक दिया। यजमान मर जाएगा' तो अवश्य ऐसा ही हो जायगा ।।६।।

कुछ लोग आहवनीय से गार्हपत्य को लौटा लाते हैं। उनका कथन है कि ये दोनों प्राण और उदान हैं। परन्तु ऐसा न करे। यह अग्निहोत्र स्वर्ग के लिए है। यदि कोई कहने लगे कि 'यह अग्नि तो स्वर्गलोक से लौट आई, यह स्वर्ग के लिए न होगी' तो ऐसा हो ही जायगा ।।७।।

कोई दूसरी गार्हपत्य अग्नि का मंथन करते हैं, परन्तु ऐसा न करे। यदि कोई उससे कहने लगे कि 'इसने तो अग्नि से एक द्वेषी शत्रु उत्पन्न कर दिया तो तुरन्त ही उससे द्वेषी शत्रु उत्पन्न हो जायगा और उसे अपने किसी प्यारे के लिए रोना पड़ेगा' तो वैसा ही हो जायगा ।।८।।

कुछ लोग आहवनीय को बुझाकर अन्य गार्हपत्य को मथते हैं। इसकी आशा भी न करनी चाहिए। क्योंकि यदि कोई कहने लगे कि 'इसने तो बची-बचाई भी बुझा दी तो उसका कोई दायाद (वारिस) भी न रहेगा' तो ऐसा हो जायगा ।।९।।

ऐसा करे—दो अरणियों पर दो अग्नियों को लेकर उत्तर की ओर जावे और अग्नि-मंथन करके वहीं आहुतियाँ देता हुआ ठहरे। इस प्रकार किसी को दोष भी न लगेगा और रात में उसके नये स्थान में आहुति भी लगी हुई समझी जाएगी ।।१०।।

अग्न्यन्तरसंसर्गादौ प्रायश्चित्तम्

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

प्रातःकाल राख को हटाकर, गोबर से लीपकर, दोनों अरणियों पर अग्नियों को उठाकर लौटता है। फिर गार्हपत्य को मथकर आहवनीय को उद्धृत करके और आहवनीय पचन को दक्षिणी धिष्ण्या में लाकर अग्निपथिकृत् के लिए आठ कपालों का पुराडाश तैयार करे, इस विधि

पुरोडाशं निर्वपेत्तस्यावृत्ता एव सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयाद्वार्त्रघ्नावाज्यभागौ वि-
राजौ संयाज्येऽअथैते याज्यानुवाक्ये वेत्था हि वेधोऽअध्वनः पथश्च देवाञ्जसा
अग्ने यज्ञेषु सुक्रतवित्यथ याज्या देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवो-
ढुम् अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होता सोऽअध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयातीत्यग्निर्वै प-
थिकृत्पथामपिनेता स एवैनं यज्ञपथमपिनयत्येतदेव तत्र कर्म ॥१॥ तदाहुः ।
यस्याग्नयः सꣳसृज्येरन्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति स यदि परस्ताद्दहन्नभीयात्त-
द्विद्यात्परस्तान्मा शुक्रमागन्नुप मां देवाः प्राभूवञ्छ्रेयान्भविष्यामीति यद्युऽअस्य
हृदयं व्येव लिखेदग्नये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्तस्यावृत्ता एव स-
प्तदश सामिधेनीरनुब्रूयाद्वार्त्रघ्नावाज्यभागौ विराजौ संयाज्येऽअथैते याज्यानुवाक्ये
वि ते विष्वग्वातजूतासोऽअग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति तुविम्रक्षासो दिव्या
नवग्वा वनावनन्ति धृषता रुजन्त इत्यथ याज्या त्वामग्ने मानुषीरीडते विशो हो-
त्राविदं विविचिꣳ रत्नधातमम् गुहा सन्तꣳ सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसꣳ सु-
यजं घृतश्रियमित्यथो ह यो द्विषतो भ्रातृव्याद्व्याविवृत्सेत तत्काम एतया यजेत
वि हैवास्माद्वर्तत एतदेव तत्र कर्म ॥२॥ यद्वयमितो दहन्नभीयात् । तद्विद्यादभि
द्विषन्तं भ्रातृव्यं भविष्यामि श्रेयान्भविष्यामीति यद्युऽअस्य हृदयं व्येव लिखेदग्नये
संवर्गायाष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्तस्यावृत्ता एव सप्त° ऽअथैते याज्यानु-
वाक्ये परस्याऽअधि संवतोऽवराँ२॥ऽअभ्यातर यत्राहमस्मि ताँ२॥ऽअवेत्यथ या-
ज्या मा नोऽअस्मिन्महाधने परावर्भारभृद्यथा सं वर्गꣳ सꣳ रयिं जयेत्यथो ह
यो द्विषतो भ्रातृव्यात्संविवृक्षेत तत्काम एतया यजेत सꣳ हैवास्माद्वृङ्क्तेऽएतदेव
तत्र कर्म ॥३॥ तदाहुः । यस्य वैद्युतो दहेत्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरिति
तद्विद्यादुपरिष्टान्मा शुक्रमागन्नुप मां देवाः प्राभूवञ्छ्रेयान्भविष्यामीति यद्युऽअस्य
हृदयं व्येव लिखेदग्नयेऽप्सुमतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्तस्यावृत्ता एव सप्त°

से—सत्रह सामिधेनियों को पढ़े। वृत्र के मारनेवाले के लिए दो आज्य भागों को, दो विराट् संन्याज। याज्य और अनुवादक ये हैं—(अनुवाक)—"वेत्था हि वेधोऽध्वनः पथश्च देवाञ्जसा अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो" (ऋ० ६।१६।३)—"हे सुक्रतु अग्निदेव, बुद्धिमान्, तू वेग से यज्ञ के मार्गों को जानता है।" (याज्य) "आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्रवोढुम्। अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होता सो ऽ अध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति' (ऋ० १०।२।३)—"हम देवों के मार्ग में प्रविष्ट हुए हैं, जो हम कर सकते हैं उसको करने के लिए। विद्वान् अग्नि यज्ञ करे। वह होता हो। वह यज्ञों और ऋतुओं को निर्धारित करता है।" अग्नि पथिकृत् मार्ग का प्रदर्शक है, वह यज्ञ-पथ का प्रदर्शन करता है। यही कर्म है ॥१॥

इसपर पूछते हैं कि यदि किसी की अग्नियाँ मिल जावें (टकरा जावें) तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? यदि पीछे से अग्नि जलकर (दूसरी से मिले) तो समझना चाहिए कि 'परलोक से प्रकाश उसके पास आया है, देवताओं ने मेरी सहायता की है। मेरा प्रभुत्व बढ़ेगा।' यदि हृदय न माने तो 'अग्नि विविचि' के लिए आठ कपालों का पुरोडाश बनावे, इस विधि से—सत्रह सामिधेनियों को कहे, दो आज्यभाग वृत्र को मारनेवाले के लिए हैं। दो विराट् संयाज्य हैं। ये हैं याज्य और अनुवाक्य। अनुवाक्य—"वि ते विष्वग्वातजूतासो अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति। तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रूजन्तः"(ऋ०६।६।३)—"हे अग्नि, तेरी प्रकाशयुक्त चमकीली लौ चारों ओर चलती हैं। नौ गुने तेजवाली दिव्य शक्तियाँ वनों पर आधिपत्य प्राप्त करें और उनको बलपूर्वक जलावें।" याज्य—"त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचिं रत्नधातमम्। गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम्"(ऋ० ५।८।३)—"हे अग्नि! तुम आहुतियों को जाननेवाले, विवेकवाले, धनवान्, गूढ़, सबको दिखाई देनेवाले, बड़े शब्दवाले, अच्छे यज्ञवाले, घृतरूपी श्रीवाले की मनुष्य लोग स्तुति करते हैं।" यदि कोई अपने दुष्ट शत्रु से छुटकारा प्राप्त करना चाहे तो इस कामना से इस यज्ञ को करे। वह अवश्य ही उससे मुक्त हो जाएगा। यह कर्म है ॥२॥

यदि जलना इधर से ही हो तो समझे कि मैं अपने शत्रु को जीत लूँगा और गौरवशील हो जाऊँगा। यदि उसका हृदय न माने तो "अग्नि संवर्ग" के लिए आठ कपाल पुरोडाश बनावे। इस प्रकार—सत्रह सामिधेनियों को कहे। दो आज्यभाग वृत्र को मारनेवाले के लिए हैं। दो विराट् संयाज्य हैं। आज्य और अनुवाक्य ये हैं। अनुवाक्य—"परस्या ऽ अधि संवतोऽवराँ अभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ अव" (ऋ० ८।७५।१५)—"दूर से तू निकट आ जा। जहाँ मैं हूँ, वहाँ की रक्षा कर।" याज्य—"मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्ग्भारभृद् यथा। संवर्गं सं रयिं जय" (ऋ० ८।७५।१२)—"इस बड़े युद्ध में भारी बोझ उठानेवाले के समान हमको मत छोड़, धनों और सम्पत्ति को जीत।" यदि कोई अपने शत्रु को जीतना चाहे तो इस कामना से यज्ञ करे। वह शत्रु को जीत लेगा। यही कर्म है ॥३॥

प्रश्न होता है—'यदि किसी को अग्नि की बिजली गिरकर खराब कर दे तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त?' उसको समझना चाहिए कि ऊपर से प्रकाश आया है, देवों ने मेरी सहायता की है, मुझे प्रभुत्व प्राप्त होगा। यदि उसका हृदय न माने तो 'अग्नि अप्सुमत्' के लिए आठ कपालों का पुरोडाश बनावे, इस विधि से—सत्रह सामिधेनियाँ कहे। दो आज्यभाग

ऽअथैते याज्यानुवाक्येऽअप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भे सन्जायसे पुन-
रित्यथ याज्या गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने
गर्भोऽअपामसीति शान्तिमेवाभ्यामेतद्वदति यजमानस्य प्रजायै पशूनामहिꣳसाया
ऽएतदेव तत्र कर्म ॥४॥ तदाहुः । यस्याग्नयोऽमेध्यैरग्निभिः सꣳसृज्येरन्किं तत्र कर्म
का प्रायश्चित्तिरित्यग्नये शुचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्तस्यावृत्ता एव सत°
ऽअथैते याज्यानुवाक्येऽअग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः । शुची रो-
चतऽआहुत इत्यथ याज्योदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतीꣳष्य-
र्चय इति शान्तिमेवा° ॥५॥ तदाहुः । यस्याहवनीयमनुद्धृतमादित्योऽभ्यस्तमिया-
त्किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिरित्येते वै रश्मयो विश्वे देवास्तेऽस्मादपप्रयन्ति त-
दस्मै व्यृध्यते यस्माद्देवा अपप्रयन्ति तामनु व्यृद्धिं यश्च वेद यश्च न ताऽउभावा-
हतुरनुद्धृतमस्याभ्यस्तमगादिति तत्रेत्थं कुर्याद्धरितꣳ हिरण्यं दर्भे प्रबध्य पश्चाद्धर्तवै
ब्रूयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपत्यहर्वाऽएतदह्नो रूपं क्रियते पवित्रं दर्भाः
पवयत्येवैनं तदथेध्ममादीप्य प्राञ्चꣳ हर्तवै ब्रूयाद्ब्राह्मण आर्षेय उद्धरेद्ब्राह्मणो
वाऽआर्षेयः सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनं तद्देवताभिः समर्धयति तमुपसमाधाय प्र-
तिपरेत्य गार्हपत्यऽआज्यमधिश्रित्योद्वास्योत्पूयावेक्ष्य चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा स-
मिधमुपसंगृह्य प्राङुदाद्रवत्यथाहवनीये समिधमभ्याधाय दक्षिणं जान्वाच्य जुहोति
विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति स यथा ब्राह्मणमावसथवासिनं क्रुद्धं यन्तमुत्त्वेहृतो-
पमन्त्रयेतैवमेवैतद्विश्वान्देवानुपमन्त्रयते जानन्ति हैनमुप हैनमावर्तन्तऽएतदेव तत्र
कर्म ॥६॥ तदाहुः । यस्याहवनीयमनुद्धृतमादित्योऽभ्युदियात्किं तत्र कर्म का प्रा-
यश्चित्तिरित्येते वै रश्मयो विश्वे देवास्तेऽस्माद्दूषिवाꣳसोऽपप्रयन्ति तदस्मै व्यृध्यते
यस्माद्देवा अपप्रयन्ति तामनु व्यृद्धिं यश्च वेद यश्च न ताऽउभावाहतुरनुद्धृतमस्या-
भ्युदगादिति तत्रेत्थं कुर्याद्रजतꣳ हिरण्यं दर्भे प्रबध्य पुरस्ताद्धर्तवै ब्रूयात्तच्चन्द्रमसो

वृत्रघ्न के लिए हैं। दो विराट् संयाज्य हैं। याज्य और अनुवाक्य ये हैं। अनुवाक्य—"अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे संजायसे पुनः" (ऋ० ८।४३।९, यजु० १२।३६)—"हे अग्नि, जलों में तेरा घर है। तू ओषधियों से लिपटा है। उनके गर्भ में होकर फिर उत्पन्न होता है।" याज्य—"गर्भो ऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो ऽअपामसि" (यजु० १२।३७)—"तू ओषधियों का गर्भ है, वनस्पतियों का गर्भ है, सब भूतों का गर्भ है। हे अग्नि! तू जलों का गर्भ है।" उन दोनों की शान्ति के लिए यजमान की प्रजा तथा पशुओं की रक्षा के लिए ऐसा कहता है। यही कर्म है ॥४॥

एक और प्रश्न करते हैं कि यदि किसी की अग्नियाँ अपवित्र अग्नियों के संसर्ग में आ जावें तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? 'अग्नि शुचि' के लिए आठ कपालों का पुरोडाश बनावे। इस विधि से—सत्रह सामिधेनियाँ कहे। दो आज्यभाग वृत्रघ्न के लिए हैं। दो विराट् संयाज्य हैं। याज्य और अनुवाक्य ये हैं। अनुवाक्य—"अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः। शुची रोचत आहुतः" (ऋ० ८।४४।२१)—"शुद्ध व्रतवाला, शुद्ध बुद्धिवाला, शुद्ध ज्ञानवाला, आहुतिवाला अग्नि पवित्र चमकता है।" याज्य—"उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः" (ऋ० ८।४४।१७)—"हे अग्नि! तेरी पवित्र ज्वालायें चमकती हुई उठती हैं, तेरी प्रकाशयुक्त अर्चियाँ।" इस प्रकार दोनों अग्नियों की शान्ति के लिए यजमान की प्रजा तथा पशुओं की रक्षा के लिए ऐसा कहता है। यही कर्म है ॥५॥

एक और प्रश्न है—यदि जब तक किसी की आहवनीय को उद्धृत नहीं करने पाय तभी सूर्य अस्त हो जाय तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? ये सूर्य की किरणें विश्वेदेव हैं। वे उसके पास से चले जाते हैं। उसका अग्निहोत्र निष्फल हो जाता है, क्योंकि विश्वेदेव उसके पास से चले जाते हैं। उस असफलता के पीछे, चाहे वह जाने या न जाने, वे दोनों आहुतियाँ कहती हैं कि इसके आहवनीय के उद्धृत न होने पर भी सूर्य अस्त हो गया। इसके लिए ऐसा करे—दर्भ में सोने का टुकड़ा बाँधकर पीछे ले जावे, यह उसीका रूप है जो तपता है (अर्थात् सूर्य का)। चूँकि सूर्य दिन है, इसलिए यह भी दिन का रूप हो जाता है। दर्भ पवित्र करते हैं। इसलिए इससे इसको पवित्र करता है। अब कुछ लकड़ी जलाकर आहवनीय पर ले जावे। कोई आर्ष (ऋषि-सन्तान) ब्राह्मण उसे ले जाय, क्योंकि आर्ष ब्राह्मण सब देवताओं का प्रतिनिधि है। इस प्रकार उसको सब देवताओं द्वारा उस अग्नि का संवर्धन करता है। उसको आहवनीय में रखकर फिर लौटकर गार्हपत्य पर घी रखकर, उस पर तपाकर, उसे प्रकाश में देखकर, उसे उतारकर, चार चमचे घी लेकर, समिधा को लेकर, जल्दी से आगे बढ़ता है और आहवनीय अग्नि में समिधा को रखकर, दायाँ जानु झुकाकर आहुति देता है—'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।' जैसे यदि किसी के घर कोई ब्राह्मण ठहरा हो और कुपित हो जाय तो गृहस्थी उसे बैल-की-इच्छा करनेवाली गौ (सन्तान देने योग्य) को दान करके प्रसन्न करके लौटा लेता है। इसी प्रकार यह यजमान भी विश्वेदेवों को लौटाता है। वे इसको स्वीकार करते हैं और लौट आते हैं। यही कर्म है ॥६॥

एक और प्रश्न करते हैं—यदि जब तक किसी की आहवनीय उद्धृत न हो सके तभी सूर्य निकल आवे तो क्या कर्म है? क्या प्रायश्चित्त? ये किरणें विश्वेदेव हैं। यहाँ ठहरकर वे उस यजमान से चली जाती हैं और अग्निहोत्र असफल हो जाता है, क्योंकि विश्वेदेव उसके पास से चले जाते हैं। उस विफलता के पश्चात् दोनों आहुतियाँ, चाहे वह जाने या न जाने, कहती हैं कि इसकी आहवनीय उद्धृत न होने पाई कि सूर्य निकल आया। इसलिए ऐसा करे—चाँदी का टुकड़ा दर्भ से बाँधकर आगे को ले जावे। यह चन्द्रमा का रूप है। रात चन्द्रमा है। इस प्रकार रात का

रूपं क्रियते रात्रिर्वै चन्द्रमास्तद्रात्रे रूपं क्रियते पवित्रं दर्भाः पवयत्येवैनं तदथे
ध्ममादीप्यान्वस्वꣳ कृतवै ब्रूयाद्ब्राह्मण आर्षेय उद्धरेद्ब्राह्मणो वाऽआर्षेयः सर्वा
देवताः सर्वाभिरेवैनं तद्देवताभिः समर्धयति तमुपसमाधाय प्रतिपरेत्य गार्हपत्य
ऽआज्यमधिश्रित्योद्वास्योत्पूयावेक्ष्य यथागृहीतमाज्यं गृहीत्वा समिधमुपसंगृह्य प्रा-
ङुदाद्रवत्यथाहवनीये समिधमभ्याधाय दक्षिणं जान्वाच्य जुहोति विश्वेभ्यो देवे-
भ्यः स्वाहेति सोऽसावेव बन्धुर्न ह वै तत्र का चनार्तिर्न रिष्टिर्भवति यत्रैषा
प्रायश्चित्तिः क्रियतऽएतदेव तत्र कर्म ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥६ [४. ४.] ॥ चतुर्थो
ऽध्यायः [७८.] ॥ ॥

तदाहुः । यदेष दीर्घसत्त्र्यग्निहोत्रं जुह्वत्प्रवसन्म्रियेत जुहुयुरस्मा३इ ना३ऽइति
तद्धैके होतव्यं मन्यन्तऽआगन्तोरिति तदु तथा न कुर्यादतस्थानो वाऽएष तस्मै
यदेनꣳ शवदह्यायाऽइव जुहुयुर्यज्ञाय वाऽएष आहुतिभ्यस्तस्थानः स हैनममृष्य-
माणस्तृप्रꣳ सचते ॥१॥ अथ हैकऽआहुः । एवमेवान्वाहिता अहूयमानाः शयी-
रन्निति तदु तथा न कुर्यादतस्थानो वाऽएष तस्मै यदेनꣳ शवदह्यायाऽइवेन्धी-
रन्यज्ञाय वाऽएष आहुतिभ्यस्तस्थानः स हैनममृष्यमाणस्तृप्रꣳ सचते ॥२॥ अथ
हैकेऽरण्योः । अग्नी समारोह्य निदधति तमाहृते निर्मन्थन्ति तदु तथा न कुर्या-
दतस्थानो वाऽएष तस्मै यदेनꣳ शवदह्यायाऽइव निर्मन्थेयुर्यज्ञाय वाऽएष आ-
हुतिभ्यस्तस्थानः स हैनममृष्यमाणस्तृप्रꣳ सचते ॥३॥ इत्थमेव कुर्यात् । निवा-
न्यवत्सामेष्टवै ब्रूयात्तस्यै पयसा जुहुयादार्तं वाऽएतत्पयो यन्निवान्यवत्सायाऽआ-
र्तमेतदग्निहोत्रं यन्मृतस्य तदार्तेनैव तदार्तं निष्कृत्य श्रेयान्भवति ॥४॥ तदप्युप-
मास्ति । यद्वौ रथौ मृदितौ समागच्छेताꣳ स्यादेवान्यतरः स्यदायेति ॥५॥ तस्य वा
ऽएतस्याग्निहोत्रस्योपचारः । प्राचीनावीती दोहयति यज्ञोपवीती वै देवेभ्यो दो-
हयत्यथैवं पितृणाम् ॥६॥ नाङ्गारेष्वधिश्रयति । यदाङ्गारेष्वधिश्रयेद्देवत्रा कुर्याद्गार्ह-

रूप बनाते हैं। दर्भ पवित्र करने की चीज है। इससे पवित्र करता है। एक लकड़ी को लेकर जलावे और उस चाँदी के टुकड़े के पीछे ले जावे। इसको एक आर्ष ब्राह्मण ले जावे। आर्ष ब्राह्मण सब देवताओं का प्रतिनिधि है। इस प्रकार अग्नि को सब देवताओं द्वारा बढ़ाता है। उसको आहवनीय में रखकर, गार्हपत्य को लौटकर, उस पर घी रखकर, तपाकर, प्रकाश में देखकर, उठाकर, पहले के समान घी भरकर, समिधा लेकर, जल्दी से आगे बढ़ता है और आहवनीय पर लकड़ी रखकर दायाँ जानु झुकाकर आहुति देता है—'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।' इसका फल बताया जा चुका है। ऐसा करने से न कुछ दोष रहता है न अनिष्ट। यही प्रायश्चित्त है. यही कर्म ॥७॥

मृताग्निहोत्रनिरूपणम्

अध्याय ५—ब्राह्मण १

प्रश्न होता है कि यदि कोई दीर्घसत्री है जो नित्य अग्निहोत्र किया करता है, वह परदेस में मर गया, उसके लिए आहुति देवे या न देवे ? कुछ लोगों की राय है कि आहुति देनी चाहिए क्योंकि वे मान लेते हैं कि अभी वह आयेगा। ऐसा न करे। वह अग्नि शवदाह (लाश जलाने) के लिए अपने को अर्पण नहीं करता, परन्तु यज्ञ की आहुति के लिए अर्पण करती है। वह सहन न करके उसके पास ठहरती है ॥१॥

कुछ की राय है कि अग्नियाँ उसी प्रकार जलती रहनी चाहिएँ। उनमें आहुतियाँ न दी जायँ। परन्तु ऐसा भी न करे, क्योंकि यह अग्नि अपने को शवदाह के लिए अर्पण नहीं करता, किन्तु यज्ञ और आहुतियों के लिए। और वह सहन न करके उसके पास ठहरता है ॥२॥

कुछ लोग दोनों अग्नियों को अरणियों पर उठाकर रख देते हैं और जब वह लाया जाता है तब अग्नि को मथते हैं। ऐसा न करे, क्योंकि यह अग्नि शवदाह के लिए अपने को अर्पण नहीं करता, किन्तु यज्ञ और आहुतियों के लिए। वह तो सहन न करके उसके पास ठहरता है ॥३॥

ऐसा करे—ऐसी गाय मँगावे जो दूसरे के बछड़े को पिलाती है, और उसके दूध की आहुति दे। जो गाय दूसरे के बछड़े को पिलाती है, उसका दूध दूषित है, और मृत पुरुष की अग्नि भी दूषित है। दूषित से दूषित को दूर करके यशस्वी हो जाता है ॥४॥

इसकी एक उपमा है। यदि दो रथ टूटे हुए जोड़े जायँ तो उनसे एक पूरा रथ बनना संभव है ॥५॥

अग्निहोत्र का यह उपचार है—प्राचीनावीती होकर दुहे। यज्ञोपवीती होकर देवों के लिए दुहा जाता है, इस प्रकार पितरों के लिए। (प्राचीनावीती उसे कहते हैं कि जनेऊ सीधे कन्धे पर हो और बाईं बगल में। यज्ञोपवीती वह है कि जनेऊ बायें कन्धे पर और सीधी बगल में हो।) ॥६॥

वह दूध को अंगारों पर नहीं पकाता। अंगारों पर पकाने से तो देवों के योग्य होता है।

पत्याद्गृह्णं भस्म दक्षिणा निरूह्य तस्मिन्नेनदधिश्रयति पितृदेवत्यमेवैनत्तत्करोति
॥७॥ नावज्योतयति नापः प्रत्यानयति । यद्धावज्योतयेद्यदपः प्रत्यानयेद्देवत्रा
कुर्यान्न त्रिः प्रतिष्ठापꣳ हरति यत्त्रिः प्रतिष्ठापꣳ हरेद्देवत्रा कुर्यात्सकृदेव निक-
र्षन्हरति पितृदेवत्यमेवैनत्तत्करोति ॥८॥ नोन्नेष्यामीत्याह । न चतुरुन्नयति य-
द्धोन्नेष्यामीति ब्रूयाद्यच्चतुरुन्नयेद्देवत्रा कुर्यात्सकृदेव तूष्णीं न्यक्पर्यस्यति पितृदे-
वत्यमेवैनत्तत्करोति ॥९॥ नोपरिष्टात्समिधमभ्यस्य हरति । यद्धोपरिष्टात्समिध-
मभ्यस्य हरेद्देवत्रा कुर्यादधस्तादुपास्य हरति पितृदेव॰ ॥१०॥ नोत्तरेण गार्हप-
त्यमेति । यद्धोत्तरेण गार्हपत्यमियाद्देवत्रा कुर्याद्दक्षिणेन गार्हपत्यमेति पितृदेव॰
॥११॥ अथ यान्यमून्युदीचीनाग्राणि तृणानि भवन्ति । दक्षिणाग्राणि तानि क-
रोति पितृदेवत्यमेवैनत्तत्करोत्यथाहवनीये समिधमभ्याधाय सव्यं जान्वाच्य स-
कृदेव तूष्णीं न्यक्पर्यस्यति पितृदेव॰ नोदिङ्गयति नोपमृष्टे न प्राश्नाति नोद्धरति
पितृदेव॰ ॥१२॥ तदाहुः । यदेष दीर्घसत्त्र्यग्निहोत्रं जुह्वत्प्रवसन्म्रियेत कथमेनम-
ग्निभिः कुर्युरिति तꣳ हैके दग्धाद्धरन्ति तमाहृतमग्निभिः संप्रापयन्ति तदु तथा न
कुर्याद्यथान्यस्यां योनौ रेतः सिक्त मटन्यद्या प्रजिजनयिषेत्तादृक्तदस्थीन्येतान्याहृत्य
कृष्णाजिने न्युप्य पुरुषविधि विधायोर्णाभिः प्रच्छाद्याज्येनाभिघार्य तमग्निभिः समुपो-
षेत्तदेनꣳ स्वाद्योनेः प्रजनयतीति ॥१३॥ तꣳ हैके ग्रामाग्निना दहन्ति । तदु
तथा न कुर्यादेष वै विश्वात्क्रव्यादग्निः स हैनमीश्वरः सपुत्रꣳ सपशुꣳ समत्तोः
॥१४॥ अथ हैके प्रदव्येन दहन्ति । तदु तथा न कुर्यादेष वाऽअशान्तोऽग्निः स
हैनमीश्वरः सपुत्रꣳ सपशुं प्रदग्धोः ॥१५॥ अथ हैकऽउल्मुक्येन दहन्ति । तदु
तथा न कुर्यादेष वै रुद्रियोऽग्निः स हैनमीश्वरः सपुत्रꣳ सपशुमभिमन्तोः ॥१६॥
अथ हैकेऽन्तरेणाग्नीञ्श्चितिं चित्वा । तमग्निभिः समुपोषन्त्येतद्वै यजमानस्यायतन
यदन्तरेणाग्नीनिति तदु तथा न कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयान्मध्ये न्वाऽअयं ग्रामस्या-

गार्हपत्य से गरम राख लेकर दक्षिण की ओर रख ले, उसी पर पकावे, इस प्रकार पितरों के योग्य हो जाता है ॥७॥

न प्रकाश से देखता है, न पानी डालता है। यदि प्रकाश से देखे या पानी डाले तो देवों के योग्य हो जाय। न तीन बार रखकर निकालता है। तीन बार रखकर निकाले तो देवों के योग्य हो जाय। एक बार ही उतारकर ले आता है। इस प्रकार पितरों के योग्य बना लेता है ॥८॥

'मैं उँडेलता हूँ' ऐसा नहीं कहता। न चार बार में उँडेलता है। यदि 'मैं उँडेलता हूँ' ऐसा कहे या चार बार में उँडेले तो देवों के योग्य बनावे। इसलिए चुपके से एक बार ही उँडेल लेता है। इस प्रकार पितरों के योग्य बनाता है ॥९॥

समिधा को ऊपर करके उसको आहवनीय तक नहीं ले जाता। यदि उसके ऊपर समिधा करके ले जावे तो देवों के योग्य बना दे। वह नीचे को करके ले जाता है। इस प्रकार पितरों के योग्य बनाता है ॥१०॥

गार्हपत्य के उत्तर की ओर होकर नहीं जाता। यदि गार्हपत्य के ऊपर की ओर होकर जाय तो देवों के योग्य हो जाय। दक्षिण की ओर होकर जाता है। इस प्रकार इसको पितरों के योग्य बनाता है ॥११॥

जिन तृणों के सिरे उत्तर की ओर थे उनको दक्षिण की ओर कर देता है, इस प्रकार उनको पितर-सम्बन्धी कर देता है। आहवनीय पर समिधा रखकर बायाँ जानु झुकाकर चुपके से स्रुच को अग्नि पर लौट देता है। इस प्रकार पितरों के योग्य बनाता है। वह न तो ऊपर को हिलाता है न पोंछता है। न बचे दूध को पीता है न फेंकता है। इस प्रकार पितरों के योग्य बनाता है ॥१२॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि यदि दीर्घसत्री जो सदा अग्निहोत्र किया करता है, परदेस में मर जाय तो उसकी अग्नियों को किस प्रकार सम्पादन करें? कुछ लोग दाह करके उसकी हड्डियों को ले आते हैं और अग्नियों को सुँघा देते हैं। ऐसा न करे। यह तो ऐसा होगा जैसे एक योनि में वीर्य का सिंचन करे और दूसरी योनि से बच्चा जनवावे। जब हड्डियाँ घर आ जायँ तो कृष्ण मृगचर्म पर डाले और मनुष्य की-सी आहुति बनावे। उस पर ऊन लगाकर घी डालकर जला दे। इस प्रकार वह अग्नियों से मिल जायगा। इस प्रकार वह उसको उसीकी (माता की) योनि से जनवाता है ॥१३॥

कुछ लोग इस (शव) को जो गाँव में अग्नि मिले उसमें जला देते हैं। ऐसा न करे, क्योंकि यह अग्नि तो सभी कच्ची चीज को खाती है। यह तो उसके पुत्र और पशु को खाने में समर्थ है ॥१४॥

कुछ लोग वन की अग्नि में जलाते हैं। ऐसा न करे, यह अग्नि अशान्त होती है। यह उसको पुत्र और पशुसहित जलाने में समर्थ है ॥१५॥

कुछ लोग उल्मुक (जलती हुई लकड़ी) की आग से जलाते हैं। ऐसा न करे, क्योंकि यह अग्नि रुद्र की है। यह उसको पुत्र तथा पशुसहित नष्ट करने में समर्थ है ॥१६॥

कुछ लोग तीनों अग्नियों के बीच में चिता चिनकर जलाते हैं और समझते हैं कि हमने इसको तीनों अग्नियों से मिला दिया, क्योंकि तीनों अग्नियों के बीच में यजमान का घर है। ऐसा न करे, क्योंकि यदि कोई कहने लगे कि 'इसने तो ग्राम के बीच में ही काट (विभाग) कर दिया

शासनमजीजनत द्विप्रेऽस्याशासनं जनिष्यते प्रियतमꣳ होत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात् ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥७ [५. १.] ॥ ॥

अथ ह स्माह नाको मौद्गल्यः । मरिष्यन्तं चेद्यजमानं मन्येत यत्रैवास्माऽआशसनं जोषितꣳ स्यात्तदरण्योरग्नी समारोह्य निर्मथ्य जुह्वदसेत्स यदास्माल्लोकाद्यजमानः प्रेयात् ॥१॥ अथैनमन्तरेणाग्नीश्चितिं चिता । तमग्निभिः समुपोषेदिति तदु तथा न कुर्यादतस्थानो वाऽएष तस्मै यदेनꣳ शवदह्यायाऽइव जुहुयुर्यज्ञाय वाऽएष आहुतिभ्यस्तस्थानः स हैनममृष्यमाणास्तृप्रꣳ सचन्ते ॥२॥ इत्थमेव कुर्यात् । तिस्र एव स्थालीरेष्टवै ब्रूयात्तासु गोमयानि च शुम्बलानि वावधाय नाना त्रिष्वग्निषु प्रवृञ्ज्यात्ते ये ततः संतापादग्नयो जायेरंस्तैरेनं दहेयुस्तथाह तेरेव दग्धो भवति नो प्रत्यक्षमिव ॥३॥ तस्मादप्येतदृषिणाभ्यनूक्तम् । यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्त्विति यथऽर्क्तथा ब्राह्मणम् ॥४॥ अथैनं विपुरीषं कृत्वा । अस्यां पुरीषं प्रतिष्ठापयति पुरीषं वाऽइयं तत्पुरीषऽएवैतत्पुरीषं दधाति या ह वाऽअस्यैषा वृकला सपुरीषा तस्यै ह विदग्धायै सृगालः सम्भवति नेत्सृगालः सम्भवदिति तदु तथा न कुर्यात्क्षोधुका हास्य प्रजा भवति तमन्तरतः प्रक्षाल्याज्येनान्वनक्ति मेध्यमेवैनत्तत्करोति ॥५॥ अथास्य सप्तसु प्राणायतनेषु । सप्त हिरण्यशकलान्प्रत्यस्यति ज्योतिर्वाऽअमृतꣳ हिरण्यं ज्योतिरेवास्मिंस्तदमृतं दधाति ॥६॥ अथैनमन्तरेणाग्नीश्चितिं चित्वा । कृष्णाजिनमुत्तरलोम प्राचीनग्रीवं प्रस्तीर्य तस्मिन्नेनमुत्तानं निपाद्य जुहूं घृतेन पूर्णां दक्षिणे पाणावादधाति सव्य ऽउपभृतमुरसि ध्रुवां मुखेऽग्निहोत्रहवणीं नासिकयोः स्रुवौ कर्णयोः प्राशित्रहरणे शीर्षश्चमसं प्रणीताप्रणयनं पार्श्वयोः शूर्पेऽउदरे पात्रीꣳ समवत्तधानीं पृषदाज्यवतीꣳ शिश्नस्यान्ते शम्यामाण्डयोरन्ते वृषारवावन्वगुलूखलं च मुसलं चान्तरे-

तो उसका काट हो जाएगा, वह अपने प्रियतम के वियोग में रोवेगा' तो ऐसा ही हो जायगा ॥१७॥

और्ध्वदेहिकनिरूपणम्

अध्याय ५—ब्राह्मण २

नाक मौद्गल्य ने कहा था कि यदि उसे विश्वास हो जाय कि यजमान मर रहा है तो जहाँ उसका आशसन (काटना ?) करना हो, वहाँ अरणियों पर अग्नि को उठाकर, फिर अग्नि मथकर अग्निहोत्र करता रहे। यदि यजमान इस लोक से चल बसे तो—॥१॥

अग्नियों के बीच में चिता चिनकर उसको अग्नियों से संयुक्त कर देवे। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि ये अग्नियाँ अपने को शवदाह के लिए अर्पण नहीं करतीं, किन्तु यज्ञ के लिए अर्पण करती हैं। वे सहन न करती हुई ठहरी रहती हैं ॥२॥

ऐसा करे—तीन हाँडियाँ मँगावे, उनमें सूखा गोबर या भूसा भरे, और तीनों अग्नियों पर अलग-अलग रखकर उनको जलावे। जो अग्नियाँ बनें उनमें उसको जलावे। इस प्रकार वह जल जायगा, प्रत्यक्ष न सही ॥३॥

इसीलिए वेद का कहना है—"यो ऽ अग्निरग्नेरध्यजायत ऽ शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि। येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु" (यजु० १३।४५)—"जो अग्नि अग्नि से उत्पन्न हुई, पृथिवी के शोक से या द्यौलोक के, जिससे विश्वकर्मा ने प्रजा को उत्पन्न किया, हे अग्नि ! तेरा क्रोध उसको बचा दे।" जैसी ऋचा वैसा उसका ब्राह्मण (व्याख्या) ॥४॥

पहले उसको मलरहित करता है। मल को पृथिवी में रखता है। यह पृथिवी पुरीष या मल है। इस प्रकार मल को मल में स्थापित करता है। यदि उसकी (वृकला) अंतड़ी मलसहित जले तो उससे शृगाल उत्पन्न हो जाय। इसलिए वह मल निकाल देता है कि कहीं शृगाल न उत्पन्न हो जाय। परन्तु ऐसा न करे। नहीं तो उसकी सन्तान भूखों मर जाएगी। उसको भीतर से साफ करके घी लगा देता है। इस प्रकार इसको मेध्य कर देता है ॥५॥

उसके सात प्रारम्भ-स्थानों में सात सोने के टुकड़े रख देता है। सोना ज्योति या अमृत है। इस प्रकार उसमें अमृत रखता है ॥६॥

अब उसकी अग्नियों के बीच में चिता बनाकर कृष्ण मृगचर्म को, जिसके बाल ऊपर को हों और गर्दन पूर्व को हो, बिछाकर उस पर लिटा देता है मुख ऊपर की ओर करके। जुहू को घी से भरकर दाहिनी ओर रखता है, उपभृत् को बाईं ओर, ध्रुवा को छाती पर, अग्निहोत्र-चमचे को मुख में, दोनों स्रुवों को नाक के छेदों में, दोनों प्राशित्रहरण (दो पात्रविशेष जिनमें ब्रह्मा का आज्यभाग रक्खा जाता है) को दोनों नाकों में, प्रणीताप्रणयन चमसे को सिर में, दो सूपों को बगलों में, समवत्तधावी पात्री को जिसमें घी भरा हो उदर में, शम्या को शिश्न के अन्त में, दो हथोड़ियों को अण्डकोषों के पास, और उलूखल और मूसल को उनके पीछे, जाँघों के बीच में अन्य

णोत्तरेऽन्यानि यज्ञपात्राणि दक्षिणे पाणौ स्फ्यम् ॥७॥ स एष यज्ञायुधी यजमानः । यथा बिभ्यदामोषमतीयादेवमेव योऽस्य स्वर्गे लोको जितो भवति तमभ्यत्येति तमेते संताप्या अग्नयो यथा पुत्राः पितरं प्रोषुषमागतꣳ शिवमुपस्पृशन्त्येवꣳ शिवꣳ हैवैतमुपस्पृशन्ति प्र हैवैनं कल्पयन्ति ॥८॥ तं यदि गार्हपत्यः पूर्वः प्राप्नुयात् । तद्विद्यात्प्रतिष्ठ एनमग्निः पूर्वः प्रापत्प्रतिष्ठास्यति प्रत्येव तेऽस्मिंलोके स्थास्यन्ति येऽस्मात्प्रत्यञ्च इति ॥९॥ अथ यद्याहवनीयः । तद्विद्यान्मुख्य एनमग्निः पूर्वः प्रापन्मुखतो लोकानजैषीन्मुखमेव तेऽस्मिंल्लोके भविष्यन्ति ये ऽस्मात्प्रत्यञ्च इति ॥१०॥ अथ यद्यन्वाहार्यपचनः । तद्विद्यादन्नाद एनमग्निः पूर्वः प्रापदन्नमत्स्यत्यन्नमेव तेऽस्मिंल्लोकेऽत्स्यन्ति येऽस्मात्प्रत्यञ्च इति ॥११॥ अथ यदि सर्वे सकृत् । तद्विद्यात्कल्याणं लोकमजैषीदित्येतान्यस्मिन्विज्ञानानि ॥१२॥ तां वाऽएताम् । यजमानात्माहुतिमन्ततो जुहोति स योऽस्य स्वर्गे लोको जितो भवति तत आहुतिमयोऽमृतः सम्भवति ॥१३॥ अथ यान्यश्ममयानि च मृन्मयानि च भवन्ति । तानि ब्राह्मणाय दद्याद्बवोढहमु ह तं मन्यन्ते यस्तानि प्रतिगृह्णात्यप एवैनान्यभ्यवहरेयुरापो वाऽअस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनमप्स्वेव प्रतिष्ठापयति ॥१४॥ अथैतामाहुतिं जुहोति । पुत्रो वा भ्राता वा यो वान्यो ब्राह्मणः स्यादस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्यनपेक्षमेत्याप उपस्पृशन्ति ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥८ [५. २.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१५ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [७१.] ॥ ॥

सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः । तस्यैतास्तन्वो या एता देवता या एता आहुतीर्जुहोति ॥१॥ स यद्यज्ञस्यार्छेत् । यां तत्प्रति देवतां मन्येत तामनुसमीक्ष्य जुहुयाद्यदि दीक्षोपसत्स्वाहवनीये यदि प्रसुतऽआग्नीध्रे वि वाऽएतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद्ध्वलति सा यैव तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिषज्यति

यज्ञपात्र, दाहिने हाथ में स्फ्या ॥७॥

इस प्रकार यज्ञपात्रों से सुसज्जित होकर यजमान, दूषित चीज़ों से भय करता हुआ उस स्वर्गलोक को जाता है, जिसको उसने प्राप्त किया है। और ये जली हुई अग्नियाँ उसको इस प्रकार प्रेम से छूती हैं जैसे किसी परदेस से लौटते हुए बाप को उसके पुत्र, और उसके लिए सब सामग्री तैयार रखती हैं ॥८॥

यदि गार्हपत्य अग्नि पहले पहुँचे तो जानना चाहिए कि यह अग्नि प्रतिष्ठित होकर उसके लिए पहले पहुँच गई है, अब वह प्रतिष्ठित हो जायगा। अन्य अग्नियाँ इस लोक में उसके पीछे स्थापित होवेंगी ॥९॥

यदि आहवनीय पहले पकड़े तो समझे कि सबसे अगली अग्नि उसको पहले मिल गई, वह परलोक जीतने में अगुआ रहा और जो उसके पीछे रह गई, वे इस लोक में प्रतिष्ठित रहेंगी ॥१०॥

यदि अन्वाहार्यपचन पहले पहुँचे तो समझना चाहिए कि अन्नाद (अन्न खानेवाली) अग्नि पहले पहुँच गई। वह अन्न खायेगा और उसके अनुयायी भी इस संसार में खायेंगे (अर्थात् भूखों नहीं मरेंगे) ॥११॥

यदि वे सब एकसाथ पहुँचें तो समझना चाहिए कि उसने कल्याण-लोक को जीत लिया। इस सम्बन्ध में यह विज्ञान अर्थात् भेद है (अर्थात् मरनेवाले के भाग्य की पहचान उन अग्नियों की लपटों से इस प्रकार करनी चाहिए) ॥१२॥

यजमान इस शरीर की आहुति को सबसे अन्त में देता है। उसने जो स्वर्गलोक जीता होता है, वह आहुति का रूप धारण करके अमर हो जाता है ॥१३॥

उसके जो पत्थर या मिट्टी के यज्ञपात्र हों उन्हें ब्राह्मण को दे देवे। परन्तु ऐसे पात्रों को लेनेवाला ब्राह्मण 'मुर्दा ढोनेवाला' (शवोद्वह) माना जाता है। या इनको जलों में फेंक दे क्योंकि जल इस सब (संसार) की प्रतिष्ठा हैं। इस प्रकार वह उसको जलों में स्थापित कर देगा ॥१४॥

इस आहुति को या पुत्र दे या भाई या कोई और ब्राह्मण, इस मंत्र से—"अस्मात् त्वं अधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा" (यजु० ३५।२२)—"हे अग्नि, तू उसी में से उत्पन्न हुई है। यह फिर तुझमें से उत्पन्न हो स्वर्गलोक के लिए, स्वाहा।" लौटकर देखते नहीं। चलकर जल का स्पर्श करते हैं ॥१५॥

ज्योतिष्टोमप्रायश्चित्तम्

अध्याय ६—ब्राह्मण १

यज्ञ प्रजापति राजा सोम है और जो देवता हैं, जिनके लिए आहुतियाँ दी जाती हैं, वे उसका रूप हैं ॥१॥

यदि यज्ञ के किसी भाग में त्रुटि रह जाय तो जो उस भाग का देवता है उसी को दृष्टि में रखकर आहुति देनी चाहिए। यदि दीक्षा या उपसद के समय की त्रुटि हो तो आहुति आहवनीय में दी जाएगी और यदि सोम निचोड़ने के समय की हो तो अग्नीध्र में। जब यज्ञ में कोई त्रुटि हो जाती है तो मानो यज्ञ का वह भाग टूट जाता है। जो उस भाग का देवता होता है उसी के

तया देवतया यज्ञं प्रतिसंदधाति ॥२॥ स यद्येनं मनसाभिध्यातः । यज्ञो नोपनमेत्परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात्परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हतꣳ हꣳ वैनं यज्ञो नमति ॥३॥ अथ यद्येनं वाचाभिव्याहृतः । यज्ञो नोपनमेत्प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात्प्रजापतिर्हि स तर्हि भवत्यप पा॰ ॥४॥ अथ यस्य राजानमह्वैवा । नाहरन्त एयुरन्धत्ते स्वाहेति जुहुयादन्धो हि स तर्हि भ॰ ॥५॥ अथ यदि स्नातः । किंचिदापद्येत सवित्रे स्वाहेति जुहुयात्सविता हि स तर्हि भ॰ ॥६॥ अथ यदि दीक्षासु । किंचिदापद्येत विश्वकर्मणे स्वाहेति जुहुयाद्विश्वकर्मा हि स तर्हि भ॰ ॥७॥ अथ यदि सोमक्रयण्याम् । किंचिदापद्येत पूष्णे स्वाहेति जुहुयात्पूषा हि स तर्हि भ॰ ॥८॥ अथ यदि क्रयायोपोत्थितः । किंचिदापद्येतेन्द्राय च मरुद्भ्यश्च स्वाहेति जुहुयादिन्द्रश्च हि स तर्हि मरुतश्च भ॰ ॥९॥ अथ यदि पण्यमानः । किंचिदापद्येतासुराय स्वाहेति जुहुयादसुरो हि स तर्हि भ॰ ॥१०॥ अथ यदि क्रीतः । किंचिदापद्येत मित्राय स्वाहेति जुहुयान्मित्रो हि स तर्हि भ॰ ॥११॥ अथ यद्यूरावासन्नः । किंचिदापद्येत विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति जुहुयाद्विष्णुर्हि स तर्हि शिपिविष्टो भ॰ ॥१२॥ अथ यदि पर्युह्यमाणः । किंचिदापद्येत विष्णवे नरंधिषाय स्वाहेति जुहुयाद्विष्णुर्हि स तर्हि नरंधिषो भ॰ ॥१३॥ अथ यद्यागतः । किंचिदापद्येत सोमाय स्वाहेति जुहुयात्सोमो हि स तर्हि भ॰ ॥१४॥ अथ यद्यासन्द्यामासन्नः । किंचिदापद्येत वरुणाय स्वाहेति जुहुयाद्वरुणो हि स तर्हि भ॰ ॥१५॥ अथ यद्याग्नीध्रगतः । किंचिदापद्येताग्नये स्वाहेति जुहुयादग्निर्हि स तर्हि भ॰ ॥१६॥ अथ यदि हविर्धानगतः । किंचिदापद्येतेन्द्राय स्वाहेति जुहुयादिन्द्रो हि स तर्हि भ॰ ॥१७॥ अथ यद्युपावह्रियमाणः । किंचिदापद्येताथर्वणे स्वाहेति जुहुयादथर्वा हि स तर्हि भ॰ ॥१८॥ अथ यद्यꣳशुषु न्युप्तः । किंचिदापद्येत विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयाद्विश्वे हि स तर्हि देवा भ॰ ॥१९॥ अथ यद्याप्याय्यमानः । किंचि-

द्वारा उस भाग की चिकित्सा होती है। उसी के द्वारा यज्ञ पूरा होता है ॥२॥

यदि मन में संकल्प किया हुआ यज्ञ किसी कारण न हो सके तो 'परमेष्ठिने स्वाहा' से एक आहुति दे। यह (सोम) इस समय परमेष्ठी है। यह बुराई को दूर कर देता है और यज्ञ को अनुकूल कर देता है ॥३॥

यदि वाणी से बोला हुआ यज्ञ किसी कारण से न हो सके तो 'प्रजापतये स्वाहा' से एक आहुति देवे, क्योंकि वह सोम इस समय प्रजापति है; यह बुराई को दूर कर देता है और यज्ञ को अनुकूल बना देता है ॥४॥

यदि सोम राजा को ढूँढने जावें और न ला सकें तो 'अन्धसे स्वाहा' से आहूति दे। उस समय वह "अन्ध"(बूटी) है, वह बुराई को दूर कर देता है और यज्ञ को अनुकूल बना देता है ॥५॥

यदि सोम मिल तो जाय, परन्तु कोई और बाधा निकल आय तो 'सवित्रे स्वाहा' की आहुति दे। वह इस समय सविता है, वह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बनाता है ॥६॥

यदि दीक्षाओं के समय सोम पर कोई विपत्ति आ जाय तो 'विश्वकर्मणे स्वाहा' की आहुति दे। उस समय सोम विश्वकर्मा है। वह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बना देता है ॥७॥

यदि सोम के बदले में जो गाय दी जाती है, उस सम्बन्ध में कोई आपत्ति हो जाय तो 'पूष्णे स्वाहा' की आहुति दे, क्योंकि वह इस समय 'पूषा' है। यह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बना देता है ॥८॥

यदि जब सोम बेचने के लिए लाया जाता है, उस समय कुछ दोष हो जाय तो 'इन्द्राय च मरुद्भ्यश्च स्वाहा' की आहुति दे, क्योंकि इस समय वह इन्द्र और मरुद् है। वह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बना देता है ॥९॥

यदि मोल-तोल करते समय सोम पर विपत्ति आवे तो 'असुराय स्वाहा' की आहुति देवे, क्योंकि यह इस समय असुर है। यह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बना देता है ॥१०॥

यदि मोल लेने पर कुछ विपत्ति आ जाय तो 'मित्राय स्वाहा' की आहुति दे देवे। इस समय वह मित्र है। वह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बनाता है ॥११॥

यदि यजमान की गोद में रखते समय कुछ आपत्ति आ जाय तो 'विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा' से आहुति दे। इस समय वह विष्णु शिपिविष्ट है। वह बुराई को दूर करता है और यज्ञ को अनुकूल बनाता है ॥१२॥

जब सोम को गाड़ी में ले-जा रहे हों, उस समय कोई आपत्ति आ जाय तो 'विष्णवे नरंधिषाय' से आहुति दे। इस समय वह विष्णु नरंधिष है...इत्यादि ॥१३॥

जब सोम आ गया हो उस समय आपत्ति आवे तो 'सोमाय स्वाहा' की आहुति दे। उस समय वह सोम है...इत्यादि ॥१४॥

जब सिंहासन पर सोम को बिठाते समय कोई विपत्ति आवे तो 'वरुणाय स्वाहा' से आहुति दे। उस समय वह वरुण है...इत्यादि ॥१५॥

अग्नीध्र में ठहरते समय उस पर कोई विपत्ति आवे तो 'अग्नये स्वाहा' की आहुति दे। उस समय वह अग्नि है...इत्यादि ॥१६॥

यदि सोम हविर्धान में आवे और उस समय उस पर कोई विपत्ति आवे तो 'इन्द्राय स्वाहा' की आहुति दे। उस समय वह इन्द्र है...इत्यादि ॥१७॥

यदि गाड़ी में उतारते समय कोई आपत्ति आ जाय तो 'अथर्वणे स्वाहा' की आहुति दे। वह उस समय अथर्वा है...इत्यादि ॥१८॥

यदि टुकड़े करके सिल पर डालते समय कोई विपत्ति आ जाय तो 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' की आहुति देवे। वह उस समय विश्वेदेवा है...इत्यादि ॥१९॥

जब उसको भिगोते समय कोई आपत्ति आ जाय तो—

दापद्येत विष्णवऽआप्रीतपाय स्वाहेति जुहुयाद्विष्णुर्हि स तर्ह्याप्रीतपा भ० ॥२०॥ अथ यद्यभिषूयमाणः । किंचिदापद्येत यमाय स्वाहेति जुहुयाद्यमो हि स तर्हि भ० ॥२१॥ अथ यदि सम्भ्रियमाणः । किंचिदापद्येत विष्णवे स्वाहेति जुहुयाद्विष्णुर्हि स तर्हि भ० ॥२२॥ अथ यदि पूयमानः किंचिदापद्येत वायवे स्वाहेति जुहुयाद्वायुर्हि स तर्हि भ० ॥२३॥ अथ यदि पूतः । किंचिदापद्येत शुक्राय स्वाहेति जुहुयाच्छुक्रो हि स तर्हि भ० ॥२४॥ अथ यदि क्षीरश्रीः । किंचिदापद्येत शुक्राय स्वाहेति जुहुयाच्छुक्रो हि स तर्हि भ० ॥२५॥ अथ यदि सक्तुश्रीः । किंचिदापद्येत मन्थिने स्वाहेति जुहुयान्मन्थी हि स तर्हि भ० ॥२६॥ अथ यदि चमसेषून्नीतः । किंचिदापद्येत विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयाद्विश्वे हि स तर्हि देवा भ० ॥२७॥ अथ यदि होमायोद्यतः । किंचिदापद्येतासवे स्वाहेति जुहुयादसुर्हि स तर्हि भ ॥२८॥ अथ यदि हूयमानः । किंचिदापद्येत रुद्राय स्वाहेति जुहुयाद्रुद्रो हि स तर्हि भ० ॥२९॥ अथ यद्यभ्यावृत्तः । किंचिदापद्येत वाताय स्वाहेति जुहुयाद्वातो हि स तर्हि भ० ॥३०॥ अथ यदि प्रतिख्यातः । किंचिदापद्येत नृचक्षसे स्वाहेति जुहुयान्नृचक्षा हि स तर्हि भ० ॥३१॥ अथ यदि भक्ष्यमाणः । किंचिदापद्येत भक्षाय स्वाहेति जुहुयाद्भक्षो हि स तर्हि भ० ॥३२॥ अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः । किंचिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्पितरो हि स तर्हि नाराशꣳसा भ० ॥३३॥ अथ यद्यवभृथायोद्यतः । किंचिदापद्येत सिन्धवे स्वाहेति जुहुयात्सिन्धुर्हि स तर्हि भ० ॥३४॥ अथ यद्यभ्यवह्रियमाणः । किंचिदापद्येत समुद्राय स्वाहेति जुहुयात्समुद्रो हि स तर्हि भ० ॥३५॥ ॥ शतम् ६२०० ॥ ॥ अथ यदि प्रप्लुतः । किंचिदापद्येत सलिलाय स्वाहेति जुहुयात्सलिलो हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हतऽउपैनं यज्ञो नमति ॥३६॥ ता वाऽएताः । चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोति त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳश एतद्व सर्वैर्देवैर्यज्ञं भिषज्यति

'विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहा' की आहुति देवे। वह उस समय "विष्णु आप्रीतप" है··· इत्यादि ॥२०॥

जब पीसते समय कोई विपत्ति आ जाय तो 'यमाय स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह यम है···इत्यादि ॥२१॥

यदि समेटते समय कोई आपत्ति आवे तो 'विष्णवे स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह विष्णु है···इत्यादि ॥२२॥

यदि छानते समय कोई आपत्ति आवे तो 'वायवे स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय यह वायु है···इत्यादि ॥२३॥

छान चुकने पर यदि कोई आपत्ति आवे तो 'शुक्राय स्वाहा' की आहुति देवे। वह उस समय शुक्र है···इत्यादि ॥२४॥

जब दूध मिलाते समय कोई आपत्ति आवे तो 'शुक्राय स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह शुक्र है···इत्यादि ॥२५॥

यदि सत्तू मिलाते समय कोई विपत्ति आवे तो 'मन्थिने स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह 'मन्थी' है···इत्यादि ॥२६॥

जब चमचों में भरते समय कोई आपत्ति आवे तो 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह 'विश्वेदेवा' है···इत्यादि ॥२७॥

जब होम के लिए उद्यत होते समय कोई आपत्ति आवे तो 'आसवे स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह आसव है···इत्यादि ॥२८॥

जब आहुति के समय कोई आपत्ति आवे तो 'रुद्राय स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह रुद्र है···इत्यादि ॥२६॥

यदि (हविर्धान को) लौटते समय कोई आपत्ति आवे तो 'वाताय स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह 'वात' है···इत्यादि ॥३०॥

यदि जिस समय सोम देखा जाता है उस समय कोई आपत्ति आवे तो 'नृचक्षसे स्वाहा' की आहुति देवे। क्योंकि वह उस समय 'नृचक्षा' है···इत्यादि ॥३१॥

यदि सोमपान के समय कोई विपत्ति आवे तो 'भक्षाय स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह 'भक्ष' है···इत्यादि ॥३२॥

यदि नाराशंसी ग्रह में रखते समय सोम पर कोई आपत्ति आवे तो 'पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्याहा' से आहुति देवे। वह उस समय 'पितर नाराशंसाः' है···इत्यादि ॥३३॥

अवभृथ स्नान कराते समय सोम पर यदि कोई विपत्ति आवे तो 'सिन्धवे स्वाहा' की आहुति देवे। क्योंकि वह उस समय 'सिन्धु' है···इत्यादि ॥३४॥

जल में उतारते समय यदि सोम पर कोई विपत्ति आवे तो 'समुद्राय स्वाहा' की आहुति देवे। उस समय वह समुद्र है···इत्यादि ॥३५॥

जब जल में डुबोते समय सोम पर कोई विपति आवे तो 'सलिलाय स्वाहा' की आहुति देवे। उस ममय वह सलिल है···इत्यादि ॥३६॥

यह चौंतीस आहुतियाँ देता है। तेतीस देवता हैं, प्रजापति चौंतीसवाँ है। इन सब देवों की सहायता से वह यज्ञ की चिकित्सा करता है।

सर्वं देवैर्यज्ञं प्रतिसंदधाति ॥३७॥ ता ब्रह्मैव जुहुयात् । नाब्रह्मा ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्ते ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो गोपायति यदि तु ब्रह्मा न विद्यादपि य एव कश्च विद्यात्स जुहुयाद्ब्रह्माणं वामन्त्र्य ब्रह्मणातिसृष्टस्तासां वाऽएतासां व्याहृतीनां बन्धुता वसिष्ठो ह विराजं विदां चकार ताᳬ हेन्द्रोऽभिदध्यौ ॥३८॥ स होवाच । ऋषे विराजᳬ ह वै वेत्थ तां मे ब्रूहीति स होवाच किं मम ततः स्यादिति सर्वस्य च ते यज्ञस्य प्रायश्चित्तिं ब्रूयाᳬ रूपं च त्वा दर्शयेयेति स होवाच यन्नु मे सर्वस्य यज्ञस्य प्रायश्चित्तिं ब्रूयाः किमु स स्याद्यं त्वᳬ रूपं दर्शयेथा इति जीवस्वर्ग एवास्माल्लोकात्प्रेयादिति ॥३९॥ ततो हैतामृषिरिन्द्राय विराजमुवाच । इयं वै विराडिति तस्माद्योऽस्यै भूयिष्ठं लभते स एव श्रेष्ठो भवति ॥४०॥ अथ हैतामिन्द्र ऋषये । प्रायश्चित्तिमुवाचाग्निहोत्रादग्रऽआ महत उक्थात्ता ह स्मैताः पुरा व्याहृतीर्वसिष्ठा एव विदुस्तस्माद्ध स्म पुरा वासिष्ठ एव ब्रह्मा भवति यतस्त्वेना अप्येतर्हि य एव कश्चाधीते ततोऽप्येतर्हि य एव कश्च ब्रह्मा भवति स ह वै ब्रह्मा भवितुमर्हति स वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रितः प्रतिशृणुयाद्य एवमेता व्याहृतीर्वेद ॥४१॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [६. १.] ॥ षष्ठोऽध्यायः [८०.] ॥ ॥

विश्वरूपं वै त्वाष्ट्रमिन्द्रोऽहन् । तं त्वष्टा हतपुत्रोऽभ्यचरत्सोऽभिचरणीयमपेन्द्रᳬ सोममाहरत्तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्स विष्वङ् व्यार्छत्तस्येन्द्रियं वीर्यमङ्गादङ्गादस्रवत् ॥१॥ तस्याक्षिभ्यामेव तेजोऽस्रवत् । सोऽजः पशुरभवद्धूम्रोऽथ यत्पक्ष्मभ्यस्ते गोधूमा यदश्रुभ्यस्तत्कुवलम् ॥२॥ नासिकाभ्यामेवास्य वीर्यमस्रवत् । सोऽविः पशुरभवन्मेषोऽथ यच्छ्लेष्मणास्ता उपवाका यत्स्नीहा सद्बदरं ॥३॥ मुखादेवास्य बलमस्रवत् । स गौः पशुरभवदृषभोऽथ ये फेनास्ते यवा यत्स्नेहस्तत्कर्कन्धु ॥४॥ श्रोत्रादेवास्य यशोऽस्रवत् । तदेकशफमभ

इन सब देवों की सहायता से वह यज्ञ को पूर्ण करता है ॥३७॥

यह आहुति ब्रह्मा ही देवे। अन्य कोई न देवे। ब्रह्मा यज्ञ के दक्षिण को बैठता है और वह उसकी दक्षिण की ओर से रक्षा करता है। यदि ब्रह्मा विधि न जानता हो तो जो कोई जानता हो वह आहुति देवे—ब्रह्मा से पूछकर और उसकी आज्ञा लेकर। 'इन व्याहृतियों का क्या तात्पर्य है?'—वसिष्ठ विराट् को जानता था। इन्द्र ने जानने की इच्छा की ॥३८॥

वह बोला, 'ऋषि, तुम विराट् जानते हो, मुझको सिखा दो।' उसने कहा, 'मुझे क्या लाभ होगा?' 'मैं तुमको समस्त यज्ञ के प्रायश्चित्त बता दूँगा और उनके रूप भी दर्शा दूँगा।' उसने कहा, 'यदि तुम मुझको समस्त यज्ञ के प्रायश्चित्त बता दोगे तो उसको क्या लाभ होगा जिसको तुम उसके रूप दर्शाओगे?' 'वह इस लोक से जीव स्वर्ग को चला जाएगा'' ॥३९॥

तब ऋषि ने इनको विराट् की शिक्षा दे दी। कहावत है कि यह पृथिवी ही विराट् है। जिसके पास सबसे अधिक पृथिवी है वही श्रेष्ठ है ॥४०॥

अब इन्द्र ने वसिष्ठ ऋषि को अग्निहोत्र से लेकर महदुक्थ तक सब प्रायश्चित्त सिखा दिया। पहले केवल वसिष्ठ-वंशी ही प्रायश्चित्त जानते थे, इसलिए पहले वसिष्ठ के वंश का ही ब्रह्मा हुआ करता था। आजकल तो कोई भी सीख सकता है। जो कोई सीख ले वही ब्रह्मा हो जाय। जो इन व्याहृतियों को जानता है वह ब्रह्मा होने के योग्य है, या जो कोई उसको 'ब्रह्मा' कहकर पुकारे उसका उत्तर देने का अधिकारी है ॥४१॥

सौत्रामणी हविः

अध्याय ७—ब्राह्मण १

इन्द्र ने त्वष्टा के लड़के विश्वरूप को मार डाला। त्वष्टा ने अपने पुत्र के मरने पर इन्द्र का अभिचरण कर दिया और अभिचरण के लिए सोम को लाया, जिसमें इन्द्र का भाग न था; इन्द्र ने बलात्कार से वह सोम पीकर यज्ञ को अपवित्र कर दिया। वह सब दिशाओं को घूमा और उसके अंग-अंग से उसका इन्द्रसम्बन्धी वीर्य बह गया ॥१॥

उसकी आँखों से तेज बह गया। वह धुएँ के रंग का पशु बकरा (आज) बन गया। उसके पलकों से जो बहा उसके गेहूँ हो गए। उसके आँसुओं से जो बहा उसका कुवल (फलविशेष) बन गया ॥२॥

उसके दोनों नथनों से वीर्य बहा, वह मेष या भेड़ पशु बना। श्लेष्म से इन्द्र जौ और नाक के मल (टेंट) से बेर ॥३॥

उसके मुख से बल बहा, वह गाय पशु हुआ, फेन से जौ और थूक से कर्कन्धु (फल) ॥४॥

उसके कान से यश बहा। उससे एक खुरवाले हुए—

वदश्वोऽश्वतरो गर्दभः ॥५॥ स्तनाभ्यामेवास्य शुक्रमस्रवत् । तत्पयोऽभवत्पशूनां ज्योतिरुरस एवास्य हृदयात्त्विषिरस्रवत्स श्येनोऽपात्रिरभवद्वयसाꣳ राजा ॥६॥ नाभ्या एवास्य शूषोऽस्रवत् । तत्सीसमभवन्नायो न हिरण्यꣳ रेतस एवास्य रूपमस्रवत्तत्सुवर्णꣳ हिरण्यमभवच्छिश्नादेवास्य रसोऽस्रवत्सा परिस्रुदभवत्स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत्सा सुराभवदन्नस्य रसः ॥७॥ मूत्रादेवास्यौजोऽस्रवत् । स वृकोऽभवदारण्याणां पशूनां जूतिरूवध्यादेवास्य मन्युरस्रवत्स व्याघ्रोऽभवदारण्याणां पशूनाꣳ राजा लोहितादेवास्य सहोऽस्रवत्स सिꣳहोऽभवदारण्यानां पशूनामीशः ॥८॥ लोमभ्य एवास्य चित्तमस्रवत् । ते श्यामाका अभवंस्त्वच एवास्यापचितिरस्रवत्सोऽश्वत्थो वनस्पतिरभवन्माꣳसेभ्य एवास्योर्गस्रवत्स उदुम्बरोऽभवदस्थिभ्य एवास्य स्वधास्रवत्स न्यग्रोधोऽभवन्मज्जभ्य एवास्य भक्षः सोमपीथोऽस्रवत्ते व्रीहयोऽभवन्नेवमस्येन्द्रियाणि वीर्याणि व्युदक्रामन् ॥९॥ अथ ह वै तर्हि । नमुचिनैवासुरेण सह चचार स ऐक्षत नमुचिरपुनर्वाऽअयमभूद्धन्तास्येन्द्रियं वीर्यꣳ सोमपीथमन्नाद्यꣳ हराणीति तस्यैतयैव सुरयेन्द्रियं वीर्यꣳ सोमपीथमन्नाद्यमहरत्स ह न्यर्णः शिश्ये तं देवा उपसंजग्मिरे श्रेष्ठो वै नोऽयमभूत्तमिमं पाप्माविदद्धन्तेमं भिषज्यामेति ॥१०॥ तेऽश्विनावब्रुवन् । युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ स्थो युवमिमं भिषज्यतमिति तावब्रूतामस्तु नौ भाग इति तेऽब्रुवन्य एषोऽजः स वां भाग इति तथेति तस्मादाश्विनो धूम्रो भवति ॥११॥ ते सरस्वतीमब्रुवन् । त्वं वै भैषज्यमसि त्वमिमं भिषज्येति साब्रवीदस्तु मे भाग इति तेऽब्रुवन्य एषोऽविः स ते भाग इति तथेति तस्मात्सारस्वतो मेषो भवति ॥१२॥ अथाब्रुवन् । एतावद्वाऽअस्मिन्नेतर्हि यावदयमृषभोऽस्यैवायमस्त्विति तथेति तस्मादैन्द्र ऋषभो भवति ॥१३॥ तावश्विनौ च सरस्वती च । इन्द्रियं वीर्यं नमुचेराहृत्य तदस्मिन्पुनरदधुस्तं पाप्मनोऽत्रायन्त सुत्रातं बतैनं पाप्मनोऽत्रास्महीति

घोड़ा, खिच्चर, गधा ॥५॥

उसके दोनों स्तनों से शुक्र बहा। यह दूध हो गया जो पशुओं की ज्योति है। उसके हृदय या छाती से साहस बहा। उससे चिड़ियों का राजा, चिड़ियों का खानेवाला बाज हुआ ॥६॥

उसकी नाभि से जीवन-रस बहा। उससे सीसा हुआ। न लोहा, न चाँदी। इसके रेत या वीर्य से रूप बहा। उससे सोना उत्पन्न हुआ। उसके शिश्न (लिंग) से रस बहा, वह परिस्रुद् (कच्ची शराब ?) हो गई। उसके चूतड़ों से प्रकाश निकला, वह सुरा हो गई जो अन्न का रस है ॥७॥

उसके मूत्र से ओज निकला। वह भेड़िया हो गया जो बनैले पशुओं की तेजी है। उसकी अंतड़ियों से क्रोध बहा, वह व्याघ्र हो गया जो बनैले पशुओं का राजा है। उसके खून से सहन-शक्ति बही, उससे सिंह हुआ जो बनैले पशुओं का ईश है ॥८॥

उसके लोम (रोंगटों में) से चित्त बहा। उससे बाजरा हुआ। उसकी त्वचा से अपचिति (इज्जत) बही। उससे अश्वत्थ वनस्पति हुआ। उसके मांसों से ऊर्ज बहा, वह उदुम्बर हो गया। उसकी हड्डियों से स्वधा बही, उससे न्यग्रोध हुआ। उसकी मज्जाओं से सोम का शर्बत बहा। उससे व्रीहि (चावल) हुए। इस प्रकार उसका पराक्रम और वीर्य उससे निकल गया ॥९॥

उस समय उस (इन्द्र) का पाला असुर नमुचि से हुआ। उन नमुचि ने सोचा कि 'अब तो यह सदा के लिए कमजोर हो गया। अब उसके पराक्रम, वीर्य, सोमरस तथा अन्न आदि को मैं हर लूँ।' वह उसकी सुरा को लेकर पराक्रम, वीर्य, सोमरस, अन्न को इन्द्र से हर ले गया। वह बेचारा वहाँ शक्तिरहित पड़ा रहा। देवता उसके पास आए और बोले, 'यह हममें सबसे श्रेष्ठ था। इसपर आपत्ति आ गई। लाओ इसकी चिकित्सा करें' ॥१०॥

उन्होंने दोनों अश्विनों से कहा, 'तुम दोनों ब्रह्मा के डाक्टर हो। तुम इसका इलाज करो।' वे बोले, 'हमारी फीस क्या होगी ?' उसने कहा, 'यह बकरा तुम्हारी फीस होगा।' उन्होंने कहा, 'अच्छा।' इसलिए धुआँ के रंग का बकरा अश्विनों का होता है ॥११॥

उन्होंने सरस्वती से कहा, 'तू तो दवाई है। तू इसका इलाज कर।' उसने कहा,'मेरी फीस क्या होगी ?' वे बोले, 'यह भेड़ तेरी फीस होगी।' उसने कहा, 'अच्छा', इसलिए भेड़ सरस्वती की होती है ॥१२॥

वे बोले, 'इस इन्द्र में अब भी इतनी शक्ति है जितनी ऋषभ (सांड) में। इसलिए सांड इसी का रहे।' इसलिए सांड इन्द्र का है ॥१३॥

उन दोनों अश्विनों और सरस्वती ने नमुचि के पराक्रम और वीर्य को लेकर इन्द्र में फिर स्थापित कर दिया, और उसको बुराई से बचा लिया। उन्होंने सोचा, 'हमने इसको पाप से

तद्वाव सौत्रामण्यभवत्तत्सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वं त्रायते मृत्योरात्मानमप पाप्मा-नꣳ हते य एवमेतत्सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वं वेद त्रयस्त्रिꣳशद्दक्षिणा भवन्ति त्रयस्त्रिꣳशद्धि तं देवता अभिषज्यंस्तस्माद्धक्षिणेषजं दक्षिणा इति ॥१४॥ ब्राह्म-णम् ॥ २ [७. १.] ॥ ॥

अप वाऽएतस्मात् । तेज इन्द्रियं वीर्यं क्रामति यꣳ सोमोऽतिपवतऽऊर्ध्वं चावाङ्वं वा ॥१॥ तदाहुः । अन्नं वाऽएतद्ब्राह्मणस्य यत्सोमो न वै सोमेन ब्राह्मणः सोमवामी स यो वाऽअलं भूत्यै सन्भूतिं न प्राप्नोति यो वालं पशुभ्यः सन्पशून्न विन्दते स सोमवामी पशवो हि सोम इति ॥२॥ स एतमाश्विनं धू-म्रमालभेत । सारस्वतं मेषमैन्द्रमृषभमश्विनौ वै देवानां भिषजौ ताभ्यामेवैनं भि-षज्यति सरस्वती भेषजं तयैवास्मै भेषजं करोतीन्द्र इन्द्रियं वीर्यं तेनैवास्मिन्नि-न्द्रियं वीर्यं दधाति ॥३॥ चक्षुर्वाऽअश्विनौ तेजः । यदाश्विनो भवति चक्षुरेवा-स्मिंस्तत्तेजो दधात्यथो श्रोत्रꣳ समानꣳ हि चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥४॥ प्राणः सरस्व-ती वीर्यम् । यत्सारस्वतो भवति प्राणमेवास्मिंस्तद्वीर्यं दधात्यथोऽअपानꣳ समा-नꣳ हि प्राणश्चापानश्च ॥५॥ वागिन्द्रो बलम् । यदैन्द्रो भवति वाचमेवास्मिं-स्तद्बलं दधात्यथो मनः समानꣳ हि वाक्च मनश्च ॥६॥ आश्विनीरजाः । सारस्व-तीरवीरैन्द्रीर्गाव इत्याहुर्यदेते पशव आलभ्यन्तऽएताभिरेव देवताभिरेतान्प-शूनवरुन्द्धे ॥७॥ वडबानुशिशुर्भवति । पश एवैकशफमवरुन्द्धऽआरण्यानां पशू-नां लोमानि भवन्त्यारण्यानां पशूनामवरुद्ध्यै वृकलोमानि भवन्त्योज एव जूति-मारण्यानां पशूनामवरुन्द्धे व्याघ्रलोमानि भवन्ति मन्युमेव राज्यमारण्यानां पशू-नामवरुन्द्धे सिꣳहलोमानि भवन्ति सह एवेशामारण्यानां पशूनामवरुन्द्धे ॥८॥ व्रीहयश्च श्यामाकाश्च भवन्ति । गोधूमाश्च कुवलानि चोपवाकाश्च बदराणि च यवाश्च कर्कन्धूनि शष्पाणि च तोक्मानि चोभयमेव ग्राम्यं चान्नमारण्यं चावरुन्द्धे

बचाया (सुत्रात)।' यह 'सुत्रात' से सौत्रामणि हो गया। सौत्रामणि का यह सौत्रामणित्व है कि यह आत्मा को पाप और मृत्यु से बचाता है। इसकी तेतीस दक्षिणाएँ होती हैं, क्योंकि तेतीस देवता थे जिन्होंने इलाज किया। इसीलिए कहते हैं कि दक्षिणाएँ ओषधियाँ हैं।।१४।।

सुराक्रयादि

अध्याय ७—ब्राह्मण २

जिसको सोम ऊपर या नीचे पवित्र करता है, उसमें से तेज, पराक्रम, वीर्य निकल जाता है।।१।।

इस विषय में कहावत है कि सोम जो है वह ब्राह्मण का अन्न है। जो ब्राह्मण सोमवामी अर्थात् सोम का वमन करनेवाला है वह सोम के कारण नहीं। सोमवानी वह है जो विभूति के योग्य होता हुआ भी विभूति को नहीं पाता, या पशुओं के योग्य होता हुआ भी पशुओं को नहीं पाता। पशु ही सोम हैं।।२।।

वह अश्विन-सम्बन्धी धूम्र रंग के बकरे का, सरस्वती-सम्बन्धी भेड़ का, इन्द्र-सम्बन्धी ऋषभ (सांड) का आलभन करे। अश्विन देवों के डाक्टर हैं। उन्हीं के द्वारा इसका इलाज करता है। सरस्वती ओषधि है। उसी के द्वारा इसकी ओषधि करता है। इन्द्र पराक्रम तथा वीर्य है। उसी के द्वारा उसमें पराक्रम और वीर्य स्थापित करता है।।३।।

दोनों अश्विन आँख या प्रकाश हैं। बकरा अश्विन का होता है, इस प्रकार इसमें आँख या तेज की स्थापना करता है। इसी प्रकार कान की भी, क्योंकि आँख-कान एक ही है।।४।।

सरस्वती प्राण या वीर्य है। भेड़ सरस्वती की है। इसके द्वारा उसमें प्राण स्थापित करता है। इसी प्रकार अपान भी, क्योंकि प्राण अपान समान हैं।।५।।

इन्द्र वाक् और बल है, इन्द्र का ऋषभ होता है। इस प्रकार इसमें वाक् और बल स्थापित करता है, मन भी। वाक् और मन समान हैं।।६।।

कहावत है कि बकरे अश्विनों के हैं, भेड़ सरस्वती की, गौएँ इन्द्र की। इन पशुओं को जो आलभन होता है इससे इन देवताओं के द्वारा इन पशुओं की प्राप्ति करता है।।७।।

बछेड़े के साथ घोड़ी होती है, इसके द्वारा एक खुरवाले जानवर और यश को यजमान के लिए लाभ कराता है। बनैले पशुओं के बाल होते हैं, बनैले पशुओं के लाभ के लिए। भेड़िये के बाल होते हैं, बनैले पशुओं के ओज और तेजी के लाभ के लिए। व्याघ्र के बाल होते हैं, बनैले पशुओं के राज्य तथा क्रोध के लिए। सिंह के बाल होते हैं, इनके द्वारा बनैले पशुओं के लाभ के लिए।।८।।

चावल और बाजरा होते हैं, गेहूँ, कुवल, इन्द्रजौ, बेर, जौ, कर्कन्धु, शष्प (एक घास) और जई, गाँव के और बनैले अन्नों की प्राप्ति के लिए।

ऽथोऽउभयेनैवान्नेन यथारूपमिन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते ॥ ९ ॥ सीसेन शष्पाणि क्रीणाति । ऊर्णाभिस्तोक्मानि सूत्रैर्व्रीहीनुभयोर्वाऽएतद्रूपमयसश्च हिरण्यस्य च यत्सीसमुभयꣳ सौत्रामणीष्टिश्च पशुबन्धश्चोभयस्यावरुद्ध्यै ॥ १० ॥ ऊर्णासूत्रेण क्रीणाति । तद्वाऽएतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रं कर्म वाऽइन्द्रियं वीर्यं तदेतदुत्सन्नꣳ स्त्रीषु तद्यदेवेन्द्रियं वीर्यमुत्सन्नꣳ स्त्रीषु तदेवावरुन्द्धे ॥ ११ ॥ तद्धैतदन्येऽध्वर्यवः । सीसेन क्लीबाच्छष्पाणि क्रीणन्ति तत्तदिति न वाऽएष स्त्री न पुमान्यत्क्लीबो नेष्टिर्न पशुबन्धः सौत्रामणीति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादुभयं वै सौत्रामणीष्टिश्च पशुबन्धश्च व्यृद्धमु वाऽएतन्मनुष्येषु यत्क्लीबो यज्ञमुखऽएव ते यज्ञस्य व्यृद्धिं दधति ये तथा कुर्वन्ति सोमविक्रयिण एव क्रीणीयात्सोमो वै सौत्रामणी यज्ञमुख ऽएव तत्सोमरूपं करोति यज्ञस्य समृद्ध्यै ॥ १२ ॥ शतातृण्णा कुम्भी भवति । बहुधेव हि स व्यस्रवदथो शतोन्मानो वै यज्ञो यज्ञमेवावरुन्द्धे सतं भवति सदेवावरुन्द्धे चप्यं भवत्यन्नाद्यस्यैवावरुद्ध्यै पवित्रं भवति पुनन्ति ह्येनं वालो भवति पाप्मनो व्यावृत्त्यै सुवर्णꣳ हिरण्यं भवति रूपस्यैवावरुद्ध्यै शतमानं भवति शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते ॥ १३ ॥ आश्वत्थं पात्रं भवति । अपचितिमेवावरुन्द्धऽऔदुम्बरं भवत्यूर्जमेवावरुन्द्धे नैयग्रोधं भवति स्वधामेवावरुन्द्धे स्थाल्यो भवन्ति पृथिव्याऽएवान्नाद्यमवरुन्द्धे ॥ १४ ॥ पालाशान्युपशयानि भवन्ति । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैव स्वर्गं लोकं जयत्यपाष्ठिहस्य पात्रे भवतस्त्विषिमेव राज्यं वयसामवरुन्द्धे षट्त्रिꣳशदेतानि भवन्ति षट्त्रिꣳशदक्षरा वै बृहती बार्हताः पशवो बृहत्यैवास्मै पशूनवरुन्द्धे ॥ १५ ॥ तदाहुः । अन्यदेवत्याः पशवो भवन्त्यन्यदेवत्याः पुरोडाशा विलोमैतत्क्रियते कथमेतत्सलोम भवतीत्यैन्द्रः पशूनामुत्तमो भवत्यैन्द्रः पुरोडाशानां प्रथम इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैवास्माऽइन्द्रियं वीर्यꣳ संदधातीन्द्रियेणेन्द्रियं वीर्यमवरुन्द्धे ॥ १६ ॥ सा-

दोनों प्रकार के अन्न द्वारा यथारूप आत्मा में वीर्य तथा पराक्रम स्थापित करता है ॥९॥

सीसे के बदले शष्प खरीदता है। उनके बदले तोक्म (जई)। सूत के बदले चावल। यह सीसा, लोहा और चाँदी दोनों का रूप है। सौत्रामणि इष्टि भी है और पशुबन्ध भी। इस प्रकार वह इन दोनों का लाभ करता है ॥१०॥

ऊन और सूत से खरीदता है। ऊन और सूत स्त्रियों के काम हैं। कर्म पराक्रम और वीर्य है। यह स्त्रियों में नहीं होता। इस प्रकार वह यजमान के लिए वह पराक्रम और वीर्य स्थापित करता है जो स्त्रियों में पाया नहीं जाता ॥११॥

कुछ अध्वर्यु लोग सीसा के बदले शष्प नपुंसक से मोल लेते हैं, यह सोचकर कि यह नपुंसक न स्त्री है न पुमान्, और सौत्रामणि न इष्टि है न पशबन्ध। परन्तु ऐसा न करे। सौत्रामणि दोनों है, इष्टि भी और पशुबन्ध भी। जो नपुंसक है वह मनुष्यों में असफल है। जो ऐसा करते हैं वे यज्ञ के मुख में असफलता रखते हैं। सोम बेचनेवाले से ही खरीदना चाहिए। सौत्रामणी यज्ञ का मुख सोम है। उसको सोम का रूप बनाता है, यज्ञ की सफलता के लिए ॥१२॥

एक सौ छेदों का घड़ा होता है। सोम इन्द्र में से बहुत रूप से निकला था। यज्ञ भी सौ पैमानों के बराबर है अर्थात् सौ गुना है। यज्ञ की प्राप्ति करता है। एक सत् (पात्रविशेष) भी होता है, सत् या अच्छी चीज के लाभ के लिए। एक चप्प (कटोरी) भी होती है अन्न की प्राप्ति के लिए। पवित्रा होता है यजमान को पवित्र करने के लिए। बाल भी होते हैं बुराई को दूर करने के लिए। सोना होता है रूप की प्राप्ति के लिए। यह सोना सौ भर होता है, क्योंकि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है। आयु सौ पराक्रमवाली होती है, इस प्रकार शरीर में पराक्रम तथा वीर्य स्थापित करता है ॥१३॥

अश्वत्थ लकड़ी का पात्र होता है अपचिति या इज्जत के लिए। उदुम्बर का पात्र होता है अर्थ की प्राप्ति के लिए, न्यग्रोध का पात्र होता है स्वधा के लिए, कड़ाहियाँ होती हैं पृथिवी में अन्न आदि के लाभ के लिए ॥१४॥

पलाश लकड़ी के उपशय (छोटे पात्र) होते हैं। पलाश ब्राह्मण है। ब्रह्म के द्वारा ही स्वर्ग-लोक को जीतता है। चील के दो पंख होते हैं, साहस तथा पक्षियों के आधिपत्य के लिए। ये सब छत्तीस होते हैं। छत्तीस अक्षर की बृहती होती है। पशु बृहती के हैं। बृहती के द्वारा पशुओं की प्राप्ति के लिए ॥१५॥

इसपर प्रश्न होता है कि पशु तो अन्य देवताओं के होते हैं और पुरोडाश अन्य देवताओं के। यह तो अनुचित है, फिर यह उचित कैसे हो सके? पशुओं में सबसे पिछला इन्द्र का है। इन्द्र के द्वारा ही पराक्रम तथा वीर्य को स्थापित करता है, पराक्रम और वीर्य की उपलब्धि के लिए ॥१६॥

३

वित्रः पुरोडाशो भवति । सवितृप्रसूततायै वारुणो भवति वरुणो वाऽएतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति वरुणेनैवैनं वरुणान्मुञ्चत्यस्थो भवत्यन्तत एवैनं वरुणपाशात्प्रमुञ्चति ॥१७॥ एकादशकपाल ऐन्द्रो भवति । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुबिन्द्रियमु वै वीर्यं त्रिष्टुबिन्द्रियस्यैव वीर्यस्यावरुद्ध्यै ॥१८॥ द्वादशकपालः सावित्रो भवति। द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरं वाऽअन्नाद्यमन्वायत्तꣳ संवत्सरादेवास्माऽअन्नाद्यमवरुन्द्धे ॥१९॥ दशकपालो वारुणो भवति । दशाक्षरा वै विराडन्नं विराड्वरुणोऽन्नपतिर्वरुणेनैवास्माऽअन्नमवरुन्द्धे मध्यत एतैः पुरोडाशैः प्रचरति मध्यं वाऽएतेषां योनिः स्वादेवैनान्योनेः प्रजनयति ॥२०॥ वडबानुशिशुर्दक्षिणा भवति । उभयं वाऽएषा जनयत्यश्वं चाश्वतरं चोभयꣳ सौत्रामण्यीष्टिश्च पशुबन्धश्चोभयस्यैवावरुद्ध्यै ॥२१॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [७. २.] ॥ ॥

इन्द्रस्येन्द्रियमन्नस्य रसꣳ । सोमस्य भक्षꣳ सुरयासुरो नमुचिरहरत्सोऽश्विनौ च सरस्वतीं चोपाधावच्छेपानोऽस्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्तꣳ हनानि न दण्डेन न धन्वना न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केण नार्द्रेणाथ मऽइदमहार्षीदिदं मऽआजिहीर्षथेति ॥१॥ तेऽब्रुवन् । अस्तु नोऽत्राप्यथाहरामेति सह न एतदथाहरतेत्यब्रवीदिति ॥२॥ तावश्विनौ च सरस्वती च अपां फेनं वज्रमसिञ्चन्न शुष्को नार्द्र इति तेनेन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायाꣳ रात्रावनुदितऽआदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उदवासयत् ॥३॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः विश्वा यदजय स्पृध इति पाप्मा वै नमुचिः पाप्मानं वाव तद्द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हत्वेन्द्रियं वीर्यमस्यावृङ्क्त स यो भ्रातृव्यवान्त्स्यात्स सौत्रामण्या यजेत पाप्मानमेव तद्द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हत्वेन्द्रियं वीर्यमस्य वृङ्क्ते तस्य शीर्षश्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमोऽतिष्ठत्तस्मादबीभत्सन्त तऽएतदन्धसोर्विपानमपश्यन्त्सोमो राजामृतꣳ सुत इति तेनैनꣳ स्वदयित्वात्मन्नदधत ॥४॥ स्वार्द्वीं

पुरोडाश सविता का होता है, सविता की प्रेरणा के लिए। वरुण का पुरोडाश भी क्यों? जिसको बुराई पकड़ती है उसे वरुण पकड़ता है। वरुण के द्वारा ही वरुण की शक्ति से उसको छुड़ाता है। इस प्रकार सदा के लिए उसे वरुण की फाँस से छुड़ाता है ॥१७॥

इन्द्र का पुरोडाश ग्यारह कपालों का होता है। त्रिष्टुप् के ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् पराक्रम तथा वीर्य है। पराक्रम और वीर्य के लाभ के लिए ॥१८॥

सविता का पुरोडाश बारह कपालों का होता है। संवत्सर के बारह मास होते हैं। संवत्सर निरन्तर अन्न है। इस प्रकार संवत्सर से उसके लिए अन्न की प्राप्ति कराता है ॥१९॥

वरुण का पुरोडाश दस कपाल का होता है। विराट् में दस अक्षर होते हैं। अन्न विराट् है। वरुण अन्नपति है। वरुण के द्वारा ही अन्न की प्राप्ति कराता है। यज्ञ के बीच में ही इन पुरोडाशों की आहुति देता है। मध्य इनकी योनि है। इनको इन्हीं की योनि से उत्पन्न कराता है ॥२०॥

इसकी दक्षिण बछेड़ेवाली घोड़ी है, क्योंकि घोड़ी से घोड़ा भी होता है और खिच्चर भी। सौत्रामणी भी दोनों है, इष्टि भी और पशुबन्ध भी। दोनों की प्रगति के लिए ॥२१॥

सौत्रामणीग्रहग्रहणादि

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

असुर नमुचि सुरा की सहायता से इन्द्र के पराक्रम, अन्न के रस अर्थात् सोमपान को हर ले गया। वह इन्द्र सरस्वती और अश्विनों के पास गया और कहने लगा कि 'मैंने नमुचि से प्रतिज्ञा की है कि मैं तुझे न दिन में, न रात में, व डंडे से, न धनुष से, न थप्पड़ से, न मुक्के से, न सूखी चीज से, न भीगी चीज से मारूँगा। अब यह मेरी ये चीजें उठा ले गया। ये मेरी चीजें दिला दो' ॥१॥

वे बोले, 'इसमें कुछ हमारा भी भाग हो। हम दिला देंगे।' इन्द्र ने कहा, 'तुम दिला दो। ये चीजें हम सबकी हो जायेंगी' ॥२॥

उन दोनों अश्विन और सरस्वती ने जलों के फेन को वज्र बनाया। यह न सूखा है न गीला। इन्द्र ने उससे असुर नमुचि के सिर को काट लिया, ऐसे समय में जब रात तो बीत चुकी थी और दिन नहीं निकलने पाया था, क्योंकि यह न रात का समय था न दिन का ॥३॥

इसी सम्बन्ध में ऋग्वेद में लिखा है—"अपां फेनेन नमुचे शिर ऽ इन्द्रोदवर्तयः विश्वा यदजय स्पृधे" (ऋ० ८।१४।१३)—"हे इन्द्र! जब तूने युद्ध में सब शत्रुओं को जीता तो जलों के फेन से नमुचि का सिर काट लिया।" पाप का नाम है नमुचि। पापी दुष्ट शत्रु को मारकर ही इन्द्र का वीर्य और पराक्रम उसको फिर मिल सका। जिसके शत्रु हो वह सौत्रामणी यज्ञ करे। उसके पापी दुष्ट शत्रुओं के मरने पर पराक्रम और वीर्य उसके पास लौट आवेगा। उसके कटे सिर में रुधिर-मिश्रित सोम था। उनको घृणा लगी। उन्होंने इन दोनों (रुधिर और सोम) में से एक को पीने की तरकीब निकाली। 'सोमो राजामृत७ सुतः'—'अमृत राजा सोम निचोड़ा गया।' उसको स्वादिष्ट बनाकर उन्होंने उसे खा लिया ॥४॥

त्वा स्वादुनेति सुराꣳ संदधाति । स्वदयत्येवैनां तीव्रां तीव्रेणेतीन्द्रियमेवास्मिन्द-
धात्यमृताममृतेनेत्यायुरेवास्मिन्दधाति मधुमतीं मधुमतेति रसमेवास्यां दधाति
सृजामि सꣳ सोमेनेति सोमरूपमेवैनां करोति ॥५॥ सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व ।
सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेत्येता वाऽएतं देवता अग्रे यज्ञꣳ समभ-
रंस्ताभिरेवैनꣳ सम्भरत्यथोऽएता एवैतद्देवता भागधेयेन समर्धयत्यासुनोति सुत्यायै
तिस्रो रात्रीर्वसति तिस्रो हि रात्रीः सोमः क्रीतो वसति सोमरूपमेवैनां
करोति ॥६॥ द्वे वेदी भवतः । द्वौ वाव लोकावित्याहुर्देवलोकश्चैव पितृलो-
कश्चेत्युत्तरान्या भवति दक्षिणान्योत्तरो वै देवलोको दक्षिणः पितृलोक उत्तर-
यैव देवलोकमवरुन्द्धे दक्षिणाया पितृलोकम् ॥७॥ पयश्च सुरा च भवतः । सा-
मो वै पयोऽन्नꣳ सुरा पयसैव सोमपीथमवरुन्द्धे सुरयान्नाद्यं क्षत्रं वै पयो विट्
सुरा सुरां पूत्वा पयः पुनाति विश एव तत्क्षत्रं जनयति विशो हि क्षत्रं जायते
॥८॥ वायोः पूतः पवित्रेण । प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुत इति सोमातिपूतस्य पुनाति
यथारूपमेवैनं पुनातीन्द्रस्य युज्यः सखेति यदेवास्य तेनेन्द्रियं वीर्यमतिक्रान्तं भव-
ति तदस्मिन्पुनर्दधाति ॥९॥ वायोः पूतः पवित्रेण । प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुत इति
सोमवामिनः पुनाति यथारूपमेवैनं पुनातीन्द्रस्य युज्यः सखेति यदेवास्य तेने०
॥१०॥ पुनाति ते परिस्रुतमिति । समृद्धिकामस्य पुनाति समृद्धौ सोमꣳ सूर्यस्य
दुहितेति श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता श्रद्धयेष सोमो भवति श्रद्धयैवैनꣳ सोमं करो-
ति वारेण शश्वता तनेति वालेन ह्येषा पूयते ॥११॥ ब्रह्म क्षत्रं पवत इति
पयः पुनाति । ब्रह्मणा एव तत्क्षत्रं जनयति ब्रह्मणो हि क्षत्रं जायते तेज इन्द्रि-
यमिति तेज एवास्मिन्निन्द्रियं वीर्यं दधाति सुरया सोम इति सुरया हि सोमः
सुत आसुत इत्यासुताद्धि सूयते मदायेति मदाय वाव सोमो मदाय सुरोभावेव
सोममदं च सुरामदं चावरुन्द्धे शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धीति शुक्रेण देव देवताः

"स्वाद्वीं त्वा स्वादुना" (यजु० १९।१)—"स्वादुवाले को स्वादुवाले के द्वारा"—इस मन्त्र से सुरा को मिलाता है और स्वादिष्ट बनाता है। "तीव्रां तीव्रेण" (यजु० १९।१)—"तीव्र को तीव्र से"—इस प्रकार इसमें पराक्रम को स्थापित करता है। "अमृताममृतेन" (यजु० १९।१)—"अमृत को अमृत से।" इससे आयु को स्थापित करता है। "मधुमतीं मधुमता"(यजु० १९।१) इससे उसमें रस स्थापित करता है। "सृजामि सँ्सोमेन" (यजु० १९।१)—इससे इसको सोम-रूप करता है ॥५॥

"सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व"—(यजु० १९।१) "तू सोम है। दोनों अश्विनों के लिए पक। सरस्वती के लिए पक। इन्द्र सुत्राम्णा के लिए पक।" यही देवता थे जिन्होंने पहले यज्ञ तैयार किया था। इन्हीं की सहायता से यह भी यज्ञ को तैयार करता है और इन देवताओं को उनका भाग भी दिलाता है। सोम-यज्ञ के लिए उसको निचोड़ता है। यह तीन रात तक इसी प्रकार रक्खा रहता है, क्योंकि सोम को भी तो मोल लेने के पश्चात् तीन दिन तक रखते हैं। इस प्रकार इस सुरा को सोम का रूप देता है ॥६॥

दो वेदियाँ होती हैं। कहते हैं कि लोक भी दो हैं—देवलोक और पितृलोक, एक उत्तर में और एक दक्षिण में। उत्तर में देवलोक है और दक्षिण में पितृलोक। उत्तरवाली से देवलोक की प्राप्ति होती हैं, दक्षिणवाली से पितृलोक की ॥७॥

दूध और सुरा होते हैं। सोम दूध है और अन्न सुरा। दूध से सोम का लाभ करता है, सुरा से अन्न का। क्षत्रिय दूध है, वैश्य सुरा। सुरा को पवित्र करके दूध को पवित्र करता है। इस प्रकार वैश्यों से क्षत्रिय को उत्पन्न करता है। क्षत्रिय वैश्य से ही उत्पन्न होता है ॥८॥

"वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो ऽ अतिद्रुतः"(यजु० १९।३)—"वायु के पवित्रे से बहता हुआ सोम पवित्र हो गया।" इस प्रकार सोम द्वारा पवित्र हुए को पवित्र करता है। यजमान को ठीक रीति से पवित्र करता है। "इन्द्रस्य युज्यः सखा" (यजु० १९।३)—"इन्द्र का यथेष्ट सखा है।" जो कुछ पराक्रम तथा वीर्य सोम के साथ बह गया था, उसको अब फिर वापस लाता है ॥९॥

"वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ् सोमो ऽ अतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा" (यजु० १९।३)—सोम का वमन करनेवाले के लिए वह सुरा को पवित्र करता है। यथार्थ रूप से यजमान को पवित्र करता है। 'इन्द्र का उपयुक्त सखा।' इन्द्र का पराक्रम और वीर्य जो सोम के साथ बह गया था उसको वापस लाता है ॥१०॥

"पुनाति ते परिस्रुतँ्सोमँ्सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना" (यजु० १९।४)—वैभव की कामनावाले के लिए सुरा को पवित्र करता है। श्रद्धा सूर्य की दुहिता है। श्रद्धा से ही यह सोम हो जाता है। वाल से यह पवित्र होता है ॥११॥

"ब्रह्म क्षत्रं पवते" (यजु० १९।५)—"ब्रह्म और क्षत्र को पवित्र करता है।" इस मन्त्र से दूध को पवित्र करता है। ब्रह्म से ही क्षत्र को उत्पन्न करता है। ब्रह्म से ही क्षत्र उत्पन्न होता है। "तेज ऽ इन्द्रियम्" (यजु० १९।५)—इस प्रकार इसमें तेज, पराक्रम तथा वीर्य स्थापित करता है। "सुरया सोमः" (यजु० १९।५)—"सुरा सोम से निचोड़ा गया।" "सुत ऽ आसुतः" (यजु० १९।५)—"रस खींचा गया।" "मदाय" (यजु० १९।५)—"प्रसन्नता के लिए।" सोम भी आनन्द के लिए है और सुरा भी। सोम का आनन्द और सुरा का आनन्द, दोनों को प्राप्त करता है। "शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि" (यजु० १९।५)—अर्थात् "हे देव! निर्मल रस से

प्रीणीहीत्येवैतदाह रसेनान्नं यजमानाय धेहीति रसमेवान्नं यजमाने दधाति पूर्वे
पयोग्रहा गृह्यन्तेऽपरे सुराग्रहा विशं तत्क्षत्रस्यानुवर्त्मानं करोति ॥१२॥ कुवि-
दङ्ग यवमन्तो यवं चिदिति । पयोग्रहान्गृह्णाति सोमाꣳशवो वै यवाः सोमः पयः
सोमेनैवैनꣳ सोमं करोत्येकया गृह्णात्येकधैव यजमाने श्रियं दधाति श्रीर्हि पयः
॥१३॥ नाना हि वां देवहितꣳ सदस्कृतमिति । सुराग्रहान्गृह्णाति नाना हि
सोमश्च सुरा च देवहितमिति देवहिते ह्येते नाना सदस्कृतमिति द्वे हि वेदी
भवतो मा सꣳसृक्षाथां परमे व्योमन्निति पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति सुरा त्वमसि शु-
ष्मिणीति सुरामेव सुरां करोति सोम एष इति सोममेव सोमं करोति मा मा
हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्तीति यथायोन्येवैना व्यावर्तयत्यात्मनोऽहिꣳसायाऽए-
कया गृह्णात्येकधैव यजमाने यशो दधाति यशो हि सुरा ॥१४॥ क्षत्रं वै पयोग्र-
हाः । विट् सुराग्रहा यद्व्यतिषक्तान्गृह्णीयाद्विशं क्षत्राद्व्यवच्छिन्द्यात्क्षत्रं विशः पा-
पवस्यसं कुर्याद्यज्ञस्य व्यृद्धिं व्यतिषक्तान्गृह्णाति विशमेव क्षत्रेण संदधाति क्षत्रं
विशा पापवस्यसस्य व्यावृत्त्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै ॥१५॥ प्राणा वै पयोग्रहाः । शरी-
रꣳ सुराग्रहा यद्व्यतिषक्तान्गृह्णीयाच्छरीरं प्राणेभ्यो व्यवच्छिन्द्यात्प्राणाञ्छरीरात्प्रमा-
युको यजमानः स्याद्व्यतिषक्तान्गृह्णाति शरीरमेव प्राणैः संदधाति प्राणाञ्छरीरे-
णाथोऽआयुरेवास्मिन्दधाति तस्मात्सौत्रामण्येजानः सर्वमायुरेत्यथो य एवमेतद्वेद
॥१६॥ सोमो वै पयोग्रहाः । अन्नꣳ सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते
सोमपीथं चैवान्नाद्यं चावरुन्द्धे ॥१७॥ पशवो वै पयोग्रहाः । अन्नꣳ सुराग्रहा
यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते पशूꣳश्चैवान्नाद्यं चावरुन्द्धे ॥१८॥ ग्राम्या वै प-
शवः पयोग्रहाः । आरण्याः सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते ग्राम्याꣳ-
श्चैव पशूनारण्याꣳश्चावरुन्द्धे ग्राम्येण चान्नेनारण्येन च पयोग्रहाञ्छ्रीणाति तस्मा-
म्याणां पशूनां ग्राम्यं चैवान्नाद्यमारण्यं चावरुद्धम् ॥१९॥ तदाहुः । एतस्यै वा

देवताओं को तृप्त करो।" "रसेनान्नं यजमानाय धेहि" (यजु० १९।५)—इस प्रकार यजमान में रस के द्वारा अन्न स्थापित करता है। पहले दूध के ग्रह लेते हैं, फिर सुरा के। इस प्रकार वैश्यों को क्षत्रियों के अनुयायी बनाते हैं ॥१२॥

"कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्" (यजु० १९।६)—"जैसे जौवाले जौ को काटते हैं।" इस मन्त्र से दूध के ग्रहों को लेता है। सोमलता के टुकड़े जौ हैं। सोम दूध हैं। इस प्रकार सोम के द्वारा ही इसको सोम बनाता है। एक ही मन्त्र से ग्रहों को भरता है। इस प्रकार एक बार में ही यजमान में श्री स्थापित करता है। दूध श्री है ॥१३॥

"नाना हि वां देवहितँ सदस्कृतम्" (यजु० १९।७)—"तुम दोनों की देवों के अनुकूल जगह अलग-अलग बनाई गई है।" इस मन्त्र से सुराग्रहों को लेता है। सोम अलग है और सुरा अलग। देवों के हित के लिए इन दोनों का अलग-अलग स्थान है। वेदियाँ दो होती हैं। "मा सँसृक्षाथां परमे व्योमन्" (यजु० १९।७)—"तुम दोनों परम आकाश में मत मिलो।" ऐसा कहकर यजमान को पाप से अलग करता है। "सुरा त्वमसि शुष्मिणी" (यजु० १९।७) —अर्थात् "तू तेज सुरा है।" इस प्रकार सुरा को ही सुरा बनाता है। "सोम ऽ एषः" (यजु० १९।७)—"यह सोम है।" इससे सोम को सोम बनाता है। "मा मा हिँसीः स्वां योनिमाविशन्ती" (यजु० १९।७)—"अपनी योनि में प्रवेश करके मुझको हानि न पहुँचा।" इस प्रकार सुरा को अपनी रक्षा के लिए उसी के स्थान में लौटा देता है। एक ही मन्त्र से सब ग्रहों को भरता है। इस प्रकार समस्त यज्ञ यजमान को ही दे देता है, क्योंकि सुरा यश है ॥१४॥

दूध के ग्रह क्षत्र हैं। सुरा ग्रह वैश्य है। यदि इनको बिना संयुक्त किये ग्रहण करे तो वैश्य और क्षत्रियों को निरन्तर अलग-अलग कर देगा। इससे गड़बड़ मच जायगी और यज्ञ असफल होगा। इसलिए इनको मिलाकर निकालता है (एक सुरा का, एक दूध का, फिर एक सुरा का, फिर दूध का)। इस प्रकार वैश्यों और क्षत्रियों में मेल कर देता है जिससे नीच-ऊँच में गड़बड़ न हो और यज्ञ सफल हो जाय ॥१५॥

प्राण ही दूध के ग्रह हैं, शरीर सुरा का ग्रह। यदि अलग-अलग निकाले तो शरीर से प्राण में विच्छेद कर दे और यजमान प्राण तथा शरीर से अलग हो जाय और मर जाय। इसलिए इनको मिलाकर निकालता है (अर्थात् एक सुरा का, एक दूध का, एक सुरा का, एक दूध का)। इस प्रकार शरीर और प्राण में मेल कराता है। इस प्रकार यजमान में आयु को स्थापित करता है। इसलिए जो सौत्रामणि यज्ञ करते हैं या इसके रहस्य को समझते हैं उनकी आयु बड़ी होती है ॥१६॥

दूध का ग्रह है सोम, सुराग्रह है अन्न। ये जो दूध के ग्रह और सोम के ग्रह निकाले जाते हैं, ये सोम तथा अन्न की प्राप्ति के लिए हैं ॥१७॥

दूध के ग्रह पशु हैं, सुराग्रह हैं अन्न। दूध के ग्रह और सुराग्रह लिये जाते हैं पशुओं तथा अन्न की प्राप्ति के लिए ॥१८॥

दूध के ग्रह गाँव के पशु हैं, सुराग्रह जंगली पशु हैं। दूध के ग्रह और सुराग्रह निकाले जाते हैं, जिससे गाँव के और जंगली दोनों प्रकार के पशुओं की प्राप्ति हो सके। दूध के ग्रह को गाँव के तथा वन के अन्न से गाढ़ा करता है, इस प्रकार गाँव के अन्न और वन के अन्न को प्राप्त करने के लिए ॥१९॥

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि—

ऽएतदघलायै देवतायै रूपं यदेते घोरा आरण्याः पशवो यदेतेषां पशूनां लोमभिः पयोग्रहाञ्छ्रीणीयाद्रुद्रस्यास्ये पशूनपिदध्यादपशुर्यजमानः स्याद्यन्न श्रीणीयादनवरुद्धा अस्य पशवः स्यू रुद्रो हि पशूनामीष्टऽइति सुराग्रहानेवैतेषां पशूनां लोमभिः श्रीणाति सुरायामेव तद्रौद्रं दधाति तस्मात्सुरां पीत्वा रौद्रमना अथोऽआरण्येष्वेव पशुषु रुद्रस्य हेतिं दधाति ग्राम्याणां पशूनामहिंसायाऽअवरुद्धा अस्य पशवो भवन्ति न रुद्रस्यास्ये पशूनपिदधाति ॥२०॥ या व्याघ्रं विषूचिका। उभौ वृकं च रक्षति श्येनं पतत्रिणꣳ सिꣳहꣳ सेमं पात्वꣳहसः ॥ यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन् एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मयेति ॥२१॥ अध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च। जघनेन वेदिं प्राञ्चमावृत्तं यजमानꣳ श्येनपत्राभ्यामूर्ध्वं चावाञ्चं च पावयतः प्राणोदानयोस्तद्रूपं प्राणोदानावेवावरुन्द्धऽऊर्ध्वश्च ह्ययमवाङ् च प्राण आत्मानमनुसंचरति सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्तेति पयोग्रहान्त्संमृशति श्रियैवैनं यशसा समर्धयति विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्तेति सुराग्रहान्पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [७. ३.] ॥ सप्तमोऽध्यायः [८१.] ॥

इन्द्रस्य वै यत्र। इन्द्रियाणि वीर्याणि व्युदक्रामंस्तानि देवा एतेनैव यज्ञेन पुनः समदधुर्यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्तऽइन्द्रियाण्येवास्मिंस्तद्वीर्याणि पुनः संदधत्युत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान्जुह्वति शुक्रेणैवैनं तत्सोमपीथेन समर्धयति ॥१॥ स जुहोति। सुरावन्तं बर्हिषदꣳ सुवीरमिति सुरावान्वाऽएष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी बर्हिषैवैनं यज्ञेन समर्धयति यज्ञꣳ हिन्वन्ति महिषा नमोभिरित्यृत्विजो वै महिषा यज्ञो नम ऋत्विग्भिरेव यज्ञꣳ समर्धयति यज्ञेन यजमानं दधानाः सोममिति सोमपीथमेवास्मिन्दधति दिवि देवतास्वित्ति दिव्येवैनं देवतासु दधति मदेमेन्द्रमिति मदाय वाव सोमो मदाय सुरोभावेव सोममदं च सुरामदं चावरुन्द्धे

'ये जो वन के भयंकर पशु हैं वे एक भयंकर देवता के रूप हैं। यदि दूध को इन पशुओं के बालों से गाढ़ा करे, तो पशुओं को रुद्र के मुख में रख दे और यजमान पशुओं से शून्य हो जाय। उसको न मिलाना चाहिए, अन्यथा यजमान के लिए पशुओं की प्राप्ति न होगी। रुद्र पशुओं का अधिपति है।' सुरा के ग्रहों को पशुओं के बालों से गाढ़ा करता है। इस प्रकार उसमें रुद्र का भाग मिला देता है। इसलिए सुरा पीकर लोगों की रुद्र की-सी प्रकृति हो जाती है। इस प्रकार रुद्र के बाणों को केवल वन के पशुओं तक ही सीमित रखता है, गाँव के पशुओं की रक्षा के लिए। इसके पशु ठीक रहते हैं। वे रुद्र के मुख में नहीं रहते ॥२०॥

"या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति। श्येनं पतत्रिणँ् सिँहँ् सेमं पात्वँहसः" (यजु० १९।१०)—"यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्ने अनृणो ऽ भवाम्यहतौ पितरौ मया" (यजु० १९।११)—"जो विषूचिका रोग व्याघ्र और वृक दोनों की रक्षा करता है, बाज की और सिंह की, वह मुझे भी बुराई से बचावे" (अर्थात् जैसे वन के जीवों को यह रोग नहीं होता उसी प्रकार मुझे भी न हो)।" "यतः मैंने प्रसन्नपुत्र होकर अपनी माता का दूध पिया, उस ऋण से हे अग्नि, अब मैं मुक्त होता हूँ। मेरे माता-पिता मेरे द्वारा कष्ट में नहीं हैं" ॥२१॥

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता वेदी के पीछे पूर्व की ओर मुड़कर बाज के पंखों से यजपान को नीचे और ऊपर शुद्ध करते हैं। यह प्राण और उदान का रूप है, प्राण और उदान की प्राप्ति के लिए, क्योंकि यह प्राण शरीर में ऊपर और नीचे संचरित होता है। "सम्पृच स्थ संमा भद्रेण पृङ्क्त" (यजु० १९।११)—"तुम मिले हुए हो, मुझसे कल्याण को मिला दो"—इससे दूध के ग्रह को छूता है। इस प्रकार यजमान को श्री और यज्ञ से सम्पन्न करता है। "विपृच स्थ विमा पाप्मना पृङ्क्त" (यजु० १९।११)—तुम अलग-अलग हो, मुझे बुराई से अलग करो"—इससे सुराग्रह को छूता है। इस प्रकार यजमान को बुराई से दूर करता है ॥२२॥

ग्रहभक्षणसुरापावनादि

अध्याय ८—ब्राह्मण १

इन्द्र का जो पराक्रम तथा वीर्य उससे चला गया था, उसको देवों से इस (सौत्रामणि) यज्ञ के द्वारा फिर लौटाया। इसके लिए दूध के ग्रह तथा सुरा के ग्रह ग्रहण किये जाते हैं। इसके द्वारा इन्द्र के पराक्रम तथा वीर्य को उसमें स्थापित करते हैं। उत्तर-वेदी में दूध के ग्रहों की आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके द्वारा शुक्र अर्थात् सोमपान से उसको सम्पन्न किया जाता है ॥१॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"सुरावन्तं बर्हिषदँ् सुवीरं यज्ञँ् हिन्वन्ति महिषा नमोभिः। दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः" (यजु० १९।३२)—यह जो सौत्रामणी यज्ञ है वह 'सुरावान् बर्हिषद्' है। इस बर्हिषद् यज्ञ के द्वारा इसको पूरा करता है। 'महिषा' ऋत्विज हैं। 'नम' यज्ञ है। इस प्रकार ऋत्विजों द्वारा यज्ञ को समृद्ध करता है। "दधानाः सोमं।" इसमें सोम को स्थापित करता है। इसको द्यौलोक में देवताओं के मध्य में रखता है। "मदेम इन्द्रं।" सोम आनन्द के लिए है। सुरा आनन्द के लिए है। इस प्रकार सोम

यजमानाः स्वर्का इत्यर्को वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्धयति कृत्वा भक्षयन्ति समृद्धमेवास्य तदर्धयन्ति ॥२॥ स भक्षयति । यमश्विना नमुचेरासु-रादधीत्यश्विनौ ह्येतं नमुचेरध्याहरताꣳ सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियायेति सरस्वती ह्ये-तमसुनोदिन्द्रियायेमं तꣳ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुमिति शुक्रो वाऽएष मधुमानिन्दुर्य-त्सोमः सोमꣳ राजानमिह भक्षयामीति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति दक्षि-णोऽग्नौ सुराग्रहाञ्जुह्वति पाप्मनैवैनं तद्व्यावर्तयन्ति ॥३॥ स जुहोति । यस्ते रसः सम्भृत ओषधीष्वित्यपां च वाऽएष ओषधीनां च रसो यत्सुरापां चैनमेतदोषधी-नां च रसेन समर्धयति सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्येति य एव सोमे शुष्मो यः सुरायां तमेवावरुन्द्धे तेन जिन्व यजमानं मदेनेति तेन प्रीणीहि यजमानं मदे-नेत्येवैतदाह सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निमिति देवताभिरेव यज्ञꣳ समर्धयति देव-ताभिर्यज्ञेन यजमानꣳ कृत्वा भक्षयन्ति व्यृद्धमेवास्य तत्समर्धयति ॥४॥ स भक्षयति । यदत्र रिप्तꣳ रसिनः सुतस्येति सुतासुतयोरेव रसमवरुन्द्धे यदिन्द्रोऽअपिबच्छ-चीभिरितीन्द्रो ह्येतदपिबच्छचीभिरहं तदस्य मनसा शिवेनेत्यशिव-इव वाऽएष भक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य शिवमेवैनमेतत्कृत्वात्मन्धत्ते सोमꣳ राजानमिह भक्षया-मीति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति ॥५॥ तद्धैतदन्येऽध्वर्यवः । राजन्यं वा वैश्यं वा परिक्रीणन्ति स एतद्भक्षयिष्यतीति तदु तथा न कुर्याद्यो ह वाऽएतद्भ-क्षयति तस्य हैवं पितॄन्पितामहानेष सोमपीथोऽन्वेति दक्षिणस्यैवाग्नेरन्वाहार्य-पचनस्याङ्गा-राभिर्वर्त्य बहिष्परिधि तदेताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥६॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति । पितॄनेव पितृलोके स्वधायां दधाति पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति पितामहानेव पितामहलोके स्वधायां दधाति प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति प्रपितामहानेव प्रपितामहलोके स्वधायां दधाति ॥७॥ अप आनीय निनयति । अक्षन्पितर इत्यन्नाद्यमेवैषु दधात्यमीमदन्त पितर

का आनन्द और सुरा का आनन्द दोनों को प्राप्त करता है। "यजमानाः स्वर्काः"—'अर्क' कहते हैं देवों के अन्न को। यज्ञ है अन्न। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा इस यज्ञ को सम्पन्न करता है। आहुति देकर (दूध) भक्षण करते हैं। इसकी जो समृद्धि है उसको बढ़ाते हैं ॥२॥

वह इस मन्त्र से भक्षण करता है—"यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय। इमं तँ्॰ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुँ्॰ सोमँ्॰ राजानमिह भक्षयामि" (यजु० १९।३४)—"असुर नमुचि से वे अश्विन सोम तो लाए ही थे। सरस्वती ने इस सोम को इन्द्र की शक्ति के लिए निचोड़ा था। यह सोम शुक्र (चमकदार) भी है और मीठा भी। हे सोम राजा! मैं तुझको पीता हूँ।" इस दूध का पान मानो सोमपान हो जाता है। दक्षिण-वेदी पर सुराग्रहों की आहुति देता है। इसके द्वारा इसके पाप की निवृत्ति करता है ॥३॥

यह आहुति इस मन्त्र से दी जाती है—"यस्ते रसः सम्भृत ऽओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य। तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्" (यजु० १९।३३)—"यह जो सुरा है वह जलों और ओषधियों का रस है। इस प्रकार इसको जलों और ओषधियों के रस से समृद्ध करता है। सोम में जो शक्ति है और जो सुरा में, उन दोनों का लाभ करता है। 'तेन जिन्व यजमानं मदेन' का तात्पर्य है कि उस आनन्द से यजमान को प्रसन्न कर। सरस्वती और अश्विन, इन देवताओं से यज्ञ को बढ़ाता है और उन्हीं देवताओं और यज्ञ के द्वारा यजमान को। आहुति देकर सुरा का पान करते हैं। इस प्रकार जो त्रुटि होती है, उसको दूर करते हैं ॥४॥

इस मन्त्र से (सुरापान) किया जाता है—"यदत्र रिप्तँ्॰ रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो ऽ अपिबच्छचीभिः। अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमँ्॰ राजानमिह भक्षयामि" (यजु० १९।३५)—"जो यहाँ रसवाले सुत अर्थात् सोम से मिला है, इससे रस की प्राप्ति कराता है जिसको इन्द्र ने बड़ी उत्सुकता से पिया।" उसको वह 'शिवेन मनसा' शुभ मन से पीता है।" ब्राह्मण के लिए सुरा अभक्ष है। उसको शुभ मानकर पीता है। 'मैं राजा सोम को पीता हूँ।' ऐसा कहने से सोम पिया हुआ मान लिया जाता है ॥५॥

कुछ अध्वर्यु इस (सुरा) को पिलाने के लिए किसी वैश्य या क्षत्रिय को किराए पर ले लेते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो इसको पीता है उसी के पिता या पितामहों को यह सुरा तलाश करती है। दक्षिण-वेदी से तीन अंगारे लेकर परिधि के बाहर रक्खे और इन व्याहृतियों से आहुति देवे—॥६॥

"पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः"—पितृलोक में पितरों को स्वधा देता है। "पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः"—पितामहलोक में पितामहों को स्वधा देता है। "प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः"—प्रपितामहलोक में प्रपितामहों को स्वधा कर देता है ॥७॥

जल को लाकर उन ग्रहों में छोड़ता है। 'पितरों ने पी लिया' यह कहकर उनको अन्न पहुँचाता है। 'पितर खुश हो गए' यह कहकर उनको तृप्त करता है। 'पितर तृप्त हो गए'

इति मदयत्येवैनानतीतृपन्त पितर इति तर्पयत्येवैनान्पितरः शुन्धध्वमित्यनुपूर्व-मेवैनान्त्सर्वान्पावयति पवित्रं वै सौत्रामणी ॥८॥ त्रिभिः पवित्रैः पावयन्ति । त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनं लोकैः पुनन्ति ॥९॥ पावमानीभिः पावयन्ति । पवित्रं वै पावमान्यः पवित्रेणैवैनं पुनन्ति ॥१०॥ तिसृभिस्तिसृभिः पावयन्ति । त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेवैनं पुनन्ति ॥११॥ नवभिः पावयन्ति । नव वै प्राणाः प्राणैरेवैनं पुनन्ति प्राणेषु पुनः पूतं प्रतिष्ठापयन्ति ॥१२॥ पवित्रेण पावयन्ति । अजाविकस्य वाऽएतद्रूपं यत्पवित्रमजाविकेनैवैनं पुनन्ति ॥१३॥ वालेन पावयन्ति । गोऽश्वस्य वाऽएतद्रूपं यद्वालो गोऽश्वेनैवैनं पुनन्ति ॥१४॥ हिरण्येन पावयन्ति । देवानां वाऽएतद्रूपं यद्धिरण्यं देवानामेवैनं रूपेण पुनन्ति ॥१५॥ सुरया पावयन्ति । सुरा हि पूता पूतयैवैनं पुनन्ति तद्यथा सुरा पूयमाना बल्कसेन विविच्यतऽएवमेवैतद्यजमानः सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वान्त्सौत्रामण्या यजति यो वैतदेवं वेद ॥१६॥ तदाहुः । याजयितव्या७ सौत्रामण्या३ न याजयितव्या३मित्यनन्तराय७ ह्येवास्मात्सर्वं पाप्मानमपघ्नन्तीति तद्ध स्माह रेवोत्तरा स्थपतिः पाटवश्चाक्रोऽपि प्रदानं प्रदाय याजयितव्यमेवात्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजो यत्र वाऽआत्मा पूतः पूतानि तत्राङ्गान्युभयऽएव पुनतऽउभये पाप्मानमपघ्नते तस्मादपि प्रदानं प्रदाय याजयितव्यमेवेति ॥१७॥ पितृलोकं वाऽएतेऽन्ववयन्ति । ये दक्षिणेऽग्नौ चरन्त्याज्याहुतिं जुहोति यज्ञो वाऽआज्यं यज्ञादेव यज्ञे प्रतितिष्ठन्ति ॥१८॥ स जुहोति । ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पतामिति पितॄनेव यमे परिददात्यथो पितृलोकमेव जयति सर्वे यज्ञोपवीतानि कृत्वोत्तरमग्निमुपसमायन्त्ययं वै लोक उत्तरोऽग्निरस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठन्त्याज्याहुतिं जुहोति यज्ञो वाऽआज्यं यज्ञादेव यज्ञे प्रतितिष्ठन्ति ॥१९॥ स जुहोति । ये समानाः समन-

यह कहकर उनको तृप्त करता है। "पितरः शुन्धध्वम्" (पितरो ! तुम शुद्ध हो जाओ), इस प्रकार क्रमशः इनको पवित्र करता है। सौत्रामणी यज्ञ पवित्र करने के लिए ही होता है ॥८॥

तीन पवित्रों से पवित्र करते हैं। तीन लोक हैं। इन्हीं तीनों लोकों के द्वारा उसको पवित्र करते हैं ॥९॥

'पवमान' वाले मन्त्रों से पवित्र करते हैं। 'पवमान' वाले मन्त्र पवित्र करनेवाले हैं। इस प्रकार पवमानवाले मन्त्रों से पवित्र करते हैं ॥१०॥

तीन-तीन मन्त्रों से पवित्र करते हैं। तीन प्राण हैं—प्राण, उदान, व्यान। उनसे पवित्र करते हैं ॥११॥

नौ मन्त्रों से पवित्र करते हैं। प्राण नौ हैं। इसको प्राणों द्वारा पवित्र करते हैं और प्राणों में ही इस पवित्र किये हुए को प्रतिष्ठित करते हैं ॥१२॥

पवित्रे या छन्ना से पवित्र करते हैं। यह छन्ना बकरे और भेड़ का रूप है। इस प्रकार बकरे और भेड़ के इस छन्ने से पवित्र करते हैं ॥१३॥

बालों से पवित्र करते हैं। यह गौ और घोड़े का रूप है। इस प्रकार गौ और घोड़े के रूप से पवित्र करते हैं ॥१४॥

स्वर्ण से पवित्र करते हैं। यह सोना देवों का रूप है। देवों के इस रूप से पवित्र करते हैं ॥१५॥

सुरा से पवित्र करते हैं। सुरा पवित्र की हुई है। इस प्रकार पवित्र की हुई चीज से उसको पवित्र करते हैं। जैसे सुरा को पवित्र करते समय उसका मैल दूर हो जाता है, इसी तरह जो सौत्रामणी यज्ञ करता है या केवल जानता है, वह यजमान सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है ॥१६॥

इसपर लोगों का कहना है कि सौत्रामणी यज्ञ करे या न करे, क्योंकि सब पापों से छूटने का निरन्तर प्रयत्न होता ही है। रेवोत्तरास्थपति पाटवश्चाक्र ने एक बार कहा था कि 'अपनस्व का दान करके भी यज्ञ करना चाहिए।' यजमान यज्ञ का शरीर है और ऋत्विज अंग है। जिसका शरीर पवित्र है उसके अंग भी पवित्र हैं। दोनों पवित्र करते हैं। दोनों पाप को हरते हैं। इसीलिए अपना समर्पण करके भी यज्ञ करना चाहिए ॥१७॥

जो दक्षिण अग्नि में यज्ञ करते हैं वे पितृलोक को जाते हैं। घी की आहुति देता है। घी यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ की यज्ञ में प्रतिष्ठा करता है ॥१८॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये। तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्" (यजु० १९।४५)—इससे पितरों को यमलोक भेजता है और पितृ-लोक को जीत लेता है। यज्ञोपवीत पहनकर वे सब उत्तरवेदी को जाते हैं। उत्तरवेदी यह लोक है। इस लोक में ठहरते हैं। घी की आहुति देता है। घी यज्ञ है। यज्ञ से यज्ञ को प्रतिष्ठित करता है ॥१९॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—

सो जीवा जीवेषु मामकाः   तेषां७ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं७ समा इति स्वानामेव श्रियमवरुन्द्धेऽथो इयोग्जीवातुमेवेषु दधाति पयः समन्वारब्धेषु जुहोति प्राणो वाऽअन्नं पयः प्राणऽएवान्नाद्येऽन्ततः प्रतितिष्ठन्ति ॥२०॥ स जुहोति । द्वे सृतीऽअशृणवं पितृणामहमिति द्वे वाव सृतीऽइत्याहुर्देवानां चैव पितृणां चेति ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेतीति ताभ्यां७ होदं७ सर्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेत्यसौ वै पितेयं माताभ्यामेव पितॄन्देवलोकमपिनयत्येकाकी हुतोच्छिष्टं भक्षयत्येकधैव श्रियमात्मन्धत्ते श्रीर्हि पयः ॥२१॥ स भक्षयति । इदं७ हविः प्रजननं मेऽअस्त्विति प्रजननं७ हि यदि पयो यदि सोमो दशवीरमिति प्राणा वै दश वीराः प्राणानेवात्मन्धत्ते सर्वगणमित्यङ्गानि वै सर्वे गणा अङ्गान्येवात्मन्धत्ते स्वस्तयऽआत्मसनीत्यात्मानमेव सनोति प्रजासनीति प्रजामेव सनोति पशुसनीति पशूनेव सनोति लोकसनीति लोकाय वै यजते तमेव जयत्यभयसनीति स्वर्गो वै लोकोऽभयं७ स्वर्गऽएव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतोऽस्मासु धत्तेति तद्यऽएवेनमेते याजयन्ति तानेतदाहैतन्मयि सर्वं धत्तेति हिरण्येन मार्जयन्तेऽमृतं वै हिरण्यममृतऽएवान्ततः प्रतितिष्ठन्ति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५॥ [८. १.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१२० ॥ ॥

प्रजापतिर्यज्ञमसृजत । तमाहृत्तेनायजत तेनेष्ट्वा रिरिचान-इवामन्यत स एतं यज्ञक्रतुमपश्यत्सौत्रामणीं तेनायजत ततो वै स पुनराप्यायत रिच्यतऽइव वाऽएष यः सोमेन यजते वीव ह्यस्य वित्तं वेदो हरन्ति ॥१॥ सोमेनेष्ट्वा सौत्रामण्या यजेत । यथा धेनुर्दुग्धा पुनराप्यायेतैवं७ हैव पुनराप्यायतऽआ प्रजया पशुभिः प्यायते प्रत्यस्मिँल्लोके तिष्ठत्यभि स्वर्गं लोकं जयति य एवं विद्वान्सौत्रामण्या यजते यो वैतदेवं वेद ॥२॥ तद्धैतत्पप्रच्छ । सुप्ला सार्ञ्जयः प्रतीदर्शमैभावतं यन्न दीक्षयेव दीक्षते न सोमा७शव-इव न्युप्यन्तेऽथ कथं७ सौत्रामणी सोमयज्ञो

"ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषाᳬ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतᳬ समाः" (यजु० १६।४६)—"ये जो मेरे सम्बन्धी और एक-से विचारवाले लोग हैं, वे इस लोक में सौ वर्ष तक श्री और यज्ञ से सम्पन्न रहें।" यह अपने लोगों की समृद्धि के लिए है। दीर्घ जीवन इनमें स्थापित करता है। अध्वर्यु दूध की आहुति देता है। प्राण अन्न है। दूध प्राण है। इस प्रकार अन्ततः अन्न को प्रतिष्ठित करता है ॥२०॥

वह इस मंत्र से आहुति देता है—"द्वे सृती ऽ अश्रृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" (यजु० १६।४७)—"मैंने दो मार्ग सुने हैं पितरों के और देवों के। इन दोनों के बीच में सब प्राणी चलते हैं, जो कुछ माँ और बाप के बीच में है।" द्यौ पिता है। पृथिवी माता है। इन्हीं के द्वारा वह पितरों को देवलोक में पहुँचाता है। आहुति देकर अकेला उच्छिष्ट को खाता है। एक बार ही श्री को आत्मा में धारण करता है। दूध श्री है ॥२१॥

इस मंत्र से खाता है—"इदं हविः प्रजननं मे ऽ अस्तु दशवीरᳬ सर्वगणᳬ स्वस्तये। अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो ऽ अस्मासु धत्त" (यजु १६।४८)—"यह हवि मुझको उत्पादक शक्ति दे।" उत्पादक शक्ति तो देगी ही, चाहे दूध की हो चाहे सोम की। 'दशवीर' प्राण है। प्राण को अपने में धारण करता है। सर्वगण अंग हैं। इन सब अंगों को अपने में धारण करता है। आत्मा को जीतता है, प्रजा को, पशुओं को, लोगों को। लोक के लिए यज्ञ करता है। उसी को जीतता है। 'अभय' नाम है स्वर्ग का। अन्त में स्वर्गलोक में ही प्रतिष्ठित होता है। "अग्नि मेरी प्रजा को बढ़ावे। मुझमें अन्न, दूध, वीर्य स्थापित करे।" जो यज्ञ करानेवाले हैं उनसे कहता है कि यह मुझमें स्थापित करो। स्वर्ण से पवित्र करते हैं, क्योंकि स्वर्ण अमृत है। अमृत में ही अन्न को स्थापित करते हैं ॥२२॥

सुरानिर्माणादि

अध्याय ८—ब्राह्मण २

प्रजापति ने (सोम) यज्ञ किया। उसने उसको लिया और यज्ञ किया। यज्ञ करके उसने अनुभव किया कि मैं तो बिल्कुल खाली हो गया। उसने इस सौत्रामणी यज्ञ को देखा। उस यज्ञ को किया। तब वह फिर भरपूर हो गया। जो सोमयज्ञ करता है, वह खाली हो जाता है। क्योंकि इसका धन तो इससे चला जाता है ॥१॥

सोमयज्ञ करके सौत्रामणी यज्ञ करे। जैसे गाय को दुह लो तो फिर भरने की जरूरत है, उसी प्रकार वह भी फिर भरपूर होना चाहता है प्रजा से और पशुओं से। जो सौत्रामणी यज्ञ को करता है या उसका ज्ञान रखता है, वह इस लोक में सन्तान और पशुओं से सम्पन्न हो जाता है और स्वर्गलोक को जीत लेता है ॥२॥

सुप्ला साञ्जय ने प्रतीदर्श ऐभावत से पूछा कि 'न तो दीक्षा होती है और न सोम के टुकड़े पीसे जाते हैं, फिर सौत्रामणी की गणना सोमयज्ञ में कैसे है?' ॥३॥

भवतीति ॥३॥ स होवाच । शिरो वाऽएतद्यज्ञस्य यद्व्रतमात्मा दीक्षैतत्खलु वै व्रतस्य रूपं यत्सत्यमेतद्दीक्षायै यच्छ्रद्धा मनो यजमानस्य रूपं वाग्यज्ञस्येति ॥४॥ स यद्वाचा व्रतमुपैति । आत्मन्येवैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति सत्यꣳ श्रद्धायां दधाति यजमानं यज्ञे ॥५॥ तस्मादेतस्य यज्ञस्य । व्रतमेव दीक्षा वृषो वै व्रतं योषा दीक्षा वृषा सत्यं योषा श्रद्धा वृषा मनो योषा वाग्वृषा पत्न्ये यजमानस्तस्माद्यत्रैव पतिस्तत्र जायाथो यज्ञमुखऽएव तन्मिथुनानि करोति प्रजात्यै ॥६॥ एते खलु वाऽएतस्य यज्ञस्य । सोमाꣳशव इत्याहुर्यच्छष्पाणि तोक्मानि लाजा इति ॥७॥ प्रातःसवनस्यैतद्रूपम् । यच्छष्पाण्ययं वै लोकः प्रातःसवनꣳ स आश्विन आश्विनेन पयसा प्रथमाꣳ रात्रिं परिषिञ्चति स्वेनैवैनमेतल्लोकेन स्वया देवतया स्वेन रूपेण प्रातःसवनेन समर्धयति ॥८॥ माध्यन्दिनस्यैतत्सवनस्य रूपम् । यत्तोक्मान्यन्तरिक्षं वै माध्यन्दिनꣳ सवनं तत्सारस्वतꣳ सारस्वतेन पयसा द्वितीयाꣳ रात्रिं परिषिञ्चति स्वेनैवैनमेतल्लोकेन स्वया देवतया स्वेन रूपेण माध्यन्दिनेन सवनेन समर्धयति ॥९॥ तृतीयसवनस्यैतद्रूपम् । यल्लाजा द्यौर्वै तृतीयसवनꣳ सैन्द्र्यैन्द्रेण पयसा तृतीयाꣳ रात्रिं परिषिञ्चति स्वेनैवैनमेतल्लोकेन स्वया देवतया स्वेन रूपेण तृतीयसवनेन समर्धयति ॥१०॥ एकस्यै दुग्धेन । प्रथमाꣳ रात्रिं परिषिञ्चति द्वयोर्दुग्धेन द्वितीयां तिसृणां दुग्धेन तृतीयां यथारूपमेवैनं यथादेवतꣳ सवनैः समर्धयति ॥११॥ परीतो षिञ्चता सुतमिति । परिषिञ्चति सुत्यायै सोमो य उत्तमꣳ हविरित्युत्तमं वाऽएतद्धविर्यत्सोम उत्तममेवैनꣳ हविष्करोति दधन्वा यो नर्योऽअप्स्वन्तरित्यद्भिश्च ह्येषोऽन्तरेण च सूयते सुषाव सोममद्रिभिरित्यद्रिभिर्वै सोमः सूयतेऽद्रिभिरेवैनꣳ सुनोति सोमसुत्यायै ॥१२॥ तदाहुः । उभयोर्वाऽएतद्रूपꣳ सुतस्य चासुतस्य च यत्सौत्रामण्यपामेष ओषधीनाꣳ रसो यत्पयस्तत्सुतस्य रूपमन्नस्यैष रसो यत्परिस्रुत्तदासुतस्य रूपमुभाभ्यामेवैनꣳ सवाभ्याꣳ सु-

उसने उत्तर दिया कि व्रत तो यज्ञ का सिर है, दीक्षा शरीर है। सत्य ही व्रत का असली रूप है, और श्रद्धा दीक्षा का। मन यजमान का रूप है और वाक् यज्ञ का ।।४।।

यह जो वाक् से व्रत करता है मानो यज्ञ के शिर को उसके शरीर में स्थापित करता है। सत्य को श्रद्धा में रखता है, यजमान को यज्ञ में ।।५।।

इसलिए इस (सौत्रामणी) यज्ञ का व्रत ही दीक्षा है। व्रत नर है, दीक्षा स्त्री। सत्य नर है, श्रद्धा नारी। मन नर है, वाणी नारी। यजमान नर है, उसकी पत्नी नारी। इसलिए जहाँ पति होता है, वहाँ पत्नी। इस प्रकार यज्ञ के आरम्भ में ही वह जोड़ों को उपस्थित करता है सन्तान के लिए ।।६।।

शष्प, तोक्य (जई) और लाजा यही इस यज्ञ के सोम के टुकड़े समझे जाने चाहिएँ ।।७।।

शष्प जो हैं सो प्रातःसवन का रूप हैं। यह लोक प्रातःसवन है। यह आश्विन का है। पहली रात को 'आश्विन दूध' डालता है। इस प्रकार वह यजमान को इसी के लोक से, इसी के देवता से, इसी के रूप प्रातःसवन से, सम्पन्न करता है ।।८।।

तोक्म (या जई) मध्यसवन के रूप हैं। मध्यसवन अन्तरिक्षलोक है। यह सरस्वती का है। दूसरी रात को 'सरस्वती के दूध' को डालता है। इस प्रकार यजमान को उसी के लोक, उसी के देवता और उसी के रूप द्वारा माध्यन्दिन-सवन से सम्पन्न करता है ।।९।।

लाजा तीसरे सवन का रूप है। द्यौ तीसरा सवन है, वह इन्द्र का है। तीसरी रात को इन्द्र-सम्बन्धी दूध डालता है। इस प्रकार यजमान को उसी के लोक, उसी के देवता और उसी के रूप द्वारा तीसरे सवन से सम्पन्न करता है ।।१०।।

पहली रात को एक गाय का दूध डालता है, दूसरी को दो का और तीसरी को तीन का इस प्रकार इस यज्ञ को रूप और देवता की अपेक्षा (तीनों) सवनों से सम्पन्न कर देता है। (तात्पर्य यह है कि तीन सवन सोमयज्ञ में होते हैं। सौत्रामणी में भी तीन सवन हो गये। इस प्रकार सौत्रामणी भी सोमयज्ञ हो गया) ।।११।।

"परीतो षिञ्चता सुतम्" (यजु० १९।२)—"निचोड़े हुए के लिए डालो"—इससे दूध डालता है सोमयज्ञ की बराबरी के लिए—"सोमो य ऽ उत्तमँ हविः"—(यजु० १९।२)—"यह जो सोम है वह उत्तम हवि है।" इस प्रकार इसको 'उत्तम हवि' बनाता है। "दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः" (यजु० १९।२)—"जो वीर जलों में घुस गया और उनके भीतर है। मैं सोम को पत्थरों पर पीसता हूँ।" सोम जल में ही पीसा जाता है और पत्थरों पर। इसलिए सोम की बराबरी के लिए (सौत्रामणी-सम्बन्धी इन चीजों को भी) जल में पत्थरों पर पीसते हैं ।।१२।।

कहा जाता है कि सौत्रामणी दोनों प्रकार के सोम का रूप है—'सुत' (पीसे हुए) का और असुत का। दूध ओषधि तथा जल का रूप है, इसलिए वह तो सुत सोम का रूप हुआ। सुरा जो है वह अन्न का रूप है। यह असुत सोम का रूप हुआ। इस प्रकार के 'सवों' से यज्ञ करता है।

नोत्युभाभ्याᳫं सवाभ्यामवरुन्द्धे ॥१३॥ तदाहुः । यद्ग्रावभिः सोमः सूयतेऽथ कथᳫं सौत्रामणीति प्रैषाप्रीभिरिति ब्रूयाद्बार्हता वै प्रैषा बार्हता ग्रावाणो ग्रावभिर्वै सोमः सूयते ग्रावभिरेवैनᳫं सुनोति सोमसुत्यायै ॥१४॥ सर्वे पयस्वन्तो भवन्ति । पयसा हि सूयते सर्वे सोमवन्तो भवन्ति सोमरूपतायै सर्वे परिस्रुन्मन्तो भवन्ति परिस्रुता हि सूयते सर्वे घृतवन्तो भवन्त्येतद्वै प्रत्यक्षाद्यज्ञरूपं यद्घृतं प्रत्यक्षादेवैनं यज्ञरूपं करोति सर्वे मधुमन्तो भवन्त्येतद्वै प्रत्यक्षात्सोमरूपं यन्मधु प्रत्यक्षादेवैनᳫं सोमरूपं करोति ॥१५॥ ॥ शतम् ६३०० ॥ ॥ सर्वऽआश्विना भवन्ति । भैषज्याय सर्वे सारस्वता अन्नाद्यस्यैवावरुद्ध्यै सर्वऽऐन्द्रा इन्द्रियस्यैव वीर्यस्यावरुद्ध्यै ॥१६॥ यद्वेव सर्वऽआश्विना भवन्ति । सर्वे सारस्वताः सर्वऽऐन्द्रा एता वाऽएतं देवता अग्रे यज्ञᳫं समभरंस्ताभिरेवैनᳫं सम्भरत्यथोऽएता एवैतद्देवता भागधेयेन समर्धयति ॥१७॥ संतता याज्यापुरोऽनुवाक्या भवन्ति । समानदेवत्याः प्रज्ञानाᳫं संतत्याऽअव्यवच्छेदाय सर्वा आश्विन्यो भवन्ति सर्वाः सारस्वत्यः सर्वा ऐन्द्र्यः समानी बन्धुता ॥१८॥ अनुष्टुभ आप्रियो भवन्ति वाग्वाऽअनुष्टुब्वाचो वै सोमः सूयते वाचैवैनᳫं सुनोति सोमसुत्यायै सर्वा आश्विन्यो भवन्ति सर्वाः सारस्वत्यः सर्वा ऐन्द्र्यः समानी बन्धुता ॥१९॥ जागता अनुप्रैषा भवन्ति । इयं वै जगत्यनया वै सोमः सूयतेऽनयैवैनᳫं सुनोति सोमसुत्यायै सर्वऽआश्विना भवन्ति सर्वे सारस्वताः सर्वऽऐन्द्राः समानी बन्धुता ॥२०॥ स वाऽएष प्रत्यक्षात्सोमयज्ञ एव यत्सौत्रामणी । तं यद्येकाकी यजमानो भक्षयेदिष्टिर्वैव स्यात्पशुबन्धो वा सर्वऽऋत्विजो भक्षयन्ति सर्वे वाऽऋत्विजः सोमं भक्षयन्ति सोमरूपतायै ॥२१॥ आश्विनमध्वर्यवो भक्षयन्ति । अश्विनौ वै देवानामध्वर्यू स्वमेवैतद्भागधेयᳫं स्वऽआयतने भक्षयन्ति ॥२२॥ सारस्वतᳫं होता ब्रह्मा मैत्रावरुणः । वाग्वै यज्ञस्य होता हृदयं ब्रह्मा मनो मैत्रावरुणः स्वमेवै० ॥२३॥ ऐन्द्रं यजमानो भक्षयति । ऐन्द्रो

दोनों प्रकार के 'सवों' की प्राप्ति करता है ॥१३॥

प्रश्न होता है कि सोम तो सिल पर पीसा जाता है, सौत्रामणी कैसे? इसका उत्तर यह है कि 'प्रैष और आप्रि मन्त्रों द्वारा।' (प्रैष उन आज्ञाओं को कहते हैं जिनके द्वारा मैत्रावरुण होता से आहुतियों के मन्त्र कहलवाता है) 'प्रैष' बृहती छन्द में हैं और सिल बृहती का गुण रखती है। सोम सिल पर पीसा जाता है। इस (सौत्रामणी की चीजों) को भी सिल पर पीसते हैं, सोम यज्ञ की समानता करने के लिए ॥१४॥

इन सब 'प्रैष' मन्त्रों में भी 'पयः' शब्द आता है, क्योंकि सोम यहाँ दूध के रूप में निकाला जाता है। इन सब में 'सोम' शब्द भी होता है, जिससे सोमयाग की समानता हो जाय। इन सबमें परिस्रुत् शब्द आता है, क्योंकि सोम परिस्रुत् या सुरा के रूप में पीसा जाता है। इन सबमें 'घृत' शब्द भी होता है, क्योंकि घी यज्ञ का प्रत्यक्ष रूप है। इस प्रकार इसको प्रत्यक्ष रूप में यज्ञ का रूप देता है। इन सबमें 'मधु' शब्द होता है। यह मधु प्रत्यक्ष में 'सोम' का रूप है। इस प्रकार प्रत्यक्ष में इसको सोम का रूप प्रदान करता है ॥१५॥

इन सबका अश्विनों से सम्बन्ध होता है इलाज के लिए; सरस्वती से भी, अन्न आदि की प्राप्ति के लिए; इन्द्र से भी, पराक्रम तथा वीर्य के लाभार्थ ॥१६॥

ये सब अश्विनों, सरस्वती तथा इन्द्र से सम्बन्धित क्यों होते हैं? इन देवताओं ने ही पहले यज्ञ तैयार किया था। उन्हीं के द्वारा इसको भी कराता है और इन देवताओं को भी भाग देता है ॥१७॥

याज्य और अनुवाक्य संतत (जारी) रहते हैं और एक ही देवता के लिए, जिससे प्रजा बराबर रहे, उसका व्यवच्छेद न हो। सब अश्विनों की, सरस्वती की और इन्द्र की होती हैं। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है ॥१८॥

आप्रि-मन्त्र अनुष्टुभ् छन्द में होते हैं। वाक् अनुष्टुभ् है। वाक् द्वारा ही सोम निकाला जाता है। वाक् से ही इस (सौत्रामणी) को निकालता है, जिससे सोमयाग के समान हो जाय। सब अश्विनों, सरस्वती और इन्द्र से सम्बन्ध रखती हैं। इसकी व्याख्मा पहले हो चुकी है ॥१९॥

अनुप्रैष मन्त्र जगती छन्द के होते हैं। यह पृथिवी जगती है। इसी से सोम निकाला जाता है। इसी से इस (सौत्रामणी को) निकालता है सोम की समानता के लिए। सब अश्विनों, सरस्वती तथा इन्द्र से सम्बन्धित होते हैं। इसकी व्याख्या हो चुकी है ॥२०॥

यह जो सौत्रामणी है वह प्रत्यक्ष सोम यज्ञ ही है। इसको यजमान अकेला खावे तो वह इष्टि है। यदि सब खावें तो पशुबन्ध हो जाता है। सब ऋत्विज इसको खाते हैं सोमयज्ञ की समानता के लिए ॥२१॥

अश्विनों के भाग को अध्वर्यु लोग खाते हैं। दो अश्विन देवों के दो अध्वर्यु हैं। इस प्रकार अपना ही भाग अपने ही घर में खाते हैं ॥२२॥

होता, ब्रह्मा और मैत्रावरुण सरस्वती के भाग को खाते हैं! वाक् यज्ञ का होता है। हृदय ब्रह्मा है। मन मैत्रावरुण है। इस प्रकार अपना ही भाग अपने ही घर में रखते हैं ॥२३॥

यजमान इन्द्र का भाग खाता है।

वा ऽएष यज्ञो यत्सौत्रामणीन्द्रायतन एष एतर्हि यो यजते स्वमेवैतद्भागधेयꣳ स्व
ऽआयतने भक्षयति ॥२४॥ चक्षुर्वा ऽआश्विनो ग्रहः । प्राणः सारस्वतो वागैन्द्र
आश्विनात्सारस्वते ऽवनयति चक्षुरेवास्य तत्प्राणैः संदधाति सारस्वतादैन्द्रे प्रा-
णानेवास्य तद्वाचा संदधात्यथो प्राणानेवास्य तद्वाचि प्रतिष्ठापयति तस्मात्सर्वे
प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः ॥२५॥ अथ आश्विनं भक्षयन्ति । अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाताग्नी-
धस्त्रिवृद्वा ऽइदं चक्षुः शुक्लं कृष्णं कनीनका यथारूपमेवास्मिंश्चक्षुर्दधाति ॥२६॥
अथः सारस्वतꣳ । होता ब्रह्मा मैत्रावरुणस्त्रेधाविहितो वा ऽअयं प्राणः प्राण उ-
दानो व्यान इति यथारूपमेवास्मिन्प्राणं दधाति ॥२७॥ एकाकैवैन्द्रं यजमानो भ-
क्षयति । एकधा वा ऽएषा प्राणानाꣳ श्रीर्यद्वागेकधैव वाचꣳ श्रियमात्मन्धत्ते त-
स्मात्सौत्रामण्येजान एकधा स्वानाꣳ श्रेष्ठो भवत्यथो य एवमेतद्वेद ॥२८॥ ऋतवो
वा ऽऋत्विजः । मासा भक्षाः षडृत्विजो भक्षयन्ति षड्वा ऽऋतव ऋत्विग्भिरेवर्तूनवरुन्द्धे
॥२९॥ द्वादश भक्षा भवन्ति । द्वादश मासा भक्षैरेव मासानवरुन्द्धे पुनःपुनरभि-
निवर्तमृत्विजो भक्षयन्ति तस्मादृतवश्च मासाश्चान्योऽन्यमभिनिवर्तन्ते ॥३०॥ त्रयो-
दशं यजमानो भक्षयति । यो ह वा ऽएष त्रयोदशो मास एष एव प्रत्यक्षात्संव-
त्सर एतमेवाप्त्वावरुन्द्धे स वा ऽएष संवत्सर एव यत्सौत्रामणी तेन सर्वं जयति
सर्वमवरुन्द्धे ॥३१॥ त्रयः पशवो भवन्ति । त्रयो वा इमे लोका इमानेव तैर्लो-
कानवरुन्द्ध ऽइममेव लोकमाश्विनेनान्तरिक्षꣳ सारस्वतेन दिवमैन्द्रेण यथारूपमेव
यथादेवतमिमाँल्लोकाञ्जयति चाव च रुन्द्धे ॥३२॥ त्रयः पुरोडाशा भवन्ति । त्रयो
वा ऽऋतव ऋतूनेवैतैरवरुन्द्धे ग्रीष्ममेवैन्द्रेण वर्षाः सावित्रेण हेमन्तं वारुणेन
यथारूपमेव यथादेवतमृतूञ्जयति चाव च रुन्द्धे ॥३३॥ षड्ग्रहा भवन्ति । षड्वा
ऽऋतव ऋतूनेवैतैरवरुन्द्धे वसन्तग्रीष्मावेवाश्विनाभ्यां वर्षाशरदौ सारस्वताभ्याꣳ
हेमन्तशिशिरावैन्द्राभ्यां यथारूपमेव यथादेवतमृतूञ्जयति चाव च रुन्द्धे ॥३४॥

सौत्रामणी इन्द्र का यज्ञ है। यह जो यज्ञ करता है इन्द्र के ही घर का वासी है। इस प्रकार अपने भाग को अपने ही घर में खाता है ॥२४॥

अश्विन ग्रह चक्षु है, सारस्वत ग्रह प्राण है, इन्द्र ग्रह वाक् है। अश्विन ग्रह से सारस्वत ग्रह में उँडेलता है, इससे प्राणों मे चक्षु का मेल कराता है। सारस्वत ग्रह से ऐन्द्र ग्रह में, इस प्रकार प्राण और वाणी का मेल कराता है और उसके प्राण के द्वारा उसको वाक् में स्थापित करता है। इसलिए सब प्राण वाणी में प्रतिष्ठित हैं ॥२५॥

अश्विन ग्रह को तीन खाते हैं—अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र। इस आँख के भी तीन भाग हैं—सफेद, काला, पुतली; इस प्रकार इसमें यथारूप चक्षु देता है ॥२६॥

सारस्वत ग्रह को तीन खाते हैं—होता, ब्रह्मा, मैत्रावरुण। प्राण के भी तीन भाग हैं—प्राण उदान, व्यान। इस प्रकार इसमें यथारूप प्राण देता है ॥२७॥

यजमान इन्द्र के भाग को अकेला खाता है। यह जो प्राणों की श्री वाक् है, वह अकेली होती है। इस प्रकार शरीर में वाक्रूपी श्री को एकसाथ ही रखता है। इसलिए जो सौत्रामणी यज्ञ करता है या जानता है, वह अपने आदमियों में सबसे श्रेष्ठ होता है ॥२८॥

ऋतु ऋत्विज हैं। महीने भक्ष हैं। छः ऋत्विज खाते हैं। छः ही ऋतुएँ हैं। इस प्रकार ऋत्विजों से ऋतुओं को प्राप्त करता है ॥२९॥

भक्ष बारह होते हैं, बारह मास हैं। भक्षों द्वारा मासों की प्राप्ति करता है। ऋत्विज लोग पारी-पारी से बार-बार खाते हैं। इसी प्रकार ऋतु और महीने पारी-पारी से बार-बार आते हैं ॥३०॥

तेरहवाँ भाग यजमान खाता है। यह तेरहवाँ महीना भी तो प्रत्यक्ष रूप से संवत्सर है। इस प्रकार इसकी प्राप्ति करता है। यह जो सौत्रामणी है, वह संवत्सर ही है। इससे सबको जीतता है, सबकी प्राप्ति करता है ॥३१॥

तीन पशु होते हैं। ये लोक तीन हैं। इन पशुओं द्वारा इन तीन लोकों को प्राप्त करता है। अश्विन पशु के द्वारा इस लोक को, सारस्वत पशु के द्वारा अन्तरिक्ष को और ऐन्द्र पशु द्वारा द्यौ को। रूप और देवता के अनुसार ही इन लोकों को जीतता है और इनको प्राप्त करता है ॥३२॥

तीन पुरोडाश होते हैं। तीन ऋतुएँ। इनसे ऋतुओं की प्राप्ति करता है। इन्द्र के पुरोडाश से ग्रीष्म को, सविता के से वर्षा को और वरुण के से हेमन्त को। इस प्रकार रूप और देवता के अनुसार इनको जीतता है और प्राप्त करता है ॥३३॥

छः ग्रह होते हैं। छः ऋतु। इनसे ऋतुओं की ही प्राप्ति करता है। अश्विनों के दो ग्रहों से वसन्त और ग्रीष्म, दो सारस्वत ग्रहों से वर्षा तथा शरद्, इन्द्र के दो ग्रहों से हेमन्त तथा शिशिर। इस प्रकार रूप और देवता के अनुसार ऋतुओं को जीतता और प्राप्त करता है ॥३४॥

संतता याज्यापुरोऽनुवाक्या भवन्ति । समानदेवत्या ऋतूनाᳲ संतत्याऽअव्यवछे-दाय सर्वाः पुरोऽनुवाक्या भवन्ति सर्वा याज्यास्तस्मादृतवः सर्वे पराञ्चः सर्वे प्र-त्यञ्चः सर्वाः प्रथमा भवन्ति सर्वा मध्यमाः सर्वा उत्तमास्तस्मादृतवः सर्वे प्रथमाः सर्वे मध्यमाः सर्वऽउत्तमाः सर्वेषां ग्रहाणां द्वे याज्यापुरोऽनुवाक्ये भवतोऽहोरा-त्रयोस्तद्रूपमहोरात्रेऽएवावरुन्द्धे तस्मादृतवश्च मासाश्चाहोरात्रयोरेव प्रतिष्ठिताः ॥३५॥ स वाऽएष संवत्सर एव यत्सौत्रामणी । चन्द्रमा एव प्रत्यक्षादादित्यो यजमानस्तस्येयमेव पृथिवी वेदिरन्तरिक्षमुत्तरवेदिर्द्यौर्बर्हिर्दिश ऋत्विजो वनस्पतय इध्म आप आज्यमोषधय आहुतयोऽग्निरेवाग्निः संवत्सरः सᳲस्था तद्वाऽइदᳲ सर्वᳲ संवत्सर एव यदिदं किं च तस्मात्सौत्रामण्येजानः सर्वं जयति सर्वमवरुन्द्धे ॥३६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [८. २.] ॥ ॥

त्वष्टा हतपुत्रः । अभिचरणीयमपेन्द्रᳲ सोममाहरत्तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्स विष्वङ् व्यार्छत्तस्य मुखात्प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रा-मंस्तानि पशून्प्राविशंस्तस्मात्पशवो यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सौत्रा-मण्याभिषिच्यते ॥१॥ ततोऽस्माऽएतमश्विनौ च सरस्वती च । यज्ञᳲ समभरन्त्सौ-त्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चंस्ततो वै स देवानाᳲ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाभिषिच्यते ॥२॥ कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चति । यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञ ऽएवैनमेतदभिषिञ्चति लोमतश्छन्दाᳲसि वै लोमानि छन्दःस्वेवैनमेतदभिषिञ्चति ॥३॥ आसन्द्यामभिषिञ्चति । आसन्दीसद्वै साम्राज्यᳲ साम्राज्येनैवैनᳲ साम्राज्यं ग-मयति ॥४॥ औदुम्बरी भवति । ऊर्ग्वाऽउदुम्बर ऊर्ज्येवाध्यभिषिच्यते जानुसमि-ता भवति जानुसंमितो वाऽअयं लोकोऽस्माऽउ वै लोकाय क्षत्रियोऽभिषिच्यते क्षत्रमु वाऽएष भवति यः सौत्रामण्याभिषिच्यते तस्माज्जानुसंमितापरिमिना ति-रश्ची ॥५॥ राष्ट्रं वाऽआसन्दी । अपरिमितसमृद्धमु वै राष्ट्रं मुञ्जविवयना भवति

याज्य और पुरोऽनुवाक्य सिलसिले में होते हैं, एक ही देवता के। ऋतुओं के सिलसिले को जारी रखने के लिए सब पुरोऽनुवाक्य होते हैं, सब याज्य। ये सब पहले, सब बीच के, सब पिछले। इसी प्रकार ऋतुयें भी सब पहली होती हैं, सब बीच की, सब पिछली। सब ग्रहों के दो याज्य और पुरोऽनुवाक्य होते हैं। ये दिन-रात का रूप हैं, दिन-रात की प्राप्ति के लिए। इसलिए मास तथा ऋतु दिन-रात में प्रतिष्ठित हैं ।।३५।।

यह सौत्रामणी संवत्सर ही है, चन्द्रमा ही है। यजमान आदित्य है। यह पृथिवी वेदी है। अन्तरिक्ष उत्तर-वेदी है। द्यौ बर्हि है। दिशाएँ ऋत्विज हैं। वनस्पति ईंधन है। जल घृत है। ओषधियाँ आहुति हैं। अग्नि तो अग्नि है ही। संवत्सर संस्था है। यह सब-कुछ संवत्सर है। जो सौत्रामणी करता है, वह सबको जीत लेता है, सबको प्राप्त कर लेता है ।।३६।।

राज्ञोऽभिषेकादि

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

जब त्वष्टा का पुत्र मारा गया, तो त्वष्टा ने अभिचार के लिए सोम निकाला। उसमें इन्द्र का भाग न रक्खा। इन्द्र ने यज्ञ को भ्रष्ट करके बलात्कार से वह सोम पी लिया। वह चारों दिशाओं में फूट निकला। उसके मुख और प्राणों से श्री और यश निकल गये (वे पशुओं में प्रविष्ट हो गये)। इसीलिए पशु यश हैं। जो जानकर सौत्रामणी यज्ञ का अभिषेक करता है, वह यशस्वी हो जाता है ।।१।।

तब अश्विनों तथा सरस्वती ने इन्द्र के लाज के लिए सौत्रामणी यज्ञ निकाला, और उसका अभिषेक किया। इस प्रकार वह देवों में सर्वश्रेष्ठ हो गया। जो सौत्रामणी यज्ञ का अभिषेक करता है, वह अपने लोगों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है ।।२।।

काले मृगचर्म पर अभिषेक होता है। काला मृगचर्म यज्ञ है। इस प्रकार इसका यज्ञ में ही अभिषेक करता है। बालों की ओर, बाल छन्द हैं, इस प्रकार छन्दों पर ही इसका अभिषेक करता है ।।३।।

आसन्दी (चौकी) पर उसका अभिषेक करता है, क्योंकि सम्राट् आसन पर बैठता है। इस प्रकार साम्राज्य के द्वारा साम्राज्य प्राप्त कराता है ।।४।।

यह चौकी उदुम्बर की बनी होती है। उदुम्बर शक्ति है। इस प्रकार शक्ति द्वारा उसका अभिषेक करता है। जानु के बराबर ऊँची होती है। यह लोक भी जानु के बराबर ऊँचा है। इसी लोक के लिए क्षत्रिय का अभिषेक करता है। जो सौत्रामणी का अभिषेक कराता है, वह राजा हो जाता है। इसलिए वह जानु के बराबर ऊँची और लम्बाई-चौड़ाई में अपरिमित होती है ।।५।।

चौकी राष्ट्र है। राष्ट्र की समृद्धि अपरिमित होती है। मूँज से बिनी होती है। मूँज यज्ञ

यज्ञिया हि मुञ्जा द्वाऽउत्तरस्यां वेद्यां पादौ भवतो द्वौ दक्षिणस्यामयं वै लोक उत्तरा वेदिर्दक्षिणा पितृलोकस्तदेनमुभयोर्लोकयोरध्यभिषिञ्चति ॥६॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह । गौरीविनिः शाक्त्यः क्षत्रमिवाह किल वयममुष्मिंल्लोके भविता स्म इति शश्वद्धास्माऽऋषभो याज्ञतुरः प्रोवाच श्विक्नानाᳩ राजा ॥७॥ स आसन्दीमास्तृणाति । क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीति क्षत्रस्य वाऽएषा योनिः क्षत्रस्य नाभिः ॥८॥ अथैनां कृष्णाजिनेनास्तृणाति । मा त्वा हिᳩसीन्मा मा हिᳩसीरिति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञस्य चैवात्मनश्चाहिᳩसायै ॥९॥ अथाधिरोहति । वारुण्यऽर्चा वरुणो वै देवानाᳩ राजा स्वयैवैनमेतद्देवतयाभिषिञ्चति निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतुरिति ॥१०॥ अथ सुवर्णरजतौ रुक्मौ व्युपास्यति । मृत्योः पाहि विद्योत्पाहीति वृष्टिर्वै विराट् तस्या एते घोरे तन्वौ विद्युच्च ह्रादुनिश्च ततः सुवर्ण एव रुक्मो विद्युतो रूपᳩ रजता ह्रादुनेस्ताभ्यामेवास्मै देवताभ्याᳩ शर्म यच्छति तस्मात्सौत्रामण्येजानस्यैताभ्यां देवताभ्यां न शङ्का भवत्यथो य एवमेतद्वेद ॥११॥ पशूनां वसयाभिषिञ्चति । श्रीर्वै पशूनां वसा श्रियैवैनमेतत्पशूनाᳩ रसेनाभिषिञ्चत्यथो परमं वाऽएतदन्नाद्यं यद्वसा परमेणैवैनमेतदन्नाद्येनाभिषिञ्चति ॥१२॥ शफग्रहा भवन्ति । शफैर्वै पशवः प्रतितिष्ठन्ति प्रतिष्ठामेवैनं गमयति त्रयस्त्रिᳩशद्ग्रहा भवन्ति त्रयस्त्रिᳩशद्वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति जगतीभिर्जुहोति जागता वै पशवो जगत्यैवास्मै पशूनवरुन्द्धे षोडशभिर्ऋग्भिर्जुहोति षोडशकला वै पशवोऽनुकलमेवास्मिंञ्छ्रियं दधाति ॥१३॥ सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण इति । द्वौ द्वौ समासं हुत्वा सते सᳩस्रवान्समवनयत्यहोरात्राण्येवैतदर्धमासान्मासानृतून्त्संवत्सरे प्रतिष्ठापयति तानीमान्यहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरे प्रतिष्ठिताः ॥१४॥ वैतसः सतो भवति । अप्सुयोनिर्वै वेतस आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैन

के योग्य है। उत्तर वेदी की ओर दो पैर होते हैं, दो दक्षिण वेदी की ओर। यह लोक उत्तर वेदी है, पितृलोक दक्षिण वेदी। इस प्रकार इसका दोनों लोकों में अभिषेक करता है ॥६॥

गौरीवीति शाक्त्य ने एक बार यही जानकर कहा था कि 'हम उस लोक में राजाओं के समान होंगे।' शायद श्विक्नों के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने उसको बताया था ॥७॥

वह चौकी को इस मंत्र से बिछाता है, यह कहकर कि 'तू राजा की योनि है, राजा की नाभि है।' वस्तुतः यह राजा की योनि है, राजा की नाभि ॥८॥

उसपर काला मृगचर्म बिछाता है, यह कहकर, 'तू इसको हानि न पहुँचा। मुझे हानि न पहुँचा।' काला मृगचर्म यज्ञ है, यज्ञ की और अपनी रक्षा के लिए ॥९॥

वरुण के मन्त्र को पढ़कर चढ़ता है, क्योंकि देवों का राजा वरुण है। इस प्रकार इसी के देवता से इसका अभिषेक करता है—"निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतुः" (यजु० २०।२)—"दृढ़ व्रतवाला, अच्छे यज्ञवाला राजा वरुण साम्राज्य के लिए अपने सिंहासन पर बैठा" ॥१०॥

सोने और चाँदी की थाली उसके पैरों के नीचे रखता है—"मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि" (यजु० २०।२)—"मृत्यु से बचा, बिजली से बचा !" वृष्टि विराट् है। इसके दो भयानक अंग हैं—बिजली और ओला। स्वर्ण बिजली का रूप है और चाँदी ओले का। इन्हीं दोनों देवताओं से इसकी रक्षा करता है (चाँदी की थाली बायें पैर के नीचे 'मृत्योः पाहि' से। सोने की दायें के नीचे 'विद्योत्पाहि' से)। जो सौत्रामणि यज्ञ करता है, या उसको जानता है, उसे इन दोनों देवताओं से कोई शंका नहीं रहती ॥११॥

पशुओं की वसा से अभिषेक करता है। पशुओं की वसा श्री है। पशुओं के इस रस या श्री से इसका अभिषेक करता है। यह जो वसा है, वह परम अन्न है। इस प्रकार इसका परम अन्न से अभिषेक करता है ॥१२॥

वसा के ग्रह (पात्र) खुरों के होते हैं। पशु खुरों पर ही स्थित हैं। इस प्रकार इसको प्रतिष्ठा दिलाता है। तेंतीस ग्रह होते हैं। सब देव तेंतीस हैं। इन सब देवों से इसका अभिषेक करता है। जगती छन्दों से आहुति देता है। पशु जगतीवाले हैं। इस प्रकार जगती से पशुओं की प्राप्ति कराता है। सोलह ऋचाओं से आहुति देता है (यजु० १९।८-९४)। पशुओं में सोलह कलाएँ होती हैं। कलाओं के अनुसार उसमें श्री स्थापित करता है ॥१३॥

"सीसेन तंत्रं मनसा मनीषिण ऽ ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। अश्विना यज्ञँ सविता सरस्वती-न्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्" (यजु० १९।८०)—"मनीषी सीसा से मन से तन्त्र को बुनते हैं, कवि ऊन और सूत से। अश्विन, सविता, सरस्वती और वरुण ने इन्द्र के रूप का इलाज किया।" दो-दो आहुतियाँ देने पर जो बचा-खुचा है, उसे 'सत' (पात्रविशेष) में डालता है। इससे वह दिन, रात, अर्द्धमास, मास तथा ऋतुओं को संवत्सर में प्रतिष्ठित करता है। इससे दिन-रात, अर्द्धमास, मास तथा ऋतुएँ संवत्सर में स्थिर रहती हैं ॥१४॥

यह सत (पात्रविशेष) बेत का होता है। बेत की उत्पत्ति जलों में से है। जल 'सब देवता' हैं।

मेतद्देवताभिरभिषिञ्चति ॥१५॥ सर्वसुरभ्युन्मर्दनं भवति । परमो वाऽएष गन्धो
यत्सर्वसुरभ्युन्मर्दनं गन्धेनैवैनमेतदभिषिञ्चति ॥१६॥ पुरस्तात्प्रत्यङ्ङभिषिञ्चति ।
पुरस्ताद्धि प्रत्यगन्नमद्यते शीर्षतः शीर्षतो ह्यन्नमद्यतऽआ मुखादन्ववस्रावयति
मुखेन ह्यन्नमद्यते सर्वतः परिक्रामꣳ सर्वाभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्योऽन्नाद्यं दधाति
तस्मात्सौत्रामण्येजानस्य सर्वासु दिक्ष्वन्नाद्यमवरुद्धं भवत्यथो य एवमेतद्वेद ॥१७॥
आश्विनेन प्रथमेन यजुषाभिषिञ्चति । अथ सारस्वतेनाथैन्द्रेणैताभिरेवैनमेतद्देव-
ताभिरभिषिञ्चति तꣳ हैकऽएताभिश्च देवताभिरभिषिञ्चन्ति भूर्भुवः स्वरित्येताभिश्
च व्याहृतिभिरेता वै व्याहृतय इदꣳ सर्वं तदेनमनेन सर्वेणाभिषिञ्चाम इति न
तथा कुर्यादेताभिरेवैनं देवताभिरभिषिञ्चेदेता उ ह्येव देवता इदꣳ सर्वम् ॥१८॥
पुरस्तात्स्विष्टकृतोऽभिषिञ्चति । क्षत्रं वै स्विष्टकृत्क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चत्यन्तरा
वनस्पतिं च स्विष्टकृतं चाभिषिञ्चति सोमो वै वनस्पतिरग्निः स्विष्टकृदग्नीषोमा-
भ्यामेवैनमेतत्परिगृह्याभिषिञ्चति तस्माद्ये चैतद्विदुर्ये च न तऽआहुः क्षत्रियो
वाव क्षत्रियस्याभिषेक्तेति ॥१९॥ अथैनं जानुमात्रे धारयन्ति । अथ नाभिमात्रेऽथ
मुखमात्रऽएष्वेवास्माऽएतल्लोकेष्वायतनानि कल्पयत्यभिषेको वाऽएष यद्वाजपेय-
मभिषेकः सौत्रामणी तद्यथैवादो वाजपेये यूपꣳ रोहति तदेवैतद्रूपं क्रियते ॥२०॥
तदाहुः । प्रेव वाऽएषोऽस्माल्लोकाच्च्यवते यः सौत्रामण्याभिषिच्यतऽइति कृष्णा-
जिने प्रत्यवरोहति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञऽएवान्ततः प्रतितिष्ठति ॥२१॥ प्रति
क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रऽइति । क्षत्रऽएव राष्ट्रे प्रतितिष्ठति क्षत्राद्राष्ट्रादप्रभ्रꣳ-
शाय प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोष्विति गोऽश्वऽएव प्रतितिष्ठति गोऽश्वादप्रभ्रꣳ-
शाय प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्नित्यङ्गेष्वेवात्मन्प्रतितिष्ठत्यङ्गेभ्य आत्मनोऽप्रभ्रꣳ-
शाय प्रति प्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टऽइति प्राणेष्वेव पुष्टे प्रतितिष्ठति प्राणेभ्यः
पुष्टादप्रभ्रꣳशाय प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञऽइति तदनयोर्द्यावापृथि-

इस प्रकार सब देवताओं द्वारा इसका अभिषेक कराता है ॥१५॥

सर्व-सुरभि से उसका उबटन होता है। सब सुगन्ध परम गन्ध है। इस प्रकार सब परम गन्धों से उसका उबटन करता है। ('सर्वसुरभि' कोई पदार्थविशेष प्रतीत होता है) ॥१६॥

आगे की ओर पश्चिमाभिमुख अभिषेक करता है। खाना सामने से ही खाया जाता है, सिर से। सिर से ही अन्न खाया जाता है। मुख से, क्योंकि मुख से ही अन्न खाया जाता है। चारों ओर घूमकर। इस प्रकार उसके चारों ओर अन्न स्थापित करता है। इसलिए जो सौत्रामणि यज्ञ करता है, या उसको जानता है, वह सब दिशाओं में अन्न आदि की प्राप्ति करता है ॥१७॥

पहले अश्विन-सम्बन्धी यजु से अभिषेक करता है, फिर सरस्वती-सम्बन्धी यजु से, फिर इन्द्र-सम्बन्धी से। इस प्रकार इन देवताओं द्वारा अभिषेक करता है। कुछ लोग इन देवताओं से भी अभिषेक करते हैं और "भूः भुवः स्वः" व्याहृतियों से भी। उनका कहना है कि ये व्याहृतियाँ 'सब संसार' हैं और हम 'सब संसार' द्वारा इसका अभिषेक करते हैं। परन्तु ऐसा न करे। इन देवताओं द्वारा ही इसका अभिषेक करे। क्योंकि ये देवता ही 'सब संसार' हैं ॥१८॥

स्विष्टकृत् के पहले अभिषेक करता है। स्विष्टकृत् क्षत्र है। इस प्रकार क्षत्र द्वारा इसका अभिषेक करता है। वनस्पति और स्विष्टकृत् के बीच में अभिषेक करता है। वनस्पति सोम है। स्विष्टकृत् अग्नि है। इसको अग्नि और सोम के बीच में करके अभिषेक करता है। इसलिए जाननेवाले और न जाननेवाले दोनों कहते हैं कि क्षत्रिय क्षत्रिय का अभिषेक करता है ॥१९॥

वे उसको जानु तक उठाते हैं, फिर नाभि तक, फिर मुख तक। इन लोकों में इसके लिए स्थान करता है। वाजपेय भी अभिषेक है और सौत्रामणी भी अभिषेक है। जैसे वाजपेय में यूप पर चढ़ते है, वैसे ही यहाँ भी। यही रूप है ॥२०॥

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो सौत्रामणी-अभिषेक करता है, वह इस लोक से पार हो जाता है।' अब काले मृगचर्म पर उतरता है। काला मृग चर्मयज्ञ है। अन्त में यज्ञ पर ही प्रतिष्ठित होता है ॥२१॥

इस मन्त्र से उतरता है—"प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे" (यजु० २०।१०)—क्षत्र, राष्ट्र, अश्व, गो, अंग, आत्मा, प्राण आदि में अपने को स्थापित करता है, इन सबकी प्राप्ति के लिए।

व्योः प्रतितिष्ठति ययोरिदꣳ सर्वमधि ॥२२॥ अथ साम गायति । क्षत्रं वै साम क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चत्यथो साम्राज्यं वै साम साम्राज्येनैवैनꣳ साम्राज्यं गमयति सर्वेषां वाऽएष वेदानाꣳ रसो यत्साम सर्वेषामेवैनमेतद्वेदानाꣳ रसेनाभिषिञ्चति ॥२३॥ बृहत्यां गायति । बृहत्यां वाऽअसावादित्यः श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठित-स्तपति बृहत्यामेवैनमेतच्छ्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥२४॥ ऐन्द्र्यां बृहत्यां गायति । ऐन्द्रो वाऽएष यज्ञो यत्सौत्रामणीन्द्रायतन एष एतर्हि यो यजते स्व ऽएवैनमेतदायतनेऽभिषिञ्चति ॥२५॥ अथ यस्मात्संशानानि नाम । एतैर्वै सा-मभिर्देवा इन्द्रमिन्द्रियाय वीर्याय समश्यंस्तथोऽएवैतमृत्विजो यजमानमेतैरेव सा-मभिरिन्द्रियाय वीर्याय संश्यन्ति संश्रवसे विश्रवसे सत्यश्रवसे श्रवसऽइति सा-मानि भवन्त्येष्वेवैनमेतल्लोकेषु श्रावयन्ति चतुर्निधनं भवति चतस्रो वै दिशः सर्वास्वेवैनमेतद्दिक्षु प्रतिष्ठापयन्ति सर्वे निधनमुपावयन्ति संविदाना एवास्मि-ञ्छ्रियं दधति ॥२६॥ तदाहुः । यदेतत्साम गीयतेऽथ क्वैतस्य साम्न उक्थं का प्रतिष्ठा व्यृद्धꣳ हि तद्यत्स्तुतमननुशस्तमिति ॥२७॥ त्रया देवा एकादशेति । एतद्वाऽएतस्य साम्न उक्थमेषा प्रतिष्ठा ॥२८॥ अथो त्रया देवा एकादशेति त्रय-स्त्रिꣳशं ग्रहं जुहोति त्रया हि देवा एकादश त्रयस्त्रिꣳशाः सुराधस इति त्रयस्त्रिꣳ-शद्धि देवा बृहस्पतिपुरोहिता इति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मपुरोहिता इत्येवैत-दाह देवस्य सवितुः सवऽइति देवेन सवित्रा प्रसूता इत्येवैतदाह देवा देवैर-वन्तु मेति देवा ह्येतं देवैरभिषिञ्चन्ति ॥२९॥ प्रथमा द्वितीयैरिति प्रथमा ह्येतं द्वितीयैरभिषिञ्चन्ति द्वितीयास्तृतीयैरिति द्वितीया ह्येतं तृतीयैरभिषिञ्चन्ति तृती-याः सत्येनेति तृतीया ह्येतꣳ सत्येनाभिषिञ्चन्ति सत्यं यज्ञेनेति सत्यꣳ ह्येतं य-ज्ञेनाभिषिञ्चति यज्ञो यजुर्भिरिति यज्ञो ह्येतं यजुर्भिरभिषिञ्चति यजूꣳषि सामभि-रिति यजूꣳषि ह्येतꣳ सामभिरभिषिञ्चन्ति सामान्यृग्भिरिति सामानि ह्येतमृग्भिर-

द्यौ और पृथिवी के मध्य में स्थापित करता है, क्योंकि इन दोनों के बीच में सब संसार है ॥२२॥

अब सामगान करता है। साम क्षत्रिय है। इस प्रकार क्षत्रिय के द्वारा अभिषेक करता है। साम साम्राज्य भी है। इस प्रकार साम्राज्य से साम्राज्य की प्राप्ति कराता है। साम सब वेदों का रस है। इस प्रकार सब वेदों के रस द्वारा इसका अभिषेक कराता है ॥२३॥

बृहती छन्द में गान करता है। यदि आदित्य बृहती श्री-प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही तपता है। इस प्रकार वह इस यजमान को भी बृहती, श्री, प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करता है ॥२४॥

'इन्द्र' वाले बृहती छन्द के साम को गाता है। यह सौत्रामणी यज्ञ इन्द्र का है। जो यज्ञ करता है, वह इन्द्र के आश्रय है। इस प्रकार वह इन्द्र के ही आयतन में अभिषेक करता है ॥२५॥

इन साम-मन्त्रों को संशान (तेज करनेवाले) क्यों कहते हैं ? इन्हीं सामों से देवों ने इन्द्र के पराक्रम और वीर्य को तेज किया (शान पर चढ़ाया)। इसी प्रकार ऋत्विज लोग इस यजमान के भी पराक्रम तथा वीर्य को इन सामों द्वारा तेज करते हैं। संश्रवसे, विश्रवसे, सत्यश्रवसे, ये साम होते हैं। ये यजमान की इन लोकों में कीर्ति सुनाते हैं (श्रावयन्ति)। 'निधन' चार होते हैं। चार दिशाएँ हैं। वे इन सब दिशाओं में यजमान को प्रतिष्ठित करते हैं। निधन में सब ऋत्विज शरीक होते हैं। इस प्रकार वे सब मिलकर उसमें श्री स्थापित करते हैं ॥२६॥

इसपर प्रश्न होता है कि यह साम जो गाया जाता है, इसका उक्थ क्या है और प्रतिष्ठा क्या ? क्योंकि जिसके पीछे स्तुति न हो वह गान व्यर्थ होता है ॥२७॥

'तेंतीस देव हैं' यही इस साम का उक्थ है, यही प्रतिष्ठा ॥२८॥

तेंतीस ग्रहों को लेकर इन मन्त्रों से आहुति देता है—"त्रया देवा ऽ एकादश त्रयस्त्रि ँ शाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा" (यजु० २०।११)— "तेंतीस देव हैं। अच्छे धनवाले। बृहस्पति उनका पुरोहित है। बृहस्पति नाम है ब्राह्मण का, अर्थात् ब्राह्मण इनका पुरोहित है। वे सविता से प्रेरित किये गये हैं। ये देव देवों की सहायता से हमारी रक्षा करें" ॥२९॥

"प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजू ँ षि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्कारा ऽ आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा" (यजु० २०।१२)—पहले (इस लोक के) देवता दूसरे देवताओं (अन्तरिक्ष के) से, तब दूसरे तीसरों (द्यौलोक के देवताओं) से, तदनन्तर तीसरे सत्य से, फिर सत्य यज्ञ से, यज्ञ यजुओं से, यज्ञ सामों से, साम ऋचाओं से, ऋचा

भिषिञ्चन्त्यृचः पुरोऽनुवाक्याभिरित्यृचो ह्येतं पुरोऽनुवाक्याभिरभिषिञ्चन्ति पुरो-ऽनुवाक्या याज्याभिरिति पुरोऽनुवाक्या ह्येतं याज्याभिरभिषिञ्चन्ति याज्या वषट्कारैरिति याज्या ह्येतं वषट्कारैरभिषिञ्चन्ति वषट्कारा आहुतिभिरिति वषट्कारा ह्येतमाहुतिभिरभिषिञ्चन्त्याहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहेति तदेनमेताभिर्देवताभिः परोऽवरमभिषिच्याथास्माऽआहुतिभिः सर्वान्कामान्त्समर्धयत्यथऽर्त्विगुपहवमिष्ट्वा भक्षयत्यृतवो वाऽऋत्विज ऋतुष्वेवैतदुपहवमिच्छते ॥३०॥ स भक्षयति । लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ्मऽआनतिरागतिः मांꣳसं मऽउपनतिर्वस्वस्थि मज्जा मऽआनतिरिति प्रेव वाऽएष लोकांश्च देवताश्च विशति य सौत्रामण्याभिषिच्यते तदेतद्वान्तरमात्मानमुपह्वयते तथा कृत्स्न एव सर्वतनूः साङ्गः सम्भवति ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥२ [८. ३.] ॥ अष्टमोऽध्यायः [८२.] ॥ ॥

एतस्माद्वै यज्ञात्पुरुषो जायते । स यद्ध वाऽअस्मिंल्लोके पुरुषोऽन्नमत्ति तदेनममुष्मिंल्लोके प्रत्यत्ति स वाऽएष परिस्रुतो यज्ञस्तायतेऽनाद्या वै ब्राह्मणेन परिस्रुत्स एतस्मादनाद्याज्जायते तꣳ हामुष्मिंल्लोकेऽन्नं न प्रत्यत्ति तस्मादेष ब्राह्मणयज्ञ एव यत्सौत्रामणी ॥१॥ तस्य लोमान्येव शष्पाणि । त्वक्तोक्मानि मांꣳसं लाजा अस्थि कारोतरो मज्जा मासरꣳ रसः परिस्रुन्नग्नहुर्लोहितꣳ रेतः पयो मूत्रꣳ सुरोवध्यं बल्कसम् ॥२॥ हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः । यकृत्सावित्रः क्लोमा वारुणो मतस्नेऽएवास्याश्वत्थं च पात्रमौदुम्बरं च पित्तं नैयग्रोधमान्त्राणि स्थाल्यो गुदा उपशयानि श्येनपत्रे प्लीहासन्दी नाभिः कुम्भो वनिष्ठुः प्लाशिः शतातृण्णा तद्यत्सा बहुधा वितृण्णा भवति तस्मात्प्लाशिर्बहुधा विकृत्तो मुखꣳ सत्तं जिह्वा पवित्रं चष्यं पायुर्वस्तिर्वालः ॥३॥ अङ्गान्येवास्याश्विनः पशुः । आत्मा सारस्वतो रूपमैन्द्र ऋषभस्तस्मादाहुर्गावः पुरुषस्य रूपमित्यायुर्हिरण्यं तच्छतमानं भवति तस्माच्छतायुः पुरुषः ॥४॥ चक्षुषीऽएवास्याश्विनौ ग्रहौ । पक्ष्माणि गोधू-

पुरोऽनुवाक्याओं से, पुरोऽनुवाक्या याज्याओं से, याज्या वषट्कारों से, वषट्कार आहुतियों से, आहुतियों से इसका अभिषेक करें, और आहुतियाँ मेरी कामनाओं को पूरा करें।" इन देवताओं से उसको आदि से अन्त तक अभिषेक करके इनके लिए आहुतियों द्वारा सब कामनाओं की पूर्ति करता है। अब ऋत्विजों के निमन्त्रण पर भक्षण करता है। ऋत्विज ऋतु है। ऋतुओं का ही आमन्त्रण चाहता है ॥३०॥

इस मंत्र से भक्षण करता है—"लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ् म ऽ आनतिरागतिः। मा्ँसं म ऽ उपनतिर्वस्वस्थि मज्जा म ऽ आनतिः" (यजु० २०।१३)—"प्रयतन मेरे लोम हैं, मेरी नम्रता तथा प्रगति मेरी त्वचा है, मेरी इच्छा मेरा मांस है। वसु या धन मेरी हड्डियाँ हैं। मेरा शील मेरी मज्जा है।" जो सौत्रामणी यज्ञ करता है, वह लोकों और देवताओं में प्रवेश करता है। वह इनको अपने पास बुलाता है और पूर्ण शरीर तथा पूर्ण-अङ्ग हो जाता है (या परलोक में पूर्ण होकर उत्पन्न होता है) ॥३१॥

सौत्रामणीशेषः

अध्याय ९—ब्राह्मण १

पुरुष इस यज्ञ से उत्पन्न होता है। पुरुष जो अन्न इस लोक में खाता है वही अन्न परलोक में उस पुरुष को खाता है। यह सौत्रामणी यज्ञ सुरा से किया जाता है। ब्राह्मण के लिए सुरा अभक्ष्य है। अभक्ष्य से उत्पन्न होने के कारण परलोक में उसको अन्न खाता नहीं। इसलिए सौत्रा-मणी यज्ञ ब्राह्मण यज्ञ है ॥१॥

शष्प या चावल उसके लोम हैं, तोक्म या जई उसकी त्वचा, लाजा मांस, छानने का कपड़ा हड्डी, मांड मज्जा, कच्ची सुरा रस, जोश उत्पन्न करनेवाली वस्तु खून, जल वीर्य, पक्की सुरा मूत्र, अन्य मैल पेट का मैल ॥२॥

इन्द्र का पुरोडाश हृदय, सविता का पुरोडाश यकृत्, वरुण का पुरोडाश क्लोम, अश्वत्थ और उदुम्बर के पात्र उसके गुर्दे, न्यग्रोध का पात्र उसका पित्त, कड़ाही अंतड़ियाँ, उपपात्र गुदा, श्येन के दो पंख प्लीहा, चौकी नाभि, घड़ा चूतड़, सौ छिद्रोंवाला बर्तन उपस्थ-इन्द्रिय। जैसे इसमें सौ छिद्र होते हैं ऐसे ही उपस्थ-इन्द्रिय में भी कई भाग हैं। सतपात्र मुख छन्ना जीभ, चप्प पायु इन्द्रिय, पूँछ का बाल वस्ति ॥३॥

अश्विनों का पशु रस यज्ञ का अंग है। सरस्वती का पशु उसका धड़ है। इन्द्र का ऋषभ इसका रूप। इसलिए कहते हैं कि गायें पुरुष का रूप हैं। स्वर्ण आयु है। स्वर्ण सौ मान होता है, इसलिये कहते हैं कि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है ॥४॥

अश्विनों के दोनों ग्रह इसकी आँखें हैं।

मसक्तवश्च कुवलसक्तवश्च नासिके ऽएवास्य सारस्वतौ ग्रहावथ यानि नासिकयो-र्लोमानि तान्युपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च श्रोत्रे ऽएवास्यैन्द्रौ ग्रहावथ यानि कर्णयोर्लोमानि यानि च भ्रुवोस्तानि यवसक्तवश्च कर्कन्धुसक्तवश्च ॥५॥ अथ या-न्युपस्थे लोमानि। यानि चाधस्तात्तानि वृकलोमान्यथ यान्युरसि लोमानि या-नि च निकक्षयोस्तानि व्याघ्रलोमानि केशाश्च श्मश्रूणि च सिꣳहलोमानि ॥६॥ त्रयः पशवो भवन्ति। त्रेधाविहितो वाऽअयं पुरुषस्यात्मात्मानमेवास्य तैः स्पृ-णोति यदवाङ्नाभेस्तदाश्विनेन यदूर्ध्वं नाभेरवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तत्सारस्वतेन शिर ऐ-न्द्रेण यथारूपमेव यथादेवतमात्मानं मृत्यो स्पृत्वामृतं कुरुते ॥७॥ त्रयः पुरोडाशा भवन्ति। त्रेधाविहितं वाऽइदं पुरुषस्य वयो वय एवास्य तैः स्पृणोति पूर्ववय-समेवैन्द्रेण मध्यमवयसꣳ सावित्रेणोत्तमवयसं वारुणेन यथारूपमेव यथादेवतं व-यो मृत्यो स्पृत्वामृतं कुरुते ॥८॥ षड्ग्रहा भवन्ति। षड्वाऽइमे शीर्षन्प्राणाः प्राणा-नेवास्य तैः स्पृणोति चक्षुषीऽएवाश्विनाभ्यां नासिके सारस्वताभ्याꣳ श्रोत्रेऽऐ-न्द्राभ्यां यथारूपमेव यथादेवतमात्मानं मृत्यो स्पृत्वामृतं कुरुते ॥९॥ संतता या-ज्यापुरोऽनुवाक्या भवन्ति। समानदेवत्याः प्राणानाꣳ संतत्याऽअव्यवच्छेदाय सर्वाः पुरोऽनुवाक्या भवन्ति सर्वा याज्यास्तस्मात्प्राणाः सर्वे पराञ्चः सर्वे प्रत्यञ्चः सर्वाः प्रथमा भवन्ति सर्वा मध्यमाः सर्वा उत्तमास्तस्मात्प्राणाः सर्वे प्रथमाः सर्वे मध्यमाः सर्वऽउत्तमाः सर्वेषां ग्रहाणां द्वे याज्यापुरोऽनुवाक्ये भवतः प्राणोदानयोस्तद्रूपं प्राणोदानावेवावरुन्द्धे तस्मात्सर्वे प्राणाः प्राणोदानयोरेव प्रतिष्ठिताः ॥१०॥ स वाऽएष आत्मैव यत्सौत्रामणी। मन एव प्रत्यक्षाद्यजमानस्तस्यात्मैव वेदिः प्रज्ञोत्तरवेदिः पशवो बर्हिरङ्गान्यृत्विजोऽस्थीनीध्म आज्यं मज्जा मुखमग्निरन्नमाहु-तिर्वयः सꣳस्था तस्मात्सौत्रामण्येजानो वय उपगच्छति ॥११॥ तद्यौ ह वाऽइमौ पुरुषाविवाक्ष्योः। एतावेवाश्विनावथ यत्कृष्णं तत्सारस्वतं यच्छुक्लं तदैन्द्रं तद्यदा-

गेहूँ के और कुवल के सत्तू इसके पलक। सरस्वती के दो ग्रह इसके नाक के नथने। उपवाक सत्तू और बेर के सत्तू इसके नाक के बाल। इन्द्र के दोनों ग्रह इसके कान। जौ और कर्कन्धु के सत्तू इसके कान और भौहों के बाल ॥५॥

वृक् के लोम उपस्थ के तथा नीचे के लोम हैं। व्याघ्र के लोम छाती और काँख के बाल हैं। सिंह के लोम केश और दाढ़ी-मूँछें हैं ॥६॥

यज्ञ के पशु तीन होते हैं। इस पुरुष के शरीर के भी तीन भाग हैं। परलोक में वह इसी शरीर का लाभ करता है, अर्थात् अश्विन के पशु के द्वारा नाभि के नीचे का शरीर, सरस्वती के पशु से वह शरीर जो नाभि से ऊपर और सिर के नीचे है, और इन्द्र के पशु से सिर। रूप और देवता दोनों के विचार से वह अपने को मृत्यु से छुड़ाकर अमृत को प्राप्त करता है ॥७॥

तीन पुरोडाश होते हैं। पुरुष की आयु के भी तीन भाग हैं—इन्द्र के पुरोडाश से पहली आयु, सविता के पुरोडाश से बीच की आयु, वरुण के पुरोडाश से पिछली आयु। रूप और देवता दोनों के विचार से अपनी आयु को मृत्यु से छुड़ाकर अमर बनाता है ॥८॥

ग्रह छः होते हैं। सिर में छः प्राण होते हैं। इसके प्राणों का उन ग्रहों से उद्धार करता है—अश्विन के ग्रहों से आँखों के प्राणों का, सरस्वती के ग्रहों से नाक के नथुनों के प्राणों का, इन्द्र के दो ग्रहों से कान के दो प्राणों का। इस प्रकार रूप और देवता दोनों के विचार से शरीर को मृत्यु से छुड़ाकर अमर बनाता है ॥६॥

याज्य और पुरोऽनुवाक्य सिलसिले से होते हैं, एक ही देवता के। प्राणों का सिलसिला न टूटे, इसलिए सभी पुरोऽनुवाक्य होते हैं और सभी याज्य। इसलिए प्राण भी सब पहले हैं, सब पिछले। सब पहले हैं, सब बीच के, सब पिछले। इसलिए प्राण भी सब पहले होते हैं, सब बीच के, सब पिछले। सब ग्रहों के दो याज्य और पुरोऽनुवाक्य होते हैं। यह प्राण और उदान का रूप है, प्राण और उदान की प्राप्ति के लिए। इसलिए प्राण और उदान में सब प्राण प्रतिष्ठित हैं ॥१०॥

सौत्रामणी शरीर है, यजमान मन या वाक् है, धड़ वेदी है, प्रजा उत्तर वेदी, पशु बर्हि, अंग ऋत्विज, हड्डियाँ ईंधन, मज्जा घी, अग्नि मुख, आहुतियाँ अन्न, आयु संस्था। इसीलिए जो सौत्रामणी यज्ञ करता है वह आयुष्मान् होता है ॥११॥

ये जो आँख में दो पुरुष दीखते हैं वे अश्विनों के हैं, जो आँख का काला भाग है वह सरस्वती का, जो शुक्ल भाग है वह इन्द्र का। —३

श्विने पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन्धत्ते ॥१२॥ मन एवेन्द्रः । वाक्सरस्वती श्रोत्रेऽअश्विनौ यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्णाभ्याᳪ शृणोति तद्यत्सारस्वते पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन्धत्ते ॥१३॥ प्राण एवेन्द्रः । जिह्वा सरस्वती नासिकेऽअश्विनौ यद्वै प्राणेनान्नमात्मन्प्रणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वं जिह्वया वाऽअन्नस्य रसं विजानाति नासिकेऽउ वै प्राणस्य पन्थास्तद्यदैन्द्रे पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन्धत्ते ॥१४॥ हृदयमेवेन्द्रः । यकृत्सविता क्लोमा वरुणस्तद्यदैन्द्रे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन्धत्ते ॥१५॥ प्राण एव सविता । व्यानो वरुणः शिश्नमिन्द्रो यद्वै प्राणेनान्नमत्ति तद्व्यानेन व्यनिति शिश्नेन वाऽअन्नस्य रसᳪ रेतः सिञ्चति तद्यत्सावित्रे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन्धत्ते ॥१६॥ योनिरेव वरुणः । रेत इन्द्रः सवितैव रेतसः प्रजनयिता तद्यद्वारुणे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन्धत्ते स य एवमेतद्वेदैता एव देवता अनुसम्भवत्येता देवता अनु प्रजायतऽआ प्रजया पशुभिः प्यायते प्रत्यस्मिंल्लोके तिष्ठत्यभि स्वर्गं लोकं जयति य एवं विद्वान्सौत्रामण्या यजते यो वैतदेवं वेद ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥३ [१. १.] ॥॥

अवभृथमिष्ट्वा यन्ति । अवभृथं वै सोमेनेष्ट्वा यन्ति सोम एष यत्सौत्रामणी ॥१॥ यद्देवा देवहेडनमिति । देवकृताद्वैवैनमेनसो मुञ्चति यदि दिवा यदि नक्तमिति यद्वाह्नोरात्राभ्यामेनः करोति तस्माद्वैवैनं मुञ्चति यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽइति मनुष्या वै जागरितं पितरः सुप्तं मनुष्यकिल्विषाच्चैवैनं पितृकिल्विषाच्च मुञ्चति ॥२॥ यद्ग्रामे यदरण्यऽइति । ग्रामे वा ह्यरण्ये वैनः क्रियते तस्माद्वैवैनं मुञ्चति यत्सभायामिति सभ्याद्वैवैनमेनसो मुञ्चति यदिन्द्रियऽइति देवाद्वैवैनमेनसो

जब अश्विनों के पशु से यज्ञ करता है तो इन देवताओं को भी शामिल कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन अंगों को इकट्ठा करके अपने में स्थापित कर लेता है ॥१२॥

मन इन्द्र का है, वाणी सरस्वती की, कान अश्विनों के। जो मन से सोचता है वह वाणी से बोलता है, जो वाणी से बोलता है वह कानों से सुनता है। यह जो सरस्वती के पशु से यज्ञ करता है तो अन्य देवताओं को भी शामिल कर लेता है। इसका प्रयोजन यह है कि इन सब अंगों को मिलाकर अपने में धारण करता है ॥१३॥

प्राण इन्द्र का है, जीभ सरस्वती की, नाक के दो छिद्र अश्विनों के। प्राण का प्राणत्व यह है कि प्राण द्वारा अन्न आत्मा में धारण किया जाता है। जीभ से अन्न के रस को जानता है, नथुने प्राण का मार्ग हैं। यह जो इन्द्र के पशु से यज्ञ करते समय और देवताओं को शामिल कर लेते हैं इसका तात्पर्य है कि सब अंगों को मिलाकर अपने में धारण कर लेता है ॥१४॥

हृदय इन्द्र का है, यकृत् सविता का, क्लोम वरुण का। इन्द्र के पुरोडाश के साथ अन्य देवताओं को शामिल कर लेते हैं अर्थात् इन अंगों को इकट्ठा करके अपने में धारण करता है ॥१५॥

प्राण सविता है, व्यान वरुण, शिश्न इन्द्र; जो अन्न प्राण से खाता है, वह व्यान से पचाता है। शिश्न से अन्न के रस या वीर्य को सींचता है। सविता के पुरोडाश देते समय जो और देवताओं को शामिल कर लेते हैं इसका अर्थ यह है कि इन सबको इकट्ठा करके अपने आत्मा में धारण करता है॥१६॥

वरुण योनि है, इन्द्र वीर्य है, सविता वीर्य का उत्पादक है। वरुण के पुरोडाश के साथ जो और देवताओं को शामिल कर लेते हैं उसका आशय है कि इन सबको इकट्ठा करके अपने में धारण कर लेता है। जो इस रहस्य को जानता है वह उन देवों में हो जाता है, उन देवताओं के साथ उत्पन्न होता है। प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होकर इस लोक में ठहरता है। जो सौत्रामणी यज्ञ करता है या जानता है, वह स्वर्गलोक को जीत लेता है ॥१७॥

अवभृथेष्टिः

अध्याय ९—ब्राह्मण २

यज्ञ करके अवभृथ स्नान को जाते हैं। सोमभाग करके भी तो अवभृथ स्नान को जाते हैं। सौत्रामणी भी तो सोमभाग ही है ॥१॥

(मासर कुंभ को इन मन्त्रों से डुबोते हैं)—"यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुंचत्वꣳहसः" (यजु० २०।१४)—"हे देवो! हमने जो कुछ देवों का अनिष्ट किया हो उस सब पाप से अग्नि हमको छुड़ावे।" इससे देवों के विरुद्ध अनिष्ट के पापों से बचाता है। "यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम्। वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वꣳहसः" (यजु० २०।१५)—"जो हमने दिन या रात में पाप किये हों उन सब पापों से वायु हमको छुड़ावे" इससे दिन या रात में किये पापों से छुड़ाता है। "यदि जाग्रद्यदि स्वप्न ऽ एनाꣳसि चकृमा वयम्। सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वꣳहसः" (यजु० २०।१६)—"जो पाप हमने जागते या सोते किये हैं सूर्य उन सबसे हमको छुड़ावे।" जागते मनुष्य हैं; सोते पितर हैं। इस प्रकार मनुष्य और पितर सबके पापों को छुड़ाता है ॥२॥

"यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि" (यजु २०।१७)—"जो पाप हमने ग्राम में, वन में, सभा में, या जो

मुञ्चति यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसीति स-
र्वस्मादेवैनमेतस्मादेनसो मुञ्चति ॥३॥ यदापो अघ्न्या इति । वरुणेति शपामहे
ततो वरुण नो मुञ्चेति वरुण्यादेवैनमेनसो मुञ्चत्यवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि
निचुम्पुण इति यो ह वाऽअयमपामावर्तः स ह्यवभृथः स हैष वरुणस्य पुत्रो
वा भ्राता वा तमेवैतत्स्तौत्यव देवैर्देवकृतमेनो यक्षीति देवकृतमेवैनोऽवयजते
ऽव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमिति मर्त्यकृतमेवैनोऽवयजते पुरुराव्णो देव रिषस्पाहीति स-
र्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह ॥४॥ समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरिति । आपो
वै समुद्रो रसो वाऽआपस्तदेनमेतेन रसेन सꣳसृजति सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप
इति तदेनमेतेनोभयेन रसेन सꣳसृजति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु द्वौ विक्रमाऽउदङ्ङु-
त्क्रामत्येतावती वै मनुष्ये जूतिर्यावान्विक्रमस्तद्यावत्येवास्मिञ्जूतिस्तयैव पाप्मानं
विजहाति ॥५॥ सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्विति । अञ्जलिनाप उपाचति
वज्रो वाऽआपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं
च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात्तां दिशं परासिञ्चेत्तेनैव तं पराभाव-
यति ॥६॥ द्रुपदादिव मुमुचानः । स्विन्नः स्नातो मलादिव पूतं पवित्रेणेवा-
ज्यमापः शुन्धन्तु मैनस इति वासोऽपप्लावयति यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवमेनꣳ
सर्वस्मात्पाप्मनो विवृहति स्नाति तम एवापहते ॥७॥ उद्वयं तमसस्परीति ।
पाप्मा वै तमः पाप्मानमेव तमोऽपहते स्वः पश्यन्त उत्तरमित्ययं वै लोकोऽद्य
उत्तरोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति स्व-
र्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमꣳ स्वर्गऽएव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यनपेक्षमे-
त्याहवनीयमुपतिष्ठते ॥८॥ अपोऽअद्यान्वचारिषमिति । अपामेव रसमवरुन्द्धे
रसेन समसृक्ष्महीत्यपामेव रसमात्मन्धत्ते पयस्वानग्नऽआगमं तं मा सꣳसृज वर्च-
सा प्रजया च धनेन चेत्याशिषमेवैतदाशास्ते ॥९॥ एधोऽस्येधिषीमहीति समिध-

अकस्मात्, शूद्र के प्रति या वैश्य के प्रति किया हो, उस सबका तू नाश करनेवाला है।" सब प्रकार के पापों से उसको छुड़ाता है ॥३॥

"यदापो ऽ अघ्न्या इति ऽ वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च" (यजु० २०।१८)—"न मरने योग्य जलों या वरुण की जो हम शपथ खाते हैं, वरुण उस सबसे हमको छुड़ावे।" इससे वरुण-सम्बन्धी पाप से छुड़ाता है। "अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः" (यजु० २०।१८)—"हे रेंगते हुए स्नान के जल, तू रेंगता है।" यह जो जल में भँवर-सा बनता है यही अवभृथ है, यह वरुण का पुत्र है या भाई। इसी की स्तुति करता है। "अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्षि" (यजु० २०।१८)—"देवों के द्वारा देव-सम्बन्धी अनिष्टों का नाश करता हूँ।" इससे देवकृत पापों का नाश करता है। "अव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्" (यजु० २०।१८)—इससे मनुष्य-सम्बन्धी अनिष्टों को दूर करता है। "पुरुराव्णों देव रिषस्पाहि" (यजु० २०।१८)—"हे देव! तू हमारी शोर मचाते हुए दुष्टों से रक्षा कर।" अर्थात् हे देव, तू हमारी सब आपत्तियों से रक्षा कर ॥४॥

"समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः" (यजु० २०।१९)—जल ही समुद्र है, जल ही रस है। इस प्रकार इसको रस से युक्त करता है—दोनों प्रकार के रस से, वह जो जल में है और वह जो ओषधि में है। पानी में से दो कदम उत्तर को चलता है। यह जो कदम है वह मनुष्य की तीव्रता है। उस तीव्रता से ही वह पाप को छोड़ता है ॥५॥

"सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० २०।१९)—वह अंजलि में जल लेता है। जल वज्र है। इस प्रकार वज्र से मेल करता है। जिस दिशा में उसका शत्रु हो उस दिशा में जल फेंके। शत्रु की पराजय हो जायगी ॥६॥

"द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः" (यजु० २०।२०)—"जैसे फल वृक्ष से टूट जाता है, जैसे स्नान करने से मनुष्य मैल से छूट जाता है, जैसे छन्ने से घी का मैल अलग हो जाता है, वैसे ही जल मुझको पाप से छुड़ा देवें।" इसको पढ़कर कपड़ों को बहा देता है। जैसे सींक को सरपत से खींच लेते हैं, इस प्रकार वह यजमान को सब पापों से बाहर खींच लाता है। अब स्नान करता है और अन्धकार को अपने में से दूर कर देता है ॥७॥

"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽ उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (२०।२१)—पाप ही तम या अन्धकार है, इस अन्धकार को ही दूर करता है "ऊँचे प्रकाश को देखते हुए।" यह लोक जलों से ऊपर है। इस लोक में ही प्रतिष्ठित करता है। सूर्य स्वर्गलोक है। इस स्वर्गलोक में ही अपने को स्थापित करता है। बिना पीछे को मुड़े हुए आहवनीय तक आता है ॥८॥

"अपो ऽ अद्यान्वचारिषँ रसेन समसृक्ष्महि। पयस्वानग्न ऽ आगमं तं मा सँसृज वर्चसा प्रजया च धनेन च" (यजु० २०।२२)—"मैं आज जलों के पीछे चला।" यह कहकर जलों के रस को प्राप्त करता है। "उस रस से हम मिल गये", इससे जलों के रस को अपने में धारण करता है। "हे अग्नि! मैं रसयुक्त होकर आया हूँ। मुझे वर्चस्, प्रजा तथा धन से युक्त कर।" इससे वह आशीर्वाद देता है ॥९॥

"एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोसि तेजो मयि धेहि" (यजु०।२०।२३)—"तू जलाने-

मादत्ते । एधो ह वाऽअग्नेः समित्समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहीत्याहव-नीये समिधमभ्यादधात्यग्निमेवैतया समिन्द्धे स एनꣳ समिद्धस्तेजसा समिन्द्धे ॥१०॥ आदित्यं चरुं यक्ष्यमाणो निर्वपति । आदित्यमीजान इयं वाऽअदितिरस्यामेव यज्ञं तनुतेऽस्यामिष्ट्वा प्रतितिष्ठति धेनुर्दक्षिणेयं वै धेनुरिमामेव सर्वान्कामान्दुह्रे वत्सं पूर्वस्यां ददाति मातरमुत्तरस्यां यदा वै वत्सो मातरं धयत्यथ सा प्रत्ता दुह्रे प्रत्तामिवेमाꣳ सर्वान्कामान्दुह्रे ॥११॥ तदाहुः । प्रेव वाऽएषोऽस्माल्लोकाच्यवते योऽपोऽवभृथमभ्यवैतीत्यवभृथादुदेत्य मैत्रावरुण्या पयस्यया यजतेऽयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणो यद्वेवेदमन्तरेण तत्पयस्या तद्यन्मैत्रावरुण्या पयस्यया यजत ऽएष्वेवैतल्लोकेषु प्रतितिष्ठति प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणोऽन्नमेव पयस्या त-द्यन्मैत्रावरुण्या पयस्यया यजते प्राणाऽएवान्नाद्येऽन्ततः प्रतितिष्ठति ॥१२॥ ब्राह्म-णम् ॥ ४ [१. २.] ॥ ॥

दुष्टरीतुर्ह पौꣳसायनः । दशपुरुषꣳराज्यादपरुद्ध आस रेवोत्तरसमु ह पाटवं चाक्रꣳ स्थपतिꣳ सृञ्जया अपरुरुधुः ॥१॥ स होवाच । दुष्टरीतुं पौꣳसायनꣳ सौ-त्रामण्या त्वा याजयानि यदिदꣳ सृञ्जयेषु राष्ट्रं तत्त्वयि धास्यामीति तथेति तयैनम-याजयत् ॥२॥ तदु ह बल्हिकः प्रातिपीयः शुश्राव । कौरव्यो राजा यो ह वा ऽअयं दुष्टरीतुः पौꣳसायनो दशपुरुषꣳराज्यादपरुद्धोऽभूत्तमयं चाक्र स्थपतिः सौ-त्रामण्या याजयिष्यति यदिदꣳ सृञ्जयेषु राष्ट्रं तद्धास्मिन्धास्यतीति ॥३॥ स होवाच । तन्वाऽअहं तं वेदिष्यामि यदि स तस्मिन्राष्ट्रं धास्यति बहिर्धा वैनꣳ राष्ट्राद्धा-स्यतीति स आजगाम यस्यां वेलायां ग्रहा गृह्यन्ते ॥४॥ स होवाच । स्थपते चाक्र नाहवनीये सुरा होतव्येत्याहुर्नान्यत्राहवनीयाद्यद्याहवनीये सुराꣳ हो-ष्यसि पापवस्यसं करिष्यसि जामिं यज्ञस्य यद्यन्यत्राहवनीयाद्बहिर्धैनꣳ राष्ट्राद्धा-स्यसि नैनꣳ राष्ट्रे धास्यसि नास्मिन्राष्ट्रं धास्यसीति ॥५॥ स होवाच । नाहव-

वाला है। हम जलें या प्रकाशित हों। तू समिधा है, तेज है, मुझमें तेज रख।" इससे आहवनीय में एक समिधा रखता है, क्योंकि समिधा अग्नि को प्रज्वलित करनेवाली है। इससे वह अग्नि को जलाता है और प्रज्वलित करके वह यजमान को भी प्रज्वलित अर्थात् शक्तिशाली बनाता है॥१०॥

अदिति के लिए चरु बनाता है। अदिति यह पृथिवी ही तो है। वह अदिति के लिए चरु बनाता है मानो इसी पृथिवी पर यज्ञ करता है। यज्ञ करके इसमें ही प्रतिष्ठित होता है। दक्षिणा में दूध की गाय देता है। पृथिवी भी धेनु है। इससे सब कामनाओं को दुहता है। पहले बछड़ा देता है, फिर गाय। क्योंकि जब बछड़ा माँ से लगता है तब वह दूध देती है। इसी से वह कामनाओं को दुहता है॥११॥

इसपर प्रश्न करते हैं कि जो अवभृथ स्नान करता है वह तो इस लोक से चल बसता है। इसका उत्तर है कि वह अवभृथ से बाहर लौट आता है। लौटकर मित्र-वरुण की दही की आहुति देता है। यह लोक मित्र है, वह लोक वरुण। दही इनके बीच की चीज है। मित्र-वरुण के लिए दही की आहुति देना मानो अपने को दोनों लोकों के बीच में प्रतिष्ठित करना है। मित्र प्राण है, वरुण अपान। पयस्या या दही अन्न है। मित्र-वरुण के लिए दही की आहुति देना मानो प्राण और अन्न में अपने को प्रतिष्ठित करना है॥१२॥

सौत्रामण्यर्थवादः

अध्याय ९—ब्राह्मण ३

दुष्टरीतु पौंसायन अपनी दस पीढ़ियों से चले आते हुए राज्य से निकाल दिया गया। सृञ्जय ने भी रेवोत्तरस पाटवचाक्र स्थपति को निकाल दिया॥१॥

वह दुष्टरीतु पौंसायन से बोला कि 'मैं तेरे लिए सौत्रामणी यज्ञ करूँगा और सृञ्जय का जो राज्य है, उसको तुझे दे दूँगा।' उसने कहा 'अच्छा।' उसने यज्ञ किया॥२॥

कौरव्य राजा बह्लिक प्रातिपीय ने सुना कि दुष्टरीतु पौंसायन जो दस पीढ़ियों से राज्य कर रहा था और उससे निकाल दिया गया, उसके लिए चाक्र स्थपति सौत्रामणी यज्ञ करायेगा, जिससे सृञ्जय के राज्य को उसे दिला सके॥३॥

वह बोला, 'मैं उसे बता दूँगा कि यदि वह उसको राज्य देना चाहता है तो अवश्य ही राज्य से उसे बाहर रखेगा (अर्थात् अपने प्रयत्न में सफल न होगा)।' जब ग्रह निकाले जा रहे थे, तभी वह आ पहुँचा॥४॥

उसने कहा, 'स्थपति चाक्र! कहते हैं कि सुरा की आहवनीय में आहुति नहीं होनी चाहिए, न आहवनीय के बाहर अन्यत्र। यदि तू आहवनीय में सुरा डालेगा तो पाप करेगा, और यज्ञ को असफल करेगा। यदि आहवनीय से बाहर अन्यत्र डालेगा तो इसको राज्य से बाहर कर देगा। इसको राज्य न दिला सकेगा। राज्य में इसको स्थापित न कर सकेगा'॥५॥

स्थपति चाक्र ने उत्तर दिया—

नीये सुराᳯ होष्यामि नान्यत्राहवनीयान्न पापवस्यसं करिष्यामि न शामि यज्ञस्य नैनं बहिर्धा राष्ट्राद्धास्यामि राष्ट्रऽएनं धास्यामि राष्ट्रमस्मिन्धास्यामीति ॥६॥ स होवाच । कथᳯ हि करिष्यसीᳬ इति स हैतदुवाचासुरेषु वाऽएषोऽग्रे यज्ञ आसीत्सौत्रामणी स देवानुपप्रेत्सोऽप आगछत्तमापः प्रत्यनन्दंस्तस्माद् श्रेयाᳯसमागतं प्रत्येव नन्दन्ति तᳯ होचुरेह्येव भगव इति ॥७॥ स होवाच । बिभेमि वै प्रणयत मेति कस्माद्भगवो बिभेषीत्यसुरेभ्य इति तथेति तमापः प्राणयंस्तस्माद्यो वधत्रो भवति स बिभ्यतं प्रणयति यदापः प्राणयंस्तस्मादापः प्रणीतास्तत्प्रणीतानां प्रणीतात्वं प्रति ह तिष्ठति य एवमेतत्प्रणीतानां प्रणीतात्वं वेद ॥८॥ तदिष्टाः प्रयाजा आसुः । अपर्यग्निकृतमथासुरा अन्वाजग्मुस्ते देवाः पर्यग्निनैवासुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यान्यज्ञादन्तरायंस्तथोऽएवैष एतत्पर्यग्निनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यं यज्ञादन्तरेति ॥९॥ देवयोनिर्वाऽएष यदाहवनीयः । तस्यैतावमृतपक्षौ यावेतावभितोऽग्नी तद्यदाहवनीये यज्ञं तन्वते देवयोनावेवैतद्देवेभ्यो यज्ञं तन्वतऽउप हैनं पुनर्यज्ञो नमति नास्माद्यज्ञो व्यवछिद्यते य एवमेतद्वेद यस्य वैवं विदुष एतत्कर्म क्रियते ॥१०॥ उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहाञ्जुहोति । उत्तरेऽग्नौ पशूञ्छ्रपयन्ति पशूनेव तन्मर्त्यान्त्सतोऽमृतयोनौ दधाति मर्त्यान्त्सतोऽमृतयोनेः प्रजनयत्यप ह वै पशूनां पुनर्मृत्युं जयति नास्माद्यज्ञो व्यवछिद्यते य एवमेतद्वेद यस्य वैवं विदुष एतत्कर्म क्रियते ॥११॥ दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहाञ्जुहोति । दक्षिणेऽग्नौ पावयन्ति पवित्राभिस्त्रिषंयुक्ताभिः पितॄनेव तन्मर्त्यान्त्सतोऽमृतयोनौ दधाति मर्त्यान्त्सतोऽमृतयोनेः प्रजनयत्यप ह वै पितॄणां पुनर्मृत्युं जयति नास्माद्यज्ञो व्यवछिद्यते य एवमेतद्वेद यस्य वैवं विदुष एतत्कर्म क्रियते ॥१२॥ तद्यदेतावग्नीऽआहवनीयाद्विह्रियेते । तेनाहवनीयावथ यदाहवनीयं पुनर्नाभ्युवाते तेनानाहवनीयौ तेनोभौ होमाऽउपाप्नोति यश्चाहवनीये यश्चानाहवनीये यच्च हुतं यच्चाहुतम् पु-

'न आहवनीय में सुरा डालूँगा और न आहवनीय के बाहर। न पाप करूँगा, न यज्ञ को असफल करूँगा, न इसको राज्य से बाहर करूँगा। राज्य को इसमें स्थापित करूँगा और इसको राज्य में' ।।६।।

उसने पूछा, 'तू कैसे करेगा ?' उसने कहा, 'यह सौत्रामणी यज्ञ पहले असुरों के पास था। वह देवों के पास पहुँचा। वह जलों के पास आया। जलों ने उसका अभिनन्दन किया। इसलिए जब कोई उत्तम पुरुष आता है तो लोग उसका अभिनन्दन करते हैं। जलों ने कहा 'आइये भगवन्' ।।७।।

यज्ञ ने कहा, 'नहीं, मैं डरता हूँ, मुझे आगे बढ़ा दो।' 'आप किससे डर रहे हैं ?' 'असुरों से।' जलों ने कहा, 'अच्छा।' जलों ने उसको आगे बढ़ा दिया। इसलिए जो रक्षक होता है, वह डरनेवाले को आगे बढ़ा देता है। जलों ने आगे बढ़ाया (प्राणयन्)। इसीलिए जलों को 'प्रणीता' कहते हैं (यही प्रणीता का प्रणीतात्व है)। जो प्रणीताओं के प्रणीतात्व को समझता है, वह इस संसार में प्रतिष्ठित होता है ।।८।।

प्रयाज तो दिये जा चुके थे। 'पर्यग्निकरण' कार्य नहीं हुआ था कि असुर आ गये। पर्यग्निकरण क्रिया से देवों ने अपने दुष्ट शत्रुओं असुरों को यज्ञ से अलग रक्खा। इसी प्रकार यह यजमान भी 'पर्यग्निकरण' द्वारा अपने दुष्ट शत्रुओं को यज्ञ से अलग रखता है ।।९।।

आहवनीय देवों की योनि है और इधर-उधर की दो अग्नियाँ इसके अमृत-पक्ष हैं। इस-लिए जब आहवनीय में यज्ञ करते हैं तो देवों के लिए देवयोनि में ही यज्ञ करते हैं। यज्ञ उसके लिए नमता है। यज्ञ उससे अलग नहीं होता। जो इनको जानता है या जिसके लिए जानकर यह यज्ञ किया जाता है ।।१०।।

उत्तरवेदी में दूध के ग्रहों की आहुति देता है। उत्तरवेदी में यज्ञ के पशुओं को पकाते हैं। इन मर्त्य पशुओं को अमृतयोनि में स्थापित करता है और मर्त्यों को अमृतयोनि से उत्पन्न कराता है। जो इस रहस्य को समझता है, या जिसके लिए यह यज्ञ किया जाता है, वह अपने पशुओं को बार-बार की मृत्यु से बचा लेता है और यज्ञ का उससे विच्छेद नहीं होता ।।११।।

दक्षिणवेदी पर सुराग्रहों की आहुति देता है। दक्षिणवेदी के पास तिहरे पवित्रों (छन्नों) से पवित्र करते हैं। इस प्रकार मर्त्य पितरों को अमृतयोनि में स्थापित करता है और मर्त्यों को अमृतयोनि में से उत्पन्न कराता है। जो इस रहस्य को समझता है या जिसके लिए यह यज्ञ किया जाता है, वह अपने मर्त्य पितरों को बार-बार जन्म-मरण से छुड़ा देता है, और यज्ञ का उससे विच्छेद नहीं होता ।।१२।।

ये दो अग्नियाँ आहवनीय में से निकाली जाती हैं। इसलिए इनकी आहवनीय में ही गिनती है। परन्तु ये फिर आहवनीय में वापस नहीं जातीं, इसलिए आहवनीय में गिनती नहीं भी है। इस प्रकार यह दोनों प्रकार की आहुतियों की प्राप्ति करता है—आहवनीय की भी और उनकी भी जो आहवनीय में नहीं दी जातीं, हुत की भी और अहुत की भी।

नर्ह्यायमिवोवाच न तदस्ति यत्सृञ्जयानाᳲ राष्ट्रं दुष्टरीतोस्तदस्य तथायं चाक्र स्थपतिर्यज्ञेऽकरिति ॥१३॥ उत्तरेऽग्नौ पशुभिः पुरोडाशैः पयोग्रहैरिति चरन्ति । यद्व चान्यत्तेन देवानेव तद्देवलोके प्रीणाति तऽएनं प्रीताः प्रीणन्त्यथो देवलोकमेव जयति ॥१४॥ दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहान्जुह्वति । दक्षिणेऽग्नौ पावयन्ति पवित्राभिस्त्रिषंयुक्ताभिः पितॄनेव तत्पितृलोके प्रीणाति तऽएनं प्रीताः प्रीणन्त्यथो पितृलोकमेव जयति ॥१५॥ स वाऽएष आत्मैव यत्सौत्रामणी । तस्मात्सा निरुक्ता निरुक्तो ह्यात्मा लोको वयोधास्तस्मात्सोऽनिरुक्तोऽनिरुक्तो हि लोक आत्मा वै यज्ञस्य सौत्रामणी बाहूऽऐन्द्रश्च वयोधाश्च तद्यदेतावभितः पशू भवतस्तस्मादिमावात्मानमभितो बाहू यथो वै पशुरेवं यूपस्तद्यदेतᳲ सौत्रामणिकं यूपमितो यूपावभितो भवतस्तस्माद्विमावात्मानमभितो बाहू ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥५ [१.३.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या११२ ॥ नवमोऽध्यायः [८३.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या४५१ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे मध्यमनाम द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥१२॥ ॥

बल्हिक प्रातिपीय तब घर चला गया और कहने लगा, 'मैंने जैसा समझा था वैसा नहीं है। सृञ्जय का राज्य तो दुष्टरीतु का ही है। चाक्र स्थपति ने आज इस प्रकार से यज्ञ कराया है'।।१३।।

उत्तरवेदी में पशुओं, पुरोडाशों और दूध के ग्रहों से यज्ञ करते हैं; और चीजों से भी। इस प्रकार देवों को देवलोक में प्रसन्न करता है। प्रसन्न होकर ये भी उसको प्रसन्न करते हैं और वह देवलोक को जीत लेता है।।१४।।

दक्षिणवेदी में सुराग्रहों की आहुति देता है। दक्षिणवेदी के पास तिहरे छन्नों से छानते हैं। इस प्रकार पितरों को पितृलोक में प्रसन्न करता है और वे प्रसन्न होकर इसको प्रसन्न करते हैं और यह पितृलोक को जीत लेता है।।१५।।

सौत्रामणी शरीर ही है, इसलिए वह निरुक्त (निश्चित) है, क्योंकि यह शरीर भी तो निरुक्त है। और वयोधा या इन्द्र यह लोक है। लोक अनिरुक्त है, इसलिए यह भी अनिरुक्त है। सौत्रामणी शरीर है। इन्द्र का पशु और वयोधा का पशु इसकी दो भुजायें हैं। ये दो पशु-आहुतियाँ सौत्रामणी के दोनों ओर दी जाती हैं। इसीलिए शरीर के दोनों ओर भुजाएँ हैं। जैसा पशु, वैसा यूप। सौत्रामणी यूप की दोनों ओर दो और यूप होते हैं। इसीलिए शरीर के दोनों ओर भुजायें होती हैं।।१६।।

द्वादश काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [१२.३.३]	१३२
द्वितीय [१२.५.२]	९५
तृतीय [१२.८.१]	१२०
चतुर्थ [१२.९.३]	११२
	४५९
पूर्व के काण्डों का योग	५९३८
पूर्णयोग	६३९७

ओम् । ब्रह्मौदनं पचति । रेत एव तद्धत्ते यदाज्यमुच्छिष्यते तेन रशनामभ्य-ज्यादत्ते तेजो वाऽआज्यं प्राजापत्योऽश्वः प्रजापतिमेव तेजसा समर्धयत्यपूतो वाऽएषोऽमेध्यो यदश्वः ॥१॥ दर्भमयी रशना भवति । पवित्रं वै दर्भाः पुनात्येवैनं पूतमेवैनं मेध्यमालभते ॥२॥ अश्वस्य वाऽआलब्धस्य । रेत उदक्रामत्तत्सुवर्णꣳ हिरण्यमभवद्यत्सुवर्णꣳ हिरण्यं ददात्यश्वमेव रेतसा समर्धयति ॥३॥ ॥ शतम् ६४०० ॥ ॥ प्रजापतिर्यज्ञमसृजत । तस्य महिमापाक्रामत्स महर्त्विजः प्राविशत्तं महर्त्विग्भिरन्वैच्छत्तं महर्त्विग्भिरन्वविन्दद्यन्महर्त्विजो ब्रह्मौदनं प्राश्नन्ति महिमानमेव तद्यज्ञस्य यजमानोऽवरुन्द्धे ब्रह्मौदने सुवर्णꣳ हिरण्यं ददाति रेतो वाऽओदनो रेतो हिरण्यꣳ रेतसैवास्मिंस्तद्रेतो दधाति शतमानं भवति शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते चतुष्टयीरपो वसतीवरीर्मध्यमायाङ्गे गृह्णाति ता दिग्भ्यः समाहृता भवन्ति दिक्षु वाऽअन्नमन्नमापोऽन्नेनैवास्माऽअन्नमवरुन्द्धे ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ ॥

व्यृद्धमु वाऽएतद्यज्ञस्य । यदयजुष्केण क्रियतऽइमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते यजुष्कृत्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै द्वादशारत्निर्भवति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरमेव यज्ञमाप्नोति ॥१॥ तदाहुः । द्वादशारत्नी रशना कार्या३ त्रयोदशारत्नी३रित्यृषभो वाऽएष ऋतूनां यत्संवत्सरस्तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपमृषभ एष यज्ञानां यदश्वमेधो यथा वाऽऋषभस्य विष्टपमेवमेतस्य विष्टपं त्रयोदशमरत्निꣳ रशनायामुपादध्यात्तद्यथऽऋषभस्य विष्टपꣳ सꣳस्त्रियते तादृक्तत् ॥२॥ अभिधा अ-

त्रयोदश काण्ड

अथाश्वमेधनाम त्रयोदशं काण्डम्

ब्रह्मौदनपाकः

अध्याय १—ब्राह्मण १

अध्वर्यु ब्रह्मौदन को पकाता है। इस प्रकार वह वीर्य को धारण करता है (अर्थात् अश्वमेध यज्ञ में ब्रह्मौदन वीर्य का कार्य करता है), जो घी बच रहे उससे रस्सी को चुपड़ लेता है। घी तेज है। अश्व प्रजापति का है। प्रजापति को तेज से सम्पन्न करता है। यह घोड़ा जो है वह यज्ञ के लिए अपवित्र और अमेध्य है ॥१॥

रस्सी दर्भ की होती है। दर्भ पवित्र होते हैं। इस प्रकार घोड़े को पवित्र करता है और उसको पवित्र तथा मेध्य बनाकर उसका आलभन करता है ॥२॥

जब अश्व का आलभन हो गया तो उसका वीर्य उससे चला गया और सोना बन गया। इसलिए जब सोना दक्षिणा में देता है तो मानो घोड़े को वीर्य से सम्पन्न करता है ॥३॥

प्रजापति ने यज्ञ किया। उसकी महिमा उससे चली गई और महाऋत्विजों में घुस गई। इन महाऋत्विजों के साथ वह तलाश करता फिरा। महाऋत्विजों के साथ उसने उसको पाया। जब महाऋत्विज लोग ब्रह्मौदन खाते हैं तो यजमान यज्ञ की महिमा को उपलब्ध करता है। ब्रह्मौदन के साथ स्वर्ण की दक्षिणा भी देता है, क्योंकि ओदन भी वीर्य है और स्वर्ण भी वीर्य। वीर्य के द्वारा घोड़े में वीर्य स्थापित करता है। यह सोना सौ मान का होता है, क्योंकि मनुष्य की आयु सौ वर्ष और सौ पराक्रम की होती है। इस प्रकार अपने में पराक्रम, वीर्य और आयु को धारण करता है। मध्याह्न में चार प्रकार के वसतीवरी जलों को इकट्ठा करता है। वे चारों दिशाओं से लाये जाते हैं, क्योंकि अन्न दिशाओं में है और जल अन्न है। इस प्रकार अन्न के द्वारा उसकी प्राप्ति कराता है ॥४॥

अश्वस्य बन्धनप्रोक्षणादि

अध्याय १—ब्राह्मण २

बिना यजु के जो यज्ञ किया जाता है वह सफल नहीं होता। यज्ञ की सफलता के हेतु यजु-सम्पन्न करने के लिए वह नीचे के मंत्र से (अश्व+अभिधानीं) घोड़े की रस्सी को लेता है—"इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" (यजु० २२।२)—"ऋतु की इस रस्सी को मैंने पकड़ा···" इत्यादि। यह बारह हाथ की होती है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। इस प्रकार संवत्सररूपी यज्ञ की प्राप्ति करता है ॥१॥

इस प्रकार शंका करते हैं कि बारह हाथ की रस्सी हो या तेरह की। संवत्सर में ऋषभ या साँड है, तेरहवाँ महीना उसका कुब्बड़ है, अश्वमेध यज्ञों में ऋषभ या साँड है। यह जो रस्सी का तेरहवाँ हाथ है वह इस ऋषभ का कुब्बड़ है। यदि तेरह हाथ की रस्सी होगी, तो ऐसा ही होगा जैसे इस साँड का कुब्बड़ ॥२॥

सीति । तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति भुवनमसीति भुवनं तज्जयति यन्तासि धर्तेति यन्तारमेवैनं धर्तारं करोति स त्वमग्निं वैश्वानरमित्यग्निमेवैनं वैश्वानरं गमयति सप्रथसं गच्छेति प्रजयैवैनं पशुभिः प्रथयति स्वाहाकृत इति वषट्कार एवास्यैष स्वगा त्वा देवेभ्य इति देवेभ्य एवैनं स्वगा करोति प्रजापतय ऽइति प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति ॥३॥ ईश्वरो वाऽएषः । आर्तिमार्तोर्यो ब्रह्मणे देवेभ्योऽप्रतिप्रोच्याश्वं बध्नाति ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासमिति ब्रह्माणामामन्त्रयते ब्रह्मणऽएवैनं प्रतिप्रोच्य बध्नाति नार्तिमार्छति तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहीति ब्रह्मा प्रसौति स्वयैवैनं देवतया समर्धयत्यथ प्रोक्षत्यसावेव बन्धुः ॥४॥ स प्रोक्षति । प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः ॥५॥ इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति । इन्द्राग्नी वै देवानामोजस्वितमाऽओज एवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः ॥६॥ वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति । वायुर्वै देवानामाशिष्ठो जवमेवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनामाशिष्ठः ॥७॥ विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति । विश्वे वै देवा देवानां यशस्वितमा यश एवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनां यशस्वितमः सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति ॥८॥ तदाहुः । यत्प्राजापत्योऽश्वाऽथ कथान्यान्याभ्यो देवताभ्यः प्रोक्षतीति सर्वा वै देवता अश्वमेधेऽन्वायत्ता यदाह सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः प्रोक्षामीति सर्वा एवास्मिन्देवता अन्वाभाजयति तस्मादश्वमेधे सर्वा देवता अन्वायत्ताः पाप्मा वाऽएतं भ्रातृव्य ईप्सति योऽश्वमेधेन यजेत वज्रोऽश्वः परो मर्तः परः श्वेति श्वानं चतुरक्षं हत्वाधस्पदमश्वस्योपप्लावयति वज्रेणैवैनमवक्रामति नैनं पाप्मा भ्रातृव्य आप्नोति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥२॥

यथा वै हविषोऽहुतस्य स्कन्देत् । एवमेतत्पशो स्कन्दति यं नियुक्तमनाल-

(इस मंत्र से रस्सी को घोड़े की गर्दन में डालता है)—"अभिधाऽअ भुवनमसि यन्तासि धर्ता, स त्वमग्निं वैश्वानरँ् सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः" (यजु० २२।३)—"तू अभिधा या घेरनेवाली है।" इसीलिए तो अश्वमेध करनेवाला सब दिशाओं को जीत लेता है। "भुवन है तू।" इस संसार को जीतता है। "तू शासक और धारक है।" इससे उसको शासक (यन्ता) और धारक बनाता है। "तू अग्नि वैश्वानर के पास जा।" इससे वह उसको अग्नि वैश्वानर के पास भेजता है। "सप्रथसं गच्छ" इससे उसको प्रजा और पशुओं तक विस्तृत करता है। "स्वाहाकृतः" यह वषट्कार है। "स्वगा त्वा देवेभ्यः" (यजु० २२।४)—उससे उसका देवों के लिए स्वागत कराता है। "प्रजापतये" (यजु० २२।४)—यह अश्व प्रजापति का है। इस प्रकार इसको इसी देवता के द्वारा समृद्ध करता है ॥३॥

जो घोड़े को ब्रह्मा या देवताओं को कहे बिना बाँधता है, वह दुःख उठाता है। इसलिए वह ब्रह्मा को सम्बोधन करता है, 'हे ब्रह्मा, मैं अश्व को देवताओं के लिए, प्रजापति के लिए बाँधूँगा। मुझे समृद्धि हो।' ब्रह्मा को आमंत्रण करने के पश्चात् घोड़े को बाँधता है और कोई दुःख नहीं उठाता ! ब्रह्मा कहता है, 'इसको देवताओं के लिए, प्रजापति के लिए बाँधो।' और इस प्रकार अश्व को उसके ही देवता को अर्पण करता है। अब जल के छींटे देता है। इसका आशय तो वही है जो पहले कहा जा चुका है ॥४॥

वह इस मन्त्र से छींटे देता है—"प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजु० २२।५)—"प्रजापति देवों में सबसे प्रबल है, इसलिए, प्रजापति को अर्पण" करके वह इनको प्रबल बनाता है। इसीलिए पशुओं में घोड़ा सबसे प्रबल है ॥५॥

"इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"(यजु० २२।५)—इन्द्र और अग्नि देवों में सबसे ओजवाले हैं। इसमें ओज स्थापित करता है, इसलिए घोड़ा सब पशुओं में ओजवाला है ॥६॥

"वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजु० २२।५)—वायु देवों में सबसे तेज है (आशिष्ठ) है, उसमें तेजी स्थापित करता है। इसलिए पशुओं में सबसे तेज घोड़ा है ॥७॥

"विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि" (यजु० २२।५)—'विश्वेदेवा' देवों में सबसे यशस्वी है। इसमें यश स्थापित करता है। घोड़ा पशुओं में सबसे यशस्वी है। "सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि"(यजू० २२।५)—इससे वह सब देवताओं के लिए घोड़े को अर्पित करता है ॥८॥

इसपर शंका करते हैं कि घोड़ा तो प्रजापति का है, फिर अन्य देवताओं के लिए छींटे क्यों दिये जाते हैं? वस्तुतः अश्वमेध में सब देव सम्बद्ध हैं। सब देवताओं के लिए छींटे देकर सब देवताओं को सम्बद्ध कर लेता है। इसलिए अश्वमेध में सब देवता सम्बद्ध हैं। जो अश्वमेध यज्ञ करता है उसका दुष्ट शत्रु उसको परास्त करना चाहता है। घोड़ा वज्र है। चार आँखवाले (चतुरक्ष—चार आँखों का कुत्ता वह है जो दु-मुँहा होता है, या जिसकी आँखों के पास चिह्न होते हैं) कुत्ते को मारकर 'कुत्ता मर गया' कहकर घोड़े के पैर के नीचे बहाता है। इस प्रकार वज्र से उसको कुचल देता है। इस प्रकार दुष्ट शत्रु उसको नहीं पकड़ सकता ॥९॥

सहस्रमाहुतयः

अध्याय १—ब्राह्मण ३

जैसे हवि में से आहुति देते समय कुछ नीचे गिर पड़ता है, इसी प्रकार जब पशु को आलभन

ब्धमुत्सृजन्ति यत्स्तोकीया जुहोति सर्वहुतमेवैनं जुहोत्यस्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति सहस्रं जुहोति सहस्रसंमितो वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै ॥१॥ तदाहुः । यन्मिता जुहुयात्परिमितमवरुन्धीतेत्यमिता जुहोत्यपरिमितस्यैवावरुद्ध्याऽउवाच ह प्रजापति स्तोकीयासु वाऽअहमश्वमेधꣳ सꣳस्थापयामि तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं चरामीति ॥२॥ अग्नये स्वाहेति । अग्नयऽएवैनं जुहोति सोमाय स्वाहेति सोमायैवैनं जुहोत्यपां मोदाय स्वाहेत्यद्भ्य एवैनं जुहोति सवित्रे स्वाहेति सवित्रऽएवैनं जुहोति वायवे स्वाहेति वायवऽएवैनं जुहोति विष्णवे स्वाहेति विष्णवऽएवैनं जुहोतीन्द्राय स्वाहेतीन्द्रायैवैनं जुहोति बृहस्पतये स्वाहेति बृहस्पतयऽएवैनं जुहोति मित्राय स्वाहेति मित्रायैवैनं जुहोति वरुणाय स्वाहेति वरुणायैवैनं जुहोत्येतावन्तो वै सर्वे देवास्तेभ्य एवैनं जुहोति पराचीर्जुहोति पराङिव वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै ॥३॥ ईश्वरो वाऽएषः । पराङ् प्रदघोर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति पुनरावर्ततेऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठत्येताꣳ ह वाव स यज्ञस्य सꣳस्थितिमुवाचास्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति ॥४॥ यथा वै हविषोऽहुतस्य स्कन्देत् । एवमेतत्पशोः स्कन्दति यं प्रोक्षितमनालब्धमुत्सृजन्ति यद्रूपाणि जुहोति सर्वहुतमेवैनं जुहोत्यस्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहेत्येतानि वाऽअश्वस्य रूपाणि तान्येवावरुन्द्धे ॥५॥ तदाहुः । अनाहुतिर्वै रूपाणि नैता होतव्या इत्यथो खल्वाहुरत्र वाऽअश्वमेधः संतिष्ठते यद्रूपाणि जुहोति होतव्या एवेति बहिर्धा वाऽएतमायतनात्करोति भ्रातृव्यमस्मै जनयति यस्यानायतनेऽन्यत्राग्नेराहुतीर्जुहोति ॥६॥ सावित्र्या एवेष्टेः । पुरस्तादनुद्रुत्य सकृदेव रूपाण्याहवनीये जुहोत्यायतनऽएवाहुतीर्जुहोति नास्मै भ्रातृव्यं जनयति यज्ञमुखे-यज्ञमुखे जुहोति यज्ञस्य संतत्याऽअव्यवच्छेदाय ॥७॥ त-

किये बिना ही छींटा देकर छोड़ देते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि पशु में से आहुति से पूर्व कुछ नीचे गिर गया। स्तोकीय आहुतियाँ इसलिए देता है कि 'सर्वहुत' अर्थात् पूरी चीज की आहुति हो सके, जिससे 'फैलने' का प्रतिकार हो सके। इस प्रकार आहुति देते समय जो गिर गया, वह न गिरने के बराबर हो गया। एक सहस्र आहुतियाँ देता है, स्वर्गलोक प्राप्ति के लिए, क्योंकि स्वर्ग सहस्रवाला है ॥१॥

इस विषय में कहते हैं कि यदि परिमित आहुतियाँ देगा तो परिमित फल होगा। इसलिए अनगिनत आहुतियाँ देता है, अपरिमित फल की प्राप्ति के लिए। प्रजापति ने कहा, 'मैं स्तोकीय आहुतियों पर अश्वमेध को स्थापित करता हूँ, इस स्थापित पर मैं ऊपर चढ़ूँगा' ॥२॥

"अग्नये स्वाहा" (यजु० २२।६)—से अग्नि के लिए आहुति देता है। "सोमाय स्वाहा" से सोम के लिए। "अपां मोदाय स्वाहा" से जलों के लिए। "सवित्रे स्वाहा" से सविता के लिए। "वायवे स्वाहा" से वायु के लिए। "विष्णवे स्वाहा" से विष्णु के लिए। "इन्द्राय स्वाहा" से इन्द्र के लिए। "बृहस्पतये स्वाहा" से बृहस्पति के लिए। "मित्राय स्वाहा।" से मित्र के लिए। "वरुणाय स्वाहा से वरुण के लिए।

इतने देवता हैं। इनके लिए आहुतियाँ देता है। लगातार आहुतियाँ देता है, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए, क्योंकि स्वर्ग लगातार है।

(अश्व के प्रोक्षण पर उसके शरीर से जल की बूँदें टपकती हैं) उन्हीं के साथ जो आहुतियाँ दी जाती हैं वे स्तोकीय आहुतियाँ कहलाती हैं। ऊपर १० मन्त्र दिये गये हैं। जब दस आहुतियाँ दी गई तो ११वीं आहुति से फिर यही दस मन्त्र आरम्भ होते हैं। इसी प्रकार एक हजार तक, या उस समय तक जब घोड़े के शरीर से बूँदें गिरना बन्द हों, बराबर आहुतियाँ दी जाती हैं ॥३॥

परन्तु जो सीधा आहुतियाँ देता जायगा, वह सीधा चला जायगा। इसलिए फिर लौटता है इस लोक में प्रतिष्ठा जमाने के लिए। क्योंकि ऐसा करने से जो भाग गिरा हुआ है, वह बेगिरे हुए के तुल्य हो जाता है ॥४॥

जैसे आहुति देते समय हवि में से कुछ गिर पड़ता है, इसी प्रकार जब बिना आलभन के नहलाया हुआ पशु छोड़ दिया जाता है, तो मानो यह हवि में से कुछ गिर गया। 'रूपों' की आहुतियाँ इसलिए दी जाती हैं कि आहुति को पूर्ण समझा जा सके, गिरे हुए के प्रतिकार के लिए। वह जो गिरा हुआ भाग है, वह (इन आहुतियों के द्वारा) बेगिरे के तुल्य हो जाता है। "हिङ्काराय स्वाहा, हिङ्कृताय स्वाहा……" इत्यादि (यजु० २२।७-८) (दो मन्त्रों में ये ४६ आहुतियाँ हैं) ये अश्व के रूप हैं, इनकी प्राप्ति के लिए ॥५॥

इसपर कहते हैं 'रूप तो आहुति के योग्य नहीं हैं। इनकी आहुति नहीं देनी चाहिए।' परन्तु यह भी कहते हैं कि 'जो रूपों की आहुतियाँ देता है, वह अश्वमेध को पूर्ण करता है।' इसलिए ये आहुतियाँ हो जानी चाहिएँ। जब कोई आयतन या स्थान के बाहर, या अग्नि को छोड़कर अन्यत्र आहुतियाँ देता है तो वह यजमान को स्थान से बाहर कर देता है, और उसके लिए शत्रु उत्पन्न कर देता है ॥६॥

सावित्री की आहुति से पहले जल्दी-जल्दी एक बार (ऊपर के मन्त्रों से) रूपों को आहुति आहवनीय में देता है, इस प्रकार ये आहुतियाँ स्थान में ही दी जाती हैं (बाहर नहीं)। उसका शत्रु भी उत्पन्न नहीं होने पाता। प्रत्येक यज्ञ के आरम्भ में आहुतियाँ देता है, जिससे यज्ञ की सन्तति बनी रहे, टूटे नहीं ॥७॥

—३

दाहुः । यद्यज्ञमुखे-यज्ञमुखे जुहुयात्पशुभिर्व्यृध्येत पापीयान्स्यात्सकृदेव होतव्या न पशुभिर्व्यृध्यते न पापीयान्भवत्यष्टाचत्वारिᳬंशतं जुहोत्यष्टाचत्वारिᳬंशदक्षरा जगती जागताः पशवो जगत्यैवास्मै पशूनवरुन्धऽएकमतिरिक्तं जुहोति तस्मादेकः प्रजास्वर्धुकः ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

प्रजापतिरश्वमेधमसृजत । सोऽस्मात्सृष्टः पराङैत्स दिशोऽनुप्राविशत्तं देवाः प्रैषमैच्छंस्तमिष्टिभिरनुप्रायुञ्जत तमिष्टिभिरन्वैच्छंस्तमिष्टिभिरन्वविन्दन्यदिष्टिभिर्यजते ऽश्वमेव तन्मेध्यं यजमानोऽन्विच्छति ॥१॥ सावित्र्यो भवन्ति । इयं वै सविता यो वाऽअस्यां निलयते योऽन्यत्रेत्यस्यां वाव तमनुविन्दन्ति न वाऽइमां कश्चन तिर्यङ्नोर्ध्वोऽत्येतुमर्हति यत्सावित्र्यो भवन्त्यश्वस्यैवानुवित्त्यै ॥२॥ तदाहुः । प्र वाऽएतदश्वो मीयते यत्पराङैति न ह्येनं प्रत्यावर्तयन्तीति यत्सायं धृतीर्जुहोति क्षेमो वै धृतिः क्षेमो रात्रिः क्षेमेणैवेनं दाधार तस्मात्सायं मनुष्याश्च पशवश्च क्षेम्या भवन्त्यथ यत्प्रातरिष्टिभिर्यजतऽइच्छत्येवैनं तत्तस्माद्दिवा नष्टैष एति यद्वेव सायं धृतीर्जुहोति प्रातरिष्टिभिर्यजते योगक्षेममेव तद्यजमानः कल्पयते तस्माद्यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योगक्षेमो भवति ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥४॥

अप वाऽएतस्मात् । श्री राष्ट्रं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति वीणास्मै वाद्यते ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः श्रियै वाऽएतद्रूपं यद्वीणा श्रियमेवास्मिंस्तद्धत्तः ॥१॥ तदाहुः । यदुभौ ब्राह्मणौ गायेतामपास्मात्क्षत्रं क्रामेद्ब्रह्मणो वाऽएतद्रूपं यद्ब्राह्मणो न वै ब्रह्मणि क्षत्रᳬं रमत ऽइति ॥२॥ यदुभौ राजन्यौ । अपास्माद्ब्रह्मवर्चसं क्रामेत्क्षत्रस्य वाऽएतद्रूपं यद्राजन्यो न वै क्षत्रे ब्रह्मवर्चसᳬं रमतऽइति ब्राह्मणोऽन्यो गायति राजन्योऽन्यो ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रᳬं राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति ॥३॥ तदाहुः । यदुभौ दिवा गायेतां प्रअᳬशुकास्माछ्रीः स्याद्ब्रह्मणो

इसपर कहते हैं यदि हर यज्ञ के आरम्भ में आहुतियाँ देगा तो पशुओं से वंचित रहेगा और दरिद्र हो जायगा। एक साथ ही आहुतियाँ होनी चाहिएँ। इस प्रकार न तो पशुओं से वंचित होगा, न दरिद्र होगा। अड़तालीस (४८) आहुतियाँ देता है। जगती में ४८ अक्षर होते हैं। पशु जगती छन्दवाले हैं (पशु चलते-फिरते हैं, क्योंकि जगती भी गम् धातु से निकला है)। जगती के द्वारा वह यजमान के लिए पशुओं की प्राप्ति करता है। एक अतिरिक्त आहुति देता है। उससे प्रजा में एक पुरुष की समृद्धि होती है ॥८॥

सावित्र्यइष्टयः

अध्याय १—ब्राह्मण ४

प्रजापति ने अश्वमेध बनाया। वह इससे उत्पन्न होकर चला गया, दिशाओं में प्रविष्ट हो गया। देव इसकी खोज में गये। इसकी इच्छा की इष्टियों द्वारा उन्होंने इसका पीछा किया। इष्टियों द्वारा इसकी खोज की। इष्टियों द्वारा इसको प्राप्त किया। जब यजमान इष्टियाँ करता है, तो ऐसे अश्व की खोज करता है जो मेध्य (यज्ञ के योग्य) हो ॥१॥

ये इष्टियाँ सविता की होती हैं। यह पृथिवी सविता है। यदि कोई इसमें छिप जाय, या अन्यत्र चला जाय तो लोग उसको यहीं तलाश करेंगे। क्योंकि चाहे कोई सीधा जाय या ऊपर को जाय, पृथिवी से बाहर न जा सकेगा। ये सविता की होती हैं जिससे अश्व की प्राप्ति की जा सके ॥२॥

इस विषय में कहते हैं कि जब घोड़ा सीधा जाता है तो लुप्त हो जाता है, क्योंकि वे उसको लौटाते नहीं। सायंकाल को जो 'धृति' आहुति देता है तो धृति क्षतु है, क्षेम रात्रि है। रात्रि से ही इसकी स्थापना करता है, क्योंकि सायंकाल को ही पशु और मनुष्य विश्राम लेते हैं। जब प्रातः की इष्टियाँ करता है तो उस घोड़े की तलाश करता है, क्योंकि जो कुछ खो जाता है उसे प्रातः ही खोजते हैं। यह जो शाम को धृति की आहुतियाँ देता है और प्रातःकाल की इष्टियाँ करता है, मानो यजमान का योगक्षेम चाहता है। इसलिए जहाँ यह यज्ञ किया जाता है प्रजा का योगक्षेम होता है ॥३॥

गाथागानम्

अध्याय १—ब्राह्मण ५

जो अश्वमेध करता है उसकी श्री तथा राष्ट्र उसके पास से चले जाते हैं। जब पुरुष को श्री मिलती है तो इसके लिए वीणा बजाते हैं। दो ब्राह्मण वीणा बजानेवाले साल-भर गाते हैं। वीणा श्री का रूप है। वे दोनों इसमें श्री की स्थापना करते हैं ॥१॥

इसपर आक्षेप करते हैं कि यदि दोनों गानेवाले, ब्राह्मण ही होंगे तो क्षत्रियत्व उससे चला जाएगा क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) का रूप है। क्षत्रियत्व (क्षत्र) ब्राह्मणत्व (ब्रह्म) में रुचि नहीं रखता ॥२॥

यदि दोनों क्षत्रिय होंगे तो उससे ब्रह्मवर्चस् मिलकर चला जाएगा, क्योंकि क्षत्रिय क्षत्रियत्व का रूप है। क्षत्र में ब्रह्मवर्चस् रुचि नहीं रखता। इसलिए एक गानेवाला ब्राह्मण होता है और एक क्षत्रिय। ब्राह्मण ब्रह्म का रूप है और क्षत्रिय क्षत्र का। इस प्रकार इसकी श्री दोनों ओर से ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व से सुरक्षित रहती है ॥३॥

एक और प्रश्न है—यदि दोनों दिन के समय गावें तो उसकी श्री उससे चली जाय,

वाऽएतद्रूपं यदृक्यदा वै राजा कामयतेऽथ ब्राह्मणं जिनाति पापीयांस्तु भवति ॥४॥ यद्युभौ नक्तम् । अपास्माद्ब्रह्मवर्चसं क्रामेत्क्षत्रस्य वाऽएतद्रूपं यद्रात्रिर्न वै क्षत्रे ब्रह्मवर्चसꣳ रमतऽइति दिवा ब्राह्मणो गायति नक्तꣳ राजन्यस्तथो हास्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवतीति ॥५॥ अयजतेत्यददादिति ब्राह्मणो गायतीष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्येष्टापूर्तेनैवैनꣳ स समर्धयतीत्ययुध्यतेत्यमुꣳ संग्राममजयदिति राजन्यो युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यं वीर्येणैवैनꣳ स समर्धयति तिस्रोऽन्यो गाथा गायति तिस्रोऽन्यः षट् सम्पद्यन्ते षड्टतवः संवत्सर ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रतितिष्ठति ताभ्याꣳ शतं ददाति शतायुर्वै पुरुष शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥५॥

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेति । इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं परिददात्यश्वोऽसि हयोऽसीति शास्त्येवैनं तत्तस्माच्छिष्टाः प्रजा जायन्तेऽत्योऽसि मयोऽसीत्यत्येवैन नयति तस्मादश्वः पशूनत्येति तस्मादश्वः पशूनां श्रैष्ठ्यं गच्छत्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसीति यथायजुरेवैतद्वृषासि नृमणा असीति मिथुनत्वाय ययुर्नामासि शिशुर्नामासीत्येतद्वाऽअश्वस्य प्रियं नामधेयं प्रियेणैवैनं नाम्नाभिवदति तस्मादप्यामित्रौ सगत्य नाम्ना चेदभिवदतोऽन्योऽन्यꣳ समेव जानाते ॥१॥ आदित्यानां पत्वान्विहीति । आदित्यानेवैनं गमयति देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳ रक्षतेति शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालास्तेभ्य एवैनं परिददातीह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति संवत्सरमाहुतीर्जुहोति षोडश नवतीरेता वाऽअश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धनमागच्छति षोडश नवतीरेता वाऽअश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धनं न जहाति ॥२॥ राष्ट्रं वाऽअश्वमेधः । राष्ट्रऽएते व्यायच्छन्ते येऽश्वꣳ रक्षन्ति तेषां यऽउदृचं गच्छन्ति राष्ट्रेणैव ते राष्ट्रं भवन्त्यथ ये नोदृचं गच्छन्ति राष्ट्रात्ते

क्योंकि दिन ब्रह्म का रूप है। यदि राजा चाहे तो ब्राह्मण को सता सकता है, परन्तु वह हानि उठाएगा ॥४॥

यदि दोनों रात को गावें, तो उससे ब्रह्मवर्चस् चला जायगा, क्योंकि रात्रि क्षत्रियत्व का रूप है। क्षत्रिय ब्रह्मवर्चस् में रुचि नहीं रखता। इसलिए दिन में ब्राह्मण गाता है और रात में क्षत्रिय। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों से इसकी श्री सुरक्षित रहती है ॥५॥

'यह यज्ञ किया', 'यह दान दिया' ऐसा ब्राह्मण गाता है, क्योंकि ब्राह्मण का काम 'इष्ट' की पूर्ति है। इष्ट की पूर्ति से उसकी समृद्धि करता है। 'उसने यह युद्ध किया', 'यह संग्राम जीता' यह क्षत्रिय गाता है। क्षत्रिय का पराक्रम युद्ध है। इस प्रकार पराक्रम द्वारा उसकी समृद्धि करता है। तीन मन्त्र एक गाता है और तीन दूसरा। ये छः हो गये; संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। उन दोनों को 'सौ' दक्षिणा में देता है, क्योंकि पुरुष सौ की आयुवाला है और सौ पराक्रमवाला है। इस प्रकार वह उसमें आयु, पराक्रम और वीर्य स्थापित करता है ॥६॥

अश्वकर्णजपः, धृतिहोमश्च

अध्याय १—ब्राह्मण ६

(अध्वर्यु और यजमान घोड़े के दाहिने कान में जपते हैं)—"विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रा" (यजु० २२।१९)—"माता द्वारा विभूति या सन्तानवाला और पिता द्वारा प्रभुत्व या शक्तिवाला।" यह पृथिवी माता है और द्यौ पिता है। इस घोड़े को उन्हीं को भेंट करता है। "अश्वोऽसि हयोऽसि" (यजु० २२।१९) "तू मार्ग को प्राप्त करनेवाला है (अश्नुते व्याप्नोति मार्गमित्यश्वः)। तू चलनेवाला ("ह्य गतौ" हयति याति) है।" इससे उसको ऐसा आदेश देता है कि प्रजा अधिक हो। "अत्योसि, मयोऽसि (यजु० २२।१९)—"तू अत्य या निरन्तर चलनेवाला, मय या सुखकर है" ऐसा कहकर उसको ले जाता है। इसीलिए घोड़ा पशुओं से आगे बढ़ जाता है। इसलिए वह पशुओं में श्रेष्ठ है। "अर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि"—(यजु० २२।१९) "तू 'अर्व' या शत्रु का नाशक है (अर्वति हिनस्ति रिपून्)। तू 'सप्ति' या सिपाही के साथ चलता है (सैन्येन समवैति)— तू 'वाजी' या चलनेवाला है (वज गतौ)।" इसका अर्थ स्पष्ट है। "वृषासि नृमणा ऽ असि" (यजु० २२।१९) "तू नर (सन्तान-उत्पत्ति करने में समर्थ) है और नर के-से मनवाला है।" मिथुनत्व या जोड़ा मिलाने के लिए ऐसा कहता है। "ययुर्नामासि शिशुर्नामासि" (यजु० २२।१९)—"तू 'ययु' नाम का या गतिशील है। तू 'शिशु' नाम का अर्थात् प्रशंसनीय या दूध पीनेवाला (श्यति कृश करोति स्तनं) है।" ये अश्व के प्रिय नाम हैं जिनसे सम्बोधित करता है। इसलिए यदि दो पुरुष अमित्र (शत्रु) भी हों और परस्पर एक-दूसरे का नाम लेकर पुकारें तो आपस में प्रेम करने लगते हैं ॥१॥

"आदित्यानां पत्वान्विहि" (यजु० २२।१९)—"आदित्यों के मार्ग से जा" इस प्रकार उसको आदित्यों के पास भेजता है। "देवा ऽ आशापाला ऽ एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितं रक्ष" (यजु० २२।१९)—"हे दिशाओं के पालनेवाले देवो! इस मेध के लिए नहलाए हुए अश्व की रक्षा करो।" दिशाओं के पालनेवाले सौ विवाहित स्त्री-पुरुष की सन्तान राजपुत्र होते हैं। उन्हीं के अर्पण इसको करता है। "रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा" (यजु० २२।१९)— "यहाँ सुख है। यहाँ आनन्द मनावे, यहाँ सुरक्षित स्थान है। यहाँ इसी का सुरक्षित स्थान है।"

सालभर तक चार-चार आहुतियाँ देता है। ये ९० × १६ = १४४० (३६० × ४) हो जाती हैं। घोड़े की रस्सी में इतनी ही कड़ियाँ होती हैं। उन्हीं से इसको बाँधता है। जब घोड़ा छोड़ जाता है, तो इसी बन्धन में आता है। ये १४४० होती हैं। इन्हीं से वह अश्व को बाँधता है। इसलिए छोड़ा हुआ घोड़ा अपने बन्धन को नहीं छोड़ता ॥२॥

अश्वमेध राष्ट्र है। जो घोड़े की रक्षा करते हैं वे राष्ट्र की रक्षा करते हैं। जो अन्त तक पहुँचते हैं वे राष्ट्र में साझी होते हैं; जो अन्त तक नहीं पहुँचते वे राष्ट्र से अलग हो जाते हैं।

व्यवच्छिद्यन्ते तस्माद्राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेत परा वाऽएष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते यद्यमित्रा अश्वं विन्देरन्यज्ञोऽस्य विच्छिद्येत पापीयान्त्स्यादत्र कवचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य संतत्याऽअव्यवच्छेदाय न पापीयान्भवत्यथान्यमानीय प्रोक्षेयुः सैव तत्र प्रायश्चित्तिः ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥६॥

प्रजापतिरकामयत । अश्वमेधेन यजेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सप्तधात्मनो देवता अपाक्रामंस्ता दीक्षाभवत्स एतानि वैश्वदेवान्यपश्यत्तान्यजुहोत्तैर्वै स दीक्षामवारुन्द्ध यद्वैश्वदेवानि जुहोति दीक्षामेव तैर्यजमानोऽवरुन्द्धेऽन्वहं जुहोत्यन्वहमेव दीक्षामवरुन्द्धे सप्त जुहोति सप्त वै ता देवता अपाक्रामंस्ताभिरेवास्मै दीक्षामवरुन्द्धे ॥१॥ अप वाऽएतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये दीक्षामतिरेचयन्ति सप्ताहं प्रचरन्ति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान्दीक्षामवरुन्द्धे त्रेधा विभज्य देवता जुहोति त्र्यावृतो वै देवास्त्र्यावृत इमे लोका अद्यामेव वीर्यऽएषु लोकेषु प्रतितिष्ठति ॥२॥ एकविꣳशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशस्तद्दैवं क्षत्रꣳ सा श्रीस्तदाधिपत्यं तद्ब्रध्नस्य विष्टपं तत्स्वाराज्यमश्नुते ॥३॥ त्रिꣳशतमौद्ग्रभणानि जुहोति । त्रिंशदक्षरा विराड्विराडु कृत्स्नमन्नं कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोति त्रीणि वैश्वदेवानि सप्त सम्पद्यन्ते सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान्दीक्षामवरुन्द्धे पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति प्रत्युत्तब्ध्यै सयुक्त्वाय ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥७॥ ॥

प्रजापतिरश्वमेधमसृजत । स सृष्टः प्रऽर्चमव्लीनात्प्र साम तं वैश्वदेवान्युदयच्छन्यद्वैश्वदेवानि जुहोत्यश्वमेधस्यैवोद्यत्यै ॥१॥ काय स्वाहा । कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहेति प्राजापत्यं मुख्यं करोति प्रजापतिमुखाभिरेवैनं देवताभिरुद्यच्छति ॥२॥ स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा । मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायेति

इसलिए राष्ट्री को अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए। जो बिना बल के अश्वमेध यज्ञ करता है, वह नष्ट हो जाता है। यदि शत्रु अश्व को ले-ले तो उसका यज्ञ भ्रष्ट हो जाय और वह दरिद्र हो जाय। सौ कवच पहने हुए योद्धा उसकी रक्षा करते हैं, जिससे यज्ञ की संतति (सिलसिला) टूट न जाय, और यजमान दरिद्र न हो जाय। (यदि घोड़ा खो जाय) तो दूसरे घोड़े को लाकर नहलावें। यही उसका प्रायश्चित्त है ॥३॥

औद्ग्रभणहोमः

अध्याय १—ब्राह्मण ७

प्रजापति ने चाहा कि मैं अश्वमेध यज्ञ करूँ। उसने श्रम किया और तप किया। उस थके और तपे हुए शरीर से सात प्रकार के देवता निकल आए। उससे दीक्षा निकली। उसने इन 'विश्वे-देवा' आहुतियों को देखा और इन आहुतियों से यज्ञ किया। उन्हीं के द्वारा उसने दीक्षा को प्राप्त किया। जब यजमान वैश्वदेव आहुतियाँ देता है तो उन्हीं के द्वारा वह दीक्षा को प्राप्त करता है। प्रतिदिन आहुतियाँ देता है, प्रतिदिन दीक्षा को प्राप्त करता है। सात आहुतियाँ देता है। सात देवता ही तो निकले थे। उनसे ही इसके लिए दीक्षा प्राप्त कराता है ॥१॥

जो दीक्षा से बढ़ जाते हैं, उनके प्राण निकल जाते हैं। सात दिन आहुतियाँ दी जाती हैं। सिर में सात प्राण हैं, दीक्षा प्राण है, प्राणों ही से प्राणों को और दीक्षा को प्राप्त करता है। तीन भाग करके देवताओं को आहुतियाँ देता है, क्योंकि तीन तरह के देव हैं और तीन तरह के ये लोक। इस प्रकार वह अपने को इन लोकों में श्री तथा वीर्य में स्थापित करता है ॥ २॥

ये इक्कीस हो जाते हैं—बारह मास, पांच ऋतुएँ, तीन लोक और यह आदित्य, इक्कीस हो गये। इसीसे वह दैवी क्षत्र है, वह श्री है, वह आधिपत्य है, इससे वह प्रकाश के शिखर को तथा स्वराज्य को पाता है ॥ ३॥

तीस 'औद्ग्रभण' आहुतियाँ देता है। विराट् में तीस अक्षर होते हैं। विराट् का अर्थ है 'सब अन्न'। सब अन्न की प्राप्ति के लिए। प्रतिदिन चार औद्ग्रभण आहुतियाँ देता है और तीन वैश्वदेव। ये हुए सात, क्योंकि सिर में सात प्राण हैं। और दीक्षा भी प्राण है। प्राणों द्वारा इसके लिये प्राणों और दीक्षा को प्राप्त करता है। अन्तिम पूर्ण आहुति को देता है, शक्ति तथा संयोग प्राप्ति के लिए ॥ ४॥

अध्याय १—ब्राह्मण ८

प्रजापति ने अश्वमेध रचा, अर्थात् अश्व के रस को बहाया। जब ग्रह बहा तो इसने ऋचाओं और सामों को दबा दिया। उसको वैश्वदेवों ने उभारा। इसलिए जब वह वैश्वदेव आहुतियों को करता है तो अश्वमेध के उभारने के लिए ॥१॥

ये वैश्वदेव आहुतियाँ ये हैं—(यजु० २२।२०)—"काय स्वाहा, कस्मै स्वाहा, कतमस्मै स्वाहा।" प्राजापत्य आहुति को पहले देता है। अश्वमेध को प्रजापति आदि देवों के द्वारा उभारता है ॥२॥

"स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा, मनः प्रजापतये स्वाहा, चित्तं विज्ञाताय।"

यदेव पूर्वासां ब्राह्मणं तदत्र ॥३॥ अदित्यै स्वाहा । अदित्यै मह्यै स्वाहादित्यै सुमृडीकायै स्वाहेतीयं वाऽअदितिरनयैवैनमुग्रच्छति ॥४॥ सरस्वत्यै स्वाहा । सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहेति वाग्वै सरस्वती वाचैवैनमुग्रच्छति ॥५॥ पूष्णे स्वाहा । पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा पूष्णे नरंधिषाय स्वाहेति पशवो वै पूषा पशुभिरेवैनमुग्रच्छति ॥६॥ त्वष्ट्रे स्वाहा । त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहेति त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानाᳬ रूपकृद्रूपैरेवैनमुग्रच्छति ॥७॥ विष्णवे स्वाहा । विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैनमुग्रच्छति विश्वो देवस्य नेतुरिति पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोतीयं वै पूर्णाहुतिरस्यामेवान्ततः प्रतितिष्ठति ॥८॥ ब्राह्मणम् ॥८॥ ॥

आ ब्रह्मन् । ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामिति ब्राह्मणऽएव ब्रह्मवर्चसं दधाति तस्मात्पुरा ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जज्ञे ॥१॥ आ राष्ट्रे राजन्यः । शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतामिति राजन्यऽएव शौर्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे ॥२॥ दोग्ध्री धेनुरिति । धेन्वामेव पयो दधाति तस्मात्पुरा धेनुर्दोग्ध्री जज्ञे ॥३॥ वोढानड्वानिति । अनडुह्येव बलं दधाति तस्मात्पुरानड्वान्वोढा जज्ञे ॥४॥ आशुः सप्तिरिति । अश्वऽएव जवं दधाति तस्मात्पुराश्वः सर्ता जज्ञे ॥५॥ पुरंधिर्योषेति । योषित्येव रूपं दधाति तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका ॥६॥ जिष्णू रथेष्ठा इति । राजन्यऽएव जैत्रं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यो जिष्णुर्जज्ञे ॥७॥ सभेयो युवेति । एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी तस्मात्प्रथमवयसी स्त्रीणां प्रियो भावुकः ॥८॥ आस्य यजमानस्य वीरो जायतामिति । यजमानस्यैव प्रजायां वीर्यं दधाति तस्मात्पुरेजानस्य वीरो जज्ञे ॥९॥ निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षत्विति । निकामेनिकामे वै तत्र पर्जन्यो वर्षति यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते फलवत्यो न ओषधयः

जो पहले मन्त्रों का रहस्य था वह इनका भी ॥३॥

"आदित्यै स्वाहा, आदित्यै मह्यै स्वाहा, आदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा ।" यह पृथिवी ही अदिति है। इससे वह उसको उभारता है ॥४॥

"सरस्वत्यै स्वाहा, सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा, सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा ।" वाणी सरस्वती है, उसी से उसको उभारता है ॥५॥

"पूष्णे स्वाहा, पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा, पूष्णे नरं धिषाय स्वाहा ।" पशु ही पूषा हैं। पशुओं द्वारा इसको उभारता है ॥६॥

"त्वष्ट्रे स्वाहा, त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा, त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा ।" त्वष्टा ही पशुओं के जोड़ों को रूप देता है। रूपों के द्वारा वह उसको उभारता है ॥७॥

"विष्णवे स्वाहा, विष्णवे निभूयपाय स्वाहा, विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ।" यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञ से ही इसको उभारता है। "विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय ऽ इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा" (यजु० २२।२१)—इससे अंतिम पूर्ण आहुति देता है। यह पृथिवी ही पूर्ण आहुति है। इसी में अन्त को अपने-आपको प्रतिष्ठित करता है ॥८॥

अध्वर्युकर्तृकजपः

अध्याय १—ब्राह्मण ९

उखा में तेरह समिधाएँ रखने के पश्चात् यह मन्त्र (यजु० २२।२२) जपता है—"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्"—"ब्राह्मणों में ब्रह्मवर्चसी उत्पन्न हो ।" इससे ब्राह्मण में ब्रह्मवर्चस् रखता है। इसलिए पहले युग में ब्राह्मणवर्चसी उत्पन्न हुआ ॥१॥

"आ राष्ट्रे राजन्यः शूर ऽ इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्"—"क्षत्रियों में क्षत्रिय, शूर, धनुर्धारी, अचूक निशानेवाला और बड़े रथवाला उत्पन्न हो ।" इस प्रकार क्षत्रिय में शौर्य तथा बड़प्पन को रखता है। पहले क्षत्रियों को शूर, धनुर्धारी, अचूक निशानेवाला तथा महारथी उत्पन्न किया गया ॥२॥

"दोग्ध्री धेनुः"(दूध पीनेवाली गाय)—गाय में दूध रखता है, इसलिए पहले गाय को दूध वाली बनाया गया ॥३॥

"वोढानड्वान्" (ढोनेवाला बैल)—बैल में बल रखता है, इसलिए पहले बैल ढोनेवाला बनाया गया ॥४॥

"आशुः सप्तिः" (तेज घोड़ा)—घोड़े में तेजी रखता है, इसलिए पहले घोड़ा चलनेवाला बनाया गया ॥५॥

"पुरन्धिर्योषा" (सुन्दर स्त्री)—स्त्री में रूप रखता है, इसलिए रूपिणी युवति प्यारी होती है ॥६॥

"जिष्णू रथेष्ठा" (जयनशील रथी)—क्षत्रिय में जयनशीलता रखता है, इसलिए पहले क्षत्रिय जयनशील उत्पन्न किया गया ॥७॥

"सभेयो युवा"(सभा के योग्य युवा)—पहली आयु में सभा के योग्य(सबका प्यारा) होता है, इसलिए युवा लोगों को स्त्रियाँ अच्छा समझती हैं ॥८॥

"आऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्" (इस यजमान के वीर उत्पन्न हो)—यजमान की सन्तान में पराक्रम रखता है, इसलिए पहले यज्ञ करनेवाले के वीर उत्पन्न हुआ ॥९॥

"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु"—"जहाँ यज्ञ होता है, वहाँ इच्छा करने के समय वर्षा होती है। "फलवत्यो न ऽ ओषधयः पच्यन्ताम्"—"जहाँ यह यज्ञ करते हैं, वहाँ वृक्ष फलवाले

पच्यन्तामिति फलवत्यो वै तत्रौषधयः पच्यन्ते यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते योगक्षेमो नः कल्पतामिति योगक्षेमो वै तत्र कल्पते यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते तस्माद्यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योगक्षेमो भवति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥१॥ अध्यायः ॥१ [८४.] ॥ ॥

प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान्व्यादिशत् । स आत्मन्नश्वमेधमधत्त ते देवाः प्रजापतिमब्रुवन्नेष वै यज्ञो यदश्वमेधोऽपि नोऽत्रास्तु भाग इति तेभ्य एतानन्नहोमान्कल्पयद्यदन्नहोमाञ्जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति ॥१॥ आज्येन जुहोति । तेजो वाऽआज्यं तेजसैवास्मिंस्तत्तेजो दधात्याज्येन जुहोत्येतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यं प्रियेणैवैनान्धाम्ना समर्धयति ॥२॥ सक्तुभिर्जुहोति । देवानां वाऽएतद्रूपं यत्सक्तवो देवानेव तत्प्रीणाति ॥३॥ धानाभिर्जुहोति । अहोरात्राणां वाऽएतद्रूपं यद्धाना अहोरात्राण्येव तत्प्रीणाति ॥४॥ लाजैर्जुहोति । नक्षत्राणां वाऽएतद्रूपं यल्लाजा नक्षत्राण्येव तत्प्रीणाति प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहेति नामग्राहं जुहोति नामग्राहमेवैनांस्तत्प्रीणात्येकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳪ स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहेत्यनुपूर्वं जुहोत्यनुपूर्वमेवैनांस्तत्प्रीणात्येकोत्तरा जुहोत्येकवद्वै स्वर्गो लोक एकधैवैनᳪ स्वर्गं लोकं गमयति पराचीर्जुहोति पराङिव वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै ॥५॥ ईश्वरो वाऽएषः । पराङ् प्रदघोर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति नैकशतमत्येति यदेकशतमतीयादायुषा यजमानं व्यर्धयेदेकशतं जुहोति शतायुर्वै पुरुष आत्मैकशत आयुष्येवात्मन्प्रतितिष्ठति व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेत्युत्तमेऽआहुती जुहोति रात्रिर्वै व्युष्टिरहः स्वर्गोऽहोरात्रेऽएव तत्प्रीणाति ॥६॥ तदाहुः । यदुभे दिवा वा नक्तं वा जुहुयादहोरात्रे मोहयेद्व्युष्ट्यै स्वाहेत्यनुदितऽआदित्ये जुहोति स्वर्गाय स्वाहेत्युदितेऽहोरात्रयोरव्यतिमोहाय ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥१० [२. १.] ॥ ॥

होते हैं। "योगक्षेमो नः कल्पताम्"—"जहाँ यह यज्ञ किया जाता है, वहाँ क्षेमकुशल रहती है। जहाँ यह यज्ञ रचा जाता है, वहाँ प्रजाएँ सकुशल रहती हैं ॥१०॥

आज्यसत्तु धानालाजहोमः

अध्याय २—ब्राह्मण १

प्रजापति ने देवों के लिए भिन्न-भिन्न यज्ञ दे दिये। अश्वमेध अपने लिए रख छोड़ा। उन देवों ने प्रजापति से कहा कि 'अश्वमेध भी तो एक यज्ञ है। हमारा भाग इनमें भी होना चाहिए।' उसने इन देवों के लिए ये 'अग्नि-होम' बनाए। यह जो 'अग्निहोमों' को करता है, उनसे देवों को प्रसन्न करता है ॥१॥

घी की आहुति देता है। घी तेज है, इस प्रकार तेज के द्वारा तेज धारण कराता है। घी की आहुति देता है। घी देवों का परमधाम है। इस प्रकार इनको इन्हीं के प्रियधाम द्वारा बढ़ाता है ॥२॥

सत्तुओं की आहुति देता है। सत्तु देवों का रूप है। इस प्रकार देवों को प्रसन्न करता है ॥३॥

धानों की आहुति देता है। धान दिन-रात के रूप हैं। इस प्रकार दिन-रात को प्रसन्न करता है ॥४॥

लाजा की आहुति देता है। लाजा नक्षत्रों के रूप हैं। इससे नक्षत्रों को प्रसन्न करता है। "प्राणाय स्वाहा", "अपानाय स्वाहा" आदि (यजुर्वेद २२।२३-३४) से नाम ले-लेकर उनको प्रसन्न करता है। "एकस्मै स्वाहा, द्वाभ्यां स्वाहा, शताय स्वाहा, एकशताय स्वाहा" से क्रमपूर्वक आहुतियाँ देता है, इस प्रकार इनको प्रसन्न करता है। हर पिछली आहुति एक-एक करके बढ़ती जाती है। स्वर्गलोक इकहरा है। इस प्रकार एक के द्वारा ही वह यजमान को स्वर्गलोक में पहुँचाता है। वह सीधी आहुति देता है। स्वर्गलोक सीधा है। स्वर्गलोक की जीत के लिए ॥५॥

जो सीधी आहुतियाँ देता है, वह हानि उठा सकता है। इसलिए १०१ से नहीं बढ़ना चाहिए। यदि १०१ से बढ़ेगा तो यजमान की आयु को कम कर देगा। १०१ आहुतियाँ देता है। पुरुष का शरीर १०० साल की आयुवाला है। अपने में १०१ साल की आयु धारण करता है। 'व्युष्ट्यै स्वाहा', 'स्वर्गाय स्वाहा' से दो अन्तिम आहुतियाँ देता है। व्युष्ट रात है और दिन स्वर्ग है। इस प्रकार इन दिन और रात को प्रसन्न करता है ॥६॥

इसपर कहते हैं कि यदि रात-दिन दोनों में आहुति देगा, तो दिन और रात में झमेला उत्पन्न कर देगा। इसलिए सूर्योदय से पूर्व ही 'व्युष्ट्यै स्वाहा' से आहुति देता है। 'स्वर्गाय स्वाहा' से सूर्य निकलने पर, जिससे दिन-रात में झमेला न हो ॥७॥

राज्ञा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः । यजमानो वाऽअश्वमेधो यजमानो यज्ञो यदश्वे पशून्नियुनक्ति यज्ञऽएव तद्यज्ञमारभते ॥१॥ अश्वं तूपरं गोमृगमिति । तान्मध्यमे यूपऽआलभते सेनामुखमेवास्यैतेन सᳪंश्यति तस्माद्राज्ञः सेनामुखं भीष्मं भावुकम् ॥२॥ कृष्णग्रीवमाग्नेयᳪं रराटे पुरस्तात् । पूर्वाग्निमेव तं कुरुते तस्माद्राज्ञः पूर्वाग्निर्भावुकः ॥३॥ सारस्वतीं मेषीमधस्ताद्धन्वोः । स्त्रीरेव तदनुगाः कुरुते तस्मात्स्त्रियः पुᳪंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः ॥४॥ आश्विनावधोरामौ बाह्वोः । बाह्वोरेव बलं धत्ते तस्माद्राजा बाहुबली भावुकः ॥५॥ सौमापौष्णᳪं श्यामं नाभ्याम् । प्रतिष्ठामेव तां कुरुतऽइयं वै पूषास्यामेव प्रतितिष्ठति ॥६॥ सौर्ययामौ श्वेतं च कृष्णं च पार्श्वयोः । कवचेऽएव ते कुरुते तस्माद्राजा संनद्धो वीर्यं करोति ॥७॥ त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योः । ऊर्वोरेव बलं धत्ते तस्माद्राजोरुबली भावुकः ॥८॥ वायव्यᳪं श्वेतं पुच्छे । उत्सेधमेव तं कुरुते तस्मादुत्सेधं प्रजा भयेऽभिसᳪंश्रयन्तीन्द्राय स्वपस्याय वेहतं यज्ञस्य सेन्द्रतायै वैष्णवो वामनो यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञऽएवान्ततः प्रतितिष्ठति ॥९॥ ते वाऽएते । पञ्चदश पर्यङ्ग्याः पशवो भवन्ति पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्तात्पाप्मानमपहते ॥१०॥ पञ्चदश-पञ्चदशोऽएवेतरेषु । पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानोऽभितः पाप्मानमपहते ॥११॥ तदाहुः । अपाहैवैतैः पाप्मानᳪं हताऽइत्यकृत्स्नं च वै प्रजापतिᳪं संस्करोति न चेदᳪं सर्वमवरुन्द्धे ॥१२॥ सप्तदशैव पशून्मध्यमे यूपऽआलभेत । सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिरश्वमेधोऽश्वमेधस्यैवाप्त्यै षोडश-षोडशेतरेषु षोडशकलं वाऽइदᳪं सर्वं तदिदᳪं सर्वमवरुन्द्धे ॥१३॥ तान्कथमाप्रीणीयादित्याहुः । समिद्धोऽअञ्जन्कृदरं मतीनामिति बार्हदुक्थीभिराप्रीणीयाद्बृहदुक्थो ह वै वामदेव्योऽश्वो वा सामुद्रिरश्वस्याप्रीर्ददर्श ता एतास्ताभिरेवैनमेतदाप्रीणीम इति वदन्तो न तथा कुर्याज्जामदग्नीभिरेवाप्री-

अध्याय २—ब्राह्मण २

अश्वमेध यज्ञों का राजा है। यजमान ही अश्वमेध है। यजमान यज्ञ है। यह जो अश्व में पशुओं को बाँधता है, मानो यज्ञ से यज्ञ आरम्भ करता है ॥१॥

अश्व, तूपर (बकरा) और गोमृग को बीच के यूप में बाँधते हैं। इससे इस यजमान की सेना के मुख या अग्रभाग को तेज करता है कि राजा की सेना का अग्रभाग भीष्म (डरावना) हो जाय ॥२॥

काली गर्दनवाले अग्नि देवता (के बकरे) को सामने, घोड़े के ललाट पर। इसको पहली वेदी बनाता है जिससे राजा की पहली वेदी ठीक हो जाय ॥३॥

सरस्वती की भेड़ को घोड़े के जबड़ों के नीचे। इससे स्त्रियों को अनुगामिनी करता है। इसलिए स्त्रियाँ पुरुष की अनुगामिनी रहती हैं ॥४॥

अश्विन के दो बकरे, जिनका निचला भाग काला है, घोड़े की अगली (बाहु) टाँगों से। इस प्रकार बाहुओं में बल रखता है। इससे राजा बाहुबलवाला होता है ॥५॥

सोम और पूषा के बकरों को घोड़े की नाभि से। इससे उसको प्रतिष्ठा (बुनियाद) बनाता है। यह पृथिवी ही पूषा है। इसी में प्रतिष्ठित करता है ॥६॥

सूर्य और यज्ञ के सफेद और काले बकरे बगलों में। ये कवच का काम देते हैं। इसलिए राजा कवच पहनकर वीरता के काम करता है ॥७॥

त्वष्टा के बालदार जाँघोंवाले दो बकरों को जाँघों से। इससे जाँघों में बल रखता है। इसलिए राजा बलवान् जाँघोंवाला होता है ॥८॥

वायु के श्वेत बकरे को पूँछ में। यह ऊँचे टीले का काम देता है। इसलिए भय के समय प्रजा टीले पर चढ़ जाती है। बाँझ गाय को तीव्र इन्द्र के लिए, यज्ञ की तीव्रता के लिए। विष्णु के बौने बकरे को, क्योंकि यह विष्णु है। यज्ञ में ही इस प्रकार वह अपने को प्रतिष्ठित करता है ॥९॥

ये पन्द्रह परि-अंग पशु होते हैं। वज्र पन्द्रहवाला है। वीर्य वज्र है। इसी वज्र, वीर्य से यजमान आगे से पाप को दूर करता है ॥१०॥

पन्द्रह-पन्द्रह हर यूप में बाँधे जाते हैं। वज्र पन्द्रहवाला है। वीर्य वज्र है। इसी वीर्य, वज्र से यजमान सब ओर से पाप को दूर भगाता है ॥११॥

इस विषय में शंका करते हैं कि क्या इससे सब बुराइयाँ दूर हो जाती हैं? इस समय प्रजापति (यज्ञ) पूरा तो होता नहीं। न इससे सब-कुछ प्राप्त ही होता है ॥१२॥

सत्रह पशुओं को बीच के यूप में बाँधता है। प्रजापति सत्रहवाला है। प्रजापति अश्वमेध है; अश्वमेध की प्राप्ति के लिए। सोलह-सोलह और यूपों में बाँधता है, इस सब संसार में सोलह कलाएँ हैं। इससे इन सब की प्राप्ति करता है। ॥१३॥

प्रश्न होता है कि इनको कैसे संतुष्ट किया जाय (अर्थात् इनपर कौन-से आप्री मंत्रों का जाप हो)? "समिद्धो ऽअंजन् कृदरं मतीनां" आदि (यजु० २९।१-११) "बार्हद् उक्थी" आप्री मंत्रों का जप किया जाय। वामदेव के लड़के बृहदुक्थ या समुद्र के लड़के अश्व ने इन अश्व के आप्री मंत्रों को देखा (वे इन मंत्रों के द्रष्टा थे), और इन्हीं से हम उसको तृप्त करते हैं—ऐसा वे कहते हैं। परन्तु ऐसा न करे। जामदग्न आप्री मंत्रों से इनको प्रसन्न करे।

णीयात्प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति तस्माज्जामदग्नीभिरेवाप्रीणीयात् ॥१४॥ तद्वैके । एतेषां पर्यङ्ग्याणां नाना याज्यापुरोऽनुवाक्याः कुर्वन्ति विन्दाम एतेषामवित्त्येतरेषां न कुर्म इति न तथा कुर्यात्क्षत्रं वा ऽअश्वो विडितरे पशवः प्रतिप्रतिनीछ ह ते प्रत्युद्यामिनीं क्षत्राय विशं कुर्वन्त्यथोऽआयुषा यजमानं व्यर्धयन्ति ये तथा कुर्वन्ति तस्मात्प्राजापत्य एवाश्वो देवदेवत्या इतरे क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोत्यथोऽआयुषैव यजमानछ समर्धयति ॥१५॥ हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति । लोहमयाः पर्यङ्ग्याणामायसा इतरेषां ज्योतिर्वै हिरण्यछ राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधात्यथो हिरण्यज्योतिषैव यजमानः स्वर्गं लोकमेत्यथोऽअनूकाशमेव तं कुरुते स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥१६॥ अथो क्षत्रं वाऽअश्वः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति ॥१७॥ अथ यल्लोहमयाः पर्यङ्ग्याणाम् । यथा वै राज्ञोऽराजानो राजकृतः सूतग्रामण्य एवं वाऽएतेऽश्वस्य यत्पर्यङ्ग्या एवमु वाऽएतद्धिरण्यस्य यल्लोहछ स्वैनैवैनांस्तद्रूपेण समर्धयति ॥१८॥ अथ यदायसा इतरेषाम् । विड्वाऽइतरे पशवो विश एतद्रूपं यदयो विशमेव तद्विशा समर्धयति वैतसऽइटसून ऽउत्तरतोऽश्वस्यावघ्नन्त्यानुष्टुभो वाऽअश्व आनुष्टुभैषा दिक्स्वायामेवैनं तद्दिशि दधात्यथ यद्वैतसऽइटसूनेऽप्सुयोनिर्वाऽअश्वोऽप्सुजा वेतसः स्वयैवैनं योन्या समर्धयति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥११ [२. २.] ॥ ॥

देवा वाऽअश्वमेधे पवमानछ । स्वर्गं लोकं न प्राजानंस्तमश्वः प्राजानाद्यदश्वमेधेऽश्वेन पवमानाय सर्पन्ति स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै पुच्छमन्वारभन्ते स्वर्गस्यैव लोकस्य समष्ट्यै न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥१॥ यदुद्गातोद्गायेत् । यथाक्षेत्रज्ञोऽन्येन पथा नयेत्तादृक्तदथ यदुद्गातारमवरुध्याश्वमुद्गीथाय वृणीते यथा क्षेत्रज्ञोऽञ्जसा नयेदेवमेवैतद्यजमानमश्वः स्वर्गं

प्रजापति ही जमदग्नि है। वही अश्वमेध है। इस प्रकार इसको इसी के देवता से बढ़ाता है। इसलिए जामदग्न मंत्रों से ही इनको प्रसन्न करे ।।१४।। (यजु० २९।२५-३६)

कुछ लोग इन परि-अंगों के याज्य और पुरोऽनुवाक्यों को अलग-अलग कर देते हैं। वे कहते हैं कि इनके तो हमको मिल गये। जो नहीं मिलते उनको नहीं करते (अर्थात् घोड़े और दो पशुओं के देवताओं के याज्य और पुरोऽनुवाक्य तो मिल जाते हैं, शेष बारह पशुओं के नहीं)। परन्तु ऐसा न करे। अश्व क्षत्रिय है। अन्य पशु वैश्य हैं। जो ऐसा करते हैं, वे वैश्यों को क्षत्रिय के तुल्य तथा अनाज्ञाकारी कर देते हैं और यजमान को आयु से वंचित कर देते हैं। इसलिए केवल अश्व तो प्रजापति का है और अन्य पशु अन्य देवताओं के। इस प्रकार वैश्यों को क्षत्रिय का अनुगामी बनाता है, और यजमान को आयु से सम्पन्न करता है ।।१५।।

घोड़े का शास (छुरा) सोने का होता है, परि-अंगों का तांबे का, औरों का लोहे का। सोना ज्योति है। अश्वमेध राष्ट्र है। इस प्रकार राष्ट्र में ज्योति रखता है। इस सोने की ज्योति से यजमान स्वर्गलोक को जाता है। स्वर्गलोक को जाने के लिए यह (अनूकाश) या मशाल का काम देता है। ।।१६।।

अश्व क्षत्र है। सोना क्षत्र का रूप है। इस प्रकार क्षत्र को क्षत्र से बढ़ाता है ।।१७।।

परि-अंगों का तांबे का इसलिए कि राजाओं के साथी सूत आदि जैसे राजाओं से सम्बन्ध रखते हैं, वही सम्बन्ध परि-अंगों का अश्व के साथ है और वही तांबे का सोने से है। उनके ही रूप से उसको समृद्ध करता है। ।।१८।।

औरों का लोहे का क्यों ?और पशु वैश्य हैं। लोहा वैश्यों का रूप है। इस प्रकार अश्वमेध वैश्य को वैश्य के रूप में समृद्ध करता है। (आहवनीय के) उत्तर में नरकुल की चटाई पर घोड़े के (अंगों को) काटते हैं। अश्व अनुष्टुभ है। वह उत्तर दिशा भी अनुष्टुभ है। नर-कुल की चटाई पर क्यों ? घोड़ा जलों की योनि से उत्पन्न हुआ था। नरकुल भी जलों से उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसको इसी की योनि से समृद्ध करता है ।।१९।।

उद्गात्रन्वारम्भः

अध्याय २—ब्राह्मण ३

अश्वमेध यज्ञ के समय देवों ने पवमान स्वर्गलोक को न पहचाना। अश्व ने पहचाना इसलिए जब अश्वमेध यज्ञ में अश्व के साथ पवमान के लिए चलते हैं तो स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए घोड़े की पूंछ पकड़ लेते हैं स्वर्गलोक तक ले जाने के लिए। क्योंकि मनुष्य तो स्वर्गलोक को भलीभाँति जानता नहीं, घोड़ा भलीभाँति जानता है ।।१।।

यदि उद्गाता उद्गीथ का गान करे, तो ऐसा होगा जैसे अक्षेत्रज्ञ (देश से अनभिज्ञ) किसी को बेठीक मार्ग से ले जाय। यदि उद्गाता को छोड़कर अश्व को उद्गीथ की जगह वरण किया जाय तो ऐसा होगा जैसे क्षेत्रज्ञ या देश का अभिज्ञ पुरुष किसी को ठीक-ठीक मार्ग से ले जाय।

लोकमञ्जसा नयति हिङ्करोति सामैव तद्धिङ्करोत्युद्गीथ एव स वडवा उपरुन्धन्ति सꣳशिञ्जते यथोपगातार उपगायन्ति तादृक्तद्धिरण्यं दक्षिणा सुवर्णꣳ शतमानं तस्योक्तं ब्राह्मणम् ॥२॥ ब्राह्मणम् ॥१२ [२.३.] ॥ ॥

प्रजापतिरकामयत । उभौ लोकावभिजयेयं देवलोकं च मनुष्यलोकं चेति स एतान्पशूनपश्यद्ग्राम्यांश्चारण्यांश्च तानालभत तैरिमौ लोकाववारुन्ध ग्राम्यैरेव पशुभिरिमं लोकमवारुन्धारण्यैरमुमयं वै लोको मनुष्यलोकोऽथासौ देवलोको यद्ग्राम्यान्पशूनालभतऽइममेव तैर्लोकं यजमानोऽवरुन्द्धे यदारण्यानमुं तैः ॥१॥ स यद्ग्राम्यैः सꣳस्थापयेत् । समध्वानः क्रामेयुः समन्तिकं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ स्यातां नऽर्क्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन्यदारण्यैर्व्यध्वानः क्रामेयुर्विदूरं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ स्यातामृक्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन् ॥२॥ तदाहुः । अपशुर्वाऽएष यदारण्यो नैतस्य होतव्यं यज्जुहुयात्क्षिप्रं यजमानमरण्यं मृतꣳ हरेयुररण्यभागा ह्यारण्याः पशवो यन्न जुहुयाद्यज्ञवेशसꣳ स्यादिति पर्यग्निकृतानेवोत्सृजन्ति तन्नैव हुतं नाहुतं न यजमानमरण्यं मृतꣳ हरन्ति न यज्ञवेशसं भवति ॥३॥ ग्राम्यैः सꣳस्थापयति । वि पितापुत्राववस्यतः समध्वानः क्रामन्ति समन्तिकं ग्रामयोर्ग्रामान्तौ भवतो नऽर्क्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायन्ते ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥१३ [२.४.] ॥ ॥

प्रजापतिरश्वमेधमसृजत । सोऽस्मात्सृष्टः पराङैत्स पङ्क्तिर्भूत्वा संवत्सरं प्राविशत्तेऽर्धमासा अभवंस्तं पञ्चदशिभिरनुप्रायुङ्क्त तमाप्नोत्तमाप्त्वा पञ्चदशिभिरवारुन्धार्धमासानां वाऽएषा प्रतिमा यत्पञ्चदशिनो यत्पञ्चदशिन आलभतेऽर्धमासानेव तैर्यजमानोऽवरुन्द्धे ॥१॥ तदाहुः । अनवरुद्धो वाऽएतस्य संवत्सरो भवति यो ऽन्यत्र चातुर्मास्येभ्यः संवत्सरं तनुतऽइत्येष वै साक्षात्संवत्सरो यच्चातुर्मास्यानि

इस प्रकार अश्व यजमान को स्वर्गलोक को ठीक मार्ग से ले जाता है । वह हिङ्कार करता है। इस प्रकार साम को ही हिङ्कार करता है । यही उद्गीथ है । वह घोड़ियों को बन्द कर देता है। ये चिल्लाती हैं (घोड़े को देखकर)। यह उपगाताओं का गान है । इसकी दक्षिणा स्वर्ण है। सौ मान स्वर्ण । इसका रहस्य बता दिया गया है ॥ २॥

ग्राम्यपश्वालम्भः, अरण्यपशूनामुत्सर्गश्च

अध्याय २—ब्राह्मण ४

प्रजापति ने चाहा कि दोनों को जीत लूं, देवलोक को भी और मनुष्यलोक को भी । उसने इन गाँव के तथा वन के पशुओं को देखा। उनका आलभन किया। उनके द्वारा इन दोनों लोकों को प्राप्त किया। गाँव के पशुओं से यह लोक और बन के पशुओं से वह लोक । यह लोक मनुष्य-लोक है । वह लोक देवलोक है । यजमान गाँव के पशुओं का आलभन करने से यह लोक पाता है, और वन के पशुओं का आलभन करने से वह लोक ॥१॥

यदि ग्रामीण पशुओं से यज्ञ-संपूर्ति की जाय तो लोग ठीक मार्ग से चलें । दो ग्रामों के बीच में ग्रामों की सीमाएँ लगातार मिल जायँ और रीछ, पुरुष-व्याघ्र, चोर, घातक, डाकू बनों में न रहने पावें । यदि बन के पशुओं से यज्ञ की सम्पूर्ति की जाय, तो लोग ठीक मार्ग से न चल सकें। दो गाँवों की सीमाएँ दूर-दूर हो जायँ; रीछ, पुरुष-व्याघ्र, चोर, घातक डाकू वनों में भर जावें (डाकू आदि वन में छिपे रहा करते हैं) ॥२॥

इसपर कहते हैं कि जंगल के पशुओं की तो पशुओं में गिनती नहीं है । इनकी आहुति न देवे । यदि आहुति देगा तो शीघ्र ही मरे हुए यजमान को जंगल को ले जावेंगे, क्योंकि जंगली पशुओं का तो जंगल में हिस्सा है । यदि इनकी आहुति न दी जायगी तो यज्ञ में त्रुटि रहेगी । अग्नि की परिक्रमा दिलाकर उनको छोड़ देते हैं। यह न तो 'हुत' है न 'अहुत' है । न तो मरे यजमान को जंगल में ले जाते हैं, न यज्ञ में त्रुटि रहती है ॥३॥

ग्राम्य पशुओं से यज्ञ की सम्पूर्ति होती है । पिता-पुत्र अलग-अलग होते हैं (अर्थात् कोई अशान्ति नहीं है । भय में दोनों को साथ-साथ रहना पड़ता है) । सम मार्गों पर चलते हैं । दो गाँवों के बीच की सीमाएँ लगातार जाती हैं । रीछ, पुरुष-व्याघ्र, चोर, घातक, डाकू वनों में नहीं रहने पाते ॥४॥

पश्वेकादशिनी

अध्याय २—ब्राह्मण ५

प्रजापति ने अश्व का मेध बहा दिया। वह इससे बहकर पाँच रूपों में संवत्सर में प्रविष्ट हो गया । वे अर्धमास हो गये । उसने उसको पन्द्रह पशुओं द्वारा ग्रहण किया। ये जो पन्द्रह पशु हैं वे अर्धमासों की प्रतिमा हैं । पन्द्रह पशुओं का आलभन अर्धमासों की प्राप्ति के लिए है ॥१॥

इसपर प्रश्न उठाते हैं कि जो कोई चातुर्मास्य यज्ञ के अतिरिक्त अन्य रीति से संवत्सर रचाता है, उसे संवत्सर की प्राप्ति नहीं होती । वस्तुतः चातुर्मास्य ही संवत्सर है। चातुर्मास्य

यच्चातुर्मास्यान्पशूनालभते साक्षादेव तत्संवत्सरमवरुन्द्धे वि वाऽएष प्रजया पशुभिर्ऋध्यतेऽप स्वर्गं लोकꣳ राध्नोति योऽन्यत्रैकादशिनेभ्यः संवत्सरं तनुतऽइयेष वै सम्प्रति स्वर्गो लोको यदेकादशिनी प्रजा वै पशव एकादशिनी यदेकादशिनान्पशूनालभते न स्वर्गं लोकमपराध्नोति न प्रजया पशुभिर्व्यृध्यते ॥२॥ प्रजापतिर्विराजमसृजत । सास्मात्सृष्टा पराच्यैत्साश्वं मेध्यं प्राविशत्तां दशिभिरनुप्रायुङ्क्त तामाप्नोत्तामाप्त्वा दशिभिरवारुन्द्ध यद्दशिन आलभते विराजमेव तैर्यजमानोऽवरुन्द्धे शतमालभते शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते ॥३॥ एकादश दशत आलभते । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुबिन्द्रियमु वै वीर्यं त्रिष्टुबिन्द्रियस्यैव वीर्यस्यावरुद्ध्याऽएकादश दशत आलभते दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादशः प्राणैरेव पशून्त्समर्धयति वैश्वदेवा भवन्ति वैश्वदेवो वाऽअश्वोऽश्वस्यैव सर्वत्वाय बहुरूपा भवन्ति तस्माद्बहुरूपाः पशवो नानारूपा भवन्ति तस्मान्नानारूपाः पशवः ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥१४ [२.५.] ॥ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वाऽआदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्माऽआदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥१॥ तदाहुः । पराङ्वाऽएतस्माद्यज्ञ एति यस्य पशुरुपाकृतोऽन्यत्र वेदेरेतीत्येतꣳ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्तयासि न इति वायुर्वै स्तोता तमेवास्माऽएतत्परस्ताद्दधाति तथा नात्येति ॥२॥ अप वाऽएतस्मात् । तेज इन्द्रियं पशवः श्रीः क्रामन्ति योऽश्वमेधेन यजते ॥३॥ वसवस्त्वाञ्जन्तु । गायत्रेण छन्दसेति महिष्यभ्यनक्ति तेजो वाऽआज्यं तेजो गायत्री तेजसीऽएवास्मिन्त्समीची दधाति ॥४॥ रुद्रास्त्वाञ्जन्तु । त्रैष्टुभेन छन्दसेति वावाता तेजो वाऽआज्यमिन्द्रियं त्रिष्टुप्तेजश्चैवास्मिन्निन्द्रियं च समीची दधाति ॥५॥ आदित्यास्त्वाञ्जन्तु । जागतेन छन्दसेति परिवृक्ता तेजो वाऽआज्यं पशवो जगती तेजश्चैवास्मिन्पशूंश्च समीची दधाति ॥६॥ पत्न्योऽभ्यञ्जन्ति । श्रियै वाऽएतद्रूपं

पशुओं के आलभन से साक्षात् संवत्सर की प्राप्ति होती है। जो ग्यारह बलियों के अतिरिक्त अन्य रीति से संवत्सर को रचता है, वह प्रजा और पशु से हीन हो जाता है और स्वर्गलोक को प्राप्त नहीं होता। यह जो ग्यारह पशुओं की बलि है वह साक्षात् स्वर्ग है। ग्यारह पशुओं की बलि प्रजा है, पशु है। जो ग्यारह पशुओं का आलभन करता है, वह प्रजा तथा पशुओं से विहीन नहीं होता और न स्वर्गलोक से वंचित होता है ।।२।।

प्रजापति ने विराज को बनाया। वह जब बन गया तो उसके पास से चला गया और मेध्य अश्व में घुस गया। उसने दश पशुओं द्वारा उसे खोजा। उसको पा लिया। उसको पाकर दश पशुओं द्वारा ग्रहण किया। दश पशुओं की बलि देने से यजमान विराज को पा लेता है। सौ का आलभन करता है। पुरुष की सौ वर्ष की आयु होती है। आयु सौ पराक्रम वाली है। इस प्रकार अपने में वीर्य और पराक्रम को रखता है ।।३।।

दश दश पशुओं के ग्यारह समूहों का आलभन करता है। त्रिष्टुप् भी एकादशाक्षरी है। त्रिष्टुप् पराक्रम तथा वीर्य है वीर्य और पराक्रम की प्राप्ति के लिए दश-दश के ग्यारह समूह लेता है। पशु में दस प्राण होते हैं। आत्मा ग्यारहवाँ है। इस प्रकार पशुओं में प्राणों की स्थापना करता है। ये सब विश्वेदेवों के हैं। अश्व विश्वेदेवों का है। अश्व की पूर्णता के लिए। ये कई रूपों के होते हैं, इसलिए पश कई रूपों के हैं। अलग-अलग रूप के होते हैं, इसलिए पशु अलग-अलग रूप रखते हैं ।।४।।

अश्वस्य नियोजनाञ्जनमणिबन्धनादि

अध्याय २—ब्राह्मण ६

"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तम्" (यजु० २३।५)—"रोषरहित चलते हुए आदित्य को जोतते हैं।" (इस मन्त्र से रथ में घोड़े को जोतते हैं)। 'ब्रध्न, अरुष' से तात्पर्य है आदित्य से। स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए आदित्य के समान इस घोड़े को जोतता है ।।१।।

इसपर शंका उठाते हैं कि जिसका पशु लाया जाकर वेदी से इतर अन्य स्थान पर चला जाय, उसका यज्ञ भ्रष्ट हो जाता है (इसलिए इस मन्त्र का जप करे)—"एतँ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्तयासि नः" (यजु० २३।७)—"हे स्तोता! इस मार्ग से फिर इस अश्व को हमको लौटाओ।" वायु स्तोता हैं। वायु को ही वह यजमान के लिए उस ओर नियत करता है। इससे वह घोड़ा सीमा का उल्लंघन नहीं करता ।।२।।

जो अश्वमेध करता है, उससे तेज, पराक्रम, पशु, श्री भाग जाते हैं ।।३।।

"वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा" (यजु० २३।८)—इस मन्त्र से रानी घोड़े के अग्र-भाग का घी से अभिषेक करती है। घी तेज है। गायत्री तेज है। इस प्रकार यजमान में वह इन दोनों तेजों को स्थापित करता है ।।४।।

"रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा" (यजु० २३।८)—इस मन्त्र से वावाता (एक रानी) घोड़े के मध्य भाग का घी से अभिषेक करती है। घी तेज और पराक्रम है। त्रिष्टुभ् भी तेज और पराक्रम है। इस प्रकार यजमान में तेज और पराक्रम स्थापित करता है ।।५।।

"आदित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा" (यजु० २३।८)—इस मन्त्र से परिवृक्ता (छोड़ी हुई रानी) घोड़े के पिछले भाग का घी से अभिषेक करती है। घी तेज है। जगती पशु है। इस प्रकार वह यजमान में तेज तथा पशु दोनों की स्थापना करता है ।।६।।

यह अभिषेक पत्नियाँ करती हैं। पत्नियाँ श्री का रूप हैं।

यत्पत्न्यः श्रियमेवास्मिंस्तद्दधति नास्मात्तेज इन्द्रियं पशवः श्रीरपक्रामन्ति ॥७॥ यथा वै हविषोऽहुतस्य स्कन्देत् । एवमेतत्पशो स्कन्दति यस्य निक्तस्य लोमानि शीयन्ते यत्काचानावयन्ति लोमान्येवास्य सम्भरन्ति हिरण्मया भवन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणमेकशतमेकशतं काचानावयन्ति शतायुर्वै पुरुष आत्मैकशत आयुष्येवात्मन्प्रतितिष्ठति भूर्भुवः स्वरिति प्राजापत्याभिरावयन्ति प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्धयन्ति लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्यऽइत्यतिरिक्तमन्नमश्वायोपावहरन्ति प्रजामेवान्नादीं कुरुतऽएतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापतऽइति प्रजामेवान्नाद्येन समर्धयति ॥८॥ अथ वाऽएतस्मात् । तेजो ब्रह्मवर्चसं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते होता च ब्रह्मा च ब्रह्मोद्यं वदत आग्नेयो वै होता बार्हस्पत्यो ब्रह्मा ब्रह्म बृहस्पतिस्तेजश्चैवास्मिन्ब्रह्मवर्चसं च समीची धत्तो यूपमभितो वदतो यजमानो वै यूपो यजमानमेवैतत्तेजसा च ब्रह्मवर्चसेन चोभयतः परिधत्तः ॥९॥ कः स्विदेकाकी चरतीति । असौ वाऽआदित्य एकाकी चरत्येष ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसमेवास्मिंस्तद्धत्तः ॥१०॥ क उ स्विज्जायते पुनरिति । चन्द्रमा वै जायते पुनरायुरेवास्मिंस्तद्धत्तः ॥११॥ किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजमिति । अग्निर्वै हिमस्य भेषजं तेज एवास्मिंस्तद्धत्तः ॥१२॥ ॥ शतम् ६५०० ॥ ॥ किम्वावपनं महदिति । अयं वै लोक आवपनं महदस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति ॥१३॥ का स्विदासीत्पूर्वचित्तिरिति । द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वचित्तिर्दिवमेव वृष्टिमवरुन्द्धे ॥१४॥ किꣳ स्विदासीद्बृहद्वय इति । अश्वो वै बृहद्वय आयुरेवावरुन्द्धे ॥१५॥ का स्विदासीत्पिलिप्पिलेति । श्रीर्वै पिलिप्पिला श्रियमेवावरुन्द्धे ॥१६॥ का स्विदासीत्पिशंगिलेति । अहोरात्रे वै पिशंगिलेऽअहोरात्रयोरेव प्रतितिष्ठति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥१५ [२. ६.] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या १०८ ॥ ॥

नियुक्तेषु पशुषु । प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्तेऽश्वं प्रोक्षिष्यन्नन्वारब्धे यजमानऽआध-

इस प्रकार वह यजमान में श्री को स्थापित करता है। इससे तेज, पराक्रम, पशु या श्री बाहर नहीं जाते ॥७॥

जैसे आहुति देते समय हवि में से कुछ भाग गिर जाता है, उसी प्रकार की यह बात है कि जब पशु के लोम भिगोये जाते हैं तो कुछ गिर जाते हैं, मानो पशु का भाग गिर गया। जब काच (दानों) को पिरोती हैं, तो मानो घोड़े के बाल सँभालती हैं। ये काच सोने के होते हैं। इसका रहस्य हो चुका। हर एक में एक सौ एक काच होते हैं। सौ वर्ष की पुरुष की आयु होती है, एक सौ एकवाँ आत्मा है। इस प्रकार अपने में आयु को स्थापित करता है। 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' इन प्रजापतिवाली व्याहृतियों से वह उन काचों को पिरोती हैं। अश्व भी प्रजापति का है। इस प्रकार इसको इसके ही देवता द्वारा समृद्ध करता है। "लाजीन् छाचीन् यव्ये गव्ये"(यजु० २३।८) —"लाजाओं के समूह, शाची या सत्तुओं के समूह, यव्य या जौ के पदार्थ, गव्य या दूध के पदार्थ।" इस मन्त्र से बचा हुआ अन्न (गाड़ी से) उतार लेता है घोड़े के लिए। इस प्रकार यजमान की प्रजा को अन्न को खानेवाला बनाता है। "एतदन्नमत्त देवा ऽ एतदन्नमद्धि प्रजापते" (यजु० २३।८)—"देव ! इस अन्न को खाओ। प्रजापति, इस अन्न को खा।" इस प्रकार प्रजा को अन्न से समृद्ध करता है ॥८॥

जो अश्वमेध यज्ञ करता है, उसका तेज और ब्रह्मवर्चस् चला जाता है। होता और ब्रह्मा ब्रह्मोद्य (शास्त्रार्थ) में जुटते हैं। होता अग्नि का है और ब्रह्मा बृहस्पति का, क्योंकि बृहस्पति ब्राह्मण है। इस प्रकार इसमें तेज और ब्रह्मवर्चस् को ठीक रीति से स्थापित करता है। यूप को बीच में करके ब्रह्मोद्य करते हैं। यजमान ही यूप है। इस प्रकार यजमान को चारों ओर से तेज और ब्रह्मवर्चस् से युक्त कर देते हैं ॥९॥

"कः स्विदेकाकी चरति"(यजु० २३।९,१०)—"कौन अकेला चलता है ?" यह आदित्य ही अकेला चलता है। यह सूर्य ब्रह्मवर्चस् है। इस प्रकार दोनों(होता तथा ब्रह्मा) ब्रह्मवर्चस् को ही इसमें स्थापित करते हैं ॥१०॥

"क उ स्विज्जायते पुनः" (यजु० २३।९,१०)—"कौन पीछे उगता है ?" पीछे चन्द्रमा उगता है। आयु को पीछे से इसमें स्थापित करते हैं ॥११॥

"किँ स्विद्धिमस्य भेषजम्" (यजु० २३।९,१०)—"ठण्डक का क्या इलाज है ?" अग्नि ही ठण्डक का इलाज है। इस प्रकार उसमें तेज स्थापित करता है ॥१२॥

"किम्वावपनं महत्" (यजु० २३।९-१०)—"बड़ा बर्तन कौन है ?" यह लोक ही बड़ा बर्तन है। इस प्रकार लोक में उसको स्थापित करता है ॥१३॥

"का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः" (यजु० २३।११-१२) "पहली चित्ति क्या है ?" द्यौ और वृष्टि पूर्वाचित्ति है। द्यौ और वृष्टि को प्राप्त करता है ॥१४॥

"किँ स्विदासीद् बृहद्वयः" (यजु० २३।११-१२)—"बड़ा पक्षी कौन-सा है ?" घोड़ा ही बड़ा पक्षी है। आयु की ही प्राप्ति करता है ॥१५॥

"का स्विदासीत् पिलिप्पिला"(यजु० २३।११-१२)—"चिकनी वस्तु कौन है ?" श्री ही चिकनी वस्तु है। श्री को प्राप्त करता है ॥१६॥

"का स्विदासीत् पिशंगिला" (यजु० २३।११-१२)—"भूरी चीज क्या है ?" दिन और रात भूरे हैं। दिन और रात को प्राप्त करता है ॥१७॥

अश्वस्य प्रोक्षणादि

अध्याय २—ब्राह्मण ७

जब पशु बाँध दिये गये, तब अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र को लेता है, घोड़े पर छींटे डालने के

रिक्तं यजुरनुद्रुत्याश्वमेधिकं यजुः प्रतिपद्यते ॥१॥ वायुष्ट्वा पचतैरवत्विति । वायुरे-
वैनं पचत्यसितग्रीवश्छागैरित्यग्निर्वा ऽअसितग्रीवोऽग्निरेवैनं छागैः पचति ॥२॥
न्यग्रोधश्चमसैरिति । यत्र वै देवा यज्ञेनायजन्त तऽएतांश्चमसान्न्यौब्जंस्ते न्यञ्चो
ऽरोहंस्तस्मान्न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति ॥३॥ शल्मलिर्वृद्ध्येति । शल्मलौ वृद्धिं द-
धाति तस्माच्छल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते ॥४॥ एष स्य राथ्यो वृषेति ।
अश्वेनैव रथꣳ सम्पादयति तस्मादश्वो नान्यद्रथाद्वहति ॥५॥ षड्भिश्चतुर्भिरिद्-
गन्निति । तस्मादश्वस्त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठत्यथ युक्तः सर्वैः पद्भिः सममायुते ॥६॥
ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवत्विति । चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णश्चन्द्रमस एवैनं परिददाति न-
मोऽग्नयऽइत्यग्नयऽएव नमस्करोति ॥७॥ सꣳशितो रश्मिना रथ इति रश्मिनैव
रथꣳ सम्पादयति तस्माद्रथः पर्युतो दर्शनीयतमो भवति ॥८॥ सꣳशितो रश्मिना
हय इति । रश्मिनैवाश्वꣳ सम्पादयति तस्मादश्वो रश्मिना प्रतिहितो भूयिष्ठꣳ रो-
चते ॥९॥ सꣳशितोऽअप्स्वप्सुजा इति । अप्सुयोनिर्वाऽअश्वः स्वयैवैनं योन्या
समर्धयति ब्रह्मा सोमपुरोगव इति सोमपुरोगवमेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयति
॥१०॥ स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्वेति । स्वयꣳ रूपं कुरुष्व यादृशमिच्छसीत्येवैनं
तदाह स्वयं यजस्वेति स्वाराज्यमेवास्मिन्दधाति स्वयं जुषस्वेति स्वयं लोकꣳ रो-
चयस्व यावन्तमिच्छसीत्येवैनं तदाह महिमा तेऽन्येन न संनशऽइत्यश्वमेव महि-
म्ना समर्धयति ॥११॥ न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसीति । प्रश्वासयत्येवैनं तद्दे-
वाँ२ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिरिति देवयानानेवैनं पथो दर्शयति यत्रासते सु-
कृतो यत्र ते ययुरिति सुकृद्भिरेवैनꣳ सलोकं करोति तत्र त्वा देवः सविता द-
धात्विति सवितैवैनꣳ स्वर्गे लोके दधाति प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्युपाꣳश्व-
थोपगृह्णाति ॥१२॥ अग्निः पशुरासीत् । तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः
स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावानग्नेर्विजयो यावाँल्लोको

लिए। जब यजमान उसके पीछे खड़ा हुआ है, उस समय जल्दी-जल्दी सोम-अध्वर के यजु का जाप करके अश्वमेध-सम्बन्धी यजु का आरम्भ करता है ॥१॥

"वायुष्ट्वा पचतैरवतु" (यजु० २३।१३)—"वायु तेरी पके अन्न से रक्षा करे।" क्योंकि वायु तो अन्न पकाता ही है। "असितग्रीवश्छागैः" (यजु० २३।१३)—"काली गर्दनवाले बकरों द्वारा।" काली गर्दनवाला अग्नि है। यह अग्नि उसको बकरों-सहित पकाता है ॥२॥

"न्यग्रोधश्चमसैः" (यजु० २३।१३)—जब देव यज्ञ कर रहे थे तो उन्होंने चमसों को लौट दिया और जो बूँदें नीचे गिरीं, वे उगकर न्यग्रोध वृक्ष हो गया। इसलिए नीचे को कर देने से ही बीज जमता है ॥३॥

"शल्मलिर्वृद्ध्या" (यजु० २३।१३)—शल्मलि में वृद्धि स्थापित करता है। इसलिए वनस्पतियों में शल्मलि बहुत बढ़ता है ॥४॥

"एष स्य राथ्यो वृषा" (यजु० २३।१३)—"यह नर रथ के योग्य।" इससे रथ को अश्व से युक्त करता है। इसलिए अश्व रथ के सिवाय और किसी चीज को नहीं ले जाता ॥५॥

"पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्" (यजु० २६।१३)—"चार पैरों से यहाँ आया है।" इसलिए घोड़ा तीन पैर पर खड़ा रहता है, परन्तु रथ में जोतने पर सब पैरों से काम लेता है ॥६॥

"ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु" (यजु० २३।१३)—"श्वेत ब्रह्मा हमको बचावे।" श्वेत ब्रह्मा चन्द्रमा है। चन्द्रमा के अर्पण करता है। "नमोग्नये" (यजु० २३।१३)—इससे अग्नि को नमस्कार करता है ॥७॥

"सँशितो रश्मिना रथः" (यजु० २३।१४)—रस्सियों से रथ को सजाता है, इसलिए रस्सियों से सजा हुआ रथ बहुत सुन्दर लगता है ॥८॥

"सँशितो रश्मिना हयः" (यजु० २३।१४)—घोड़े को रस्सी से युक्त करता है, इसलिए रस्सी से बँधा हुआ घोड़ा बहुत सुन्दर लगता है ॥९॥

"सँशितोऽप्सु अप्सुजा" (यजु० २३।१४)—'अप्सुजा' घोड़ा है। इसलिए घोड़े को उसीकी योनि से सम्पन्न करता है। "ब्रह्मा सोमपुरोगवः" (यजु० २३।१४)—"सोम को अगुआ बनाकर इसको स्वर्गलोक को भेजता है ॥१०॥

"स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व" (यजु० २३।१५)—"हे घोड़े! तू अपने शरीर को स्वयं बना" अर्थात् जैसे रूप चाहे वैसे धारण कर। "स्वयं यजस्व" (यजु० २३।१५)—इससे उसको स्वराज देता है। "स्वयं जुषस्व" (यजु० २३।१५) अर्थात् जितना तू चाहे इस लोक से आनन्द मना। "महिमा तेऽन्येन न सन्नशे" (यजु० २३।१५)—"कोई तेरी महिमा की बराबरी नहीं कर सकता।" इससे उसको महिमा से युक्त करता है ॥११॥

"न वा ऽ उ ऽ एतन्म्रियसे न रिष्यसि" (यजु० २३।१६)—"तू यहाँ न मरेगा, न दुःख पाएगा।" "तद् देवाँ२ ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः" (यजु० २३।१६)—"तू सुगम मार्ग से देवों के पास जाता है।" इस प्रकार वह उसको देवलोक का मार्ग दिखाता है। "यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुः" (यजु० २३।१६)—"जहाँ पुण्यात्मा रहते हैं और जहाँ वे गये हैं।" इससे वह उसको पुण्यात्माओं की सलोकता दिलाता है। "तत्र त्वा देवः सविता दधातु" (यजु० २३।१६)—"सविता उसको वहाँ ले जाता है।" "प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।" इससे वह चुपके-चुपके प्रोक्षणीपात्र को घोड़े के मुँह के नीचे रखता है ॥१२॥

"अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त स ऽ एतं लोकमजयद् यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता ऽ अपः" (यजु० २३।१७)—"अग्नि पशु था। उससे देवों ने यज्ञ किया। उसने वह लोक जीत लिया, जिस लोक में अग्नि है। वही तेरा लोक हो जाएगा। तू उसे जीत लेया। इस जल को पी।" इससे तात्पर्य यह है कि जितनी अग्नि की विजय है, जितना अग्नि का लोक है,

यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतात्येवैनं तदाह ॥१३॥ वायुः पशुरासीत् । तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन्वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावान्वायोर्विजयो यावांल्लोको॰ ॥१४॥ सूर्यः पशुरासीत् । तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावान्त्सूर्यस्य विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह तर्पयित्वाश्वं पुनः संस्कृत्य प्रोक्षणीरितरान्पशून्प्रोक्षति तस्यातः ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [२.७.] ॥ ॥

देवा वाऽउदश्वः । स्वर्गं लोकं न प्राजानंस्तमश्वः प्राजानाद्यदश्वेनोदश्वो यन्ति स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै वासोऽधिवासꣳ हिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति यथा नान्यस्मै पशवे तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्त्यन्येभ्य एवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति ॥१॥ घ्नन्ति वाऽएतत्पशुम् । यदेनꣳ संज्ञपयन्ति प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमानऽआहुतीर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तथो हास्यैतेन जीवतैव पशुनेष्टं भवति ॥२॥ अम्बेऽअम्बिकेऽम्बालिके । न मा नयति कश्चनेति पत्नीरुदानयत्यह्वतैवैना एतदथो मेध्या एवैनाः करोति ॥३॥ गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहऽइति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवतऽएवास्माऽएतदतो न्वेवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवतऽएवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वाऽऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥४॥ अप वाऽएतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञे धुवनं तन्वते नव कृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन्दधते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमिति प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुद्ध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो द-

जितना ऐश्वर्य है, उतनी ही तेरी विजय, तेरा लोक, तेरा ऐश्वर्य हो जाएगा ।।१३।।

"वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त स ऽ एतं लोकमजयद् यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता ऽ अपः" (यजु० २३।१७)—इससे तात्पर्य यह है कि वायु की जितनी विजय, जितना लोक, जितना ऐश्वर्य है, उतना तेरा भी होगा ।।१४।।

"सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त स ऽ एतं लोकमजयद् यस्मिन्त्सूर्यः सः ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता ऽ अपः" (यजु० २३।१७)—इसके कहने का तात्पर्य यह है कि जितनी विजय सूर्य की है, जितना लोक तथा ऐश्वर्य, उतनी ही विजय, लोक, तथा ऐश्वर्य तेरा भी होगा । घोड़े को तृप्त करके फिर प्रोक्षणी को शुद्ध करके दूसरे पशुओं को प्रोक्षित करता है ।।१५।।

मृतस्याश्वस्य परिक्रमणादि

अध्याय २—ब्राह्मण ८

ऊपर को जाते हुए देवों को स्वर्गलोक का मालूम न था, घोड़ा जानता था । इसलिए ऊपर को जाते समय घोड़े को ले जाते हैं स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए । घोड़े के नीचे एक कपड़ा, एक और बिछौना और सोना बिछा देते हैं और यहाँ उसको बेहोश कर देते हैं (वध करते हैं) । ऐसा अन्य किसी पशु के साथ नहीं करते । इस प्रकार अन्य पशुओं से अश्व की विशेषता हो जाती है ।।१।।

बेहोश करना मारना ही है । जब बेहोश करते हैं, तो इन मन्त्रों को बोलते हैं और आहुति देते हैं—"प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा" (यजु० २३।१८)—इस प्रकार उसमें प्राण स्थापित करता है । इस प्रकार जीवित पशु का ही यज्ञ हो जाता है ।।२।।

"अम्बे ऽ अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन" (यजु० २३।१८)—इस मन्त्र से पत्नियों को ले जाता है । इससे वह उनको पुकारता है । वह उनको पवित्र करता है ।।३।।

"गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे (यजु० २३।१९)—पत्नियाँ परिक्रमा देती हैं । वे इस (बध) का प्रतीकार करती हैं; प्रतीकार तो हो ही जाता है । पंखा करती हैं । तीन परिक्रमाएँ होती हैं । तीन लोक होते हैं । इन्हीं लोकों द्वारा उसको पंखा करती हैं । तीन बार फिर परिक्रमा करती हैं । छः हो जाते हैं । छः ऋतुएँ होती हैं । मानो ऋतुओं द्वारा ही पंखा करती हैं ।।४।।

जो यज्ञ में पंखा करते हैं, उनके प्राण उनसे निकल जाते हैं । नौ बार परिक्रमा करती हैं । नौ प्राण होते हैं । इस प्रकार प्राणों को धारण करती हैं । इनसे प्राण निकलते नहीं । "आहम-जानि गर्भधमा गर्भधम्" (यजु० २३।१९)—"मैं गर्भ धारण करनेवाले को प्रेरणा करूँ । तू गर्भ धारण करनेवाले को प्रेरणा कर ।" गर्भ का अर्थ है प्रजा और पशु । प्रजा और पशुओं को अपने में धारण करता है । "ता ऽ उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव" (यजु० २३।२०)—"हम दोनों चार पैरों को फैलावें ।" जोड़ा मिलाने के लिए । "स्वर्गे लोके प्रोर्णवाथां" (यजु० २३।२०)—"स्वर्ग-लोक में अपने को ढको ।" जहाँ पशु मारा जाता है वह स्वर्गलोक ही है । "वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु" (यजु० २३।२०)—"बलवान् वीर्य स्थापित करनेवाला वीर्य स्थापित करे ।"—

धाविति मिथुनस्यैवावरुद्ध्यै ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥२ [२. ८.] ॥ ॥

अप वाऽएतस्मात् । श्री राष्ट्रं क्रामति यो ऽश्वमेधेन यजते ॥१॥ ऊर्ध्वामेना-मुच्छ्रापयेति । श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति ॥२॥ गिरौ भार७ हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्र७ संनह्यत्यथो श्रियमेवास्मि-न्राष्ट्रमधिनिदधाति ॥३॥ अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्य७ श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति ॥४॥ शीते वाते पुनन्निवेति । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति ॥५॥ यकासकौ शकुन्तिकेति । विड्वै शकुन्तिकाहल-गिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारके-ति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥६॥ माता च ते पिता च तऽइति । इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैन७ स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्र७ श्रियमेवैन७ राष्ट्रस्याग्रं गमयति प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमत७सयदिति विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेव वि-श्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥७॥ यद्धरिणो यवमत्तीति । विड्वै यवो रा-ष्ट्र७ हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यतऽइति तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति ॥८॥ अप वाऽएतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञेऽपू-तां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णोऽअकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥३ [२. ९.] ॥ ॥

यदसिपथान्कल्पयन्ति । सेतुमेव त७ संक्रमणं यजमानः कुरुते स्वर्गस्य लो-कस्य समष्ट्यै ॥१॥ सूचीभिः कल्पयन्ति । विशो वै सूच्यो राष्ट्रमश्वमेधो विशं चैवास्मिन्राष्ट्रं च समीची दधाति हिरण्मय्यो भवन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणम् ॥२॥ त्रय्यः सूच्यो भवन्ति । लोहमय्यो रजता हरिण्यो दिशो वै लोहमय्योऽवान्तर-

जोड़े को मिलाने के लिए ।।५।।

संवादः

अध्याय २—ब्राह्मण ९

जो अश्वमेध यज्ञ करता है उससे श्री और राष्ट्र चले जाते हैं ।।१।।

"ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय" (यजु० २३।२१)—इस मन्त्र से इसको ऊँचा उठाता है। अश्वमेध श्री भी है और राष्ट्र भी, इस प्रकार उसके लिए श्री और राष्ट्र को उठाता है ।।२।।

"गिरौ भारँ् हरन्निव" (यजु० २३।२६)—"पहाड़ पर भार ले जानेवाले के समान।" श्री राष्ट्र का भार है। इसके लिए श्री और राष्ट्र को उसको दिलाता है। वह इसको श्री और राष्ट्र से सम्पन्न करता है ।।३।।

"अथास्यै मध्यमेधताम्" (यजु० २३।२६)—"इसक मध्य भाग बढ़े।" राष्ट्र का मध्य (केन्द्र) श्री है। राष्ट्र के बीच में श्री और अन्न स्थापित करता है ।।४।।

"शीते वाते पुनन्निव" (यजु० २३।२६)—राष्ट्र का क्षेम 'शीत' है, इससे उसके लिए क्षेम देता है ।।५।।

"यकासकौ शकुन्तिका" (यजु० २३।२२)—'शकुन्तिका' वैश्य (प्रजा) है। "आहलगिति वंचति" (यजु० २३।२२)—वैश्य (प्रजाजन) राज के लिए शोर करते रहते हैं। "आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका" (यजु० २३।२२)—'गभ' का अर्थ है वैश्य (या जनता) 'पस' का अर्थ है राष्ट्र। राष्ट्र का दबाव वैश्यों को खलता है। इसलिए राष्ट्री या राजा जनता को दबाता है ।।६।।

"माता च ते पिता च ते" (यजु० २३।२४)—पृथिवी माता है, द्यौ पिता। इन्हीं दोनों के द्वारा स्वर्गलोक को भेजता है। "अग्रं वृक्षस्य रोहतः" (यजु० २३।२४)—श्री राष्ट्र का अग्र-भाग है। राष्ट्र को इसी श्री को प्राप्त कराता है। "प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतँ् सयत्" (यजु० २३।२४)—'गभ' वैश्य है और 'मुष्टी' राष्ट्र है। राष्ट्र को वैश्यों पर दबाते हैं। इसलिए राष्ट्री जनता को खलता है ।।७।।

"यद्धरिणो यवमत्ति" (यजु० २३।३०)—'यव' वैश्य हैं, हरिण राष्ट्र है, राष्ट्री विश्व को भोजन कर लेता है। इसलिए राष्ट्री प्रजा को खाता है। "न पुष्टं पशु मन्यते" (यजु० २३।३०)—इस प्रकार राजा पशुओं को बलिष्ठ नहीं बनाता। "शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति" (यजु० २३।३०)—इसलिए वैश्य के पुत्र का अभिषेक नहीं करता ।।८।।

जो यज्ञ में अपवित्र वाणी बोलते हैं, उनके प्राण निकल भागते हैं। "दधिक्राव्णो ऽ अकारिषम्" (यजु० २३।३२; ऋ० ४।३९।६)—अन्त में इस ऋचा को पढ़ता है। इस ऋचा में 'सुरभि' (सुगन्ध) शब्द आया है। इससे वे अपनी वाणियों को पवित्र करते हैं, और प्राण उनसे निकलते नहीं ।।९।।

अश्वशरीरे सूचीभिर्वितोदः

अध्याय २—ब्राह्मण १०

असिपथ (तलवार के मार्गों ?) को बनाते हैं। यजमान स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए पुल के पार का मार्ग बनाता है ।।१।।

वह सुइयों से बनाया जाता है। सुइयाँ वैश्य हैं। अश्वमेध राष्ट्र है। इसमें राष्ट्र और वैश्य दोनों को ठीक-ठीक स्थान देता है। ये सुइयाँ सोने की होती हैं। इसका रहस्य बताया जा चुका है ।।२।।

तीन प्रकार की सुइयाँ होती हैं—तांबे की, चाँदी की, सोने की। दिशाएँ तांबे की हैं,

दिशो रजता ऊर्ध्वा हिरण्यस्ताभिरेवैनं कल्पयन्ति तिरश्चीभिश्चोर्ध्वाभिश्च बहुरूपा भवन्ति तस्माद्बहुरूपा दिशो नानारूपा भवन्ति तस्मान्नानारूपा दिशः ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥४ [२. १०.] ॥ ॥

प्रजापतिरकामयत । महान्भूयान्स्यामिति स एतावश्वमेधे महिमानौ ग्रहावपश्यत्तावजुहोत्ततो वै स महान्भूयानभवत्स यः कामयेत महान्भूयान्स्यामिति स एतावश्वमेधे महिमानौ ग्रहौ जुहुयान्महान्हैव भूयान्भवति ॥१॥ वपामभितो जुहोति । यजमानो वाऽअश्वमेधो राजा महिमा राज्येनैवैनमुभयतः परिगृह्णाति पुरस्तात्स्वाहाकृतयो वाऽअन्ये देवा उपरिष्टात्स्वाहाकृतयोऽन्ये तानेवैतत्प्रीणाति स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति राजा वपां परियजति ये चैवास्मिंल्लोके देवा यऽउ चामुष्मिंस्तानेवैतत्प्रीणाति तऽएनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥५ [२. ११.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [८५.] ॥ ॥

प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् । तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवद्यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वं तद्देवा अश्वमेधेनैव प्रत्यदधुरेष ह वै प्रजापतिं सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव भवति सर्वस्य वाऽएषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजं सर्वं वाऽएतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वाऽएतेन ब्रह्महत्यामतरंस्तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ॥१॥ उत्तरं वै तत्प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् । तस्मादुत्तरतोऽश्वस्यावद्यन्ति दक्षिणतोऽन्येषां पशूनाम् ॥२॥ वैतसः कटो भवति । अप्सुयोनिर्वाऽअश्वोऽप्सुजो वेतसः स्वयैवैनं योन्या समर्धयति ॥३॥ चतुष्टोम स्तोमो भवति । सरड्ढ वाऽअश्वस्य सक्थ्यावृहत्तद्देवाश्चतुष्टोमेनैव स्तोमेन प्रत्यदधुर्यच्चतुष्टोम स्तोमो भवत्यश्वस्यैव सर्वत्वाय सर्वस्तोमोऽतिरात्र उत्तममहर्भवति सर्वं वै सर्वस्तोमोऽतिरात्रः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥६ [३. १.] ॥ ॥

परमेण वाऽएष स्तोमेन जित्वा । चतुष्टोमेन कृतेनायानामुत्तरेऽहन्नेकविंशे

अन्तर्दिशाएँ चाँदी की और ऊपर की दिशाएँ सोने की। इन दिशाओं के द्वारा ही इस मार्ग को बनाते हैं। सीधी और तिरछी सीवन से बहुरूप हो जाती हैं, इसलिए दिशाएँ बहुरूप हैं। नाना रूप (अलग-अलग) होती हैं, इसलिए दिशाएँ नानारूप हैं ॥३॥

परिपशव्याहुती

अध्याय २—ब्राह्मण ११

प्रजापति ने चाहा कि मैं बड़ा और बहुत हो जाऊँ। उसने अश्वमेध यज्ञ में दो महिमान सोम ग्रहों को देखा और उनकी आहुतियाँ दीं। इससे वह बड़ा और बहुत हो गया। जो कोई चाहे कि बड़ा और बहुत हो जाऊँ, उसे चाहिए कि अश्वमेध में महिमान ग्रहों की आहुति देवे। वह बड़ा और बहुत हो जायगा ॥१॥

वह ये आहुतियाँ वपा की दोनों ओर देता है। अश्वमेध यजमान है और महिमान ग्रह राजा है। इस प्रकार इसको दोनों ओर से राज्य से घेर देता है। कुछ देव पहले स्वाहाकारवाले हैं, कुछ पीछे स्वाहाकारवाले, उन्हीं को प्रसन्न करता है ॥२॥

'स्वाहा देवेभ्यो', 'देवेभ्यः स्वाहा' से सोम राजा के द्वारा वपा के आगे-पीछे आहुतियाँ देता है। इससे इस लोक के देव और परलोक के देवों को तृप्त करता है। ये दोनों प्रकार के देव उससे प्रसन्न होकर उसको स्वर्गलोक को ले जाते हैं ॥३॥

अश्वस्यावदानम्

अध्याय ३—ब्राह्मण १

प्रजापति की आँख सूज गई। वह निकल पड़ी। उससे घोड़ा उत्पन्न हुआ। 'अश्वयत्' का अर्थ है 'सूज गई'। इससे अश्व शब्द बना। यही अश्व का अश्वत्व है। देवों ने अश्वमेध यज्ञ करके उस आँख को फिर स्थापित किया। जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह प्रजापति को अंगपूर्ण करता है और स्वयं अंगपूर्ण हो जाता है। यह सब का प्रायश्चित्त और सबका इलाज है। इससे देवता सब पापों से छूट जाते हैं, यहाँ तक कि ब्रह्महत्या से भी। जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह सब पापों से छूट जाता है, ब्रह्महत्या से भी ॥१॥

प्रजापति की बाईं आँख सूजी थी, इसलिए घोड़े की बाईं ओर से मांस काटते हैं और पशुओं की दाहिनी ओर से ॥२॥

नरकुल की चटाई होती है। अश्व जलों से उत्पन्न हुआ है और नरकुल भी जलों से। इस प्रकार इसकी ही योनि से इसकी समृद्धि करता है ॥३॥

चतुष्टोम स्तोम होता है। घोड़े की जाँघ को मक्खी खा गई। देवताओं ने चतुष्टोम स्तोम से उसको पूर्ण किया। इसलिए चतुष्टोम स्तोम होता है अश्व की अंगपूर्णता के लिए। पिछला दिन सब स्तोमों के लिए अतिरात्र का होता है, सब चीजों की प्राप्ति के लिए। सर्वस्तोम अतिरात्र सब-कुछ है। अश्वमेध सब-कुछ है ॥४॥

वपाप्रचारः

अध्याय ३—ब्राह्मण २

जिस प्रकार पाँसों में सबसे मुख्य पाँसा 'कृत' है, इसी प्रकार स्तोमों में मुख्य स्तोम अर्थात्

प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येकविꣳशात्प्रतिष्ठाया उत्तरमहर्ऋतूनन्वारोहन्त्यृतवो वै पृष्ठान्यृतवः संवत्सर ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रतितिष्ठति ॥१॥ शाक्वर्यः पृष्ठं भवन्ति । अन्यदन्यच्छन्दोऽन्येऽन्ये वाऽअत्र पशव आलभ्यन्तऽउतेव ग्राम्या उतेवारण्या यच्छाक्वर्यः पृष्ठं भवत्यश्वस्यैव सर्वत्वायान्ये पशव आलभ्यन्तेऽन्येऽन्ये हि स्तोमाः क्रियन्ते ॥२॥ तदाहुः । नैते सर्वे पशवो यद्ग्राम्याश्चारण्याश्चैते वै सर्वे पशवो यद्गव्या इति गव्या उत्तमेऽहन्नालभतऽएते वै सर्वे पशवो यद्गव्याः सर्वानेव पशूनालभते वैश्वदेवा भवन्ति वैश्वदेवो वाऽअश्वोऽश्वस्यैव सर्वत्वाय बहुरूपा भवन्ति तस्माद्बहुरूपाः पशवो नानारूपा भवन्ति तस्मान्नानारूपाः पशवः ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥७ [३. २.] ॥ ॥

यत्तिस्रोऽनुष्टुभो भवन्ति । तस्मादश्वस्त्रिभिस्तिष्ठꣳस्तिष्ठति यच्चतस्रो गायत्र्यस्तस्मादश्वः सर्वैः पद्भिः प्रतिदधत्पलायते परमं वाऽएतच्छन्दो यदनुष्टुप्परमोऽश्वः पशूनां परमश्चतुष्टोम स्तोमानां परमेणैवैनं परमतां गमयति ॥१॥ शाक्वर्यः पृष्ठं भवन्ति । अन्यदन्यच्छन्दोऽन्येऽन्ये हि स्तोमाः क्रियन्ते यच्छाक्वर्यः पृष्ठं भवत्यश्वस्यैव सर्वत्वाय ॥२॥ एकविꣳशं मध्यममहर्भवति । असौ वाऽआदित्य एकविꣳशः सोऽश्वमेधः स्वेनैवैनꣳ स्तोमेन स्वायां देवतायां प्रतिष्ठापयति ॥३॥ वामदेव्यं मैत्रावरुणसाम भवति । प्रजापतिर्वै वामदेव्यं प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति ॥४॥ पार्थुरश्मं ब्रह्मसाम भवति । रश्मिना वाऽअश्वो यत ईश्वरो वाऽअश्वोऽयतोऽधृतोऽप्रतिष्ठितः परां परावतं गन्तोर्यत्पार्थुरश्मं ब्रह्मसाम भवत्यश्वस्यैव धृत्यै ॥५॥ संकृत्यच्छावाकसाम भवति । उत्सन्नयज्ञऽइव वाऽएष यदश्वमेधः किं वा ह्येतस्य क्रियते किं वा न यत्संकृत्यच्छावाकसाम भवत्यश्वस्यैव सर्वत्वाय सर्वस्तोमोऽतिरात्र उत्तममहर्भवति सर्वं वै सर्वस्तोमोऽतिरात्रः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥६॥ एकविꣳशोऽग्निर्भवति । एकविꣳश स्तोम

चतुष्टोम के द्वारा विजय प्राप्त करके दूसरे दिन एकविंश प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता है। एकविंश प्रतिष्ठा से दूसरे दिन ऋतुओं पर चढ़ता है। ऋतु पृष्ठ हैं, ऋतु संवत्सर हैं। इस प्रकार ऋतुरूपी संवत्सर में प्रतिष्ठित होता है ॥१॥

दूसरे दिन के पृष्ठ 'शक्वरी' मन्त्र होते हैं। हर मंत्र के छन्द अलग-अलग होते हैं, क्योंकि हर दिन ग्राम्य या बनैले भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं का आलभन होता है। अश्वमेध की पूर्णता के लिए शक्वरी मंत्रों के पृष्ठ होते हैं और भिन्न-भिन्न दिनों में भिन्न-भिन्न पशुओं का आलभन होता है। अश्वमेध के भिन्न-भिन्न दिनों में भिन्न-भिन्न स्तोम होते हैं ॥२॥

इसपर शंका करते हैं कि बकरे, भेड़, बनैले पशु 'सब पशु' नहीं कहलाते; 'गाय' आदि तो कहलाते हैं। अन्तिम दिन गाय आदि का आलभन होता है, क्योंकि वे सब पशु हैं, जो गाय आदि हैं। इस प्रकार सब पशुओं का आलभन करता है। ये विश्वेदेवों के होते हैं। अश्व विश्वेदेवों का है। अश्व की पूर्णता के लिए। ये बहुरूप होते हैं। इसलिए पशु बहुरूप होते हैं। ये नानारूप होते हैं। इसलिए पशु नानारूप होते हैं ॥३॥

यूपैकविंशति

अध्याय ३—ब्राह्मण ३

तीन अनुष्टुभ् होते हैं। इसलिए जब घोड़ा खड़ा होता है तो तीन पैर से। ये चार गायत्रियों के बराबर होते हैं। इसलिए जब घोड़ा भागता है, तो चार पैरों को रखकर। अनुष्टुभ् छन्दों में सबसे बड़ा है। अश्व पशुओं में सबसे बड़ा है। चतुष्टोम स्तोमों में सबसे बड़ा है। इस प्रकार इसको बड़े से ही बड़े पद की प्राप्ति करता है ॥१॥

(दूसरे दिन के) पृष्ठ शक्वार्य होते हैं। भिन्न-भिन्न छन्द और भिन्न-भिन्न उनके स्तोम। शक्वार्य पृष्ठ होते हैं, अश्व की पूर्णता के लिए ॥२॥

बीच का दिन एकविंश होता है। यह आदित्य ही एकविंश है। वही अश्वमेध है। इस प्रकार उसी के स्तोम से उसी के देवता में स्थापित करता है ॥३॥

मैत्रावरुण साम वामदेव्य होता है। प्रजापति वामदेव्य है। प्रजापति अश्व है। इस प्रकार उसी के देवता से उसकी समृद्धि करता है ॥४॥

ब्रह्मसाम पार्थुरश्म होता है। घोड़ा रस्सी से बाँधा जाता है। परन्तु जो घोड़ा न बँधे या वश में न रहे या चंचल हो, वह सीमा से बाहर जा सकता है। घोड़े की चंचलता हटाने के लिए ब्रह्मसाम पार्थुरश्म होता है ॥५॥

अच्छावाकसाम संकृति होता है। यह जो अश्वमेध है वह उत्सन्न यज्ञ है, अर्थात् इसमें से कुछ भाग छूट गया है। इसमें से कुछ किया जाता है, कुछ नहीं। अश्व की पूर्णता के लिए ही अच्छावाकसाम संकृति होता है। अन्तिम दिन अतिरात्र सर्वस्तोम होता है। सर्वस्तोम अतिरात्र 'सब-कुछ' है। अश्वमेध 'सब-कुछ' है, सबकी प्राप्ति के लिए ॥६॥

अग्नि या वेदी एकविंशा होती है। स्तोम एकविंश होते हैं।

एकविꣳशतिर्यूपा यथा वाऽऋषभा वा वृषाणो वा सꣳस्फुरेरन्नेवमेते स्तोमा समृच्छन्ते यदेकविꣳशास्तान्यत्समर्पयेदार्तिमार्च्छेद्यजमानो हन्येतास्य यज्ञः ॥७॥ द्वादश एवाग्निः स्यात् । एकादश यूपा यद्द्वादशोऽग्निर्भवति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरमेव यज्ञमाप्नोति यदेकादश यूपा विराड्वाऽएषा संमीयते यदेकादशिनी तस्यै य एकादश स्तन एवास्यै स दुहऽएवैनां तेन ॥८॥ तदाहुः । यद्द्वादशोऽग्निः स्यादेकादश यूपा यथा स्थूरिणा यायात्तादृक्तदित्येकविꣳश एवाग्निर्भवत्येकविꣳश स्तोम एकविꣳशतिर्यूपास्तद्यथा प्रष्टिभिर्यायात्तादृक्तत् ॥९॥ शिरो वाऽएतद्यज्ञस्य यदेकविꣳशः । यो वाऽअश्वमेधे त्रीणि शीर्षाणि वेद शिरो ह राज्ञां भवत्येकविꣳशोऽग्निर्भवत्येकविꣳश स्तोम एकविꣳशतिर्यूपा एतानि वाऽअश्वमेधे त्रीणि शीर्षाणि तानि य एवं वेद शिरो ह राज्ञां भवति यो वाऽअश्वमेधे तिस्रः ककुदो वेद ककुद्ध राज्ञां भवत्येकविꣳशोऽग्निर्भवत्येकविꣳश स्तोम एकविꣳशतिर्यूपा एता वाऽअश्वमेधे तिस्रः ककुदस्ता य एवं वेद ककुद्ध राज्ञां भवति ॥१०॥ ब्राह्मणम् ॥८ [३. ३.] ॥ ॥

सर्वाभ्यो वै देवताभ्योऽश्व आलभ्यते । यत्प्राजापत्यं कुर्याद्या देवता अपिभागास्ता भागधेयेन व्यर्धयेद्दद्भ्यः स्वाहा दद्भिरवका दन्तमूलैरित्यादत्यमवदाना कृत्वा प्रत्याख्यायं देवताभ्य आहुतीर्जुहोति या एव देवता अपिभागास्ता भागधेयेन समर्धयत्यरण्येऽनूच्यान्हुत्वा द्यावापृथिव्यामुत्तमामाहुतिं जुहोति द्यावापृथिव्योर्वै सर्वा देवताः प्रतिष्ठितास्ता एवैतत्प्रीणाति देवासुराः संयत्ता आसन् ॥१॥ तेऽब्रुवन् । अग्नयः स्विष्टकृतोऽश्वस्य वयमुद्धारमुद्धरामहै तेनासुरानभिभविष्याम इति ते लोहितमुदहरन्त भ्रातृव्याभिभूत्यै यत्स्विष्टकृद्भ्यो लोहितं जुहोति भ्रातृव्याभिभूत्यै भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥२॥ गोमृगकण्ठेन प्रथमामाहुतिं जुहोति । पशवो वै गोमृगा रुद्रः स्विष्टकृत्पशूनेव रुद्रादन्तर्दधाति

यूप भी इक्कीस होते हैं। जैसे साँड या बैल लड़ पड़ते हैं, ऐसे ही यह एकविंश स्तोम भी यदि उनको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय लड़ पड़ें और यजमान की हानि हो तथा उसका यज्ञ नष्ट हो जाय ॥७॥

वेदी बारहवीं होवे। ग्यारह यूप होते हैं और बारहवीं वेदी। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर यह है। इसी संवत्सर यज्ञ को प्राप्त करता है। ग्यारह यूप होते हैं। इससे विराट् एकादशिनी उत्पन्न होती है। ग्यारहवाँ यूप गाय के स्तन के समान है, इससे वे उसको दुहते हैं ॥८॥

इसपर शंका होती है कि यदि वेदी बारहवीं हो और ग्यारह यूप हों तो यह ऐसा ही होगा जैसे एक बैल से गाड़ी खींची जाय। वेदी एकविंश (इक्कीसवीं) होती है। एकविंश स्तोम होते हैं, एकविंश यूप। यह वैसी ही बात है जैसे गाड़ी को बगली घोड़ों से खींचा जाय ॥९॥

यह जो एकविंश है वह यज्ञ का सिर है। जो अश्वमेध के तीन सिरों को जानता है, वह राजाओं का सरताज हो जाता है। वेदी एकविंश होती है, स्तोम एकविंश होते हैं, यूप एकविंश होते हैं—ये अश्वमेध के तीन सिर हैं। जो अश्वमेध के इन तीन सिरों को जानता है, वह राजाओं का सरताज हो जाता है। जो अश्वमेध के तीन कुब्बड़ों को जानता है, वह राजाओं में कुब्बड़ (ऊँचा) हो जाता है। वेदी एकविंश होती है, स्तोम एकविंश, यूप एकविंश। जो अश्वमेध के इन तीन कुब्बड़ों को जानता है वह राजाओं में कुब्बड़ या बहुत ऊँचा हो जाता है ॥१०॥

अश्वस्य लोहितश्रपणादि

अध्याय ३—ब्राह्मण ४

अश्व का आलभन सब देवताओं के लिए किया जाता है। यदि केवल प्रजापति के लिए किया जाय तो अन्य देवता भी इसमें हिस्सेदार हैं, उनका हिस्सा छिन जाय। घी को घोड़े के अवयवों का स्थानापन्न बनाके देवताओं का नाम ले-लेकर आहुतियाँ देता है। दाँतों से घास, दाँत की जड़ों से कमल...इत्यादि (यजु० २५।१६)—इस प्रकार जिस-जिस देवता का हिस्सा है, उसको दिलाता है। 'अरण्ये अनूच्य' आहुतियों को देकर अंत में द्यौ और पृथिवी के लिए आहुति देता है। द्यौ और पृथिवी में ही सब देवता प्रतिष्ठित हैं। उन्हीं को इस प्रकार प्रसन्न करता है। देव और असुर झगड़ने लगे ॥१॥

वे देव कहने लगे कि 'हम अश्वमेध की स्विष्टकृत् अग्नियाँ हैं, हम विशेष भाग लें। इससे असुरों को जीत सकेंगे।' उन्होंने अपने शत्रुओं को जीतने के लिए रुधिर को निकाला। जब वह स्विष्टकृतों के लिए रुधिर की आहुति देता है, तो शत्रुओं को जीतने के लिए। जो इस रहस्य को समझता है, उसका शत्रु स्वयं ही नष्ट हो जाता है ॥२॥

गोमृग के कण्ठ से पहली आहुति देता है। गोमृग पशु हैं। स्विष्टकृत् रुद्र है। रुद्र से पशुओं

—३

तस्माद्यत्रैषाश्वमेधऽआहुतिर्हूयते न तत्र रुद्रः पशूनभिमन्यते ॥३॥ अश्वशफेन द्वितीयामाहुतिं जुहोति । पशवो वाऽएकशफा रुद्रः स्विष्टकृत्पशू॰ ॥४॥ अयस्मयेन चरुणा तृतीयामाहुतिं जुहोति । आयस्यो वै प्रजा रुद्रः स्विष्टकृत्प्रजा एव रुद्रादन्तर्दधाति तस्माद्यत्रैषाश्वमेधऽआहुतिर्हूयते न तत्र रुद्रः प्रजा अभिमन्यते ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥ ९ [३. ४.] ॥ ॥

सर्वेषु वै लोकेषु । मृत्यवोऽन्वायत्तास्तेभ्यो यदाहुतीर्न जुहुयाल्लोके-लोकऽएनं मृत्युर्विन्देद्यन्मृत्युभ्य आहुतीर्जुहोति लोके-लोकऽएव मृत्युमपजयति ॥१॥ तदाहुः । यदमुष्मै स्वाहामुष्मै स्वाहेति जुहुत्संचक्षीत बहुं मृत्युममित्रं कुर्वीत मृत्यवऽआत्मानमपिदध्यादिति मृत्यवे स्वाहेत्येकस्माऽएवैकामाहुतिं जुहोत्येको ह वाऽअमुष्मिंलोके मृत्युरशनायैव तमेवामुष्मिंलोकेऽपजयति ॥२॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहेति द्वितीयामाहुतिं जुहोति । अमृत्युर्ह वाऽअन्यो ब्रह्महत्यायै मृत्युरेष ह वै साक्षान्मृत्युर्यद्ब्रह्महत्या साक्षादेव मृत्युमपजयति ॥३॥ एताँ ह वै मुण्डिभ औदन्यः । ब्रह्महत्यायै प्रायश्चित्तिं विदां चकार यद्ब्रह्महत्यायाऽआहुतिं जुहोति मृत्युमेवाहुत्या तर्पयित्वा परिपाणं कृत्वा ब्रह्मघ्ने भेषजं करोति तस्माद्यस्यैषाश्वमेधऽआहुतिर्हूयतेऽपि योऽस्यापरीषु प्रजायां ब्राह्मणाँ हन्ति तस्मै भेषजं करोति ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥ १० [३. ५.] ॥ ॥

अश्वस्य वाऽआलब्धस्य । मेध उदक्रामत्तदश्वस्तोमीयमभवद्यदश्वस्तोमीयं जुहोत्यश्वमेव मेधसा समर्धयति ॥१॥ आज्येन जुहोति । मेधो वाऽआज्यं मेधोऽश्वस्तोमीयं मेधसैवास्मिंस्तन्मेधो दधात्याज्येन जुहोत्येतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यं प्रियेणैवैनान्धाम्ना समर्धयति ॥२॥ अश्वस्तोमीयँ हुत्वा द्विपदा जुहोति । अश्वो वाऽअश्वस्तोमीयं पुरुषो द्विपदा द्विपाद्वै पुरुषो द्विप्रतिष्ठस्तदेनं प्रतिष्ठया समर्धयति ॥३॥ तदाहुः । अश्वस्तोमीयं पूर्वँ होतव्याँ३ द्विपदा३ इति पशवो वा

को बचाता है। इसलिए जहाँ यह अश्वमेध की आहुति दी जाती है, वहाँ रुद्र पशुओं को नहीं सताता ॥३॥

घोड़े के खुर से दूसरी आहुति देता है। पशु एक खुरवाले होते हैं। स्विष्टकृत् रुद्र है। पशुओं को रुद्र से बचाता है। इसीलिए जहाँ पर अश्वमेध की आहुति दी जाती है, वहाँ रुद्र पशुओं को नहीं सताता ॥४॥

लोहे के चरु पात्र से तीसरी आहुति देता है। प्रजा का लोहे से सम्बन्ध है। स्विष्टकृत् रुद्र है। इस प्रकार प्रजा को रुद्र से छुड़ाता है। इसीलिए जहाँ पर अश्वमेध की आहुति दी जाती है, वहाँ रुद्र प्रजाओं को नहीं सता सकता ॥५॥

अश्वमेधेनापमृत्युनिरासः

अध्याय ३—ब्राह्मण ५

सब लोकों का मृत्युओं से सम्बन्ध हो गया। इसीलिए यदि मृत्युओं के लिए आहुतियाँ न दी जायँ तो मृत्यु हर लोक में उसके पीछे पड़े। मृत्युओं के लिए आहुति देता है, इस प्रकार हर लोक में मृत्यु को जीत लेता है ॥१॥

इसपर कहते हैं कि यदि 'उसके लिए स्वाहा'-'उसके लिए स्वाहा' कहकर आहुतियाँ दे तो बहुत-सी मृत्युओं को अपना शत्रु बना ले और अपने को मृत्युओं के हवाले कर दे। इसलिए केवल एक आहुति देता है, यह कहकर 'मृत्यु के लिए स्वाहा'। क्योंकि मृत्यु एक ही है। उस लोक में मृत्यु को जीत लेता है, भूख को भी ॥२॥

'ब्रह्महत्यायै स्वाहा' से दूसरी आहुति देता है। ब्रह्महत्या से इतर मृत्यु तो अमृत्यु है। ब्रह्महत्या साक्षात् मृत्यु है, इस प्रकार मृत्यु को जीत लेता है ॥३॥

मुण्डिभ औदन्य ने ब्रह्महत्या के लिए प्रायश्चित्त निकाला। जब वह ब्रह्महत्या के लिए आहुति देता है, तो मृत्यु को आहुति द्वारा तृप्त करके ब्रह्म-घातक के लिए इलाज करता है। इस-लिए जिस घर में यह ब्रह्महत्या की आहुति दी जाती है, उसके घर में यदि भविष्य में भी ब्राह्मण को कोई मार दे तो उसका भी इलाज (प्रायश्चित्त) होता है ॥४॥

अश्वस्तोमीयहोमः

अध्याय ३—ब्राह्मण ६

जब अश्व का आलभन हो चुका तो उसका मेध उसमें से निकल गया। वह अश्व-स्तोमीय आहुति बन गया। जो अश्वस्तोमीय आहुति देता है, वह अश्व को मेध से परिपूरित करता है ॥१॥

घी की आहुति देता है। घी मेध है। मेध अश्वस्तोमीय है। इस प्रकार मेध के द्वारा ही उसमें मेध स्थापित करता है। घी की आहुति देता है। घी देवों का प्रियधाम है। इस प्रियधाम से उसको परिपूरित करता है ॥२॥

अश्वस्तोमीय आहुति देकर 'द्विपद' आहुति देता है। अश्व अश्वस्तोमीय है और पुरुष द्विपद है, क्योंकि पुरुष के दो पैर होते हैं। इसकी प्रतिष्ठायें (ठहरने का स्थान) दो हैं। इसको इस प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित करता है ॥३॥

इसपर कहते हैं कि अश्वस्तोमीय की आहुति पहले दे या द्विपद की? पशु अश्वस्तोमीय

ऽश्वस्तोमीयं पुरुषो द्विपदा यदश्वस्तोमीयꣳ हुत्वा द्विपदा जुहोति तस्मात्पुरुष उपरिष्टात्पशूनधितिष्ठति ॥४॥ षोडशाश्वस्तोमीया जुहोति । षोडशकला वै पशवः सा पशूनां मात्रा पशूनेव मात्रया समर्धयति यत्कनीयसीर्वा भूयसीर्वा जुहुयात्पशून्मात्रया व्यर्धयेत्षोडश जुहोति षोडशकला वै पशवः सा पशूनां मात्रा पशूनेव मात्रया समर्धयति नान्यामुत्तमामाहुतिं जुहोति यदन्यामुत्तमामाहुतिं जुहुयात्प्रतिष्ठायै च्यवेत द्विपदा उत्तमा जुहोति प्रतिष्ठा वै द्विपदाः प्रत्येव तिष्ठति जुम्बकाय स्वाहेत्यवभृथꣳ उत्तमामाहुतिं जुहोति वरुणो वै जुम्बकः साक्षादेव वरुणमवयजते शुक्लस्य खलतेर्विक्लिधस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धनि जुहोत्येतद्वै वरुणस्य रूपꣳ रूपेणैव वरुणमवयजते ॥५॥ द्वादश ब्रह्मौदनानुत्थाय निर्वपति । द्वादशभिर्वेष्टिभिर्यजते तदाहुर्यज्ञस्य वाऽएतद्रूपं यदिष्टयो यदिष्टिभिर्यजेतोपनामुक एनं यज्ञः स्यात्पापीयांस्तु स्याद्यातयामानि वाऽएतदीजानस्य छन्दाꣳसि भवन्ति तानि किमेतावदाशु प्रयुञ्जीत सर्वा वै सꣳस्थिते यज्ञे वागाप्यते सात्राप्ता यातयाम्नी भवति क्रूरीकृतेव हि भवत्यरुष्कृता वाग्वै यज्ञस्तस्मान्न प्रयुञ्जीतेति ॥६॥ द्वादशैव ब्रह्मौदनानुत्थाय निर्वपेत् । प्रजापतिर्वाऽओदनः प्रजापतिः संवत्सरः प्रजापतिर्यज्ञः संवत्सरमेव यज्ञमाप्नोत्युपनामुक एनं यज्ञो भवति न पापीयान्भवति ॥७॥ ब्राह्मणम् ॥११ [३. ६.] ॥ ॥

एष वै प्रभूर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रभूतं भवति ॥१॥ एष वै विभूर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव विभूतं भवति ॥२॥ एष वै व्यष्टिर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यष्टं भवति ॥३॥ एष वै विधृतिर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव विधृतं भवति ॥४॥ एष वै व्यावृत्तिर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यावृत्तं भवति ॥५॥ एष वाऽऊर्जस्वान्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेवोर्जस्वद्भवति ॥६॥ एष वै

है, और पुरुष द्विपद। अश्वस्तोमीय आहुति देकर द्विपद की आहुति देता है। इसलिए पुरुष पशुओं का अधिष्ठाता है ॥४॥

अश्वस्तोमीय आहुतियाँ सोलह होती हैं। पशुओं में सोलह कलायें होती हैं। यह पशुओं की मात्रा है। इस मात्रा से पशुओं की समृद्धि करता है। यदि कम या अधिक देगा तो पशुओं को उनकी मात्रा से वंचित कर देगा। सोलह आहुतियाँ देता है, क्योंकि पशुओं में सोलह कलाएँ होती हैं। पशुओं की यह मात्रा है, इस मात्रा द्वारा ही पशुओं की परिपूर्ति करता है। किसी अन्य अन्तिम आहुति को नहीं देता। यदि अन्य अन्तिम आहुति को देवे तो प्रतिष्ठा से गिर जाय। अन्त की द्विपद आहुति होती है। द्विपदा प्रतिष्ठा है। इससे प्रतिष्ठा होती है। 'जुम्बकाय स्वाहा' इससे अवभृथ स्नान की अन्तिम आहुति दी जाती है। 'जुम्बक' वरुण है, वरुण को जीतने के लिए। सफेद दागवाले, गंजे, दाँत आगे को निकले हुए, पीली आँखवाले मनुष्य के सिर पर आहुति देता है। यह वरुण का रूप है। इस रूप से ही वरुण को जीतता है ॥५

(जल से) निकलकर ब्राह्मणों के लिए बारह ओदन या भात बनाता है। बारह इष्टियाँ करता है। इसपर कहते हैं कि इष्टियाँ यज्ञ का रूप है। यदि वह इष्टियाँ करेगा, तो यज्ञ उसकी ओर झुकेगा। परन्तु उसको हानि होगी, क्योंकि जिसने यज्ञ किया है उसके छन्द थक जाते हैं। वे इतनी जल्दी प्रयोग के लिए कैसे तैयार हो सकेंगे? जब यज्ञ पूर्ण होगा तो वाणी की प्राप्ति होगी। गह वाणी प्राप्त होकर थक जायगी। वह घायल हो जायगी। वाणी यज्ञ है, इसलिए ऐसा न करे ॥६॥

निकलकर बारह भात ब्राह्मणों के लिए बनावे। प्रजापति भात है। प्रजापति संवत्सर है। प्रजापति यज्ञ है। संवत्सररूपी यज्ञ को प्राप्त कर लेता है और यज्ञ उसकी ओर झुकता है। उसको हानि नहीं होती ॥७॥

अश्वमेधमहिमा

अध्याय ३—ब्राह्मण ७

(बारह इष्टियाँ ये हैं) इस यज्ञ का नाम 'प्रभू' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, लोग प्रभूत (शक्तिवाले) होते हैं ॥१॥

इस यज्ञ का नाम 'विभू' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ विभूति होती है ॥२॥

इस यज्ञ का नाम 'व्यष्टि' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सब सफल होते हैं ॥३॥

इस यज्ञ का नाम 'विधृति' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सबकी कीर्ति होती है ॥४॥

इस यज्ञ का नाम 'व्यावृत्ति' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सब चीज 'व्यावृत्त' या सुरक्षित हो जाती है ॥५॥

इस यज्ञ का नाम 'ऊर्जस्वान्' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सब लोक ऊर्जस्वी हो जाते हैं ॥६॥

पयस्वान्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव पयस्वद्भवति ॥७॥ एष वै ब्रह्मवर्चसी नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्तऽआ ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायते ॥८॥ एष वाऽअतिव्याधी नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्तऽआ राजन्योऽतिव्याधी जायते ॥६॥ एष वै दीर्घो नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्तऽआ दीर्घारण्यं जायते ॥१०॥ एष वै क्लृप्तिर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव क्लृप्तं भवति ॥११॥ एष वै प्रतिष्ठा नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रतिष्ठितं भवति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१२ [३. ७.] ॥ ॥

अथातः प्रायश्चित्तीनाम् । यद्यश्वो वडवाऽ स्कन्देद्वायव्यं पयोऽनुनिर्वपेद्वायुर्वै रेतसां विकर्ता प्राणो वै वायुः प्राणो हि रेतसां विकर्ता रेतसैवास्मिंस्तद्रेतो दधाति ॥१॥ अथ यदि स्रामो विन्देत् । पौष्णं चरुमनुनिर्वपेत्पूषा वै पशूनामीष्टे स यस्यैव पशवो यः पशूनामीष्टे तमेवैतत्प्रीणात्यगदो हैव भवति ॥२॥ अथ यद्यक्षतामयो विन्देत् । वैश्वानरं द्वादशकपालं भूमिकपालं पुरोडाशमनुनिर्वपेदियं वै वैश्वानर इमामेवैतत्प्रीणात्यगदो हैव भवति ॥३॥ अथ यद्यक्ष्यामयो विन्देत् । सौर्यं चरुमनुनिर्वपेत्सूर्यो वै प्रजानां चक्षुर्यदा ह्येवैष उदेत्यथेदऽ सर्वं चरति चक्षुषैवास्मिंस्तच्चक्षुर्दधाति स यद्यरुर्भवति चक्षुषा ह्ययमात्मा चरति ॥४॥ अथ यद्युदके म्रियेत । वारुणं यवमयं चरुमनुनिर्वपेद्वरुणो वाऽएतं गृह्णाति यो ऽप्सु म्रियते सा यैवैनं देवता गृह्णाति तामेवैतत्प्रीणाति सास्मै प्रीतान्यमालम्भायानुमन्यते तयानुमतमालभते स यद्यवमयो भवति वरुण्या हि यवाः ॥५॥ अथ यदि नश्येत् । त्रिहविषमिष्टिमनुनिर्वपेद्द्यावापृथिव्यमेककपालं पुरोडाशं वायव्यं पयः सौर्यं चरुं यद्वै किं च नश्यत्यन्तरेव तद्द्यावापृथिवी नश्यति तद्वायुरूपवात्यादित्योऽभितपति नैताभ्यो देवताभ्य ऋते किं चन नश्यति सैषा पृथगेव नष्टवेदनी स यद्यस्याप्यन्यन्नश्येदेतयैव यजेतानु हैवैनद्विन्दत्यथ यद्यमित्रा अश्वं

इस यज्ञ का नाम 'पयस्वान' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सब लोग पयस्वी या रस-युक्त हो जाते हैं ।।७।।

इस यज्ञ का नाम 'ब्रह्मवर्चसी' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सब लोग ब्रह्मवर्चसी हो जाते हैं ।।८।।

इस यज्ञ का नाम 'अतिव्याधी' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ के क्षत्रिय लोग ठीक निशाना लगानेवाले होते हैं ।।९।।

इस यज्ञ का नाम 'दीर्घ' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ बड़े-बड़े वन होते हैं ।।१०।।

इस यज्ञ का नाम 'क्लृप्ति' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ के लोग योग्य हो जाते हैं ।।११।।

इस यज्ञ का नाम 'प्रतिष्ठा' है। जहाँ यह यज्ञ होता है, वहाँ सब लोग प्रतिष्ठित हो जाते हैं ।।१२।।

अश्वमेधप्रायश्चित्तम्

अध्याय ३—ब्राह्मण ८

अब प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हैं। यदि घोड़ा किसी घोड़ी से प्रसंग कर ले, तो 'वायु' के लिए 'दूध' की आहुति देवे। वायु वीर्यों का बिखेरनेवाला है। प्राण वायु है। प्राण वीर्यों का बिखेरनेवाला है। इस प्रकार इसमें वीर्य के द्वारा वीर्य धारण कराता है ।।१।।

यदि बीमार हो जाय तो पूषा के लिए चरु बनावे। पूषा पशुओं का स्वामी है। इस प्रकार जिसके पशु हैं या जो पशुओं का स्वामी है, उसको इससे प्रसन्न करता है, स्वस्थ हो जाता है ।।२।।

यदि बिना चोट लगे कोई कष्ट हो जाय तो वैश्वानर के बारह कपालों का पुरोडाश बनावे। इसमें मिट्टी के कपाल हों। यह पृथिवी वैश्वानर है, इसी पृथिवी को वह प्रसन्न करता है, स्वस्थ हो जाता है ।।३।।

यदि आँख में रोग हो जाय तो सूर्य के लिए चरु बनावे। सूर्य प्रजाओं का चक्षु है। जब यह निकलता है, तब सब चलते-फिरते हैं। वह चक्षु द्वारा उसमें चक्षु रखता है। चरु क्यों होता है? इसलिए कि मनुष्य चक्षु द्वारा ही चलता है ।।४।।

यदि घोड़ा जल में डूबकर मर जाय तो वरुण देवता का जौ का चरु बनावे। जो जल में मरता है, उसको वरुण पकड़ लेता है। जो देवता इसको पकड़ता है, उसी देवता को प्रसन्न करता है। वह देवता प्रसन्न होकर अन्य पशु को आलभन की अनुमति दे देता है और उसीकी अनुमति से आलभन किया जाता है। जौ का चरु इसलिए होता है कि जौ वरुण का है ।।५।।

यदि घोड़ा नष्ट हो जाय तो तीन हवियों की एक इष्टि करे—द्यौ और पृथिवी के लिए एक कपाल का पुरोडाश, वायु के लिए दूध, सूर्य के लिए चरु। जो चीज नष्ट हो जाती है, वह द्यौ और पृथिवी के बीच में ही नष्ट होती है। वायु उसपर चलता है, सूर्य उसपर चमकता है। इन देवताओं से छिपकर कोई चीज नष्ट हो ही नहीं सकती। यह इष्टि अलग भी 'नष्टवेदनी' अर्थात् खोई हुई वस्तु को दिलानेवाली है। जिस किसी की चीज खो जाय, वह यह इष्टि करे। वह उसको

विन्देरन्यदि वा म्रियेत यदि वाप्स्वन्यमानीय प्रोक्षेयुः सैव तत्र प्रायश्चित्तिः ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥१३ [३. ८.] ॥ तृतीयो ध्यायः [८६.] ॥ ॥

प्रजापतिरकामयत । सर्वान्कामानाप्नुयाᳶ सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुवीयेति स एतमश्वमेधं त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वा सर्वान्कामानाप्नोत्सर्वा व्यष्टीर्व्याश्नुत सर्वान्ह वै कामानाप्नोति सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुते योऽश्वमेधेन यजते ॥१॥ तदाहुः । कस्मिन्नृतावभ्यारम्भ इति ग्रीष्मेऽभ्यारभेतेत्यु हैकऽआहुर्ग्रीष्मो वै क्षत्रियस्यर्तुः क्षत्रिययज्ञ उ वाऽएष यदश्वमेध इति ॥२॥ तद्वै वसन्तऽएवाभ्यारभेत । वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुर्य उ वै कश्च यजते ब्राह्मणीभूयेवैव यजते तस्माद्वसन्तऽएवाभ्यारभेत ॥३॥ सा यासौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति । तस्यै पुरस्तात्षडहे वा सप्ताहे वऽर्त्विज उपसमायन्त्यध्वर्युश्च होता च ब्रह्मा चोद्गाता चैतान्वाऽअन्वन्यऽऋत्विजः ॥४॥ तेभ्योऽध्वर्युश्चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निर्वपति । तस्योक्तं ब्राह्मणं चतुरः पात्रांश्चतुरोऽञ्जलींश्चतुरः प्रसृतान्द्वादशविधं द्वादश मासाः संवत्सरः सर्वᳶ संवत्सरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥५॥ तमेते चत्वार ऋत्विजः प्राश्नन्ति । तेषामुक्तं ब्राह्मणं तेभ्यश्चत्वारि सहस्राणि ददाति सर्वं वै सहस्रᳶ सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै चत्वारि च सुवर्णानि शतमानानि हिरण्यानि तस्योऽएवोक्तम् ॥६॥ अथास्माऽअध्वर्युर्निष्कं प्रतिमुञ्चन्वाचयति । तेजोऽसि शुक्रममृतमिति तेजो वै शुक्रममृतᳶ हिरण्यं तेज एवास्मिञ्छुक्रममृतं दधात्यायुष्पा आयुर्मे पाहीत्यायुरेवास्मिन्दधात्यथैनमाह वाचं यच्छेति वाग्वै यज्ञो यज्ञस्यैवाभ्यारम्भाय ॥७॥ चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति । महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली सर्वा निष्किन्योऽलङ्कृता मिथुनस्यैव सर्वत्वाय ताभिः सहाग्न्यगारं प्रपद्यते पूर्वया द्वारा यजमानो दक्षिणाया पत्न्यः ॥८॥ सायमाहुत्याᳶ हुतायाम् । जघनेन गार्हपत्यमुदङ्ङावातया सह संविशति तदेवापीतराः संविशन्ति

पा जाएगा। यदि शत्रु घोड़े को ले जाय या मर जाय तो दूसरे घोड़े को लाकर उसपर जल के छींटे देवे। यही उसका प्रायश्चित्त है ॥६॥

अश्वमेधारम्भकालादि

अध्याय ४—ब्राह्मण १

प्रजापति ने इच्छा की कि मेरी सब कामनाएँ पूरी हो जायँ, मुझे सब पदार्थ मिल जायँ। उसने इस विराज (तीन रातवाले) यज्ञ-क्रतु, अश्वमेध को देखा। उसको ले आया। उसने यज्ञ किया। इस यज्ञ को करके सब कामनाओं को पूरा किया, सब पदार्थों को प्राप्त किया। जो अश्वमेध यज्ञ करता है वह सब कामनाओं की पूर्ति करता है, सब पदार्थों को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

प्रश्न होता है कि किस ऋतु में आरम्भ करना चाहिए? कुछ लोग कहते हैं कि ग्रीष्म में आरम्भ कर दिया जाय, क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रियों की ऋतु है। यह अश्वमेध क्षत्रिय का यज्ञ है ॥२॥

परन्तु वसन्त में आरम्भ करे। वसन्त ऋतु ब्राह्मण की है। जो कोई यज्ञ करता है ब्राह्मण बनकर ही यज्ञ करता है। इसलिए वसन्त में ही आरम्भ करे ॥३॥

फाल्गुन की जो पूर्णमासी होती है उसके छः-सात दिन पहले ये ऋत्विज इकट्ठे होवें—अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा, उद्गाता। अन्य ऋत्विज इन्हीं के अधीन होते हैं ॥४॥

अध्वर्यु उनके लिए इतना भात पकावे, जो चार पुरुषों के लिए काफी हो। इसका रहस्य बताया जा चुका है। चार पुत्र, चार अंजली और चार मुट्ठी, ये बारह हुए। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर 'सब-कुछ' है। अश्वमेध 'सब-कुछ' है। सबकी प्राप्ति के लिए, सबकी पूर्ति के लिए ॥५॥

इसको ये चार ऋत्विज खाते हैं। इनका रहस्य बताया जा चुका है। उनको चार हजार गाएँ दी जाती हैं। सहस्र का अर्थ है 'सब'। अश्वमेध 'सब' है। सबकी पूर्ति के लिए, सबकी प्राप्ति के लिए। चार सोने की तश्तरियाँ जो तोल में सौ-सौ मान की होती हैं। इनकी व्याख्या भी हो चुकी है ॥६॥

अध्वर्यु यजमान के निष्क लटकाकर यह जप कराता है—"तेजोऽसि शुक्रममृतम्, आयुष्पा ऽ आयुर्मे पाहि" (यजु० २२।१)—यह जो सोना (निष्क) है वह तेज, शुक्र और अमृत है। इससे यजमान में तेज, शुक्र और अमृत स्थापित करता है। 'मेरी आयु की रक्षा कर' इससे उसमें आयु देता है वाक् को आरम्भ कर। वाक् यज्ञ है, यज्ञ के ही आरम्भ के लिए ॥७॥

यजमान की चार पत्नियाँ सेवा में उपस्थित रहती हैं—महिषी, वावाता, परिवृक्ता और पालागली। सब सोने के हार पहने हुए। जोड़े (पति-पत्नी) की पूर्णता के लिए। उनके साथ अग्नि-ग्रह में प्रवेश करता है। पूर्व-द्वार से यजमान, दक्षिण-द्वार से पत्नियाँ ॥८॥

सायंकाल की आहुति देने के पश्चात् गार्हपत्य के पीछे उत्तर की ओर सिर करके वावाता के साथ लेटता है। वहीं दूसरी पत्नियाँ भी लेटती हैं।

सोऽन्तरोऽश्वसंवर्तमानः शेतेऽनेन तपसा स्वस्ति संवत्सरस्योदृचꣳ समश्नवाऽइति ॥९॥ प्रातराहुत्याꣳ हुतायाम् । अध्वर्युः पूर्णाहुतिं जुहोति सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै तस्यां वरेण वाचं विसृजते वरं ददामि ब्रह्मणाऽइति सर्वं वै वरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥१०॥ ॥ शतम् ६६०० ॥ ॥ अथ योऽस्य निष्कः प्रतिमुक्तो भवति । तमध्वर्यवे ददात्यध्वर्यवे ददमृतमायुरात्मन्धत्तेऽमृतꣳ ह्यायुर्हिरण्यम् ॥११॥ अथाग्नेयीमिष्टिं निर्वपति । पथश्च कामाय यज्ञमुखस्य चाच्छम्बट्कारायाथोऽअग्निमुखा उ वै सर्वा देवताः सर्वे कामा अश्वमेधे मुखतः सर्वान्देवान्प्रीत्वा सर्वान्कामानाप्नवानीति ॥१२॥ तस्यै पञ्चदश सामिधेन्यो भवन्ति । पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्तात्पाप्मानमपहते वार्त्रघ्नावाज्यभागौ पाप्मा वै वृत्रः पाप्मनोऽपहत्याऽअग्निर्मूर्धा दिवः ककुद्भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेतेत्युपाꣳशु हविषो याज्यानुवाक्ये मूर्धन्वत्यन्या भवति सद्वत्यन्यैष वै मूर्धा य एष तपत्येतस्यैवावरुद्ध्याऽअथ यत्सद्वती सदेवावरुन्द्धे विराजौ संयाज्ये सर्वदेवत्यं वाऽएतच्छन्दो यद्विराट् सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वान्देवान्प्रीत्वा सर्वान्कामानाप्नवानीति हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णꣳ शतमानं तस्योक्तं ब्राह्मणम् ॥१३॥ अथ पौष्णीं निर्वपति । पूषा वै पथीनामधिपतिरश्वायैवैतत्स्वस्त्ययनं करोत्यथोऽइयं वै पूषेमामेवास्माऽएतद्गोप्त्रीं करोति तस्य हि नार्तिरस्ति न ह्वला यामयमधन्गोपायतीमामेवास्माऽएतद्गोप्त्रीं करोति ॥१४॥ तस्यै सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति । सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिरश्वमेधोऽश्वमेधस्यैवाप्त्यै वृधन्वन्तावाज्यभागौ यजमानस्यैव वृद्ध्यै पूषंस्तव व्रते वयं पथस्पथः परिपतिं वचस्येत्युपाꣳशु हविषो याज्यानुवाक्ये व्रतवत्यन्या भवति पथन्वत्यन्या वीर्यं वै व्रतं वीर्यस्याप्त्यै वीर्यस्यावरुद्ध्याऽअथ यत्पथन्वत्यश्वायैवैतत्स्वस्त्ययनं करोत्यनुष्टुभौ संयाज्ये वाग्वाऽअनुष्टुब्वाग्वै प्रजापतिः प्र-

वह उसके पास सोता है, परन्तु चिपटकर नहीं। वह यह सोचता है कि इस तप से वर्ष के अन्त तक समृद्धि को प्राप्त होऊँ ॥९॥

प्रातःकाल की आहुति देकर अध्वर्यु पूर्ण आहुति देता है "सर्वं वै पूर्णं"। अश्वमेध 'सब' है। सबकी प्राप्ति के लिए, सबकी उपलब्धि के लिए। इसके पीछे 'वरदान' द्वारा वाणी को छोड़ता है, अर्थात् बातें आरम्भ करता है यह कहकर "वरं ददामि ब्रह्मणे" (ब्रह्मा के लिए वर देता हूँ)। वर 'सब' है। अश्वमेध 'सब' है। सबकी प्राप्ति के लिए, सबकी उपलब्धि के लिए ॥१०॥

यह जो उसके गले में निष्क है, उसे अध्वर्यु को देता है। इसको अध्वर्यु को देकर अमृत और आयु को उसमें स्थापित करता है, क्योंकि सोना आयु है, अमृत है ॥११॥

अब अग्नि की इष्टि को करता है, मार्ग की इच्छा से और यज्ञ के मुख (आरम्भ) की प्राप्ति के लिए। सब देवता अग्नि-मुख (अग्नि है मुख जिनका ऐसे) होते हैं। अश्वमेध में सब कामनाएं रहती हैं। वह सोचता है कि सब देवों को प्रसन्न करके सब कामनाओं को प्राप्त कर लूं ॥१२॥

इसके लिए पन्द्रह सामिधेनियाँ होती हैं। वज्र पन्द्रहवाला है। वीर्य वज्र है। वीर्य वज्र से पहले यजमान बुराई को दूर करता है। आज्यभाग की दो आहुतियाँ वृत्रघ्न (इन्द्र) की होती हैं। वृत्र पाप है। पाप को दूर करने के लिए—(१) "अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्···"(यजु० १३।१४), (२) "भुवो यज्ञस्य रजसश्च···" (यजु० १३।१५)—हवि के ये याज्य और अनुवाक्य चुपके-चुपके कहे जाते हैं। एक में 'मूर्धा' शब्द है, दूसरी में सद् (यहाँ 'भुवः')। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वह मूर्धा है, उसीकी प्राप्ति के लिए। 'सद्' वाली इसलिए कि जो 'सत्' है उसकी प्राप्ति हो। दो संयाज विराट् छन्द में होते हैं। विराट् सब देवताओं का छन्द है। अश्वमेध में सब कामनाएँ हैं। वह सोचता है कि सब देवों को प्रसन्न करके सब कामनाओं को पूरा करूँ। सौ मान स्वर्ण इसकी दक्षिणा है। इसकी व्याख्या हो चुकी है ॥१३॥

अब पूषा की इष्टि को करता है। पूषा पथिकों का अधिपति है। घोड़े के लिए यह शुभ-यात्रा लाभ करता है। यह पृथिवी ही पूषा है। इस प्रकार इस पृथिवी को ही इसका रक्षक बनाता है। जिसकी पृथिवी मार्ग में रक्षा करती है, या जो इस पृथिवी को रक्षक बनाता है, उसको कोई कष्ट, कोई हानि नहीं होती ॥१४॥

उसकी सत्रह सामिधेनियाँ होती हैं। प्रजापति सत्रहवाला है। प्रजापति अश्वमेध है। अश्वमेध की प्राप्ति के लिए। यजमान की वृद्धि के लिए दो आज्यभाग वृद्धिवाले होते हैं—(१) "पूषन् तव व्रते वयं" (यजु० ३४।४१), (२) "पथस्पथः परिपतिं वचस्या" (यजु० ३४।४२)—ये दो हवियों के याज्य और अनुवाक्य चुपके-चुपके दिये जाते हैं। एक में 'व्रत' शब्द है, दूसरे में 'पथ'। व्रत वीर्य है, वीर्य की प्राप्ति के लिए। 'पथ' इसलिए कि घोड़े के मार्ग को कल्याणकारी बनाता है। दोनों संयाज अनुष्टुभ् छन्द में होते हैं। वाक् अनुष्टुभ् है। वाक् प्रजापति है। प्रजापति

जापतिरश्वमेधोऽश्वमेधस्यैवाप्त्यै वासःशतं दक्षिणा रूपं वाऽएतत्पुरुषस्य यद्वासस्त-स्माद्यमेव कं च सुवाससमाहुः को न्वयमिति रूपसमृद्धो हि भवति रूपेणैवैनꣳ समर्धयति शतं भवति शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥१४ [४. १.] ॥ ॥

एतस्यां तायमानायाम् । अश्वं निक्रोदानयन्ति यस्मिन्त्सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यो वा जवसमृद्धः सहस्रार्ह्यः पूर्व्यो यो दक्षिणायां धुर्यप्रतिधुरः ॥१॥ तद्यत्सर्वरूपो भवति । सर्वं वै रूपꣳ सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्याऽअथ यज्जवसमृद्धो वीर्यं वै जवो वीर्यस्याप्त्यै वीर्यस्यावरुद्ध्याऽअथ यत्सहस्रार्ह्यः सर्वं वै सहस्रꣳ सर्व-मश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्याऽअथ यत्पूर्व्य एष वाऽअपरिमितं वीर्यमभि-वर्धते यत्पूर्व्योऽपरिमितस्यैव वीर्यस्यावरुद्ध्याऽअथ यद्दक्षिणायां धुर्यप्रतिधुर एष वाऽएष य एष तपति न वाऽएतं कश्चन प्रतिप्रतिरेतस्यैवावरुद्ध्यै ॥२॥ तदु होवाच भाल्लबेयो । द्विरूप एवैषोऽश्वः स्यात्कृष्णसारंगः प्रजापतेर्वाऽएषोऽक्ष्णः समभवद्द्विरूपं वाऽइदं चक्षुः शुक्लं चैव कृष्णं च तदेनꣳ स्वेन रूपेण समर्धयतीति ॥३॥ अथ होवाच सात्ययज्ञिः । त्रिरूप एवैषोऽश्वः स्यात्तस्य कृष्णः पूर्वार्धः शु-क्लोऽपरार्धः कृत्तिकाञ्जिः पुरस्तात्तद्यत्कृष्णः पूर्वार्धो भवति यदेवेदं कृष्णमक्ष्णस्त-दस्य तदथ यच्छुक्लोऽपरार्धो यदेवेदꣳ शुक्लमक्ष्णस्तदस्य तदथ यत्कृत्तिकाञ्जिः पुर-स्तात्सा कनीनका स एव रूपसमृद्धोऽतो यतमोऽस्योपकल्पेत बहुरूपो वा द्वि-रूपो वा त्रिरूपो वा कृत्तिकाञ्जिस्तमालभेत जवेन त्वेव समृद्धः स्यात् ॥४॥ त-स्यैते पुरस्ताद्रक्षितार उपक्लृप्ता भवन्ति । राजपुत्राः कवचिनः शतꣳ राजन्या नि-षङ्गिणः शतꣳ सूतग्रामण्यां पुत्रा इषुपर्षिणः शतं क्षात्त्रसंग्रहीतृणां पुत्रा दण्डिनः शतमश्वशतं निरष्टं निरमणं यस्मिन्नेनमपिसृज्य रक्षन्ति ॥५॥ अथ सावित्रीमिष्टिं निर्वपति । सवित्रे प्रसवित्रे द्वादशकपालं पुरोडाशꣳ सविता वै प्रसविता सवि-

अश्वमेध है, अश्वमेध की प्राप्ति के लिए । दक्षिणा में सौ वस्त्र होते हैं। वस्त्र पुरुष का बाह्य रूप है, इसलिए जो अच्छे वस्त्र पहने होता है, उसको देखकर लोग कहते हैं 'यह कौन है ?' क्योंकि यह रूप-समृद्ध है। उसको रूप से सम्पन्न करता है। सौ इसलिए होते हैं कि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है। आयु सौ पराक्रम की होती है। इस प्रकार अपने में वीर्य और पराक्रम को धारण करता है ॥१५॥

सावित्र्य इष्टयः, पारिप्लवाशंसनादि च निरूप्यन्ते (१)

अध्याय ४—ब्राह्मण २

जब पूषा के लिए आहुति दी जा रही है, उस समय घोड़े को नहलाकर लाते हैं। ऐसे घोड़े को जो सब रूपों (रंगों) से सम्पन्न है, जो गतिवाला है, जो युवा है, जो सहस्र गायों के बराबर मोल में है, दाहिने धुरे के नीचे जिसकी बराबरी और कोई घोड़ा नहीं कर सकता (अर्थात् घोड़ा अत्युत्तम होना चाहिए) ॥१॥

सब रूपों से सम्पन्न क्यों ? रूप 'सब-कुछ' है। अश्वमेध सब-कुछ है। 'सब' की उपलब्धि के लिए, 'सब' की प्राप्ति के लिए। 'गतिवाला' क्यों ? गति पराक्रम है, पराक्रम की उपलब्धि तथा प्राप्ति के लिए। सहस्र गायों के बराबर मोल क्यों ? सहस्र 'सब' है। अश्वमेध 'सब' है। सबकी उपलब्धि के लिए। 'युवा' क्यों ? जो युवा है, उसमें बहुत वीर्य होता है। बहुत वीर्य की प्राप्ति के लिए। दाहिने धुरे के नीचे 'अप्रतिधुर' क्यों ? यह उसकी प्राप्ति के लिए जो कि तपता है (सूर्य), क्योंकि सूर्य ऐसा घोड़ा है जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता ॥२॥

भाल्लवेय का कथन था कि यह घोड़ा दो रंग का होना चाहिए—चितकबरा। यह प्रजापति की आँख से उत्पन्न हुआ था। आँख में दो रंग होते हैं—काला और सफेद। इस प्रकार इसको इसीके रूप से सम्पन्न करता है ॥३॥

सात्ययज्ञि का कहना था कि यह अश्व तीन रंग का हो। अगला आधा भाग काला, पिछला आधा सफेद, माथे पर कृत्तिका (गाड़ी) का चिह्न। अगला आधा काला, इसलिए कि यह आँख के काले भाग का स्थानीय है। सफेद इसलिए कि यह आँख के सफेद भाग का स्थानीय है। कृत्तिका का चिह्न इसलिए कि यह आँख की पुतली का स्थानीय है। सह घोड़े का पूरा रूप है। परन्तु जैसा मिले ले लेना चाहिए, बहुरूप हो या द्विरूप या त्रिरूप; कृतिका के चिह्नवाला। परन्तु गति में अवश्य ही बहुत अच्छा होना चाहिए ॥४॥

यज्ञशाला के आगे इसके रक्षक तैयार रहते हैं। राजपुत्र, कवचधारी, सौ क्षत्रिय, तलवार लिये, सौ गाँववालों के पुत्र तीरों से भरे हुए तरकशों को लिये, सौ क्षत्रियों के साथियों के पुत्र डंडे लिये। सौ निरष्ट घोड़े, इनमें उस अश्व को छोड़ देते हैं और उसकी रक्षा करते हैं (निरष्ट—घोड़ों के एक चिह्न होता है जो तीन साल की आयु बताता है। ऐसे आठ चिह्न पड़ते हैं। इनको 'अष्ट' कहते हैं। निरष्ट वह घोड़ा है जो आठ चिह्नों अर्थात् २४ वर्ष से बढ़ गया हो, बूढ़ा) ॥५॥

अब सविता की इष्टि करता है, सविता प्रसविता के लिए। बारह कपालों का पुरोडाश।

ता मऽइमं यज्ञं प्रसुवादिति ॥६॥ तस्यै पञ्चदश सामिधेन्यो भवन्ति । वार्त्रघ्ना-
वाज्यभागौ यऽइमा विश्वा जातान्या देवो यातु सविता सुरत्न इत्युपाꣳशु हवि-
षो याज्यानुवाक्ये विराजौ संयाज्ये हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णꣳ शतमानं तस्योक्तं
ब्राह्मणम् ॥७॥ तस्यै प्रयाजेषु तायमानेषु । ब्राह्मणो वीणागाथी दक्षिणत उत्त-
रमन्द्रामुदाघ्नंस्तिस्रः स्वयꣳसम्भृता गाथा गायतीत्ययजतेत्यददादिति तस्योक्तं ब्राह्म-
णम् ॥८॥ अथ द्वितीयां निर्वपति । सवित्रऽआसवित्रे द्वादशकपालं पुरोडाशꣳ
सविता वाऽआसविता सविता मऽइमं यज्ञमासुवादिति ॥९॥ तस्यै सप्तदश सा-
मिधेन्यो भवन्ति । सद्वन्तावाज्यभागौ सदेवावरुन्द्धे विश्वानि देव सवितः स घा
नो देवः सविता सहावेत्युपाꣳशु हविषो याज्यानुवाक्येऽअनुष्टुभौ संयाज्ये रत्न-
तꣳ हिरण्यं दक्षिणा नानारूपतायाऽअथोऽउत्क्रमायानपक्रमाय शतमानं भवति
शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रिय आयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते ॥१०॥ तस्यै प्रयाजेषु
तायमानेषु । ब्राह्मणो वीणा० ॥११॥ अथ तृतीयां निर्वपति । सवित्रे सत्यप्रस-
वाय द्वादशकपालं पुरोडाशमेष ह वै सत्यः प्रसवो यः सवितुः सत्येन मे प्रस-
वेनेमं यज्ञं प्रसुवादिति ॥१२॥ तस्यै सप्तदशैव सामिधेन्यो भवन्ति । रयिमन्ता-
वाज्यभागौ वीर्यं वै रयिर्वीर्यस्याप्त्यै वीर्यस्यावरुद्ध्याऽआ विश्वदेवꣳ सत्पतिं न
प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तदित्युपाꣳशु हविषो याज्यानुवाक्ये नित्ये संयाज्ये नेद्यज्ञ-
पथादयानीति क्लृप्तऽएव यज्ञेऽन्ततः प्रतितिष्ठति त्रिष्टुभौ भवत इन्द्रो वै वीर्यं त्रि-
ष्टुबिन्द्रियस्यैव वीर्यस्यावरुद्ध्यै हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णꣳ शतमानं तस्योक्तं ब्राह्म-
णम् ॥१३॥ तस्यै प्रयाजेषु तायमानेषु । ब्राह्मणो वीणा० ॥१४॥ एतस्याꣳ सꣳ-
स्थितायाम् । उपोत्थायाध्वर्युश्च यजमानश्चाश्वस्य दक्षिणे कर्णऽआजपतो विभूर्मात्रा
प्रभूः पित्रेति तस्योक्तं ब्राह्मणमथैनमुदञ्चं प्राञ्चं प्रसृजत एषा ह्योभयेषां देवमनु-
ष्याणां दिग्यदुदीची प्राची स्वायामेवैनं तद्दिशि धत्तो न वै स्वऽआयतने प्रति-

सविता प्रेरक है अर्थात् सविता मेरे इस यज्ञ की प्रेरणा करे ॥६॥

इसकी १५ सामिधेनियाँ होती हैं। दो आज्यभाग वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए होते हैं—(१) "य इमा विश्वा जातानि···" (ऋ० ५।८२।६), (२) "आ देवो यातु सविता सुरत्न···" (ऋ० ७।४५।१)—हवि के याज्य और अनुवाक्य को चुपके-चुपके पढ़ते हैं। दो संयाज विराट् छन्द में होते हैं। दक्षिणा में सौ मान सोना। इसकी व्याख्या बताई जा चुकी है ॥७॥

जब इस इष्टि के प्रयाज हो रहे हों, उस समय एक वीणा बजानेवाला ब्राह्मण उत्तर मन्द्रा गति बजाकर तीन गीत गाता है, जिनका विषय यह होता है, 'इसने इतना यज्ञ किया। इसने इतना दान दिया।' इसका रहस्य बताया जा चुका है ॥८॥

अब दूसरी आहुति देता है 'सविता आसविता' के लिए। बारह कपालों का पुरोडाश। सविता 'आसविता' है, इसलिए कि सविता देव हमारे यज्ञ में प्रेरणा करे ॥९॥

इसकी सामिधेनियाँ सत्रह होती हैं। दो आज्यभाग 'सत्' शब्दवाले होते हैं, 'सत्' की प्राप्ति के लिए—(१) "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि···" (५।८२।५), (२) "स घा नो देवः सविता···" (ऋ० ७।४५।३)—याज्य और अनुवाक्य चुपके-चुपके पढ़े जाते हैं। दोनों संयाज्य अनुष्टुप् छन्द में होते हैं। दक्षिणा चाँदी की होती है। नानारूपता (Variety) के लिए, इसलिए भी कि घोड़ा आगे को चले (उत्क्रम), भाग न जाय (अपक्रम)। यह चाँदी सौ मान-भर होती है। पुरुष की आयु सौ वर्ष की है। आयु में सौ पराक्रम होते हैं। इस प्रकार अपने में वीर्य या पराक्रम की स्थापना करता है ॥ १०॥

जब प्रयाज हो रहे हों, उस समय वीणा बजानेवाला ब्राह्मण···॥११॥

अब तीसरी आहुति 'सविता सत्य प्रसव' के लिए। बारह कपालों का पुरोडाश। यह सविता 'सत्य प्रसव' है। वह मेरे इस यज्ञ की 'सत्य प्रसव' शक्ति द्वारा प्रेरणा करे। इस लिए—॥१२॥

उसकी सत्रह सामिधेनियाँ होती हैं। दो आज्य-भाग 'रयि' शब्दवाले होते हैं। 'रयि' पराक्रम है। वीर्य की उपलब्धि, वीर्य की प्राप्ति के लिए—(१) "आ विश्वदेवं 'सत्पतिं'···" (ऋ० ५।८२।७), (२) "न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य···" (ऋ० ४।५४।४)—ये याज्य और अनु-वाक्य चुपके-चुपके पढ़े जाते हैं। संयाज्य नित्य के मंत्र ही होते हैं। ऐसा समझकर कि कहीं मैं यज्ञ के पथ से डिग न जाऊँ, इस प्रकार अपने को यज्ञ में प्रतिष्ठित करता है। ये त्रिष्टुभ् छन्द में होते हैं। त्रिष्टुप् पराक्रम और वीर्य है। वीर्य और पराक्रम की उपलब्धि के लिए। दक्षिणा सौ मान-भर सोना। इसका रहस्य बताया जा चुका है ॥१३॥

जब प्रयाज हो रहे हों, उस समय वीणा बजानेवाला ब्राह्मण···॥१४॥

जब यह समाप्त हो जाय, तो अध्वर्यु और यजमान उठकर घोड़े के दाहिने कान में जपते हैं—"विभूर्मात्रा प्रभुः पित्रा···" (यजु० २२।१९)—इसकी व्याख्या हो चुकी है। अब उसको उत्तर-पूर्व में छोड़ देते हैं, क्योंकि यह दिशा देव और मनुष्य दोनों की है। इस प्रकार वह इसको इसीकी दिशा में स्थापित करता है, जिससे उसको हानि न हो। जो अपने घर में रहता है, उसे

ष्ठितो रिष्यत्यरिष्ये ॥१५॥ स आह देवा आशापालाः । एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳ रक्षतेत्युक्ता मानुषा आशापाला अथेमे देवा आप्याः साध्या अन्वाध्या मरुतस्तमेतेऽभये देवमनुष्याः संविदाना अप्रत्यावर्तयन्तः संवत्सरꣳ रक्षन्ति तꣳ्य न प्रत्यावर्तयन्त्येष वाऽएष य एष तपति क उ ह्येतमर्हति प्रत्यावर्तयितुं यद्धैनं प्रत्यावर्तयेयुः पराग्घेवेदꣳ सर्वꣳ स्यात्तस्मादप्रत्यावर्तयन्तो रक्षन्ति ॥१६॥ स आ-हाशापालाः । ये वाऽएतस्योदृचं गमिष्यन्ति राष्ट्रं ते भविष्यन्ति राजानो भवि-ष्यन्त्यभिषेचनीया अथ यऽएतस्योदृचं न गमिष्यन्त्यराष्ट्रं ते भविष्यन्त्यराजानो भ-विष्यन्ति राजन्या विशोऽनभिषेचनीयास्तस्मान्मा प्रमदत स्नावाश्चैवैनमुदकान्निरु-न्धीध्वं वडवाभ्यश्च ते यद्यद्ब्राह्मणजातमुपनिगच्छेत तत्तत्पृच्छेत ब्राह्मणाः कियद्यू-यमश्वमेधस्य वित्थेति ते ये न विद्युर्जिनीयात तान्सर्वं वाऽअश्वमेधः सर्वस्यैष न वेद यो ब्राह्मणः सन्नश्वमेधस्य न वेद सोऽब्राह्मणो ज्येय एव स पानं कुरवाथ खादं निवपाथाथ यत्किं च जनपदे कृतान्नꣳ सर्वं वस्तत्सुतं तेषाꣳ रथकारकुल ऽएव वो वसतिस्तद्ध्यश्वस्यायतनमिति ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥१५ [४.२.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या११७ ॥ ॥

प्रमुच्याश्वं दक्षिणेन वेदिꣳ । हिरण्मयं कशिपूपस्तृणाति तस्मिन्होतोपविश-ति दक्षिणेन होतारꣳ हिरण्मये कूर्चे यजमानो दक्षिणतो ब्रह्मा चोद्गाता च हिरण्मय्योः कशिपुनोः पुरस्तात्प्रत्यङ्ङध्वर्युर्हिरण्मये वा कूर्चे हिरण्मये वा फलके ॥१॥ समुपविष्टेष्वध्वर्युः सम्प्रेष्यति । होतर्भूतान्याचक्ष्व भूतेष्विमं यजमानमध्यूहेति सम्प्रेषितो होताध्वर्युमामन्त्रयते पारिप्लवमाख्यानमाख्यास्यन्नध्वर्यवित्ति हवै होत-रित्यध्वर्युः ॥२॥ मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य मनुष्या विशस्तऽइमऽआसत ऽइत्यश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति तानुपदिशत्यृचो वेदः सोऽयमित्यृ-चाꣳ सूक्तं व्याचक्षाण-इवानुद्रवेद्वीणागणगिन उपसमेता भवन्ति तानध्वर्युः सम्प्रे-

हानि नहीं होती ॥१५॥

वह कहता है, 'हे दिशाओं के रक्षक देव ! देवों के लिए पवित्र किये हुए इस घोड़े की रक्षा करो ।' दिशाओं के (चार) मानुषी रक्षक तो बता दिये गए। अब इन दिशाओं के चार देव रक्षकों को बताते हैं—आप्य, साध्य, अन्वाध्य, और मरुत् । ये मनुष्य और देव दिशाओं के रक्षक एकचित्त होकर बिना पीछे को मुख मोड़े हुए एक वर्ष तक उसकी रक्षा करते हैं। पीछे को मुख क्यों नहीं मोड़ते ? यह जो सूर्य चमकता है, उसका मुख कौन मोड़ सकता है ? यदि वह मुख मोड़े तो कुछ पीछे को मुड़ जाय। इसलिए वे बिना मुँह मोड़े रक्षा करते हैं ॥१६॥

वह कहता है, 'हे दिशाओं के रक्षको ! जो इस यज्ञ के अन्त तक जाएँगे वे राष्ट्री तथा राजा हो जाएँगे और उनका अभिषेक होगा। जो इसके अन्त तक न जाएँगे, वे राष्ट्ररहित हो जाएँगे, राजा न होंगे; साधारण क्षत्रिय या वैश्य होंगे, अभिषेक के योग्य न होंगे। इसलिए प्रमाद मत करना। इसको स्नान के योग्य जल तथा घोड़ियों से बचाये रखना। यदि मार्ग में कोई ब्राह्मण मिलें तो उनसे पूछना कि क्या तुम अश्वमेध के विषय में जानते हो ? यदि वे जानते हों तो उनका तिरस्कार करना। क्योंकि अश्वमेध 'सब-कुछ' है। ये 'सब-कुछ' के विषय में नहीं जानते। जो ब्राह्मण होता हुआ अश्वमेध के विषय में नहीं जानता, वह अब्राह्मण है, निन्दनीय है। इस घोड़े को जल पिलाना, चारा खिलाना। देश में जो अन्न या खाने की चीजें होंगी सब तुमको मिलेंगी। तुम रथकार के कुल में ही रहोगे, क्योंकि रथकार ही घोड़े का घर है' ॥१७॥

सावित्र्य इष्टयः, पारिप्लवाशंसनादि च निरूप्यन्ते (२)

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

घोड़े को छोड़कर अध्वर्यु वेदी की दक्षिण ओर एक जरी की दरी बिछाता है। होता उसपर बैठता है। होता की दाहिनी ओर सोने की तिपाई पर यजमान बैठता है। उसकी दाहिनी ओर की दो दरियों पर ब्रह्मा और उद्गाता। उसके सामने सोने के स्टूल या पट्टे पर अध्वर्यु ॥१॥

जब सब बैठ जाते हैं तो अध्वर्यु आदेश देता है, 'होता ! भूतों (जीवों) को गिन और इस यजमान को भूतों (जीवों) के ऊपर गिन।' यह आदेश पाकर होता पारिप्लव आख्यान को कहता हुआ अध्वर्यु को सम्बोधित करता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' ॥२॥

होता कहता है, 'मनु वैवस्वत राजा है। उसकी प्रजा मनुष्य हैं। वे यहाँ उपस्थित हैं।' अश्रोत्रिय गृहस्थ इकट्ठे हो जाते हैं। उनको सम्बोधन करके कहता है, 'यह वेदी की ऋचा है।' इस प्रकार एक वेद का सूक्त पढ़ता है। तभी वीणा बजानेवाले इकट्ठे हो जाते हैं। अध्वर्यु उन

ष्यति वीणागणगिन इत्याह पुराणैरिमं यजमान७ राजभिः साधुकृद्भिः संगायतेति तं ते तथा संगायन्ति तम्दिनमेव७ संगायन्ति पुराणैरेवैनं तद्राजभिः साधुकृद्भिः सलोकं कुर्वन्ति ॥३॥ सम्प्रेष्याध्वर्युः प्रक्रमान्जुहोति । अन्वाहार्यपचने वाश्वस्य वा पदं परिलिख्य यतरथास्य तत्रावृद्भवति पूर्वा त्वेव स्थितिः ॥४॥ सावित्र्या एवेष्टिः । पुरस्तादनुद्रुत्य सकृदेव त्रूपाण्याहवनीये जुहोत्यथ सायं धृतिषु हूयमानासु राजन्यो वीणागाथी दक्षिणत उत्तरमन्द्रामुदाघ्नंस्तिस्रः स्वयछसम्भृता गाथा गायतीत्ययुध्यतेत्यमु७ संग्राममजयदिति तस्योक्तं ब्राह्मणम् ॥५॥ अथ श्वो भूते द्वितीयेऽहन् । एवमेवैतासु सावित्रीष्विष्टिषु स७स्थितास्वेषैवावृद्ध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युर्यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशस्तऽइमऽआसतऽइति स्थविरा उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति यजू७षि वेदः सोऽयमिति यजुषामनुवाकं व्याचक्षाण-इवानुद्रवेदेवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान्जुहोति ॥६॥ अथ तृतीयेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु स७स्थितास्वेषैवावृद्ध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युर्वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्तऽइमऽआसतऽइति युवानः शोभना उपसमेता भवन्ति तानुपदिशत्यथर्वाणो वेदः सोऽयमित्यथर्वणामेकं पर्व व्याचक्षाण-इवानुद्रवेदेवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान्जुहोति ॥७॥ अथ चतुर्थेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु स७स्थितास्वेषैवावृद्ध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युः सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसतऽइति युवतयः शोभनाः उपसमेता भवन्ति ता उपदिशत्यङ्गिरसो वेदः सोऽयमित्यङ्गिरसामेकं पर्व व्याचक्षाण-इवानुद्र° ॥८॥ अथ पञ्चमेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु स७स्थितास्वेषैवावृद्ध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युरर्बुदः काद्रवेयो राजेत्याह तस्य सर्पा विशस्तऽइमऽआसतऽइति सर्पाश्च सर्पविदश्चोपसमेता भवन्ति तानपदिशति सर्पविद्या वेदः सोऽयमिति सर्पविद्याया एकं पर्व व्याचक्षाण-

वीणा बजानेवालों से कहता है, 'पिछले पुण्यात्मा राजाओं के साथ यजमान के यश का भी गान करो।' वे इसी प्रकार से गान करते हैं। इस प्रकार गान करने से वह पुराने पुण्यात्मा राजाओं के साथ यजमान को सलोकता प्राप्त करा देता है ।।३।।

इस प्रेरणा के पश्चात् अध्वर्य 'प्रक्रम' आहुतियों को देता है, या तो अन्वाहार्यपचन में, या घोड़े के पैर के चिह्न में चारों ओर से लकीर खींचकर। जैसी परिपाटी हो उसके अनुसार। परन्तु पहली परिपाटी अधिक प्रचलित है ।।४।।

सविता की इष्टि की पहली आहुति देने से पूर्व जल्दी-जल्दी मंत्र पढ़कर एक बार आहवनीय में 'रूप' नामी आहुतियाँ देता है। सायंकाल को 'धृति' नामक आहुतियाँ देने के समय क्षत्रिय वीणावाला, दक्षिण की ओर उत्तरमन्द्रा लय को बजाता हुआ अपनी बनाई हुई तीन गाथाएँ (गीतियाँ) गाता है—'यह युद्ध इसने किया, यह संग्राम इसने जीता' आदि विषय पर। इसकी व्याख्या हो चुकी है ।।५।।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब इसी प्रकार से सविता की तीन इष्टियाँ दी जा चुकें तो वही कार्य होता है। होता कहता है, 'हे अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ, होता।' होता कहता है, 'यम वैवस्वत। उसकी प्रजा पितर हैं। वे यहाँ उपस्थित हैं।' स्थविर (वृद्ध) पुरुष आते हैं, उन्हीं को आदेश करता है, 'यजु वेद है, वह यह है।' यजु के अनुवाक का पाठ करता है। अध्वर्यु (वीणा बजानेवालों को) उसी प्रकार आदेश करता है, परन्तु 'प्रक्रम' आहुतियाँ नहीं देता ।।६।।

तीसरे दिन इन इष्टियों के हो जाने के पश्चात् वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'वरुण आदित्य राजा। उसकी प्रजा हैं गन्धर्व। ये यहाँ उपस्थित हैं।' सुन्दर युवक इकट्ठे होते हैं। इन्हीं को आदेश देता है, 'अथर्ववेद यह है।' अथर्ववेद के एक पर्व का पाठ करता है। अध्वर्यु इसी प्रकार आदेश देता है, परन्तु प्रक्रम आहुतियाँ नहीं देता ।।७।।

चौथे दिन इन इष्टियों के समाप्त होने पर वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है 'हाँ होता !' होता कहता है, 'सोम वैष्णव राजा। उसकी प्रजा हैं अप्सराएँ, ये यहाँ उपस्थित हैं।' सुन्दर युवतियाँ इकट्ठी होती हैं। उनको उपदेश देता है, 'अंगिरस वेद है। वह यह है।' अंगिरसों का एक पर्व पढ़ता है...इत्यादि ।।८।।

पाँचवें दिन इष्टियों के समाप्त होने पर वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'अर्बुद काद्रवेय राजा। इसकी प्रजा हैं सर्प, ये यहाँ उपस्थित हैं सर्प और सर्पविद्।' इकट्ठे होते हैं। उनको वह उपदेश करता है, 'सर्पविद्या वेद है, वह यह है।' सर्पविद्या का एक पर्व पढ़ता है...इत्यादि ।।९।।

इवानुद्रवेत् ॥९॥ अथ षष्ठेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युः कुबेरो वैश्रवणो राजेत्याह तस्य रक्षांसि विशस्तानीमान्यासतऽइति सेलगाः पापकृत उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति देवजनविद्या वेदः सोऽयमिति देवजनविद्याया एकं पर्व व्याचक्षाण-इवानुद्रवेत् ॥१०॥ अथ सप्तमेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युरसितो धान्वो राजेत्याह तस्यासुरा विशस्तऽइमऽआसतऽइति कुसीदिन उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति माया वेदः सोऽयमिति कांचिन्मायां कुर्यादेवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान्जुहोति ॥११॥ अथाष्टमेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युर्मत्स्यः सांमदो राजेत्याह तस्योदकेचरा विशस्तऽइमऽआसतऽइति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति कंचिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान्जुहोति ॥१२॥ अथ नवमेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युस्तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजेत्याह तस्य वयांसि विशस्तानीमान्यासतऽइति वयांसि च वायोविद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति पुराणं वेदः सो पमिति किंचित्पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान्जुहोति ॥१३॥ अथ दशमेऽहन् । एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युर्धर्म इन्द्रो राजेत्याह तस्य देवा विशस्तऽइमऽआसत इति श्रोत्रिया अप्रतिग्राहका उपसमेता भवन्ति तानुपदिशति सामानि वेदः सोऽयमिति साम्नां दशतं ब्रूयादेवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमान्जुहोतीति ॥१४॥ एतत्पारिप्लवम् । सर्वाणि राज्यान्याचष्टे सर्वा विशः सर्वान्वेदान्त्सर्वान्देवान्त्सर्वाणि भूतानि सर्वेषां ह वै स एतेषां राज्यानां सायुज्यं सलोकतामश्नुते सर्वासां विशामैश्वर्यमाधिपत्यं गच्छति सर्वान्वेदानवरुन्द्धे

छठे दिन इन इष्टियों के समाप्त होने पर वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'कुबेर वैश्रवण राजा। उसकी प्रजा हैं राक्षस। वे यहाँ उपस्थित हैं।' डाकू पापी इकट्ठे होते हैं। इन्हीं को वह उपदेश देता है, 'देवजनविद्या वेद है, वह यह है।' देवजनविद्या के एक पर्व का पाठ करता है··· इत्यादि ॥१०॥

सातवें दिन इन इष्टियों के समाप्त होने पर वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'असित धान्व राजा। इसकी प्रजा हैं असुर। ये यहाँ उपस्थित हैं।' कुसीद या ब्याजखोर वहाँ आते हैं। उन्हीं को उपदेश देता है, 'माया वेद है, वह यह है।' कुछ माया दिखावे। अध्वर्यु इसी प्रकार आदेश देता है, परन्तु प्रक्रम आहुति नहीं देता॥११॥

आठवें दिन इन इष्टियों के समाप्त होने पर वही कार्य होता है। होता कहता है,'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'मत्स्य सांमद राजा। उसकी प्रजा हैं जलवासी। वे यहाँ उपस्थित हैं।' मछली और मछलीगीर वहाँ आते हैं। उन्हीं को उपदेश देता है, 'इतिहास वेद है, वह यह है।' कुछ इतिहास सुनाता है। अध्वर्यु उसी प्रकार आदेश देता है, परन्तु प्रक्रम-आहुति नहीं देता॥१२॥

नवें दिन इन इष्टियों के समाप्त होने पर वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'तार्क्ष्य वैपश्यत राजा। उसकी प्रजा हैं पक्षी। वे यहाँ उपस्थित हैं।' पक्षी और पक्षिविद्याविद् यहाँ इकट्ठे होते हैं। उनको उपदेश करता है, 'पुराण वेद है, वह यह है।' कुछ पुराण पढ़ता है। अध्वर्यु उसी प्रकार आदेश करता है, प्रक्रम-आहुतियाँ नहीं देता॥१३॥

दसवें दिन इन इष्टियों की समाप्ति पर वही कार्य होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यु !' अध्वर्यु कहता है, 'हाँ होता !' होता कहता है, 'धर्म इन्द्र राजा। इसकी प्रजा हैं देव। ये उपस्थित हैं।' दान न लेनेवाले श्रोत्रिय वहाँ इकट्ठे होते हैं। इन्हीं को उपदेश देता है, 'साम वेद है, वह यह है।' साम के दशत (दस मंत्रों) को पढ़े। अध्वर्यु उसी प्रकार उपदेश देता है, प्रक्रम आहुतियाँ नहीं देता॥१४॥

यह है पारिप्लव गाथा। सब राजाओं का नाम लेता है, सब प्रजाओं का, सब वेदों का, सब देवों का, सब भूतों का। वह यजमान सब राजाओं की सलोकता को प्राप्त होता है, सब प्रजाओं पर आधिपत्य प्राप्त करता है, सब वेदों की प्राप्ति करता है, सब देवों को प्रसन्न करके

सर्वान्देवान्प्रीत्वा सर्वेषु भूतेष्वन्ततः प्रतितिष्ठति यस्यैवंविदेतद्धोता पारिप्लवमाख्यानमाचष्टे यो वैतदेवं वेदैतदेव समानमाख्यानं पुनः-पुनः संवत्सरं परिप्लवते तद्यत्पुनः-पुनः परिप्लवते तस्मात्पारिप्लवꣳ षट्त्रिꣳशतं दशाहानाचष्टे षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहती बार्हताः पशवो बृहत्यैवास्मै पशूनवरुन्द्धे ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४. ३.] ॥ ॥

संवत्सरे पर्यवेते दीक्षा । प्राजापत्यमालभ्योत्सीदन्तीष्टयः पुरोहितस्याग्निषु यजेतेत्यु हैकऽआहुः किमु दीक्षितो यजेत द्वादश दीक्षा द्वादशोपसदस्तिस्रः सुत्यास्तत्त्रिणवमभिसम्पद्यते वज्रो वै त्रिणवः क्षत्रमश्वः क्षत्रꣳ राजन्यो वज्रेण खलु वै क्षत्रꣳ स्पृतं तद्वज्रेणैव क्षत्रꣳ स्पृणोति ॥१॥ दीक्षणीयायाꣳ सꣳस्थितायाम् । सायं वाचि विसृष्टायां वीणागणगिन उपसमेता भवन्ति तानध्वर्युः सम्प्रेष्यति वीणागणगिन इत्याह देवैरिमं यजमानꣳ संगायतेति तं ते तथा संगायन्ति ॥२॥ अहरहर्वाचि विसृष्टायाम् । अग्नीषोमीयाणामन्ततः सꣳस्थायां परिहृतासु वसतीवरीषु तद्यदेनं देवैः संगायन्ति देवैरेवैनं तत्सलोकं कुर्वन्ति ॥३॥ प्रजापतिना सुत्यासु । एवमेवाहरहः परिहृतास्वेव वसतीवरीषूदवसानीयायामन्ततः सꣳस्थितायां तद्यदेनं प्रजापतिना संगायन्ति प्रजापतिनैवैनं तदन्ततः सलोकं कुर्वन्ति ॥४॥ एकविꣳशतिर्यूपाः । सर्वऽएकविꣳशत्यरत्नयो राज्जुदालोऽग्निष्ठो भवति पैतुदारवावभितः षड्बैल्वास्त्रय इत्यात्त्रय इत्यात्षट् खादिरास्त्रय एवेत्यात्त्रय इत्यात्षट् पालाशास्त्रय एवेत्यात्त्रय इत्यात् ॥५॥ तद्यदेतऽएवं यूपा भवन्ति । प्रजापतेः प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य यः श्लेष्मासीत्स सार्धꣳ समवद्रुत्य मध्यतो नस्त उदभिनत्स एष वनस्पतिरभवद्राज्जुदालस्तस्मात्स श्लेष्मणः श्लेष्मणो हि समभवत्तेनैवैनं तद्रूपेण समर्धयति तद्यत्सोऽग्निष्ठो भवति मध्यं वाऽएतद्यूपानां यदग्निष्ठो मध्यमेतत्प्राणानां यन्नासिके स्वऽएवैनं तदायतने दधाति

सब भूतों में प्रतिष्ठित होता है, जिसके लिए इस रहस्य को जाननेवाला होता पारिप्लव गाथा को कहता है। यह आख्यान साल-भर तक बार-बार आता है, इसलिए इसको पारिप्लव गाथा कहते हैं। दस दिनों के छत्तीस समूह तक वह कहता है(अर्थात् ३६० दिन तक), बृहद् छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। पशु बृहती है। बृहती के द्वारा वह उसको पशुओं से सम्पन्न करता है ॥१५॥

यूपकाष्ठादि

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

संवत्सर की समाप्ति पर दीक्षा होती है। प्राजापत्य पशु के आलभन के उपरान्त इष्टियाँ समाप्त हो जाती हैं। कुछ की राय है कि पुरोहित की अग्नियों में आहुतियाँ देनी चाहिएँ। दीक्षित क्यों आहुतियाँ दे? बारह दिन दीक्षा के होते हैं, बारह उपसदों के, और तीन सुत्य (सोम निचोड़ने) के। इस प्रकार ६ के तिगुने अर्थात् २७ स्तोम हो गए। परन्तु ६ का तिगुना वज्र है। अश्व क्षत्र है। क्षत्र राजा है। वज्र से ही राज जीता जाता है। वज्र से ही क्षत्र को जीतता है ॥१॥

जब दीक्षा समाप्त हो जाय और सायंकाल को वाक्-विमोचन हो जाय, तब वीणावाले इकट्ठे हो जाते हैं। अध्वर्यु प्रेरणा करता है। वह कहता है 'हे वीणावालो! देवों के साथ इस यजमान का भी यश गाओ।' तब वे गाते हैं ॥२॥

प्रतिदिन वाक्-विमोचन के उपरान्त अग्नीषोमीय इष्टि की समाप्ति पर वसतीवरी जलों के चारों ओर घुमाने के पश्चात् (वे गाते हैं)। इनके देवों के साथ गाने का प्रयोजन यह है कि उस (यजमान) को देवों की सलोकता प्राप्त कराते हैं ॥३॥

सुत्य दिनों में वसतीवरी जलों के घुमाने तथा उदवसानीय की समाप्ति के पश्चात् प्रतिदिन प्रजापति के साथ (वे गान करते हैं)। प्रजापति के साथ गान करने का प्रयोजन यह है कि यजमान को प्रजापति की सलोकता प्राप्त कराते हैं ॥४॥

यूप इक्कीस होते हैं, इक्कीस हाथ लम्बे। अग्निष्ठ यूप (अर्थात् आहवनीय के सामने का, बीच का) रज्जुदाल लकड़ी का होता है। उसके दोनों ओर दो पीतदारु के, छः बिल्व के अर्थात् तीन इधर, तीन उधर, छः खदिर के अर्थात् तीन इधर, तीन उधर, छः पलाश के अर्थात् तीन इधर तीन उधर ॥५॥

ये यूप ऐसे क्यों होते हैं? जब प्रजापति के प्राण निकल गए, तो उसका शरीर सूज गया और उसमें जो श्लेष्म था वह बहकर नाक में होकर फूट निकला। वह रज्जुदाल वृक्ष हो गया। यह श्लेष्म है क्योंकि श्लेष्म से उत्पन्न हुआ। उसी रूप से वह इस यूप की समृद्धि करता है। इसको अग्निष्ठ क्यों कहते हैं? क्योंकि यह यूप के बीच का है। नाक प्राणों के बीच की (केन्द्र) है। इस प्रकार वह इसको अपने ही आयतन अर्थात् स्थान में स्थापित करता है ॥६॥

॥६॥ अथ यदापोमयं तेज आसीत् । यो गन्धः स सार्धꣳ समवद्रुत्य चक्षुष्ट उद्भिनत्स एष वनस्पतिरभवत्पीतुदारुस्तस्मात्स सुरभिर्गन्धाद्धि समभवत्तस्माद्व ज्वलनस्तेजसो हि समभवत्तेनैवेनं तद्रूपेण समर्धयति तद्यत्तावभितोऽग्निष्ठं भवतस्तस्मादिमे अभितो नासिकां चक्षुषी स्वऽएवैनौ तदायतने दधाति ॥७॥ अथ यत्कुल्वापमासीत् । यो मज्जा स सार्धꣳ समवद्रुत्य श्रोत्रत उद्भिनत्स एष वनस्पतिरभवद्बिल्वस्तस्मात्तस्यान्तरतः सर्वमेव फलमाद्यं भवति तस्माद्व हारिद्र-इव भवति हारिद्र-इव हि मज्जा तेनैवेनं तद्रूपेण समर्धयत्यन्तरे पैतुदारवौ भवतो बाह्ये बैल्वा अन्तरे हि चक्षुषी बाह्ये श्रोत्रे स्वऽएवैनांस्तदायतने दधाति ॥८॥ अस्थिभ्य एवास्य खदिरः समभवत् । तस्मात्स दारुणो बहुसारो दारुणमिव ह्यस्थि तेनैवेनं तद्रूपेण समर्धयत्यन्तरे बैल्वा भवन्ति बाह्ये खादिरा अन्तरे हि मज्जानो बाह्यान्यस्थीनि स्वऽएवैनांस्तदायतने दधाति ॥९॥ माꣳसेभ्य एवास्य पलाशः समभवत् । तस्मात्स बहुरसो लोहितरसो लोहितमिव हि माꣳसं तेनैवेनं तद्रूपेण समर्धयत्यन्तरे खादिरा भवन्ति बाह्ये पालाशा अन्तराणि ह्यस्थीनि बाह्यानि माꣳसानि स्वऽएवैनांस्तदायतने दधाति ॥१०॥ अथ यदेकविꣳशतिर्भवन्ति । एकविꣳशत्यरत्नय एकविꣳशो वाऽएष य एष तपति द्वादश मासाः पञ्चऽर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशः सोऽश्वमेध एष प्रजापतिरेवमेतं प्रजापतिं यज्ञं कृत्स्नꣳ संस्कृत्य तस्मिन्नेकविꣳशतिमग्नोषोमीयान्पशूनालभते तेषाꣳ समानं कर्मेत्येतत्पूर्वेद्यु' कर्म ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥२ [४. ४.] ॥ चतुर्थो ऽध्यायः [८७.] ॥ ॥

अथ प्रातर्गीतमस्य । चतुरुत्तर स्तोमो भवति तस्य चतसृषु बहिष्पवमानमष्टास्वष्टास्वाज्यानि द्वादशसु माध्यन्दिनः पवमानः षोडशसु पृष्ठानि विꣳशत्यामार्भवः पवमानश्चतुर्विꣳशत्यामग्निष्टोमसाम ॥१॥ तस्य हैके । ऽग्निष्टोमसाम

जो जलमय तेज तथा गन्ध था, वह साथ बहकर आँखों से फूट निकला। उसका पीतदारु वृक्ष बन गया। इसलिए वह सुगन्धयुक्त है, क्योंकि सुगन्ध से निकला। तेज से उत्पन्न हुआ, इसलिए जल्दी जलता है('ज्वलन' है), उसी रूप से उसको समन्वित करता है। ये यूप अग्निष्ठ यूप के दोनों ओर होते हैं, इसलिए नाक की दोनों ओर आँखें हैं। उनको उन्हीं के स्थान में स्थापित करता है ॥७॥

वह जो कुन्ताप या मज्जा था वह साथ बहकर कानों में होकर फूटा, उसका बिल्व वृक्ष हुआ। इसलिए उसके भीतर का सभी फल (गूदा) खाने योग्य होता है। मज्जा पीला-सा होता है इसलिए यह भी पीला है। इसको इसी के रूप से समृद्ध करता है। पीतदारु के यूप भीतर को होते हैं और बिल्व के बाहर को। क्योंकि आँखें भीतर को हैं और कान बाहर को। इस प्रकार उनको उन्हीं के स्थान में सम्पन्न करता है ॥८॥

उसकी हड्डियों से खदिर हुआ। इसलिए वह कड़ा होता है। हड्डी कड़ी और सार-युक्त होती है। इस प्रकार इसी के रूप से समृद्ध करता है। बिल्व के यूप भीतर होते हैं, खदिर के बाहर को। मज्जा भीतर होती है, हड्डियाँ बाहर। इस प्रकार इनको इन्हीं के स्थान में स्थापित करता है ॥९॥

मांसों से पलाश हुआ। इसलिए उसमें बहुत रस है और लाल रस है। मांस लाल होता है। इसको इसीके रूप से समृद्ध करता है। भीतर खदिर के यूप होते हैं, बाहर पलाश के। हड्डियाँ भीतर होती हैं, मांस बाहर। इस प्रकार इनको इन्हीं के स्थान में स्थापित करता है ॥१०॥

ये इक्कीस क्यों होते हैं और इक्कीस हाथ लम्बे क्यों? यह जो तपता है (सूर्य), यह इक्कीसवाला है। बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक और इक्कीसवाँ आदित्य। वह अश्वमेध है और प्रजापति भी। इस प्रकार यह प्रजापति को पूर्ण स्वस्थ करके उसमें २१ अग्निषोमीय पशुओं का आलभन करता है। इनके लिए कर्म समान है। यह पहले दिन का काम हुआ ॥११॥

सवनीयाः पशवः

अध्याय ५—ब्राह्मण १

दूसरे दिन प्रातःकाल गोतम के स्तोम पढ़े जाते हैं, जो चार-चार करके बढ़ते जाते हैं अर्थात् बहिष्पवमान में चार मंत्र होते हैं। आज्य में आठ-आठ, माध्यंदिन पवमान में बारह, पृष्ठ में सोलह, आर्भव पवमान में बीस, अग्निष्टोम साम में चौबीस ॥१॥

कुछ अग्निष्टोम साम में चार मंत्र करते हैं।

चतुःसाम कुर्वन्ति नाग्निष्टोमो नोक्थ्य इति वदन्तस्तद्यदि तथा कुर्युः सार्धꣳ स्तोत्रियꣳ शस्त्वा सार्धमनुरूपꣳ शꣳसेद्रथन्तरं पृष्ठꣳ राथन्तरꣳ शस्त्रमग्निष्टोमो यज्ञस्तेनेमं लोकमृध्नोति ॥२॥ एकविꣳशतिः सवनीयाः पशवः । सर्वऽआग्नेयास्तेषाꣳ समानं कर्मेत्यु हैकऽआहुर्द्वे त्वेवैतेऽएकादशिन्यावालभेत य एवैकादशिनेषु कामस्तस्य कामस्याप्त्यै ॥३॥ सꣳस्थितेऽग्निष्टोमे । परिहृतासु वसतीवरीष्वध्वर्युरन्नहोमान्जुहोति तेषामुक्तं ब्राह्मण प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहेति द्वादशभिरनुवाकैर्द्वादश मासाः संवत्सरः सर्वꣳ संवत्सरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥४॥ एकविꣳशं मध्यममहर्भवति । असौ वाऽआदित्य एकविꣳशः सोऽश्वमेधः स्वेनैवैनꣳ स्तोमेन स्वायां देवतायां प्रतिष्ठापयति तस्मादेकविꣳशम् ॥५॥ यद्वेवैकविꣳशम् । एकविꣳशो वै पुरुषो दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविꣳशस्तदेनेनैकविꣳशेनात्मनैतस्मिन्नेकविꣳशे प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तस्मादेकविꣳशम् ॥६॥ यद्वेवैकविꣳशम् । एकविꣳशो वै स्तोमानां प्रतिष्ठा बहु खलु वाऽएतदेतस्मिन्नहन्युच्चावचमिव कर्म क्रियते तद्यदेतदेतस्मिन्नहन्युच्चावचं बहु कर्म क्रियते तदेतस्मिन्नेकविꣳशे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितं क्रियाताऽइति तस्माद्वेवैतदेकविꣳशमहः ॥७॥ तस्य प्रातःसवनम् । अग्निं तं मन्ये यो वसुरिति होता पाङ्क्तमाज्यꣳ शस्त्वैकाहिकमुपसꣳशꣳसति बार्हतं च प्रउगं माधुच्छन्दसं च त्रिचश उभे सꣳशꣳसति यश्च बार्हते प्रउगे कामो य उ च माधुच्छन्दसे तयोरुभयोः कामयोराप्त्यै क्लृप्तं प्रातःसवनम् ॥८॥ अथातो माध्यन्दिनं सवनम् । अतिच्छन्दाः प्रतिपन्मरुत्वतीयस्य त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरमित्यतिष्ठा वाऽएषा छन्दसां यदतिच्छन्दा अतिष्ठा अश्वमेधो यज्ञानामश्वमेधस्यैवाप्त्यै सैषैव त्रिः शस्ता त्रिचः सम्पद्यते तेनो तं काममाप्नोति यस्त्रिचऽइदं वसो सुतमन्ध इत्यनुचर एष एव नित्य एकाहातान इत्था हि सोम इन्मदे वितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिष इति पङ्क्तीश्च

उनका कथन है कि यह न अग्निष्टोम है न उक्थ्य। यदि ऐसा करें तो (होता को चाहिए) कि स्तोत्रिय को साथ पढ़कर 'अनुरूप' को साथ पढ़ें। रथन्तर पृष्ठ, रथन्तरवाला शस्त्र और अग्निष्टोम यज्ञ, इससे इस लोक की प्राप्ति करता है ॥२॥

सवनीय पशु इक्कीस होते हैं। सब अग्नि के। कुछ कहते हैं कि उनका कर्म एक-सा ही है। परन्तु ग्यारह-ग्यारह के दो समूहों का आलभन करना चाहिए। 'ग्यारह' वालों में जो कामना पूरी हो सकती है, उसकी पूर्ति के लिए ॥३॥

अग्निष्टोम के समाप्त होने और वसतीवरी के घुमाने पर अध्वर्यु 'अन्नहोम' की आहुतियाँ देता है। इसका रहस्य बताया जा चुका है। 'प्राणाय स्वाहा', 'अपानाय स्वाहा' आदि बारह (यजु० २२।२३-२४) अनुवाकों से आहुतियाँ देता है। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर 'सब-कुछ' है। अश्वमेध 'सब-कुछ' है। सबकी उपलब्धि के लिए, सबकी प्राप्ति के लिए ॥४॥

मध्य का दिन 'एकविंश' है। यह आदित्य 'एकविंश' है। वह अश्वमेध है। इसको इसी के स्तोम से इसी के देवता में प्रतिष्ठित करता है, इसलिए यह 'एकविंश' है ॥५॥

एकविंश क्यों? पुरुष एकविंश (इक्कीस) है। दस हाथ की उँगलियाँ, दस पैर की, एक आत्मा। इस एकविंश आत्मा द्वारा इस एकविंश प्रतिष्ठा में उसको प्रतिष्ठित करता है। इसलिए 'एकविंश' होता है ॥६॥

इसलिए भी 'एकविंश' है कि स्तोमों की प्रतिष्ठा 'एकविंश' है। इस दिन जो उच्चावच्च (ऊँचा-नीचा) कर्म किया जाता है, वह 'बहु' (बहुत) है। वह सोचता है कि इस दिन जो 'उच्चावच' बहु कर्म किया जाता है, वह इसी एकविंश प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होगा। इसलिए यह 'एकविंश' दिन है ॥७॥

इसके प्रातःसवन के विषय में यह है कि—"अग्निं तं मन्ये यो वसुः" (ऋ० ५।६ पूरा सूक्त)······इत्यादि। होता इस पंक्ति छन्दवाले आज्य को पढ़कर एक दिन के आज्य सूक्त को (ऋ० ३।१३) पढ़ता है। बार्हत प्रउग और माधुच्छन्दस को तीन-तीन मंत्र करके साथ-साथ पढ़ता है। उस कामना की प्राप्ति के लिए जो बार्हत प्रउग माधुच्छन्दस से प्राप्त हो सकती है। प्रातः-सवन इस प्रकार ठीक हुआ ॥८॥

अब मध्य दिन का सवन लीजिए। "त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरम्" इत्यादि (ऋ० २।२२।१)—मारुतीय शस्त्र का यह पहला मन्त्र अतिच्छन्द है। छन्दों में अतिच्छन्द अतिष्ठ (ऊपर उठा हुआ) है और यज्ञों में अश्वमेध अतिष्ठ है, अश्वमेध की प्राप्ति के लिए। यह मन्त्र तीन बार पढ़ा जाता है, इसलिए त्रिच् या तीन मन्त्रों के बराबर है। इससे त्रिच् का ही फल मिल जाता है। "इदं वसो सुतमन्धः····" इत्यादि (ऋ० ८।१।१-३)—यह अनुचर त्रिच् है (अर्थात् उससे अगले तीन मंत्र हैं)। यह त्रिच् एकाह यज्ञ की नित्य जोड़नेवाली कड़ी है। "इत्था हि सोम इन्मदे···" (ऋ० १।८०), "अवितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिष···" (ऋ० ८।३६।१-७)—इन पंक्ति और

षट्पदाश्च शस्त्वैकाह्निके निविदं दधातीति मरुत्वतीयम् ॥९॥ अथातो निष्केव-
ल्यम् । महानाम्न्यः पृष्ठं भवन्ति सानुरूपाः सप्रगाथाः शꣳसति सर्वे वै कामा म-
हानाम्नीषु सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वेषां कामानामाप्त्याऽइन्द्रो मदाय वावृधे प्रेदं
ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथेति पङ्क्तीश्च षट्पदाश्च शस्त्वैकाह्निके निविदं दधाति क्लृप्तं मा-
ध्यन्दिनꣳ सवनम् ॥१०॥ अथातस्तृतीयसवनम् । अतिछन्दा एव प्रतिपद्वैश्वदेव-
स्याभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योरिति तस्या एतदेव ब्राह्मणं यत्पूर्वस्या अभि
त्वा देव सवितरित्यनुचरोऽभिवानभिभूत्यै रूपमुदु ष्य देवः सविता दमूना इति
सावित्रꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं दधाति मही द्यावापृथिवीऽइह ज्येष्ठेऽइति च-
तुर्ऋचं द्यावापृथिवीयꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं दधात्यृभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो
ऽअच्छेत्यार्भवꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं दधाति को नु वां मित्रावरुणावृतायन्निति
वैश्वदेवꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं दधातीति वैश्वदेवम् ॥११॥ अथात आग्निमारु-
तम् । मूर्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या इति वैश्वानरीयꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं द-
धात्या रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषस इति मारुतꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं दधातीममू
षु वोऽअतिथिमुषर्बुधमिति नवर्चं जातवेदसीयꣳ शस्त्वैकाह्निके निविदं दधाति
तद्यदैकाह्निकानि निविद्धानानि भवन्ति प्रतिष्ठा वै ज्योतिष्टोमः प्रतिष्ठायाऽअप्र-
च्युत्यै ॥१२॥ तस्यैते पशवो भवन्ति । अश्वस्तूपरो गोमृग इति पञ्चदश पर्यङ्ग्या-
स्तेषामुक्तं ब्राह्मणमथैतऽआरण्या वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलवि-
ङ्कान्वर्षाभ्यस्तित्तिरीनिति तेषाम्वेवोक्तम् ॥१३॥ अथैतानेकविꣳशतये । चातुर्मा-
स्यदेवताभ्य एकविꣳशतिमेकविꣳशतिं पशूनालभतऽएतावन्तो वै सर्वे देवा या-
वत्यश्चातुर्मास्यदेवताः सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वान्देवान्प्रीत्वा सर्वान्कामानाप्नवा-
नीति न तथा कुर्यात् ॥१४॥ सप्तदशैव पशून्मध्यमे यूपऽआलभेत । प्रजापतिः
सप्तदशः सर्वꣳ सप्तदशः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै षोडश-षोडशेतरेषु

षट्पद सूक्तों को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के सूक्त में 'निविद' डाल देता है। यह है मरुत्वतीय शस्त्र ॥९॥

'निष्केवल्य' शस्त्र को लीजिए। महानाम्नी पृष्ठ होते हैं। इनको वह अनुरूप और प्रगाथ के साथ पढ़ता है, सब कामनाओं की पूर्ति के लिए, क्योंकि 'महानाम्नी' और 'अश्वमेध' में सब कामनाएँ पूरी होती हैं। "इन्द्रो मदाय वावृधे···" (ऋ० १।८१।१-९), 'प्रेदं ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथ···" (ऋ० ८।३७।१-७)—इन पंक्ति और षट्पद सूक्तों को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के सूक्त में 'निविद' डाल देता है। इस प्रकार मध्यदिन का सवन समाप्त हुआ ॥१०॥

अब तीसरा सवन लीजिए। वैश्वदेव शस्त्र का पहला अतिच्छन्द मन्त्र यह है—"अभि त्यं देवँ सवितारमोण्योः" (यजु० ४।२५) इत्यादि। पहले अतिच्छन्दों का जो फल है वह इसका भी। "अभि त्वा देवता सविता···" इत्यादि (ऋ० १।२४।३-५)—यह त्रिच् अनुचर है। इसमें 'अभि' शब्द आता है, जो 'विजय' का चिह्न है। अभि भूति या विजय के लिए। "उदुष्य देवः सविता दमूना···" (ऋ० ६।७१।४-६)—इस सविता-सम्बन्धी त्रिच् को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के सूक्त में निविद डाल देता है। "मही द्यावापृथिवी इह ज्येष्ठे···" (ऋ० ४।५६।१-४)—इन चार 'द्यावापृथिवी' के मन्त्रों को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के सूक्त (ऋ० १।१५९) में निविद डाल देता है। "ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छ···" (ऋ० ४।३४)—इस आर्भव शस्त्र को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के सूक्त (ऋ० १।१११) में निविद डाल देता है। "को नु वां मित्रावरुणावृतायन्" (ऋ० ५।४१)—इस वैश्वदेव शस्त्र को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के सूक्त (ऋ० १।८९) में निविद डाल देता है। यह हुआ वैश्वदेव शस्त्र ॥११॥

अब अग्नि मारुत शस्त्र (सायं-सवन का अन्तिम शस्त्र लीजिए)—"मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या" (ऋ० ६।७)—इस वैश्वानर मन्त्र को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के मन्त्र (ऋ० ३।३) में निविद डाल देता है। "आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषस···" (ऋ० ५।५७)—इस मारुत मन्त्र को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के मन्त्र (ऋ० १।८७) में निविद डालता है। "इममूषु वोऽअतिथिमुषर्बुधम्" (ऋ० ६।१५।१-९)—इन नौ जात-मंत्रों को पढ़कर ऐकाहिक यज्ञ के मंत्र (ऋ० १।१४३) में निविद डाल नेता है। ऐकाहिक यज्ञ-मंत्रों में निविद क्यों डाले जाते हैं? इसलिए कि ज्योतिष्टोम प्रतिष्ठा है। दृढ़प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए ॥१२॥

उस दिन के ये पशु होते हैं—अश्व, तूपर (सींगरहित बकरा) और गोमृग। पन्द्रह परि-अंग होते हैं। इसका फल बताया जा चुका है। फिर ये वन के पशु—वसन्त के लिए तीन कपिंजल, ग्रीष्म के लिए कलविंक (गौरय्या), वर्षा के लिए तित्तिर। इनका भी फल बताया जा चुका है ॥१३॥

अब इक्कीस यूपों के लिए पशु लीजिए। चातुर्मास्य (ग्यारह) देवताओं में से हर एक के लिए इक्कीस-इक्कीस पशु। जितने चातुर्मास्य के देवता हैं, उतने सब देवता हैं। अश्वमेध में सब कामनाएँ हैं। 'सब देवों को प्रसन्न करके सब कामनाओं की प्राप्ति करूँगा' ऐसा सोचता है। परन्तु ऐसा न करे ॥१४॥

मध्य के यूप में सत्रह पशुओं का आलभन करे। प्रजापति सत्रहवाला है। सत्रह 'सब' है। अश्वमेध सब है। सबकी उपलब्धि के लिए, सबकी प्राप्ति के लिए। प्रत्येक दूसरे यूप के लिए

षोडशकलं वाऽइदꣳ सर्वꣳ सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै त्रयोदश-त्रयोदशारण्यानाकाशेष्वालभते त्रयोदश मासाः संवत्सरः सर्वꣳ संवत्सरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥१५॥ अथ पुरा बहिष्पवमानात् । अश्वं निक्तोदानयन्ति तेन पवमानाय सर्पन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणꣳ स्तुते बहिष्पवमानेऽश्वमास्तावमाक्रमयन्ति स यद्यव वा जिघ्रेद्धि वा वर्तेत समृद्धो मे यज्ञ इति ह विद्यात्तमुपाकृत्याध्वर्युराह होतरभिष्टुहीति तमेकादशभिर्होताभिष्टौति ॥१६॥ यदक्रन्दः प्रथमं जायमान इति । त्रिः प्रथमया त्रिरुत्तमया ताः पञ्चदश सम्पद्यन्ते पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्तात्पाप्मानमपहते तद्वै यजमानायैव वज्रः प्रदीयते योऽस्य स्तृत्यस्तꣳ स्तृतेवऽउप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वाप प्रागात्परमं यत्सधस्थमिति ॥१७॥ एतेऽउद्धृत्य । मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरित्येतत्सूक्तमध्रिगावावपति चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोरित्यु हैकऽएतां वङ्क्रीणां पुरस्ताद्दधति नेदनायतने प्रणवं दधामेत्यथो नेदेकवचनेन बहुवचनं व्यवायामेति न तथा कुर्यात्सार्धमेष सूक्तमावपेदुप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वाप प्रागात्परमं यत्सधस्थमिति ॥१८॥ ब्राह्मणम् ॥३ [५. १.] ॥ ॥

एतेऽउक्त्वा । यदध्रिगोः परिशिष्टं भवति तदाह वासोऽधिवासꣳ हिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्ति संज्ञप्तेषु पशुषु पत्न्यः पान्नेजनैरुदायन्ति चतस्रश्च जायाः कुमारी पञ्चमी चत्वारि च शतान्यनुचरीणाम् ॥१॥ निष्ठितेषु पान्नेजनेषु । महिषीमश्वायोपनिपादयन्त्यथैनावधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति निरायत्याश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय ॥२॥ तयोः शयानयोः । अश्वं यजमानोऽभिमेथत्युत्सक्थ्या अव गुदं धेहीति तं न कश्चन प्रत्यभिमेथति नेद्यजमानं प्रतिप्रतिः कश्चिदसदिति ॥३॥ अथाध्वर्युः

सोलह-सोलह, क्योंकि इस सब में सोलह कलाएँ होती हैं। अश्वमेध 'सब-कुछ' है, सबकी उपलब्धि या प्राप्ति के लिए। बीच के हर अवकाश के लिए तेरह जंगली पशुओं का आलभन करता है। संवत्सर में तेरह मास होते हैं। संवत्सर सब-कुछ है। अश्वमेध सब-कुछ है। सबकी उपलब्धि के लिए, सबकी प्राप्ति के लिए ॥१५॥

बहिष्पवमान के पाठ से पहले (अध्वर्यु) के सहयोगी) घोड़े को नहलाकर लाते हैं, और पवमान के लिए चलते हैं। उसका फल बताया जा चुका है। बहिष्पवमान के पाठ के उपरान्त घोड़े को पाठ के स्थान में लाते हैं। यदि वह छींक दे या लौट दे तो समझ ले कि यज्ञ सफल हो गया। उस अश्व को लाकर अध्वर्यु कहता है, 'होता ! स्तुति कर।' होता ग्यारह मन्त्रों (ऋ० १।१६३।१-११) से स्तुति करता है (ये ग्यारह मन्त्र आगे दिये जाते हैं) ॥१६॥

"यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः···" इत्यादि। पहले मन्त्र को तीन बार और अन्त के मन्त्र को तीन बार पढ़ता है। इस प्रकार १५ मन्त्र हो जाते हैं। पन्द्रह वज्र है। वज्र वीर्य है। इस वीर्य-रूपी वज्र से यजमान पहले पाप को दूर करता है। वस्तुतः यजमान को यह वज्र दिया है कि जिसको मारना हो उसे मारे। "उप प्रागच्छसनं वाज्यर्वा······उप प्रागात् परमं यत्सधस्थम्···" (ऋ० १।१६३।१२-१३) ॥१७॥

इन दो मन्त्रों को छोड़कर 'अध्रिगु' में यह मन्त्र रख देता है—"मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुः···" (ऋ० १।१६२)। कोई-कोई तो इस मन्त्र—"चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धो···" (ऋ० १।१६२।१८) को 'वङ्क्रिः' के पहले रख देते हैं कि कहीं प्रणव (ओ३म्) को अनुचित स्थान पर न रख देवें, या एकवचन से बहुवचन का आशय लेवें। ऐसा न करे। समस्त सूक्त मिला देवे—"उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वोप प्रागात् परमं यत्सधस्थम्" अर्थात् घोड़ा वध के स्थान में गया अर्थात् परम धाम को गया ॥१८॥

संवादः

अध्याय ५—ब्राह्मण २

इतने मंत्रों को पढ़कर अध्रिगु का जो परिशिष्ट भाग है, उसको पढ़ता है। घोड़े के लिए 'कपड़ा, ऊपर की चद्दर, और सोने' को बिछाता है। इसपर वे घोड़े का वध करते हैं। जब पशुओं का वध हो चुका तो पत्नियाँ पैर धोने के लिए पानी लाती हैं। चार पत्नियाँ, पाँचवीं एक कुमारी, चार सौ अनुचरियाँ ॥१॥

पैर धोने के पानी के तैयार होने पर महिषी (पटरानी) को घोड़े के पास सुलाते हैं, और चद्दर से ढक देते हैं। 'स्वर्गलोक में तुम अपने को ढक लो' ऐसा कहकर। जहाँ पशु का वध करते हैं वही स्वर्गलोक है। अश्व के शिश्न को महिषी उपस्थ में रखती है और मिथुन की पूर्ति के लिए कहती है—"वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु" (यजु० २३।२०)(अर्थात् वीर्य सींचनेवाला वीर्य धारण करावे) ॥२॥

जब वे दोनों लेटे हैं तो यजमान घोड़े को सम्बोधित करता है—"उत्सक्थ्या ऽ अव गुदं धेहि" (यजु० २३।२१)। इसका उत्तर नहीं देता, इसलिए कि कोई यजमान का प्रति-प्रति (मुकाबिले का, rival) न हो जाय ॥३॥

कुमारीमभिमेथति । कुमारि हये-हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति तं कुमारी प्रत्यभिमेथत्यध्वर्यो हये-हयेऽध्वर्यो यकोऽसकौ शकुन्तक इति ॥४॥ अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति । महिषि हये-हये महिषि माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहत इति तस्यै शतꣳ राजपुत्र्योऽनुचर्यो भवन्ति ता ब्रह्माणं प्रत्यभिमेथन्ति ब्रह्मन्हये-हये ब्रह्मन्माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडत इति ॥५॥ अथोद्गाता वावातामभिमेथति । वावाते हये-हये वावातऽऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति तस्यै शतꣳ राजन्या अनुचर्यो भवन्ति ता उद्गातारं प्रत्यभिमेथन्त्युद्गातर्हये-हयऽउद्गातरूर्ध्वमेनमुच्छ्रयतादिति ॥६॥ अथ होता परिवृक्तामभिमेथति । परिवृक्ते हये-हये परिवृक्ते यदस्या अꣳहुभेद्या इति तस्यै शतꣳ सूतग्रामण्यां दुहितरोऽनुचर्यो भवन्ति ता होतारं प्रत्यभिमेथन्ति होतर्हये-हये होतर्यद्देवासो ललामगुमिति ॥७॥ अथ क्षत्ता पालागलीमभिमेथति । पालागलि हये-हये पालागलि यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यतऽइति तस्यै शतं क्षात्त्रसंग्रहीतॄणां दुहितरोऽनुचर्यो भवन्ति ताः क्षत्तारं प्रत्यभिमेथन्ति क्षत्तर्हये-हये क्षत्तर्यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यतऽइति ॥८॥ सर्वाप्तिर्वाऽएषा वाचः । यदभिमेथिकाः सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान्कामानाप्नवामेत्युत्थापयन्ति महिषीं ततस्ता यथेतं प्रतिपरायन्त्यथेतरे सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्दधिक्राव्णोऽअकारिषमिति ॥९॥ अप वाऽएतेभ्य आयुर्देवताः क्रामन्ति । ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति वाचमेवैतत्पुनते देवयज्यायै देवतानामनपक्रमाय या च गोमृगे वपा भवति या चाजे तूपरे तेऽअश्वे प्रत्यवधायाहरन्ति नाश्वस्य वपास्तीति वदन्तो न तथा कुर्यादश्वस्यैव प्रत्यक्षं मेद आहरेत्प्रज्ञाता इतराः ॥१०॥ शृतासु वपासु । स्वाहाकृतिभिश्चरित्वा प्रत्यञ्चः प्रतिपरेत्य सदसि ब्रह्मोद्यं वदन्ति पूर्वया द्वारा प्रपद्य यथाधिष्ण्यं व्युपविशन्ति ॥११॥ स होताध्वर्युं पृच्छति । कः स्विदेकाकी चरतीति तं प्रत्याह

अब अध्वर्यु कुमारी से कहता है—'हे-हे कुमारी ! वह छोटी चिड़िया' (यजु० २३।२२)। कुमारी उसका उत्तर देती है—'हे-हे अध्वर्यु ! वह छोटा चिड़ा'' (यजु० २३।२३) ॥४॥

अब ब्रह्मा महिषी को कहता है—''हे-हे महिषी ! माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः'' (यजु० २३।२४)। सौ राजपुत्रियाँ उसकी अनुचरी होती हैं। वे ब्रह्मा को उत्तर देती हैं—''हे-हे ब्रह्मा ! माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य क्रीडतः''(यजु० २३।२५) ॥५॥

अब उद्गाता वावाता से कहता है—''हे-हे वावात ! ऊर्ध्वमिनामुच्छ्रापय'' (यजु० २३।२६)। उसकी जो सौ क्षत्रिय अनुचरियाँ होती हैं वे उत्तर देती हैं कि ''हे उद्गाता ! ऊर्ध्वा-मेननुच्छ्र्यतात्'' (यजु० २३।२७) ॥६॥

अब होता परिवृक्ता (रानी) से कहता है—''हे परिवृक्ता ! यदस्या ऽ अँहुभेद्या…'' (यजु० २३।२८)। नौकरों की सौ लड़कियाँ उसकी अनुचरी होती हैं। वे होता को उत्तर देती हैं—''यद् देवासो ललामगुम्'' (यजु० २३।२९) ॥७॥

अब क्षत्ता पालागली रानी से कहता है—''हे पालागली ! यद् हरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते'' (यजु० २३।३०)। सूत आदि की सौ लड़कियाँ उसकी सहचरियाँ होती हैं। वे उत्तर देती हैं—''हे क्षत्ता ! यद् हरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते'' (यजु० २३।३१) ॥८॥

ये अभिमेथिक वाणियाँ सब साधनों को प्राप्त करती हैं। अश्वमेध में सब कामनाओं की प्राप्ति होती है। 'सब प्रकार की वाणी से सब कामनाओं को प्राप्त करें' ऐसा सोचकर महिषी को उठाते हैं। फिर वे स्त्रियाँ जैसी आई वैसी लौट जाती हैं। अन्य लोग 'सुरभि' वाले मन्त्र को बोलते हैं—''दधिक्राव्णो ऽ अकारिषम्…'' (ऋ० ४।३९।६) ॥९॥

जो यज्ञ में अपवित्र भाषा बोलते हैं उनसे आयु और देवता चले जाते हैं। उनकी वाणी को ही वे पवित्र करते हैं, जिससे देवता देवयज्ञ में भागें नहीं। गोमृग से जो वपा होती है और तूपर बकरे में जो वपा होती है उसको कुछ लोग घोड़े पर रखते हैं और फिर उठा लेते हैं, यह कह-कर कि 'अश्व में तो वपा होती नहीं।' परन्तु ऐसा न करे। घोड़े के मेद को ले लेवे। दूसरों के मेद साधारण होते हैं ॥१०॥

जब वपायें पक जायँ और 'स्वाहा' से उनकी आहुतियाँ दे दी जायँ तो यज्ञशाला के पीछे जाकर वे 'सदस' में ब्रह्मोदय (शास्त्रार्थ) करते हैं। आगे के द्वार से आकर अपनी-अपनी धिष्ण्या में बैठ जाते हैं ॥११॥

होता अध्वर्यु से पूछता है—''कः स्विदेकाकी चरति ?'' (यजु २३।४५)।वह उत्तर देती

—३

सूर्य एकाकी चरतीति ॥१२॥ अथाध्वर्युर्होतारं पृच्छति । किꣳ स्वित्सूर्यसमं ज्योतिरिति तं प्रत्याह ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिरिति ॥१३॥ अथ ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति । पृच्छामि त्वा चितये देवसखेति तं प्रत्याहापि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मीति ॥१४॥ अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति । केष्वन्तः पुरुष आविवेशेति तं प्रत्याह पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेशेति ॥१५॥ एतस्यामुक्तायामुत्थाय । सदसोऽधि प्राञ्चो यजमानमभ्यायन्त्यग्रेण हविर्धानेऽआसीनमेत्य यथायतनं पर्युपविशन्ति ॥१६॥ स होताध्वर्युं पृच्छति । का स्विदासीत्पूर्वचित्तिरिति तं प्रत्याह द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरिति ॥१७॥ अथाध्वर्युर्होतारं पृच्छति । क ईमरे पिशंगिलेति तं प्रत्याहाजारे पिशंगिलेति ॥१८॥ अथ ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति । कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणीति तं प्रत्याह षडस्य विष्ठाः शतमक्षराणीति ॥१९॥ अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति । कोऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिमिति तं प्रत्याह वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिमिति ॥२०॥ अथाध्वर्युं यजमानः पृच्छति । पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्या इति तं प्रत्याहेयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्या इति ॥२१॥ सर्वाप्तिर्वाऽएषा वाचः । यद्ब्रह्मोद्यꣳ सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान्कामानाप्नवामेति ॥२२॥ उदिते ब्रह्मोद्ये । प्रपद्याध्वर्युर्हिरण्मयेन पात्रेण प्राजापत्यं महिमानं ग्रहं गृह्णाति तस्य पुरोरुग्घिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रऽइत्यथास्य पुरोऽनुवाक्या सुभूः स्वयम्भूः प्रथम इति होता यक्षत्प्रजापतिमिति प्रैषः प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति होता यजति वषट्कृते जुहोति यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूवेति नानुवषट्करोति सर्वहुतꣳ हि जुहोति ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५. २.] ॥ ॥

अथातो वपानाꣳ होमः । नानेव चरेयुरा वैश्वदेवस्य वपायै वैश्वदवस्य वपायाꣳ हुतायां तदन्वितरा जुहुयुरिति ह स्माह सत्यकामो जाबालो विश्वे वै सर्वे देवास्तदेनान्यथादेवतं प्रीणातीति ॥१॥ ऐन्द्राग्नस्य वपायाꣳ हुतायाम् ।

है—"सूर्य ऽ एकाकी चरति" (यजु० २३।४६) ॥१२॥

अब अध्वर्यु होता से पूछता है—"किँ स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः ?" (यजु० २३।४७)। वह उत्तर देता है—"ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः" (यजु० २३।४८) ॥१३॥

अब ब्रह्मा उद्गाता से पूछता है—"पृच्छामि त्वा चितये देवसखे" (यजु २३।४९)। वह उत्तर देता है कि "अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि" (यजु० २३।५०) ॥१४॥

अब उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है—"केष्वन्तः पुरुष ऽ आ विवेश" (यजु० २३।५१)। वह उत्तर देता है—"पंचस्वन्तः पुरुष ऽ आ विवेश" (यजु० २३।५२) ॥१५॥

इस मन्त्र को पढ़कर वे उठते हैं और सदस से पूर्व की ओर यजमान के पास जाते हैं। जब वह हविर्धान के पास बैठा होता है तो उसके पास आकर अपनी-अपनी जगहों पर बैठ जाते हैं ॥१६॥

तब होता अध्वर्यु से पूछता है—"का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः ?" (यजु० २३।५३)। वह उत्तर देता है—"द्यौरासीत्पूर्वचित्तिः" (यजु० २३।५४) ॥१७॥

अब अध्वर्यु होता से पूछता है—"का ऽ ईमिरे पिशंगिला ?"(यजु० २३।५५)। वह उत्तर देता है—"अजारे पिशंगिला" (यजु० २३।५६) ॥१८॥

अब ब्रह्मा उद्गाता से पूछता है—"कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि ?" (यजु० २३।५७)। वह उत्तर देता है—"षडस्य विष्ठाः शतमक्षराणि" (यजु० २३।५८) ॥१९॥

अब उद्गाता ब्रह्मा को पूछता है—"को ऽ अस्य वेद भुवनस्य नाभिम् ?" (यजु० २३।५९)—वह उत्तर देता है—"वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्" (यजु० २३।६०) ॥२०॥

अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है—"पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः"(यजु० २३।६१)। वह उत्तर देता है—"इयं वेदिः परो ऽ अन्तः पृथिव्याः" (यजु० २३।६२) ॥२१॥

यह वाणी की सर्वाप्ति (सबकी प्राप्ति) है। 'ब्रह्मोद्य' सब कामनाओं की पूर्ति करता है। अश्वमेध में सब वाणियों से सब कामनाओं की पूर्ति होती है ॥२२॥

जब ब्रह्मोद्य हो चुके तो अध्वर्यु (हविर्धान में) आता है, और स्वर्ण के पात्र में प्राजापत्य महिमान ग्रह को निकालता है। इसका 'पुरोरुग्' यह मन्त्र है—"हिरण्यगर्भः समवर्तत···"(यजु० २३।१, ऋ० १०।१२१।१)। उसके पुरोऽनुवाक्य ये हैं—"सुभूः स्वयंभूः प्रथमः"(यजु० २३।६३)। प्रैष यह है—"होता यक्षत् प्रजापतिम्" (यजु० २३।६४)। होता कहता है—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो" (यजु० २३।६५)। वषट्कार होने पर अध्वर्यु इस मन्त्र को आहुति देता है—"यस्ते ऽहन्त्संवत्सरे महिमा संबभूव।" वषट्कार नहीं कहता, क्योंकि सोमग्रह की पूर्ण आहुति दे देता है ॥२३॥

वपाहोमः

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

अब वपाओं के होम (का वर्णन करते हैं)—'वैश्वदेव की वपा को आहुति होने तक अलग-अलग आहुतियाँ देवें।' यह सत्यकाम जाबाल का कथन है। वैश्वदेब सब देवता हैं। इन देवों को एक-एक देवता करके प्रसन्न करता है ॥१॥

'इन्द्र-अग्नि की वपा की आहुति होने के उपरान्त अन्य देवताओं की आहुतियाँ देवें।'

तदन्वितरा जुहुयुरिति ह स्माहतुः सौमापौ मानुतन्तव्याविन्द्राग्नी वै सर्वे देवा-
स्तद्देवेनान्यथादेवतं प्रीणातीति ॥२॥ कायस्य वपायाꣳ हुतायाम् । तदन्वितरा
जुहुयुरिति ह स्माह शैलालिः प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिमु वाऽअनु सर्वे देवास्त-
द्देवेनान्यथादेवतं प्रीणातीति ॥३॥ एकविꣳशतिं चातुर्मास्यदेवता अनुद्रुत्य ।
एकविꣳशतिधा कृत्वा प्रचरेयुरिति ह स्माह भाल्लबेय एतावन्तो वै सर्वे देवा
यावत्यश्चातुर्मास्यदेवतास्तद्देवेनान्यथादेवतं प्रीणातीति ॥४॥ नानेव चरेयुः । इ-
तीन्द्रोतः शौनकः किमुत त्वरेरंस्तद्देवेनान्यथादेवतं प्रीणातीत्येतद्ध तेषां वचो
ऽन्या त्वेवात स्थितिः ॥५॥ अथ होवाच याज्ञवल्क्यः । सकृदेव प्राजापत्याभिः
प्रचरेयुः सकृद्देवदेवत्याभिस्तद्देवेनान्यथादेवतं प्रीणात्यञ्जसा यज्ञस्य सꣳस्थामुपैति
न ह्वलतीति ॥६॥ हुतासु वपासु । प्रपद्याध्वर्यू रजतेन पात्रेण प्राजापत्यं महि-
मानमुत्तरं ग्रहं गृह्णाति तस्य पुरोरुग्यः प्राणतो निमिषतो महित्वेति विपर्यस्ते
याज्यानुवाक्येऽअयातयामतायाऽएष एव प्रैषो वषट्कृते जुहोति यस्ते रात्रौ सं-
वत्सरे महिमा सम्बभूवेति नानुवषट्करोति तस्योक्तं ब्राह्मणम् ॥७॥ नान्येषां
पशूनां तेदन्या अवद्यन्ति । अवद्यन्त्यश्वस्य दक्षिणतोऽन्येषां पशूनामवद्यन्त्युत्तर-
तोऽश्वस्य प्लक्षशाखास्वन्येषां पशूनामवद्यन्ति वेतसशाखास्वश्वस्य ॥८॥ तद्ध हो-
वाच सात्ययज्ञिः । इतरथैव कुर्युः पथ एव नापोदित्यमिति पूर्वा त्वेव स्थितिरु-
क्थ्यो यज्ञस्तेनान्तरिक्षलोकमृध्नोति सर्वस्तोमोऽतिरात्र उत्तममहर्भवति सर्वं वै
सर्वस्तोमोऽतिरात्रः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥९॥ तस्य त्रिवृद्बहि-
ष्पवमानम् । पञ्चदशान्याज्यानि सप्तदशो माध्यन्दिनः पवमान एकविꣳशानि पृ-
ष्ठानि त्रिणवस्तृतीयः पवमानस्त्रयस्त्रिꣳशमग्निष्टोमसामैकविꣳशान्युक्थ्यान्येकविꣳशः
षोडशी पञ्चदशी रात्रिस्त्रिवृत्संधिर्यद्द्वितीयस्याह्नः पृष्ठ्यस्य षडहस्य तदहस्तमतिरात्रो
यज्ञस्तेनामुं लोकमृध्नोति ॥१०॥ एकविꣳशतिः सवनीयाः पशवः । सर्वेऽआग्ने-

यह कथन है दोनों सोमाप मानुतन्तव्यों का, क्योंकि इन्द्र-अग्नि में सब देवता आ जाते हैं। इनको एक-एक देवता करके प्रसन्न करता है ॥२॥

शैलालि का कहना है कि 'काय' की वपा की आहुति हो जाने के पश्चात् दूसरे देवों की आहुतियाँ देवें। क्योंकि 'क' प्रजापति है, प्रजापति के पीछे सब देव हैं, इस प्रकार इनको एक-एक देवता करके प्रसन्न करता है ॥३॥

भाल्लवेय का कहना है कि चातुर्मास्य के २१ (इक्कीस) देवताओं के लिए आहुतियाँ देकर वपा के इक्कीस भाग करें, क्योंकि जितने चातुर्मास्य देवता हैं उतने ही सब देव हैं। इस प्रकार वह एक-एक देवता करके उनको प्रसन्न करता है ॥४॥

इन्द्रोत शौनक का कहना है कि अलग-अलग आहुतियाँ देवें, जल्दी क्यों करें? इस प्रकार एक-एक करके देवताओं को प्रसन्न करता है। यह है इनकी राय, परन्तु प्रजा तो पृथक् ही है ॥५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्रजापति के पशुओं की वपाओं की आहुतियाँ साथ-साथ देनी चाहिएँ, और जो पशु एक-एक देवता के हैं, उनकी वपा की आहुति साथ-साथ। इस प्रकार यह एक-एक करके देवताओं को प्रसन्न करता है। यज्ञ की समाप्ति के लिए सीधा प्रसन्न करता है और कोई भूल नहीं करता ॥६॥

वपाओं की आहुतियाँ हो जाने के पश्चात् अध्वर्यु, हविर्धान में जाता है और चाँदी के पात्र में प्रजापति का दूसरा महिमान ग्रह निकालता है। उसका पुरोरुग् मन्त्र यह है—"यः प्राणतो निमिषतो महित्वा" (यजु० २३।३)। याज्य और अनुवाक्य का विपर्यय हो जाता है अर्थात् याज्य के स्थान में अनुवाक्य और अनुवाक्य के स्थान में याज्य। पूर्ण शक्ति की प्राप्ति के लिए। प्रैष मन्त्र पहला ही होता है। 'वषट्कार' से आहुति देता है इस मन्त्र से "यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव" (यजु० २३।४)। वषट् को दुहराता नहीं। इसका फल बताया जा चुका है ॥७॥

अन्य पशुओं के रक्त की आहुतियों के भाग नहीं करते, घोड़े के करते हैं। दक्षिण की ओर अन्य पशुओं के और उत्तर की ओर घोड़े के। अन्य पशुओं के प्लक्ष शाखाओं पर, घोड़े के वेतस (नरकुल) शाखाओं पर ॥८॥

इसपर सात्ययज्ञि कहता है कि 'चाहे किसी प्रकार से करें, सत्यपथ को न त्यागें।' परन्तु पहली प्रथा प्रचलित है। (दूसरे दिन का) यज्ञ उक्थ्य है। इससे अन्तरिक्षलोक की समृद्धि करता है। पिछला दिन सर्वस्तोम अतिरात्र होता है। सबकी उपलब्धि के लिए। क्योंकि सर्वस्तोम अतिरात्र सब-कुछ है ॥९॥

इसका बहिष्पवमान त्रिवृत् (अर्थात् नौ मन्त्रों का), आज्य-स्तोत्र पन्द्रह मन्त्रों के, मध्य दिन के पवमान सत्रह मन्त्रों के, पृष्ठ इक्कीस मन्त्रों के, तृतीय पवमान त्रिणव (२७ मन्त्रों का), अग्निष्टोम साम तेंतीस का, उक्थ इक्कीस का, षोडशी इक्कीस की, रात्रि पन्द्रह की, सन्धि त्रिवृत् (नौ की)। पृष्ठ्य षडह को दूसरे दिन का जो शस्त्र है वह अतिरात्र यज्ञ में प्रयुक्त होता है। इससे द्यौलोक को प्राप्त होता है ॥१०॥

'सवनीय पशु इक्कीस होते हैं। वे सब अग्नि देवता के हैं और उनके कर्म समान हैं।'

यास्तेषाꣳ समानं कर्मेत्यु हैक आहुश्चतुर्विꣳशतिं त्वेवैतान्गव्यानालभेत द्वादशभ्यो देवताभ्यो द्वादश मासाः संवत्सरः सर्वꣳ संवत्सरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥११॥ ॥ शतम् ६७०० ॥ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ५ [५. ३.] ॥ ॥

एतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः । जनमेजयं पारिक्षितं याजयां चकार तेनेष्ट्वा सर्वां पापकृत्याꣳ सर्वां ब्रह्महत्यामपजघान सर्वाꣳ ह वै पापकृत्याꣳ सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते ॥१॥ तदेतद्गाथयाभिगीतम् । आसन्दीवति धान्यादꣳ रुक्मिणꣳ हरितस्रजम् अबध्नादश्वꣳ सारंगं देवेभ्यो जनमेजय इति ॥२॥ एतेऽएव पूर्वेऽअहनी । ज्योतिरतिरात्रस्तेन भीमसेनमेतेऽएव पूर्वेऽअहनी गौरतिरात्रस्तेनोग्रसेनमेतेऽएव पूर्वेऽअहनीऽआयुरतिरात्रस्तेन श्रुतसेनमित्येते पारिक्षितीयास्तदेतद्गाथयाभिगीतं पारिक्षिता यजमाना अश्वमेधैः परोऽवरम् अजहुः कर्म पापकं पुण्याः पुण्येन कर्मणेति ॥३॥ एतेऽएव पूर्वेऽअहनी । अभिजिदतिरात्रस्तेन ह पर आट्णार ईजे कौसल्यो राजा तदेतद्गाथयाभिगीतमट्णारस्य परः पुत्रोऽश्वं मेध्यमबन्धयत् हैरण्यनाभः कौसल्यो दिशः पूर्णा अमꣳहतेति ॥४॥ एतेऽएव पूर्वेऽअहनी । विश्वजिदतिरात्रस्तेन ह पुरुकुत्सो दौर्गहेणेजऽऐक्ष्वाको राजा तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तमस्माकमत्र पितरस्तऽआसन्त्सप्तऽऋषयो दौर्गहे बध्यमानऽइति ॥५॥ एतेऽएव पूर्वेऽअहनी । महाव्रतमतिरात्रस्तेन ह मरुत्त आविक्षित ईजऽआयोगवो राजा तस्य ह ततो मरुतः परिवेष्टारोऽग्निः क्षत्ता विश्वे देवाः सभासदो बभूवुस्तदेतद्गाथयाभिगीतं मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन्गृहे आविक्षितस्याग्निः क्षत्ता विश्वे देवाः सभासद इति मरुतो ह वै तस्य परिवेष्टारोऽग्निः क्षत्ता विश्वे देवाः सभासदो भवन्ति योऽश्वमेधेन यजते ॥६॥ एतेऽएव पूर्वेऽअहनी । अप्तोर्यामोऽतिरात्रस्तेन हैतेन क्रैव्य ईजे पाञ्चालो राजा क्रिवय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते तदेतद्गाथया-

ऐसा कुछ का मत है, परन्तु बारह देवताओं के लिए चौबीस गौ के सम्बन्धी पशुओं का आलभन होना चाहिए। संवत्सर में बारह मास होते हैं। संवत्सर सब-कुछ है। अश्वमेध 'सब-कुछ' है। यह सब है 'सब-कुछ' की उपलब्धि तथा प्राप्ति के लिए ।।११।।

प्रत्यृतु पश्वालम्भः

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

इन्द्रोत दैवाप शौनक ने जनमेजय पारिक्षित के लिए यह यज्ञ किया था। उसको करके उसने सब पापों तथा ब्रह्महत्याओं को दूर कर दिया। जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह सब पापों तथा ब्रह्महत्या को दूर कर देता है ।।१।।

गाथा ने यही गाया है कि आसन्दीवत् में जनमेजय ने देवताओं के लिए धान्य खानेवाला, स्वर्ण आभूषणवाला, हरी मालाओंवाला, चितकबरा घोड़ा बाँधा था ।।२।।

पहले दो दिन के यज्ञ होते हैं और ज्योति अतिरात्र। इससे भीमसेन के लिए यज्ञ किया था। पहले दो दिन के वही यज्ञ और गो अतिरात्र। इससे उग्रसेन के लिए यज्ञ किया था। वही दो दिन के यज्ञ और आयुष अतिरात्र। इससे श्रुतसेन के लिए यज्ञ किया था। ये पारिक्षितीय हैं। इनके विषय में गाथा गाती है कि पारिक्षित यजमानों ने अश्वमेध यज्ञों से एक-दूसरे के पीछे पुण्यकर्मों द्वारा पापकर्मों को हटा दिया ।।३।।

पहले दो दिन के वही यज्ञ और अभिजित् अतिरात्र। इनसे कौसल्य राजा पर अह्लार ने अश्वमेध किया था। गाथा में इसका वर्णन है कि अह्लार के पुत्र 'पर' हैरण्यनाभ कौसल्य ने यज्ञ के घोड़े को बँधवाया था और पूर्ण दिशाओं को बढ़ाया था ।।४।।

इन्हीं पहले दो दिन के यज्ञों और बिश्वजित् अतिरात्र से पुरुकुत्स ऐक्ष्वाक ने दौर्ग्रह अर्थात् अश्वमेध यज्ञ किया था। इसीलिए ऋग्वेद में है—।।५।।

"अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्तऋषयो दौर्ग्रहे बध्यमाने" (ऋ० ४/४२/८)—यही हैं पहले दो दिन के यज्ञ तथा महाव्रत अतिरात्र। इससे 'आयोगव राजा मरुत्त आविक्षित' ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इससे मरुत् इसके संरक्षक, अग्नि क्षत्ता, विश्वेदेवा सभासद् हो गये। गाथा में यही कहा है—"मरुत्त आविक्षित के घर में मरुत् संरक्षक हो गये, अग्नि क्षत्ता, और विश्वेदेवा सभासद्।' जो अश्वमेध यज्ञ करता है, उसके अवश्य ही मरुत् संरक्षक हो जाते हैं, अग्नि क्षत्ता और विश्वेदेव सभासद् ।।६।।

यही हैं पहले दो दिन के यज्ञ और आप्तोर्याम अतिरात्र। इससे पंचाल के देश के राजा क्रैव्य ने यज्ञ किया था। पंचाल का पहला नाम क्रिवि था। इसीलिए गाथा में लिखा है कि 'परि-

भिगीतम् अश्वं मेध्यमालभत क्रिवीणामतिपूरुषः पाञ्चालः परिवक्रायाꣳ सहस्रशतदक्षिणमिति ॥७॥ अथ द्वितीयया । सहस्रमासन्नयुता शता च पञ्चविꣳशतिः दिक्षो-दिक्षः पञ्चालानां ब्राह्मणा या विभेजिरऽइति ॥८॥ त्रिवृदग्निष्टोमः । पञ्चदश उक्थ्यः सप्तदशं तृतीयमहः सोक्थकमेकविꣳशः षोडशी पञ्चदशी रात्रिस्त्रिवृत्संधिरित्येषोऽनुष्टुप्सम्पन्नस्तेन ह्येतेन ध्वसा द्वैतवन ईजे मात्स्यो राजा यत्रैतद्द्वैतवनꣳ सरस्तदेतद्गाथयाभिगीतं चतुर्दश द्वैतवनो राजा संग्रामजिद्धयान् इन्द्राय वृत्रघ्नेऽबध्नात्तस्माद्द्वैतवनꣳ सर इति ॥९॥ चतुर्त्रिꣳशाः पवमानाः । त्रिवृदभ्यावर्तं चतुश्चत्वारिꣳशाः पवमाना एकविꣳशमभ्यावर्तमष्टाचत्वारिꣳशाः पवमानास्त्रयस्त्रिꣳशमभ्यावर्तमाग्निष्टोमसामाद्द्वात्रिꣳशान्युक्थान्येकविꣳशः षोडशी पञ्चदशी रात्रिस्त्रिवृत्संधिरिति ॥१०॥ एतद्विष्णोः क्रान्तम् । तेन ह्येतेन भरतो दौःषन्तिरीजे तेनेष्ट्वेमां व्यष्टिं व्यानशे येयं भरतानां तदेतद्गाथयाभिगीतमष्टासप्ततिं भरतो दौःषन्तिर्यमुनामनु गङ्गायां वृत्रघ्नेऽबध्नात्पञ्चपञ्चाशतꣳ हयानिति ॥११॥ अथ द्वितीयया । त्रयस्त्रिꣳशꣳ शतꣳ राजाश्वान्बद्ध्वाय मेध्यान् सौद्युम्निरत्यष्ठादन्यानमायान्मायवत्तर इति ॥१२॥ अथ तृतीयया । शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे परःसहस्रानिन्द्रायाश्वान्मेध्यान्य आहरद्विजित्य पृथिवीꣳ सर्वामिति ॥१३॥ अथ चतुर्थ्या । महदद्य भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः । दिवं मर्त्य-इव बाहुभ्यां नोदापुः पञ्च मानवा इति ॥१४॥ एकविꣳशस्तोमेन । ऋषभो याज्ञतुर ईजे श्विक्नानाꣳ राजा तदेतद्गाथयाभिगीतं याज्ञतुरे यजमाने ब्राह्मणा ऋषभे जनाः अश्वमेधे धनं लब्ध्वा विभजन्ते स्म दक्षिणा इति ॥१५॥ त्रयस्त्रिꣳशस्तोमेन । शोणः सात्रासाह ईजे पाञ्चालो राजा तदेतद्गाथयाभिगीतꣳ सात्रासहे यजमानेऽश्वमेधेन तौर्वशाः उदीरते त्रयस्त्रिꣳशाः षट् सहस्राणि वर्मिणामिति ॥१६॥ अथ द्वितीयया । षट्षट् षड्ढा सहस्राणि यज्ञे कोकपितुस्तव उदीरते

वक्रा नगरी में क्रिवियों के राजा पांचाल ने यज्ञ के लिए एक घोड़ा बाँधा और एक लाख गायें दक्षिणा में दीं' ॥७॥

दूसरी गाथा भी है कि 'पांचाल देश के ब्राह्मणों ने भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर सहस्र-युत और पच्चीस सौ गायों को आपस में बाँटा था' ॥८॥

अग्निष्टोम त्रिवृत् होता है, उक्थ्य पन्द्रह, तीसरे दिन का उक्थ्य स्तोत्र सत्रह, षोडशी इक्कीस, रात्रिस्तोत्र पन्द्रह, सन्धि त्रिवृत्—यह अनुष्टुप्युक्त यज्ञ है। इससे मत्स्य देश के राजा ध्वसा द्वैतवन ने यज्ञ किया था जहाँ 'द्वैतवन' नाम की झील है। इसकी भी गाथा है—युद्ध में जीतनेवाले द्वैतवन राजा ने चौदह घोड़ों को वृत्रघ्न इन्द्र के लिए (अश्वमेध यज्ञ में) बाँधा था। उसीसे द्वैतवन नाम की झील (प्रसिद्ध है) ॥९॥

चतुर्विंश स्तोमों में (तीन) पवमानस्तोत्र त्रिवृत् में दुहराए हुए; चवालीस मन्त्रों के पवमान एकविंश में दुहराए हुए, अड़तालीस मन्त्रों के पवमान त्रयस्त्रिंश (अर्थात् ३३) में दुहराए हुए अग्निष्टोम सामतक, द्वात्रिंश (या ३२) में साम, उक्थ, एकविंश में षोडशी, पंचदह में रात्रि-स्तोत्र, त्रिवृत् में सन्धि ॥१०॥

यह है विष्णु का क्रान्त (अर्थात् बड़े-बड़े डग रखकर चलना)। इससे भरत दौष्यन्ति ने यज्ञ किया था और उस सब सम्पत्ति को पाया, जो इस समय भरतों को प्राप्त है। गाथा में इसी का वर्णन है—'भरत दौष्यन्ति ने वृत्रघ्न (इन्द्र) के लिए ७८ घोड़े यमुना पर और ५५ गंगा पर (अश्वमेध के लिए) बाँधे थे ॥११॥

एक और गाथा है कि मायावान् सौद्युम्नि राजा ने १३३ घोड़े अश्वमेध के लिए बाँधकर मायारहित-राजाओं पर आधिपत्य कर लिया ॥१२॥

तीसरी गाथा है कि नाडपित् में अप्सरा शकुन्तला ने भरत को जना, जिसने सब पृथिवी को जीतकर यज्ञ के योग्य एक सहस्र घोड़ों को इन्द्र के लिए बाँधा ॥१३॥

चौथी गाथा है कि भरत की बड़ाई को न पहले किसी ने पाया न पीछे, न पाँचों जातियों ने। कोई आदमी आकाश को बाहुओं से नहीं छू सकता ॥१४॥

श्विक्नों के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने एकविंश स्तोम से यज्ञ किया था। उसकी यह गाथा है कि जब याज्ञतुर ऋषभ ने अश्वमेध यज्ञ किया था तब ब्राह्मणों ने दक्षिणा में धन प्राप्त करके बाँटा था ॥१५॥

पांचाल के राजा शोण सात्रासाह ने तेंतीस स्तोमों से यज्ञ किया था। उसकी गाथा यह है कि सात्रासाह राजा ने अश्वमेध यज्ञ किया तो तेंतीस स्तोम तौर्वक्ष या घोड़े बनकर आ गये और छः हजार योद्धा ॥१६॥

दूसरी गाथा है : 'हे कोक के पिता ! तेरे यज्ञ में तेंतीस स्तोम आए, छः हजार के छः गुने

त्रयस्त्रिꣳशाः षट् सहस्राणि वर्मिणामिति ॥१७॥ अथ तृतीयया । सात्रासहे यज-
माने पाञ्चाले राज्ञि सुभ्रजि अमाद्यदिन्द्रः सोमेनातृप्यन्ब्राह्मणा धनैरिति ॥१८॥
गोविनतेन शतानीकः । सात्राजित ईजे काश्यस्याश्वमादाय ततो हैतदर्वाक्काश-
योऽग्नीन्नादधतऽआत्तसोमपीथाः स्म इति वदन्तः ॥१९॥ तस्य विधा चतुर्विꣳशाः
पवमानाः । त्रिवृदभ्यावर्तं चतुश्चत्वारिꣳशाः पवमाना एकविꣳशान्याज्यानि त्रि-
णवान्युक्थ्यान्येकविꣳशानि पृष्ठानि षट्त्रिꣳशाः पवमानास्त्रयस्त्रिꣳशमभ्यावर्तमा-
ग्निष्टोमसामादेकविꣳशान्युक्थ्यान्येकविꣳशः षोडशी पञ्चदशी रात्रिस्त्रिवृत्संधिः
॥२०॥ तदेतद्गाथयाभिगीतꣳ । शतानीकः समन्तासु मेध्यꣳ सात्राजितो हयम्
आदत्त यज्ञं काशीनां भरतः सत्वतामिवेति ॥२१॥ अथ द्वितीयया । श्वेतꣳ सम-
न्तासु वशं चरन्तꣳ शतानीको धृतराष्ट्रस्य मेध्यम् आदाय सह्वा दशमास्यमश्वꣳ
शतानीको गोविनतेन हेजऽइति ॥२२॥ अथ चतुर्थ्या । महदद्य भरतानां न
पूर्वे नापरे जनाः दिवं मर्त्य-इव पक्षाभ्यां नोदापुः सप्त मानवा इति ॥२३॥
अथातो दक्षिणानाम् । मध्यं प्रति राष्ट्रस्य यदन्यद्भूमेश्च पुरुषेभ्यश्च ब्राह्मणस्य च
वित्तात्प्राची दिग्घोतुर्दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्योरुदीच्युद्गातुस्तदेव होतृका अ-
न्वाभक्ताः ॥२४॥ उदयनीयायाꣳ सꣳस्थितायाम् । एकविꣳशतिं वशा अनूबन्ध्या
आलभते मैत्रावरुणीर्वैश्वदेवीर्बार्हस्पत्या एतासां देवतानामाप्त्यै तद्यद्बार्हस्पत्या
न्त्या भवन्ति ब्रह्म वै बृहस्पतिस्तद्ब्रह्मण्येवान्ततः प्रतितिष्ठति ॥२५॥ अथ य-
देकविꣳशतिर्भवन्ति । एकविꣳशो वाऽएष य एष तपति द्वादश मासाः पञ्चऽर्त-
वस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳश एतामभिसम्पदम् ॥२६॥ उदवसानी-
यायाꣳ सꣳस्थितायाम् । चतस्रश्च जायाः कुमारीं पञ्चमीं चत्वारि च शतान्यनुच-
रीणां यथासमुदितं दक्षिणां ददति ॥२७॥ अथोत्तरꣳ संवत्सरमृतुपशुभिर्यजते ।
षड्भिराग्नेयैर्वसन्ते षड्भिरैन्द्रैर्ग्रीष्मे षड्भिः पार्जन्यैर्वा मारुतैर्वा वर्षासु षड्भिर्मै-

घोड़ों के समान और छः हजार योद्धा' ॥१७॥

तीसरी गाथा है कि सुन्दर मालावाले पंचाल राजा सात्रासह के यज्ञ में इन्द्र ने सोम से आनन्द मनाया और ब्राह्मणों ने धनों से ॥१८॥

शतानीक सात्राजित ने काश्य के घोड़े को लेने के उपरान्त गोविनत अश्वमेध यज्ञ किया। तब से काशी के लोग अग्नियों को नहीं रखते। वे कहते हैं कि हमसे सोम छीन लिया गया ॥१९॥

गोविनत अश्वमेध यज्ञ की विधि यह है—पवमान स्तोत्र चतुर्विंश स्तोम में त्रिवृत् में दुहराए हुए; पवमान चवालीस में, आज्य इक्कीस में, उक्थ २७ में, पृष्ठ २१ में, पवमान ३६ में और दुहराए हुए ३३ में अग्निष्टोम सामतक, उक्थ २१ में, षोडशी २१ में, रात्रि १५ में और सन्धि-स्तोत्र त्रिवृत् में ॥२०॥

इसके विषय में गाथा है—'शतानीक सत्राजित ने काशीवालों के यज्ञ में पड़ोस में एक यज्ञ के घोड़े को बाँध लिया, जैसे भरत ने सत्वत लोगों का बाँधा था' ॥२१॥

दूसरी गाथा है—'वीर शतानीक ने पड़ोस में धृतराष्ट्र के श्वेत यज्ञ के घोड़े को जो स्वच्छन्द विचर रहा था, दसवें मास में पकड़ लिया। शतानीक ने गोबिनत यज्ञ किया' ॥२२॥

चौथी गाथा है कि 'भरतों की बड़ाई को न किसी ने पहले पाया न पीछे, न सात जातियों ने। जैसे मनुष्य अपनी बगलों से आकाश नहीं छू सकता' ॥२३॥

अब दक्षिणाओं के विषय में—राष्ट्र के मध्य में ब्राह्मण की भूमि, पुरुष और धन को छोड़कर और जो कुछ है उसके पूर्व की दिशा में होता का, दक्षिण ब्रह्मा का, पश्चिम अध्वर्यु का, उत्तर में उद्गाता भाग है। अन्य होता लोगों का भी उन्हीं के साथ बाँट है ॥२४॥

उदयनीय आहुति की समाप्ति पर इक्कीस बाँझ गायों का आलभन करते हैं। ये गायें मित्र-वरुण, वैश्वदेव, बृहस्पति की हैं, इन देवताओं की तृप्ति के लिए। बृहस्पति की अन्त में इसलिए होत्ती हैं कि बृहस्पति ब्रह्म है, वह अपने को ब्रह्मा में ही प्रतिष्ठित करता है ॥२५॥

इक्कीस क्यों होती हैं? यह जो तपता है अर्थात् सूर्य वह 'इक्कीस' है। बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन ये लोक और इक्कीसवाँ सूर्य। यह मिल गया ॥२६॥

उदवसानीय की समाप्ति पर चार स्त्रियाँ, पाँचवीं कुमारी और चार सौ अनुचरियों को इकरार के अनुसार दक्षिणा में देता है ॥२७॥

अगले वर्ष ऋतु पशुओं से यज्ञ करता है—

अग्नि के छः से वसन्त में, इन्द्र के छः से ग्रीष्म में, पर्जन्य या मारुतों के छः से वर्षा में,

त्रावरुणैः शरदि षड्भिरैन्द्राबैष्णवैर्हेमन्ते षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यैः शिशिरे षड्ऋतवः संवत्सरः ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रतितिष्ठति षट्त्रिꣳशदेते पशवो भवन्ति षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहती बृहत्यामधि स्वर्गो लोकः प्रतिष्ठितस्तद्यत्तो बृहत्यैव छन्दसा स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥६ [५. ४.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०६ ॥ पञ्चमोऽध्यायः [८८.] ॥ ॥

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत । अतितिष्ठेयꣳ सर्वाणि भूतान्यहमेवेदꣳ सर्वꣳ स्यामिति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदꣳ सर्वमभवदतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदꣳ सर्वं भवति य एवं विद्वान्पुरुषमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद ॥१॥ तस्य त्रयोविꣳशतिर्दीक्षाः । द्वादशोपसदः पञ्च सुत्याः स एष चत्वारिꣳशद्रात्रः सदीक्षोपसत्कश्चत्वारिꣳशदक्षरा विराड्विराजमभिसम्पद्यते ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुष इत्येषा वै सा विराडेतस्या एवैतद्विराजो यज्ञं पुरुषं जनयति ॥२॥ ता वाऽएताः । चतस्रो दशतो भवन्ति तद्यदेताश्चतस्रो दशतो भवन्त्येषां चैव लोकानामाप्त्यै दिशां चेममेव लोकं प्रथमया दशतानुवन्नन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया दिशश्चतुर्थ्या तथैवैतद्यजमान इममे लोकं प्रथमया दशताप्नोत्यन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया दिशश्चतुर्थ्यैतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥३॥ एकादशाग्निषोमीयाः पशव उपवसथे । तेषाꣳ समानं कर्मैकादश यूपा एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्तात्पाप्मानमपहते ॥४॥ ऐकादशिनाः सुत्यासु पशवो भवन्ति । एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्तात्पाप्मानमपहते ॥५॥ यद्वेवैकादशिना भवन्ति । एकादशिनी वाऽइदꣳ सर्वं प्रजापतिर्ह्येकादशिनी सर्वꣳ हि प्रजापतिः सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥६॥

मित्र-वरुण के छः से शरद् में, इन्द्र-विष्णु के छः से हेमन्त में, इन्द्र-बृहस्पति के छः से शिशिर में। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। इस ऋतुवाले संवत्सर में प्रतिष्ठित होता है। ये ३६ पशु हुए। बृहती में ३६ अक्षर होते हैं। बृहती के सहारे ही स्वर्गलोक है, इस प्रकार बृहती छन्द से अपने को स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित करता है ॥२८॥

पुरुषमेधः

अध्याय ६—ब्राह्मण १

पुरुष नारायण ने चाहा कि 'मैं जीवों में सर्वोपरि हो जाऊँ। मैं ही सब-कुछ हो जाऊँ।' उसने इस पुरुषमेध पंचरात्र यज्ञक्रतु को देखा। उसको ले लिया। उस यज्ञ को किया। उस यज्ञ को करके जीवों में सर्वोपरि हो गया और इस संसार में वही सब-कुछ हो गया। जो मनुष्य इस रहस्य को समझता है या समझकर पुरुषमेध यज्ञ करता है, वह सब जीवों में बड़ा तथा सब-कुछ हो जाता है ॥१॥

उसमें २३ दीक्षाएँ, बारह उपसद तथा पाँच सुत्य (सोम-इष्टियाँ) होते हैं। दीक्षा और उपसद के सहित यह चालीसी यज्ञ हो जाता है। चालीस अक्षर का ही विराट् होता है। इस प्रकार यह विराज हो जाता है। "ततो विराडजायत विराजो ऽधि पूरुषः (यजु० ३१।५)—"उस से विराट् उत्पन्न हुआ। विराट् से पुरुष।" यह विराट् है। उसी विराज से यज्ञपुरुष उत्पन्न करता है ॥२॥

यह चालीस दिन चार दशत (दहाइयाँ) में विभक्त होते हैं। चार दहाइयाँ इसलिए कि इनसे लोकों तथा दिशाओं की प्राप्ति करनी है। पहली दहाई से इस लोक की प्राप्ति करता है, दूसरी से अन्तरिक्ष की, तीसरी से द्यौलोक की, चौथी से दिशाओं की। इस प्रकार यजमान भी पहली दहाई से इस लोक की, दूसरी से अन्तरिक्ष की, तीसरी से द्यौलोक की और चौथी से दिशाओं की प्राप्ति करता है। यह संसार उतना ही है जितने ये तीन लोक तथा दिशाएँ। पुरुषमेध 'सब-कुछ' है, सबकी उपलब्धि तथा प्राप्ति के लिए ॥३॥

अग्नि-सोम के ग्यारह पशु उपवास के दिन होते हैं। उनका कर्म समान है। ग्यारह यूप, त्रिष्टुप् ग्यारह अक्षर का। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वज्र तथा वीर्यरूपी त्रिष्टुप् से यजमान पहले ही से पाप को दूर कर देता है ॥४॥

सुत्यों में ग्यारह पशु होते हैं। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वीर्य तथा वज्ररूपी त्रिष्टुप् द्वारा वह सब पापों को दूर कर देता है ॥५॥

ग्यारह क्यों होते हैं? यह सब संसार ग्यारहवाला है, प्रजापति ग्यारहवाला है। प्रजापति सब-कुछ है। पुरुषमेध सब-कुछ है। सबकी उपलब्धि तथा प्राप्ति के लिए ॥६॥

स वाऽएष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति । पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरो यत्किं च पञ्चविधमधिदेवतमध्यात्मं तदेनेन सर्वमाप्नोति ॥७॥ तस्याग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति । अथोक्थ्योऽथातिरात्रोऽथोक्थ्योऽथाग्निष्टोमः स वाऽएष उभयतोज्योतिरुभयतउक्थ्यः ॥८॥ यवमध्यः पञ्चरात्रो भवति । इमे वै लोकाः पुरुषमेध उभयतोज्योतिषो वाऽइमे लोका अग्निनेत आदित्येनामुतस्तस्मादुभयतोज्योतिरन्नमुक्थ्य आत्मातिरात्रस्तस्यदेताऽउक्थ्यावतिरात्रमभितो भवतस्तस्मादयमात्मान्नेन परिवृढोऽथ यदेष वर्षिष्ठोऽतिरात्रोऽह्नाᳬ स मध्ये तस्माद्यवमध्यो युते ह वै द्विषन्तं भ्रातृव्यमयमेवास्ति नास्य द्विषन्भ्रातृव्य इत्याहुर्य एवं वेद ॥९॥ तस्यायमेव लोकः प्रथममहः । अयमस्य लोको वसन्त ऋतुर्यदूर्ध्वमस्माल्लोकादर्वाचीनमन्तरिक्षात्तद्द्वितीयमहस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुरन्तरिक्षमेवास्य मध्यममहरन्तरिक्षमस्य वर्षाशरदावृतू यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तच्चतुर्थमहस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुर्द्यौरेवास्य पञ्चममहर्द्यौरस्य शिशिर ऋतुरित्यधिदेवतम् ॥१०॥ अथाध्यात्मम् । प्रतिष्ठैवास्य प्रथममहः प्रतिष्ठोऽअस्य वसन्त ऋतुर्यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवाचीनं मध्यात्तद्द्वितीयमहस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुर्मध्यमेवास्य मध्यममहर्मध्यमस्य वर्षाशरदावृतू यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनᳬ शीर्ष्णस्तच्चतुर्थमहस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुः शिर एवास्य पञ्चममहः शिरोऽस्य शिशिर ऋतुरेवमिमे च लोका संवत्सरश्चात्मा च पुरुषमेधमभिसम्पद्यन्ते सर्वं वाऽइमे लोकाः सर्वᳬ संवत्सरः सर्वमात्मा सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥ [६. १.] ॥ ॥

अथ यस्मात्पुरुषमेधो नाम । इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषस्तस्य यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधस्तद्यदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात्पुरुषमेधोऽथो यदस्मिन्मेध्यान्पुरुषानालभते तस्माद्वेव पुरुषमेधः ॥१॥ तान्वै मध्यमेऽहन्नालभते । अन्तरिक्षं वै मध्यममहरन्तरिक्षमु वै सर्वेषां

यह पुरुषमेध पंचरात्र यज्ञ है। यज्ञ पाँचवाला है, पशु पाँचवाला है। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। जो कुछ पांच प्रकार का अधिदेवत या अध्यात्म है, वह सब इसके द्वारा प्राप्त होता है ॥७॥

पहले दिन अग्निष्टोम होता है, फिर उक्थ्य, फिर अतिरात्र, फिर उक्थ्य, फिर अग्निष्टोम, इस प्रकार इस यज्ञ के दोनों ओर ज्योतियाँ है और दोनों ओर उक्थ्य ॥८॥

(ज्योति उक्थ्य उक्थ्य ज्योति)

अतिरात्र

यह पंचरात्र (पुरुषमेध) यज्ञ जौ की आकृति का है (जौ के किनारे नुकीले और बीच में उठा हुआ होता है)। पुरुषमेध ये लोक ही हैं, इन लोकों के दोनों सिरों पर ज्योति होती हैं; इधर अग्नि उधर आदित्य, इसलिए दोनों ओर ज्योति हुई। अन्न उक्थ्य है, आत्मा (धड़) अतिरात्र। ये दोनों उक्थ्य अतिरात्र के दोनों ओर हैं। इसलिए यह आत्मा (शरीर) अन्न से घिरा हुआ है। यह जो अतिरात्र है वह इन सबमें मोटा है और इन सब दिनों के बीच में है। इसलिए इसकी उपमा जौ के समान है, क्योंकि जौ बीच में मोटा होता है। जो इस रहस्य को जानता है, वह अपने शत्रुओं पर विजय पाता है। कहते हैं कि उसके शत्रु होते ही नहीं ॥९॥

उसका पहला दिन यही लोक है और वसन्त ऋतु भी यह लोक है। जो इस लोक से ऊपर और अन्तरिक्षलोक से नीचे हैं, वह दूसरा दिन है। यह उसका ग्रीष्म ऋतु है। अन्तरिक्ष इसका बीच का (तीसरा) दिन है। यह उसका वर्षा ऋतु है। जो अन्तरिक्ष से ऊपर तथा द्यौ के नीचे है, वह चौथा दिन है। यह उसका शिशिर ऋतु है। यह हुआ अधिदेवत वर्णन ॥१०॥

अब आध्यात्म सुनिये—प्रथम दिन पैर है, इसकी प्रतिष्ठा वसन्त ऋतु है। जो पैरों से ऊपर और कमर से नीचे हैं वह दूसरा दिन है। ग्रीष्म ऋतु उसकी प्रतिष्ठा है। कमर इसका तीसरा (बीच का) दिन है। इसके ऋतु हैं वर्षा और शरद्। कमर से ऊपर और सिर के नीचे चौथा दिन है। हेमन्त इसका ऋतु है। सिर इसका पाँचवाँ दिन है, शिशिर इसका ऋतु है। इस प्रकार लोक, संवत्सर, शरीर ये सब पुरुषमेध के बराबर होते हैं। ये लोक सब-कुछ हैं, संवत्सर सब-कुछ है, शरीर (आत्मा) सब-कुछ है, पुरुषमेध सब-कुछ है। सबकी प्राप्ति के लिए सबकी उपलब्धि के लिए ॥११॥

ब्राह्मणादीनामष्टाचत्वारिंशत्संख्यकानामग्निष्ठे यूपे नियोजनादि

अध्याय ६—ब्राह्मण २

इसका पुरुषमेध नाम इसलिए पड़ा कि ये लोक पुर हैं, और पुरुष वह है जो बहता है (वायु)। वह इस पुर में लेटा है, इसलिए वह पुरुष है। इन लोकों में जो अन्न है, वह इसका मेध या अन्न है। इसलिए इसका नाम है पुरुषमेध। और चूँकि इसमें मेध्य पुरुषों का आलभन होता है इसलिये भी इसका नाम पुरुषमेध है ॥१॥

इनका आलभन मध्य दिन में होता है। अन्तरिक्ष मध्यदिन है। अन्तरिक्ष ही सब प्राणियों

भूतानामायतनमथोऽअन्नं वाऽएते पशव उदरं मध्यममन्नमुदरे तदन्नं दधाति ॥२॥ तान्वै दश-दशालभते । दशाक्षरा विराड्विराड् कृत्स्नमन्नं कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै ॥३॥ एकादश दशत आलभते । एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानो मध्यतः पाप्मानमपहते ॥४॥ अष्टाचत्वारिंशतं मध्यमे यूपऽआलभते । अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागताः पशवो जगत्यैवास्मै पशूनवरुन्द्धे ॥५॥ एकादशैकादशेतरेषु । एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानोऽभितः पाप्मानमपहते ॥६॥ अष्टाऽउत्तमानालभते । अष्टाक्षरा गायत्री ब्रह्म गायत्री तद्ब्रह्मैवैतदस्य सर्वस्योत्तमं करोति तस्माद्ब्रह्मास्य सर्वस्योत्तममित्याहुः ॥७॥ ते वै प्राजापत्या भवन्ति । ब्रह्म वै प्रजापतिर्ब्राह्मो हि प्रजापतिस्तस्मात्प्राजापत्या भवन्ति ॥८॥ स वै पशूनुपाकरिष्यन् । एतास्तिस्रः सावित्रीराहुतीर्जुहोति देव सवितस्तत्सवितुर्वरेण्यं विश्वानि देव सवितरिति सवितारं प्रीणाति सोऽस्मै प्रीत एतान्पुरुषान्प्रसौति तेन प्रसूतानालभते ॥९॥ ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते । ब्रह्म वै ब्राह्मणो ब्रह्मैव तद्ब्रह्मणा समर्धयति क्षत्राय राजन्यं क्षत्रं वै राजन्यः क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति मरुद्भ्यो वैश्यं विशो वै मरुतो विशमेव तद्विशा समर्धयति तपसे शूद्रं तपो वै शूद्रस्तप एव तत्तपसा समर्धयत्येवमेता देवता यथारूपं पशुभिः समर्धयति ता एनं समृद्धाः समर्धयन्ति सर्वैः कामैः ॥१०॥ आज्येन जुहोति । तेजो वाऽआज्यं तेजसैवास्मिंस्तत्तेजो दधात्याज्येन जुहोत्येतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यं प्रियेणैवैनान्धाम्ना समर्धयति तऽएनं समृद्धाः समर्धयन्ति सर्वैः कामैः ॥११॥ नियुक्तान्पुरुषान् । ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन षोडशकलं वाऽइदं सर्वं सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्याऽइत्थमसीत्थमसीत्युपस्तौत्येवैनमेतन्महयत्येवाथो

का निवास-स्थान है। ये पशु अन्न हैं। मध्यदिन उदर है। इस प्रकार उदर में अन्न रखता है ।।२।।

दस-दस का आलभन होता है। विराट् दस अक्षर का है। विराट् पूर्ण अन्न है। पूर्ण अन्न की प्राप्ति के लिए ।।३।।

ग्यारह दहाइयाँ लेते हैं। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वज्र और वीर्यरूपी त्रिष्टुप् द्वारा वह यजमान बीच से पाप को दूर करता है ।।४।।

बीच के यूप में ४८ का आलभन होता है। जगती में ४८ अक्षर होते हैं। पशु जगतीवाले हैं। जगती के द्वारा वह यजमान के लिए पशुओं की प्राप्ति करता है ।।५।।

दूसरों में ग्यारह-ग्यारह अक्षरों का त्रिष्टुप् होता है। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वज्र और वीर्य द्वारा यजमान अपनी दोनों ओर से पाप को दूर करता है ।।६।।

अन्त में आठ का आलभन करता है। गायत्री में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म को इस सब संसार का अन्न बनाता है। इसलिए कहते हैं कि ब्रह्म इस जगत् का अन्तिम वस्तु है या अन्त है ।।७।।

ये प्रजापति के होते हैं। प्रजापति ब्रह्म है, क्योंकि प्रजापति में ब्रह्म के गुण हैं। इसलिए ये प्रजापति के होते हैं ।।८।।

जब पशुओं को लानेवाले होते हैं, तो सवितादेव के लिए तीन आहुतियाँ दी जाती हैं—(१) देव सवितः········· (२) तत् सवितुर्वरेण्यं········· (३) विश्वानि देव सवितः······ (यजु० ३०/१—६) इससे सविता को प्रसन्न करता है। वह सविता प्रसन्न होकर इन पुरुषों (मध्य पुरुष) को प्रेरणा करता है, और वह सविता द्वारा प्रेरित होकर ही इनका आलभन करता है ।।९।।

ब्रह्म के लिए ब्राह्मण का आलभन करता है, क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म को ब्रह्म से मिलाता है, क्षत्र के लिए राजन्य को। राजन्य क्षत्र है। इस प्रकार क्षत्र से क्षत्र को मिलाता है। मरुतों के लिए वैश्य को, क्योंकि मरुत् वैश्य हैं। इस प्रकार वैश्य को वैश्य से मिलाता है। तप के लिए शूद्र को, क्योंकि शूद्र तप है। इस प्रकार तप को तप से मिलाता है। इन-के रूपों के अनुसार वह इन देवताओं को पशुओं से सम्पन्न करता है। इस प्रकार सम्पन्न होकर वे यजमान को सब कामनाओं से सम्पन्न कर देते हैं ।।१०।।

घी की आहुति देता है, घी तेज है। तेज से ही इसमें तेज स्थापित करता है। घी की आहुति देता है, क्योंकि घी देवों का प्रिय धाम है। इस प्रकार इनको प्रियधाम से सम्पन्न करता है। इस प्रकार सम्पन्न होकर वे सब कामनाओं के लिए यजमान को सम्पन्न करते हैं ।।११।।

नियुक्त पुरुषों की स्तुति दक्षिण की ओर बैठकर ब्रह्मा 'पुरुष नारायण सूक्त' द्वारा करता है : "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्······"(ऋ० १०/९०; यजु० ३१/१-१६) ये सोलह मंत्र हैं, सोलह कलावाली दुनिया है। पुरुषमेध सब-कुछ है। सबकी प्राप्ति के लिए सबकी उप-लब्धि के लिए। 'तू ऐसा है, तू ऐसा है' यह कहकर उसकी स्तुति करता है, उसका यश गाता है,

यथैष तथैनमेतदाह तत्पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः ॥१२॥ अथ हैनं वागभ्युवाद । पुरुष मा संतिष्ठिपो यदि सꣳस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यतीति तान्पर्यग्निकृतानेवोदसृजत्तद्देवत्या आहुतीरजुहोत्ताभिस्ता देवता अप्रीणात्ता एनं प्रीता अप्रीणान्त्सर्वैः कामैः ॥१३॥ आज्येन जुहोति । तेजो वाऽआज्यं तेजसैवास्मिंस्तत्तेजो दधाति ॥१४॥ ऐकादशिनैः सꣳस्थापयति । एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानो मध्यतः पाप्मानमपहते ॥१५॥ उदयनीयायाꣳ सꣳस्थितायाम् । एकादश वशा अनूबन्ध्या आलभते मैत्रावरुणीर्वैश्वदेवीर्बार्हस्पत्या एतासां देवतानामाप्त्यै तद्यद्बार्हस्पत्या अन्त्या भवन्ति ब्रह्म वै बृहस्पतिस्तदु ब्रह्मण्येवान्ततः प्रतितिष्ठति ॥१६॥ अथ यदेकादश भवन्ति । एकादशाक्षरा त्रिष्टुब्वज्रस्त्रिष्टुब्वीर्यं त्रिष्टुब्वज्रेणैवैतद्वीर्येण यजमानो मध्यतः पाप्मानमपहते त्रैधातव्युदवसानीयासावेव बन्धुः ॥१७॥ अथातो दक्षिणानाम् । मध्यं प्रति राष्ट्रस्य यदन्यद्भूमेश्च ब्राह्मणस्य च वित्तात्सपुरुषं प्राची दिग्घोतुर्दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्योरुदीच्युद्गातुस्तदेव होतृका अन्वाभक्ताः ॥१८॥ अथ यदि ब्राह्मणो यजेत । सर्ववेदसं दद्यात्सर्वं वै ब्राह्मणः सर्वꣳ सर्ववेदसꣳ सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥१९॥ अथात्मन्नग्नी समारोह्य । उत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थायानपेक्षमाणोऽरण्यमभिप्रेयात्तदेव मनुष्येभ्यस्तिरो भवति यद्यु ग्रामे विवत्सेदरण्योरग्नी समारोह्योत्तरनारायणेनैवादित्यमुपस्थाय गृहेषु प्रत्यवस्येदथ तान्यज्ञक्रतूनाहरेत यानभ्याप्नुयात्स वाऽएष न सर्वस्माऽअनुवक्तव्यः सर्वꣳ हि पुरुषमेधो नेत्सर्वस्माऽइव सर्वं ब्रवाणीति यो न्वेव ज्ञातस्तस्मै ब्रूयादथ योऽनूचानोऽथ योऽस्य प्रियः स्यान्नेत्त्वेव सर्वस्माऽइव ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥२ [६. २.]

॥ षष्ठोऽध्यायः [८१.] ॥ ॥

ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति हन्ताहं

जैसा वह है वैसा उसको बताता है। पशु पर्यग्निकृत तो हो चुके (अर्थात् अग्नि उनके चारों ओर फिराई जा चुकी) परन्तु अभी उनका वध नहीं हुआ है ॥१२॥

तब एक वाक् ने उससे कहा, 'हे पुरुष, पुरुष को मत मार। ऐसा करेगा तो पुरुष पुरुष को खायेगा।' इसलिए अग्नि उनके चारों ओर घुमाने के पीछे उनको छोड़ दिया और उन्हीं देवताओं के लिए आहुतियाँ दे दीं। इस प्रकार उन देवताओं को प्रसन्न कर दिया। इस प्रकार प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी कामनाओं को तृप्त किया है ॥१३॥

घी की आहुति देता है। घी तेज है। इस प्रकार तेज के द्वारा तेज रखता है ॥१४॥

ग्यारह यूपों से समाप्त करता है। त्रिष्टुप् ग्यारह अक्षरों का है। त्रिष्टुप् वज्र है, त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वज्र और वीर्यरूपी त्रिष्टुप् के द्वारा वह यजमान बीच से पाप को दूर करता है ॥१५॥

उदयनीय आहुतियों की समाप्ति पर ग्यारह बाँझ गायों का आलभन होता है—मित्र-वरुण की, विश्वेदेवों की और बृहस्पति की, इन देवताओं की प्रसन्नता के लिए। बृहस्पति को अन्त की क्यों? बृहस्पति सचमुच ब्रह्म है। इस प्रकार अन्त को ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है ॥१६॥

ग्यारह क्यों होती हैं?—त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर होते हैं। त्रिष्टुप् वज्र है। त्रिष्टुप् वीर्य है। इस वीर्य और वज्ररूपी त्रिष्टुप् से यजमान बीच से ही पाप को दूर करता है। त्रैधातवी अन्तिम आहुति है। इसका रहस्य बताया जा चुका है ॥१७॥

अब दक्षिणा का वर्णन है। ब्राह्मण की भूमि तथा सम्पत्ति को छोड़कर राष्ट्र के बीच में जो कुछ है, पूर्व दिशा के मनुष्यों सहित वह सब होता की दक्षिणा है। दक्षिण की ब्रह्मा की, पश्चिम की अध्वर्यु की, उत्तर की उद्गाता की, अन्य ऋत्विज इनके ही साँझी होते हैं ॥१८॥

अब यदि ब्राह्मण यज्ञ करे तो उसको अपना सर्वस्व दे देना चाहिए। ब्राह्मण 'सब' है, सर्वस्व सब है। पुरुषमेध सब है, सबकी उपलब्धि या प्राप्ति के लिए ॥१९॥

अपने में दोनों अग्नियों का समारोप करके उत्तर नारायण मन्त्रों (यजु० ३१/१७—२२) से आदित्य की उपासना करके पीछे को बिना मुड़े जंगल को चला जाय। जंगल मनुष्यों से अलग है। यदि गाँव में रहना चाहे तो अरणी और उत्तरारणी में दो अग्नियों को लेवे, और उत्तर-नारायण मन्त्रों द्वारा आदित्य की उपासना करके घर रहे और जिन यज्ञों को कर सके करे। यह यज्ञ सबको नहीं सिखाना चाहिए। पुरुषमेध सब-कुछ है। ऐसा नहीं कि सब चीज सबको बता दी जाय। उसी को बताना चाहिए जिससे परिचय हो, जो वेद पढ़ा हो, जो उसका प्रिय हो। हर एक को नहीं ॥२०॥

सर्वमेधः

अध्याय ७—ब्राह्मण १

स्वयम्भु ब्रह्म ने तप किया। उसने कहा, 'तप में आनन्त्य नहीं है। मैं भूतों में अपनी

भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानꣳ हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानाꣳ श्रैष्ठ्यꣳ स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान्मेधान्हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यꣳ स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति ॥१॥ स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति । दशाक्षरा विराड्विराडु कृत्स्नमन्नं कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मिन्नग्निं परार्ध्यं चिनोति परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां यत्सर्वमेधः परमेणैवैनं परमतां गमयति ॥२॥ तस्याग्निष्टुदग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति । अग्निर्वाऽअग्निष्टुदग्निष्टोमोऽग्निमुखा उ वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै तस्याग्नेया ग्रहा भवन्त्याग्नेय्यः पुरोरुचः सर्वमाग्नेयमसदिति ॥३॥ इन्द्रस्तुदुक्थ्यो द्वितीयमहर्भवति । इन्द्रो वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै तस्यैन्द्रा ग्रहा भवन्त्यैन्द्र्यः पुरोरुचः सर्वमैन्द्रमसदिति ॥४॥ सूर्यस्तुदुक्थ्यस्तृतीयमहर्भवति । सूर्यो वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै सौर्या ग्रहा भवन्ति सौर्य्यः पुरोरुचः सर्वꣳ सौर्यमसदिति ॥५॥ वैश्वदेवश्चतुर्थमहर्भवति । विश्वे वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै वैश्वदेवा ग्रहा भवन्ति वैश्वदेव्यः पुरोरुचः सर्वं वैश्वदेवमसदिति ॥६॥ आश्वमेधिकं मध्यमं पञ्चममहर्भवति । तस्मिन्नश्वं मेध्यमालभतेऽश्वमेधस्यैवाप्त्यै ॥७॥ पौरुषमेधिकं मध्यमꣳ षष्ठमहर्भवति । तस्मिन्मेध्यान्पुरुषानालभते पुरुषमेधस्यैवाप्त्यै ॥८॥ अप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति । सर्वेषां यज्ञक्रतूनामाप्त्यै तस्मिन्त्सर्वान्मेध्यानालभते यच्च प्राणि यच्चाप्राणं वपा वपावतां जुहोति त्वच उत्कर्तमवपाकानाꣳ संत्रश्चमोषधिवनस्पतीनां प्रकिरन्ति शुष्काणां चार्द्राणां चान्नमन्नं जुहोत्यन्नस्यान्नस्याप्त्यै सर्वं जुहोति सर्वस्मै जुहोति सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै प्रातःसवने हुतासु वपास्वेवमेव तृतीयसवने हुतेषु हविःषु ॥९॥ त्रिणवमष्टममहर्भवति । वज्रो वै त्रिणवो वज्रेण खलु वै क्षत्रꣳ स्पृतं तद्वज्रेणैव क्षत्रꣳ स्पृणोति ॥१०॥ त्रयस्त्रिꣳशं नवममहर्भवति । प्रतिष्ठा वै त्रयस्त्रिꣳशः प्रतिष्ठित्यै ॥११॥ विश्वजित्सर्व-

आत्मा की आहुति दे दूँ और अपने आत्मा में भूतों की।' अपने आत्मा की भूतों में और भूतों की आत्मा में आहुति देकर सब भूतों में श्रेष्ठता, स्वाराज्य, आधिपत्य की प्राप्ति की। इसी प्रकार जो यजमान सर्वमेध यज्ञ करता है, वह सब प्राणियों में श्रेष्ठता, स्वाराज्य तथा आधिपत्य को प्राप्त कर लेता है ।।१।।

यह सर्वमेध यज्ञ दशरात्र यज्ञ है (दस दिन में पूरा होता है)। विराट् में दस अक्षर होते हैं। विराट् पूर्ण अन्न है। पूर्ण अन्न की प्राप्ति के लिए। इनमें सबसे बड़ी वेदी बनाई जाती है। सर्वमेध सब यज्ञों में बड़ा है। इसी बड़े यज्ञ के लिए बड़प्पन को प्राप्त करता है ।।२।।

इसके पहले दिन अग्निष्टुत अग्निष्टोम होता है। अग्नि ही अग्निष्टुत अग्निष्टोम है। सब देव अग्निमुख हैं। सब देवों की प्राप्ति के लिए। उसके अग्नि के ग्रह होते हैं। पुरोरुग् भी अग्नि के ही होते हैं, जिससे सब-कुछ अग्नि का हो ।।३।।

दूसरे दिन इन्द्र-स्तुत उक्थ्य होता है। इन्द्र 'सब देव' है। सब देवों की प्राप्ति के लिए। उसके ग्रह भी इन्द्र के होते हैं पुरोरुक् भी इन्द्र के। इससे सब-कुछ इन्द्र-सम्बन्धी हो ।।४।।

तीसरे दिन सूर्य-स्तुत उक्थ्य होता है। सूर्य 'सब देव' है, सब देवों की प्राप्ति के लिए। ग्रह भी सूर्य के होते हैं और पुरोरुक् भी सूर्य के। इससे सब-कुछ सूर्य-सम्बन्धी हो ।।५।।

चौथे दिन वैश्वदेव होता है। विश्वेदेव सब देव हैं। सब देवों की प्राप्ति के लिए। ग्रह भी वैश्वदेव होते हैं और पुरोरुक् भी वैश्वदेव ही। इससे सब-कुछ वैश्वदेव हो ।।६।।

पाँचवें दिन मध्य आश्वमेधिक यज्ञ होता है। उस दिन मेध्य अश्व का आलभन होता है। अश्वमेध की प्राप्ति के लिए ।।७।।

छठे दिन मध्व पौरुषमेधिक यज्ञ होता है। उसमें मेध्य पुरुषों का आलभन होता है। पुरुष मेध की प्राप्ति के लिए ।।८।।

सातवें दिन आप्तोर्याम होता है, सब यज्ञों के प्राप्ति के लिए। उसमें सब मेध्यों का आलभन होता है, प्राणवाले और प्राणरहित दोनों प्रकार का। वपावालों की वपा की आहुति दी जाती है। जिनमें वपा नहीं, उनकी त्वचा के टुकड़े काटकर। औषध-वनस्पतियों के टुकड़े भी काटकर। सूखे और गीले दोनों प्रकार के अन्नों की आहुति दी जाती है, अन्न की प्राप्ति के लिए। अन्नों की आहुति दी जाती है, अन्न की प्राप्ति के लिए। सबकी आहुति देता है। सबके लिए आहुति देता है, सबकी प्राप्ति के लिए, सबकी उपलब्धि के लिए। प्रातःसवन में वपा की आहुतियाँ देने के उपरान्त तथा तीसरे सवन में हवियों की आहुति देने के उपरान्त—।।९।।

आठवें दिन त्रिणव (२७ स्तोमों की इष्टि) होता है। क्योंकि त्रिणव वज्र है, वज्र से ही क्षत्र (आधिपत्य) प्राप्त होता है। वज्र के द्वारा वह क्षत्र प्राप्त करता है ।।१०।।

नवें दिन त्रयस्त्रिंश (३३ स्तोमों की इष्टि) होता है। त्रयस्त्रिंश प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा के लिए ।।११।।

पृष्ठोऽतिरात्रो दशममहर्भवति । सर्वं वै विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः सर्वᳪ सर्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै ॥१२॥ अथातो दक्षिणानाम् । मध्यं प्रति राष्ट्रस्य यदन्यद्ब्राह्मणस्य वित्तात्सभूमि सपुरुषं प्राची दिग्घोतुर्दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्योरुदीच्युद्गातुस्तदेव होतृका अन्वाभक्ताः ॥१३॥ तेन हैतेन विश्वकर्मा भौवन ईजे । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदᳪ सर्वमभवदतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदᳪ सर्वं भवति य एवं विद्वान्त्सर्वमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद ॥१४॥ तᳪ ह कश्यपो याजयां चकार । तदपि भूमिः श्लोकं जगौ न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्मन्भौवन मन्द आसिथ उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते संगरः कश्यपायेति ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥३ [७. १.] ॥ सप्तमोऽध्यायः [१०.] ॥ ॥

अथास्मै कल्याणं कुर्वन्ति ॥ ॥ अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति । गृहान्वा प्रज्ञानं वा यो वै कश्च म्रियते स शवस्तस्मा एतदन्नं करोति तस्माच्छवान्नᳪ शवान्नᳪ ह वै तच्छ्मशानमित्याचक्षते परोऽक्षᳪ श्मशा उ हैव नाम पितृणामत्तारस्ते हामुष्मिंल्लोकेऽकृतश्मशानस्य साधुकृत्यामुपदम्भयन्ति तेभ्य एतदन्नं करोति तस्माच्छ्मशानᳪ श्मशान्नᳪ ह वै तच्छ्मशानमित्याचक्षते परोऽक्षम् ॥१॥ तद्वै न क्षिप्रं कुर्यात् । नेन्नवमघं करवाणीति चिर एव कुर्यादघमेव तत्तिरः करोति यत्र समा नानु चन स्मरेयुरश्रुतिमेव तदघं गमयति यद्यनुस्मरेयुः ॥२॥ अयुङ्क्षु संवत्सरेषु कुर्यात् । अयुङ्ᳪ हि पितृणामेकनक्षत्र एकनक्षत्रᳪ हि पितृणाममावास्यायाममावास्या वा एकनक्षत्रमेको हि यद्देताᳪ रात्रिᳪ सर्वाणि भूतानि संवसन्ति तेनो तं काममाप्नोति यः सर्वेषु नक्षत्रेषु ॥३॥ शरदि कुर्यात् । स्वधा वै शरत्स्वधो वै पितृणामन्नं तदेनमन्ने स्वधायां दधाति माघे वा मा नोऽघं भूदिति निदाघे वा नि नोऽघं धीयाता इति ॥४॥ चतुःस्रक्ति । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यान्दिग्भ्योऽनुदन्त तेऽदिक्काः प-

दसवें दिन विश्वजित् सर्वपृष्ठ अतिरात्र होता है। विश्वजित् सर्वपृष्ठ अतिरात्र सब-कुछ है। सर्वमेध सब-कुछ है। सबकी उपलब्धि या प्राप्ति के लिए ॥१२॥

अब दक्षिणा के विषय में। राष्ट्र के बीच में ब्राह्मण के धन के अतिरिक्त जो कुछ भूमि या पुरुष हैं, वह पूर्व दिशा में होता की, दक्षिण में ब्रह्मा की, पश्चिम में अध्वर्य की, उत्तर में उद्गाता की। अन्य ऋत्विज उसी में भाग लेते हैं ॥१३॥

विश्वकर्मा भौवन ने एक बार यह यज्ञ किया था। यह यज्ञ करके वह सब प्राणियों में बढ़ गया, और सब-कुछ हो गया। जो इस रहस्य को जानकर सर्वमेध यज्ञ करता है या इसको जानता है, वह सब प्राणियों में बढ़ता है, और सब-कुछ हो जाता है ॥१४॥

यह यज्ञ कश्यप ने कराया था। पृथिवी ने इस श्लोक का गान किया—'हे विश्वकर्मा भौवन ! कोई मनुष्य मुझे दान में न दे। तू मूर्ख था। वह भूमि तो जल के बीच डूब जायेगी। कश्यप के साथ यह तेरी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई' ॥१५॥

पितृमेधनिरूपणम् (१)

अध्याय ८—ब्राह्मण १

उसके (यजमान के) लिए कल्याण की बात करते हैं। उसके लिए श्मशान बनाते हैं, घर के रूप में या स्मारक के रूप में। जो कोई मरता है वह 'शव' हो जाता है। उसके लिए अन्न बनाया जाता है। यह हो गया 'शवान्न'। शवान्न ही श्मशान है परोक्ष रूप में। पितरों में खानेवालों को कहते हैं 'श्मशा'। वे परलोक में उस मनुष्य के पुण्यों को बिगाड़ देते हैं, जिसका 'श्मशान कर्म' (अन्त्येष्टि) नहीं हुआ। उनके लिए यह अन्न तैयार होता है। यह हुआ 'श्मशान्न'। 'श्मशान्न' का परोक्ष रूप 'श्मशान' हो गया ॥१॥

इसको जल्दी न बनावे कि कहीं उसका पाप नया न हो जाय। देर में बनावे। इससे पाप तिरोभूत हो जाय। जब लोगों को याद न रहे तब पाप बेसुना हो जाता है। यदि याद रहे तो—॥२॥

अयुङ्ग वर्षों में बनावे। अयुङ्ग वर्ष पितरों का है। (अयुङ्ग) एक नक्षत्र में, क्योंकि एक नक्षत्र पितरों का है। अमावस्या को, क्योंकि अमावस्या एक नक्षत्र है। यजमान अकेला है। इस रात को सब प्राणी रहते हैं, इसलिए जो फल सब नक्षत्रों का होता है, वह इससे मिल जाता है ॥३॥

शरद् ऋतु में बनावे। शरद् ऋतु स्वधा है। पितरों का अन्न भी स्वधा है। इस प्रकार इसको अन्न अर्थात् स्वधा में स्थापित करता है। या माघ मास में, यह सोचकर कि 'मा अघः' 'हमारे में पाप नहीं'। या निदाघ अर्थात् गर्मी में, यह सोचकर कि 'नि+धा+अघ' अर्थात् 'हमारे पाप दूर हों' ॥४॥

यह (श्मशान) चार कोनों का हो। प्रजापति के पुत्र देव और असुर सब दिशाओं में लड़ते रहे। उन देवों ने अपने शत्रुओं को दिशाओं से निकाल दिया। दिशाओं से वंचित होने पर

राभवंस्तस्माद्या दैव्यः प्रजाश्चतुःस्रक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वतेऽथ या आसुर्यः प्राच्यास्त्वद्वे त्वत्परिमण्डलानि तेऽनुदन्त ह्येनान्दिग्भ्य उभे दिशावन्तरेण विदधाति प्राचीं च दक्षिणां चैतस्याꣳ ह दिशि पितृलोकस्य द्वारं द्वारैवैनं पितृलोकं प्रपादयति स्रक्तिभिर्दिक्षु प्रतितिष्ठतीतरेणात्मनावान्तरदिक्षु तदेनꣳ सर्वासु दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥५॥ अथातो भूमिजोषणस्य । उदीचीनप्रवणे करोत्युदीची वै मनुष्याणां दिक्तदेनं मनुष्यलोकऽआभजत्येतद्ध वै पितरो मनुष्यलोकऽआभक्ता भवन्ति यदेषां प्रजा भवति प्रजा ह्यास्य श्रेयसी भवति ॥६॥ दक्षिणाप्रवणे कुर्यादित्याहुः । दक्षिणाप्रवणो वै पितृलोकस्तदेनं पितृलोकऽआभजतीति न तथा कुर्यादामीवद्ध नाम तच्छ्मशानकरणं क्षिप्रे हैषामपरोऽनुप्रैति ॥७॥ दक्षिणाप्रवणस्य प्रत्यर्षे कुर्यादित्यु हैकऽआहुः । तत्प्रत्युच्छ्रितमघं भवतीति नोऽएव तथा कुर्याद्यद्वाऽउदीचीनप्रवणे करोति तदेव प्रत्युच्छ्रितमघं भवति ॥८॥ यस्यैव समस्य सतः । दक्षिणतः पुरस्तादाप एत्य सꣳस्थायाप्रघ्नत्य एतां दिशमभिनिष्पद्याक्षय्या अपोऽपिपद्येरंस्तत्कुर्यादन्नं वाऽआपोऽन्नाद्यमेवास्माऽएतत्पुरस्तात्प्रत्यग्दधात्यमृतमु वाऽआप एषो ह जीवानां दिगन्तरेण सप्तऽर्षीणां चोदयनमादित्यस्य चास्तमयनममृतमेव तज्जीवेषु दधाति तद्धैतत्प्रतिमीवन्नाम श्मशानकरणं जीवेभ्यो हितं यद्वाव जीवेभ्यो हितं तत्पितृभ्यः ॥९॥ कम्वति कुर्यात् । कं मेऽसदित्यथो शम्वति शं मेऽसदिति नाधिपथं कुर्यान्नाकाशे नेदाविरघं करवाणीति ॥१०॥ गुह्या सद्वतापि स्यात् । तद्यद्गुह्या भवत्यघमेव तद्गुह्या करोत्यथ यद्वताप्यसौ वाऽआदित्यः पाप्मनोऽपहन्ता स एवास्मात्पाप्मानमपहन्त्यथोऽआदित्यज्योतिषमेवैनं करोति ॥११॥ न तस्मिन्कुर्यात् । यस्येत्यादनूकाशः स्याद्याचमानꣳ ह नाम तत्क्षिप्रे हैषामपरोऽनुप्रैति ॥१२॥ चित्रं पश्चात्स्यात् । प्रजा वै चित्रं चित्रꣳ ह्यस्य प्रजा भवति यदि चित्रं न स्यादापः पश्चाद्वोत्तरतो वा स्युरापो

वे हार गए। इसलिए जो दैव्य (देवताओं के लोग) हैं, वे श्मशान को चार कोनों का बनाते हैं। जो असुर या पूर्वी आदि लोग हैं वे गोल-गोल बनाते हैं, क्योंकि उनको देवों ने दिशाओं से निकाला। पूर्व और दक्षिण के बीच में रखता है। इसी दिशा में पितृलोक का द्वार है। इसी द्वार से इसको पितृलोक में भेजता है। कोनों के द्वारा (मृत पुरुष अपने को) दिशाओं में स्थापित करता है, दूसरे शरीर से अन्तर्दिशाओं में। इस प्रकार इसको सब दिशाओं में प्रतिष्ठित करता है ॥५॥

अब भूमि की खोज के विषय में। यह उत्तर की ओर झुकी हो। मनुष्यों की दिशा उत्तर है। इस प्रकार मृतक को मनुष्यों का साक्षी बनाता है। पितर लोग मनुष्यलोक के भी एक अर्थ में साक्षी होते हैं, अर्थात् इस लोक में इनकी सन्तान होती है। यह सन्तान श्रेयवाली होगी ॥६॥

कुछ लोगों का विचार है कि दक्षिण को झुकी हो, क्योंकि पितृलोक दक्षिण की ओर झुका है, इस प्रकार उस (मृतक) को पितृलोक का साक्षी बनाता है। परन्तु ऐसा न करे। इससे उस श्मशान का मुँह खुला रहेगा और दूसरा उससे चला जायगा (अर्थात्) घर का दूसरा आदमी शीघ्र मर जायगा ॥७॥

कुछ लोग कहते हैं कि दक्षिण को झुकी हुई भूमि के 'प्रत्यर्ष' में बनावे (अर्थात् जो भूमि दक्षिण की ओर ढालू हो उसमें ऐसा टुकड़ा काटे जो दक्षिण की ओर उठा हुआ हो), क्योंकि ऐसा श्मशान पाप को उठानेवाला (दूर करनेवाला) होगा। परन्तु ऐसा न करे, क्योंकि वही श्मशान पाप को दूर करनेवाला होता है, जो उत्तर की ओर झुका हुआ होता है ॥८॥

ऐसे स्थान पर श्मशान बनावे, जो समतल हो। जहाँ दक्षिण और पूर्व से जल आकर ठहरें और उत्तर-पश्चिमी दिशा में जाकर बिना प्रेरणा के अक्षय्य जल अर्थात् झील आदि में मिल जायँ। जल अन्न है। वह उसको सामने से पीछे की ओर अन्न अर्पित करता है। जल अमृत है। सप्त ऋषियों के उदय और सूर्य के अस्त होने के बीच का स्थान जीवों की दिशा है। इस प्रकार जीवित लोगों में अमृत स्थापित करता है। यह बन्द श्मशान है और जीवों के हित के लिए है। जो जीवों का हितकर है वह पितरों का भी ॥९॥

सुखकर हो कि उसको सुख दे सके। शान्तिमय हो जिससे उसको शान्ति हो। मार्ग में न हो, न आकाश अर्थात् खुली जगह में कि कहीं पाप आविर्भूत (प्रकट) न हो जाय ॥१०॥

गुहा में हो परन्तु ऊपर से धूप आती हो। गुहा में इसलिए कि पाप छिप जाय। धूप का इसलिए कि धूप पाप को हटानेवाली है। वह इससे पाप को दूर करता है या इसको सूर्य की ज्योति से युक्त करता है ॥११॥

ऐसे स्थान पर न बनावे जो यहाँ से (गाँव से) दिखाई देता हो, क्योंकि ऐसा करना इशारे से बुलाना है ; शीघ्र ही दूसरा भी चल देगा (अर्थात् घर में और मृत्यु हो जायगी) ॥१२॥

पीछे की ओर सुन्दर चीजें हों। सुन्दर (चित्र) का अर्थ है प्रजा या सन्तान। उसकी सन्तान सुन्दर होगी। यदि सुन्दर चीजें न हों तो पश्चिम या उत्तर की ओर जल हो। जल भी

क्वेव चित्रं चित्रᳪं हैवास्य प्रजा भवति ॥१३॥ ऊषरे करोति । रेतो वाऽऊषाः प्रजननं तदेनं प्रजननऽआभजत्येतद्ध वै पितरः प्रजननऽआभक्ता भवन्ति यदेषां प्रजा भवति प्रजा हास्य श्रेयसी भवति ॥१४॥ समूले । समूलᳪं हि पितॄणां वीरिणमिश्रमेतद्धास्याः पित्र्यमनतिरिक्तमथोऽअघमेव तद्धृ करोति ॥१५॥ न भूमिपाशमभिविदध्यात् । न शरं नाश्मगन्धां नाध्याण्डां न पृश्निपर्णीं नाश्वत्थस्मात्तिकं कुर्यान्न विभीतकस्य न तिल्वकस्य न स्फूर्जकस्य न हरिद्रोर्न न्यग्रोधस्य ये चान्ये पापनामानो मङ्गलोपेप्सया नाम्नामेव परिहाराय ॥१६॥ अथात आवृदेव । अग्निविधयाग्निचितः श्मशानं करोति यद्वै यजमानोऽग्निं चिनुतेऽमुष्मै तल्लोकाय यज्ञेनात्मानᳪं संस्कुरुतऽएतद्ध ह यज्ञियं कर्मासᳪंस्थितमा श्मशानकरणात्तद्यदग्निविधयाग्निचितः श्मशानं करोत्यग्निचित्यामेव तत्सᳪंस्थापयति ॥१७॥ तद्वै न महत्कुर्यात् । नेन्महदघं करवाणीति यावानपत्तपुच्छोऽग्निस्तावत्कुर्यादित्यु हैकऽआहुः समानो ह्यस्यैष आत्मा यथैवाग्निस्तथेति ॥१८॥ पुरुषमात्रं त्वेव कुर्यात् । तथापरस्माऽअवकाशं न करोति पश्चाद्वरीयः प्रजा वै पश्चात्प्रजामेव तद्वरीयसीं कुरुतऽउत्तरतो वर्षीयः प्रजा वाऽउत्तरा प्रजामेव तद्वर्षीयसीं कुरुते तद्विधायापसलविसृष्टाभि स्पन्द्याभिः पर्यातनोत्यपसलवि पित्र्यᳪं हि कर्म ॥१९॥ अथोद्धन्तवाऽआह । स यावत्येव निवप्स्यन्त्स्यात्तावदुद्धन्यात्पुरुषमात्रं त्वेवोद्धन्यात्तथापरस्माऽअवकाशं न करोत्यथोऽओषधिल्लोको वै पितर ओषधीनाᳪं ह मूलान्युपसर्पन्त्यथो नेदस्या अन्तर्हितोऽसदिति ॥२०॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [८. १.] ॥ ॥

अन्तर्धायो हैके निवपन्ति । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्मिंल्लोकेऽस्पर्धन्त ते देवा असुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यानस्माल्लोकादनुदन्त तस्माद्या दैव्यः प्रजा अनन्तर्हितानि ताः श्मशानानि कुर्वतेऽथ या आसुर्यः प्राच्यास्त्वद्ये त्वदन्तर्हितानि ते चम्वां त्वद्यस्मिंस्त्वत् ॥१॥ अथैनत्परिश्रिद्भिः परिश्रयति । या एवामूः परिश्रितस्ता

सुन्दर चीज है। इससे उसकी सन्तान सुन्दर होगी ॥१३॥

ऊषर भूमि में हो। ऊषा का अर्थ है वीर्य। इस प्रकार प्रजनन का प्रजनन में साक्षी बनाता है। इस प्रकार पितर उसके प्रजनन में साक्षी हो जाते हैं कि उनकी सन्तान हो। उसकी सन्तान श्रेयवाली होती है ॥१४॥

मूल (जड़ों) वाली भूमि में, क्योंकि मूलवाली भूमि पितरों की होती है। वे जड़ें वीरि नामी झाड़ी या दूसरी घास की हों। इससे इसमें पितरों का अधिक भाग न हो। इससे मृतक के पाप को बाँच देता (अर्थात् कम कर देता) है ॥१५॥

इन वृक्षों या झाड़ियों के पास न बनावे—भूमिपाश, शर, अश्मगंध, अध्याण्ड, पृश्निपर्णी, अश्वत्थ, बिभीतक, तिल्वक, स्फूर्जक, हरिद्रु, न्यग्रोध या कोई अन्य बुरे नाम के वृक्ष। मंगल नामों से अलग हटाने के लिए (अर्थात् मंगल नाम के वृक्ष हों) ॥१६॥

क्रम इस प्रकार है—अग्निचित् पुरुष का श्मशान वेदी के आकार का हो, क्योंकि जब यजमान वेदी चिनता है तो परलोक के लिए नया शरीर बनाता है। यज्ञिय कर्म उस समय तक पूरा नहीं होता, जब तक श्मशान न बने। अग्निचित् का श्मशान वेदी की आकृति का बनाता है, इससे अग्निचित्त्या को पूर्ण कर देता है ॥१७॥

बहुत बड़ी न बनावे कि कहीं पाप बड़ा न हो जाय। कुछ लोग कहते हैं कि इतना बड़ा हो जितनी वेदी होती है, पक्ष और पूँछ को छोड़कर; क्योंकि मृत (मनुष्य) का शरीर भी वेदी की आकृति का होता है ॥१८॥

शरीर के बराबर बनावे। दूसरे के लिए अवकाश नहीं छोड़ता। पीछे चौड़ा। जो पीछे (छूट जाती) है वह प्रजा होती है। इस प्रकार (मृतक की) सन्तान को वरीय या चौड़ी-चकली अर्थात् उत्कृष्ट बनाता है। उत्तर की ओर चौड़ी-चकली, क्योंकि सन्तान भी उत्तर (पीछे आने वाली) है। इस प्रकार सन्तान को श्रेष्ठ बनाता है। ऐसा करके वह उसको बटी हुई रस्सियों से बाँधता है। यह रस्सी दाईं ओर से बाईं ओर को बटी जाती है। पितरों का कर्म (अपसलवि) अर्थात् सूर्य की गति से विरुद्ध होता है ॥१९॥

अब वह भूमि खुदवाता है। जितना ऊँचा बनवाना हो उतना बनावे। परन्तु अच्छा तो यह है कि मनुष्य की लम्बाई के बराबर हो। इससे दूसरे के लिए अवकाश नहीं छोड़ता। एक तो ओषधिलोक ही पितर हैं। वे ओषधियों के मूलों में छिपते हैं। दूसरे, ऐसा न हो कि वह इस (पृथिवी) से (अन्तर्हित) अलग हो जाय ॥२०॥

पितृमेध-निरूपणम् (२)

अध्याय ८—ब्राह्मण २

कुछ लोग श्मशान के चारों ओर बाँध बना देते हैं। प्रजापति की सन्तान देव और असुर इस लोक के आधिपत्य के लिए लड़ने लगे। देवों ने अपने शत्रु दुष्ट असुरों को इस लोक से निकाल दिया। इसलिए जो सन्तान दैव्य या देवों के भक्त हैं, वे अपने श्मशानों को पृथिवी से मिलाकर बनाते हैं। और जो असुर या पूर्वी आदि लोग हैं वे पृथिवी से दूर किसी चमू आदि के किनारे ॥१॥

इसके चारों ओर पत्थरों की परिधि या परिश्रित बनाता है। जैसे वेदी के परिश्रित होते

एता यजुषा ताः परिश्रयति तूष्णीमिमा दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोत्यपरिमि-
ताः परिमितो ह्यसौ लोकः ॥२॥ अथैनत्पलाशशाखया व्युदूहति । यदेवादो
व्युदूहनं तदेतदपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयव इति पणीनेवैतदसुम्नान्देवपी-
यूनसुररक्षसान्यस्माल्लोकादपहन्त्यस्य लोकः सुतावत इति सुतवान्हि य ईजानो
द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तमिति तदेनमृतुभिश्चाहोरात्रैश्च सलोकं करोति ॥३॥ यमो
ददात्ववसानमस्माऽइति । यमो ह वाऽअस्यामवसानस्येष्टे तमेवास्माऽअस्याम-
वसानं याचति तां दक्षिणोदस्यत्युदगितरां दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोति ॥४॥
अथ दक्षिणतः सीरं युनक्ति । उत्तरत इत्यु हैकऽआहुः स यथा कामयेत तथा
कुर्याद्युक्त्वेति सम्प्रेष्याभिमन्त्रयते सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छत्विति स-
वितैवास्यैतच्छरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छति तस्मै युज्यन्तामुस्रिया इत्येतस्माऽउ
हि कर्मणाऽउस्रिया युज्यन्ते ॥५॥ षड्गवं भवति । षडृतवः संवत्सर ऋतुष्वेवैनमे-
तत्संवत्सरे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तदपसलवि पर्यावृत्योत्तरतः प्रतीचीं प्रथ-
माꣳ सीतां कृषति वायुः पुनात्विति सविता पुनात्विति जघनार्धेन दक्षिणाग्नेर्भ्रा-
जसेति दक्षिणार्धेन प्राचीꣳ सूर्यस्य वर्चसेत्यग्रेणोदीचीम् ॥६॥ ॥ शतम् ६८०० ॥ ॥
चतस्रः सीता यजुषा कृषति । चतसृषु दिक्ष्वन्नं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति
तद्धि यजुषाद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमा दिशः ॥७॥ अथात्मानं विकृषति । त-
द्यदेव संवत्सरेऽन्नं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति तूष्णीमपरिमिताभिरपरिमितो
ह्यसौ लोकः ॥८॥ अथैनद्विमुञ्चति । कृत्वा तत्कर्म यस्मै कर्मणाऽएनद्युङ्क्ते विमु-
च्यन्तामुस्रिया इत्येतस्माऽउ हि कर्मणाऽउस्रिया युज्यन्ते तद्दक्षिणोदस्यत्युदगित-
रद्दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोति ॥९॥ ब्राह्मणम् ॥५ [८. २.] ॥ ॥

अथ सर्वौषधं वपति । यदेवादः सर्वौषधं तदेतद्दक्षीभिस्तद्वपत्येकयेदं दैवं चैव
तत्पित्र्यं च व्याकरोत्यश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृतेति ज्योग्जीवातुमे-

हैं वैसे ही यहाँ के। यजु-मंत्र पढ़कर उनको लगाता है। चुपचाप, इस प्रकार देवताओं के कार्य और पितरों के कार्यों में भेद कर देता है। बिना गिनती के, क्योंकि परलोक अपरिमित है ॥२॥

इसमें पलाश-शाखा से झाड़ू देता है। गार्हपत्य अग्नि में जैसे झाड़ू दी गई वैसे ही यहाँ पर भी इस मंत्र से—"अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः" (यजु० ३५।१)—"देवों की हिंसा करनेवाले, दुःखदायी पणि या असुर यहाँ से दूर हों।" इन दुष्ट असुरों को इस लोक से निकालता है। "अस्य लोकः सुतावतः"(यजु० ३५।१)—"इसका लोक सोम यज्ञ करनेवालों का है।" 'सुत-वान्' वह है जो यज्ञ करे। "द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तम्" (यजु० ३५।१)—"प्रकाशों, दिनों, तथा रातों द्वारा व्यक्त।" इस प्रकार इसको ऋतुओं, दिनों तथा रातों का सलोक बनाता है ॥३॥

"यमो ददात्ववसानमस्मै" (यजु० ३५।१)—"यम उसको स्थान दे" क्योंकि इस पृथिवी पर स्थानों का ईश यम है। इस मृतक के स्थान के लिए भी उसी की याचना करता है। झाड़ू की शाखा में से एक को दक्षिण को फेंक देता है, दूसरी को उत्तर को। इस प्रकार देवकर्म और पितृकर्म में भेद कर देता है ॥४॥

अब (अध्वर्यु) दक्षिण की ओर हल जोतता है। कुछ की राय है कि उत्तर की ओर। जैसी इच्छा हो वैसा करे। 'जोत !' ऐसा आदेश देकर इस मंत्र को पढ़ता है—"सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु"(यजु० ३५।२)—"तेरे शरीरों के लिए सविता पृथिवी में स्थान की इच्छा करे।" सविता अवश्य ही पृथिवी में इस मृतक शरीर के स्थान के लिए इच्छा करता है। "तस्मै युज्यन्तामुस्रियः' (यजु० ३५।२)—'उस्रियः' अर्थात् बैल, जुताई के लिए ही जोते जाते हैं ॥५॥

छः बैल होते हैं। संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। इस प्रकार इसको ऋतुओं में, संवत्सर में प्रतिष्ठित करता है। 'अपसलवि' अर्थात् सूर्य की गति के विरुद्ध दिशा में दाईं ओर से बाईं ओर मुड़कर पहला कूँड बनाता है इस मंत्र से—"वायुः पुनातु" (यजु० ३५।३)—"सविता पुनातु" (यजु० ३५।३)—इस मंत्र से पश्चिम में दक्षिण की ओर। "अग्नेर्भ्राजसा" (यजु० ३५।३) से दक्षिण में पूर्व की ओर। "सूर्यस्य वर्चसा" (यजु० ३५।३) से 'आगे उत्तर की ओर' ॥६॥

यजु से चार कूँड बनाता है। इस प्रकार चार दिशाओं में जो अन्न है उसमें इसको स्थापित करता है। यजु से क्यों ? यजु निश्चित है, ये दिशाएँ भी निश्चित हैं ॥७॥

श्मशान के बीच में होकर जोतता है। इस प्रकार जो अन्न संवत्सर में है उसमें उसको प्रतिष्ठित करता है, चुपके से। कूँड अपरिमित होते हैं क्योंकि परलोक अपरिमित है ॥८॥

जिस कर्म को करने के लिए बैलों को हल में जोता था, उसके समाप्त होने पर उन बैलों को खोलता है। वह कहता है—"वि मुच्यन्तामुस्रियाः" (यजु० ३५।३)—क्योंकि इसी काम के लिए बैल जोते गए थे। बैलों को दक्षिण की ओर खोलता है। अन्य अवस्थाओं में उत्तर की ओर (जैसे अग्निचयन में उत्तर की ओर)। इस प्रकार देवकर्म और पितृकर्म में भेद करता है ॥९॥

पितृमेधनिरूपणम् (३)

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

अब सब ओषधियों को बोता है। जो अन्यत्र फल है वह वहाँ भी (देखो ७।२।४।१४)। अन्यत्र बहुत मंत्रों से बोया था, यहाँ एक मन्त्र से। इस प्रकार देवकर्म और पितृकर्म में भेद करता है। मंत्र यह है—"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता" (यजु० ३५।४)—"अश्वत्थ में तुम्हारा घर है, पर्ण में तुम्हारी वसति है।" इन (यजमान के परिवार) की दीर्घ आयु के लिए

वैभ्य एतदाशास्ते तथो हैषामेकैकोऽपरो जरसानुप्रैति ॥१॥ अथैनन्निवपति । इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठास्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति पुरादित्यस्योदयात्तिर्-इव वै पितरस्तिर्-इव रात्रिस्तिर् एव तत्करोति यथा कुर्वतोऽभ्युदियात्तदेनमुभयोरह्नोरात्र्योः प्रतिष्ठापयति ॥२॥ सविता ते शरीराणि । मातुरुपस्थऽआवपत्विति सवितैवास्यैतच्छरीराण्यस्यै पृथिव्यै मातुरुपस्थऽआवपति तस्यै पृथिवि शं भवेति यथैवास्माऽइयꣳ शꣳ स्यादेवमेतदाह प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसाविति नाम गृह्णात्ययं वै लोक उपोदकस्तदेनं प्रजापतौ देवतायामुपोदके लोके निदधाति ॥३॥ अथ कंचिदाह । एतां दिशमनवानन्त्सृत्वा कुम्भं प्रत्नीयानपेक्षमाण एहीति तत्र जपति परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यस्ते ऽअन्य इतरो देवयानात् चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरानिति ज्योग्जीवातुमेवैभ्य एतदाशास्ते तथो हैषामेकैकोऽपरो जरसानुप्रैति ॥४॥ अथैनं यथाङ्गं कल्पयति । शं वातः शꣳ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभिशूशुचन् कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वा इत्येतदेवास्मै सर्वं कल्पयत्येतदस्मै शिवं करोति ॥५॥ अथ त्रयोदश पादमात्र्य इष्टका अलक्षणाः कृता भवन्ति । या एवामूरग्नाविष्टकास्ता एता यजुषा ता उपदधाति तूष्णीमिमा दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोति ॥६॥ त्रयोदश भवन्ति । त्रयोदश मासाः संवत्सर ऋतुष्वेवैनमेतत्संवत्सरे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥७॥ पादमात्र्यो भवन्ति । प्रतिष्ठा वै पादः प्रतिष्ठामेवास्मै करोत्यलक्षणा भवन्ति तिर् इव वै पितरस्तिर्-इव तद्यदलक्षणं तिर एव तत्तिरः करोति ॥८॥ तासामेकां मध्ये प्राचीमुपदधाति । स आत्मा तिस्रः पुरस्तान्मूर्धसꣳहितास्तच्छिरस्तिस्रो दक्षिणतः स दक्षिणः पक्षस्तिस्र उत्तरतः स उत्तरः पक्षस्तिस्रः पश्चात्त-

प्रार्थना करता है। अब इनमें से हर एक बड़ी आयु में मरता है ॥१॥

अब इन (अस्थियों) को गाड़ता है। यह पृथिवी प्रतिष्ठा या बुनियाद है। उसको इसी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करता है, सूर्योदय से पहले, क्योंकि पितर छिपे हुए हैं, रात भी छिपी हुई है। छिपा हुआ वह यह काम करता है इस प्रकार कि सूर्य उसको करते हुए उसपर चमके। इस प्रकार वह उसको रात और दिन दोनों में प्रतिष्ठित करता है ॥२॥

इन मंत्रों से—"सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आ ऽ वपतु। तस्मै पृथिवि शं भव ॥ प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम्" (यजु० ३५।५-६)—अर्थात् "सविता इसकी अस्थियों को पृथिवी माता की कोख में बोता है। पृथिवी उसके लिए हितकर हो।" वह मृत पुरुष का नाम लेकर कहता है कि "मैं तुझे प्रजापति देवता में स्थापित करता हूँ, जल के निकट।" क्योंकि पृथिवी जल के निकट है। इस प्रकार वह इसको जल के निकट प्रजापति देवता में स्थापित करता है ॥३॥

अब किसी से कहता है, 'इस (दक्षिण) दिशा में बिना मुड़े जाकर घड़े को फेंक आ और बिना पीछे मुड़े हुए लौट आ।' अब यह मंत्र जपता है—"परं मृत्यो ऽ अनु परेहि पन्थां यस्ते ऽ अन्य ऽ इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाँ᳖ रीरिषो मोत वीरान्" (यजु० ३५।७)—"हे मृत्यु ! तू उस रास्ते जा जो देवमार्ग से भिन्न है। आँखवाले और कानवाले तुझसे मैं कहता हूँ। हमारी संतान को मत सता ! न वीरों को।" उनकी दीर्घायु के लिए प्रार्थना करता है और इनमें से हर एक बड़ी आयु में मरता है ॥४॥

अब इस (मृतक) की अंग-अंग से कल्पना करता है—"शं वातः शँ᳭ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः। शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्" "कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिधवः। अन्तरिक्षँ᳭ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः"(यजु० ३५।८-९)—"वायु शं हो, धूप शं हों, ईटें शं हो, अग्नियाँ शं हों, पृथिवी की चीजें तुझे न जलावें।" "दिशाएँ तेरे अनुकूल हों। जल तेरे लिए कल्याणकारी हों, नदियाँ भी। अन्तरिक्ष कल्याणकारी हो। सब दिशाएँ कल्याणकारी हों।" उसके लिए इन सबको अनुकूल बनाता है। सबको कल्याणकारी बनाता है ॥५॥

तेरह फुटभर की ईंटें बिना रेखाओं के बनाई जाती हैं। वे वेदी की ईंटों के समान होती हैं (भेद केवल इतना होता है कि वेदी की ईंटों में रेखा होती हैं)। उन (वेदी की ईंटों) को यजुमन्त्र पढ़कर रखते हैं, इनको चुपके से। इस प्रकार देवकर्म और पितृकर्म में भेद होता है ॥६॥

तेरह होती हैं। वर्ष में तेरह मास होते हैं। इस प्रकार वह इसको ऋतुओं में और संवत्सर में प्रतिष्ठित करता है ॥७॥

वे फुटभर की होती हैं। फुट (पाद) प्रतिष्ठा है। इस प्रकार उसके लिए प्रतिष्ठा बनाता है। उन पर लक्षण या रेखाएँ नहीं होतीं, क्योंकि पितर छिपे हुए (तिरोभूत) होते हैं। जो अलक्षण होता है, वह भी तिरोभूत होता है। इस प्रकार जो तिरोभूत है उसको तिरोभूत करता है ॥८॥

उनमें से एक को मध्य में रखता है, सामने का पहलू पूर्व की ओर करके। वह आत्मा या धड़ है। तीन आगे को सिर के स्थान में, तीन दाईं ओर दायें पक्ष के स्थान में, तीन बाईं ओर बायें पक्ष के स्थान में, तीन पीछे पूँछ के स्थान में।

त्युहꣳ सोऽस्यैष पक्षपुच्छवानात्मा यथैवाग्नेस्तथा ॥९॥ अथ प्रदरात्पुरीषमाहर्तवा ऽआह । एतद्वास्याः पित्र्यमनतिरिक्तमथाऽअघमेव तद्ध करोत्यस्मिन्नु हैकेऽवान्तरदेशे कर्षूं खात्वा ततोऽभ्याहारं कुर्वन्ति परिकृषन्त्यु हैके दक्षिणतः पश्चादुत्तरतस्ततोऽभ्याहारं कुर्वन्ति स यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥१०॥ तद्वै न महत्कुर्यात् । नेन्महदघं करवाणीति यावानुद्बाहुः पुरुषस्तावत्क्षत्रियस्य कुर्यान्मुखदघ्नं ब्राह्मणस्योपस्थदघ्नꣳ स्त्रिया ऊरुदघ्नं वैश्यस्याष्ठीवद्दघ्नꣳ शूद्रस्यैवंवीर्या ह्येत ऽइति ॥११॥ अथोजानु त्वेव कुर्यात् । तथापरस्मा ऽअवकाशं न करोति तस्य क्रियमाणस्य तेजनीमुत्तरतो धारयन्ति प्रजा ह सा प्रजामेव तदुत्तरतो धारयन्ति तां न न्यस्येद्धृत्वा वैनामूह्या वा गृहेषूच्छ्रयेत्प्रजामेव तद्गृहेषूच्छ्रयति ॥१२॥ कृत्वा यवान्वपति । अघं मे यवयानित्यवकाभिः प्रच्छादयति कं मेऽसदिति दर्भैः प्रच्छादयत्यदूक्षतायै ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥६ [८. ३.] ॥ ॥

अथैनच्छङ्कुभिः परिणिहन्ति । पालाशं पुरस्ताद्ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मपुरोगवमेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयति शमीमयमुत्तरतः शं मेऽसदिति वारणं पश्चादघं मे वारयाताऽइति वृत्रशङ्कुं दक्षिणतोऽघस्यैवानत्ययाय ॥१॥ अथ दक्षिणतः परिकर्षू खनन्ति । ते क्षीरेण चोदकेन च पूरयन्ति ते हैनममुष्मिंल्लोकेऽक्षिते कुल्ये ऽउपधावतः सप्तोत्तरतस्ता उदकेन पूरयन्ति न ह वै सप्त स्रवन्तीरघमत्येतुमर्हत्यघस्यैवानत्ययाय ॥२॥ अश्मनस्त्रींस्त्रीन्प्रकिरन्ति । ता अभ्युत्तरन्त्यश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत सखायः अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥३॥ अपामार्गैरपमृजते । अघमेव तदपमृजतेऽपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥४॥ यत्रोदकं भवति तत्स्नान्ति । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलिनाप उपाचति वज्रो वाऽआपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं

इस प्रकार यह उसका पक्ष और पूँछसहित शरीर बन गया। यह बिल्कुल वेदी जैसा है ॥९॥

अब किसी खोह में से पुरीष(मिट्टी) मँगाता है। इस प्रकार पितरों का पृथिवी में अधिक भाग नहीं होने देता और न उस (मृतक) के पाप को बढ़ने देता है। कोई-कोई तो अवान्तर देश (दक्षिण-पूर्व) में खोदकर वहाँ से लाते हैं, कुछ दक्षिण-पश्चिम में। फिर उत्तर की ओर ले जाते हैं। जैसी इच्छा हो वैसा करे ॥१०॥

बड़ी न बनावे, कहीं मृतक का पाप न बढ़ जाय। क्षत्रिय का इतना बड़ा जितना मनुष्य की भुजाएँ ऊपर को बढ़ाकर होता है। ब्राह्मण का मुँह तक. स्त्री का कमर तक, वैश्य का जाँघ तक, शूद्र का घुटने तक, क्योंकि इनका पराक्रम इतना ही है ॥११॥

जानु के नीचे तक बनावे। इस प्रकार दूसरे के लिए स्थान नहीं छोड़ता। जब वह श्मशान बनाया जा रहा हो उसके उत्तर की ओर एक घास का बण्डल उठाते हैं। यह प्रजा है। इस प्रकार मृतक की सन्तान को ऊपर उठाते हैं। उसको लाकर या उठाकर फेंक न दे, घर में रक्खे। इस प्रकार घर में प्रजा को रखता है ॥१२॥

इसको बनाकर वह जौ बोता है, "जिससे मेरे पाप को 'यवय' अर्थात् दूर करे।" 'अवका' वृक्ष से ढकता है कि "मेरे लिए 'क' या सुख हो।" दर्भ घास से ढकता है कि रूक्ष (रूखापन) न हो ॥१३॥

पितृमेधनिरूपणम् (४)

अध्याय ८—ब्राह्मण ४

अब शंकु या खूँटियाँ गाड़ते हैं, सामने पलाश की। पलाश ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म को अगुआ करके उसको स्वर्ग भेजता है। उत्तर की ओर शमी की कि उसे 'शं' या शान्ति हो। पीछे वरण की कि उसका पाप दूर हो जाय। दाईं ओर वृत्र वृक्ष की जिससे पाप आगे न बढ़े ॥१॥

दाहिनी ओर दो वक्र या टेढ़ी खाइयाँ खोदते हैं, उनमें दूध और जल भरते हैं। ये दो अक्षय कुलियाँ हैं जो उस लोक में बहती हैं। बाईं ओर सात खोदते हैं और उनको पानी से भरते भरते हैं कि पाप आगे न बढ़े। क्योंकि पाप सात नदियों से पार नहीं जाता ॥२॥

इन (बाईं खाइयों में) तीन-तीन पत्थर डालते हैं और उनको तरते हैं, इस मन्त्र से—"अश्वमन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः। अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्"(यजु० ३५।१०; ऋ० १०।५३।८)—"हे मित्रो! पत्थरवाला तैर रहा है। सँभले रहो। उठो, तरो, अकल्याणकारी आत्माओं को हम यहाँ पीछे छोड़ते हैं, और कल्याणकारी अन्नों तक तैरकर जाते हैं ॥३॥

अपामार्ग वृक्ष से अपने को शुद्ध करते हैं। इससे वे पाप से छूटते हैं (अप+मर्ज) इस मंत्र को पढ़के—"अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव"(यजु० ३५।११)—"हे अपामार्ग! तू पाप, दोष, बुरे कर्म, दुर्बलता तथा बुरे स्वप्न को हमसे दूर कर।" अर्थ स्पष्ट है ॥४॥

जहाँ पानी होता है वहाँ नहाते हैं—"सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु" (यजु० ३५।१२)"जल और ओषधि हमारे मित्र हों।" अंजलि में पानी भरता है। पानी वज्र है।

कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात्तां दिशं परासिञ्चेत्तेनैव तं पराभावयति ॥५॥ स यदि स्थावरा आपो भवन्ति । स्थापयन्त्येषां पाप्मानमथ यदि वहन्ति वहन्त्येवैषां पाप्मान७ स्नात्वाह-तानि वासा७सि परिधायानडुहः पुच्छमन्वारभ्यायन्त्याग्नेयो वाऽअनड्वानग्निमुखा एव तत्पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायन्त्यथोऽअग्निर्वै पथोऽतिवोढा स एनानतिव-हति ॥६॥ उद्वयं तमसस्परीति । एतामृचं जपन्तो यन्ति तत्तमसः पितृलोकादा दित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति तेभ्य आगतेभ्य आञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छन्त्येष ह मानुषोऽलङ्का-रस्तेनैव तं मृत्युमन्तर्दधते ॥७॥ अथ गृहेष्वग्नि७ समाधाय । वारणान्परिधीन्परि-धाय वारणेन स्रुवेणाग्नयऽआयुष्मतऽआहुतिं जुहोत्यग्निर्वाऽआयुष्मानायुष ईष्टे तमेवैभ्य आयुर्याचत्यग्नऽआयू७षि पवसऽइति पुरोऽनुवाक्याभाजनम् ॥८॥ अथ जुहोति । आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान्त्स्वाहेति यथैवैनानभिरक्षेद्यथाभिगो-पायेदेवमेतदाह ॥९॥ तस्य पुराणोऽनड्वान्दक्षिणा । पुराणा यवाः पुराण्यासन्दी सोपबर्हणैषा न्वादिष्टा दक्षिणा कामं यथाश्रद्धं भूयसीर्दद्यादिति न्वग्निचितः ॥१०॥ अथानग्निचितः । एतदेव भूमिजोषणमेतत्समानं कर्म यदन्यदग्निकर्मणः कुर्या-दाहिताग्नेः शर्करा इत्यु हैकऽआहुर्या एवामूरग्न्याधेयशर्करास्ता एता इति न कु-र्यादित्येकऽईश्वरो हैता अनग्निचित७ संतप्तोरिति स यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥११॥ मर्यादायाऽएव लोष्टमाहृत्य । अन्तरेण निदधातीमं जीवेभ्यः परिधिं द-धामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम् शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेनेति जीवेभ्यश्चैवैतां पितृभ्यश्च मर्यादां करोत्यसम्भेदाय तस्माद्ध हैतज्जीवाश्च पितरश्च न संदृश्यन्ते ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥७ [८. ४.] ॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डि-कासंख्या१०० ॥ ॥ अष्टमोऽध्यायः [११.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या४३२ ॥ ॥ इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणेऽश्वमेधनाम त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

इस प्रकार वज्र से मित्रता करता है। "दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० ३५।१२)—"उनके लिए शत्रु हों जिनसे हम द्वेष करते हैं, या जो हमसे द्वेष करते हैं।" जिस दिशा में उसका शत्रु रहता है उस दिशा में उसको फेंकता है और इस प्रकार उसको पराजित करता है ॥५॥

यदि वह जल ठहरा हुआ हो तो (नहानेवालों के) पापों को ठहरा देगा और यदि बहता हुआ तो बहा देगा। स्नान करके बिना धुले हुए कपड़ों को पहनकर बैल की पूँछ पकड़कर घर आते हैं। बैल अग्नि का है। इस प्रकार अग्निमुख होकर वे पितृलोक से जीवलोक में आते हैं। अग्नि ही मार्ग में नेता है। अग्नि ही इनको ले जाता है। (शायद यजु० ३५।१३ का जप भी हो, परन्तु यहाँ लिखा नहीं है) ॥६॥

वे इस मन्त्र को पढ़कर (घर की ओर) आते हैं—"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽ उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योत्तिरुत्तमम्" (यजु० ३५।१४)—"अन्धकार अर्थात् पितृलोक से चलकर प्रकाशमय आदित्य की ओर आते हैं।" जब वे आते हैं तो उनको अंजन और म्हावर(आँख के लिए अंजन और पैर के लिए म्हावर) दिये जाते हैं। ये मनुष्यों के अलंकार हैं। इनसे वे अपने से मृत्यु को दूर रखते हैं ॥७॥

अब घरों में अग्नि आधान करके वरण वृक्ष की परिधियाँ रखता है और वरण के ही स्रुवा से 'अग्नि-आयुष्मत्' के लिए आहुतियाँ देता है। आयु के ऊपर अग्नि-आयुष्मत् का अधिकार है। वह उसीसे (यजमान के परिवार की) आयु के लिए प्रार्थना करता है, इस मन्त्र से—"अग्न ऽ आयूँषि पवस ऽ आ सुवोर्जमिषं च नः" (यजु० ३५।१६)—यह पुरोऽनुवाक्य है ॥८॥

वह इस मन्त्र से आहुति देता है—"आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि। घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा" (यजु० ३५।१७)—यह इसलिए कहता है कि इन लोगों की रक्षा अग्नि करे ॥९॥

इसकी दक्षिणा है बूढ़ा बैल। पुराने जौ, पुरानी चौकी गद्दीदार, यह नियत दक्षिणा है, अधिक चाहे तो अधिक देवे। यह उसके विषय में है जिसने अग्नि-चयन किया हो (अर्थात् यज्ञ किया हो) ॥१०॥

जो अग्निचित् नहीं है, उसके लिए भूमि की खोज उसी प्रकार से है, और कर्म भी समान हैं; केवल वेदी नहीं बनाई जाती। कुछ लोग कहते हैं कि 'आहिताग्नि पुरुष के लिए (ईंटों के बजाय) कंकड़ इस्तेमाल करे। यह तो वही है जो अग्नि-आधेय के हैं।' कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा न करना चाहिए, क्योंकि जो अग्निचित् नहीं है, उसके लिए यज्ञ भारी होगा! परन्तु जैसा चाहे वैसा करे ॥११॥

सीमा से ढेला लाकर गाँव और श्मशान के बीच स्थापित करता है, इस मन्त्र से—"इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो ऽ अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन" (यजु० ३५।१५)—"मैं इसको जीवितों के लिए परिधि बनाता हूँ कि कोई और जीवित उधर न जाय। सौ वर्ष तक जीवे और पहाड़ के द्वारा अपने से दूर करे।" इसको जीवित और पितृलोक के बीच में सीमा बनाता है जिससे मिल न जायँ और न जीवित तथा पितर एक-दूसरे को देख सकें ॥१२॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत 'रत्नकुमारी-दीपिका' भाषा व्याख्या का अश्वमेधनाम त्रयोदशकाण्ड समाप्त हुआ।

त्रयोदश काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [१३.२.६]	१०८
द्वितीय [१३.४.२]	११८
तृतीय १३.५.४.]	१०६
चतुर्थ [१३.८.४]	१००
	४३२
पूर्व के काण्डों का योग	६३९७
पूर्णयोग	६८२९

ओम् । देवा ह वै सत्त्रं निषेदुः । अग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वे देवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम् ॥१॥ तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास । तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनमिति तस्माद्यत्र क्व च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तदेव मन्यतऽइदं देवयजनमिति तद्धि देवानां देवयजनम् ॥२॥ तऽआसत । श्रियं गच्छेम यशः स्यामान्नादाः स्यामेति तथोऽएवेमे सत्त्रमासते श्रियं गच्छेम यशः स्यामान्नादाः स्यामेति ॥३॥ ते होचुः । यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिर्यज्ञस्योदृचं पूर्वोऽवगच्छात्स नः श्रेष्ठोऽसत्तदु नः सर्वेषाꣳ सहेति तथेति ॥४॥ तद्विष्णुः प्रथमः प्राप । स देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवत्तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानाꣳ श्रेष्ठ इति ॥५॥ स यः स विष्णुर्यज्ञः स । स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यस्तद्धेदं यशो विष्णुर्न शशाक संयन्तुं तदिदमप्येतर्हि नैव सर्व इव यशः शक्नोति संयन्तुम् ॥६॥ स तिसृधन्वमादायापचक्राम । स धनुरार्त्न्या शिर उपस्तभ्य तस्थौ तं देवा अनभिधृष्णुवन्तः समन्तं परिण्यविशन्त ॥७॥ ता ह वम्र्य ऊचुः । इमा वै वम्र्यो यदुपदीका योऽस्य ज्यामप्यद्यात्किमस्मै प्रयच्छेतेत्यन्नाद्यमस्मै प्रयच्छेमापि धन्वन्नपोऽधिगच्छेत्तथास्मै सर्वमन्नाद्यं प्रयच्छेमेति तथेति ॥८॥ तस्योपपरासृत्य । ज्यामपिजक्षुस्तस्यां छिन्नायां धनुरार्त्न्यौ विष्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः ॥९॥ तद्घृङ्ङिति पपात । तत्पतित्वासावादित्योऽभवदथेतरः प्राङेव प्रावृज्यत तद्यद्घृङ्ङित्यपतत्तस्माद्घर्मोऽथ यत्प्रावृज्यत तस्मात्प्रवर्ग्यः ॥१०॥ ते देवा अब्रुवन् । महान्बत नो वीरोऽपादीति तस्मान्महावीरस्तस्य यो रसो व्यक्षरत्तं पाणिभिः संममृजुस्तस्मात्सम्राट् ॥११॥

चतुर्दश काण्ड

अथोपनिषन्नाम चतुर्दशं काण्डम्

धर्मोपक्रमः

अध्याय १—ब्राह्मण १

दोनों अश्विनों को छोड़कर अन्य देवताओं ने सत्र (यज्ञ) रचा, अर्थात् अग्नि, इन्द्र, सोम, मख, विष्णु तथा विश्वेदेवों ने ॥१॥

कुरुक्षेत्र उनका यज्ञ-स्थान था। इसीलिए कहावत है कि कुरुक्षेत्र देवों का यज्ञ-स्थान है। इसीलिए जब कोई कुरुक्षेत्र में बसता है तो वह समझता है कि यह देवों का यज्ञ-स्थान है, क्योंकि वह देवों का यज्ञ-स्थान था ॥२॥

उन्होंने यज्ञ किया कि हम श्रीमान् हो जायँ, यशस्वी हो जायँ, अन्न के खानेवाले हो जायँ। इसी प्रकार ये लोग भी सत्र रचते हैं कि हमको श्री प्राप्त हो, हम यशस्वी हो जायँ, अन्नाद हो जायँ ॥३॥

वे बोले, 'हममें से जो श्रम, तप, श्रद्धा, यज्ञ, आहुतियों द्वारा यज्ञ को पहले पूर्ण कर लेगा वह हममें सबसे श्रेष्ठ और हम सबका साथी हो जाएगा।' उन्होंने कहा, 'अच्छा' ॥४॥

विष्णु ने सबसे पहले यज्ञ पूर्ण किया। वह देवों में श्रेष्ठ हो गया। इसलिए कहते हैं कि विष्णु देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं ॥५॥

यह जो विष्णु है वह यज्ञ है और जो यज्ञ है वह आदित्य है। परन्तु विष्णु इस यश को संयत न कर सका। इसी प्रकार अब भी सब कोई इस यज्ञ को संयत करने में समर्थ नहीं है ॥६॥

वह तीन सिरों सहित धनुष लेकर चला। वह धनुष के सहारे सिर रखकर खड़ा हुआ। देव उसपर आक्रमण करने में असमर्थ होकर चारों ओर बैठ गये ॥७॥

चींटियों ने कहा, 'यह उपदीका चींटी थीं। जो इसकी डोरी को काट डाले उसको तुम क्या दोगे?' 'उसके लिए अन्न देंगे। वह रेगिस्तान में भी जल पा जायगा। हम उसको सब प्रकार के भोजन का आनन्द देंगे।' वे बोलीं, 'अच्छा।' ॥८॥

उसके पास जाकर उन्होंने उसके धनुष की डोरी काट डाली। जब वह डोरी कटी तो धनुष के सिरे उछल गये और विष्णु का सिर कट गया ॥९॥

वह 'घृङ्' ऐसा शब्द कहकर गिर पड़ा और गिरकर आदित्य बन गया। शेष शरीर पूर्व की ओर जा पड़ा और 'घृङ्' शब्द करके गिरा। इससे घर्म (धूप) हुई। चूँकि यह पड़ा रहा (प्रवृज्य) इसलिए यह 'प्रवर्ग्य' हुआ ॥१०॥

देव बोले, 'हमारा बड़ा वीर गिर पड़ा।' इसलिए 'महावीर' नाम पड़ा (पात्र का)। जो उसका रस बहा उसको उन्होंने हाथों से पोंछ लिया (संममृजुः), इसलिए सम्राट् (सोम राजा का) नाम पड़ा ॥११॥

तं देवा अभ्यमृष्यन्त । यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवं तमिन्द्रः प्रथमः प्राप तमन्वङ्ग-मनुन्यपद्यत तं पर्यगृह्णंस्तं परिगृह्येदं यशोऽभवद्यदिदमिन्द्रो यशो यशो ह भवति य एवं वेद ॥१२॥ स उ एव मखः स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवन्मखवान्ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः ॥१३॥ ताभ्यो वम्रीभ्योऽन्नाद्यं प्रायच्छन् । आपो वै सर्वमन्नं ताभिर्हीदमभिक्नूयमिवादन्ति यदिदं किञ्चादन्ति ॥१४॥ अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त । वसवः प्रातःसवनᳬ रुद्रा माध्यन्दिनᳬ सवनमादित्यास्तृतीयसवनम् ॥१५॥ अग्निः प्रातःसवनम् इन्द्रो माध्यन्दिनᳬ सवनं विश्वे देवास्तृतीयसवनम् ॥१६॥ गायत्री प्रातःसवनम् । त्रिष्टुम्माध्यन्दिनᳬ सवनं जगती तृतीयसवनं तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः ॥१७॥ दध्यङ् ह वाऽआथर्वणः । एतᳬ शुक्रमेतं यज्ञं विदां चकार यथा-यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति ॥१८॥ स हेन्द्रेणोक्त आस । एतं चेदन्यस्माऽअनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति ॥१९॥ तद्ध हाश्विनोरनुश्रुतमास । दध्यङ्ङु ह वाऽआथर्वण एतᳬ शुक्रमेतं यज्ञं वेद यथा-यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति ॥२०॥ तौ हेत्योचतुः । उप त्वायावेति किमनुवक्ष्यमाणावित्येतᳬ शुक्रमेतं यज्ञं यथा-यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवतीति ॥२१॥ स होवाच । इन्द्रेण वाऽउक्तोऽस्म्येतं चेदन्यस्माऽअनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति तस्माद्वै बिभेमि यद्वै मे स शिरो न छिन्द्यान्न वामुपनेष्यऽइति ॥२२॥ तौ होचतुः । आवां त्वा तस्मात्त्रास्यावहऽइति कथं मा त्रास्येथेऽइति यदा नाऽउपनेष्यसेऽथ ते शिरश्छित्वान्यत्रापनिधास्यावोऽथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावस्तेन नावनुवक्ष्यसि स यदा नावनुवक्ष्यस्यथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यत्यथ ते स्वᳬ शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति तथेति ॥२३॥ तौ होपनिन्ये । तौ यदोपनिन्येऽथास्य शिर

देव उसके पास दौड़े, जैसे धन के इच्छुक दौड़ते हैं। इन्द्र पहले पहुँचा। वह उससे अंग-अंग से चिपट गया और उसको घेर लिया। घेर लेने से वह उसका यश बन गया। जो इस रहस्य को जानता है वह उस यश का भागी होता है जो इन्द्र को प्राप्त है ॥१२॥

मख वही है जो विष्णु। इसलिए इन्द्र मखवा हो गया। मखवा का परोक्ष रूप मघवा है। देव परोक्षप्रिय होते हैं ॥१३॥

उन्होंने उन चींटियों को अन्न का आनन्द दिया। परन्तु जल ही सब अन्न है। यहाँ जो कुछ खाते हैं जल से गीला करके ही खाते हैं ॥१४॥

इस विष्णु या यज्ञ को देवों ने तीन भागों में बाँटा। वसुओं ने प्रातःसवन किया, रुद्रों ने दोपहर का सवन, और आदित्यों ने सायंकाल का सवन ॥१५॥

अग्नि ने प्रातःसवन लिया, इन्द्र ने दोपहर का सवन और विश्वेदेवों ने तीसरा सवन ॥१६॥

गायत्री पहला सवन है, त्रिष्टुप् दोपहर का सवन और जगती तीसरा सवन। उस बिना सिर के यज्ञ के लिए देव पूजा तथा श्रम करते रहे ॥१७॥

दध्यङ् आथर्वण इस शुक्र या यज्ञ को जानता था कि किस प्रकार सिर फिर जुड़े, किस प्रकार यज्ञ पूरा हो ॥१८॥

इन्द्र ने उससे कहा, 'यदि तू इसको किसी और को बतायेगा तो तेरा सिर काट लूँगा' ॥१९॥

अश्विनों ने यह बात सुनी। दध्यङ् आथर्वण इस शुक्र या यज्ञ को जानता है कि कैसे सिर फिर जुड़े और यज्ञ पूरा हो ॥२०॥

वे दोनों उसके पास जाकर बोले, 'हम दोनों तुम्हारे शिष्य होंगे।' 'क्या सीखोगे?' वे बोले, 'यह शुक्र, यह यज्ञ, अर्थात् सिर फिर कैसे जुड़े और यज्ञ कैसे पूर्ण हो?' ॥२१॥

उसने कहा, 'इन्द्र ने कहा है कि यदि इसको किसी और को बताओगे तो तुम्हारा सिर काट लूँगा। मुझे भय है कि मेरा सिर न काट ले, इसलिए मैं तुम दोनों को नहीं बतलाने का' ॥२२॥

उन दोनों ने उत्तर दिया, 'हम दोनों तुझको उससे बचा लेंगे।' उसने पूछा, 'तुम दोनों मुझे कैसे बचाओगे?' वे बोले, 'जब तुम हमको अपना शिष्य बना लोगे तो हम तुम्हारा सिर काटकर अन्यत्र रख देंगे और घोड़े का सिर लाकर तुम्हारे ऊपर रख देंगे, उससे तुम सिखा देना। जब तुम सिखा चुकोगे तो इन्द्र तुम्हारा सिर काट लेगा। हम तुम्हारा सिर लाकर फिर जोड़ देंगे।' उसने कहा, 'अच्छा' ॥२३॥

उसने उनका उपनयन कर दिया। जब उसने उनका उपनयन कर दिया तो उन्होंने उसका

छित्त्वान्यत्रापनिदधतुरथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुस्तेन हाभ्यामनू-
वाच स यदाभ्यामनूवाचाथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेदाथास्य स्वँ शिर आहृत्य
तद्धास्य प्रतिदधतुः ॥२४॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो
वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेत्ययतं तदुवाचेति हैवैतदुक्तम् ॥२५॥ तन्न सर्व-
स्माऽअनुब्रूयात् । एतस्यँ हि तदृथो नेन्मऽइन्द्रः शिरश्छिनददिति यो न्वेव
ज्ञातस्तस्मै ब्रूयादथ योऽनूचानोऽथ योऽस्य प्रियः स्यान्न त्वेव सर्वस्माऽइव ॥२६॥
संवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात् । एष वै संवत्सरो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमे-
वैतत्प्रीणाति तस्मात्संवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात् ॥२७॥ तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरति ।
त्रयो वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवै
तत्प्रीणाति तस्मात्तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरति ॥२८॥ तनमाचामति । तपस्व्यनुब्रवा
ऽइत्यमाँसाश्यनुब्रूते तपस्व्यनुब्रवाऽइति ॥२९॥ अमृन्मयपायी । अस्ति वाऽअ-
स्याँ सँसृष्टमिव यदस्यामनृतं वदति तस्मादमृन्मयपायी ॥३०॥ अशूद्रोच्छिष्टी ।
एष वै घर्मो य एष तपति सैषा श्रीः सत्यं ज्योतिरनृतँ स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः
शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत नेच्छ्रियं च पाप्मानं च नेज्ज्योतिश्च तमश्च नेत्सत्यानृते
सँसृजानीति ॥३१॥ अथैष वाव यशः । य एष तपति तद्यत्तदादित्यो यशो
यज्ञो हैव तद्यशस्तद्यत्तद्यज्ञो यशो यजमानो हैव तद्यशस्तद्यत्तद्यजमानो यश
ऋत्विजो हैव तद्यशस्तद्यत्तदृत्विजो यशो दक्षिणा हैव तद्यशस्तस्माद्यामस्मै द-
क्षिणामानयेयुर्न ता इतस्तद्योऽन्यस्माऽअतिदिशेन्नेद्यन्मेदं यश आगंस्तत्तद्योऽन्य-
स्माऽअतिदिशानीति श्वो वैव भूते द्व्यहे वा तदात्मन्येवैतद्यशः कृत्वा यदेव तद्भ-
वति तत्स ददाति हिरण्यं गां वासोऽश्वं वा ॥३२॥ अथैतद्वा । ऽआयुरेतज्ज्यो-
तिः प्रविशति य एतमनु वा ब्रूते भक्षयति वा तस्य व्रतचर्या नातपति प्रह्लाद-
येत नेदेतस्मात्तिरोऽसानीति नातपति निष्ठीवेन्नेदेतमभिनिष्ठीवानीति नातपति

सिर काटकर अन्यत्र रख दिया और घोड़े का सिर लाकर उसके ऊपर रख दिया। उससे उसने उनको शिक्षा दी। जब वह शिक्षा दे चुका तो इन्द्र ने उसका सिर काट लिया। उन्होंने उसका अपना सिर लाकर उसपर रख दिया ॥२४॥

इसी विषय में ऋग्वेद में कहा है—"दध्यङ् ह यन् मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच" (ऋ० १।११६।१२)—"दध्यङ् अथर्वण ने तुम दोनों को घोड़े के सिर से इस मीठी शिक्षा का दान किया।" स्वच्छन्दता से यह शिक्षा दी, यह उसका आश्रय है ॥२५॥

यह विद्या हर एक को न बतावे, यह पाप है और कहीं इन्द्र इसका सिर न काट ले। उसी को शिक्षा दे जो परिचित हो, वेदज्ञ हो, जो प्रिय हो। और किसीको नहीं ॥२६॥

उसीको सिखावे जो संवत्सर-भर उसका शिष्य रहे, क्योंकि संवत्सर वह है जो तपता है (सूर्य)। वही सूर्य प्रवर्ग्य है। उसीको इस प्रकार प्रसन्न करता है। इसलिए संवत्सरवासी (साल-भर तक शिष्य रहनेवाले) को सिखावे ॥२७॥

तीन रात व्रत करे। संवत्सर में तीन ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर वह है जो तपता है (सूर्य)। यह सूर्य ही प्रवर्ग्य है। इस प्रकार उसीको प्रसन्न करता है। इसलिए तीन रात व्रत करता है ॥२८॥

गर्म पानी पीता है। 'तपस्वी होकर सिखाऊँगा।' मांस न खाकर सिखाता है कि 'तपस्वी होकर सिखाऊँगा' ॥२९॥

मिट्टी के बर्तन में नहीं पीता। जो इस पृथिवी पर झूठ बोलता है वह झूठ मिट्टी से मिल जाता है, इसलिए वह मिट्टी के बर्तन में नहीं पीता ॥३०॥

शूद्र और उच्छिष्ट का स्पर्श नहीं करता। वह जो तपता है वह घर्म है, वह श्री है, सत्य है, ज्योति है। स्त्री, शूद्र, कुत्ता और कौआ अनृत हैं। उनको न देखे कि कहीं श्री और पाप, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और झूठ को मिला न देवे ॥३१॥

यह जो तपता है वह यश है। यश जो आदित्य या यश है वह यज्ञ है। यह जो यश या यज्ञ है वह यजमान है। यह जो यश या यजमान है वह ऋत्विज है। यह जो यश या ऋत्विज है वह दक्षिणा है। इसलिए जो कुछ दक्षिणा वह उसको देवें उसको वह उसी दिन तो किसी को दे ही न कि कहीं जो यश उसके पास आया है उसे दूसरे को दे देवे; दूसरे दिन या दो दिन पीछे। इस प्रकार वह यश को अपना बनाकर दूसरे को देता है—स्वर्ण, गाय, वस्त्र या घोडा ॥३२॥

जो इस (प्रवर्ग्य) को सिखाता है या उसमें भाग लेता है, वह आयु या ज्योति में प्रवेश करता है। उसकी व्रतचर्या इस प्रकार है—धूप में कपड़ा न ओढ़े कि कहीं सूर्य से तिरोभूत न हो जाय। सूर्य के चमकते थूके नहीं कि कहीं सूर्य पर न थूक पड़े।

प्रस्नावयेत नेदेतमभिप्रस्नावयाऽइति यावद्वाऽएष आतपति तावानेष नेदेतमेति-
र्हिनसानीत्यवज्योत्य रात्रावश्नीयात्तदेतदस्य रूपं क्रियते य एष तपति तदु हो-
वाचासुरिरेकꣳ ह वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मादु सत्यमेव वदेत् ॥३३॥
ब्राह्मणम् ॥१॥

स वै सम्भारान्त्सम्भरति । स यद्वाऽएनानित्थाच्चेत्थाच्च सम्भरति तत्सम्भारा-
णाꣳ सम्भारत्वꣳ स वै यत्र-यत्र यज्ञस्य न्यक्तं ततस्ततः सम्भरति ॥१॥ कृष्णाजि-
नꣳ सम्भरति । यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञऽएवैनमेतत्सम्भरति लोमतश्छन्दाꣳसि वै
लोमानि छन्दःस्वेवैनमेतत्सम्भरत्युत्तरत उदीची हि मनुष्याणां दिक्प्राचीनग्रीवे
तद्धि देवत्रा ॥२॥ अभ्र्या । वज्रो वाऽअभ्रिर्वीर्यं वै वज्रो वीर्येणैवैनमेतत्समर्ध-
यति कृत्स्नं करोति ॥३॥ औदुम्बरी भवति । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्र-
सेन समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥४॥ अथो वैकङ्कती । प्रजापतिर्यां प्रथमामाहुति-
मजुहोत्स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवद्यज्ञो वाऽआहुतिर्यज्ञो वि-
कङ्कतो यज्ञेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥५॥ अरत्निमात्री भवति । बा-
हुर्वाऽअरत्निर्बाहुना वै वीर्यं क्रियते वीर्यसंमितेव तद्भवति वीर्येणैवैनमेतत्स-
मर्धयति कृत्स्नं करोति ॥६॥ तामादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहु-
भ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नारिरसीत्यसावेव बन्धुः ॥७॥ ताꣳ सव्ये पाणौ कृ-
त्वा । दक्षिणेनाभिमृश्य जपति युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो
विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिरित्य-
सावेव बन्धुः ॥८॥ अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति । अभ्र्या च दक्षिणतो हस्तेन च
हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावापृथिवीऽइति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्स इमे
द्यावापृथिवीऽअगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मदश्चापां च महावीराः कृता भ-
वन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी

पेशाब न करे कि कहीं सूर्य पर पेशाब न पड़े। सूर्य जब तक चमकता है उस समय तक बड़ा है। 'कहीं मैं इन कामों द्वारा उसको हानि न पहुँचाऊँ', यह समझकर वह दीपक जलाकर रात में खावे, क्योंकि दीपक उस सूर्य का रूप है। इस विषय में आसुरि का कथन था—देव एक व्रत अवश्य रखते हैं अर्थात् सत्य ! इसलिए सत्य ही बोले ! ॥३३॥

प्रवर्ग्यः

अध्याय १—ब्राह्मण २

अब वह (महावीर पात्र की) सामग्री अर्थात् संभारों को जुटाता है। इधर से, उधर से इकट्ठा करते हैं (सं+भरति) इसलिए उनको संभार कहते हैं। जहाँ-जहाँ यज्ञ की तैयारी करनी है वहाँ-वहाँ संभारों को जुटाता है ॥१॥

काले मृगचर्म को तैयार करता है। काला मृगचर्म यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ से उसको सम्पन्न करता है। उस चर्म पर लोम (बाल) होते हैं। छन्द लोम हैं। इस प्रकार उसको छन्दों से तैयार करता है। उस मृगचर्म को उत्तर की दिशा में फैलाता है, क्योंकि मनुष्यों की दिशा उत्तर है। पूर्व की ओर गर्दन रहे, क्योंकि पूर्व है देवों की दिशा ॥२॥

अभ्रि या खुरपी से (मिट्टी खोदता है)। खुरपी वज्र है। वीर्य वज्र है। इस प्रकार वीर्य के द्वारा उसको बढ़ाता है, पूरा करता है ॥३॥

यह खुरपी उदुम्बर की होती है। उदुम्बर ऊर्ज है, रस है। इसकी ऊर्ज और रस से बढ़ाता तथा पूर्ण करता है ॥४॥

या विकंकत लकड़ी की। प्रजापति ने जो पहली आहुति दी थी उसको देकर जहाँ हाथ धोये थे वहाँ विकंकत उत्पन्न हुआ। यज्ञ ही आहुति है। यज्ञ विकंकत है। इस प्रकार यज्ञ से ही उसको बढ़ाता है, यज्ञ से ही पूर्ण करता है ॥५॥

हाथभर की होती है। भुजा हाथ की माप (अरत्नि) है। बाहु से ही पराक्रम किये जाते हैं। इस प्रकार यह खुरपी पराक्रमयुक्त है। पराक्रम से उसको बढ़ाता है, पूर्ण करता है ॥६॥

उसको इस मंत्र से लेता है—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नारिरसि" (यजु० ३७।१)—"देव सविता की प्रेरणा पर अश्विनों की भुजाओं से, पूषा के हाथों से मैं तुझको लेता हूँ। तू नारी है।" इसका फल वही है ॥७॥

उसको बाएँ हाथ में लेकर दाएँ हाथ से छूता है और इस मंत्र से जाप करता है—"युञ्जते मन ऽ उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक ऽ इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः" (यजु० ३७।२)—"विप्र होता लोग ज्ञानी बड़े विप्र के मन को जोड़ते हैं, और बुद्धियों को भी जोड़ते हैं। वयुनाविद् अर्थात् यज्ञ की विधि के ज्ञाता ने ही होताओं के कामों को नियत किया है। सविता देव की यह बड़ी स्तुति है।" इसका फल वही है ॥८॥

अब मिट्टी का ढेला उठाता है—दक्षिण की ओर दाहिने हाथ तथा खुरपी की सहायता से और उत्तर की ओर केवल बायें हाथ से। इस मंत्र से—"देवी द्यावापृथिवी" (यजु० ३७।३)—क्योंकि जब यज्ञ का सिर कट गया और रस बहा तो वह द्यौ और पृथिवी में समा गया। जो मिट्टी का अंश था उसकी पृथिवी बन गई। जो जल का अंश था उसका द्यौ बन गया। इसलिए महावीर-पात्र मिट्टी और जल से बनाते हैं। उसी रस से उस (प्रवर्ग्य) को बढ़ाता है और पूर्ण करता है। इसलिए कहा—

ऽइति मखस्य वामद्य शिरो राध्यासमिति यज्ञो वै मखो यज्ञस्य वामद्य शिरो राध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सम्भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइति यज्ञो वै मखो यज्ञाय त्वा यज्ञस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्येवैतदाह ॥९॥ अथ वल्मीकवपाम् । देव्यो वम्र इत्येता वाऽएतदकुर्वत यथा-यथेतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति भूतस्य प्रथमजा इतीयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा तदनयैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः ॥१०॥ अथ वराहविहतम् । इयत्यग्रऽआसीदितीयती ह वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोति मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः ॥११॥ अथादारान् । इन्द्रस्यौज स्थेति यत्र वाऽएनमिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात्तदस्य परिगृहीतस्य रसो व्यक्षरत्स पूयन्निवाशेत सोऽब्रवीदादीर्येव बत मऽएष रसो ऽस्तौषीदिति तस्मादादारा अथ यत्पूयन्निवाशेत तस्मात्पूतीकास्तस्माद्यावाङ्गतिरिवाभ्याहिता ज्वलन्ति तस्मादु सुरभयो यज्ञस्य हि रसात्सम्भूता अथ यदेनं तदिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात्तस्मादाहेन्द्रस्यौज स्थेति मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः ॥१२॥ अथाज्ञाज्ञीरम् । यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत्ततोऽज्ञा समभवत्तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः ॥१३॥ तान्वाऽएतान्पञ्च सम्भारान्सम्भरति । पाङ्क्तो यज्ञ पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्तवः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तान्सम्भृतानभिमृशति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः ॥१४॥ अथोत्तरतः प-

"देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।३)—यहाँ (मख) यज्ञ है। तात्पर्य है कि "हे देवी द्यौ और पृथिवि ! मैं तुम्हारे लिए यज्ञ के सिर का सम्पादन करूँ, पृथिवी के यज्ञस्थल में, यज्ञ के लिए तुझको, यज्ञ के सिर के लिए तुझको" ।।६।।

(अब मृगचर्म के ऊपर) त्रिटोहर रखता है, इस मंत्र से—"देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।४) —वह कहता है "चींटी देवियाँ", क्योंकि चींटियों ने ही तो इसको बनाया है। जैसे यज्ञ का सिर कट गया था उसी प्रकार वह उसकी चिकित्सा करता है। "प्रथमजा", वस्तुतः पृथिवी सबसे पहले उत्पन्न हुई है। इसीसे वह इसकी पूर्ति करता है। "पृथिवी के यज्ञस्थल में मैं यज्ञ के सिर का सम्पादन करूँ। मख के लिए तुझे। मख के सिर के लिए तुझे।" इसका तात्पर्य पूर्ववत् है ।।१०।।

अब 'वराहविहत' अर्थात् सूअर द्वारा उखाड़ी हुई मिट्टी को इस मंत्र से लेता है—"इयत्यग्र ऽआसीन् मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे"(यजु० ३७।५)—"पहले इतनी ही बड़ी थी।" वस्तुतः पृथिवी पहले प्रदेशमात्र (बालिश्त-भर) ही थी। उसको एमूष नामी सूअर ने उभारा। वह उसका पति प्रजापति था। उसके प्रिय जोड़े से ही उसको (अर्थात् प्रजापति या यजमान को) पूर्ण करता है—"आज, तुझ यज्ञ के सिर को पृथिवी के यज्ञस्थल पर पूर्ण करता हूँ, यज्ञ के लिए तुझको। यज्ञ के सिर के लिए तुझको।" इसका तात्पर्य पूर्ववत् है ।।११।।

अब आदार वृक्षों को लेता है इस मंत्र से—"इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।६)—"तुम इन्द्र के ओज हो", क्योंकि जब इन्द्र ने ओज से उस (विष्णु) को घेरा, तब उस घिरे हुए का रस बह गया और वह बदबू करता हुआ पड़ा रहा। उसने कहा, 'मेरे इस रस ने (आदीर्य) फूटकर स्तुतियाँ की हैं', इससे 'आदार' शब्द बना। वह बदबू करता था इसलिए उसका नाम (पूतीका) भी है। इसलिए जब इनकी अग्नि में आहुति दी जाती है तब वे जलते हैं। यज्ञ के रस से उत्पन्न हुए, इसलिए उनमें सुगन्ध आती है। इन्द्र ने अपने ओज से उसको पकड़ा, इसलिए कहता है कि "तुम इन्द्र के ओज हो। पृथिवी के दिव्य यज्ञस्थल पर तेरे सिर को पूर्ण करता हूँ, यज्ञ के लिए तुझको, यज्ञ के सिर के लिए तुझको" इत्यादि। इसका तात्पर्य पूर्ववत् है ।।१२।।

अब बकरी के दूध को लेता है, क्योंकि जब यज्ञ का सिर कट गया तो उसकी उष्णता उससे निकल गई और बकरा बन गई। उसी उष्णता से वह अब उसको परिपूरित करता है। इस मंत्र से—"मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।६)—"यज्ञ के लिए तुझको, यज्ञ के सिर के लिए" ।।१३।।

इसके ये पाँच संभार (आवश्यक चीजें) होते हैं जिनकी वह तैयारी करता है। यज्ञ पाँच-वाला है और पशु भी पाँचवाला है। संवत्सर में पाँच ऋतुएँ होती हैं। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, यह संवत्सर है। प्रवर्ग्य भी सूर्य है। उसीको यह प्रसन्न करता है। इन सब संभारों को छूता है इस मंत्र से—"यज्ञ के लिए तुझको, यज्ञ के सिर के लिए तुझको" ।।१४।।

उत्तर की ओर एक परिश्रित या घेर होता है।

रिश्रितं भवति । तदभिप्रयन्तो जपन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरित्येष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति प्र देव्येतु सूनृतेति देवी ह्येषा सूनृताछा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसमित्युपस्तौत्येवैनमेतन्महयत्येव देवा यज्ञं नयन्तु न इति सर्वानेवास्माऽएतद्देवानभिगोतॄन्करोति ॥१५॥ परिश्रितं भवति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्माऽएतां पुरं पर्यश्रयंस्तथैवास्माऽअयमेतां पुरं परिश्रयति ॥१६॥ अथ खरे सादयति । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुरथ मृत्पिण्डमपादाय महावीरं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः प्रादेशमात्रं प्रादेशमात्रमिव हि शिरो मध्ये संगृहीतं मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्टात्त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तं निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य ह्येतत्सौम्यस्य शिर एवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳬ रौहिणकपाले ॥१७॥ प्रजापतिर्वाऽएष यज्ञो भवति । उभयं वाऽएतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितᳬ रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितᳬ रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वाऽएतᳬ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिᳬ संस्करोति य एवं विद्वानेतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः ॥१८॥ अथ गवेधुकाभिर्हिन्वति । यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्तत एता ओषधयो जज्ञिरे तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुरेवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳬ रौहिणकपाले ॥१९॥ अथैनान्धूपयति । अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामीति वृषा वाऽअश्वो वीर्यं वै वृषा वीर्येणैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुरेवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳬ रौहिणकपाले ॥२०॥ अथै-

उसकी ओर जाते हुए जपते हैं—"प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः" (यजु० ३७।७, ऋ० १।४०।३)—"जो वीर पुरुष मनुष्यों के लिए भला है और जो पाँच अंगवाले यज्ञ को करता है, उसको ब्रह्मणस्पति तथा देवी सूनृता प्राप्त हो। देवगण हमको यज्ञ तक ले जावें।" यह जो सूर्य तपता है वह ब्रह्मणस्पति है। प्रवर्ग्य भी वही है। उसीको यह प्रसन्न करता है। सूनृता वाणी है। प्रवर्ग्य की बड़ाई करता है। (अन्त के वाक्य से) देवों को रक्षक बनाता है ॥१५॥

परिश्रित या घेर इसलिए होता है क्योंकि देवों को भय लगा कि कहीं दुष्ट राक्षस हमको हानि न पहुँचावें। इसलिए इस पुर के चारों ओर उन्होंने घेरा बना लिया। इस प्रकार यजमान भी इस घेरे को बनाता है ॥१६॥

अब संभारों (चीजों) को टीले (खर) पर रख देता है इस मंत्र से—"मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।७)—इसका तात्पर्य पूर्ववत् है। मिट्टी के पिंड को लेकर महावीर ग्रह (प्याला) बनाता है, इस मन्त्र से—"मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" इसका तात्पर्य पूर्ववत् है। यह बालिश्तभर ऊँचा होता है। सिर बालिश्तभर ऊँचा होता है। बीच में पिचका हुआ, क्योंकि सिर भी बीच में पिचका होता है। इसके ऊपर तीन अंगुल का मुँह-सा निकाल देता है मानो यह यज्ञ की नाक है। जब यह बनकर तैयार हो गया तो इसको इस मंत्र से छूता है—"मखस्य शिरोऽसि" (यजु० ३७।८)—क्योंकि यह सोम यज्ञ का सिर है। इसी प्रकार दो और ग्रह बनाता है। दो पिन्वन अर्थात् पीने के प्याले चुपचाप (बिना मंत्र पढ़े) बनाता है, और दो रौहिण-कपाल भी चुपचाप ॥१७॥

यह यज्ञ प्रजापति है। प्रजापति दोनों प्रकार का है—निरुक्त तथा अनिरुक्त, परिमित तथा अपरिमित। यह जो यजुओं से काम होता है वह निरुक्त तथा परिमित रूप है। जो चुपचाप (बिना मंत्रपाठ के) होता है वह अनिरुक्त तथा अपरिमित है। जो इस रहस्य को समझता है या इस प्रकार करता है, वह प्रजापति (यज्ञ) को पूर्ण बनाता है। प्रायश्चित्त के लिए शेष मिट्टी के पिंड को छोड़ देता है ॥१८॥

इसको गवेधुका घास से चिकनाता है। जब यज्ञ का सिर काट डाला गया तो इसका रस झड़ गया। उससे ये ओषधियाँ (घासें) उत्पन्न हुईं। उसको उसी रस से पूर्ण करता है, इस मंत्र से—"मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।८)—इसका तात्पर्य पूर्ववत् है। इसी प्रकार दो और ग्रहों को चिकनाता है। पिन्वनों (पीने के प्यालों) को बिना मंत्रोच्चारण के चुपचाप। दो रौहिण-कपालों को भी चुपचाप ॥१९॥

अब इनको धूप देता है इस मंत्र से—"अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि" (यजु० ३७।९)—"शक्तियुक्त घोड़े की लीद से तुझे धूप देता हूँ।" वृषा का अर्थ है अश्व। वृषा का अर्थ है वीर्य। वीर्य से इसको पूर्ण करता है, इस मंत्र से—"देवयजने पृथिव्याः मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।९)—इसका तात्पर्य पूर्ववत् है। इसी प्रकार अन्य दोनों ग्रहों को (धूप देता है)। पिन्वन प्यालों को चुपचाप। दोनों रौहिणकपालों को भी चुपचाप ॥२०॥

नाञ्जयति । शृतꣳ हि देवानामिष्टकाभिः अपयन्त्येता वा एतद् कुर्वत यथा-यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तद् येनैव सुशृताः स्युस्तेन अपयेदथ पचनमवधाय महावीरमवदधाति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसाविव बन्धुरेवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीꣳ रौहिणकपाले तान्दिवैवोपवपेद्दिवोद्धपेदहर्हि देवानाम् ॥२१॥ स उद्धपति । ऋतवे त्वेत्यसौ वै लोक ऋतुः सत्यꣳ ह्यृतुः सत्यमेष य एष तपत्येष उ प्रथमः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहर्तवे त्वेति ॥२२॥ साधवे त्वेति । अयं वै साधुर्योऽयं पवतऽएष हीमांल्लोकान्त्साधोऽनुपवतऽएष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह साधवे त्वेति ॥२३॥ सुक्षित्यै त्वेति । अयं वै लोकः सुक्षितिरस्मिन्हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्यथोऽअग्निर्वै सुक्षितिरग्निर्ह्येवास्मिंलोके सर्वाणि भूतानि क्षियत्येष उ तृतीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह सुक्षित्यै त्वेति तूष्णीं पिन्वने तूष्णीꣳ रौहिणकपाले ॥२४॥ अथैनानाहूयाक्ति । अग्नये पयसा मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसाविव बन्धुरेवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीꣳ रौहिणकपाले ॥२५॥ अथैतद्वै । आयुरेतज्ज्योतिः प्रविशति य एतमनु वा ब्रूते भक्षयति वा तस्य व्रतचर्या या सृष्टौ ॥२६॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ ॥

स यदैतदातिथ्येन प्रचरति । अथ प्रवर्ग्येण चरिष्यन्पुरोपसदोऽग्रेण गार्हपत्य प्राचः कुशान्त्सꣳस्तीर्य द्वन्द्वं पात्राण्युपसादयत्युपयमनीं महावीरं परीशासौ पिन्वने रौहिणकपाले रौहिणहवन्यौ स्रुचौ यदु चान्यद्भवति तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद्द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्यं यदा वै द्वौ सꣳरभेतेऽअथ तौ वीर्यं कुरुतो द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं मिथुनेनैवैनमेतत्प्रजननेन समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१॥ अथाध्वर्युः । प्रोक्षणीरादायोपोत्तिष्ठन्नाह ब्रह्मन्प्रचरिष्यामो होतरभिष्टुहीति ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता

अब वह उनको पकाता है, क्योंकि पकी हुई चीज देवों की है। वह ईंटों से पकाता है। ऐसा ही पहले देवों ने किया था। जिस प्रकार यज्ञ का सिर कट गया था, इन्हीं (ईंटों) से उसको पूर्ण करता है। जिस प्रकार से भली-भाँति पक जायँ वैसा ही करे। 'पचन' अर्थात् पकाने के ईंधन को रखकर महावीर ग्रह को रखता है, इस मंत्र से—"मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" (यजु० ३७।९)—इसका तात्पर्य पूर्ववत् है। इसी प्रकार दो अन्य ग्रहों को पकाता है। दो पिन्वनों को चुपचाप। रौहिण-कपालों को चुपचाप ॥२१॥

वह पहले ग्रह को इस मंत्र से निकालता है—"ऋजवे त्वा" (यजु० ३७।१०)—वह लोक ऋजु है। ऋजु का अर्थ है सत्य। वह जो तपता है (अर्थात् सूर्य) वह सत्य है। यह (सूर्य देव) पहला प्रवर्ग्य है। उसीको वह इस प्रकार प्रसन्न करता है। इसीलिए वह कहता है कि 'ऋजवे त्वा' ॥२२॥

दूसरे ग्रह को इस मंत्र से—"साधवे त्वा" (यजु० २३।१०)—यह जो शुद्ध करता है (अर्थात् वायु) वह साधु है, क्योंकि वह सिद्ध होकर इन लोकों को पवित्र करता है। यह (वायु देव) दूसरा प्रवर्ग्य है। वह इस देव को प्रसन्न करता है। इसलिए कहता है—'साधवे त्वा' ॥२३॥

तीसरे ग्रह को इस मंत्र से—"सुक्षित्यै त्वा" (यजु० २३।१०)—सुक्षिति का अर्थ है यह भूलोक। इसी लोक में सब प्राणी रहते हैं। अग्नि ही सुक्षिति है। अग्नि इस लोक में सब प्राणियों में व्यापक है। यह अग्नि तृतीय प्रवर्ग्य है। इसी अग्निदेव को प्रसन्न करता है जब कहता है कि 'सुक्षित्यै त्वा'। दोनों पिन्वनों और दोनों रौहिणी-कपालों को चुपचाप निकालता है ॥२४॥

अब इनपर बकरी का दूध छिड़कता है, इस मंत्र से—"मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" इसका तात्पर्य वही है। इसी प्रकार दो और ग्रहों पर दोनों पिन्वनों तथा दोनों रौहिण-कपालों पर चुपचाप ॥२५॥

जो कोई इस प्रवर्ग्य को सिखाता है या भक्षण करता है, वह इस आयु या ज्योति में प्रवेश करता है। इसकी व्रतचर्या वही है जो सृष्टि की (अर्थात् जैसे प्रजापति सृष्टिरूपी नये शरीर को बनाता है, इसी प्रकार यजमान भी नये जन्म के लिए नया शरीर बनाता है) ॥२६॥

महावीरसंस्काराः

अध्याय १—ब्राह्मण ३

प्रवर्ग्य की इच्छा करनेवाला जब आतिथ्य-इष्टि को करता है तो उपसद के पहले गार्हपत्य के सामने पूर्वाभिमुख कुशों को फैलाकर दो-दो पात्रों को रखता है—उपयमनी और महावीर, परीशास या दो लकड़ियाँ (जो बँधकर चिमटे का काम देती हैं), दो पिन्वन, दो रौहिणकपाल, रौहिणहवन के दो स्रुच, या अन्य ऐसे ही आवश्यक पात्र। ये दस हुए। विराट् में दस अक्षर होते हैं। विराट् यज्ञ है। इस प्रकार इसको विराट् या यज्ञ के समतुल्य बनाता है। दो-दो इसलिए कि दो में बल होता है। जब दो एक-दूसरे को पकड़ते हैं तो जोर करते हैं। दो का अर्थ मिथुन या जोड़ा भी है। जोड़े से संतानोत्पत्ति होती है। इस प्रकार मिथुन अर्थात् संतानोत्पत्ति से समर्थ करता है, पूर्ण करता है ॥१॥

अब अध्वर्यु प्रोक्षणी जल को लेकर आगे बढ़ता है और कहता है, 'हे ब्रह्मा, हम आरम्भ करते हैं। होता! स्तुति कर।' ब्रह्मा यज्ञ की दाहिनी ओर रक्षक होकर बैठता है, मानो वह

तमेवैतदाहाप्रमत्त आस्स्व यज्ञस्य शिरः प्रतिधास्याम इति होतरभिष्टुहीति यज्ञो वै होता तमेवैतदाह यज्ञस्य शिरः प्रतिधेहीति प्रतिपद्यते होता ॥२॥ ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति । असौ वाऽआदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायतऽएष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादित्यथ प्रोक्षत्यसावेव बन्धुः ॥३॥ स प्रोक्षति । यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं यमयत्येतेनेदꣳ सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति ॥४॥ मखाय त्वेति । एष वै मखो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह मखाय त्वेति ॥५॥ सूर्यस्य त्वा तपसऽइति । एष वै सूर्यो य एष तपत्येष प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह सूर्यस्य त्वा तपसऽइति ॥६॥ पूर्वया द्वारा स्थूणां निर्हृत्य । दक्षिणतो निमिन्वन्ति यथैनाꣳ होताभिष्टुवन्परापश्येद्यज्ञो वै होता स एवास्यामेतद्यज्ञं प्रतिदधाति तथैषा घर्मं पिन्वते ॥७॥ अग्रेणाहवनीयꣳ । सम्राडासन्दीं पर्याहृत्य दक्षिणतः प्राचीमासादयत्युत्तराꣳ राजासन्द्यै ॥८॥ औदुम्बरी भवति । ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥९॥ अꣳसदघ्ना भवति । अꣳसयोर्वाऽइदꣳ शिरः प्रतिष्ठितं तदꣳसयोरेवैतच्छिरः प्रतिष्ठापयति ॥१०॥ बाल्वजीभी रज्जुभिर्व्युता भवति । यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्तत एता ओषधयो जज्ञिरे तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥११॥ अथ यदुत्तरत आसादयति । यज्ञो वै सोमः शिरः प्रवर्ग्य उत्तरं वै शिरस्तस्मादुत्तरत आसादयत्यथो राजा वै सोमः सम्राट् प्रवर्ग्य उत्तरं वै राज्यात्साम्राज्यं तस्मादुत्तरत आसादयति ॥१२॥ स यत्रैताꣳ होतान्वाह । अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा इति तदेतं प्रचरणीयं महावीरमाज्येन समनक्ति देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति सविता वै देवानां प्रसविता सर्वं वाऽइदं मधु यदिदं किं च तदेनमनेन सर्वेण समनक्ति तदस्मै सविता प्रसवि-

उससे कह रहा है कि 'सावधान हो जाओ। हम यज्ञ का सिर रक्खेंगे।' होता से स्तुति के लिए कहने का प्रयोजन यह है कि होता यज्ञ है। होता को चाहिए कि यज्ञ का सिर रक्खे। होता कहना आरम्भ करता है—॥२॥

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्"—"सामने से उगा हुआ सूर्य !" यह आदित्य ब्रह्म है। यह प्रतिदिन सामने से उगता है। प्रवर्ग्य भी वही आदित्य है। इस प्रकार उसी को प्रसन्न करता है। इसलिए कहा, "सामने से उगा हुआ सूर्य।" अब पात्रों पर छींटे देता है। इसका तात्पर्य बताया जा चुका है॥३॥

(महावीरपात्र पर) इस मन्त्र से छींटे देता है—"यमाय त्वा" (यजु० ३७।११)—यह तपनेवाला सूर्य यम है। वही सब पर नियन्त्रण करता है। इसी से यह सब नियन्त्रण में है। यही प्रवर्ग्य है। इस प्रकार उसी को प्रसन्न करता है। इसलिए कहा, "तुझ यम के लिए" ॥४॥

"मखाय त्वा" (यजु० ३७।११)—यह तपनेवाला सूर्य मख है। यही प्रवर्ग्य है। उसी को इस प्रकार प्रसन्न करता है। इसी से कहता है कि "तुझ मख के लिए" ॥५॥

"सूर्यस्य त्वा तपसे" (यजु० ३७।११)—यह सूर्य ही तो तपता है। यही प्रवर्ग्य है। इसी को इस प्रकार प्रसन्न करता है। इसलिए कहता है, "सूर्य के तुझ ताप के लिए" ॥६॥

शाला के पूर्व-द्वार से एक खूंटा ले-जाकर दक्षिण की ओर गाड़ते हैं कि होता स्तुति करते समय इसको देख सके। होता यज्ञ है। इस प्रकार वह इस पृथिवी में यज्ञ की स्थापना करता है, और यह पृथिवी भी घर्म या दूध देती है॥७॥

आहवनीय के सामने से सम्राट् (प्रवर्ग्य) की चौकी को लाकर आहवनीय से दक्षिण और सोमराजा के स्थान से उत्तर की ओर रखता है, इस प्रकार कि मुख पूर्व की ओर रहे॥८॥

वह उदुम्बर की होती है। ऊर्ज रस है। ऊर्ज उदुम्बर है। इस प्रकार इसको ऊर्ज रस से सम्पन्न करता है, पूर्ण करता है॥९॥

यह कंधे के बराबर ऊँची होती है, क्योंकि कंधे पर ही सिर रक्खा जाता है। इन कंधों पर ही इस सिर को रखता है॥१०॥

यह बाल्वज घास की रस्सी से लिपटा होता है। जब यज्ञ का सिर काट डाला गया तो इसका रस बह गया, उससे यह बाल्वज घास उत्पन्न हुई। वह इसी के रस से इसको सम्पन्न करता है, अर्थात् इसको पूर्ण करता है॥११॥

उत्तर की ओर क्यों रखता है? सोम यज्ञ है। प्रवर्ग्य सिर है। परन्तु सिर 'उत्तर' या ऊँचा होता है। इसलिए इसको उत्तर की ओर रखता है। इसके अतिरिक्त सोम तो राजा है और प्रवर्ग्य सम्राट् है। राज्य से साम्राज्य बड़ा है। इसलिए उत्तर की ओर रखता है॥१२॥

जब होता यह मंत्र पढ़ता है—"अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा" (ऋ० ५।४३।७)—"विप्र जिसका अभिषेक करते हैं, मानो उसका प्रस्तार करते हैं" तो उस समय जिस महावीर-पात्र का प्रयोग करना है उसपर घी लगाता है, इन शब्दों के साथ—"देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु" (यजु० ३७।११)—"देव सविता तुझे मधु से युक्त करे।" सविता देवों का प्रेरक है। यह "सब" मधु है। इस प्रकार वह इस "सब" को उसपर लगाता है। सविता प्रेरक प्रेरणा करता है,

ता प्रसौति तस्माद्धाह देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति ॥१३॥ ॥ शतम् ६१०० ॥ ॥ अथोत्तरतः सिकता उपकीर्णा भवन्ति । तद्रजतꣳ हिरण्यमधस्तादुपास्यति पृथिव्याः सꣳस्पृशस्याहीत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममधस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्निर्वाऽएतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्याऽअथो पृथिव्यु ह वाऽएतस्माद्बिभयां चकार यद्वै मायं तप्तः शुशुचानो न हिꣳस्यादिति तदेवास्याऽएतदन्तर्दधाति रजतं भवति रजतेव हीयं पृथिवी ॥१४॥ स यत्रैताꣳ हौतान्वाह । सꣳसीदस्व महाꣳ२ऽअसीति तदुभयत आदीप्ता मौञ्जाः प्रलवा भवन्ति तानुपास्य तेषु प्रवृणक्ति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्तत एता ओषधयो जज्ञिरे तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥१५॥ अथ यदुभयत आदीप्ता भवन्ति । सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति तस्मिन्प्रवृज्यमाने पत्नी शिरः प्रोर्णुते तप्तो वाऽएष शुशुचानो भवति नेन्मेऽयं तप्तः शुशुचानश्चक्षुः प्रमुष्णादिति ॥१६॥ स प्रवृणक्ति । अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीत्येष वै घर्मो य एष तपति सर्वं वाऽएतदेष तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्माद्धाहार्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीति ॥१७॥ अथास्यामाशिष आशास्ते । ऽइयं वै यज्ञोऽस्यामेवैतदाशिष आशास्ते ता अस्माऽइयꣳ सर्वाः समर्धयति ॥१८॥ अनाधृष्टा पुरस्तादिति । अनाधृष्टा ह्येषा पुरस्ताद्रक्षोभिर्नाष्ट्राभिरग्नेराधिपत्यऽइत्यग्निमेवास्याऽअधिपतिं करोति नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्याऽआयुर्मे दा इत्यायुरेवात्मन्धत्ते तथो सर्वमायुरेति ॥१९॥ पत्रवती दक्षिणत इति । नात्र तिरोहितमिवास्तीन्द्रस्याधिपत्यऽइतीन्द्रमेवास्याऽअधिपतिं करोति नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्यै प्रजां मे दा इति प्रजामेव पशूनात्मन्धत्त तथो ह पुत्री पशुमान्भवति ॥२०॥ सुषदा पश्चादिति । नात्र तिरोहितमिवास्ति देवस्य सवितुराधिपत्यऽइति देवमेवास्यै सवितारमधिपतिं करोति नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्यै चक्षुर्मे दा इति चक्षुरेवात्मन्धत्ते तथो ह

इसलिए कहता है कि "देव सविता तुझे मधु से युक्त करें" ॥१३॥

उत्तर की ओर बालू तो बिछी ही होती है। उसके नीचे चाँदी की थाली रख देता है यह कहकर—"पृथिव्याः सँ्स्पृशस्पाहि"(यजु० ३७।११)—"पृथिवी के संसर्ग से बचा।" उस समय देवों को भय हुआ कि दुष्ट राक्षस नीचे की ओर से उनके प्रवर्ग्य को नष्ट न कर दें। चाँदी (रजत हिरण्य) अग्नि का वीर्य होने से दुष्ट राक्षसों का नाशक है। पृथिवी को भी भय हुआ कि यह (प्रवर्ग्य)तप्त और उद्दीप्त होकर उस(पृथिवी) को हानि न पहुँचावे। इस प्रकार वह इससे उसको अलग कर देता है। (थाली) रजत अर्थात् श्वेत होती है क्योंकि पृथिवी भी रजत है ॥१४॥

जब होता पढ़ता है—"सं सीदस्व महाँ असि······" इत्यादि (ऋ० १।३६।६)—उस समय दोनों ओर मूंज के पूले जला दिये जाते हैं। उनको मिट्टी के तूहे पर डालकर महावीर ग्रह को उसके ऊपर रख देखा है। जब यज्ञ का सिर कटा और उसमें से रस बहा तो उससे ये ओषधियाँ (मूंज) उत्पन्न हुईं। उसी रस से इस समय इसको युक्त करता है, इसको पूर्ण करता है ॥१५॥

दोनों ओर क्यों जलाते हैं? इससे दुष्ट राक्षसों को दोनों ओर से निकालता है। जब वह ग्रह गर्म होता है, उस समय यजमान की पत्नी अपने सिर को ढक लेती है कि कहीं यह तृप्त और उद्दीप्त होकर मेरी आँख को न ले ले, क्योंकि उस समय वह तप्त और उद्दीप्त हो जाता है ॥१६॥

वह इस मन्त्र को पढ़कर रखता है—"अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि" (यजु० ३७।११) —क्योंकि यह सूर्य घर्म है और यही सब-कुछ है। उसी को यह प्रसन्न करता है कि "तू अर्चि है, तू शोचि है, तू तप है" ॥१७॥

अब इस पृथिवी के लिए आशीर्वाद कहता है। यह पृथिवी ही यज्ञ है। इसी में रहता हुआ वह आशीर्वाद कहता है। इससे पृथिवी उसको सब-कुछ दे देती है ॥१८॥

"अनाधृष्टा पुरस्तात्" (यजु० ३७।१२)—क्योंकि यह पृथिवी सामने से राक्षसों से सुरक्षित है। "अग्नेराधिपत्ये" (यजु० ३७।१२)—यह कहकर वह अग्नि को दुष्ट राक्षसों के निवारण के लिए पृथिवी का अधिपति बनाता है। "आयुर्मे दाः"(यजु ३७।१२)—इससे यह अपने लिए आयु माँगता है और पूर्ण आयु को प्राप्त होता है ॥१९॥

"पुत्रवती दक्षिणतः"(यजु० ३७।१२)—"दक्षिण की ओर से पुत्रवाली।" यह स्पष्ट है। "इन्द्रस्याधिपत्ये" (यजु० ३७।१२)—इससे वह दुष्ट राक्षसों से सुरक्षित रहने के लिए इन्द्र को पृथिवी का अधिपति बनाता है। "प्रजां मे दाः" (यजु० ३७।१२)—ऐसा कहने से वह पुत्र और पशुओं को माँगता है और पुत्रों तथा पशुओंवाला हो जाता है ॥२०॥

"सुषदा पश्चात्" (यजु० ३७।१२)—"पश्चिम की ओर अच्छी तरह रहने के लिए।" यह सब स्पष्ट है। "देवस्य सवितुराधिपत्ये" (यजु० ३७।१२)—ऐसा कहकर दुष्ट राक्षसों से बचने के लिए वह देव सविता को पृथिवी का अधिपति बनाता है। "चक्षुर्मे दाः"(यजु० ३७।१२)

चक्षुष्मान्भवति ॥२१॥ आश्रुतिरुत्तरत इति । आश्रावयन्नुत्तरत इत्येवैतदाह धा-
तुराधिपत्यऽइति धातारमेवास्याऽअधिपतिं करोति नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्यै रा-
यस्पोषं मे दा इति रयिमेव पुष्टिमात्मन्धत्ते तथो ह रयिमान्पुष्टिमान्भवति ॥२२॥
विधृतिरुपरिष्टादिति । विधारयन्नुपरिष्टादित्येवैतदाह बृहस्पतेराधिपत्यऽइति बृ-
हस्पतिमेवास्याऽअधिपतिं करोति नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्याऽओजो मे दा इत्योज
एवात्मन्धत्ते तथौजस्वी बलवान्भवति ॥२३॥ अथ दक्षिणात उत्तानेन पाणिना निह्नु-
ते । विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह यज्ञस्य
शीर्षच्छिन्नस्य [रसो व्यक्षरत्स] पितॄनगच्छत्तया वै पितरस्ते रेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं
करोति ॥२४॥ अथेमामभिमृश्य जपति । मनोरश्वासीत्यश्वा ह वाऽइयं भूत्वा म-
नुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति
कृत्स्नं करोति ॥२५॥ अथ वैकङ्कतौ शकलौ परिश्रयति प्राञ्चौ । स्वाहा मरुद्भिः
परिश्रीयस्वेत्यवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामेष वै स्वाहाकारो य एष
तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां दे-
वताम् ॥२६॥ मरुद्भिः परिश्रीयस्वेति । विशो वै मरुतो विशैवैतत्क्षत्रं परिबृꣳ-
हति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिबृꣳढं तूष्णीमुदञ्चौ तूष्णीं प्राञ्चौ तूष्णीमुदञ्चौ
तूष्णीं प्राञ्चौ ॥२७॥ त्रयोदश सम्पादयति । त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संव-
त्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मात्त्रयोदश सम्पाद
यति ॥२८॥ अथ सुवर्णꣳ हिरण्यमुपरिष्टान्निदधाति । दिवः सꣳस्पृशस्पाहीत्येतद्वै
देवा अबिभयुर्यद्वै न इममुपरिष्टाद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वाऽएतद्रेतो
यद्धिरण्यं नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्याऽअथो द्यौर्ह वाऽएतस्माद्बिभयां चकार यद्वै
मायं तप्तः शुशुचानो न हिꣳस्यादिति तदेवास्याऽएतदन्तर्दधाति हरितं भवति
हरिणीव हि द्यौः ॥२१॥ अथ धवित्रैराधूनोति । मधु मध्विति त्रिः प्राणो वै

—इस प्रकार वह अपने में चक्षु को धारण करता है और चक्षुवाला हो जाता है ॥२१॥

"आश्रुतिरुत्तरतः" (यजु० ३७।१२)—"उत्तर की ओर से श्रवण-शक्ति है" अर्थात् उत्तर की ओर से यज्ञ-सम्बन्धी विज्ञप्तियाँ सुनी जाती हैं। "धातुराधिपत्ये" (यजु० ३७।१२) —इस प्रकार दुष्ट राक्षसों से बचने के लिए विधाता को पृथिवी का अधिपति बनाता है। "रायस्पोषं मे दाः" (यजु० ३७।१२)—इस प्रकार अपने में धन को धारण करता है, और धनवान् हो जाता है ॥२२॥

"विधृतिरुपरिष्टात्" (यजु० ३७।१२)—अर्थात् "ऊपर को उठाते हुए।" "बृहस्पतेराधिपत्ये" (यजु० ३७।१२)—दुष्ट राक्षसों से बचने के लिए बृहस्पति को पृथिवी का अधिपति बनाता है। "ओजो मे दाः" (यजु० ३७।१२)—इस प्रकार ओज को अपने में धारण करता है और ओजस्वी तथा बलवान् बन जाता है ॥२३॥

(महावीरग्रह के) दक्षिण की ओर हथेली ऊपर की ओर करके प्रार्थना करता है—"विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि" (यजु० ३७।१२)—अर्थात् "सब प्रकार के दुःखों से मेरी रक्षा कर।" जब यज्ञ का सिर कट गया और रस बहा तो वह रस पितरों के पास चला गया। पितर तीन हैं (पिता, पितामह, प्रपितामह)। इन्हीं से इस प्रवर्ग्य को युक्त करता है और पूर्ण करता है ॥२४॥

पृथिवी को छूकर कहता है—"मनोरश्वासि"(यजु ३७।१२)—"तू मनु की घोड़ी है।" क्योंकि घोड़ी होकर ही वह मनु को ले गई। वह उसका पति प्रजापति है। उसको उसके जोड़े अर्थात् प्रिया से मिलाता है, और उसको पूर्ण करता है (प्रवर्ग्य, यज्ञ, प्रजापति को) ॥२५॥

अब महावीरग्रह के चारों ओर विकङ्कत लकड़ी की चीपटियाँ रखता है—दो पूर्वाभिमुख—"स्वाहा मरुद्भिः परि श्रीयस्व" (यजु० ३७।१३)—यह कहकर। 'स्वाहा' पहले कहता है, पीछे देवता का नाम उच्चारण करता है। यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वही स्वाहाकार है। वही प्रवर्ग्य है। इस प्रकार इसको प्रसन्न करता है। इससे पहले स्वाहाकार कहता है, फिर देवता का नाम लेता है ॥२६॥

वह 'मरुद्भिः परिश्रीयस्व' इसलिए कहता है कि मरुद् नाम है वैश्यों अर्थात् सामान्य जनता का। इस प्रकार सामान्य जनता से क्षत्र या राजा को युक्त करता है। क्षत्रिय लोग जनता से परियुक्त होते हैं। चुपके से दो को उत्तराभिमुख रखता है, दो को चुपके से पूर्वाभिमुख, दो को चुपके से (बिना मन्त्र पढ़े) उत्तराभिमुख, दो को चुपके से पूर्वाभिमुख ॥२७॥

इस प्रकार तेरह चीपटियाँ रख देता है। वर्ष में तेरह मास होते हैं। यह भी संवत्सर है जो तपता है (सूर्य)। वह सूर्य प्रवर्ग्य भी है। इस देवता को प्रसन्न करता है जब तेरह संख्या में (चीपटियाँ) रखता है ॥२८॥

अब (ग्रह के ऊपर) स्वर्ण की तश्तरी रखता है यह कहकर—"दिवः सँ स्पृशस्पाहि" (यजु० ३७।१३)—"द्यौ लोक के संसर्ग से रक्षा कर।" देवों को डर था कि दुष्ट राक्षस ऊपर से इसको न बिगाड़ें। सोना अग्नि का वीर्य है। यह दुष्ट राक्षसों के नाश के लिए है। द्यौलोक को भी भय था कि यह प्रवर्ग्य तप्त और उद्दीप्त होकर मुझको हानि न पहुँचावे। इसलिए इस (सोने की तश्तरी) को इनके बीच में रखता है। यह पीला होता है, क्योंकि द्यौलोक पीला (हरित=पीला=प्रकाशमय) है ॥२९॥

अब, (अध्वर्यु) तीन पंखों से तीन बार हवा करता है और 'मधु, मधु, मधु' (यजु०

मधु प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रीणि भवन्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यान-स्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥३०॥ अथापसलवि त्रिर्धून्वन्ति । यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य [रसो व्यक्षरत्स] पितॄनगच्छत्त्रया वै पितरस्तेरेवैनमेतत्समीरयति ॥३१॥ अप वा ऽएतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञे धुवनं तन्वते पुनः प्रसलवि त्रिर्धून्वन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा ऽइमे शीर्षन्प्राणास्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति अपयन्ति रौहिणौ स यदार्चिर्जायतेऽथ हिरण्यमादत्ते ॥३२॥ स यत्रैनाꣳ होताम्वाह । अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मेऽइति तदध्वर्युरुपोत्तिष्ठन्नाह रुचितो घर्म इति स यदि रुचितः स्याच्छ्रेयान्यजमानो भविष्यतीति विद्यादथ यद्यरुचितः पापीयान्भविष्यतीति विद्यादथ यदि नैव रुचितो नारुचितो नैव श्रेयान्न पापीयान्भविष्यतीति विद्याद्यथा न्वेव रुचितः स्यात्तथा धवितव्यः ॥३३॥ अथैतद्धैꣳ ॥३४॥ ब्राह्मणम् ॥३॥ ॥

स यदैतदध्वर्युः । उपोत्तिष्ठन्नाह रुचितो घर्म इति तदुपोत्थायावकाशैरुपतिष्ठन्ते प्राणा वाऽअवकाशाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति षडुपतिष्ठन्ते षड्वाऽइमे शीर्षन्प्राणास्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥१॥ गर्भो देवानामिति । एष वै गर्भो देवानां य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं गृह्णात्येतेनेदꣳ सर्वं गृभीतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह गर्भो देवानामिति ॥२॥ पिता मतीनामिति । पिता ह्येष मतीनां पतिः प्रजानामिति पतिर्ह्येष प्रजानाꣳ ॥३॥ सं देवो देवेन सवित्रागतेति सꣳ हि देवो देवेन सवित्रागत सꣳ सूर्येण रोचतऽइति सꣳ हि सूर्येण रोचते ॥४॥ समग्निरग्निनागतेति । सꣳ ह्यग्निरग्निनागत सं दैवेन सवित्रेति सꣳ हि दैवेन सवित्रागत सꣳ सूर्येणारोचिष्टेति सꣳ हि सूर्येणारोचिष्ट ॥५॥ स्वाहा समग्निस्तपसागतेति सꣳ ह्यग्निस्तपसागतावरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः सं दैव्येन सवित्रेति सꣳ हि दैव्येन सवित्रागत सꣳ सूर्येणारूरुचतेति सꣳ हि सूर्येणारूरुचत ॥६॥ ते वाऽएते त्रयोऽवकाशा भवन्ति । त्रयो

३७।१३) कहता जाता है। मधु प्राण है, इस प्रकार प्राण को इसमें धारण करता है। पंखे तीन होते हैं, क्योंकि प्राण भी तीन हैं—प्राण, उदान तथा व्यान, इसमें धारण करता है ॥३०॥

अब तीन बार अपसलवि अर्थात् उल्टी दिशा में पंखा करते हैं। यज्ञ के सिर के कटने पर उसमें से रस बह गया, और वह पितरों के पास चला गया। पितर तीन हैं, उन्हीं तीन से इसको युक्त करता है ॥३१॥

जो यज्ञ में पंखे से हवा करते हैं उनसे प्राण चले जाते हैं। तीन बार सीधी दिशा में पंखा झलते हैं। ये हुए छः। सिर में ये प्राण भी छः हैं। उन्हीं को इसमें रखता है। दोनों रौहिण पुरोडाशों को पकाते हैं। जब आग जल उठे तो स्वर्ण तश्तरी को हटा लेते हैं ॥३२॥

जब होता इस मन्त्र को बोले—"अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे……" इत्यादि (ऋ० १।११२।२४)—"हे अश्विनो! मेरी वाणी को सफल बनाओ" तो उसी समय अध्वर्यु वहाँ आकर कहता है कि घर्म तो जल उठा। यदि वह बहुत लाल हो जाय और जल उठे तो समझना चाहिए कि यजमान की उन्नति होगी। यदि ऐसा न हो तो उसकी अवनति होगी। यदि न अधिक जल उठे, न बिना जला ही रहे अर्थात् मध्यम, तो समझना चाहिए कि न उन्नति होगी, न अवनति। परन्तु जबतक जल न उठे पंखा करते रहना चाहिए ॥३३॥

जो कोई इसको सिखाता है या भक्षण करता है वह इस आयु या ज्योति में प्रवेश करता है। इसकी व्रतचर्या वही है जो सृष्टि की दशा में ॥३४॥ (देखो १४।१।२।२६)

अवकाशोपस्थानम्

अध्याय १—ब्राह्मण ४

जब अध्वर्यु ने आकर कहा कि घर्म जल उठा तो उस समय (महावीर पात्र की) अवकाश अर्थात् यजु० अध्याय ३७ के १४-२० (सात) मन्त्रों से उपासना करता है। (यजु० ३७।१४-२०) को अवकाश कहते हैं। अवकाश प्राण हैं। इस प्रकार प्राण उसमें धारण कराता है। छः लोग स्तुति करते हैं (यजमान तथा अन्य याज्ञिक प्रस्तोता को छोड़कर), क्योंकि सिर में छः प्राण होते हैं, उन्हीं को इसमें धारण करता है ॥१॥

"गर्भो देवानाम्" (यजु० ३७।१४)—यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, यह देवों का गर्भ है क्योंकि यह सबको ग्रहण करता है। इसी से ये सब ग्रहण किये जाते हैं। यही प्रवर्ग्य है। उसी को प्रसन्न करता है, इसलिए कहता है कि "देवों का गर्भ है।" (गर्भ का अर्थ है ग्रहण करनेवाला) ॥२॥

"पिता मतीनाम्" (यजु० ३७।१४)—यह "मतियों अर्थात् बुद्धियों का पिता या रक्षक है।" "पतिः प्रजानाम्।" (यजु० ३७।१४)—अर्थात् "प्रजाओं का अधिपति है" ॥३॥

"सं देवो देवेन सवित्रा गत" (यजु० ३७।१४)—अर्थात् "यह देव (महावीर ग्रह) देव सविता के साथ मिला।" "सँ सूर्येण रोचते" (यजु० ३७।१४)—अर्थात् "वह सूर्य के साथ प्रकाशित हुआ" ॥४॥

"समग्निरग्निना गत" (यजु० ३७।१५)—"अग्नि अग्नि से मिल गया।" "सं दैवेन सवित्रा" (यजु० ३७।१५)—"देव सविता के साथ।" "सँ सूर्येणारोचिष्ट" (यजु० ३७।१५)—"सूर्य के साथ प्रकाशित हुआ" ॥५॥

"स्वाहा समग्निस्तपसा गत" (यजु० ३७।१५)—क्योंकि अग्नि ताप से मिल गया। पहले स्वाहा कहता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका कारण बताया जा चुका है। "सं दैव्येन सवित्रा" (यजु० ३७।१५)—अर्थात् "देव सविता के साथ मिल गया!" "सँ सूर्येणारूरुचत" (यजु० ३७।१५)—क्योंकि "सूर्य के साथ प्रकाशित हुआ" ॥६॥

ये तीन अवकाश होते हैं।

वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तेनैवास्मिन्नेतद्दधाति ॥७॥ धर्ता दिवो विभाति तपसस्पृथिव्यामिति । धर्ता ह्येष दिवो विभाति तपसस्पृथिव्यां धर्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजा इति धर्ता ह्येष देवो देवानाममर्त्यस्तपोजा वाचमस्मे नियच्छ देवायुवमिति यज्ञो वै वाग्यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान्प्रीणामेत्येवैतदाह ॥८॥ अपश्यं गोपामनिपद्यमानमिति । एष वै गोपा य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं गोपायत्यथो न निपद्यते तस्मादाहापश्यं गोपामनिपद्यमानमिति ॥९॥ आ च परा च पथिभिश्चरन्तमिति । आ च ह्येष परा च देवैः पथिभिश्चरति स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान इति सध्रीचीश्च ह्येष विषूचीश्च दिशो वस्तेऽथो रश्मीनावरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तरिति पुनः-पुनर्ह्येष एषु लोकेषु वरीवर्त्यमानश्चरति ॥१०॥ विश्वासां भुवां पते । विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पतऽइत्येतस्य सर्वस्य पतऽइत्येतद्देवश्रुत्वं देव घर्म देवो देवान्पाहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥११॥ अत्र प्रावीरनु वां देववीतयऽइति । अश्विनावेवैतदाहाश्विनौ वाऽएतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहात्र प्रावीरनु वां देववीतयऽइति ॥१२॥ मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्यामिति । दध्यङ् ह वाऽआभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच तदेनयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति तस्मादाह मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्यामिति ॥१३॥ हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा । ऊर्ध्वोऽअध्वरं दिवि देवेषु धेहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१४॥ पिता नोऽसि पिता नो बोधीति । एष वै पिता य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह पिता नोऽसि पिता नो बोधीति नमस्ते ऽअस्तु मा मा हिꣳसीरित्याशिषमेवैतदाशास्ते ॥१५॥ अथ पत्न्यै शिरोऽपवृत्य । महावीरमीक्षमाणां वाचयति त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेमेति वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥१६॥ अथैतद्धै° ॥१७॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ प्रथमोऽध्यायः [१२.]।

तीन प्राण हैं—प्राण, उदान, व्यान। इनको ही इसमें धारण कराता है ॥७॥

"धर्ता दिवो वि भाति तपसस्पृथिव्याम्" (यजु० ३७।१६)—"द्यौलोक का धारण करनेवाला और पृथिवी में उष्णता का धारण करनेवाला चमकता है।" (यहाँ सूर्य और महावीर ग्रह दोनों से तात्पर्य है)। "धर्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः" (यजु० ३७।१६)—"देवों का धारक, अमर और उष्णता से उत्पन्न हुआ देव।" "वाचमस्मे नि यच्छ देवायुवम्" (यजु० ३७।१६)—"देवों को युक्त करनेवाली वाणी मुझको दो।" वाक् यज्ञ है। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि मुझको यज्ञ से मुक्त करो, जिससे देवों को प्रसन्न कर सकूँ ॥८॥

"अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्" (यजु० ३७।१७)—यह जो तपता है (सूर्य) यह गोपा है, क्योंकि यह सबकी रक्षा करता है और वह आराम नहीं करता। इसलिए कहता है कि 'मैंने कभी विश्राम न करनेवाले रक्षक को देखा" ॥९॥

"आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्" (यजु० ३७।१७)—क्योंकि वह इस या उस दैवी मार्ग पर चलता है। "स सध्रीचीः सः विसूचीर्वसानः" (यजु० ३७।१७)—क्योंकि वह सिकुड़नेवाली तथा फैलनेवाली दिशाओं में रहता है। "आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः" (यजु० ३७।१७)—क्योंकि वह बार-बार उन्हीं लोकों में फिरता है ॥१०॥

"विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते। देवश्रुत् त्वं देव घर्म देवो देवा न् पाहि" (यजु० ३७।१७)—अर्थात् "हे घर्मदेव, तुम सबके पति हो। देवों की रक्षा करो।" अर्थ स्पष्ट है ॥११॥

"अत्र प्रावीरनु वां देववीतये" (यजु ३७।१७)—अर्थात् अब दोनों अश्विनों के विषय में कहता है कि घर्म उसको तृप्त करे, और फिर अन्य देवों को भी। क्योंकि इन दोनों अश्विनों ने ही यज्ञ के सिर को स्थापित किया था। उन्हीं दोनों को प्रसन्न करता है, जब कहता है कि "अत्र प्रावीरनु वां देववीतये" ॥१२॥

"मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्याम्" (यजु० ३७।१८)—दध्यङ् आथर्वण ने 'मधु' नामी ब्राह्मण को उन दोनों को बताया था। यही उनका प्रिय धाम है। उसी के द्वारा वह उनकी उपासना करता है। इसलिए कहता है, "दो मधु चाहनेवालों के लिए मधु" ॥१३॥

"हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा। ऊर्ध्वो ऽअध्वरं दिवि देवेषु धेहि" (यजु० ३७।१९)—"हृदय के लिए तुझको, मन के लिए तुझको, द्यौलोक के लिए तुझको, सूर्य के लिए तुझको, ऊपर जाते हुए तू देवों के लिए यज्ञ को ले जा।" यह सब स्पष्ट है ॥१४॥

"पिता नोऽसि पिता नो बोधि" (यजु० ३७।२०)—यह जो तपता है (सूर्य) यह पिता है। वही प्रवर्ग्य है। उसको प्रसन्न करने के लिए ही कहता है कि "तू पिता है। हमारा पिता हो।" 'नमस्ते ऽ अस्तु मा-मा हिँ सीः" (यजु० ३७।२०)—इससे आशीर्वाद कहता है ॥१५॥

अब पत्नी के सिर को खोल देता है और उसको महावीर ग्रह की ओर दिखाकर कहलवाता है कि "त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम···" इत्यादि (यजु० ३७।२०)—अर्थात् "त्वष्ट्रा के साथ हम तेरी सेवा करेंगे" इत्यादि। प्रवर्ग्य नर है और पत्नी स्त्री है। इस प्रकार प्रजनन होता है ॥१६॥

"जो कोई इसका उपदेश करता है या भक्षण करता है, यह प्रवर्ग्य उसके जीवन तथा ज्योति में प्रवेश करता है।" इसकी व्रतचर्या वही है जो सृष्टि की ॥१७॥

अथातो रौहिणौ जुहोति । अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहे-
त्युभावेतेन यजुषा प्राता रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्युभावे-
तेन यजुषा सायम् ॥१॥ तद्यद्रौहिणौ जुहोति । अग्निश्च ह वाऽआदित्यश्च रौ-
हिणावेताभ्याꣳ हि देवताभ्यां यजमानाः स्वर्गं लोकꣳ रोहन्ति ॥२॥ अथोऽअहो-
रात्रे वै रौहिणौ । आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमहोरात्राभ्यां परिगृह्णाति त-
स्मादेषोऽहोरात्राभ्यां परिगृहीतः ॥३॥ अथोऽइमौ वै लोकौ रौहिणौ । आदि-
त्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां लोकाभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेष आभ्यां लोका-
भ्यां परिगृहीतः ॥४॥ अथो चक्षुषी वै रौहिणौ । शिरः प्रवर्ग्यः शीर्षंस्तच्चक्षुर्द-
धाति ॥५॥ अथ रज्जुमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
हस्ताभ्यामाददे रास्नासीत्यसावेव बन्धुः ॥६॥ अथ गामाह्वयति । जघनेन गार्ह-
पत्यं यन्निडऽएह्यदितऽएहि सरस्वत्येहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौः सरस्वती हि
गौरथो नैराह्वयति नाम्नासावेह्यसावेहीति त्रिः ॥७॥ तामागतामभिदधाति । अ-
दित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीष इतीन्द्राणी ह वाऽइन्द्रस्य प्रिया पत्नी तस्या उ-
ष्णीषो विश्वरूपतमः सोऽसीति तदाह तमेवैनमेतत्करोति ॥८॥ अथ वत्समुपार्ज-
ति । पूषासीत्ययं वै पूषा योऽयं पवतऽएष हीदꣳ सर्वं पुष्यत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदे-
तमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह पूषासीति ॥९॥ अथोन्नयति । घर्माय दीष्वेत्येष वा
ऽअत्र घर्मो रसो भवति यमेषा पिन्वते तस्मै दयस्वेत्येवैतदाह ॥१०॥ अथ पि-
न्वने पिन्वयति । अश्विभ्यां पिन्वस्वेत्यश्विनावेवैतदाहाश्विनौ वाऽएतद्यज्ञस्य
शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहाश्विभ्यां पिन्वस्वेति ॥११॥ सरस्व-
त्यै पिन्वस्वेति । वाग्वै सरस्वती वाचा वाऽएतदश्विनौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां
तावेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह सरस्वत्यै पिन्वस्वेति ॥१२॥ इन्द्राय पिन्वस्वेति ।
इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तयैवैतदश्विनौ यज्ञस्य शिरः

रौहिणहोमः, महावीरेषु अजापयस आसेकश्च

अध्याय २—ब्राह्मण १

अब रौहिण आहुतियाँ देता है—"अहः केतुना जुषताँ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा" (यजु० ३७।२१)—अर्थात् दिन इसकी ज्योति से प्रसन्न हो। इस मन्त्र से प्रातःकाल दोनों आहुतियाँ दी जाती हैं। "रात्रिः केतुना जुषताँ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा" (यजु० ३७।२१)—इससे सायंकाल को दो आहुतियाँ ॥१॥

दोनों रौहिण आहुतियाँ क्यों दी जाती हैं? अग्नि और आदित्य से ये दोनों रौहिण (सीढ़ियाँ) हैं। इन्हीं दोनों देवताओं की सहायता से स्वर्गलोक को चढ़ते हैं ॥२॥

दिन-रात भी रौहिण हैं। आदित्य प्रवर्ग्य है। इन आदित्य को दिन-रात की सहायता से ग्रहण करता है। इसीलिए यह दिन-रात से पकड़ा हुआ है ॥३॥

ये दोनों लोक भी रौहिण हैं। आदित्य प्रवर्ग्य है। इस आदित्य को इन दोनों लोकों से पकड़ता है। इसीलिए यह इन दोनों लोकों से पकड़ा हुआ है ॥४॥

दो आँखें भी रौहिण हैं। सिर प्रवर्ग्य है। इस प्रकार सिर में चक्षु रखता है ॥५॥

अब रस्सी को लेता है, इस मन्त्र से—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आ ददेऽदित्यै रास्नाऽसि" (यजु० ३८।१)—"देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से, पूषा के हाथों से तुझको लेता हूँ, तू अदिति के लिए रस्सी या मेखला है।" इसका तात्पर्य स्पष्ट है ॥६॥

अब गार्हपत्य के पीछे खड़ा होकर गाय को पुकारता है—"इड एह्यदित ऽ एहि सरस्वत्येहि" (यजु० ३८।२)—"गौ इडा है, गौ अदिति है, गौ सरस्वती है।" उन-उन नामों से पुकारता है। "असावेह्यसावेह्यसावेहि" (यजु० ३८।२)—नाम लेकर तीन बार—"इस नाम की तू आ, इस नाम की तू आ, इस नाम की तू आ।" ॥७॥

जब वह आ जाती है तो उस(के सींगों) में रस्सी डाल देता है—"अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीषः" (यजु० ३८।३)—"तू अदिति की मेखला है, इन्द्राणी की बेणी है।" इन्द्राणी इन्द्र की प्रिय पत्नी है। उसकी बेणी बड़ी चमकीली है। 'वैसी तू है' यह उसके कहने का तात्पर्य है। वैसा ही वह उसको बनाता है ॥८॥

अब उसके बछड़े को छोड़ता है—"पूषासि" (यजु० ३८।३)—यह जो पवित्र करता है, अर्थात् वायु, वही पूषा है, यही इस सब संसार का पोषण करता है। यही प्रवर्ग्य है। उसी को इससे प्रसन्न करता है, इसीलिए कहता है कि "तू पूषा है" ॥९॥

अब वह बछड़े को हटा लेता है—"घर्माय दीष्व" (यजु० ३८।३)—"घर्म पर दया कर।" यह जो गाय से 'दूध' निकलता है वह घर्म है। उस गाय पर दया कर (अर्थात् अब अधिक न पी) ऐसा कहता है ॥१०॥

अब पात्र में बहने देता है—"अश्विभ्यां पिन्वस्व" (यजु० ३८।४)—"अश्विनों के लिए बह" ऐसा कहता है। अश्विनों ने ही यज्ञ के सिर को फिर स्थापित किया था। उन्हीं को यह प्रसन्न करता है। इसलिए कहता है कि "अश्विनों के लिए बह" ॥११॥

"सरस्वत्यै पिन्वस्य" (यजु० ३८।४)—वाणी सरस्वती है। वाणी की सहायता से ही अश्विनों ने उसके सिर को स्थापित किया। उन्हीं दोनों को प्रसन्न करता है। इसलिए कहता है कि "सरस्वती के लिए बह" ॥१२॥

"इन्द्राय पिन्वस्व" (यजु० ३८।४)—इन्द्र यज्ञ का देवता है। जो यज्ञ का देवता है उसी की सहायता से अश्विनों ने यज्ञ के इस सिर को स्थापित किया।

प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहेन्द्राय पिन्वस्वेति ॥१३॥ अथ विप्रुषोऽभिमन्त्रयते । स्वाहेन्द्रवत्स्वाहेन्द्रवदितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह स्वाहेन्द्रवत्स्वाहेन्द्रवदिति त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञोऽवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥१४॥ अथास्यै स्तनमभिपद्यते । यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूरिति यस्ते स्तनो निहितो गुहायामित्येवैतदाह यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्र इति यो धनानां दाता वसुवित्पणाय्य इत्येवैतदाह येन विश्वा पुष्यसि वार्याणीति येन सर्वान्देवान्त्सर्वाणि भूतानि बिभर्षीत्येवैतदाह सरस्वति तमिह धातवेऽकरिति वाग्वै सरस्वती सैषा घर्मदुघा यज्ञो वै वाग्यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान्प्रीणामेत्येवैतदाहाथ गार्हपत्यस्यार्धमेत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यसावेव बन्धुः ॥१५॥ अथ शफावादत्ते । गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसीति गायत्रेण चैवैनावेतत्त्रैष्टुभेन च छन्दसादत्ते द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामीतीमे वै द्यावापृथिवी परीशासावादित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णात्यथ मौञ्जेन वेदेनोपमार्ष्ट्यसावेव बन्धुः ॥१६॥ अथोपयमन्योपगृह्णाति । अन्तरिक्षेणोपयच्छामीत्यन्तरिक्षं वाऽउपयमन्यन्तरिक्षेण हीदꣳ सर्वमुपयतमथोऽउदरं वाऽउपयमन्युदरेण हीदꣳ सर्वमन्नाद्यमुपयतं तस्मादाहान्तरिक्षेणोपयच्छामीति ॥१७॥ अथाजाक्षीरमानयति । तप्तो वाऽएष शुशुचानो भवति तमेवैतच्छमयति तस्मिञ्छान्ते गोक्षीरमानयति ॥१८॥ इन्द्राश्विनेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतत्प्रीणात्यश्विनेत्यश्विनावेवैतदाहाश्विनौ वाऽएतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहेन्द्राश्विनेति ॥१९॥ मधुनः सारघस्येति । एतद्वै मधु सारघं घर्मं पातेति रसं पातेत्येवैतदाह वसव ह्त्येते वै वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते यजत वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति ॥२०॥ स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनय

उन्हीं दोनों को प्रसन्न करता है, इसीलिए कहता है कि "इन्द्र के लिए बह" ।।१३।।

दूध की फैली हुई बूंदों का अभिमंत्रण करता है—"स्वाहेन्द्रवत्, स्वाहेन्द्रवत्, स्वाहेन्द्रवत्" (यजु० ३८।४)—यज्ञ का देवता इन्द्र है। जो यज्ञ का देवता है उसी के द्वारा वह उसको प्रसन्न करता है। इसलिए ऐसा कहता है। तीन बार कहता है क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है। पहले 'स्वाहा' बोलता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य बताया जा चुका है ।।१४।।

अब इसके थन को छूता है—"यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूः"(यजु० ३८।५; ऋ० १।१६४।४९)—अर्थात् "यह तेरा धन गुहा में छिपा है।" "रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः" (यजु० ३८।५)—"जो रत्न को धारण करनेवाला, धन देनेवाला और दानी है।" "येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि" (यजु० ३८।५)—"जिसकी सहायता से तू सब देवों और प्राणियों को पालती है।" "सरस्वति तमिह धातवेऽकः" (यजु० ३८।५) —वाणी सरस्वती है। वह घर्म को दुहनेवाली है।" यज्ञ भी वाणी है। कहने का तात्पर्य है कि हमारे लिए यज्ञ का दान कर कि हम देवों को प्रसन्न कर सकें। अब गार्हपत्य के स्थान में आकर कहता है, "उर्वन्तरिक्षमन्वेमि"(यजु० ३८।५)—"मैं अन्तरिक्ष में जाता हूँ।" इसका रहस्य पूर्ववत् है ।।१५।।

अब दोनों शफों को लेता है—"गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि" (यजु० ३८।६)—गायत्री और त्रिष्टुभ् छन्दों से इसको लेता है। "द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णामि" (यजु० ३८।६)—क्योंकि द्यौ और पृथिवी ये दो 'परीशास' या 'शफ्' हैं। आदित्य प्रवर्ग्य है। इस प्रकार इन पृथिवी और द्यौ के द्वारा आदित्य को पकड़ता है। अब मूँज के गुच्छे को झाड़ू देकर साफ कर देता है। इसका रहस्य वही है ।।१६।।

अब इसको उपयमनी (उदुम्बर लकड़ी का एक छोटा उथला-सा पात्र) में लेता है इस मंत्र से—"अन्तरिक्षेणोप यच्छामि" (यजु० ३८।६)—अन्तरिक्ष उपयमनी है, क्योंकि हर चीज इसमें समाई हुई है। पेट भी उपयमनी है, क्योंकि सब भोजन पेट में ही समाया होता है। इसलिए कहता है कि "मैं इसको अन्तरिक्ष से लेता हूँ" ।।१७।।

अब उसमें बकरी का दूध डालता है। क्योंकि (महावीर ग्रह) गर्म होकर लाल पड़ जाता है। वह इसको शान्त करता है। जब शान्त हो जाता है, तब उसमें गाय का दूध डालता है—।।१८।।

इस मंत्र से—"इन्द्राश्विना" (यजु० ३८।६)—यज्ञ का देवता इन्द्र है। जो यज्ञ का देवता है, उसी को इसके द्वारा प्रसन्न करता है। अश्विनों से, क्योंकि अश्विनों ने ही यज्ञ के सिर को स्थापित किया था। उन्हीं को प्रसन्न करता है, इसलिए कहता है कि 'इन्द्राश्विना' ।।१९।।

"मधुनः सारघस्य"(यजु० ३८।६)—क्योंकि वह मक्खियों का शहद तो है ही। "घर्मं पात" (यजु० ३८।६)—अर्थात् "रस पीयो।" "वसवः" (यजु० ३८।६)—क्योंकि ये वसु हैं, जिनमें इन सबका वास है। "यजत वाट्" (यजु० ३८।६)—मानो यह वषट्कार से आहुति दी गई ।।२०।।

"स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये"(यजु० ३८।६)—"वृष्टि के लानेवाली सूर्य की किरण के लिए स्वाहा।"

ऽइति । सूर्यस्य ह वाऽएको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति तमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनयऽइत्यवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥२१॥ अथैतद्धैः ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५ [२. १.] ॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१३२ ॥ ॥

स यत्रैताꣳ होतान्वाह । प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृतेति तदध्वर्युः प्राकुदायन्वातनामानि जुहोत्येतद्धै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममन्तरा रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तमेतत्पुरैवाहवनीयात्स्वाहाकारेणाजुहवुस्तꣳ हुतमेव सन्तमग्नावजुहवुस्तथोऽएवैनमेष एतत्पुरैवाहवनीयात्स्वाहाकारेण जुहोति तꣳ हुतमेव सन्तमग्नौ जुहोति ॥१॥ समुद्राय त्वा वाताय स्वाहेति । अयं वै समुद्रो योऽयं पवतऽएतस्माद्धि समुद्रात्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्द्रवन्ति तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाह समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा ॥२॥ सरिराय त्वा वाताय स्वाहेति । अयं वै सरिरो योऽयं पवतऽएतस्माद्धि सरिरात्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सहेरते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाह सरिराय त्वा वाताय स्वाहा ॥३॥ अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहेति । अयं वाऽअनाधृष्योऽप्रतिधृष्यो योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाहानाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहेति ॥४॥ अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहेति । अयं वाऽअवस्युरशिमिदो योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाहावस्यवे त्वा वाताय स्वाहाशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहेति ॥५॥ इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेति । अयं वाऽइन्द्रो योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाहेन्द्राय त्वेति वसुमते रुद्रवतऽइति तदिन्द्रमेवानु वसूꣳश्च रुद्राꣳश्चाभजत्यथो प्रातःसवनस्य चैवैतन्माध्यन्दिनस्य च सवनस्य रूपं क्रियते ॥६॥ इन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेति । अयं वाऽइन्द्रो योऽयं पवते तस्मा

सूर्य की एक किरण का नाम 'वृष्टिवनि' है, जिससे यह सब प्रजाओं का पालन करता है। उसी को प्रसन्न करता है, जब कहता है कि 'सूर्य की वृष्टि लानेवाली रश्मि के लिए स्वाहा।' पहले 'स्वाहा' बोलता है, फिर देवता का नाम। इसका रहस्य बताया जा चुका है ॥२१॥

जो कोई उसका उपदेश करता है या भक्षण करता है, यह प्रवर्ग्य उसके जीवन तथा ज्योति में प्रवेश करता है। इसकी व्रतचर्या वही है जो सृष्टि की ॥२२॥

प्रवर्ग्यानुष्ठानम्

अध्याय २—ब्राह्मण २

जब होता कहे कि 'ब्रह्मणस्पति आगे आवे', 'सूनृता देवी आगे आवे' उस समय अध्वर्यु आगे बढ़कर 'वायु' के नामों से आहुति देता है। देवों को भय हुआ कि कहीं दुष्ट राक्षस इस (प्रवर्ग्य) को यज्ञ के बीच में हानि न पहुँचावें। इसलिए आहवनीय में ले जाने से पूर्व ही 'स्वाहा-कार' से उन्होंने आहुति दे दी और उस आहुति के पीछे अग्नि में आहुति दी। इसी प्रकार यह भी आहवनीय में ले जाने से पूर्व ही स्वाहाकार से आहुति देता है और इस आहुति के पश्चात् अग्नि में आहुति देता है ॥१॥

"समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा" (यजु० ३८।७)—यह जो बहता है (वायु) वह समुद्र है, क्योंकि इसी समुद्र से सब देव तथा प्राणी निकलते हैं (समुद्रवन्ति)। उसी के लिए यह आहुति देता है, इसलिए कहता है "तुझ समुद्र वायु के लिए स्वाहा" ॥२॥

"सरिराय त्वा वाताय स्वाहा" (यजु० ३८।७)—यह जो बहता है अर्थात् वायु, यही सरिर है। इसी सरिर से सब देव तथा प्राणी (सह ईरते) साथ-साथ निकलते हैं। उसी के लिए आहुति देता है। इसलिए कहा "तुझ सरिर वायु के लिए स्वाहा" ॥३॥

"अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा। अप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा" (यजु० ३८।७)—यह जो वायु है, वह अनाधृष्य (न तिरस्कार के योग्य) और अप्रतिधृष्य (न सामना करने योग्य) है, उसी के लिए आहुति देता है, इसलिए ऐसा कहता है कि अनाधृष्याय···इत्यादि ॥४॥

"अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहा। अशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा" (यज० ३८।७)—यह वायु रक्षक और क्लेश दूर करनेवाला है, उसी के लिए आहुति देता है, इसलिए कहता है "तुझ रक्षक तथा क्लेश दूर करनेवाले वायु के लिए स्वाहा" ॥५॥

"इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहा" (यजु० ३८।८)—यह जो वायु है वह इन्द्र है। इसी के लिए आहुति देता है। इसलिए कहा "तुझ इन्द्र के लिए।" जब 'वसु और रुद्रवाले' ऐसा कहता है तो वसुओं और रुद्रों को भी इसमें भाग देता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार यह प्रातःसवन तथा मध्यसवन का रूप भी बन जाता है ॥६॥

"इन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहा" (यजु० ३८।८)—यह वायु इन्द्र है, इसलिए कहा "इन्द्र

ऽएवैनं जुहोति तस्मादाहेन्द्राय त्वेत्यादित्यवतऽइति तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजत्यथो तृतीयसवनस्यैवैतद्रूपं क्रियते ॥७॥ इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहेति । अयं वाऽइन्द्रो योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाहेन्द्राय त्वेत्यभिमातिघ्न इति सपत्नो वाऽअभिमातिरिन्द्राय त्वा सपत्नघ्नऽइत्येवैतदाह सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैष ऋते देवेभ्यः ॥८॥ सवित्रे त्वऽऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहेति । अयं वै सविता योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाह सवित्रे त्वेत्यृभुमते विभुमते वाजवतऽइति तदस्मिन्विश्वान्देवानन्वाभजति ॥९॥ बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहेति । अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाह बृहस्पतये त्वेति विश्वदेव्यावतऽइति तदस्मिन्विश्वान्सर्वान्देवानन्वाभजति ॥१०॥ यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहेति । अयं वै यमो योऽयं पवते तस्माऽएवैनं जुहोति तस्मादाह यमाय त्वेत्यङ्गिरस्वते पितृमतऽइति यज्ञस्य शीर्षछिन्नस्य [रसो व्यक्षरत्स] पितॄनगछत्त्रया वै पितरस्तानेवैतदन्वाभजति ॥११॥ द्वादशैतानि नामानि भवन्ति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्माद्द्वादश भवन्ति ॥१२॥ अथोपयमन्या महावीरऽआनयति । स्वाहा घर्मायेत्येष वै घर्मो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह स्वाहा घर्मायेत्यवर्ॆ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥१३॥ आनीते जपति । स्वाहा घर्मः पित्रऽइति यज्ञस्य शीर्षछिन्नस्य [रसो व्यक्षरत्स] पितॄनगछत्त्रया वै पितरस्तानेवैतत्प्रीणात्यवर्ॆ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥१४॥ नानुवाक्यामन्वाह । सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नानुवाक्यामन्वाहातिक्रम्याश्राव्याह घर्मस्य यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१५॥ विश्वा आशा दक्षिणसदिति सर्वा आशा दक्षिणसदित्येवैतदाह विश्वान्देवानयाडिहेति सर्वान्देवानयाक्षीदिहेत्येवैतदाह

के लिए।'' 'आदित्यवाले' इसलिए कहा कि आदित्यों को इसके साथ भाग देता है। इसके अति- इसको तृतीय सवन का रूप देता है ।।७।।

''इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहा'' (यजु० ३८।८)—यह जो वायु है वही इन्द्र है। इस- लिए कहा ''तुझ इन्द्र के लिए।'' अभिमाति का अर्थ है शत्रु। अभिमातिघ्न हुआ शत्रुओं को मारने- वाला, अर्थात् तुझ शत्रु के मारनेवाले इन्द्र के लिए। यह इसका विशेष भाग है। जैसे श्रेष्ठ का हुआ करता है, वैसा ही यह है, अन्य देवों के भाग से अलग ।।८।।

''सवित्रे त्व ऽ ऋभुमते वाजमते स्वाहा'' (यजु० ३८।८)—यह जो वायु है वह सविता है। उसी के लिए आहुति देता है। इसलिए कहा ''तुझ सविता के लिए, जो ऋभुओं, विभुओं और वाजों से युक्त है।'' इस प्रकार इसके साथ सभी देवताओं का भाग होता है ।।९।।

''बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा'' (यजु० ३८।८)—यह वायु बृहस्पति है। इसी के लिए आहुति देता है। इसलिए कहा ''विश्वेदेवों से युक्त तुझ बृहस्पति के लिए।'' इस प्रकार इन सब देवों को उसमें भाग देता है ।।१०।।

''यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा'' (यजु० ३८।९)—यह वायु यम है। इसी के लिए आहुति देता है, इसीलिए कहता है ''तुझ यम के लिए स्वाहा जो अङ्गिरा और पितरों के साथ है।'' यज्ञ का सिर जब कट गया, तो उसका रस बह गया और पितरों को चला गया। पितर तीन हैं। उन्हीं को इसमें भाग देता है ।।११।।

ये बारह नाम हुए। संवत्सर में बारह ही महीने होते हैं। यह जो तपता है (सूर्य) यह संवत्सर है। यही प्रवर्ग्य भी है। इसी को इस प्रकार प्रसन्न करता है। इसलिए ये बारह होते हैं ।।१२।।

अब (दूध तथा घी को) उपयमनी से महावीर पात्र में डालता है। ''स्वाहा घर्माय'' (यजु० ३८।९)—यह जो तपता है (सूर्य) यह घर्म है। यही प्रवर्ग्य भी है। इसी को प्रसन्न करता है, इसलिए कहता है ''घर्म के लिए स्वाहा।'' पहले 'स्वाहा' कहता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य बताया जा चुका है ।।१३।।

जब यह डाल दिया गया तो जाप करता है—''स्वाहा घर्मः पित्रे'' (यजु० ३९।९)— यज्ञ का सिर कट गया तो उसका रस बहा और पितरों के पास गया। पितर तीन हैं। उन्हीं को इस प्रकार प्रसन्न करता है। पहले स्वाहा कहता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य बताया जा चुका है ।।१४।।

कोई अनुवाक्य नहीं कहता, क्योंकि पितर तो सदा के लिए चले गए, इसलिए अनुवाक्य नहीं कहता। आगे चलकर और (अग्नीध्र को) श्रौषट् का आदेश देकर (अध्वर्यु होता से) कहता है—'घर्म के लिए याज्य कहो।' वषट्कार के कहे जाने पर वह आहुति देता है—।।१५।।

इस मंत्र से—''विश्वा ऽ आशा दक्षिणसद्'' (यजु० ३८।१०)—अर्थात् दक्षिण में बैठकर उसने सब दिशाओं की अर्चना कर ली। ''विश्वान्देवानयाडिह'' (यजु० ३८।१०)—अर्थात् सब देवों की पूजा कर ली।

स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विनेत्यश्विनावेवैतदाहाश्विनौ ह्येतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणात्यथ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥१६॥ अथ ध्रुवोर्धमुत्कम्पयति । दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धा इत्यसौ वाऽआदित्यो घर्मो यज्ञो दिवि वाऽएष हितो दिवि प्रतिष्ठितस्तमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धा इत्यनुवषट्कृते जुहोति ॥१७॥ स्वाहाग्नये यज्ञियायेति । तत्स्विष्टकृद्भाजनमग्निर्हि स्विष्टकृच्छं यजुर्भ्य इति यजुर्भिर्ह्येषोऽस्मिंल्लोके प्रतिष्ठितस्तान्येवैतत्प्रीणात्यथ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥१८॥ अथ ब्रह्मानुमन्त्रयते । ब्रह्मा वाऽऋत्विजां भिषक्तमस्तस्य एवऽर्त्विजां भिषक्तमस्तेनैवैनमेतद्यज्ञं भिषज्यति ॥१९॥ अश्विना घर्मं पातमिति । अश्विनावेवैतदाहाश्विनौ ह्येतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति ॥२०॥ हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिरिति । अनिरुक्तमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं भिषज्यति ॥२१॥ तन्त्रायिणऽइति । एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमांल्लोकांस्तन्त्रमिवानुसंचरत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह तन्त्रायिणऽइति ॥२२॥ नमो द्यावापृथिवीभ्यामिति । तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुते ययोरिदꣳ सर्वमधि ॥२३॥ अथ यजमानः । यज्ञो वै यजमानो यज्ञेनैवैतद्यज्ञं भिषज्यति ॥२४॥ अपातामश्विना घर्ममिति । अश्विनावेवैतदाहाश्विनौ ह्येतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति ॥२५॥ अनु द्यावापृथिवीऽअमꣳसातामिति । तदिमे द्यावापृथिवीऽआह ययोरिदꣳ सर्वमधीहैव रातयः सन्त्विती हैव नो धनानि सन्त्वित्येवैतदाह ॥२६॥ अथ पिन्वमानमनुमन्त्रयते । इषे पिन्वस्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे पिन्वस्वेत्यूर्जे पिन्वस्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह ब्रह्मणे पिन्वस्वेति तद्ब्रह्मणऽआह क्षत्राय पिन्वस्वेति तत्क्षत्रायाह द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्वेति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्या-

"स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना" (यजु० ३८।१०)—"हे दोनों अश्विनो ! तुम इस स्वाहायुक्त घर्म के मधु को पियो।" यह अश्विनों के लिए कहता है, क्योंकि अश्विनों ने यज्ञ के सिर को स्थापित किया था। उन्हीं को यह प्रसन्न करता है। पहले स्वाहा कहता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य पहले बताया जा चुका है ।।१६।।

आहुति देने के पीछे (महावीर ग्रह को) ऊपर को उछालता है (तीन बार) इस मंत्र से—"दिवि धा ऽ इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः" (यजु० अ० ३८।११)—"द्यौलोक में रख इस यज्ञ को। इस यज्ञ को द्यौलोक में रख।" क्योंकि आदित्य ही घर्म और यज्ञ है। वही द्यौलोक में 'रक्खा' हुआ है, द्यौलोक में स्थापित है। इस प्रकार वह उसी को प्रसन्न करता है, इसलिए कहता है कि 'द्यौलोक में रख इस यज्ञ को। इस यज्ञ को द्यौ लोक में रख।' वषट्कार के उपरान्त यह आहुति देता है—।।१७।।

इस मंत्र से—"स्वाहाग्नये यज्ञियाय"(यजु० ३८।११)—यह स्विष्टकृत् के स्थान में है। अग्नि स्विष्टकृत् है। "शं यजुर्भ्यः"(यजु० ३८।११)—क्योंकि यजुओं द्वारा ही यह (आदित्य) यमलोक में महावीर ग्रह के रूप में उपस्थित हुआ है। उन्हीं यजुओं को प्रसन्न करता है। पहले 'स्वाहा' बोलता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य बताया जा चुका है ।।१८।।

ब्रह्मा अनुमंत्र पढ़ता है। ब्रह्मा ऋत्विजों का उत्तम भिषक् या वैद्य है। जो ऋत्विजों में सबसे बड़ा वैद्य है, उसी के द्वारा यज्ञ की चिकित्सा करता है—।।१९।।

इस मंत्र से—"अश्विना घर्मं पातम्" (यजु० ३८।१२)—"हे अश्विनो, घर्म को पियो।" यह अश्विनों के लिए कहा गया है। अश्विनों ने ही यज्ञ के सिर को स्थापित किया था। उन्हीं को ऐसा कहकर प्रसन्न करता है ।।२०।।

"हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः" (यजु० ३८।१२)—"हृदयग्राही को रात-दिन भलाइयों के साथ।" यह स्पष्ट नहीं। प्रजापति भी स्पष्ट नहीं। प्रजापति यज्ञ है। इसी प्रजापति यज्ञ की चिकित्सा करता है ।।२१।।

"तन्त्रायिणे" (यजु० ३८।१२)—"ताना बुननेवाले के लिए।" यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, यही ताना बुननेवाला है, क्योंकि यह इन लोकों में ताने के समान विचरता है। यही प्रवर्ग्य है। उसी को प्रसन्न करता है, इसलिए कहते हैं 'बुननेवाले के लिए' ।।२२।।

"नमो द्यावापृथिवीभ्याम्" (यजु० ३८।१२)—इस प्रकार द्यौ और पृथिवी को, जिसके बीच में यह सब-कुछ है, संतुष्ट करता है ।।२३।।

अब यजमान कहता है। यज्ञ ही यजमान है। यज्ञ से ही यज्ञ की चिकित्सा करता है ।।२४।।

"अपातामश्विना घर्मम्" (यजु० ३८।१३)—"दोनों अश्विनों ने घर्म का पान कर लिया।" यह अश्विनों के विषय में कहता है। अश्विनों ने ही यज्ञ के सिर को स्थापित किया था। उन्हीं से प्रसन्न है ।।२५।।

"अनु द्यावापृथिवी ऽ अमँसाताम्" (यजु० ३८।१३)—"द्यौ और पृथिवी ने अनुमति दे दी।" यह द्यौ और पृथिवी के विषय में कहता है, क्योंकि सब-कुछ इन्हीं के भीतर है। "इहैव रातयः सन्तु।" (यजु० ३८।१३)—अर्थात् "यहीं हमको धन आदि प्राप्त हों" ।।२६।।

अब पिन्वान का अनुमन्त्रण करता है—"इषे पिन्वस्व" (यजु० ३८।१४)—"शक्ति के लिए उबल।" अर्थात् वृष्टि के लिए। "ऊर्जे पिन्वस्य" (यजु० ३८।१४)—"वृष्टि से ऊर्ज या रस निकलता है उसके लिए।" "ब्रह्मणे पिन्वस्व" (यजु० ३८।१४)—अर्थात् "ब्राह्मण के लिए।" "क्षत्राय पिन्वस्व" (यजु० ३८।१४)—अर्थात् "क्षत्रिय के लिए।" "द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व" (यजु० ३८।१४)—यह द्यौ और पृथिवी के लिए कहा क्योंकि द्यौ और पृथिवी के

माह ययोरिदꣳ सर्वमधि ॥२७॥ स यदूर्ध्वः पिन्वते । तद्यजमानाय पिन्वते यत्प्राङ्
तद्देवेभ्यो यद्दक्षिणा तत्पितृभ्यो यत्प्रत्यङ् तत्पशुभ्यो यदुदङ् तत्प्रजाया ऽअनप-
राद्धं न्वेव यजमानस्योर्ध्वो ह्येव पिन्वत्यथ यां दिशं पिन्वते तां पिन्वते यदा
शाम्यन्ति विप्रुषः ॥२८॥ अथ प्राङिवोदङुत्क्रामति । धर्मासि सुधर्मेत्येष वै धर्मो
य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं धारयत्येतेनेदꣳ सर्वं धृतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैत-
त्प्रीणाति तस्मादाह धर्मासि सुधर्मेति ॥२९॥ अथ खरे सादयति । अमेन्यस्मे नृ-
म्णानि धारयेत्यक्रुध्यन्नो धनानि धारयेत्येवैतदाह ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं
धारयेत्येतत्सर्वं धारयेत्येवैतदाह ॥३०॥ अथ शाकलैर्जुहोति । प्राणा वै शाकलाः
प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥३१॥ स्वाहा पूष्णे शरस ऽइति । अयं वै पूषा योऽयं
पवत ऽएष हीदꣳ सर्वं पुष्यत्येष उ प्राणः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाह स्वा-
हा पूष्णे शरस ऽइत्यवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसाविव बन्धुर्हुत्वा म-
ध्यमे परिधा ऽउपश्रयति ॥३२॥ स्वाहा ग्रावभ्य इति । प्राणा वै ग्रावाणः प्राणा-
नेवास्मिन्नेतद्दधाति हुत्वा मध्यमे परिधा ऽउपश्रयति ॥३३॥ स्वाहा प्रतिरवेभ्य इति
। प्राणा वै प्रतिरवाः प्राणान्हीदꣳ सर्वं प्रतिरतं प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति हुत्वा
मध्यमे परिधा ऽउपश्रयति ॥३४॥ स्वाहा पितृभ्य ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यो घर्मपावभ्य इति ।
अक्त्वेवोदङ्ङीक्षमाणो दक्षिणार्धे बर्हिष उपगूहति यज्ञस्य शीर्षछिन्नस्य [रसो व्य-
क्षरत्स] पितॄनगच्छत्तया वै पितरस्तानेवैतत्प्रीणात्यथ यन्न प्रेक्षते सकृदु ह्येव प-
राञ्चः पितरः ॥३५॥ स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति । प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी
प्राणोदानावेवास्मिन्नेतद्दधाति हुत्वा मध्यमे परिधा ऽउपश्रयति ॥३६॥ स्वाहा वि-
श्वेभ्यो देवेभ्य इति । प्राणा वै विश्वे देवाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति हुत्वा मध्यमे
परिधा ऽउपश्रयति ॥३७॥ स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतय ऽइति । अक्त्वैव दक्षिणेक्षमाणः
प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति तꣳ स उत्तरतः शालाया ऽउदञ्चं निरस्यत्येषा ह्येतस्य देवस्य

बीच में ही सब-कुछ है ॥२७॥

जब यह ऊपर को उबलता है तो यजमान के लिए उबलता है, जब पूर्व की ओर तो देवों के लिए, जब दक्षिण की ओर तो पितरों के लिए, जब पश्चिम की ओर तो पशुओं के लिए, जब उत्तर की ओर तो प्रजा के लिए। यजमान के लिए कोई अपराध नहीं है, क्योंकि यह ऊपर को उठता है। जिस दिशा में उबलता है उसमें उबलता है। जब बूँदें गिरना बन्द हो जाती हैं तब—॥२८॥

पूर्वोत्तर दिशा में चला आता है और कहता है—"धर्मासि सुधर्मा"(यजु० ३८।१४)—यह जो सूर्य तपता है यह धर्म है क्योंकि सबको धारण करता है और इससे सब धारण किये जाते हैं। यही प्रवर्ग्य है। इसी को प्रसन्न करता है, इसलिए कहता है कि तू धर्म है ॥२९॥

अब (महावीर को) टीले पर रख देता है, इस मन्त्र से—"अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय, ब्रह्म धारय, क्षत्रं धारय, विशं धारय" (यजु० ३८।१४)—अर्थात् "तू हानि नहीं पहुँचाता। तू क्रोधरहित होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सबको धारण कर" ॥३०॥

अब लकड़ी के टुकड़ों की आहुतियाँ देता है। शाकल या टुकड़े प्राण हैं। प्राण द्वारा ही इनको धारण करता है ॥३१॥

"स्वाहा पूष्णे शरसे" (यजु० ३८।१५)—यह बहनेवाला वायु पूषा है। यही इस सबका पोषण करता है। यही प्राण है। प्राण को ही इसमें स्थापित करता है। इसलिए कहता है "पूषा शरसे के लिए स्वाहा।" पहले स्वाहा कहता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य बताया जा चुका है। इस पहली लकड़ी से आहुति देकर उसको बीच की परिधा के सहारे खड़ा कर देता है ॥३२॥

"स्वाहा ग्रावभ्यः" (यजु० ३८।१५)—प्राण ग्रावा (सिल के पत्थर) हैं। इस प्रकार उनमें प्राण धारण करता है। आहुति देकर बीच की परिधा के सहारे खड़ा कर देता है ॥३३॥

"स्वाहा प्रतिरवेभ्यः" (यजु० ३८।१५)—प्राण प्रतिरव हैं। यह सब जगत् प्राणों में ही रमा हुआ है। प्राणों को ही इसमें धारण करता है। आहुति देकर बीच की परिधा के सहारे खड़ा कर देता है ॥३४॥

"स्वाहा पितृभ्य ऽ ऊर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः" (यजु० ३८।१५)—बिना आहुति दिये ही (चौथी लकड़ी को) वेदी के दक्षिण ओर के कुशों के नीचे बिना उत्तर की ओर देखे हुए छिपा देता है। यज्ञ का सिर कट गया तो जो उसका रस बहा, वह पितरों के पास गया। पितर तीन हैं। उन्हीं को यह प्रसन्न करता है। उनकी ओर देखता क्यों नहीं? इसलिए कि पितर मर चुके ॥३५॥

"स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्" (यजु० ३८।१५)—द्यौ और पृथिवी प्राण और उदान हैं। इन्हीं को इसमें स्थापित करता है। आहुति देकर बीच की परिधा के सहारे खड़ा कर देता है ॥३६॥

"स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः" (यजु० ३८।१५)—प्राण विश्वेदेव हैं। इस प्रकार प्राणों की उसमें स्थापना करता है। आहुति देकर बीच की परिधा के सहारे खड़ा कर देता है ॥३७॥

"स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये"(यजु० ३८।१५)—बिना आहुति दिये दक्षिण की ओर देखकर वह इस (सातवीं समिधा) को प्रतिप्रस्थाता को देता है और उसे शाला के उत्तर की ओर से उत्तर की ओर फेंक देता है। यह उस देव की दिशा है।

दिक्स्वाग्रामेवैनमेतद्दिशि प्रीणात्यथ यन्न प्रेक्षते नेन्मा रुद्रो हिनमदिति ॥३८॥ सप्तैता आहुतयो भवन्ति । सप्त वा इमे शीर्षन्प्राणास्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥३९॥ अथ महावीराद्उपयमन्यां प्रत्यानयति । स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिरिति ज्योतिर्वा इतरस्मिन्पयो भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी संगच्छेते अवर स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः ॥४०॥ ॥ शतम् ७००० ॥ ॥ अथ रौहिणौ जुहोति । अहः केतुना जुषताᳪ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्यसावेव बन्धू रात्रिः केतुना जुषताᳪ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्यसावेव बन्धुः ॥४१॥ अथ यजमानाय घर्मोच्छिष्टं प्रयच्छति । स उपहवमिष्ट्वा भक्षयति मधु हुतमिन्द्रतमे अग्नाविति मधु हुतमिन्द्रियवत्तमे अग्नावित्येवैतदाहाश्याम ते देव घर्म नमस्ते अस्तु मा मा हिᳪसीरित्याशिषमेवैतदाशास्ते ॥४२॥ अथ दक्षिणातः सिकता उपकीर्णा भवन्ति । तन्मार्जयन्ते य एव मार्जालीये बन्धुः सोऽत्रानुप्रहरति शाकलानथोपसदा चरन्त्येतद्वै यज्ञस्य शिरः संस्कृतं यथा-यथैनं तदश्विनौ प्रत्यधत्ताम् ॥४३॥ तं न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात् । एनस्यᳪ हि तद्यो नेन्म इन्द्रः शिरश्छिनददिति द्वितीये वैव तृतीये वापशीर्ष्णा ह्येवाग्रे यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तस्माद्द्वितीये वैव तृतीये वाथो तप्तो वा एष शुशुचानो भवति ॥४४॥ तं यत्प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात् । एषोऽस्य तप्तः शुशुचानः प्रजां च पशूंश्च प्रदहेद्यो अायुः प्रमायुको यजमानः स्यात्तस्माद्द्वितीये वैव तृतीये वा ॥४५॥ तं न सर्वस्मा इव प्रवृञ्ज्यात् । सर्वं वै प्रवर्ग्यो नेत्सर्वस्मा इव सर्वं करवाणीति यो न्वेव ज्ञातस्तस्मै प्रवृञ्ज्याद्यो वास्य प्रियः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनं प्राप्नुयात् ॥४६॥ सहस्रे प्रवृञ्ज्यात् । सर्वं वै सहस्रᳪ सर्वमेष सर्ववेदसे प्रवृञ्ज्यात्सर्वं वै सर्ववेदसᳪ सर्वमेष विश्वजिति सर्वपृष्ठे प्रवृञ्ज्यात्सर्वं वै विश्वजित्सर्वपृष्ठः सर्वमेष वाजपेये राजसूये प्रवृञ्ज्यात्सर्वᳪ हि तत्सत्त्रे प्रवृञ्ज्यात्सर्वं वै सत्त्रᳪ सर्वमेष एतान्यस्य प्रवर्जनान्यतो

इस प्रकार इसको इसी की दिशा में प्रसन्न करता है। उसकी ओर देखता इसलिए नहीं कि वह समझता है कि कहीं रुद्र उसको हानि न पहुँचावे ॥३८॥

ये आहुतियाँ सात होती हैं। सिर में प्राण भी सात होते हैं। उन्हीं की इसमें स्थापना करता है ॥३९॥

अब (शेष घी और दूध को) महावीर ग्रह से उपयमनी में उँडेलता है यह कहकर—"स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः" (यजु० ३८।१९)—क्योंकि दूध एक पात्र में ज्योति था और दूसरे में भी ज्योति है। इस प्रकार दो ज्योतियाँ परस्पर मिलती हैं। पहले 'स्वाहा' कहता है, फिर देवता का नाम लेता है। इसका रहस्य पहले बताया जा चुका है ॥४०॥

अब दोनों रौहिणों में से (दूसरी से) आहुति देता है—"अहः केतुना जुषताँ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा" (यजु० ३८।१९)—"दिन अपनी ज्योति द्वारा प्रसन्न होवे। ज्योति ज्योति के साथ।" इसका रहस्य बताया जा चुका है। "रात्रिः केतुना जुषताँ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।" इसका रहस्य भी वही है ॥४१॥

अब घर्म का उच्छिष्ट भाग यजमान को देता है। अब उपहव या निमन्त्रण की इच्छा करके उसका भक्षण करता है इस मन्त्र से—"मधु हुतमिन्द्रतमे ऽ अग्नौ" (यजु० ३८।१६)—अर्थात् "सबसे बलवान् अग्नि में मधु की आहुति दी गई।" "अश्याम ते देव घर्म" (यजु० ३८।१६)—"हे देव घर्म, हम तुझे खावें।" "नमस्ते ऽ अस्तु मा-मा हिँ सीः" (यजु० ३८।१६)—यह आशीर्वाद है ॥४२॥

दक्षिण दिशा में बालू बिछा रहता है। अब यहाँ ये लोग अपने को साफ करते हैं। जो मार्जालीय में है वही यहाँ। लकड़ी के टुकड़ों को आग में डाल देता है। अब उपसद का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार यज्ञ का सिर ठीक हो जाता है, जैसे अश्विनों ने किया था ॥४३॥

पहले सोम यज्ञ में (प्रवर्ग्य को) न करे। यह पाप है। कहीं इन्द्र इसका सिर न काट दे। परन्तु दूसरे या तीसरे यज्ञ में करे, क्योंकि देव लोग सिररहित यज्ञ में ही अर्चा और श्रम करते रहे। इसलिए दूसरे या तीसरे यज्ञ में करे। अब यह तप्त और प्रदीप्त हो जाता है ॥४४॥

यदि पहले ही यज्ञ में प्रवर्ग्य किया जाय तो उसका (महावीर) ग्रह तप्त और प्रदीप्त होकर उसी के परिवार तथा पशुओं को, उसके जीवन को भी जला डालेगा और यजमान नष्ट हो जायगा। इसलिए दूसरे या तीसरे यज्ञ में करना चाहिए ॥४५॥

हर एक के लिए प्रवर्ग्य न करावे। प्रवर्ग्य 'सब-कुछ' है। ऐसा न हो कि सबके लिए सब-कुछ हो जाय। उसी के लिए प्रवर्ग्य करे जो उससे परिचित तथा प्रिय हो, या जो वेदज्ञ हो। वेद-ज्ञान से ही इसको प्राप्त होगा ॥४६॥

एक सहस्र पशुओं के लिए प्रवर्ग्य करे। 'सहस्र' का अर्थ है 'सब' और प्रवर्ग्य 'सब' है। यजमान की सब सम्पत्ति के लिए प्रवर्ग्य करे, क्योंकि सब सम्पत्ति 'सब' है। यह प्रवर्ग्य भी सब है। विश्वजित् के अवसर पर सब पृष्ठों के साथ प्रवर्ग्य करे। सब पृष्ठोंसहित विश्वजित् सब-कुछ है, और यह प्रवर्ग्य सब-कुछ है। वाजपेय और राजसूय में प्रवर्ग्य करे, क्योंकि यह सब-कुछ है। सत्र के अवसर पर प्रवर्ग्य करे, क्योंकि सत्र सब-कुछ है। यह प्रवर्ग्य सब-कुछ है। प्रवर्ग्य करने के यही अवसर हैं।

नान्यत्र ॥४७॥ तदाहुः । यदपशिरा अप्रवर्ग्योऽथ केनास्याग्निहोत्रꣳ शीर्षण्वद्भव-
तीत्याहवनीयेनेति ब्रूयात्कथं दर्शपूर्णमासावित्याज्येन च पुरोडाशेन चेति ब्रू-
यात्कथं चातुर्मास्यानीति पयस्ययेति ब्रूयात्कथं पशुबन्ध इति पशुना च पुरोडा-
शेन चेति ब्रूयात्कथꣳ सौम्योऽध्वर इति हविर्धानेनेति ब्रूयात् ॥४८॥ अथोऽआ-
हुः । यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शिर एतद्देवाः प्रत्यदधुर्यदातिथ्यं न ह वाऽअस्यापशी-
र्ष्णा केन चन यज्ञेनेष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥४९॥ तदाहुः । यत्प्रणीताः प्र-
णयन्ति यज्ञेऽथ कस्मादत्र न प्रणयतीति शिरो वाऽएतद्यज्ञस्य यत्प्रणीताः शिरः
प्रवर्ग्यो नेच्छिरसा शिरोऽभ्यारोहयाणीति ॥५०॥ तदाहुः । यत्प्रयाजानुयाजा अ-
न्यत्र भवन्त्यथ कस्मादत्र न भवन्तीति प्राणा वै प्रयाजानुयाजाः प्राणा अवकाशाः
णाः शाकला नेत्प्राणैः प्राणानभ्यारोहयाणीति ॥५१॥ तदाहुः । यदाज्यभागा-
न्यत्र जुह्वत्यथ कस्मादत्र न जुहोतीति चक्षुषी वाऽएते यज्ञस्य यदाज्यभागौ
क्षुषी रौहिणौ नेच्चक्षुषा चक्षुरभ्यारोहयाणीति ॥५२॥ तदाहुः । यद्वानस्पत्यैर्द-
त्रेभ्यो जुह्वत्यथ कस्मादेतं मृन्मयेनैव जुहोतीति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्ष-
त्स इमे द्यावापृथिवीऽअगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चापां च महावीराः
ता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥५३॥ स यद्वानस्पत्यः
ात् । प्रदह्येत यद्धिरण्मयः स्यात्प्रलीयेत यल्लोहमयः स्यात्प्रसिच्येत यदयस्मयः
ात्प्रदहेत्परीशासावथैष एवैतस्माऽअतिष्ठत तस्मादेतं मृन्मयेनैव जुहोति ॥५४॥
यैतद्वै° ॥५५॥ ब्राह्मणम् ॥१ [२. २.] ॥ द्वितीयोऽध्यायः [१. ३.] ॥ ॥

स वै तृतीयेऽहन् । षष्ठे वा द्वादशे वा प्रवर्ग्योपसदौ समस्य प्रवर्ग्यमुत्साद-
युत्सन्नमिव हीदꣳ शिरस्तद्यदेतमभितो भवति तत्सर्वꣳ समादायाग्रेण शाला-
र्वेद्युपसमायन्ति ॥१॥ अथाग्नीध्रः । आहवनीये त्रीञ्छालाकानुपकल्पयते ते-
ऽज्वलय्य मुखदघ्ने धारयमाणो जुहोति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत्से-

अन्यत्र प्रवर्ग्य न करे ॥४७॥

इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि 'प्रवर्ग्य तो बिना सिर के है, फिर उसके लिए अग्निहोत्र सिरवाला कैसे होता है ?' इसका उत्तर है 'आहवनीय से।' 'दार्श और पौर्णमास कैसे ?' 'आज्य और पुरोडाश से।' 'चातुर्मास्य किससे ?' 'पयस्या(दही) से।' 'पशुबन्ध कैसे ?' 'पशु और पुरोडाश से।' 'सोमयाग कैसे ?' 'हविर्धान से' ॥४८॥

लोग ऐसा भी कहते हैं कि जब यज्ञ का सिर कट गया तो देवों ने (सोम के) आतिथ्य के रूप में इसको रख दिया। जो इस रहस्य को समझता है उसका कोई यज्ञ सिर के बिना नहीं रहता ॥४९॥

लोग ऐसा भी पूछते हैं कि यज्ञ में तो प्रणीता पात्र को ले जाते हैं, यहाँ क्यों नहीं ले जाते ? प्रणीता यज्ञ का सिर है। प्रवर्ग्य सिर है। कहीं ऐसा न हो कि सिर से सिर को काट ले जावें ॥५०॥

ऐसा भी पूछते हैं कि अन्यत्र तो प्रयाज तथा अनुयाज होते हैं, यहाँ क्यों नहीं होते ? प्राण ही प्रयाज और अनुयाज हैं। प्राण अवकाश हैं। प्राण लकड़ी के टुकड़े हैं, ऐसा न हो कि प्राणों पर प्राणों को चढ़ा दें, इसलिए ॥५१॥

ऐसा भी पूछते हैं कि अन्यत्र तो दो आज्यभागों की आहुतियाँ होती हैं, यहाँ क्यों नहीं होतीं ? आज्यभाग यज्ञ की दो आँखें हैं। रौहिण भी दो आँखें हैं। ऐसा न हो कि चक्षु को चक्षु पर चढ़ा दें, इसलिए ॥५२॥

यह भी प्रश्न होता है कि देवताओं को तो लकड़ी के पात्रों में आहुतियाँ दी जाती हैं, फिर घर्म की आहुति मिट्टी के पात्र में कैसे देते हैं ? जब यज्ञ का सिर कट गया तो इसका रस बह गया और पृथिवी तथा द्यौ में पहुँच गया। यह पृथिवी मिट्टी है और द्यौ जल है। महावीर ग्रह मिट्टी और पानी से बनाए जाते हैं। इस प्रकार वह इस प्रवर्ग्य को उस रस से युक्त करता तथा पूर्ण करता है ॥५३॥

यदि यह लकड़ी का हो तो जल उठे। यदि सोने का हो तो गल जाय। यदि तांबे का हो तो पिघल जाय। यदि पत्थर का हो तो लकड़ियों को जला दे। घर्म स्वयं ही मिट्टी के बर्तन में जा बैठा। इसलिए इसको मिट्टी के पात्र से ही करते हैं ॥५४॥

जो कोई इसका उपदेश करता है या भक्षण करता है, यह प्रवर्ग्य उसके जीवन तथा ज्योति में प्रवेश करता है। इसकी व्रतचर्या यही है जो सृष्टि की ॥५५॥

प्रवर्ग्योत्सादनम्

अध्याय ३—ब्राह्मण १

तीसरे, छठे या बारहवें दिन प्रवर्ग्य और उपसद दोनों को मिलाकर प्रवर्ग्य का उत्सादन करता है, क्योंकि धड़ से सिर उत्पन्न (निकला हुआ) सा प्रतीत होता है। (महावीर ग्रह के) पास के सामान को इकट्ठा करके वे आगे की ओर से शाला के भीतर वेदी पर इकट्ठे होते हैं ॥१॥

अब अग्नीध्र तीन लकड़ियाँ आहवनीय में लाता है और उनमें से एक को जलाकर (यजमान के) मुख के समतल में रखकर आहुति देता है। जब यज्ञ का सिर कट गया तो उसमें से गर्मी (शुक्) निकल गई।

मांल्लोकानाविशत्तयैवैनमेतद्रुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥२॥ अथ यन्मुखदघ्ने । उपरीव वै तद्यन्मुखदघ्नमुपरीव तद्यदसौ लोकस्तस्मादमुं लोकꣳ शुगाविशत्तयैवैन-मेतद्रुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥३॥ या ते घर्म दिव्या शुगिति । यैव दिव्या शुग्या गायत्र्याꣳ हविर्धानऽइति यैव गायत्र्याꣳ हविर्धाने सा तऽआप्यायतां नि-ष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥४॥ अथ द्वितीयमुज्ज्वलय्य । नाभिदघ्ने धारयमाणो जुहोति मध्यमिव वै तद्यन्नाभिदघ्नं मध्यमिवान्तरिक्षलो-कस्तस्मादन्तरिक्षलोकꣳ शुगाविशत्तयैवैनमेतद्रुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति ॥५॥ या ते घर्मान्तरिक्षे शुगिति । यैवान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रऽइति यैव त्रिष्टुभ्या-ग्नीध्रे सा तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥६॥ अथ तृतीयमभ्याधाय । तस्मिन्नासीनो जुहोत्यध-इव वै तद्यदासीनोऽध-इ-व तद्यदयं लोकस्तस्मादिमं लोकꣳ शुगाविशत्तयैवैनमेतद्रुचा समर्धयति कृत्स्नं करो-ति ॥७॥ या ते घर्म पृथिव्याꣳ शुगिति । यैव पृथिव्याꣳ शुग्या जगत्याꣳ सदस्येति यैव जगत्याꣳ सदस्या सा तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहेति नात्र ति-रोहितमिवास्ति ॥८॥ अथोपनिष्क्रामति । क्षत्रस्य त्वा परस्पायेत्येतद्धै दैवं क्षत्रं य एष तपत्यस्य त्वा मानुषस्य क्षत्रस्य परस्पवायेत्येवैतदाह ब्रह्मणस्तन्वं पाही-ति ब्रह्मण आत्मानं गोपायेत्येवैतदाह विशस्त्वा धर्मणा वयमिति यज्ञो वै वि-ड्यज्ञस्य त्वारिष्ट्याऽइत्येवैतदाहानुक्रामाम सुविताय नव्यसऽइति यज्ञस्य त्वारिष्ट्या ऽअह्वलायाऽइत्येवैतदाह ॥९॥ अथाह साम गायेति । साम ब्रूहीति वा गाये-ति त्वेव ब्रूयाद्गायन्ति हि साम तद्यत्साम गायति नेदिमान्बहिर्धा यज्ञाच्छरीरान्ना-ष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति साम हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥१०॥ आग्नेय्यां गायति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्तातिच्छन्दसि गायत्येषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यद-तिच्छन्दास्तस्मादतिच्छन्दसि गायति ॥११॥ स गायति । अग्निष्टपति प्रतिदहत्य-

वह इन लोकों में प्रविष्ट हो गई। इसको उसी गर्मी से युक्त करता है, पूर्ण करता है ॥२॥

मुख के समतल में क्यों? जो मुख के समतल है वह ऊँचा है। और वह लोक (स्वर्गलोक) भी ऊपर है। इस लोक में जो गर्मी प्रविष्ट हो गई थी उसी से इसे युक्त करता है, इसको पूर्ण करता है ॥३॥

इस मन्त्र से आहुति देता है—"या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्या ऽ हविर्धाने सा त ऽ आ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा" (यजु० ३८।१८)—"हे घर्म, जो तेरी दिव्य गर्मी है, गायत्री में या हविर्धान में, वह तेरी गर्मी बढ़े और दृढ़ हो। तेरे लिए स्वाहा।" अर्थ स्पष्ट है ॥४॥

अब दूसरी को जलाकर नाभि के समतल रखकर आहुति देता है। जो नाभि के समतल है वह बीच का है। अन्तरिक्षलोक बीच का है। यह जो अन्तरिक्षलोक में गर्मी प्रविष्ट हुई, उसी से उसको युक्त करता है, पूर्ण करता है—॥५॥

इस मन्त्र से—"या ते घर्मान्तरिक्षे शुग् या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा त ऽ आ प्यायतां निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा"(यजु० ३८।१८)—"हे घर्म, जो तेरी गर्मी अन्तरिक्ष में है, जो त्रिष्टुब् और अग्नीध्र में, वह बढ़े और दृढ़ हो। उस तेरे लिए स्वाहा" ॥६॥

अब आग पर तीसरी को रखकर उस पर बैठे-बैठे ही आहुति देता है। बैठना नीचे होता है। यह लोक भी तो नीचा है। इस लोक में जो गर्मी प्रविष्ट हो गई, उसीसे वह इसको युक्त करता है, पूर्ण करता है—॥७॥

इस मन्त्र से—"या ते घर्म पृथिव्या शुग् या जगत्याँ सदस्या। सा त ऽ आ प्यायतां निष्ट्यायताम्" (यजु० ३८।१८)—"हे घर्म, जो तेरी गर्मी इस पृथिवी में है, जो जगती और सदस में है, वह बढ़े और दृढ़ हो, उस तेरे लिए स्वाहा।" अर्थ स्पष्ट है ॥८॥

अब अध्वर्यु आगे बढ़ता है इस मन्त्र से—"क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि। विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे"(यजु० ३८।१९)—"क्षत्र की रक्षा के लिए तेरे पीछे आते हैं। तू ब्रह्मा के शरीर की रक्षा कर। वैश्यों के (जनता के) धर्म से हम तेरा अनुसरण करते हैं नये अभ्युदय के लिए।" यहाँ 'विश' या वैश्य 'यज्ञ' के लिए आया है। तात्पर्य कहने का यह है कि यज्ञ की दृढ़ता तथा रक्षा के लिए ॥९॥

अब वह प्रस्तोता से कहता है 'साम को गाओ' या 'साम को कहो।' परन्तु 'साम को गाओ' ऐसा ही कहना चाहिए, क्योंकि साम को गाते हैं। जब वह गाता है तो इसलिए कि दुष्ट राक्षस यज्ञ-शरीर के बाहर इसको न सतावें, क्योंकि साम दुष्ट राक्षसों का नाशक है ॥१०॥

'अग्नि शब्द' वाले साम को गाता है, क्योंकि अग्नि राक्षसों का नाशक है। अतिच्छन्द मन्त्र को गाता है। क्योंकि अतिच्छन्द में सब छन्दों का आवेश है, इसलिए अतिच्छन्द मन्त्र गाता है ॥११॥

वह गाता है—"अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहावोऽहाव।"—"अग्नि तपता है और जलात

ह्वावोऽह्वाव इति तन्नाष्ट्रा वै तद्रक्षांऽस्यतोऽपहन्ति ॥१२॥ तऽउदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रमेषा हि यज्ञस्य द्वाः स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ॥१३॥ तं वै परिष्यन्दऽउत्सादयेत् । तप्तो वाऽएष शुशुचानो भवति तं यदस्यामुत्सादयेदिमामस्य शुगृच्छेद्यदप्सूत्सादयेदपोऽस्य शुगृच्छेदथ यत्परिष्यन्दऽउत्सादयति तथो ह नैवापो हिनस्ति नेमां यद्वाप्सु न प्रास्यति तेनापो न हिनस्त्यथ यत्समन्तमापः परियन्ति शान्तिर्वाऽआपस्तेनोऽइमां न हिनस्ति तस्मात्परिष्यन्दऽउत्सादयेत् ॥१४॥ उत्तरवेदौ त्वेवोत्सादयेत् । यज्ञो वाऽउत्तरवेदिः शिरः प्रवर्ग्यो यज्ञऽएवैतच्छिरः प्रतिदधाति ॥१५॥ उत्तरनाभ्या सꣳस्पृष्टम् । प्रथमं प्रवर्ग्यमुत्सादयति वाग्वाऽउत्तरनाभिः शिरः प्रवर्ग्यः शीर्षंस्तद्वाचं दधाति ॥१६॥ चतुःस्रक्तिरिति । एष वै चतुःस्रक्तिर्य एष तपति दिशो ह्येतस्य स्रक्तयस्तस्मादाह चतुःस्रक्तिरिति ॥१७॥ नाभिर्ऋतस्य सप्रथा इति । सत्यं वाऽऋतꣳ सत्यस्य नाभिः सप्रथा इत्येवैतदाह स नो विश्वायुः सप्रथा इति स नः सर्वायुः सप्रथा इत्येवैतदाह ॥१८॥ अप द्वेषोऽअप ह्वर इति । नात्र तिरोहितमिवास्त्यन्यव्रतस्य सश्चिमेत्यन्यद्वाऽएतस्य व्रतमन्यन्मनुष्याणां तस्मादाहान्यव्रतस्य सश्चिमेत्येवमितरौ प्राञ्चौ तत्त्रिवृत्त्रिवृद्धीदꣳ शिरः ॥१९॥ पुरस्तादुपशयां मृदम् । माꣳसमेवास्मिन्नेतद्दधाति तदभितः परीशासौ बाहूऽएवास्मिन्नेतद्दधात्यभितः परे रौहिणहवन्यौ स्रुचौ हस्तावेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥२०॥ उत्तरतोऽग्निम् । तद्धि तस्याऽआयतनं दक्षिणतः सम्राडासन्दीं तद्धि तस्याऽआयतनमुत्तरतः कृष्णाजिनं तद्धि तस्यायतनꣳ सर्वतो धवित्राणि प्राणा वै धवित्राणि प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रीणि भवन्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥२१॥ अथैतद्रज्जुसंदानम् । उपयमन्यामाधाय पश्चात्प्राचीमासादयत्युदरमेवास्मिन्नेतद्दधाति तदभितः पिन्वनेऽआण्डाविवास्मिन्नेतद्दधात्याण्डाभ्याꣳ हि वृषा पिन्वते पश्चा

है। अहावो ! अहावो !" इस प्रकार वह राक्षसों को यहाँ से भगाता है ॥१२॥

अब वे उत्तर की ओर जाते हैं, चात्वाल के पीछे और अग्नीध्र के आगे से। यही यज्ञ का द्वार है। उस दिशा में चलते हैं जहाँ जल होता है ॥१३॥

उस (प्रवर्ग्य) को रेत के टीले पर रख देवे। वह गर्म होकर लाल हो जाता है। यदि इसको पृथिवी पर रख दिया जाय, तो इसकी गर्मी पृथिवी में समा जाय। यदि जल पर रख दिया जाय तो इसकी गर्मी जल में घुस जाय। इसलिए रेत के टीले पर रखते हैं कि न तो जल को हानि पहुँचावे न पृथिवी को। उसको जल में नहीं डालता, इसलिए यह जल को हानि नहीं पहुँचाता। चूँकि जल इसके चारों ओर बहते हैं और जल शान्ति है, इसलिए यह इस पृथिवी को भी हानि नहीं पहुँचाता है। इसलिए रेत के टीले पर रख देवे ॥१४॥

या उत्तर-वेदी पर रख देवे। उत्तर-वेदी यज्ञ है और प्रवर्ग्य इसका सिर है। इस प्रकार यज्ञ को उसके सिर से सम्पन्न करता है ॥१५॥

पहले प्रवर्ग्य को वेदी की उत्तर-नाभि से चिपटाकर रखता है। उत्तरनाभि वाक् है, प्रवर्ग्य सिर है, इस प्रकार सिर में वाणी को रखता है—॥१६॥

इस मन्त्र से—"चतुःस्रक्तिः" (यजु० ३८।२०)—"चार कोनेवाला।" यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, यही चार कोनेवाला है, क्योंकि दिशाएँ इसके चार कोने हैं। इसलिए 'चतुःस्रक्तिः' ॥१७॥

"नाभिर्ऋतस्य सप्रथा" (यजु० ३८।२०)—'ऋत' का अर्थ है सत्य, अर्थात् "सत्य की विस्तृत नाभि।" "स नो विश्वायुः सप्रथाः" (यजु० ३८।२०)—अर्थात् यह विस्तृत (सत्य) हमको दीर्घायु करे" ॥१८॥

"अप द्वेषोऽ अप ह्वर" (यजु० ३८।२०)—अर्थात् "द्वेष और छल हमसे दूर हो।" यह तो स्पष्ट ही है। "अन्यव्रतस्य सश्चिम" (यजु० ३८।२०)—इस (प्रवर्ग्य या सूर्य) का व्रत और है और मनुष्यों का व्रत और। इसलिए कहा कि "अन्य व्रत से हम युक्त होवें।" इस प्रकार अन्य दो ग्रह पूर्व की ओर रक्खे जाते हैं। यह त्रिवृत् है, क्योंकि सिर भी त्रिवृत् होता है ॥१९॥

जो शेष मिट्टी रह गई है उसको आगे रखता है। इस प्रकार इस प्रवर्ग्य में मांस रखता है, उसकी दोनों बगलों में दो परीशासों (लकड़ियों) को। इस प्रकार इसको दो भुजाओं से संपन्न करता है। दोनों बगलों में कुछ दूर पर दो अन्य रौहिण स्रुचों को। इस प्रकार इसमें दो हाथों की स्थापना करता है ॥२०॥

उत्तर की ओर खुरपी को रखता है। यही उसके ठहरने का स्थान है। दक्षिण की ओर सम्राट् की चौकी। वही उसका स्थान है। उत्तर की ओर काले मृगचर्म को। वही उसका स्थान है। सब ओर पंखे, क्योंकि पंखे प्राण हैं। इस प्रकार प्राणों की इसमें स्थापना करता है। ये तीन होते हैं। प्राण भी तीन होते हैं—प्राण, उदान, व्यान। उन्हीं की इसमें स्थापना करता है ॥२१॥

अब उपयमनी में रस्सी और कोड़ा रखता है। उपयमनी को मध्यवेदी के पीछे पूर्वाभिमुख रखता है। इस प्रकार इसको पेट से युक्त करता है। उसके दोनों ओर दो पिन्वानों को रखता है। इस प्रकार दो अण्डकोशों को देता है। अण्डकोशों से ही पुरुष का वीर्य बहता है। पीछे

स्थूणामयूखमूर्ध्व एवास्मिन्नेतद्दधाति पश्चाद्रौहिणकपाले जानुनी एवास्मिन्नेतद्दधाति ते यदेककपाले भवत एककपाले इव हीमे जानुनी पश्चादङ्गुष्ठी पादावेवास्मिन्नेतद्दधाति पादाभ्याᳫं हि धृष्टं प्रहरत्युत्तरतः खरौ प्रचरणीयौ तद्धि तयोरायतनं दक्षिणतो मार्जालीयं तद्धि तस्यायतनम् ॥२२॥ अथास्मिन्पय आनयति । घर्मैतत्ते पुरीषमित्यन्नं वै पुरीषमन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति तेन वर्धस्व चा च प्यायस्वेति नात्र तिरोहितमिवास्ति वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहीत्याशिषमेवैतदाशास्ते ॥२३॥ स वै न सर्वमिवानयेत् । नेद्यजमानात्परागन्नमसदित्यर्धं वा भूयो वा परिशिनष्टि तस्मिन्नपराह्णे यजमानाय व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छति तद्यजमान एवैतदन्नाद्यं दधाति तथो ह यजमानान्न परागन्नं भवति ॥२४॥ अथैनमद्भिः परिषिञ्चति । शान्तिर्वा आपः शमयत्येवैनमेतत्सर्वतः परिषिञ्चति सर्वत एवैनमेतच्छमयति त्रिष्कृत्वः परिषिञ्चति त्रिवृद्धि यज्ञः ॥२५॥ अथाह वार्षाहरᳫं साम गायेति । एष वै वृषा हरिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह वार्षाहरᳫं साम गायेति ॥२६॥ अथ चात्वाले मार्जयन्ते । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलिनाप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात्तां दिशं परासिञ्चेत्तेनैव तं पराभावयति ॥२७॥ अथ प्राञ्चिवोदङ्ङुत्क्रामति । उद्वयं तमसस्परीति पाप्मा वै तमः पाप्मानमेव तमोऽपहते स्वः पश्यन्त उत्तरमित्ययं वै लोकोऽस्य उत्तरोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमᳫं स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यनपेक्षमेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहीत्याशिषमेवैतदाशास्ते ॥२८॥ अथ प्रसुते दधिघर्मेण चरन्ति । यज्ञो वै सोमः शिरः प्रवर्ग्यो यज्ञ एवैतच्छिरः प्रतिदधाति माध्यन्दिने सवन एतद्वा इन्द्रस्य

स्थूण और खूंटी को। इस प्रकार उसको जंघाओं से युक्त करता है। इनके पीछे रौहिण कपालों को। इससे जानु बनाता है। ये कपाल इकहरे होते हैं। यह जानु भी इकहरे ही हैं। उनके पीछे दो धृष्टियाँ। इस प्रकार दो पैरों से युक्त करता है। क्योंकि पैरों से ही दृढ़ता से मारा जाता है। उत्तर की ओर (बाईं ओर) दोनों खुरों को रखना चाहिए। यही इनका स्थान है। दाहिनी ओर मार्जालीय को। यही इसका स्थान है ।।२२।।

उस पात्र में दूध लाता है इस मंत्र से—"घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्धस्व चा च प्यायस्व" (यजु० ३८।२१)—अन्न ही पुरीष है। अन्न ही की उसमें स्थापना करता है। अन्य सब स्पष्ट है, अर्थात् "इसके द्वारा बढ़ और भर।" "वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि" (यजु० ३८।२१)— "हम भी बढ़ें और भरें।" यह आशीर्वाद है ।।२३।।

सब दूध को न लावे कि कहीं यजमान से अन्न विमुख न हो जाय। आधा या आधे से अधिक छोड़ देता है। उसी दिन अपराह्न में इसको यजमान के लिए व्रत के दूध में मिला देता है और यजमान को दे देता है। इस प्रकार यजमान को अन्न देता है। इस प्रकार अन्न यजमान से विमुख नहीं होता ।।२४।।

अब (प्रवर्ग्य पर) जल छिड़कता है। जल शान्ति है। इस प्रकार उसको शान्त करता है। चारों ओर जल छिड़कता है। चारों ओर उसको शान्त करता है। उस पर तीन बार जल छिड़कता है, क्योंकि यज्ञ तिहरा है ।।२५।।

अब प्रस्तोता से कहता है, 'वार्षाहर साम का गान कर।' 'वृषा हरि' यह सूर्य है जो तपता है, यही प्रवर्ग्य भी है। उसको इस प्रकार प्रसन्न करता है। इसीलिए कहता है कि 'वार्षाहर साम का गान कर' ।।२६।।

अब चात्वाल में अपने को शुद्ध करते हैं—"सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु" (यजु० ३८।२३)—"जल और ओषधियाँ हमारी मित्र होवें।" अंजलि में जल भरता है। जल वज्र है, इस प्रकार जल से मित्रता करता है। "दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (यजु० ३८।२३)—"उसके लिए हानिकारक हों, जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं।" जिस ओर उसका शत्रु होवे उस ओर छींटा देवे। इस प्रकार उस पर विजय प्राप्त करता है।।२७।।

अब उत्तर-पूर्व की ओर चलता है इस मंत्र को जपते हुए—"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽ उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (यजु० ३८।२४)—पाप ही अन्धकार है। इसी पापरूपी अन्धकार को दूर करता है। यह पृथिवी जल के ऊपर (उत्तर) है। इसी लोक में वह अपने को प्रतिष्ठित करता है। 'सूर्य ज्योतिः उत्तम' यह स्वर्ग है। इस प्रकार स्वर्ग में ही अपने को प्रतिष्ठित करता है। बिना पीछे को देखे हुए चलता है और आहवनीय में समिधा को रखता है—"समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" (यजु० ३८।२५)—यह आशीर्वाद है ।।२८।।

सोम के निरन्तर निचोड़ने पर दधिघर्म की भी आहुति देते हैं। सोम यज्ञ है। प्रवर्ग्य सिर है। इस प्रकार यज्ञ में इस सिर की स्थापना करता है, माध्यन्दिन सवन में। यही माध्यन्दिन

निष्केवल्यꣳ सवनं यन्माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ स्वऽएवैनमेतद्भागे प्रीणाति स्तुते माध्यन्दिने पवमाने प्राणो वै माध्यन्दिनः पवमानः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधात्यग्निहोत्रहवण्या मुखं वाऽएतद्यज्ञानां यदग्निहोत्रꣳ शीर्षंस्तन्मुखं दधाति ॥२९॥ स आनीयमानऽआह । होतर्वदस्व यत्ते वाच्यमिति वदते ह्यत्र होताथोपोत्तिष्ठन्नाह आतꣳ हविरिति आतꣳ हि भवत्यतिक्रम्याश्राव्याह दधिघर्मस्य यजेति वषट्कृते जुहोत्यनुवषट्कृतऽआहरति भक्षं तं यजमानाय प्रयच्छति ॥३०॥ स उपहवमिष्ट्वा भक्षयति । मयि त्यदिन्द्रियं बृहदित्येतद्वाऽइन्द्रियं बृहद्य एष तपति मयि दक्षो मयि क्रतुरिति क्रतूदक्षावेवात्मन्धत्ते घर्मस्त्रिशुग्विराजतीति घर्मो ह्येष त्रिशुग्विराजति विराजा ज्योतिषा सहेति विराजा ह्येष ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सहेति ब्रह्मणा ह्येष तेजसा सह पयसो रेत आभृतमिति पयसो ह्येतद्रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराꣳ समामित्याशिषमेवैतदाशास्तेऽथ चात्वाले मार्जयन्तेऽसावेव बन्धुः ॥३१॥ अथातो दक्षिणानाꣳ । सुवर्णꣳ हिरण्यꣳ शतमानं ब्रह्मणे ददात्यासीनो वै ब्रह्मा यशः शयानꣳ हिरण्यं तस्मात्सुवर्णꣳ हिरण्यꣳ शतमानं ब्रह्मणे ददाति ॥३२॥ अथ यैषा घर्मदुघा । तामध्वर्यवे ददाति तप्त-इव वै घर्मस्तप्तमिवाध्वर्युर्निष्क्रामति तस्मात्तामध्वर्यवे ददाति ॥३३॥ अथ यैषा यजमानस्य व्रतदुघा । ताꣳ होत्रे ददाति यज्ञो वै होता यज्ञो यजमानस्तस्मात्ताꣳ होत्रे ददाति ॥३४॥ अथ यैषा पत्न्यै व्रतदुघा । तामुद्गातृभ्यो ददाति पत्नीकर्मेव वाऽएतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारस्तस्मात्तामुद्गातृभ्यो ददाति ॥३५॥ अथैतद्धि° ॥३६॥ ब्राह्मणम् ॥२ [३. १.] ॥

सर्वेषां वाऽएष भूतानाꣳ । सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञस्तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋध्यते वि वाऽएष प्रजया पशुभिर्ऋध्यते यस्य घर्मो विदीर्यते तत्र प्रायश्चित्तिः ॥१॥ पूर्णाहुतिं जुहोति । सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैतद्भिषज्यति

सवन तो इन्द्र का अपना सवन है। इस प्रकार वह इन्द्र को इसीके भाग से प्रसन्न करता है, जब माध्यन्दिन पवमान गाया जा चुके। माध्यन्दिन पवमान प्राण है। इस प्रकार प्राण की उसमें स्थापना करता है, अग्निहोत्र के चमचे से। अग्निहोत्र यज्ञ का सिर है। सिर में इस प्रकार मुख को स्थापित करता है ॥२९॥

इसके आने पर कहता है 'होता, तुझे जो कुछ कहना हो कह।' इसी अवसर पर होता कहता है। फिर कुछ चलकर कहता है 'हवि पक गया।' क्योंकि हवि तो पक ही चुकता है। (आहवनीय के पीछे) चलकर और श्रौषट् कहकर कहता है 'दधिघर्म की आहुति दो।' वषट्कार हो चुकने पर आहुति देता है। वषट्कार के पश्चात् उस भक्ष (पीने की वस्तु) को लाता है और यजमान को दे देता है ॥३०॥

अब उपहवि की आहुति देकर भक्षण करता है—"मयि त्यदिन्द्रियं बृहत्" (यजु० ३८।२७)—"मुझमें वह बड़ी इन्द्रिय (शक्ति) आवे।" यह जो तपता है अर्थात् सूर्य, वही बड़ी इन्द्रिय है। "मयि दक्षो मयि क्रतुः"(यजु० ३८।२७)—"मुझमें बुद्धि, मुझमें कौशल।" इस प्रकार अपने में बुद्धि और कौशल को धारण करता है। "धर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह" (यजु० ३८।२७)—"तीन गर्मियोंवाला घर्म चमकता है ज्योति के साथ और ब्रह्मरूपी तेज के साथ।" "पयसो रेत ऽ आभृतम् तस्य दोहमशीमहि। उत्तरामुत्तराꣳ समाम्" "दूध का बीज लाया गया। इसको हम प्रतिवर्ष खावें।" यह आशीर्वाद है। अब वे चात्वाल में अपने को शुद्ध करते हैं। इसका अभिप्राय बताया जा चुका है ॥३१॥

अब इसकी दक्षिणा के विषय में—सौ मान सोना ब्रह्मा को देता है, क्योंकि ब्रह्मा बैठा हुआ है। सोना सोया हुआ यश है। इसलिए ब्रह्मा को सौ मान सोना देता है ॥३२॥

जिस गाय ने घर्म(दूध) दिया, उसे अध्वर्यु को देता है। घर्म तप्त है, अध्वर्यु भी तप्त है (गर्म स्थान से आया हुआ), इसलिए वह इसको अध्वर्यु को देता है ॥३३॥

जिस गाय ने यजमान का व्रत-दूध दिया उसको होता को दे देता है। यज्ञ होता है। यज्ञ यजमान है। इसलिए उसको होता को देता है ॥३४॥

जिस गाय ने पत्नी के लिए व्रत-दूध दिया, उसको उद्गाताओं को देता है, क्योंकि उद्गाता लोग उसी काम को करते हैं जो पत्नी को करने का है। इसलिए इसको उद्गाता को देता है ॥३५॥

जो कोई इसका उपदेश करता है या भक्षण करता है, यह प्रवर्ग्य उसके जीवन तथा ज्योति में प्रवेश करता है। इसकी व्रतचर्या वही है जो सृष्टि की ॥३६॥

घर्मभेदे प्रायश्चित्तम्, प्रवर्ग्यप्रशंसा च

अध्याय ३—ब्राह्मण २

यह जो यज्ञ है, वह सब भूतों तथा सब देवों का आत्मा है। इसीकी समृद्धि पर यजमान प्रजा और पशुओं से युक्त होता है। परन्तु जिसका घर्म विदीर्ण हो जाता है, उसके प्रजा तथा पशु नष्ट हो जाते हैं। उस दशा में यह प्रायश्चित्त है—॥१॥

पूर्णाहुति देता है। 'सब' का अर्थ है पूर्ण। इस प्रकार 'सब' के द्वारा उसका प्रतीकार करता

यत्किं च विवृढं यज्ञस्य ॥२॥ स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति । मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठितास्तन्मनसैवैतद्भिषज्यति यत्किं च विवृढं यज्ञस्य ॥३॥ पृथिव्यै स्वाहेति । पृथिवी वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वाभिरेवैतद्देवताभिर्भिषज्यति यत्किं च विवृढं यज्ञस्य ॥४॥ अग्नये स्वाहेति । अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वाभिरेवैतद्देवताभिर्भिषज्यति यत्किं च विवृढं यज्ञस्य ॥५॥ अन्तरिक्षाय स्वाहेति । अन्तरिक्षं वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वा° ॥६॥ वायवे स्वाहेति । वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वा° ॥७॥ दिवे स्वाहेति । द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वा° ॥८॥ सूर्याय स्वाहेति । सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वा° ॥९॥ दिग्भ्यः स्वाहेति । दिशो वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वा° ॥१०॥ चन्द्राय स्वाहेति । चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वा° ॥११॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहेति । नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वा° ॥१२॥ अद्भ्यः स्वाहेति । आपो वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वा° ॥१३॥ वरुणाय स्वाहेति । वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वा° ॥१४॥ नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहेति । अनिरुक्तमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं भिषज्यति ॥१५॥ त्रयोदशैता आहुतयो भवन्ति । त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं भिषज्यति ॥१६॥ वाचे स्वाहेति । मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहेति नासिकेऽएवास्मिन्नेतद्दधाति चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहेत्यक्षिणीऽएवास्मिन्नेतद्दधाति श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहेति कर्णावेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥१७॥ सप्तैता आहुतयो भवन्ति । सप्त वाऽइमे शीर्षन्प्राणास्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैतद्भिषज्यति यत्किं च विवृढं यज्ञस्य ॥१८॥ मनसः काममाकूतिमिति । मनसा वाऽइदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवै-

है जो कुछ यज्ञ में गड़बड़ी हो गई ॥२॥

"स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः" (यजु० ३९।१)—प्राणों का अधिपति मन है ! मन में ही सब प्राण प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार जो कुछ यज्ञ में गड़बड़ हो गई हो, उसका मन से प्रतीकार करता है ॥३॥

"पृथिव्यै स्वाहा" (यजु० ३९।१)—पृथिवी सब देवताओं का स्थान है। इस प्रकार जो कुछ यज्ञ में गड़बड़ हुई हो, उसका सब देवताओं द्वारा प्रतीकार करता है ॥४॥

"अग्नये स्वाहा" (यजु० ३९।१)—अग्नि सब देवों का आत्मा है। इस प्रकार यज्ञ में जो कुछ गड़बड़ हो गई हो, उसका सब देवताओं द्वारा प्रतीकार करता है ॥५॥

"अन्तरिक्षाय स्वाहा" (यजु० ३९।१)—अन्तरिक्ष सब देवताओं का स्थान है, इसलिए ···इत्यादि ॥६॥

"वायवे स्वाहा"(यजु० ३९।१)—वायु सब देवों का आत्मा है, इसलिए···इत्यादि ॥७॥

"दिवे स्वाहा" (यजु० ३९।१)—द्यौ सब देवों का स्थान है, इसलिए···इत्यादि ॥८॥

"सूर्याय स्वाहा" (यजु० ३९।१)- सूर्य सब देवों का स्थान है, इसलिए···इत्यादि ॥९॥

"दिग्भ्यः स्वाहा" (यजु० ३९।२)—दिशाएँ सब देवों का स्थान हैं, इसलिए··· इत्यादि ॥१०॥

"चन्द्राय स्वाहा" (यजु० ३९।२)—चन्द्र सब देवों का आत्मा है, इसलिए··· इत्यादि ॥११॥

"नक्षत्रेभ्यः स्वाहा" (यजु० ३९।२)—नक्षत्र सब देवों का स्थान हैं, इसलिए··· इत्यादि ॥१२॥

"अद्भ्यः स्वाहा" (यजु० ३९।२)—जल सब देवों का स्थान हैं। इसलिए··· इत्यादि ॥१३॥

"वरुणाय स्वाहा" (यजु० ३९।२)—वरुण सब देवों की आत्मा है। इसलिए··· इत्यादि ॥१४॥

"नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा" (यजु० ३९।२)—यह अनिरुक्त है। प्रजापति अनिरुक्त है। यज्ञ प्रजापति है। इस प्रकार प्रजापति यज्ञ को ही नीरोग (पूर्ण) करता है ॥१५॥

ये तेरह आहुतियाँ होती हैं। संवत्सर में तेरह मास होते हैं। संवत्सर प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ की ही चिकित्सा करता है ॥१६॥

"वाचे स्वाहा" (यजु० ३९।३)—इस प्रकार इसमें मुख रखता है। "प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा" (यजु० ३९।३)—इस प्रकार इसमें नाक के दो नथनों को रखता है। "चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा" (यजु० ३९।३)—इस प्रकार इसमें दो आँखों को रखता है। "श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा" (यजु० ३९।३)—इस प्रकार दोनों कानों को उसमें रखता है ॥१७॥

ये सात आहुतियाँ होती हैं। सिर में सात प्राण होते हैं। उन्हीं की इनमें स्थापना करता है। पूरी चम्मच भरकर पूर्ण आहुति देता है। पूर्ण का अर्थ है 'सब।' 'सब' के द्वारा उन सबकी चिकित्सा करता है जो कुछ यज्ञ में गड़बड़ हो गई हो ॥१८॥

"मनसः काममाकूतिम्" (यज्ञ० ३९।४)—यह सब संसार मन से व्याप्त है, उसका मन

तद्विषज्यति यत्किं च विवृढं यज्ञस्य ॥१९॥ वाचः सत्यमशीयेति । वाचा वा ऽइद७ सर्वमाप्तं तद्वाचैवैतद्विषज्यति यत्किं च विवृढं यज्ञस्य पशूना७ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहेत्याशिषमेवैतदाशास्ते ॥२०॥ अथ तं चोपशयां च पिष्ट्वा । मार्त्स्नया मृदा स७सृज्यावृता करोत्यावृता पचत्युत्सादनार्थमथ य उपशययोर्दृढः स्यात्तेन प्रचरेत् ॥२१॥ संवत्सरो वै प्रवर्ग्यः । सर्वं वै संवत्सरः सर्वं प्रवर्ग्यः स यत्प्रवृक्तस्तद्वसन्तो यदुचितस्तद्ग्रीष्मो यत्पिन्वितस्तद्वर्षा यदा वै वर्षाः पिन्वन्तेऽथैनाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वन्ते ह वाऽअस्मै वर्षा य एवमेतद्वेद ॥२२॥ इमे वै लोकाः प्रवर्ग्यः । सर्वं वाऽइमे लोकाः सर्वं प्रवर्ग्यः स यत्प्रवृक्तस्तदयं लोको यदुचितस्तदन्तरिक्षलोको यत्पिन्वितस्तदसौ लोको यदा वाऽअसौ लोकः पिन्वतेऽथैन७ सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वते ह वाऽअस्माऽअसौ लोको य एवमेतद्वेद ॥२३॥ एता वै देवताः प्रवर्ग्यः । अग्निर्वायुरादित्यः सर्वं वाऽएता देवताः सर्वं प्रवर्ग्यः स यत्प्रवृक्तस्तदग्निर्यदुचितस्तद्वायुर्यत्पिन्वितस्तदसावादित्यो यदा वाऽअसावादित्यः पिन्वतेऽथैन७ सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वते ह वाऽअस्माऽअसावादित्यो य एवमेतद्वेद ॥२४॥ यजमानो वै प्रवर्ग्यः । तस्यात्मा प्रजा पशवः सर्वं वै यजमानः सर्वं प्रवर्ग्यः स यत्प्रवृक्तस्तदात्मा यदुचितस्तत्प्रजा यत्पिन्वितस्तत्पशवो यदा वै पशवः पिन्वन्तेऽथैनान्त्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वन्ते ह वाऽअस्मै पशवो य एवमेतद्वेद ॥२५॥ अग्निहोत्रं वै प्रवर्ग्यः । सर्वं वाऽअग्निहोत्र७ सर्वं प्रवर्ग्यः स यदधिश्रितं तत्प्रवृक्तो यदुन्नीतं तदुचितो यद्धुतं तत्पिन्वितो यदा वाऽअग्निहोत्रं पिन्वतेऽथैनत्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वते ह वाऽअस्माऽअग्निहोत्रं य एवमेतद्वेद ॥२६॥ दर्शपूर्णमासौ वै प्रवर्ग्यः । सर्वं वै दर्शपूर्णमासौ सर्वं प्रवर्ग्यः स यदधिश्रितं तत्प्रवृक्तो यदासन्नं तदुचितो यद्धुतं तत्पि-

से ही प्रतीकार करता है जो कुछ यज्ञ में गड़बड़ हो गई हो ।।१९।।

"वाचः सत्यमशीय" (यजु० ३९।४)—वाणी से यह सब संसार व्याप्त है, इसलिए जो कुछ गड़बड़ यज्ञ में हुई हो उसका वाणी से ही प्रतीकार करता है। "पशूनाँ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा" (यजु० ३९।४)—"पशुओं का रूप, अन्न का रस, यश और श्री मुझे मिले।" यह आशीर्वाद है ।।२०।।

शेष मिट्टी को पीसकर और पहली पिसी हुई मिट्टी में उसको मिलाकर एक अच्छा पात्र बनाता है और उसे अच्छी तरह पकाता है, उत्सादन के लिए। इन दो रक्खे हुए पात्रों में से जो दृढ़ (मजबूत) हो उसीसे यज्ञ का कार्य करे ।।२१।।

संवत्सर प्रवर्ग्य है। संवत्सर सब-कुछ है। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब यह आग पर रक्खा जाता है तो वसन्त है, जब गर्म होकर लाल हो जाय तो ग्रीष्म है। जब यह ऊपर तक भर जाय तब वर्षा है। जब जल बहुत बरसता है तो सब देव तथा प्राणी जीविका प्राप्त करते हैं। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए वर्षा पुष्कल होती है ।।२२।।

ये लोक प्रवर्ग्य हैं, क्योंकि ये लोक सब-कुछ हैं। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जो आग पर रक्खा जाता है, वह यह लोक है। जब पककर लाल हो जाता है तो अन्तरिक्षलोक होता है। जो जल भर जाता है तो यह स्वर्गलोक है। जब स्वर्गलोक बरसता है तो सब देव तथा सब प्राणी जीविका पाते हैं। स्वर्गलोक उसके लिए पुष्कल जल देता है जो इस रहस्य को समझता है ।।२३।।

ये देवता प्रवर्ग्य हैं, अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य। ये देवता 'सब-कुछ' हैं। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब यह आग पर रक्खा जाता है तो अग्नि है, जब पककर लाल हो जाता है तो वायु है और जल भर जाता है तो आदित्य है। जब यह आदित्य बरसता है तो सब देव तथा प्राणी जीविका पाते हैं। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए आदित्य पुष्कल जल देता है ।।२४।।

यजमान प्रवर्ग्य है। प्रजा और पशु उसका आत्मा है। यजमान सब-कुछ है। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब आग पर रक्खा जाता है तब आत्मा है, जब पककर लाल हो जाता है तब प्रजा है, जब जल से भर जाता है तो पशु है। जब पशु दूध बहुत देते हैं तो इससे देव और प्राणी सबको जीविका मिलती है। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए पशु पुष्कल दूध देते हैं ।।२५।।

अग्निहोत्र प्रवर्ग्य है। अग्निहोत्र सब-कुछ है। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब अग्निहोत्र का दूध आग पर रक्खा जाता है तो यह आग पर रक्खा हुआ घर्म है। जब यह पककर लाल हो जाता है तो चमचों से निकाला हुआ घर्म है। जब इसकी आहुति दी जाती है तो यह ऊपर तक भरा हुआ घर्म है। जब अग्निहोत्र पुष्कल होता है तो उससे देव और प्राणियों की जीविका चलती है। जो इस रहस्य को समझता है, उसको अग्निहोत्र सब-कुछ देता है ।।२६।।

दार्श और पौर्णमास इष्टियाँ प्रवर्ग्य हैं। दार्श और पौर्णमास सब-कुछ हैं। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब हवि आग पर रक्खी जाती है तो यह आग पर रक्खा हुआ घर्म है। जब पककर तैयार हो जाता है तो यह पका हुआ घर्म है। जब आहुति दी जाती हैं तो भरपूर घर्म है।

न्वितो यदा वै दर्शपूर्णमासौ पिन्वेते ऽथैनौ सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वेते ह वा ऽअस्मै दर्शपूर्णमासौ य एवमेतद्वेद ॥२७॥ चातुर्मास्यानि वै प्रवर्ग्यः । सर्वं वै चातुर्मास्यानि सर्वं प्रवर्ग्यः स यदधिश्रितं तत्प्रवृक्तो यदासन्नं तदुचितो यद्धुतं तत्पिन्वितो यदा वै चातुर्मास्यानि पिन्वन्ते ऽथैनानि सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वन्ते ह वा ऽअस्मै चातुर्मास्यानि य एवमेतद्वेद ॥२८॥ पशुबन्धो वै प्रवर्ग्यः । सर्वं वै पशुबन्धः सर्वं प्रवर्ग्यः स यदधिश्रितस्तत्प्रवृक्तो यदासन्नस्तदुचितो यद्धुतस्तत्पिन्वितो यदा वै पशुबन्धः पिन्वते ऽथैनꣳ सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति पिन्वते ह वा ऽअस्मै पशुबन्धो य एवमेतद्वेद ॥२९॥ सोमो वै प्रवर्ग्यः । सर्वं वै सोमः सर्वं प्रवर्ग्यः स यदभिषुतस्तत्प्रवृक्तो यदुन्नीतस्तदुचितो यद्धुतस्तत्पिन्वितो यदा वै सोमः पिन्वते ऽथैनꣳ सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्युपयुञ्जन्ति पिन्वते ह वा ऽअस्मै सोमो य एवमेतद्वेद न ह वा ऽअस्याप्रवर्ग्येण केन चन यज्ञेनेष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥३०॥ अथैतद्वै । आयुरेतज्ज्योतिः प्रविशति य एतमनु वा ब्रूते भक्षयति वा तस्य व्रतचर्या या सृष्टौ ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥३ [३. २.] ॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१२२ ॥ तृतीयोऽध्यायः [१४.] ॥ ॥

द्वया ह प्राजापत्याः । देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त ऽएषु लोकेष्वस्पर्धन्त ॥१॥ ते ह देवा ऊचुः । हन्तासुरान्यज्ञ ऽउद्गीथेनात्ययामेति ॥२॥ ते ह वाचमूचुः । त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायद्यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने ते ऽविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥३॥ अथ ह प्राणमूचुः । त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने ते ऽविदु

जब दार्श और पौर्णमास इष्टियाँ भरपूर होती हैं तो देव और प्राणियों को जीविका मिलती है। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए दार्श और पौर्णमास पुष्कल जीविका देते हैं ॥२७॥

चातुर्मास्य इष्टि प्रवर्ग्य है। चातुर्मास्य सब-कुछ है। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब हवि आग पर रक्खी जाती है तो यह आग पर रक्खा हुआ घर्म है। जब यह तैयार हो जाती है तो यह पका हुआ घर्म है। और जब आहुति दी जाती हैं तो यह भरपूर घर्म है। जब चातुर्मास्य पुष्कल होता है तो देव और प्राणी सबको जीविका मिलती है। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए चातुर्मास्य पुष्कल जीविका देता है ॥२८॥

पशुबन्ध प्रवर्ग्य है। पशुबन्ध सब-कुछ है। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। जब हवि आग पर रक्खी जाती है तो यह आग पर रक्खा हुआ घर्म है। जब तैयार हो जाती है तो पका हुआ घर्म है, जब आहुति दी जाती है तो यह भरपूर घर्म होता है। जब भरपूर घर्म होता है तो सब देव तथा प्राणी जीविका पाते हैं। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए पशुबन्ध पुष्कल जीविका देता है ॥२९॥

सोम प्रवर्ग्य है। सोम सब-कुछ है। प्रवर्ग्य सब-कुछ है। यह जब निचोड़ा जाता है तब आग पर रक्खे हुए घर्म के समान है। जब तैयार हो जाता है तो पके हुए घर्म के समान है। जब आहुति दी जाती है तो भरपूर घर्म के समान है। जब सोम भरपूर होता है तो सब देव तथा प्राणी इससे जीविका पाते हैं। जो इस रहस्य को समझता है उसके लिए सोम सब-कुछ देता है और उसके लिए जो कुछ यज्ञ किया जाता है वह प्रवर्ग्यशून्य नहीं होता ॥३०॥

जो इसकी शिक्षा करता है या इसका भक्षण करता है, वह प्रवर्ग्य उसकी आयु तथा ज्योति में प्रवेश होता है। इसकी व्रतचर्या वही है जो सृष्टि में ॥३१॥

बृहदारण्यकम्

अध्याय ४—ब्राह्मण १

प्रजापति की दो सन्तानें देव और असुर थे। उनमें देव छोटे और असुर बड़े थे। वे इन लोकों में लड़ पड़े ॥१॥

देवों ने कहा, 'यज्ञ में उद्‌गीथ के द्वारा हम असुरों को जीत लें।' ॥२॥

उन्होंने वाक् से कहा, 'तू हमारे लिए उद्‌गाता बन।' उसने कहा 'अच्छा।' वाक् उनके लिए उद्‌गाता बन गई। वाणी में जो भोग है वह देवों के लिए दे दिया। जो कल्याण वाणी बोलती है वह अपने लिए (रख लिया)। उन असुरों ने जान लिया कि इस उद्‌गाता के द्वारा वे हमको जीत लेंगे। इसलिए उन्होंने आक्रमण करके वाणी को पाप से बींध दिया। जो प्रतिकूल बोलना है वही पाप है ॥३॥

तब उन्होंने प्राण से कहा, 'तू हमारे लिए उद्‌गाता बन।' उसने कहा, 'अच्छा।' प्राण ने उनके लिए उद्‌गाता का काम किया। यह जो प्राण में भोग है वह उसने देवों को दे दिया। यह जो कल्याण नाक सूँघती है वह अपने लिए रक्खा।

रनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवे-
दमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥४॥ अथ ह चक्षुरूचुः । त्वं न उद्गायेति
तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायद्यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति त-
दात्मने तेऽविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः
स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥५॥ अथ ह श्रोत्रमूचुः ।
त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्क-
ल्याणꣳ शृणोति तदात्मने तेऽविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य
पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ॥६॥
अथ ह मन ऊचुः । त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भो-
गस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ संकल्पयति तदात्मने तेऽविदुरनेन वै न उ-
द्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ
संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पा-
प्मनाविध्यन् ॥७॥ अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः । त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष
प्राण उदगायत्तेऽविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्स-
न्स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्त-
तो देवा अभवन्परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद
॥८॥ ते होचुः । क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य
आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥९॥ सा वाऽएषा देवता दूः । नाम दूरꣳ ह्यस्या
मृत्युर्दूरꣳ ह वाऽअस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥१०॥ सा वाऽएषा देवता ।
एतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयां चकार तदा-
सां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति
॥११॥ सा वाऽएषा देवता । एतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्यु-

उन्होंने जाना कि इसी उद्गाता की सहायता से वे हमको जीत लेंगे। इसलिए उन्होंने उस प्राण को आक्रमण करके पाप से बींध दिया। यह जो प्रतिकूल सूँघना है वही पाप है ।।४।।

अब चक्षु से कहा, 'तू हमारे लिए उद्गाता बन।' उसने कहा, 'अच्छा।' चक्षु ने उनके लिए उद्गाता का काम किया। जो चक्षु का भोग है वह देवों के लिए दे दिया। जो कल्याण चक्षु देखती है वह अपने लिए रख लिया। असुरों ने जाना कि इसी उद्गाता के द्वारा ये देव हमको जीत लेंगे। इसलिए आक्रमण करके उन्होंने इस आँख को पाप से बींध दिया। वही पाप है जो आँख से प्रतिकूल देखता है ।।५।।

अब देवों ने कान से कहा, 'तू हमारे लिए उद्गाता बन।' उसने कहा, 'अच्छा।' कान ने उनके लिए उद्गाता का काम किया। कान में जो भोग था, वह देवों के लिए दे दिया। यह जो कान कल्याण सुनता है वह अपने लिए रख लिया। असुरों ने समझा कि इसी उद्गाता की सहायता से वे हमको जीत लेंगे, इसलिए आक्रमण करके उन्होंने उसको पाप से बींध दिया। वही पाप है यह जो कानों से प्रतिकूल सुनना है ।।६।।

अब उन्होंने मन से कहा, 'तू हमारे लिए उद्गाता बन जा।' उसने कहा, 'अच्छा।' मन ने उनके लिए उद्गाता का काम किया। जो मन में भोग है वह देवों के लिए अर्पण कर दिया, और जो कल्याण मन विचारता है वह अपने लिए रख लिया। असुरों ने समझा कि इसी उद्गाता के द्वारा ये हमको जीत लेंगे। उसपर आक्रमण करके उन्होंने उसको पाप से बींध दिया। जो मन से प्रतिकूल विचारना है वही पाप है। ये सब देव पाप से युक्त हो गए, पाप से बिंध गए ।।७।।

अब देवों ने मुख-सम्बन्धी प्राण को कहा, 'तू हमारा उद्गाता बन।' उसने कहा, 'अच्छा।' इस प्राण ने उनके लिए उद्गाता का काम किया। उन असुरों ने समझा कि इसी उद्गाता की सहायता से देव हम पर विजय प्राप्त कर लेंगे। इसलिए उन्होंने आक्रमण करके उसको पाप से बींधने की चेष्टा की। परन्तु जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर पर पड़के चूर-चूर हो जाता है, इसी प्रकार ये असुर भी विध्वंस होकर नष्ट हो गए और देव जीत गए। इस प्रकार जो कोई इस रहस्य को समझता है उसके दुष्ट शत्रु असुर नाश को प्राप्त हो जाते हैं ।।८।।

वे बोले, 'वह कहाँ है जिसने इस प्रकार हमको विजय दिलाई?' 'वह मुख के भीतर है।' इसलिए उसको 'अयास्य' कहते हैं। वह 'आंगिरस' भी है, क्योंकि वह अंगों का रस है ।।९।।

इस देवता का नाम 'दूर्' है, क्योंकि मृत्यु इससे दूर है। जो इस रहस्य को जानता है, उससे मृत्यु दूर रहती है ।।१०।।

इस देवता ने इन देवताओं के पापरूपी मृत्यु का नाश करके जहाँ इन दिशाओं का अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। वहीं इनके पापों को स्थापित कर दिया, जिससे वह 'मनुष्य' में न आवे, अन्त में न आवे। कहीं ऐसा न हो कि मैं पापी मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ ।।११।।

इस देवता ने इन देवताओं के पापी मृत्यु को मार डाला और इन देवताओं को मृत्यु के

मत्यवहत् ॥१२॥ स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥१३॥ अथ प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१४॥ अथ चक्षुरत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥१५॥ अथ श्रोत्रमत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवंस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१६॥ अथ मनोऽत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳ ह वाऽएनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥१७॥ अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत् । यद्धि किं चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यतऽइह प्रतितिष्ठति ॥१८॥ ॥ शतम् ७१०० ॥ ॥ ते देवा अब्रुवन् । एतावद्वाऽइदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मनऽआगासीरनु नोऽस्मिन्नन्नऽआभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वाऽएनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुरएता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद ॥१९॥ य उ हैवंविदꣳ । स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भार्यान्बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥२०॥ सोऽयास्य आङ्गिरसो । ऽङ्गानाꣳ हि रसः प्राणो वाऽअङ्गानाꣳ रसः प्राणो हि वाऽअङ्गानाꣳ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वाऽअङ्गानाꣳ रसः ॥२१॥ एष उऽएव बृहस्पतिः । वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥२२॥ एष उऽएव ब्रह्मणस्पतिः । वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ह ब्रह्मणस्पतिः ॥२३॥ एष उऽएव साम । वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ

परे पहुँचा दिया ॥१२॥

उसने पहले वाणी को मृत्यु के परे पहुँचाया । वह जब मृत्यु से मुक्त हुई तो अग्नि हो गई । यह वह अग्नि मृत्यु से परे होकर चमकता है ॥१३॥

अब प्राण को मुक्त किया । जब वह मृत्यु से मुक्त हो गया तो वायु हो गया । वह यह वायु मृत्यु से परे होकर बहता है ॥१४॥

अब चक्षु को मुक्त किया । जब यह मृत्यु से मुक्त हुआ तो आदित्य हो गया । यह आदित्य मृत्यु से परे होकर तपता है ॥१५॥

अब श्रोत्र को मुक्त किया । जब यह मृत्यु से मुक्त हुआ तो दिशाएँ बन गईं । ये दिशाएं मृत्यु से परे हो गईं ॥१६॥

अब मन को मुक्त किया । जब यह मृत्यु से मुक्त हुआ तो चन्द्रमा बन गया । यह चाँद मृत्यु से परे होकर ही चमकता है । जो इस रहस्य को जानता है वह इन देवताओं को मृत्यु से परे पहुँचा देता है ॥१७॥

अब अन्न को अपने लिए रख लिया । यह जो अन्न खाया जाता है वह इसी (प्राण) द्वारा खाया जाता है, इसी में प्रतिष्ठित होता है ॥१८॥

उन देवों ने कहा, 'यह जो सब अन्न है उसको तुमने अपने ही लिए रख लिया । इस अन्न में से हमको भी भाग दो ।' उसने कहा, 'आप सब मुझमें प्रविष्ट हो जाएँ ।' उसने कहा, 'अच्छा ।' वे चारों ओर से उसमें घुस गए । इसलिए जो इस प्राण के द्वारा अन्न को खाता है उससे ये देवता तृप्त हो जाते हैं, और उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं । जो इस रहस्य को समझता है वह अपने लोगों का स्वामी और श्रेष्ठ अगुआ हो जाता है । वह अन्न का खानेवाला और अधिपति हो जाता है ॥१९॥

इस रहस्य को समझनेवाले के प्रति जो कोई उसके सम्बन्धियों में से प्रतिकूल होना चाहता है, वह असुरों के समान विफल होकर अपने (भार्य) अधीन लोगों के पालन में असमर्थ होता है । और जो कोई ऐसे पुरुष के अनुकूल होता है वह अपने अधीन पुरुषों को पालना चाहता है और उनके पालन में समर्थ होता है ॥२०॥

'आंगिरस अयास्य' अंगों का रस है । प्राण अंगों का रस है । प्राण ही अंगों का रस है । इसलिए जिस किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वही अंग सूख जाता है । यह प्राण ही अंगों का रस है ॥२१॥

यही बृहस्पति है । वाक् है बृहती । उसका यह पति है, इसलिए इसका नाम बृहस्पति है ॥२२॥

यह ब्रह्मणस्पति है । वाक् है ब्रह्म । उसका यह पति है । इसलिए इसका नाम ब्रह्मणस्पति है ॥२३॥

यह साम भी है । वाक् है 'सा', प्राण है 'अम' । यही साम का सामत्व है (अर्थात् यह वाणी का पति है) । या लिंगशरीर के तुल्य है, मच्छर के तुल्य है, हाथी के तुल्य है, इन तीन लोकों के तुल्य है । इसलिए इसको 'सम भाव' के कारण 'साम' कहते हैं

सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥२४॥ एष उ वाऽउद्गीथः । प्राणो वाऽउत्प्राणेन ह्रीदᳪ सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२५॥ तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो । राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्य-दितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदि-ति ॥२६॥ तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद । भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्तऽएवाथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥२७॥ तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद । भवति हा-स्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सु-वर्णं वेद ॥२८॥ तस्य हैतस्य । साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्नऽइत्यु हैक ऽआहुः ॥२९॥ अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति ॥३०॥ स यदाहासतो मा सद्गमयेति । मृत्युर्वाऽअसत्सद-मृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह ॥३१॥ तमसो मा ज्योतिर्गमयेति । मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्मा-मृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥३२॥ अथ यानीतराणि स्तोत्राणि । ते-ष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तᳪ स एष ए-वंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजि-देव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥१ [४. १.] ॥ ॥

आत्मैवेदमग्रऽआसीत् । पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽह-

वह साम की सायुज्यता और सलोकता को पा जाता है जो इस साम के रहस्य को समझता है ।।२४।।

यह उद्गीथ है । 'उत्' नाम है प्राण का । प्राण के द्वारा ही यह सब संसार उठा हुआ है । वाक् ही 'गीथा' हैं । उत् और गीथा मिलकर, 'उद्गीथ' हुआ ।।२५।।

सोम राजा को भक्षण करते हुए ब्रह्मदत्त चैकितायन ने कहा है कि यह राजा उसके सिर को गिरा दे जो इस अयास्य आंगिरस से भिन्न किसी अन्य इन्द्रिय से उद्गाता का कार्य करे। इसलिए उद्गाता वाक् और प्राण से ही उद्गाता का कार्य करता है ।।२६।।

जो इस साम के 'स्व' (धन) को जानता है उसी को 'स्व' (धन) प्राप्त होता है। 'स्वर' ही 'स्व' हैं । इसलिए ऋत्विक् का काम करनेवाला वाणी में स्वर की इच्छा करे । उस वाणी में स्वर सम्पन्न होकर ऋत्विक् का कार्य करे। लोग यज्ञ में स्वरवाले को ही देखना चाहते हैं । जो साम के इस 'स्व' को जानता है, उसी का 'स्व' (धन) होता है, उसी का 'स्व' होता है ।।२७।।

जो इस साम के 'सुवर्ण' को जानता है उसका सुवर्ण (सोना) होता है। स्वर ही सुवर्ण है । जो साम के सुवर्ण को जानता है, 'सोना' उसी का होता है ।।२८।।

जो इसकी प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठा को पाता है। वाणी ही उसकी प्रतिष्ठा है । यह प्राणी वाणी में ही प्रतिष्ठित है । कुछ लोगों का कहना है कि इसका अन्न में ही गान होता है ।।२९।।

अब पवमानों में की 'अभ्यारोह' नामक उपासना को कहते हैं । प्रस्तोता साम की स्तुति करता है। जब स्तुति करे तो यह जपे—'असत् से मुझे सत् की प्राप्ति करा, अन्धकार से ज्योति की, मृत्यु से अमृत की' ।।३०।।

यह जो कहा कि असत् से (हटाकर) सत् की प्राप्ति करा, तो इसलिए कि असत् ही मृत्यु है, सत् अमृत है ! इसका तात्पर्य है कि मुझे मृत्यु से हटाकर अमृत की प्राप्ति करा, मुझे अमर कर ।।३१।।

अन्धकार से (हटाकर) ज्योति की प्राप्ति करा । मृत्यु ही अंधकार है । अमृत ज्योति है । मृत्यु से मुझे अमृत की प्राप्ति करा । मैं अमर हो जाऊँ । मृत्यु से मुझे अमृत की प्राप्ति करा । यह तो स्पष्ट ही है ।।३२।।

ये जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें अपने लिए 'अन्न' की प्रार्थना करे। जिस बात की कामना करे उसी वर को माँगे । इस रहस्य को समझनेवाला उद्गाता अपने या यजमान के लिए जिस बात की कामना करता है, या वर की प्रार्थना करता है, वही प्राप्त हो जाता है । जो इस साम को जानता है लोक को जीत लेता है, अलोक्यता की आशा नहीं करता। (शायद इसका अर्थ यह है कि उसे सांसारिक वैभव मिल जाता है, मोक्ष नहीं । परन्तु यह भी ठीक जान नहीं पड़ता, क्योंकि ऊपर अमरत्व की प्रार्थना की गई है) ।।३३।।

सृष्ट्यादौ स्वातंत्र्यविभूतिवर्णनम्

अध्याय ४—ब्राह्मण २

पहले यह आत्मा ही था, पुरुष रूप में। उसने चारों ओर देखकर आत्मा के अतिरिक्त किसी को न पाया ।

मस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्रऽउक्त्वा-
थान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति ॥१॥ स यत्पूर्वोऽस्मात् । सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन
औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥२॥
सोऽबिभेत् । तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु
बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥३॥ स
वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्री-
पुमाꣳसौ सम्परिष्वक्तौ ॥४॥ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् । ततः पतिश्च पत्नी
चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाश
स्त्रिया पूर्यतऽएव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥५॥ सो हेयमीक्षां चक्रे
। कथं नु मात्मनऽएव जनयित्वा सम्भवति हन्त तिरोऽसानीति ॥६॥ सा गौ-
रभवत् । वृषभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त ॥७॥ वडवेतराभवत् ।
अश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्तत एकशफमजायत ॥८॥
अजेतराभवत् । वस्त इतरोऽविरितरो मेष इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततोऽजावयो
ऽजायन्तैवमेव यदिदं किं च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥९॥ सो
ऽवेत् । अहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ
हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥१०॥ अथेत्यभ्यमन्थत् । स मुखाच्च योनेर्हस्ता-
भ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः ॥११॥
तद्यदिदमाहुः । अमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे
देवाः ॥१२॥ अथ यत्किं चेदमार्द्रम् । तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वाऽइदꣳ
सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः ॥१३॥ सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः । य-
च्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यै-
तस्यां भवति य एवं वेद ॥१४॥ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यामेव

उसने पहले यह कहा, 'मैं हूँ ।' इसलिए उसका 'मैं' नाम हुआ । इसीलिए जब किसी को पुकारते हैं तो वह उत्तर में पहले 'यह मैं' ऐसा कहता है, फिर जो नाम उसका होता है उसे लेता है ॥१॥

चूँकि इसने सबसे पहले सब पापों को (औषत्) दग्ध किया, इसलिए इसका नाम पुरुष हुआ (पुरस्+उष्) । जो इस भेद को समझता है और इस (संसार) में पूर्व (श्रेष्ठ) होना चाहता है, वह अपने पाप को दग्ध कर देता है ॥२॥

उसको भय हुआ, क्योंकि अकेले को डर लगता है । उसने सोचा कि मुझसे भिन्न तो कोई है ही नहीं, फिर मैं क्यों डरता हूँ ? तभी उसका भय दूर हुआ । डरेगा किससे ? डर तो दूसरे से ही हुआ करता है ॥३॥

उसे आनन्द न आया। अकेले में आनन्द नहीं आया करता । उसने दूसरे को चाहा । वह इतना हो गया जितना स्त्री और पुत्र चिपटकर होते हैं ॥४॥

उसने अपने इस शरीर के दो भाग कर दिये । इनसे पति और पत्नी हो गये । 'यह पुरुष (विवाह से पहले) आधी सीप के समान था' ऐसा याज्ञवल्क्य का कथन है। इसलिसे यह आकाश (स्थान) स्त्री से भरता है । उस स्त्री से सहवास किया, इसलिए मनुष्य उत्पन्न हुए ॥५॥

उस स्त्री ने सोचा कि मुझे अपने से ही उत्पन्न करके सहवास करता है, मैं छिप जाऊँ ॥६॥

वह गौ हो गई । वह बैल बन गया । उसके साथ समागम किया । इससे गाय-बैल उत्पन्न हो गए ॥७॥

वह घोड़ी हो गई । वह घोड़ा हो गया । वह गधी हो गई, वह गधा हो गया । उसके साथ समागम किया । इससे एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए ॥८॥

वह बकरी बनी । वह बकरा हो गया । वह भेड़ हो गई, वह भेड़ा बन गया । उसके साथ समागम हुआ तो बकरी-भेड़ आदि उत्पन्न हो गए । इस प्रकार जोड़ों से चींटी तक सब जीव बन गए ॥९॥

उसने विचारा कि मैं तो सृष्टि हो गया । मैंने ही तो सृष्टि को स्रजा है । 'सृज' से सृष्टि नाम पड़ा । जो इस रहस्य को समझ जाता है, वह इस सृष्टि में प्रसिद्ध हो जाता है ॥१०॥

उसने इसके पश्चात् मन्थन किया और मुखरूपी योनि से तथा हाथोंरूपी योनि से अग्नि को उत्पन्न किया । इसलिए ये दोनों (मुख तथा हाथ) भीतर से रोंगटों से रहित हैं । योनि में भी भीतर रोंगटे नहीं होते ॥ ११॥

यह जो कहते हैं कि इसको पूजो, उसको पूजो, यह एक-एक देव को अलग-अलग कहकर कहते हैं । वस्तुतः यह सृष्टि उसी एक प्रजापति की है । यह प्रजापति ही सब देव हैं ॥१२॥

अब यह जो कुछ आर्द्र (गीला) है उसको वीर्य से उत्पन्न किया । यह सोम है । यह जो कुछ है वह अन्न और अन्नाद (भोग्य और भोक्ता) है । अन्न सोम है, अन्नाद अग्नि है ॥१३॥

यह ब्रह्मा की अतिसृष्टि है । यह जो कल्याणकारी देवों को उत्पन्न किया और जो मर्त्य होकर अमरों को उत्पन्न किया, इसलिए यह अतिसृष्टि हुई । जो इस रहस्य को समझता है वह अतिसृष्टि का (अंश) हो जाता है ॥१४॥

यह सब संसार उस समय अव्याकृत (अव्यक्त) था । वह नाम और रूप से व्याकृत किया

व्याक्रियतासौनामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते ऽसौनामायमिदꣳरूप इति ॥१५॥ स एष इह प्रविष्टः । आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः ॥१६॥ प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति । वदन्वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति ॥१७॥ आत्मेत्येवोपासीत । अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥१८॥ तदेतत्प्रेयः पुत्रात् । प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥१९॥ तदाहुः । यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥२०॥ ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो-यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥२१॥ तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे । अहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥२२॥ ब्रह्म वाऽइदमग्र आसीत् । एकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात्क्ष-

गया—यह इसका नाम है, यह इसका रूप है, इत्यादि। यह संसार भी इसलिए नाम और रूप से व्याकृत किया जाता है—यह इसका नाम और यह इसका रूप ॥१५॥

वह प्रजापति इसमें प्रविष्ट हुआ। यह (सिर से लेकर) नखाग्र-पर्यन्त इस प्रकार प्रविष्ट है, जैसे तलवार म्यान में, या विश्वम्भर अर्थात् अग्नि काष्ठ आदि में। उसको देख नहीं सकते क्योंकि वह अकृत्स्न अर्थात् अव्याकृत है ॥१६॥

जब यह प्राण खींचता है तो उसका नाम प्राण होता है। बोलता है तो वाणी हो जाता है। देखता है तो आँख हो जाता है। सुनता है तो कान हो जाता है। सोचता है तो मन हो जाता है। ये इसके कर्म-सम्बन्धी नाम हैं। जो इनमें से एक-एक की उपासना करता है वह उसको नहीं जानता। जो एक-एक करके जानता है वह अपूर्ण जानता है ॥१७॥

इसको सम्पूर्ण आत्मा करके जाने, क्योंकि इसमें यह सब (आँख, कान आदि) एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है वही सबके पाने योग्य है, क्योंकि इसी के द्वारा इस सबका ज्ञान होता है; जैसे पैरों के चिह्न से किसी को खोजते हैं। जो इस रहस्य को समझता है, वह कीर्ति और पुण्यलोक को प्राप्त होता है ॥१८॥

यह आत्मा पुत्र से प्यारा है, धन से प्यारा है, अन्य सब चीजों से प्यारा है। यह जो आत्मा है वह सबसे अलग है। जो आत्मा से अन्य को प्रिय बताता है उससे कहना चाहिए कि तेरा नाश हो जायगा, क्योंकि ऐसा अवश्य ही हो जायगा। आत्मा को ही प्रिय जानना चाहिए। जो आत्मा को ही प्रिय जानता है, उसके लिए कोई वस्तु नाश का कारण नहीं हो सकती ॥१९॥

इसपर प्रश्न होता है कि जिस ब्रह्मविद्या से सब-कुछ की प्राप्ति मनुष्य मानते हैं, उस ब्रह्म को कैसे जानें, जिससे यह सब (संसार) हो गया? ॥२०॥

यह ब्रह्म सबसे पहले था। वह अपने को जानता था कि मैं ब्रह्म हूँ। उससे यह सब-कुछ हो गया। देवों में जिस-जिस को बोध हो गया, वह ही वैसा हो गया। वैसा ही ऋषियों में, वैसा ही मनुष्यों में ॥२१॥

उसको ऐसा ही देखनेवाले ऋषि वामदेव ने प्रतिपादन कि मैं मनु हो गया; मैं सूर्य हो गया। अब भी यही है कि जो यह समझता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब-कुछ हो जाता है; देव उसके पराभव में समर्थ नहीं होते। वह इनका आत्मा हो जाता है। जो अन्य देवता की उपासना करता है, 'यह और है, मैं और हूँ' ऐसा समझता है, वह नहीं जानता। वह देवों में पशु के समान है। जैसे बहुत-से पशु मनुष्य को भोग पहुँचाते हैं, इसी प्रकार एक-एक पुरुष देवों को भोग पहुँ-चाते हैं। एक पशु के ही छिन जाने पर बुरा लगता है तो बहुतों के छिनने पर क्यों न (बुरा लगे)! इसलिए इनको प्रिय नहीं कि मनुष्यों को ज्ञान की उपलब्धि हो ॥२२॥

पहले ब्रह्म ही था, अकेला। वह अकेला था। इतना उसको पर्याप्त न जँचा। उसने क्षत्रिय के कल्याणकारी रूप को उत्पन्न किया। क्षत्र-सम्बन्धी इतने देवता हैं—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान।

ऽत्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान्भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥२३॥ स नैव व्यभवत् । स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति ॥२४॥ स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किं च ॥२५॥ स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथोऽअबलीयान्बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥२६॥ तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः । तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳ हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् ॥२७॥ अथ यो ह वाऽअस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति । स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदि ह वाऽअप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयतऽएवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयतेऽस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥२८॥ अथोऽअयं वाऽआत्मा । सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऽर्षीणामथ यत्प्रजामिच्छते यत्पितृभ्यो निपृणाति तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्यरि

इसलिए क्षत्रिय से परे कोई नहीं है। इसलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे स्थित होकर क्षत्रिय की उपासना करता है। इस प्रकार क्षत्रिय में अपना यश स्थापित करता है। यह जो ब्रह्म है वह क्षत्रिय की योनि है। इसलिए यद्यपि राजा परमगति (सर्वोत्कृष्टता) को प्राप्त होता है, अन्त में ब्रह्म ही का आश्रय लेता है। जो ब्राह्मण को हानि पहुँचाता है, वह अपनी ही योनि को हानि पहुँचाता है। वह पापी होता है, मानो अपने ही कल्याण का नाश करता है (यहाँ ब्रह्म--ब्राह्मण) ॥२३॥

इतना उसको पर्याप्त न जँचा। उसने वैश्य को उत्पन्न किया। ये जितने देव गणेश कहलाते हैं, वे हैं वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् ॥२४॥

इतना उसको पर्याप्त न जँचा। उसने शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया, जो पूषा है। यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि जो कुछ इस जगत् में है उसका पालन करती है ॥२५॥

इतना उसको पर्याप्त न जँचा। उसने श्रेयरूपी धर्म को उत्पन्न किया। जो धर्म है वही क्षत्र का क्षत्र है, इसलिए धर्म से परे कुछ नहीं है। धर्म से कमजोर बली हो जाता है, जैसे राजा के बल की सहायता से। जो धर्म है वही सत्य है। इसलिए जो सत्य बोलता है, उसको कहते हैं कि धर्म बोलता है। जो धर्म बोलता है उसको कहते हैं कि सत्य बोलता है। क्योंकि ये दोनों एक ही हैं ॥२६॥

ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। अग्नि के द्वारा ही देवों में ब्रह्मा हुआ, मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य, शूद्र से शूद्र। इसलिए देवों के मध्य में अग्नि में ही लोग लोक की कामना करते हैं, मनुष्यों के बीच में ब्राह्मण में। इन्हीं दो रूपों के द्वारा ब्रह्मा हुआ (अर्थात देवत्व+मनुष्यत्व) ॥२७॥

अब जो इस लोक से बिना अपने लोक को देखे जाता है वह इस लोक को न जानकर भोग नहीं सकता। जिस प्रकार बिना पढ़ा हुआ वेद फल नहीं देता, या दूसरे का किया कर्म फल नहीं देता, या बिना किया हुआ कर्म फल नहीं देता, इसी प्रकार यह है। जो इस ज्ञान को न रखके महान् पुण्य-कर्म करता है, उसका वह फल भी अन्त को क्षीण हो जाता है। इसलिए आत्म-लोक की ही उपासना करनी चाहिए। जो आत्म-लोक की उपासना करता है उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस आत्मा से जो-जो कामना करता है उसको बनाता है ॥२८॥

अब यह आत्मा सब भूतों का लोक है। वह जो आहुति देता है, जो यज्ञ करता है, उसी से देवों का लोक बनता है; और जो अध्ययन करता है उससे ऋषियों का। जो सन्तान चाहता है या पितरों की पूजा करता है उससे पितरों का लोक बनता है। यह जो मनुष्यों को बसाता है या उसको भोजन देता है, उससे मनुष्यों के लोक को बनाता है। जो पशुओं को घास और जल देता है उनसे पशुओं का। जो इसके घरों में कुत्ते, पक्षी, चींटी आदि जीविका पाते हैं, उनसे उनका लोक बनता है। जैसे इस रहस्य को समझनेवाला अपने लोक के कल्याण की इच्छा करता है, उसी प्रकार इसके लिए सदा सब प्राणी कल्याण की इच्छा करते हैं।

ष्टिमिच्छन्ति तद्वाऽएतद्विदितं मीमाᳪसितम् ॥२९॥ आत्मैवेदमग्रऽआसीत् । एक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै कामो नेच्छंश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता ॥३०॥ मन एवास्यात्मा । वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दति श्रोत्रं दैवᳪ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदᳪ सर्वं यदिदं किं च तदिदᳪ सर्वमाप्नोति यदिदं किं च य एवं वेद ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥ २ [४. २.] ॥ ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥ त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥ कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन । स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥ यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति । मेधया हि तपसाजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रᳪ ह्येतत् ॥२॥ द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथोऽआहुर्दर्शपूर्णमासाविति तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् ॥३॥ पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति । तत्पयः पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्ति ॥४॥ अथ वत्सं जातमाहुः । अतृणाद इति तस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदᳪ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥५॥ तद्यदिदमाहुः । संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्यु-

यह विदित ही है। इसकी इस प्रकार मीमांसा हुई ॥२९॥

यह आत्मा ही पहले था; एक ही। उसने चाहा कि 'मेरी स्त्री हो और मैं सन्तान उत्पन्न करूँ। मेरे धन हो, और मैं यज्ञ करूँ।' इन सब कामनाओं को चाहनेवाला इतने से अधिक न चाहे। इसलिए जब अकेला इच्छा करता है कि मेरे स्त्री हो, सन्तान हो, धन हो, मैं यज्ञ करूँ, वह जब तक इनकी प्राप्ति नहीं होती, उस समय तक अपने को अपूर्ण ही समझता है, उसकी पूर्णता इन चीजों की प्राप्ति में ही है ॥३०॥

मन ही इसका आत्मा है। वाणी स्त्री है। प्राण सन्तान है। चक्षु ही मनुष्य का धन है, क्योंकि चक्षु से ही धन मिलता है। श्रोत्र ही दैवी सम्पत्ति है, क्योंकि श्रोत्र से ही विद्या को सुनता है। आत्मा ही इसका यज्ञ है, क्योंकि आत्मा से ही यज्ञ करता है। यह यज्ञ पाँच अंगोंवाला है। पशु पाँच अंगोंवाले हैं। पुरुष पाँच अंगोंवाला है। यह सब संसार पाँच अंगोंवाला है। जो इस रहस्य को समझता है, वह इस सबको प्राप्त कर लेता है ॥३१॥

सप्तधा निरूपणम्

अध्याय ४—ब्राह्मण ३

पिता प्रजापति ने जो सात अन्नों को मेधा तथा तप से उत्पन्न किया, इनमें एक अन्न साधारण है (अर्थात् भोजन जिसको सभी खाकर जीते हैं)। दो देवों में बाँट दिये, तीन अपने लिए रख लिये, एक पशुओं को दे दिया। उस (अन्तिम भोजन) में सभी की प्रतिष्ठा है, प्राणवालों की भी और प्राणशून्यों की भी। क्यों? ये खाए जाने पर भी कभी क्षीण नहीं होते। जो इस अक्षिति (क्षय—अभाव) को समझता है, वह प्रतीक द्वारा अन्न को खाता है। वही देवों को प्राप्त होता है, वही तेज को पाता है। यह श्लोक है ॥१॥

मेधा और तप द्वारा प्रजापति ने सात अन्नों को उत्पन्न किया, मेधा और तप के द्वारा बनाया। उनमें से एक साधारण है। साधारण अन्न वह है जिसको सभी खाते हैं। जो इस अन्न की उपासना करता है (अर्थात् स्वयं खाता और किसी को नहीं देता) वह पाप से नहीं छूटता, क्योंकि यह अन्न सबका मित्र अर्थात् साझे का है, अकेला उसी का नहीं ॥२॥

दो को देवों में बाँट दिया, अर्थात् हुत और बहुत को। इसलिए देवों के लिए आहुति देता है और प्रहुति देता है। कुछ लोगों का कहना है कि इनसे तात्पर्य है ‌.र्श और पूर्णमास से। इस-लिए इष्टि-याजुक (अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए इष्टियाँ करनेवाला) न होना चाहिए ॥३॥

एक अन्न पशुओं को दे दिया। वह दूध है। क्या मनुष्य और क्या पशु, ये सब पहले दूध पर ही जीते हैं। इसलिए जब बच्चा उत्पन्न होता है तो पहले उसको घी चटाते हैं या माँ का का दूध पिलाते हैं ॥४॥

तब घोषणा करते हैं कि बच्चा उत्पन्न हो गया (अर्थात् जातकर्म संस्कार हो गया)। वह बच्चा तृण नहीं खाता। इसी पर सबकी प्रतिष्ठा है, प्राणी की भी और अप्राणी की भी। दूध पर ही सबकी प्रतिष्ठा है, प्राणी की भी और अप्राणी की भी ॥५॥

यह जो कहावत है कि सालभर दूध से आहुति देने से दूसरी मृत्यु को जीत लेता है, उसको ऐसा ही न समझना चाहिए। जिस दिन वह आहुति देता है, उसी दिन दूसरी मृत्यु को जीत लेता है। जो इस रहस्य को समझता है वह उसी दिन दूसरी मृत्यु को जीत लेता है जिस दिन वह आहुति देता है। क्योंकि—

मपजयत्येवं विद्वान्त्सर्वꣳ ह्नि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्य-मानानि सर्वदेति ॥६॥ पुरुषो वाऽअक्षितिः । स हीदमन्नं पुनः-पुनर्जनयते यो वै तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वाऽअक्षितिः स हीदमन्नं धिया-धिया जनयते कर्म-भिर्यद्वैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा ॥७॥ त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति । मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौप-मिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति ॥८॥ कामः संकल्पो । विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥९॥ यः कश्च शब्दो । वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वाऽअय-मात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥१०॥ त्रयो लोका एतऽएव । वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥११॥ त्रयो वेदा एतऽएव । वा-गेवऽर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥१२॥ देवाः पितरो मनुष्या एतऽएव । वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥१३॥ पिता माता प्रजैतऽएव । मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥१४॥ विज्ञातं विजिज्ञास्यम् । अविज्ञातमेतऽएव यत्किं च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वावति ॥१५॥ यत्किं च विजिज्ञास्यम् । मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एव तद्भूत्वावति ॥१६॥ यत्किं चाविज्ञातम् । प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एव तद्भूत्वावति ॥१७॥ तस्यै वाचः पृथिवी शरीरम् । ज्योती रूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥१८॥ अथैतस्य मनसो । द्यौः शरीरं ज्योती रूपमसा-वादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति

वह सब देवों के लिए सब अन्न दे डालता है। वे भोजन नित्य खाए जाने पर भी क्यों क्षीण नहीं होते ? ॥६॥

पुरुष तो अक्षिति (न क्षय होनेवाला) है। वह ही इस अन्न को बार-बार उत्पन्न करता है। जो इस अक्षिति को समझता है अर्थात् जो यह जानता है कि यह अक्षिति पुरुष के ही कारण है, वह इस अन्न को बुद्धि द्वारा उत्पन्न करता है; बुद्धि द्वारा तथा कर्म द्वारा यदि उत्पन्न न करे तो अन्न क्षीण हो जाय। 'प्रतीक के द्वारा खाता है।' प्रतीक कहते हैं मुख को। मुख के द्वारा अर्थात् यथाविधि खाता है। देवों को पाता है। शक्तिशाली होता है। यह प्रशंसा है ॥७॥

उसने तीन अन्नों को अपने लिए बनाया—मन को, वाणी को और प्राण को। इनको उसने अपने लिए बनाया। (लोग कहा करते हैं कि) 'मेरा मन अन्यत्र था, मैंने देखा नहीं; मेरा मन अन्यत्र था, मैंने सुना नहीं। (इसका तात्पर्य है कि मनुष्य) मन के द्वारा ही देखता है, मन के द्वारा ही सुनता है ॥८॥

कामना, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय, यह सब मन ही है। इसलिए यदि कोई पीछे से भी छुए तो मन को मालूम पड़ जाता है ॥९॥

जो कुछ शब्द होता है वह सब वाणी है, क्योंकि यह अन्त तक पहुँचती है (अर्थात् वाणी द्वारा ही अन्तिम निश्चय करते हैं)। यह स्वयं प्रकाश्य नहीं है (प्रकाशक मात्र है) अर्थात् वाणी को प्रकाश करने के लिए किसी दूसरी वाणी की आवश्यकता नहीं होती। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन यह सब प्राण ही है। यह आत्मा इन सबसे युक्त है, अर्थात् वाणी से, मन से, प्राण से ॥१०॥

लोक तीन होते हैं—वाणी यह लोक है, मन अन्तरिक्ष और प्राण द्यौलोक ॥११॥

तीन वेद हैं—वाणी ऋग्वेद, मन यजुर्वेद, प्राण सामवेद ॥१२॥

देव, पितर और मनुष्य तीन होते हैं। वाणी देव है, मन पितर और प्राण मनुष्य ॥१३॥

पिता, माता तथा प्रजा तीन होते हैं। मन पिता है, वाणी माता है और प्राण प्रजा है ॥१४॥

जाना हुआ, जाना जाने के योग्य और न जाना हुआ—ये तीन कोटियाँ हैं। जो जाना जा चुका वह वाणी का रूप है, वाणी ही जाना जानेवाली है। वाणी इस रूप से मनुष्य की रक्षा करती है ॥१५॥

जो जानने के योग्य है वह मन का रूप है। मन ही जानने के योग्य है। मन ही इस रूप से मनुष्य की रक्षा करता है ॥१६॥

जो जाना हुआ नहीं, वही प्राण का रूप है। प्राण ही न जाना हुआ है। इसी रूप से वह मनुष्य की रक्षा करता है ॥१७॥

इस वाणी का पृथिवी शरीर है। यह अग्नि उसका प्रकाशक रूप है। जितनी वाणी है उतनी पृथिवी, उतना अग्नि ॥१८॥

इस मन का द्यौ शरीर है। वह आदित्य उसका प्रकाशक रूप है। जितना मन है उतना यह द्यौलोक, उतना आदित्य। वे दोनों प्रेम से मिले। उनसे प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है, उसका कोई बराबर का नहीं। उसका कोई बराबर का या मुकाबिला करनेवाला नहीं होता जो इस

य एवं वेद ॥१९॥ अथैतस्य प्राणस्यापः । शरीरं ज्योती रूपमसौ चन्द्रस्तद्यावा-
नेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः ॥२०॥ तऽएते सर्वऽएव समाः । सर्वे
ऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्ता-
नुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति ॥२१॥ स एष संवत्सरः । प्रजापतिः षोडशक-
लस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च
पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राण-
भृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि
कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥२२॥ यो वै स संवत्सरः । प्रजाप-
तिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आ-
त्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमा-
त्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयतऽआत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादि-
त्याहुः ॥२३॥ अथ त्रयो वाव लोकाः । मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति
सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया
देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति ॥२४॥ अथातः
सम्प्रत्तिः । यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः
प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति ॥२५॥ यद्वै किं चानूक्तम् । तस्य सर्व-
स्य ब्रह्मेत्येकता ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लो-
कास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वाऽइदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितो भु-
नजदिति तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लो-
कात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाकृतं भवति
तस्मादेनꣳ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिंल्लोके प्रतिति-
ष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥२६॥ पृथिव्यै चैनमग्नेश्च । दैवी

रहस्य को समझता है। (अर्थात् वह अद्वितीय हो जाता है) ।।१९।।

इस प्राण का शरीर जल है, चन्द्र इसका प्रकाशक रूप है। जितना प्राण है उतना जल है, उतना चन्द्र है ।।२०।।

ये सब समान हैं। सब अनन्त हैं। जो इनको अन्तवाला समझता है, वह अन्तवाले लोक को जीत लेता है। जो इनको अनन्त समझता है वह अनन्त लोक को जीत लेता है ।।२१।।

यह प्रजापति संवत्सर सोलह कलावाला है। रातें उसकी पन्द्रह कलाएँ हैं। उसकी सोलहवीं कला ध्रुवा (अपरिवर्तनशील) है। वह रातों द्वारा पूर्ण होता है और रातों द्वारा ही क्षीण होता है। वह अमावस्या की रात को इस सोलहवीं कला के द्वारा सब प्राणियों में प्रवेश करके दूसरे दिन प्रातःकाल उत्पन्न होता है। इसलिए इस रात को किसी प्राणी के प्राण को नष्ट न करे, गिरगिट तक का भी नहीं। इस देवता की अपचिति के लिए इतना कहा गया ।।२२।।

यह जो संवत्सर प्रजापति है वह सोलह कलावाला है। जो इस प्रकार के पुरुष को जानता है उसकी पन्द्रह कलाएँ धन हैं और आत्मा उसकी सोलहवीं कला है। वह धन से ही बढ़ता है और घटता है। यह प्रसिद्ध है कि आत्मा कीली है और धन परिधि है। इसलिए जब मनुष्य का सब-कुछ चला जाता है, केवल आत्मा द्वारा ही जीता है तो लोग कहते हैं कि इसकी परिधि चली गई ।।२३।।

कहा गया कि तीन लोक हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक। यह मनुष्यलोक पुत्रों के द्वारा ही जीतने योग्य है, अन्य कर्म से नहीं। कर्म से पितृलोक, विद्या से देवलोक (लोकों में सबसे श्रेष्ठ लोक है), इसीलिए विद्या की सबसे अधिक प्रतिष्ठा होती है ।।२४।।

अब सम्प्रति (giving over of the charge) या सौंपना। जब मनुष्य समझता है कि मैं मरने के निकट हूँ तो वह पुत्र से कहता है कि, 'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।' वह पुत्र उत्तर देता है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ' ।।२५।।

जो कुछ पढ़ा जाता है उस सबकी एकता ब्रह्म है। जो कुछ यज्ञ है उस सबकी एकता यज्ञ है। जो कोई लोक हैं उन सबकी एकता लोक है। इतना ही सब-कुछ है। यह सब-कुछ मेरी रक्षा करता है। इसलिए शिक्षित पुत्र को कहते हैं लोक्य। इसीलिए पुत्र को शिक्षा देते हैं। जब इस रहस्य को समझनेवाला इस लोक से जाता है तो इन प्राणों के साथ पुत्र में प्रविष्ट हो जाता है। यह यदि इस काम के करने में चूक जाता है तो उस पाप से उसका पुत्र उसको छुड़ा देता है। इसीलिए इसका नाम पुत्र है। पुत्र से ही वह इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। तब उसमें ये दैवी अमर प्राण प्रवेश होते हैं ।।२६।।

दैवी वाणी पृथिवी और अग्नि से उसमें प्रविष्ट होती है।

वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥२७॥ दिवश्चैन-
मादित्याच्च । दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शो-
चति ॥२८॥ अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च । दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः
संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एष एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा
भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ
सर्वाणि भूतान्यवन्ति यदु किं चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं
गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥२९॥ अथातो व्रतमीमाꣳसा । प्रजापतिर्ह
कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योऽन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्र-
क्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म ॥३०॥
तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे । तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव
वाक्श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः ॥३१॥
तानि ज्ञातुं दध्रिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रि-
ष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपं भवामेति तऽएतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेतऽएते-
नाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाख्यायते यस्मिन्कुले भवति य एवं
वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्य हैवान्ततो म्रियतऽइत्यध्यात्मम् ॥३२॥ अथा-
धिदेवतम् । ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमि-
ति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादेवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमे-
तासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता य-
द्वायुः ॥३३॥ अथैष श्लोको भवति । यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्रा-
णाद्वाऽएष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मꣳ स एवाद्य स उ श्व इति
यद्वाऽएतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवा-
पान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनोऽएतस्यै

वह वाणी दैवी है। इससे जो कुछ बोलता है वही हो जाता है ॥२७॥

दैवी मन इसमें द्यौ और आदित्य से आता है। यह मन दैवी है। इससे वह आनन्दी होता है। सोच नहीं करता ॥२८॥

दैवी प्राण इसमें जलों से तथा चन्द्रमा से प्रविष्ट होते हैं। यह दैवी प्राण ही है जो चलते हुए या न चलते हुए व्यथा को नहीं प्राप्त होता, जिसका क्षय नहीं होता। जो इस रहस्य को समझता है वह सब भूतों का आत्मा हो जाता है। जैसा वह देवता, वैसा यह। जैसे सब प्राणी उस देव की रक्षा करते हैं, वैसे इस रहस्य को जाननेवाले की भी सब प्राणी रक्षा करते हैं। जो कुछ दुःख इन सन्तानों को होता है वह उन्हीं को होता है। उसको केवल पुण्य ही होता है। पाप देवों को तो कभी छू नहीं सकता ॥२९॥

अब व्रत की मीमांसा करेंगे। प्रजापति ने कर्मों को बनाया। जब वे बन गये तो एक-दूसरे की स्पर्धा करने लगे। 'मैं बोलूँगी' ऐसा कहकर वाणी; 'देखूंगी' ऐसा कहकर आँख; 'सुनूंगा' ऐसा कहकर कान। इसी प्रकार अन्य कर्म भी ॥३०॥

मृत्यु थकावट के रूप में उनके पास गया। इनको अपने वश में कर लिया। उनको अपना करके बाँध लिया। इसलिए वाणी थक जाती है, आँख थक जाती है, कान थक जाता है। जिसको नहीं पकड़ा वह था यह मध्यम प्राण ॥३१॥

इन्होंने इसको समझने का निश्चय किया। यही हम सबमें श्रेष्ठ है जो चलता हुआ या न चलता हुआ व्यथित नहीं होता, न क्षीण होता है। हम सब उसी जैसे हो जायें। ये सब उस जैसे हो गये। इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। जो इस रहस्य को समझता है, उसी के नाम पर उस कुल का नाम पड़ता है, जिस कुल में वह उत्पन्न होता है। ऐसा ज्ञान रखनेवाले से जो (स्पर्धा) करता है वह सूख-सूखकर मर जाता है। यह हुआ अध्यात्म ॥३२॥

अब अधिदैवत लीजिए। अग्नि ने कहा, 'मैं जलूंगी।' आदित्य ने कहा, 'मैं तपूंगा।' चन्द्रमा ने कहा, 'मैं चमकूंगा।' इसी प्रकार अन्य देवताओं ने अपने स्वाभावानुसार (कहा)। जैसे इन प्राणों में मध्यम प्राण सबसे उत्तम था, इसी प्रकार इन देवों में वायु है। अन्य देवता अस्त हो जाते हैं, वायु अस्त नहीं होता। यह वायु वस्तुतः कभी अस्त नहीं होता ॥३३॥

यह श्लोक है "जहाँ से सूर्य निकलता है, वहीं अस्त होता है।" प्राण से ही यह उदय होता है, प्राण में ही अस्त होता है। देवों ने इसको अपना धर्म नियत किया। यही आज भी है और कल भी रहेगा। जो उन्होंने पहले किया वह अब भी करते हैं। इसलिए एक ही व्रत का अवलम्बन करे। प्राण को खींचे और निकाले। इसलिए कि यह पापी मौत मुझे न आ जाय। यदि कोई इसका आचरण करे तो उसे इसको पूरा भी करना चाहिए। जो इस रहस्य को समझता है वह

देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥३४॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [४. ३.] ॥ ॥

त्रयं वाऽइदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥१॥ अथ रूपाणाम् । चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥ अथ कर्मणाम् । आत्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयꣳ सदेकमयमात्मात्मोऽएकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतꣳ सत्येन छन्नं प्राणो वाऽअमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ [४. ४.] ॥ तृतीयः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०१ ॥ ॥ चतुर्थोऽध्यायः [१५.] ॥ ॥

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥२॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥३॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायं विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदि-

इस देवता के सायुज्य तथा सलोकता को प्राप्त कर लेता है ।।३४।।

नामरूपकर्मात्मत्वेनोपसंहारः

अध्याय ४—ब्राह्मण ४

यह संसार तीन चीजों का समूह है—नाम, रूप और कर्म । नाम वाणी है । यही इनकी नींव है, क्योंकि इसी से सब नाम निकलते हैं । यह (वाणी) ही इनका साम (साम्य) है, क्योंकि सब नाम वाणी ही तो हैं । यह इनका ब्रह्म (Great Principle) है । यह सब नामों को धारण करती है ।।१।।

अब रूपों के विषय में । रूप आँख के विषय हैं, क्योंकि आँख से ही सब रूप उठते हैं । यही इनका साम (साम्य) है । यह सब रूपों में समान हैं । यही इनका ब्रह्म है । यही सब रूपों को धारण करती है ।।२।।

अब कर्मों के विषय में । आत्मा ही इनकी नींव है । आत्मा से ही कर्म उठते हैं । यही इनका साम है । यह सब कर्मों में समान है । यही इनका ब्रह्म है । यह सब कर्मों को धारण करता है । ये तीन होते हुए भी एक आत्मा हैं । आत्मा एक होता हुआ भी यह तीन है । यह अमृत सत्य से आच्छादित है । प्राण अमृत है, नाम-रूप सत्य हैं । उन्हीं से यह प्राण आच्छादित है ।।३।।

गार्ग्यं पूर्वपक्षिणमजातशत्रुं सिद्धान्तिनं चोपस्थाप्य आख्यायिकाप्रदर्शनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण १

एक अभिमानी, बलाका का पुत्र गार्ग्य नामी विद्वान् था । उसने काशी के अजातशत्रु से कहा, 'मैं तुमको ब्रह्म का उदेश करूँ ।' अजातशत्रु ने कहा, 'मैं इसके लिए तुझे हजार गायें दूंगा ।' 'जनक, जनक ।' इस प्रसिद्ध नाम को सुनकर लोग दौड़ते हैं ।।१।।

उस गार्ग्य ने कहा कि यह जो आदित्य में पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म मानता हूँ । अजातशत्रु ने उत्तर दिया, 'ऐसी अभिमान की बात मत कहो ! वह सब भूतों का शिरोमणि राजा है, इतना मैं उसको मानता हूँ । जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब भूतों का शिरोमणि राजा होता है' ।।२।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो चाँद में पुरुष है उसको मैं ब्रह्म मानता हूँ ।' उसने कहा, 'ऐसी अभिमान की बात मत करो ! मैं उसको बड़ा, पीले वस्त्रवाला, सोम और राजा मानता हूँ (चाँद पाण्डुरवर्ण होता है) । जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है, उनके लिए दिन-प्रतिदिन सोम निकाला जाता है । उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता' ।।३।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो बिजली में पुरुष है, उसी को मैं ब्रह्म मानता हूँ ।' अजातशत्रु ने कहा—'ऐसा अभिमान मत कर !'

ह्वास्तेजस्वीति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥४॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥५॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥६॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा ऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥७॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा ऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वांस्ताननतिरोचते ॥९॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥१०॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा असुरिति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिंलो-

अजातशत्रु ने बताया—'मैं उसको तेजस्वी करके मानता हूँ। जो उसकी उपासना करता है तेजस्वी हो जाता है। उसकी सन्तान भी तेजस्वी हो जाती' है ।।४।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो आकाश में पुरुष है उसको मैं ब्रह्म मानता हूँ।' अजातशत्रु ने उत्तर दिया, 'ऐसा अभिमान मत करो ! वह पूर्ण और निश्चल है, ऐसा मैं उसको मानता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह सन्तान और पशुओं से भरपूर हो जाता है। उसकी सन्तान संसार से कभी अलग नहीं होती' ।।५।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो वायु में पुरुष है, उसको मैं ब्रह्म समझता हूँ।' अजातशत्रु ने कहा, 'ऐसा अभिमान मत करो ! मैं उसको ऐसा मानता हूँ कि वह इन्द्र है, उसकी शक्ति बहुत है, उसकी सेना पराजित नहीं हो सकती। जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है वह अपराजित हो जाता है, उसको कोई शत्रु जीत नहीं सकता। वह अपने सौतेले भाइयों पर विजय पाता है' ।।६।।

गार्ग्य ने कहा, 'यह जो अग्नि में पुरुष है उसको मैं ब्रह्म समझता हूँ।' अजातशत्रु बोला, 'ऐसा अभिमान मत करो ! वह घातक है, मैं उसको ऐसा मानता हूँ। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है वह घातक हो जाता है और उसकी प्रजा भी घातक हो जाती है' ।।७।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो जलों में पुरुष है उसको मैं ब्रह्म मानता हूँ।' अजातशत्रु ने उत्तर दिया, 'ऐसा अभिमान मत कर ! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि यह वही प्रतिरूप है। जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है वह उसको प्रतिरूप के रूप में पाता है, अप्रतिरूप के में नहीं। उससे उसका ही प्रतिरूप (पुत्र) उत्पन्न होता है' ।।८।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो दर्पण में पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म मानता हूँ।' अजातशत्रु ने उत्तर दिया, 'ऐसा अभिमान मत कर ! मैं उसको केवल चमक मात्र मानता हूँ। जो उसकी इस प्रकार उपासना करना है वह चमकदार हो जाता है और उसका पुत्र भी चमकदार हो जाता है। उसका जिस किसी से साक्षात्कार होता है, वह उन सबकी चमक को जीत लेता है' ।।९।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो दिशाओं में पुरुष है उसको मैं ब्रह्म जानता हूँ।' अजातशत्रु ने कहा, 'ऐसा अभिमान मत कर ! मैं उसे ऐसा मानता हूँ कि वह द्वितीय और अनपग (अलग न हो सकनेवाला) है। जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह द्वितीयवान् हो जाता है, उसके साथी उसे कभी नहीं छोड़ते' ।।१०।।

गार्ग्य बोला, 'मैं उसको ब्रह्म मानता हूँ जिसके चलते हुए पीछे से शब्द होता है।' अजातशत्रु ने कहा, 'ऐसा अभिमान मत करो ! उसी में प्राण स्थित है—मैं ऐसा मानता हूँ। जो उसको इस प्रकार से मानता है, उसी की इस संसार में पूर्ण आयु होती है, वह नियत

कऽआयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥११॥ स होवाच गार्ग्यो । य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा मृत्युरिति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्ते सर्वᳪ हैवास्मिंलोकऽआयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥ स होवाच गार्ग्यो । यश्चायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासऽइति स होवाचाजातशत्रुर्मा-मैतस्मिन्त्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वाऽअहमेतमुपासऽइति स य एतमेवमुपास्तऽआत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥१३॥ स होवाचाजातशत्रुः । एतावन्नूऽइत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वायानीति ॥१४॥ स होवाचाजातशत्रुः । प्रतिलोमं वै तद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषᳪ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयां चक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयां चकार स होत्तस्थौ ॥१५॥ स होवाचाजातशत्रुः । यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥ स होवाचाजातशत्रुः । यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदयऽआकाशस्तस्मिञ्छेते ॥१७॥ ॥ शतम् ७२०० ॥ ॥ तानि यदा गृह्णाति । अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतᳪ श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१८॥ स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति । ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति ॥१९॥ स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥२०॥ अथ यदा सुषुप्तो भवति । यदा न कस्य चन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि

काल से पहले प्राण नहीं त्यागता' ।।११।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो छायामय पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म मानता हूँ ।' अजातशत्रु ने कहा, 'ऐसा अभिमान मत करो ! यह मृत्यु है, मैं उसको ऐसा मानता हूँ । जो ऐसा मानता है उसकी इस लोक में पूरी आयु होती है । नियत समय से पहले उसकी मृत्यु नहीं आती' ।।१२।।

गार्ग्य बोला, 'यह जो आत्मा में पुरुष है इसी को मैं ब्रह्म मानता हूँ ।' अजातशत्रु ने कहा, 'ऐसा अभिमान मत करो ! जो आत्मावाला है, उसी को मैं उपास्य मानता हूँ । जो उसको ऐसा मानता है वह आत्मावाला होता है और उसकी सन्तान आत्मन्विनी होती है ।' गार्ग्य यह सुनकर चुप हो गया ।।१३।।

अजातशत्रु ने पूछा, 'क्या ब्रह्म इतना ही है ?' गार्ग्य ने कहा, 'इतना ही ।' अजातशत्रु ने कहा, 'इतने से तो ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ।' गार्ग्य ने कहा, 'आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए' ।।१४।।

अजातशत्रु ने कहा, 'यह तो उल्टी बात होगी कि ब्राह्मण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए क्षत्रिय का शिष्य हो जाए । मैं तुझको उसके विषय में बताऊँगा ।' यह कहकर वह उसका हाथ पकड़कर खड़ा हो गया । वे दोनों एक सोते हुए मनुष्य के पास गये । उन्होंने उसको नाम से पुकारा, 'महान्, श्वेतवस्त्रधारी, सोम, राजन् !' वह न उठा । उसको जब हाथ से झटक के उठाया तो उठ बैठा ।।१५।।

अजातशत्रु बोला, 'जब यह पुरुष सोता था तो इसका विज्ञानमय पुरुष कहाँ गया था ? यहाँ कहाँ से आया ?' गार्ग्य से उत्तर न बन पाया ।।१६।।

अजातशत्रु ने कहा, 'जब वह सोया हुआ था तो यह जो विज्ञानमय पुरुष है वह इन प्राणों के विज्ञान द्वारा विज्ञान को लेकर हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें सोता था' ।।१७।।

'जब यह इस विज्ञान को ग्रहण कर लेता है तब यह पुरुष सोता है, तब प्राण खींच लिया जाता है, वाणी खींच ली जाती है, आँख खींच ली जाती है, कान खींच लिये जाते हैं और मन भी' ।।१८।।

'जब यह स्वप्न देखता है तो जो इसके लोक हैं, उनका महाराज हो जाता है और महान् ब्राह्मण के तुल्य ऊँचा ही होता जाता है' ।।१९।।

'जैसे कोई बड़ा राजा अपने आदमियों को इकट्ठा करके अपने राज्य में स्वच्छन्द विचरता है, इसी प्रकार यह भी अपने प्राणों को लेकर इस लोक में स्वच्छन्द विचरता है' ।।२०।।

'जब सुषुप्ति को प्राप्त होता है तब किसी को नहीं जानता । बहत्तर हज़ार (७२०००)

हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते ॥२१॥ स यथा कुमारो वा महाब्राह्मणो वा । ऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥२२॥ स यथोर्णवाभिस्तन्तुनोच्चरेत् । यथाग्नेः क्षुद्रा विष्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वऽएत ऽआत्मानो व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२३॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [५. १.] ॥ ॥

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि ॥१॥ अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः । तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते ॥२॥ तद्या इमा अक्षँल्लोहिन्यो राजयः । ताभिरेनꣳ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यच्छुक्लं तेनाग्निर्यत्कृष्णं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥३॥ तदेष श्लोको भवति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासतऽऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति ॥४॥ अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इति । इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो निहितं विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासतऽऋषयः सप्त तीरऽइति प्राणा वाऽऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥५॥ इमावेव गोतमभरद्वाजौ । अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नीऽअयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥२ [५. २.] ॥ ॥

हिता नामी नाड़ियाँ हृदय से चलकर शरीर के अन्य भागों तक पहुँचती हैं। उनके साथ लौटकर वह अपने शरीर में सोता है' ॥२१॥

'जैसे कोई कुमार या महाराज या महान् ब्राह्मण अति आनन्द से सोता है, ऐसे ही वह भी सोता है' ॥२२॥

'जैसे मकड़ी जाला निकाले, जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिंगारियाँ निकलें, इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण, सब लोक, सब इन्द्रियाँ(देव), सब भूत आदि निकलते हैं। उनका निकटस्थ वर्णन यह है कि वह आत्मा सत्य का भी सत्य है। प्राण सत्य हैं। उनका भी सत्य यह है' ॥२३॥

प्राणोपनिषदो व्याख्यानम्

अध्याय ५—ब्राह्मण २

जो आधान, प्रत्याधान, स्थूण तथा दाम के सहित शिशु को समझता है, वह सात शत्रुओं का नाश कर देता है ॥१॥

मध्यम प्राण को शिशु कहते हैं। यह शरीर उसका आधान है। यह सात द्वारवाला मुख उसका प्रत्याधान है। प्राण स्थूण (खूँटा) है। अन्न उसका दाम (बाँधने की रस्सी) है। इसकी उपासना सात अक्षितियाँ (नाश न करनेवाली शक्तियाँ) करती हैं ॥२॥

ये जो आँख में लाल रेखाएँ हैं उनसे इसकी रुद्र उपासना करता है, यह जो आँख में जल हैं उनसे पर्जन्य, जो पुतली है उससे आदित्य, जो आँख की सफेदी है उससे अग्नि, जो कालापन है उससे इन्द्र, नीचे के पलक से पृथिवी, ऊपर के पलक से द्यौ। जो इस रहस्य को समझता है उसका अन्न क्षीण नहीं होता ॥३॥

यह श्लोक है—एक चमचा है जिसका मुँह नीचे को है और जिसका पैर ऊपर को है, उसमें अनेक प्रकार के यश हैं। उसके तट पर सात ऋषि हैं। आठवीं वाणी है जो ब्रह्म से सम्पर्क कराती है ॥४॥

ऐसा चमचा जिसका मुँह नीचे को और पैर ऊपर को हैं, सिर है, क्योंकि यह एक चमचे के समान है, जिसका मुँह नीचे को और तला ऊपर को है। उसमें विश्वरूप यश रक्खा है। इसका अर्थ है कि प्राण ही यश हैं। ये उसमें रक्खे हुए हैं। यह जो कहा कि उसके किनारे सात ऋषि हैं। प्राण ही ऋषि हैं। यह प्राण के विषय में ही कहा है। आठवीं वाणी है और ब्रह्म से इसका सम्पर्क है। इसका अर्थ यह है कि वाणी (विद्या) के द्वारा ही ब्रह्म से सम्पर्क होता है ॥५॥

ये कान ही गोतम और भरद्वाज हैं। यह एक कान गोतम है और दूसरा भरद्वाज। ये नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। यह आँख विश्वामित्र है, वह आँख जमदग्नि। ये नाक के दो नथने वसिष्ठ और कश्यप हैं। यह एक वसिष्ठ है दूसरा कश्यप। वाणी अत्रि है। वाणी से ही खाया जाता है; 'अत्ति' का 'अत्रिः' हो गया है, यह सबका खानेवाला है। जो इस रहस्य को समझता है उसके अन्न का क्षय नहीं होता ॥६॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे । मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यं च ॥१॥ तदेतन्मूर्तम् । यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैत मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत् ॥२॥ तस्यैतस्य । मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥३॥ अथामूर्तम् । वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यम् ॥४॥ तस्यैतस्यामूर्तस्य । एतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदेवतम् ॥५॥ अथाध्यात्मम् । इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत् ॥६॥ तस्यैतस्य मूर्तस्य । एतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत ष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥७॥ अथामूर्तम् । प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यम् ॥८॥ तस्यैतस्यामूर्तस्य । एतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥९॥ तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तँ सकृद्विद्युत्तेव ह वाऽअस्य श्रीर्भवति य एवं वेद ॥१०॥ अथात आदेशो । नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयँ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥११॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [५. ३.] ॥ ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः । उद्यास्यन्वाऽअरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥१॥ सा होवाच मैत्रेयी । यन्मऽइयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितँ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥२॥ सा होवाच मैत्रेयी । येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः । प्रिया वतारे नः सती प्रियं भाषसऽएह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यास-

ब्रह्मणो मूर्तामूर्तयोरध्यात्माधिदैवतयोर्विभागप्रदर्शनम्

अध्याय ५—ब्राह्मण ३

ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, एक अचर और दूसरा चलनेवाला, एक सत् और दूसरा त्यत् ।।१।।

जो आकाश और वायु से इतर है वह मूर्त है । यह मर्त्य है, अचर है और सत् है ।।२।।

इस मूर्त्त, मर्त्य, स्थित तथा सत् का यह रस है जो तपता है (सूर्य) । यह सत् का ही रस है ।।३।।

वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त है । यह अमृत है, यत् अर्थात् चर है तथा त्यत् है ।।४।।

इस अमूर्त, अमृत, यत् तथा त्यत् का यह रस है जो इस मंडल में पुरुष है। यह त्यत् का ही रस है । यह हुआ आधिदैवत ।।५।।

अब अध्यात्म सुनिए । जो प्राण तथा अन्तरात्मा आकाश से इतर है वह मूर्त्त है। यह मर्त्य है, अचर है और सत् है ।।६।।

इस मूर्त्त, मर्त्य, अचर, या सत् का रस यह चक्षु है । यह सत् का ही रस है ।।७।।

यह जो प्राण तथा अन्तरात्मा आकाश है वही अमूर्त है, यह अमृत है, यत् है, त्यत् है ।।८।।

इस अमूर्त्त, अमृत, यत् तथा त्यत् का यह रस है जो यह दाहिनी आँख में पुरुष है। उसी का यह रस है ।।९।।

इस पुरुष का रूप इस प्रकार का है—जैसे रंगा हुआ वस्त्र, जैसे पीली ऊन, जैसे बीरबधूटी का चिकना चमकीला रंग, जैसे अग्नि की चिंगारी, जैसे श्वेत कमल, जैसे एक क्षणभर चमकनेवाली बिजली । जो इस रहस्य को समझता है उसकी श्री उस समय चमकती है ।।१०।।

इसीलिए (ब्रह्म के विषय में) 'नेति-नेति' का आदेश है। इससे परे कोई नहीं है। यह सत्य का भी सत्य है । प्राण ही सत्य हैं । यह पुरुष उन प्राणों का तत्त्वरूप है ।।११।।

मैत्रेयी-याज्ञवल्क्यसंवादः (१)

अध्याय ५—ब्राह्मण ४

याज्ञवल्क्य बोला, 'हे मैत्रेयी ! मैं यहाँ से जानेवाला (संन्यासी होनेवाला) हूँ। इसलिए कात्यायनी के साथ तेरा बाँट कर दूँ' ।।१।।

वह मैत्रेयी बोली, 'हे भगवन् ! यदि यह समस्त पृथिवी धन से पूर्ण हो जाय तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'नहीं । धनवालों का-सा तेरा भी जीवन हो जायगा । परन्तु धन से अमरत्व की तो आशा नहीं है' ।।२।।

मैत्रेयी बोली, 'जिससे अमर नहीं होने की, उसका मैं क्या करूँगी ? आप जो जानते हो, मुझे बताइये' ।।३।।

याज्ञवल्क्य बोला, 'पहले भी हमारी प्रिया थी । अब भी प्रिय बोलती है । जो मैं कहूँ उस-

स्वेति ब्रवीतु भगवानिति ॥४॥ स होवाच याज्ञवल्क्यो । न वाऽअरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वाऽअरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वाऽअरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वाऽअरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वाऽअरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वाऽअरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्ममस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वाऽअरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वाऽअरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु-कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वाऽअरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वाऽअरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वाऽअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वाऽअरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद७ सर्वं विदितम् ॥५॥ ब्रह्म तं परादात् । यो न्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्यो ऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीद७ सर्वं यदयमात्मा ॥६॥ स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य । न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो भवति गृहीतः ॥७॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै । न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥ स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य । न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः

पर मनन कर ! आ बैठ, तुझको उपदेश दूंगा' ।।४।।

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'पति के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने लिए पति प्रिय होता है। पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने लिए पत्नी प्रिय होती है। पुत्रों के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने लिए पुत्र प्रिय होते हैं। धन के लिए धन प्रिय नहीं होता, अपने लिए धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने लिए ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने लिए क्षत्रिय प्रिय होता है।

लोकों के लिए लोक प्रिय नहीं होते, अपने लिए लोक प्रिय होते हैं। देवों के लिए देव प्रिय नहीं होते, अपने लिए देव प्रिय होते हैं। भूतों के लिए भूत प्रिय नहीं होते, अपने लिए भूत प्रिय होते हैं। सबके लिए सब प्रिय नहीं होता; अपने लिए सब प्रिय होता है। इसलिए आत्मा ही देखने, सुनने, मानने और विचारने योग्य है। हे मैत्रेयी ! आत्मा के ही देखने, सुनने तथा विचारने से सब-कुछ स्पष्ट हो जाता है ।।५।।

ब्राह्मण उसको त्याग दे जो आत्मा से अलग ब्राह्मणत्व को जानता है। क्षत्रिय उसको त्याग दे जो आत्मा से अलग क्षत्रियत्व को जानता है। लोक उसको त्याग देवें जो लोकों से अलग अपने को जानता है। देव उसको त्याग देवें जो देवों से अलग आत्मा को जानता है। भूत उसको त्याग देवें जो भूतों से अलग आत्मा को जानता है। सब उसको त्याग देवें जो सबको आत्मा से अलग समझता है। यह सब ही ब्रह्म है, क्षत्र है, लोक हैं, देव हैं, भूत हैं, यही सब-कुछ है ।।६।।

जैसे किसी दुन्दुभि से आवाज निकल रही हो तो वह आवाज निकलती हुई दिखाई नहीं पड़ती, परन्तु दुन्दुभि ले लेने पर बजती हुई दुंदुभि की आवाज प्रतीत होती है ।।७।।

जब वीणा बजाते हैं तो वीणा से निकलते हुए शब्द नहीं दिखाई देते, परन्तु वीणा लेने से वीणा के शब्द सुनाई पड़ते हैं ।।८।।

जैसे शंख बजाने पर शंख से निकलते हुए शब्द नहीं दिखाई देते, परन्तु शंख के लेने पर शब्दों को सुन सकते हैं ।।९।।

॥९॥ स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य । पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वाऽअरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥१०॥ स यथा सर्वासामपाᳪ समुद्र एकायनम् । एवᳪ सर्वेषाᳪ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवᳪ सर्वेषां गन्धानां नासिकेऽएकायनमेवᳪ सर्वेषाᳪ रसानां जिह्वैकायनमेवᳪ सर्वेषाᳪ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवᳪ सर्वेषाᳪ शब्दानाᳪ श्रोत्रमेकायनमेवᳪ सर्वेषाᳪ संकल्पानां मन एकायनमेवᳪ सर्वेषां वेदानाᳪ हृदयमेकायनमेवᳪ सर्वेषां कर्मणाᳪ हस्तावेकायनमेवᳪ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवᳪ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवᳪ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवᳪ सर्वासां विद्यानां वागेकायनᳪ ॥११॥ स यथा सैन्धवखिल्यः । उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नाहास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो-यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वाऽअर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥ सा होवाच मैत्रेयी । अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति ॥१३॥ स होवाच याज्ञवल्क्यो । न वाऽअरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वाऽअरऽइदं विज्ञानाय ॥१४॥ यत्र हि द्वैतमिव भवति । तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरᳪ शृणोति तदितर इतर मनुते तदितर इतरं विजानाति ॥१५॥ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् । तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कᳪ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदᳪ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१६॥ ब्राह्मणम् ॥४ [५. ४.] ॥ ॥

इयं पृथिवी । सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायम-

जैसे अग्नि पर गीली लकड़ी रखने से अलग-अलग धुआँ उठेगा, इसी प्रकार उस महान् सत्ता से निकले हुए हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्यान, व्याख्यान, इसी से ये सब निःश्वसित हैं ॥१०॥

जैसे सब जलों का समुद्र घर है, जैसे सब स्पर्शों का त्वचा, सब गंधों का नासिका, सब रसों का जीभ, सब रूपों का चक्षु, सब शब्दों का कान, सब संकल्पों का मन, सब वेदों का हृदय, सब कर्मों का हाथ, सब यात्राओं का पैर, सब आनन्दों का उपस्थ, सब मलों का पायु, सब विद्याओं का वाक् एक घर है (उसी प्रकार आत्मा सबका घर है) ॥११॥

जैसे नमक के टुकड़े को जल में छोड़ने से वह जल में घुल जाता है और जहाँ से जल लो, नमक का स्वाद मिलता है, इसी प्रकार यह महान् सत्ता, अनन्त, अपार, विज्ञान-घन, इन्हीं भूतों से निकलकर इन्हीं में लुप्त हो जाते हैं। मरने पर कोई संज्ञा नहीं रहती। ऐसा मानता हूँ।' यह याज्ञवल्क्य ने कहा ॥१२॥

मैत्रेयी बोली,'भगवन्, यह कहकर कि मरने पर कोई संज्ञा नहीं रहती, आपने मुझे घबरा दिया' ॥१३॥

याज्ञवल्क्य बोला, 'देख। मैं तुम्हें घबराता नहीं, विज्ञान के लिए इतना पर्याप्त है' ॥१४॥

'जहाँ दुई होती है, वहाँ अन्य-अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य के विषय में बोलता है, अन्य-अन्य को सुनता है, अन्य-अन्य का मनन करता है, अन्य-अन्य को जानता है' ॥१५॥

'परन्तु जहाँ इस सबका एक आत्मा हो तो किसको किससे देखे, किसको किससे सूँघे, किसको किससे कहे, किसको किससे सुने, किसका किससे मनन करे, किसको किससे जाने, जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने, जाननेवाले को किससे जाने? ॥१६॥

मधु—ब्राह्मणमाचार्यपरम्पराक्रमरूपवंशकथनञ्च

अध्याय ५—ब्राह्मण ५

यह पृथिवी सब भूतों का मधु है। इस पृथिवी के लिए सब भूत मधु हैं। और जो इस

स्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१॥ इमा आपः । सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयोऽमृत° ॥२॥ अयमग्निः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृत° ॥३॥ अयमाकाशः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृत° ॥४॥ अयं वायुः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृत° ॥५॥ अयमादित्यः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृत° ॥६॥ अयं चन्द्रः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृत° ॥७॥ इमा दिशः । सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृत° ॥८॥ इयं विद्युत् । सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृत° ॥९॥ अयꣳ स्तनयित्नुः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳस्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृत° ॥१०॥ अयं धर्मः । सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृत° ॥११॥ इदꣳ सत्यꣳ । सर्वेषां भूतानां

पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और यह जो शरीर में आत्मा-सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह सब आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है। यह सब-कुछ है ॥१॥

ये जल सब भूतों का मधु हैं। सब भूत इन जलों के लिए मधु हैं। यह जो इन जलों में तेजोमय अमृत पुरुष है, यह जो रेत में आत्मा-सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह सब······॥२॥

यह अग्नि सब भूतों का मधु है, और इस अग्नि का भूत मधु हैं। यह जो इस अग्नि में अमृतमय तेजोमय पुरुष है, यह जो वाणों से सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है यह सब······॥३॥

यह जो आकाश सब भूतों का मधु है और ये जो सब भूत इस आकाश के मधु हैं, यह जो इस आकाश में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो हृदयस्थ आकाश-सम्बन्धी आत्मा तेजोमय अमृत-मय पुरुष है, यह सब······॥४॥

यह वायु सब भूतों का मधु है। सब भूत इस वायु के मधु हैं। यह जो इस वायु में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो प्राण-सम्बन्धी आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह सब······॥५॥

यह आदित्य सब भूतों का मधु है। इस आदित्य के सब भूत मधु हैं। यह जो इस आदित्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो चक्षु-सम्बन्धी आत्मा अमृतमय तेजोमय पुरुष है, यह सब······॥६॥

यह चन्द्र सब भूतों का मधु है और ये सब भूत इस चन्द्र के मधु हैं। यह जो इस चन्द्र में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और यह जो मन-सम्बन्धी आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह सब······॥७॥

ये सब दिशाएँ सब भूतों का मधु हैं। इन दिशाओं के सब भूत मधु हैं। यह जो इन दिशाओं में अमृतमय तेजोमय पुरुष है और यह जो श्रोत्र-सम्बन्धी आत्मा अमृतमय पुरुष है यह सब······॥८॥

यह बिजली सब भूतों की मधु है और ये सब भूत इस बिजली के लिए मधु हैं। यह जो इस बिजली में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और यह जो तेज-सम्बन्धी आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है यह सब······॥९॥

यह गरज सब भूतों की मधु है और ये सब भूत इस गरज का मधु हैं। यह जो इस गरज में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो शब्द-सम्बन्धी आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है यह सब···॥१०॥

यह धर्म सब भूतों का मधु है और ये सब भूत इस धर्म के मधु हैं। यह जो इस धर्म में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो धर्म-सम्बन्धी तेजोमय और अमृतमय आत्मा पुरुष है, यह सब······॥११॥

यह सत्य सब भूतों का मधु है।

मधस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्त्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृत० ॥१२॥ इदं मानुषꣳ । सर्वेषां भूतानां मधस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृत० ॥१३॥ अयमात्मा । सर्वेषां भूतानां मधस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१४॥ स वाऽअयमात्मा । सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वऽएतऽआत्मानः समर्पिताः ॥१५॥ इदं वै तन्मधु । दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥१६॥ इदं वै तन्मधु । दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतम् स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्यं वामिति ॥१७॥ इदं वै तन्मधु । दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति स वाऽअयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किं चनानावृतं नैनेन किं चनासंवृतम् ॥१८॥ इदं वै तन्मधु । दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् रूपꣳरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥ अथ वꣳशः । तदिदं वयꣳ शौर्पणाय्याच्छौर्पणाय्यो गौतमाद्गौ-

ये सब भूत इस सत्य का मधु हैं। यह जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो सत्य-सम्बन्धी आत्मा अमृतमय पुरुष है, यह सब···॥१२॥

यह मानुष सब भूतों का मधु है, ये सब भूत इस मानुष का मधु हैं। यह जो इस मानुष में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह जो मानुष-सम्बन्धी आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह सब······॥१३॥

यह आत्मा सब भूतों का मधु है। इस आत्मा के सब भूत मधु हैं। यह जो इस आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और यह जो आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह वही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सब-कुछ है ॥१४॥

यह वह आत्मा है—सब भूतों का अधिपति, सब भूतों का राजा है। जैसे रथ की नाभि में, रथ की कीली में सब आरे लगे रहते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में सब प्राण, सब लोक, सब देव, सब भूत, ये सब उसी आत्मा में समर्पित हैं ॥१५॥

इसी मधु का अथर्वण के पुत्र दध्यङ् ने दोनों अश्विनों को उपदेश दिया। ऋषि ने इसको देखकर कहा, 'हे मनुष्यो, जैसे तन्यतु या पर्जन्य वृष्टि को बरसाता है, इसी प्रकार मैं तुम दोनों के इस उग्र कर्म को प्रकट करूँगा।' घोड़े के सिर द्वारा जिस मधु का अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने उपदेश दिया था वह यह है'—॥१६॥

अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने इस मधु का अश्विनों को उपदेश दिया था। इसको देखकर ऋषि ने कहा, 'हे अश्विनो, तुम दोनों ने घोड़े के सिर को दध्यङ् के सिर पर रख दिया। उसने तुम अश्विनों को प्रतिज्ञापालनार्थ त्वष्ट्रा के मधु (यज्ञ-ज्ञान ?) और गोपनीय मधु (ब्रह्म-ज्ञान) का उपदेश दिया' ॥१७॥

यह वही मधु है जिसका अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने दो अश्विनों को उपदेश दिया था। ऋषि ने इसको देखकर कहा, 'पहले विधाता ने दुपाये बनाये, फिर चौपाये। पक्षी होकर वह पुरुष में प्रविष्ट हो गया। इसको पुरुष कहते हैं, क्योंकि यह सब पुरों में शयन करता है। इससे कुछ छिपा नहीं है—इससे कुछ छिपा नहीं है' ॥१८॥

अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने इसी मधु का अश्विनों को उपदेश दिया था। ऋषि ने इसको देखकर कहा, 'वह रूप-रूप होकर प्रतिरूप हो गया। इसलिए उसके रूप को स्पष्ट करने के लिए इन्द्र अपनी मायाओं अर्थात् प्रज्ञाओं द्वारा पुरु-रूप हो जाता है। इसकी एक सौ दश घोड़े के समान इन्द्रियाँ इसमें जुती हुई हैं। यही इन्द्रियाँ हैं। यही दस इन्द्रियाँ हैं। यही हजारों इन्द्रियाँ हैं। यही अनन्त इन्द्रियों का रूप है। यह ऐसा ब्रह्म है जिसका न पर है न अपर, जिसका न बाहर न भीतर। यह आत्मा ब्रह्म है। यह सबको देखता है। यही शास्त्र का मर्म है ॥१९॥

अब वंश-क्रम जो इस प्रकार है—हम हुए शौर्पणाय्य से, शौर्पणाय्य गौतम से,

तमो वात्स्याद्वात्स्यो वात्स्याच्च पाराशर्याच्च पाराशर्यः सांकृत्याच्च भारद्वाजाच्च भारद्वाज औद्वाहेश्च शाण्डिल्याच्च शाण्डिल्यो वैजवापाच्च गौतमाच्च गौतमो वैजवापायनाच्च वैष्टपुरेयाच्च वैष्टपुरेयः शाण्डिल्याच्च रौहिणायनाच्च रौहिणायनः शौनकाच्चात्रेयाच्च रैभ्याच्च रैभ्यः पौतिमाष्यायणाच्च कौण्डिन्यायनाच्च कौण्डिन्यायनः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः कौण्डिन्याच्चाग्निवेश्याच्च ॥२०॥ आग्निवेश्यः सैतवात् । सैतवः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजो वैजवापायनाद्वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिर्घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयात् ॥२१॥ आत्रेयो माण्टेः । माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिविप्रजित्तेर्विप्रजित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥५ [५. ५.] ॥ पञ्चमोऽध्यायः [१६.] ॥ ॥

जनको ह वैदेहो । बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेष

गौतम वात्स्य से, वात्स्य वात्स्य-पाराशर्य से, पाराशर्य सांकृत्य भारद्वाज से, भारद्वाज औदवाहि शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य वैजवाप गौतम से, गौतम वैजवापायन-वैष्टपुरेय से, वैष्टपुरेय शाण्डिल्य-रौहिणायन से, रौहिणायन शौनक-आत्रेय-रैभ्य से, रैभ्य पौतिमाष्यायण-कौण्डिन्यायन से, कौण्डि-न्यायन कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य कौण्डिन्य-अग्निवेश्य से ।।२०।।

अग्निवेश्य हुआ सैतव से, सैतव पाराशर्य से, पाराशर्य जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य भारद्वाज से, भारद्वाज हुआ भारद्वाज-आसुरायण-गौतम से, गौतम भारद्वाज से, भारद्वाज वैजवापायन से, वैज-वापायन कौशिकायनि से, कौशिकायनि घृतकौशिक से, घृतकौशिक पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण पाराशर्य से, पाराशर्य जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य भारद्वाज से, भारद्वाज हुआ भारद्वाज-आसुरायण-यास्क से, आसुरायण त्रैवणि से, त्रैवणि औपजन्धनि से, औपजन्धनि आसुरि से, आसुरि भारद्वाज से, भारद्वाज आत्रेय से ।।२१।।

आत्रेय माण्टि से, माण्टि गौतम से, गौतम गौतम से, गौतम वात्स्य से, वात्स्य शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य कैशोर्य काप्य से, कैशोर्य काप्य कुमारहारित से, कुमारहारित गालव से, गालव विदर्भी कौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव पथसौभर से, पन्थ सौभर अयास्य अंगिरस से, अयास्य अंगिरस आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र दो अश्विनों से, दो अश्विन दधीच आथर्वण से, दधीच आथर्वण दध्यङ् आथर्वण से, दध्यङ् आथर्वण हुआ अथर्वा दैव से, अथर्वा दैव मृत्यु प्राध्वंसन से, मृत्यु प्राध्वंसन हुआ प्राध्वंसन से, प्राध्वंसन एकर्षि से, एकर्षि विप्रजित्ति से, विप्रजित्ति व्यष्टि से, व्यष्टि सनारु से, सनारु सनातन से, सनातन सनग से, सनग परमेष्ठी से, परमेष्ठी ब्रह्म से, ब्रह्म स्वयम्भु है। उस ब्रह्म के लिए नमस्कार ।।२२।।

जनक-याज्ञवल्क्यसंवादः (१)

अध्याय ६—ब्राह्मण १

जनक वैदेह ने बहुत दक्षिणावाला यज्ञ किया।

वहाँ कुरुदेश तथा पांचाल देश के ब्राह्मण इकट्ठे हुए थे। उस जनक वैदेह को जिज्ञासा हुई कि— १

ब्राह्मणानामनूचानतम इति ॥१॥ स ह गवाᳩ सहस्रमवरुरोध । दश-दश पाद्रा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुस्तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥२॥ अथ ह याज्ञवल्क्यः । स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सौम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नु नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेति ॥३॥ अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव । स हैनं पप्रछ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयᳩ स्म इति तᳩ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥४॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदᳩ सर्वं मृत्युनाप्तᳩ सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यतऽइति होत्रऽर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता सा मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥५॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदᳩ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तᳩ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यतऽइत्यध्वर्युणाऽर्त्विजा चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः सा मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥६॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदᳩ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तᳩ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यतऽइति ब्रह्मणाऽर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा सा मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥७॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिवाथ केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमतऽइत्युद्गात्रऽर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता सा मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ सम्पदः ॥८॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । कतिभिरयमद्यऽर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ता-

इन ब्राह्मणों में सबसे अधिक वेदज्ञ कौन है ॥१॥

इस काम के लिए उसने हजार गायें बाँध दीं। इनमें से हर एक के सींग में दस-दस मुहरें (पाद—सोने का सिक्का) बँधी हुई थीं। उसने कहा, 'भगवान् ब्राह्मणो ! जो तुममें सबसे अधिक ब्रह्मज्ञ हो, वह इन गायों को खोल ले जावे।' ब्राह्मणों का साहस न हुआ ॥२॥

अब याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारियों से कहा, 'हे भद्र ब्रह्मचारियो, इन गायों को हाँक ले चलो।' उन्होंने कहा, 'हे साम के जाननेवाले भगवन् ! हम ऐसा ही करेंगे।' इसपर ब्राह्मणों को क्रोध आया कि यह हममें सबसे अधिक ब्रह्मनिष्ठ कैसे है ? ॥३॥

जनक वैदेह का होता था अश्वल। उसने उससे पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, क्या तू हम सबमें सबसे अधिक ब्रह्मनिष्ठ है ?' उसने उत्तर दिया,'हम ब्रह्मनिष्ठ को नमस्कार करते हैं। हम तो गायों के इच्छुक हैं।' होता अश्वल ने उससे पूछना आरम्भ कर दिया ॥४॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! यह सब मृत्यु से व्याप्त है, यह सब मृत्यु से युक्त है, फिर किस प्रकार यजमान मृत्यु के इस बन्धन से मुक्त होवे ?' उसने उत्तर दिया, 'होता ऋत्विक् से, अग्नि से अर्थात् वाक् से। वाक् ही होता है। वाक् ही यह अग्नि है। यह अग्नि होता है, होता की अग्नि ही मुक्ति है, यही अतिमुक्ति है' ॥५॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! यह सब दिन-रात से व्याप्त है, सब दिन-रात के बन्धन में है। यजमान इस दिन-रात के बन्धन से कैसे छूटे ?'उसने उत्तर दिया,'अध्वर्यु ऋत्विक् से, आदित्य-रूप आँख से; अध्वर्यु यज्ञ की आँख है। यह जो चक्षु है वह आदित्य है, वही अध्वर्यु है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है' ॥६॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! यह सब पूर्वपक्ष (शुक्ल पक्ष) और अपरपक्ष (कृष्ण पक्ष) से व्याप्त है। पूर्व पक्ष और अपरपक्ष से सभी युक्त है। किस प्रकार यजमान इस पूर्वपक्ष और अपर पक्ष के बन्धन से मुक्त हो सकता है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'ऋत्विज ब्रह्मा के द्वारा तथा मनरूपी चन्द्र के द्वारा। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है। यह जो मन है वही चन्द्र है, वही ब्रह्मा है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है' ॥७॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, यह अन्तरिक्ष तो किसी नींव पर नहीं है। फिर यजमान किस मार्ग से स्वर्ग को प्राप्त करे ?' उसने उत्तर दिया, 'उद्गाता ऋत्विज के द्वारा तथा वायु प्राण के द्वारा। प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है। यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, यही मुक्ति है, यही अतिमुक्ति है।' इतना हुआ मोक्ष के विषय में। अब सम्पत् अर्थात् उपायों के विषय में कहते हैं ॥८॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, कितनी ऋचाओं से होता इस यज्ञ में आहुतियाँ देगा ?' 'तीन से।' 'कौन तीन ?' 'पुरोऽनुवाक्या ऋचाएँ जो पहले पढ़ी जाती हैं, याज्या ऋचाएँ जिनसे आहुति दी जाती है और शस्या ऋचाएँ जिनसे स्तुति की जाती है।'

भिर्जयतीति पृथिविलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्यौर्लोकं शस्यया ॥९॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ति या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यतऽइव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ति मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि मनुष्यलोको या हुता अधिशेरते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यध-इव हि पितृलोकः ॥१०॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायिष्यतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥११॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । कत्ययमद्योद्गातास्मिन्यज्ञे स्तोत्रिया स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीयाधिदैवतमथाध्यात्मं कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्यापानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति यत्किं चेदं प्राणभृदिति ततो ह होताश्वल उपरराम ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥ ६ [६. १.] ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे तऽइति ॥१॥ प्राणो वै ग्रहः । सोऽपानेनातिग्रहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥ जिह्वा वै ग्रहः । स रसेनातिग्रहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥३॥ वाग्वै ग्रहः । स नाम्नातिग्रहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥४॥ चक्षुर्वै ग्रहः । स रूपेणातिग्रहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥५॥ श्रोत्रं वै ग्रहः । स शब्देनातिग्रहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥६॥ मनो वै ग्रहः । स कामेनातिग्रहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते

'इनसे किसको जीतता है ?' 'पुरोऽनुवाक्य से पृथिवीलोक को, याज्य से अन्तरिक्ष को और शस्य से द्यौलोक को' ।।६।।

उसने पूछा,'हे याज्ञवल्क्य, आज इस यज्ञ में अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ देगा ?' 'तीन ।' 'तीन कौन ?' 'वे आहुतियाँ जिनकी ज्वालाएँ ऊपर को चढ़ती हैं, वे जो शोर बहुत करती हैं, वे जो नीचे को जाती हैं ।' 'इनसे किन-किन लोकों को जीतता है ?' 'जो आहुतियाँ ऊपर को ज्वलित होती हैं उनसे देवलोक, जो शोर बहुत करती हैं उनसे मनुष्यलोक, जो नीचे को जाती हैं उनसे पितृलोक ।' पितृलोक नीचे है ।।१०।।

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, दक्षिण की ओर बैठकर ब्रह्मा आज कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करता है ?' 'एक से ।' 'वह देवता कौन है ?' 'वह एक मन है । मन अनन्त है । विश्वेदेव अनन्त हैं । उससे वह लोक को जीतता है' ।।११।।

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! इस यज्ञ में आज उद्गाता कितने स्तोत्रों से स्तवन करेगा ?' 'तीन से ।' 'कौन-से ?' 'पुरोऽनुवाक्य से, याज्य से और शस्य से ।' 'वे अध्यात्म के हिसाब से कौन-कौन हैं ?' 'प्राण ही पुरोऽनुवाक्य है, अपान याज्य है, व्यान शस्य है ।' 'उनसे किस-किस लोक को जीतता है ?' 'उस सबको जिसमें प्राण हैं अर्थात् प्राणियों को ।' यह सुनकर अश्वल होता चुप हो गया ।।१२।।

ग्रहातिग्रहविषये आर्तभाग-याज्ञवल्क्यसंवादः

अध्याय ६—ब्राह्मण २

अब उससे जारत्कारव आर्तभाग ने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य ! ग्रह कै होते हैं ? अतिग्रह कै होते हैं ?' 'आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं ।' 'वे आठ ग्रह कौन और आठ अतिग्रह कौन ?' ।।१।।

'प्राण ग्रह है । वह अपान नामी अतिग्रह से पकड़ा जाता है । अपान से गंधों को सूंघता है' ।।२।।

'जीभ ग्रह है । वह रसना भी अतिग्रह से पकड़ी जाती है । जीभ से रसों का ज्ञान होता है ।।३।।

'वाणी ग्रह है । वह नामरूपी अतिग्रह से पकड़ी जाती है । वाणी से ही नामों को कहते हैं' ।।४।।

'चक्षु ग्रह है । वह रूप नामी अतिग्रह से पकड़ा जाता है । चक्षु से ही रूपों को देखते हैं' ।।५।।

'श्रोत्र ग्रह है । वह शब्द नामी अतिग्रह से पकड़ा जाता है । कान से ही शब्द सुनते हैं' ।।६।।

'मन ग्रह है । कामना नामी अतिग्रह से पकड़ा जाता है । मन से ही मनुष्य कामनाएँ करता है' ।।७।।

॥७॥ हस्तौ वै ग्रहः । स कर्मणातिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्याᳺ हि कर्म करोति ॥८॥ त्वग्वै ग्रहः । स स्पर्शेनातिग्रहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयतऽइत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥९॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदᳺ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥१०॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥११॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यत्रायं पुरुषो म्रियतऽउदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥१२॥ याज्ञवल्क्येति होवाच । यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीᳺ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सौम्य हस्तम् ॥१३॥ आर्तभागेति होवाच । आवमेवैतद्वेदिष्यावो न नावेतत्सजनऽइति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयां चक्रतुस्तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशᳺसतुः कर्म हैव तत्प्रशशᳺसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१४॥ ब्राह्मणम् ॥७ [६. २.]

॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०४ ॥ ॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैतमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्क्व पारिक्षिता अभवन्निति तत्त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥ स होवाच । उवाच वै स तदगच्छन्वै ते तत्र यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिᳺशतं वै

'दोनों हाथ ग्रह हैं। वे कर्म नाम अतिग्रह से पकड़े जाते हैं। मनुष्य हाथ से ही काम करता है' ॥८॥

'त्वचा ही ग्रह है। वह स्पर्श नामी अतिग्रह से पकड़ी जाती है। त्वचा से ही मनुष्य स्पर्शों का अनुभव करता है। ये आठ ग्रह हुए और आठ अतिग्रह' ॥९॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य! ये सब मृत्यु का भोजन हैं। वह देवता कौन है जिसका भोजन मृत्यु है?' 'अग्नि मृत्यु है। वह जलों का अन्न है। इसीसे मनुष्य पुनर्मृत्यु को जीतता है' ॥१०॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य! जब कोई मनुष्य मरता है तो उसको कौन चीज नहीं छोड़ती?' 'नाम। नाम अनन्त हैं। विश्वेदेव नाम हैं। इससे अनन्त लोक को जीतता है' ॥११॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, जब मनुष्य मरता है तो क्या इससे प्राण निकल जाते हैं?' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नहीं-नहीं, ये सब इसीमें लय हो जाते हैं। वह फूल जाता है। वायु से भर जाता है। वह मुर्दा होकर सोता है' ॥१२॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, जब इस मृतपुरुष की वाक् अग्नि में मिल जाती है, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में, रक्त और वीर्य जलों में, तब यह पुरुष क्या हो जाता है?' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मेरा हाथ पकड़' ॥१३॥

उसने कहा, 'हे आर्तभाग! हम इसका रहस्य एकान्त में जान सकेंगे। भीड़ में नहीं।' वे उठकर अलग विचार करने लगे। जो कुछ उन्होंने कहा वह था 'कर्म'। उन्होंने वहाँ कर्म की ही प्रशंसा की। पुण्य कर्म से ही मनुष्य पुण्यात्मा होता है, पापकर्म से पापी।' जारत्कारव आर्तभाग यह सुनकर चुप हो गया ॥१४॥

भुज्यु-याज्ञवल्क्यसंवादः

अध्याय ६—ब्राह्मण ३

अब उससे भुज्यु लाह्यायनि ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! हम वेदाध्ययन के लिए मद्रास में विचरते हुए कपि-वंशी पतंजल के घर आए। उसकी लड़की गंधर्वगृहीता (गंधर्व से पकड़ी हुई?) थी। हमने उससे पूछा, तू कौन है? वह बोला, मैं आंगिरस सुधन्वा हूँ। जब हमने उससे लोकों के अन्त के विषय में पूछा और प्रश्न किया कि पारिक्षित कहाँ है? पारिक्षित क्या हुए? हे याज्ञवल्क्य, पारिक्षित क्या हुए?' ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'गन्धर्व ने कहा कि वे वहीं गए जहाँ अश्वमेध करनेवाले जाते हैं।' 'अश्वमेध यज्ञ करनेवाले कहाँ जाते हैं?' 'यह लोक देवरथ की चाल से ३२ दिन के मार्ग की

देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं लोकं द्विस्तावत्पृथिवी पर्येति तां पृथिवीं द्वि-
स्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्त-
रेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागम-
यद्यत्र पारिक्षिता अभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्य-
ष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्ला-
ह्यायनिरुपरराम ॥२॥ ब्राह्मणम् ॥ १ [६. ३.] ॥

अथ हैनं कहोडः कौषीतकेयः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादप-
रोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष तऽआत्मा सर्वान्तरः कतमो
याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येत्येतं वै त-
मात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्था-
याथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लो-
कैषणोभे ह्येतेऽएषणेऽएव भवतस्तस्मात्पाण्डितः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन
तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ
ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एव भवति य एवं वेद ततो
ह कहोडः कौषीतकेय उपरराम ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥२ [६. ४.] ॥ ॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षा-
द्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष तऽआत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञ-
वल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स तऽआत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानि-
ति स तऽआत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यनिति स तऽआत्मा सर्वान्तरो य उ-
दानेनोदनिति स तऽआत्मा सर्वान्तरो यः समानेन समनिति स तऽआत्मा स-
र्वान्तरः स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा वै ब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवै-
तद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वे-

दूरी रखता है। इस लोक से दूनी पृथिवी है। उस पृथिवी से दूना समुद्र है। जितनी छुरे की धार है, जितना मक्खी का पर है, उतना बीच का आकाश है। इन्द्र ने सुपर्ण बनकर उन (पारिक्षितों) को वायु को दे दिया। वायु उनको अपने में रखकर वहाँ ले गया जहाँ (अश्वमेध यज्ञ करनेवाले) जाते हैं। इस प्रकार गंधर्व ने वायु की प्रशंसा की। इसलिए वायु व्यष्टि है, वायु समष्टि है। जो इस रहस्य को समझता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है और पूर्ण आयु को पाता है।' तब भृज्यु लाह्यायनि चुप हो गया ॥२॥

कहोड-याज्ञवल्क्यसंवादः

अध्याय ६—ब्राह्मण ४

अब कहोड कौषीतकेय ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबकी अन्तरात्मा है, उसका उपदेश कर।' 'यह तेरा आत्मा है जो सबके भीतर है।' 'हे याज्ञवल्क्य, कौन-सा आत्मा सबके भीतर है ?' 'वही जो भूख-प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापे तथा मृत्यु के परे है, इसी आत्मा को जानकर ब्राह्मण लोग पुत्र-एषणा, वित्त-एषणा और लोक-एषणा से ऊपर उठकर भिक्षा का आचरण करते हैं। जैसी पुत्र-एषणा वैसी वित्त-एषणा, जैसी वित्त-एषणा वैसी लोक-एषणा। ये दोनों एषणा ही हैं। इसलिए पण्डित पाण्डित्य के मूल्य को समझकर बालकपन की इच्छा नहीं करता। जो बालकपन और पाण्डित्य के भेद को समझता है, मुनि है। जो मुनिपन (मौन) और अमुनिपन (अमौन) के भेद को समझता है, वह ब्राह्मण है। वह ब्राह्मण किसी-न-किसी प्रकार ऐसा ही हो जाता है, यदि वह इस रहस्य को समझता है। इस पर कहोड कौषीतकेय चुप हो गया ॥१॥

उषस्त-याज्ञवल्क्यसंवादः

अध्याय ६—ब्राह्मण ५

अब उससे उषस्त चाक्रायण ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य, यह जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म, सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसका मुझे उपदेश दीजिए।' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'यह आत्मा सबके भीतर व्यापक है।' उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, वह अन्तर्यामी आत्मा कौन-सा है ?' 'वही जो प्राण द्वारा श्वास लेता है वही तेरा आत्मा सबके भीतर है। जो अपान द्वारा अपान-क्रिया करता है वही तेरा आत्मा सबके भीतर है। जो व्यान द्वारा व्यान-क्रिया करता है, वही तेरा आत्मा सबके भीतर है। जो उदान द्वारा उदान-क्रिया करता है, वही तेरा आत्मा सबके भीतर है। जो समान द्वारा समान-क्रिया करता है, वही तेरा आत्मा सबके भीतर है।' उषस्त चाक्रायण ने कहा, 'जैसे कहते हैं कि यह गौ है, यह अश्व है, इसी प्रकार इसका भी नाम रक्खा जाता है। यह जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर्यामी है उसीका उपदेश कीजिए।

त्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥३ [६.५.] ॥ ॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्न्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्याकाश एव गार्गीति कस्मिन्न्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्न्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति द्यौर्लोके गार्गीति कस्मिन्नु द्यौर्लोक ओतश्च प्रोतश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्न्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्या वै देवता अतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥४ [६.६.] ॥ ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति ॥१॥ सोऽब्रवीत् । पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं यस्मिन्नयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति

हे याज्ञवल्क्य ! वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी कौन-सा है ?' उसने उत्तर दिया, 'सर्वान्तर्यामी है वह। तुम आँख से, देखनेवाले को नहीं देख सकते। कान से, सुननेवाले को नहीं सुन सकते। ज्ञान से, जाननेवालों को नहीं जान सकते। यह तेरा आत्मा सर्वान्तर्यामी है। इससे विपरीत सब आर्त्त अर्थात् क्षण-भंगुर है।' तब उषस्त चाक्रायण चुप हो गए ॥१॥

गार्गी-याज्ञवल्क्यसंवादः (१)

अध्याय ६—ब्राह्मण ६

अब गार्गी वाचक्नवी ने उससे पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, यह जो सब-कुछ जलों में ओत-प्रोत है, तो बताओ कि ये जल किसमें ओत-प्रोत हैं ?' उसने उत्तर दिया, 'हे गार्गी ! वायु में।' 'वायु किसमें ओत-प्रोत है ?' 'आकाश में, हे गार्गी !' 'आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?' 'हे गार्गी ! अन्तरिक्ष लोकों में।' 'अन्तरिक्ष लोक किसमें ओत-प्रोत है ?' 'हे गार्गी ! द्यौ लोक में।' 'द्यौ लोक किसमें ओत-प्रोत है ?' 'हे गार्गी ! आदित्य लोकों में।' 'आदित्य लोक किसमें ओत-प्रोत हैं ?' 'हे गार्गी, चन्द्र लोकों में।' 'चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत हैं ?' 'नक्षत्र लोकों में हे गार्गी !' 'नक्षत्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ?' 'देव लोकों में गार्गी !' 'देव लोक किसमें ओत-प्रोत हैं ?' 'गन्धर्व लोकों में, हे गार्गी !' 'गन्धर्व लोक किसमें ओत-प्रोत हैं ?' 'प्रजापति लोकों में, हे गार्गी !' 'प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ?' 'ब्रह्मलोकों में, हे गार्गी !' 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत हैं ?' याज्ञवल्क्य बोला, 'हे गार्गी ! इसके आगे न पूछ कि कहीं तेरा सिर न गिर जाय। तू उस देवता के विषय में पूछती है जो पूछने के योग्य नहीं। हे गार्गी, आगे मत पूछ।' तब गार्गी चुप हो गई ॥१॥

उद्दालक-याज्ञवल्क्यसंवादः

अध्याय ६—ब्राह्मण ७

तब आरुणि उद्दालक ने उससे पूछा, 'हम मद्रास में पतंजल काप्य के घर यज्ञ सीखने के लिए रहे। उसकी पत्नी को गन्धर्व पकड़े था। हमने उस (गन्धर्व) से पूछा तू कौन है। उसने कहा, 'आथर्वण कबन्ध' ॥१॥

उसने काप्य पतंजल से और याज्ञिकों से कहा, 'काप्य ! क्या तुम जानते हो कि वह कौन-सा सूत्र है जिसमें यह लोक और परलोक और सर्व भूत बँधे हुए हैं ?' काप्य पतंजल ने उत्तर दिया, 'भगवन्, मैं नहीं जानता' ॥२॥

॥२॥ सोऽब्रवीत् । पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति ॥३॥ सोऽब्रवीत् । पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणꣳ स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स यज्ञवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद नचेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥४॥ वेद वाऽअहं गौतम । तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वाऽइदं कश्च ब्रूयाद्विद्-वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥५॥ वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम् । वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥६॥ यः पृथिव्यां तिष्ठन् । पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृतिवीमन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः ॥७॥ योऽप्सु तिष्ठन् । अद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः ॥८॥ ॥ शतम्ꣳ३०० ॥ ॥ योऽग्नौ तिष्ठन् । अग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः ॥९॥ य आकाशे तिष्ठन् । आकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१०॥ यो वायौ तिष्ठन् । वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यम° ॥११॥ य आदित्ये तिष्ठन् । आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यम° ॥१२॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठन् । चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यम° ॥१३॥ यो दिक्षु तिष्ठन् । दिग्भ्योऽन्तरो

फिर उसने पतंजल काप्य तथा याज्ञिकों से कहा, 'हे काप्य, क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक और परलोक और अन्य भूतों के भीतर रमा है ?' पतंजल काप्य ने उत्तर दिया, 'भगवन्, मैं नहीं जानता' ॥३॥

उसने फिर पतंजल काप्य तथा याज्ञिकों से कहा, 'हे काप्य, जो उस सूत्र और उस अन्तर्यामी को जानता है वही ब्रह्म को जानता है, लोक को जानता है, देव को जानता है, वेद को जानता है, यज्ञ को जानता है, भूत को जानता है, आत्मा को जानता है और सब-कुछ जानता है। उसने उन सबको उपदेश दिया। उसीको मैं भी जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य, यदि तू इस सूत्र और इस अन्तर्यामी को न जानते हुए ब्रह्म-गौओं को लेगा तो तेरे सिर का पतन हो जायगा' ॥४॥

उसने कहा, 'गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ।' वह बोला, 'यों तो सभी कह देते हैं कि जानता हूँ, मैं जानता हूँ, जैसा जानते हो वैसा कहो' ॥५॥

'हे गौतम, वह सूत्र वायु है। हे गौतम, इसी वायुरूपी सूत्र के द्वारा यह लोक और परलोक और सब भूत बँधे हुए हैं। इसीलिए, हे गौतम, मरे हुए पुरुष के विषय में कहा जाता है कि इसके अंग बिखर गए, क्योंकि हे गौतम, ये अंग वायुरूपी सूत्र से ही बँधे रहते हैं।' 'हे याज्ञवल्क्य ! यह तो ठीक है, अब अन्तर्यामी की व्याख्या कीजिए' ॥६॥

'जो पृथिवी में स्थित होकर पृथिवी से इतर है और जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर शासन करता है वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है ॥७॥

जो जल में स्थित होकर, जलों से इतर है, जिसको जल नहीं जानते, जल जिसके शरीर हैं, जो जलों के भीतर शासन करता है, वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है ॥८॥

जो अग्नि में स्थित रहकर अग्नि से इतर है, जिसको अग्नि नहीं जानता, जो अग्नि का शरीर है, जो अग्नि के भीतर है और जो अग्नि के भीतर शासन करता है, वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है ॥९॥

जो आकाश में स्थित होकर आकाश से इतर है, जिसको आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश के भीतर शासन करता है, वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है ॥१०॥

जो वायु में स्थित होकर वायु से इतर है, वायु जिसको नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है, जो वायु के भीतर शासन करता है, वही अमृत आत्मा अन्तर्यामी है ॥११॥

जो आदित्य में स्थित होकर आदित्य से इतर है, जिसको आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है ॥१२॥

जो चाँद-तारे में स्थित होकर चाँद-तारे से इतर है, जिसको चाँद-तारा नहीं जानता, चाँद-तारा जिसका शरीर है, जो चाँद-तारे के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है ॥१३॥

जो दिशाओं में स्थित होकर दिशाओं से इतर है।

यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यम° ॥१४॥ यो विद्युति तिष्ठन् । विद्युतोऽन्तरो यं विद्युन्न वेद यस्य विद्युच्छरीरं यो विद्युतमन्तरो यम° ॥१५॥ य स्तनयित्नौ तिष्ठन् । स्तनयित्नोरन्तरो यꣳ स्तनयित्नुर्न वेद यस्य स्तनयित्नुः शरीरं य स्तनयित्नुमन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदेवतमथाधिलोकम् ॥१६॥ यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन् । सर्वेभ्यो लोकेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वे लोका न विदुर्यस्य सर्वे लोकाः शरीरं यः सर्वाल्लोकानन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृत इत्युऽएवाधिलोकमथाधिवेदम् ॥१७॥ यः सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन् । सर्वेभ्यो वेदेभ्योऽन्तरो° °इत्युऽएवाधिवेदमथाधियज्ञम् ॥१८॥ यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन् । सर्वेभ्यो यज्ञेभ्योऽन्तरो° °इत्युऽएवाधियज्ञमथाधिभूतम् ॥१९॥ यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् । सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृत इत्युऽएवाधिभूतमथाध्यात्मम् ॥२०॥ यः प्राणे तिष्ठन् । प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२१॥ यो वाचि तिष्ठन् । वाचोऽन्तरो° ॥२२॥ यश्चक्षुषि तिष्ठन् । चक्षुषोऽन्तरो° ॥२३॥ यः श्रोत्रे तिष्ठन् । श्रोत्रादन्तरो° ॥२४॥ यो मनसि तिष्ठन् । मनसोऽन्तरो° ॥२५॥ यस्त्वचि तिष्ठन् । त्वचोऽन्तरो° ॥२६॥ यस्तेजसि तिष्ठन् । तेजसोऽन्तरो° ॥२७॥ यस्तमसि तिष्ठन् । तमसोऽन्तरो° ॥२८॥ यो रेतसि तिष्ठन् । रेतसोऽन्तरो° ॥२९॥ य आत्मनि तिष्ठन् । आत्मनोऽन्तरो° ॥३०॥ अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोता । अमतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽस्ति द्रष्टा नान्योऽस्ति श्रोता नान्योऽस्ति मन्ता नान्योऽस्ति विज्ञातैष तऽआत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥

जिसको दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिसका शरीर हैं, जो दिशाओं के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है ॥१४॥

जो विद्युत् (बिजली) में स्थित होकर बिजली से इतर है, बिजली जिसको नहीं जानती, बिजली जिसका शरीर है, जो बिजली के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है ॥१५॥

जो बादल में स्थित होकर बादल से इतर है, बादल जिसको नहीं जानता, बादल जिसका शरीर है, जो बादल के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है। इतना अधिदैवत हुआ। अब अधिलोक सुनिए ॥१६॥

जो सब लोकों में ठहरा हुआ सब लोकों से इतर है, सब लोक जिसको नहीं जानते, सब लोक जिसका शरीर है, जो सब लोकों के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है। इतना अधिलोक हुआ। अब अधिवेद सुनिए ॥१७॥

जो सब वेदों में स्थित होकर सब वेदों से इतर है, सब वेद जिसको नहीं जानते, सब वेद जिसके शरीर हैं, जो सब वेदों के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है। यह अधिवेद हुआ। अब अधियज्ञ सुनिए ॥१८॥

जो सब यज्ञों में ठहरकर, सब यज्ञों से इतर है, सब यज्ञ जिसको नहीं जानते, सब यज्ञ जिसके शरीर हैं, जो सब यज्ञों के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है। इतना अधियज्ञ हुआ। अब अधिभूत सुनिए ॥१९॥

जो सब भूतों में स्थित होकर सब भूतों से अलग है, सब भूत जिसको नहीं जानते, सब भूत जिसका शरीर हैं, जो सब भूतों के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है। इतना अधिभूत हुआ। अब अध्यात्म सुनिए ॥२०॥

जो प्राणों में ठहरकर प्राणों से इतर है, प्राण जिसको नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है, जो सब आत्मा के भीतर शासन करता है, वही अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है ॥२१॥

जो वाणी में स्थित होकर······॥२२॥

जो आँख में स्थित होकर······॥२३॥

जो कान में स्थित होकर······॥२४॥

जो मन में स्थित होकर······॥२५॥

जो त्वचा में स्थित होकर······॥२६॥

जो तेज में स्थित होकर······॥२७॥

जो अन्धकार में स्थित होकर······॥२८॥

जो रेत में स्थित होकर······॥२९॥

जो आत्मा में स्थित होकर······॥३०॥

वह देखा नहीं जाता परन्तु देखनेवाला है, सुना नहीं जाता परन्तु सुननेवाला है, विचारा नहीं जाता परन्तु विचारनेवाला है; कोई दूसरा द्रष्टा नहीं, कोई दूसरा श्रोता नहीं, कोई दूसरा मनन करनेवाला नहीं, कोई दूसरा जाननेवाला नहीं। वही तेरा अमृत-आत्मा अन्तर्यामी है। इससे भिन्न जो कुछ है वह दुःखमय है।' तब आरुणि उद्दालक चुप हो गया ॥३१॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच । ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं याज्ञवल्क्यं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे विवक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति तौ चेन्मे न विवक्ष्यति मूर्धास्य विपतिष्यतीति पृच्छ गार्गीति ॥१॥ सा होवाच । अहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥२॥ सा होवाच । यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥ स होवाच । यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत ऽआकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥४॥ सा होवाच । नमस्ते याज्ञवल्क्य यो म ऽएतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥ सा होवाच । यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिन्नेव तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥ स होवाच । यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षतऽआकाशऽएव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्न्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥७॥ स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कं चन न तदश्नोति कश्चन ॥८॥ एतस्य वाऽअक्षरस्य । प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत एतस्य वाऽअक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा ऽअक्षरस्य प्रशासने गार्ग्यहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा विधृतास्ति-

गार्गी-याज्ञवल्क्यसंवादः (२)

अध्याय ६—ब्राह्मण ८

अब वाचक्नवी (गार्गी) बोली, 'हे ब्राह्मणो, मैं इस याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न और करना चाहती हूँ। यदि वह मुझको इनका उत्तर दे देगा तो तुममें से कोई ब्रह्म के विषय में इससे जीत नहीं सकेगा। यदि मुझे यह उत्तर न दे सकेगा तो इसका सिर पतित हो जाएगा।' उन्होंने कहा, 'हे गार्गी, पूछ' ॥१॥

वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य, जैसे काशी-नरेश या विदेह-नरेश वीर पुरुष धनुष पर दो बाण चढ़ाकर हाथ में दोनों बाणों को तानता हुआ सामने आवे, उसी प्रकार मैं भी दो प्रश्न लेकर तेरे सामने आती हूँ।' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'हे गार्गी ! तू पूछ' ॥२॥

वह बोली, 'हे याज्ञवल्क्य, जो कुछ द्यौ के ऊपर है और पृथिवी के नीचे है या द्यौ और पृथिवी के बीच में है, जो भूत है, वर्तमान है और भविष्य है, यह सब किसमें ओत-प्रोत है ?' ॥३॥

उसने उत्तर दिया, 'हे गार्गी ! जो कुछ द्यौ लोक से ऊपर है, जो कुछ पृथिवी के नीचे है, जो कुछ द्यौ और पृथिवी के बीच में है, जो कुछ भूत, वर्तमान या भविष्य है, वह सब आकाश में ओत-प्रोत है' ॥४॥

(गार्गी ने) कहा, 'हे याज्ञवल्क्य, तुमको नमस्कार है कि तुमने मुझको इस प्रश्न का उत्तर दिया। दूसरे प्रश्न के लिए तैयार रहो।' याज्ञवल्क्य के कहा, 'हे गार्गी, पूछो' ॥५॥

उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, जो कुछ द्यौ लोक के ऊपर है या पृथिवी के नीचे है, या जो कुछ पृथिवी और द्यौ लोक के बीच में है, जो भूत है या वर्तमान है या भविष्य, यह सब किस चीज में ओत-प्रोत है ?' ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'हे गार्गी, जो कुछ द्यौलोक के ऊपर है, जो पृथिवी के नीचे, जो द्यौ और पृथिवी के बीच में है, जो भूत, वर्तमान या भविष्य है, यह सब आकाश में ही ओत-प्रोत है।' उसने पूछा, 'आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?' ॥७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे गार्गी, वह अक्षर (अर्थात् अविनाशी तत्त्व) है, ऐसा ब्राह्मण लोग कहते हैं। वह न स्थूल है, न अणु है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न चिकना है, न छाया है, न अँधेरा है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न स्पर्श है, न गन्ध है, न रस है, न चक्षु है, न श्रोत्र है, न उसमें आवागमन है; वह तेज नहीं है, न प्राण हैं, न मुख है, न उसका कोई नाम है, न गोत्र है, वह अजर है, अमर है, अभय है, अमृत है; न वह रज है, न शब्द है, न वह विवृत है, न संवृत है, न उसका पूर्व है न पर है, न भीतर है, न बाहर है, वह कुछ नहीं खाता, न उसको कोई खाता है ॥८॥

हे गार्गी, इस अविनाशी के शासन में द्यौ और पृथिवी स्थित है। हे गार्गी, इसी अविनाशी के शासन में चाँद और सूर्य स्थित हैं। हे गार्गी, इस अविनाशी के शासन में रात-दिन, पाख और महीने, ऋतु और वर्ष स्थित है।

ष्वत्येतस्य वाऽग्नक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां-यां च दिशमेतस्य वाऽग्नक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतं मनुष्याः प्रशᳪसन्ति यजमानं देवा दर्व्यं पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥ यो वाऽएतदक्षरमविदित्वा गार्गि । अस्मिंल्लोके जुहोति ददाति तपस्यन्यपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवानेवास्य स लोको भवति यो वाऽएतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥१०॥ तद्वाऽएतदक्षरं गार्गि । अदृष्टं द्रष्टृश्रुतᳪ श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदस्ति द्रष्टृ नान्यदस्ति श्रोतृ नान्यदस्ति मन्तृ नान्यदस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्गि यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥ सा होवाच । ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्यध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्याध्वै न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥६ [६. ८.] ॥ ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ । कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयेव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच ॥१॥ कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । त्रयस्त्रिᳪशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥२॥ स होवाच । महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिᳪशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिᳪशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्तऽएकत्रिᳪशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिᳪशाविति ॥३॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदᳪ

हे गार्गी, इसी अविनाशी के शासन में श्वेत पर्वतों से निकलकर पूर्वी नदियाँ बहती हैं, पश्चिमी भी और अन्य नदियाँ भी नियत दिशाओं में। हे गार्गी, इसी अविनाशी के शासन में मनुष्य दान-दाता की प्रशंसा करते हैं, देव यजमान का और पितर हवि का अनुसरण करते हैं ॥९॥

हे गार्गी, जो इस अविनाशी को बिना जाने इस लोक में होम करता है या दान देता है या तपस्या करता है, चाहे सहस्रों वर्ष तक क्यों न करे, उसका पुण्य क्षीण होता है। हे गार्गी, जो कोई इस अविनाशी को बिना जाने इस लोक में मरता है, वह कृपण उत्पन्न होता है। हे गार्गी, जो इस अविनाशी का ज्ञान प्राप्त करके इस लोक में मरता है वही ब्राह्मण है ॥१०॥

हे गार्गी, वह अक्षर (अविनाशी) ऐसा है—वह न देखा हुआ देखता, न सुना हुआ सुनता, न विचारा हुआ विचार करता, न जाना हुआ जानता है। उससे भिन्न कोई और न देखनेवाला है, न सुननेवाला, न सोचनेवाला, न जाननेवाला है। हे गार्गी, यह वही अविनाशी है जिसमें आकाश ओत-प्रोत हैं' ॥११॥

गार्गी बोली. 'हे ब्राह्मणो, मेरी बात को मानो और इस (याज्ञवल्क्य) को नमस्कार करो। ब्रह्म-विषयक शास्त्रार्थ में तुममें से कोई इसको नहीं जीत सकता।' ऐसा कहकर वाचक्नवी (गार्गी) चुप हो गई ॥१२॥

विदग्ध-याज्ञवल्क्यसंवादः

अध्याय ६—ब्राह्मण ९

अब विदग्ध शाकल्य ने उससे पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, देव कितने हैं?' उसने उत्तर दिया, 'निवित् से पता चलेगा। जितने वैश्वदेव निवित् ('निविन्नाम देवतासंख्या-वाचकानि मंत्रपदानि कानिचिद् वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यन्ते तानि निवित्संज्ञकानि'—शंकर भाष्य) में देव बताए गए हैं उतने ही हैं। तीन और तीन सौ, तीन और तीन हजार। (३+३००+३०००=३३००)। उसने कहा, 'अच्छा!'' ॥१॥

फिर उसने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, देव कितने हैं?' 'तेंतीस।' 'अच्छा। हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं?' 'तीन!' 'अच्छा। हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं?' 'दो।' 'अच्छा। हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं?' 'डेढ़।' 'अच्छा। हे याज्ञवल्क्य, कितने देव हैं?' 'एक।' 'अच्छा। तीन और तीन सौ, तीन और तीन हजार कौन-से देव हैं?' ॥२॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'इतनी तो इनकी महिमा (विभूतियाँ) हैं। देव तो तेंतीस ही हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, ये हुए इकत्तीस, इन्द्र और प्रजापति, ये हुए तेंतीस' ॥३॥

'वसु कौन-कौन हैं?' 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र, ये वसु हैं।

सर्वं वसु हितमेते हीद७ सर्वं वासयन्ते तद्यदिद७ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥४॥ कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥५॥ कतमऽआदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्सरस्यैतऽआदित्या एते हीद७ सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिद७ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥६॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥७॥ कतमे षडिति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडित्येते हीद७ सर्व७ षडिति ॥८॥ कतमे ते त्रयो देवा इतीमऽएव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवतऽइति ॥९॥ तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निद७ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥१०॥ पृथिव्येव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायण७ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वाऽअहं तं पुरुष७ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवाय७ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥११॥ रूपाण्येव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायण७ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वाऽअहं तं पुरुष७ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति चक्षुरिति होवाच ॥१२॥ आकाश एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो° ° य एवायं वायौ पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्राण इति होवाच ॥१३॥ काम एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो° ° य एवासौ चन्द्रे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मन इति हो-

इन्हीं में सब जगत् बसा हुआ है। यही सब जगत् को बसाते हैं। इस सब जगत् को बसाते हैं इसलिए इसका नाम वसु है' ॥४॥

'रुद्र कौन-कौन हैं?' 'पुरुष के शरीर में दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा। जब ये मर्त्य शरीर से निकलते हैं तो सबको रुलाते हैं; रुलाते हैं इसलिए इनका नाम रुद्र है' ॥५॥

'आदित्य कौन-कौन हैं?' 'वर्ष के बारह मास। यह इस सब जगत् को ग्रहण करते हैं, इसलिए इनको आदित्य कहते हैं' ॥६॥

'इन्द्र कौन है? और प्रजापति कौन है?' स्तनयित्नु इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।' 'स्तनयित्नु क्या है?' 'अशनि या बिजली।' 'यज्ञ क्या है?' 'पशु' ॥७॥

'छः देव कौन हैं?' 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, ये हैं छः। ये सब छः देव हुए' ॥८॥

'तीन देव कौन हैं?' 'यही तीन लोक हैं, इन्हीं में तो ये सब देव हैं।' 'दो देव कौन हैं?' 'अन्न और प्राण।' 'डेढ़ कौन है?' 'यह वायु जो बहता है' ॥९॥

तब कहा, 'यह तो एक ही है जो बहता है। फिर यह डेढ़ कैसे हुआ?' 'इसी से तो सबकी समृद्धि होती है। इसलिए यह डेढ़ हुआ।' 'एक देव कौन है?' 'वह ब्रह्म है जिसको 'त्यद्' कहते हैं' ॥१०॥

पृथिवी जिसका आयतन (घर) है, लोक चक्षु है, ज्योति मन है, जो ऐसे पुरुष को जानता है, जो सबके आत्मा का परायण (पर+अयन=बड़ा स्थान) है वही ठीक-ठीक जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य, मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है जिसका तूने कथन किया है। यही पुरुष है जो इस शरीर में है।' 'हे शाकल्य! बताओ इसका देवता कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'स्त्रियाँ' ॥११॥

'रूप ही इसका आयतन है, लोक चक्षु है, ज्योति मन है। जो उस पुरुष को जानता है, जो सबके आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य, मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है, जिसके विषय में तुम कहते हो। यह जो आदित्य में पुरुष है वही है।' 'हे शाकल्य, बताओ उसका देवता कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'चक्षु' ॥१२॥

'आकाश जिसका आयतन है, लोक चक्षु है, ज्योति मन है, जो उस पुरुष को जानता है, जो सबके आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य, मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है जिसका तुम कथन करते हो। यह जो वायु में पुरुष है वही है।' 'हे शाकल्य! इसका देवता कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'प्राण' ॥१३॥

'काम ही जिसका आयतन है, लोक चक्षु है, ज्योति मन है, जो उस पुरुष जो जानता है, जो सबके आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य! मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है जिसका तुम कथन करते हो। यह जो चन्द्र में पुरुष है वही है।' 'हे शाकल्य, इसका देवता कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'मन' ॥१४॥

वाच ॥१४॥ नग्न एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो ऽ य एवायमग्नौ पुरुषः स एष वेदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वागिति होवाच ॥१५॥ तम एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो ऽ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वेदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥१६॥ आप एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो ऽ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वेदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥१७॥ रेत एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो ऽ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वेदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥१८॥ शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यः । त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रताꣳ इति ॥१९॥ याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो । यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥२०॥ किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीति । आदित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितं भवतीति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीति हृदयऽइति हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥ किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति । यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता भवतीति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाꣳ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिता भवतीति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीति हृदयऽइति हृदयेन हि श्रद्धत्ते हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२२॥ किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति । वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता भवन्तीति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदयऽइति तस्मादपि प्रतिरूपं जा-

'तेज ही जिसका आयतन है, लोक चक्षु है, ज्योति मन है, जो उस पुरुष को जानता है, जो सबके आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य, मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है जिसका तुम कथन करते हो। जो अग्नि में पुरुष है वही है।' 'हे शाकल्य, इसका देवता कौन है?' उसने कहा, 'वाक्' ॥१५॥

'तम (अन्धकार) ही जिसका आयतन है, लोक चक्षु है और ज्योति मन, जो इस पुरुष को जानता है जो सबकी आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य! मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है, जिसका तुम कथन करते हो। यह जो छायामय पुरुष है वही है।' 'हे शाकल्य, बताओ इसका देवता कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'मृत्यु' ॥१६॥

'आप (जल) ही जिसका आयतन है, लोक चक्षु है और ज्योति मन, जो इस पुरुष को जानता है, जो सबके आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य, मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है जिसका तुम कथन करते हो। यह जो जलों में पुरुष है यह वही है।' 'हे शाकल्य, बताओ इसका देवता कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'वरुण' ॥१७॥

'रेत (वीर्य) ही जिसका आयतन है, लोक चक्षु है और ज्योति मन, जो इस पुरुष को जानता है जो सबके आत्मा का परायण है, वही जाननेवाला है।' 'हे याज्ञवल्क्य, मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो सबके आत्मा का परायण है, जिसका तुम कथन करते हो। यह जो पुत्रमय पुरुष है वही है।' 'हे शाकल्य, बताओ इसका देवता कौन है?' शाकल्य ने उत्तर दिया, 'प्रजापति'॥१८॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे शाकल्य! इन ब्राह्मणों ने तुमको खाक (भस्म) कर दिया' ॥१९॥

शाकल्य ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! यदि तुमने इन कुरु और पांचाल ब्राह्मणों को परास्त कर दिया, तो क्या तुम ब्रह्म को जाननेवाले हो गए?' 'मैं दिशाओं को जानता हूँ, देवताओं के साथ तथा प्रतिष्ठा के साथ।' 'यदि तुम देवता तथा प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानते हो तो······॥२०॥

'इस पूर्व दिशा का कौन देवता है?' 'आदित्य।' 'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है?' 'चक्षु में।' 'चक्षु किसमें प्रतिष्ठित है?' 'रूपों में। आँख से ही रूपों को देखते हैं।' 'रूप किसमें प्रतिष्ठित है?' उसने उत्तर दिया, 'हृदय में। हृदय से ही रूपों को जानते हैं। हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हैं।' 'हाँ याज्ञवल्क्य! ऐसा ही है' ॥२१॥

'इस दक्षिण दिशा में कौन देवता है?' 'यम।' 'यम किसमें प्रतिष्ठित है?' 'दक्षिणा में।' 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है?' 'श्रद्धा में श्रद्धा होती है तभी दक्षिणा देते हैं। श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है।' 'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है?' 'हृदय में। हृदय से ही तो श्रद्धा होती है। हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य! ऐसा ही है' ॥२२॥

'इस पश्चिम दिशा में कौन देवता है?' 'वरुण।' 'वरुण किसमें प्रतिष्ठित होता है?' 'जलों में।' 'जल किसमें प्रतिष्ठित हैं?' 'रेत या वीर्य में।' 'रेत किसमें प्रतिष्ठित है?' 'जब पुत्र पिता के

तस्मादाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भव-
तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥ किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति । सोमदेवत
इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता
भवतीति सत्यऽइति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्र-
तिष्ठिता भवतीति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीति हृदयऽइति हृदयेन हि
सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२४॥
किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति । अग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित
इति वाचीति कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठिता भवतीति मनसीति कस्मिन्नु मनः प्रति-
ष्ठितं भवतीति हृदयऽइति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितं भवतीति ॥२५॥ अहल्लि-
केति होवाच याज्ञवल्क्यो । यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यत्रैतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो
वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२६॥ कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ
इति । प्राणऽइति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपानऽइति कस्मिन्न्वपानः प्रति-
ष्ठित इति व्यानऽइति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदानऽइति कस्मिन्नूदानः
प्रतिष्ठित इति समानऽइति ॥२७॥ स एष नेति नेत्यात्मा । अगृह्यो न हि
गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गोऽसितो न सज्यते न व्यथतऽइत्येतान्यष्टावा-
यतनान्यष्टौ लोका अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्व्युदुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामीत्तं
त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति तꣳ ह
शाकल्यो न मेने तस्य ह मूर्धा विपपात तस्य हाप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषि-
णोऽस्थीन्यपजह्रुः ॥२८॥ अथ ह याज्ञवल्क्य उवाच । ब्राह्मणा भगवन्तो यो
वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छानि
सर्वान्वा वः पृच्छानीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥२९॥ तान्हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ ।
यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा । तस्य पर्णानि लोमानि त्वगस्योत्पा-

तुल्य होता है तो कहते हैं कि हृदय से निकला, हृदय से बना। हृदय में ही रेत प्रतिष्ठित है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य, ऐसा ही है' ॥२३॥

'इस उदीची (उत्तर) दिशा में कौन देवता है ?' 'सोम।' 'सोम किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'दीक्षा में।' 'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है।' 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'हृदय में। हृदय से ही तो सत्य को जानते हैं। हृदय में ही सत्य प्रतिष्ठित है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य, ऐसा ही है' ॥२४॥

'इस ध्रुवा दिशा में कौन देवता है ?' 'अग्नि।' 'अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'वाणी में।' 'वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'मन में।' 'मन किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'हृदय में।' हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ?' ॥२५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अहल्लिक (व्यर्थ बकबक करनेवाला)। यदि तू इसको अपने से अलग मानता है, यदि यह (हृदय) हमसे अलग है तो इसको कुत्ते क्यों नहीं खा जाते, पक्षी क्यों नहीं फाड़ डालते ?' ॥२६॥

'तू और आत्मा किसमें प्रतिष्ठित हैं ?' 'प्राण में।' 'प्राण किसमें प्रतिष्ठित हैं ?' 'अपान में।' 'अपान किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'व्यान में।' 'व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'उदान में।' 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है ?' 'समान में' ॥२७॥

'यह आत्मा न यह है न वह है। वह अगृह्य है, पकड़ा नहीं जाता। अशीर्य है, फाड़ा नहीं जा सकता। असंग है अर्थात् इससे चिपट नहीं सकते। असित (अबद्ध) है, किसी से संयुक्त नहीं है। इसमें व्यथा नहीं है। ये आठ आयतन हैं। आठ लोक हैं। आठ पुरुष हैं। वह जो इन पुरुषों को ठीक-ठीक जान लेता है, वह (जगत् को जीत लेता है)। मैं तुझसे उपनिषत् वाले पुरुष के विषय में पूछता हूँ। यदि तू न बतावेगा तो तेरे सिर का पतन हो जाएगा।' शाकल्य उसको न समझा और उसके सिर का पतन हो गया। उसका सिर नीचा हो गया और उसको कुछ और समझकर चोर उसकी हड्डियों को उठा ले गये (अर्थात् वह वहाँ से खिसक गया) ॥२८॥

अब याज्ञवल्क्य बोला, 'हे ब्राह्मणवर्ग! आपमें से जो कोई चाहे मुझसे प्रश्न करे, या सब मिलकर प्रश्न करें। आपमें से जो चाहे उससे मैं प्रश्न करूँ या आप सबसे मैं प्रश्न करूँ।' वे ब्राह्मण समर्थ न हो सके ॥२९॥

उसने उनसे इन श्लोकों द्वारा पूछा—'जैसे वृक्ष वन का पति है, उसी प्रकार पुरुष सत्य है। उसके लोम पत्ते हैं, त्वचा छाल है ॥३०॥

ठिका बहिः ॥३०॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः । तस्मात्तदातुन्नात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥३१॥ मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् । अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३२॥ यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥३३॥ रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते । जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः ॥ धानारुह उ वै वृक्षोऽन्यतः प्रेत्य सम्भवः । यत्समूलमुद्वृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ॥ मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम् । तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥३४॥ ब्राह्मणम् ॥७ [६. १.] ॥

जनको ह वैदेह आसां चक्रे । अथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज स होवाच जनको वैदेहो याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानित्युभयमेव सम्राडिति होवाच यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति ॥१॥ अब्रवीन्मऽउदङ्कः शौल्वायनः । प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्वायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वाऽएतत्सम्राडिति ॥२॥ स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । स एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट्कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्का भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट्कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥३॥ देवो भूत्वा देवानप्येति । य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति क एव ते किमब्रवीदिति ॥४॥ अब्रवीन्मे जित्वा शैलिनो । वाग्वै ब्रह्मेति यथा

जैसे छाल से रस बहता है, वैसे ही खाल से रक्त। इसलिये आघात होने पर रक्त बहता है जैसे वृक्ष से रस ॥३१॥

मांस लकड़ी के गूदे के समान है। नसें लकड़ी की नसों के समान दृढ़ हैं। हड्डियाँ लकड़ी का भीतरी भाग है। मज्जा मज्जे के समान है ॥३२॥

जैसे वृक्ष कटने पर भी जड़ से बढ़ आता है, उसी प्रकार मृत्यु से कटकर मनुष्य फिर किस जड़ से उगता है ? ॥३३॥

ऐसा मत कहो कि वीर्य से ! क्योंकि वीर्य तो जीवित से ही उगता है। उत्पन्न होकर फिर उत्पन्न नहीं होता। उसको फिर कौन उत्पन्न करता है? वृक्ष साक्षात् मरकर धान अर्थात् बीज से भी उत्पन्न होता है। यदि वृक्ष समूल नष्ट कर दिया जाय तो फिर नहीं उगता, मनुष्य मरकर फिर किस मूल से उत्पन्न होता है ?' ब्रह्म विज्ञान है और आनन्द है। यही दान-दाता का परायण (परम धाम) है, जो उसमें स्थित है और उसको जानता है ॥३४॥

जनक-याज्ञवल्क्यसंवादः (२)

अध्याय ६—ब्राह्मण १०

वैदेह जनक बैठा हुआ था। अब याज्ञवल्क्य भी आ गया। जनक वैदेह बोला, 'हे याज्ञ-वल्क्य, कैसे आये हो ? पशुओं के लिए या किसी सूक्ष्म विचार के लिए ?' उसने उत्तर दिया, 'हे सम्राट्, दोनों के लिए।' 'अच्छा ! किसी ने तुमको जो कुछ सिखाया हो वह हम सुनें' ॥१॥

'उदंक शौल्वायन ने मुझे सिखाया है कि प्राण ही ब्रह्म है।' 'जैसे एक मातावाले, पितावाले और आचार्यवाले (अर्थात् सुरक्षित) पुरुष को सिखाना चाहिए था, वही शौल्वायन ने सिखाया। प्राण ही ब्रह्म है। जिसके प्राण नहीं उसका क्या हो सकता है ? इसका आयतन और इसकी प्रतिष्ठा भी तो सिखायी होगी ?' 'उसने तो नहीं सिखाया कि ब्रह्म एकपात् है' ॥२॥

'अच्छा याज्ञवल्क्य ! इसकी व्याख्या करो।' 'प्राण ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है। प्रिय करके इसी की उपासना करो।' 'हे याज्ञवल्क्य, प्रियता क्या है ?' 'हे सम्राट्, प्राण ही प्रिय है। हे सम्राट्, प्राण की ही कामना से न चाहने योग्य की चाह होती है, न लेने योग्य को लेता है, जिधर जाता है प्राण के लिए ही। वध(मृत्यु)से डरता है। हे राजन्, यह सब प्राण के ही लिए है। प्राण ही परम ब्रह्म है। जो इस रहस्य को समझकर प्राण की उपासना करता है उसको प्राण नहीं छोड़ता। सब प्राणी उसके पास आते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है' ॥३॥

जनक वैदेह बोला, 'मैं तुमको हजार हाथी के समान गायें देता हूँ।' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'मेरे पिता की आज्ञा है कि जहाँ शिक्षा न दो वहाँ से कुछ मत लो।' जनक ने पूछा, 'और किसने तुमको क्या सिखाया ?' ॥४॥

'शैली जित्वा ने हमको सिखाया है कि वाक् ही ब्रह्म है।'

मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनोऽब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किᳬ स्यादब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वाऽएतत्सम्राडिति ॥५॥ स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायतऽऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥६॥ देवो भूत्वा देवानप्येति । य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृ° ॥७॥ अब्रवीन्मे वर्कुर्वार्ष्णः । चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किᳬ स्यादब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वाऽएतत्सम्राडिति ॥८॥ स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥९॥ देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृ° ॥१०॥ अब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः । श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किᳬ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वाऽएतत्सम्राडिति ॥११॥ स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशः श्रोत्रᳬ हि दिशः श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनᳬ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥१२॥ देवो भूत्वा देवानप्येति । य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृ°

'शैली ने तुमको वही सिखाया है जो एक माँवाले, बापवाले और आचार्यवाले (सुशिक्षित) पुरुष को सिखाना चाहिए था। वाक् ही ब्रह्म है। जो बोल नहीं सकता उससे क्या लाभ? इसका आयतन और प्रतिष्ठा भी तो सिखाई होगी?' 'हे सम्राट् मुझे यह तो नहीं सिखाया कि ब्रह्म एकपात् है' ॥५॥

'अच्छा, याज्ञवल्क्य! व्याख्या करो।' 'वाक् ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है। प्रज्ञा करके इसकी उपासना करो।' 'याज्ञवल्क्य! प्रज्ञा क्या है?' 'हे सम्राट्, वाक् ही प्रज्ञा है। हे सम्राट्, वाक् से ही बन्धु जाना जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, वाक् से ही जाने जाते हैं। हे सम्राट्, वाक् ही परम ब्रह्म है। उसको वाणी नहीं छोड़ती। सब प्राणी उसके पास आते हैं···॥६॥

देव होकर वह देवों को प्राप्त होता है जो इस रहस्य को समझता है।' जनक वैदेह ने कहा कि 'मैं तुमको हाथी के समान हजार गायें दूँगा।' याज्ञवल्क्य बोले कि 'मेरे पिता की आज्ञा है कि जिसको शिक्षा न दो, उससे कुछ न लो।' तब जनक बोले, 'और किसने तुमको क्या शिक्षा दी?' ॥७॥

'वार्ष्ण बर्कु ने मुझे बताया कि चक्षु ही ब्रह्म है।' 'वार्ष्ण ने तुमको वही शिक्षा दी जो एक मातावाले, पितावाले और आचार्यवाले (सुशिक्षित) पुरुष को देनी चाहिए थी। चक्षु ही ब्रह्म है। जो देख नहीं सकता उसका क्या हो सकता है? क्या तुमको उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी बताई है?' 'हे सम्राट्, मुझे तो नहीं बताया कि यह एकपात् है' ॥८॥

'अच्छा याज्ञवल्क्य, व्याख्या करो।' 'चक्षु ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी सत्य करके उपासना करो।' 'हे याज्ञवल्क्य, सत्यता क्या है?' उसने उत्तर दिया, 'हे सम्राट्, चक्षु ही सत्य है; हे सम्राट्, आँख से देखते हुए को ही कहते हैं कि तूने देखा! जो वह कहता है कि हाँ देखा है वही सत्य है। हे सम्राट्, चक्षु ही परम ब्रह्म है। उसको चक्षु नहीं छोड़ता और सब प्राणी उसको प्राप्त होते हैं···॥९॥

और वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है, जो इस रहस्य को समझकर इसकी उपासना करता है।' जनक ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य, मैं तुमको हाथी के तुल्य हजार गाय दूँगा।' याज्ञवल्क्य बोले, 'महाराज! मेरे बाप की आज्ञा है कि जिसको शिक्षा न दो उससे दान न लो' ॥१०॥

'गर्दभीविपीत भारद्वाज ने मुझे बताया कि श्रोत्र ही ब्रह्म है।' 'भारद्वाज ने तुमको वही शिक्षा दी जो एक मातावाले, पितावाले और आचार्यवाले (सुशिक्षित) पुरुष को देनी चाहिए थी। श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो सुन नहीं सकता, उसका क्या फल है? परन्तु क्या तुमको उसके आयतन और प्रतिष्ठा को भी बताया?' 'हे सम्राट्, मुझे नहीं बताया कि वह एकपात् है।' ॥११॥

'याज्ञवल्क्य! इसकी व्याख्या करो।' 'श्रोत्र ही आयतन है। आकाश प्रतिष्ठा है। अनन्त करके इसकी उपासना करो।' 'हे याज्ञवल्क्य, अनन्तता क्या है?' 'हे सम्राट्, शिक्षा ही अनन्त है, इसीलिए हे सम्राट्, जिस दिशा में चले जाओ, उस दिशा का अन्त नहीं मिलता, दिशा अनन्त है। श्रोत्र दिशा है, श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। हे सम्राट्, उसको श्रोत्र नहीं छोड़ता और सब प्राणी उसको प्राप्त होते हैं···॥१२॥

और वह देव होकर देवों को पाता है, जो इस रहस्य को समझकर उसकी उपासना करता है।' जनक ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य, मैं तुमको हाथी के तुल्य हजार गायें दूँगा।' याज्ञवल्क्य बोले, 'महाराज, मेरे पिताजी की आज्ञा है कि जबतक शिक्षा न दो किसी से दान न लो' ॥१३॥

॥१३॥ अब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो । मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमा-
नाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तत्सत्यकामोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्या-
दित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति ॥१४॥
स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्द इत्येनदुपासीत
कानन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभि-
हार्यति तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं
मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥१५॥ देवो भूत्वा देवानप्येति । य
एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृ° ॥१६॥ अब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो । हृदयं वै
ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मे-
त्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येक-
पाद्वा एतत्सम्राडिति ॥१७॥ स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । हृदयमेवायतनमा-
काशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितिता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्रा-
डिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदयेन हि सर्वाणि भू-
तानि प्रतितिष्ठन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं
भूतान्यभिक्षरन्ति ॥१८॥ देवो भूत्वा देवानप्येति । य एवं विद्वानेतदुपास्ते ह-
स्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता
मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥८ [६.१०.] ॥॥

अथ ह जनको वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच । नमस्ते याज्ञवल्क्यानु मा शा-
धीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन्रथं वा नावं वा समाददीतै-
वमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोप-
निषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामी-
त्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥१॥ स होवाच -

'जाबाल सत्यकाम ने मुझको सिखाया कि मन ही ब्रह्म है।' 'सत्यकाम ने तुमको वही बताया जो एक मातावाले, पितावाले और आचार्यवाले (सुशिक्षित) पुरुष को सिखाना चाहिए था। मन ही ब्रह्म है। जो सोच नहीं सकता उसका क्या फल है! परन्तु क्या तुमको उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी सिखाई?' 'ऐसा तो नहीं सिखाया। परन्तु हे सम्राट्, यह तो एकपात् ही है' ॥१४॥

'हे याज्ञवल्क्य, इसकी व्याख्या करो!' 'हे सम्राट्, मन ही आयतन है। आकाश प्रतिष्ठा है। आनन्द करके इसी की उपासना करो।' 'हे याज्ञवल्क्य, आनन्दता क्या?' 'हे सम्राट्, मन ही आनन्दता है। हे सम्राट्, मन से ही स्त्री से व्यवहार करता है और उसमें उसी का प्रतिरूप पुत्र उत्पन्न होता है। यही आनन्द है। हे सम्राट्, मन ही परम ब्रह्म है। उसको मन नहीं छोड़ता। उसके पास सब प्राणी आते हैं···॥१५॥

वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है, जो इस रहस्य को जानकर इसकी उपासना करता है।' जनक बोले, 'हे याज्ञवल्क्य! मैं तुमको हाथी के तुल्य हजार गायें दूंगा।' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'हे राजन्, मेरे बाप का आदेश है कि जबतक किसी को शिक्षा न दो किसी का दान मत ग्रहण करो' ॥१६॥

'मुझको विदग्ध शाकल्य ने शिक्षा दी कि हृदय ही ब्रह्म है।' 'शाकल्य ने तुमको वही शिक्षा दी जो एक मातावाला, पितावाला और आचार्यवाला पुरुष दे सकता था। हृदय ही ब्रह्म है। जिसके हृदय नहीं उसका क्या हो सकता है? परन्तु क्या तुमको इसका आयतन और प्रतिष्ठा भी बताई?' 'हे सम्राट्, यह तो नहीं बताया। यह एकपात् ही है' ॥१७॥

'हे याज्ञवल्क्य, उसको समझाओ।' 'हृदय ही आयतन है, आकाश ही प्रतिष्ठा है। स्थिति करके इसकी उपासना करो।' 'स्थिति क्या है हे याज्ञवल्क्य?' 'हे सम्राट्, हृदय ही स्थिति है, हृदय ही सब भूतों की प्रतिष्ठा है। हृदय से ही सब भूत प्रतिष्ठा को पाते हैं। हे सम्राट्, हृदय ही परमब्रह्म है। उसको हृदय नहीं छोड़ता और सब प्राणी उसको प्राप्त होते हैं···॥१८॥

वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है, जो इस रहस्य को समझकर उसकी उपासना करता है।' जनक वैदेह बोले, 'मैं तुमको हाथी के तुल्य सौ गायें दूंगा।' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'राजन्, मेरे पिता का आदेश है कि जबतक किसी को शिक्षा न दो उसका दान मत लो' ॥१९॥

जनक-याज्ञवल्क्यसंवादः (३)

अध्याय ६—ब्राह्मण ११

जनक वैदेह सिंहासन से उतरकर बोले, 'नमस्ते याज्ञवल्क्य! मुझे शिक्षा दीजिए।' उसने कहा, 'हे सम्राट्, जैसे दूर की यात्रा को चलनेवाले रथ या नाव का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार इन उपनिषदों की सहायता से तेरा मन युक्त है। इससे तू धनाढ्य और यशस्वी है। वेद का पढ़ा हुआ और उपनिषत् का समझा हुआ है। इस शरीर को छोड़कर कहाँ जायगा?' 'भगवन्, मैं यह तो नहीं जानता कि कहाँ जाऊँगा।' 'अच्छा मैं तुमको बताता हूँ कि तुम कहाँ जाओगे।' 'अच्छा भगवन्, बताइये' ॥१॥

उसने कहा—

। इन्धो वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वाऽएतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षेणेव परोऽक्षप्रिया-इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥ अथैतद्वामेऽक्षिणि पुरुषरूपम् । एषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदयऽआकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सती संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति ॥३॥ ता वाऽअस्यैताः । हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्न एताभिर्वाऽएतमास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर-इव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥४॥ तस्य वाऽएतस्य पुरुषस्य । प्राची दिक्प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणाः प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणा सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः ॥५॥ स एष नेति नेत्यात्मा । अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गोऽसितो न सज्यते न व्यथतेऽभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहो नमस्ते याज्ञवल्क्याभय त्वागच्छताद्यो नो भगवन्नभयं वेदयसऽइमे विदेहा अयमहमस्मीति ॥६॥ ब्राह्मणम् ॥१ [६. ११.] ॥ पञ्चमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०७ ॥ षष्ठोऽध्यायः [१७.] ॥ ॥

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम । समेनेन वदिष्यऽइत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदतुस्तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वः पप्रच्छ ॥१॥ याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२॥ अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्य । किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रज्योतिः सम्राडिति होवाच चन्द्रेणैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य

'इन्ध नाम है उसका जो दाहिनी आँख में पुरुष है। इसी इन्ध को इन्द्र कहते हैं परोक्ष-रूप से, क्योंकि देव परोक्ष-प्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष से इनको द्वेष होता है ।।२।।

और जो बाईं आँख में इस पुरुष का रूप है वह उसकी पत्नी 'विराट्' है। इन दोनों का योग हृदय के भीतर का स्थान है। जो हृदय के भीतर लाल पिण्ड है वह इन दोनों का अन्न है। हृदय के भीतर जो जाल है, वह इन दोनों का आश्रय-स्थान है। हृदय से जो ऊपर को नाड़ी चढ़ती है वह इनके चलने का मार्ग है ।।३।।

केशों के हजार टुकड़े करने से जो जैसे बारीक हो जायें, ऐसी ही पतली नाड़ियाँ जिनको 'हिता' कहते हैं, हृदय के भीतर स्थित हैं, इन्हीं में होकर वह अन्न चलता है, अर्थात् आहार इससे भी सूक्ष्म है। आत्मा इस शरीर से पुष्टि पाता है ।।४।।

इस पुरुष के पूर्व दिशा में पूर्व प्राण हैं और दक्षिण दिशा में दक्षिण, पश्चिम की दिशा में पश्चिमी प्राण हैं और उत्तर की दिशा में उत्तरी प्राण, ऊपर की दिशा में ऊपर के प्राण और नीचे की दिशा में नीचे के प्राण। सब दिशाओं के सब प्राण हैं ।।५।।

यह आत्मा न ऐसा है न वैसा है। वह अगृह्य है अर्थात् पकड़ा नहीं जा सकता, अशीर्य है अर्थात् फाड़ा नहीं जा सकता, असंग और असित है अर्थात् किसी से बँधा नहीं है। उसे कोई व्यथा नहीं होती। वह अभय है। हे जनक, तुमने उस आत्मा को प्राप्त कर लिया है।' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इस पर जनक वैदेह बोला, 'हे याज्ञवल्क्य ! आपने जिस अभय आत्मा का मुझको उपदेश किया है, उसकी आपको भी प्राप्ति हो। यह विदेह-देश और मैं, ये सब आपके हुए' ।।६।।

ज्योतिःपुरुषविचारः

अध्याय ७—ब्राह्मण १

याज्ञवल्क्य जनक वैदेह के पास गया और विचार किया कि मैं नहीं बोलूंगा। इससे पूर्व यह घटना हो चुकी थी कि जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य दोनों ने अग्निहोत्र के विषय में वार्तालाप किया था और याज्ञवल्क्य ने जनक को एक वर दिया था कि जो चाहो पूछ लो। उसने कहा कि जब मेरी इच्छा होगी पूछ लूँगा। उसने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। सम्राट् ने पहले उससे प्रश्न किया—।।१।।

'यह पुरुष किस ज्योतिवाला है हे याज्ञवल्क्य ?' उसने उत्तर दिया, 'हे सम्राट् ! आदित्य ज्योतिवाला। यह आदित्य ज्योति के सहारे ही बैठता है, चलता है, काम करता है और घर लौट आता है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य, ठीक है' ।।२।।

'हे याज्ञवल्क्य, सूर्य के छिप जाने पर इस पुरुष में किसकी ज्योति रहती है ?' उसने उत्तर दिया, 'हे सम्राट्, चन्द्र की ज्योति। यह चाँद की ज्योति से ही बैठता है, चलता-फिरता है और लौट आता है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य, ऐसा ही है' ।।३।।

॥३॥ अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्य । चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निर्ज्योतिः सम्राडिति होवाचाग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥ अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्य । चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वाग्ज्योतिः सम्राडिति होवाच वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥ अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्य । चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः सम्राडिति होवाचात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येतीति ॥६॥ ॥ शतम् ७४०० ॥ ॥ कतम आत्मेति । योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः स समानः सन्नुभौ लोकौ संचरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति ॥७॥ स वाऽअयं पुरुषो जायमानः । शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति मृत्यो रूपाणि ॥८॥ तस्य वाऽएतस्य पुरुषस्य । द्वेऽएव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च ॥९॥ अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति । तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति स यत्रायं प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥१०॥ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति । अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः स्रवन्त्यः पुष्करिण्यो भवन्त्यथ वेशान्ताः स्रवन्तीः पुष्करिणीः सृजते स हि कर्ता ॥११॥ तदप्येते श्लोकाः । स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमा-

जनक ने पूछा, 'हे याज्ञवल्क्य, जब सूर्य और चाँद दोनों अस्त हो जायँ तो इस पुरुष की कौन-सी ज्योति है ?' 'हे सम्राट्, अग्निज्योति। अग्नि की ज्योति से ही वह बैठता है, चलता है और लौट आता है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य, ऐसा ही है' ।।४।।

'हे याज्ञवल्क्य, सूर्य, चाँद और अग्नि के अस्त हो जाने पर इस पुरुष की कौन-सी ज्योति है ?' उसने कहा, 'हे सम्राट्, वाक्। वाक् से ही वह बैठता, चलता और लौट आता है। हे सम्राट्, जब अपना हाथ भी नहीं दीखता, उस समय जिधर से आवाज आती है उधर को ही चलता है।' 'हाँ याज्ञवल्क्य, ऐसा ही है' ।।५।।

'हे याज्ञवल्क्य, सूर्य और चाँद के छिप जाने और अग्नि तथा वाणी के शान्त हो जाने पर इस पुरुष में कौन-सी ज्योति रहती है ?' 'हे सम्राट्, आत्मज्योति। आत्मा की ज्योति के सहारे ही यह बैठता, चलता और फिरता है' ।।६।।

'वह आत्मा कौन-सा है ?' 'जो यह विज्ञानमय पुरुष है, प्राणों में है, हृदय की ज्योति है। वह समान भाव से दोनों लोकों में चलता है। वह सोचता-सा है और चलता-सा है। वह स्वप्न द्वारा संसार से अतिक्रमण करता है ।।७।।

यही पुरुष उत्पन्न होकर शरीर में आकर पापों के सम्पर्क में आता है और यहाँ से उठकर मरने के पश्चात् मृत्युरूप पापों से छूट जाता है ।।८।।

इस पुरुष के दो स्थान हैं—यह लोक और परलोक। तीसरा बीच का स्वप्नस्थान है। इसी बीच के स्थान में स्थित होकर वह दोनों स्थानों को देखता है—इस लोक को भी, परलोक को भी ।।९।।

वह परलोक-स्थान को क्रमशः जाता है, और जिस समय इन क्रमों को पार करता है, उस समय पापों और आनन्दों दोनों को देखता है। जब वह सोता है तो इस लोक की सब मात्राओं (तन्मात्राओं) को हटाकर, स्वयं नष्ट करके स्वयं निर्माण करके अपनी ही क्रान्ति तथा अपनी ही ज्योति से सोता है। इस दशा में पुरुष स्वयंज्योति हो जाता है ।।१०।।

इस अवस्था में रथ, घोड़े, मार्ग कुछ भी नहीं होते, परन्तु वह रथों, घोड़ों और मार्गों को बनाता है। आनन्द-मोद-प्रमोद की सामग्री भी नहीं होती, परन्तु वह स्वयं आनन्द, मोद और प्रमोद को बनाता है। वहाँ तालाब, नदियाँ या झीलें भी नहीं होतीं, परन्तु वह तालाब, नदियों और झीलों को बनाता है। वही इन सबका कर्त्ता अर्थात् बनानेवाला होता है ।।११।।

इसी विषय के ये श्लोक हैं—जब स्वप्न अवस्था में आता है तो शारीरिक चेष्टाओं को त्याग देता है। स्वयं सोता नहीं, परन्तु स्वप्न-सम्बन्धी वासनाओं को देखता है, अर्थात् उनका अनुभव करता है और उन वासनारूपी बीज-शक्तियों (शुक्र) को लाकर फिर इस स्थान को

द्राय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पौरुष एकहꣳसः ॥१२॥ प्राणेन रक्षन्नवरं कु-
लायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽअमृतो यत्रकामꣳ हिरण्मयः पौरुष
एकहꣳसः ॥१३॥ स्वप्नान्तऽउच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उ-
तेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥१४॥ आराममस्य प-
श्यन्ति । न तं कश्चन पश्यतीति तं नायतं बोधयेदित्याहुर्दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भव-
ति यमेष न प्रतिपद्यते ॥१५॥ अथो खल्वाहुः । जागरितदेश एवास्यैष यानि
ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञ-
वल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥ स वा
ऽएष एतस्मिन्त्स्वप्नान्ते । रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं
प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यदत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो
ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमो-
क्षायैव ब्रूहीति ॥१७॥ तद्यथा महामत्स्यः । उभे कूलेऽअनुसंचरति पूर्वं चापरं
चैवमेवायं पुरुष एताऽउभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥ तद्य-
थास्मिन्नाकाशे । श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ सल्लया-
यैव ध्रियतऽएवमेवायं पुरुष एतस्माऽअन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कं चन कामं
कामयते न कं चन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥ ता वाऽअस्यैता । हिता नाम नाड्यो
यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य ह-
रितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्त-
मिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया भयं मन्यतेऽथ यत्र राजेव दे-
व-इवाहमेवेदꣳ सर्वमस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकोऽथ यत्र सुप्तो न कं
चन कामं कामयते न कं चन स्वप्नं पश्यति ॥२०॥ तद्वाऽअस्यैतत् । आत्मका
ममाप्तकाममकामꣳ रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किं चन

लौटता है। यह पुरुष ज्योतिर्मय और हंस अर्थात् अकेला विचरता है ।।१२।।

यह अमृत-आत्मा प्राण-शक्ति की सहायता से तो शरीररूपी घोंसले की रक्षा करता रहता है, परन्तु स्वयं शारीरिक जगत् के बाहर विचरता है अर्थात् मानसिक या काल्पनिक जगत् बनाता है। यह ज्योतिर्मय एकहंस तथा अमर पुरुष अपनी इच्छा के अनुकूल विचरता है, अर्थात् जो मोद-प्रमोद चाहता है, उनकी कल्पना कर लेता है ।।१३।।

स्वप्न-अवस्था में डाँवाडोल होकर बहुत-से रूप बनाता है। कभी स्त्रियों के साथ आनन्द करता है, कभी भयानक वस्तुओं को देखता है ।।१४।।

लोग उसके मोद-प्रमोद को तो देखते हैं, परन्तु कोई उसको नहीं देखता। कहावत भी है कि उस व्यापक का ज्ञान नहीं होता। जिसको इसका ज्ञान नहीं होता, उसके लिए यह एक कठिन समस्या अर्थात् दुर्भाग्य की बात है ।।१५।।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि स्वप्न-अवस्था जाग्रत्-अवस्था ही है, क्योंकि जिन चीजों को जाग्रत् में देखता है उन्हीं को स्वप्न में। परन्तु यहाँ तो यह पुरुष अपनी ही ज्योतिवाला होता है, अर्थात् वह शारीरिक जाग्रत् का आश्रय नहीं लेता।' जनक ने कहा, 'ठीक है याज्ञवल्क्य ! मैं हजार गायें आपकी भेंट करता हूँ। अब इससे आगे मोक्ष के लिए उपदेश कीजिए' ।।१६।।

(याज्ञवल्क्य बोले) 'वही पुरुष इस स्वप्न के अन्त में पुण्य और पाप दोनों में रमकर, विचरकर और उनको देखकर फिर जाग्रत्-अवस्था को उल्टा लौटता है (होश में आता है)। वह इस अवस्था में जो कुछ देखता है, उससे लिप्त नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष असंग अर्थात् निर्लेप है।' जनक ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य, यह सब ठीक है। मैं आपको एक हजार गायें भेंट करता हूँ। अब आप मोक्ष के लिए इससे आगे को उपदेश कीजिए' ।।१७।।

(याज्ञवल्क्य ने कहा), 'जैसे बड़ी मछली नदी के दोनों तटों तक जाती है, इस तट तक भी और उस तट तक भी, इसी प्रकार यह पुरुष भी दोनों अवस्थाओं तक पहुँचता है—स्वप्न तक भी और जाग्रत् तक भी ।।१८।।

जैसे चील या गरुड़ आकाश में घूमता हुआ थक जाता है और अपने पंखों को समेटकर घोंसले की ओर आता है, इसी प्रकार यह पुरुष भी (स्वप्न और जाग्रत्-अवस्थाओं में विचरता हुआ थककर) उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जहाँ सोकर न कुछ कामना कर सकता है और न स्वप्न देख सकता है ।।१९।।

इसकी 'हिता' नामी नाड़ियाँ हैं जो बाल के हजारवें भाग के तुल्य बारीक हैं। इनमें सफेद, नीला, पीला, हरा तथा लाल द्रव भरा है। इसीलिए जब वह (स्वप्न में) देखता है कि कोई लोग उसको मार रहे हैं या परास्त कर रहे हैं या हाथी उसको रोक रहा है या वह गड्ढे में गिर रहा है तो जैसा-जैसा भयानक दृश्य उसने जाग्रत् में देखा था वैसा-वैसा भय स्वप्न में भी मानता है। जिस अवस्था में वह ऐसा मानता है कि मैं राजा के समान हूँ या देव के समान हूँ या सब-कुछ मैं ही हूँ, तो यह उसका परमलोक है जहाँ सोकर न कोई कामना करता है न स्वप्न देखता है ।।२०।।

इसके तीन रूप हैं—आत्मकामता, आप्तकामता और अकामता।

जैसे प्रिय स्त्री से आलिंगन करके न किसी बाहर की चीज को देखता है न भीतर की,

वेद नान्तरमेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नान्तरम् ॥२१॥ तद्वा ऽअस्यैतत् । अतिछन्दो ऽपहतपाप्माभयꣳ रूपमशोकान्तरमत्र पितापिता भवति मातामाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा यज्ञा अयज्ञा अत्र स्तेनो ऽस्तेनो भवति भ्रूणहाभ्रूणहा पौल्कसो ऽपौल्कसश्चाण्डालो ऽचाण्डालः श्रमणो ऽश्रमणस्तापसो ऽतापसो ऽनन्वागतः पुण्येनानन्वागतः पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥२२॥ यद्वै तन्न पश्यति । पश्यन्वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥२३॥ यद्वै तन्न जिघ्रति । जिघ्रन्वै तद्घ्रातव्यं न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्राणाद्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥२४॥ यद्वै तन्न रसयति । विजानन्वै तद्रसं न रसयति न हि रसयितू रसाद्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥२५॥ यद्वै तन्न वदति । वदन्वै तद्वक्तव्यं न वदति न हि वक्तुर्वचो विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥२६॥ यद्वै तन्न शृणोति । शृण्वन्वै तच्छ्रोतव्यं न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥२७॥ यद्वै तन्न मनुते । मन्वानो वै तन्मन्तव्यं न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥ यद्वै तन्न स्पृशति । स्पृशन्वै तत्स्प्रष्टव्यं न स्पृशति न हि स्प्रष्टु स्पृष्टेर्विपरिलोपो ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥२९॥ यद्वै तन्न विजानाति । विजानन्वै तद्विज्ञेयं न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञानाद्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥३०॥ सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति । एष ब्रह्म-

इसी प्रकार यह शरीर-सम्बन्धी आत्मा प्रज्ञानरूपी आत्मा से आलिंगन करके न किसी बाहर की चीज को जानता है न भीतर की ।।२१।।

यह उसका असली रूप है—कामनारहित, पापरहित और भयरहित। इस अवस्था में पिता पिता नहीं होता, माता माता नहीं, लोक लोक नहीं, देव देव नहीं, वेद वेद नहीं, यज्ञ यज्ञ नहीं; इस अवस्था में चोर चोर यहीं, गर्भघातक गर्भघातक नहीं, वर्णसंकर वर्णसंकर नहीं, चाण्डाल चाण्डाल नहीं, श्रमण श्रमण नहीं, तपस्वी तपस्वी नहीं। न पुण्य में लिप्त, न पाप में लिप्त ! उस समय हृदय के सभी शोकों से तर जाता है ।।२२।।

ऐसा तो नहीं है कि वह देखता न हो। देखता अवश्य है। देखनेवाले की देखने की शक्ति तो नहीं मारी जाती। वह शक्ति तो नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय कोई है भी तो नहीं जो उससे अलग हो और जिसे वह देख सके ।।२३।।

ऐसा तो है नहीं कि वह सूँघता न हो। सूँघता तो अवश्य है। सूँघनेवाले की सूँघने की शक्ति तो मारी नहीं जाती। वह शक्ति तो नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय कोई है नहीं जो उससे अलग हो और जिसको वह सूँघ सके ।।२४।।

ऐसा तो नहीं है कि वह चखता न हो। चखता तो अवश्य है। चखनेवाले की चखने की शक्ति नहीं मारी जा सकती। वह शक्ति नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय दूसरा तो कोई होता नहीं जो उससे अलग हो और जिसको वह चख सके ।।२५।।

ऐसा तो है नहीं कि वह बोलता न हो। बोलता अवश्य है। बोलनेवाले की बोलने की शक्ति मारी नहीं जाती। वह शक्ति नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उससे अलग दूसरा कोई है नहीं जिससे वह बोल सके ।।२६।।

ऐसा तो है नहीं कि वह सुनता न हो। सुनता तो अवश्य है। सुननेवाले की सुनने की शक्ति नहीं मारी जा सकती। वह शक्ति नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय दूसरा तो कोई होता नहीं, जो उससे अलग हो और जिसको वह सुन सके ।।२७।।

ऐसा तो है नहीं कि वह सोचता न हो। सोचता अवश्य है। सोचनेवाले की सोचने की शक्ति तो मारी नहीं जाती। वह शक्ति नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय दूसरा कोई होता नहीं, जो उससे अलग हो और जिसको वह सोच सके ।।२८।।

ऐसा तो नहीं कि वह छूता न हो। छूता तो अवश्य है। छूनेवाले की छूने की शक्ति तो मारी नहीं जाती। यह शक्ति विनाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय कोई ऐसा नहीं है जो उससे अलग हो और जिसे वह छू सके ।।२९।।

ऐसा तो नहीं कि वह जानता न हो। जानता तो अवश्य है। ज्ञानवाले की जानने की शक्ति तो मारी नहीं जाती। वह शक्ति नाशवाली नहीं है। बात यह है कि उसके सिवाय कोई दूसरा उससे अलग नहीं है जिसको वह जान सके ।।३०।।

यह द्रष्टा निर्मल जल के समान अद्वैत हो जाता है। यह ब्रह्मलोक है। हे सम्राट्, यही

लोकः सम्राडिति हैनमनुशशासैषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥३१॥ स यो मनुष्याणाᳪ राद्धः समृद्धो भवति । अन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैः कामैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः ॥३२॥ अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः । स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः ॥३३॥ अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते ॥३४॥ अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः । स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः ॥३५॥ अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः । स एको देवलोकऽआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः ॥३६॥ अथ ये शतं देवलोकऽआनन्दाः । स एको गन्धर्वलोकऽआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः ॥३७॥ अथ ये शतं गन्धर्वलोकऽआनन्दाः । स एकः प्रजापतिलोकऽआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः ॥३८॥ अथ ये शतं प्रजापतिलोकऽआनन्दाः । स एको ब्रह्मलोकऽआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशासैतदमृतᳪ सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥३९॥ स वाऽएष एतस्मिन्त्सम्प्रसादे । रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यदत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥४०॥ अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार । मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति स यत्राणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्येतैवमेवायᳪ शारीर आत्मैभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥४१॥ तद्यथानः सुसमाहितम् । उत्सर्जद्यायादेवमेवायᳪ

इसकी परम सम्पदा है। यही इसका परम लोक है। यही इसका परम आनन्द है। अन्य प्राणी इस आनन्द का एक छोटा-सा अंश ही भोग सकते हैं ।।३१।।

मनुष्यों में जो सबसे अधिक वैभववाला है, दूसरों का अधिपति है और मनुष्यों की सभी कामनाओं से पूर्ण है, वही मनुष्यों में परम आनन्दवाला कहलाता है ।।३२।।

मनुष्यों के जो सौ गुने आनन्द हैं, उनके बराबर लोकों को जीतनेवाले पितरों का एक आनन्द है ।।३३।।

लोकों को जीतनेवाले पितरों के जो सौ गुने आनन्द हैं, उनके बराबर कर्मठ देवों का एक आनन्द है, जो कर्म द्वारा देवत्व को प्राप्त होते हैं ।।३४।।

जो कर्मठ देवों का सौ गुना आनन्द है उसके बराबर ज्ञानी देवों का एक आनन्द है, उसका जो ज्ञानशील, पापरहित और कामनारहित है ।।३५।।

जो ज्ञानशील देवों का सौ गुना आनन्द है, उसके बराबर देवलोकवालों का एक आनन्द है, उसका जो ज्ञानशील, वेदज्ञ और कामनाशून्य है ।।३६।।

जो देवलोकवालों का सौ गुना आनन्द है, उसके बराबर गन्धर्व लोकवालों का एक आनन्द है, उसका जो ज्ञानशील, वेदज्ञ और कामनाशून्य है ।।३७।।

जो गन्धर्व लोकवालों का सौ गुना आनन्द है, उसके बराबर प्रजापति लोकवालों का एक आनन्द है, उसका जो वेदज्ञ, ज्ञानशील और कामनारहित है ।।३८।।

जो प्रजापति लोकवालों का सौ गुना आनन्द है, उसके बराबर ब्रह्मलोक का एक आनन्द है, उसका जो वेदज्ञ, ज्ञानशील और कामनारहित है ।।३९।।

हे सम्राट्, यही ब्रह्मलोक है जिसकी मैंने व्याख्या की। यही अमृत है।' जनक बोले, 'हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है। मैं हजार गायें आपकी भेंट करता हूँ। आप इससे आगे उपदेश दीजिए' ।।४०।।

अब तो याज्ञवल्क्य को डर लगा कि यह मेधावी राजा मुझे सभी स्थानों से हटा न दे। उसने कहा, 'जब वह सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होता है, जब वह वृद्धावस्था से जीर्ण होकर सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होता है, तो जिस प्रकार आम या उदुम्बर या पिप्पली बन्धन से छूट जाती है, इसी प्रकार यह शरीरस्थ आत्मा इन अंगों से छूटकर फिर उल्टे मार्ग प्राण के लिए पीछे लौटता है ।।४१।।

जैसे माल से भरी गाड़ी धसक-धसककर चलती है, इसी प्रकार यह शरीरस्थ आत्मा

शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति ॥४२॥ तद्यथा राजानमायन्तम् ।
उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छती-
त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्तऽइदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति
॥४३॥ तद्यथा राजानं प्रयियासन्तम् । उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्य उपसमायन्त्ये-
वꣳ हैवंविदꣳ सर्वे प्राणा उपसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥४४॥ ब्राह्म-
णम् ॥१ [७. १.] ॥ ॥

स यत्रायꣳ शारीर आत्माबल्यं नीत्य । संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अ-
भिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति ॥१॥ स
यत्रैष चाक्षुषः । पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यती-
त्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयतीत्याहुरेकीभवति न वद-
तीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुतऽइत्याहुरेकीभवति न
स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुः ॥२॥ तस्य हैतस्य । हृदयस्याग्रं
प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा
शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनू-
त्क्रामन्ति संज्ञानमेवान्ववक्रामति स एष ज्ञः सविज्ञानो भवति तं विद्याकर्मणी
समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥३॥ तद्यथा तृणजलायुका । तृणस्यान्तं गत्वात्मानमु-
पसꣳहरत्येवमेवायं पुरुष इदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वात्मानमुपसꣳहरति
॥४॥ तद्यथा पेशस्कारी । पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं
तनुतऽएवमेवायं पुरुष इदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरꣳ रूपं त-
नुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा
भूतेभ्यः ॥५॥ स वाऽअयमात्मा । ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयो वाङ्मयः प्राणमय-
श्चक्षुर्मयः श्रोत्रमय आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः क्रोधम-

प्रज्ञान-आत्मा से युक्त होकर धसकता हुआ-सा चलता है ।।४२।।

जैसे आते हुए राजा को देखकर तीक्ष्णदोषी लोग अथवा रथवाले या ग्राम के लोग अन्न-पान आदि से स्वागत करते हैं और कहते हैं, 'देखो, ये आते हैं ।' इसी प्रकार सब लोग ब्रह्म-ज्ञानी के लिए भी कहते हैं कि 'देखो ये आ रहे हैं' इत्यादि ।।४३।।

जैसे जाने की इच्छा करनेवाले राजा के पास सब तीक्ष्णदोषी लोग अथवा रथवाले या ग्राम के लोग उसके पास जा खड़े होते हैं, इसी प्रकार जिस समय यह आत्मा शरीर छोड़ता है तो सब प्राण उसके पास जा उपस्थित होते हैं' ।।४४।।

आत्मनोऽङ्गेभ्यः संप्रमोक्षणस्योपपादनम्

अध्याय ७—ब्राह्मण २

जब यह शरीरस्थ आत्मा निर्बलता को प्राप्त होकर मूर्छा में आ जाता है तो ये प्राण उसके पास आते हैं । वह आत्मा इन तेजस्वी प्राणों को लेकर हृदय में प्रवेश करता है ।।१।।

जब आँखवाला पुरुष (हृदय को) लौट आता है, तो रूप का ज्ञान नहीं होता । कहते हैं कि यह एकाग्र हो गया, इसे दिखाई नहीं पड़ता; यह एकाग्र हो गया सूँघता नहीं; एकाग्र हो गया चखता नहीं; एकाग्र हो गया बोलता नहीं; एकाग्र हो गया सुनता नहीं; एकाग्र हो गया विचारता नहीं; एकाग्र हो गया छूता नहीं; एकाग्र हो गया जानता नहीं ।।२।।

इसके हृदय का द्वार चमक उठता है । इसी चमकते हुए द्वार से आँख या सिर या अन्य अंगों में होकर आत्मा निकल जाता है । इसके निकलने पर प्राण निकलता है, फिर सब प्राण निकलते हैं । इसको ज्ञान हो जाता है । ज्ञान के साथ यह निकलता है; विद्या, कर्म और पूर्व-प्रज्ञा उसके साथ जाते हैं ।।३।।

जैसे जोंक तिनके के सिरे पर जाकर (दूसरे तिनके तक जाने के लिए) अपने अंगों को सिकोड़ लेती है, इसी प्रकार यह पुरुष इस शरीर को मारकर और अचेतन करके अपने आत्मा को सिकोड़ लेता है ।।४।।

जैसे सुनार सोने के टुकड़े को लेकर दूसरा अच्छा और मनोहर रूप बना देता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी इस शरीर को मारकर और अचेतन करके नया अच्छा रूप धारण करता है, पितर का, गन्धर्व का, ब्राह्मण का, या प्रजापति का, या देव का, या मनुष्य का, या किसी अन्य प्राणी का ।।५।।

यही आत्मा ब्रह्म है । यह विज्ञानमय है, मनोमय है, वाङ्मय है, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, आकाशमय, वायुमय, तेजोमय, जलमय, पृथिवीमय, क्रोधी,

योऽक्रोधमयो हर्षमयोऽहर्षमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ॥६॥ अथो खल्वाहुः । काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यतऽइति ॥७॥ तदेष श्लोको भवति । तदेव सक्तस्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किं चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणऽइति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥८॥ तदेष श्लोको भवति । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुतऽइति ॥९॥ तद्यथाहिनिर्ल्वयनी । वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमनस्थिकोऽशरीरः प्राज्ञ आत्मा ब्रह्मैव लोक एव सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥१०॥ तदप्येते श्लोकाः । अणुः पन्था वितरः पुराणो माꣳस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥११॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गल हरितं लोहितं च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥१२॥ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः ॥१३॥ असुर्या नाम ते लोकाः । अन्धेन तमसावृताः । ताꣳस्ते प्रेत्यापिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधा जनाः ॥१४॥ तदेव सन्तस्तदु तद्वामो न चेदवेदी महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति ॥१५॥ आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संचरेत् ॥१६॥ यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध

अक्रोधी, सुखी, दुःखी, धर्मी, अधर्मी—सब भावोंवाला, ऐसा, वैसा। जैसा करता है या आचरण करता है, वैसा ही ही जाता है। अच्छा करे तो अच्छा होता है, बुरा करे तो बुरा होता है। पुण्य करने से पुण्यात्मा होता है और पाप करने से पापी ॥६॥

इसीलिए कहते हैं कि यह पुरुष कामनावाला है। जैसी इच्छा करता है वैसा ही आचरण करता है, जैसा आचरण करता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसी गति को प्राप्त होता है ॥७॥

इस विषय में श्लोक भी है कि 'वह पुरुष सत् है, परन्तु वह कर्म के साथ सम्पर्क करके उस लिंग को प्राप्त होता है, जिसमें उसका मन लगा हुआ है।' वह जो कुछ कर्म करता है उस कर्म के अन्त को प्राप्त करने के पश्चात् उस कर्म के कारण उस लोक से फिर इस लोक को आता है। यह हुई उस पुरुष की दशा जो कामनायुक्त है। परन्तु जो निष्काम है वह आप्तकाम हो जाता है(अर्थात् उसकी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। अब कुछ बाकी नहीं रहता)। इसके प्राण इसको नहीं छोड़ते। वे उसी के साथ रहते हैं। वह ब्रह्म के समान होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

इसी आशय का एक और श्लोक है कि जो कुछ कामनाएँ पुरुष के हृदय में हैं, वे सब जब पूरी हो जाती हैं तो मर्त्य अमर्त्य हो जाता है और उसको ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ॥९॥

जैसे साँप की ठठरी मरने के पश्चात् बिल में पड़ी रहती है, इसी प्रकार यह शरीर भी पड़ा रहता है। हे सम्राट्! शरीर नाशवान् है। आत्मा ज्ञानवाला है, यह ब्रह्म है, यह प्रकाश है।' याज्ञवल्क्य के इस उपदेश को सुनने के पश्चात् जनक वैदेह ने कहा, 'महाराज! मैं एक सहस्र गायें आपकी भेंट करता हूँ' ॥१०॥

इसपर भी कुछ श्लोक हैं—मुझको अब वह अदृश्य, विस्तृत व पुराना मार्ग मिल गया है, जिसपर चलकर ब्रह्मज्ञ धीर लोग इस लोक से मुक्त होकर स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं ॥११॥

उस मार्ग में लोग बताते हैं कि सफेद, नीला, पीला, हरा और लाल द्रव भरा है। यह मार्ग ब्रह्म से व्याप्त है। इसको वही प्राप्त होता है जो ब्रह्म को जानता, तेजस्वी तथा पुण्यशील है ॥१२॥

जो असम्भूति (अर्थात् नाश) को चाहते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो सम्भूति अर्थात् लौकिक जन्म को उत्सुक हैं, वे तो उससे भी घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं ॥१३॥

जो अविद्वान् और अबोध लोग हैं, वे मरकर ऐसी अन्धकारमय योनियों को प्राप्त होते हैं जहाँ प्रकाश का नाम नहीं है ॥१४॥

उस प्रकार के होते हुए हम वैसे ही बन जाते हैं। यदि हम इसको नहीं समझते तो बहुत बड़ी हानि है। जो इस ज्ञान को समझते हैं वे अमर हो जाते हैं। जो ऐसा ज्ञान नहीं रखते वे दुःख पाते हैं ॥१५॥

आत्मा को जाने कि यह पुरुष मैं हूँ। किस चीज की इच्छा की जाय? किसकी कामना के लिए शरीर को चलाया जाय? ॥१६॥

जिस ब्रह्म-तेज से प्रकाशित होकर आत्मा इस सन्देह-युक्त गहन शरीर में प्रविष्ट हुआ

आत्मास्मिन्त्संदेहे गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥१७॥ यदैतमनुपश्यति । आत्मानं देवमञ्जसा ईशानं भूतभव्यस्य न तदा विचिकित्सति ॥१८॥ यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्यऽआत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१९॥ यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥२०॥ प्राणस्य प्राणम् । उत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किं चन ॥२१॥ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ॥२२॥ विरजः पर आकाशात् । अज आत्मा महा ध्रुवः । तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति ॥२३॥ स वाऽअयमात्मा । सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च स न साधुना कर्मणा भूयान्नोऽएवासाधुना कनीयानेष भूताधिपतिरेष लोकेश्वर एष लोकपालः स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय ॥२४॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति ॥२५॥ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येतेऽएषणे एव भवतः ॥२६॥ स एष नेति नेत्यात्मा । अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गोऽसितो न सज्यते न व्यथतऽइत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभेऽउभे ह्येष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी नैनं कृताकृते तपतो नास्य केन चन कर्मणा लोको

है, वही विश्व का बनानेवाला और सबका कर्त्ता है । उसी का प्रकाश (लोक) है । वह स्वयंप्रकाश है ।।१७।।

जिस पुरुष को भूत और वर्तमान के स्वामी इस आत्मा के दर्शन हो जाते हैं, उसको किसी प्रकार का शोक नहीं होता ।।१८।।

जिसके सहारे ये पाँच-भूतों वाले शरीर तथा आकाश ठहरे हुए हैं, मैं अमर तथा विद्वान् उसी को ब्रह्म और आत्मा मानता हूँ ।।१९।।

जिसके सहारे संवत्सर दिनों के साथ घूमता है, देव लोग उसी ज्योतियों की ज्योति को अमृत और जीवन समझकर उपासना करते हैं ।।२०।।

जो प्राण के प्राण, आँख की आँख, कान के कान, अन्न के अन्न और मन के मन को जानते हैं, वही लोग उस ब्रह्म को जानते हैं, जो पुराण अर्थात् नित्य, अग्र्य अर्थात् सबसे बड़ा और मन के द्वारा ही जानने योग्य है । इस संसार में कोई बहुत्व नहीं है (अर्थात् यह समस्त संसार परस्पर सम्बद्ध होने के कारण अलग-अलग नहीं है । एक ही ब्रह्म द्वारा शासित और नियमों के ऐक्य को सिद्ध करनेवाला है) ।।२१।।

जो पुरुष इस संसार में बहुत्व देखता है, अर्थात् जिसको ये सब चीजें असम्बद्ध दिखाई पड़ती हैं वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है । इस अप्रमेय और ध्रुव (निश्चल) ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिए ।।२२।।

उज्ज्वल, आकाश से बड़ा, अजन्मा और महानिश्चल जो आत्मा है, विद्वान् पुरुष उसी को ब्रह्म समझे । बहुत-से शब्दों के पीछे न पड़े, क्योंकि वचन तो गड़बड़ में डालनेवाले हैं ।।२३।।

यह वही आत्मा है—सबको वश में रखनेवाला, सबका स्वामी, सबका अधिपति । यहाँ जो कुछ है वह सब उसी के शासन में है । वह न तो अच्छे कर्म से बढ़ता है, न बुरे कर्म से कम होता है । यही प्राणियों का अधिपति, लोकों का स्वामी, लोकपाल और सेतु है । वही लोकों को धारण करता है कि वे गिर न जाएँ ।।२४।।

वेदों के अनुवचन से लोग उसको ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा और नाशरहित यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं । उसी को जानकर मुनि होता है । उसी के परमधाम के इच्छुक संन्यासी संन्यास लेते हैं ।।२५।।

इसी के लिए प्राचीन विद्वान् वेदज्ञ ब्राह्मण सन्तान की इच्छा नहीं करते थे (अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं करते थे) । उनका कहना था कि जिन-हमारा यही आत्मा सहारा है, ऐसे हमलोग सन्तान उत्पन्न करके क्या करेंगे ! ये लोग पुत्र की एषणा, धन की एषणा और लोक-कीर्ति की एषणा (इच्छा) से ऊपर उठकर भिक्षा-वृत्ति को धारण करते हैं । जो पुत्र-एषणा है वही धन की एषणा है, जो धन की एषणा है वही लोक-कीर्ति की एषणा है, क्योंकि एषणा तो दोनों ही हैं ।।२६।।

वह आत्मा न ऐसा है न वैसा है । अगृह्य है, पकड़ा नहीं जा सकता । अशीर्य है, फाड़ा नहीं जा सकता । असंग है, बन्धनरहित है, उसे किसी के साथ बाँध नहीं सकते । न उसे कष्ट होता है । वह यह नहीं कहता कि मैंने यह पाप किया, यह पुण्य किया । वह तो इन दोनों से अतीत है, अमृत है । भला या बुरा, पुण्य या पाप इसको ताप नहीं पहुँचाते । किसी कर्म से इसका

मीयते ॥२७॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा
वर्धते नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापके-
नेति तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं प-
श्येत्सर्वमेनं पश्यति सर्वोऽस्यात्मा भवति सर्वस्यात्मा भवति सर्वं पाप्मानं तर-
ति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तपति नैनं पाप्मा तपति विपापो विजरो
विजिघत्सोऽपिपासो ब्राह्मणो भवति य एवं वेद ॥२८॥ स वाऽएष महानज
आत्मा । ऽन्नादो वसुदानः स यो हैवमेतं महान्तमजमात्मानमन्नादं वसुदानं वेद
विन्दते वसु ॥२९॥ स वाऽएष महानज आत्मा । ऽजरोऽमरोऽभयोऽमृतो
ब्रह्माभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान्द-
दामि मां चापि सह दास्यायेति ॥३०॥ स वाऽएष महानज आत्मा । अजरो
ऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद
॥३१॥ ब्राह्मणम् ॥२ [८. २.] ॥ ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः । मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह
मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव कात्यायनी सोऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यमाणः
॥१॥ याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीति होवाच । प्रव्रजिष्यन्वाऽअरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि
हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥२॥ सा होवाच मैत्रेयी । यन्नु म
ऽइयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताहो३ नेति नेति
होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्व-
स्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥३॥ सा होवाच मैत्रेयी । येनाहं नामृता स्यां
किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥४॥ स होवाच याज्ञ-
वल्क्यः । प्रिया खलु नो भवती सती प्रियमवृतद्धन्त खलु भवति तेऽहं तद्व-
क्ष्यामि व्याख्यास्यामि ते वाचं तु मे व्याचक्षाणस्य निदिध्यासस्वेति ब्रवीतु भग-

पद क्षीण नहीं होता ॥२७॥

ऋचा में भी ऐसा ही कहा है कि ब्रह्म की महिमा नित्य है, यह कर्म से न बढ़ती है न घटती है। उसी के परमपदरूपी धन को जानकर मनुष्य पापकर्म में लिप्त नहीं होता। इसलिए इस प्रकार विश्रान्त होकर तथा दमन करके, सब कामनाओं को त्यागकर श्रद्धापूर्वक आत्मा में आत्मा को देखे। ऐसा पुरुष इस सबको देखता है। उसका यह सब जगत् आत्मा हो जाता है। वह इस सब जगत् का आत्मा हो जाता है। सब पाप को तर लेता है। पाप इसको नहीं तर पाता। यह सब पाप को जलाता है। पाप इसको नहीं जला सकता। यह पापरहित, अजर, भूखरहित, प्यास-रहित ब्राह्मण हो जाता है, जो इस रहस्य को समझता है ॥२८॥

वह यह महान्, अजन्मा आत्मा है, अन्न को खानेवाला, वसु का दान करनेवाला। जो कोई इस महान्, अज, अन्नाद और वसुदाता आत्मा को जानता है, वह सब धन (वसु) को प्राप्त करता है ॥२९॥

वह यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अभय, अमृत है। हे जनक, तुम भी ब्रह्म और अभय पद को प्राप्त हो गए।' याज्ञवल्क्य ने जब यह कहा तो जनक बोले, 'भगवन्! मैं सब विदेह-देश को आपकी भेंट करता हूँ, और अपने को भी आपकी दासता में रखता हूँ' ॥३०॥

वही एक महान्, अज, अजर, अमर, अभय, अमृत आत्मा है। ब्रह्म अभय है। जो इस रहस्य को समझता है, वह भी अभय और ब्रह्म के समान हो जाता है॥३१॥

मैत्रेयी-याज्ञवल्क्यसंवादः (२) (आचार्यपरम्परा च)

अध्याय ७—ब्राह्मण ३

याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं—एक मैत्रेयी, दूसरी कात्यायनी। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी; कात्यायनी साधारण स्त्रियों के समान बुद्धिवाली थी। अगले आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ लेने की इच्छा करनेवाला—॥१॥

याज्ञवल्क्य बोला, 'हे मैत्रेयी! मैं इस स्थान से जानेवाला अर्थात् संन्यासी होनेवाला हूँ। इसलिए तेरे और कात्यायनी के बीच में बँटवारा कर दूँ' ॥२॥

मैत्रेयी बोली, 'भगवन्, यदि यह सब पृथिवी धन से परिपूर्ण हो जाय, तो क्या मैं इससे अमर हो जाऊँगी?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'नहीं तो। यह तो जीवन का सहारा मात्र है। इसी प्रकार तेरा भी जीवन चलेगा। धन से अमृत की आशा तो हो नहीं सकती' ॥३॥

मैत्रेयी बोली, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसको लेकर मैं क्या करूँगी? आप (अमर होने के विषय में) जो कुछ जानते हों उसका उपदेश कीजिए' ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तू तो पहले से ही प्यारी है, और अब भी प्यारी बात कहती है। मैं अब तुझको बताता हूँ, व्याख्या करता हूँ। मैं जो व्याख्या करूँ उसपर ध्यान दे।' मैत्रेयी ने कहा,

वानिति ॥५॥ स होवाच याज्ञवल्क्यो । न वाऽअरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति॰ ॰ देवाः प्रिया भवन्ति न वाऽअरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति न वा ऽअरे यज्ञानां कामाय यज्ञाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय यज्ञाः प्रिया भवन्ति न वाऽअरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वाऽअरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा न्वरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि वाऽअरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञातऽइदꣳ सर्वं विदितम् ॥६॥ ब्रह्म तं परादात् । ॰ ॰ योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद यज्ञास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो यज्ञान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमे यज्ञा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥७॥ स यथा दुन्दुभेर्हन्य॰ ॰ ॰ ॥८॥ स यथा वीणायै॰ ॰ ॥९॥ स यथा शङ्खस्य॰ ॰ ॥१०॥ स यथार्द्रैधाग्नेर्॰ ॰ सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि दत्तꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥११॥ स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायन॰ ॰ ॥२१॥ स यथा सैन्धवघनो । ऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव स्यादेवं वाऽअरऽइदं महद्भूतमनन्तमपारं कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१३॥ सा होवाच मैत्रेयी । अत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वाऽअहमिदं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्तीति ॥१४॥ स होवाच याज्ञवल्क्यो । न वाऽअरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वाऽअरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासꣳसर्गस्त्वस्य भवति ॥१५॥ यद्वै तन्न पश्यति॰ ॥१६॥ यद्वै तन्न जिघ्रति॰ ॥१७॥ यद्वै

'महाराज ! कहिए' ॥५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अरे पति के लिए पति प्यारा नहीं, आत्मा के लिए ही पति प्यारा होता है।……देवों के लिए देव प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए देव प्यारे होते हैं। वेदों के लिए वेद प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए वेद प्यारे होते हैं। यज्ञों के लिए यज्ञ प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए यज्ञ प्यारे होते हैं। प्राणियों के लिए प्राणी प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए प्राणी प्यारे होते हैं। यह सब जगत्, जगत् के लिए प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिए प्यारा होता है। आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य, विचारने योग्य और ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयी ! आत्मा के ही देखने, सुनने, विचारने और जानने से यह सब जाना जाता है ॥६॥

जिसने आत्मा से अलग ब्राह्मण को समझा, उसका ब्राह्मण ने तिरस्कार किया। जिसने आत्मा से अलग क्षत्रिय को समझा, उसका क्षत्रिय ने तिरस्कार किया। जिसने लोकों को आत्मा से अलग समझा, उसका लोकों ने तिरस्कार किया। देवों ने उसका तिरस्कार किया जिसने देवों को आत्मा से अलग समझा। वेदों ने उसका तिरस्कार किया जिसने वेदों को आत्मा से अलग समझा। यज्ञों ने उसका तिरस्कार किया जिसने यज्ञों को आत्मा से अलग समझा। भूतों ने उसका तिरस्कार किया जिसने भूतों को आत्मा से अलग समझा। सब जगत् ने उसका तिरस्कार किया जिसने सब जगत् को आत्मा से अलग समझा। यह जो आत्मा है वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही ये लोक हैं, वही देव हैं, वही वेद हैं, वही यज्ञ हैं, वही भूत हैं, वही यह सब जगत् है ॥७॥

जैसे दुन्दुभि बजाने पर शब्द नहीं पकड़ा जा सकता, दुन्दुभि के ही पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥८॥

जैसे वीणा बजाने पर शब्द नहीं पकड़ा जा सकता, केवल वीणा के पकड़ने पर ही शब्द पकड़ा जाता है ॥९॥

जैसे शंख के बजाने पर शब्द नहीं पकड़ा जा सकता, शंख के पकड़ने पर ही शब्द पकड़ा जाता है ॥१०॥

जैसे गीली लकड़ी के जलाने से धुआँ निकलता है, इसी प्रकार इस महान् अस्तित्व के श्वास-प्रश्वास हैं जो ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, दिया हुआ दान, किया हुआ हवन, खिलाया-पिलाया हुआ, यह लोक, परलोक और सब भूत इसी के श्वास-प्रश्वास हैं ॥११॥

जैसे समुद्र सब जलों का एकमात्र घर है, जैसे सब स्पर्शों का त्वचा एकमात्र घर है, जैसे सब गन्धों का नाक एकमात्र घर है, जैसे सब रसों का जीभ एकमात्र घर है, जैसे सब रूपों का आँख एकमात्र घर है, जैसे सब शब्दों का कान एकमात्र घर है, जैसे सब संकल्पों का मन एकमात्र घर है, जैसे सब विद्याओं का हृदय एकमात्र घर है, जैसे सब कर्मों का हाथ एकमात्र घर है, जैसे सब आनन्दों का उपस्थ एकमात्र घर है, जैसे सब मलत्याग करने की क्रियाओं का पायु (गुदा) एकमात्र घर है, जैसे सब गतियों का पैर एकमात्र घर है, जैसे सब वेदों का वाणी एकमात्र घर है ॥१२॥

जैसे नमक जल में घुल जाता है और अलग नहीं दीख पड़ता, केवल जल ही दीखता है (यद्यपि चखने में नमक जल के सभी भागों में विद्यमान है), इसी प्रकार यह अनन्त, अपार, पूर्ण महद्भूत प्रज्ञानघन है। यह इन भूतों से ही उत्पन्न होकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। मरने के पीछे यह संज्ञा नहीं रहती (अर्थात् मन की बोधनशक्ति नहीं रहती)। ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ।' याज्ञवल्क्य ने कहा ॥१३॥

मैत्रेयी बोली, 'आपके इस वचन ने तो मुझे भ्रम में डाल दिया कि मरने के पश्चात् संज्ञा नहीं रहती। मैं इसको समझी नहीं' ॥१४॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'मैं भ्रम की बात नहीं कहता। यह आत्मा तो अविनाशी है। यह अनुच्छित्तिधर्मा है (अर्थात् इसका उच्छेदन नहीं होता, यह काटा नहीं जा सकता)। इसका तो शरीर से संसर्गमात्र होता है ॥१५॥

जो निश्चय ही उसको नहीं देखता, देखता हुआ भी वह द्रष्टव्य (देखे जाने योग्य) को नहीं देखता। न द्रष्टा की दृष्टि से विपरिलोप या पार्थक्य होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो देखे ॥१६॥

, जो निश्चय ही उसको नहीं सूँघता। सूँघता हुआ भी वह घ्रातव्य (सूँघे जाने योग्य) को नहीं सूँघता। न सूँघनेवाले का घ्राण से पार्थक्य होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो सूँघे ॥१७॥

तन्न रसयति° ॥१८॥ यद्वै तन्न वदति° ॥१९॥ यद्वै तन्न शृणोति° ॥२०॥ यद्वै तन्न मनुते° ॥२१॥ यद्वै तन्न स्पृशति° ॥२२॥ यद्वै तन्न विजानाति° ॥२३॥ यत्र वा ऽअन्यदिव स्यात् । तत्रान्यो ऽन्यत्पश्येदन्यो ऽन्यज्जिघ्रेदन्यो ऽन्यद्रसयेदन्यो ऽन्यदभिवदेदन्यो ऽन्यच्छृणुयादन्यो ऽन्यन्मन्वीतान्यो ऽन्यत्स्पृशेदन्यो ऽन्यद्विजानीयात् ॥२४॥ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् । तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज ॥२५॥ अथ वꣳशः । तदिदं वयꣳ शौर्पणाय्याच्छौर्पणाय्यो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यो वात्स्याच्च पाराशर्याच्च पाराशर्यः सांकृत्याच्च भारद्वाजाच्च भारद्वाज औद्वाहेश्च शाण्डिल्याच्च शाण्डिल्यो वैजवापाच्च गौतमाच्च गौतमो वैजवापायनाच्च वैष्टपुरेयाच्च वैष्टपुरेयः शाण्डिल्याच्च रौहिणायनाच्च रौहिणायनः शौनकाच्च जैवन्तायनाच्च रैभ्याच्च रैभ्यः पौतिमाष्यायणाच्च कौण्डिन्यायनाच्च कौण्डिन्यायनः कौण्डिन्याभ्यां कौण्डिन्या ऽऔर्णवाभेभ्य और्णवाभाः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः कौण्डिन्याच्चाग्निवेश्याच्च ॥२६॥ आग्निवेश्यः सैतवात् । सैतवः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजो वलाकाकौशिकाद्वलाकाकौशिकः काषायणात्काषायणः सौकरायणात्सौकरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिर्घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयात् ॥२७॥ आत्रेयो माण्टेः । माण्टिर्गौ-

जो निश्चय ही उसको नहीं चखता। जानता हुआ भी वह इसको नहीं चखता। न चखने वाले का रस से पार्थक्य ही होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो चखे ॥१८॥

जो निश्चय ही उसको नहीं कहता। कहता हुआ भी वह वक्तव्य (कहे जाने योग्य) को नहीं कहता। न वक्ता का वाणी से पार्थक्य ही होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो कहे ॥१९॥

जो निश्चय ही उसको नहीं सुनता। सुनता हुआ भी वह श्रोतव्य (सुने जाने योग्य) को नहीं सुनता। न श्रोता का श्रुति से पार्थक्य ही होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो सुने ॥२०॥

जो निश्चय ही उसको नहीं सोचता। सोचता हुआ भी वह मन्तव्य (सोचे जाने योग्य) को नहीं सोचता। न सोचनेवाले का मति से पार्थक्य ही होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो सोचे ॥२१॥

जो निश्चय ही उसको नहीं छूता। छूता हुआ भी वह स्प्रष्टव्य (छूए जाने योग्य) को नहीं छूता। न छूनेवाला का स्पृष्टि(स्पर्श-ज्ञान)से पार्थक्य ही होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो छुए ॥२२॥

जो निश्चय ही उसको नहीं जानता। जानता हुआ भी वह विज्ञेय (जाने जाने योग्य) को नहीं जानता। न विज्ञाता का विज्ञान से पार्थक्य ही होता है, अविनाशी होने के कारण। उसका कोई दूसरा भी नहीं है, जिससे अपने से भिन्न जो जाने ॥२३॥

जहाँ अन्य हो वहाँ अन्य अन्य को देखे, अन्य अन्य को सूँघे, अन्य अन्य को चक्खे, अन्य अन्य का कथन करे, अन्य अन्य को सुने, अन्य अन्य को सोचे, अन्य अन्य को छुए, अन्य अन्य को जाने ॥२४॥

जब सभी इसका आत्मामात्र ही होवे, तो किससे किसको देखे, किससे किसको सूंघे, किससे किसको चक्खे, किससे किसका कथन करे, किससे किसको सुने, किससे किसको सोचे, किससे किसको छुए, किससे किसको जाने, जिससे इस सबको जानते हैं उसको किससे जाने, जाननेवाले को किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयी! यही अनुशासन मैंने तुमको दिया। यह सब तो अमृतत्व ही है।' ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य ने घर छोड़ दिया ॥२५॥

अब वंश कहते हैं। हम लोग शौर्प्पणाय्य से हैं। 'शौर्प्पणाय्य' गौतम से, 'गौतम' वात्स्य से, 'वात्स्य' वात्स्य पाराशर्य से, 'पाराशर्य' सांकृत्य भारद्वाज से, 'भारद्वाज' औदवाहि शाण्डिल्य से, 'शाण्डिल्य' वैजवाप गौतम से, 'गौतम' वैजपायन वैष्टपुरेय से, 'वैष्टपुरेय' शाण्डिल्य रौहिणायन से, 'रौहिणायन' शौनाक जैवन्तायन रैभ्य से, 'रैभ्य' पौतिमाष्यायण-कौण्डिन्यायन से, 'कौण्डि-न्यायन' दो कौण्डिन्यों से, 'कौण्डिन्य लोग' और्णवाभों से, 'और्णवाभ लोग' कौण्डिन्य से, 'कौण्डिन्य' कौण्डिन्य से, 'कौण्डिन्य' कौण्डिन्य अग्निवेश्य से ॥२६॥

'अग्निवेश्य' सैतव से, 'सैतव' पाराशर्य से, 'पाराशर्य' जातूकर्ण्य भारद्वाज से, 'भारद्वाज' भारद्वाज आसुरायण गौतम से, 'गौतम' भारद्वाज से, 'भारद्वाज' वलाका कौशिक से, 'वलाका कौशिक' काषायण से, 'काषायण' सौकरायण से, 'सौकरायण' त्रैवणि से, 'त्रैवणि' औपजन्धनि से, 'औपजन्धनि' सायकायन से, 'सायकायन' कौशिकायनि से, 'कौशिकायनि' घृतकौशिक से, 'घृत-कौशिक' पाराशर्यायण से, 'पाराशर्यायण' पाराशर्य से, 'पाराशर्य' जातूकर्ण्य से, 'जातूकर्ण्य' भारद्वाज से, 'भारद्वाज' भारद्वाज आसुरायण यास्क से, 'आसुरायण' त्रैवणि से, 'त्रैवणि' औपजन्धनि से, 'औपजन्धनि' आसुरि से, 'आसुरि' भारद्वाज से, 'भारद्वाज' आत्रेय से ॥२७॥

'आत्रेय' माण्टि से, 'माण्टि' गौतम से—

तमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥२८॥ ब्राह्मणम् ॥३ [७. ३.] ॥ सप्तमोऽध्यायः [१८.] ॥ ॥

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥४ [८. १.] ॥ ॥

त्रयाः प्राजापत्याः । प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः ॥१॥ उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुः । ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥२॥ ॥ शतम्७५०० ॥ ॥ अथ हैनं मनुष्या ऊचुः । ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥३॥ अथ हैनमसुरा ऊचुः । ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्दद द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥५ [८. २.] ॥ ॥

'गौतम' गौतम से, 'गौतम' वात्स्य से, 'वात्स्य' शाण्डिल्य से, 'शाण्डिल्य' कैशोर्यकाप्य से, 'कैशोर्यकाप्य' कुमारहारित से, 'कुमारहारित' गालव से, 'गालव' विदर्भी कौण्डिन्य से, 'विदर्भी कौण्डिन्य' वत्सनपात् बाभ्रव से, 'वात्सनपात् बाभ्रव' पन्थासौभर से, 'पन्थासौभर' अयास्य आंगिरस से, 'अयास्य आंगिरस' आभूतित्वाष्ट्र से, 'आभूतित्वाष्ट्र' विश्वरूपत्वाष्ट्र से, 'विश्वरूपत्वाष्ट्र' दो अश्विनों से, 'दो अश्विन्' दधीच आथर्वण से, 'दधीच आथर्वण' आथर्वणदैव से, 'अथर्वादैव' मृत्यु प्राध्वंसन से, 'मृत्यु प्राध्वंसन' प्राध्वंसन से, 'प्राध्वंसन' एकर्षि से, 'एकर्षि' विप्रजित्ति से, 'विप्रजित्ति' व्यष्टि से, 'व्यष्टि' सनारु से, 'सनारु' सनातन से, 'सनातन' सनग से, 'सनग' परमेष्ठी से, 'परमेष्ठी' ब्रह्म स्वयं से, नमस्कार हो ब्रह्म के लिए ।।२८।।

पूर्णस्य प्रतिपादनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १

वह (ब्रह्म) पूर्ण है। यह (जगत्) भी पूर्ण है। पूर्ण (ब्रह्म) से पूर्ण (जगत्) उत्पन्न होता है। पूर्ण (ब्रह्म) में से पूर्ण (जगत्) को निकाल लेने के पश्चात् पूर्ण (ब्रह्म) ही बच रहता है (अर्थात् पूर्ण ब्रह्म ने पूर्ण जगत् को बनाया और प्रलय के पश्चात् पूर्ण ब्रह्म शेष रहता है। तात्पर्य यह है कि जगत् के उत्पादन तथा प्रलय से ब्रह्म की पूर्णता में कुछ भेद नहीं पड़ता, न उसमें कमी या बढ़ती होती है)। उस ब्रह्म को 'ओ३म्' और 'ख' (आकाश के समान व्यापक) कहते हैं। यह 'ख' नित्य है। कौरव्यायणी पुत्र कहा करते थे कि 'वायुरं खं' अर्थात् आकाश वायु का स्थान है (या ब्रह्म जीवों की गति का आधार है)। यही वेद है। ऐसा विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। इसी के द्वारा उस सबको जानना चाहिए जो जानने के योग्य है ।।१।।

दम-दान-दयानां प्रतिपादनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण २

प्रजापति की तीन सन्तान देव, मनुष्य और असुर पिता प्रजापति की सेवा में ब्रह्मचर्यव्रत के पालनार्थ उपस्थित हुए ।।१।।

ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने के पश्चात् देव बोले, 'हमको उपदेश दीजिए।' उसने उनको एक 'द' अक्षर कह दिया और पूछा, 'क्या तुम समझ गए?' 'हाँ, हम समझ गए। आपने हमको कहा है कि आत्म-दमन करो।' प्रजापति ने कहा, 'ठीक है, तुम ठीक समझे' ।।२।।

अब मनुष्यों ने उससे कहा, 'आप हमको उपदेश दीजिए।' प्रजापति ने उनको भी एक अक्षर 'द' कहा और पूछा, 'क्या तुम समझ गए?' उन्होंने कहा, 'हाँ समझ गए। आपका उपदेश है कि दान करो।' प्रजापति ने कहा, 'हाँ, ठीक है। तुम ठीक समझे' ।।३।।

अब असुरों ने उससे कहा, 'आप हमको उपदेश दीजिए।' प्रजापति ने उनको भी केवल एक अक्षर 'द' कहकर पूछा, 'क्या तुम समझ गए?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ, समझ गए। आपने कहा है कि दया किया करो।' प्रजापति ने कहा, 'हाँ, ठीक समझे।' यही दैवी वाणी बादल की गर्ज में भी 'द' 'द' 'द' करके गर्जती है, अर्थात् आत्मदमन करो, दान करो, दया करो। इस तीन अक्षरवाली शिक्षा को मानना चाहिए—दम, दान और दया ।।४।।

वायुरनिलममृत भस्मान्तᳬ शरीरम् । ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मराग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेमेति ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥६ [८. ३.] ॥ ॥

एष प्रजापतिर्यद्धृदयम् । एतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरᳬ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥७ [८. ४.] ॥ ॥

तद्वै तदेतदेव तदास । सत्यमेव स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमांल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यᳬ ह्येव ब्रह्म ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥८ [८. ५.] ॥ ॥

आप एवेदमग्रऽआसुः । ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् ॥१॥ ते देवाः सत्यमित्युपासते । तदेतत्त्र्यक्षरᳬ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमेऽअक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतᳬ सत्येन परिगृहीतᳬ सत्यभूयमेव भवति नैवंविद्वाᳬसमनृतᳬ हिनस्ति ॥२॥ तद्यत्तत्सत्यम् । असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिर्वाऽएषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥३॥ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः । तस्य भूरिति शिर एकᳬ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वेऽएतेऽअक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वेऽएतेऽअक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ।४॥ अथ योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः । तस्य भूरिति शिर एकᳬ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वेऽएतेऽअक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वेऽएतेऽअक्षरे

योगिनोऽन्तकाले प्रार्थना

अध्याय ८—ब्राह्मण ३

वायु अर्थात् जीव (अनिलम्) अभौतिक और अमृत है। यह शरीर विनाशवान् है (भस्म है अन्त में जिसके, ऐसा)। हे जीव, ओ३म् को याद कर! सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए याद कर! किये हुए को याद कर! हे पूजनीय देव, आप सब अवस्थाओं को जानते हैं, हमको धन की प्राप्ति के लिए अच्छे मार्ग पर चलाइये और हमसे दुष्ट पाप को दूर रखिए। आपको हम बहुत नमस्कार करते हैं ॥१॥

हृदयस्य ब्रह्मत्वेनोपासनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ४

यह जो हृदय है वही प्रजापति है। यही ब्रह्म है। यही सब-कुछ है। इसमें तीन अक्षर हैं—हृ, द, य। एक अक्षर 'हृ' है, जो इसको जानता है उसके लिए अपने और पराये सेवार्थ उपस्थित रहते हैं। 'द' दूसरा अक्षर है, जो इसको जानता है उसके लिए अपने और पराये दान देते हैं। 'य' तीसरा अक्षर है, जो इसको जानता है वह स्वर्गलोक को जाता है ॥१॥

ब्रह्मणः सत्यत्वेनोपासनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ५

यही तत् या ब्रह्म है। यही सत्य है। जो इस बड़े, पूजनीय (यक्ष), सबसे बड़े सत्य ब्रह्म को जानता है, वह इन लोकों को जीत लेता है। उसका जो कोई शत्रु होता है उसको भी, क्योंकि यह सत्य ही ब्रह्म है ॥१॥

ब्रह्मणः प्रथमजत्वप्रतिपादनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ६

पहले जल ही थे। इन जलों ने सत्य को उत्पन्न किया, सत्य ने ब्रह्म को, ब्रह्म ने प्रजापति को, प्रजापति ने देवों को ॥१॥

वे देव सत्य की ही उपासना करते हैं। 'सत्यम्' में तीन अक्षर होते हैं—एक 'स', दूसरा 'ति', तीसरा 'अम्'। पहला और पिछला अक्षर तो 'सत्य' है और बीच का 'अनृत' है। इस प्रकार 'अनृत' सत्य से घिरा हुआ है। सत्य के सहारे ही झूठ बढ़ता है। जो इस रहस्य को जानता है, उसको झूठ सता नहीं सकता ॥२॥

यह जो (यत्) है वह सत्य है। यह आदित्य है जो इस मण्डल में पुरुष है, और जो यह दाहिनी आँख में पुरुष है, ये दोनों एक-दूसरे के सहारे ठहरे हुए हैं। यह आदित्य इस (आँख) में किरणों द्वारा प्रतिष्ठित है, और यह आँख का पुरुष उस (आदित्य) में प्राणों द्वारा। जब यह निकलनेवाला होता है, तो इस शुद्ध मण्डल को देखता है। ये किरणें उस तक वापस नहीं आतीं ॥३॥

जो यह इस मण्डल में पुरुष है उसका सिर 'भूः' है, सिर एक ही होता है और यह अक्षर भी एक ही है। उसके बाहु 'भुवः' है। बाहु दो होते हैं। इसमें भी दो अक्षर हैं। उसके प्रतिष्ठा अर्थात् पैर 'स्वर' हैं। क्योंकि पैर दो होते हैं, ये स्वर भी दो हैं। 'अहर्' (या दिन) इसका रहस्य है। जो इसको जानता है, वह पाप को छोड़ देता है ॥४॥

यह जो दाहिनी आँख में पुरुष है, उसका सिर 'भूः' है। सिर एक होता है, यह अक्षर भी एक है। भुजाएँ 'भुवः' हैं। भुजाएँ भी दो होती हैं और 'भुवः' में भी दो अक्षर हैं। पैर 'स्वः' हैं। पैर भी दो होते हैं और स्वः में भी दो अक्षर हैं।

तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥५॥ ब्राह्मणम् ॥९ [८. ६.] ॥ ॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुः । विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनꣳ सर्वस्मात्पाप्मनो य एव वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥१॥ ब्राह्मणम ॥१० [८. ७.] ॥ ॥

मनोमयोऽयं पुरुषो । भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषः स एष सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च य एवं वेद ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥११ [८. ८.] ॥ ॥

वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वार स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥१२ [८. ९.] ॥ ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो । योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैतं घोषꣳ शृणोति ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥१३ [८. १०.] ॥ ॥

एतद्वै परमं तपो । यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥१४ [८. ११.] ॥ ॥

यदा वै पुरुषो । ऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथाडम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोक-

उसका रहस्य है अहम् (या ममत्व)। जो इसको जानता है उसको पाप नहीं सताता ।।५।।

यहाँ 'अहर्' और 'अहम्' दोनों को 'ह' से निकाला है। आदित्य के साथ 'अहर्' (दिन) का सम्बन्ध है और दाहिनी आँख के पुरुष के साथ अहम् (मैं) का ।।५।।

विद्युद्ब्रह्मेत्युपासनविधानम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ७

कहते हैं कि ब्रह्म विद्युत् है। विद्युत् निकला है विदान से। जो फाड़ डाले वह विद्युत्। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पापों को फाड़ देता है। ब्रह्म विद्युत् है। ब्रह्म विद्युत् ही है ।।१।।

मनोमयस्य पुरुषस्य प्रतिपादनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ८

यह पुरुष मनोमय है। वह सत्य प्रकाश है। वह हृदय में है। जैसे चावल या जौ, इसी प्रकार यह पुरुष शरीर के भीतर है। यह सबको वश में रखनेवाला, सबका स्वामी, सबका अधिपति है। जो इस रहस्य को समझता है, वह सब जगत् पर शासन करता है ।।१।।

वाग्धेनुः ब्रह्मेत्युपास्तिः

अध्याय ८—ब्राह्मण ९

वाणीरूपी गाय की उपासना करो। उसके चार थन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। इसके दो थनों अर्थात् स्वाहाकार और वषट्कार से देव अपनी जीविका करते हैं, 'हन्तकार' से मनुष्य और स्वधाकार से पितर। इस वाणीरूपी गौ का बैल प्राण है और बछड़ा मन ।।१।।

वैश्वानराग्नेः ब्रह्मण उपासनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १०

यह जो पुरुष के भीतर अग्नि है वह वैश्वानर है। इससे अन्न पचता है। यह जो अन्न खाया जाता है, उसका घोष अर्थात् शब्द हो जाता है, जो कानों में पड़कर सुनाई देता है। जब पुरुष मरनेवाला होता है, तो शब्द सुनाई नहीं देता ।।१।।

परमतपो निरूपणम्

अध्याय ८—ब्राह्मण ११

जो दुःख रोग से उत्पन्न होता है, वह बहुत बड़ा दुःख है। जो तत्त्व को समझता है वह इस लोक को जीत लेता है। यह विचारकर बड़ा दुःख होता है कि लोग मरने के पश्चात् लाश को ले जा रहे हैं। जो तत्त्व को समझता है वह इस लोक को जीत लेता है। यह विचार करके और भी दुःख होता है कि लोग लाश को आग में जला रहे हैं। जो तत्त्व को समझता है वह इस लोक को जीत लेता है ।।१।।

लोकात्प्रेतिगतिकथनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १२

जब पुरुष इस लोक से जाता है तो पहले वायु में जाता है। वायु उसके लिए उसी प्रकार स्थान छोड़ देता है जैसे रथ के पहिये के लिए। उस स्थान से ऊपर चढ़कर वह सूर्य में जाता है। सूर्य उसको उसी प्रकार स्थान दे देता है जैसे नगाड़े को। उससे ऊपर चढ़कर वह चन्द्र में जाता है। चन्द्र उसके लिए उसी प्रकार स्थान छोड़ देता है जैसे दुन्दुभी को। वहाँ से ऊपर चढ़कर वह उस लोक में पहुँचता है जो सर्वथा शोकररहित है।

महिमं तस्मिन्वसति शश्वतीः समाः ॥१॥ ब्राह्मणम् ॥१५ [८. १२.] ॥ ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येकऽआहुः । तन्न तथा पूयति वाऽअन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येकऽआहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतः ॥१॥ तद्ध स्माह प्रातृदः पितरम् । किंᳪ स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यात्किमेवास्माऽअसाधु कुर्यादिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति ॥२॥ तस्माऽउ हैतदुवाच । वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रतानि सर्वाणि ह वाऽअस्मिन्भूतानि विशन्ते सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥३॥ ब्राह्मणम् ॥१६ [८. १३.] ॥ ॥

उक्थम् । प्राणो वाऽउक्थं प्राणो हीदᳪ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्माऽउक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यᳪ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥१॥ यजुः । प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यᳪ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥२॥ साम । प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मिन्त्सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यᳪ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥३॥ क्षत्रम् । प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमात्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यᳪ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥४॥ ब्राह्मणम् ॥१७ [८. १४.] ॥ षष्ठः प्रपाठकः । कण्डिकासंख्या१२१ ॥ ॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरिति । अष्टावक्षराण्यष्टाक्षरᳪ ह वाऽएकं गायत्र्यै पदमेतदु हास्या एतत्स यावदेषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥१॥ ऋचो यजूᳪषि सामानीति । अष्टावक्षराण्यष्टाक्षरᳪ ह वाऽएकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद

वहाँ वह अनन्त वर्षों तक रहता है ॥१॥

अन्नं ब्रह्मेति प्राणो ब्रह्मेत्युपासनविधानम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १३

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है। ऐसा नहीं है, अन्न तो प्राण के बिना सड़ जाता है। कोई कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है। ऐसा नहीं है, प्राण तो अन्न के बिना सूख जाता है। ये दोनों देवता एक होकर उन्नति को प्राप्त होते हैं ॥१॥

प्रातृद ने अपने बाप से पूछा, 'क्या तत्त्व जाननेवाले के साथ मैं कोई भलाई कर सकता हूँ, या बुराई कर सकता हूँ?' बाप ने हाथ के इशारे से उत्तर दिया, 'हे प्रातृद, ऐसा मत कहो! क्या कोई इन (अन्न और प्राण) के एक होने मात्र से परम पद पा सकता है?' ॥२॥

(प्रातृद ने पूछा, 'तो किस प्रकार?') पिता ने उत्तर दिया, 'वि'। 'वि' नाम है अन्न का। 'वि' अर्थात् अन्न के ही सब प्राणी आश्रित हैं। 'रम्' प्राण 'रम्' है। प्राण में ही ये सब प्राणी रमे हुए हैं। जो इस तत्त्व को समझता है, उसमें सब प्राणी प्रवेश करते हैं। उसमें सब प्राणी रमण करते हैं ॥३॥

प्राणो वा उक्थमिति प्रतिपादनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १४

अब 'उक्थ' का वर्णन करते हैं। प्राण उक्थ है। प्राण ही इन सबको उठाए हुए हैं। जो तत्त्व को समझता है उसके 'उक्थ' का जाननेवाला पुत्र उत्पन्न होता है। वह उक्थ के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है ॥१॥

अब 'यजु' का वर्णन करते हैं। प्राण यजु है। प्राण में ही ये सब प्राणी 'युक्त' हैं। जो इस तत्त्व को समझता है, उसकी श्रेष्ठता के कारण सब प्राणी उससे मिले रहते हैं। वह यजु के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

अब 'साम' का वर्णन करते हैं। प्राण साम है। प्राण के कारण ही सब प्राणी मिले हुए हैं। जो इस रहस्य को समझता है, उसकी श्रेष्ठता के कारण सब प्राणी उससे मिले रहते हैं। वह साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है ॥३॥

अब 'क्षत्र' का वर्णन करते हैं। प्राण 'क्षत्र' है। क्योंकि यह प्राण (क्षणितः) शस्त्र से शरीर को बचाता है। जो इस तत्त्व को समझता है, वह क्षत्र की प्राप्ति करता है और क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को पा जाता है ॥४॥

गायत्री-ब्रह्मोपासनम्

अध्याय ८—ब्राह्मण १५

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः, ये आठ अक्षर हुए। गायत्री के पद में भी आठ अक्षर होते हैं। गायत्री के पद में भी भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः लोक के गुण हैं। जो गायत्री के इस पद को समझता है, वह इन लोकों को जीत लेता है ॥१॥

ऋक्, यजुः, साम, ये आठ अक्षर हुए। गायत्री के पद में भी आठ अक्षर होते हैं। गायत्री के पद में भी वह सब-कुछ है जो त्रयी विद्या अर्थात् ऋक्, यजु और साम में है। जो गायत्री के इस पद को समझता है वह इन सबको जीत लेता है ॥२॥

॥२॥ प्राणोऽपानो व्यान इति । अष्टावक्षराण्यष्टाक्षरᳫं ह वाऽएकं गायत्र्यै पद-मेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥३॥ अथास्या एतदेव । तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृशऽइव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येष रज उपर्युपरि तपत्येवᳫं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥४॥ सैषा गाय-त्र्येतस्मिंस्तुरीये । दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठिता चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौ-षमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्माऽएव श्रद्दध्यात् ॥५॥ तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितम् । प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलᳫं सत्यादोजीय इ-त्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥६॥ सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गया-स्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूमन्वाहैषैव सा स यस्माऽअन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते ॥७॥ ताᳫं हैके । सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वा-गनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेवानुब्रूयाद्यदि ह वाऽअपि बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकं चन पदं प्रति ॥८॥ स य इमांस्त्री-ल्लोकान् । पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केन चनाप्यं कुत उऽएतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥९॥ तस्या उपस्थानम् । गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे

नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्याद-सावस्मै कामो मा समर्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्माऽएवमुप-तिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥१०॥ एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो । बुडिलमाश्व-

प्राण, अपान और व्यान, ये आठ अक्षर हुए। गायत्री के एक पद में भी आठ पद होते हैं। गायत्री के इस पद में वे सब गुण हैं, जो प्राण, अपान और ब्यान में हैं। जो गायत्री के इस पद को समझता है, वह सब प्राणियों को जीत लेता है ॥३॥

गायत्री का चौथा पद 'दर्शत' है। यह परोरजा है, क्योंकि यह सबके ऊपर प्रकाश की किरणें डालता है। जो गायत्री के इस पद को समझता है, वह श्री और यश के साथ प्रकाशित होता है ॥४॥

यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरज पद में प्रतिष्ठित है। यह पद सत्य में प्रतिष्ठित है। चक्षु सत्य है। चक्षु ही सत्य है। इसीलिए जब दो मनुष्यों में झगड़ा होता है कि यह सच्चा है कि वह सच्चा, तो जो यह कहे कि मैंने आँख से देखा है वही सच्चा माना जाता है। जो कहे कि मैंने सुना है उसको इतना सच्चा नहीं मानते ॥५॥

वह सत्य बल के ऊपर प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है। बल प्राण पर प्रतिष्ठित है। इस-लिए कहते हैं कि बल सत्य से अधिक ओजवाला है। इस प्रकार गायत्री अध्यात्म पर प्रतिष्ठित है ॥६॥

गायत्री इसीलिए कहते हैं कि वह 'गयों' का 'त्राण' (रक्षा) करती है। 'गय' कहते हैं प्राण को। वह प्राणों की रक्षा करती है। आचार्य जिस सावित्री का उपदेश करता है वह यही गायत्री है। यह उसके प्राणों की रक्षा करती है, जिसको सिखाई जाती है ॥७॥

कुछ लोग गायत्री को अनुष्टुभ बताते हैं। वाक् अनुष्टुभ है। गायत्री भी तो वाणी ही है। परन्तु ऐसा न करे। गायत्री को सावित्री ही कहे। यदि किसी को बहुत बड़ी सम्पत्ति भी मिल जाय, तो भी वह गायत्री के एक पद के बराबर नहीं है ॥८॥

यदि किसी के पास तीन लोकों की सम्पत्ति आ जाय, तो भी उसको गायत्री के पहले पद से अधिक नहीं मिलेगा। जितनी त्रयी विद्या है, वह सब प्राप्त हो जाय तो भी गायत्री के दूसरे पद से अधिक नहीं। जितना प्राणीवर्ग है, वह सब मिल जाय तो मानो गायत्री का तीसरा पद मिल गया। उसका चौथा पद 'दर्शत', 'परोरजा' किसी से प्राप्य नहीं है। इतना तो कोई प्राप्त कर ही नहीं सकता ॥९॥

गायत्री की प्रशंसा (उपस्थान) में यह मंत्र है—हे गायत्री, तू एकपदी है, द्विपदी है, त्रिपदी है, चार-पदी है। तू (पूर्णरीत्या) प्राप्त नहीं होती (अपत् है)। तेरे चौथे, दर्शत, परोरजा पद के लिए नमस्कार हो! यदि इस तत्त्व को जाननेवाला किसी के साथ द्वेष करे और चाहे कि इसकी कामना पूरी न हो, या कहे कि 'इसकी कामना मुझको प्राप्त हो' तो उसकी कामना पूरी न होवे ॥१०॥

जनक ने आश्वतराश्वि बुडिल से कहा—

तरामश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविद्ब्रूथा अथ कथᳬं हस्ती भूतो वहसीति मुखᳬं ह्यस्याः सम्राण्न विदां चकरेति होवाच ॥११॥ तस्या अग्निरेव मुखम् । यदि ह वाऽअपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवᳬं हैवेवंविद्यद्यपि बह्विव पापं करोति सर्वमेव तत्सम्प्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः सम्भवति ॥१२॥ ब्राह्मणम् ॥१ [८. १५.] ॥ अष्टमोऽध्यायः [११.] ॥ ॥

श्वेतकेतुर्ह वाऽआरुणेयः । पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा३ऽइति स भो३ऽइति प्रतिशुश्रावानुशिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥ वेत्थ यथेमाः प्रजाः । प्रयत्यो विप्रतिपद्यान्ता३ ऽइति नेति होवाच वेत्थ यथेमं लोकं पुनरापद्यान्ता३ ऽइति नेति हैवोवाच वेत्थ यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः-पुनः प्रयद्भिर्न सम्पूर्यता३ ऽइति नेति हैवोवाच ॥२॥ वेत्थ यतिथ्यामाहुत्याᳬं हुतायाम् । आपः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ ऽइति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा ॥३॥ अपि हि नऽऋषेर्वचः श्रुतम् । द्वे सृतीऽअशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकं चन वेदेति होवाच ॥४॥ अथ हैनं वसत्योपमन्त्रयां चक्रे । अनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तᳬं होवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोच इति कथᳬं सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान्राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकं चन वेदेति होवाच कतमे तऽइतीमऽइति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥५॥ स होवाच । तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किं च वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति ॥६॥ स आजगाम गौतमो । यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्माऽआसनमाहार्योदकमा-

'यदि तू कहता है कि मैं गायत्री जानता हूँ, तो हाथी होकर भार क्यों ढोता है ?' उसने उत्तर दिया, 'हे राजाओं के राजा ! मैंने गायत्री के मुख को नहीं जाना' ।।११।।

अग्नि ही उसका मुख है। जैसे जलती हुई आग में जितनी लकड़ी डाली जाती है, वह सब भस्म हो जाती है, इसी प्रकार इस रहस्य के समझनेवाले ने चाहे कितने ही पाप क्यों न किये हों, उन सबको भस्म करके वह शुद्ध पवित्र निकल आता है ।।१२।।

पञ्चाग्निविद्या [श्वेतकेतु-प्रवाहण-गौतम-संवादः]

अध्याय ९—ब्राह्मण १

आरुणेय श्वेतकेतु पंचालों की परिषद् में आया। वह जैवल प्रवाहण के पास आया, जब वह राजपुरुषों के बीच में बैठा था। उसको देखकर राजा ने कहा, 'हे कुमार !' वह बोला, 'भगवन् ?' 'क्या तेरे बाप ने तुझे कुछ पढ़ाया है ?' उसने उत्तर दिया 'हाँ' ।।१।।

'क्या तू जानता है कि ये प्रजायें मरकर जो भिन्न-भिन्न गतियों को प्राप्त होती हैं, यह किस प्रकार ?' उसने उत्तर दिया, 'नहीं।' 'क्या तू जानता है कि फिर ये इस लोक में कैसे आती है ?' उसने उत्तर दिया 'नहीं।' 'क्या तू जानता है कि बहुत-से जो इस लोक को त्याग देते हैं, फिर क्यों यहाँ नहीं लौटते ?' उसने उत्तर दिया, 'नहीं' ।।२।।

'क्या तू जानता है कि किस आहुति के देने पर जल पुरुष की वाणी होकर उठते और बोलते हैं ? उसने उत्तर दिया 'नहीं'। 'क्या तू जानता है कि देवयान का मार्ग कौन-सा है और पितृयाण का कौन-सा ? अर्थात् क्या करके लोग देवयान के मार्ग को जाते हैं और क्या करके पितृयान के मार्ग को ?' ।।३।।

'हमने ऋषि का वचन सुना है कि—मैंने दो मार्गों को सुना है—पितरों के मार्ग को और देवों के मार्ग को। इन दोनों में से एक को इस विश्व के लोग जाते हैं। इन दोनों में इतना ही अन्तर है जितना पिता में और माता में।' उसने उत्तर दिया, 'इनमें से मैं एक को भी नहीं जानता' ।।४।।

अब उसने उसको बैठने को कहा, परन्तु वह कुमार बैठने का विचार न करके वहाँ से चल दिया और पिता के पास आया और बोला, 'आपने तो मुझे कहा था कि तुम पढ़ गए ?' 'हे सुबोध ! क्या हुआ ?' 'राजाओं के साथी ने मुझसे पाँच प्रश्न किये और मुझसे एक का भी उत्तर नहीं आया।' 'कौन-से ?' 'ये।' इस प्रकार उसने एक-एक करके सब प्रश्न गिना दिये ।।५।।

उसने उत्तर दिया, 'हे प्यारे ! निश्चय जानो कि मैं जो कुछ जानता था वह सब तुमको पढ़ा दिया। अब चलो, हम दोनों चलें और ब्रह्मचर्य व्रत करें।' 'आप ही जावें' ।।६।।

गौतम वहाँ आया जहाँ प्रवाहण जैवल रहा करता था। उसने उसको आसन दिया और

हार्यां चकाराथ हास्माऽअर्घं चकार ॥७॥ स होवाच । वरं भवते गौतमाय दद्म इति स होवाच प्रतिज्ञातो मऽएष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥८॥ स होवाच । दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥९॥ स होवाच । विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोऽअश्वानां दासीनां प्रवराणां परिधानानां मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासाऽइत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्वऽउपयन्ति ॥१०॥ स होपायनकीर्त्याऽउवाच । तथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मणऽउवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥११॥ असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम । तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥१२॥ पर्जन्यो वाऽअग्निर्गौतम । तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं जुह्वति तस्या आहुतेर्वृष्टिः सम्भवति ॥१३॥ अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम । तस्य पृथिव्येव समिद्वायुर्धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ सम्भवति ॥१४॥ पुरुषो वाऽअग्निर्गौतम । तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति ॥१५॥ योषा वाऽअग्निर्गौतम । तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेः पुरुषः सम्भवति स जायते स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियतेऽथैनमग्नये हरन्ति ॥१६॥ तस्याग्निरेवाग्निर्भवति । समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा वि-

जल दिया और सत्कार करके—॥७॥

कहा, 'हे गौतम ! हम आपके लिए वर देते हैं।' उसने उत्तर दिया, 'मुझे यह आपका प्रतिज्ञात वर स्वीकार है। आपने कुमार से जो प्रश्न पूछे थे उनको मुझे बताइए' ॥८॥

उसने उत्तर दिया, 'यह तो देवों की बात है। कुछ मनुष्य-सम्बन्धी वर माँगो' ॥६॥

उसने कहा, 'आपको तो मालूम है कि मेरे पास बहुत सोना, गायें, घोड़े, दासियाँ, नौकर और कपड़े हैं। आप हमको वह वर दीजिए जो अनन्त और अपर्यन्त है।' 'हे गौतम, तुम तीर्थ द्वारा (नियम द्वारा) इसकी इच्छा रखते हो ?' 'हाँ भगवन्, मैं नियमपूर्वक शिष्य होकर आपके पास उपस्थित हुआ हूं।' इसी वाणी से पहले के लोग भी अपने गुरुओं के पास जाते थे ॥१०॥

वह वहाँ नियमपूर्वक रहा। [तब प्रवाहण जैवल ने कहा) 'गौतम ! तुम हमको अपराधी न ठहराओ, जैसे तुम्हारे पितामह ने नहीं ठहराया। यह विद्या इससे पूर्व किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही। परन्तु मैं तुमको इस विद्या का उपदेश करता हूँ, क्योंकि तुम जैसे प्रार्थना करनेवाले को कौन इन्कार कर सकता है ? ॥११॥

हे गौतम ! वह लोक अग्नि है। आदित्य उसकी समिधा हैं। किरणें धुआँ हैं। दिन लौ है। चन्द्रमा अंगारा है। नक्षत्र चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देव श्रद्धा की आहुति देते हैं। इस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है ॥१२॥

हे गौतम ! वर्षा अग्नि है। संवत्सर उसकी समिधा है। बादल धुआँ हैं। बिजली लौ है। अशनि (चमक) अंगारा है। गरज चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देव सोम की आहुति देते हैं। उस आहुति से वृष्टि होती है ॥१३॥

हे गौतम ! यह लोक अग्नि है। पृथिवी इसकी समिधा है। वायु धुआँ है। रात लौ है। दिशाएँ अंगारा हैं। उपदिशाएँ चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवलोक वृष्टि की आहुति देते हैं। इस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥१४॥

हे गौतम ! यह पुरुष ही अग्नि है। इसका मुँह समिधा है। प्राण धुआँ है। वाक् लौ हैं। आँख अंगारा है। कान चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देव अन्न की आहुति देते हैं। इस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है ॥१५॥

हे गौतम ! स्त्री अग्नि है। उसकी उपस्थ-इन्द्रिय समिधा है। लोम धुआँ है। योनि लौ है। सहवास अंगारा है और आनन्द चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवों द्वारा वीर्य की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। वह जन्मता है और जब तक आयु है जीता है। जब वह मरता है तो उसको अग्नि तक ले जाते हैं ॥१६॥

उसकी आग आग हो जाती है, समिधा समिधा, धुआँ धुआँ, लौ लौ, अंगारा अंगारा,

ष्फुलिङ्गा विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति ॥१७॥ ते यऽएवमेतद्विदुः । ये चामीऽअरण्ये श्रद्धाᳯ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्या-न्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति ॥१८॥ अथ ये यज्ञेन दानेन । तपसा लोकं जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिᳯ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमᳯ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वे-त्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्तऽआका-शाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति तऽएवमेवानुपरि-वर्तन्तेऽथ यऽएतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥१९॥ ब्राह्मणम् ॥२ [१. १.] ॥ ॥

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद । ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद । वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद ॥२॥ यो ह वै प्रतिष्ठां वेद । प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥ यो ह वै सम्पदं वेद । सᳯ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्पच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सᳯ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥४॥ यो ह वाऽआयतनं वेद । आयतनᳯ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वाऽआयतनमायतनᳯ स्वानां भवत्यायतनं

चिंगारियाँ चिंगारियाँ। इस अग्नि में देव लोग पुरुष की आहुति देते हैं। इस आहुति से प्रकाशवान् पुरुष उत्पन्न होता है ॥१७॥

जो इस रहस्य को समझते हैं और जो वन में श्रद्धा तथा सत्य की उपासना करते हैं, वे अर्चि अर्थात् लौ को प्राप्त करते हैं, लौ से दिन को, दिन से शुक्ल-पक्ष को, शुक्ल-पक्ष से उन छः मासों को जब सूर्य उत्तरायण को जाता है, उन महीनों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से विद्युत्-लोक को। मानस पुरुष विद्युत्-लोक से इनको ब्रह्म-लोकों को ले जाता है। वे महान् लोग उन ब्रह्मलोकों में बहुत काल तक रहते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥१८॥

जो यज्ञ, दान और तप से लोक को जीतते हैं, वे धुएँ को प्राप्त होते हैं, धुएँ से रात को, रात से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से उन महीनों को जब सूर्य दक्षिणायन होता है, इन महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रलोक को, वे चन्द्र को प्राप्त करके अन्न हो जाते हैं। उनका वहाँ देव उसी प्रकार भक्षण करते हैं, जैसे सोमपान करनेवाले सोम का भक्षण करते हुए कहते जाते हैं 'बढ़ो। घटो।' जब वहाँ उनका कर्म क्षीण हो जाता है, तो वे आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी को; पृथिवी को प्राप्त करके वे अन्न हो जाते हैं, फिर वे बार-बार चक्कर लगाते हैं। जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीट-पतंग और मच्छर आदि हो जाते हैं ॥१६॥

ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व-गुणविशिष्ट-प्राणोपासनम्

अध्याय ६—ब्राह्मण २

जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो इस प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह अपनों के बीच में या उनके बीच में भी, जिनको वह चाहे, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है ॥१॥

जो वसिष्ठ को जानता है, वह अपनों के बीच में वसिष्ठ हो जाता है। वाक् वसिष्ठ है। जो इस तत्त्व को समझता है, वह अपने लोगों के बीच में वसिष्ठ हो जाता है ॥२॥

जो प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठा पाता है—सम अर्थात् चौरस भूमि में भी और दुर्ग अर्थात् ऊँची-नीची भूमि में भी। आँख प्रतिष्ठा है। आँख से ही चौरस पर भी और नीचे-ऊँचे पर भी स्थित होते हैं। जो इस तत्त्व को जानता है वह चौरस पर भी स्थित होता है और ऊँचे-नीचे पर भी ॥३॥

जो संपत् को जानता है उसको जो वह चाहता है मिल जाता है। कान ही संपत् हैं, क्योंकि कान में ही सब वेद सुरक्षित हैं। जो इस तत्त्व को जानता है, वह जो चाहता है उसको वही मिल जाता है ॥४॥

जो आयतन को जानता है, वह अपने लोगों में आयतन को पा लेता है।

मनुष्यों का आयतन मन है। जो इस रहस्य को समझता है वह अपना आयतन होता है

जनानां य एवं वेद ॥५॥ यो ह वै प्रजातिं वेद । प्रजायते प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥ ते हेमे प्राणाः । अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः को नो वसिष्ठ इति यस्मिन्व उत्क्रान्तऽइदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥ वाग्घोच्चक्राम । सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा कडा अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥ चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथान्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ श्रोत्रꣳ होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥ मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥११॥ रेतो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥ अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् । यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्य वै मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥१३॥ सा ह वागुवाच । यद्वाऽअहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्व-

और लोगों का भी ॥५॥

जो प्रजापति को जानता है उसके सन्तान और पशु होते हैं। वीर्य ही प्रजापति है। जो इस तत्त्व को जानता है, उसके सन्तान और पशु होते हैं ॥६॥

ये प्राण 'मैं बड़ा हूँ' इस विषय में झगड़ा करते हुए ब्रह्म के पास गए—'हममें कौन श्रेष्ठ है ?' (ब्रह्म ने उत्तर दिया) 'तुममें से जिसके निकल जाने पर शरीर को सबसे अधिक हानि होती है, वही तुममें सबसे श्रेष्ठ है' ॥७॥

वाणी निकल गई। वह सालभर बाहर रहकर फिर आई और बोली, 'बिना मेरे तुम कैसे जीते रहे ?' वे बोले, 'जैसे गूँगे लोग वाणी से न बोलते, प्राण से साँस लेते, आँख से देखते, कान से सुनते, बुद्धि से जानते, वीर्य से सन्तान उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही हम भी जीते रहे।' तब वाणी शरीर में प्रविष्ट हो गई ॥८॥

अब आँख निकल गई और सालभर बाहर रहकर आई और बोली, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे ?' उन्होंने कहा, 'जैसे अन्धे लोग आँखों से न देखकर, प्राण से साँस लेते, वाणी से बोलते, कान से सुनते, बुद्धि से जानते, वीर्य से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, ऐसे ही हम भी जीवित रहे।' आँख शरीर में प्रविष्ट हो गई ॥९॥

अब कान चला और वर्षभर बाहर रहकर लौटा और बोला, 'तुम मेरे बिना कैसे जी सके ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'जैसे बहरे लोग कान से न सुनते हुए भी, प्राण से साँस लेते, वाणी से बोलते, आँख से देखते, बुद्धि से जानते, वीर्य से सन्तान-उत्पत्ति करते हैं, इसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' कान शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥१०॥

अब मन चल दिया और सालभर बाहर रहकर आया और कहने लगा, 'मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ?' वे बोले, 'जैसे मूढ़ लोग बुद्धि से न जानते हुए भी प्राण से साँस लेते, वाणी से बोलते, आँख से देखते, कान से सुनते, वीर्य से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इसी प्रकार हम जीवित रहे।' मन शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥११॥

अब वीर्य चल दिया और सालभर बाहर रहकर लौटा और पूछने लगा, 'मेरे बिना कैसे जीते रहे ?' उन्होंने कहा, 'जैसे नपुसंक लोग वीर्य से सन्तान उत्पन्न न करते हुए भी प्राण से साँस लेते, वाणी से बोलते, आँख से देखते, कान से सुनते, बुद्धि से जानते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे।' वीर्य भी शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥१२॥

अब प्राण ने निकलने की इच्छा की तो जैसे सिन्धु देश के अच्छे घोड़े अपने सुमों को टपटपाते हैं, इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ हिल उठीं और बोलीं, 'भगवन्, आप न जावें ! आपके बिना हम नहीं जी सकते।' 'यदि मैं ऐसा हूँ तो मुझे भेंट दो।' 'अच्छा' ॥१३॥

वाणी बोली, 'मैं इसलिए वसिष्ठ हूँ कि आप वसिष्ठ हैं।'

सिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वाऽअहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति श्रोत्रं यद्वाऽअहꣳ सम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीति मनो यद्वाऽअहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति रेतो यद्वाऽअहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किं चा श्वभ्य आ क्रिमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वाऽअस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद ॥१४॥ तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रियाः । अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते ॥१५॥ ब्राह्मणम् ॥ ३ [१. २.] ॥ ॥

स यः कामयते । महत्प्राप्नुयामित्युदगयनऽआपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति सम्भृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधायावृताज्यꣳ संस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति ॥१॥ यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदः । तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा ॥२॥ या तिरश्ची निपद्यसेऽहं विधरणीऽइति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा । प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति तृतीयां जुहोति ॥३॥ ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेति । अग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ॰ श्रोत्राय स्वाहायतनाय स्वाहेत्यग्नौ॰ मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ॰ रेतसे स्वाहेत्यग्नौ॰ ॥४॥ भूताय स्वाहेति । अग्नौ॰ भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ॰ विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ॰ सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ॰ ॥५॥ पृथिव्यै स्वाहेति । अग्नौ॰ अन्तरिक्षाय स्वाहेत्यग्नौ॰ दिवे स्वाहेत्यग्नौ॰ दिग्भ्यः स्वाहेत्यग्नौ॰ ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ॰ क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ॰ ॥६॥ भूः स्वाहेति । अग्नौ॰ भुवः स्वाहेत्यग्नौ॰ स्वः

आँख बोली, 'मैं इसलिए प्रतिष्ठित हूँ कि आप प्रतिष्ठित हैं।' कान बोला, 'मैं इसलिए सम्पत् हूँ कि आप सम्पत् हैं।' मन बोला, 'मैं इसलिए आयतन हूँ कि आप आयतन हैं।' वीर्य बोला, 'मैं इसलिए प्रजापति हूँ कि आप प्रजापति हैं।' प्राण ने कहा, 'तो मेरा क्या अन्न है, क्या स्थान है?' उन्होंने उत्तर दिया, 'ये सब घोड़ों से लेकर कृमि, कीट, पतंग तक सब आपके अन्न हैं। जल आपका स्थान है।' जो इस रहस्य को जानता है, वह अखाद्य को नहीं खाता, और न ऐसी चीज ग्रहण करता है जो लेने की न हो ।।१४।।

इसलिए विद्वान् श्रोत्रिय लोग खाने से पूर्व आचमन करते हैं और खाकर भी आचमन करते हैं। वे समझते हैं कि हमने नग्न (नंगे) को अनग्न कर दिया। इसलिए तत्त्व के जाननेवाले को चाहिए कि खाने से पहले आचमन करे, खाकर भी आचमन करे। इस प्रकार वह नग्न को भी अनग्न करता है ।।१५।।

श्रीमन्थाख्यं कर्म

अध्याय ९—ब्राह्मण ३

जिसकी इच्छा हो कि उसको बहुत्व की प्राप्ति हो, उसको चाहिए कि जब सूर्य उत्तरायण हो तो शुक्ल पक्ष के किसी शुभ दिन उपसद व्रत के बारहवें दिन उदुम्बर के या कांसे के प्याले में सब ओषधियाँ और फल मिलाकर, स्थान को लीपकर, अग्न्याधान करके घृत को शुद्ध करके पुंल्लिंग नाम वाले नक्षत्र में यह आहुति दे—।।१।।

'हे जातवेद अग्नि! जितने कुटिल देव तेरे आश्रित हैं और मनुष्य की कामनाओं में बाधा डाला करते हैं, उनके लिए मैं यह भाग देता हूँ। वे तृप्त होकर हमारी कामनाओं को तृप्त करें। स्वाहा' ।।२।।

'जो कुटिल है और अपने को समझती है कि मैं ही संसार की पोषिका (विधरणी) हूँ और जो तेरे आश्रित है, उन कामनाओं को पूर्ण करनेवाली के लिए मैं आहुति देता हूँ। स्वाहा।' तीसरी आहुति इस मन्त्र से देता है—प्रजापते न त्वदेतान्यन्य···।।३।।

'ज्येष्ठाय स्वाहा। श्रेष्ठाय स्वाहा।' इन आहुतियों को देकर शेष घी मन्थ में डाल देता है। 'प्राणाय स्वाहा। वसिष्ठायै स्वाहा।' इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है। 'वाचे स्वाहा। प्रतिष्ठायै स्वाहा।' इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है। 'चक्षुषे स्वाहा। सम्पदे स्वाहा।' इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है। 'श्रोत्राय स्वाहा। आयतनाय स्वाहा।' इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है। 'मनसे स्वाहा। प्रजात्यै स्वाहा।' इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है। 'रेतसे स्वाहा।' इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है ।।४।।

"भूताय स्वाहा···" (पूर्ववत्) "भविष्यते स्वाहा"—इत्यादि। "विश्वाय स्वाहा" इत्यादि, "सर्वाय स्वाहा" इत्यादि ।।५।।

"पृथिव्यै स्वाहा···" "अन्तरिक्षाय स्वाहा···" "दिवे स्वाहा···" "दिग्भ्यः स्वाहा···" "ब्रह्मणे स्वाहा···" "क्षत्राय स्वाहा···"।।६।।

"भूः स्वाहा···" "भुवः स्वाहा···" "स्वः स्वाहा···"

स्वाहेत्यग्नौ भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ ॥७॥ अग्नये स्वाहेति । अग्नौ सोमाय स्वाहेत्यग्नौ तेजसे स्वाहेत्यग्नौ श्रियै स्वाहेत्यग्नौ लक्ष्म्यै स्वाहेत्यग्नौ सवित्रे स्वाहेत्यग्नौ सरस्वत्यै स्वाहेत्यग्नौ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यग्नौ प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥८॥ अथैनमभिमृशति । भ्रमसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥९॥ अथैनमुद्यच्छति । आमꣳस्यामꣳ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स मा राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥१०॥ अथैनमाचामति । तत्सवितुर्वरेण्यम् मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः भूः स्वाहा ॥११॥ भर्गो देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा ॥१२॥ धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाꣳ२॥ऽअस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीः सर्वाश्च व्याहृतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य प्रक्षाल्य पाणी जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति ॥१३॥ प्रातरादित्यमुपतिष्ठते । दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति ॥१४॥ तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिः । वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिनऽउक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१५॥ एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो । मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवा ॥१६॥ एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यः । चूडाय भागवित्तयेऽन्तेवा ॥१७॥ एतमु हैव चूडो भागवित्तिः । जानकयऽआयस्थूणायान्तेवा ॥१८॥ एतमु हैव जानकिरायस्थूणः । सत्यकामाय जाबालायान्तेवा ॥१९॥ एतमु हैव सत्यकामो

"भूर्भुवः स्वः स्वाहा···" ॥७॥

"अग्नये स्वाहा···" "सोमाय स्वाहा···" "तेजसे स्वाहा" "श्रियै स्वाहा···" "लक्ष्म्यै स्वाहा···" "सवित्रे स्वाहा···" "सरस्वत्यै स्वाहा···" "विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा···" "प्रजापतये स्वाहा···" इनसे अग्नि में आहुति देकर शेष मन्थ में डाल देता है ॥८॥

अब उस (ओषधि आदि) साकल्य को छूता है—तू चलनेवाला है। तू जलनेवाला है। तू पूर्ण है। तू निश्चल है। तू एकसार है। तू बुलाया गया है। तू बुलाया जानेवाला है। तू गाया हुआ है (तेरी स्तुति की गई है)। तू गाया जानेवाला है। तू सुनाया गया है। तू सुनाया जानेवाला है। तू बादल में चमकनेवाला है। तू विभू है। तू ज्योति है। तू अन्न है। तू मृत्यु है। तू संवर्ग (ज्ञान) है ॥६॥

अब इसको उठाता है—तू समझता है। हम तुझको बड़ा समझते हैं। वह राजा है, स्वामी है, अधिपति है। वह राजा है और स्वामी मुझको अधिपति करे ॥१०॥

अब इसको चखता है—'तत्सवितुर्वरेण्यम।' वायु मधु बहाती है। ओषधियाँ हमारे लिए मधु हों। "भूः स्वाहा" ॥११॥

"भर्गो देवस्य धीमहि" हमारे लिए रात मधु हो। उषा मधु हो। पृथिवी मधु हो। अन्तरिक्ष मधु हो। पिता द्यौलोक मधु हो। "भुवः स्वाहा" ॥१२॥

"धियो यो नः प्रचोदयात्" हमारे लिए अन्न मधु हो। वनस्पति मधु हो। हमारे लिए सूर्य मधु हो। गायें मधु हों। "स्वः स्वाहा।" पूरी सावित्री हो गई। पूरी मधुमती हो गई। पूरी व्याहृतियाँ हो गईं। "अहमेवेदँ सर्वं भूयास भूर्भुवः स्वः स्वाहा" 'मैं यह सब हो जाऊँ······' इत्यादि। यह कहकर उसे खाकर हाथ धोकर पूर्व की ओर मुख करके जंघा से अग्नि को छूता है ॥१३॥

प्रातःकाल आदित्य की स्तुति करता है—'तू दिशाओं में कमल है। मैं मनुष्यों में कमल हो जाऊँ।' फिर पूर्व के समान जाँघ से अग्नि के पास बैठता है और वंश का जाप करता है ॥१४॥

आरुणि उद्दालक ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य से कहा, 'जो कोई इसको सूखे पेड़ पर डाल देगा, उसमें शाखा और पत्ते निकल आयेंगे' ॥१५॥

वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पेङ्ग्य से कहा, जो कोई···इत्यादि ॥१६॥

मधुक पेङ्ग्य ने अपने शिष्य चूडभागवित्ति से कहा, '······' ॥१७॥

चूडभागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण से कहा, '······' ॥१८॥

जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल से कहा, '······' ॥१६॥

सत्यकाम जाबाल ने शिष्यों से कहा—

जाबालो । ऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥२०॥ चतुरौदुम्बरो भवति । औदुम्बरश्चमस औदुम्बर स्रुव औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या ऽउपमन्थन्यौ ॥२१॥ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति । व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान्त्सार्धं पिष्ट्वा दध्ना मधुना घृतेनोपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥२२॥ ब्राह्मणम् ॥४ [१. ३.] ॥ ॥

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः । पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥१॥ स ह प्रजापतिरीक्षां चक्रे । हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियँ ससृजे ताँ सृष्ट्वाध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत श्रोर्ध्वेषा स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥२॥ तस्या वेदिरुपस्थो । लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्या स स्त्रीणाँ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यास्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥३॥ एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराह । एतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति यऽइदमविद्वाँसोऽधोपहासं चरन्तीति ॥४॥ बहु वाऽइदँ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति । तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥५॥ अथ यद्युदकऽआत्मानं पश्येत् । तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणँ सुकृतमिति ॥६॥ श्रीर्ह वाऽएषा

'जो कोई इसको सूखे पेड़ पर डाल देगा, उसमें शाखा और पत्ते निकल आयेंगे। इसकी शिक्षा किसी ऐसे को न दे जो शिष्य या पुत्र न हो' ।।२०।।

चारों चीजें उदुम्बर की हों—उम्दुम्बर का चमचा, उदुम्बर का स्रुवा, उदुम्बर की समिधाएँ, उदुम्बर के दोनों उपमन्थ ।।२१।।

दस ग्राम्य अन्न हों—चावल, जौ, तिल, उर्द, अणु प्रियंगव (?···), गेहूँ, मसूर, खल्व, खलकुल। इनको साथ पीसकर दही, शहद, घी मिलाकर इनकी आहुति देता है ।।२२।।

पुत्रमन्थाख्यं आचार्यपरम्परोपदेशश्च

अध्याय ९—ब्राह्मण ४

इन भूतों का रस (गति=end) पृथिवी है। पृथिवी का जल, जल की ओषधियाँ। ओषधियों का फूल, फूलों का फल, फलों का पुरुष, पुरुष का वीर्य ।।१।।

प्रजापति ने चाहा कि इस (वीर्य) के लिए प्रतिष्ठा (ठहरने का स्थान) बनाऊँ। उसने स्त्री बनाई, उसको बनाकर उसने मैथुन किया। इसलिए स्त्री के साथ मैथुन करते हैं। यह श्री है। उसने इस निकले हुए अपने कठोर अंग को बढ़ाया और इसके द्वारा उसमें गर्भ स्थापित किया ।।२।।

उसकी उपस्थ वेदी है। लोम बर्हि हैं। उसका चमड़ा सोम निचोड़ने का चर्म है। उसके मुष्क (दो अण्डकोश) बीच में जलनेवाली अग्नि है। जितना बड़ा वाजपेय यज्ञ में यजमान का लोक है, उतना ही उसका भी लोक है जो इस रहस्य को समझकर मैथुन करता है और स्त्रियों के सुकृत का हरण करता है। परन्तु जो इसको न समझकर मैथुन करता है, स्त्रियाँ उसके सुकृत को हर लेती हैं ।।३।।

यही जानकर उद्दालक आरुणि ने कहा था। यही जानकर नाक मौद्गल्य ने भी कहा था। यही समझकर कुमार हारित ने कहा था कि बहुत-से मरणशील ब्राह्मणवंशीय लोक नपुसक होकर अपने सुकृत को नष्ट करके इस लोक में चल बसते हैं, जोकि तत्त्व को न समझकर मैथुन करते हैं ।।४।।

सोते में या जागते में थोड़ा-बहुत वीर्य जो क्षीण हो जाय तो उसे छुए या (बिना छुए ही) यह मन्त्र बोले कि 'आज जो मेरा वीर्य पृथिवी में गिरा हो या ओषधियों में या जल में, उसको मैं फिर लेता हूँ। यह फिर मेरे पास आवे। फिर बल तथा तेज दे। फिर अग्नियाँ और धिष्ण्या अपना-अपना स्थान लेवें।' ऐसा कहकर अनामिका और अंगूठा से लेकर उसको छाती तथा भौंओं के बीच में लगा लेवे ।।५।।

यदि जल में अपने को देखे तो यह मन्त्र बोले—'मुझमें तेज, बल, यश, धन और पुण्य हो' ।।६।।

स्त्रियों की शोभा बढ़ जाती है,—

स्त्रीणाम् । यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामपक्रीणीयात्सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद ऽइत्ययशा एव भवति ॥७॥ स यामिच्छेत् । कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधि जायसे स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेति ॥८॥ अथ यामिच्छेत् । न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद ऽइत्यरेता एव भवति ॥९॥ ॥ शतम्७६०० ॥ ॥ अथ यामिच्छेत् । गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥१०॥ अथ यस्य जायायै जारः स्यात् । तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हि स्तीर्त्वा तस्मिन्नेतास्तिस्रः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ तऽआददेऽसाविति नाम गृह्णाति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्तऽआददेऽसाविति नाम गृह्णाति मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ तऽआददेऽसाविति नाम गृह्णाति स वाऽएष निरिन्द्रियो विसुकृदस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य जायाया उपहासं नेच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥११॥ अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् । त्र्यहं कꣳसे न पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्तऽआप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१२॥ स य इच्छेत् । पुत्रो मे गौरो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१३॥ अथ य इच्छेत् । पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा° ॥१४॥ अथ य इच्छेत् । पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं

जब वे रजस्वला होने के पश्चात् मैले कपड़े हटाती हैं। अतः मैले कपड़ों के पश्चात् यशवाली स्त्री के समीप जावे। यदि वह उसकी इच्छा पूर्ण करती हो तो उसको लालच दे। यदि तब भी वह राजी न हो तो लकड़ी या थप्पड़ से मारे और कहे कि बल से मैं तेरा यश छीनता हूँ।' इस प्रकार वह यश-शून्य (परास्त) हो जाती है ॥७॥

वह जिस स्त्री को चाहे कि वह इसके साथ रमण करे, उसके मुख से मुख मिलाकर उसके उपस्थ छूकर जपे—'तू अंग-अंग से उत्पन्न होता है। तू हृदय से उत्पन्न होता है। तू अंगों का रस है। इस स्त्री को इस प्रकार मद-युक्त करे, जैसे इसका हृदय बींध लिया गया हो' ॥८॥

जिसको चाहे कि इसके गर्भ न रहे उससे सम्पर्क मुख से मुख मिलाकर पहले प्राण वायु को और फिर अपान वायु को खींचे और कहे, 'बल और वीर्य द्वारा मैं तेरा वीर्य लेता हूँ।' इस प्रकार वह गर्भ धारण नहीं करती ॥९॥

जिसके चाहे कि गर्भ रह जाय उससे सम्पर्क करके मुख से मुख मिलाकर पहले अपान वायु को और फिर प्राण वायु को खींचे और कहे कि 'बल और वीर्य से तेरे वीर्य के द्वारा वीर्य स्थापित करता हूँ।' इस प्रकार वह गर्भिणी हो जाती है ॥१०॥

जिस किसीकी स्त्री का कोई जार हो और वह उससे द्वेष करता हो तो कच्चे बर्तन में अग्नि का आधान करके कुशों को उल्टा रखके उसमें तीन कुशों को उल्टी ओर से घी लगाकर आहुति दे कि 'हे अमुक नामी पुरुष, तूने मेरी अग्नि में आहुति दी है। अतः मैं तेरी आशा और समृद्धि का अपहरण करता हूँ। हे अमुक पुरुष, तूने मेरी अग्नि में आहुति दी है, अतः मैं तेरे पुत्र और पशुओं का अपहरण करता हूँ। हे अमुक पुरुष, तूने मेरी अग्नि में आहुति दी है, अतः मैं तेरे प्राण और अपान का अपहरण करता हूँ।' उस जार का नाम लेता जाय। यह मनुष्य नपुंसक और पुण्य-शून्य होकर इस लोक से चल देगा, यदि कोई तत्त्व का जाननेवाला श्रोत्रिय यह शाप दे तो। इसलिए कभी किसी श्रोत्रिय की स्त्री से उपहास न करे, क्योंकि तत्त्व का समझनेवाला बड़ा होता है ॥११॥

यदि किसी की स्त्री ऋतु-काल में हो तो तीन दिन तक काँसे के बर्तन में न पिये और न नये कपड़े पहने। उसको कोई पुरुष या नीच स्त्री न छुए। तीन दिन पीछे वह नहावे और धानों को छरे ॥१२॥

यदि वह चाहे कि मेरे गोरा लड़का उत्पन्न हो, और एक वेद को पढ़े और पूरी आयु का हो, तो दूध-चावल पकवाकर घी के साथ वे दोनों खायें। उनके ऐसा ही पुत्र होगा ॥१३॥

यदि वह चाहे कि मेरे कपिल और पिङ्गल लड़का हो और दो वेदों को पढ़े तथा पूरी आयुवाला हो तो दही-चावल पकवाकर घी मिलाकर दोनों खावें। उनके ऐसा ही पुत्र होगा ॥१४॥

यदि वह चाहे कि मेरा लड़का साँवला और रक्त-नेत्र हो और तीन वेदों को पढ़नेवाला हो तथा पूरी आयु तक जीये तो पानी में चावल पकवाकर घी मिलाकर खावें। उनके ऐसा ही पुत्र होगा ॥१५॥

पाचयित्वा° ॥१५॥ अथ य इच्छेत् । दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा° ॥१६॥ अथ य इच्छेत् । पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवाऽऔक्ष्णेन वार्षभेण वा ॥१७॥ अथाभिप्रातरेव । स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणीऽउदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्याम् सं जायां पत्या सहेति ॥१८॥ अथैनामभिपद्यते । ऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽअहम् सामाहमस्मि ऽऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ताविहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तयऽइति ॥१९॥ अथास्याऽऊरू विहापयति । विजिहीथां द्यावापृथिवीऽइति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके गर्भं तेऽअश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२०॥ हिरण्मयीऽअरणी । याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ देवौ तं ते गर्भं दधामहे दशमे मासि सूतवे ॥ यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति नाम गृह्णाति ॥२१॥ सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वातः पुष्करिणीꣳ समीङ्गयति सर्वतः एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा ॥ इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गडः सपरिश्रयः तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरꣳ सहेति ॥२२॥ जातेऽग्निमुपसमाधाय । अङ्कऽआधाय कꣳसे पृषदाज्यमानीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वगृहे अस्योपसन्द्यां मा छैत्सीत्प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा मयि प्राणांस्त्वयि मनसा

यदि चाहे कि मेरे ऐसी लड़की हो, जो पण्डिता हो और पूरी आयु जीये तो तिल और चावल पकवाकर घी मिलाकर खावें। उनके ऐसी ही पुत्री होगी ।।१६।।

यदि चाहे कि मेरे ऐसा पुत्र उत्पन्न हो जो पण्डित हो, कीर्तिवाला हो, सभाओं में उसका मान हो, वह अच्छी वाणी बोलता हो, सब वेदों को जाननेवाला हो, पूरी आयु का हो तो मांस-चावल पकवाकर घी मिलाकर खावें तब ऐसे ही पुत्र के उत्पन्न करने में समर्थ होंगे। मांस बैल का हो या वृषभ का ।।१७।।

अब प्रातःकाल ही स्थालीपाक के समान घी बनाकर स्थालीपाक में से लेकर एक आहुति देता है, "अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय स्वाहा, सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा।" आहुति देकर उसको लेता और खाता है। खाकर स्त्री को देता है। हाथ धोकर पात्र में जल भरकर तीन बार उसके ऊपर छिड़कता है—'हे विश्वावसु (यज्ञ), उठ और अन्य स्त्री को उसके पति के साथ ग्रहण कर' ।।१८।।

अब उसके पास जाता है—'मैं यह हूँ, तू वह है। तू वह है, मैं यह हूँ। मैं साम हूँ, तू ऋक् है। मैं द्यौ हूँ, तू पृथिवी है। आओ हम तुम दोनों मिलें। पुत्र की उत्पत्ति के लिए अपने वीर्यों को मिलावें" ।।१९।।

तब उसके जंघों को फैलाता है यह कहकर कि 'द्यौ और पृथिवी फैल जावें।' उससे सम्पर्क करके मुख-से-मुख मिलाकर उसको ऊपर से नीचे की ओर (अनुलोम रीति से) छूता है, इस मंत्र को बोलकर—"विष्णु योनि बनावे, त्वष्टा रूप बनावे। प्रजापति सींचे, धाता गर्भ धारण करावे। हे सिनीवालि, गर्भ धारण कर! हे भारी केशोंवाली, गर्भ धारण कर। दोनों अश्विन देव जो कमल की मालावाले हैं गर्भ धारण करावें।' (शायद दो अश्विन दो अण्डकोश हैं और पुष्करसृजौ का अर्थ है वीर्य धारण करनेवाले।) ।।२०।।

'जिन सुनेहरी दो अरणियों से दोनों अश्विन अग्निमन्थन करते हैं, उस तुझमें हम गर्भ धारण कराते हैं, जिससे कि दसवें मास में बच्चा उत्पन्न हो, जैसे अग्नि पृथिवी में, इन्द्र द्यौ में, वायु दिशा में गर्भ धारण कराते हैं, इसी प्रकार मैं तुझमें गर्भ धारण कराता हूँ।' (यहाँ नाम ले) ।।२१।।

जब प्रसवकाल हो तो उसपर जल के छींटे दे—'जैसे वायु झील में लहरें उत्पन्न करता है, उसी प्रकार सब ओर से तेरा गर्भ जरायु के साथ चलायमान हो। इन्द्र का यह वज्र चारों ओर से घिरा और सुरक्षित है। हे इन्द्र, उसको बाहर निकाल, पुत्रसहित!' ।।२२।।

जब बच्चा उत्पन्न हो तो अग्नि को प्रज्वलित करके गोद में लेकर काँसे के बर्तन में घी लेकर कई बार आहुति देता है—'मैं इस घर में इस लड़के के द्वारा बढ़कर हजारों का पालक हो सकूँ, इस लड़के को पाकर मैं सन्तानरहित और पशुरहित न होऊँ। स्वाहा। तुझमें मन से प्राणों

जुहोमि स्वाहा ॥२३॥ यत्कर्मणात्यरीरिचम् । यद्वा न्यूनमिहाकरम् अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्त्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु स्वाहेति ॥२४॥ अथास्यायुष्यं करोति । दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथास्य नामधेयं करोति वेदोऽसीति तदस्यैतद्गुह्यमिव नाम स्यादथ दधि मधु घृतꣳ सꣳसृज्यानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥ अथैनमभिमृशति । अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमिति ॥२६॥ अथास्य मातरमभिमन्त्रयते । इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः सा त्वं वीरवती भव यास्मान्वीरवतोऽकरदिति ॥२७॥ अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति । यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकरिति ॥२८॥ तं वाऽएतमाहुः । अतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्राप श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायतऽइति ॥२९॥ अथ वꣳशः । तदिदं वयं भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रो वात्सीमाण्डवीपुत्राद्वात्सीमाण्डवीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो गार्गीपुत्राद्गार्गीपुत्रः पाराशरीकौण्डिनीपुत्रात्पाराशरीकौण्डिनीपुत्रो गार्गीपुत्राद्गार्गीपुत्रो गार्गीपुत्राद्गार्गीपुत्रो बाडेयीपुत्राद्वाडेयीपुत्रो मौषिकीपुत्रान्मौषिकीपुत्रो हारिकर्णीपुत्राद्धारिकर्णीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पैङ्गीपुत्रात्पैङ्गीपुत्रः शौनकीपुत्राच्छौनकीपुत्रः ॥३०॥ काश्यपीबालाक्यामाठरीपुत्रात्काश्यपीबालाक्यामाठरीपुत्रः कौत्सीपुत्रात्कौत्सीपुत्रो बौधीपुत्राद्बौधीपुत्रो शालङ्कायनीपुत्राच्छालङ्कायनीपुत्रो वार्षगणीपुत्राद्वार्षगणीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्र आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागी-

की आहुति देता हूँ—स्वाहा' ॥२३॥

'जो कर्म हमसे (भूल से) बढ़ गया हो या कम हो गया हो, हे सबको जाननेवाली पुण्यशील अग्नि, तू उसको कल्याणकारक और ठीक प्रकार से आहुति दिया हुआ बना दे' ॥२४॥

अब इसको दीर्घ आयु के लिए आशीर्वाद देता है। दाहिने कान को खोलकर तीन बार कहता है—'वाक्, वाक्, वाक्' फिर उसका नाम रखता है—'तू वेद है।' यह 'वेद' इसका रहस्यपूर्ण नाम है। अब दही, शहद, घी मिलाकर शुद्ध सोने के टुकड़े से चटाता है—"भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि, भूर्भुवः स्वस्त्वयि दधामि" ॥२५॥

अब इसको छूता है—'पत्थर हो, परशु हो, शुद्ध सोना हो, तू पुत्र वस्तुतः मेरा आत्मा है। सौ वर्ष जीता रह' ॥२६॥

अब इसकी माता का स्पर्श करता है—'तू मित्रावरुणी इडा है। तूने वीर में वीर को उत्पन्न किया है। सो तू वीरवती हो, तूने हमको वीर-युक्त किया है' ॥२७॥

अब बच्चे को माँ को देकर स्तन देता है—'यह जो तेरा सफल, सुखकारक, रत्नवाला, धनयुक्त, दानशील स्तन है, जिससे तू सबका पालन करती है, हे सरस्वती! तू इस बच्चे को सब प्रकार पुष्ट कर' ॥२८॥

लोग इसके विषय में कहें, 'तू बाप से बढ़कर हो, बाबा से बढ़कर हो! तेरी प्रतिष्ठा बहुत हो, श्री, यश, ब्रह्मतेज।' जो ब्राह्मण इस रहस्य को समझता है, उसके ऐसा ही पुत्र उत्पन्न होता है ॥२९॥

अब वंशावली दी जाती है—हम हुए हैं भारद्वाजीपुत्र से, 'भारद्वाजीपुत्र' हुए हैं वात्सी माण्डवीपुत्र से, 'वात्सी माण्डवीपुत्र' हुए हैं पाराशरीपुत्र से, 'पाराशरीपुत्र' हुए हैं गार्गीपुत्र से, 'गार्गीपुत्र' हुए हैं पाराशरी कौण्डिनीपुत्र से, 'पाराशरी कौण्डिनीपुत्र' हुए हैं गार्गीपुत्र से, 'गार्गीपुत्र' हुए हैं' गर्गीपुत्र से, 'गर्गीपुत्र' हुए हैं, बाडेयीपुत्र से, 'बाडेयीपुत्र' हुए हैं मौषिकीपुत्र से, 'मौषिकी-पुत्र' हुए हैं हारिकर्णीपुत्र से, 'हारिकर्णीपुत्र' हुए हैं भारद्वाजीपुत्र से, 'भारद्वाजीपुत्र' हुए हैं पैंगी-पुत्र से, 'पैंगीपुत्र' हुए हैं शौनकीपुत्र से, 'शौनकीपुत्र' हुए हैं—॥३०॥

काश्यपी बालाक्यामाठरीपुत्र से, 'काश्यपी बालाक्यामाठरीपुत्र' हुए हैं कौत्सीपुत्र से, 'कौत्सीपुत्र' हुए हैं बौधीपुत्र से, 'बौधीपुत्र' हुए हैं शालंकायनीपुत्र से, 'शालंकायनीपुत्र' हुए हैं वार्षगणीपुत्र से, 'वार्षगणीपुत्र' हुए हैं गौतमीपुत्र से, 'गौतमीपुत्र' हुए हैं आत्रेयीपुत्र से, 'आत्रेयी पुत्र हुए हैं' गौतमीपुत्र से, 'गौतमीपुत्र' हुए हैं वात्सीपुत्र से, 'वात्सीपुत्र' हुए हैं भारद्वाजीपुत्र से, 'भारद्वाजीपुत्र' हुए हैं पाराशरीपुत्र से, 'पाराशरीपुत्र' हुए हैं वार्कारुणीपुत्र से, 'वार्कारुणीपुत्र' हुए है आर्तभागीपुत्र से।

पुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्रः ॥३१॥ आलम्बीपुत्रात् । आलम्बीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः ॥३२॥ प्राश्नीपुत्रात् । आसुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिर्याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्यागाज्जिह्वावा बाध्योगोऽसितादार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥३३॥ ब्राह्मणम् ॥५ [१. ४.] ॥ ॥ सप्तमः प्रपाठकः ॥ कण्डिकासंख्या१०१ ॥ नवमोऽध्यायः [१००.] ॥ ॥ अस्मिन्काण्डे कण्डिकासंख्या७१६ ॥ ॥

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणऽउपनिषन्नाम चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ॥१४॥ ॥

'आर्तभागीपुत्र' हुए है शौंगीपुत्र से, 'शौंगीपुत्र' हुए हैं सांकृतीपुत्र से, सांकृतीपुत्र हुए हैं—॥३१॥

आलम्बीपुत्र से, 'आलम्बीपुत्र' हुए हैं आलाम्बायनीपुत्र से, 'आलाम्बायनीपुत्र' हुए हैं जायन्तीपुत्र से, 'जायन्तीपुत्र' हुए हैं माण्डूकायनीपुत्र से, 'माण्डूकायनीपुत्र' हुए हैं माण्डूकीपुत्र से, 'माण्डूकीपुत्र' हुए है शाण्डिलीपुत्र से, 'शाण्डिलीपुत्र' हुए हैं राथीतरीपुत्र से, 'राथीतरीपुत्र' हुए हैं दो क्रौञ्चिकी पुत्रों से, 'दो क्रौञ्चिकीपुत्र' हुए हैं वेदभृतीपुत्र से, 'वेदभृतीपुत्र' हुए हैं भालुकीपुत्र से, 'भालुकीपुत्र' हुए हैं प्राचीनयोगीपुत्र से, 'प्राचीनयोगीपुत्र' हुए हैं सांजीवीपुत्र से, 'सांजीवीपुत्र' हुए हैं कार्शकेयीपुत्र से, 'कार्शकेयीपुत्र' हुए हैं—॥३२॥

प्राश्नीपुत्र से, 'प्राश्नीपुत्र' हुए हैं आसुरायण से, 'आसुरायण' हुए हैं आसुरि से, 'आसुरि' हुए हैं याज्ञवल्क्य से, 'याज्ञवल्क्य' हुए हैं उद्दालक से, 'उद्दालक' हुए हैं अरुण से, 'अरुण' हुए हैं उपवेशि से, 'उपवेशि हुए हैं' कुश्रि से, 'कुश्रि' हुए हैं वाजश्रवा से, 'वाजश्रवा' हुए हैं जिह्वावान् बाध्योग से, 'जिह्वावान् बाध्योग' हुए हैं असित वार्षगण से, 'असित वार्षगण' हुए हैं हरित कश्यप से, 'हरित कश्यप' हुए हैं शिल्प कश्यप से, 'शिल्प कश्यप' हुए हैं कश्यपनैध्रुवि से, 'कश्यपनैध्रुवि' हुए हैं वाक् से, 'वाक्' हुए हैं अम्भिणी से, 'अम्भिणी' हुए हैं आदित्य से।' ये शुक्ल यजुमन्त्र वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने कहे हैं॥३३॥

माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण की श्रीमत् पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत
"रत्नकुमारी दीपिका" भाषा व्याख्या का उपनिषन्नाम
चतुर्दशकाण्ड समाप्त हुआ।

चतुर्दश काण्ड

प्रपाठक	कण्डिका-संख्या
प्रथम [१४.२.१]	१३२
द्वितीय [१४.३.२]	१२२
तृतीय [१४.४.४]	१०१
चतुर्थ [१४.६.२]	१०४
पंचम [१४.६.११]	१०७
षष्ठ [१४.८.१४]	१२६
सप्तम [१४.६.४]	१०१
	७९६
पूर्व के काण्डों का योग	६८२६
पूर्ण योग	७६२५